प्र स्ता व ना

इस प्रस्तावना के तीन भाग हैं –

१ सम्पादन सामग्री और उसकी योजना, २ ग्रन्थकार और ३ ग्रन्थ ।

सम्पादन सामग्री और उसकी योजनामें प्रति परिचय, संस्करण परिचय और मुद्रण क्रम आदि का वर्णन होगा ।

ग्रन्थकार विभागमें **अकलङ्क देव** और **अनन्तवीर्य** के व्यक्तित्वका परिचय और कालनिर्णय आदि होंगे ।

ग्रन्थ विभागमें सिद्धिविनिश्चय और उसकी टीका में प्रतिपादित विषयों का ऐतिहासिक क्रमविकास की दृष्टि से तात्त्विक प्रतिपादन होगा ।

१ सम्पादनसामग्री और उसकी योजना–

अकलङ्कको अलभ्य कृति–

मध्यकालीन भारतीय दर्शनके इतिहासमें मीमांसकधुरीण कुमारिल और तार्किकचक्रचूडामणि बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति की तरह स्याद्वादपञ्चानन तर्कभूवल्लभ भट्टाकलङ्कदेव भी युगप्रवर्तक आचार्य थे । ये जैन प्रमाणशास्त्रके व्यवस्थापक और प्रतिष्ठापक महान् ज्योतिर्धर थे । युग युग में ऐसे विरल पुरुष-पुन्नाग होते हैं जिनके विना वह युग हतप्रभ और निरालोक कहा जाता है ।

प्रस्तुत संस्करण में इन्हीं अकलङ्कदेवकी सुप्रसिद्ध किन्तु अलभ्य कृति सिद्धिविनिश्चय अपनी स्वोपज्ञवृत्ति तथा अनन्तवीर्यकृत टीका के साथ प्रथम बार प्रकाशित हो रही है । इनमें मूल सिद्धिविनिश्चय तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्ति का कोई हस्तलेख कहीं पर भी उपलब्ध नहीं हो सका । टीका से एक एक शब्द चुन-चुन कर उनका अस्तित्व प्रकाशमें लाया जा रहा है ।

प्रति परिचय–

सिद्धिविनिश्चय टीका की एकमात्र प्रति श्रद्धेय डॉ० पं० सुखलालजी को उनके सन्मतितर्कके सम्पादन काल (सन् १९२६)में कोडाय ग्राम (कच्छ) के जैन ज्ञानभंडारसे उपलब्ध हुई थी । इसका उपयोग उन्होंने सन्मतितर्कके सम्पादनमें यत्र-तत्र किया है । इस प्रतिमें सिद्धिविनिश्चयके मूल श्लोक तथा मूलवृत्ति-गद्यभाग पृथक् नहीं लिखे गये हैं और न कोई भेदक चिह्न ही दिया गया है जिससे यह ज्ञात हो सके कि ये शब्द मूलश्लोक और मूलवृत्तिके हैं । १८ हजार श्लोक प्रमाण इस टीकाग्रन्थरूपी समुद्रमें वे मूल रत्न यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं ।

प्रति पडिमात्रामें लिखी हुई है । अक्षर बाँचने लायक होने पर भी यत्र-तत्र घिस गये हैं । कई पत्रोंके एक दूसरेसे सट जानेके कारण अक्षरोंकी दुर्गति हो गई है । प्रति अशुद्धियों का भण्डार है । प्रत्येक पृष्ठमें दस

पन्द्रह अशुद्धियोंसे कम न होंगी। संस्कृत भाषाके लेखकोंमें संयुक्ताक्षरों तथा सदृश अक्षरोंको अन्यथा पढ़नेसे बहुतसी अशुद्धियाँ हो जाती है। अशुद्धियोंके कुछ कारण ये हैं—

पृ०	१	पं०	८	स्व और स का भेद नहीं कर पाना			स्वर	सर
पृ०	२	पं०	७	श और स	,,	,,	दिशति	दिसति
पृ०	३	पं०	१३	प और व	,,	,,	पीता-	वीता-
पृ०	६	पं०	६	न्न और त्र	,,	,,	तन्न	तत्र
पृ०	६	पं०	१७	च और व प और य		,,	वायदिश्य	च्यापदिश्य
पृ०	९	पं०	८	ला और त्वा	,,	,,	नीला	नीत्वा
पृ०	१९	पं०	२७	त और न	,,	,,	नतु	ननु
पृ०	४०	पं०	२१	क और व	,,	,,	एक	एव
पृ०	२१४	पं०	१४	च और व	,,	,,	चिलक्षण	विलक्षण
पृ०	३२६	पं०	११	स और भ ध्य और व्य		,,	साध्य	भाव्य
पृ०	५५५	पं०	९	ण्य और न्य	,,	,,	मण्यादी	मन्यादी
पृ०	५६७	पं०	२४	त और व	,,	,,	तज्ञा	वज्ञा
पृ०	६५३	पं०	२९	द्व और स्व	,,	,,	द्वार्थ	स्वार्थ
पृ०	७०९	पं०	२३	च और त्र	,,	,,	शब्दाच	शब्दात्र
पृ०	७०९	पं०	९	ट और ड	,,	,,	कट	कड
पृ०	७१२	पं०	८	च्छ और द्भ्र	,,	,,	तच्छ्रवण	तद्भ्रवण
पृ०	७२०	पं०	१०	भ्य और त	,,	,,	तेभ्यः	तेतः
पृ०	७३३	पं०	१३	स्व और एव	,,	,,	स्वभाव	एवभाव
पृ०	७३७	पं०	२	न और व	,,	,,	नयः	वयः

इत्यादि। ह्रस्व का दीर्घ, दीर्घ का ह्रस्व, अनुस्वार का अभाव, सदृश शब्दोंके कारण पाठ छोड़ना या दो बार लिख देना आदि जितने अशुद्धियोंके कारण हो सकते हैं उन सबके उदाहरण इस प्रतिमें मिल सकते हैं। यह प्रति पडिमात्रामें लिखी गई है, अतः कुछ अशुद्धियाँ 'ए'की मात्राको ठीक न पढ़नेके कारण भी हुई हैं। न्यायशास्त्रके ग्रन्थोंमें ननु और नतुका विपर्यास अर्थका अनर्थ कर देता है। इस प्रतिमें अशुद्धियोंका पूरा इतिहास विद्यमान है। मालूम होता है कि प्रति लिखते समय एक बोलनेवाला तथा दूसरा लिखनेवाला था, अतः उच्चारणके दोषसे भी सैकड़ों अशुद्धियाँ आ गई हैं। प्रतिका ४८७ वाँ पत्र लिखनेसे छूट गया है। अनेक पत्रोंमें अक्षरों का स्थान '''''इस प्रकारके बिन्दु देकर छोड़ दिया गया है[1]।

प्रतिकी प्रशस्तियाँ—

इस प्रतिमें दो [2]प्रशस्तियाँ दी गई हैं—एक दाताकी और दूसरी लेखककी। प्रथम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि श्री शान्तिनामक विद्वान् अणुव्रती उदार भव्य श्रावकने सिद्धिविनिश्चय टीकाकी प्रति लिखवा कर स्याद्वादविद्याकोविद श्री नागदेव गणिको दान की थी। श्री विष्णुदास लेखकने इसे संवत् १६६२ में लिखा था। यह प्रशस्ति उस आदर्शभूत मूल प्रतिकी मालूम होती है जिस परसे प्रस्तुत प्रतिकी नकल की गई होगी; क्योंकि इसके बाद ही एक और लेखक प्रशस्ति दी गई है। उसमें बताया है कि—'आर्यरक्षित गुरुके विशाल

(१) देखो आगे मुद्रित प्रतिका चित्र। (२) सिद्धिवि० टी० पृ० ७५२।

गच्छमें परम्परासे धर्मसूरि नामक आचार्य हुए। [सम्भवतः] इनके लिये नामडा गोत्रोत्पन्न साहु धनराजने इस ग्रन्थको लिखा। इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान प्रति सं० १६६२ के बाद किसी समय लिखी गई है। प्रतिके कागज आदिकी स्थिति को देखते हुए लगता है कि यह उस प्रतिके बाद बहुत शीघ्र ही लिखी गई होगी।

प्रति १० इञ्च लम्बी ४½ इञ्च चौड़ी कागजके दोनों ओर लिखी हुई है। पत्रके बीचमें बाँधनेके लिये छेद करनेको स्थान छूटा हुआ है। लाल स्याहीसे **हाँसिया** बँधा है तथा विरामचिह्न मात्र खड़ी पाई दी गई है। संपूर्ण पत्र संख्या ५८१ है। प्रतिपत्र १३ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्ति ३७–३८ अक्षर हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ १८ हजार श्लोक प्रमाण है। प्रतिमें सर्वत्र पञ्चमाक्षरके स्थानमें अनुस्वारका प्रयोग किया गया है। रेफके बाद-वाले अक्षरको द्वित्व किया गया है यथा कर्म्म धर्म्म आदि।

[सम्पादन क्रम]

सिद्धिविनिश्चय मूलका उद्धार–

सिद्धिविनिश्चयटीकाकी उक्त एकमात्र प्रतिसे अकलङ्कदेवके मूल सिद्धिविनिश्चय तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्ति का सर्वप्रथम उद्धार हमने किया है। टीका खण्डान्वय पद्धतिसे लिखी हुई है। उसमेंसे एक-एक शब्द जोड़कर मूल श्लोक अनुष्टुप् मन्दाक्रान्ता स्रग्धरा आदि छन्दोंमें यथास्थान बैठाये हैं। हमारा विश्वास है कि इस प्रयासमें बहुत हद तक सफलता मिली है। जैनदर्शनके या जैनेतर दर्शनके जिन-जिन ग्रन्थोंमें प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयके श्लोक प्रमाण रूपमें या पूर्वपक्षके रूपमें उद्धृत मिलते हैं, उनका यथास्थान टिप्पणमें पाठशुद्धिकी साक्षीके रूपमें संग्रह किया गया है। इसी तरह अकलङ्कदेवकी स्ववृत्तिका उद्धार भी इसी टीकासे एक-एक शब्द जोड़कर किया है। टीकाकारने वृत्तिका व्याख्यान करते समय जहाँ यह लिख दिया है कि **'कारिकायाः सुगमत्वात् व्याख्यानमकृत्वा' 'शेषं सुगमम्'** यानी मूलकी प्रतीकको सरल समझकर प्रतीकका व्याख्यान ही नहीं किया है वहाँ मूलके शब्दोंके उद्धारका कोई साधन हमारे पास नहीं रहा। ऐसे एक-दो स्थल हैं जहाँ ग्रन्थान्तरोंके अवतरणसे मूलपाठकी पूर्तिमें भी सहायता मिली है। १८ हजार श्लोक प्रमाणवाले इस टीका-समुद्रसे ८०० श्लोक प्रमाण मूल सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्तिके शब्दोंको चुनते समय पर्याप्त सावधानी रखनेपर भी यह सम्भव है कि कहीं मूलके शब्दरत्न टीकासमुद्रमें ही विलीन रह गये हों या टीकाके शब्द मूलकी तरह प्रतिभासित हुए हों और वे मूलके रूपमें संगृहीत हो गये हों। पर चूँकि साधनान्तरोंके अभावमें मूलके उद्धार कार्यमें टीकाकी यह एकमात्र अशुद्धि प्रति ही हमें प्रमुख आलम्बन रही है, अतः जितना शक्य था उतने से ही सन्तोष कर लिया है। जिन शब्दोंकी पूर्ति हमने ग्रन्थान्तरोंके अवतरणसे की है उन्हें [·] इस प्रकारके चतुष्कोण ब्रेकिटमें रखा है। टीका में आगे-पीछे भी मूलके वाक्योंको प्रमाण रूपमें उद्धृत किया है। ऐसे स्थल मूलके पाठनिर्णयमें निकटतम साधक हुए हैं। टीकाकार ही मूल पाठका विशिष्ट और निकटतम साक्षी हो सकता है। इसीलिये इस टीकामेंप्राप्त इसी मूल ग्रन्थके 'वक्ष्यते या उक्तम्'के साथ आये हुए वाक्योंको हमने एक पृथक् परिशिष्टमें दे दिया है।

इस उद्धृत मूल सिद्धिविनिश्चयमें श्लोक संख्या इस प्रकार है—

१ प्रत्यक्षसिद्धि–श्लो० २८।	२ सविकल्पसिद्धि–श्लो० २९।
३ प्रमाणान्तरसिद्धि–श्लो० २४।	४ जीवसिद्धि–श्लो० २४।
५ जल्पसिद्धि–श्लो० २८½।	६ हेतुलक्षणसिद्धि–श्लो० ४३½।
७ शास्त्रसिद्धि–श्लो० ३०।	८ सर्वज्ञसिद्धि–श्लो० ४३।
९ शब्दसिद्धि–श्लो० ४५।	१० अर्थनयसिद्धि–श्लो० २८।
११ शब्दनयसिद्धि–श्लो० ३१।	१२ निक्षेपसिद्धि–श्लो० १६।

इस तरह उद्धृत मूल श्लोक ३७० हैं। टीकाके आधारसे उद्धृत स्ववृत्तिका प्रमाण भी लगभग ५०० श्लोक प्रमाण होगा।

यह सब उद्धृत मूलभाग ग्रन्थमें [ ] इस प्रकारके चतुष्कोण ब्रेकिटमें यथास्थान मुद्रित किया गया है।

पाठशुद्धि–

इस ग्रन्थके सम्पादनमें एकमात्र समुपलब्ध यह प्रति ही हमें आधारभूत रही है। अतः पाठशुद्धिके प्रमुख साधनभूत अन्य प्रतियोंके अभावमें हमें ग्रन्थान्तरोंके अवतरण और सदृशपाठ ही पाठशुद्धिके साधन रहे हैं। इसलिये हमने टीकाकी उस एकमात्र प्रतिको ही आदर्श प्रति मानकर उसका जो भी शुद्ध या अशुद्ध पाठ रहा उसे ऊपर स्थान दिया है। जो भी सुधार हमने किया है वह [ ] ( ) इस प्रकारके चतुष्कोण और गोल ब्रेकिटमें किया है। जहाँ किसी नये शब्द या अक्षरको अपनी ओरसे रखना पड़ा है वहाँ वह शब्द या अक्षर [ ] इस प्रकारके चतुष्कोण ब्रेकिटमें रखा है और जहाँ मूलप्रतिके किसी शब्द या अक्षरके स्थानमें दूसरा शब्द या अक्षर सुझाना पड़ा है वह ( ) इस प्रकारके गोल ब्रेकिटमें सुझाया गया है। जहाँ पाठशुद्धिकी साक्षीके रूपमें ग्रन्थान्तरीय अवतरण मिल सके हैं वे नीचे टिप्पणीमें दे दिये हैं। उद्धृत वाक्योंकी पाठशुद्धिमें जिन मूलग्रन्थोंके वे वाक्य हैं उन ग्रन्थोंके पाठको आधार माना है। तात्पर्य यह कि जितना जो कुछ भी शुद्ध किया है या शुद्धपाठ सुझाया है वह यथासम्भव साधार किया गया है और वह सब ब्रेकिटमें ही किया है। इससे मूल आदर्श प्रतिके पाठकी सुरक्षा भी हो गई है।

अवतरणनिर्देश–

ग्रन्थान्तरों के उद्धृत वाक्यों को हमने " " डबल इनवर्टेड कामा के भीतर * इस प्रकार का चिह्न लगाकर **ग्रेट नं० २** टाइप में छापा है। अवतरण वाक्यों के साथ या स्वतन्त्र भाव से आये हुए ग्रन्थ और ग्रन्थकारों के नाम चालू टाइप में **ध र्म की र्ति** इस प्रकार अक्षर फैलाकर छापे हैं। अवतरणवाक्यों के मूलस्थलों का निर्देश यथासंभव अवतरण वाक्य की समाप्ति के बाद [ ] चतुष्कोण ब्रेकिट में वहीं कर दिया है। उनमें जो पाठभेद है वह नीचे टिप्पणी में दे दिया है। जो शुद्धि की है वह ऊपर ही ब्रेकिट में कर दी है। कुछ अवतरण ग्रन्थकार के या ग्रन्थ के नामोल्लेख के साथ तो आते हैं, पर उस ग्रन्थ में उनका वह क्रम या स्वरूप उपलब्ध नहीं होता जैसा कि प्रकृत ग्रन्थ में उद्धृत है, ऐसे स्थलों में हमने जो पाठ उपलब्ध है वह नीचे टिप्पण में दे दिया है। विभिन्न ग्रन्थों में अवतरणों के जो विभिन्न पाठ उद्धृत मिलते हैं वे भी यथासंभव टिप्पणों में दे दिये हैं। कुछ ऐतिहासिक महत्त्व के अवतरण जहाँ जहाँ जिन जिन ग्रन्थों में जिस जिस पाठभेद के साथ उद्धृत मिलते हैं वे सब पाठभेद और स्थल टिप्पण में संगृहीत कर दिये हैं। ऐसा उन्हीं अवतरणों के संबन्ध में किया है जिनका मूलस्थल नहीं मिला है। जिस ग्रन्थकार के नाम से अवतरण उद्धृत किया है उसका मूल स्थल न मिलने पर उसीके ग्रन्थान्तर से सदृश पाठ भी टिप्पण में इसलिये दे दिया है कि उस विचार का सम्बन्ध उस ग्रन्थकार से सप्रमाण द्योतित हो जाय। अवतरण वाक्यों का ऐतिहासिक क्रम-विकास के ज्ञान में जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसका ध्यान रखते हुए उनका विवेक किया गया है।

सम्पादक द्वारा विरचित आलोक टिप्पण–

आलोक नामक टिप्पणमें ग्रन्थकी पंक्ति या शब्दोंका अर्थ स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे अर्थबोधक टिप्पण तो दिये ही गये हैं, साथ ही साथ पाठ शुद्धिके समर्थक टिप्पण, अवतरणोंके उद्धरणस्थल और उनके पाठभेदके संग्राहक टिप्पण भी दे दिये गये हैं। इन टिप्पणोंमें जिन वादियोंके मत पूर्वपक्षमें आये हैं वे मत भी उन उन

दर्शनग्रन्थोंसे चुने हैं जो सम्भवतः टीकाकारके सामने रहे हैं। जहाँ ऐसे प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सके हैं वहाँ उत्तरकालीन ग्रन्थोंका भी उपयोग किया है। इस टीकामें या मूलमें आये हुए उत्तरपक्षीय विचारोंका बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव द्योतन करनेवाले तुलनात्मक टिप्पणोंकी प्रचुरता भी इसलिये की गई है कि इससे तत्त्वान्वेषियोंको उस विचारका ऐतिहासिक क्रमविकास एक हद तक ध्यानमें आ जाय। लगभग २२५ दार्शनिक या अन्य विषयक ग्रन्थोंके प्रमाण या पाठोंसे यह तुलनात्मक भाग संकलित किया गया है। इनके नाम और संस्करणोंका पता 'संकेत विवरण' नामक परिशिष्टमें दिया है। टिप्पणोंकी यह सामग्री प्रत्येक विचारके अर्थको स्पष्ट करने, उसके क्रमविकास और ऐतिहासिक महत्त्वको सूचन करनेके प्रमुख हेतुओंसे संकलित की है। जहाँ प्रतिमें पाठ टूट गया है या छूट गया है या दुबारा लिखा है ऐसे स्थलोंकी सूचना भी वहीं टिप्पणमें कर दी है। दुबारा लिखे गये पाठ मूलग्रन्थमें इस ❴ चिह्न विशेषके अन्तर्गत छापे हैं।

प्रस्तावना–

प्रस्तावनाके **ग्रन्थकार** विभागमें मूल ग्रन्थकार अकलङ्कदेव और टीकाकार अनन्तवीर्यके समय आदिका साङ्गोपाङ्ग ऊहापोह किया है। इस भागमें उन अन्य ग्रन्थकारों और ग्रन्थोंकी प्रसङ्गतः चर्चा की है जिनका नामोल्लेख प्रकृत मूलग्रन्थ और टीकामें किया गया है। अनेक आचार्योंके प्रचलित समयके सम्बन्धमें नई सामग्रीके आधारसे ऊहापोह किया है यथा–भर्तृहरि, जयराशि, अर्चट, कर्णकगोमि, जयन्तभट्ट, अनन्तकीर्ति आदि। कुछ आचार्योंका समय भी निश्चित किया है यथा–दो अविद्धकर्ण और शान्तभद्र आदि। अकलङ्कके समकालीन और परवर्ती आचार्य प्रकरणमें भी कुछ आचार्योंके समयादिका वर्णन है। अकलङ्क और अनन्तवीर्यके जीवनवृत्त और व्यक्तित्वके परखनेकी सामग्री भी इस भागमें संकलित की है। जैनदर्शनको इनकी क्या विशिष्ट देन है इसकी चर्चा भी इस भागमें कर दी है।

ग्रन्थ विभागमें–मूलग्रन्थ और टीकाग्रन्थका बाह्य स्वरूप और अन्तरङ्ग विषय परिचय दिया है। अन्तरङ्ग विषयपरिचयमें उस उस विषयकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी संक्षेपमें दिखाई है। सामान्यतया यह ध्यान रखा गया है कि इसको पढ़कर ग्रन्थका सामान्य परिचय तो हो ही जाय साथ ही विशेष जिज्ञासाकी तृप्ति भी अमुक अंश तक हो जाय।

विषयसूची–

स्थूल विषयों का निर्देश तो पृष्ठके शीर्षकोंमें ही दिया है किन्तु उन स्थूल विषयोंका सूक्ष्म विषयभेद इस सूचीमें दिया है। इससे जिज्ञासु मूल और टीकाके प्रतिपाद्य विषयोंका आकलन कर सकेंगे।

परिशिष्ट–

इस संस्करणमें निम्नलिखित १२ परिशिष्टोंकी योजना की गई है—

१. मूलश्लोकोंकी श्लोकार्धानुक्रमणिका।
२. मूलवृत्तिगत श्लोकोंकी सूची।
३. मूलग्रन्थान्तर्गत अवतरणोंकी सूची।
४. सिद्धिविनिश्चयके पाठान्तर।
५. मूलग्रन्थके विशिष्टशब्द।
६. टीकाकाररचित श्लोकोंकी श्लोकार्धानुक्रमणी।
७. टीकान्तर्गत उद्धृत वाक्योंकी मूलस्थल निर्देश सहित सूची।
८. टीकामें उद्धृत मूलवाक्य और श्लोकादि की अनुक्रम सूची।
९. टीकानिर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकार।

१०. टीकान्तर्गत न्याय और लोकोक्ति आदिकी सूची।

११. टीकाके विशिष्ट शब्द।

१२. ग्रन्थसङ्केत विवरण।

टाइप योजना–

ग्रन्थके मुद्रणमें मूल श्लोकोंको **ग्रेट नं० १** टाइपमें स्ववृत्तिको **ग्रेट नं० २** टाइपमें, टीकाको **ग्रेट नं० ४** टाइपमें और टिप्पणीको **पाइका नाटा** टाइपमें मुद्रित कराया है। अवतरणवाक्य **ग्रेट नं० २** में * यह चिह्न देकर " " डबल इनवर्टेड कामाके साथ मुद्रित किये गये हैं। सामान्यतया प्रतिमें जो नया जोड़ा है वह [ ] इस चतुष्कोण ब्रेकिटमें और जो किसी के स्थानमें सुझाया गया है वह ( ) इस गोल ब्रेकिटमें सुझाया है। मूलप्रतिमें सिवाय '।' इस खड़ी पाईके और कोई भेदक चिह्न कहीं नहीं है; किन्तु हमने इसमें यथास्थान , ; ? ! " " ' ' आदि सभी चिह्नोंका उपयोग किया है। पाठकी स्पष्टताके लिये हमने कहीं कहीं पदोंकी सन्धियाँ पृथक् कर दी हैं। पञ्चमाक्षरमें जहाँ एक पदमें नित्य पञ्चमाक्षर चाहिए वहीं पञ्चमाक्षर रखा है बाकी सर्वत्र अनुस्वारका ही प्रयोग किया है। टीकामें मूल श्लोकोंके शब्दोंको श्लोकके टाइप **ग्रेट नं० १** में तथा वृत्तिके शब्दोंको वृत्तिके टाइप **ग्रेट नं० २** में ही रखा है। अवतरणवाक्य यद्यपि **ग्रेट नं० २** टाइप में है पर उन्हें * इस तारक चिह्न और डबल इनवर्टेड कामासे विभक्त कर दिया है।

---

२ ग्रन्थकार

[१ श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव]

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव जैन न्यायके प्रतिष्ठापक पदपर प्रतिष्ठित हैं। इन्होंने समन्तभद्र और सिद्धसेनसे प्राप्त भूमिकापर प्राचीन आगमिक शब्दों और परिभाषाओंको दार्शनिक रूप देकर अकलङ्क न्यायका प्रस्थापन किया है। जैन आगमिक परम्परामें प्रमाणकी चरचा यद्यपि मिलती है पर उसकी व्यवस्थित परिभाषाएँ और भेद-प्रभेदकी रचना करनेका बहुत बड़ा श्रेय भट्टाकलङ्कदेवको है। बौद्धदर्शनमें धर्मकीर्ति, मीमांसा दर्शनमें भट्टकुमारिल, प्रभाकर दर्शनमें प्रभाकर मिश्र, न्यायवैशेषिकमें उद्योतकर और व्योमशिव तथा वेदान्तमें शंकराचार्यका जो स्थान है वही जैन न्यायमें भट्टअकलङ्कका है। ईसाकी ७ वीं ८ वीं और ९ वीं शताब्दियाँ मध्यकालीन दार्शनिक इतिहासकी क्रान्तिपूर्ण शताब्दियाँ थीं। इनमें प्रत्येक दर्शनने जहाँ स्वदर्शनकी किलेबन्दी की वहाँ परदर्शन पर विजय पानेका अभियान भी किया। इन शताब्दियोंमें बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हुए, उद्भट वादियोंने अपने पाण्डित्यका डिंडिम नाद किया तथा दर्शनप्रभावना और तत्त्वाध्यवसाय संरक्षणके लिये राज्याश्रय प्राप्त करनेके हेतु वाद रोपे गये। इस युगके ग्रन्थोंमें स्वसिद्धान्त-प्रतिपादनकी अपेक्षा परपक्षके खण्डनका भाग ही प्रमुखरूपसे रहा है। इसी युगमें महावादी भट्टाकलङ्कने जैनन्यायके अभेद्य दुर्गका निर्माण किया था। उनकी यशोगाथा शिलालेखों और ग्रन्थकारोंके उल्लेखोंमें बिखरी पड़ी है।

शिलालेखोल्लेख—

भट्टाकलङ्कदेव इतने प्रसिद्ध और युगप्रधान आचार्य हुए कि इनकी प्रशंसा स्तुति और श्लाघा अनेक शिलालेखोंमें उत्कीर्ण है। उनके प्रमाण संग्रहका मङ्गलाचरण[1] तो इतना लोकप्रिय हुआ कि वह पचासों शिलालेखोंमें मङ्गल श्लोकके रूपसे उत्कीर्ण हुआ[2] है। उनका यशोगान करनेवाले कुछ शिलालेख इस प्रकार हैं—

(१) कडवन्तिमें लुकडवन्तिकी चट्टानपर उत्कीर्ण भग्न कन्नड लेखमें देवगणके अकलङ्क भट्टारके शिष्य महीदेव भट्टार बताये गये हैं। यह लेख सम्भवतः ई० १०६० का है।[3]

(२) बन्दलिमें एक पाषाण लेखमें अकलङ्कदेव गुरुको नमस्कार किया है। संस्कृत कन्नड भाषाका यह भग्न लेख[4] शक सं० ९९६ ई० १०७४ का है।

(३) बलगाम्बे बड्डगियर होण्डके पास एक पाषाणपर उत्कीर्ण लेखमें[5] रामसेनकी प्रशंसामें '**तर्कशास्त्रविवेकद्रोळिन्तकलङ्कदेवरेम्बुदु**' कहा है। यह लेख ई० १०७७ का है।

---

(१) "श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥" –प्रमाण सं० पृ० १।

(२) देखो– जैनशि० प्र० भाग लेख नं० ३९, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८, ५१, ५२, ५३, ५५, ५९, ६८, ८१, ८२, ८३, ९०, ९६, १०५, १११, ११३, १२४, १३०, १३७, १३८, १४१, १४४, २२६, ३६२, ४८६, ४९३–४९५, ४९६, ४९९, ५०० इत्यादि।

(३) जैनशि० द्वि० पृ० २३४, लेख नं० १९३। ए० क० भाग ६ नं० ७५।

(४) जैनशि० द्वि० पृ० २६३, लेख नं० २०७। ए० क० भाग ७ शिकारपुर ता० नं० २२१।

(५) जैनशि० द्वि० पृ० ३११, लेख नं० २१७। ए० क० भाग ७ शिकारपुर ता० नं० १२४।

(४) हुम्मचमें पञ्चवस्तिके आँगनके एक संस्कृत कन्नडमय पाषाण[1] लेखमें एकसन्धि सुमतिदेवके बाद अकलङ्कदेवकी **वादिसिंह** और **स्याद्वादामोघजिह्व** रूपमें स्तुति की है।[2] यह लेख शक सं० ९९९ ई० १०७७ का है।

(५) हुम्मचमें ही तोरणबागिलके दक्षिणी स्तम्भेमें उत्कीर्ण लेखमें सिंहनन्दि आचार्यके बाद अकलङ्कदेवका उल्लेख है। यह लेख भी ई० १०७७ का है।[3]

(६) हुम्मचमें ही मानस्तम्भके ऊपर दक्षिणकी तरफ उत्कीर्ण लेखमें वादिराजकी स्तुतिके प्रसङ्गमें **'सदसि यदकलङ्कः'** विशेषण दिया है। यह लेख भी ई० १०७७ का है।[4]

(७) कत्तिले वस्तीके द्वारेसे दक्षिणकी ओर एक पाषाण स्तम्भ लेखमें जिनचन्द्र मुनिको **'सकल-समयतर्के च भट्टाकलङ्कः'** कहा है। यह लेख लगभग ई० ११०० का है[5]।

(८) एरडुकट्टे वस्तिके पश्चिमकी ओर मण्डपमें स्तम्भपर उत्कीर्ण [6]लेखमें मेघचन्द्र मुनिकी प्रशंसामें उन्हें षट्तर्कोंमें अकलङ्कके समान विबुध कहा गया है[7]। यह लेख शक सं० १०३७ ई० १११५ का है।

(९) गन्धवारण वस्तीके प्रथममण्डपके स्तम्भ लेखमें भी इसी प्रकारका उल्लेख है। यह लेख शक सं० १०६८ ई० ११४६ का है।[8]

(१०) कल्लूरगुड्ड (सिमोगा) सिद्धेश्वर मन्दिरकी पूर्व दिशाके पाषाणपर उत्कीर्ण लेखमें गुणनन्दिदेवके बाद अकलङ्कदेवका षड्दर्शन विजेताके रूपमें उल्लेख है। यह लेख शक सं० १०४३ ई० ११२१ का है।[9]

(११) चल्लग्रामके वसति देव मन्दिरके पाषाण लेखमें[10] एकसन्धि सुमति भट्टारकके बाद वादीभसिंह अकलङ्कदेवका उल्लेख है। यह लेख शक सं० १०४७ ई० ११२५ का है।

(१२) पार्श्वनाथ वसतिके स्तम्भपर खुदी हुई मल्लिषेण प्रशस्तिमें अकलङ्कदेवके वादका विस्तृत वर्णन है। यह प्रशस्ति शक सं० १०५० ई० ११२८ की है।[11] इसका विशेष वर्णन आगे किया जायगा।

(१३) बेन्दूर सोमनाथकी मन्दिरकी छतके पत्थरपर उत्कीर्ण लेख[12]में सुमतिभट्टारकके बाद अकलङ्कदेवकी **'समयदीपक उन्मीलित दोष···रजनीचरबल···उद्बोधितभव्यकमल'** आदि विशेषणोंसे स्तुति की है। यह लेख शकसं० १०५९ ई० ११३७ का है।

---

(१) जैनशि० द्वि० पृ० २८१ लेख नं० २१३। ए० क० भाग ८ नगर ता० नं० ३५।

(२) "राजन् बुद्धोऽप्यबुद्धः सुरगुरुरगुरुः पूरणोऽपूरणेच्छः,
स्थाणुः स्थाणुस्त्वजोऽजोर्विरविरलघुर्माधवोऽमाधवस्तु।
व्यासोऽप्यव्यासयुक्तः कणभुगकणभुग् वागवागेव देवी,
स्याद्वादामोघजिह्वे मयि विशति सति मण्डपं वादिसिंहे ॥ य ॥
एनिसिदकलङ्कदेवरवरि···" –वही पृ० २९४।

(३) जैनशि० द्वि० पृ० ३०१, लेख नं० २१४। ए० क० भाग ८ नगर ता० नं० ३६।

(४) वही पृ० ३०६, लेख नं० २१५। ए० क० भाग ८ नगर ता० नं० ३९।

(५) जैनशि० प्र० पृ० ११५, लेख नं ५५ (६९)।

(६) जैनशि० प्र० पृ० ५८, लेख नं० ४७ (१२७)।

(७) "षट्तर्केष्वकलङ्कदेवविबुधः साक्षादयं भूतले।" –वही पृ० ६२।

(८) जैनशि० प्र० पृ० ७१, लेख नं० ५० (१४०)।

(९) जैनशि० द्वि० पृ० ४०८, लेख नं० २७७। ए० क० भाग ७ शिमोगा नं० ४।

(१०) जैनशि० प्र० पृ० ३९५, लेख नं० ४९३।

(११) जैनशि० प्र० पृ० १०१, लेख नं० ५४ (६७)।

(१२) जैनशि० तृ० पृ० १, लेख नं० ३०५। ए० क० भाग ५ बलूर ता० नं० १७।

(१४) बुद्रिमें बनशंकरी मन्दिरके पूर्वीय पाषाण लेख[1]में भी अकलङ्क गुरुको नमस्कार किया है। यह लेख ई० ११३९ का है।

(१५) बोगादिके भग्न पाषाण पर उत्कीर्ण संस्कृत कन्नड पाषाण लेख[2]में अकलङ्कदेवकी **'तारावजेता'** के रूपमें स्तुति की है। इसमें आगे **'सदसि यदकलङ्कः'** श्लोक तथा **'नाहङ्कारवशीकृतेन'** श्लोक भी है। काल लुप्त है, पर संभवतः ११४५ ई० है।

(१६) हुम्मचमें ही तोरणबागिलके उत्तर स्तम्भमें उत्कीर्ण संस्कृत कन्नड लेख[3]में सिंहनन्दि आचार्यके बाद अकलङ्कदेवको **'जिनमतकुवलयशशाङ्क'** लिखा है। यह लेख शक १०६९ ई० ११४७ का है।

(१७) मुकदरे (होणकेरी परगना) लक्कम्म मन्दिर के पाषाण लेख[4] लगभग ई० ११३० में तथा

(१८) यल्लादहल्ली (नेल्लीकेरी प्रदेश) गाँवके पासके पाषाणलेख[5]में स्वामी समन्तभद्रके बाद अकलङ्कदेवका उल्लेख है। यह लेख ई० ११५४ का है।

(१९) चन्द्रगिरि पर्वतके महानवमी मंडप[7]के स्तम्भके लेखमें अकलङ्कदेवको **महामति** और **जिन शासनको अकलङ्क करनेवाला** बताया है[8]। यह लेख शक सं० १०८५ ई० ११६३ का है।

(२०) जोडि बसवनपुरमें हुण्डिसिद्दन चिक्कके खेतके पास एक पाषाण पर उत्कीर्ण लेख[9]में अकलंकका **बौद्धवादिविजेता** के रूपमें उल्लेख है[10]। यह लेख शक सं० ११०५ ई० ११८३ का है। इस लेखमें अकलङ्कके सधर्मा पुष्पसेन मुनिके उल्लेखके बाद विमलचन्द्र इन्द्रनन्दि और परवादिमल्लका उल्लेख है।

(२१) सिद्धवस्तीमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भमें उत्कीर्ण लेख[11]में अकलङ्कदेवको **समन्तादकलङ्क** कहा[12] है। यह लेख शक सं० १३२० ई० १३९८ का है।

(२२) सिद्धरवस्तीमें दक्षिणकी ओर उत्कीर्ण स्तम्भलेखमें[13] अकलङ्कदेवको **शास्त्रविदग्रेसर** और **मिथ्यान्धकारभेदक** लिखा है[14]। आगे इसी लेखमें बताया है कि अकलंक महर्षिके स्वर्ग चले जाने

---

(१) जैनशि० तृ० पृ० ३१ लेख नं० ३१३। ए० क० भाग ८ सोराब ता० नं० २३३।

(२) जैनशि० तृ० पृ० ४६, लेख नं० ३१९। ए० क० भाग ४ नागमंगल ता० नं० १००।

(३) "तारा येन विनिर्जिता घटकुटीगूढावतारा समम्,
बौद्धैर्यो धृतपीडपीडितकुदृग् देवार्थसेवाञ्जलिः।
प्रायश्चित्तमिवाङ्घ्रिवारिजरजःस्नानं च यस्याचरद्,
दोषाणां सुगतस्य कस्य विषयो देवाकलङ्कः कृती॥"—वही पृ० ४८।

(४) जैनशि० तृ० पृ० ६६, लेख नं० ३२६। ए० क० भाग ८ नगर ता० नं० ३७।

(५) जैनशि० तृ० पृ० ६०, लेख नं० ३२४। ए० क० भाग ४ नागमंगल ता० नं० ७६।

(६) जैनशि० द्वि पृ० ४०४, लेख नं० २७४। ए० क० भाग ४ नागमंगल ता० नं० १०३।

(७) जैनशि० प्र० पृ० २४, लेख नं० ४० (६४)।

(८) "अजनिष्टाकलङ्कं यत् जिनशासनमादितः।
अकलङ्कं बभौ येन सोऽकलङ्को महामतिः॥"—वही पृ० २५।

(९) जैनशि० तृ० पृ० २०५, लेख नं० ४१०। ए० क० भाग ३ तिरुमाकुड्लु ता० नं० १०५।

(१०) "तस्याकलङ्कदेवस्य महिमा केन वर्ण्यते।
यद्वाक्यखङ्गघातेन हतो बुद्धो विबुद्धि सः॥"—वही पृ० २०६।

(११) जैनशि० प्र० पृ० १९५, लेख नं १०५ (२५४)।

(१२) "भट्टाकलङ्कोऽकृत सौगतादिदुर्वाक्यपङ्कैः सकलङ्कभूतम्।
जगत् स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलङ्कमेव॥"—वही पृ० १९९।

(१३) जैनशि० प्र० पृ० २०९, लेख नं० १०८ (२५८)।

(१४) "ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलङ्कसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः॥"—वही पृ० २११।

पर संघ देव, नन्दि, सिंह और सेन इन चार भागोंमें देशभेदसे बँट गया। यह लेख शक सं० १३५५ ई० १४३३ का है। इस लेखसे ज्ञात होता है कि देवसंघ अकलङ्कदेवके नामसे चला और उसके प्रथम आचार्य अकलङ्कदेव ही थे।

(२२) हुम्मचमें पद्मावती मन्दिरके प्राङ्गणमें एक पाषाणपर उत्कीर्ण लेख[1]में अकलङ्कका **महर्धिक और देवागमके भाष्यकार** के रूपमें उल्लेख[2] है। यह लेख लगभग ई० १५३० का है।

*

ग्रन्थोल्लेख

अकलङ्कदेव महान् वादी ग्रन्थकार सभापण्डित और अद्भुत प्रभावसम्पन्न युगप्रवर्तक आचार्य थे। उनकी गुणस्तुति शिलालेखों की तरह ग्रन्थोंमें भी उनके निर्मल व्यक्तित्वका उद्‌घोष कर रही है। शिलालेखों और ग्रन्थोंमें उन्हें तर्कभूवल्लभ,[3] अकलङ्कधी, बौद्धबुद्धिवैधव्यदीक्षागुरु,[4] महर्धिक,[5] समस्तवादिकरीन्द्रदर्पोन्मूलक,[6] स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिपञ्चानन, अशेषकुतर्कविभ्रमतमोनिर्मूलोन्मूलक,[7] अकलङ्कभानु, अचिन्त्यमहिमा, स्वामी[8] भूयोभेदनयावगाहगहनदेवस्य वाङ्मय[9] सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितनखकिरण[10] समन्तादकलङ्क[11] प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्क[12] आदि विशेषणोंसे विभूषित किया गया है, जो उनके अकलङ्कन्यायकी कीर्तिपताका-को फहरा रहे हैं। पुष्पदन्तने महापुराण[13] और असग कविने भी मुनिसुव्रत[14] काव्यमें इनका स्मरण किया है।

---

(१) जैन शि० सं० पृ० ५१४, लेख नं० ६६७। ए० क० भाग ८ नगर ता० नं ४६।

(२) "जीयात् समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलङ्को महर्धिकः॥" –वही पृ० ५१८।

(३) "तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलङ्कधीः।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः॥" –पार्श्वनाथचरित।

(४) "अकलङ्कगुरुर्जीयात् अकलङ्कपदेश्वरः।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः॥"–हनुमच्चरित।

(५) देखो टि० २।

(६) "इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः।
स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिः पञ्चाननो भुवि जयत्यकलङ्कदेवः॥"
–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ६०४।

(७) "येनाशेषकुतर्कविभ्रमतमो निर्मूलमुन्मीलितम्,
स्फारागाधकुनीतिसार्थसरितो निःशेषतः शोषिताः।
स्याद्वादाप्रतिमप्रभूतकिरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः,
स श्रीमानकलङ्कभानुरसमो जीयाज्जिनेन्द्रः प्रभुः॥"–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ४०२।

(८) "मिथ्यायुक्तिपलालकूटनिचयं प्रज्वाल्य निःशेषतः,
सम्यग्युक्तिमहांशुभिः पुनरियं व्याख्या परोक्षे कृता।
येनासौ निखिलप्रमाणकमलप्राज्यप्रबोधप्रदः,
भास्वानेष जयत्यचिन्त्यमहिमा शास्ताऽकलङ्को जिनः॥"–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५३१।

(९) "भूयोभेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयम्"–न्यायविनिश्चयविवरण भाग २ पृ० ३६९।

(१०) "सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भट्टाकलङ्कदेवः॥"
–अष्टसह० टिप्पण पृ० १।

(११) देखो पृ० ९ टि० १२।

(१२) "प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽकलङ्कोऽप्याह॥"–रत्नाकरावतारिका पृ० ११३७।

(१३) महापुराण पृ० २९। (१४) मुनिसुव्रतका० १।१०।

शुभचन्द्राचार्यने[1] तो मुग्ध होकर उनकी पुण्य सरस्वतीको अनेकान्त गगनकी चन्द्रलेखा लिखा है।[2]

*

जीवनगाथा

अकलङ्कदेवकी जीवनगाथा न तो उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें पाई जाती है और न उनके समकालीन या अति निकट उत्तरवर्ती किसी लेखकके ग्रन्थोंमें ही। उपलब्ध कथाकोशोंमें हरिषेणकृत कथाकोषमें समन्तभद्र और अकलङ्क जैसे युगनिर्माता आचार्योंकी कथाएँ ही नहीं हैं। हरिषेणने स्वयं अपने कथाकोशकी समाप्तिका काल शकसंवत् ८५३ (ई० ९३१) दिया है। इसके अनन्तर भट्टारक प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें सर्वप्रथम अकलङ्कदेवकी कथा मिलती है। यह कथाकोश जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्ति[3]से विदित होता है उन्हीं प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी कृति है जिन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचना की है। प्रभाचन्द्रका समय हमने ई० ९८०–१०६५ तक सिद्ध किया है[4]। प्रभाचन्द्रने यह कथाकोश जयसिंहदेवके राज्य (ई० १०५५) में बनाया था[3]। अकलङ्कदेवके जीवनवृत्तके लिये हमें अभी यही एक पुराना साधन उपलब्ध है। इसी कथाकोशको ब्रह्मचारी नेमिदत्तने वि० सं० १५७५ के आसपास पद्य रूपमें परिवर्तित किया था, यह बात स्वयं उन्हींके उल्लेखसे विदित हो जाती है[6]। देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषाकी राजावलीकथेमें भी अकलङ्ककी कथा है। इसका रचनाकाल १६ वीं सदीके बाद का है।

गद्य कथाकोश[7] तथा **नेमिदत्तके कथाकोश**[8]में अकलङ्कदेवकी कथा इस प्रकार है[9]–"मान्यखेट नगरीके राजा शुभतुंगके पुरुषोत्तम नामका मन्त्री था। उसके दो पुत्र थे–एक अकलङ्क और दूसरा निकलङ्क। एक बार अष्टाह्निका पर्वमें माता पिताके साथ दोनों भाई जैन गुरु रविगुप्तके पास गये। माता पिताने इस पर्वमें ब्रह्मचर्य व्रत लिया और अपने बालकोंको भी दिलाया। जब ये युवा हुए तो पुराने ब्रह्मचर्य व्रतको यावज्जीवन व्रत मानकर इन्होंने विवाह नहीं किया। पिताने समझाया कि वह प्रतिज्ञा तो पर्वके लिये थी पर ये कुमार अपनी बातपर दृढ़ रहे और इन्होंने आजन्म ब्रह्मचारी रहकर अपना समय शास्त्राभ्यासमें लगाया। अकलङ्क एक-सन्धि तथा निकलङ्क द्विसन्धि थे। जैनधर्म पर बौद्धोंके आक्षेपोंसे उनका चित्त विचलित हो रहा था और वे इसके प्रतीकारार्थ बौद्धशास्त्रोंका अध्ययन करनेके लिये बाहर निकल पड़े। वे अपना धर्म छिपाकर एक बौद्ध-मठमें विद्याध्ययन करने लगे। एक दिन गुरुजीको दिग्नागके अनेकान्त खण्डनके पूर्वपक्षका कुछ पाठ अशुद्ध होनेके कारण नहीं लग रहा था। उस दिन पाठ बन्द कर दिया गया। रात्रिको अकलङ्कने वह पाठ

---

(१) "श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया॥"–ज्ञानार्णव।

(२) सत्साधुस्मरण मङ्गलपाठ।

(३) "श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्धः कृतः।" –गद्यकथा को० लि० पृ० ११५। न्यायकुमु० प्र० प्रस्ता० पृ० १२३।

(४) न्यायकुमु० द्वि० प्रस्ता० पृ० ५०–५८।

(५) डॉ० ए.एन. उपाध्ये भी इसका यही रचनाकाल मानते हैं–बृहत्कथाकोश प्रस्ता० पृ० ३०–६२।

(६) "देवेन्द्रचन्द्रार्कसमर्चितेन तेन प्रभाचन्द्रमुनीश्वरेण।
अनुग्रहार्थं रचितं सुवाक्यैराराधनासारकथाप्रबन्धः॥
तेन क्रमणैव मया स्वशक्त्या श्लोकैः प्रसिद्धैश्च निगद्यते सः।"–नेमिदत्तकृत कथाकोश पृ० १।

(७) डॉ० उपाध्ये गद्यकथाकोश प्रेस कापी, पृ० ३–८।

(८) आराधना कथाकोश पृ० ७-१८।

(९) न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग प्रस्ता० पृ० २८।

शुद्ध कर दिया। दूसरे दिन जब गुरुने शुद्ध पाठ देखा तो उन्हें सन्देह हो गया कि कोई जैन यहाँ छिपकर पढ़ रहा है। इसकी खोजके सिलसिलेमें एक दिन गुरुने जैनमूर्तिको लाँघनेकी सब शिष्योंको आज्ञा दी। अकलङ्कदेव उस मूर्तिपर एक धागा डालकर उसे लाँघ गये और इस संकटसे त्राण पा गये। एक रात्रि गुरुने अचानक काँसेके बर्तनोंसे भरे बोरेको छतपर गिराया। सभी शिष्य इस भीषण आवाजसे जाग गये और अपने इष्टदेवका स्मरण करने लगे। इस समय अकलङ्कके मुखसे 'णमो अरहंताणं' आदि पञ्च नमस्कार मन्त्र निकल पड़ा। बस दोनों भाई पकड़ लिये गये। दोनों भाई मठके ऊपरी मंजिलमें कैद कर दिये गये। दोनों एक छातेकी सहायतासे कूदकर भाग निकले। रास्तेमें छोटे भाई निकलङ्कने बड़े भाईसे प्रार्थना की कि आप एकसन्धि और महान विद्वान् हैं, आपसे जिनशासनकी महती प्रभावना होगी, अतः आप इस तालाबमें छिपकर अपने प्राण बचाइए, शीघ्रता कीजिए, समय नहीं है। वे हत्यारे हमें पकड़नेके लिये शीघ्र ही पीछे आ रहे हैं। आखिर दुःखी चित्तसे अकलङ्कने तालाबमें छिपकर अपनी प्राण रक्षा की। निकलङ्क आगे भागे। वहीं एक धोबीने निकलङ्कको भागता देखा। वह पीछे आते हुए घुड़सवारोंको देख किसी अज्ञात भयकी आशंकासे निकलङ्कके साथ ही भागने लगा। आखिर घुड़सवारोंने दोनोंको तलवारके घाट उतारकर अपनी रक्तपिपासा शान्त की।

एक बार वे कलिंग देशके रत्नसंचय पुर पहुँचे। वहाँके राजा हिमशीतलकी रानी मदनसुन्दरीने अष्टाह्निका पर्वपर जैन रथयात्रा निकलवानेका विचार किया। किन्तु बौद्धगुरु संघश्रीके बहकावेमें आकर राजाने रथयात्रा निकालनेकी यह शर्त रखी कि यदि कोई जैनगुरु बौद्धगुरुको शास्त्रार्थमें हरा दे तो ही जैन रथयात्रा निकल सकती है। रानी चिन्तित हुई। आखिर अकलङ्कदेव आये और हिमशीतलकी सभामें शास्त्रार्थ हुआ। संघश्री बीचमें परदा डालकर उसके पीछेसे शास्त्रार्थ करता था। छह माह हो गये पर किसीकी हार जीत नहीं हो पाई। एक दिन रात्रि के समय चक्रेश्वरी देवीने अकलङ्कको इसका रहस्य बताया कि परदेके पीछे घटमें स्थापित तारादेवी शास्त्रार्थ करती है। तुम उससे प्रातःकाल कहे गये वाक्योंको दुबारा पूँछना, इतनेसे ही उसका पराजय हो जायगा। अगले दिन अकलङ्कने चक्रेश्वरी देवीकी सम्मतिके अनुसार प्रातः कहे गये वाक्यों-को फिर दुहरानेको कहा तो उत्तर नहीं मिला। उन्होंने तुरन्त परदा खींच कर घड़ेको पैरकी ठोकरसे फोड़ डाला। इससे जैनधर्मकी प्रभावना हुई और रानीके द्वारा संकल्पित रथयात्रा धूमधामसे निकाली गई।"

राजावलीकथे तथा दूसरी कई कथाओंके आधारसे राइस सा०ने अकलङ्कदेवका वृत्तान्त इस प्रकार दिया है–जिस समय काञ्चीमें बौद्धोंने जैनधर्मकी प्रगतिको रोक दिया था उस समय जिनदास नामके जैन ब्राह्मणके यहाँ उनकी जिनमती स्त्रीसे अकलङ्क और निकलङ्क नामके दो पुत्र हुए। वहाँ उनके सम्प्रदायका पढ़ानेवाला कोई गुरु नहीं था इसलिये इन दोनों बालकोंने गुप्तरीतिसे भगवद्दासके नामके बौद्ध गुरुसे पढ़ना शुरू किया। भगवद्दासके मठमें रहकर दोनों भाइयोंने असाधारण शीघ्रतासे उन्नति की। गुरुको इनकी इस प्रतिभासे सन्देह हो गया कि ये कौन हैं? अतः एक रात्रिमें सोते समय इनकी छातीपर बुद्धका दाँत रख दिया। इससे वे बालक जिन सिद्ध कहते हुए जागे तो गुरुने जाना कि वे जैन हैं। दूसरी कथाके आधारपर उन बालकोंने एक दिन जब कि गुरु कुछ क्षणोंके लिये उनसे अलग हुए तो एक हस्तलिखित पुस्तकमें उन्होंने **"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"** लिख दिया। गुरुको इसकी छानबीन करनेसे ज्ञात हुआ कि वे जैन हैं। आखिर इन्हें मारनेका निश्चय किया गया और वे दोनों भाग निकले। निकलङ्कने अपना पकड़ा जाना और मारा जाना उचित माना जिससे उसके भाईको भागनेका अवसर मिल सके। अकलङ्क एक धोबीके कपड़ोंकी गठड़ीमें छिपकर बच गये और दीक्षा लेकर उन्होंने सुधापुरके देशीय गणके आचार्यका पद सुशोभित किया[1]।"

---

(१) जैन हितैषी भाग ११ अङ्क ७-८ में प्रकाशित 'भट्टाकलङ्क' शीर्षक लेख, न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग प्रस्ता० पृ० २८।

कथाओंका साम्प्रदायिक रूप–

श्वेताम्बर परम्परामें भद्रेश्वरसूरिकी प्राकृत कथावली ई० १२ वीं शताब्दी का ग्रन्थ है[1]। इसकी मुनि पुण्यविजयजी कृत प्रेसकापीमें हरिभद्रसूरिकी कथा इस प्रकार दी गई है[2]–"हरिभद्रसूरिने जिनदत्ताचार्यसे 'भवविरह' के हेतु जिनदीक्षा धारण की। उनके जिनभद्र और वीरभद्र दो शिष्य थे। उस समय चित्तौड़में बौद्धमतका प्राबल्य था और बौद्ध हरिभद्रसे ईर्ष्या करते थे। एक दिन बौद्धोंने हरिभद्रके दोनों शिष्योंको एकान्तमें मार डाला। यह सुनकर हरिभद्रको बहुत दुःख हुआ और उन्होंने अनशन करनेका निश्चय किया। प्रभावक पुरुषोंने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और हरिभद्रने ग्रन्थराशिको ही अपना पुत्र मान उसकी रचनामें चित्त लगाया। ग्रन्थ निर्माण और लेखन कार्यमें जिनभद्र वीरभद्रके काका लल्लिकने बहुत सहायता की। हरिभद्र जब भोजन करते थे तो लल्लिक उस समय शंख बजाता था। उसे सुनकर बहुतसे याचक एकत्र हो जाते थे हरिभद्र उन्हें 'भवविरह करनेमें प्रयत्न करो' यह आशीर्वाद देते थे। इससे हरिभद्रसूरि 'भवविरह-सूरि'के नामसे प्रसिद्ध हो गये थे।"

चन्द्रप्रभसूरिके प्रभावक चरित[3] (ई० १२७७) में हंस परमहंसकी कथा इस प्रकार है–"हरिभद्रसूरिके हंस और परमहंस नामके दो शिष्य थे। ये दोनों भाई सुगतपुरमें बौद्ध शास्त्रोंके अध्ययनके लिये गये और वहाँ किसी बौद्धमठमें विद्याध्ययन करने लगे। उन्होंने एक पत्रपर जिन मतके खंडनका प्रतिखण्डन और दूसरेपर सुगतमतके दूषण लिख रखे थे। दैवयोगसे वे पत्र एक दिन हवामें उड़ गये और उनपर बौद्धगुरुकी दृष्टि जा पड़ी। उन्हें देखकर गुरुको इनके जैन होनेका सन्देह हो गया। परीक्षाके लिये उसने मार्गमें जिन-बिम्बका चित्र बनवा दिया और सब छात्रोंको उसपर पैर रखकर जानेकी आज्ञा दी। प्राणोंपर संकट जानकर दोनों भाइयोंने खड़ियासे प्रतिमाके हृदयपर यज्ञोपवीतका चिह्न बना दिया और उसे बुद्ध प्रतिमा मानकर लाँघ गये। तब दूसरी परीक्षाके समय रात्रिमें ऊपर बर्तन गिराकर सहसा चौंका देनेवाला शब्द किया गया। हंस परमहंस चौंककर जागे और जिन देवका स्मरण करने लगे। इसी समय गुप्तचरों द्वारा पकड़ लिये गये। मठकी छतपरके कमरेमें दोनों भाई कैद कर दिये गये। मृत्युके भयसे दोनों भाई छातोंकी सहायतासे पृथिवीपर उतर कर भागे। उन्हें पकड़नेके लिये सवार दौड़ाए गये। हंसने अपने छोटे भाईको तो राजा सूरपालकी शरणमें भेज दिया और स्वयं लड़कर मारा गया।

सवार राजाके पास गये और अपराधीको माँगा किन्तु राजाने इनकार कर दिया और . शास्त्रार्थका प्रस्ताव रखा। मठाधिपतिने प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया किन्तु यह कहकर कि बुद्धके मस्तकपर पैर रखनेवाले व्यक्तिका मुख हम नहीं देख सकते।

बौद्धोंने घटमें अपनी देवीका आह्वान किया और उससे परमहंसका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ बहुत दिन तक चला। अन्तमें शासनदेवीके द्वारा बतलाये गये उपायसे काम लिया गया। अन्तमें परमहंसने विजय पाई और पर्दा खींचकर घड़ेको पैरसे फोड़ डाला। परमहंसने विजय तो पाई किन्तु उसकी विपत्तिका अन्त नहीं हुआ। बौद्ध पराजित हो और भी कुपित हो गये। अस्तु, किसी तरह आँख बचाकर वह सूरपालसे बिदा हुआ। रास्तेमें उसने एक धोबी देखा और सवारोंको समीप आया जानकर उससे कहा–भागो, सेना आ रही है। बेचारा धोबी कपड़े छोड़कर भाग खड़ा हुआ और परमहंसने उसका स्थान ले लिया। सवारोंके निकट आने पर और उससे उस मार्गसे जानेवाले मनुष्यका पता पूँछनेपर परमहंसने उस भागते हुए की ओर संकेत

(१) मुनि जिन विजयजी इसका समय १२ वीं शताब्दी मानते हैं–न्यायकु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० ३२ टि० १। डॉ० उपाध्येने बृहत्कथाकोशकी प्रस्तावना (पृ० ४५) में श्री दलालका मत इसे कर्णके राज्य-काल (ई० १०६४–९४) का मानने का तथा डॉ० जैकोबीका मत इसे ई०१२ वीं के उत्तरार्ध माननेका देकर अन्तमें इसे हेमचन्द्रके परिशिष्ट पर्व (ई० ११५० के लगभग) से पूर्ववर्ती माना है।

(२) न्यायकु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० ३२।

(३) प्रभावकचरित पृ० १०३–२३। न्यायकु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० ३२।

कर दिया। इस तरह अपनी जान बचाकर गुरुके पास पहुँचा,[1] और सब हाल सुनाते हुए भाईके तीव्र शोकके वेगसे उसकी छाती फट गई और वह वहीं मर गया। हरिभद्र सूरिको अपने प्रिय शिष्योंकी मृत्युसे बहुत खेद हुआ और उसका बदला लेनेके लिये उन्होंने बहुतसे बौद्ध पंडितोंको शास्त्रार्थमें हराया और शर्तके अनुसार उन्हें तप्त तेलमें डाल दिया। पीछे गुरुके द्वारा भेजी गई गाथाओंसे वे शान्त हुए। हरिभद्रके प्रत्येक ग्रन्थके अन्तमें 'विरह' शब्द आता है, जो उनके प्रिय शिष्योंके वियोगका चिह्न है।"

राजशेखरसूरिके चतुर्विंशतिप्रबन्ध (ई० १३४८) में भी हंस परमहंसकी कथा है[2]। उसमें शास्त्रार्थ और भोजीवाली घटना नहीं है। बाकी सब लगभग प्रभावकचरित्र जैसा ही है। उसमें दोनों भाइयोंने युद्ध किया, हंस मारा गया और परमहंस भागे। किन्तु सैनिकोंने चित्रकूट नगरके द्वारपर सोते हुए परमहंसका सिर काट लिया। आदि।

समीक्षा–

इन कथानकोंमें दो भाइयोंके बौद्धमठमें पढ़ने जाना, एकका मारा जाना दूसरेका शास्त्रार्थ करना आदि घटनाएँ लगभग एक जैसी हैं। हंस परमहंस नाम जैन परम्पराके अनुकूल नहीं लगते। हाँ, प्राकृत कथावलीके जिनभद्र और वीरभद्र नामों पर जैन परम्पराकी छाप है। कालकी दृष्टिसे प्रभाचन्द्रका कथाकोश सबसे पुराना है। इस प्रकारकी कथाओंमें शासनप्रभावनाकी बात मुख्य रहती है और ऐतिहासिक तथ्य उसीमें लिपटकर सामने आते हैं।

राजवली कथे आदि १६ वीं सदीकी बहुत बादकी रचनाएँ हैं। इनमें परम्परागत तथ्योंका अपने युगकी अनुश्रुतियोंसे मिलाकर प्रभावनार्थ चित्रण किया गया है। इन्हें इतिहासका समर्थन नहीं मिल पा रहा है। इनमें जिनदास और जिनमती नाम जैनत्वके रंग में रंगे हुए हैं। अन्य घटनाओं में धर्म-प्रभावनाकी भावना ही मुख्य रही है।

प्रभाचन्द्रका कथाकोश अवश्य प्राचीन साधन है जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री उपस्थित करता है। यथा–

(१) 'मान्यखेट नगरीका राजा शुभतुङ्ग था।' जहाँ तक ऐतिहासिक साधनोंसे जाना जा सका है राष्ट्रकूटवंशीय कृष्ण प्रथमकी उपाधि 'शुभतुङ्ग' थी[3]। राष्ट्रकूटोंकी राजधानी भी मान्यखेट थी, पर इसकी पुनः स्थापना अमोघवर्षने ई० ८१५ के आसपास की थी[4]। अमोघवर्षके पहिले गोविन्द तृतीयने वेंगीके पूर्वी चालुक्य द्वारा मान्यखेटके रक्षार्थ उसके चारों तरफ शहरपनाह बनवाई थी[5]। इसके भी पहिले शक संवत् ६९८ (ई० ७७६) के देवरहल्लिके[6] ताम्रपत्रोंमें मान्यपुरका उल्लेख है। जिससे श्रीपुरुषका विजय-स्कन्धावार ६९८ शकमें मान्यपुरमें था यह विदित होता है।

राष्ट्रकूटकालके विशिष्ट अभ्यासी डॉ आल्तेकर अमोघवर्षके पहिले राष्ट्रकूटोंकी राजधानी कहाँ थी यह निश्चय करनेमें कोई प्रमाण नहीं पाते।[6]

शुभतुङ्ग कृष्णराज प्रथम अपने भतीजे दन्तिदुर्ग द्वितीयकी जवानीमें ही मृत्यु हो जानेके बाद राज्याधिकारी हुए थे। दन्तिदुर्ग द्वितीयका एक दानपत्र[7] (शक सं० ६७५ ई० ७५३) सामनगढ़ (कोल्हापुर राज्य) में मिला है। इसमें इसके प्रतापका विस्तृत वर्णन है। भारत[8] इतिहास संशोधक मण्डलने एक ताम्रपत्र

(१) न्यायकु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० ३२।
(२) एपि० इं० भाग ३ पृ० १०६।
(३) ए० इं० भाग १२ पृ० २६३।
(४) भारतके प्राचीन राजवंश भाग ३ पृ० ३९।
(५) जैनशि० भाग २ लेख नं० १२१। ए० क० भाग ४ नागमंगल ता० नं० ८५।
(६) दी राष्ट्रकूटॉज एण्ड देअर टाइम्स पृ० ४८।
(७) ए० इं० भाग ११ पृ० १११। भा० प्रा० राज० भाग ३ पृ० २६।
(८) दी राष्ट्रकूटॉज० पृ० ४४।

कृष्णराजका प्रकाशित किया है। यह सितम्बर सन् ७५८ का है। अतः डॉ० आल्तेकर ई० ७५६ में ४५ वर्षकी अवस्थामें कृष्ण प्रथमका राज्याधिरोहण मानते हैं।[1]

यद्यपि अमोघवर्षके पहिले भी मान्यपुरका उल्लेख उपलब्ध है और अमोघवर्षके पहिले मान्यखेट राजधानी नहीं थी ऐसा उल्लेख नहीं है फिर भी यदि यही मान लिया जाय कि अमोघवर्षने ही मान्यखेटको राजधानी बनाया था तो इसमें इतना ही कहा जा सकता है कि–कथाकोशकारके समय राष्ट्रकूटोंके साथ मान्यखेटका सम्बन्ध दृढ़मूल हो गया था और इसलिए कथाकोशकारने कृष्णराजको मान्यखेटका अधिपति लिख दिया है।

(२) **'शुभतुंगके मन्त्री पुरुषोत्तम थे।'** यद्यपि अभी तक किसी दूसरे प्रमाणोंसे पुरुषोत्तमके मन्त्री होनेका कोई समर्थन नहीं हो सका है फिर भी अकलङ्कदेवका मन्त्रीपुत्र होना अनहोनी बात नहीं है। ये स्वयं जागीरदार या ताल्लुकेदार होकर 'नृपति' कहे जाते होंगे।

(३) **'कलिंगाधिपति हिमशीतलकी सभामें शास्त्रार्थ करना'**–यद्यपि स्पष्टरूपसे अभी कोई हिमशीतल इतिहासके पृष्ठोंपर अवतीर्ण नहीं हो सका है फिर भी डॉ० ज्योतिप्रसादजी ने 'अकलङ्क परम्पराके महाराज हिमशीतल' लेखमें[2] त्रिकलिङ्गाधिपति सोमवंशी सम्राट् नगहुपराज महाभवगुप्त चतुर्थ (ई० ११९-६४४) को हिमशीतलके रूपमें निश्चित करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु उनका समस्त लेख यह मानकर चला है कि अकलंक चरितमें उल्लिखित ७०० संवत्का शास्त्रार्थ विक्रम सं० ७०० में हुआ था, अतः सन् ६४३ के आसपास किसी राजाकी खोज की जाय और उन्होंने नगहुपराज महाभवगुप्त चतुर्थको हिमशीतल मान लिया किन्तु जब अकलंकका समय सुदृढ़ प्रमाणोंसे ई० ७२०–७८० सिद्ध हो रहा है, तब इस प्रकारकी खींचतान पूर्वक की गई कल्पनाओंसे इतिहासकी रक्षा नहीं हो सकती।

निष्कलङ्ककी समस्या–

निष्कलङ्कके विषयमें पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है[3] कि–"किसी भी शिलालेख या ग्रन्थमें निकलङ्क नामके व्यक्तिका उल्लेख नहीं पाया जाता। दूसरोंका तो कहना ही क्या स्वयं अकलङ्क तक उसके सम्बन्धमें मूक हैं। जरा सोचिए तो सही, छोटा भाई बड़े भाईके प्राण बचानेके लिये सिर कटवा दे और इस प्रकार जीवनके महत् उद्देश्य जिनशासनके प्रचार और प्रसारमें सहायक हो और बड़ा भाई उसके इस महान् त्यागकी स्मृतिमें उसका नाम तक भी न ले, क्या यह सम्भव है? हम हैरान हैं कि कथाकारने किस आधार पर अकलङ्कके साथ निकलङ्ककी कल्पना कर डाली।" उनका यह लिखना विचारणीय है। प्राकृत कथावलीसे कालकी दृष्टिसे गद्यकथाकोश पुराना है, अतः उसके आधारसे इसमें यह कल्पना नहीं आ सकती। तत्त्वार्थवार्तिकके **'नृपतिवरतनयः'** से यदि अकलङ्कको वरतनय-ज्येष्ठपुत्र माना जाय तो अवश्य उनके लघुभ्राताकी सूचना मिलती है।

तत्त्वार्थवार्तिक गत श्लोक–

तत्त्वार्थवार्तिक[4] प्रथम अध्यायके अन्तमें निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है–

"जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः॥"

---

(१) दी राष्ट्रकूटॉज० पृ० ४४।

(२) ज्ञानोदय वर्ष २ अंक १७–२१ तक।

(३) न्यायकुमु० भाग १ प्रस्ता० पृ० ३२।

(४) भारतीय ज्ञानपीठका संस्करण पृ० ९९।

इस श्लोकमें अकलङ्कको लघुहव्वनृपतिका वरतनय–ज्येष्ठपुत्र या श्रेष्ठपुत्र बताया है। यह श्लोक श्रवण-बेलगोला और मूडबिद्रीकी ताडपत्रीय प्रतियोंमें नहीं पाया जाता। ब्यावरकी ताडपत्रीय प्रति तथा अन्य उत्तरप्रान्तीय प्रतियोंमें पाया जाता है। यह श्लोक चूँकि प्रथम अध्यायके अन्तमें दिया है तथा कुछ प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं है अतः इसकी अकलङ्ककर्तृकता बहुत निश्चित नहीं कही जा सकती। फिर भी यदि यह श्लोक वस्तुतः अकलङ्ककर्तृक है या तत्समकालीन या निकट उत्तरवर्ती किसी आचार्यकी कृति है तो इससे अकलङ्क के पिताका नाम लघुहव्व सूचित होता है। हमने अकलङ्कग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना (पृ० १२) में इस समस्याके सुलझानेके लिये निम्नलिखित वाक्य लिखे थे–

"मुझे तो ऐसा लगता है कि लघुहव्व और पुरुषोत्तम एक ही व्यक्ति हैं। राष्ट्रकूट वंशीय इन्द्रराज द्वितीय तथा कृष्णराज प्रथम सगे भाई थे। इन्द्रराज द्वितीय का पुत्र दन्तिदुर्ग द्वितीय अपने पिताकी मृत्युके बाद राज्याधिकारी हुआ था। कर्नाटक प्रान्तमें पिताको अव्व या अप्प कहते हैं। संभव है कि दन्तिदुर्ग अपने चाचा कृष्णराजको भी अव्व कहता हो। यह एक साधारण नियम है कि जिसे राजा 'अव्व' कहता हो प्रजा भी उसे अव्व ही कहती है। कृष्णराज जिसका दूसरा नाम शुभतुंग था दन्तिदुर्गके बाद राज्याधिकारी हुआ। मालूम होता है कि पुरुषोत्तम कृष्णराजके प्रथमसे ही लघु-सहकारी रहे हैं, इसलिए स्वयं दन्तिदुर्ग और प्रजाजन इन्हें 'लघुअव्व' कहते हों। बादमें कृष्णराजके राज्यकालमें ये मन्त्री बने हों। कृष्णराज अपनी परिणत अवस्थामें राज्याधिकारी हुए थे, इसलिये यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है कि पुरुषोत्तमकी अवस्था भी करीब करीब उतनी ही होगी और उनका श्रेष्ठ पुत्र अकलङ्क दन्तिदुर्ग द्वितीयकी सभामें जिनका उपनाम 'साहसतुंग' है अपने हिमशीतलकी सभामें हुए शास्त्रार्थकी बात कहे। पुरुषोत्तमका लघुअव्व नाम इतना रूढ़ हो गया था कि अकलंक भी उनके असली नाम पुरुषोत्तमकी अपेक्षा प्रसिद्ध नाम 'लघुअव्व' ही अधिक पसन्द करते हों। यदि तत्त्वार्थवार्तिकवाला उक्त श्लोक अकलङ्क या तत्समकालीन किसी अन्य आचार्यका है तो उसमें पुरुषोत्तमकी जगह 'लघुअव्व' नाम आना स्वाभाविक ही है। लघुअव्व एक तल्लुकेदार होकर भी विशिष्ट राजमान्य तो थे ही अतः वे नृपति भी कहे जाते हों।···यदि पुरुषोत्तम और लघुअव्व के एक ही व्यक्ति होनेका अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि अकलङ्ककी जन्मभूमि मान्यखेट या उसके पास ही होगी। उनके पिताका असली नाम पुरुषोत्तम तथा प्रचलित नाम 'लघुअव्व' होगा। लघुअव्व की जगह लघुहव्व होना तो उच्चारणकी विविधता और प्रतिके लेखन वैचित्र्यका फल है।"

इसमें मैं यह और जोड़ देना चाहता हूँ कि–'यह श्लोक स्वयं अकलङ्कका तो प्रतीत नहीं होता साथ ही कथाकोशकार प्रभाचन्द्र (ई० ९६०-११६५) के पश्चात् ही वह तत्त्वार्थवार्तिककी कुछ प्रतियोंमें प्रक्षिप्त हुआ है; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अकलङ्कदेवके तत्त्वार्थवार्तिकका न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६४६) में निर्देश किया है। यदि तत्त्वार्थवार्तिकमें यह श्लोक होता तो प्रभाचन्द्र अपने गद्यकथाकोशकी कथामें अकलङ्कके पिताके 'लघुहव्व' नाम का निर्देश अवश्य करते। जैसा कि आगे सिद्ध किया जायगा कि अकलङ्कका समय ई० ७२० से ७८० तक है, तो उनका शुभतुंग (ई० ७५६ से ७७२) के मन्त्रीका पुत्र होना इतिहास-विरुद्ध नहीं हो पाता।'

*

अकलङ्ककी तुलना

इस प्रकरणमें क्रमशः उन पूर्ववर्ती और समकालीन आचार्योंकी तुलना प्रस्तुत की जाती है जिनसे अकलङ्कने अपने 'अकलङ्क न्याय' को समृद्ध किया है तथा जिनके मतोंकी समीक्षा की है—

---

(१) तत्त्वार्थवार्तिककी मूडबिद्रीकी भोजपत्रीय प्रति तथा श्रवणबेलगोलाकी ताडपत्रीय प्रतिमें यह श्लोक नहीं है। देखो भारतीय[illegible]से प्रकाशित संस्करण पृ० ९९।

पुष्पदन्त भूतबलि और अकलङ्क–

षट्खण्डागम[1] सिद्धान्तग्रन्थके जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त तथा शेष अंशके तथा अन्य पाँच खंडोंके कर्ता आचार्य भूतबलि हैं। इनका रचना काल ई० प्रथम शताब्दी माना जाता है[2]। अकलङ्कदेव पहिले सैद्धान्तिक-दर्शनिक थे पीछे उनका तार्किक-दार्शनिकरूप सामने आया है। तत्त्वार्थवार्तिकमें उन्होंने आगमके रूपमें जीवस्थान[3] का उल्लेख किया है। मनःपर्यय ज्ञानके वर्णन[4]में आगमके नामसे **"मनसा मनः परिच्छिद्य"** आदि महाबंध (पृ०२४) का अंश उद्धृत किया है। इसी तरह जहाँ भी आगमिक वर्णन है अकलङ्कदेवने इन्हीं ग्रन्थोंका आधार लिया है।

कुन्दकुन्द और अकलङ्क–

दिगम्बर परम्परामें आ० कुन्दकुन्द आम्नायके प्रवर्तक आचार्योंमें हैं। आगमिक अकलङ्कको भूतबलि पुष्पदन्तके बाद जिनकी विरासत मिली है, वे हैं आचार्य कुन्दकुन्द। ये प्रथम सदीके आचार्य माने जाते हैं।[5] इनके ग्रन्थोंमें दार्शनिकताकी पुट भी थोड़ी बहुत देखी जाती है। समयप्राभृत पञ्चास्तिकाय प्रवचनसार और नियमसारमें प्रायः इसके दर्शन होते हैं। अकलङ्कदेवने द्रव्यके उत्पाद व्यय और धौव्यसे भेदाभेदकी चरचामें कुन्दकुन्दकी विचार सरणिका पूरा लाभ लिया है।

उमास्वाति और अकलङ्क–

जैन आगमिक और सैद्धान्तिक वाङ्मयको संस्कृतसूत्रमें निबद्ध करनेवाला आद्य ग्रन्थ तत्त्वार्थ-सूत्र है। इसके कर्ताके नाम उमास्वाति और उमास्वामी दोनों प्रसिद्ध हैं। उन्हींकी एक उपाधि गृद्धपिच्छ थी। इसके दो पाठ प्रचलित हैं–एक भाष्यमान्य और दूसरा सर्वार्थसिद्धिमान्य। अकलङ्कदेवने सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ पर तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ लिखा है तथा भाष्यमान्य सूत्रपाठ तथा भाष्य दोनोंकी आलोचना की है। भाष्यके एक दो वाक्योंको अपने तत्त्वार्थवार्तिक में वार्तिक बनाया है[6]। दसवें अध्यायके अन्तका गद्य और पद्य सभी तत्त्वार्थवार्तिकमें हैं।

तत्त्वार्थसूत्रके **"प्रमाणनयैरधिगमः"** इस [7]सूत्रके अधिगमके उपायों पर ही लघीयस्त्रयका प्रमाणनय-प्रवेश बनाया गया है। अकलङ्कदेव सिद्धिविनिश्चय आदि में सर्वत्र सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ के सूत्र ही उद्धृत करते हैं।

समन्तभद्र और अकलङ्क–

सप्तभंगी और स्याद्वादके प्रतिष्ठापक युगप्रधान आचार्य समन्तभद्रके समयके सम्बन्धमें अभी ऐकमत्य नहीं है। जैनेन्द्र व्याकरणमें **'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य'** उल्लेख रहने पर भी पं० सुखलालजी और पं० नाथूरामजी प्रेमी उन्हें पूज्यपादका वृद्ध समकालीन मानते हैं[8]। इसका विशेष कारण यह दिया गया है कि–विद्यानन्दके उल्लेखानुसार **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** श्लोक पर ही समन्तभद्रने आप्तमीमांसा बनाई है। यह निस्सन्देह सही है कि यह श्लोक पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण है, पर विद्यानन्द इसे सूत्रकारका ही कहते हैं, यद्यपि वे स्वयं इस श्लोक की तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें व्याख्या नहीं करते। ऐसी दशामें विद्यानन्द के उल्लेखकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि निर्बल हो जाती है और उनके 'स्वामिमीमांसितम्' का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रह जाता। दूसरी ओर पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार इन्हें वि० की द्वितीय शताब्दीका विद्वान् समझते[9]

(१) डॉ० हीरालाल–षट्खंडागम प्रथम पु० प्रस्ता० पृ० २०। (२) वही पृ० ३५।
(३) त० वा० पृ० ७९, १३५, १५४। (४) वही पृ० ८५।
(५) डॉ. ए. एन–उपाध्ये–प्रवचनसार भूमिका।
(६) त० वा० पृ० १७। (७) त० सू० १।६।
(८) जैनसा० इ० पृ० ४५–४६। (९) जैनसा० इ० वि० प्र० पृ० १९७।

है। फिलहाल इनके समयका सटीक निर्णायक अन्तरङ्ग प्रमाण सामने नहीं आया। अकलङ्कदेवको अनेकान्त और सप्तभङ्गीका मूल चौखटा समन्तभद्र स्वामीसे ही प्राप्त हुआ था। उनने समन्तभद्रभारतीको अकलङ्क भारती बनाया है।

अकलङ्कदेवने इन्हींकी आप्तमीमांसा पर अष्टशती टीका लिखी है और इनका सबहुमान श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। समन्तभद्रके सूत्रोंको पकड़कर अकलङ्कदेवने जैनन्याय और प्रमाणशास्त्र की पूरी तरह प्रस्थापना की है। वे इनके लिये स्याद्वादपुण्योदधिप्रभावक भव्यैकलोकनयन और स्याद्वादवर्त्मपरिपालकके रूपमें श्रद्धेय रहे हैं और उन्हींके आदर्शपर इन्होंने अकलङ्कन्यायका भव्य प्रासाद खड़ा किया है।

सिद्धसेन और अकलङ्क–

स्वतन्त्र विचारक आ० सिद्धसेनका सन्मतिसूत्र ग्रन्थ प्रसिद्ध है। द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिकाएँ और न्यायावतार इन्हीं की कृति मानी जाती हैं। इनका समय वि० ५ वीं सदी माना जाता है[1]। इनके समयकी उत्तरावधि आ० पूज्यपादका समय (वि० ५ वीं) है, क्योंकि उन्होंने द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका (३।१६)से सर्वार्थसिद्धि (७।१३)में **'वियोजयति चासुभिः'** श्लोक उद्धृत किया है। इनके सन्मतिसूत्रकी (१।३) **'तित्थयरवयण'** गाथाका संस्कृतीकरण लघीयस्त्रय (श्लो० ६७)में किया गया है। तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ८७) में सन्मति० (२।१६) की **'पण्णवणिज्जा'** गाथा तथा पृ० ५४०में **'वियोजयति'** श्लोक द्वात्रिंशतिका (३।१६) से उद्धृत किया गया है। इस तरह सिद्धसेनका सम्मतितर्क अकलङ्कदेवको प्रमाणभूत रहा है। उसके अनेक मन्तव्योंका राजवार्तिकमें उल्लेख है। सिद्धिवि० (६।२१) के **'असिद्धः सिद्धसेनस्य'** श्लोकमें इनका नामोल्लेख सर्वप्रथम किया गया है।

यतिवृषभ और अकलङ्क–

कषायपाहुड चूर्णिके कर्ता यतिवृषभ आगमिक विद्वान् हुए हैं। उनका तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। तिलोयपण्णत्तिके वर्तमान स्वरूपमें विद्वानोंमें मतभेद है[3]। इनका समय ई० ४७३ और ई० ६०९ के बीच निर्धारित किया गया है[4]।

अकलङ्कदेवने अपनी प्रारम्भिक दार्शनिक कृति लघीयस्त्रयके प्रवचन प्रवेशमें–

> **"प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम्।**
> **प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम्॥"**

इस मंगल प्रतिज्ञा श्लोकके अनन्तर आगमानुसार प्रमाण नय और निक्षेपका लक्षण करनेके लिये यह श्लोक लिखा है–

> **"ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।**
> **नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः॥"**

तिलोयपण्णत्तिके प्रथम अधिकारमें निम्न लिखित दो गाथाएँ हैं–

> **"जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिक्खिदे अत्थं।**
> **तस्याजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि॥८२॥**

---

(१) सन्मतिप्रकरण प्रस्ता० पृ० ४१। जैनतर्कवा० प्रस्ता० पृ० १४१।
(२) न्यायकुमु० प्र० प्रस्ता० पृ० ७२।
(३) देखो–तिलोयप० द्वि० प्रस्ता० पृ० १५। और जैनसा० और इ० वि० प्र० पृ० ५८६।
(४) जयधवला प्र० प्रस्ता० पृ० ५७। तिलोयप० द्वि० प्रस्ता० पृ० १५।
(५) लघी० पृ० १८।

णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो ।
णिक्खेवो वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं[1] ॥८३॥"

इसमें दूसरी गाथाका संस्कृत रूपान्तर अकलङ्कके द्वारा आगमानुसार प्रवचन प्रवेशमें किया गया है।

लघीयस्त्रयके परिचयमें आगे बताया जायगा कि अकलङ्कदेवने पहिले 'प्रमाणनयप्रवेश' बनाया तदनन्तर स्वतन्त्र प्रवचनप्रवेश। केवल 'प्रवचन प्रवेश' की प्रतियाँ भी[2] मिलती हैं। पीछे स्वयं अकलङ्कने या अनन्तवीर्यने दोनों ग्रन्थोंको मिलाकर प्रवेशके अनुसार लघीयस्त्रय नाम दिया है। यह श्लोक प्रवचन-प्रवेशकी मंगल-प्रतिज्ञाके बाद ही दिया गया है जिसमें 'यथागमं' प्रवचन प्रवेशार्थ ये लक्षण किये जा रहे हैं।

यह भी सही है कि अकलङ्कदेव आगमिक-दार्शनिक होनेके बाद ही तार्किक-दार्शनिक बने हैं; क्योंकि तत्त्वार्थवार्तिकमें उनके आगमिक-दार्शनिकताके दर्शन होते हैं तदनन्तर ही तार्किक-दार्शनिकताका स्वरूप आता है।

इसी प्रवचनप्रवेश (पृ० २३) में आ० सिद्धसेनके सन्मतिसूत्र की–

"तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं ॥"–सन्मति० १।३।

इस गाथाका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार किया गया है–

"ततः तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलव्याकारिणौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ।"
–लघी० स्ववृ० श्लो० ६७।

इससे इतनी बात स्पष्ट हो जाती है कि अकलङ्कदेवने अपने आगमिक-दार्शनिक कालमें प्राचीन आगम-वाक्योंका संस्कृतीकरण किया है, अतः '**ज्ञानं प्रमाण**' श्लोक उनकी मौलिक कृति नहीं है। धवला टीकामें तो वह तिलोयपण्णत्ति और लघीयस्त्रय दोनोंसे ही उद्धृत हो सकता है पर अधिक संभावना यही है कि वह तिलोयपण्णत्तिसे संस्कृत रूपान्तरित होकर उद्धृत हुआ है; क्योंकि धवलामें तिलोयप० की दोनों गाथाओंका रूपान्तर है और '**ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः**' पाठ है जो तिलोयप० के '**णाणं होदि पमाणं**' का रूपान्तर है।

श्रीदत्त और अकलङ्क–

आ० देवनन्दिने जैनेन्द्र व्याकरण (१।४।३४) में श्रीदत्त नामके आचार्यका उल्लेख किया है। अकलङ्कदेवने भी तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ५७) में शब्द प्रादुर्भाव अर्थमें इति शब्दके प्रयोगकी चर्चाके प्रसङ्गसे '**इति श्रीदत्तम्**' उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये कोई शब्दनिष्णात आचार्य थे। ये पूज्य-पादसे पूर्ववर्ती थे। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इन्हें ६३ वादियोंका विजेता कहा है तथा इनके जल्प निर्णय ग्रन्थका उल्लेख किया है[3]। आ० जिनसेनने भी इनका '**प्रवादीभप्रभेदिन्**' के रूपमें स्मरण किया है।[4] अकलङ्कके सिद्धिविनिश्चयके जल्पसिद्धि प्रकरण तथा जय-पराजयव्यवस्थापर पात्रस्वामीकी तरह इनका प्रभाव हो सकता है।

पूज्यपाद और अकलङ्क–

पूज्यपाद देवनन्दि आचार्यने जैनेन्द्रव्याकरण और सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाये हैं। इनका समय[5]

---

(१) इन दोनों गाथाओंका संस्कृत रूपान्तर धवला टीका (सत्प्र० पु० १ पृ० १६) में उद्धृत है। कुछ विद्वानोंका विचार है (जैन सि० भा० भाग ११ किरण १) कि तिलोयपण्णत्तिमें ही अकलङ्कके संस्कृत-श्लोकका प्राकृतीकरण किया गया है, पर ऐसा प्रमाणित नहीं होता।

(२) कन्नडप्रा० ता० सूची।

(३) "द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्।
त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥४५॥"– त० श्लो० पृ० २८०।

(४) आदिपु० १।४५। **(५) जैनसा० इ० पृ० ४१–।**

ई० ५ वीं सदी है। अकलङ्कदेवने सर्वार्थसिद्धिकी पंक्तियोंको वार्तिक बनाकर तत्त्वार्थवार्तिककी रचना की है, तत्त्वार्थवार्तिकमें प्रायः जैनेन्द्र व्याकरणके ही सूत्रोंके उद्धरण दिये हैं, सिद्धिविनिश्चय वृत्ति[1]में शब्दानुशासन-दक्ष पूज्यपादका उल्लेख किया है, तथा सिद्धिविनिश्चय[2] के **'असिद्धः सिद्धसेनस्य'** श्लोकमें **'विरुद्धो देवनन्दिनः'** लिखकर देवनन्दिका उल्लेख किया है। तात्पर्य यह कि अकलङ्कदेवको पूज्यपादके ग्रन्थ आधारभूत रहे हैं। अकलङ्कदेवने पूज्यपादके प्रति अपनी विनयवृत्ति पूरी तरह प्रकट की है।

मल्लवादी और अकलङ्क-

श्री मुनि जम्बूविजयजीने आचार्य मल्लवादीके नयचक्रका सिंहसूरि गणि क्षमाश्रमणकी वृत्तिसे उद्धार करके संपादन किया है। मल्लवादीके मूल नयचक्रमें भर्तृहरि और दिग्नागके मत आये हैं, अतः इनका समय ई० ५ वींके पूर्व नहीं है। इन्होंने सिद्धसेनके उद्धरण दिये हैं इसलिये भी इस समयका समर्थन होता है। अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चय[3] और प्रमाणसंग्रह[4]में नयोंका विशेष विवरण जिस नयचक्रसे देखनेकी प्रेरणा की है वह यही नयचक्र मालूम होता है। आ० देवसेन (ई० ९३३)का एक नयचक्र प्रकाशित हुआ है किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्द द्वारा उल्लिखित यह नयचक्र नहीं है। नयचक्र पर सिंहसूरिगणि क्षमाश्रमणकी वृत्ति है। इसमें 'विद्वन्मन्य अद्यतन बौद्ध' विशेषणसे अपोहसमर्थक दिग्नागका उल्लेख मानकर इन्हें दिग्नागका समकालीन कहा जाता है[5]। इनके ग्रन्थोंमें धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्य परिवारके किसी ग्रन्थका उल्लेख नहीं है, अतः ये ई० ७ वींके पहिले और दिग्नाग (५ वीं) के बादके विद्वान हो सकते हैं। अकलङ्कदेवके तत्त्वार्थवार्तिक (१।३३)में **"सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः"** वाक्य [6]नयचक्रमें आया है।

जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण और अकलङ्क-

आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमणके विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके समयकी उत्तरावधि ई० ६०९ है। मुनि श्री जिनविजयजीने जैसलमेर भंडारसे प्राप्त विशेषावश्यक भाष्यकी प्रतिके अन्तमें पाई जानेवाली प्रशस्तिकी इन गाथाओंके आधारसे उनका काल ई० ६०९ ही निर्धारित किया है।

> **"पंचसता इगतीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स।**
> **तो चेत्त पुण्णिमाए बुधदिण सातिम्मि णक्खत्ते॥**
> **रज्जे णु पालणए सी [लाइ] च्चम्मि णरवरिन्दम्मि।**
> **वलभीणगरीए इमं महवि······मि जिणभवणे॥"**

प्रो० दलसुख मालवणिया इसे प्रति लेखनका काल इसलिये मानते हैं कि उक्त गाथाओंमें ग्रन्थ समाप्तिका सूचक शब्द नहीं है और वे ई० ५९३ इनकी उत्तरावधि लिखते हैं[7]। अस्तु, ये ई० ६ वींके अन्तभाग और अन्ततः ई० ६०९ तकके विद्वान् हैं। इन्होंने अपने विशेषावश्यक भाष्यमें प्रत्यक्षके मुख्य और सांव्यवहारिक दो भेद करके इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है[8]। अकलङ्कदेवने भी प्रमाणसंख्या व्यवस्था करते समय प्रत्यक्षके ये ही दो भेद किये हैं[9]। इस तरह अकलङ्क-

---

(१) सिद्धिवि० पृ० ६५२। (२) सिद्धिवि० ६।२१।

(३) "इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः।"—न्यायवि० ३।४७७।

(४) "तद्विशेषाः प्रपञ्चेन संचिन्त्या नयचक्रतः।"—प्रमाणसं० पृ० १२५।

(५) प्रो० दलसुखभाई— 'आचार्य मल्लवादीका नयचक्र' लेख, विजयेन्द्रसूरि स्मारकग्रन्थ।

(६) नयच० वृ० लि० पृ० २४५ ख०। (७) देखो गणधरवाद प्रस्ता० पृ० ३२।

(८) "इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।"—विशेषा० गा० ९५।

(९) "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।"—लघी० श्लो० ३।

देवने आगमिक क्षमाश्रमणके विचारोंका अपनी प्रमाण व्यवस्थामें उपयोग किया है। यद्यपि सांव्यवहारिक प्रमाण माननेकी परम्परा विज्ञानवादी बौद्धोंसे प्रचलित रही है[1] पर जैन परम्परामें सर्व प्रथम इस विचारका प्रवेश लघीयस्त्रयमें ही देखा गया है।

पात्रकेसरी और अकलङ्क–

अनन्तवीर्यके उल्लेख[2]के अनुसार पात्रकेसरीका त्रिलक्षणकदर्थन ग्रन्थ था। [3]तत्त्वसंग्रहमें पात्रस्वामीके नामसे **"अन्यथानुपपन्नत्वं"** श्लोक उद्धृत है। [4]शिलालेखोंमें 'सुमति' से पहिले पात्रस्वामीका नाम आता है। हेतुका त्रिलक्षण स्वरूप दिग्नागने न्यायप्रवेशमें स्थापित किया है और उसका विस्तार धर्मकीर्तिने किया है। पात्रस्वामीका पुराना उल्लेख करनेवाले शान्तरक्षित (ई० ७०५–७६२) और कर्णकगोमि (ई ७ वींका उत्तरार्ध और ८वींका पूर्वार्ध) हैं। अतः इनका समय दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और शान्तरक्षितके मध्यमें होना चाहिए। ये ई० ६ वीं के उत्तरार्ध और ७ वीं के पूर्वार्धके विद्वान् ज्ञात होते हैं। इनके प्रसिद्ध **'अन्यथानुपपन्नत्वं'** श्लोकको अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चय[5]के मूलमें शामिल कर लिया है।

भर्तृहरि और अकलङ्क–

वैयाकरण दर्शनके प्रतिष्ठापक आचार्य भर्तृहरिका समय अभी तक इत्सिंगके यात्राविवरणके उल्लेखके आधारसे ई० ६५० निर्विवाद रूपसे माना जाता था; क्योंकि इत्सिंग (ई० ६९१) ने लिखा था कि भर्तृहरिको मरे हुए अभी ४० वर्ष हुए हैं। परन्तु मुनि श्री जम्बूविजयजीने **"जैनाचार्य मल्लवादि अने भर्तृहरिनो समय"** शीर्षक लेख[6]में इस बद्ध धारणाको बदलनेके निम्नलिखित कारण उपस्थित किये हैं—

"(१) भर्तृहरि वसुरातके शिष्य थे। वाक्यपदीयकी टीकामें पुण्यराजने भी यह उल्लेख किया है तथा नयचक्रमें मल्लवादी भी इसका निर्देश करते हैं[7]। परमार्थपंडितने ई० ५६० के आसपास चीनी भाषामें वसुबन्धुका जीवन लिखा है। उसमें बताया है कि जब महावैयाकरण वसुरातने वसुबन्धुरचित अभिधर्मकोशमें व्याकरणसम्बन्धी अशुद्धियाँ बताईं तो वसुबन्धुने उन दोषोंके परिहारके लिये एक ग्रन्थ बनाया था, यह बात विद्वज्जन स्वीकार करते हैं। वसुबन्धुका समय ई० २८०-३६० माना जाता है[8]। अतः वसुबन्धुके समकालीन वसुरात के शिष्य भर्तृहरिका सयम अन्ततः ई० ५वीं का पूर्वार्ध ही हो सकता है।

(२) वसुबन्धुके शिष्य दिग्नागने प्रमाणसमुच्चयके ५ वें अपोहपरिच्छेदके अन्तिम भागमें भर्तृहरिकी वाक्यपदीय की ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं—

> **"संस्थानवर्णावयवैर्विशिष्टे यः प्रयुज्यते।**
> **शब्दो न तस्यावयवे प्रवृत्तिरुपलभ्यते॥**
> **संख्याप्रमाणसंस्थाननिरपेक्षः प्रवर्तते।**
> **बिन्दौ च समुदाये च वाचकः सलिलादिषु॥"**

—वाक्यप० २।१५६-५७।

प्रमाणसमुच्चयके टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धिने विशामलवती टीका[9] में **'यथाह भर्तृहरिः'** लिखकर इन श्लोकोंकी टीका लिखी है। ये श्लोक दिग्नागने मूल प्रमाणसमुच्चयमें दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि भर्तृहरि

---

(१) "प्रामाण्यं व्यवहारेण"–प्र० वा० १।७।

(२) देखो आगे 'अनन्तवीर्य श्रद्धालु तार्किक' प्रकरण। (३) वही। (४) पृ० ८।

(५) न्यायवि० श्लो० २।३२३। (६) बुद्धिप्रकाश पु० ९८ अंक ११ नवम्बर १९५१।

(७) 'वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यायस्य मतं तु तथा···"–नयचक्र०।

(८) तत्त्वसं० प्रस्ता० पृ० ६४।

(९) मुनि श्री जम्बूविजयजीने इस टीकाका टिबेटियनसे अनुवाद करके इस स्थल की जाँच की है।

वैयाकरण दिग्नागके समकालीन थे और उनके गुरु वसुरात दिग्नागके गुरु वसुबन्धुके समकालीन। दिग्नागका समय ई० ४२५ के आसपास है। अतः भर्तृहरि ईसा की ५ वी सदीके पूर्वार्द्धके पूर्वके ही विद्वान् ठहरते हैं बादके नहीं।

(३) इसका एक साधक प्रमाण यह है कि नयचक्रके कर्ता मल्लवादीका परम्परागत समय वीरनिर्वाण ७८४ वि० संवत् ४१४ ई० ३५७ माना जाता है। इन्होंने अपने नयचक्रमें वसुरात और भर्तृहरिका नाम लेकर उनका मत तथा वाक्यपदीयकी कारिकाएँ उद्धृत[1] की हैं। अतः भर्तृहरिका समय भी ई० ४ थी सदीका उत्तरार्ध ही होना चाहिए।"

मुनि श्री जम्बूविजयजीकी युक्तियाँ विचारणीय हैं और स्वीकरणीय हैं। इससे एक बहुत बड़ी भ्रान्तिका निवारण हो जाता है।

इसके पहिले प्रो० ब्रूनो लीबिश और सी० कुन्हनराजने भर्तृहरिका समय ई० ४५० सिद्ध किया है[2], जो उपयुक्त है। ऐसी दशामें इत्सिगके द्वारा निर्दिष्ट भर्तृहरि वैयाकरण भर्तृहरि नहीं है अपि तु कोई शून्यवादी दूसरा पंडित था जैसा कि इत्सिगने स्वयं लिखा है–

"इसके अनन्तर भर्तृहरि शास्त्र है यह पूर्वोल्लिखित चूर्णिकी टीका है और भर्तृहरि नामके एक परम विद्वानकी रचना है। इसमें २५ हजार श्लोक हैं और इसमें मानव जीवन तथा व्याकरणशास्त्रके नियमोंका पूर्णरूपमें वर्णन है।[3] ...उसका तीन रत्नोंमें अगाध विश्वास था और इसमें वह दुहरे शून्यका बड़ी धुनसे ध्यान करता था। सर्वोत्कृष्ट धर्मके आलिङ्गनकी इच्छासे वह परिव्राजक हो गया, परन्तु सांसारिक वासनाओंके वशीभूत होकर वह फिर गृहस्थीमें लौट गया। इसी रीतिसे वह सात बार परिव्राजक बना और सात ही बार फिर गृहस्थीमें लौट गया। ...वह धर्मपालका समकालीन था ...तब वह उपासककी अवस्थामें वापिस चला गया और मठमें रहते हुए एक श्वेत वस्त्र पहिनकर सच्चे धर्मकी उन्नति और वृद्धि करता रहा। उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं।[4]"

"इसके अतिरिक्त वाक्यपदीय है। इसमें ७०० श्लोक हैं और इसका टीका भाग ७००० श्लोकोंका है। यह भी भर्तृहरिकी ही रचना है। यह पवित्र शिक्षाके प्रमाणद्वारा समर्थित अनुमानपर और व्याप्ति-निश्चयकी युक्तियोंपर एक प्रबन्ध है।[5]"

इसमें यह लगता है कि पूर्वोक्त भर्तृहरि जिसने ७ बार परिव्राजक वेश छोड़ा और जो शून्यका अभ्यासी था, वह वाक्यपदीयकार वैदिक भर्तृहरि नहीं है, क्योंकि वाक्यपदीयमें नित्य शब्दब्रह्मका समर्थन तथा संस्कृतेतर असाधु शब्दोच्चारणका निषेध किया गया है। पूर्वोक्त भर्तृहरिके वर्णनके बाद 'वाक्यपदीय' का वर्णन आया है। चूँकि यह समान नामक भर्तृहरिकी कृति है, अतः दोनों एक समझ लिये गये हैं, जब कि वाक्यपदीयकार भर्तृहरि दिग्नागके समकालीन थे। वे ई० ७ वीं के शून्यवादी भर्तृहरिसे निश्चयतः भिन्न हैं[6]। इसने महाभाष्य पर २५ हजार श्लोक प्रमाण कोई टीका लिखी थी।

मीमांसकधुरीण कुमारिलने भर्तृहरिके वाक्यपदीयसे अनेकों श्लोक उद्धृत कर उनकी समालोचना की है। यथा–

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥"–वाक्यप० २।८१।

---

(१) नयच० पृ० १४७, २४२।

(२) मी० श्लो० ता० टी० प्रस्ता० पृ० १७। क्षीरतरंगिणी प्रस्तावना।

(३) इत्सिंगकी भारत० पृ० २७३।

(४) वही पृ० २७३–२७५। (५) वही पृ० २७६।

(६) वाक्यपदीय (लाहौर संस्करण) के संपादक पं० चारुदेव शास्त्री अपने उपोद्घात (पृ० ३) में यही मत व्यक्त करते हैं और वे इत्सिंगके उल्लेखको सन्दिग्ध मानते हैं।

यह श्लोक तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-५३) में दो जगह उद्धृत होकर आलोचित हुआ है। तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९-१०) में कुमारिल ने वाक्यपदीय[1]के "**तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।**" इस अंशका खण्डन किया है। मीमांसाश्लोकवार्तिक[2] में वाक्यपदीय (२।१-२) में आये हुए दशविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी भी आलोचना कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवाद प्रकरणमें बड़ी प्रखरतासे की है।

आ० धर्मकीर्तिने भी भर्तृहरिके स्फोटवादका खण्डन अपने प्रमाणवार्तिक तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्तिमें किया है। वे स्फोटवादका खण्डन प्रमाणवार्तिक (३।२५१-) में करते हैं। भर्तृहरिकी-

"**नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।**
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते॥" -वाक्यप० १।८५।

इस कारिकामें वर्णित वाक्यार्थबोधप्रकारका खण्डन प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति (३।२५३) में इस प्रकार उल्लेख करके किया गया है-

"**समस्तवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यया बुद्ध्या वाक्यावधारणमित्यपि मिथ्या।**"

अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ४८६) में भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचनाके सिलसिलेमें वाक्यपदीय (१।७९) की-

"**इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा।**"

इस कारिकामें वर्णित इन्द्रियसंस्कार शब्दसंस्कार और उभयसंस्कार इन तीनों पक्षोंका खण्डन किया है। तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ५७) में वाक्यपदीय[3] की

"**शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।**"

यह कारिका उद्धृत की है।

आचार्य अनन्तवीर्यने भी शब्दाद्वैतके प्रकरणमें वाक्यपदीयसे '**अनादिनिधनं ब्रह्म**' कारिका तथा नैगमाभासके प्रसङ्गमें '**तां प्रतिपदिकार्थं**' कारिका उद्धृत की है तथा पृ० ६८५ में उनका नामनिर्देश भी किया है[4]।

कुमारिल और अकलङ्क-

मीमांसकधुरीण भट्ट कुमारिल ई० सातवीं सदीके प्रख्यात विद्वान् माने जाते हैं[5]। इन्होंने तन्त्रवार्तिक में भर्तृहरिकी वाक्यपदीयसे श्लोक उद्धृत किये हैं और उनकी आलोचना की है[6]। भर्तृहरिका समय ई० ४ थी ५ वीं सदी बताया जा चुका है। डॉ०के० बी० पाठक आदिको विश्वास था कि कुमारिल ने धर्मकीर्ति की आलोचना की है और पार्थसारथि मिश्र और सुचरित मिश्र की व्याख्याओं में उद्धृत धर्मकीर्ति के श्लोकोंके आधारसे यह प्रायः प्रसिद्ध हो गया था कि कुमारिल धर्मकीर्ति के आलोचक हैं[7]। मीमांसाश्लोकवार्तिक शून्यवाद (श्लो० १५-१७) के जिन श्लोकोंकी चर्चा डॉ० पाठक करते हैं और जिनकी व्याख्यामें सुचरित मिश्र '**अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा**' श्लोक उद्धृत करते हैं, वे ये हैं-

"**मत्पक्षे यद्यपि स्वच्छो ज्ञानात्मा परमार्थतः।**
तथाप्यनादौ संसारे पूर्वज्ञानप्रसूतिभिः॥
चित्राभिश्चित्रहेतुत्वाद् वासनाभिरुपप्लवात्।
स्वानुरूपेण नीलादिग्राह्यग्राहकदूषितम्॥
प्रविभक्तमिवोत्पन्नं नान्यमर्थमपेक्षते।"-मी० श्लो०।

---

(१) वाक्यप० १।७। (२) वाक्याधिकरण श्लो० ५१-।
(३) वाक्यप० २।२३५। (४) देखो परिशिष्ट ७।
(५) म०म० कुप्पुस्वामी-ब्रह्मसि० प्रस्ता० पृ० ५८। (६) पृ० २२।
(७) अकल० ग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० १८।

पर इन श्लोकोंकी शब्दावलीका ध्यान से पर्यवेक्षण करनेसे ज्ञात होता है कि-ग्रन्थकार इन श्लोकोंको सीधे तौरसे किसी पूर्वपक्षीय ग्रन्थसे उठाकर उद्धृत कर रहा है। इनकी शब्दावली **'अविभागोऽपि'** श्लोककी शब्दरचनासे बिलकुल भिन्न है। यद्यपि अर्थकी दृष्टिसे **'अविभागोऽपि'** श्लोक की संगति **'मत्पक्षे'** आदि श्लोकों में कुछ बैठायी जा सकती है; पर यह विषय स्वयं धर्मकीर्ति द्वारा मूलतः नहीं कहा गया है। धर्मकीर्तिके पूर्वज वसुबन्धु दिग्नाग आदिने विज्ञानवादका पूरा समर्थन किया है।

अब कुछ ऐसे स्थल उद्धृत किये जाते हैं जिनसे यह निर्धारित किया जा सकेगा कि धर्मकीर्ति ही कुमारिल की आलोचना करते हैं-

(१) कुमारिलने शाबर भाष्यके **'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्'** वाक्यको ध्यानमें रखकर अपने द्वारा किये गये सर्वज्ञत्व-निराकरण का एक ही तात्पर्य बताया है-धर्मज्ञत्व का निषेध। यथा-

"धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥"[1]

धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (१।३१-३५) में ठीक इससे विपरीत सुगत की धर्मज्ञता ही सिद्ध करते हैं।

(२) कुमारिलके **"नित्यस्य नित्य एवार्थः कृतकस्याप्रमाणता।"** (मी० श्लो० वेदनि० श्लो० १४) इस वाक्य का धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिकमें उल्लेख करके उसकी मखौल उड़ाते हैं-

"मिथ्यात्वं कृतकेष्वेव दृष्टमित्यकृतकं वचः"-प्रमाण वा० ३।२८९।

(३) कुमारिल मी० श्लो० (पृ० १६८) में निर्विकल्पक प्रत्यक्षका वर्णन इस प्रकार करते हैं-

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥"

धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक (२।१४१) में इसका उल्लेख करके खण्डन किया है-

"केचिदिन्द्रियजत्वादेर्बालधीवदकल्पनाम्।
आहुर्बालाः..............................।"

कुमारिलने वेदको अपौरुषेय सिद्ध करनेके लिये **'वेदाध्ययनवाच्यत्वात्'** हेतुका प्रयोग किया है[2]। धर्मकीर्तिने कुमारिलके इस हेतु का भी खण्डन प्रमाणवार्तिक (३।२४०) में **'यथायमन्यतो'** श्लोकमें किया है। कर्णकगोमि इस श्लोककी उत्थानिकामें कुमारिलके **'वेदस्याध्ययनं सर्वम्'** इत्यादि श्लोकको ही उद्धृत करते हैं। इन [3]उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि धर्मकीर्तिने ही कुमारिलकी आलोचना की है।

अकलङ्कदेवके ग्रन्थोंमें कुमारिलके मन्तव्योंके आलोचनके साथ ही कुछ शब्दसादृश्य भी पाया जाता है। यथा-

(१) कुमारिल सर्वज्ञका निराकरण करते हुए लिखते हैं कि-

"प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य तु।
सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति॥" -मी० श्लो० पृ० ८५।

अकलङ्कदेव इसका यथातथा उत्तर देते हैं-

"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा॥"-अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५८।

(२) तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने कुमारिलके नामसे यह श्लोक सर्वज्ञताके पूर्वपक्षमें उद्धृत किया है-

"दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि॥"-तत्त्वसं० पृ० ८२६।

---

(१) यह श्लोक कुमारिलके नामसे तत्त्वसंग्रह (पृ० ८१७) में उद्धृत है।
(२) मी० श्लो० पृ० ९४९। (३) शेषके लिये देखो-अकलङ्कग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० २०-२१।

अकलङ्कदेव सिद्धिविनिश्चय[1]में इसका उपहास करते हुए लिखते हैं–

"दशहस्तान्तरं व्योम्नो नोत्प्लवेरन् भवादृशाः ।
योजनानां सहस्रं किन्नोत्प्लवेत पक्षिराडिति ॥"–सिद्धिवि० ८।१२

(३) कुमारिलने जैनसम्मत केवलज्ञानकी उत्पत्तिको आगमाश्रित मानकर अन्योन्याश्रय दोष दिया है–

"एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः ।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥
नर्ते तदागमात् सिध्येत् न च तेनागमो विना ।"–मी० श्लो० पृ० ८७ ।

अकलङ्कदेव न्यायविनिश्चयमें कुमारिलके शब्दोंको उद्धृत करके उत्तर देते हैं–

"एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।
नर्ते तदागमात् सिध्येत् न च तेन विनागमः ॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥"–न्यायवि० श्लो० ४१२-१३ ।

शाब्दिक तुलना भी देखिए–

"पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ।"–मी० श्लो० पृ० ६९५ ।
"प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ।"–न्यायवि० श्लो० ११७ ।
"तदयं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत् ।"–प्रमाण सं० पृ० ११२ ।

इस तरह अकलङ्क और धर्मकीर्तिके द्वारा आलोचित होने तथा दिग्नागकी आलोचना करनेके कारण कुमारिलका समय ई० ७ वीं सदीका पूर्वार्ध सिद्ध होता है ।

धर्मकीर्ति और अकलङ्क–

[2]धर्मकीर्तिका जन्म दक्षिण त्रिमलयमें हुआ था । तिब्बतीय परम्पराके अनुसार इनके पिताका नाम कोरुनन्द था[3] । इसके लिये एक प्रमाण सिद्धिवि० टी० में उपलब्ध हुआ है[4] । यहाँ एक वाक्य उद्धृत है–

"कुरुन्दारकोऽसि केन तदत्सरभ्रंसात् (तदवसरभ्रंशात्)"

इस श्लोकांशमें 'कुरुन्दारकोऽसि' के स्थानमें 'कोरुनन्ददारकोऽसि' पाठ होना चाहिए । इसमें धर्मकीर्तिका 'कोरुनन्ददारक' कहकर उपहास किया है । इससे ज्ञात होता है कि धर्मकीर्तिके पिता 'कोरुनन्द' थे यह अनुश्रुति ई० दसवीं सदीमें पुरानी है । धर्मकीर्ति नालन्दाके आचार्य धर्मपालके शिष्य थे । धर्मपाल ई० ६४२ तक जीवित थे । धर्मकीर्ति भी ई० ६४२ तक जीवित रहे होंगे । यह समय टिबेटियन इतिहास लेखक तारानाथके उस लेखसे मेल खाता है जिसमें धर्मकीर्तिको टिबेटियन राजा स्रोङ्त्सन् गम् पो का समकालीन बताया है । इसका राजकाल ई० ६२७ से ६९८ तक था ।[5]

चीनी यात्री युवेनच्वांगने भारत यात्रा ई० ६२९ से ६४५ तक की थी । वह नालन्दा[6]में पहिली बार ई० ६३७ में तथा दूसरी बार ई० ६४२ में पहुँचा था । पहिली बार जब वह नालन्दा पहुँचा तो उसे धर्मपाल बोधिसत्त्वके वसतिगृहके उत्तरवाले स्थानमें ठहराया गया जहाँ उसे सब सुविधाएँ दी गईं[7] । उसने उन चुने हुए विद्वानोंके नाम दिये हैं जिनके द्वारा उस समय नालन्दामें मार्गदर्शन चालू था । उनमें

(१) सिद्धिवि० टी० पृ० ५४३ । (२) डॉ० स० विद्याभूषण–हि० इ० ला० पृ० ३०२ ।
(३) दर्शनदिग्दर्शन पृ० ७४१ । (४) पृ० ५४ पं० ६ । (५) हि० इ० ला० पृ० ३०६ टि० १।
(६) ऑन युवेनच्वांग भाग २ परि०, विन्सेंट स्मिथ पृ० ३३५ ।
(७) बील–दी लॉइफ ऑफ युवेनच्वांग पृ० १०९ ।

धर्मपाल और चन्द्रपालने बुद्धके उपदेशोंकी सुवासको फैलाया था। गुणमति और स्थिरमतिकी प्रतिष्ठा तत्कालीन व्यक्तियोंमें सर्वाधिक थी। प्रभामित्र स्पष्ट युक्तिवादके लिये प्रसिद्ध थे। जिनमित्र सुन्दर संभाषणके लिये ख्यात थे। ज्ञानचन्द्र आदर्श चरित्र और सूक्ष्मप्रज्ञ थे। शीलभद्र सम्पूर्ण योग्यतावाले थे पर अभी तक इनके गुण अज्ञात थे। ये सब योग्यता और शिक्षाके लिये प्रसिद्ध थे[1]।

जब वह दूसरी बार (ई० ६४२) नालन्दा पहुँचा तो शीलभद्र आचार्य पदपर थे[2]। इनसे उसने योगशास्त्रका अध्ययन किया था।

इस विवरणसे ज्ञात होता है कि ई० ६४२ में धर्मपाल निवृत्त हो चुके थे और शीलभद्र उपाध्याय पद पर थे। किसी यात्रा विवरणसे यह पता नहीं चलता कि धर्मपालकी मृत्यु कब हुई[3]? इतना पता तो लग जाता है कि ई० ६४२ में शीलभद्र वयोवृद्ध थे और ई० ६४५ के बाद उनकी मृत्यु हुई।[4]

धर्मकीर्तिका नाम न देनेके विषयमें डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण[5] आदिका यही विचार है कि धर्मकीर्ति उस समय प्रारम्भिक विद्यार्थी होंगे।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायनका विचार है[6] कि–'धर्मकीर्तिकी उस समय मृत्यु हो चुकी होगी। चूँकि युवेनच्वाँगको तर्कशास्त्रसे प्रेम नहीं था और यतः वह समस्त विद्वानोंके नाम देनेको बाध्य भी नहीं था इसीलिए उसने प्रसिद्ध तार्किक धर्मकीर्तिका नाम नहीं दिया। **'अकलङ्क ग्रन्थत्रय'** की प्रस्तावना (पृ० २५) में इस सम्बन्धमें निम्नलिखित वाक्य लिखे गये थे और आज भी उन वाक्योंमें हेर-फेरका कोई कारण नहीं दिखाई देता।

"राहुलजीका यह तर्क उचित नहीं मालूम होता; क्योंकि धर्मकीर्ति जैसे युगप्रधान तार्किकका नाम युवेनच्वाँगको उसी तरह लेना चाहिए था जैसे कि उसने पूर्वकालीन नागार्जुन या वसुबन्धुका लिया है। तर्कशास्त्रसे प्रेम न होनेपर भी गुणमति स्थिरमति जैसे विज्ञानवादी तार्किकोंका नाम जब युवेनच्वाँग लेता है तब धर्मकीर्तिने तो बौद्धदर्शनके विस्तारमें उनसे कहीं अधिक और ठोस प्रयत्न किया है। इसलिये प्रमाणवार्तिक आदि युगान्तरकारी सात ग्रन्थोंके रचयिता धर्मकीर्तिका नाम लिया जाना न्यायप्राप्त ही नहीं था किन्तु युवेनच्वाँगकी सहज गुणानुरागिताका द्योतक भी था। यह ठीक है कि वह सबके नाम लेनेको बाध्य नहीं था पर धर्मकीर्ति ऐसा साधारण विद्वान् नहीं था जिसकी उपेक्षा अनजानमें भी की जाती। फिर यदि धर्मकीर्तिका कार्यकाल गुणमति और स्थिरमति आदिसे पहिले ही समाप्त हुआ होता तो धर्मकीर्तिकी विशाल ग्रन्थराशिका इनके ग्रन्थोंपर कुछ तो असर मिलना चाहिए था, जो उनके ग्रन्थोंका सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः यही उचित मालूम होता है कि धर्मकीर्ति उस समय युवा थे जब युवेनच्वाँग नालन्दा आये थे।

दूसरा चीनी यात्री इत्सिंग था। जिसने ई० ६७१ से ६९५ तक भारतवर्षकी यात्रा[7] की थी। यह ई० ६७५ से ६८५ तक दस वर्ष नालन्दा विश्वविद्यालयमें रहा। इसने अपना यात्रा वृत्तान्त ई० ६९१-९२ में लिखा था। वह विद्यालयके लब्धप्रतिष्ठ स्नातकोंकी चर्चाके सिलसिलेमें लिखता है कि–"प्रत्येक पीढ़ीमें ऐसे

---

(१) थामस वेटर्स–ऑन युवेनच्वांग भाग २ पृ० १६५। (२) वही पृ० १६८-६९।

(३) जे० तककुसुका अनुमान है कि सन् ६३५ में धर्मपाल जीवित नहीं जान पड़ता।–इत्सिंगकी भारत यात्रा, व्यापक भूमिका पृ० ञ २१।

(४) युवेनच्वांगने जिनप्रभको चीनसे पत्र लिखा कि–"एक राजदूतसे मैंने सुना कि आ० शीलभद्र अब जीवित नहीं है। यह समाचार सुनकर मैं असह्य शोकमें मग्न हो गया। आह!"–बौद्ध संस्कृति पृ० ३२७।

(५) हि० इ० ला० पृ० ३०६। (६) वादन्याय प्रस्तावना पृ० ६।

(७) इत्सिंगकी भारत यात्रा पृ० २७७।

मनुष्योंमेंसे केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं जिनकी उपमा चाँद या सूर्यसे होती है और उन्हें नाग या हाथीकी तरह समझा जाता है। पहिले समयमें नागार्जुन, देव, अश्वघोष, मध्यकालमें वसुबन्धु, असङ्ग संघभद्र और भवविवेक अन्तिम समयमें जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ और जिनप्रभ ऐसे मनुष्य थे[1]।" वे फिर लिखते हैं कि-"धर्मकीर्तिने 'जिन' के पश्चात् हेतुविद्याको और सुधारा। प्रज्ञागुप्तने (मतिपाल नहीं) सभी विपक्षी मतोंका खण्डन करके सच्चे धर्मका प्रतिपादन किया।"

इन उल्लेखोंसे मालूम होता है कि सन् ६९१ तकमें धर्मकीर्तिकी प्रसिद्धि ग्रन्थकारके रूपमें हो रही थी। इत्सिंगके द्वारा धर्मपाल गुणमति स्थिरमति आदिके साथ ही साथ धर्मकीर्ति तथा धर्मकीर्तिके टीकाकार शिष्य प्रज्ञागुप्तका नाम लिये जानेसे यह मालूम होता है कि उसका उल्लेख किसी खास समयके लिये नहीं है किन्तु एक ८० वर्ष जैसे लम्बे समयवाले युगके लिए है। यदि राहुलजी की कल्पनानुसार धर्मकीर्तिकी मृत्यु हो गई होती तो इत्सिंग जिस तरह भर्तृहरि (प्रसिद्ध वैयाकरण वाक्यपदीयकार नहीं, अन्य भिक्षु) को धर्मपालका समकालीन लिखकर उनकी मृत्युके विषयमें भी लिखता है कि-'उसे मरे हुए अभी ४० वर्ष हो गए' उसी तरह अपने युगप्रवर्तक प्रसिद्ध ग्रन्थकार 'धर्मकीर्ति'की मृत्युपर भी आँसू बहाए बिना न रहता।

इस विवेचनसे हमारा आज भी यही निश्चित विचार है कि-प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति सहित) न्याय-बिन्दु, प्रमाण विनिश्चय, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय और सम्बन्धपरीक्षा (सवृत्ति) आदि प्रौढ विस्तृत और सवृत्ति प्रकरणों और ग्रन्थोंके रचयिता धर्मकीर्तिकी समयावधि ई० ६२५-५० से आगे लम्बानी होगी और यह अवधि ई० ६२० से ६९० तक रखनी समुचित होगी[2]। इससे युवेनच्वाँगके द्वारा धर्मकीर्तिके नामका उल्लेख न होनेका तथा इत्सिंग द्वारा होनेवाले उल्लेखका वास्तविक अर्थ भी संगत हो जाता है तथा तिब्बतीय इतिहास लेखक तारानाथका धर्मकीर्तिको तिब्बतके राजा 'स्रोङ् त्सन् गम् पो' का, जिसने सन् ६२९ से ६८५ तक राज्य किया था, समकालीन लिखना भी युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है।

अकलङ्कदेवने धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंकी केवल मार्मिक आलोचना ही नहीं की है किन्तु परपक्षके खण्डनमें उनका शाब्दिक और आर्थिक अनुसरण भी किया है। यथा-

(१) धर्मकीर्तिकी सन्तानान्तरसिद्धिका पहिला श्लोक[3] यह है-

"बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात्।
मन्यते बुद्धिसद्भावं सा न येषु न तेषु धीः॥"

अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० २९) में इसे 'तदुक्तम्' के साथ उद्धृत किया है तथा सिद्धिविनिश्चय[4]में तो यह श्लोक **'ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्'** यह पाठभेद करके मूलमें ही शामिल कर लिया है।

(२) हेतुबिन्दु (पृ० ५३) का **'अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान् प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते'** यह वाक्य लघीयस्त्रय स्ववृत्ति (पृ० ३) में मूल रूपसे पाया जाता है।

हेतुबिन्दु (पृ० ५२) की **'पक्षधर्मस्तदंशेन'** यह आद्य कारिका सिद्धिवि०[5] (६।२) में आलोचित हुई है।

(३) प्रमाणविनिश्चयके

"सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।"

---

(१) इत्सिंगकी भारत यात्रा पृ० २७७।

(२) स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव भी धर्मकीर्तिका समय ई० ६७५-७०० मानते थे।-बौद्धधर्म दर्शन पृ० १७०।

(३) राहुलजीकी सूचनानुसार। (४) सिद्धिवि० टी० पृ० १६४। (५) सिद्धिवि० टी० पृ० ३१४, ३७२।

इस श्लोकार्धकी आलोचना अष्टशती[1]में हुई है।

सिद्धिवि० (५।३) में **"शङ्काः कथं कस्यचित् साधनम् इति ब्रुवन्"** यह वाक्य प्रमाणविनिश्चयका उल्लेख कर रहा है; क्योंकि टीका (पृ० ३२०) में इस वाक्यको **'तदुक्तं विनिश्चये'** करके उद्धृत किया है।

(४) वादन्यायकी

> **"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।**
> **निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥"**

इस आद्य कारिकाकी समालोचना न्यायविनिश्चय[2] सिद्धिविनिश्चय[3] और अष्टशती[4]में की गई है।

(५) न्यायबिन्दु[5]के **'विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्य'** इस अंशकी आलोचना **'यदि पुनरायुर्निरोधमेव मरणं किं स्यात्ततः तद् विज्ञानादिनिरोधेन विशिष्यते।'** इस सिद्धिवि०[6]में की गई है।

(६) प्रमाणवार्तिककी आलोचना तो सिद्धिविनिश्चय और न्यायविनिश्चयमें दसों स्थानोंमें हैं। इसके लिये देखो अकलङ्कग्रन्थत्रय टिप्पण-पृ० १३१-१३३, १३६-१३९, १४१, १४२, १४६, १५२, १५५-१५७, १५९-१७० में आये हुए प्रमाणवा० के अवतरण तथा सिद्धिवि० मूलके उद्धृत वाक्य[7]।

प्रमाणवा० स्ववृत्तिके भी अवतरण सिद्धिवि० मूलके उद्धृत वाक्य परिशिष्ट[8]में देखना चाहिए।

(७) सिद्धिविनिश्चय[8]में **'एतेन सम्बन्धपरीक्षा प्रत्युक्ता'** लिखकर अकलङ्कदेवने धर्मकीर्तिके 'सम्बन्ध परीक्षा' प्रकरणका ही उल्लेख किया है। यह त० श्लोक वार्तिक (पृ० १४८-), प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ५०९-११), स्या० रत्नाकर (पृ० ८१२-) और प्रमाणवार्तिकभाष्यकी भूमिका (पृ० (ङ)) में पूरी उद्धृत है।

इस तरह अकलङ्कदेवने धर्मकीर्तिकी समस्त ग्रन्थराशिका ही नहीं उनकी व्याख्याओंका भी आलोडन किया है और उनकी आलोचना की है।

जयराशिका तत्त्वोपप्लव और अकलङ्क-

भट्टजयराशिकृत तत्त्वोपप्लवसिंह ग्रन्थ बड़ौदासे प्रकाशित हुआ है। उसके विद्वान् संपादक पं० सुखलालजीने जयराशिका समय अनन्तवीर्य और विद्यानन्दके उल्लेखोंको उत्तरावधि मानकर ईसाकी ८ वीं शताब्दी अनुमानित किया है[9]। भारतीय विद्या[10]में प्रकाशित 'तत्त्वोपप्लवसिंह-चार्वाकदर्शनका एक अपूर्व ग्रन्थ' लेखमें श्रीमान् पं० सुखलालजीने ई० ७२५ और ई० ८२५ के बीच जयराशिका समय मानते हुए ये वाक्य लिखे हैं-"पर साथमें इस जगह यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि ई० सन् की आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें होनेवाले या जीवित ऐसे अकलङ्क हरिभद्र आदि किसी जैन विद्वान् का तत्त्वोपप्लवमें कोई निर्देश नहीं है और न उन विद्वानोंकी कृतियोंमें ही तत्त्वोपप्लव का वैसा सूचन है।" किन्तु हरिभद्रके ग्रन्थोंमें तत्त्वोपप्लवका स्पष्ट निर्देश न होनेपर भी हमें अकलङ्कके सिद्धिविनिश्चयका निम्नलिखित सन्दर्भ इस नतीजेपर पहुँचा देता है कि अकलङ्कदेवके सामने तत्त्वोपप्लववादीके विचार अवश्य थे। यथा-

"प्रमाणाभावेन प्रत्यक्षमेकं नापरं प्रमेयतत्त्वं वेति न तथा प्रतिपत्तुमर्हति। प्रमाणान्तर-

---

(१) अष्टसह० पृ० ८१।
(२) श्लो० ३७८। (३) सिद्धिवि० टी० पृ० ३३२,३३४।
(४) अष्टसह० पृ० ८१। (५) न्यायबि० ३।५९।
(६) सिद्धिवि० टी० पृ० १६५। (७) सिद्धिवि० टी० परि० पृ० ७६५।
(८) सिद्धिवि० टी० पृ० ७४९।
(९) तत्त्वोपप्लव० प्रस्तावना पृ० १०। (१०) भारतीय विद्या वर्ष २ अंक १।

प्रतिषेधे प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तेः किं केन विदध्यात् प्रतिषेधयेद्वा यतः चातुर्भौतिकमेव जगत् स्यात्। यदि नाम स्वसंवेदनापेक्षया बहिरन्तश्चोपप्लुतमिति ; सूक्तमेतत्, निराकृतपरदर्शनगमनात्। विभ्रमैकान्तमुपेत्य स्वसंवेदनेऽपि अपलापोपलब्धेः अन्यथा विप्रतिषेधात् चतुर्भूतव्यवस्थामपि लक्षणभेदात् कथयितुमर्हति, अन्यथा अनवस्थाप्रसङ्गात्।"

—सिद्धिवि० स्ववृ० ४।१२।

इसमें प्रथम तो यह बताया है कि प्रमाणमात्रका निषेध करनेपर प्रत्यक्ष ही प्रमाण है यह स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि अनुमान प्रमाणका निषेध करनेपर प्रत्यक्षका लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता, तब किसका किससे विधान या प्रतिषेध किया जायगा जिससे चातुर्भौतिक जगत् माना जाय। यदि स्वसंवेदनकी अपेक्षा बाह्य और आभ्यन्तर दोनों तत्त्वोंको उपप्लुत कहते हो तो यह भी कथन 'सूक्त' नहीं हुआ; क्योंकि जिस बौद्धदर्शन (स्वसंवेदन प्रत्यक्षवाद) का खण्डन किया था उसी दर्शनका आश्रय लेना पड़ा। फिर विभ्रमैकान्तका आश्रय लेकर स्वसंवेदनका भी अपलाप किया जा सकता है। यदि स्वसंवेदनमें विभ्रम नहीं है तो चतुर्भूतव्यवस्था भी लक्षणभेदपूर्वक कहनी चाहिए। अन्यथा चतुर्भूतव्यवस्था नहीं होगी आदि।

जैसा कि पं० सुखलालजीने स्वयं उक्त लेखमें लिखा है[1] कि—"जयराशि बृहस्पतिका अनुयायी होकर भी अपनेको बृहस्पतिसे भी ऊँची बुद्धि भूमिकापर पहुँचा हुआ मानता है।" सचमुच जयराशिकी यही प्रकृति इस सन्दर्भमें साफ-साफ झलकती है। पूर्वोक्त सन्दर्भमें अकलङ्कदेव जयराशिको, जो कि बाह्य और अन्तर सर्वत्र तत्त्वको उपप्लुत तत्त्व ही कहता है, समझाते हैं कि स्वसंवेदनके माने बिना विधि-प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। फिर जिस प्रकार अन्यके निषेधके लिये स्वसंवेदन मानना चाहते हो ; उसी तरह चतुर्भूत व्यवस्था भी कहनी चाहिये और वह व्यवस्था प्रत्यक्षके बिना नहीं हो सकती और प्रत्यक्षकी व्यवस्था प्रमाणान्तरके अभावमें सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह कि अनुमान नामका प्रमाण भी मानना होगा आदि।

अतः अकलङ्कके उक्त सन्दर्भमें आए हुए **'बहिरन्तश्च उपप्लुतम्'** पद यह स्पष्ट बता रहे हैं कि उनकी दृष्टिमें तत्त्वोपप्लववादी है। सिद्धिविनिश्चय टीकाकार अनन्तवीर्यने इस अंशकी व्याख्या तत्त्वोपप्लव और जयराशिका नाम लेकर ही की है[2]। अतः अकलङ्कके सामने जयराशिके रहनेपर पंडितजीने जो जयराशिके समयकी पूर्वावधि (ई० ७२५) बताई है वह उत्तरावधि होनी चाहिये।

इसके समर्थनके लिये एक अन्य प्रमाण यह है—धर्मकीर्तिने सुखकी ज्ञानरूपता सिद्ध करनेके लिये निम्नलिखित श्लोक प्रमाणवार्तिक (३।२५२) में लिखा है—

"तदतद्रूपिणो भावाः तदतद्रूपहेतुजाः।
तत्सुखादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्॥"

अर्थात् तद्रूप पदार्थ तद्रूप हेतुसे उत्पन्न होते हैं और अतद्रूप पदार्थ अतद्रूप हेतुसे। तो जब सुख विज्ञानके अभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होता है तो उसे अज्ञानरूप क्यों कहा जाय ? जयराशि धर्मकीर्तिके इसी युक्तिवादको रूपको ज्ञानात्मक सिद्ध करनेके लिये लगाते हुए उक्त श्लोकके **'सुखादि'** पदके स्थानमें **'रूपादि'** पद रख देते हैं—

"अथ ज्ञानं ज्ञानेन उपादनभूतेन जन्यते ; रूपमपि तेनैव जन्यते। नहि तस्य रूपोपादाने आत्माऽन्यत्वम्। एवं च

तदतद्रूपिणो भावाः तदतद्रूपहेतुजाः।
[3]तद्रूपादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्॥

(१) भारतीय विद्या वर्ष २ अंक १।

(२) "तत्त्वोपप्लवकरणात् जयराशिः सौगतमतमवलम्ब्य ब्रूयात् तत्राह—स्वसंवेदन इत्यादि"—सिद्धिवि० टी० पृ० २७८।

(३) 'तद्रूपादि' पद बदला हुआ यह श्लोक विद्यानन्दकी अष्टसहस्री (पृ० ७८) में 'तदुक्तम्' के साथ उद्धृत है।

अथ रूपोपादानजन्यत्वे…"–तत्त्वोप० पृ० ४५।

इस सन्दर्भमें तत्त्वोपप्लवमें जो यह परिवर्तित श्लोक जयराशिने प्रस्तुत किया है वह उद्धृत वाक्य नहीं है जैसा कि प्रकाशित संस्करणमें छापा गया है; क्योंकि उसके आगे पीछे उद्धृतवाक्य सूचक 'उक्तं च' आदि कोई पद नहीं है।

जयराशिके इस **'तद्रूपादि'** वाली बातका उत्तर धर्मकीर्तिके शिष्य प्रज्ञाकरने अपने प्रमाणवार्तिकालङ्कार (पृ० ३१३) में जयसिंहकी बदली हुई कारिकाका उद्धरण देकर ही दिया है–

"अनेन एतदपि निरस्तम्–

तदतद्रूपिणो भावाः तदतद्रूपहेतुजाः।

तद्रूपादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥"　　–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३१३।

इससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि जयराशि धर्मकीर्तिके उत्तरकालमें तथा प्रज्ञाकरके पहिले हुए हैं या इन दोनोंके समकालीन हैं।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने प्रज्ञाकरका समय ई० ७०० ही रखा है[1]। जो ठीक है। हमने 'प्रज्ञाकर गुप्त और अकलङ्क'[2] की तुलना करते हुए विस्तारसे बताया है[3] कि अकलङ्क देवने प्रज्ञाकरके भाविकारणवाद और स्वप्रान्तिकशरीरवादका निरसन किया है।

अतः तत्त्वोपप्लवकारकी आलोचना करनेवाले प्रज्ञाकरका भी खण्डन करनेवाले अकलङ्कदेवके सामने यदि तत्त्वोपप्लववाद रहता है तो उसमें कोई बाधा नहीं है।

ऐसी स्थितिमें हमें जयराशिके समयको थोड़ा और पूर्व में खींचना होगा यानी उनकी समयावधि–धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकरके बीचमें ई० ६५० से ७०० तक रखनी होगी।

आचार्य अनन्तवीर्यने प्रस्तुत टीकामें जयसिंहराशि और तत्त्वोपप्लव ग्रन्थका खण्डन नामोल्लेख करके किया है[1]।

प्रज्ञाकरगुप्त और अकलङ्क–

आ० धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्त आगमापेक्षी टीकाकार हैं। ये केवल टीकाकर ही नहीं थे किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी रखते थे। डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने इन्हें १०वीं सदीका विद्वान् लिखा है[4]। महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने टिबेटियन गुरु परम्पराके अनुसार इन्हें ई० ७०० का विद्वान् बताया है[5]। इनका नामोल्लेख विद्यानन्द[6] (ई० ८००-८४०) अनन्तवीर्य[7] (ई० ९५०-९९०) प्रभाचन्द्र[8] (ई० ९८०-१०६५) वादिराज[9] (ई० १०२५) और वादिदेवसूरि[10] (ई० १११७-११६९) ने किया है। "जयन्तभट्टने वार्तिकालङ्कार (पृ० ३२५) से **"एकमेवेदं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्"** इस वाक्यका उद्धरण देकर उसका खण्डन किया है। जयन्तभट्टका सयय ई० ८१० तक है।

इत्सिंगने अपने यात्रा-विवरणमें जिस प्रज्ञागुप्तका नाम लिया है और लिखा है कि "प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतोंका खण्डन करके सच्चे धर्मका प्रतिपादन किया।" वह यही प्रज्ञाकर गुप्त हैं कोई दूसरा नहीं। इस तरह सन् ६९१-९२ में लिखे गये यात्राविवरणमें प्रज्ञाकरगुप्तका नाम होनेसे ये

---

(१) प्रमाणवार्तिकभाष्य प्रस्तावना पृ० (ढ)।

(२) अकलङ्क ग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० २६।　**(३) देखो पृ० २७७, २७८।**

(४) हि० इ० लि० पृ० ३२६।　**(५) वादन्याय परिशिष्ट और प्रमाणवार्तिकभाष्य प्रस्तावना।**

(६) अष्टसह० पृ० २७८।　**(७) सिद्धिवि० टी० परि० ९।**　**(८) प्रमेयक० पृ० ३८०।**

(९) न्यायवि० वि० प्र०, द्वि० भाग। (१०) स्या० रत्ना० पृ० ३१४। (११) न्यायम० प्रमे० पृ० ७०।

धर्मकीर्तिके समकालीन ही सिद्ध होते हैं। हाँ, धर्मकीर्ति निश्चयतः वृद्ध थे और ये युवा रहे होंगे। अतः इनका समय ई० ६६० से ७२० तक मानना ठीक है। आगे अकलङ्ककी तुलनामें बताया जायगा कि इनके ग्रन्थोंको अकलङ्कने देखा है। इस तरह इनके उक्त समयका पूरा-पूरा समर्थन हो जाता है। ये प्र० वा० स्ववृत्तिके टीकाकार कर्णकगोमिसे पहिले हैं; क्योंकि कर्णकगोमिने **"अलङ्कार एवावस्तुत्वप्रतिपादनात्"** लिखकर[1] इनके प्रमाणवार्तिकालङ्कारका उल्लेख किया है।

प्रज्ञाकरगुप्तके कुछ अपने भी विचार थे जिनका ये स्वतन्त्र भावसे प्रतिपादन ही नहीं समर्थन भी करते थे–

(१) ये सुषुप्त अवस्थामें ज्ञानकी सत्ता नहीं मानते थे। जाग्रत अवस्थाके ज्ञानको प्रबोधकालीन ज्ञानका उपादान मानकर अतीतको कारण मानना तथा भाविमरणको वर्तमान अपशकुनमें कारण मानना इनकी विशेषता थी। तात्पर्य यह कि अतीतकारणवाद और भाविकारणवाद दोनों ही प्रज्ञाकरके मत थे। ये मत वार्तिकालङ्कार (पृ० ६८) में इस प्रकार प्रतिपादित हैं—

"अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता। तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम्। यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि। न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्यापि कारणत्वात्। तथाहि—

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्।
जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम्॥"–प्र० वार्तिकाल०।

प्रमेयकमल मार्तण्ड[2]का **"ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदयकार्यतया····"** यह उल्लेख इस बातका सबल प्रमाण है कि प्रज्ञाकर भाविकारणवादी थे। इसी तरह व्यवहितकारणवादके प्रसङ्गमें अनन्तवीर्यका यह लिखना[3] कि–**"इति प्रज्ञाकरगुप्तस्यैव मतं न धर्मोत्तरादीनामिति मन्यते।"** प्रज्ञाकरके व्यवहितकारणवादीकी प्रसिद्धिका खासा प्रमाण है। प्रज्ञाकरके समकालीन धर्मोत्तर आदि तथा उत्तरकालीन शान्तरक्षित आदि इस मतसे सहमत नहीं थे।

(२) स्वप्नान्तिक शरीर मानना[4]। प्रज्ञाकर स्थूलशरीरके अतिरिक्त स्वप्नमें एक सूक्ष्मशरीर और भी मानते रहे हैं। उसीमें स्वप्न सम्बन्धी समस्त अर्थक्रियाएँ होती हैं। यथा–

"यथा स्वप्नान्तिकः कायः त्रासलङ्घनधावनैः।
जाग्रद्देहविकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि॥"

अनन्तवीर्य सिद्धिवि० टीकामें **"यस्तु प्रज्ञाकरः स्वप्नान्तिकशरीरवादी"** लिखकर इनके स्वप्नान्तिकशरीरवादित्वका समर्थन करते हैं।

(३) पीतशंखादिज्ञानोंसे अर्थक्रिया नहीं होती अतः वे प्रमाण नहीं हैं, पर संस्थानमात्र अंशसे होनेवाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है अतः उस अंशमें उन्हें अनुमानरूपसे प्रमाण मानना चाहिए तथा अन्य अंशमें संशयरूप। इस तरह एक ज्ञानमें आंशिक प्रमाणता तथा आंशिक अप्रमाणता है–

"पीतशङ्खादिविज्ञानं तु न प्रमाणेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्, संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धौ अन्यदेव ज्ञानं तथाहि–

प्रतिभास एवम्भूतो यः न स संस्थानवर्जितः।
एवमन्यत्र दृष्टत्वाद् अनुमानं तथा च तत्॥

ततोऽनुमानं संस्थाने संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च।"

–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५[5]।

---

(१) प्र० वा० स्व० वृ० टी० पृ० १७३। (२) पृ० ३८०।
(३) सिद्धिवि० टी० पृ० १९६। (४) प्र० वार्तिकाल० पृ० ५६। (५) पृ० १९५।

अकलङ्कदेवने प्रज्ञाकर गुप्तके उक्त सभी सिद्धान्तोंका खण्डन किया है। यथा–

(१) अकलङ्कदेव सिद्धिवि०में **"न हि स्वापादौ चित्तचैतसिकानामभावं प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति।"** इस वाक्यके द्वारा स्वापादिमें ज्ञानाभाव माननेवालोंका खण्डन करते हैं।[१]

(२) न्यायविनिश्चय (श्लो० ४७) में अकलङ्कदेवने प्रज्ञाकरके स्वप्नान्तिकशरीरका 'अन्तःशरीर' शब्दसे उल्लेख करके पूर्वपक्ष किया है।

(३) जिस प्रकार प्रज्ञाकर गुप्तने पीतशंखादिज्ञानोंको संस्थानमात्र अंशमें प्रमाण तथा इतरांशमें अप्रमाण कहा है उसी तरह अकलङ्क भी लघीयस्त्रय[३] तथा अष्टशतीमें द्विचन्द्रज्ञानको चन्द्रांशमें प्रमाण तथा द्वित्वांशमें अप्रमाण कहते हैं। अष्टशती[४] में तो वे प्रज्ञाकर गुप्तकी संस्थानमात्रको अनुमान माननेकी बातपर आक्षेप करते हैं। यथा–**"नापि लैङ्गिकं लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धाप्रतिपत्तेः।"**

प्रज्ञाकरके वार्तिकाल० (पृ० ३२५) का **"एकमेवेदं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः"** वाक्य सिद्धि वि०के इस वाक्यसे तुलनीय है–

"हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तज्ञानवृत्तेः प्रकृतेरपरां चैतन्यवृत्तिम्..."

इस तरह इस तुलनासे स्पष्ट है कि अकलङ्कदेवने प्रज्ञाकर गुप्तके ग्रन्थोंको देखा ही नहीं उनकी समालोचना भी की है।

अर्चट और अकलङ्क–

अर्चटका दूसरा नाम धर्माकर दत्त था[६]। इन्होंने हेतुबिन्दुटीका क्षणभङ्गसिद्धि और प्रमाणद्वयसिद्धि ये तीन ग्रन्थ रचे थे[७]। तिब्बेटियन इतिहास लेखक तारानाथके उल्लेखानुसार धर्माकरदत्त धर्मोत्तरके गुरु थे। डॉ विद्याभूषणने इनका समय ई० ९०० अनुमानित किया है[८]। राहुलजीने इनका समय वादन्याय परिशिष्टमें ई० ८२५ लिखा था किन्तु प्रमाणवार्तिकालङ्कारकी प्रस्तावना (पृ० ७) में उसमें सुधार कर ई० ७०० दिया है, तथा तिब्बेटियन परम्परा के अनुसार धर्मोत्तर इनका शिष्य है यह भी सूचित किया है। हेतुबिन्दुके सम्पादक पं० सुखलालजीने इनका समय ई० सातवींका अन्त तथा ८ वींका पूर्वभाग सूचित किया है[९]। इनमें राहुलजी और पं० सुखलालजीका इन्हें ई० ७००से ७२५ तकका विद्वान् बताना इसलिये भी उपयुक्त है कि अकलङ्कदेव (ई० ७२०-७८०) ने सिद्धिविनिश्चयमें इनकी आलोचना की है। उदाहरणार्थ—

"सामान्यविषया व्याप्तिः तद्विशिष्टानुमितेरिति चेत्[१०];"

यह पूर्वपक्ष सिद्धिविनिश्चय स्ववृत्ति में किया गया है। टीकाकार अनन्तवीर्य इसकी उत्थानिकामें लिखते हैं कि–**"सामान्य इत्यादि अर्चटमतं दूषयितुं शङ्कते।"** इससे स्पष्ट है कि अकलङ्कदेवने अर्चटकी भी समालोचना की थी। अन्य अवतरणोंके लिये 'अर्चट' नामके उल्लेख सिद्धिवि० टी० परि० ९ में दे..ना चाहिए।

इस तरह अर्चट–धर्माकरदत्त ई० ७ वीं सदीके अन्तिम भागके विद्वान् होकर अकलङ्कके सम-कालीन हैं। इनकी आलोचना सिद्धिविनिश्चय टीका, न्यायविनिश्चय विवरण तथा स्याद्वादरत्नाकर आदिमें भी प्रचुरता से है।

---

(१) सिद्धि वि० टी० पृ० ९६।
(२) विशेषके लिये देखो अकलङ्क ग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ २८।
(३) देखो लघी० टि० पृ० १४० पं० २० से। (४) अष्टसह० पृ० २७७।
(५) सिद्धिवि० टी० पृ० ६७४। (६) हेतुबि० टीकालो० पृ० २३३।
(७) हेतुबि० टी० प्रस्ता० पृ० १२। (८) हि० ई० लि० पृ० ३३१।
(९) हेतुबि० प्रस्ता० पृ० १२। (१०) सिद्धिवि०, टी० पृ० १७७।

शान्तभद्र और अकलङ्क–

प्रो० दलसुख मालवणियाने न्यायबिन्दु-धर्मोत्तरप्रदीपकी प्रस्तावना (पृ०५२) में शान्तभद्रकी टीका भी न्यायबिन्दुपर थी इसे सप्रमाण सिद्ध किया है। धर्मोत्तरप्रदीपमें [1]शान्तभद्र और विनीतदेवकी टीकाओंसे लम्बे-लम्बे अवतरण देकर धर्मोत्तरने उनका खण्डन किया है। धर्मोत्तरका समय ई० ७०० है, अतः शान्तभद्रको भी धर्मोत्तरका वृद्ध समकालीन मानना चाहिए।

शान्तभद्रका मानस प्रत्यक्षके सम्बन्धमें अपना मत यह था कि–पहिले चक्षु रूपमें चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न करता है फिर चक्षुर्विज्ञान अपने समकालीन रूपक्षणके साथ मिलकर तीसरे क्षणमें मानस प्रत्यक्षको उत्पन्न करता है[2]। शान्तभद्रने इस प्रकारके मानसप्रत्यक्षके सद्भावमें प्रमाण यह दिया है कि–यदि मानसप्रत्यक्ष न माना जाय तो मानसप्रत्यक्षमें होनेवाले विकल्प न होंगे और इस तरह रूपादि व्यवहार न हो पायगा। 'चक्षुरादिविज्ञानमें अनुभूत हो जानेके कारण रूपादि विकल्प हो सकेंगे' यह मत सन्तानभेद हो जानेके कारण उचित नहीं है। अतः रूपादि विकल्पोंका अभाव न हो जाय इसके लिये मानसप्रत्यक्ष मानना चाहिए[3]।

तात्पर्य यह कि शान्तभद्र मानसप्रत्यक्षको युक्तिसिद्ध मानते थे। वे 'विकल्पोदय' रूप कार्यसे मानस-प्रत्यक्षका अनुमान करते थे और इन्द्रियविज्ञानसे सन्तानभेद होनेके कारण 'विकल्पोदय' नहीं मानना चाहते थे। [4]धर्मोत्तरने न्यायबिन्दुमें उनके इस मतका खण्डन किया है, और मानसप्रत्यक्षको सिद्धान्तप्रसिद्ध बताया है तथा कहा है कि इसको सिद्ध करनेकी कई युक्ति नहीं है। 'तब लक्षण करनेका क्या प्रयोजन है?' इस प्रश्नके उत्तरमें कहा है कि यदि वह ऐसा हो तो मानसप्रत्यक्ष समझना चाहिये।

अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चय (१।१६१-६२) में शान्तभद्रके इस मानस प्रत्यक्ष सम्बन्धी मतका खंडन किया है। यथा–

> "अन्तरेणेदमक्षानुभूतं चेन्न विकल्पयेत्।
> सन्तानान्तरवच्चेतः समनन्तरमेव किम्॥"

न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराजसूरिने[5] इस श्लोककी उत्थानिकामें '**शान्तभद्रस्त्वाह**' लिखकर शान्तभद्रका पूर्वोक्त मत देकर ही इस श्लोककी व्याख्या की है।

---

(१) न्यायबि० धर्मोत्तरप्र० पृ० ५, ३१, ३२, ६१, ११८, २०२।

(२) "इह शान्तभद्रेण सौत्रान्तिकानां मतं दर्शयता पूर्वं चक्षू रूपे चक्षुर्विज्ञानं ततस्तेनेन्द्रियविज्ञानेन सहजसहकारिणा तृतीयस्मिन् क्षणे मानसप्रत्यक्षं जन्यते" इति व्याख्यातम्"–धर्मोत्तर प्र० पृ० ६१।

(३) "इह पूर्वैः–'बाह्यार्थालम्बनमेवंविधं मनोविज्ञानमस्तीति कुतोऽवसेयम्' इत्याशङ्क्य 'तदभावे तद्बलोत्पन्नानां विकल्पानामभावात् रूपादौ विषये व्यवहाराभावप्रसङ्गः स्यात्' इत्युक्तम्। 'चक्षुरादिविज्ञानेनानुभूतत्वान्न विकल्पाभावः' इति चाशङ्क्याभिहितम्–'देवदत्तेनापि दृष्टे यज्ञदत्तस्यापि विकल्पप्रसङ्गः।' 'सन्तानभेदान्न भविष्यति' इति च पुनराशङ्क्य अत्रापि सन्तानभेदादेव विकल्पो न प्राप्नोति यत इहापि इन्द्रियाश्रयभेदादेव सन्तानभेदो युगपत्प्रवृत्तेश्च···तस्मात् रूपादिविकल्पाभावो मा भूदित्यविकल्पकं मनोविज्ञानमभ्युपेयम्···"–धर्मोत्तर प्र० पृ० ६२-६३।

(४) "एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसप्रत्यक्षं न त्वस्य प्रसाधकं प्रमाणमस्ति। एवंजातीयकं तद्यदि स्यात् न कश्चिद् दोषः स्यादिति वक्तुं लक्षणमाख्यातमिति।"–न्यायबि० टी० पृ० ६३।

(५) "शान्तभद्रस्त्वाह–यद्यपि प्रत्यक्षतस्तस्य तस्मात् भेदो न लक्ष्यते कार्यतो लक्ष्यत एव। कार्यं हि नीलादिविकल्परूपं स्मरणापरव्यपदेशं न कारणमन्तरेण, कादाचित्कत्वात्। न चाक्षज्ञानमेव तत्कारणं सन्तानभेदात् प्रसिद्धसन्तानान्तरतज्ज्ञानवत्। ततोऽन्यदेव अक्षज्ञानात्तत्कारणम्। तदेव च मानसं प्रत्यक्षमिति। एतदेव दर्शयित्वा प्रत्याचिख्यासुराह–अन्तरेण–"–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५२१।

सिद्धिवि० टी० (पृ० १२९) में भी 'अत्राह शान्तभद्रः' लिखकर इनके मतसे मानसप्रत्यक्षकी कल्पनाका प्रयोजन उस मानसविकल्पकी उत्पत्तिको बताया है[1] जो सन्तानभेदके कारण इन्द्रियज्ञानसे उत्पन्न नहीं हो सकता। अकलङ्कदेव उस मतको अपने मूल श्लोकमें उन्हींके शब्दोंमें उल्लिखित करके उसका खंडन करते हैं–

"प्रत्यक्षात्मानसाद्दते बहिर्नाक्षधियः स्मृतिः।
सन्तानान्तरवच्चेत्तत्समनन्तरमस्य किम्॥"

–सिद्धि वि० २।५

इस तरह हम देखते हैं कि अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय दोनोंमें शान्तभद्रकी स्पष्टतया आलोचना की है।

धर्मोत्तर और अकलङ्क–

धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुके टीकाकारोंमें अर्थप्रधान व्याख्याकारोंमें धर्मोत्तरका प्रधान स्थान है। ये धर्माकरदत्त अपर नाम अर्चटके शिष्य थे। 'अर्चट और अकलङ्क' शीर्षकमें लिखा जा चुका है कि अर्चट ई० ७वीं सदीके अन्तिम भागके[2] विद्वान् हैं, अतः उनके शिष्य धर्मोत्तरका भी समय ७वींका अन्तिम भाग ही समझना चाहिए। अर्चट वृद्ध और धर्मोत्तर युवा होकर दोनों समकालीन हैं। इसका साधक एक प्रमाण यह भी है कि[3] धर्मोत्तरकी टीकाके ऊपर मल्लवादीने टिप्पण लिखा है। मल्लवादीके सम्बन्धमें प्रो० दलसुखजीने लिखा है कि "डा० अल्टेकरने[4] एपिग्राफिका इन्डिका में गुजरातके राष्ट्रकूट राजा कर्क सुवर्णवर्षका एक ताम्रपत्र सम्पादित किया है। उसमें मूलसंघके सेन आम्नायके मल्लवादी उनके शिष्य सुमति और उनके शिष्य अपराजितको दिये गये दानका उल्लेख है। यह लेख शकसंवत् ७४३ का है। डॉ० अल्टेकरका अनुमान है कि न्यायबिन्दुके टिप्पणकार इस लेखमें उल्लिखित मल्लवादी हो सकते हैं और उनका यह अनुमान धर्मोत्तरके समयके साथ भी संगत होता है। शकसंवत् ७४३ अर्थात् ई० ८२१ में अपराजित हुए, मल्लवादी अपराजितके गुरु सुमतिके भी गुरु थे।"

इससे स्पष्ट है कि मल्लवादी ई० ७२५ के आसपास हुए हैं तो धर्मोत्तरको ७०० ई० के आसपास होना चाहिए। इन्होंने[5] न्यायबिन्दुटीका प्रामाण्यपरीक्षा अपोहप्रकरण परलोकसिद्धि क्षणभंगसिद्धि और प्रमाणविनिश्चयटीका आदि ग्रन्थ रचे हैं।

शान्तभद्रके प्रकरणमें लिखा जा चुका है कि धर्मोत्तर मानस प्रत्यक्षको सिद्धान्तप्रसिद्ध मानते थे युक्तिसिद्ध नहीं। अकलङ्क देवने [6]न्यायविनिश्चयमें शान्तभद्रके मानसप्रत्यक्ष सम्बन्धी विचारोंका खण्डन करनेके बाद शान्तभद्रकी आलोचना करनेवाले धर्मोत्तरके इस मतका भी कि 'मानसप्रत्यक्ष सिद्धान्तप्रसिद्ध है, उसका लक्षण विप्रतिपत्तिके निराकरणके लिये किया गया है' खंडन किया है। यथा–

"वेदनादिवदिष्टं चेत् कथन्नातिप्रसज्यते
प्रोक्षितं भक्षयेन्नेति दृष्टा विप्रतिपत्तयः॥
लक्षणं तु न कर्त्तव्यं प्रस्तावानुपयोगिषु।" –न्यायवि० १।१६२-६३

अर्थात् सुखादिकी तरह यदि वह मानस प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है तो अतिप्रसङ्ग हो जायगा। 'प्रोक्षित

(१) "अत्राह शान्तभद्रः–तत्कल्पनया बहिरर्थे मानसं स्मरणं लब्धम्। नहि तत् चक्षुरादिजं युक्तं भिन्नसन्तानत्वात्।...."–सिद्धिवि० टी० पृ० १२९।

(२) धर्मोत्तरप्र० प्रस्तावना पृ० ५५। (३) वही।

(४) एपि० इं० भाग २१ पृ० १३३।

(५) धर्मोत्तरप्र० प्रस्तावना पृ० ५३।

(६) न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५३०।

मांस खाया जाय या नहीं' इसमें भी विवाद है तो इस न्यायशास्त्रमें उसका भी लक्षण करना चाहिए। यदि मानस प्रत्यक्ष आगमप्रसिद्ध है; तो उसका लक्षण नहीं करना चाहिए था आदि। वादिराजने इन कारिकाओंको '**धर्मोत्तरस्त्वाह**' लिखकर उसके खंडनपरक ही लगाया है[1]। अनन्तवीर्यने भी अकलङ्कके अनेक वाक्योंको धर्मोत्तरके खंडनपरक लगाया है[2]।

कर्णकगोमि और अकलङ्क–

आ० धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर स्ववृत्ति रची है। इसकी टीका कर्णकगोमि आचार्यने लिखी हैं। इनका समय हमने[3] ई० ८ वीं सदीका पूर्वभाग सूचित किया था। राहुलजीने प्रमाणवा० स्ववृ० टीकाकी प्रस्तावना (पृ० १२) में इन्हें ई० ९ वीं शताब्दीका विद्वान् माना है। उसका आधार है मण्डनमिश्रको ई० ९ वीं सदीका मानना। कर्णकगोमिने मण्डनमिश्रकी "**आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्**[4]" कारिका '**तदुक्तं मण्डनेन**' लिखकर उद्धृत की है तथा उसकी आलोचना भी की है[5]। बृहती द्वि० भागकी प्रस्तावनामें[6] मण्डनमिश्रका समय ई० ६७० से ७२० सूचित किया गया है तथा म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्रीने अनेक प्रमाणोंसे ब्रह्मसिद्धिकी प्रस्तावनामें मण्डनका समय ई० ६१५ से ६९० सिद्ध किया है[7]। यह निश्चित है कि मण्डनमिश्र कुमारिल और प्रभाकरके अनन्तर तथा धर्मकीर्तिके समकालीन हैं, अतः इनका समय ई० ७ वीं सदीके बाद कथमपि नहीं हो सकता। कर्णकगोमिने स्ववृत्तिटीका (पृ० १७३) में "**अलङ्कार एवावस्तुत्वप्रतिपादनात्**" लिखकर प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारका उल्लेख किया है। इसलिये इनकी पूर्वावधि प्रज्ञाकरका समय है और उत्तरावधि हमारे विचारसे अकलङ्कका समय है; क्योंकि अकलङ्कने कर्णकगोमिके मतका खण्डन किया है। अतः कर्णकगोमि ई० ७ वीं या अन्ततः ८ वीं पूर्वार्धके विद्वान् हैं।

जब कुमारिल आदिने बौद्धसम्मत पक्षधर्मत्वरूप पर आक्षेप करते हुए कहा कि चन्द्रोदय आदि हेतु समुद्रवृद्धि आदि पक्षमें नहीं रहते तब पक्षधर्मत्व अव्यभिचारी कैसे ? तो इसका उत्तर कर्णकगोमिने प्र० वा० स्ववृ० टीकामें इस प्रकार दिया है कि कालको पक्ष मानकर पक्षधर्मत्व घटया जा सकता है[8]।

अकलङ्कदेवने प्रमाणसंग्रह (पृ० १०४) में इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि–"**कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः**।" अर्थात् काल आदिको धर्मी माननेमें अतिप्रसङ्ग दोष होगा।

सिद्धिवि० टी० (पृ० १५८) में '**यथार्थरूपं बुद्धेः वितथप्रतिभासनात्**' इस कारिकाको 'कर्णक' के मतका निर्देश करनेके हेतु लगाया है और इसकी मूलवृत्ति में '**स्वरूपमन्तरेण विभ्रमप्रतिभासासंभवात्**' इस अंशको 'कल्लकस्त्वाह' कहकर कर्णकका ही मत बताया गया है। यह कल्लक 'कर्णक' ही ज्ञात होता है।

शान्तरक्षित और अकलङ्क–

धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें शान्तरक्षित भी बड़े प्रखर विद्वान् थे। इनका वादन्यायकी टीकाके सिवाय तत्त्वसंग्रह नामका विशाल ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है। इनका समय[9] सन् ७०५–७६२ तक माना जाता है। इन्होंने सन् ७४३ में अपनी प्रथम तिब्बत यात्रा की थी। इसके पहिले ही वे अपना तत्त्वसंग्रह बना चुके होंगे। हम शान्तरक्षित और अकलङ्ककी तुलनाके लिये कुछ वाक्य देते हैं–

---

(१) न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५३० ।

(२) देखो–सिद्धिवि० टी० परि० ९ में धर्मोत्तरके नामके पृष्ठ ।

(३) अकलङ्कग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० ३० । (४) ब्रह्मसिद्धि २।१ । (५) प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० १०९ । (६) बृहती द्वि० भाग प्रस्ता० पृ० ३१ । (७) ब्रह्मसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५८ ।

(८) "यद्येवं तर [illegible] त्वमेव साध्यसाधनयोः । तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ११ ।

(९) विनयतोष भट्टाचार्य–तत्त्वसं० प्रस्ता० पृ० ९६ ।

"वृक्षे शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिकी मतिः।"

—तत्त्वसं० पृ० २६७।

"नानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकाः।"

—प्रमाणसं० श्लो० २६। न्यायवि० श्लो० १०४।

शान्तरक्षितने कुमारिलके सर्वज्ञत्व निराकरणके लिये दिये गये प्रमेयत्व और सत्त्वादि हेतुओंका उत्तर देते हुए लिखा है—

"एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः।
निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति॥"

—तत्त्वसं० पृ० ८८५

अकलङ्कने उन्हीं प्रमेयत्व और सत्त्व आदि हेतुओंको सर्वज्ञत्वसिद्धिमें इस प्रकार लगाया है—

"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा।"—अष्टश०, अष्टस० पृ० ५८।

इसके सिवाय शान्तरक्षित सर्वज्ञत्वसिद्धिके लिये ईक्षणिकादि विद्याका दृष्टान्त देते हैं—

"अस्ति हीक्षणिकाद्याख्या विद्या या सुविभाविता।
परचित्तपरिज्ञानं करोतीहैव जन्मनि॥" —तत्त्वसं० पृ० ८८८।

अकलङ्कदेव भी न्यायविनिश्चय (श्लो० ४०७) में ईक्षणिकाविद्याका दृष्टान्त देते हैं।

इन अवतरणोंमें अकलङ्क और शान्तरक्षितके बिम्बप्रतिबिम्बभावका आभास हो जाता है।

इस तरह प्रज्ञाकरगुप्त अर्चट शान्तभद्र धर्मोत्तर कर्णकगोमि और शान्तरक्षितकी तुलनासे ज्ञात हो जाता है कि अकलङ्कने इन सब टीकाकारोंके ग्रन्थोंको देखा है तथा उनका खण्डन भी किया है।

श्री पं० कैलाशचन्द्रजीने अकलङ्कका समय ई० ७ वीं शताब्दीका मध्य माना है अतः जब ये अनन्तवीर्य और वादिराजके द्वारा अकलङ्कके मूल ग्रन्थको ७ वीं के अन्तिम समयमें हुए उक्त टीकाकारोंके खण्डनपरक लगाता हुआ देखते हैं तो सहसा लिख देते हैं कि—"टीकाकारोंने अकलङ्कके द्वारा जो उक्त ग्रन्थकारों (शान्तभद्र प्रज्ञाकर धर्मोत्तर अर्चट) का खण्डन कराया है यह इतिहासविरुद्ध है, जैसा कि अकलङ्कके समय निर्णयसे ज्ञात हो सकेगा। हम लिख आये हैं कि दार्शनिकोंमें ऐतिहासिक दृष्टिकोणका ध्यान रखते हुए अनुशीलनकी पद्धतिका प्रचार न था तथा इसकी पुष्टिमें धर्मोत्तरके टिप्पणकार मल्लवादीका उदाहरण भी दे आये हैं।...अतः प्रज्ञाकर धर्मोत्तर और अर्चटका अकलङ्कके ग्रन्थोंका खण्डन होनेका जो उल्लेख टीकाकारोंने किया है वह तब तक निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता जब तक उक्त तीनों विद्वानोंको धर्मकीर्तिका साक्षात् शिष्य या प्रशिष्य होनेका सौभाग्य प्राप्त न हो।"[1]

किन्तु जब अकलङ्कका समय अबाधित प्रमाणोंसे ई० ७२०-७८० सिद्ध हो रहा है तथा उपर्युक्त विवेचनसे ये सभी ग्रन्थकार धर्मकीर्तिके शिष्य प्रशिष्य या प्रप्रशिष्य ही सिद्ध हो रहे हैं तब टीकाकारोंके द्वारा कराये गये खण्डनोंका औचित्य एवं इतिहाससिद्धता अपने आप प्रकट हो जाती है। मल्लवादीके द्वारा विनीतदेवके खण्डनकी बात भी ऐसे ही भ्रान्त आधारोंसे अनुचित लगती है। जब विनीतदेव और शान्तभद्र दुर्वेकमिश्रके उल्लेखानुसार धर्मोत्तरके पूर्ववर्ती वृद्ध सिद्ध हो रहे हैं[2] तब उस असिद्ध उदाहरणसे टीकाकारोंके उल्लेखोंमें भ्रान्तता नहीं कही जा सकती।

*

(१) न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग प्रस्ता० पृ० ९७। (२) धर्मोत्तरप्र० प्रस्ता० पृ० ५२।

अकलङ्कका समकालीन और परवर्ती आचार्योंपर प्रभाव–

ऊपरकी तुलनासे अकलङ्कके पूर्ववर्ती और समकालीन आचार्योंके साथ उनके साहित्यिक प्रभावका यत्किंचित् दिग्दर्शन करानेके अनन्तर अब अकलङ्कके द्वारा प्रतिष्ठित अकलङ्क न्यायके विस्तार और प्रसारका भी आभास दिया जा रहा है। सामान्यतया अकलङ्कके द्वारा स्थापित व्यवस्थाओंको सभी उत्तरकालीन दि० श्वे० आचार्योंने स्वीकार किया है और उन्हें प्रमाणभूत मानकर उनका विकास किया है। केवल शान्तिसूरि और आचार्य मलयगिरिने उनके विचारोंसे मतभेद प्रकट किया है।

अजैन ग्रन्थोंमें अकलङ्कदेवका अवतरण केवल एक स्थानपर मिला है, वह है **दुर्वेकमिश्र** (ई० १० का अन्त) द्वारा **धर्मोत्तरप्रदीप**[1] में अकलङ्कका नाम लेकर सिद्धिविनिश्चयका दिया गया उद्धरण[2]।

अकलङ्कका उल्लेख करनेवाले, उनका उद्धरण देनेवाले तथा उनके आलोचक जैन आचार्य इस प्रकार हैं–

धनञ्जय कवि–

[3]धनञ्जय कविका द्विसन्धान काव्य तथा नाममाला कोश प्रसिद्ध है। इनका समय डॉ० के० बी० पाठक ने ई० ११२३-११४० माना है। 'संस्कृत साहित्यका संक्षिप्त इतिहास'[4] के लेखकद्वयने भी इनका समय १२ वीं सदी ही माना है। किन्तु–

प्रभाचन्द्र (ई० ९८०-१०६५) ने इनके द्विसन्धानका उल्लेख प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४०२) में किया है।

वादिराजसूरि (ई० १०२५) ने पार्श्वनाथ चरितमें इनकी प्रशंसा की है।

आ० वीरसेन[5] (ई० ७४८–८२३) ने धवलाटीकामें धनञ्जयकी अनेकार्थनाममालाका **"हेतावेवं प्रकाराद्यैः"** श्लोक उद्धृत किया है। अतः इनका समय ई०८ वीं सदी निश्चित होता है।

इन्होंने अपनी नाममाला के अन्त में–

"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥"

लिखकर अकलङ्कके प्रमाणशास्त्रकी प्रशंसा की है।

वीरसेनाचार्य–

सिद्धान्तपारगामी आचार्य वीरसेन षट्खंडागमकी धवलाटीका तथा कसायपाहुडकी जयधवला (२० हजार श्लोक प्रमाण) के रचयिता थे। इनका समय ई० ७४८–८२३ है[6]। ये अकलङ्कके लघु सम-कालीन हैं।

इन्होंने अकलङ्कदेवका उल्लेख **'पूज्यपाद भट्टारक'**के नामसे तथा उनके तत्त्वार्थवार्तिकका उल्लेख **'तत्त्वार्थभाष्य'**के नामसे इस प्रकार किया है–[7]

"पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि सामान्यनयलक्षणमिदमेव तद्यथा प्रमाणप्रकाशितार्थ-प्ररूपको नयः।"–धवला टीका (प० ७००)

---

(१) "यदाह अकलङ्कः···"–धर्मोत्तर प्र० पृ० २४६।
(२) देखो–सिद्धिवि० टी० पृ० ५८० टि० ३।
(३) न्यायकुमु० द्वि० प्रस्ता० पृ० २७। (४) पृ० १७३। (५) पृ० ४।
(६) धवला पु० १ प्रस्ता० पृ० ६२।
(७) जैनसा० इ० पृ० १४०। (८) षट् खं० पुस्तक १ प्रस्ता० पृ० ६१।

"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः । अयं वाक्यनयः तत्त्वार्थभाष्यगतः ।"

—जयध० प्रथमभाग पृ० २१० ।

नयका यह लक्षण तत्त्वार्थवार्तिक (१।३३) का है ।

इन्होंने धवलाटीकामें सिद्धिविनिश्चयका भी यह अवतरण लिया है—

"सिद्धिविनिश्चये उक्तम्-अवधिविभङ्गयोरवधिदर्शनमेव ।"

—धवलाटीका, वर्गणा खं० पु० १३ पृ० ३५६।

किन्तु यह वाक्य प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयमें नहीं मिला ।

श्रीपाल[1]—

श्रीपाल वीरसेनके शिष्य थे। ये जिनसेनके सधर्मा या गुरुभाई थे। जिनसेनने इन्हें जयधवला टीकाका संपालक या पोषक कहा है और आदिपुराणमें इनके निर्मल गुणोंकी प्रशंसा की है। अतः ये जिनसेनके ज्येष्ठ सहचर हैं। जिनसेनका समय ई० ७६३-८४३ है। अतः इनका समय भी यही होगा। ये अपनी बाल्यावस्थामें अकलङ्कके दर्शन कर सकते हैं। इन्होंने जिनसेनकी तरह अकलङ्कके तत्त्वार्थभाष्यका परिशीलन अवश्य किया होगा।

जिनसेन—

जयधवला और महापुराण आदिके रचयिता जिनसेन वीरसेनके साक्षात् शिष्य थे। इन्होंने अकलङ्कके निर्मल गुणोंका स्मरण किया है। इनका समय ई० ७६३-८४३ है[2]। ये भी अपनी बाल्यावस्थामें अकलङ्कके दर्शन कर सकते हैं। इन्होंने अपने गुरुकी तरह अकलङ्क देवके तत्त्वार्थभाष्यका परिशीलन किया था। ये अपने गुरुकी सिद्धान्तटीकामें उनके सहायक थे।

कुमारसेन—

जिनसेनने हरिवंश पुराण (शकसं० ७०५ ई० ७८३) में कुमारसेनका स्मरण इन शब्दोंमें किया है—

"आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम् ।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ॥"

देवसेनके कथनानुसार वीरसेनके शिष्य विनयसेन, उनके शिष्य कुमारसेनने काष्ठासंघकी स्थापना की थी[3]। विनयसेनकी प्रेरणासे जिनसेनने पार्श्वाभ्युदयकी रचना की थी।

आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टसहस्रीको कुमारसेनकी उक्तियोंसे वर्धमान बताते हैं[4]।

मल्लिषेण प्रशस्तिमें अकलङ्कदेवसे पहिले और सुमतिदेवके बाद एक कुमारसेनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"उदेत्य सम्यग्दिशि दक्षिणस्यां कुमारसेनो मुनिरस्तमापत् ।
तत्रैव चित्रं जगदेकभानोस्तिष्ठत्यसौ तस्य तथा प्रकाशः ॥१४॥"

अतः अकलङ्कके पूर्वमें उल्लिखित कुमारसेनका समय भी अन्ततः ई० ७२०-८०० सिद्ध होता है। इनके अन्तिम समयमें विद्यानन्द इनकी उक्तियोंको सुन सकते हैं और उनसे अष्टसहस्रीको पुष्ट कर सकते हैं,

(१) जैनसा० इ० पृ० १२९ । (२) जैनसा० इ० पृ० १४० ।

(३) जैनसा० इ० पृ० १२९ ।

(४) "कष्टसहस्रीसिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात् ।
शश्वदभीष्टसहस्रां [illegible]मारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥"—अष्टसह० पृ० २९५ ।

और ये हरिवंशपुराण (ई० ७८३) में स्मृत हो सकते हैं। ये अकलङ्कके पूर्व-समकालीन होकर भी अकलङ्ककी अष्टशतीके द्रष्टा अवश्य रहे हैं तभी इनकी उक्तियोंसे विद्यानन्दकी अष्टसहस्री परिपुष्ट हो सकती है।

कुमारनन्दि–

इनका उल्लेख विद्यानन्दने अपनी प्रमाणपरीक्षा[1] में किया है तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक (पृ० २८०) में इनके वादन्याय ग्रन्थका उल्लेख कुमारनन्दि नामके साथ किया गया है। यथा–

"कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः।"

पत्रपरीक्षा (पृ० ३) में **"कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्"** लिखकर

"प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।
प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैः तथोदाहरणादिकम् ॥१॥
न चैवं साधनस्यैकलक्षणत्वं विरुध्यते।
हेतुलक्षणतापायादन्यांशस्य तथोदितम् ॥२॥
अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः ॥" ये तीन श्लोक उद्धृत किये हैं।

'गंगवंशके पृथ्वीकोंगणि महाराजके एक दानपत्र[2] (शक सं० ६९८ ई० ७७६) में चन्द्रनन्दिको दिये गये दानका उल्लेख है। इस दानपत्रमें कुमारनन्दिकी गुरुपरम्परा दी है। अतः इनका समय ई० ७७६ के आसपास सिद्ध होनेसे ये भी अकलङ्कके समकालीन हैं। इनके वादन्यायपर सिद्धिविनिश्चयके जल्पसिद्धि प्रकरणका प्रभाव इसलिये माना जा सकता है कि इनके नामसे उद्धृत श्लोकोंमें अकलङ्क न्यायकी पूरी-पूरी छाप है।

आ० विद्यानन्द–

ये अकलङ्ककी अष्टशतीके व्याख्याकार हैं। आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना[4] में पश्चिमी गंगवंशी नरेश श्रीपुरुषके उत्तराधिकारी शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) का तत्त्वार्थश्लोक वार्तिककी प्रशस्तिमें उल्लेख देखकर इनकी ग्रन्थ रचनाका समय इस प्रकार दिया गया है–"विद्यानन्दमहोदय और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक शिवमार द्वितीयके समय (ई० ८१०) आप्तपरीक्षा प्रमाणपरीक्षा और युक्त्यनुशासनालङ्कृति ये तीन कृतियाँ राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६-८३०) के राज्यकालमें बनी हैं क्योंकि इनमें उसका उल्लेख है। अष्टसहस्री श्लोकवार्तिकके बाद की तथा आप्तपरीक्षा आदिके पूर्व की रचना है। यह करीब ई० ८१०-८१५ में रची गई होगी तथा पत्रपरीक्षा श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और सत्यशासनपरीक्षा ये तीन रचनाएँ ई० ८३०-४० में रचीं ज्ञात होती हैं। इससे भी आ० विद्यानन्दका समय पूर्वोक्त ई० ७७५ से ८४० प्रमाणित है।"

विद्यानन्दने विद्यानन्दमहोदयके बाद तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक ई० ८१० में बनाया है। उन्होंने अपनी प्रौढ़ अवस्थामें ग्रन्थ रचना प्रारम्भ की होगी। यदि विद्यानन्दका जन्म ई० ७६० में मान लिया जाय तो ये अपनी ४० वर्षकी अवस्थासे ग्रन्थ रचना प्रारम्भ कर सकते हैं। ऐसी दशामें इन्हें भी कुमारसेनकी तरह अकलङ्कके उत्तर समकालीन होनेका सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

---

(१) "तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः–अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं···"–प्रमाण प० पृ० ७२। यह श्लोक न्यायदी० पृ० ६९, ८२ में उद्धृत है।

(२) जैन सा० इ० पृ० ७९। (३) एपिग्रा० इ० भाग २ पृ० १५६–५९।

(४) पं० दरबारीलालजी कोठिया–आप्तप० प्रस्ता० पृ० ५१-५३।

विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[1], अष्टसहस्री[2], प्रमाणपरीक्षा[3], पत्रपरीक्षा[4], नयविवरण[5] और सत्यशासनपरीक्षा[6] आदि सभी ग्रन्थोंमें अकलङ्कके लघीयस्त्रयकी कारिकाएँ उद्धृत की हैं। सिद्धिविनिश्चय[7] और न्यायविनिश्चय[8]के श्लोक भी इसी तरह प्रमाणरूपमें उद्धृत हैं। इन्होंने अकलङ्कवाङ्मयको खूब माँजा और उसके गूढ रत्नोंको अपनी प्रज्ञाशाणपर रखकर चमकाया है।

शीलाङ्काचार्य–

आगमोंके आद्यटीकाकार शीलाङ्काचार्यने वि० ९२५ (ई० ८६८) में चउपन्न महापुरिस चरिउ समाप्त किया था[9]। ये आगमोंके प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इन्होंने सूत्रकृताङ्गटीका[10]में लघी० से दो श्लोक उद्धृत किये हैं।

अभयदेव सूरि–

वादमहार्णवकार तर्कपञ्चानन अभयदेवसूरि[11] (ई० १० वीं सदी) ने सन्मतितर्कटीकामें लघीयस्त्रय[12]की कारिकाएँ तथा उसकी स्ववृत्ति उद्धृत की हैं और उनकी प्रमाण-व्यवस्थाका समर्थन किया है।

सोमदेव सूरि–

सुप्रसिद्ध बहुश्रुत साहित्यकार आचार्य सोमदेव सूरि[13] (ई० १० वीं सदी) ने यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्ध[14] में सिद्धिविनिश्चयका '**आत्मलाभं विदुर्मोक्षम्**' श्लोक[15] उद्धृत किया है।

अनन्तकीर्ति–

आचार्य अनन्तकीर्ति (ई० १० वीं) ने अपने लघुसर्वज्ञसिद्धिप्रकरण[16]में सिद्धिविनिश्चयका '**दश-हस्तान्तरं**' श्लोक[17] उद्धृत किया है और उनके वाङ्मयकी युक्तियोंसे इस प्रकरणको समृद्ध किया है।

माणिक्यनन्दि–

सूत्रकार माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्रके गुरु थे। इनका समय ई० ९९३–१०५३ है[18]। इन्होंने अकलङ्क वचोऽम्भोधिसे न्यायविद्यामृतका उद्धार करके ही परीक्षामुखसूत्र रचा है। विशेष विवरणके लिये परीक्षामुख-सूत्रोंकी तुलना[19]में न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय आदि ग्रन्थोंके अवतरण देखना चाहिए।

---

(१) पृ० १८५, ४२४, २३९, २७०, ३३० और २७१ में क्रमशः कारिका ४, ७, १० ३२, ५४ और ७०।

(२) पृ० १३४ में का० ३। (३) पृ० ६९ में का० ३।

(४) पृ० ५ में का० ३। (५) श्लो० ६७ में का० ३२।

(६) पृ० १५ ख में का० ३७। (७) त० श्लो० पृ० १८९ में श्लो० १।२७।

(८) त० श्लो० पृ० १८४ में श्लो० १।३। अष्टसह० पृ० ११६ में श्लो० १।५४।

(९) जैनसा० सं० इ० पृ० १८१।

(१०) पृ० २२७ क और ३२६ क में क्रमशः श्लो० ४ और ७२।

(११) सन्मति० प्र० पृ० ८३। (१२) पृ० ५५३, ५५३, ५५३, ५९५, २७२ और ५४४ में क्रमशः श्लो० ५, ५, १०, २२, ३२ और ५६।

(१३) जैन सा० इ० पृ० १८२। (१४) पृ० २८०। (१५) सिद्धिवि० ७।१९।

(१६) पृ० १२०। (१७) सिद्धिवि० ८।१२।

(१८) आप्तप० प्रस्ता० पृ० ३३। (१९) प्रमेयक० प्रस्ता० के अन्तकी परीक्षामुखसूत्र तुलना

शान्तिसूरि–

वार्तिककार आचार्य शान्तिसूरि[1] (ई० ९९३–१०४७) ने जैनतर्क वार्तिकमें[2] न्यायविनिश्चयके **'भेदज्ञानात्'** श्लोकको[3] तथा सिद्धिविनिश्चयके **'असिद्धः सिद्धसेनस्य'** श्लोकको[4] थोड़े परिवर्तनके साथ ले लिया है[5]। इन्होंने अकलङ्कके **'त्रिधा श्रुतमविप्लवम्'** इस प्रमाणसंग्रहीय[6] मतकी आलोचना की है[7]। शेष के लिये देखो न्यायावतारसूत्र वार्तिक तुलना[8] में न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय के अवतरण।

वादिराज–

स्याद्वाद विद्यापति वादिराज सूरि (ई० १०२५) न्यायविनिश्चयके प्रख्यात विवरणकार हैं। ये अकलङ्कवाङ्मयके गंभीर अभ्यासी रहे हैं और इन्होंने न्यायविनिश्चय विवरणमें श्लोकोंके चार पाँच अर्थ तक किये हैं। गूढार्थ अकलङ्कवाङ्मय रूपी रत्नोंको अगाध भूमिमें इन्होंने अनन्तवीर्यके वचनदीपकी सहायतासे खोजा और पाया था। इन्होंने अकलङ्कके समग्र वाङ्मयसे उद्धरण लिये हैं तथा उनकी स्थापित प्रमाणपद्धतिका समर्थन किया है[9]।

प्रभाचन्द्र–

सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य[10] प्रभाचन्द्र(ई० ९८०–१०६५) ने अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रयपर लघीयस्त्रयालङ्कार-न्यायकुमुदचन्द्र नामकी १८ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची है। इन्होंने अकलङ्कन्यायका अनन्तवीर्यकी उक्तियों से शतशः अभ्यास और विवेचन किया है। इनके सुप्रसन्न न्यायकुमुदचन्द्र नामके टीकाग्रन्थ और प्रमेयकमलमार्तण्डमें अकलङ्कवाङ्मय आधारभूत दीपस्तम्भ रहा है। इन्होंने अकलङ्कके चरणोंमें अपनी श्रद्धाञ्जलि बड़ी विनम्रतासे चढ़ाई है। इनकी आत्मानुशासन तिलक टीका[11] में न्यायविनिश्चय[12] का **'भेदज्ञानात् प्रतीयेते'** श्लोक उद्धृत है।

अनन्तवीर्य–

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य[13] (ई० ११ वीं) ने प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डके अनन्तर अकलङ्कवाङ्मयोद्धृत परीक्षामुखपर प्रमेयरत्नमाला टीका बनाई है। इन्होंने प्रमेयरत्नमाला (३।५) में लघीयस्त्रय[14] तथा न्यायविनिश्चय[15] को उद्धृत किया है। इन्होंने अकलङ्कोक्त न्यायका श्रद्धापूर्वक समर्थन किया है।

वादिदेवसूरि

स्याद्वादरत्नाकरकार वादि देवसूरि[16] (ई० १०८६–११३०) ने अकलङ्क वचनाम्भोधिसे उद्धृत परीक्षामुखसूत्रके आधारसे प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारकी रचना की है तथा उसकी स्याद्वादरत्नाकर-टीका

(१) जैनतर्कवा० प्रस्ता० पृ० १५१। (२) पृ० ११०। (३) श्लो० १।११४।
(४) श्लो० ६।२१। (५) पृ० ५३। (६) श्लो० २। (७) पृ० ७४।
(८) जैनतर्कवा० पृ० २९७।
(९) देखो न्यायवि० वि० दोनों भागकी प्रस्तावनाओं का ग्रन्थ विभाग और टिप्पण।
(१०) विस्तृत विवरण देखो–न्यायकुमु० द्वि० प्रस्ता०। (११) लिखित, श्लो० १७२ की टीकामें।
(१२) श्लो० १।११४।
(१३) न्यायकुमु० द्वि० प्रस्ता० पृ० ३५। (१४) श्लो० १९–२०।
(१५) प्रमेयरत्नमा० ३।१५ में न्यायवि० १।१२।
(१६) विस्तृत परिचय देखो–न्यायकुमु० द्वि० भाग प्रस्ता० पृ० ४१।

भी स्वयं ही लिखी है। इनके प्रमाणनयतत्त्वा० सूत्र[1]में लघी० स्ववृत्तिके वाक्य उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं। स्याद्वादरत्नाकर[2]में इन्होंने अकलङ्कके सिद्धिविनिश्चयका एक वाक्य उद्धृत किया है। इन्होंने अकलङ्क और अकलङ्कके टीकाकारोंके वाक्यरत्नोंसे रत्नाकरकी खूब वृद्धि की है। इन्होंने अकलङ्क न्यायकी मूल व्यवस्थाओं-को स्वीकार करके हेतुके भेद प्रभेद आदिमें उसका विस्तार भी किया है।

हेमचन्द्र–

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र सूरि (ई० १०८८–११७३) को अकलङ्कवाङ्मयमें सिद्धिविनिश्चय बहुत प्रिय था। इसमेंसे उन्होंने प्रमाणमीमांसामें दो श्लोक उद्धृत किये हैं[3]। अकलङ्कदेवके द्वारा प्रतिष्ठापित अकलङ्क-न्यायके ये समर्थक और विवेचक थे।

मलयगिरि–

सुप्रसिद्ध आगमटीकाकार आ० मलयगिरि (ई० ११ वीं १२ वीं) हेमचन्द्रके सहविहारी थे। इन्होंने आवश्यक निर्युक्ति टीका[4]में अकलङ्कदेवके 'नयवाक्यमें भी स्यात् पदका प्रयोग करना चाहिए' इस सिद्धान्तसे असहमति प्रकट की है। इसी प्रसङ्गमें उन्होंने लघीयस्त्रय स्वविवृति[5]में **'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्'** यह वाक्य उद्धृत किया है। अकलङ्कदेवने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखानेके लिये 'स्यात्' पदके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है। आ० मलयगिरिका कहना है कि यदि नयवाक्यमें 'स्यात्' पदका प्रयोग किया जाता है तो वह 'स्यात्' शब्दसे सूचित अन्य अशेष धर्मोंको विषय करनेके कारण प्रमाणवाक्य ही हो जायगा। इनके मतमें सभी नय मिथ्यावाद हैं। किन्तु जब अकलङ्कोक्त व्यवस्थाका समर्थन अन्य सभी विद्यानन्द आदि आचार्योंने किया तो उपाध्याय यशोविजयजीने तदनुसार ही इसका उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय[6]में दे दिया है कि नयवाक्यमें 'स्यात्' पदका प्रयोग अन्य धर्मोंका मात्र सद्भाव द्योतन करता है उन्हें प्रकृत वाक्यका विषय नहीं बनाता। मलयगिरि द्वारा की गई यह आलोचना इन्हीं तक ही सीमित रही है।

चन्द्रसेन–

आ० चन्द्रसेन[7] (ई० १२ वीं) ने उत्पादादि सिद्धि प्रकरणमें[8] सिद्धिविनिश्चयका **'न पश्यामः'** श्लोक[9] उद्धृत किया है।

रत्नप्रभ–

आचार्य रत्नप्रभ (ई० १२ वीं) वादिदेवसूरिके ही शिष्य थे। इन्होंने अपनी रत्नकरावतारिका[10]में अकलङ्कदेवके प्रति **'प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽकलङ्कः'** लिखकर बहुमान प्रकट किया है। इन्होंने उसमें लघीयस्त्रयके श्लोक भी यथास्थान उद्धृत किये हैं[11]।

---

(१) ११४, २१३ और २११२ में का० ३, ४ और ५ की स्ववृत्तिके वाक्य।
(२) पृ० ६४१।
(३) पृ० १२ में सिद्धिवि० ८।२ और ८।३।
(४) पृ० ३७१ क०। (५) श्लो० ६२। (६) पृ० १७ ख०।
(७) जैन सा० सं० इ० पृ० २७५। (८) पृ० ७१। (९) सिद्धिवि० २।१२।
(१०) स्या० रत्ना० पृ० ११३७। (१०) रत्नाकराव० ३।१३ में श्लो० १९-२०।

आशाधर–

प्रज्ञापुञ्ज पं० आशाधरजी[1] (ई० ११८८-१२५०) ने भी अकलङ्क-वाङ्मयका पारायण किया था। इन्होंने अनगारधर्मामृतटीका[2] और इष्टोपदेशटीका[3] में लघीयस्त्रयका चौथा और बहत्तरवाँ श्लोक उद्धृत किया है। इनका स्याद्वादविद्याका निर्मल प्रासाद 'प्रमेयरत्नाकर' ग्रन्थ अप्राप्य है अन्यथा इनके अकलङ्क-वाङ्मयके अवगाहनका और भी पता लगता।

अभयचन्द्र–

अभयचन्द्रसूरि[4] (ई० १३ वीं) ने अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रयपर एक छोटीसी तात्पर्यवृत्ति रची है और भट्टाकलङ्क शशाङ्ककी कौमुदीसे उसे समुज्ज्वल बनाया है।

देवेन्द्रसूरि–

कर्मग्रन्थकार आचार्य देवेन्द्रसूरि[5] (ई० १३ वीं) के विद्वान् हैं। इन्होंने कर्मग्रन्थकी टीका[6] में लघीयस्त्रयका '**मलविद्धमणि**' श्लोक[7] उद्धृत किया है।

धर्मभूषण–

न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणयति[8] (ई० १४ वीं) ने न्यायदीपिका[9] में लघीयस्त्रय[10] और न्यायविनिश्चय[11] के उद्धरण दिये हैं तथा अकलङ्क न्यायका दीपन किया है।

विमलदास–

विमलदास गणिने नव्य शैलीमें सप्तभङ्गितरङ्गिणी ग्रन्थ लिखा है। इन्होंने 'तदुक्तं भट्टाकलङ्कदेवैः' के साथ यह श्लोक उद्धृत किया है।

"प्रमेयत्वादिभिः धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः॥"

यह श्लोक स्वरूपसम्बोधनमें मूल (श्लो० ३) रूपसे विद्यमान है। स्वरूपसम्बोधन ग्रन्थ रचना आदि की दृष्टि से अकलङ्कका तो नहीं मालूम होता। यह महासेनकृत भी कहा जाता है[12]। इस पर पाण्डवपुराणके कर्ता शुभचन्द्रने वृत्ति लिखी थी–यह पाण्डवपुराणकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है।

विमलदासगणिने अकलङ्क वाङ्मयका आलोडन किया था और सकलादेश विकलादेशके प्रकरण में कालादि आठकी दृष्टिसे भेदाभेद निरूपण करके उसका पर्याप्त प्रसार किया है।

यशोविजय–

नव्यन्याययुग प्रवर्तक उपाध्याय यशोविजयजी[13] (ई० १७ वीं सदी) अकलङ्कन्यायके गहरे अभ्यासी और समर्थक थे। इनके जैनतर्कभाषा[14] शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका[15] गुरुतत्त्वविनिश्चय[16] आदि ग्रन्थोंमें अकलङ्क[17]-

---

(१) जैनसा० इ० पृ० ३४२। (२) पृ० ११९। (३) पृ० ३०।
(४) लघी० प्रस्ता० पृ० ५। (५) 'चत्वारः कर्मग्रन्थाः' की प्रस्ता० पृ० १६।
(६) प्रथम कर्मग्रन्थटीका पृ० ८। (७) श्लो० ५७।
(८) न्यायदीपिका प्रस्ता० पृ० ९६–९८। (९) पृ० १२५, २४ और ७० में।
(१०) श्लो० ५२। (११) श्लो० ११३ और श्लो० २।१७२।
(१२) न्यायकुमु० प्र० प्रस्ता० पृ० ५४।
(१३) जैनतर्कभाषा प्रस्ता०। (१४) पृ० २५। (१५) पृ० ३१० ख०। (१६) पृ० १६।
(१७) क्रमशः लघी० स्ववृ० श्लो० ७६, श्लो० ४, श्लो० ३०, ६३।

वाक्यके उद्धरण तो हैं ही, गुरुतत्त्वविनिश्चयमें मलयगिरिकृत अकलङ्ककी समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर भी है। इन्होंने अष्टशती के भाष्य अष्टसहस्री पर अष्टसहस्री-विवरण रचकर अकलङ्क न्यायको समुज्ज्वल किया है।

इनके सिवाय वादीभसिंहकी स्याद्वादसिद्धि[1] वसुनन्दिकी[2] आप्तमीमांसावृत्ति, गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय बृहद्वृत्ति, मल्लिषेणकी स्याद्वादमंजरी, भावसेनके विश्वतत्त्वप्रकाश, नरेन्द्रसेनकी प्रमाणप्रमेयकलिका, अजितसेनकी न्यायमणिदीपिका (प्रमेयरत्नमाला टीका) और चारुकीर्ति पण्डिताचार्यके प्रमेयरत्नमालालङ्कार आदि में भी अकलङ्क-न्यायके शुभ दर्शन होते हैं।

※

अकलङ्क का समय निर्णय

पूर्वनिर्दिष्ट शिलालेखोल्लेखोंमें अकलङ्कदेवका प्राचीनतम उल्लेख ई० १०१६ के शिलालेखमें है।

ग्रन्थकारोंकी तुलनासे यह ज्ञात होता है कि-उनकी पूर्वावधि धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्य परिवारका समय है। यह समय ई० ७ वीं का उत्तरार्ध और ८ वीं का पूर्वार्ध है। विशेष कर शान्तरक्षित (ई० ७६२) का समय ही अकलङ्ककी निश्चित पूर्वावधि है। उत्तरावधिके लिये उनके प्रसिद्ध टीकाकार आ० विद्यानन्दका समय (ई० ७७५-८४०) तथा प्राचीन उल्लेख करनेवाले कवि धनञ्जय (ई० ८ वीं) और आचार्य वीरसेन (ई० ७४८-८१३) का समय है। इस तरह अकलङ्कदेवके समयकी शताब्दी ई० ८ वीं सुनिश्चित हो जाती है।

अब उनके समयके सम्बन्धमें जो विचार किया जा चुका है तथा जो नये प्रमाण उपलब्ध हुए हैं उनके प्रकाशमें शताब्दी के दशक निश्चित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

अकलङ्कदेवके समयके सम्बन्धमें अब तक जिन विद्वानोंने ऊहापोह किया है उनके मत दो भागोंमें बाँटे जा सकते हैं-

(१) पहिला मत अकलङ्कदेवको ईसाकी आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धका विद्वान माननेका है। यह मत स्व० डॉ० के० बी० पाठकका[3] है। इसके समर्थक स्व० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण[4], स्व० डॉ० आर० जी० भाण्डारकर[5], पिटर्सन[6], लुइस राइस[7], डॉ० विंटरनिट्ज[8], डॉ० एफ० डब्ल्यू० थॉमस[9], डॉ० ए० बी० कीथ[10],

---

(१) स्याद्वादसि० प्रस्ता० पृ० १९। यदि ये अकलङ्कके सधर्मा पुष्पसेनके ही शिष्य हैं तो ये अकलङ्कके भी लघुसमकालीन हो सकते हैं।

(२) इनकी आप्तमीमांसावृत्ति पर अष्टशतीका पूरा प्रभाव है। विद्यानन्दकी अष्टसहस्री (पृ० २९५) के उल्लेखानुसार 'जयति जगति' आदि श्लोक कोई आप्तमीमांसाका मंगल मानते हैं। वसुनन्दिने अपनी वृत्तिमें इसे समन्तभद्र कृत तथा आप्तमीमांसाका अन्तिम श्लोक माना है। यदि विद्यानन्द 'केचित्' पदसे इन्हींका निर्देश कर रहे हैं तो इनका समय ई० ९ वीं सदी का प्रारम्भ होना चाहिए।

(३) 'भर्तृहरि और कुमारिल' लेख, जर्नल बम्बई ब्राँच रायल एशि० सोसाइटी भाग १८ सन् १८९२।

(४) हि० इ० ला० पृ० १८६।

(५) ए० भा० ओ० रि० इं० भाग ११ पृ० १५५ में प्रकाशित 'शान्तरक्षिताज़ रिफरेंसेस् टु कुमारिलाज़ अटैक्स ऑ० समन्तभद्र एण्ड अकलङ्क' शीर्षक लेख।

(६) पिटर्सन-द्वितीय रिपोर्ट सर्च ऑफ दी मैन्यु० पृ० ७९।

(७) राइस०-जर्नल रायल एशि० सो० भाग १५ पृ० २९९।

(८) हि० इ० लि० भाग २ पृ० ५८८।

(९) प्रवचनसार अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्ता० (जैन लिट० सो० सीरीज नं० १ केम्ब्रिज)।

(१०) हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट० पृ० ४९७।

डॉ० ए० एस० आल्तेकर[1], श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी[2], पं० सुखलालजी[3], डॉ० बी० ए० सालेतोर[4], म० म० पं० गोपीनाथ कविराज[5] आदि विद्वान् हैं।

(२) दूसरा मत है अकलङ्कदेवको ईसाकी सातवीं शताब्दीका विद्वान् माननेका। इसका मूल आधार है–अकलङ्क चरितका विक्रमार्कशकाब्दीय श्लोक। इस श्लोकका विक्रमसंवत् ७०० अर्थ मानकर अकलङ्कका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी माननेवालोंमें आर० नरसिंहाचार्य[6], प्रो० एस० श्रीकण्ठ शास्त्री[7], पं० जुगलकिशोर मुख्तार[8], डा० ए० एन० उपाध्ये[9], पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री[10] और डा० ज्योतिप्रसादजी[11] आदि हैं।

प्रथम ८ वीं शताब्दी माननेवालोंकी मुख्य अबाधित युक्तियाँ इस प्रकार हैं[12]–

(१) प्रभाचन्द्रके गद्य कथाकोशमें अकलङ्कको राजा शुभतुङ्गके मन्त्रीका पुत्र कहा है अतः अकलङ्क शुभतुङ्गके समकालीन हैं[13]।

(२) चन्द्रगिरि पर्वत पर पार्श्वनाथ बस्तिमें उत्कीर्ण एक स्तम्भलेख जिसे मल्लिषेण प्रशस्ति भी कहते हैं, अकलङ्कका साहसतुङ्गकी सभामें अपने हिमशीतलकी राजसभामें हुए शास्त्रार्थकी बात कहना। यह साहसतुङ्ग दन्तिदुर्ग द्वितीय (ई० ७४४ से ७५६) हो सकता है[13]।

(३) अकलङ्क चरितमें शक संवत् ७०० (ई० ७७८) में अकलङ्कके शास्त्रार्थका यह उल्लेख[14]–

"विक्रमार्कशकाब्दीय शतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्क यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥"

द्वितीय ७ वीं शताब्दी माननेवालोंकी मुख्य युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१. गद्यकथाकोशमें शुभतुङ्गकी राजधानी मान्यखेट लिखा है, और चूँकि मान्यखेट राजधानीकी स्थापना राष्ट्रकूटवंशीय अमोघवर्षने ई० ८१५ के आसपास की थी अतः कथाकोशका वर्णन प्रामाणिक नहीं है[15]।

२. साहसतुंग दन्तिदुर्गका उपनाम या विरुद था यह अनुमान मात्र है[16]।

३. अकलङ्क चरितमें आए हुए श्लोकका विक्रमार्कपद विक्रम संवत्का बोधक है[17]।

४. वीरसेनाचार्य जैसे सिद्धान्त पारगामीने धवला टीका (समाप्ति काल ई० ८१६) में अकलङ्कदेवके राजवार्तिकके अवतरण आगम प्रमाणके रूपमें उद्धृत किये हैं। अतः अकलङ्कको बहुत पहिले सातवीं शताब्दी में होना चाहिए[18]।

---

(१) दी राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देअर टाइम्स पृ० ४०९।
(२) जैन हितैषी भाग ११ अङ्क ७।८।
(३) अकलङ्कग्रन्थत्रय प्राक्कथन पृ० १०। न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग, प्राक्कथन पृ० १६।
(४) मिडिवल जैनि० पृ० ३५। (५) 'अच्युत' वर्ष ३ अंक ४।
(६) इंस्क्रि० एट श्रवणबेलगोला द्वि० सं० की भूमिका।
(७) ए० भा० ओ० रि० इं० भाग १२ में 'दी एज ऑफ शंकर' शीर्षक लेख।
(८) जैनसा० और इतिहासपर विशद० पृ० ५४१।
(९) 'डॉ पाठकाज व्यू ऑन अकलङ्काज डेट' लेख, ए० भा० ओ० रि० इं० भाग १३ पृ० १६१।
(१०) न्यायकुमु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० १०५।
(११) 'ज्ञानोदय' अंक १७ नवम्बर १९५०, 'अकलङ्क परम्परा के महाराज हिमशीतल' लेख।
(१२) डॉ० पाठक–ए० भा० ओ० रि० इं० भाग ११ पृ० १५५। (१३) वही। (१४) वही।
(१५) पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री–न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग प्रस्तावना पृ० १०४।
(१६) डॉ० उपाध्ये–ए० भा० ओ० रि० इं० भाग १२ पृ० ३७३। (१७) वही। (१८) वही।

५. सिद्धसेनगणि ई० ८ वीं सदीके विद्वान् हैं। उन्होंने अकलङ्कके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख किया है इसलिये अकलङ्कको ७ वीं सदीका होना चाहिए[1]।

६. हरिभद्र (ई० ७००–७७०) ने अनेकान्तजयपताकामें अकलङ्कन्याय शब्दका प्रयोग किया है तथा उन पर अकलङ्कका प्रभाव है अतः अकलङ्कको उनसे पूर्व होना चाहिए[2]।

७. जिनदासगणि महत्तर (ई० ६७६) ने निशीथचूर्णिमें सिद्धिविनिश्चयका दर्शनप्रभावक ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है अतः अकलङ्क को ७वीं के मध्यमें होना चाहिए[3]।

हमारी विचारणा–

अकलङ्कदेवके ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षण तथा बाह्य साक्ष्योंके आधारसे अकलङ्कदेवका समय ई० ७२०–७८० तक सिद्ध किया जा चुका है[4]। उसमें अब तक जो नई बातें और ज्ञात हो सकी हैं उनसे हमें अपने निर्धारित समयकी दृढ़ प्रतीति ही हुई है। यह समय वही है जिसे स्व० डॉ० पाठकने निर्धारित किया था तथा डॉ० विद्याभूषण और प्रेमीजी आदि जिसका समर्थन करते रहे हैं। इन विद्वानोंकी कुछ युक्तियाँ बाधित हो गई हैं पर इनके निष्कर्षमें बाधा नहीं आई। कई अन्य[5] विद्वानों तथा डॉ० साल्तोर[6]ने भी अपने **'दी एज ऑफ गुरु अकलङ्क'** लेखमें हमारे विचारोंको मान्यता दी है।

यहाँ ७ वीं सदी माननेवालोंकी उन सभी युक्तियोंपर क्रमशः विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। जिससे बाधकोंका निराकरण होकर अकलङ्कका समय ई० ७२०–७८० निर्बाध सिद्ध होता है।

(१) यह पहिले लिखा जा चुका है[7] कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें राजधानीका नाम मान्यखेट इसलिये लिखा गया है कि उस समय साधारणतया राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मान्यखेट रूढ हो गई थी। राष्ट्रकूट नाम आते ही 'मान्यखेटोंके राष्ट्रकूट' यह बोध होने लगा था। अतः प्रभाचन्द्रने राजधानी मान्यखेट लिख दिया है। इतने मात्रसे कथाकोश अप्रामाणिक नहीं ठहर सकता।

(२) मल्लिषेण प्रशस्ति[8], जिसमें **'राजन् साहसतुंग'** उल्लेख है, श्रवणबेलगोलाके चन्द्रगिरि पर्वतकी पार्श्वनाथ वसतिके एक स्तम्भपर खुदी हुई है। शक संवत् १०५० (११२८) में मल्लिषेण मुनिने शरीरत्याग किया था, उन्हींकी स्मृतिमें यह प्रशस्ति खोदी गई थी।

इसमें क्रमशः महावादी समन्तभद्र, महाध्यानी सिंहनन्दि, षण्मासवादी वक्रग्रीव, नव स्तोत्रकारी वज्रनन्दि, त्रिलक्षणकदर्थनके कर्त्ता पात्रकेसरिगुरु, सुमतिसप्तकके रचयिता सुमतिदेव, महाप्रभावशाली कुमारसेन, मुनिश्रेष्ठ चिन्तामणि, दण्डिके द्वारा स्तुत कविचूडामणि श्रीवर्धदेव और सतति महावादविजेता महेश्वर मुनिके वर्णनके बाद घटावतीर्ण तारादेवीके विजेता अकलङ्कदेवका स्तवन किया गया है। यहीं स्वयं अकलङ्कदेवके मुखसे अपनी निरवद्यविद्याके विभवका वर्णन इस प्रकार दिया है–

"चूर्णिः-यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविद्याविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते ॥

> **राजन् साहसतुङ्ग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः,**
> **किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनः त्यागोन्नता दुर्लभाः।**
> **तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो**
> **नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः ॥ २१ ॥**
> **नमो मल्लिषेणमलधारिदेवाय ॥**

(१) न्यायकुमु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० १०४। (२) वही पृ० १०५।
(३) पं० जुगलकिशोर मुख्तार–अनेकान्त वर्ष १ अंक १। न्यायकुमु० प्र० भाग प्रस्ता० पृ० १०५।
(४) अकलङ्क ग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० १३–३२।
(५) तत्त्वोप०, जैनतर्कवा० और हेतुबि० टी० की प्रस्ता०।
(६) बम्बई हि० सो० जर्नल भाग ६ पृ० १०–३३। (७) पृ० १४।
(८) जैन शि० भाग १ पृ० १०१। लेख नं० ५४ (६७)। ए० क० भाग २ नं० ६७।

(पूर्वमुख)

राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध-
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटनः पण्डितानाम् ।
नो चेदेषोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महान्तो
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात् ॥ २२ ॥

नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ।
राज्ञः श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान्विजित्य सुगतः (स घटः) पादेन विस्फोटितः ॥ २३ ॥"

प्रशस्तिमें इन श्लोकोंको प्रशस्तिकारने उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये श्लोक प्रशस्तिके रचनाकालसे पहिले के हैं। इनमें वर्णित घटनाओंसे अकलङ्कदेवका साहसतुङ्ग राजाकी सभामें जाकर वादियोंको ललकारने और हिमशीतल राजाकी सभामें शास्त्रार्थके समय घड़ेको फोड़नेकी बातका समर्थन होता है।

इसी प्रशस्तिमें आगे अकलङ्कदेवके सधर्मा पुष्पसेन मुनिकी स्तुति है। तदनन्तर पत्रवादी विमलचन्द्र और इन्द्रनन्दिके वर्णनके बाद घटवादघटाकोटिकोविद परवादिमल्लदेवका स्तवन किया गया है। यहाँ भी उन्हींके मुखसे शुभतुङ्गकी सभामें अपने नामकी सार्थकता इस प्रकार बतलाई गई है-

"चूर्णिः-येनेयमात्मनामधेयनिरुक्तिरुक्ता नाम पृष्टवन्तं कृष्णराजं प्रति ॥
गृहीतपक्षादितरः परः स्यात् तद्वादिनस्ते परवादिनः स्युः ।
तेषां हि मल्लः परवादिमल्लः तन्नाम मन्नाम वदन्ति सन्तः ॥ २९ ॥"

इस प्रशस्तिमें अकलङ्कदेवके वर्णनसे परवादिमल्ल तकका उक्त वर्णन अपनी ऐतिहासिक विशेषता भी रखता है। इसमें अकलङ्कका साहसतुङ्गकी सभामें वादियोंको शास्त्रार्थके लिए ललकारना और परवादिमल्लका शुभतुङ्गकी सभामें अपने नामका अर्थ वर्णन करना इस बातका साक्षी है कि प्रशस्तिकार इन दो राजाओंको पृथक् समझते थे। इस प्रशस्ति (ई० ११२८) से पहिले प्रभाचन्द्रके (ई० ९८०-१०६५) गद्य कथाकोशमें हिमशीतलकी सभामें हुए शास्त्रार्थकी चर्चा[1] तो है पर उनके साहसतुङ्गकी सभामें जानेका कोई उल्लेख नहीं है।

जहाँ कि ज्ञात हो सका है शुभतुङ्ग नृपतुङ्ग जगतुङ्ग आदि तुङ्गान्त उपाधियोंको राष्ट्रकूटवंशी नरेशोंने ही धारण किया था। कृष्णराज प्रथमकी उपाधि शुभतुङ्ग थी यह तो शिलालेखोंमें उत्कीर्ण उन्हींकी [2]प्रशस्तियोंसे ज्ञात होता है। मल्लिषेण प्रशस्तिमें ग्रन्थकारों और व्यक्तियोंका जिस पौर्वापर्यसे वर्णन किया गया है उसमें कोई बाधक देखनेमें नहीं आया। प्रशस्तिगत **'राजन् साहसतुंग'** श्लोकमें साहसतुंगको महापराक्रमी रणविजयी और त्यागोन्नत बताया है। यह तो प्राय अभिलेखोंसे इतिहासप्रसिद्ध है[3] कि "दन्तिदुर्गने (ई० ७४८-७५३) के बीच सोलङ्की (चालुक्य) कीर्तिवर्मा (द्वितीय) के राज्यके उत्तरी भाग वातापीपर अधिकार कर दक्षिणमें फिर राष्ट्रकूट राज्यकी स्थापना की थी। शकसंवत् ६७५ (ई० ७५३) के सामनगढ़ (कोल्लापुर) के [4]दानपत्रमें इसके पराक्रमका वर्णन इस प्रकार किया है-

---

(१) देखो पृ० १५। इसका उल्लेख न्यायमणिदीपिका पृ० १ में भी है।

(२) "......श्री कृष्ण (ष्ण) राजस्य" शुभतुंगतुंगतुरगप्रवृद्धरेणवग्रंरुद्धरविकिरणम्"- ए० इं० भाग ३ पृ० १०६।

"विषमेषु विषमशीको यस्त्यागमहानिधिर्दरिद्रेषु ।
कान्तासु वल्लभतरः ख्यातः प्रणतेषु शुभतुङ्गः ॥" -ए० इं० भाग १४ पृ० १२५।

(३) भारतके प्राचीन राजवंश भाग ३ पृ० २६। (४) इं० ए० भाग ११ पृ० १११।

"माही महानदीरेवा-रोधोभित्तिविदारणं
......यो वल्लभं सपदिदण्डबलेन जित्वा
राजाधिराज परमेश्वरतामुपैति ॥
कांचीशकेरलनराधिपचोलपाण्ड्य- श्रीहर्षवज्रटविभेदविधानदक्षम् ।
कर्णाटकं बलमनन्तमजेयरथ्यै-र्भृत्यैः कियद्भिरपि यः सहसा जिगाय ॥

अर्थात् इस (दन्तिदुर्ग) के हाथी माही महानदी और नर्मदा तक पहुँचे थे।

इसने रथोंकी फौज लेकर ही कान्ची केरल चोल और पाण्ड्यदेशके राजाओंको तथा राजाहर्ष और वज्रटको जीतनेवाली कर्णाटककी सेनाको हराया था। कर्णाटककी सेनासे चालुक्योंकी सेनाका ही तात्पर्य है; क्योंकि चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीयने वैसवंशी राजा हर्षको जीता था, जैसा कि एहोलेके शिलालेखसे विदित है। इसी दन्तिदुर्गने उज्जयिनीमें सुवर्ण और रत्नोंका दान दिया था।"

इस वर्णनसे हम समझ सकते हैं कि त्यागोन्नत और साहसका प्रतीक 'साहसतुंग' पद उस शुभतुंगके पूर्ववर्ती राजाकी ओर इंगित कर रहा है जिसने चौलुक्योंकी सेनाको जीता था।

'भारतके प्राचीन राजवंश'[1] में दन्तिदुर्गकी उपाधियोंमें 'साहसतुंग' उपाधिका भी नाम दिया है। राष्ट्रकूटोंके विशिष्ट अभ्यासी डॉ० अल्टेकरने भी संभावना की है कि दन्तिदुर्ग ही साहसतुंग है[2] और जैसा कि आगे बताया जायगा कि—साहसतुंग दन्ति दुर्ग द्वितीयका ही नाम है यह प्राप्त शिलालेखसे भी सिद्ध हो जाता है।

प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशके अनुसार यदि अकलङ्कदेव शुभतुंगके मन्त्रीके पुत्र हैं तो भी ये साहसतुंगकी सभामें अपने शास्त्रार्थकी बात कह सकते हैं। शुभतुंग कृष्णप्रथम, साहसतुंगदन्तिदुर्गके चाचा थे और वे दन्तिदुर्गकी युवावस्थामें मृत्यु हो जानेके बाद राज्याभिरूढ हुए थे।[3] इनके मन्त्री पुरुषोत्तम इनसे वृद्ध हो सकते हैं, अतः जैसा कि आगे अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध होगा कि 'अकलङ्कका समय ई० ७२०-७८० है', मान लिया जाय तो अकलङ्क साहसतुंगके राज्यके अन्तिम वर्षोंमें ३० वर्षके युवा होंगे और वे अपने शास्त्रार्थकी चर्चा उनकी सभामें कर सकते हैं।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर भी सहज में पहुँच सकते हैं कि मल्लिषेण प्रशस्ति और गद्य-कथा कोश का वर्णन अधिक प्रामाणिक है। उसका समर्थन ग्रन्थों के आन्तरिक प्रमाणों से भी हो जाता है।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि रणविजयी और त्यागोन्नत विशेषण शुभतुंगसे पूर्ववर्ती किसी राजाको यदि ठीक ठीक बैठते हैं तो वह दन्तिदुर्ग द्वितीय ही है, और उसका ही विरुद साहसतुंग होना चाहिए; क्योंकि तुङ्गान्त विरुदोंका राष्ट्रकूटोंमें ही परम्परागत विशेष प्रचलन था—जैसा कि आगे उद्धृत शिलालेख[4]के "**तुङ्गान्वयोत्तुङ्गजयध्वजेन**" इस वाक्य में राष्ट्रकूटवंशका '**तुङ्गान्वय**'शब्दसे उल्लेख भी है।

और अब डॉ०बी.ए. सालेतोरने रामेश्वर प्राङ्गटूरु ता०कुडप्पाह जिला मद्रासके रामलिंगेश्वर मन्दिरके प्रांगण में प्राप्त स्तम्भलेख[5]से साहसतुंगकी समस्याको सप्रमाण हल कर दिया है। उन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख[6]में उक्त मन्दिरके स्तम्भलेखका विवरण इस प्रकार दिया है—'यह स्तम्भलेख संस्कृत और कन्नड भाषामें तथा कन्नड लिपिमें लिखा हुआ है। लेखमें कोई तिथि नहीं है किन्तु यह राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (ई० ९४०–६८) के[7] समयका है। इस लेखमें इनके सामन्त कन्नायके द्वारा रामेश्वर मन्दिरको दिये गये दानका तथा तिप्पय

(१) भाग ३ पृ० २७। (२) दी राष्ट्रकूटाज़० पृ० ३४ का फुटनोट।
(३) दी राष्ट्रकूटाज़० पृ० ४०९।
(४) साउथ इं० इं० भाग ९ पृ० ३९–४२। लेख नं० ४२।
(५) साउथ इं० इं० भाग ९ नं० ४२।
(६) जर्नल ऑफ बम्बई हि० सो० भाग ६ पृ० २९–'दी एज ऑफ गुरु अकलङ्क' लेख।
(७) दी राष्ट्रकूटाज़० पृ० १२२।

गोरवको दी गई भूमिका उल्लेख है। इसमें लगभग २५ श्लोक हैं। इनमें कृष्णतृतीय तक के राष्ट्रकूटवंशकी राजाओंकी विरुदावली है। ब्रह्मसे राष्ट्रकूटवंशकी परम्परा अत्रि चन्द्र यदु कुकुर वृष्णि वासुदेव (कृष्ण) और अनिरुद्ध तक लानेके बाद कहा है—कि उस कुलमें नृपसहस्रपूजित आसमुद्र पृथिवीका पति राजा हुआ जो राष्ट्रकूट इस नामको धारण करता था। उसी कुलमें दुर्धरबाहुवीर्य पृथिवीका एकमात्र पति दन्तिदुर्ग नामका राजा हुआ, जिसने चालुक्य रूपी समुद्रका मथन कर उसकी लक्ष्मीको चिरकाल तक अपने कुलकी कान्ता बनाया था। जब वह साहसतुंग नामवाला दन्तिदुर्ग स्वर्ग सुन्दरियोंसे प्रार्थित हो युवावस्थामें ही स्वर्गवासी हो गया, तब चालुक्योंसे प्राप्त वह राजलक्ष्मी, वेश्याकी तरह सूर्यसमान प्रतापी श्रीकृष्णराजके रम्य गुणों पर मोहित हो चिरकालतक उसे आलिङ्गित करती रही''इत्यादि।

शिलालेखके मूल श्लोक इस प्रकार हैं—

"एवं वंशे यदूनामतिविसरद्विक्रमैकाश्रयाणां
भूपा भोगीन्द्रदीर्घस्थिरभुजपरिघक्षितोर्वी विवशां सहाय्यं
यैः प्रयासुररिपुसमितौ श्रीमदाखण्डलस्य [ते]
नैकेनेकवृत्या शशविशदयशोराशयस्का बभूवुः
तस्मिन् कुले सकलवारिधिचारुवीचि
काञ्चीभृतौ महितभूमिमहामहिष्यः।
भर्त्ताभवन्नृपसहस्रकमौलिमान्यम्।
श्रीराष्ट्रकूट इति नाम निजं दधा [नाः] [४]
तत्रान्वयेऽप्यभवदेकपतिः[पृ]थिव्याम्।
श्रीदन्तिदुर्ग इति दुर्धरबाहुवीर्यो
चालुक्यसिन्धुमथनोद्भवराजलक्ष्मीम्।
यः संबभार चिरमात्मकुलैककान्ताम्। [५]
तस्मिन् साहसतुंगनाम्नि नृपतौ स्वःसुन्दरीप्रार्थिते
याते यूनि दिवं दिवाकरसमं वेश्येव लक्ष्मीस्ततः।
तत्रावाप भुजाद्वयेन निविडं संश्लिष्य रम्यैर्गुणैः।
प्रीत्या प्राणसमं चिरं रमयति श्रीकृष्णराजाधिपम्॥ [६]
तस्मादभूत्सूनुरुदारकीर्तिः प्रभूतवर्षो
······भु यो···यामुनिवह्निभाति ॥७॥
रतिपतिरुरुभावे दर्शनात् सुन्दरीणां
सुरत धत्ते तत्र भूपे नुजे स्य।
ध्रुव इति नृपतित्वे मन्त्रिभिश्चाभिषिक्ते
निरुपम इति भूमौ स बुधोपि ॥८॥
तुंगान्वयोत्तुंगजयध्वजेन जगत्तुंग इति क्षितीन्द्रः ॥९॥"

इन श्लोकों के '**तस्मिन् साहसतुंगनाम्नि**' इस पदमें दन्तिदुर्गका दूसरा नाम साहसतुंग था इस बात का इतना स्पष्ट उल्लेख है कि उसमें किसी प्रकारके सन्देहको अवकाश नहीं है; क्योंकि इसमें दन्तिदुर्ग साहसतुंगके स्वर्गवासके बाद कृष्ण प्रथमके राजसिंहासनासीन होनेकी इतिहासप्रसिद्ध घटना और दन्तिदुर्गकी चालुक्यविजयकी घटनाका उल्लेख है। अतः अब 'साहसतुंग' नामको अनुमानमात्र कहकर उसे सन्देहकोटिमें डालनेकी कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। साहसतुंग दन्तिदुर्गका समय ई० ७५६ तक है[1]।

(३) जब 'साहसतुंग निर्विवादरूपसे दन्तिदुर्गका उपनाम या विरुद था' यह सिद्ध हो गया तब हमें

(१) दी राष्ट्रकूटाज़० पृ० १०।

अकलङ्कचरितके शास्त्रार्थवाले श्लोकके **'विक्रमार्कशकाब्दीय'** पदको इसीके प्रकाशमें देखना होगा और इसका अर्थ शकसंवत् करके ही हम समयकी संगति बिठा सकते हैं। इसके अन्य कारण इस प्रकार हैं–

१. इस श्लोकके **'विक्रमार्कशकाब्दीय'** के स्थानमें **'विक्रमाङ्कशकाब्दीय'** पाठ मानना चाहिए, जिसका अर्थ है विक्रमविभूषित शकसम्बन्धी।

२. जैन परम्परामें शकसंवत्का उल्लेख बहुत प्राचीनकालसे ही 'विक्रमाङ्कशक' शब्दसे होता रहा है। उसके दो प्रमाण ये हैं–

(क) धवला टीकाकी समाप्ति जगत्तुङ्गदेवके राज्यकी समाप्ति और अमोघवर्षके प्रारम्भकालमें ई० ८१६ में हुई थी। धवला टीका प्रथम भागकी प्रस्तावना[2]में अनेकविध ऊहापोहसे इस समयकी सिद्धि की गई है। धवलाकी अन्तिम प्रशस्तिवाली गाथा इस प्रकार है–

"अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सुसगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे॥"

इस गाथामें धवलाकी समाप्तिका काल विक्रमराजाङ्कित शक ७३८ दिया है, जो शकसंवत् माननेसे ही ठीक सिद्ध हो सकता है; क्योंकि जगत्तुंग और अमोघवर्षके राज्यकाल इतिहासमें वही सिद्ध हैं जो इसे शकसंवत् माननेसे आते हैं[3]।

(ख) डॉ० हीरालालजीने अपने मतके समर्थनके लिये वहीं (पृ० ४०) त्रिलोकसार (गा० ८५०) के टीकाकार श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यका यह अवतरण दिया है–**"श्री वीरनाथनिर्वृतेः सकाशात् पञ्चशतोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पञ्चमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमाङ्कशकराजो जायते।"**

इस अवतरणमें वीरनिर्वाणसंवत् ६०५ में प्रवर्तित शकसंवत्के संस्थापकका **'विक्रमाङ्कशकराज'** शब्दसे स्पष्ट उल्लेख है, जो हमें **'विक्रमाङ्क'** पदको शकराजाकी उपाधि माननेके लिये प्रेरित करता है। इन दो प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जैन लेखक **'विक्रमाङ्कशक'** शब्दसे शकसंवत्का उल्लेख प्राचीन काल (ई० ९वीं सदी) से ही करते आये हैं। इतना ही नहीं [1]त्रिलोकप्रज्ञप्ति (गाथा ८६, ८९) में शककी उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पश्चात् या विकल्पसे ६०५ वर्ष पश्चात् बतलाई गई है। उसमें यही मान्यता ध्वनित है; क्योंकि वीरनिर्वाणसे ४६१वाँ वर्ष प्रसिद्ध विक्रमके राज्यकालमें पड़ता है और ६०५ वें वर्षमें शककाल प्रारम्भ होता है। अतः अकलङ्कचरितके श्लोकमें शकसंवत्का उल्लेख ही इतिहाससंगत सिद्ध होता है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जयचन्द्रजी विद्यालङ्कारका विचार[4] भी उक्त मान्यताको पुष्ट करता है।

---

(१) पृ० ३५ से ४५ तक।

(२) धवलाटीका प्रथम भाग प्रस्तावना पृ० ४१। (३) वही।

(४) वे भारतीय इतिहासकी रूपरेखा (पृष्ठ ८२४ से ८२९) में लिखते हैं कि–"महमूद गजनवीके समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् यात्री अल्बेरुनीने अपने भारतविषयक ग्रन्थमें शकराजा और दूसरे विक्रमादित्यके युद्धकी बात इस प्रकार लिखी है–'शकसंवत् अथवा शककालका आरम्भ विक्रमादित्यके संवत्से १३५ वर्ष पीछे पड़ा है। प्रस्तुत शकने उन (हिन्दुओं) के देशपर सिन्धु नदी और समुद्रके बीच आर्यावर्तके उस राज्यको अपना निवासस्थान बनानेके बाद बड़े अत्याचार किये। कइयोंका कहना है कि वह अलमन्सूरा नगरीका शूद्र था, दूसरे कहते हैं वह हिन्दू था ही नहीं और भारतमें पश्चिमसे आया था। हिन्दुओंको उससे बहुत कष्ट सहने पड़े। अन्तमें उन्हें पूरबसे सहायता मिली जब कि विक्रमादित्यने उसपर चढ़ाई की, उसे भगा दिया और मुल्तान तथा लोनीके कोटलेके बीच करूर प्रदेशमें उसे मार डाला। तब यह तिथि प्रसिद्ध हो गई क्योंकि लोग उस प्रजापीडककी मौतकी खबरसे बहुत खुश हुए और उस तिथिमें एक संवत् शुरू हुआ जिसे ज्योतिषी विशेष रूपसे बर्तने लगे···किन्तु विक्रमादित्य संवत् कहे जानेवाले संवत्के आरम्भ और शकके मारे जानेके बीच बड़ा अन्तर है, इससे मैं समझता हूँ कि

(४) अकलङ्कको दन्तिदुर्गके समकालीन मानकर उनका समय यदि ई० ७२० से ७८० तक माना जाता है तब भी धवलाटीका (ई० ८१६) में उनके राजवार्तिकसे आगम प्रमाणके रूपमें अवतरण लिये जा सकते हैं; क्योंकि राजवार्तिक अकलङ्कके सैद्धान्तिक कालकी प्रथम कृति है। वह तत्त्वार्थकी टीकाओंमें इतनी परिपूर्ण और प्रमेयबहुल है कि उसको अपने सम्प्रदाय और अपने ही प्रान्तमें प्रसिद्धिके लिए दस वर्षकी भी आवश्यकता नहीं थी।

(५) आचार्य सिद्धसेन गणी सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके व्याख्याकार हैं। इनका समय पं० सुखलालजीने[1] ई० नवीं शताब्दीसे पहले और ७ वीं के बाद का निर्धारित किया है। इसका कारण भी दिया है कि गणिजीने धर्मकीर्तिका उल्लेख किया है तथा शक ७९९ (ई० ८७७) में हुए[2] शीलांकाचार्यने आचारांगवृत्तिमें इनका उल्लेख[3] किया है, अतः ये ई० ८ वीं सदीके उत्तरार्धके विद्वान् हैं। पंडितजीकी सम्भावना[4] है कि-"अकलङ्क गन्धहस्ती (सिद्धसेन) तथा हरिभद्र ये अपने दीर्घजीवनमें थोड़े समयतक भी समकालीन रहे होंगे" और यदि यह सम्भावना ठीक है तो ई० ८ वीं सदीके उत्तरार्धके विद्वान सिद्धसेन अकलङ्कके राजवार्तिकको देख सकते हैं।

यद्यपि आर्यशिवस्वामीके एक सिद्धिविनिश्चयका और पता चला है[5] फिर भी सिद्धसेन गणि कृत तत्त्वार्थभाष्य टीका (पृ० ३७) का यह उल्लेख-

"एवं कार्यकारणसम्बन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्वर्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चय-सृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेणेति।"

सिद्धिविनिश्चयके ७ वें शास्त्रसिद्धि प्रस्तावके श्लोक १२ के बाद निबद्ध ईश्वरनिराकरण प्रकरणसे तुलनीय है। यथा-

"तत्परिणामोपगमेऽपि समवायिकारणत्वस्थित्वाप्रवृत्त्यादेश्च परिणामिन एव सम्भवात्..."

-सिद्धिवि० टी० पृ० ४७७।

सम्भावना यही है कि सिद्धसेन गणीने अकलङ्कके इसी ग्रन्थके इस प्रकरणकी ओर ही संकेत किया है। तब भी इससे अकलङ्कके ई० ८ वीं शताब्दीवाले समयपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(६) आ० हरिभद्रसूरिका समय मुनि श्री जिनविजयजीने कुवलयमाला कथा (ई० ७७७)में उद्योतन-सूरि द्वारा हरिभद्रका स्मरण होनेसे तथा अन्य आन्तरिक प्रमाणोंके आधारसे ई० ७००-७७० निर्धारित

उस संवत्का नाम जिस विक्रमादित्यके नामसे पड़ा वही शकको मारनेवाला विक्रमादित्य नहीं है, केवल दोनोंका नाम एक है (पृ० ८२४-२५) इस पर एक शंका उपस्थित होती है शालिवाहनवाली अनुश्रुतिके कारण। अल्बेरूनी स्पष्ट कहता है कि ७८ ई० का संवत् राजा विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकको मारनेकी यादगारमें चलाया। वैसी बात ज्योतिषी भट्टोत्पल (ई० ९९६) और ब्रह्मगुप्त (ई० ६२८) ने भी लिखी है। यह संवत् अब भी पंचांगोंमें शालिवाहन शक अर्थात् शालिवाहनाब्द कहलाता है।"-भारतीय इतिहासकी रूपरेखा पृ० ८३६।

ऊपर दिये गये अवतरणोंसे इतनी बात सिद्ध हो जाती है कि विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शकको मारकर अपनी विजयके उपलक्ष्यमें एक संवत् चलाया था, जो सातवीं शताब्दी (ब्रह्मगुप्त) से ही शालिवाहनाब्द माना जाता है। धवला टीका आदिमें जिस 'विक्रमाङ्क शकसंवत्' का उल्लेख आता है वह यही शालिवाहन शक होना चाहिए। उसका 'विक्रमाङ्क शक या विक्रमार्कशक' नाम शक विजयके उपलक्ष्यमें विक्रम द्वारा चलाये गये शक संवत्की स्पष्ट सूचना कर रहा है

(१) तत्त्वार्थ० प्रस्ता० पृ० ४६। (२) जैन सा० नो सं० इ० पृ० १८१।

(३) तत्त्वार्थ० प्रस्ता० पृ० ४३ टि० २।

(४) अकलङ्कग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० १०। (५) देखो आगे पृ० ५३।

किया है।[1] मुनिजीके समय निर्णयका औचित्य मानते हुए हमने न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भागकी प्रस्तावना[2]में सुझाव दिया था कि–चूँकि हरिभद्रसूरिके षड्दर्शनसमुच्चय (श्लो० २०) में [3]न्यायमंजरीके

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।
रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ॥
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः ॥"

इन दोनों श्लोकोंके द्वितीय पादोंको जैसाका तैसा ले लिया गया है। अतः उनका समय जयन्तभट्टके बाद होना चाहिए। विधिविवेक न्यायकणिका टीकाके–

"अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम् ।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥"

इस मंगल श्लोकमें न्यायमंजरीका नाम देखकर हमने अनुमान किया था कि जयन्तका समय ई० ७६० से ८४० तक होना चाहिये; क्योंकि वाचस्पति मिश्रका समय ई० ८४१ निश्चित है। किन्तु अभी श्री अनन्तलाल ठाकुरने "गुरु त्रिलोचनकी न्यायमंजरी एक विस्मृत ग्रन्थ" शीर्षक लेखमें[4] वाचस्पति मिश्रके गुरु त्रिलोचनकी न्यायमंजरीका पता दिया है। उन्होंने उक्त लेखमें बताया है कि ज्ञानश्री और रत्नकीर्तिने अपने क्षणभङ्गाध्याय (ईश्वरवाद ?) आदि ग्रन्थोंमें त्रिलोचनकृत न्यायमंजरीके कई उद्धरण त्रिलोचनके नामके साथ लिये हैं[5]। इस तरह त्रिलोचन गुरुकी न्यायमंजरीका पता लग जानेसे और वाचस्पति मिश्र द्वारा त्रिलोचन गुरुकी ही न्यायमञ्जरीका उल्लेख किया जाना निश्चित हो जानेसे अब भट्ट जयन्तकी समयावधिपर स्वतन्त्र भावसे विचार करना होगा।

भट्ट जयन्तके पुत्र अभिनन्दने अपने कादम्बरी कथासारमें अपनी वंशावली इस प्रकार दी है– "भारद्वाज कुलमें शक्ति नामका गौड़ ब्राह्मण था। उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ। ये शक्तिस्वामी कर्कोट वंशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मन्त्री थे। शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए, जो नववृत्तिकार नामसे प्रसिद्ध थे। जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ।"

काश्मीरके कर्कोट वंशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्यकाल ई० ७३३ से ७६८ तक रहा है[6]। अतः इनके मन्त्री शक्तिस्वामीकी तीसरी पीढ़ीमें उत्पन्न होनेवाले जयन्तका जन्म समय ई० ७७० से पहले नहीं जा सकता। ऐसी दशामें जयन्तकी न्यायमञ्जरीकी रचना जल्दी से जल्दी ई० ८०० तक हो सकती है। अतः यदि हरिभद्रने जयन्तकी न्यायमञ्जरीसे ही षड्दर्शनसमुच्चयमें उक्त श्लोक लिये हैं तो उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक लम्बानी होगी तभी वे जयन्त भट्टकी न्यायमञ्जरीको देख सकते हैं।

इस तरह हरिभद्रसूरिका समय ई० ७२० से ८१० तक निश्चित होता है जो उस समयके दीर्घायुष्यको देखते हुए असम्भव नहीं है। ये अकलङ्कदेवके समकालीन रहे हैं।

अनेकान्तजयपताका (पृ० २७५) में आया हुआ "**अकलङ्कन्यायानुसारि चेतोहरं वचः**" वाक्य अकलङ्ककृत न्यायका उल्लेख नहीं कर रहा है अपि तु न्यायकी निष्कलङ्कताका द्योतन करता है। इसी

---

(१) हरिभद्रसूरिका समय निर्णय लेख, जैन सा० सं० भा० १ अंक १।
(२) पृ० ३८।
(३) न्यायमञ्जरी, विजयनगरम् संस्करण, पृ० १२९।
(४) ज० बि० ओ० रि० सो० पटना, १९५५. भाग ४।
(५) "मञ्जर्यां त्रिलोचनः पुनराह–बुद्धिमत्पूर्वकत्वेन…।"–वही पृ० ५०८ टि० २ आदि।
(६) न्यायकु० द्वि० प्रस्तावना पृ० १६।
(७) संस्कृत साहित्यका इतिहास, परिशिष्ट (ख) पृ० १५।

अनेकान्तजयपताका (पृ० ३२) के "**निष्कलङ्कमतिसमुत्प्रेक्षितसन्न्यायानुसारतः सर्वमेव प्रमाणादि प्रतिनियतं न घटते**" इस पूर्वपक्षीय वाक्यमें जिस प्रकार पूर्वपक्षी बौद्ध अपने न्यायको '**निष्कलङ्कमतिसमुत्प्रेक्षित न्याय**' कह रहा है इसी तरह "**अकलङ्कन्यायानुसारि चेतोहरं वचः**" वाक्यमें नैयायिक अपनी युक्तिको '**अकलङ्कन्यायानुसारि**' कह रहा है जिसका अर्थ 'निर्दोषन्याय'से भिन्न कोई दूसरा नहीं हो सकता। यदि '**अकलङ्कन्यायानुसारि**' वाक्यका 'अकलङ्कदेवका न्याय' यह अर्थ लिया जाय तो उसकी संगति नैयायिकके पूर्वपक्षके साथ नहीं बैठ सकती।

इस तरह जब हरिभद्र लगभग अकलङ्कके लघुसमकालीन ई० ८ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं तब उनके द्वारा उल्लिखित या अनुल्लिखित होनेसे उनके समयका अकलङ्ककी समयावधिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

(७) जिनदासगणि महत्तरकी निशीथ चूर्णिमें दर्शनप्रभावक शास्त्रोंमें सिद्धिविनिश्चयका नाम अवश्य दिया है। किन्तु यह सिद्धिविनिश्चय अकलङ्ककृत प्रकृत सिद्धिविनिश्चय नहीं है। मुनि श्री पुण्यविजयजीको[1] शाकटायनकृत स्त्रीमुक्ति प्रकरणकी एक टीका मिली है, जो खंडित है। उसका आदि अन्त नहीं है इसलिए टीकाकारका नाम मालूम नहीं हो सका। उसमें एक जगह लिखा है-"**अस्मिन्नर्थे भगवदाचार्यशिवस्वामिनः सिद्धिविनिश्चये युक्त्यभ्यधायि आर्याद्वयमाह-यत्संयमोपकाराय वर्तते।**" इसमें आचार्य शिवस्वामीके सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थका उल्लेख है जो अकलङ्कदेवके सिद्धिविनिश्चयसे भिन्न है; क्योंकि इसमें स्त्रीमुक्तिका समर्थन करनेवाली वे आर्याएँ[2] हैं जिन आर्याओंको शाकटायन ने (ई० ८१४-८६७) अपने स्त्रीमुक्ति प्रकरणमें उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त शाकटायनने स्वयं अपनी अमोघवृत्ति (१।३।१६८) में शिवार्यके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख इस प्रकार किया है-"**साधु खल्विदं शब्दानुशासनमाचार्यस्य आचार्येण वा। शोभनः सिद्धिविनिश्चयः शिवार्यस्य शिवार्येण वा**[3]।" इस अवतरण में शिवार्यके सिद्धिविनिश्चयका स्पष्ट कथन है।

इन दो उल्लेखोंमें इस बातमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि शाकटायनके सामने शिवार्यका सिद्धिविनिश्चय रहा है, जिसमें स्त्रीमुक्तिका समर्थन था।

जब निशीथचूर्णिमें सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख उपलब्ध हुआ और कच्छके भंडारसे अकलङ्ककृत सिद्धिविनिश्चयकी अनन्तवीर्यकृत टीकाकी प्रति उपलब्ध हुई और '**अनेकान्त**' में श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने, इसका परिचय देते हुए निशीथचूर्णिका निर्देश किया, तभी '**अनेकान्त**' पत्र[4]में श्री पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीकी ओरसे एक संशोधन और सूचन प्रकाशित हुआ था, जिसमें लिखा था कि-'निशीथचूर्णिमें निर्दिष्ट सिद्धिविनिश्चय अकलङ्कदेवका तो हो ही नहीं सकता' क्योंकि वे उक्त चूर्णिके रचयिता जिनदास महत्तरके बाद ही हुए हैं। अतः चूर्णिमें निर्दिष्ट सिद्धिविनिश्चय अन्य किसीका रचा हुआ होना चाहिये। और वे अन्य संभवतः श्वेतांबरीय विद्वान् होंगे। अपनी इस संभावनाके उन्होंने दो मुख्य कारण बतलाये थे। एक तो श्वेताम्बरीय किसी ग्रन्थ में निश्चित दिगम्बरीय ग्रन्थका प्रभावकके तौर पर अन्यत्र उल्लेख न मिलना, दूसरे सन्मतितर्क जो श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठित ग्रन्थ है उसके साथ और उससे पहिले सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख होना[5]।

---

(१) प्रो० दलसुखभाईने यह सूचना दी है।

(२) "यत्संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरणम्।
धर्मस्य हि तत्साधनमतोऽन्यदधिकरणमाहार्हन् ॥१२॥
धस्तैन्वाहिर (अस्यैर्यव्याहार) व्युत्सर्गविवेकैषणादिसमितीनाम्।
उपदेशनमुपदेशो ह्युपधेरपरिग्रहत्वस्य ॥१३॥"
—स्त्रीमुक्ति प्र० श्लो० १२-१३। जैन सा० सं० खंड २ अंक ३-४।

(३) इस अवतरणकी सूचना श्री पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्रीने दी है।

(४) अनेकान्त वर्ष १, अंक ४।

(५) न्यायकु० प्रथम भाग प्रस्तावना पृ० १०५, टि० ३।

मुनि श्री जिनविजयजीने भी 'अकलङ्क ग्रन्थत्रय' के प्रास्ताविक (पृ० ५) में इसी प्रकारका संदेह व्यक्त किया था।

जब हमने अकलङ्क ग्रन्थत्रयकी प्रस्तावनामें अकलङ्कके ग्रन्थोंके आन्तरिक परीक्षणके आधारसे उनका समय ई० ७२०–७८० तक निर्धारित किया तो हमारे मनमें यह शंका तो हुई थी कि–'जब अकलङ्ककृत सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख निशीथ चूर्णिमें है तो निशीथ चूर्णिके रचयिता जिनदासका समय अकलङ्कके बाद होना चाहिये'।[1] इसलिये मैंने नन्दीचूर्णिके कर्ता जिनदास हैं या नहीं इस प्रकारका सन्देह व्यक्त किया था। पर मेरे मन में यह नहीं आया था कि सिद्धिविनिश्चय भी दूसरा हो सकता है; क्योंकि प्रकृत सिद्धिविनिश्चय इतना विशुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है कि उसका उल्लेख श्वेताम्बर आचार्यद्वारा सहज ही दर्शनप्रभावक ग्रन्थोंमें किया जा सकता है।

यद्यपि मुनि श्री जिनविजयजीने अकलङ्क ग्रन्थत्रयके प्रास्ताविक में मेरे उस सन्देहका निवारण कर नन्दीचूर्णिके कर्ता जिनदास ही हैं और उनका समय भी ई० ६७६ ही हो सकता है यह प्रतिपादित कर दिया था, फिर भी निशीथचूर्णिमें सिद्धिविनिश्चयके उल्लेखकी समस्या खड़ी ही थी।

किन्तु अब स्त्रीमुक्ति टीका तथा अमोघवृत्तिके उक्त उल्लेखोंसे शिवार्यकृत सिद्धिविनिश्चयका निर्णय हो जानेसे स्थिति सर्वथा स्पष्ट हो जाती है।

शिवार्य यापनीय हैं; क्योंकि यापनीय शाकटायनने उनके सिद्धिविनिश्चयका स्त्रीमुक्तिके समर्थनमें उद्धरण दिया है। इसीलिये स्त्रीमुक्तिके समर्थक श्वेताम्बर आचार्य द्वारा जिस सिद्धिविनिश्चयका चूर्णिमें दर्शनप्रभावक रूपमें उल्लेख है वह शिवार्यका ही हो सकता है। अतः चूर्णिके उल्लेखके आधारसे अकलङ्कका समय ई० ७ वीं सदी नहीं माना जा सकता, जबकि उनके ८ वीं सदी में होने के अनेक आन्तर और बाह्य प्रमाण मिल रहे हैं। ये शिवार्य[2] निशीथ चूर्णिके उल्लेखके आधारसे ई० ७ वीं सदीके पहिलेके विद्वान् सिद्ध होते हैं।

अब मैं उन साधक प्रमाणोंको उपस्थित करता हूँ जिनसे अकलङ्कका समय ई० ८ वीं सदीका उत्तरार्ध सिद्ध होता है–

१. दन्तिदुर्ग द्वितीय, उपनाम साहसतुंगकी सभा में अकलङ्कका अपने मुखसे हिमशीतलकी सभामें हुए शास्त्रार्थकी बात कहना[3]। दन्तिदुर्गका राज्यकाल ई० ७४५ से ७५५ है, और उसीका नाम साहसतुङ्ग था यह रामेश्वर मन्दिरके स्तम्भलेखसे सिद्ध हो गया है[4]।

२. प्रभाचन्द्रके कथाकोशमें अकलङ्कको कृष्णराज के मन्त्री पुरुषोत्तमका पुत्र बताना[5]। कृष्णका राज्यकाल ई० ७५६ से ७७५ तक है।

३. अकलङ्कचरितमें अकलङ्कके शक सं० ७०० ई० ७७८ में बौद्धोंके साथ हुए महान् वादका उल्लेख होना[6]।

४. अकलङ्कके ग्रन्थोंमें निम्नलिखित आचार्योंके ग्रन्थोंका उल्लेख या प्रभाव होना[7]–

भर्तृहरि ई० ४ थी ५ वीं सदी	धर्माकरदत्त (अर्चट) ई०६८०–७२०
कुमारिल ई० ७ वींका पूर्वार्ध	शान्तभद्र ई० ७००
धर्मकीर्ति ई० ६२० से ६९०	धर्मोत्तर ई० ७००
जयराशि भट्ट ई० ७ वीं सदी	कर्णकगोमि ई० ८ वीं सदी
प्रज्ञाकर गुप्त ई० ६६० से ७२०	शान्तरक्षित ई० ७०५-७६२

---

(१) अकलङ्कग्रन्थत्रय प्रस्तावना पृ० १४–१५।

(२) भगवती आराधनाके कर्ता शिवार्य और ये आर्य शिवस्वामी या शिवार्य एक ही व्यक्ति हैं या जुदे, यह प्रश्न बड़े महत्त्वका है। पं० नाथूरामजी प्रेमी शिवार्यको यापनीय मानते हैं। देखो–जैन सा० इ० पृ० ७३।

(३) पृ० ४६। (४) पृ० ४९। (५) पृ० ११। (६) पृ० ४९। (७) पृ० २१–३१।

५. कविवर धनञ्जयके द्वारा नाममालामें 'प्रमाणमकलङ्कस्य' लिखकर अकलङ्कका स्मरण किया जाना। धनञ्जय की नाममालाका अवतरण धवला टीकामें है। अतः धनञ्जयका समय ई० ८१० है।[1]

६. जिनसेनके गुरु वीरसेनकी धवला टीका (ई० ८१६)में तत्त्वार्थवार्तिकके उद्धरण होना[2]।

७. आदिपुराणमें जिनसेन द्वारा उनका स्मरण किया जाना[3]। जिनसेनका समय ई० ७६० से ८१३ है।

८. हरिवंशपुराणके कर्ता पुन्नाटसंघीय जिनसेनके द्वारा वीरसेनकी कीर्तिको 'अकलङ्का' कहा जाना[4]। इन्होंने शक ७०५ ई० ७८३ में हरिवंश पूर्ण किया था।

९. विद्यानन्द आचार्य द्वारा अकलङ्ककी अष्टशतीपर अष्टसहस्री टीकाका लिखा जाना[5]। विद्यानन्दका समय ई० ७७५–८४० है।

१०. शिलालेखोंमें अकलङ्कका स्मरण सुमतिके बाद आना[6]। गुजरातके राष्ट्रकूट कर्क सुवर्णका मल्लवादिके प्रशिष्य और सुमतिके शिष्य अपराजितको दिये गये दानका एक ताम्रपत्र शक संवत् ७४३ ई० ८२१ का मिला है।[7]

तत्त्वसंग्रहमें[8] सुमति दिगम्बरका मत आता है। तत्त्वसंग्रह पंजिकामें[9] बताया है कि सुमति कुमारिलके आलोचनामात्र प्रत्यक्षका निराकरण करते हैं। अतः सुमतिका समय कुमारिलके बाद होना चाहिए। डा० भट्टाचार्यने सुमतिका समय ई० ७२० के आस-पास निर्धारित किया है।[10] यदि ताम्रपत्रमें उल्लिखित सुमति ही तत्त्वसंग्रहकार द्वारा उल्लिखित सुमति हैं तो इनके समयकी संगति बैठानी होगी क्योंकि ताम्रपत्रके अनुसार सुमतिके शिष्य अपराजित ई० ८२१ में हैं और इस तरह गुरु शिष्य के समयमें १०० वर्षका अन्तर हो जाता है। प्रो० दलसुख मालवणियाने इसका समाधान इस प्रकार किया है[11] कि–"सुमतिकी ग्रन्थ रचनाका समय ई० ७४० के आसपास यदि माना जाय तो पूर्वोक्त असंगति नहीं होगी। शान्तरक्षितने तिब्बत जानेसे पूर्व ही तत्त्वसंग्रहकी रचना की है, अत एव वह ई० ७४५ के पूर्व रचा गया होगा; क्योंकि शान्तरक्षितने तिब्बत जाकर ई० ७४९ में विहारकी स्थापना की थी। सुमतिको यदि शान्तरक्षितका समवयस्क मान लिया जाय तो उनकी भी उत्तरावधि ई० ७६२ के आसपास होगी। ऐसी स्थितिमें सुमतिके शिष्य अपराजितकी सत्ता ई० ८२१ में होना असम्भव नहीं है।" यह समाधान सयुक्तिक है। ऐसी दशामें सुमतिसे २–३ आचार्य बाद होनेवाले अकलङ्कका समय ई० ८ वीं का उत्तरार्ध ही सिद्ध होता है।

इस तरह विप्रतिपत्तियोंका निराकरण तथा सुनिश्चित साधक प्रमाणोंके आधारसे अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध होता है। वे इस समय अवश्य रहे हैं, हो सकता है कुछ और भी जीवित रहे हों।

*

अकलङ्कके ग्रन्थ

भट्टाकलङ्क षट्तर्ककुशल और सकलसमयाभिज्ञ थे। उनके सिद्धान्तज्ञान अनेकान्तदृष्टि स्याद्वादभाषा और तर्कनैपुण्यके दर्शन उनके ग्रन्थोंमें पग-पगपर होते हैं। वे पहले समयदीपक ही रहे थे पीछे षट्तर्कविबुध और वादीभसिंह या वादिसिंह बने थे। वे प्रथम जिनमतकुवलयशशाङ्क थे फिर शास्त्रविदग्रेसर हो मिथ्या-मतान्धकारविभेदक प्रकाशपुञ्ज हुए थे। उनके इस स्वसाधक और परदूषक महान् व्यक्तित्व और बहुश्रुतत्व रूपके दर्शन उनके अतिगहन दुरवबोध और प्रौढ़ ग्रन्थोंमें होते हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें वे जितनी अतिशय

(१) जैन सा० इ० पृ० १११। (२) पृ० ३७। (३) पृ० ३८। (४) हरिवंशपु० १।२९।
(५) पृ० ३९। (६) पृ० ८। (७) धर्मोत्तरप्र० प्रस्ता० पृ० ५५।
(८) तत्त्वसं० पृ० ३७९, ३८२, ३८३, ३८९, ४९६।
(९) "तत्र सुमतिः कुमारिलादिभिः आलोचनामात्रप्रत्यक्षविचारणार्थमाह"–तत्त्वसं० प० पृ० ३७९।
(१०) तत्त्वसं० प्रस्ता० पृ० ९२। (११) धर्मोत्तरप्र० प्रस्ता० पृ० ५५।

प्रसन्न और सुबोध शैलीमें वस्तुतत्त्वका स्फुट और विशद निरूपण करते हैं अष्टशती और सिद्धिविनिश्चयादि ग्रन्थोंमें वे उतने ही ओजःपूर्ण, दुरूह और गूढ बन जाते हैं। यहाँ उनकी भाषामें ओजस्विता, तीक्ष्णता और व्यंग्यकी पुट बराबर लक्षित होती है; इसका कारण है बौद्ध दार्शनिकोंके वाग्बाणोंके प्रहारसे उनके मनका विक्षुब्ध हो जाना।

अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टशती ये दो टीका ग्रन्थ लिखे हैं तथा लघीयस्त्रय सवृत्ति, न्यायविनिश्चय सवृत्ति, प्रमाणसंग्रह और सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति ये चार स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। उनके सभी दार्शनिक ग्रन्थ लघुकाय हैं।

१ तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य—

यह गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थपर उद्योतकरके न्यायवार्तिककी शैलीमें लिखा गया प्रथम वार्तिक है। इसमें जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका साङ्गोपाङ्ग सर्वाङ्ग विवेचन ऊहापोह पूर्वक किया गया है। इसमें वार्तिक जुदे हैं तथा उनकी व्याख्या जुदी है। यह व्याख्या 'भाष्य' शब्दसे भी उल्लिखित हुई है[१]। इसकी पुष्पिकाओंमें इसका नाम तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालंकार दिया गया है। पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका बहुभाग इसमें मूलवार्तिकका रूप पा गया है। इसमें तत्त्वार्थाधिगम भाष्यके भी अनेक वाक्य[२] वार्तिकके रूपमें पाये जाते हैं। अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य तथा तत्सम्मत सूत्रपाठ[३]की आलोचना अनेक स्थलोंमें की है। इससे यह निर्विवाद है कि अकलङ्कदेवके सामने श्वेताम्बरपरम्परासम्मत सूत्रपाठ और स्वोपज्ञभाष्य था। उन्होंने उस भाष्यका 'वृत्ति' शब्दसे उल्लेख किया है[४]। दसवें अध्यायके अन्तका गद्यभाग और ३२ पद्य ज्योंके त्यों इसके अंग बन गये हैं। इसमें द्वादशांगके निरूपणमें क्रियावादी अक्रियावादी आज्ञानिक आदिमें जिन साकल्य वाष्कल कुथुमि कठ मध्यन्दिन मौद पैप्पलाद गार्ग्य मौद्गल्यायन आश्वलायन आदि ऋषियोंके नाम लिये हैं वे सब ऋग्वेदादिके शाखा ऋषि हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें अनेक स्थलोंमें षट्खंडागमके सूत्र और महाबन्धके वाक्य उद्धृत किये गये हैं और उनसे संगति बैठाई है। यह ऐसा आकर ग्रन्थ है जिसमें सैद्धान्तिक भौगोलिक और दार्शनिक सभी चर्चाएँ यथास्थान मिलती हैं। सर्वत्र अनेकान्त दृष्टिका प्रयोग होनेसे ऐसा लगता है जैसे सैद्धान्तिक तत्त्वप्ररोहोंकी रक्षाके लिये अनेकान्तकी बाड़ी लगाई जा रही हो। सर्वत्र भेदाभेद नित्यानित्यत्व और एकानेकत्वके समर्थनका क्रम अनेकान्त प्रक्रियासे दृष्टिगोचर होता है। स्वरूपचतुष्टयके ग्यारह-बारह प्रकार, सकलादेश विकलादेशका विस्तृत प्रयोग तथा सप्तभङ्गीका विशद और विविध विवेचन इसी ग्रन्थमें अपनी विशिष्ट शैलीसे मिलता है।

इसमें दिग्नागके प्रत्यक्षलक्षण कल्पनापोढका खण्डन है पर धर्मकीर्तिकृत 'अभ्रान्त' पदविशिष्ट प्रत्यक्षलक्षणका नहीं। यद्यपि धर्मकीर्तिकी सन्तानान्तरसिद्धिका आद्य श्लोक 'बुद्धिपूर्वां क्रियां' उद्धृत है फिर भी ऐसा लगता है जैसे तत्त्वार्थवार्तिककी रचनाके समय धर्मकीर्तिके अन्य प्रकरण अकलङ्कदेवके अध्ययनमें न आये हों। इसीलिये लगता है कि तत्त्वार्थवार्तिक अकलङ्कदेवकी आद्य कृति है। अकलङ्कदेव अच्छे वैयाकरण भी थे। सूत्रों में शब्दोंकी सार्थकता तथा व्युत्पत्ति करनेमें उनके इस स्वरूपके खूब दर्शन होते हैं। यद्यपि वे सर्वत्र पूज्यपादकृत जैनेन्द्र व्याकरणका ही उद्धरण देते हैं, पर पाणिनि और पातञ्जलभाष्यको वे भूले नहीं हैं। भूगोल और खगोलके विवेचनमें त्रिलोकप्रज्ञप्ति उनके सामने रही है। वस्तुतः यह तत्त्वार्थकी उपलब्ध टीकाओंमें मूर्धन्य और आकर ग्रन्थ है।

---

(१) धवलाटीका, न्यायकुमु० पृ० ६४६।

(२) "एषां च पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्। उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः।"—त० भा० १।१।

(३) त० वा० पृ० १७।

(४) "पृथुतराः इति केषाञ्चित् पाठः"—त० वा० ३।१।

(५) त० वा० पृ० ४४४।

योनिप्राभृत व्याख्याप्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डक आदिका उल्लेख इसमें किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि अकलङ्कदेव विद्याके क्षेत्रमें अधिकसे अधिक संग्राहक भी थे।

इसमें वेद उपनिषद् स्मृति पुराण पाणिनिसूत्र पातञ्जलभाष्य वाक्यपदीय न्यायसूत्र वैशेषिकसूत्र जैमिनिसूत्र योगसूत्र सांख्यकारिका न्यायभाष्य व्यासभाष्य अभिधर्मकोश प्रमाणसमुच्चय सन्तानान्तरसिद्धि युक्त्यनुशासन द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशतिका आदि ग्रन्थोंके अवतरण पर्याप्तमात्रामें उपलब्ध होते हैं। यह अब संशोधित होकर भारतीय ज्ञानपीठसे दुबारा प्रकाशित हो गया है।

२. अष्टशती—

यह समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा अपरनाम देवागमस्तोत्रकी संक्षिप्त वृत्ति है। जैनदर्शन ग्रन्थोंमें आप्तमीमांसाका विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान है। इसमें अनेकान्त और सप्तभंगीका अच्छा विवेचन है। इसका परिमाण ८०० श्लोक प्रमाण होनेसे इसे अष्टशती कहा जाता है। इसपर विद्यानन्द आचार्यकी अष्टसहस्री टीका है। जो सुवर्णमें मणिकी तरह आगे-पीछेके व्याख्यावाक्यों में अष्टशतीको जड़ती चली जाती है। विद्यानन्दने अपनी उस अष्टशतीगर्भित अष्टसहस्रीमें लिखा है कि यह अष्टसहस्री कष्टसहस्रीसे बन पाई है और इसीलिए वे गर्वसे कहते हैं कि–'**श्रोतव्या अष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः**।'– इसमें यह विशेषता अकलङ्कके सूक्तरत्न को सुवर्णालंकृत करनेके कारण आई है।

इसमें मूल आप्तमीमांसामें आये हुए सदेकान्त असदेकान्त भेदैकान्त अभेदैकान्त नित्यैकान्त क्षणिकैकान्त अपेक्षैकान्त अनपेक्षैकान्त युक्त्येकान्त अन्तरङ्गार्थतैकान्त बहिरङ्गार्थतैकान्त दैवैकान्त और पौरुषैकान्त आदि एकान्तोंकी आलोचना कर पुण्य-पापबन्धकी चरचा की है। इन सब एकान्तोंकी आलोचनाके प्रसङ्गमें अष्टशतीमें उन-उन एकान्तवादियोंके मन्तव्य पूर्वपक्षमें साधार उपस्थित किये गये हैं। सर्वप्रथम अकलङ्कदेवने आज्ञाप्रधानियोंके देवागम और आकाशगमन आदिके द्वारा आप्तके महत्त्वख्यापनकी प्रणालीकी आलोचना कर आप्तमीमांसाके आधारसे ही वीतराग सर्वज्ञको आप्त सिद्ध कर उसे युक्ति और आगमसे अविरोधी वचनवाला सिद्ध किया है। इसी सिलसिलेमें अन्य आप्तोंके एकान्तवादोंकी आलोचना चालू हुई है। अन्तमें प्रमाण और नयकी चरचा आई है। अकलङ्कदेवने प्रमाण नय और दुर्नयकी सटीक परिभाषा इसमें की है[1]—

"[प्रमाणात्] **तदतत्प्रतिपत्तेः** [नयात्] **तत्प्रतिपत्तेः** [दुर्णयात्] **तदन्यनिराकृतेश्च**।"

अर्थात् प्रमाण विवक्षित और अविवक्षित सभीको जानता है, नयसे विवक्षितकी प्रतिपत्ति होती है तथा दुर्णय अविवक्षितका निराकरण कर देता है। इसमें जयपराजयव्यवस्था बताई है तथा चित्राद्वैत संवेदनाद्वैत और शून्याद्वैत आदि वादोंकी बड़ी मार्मिक आलोचना की गई है।

३. लघीयस्त्रय सविवृति—

लघीयस्त्रय नामसे ज्ञात होता है कि यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणोंका संग्रह है। लघीयस्त्रय स्वविवृतिकी प्रतियोंमें इसके प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेशको एक ग्रन्थके रूपमें माना है तथा प्रवचनप्रवेशको जुदा; क्योंकि उसमें पृथक् मंगलाचरण किया गया है और नय-प्रवेशके विषयोंको दुहराया है। विवृतिकी प्रतिमें[2] '**इति प्रमाणनयप्रवेशः समाप्तः। कृतिरियं सकलवादिचक्रचक्रवर्तिनो भट्टाकलङ्कदेवस्य**' यह पुष्पिकावाक्य दिया है। इससे ज्ञात होता है कि अकलङ्कदेवने प्रथम दिग्नागके न्यायप्रवेशकी तरह जैनन्यायमें प्रवेश करानेके लिए प्रमाणनयप्रवेश बनाया था। पीछे या तो स्वयं अकलङ्कदेवने या फिर सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यने तीनों प्रकरणोंकी लघीयस्त्रय संज्ञा रखी[3]; इसका कारण यह ज्ञात होता है कि अनन्तवीर्य नयप्रवेशक प्रकरणको स्वतन्त्र मानते थे और इसीलिये उन्हें तीनों प्रकरणोंको लघीयस्त्रय संज्ञा देनेकी सूझी हो। अस्तु,

(१) अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९१। (२) अकलङ्कग्रन्थत्रय, लघी० पृ० १७।
(३) अकलङ्कग्र० प्रस्ता० पृ० ३४।

यह निश्चित है कि यह मत्ता अनन्तवीर्यके कालमें तो अवश्य है; क्योंकि आगेके टीकाकार प्रभाचन्द्रने इसे एक लघीयस्त्रय मानकर ही इसपर अपनी न्यायकुमुदचन्द्र टीका बनाई है जिसे लघीयस्त्रयालंकार भी कहते हैं[1]।

इस ग्रन्थमें तीन प्रवेश हैं —१ प्रमाणप्रवेश २ नयप्रवेश और ३ प्रवचन प्रवेश। लघीयस्त्रयमें कुल ७८ मूल कारिकाएँ हैं। नयप्रवेश' के अन्तमें **'मोहेनैव परोऽपि'** श्लोक पाया जाता है, किन्तु इसका व्याख्यान न तो न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रभाचन्द्रने ही किया है और न लघीयस्त्रयकी तात्पर्यवृत्तिमें अभयचन्द्रने ही, अतः इसे प्रक्षिप्त मानना चाहिए। इस श्लोककी मूल ग्रन्थके साथ कोई अर्थमूलक संगति भी नहीं है।

अकलङ्कदेवने स्वयं लघीयस्त्रय पर एक विवृति लिखी है। यह विवृति कारिकाओंकी व्याख्यारूप न होकर उसमें सूचित विषयोंकी पूरक है। अकलङ्कने यह विवृति श्लोकोंके साथ ही लिखी है क्योंकि वे जो पदार्थ कहना चाहते हैं उसके अमुक अंशको श्लोकमें कहकर शेषको विवृतिमें कहते हैं अतः उसका नाम वृत्ति न होकर विवृति अर्थात् विशेष विवरण ही उपयुक्त रखा गया है। विषय की दृष्टिसे पद्य और गद्य मिलकर ही ग्रन्थकी अखण्डता बनाते हैं। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर जो वृत्ति लिखी है वह भी इसी प्रकारकी पूरक वृत्ति है। अकलङ्कके प्रमाणसंग्रहके अध्ययनसे हमें इस बातकी प्रतीति हो जाती है कि उनका गद्यभाग शुद्ध वृत्ति नहीं कहा जा सकता। शुद्ध वृत्तिमें तो मूलश्लोककी मात्र व्याख्या ही होनी चाहिए, पर लघीयस्त्रयकी विवृति और प्रमाणसंग्रहके गद्यभागमें व्याख्यात्मक अंश नहींके बराबर हैं। प्रभाचन्द्रने इसे विवृति ही माना है क्योंकि जब वे गद्यभागका व्याख्यान करते हैं तब **'विवृतिं विवृण्वन्नाह'** ही लिखते हैं। लघीयस्त्रयमें ६ परिच्छेद हैं। इनमें चर्चित मुख्य विषय इस प्रकार हैं–

प्रथमपरि० में सम्यग्ज्ञानकी प्रमाणता, प्रत्यक्ष परोक्षके लक्षण, प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और मुख्य दो भेद, सांव्यवहारिकके इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद, सांव्यवहारिकके अवग्रहादि भेद, पूर्व पूर्व-ज्ञानोंकी प्रमाणता तथा उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी फलरूपता आदिका विवेचन है।

द्वितीयपरि० में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुकी प्रमेयरूपता, नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमें अर्थक्रियाका अभाव आदि प्रमेय सम्बन्धी चरचा है।

तृतीयपरि० में मति स्मृति संज्ञा चिन्ता तथा अभिनिबोध आदिका शब्दयोजनासे पूर्व अवस्थामें मतिव्यपदेश तथा शब्दयोजनाके बाद श्रुतव्यपदेश, स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानका परोक्षत्व, प्रत्यभिज्ञानमें उपमानका अन्तर्भाव, कारण पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओंका समर्थन, अदृश्यानुपलब्धिसे भी अभावकी सिद्धि और विकल्पबुद्धिकी वास्तविकता आदि परोक्षप्रमाण सम्बन्धी विषयोंकी चरचा है।

चतुर्थपरि० में किसी भी ज्ञानमें ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणताका निषेध करके प्रमाणाभासका स्वरूप, श्रुतकी प्रमाणता और शब्दोंका अर्थवाचकत्व आदि आगमप्रमाण सम्बन्धी विषयोंका विचार है।

पञ्चमपरि० में नय दुर्नयके लक्षण, नयोंके द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि भेद, नैगमादिनयोंमें अर्थनय और शब्दनयका विभाग आदि नयपरिवारका विवेचन है।

छठे प्रवचन प्रवेशमें फिर प्रमाण और नयका विचार है। अर्थ और आलोककी ज्ञानकारणताका खंडन, सकलादेश-विकलादेश विचार और निक्षेपका फल आदि प्रवचनके अधिगमोपायभूत प्रमाण नय और निक्षेपका निरूपण किया गया है।

इस तरह अकलंकदेवकी यह पहिली दार्शनिक और मौलिक रचना है। यह अकलङ्क ग्रन्थत्रयमें प्रकाशित हो गई है।

४. न्यायविनिश्चय सवृत्ति–

धर्मकीर्तिके प्रमाणविनिश्चयकी तरह न्यायविनिश्चयकी रचना भी गद्यपद्यमय रही है। इसके मूल

---

(१) न्यायकुमु० पृ० २१२ आदि, परिच्छेद समाप्तिकी पुष्पिकाएँ।

(२) लघी० पृ० १७।

श्लोकोंकी तथा उसपरके गद्य भागकी कोई हस्तलिखित प्रति कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई। वादिराज सूरिने इसपर एक न्यायविनिश्चय विवरण टीका बनाई है परन्तु इसमें केवल श्लोकोंका ही व्याख्यान किया गया है। अतः विवरणमेंसे एक-एक शब्द छाँटकर श्लोकोंका संकलन तो किया गया है[1], किन्तु गद्यभागके संकलनका कोई साधन नहीं था अतः वह नहीं किया जा सका। पर गद्य भाग था अवश्य; इसका एक अवतरण सिद्धिविनिश्चयटीकामें[2] न्यायविनिश्चयके नामसे मिला है[3]। न्यायविनिश्चय विवरणकारके **'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्'** आदि वाक्य भी इसके साक्षी हैं। उस गद्यभागको संभवतः चूर्णि कहते थे क्योंकि वादिराजने न्यायविनिश्चय विवरणमें[4] **'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्'** लिखकर **'समारोपव्यवच्छेदात्'** श्लोक उद्धृत किया है। न्यायविनिश्चयमें वार्तिक अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोक इस तरह तीन प्रकारके श्लोकोंका संग्रह है। जैसे **'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः'** (१।३) श्लोक मूल वार्तिक है क्योंकि आगे इसी श्लोकगत पदोंका विस्तृत विवेचन है। वृत्तिके मध्यमें यत्र तत्र आनेवाले श्लोक अन्तरश्लोक हैं तथा वृत्तिके द्वारा प्रदर्शित मूल वार्तिकके अर्थका संग्रह करनेवाले संग्रह श्लोक हैं।[5] इसमें कुल ४८०॥ श्लोक हैं।[6] न्यायविनिश्चयमें तीन प्रस्ताव हैं–प्रत्यक्ष अनुमान और प्रवचन। न्यायावतारमें प्रत्यक्ष अनुमान और श्रुत इन तीन प्रमाणोंका वर्णन है और धर्मकीर्तिने प्रमाणविनिश्चयमें प्रत्यक्ष स्वार्थानुमान और परार्थानुमान तीन ही परिच्छेद रखे हैं, जो इनकी प्रस्ताव रचना के प्रेरक मालूम होते हैं।

प्रथम प्रत्यक्ष प्रस्तावमें–प्रत्यक्षका लक्षण, इन्द्रिय प्रत्यक्षका स्वरूप, प्रमाण सम्प्लव सूचन, चक्षुरादि बुद्धियोंका व्यवसायात्मकत्व, विकल्पके अभिलापवत्त्व आदि लक्षणोंका खण्डन, ज्ञानको परोक्ष माननेका निराकरण, ज्ञानके स्वसंवेदनकी सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिराकरण, अचेतनज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखण्डन, परमाणुरूप बहिरर्थका निराकरण, अवयवातिरिक्त-अवयवीका खण्डन, द्रव्यका लक्षण, गुण और पर्यायका स्वरूप, सामान्यका स्वरूप, अर्थके उत्पादादित्रयात्मकत्वका समर्थन, अपोहरूप सामान्यका निरास, व्यक्तिभिन्न सामान्यका निराकरण, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणकी समालोचना, बौद्धकल्पित स्वसंवेदन-योगिमानसप्रत्यक्षनिरास, सांख्यकल्पित प्रत्यक्षलक्षणकी आलोचना, नैयायिकसम्मत प्रत्यक्षलक्षणका निराकरण और अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका लक्षण आदि विषयोंका विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमान प्रस्तावमें–अनुमानका स्वरूप, अनुमानकी बहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभासका स्वरूप, अन्य मतोंमें साध्यप्रयोगकी असम्भवता, शब्दका अर्थवाचकत्व, सङ्केतग्रहणका प्रकार, भूतचैतन्यवादकी समालोचना, गुणगुणिभेदका निराकरण, साध्य-साधनाभासके लक्षण, प्रमेयत्वहेतुकी अनेकान्तसाधकता, सत्त्व हेतुकी परिणामित्वप्रसाधकता, त्रैरूप्यखण्डनपूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्ककी प्रमाणता, अनुपलम्भ हेतुका समर्थन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचरहेतुका समर्थन, असिद्धादि हेत्वाभासोंका निरूपण, दूषणाभासका लक्षण, जातिका लक्षण, जयपराजयव्यवस्था, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभासविचार, वादका लक्षण, निग्रहस्थानका लक्षण और वादाभासका लक्षण आदि अनुमानप्रमाणसम्बन्धी विषयोंका वर्णन है।

---

(१) इस संकलनके इतिहासके लिए देखो अकलंकग्रन्थत्रय प्रस्ता० पृ० ६।

(२) पृ० १४१

(३) "तदुक्तं न्यायविनिश्चये–न चैतद् बहिरेव। किं तर्हि? बहिः बहिरिव प्रतिभासते। कुत एतत्? भ्रान्तेः, तदन्यत्र समानमिति।"–सिद्धिवि० टी० पृ० १४१।

(४) प्र० भाग पृ० ३०१, ३९०।

(५) "निराकारेत्यादयोऽन्तरश्लोकाः वृत्तिमध्यवर्तित्वात्, विरुद्धेत्यादिवार्तिकव्याख्यानवृत्तिग्रन्थमध्यवर्तिनः खल्वमी श्लोकाः।······संग्रहश्लोकास्तु वृत्त्युपदर्शितस्य वार्तिकार्थस्य संग्रहपरा इति विशेषः।"–न्यायवि० वि० प्र० पृ० २२९।

(६) न्यायवि० वि० प्र० प्रस्ता० पृ० २४।

तृतीय प्रवचन प्रस्तावमें-प्रवचनका स्वरूप, सुगतके आप्तत्वका निरास, सुगतके करुणावत्त्व तथा चतुरार्यसत्यप्रतिपादकत्वका परिहास, वेदके अपौरुषेयत्वका खण्डन, सर्वज्ञत्वसमर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश सत्यस्वप्न और ईक्षणिकादि विद्याके दृष्टान्तों द्वारा सर्वज्ञत्वकी सिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वनिरूपण, नैरात्म्य-भावनाकी निरर्थकता, मोक्षका स्वरूप, सप्तभङ्गीनिरूपण, स्याद्वादमें संशयादि दोषोंका परिहार, स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिका प्रामाण्य और प्रमाणका फल आदि विषयोंपर प्रकाश डाला गया है।

यह ग्रन्थ अकलङ्कग्रन्थत्रय तथा न्यायविनिश्चयविवरणमें प्रकाशित है।

५. सिद्धिविनिश्चय–

प्रकृत ग्रन्थ, इसका विषय परिचय आदि इसी प्रस्तावनाके ग्रन्थ विभागमें दिया जायगा।

६. प्रमाणसंग्रह–

जैसा कि इसका नाम है वैसा ही यह ग्रन्थ वस्तुतः प्रमाणों-युक्तियोंका संग्रह है। इस ग्रन्थकी भाषा और विषय दोनों ही जटिल और दुरूह हैं। यह ग्रन्थ प्रमेयबहुल है। ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ न्याय-विनिश्चयके बाद बनाया गया है; क्योंकि इसके कई प्रस्तावोंके अन्तमें न्यायविनिश्चयकी अनेकों कारिकाएँ बिना किसी उपक्रम वाक्यके लिखी गई हैं। इसकी प्रौढ़ शैलीसे ज्ञात होता है कि यह अकलङ्कदेवकी अन्तिम कृति है और इसमें उन्होंने यावत् अवशिष्ट विचारके संग्रह करनेका प्रयास किया है, इसीलिये यह इतना गहन हो गया है। इसमें हेतुओंके उपलब्धि अनुपलब्धि आदि अनेकों भेदोंका विस्तृत विवेचन है जब कि न्यायविनिश्चयमें मात्र उनका नाम ही लिया गया है। इसपर अनन्तवीर्यकृत प्रमाणसंग्रहभाष्य या प्रमाण-संग्रहालंकार टीका रही है। इसका उल्लेख स्वयं अनन्तवीर्यने ही किया है।[1] इसमें ९ प्रस्ताव हैं तथा कुल ८७½ कारिकाएँ हैं। स्वयं अकलङ्कदेवने इन कारिकाओंके सिवाय एक पूरकवृत्ति लिखी है। इस गद्य-पद्यमय प्रमाणसंग्रहका कुल प्रमाण अष्टशतीके बराबर ही है।

प्रथम प्रस्तावमें प्रत्यक्षका लक्षण, श्रुतका प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाणका फल और मुख्य प्रत्यक्ष आदि प्रत्यक्षविषयक निरूपण है।

द्वितीय प्रस्तावमें परोक्षके भेद स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्कका वर्णन है।

तृतीय प्रस्तावमें अनुमान और अनुमानके अवयव साधनादिके लक्षण, सदेकान्त आदिमें साध्य-प्रयोगकी असम्भवता, सामान्यविशेषात्मक वस्तुकी साध्यतामें दिये जानेवाले संशयादि दोषोंका परिहार आदि निरूपित है।

चतुर्थ प्रस्तावमें त्रैरूप्यका खण्डन कर अन्यथानुपपत्तिरूप एक हेतुका समर्थन, हेतुके उपलब्धि-अनुपलब्धि आदि भेदोंका वर्णन तथा कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर आदि हेतुओंका समर्थन है।

पंचम प्रस्तावमें विरुद्धादि हेत्वाभासोंका निरूपण, सर्वथा एकान्तमें सत्त्व हेतुकी विरुद्धता, सहोपलम्भ नियम हेतुकी विरुद्धता, विरुद्धाव्यभिचारीका विरुद्धमें अन्तर्भाव, अज्ञातका अकिञ्चित्करमें अन्तर्भाव आदि हेत्वाभासविषयक चरचा है।

षष्ठ प्रस्तावमें वादका लक्षण, जयपराजय व्यवस्था, जातिका लक्षण आदि वादविषयक कथन है। अन्तमें धर्मकीर्ति आदिने अपने ग्रन्थोंमें प्रतिवादियोंको जिन जाड्य अह्रीक आदि अपशब्दोंका प्रयोग किया है उन शब्दोंको प्रायः उन्हींको लौटाया गया है।

सप्तम प्रस्तावमें प्रवचनका लक्षण, सर्वज्ञताका समर्थन और अपौरुषेयत्वका खण्डन आदि प्रवचन सम्बन्धी विषय वर्णित हैं।

अष्टम प्रस्तावमें सप्तभङ्गी तथा नैगमादि सात नयोंका कथन है।

नवम प्रस्तावमें प्रमाण नय और निक्षेपका उपसंहार है।

---

(१) सिद्धिवि॰ टी॰ पृ॰ ८, १०, १३० आदि।

इस तरह ये छह ग्रन्थ निश्चित रूपसे भट्टाकलङ्कदेवकी कृति हैं। इनमें अकलङ्कके महान् पाण्डित्यके दर्शन होते हैं। परम्परागत प्रसिद्धिकी दृष्टिसे स्वरूपसम्बोधन, न्यायचूलिका, अकलङ्कप्रतिष्ठा पाठ, अकलङ्क प्रायश्चित्तसंग्रह और अकलङ्कस्तोत्र आदि भी अकलङ्कके नामपर दर्ज हैं। पर ये प्रसिद्ध अकलङ्ककी कृतियाँ नहीं हैं[1] पीछेके अकलङ्कनामधारी अन्य आचार्योंकी हैं। अकलङ्क नामके अनेकों ग्रन्थकार हुए हैं जो सब इन के बादके हैं।[2]

*

अकलङ्ककी जैन न्यायको देन : अकलङ्क न्याय–

भट्टाकलङ्क जैसे उद्भटवादी थे वैसे ही प्रतिभापुञ्ज ग्रन्थकार भी थे। उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थोंके परिचयमें उनकी अप्रतिहत लेखनीका चमत्कार स्वतः ज्ञात हो जाता है। अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वादभाषाका अहिंसक उद्देश्य था समस्त मत-मतान्तरोंका नयदृष्टिसे समन्वयकर समताकी सृष्टि करना। अनेकान्तदर्शनके अन्तः यह रहस्य भी है कि हमारी दृष्टि वस्तुके पूर्णरूपको जान नहीं सकती, जो हम जानते हैं वह आंशिक सत्य है। हमारी तरह दूसरे मतवादियोंके दृष्टिकोण भी आंशिक सत्यताकी सीमाको छूते हैं। इसीलिये उसमें यह शर्त लगाई गई कि जो दृष्टिकोण अन्य दृष्टियोंकी अपेक्षा रखता है उनकी उपेक्षा या तिरस्कार नहीं करता वही सच्चा नय है। और ऐसे नयोंका समूह ही अनेकान्तदर्शन है।

इस पवित्र उद्देश्यसे अनेकान्तदर्शन और स्याद्वादपर ही जैन परम्पराने अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। पर, ऐसा लगता है जैसे यह समन्वयकी दृष्टि अंशतः परपक्षखण्डनमें बदल गई है। यद्यपि किसी भी मतके ऐकान्तिक दृष्टिकोणकी आलोचना किये बिना उसकी सापेक्षताका प्रतिपादन अपनेमें पूर्ण नहीं हो सकता फिर भी जितना भार समन्वयपर दिया जाना चाहिए था उतना नहीं दिया गया। भट्टाकलङ्क उस शताब्दीके व्यक्ति हैं जब कि धर्मकीर्ति और उसके टीकाकार शास्त्रार्थोंकी धूम मचाये हुए थे। अतः अकलङ्क देवकी दार्शनिक प्रकरणोंमें उस युगकी प्रतिक्रियाकी प्रतिध्वनि बराबर सुनाई देती है। वे जब भी अवसर पाते हैं बौद्धोंके तीक्ष्ण खण्डनमें नहीं चूकते। जब धर्मकीर्ति परिवारने जैन सिद्धान्तको अश्लील आकुलप्रलाप आदि कहना प्रारम्भ किया तो इनका अहिंसक मानस डोल उठा और उन्होंने इन परप्रहारोंसे जैनशासनकी रक्षा करनेके हेतु सर्वप्रथम अपने सिद्धान्तोंकी व्यवस्थाकी ओर ध्यान दिया। उनकी जैनन्यायको देन इस प्रकार है–

१. प्रमाणके लक्षणमें 'अविसंवादि' पद–

प्रमाण सामान्यके लक्षणमें समन्तभद्र[3]ने 'स्वपरावभासक' और सिद्धसेन[4]ने 'स्वपराभासि' पद देकर ऐसे ज्ञानको प्रमाण माननेकी ओर संकेत किया था जो स्व और परका अवभासक हो। यह उसका स्वरूपनिरूपण था। अकलङ्कदेवने प्रमाणके लक्षणमें 'अविसंवादी' पद[5]का प्रवेशकर ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहा जो अविसंवादी हो। इस लक्षणमें उन्होंने 'स्व' पदपर जोर नहीं दिया; क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञान-सामान्यका धर्म है, प्रमाणज्ञानका ही नहीं। इसीलिये वे कहीं[6] प्रमाणके फलभूत सिद्धिको 'स्वार्थ विनिश्चय' शब्दसे व्यक्त करते हैं तो कहीं 'तत्त्वार्थ निर्णय'[7] शब्दसे। यद्यपि अष्टशतीके लक्षणमें 'अनधिगतार्थाधिगम' शब्दका प्रयोग किया गया है किन्तु इसपर उनका भार नहीं रहा; क्योंकि प्रमाणसंप्लव उपयोगविशेषमें इन्हें स्वीकृत है। इस तरह प्रमाणके लक्षणमें 'अविसंवादि' पदका प्रयोग अकलङ्कदेवने ही सर्वप्रथम किया है।

---

(१) देखो न्यायकुमुदचन्द्र प्र० प्रस्तावना पृ० ५७–५८। (२) वही, पृ० २५।
(३) बृहत्स्व० श्लो० ६३। (४) न्यायावतार श्लो० १।
(५) अष्टश० अष्टसह० पृ० १७५। (६) सिद्धिवि० १।३। (७) प्रमाणसं० पृ० १।५।

इसी तरह ज्ञानपदसे अज्ञानरूप सन्निकर्षादि तथा अकिञ्चित्कर निर्विकल्पक दर्शनादिका व्यवच्छेद भी इन्होंने किया है[1]।

२. अविसंवादकी प्रायिक स्थिति[2]–

अकलङ्कदेवने अविसंवादको प्रमाणताका आधार मानकर भी एक विशेष बात कही है कि हमारे ज्ञानोंमें प्रमाणता और अप्रमाणताकी सङ्कीर्ण स्थिति है। कोई भी ज्ञान एकान्तसे प्रमाण या अप्रमाण नहीं है। द्विचन्द्रज्ञान भी चन्द्रांशमें प्रमाण और द्वित्वांशमें अप्रमाण है। एकचन्द्रज्ञान भी चन्द्रांशमें ही प्रमाण है 'पर्वत स्थित' रूपमें नहीं। प्रमाणता या अप्रमाणताका निर्णय अविसंवादकी बहुलता या विसंवादकी बहुलतासे किया जाना चाहिए। जैसे कि जिस पुद्गलमें गन्धकी प्रचुरता होती है उसे गन्धद्रव्य कहते हैं[2]।

३. परपरिकल्पित प्रमाणलक्षणनिरास[3]–

अकलङ्कने बौद्धसम्मत अविसंवादि ज्ञानकी प्रमाणताका खण्डन इसलिये किया है कि उनके द्वारा प्रमाणरूपसे स्वीकृत निर्विकल्पज्ञानमें अविसंवाद नहीं पाया जाता। सन्निकर्षकी प्रमाणताका निराकरण इसलिये किया है कि उसमें अचेतनरूपता होनेके कारण प्रमाके प्रति साधकतमत्व नहीं आ सकता।

४. प्रमाणका विषय[4]–

द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्य विशेषात्मक पदार्थको प्रमाणका विषय बतानेके साथही साथ उसे आत्मार्थगोचर यानी स्व और अर्थ उभयको विषय करनेवाला बताया है।

५. पूर्व-पूर्वज्ञानकी प्रमाणता तथा उत्तरोत्तरमें फलरूपता[5]–

अकलङ्कदेवने अवग्रह ईहा अवाय और धारणा इन चार मतिज्ञानोंमें पूर्व-पूर्वका प्रामाण्य तथा उत्तर-उत्तरमें फलरूपता स्वीकृत की है। विशेषता यह है कि ये पूर्व-पूर्वकी प्रमाणताकी ओर बढ़ते समय ज्ञानसे आगे सन्निकर्षमें नहीं गये।

६. ईहा और धारणाकी ज्ञानरूपताका समर्थन[6]–

ईहाका साधारण अर्थ चेष्टा और धारणाका अर्थ भावनात्मक संस्कार लिया जाता है किन्तु अकलङ्क देवने ज्ञानोपादानक होनेसे इनमें भी तत्त्वार्थसूत्रप्रतिपादित ज्ञानरूपताका समर्थनकर प्रमाणफलभावकी व्यवस्था की है।

७. अर्थ और आलोक ज्ञानके कारण नहीं[7]–

अकलङ्कदेवने ज्ञानके प्रति साक्षात् कारणता इन्द्रिय और मनकी ही मानी है अर्थ और आलोककी नहीं; क्योंकि इनका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है।

८. प्रत्यक्षका लक्षण[8]–

आ० सिद्धसेनने प्रत्यक्षका लक्षण करते समय न्यायावतार[9] में 'अपरोक्ष' पद देकर प्रत्यक्षका लक्षण परोक्षसापेक्ष किया था। अकलङ्कदेवने 'विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं' यह उसका स्वाश्रित लक्षण किया है। जिसे सभीने एक स्वरसे अपनाया है।

---

(१) लघी० स्ववृ० १।३।
(२) अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७। लघी० स्ववृ० श्लो० २२।
(३) सिद्धिवि० १।३। (४) न्यायवि० १।३।
(५) लघी० श्लो० ६। (६) लघी० स्ववृ० १।६।
(७) लघी० श्लो० ५३-५६।
(८) लघी० श्लो० ३। (९) वही श्लो० ४।

९. वैशद्यका लक्षण[1]–

विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहनेके बाद वैशद्यका लक्षण करना न्यायप्राप्त था। अकलङ्कदेवने 'अनुमान आदिसे अधिक विशेष प्रतिभास' को वैशद्य कहा है।

१०. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष[2]–

तत्त्वार्थसूत्रमें मति श्रुत आदि पाँच आगमिक ज्ञानोंका केवल प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे दो प्रमाण माननेका निर्देश किया गया था। किन्तु उनकी प्रत्यक्षता और परोक्षताके आधार जुदे थे। आत्ममात्र-सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष और इन्द्रिय तथा मनकी अपेक्षा रखनेवाले ज्ञान परोक्ष थे। जबकि सभी दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष तथा अनुमानादिको परोक्षकी श्रेणीमें रखते थे। प्रत्यक्षमें 'अक्ष' शब्द इसी व्यवस्थाका साक्षी था। यद्यपि जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणने इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है फिर भी उसका सयुक्तिक प्रतिपादन दार्शनिक भाषामें अकलंकने ही किया है। उन्होंने कहा कि–चूँकि इन्द्रियजन्यज्ञान एकदेशसे विशद है अतः वैशद्यांशका सद्भाव होनेसे यह भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।

११. परोक्षका लक्षण[3] और भेद–

अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थसूत्रकारके द्वारा निर्दिष्ट परोक्षज्ञानोंमें मतिज्ञानके 'मति' को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा,किन्तु साथमें यह भी कहा कि मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और आभिनिबोधिक शब्दयोजनाके पहले मतिज्ञान हैं और शब्दयोजनाके बाद श्रुतज्ञान हैं। श्रुत अविशद होनेसे परोक्ष है। ये मति स्मृति आदि ज्ञान शब्दयोजनाके बिना भी होते हैं और शब्दयोजनाके बाद भी। शब्दयोजनाके पहिले ये सभी ज्ञान मतिज्ञान हैं और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें अकलङ्कदेवने अनुमान आदि ज्ञानोंको स्वप्रतिपत्तिकालमें अनक्षरश्रुत तथा परप्रतिपत्तिकालमें अक्षरश्रुत कहा है। लघीयस्त्रयमें[4] स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोधको अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थवार्तिक और लघीयस्त्रयमें अकलङ्कदेव स्मृत्यादिज्ञानोंको अवस्था विशेषमें मतिज्ञान या सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर भी न्यायविनिश्चयमें उन स्मृति आदि ज्ञानोंके ऐकान्तिक परोक्षत्वका विधान करते हैं और यहीं वे परोक्षप्रमाणके स्मृति संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध और श्रुत-आगम ये पाँच भेद निश्चित कर देते हैं।

१२. स्मृतिका प्रामाण्य[5]–

प्रायः सभी वादी स्मरणको गृहीतग्राही मानकर अप्रमाण कहते आये हैं। किन्तु अकलङ्कदेवने स्वविषयमें अविसंवादी होनेके कारण इसे प्रमाणताका वही दर्जा दिया है जो अन्य प्रमाणोंको प्राप्त था।

१३. प्रत्यभिज्ञानका प्रामाण्य[6]–

प्रत्यभिज्ञानको मीमांसकने इन्द्रियप्रत्यक्षमें और नैयायिकने मानसविकल्पमें अन्तर्भूत किया था तथा बौद्धने अप्रमाण कहा था। परन्तु अकलङ्कदेवने इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानकर इसीके भेदस्वरूप सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें नैयायिकादिके उपमानका अन्तर्भाव दिखाया है और कहा है कि यदि सादृश्यविषयक उपमान-को पृथक् प्रमाण मानते हो तो वैधर्म्यविषयक तथा आपेक्षिक आदि प्रत्यभिज्ञानोंको भी स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ेगा।

१४. तर्ककी प्रमाणता[7]–

व्याप्तिग्राही तर्कको न तो वादी प्रमाण कहना चाहते थे और न अप्रमाण। प्रमाणोंका अनुग्राहक माननेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु अकलङ्कदेवने कहा कि यदि तर्कको प्रमाण नहीं मानते हो तो

(१) लघी० श्लो० ४। (२) लघी० श्लो० ३।
(३) लघी० श्लो० १०। (४) श्लो० ६१। (५) लघी० स्ववृ० ३।१०।
(६) लघी० श्लो० १०, १९–२१। (७) लघी० श्लो० ११। प्रमाणसं० श्लो० १२।

उसके द्वारा गृहीत व्याप्तिमें कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? अतः तर्क भी स्वविषयमें अविसंवादी होनेसे प्रमाण है ।

१५. अनुमानके अवयवोंकी व्यवस्था–

यद्यपि सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतार और पात्रस्वामीके त्रिलक्षणकदर्थन एवं श्रीदत्तके जल्पनिर्णयसे अनुमानका लक्षण उसके अवयव और साध्याभास हेत्वाभास आदिकी रूपरेखा अकलङ्कदेवको मिली होगी । पर उन्होंने अविनाभावैकलक्षण हेतु तथा एक ही प्रकारके अनुमानको माननेका अपना मत रखा है । अवयवोंमें प्रतिज्ञा और हेतु दो अवयवोंको पर्याप्त माना है । प्रतिपाद्यके अनुरोधसे अन्य अवयवोंमें दृष्टान्तको भी प्रमुखता दी है ।

१६. हेतुके भेद[1]–

अकलङ्कदेव ने कार्य स्वभाव और अनुपलब्धिके सिवाय कारणहेतु पूर्वचरहेतु उत्तरहेतु और सहचरहेतुको पृथक् माननेका समर्थन किया है ।

१७. अदृश्यानुपलब्धिसे भी अभावकी सिद्धि[2]–

अदृश्यका साधारण तात्पर्य 'प्रत्यक्षका अविषय' लिया जाता है और इसीलिये अदृश्यानुपलब्धिसे धर्मकीर्तिने संशय माना है। अकलङ्कदेव अदृश्य किन्तु अनुमेय परचित्त आदिका अभाव भी अदृश्यानुपलब्धिसे स्वीकार करते हैं । ये अनुपलब्धिसे विधि और प्रतिषेध दोनों साध्योंकी सिद्धि मानते हैं ।

१८. हेत्वाभास[3]–

यद्यपि अकलङ्कदेव अविनाभावरूप एक लक्षणके अभावमें वस्तुतः एक ही असिद्ध हेत्वाभास मानते हैं, किन्तु अविनाभावका अभाव कई प्रकारसे होता है अतः विरुद्ध असिद्ध सन्दिग्ध और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास भी मानते हैं ।

१९. वाद और जल्प एक हैं[4]–

नैयायिक तत्त्वनिर्णय और तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणको जुदा मानकर तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणके लिये छलादि असत् उपायोंका आलम्बन करना भी उचित ही नहीं, न करनेपर निग्रहस्थान मानते हैं । पर अकलङ्कदेवने किसी भी दशामें छलादिका प्रयोग उचित नहीं माना । अतः इनकी दृष्टिसे छलादिप्रयोगवाली जल्प कथा और वितण्डा कथाका अस्तित्व ही नहीं है । वे केवल एक वादकथा मानते हैं । इसीलिये वे वादको ही जल्प कहते हैं । इस सम्बन्धका सूत्र सम्भवतः इन्हें श्रीदत्तके जल्पनिर्णयसे मिला होगा ।

२० जातिका लक्षण–

अकलङ्कने मिथ्या[5] उत्तरको जात्युत्तर कहा है । साधर्म्यादिसमा आदि जातियोंके प्रयोगको ये अनुचित मानते हैं । उन्होंने यह भी कहा है कि मिथ्या उत्तर अनन्त प्रकारके हैं अतः उनकी गिनती करना कठिन है ।

२१. जय पराजय व्यवस्था–

नैयायिकोंने जय-पराजयव्यवस्थाके लिये निग्रहस्थानोंका जटिल जाल बनाया है । बौद्धोंने उससे निकलकर असाधनाङ्ग वचन और अदोषोद्भावन इन दो निग्रहस्थानोंको मानकर उस जालको बहुत कुछ तोड़ा था । किन्तु उनके विविध अर्थोंका जो थोड़ा-बहुत उलझाव था उसे अकलङ्कदेवने अत्यन्त सीधा बनाते हुए कहा कि जो अपना पक्ष सिद्ध कर ले उसका जय और जिसका पक्ष निराकृत हो जाय उसका

(१) लघी० श्लो० १३–१४ । (२) लघी० श्लो० १५ ।
(३) न्यायवि० श्लो० ३६५–३७० । (४) सिद्धिवि० ५।२ ।
(५) न्यायवि० श्लो० ३७१ ।

पराजय होना चाहिए। अपने पक्षको सिद्ध करके यदि कोई नाचता भी है तो भी कोई दोष नहीं। इस तरह उन्होंने जय-पराजयका सीधा मार्ग बताया[1]।

२२. सप्तभंगी निरूपणमें प्रगति-

सप्तभङ्गी विधिमें प्रमाणसप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गीकी योजनाके लिये सकलादेश और विकलादेशका सयुक्तिक विस्तृत निरूपण अकलङ्कदेवने किया है[2]। यहीं अभेदवृत्ति और अभेदोपचारके लिये काल आत्मरूप अर्थ सम्बन्ध उपकार गुणिदेश संसर्ग और शब्द इन कालादि आठकी दृष्टिसे विवेचनकी प्रक्रिया बताई है।

अनेकान्तमें दिये जानेवाले संशयादि दोषोंके उद्धारका व्यवस्थित क्रम इनके ग्रन्थोंमें विशेष रूपसे देखा जाता है[3]।

इसी तरह नय नयाभासोंका विवेचन, सकलादेश और विकलादेशमें एवकारके प्रयोगका विचार, निक्षेप निरूपणकी अपनी पद्धति आदिका वर्णन भी अकलङ्कके ग्रन्थोंमें है[4]। बौद्धोंके साथ ही साथ अन्य दर्शनोंकी मार्मिक आलोचना भी अकलङ्कदेवने यथावसर करके अकलङ्क न्यायके स्वपक्ष साधन और परपक्षदूषण दोनों पक्षोंको खूब समृद्ध किया है। इनमेंसे कुछ विशेष मुद्दोंका विवेचन आगे 'ग्रन्थ-परिचय' विभागमें विस्तारसे किया जायगा।

इस तरह तर्कभूवल्लभ भट्टाकलङ्कदेव शशाङ्ककी कीर्तिकौमुदी उनके अकलङ्कन्यायकी ज्योत्स्नासे तर्करसिकोंके मानसको द्योतित करती हुई आज भी छिटक रही है।

*

अकलङ्कका व्यक्तित्व-

इस तरह शिलालेखोल्लेख, ग्रन्थोल्लेख, समकालीन और परवर्ती आचार्योंपर प्रभाव और उनके ग्रन्थ आदि स्तम्भोंमें आई हुई चरचासे हम समझ सके हैं कि अकलङ्कदेव ई० ८ वीं सदीके युगनिर्माता महापुरुष थे। वे अनेक शास्त्रार्थोंके विजेता महान् वाग्मी थे और थे घटवादविस्फोटक सभाचतुर पंडित। कथाकोशमें उनके शास्त्रार्थोंकी कथाका सार पाठक पढ़ ही चुके हैं। मल्लिषेण प्रशस्तिके **'राजन् साहसतुंग'** श्लोकके गौरवपूर्ण उद्घोषसे ऐसा लगता है जैसे अकलङ्कके गलेकी विजयमाला अभी भी तरोताजी है। यह विजय इतनी बड़ी थी कि अकलङ्क जैसे वाचंयमीके मुखसे भी वह श्लोक निकलवा सकी। यह वह काल था जब धर्मकीर्तिके शिष्योंका समुदाय भारतीय दर्शनके रङ्गमञ्चपर छाया हुआ था और नैरात्म्यके नारोंसे आत्मदर्शन हिल उठा था। उस कालमें अकलङ्कदेवने भारतीय दर्शनकी हिलती हुई दीवालोंको थाँभा और इसी प्रयत्नमेंसे अकलङ्कन्यायका जन्म हुआ।

उनके टीका ग्रन्थ और मौलिक कृतियाँ उनके गहन तत्त्वविचार उनकी सूक्ष्मतर्कप्रवणता तथा स्वतत्त्व-निष्ठाका पगपगपर दर्शन कराती हैं। वे बौद्धोंके विचारोंसे होनेवाली निरात्मकतासे जनजनकी रक्षा करनेकी करुणाबुद्धिसे ओतप्रोत थे और इसीलिये उनके सत्त्वप्रकोपके मूल लक्ष्य बौद्धाचार्य और बहुशः बौद्धाचार्य ही रहे हैं। वे उनके अश्लील परिहास और कटूक्तियोंका उत्तर भी बड़े मजेसे देते हैं-धर्मकीर्तिने जब प्रमाणवार्तिक[5] में अनेकान्तवादियोंको दही और ऊँटके अभेदप्रसङ्गका दूषण देकर कहा कि 'दहीकी जगह ऊँटको क्यों नहीं खाते ?' तब अकलङ्कदेव न्यायविनिश्चय में उसका सटीक उत्तर देते हुए लिखते हैं कि-'सुगत मृग

(१) न्यायवि० श्लो० ३८३। (२) तत्त्वार्थवा० ४।४२।
(३) अकलङ्कग्रन्थत्रय टि० पृ० १७०। (४) वही पृ० १४६-५४।
(५) "सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥"-प्र० वा० ३।१८१।

हुए थे और मृग भी सुगत हुआ फिर भी जैसे आप लोग मृगको ही खाते हो सुगतको नहीं, उनकी तो वन्दना ही करते हो, ठीक उसी तरह पर्यायभेदसे दही और ऊँटके शरीरमें भेद है[1]।'

सिद्धिविनिश्चयस्ववृत्ति (६।३७) में अदृश्यानुपलब्धिसे अभावकी सिद्धि न माननेपर वे कहते हैं कि–

"दध्यादौ न प्रवर्तेत बौद्धः तद्भुक्तये जनः।
अदृश्यां सौगतीं तत्र तनूं संशङ्कमानकः॥
दध्यादिके तथा भुक्ते न भुक्तं काञ्जिकादिकम्।
इत्यसौ वेत्तु नो वेत्ति न भुक्ता सौगती तनुः॥"

अर्थात् अदृश्यकी आशंकासे बौद्ध दही खानेमें निःशंक प्रवृत्ति न कर सकेंगे; क्योंकि वहाँ सुगतके अदृश्य शरीरकी शंका बनी रहेगी। दही खाने पर काञ्जी नहीं खाई यह तो वे समझ सकते हैं पर बुद्धशरीर नहीं खाया यह समझना उन्हें असंभव है।

प्रमाणसंग्रहमें उन्होंने धर्मकीर्तिकी 'जाड्य अह्रीक पशु अलौकिक प्राकृत और तामस' आदि कटूक्तियोंको जो वे प्रतिवादियोंके प्रति प्रयुक्त करते रहे हैं, बहुत कुछ उन्हें ही उन्हींके सिद्धान्तोंकी असङ्गतियोंका उल्लेख करके ढंग तरीकेसे लौटा दिया है[2]।

कथाकोशकी कथासे विदित होता है कि वे बालब्रह्मचारी निर्ग्रन्थव्रती थे और उनके मनमें अपने प्यारे भाईके बलिदानकी आग बराबर जल रही थी। इससे भी अधिक उनके मानसमें उथल-पुथल तो बौद्धोंके क्रान्तिकारी सिद्धान्तोंके प्रचारसे आत्मवादके लुप्त हो जानेसे मची हुई थी। शिलालेख उनपर ऋद्धिप्राप्त और महायतिके रूप में श्रद्धाप्रसून चढ़ाते हैं और उन्हें चारित्र्यभूधर कह उनके सामने नतमस्तक हैं।

इस तरह अकलङ्क एक महान् वाग्मी प्रज्ञानिष्णात ग्रन्थकार और दृढ़ चारित्र्यसम्पन्न युगप्रवर्तक महापुरुष थे। उनकी अकलङ्कप्रभासे जैनशासनगगन आज भी आलोकित है और रहेगा।

---

(१) "सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतस्तथा।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति॥"–न्यायवि० श्लो० ३७३-७४।

(२) "शून्यसंवृतिविज्ञानकथानिष्फलदर्शनम्।
सञ्चयापोहसन्तानाः सप्तैते जाड्यहेतवः॥
प्रतिज्ञाऽसाधनं यत्तत्साध्यं तस्यैव निर्णयः।
यद्दृश्यमसंज्ञानं त्रिकमह्रीकलक्षणम्॥
प्रत्यक्षं निष्कलं शेषं भ्रान्तं सारूप्यकल्पनम्।
क्षणस्थानमसत्कार्यमभाष्यं पशुलक्षणम्॥
प्रेत्यभावात्ययो मानमनुमानं मृदादिवत्।
शास्त्रं सत्यं तपो दानं देवता नेत्यलौकिकम्॥
शब्दः स्वयंभुः सर्वत्र कार्याकार्येष्वतीन्द्रिये।
न कश्चिच्चेतनो ज्ञाता तदर्थस्येति तामसम्॥
पदादिसत्त्वे साधुत्वन्यूनाधिक्यक्रमस्थितिः।
प्रकृतार्थाविघातेऽपि प्रायः प्राकृतलक्षणम्॥"–प्रमाणसं० पृ० ११५-१६।

२. सिद्धिविनिश्चयटीकाके कर्त्ता अनन्तवीर्य

आचार्य अनन्तवीर्य अपने युगके श्रद्धालु तार्किक और प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। भट्टाकलङ्कदेवके गूढ़तम प्रकरण ग्रन्थोंके हार्दको उद्घाटित करनेका इन्होंने अप्रतिम प्रयत्न किया है। यद्यपि इनके सामने अकलङ्क सूत्रके वृत्तिकार वृद्ध अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयवृत्ति रही है पर जैसा कि इनके द्वारा लिखे गये इस श्लोकसे विदित होता है कि ये वृद्ध अनन्तवीर्यकी व्याख्यासे बहुत सन्तुष्ट नहीं थे। ये आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखते हैं कि–

> "देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तं तु सर्वतः।
> न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत् परं भुवि॥"–पृ० १

अर्थात् अकलङ्कदेवके पदोंका स्पष्ट अर्थ अनन्तवीर्य भी नहीं जानते यह बड़े आश्चर्यकी बात है। यद्यपि इस श्लोकको अपनी लघुताके पक्षमें लगाया जा सकता है पर प्रस्तुत टीकामें जो इन्होंने पाठान्तरोंका उद्धरण देकर[1] पूर्वव्याख्याकारसे मतभेद प्रकट किया है उससे मेरे कथनका समर्थन हो जाता है।

टिप्पण दिये गये उद्धरणोंमें 'अन्ये' और 'अपरे' शब्दसे इन्हें वृद्ध अनन्तवीर्य ही इष्ट हैं। इसका समर्थन (पृ० ३१) में दिये गये '**इत्यनन्तवीर्यः**' इस पदसे हो जाता है। यह उल्लेख ही वृद्ध अनन्तवीर्यके अस्तित्वका साक्षी है। प्रकृतटीकाकार अनन्तवीर्य पूर्वव्याख्याकार वृद्ध अनन्तवीर्यकी व्याख्यासे कारिकार्थका विरोध, पूर्वापर विरोध, तथा अर्थकी असंगतिको जिस रूपमें उपस्थित करते है, उससे स्पष्ट झलकता है कि वे वृद्ध अनन्तवीर्यकी व्याख्यासे बहुत प्रभावित नहीं थे। कहीं भी इन्होंने पूर्वव्याख्याकारके प्रति एक भी शब्द प्रशंसासूचक नहीं लिखा है।

इन्होंने पूर्वटीकाकार अनन्तवीर्यसे अपना पार्थक्य दिखानेके लिए '**रविभद्रपादोपजीवी 'रविभद्रपदकमलचञ्चरीक**' आदि विशेषण स्वयं प्रस्तावोंके अन्तके पुष्पिकावाक्योंमें दिये हैं।

प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्यकी व्याख्याशैली सहज सुबोध होनेपर भी अकलङ्कके प्रकरणोंकी संक्षिप्तता और गूढार्थताके कारण वह बहुत प्रवाहबद्ध नहीं हो पायी है।

अनन्तवीर्य : श्रद्धालु तार्किक–

प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य तार्किक होकर भी श्रद्धालु रहे हैं। उन्हें जो पुरानी परम्पराएँ प्राप्त हुई उसका यथासम्भव वे समर्थन करते रहे हैं। इसका एक उदाहरण है अन्यथानुपपत्तिवार्तिकके कर्तृत्वका प्रकरण।

> "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
> नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"

---

(१) "अन्ये तु दृष्टे संस्कारः दृष्टजातीये स्मृतिः इति व्याचक्षते। तेनायमर्थो लभ्यते न वेति चिन्त्यम्"–सिद्धिवि० टी० पृ० २७।

"अन्ये 'चित्रस्यैव' इति पठन्ति, तेषां कारिकोपात्तोऽयमर्थो भवति न वेति चिन्त्यमेतत्। अस्माकं तु इवशब्दपाठात्र दोषः।"–पृ० ५७।

"अन्ये तु 'स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावे' इति पठन्ति, तेषां कथमन्यथा इत्यादि विरोधः।" –पृ० ११५।

"अपरे शास्त्राप्रामाण्यात्" इति पठन्ति तेषामनन्त मेव तत्प्रामाण्यसमर्थनं किं विस्मृतं येनैवं पठन्ति।"–पृ० ५३८।

'यह अन्यथानुपपत्ति वार्तिक पात्रकेसरी स्वामीका है' इस विषयमें हमें तत्त्वसंग्रहके कर्ता शान्तरक्षित और उनके टीकाकार कमलशील तथा स्याद्वादरत्नाकरके कर्ता वादिदेवसूरिके स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।[1] तत्त्वसंग्रह (पृ० ४०५) में यह श्लोक है और टीकामें स्पष्टतया इसे पात्रस्वामीका लिखा है। प्रमाणवार्तिक स्ववृत्तिटीका (पृ० [illegible]) में यह श्लोक तो है, पर कर्ताके रूपमें पात्रस्वामीका नाम नहीं है। श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेण प्रशस्तिके इस श्लोकमें[2] ज्ञात होता है कि पात्रकेशरीने त्रिलक्षणकदर्थन नामका ग्रन्थ बनाया था। स्वयं अनन्तवीर्यके **"तेन तद्विषयत्रिलक्षणकदर्थनम् उत्तरभाष्यं यतः कृतम्"** (सिद्धिवि० टी० पृ० ३७१) इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि 'पात्रकेसरीके त्रिलक्षणकदर्थनका यह श्लोक है' ऐसी परम्परा उन्हें ज्ञात रही है। पात्रकेसरी और पात्रस्वामी एक व्यक्ति हैं यह बात प्रस्तुत टीकाके **"स्वामिनः पात्रकेशरिणः"** इस उल्लेखसे ज्ञात हो जाता है और इसका समर्थन न्यायविनिश्चयविवरणकार[3] वादिराजके **"पात्रकेसरिस्वामिने"** इस उल्लेखसे हो जाता है। वादिराजके[4] वचनोंसे इस बातका भी समर्थन होता है कि पात्रकेसरीस्वामीका त्रिलक्षणकदर्थन ग्रन्थ था। उपर्युक्त विवरणसे यह निश्चित हो जाता है कि उक्त श्लोक पात्रकेशरीके त्रिलक्षणकदर्थनका है, और पात्रस्वामी पात्रकेसरी और पात्रकेसरीस्वामी इन तीनों नामोंसे उनका उल्लेख होता था।

प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य इसे सीमन्धरस्वामी(तीर्थंकर)कृत माननेका समर्थन किसी पूर्व व्याख्याकारके मतका खण्डन करके इस प्रकार करते हैं–"यह श्लोक पात्रकेसरी स्वामीका है ऐसा कोई मानते हैं।

अनन्तवीर्य–यह कैसे जाना ?

शंकाकार–चूँकि उन्होंने हेतुविषयक त्रिलक्षणकदर्थन नामका उत्तरभाष्य बनाया है।

अनन्तवीर्य–यदि ऐसा है तो सीमन्धरस्वामीका यह श्लोक होना चाहिये; क्योंकि उन्होंने सर्वप्रथम यह श्लोक बनाया है।

शंकाकार–यह कैसे जाना ?

अनन्तवीर्य–पात्रकेसरीने त्रिलक्षणकदर्थन किया यह कैसे जाना ?

शंकाकार–आचार्य प्रसिद्धिसे;

अनन्तवीर्य–आचार्यप्रसिद्धि तो इसमें भी है, और इस विषयकी बड़ी कथा प्रसिद्ध है। यदि सीमन्धरकृत माननेमें कोई प्रमाण नहीं है; तो इसे पात्रकेसरीकृत माननेमें भी प्रमाण नहीं है।

शंकाकार–पात्रकेसरीके लिए यह श्लोक बनाया गया है अतः वह पात्रकेसरीकृत है।

अनन्तवीर्य–तब तो सभी ग्रन्थ और उपदेश चूंकि शिष्योंके लिए किये जाते हैं अतः वे शिष्यकृत माने जाने चाहिए। फिर पात्रकेसरी का भी यह श्लोक नहीं हो सकता; क्योंकि उन्होंने भी किसी अन्य शिष्यके निमित्त इसे बनाया होगा। जिसके लिए बनाया होगा उसीका वह माना जाना चाहिए।

शंकाकार–पात्रस्वामीने तद्विषयक प्रबन्ध (टीका) बनाया है अतः उनका यह श्लोक है।

अनन्तवीर्य–तब तो मूलसूत्रकारका कोई वाक्य नहीं मानना चाहिये। टीकाकारके ही सब वाक्य या सूत्र हो जायँगे। अतः यह श्लोक सीमन्धरस्वामी(तीर्थंकर)का ही है।"

(१) "अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते–नान्यथानुपपन्नत्वम्...अन्यथानुप..."–तत्त्वसं० प० पृ० ४०४–४०५। "तदुक्तं पात्रस्वामिना अन्यथानुपपन्नत्वम्"–स्या० रत्ना० पृ० ५२१।

(२) "महिमा स पात्रकेशरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम्॥"–जैनशि० सं० प्र० ले० ५४।

(३) देखो–न्यायवि० वि० द्वि० पृ० ११७।

(४) "त्रिलक्षणकदर्थने वा शास्त्रे विस्तरेण पात्रकेसरिस्वामिना प्रतिपादनात्"–न्यायवि० वि० द्वि० पृ० २३४।

(५) सिद्धिवि० टी० पृ० ३७१।

इस शङ्का-समाधानसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनन्तवीर्य आचार्य यह स्पष्ट परम्परा होते हुए भी कि 'यह श्लोक पात्रकेसरीके त्रिलक्षणकदर्थनका है' उसे नहीं मानकर अपनी श्रद्धावृत्तिसे उसे सीमन्धर स्वामीका मानते ही नहीं हैं किन्तु पात्रकेसरीकृत माननेवालोंका खण्डन भी करते हैं। अकलङ्कदेवके सिद्धि-विनिश्चय (६-१) के **"अमलालीढं पदं स्वामिनः"** में आये हुए **'स्वामिनः'** पदसे वे सीमन्धर स्वामी तीर्थंकरका ग्रहण करते हैं जब कि अकलङ्कदेवका अभिप्राय 'पात्रस्वामी' ग्रन्थकारसे ही लगता है। अकलंकदेवने न्यायविनिश्चय (२।१५४) में इसे मूलकारिकाके रूपमें गृहीत किया है।

आ० विद्यानन्द इसे वार्तिककारका कहते हैं[1]। आ० वादिराज इन सबका समन्वय करके कहते हैं कि सीमन्धर स्वामी तीर्थंकरके पाससे पद्मावती देवताने पात्रकेसरी स्वामीको यह वार्तिक लाकर दिया है।

तात्पर्य यह कि पूर्व व्याख्याकार (वृद्ध अनन्तवीर्य) का स्पष्ट मत होते हुए भी उनका उस श्लोकको सीमन्धरस्वामीकृत होनेका समर्थन करना उनकी श्रद्धावृत्तिका ही उन्मेष है। इस शंका समाधानसे यह भी ज्ञात होता है कि उनके सामने कोई 'महती कथा' प्रसिद्ध रही है। अभी तकके उपलब्ध कथा साहित्य में प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें सर्वप्रथम पात्रकेसरीकी यह कथा उपलब्ध होती है, ब्रह्म नेमिदत्तका कथाकोश तो इनके बादका है।

*

अनन्तवीर्यका बहुश्रुतत्व–

आचार्य अनन्तवीर्यने जिस प्रकार विषयको स्पष्ट करनेके लिए पूर्वपक्षीय ग्रन्थोंसे सैकड़ों अवतरण 'तदुक्तम्' आदिके साथ उद्धृत किये हैं उसी तरह स्वपक्षके समर्थनके लिए भी पूर्वाचार्योंके वचनोंके पचासों प्रमाण उपस्थित किये हैं। इनका दर्शनशास्त्रीय अध्ययन बहुव्यापक और सर्वतोमुखी था। हम इनके द्वारा उल्लिखित ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंमें उनका विशेष परिचय दे रहे हैं जिनके सम्बन्धमें कुछ नई जानकारी मिली है या जिनसे इनके समय आदिके निर्णयमें सहायता मिल सकती है।

वैदिक साहित्य और अनन्तवीर्य–

आ० अनन्तवीर्यका वैदिक संहिताओं, उपनिषद् और उनके भाष्य और वार्तिक तकका अध्ययन था और उन्होंने यथावसर पूर्वपक्षके वर्णनमें इन ग्रन्थोंके उद्धरण[2] दिये हैं। यथा–ऋग्वेदसे **'पुरुष एवेदं,'** कृष्ण यजुर्वेद काठकसंहितासे **'अग्निहोत्रं जुहुयात्'**, तैत्तिरीयसंहितासे **'श्वेतमालभेत'**, बृहदारण्यकोपनिषत्से **'आरामं तस्य पश्यन्ति'**, छान्दोग्योपनिषत्से **'आत्मैवेदं सर्वम्'**, मैत्रायण्युपनिषत्से **'अग्निहोत्रं'**, तथा ब्रह्मबिन्दूपनिषत् तथा त्रि० तापिन्युपनिषत्से **'एक एव हि भूतात्मा'** आदि वाक्य उद्धृत किये हैं। अद्वैतके समर्थनमें सुरेश्वराचार्यके बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकसे **'यथा विशुद्धमाकाशम्'** आदि दो श्लोक उद्धृत किये हैं। इसी तरह स्मृतियोंमें मनुस्मृतिसे **'न मांसभक्षणे दोषः'** श्लोक उद्धृत किया है।

महाभारत और अनन्तवीर्य–

महाभारत और तदन्तर्गत गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। आचार्य अनन्तवीर्यने प्रस्तुत टीका (पृ०५१८) में 'भारत' को व्यासकी कृतिकी प्रसिद्धिका निर्देश किया है। महाभारतके वनपर्वसे **'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयम्'** तथा आदिपर्वसे **'कालः पचति भूतानि'** श्लोक उद्धृत किये हैं। इससे ज्ञात होता है कि–आ० अनन्तवीर्यके समयमें महाभारत व्यासकी कृति माना जाता था।

---

(१) त० श्लो० पृ० २०५। प्र० परी० पृ० ७२।

(२) पृष्ठ संख्याके लिए देखो परिशिष्ट ७।

व्याकरण ग्रन्थ और अनन्तवीर्य–

आ० अनन्तवीर्यने मूल पाणिनिसूत्र तथा उसके पातञ्जलभाष्यका भी अनुशीलन किया था। वे पाणिनिके **'अर्थवदधातु–'** इस सूत्रका उद्धरण देते हैं तथा **'प्रकृतिपर एव प्रत्ययः प्रयोक्तव्यः प्रत्ययपरैव च प्रकृतिः'** (पात० महा० ३।१।२) इस वाक्यका **'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या'** इत्यादि अनुवाद उद्धृत करते हैं। प्रमुखतया तो वे पूज्यपादके जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोंके उद्धरण तथा जैनेन्द्रकी ही संज्ञाओंका उपयोग करते हैं।

दर्शनशास्त्र और अनन्तवीर्य–

अनन्तवीर्यने **चार्वाक** के पूर्वपक्षमें मुख्यतया जयराशिके तत्त्वोपप्लवसिंह ग्रन्थसे ही अवतरण लिए हैं। इन्होंने तत्त्वोपप्लवका जयराशिके नामके साथ उल्लेख किया है।[1] इसमें **"परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पतेः सूत्राणि"** वाक्य तत्त्वोपप्लवके सन्दर्भमें ही उद्धृत किया है। उपलब्ध तत्त्वोपप्लवसिंह ग्रन्थका प्रारम्भिक पत्र टूटा हुआ है। सम्भवतः यह वाक्य उसीमें हो। इसके अतिरिक्त चार्वाक मतके पूर्वपक्षमें जिस अविद्धकर्णका सहारा लिया गया है उसका वर्णन **"दो अविद्धकर्ण"** शीर्षक स्तम्भ (पृ० ७२) में देखना चाहिये।

न्यायवैशेषिक के पूर्वपक्षमें अनन्तवीर्यने अक्षपादका नाम लेकर तो न्यायसूत्रसे, तथा न्यायभाष्यसे अनेक अवतरण दिये हैं।[2] न्यायसूत्रका **'पूर्ववच्छेषवत्'** आदि अनुमानसूत्र तीन पृथक् सूत्र बनाकर उद्धृत किया गया है।[3] उद्योतकरके न्यायवार्तिकके अवतरण भी इसमें पाये जाते हैं। वैशेषिकके विवेचनमें कणचर या कणभक्षके नामसे वैशेषिक सूत्रोंके उद्धरण उपलब्ध होते हैं।[4] प्रशस्तपादभाष्य तथा उसकी व्योमवती टीकाका भी उपयोग किया है। किन्तु इसमें वैशेषिकसूत्रकी जिस प्राचीन सूत्रानुसारिणी टीकासे अनेक अवतरण लिए गये हैं[5] वे उपलब्ध वृत्तियोंमें नहीं मिलते। सूत्रोंके उद्धरणों में पाठभेद भी हैं[6]।

सांख्ययोग के पूर्वपक्षमें ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका, पतञ्जलिके योगसूत्र और व्यासके योगभाष्यसे अनेकों अवतरण लिये गये हैं। किन्तु **"इन्द्रियाण्यर्थमालोचयन्ति अहङ्कारोऽभिमन्यते"** इत्यादि अवतरण[7] किसी प्राचीन सांख्य ग्रन्थका है, यह उपलब्ध टीकाओंमें नहीं मिलता। इसीतरह इसमें **"गुणानां परमं रूपं"** श्लोक उद्धृत है[8] जो योगभाष्य (४।१३) में **'तथा च शास्त्रानुशासनम्'** करके तथा शाङ्करभाष्यभामती (पृ० ३५२) में **भगवान् वार्षगण्य** के नामसे उद्धृत मिलता है।

मीमांसादर्शनके पूर्वपक्षमें जैमिनिके सूत्र, शबरके भाष्य, उपवर्षकी वृत्ति और कुमारिलके मीमांसा श्लोकवार्तिकसे पचासों अवतरण लिए हैं।[9] सर्वज्ञसिद्धि प्रस्तावमें तो जैमिनि और कुमारिलके ग्रन्थ विशेषतः पूर्वपक्षके आधार हैं। प्रभाकरका उल्लेख प्रमाणपञ्चकवादीके रूपमें किया गया है।[10] पृ० २६० में 'प्रभाकरस्त्वाह' लिखकर–**"न मांसभक्षणे दोषः"** आदि श्लोक उद्धृत किया है। यह श्लोक मनुस्मृति (५।५६) में पाया जाता है। उपवर्षके नामसे वही **"गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः"** अवतरण उद्धृत किया गया है[11] जो शाबरभाष्य (१।१।५) में उद्धृत है। अनेक श्लोक कुमारिलके सन्दर्भमें उद्धृत हैं पर वे कुमारिलके उपलब्ध मीमांसाश्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिकमें नहीं पाये जाते।

बौद्धदर्शनके पूर्वपक्षमें अनन्तवीर्यने टीकाका एक चतुर्थांश लिया होगा।[12] इसमें त्रिपिटकका नाम

(१) सिद्धिवि० टी० पृ० २७७।
(२) देखो परिशिष्ट ९।　(३) वही।　(४) वही।
(५) सिद्धिवि० टी० पृ० ५३-५६।　(६) वही पृ० ५६।
(७) सिद्धिवि० टी० पृ० ९९।　(८) पृ० ८९।
(९) देखो परिशिष्ट ८, ९।　(१०) सिद्धिवि० टी० पृ० १८४।
(११) वही पृ० ६९४।　(१२) देखो परि० ८ और ९।

लिया गया है। इसमें वसुबन्धुका अभिधर्मकोश नागार्जुनकी माध्यमिक वृत्ति दिग्नागका प्रमाणसमुच्चय और उसकी स्ववृत्ति धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक प्रमाणविनिश्चय न्यायबिन्दु वादन्याय हेतुबिन्दु और सम्बन्धपरीक्षा आदि और प्रज्ञाकरका प्रमाणवार्तिकालंकार उद्धृत हुए हैं। बौद्धोंके पूर्वपक्षका बहुभाग प्रज्ञाकरके ग्रन्थोंके अवतरणोंसे परिपुष्ट हुआ है। इनमें दसों अवतरण ऐसे हैं जो प्रज्ञाकरके मुद्रित वार्तिकालङ्कारमें नहीं पाये जाते। ज्ञात होता है कि वे प्रज्ञाकरके किसी अन्य ग्रन्थके हैं। धर्मकीर्तिके जिस अपोहवार्तिकका उल्लेख है वह प्रमाणवार्तिकका अपोह प्रकरण ही ज्ञात होता है। गाद्गलकीर्तिके नामसे एक श्लोक उद्धृत[1] है। पता नहीं ये गाद्गलकीर्ति कौन हैं? अभी तक जो नाम बौद्ध आचार्योंके प्रकाशमें आये हैं उनमें इस नामका पता नहीं चलता। अर्चटकी हेतुबिन्दु टीकाके अवतरण तो हैं ही साथ ही कुछ अवतरण अर्चटके नामके ऐसे भी हैं जो हेतुबिन्दु टीकामें नहीं पाये जाते। ये उनके अन्य ग्रन्थोंके होंगे। धर्मोत्तरके नामके अवतरण भी न्यायबिन्दुटीकामें उपलब्ध नहीं होते संभवतः वे भी उनके किसी अन्य ग्रन्थके होंगे। कर्णकगोमिका कल्लकके नामसे भी उल्लेख किया गया है। इनके नामके अवतरण भी प्रमाणवार्तिक स्ववृत्तिटीकामें उपलब्ध नहीं हुए। इसी तरह शान्तभद्रके नामसे उपलब्ध अवतरण भी उनकी न्यायबिन्दुटीकाके होंगे जो उपलब्ध नहीं है, पर दुर्वेकमिश्रके धर्मोत्तरप्रदीपमें बहुशः उद्धृत है और जिसका खण्डन धर्मोत्तरने किया है। इनमेंसे अनेक आचार्योंका समय और तुलना 'अकलङ्ककी तुलना' प्रकरणमें की जा चुकी है।

जैनग्रन्थोंमें उत्तरपक्षको पुष्ट करनेके लिए उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्र, समन्तभद्रके देवागमस्तोत्र और बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रके अवतरण लिए गये हैं। समन्तभद्रके नामका एक **'यथोः सहोपलम्भ'** अवतरण[2] पाया जाता है किन्तु यहाँ प्रतिके टूट जानेसे उसका पूरा स्वरूप ज्ञात नहीं हो सका और न यही पता चला कि वह किस समन्तभद्रका है? यदि इन्हींका है तो इनके किस ग्रन्थका है? सिद्धसेनके सन्मतितर्कसे **'जे संतवाय'** गाथा उद्धृत की गई है। पात्रकेसरीके त्रिलक्षणकदर्थन से **'अन्यथानुपपन्नत्वं'** श्लोक तथा पात्रकेसरीस्तोत्रसे **'अशेषविद्देहेक्ष्यते'** श्लोक उद्धृत किया गया है। अकलङ्कके तो सभी ग्रन्थोंका सूक्ष्म परिशीलन इसके ऊपर लक्षित होता है। एक कथात्रयभङ्ग ग्रन्थका भी उल्लेख आता है, इसके कर्ताका पता नहीं चला। इसमें चूर्णिप्रकरण का भी उल्लेख है, जो अकलङ्ककी न्यायविनिश्चयवृत्तिका नाम मालूम होता है। इसमें न्यायविनिश्चयके नामसे जो **"न चैतद्बहि"** इत्यादि वाक्य उद्धृत मिलता है, उसीसे न्यायविनिश्चयकी वृत्तिके अस्तित्वकी पुष्टि होती है। हरिभद्रसूरिके योगबिन्दुसे **"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः"** श्लोक उद्धृत है, यह श्लोक विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें भी उद्धृत किया है। इसमें जो 'जीवसिद्धिप्रकरण' का उल्लेख आया है वह इसी ग्रन्थके 'जीवसिद्धि' प्रस्तावका ज्ञात होता है। अनन्तकीर्तिके स्वतःप्रामाण्यभङ्ग ग्रन्थका उल्लेख इस टीकामें बड़े आदरसे किया गया है। यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्धमें भी इसमें एक श्लोक उद्धृत है।

इस तरह यह टीका सैकड़ों ग्रन्थान्तरीय अवतरणोंसे समृद्ध होकर अपने रचयिताके बहुश्रुतत्वका ख्यापन कर रही है।

*

विशेष तुलना–

बृहत्संहिता और अनन्तवीर्य–

आचार्य वराहमिहिरका ज्योतिष् विषयक बृहत्संहिता ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ई० ५०१ है। इन्होंने मनके वर्णनके प्रसङ्गमें निम्नलिखित श्लोक लिखा है–

---

(१) सिद्धवि० टी० पृ० ४५० ।

(२) पृ० ४२० ।

"आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण
स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रः।
योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति,
यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा॥" –बृहत्संहिता ७४।३

इसकी टीका करते हुए भट्टोत्पलने यह लिखा है–"**अयमर्थः–आत्मा मनसा सह युज्यते मनश्च इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन।**" भट्टोत्पलका समय शक ८८८ (ई० ९६६) है। न्यायभाष्य (१।१।४) में '**न तर्हि इदानीमिदं भवति आत्मा मनसा युज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति**' यह वाक्य उद्धृत जैसा पाया जाता है। प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीकामें (पृ० १७७) में भी यह उद्धृत है। भट्टजयन्तने भी न्यायमञ्जरी प्रमाणभाग (पृ० ७०) के चतुष्टय सन्निकर्षके प्रकरणमें "**आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन**" ये वाक्य लिखे हैं।

रचना से तो ज्ञात होता है कि यह वाक्य किसी न्यायग्रन्थका होना चाहिये जिसे वराहमिहिरने श्लोकबद्ध किया है। न्यायभाष्यका '**न तर्हीदानीमिदं भवति**' इस वाक्यसे लगता तो ऐसा है जैसे किसी समानतन्त्रीय भाष्यपूर्वकालीन ग्रन्थका यह वाक्य हो। अस्तु, यह वाक्य बहुत पुराना[1] अर्थात् न्यायभाष्यसे भी बहुत पुराना है। आचार्य अनन्तवीर्यने प्रस्तुत टीकामें यह वाक्य दो बार उद्धृत किया है।

दो अविद्धकर्ण और अनन्तवीर्य–

भारतीय विस्मृत दर्शनकारोंमें अविद्धकर्ण भी हैं, जिनके सम्बन्धकी जानकारी बहुत थोड़ी है। किन्तु कुछ बौद्धदर्शनके ग्रन्थोंके प्रकाशमें आनेसे दो अविद्धकर्णोंका पता चलता है।

एक अविद्धकर्ण नैयायिक थे और ये न्यायभाष्यके टीकाकार थे। वादन्याय (पृ० ७८) में प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थानके प्रकरणमें इनकी न्यायभाष्यटीकाका उल्लेख[2] किया गया है।

इनके अन्य मत इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—

(१) रूपादिके ग्रहण न होनेपर भी द्रव्यका ग्रहण होता है।[3]

(२) अवयव और अवयवी पूर्वोत्तरकालभावी होनेसे विभिन्न हैं।[4]

(३) यदि प्रतिज्ञावाक्यको निरर्थक कहा जाता है तो 'कृतकश्च शब्दः' यह भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि अनित्यत्व कहने से ही शब्दमें कृतकत्व और अनित्यत्व दोनोंका बोध हो जाता है।[5]

(१) तुलना–"आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते॥–चरकसं०१।११।२०

(२) "अविद्धकर्णस्तु भाष्यटीकायाम् इदमाशङ्क्य परिजिहीर्षति–ननु चासर्वगतत्वे सतीति हेतुविशेषणमुक्तम्। सविशेषणश्च हेतुः विपक्षे नास्तीति न प्रतिज्ञान्तरं निग्रहस्थानम्। न हि तदेवमसर्वगतः शब्द इति प्रतिज्ञान्तरोपादानात्। हेतुविशेषणोपादाने हेत्वन्तरं निग्रहस्थानमिति। एतच्च अतिस्थूलम्"–वादन्याय टी० पृ० ७८।

(३) "अविद्धकर्णस्त्वाह–रूपाद्यग्रहेऽपि द्रव्यग्रहणमस्त्येव यतो मन्दप्रकाशे अनुपलभ्यमानरूपादिकं द्रव्यमुपलभते। अनिश्चितरूपं गोरश्वो वेति।"–वादन्याय टी० पृ० ३५।

(४) "तदेतेनैव अविद्धकर्णोक्तं पूर्वोत्तरकालभावित्वात् इत्यादि तत्साधनमपहसितं वेदितव्यम्।"
–वादन्याय टी० पृ० ४०।

(५) "तदत्र अविद्धकर्णः प्रतिबन्धकन्यायेन प्रत्यवतिष्ठते–यद्येवम् कृतकश्च शब्द इत्येतदपि न वक्तव्यम्। किं कारणम्? अनित्यत्वमित्येतेनैव शब्देऽपि कृतकत्वमनित्यत्वञ्चोभयं प्रतिपद्यते······"।
–वादन्याय टी० पृ० १०९।

(४) द्वीन्द्रियग्राह्य और अग्राह्य सभी द्रव्य बुद्धिमद्धेतुक हैं; क्योंकि वे स्वारम्भक अवयवोंकी विशिष्ट रचनासे युक्त हैं।[१] परमाणु आदि चेतनसे अधिष्ठित होकर अपना कार्य करते हैं; क्योंकि वे रूपादिसे युक्त हैं जैसे कि तन्तु आदि।

(५) आत्मा नित्य और व्यापक है।[२]

(६) विनाश सहेतुक है।[३]

(७) परमाणु नित्य हैं।[४]

(८) संख्या स्वतन्त्र गुण है।[५]

(९) समूह और सन्तान आदि अवस्थाविशेष अनिर्वचनीय नहीं हैं।[६]

(१०) निगमन स्वतन्त्र अनुमानावयव है।[७]

(११) उपमान आगमसे पृथक् प्रमाण है।[८]

(१२) प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंसे भिन्न भी अन्य प्रमाण है तथा स्वलक्षण और सामान्यलक्षणसे भी भिन्न प्रमेय हैं।[९]

(१) "तत्राविद्धकर्णोपन्यस्तमीश्वरसाधने प्रमाणद्वयमाह– यत्स्वारम्भकेत्यादि···तदुक्तं द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यं विमत्यधिकरणभावापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्वात् घटादिवत्, वैधर्म्येण परमाणवः इति।···तनुकरणभुवनोपादानानि चेतनावदधिष्ठितानि स्वकार्यमारभन्ते इति प्रतिजानीमहे रूपादिमत्त्वात् तन्त्वादिवत् इति।" –तत्त्वसं० प० पृ० ४०-४१। सन्मति० टी० पृ० १००। प्रमेयक० पृ० २६९।

(२) "अथ नित्यविभुत्वे कथमस्य प्रतिपत्तव्ये इत्यत्राविद्धकर्णस्तावत्प्रमाणयति–मातुरुदरनिष्क्रमणोत्तरकालं मदीयाद्यप्रज्ञानसंवेदकसंवेद्यानि अतत्कालानि मदीयानि प्रज्ञानानि मदीयप्रज्ञानत्वात् आद्यमदीयप्रज्ञानवत्।"–तत्त्वसं० पृ० ८२।

(३) "अत्राविद्धकर्णोक्तानि विनाशस्य हेतुमत्त्वसाधने प्रमाणानि निर्दिदिक्षुराह–नन्वित्यादि।

ननु नैव विनाशोऽयं सत्ताकालेऽस्ति वस्तुनः।
न पूर्वं न चिरात् पश्चात् वस्तुनोऽनन्तरं त्वसौ ॥३६७॥
एवं च हेतुमानेष युक्तो नियतकालतः।
कादाचित्कत्वयोगो हि निरपेक्षे निराकृतः ॥"–तत्त्वसं० प० पृ० १३६।

(४) "अविद्धकर्णस्त्वणूनां नित्यत्वसाधनाय प्रमाणमाह–परमाणूनामुत्पादकाभिमतं सद्धर्मोपगतं न भवति सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणाविषयत्वात् खरविषाणवदिति।"–तत्त्वसं० प० पृ० १८७। सन्मति० टी० पृ० ६५८।

(५) "गजादीत्यादिनाऽविद्धकर्णोक्तं संख्यासिद्ध्यै प्रमाणमाशङ्कते···स ह्याह–संख्याप्रत्ययो गजतुरङ्गस्यन्दनादिव्यतिरिक्तनिबन्धनः गजादिप्रत्ययविलक्षणत्वात् नीलपटप्रत्ययवदिति।"–तत्त्वसं० प० पृ० २३१। सन्मति० टी० पृ० ६७४।

(६) अथेत्यादिनात्र अविद्धकर्णस्योत्तरमाशङ्कते···स ह्याह–समूहसन्तानावस्थाविशेषाः तत्त्वान्यत्वाभ्यामवचनीया न भवन्ति प्रतिनियतधर्मयोगित्वात् रूपरसादिवदिति।"–तत्त्वसं० प० पृ० २२५।

(७) "अविद्धकर्णस्त्वाह–विप्रकीर्णैश्च वचनैः नैकार्थः प्रतिपाद्यते। तेन सम्बन्धसिद्ध्यर्थं वाच्यं निगमनं पृथक्॥"–तत्त्वसं० पृ० ४२२।

(८) "अविद्धकर्णस्त्वाह–आगमात् सामान्येन प्रतिपद्यते विशेषप्रतिपत्तिस्तु उपमानादिति।"–तत्त्वसं० प० पृ० ४५२।

(९) "अविद्धकर्णस्तु द्वे एव प्रमाणे स्वलक्षणसामान्यलक्षणाभ्यां चान्यत् प्रमेयं नास्तीति एतद् विघटनार्थं प्रमाणयति–प्रत्यक्षम् अनुमानव्यतिरिक्तप्रमाणान्तरसद्वितीयं प्रमाणत्वात् अनुमानवत्···तथा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणव्यतिरिक्तप्रमेयार्थान्तरसद्वितीयं प्रमेयत्वात् सामान्यलक्षणवत्···।"–तत्त्वसं० प० पृ० ४५५।

(१३) कार्योत्पत्ति और कारणविनाशका काल एक नहीं है।[1]

(१४) क्षणिकवादीके मतमें आत्माका अवस्थान नहीं है अतः अविनाभावका ग्रहण नहीं हो सकता।[2]

इनसे ज्ञात होता है कि अविद्धकर्ण नैयायिक थे और उन्होंने न्यायभाष्यकी टीका बनाई थी। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित और पञ्जिकाकार कमलशीलका समय ई० ७६२ निर्णीत है[3]। अतः इन अविद्धकर्णका समय ई० ७६२ के पहिले होना चाहिए। कर्णकगोमिका समय भी ई० ८ वीं सदी सिद्ध किया जा चुका है[4]।

तत्त्वोपप्लव (पृ० ५७) में आत्माके नित्यत्वको सिद्ध करनेवाले एक नैयायिकका मत उन्हीं शब्दोंमें दिया गया है[5] जिन शब्दोंमें वह मत तत्त्वसंग्रहपंजिका (पृ० ८२) में[6] अविद्धकर्णके नामके साथ पाया जाता है। तत्त्वोपप्लवका यह अवतरण अविद्धकर्णको आत्मवादी नैयायिक मानता है। जैसा कि वादन्यायके प्रथम उद्धरणसे ज्ञात होता है कि अविद्धकर्ण न केवल वादन्यायके टीकाकार शान्तरक्षितके ही सामने हैं अपि तु स्वयं धर्मकीर्तिके सामने भी हैं ऐसा लगता है। शान्तरक्षित अविद्धकर्णके मतको न्यायवार्तिककारके मतके बाद उपस्थित करते हैं इससे यह लगता है कि अविद्धकर्ण उद्योतकरके बाद और धर्मकीर्तिके समकालीन हों। तत्त्वोपप्लवका उल्लेख भी इसीकी पुष्टि करता है। अतः नैयायिक अविद्धकर्णका समय हम ई० ६२०–७०० के आसपास रख सकते हैं।

इस नैयायिक अविद्धकर्णके अतिरिक्त एक अविद्धकर्ण और हुआ है। यह चार्वाक मतका अनुयायी था। प्रमाणवार्तिकतत्स्ववृत्तिटीकामें इस चार्वाक अविद्धकर्णका मत इस प्रकार दिया गया है–

(१) अनुमानको लोकव्यवहारकी दृष्टिसे प्रमाण मान भी लेते हैं, पर लिङ्गका लक्षण नहीं बनता[7]।

(२) प्रमाण अनधिगत अर्थको जाननेवाला होता है। चूँकि अनुमान अर्थका परिच्छेद ही नहीं करता अतः वह प्रमाण नहीं है[8]।

(३) प्रमाण अगौण होता है, अनुमानसे अर्थनिश्चय दुर्लभ है। यह मत भी इसी सिलसिलेमें दिया है।

अनन्तवीर्यने प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० ३०६) में इसी चार्वाक अविद्धकर्णका उल्लेख किया है। यथा–

"इतरस्य अचेतनस्य वा भूम्यादेः मूर्तस्य [ज्ञानम्] अनेन अविद्धकर्णस्य समयो दर्शितः।"

अर्थात् अचेतन और मूर्त पृथिव्यादिका परिणाम ज्ञान है। यह अविद्धकर्णका मत है।

इस अविद्धकर्णका समय कर्णकगोमि (ई० ८ वीं) से पहिले होना चाहिये।

---

(१) "एतेन यदप्युच्यते अध्ययन-अविद्धकर्णोद्योतकरादिभिः–यदि तुलान्तयोर्नामोन्नामवत् कार्योत्पत्तिकाल एव कारणविनाशः तदा कार्यकारणभावो न स्यात्, यतः कारणस्य विनाशः कारणोत्पादः। एवं भाव एव नाश इति वचनात्, एवं च कारणेन सह कार्यमुत्पन्नमिति प्राप्तम्।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ९०।

(२) "अविद्धकर्णस्त्वाह–अविनाभावित्वमेकं दृष्ट्वा द्वितीयादिदर्शने सति सिध्यति। न च क्षणिकवादिनो द्रष्टुरवस्थानमस्ति। न चान्येनानुभूतेऽर्थे अन्यस्य अविनाभावित्वस्मरणमस्ति अतिप्रसङ्गादिति।" –प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ९८।

(३) देखो तत्त्वसं० प्रस्ता० पृ० ९६। (४) देखो पृ० ३५।

(५) "मातुरुदरनिष्क्रमणानन्तरं यदाद्यं ज्ञानं तज्ज्ञानान्तरपूर्वकं ज्ञानत्वात् द्वितीयज्ञानवत्।"–तत्त्वोप० पृ० ५७। (६) देखो–पृ० ७३ टि० २।

(७) "तेन यदुच्यते अविद्धकर्णेन सत्यमनुमानमिष्यत एवास्माभिः प्रमाणं लोकप्रतीतत्वात्, केवलं लिङ्गलक्षणमयुक्तमिति"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० १९।

(८) "तेन यदुच्यते अविद्धकर्णेन–अनधिगतार्थपरिच्छित्तिः प्रमाणम्, अतो नानुमानं प्रमाणमर्थपरिच्छेदाभावादिति।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० २५।

(९) "एतेनैतदपि निरस्तम्–प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० २५।

जिस 'प्रमाणस्यागौणत्वात्' वाक्यको कर्णकगोमिने अविद्धकर्णके मतके सिलसिलेमें दिया है, और वह प्रकरणसे अविद्धकर्णका ही लगता है, वह वाक्य भट्टजयन्त(ई० ९वीं सदी)की न्यायमञ्जरीमें भी चार्वाकके प्रकरणमें उद्धृत है।[1] स्याद्वाद रत्नाकरमें इसे पौरन्दरसूत्र[2] कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि इसके ग्रन्थ का नाम पौरन्दर सूत्र होगा। इन सब कारणों से इस चार्वाक अविद्धकर्णका समय ई० ८ वींसे पूर्व होना चाहिये।

*

अनन्तवीर्यका समय निर्णय–

आचार्य अनन्तवीर्यके सम्बन्धमें हमें कुछ भी जानकारी उनकी लिखी हुई नहीं मिलती। प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीकाके पुष्पिका वाक्योंमें दिये गये 'रविभद्र पादोपजीवी' विशेषणसे मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि इनके गुरु का नाम रविभद्र था। इन रविभद्र आचार्यका भी पता नहीं चलता कि ये किस परम्परामें कब हुए हैं। अतः उनके जीवनवृत्त और समय निर्णयके लिये हमें शिलालेख तथा ग्रन्थों में आये हुए उल्लेखों पर निर्भर रहकर ही विचार करना है। शिलालेखोंसे हमें निम्नलिखित अनन्तवीर्योंकी जानकारी मिलती है–

शिलालेखोल्लेख–

(१) वे अनन्तवीर्य जिनका पेग्गूरके कन्नड शिलालेख[3]में वीरसेन सिद्धान्तदेवके प्रशिष्य और गोणसेन पण्डित भट्टारकके शिष्यके रूप में उल्लेख है।[4] ये श्रीबेळगोलके निवासी थे। इन्हें बेद्दोरेगरेके राजा श्रीमत् रक्कसने पेरग्गदूर तथा नई खाईका दान किया था। यह दानलेख शक ८९९ (ई० ९७७) का लिखा हुआ है।

(२) वे अनन्तवीर्य जिनका मरोळ (बीजापुर बंबई) के शिलालेख[5]में निर्देश है। यह शिलालेख चालुक्य जयसिंह द्वितीय और जगदेकमल्ल प्रथम (ई० १०२४) के समयका उपलब्ध हुआ है। इसमें कमलदेव भट्टारक विमुक्त व्रतीन्द्र सिद्धान्तदेव अण्णियभट्टारक प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य का क्रमशः उल्लेख है। ये अनन्तवीर्य समस्त शास्त्रोंके विशेष कर जैनदर्शन के पारगामी थे। अनन्तवीर्यके शिष्य गुणकीर्तिसिद्धान्त भट्टारक और देवकीर्ति पंडित थे। ये संभवतः यापनीयसंघ या सूरस्थगणके थे।

(३) वे अनन्तवीर्य जिनका मुगद शिलालेख में उल्लेख है। यह शिलालेख धारवाड़ में सोमेश्वर प्रथमके समय (ई० १०४५) का उपलब्ध हुआ है।[6] इसमें यापनीयसंघ कुमुदगण के ज्येष्ठ धर्मगुरु गोवर्धनदेवको सम्यक्त्वरत्नाकर चैत्यालयके लिये दिये गये दानका उल्लेख है। गोवर्धनदेवके साथ ही अनन्तवीर्यका उल्लेख है, पर यह स्पष्ट नहीं है कि अनन्तवीर्यका गोवर्धनसे क्या सम्बन्ध था। इसमें यह भी उल्लेख है कि– कुमारकीर्ति अनन्तवीर्यके सह अध्यापक थे और दामनन्दि कुमारकीर्तिके शिष्य थे।

---

(१) "तथा चाहुः–प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः।"–न्यायम० प्रमा० पृ० १०८। प्रमेयक० पृ० १८०।

(२) "प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभ इति पौरन्दरसूत्रम्।"–स्या० रत्ना० पृ० २६५।

(३) जैनशि० भाग २ पृ० १९१। ए० क० भाग १ कुर्ग नं० ४।

(४) "श्रीबेलगोळनिवासिगळप्प श्रीवीरसेनसि[illegible]न्तदेवरवरशिष्यर् श्रीगोण[illegible]ट्टारक वरशिष्यर् श्रीमान् अनन्तवीर्य्यय्यङ्गळ···"–जैनशि०।

(५) बम्बई कर्नाटक इंस्क्रि० जिल्द १ भाग १ नं० ६१। जैनिज्म इन साउथ इं० पृ० १०५।

(६) बम्बई कर्नाटक इंस्क्रि० जिल्द १ भाग १ नं० ७८। जैनिज्म इन साउथ इं० पृ० १४१।

ये दामनन्दि ये हो सकते हैं जिनका उल्लेख जैनशिलालेख संग्रह भाग एकके लेख नं० ५५ में चतुर्मुख देवके शिष्योंमें है। धाराधिप भोजराजकी सभाके रत्न आचार्य प्रभाचन्द्रके ये सधर्मा थे और इन्होंने विष्णुभट्ट महावादीको हराया था।

धाराधिप भोजका राज्यकाल (ई० १०१८से१०५३) माना जाता है। जब दामनन्दि का ई० १०४५ के शिलालेखमें उल्लेख है तो ये भोजके राज्यकालमें रहनेवाले प्रभाचन्द्रके सधर्मा दामनन्दिसे अभिन्न हो सकते हैं। अतः दामनन्दिके गुरु कुमारकीर्तिके सहाध्यायक अनन्तवीर्यकी स्थिति इस लेखसे ई० १०४५ तक पहुँचती है।

(४) ये अनन्तवीर्य जिनका हुम्मचकी पंचबस्तिके आँगनके एक पाषाण लेखमें[1] अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकारोंके रूपमें उल्लेख है। ये अरुङ्गलान्वय नन्दिसंघके आचार्योंकी परम्परामें हुए हैं। यह लेख शक ९९९ (ई० १०७७) का है। इसी लेखमें आगे कुमारसेनदेव मौनिदेव और विमलचन्द्रभट्टारकका निर्देश है। इनके शिष्यके रूपमें वादिराजकी प्रशंसा की गई है। वादिराजको षट्तर्कषण्मुख लिखा है।

(५) ये अनन्तवीर्य जिनका उल्लेख चामराजनगरके पार्श्वनाथ स्वामी बस्तीके एक पाषाणलेख[2]में किया गया है। ये द्रविण संघकी परम्पराके आचार्य थे। यह लेख शक १०३९ (ई० १११७) का है।

(६) ये अनन्तवीर्य सिद्धान्ती जिनका निदिगिमें प्राप्त एक पाषाण लेखमें[3] क्राणूरगण रूपी कमलवनके सूर्यके रूपमें उल्लेख मिलता है।[4] यह लेख शक १०३९ (ई० १११७) का है।

(७) ये अनन्तवीर्य राद्धान्तार्णवपारग जिनकी स्तुति कदम्बहल्लिके शिलालेखमें[5] सूरस्थगणके आदि चारुचारित्रभूधरके रूपमें की गई है।[6] इनके शिष्य बालचन्द्र मुनि थे। यह शिलालेख शक १०४० (ई० १११८) का है।

(८) ये अनन्तवीर्य जिनका उल्लेख कल्लूरगुड्डके सिद्धेश्वर मन्दिरके पाषाण लेख[7]में क्राणूरगणके आचार्योंमें शुद्धाक्षराकरदके रूपमें किया गया है।[8] यह लेख शक १०४३ (ई० ११२१) का है। इस लेखमें माघनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य प्रभाचन्द्रके सधर्मा रूपमें अनन्तवीर्य और मुनिचन्द्रका उल्लेख है। प्रभाचन्द्रके गृहस्थ शिष्य भुजबलगंग बर्म्मदेव थे। बर्म्मदेवके चार पुत्र थे मारसिंह, नन्नियगंग, रक्कसगंग और भुजबलगंग। बर्म्मदेवके दानका समय शक सं० ९७६ (ई० १०५४) है। अनन्तवीर्यके गृहस्थशिष्य रक्कसगंगदेवने भी इसी समय दान दिया था।

(९) ये प्रभाचन्द्रसिद्धान्तदेवके सधर्मा सिद्धान्तकर अनन्तवीर्य जिनका उल्लेख पुरलेके सोमेश्वर मन्दिरके सामने पड़े हुए एक पाषाणलेख[9]में अभिनव गणधरके रूपसे किया गया है।[10] यह उल्लेख मूलसंघके क्राणूरगणके आचार्योंमें किया गया है। यह लेख शक १०५४ (ई० ११३२) का है। इस लेखमें प्रभाचन्द्र-सिद्धान्तदेवके शिष्य द्वारा शक ९८९ (ई० १०६७) में दिये गये दानका उल्लेख है।

(१०) ये अनन्तवीर्य महावादी जिनका उल्लेख हुम्मचके तोरण बागिलके उत्तर खम्भेके लेख[11]में

(१) जैनशि० द्वि० पृ० २९४। ए० क० भाग ७ नगर ता० नं० ३५।
अकलङ्कसूत्रके वृत्तियंवरेदनन्तवीर्यभट्टारकवरि।"–जैनशि०

(२) जैन शि० द्वि० पृ० ३८७। ए० क० भाग ४ चामराज नगर ता० नं० ८३।

(३) जैन शि० द्वि० पृ० ३९२। ए० क० भाग ७ शिमोगा ता० नं० ५७।

(४) "क्राणूर्गणसद्बिसरुहवनार्केनेम्बुदु वसुमतियोळनन्तवीर्यसिद्धान्तिगरम्।"–वही पृ० ३९५।

(५) जैनशि० द्वि० पृ० ३९९। ए० क० भाग ४ नागमंगल ता० नं० १९।

(६) "श्री सूरस्थगणे जातश्चारुचारित्रभूधरः। भूपालानतपादाब्जो राद्धान्तार्णवपारगः॥ आदावनन्तवीर्य···"–वही पृ० ३९९।

(७) जैनशि० द्वि० पृ० ४०८। ए० क० भाग ७ शिमोगा नं० ४। (८) वही पृ० ४१६।

(९) जैनशि० द्वि० पृ० ४५२। ए० क० भाग ७ शिमोगा ता० नं० ६४। (१०) वही पृ० ४६४।

(११) जैनशि० तृ० पृ० ६६। ए० क० भाग ८ नगर० नं० ३७।

श्रीपालदेवके लघुसधर्माके रूपमें किया गया है[1]। ये द्रविड़ संघके नन्दिगणके आचार्य थे। यह लेख शक १०६९ (ई० ११४७) का है।

इन दस शिलालेखोंमें तीन परम्पराओंके अनन्तवीर्योंका उल्लेख है—

(१) द्रविण संघ नन्दिगण अरुंगलान्वयकी परम्पराके अनन्तवीर्य जो अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकार थे। नं० ४ नं० ५ और नं० १० के अनन्तवीर्य इसी परम्पराके व्यक्ति हैं। ये वादिराजके दादागुरु श्रीपालके लघुसधर्मा थे। वादिराजका समय ई० १०२५ है। अतः उनके दादागुरु ५० वर्ष पहिले अर्थात् ई० ९७५ के आसपास होंगे। नं० १ अनन्तवीर्य वीरसेनसिद्धान्तिदेवके प्रशिष्य और गोणसेनके शिष्य थे। क्राणूरगणके आचार्योंमें वीरसेनसिद्धान्तिदेव और गोणसेनका उल्लेख नहीं मिलता। अतः यही लगता है कि ये अनन्तवीर्य क्राणूरगणके न होकर सम्भवतः द्रविडसंघीय हों और नं० ४, ५ और १० से अभिन्न हों।

(२) सूरस्थगणके अनन्तवीर्य। ये सूरस्थगणके आदि चारित्रभूषर कहे गये हैं। नं० ७ के ये अनन्तवीर्य अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकार नहीं हैं।

(३) क्राणूरगणके अनन्तवीर्य। नं० ६ नं० ८ और नं० ९ के तीनों अनन्तवीर्य इसी परम्पराके व्यक्ति ज्ञात होते हैं। नं० २ और नं० ३ के अनन्तवीर्य भी यापनीय सूचित किये गये हैं, अतः ये भी क्राणूरगणके अनन्तवीर्यसे अभिन्न मालूम होते हैं।

अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकार दो अनन्तवीर्य हुए हैं। एक रविभद्रपादोपजीवी और दूसरे इन्हीं अनन्तवीर्यद्वारा उल्लिखित सिद्धिविनिश्चयके प्राचीन व्याख्याकार अनन्तवीर्य जिन्हें हम 'वृद्ध अनन्तवीर्य' कह आये हैं। यह कहना कठिन है कि हुम्मचके शिलालेखमें अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकर्ताके रूपमें किस अनन्तवीर्यका उल्लेख है। प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीकाके कर्ता अनन्तवीर्य ई० ९५९ के बाद और ई० १०२५ से पहिले किसी समय हुए है यह हम आगे प्रमाणित करेंगे। अतः ई० ९७७ से ई० ११४७ तक के इन शिलालेखोंमें दोनोंमेंसे किसी भी अनन्तवीर्यका उल्लेख होनेमें कोई बाधा नहीं है। किन्तु लगता यह है कि जो अनन्तवीर्य वादिराजके दादागुरु श्रीपालके सधर्मारूपसे उल्लिखित हैं वही हमारे टीकाकार अनन्तवीर्य हैं। वृद्ध अनन्तवीर्य इनसे कुछ और पहिले हो सकते हैं।

अब कुछ ऐसे अन्तरङ्ग प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जिनसे शिलालेखोक्त समयावधिके समर्थन की सामग्री उपस्थित होती है—

ग्रन्थोल्लेख—

अनन्तवीर्यका जिन ग्रन्थोंमें नाम लेकर उल्लेख स्मरण या समीक्षण है, वे इस प्रकार हैं—

(१) तत्त्वार्थवार्तिक[2] (पृ० १५४) में वैक्रियिक और आहारक शरीरमें भेद बताते हुए लिखा है कि वैक्रियिक शरीर का क्वचित् प्रतिघात भी देखा जाता है। इसके समर्थनमें उन्होंने अनन्तवीर्ययतिके द्वारा इन्द्रकी शक्तिका प्रतिघात करनेकी घटनाका उल्लेख किया है। ये अनन्तवीर्ययति निश्चयतः अकलङ्कदेवसे बहुत पहिले हुए हैं; क्योंकि इस घटनाका उल्लेख वे **'प्रतिघातश्रुतेः'** शब्दसे 'सुनी हुई' बताते हैं। अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया जा चुका है।

(२) प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय टीका[3]में एक और अनन्तवीर्यका उल्लेख आता है। प्रथम प्रस्तावकी कारिका (नं० ५) के उत्थानमें प्रस्तुतटीकाके कर्ता रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य लिखते हैं कि—

"इममेवार्थं समर्थयमा [नः] प्राह–आधत्ताम् इत्यादि"

अर्थात् इसी अर्थके समर्थनके निमित्त **'आधत्ताम्'** आदि कारिका कहते हैं। इसके आगे वे एक अन्य अनन्तवीर्य का मत उद्धृत करते हैं कि—

---

(१) जैनशि० तृ० पृ० ७२।

(२) "अनन्तवीर्ययतिना चेन्द्रवीर्यस्य प्रतिघातश्रुतेः सप्रतिघातसा[मर्]थ्यं वैक्रियिकम्।"—त० वा पृ० १५४। (३) पृ० ३१।

"नन्वयमर्थोऽनन्तरकारिकावृत्तावुक्तः, न च पुनस्तस्यैवाभिधाने स एव समर्थितो नाम अतिप्रसङ्गात्, किन्तु अन्यस्मात् हेतोः, स चात्र नोक्तः, तस्मात् उक्तार्थोऽनन्तरश्लोकोऽयम् इत्यनन्तवीर्यः।"

अर्थात् यह अर्थ पूर्वकारिकाकी वृत्ति में कहा जा चुका है, बार बार उसी अर्थ के कहने में तो समर्थन होता नहीं है, किन्तु किसी अन्यहेतुसे उसका समर्थन करना चाहिए, पर वह हेतु यहाँ कहा नहीं है, अतः इस श्लोकका अर्थ पूर्वश्लोकमें कहा जा चुका है, यह उक्तार्थ है, ऐसा अनन्तवीर्य आचार्यका मत है। इस विवरणसे यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य **'आद्यत्ताम्'** श्लोकको पूर्वश्लोकके समर्थनमें लगाना चाहते हैं जब कि जिनके मतका उल्लेख किया है वे अनन्तवीर्य इस **'आद्यत्ताम्'** श्लोकको पूर्वश्लोकका समर्थक नहीं मानकर इसे उक्तार्थक कह रहे हैं। ऐसी दशामें यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य किसी अन्य अनन्तवीर्यका जो कि सिद्धिविनिश्चयके पूर्वटीकाकार हैं, उल्लेख कर रहे हैं। इसके समर्थनमें निम्नलिखित प्रमाण भी विचारणीय हैं–

(क) प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य ग्रन्थकी पुष्पिकाओंमें अपनेको **'रविभद्रपादोपजीवी'** **'रविभद्रपादकजभ्रमर'** आदि विशेषणों से रविभद्र का शिष्य सूचित करके पूर्वोक्त वृद्ध अनन्तवीर्य से स्वयं को जुदा बताना चाहते हैं।

(ख) पूर्वोक्त कारिका (नं० ५) के उत्थानमें अपना मतभेद दिखाकर प्रस्तुत टीकाकार अनन्तवीर्य वृद्ध अनन्तवीर्यके प्रति किञ्चित् सन्मान प्रकट करके भी यह सूचित करनेमें भी नहीं चूकते कि वे अकलङ्कके पदोंके अर्थको पूरी तरह समझनेमें समर्थ नहीं हैं[1]। इससे ध्वनित होता है कि प्रस्तुत टीकाकार रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य अपने पूर्ववर्ती किसी अन्य अनन्तवीर्यका उल्लेख कर रहे हैं।

(ग) प्रस्तुत टीकामें अनेक स्थानोंमें **'अपरे इति पठन्ति'** **'केषाञ्चिदयं पाठः'** आदि कहकर प्रस्तुत अनन्तवीर्यने पूर्वकालीन टीकाकार या व्याख्याकारकी स्पष्ट सूचना ही नहीं दी है किन्तु उनकी व्याख्यासे अपना मतभेद भी प्रकट किया है[2]।

ऐसी स्थितिमें यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्यसे भिन्न एक और अकलङ्क के व्याख्याकार अनन्तवीर्य हुए हैं। जिन्हें हम **'वृद्ध अनन्तवीर्य'** संज्ञा देते आ रहे हैं।

(३) पार्श्वनाथ चरितमें वादिराजसूरिने अनन्तवीर्यकी स्तुति करते हुए लिखा है[3] कि उस अनन्त सामर्थ्यशाली मेघके समान अनन्तवीर्यकी स्तुति करता हूँ जिनकी वचनरूपी अमृतवृष्टिसे जगत्को चाँट जानेवाला शून्यवादरूपी हुताशन शान्त हो गया था। इन्हींने न्यायविनिश्चय विवरणमें अनन्तवीर्यको उस दीपशिखाके समान लिखा है जिससे अकलङ्क वाङ्मयका गूढ़ और अगाध अर्थ पद-पदपर प्रकाशित होता है[4]। पार्श्वनाथ चरितकी रचना शक संवत् ९४७ (ई० १०२५) में हुई थी[5]।

(४) आचार्य प्रभाचन्द्र अपने न्यायकुमुदचन्द्र[6] के प्रारम्भमें जिनेन्द्रके विशेषणके रूपमें अकलङ्कके साथ ही अनन्तवीर्यका भी उल्लेख करते हैं। वे आगे उनका सबहुमान स्मरण करते हुए लिखते हैं कि अकलङ्कार्थका अभ्यास और विवेचन मैंने अनन्तवीर्यकी उक्तियोंसे ही सैकड़ों बार किया है।[7] प्रभाचन्द्रने

---

(१) देखो पृ० ६७।

(२) देखो–पृ० ६७ टि० १। तथा पाठान्तरोंका परिशिष्ट, पृ० ७६४।

(३) "[illegible] यद्वागमृतवृष्टिभिः।
जगज्जिघत्सन्निर्वाणः शून्यवादहुताशनः॥"–पार्श्वनाथच०।

(४) न्यायवि० वि० प्र० पृ० १।

(५) "शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने।"–पार्श्वनाथच० प्रश० श्लो० ५।

(६) "श्रीमज्जिनेन्द्रमकलङ्कमनन्तवीर्यमानम्य"–न्यायकुमु० पृ० १।

(७) "स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च सततं सोऽनन्तवीर्योक्तितः।"–न्यायकुमु० पृ० ६०५।

न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना धाराधिराज जयसिंहदेवके राज्यकाल[1] (वि० ११११ ई० १०५५) में की थी[2]। प्रभाचन्द्रका समय ई० ९८० से १०६५ निश्चित किया गया है।[3]

(५) शान्त्याचार्यने जैनतर्कवार्तिकवृत्ति (पृ० ७७) में अनिन्द्रियज प्रत्यक्षका वर्णन करते समय पूर्वपक्षमें '**स्मृत्यूहादिकमित्येके**' इस श्लोकांशके '**एके**'पदसे '**अनन्तवीर्यादयः**' यानी अनन्तवीर्य आदिका निर्देश किया है। इतना तो सुनिश्चित है कि–स्मृति ऊह और आदि पदसे गृहीत अवायको अनिन्द्रियज-प्रत्यक्ष माननेवाले ये अनन्तवीर्य अकलङ्ककी परम्पराके आचार्य हैं; क्योंकि अकलङ्कदेव लघीयस्त्रय स्ववृत्ति[4]में स्मृत्यादि ज्ञानोंको मानसप्रत्यक्ष कहते हैं। प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय टीकामें भी[5] अनन्तवीर्यका यही मत प्रतिभासित होता है। शान्त्याचार्यका समय वि० १०५०-११७५ (ई० ९९३–१०१८) के बीच स्थिर किया गया है।[6]

(६) स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३५०) में वादिदेवसूरिने धारणा और संस्कारको एकार्थक माननेवाले आ० विद्यानन्दके मतकी आलोचना करते हुए एक अनन्तवीर्यका भी मत इस प्रकार दिया है—

"**अनन्तवीर्योऽपि तथा निर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतुः संस्कारो धारणा इति तदेवावदत्।**"

इन्होंने केवलिभुक्तिसमर्थनप्रकरण (पृ० ४७९) में

"**अनन्तवीर्यप्रभृतिप्रणीताः कुहेतवः केवलभुक्तिसिद्ध्यै।**
अन्येऽपि ये तेऽपि निवारणीयाः..."

इस श्लोकमें यह सूचित किया है कि–अनन्तवीर्य आदिने केवलिभुक्तिका निराकरण किया है। वादिदेवसूरिने वि० संवत् ११७४ (ई० १११७) में आचार्यपद पाया था।[7] इनका कार्यकाल वि० ११७४ (ई० १११७) से वि० सं० १२२६ (ई० ११६९) तक है; क्योंकि राजर्षिकुमारपालके राज्यकालमें इनकी मृत्यु हुई थी। यद्यपि वादिदेवसूरिके द्वारा उद्धृत वाक्य अक्षरशः हमें प्रस्तुत सिद्धिवि० टीकामें नहीं मिल सका, और न प्रस्तुत टीकामें केवलिभुक्तिका खण्डन ही है, किन्तु धारणा और संस्कारको एक माननेकी अकलङ्कीय परम्परा[8] समर्थन जैसा विद्यानन्दने किया है[9] उसी तरह प्रस्तुत सिद्धिवि० टीकामें पाया जाता है। वे द्वितीय प्रस्तावके प्रथम श्लोककी व्याख्यामें '**संस्कारतां यात्यपि**' पदका '**धारणात्मिका भवति**' अर्थ करते हैं[10] और इसी प्रस्तावके चौथे श्लोकके '**धारयति**' पदका '**स्वार्थसंस्कारमाधत्ते**' अर्थ करते हैं।[11] इन अर्थोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तवीर्य धारणा और संस्कारको एकार्थक मानते हैं। जो वाक्य वादिदेवसूरिने उद्धृत किया है वह या तो वृद्ध अनन्तवीर्य का है या फिर इन अनन्तवीर्यके प्रमाण-संग्रहभाष्यका हो सकता है।

(७) माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डके अनन्तर एक अनन्तवीर्यने

---

(१) इनका एक दानपत्र वि० सं० ११ १२ का मिला है। देखो–'राजा भोज' (विश्वेश्वरनाथ रेऊकृत) पृ० १०२-१०३।

(२) न्यायकुमु० प्रश० पृ० ८८० टि० ५।

(३) देखो न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग प्रस्तावना पृ० ४८।

(४) "अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्"–लघी० स्व० श्लो० ६१।

(५) "चिन्ता इत्यन्वर्थसंज्ञाकरणात् तर्कस्य मानसविकल्पत्वोपवर्णनम्।"–सिद्धिवि० टी० पृ० २२३।

(६) जैनतर्कवार्तिक० प्रस्तावना पृ० १५१।

(७) देखो जैनसाहित्यका सं० इतिहास पृ० २४८।

(८) "स्मृतिहेतुर्धारणा संस्कार इति यावत्।"–लघी० स्ववृ० श्लो० ५।

(९) त० श्लो० पृ० २२०। (१०) सिद्धिवि० टी० पृ० १२०। (११) वही पृ० १२४।

प्रमेयरत्नमाला नामकी परीक्षामुखपञ्जिका लिखी है। यह पञ्जिका वैजेयके प्रियपुत्र हीरपके अनुरोधसे शान्तिषेणके लिए लिखी गई है । पञ्जिकाकारने **'प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति'** लिखकर प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डका निर्देश किया है । अतः इनका समय प्रभाचन्द्र (ई० ९८० से १०६५) के बादका होना चाहिए और प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अकलङ्कके व्याख्याकार अनन्तवीर्यसे इन्हें भिन्न भी होना चाहिए । पं० आशाधरने अनगारधर्मामृतकी स्वोपज्ञटीका (पृ० ५२८) में प्रमेयरत्नमालाका मङ्गलश्लोक उद्धृत किया है । इन्होंने वि० संवत् १३०० (ई० १२४३) में अनगारधर्मामृत समाप्त किया था ।[1] अतः प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यका समय ई० १०६५ और ई० १२४३ के बीच आ जाता है । इनकी प्रमेयरत्नमालाका प्रभाव हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा पर पड़ा है[2] । हेमचन्द्रका समय ई० १०८८ से ११७३ है ।[3] अतः प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य ई० की ११ वीं शताब्दीके विद्वान् प्रमाणित होते हैं ।

ये भी प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय टीकाके कर्ता अनन्तवीर्यसे भिन्न हैं ।

(८) उभयभाषा कविचक्रवर्ती मल्लिषेणने अपना महापुराण शक सं० ९६९ (ई० १०४७) में समाप्त किया था[4] । इन्होंने महापुराणके प्रारम्भमें अनन्तवीर्यका स्मरण किया है[5] ।

(९) अभयचन्द्रसूरिने लघीयस्त्रयकी स्याद्वादभूषण नामक तात्पर्यवृत्तिके प्रारम्भमें जिनेन्द्रके विशेषणके रूपमें अकलङ्क और अनन्तवीर्यका नामोल्लेख किया है । अभयचन्द्रसूरिने प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रको देखकर यह वृत्ति बनाई थी जैसा कि उनके द्वारा किये गये **'अकलङ्कप्रभाव्यक्तम्'** आदि उल्लेखोंसे ज्ञात होता है । इनका समय श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने १३वीं सदीका प्रारम्भ अनुमानित किया है[6] । अभयचन्द्रसूरि निश्चयतः प्रभाचन्द्र (११वीं सदी) के बादके विद्वान् हैं ।

(१०) सर्वदर्शनसंग्रहके कर्ता सायणमाधवाचार्य आर्हतदर्शनके निरूपण (पृ० ८३) में सप्तभङ्गीके प्रसङ्गमें **'तत्सर्वमनन्तवीर्यः प्रत्यपीपदत्'** लिखकर–

> **"तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत् ।**
> **स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते ॥१॥**
> **क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक् ।**
> **युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः ॥२॥**
> **आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते ।**
> **अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः ॥३॥**
> **समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भङ्ग उच्यते ।"**

ये ३½ श्लोक उद्धृत करते हैं । ये श्लोक हमें प्रस्तुतटीकामें नहीं मिले हैं । प्रस्तुतटीकामें सप्तभङ्गीकी चर्चा भी नहीं है । अतः यह सम्भव है कि सायणमाधवाचार्य अनन्तवीर्यकी प्रस्तुतटीकासे भिन्न किसी अन्य कृतिसे उक्त श्लोक उद्धृत कर रहे हैं, या किसी अन्य अनन्तवीर्यका निर्देश कर रहे हों । आगे बताया जायगा कि अनन्तवीर्यकी एक कृति और है, और वह है प्रमाणसंग्रहभाष्य । प्रमाणसंग्रहमें सप्तभङ्गीका प्रकरण भी है । सायणाचार्यका समय शक १३१२ ई० १३९० है[7] ।

(१) देखो अनगारधर्मामृत प्रशस्ति पृ० ६९१ ।
(२) देखो प्रमाणमीमांसा टिप्पण । न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग प्रस्तावना पृ० ३५ ।
(३) प्रमाणमीमांसा प्रस्तावना पृ० ४३ ।
(४) जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ३१५ ।
(५) देखो डॉ० पाठकका लेख–भा० ओ० रि० इं० पत्रिका भाग १२,४ पृ० ३७३ ।
(६) देखो लघीयस्त्रयादिसं० प्रस्ता० पृ० ५ ।
(७) देखो सर्वदर्शनसंग्रह प्रस्तावना पृ० ३३ ।

इन १० उल्लेखोंमें हम निम्नलिखित चार अनन्तवीर्योंको पाते हैं—

१. अकलङ्कदेव द्वारा तत्त्वार्थवार्तिकमें उल्लिखित अनन्तवीर्ययति।

२. रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित पूर्वव्याख्याकार वृद्ध अनन्तवीर्य।

३. स्वयं रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य, जो प्रस्तुत टीकाके रचयिता हैं।

४. प्रमेयकमलमार्तण्डकार प्रभाचन्द्रका उल्लेख करनेवाले प्रमेयरत्नमालाके रचयिता अनन्तवीर्य।

इनमें तत्त्वार्थवार्तिकवाला उल्लेख किसी महाप्रभावशाली ऋद्धिप्राप्त अनन्तवीर्ययतिका निर्देश कर रहा है। ये अनन्तवीर्य अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकार नहीं हैं; क्योंकि तत्त्वार्थवार्तिक अकलङ्कदेवकी प्रथम रचना है और अकलङ्कसूत्रसे जिन लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रहका ग्रहण करना इष्ट है वे ग्रन्थ तत्त्वार्थवार्तिकके बाद बने हैं। अतः प्रस्तुत टीकाके रचयिता अनन्तवीर्य और वृद्ध अनन्तवीर्य, दोनों ही इनसे सर्वथा भिन्न हैं।

प्रमेयरत्नमालाके कर्ता अनन्तवीर्यने वैजेयके प्रियपुत्र हीरपके अनुरोधसे शान्तिषेणके लिये परीक्षामुखकी पञ्जिका बनाई थी।[1] यह आचार्य प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डके बाद बनाई गई है। अतः आचार्य प्रभाचन्द्र जिन अनन्तवीर्यका सबहुमान स्मरण करते हैं वे अकलङ्कसूत्रके वृत्तिकार अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्रका गुणगान करनेवाले प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यसे निश्चयतः भिन्न हैं।

अब रह जाते हैं वृद्ध अनन्तवीर्य, इनका हमें कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। अतः इनके समय आदिके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे कुछ विशेष कहना सम्भव नहीं है। फिर भी प्रस्तुत अनन्तवीर्य इनका जिस ध्वनिमें उल्लेख और आलोचना करते हैं उससे यही लगता है कि ये प्रस्तुत अनन्तवीर्यके समकालीन वृद्ध हैं।

शान्त्याचार्य वादिदेवसूरि सायणमाधवाचार्य तथा अन्य ग्रन्थोल्लेखोंसे हम स्पष्ट निर्णय नहीं कर सकते कि उन लोगोंने किस अनन्तवीर्यका निर्देश किया है; क्योंकि दोनों ही अकलङ्कके टीकाकार हैं। उनमें भेदक रेखा तो प्रस्तुत अनन्तवीर्यने अपने साथ 'रविभद्रपादोपजीवी' विशेषण देकर खींची है। अतः हमें इनके सटीक समयनिर्णयके लिये अन्य प्रमाणोंको टटोलना होगा। वृद्ध अनन्तवीर्य अकलङ्क (ई० ७२०–७८०) के बाद तथा प्रकृत अनन्तवीर्य (९५०–९९०) से पहिले हुए हैं, यह निश्चित है। हमारा अनुमान है कि ये प्रकृत अनन्तवीर्यसे अधिक पहिले नहीं होंगे।

दार्शनिकोंके समयनिर्णयमें ग्रन्थोंकी अन्तरङ्ग समीक्षा भी एक समर्थ साधक होती है। पौर्वापर्यका निर्णय तो उससे हो ही जाता है। अतः हम अब कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं जिससे प्रस्तुत अनन्तवीर्यके समयकी सीमाएँ खींची जा सकती हैं—

विद्यानन्द और अनन्तवीर्य—

आचार्य विद्यानन्दका जैनतार्किकोंमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनके विद्यानन्दमहोदय तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अष्टसहस्री आप्तपरीक्षा प्रमाणपरीक्षा युक्त्यनुशासनटीका पत्रपरीक्षा और सत्यशासनपरीक्षा ये दार्शनिकग्रन्थ हैं। श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र भी इन्हींकी कृति है[2]। इनका समय ई० ७७५ से ८४० है।[3]

आ० अनन्तवीर्यने प्रस्तुत सिद्धिवि० टीका (पृ० १८९) में **"ऊहो मतिनिबन्धनः"** वाक्य उद्धृत किया है। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १९६) में यह वाक्य इस रूपमें उपलब्ध है—

---

(१) **"वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः।**
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका ॥"—प्रमेयरत्नमाला प्रश०

(२) **श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र प्रस्तावना।**

(३) **पृष्ठ ३९। न्यायकुमु० द्वि० भाग प्रस्ता० पृ० ३०। आप्तपरी० प्रस्ता० पृ० ४७-५२।**

"समारोपच्छिदूहोऽत्र मानं मतिनिबन्धनः।"

–त० श्लो० १।१३।९९।

लगता यही है कि इस श्लोक के अंश को ही अनन्तवीर्यने प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है।

प्रस्तुत टीका (पृ०६) में आदिवाक्य की चर्चाके प्रसङ्गमें '**श्रद्धाकुतूहलोत्पाद**' को आदिवाक्यका प्रयोजन माननेवाले किसी 'स्वयूथ्य' का मत उद्धृत किया गया है। फिर इस स्वयूथ्यका खण्डन करनेवाले किसी अन्य आचार्यका मत भी दिया गया है।[1] आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ४) में श्रद्धाकुतूहलोत्पादको आदिवाक्यका प्रयोजन माननेवालेके मतका खण्डन[2] उसी प्रकार किया है जिस प्रकारका उद्धरण 'अपरे' शब्दके साथ प्रस्तुत टीकाकार दे रहे हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि विद्यानन्दके ग्रन्थ प्रस्तुत अनन्तवीर्यके सामने रहे हैं। अतः अनन्तवीर्यका समय ई० ८५० से पहिले नहीं हो सकता।

आचार्य वादिदेवसूरि स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३५०) में धारणा और संस्कार को एकार्थक माननेवाले महोदयकार विद्यानन्दकी आलोचना करके अनन्तवीर्यका मत देते हुए '**तदेवावदत्**' पदका प्रयोग करते हैं। इससे लगता है कि वादिदेवसूरि अनन्तवीर्यको विद्यानन्दका पश्चाद्वर्ती मानते थे या उस समय 'विद्यानन्दके पश्चात् अनन्तवीर्य हुए थे' यह परम्परा थी। इस उल्लेखसे विद्यानन्द और अनन्तवीर्यके पौर्वापर्यकी परम्परा का एक स्पष्ट निर्देश मिल जाता है।

अनन्तकीर्ति और अनन्तवीर्य–

आ० अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ये दो प्रकरण लघीयस्त्रयादि संग्रहमें छपे हैं। इनका बारीकीसे अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य अनन्तकीर्ति अपने युगके प्रख्यात विद्वान् थे। उन्होंने सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें वेदोंके अपौरुषेयत्वका खंडन कर आगमको सर्वज्ञप्रणीतत्वके कारण ही प्रमाणता है यह विस्तारसे सिद्ध किया है। सर्वज्ञताके पूर्वपक्ष (बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १३१–१४२) में जो '**यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु**' आदि ६४ श्लोक जिस क्रमसे उद्धृत किये गये हैं ठीक उसी क्रमसे वे श्लोक शान्तिसूरिकृत जैन-तर्कवार्तिक (पृ० ५२–५५) में उद्धृत हैं। इनमें कुछ श्लोक मीमांसा-श्लोकवार्तिकके कुछ प्रमाणवार्तिकके और कुछ तत्त्वसंग्रहके हैं।

आ० शान्तिसूरिने जैनतर्कवार्तिकवृत्ति (पृ० ७७) में "**स्वप्नविज्ञानं यत् स्पष्टमुत्पद्यते इत्यनन्तकीर्त्यादयः**" लिखकर स्वप्नज्ञानको मानसप्रत्यक्ष माननेवाले अनन्तकीर्ति आचार्यका मत दिया है। यह मत बृहत्सर्वज्ञसिद्धिके कर्ता अनन्तकीर्तिका ही है। वे लिखते हैं–"**तथा स्वप्नज्ञाने चानक्षजेऽपि वैशद्यमुपलभ्यते।**" (बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १५१) शान्तिसूरिका समय ई० ९९३ से ११४७ के बीच माना गया है।[3]

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र का समय हम ई० सन् ९८० से १०६५ निर्णीत कर चुके हैं।[4] प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्डके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंमें अनन्तकीर्तिकी बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका शब्दानुसरण पूरा पूरा किया है। बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (पृ०१८१-२०४ तकके) अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३८ से ८४७) के मुक्तिवाद प्रकरणसे अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हें पढ़कर कोई साधारण भी व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है।

---

(१) "तद्वाक्यात् अभिधेयादौ श्रद्धाकुतूहलोत्पादः ततः प्रवृत्तिः इति केचित् स्वयूथ्याः; तान् प्रति अपरे प्राहुः...."–सिद्धिवि० टी० पृ० ६।

(२) "तस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वपक्षयोः तदुत्पादकत्वायोगात्।"–त० श्लो० पृ० ३।

(३) जैनतर्कवार्तिक० प्रस्ता० पृ० १४१।

(४) न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग प्रस्तावना पृ० ४८-५८।

हमारा यह निश्चित मत है कि बृहत्सर्वज्ञ सिद्धिका ही अनुसरण न्यायकुमुदचन्द्रमें किया गया है;[1] क्योंकि प्रभाचन्द्र के समकालीन शान्तिसूरि ने अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है।

सम्मतितर्कके टीकाकार अभयदेवसूरि धाराधिपति मुंजके समकालीन थे। [2]इनका समय श्रीमान् पं० सुखलालजीने विक्रमकी दसवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। सन्मति० टीकाके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण (पृ० ६५) में अभयदेवसूरिने भी उसी नष्टमुष्टिचिन्ता लाभालाभ सुखासुख जीवितमरण ग्रहोपरागमन्त्रौषधिशक्त्यादिके अविसंवादि अलिङ्ग अनुपदेश और अनन्वयव्यतिरेक पूर्वक उपदेशकी अन्यथानुपपत्तिवाले हेतुका प्रयोग किया है जो बृहत्सर्वज्ञसिद्धिमें है। इतना ही नहीं ज्योतिःशास्त्रके–

"नक्षत्रग्रहपञ्जरमहर्निशं लोककर्मविक्षिप्तम्।
भ्रमति शुभाशुभमखिलं प्रकाशयत्पूर्वजन्मकृतम्॥"

इस श्लोकको भी, जो कि बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (पृ० १७६) में एक अन्य श्लोकके साथ उद्धृत है, उद्धृत किया है। इन प्रकरणोंकी तुलनासे स्पष्ट है कि–एकने दूसरेके ग्रन्थोंको देखा है। शान्तिसूरि के उल्लेखसे सिद्ध होता है कि अनन्तकीर्तिका समय ई० ९९० से पूर्व है। तब यही अधिक संभव है कि–बृहत्सर्वज्ञसिद्धिके विचार सन्मतितर्कमें पहुँचे हों।

आचार्य वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमें एक अनन्तकीर्तिका स्मरण इस प्रकार किया है–

"आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता।
अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते॥ २४॥"

इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने 'जीवसिद्धि' ग्रन्थ या प्रकरण भी लिखा है। श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीने सम्भावना की है[3] कि–जिनसेन द्वारा उल्लिखित समन्तभद्रकी जीवसिद्धि पर अनन्तकीर्तिने टीका लिखी होगी।

न्यायविनिश्चयविवरणके[4] सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें आचार्य वादिराज जिस–"**तच्चेदम्–यो यत्रानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनोपक्रमः स तत्साक्षात्कारी यथा सुरभिचन्दनगन्धादौ अस्मदादिः, तथाविधवचनोपक्रमश्च कश्चित् ग्रहनक्षत्रादिगतिविकल्पे मन्त्रतन्त्रादिशक्तिविशेषे च तदागमप्रणेता पुरुष इति।**"–हेतुका प्रयोग कर रहे हैं वह अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि[5] (पृ० १०७) का प्रमुख हेतु है, और वह उन्हींके शब्दोंमें प्रायः उपस्थित किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वदिराज लघुसर्वज्ञसिद्धिके कर्ता अनन्तकीर्तिसे परिचित थे, जिनका कि उल्लेख वे पार्श्वनाथचरितमें कर रहे हैं।

---

(१) तुलना–"किन्त्वतज्ज्ञो जनो दुःखानुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् संसारान्तःपतितेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्मसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते। पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आतुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिकं परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्विदुषः सुभाषितम्–तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥"–बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १८१।

"किन्तु अज्ञो जनः दुःखानुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु···यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः···दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च–तदात्वसुखसंज्ञेषु···"–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८४२।

(२) सम्मतितर्क गुजराती प्रस्तावना पृ० ८३।

(३) जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४०४। (४) द्वि० भाग पृ० २२७।

(५) "यो यद्विषयानुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनानुक्रमकर्ता स तत्साक्षात्कारी···"

शिलालेखोक्त अनन्तकीर्ति—

[1]जैनशिलालेख संग्रह प्रथम भागमें दिये गये चन्द्रगिरि पर्वतके महानवमी मण्डपके एक शिलालेख में मूलसंघ देशीगण पुस्तकगच्छीय मेघचन्द्र त्रैविद्यके प्रशिष्य और वीरनन्दित्रैविद्यके शिष्य अनन्तकीर्तिका स्याद्वादरहस्यवादनिपुणके रूपमें वर्णन मिलता है। यह शिलालेख शक स० १२३५ (ई० १३१३) का है। इसमें इनकी परम्पराके रामचन्द्रके शिष्य शुभचन्द्रके उक्त तिथिमें किये गये देहत्यागका वर्णन है।

शिलालेख नं० ४७ में इन्हीं मेघचन्द्रत्रैविद्यके देहत्यागका समय मार्गशीर्ष शुद्ध १४ शक संवत् १०३७ (ई० १११५) दिया गया है।

लेख नं० ५० में इन्हीं मेघचन्द्रके शिष्य प्रभाचन्द्रके देहत्यागकी तिथि आश्विन शुद्ध दशमी शक सं० १०६८ (ई० ११४६) दी गई है। इस लेखमें मेघचन्द्रके दो शिष्य प्रभाचन्द्र और वीरनन्दिका उल्लेख है।[1]

मेघचन्द्रके शिष्य प्रभाचन्द्रदेवने शक १०४१ (ई० १११८) में एक महापूजा प्रतिष्ठा कराई थी।[2]

इन तीन शिलालेखोंमें वर्णित अनन्तकीर्तिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—मेघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य वीरनन्दि और प्रभाचन्द्र तथा वीरनन्दिके शिष्य अनन्तकीर्ति।

इन शिलालेखोंमें वर्णित मेघचन्द्र त्रैविद्यके प्रशिष्य अनन्तकीर्तिका समय ई० १२ वीं शताब्दी बैठता है; क्योंकि इनके दादागुरुका स्वर्गवास ई० १११५ में हो गया था। अतः ये अनन्तकीर्ति पार्श्व-नाथ चरित (ई० १०२५) में स्मृत ग्रन्थकार अनन्तकीर्तिसे जुदे ही कोई भिन्न आचार्य हैं। यदि उस समयके आचार्योंके १२५ वर्ष तकके दीर्घजीवन पर दृष्टिपात किया जाय और गुरु प्रशिष्यको समकालीन माना जाय तो कदाचित् उक्त शिलालेखोंमें उल्लिखित अनन्तकीर्तिका पार्श्वनाथचरितमें स्मृत अनन्तकीर्तिसे मेल बैठाया जा सके। पर यह खींचतान ही होगी।

बान्धवनगरकी शान्तिनाथबसदि ई० १२०७ में बनाई गई थी। जब कि कदम्बवंशके किंग ब्रह्मका राज्य था। यह बसदि उस समय काणूरगण तिंतिड़िकगच्छके अनन्तकीर्ति भट्टारकके अधिकारमें थी[3]।

ये अनन्तकीर्ति पूर्वोक्त देशीगण पुस्तक गच्छकी परम्पराके अनन्तकीर्तिसे जुदे व्यक्ति हैं। और पार्श्वनाथ चरितमें स्मृत जीवसिद्धि ग्रन्थकार अनन्तकीर्तिसे भी जुदे हैं।

चिक्कमागडिकी बसवण्णमन्दिरके एक शिलालेखमें[4] जो होय्सलवीर बल्लाळ देवके २३ वें वर्ष (ई० १२१२ के लगभग)का है, जक्कलेके समाधिमरणका वर्णन है। इसमें जक्कलेके उपदेष्टा गुरुके रूपमें एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख है। ये अनन्तकीर्ति बान्धवनगरकी शान्तिनाथबसदिके अधिकारी अनन्तकीर्तिसे अभिन्न हो सकते हैं; क्योंकि दोनोंका काल लगभग एक है।

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अनन्तकीर्तिका समय वादिराज (१०२५ ई०) के पूर्व तथा उनके द्वारा जिनसेनके बाद अनन्तकीर्तिका स्मरण होनेके कारण जिनसेन (ई० ७८३) के बाद होना चाहिये यह माना है।[5] जैसा कि ऊपर लिखित प्रभाचन्द्र और शान्तिसूरिके साथ अनन्तकीर्तिकी तुलनासे स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तकीर्तिकी उत्तरावधि निश्चित रूपसे प्रभाचन्द्रका समय है। और यही समय वादिराजका भी है। अतः अनन्तकीर्तिकी उत्तरावधि ई० ९८० तक रखना सर्वथा उचित है। अब पूर्वावधिका नियामक एक प्रमाण मेरी दृष्टिमें यह आया है—

---

(१) जैन शि० भाग १ पृ० ३० । लेख नं० ४१ ।
(२) वही पृ० १४ ।
(३) वही पृ० ८० । (४) जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ३९ ।
(५) मिडिवल जैनिज्म पृ० २०९ ।
(६) जैनशि० तृ० भाग पृ० २३२ । पृ० क० भाग ७ शिकारपुर नं० १९६ ।
(७) जैनसा० और इ० पृ० ४०४ ।

आचार्य अनन्तकीर्तिने बृहत्सर्वज्ञसिद्धि और लघुसर्वज्ञसिद्धिमें सर्वज्ञ सिद्ध करनेके लिये मुख्य हेतु यह दिया है–[1]

"सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः अनुपदेशालिङ्गानन्वयतिरेकपूर्वकाविसंवादिनष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदुःखग्रहोपरागाद्युपदेशाकरणान्यथानुपपत्तेः ।"

यह हेतु तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ११) के इस श्लोकसे [3]तुलनीय है—

"सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः ।
परोपदेशालिङ्गाक्षानपेक्षाऽवितथत्वतः ॥"

अनन्तकीर्तिने प्रमाणपञ्चकाभावलक्षण अभावको समुद्रकी जलसंख्यासे अनैकान्तिक बताते हुए लिखा है–

"प्रमाणपञ्चकाभावलक्षणोऽभावः समुद्रोदकपरिसंख्यानेन अनैकान्तिकः"

–लघुसर्वज्ञसि० पृ० ११३ ।

यह अंश तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १३) के निम्नलिखित श्लोक से अत्यधिक साम्य रखता है–

"स्वसम्बन्धि यदीदं स्याद् व्यभिचारि पयोनिधेः ।
अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥"

इसी तरह आप्तपरीक्षा (पृ० २२२) का सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ११–) का सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण शैली और युक्तिपरम्परा आदिकी दृष्टिसे अनन्तकीर्तिके प्रकरणोंसे तुलनीय है ।

आचार्य विद्यानन्दके समयकी उत्तरावधि ई० ८४० बताई जा चुकी है । अतः अनन्तकीर्तिके समयकी पूर्वावधि भी यही माननी चाहिए । श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा सूचित समयावधिका इससे समर्थन हो जाता है ।

जिस प्रकार ज्ञानश्री रत्नाकरशान्ति (ई० १० वीं) आदिने क्षणभङ्गसिद्धि अवयविनिराकरण आदि लघु प्रकरण ग्रन्थ लिखे हैं उसी तरह आचार्य अनन्तकीर्तिने भी जीवसिद्धि लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण लिखे हैं ।

अनन्तवीर्य प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २३४) प्रामाण्यविचार प्रकरणमें आचार्य अनन्तकीर्तिके एक **'स्वतः प्रामाण्यभङ्ग'** प्रकरणका उल्लेख इस प्रकार करते हैं–

"शेषमुक्तवत् अनन्तकीर्तिकृतेः स्वतःप्रामाण्यभङ्गादवसेयमेतत् ।"

प्रस्तुत टीका (पृ०७०८) के सर्वज्ञसिद्धिमें अनन्तवीर्य भी उसी **"अनुपदेशालिङ्गाव्यभिचारिनष्टमुष्ट्याद्युपदेशान्यथानुपपत्तेः"** हेतुका प्रयोग करते हैं जो कि अनन्तकीर्तिकी बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (पृ०१३०) और लघुसर्वज्ञसिद्धि (पृ०१०७)का मूल हेतु[2] है ।

---

(१) बृहत्सर्वज्ञसि० पृ० १३० । लघुसर्वज्ञसि० पृ० १०७ । (२) अष्टसह० पृ० ४७ ।

(३) यह हेतु वसुनन्दि की आप्तमीमांसा वृत्ति (पृ० ४) के इस अंशसे भी तुलनीय है–"तथाच स्वभावविप्रकृष्टा मन्त्रौषधिशक्तिचित्तादयः, कालविप्रकृष्टाः लाभसुखदुःखग्रहोपरागादयः, देशविकृष्टा मुष्टिस्थादिद्रव्यम् । दूरा हिमवन्मन्दरमकराकरादयः ।" यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि अष्टसहस्री के अन्तमें (पृ० २९४) लिखे गये "अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते जयति जगति क्लेशावेश…" इस वाक्यसे ज्ञात होता है कि कोई आचार्य 'जयति जगति' इस श्लोकको शास्त्रपरिसमाप्ति सूचक मङ्गलवचन मानते हैं । इस 'जयति जगति' श्लोकको आप्तमीमांसा का मानकर वसुनन्दिने इसकी भी टीका बनाई है और इसकी उत्थानिकामें लिखा है कि–"कृतकृत्यो निर्व्यूढप्रतिज्ञ आचार्यः श्रीमत्समन्तभद्रकेसरी…इदमाह । अर्थात् वसुनन्दिके मतसे यह श्लोक स्वामी समन्तभद्र का था और वह आप्तमीमांसा का अंग था । अतः विद्यानन्द का संकेत इन्हीं वसुनन्दिकी ओर है यह ज्ञात होता है ।

जहाँ तक ज्ञात हो सका है ग्रन्थकर्त्ता अनन्तकीर्ति यही हैं जिनके लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं तथा जिनकी जीवसिद्धि निबन्धका उल्लेख पार्श्वनाथचरितमें है। इन्हीं अनन्तकीर्तिका यह 'स्वतः प्रामाण्यभङ्ग' ग्रन्थ होना चाहिए। जैसा कि लिखा जा चुका है कि अनन्तकीर्तिका समय ई० ८४० के बाद और ई० ९८० के पहिले है; तदनुसार हमें रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यका समय भी रखना समुचित प्रतीत होता है।

सोमदेव और अनन्तवीर्य–

सिद्धिविनिश्चय टीका (पृ० २६७)में कर्मबन्धके प्रकरणमें अनन्तवीर्यने निम्नलिखित श्लोक **'तदुक्तम्'** लिखकर उद्धृत किया है–

> **"यत्रोऽहं मम कर्म शर्म हरते तद्बन्धनान्यास्रवैः,**
> **ते क्रोधादिवशाः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।**
> **मिथ्याज्ञानकृतात्ततोऽस्मि सततं सम्यक्त्ववान् सव्रतः,**
> **दक्षः क्षीणकषाययोगतपसां कर्तेति मुक्तो यतिः॥"**

यह श्लोक सोमदेवसूरिके यशस्तिलक उत्तरार्ध (पृ० २४६) में है।

गुणभद्राचार्यके आत्मानुशासन ग्रन्थमें इसी भावका एक श्लोक इस प्रकार पाया जाता है–

> **"अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगतः तद्बन्धनान्यास्रवैः,**
> **ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।**
> **मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्,**
> **सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते॥"**

–आत्मानुशासन श्लो० २४१।

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही नहीं शब्द रचना भी बहुत कुछ मिलती जुलती है। आत्मानुशासनके कर्ता आचार्य गुणभद्रका जन्म शक ७४० (ई० ८१८) और कार्यकाल ई० ९०० तक रहा है[1]। आ० सोमदेवसूरिने यशस्तिलक चम्पू चैत्र सुदी १३ शक संवत् ८८१ (ई० ९५९) में समाप्त किया था जैसा कि उसकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है[2]। अतः यह निश्चित करनेमें कोई कठिनता नहीं है कि यशस्तिलकमें ही गुणभद्रके श्लोकका परिणमन किया गया है। सोमदेवने इस श्लोकके बाद "इति च सुभाषितमास्वनिते निधाय" शब्द लिखे हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये किसी सुभाषितका निर्देश कर रहे हैं; परन्तु उसका पाठ उन्होंने परिवर्तित किया है। सिद्धिविनिश्चय टीकामें यह श्लोक परिवर्तित पाठके साथ यशस्तिलक चम्पूसे आया है; क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थमें यह 'तदुक्तम्' करके दिया गया है जब कि यशस्तिलकमें वह परिवर्तित होकर मूलका अंग बन गया है। सोमदेवने गुणभद्रके आत्मानुशासनसे **'परिणाममेव कारणमाहुः'** (४४) श्लोक भी यश० उ० (पृ० ३३६) में उद्धृत किया है। इसमें भी **'प्राज्ञाः'** के स्थानमें **'कुशलाः'** पाठ परिवर्तित है। इस तरह ई० ९५९ में बनाये गये यशस्तिलक चम्पूके परिवर्तित श्लोकका उद्धरण अनन्तवीर्यके समयकी पूर्वावधि ई० ९६० निश्चित कर देता है, और उत्तरावधि वादिराजके पार्श्वनाथ चरितमें अनन्तवीर्यका स्मरण किया जाना तथा हुम्मचके शिलालेखमें इन्हें वादिराजके दादा गुरु श्रीपालका लघु सधर्मा लिखा जाना है। वादिराजने पार्श्वनाथ चरित शक ९४७ (ई० १०२५) में बनाया था, अतः उनके दादा गुरु श्रीपाल यदि ५० वर्ष पहिले हों तो वे ई० ९७५ के ठहरते हैं।

यदि इस श्लोकका पाठपरिवर्तन हम सोमदेवसूरि द्वारा न मानकर किसी 'अन्य आचार्य' द्वारा भी मानें और उसीका यशस्तिलक और प्रस्तुतग्रन्थमें उद्धरण मानें तो भी वह 'अन्य आचार्य' गुणभद्रके बादका

---

(१) देखो जैन सा० इ० पृ० १४१।
(२) जैनसा० इ० पृ० १७९।

ही होगा। गुणभद्रने अपना उत्तरपुराण शक सं० ८२० ई० ८९८ में समाप्त किया था और उनके शिष्य लोकसेनने तभी उसकी पूजा कराई थी।[1] इस समय लोकसेन विदितसकलशास्त्र थे। प्रभाचन्द्रकृत आत्मानुशासन तिलकके उल्लेखानुसार गुणभद्राचार्यने लोकसेनको विषयव्यामुग्धबुद्धि देख उनके प्रतिबोधनार्थ आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया था[2]। तो इसकी रचना सन् ८८० के आसपास कभी हुई होगी; क्योंकि लोकसेन गुणभद्रके प्रिय शिष्योंमें थे। प्रभाचन्द्रका **'बृहद्धर्मभ्रातुः'**–'महान् धर्मभाई' विशेषण गुणभद्रका अपने शिष्यके प्रति रहनेवाले अतिशय स्नेह और आदरका सूचक है। अतः ई० ८८० के आसपास बने हुए आत्मानुशासनके श्लोकका पाठ परिवर्तन ई० ८८१ से ९५० के बीच कभी हुआ है। इससे भी अनन्तवीर्यकी तिथिके सम्बन्धमें जो निष्कर्ष निकाला गया है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता। वे ई० १०वीं सदीके विद्वान् ही सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त विवेचनके आधारसे हम अनन्तवीर्यका समय निम्नलिखित युक्तियोंसे ई० ९५० से ९९० तक रख सकते हैं–

१. अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया जा चुका है। अतः उनके टीकाकार रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यका समय ई० ८वीं सदीके बाद होना चाहिए।

२. विद्यानन्द(ई० ८४०)का अवतरण लेनेवाले तथा उनके मतका उल्लेख करनेवाले अनन्तवीर्यका समय ई० ८४० के बाद होना चाहिए।

३. विद्यानन्दके उत्तरवर्ती अनन्तकीर्तिके स्वतःप्रामाण्यभङ्गका उल्लेख करनेवाले अनन्तवीर्यका समय ई० ९वींका उत्तरार्ध या १०वींका पूर्वभाग होना चाहिए।

४. आचार्य गुणभद्रके आत्मानुशासनके श्लोकके सोमदेवसूरिकृत परिवर्तित रूपको उद्धृत करनेवाले अनन्तवीर्यका समय सोमदेवके बाद अर्थात् ई० ९६० के आसपास होना चाहिए।

५. हुम्मच[3]के शिलालेखमें अनन्तवीर्यको वादिराजके दादागुरु श्रीपाल त्रैविद्यका सधर्मा लिखा है। वादिराज (ई० १०२५) से यदि उनके दादागुरु ५० वर्ष पहिले मान लिये जायँ तो अनन्तवीर्यकी स्थिति ई० ९७५ में आती है।

इन हेतुओंसे अनन्तवीर्यकी समयावधि ई० ९५० से ९९० तक निश्चित होती है।

इस समयका समर्थन शान्तिसूरि (ई० ९९३-१०४७) और वादिराज(ई० १०२५) के द्वारा किये गये अनन्तवीर्यके उल्लेखोंसे हो जाता है और प्रभाचन्द्र इनकी उक्तियों को सुन सकते हैं।

विप्रतिपत्तियोंकी आलोचना–

डॉ० ए० एन० उपाध्येने[4] अनन्तवीर्यके सम्बन्धमें स्व० डॉ० पाठकके मतकी आलोचना करते हुए डॉ० पाठकका मत इस प्रकार उपस्थित किया है[5]–

---

(१) श्रीमान् प्रेमीजी शक ८२० को पूजाका काल मानते हैं और यह सूचित करते हैं कि उत्तरपुराणकी समाप्तिका काल लिखा ही नहीं गया (जैन सा० इ० पृ० १४१) पर इससे निष्कर्षमें कोई अन्तर नहीं आता। डॉ० हीरालालजी और डॉ० उपाध्ये शक ८२० को ग्रन्थ समाप्ति और पूजा दोनोंका काल मानते हैं (उत्तरपुराण प्रास्ता० पृ० ४) जो उचित है। क्योंकि ग्रन्थ समाप्त होते ही उसकी पूजा की गई होगी।

(२) "बृहद्धर्मभ्रातुः लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सम्बोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकं सन्मार्ग-मुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवः···" ।–न्याय कुमु० द्वि० प्रस्ता० पृ० ५१

(३) पृ० ७६।

(४) एनल्स भा० ओ० रि० इ० पूना भाग १३, २. पृ० १६१–१७०। अनुवाद 'जैनदर्शन' वर्ष ४ अंक ९।

(५) वही भाग ११, ४. पृ० ३७२। (६) जैनदर्शन' वर्ष ४ अंक ९।

"धर्मकीर्ति और भामहके सम्बन्धमें लिखे गये अपने लेखमें डॉक्टर के० बी० पाठकने माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखके टीकाकार अनन्तवीर्यका उल्लेख किया है और बतलाया है कि अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयके ऊपर भी उन्होंने एक टीका बनाई है। अन्तमें डॉ० पाठकने नतीजा निकाला है कि निम्नलिखित कारणोंसे अनन्तवीर्य ईसाकी १० वीं शताब्दीके अन्तमें हुए हैं–

१. अपने पार्श्वनाथ चरितमें वादिराजने उनका उल्लेख किया है। यह चरित शकसं० ९४७ (ई० १०२५) में समाप्त हुआ था।

२. महापुराणमें मल्लिषेणने उनका स्मरण किया है। इसका रचनाकाल शकसं ९६९ (ई० १०४७) है।

३. शकसं० ९९९ (ई० १०७७) के नागर शिलालेखमें उनका उल्लेख है।[1] विद्वान् लेखकके साथ उचित मतभेद रखते हुए हम यह कहनेके लिए बाध्य हैं कि उनके कथनमें थोथा अयथार्थवाद है, उन्होंने सत्य बातोंको गोरखधन्देमें डाल दिया है और समयके सम्बन्धमें उनका नतीजा तर्कशून्यताका ताजा उदाहरण है।"

इसकी आलोचना करके डॉ० उपाध्येने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं–[2]

१. अनन्तवीर्यकी कोई टीका न्यायविनिश्चय पर नहीं है।

२. अकलंकके टीकाकार अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यसे भिन्न है।

३. अकलंकके सिद्धिवि० के टीकाकार रविभद्र शिष्य अनन्तवीर्यका समय ईसाकी ८ वीं सदीका पूर्वार्ध है।

डॉ० उपाध्येका यह शंका प्रकट करना सही है कि न्यायविनिश्चय पर अनन्तवीर्यकी टीकाकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है और न कहीं उसका उल्लेख ही है। रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यसे निश्चयतः भिन्न हैं यह उन्होंने अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। परन्तु उन्होंने रविभद्र शिष्य अनन्तवीर्यका समय जो ई० ८ वीं सदीका पूर्वभाग अनुमानित किया है वह प्राप्त प्रमाणोंके प्रकाशमें ठीक नहीं जँचता। जैसा कि पहिले सिद्ध किया जा चुका है[3] कि–अकलंकदेव ई० ७२०-७८० यानी ई० ८ वीं सदीके उत्तरार्धके विद्वान् हैं तो उनके टीकाकारका ई० ८ वीं के पूर्वार्धमें होना संभव नहीं है।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यका समय सप्रमाण ई० ९५० से ९९० तक सिद्ध किया जा चुका है[3], जो कि डॉ० पाठकके द्वारा निकाले गये निष्कर्षके अनुसार ही है। उनका ई० ८वींके पूर्वार्धमें होना कथमपि संभव नहीं है। मैं जिन वृद्ध अनन्तवीर्यका उल्लेख कर आया हूँ[4] उनके समयके सम्बन्धमें अभी इतना ही कहा जा सकता है कि वे ९ वीं सदी या १० वींके पूर्वार्धमें कभी हुए हैं। किन्तु रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य १० वीं सदीके अन्तिमभागसे पहिले नहीं हो सकते। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य ई० की ११ वीं सदीके विद्वान् हैं यह भी निश्चित है[5]।

डॉ० उपाध्येने रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यके समयको ई० ८ वीं सदीके निर्णय करनेमें मुख्य प्रमाण आदिपुराणकार जिनसेन (ई० ८३८) के द्वारा चन्द्रोदयकार प्रभाचन्द्रका स्मरण किया जाना और प्रभाचन्द्र के द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रमें अनन्तवीर्यका अतिसन्मानसे उल्लिखित होना उपस्थित किया है। यहाँ डॉ० उपाध्ये भी दो ग्रन्थकारों और दो ग्रन्थोंके सदृश नामके कारण भ्रममें पड़ गये हैं।

न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना[6]में श्री पं० कैलाशचन्द्रजीने यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि जिनसेन द्वारा स्मृत प्रभाचन्द्र और चन्द्रोदय, न्यायकुमुदचन्द्र और उसके कर्ता धारानिवासी प्रभाचन्द्रसे जुदे हैं।[7] न्यायकुमुचन्द्रके कर्ता प्रभाचन्द्रका समय सप्रमाण न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीयभागकी प्रस्तावनामें

(१) 'जैनदर्शन' वर्ष ४ अंक ९। (२) पृ० ५५।

(३) पृ० ८७। (४) पृ० ७७। (५) पृ० ८०। (६) पृ० ११७।

(७) इस निष्कर्षसे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमी भी सहमत हैं। देखो– न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीयभागका प्रकाशकीय वक्तव्य।

ई० ९८०-१०६५ सिद्ध किया जाचुका है।[1] अतः वह मूलप्रमाण रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्यकी समयावधि बाँधनेमें असमर्थ है।

डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण[2]ने अनन्तवीर्यकी न्यायविनिश्चयवृत्तिका उल्लेख करके प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने जिस शान्तिषेणके लिये प्रमेयरत्नमाला लिखी थी, उसका सम्बन्ध शान्तिसूरिसे बैठाया है। यद्यपि उनकी इन दोनों भ्रान्त धारणाओंकी आलोचना डॉ० उपाध्येने भलीभाँति की है[3] किन्तु डॉ० विद्याभूषणने प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यका समय जो ई० ११ वी सदी सूचित किया है, उसका समर्थन अन्य प्रमाणोंसे हो जाता है।[4]

इस तरह विप्रतिपत्तियोंका निराकरण होकर अनन्तवीर्यका समय ई० ९५०-९९० सिद्ध होता है।

*

अनन्तवीर्यके ग्रन्थ–

अनन्तवीर्य आचार्यके प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय टीकाके सिवाय जिस एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका पता चलता है वह है **प्रमाणसंग्रहभाष्य या प्रमाणसंग्रहालङ्कार**। वे प्रस्तुतटीकामें जिस विषयकी विस्तृत चर्चा नहीं करना चाहते या उसके विशेष समर्थनके लिये किसी ग्रन्थके देखनेकी ओर इशारा करना चाहते हैं वहाँ वे प्रमाण संग्रहभाष्य या प्रमाणसंग्रहालंकारका निर्देश कर देते हैं।[5] **'चर्चितम्' 'व्याख्यातः' 'उक्तम्'** आदि भूतकालिक पदोंसे सूचित होता है कि प्रमाणसंग्रहालङ्कार या प्रमाणसंग्रहभाष्यकी रचना प्रस्तुत टीकासे पहिले हो चुकी है। अकलङ्कदेवका प्रमाणसंग्रहग्रन्थ 'अकलङ्क ग्रन्थत्रय' में मूल प्रकाशित हो चुका है। वह इतना दुरूह और गंभीर है कि उसका यथार्थ रहस्य जानना अत्यन्त कठिन हो रहा है। स्याद्वादरत्नाकर और सर्वदर्शनसंग्रहमें अनन्तवीर्यके नामसे जो वाक्य और श्लोक उद्धृत मिलते हैं वे संभवतः प्रमाणसंग्रहभाष्यके ही हों।

इस तरह आ० अनन्तवीर्य एक श्रद्धालु तार्किक बहुश्रुत विद्वान् और यशस्वी टीकाकार थे। उनकी यह अनुपम कृति अकलङ्कवाङ्मयका आलोक बनकर आज भी अज्ञान तमस्तोमका भेदन कर रही है।

---

(१) न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग प्रस्तावना पृ० ४८-५८।

(२) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक पृ० १९८।

(३) 'जैनदर्शन' वर्ष ४ अंक ९। (४) देखो पृ० ८०।

(५) "केवलमिन्द्रियमवशिष्यते। तदपि न प्रमाणं विचेतनत्वात् घटादिवदिति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये"–सिद्धिवि० टीका पृ० ८।

"शेषमत्र प्रमाणसंग्रहभाष्यात् प्रत्येयम्"–वही पृ० १२०।

"महेश्वरस्य सकलोपकरणादिज्ञानं प्रमाणसंग्रहभाष्ये निरस्तम्"–वही पृ० ४८३।

"दोषो रागादिः व्याख्यातः प्रमाणसंग्रहभाष्ये"–वही पृ० ५४१।

"एतदुक्तं भवति–यथा द्रष्टव्यप्राप्ययोर्भेदः तथा दृश्यस्य दर्शनस्य च प्रत्यक्षयवं भेदाच्च कस्यचिद् दर्शनमित्युक्तं प्रमाणसंग्रहालङ्कारे।"–वही पृ० १०।

३ ग्रन्थ

[बाह्य स्वरूप]

सिद्धिविनिश्चयकी अकलङ्क-कर्तृकता–

टीकाकार अनन्तवीर्यने प्रथम मङ्गलश्लोकमें जिनेन्द्रका अकलङ्क-विशेषण दिया है और उसके अनन्तर सिद्धिविनिश्चयकी टीका करनेकी प्रतीज्ञा की है। इसके आगेके श्लोकोंमें भी अकलङ्कके वचनोंकी ही प्रशंसा की गई है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[1]में सिद्धिवि०का '**शब्दः पुद्गलपर्यायः**'श्लोक 'अकलङ्कके नामके साथ उद्धृत किया है। वादिराज सूरिने न्यायविनिश्चयविवरण[2]में 'देव' (अकलङ्कदेव)के साथ सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख इस प्रकार किया है–

"**एतदेव स्वयं देवैरुक्तं सिद्धिविनिश्चये। प्रत्यासत्त्या यथैक्यं स्यात्...**"

[3]स्याद्वादरत्नाकरमें वादिदेवसूरि तो स्पष्टतः अकलङ्क और सिद्धिविनिश्चय दोनोंका उल्लेख करते हैं–"**यदाह अकलङ्कः सिद्धिविनिश्चये वर्णसमुदायः पदमिति...**"

इन उल्लेखोंसे निश्चित हो जाता है कि सिद्धिविनिश्चय मूलश्लोक तथा उसकी वृत्ति दोनों अकलङ्ककर्तृक हैं; क्योंकि गद्य और पद्य दोनों अकलङ्कदेवके नामके साथ उद्धृत हैं।

नामका इतिहास–

जैन परम्परामें ग्रन्थका विनिश्चयान्त नाम रखनेकी परम्परा बहुत पुरानी है। तिलोयपण्णत्ति (ई० ५ वीं)में लोकविनिश्चय ग्रन्थका उल्लेख बार-बार आता है।[5] इस परसे संभावनाकी जाती है[6] कि अकलङ्कदेवने अपने न्यायविनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थोंका नामकरण इस परसे किया होगा। यह सही है। साथ ही, यापनीयाचार्य आर्य शिवस्वामीके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख किया जा चुका है[7], यह भी निश्चयतः अकलङ्क से पहिले का है। इस तरह अपनी परम्पराओंके रहते हुए भी जिसने अकलङ्कको यह नाम रखने और ग्रन्थ बनानेकी विशेष प्रेरणा दी होगी वह है धर्मकीर्तिका प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ। धर्मकीर्ति ऐसे युगनिर्माता बौद्ध आचार्य थे कि इनके ग्रन्थोंके प्रकाश में आते ही लोग इनके पुराने आचार्योंको भूलने लगे थे और अकलङ्कने इन्हींके विशेष समालोचन तथा इन्हींके नैरात्म्यवादसे रक्षा करनेके निमित्त 'अकलङ्कन्याय' सम्बन्धी ग्रन्थोंकी रचना की ओर प्रवृत्ति की थी अतः तात्कालिक आवश्यकताके विचारसे लगता है कि विनिश्चयान्त नाम रखनेमें धर्मकीर्तिका प्रमाणविनिश्चय विशेष कारण रहा हो।

विषय विभाजन–

सिद्धिविनिश्चयमें १२ प्रस्ताव हैं। इनमें प्रमाण नय और निक्षेप का विवेचन है।

१. प्रत्यक्षसिद्धिमें–प्रमाण सामान्यका लक्षण, प्रमाणका फल, बाह्यार्थकी सिद्धि, व्यवसायात्मक विकल्पकी प्रमाणता और विशदता, चित्रज्ञानकी तरह विचित्र बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि, निर्विकल्पक प्रत्यक्षका

---

(१) पृ० ४२४। (२) ५१२। (३) प्र० भाग पृ० १६८।

(४) पृ० ६४१।

(५) तिलोयप० ४।१८६६, १९७५, १९८२, २०२८; ५।६९, १२९, १६७; ७।२०३; ८।२७०, ३८६; ९।९ आदि।

(६) तिलोयप० द्वि० प्रस्ता० पृ० १२। (७) पृ० ५३।

निरास, स्वसंवेदनप्रत्यक्षके निर्विकल्पकत्वका खण्डन; अविसंवादकी बहुलतासे प्रामाण्यव्यवस्था तथा मति स्मृति आदि शब्दयोजनाके बिना भी होते हैं इत्यादिका निरूपण है।

२. **सविकल्पसिद्धिमें**–अवग्रहादिज्ञानोंका वर्णन, मानस प्रत्यक्षकी आलोचना, निर्विकल्पकसे सविकल्पकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, अवग्रहादिमें पूर्व पूर्वकी प्रमाणता और उत्तरोत्तरमें फलरूपता और बौद्धमतमें सन्तानान्तरकी प्रतिपत्ति संभव नहीं, आदि विषयोंका विवेचन है।

३. **प्रमाणान्तरसिद्धिमें**–स्मरणकी प्रमाणता, प्रत्यभिज्ञानका प्रामाण्य, उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव, तर्ककी प्रमाणताका समर्थन, क्षणिक पक्षमें अर्थक्रियाका अभाव, उत्पादव्ययस्थित्यात्मक तत्त्वका समर्थन, विनाश भावान्तरोत्पाद रूप है, अनाद्यनन्त द्रव्यकी सत्ता तथा द्रव्य और पर्यायका भेदाभेद आदिका विचार है।

४. **जीवसिद्धि में**–ज्ञाताको ज्ञानावरणके उदयसे मिथ्याज्ञान, क्षणिकचित्तमें कार्यकारणभाव सन्तान आदिकी अनुपपत्ति, जीव और कर्म चेतन और अचेतन होकर भी बन्धके प्रति एक हैं, कर्मास्रवके कारण, प्रज्ञासत् और प्रज्ञप्तिसत्‌के भेदसे दो प्रकारका नास्तिक्य, तत्त्वोपप्लववादकी मीमांसा, भूतचैतन्यवाद निराकरण, नैयायिकाभिमत आत्मस्वरूपका निराकरण, सांख्याभिमत तत्त्वसमीक्षा, अमूर्तचेतनको भी कर्मबन्ध, और ज्ञानादिगुणोंका जीवसे कथञ्चिद् भेद आदि विषयोंकी चरचा है।

५. **जल्पसिद्धि में**–जल्पका लक्षण, उसकी चतुरङ्गता, जल्पका फल मार्गप्रभावना, शब्दकी अर्थवाचकता, शब्दमात्र विवक्षाके सूचक नहीं, असाधनाङ्गवचनादि निग्रहस्थानोंकी आलोचना और जय-पराजय-व्यवस्था, आदि का निरूपण है।

६. **हेतुलक्षण सिद्धिमें**–हेतुका अन्यथानुपपत्ति लक्षण, तादात्म्य तदुत्पत्तिसे ही अविनाभावकी व्याप्ति नहीं, हेतुके भेद, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुका समर्थन, सत्त्वादि हेतुओंका अनेकान्तमें ही संभवत्व, सहोपलम्भनियमसे ज्ञानाद्वैतकी सिद्धि संभव नहीं और अदृश्यानुपलब्धिसे भी अभाव की सिद्धि आदि विषयों का निरूपण है।

७. **शास्त्रसिद्धिमें**–श्रुतका श्रेयोमार्गसाधकत्व, शब्दका अर्थवाचकत्व, स्वापादिदशामें भी जीवकी चेतनता, भेदैकान्तमें कारक ज्ञापकस्थितिका अभाव, कर्मोदयसे जीवमें भ्रान्तिकी उत्पत्ति, ईश्वरवादका खण्डन, नैयायिकके मोक्षस्वरूपकी आलोचना, पुरुष में ज्ञानातिशयकी संभावना, स्याद्वादश्रुतकी ही अविसंवादिता, नित्य वेदमें अर्थप्रतिपादकत्वका अभाव और वेदकी अपौरुषेयताका निराकरण आदि विषयोंकी चरचा है।

८. **सर्वज्ञसिद्धिमें**–अत्यन्तपरोक्षार्थका भी ज्ञान संभव है, वक्तृत्वादि हेतु सर्वज्ञत्वके बाधक नहीं, सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्व हेतुसे सर्वज्ञताकी सिद्धि, अतिशयवत्त्व हेतुसे सर्वज्ञताका साधन, अतीन्द्रियज्ञानकी संभावना, सांख्यमतमें सर्वज्ञताका असंभव, और ज्ञानावरणके अभावमें सर्वज्ञत्व इत्यादि विषयोंका निरूपण है।

९. **शब्दसिद्धिमें**–शब्दकी पुद्गलपर्यायता, शब्दमें छाया और आतपकी तरह पुद्गलस्कन्धरूपता, शब्दका अर्थसे वाच्यवाचक सम्बन्ध, शब्दकी स्वलक्षण-अर्थविषयता, सर्वमृषात्वकी सिद्धिके लिये भी शब्दका अर्थवाचकत्व आवश्यक, यदि स्वलक्षण अवाच्य है तो उसमें अदृश्यत्वका प्रसङ्ग होगा, शब्दोंको वक्त्रभिप्रायका वाचक मानने पर सत्यानृतव्यवस्था न हो सकेगी, एवकारादि प्रयोग विचार और स्फोटवाद निरास आदिका वर्णन है।

१०. **अर्थनयसिद्धिमें**–ज्ञाताका अभिप्राय नय है, नय प्रमाणात्मक भी है, दो मूलनय, निरपेक्ष नय मिथ्या, नैगम नय, सांख्य नैगमाभास, संग्रहनय, संग्रहाभास, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय आदिका विवेचन है।

११. **शब्दनयसिद्धिमें**–शब्दस्वरूपनिरूपण, स्फोटवादका खण्डन, शब्दनित्यत्वका निरास, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय आदिका वर्णन है।

१२. निक्षेपसिद्धि में–निक्षेपका लक्षण, नाम स्थापना आदि भेद, भाव पर्यायार्थिकका तथा शेष द्रव्यार्थिकके निक्षेप तथा अनेकान्तमें ही निक्षेपकी संभावना आदि विषयोंका विवेचन है।

यह मूल सिद्धिविनिश्चयका विषय परिचय है। सिद्धिविनिश्चय टीकामें इन्हींका विस्तार तथा आनुषङ्गिक विषयोंका और भी निरूपण है।

रचना शैली–

यह पहिले लिखा जा चुका है कि अकलङ्क आगमिक-दार्शनिक होनेके बाद तार्किक-दार्शनिक बने थे। उनके ग्रन्थोंके वर्णनमें उनकी शैलीका एक आभास तो करा दिया गया है। यहाँ सिद्धिविनिश्चयकी शैलीके सम्बन्धमें ही कुछ विशेष वक्तव्य है। अकलङ्कके तार्किक प्रकरण अतिसंक्षिप्त गूढार्थ जटिल और बह्वर्थ हैं। सिद्धिविनिश्चयके सम्बन्धमें तो अनन्तवीर्य प्रकारान्तरसे यह कहते ही हैं कि अनन्त सामर्थ्य रखकर भी अकलङ्कके वचनोंका मर्म समझमें नहीं आता यह बड़े आश्चर्यकी बात है[1]। उन्होंने इसे 'सूक्तसद्रत्नाकर' कहा है[2]। अकलङ्क वचोम्भोधिकी गहराई मापनेमें प्रभाचन्द्र और वादिराज जैसे प्रकाण्ड पण्डित भी अपनेको असमर्थ बताते हैं।

सिद्धिविनिश्चयमें उनके प्रमुख लक्ष्य हैं धर्मकीर्ति और उनके टीकाकार। क्योंकि ग्रन्थका एक तिहाई भाग इन्हींकी आलोचनासे पूर्ण है, फिर चार्वाक न्यायवैशेषिक मीमांसक सांख्ययोग आदि सभी दर्शन उनकी आलोचनाके क्षेत्रमें हैं।

उनकी भाषा व्यंग्योंसे पूर्ण है और वह 'असात्मज्ञता, अन्तर्गडु, अन्धयष्टिकल्प, अमलालीढ, अयोनिशो मनस्कार, अश्लीलमेवाकुल्मम्, आन्ध्यविजृम्भण, कुशाकाशावलम्बन, कोशपान, तद्द्वेषी तत्कारी, धाष्ट्र्य, प्रशास्तपण्डितवेदनीय, मस्तके शृङ्गम्, राजपथीकृत, शिलाप्लव और शौद्धोदनिशिष्यक आदि प्रयोगोंसे तथा म्लेच्छादि व्यवहार और मूषिकालर्क विषविकार आदि उदाहरणोंसे पर्याप्त समृद्ध और ओजःपूर्ण बन गई है।

अकलङ्कका षड्दर्शनोंका गम्भीर अध्ययन तथा बौद्ध-शास्त्रोंका आत्मसात्करण भी उनके प्रकरणोंकी जटिलताको बढ़ा देते हैं। वे चाहते हैं कि कमसे कम शब्दोंमें अधिक-से-अधिक सूक्ष्म और बहु पदार्थ ही नहीं बहुविध पदार्थ लिखा जाय। उनकी यह सूत्रशैली बड़े-बड़े प्रकाण्डपण्डितोंको अपनी बुद्धिका माप दण्ड हो रही है।

अकलङ्कदेव धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको लक्ष्य कर अनेकों पूर्वपक्ष उनके प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थोंसे शब्दशः लेते हैं साथ ही लगे हाथ वहीं सांख्य और न्यायवैशेषिककी आलोचना करते जाते हैं। जहाँ भी अवसर आया सौत्रान्तिक और विज्ञान-शून्यवादियोंपर पूरा प्रहार किया है। कुमारिलकी सर्वज्ञताविरोधिनी युक्तियाँ उनके मीमांसाश्लोकवार्तिकको सामने रखकर आलोचित हुई हैं।

टीकाकी शैली–

अनन्तवीर्यने टीकामें मूलके अभिप्रायको विशद और पल्लवित करनेके हेतु अपनी सारी शक्ति लगाकर अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। आ० प्रभाचन्द्र अकलङ्कदेवकी सरणिको प्राप्त करनेके लिए इन्हींकी युक्तियों और उक्तियोंका अभ्यास करते हैं तथा उनका विवेचन करनेकी बात बड़ी श्रद्धासे लिखते हैं कि–

> **"त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयः,**
> **दुष्प्रापोऽप्यकलङ्कदेवसरणिः प्राप्तोऽत्र पुण्योदयात्।**

---

(१) पृ० १।

(२) "अकलङ्कवचोऽम्भोधेः सूक्तरत्नानि यद्यपि।
गृह्यन्ते बहुभिः स्वैरं सद्रत्नाकर एव सः॥"–पृ० १।

स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च सततं सोऽनन्तवीर्योक्तितः,
भूयान्मे नयनीतिदत्तमनसः तद्बोधसिद्धिप्रदः ॥[1]"

अर्थात् अकलङ्कदेवकी समस्त प्रमेयोंसे समृद्ध सरणि बड़े पुण्योदयसे प्राप्त हुई है, उसका मैंने अनन्तवीर्यकी उक्तियोंमें सैकड़ों बार अभ्यास किया और विवेचन किया आदि।

अकलङ्कदेवके गूढ़ अर्थको ढूँढ़नेके लिये आ० वादिराज[2] तो पद-पदपर अनन्तवीर्यके वचनदीपोंके प्रकाशकी बाट जोहते हैं और कहते हैं कि उनके वचनदीप ही उस दिशामें सतत प्रकाश देते हैं। एक तो तर्कका क्षेत्र वैसे ही कर्कश और फिर अकलङ्कके दुरूह जटिल ग्रन्थकी टीका करना। इन कठिनाइयोंके रहते हुए भी अनन्तवीर्यने अपनी टीकाको पर्याप्त सरल करनेका प्रयास किया है। १८००० श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका रचनेपर भी वे उसके पार पानेका दावा नहीं करते।

वे अकलङ्कके मनोगत भावोंको स्पष्ट करनेके लिये उनके सूत्रको पकड़कर पूर्वपक्षीय ग्रन्थोंके सैकड़ों अवतरण देकर विषय को खूब विशद और बुद्धिगम्य, बनाते हैं। यह उनका सदा ध्यान रहता है कि खण्डनके प्रसङ्गमें कोई बात 'अमूल'–बिना प्रमाण की न लिखी जाय और इसीलिये टीकामें ग्रन्थान्तरीय अवतरणोंकी भरमार है। वेद उपनिषद्से लेकर सभी दार्शनिक ग्रन्थोंके चुने हुए अवतरण पाठककी बुद्धिको पर्याप्त विश्राम देते हैं, उसे ऊबने नहीं देते। फिर लोकोक्तियाँ, न्याय, विशेष उदाहरण और हास-परिहाससे परिपूर्ण व्यङ्ग्योक्तियाँ विषयकी जटिलताको खूब सुबोध और सरल कर देती हैं।

आलोचना और खण्डन करनेमें हास्य और व्यंग्यका अवसर तो पूरा-पूरा रहता ही है और यदि उस समय कोई सटीक बैठनेवाली लोकोक्ति कही जाय तो जिसका खण्डन हो रहा है वह भी मन मसोसकर भी कहनेवालेकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। ऐसे स्थल अनन्तवीर्यकी शैलीमें खूब हैं। उनकी लोकोक्तियाँ न्याय और विशिष्ट मुहावरोंके कुछ नमूने देखिए—

"अधिकार्थिन्याः पतितं तदपि च यत्पिञ्जने लग्नम्
—आधी छोड़ एकको धावे ऐसा डूबे पार न पावे

घोटकारूढोऽपि विस्मृतघोटको जातः
—काँखमें लड़का गाँवमें टेर

आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे
—पूँछे खेतकी कहे खलिहानकी

इतः सरः इतः पाशः
—इधर कुँआँ उधर खाई

यादृशो यक्षः तादृशो बलिः"
—जैसेको तैसा इत्यादि।[3]

अर्धवैशस न्याय, याचितकमण्डन न्याय, काकाक्षगोलक न्याय, तीरादर्शिशकुनि न्याय, वीचीतरङ्ग न्याय आदि न्यायोंके प्रयोगसे विषय तो स्पष्ट हो ही जाता है साथ ही भाषाका चमत्कार पाठकको प्रमुदित कर देता है। इसी तरह–

"अर्के कटुकत्वदर्शनात् गुडेऽपि योजयति।
गण्डूपदभयात् अजगरमुखप्रवेशमनुसरति।
न चाण्डाल्या दर्शनमिच्छामि स्पर्शं त्विच्छामि।

---

(१) न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ६०५।
(२) "व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाग्दीपवर्तिरनिशं पदे पदे"–न्यायवि० वि० प्र० पृ० १।
(३) शेषके लिये देखो परिशिष्ट १०।

भाण्डत्यागे कुन्थत्यागवत् ।
वन्ध्यासूनोर्विक्रमादिगुणसम्पद्वत्तुमुपक्रमति ।
विषोपयोगमृते शत्रौ न हि तद्व्यापादनाय स्वल्पचपेटादिकं युञ्जते ।
स्ववधाय शूलतक्षणम् ।
स्वामेव वृत्तिं स्ववाचा विडम्बयति ।
तत्कारी तद्द्वेषी चेति उपेक्षामर्हति ।
को हि स्वं कौपीनं विवृणुयात् ।
खात् पतिता रत्नवृष्टिः ।
न हिमालयो डाकिन्या भक्ष्यते ।"

इत्यादि व्यङ्ग्योक्तियों और विशिष्ट मुहावरोंका प्रयोग टीकाको सर्वग्राह्य बनानेके प्रयत्नका ही फल है।

'मालवक अलसीके तैलके प्रयोगसे मलबन्ध होता है' आदि प्रचलित दवाइयोंका निर्देश भी उदाहरणके रूपमें यत्र-तत्र किया गया है।

'दूषण लगता है' अर्थमें 'दूषणं लगति' प्रयोग उनकी भाषाकी सरलताका अच्छा नमूना है।

अनन्तवीर्य बीच-बीचमें प्रकरणगत अर्थको स्वरचित श्लोकोंमें भी व्यक्त करते हैं। इससे कहीं-कहीं मणिप्रवालकी तरह गद्य-पद्यमय चम्पूका आनन्द आ जाता है। कठिनाई टीकाकारकी यह है कि उसे मूलका व्याख्यान करना है, अतः मूलानुगामित्वके कारण उसका प्रवाह उसके हाथमें नहीं है। फिर जहाँ मूल ही जटिल और विविध प्रमेयबहुल हो वहाँ प्रकरणबद्धता लाना दुष्कर होता है। यही कारण है कि सिद्धिविनिश्चय टीकामें न्यायकुमुदचन्द्रके प्रकरणबद्ध शास्त्रार्थोंका सौष्ठव दृष्टिगोचर नहीं हो पाता। फिर भी आ० अनन्तवीर्यने इस टीकाको अत्यन्त परिष्कृत और सर्वग्राह्य बनानेमें कुछ उठा नहीं रखा है।

इनका शब्दकोश बहुत बड़ा तथा अपूर्व था। यही कारण है कि दर्शन शास्त्रको इनसे अनेक नये शब्द मिले हैं। अनेक नये-नये उदाहरण भी इनकी टीका में आये हैं।[1]

इस तरह यह टीका अपनेमें परिपूर्ण और प्रमेयसमृद्ध है, तथा अकलङ्कवाङ्मयके लिये सचमुच प्रदीप है।

*

[आन्तरिक विषय परिचय]

सिद्धिविनिश्चयमें प्रमुख रूपसे जिन विषयोंका विवेचन है उनका किंचित् क्रम विकास और तात्त्विक निरूपणके लिये हम उनको १ प्रमाणमीमांसा २ प्रमेयमीमांसा ३ नयमीमांसा और ४ निक्षेप मीमांसा इन चार विभागोंमें बाँटकर वर्णन करेंगे।

१ प्रमाणमीमांसामें १ प्रत्यक्षसिद्धि २ सविकल्पसिद्धि ८ सर्वज्ञसिद्धि ३ प्रमाणान्तरसिद्धि और ६ हेतुलक्षणसिद्धि इन प्रस्तावोंमें प्रतिपादित प्रमाणसम्बन्धी विषयोंका सार होगा।

२ प्रमेयमीमांसामें–४ जीवसिद्धि और ९ शब्दसिद्धिमें प्रतिपादित प्रमेयसम्बन्धी सामान्य स्वरूपका वर्णन होगा।

३ नयमीमांसामें १० अर्थनयसिद्धि और ११ शब्दनयसिद्धिके विषयोंका प्रतिपादन होगा।

४ निक्षेप मीमांसामें १२ निक्षेपसिद्धि के विषयोंका सारांश दिया जयगा।

---

(१) देखो परिशिष्ट नं० ११।

१ प्रमाणमीमांसा

आत्मा और ज्ञान–

प्रमाण का विचार करने के पहिले प्रमाणभूत ज्ञान, उसके आधारभूत आत्मा और उनके परस्पर सम्बन्ध का विचार कर लेना आवश्यक है। भारतीय आस्तिक या आत्मवादी दर्शनोंमें आत्मा या चित्तकी जड़ पदार्थोंसे भिन्न सत्ता स्वीकार की गई है, साक्षात् या परम्परया ज्ञानको आत्माश्रित या चित्ताश्रित भी सभी आस्तिक दर्शनोंमें माना है। आस्तिक शब्दका प्रयोग यहाँ जड़ पदार्थोंसे आत्मा या चित्तकी पृथक् सत्ता मानने के अर्थ में किया जा रहा है।

वेदान्त दर्शनमें ब्रह्मको ही परमार्थ तत्त्व मानकर उसे चिद्रूप माना है। चैतन्य या चिति शक्ति ब्रह्मका निज रूप है। ज्ञान यानी ज्ञेयको जाननेवाला गुण ब्रह्मका निजरूप नहीं है। वह तो अन्तःकरण मनका धर्म है[1]। जब ब्रह्म अपने शुद्ध रूपमें रहता है तब उसमें ज्ञेयाकारपरिणति रूप ज्ञान का प्रतिभास नहीं रहता।

साख्य[2] पुरुषको चैतन्य स्वरूप कहते हैं। ज्ञान पुरुषका धर्म नहीं है, किन्तु वह प्रकृतिका विकार है। जब तक पुरुषके साथ प्रकृतिका संसर्ग है तब तक पुरुष बुद्धिके द्वारा अध्यवसित अर्थका मात्र संचेतन करता है। जब पुरुष प्रकृतिसंसर्गका परित्याग कर मुक्त होता है तब उस स्वरूपैकप्रतिष्ठित पुरुषमें प्रकृतिका विकार ज्ञान नहीं रहता। जब तक उसका विकार महत्तत्त्व यानी बुद्धि या ज्ञान पुरुषके स्वच्छ चैतन्य रूपमें प्रतिफलित होते हैं तभी तक पुरुषको ज्ञेयका भान होता है। जब यह संसर्ग चरितार्थ हो जाता है तब केवल पुरुष शुद्ध चैतन्यमात्रमें प्रतिष्ठित हो जाता है[3]।

नैयायिक वैशेषिक अदि ज्ञानको पृथक् पदार्थ मानकर भी उसका आधार नित्य आत्माको मानते हैं। ज्ञान आत्माका अयुतसिद्ध गुण है। जब आत्मा मुक्त हो जाता है तब वह ज्ञानादि गुणों से शून्य आत्ममात्र रह जाता है[4]। उसमें आत्ममनःसंयोगजन्य ज्ञानादि गुणोंकी उत्पत्ति नहीं होती। संसारावस्थामें मनका संयोग है। अतः जितने आत्मप्रदेशोंमें मनका संयोग है उतने आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादि गुण उत्पन्न होते हैं।

बौद्ध विज्ञानधारा मानते हैं। उनका मत है कि अनादिकालसे कारणकार्यरूप विज्ञानधारा चली आती है। वही आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानके क्रमसे ज्ञेयोंका प्रतिभास करती है। कोई स्थिर द्रव्य इस धाराका आधारभूत नहीं है। 'जब चित्तसन्तति निरास्रव अर्थात् अविद्या और तृष्णासे शून्य होती है तब वह शुद्ध और निर्मल हो जाती है' यह एक दार्शनिक[5] पक्ष चित्तनिर्वाणके विषयमें पाया जाता है, पर चित्तनिर्वाणको जब स्वयं बुद्धने अव्याकृत कोटिमें रखा था तब बहुत काल तक निर्वाणके विषयमें प्रदीपनिर्वाणका पक्ष ही मुख्य रूपमें प्रचलित रहा है। उनका कहना है[6] कि–जिस प्रकार तेलके जल जानेपर प्रदीप बुझ जाता है, हम नही बता सकते कि वह किस दिशा विदिशा आकाश या पाताल कहाँ गया उसी तरह निर्वृत चित्त न किसी दिशामें जाता है न विदिशामें न आकाशमें न भूमिमें, वह तो क्लेशके

---

(१) "अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्।"–वेदान्तप० पृ० १७।

(२) "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्"–योगभा० १।९।

(३) "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"–योगसू० १।३।

(४) "तदेवं नवानामात्मगुणानां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्गः"–न्यायम० प्रमे० पृ० ७७।

(५) "मुक्तिर्निर्मलता धियः"–तत्त्वसं० पृ० १८४।

(६) "दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित् नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्,
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित् नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्,
कृती तथा निर्वृतिमभ्युपेतः [illegible] केवलमेति शान्तिम्॥"–सौ० [illegible] १६।२८,२९।

क्षयसे शान्त हो जाता है। इस तरह चित्तसन्ततिका उच्छेद निर्वाण है, यह पक्ष प्रचलित है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध परम्परामें ज्ञान जड़ पदार्थोंका धर्म नहीं है किन्तु वह चित्तप्रवाह रूप है।

जैन परम्पराने वस्तुमात्रको उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूपसे त्रयात्मक माना है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ चाहे वह जड़ हो या चेतन प्रतिक्षण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़ता है, नूतन पर्यायको धारण करता है और उनके अनादि अनन्त प्रवाहरूप ध्रौव्यको स्थिर रखता है। इस ध्रौव्यके कारण प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए भी द्रव्य इतना नहीं बदलता कि वह अपना तद्द्रव्यत्व ही समाप्त कर दे और न उपनिषद्वादियोंकी तरह कूटस्थ नित्य ही रहता है कि उसमें कोई परिवर्तन या परिणमन ही न हो। यह परिणामी आत्मा उपयोग स्वरूप है, चैतन्य स्वरूप है। यही उपयोग या चैतन्य जब ज्ञेयको जानता है अर्थात् ज्ञेयाकार होता है तब साकार ज्ञान कहलाता है और जब स्वरूपका संचेतन करता है तब दर्शन कहलाता है। उपयोग या चैतन्य क्रमशः ज्ञान और दर्शनरूपसे परिणति करते हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञान आत्माकी पर्याय है और ऐसी पर्याय जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास होता है। इसे गुण भी कहते हैं; क्योंकि यही सामान्य ज्ञान अपनी घटज्ञान पटज्ञान आदि अवान्तर पर्यायोंके रूपमें परिणत होता है। इस ज्ञानका आत्मासे तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है। अन्तर इतना ही है कि आत्मा ज्ञान दर्शन सुख आदिका आधार है जब कि ज्ञान उसका एक गुण या अवस्थाविशेष है। एक चैतन्यकी दृष्टिसे ज्ञान एक पर्याय है पर अपनी अवान्तर पर्यायोंकी दृष्टिसे वही अन्वयी होने से गुण है।

ज्ञान ही प्रमाण है–

प्रमाण शब्दकी 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' इस सर्वमान्य व्युत्पत्तिसे यही सूचित होता है कि जो प्रमाका साधकतम करण हो वह प्रमाण है। 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह व्युत्पत्तिमूलक लक्षण भी इसी अर्थको कहता है। विवाद तो यहाँ है कि प्रमाका करण क्या हो सकता है? न्यायभाष्य[1]में करणरूपसे सन्निकर्ष और ज्ञान दोनोंका स्पष्टतया निर्देश है। वैशेषिकपरम्परा[2]में क्रमशः सन्निकर्ष स्वरूपालोचन और ज्ञानको प्रमाण कहा है। सांख्य[3] इन्द्रियवृत्तिको करणके स्थानमें रखते हैं। प्रभाकर[4] अनुभूतिको प्रमाण कहते हैं। बौद्धपरम्परामें यद्यपि अविसंवादिज्ञानको प्रमाण माना[5] है फिर भी वे करणके स्थानमें सारूप्य और योग्यताको भी स्थान देते हैं।[6] सामान्यतया विचार यह प्रस्तुत है कि–ज्ञानको करण मानना या अचेतन इन्द्रिय और सन्निकर्षको भी।

जैनपरम्पराका स्पष्ट विचार है कि चूंकि प्रमा चेतन है और चेतनक्रियामें साधकतम करण कोई अचेतन नहीं हो सकता अतः अव्यवहित रूपसे प्रमाका जनक ज्ञान ही करण हो सकता है। इन्द्रियसन्निकर्ष इन्द्रियवृत्ति सारूप्य और योग्यता आदि ऐसे ज्ञानके जनक अवश्य होते हैं, जो ज्ञान प्रमाका साक्षात् साधकतम होता है। अतः ज्ञानसे व्यवहित होनेके कारण इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहीं हो सकते। प्रमिति या प्रमा अज्ञाननिवृत्तिरूप होती है। इस अज्ञाननिवृत्तिमें अज्ञानका विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है; जैसे कि अन्धकारकी निवृत्तिमें अन्धकारका विरोधी प्रकाश ही मुख्य करण होता है। [7]इन्द्रिय सन्निकर्ष

(१) "यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।"–न्यायभा० १।१।३। (२) प्रश० भा०, व्यो० पृ० ५५३।

(३) "प्रमाणं वृत्तिरेव च"–योगवा० पृ० ३०। सांख्यप्र० भा० १।८७।

(४) "अनुभूतिश्च प्रमाणम्।"–शाबरभा० बृह० १।१।५।

(५) "प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्"–प्र० वा० २।१।

(६) "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥"–तत्त्वसं० श्लो० १३४४।

(७) "सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नमर्थान्तरवत्"
–लघी० स्ववृ० १।३। सिद्धिवि० वृ० १।३।

आदि स्वयं अचेतन हैं, अत एव अज्ञानरूप होनेके कारण प्रमितिमें साक्षात् करण नहीं हो सकते। यद्यपि कहीं-कहीं इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि ज्ञानकी उत्पादक सामग्रीमें सम्मिलित हैं पर उनका सार्वत्रिक और सार्वकालिक अन्वय-व्यतिरेक न मिलनेके कारण उनकी कारणता अव्याप्त हो जाती है। सामान्यतया जो क्रिया जिस गुणकी पर्याय है उसमें वही साधकतम हो सकता है। चूँकि 'जानाति' क्रिया ज्ञानगुणकी पर्याय है अतः उसमें अव्यवहित कारण ज्ञान ही हो सकता है। प्रमाण चूँकि [1]हित प्राप्ति और अहित परिहारमें समर्थ होता है अतः वह ज्ञान ही हो सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चयमें इसी ज्ञानकी प्रमाणताका समर्थन करते हुए लिखा है[2] कि प्रतिपत्ता अर्थात् आत्माको प्रमिति क्रिया या स्वार्थविनिश्चयमें जिसकी अपेक्षा होती है वही प्रमाण है और वह साधकतम रूपसे अपेक्षणीय है ज्ञान।

ज्ञानका स्वसंवेदित्व–

मीमांसक ज्ञानको परोक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि बुद्धि स्वयं परोक्ष है; उसके द्वारा पदार्थका ज्ञान होनेपर हम उसे अनुमानसे जानते हैं।[3] किन्तु जिस प्रकार देवदत्तकी बुद्धिसे यज्ञदत्तको पदार्थका बोध नहीं होता क्योंकि देवदत्तकी बुद्धिका यज्ञदत्तको प्रत्यक्ष नहीं होता उसके लिये वह परोक्ष है, उसी तरह यदि देवदत्तकी बुद्धि स्वयं देवदत्तको प्रत्यक्ष नहीं है तो ऐसी परोक्षबुद्धिसे स्वयं देवदत्तको भी पदार्थका बोध कैसे हो सकेगा ?

नैयायिक ज्ञानको ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं[4]। इनका सबसे बड़ा तर्क है 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' का। अर्थात् जैसे कोई कितनी ही तीक्ष्ण तलवार क्यों न हो वह अपने आपको नहीं छेद सकती, कितना ही सुशिक्षित नटबटु क्यों न हो वह अपने ही कन्धेपर नहीं नाच सकता। किन्तु प्रदीपका दृष्टान्त स्वपरप्रकाशकत्वकी सिद्धिके लिये उपलब्ध है। प्रदीप अपने-आपको भी प्रकाशित करता है और घटपटादि पदार्थोंको भी। ज्ञानान्तरवेद्य पक्षमें अनवस्था दूषण तो स्पष्ट ही है।

सांख्यके मतसे बुद्धि प्रकृतिका धर्म है वह पुरुषके द्वारा संचेतित होती है[5]। पुरुषके संयोगसे महदादि स्वयं अचेतन होकर भी चेतनायमान होते हैं। पुरुष बुद्धिके द्वारा अध्यवसित पदार्थोंका स्वयं संचेतन करता है। किन्तु [6]ज्ञान बुद्धि उपलब्धि और चेतना आदि सभी चेतनके ही धर्म हैं, ये प्रायः पर्यायवाची हैं। किंचित् क्रियाभेद होनेपर भी इनमेंसे कोई भी चेतनत्वकी सीमाको नहीं लाँघता। कूटस्थ नित्य पुरुष यदि स्वयं कर्ता नहीं है तो भोक्ता अर्थात् भोगक्रियाका कर्ता कैसे हो सकता है ? अतः चेतन और चेतनके धर्म प्रदीपकी तरह स्वयं प्रकाशमान होते हैं।

बौद्धपरम्परा चाहे वह सौत्रान्तिक मतावलम्बिनी हो या विज्ञानवादावलम्बिनी दोनों ही ज्ञानमात्रका स्वसंवेदित्व धर्म स्वीकार करती हैं।[7] कोई भी ऐसी चित्तमात्रा या चित्तावस्था नहीं है जो स्वसंविदित या

---

(१) "हिताहितासिनिर्मुक्तिक्षमम्"–न्यायवि० पृ० १०५। परीक्षामु० १।२।

(२) "प्रतिपत्तुरपेक्ष्यं यत् प्रमाणं न तु पूर्वकम्"–सिद्धिवि० १।३।

(३) "अप्रत्यक्षा नो बुद्धिः, प्रत्यक्षोऽर्थः, स बहिर्देशसम्बद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम्।"–शाबरभा० १।१।५।

(४) "ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत्।"–प्रश० व्यो० पृ० ५२९। विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६७।

(५) "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।"–सांख्यका० २०।

(६) "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।"–न्यायसू० १।१।१५। प्रश० भा० पृ० १७१। तत्त्वसं० पृ० ११५। न्यायकुमु० पृ० १९३।

(७) "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्"–न्यायबि० १।११।

स्वयं प्रकाशमान न हो। आचार्य दिङ्नागने स्वसंवित्तिको प्रमाणका फल बताया है[1] इससे ज्ञानका स्वसंवेदित्व सिद्ध होता है।

जैन परम्परामें ज्ञान या दर्शन जितनी भी चेतनकी पर्यायें हैं वे सब स्वसंविदित हैं, न वे अचेतन हैं न परोक्ष हैं और न ज्ञानान्तरवेद्य ही। ज्ञान चाहे प्रमाण हो या अप्रमाण वह अपने स्वरूपका संवेदन करता ही है। संशय विपर्यय और अनध्यवसाय जैसे मिथ्याज्ञान भी स्वरूपके संवेदक होते हैं। यह सम्भव ही नहीं है कि ज्ञान उत्पन्न हो जाय और वह स्वयंको अज्ञात रहे। वह तो दीपककी तरह जगमगाता हुआ ही उत्पन्न होता है। स्वरूपसंवेदनकी दृष्टिसे सभी ज्ञान प्रमाण हैं, कोई प्रमाणाभास नहीं है। प्रमाण और प्रमाणाभास विभाग बाह्य अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे सम्बन्ध रखता है[2]।

प्रमाणके लक्षणोंका विकास–

जैन दार्शनिकोंमें आचार्य समन्तभद्रने स्वसंवेदी ज्ञानको प्रमाण माननेकी भूमिकापर प्रमाणका लक्षण करते हुए 'स्वपरावभासक' ज्ञानको प्रमाण कहा है।[3] सिद्धसेन दिवाकर इसमें 'बाधवर्जित' पदका समावेश कर अबाधित स्वपरावभासि ज्ञानको प्रमाण कहते हैं।[4] अकलङ्कदेव अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहकर उसे अनधिगतार्थग्राही भी कहते हैं।[5] माणिक्यनन्दि आचार्यने स्वापूर्वार्थव्यवसायी ज्ञानको प्रमाण बताया है।[6] विद्यानन्दिने प्रमाणके लक्षणमें स्वार्थव्यवसायात्मक पद देकर अनधिगतार्थग्राहिताको अनुपयोगी बताया है।[7] सन्मतिटीकाकार अभयदेव सूरि विद्यानन्दिकी तरह स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानको ही प्रमाण कहते हैं[8] पर 'व्यवसायात्मक'के स्थानमें 'निर्णीति' पदका प्रयोग करते हैं। इस जैनपरम्परामें प्रमाणके लक्षणमें कहीं स्वावभासक पद है और कहीं[9] नहीं। सामान्यतया जैनपरम्परा ज्ञानमात्रको स्वसंवेदी मानती है। ज्ञान चाहे मिथ्या हो सम्यक् वह स्वसंवेदी होता ही है। अतः अकलङ्कदेवने[10] प्रमाणके फलमें स्वार्थविनिश्चय पद देकर भी प्रमाणके लक्षणमें केवल 'अविसंवादि ज्ञान' पद ही दिया है। 'अनधिगत' पदसे वे सूचित करना चाहते हैं[11] कि ऐसा ज्ञान प्रमाण होगा जो प्रमाणान्तरसे अनिर्णीत अर्थका निर्णय करे। अकलङ्कदेवने अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण कहकर उसकी विशेषताओंमें अनिर्णीत अर्थकी निर्णीतिका निर्देश किया है। 'उन्होंने प्रमाणसंप्लव–अर्थात् एक ही प्रमेयमें अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका समर्थन परिच्छित्तिविशेष या उपयोगविशेषमें ही किया है। 'जहाँ उपयोगविशेष हो वहाँ एक प्रमाणके द्वारा जाने गये प्रमेयमें प्रमाणान्तरकी प्रवृत्ति सार्थक है और वह प्रमाणकोटिमें है।' यह भाव अष्टसहस्री (पृ० ४) से ज्ञात होता है।

---

(१) "स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः।"–प्र० समु० १।१०।

(२) "भावप्रमाणापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते॥"–आप्तमी० श्लो० ८३।

(३) "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्"–बृहत्स्व० श्लो० ६३।

(४) "प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।"–न्यायावता० श्लो० १।

(५) "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७५।

(६) "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं"–परीक्षामु० १।१।

(७) "तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥"–त० श्लो० १।१०।७७।

(८) "प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।"–सन्मति० टी० पृ० ५१८।

(९) "सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्"–प्र० मी० १।१।

(१०) "प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।"–सिद्धिवि० १।३।

(११) "अनधिगतार्थाधिगमः विज्ञानं प्रमाणमित्यपि केवलमनिर्णीतार्थनिर्णीतिरभिधीयते। अधिगतमात्रस्य विसंवादकस्य साधनान्तरापेक्षगोचरस्य साधकतमत्वानुपपत्तेः।"–सिद्धिवि० स्व० १।३।

अविसंवा[illegible] की प्रायिक स्थिति–

अकलङ्कदेवके इस विचारके सम्बन्धमें संक्षेपतः पृ० ६२ में निर्देश किया गया है कि हमारे ज्ञानोंमें प्रमाणता और अप्रमाणताकी प्रायः संकीर्ण स्थिति है। कोई ज्ञान सर्वथा प्रमाण या अप्रमाण नहीं है। उसमें विशेष प्रश्न यह उपस्थित होता है कि–

'तब व्यवहारमें किसी ज्ञानको प्रमाण या अप्रमाण कहनेका क्या आधार माना जाय ?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि–'ज्ञानोंकी प्रायः संकीर्ण स्थिति होने पर भी जिस ज्ञानमें अविसंवादकी बहुलता हो उसे प्रमाण माना जाय तथा विसंवादकी बहुलतामें अप्रमाण। जैसे कि इत्र आदिमें रूप रस गन्ध और स्पर्शके रहनेपर भी गन्धगुणकी उत्कटताके कारण उन्हें 'गन्धद्रव्य' कहते हैं उसी तरह अविसंवादकी बहुलतासे प्रमाण व्यवहार होजायगा।'[1] अकलङ्कदेवके इस विचारका कारण यह मालूम होता है कि इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी स्थिति पूर्ण विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। स्वल्पशक्तिक इन्द्रियोंकी विचित्र रचनाके कारण इन्द्रियोंके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ अन्यथा भी होता है। यही कारण है कि आगमिकपरम्परामें इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष न कहकर परोक्ष कहा है। अकलङ्कदेव इस विचारको अष्टशती, लघी० स्ववृत्ति और सिद्धिविनिश्चयमें दृढ़ विश्वासके साथ उपस्थित करते हैं। आ० विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें तो उसकी व्याख्या की ही है, साथही साथ वे अकलङ्कके उक्त विचारका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी पूर्ण समर्थन करते हैं।[2] पर आगे इस विचारकी परम्परा नहीं चली।

अविसंवादित्वका प्रकार–

इस तरह जब अविसंवादी ज्ञानकी ही प्रमाणता स्थापित हो गई तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि कौन ज्ञान अविसंवादी कहा जाय ? सामान्यतया अविसंवादीका स्वरूप यही है कि जिस ज्ञानमें जो प्रतिभासित हो वही यदि प्राप्त हो जाय तो वह ज्ञान अविसंवादी कहा जाता है। दूसरे शब्दोंमें बाह्यार्थकी यथावत् प्राप्ति और अप्राप्तिपर अविसंवाद और विसंवाद निर्भर हैं।

बौद्ध परम्परामें विज्ञानवादी तो बाह्यार्थकी सत्ता ही स्वीकार नहीं करता अतः उसके मतसे यह अविसंवाद और प्रामाण्य व्यवहाराश्रित है। वस्तुतः प्रमाणमात्र स्वरूपका साक्षात्कारी है।

सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी है। वह वास्तविक प्रमेय एक स्वलक्षण ही मानता है। सामान्यलक्षण प्रमेय तो अतद्व्यावृत्ति या अकार्यकारणव्यावृत्ति रूप होनेसे कल्पित है। यह ग्राह्य तो होता है पर प्राप्य नहीं होता। इनकी अपनी प्रक्रिया यह है–निर्विकल्पक प्रत्यक्ष क्षणिक परमाणुरूप स्वलक्षणसे उत्पन्न होता है। इसमें स्वलक्षण पदार्थ आलम्बन कारण है, पूर्वज्ञान समनन्तर (उपादान) कारण, इन्द्रियाँ अधिपति कारण और प्रकाश आदि सहकारी कारण हैं। यद्यपि जिस क्षणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, वह क्षण ज्ञानकालमें नष्ट हो जाता है फिर भी उस क्षणकी सन्तान या उस सन्तानमें पतित अग्रिम क्षण ग्राह्य और प्राप्य होता है, अतः सन्तानमूलक एकत्वाध्यवसायसे अविसंवाद मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि वह क्षण चूँकि अपना आकार ज्ञानमें देता है और वह उस ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है अतः वही क्षण उस

---

(१) "येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था [illegible]।"–अष्टश०, अष्टस० पृ० २७७। लघी० स्व० श्लो० २२। सिद्धिवि० १।१९।

(२) "अ[illegible]प्लुतदृष्टीनां चन्द्रादिपरिवेदनम्।
तत्संख्यादिषु संवादि न प्रत्यासन्नतादि[illegible]॥" –त० श्लो० पृ० १७०।

ज्ञानका ग्राह्य कहा जाता है[1]। अनुमानमें ग्राह्य विषय तो सामान्यलक्षण है; क्योंकि अग्निसामान्य ही उसका विषय है फिर भी प्राप्य स्वलक्षण होता है, अतः प्राप्य स्वलक्षणकी अपेक्षा उसमें प्रामाण्य है। इसमें मणिप्रभा और प्रदीपप्रभामें होनेवाले मणिज्ञानका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे प्रदीपप्रभामें होनेवाला मणिज्ञान और मणिप्रभामें होनेवाला मणिज्ञान दोनों ही भ्रान्त हैं, किन्तु मणिप्रभामें होनेवाला मणिज्ञान मणिकी प्राप्ति करा देनेसे विशेषता रखता है उसी तरह अनुमान और मिथ्याज्ञान दोनों अवस्तुको विषय करनेकी दृष्टिसे समान हैं किन्तु अनुमानसे अर्थक्रिया हो जाती है अतः वह प्रमाण है, मिथ्याज्ञान नहीं[2]। तात्पर्य यह कि परमार्थ स्वलक्षण ग्राह्य हो या नहीं, किन्तु यदि प्राप्ति स्वलक्षणकी हो जाती है तो वह ज्ञान अविसंवादी और प्रमाण माना जाता है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें दुहरी प्रमाणता है—वह परमार्थ स्वलक्षणको विषय भी करता है तथा उससे प्राप्ति भी स्वलक्षणकी ही होती है। अनुमानका ग्राह्य विषय यद्यपि कल्पित है पर प्राप्ति स्वलक्षणकी होती है अतः वह प्रमाण है। अनुमानका ग्राह्य मिथ्या क्यों है? इसका भी कारण यह है कि—यतः अनुमान एक विकल्प ज्ञान है। विकल्पमें शब्द संसर्ग या शब्द संसर्गकी योग्यता होती है। शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और शब्द कल्पित सामान्यका ही वाचक होता है, अतः विकल्प अर्थका स्पर्श नहीं कर सकता। जो शब्द विद्यमान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं वे ही अर्थके अभावमें भी प्रयुक्त होते हैं। अतः शब्दोंका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। [3]अर्थमें शब्द नहीं है और न अर्थ शब्दात्मक ही है जिससे अर्थके प्रतिभासित होनेपर वे अवश्य ही प्रतिभासित हों। इसीलिये परमार्थ स्वलक्षणसे उत्पन्न होनेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें शब्दसंसर्ग नहीं हो पाता। निर्विकल्पक विकल्प ज्ञानको उत्पन्न करता है। अतः जो विकल्प निर्विकल्पक प्रत्यक्षके अनन्तर उत्पन्न होता है यानी जिस विकल्पमें निर्विकल्पकज्ञान समनन्तर-प्रत्यय होता है वह विकल्पज्ञान निर्विकल्पकसे समुत्पन्न होनेके कारण व्यवहारसाधक होता है, पर जो विकल्पज्ञान केवल विकल्पवासनासे बिना निर्विकल्पकका पृष्ठबल प्राप्त किये उत्पन्न हो जाता है वह व्यवहारसाधक नहीं हो सकता। इसीलिये प्रत्यक्षबलोत्पन्न 'यह नीला है यह पीला है' इत्यादि विकल्पोंमें निर्विकल्पककी विशदता और प्रमाणता झलक मारती है और वे व्यवहारमें प्रत्यक्षकी तरह प्रमाणरूपमें सामने आते हैं, किन्तु जो राजा नहीं है उस व्यक्तिको होनेवाला 'मैं राजा हूँ' यह विकल्प केवल शब्द-वासनासे ही शेखचिल्लीकी कल्पनाके समान उद्भूत होनेके कारण प्रमाण कोटिमें नहीं आ सकता। चूँकि निर्विकल्पक और तदुत्पन्न विकल्प अतिशीघ्रतासे[4] उत्पन्न होते हैं अतः स्थूल दृष्टि व्यवहारी समझता है कि मुझे विकल्पज्ञान ही उत्पन्न हुआ है या वह दोनोंको एक ही मान बैठता है। तात्पर्य यह कि जिन विकल्पोंमें केवल शब्दवासना और संकेत ही कारण है वे विकल्प कोरी कल्पनाएँ ही हैं, न तो वे प्रत्यक्ष कहे जा सकते हैं और न विशद ही।

अनुमान विकल्पकी प्रक्रिया जुदी है—सर्वप्रथम धूम स्वलक्षणसे धूमनिर्विकल्पक होता है, फिर 'धूमोऽयम्' यह धूम विकल्पज्ञान, तदनन्तर व्याप्ति स्मरण आदिका साहाय्य लेकर 'यह अग्निवाला है' यह

(१) "भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥"—प्र० वा० २।२४७

(२) "मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥
यथा तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानतदाभयोः।
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्॥"—प्र० वा० २।५७-५८।

(३) "उक्तं च—न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्।"—न्यायप्र० वृ० पृ० ३५।

(४) "मनसोर्युगपद्वृत्तेः सविकल्पाविकल्पयोः।
विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति॥"—प्र०वा० २।१३३।

अनुमान विकल्प। इसमें चूँकि परम्परासे अग्निजन्य-धूमस्वलक्षण कारण पड़ रहा है अतः वह प्रमाण है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि–यदि अग्नि न होती तो धूम भी उत्पन्न नहीं हो सकता था, धूम के न होने पर धूमविषयक निर्विकल्पक नहीं हो सकता था, धूम निर्विकल्पक न होता तो धूम सविकल्पक नहीं हो सकता था, धूम सविकल्पक नहीं होता तो व्याप्ति स्मरणकी सहायता लेकर होनेवाला 'अग्निरत्र' यह अनुमान विकल्प भी उत्पन्न नहीं हो सकता था। अतः परम्परासे अनुमानविकल्प स्वविषय सम्बद्ध-अर्थसे उत्पन्न होनेके कारण प्रमाण है[1]। तात्पर्य यह कि जैसे प्रत्यक्षकी[2] प्रमाणताका मूल आधार है–परमार्थ अर्थके अभावमें नहीं होना, यानी अर्थाविनाभावी होना, तो यदि अनुमान विकल्प भी अविनाभावी अर्थसे परम्परया उत्पन्न होता है तो वह भी उसीकी तरह प्रमाण है।

बौद्ध शब्दका अर्थके साथ सम्बध नहीं मानते, उसके मुख्य कारण ये हैं–

(१) वैदिक संस्कृतिमें वेदको अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण माना गया है। वैदिक शब्द जब स्वतः प्रमाण हैं तो उन्हें प्रमाणमात्रको स्वतःप्रमाण मानना पड़ा। इनकी प्रक्रिया यह है कि शब्दमें दोष वक्ताके कारण आते हैं। अतः यदि वैदिक शब्दोंका कोई वक्ता ही न माना जाय तो दोष कहाँसे आयेंगे? इस तरह वैदिक संस्कृतिमें शब्दको स्वतःप्रमाण माना गया है।

बौद्ध वेदको प्रमाण नहीं मानना चाहते थे, अतः उन्होंने यावत्[3] शब्दविकल्पोंको अप्रमाण कह दिया। उसका कारण उन्होंने यही दिया है कि–शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वे वस्तुस्वरूपका स्पर्श नहीं करते, वस्तुकी सामर्थ्यसे उत्पन्न नहीं होते, वक्ताकी इच्छाके अनुसार संकेताधीन उनकी प्रवृत्ति है, अतः उनमें स्वतः प्रामाण्य नहीं है। प्रमाणता तो अर्थजन्य निर्विकल्पकमें होती है। सविकल्पकमें प्रमाणता तो उधार ली हुई है। एक बार यदि शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लिया तो उसमें निर्विकल्पक की तरह अर्थसामर्थ्यजन्य प्रामाण्य मानना ही पड़ेगा और फिर पीछे यह विवेक करना कठिन हो जायगा कि किस शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध है किसका नहीं। अतः शब्द केवल वक्ताकी उस इच्छाका द्योतन करता है जिस इच्छासे वह शब्दका प्रयोग कर रहा है। इस तरह वैदिक शब्दोंको स्वतःप्रमाण न माननेकी दृष्टिसे शब्दमात्रका या शब्दसंसर्गी विकल्पका अर्थसे साक्षात् सम्बन्ध अस्वीकृत किया गया।

(२) परमार्थ अर्थ वस्तुतः शब्दोंके अगोचर है। उसका वास्तविक निजरूप अतिगहन है, उस तक शब्दोंका पहुँचना असम्भव है; क्योंकि शब्दका प्रयोग अन्ततः संकेताधीन ही तो है। मनुष्य वस्तुके स्वरूप को अपनी वासना और संस्कारोंके अनुसार रँगता है और उसे इच्छानुसार संज्ञाएँ देकर विकृत करता है। उदाहरणार्थ–किसी पिंडमें जो कि परमाणुओंके ढेरके सिवाय कुछ नहीं है 'स्त्री' यह संज्ञा शब्द-वासनासे ही तो रखी गई है। फिर उसके स्तन आदि अवयवोंमें सौन्दर्यकी कल्पना भी शब्दोंसे ही आई है। वह वस्तुका स्वरूप तो नहीं है। फिर मनुष्य अपनी वासनाके अनुसार उस पिंड यानी परमाणुपुंजमें 'स्त्री' आदि संज्ञाएँ रखकर उनमें अनुरक्त होता है और कर्मबन्धनमें पड़ता है। अतः वस्तुतः 'स्त्री' आदि शब्दों का उद्भव अपनी वासनासे हुआ है उनका वस्तुके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह 'स्त्री' आदि अनुव्यञ्जक संज्ञाओंको अपरमार्थ कहनेके हेतुसे शब्द और विकल्पमात्रका अर्थसे सम्बन्ध तोड़ दिया गया है।

---

(१) "अनुमानं च लिङ्गसम्बद्धं नियतमर्थं दर्शयति।"–न्याय बि० टी० १।१।

(२) "अत एवाह–अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्॥"–प्र० वार्तिकाल० ४।११७।

(३) "शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः॥"–मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ६२-६३।

(३) वास्तविक अर्थ क्षणिक और परमाणु रूप है, वह अनन्त है हम जिसमें संकेत ग्रहण करते हैं, वह व्यवहारकाल तक टहरता नहीं है। अतः जब अर्थमें संकेत ग्रहण करना ही संभव नहीं है, तब अर्थको शब्दका वाच्य कैसे माना जा सकता है ? इस तरह बौद्ध परम्परामें शब्द और शब्दसंसर्गी विकल्पको अवस्तुविषयक कहकर उनमें निश्चित रूपसे अविसंवाद नहीं माना है। कहीं यदि अविसंवाद है भी तो वह अर्थसमुद्भूत निर्विकल्पकके पृष्ठबलके कारण है।

वेदान्तदर्शन निर्विकल्पकको ही प्रमाण मानता है क्योंकि वही परमार्थ सत् ब्रह्मका ग्राहक है। विकल्पज्ञान उस परमार्थसत् तक नहीं पहुँच सकते।

न्यायवैशेषिक दर्शनमें प्राचीन परम्परा निर्विकल्प दर्शनको प्रमाण मानती रही है[1]। कारिकावली[2] में भ्रमभिन्न ज्ञानको प्रमा कहा है और इसीलिये निर्विकल्पको प्रमा माना है। परन्तु गङ्गेश उपाध्यायने प्रमात्वको प्रकारता आदिसे घटित विशिष्टप्रतिभासरूप माननेके कारण निर्विकल्पको प्रमा और अप्रमा उभयसे शून्य माना है।

मीमांसक[4] सर्व प्रथम जात्यादि योजनासे रहित एक निर्विकल्प प्रत्यक्ष मानते हैं, जो आलोचना ज्ञान रूप है।

जैन परम्परामें आत्मा चैतन्य रूप है। यही चैतन्य ज्ञान और दर्शन रूपसे परिणत होता है। 'ज्ञान और दर्शन का भेद और अभेद, ये क्रमसे होते हैं या युगपत्' इत्यादि विचारों में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओंमें मतभेद है। विचारणीय बात यह है कि–आगमिक काल में ज्ञान और दर्शनका स्वरूप क्या था और इनके सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके आधार क्या थे ?

आगमिक कालमें ज्ञानका सम्यक्त्व और विपर्यय बाह्यार्थकी यथावत् प्राप्ति और अप्राप्ति पर निर्भर नहीं था किन्तु जो ज्ञान सम्यग्दर्शनसे युक्त अर्थात् सम्यग्दृष्टिका ज्ञान है वह सम्यक् है और मिथ्यादृष्टिका ज्ञान विपर्यय है। सम्यग्दृष्टिके संशयादि ज्ञान भी सम्यक् हैं और मिथ्यादृष्टिके प्रमाणभूत ज्ञान भी विपर्यय हैं। इसका कारण यही बताया है कि जो ज्ञान मोक्षमार्गमें उपयोगी हो रहे हैं उनमें सम्यक्त्व है और जो मोक्ष मार्गमें उपयोगी नहीं हैं वे विपर्यय कहे जाते हैं। लौकिक प्रमाणता या अप्रमाणतासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैनपरम्पराके दर्शनका स्वरूप–

एक ही परिणामी चैतन्य जब ज्ञेयको जानता है, तब वह ज्ञान कहलाता है जब वह ज्ञेयको न जानकर स्वमग्न या स्वसंचेतन करता है तब दर्शन कहलाता है। तत्त्वार्थवार्तिक (२।८) में उपयोग का लक्षण करते हुए अकलङ्कदेवने लिखा है कि–

"बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।"

अर्थात् दो प्रकारके बाह्य और दो प्रकारके अभ्यन्तर हेतुओंका यथासंभव सन्निधान होने पर उपलब्धि स्वभाववाले आत्माका चैतन्यको अनुविधान करनेवाला अवस्थाविशेष उपयोग है। इस उपयोगके लक्षणमें बताया है कि उपलब्धि करनेवाला आत्मा प्राप्त कारणसामग्रीके अनुसार परिणमन करता है। यह परिणमन कभी ज्ञेयाकार यानी ज्ञेयको जाननेवाला होता है और कभी ज्ञानाकार यानी ज्ञान उस समय मात्र अपने स्वरूपमें मग्न रहता है। इस बातका खुलासा अकलङ्कदेवने ही स्वयं इस प्रकार किया है–

(१) "शब्दाः सङ्केतितं प्राहुर्व्यवहाराय स स्मृतः।
तदा स्वलक्षणं नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र न॥"–प्र० वा० ३।९१।

(२) प्रश० कन्द० पृ० १९८। (३) कारिका १३४।

(४) "अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥"–मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० श्लो० ११२।

"अथवा चैतन्यशक्तेर्द्वौ आकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः।"

—त० वा० ११६।

अर्थात् चैतन्यशक्तिके दो आकार होते हैं-एक ज्ञानाकार और दूसरा ज्ञेयाकार। सप्रतिबिम्ब दर्पणकी तरह ज्ञेयाकार होता है तथा प्रतिबिम्बशून्य दर्पणकी तरह ज्ञानाकार। इस विवेचनसे इतना तो ज्ञात हो जाता है कि ज्ञानकी ऐसी अवस्था भी होती है जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास नहीं होता।

सिद्धान्त ग्रन्थोंमें दर्शनकी परिभाषा करते समय यही बात विशेष रूपसे ध्यानमें रखी गई है। धवला टीकामें दर्शनकी परिभाषा करते हुए लिखा है[1] कि—सामान्यविशेषात्मक बाह्यार्थ के ग्रहणको ज्ञान कहते हैं तथा स्वरूपके ग्रहणको दर्शन कहते हैं। जब उपयोग आत्मेतर पदार्थोंको जाननेके समय ज्ञेयाकार या साकार होता है तब उसकी ज्ञानपर्याय विकसित होती है और जब वह बाह्य पदार्थोंमें उपयुक्त न होकर मात्र चैतन्यरूप रहता है तब निराकार अवस्थामें दर्शन कहलाता है। दर्शन अन्तरङ्ग अर्थको विषय करनेवाला होता है। चैतन्यकी प्रकाशवृत्तिको दर्शन कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि—उत्तर ज्ञानोत्पत्तिके लिये आत्मा जो प्रयत्न करता है उस प्रयत्नावस्थाका संचेतन दर्शन है। यह इन्द्रिय और पदार्थके संपातसे पहिलेकी अवस्था है। जब आत्मा अमुक पदार्थके ज्ञानमें उपयोगको हटाकर दूसरे पदार्थके जाननेके लिए प्रवृत्त होता है तब वह बीचकी निराकार यानी ज्ञेयाकारशून्य या स्वाकारवाली दशा दर्शन है।[2]

आ० कुन्दकुन्द नियमसार (गा० १६०) में **"दिट्ठी अप्पपयासया चेव"** लिखकर 'दर्शन आत्मप्रकाशक होता है' यह पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि 'दर्शन आत्मप्रकाशक होता है पर द्रव्यप्रकाशक नहीं' यह मत बहुत पुराना है। यह मत जैन सिद्धान्तियोंका ही है। कुन्दकुन्दाचार्य आगेकी चरचामें नयदृष्टिसे इसी मतका समर्थन करते हुए भी अन्तमें आत्मासे अभिन्न होनेके कारण दर्शनको भी स्वपर प्रकाशक कहते हैं—

'ज्ञान परप्रकाशक, दर्शन आत्मप्रकाशक और आत्मा स्वपर प्रकाशक होता है' यदि ऐसा मानते हो तो; (गा० १६०)

यदि ज्ञान परप्रकाशक है तो ज्ञानसे दर्शन भिन्न हो जायगा, क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं होता[3] यानी परका प्रकाशक नहीं होता (गा० १६१)।

यदि आत्मा परप्रकाशक है तो आत्मासे दर्शन भिन्न हो जायगा, क्योंकि दर्शन परद्रव्यका प्रकाशक नहीं होता।

यदि ज्ञानको परप्रकाशक व्यवहारनयसे मानते हो तो ज्ञान और दर्शन एक हैं। यदि आत्माको परप्रकाशक व्यवहारनयसे मानते हो तो आत्मा और दर्शन एक हैं। (गा० १६३)

---

(१) "ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्।··· भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद् ग्रहणं तद् दर्शनम्···(पृ० १४९) प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिः दर्शनम्, विषयविषयिसम्पातात् पूर्वावस्था इत्यर्थः। (पृ० १४९) नैते दोषाः दर्शनमाढौकन्ते तस्य अन्तरङ्गार्थविषयत्वात्।"—ध० टी० सत्प्ररू० प्रथमपुस्तक।

(२) "उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत्प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। तदनन्तरं यद् बहिर्विषयविकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तज्ज्ञानमिति वार्तिकम्। यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् [illegible] चित्ते जाते सति [illegible]द् व्यावृत्त्य यत् स्वरूपे प्रथममवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद् बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तज्ज्ञानं भण्यते।"—बृहद् द्रव्यसं० टी० गा० ४३।

(३) "ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।"—नियमसा० गा० १६१।

ज्ञान निश्चयनयसे आत्मप्रकाशक है तो वह दर्शन ही है। आत्मा निश्चयनयसे आत्मप्रकाशक है तो वह दर्शन ही है। (गा० १६४)

आत्माके बिना ज्ञान नहीं और ज्ञानके बिना आत्मा नहीं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः जैसे ज्ञान स्वपरप्रकाशक होता है इसी तरह दर्शन भी। (गा० १७०)

इस वर्णनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँच सकते हैं कि–आ० कुन्दकुन्दका अभिप्राय 'दर्शन आत्मप्रकाशक है' इस मतके खण्डनका नहीं है, किन्तु नयदृष्टिसे उसका समर्थन करते हुए परप्रकाशक ज्ञानसे अभिन्न आत्मासे अभेद रखनेके कारण दर्शनको भी ज्ञानकी तरह स्वपरप्रकाशक कहने का है।

आ० सिद्धसेन दिवाकरने सन्मतितर्क (२।१) में दर्शनका लक्षण करते हुए लिखा है–

"जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं।"

अर्थात् सामान्यग्रहणको दर्शन कहते हैं और विशेषग्रहणको ज्ञान।

बृहद्द्रव्य संग्रह[1], कर्मप्रकृति[2], पंचसंग्रह[3] तथा गोम्मटसार जीवकांड[4]में इस गाथाका यह रूप है–

"जं सामण्णग्गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥[5]"

अर्थात् पदार्थोंके आकारका ग्रहण नहीं करके साधारण रूपसे जो सामान्यग्रहण है वह दर्शन है।

इन लक्षणोंमें स्पष्टतया दर्शन 'आत्मदर्शन'की सीमासे निकलकर 'पदार्थके सामान्यग्रहण' तक जा पहुँचा है।

धवला टीका[6]में जो शंका समाधान दिया गया है उसमें इस गाथापर भी चर्चा की गई है और उसके **'सामान्यग्रहण'** का भी **'आत्मग्रहण'** ही अर्थ किया गया है। अस्तु इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि आगमिक युगमें भी 'दर्शन'के सम्बन्धमें दो स्पष्ट मत थे। और पुराना मत 'आत्मदर्शन'के ही माननेका था। इसका प्रमाण यह है कि मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके साहचर्यसे विपर्यय[7] भी होते हैं पर इनके पहिले होनेवाले चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शनमें यह विपरीतता नहीं आती। इतना ही नहीं किन्तु लोकप्रसिद्ध संशय विपर्यय और अनध्यवसाय आदि अप्रमाणज्ञानोंके पहिले भी चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन ही होते हैं उनमें विपरीतता नहीं मानी जाती। यदि दर्शनका सम्बन्ध बाह्य पदार्थके सामान्यावलोकनसे होता तो संशयादिज्ञानोंके पूर्व होनेवाले दर्शनोंमें संशयत्व विपर्ययत्व और अनध्यवसायत्व अवश्य दिखाया जाता और दर्शनके भी 'ज्ञान-अज्ञान'की तरह 'दर्शन-अदर्शन' भेद किये जाते। 'स्वात्मदर्शन' रूप परिभाषाके रहनेसे तो यह असंगति इसलिये नहीं आती कि स्वात्मदर्शन या स्वात्मावलोकन तो चाहे सम्यग्ज्ञान हो या मिथ्याज्ञान प्रमाणज्ञान हो या अप्रमाणज्ञान, सभीके पहिले निर्बाधरूपसे होता है, पहिले ही नहीं उन ज्ञानोंके कालमें भी होता है। मिथ्याज्ञानोंका स्वसंवेदन भी सम्यक् होता है; क्योंकि स्वसंवेदनकी दृष्टिमें प्रमाण और अप्रमाण विभाग ही नहीं हैं[8]। यह विभाग तो बाह्यार्थकी दृष्टिसे होता है।

इस तरह 'दर्शन' आगमिक युगमें प्रमाण और प्रमाणाभासकी परिधिसे ऊपर था। वह सर्वत्र व्याप्त स्वात्मावलोकनरूप था। निराकार इसलिये था कि उस कालमें आत्मा ज्ञेयको नहीं जानता था। ज्ञानकालका स्वसंवेदन तो ज्ञानकी तरह साकार ही होता है। क्योंकि साकारज्ञानकी परिणतिके समय तद्रूप आत्माका संवेदन निराकार नहीं रह सकता। उस समय यह स्वसंवेदन उसी ज्ञानपर्यायका धर्म है जो उस समय हो रही है। परन्तु ज्ञानकी प्रमाणता और तदाभासता इस स्वसंवेदनको भी नहीं छूती। तात्पर्य यह कि ज्ञानकी

(१) गा० ४३। (२) गा० ४३। (३) १।१३८। (४) गा० ४८१।
(५) धवला, सत्प्र० पु० १ पृ० १४९ में यह गाथा उद्धृत है।
(६) वही, पृ० १४५-१४९।
(७) "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च"–त० सू० १।३१।
(८) आप्तमी० श्लो० ८३।

उत्पत्तिके लिये सचेष्ट आत्माका अवलोकन रूप स्वात्मावलोकन जो कि आगमिकयुगका दर्शन है, तथा ज्ञानकालमें होनेवाला स्वरूपसंवेदन जो कि ज्ञानका ही धर्म है, दोनोंमें प्रमाण और प्रमाणाभास व्यवहार नहीं होता। दर्शनोंके आगमिक लक्षण इस प्रकार हैं–

१. चक्षुदर्शन–चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये सचेष्ट आत्माका निराकार अवलोकन।

२. अचक्षुदर्शन–चक्षुसे भिन्न इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये सचेष्ट आत्माका निराकार अवलोकन।

३. अवधिदर्शन–अवधिज्ञानकी उत्पत्ति या उपयोगके लिये सचेष्ट आत्माका निराकार अवलोकन।

चूँकि मनःपर्यय ज्ञान ईहामतिज्ञानपूर्वक होता है अतः उसके अव्यवहितपूर्व क्षणमें निराकार अवस्था न होनेके कारण मनःपर्ययदर्शन नहीं माना गया।

४ केवल दर्शन–केवलज्ञानके समय क्रमवर्तित्वका कारण क्षयोपशम नहीं रहता, अतः केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् ही होते हैं। इस समय यह विवेक करना कठिन है कि उस निरावरण उपयोगावस्था या चैतन्यावस्थाके किस अंशको दर्शन कहा जाय और किस अंशको ज्ञान। इसीलिये युगपद्वादका पर्यवसान केवलज्ञान और केवलदर्शनके अभेदमें ही होता है।

यद्यपि सन्मतितर्क और प्रा० पंचसंग्रह आदिमें उपलब्ध **'जं सामण्णग्गहणं'** गाथा से ज्ञात होता है कि दर्शनके बाह्यार्थके सामान्यावलोकनकी चरचा पुरानी है फिर भी उसे व्यवस्थित दार्शनिक रूप आचार्य पूज्यपादके समयमे मिला है। उन्होंने यह दर्शन-अवस्था[1] विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर पदार्थकी सामान्यसत्ताके प्रतिभासके रूपमें मानी है जबकि स्वात्मावलोकनरूप अवस्था विषयविषयिसन्निपातके पहिले होती है।

इतना होनेपर भी किसीने दर्शनको प्रमाण कोटिमें लानेका प्रयत्न नहीं किया। यद्यपि जैनदर्शनमें प्रमाणकी चर्चा आनेके बाद यह प्रश्न स्वाभाविक था कि इसे प्रमाण माना जाय या नहीं। किन्तु सन्मतितर्कके टीकाकार अभयदेवसूरिने दर्शनको भी ज्ञानकी तरह प्रमाण माननेका मत व्यक्त किया है। वे लिखते हैं[2] कि–निराकार और साकार दोनों ही उपयोग अपने विषयको मुख्यरूपसे प्रतिभास करनेके कारण तथा इतर विषयको गौण करनेके कारण प्रमाण हैं। यदि वे इतर विषयका निराकरण करते हैं तो प्रमाणता नहीं आ सकती। केवल सामान्यग्राही या केवल विशेषग्राही उपयोग हो ही नहीं सकता। सामान्यग्राही उपयोगमें भी यत्किंचित् विशेषका प्रतिभास तथा विशेषग्राही उपयोगमें तदनुगत सामान्यका प्रतिभास है ही। सम्भवतः यह एक ही आचार्य हैं जिन्होंने दर्शनमें भी आपेक्षिक प्रमाणता घटानेका प्रयत्न किया है। माणिक्यनन्दि और तदनुगामी वादिदेवसूरिने 'दर्शन' को प्रमाणाभास[3] इसलिये कहा है कि–वह स्वविषयका उपदर्शक या स्वपर-का व्यवसायक नहीं है। यथार्थतः जिस दर्शनको ये प्रमाणाभास कहना चाहते हैं वह बौद्धाभिमत निर्विकल्पक दर्शन ही है; क्योंकि इन्होंने प्रमाणकी रेखा व्यवसायात्मक ज्ञानसे खींची है।

प्राचीन आगम और सिद्धान्तग्रन्थोंमें[4] केवलज्ञानके वर्णनमें **"जाणादि पस्सदि"** और **"जाणमाणे पासमाणे"** शब्द आते हैं। इससे लगता है कि सामान्यतया ज्ञान और दर्शन इन दो गुणोंका साथ-ही-साथ वर्णन होता था। पर जब इसका दार्शनिक दृष्टिसे विश्लेषण प्रारम्भ हुआ तो प्रथम यह व्याख्या प्रस्तुत हुई कि–स्वरूपका देखना और परपदार्थका जानना साथ-ही-साथ होता है। फिर यह व्याख्या आई कि–वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है अतः सामान्यांशका देखना और विशेषांशका जानना होता

---

(१) "विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति।"–सर्वार्थसि० १।१५।

(२) "निराकारसाकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृततदितराकारौ स्वविषयावभासकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणं न तु [illegible], तथाभूतवस्तुरूपविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेः इतरांशविकलैकांशरूपोपयोगसत्तानुपपत्तेश्च।"–सन्मति० टी० पृ० ४५८।

(३) परीक्षामुख ६।१। प्रमाणनयत० ६।२५।

(४) "समं जाणदि पस्सदि [illegible]"–प्रकृति अनु०।

"जाणमाणे एवं च णं विहरइ"–आचा० श्रुत० २ चू० ३।

है। किन्तु इस व्याख्यासे भी सन्तोष नहीं होता था; क्योंकि इसमें ज्ञान और दर्शन दोनों एकाङ्गी हो जाते थे। इसीका[1] समन्वय अभयदेवसूरिने दोनोंको उभयग्राहक मानकर और दोनोंको प्रमाण मानकर किया है।

यथार्थतः जब ज्ञानको प्रमाण माननेका दार्शनिक क्रम चालू हुआ तो ज्ञानप्राग्भावी दर्शन अपने आप प्रमाण-अप्रमाणकी चरचासे बहिर्भूत हो जाता है। अकलङ्कदेवने इसी तत्त्वको ध्यानमें रखकर ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहा जो संव्यवहारोपयोगी हो। चूँकि दर्शन न तो सव्यवहारमें उपयोगी है और न किञ्चित्कर ही, अतः वह प्रमाणकोटिमें नहीं आ सकता। वे निर्णयात्मकत्व विशेषण से संशय और विपर्ययके साथ-ही-साथ अकिञ्चित्कर दर्शनका भी व्यवच्छेद कर देते हैं[1]। वे निर्णयात्मक अविसंवादी और व्यवहारोपयोगी ज्ञानको प्रमाण मानकर सविकल्पकज्ञानको ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं निर्विकल्पकको नहीं।

प्रत्यक्षका विषय–

जैन दार्शनिकोंकी प्रमाणव्यवस्थाका सम्बन्ध प्रमेयव्यवस्थासे है। उन्होंने पदार्थका स्वरूप उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक परिणामी मानकर उसे सर्वथा क्षणिक या नित्य पक्षसे भिन्न नित्यानित्यात्मक स्वीकार किया है। उनके द्वारा स्वीकृत छह द्रव्योंमें शुद्धजीव आकाश काल धर्म और अधर्म ये द्रव्य सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके विषय नहीं होते। संसारी आत्माएँ भी कायव्यापार और वचन आदिसे अनुमानके विषय होती हैं, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके विषय नहीं होतीं। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके विषय तो केवल पुद्गल द्रव्य ही होते हैं। जैनदर्शन वास्तव बहुत्ववादी है। वह प्रत्येक परमाणुको परमार्थ अखण्ड और स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। प्रत्येक परमाणु प्रतिसमय अपने उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक स्वभावके कारण अपनी पर्यायोंमें अविच्छिन्न भावसे अनादिकालसे चला आ रहा है और आगे अनन्त काल तक चला जायगा। जैनके परमाणुद्रव्य और बौद्धके स्वलक्षण परमाणुकी स्थिति लगभग एक जैसी है। वह जैसे प्रतिक्षण परिवर्तमान है तो यह भी प्रतिक्षण परिणामी है। प्रश्न है घट पट आदि स्थूल दृश्यमान पदार्थोंका। जब इनके उपादानभूत द्रव्य परमाणुरूप हैं तो यह स्थिर और स्थूल दिखाई देनेवाला है क्या? इस सम्बन्धमें बौद्धोंका कहना है कि–अत्यासन्न किन्तु अत्यन्त असंसृष्ट परमाणुओंके पुञ्जमें हम स्थिरता और स्थूलताका अभिमान करते हैं। उन परमाणुओंमें एक अतिरिक्त अवयविद्रव्य नहीं आता। वही पुंज हमें स्थूल दृष्टिसे घट पट आदि रूपसे केवल प्रतिभासित ही नहीं होता, तत्सम्बन्धी जलधारण शीतनिवारण आदि अर्थक्रियाएँ भी करता है। यदि घड़ेका बुद्धिसे विश्लेषण किया जाय तो आखिर वह परमाणुपुञ्जके सिवाय क्या बचता है? नित-नूतन सदृश पर्यायोंमें हमें स्थिरता या एकत्वका भ्रम[2] होता है, और होता है पुञ्जमें स्थूलताका भ्रम।

वेदान्तीने एक ब्रह्मकी ही पारमार्थिक सत्ता मानी है। घट पट आदि उसी ब्रह्मके प्रातिभासिक या व्यावहारिक रूप हैं, परिणमन नहीं। अविद्याके कारण वही परमार्थसद् ब्रह्म, घट पट आदि अचेतनात्मक और मनुष्य पशु आदि चेतनात्मक नाना रूपोंमें प्रतिभासित होता है। एक पक्ष यह भी है कि एक ब्रह्म ही यावत् प्रतिभासमान चेतन अचेतन जगत्का उपादान कारण है। अन्ततः यह सब प्रपञ्च है अविद्यामूलक ही।

सांख्यने एक ब्रह्मके ही चेतन और अचेतनरूप विरुद्ध परिणमनकी आपत्तिको हटानेके लिये अनन्त चेतनोंका स्वतन्त्र अस्तित्व तथा जड़ प्रकृतिका स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। इनके मतसे जड़ और चेतन एक दूसरेके प्रति परिणामीकारण नहीं होते। एक ही जड़ प्रकृति पृथिवी जल आदि मूर्त तथा आकाश नामक अमूर्त भूतके रूपमें परिणमन करती है। घट पट आदि कार्य उसी सूक्ष्म प्रकृतिके परिणमन हैं। यहाँ भी लगभग वैसा ही विरोध वर्तमान है कि–कैसे एक प्रकृति एक साथ निष्क्रिय और सक्रिय, मूर्त और अमूर्त आदि नानारूपोंमें परिणमन कर सकती है? फिर घट पट आदिमें विरुद्ध परिणमन क्यों दृश्यमान होते हैं?

न्यायवैशेषिक परम्परामें इस असंगतिको हटानेके लिये पृथिवी आदि द्रव्य सब जुदे-जुदे स्वीकार किये

---

(१) "तद्धेतुत्वं पुनः सन्निकर्षादिवत्र दर्शनस्य। अभ्रान्तत्वेऽपि सर्वथा निर्णयवशात् प्रामाण्यसिद्धेः ...अकिञ्चित्करसंशयविपर्ययव्यवच्छेदेन निर्णयात्मकत्वं नान्यथा।"–सिद्धिवि० १।३, पृ० १३।

(२) "सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा लूनपुनर्जातनखकेशादिवत्"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १४४।

गये। मूर्त द्रव्य जुदे तथा अमूर्त द्रव्य जुदे माने गये। पृथिवी आदिके अनन्त परमाणु स्वीकार किये गये। किन्तु ये इतने आत्यन्तिक भेद पर उतरे कि गुण क्रिया सम्बन्ध और सामान्य आदि परिणमनोंको भी स्वतन्त्र पदार्थ मानने लगे, यद्यपि गुण क्रिया सम्बन्ध और सामान्य आदिकी पृथक् उपलब्धि नहीं होती और न ये पृथक्सिद्ध ही हैं। नैयायिक वैशेषिकोंने परमाणुओंके संयोगसे द्व्यणुक आदि क्रमसे बननेवाले घट आदि कार्योंमें एक 'अवयविद्रव्य' पृथक् स्वीकार किया है, जो परमाणुरूप समवायिकारण तथा उनके संयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होता है। यही अवयविद्रव्य हम लोगोंके इन्द्रियज्ञानका विषय होता है। जब कभी घड़ेका एक अंश झर जाता या चटक जाता है तो शेष परमाणुओंमें फिर क्रिया होती है और उतने ही परमाणुओंसे फिर एक नया अवयविद्रव्य शेष अवयवोंमें रहनेवाला उपस्थित हो जाता है। इस तरह यह प्रक्रिया चालू रहती है। परमाणुद्रव्य नित्य हैं तथा उनके संयोग क्रिया और गुण आदि अनित्य हैं। अवयविद्रव्य अनित्य हैं और ये अपने अवयव रूपी कारणोंमें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं।

इस तरह ऊपरके विवेचन से यह ज्ञात हुआ कि–एक पक्षका कथन है कि ये घटादि स्थूलद्रव्य या सूक्ष्म परमाणुद्रव्य हैं ही नहीं, केवल प्रतिभास है; दूसरा पक्ष है कि–परमाणु तो हैं पर अवयवी प्रतिभासमात्र है; तो तीसरा पक्ष है कि–परमाणु भी हैं और अवयवी भी स्वतन्त्र द्रव्य हैं, उनका परस्पर समवायसम्बन्ध है।

जैनदर्शनकी अपनी प्रक्रिया यह है कि–पुद्गल परमाणु स्वतन्त्र द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने निज स्वभावके कारण नवीन पर्यायका उत्पाद, पूर्व पर्यायका नाश और अविच्छिन्न सन्ततिरूप ध्रौव्यकी परम्परा को कायम रखे हुए हैं। जब कुछ परमाणुओंको मिलाकर एक पिण्ड या स्कन्ध बनाया जाता है या स्वयं बनता है, तो उसमें सम्मिलित परमाणु एक दूसरेसे सम्बद्ध हो जाते हैं और वे सब अपनी एक जैसी पर्यायोंके उत्पादक होने लगते हैं। यह उस सम्बन्धपर निर्भर करता है कि क्या वह सम्बन्ध रासायनिक है जैसे कि हल्दी और चूनेका, जिसमें दोनों अपने रूपको बदलकर तीसरा ही रूप ले लेते हैं ; या मात्र संयोग है जैसे पाँच रंगके जुदेजुदे धागोंसे बनी हुई पचरंगी साड़ीमें धागोंका मात्र संयोग हुआ है, उनका हल्दी और चूनेकी तरह रासायनिक मिश्रण नहीं हुआ है। सम्बन्धके असंख्य प्रकार हैं–कोई स्कन्धाकार परिणति कराता है, तो कोई दृढ़ कोई शिथिल कोई निबिड कोई सघन आदि होता है। बात यह है कि–सभी पुद्गल परमाणु मूलतः एकजातीय हैं। इनमें परस्पर कोई जातिभेद नहीं है। कोई ऐसा पुद्गलपरिणमन किन्हीं खास परमाणुओंका निश्चित नहीं है जो साक्षात् या परम्परासे दूसरे परमाणुओंका न हो सके। प्रत्येकमें पुद्गलके अनन्त परिणमनोंकी योग्यता है। यह तो परिस्थिति पर निर्भर करता है कि किन परमाणुओंका किस समय कैसा परिणमन हो। हर परमाणुको प्रतिसमय अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावके कारण बदलना अवश्य है। जब जिसे जहाँ जैसी सामग्री मिल जाती है वह वहाँ उसी प्रकार परिणति करता जाता है। उदाहरणार्थ आकाशमें एक ऑक्सीजनका परमाणु है और दूसरा हाइड्रोजनका। यदि किसी प्रयोग या संयोगवश दोनों एक दूसरे से मिल जाते हैं तो दोनोंका पानी रूपसे परिणमन हो जाता है, अन्यथा जैसे संयोग उपलब्ध होंगे उनके अनुसार ऑक्सीजनका ऑक्सीजन रह सकता है या अन्य कोई संभव अवस्थाको पा सकता है। तात्पर्य यह कि पुद्गलकी अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, कब किस शक्तिका किस संयोगसे कैसा विकास होगा यह विवरणके साथ जानना शक्य नहीं है, तो भी सामान्य रूपसे उसकी परिणमन प्रक्रिया और दिशा तो ज्ञात है ही।

तो जब मिट्टीके पिंड के परमाणु एक दूसरेसे मिलकर पिंड बनते हैं और पिंड से घड़ा बनते हैं तो उनमें कोई पिंड नामक अवयवीद्रव्य ऊपरसे आकर नहीं बैठता किन्तु परस्पर विशिष्ट सम्बन्धके कारण सदृश अवस्थाको प्राप्त परमाणु ही पिंड बन जाते हैं। उस समय उनका व्यक्तित्व समूहमें विलीन हो जाता है और परस्पर सम्बन्धके अनुसार उनके रूप रस गन्ध आदिका लगभग समान परिणमन होता रहता है। जब कोई आम किसी खास स्थानपर सड़ने लगता है, तो उस संघटनमें सम्मिलित परमाणुओंके समुदायसे कुछ परमाणु विद्रोह कर बैठते हैं और अपनी जुदी अवस्थाके लिये तैयार हो जाते हैं। यह सड़ाँद उनके पृथक् [illegible] स्थिति है। यह ध्यानमें रखना चाहिए कि पुद्गलके अनन्त परिणमन होते हैं। अवस्था

विशेषमें किसीमें कोई गुण उद्भूत अन्योद्भूत या अनुद्भूत रहता है तो किसीमें कोई गुण। पर इससे उस समय उसमें उस गुणका अभाव नहीं हो जाता। यह उद्भव और अभिभव या उत्पाद और विनाशकी प्रक्रिया निरपवाद रूपमें प्रतिक्षण चालू रहती है। इस सामुदायिक बन्धन दशामें उस पिण्डके रूप रस गन्ध और स्पर्श आदि गुण वे ही ग्राह्य होते हैं जिनमें सम्मिलित परमाणुओंकी बहुमति होती है। यह भी संभव है कि घड़ेके एक भागके परमाणुओंमें लाल रूप प्रकट हो और दूसरी ओर काला या पीला। इसी तरह रस और गन्ध आदिकी भी विचित्रता हो सकती है। और इसमें आश्चर्यकी कोई खास बात नहीं है; क्योंकि यह तो उस पुद्गलके स्वभाव-भूत परिणमनकी योग्यता और विकासकी सामग्रीके वैचित्र्यपर निर्भर करता है कि कब किसका कहाँ कैसा परिणमन हो।

तात्पर्य यह कि जैनदर्शन न तो अतिरिक्त अवयवीद्रव्य मानता है और न घटादिके प्रतिभासको भ्रम मानता है किन्तु वास्तविक परमाणुओंकी वास्तविक सम्बद्ध पर्यायमें ही वास्तविक प्रतिभास और वास्तविक व्यवहार मानता है। वह सर्वतः वास्तववादी है। ऐसे पदार्थको वह .शब्द से अछूता भी नहीं रखना चाहता किन्तु पदार्थमें वाच्यशक्ति और शब्दमें वाचकशक्ति मानता है और उनका वास्तविक वाच्यवाचक सम्बन्ध भी स्वीकार करता है। उसे यह डर नहीं है कि यदि शब्दका अर्थसे सम्बन्ध मान लिया तो कोई शब्द असत्य नहीं हो पायगा। जिसका वाच्यभूत अर्थ यथावत् उपलब्ध हो वह सत्य और जिसका उपलब्ध न हो वह असत्य, यह सत्यासत्यकी कसौटी खुली हुई है। जो इसमें जितना खरा उतरे उसमें उतनी ही मात्रामें सत्यता और असत्यता होगी।

इस तरह प्रमेयकी वास्तविक स्थिति होनेपर इन्द्रियजन्य ज्ञानको जो संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा गया है उसका अपना दूसरा ही सैद्धान्तिक कारण है। जैनपरम्परामें जो ज्ञान आत्ममात्रसापेक्ष होता है, पर की अपेक्षा नहीं रखता उसे 'प्रत्यक्ष' संज्ञा दी है। इन्द्रियाँ और मन पराश्रित साधन हैं, अतः जो ज्ञान इनके अधीन है वह वस्तुतः स्वावलम्बी प्रत्यक्षकी मर्यादामें नहीं आ सकता। यह इनकी अपनी प्राचीन व्याख्या है। परन्तु लोकव्यवहारमें तो इन्द्रियजन्यज्ञान स्पष्ट और प्रायः सर्वसम्मत रूपसे प्रत्यक्ष कहा जाता है तब इस असंगतिका समाधान करनेके लिये संव्यवहार प्रत्यक्षका अवतार किया गया। यानी शास्त्रीय व्यवस्थामें इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष होकर भी लोकव्यवहारमें वैशद्यांशका सद्भाव होनेसे प्रत्यक्ष कहा गया। संव्यवहारका अर्थ वेदान्तीकी अविद्या या माया और विज्ञानाद्वैतवादीकी संवृति जैसा 'असद्भूत' नहीं है किन्तु यह तो .केवल वास्तविक वर्गीकरणकी एक पद्धतिमात्र है। यहाँ इन्द्रियाँ भी सत्य हैं, पदार्थ भी सत्य है, उनका योग्यदेशावस्थिति रूप सम्बन्ध भी सत्य है और उनसे समुत्पन्न ज्ञान भी सत्य है। प्रश्न इतना ही था कि इस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा जाय तो किस रूपमें कहा जाय। उसीका समाधान 'संव्यवहार प्रत्यक्ष'से किया गया है।

अवग्रहादि ज्ञान–

जिस अवग्रह ज्ञानसे प्रमाणकी सीमा प्रारम्भ होती है वह अपनेमें अवान्तरसामान्यसे विशिष्ट किसी विशेषांशका भी निश्चय रखता है। स्वांशके निश्चयका प्रमाणसे कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञान सामान्यका धर्म है, वह प्रमाण और अप्रमाण सभी ज्ञानोंमें समान भावसे पाया जाता है। कोई भी ज्ञान भले ही वह वस्तुको विषय करनेवाला ही क्यों न हो यदि अध्यवसायात्मक या व्यवसायात्मक नहीं है तो वह अनध्यवसायकी तरह अकिञ्चित्कर ही होगा। अवग्रह ज्ञानमें 'पुरुषोऽयम्' रूपसे पुरुषत्व जातिवाले पुरुषका स्पष्ट निर्णय हो जानेपर ही उसमें विशेषांशकी जिज्ञासा संशय ईहा और विशेषांशका निर्णय यह ज्ञानधारा चलती है। इनमें ईहा ज्ञान ऐसा है जो विशेषांशके यथार्थ निर्णयमें सहायक होता है। ईहा संशयकी अवस्था को पार करके 'ऐसा होना चाहिए' इस प्रकारका निर्णयोन्मुख ज्ञान है। यह चेष्टाका पर्यायवाची नहीं है। इस अवाय ज्ञान तक चलनेवाली ज्ञानधारामें कोई ज्ञान न सर्वथा प्रमाणात्मक है और न सर्वथा फलात्मक ही। पूर्व पूर्व ज्ञान उत्तर उत्तरके प्रति साधकतम और परिणामी कारण होनेसे प्रमाण हैं और उत्तर उत्तर

ज्ञान फल रूप हैं[1]। धारणाके साथ अवायका भी ऐसा ही प्रमाणफलभाव है। अवायकी दृढतम अवस्था धारणा कहलाती है और यह प्रत्यक्ष ज्ञानका ही भेद है। अकलङ्कदेव इस धारणाको ही संस्कार कहते हैं। इसका प्रबोध आगे स्मरणमें कारण होता है। इसमें इतना ही विवेक आवश्यक है कि अवायोत्तर कालमें होनेवाली धारणा जबतक इन्द्रियव्यापारका अनुविधान करती है तभीतक वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें अन्तर्भूत है। आगे वही इन्द्रियव्यापार बदल जानेपर संस्कार अवस्थाको प्राप्त हो जाती है।

इस विवेचनका फलितार्थ यह हुआ कि–जैन दर्शनमें कोई ज्ञान निर्विकल्पक नहीं होता। जो निर्विकल्पक हैं वह दर्शन है और उसका पर्यवसान अन्ततः स्वात्मावलोकनमें होता है, अतः वह प्रमाण विचारके बहिर्भूत है। प्रमाणव्यवहार ज्ञान अवस्था से होता है और ज्ञान सदा सविकल्पक ही होता है। उसमें निश्चयात्मकता ही सविकल्पकता है। किसी भी ज्ञानमें शब्दका संसर्ग होने या न होनेसे प्रमाणता और अप्रमाणताका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तर्क भी उचित नहीं है कि–जब पदार्थ स्वयं शब्दशून्य है तब उससे शब्दसंसर्गवाला सविकल्पक ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है? क्योंकि जिस प्रकार शब्दशून्य निर्विकल्पकसे सविकल्पक ज्ञानके उत्पन्न होनेमें कोई बाधा नहीं है उसी तरह शब्दशून्य अर्थसे सविकल्पक ज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है।

नैयायिकके द्वारा जो निर्विकल्पक ज्ञानका वर्णन किया गया है वह तो एक प्रकारसे निश्चयात्मक ज्ञानका ही वर्णन है। घट और घटत्वका जुदा-जुदा प्रतिभास होना निर्विकल्पक है और घटत्वविशिष्ट घटका विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रतिभास होना सविकल्पक है। निश्चयात्मक ज्ञानोंकी ये दो सीमाएँ इसलिये बाँधनी पड़ीं कि नैयायिक सामान्यपदार्थ पृथक् मानता है। किन्तु जब सामान्य भी वस्तुरूप ही फलित होता है तब इस प्रकारका ज्ञानभेद मानना बहुत उपयोगी नहीं रह जाता। नैयायिककी तरह मीमांसक भी निर्विकल्पक-सविकल्पक दोनोंको ही प्रमाण मानता है।

केवलज्ञानकी सिद्धि और इतिहास–

समस्त ज्ञानावरणके समूल नाश होनेपर प्रकट होनेवाला निरावरण ज्ञान केवल ज्ञान है। यह आत्ममात्रसापेक्ष होता है। यह केवल अर्थात् असहाय–अकेला होता है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशमिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं। यह समस्त द्रव्योंकी सर्व पर्यायों को विषय करता है, अतीन्द्रिय और सम्पूर्ण निर्मल होता है। इसकी प्राप्ति से मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है। ज्ञेय स्वल्प हो जाते हैं। यह ज्ञान सर्वतः अनन्त होता है।

प्राचीन कालमें भारतवर्षकी परम्पराके अनुसार सर्वज्ञताका सम्बन्ध भी मोक्षके साथ ही था। मुमुक्षुओंमें विचारणीय विषय तो यह था कि मोक्ष तथा मोक्षके मार्गका किसीने साक्षात्कार किया है? यह मोक्ष मार्ग धर्म शब्दसे निर्दिष्ट होता है। अतः सीधे विवादका विषय यह रहा कि–धर्मका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं। एक पक्षका, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमांसक हैं, कहना था कि–धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तुएँ हम लोग प्रत्यक्षसे नहीं जान सकते। धर्म के सम्बन्धमें वेदका ही अन्तिम और निर्बाध अधिकार है। धर्मकी परिभाषा "**चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः**" करके धर्ममें वेदको ही प्रमाण माना है। इस धर्ममें वेदको ही अन्तिम प्रमाण माननेके कारण उन्हें पुरुषमें अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञानका अभाव मानना पड़ा। उन्होंने पुरुषमें राग द्वेष और अज्ञान आदि दोषोंकी शंका होनेसे अतीन्द्रियधर्मप्रतिपादक वेदको पुरुषकृत न मानकर अपौरुषेय माना है। इस अपौरुषेयत्वकी भावनासे ही पुरुषमें सर्वज्ञताका अर्थात् प्रत्यक्षसे होनेवाली धर्मज्ञताका निषेध हुआ है। कुमारिल स्पष्ट लिखते हैं[2] कि–सर्वज्ञत्वके निषेधसे हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्वके निषेधसे है। धर्मके सिवाय यदि कोई पुरुष संसारके समस्त अर्थों को जानना चाहता है तो भले ही जाने, हमें कोई

(१) "पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्"–लघी० श्लो० ६।

(२) "धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥"–तत्त्वसं० का० ३१२८। (कुमारिलके नामसे उद्धृत)।

आपत्ति नहीं है पर धर्मका ज्ञान केवल वेदके द्वारा ही होगा, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं। इस तरह वेदको वेदके द्वारा तथा धर्मातिरिक्त शेष पदार्थोंको यथासम्भव अनुमानादि प्रमाणोंसे जानकर यदि कोई पुरुष टोटलमें सर्वज्ञ बनता है तब भी कोई विरोध नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्धों का है। ये बुद्धको धर्म-चतुरार्य सत्यका प्रत्यक्षज्ञाता मानते हैं। इनका कहना है कि–बुद्धने अपने भास्वर ज्ञानके द्वारा दुःख, दुःखके कारण, निरोध-मोक्ष, मार्ग–मोक्षके उपाय इस चतुरार्यसत्य धर्मका प्रत्यक्ष दर्शन किया है। अतः धर्मके विषयमें धर्मद्रष्टा सुगत ही अन्तिम प्रमाण हैं। वे करुणा करके कषाय ज्वालासे झुलसे हुए संसारी जीवोंके उद्धारकी भावनासे उपदेश देते हैं। इस मतके समर्थक धर्मकीर्तिने लिखा है[1] कि–हम 'संसारके समस्त पदार्थोंका कोई पुरुष साक्षात्कार करता है या नहीं' इस निरर्थक बातके झगड़े में नहीं पड़ना चाहते, हम तो यह जानना चाहते हैं कि उसने इष्ट तत्त्व–धर्मको जाना है कि नहीं। मोक्षमार्गके अनुपयोगी दुनियाभरके कीड़े-मकोड़े आदि की संख्याके परिज्ञानका भला मोक्षमार्गसे क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञताका सिद्धान्ततः विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञताके समर्थकोंसे कहते हैं कि मीमांसकोंके सामने सर्वज्ञता–त्रिकाल त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्षसे ज्ञान–पर जोर क्यों देते हो? असली विवाद तो धर्मज्ञतामें है कि धर्मके विषयमें धर्मके साक्षात्द्रष्टाको प्रमाण माना जाय या वेदको। उस धर्मके साक्षात्कारके लिए धर्मकीर्तिने आत्मा–ज्ञानप्रवाहसे दोषोंका अत्यन्तोच्छेद माना और उसके साधन नैरात्म्यभावना आदि बताये हैं। तात्पर्य यह कि–जहाँ कुमारिलने प्रत्यक्षसे धर्मज्ञताका निषेध करके धर्मके विषयमें वेदका ही अबाधित अधिकार स्वीकार किया है, वहाँ धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षसे ही धर्म–मोक्षमार्गका साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाली धर्मज्ञताका जोरोंसे समर्थन किया है।

धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्तने[2] सुगतको धर्मज्ञके साथ ही साथ सर्वज्ञ–त्रिकालवर्ती यावत्पदार्थोंका ज्ञाता भी सिद्ध किया है और लिखा है कि सुगतकी तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं, यदि वे अपनी साधक अवस्थामें रागादिनिर्मुक्तिकी तरह सर्वज्ञताके लिए भी यत्न करें। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है; वे चाहें तो थोड़े से प्रयत्न से ही सर्वज्ञ बन सकते हैं। शान्तरक्षित[3] भी इसी तरह धर्मज्ञताके साथही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और सर्वज्ञताको वे शक्ति रूपसे सभी वीतरागोंमें मानते हैं। कोई भी वीतराग जब चाहे तब जिस किसी भी वस्तुका साक्षात्कार कर सकता है।

योग-दर्शन और वैशेषिक दर्शनमें यह सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियों की तरह एक विभूति है जो सभी वीतरागोंके लिए अवश्य ही प्राप्तव्य नहीं है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

[4]जैन दार्शनिकोंने प्रारम्भसे ही त्रिकालत्रिलोकवर्त्ती यावज्ज्ञेयोंके प्रत्यक्ष दर्शनके अर्थमें सर्वज्ञता मानी

(१) "तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥३३॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृद्ध्रानुपास्महे ॥३५॥"–प्रमाणवा० १।३३–३५।

(२) "ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसंभवः।
समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम्।
सर्वेषां वीतरागाणामेतत् कस्मान्न विद्यते?
रागादिक्षयमात्रे हि तैर्यत्नस्य प्रवर्तनात् ॥···
पुनः कालान्तरे तेषां सर्वज्ञगुणरागिणाम्।
अल्पयत्नेन सर्वज्ञत्वसिद्धिरवारिता ॥"–प्र० वार्तिकालं० पृ० ३२९।

(३) "यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः।
शक्तिरेवंविधा ह्यस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ ॥"–तत्त्वसं० का० ३६२८।

(४) "सई भगवं उप्पण्णणाणदरिसी···सव्वलोए सव्वजीवे :सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति"–षट्खं० पयडि० सू०७८।

है और उसका समर्थन भी किया है[1]। यद्यपि तर्क युग से पहले "**जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ**" [आचा० सू० १।२३] जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, इत्यादि वाक्य जो सर्वज्ञताके मुख्य साधक नहीं हैं, पाये जाते हैं, पर तर्कयुगमें इनका जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं हुआ। आचार्य कुन्दकुन्द[2]ने नियमसारके शुद्धोपयोगाधिकार (गाथा १५८) में लिखा है कि-'केवली भगवान् समस्त पदार्थोंको जानते और देखते हैं, यह कथन व्यवहार नयसे है परन्तु निश्चयसे वे अपने आत्मस्वरूपको ही देखते और जानते हैं।' इससे स्पष्ट फलित होता है कि केवलीकी परपदार्थज्ञता व्यावहारिक है, नैश्चयिक नहीं। व्यवहारनयको अभूतार्थ और निश्चयनयको भूतार्थ-परमार्थ स्वीकार करनेकी मान्यतासे सर्वज्ञताका पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञतामें ही होता है। यद्यपि उन्हीं कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य ग्रन्थोंमें सर्वज्ञताके व्यावहारिक अर्थका भी वर्णन देखा जाता है, पर उनकी निश्चयदृष्टि आत्मज्ञताकी सीमाको नहीं लाँघती।

आ० कुन्दकुन्दने प्रवचनसार[3]में सर्वप्रथम केवलज्ञानको त्रिकालवर्ती समस्त अर्थोंका जाननेवाला लिखकर आगे लिखा है कि जो अनन्तपर्यायवाले एक द्रव्यको नहीं जानता वह सबको कैसे जानता है? और जो सबको नहीं जानता वह अनन्तपर्यायवाले एक द्रव्यको पूरी तरहसे कैसे जान सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि-जो मनुष्य घटज्ञानके द्वारा घटको जानता है वह साथ ही साथ घटज्ञानके स्वरूपका भी संवेदन कर ही लेता है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान स्वप्रकाशी होता है। इसी तरह जो व्यक्ति घटको जाननेकी शक्ति रखनेवाले घटज्ञानका यथावत् स्वरूपपरिच्छेद करता है वह घटको तो अर्थात् ही जान लेता है, क्योंकि उस शक्तिका यथावत् विश्लेषणपूर्वक परिज्ञान विशेषणभूत घटको जाने बिना हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार आत्मामें अनन्त ज्ञेयोंके जाननेकी शक्ति है, अतः जो संसारके अनन्त ज्ञेयोंको जानता है वह अनन्तज्ञेयोंके जाननेकी शक्ति रखनेवाले पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माको जान ही लेता है, और जो अनन्तज्ञेयोंके जाननेकी शक्तिवाले पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माको यथावत् विश्लेषण करके जानता है वह उन शक्तियोंके उपयोग-स्थानभूत अनन्त पदार्थोंको भी जान ही लेता है; क्योंकि अनन्तज्ञेय तो उस ज्ञानके विशेषण हैं और विशेष्यका ज्ञान होनेपर विशेषणका ज्ञान अवश्य हो ही जाता है। जैसे जो व्यक्ति घटप्रतिबिम्बवाले दर्पणको जानता है वह घटको भी जानता है और जो घटको जानता है वही दर्पणमें आये हुए घटके प्रतिबिम्बका वास्तविक विश्लेषणपूर्वक यथावत् परिज्ञान कर सकता है। 'जो एकको जानता है वह सबको जानता है', इसका यही रहस्य है।

निश्चयनय और सर्वज्ञता-

निश्चयनयकी दृष्टिसे सर्वज्ञताका जो पर्यवसान आत्मज्ञतामें किया गया है उस सम्बन्धमें यह विचार भी आवश्यक है कि निश्चयनयका वर्णन स्वाश्रित होता है।[4] दर्शनके वर्णनमें यह बताया जा चुका है कि चैतन्य जब तक निराकार यानी मात्र स्वाकार रहता है तब तक वह दर्शन है और जब वह साकार अर्थात्

(१) "से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी ... सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ"-आचा० २।३ पृ० ४२५।

(२) "जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवलीभगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥"

(३) "जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा॥
दव्वमणंतपज्जयमेकमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि॥"-प्रवचनसार १।४७-४९।

(४) "स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात्"-नियमसार टी० गा० १५८।

ज्ञेयाकार बनता है तब ज्ञान कहलाता है। अब प्रश्न यह है कि निश्चयनयकी दृष्टिमें ज्ञान स्वसेभिन्न किसी पर-पदार्थको जानता है क्या ? और यदि जानता है तो उसका यह परका जानना क्या पराश्रित कहा जाकर व्यवहारकी सीमामें नहीं आयगा ? इस प्रश्नके उत्तरमें हमें अपनी दार्शनिक प्रक्रियासे ऊपर उठकर कुन्दकुन्दकी दृष्टिसे ही विचार करना होगा। आ० कुन्दकुन्दकी दृष्टिमें जहाँ कहीं थोड़ा भी पर पदार्थका आश्रय आया कि वह निश्चयनयकी सीमासे बाहर हो जाता है। समयप्राभृत[2] में तो उन्होंने ज्ञान दर्शन और चारित्रके गुणभेद तकको भी व्यवहारनयमें ही डाल दिया है-

"ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥"

अर्थात् चारित्र दर्शन और ज्ञानके भेदका उपदेश व्यवहारनयसे है। निश्चयनयसे न ज्ञान है न चारित्र और न दर्शन ही, वह तो शुद्ध ज्ञायक है।

जहाँ तक द्रव्य के परिणमनकी बात है, वह एक द्रव्यमें एक समयमें एक ही होता है। वह भी उसके अपने निज उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक मूलस्वभाव के कारण। द्रव्य चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, इस परिणामी स्वभावके कारण वह प्रतिक्षण पूर्वपर्यायको छोड़कर नई पर्यायको धारण करता हुआ-अतीतसे वर्तमान होता हुआ आगे बढ़ता चला जा रहा है। आत्मद्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है। वह भी इसी ध्रुव नियमके अनुसार प्रतिक्षण परिणामी है। उसके इस एक वर्तमानकालीन परिणमनको ज्ञान दर्शन सुख और चारित्र आदि अनेक गुणमुखोंसे देखा जाता है। इन समस्त गुणों में एक चैतन्य जाग्रत रहता है। वही एक चैतन्यज्योति सभी गुणों में प्रकाशमान है। कुन्दकुन्द उसी ज्योति को 'शुद्धज्ञायक' शब्दसे कहते हैं। ज्ञान और दर्शनमें भी यही ज्ञायकज्योति प्रकाशमान है। जब यह ज्योति स्वसे भिन्न किसी ज्ञेयको प्रकाशित करती है तब ज्ञान कही जाती है और जब वह मात्र स्वको प्रकाशित करती है तब दर्शन कहलाती है। यानी इस ज्योति में 'ज्ञान' संज्ञा परके प्रकाशकत्वसे आती है। अब विचार कीजिये कि-जो निश्चयनय अपने गुण-गुणीभेदको भी सहन नहीं करता वह 'चैतन्य'में परप्रकाशकत्वसे आनेवाली 'ज्ञान' इस संज्ञाको कैसे स्वीकार कर सकता है ? दूसरे शब्दोंमें वह 'ज्ञायक' को 'शुद्ध ज्ञायक' मानना चाहता है। आत्मा जब तक विभावपरिणति करता रहता है तब तक उसके अनेक योग उपयोग और विकल्प होते रहते हैं किन्तु जब यह विभाव दशासे स्वभावमें पहुँचता है तब उसकी परिणति एक ही होती है और वह होती है शुद्धज्ञायक परिणति। सिद्ध होनेके प्रथम क्षणसे अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध परिणति उसकी होती है। तब यह प्रश्न उठता है कि-यदि सिद्धकी अनन्तकालतक एक जैसी शुद्धपर्याय बनी रहती है तो उत्पाद और व्यय माननेसे क्या लाभ ? इसका सहज समाधान यही है कि-यह तो द्रव्यका मूलभूत निज स्वभाव है कि वह प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हो। बिना इसके वह 'सत्' नहीं हो सकता। उसमें जो अगुरुलघुगुण है उसके कारण वह न गुरु होता है और न लघु, वह अपने निज द्रव्यत्वको बनाये रखता है। उत्पाद-व्ययका यह अर्थ कभी नहीं है कि जो प्रथम समयमें है वह द्वितीय समयमें न हो या उससे विलक्षण ही हो, किन्तु उसका अर्थ केवल इतना ही है कि पूर्वपर्याय विनष्ट हो और उत्तर पर्याय उत्पन्न हो। वह उत्तर पर्याय सदृश विसदृश अर्धसदृश और अल्पसदृश कैसी भी हो सकती है। स्वभाव दृष्टिसे तो 'हो' इतना ही विचारणीय है, 'कैसी हो' यह सामग्री पर निर्भर करता है। अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध अवस्था यदि रहती है; तो रहो, इसमें उनके सिद्धत्वकी कोई क्षति नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार विभाव अवस्थामें उसके विचित्र अशुद्ध परिणमन होते थे उस प्रकार स्वभाव अवस्थामें नहीं होते। स्वभाव एक ही होता है और शुद्धता भी एक ही होती है।

तो क्या शुद्ध अवस्थामें आत्मा ज्ञानशून्य हो जाता है ? इस प्रश्नका शुद्ध निश्चयनयसे यही उत्तर हो सकता है कि चैतन्य के परिणामी होते हुए भी ऐसी कोई अवस्था नहीं होनी चाहिए जिसमें परकी अपेक्षा हो। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि भेद भी शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें नहीं है। वह तो एक अखण्ड चितिपिण्ड-

(२) गाथा ७।

को देखता है। 'आत्माके ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं,' इसे वह भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक मानता है[1]। तथा 'केवलज्ञानादि जीव है' इसे वह निरुपाधि गुणगुण्यभेदविषयक अशुद्ध निश्चयनय समझता है।[2]

सारांश यह है कि शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिमें किसी भी प्रकारका भेद या अशुद्धता नहीं रहती। इस दृष्टिसे जब सोचते हैं तो जिस प्रकार वर्णादि आत्मा के नहीं है उसी प्रकार रागादिभी आत्माके नहीं हैं और गुणस्थानपर्यन्त समस्त ज्ञानादि भाव भी आत्माके नहीं हैं। इसी दृष्टिसे यदि **'जाणदि पस्सदि'** का व्याख्यान करना हो तो प्रथम तो 'ज्ञान और दर्शन' ये भेद ही नहीं होंगे, कदाचित् स्वीकार करके चलें भी, तो इनका क्षेत्र 'स्वस्वरूप' ही हो सकता है 'स्व' के बाहर नहीं। परका स्पर्श करते ही वह पराश्रित व्यवहारकी मर्यादामें जा पहुँचेगा। यह नय ज्ञानका पर पदार्थको जानना व्यवहार समझता है। निश्चयतः वह स्वरूपज्योति है और स्वनिमग्न है, उसका पराश्रितत्व व्यवहारकी सीमामें है।

जैनदर्शनकी नयप्रक्रिया अत्यन्त दुरूह और जटिल है। इसका अन्यथा प्रयोग वस्तुतत्त्वका विपर्यास करा सकता है। अतः जिस प्रकरणमें जिस विवक्षासे जिस नयका प्रयोग किया गया है उस प्रकरणमें उसी विवक्षासे समस्त परिभाषाओंको देखना और लगाना चाहिए। किसी एक परिभाषाको शुद्धनिश्चय नयकी दृष्टिसे लगाकर तथा अन्य परिभाषाओंको व्यवहारकी दृष्टिसे पकड़कर घोलघाल करनेमें जैन शासनका यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता किन्तु विपर्यास ही हाथ लगता है।

समन्तभद्रादि आचार्यों का मत–

समन्तभद्र आदि आचार्योंने सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व हेतुसे सिद्ध किया[3] है। बौद्धोंकी तरह किसी भी जैनग्रन्थमें धर्मज्ञता और सर्वज्ञता विभाजन कर उनमें गौणमुख्यभाव नहीं बताया है। सभी जैन तार्किकोंने एक स्वरसे त्रिकाल त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंके पूर्ण परिज्ञानके अर्थमें सर्वज्ञताका समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्ण सर्वज्ञताके गर्भमें ही निहित मान ली गई है।

आचार्य वीरसेन स्वामीने जयधवलाटीकामें केवलज्ञानकी सिद्धिके लिये एक नवीन ही युक्ति दी है। वे लिखते हैं कि–केवलज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। यह केवलज्ञान ज्ञानावरण कर्मसे आवृत होता है और आवरणके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञान आदिके रूपमें प्रकट होता है। तो जब हम अंशभूत मतिज्ञान आदिका स्वसंवेदन करते हैं तब उस रूपसे अंशी केवलज्ञानका भी अंशतः स्वसंवेदन हो जाता है। जैसे पर्वतके एक अंशको देखनेपर भी पर्वतका व्यवहारतः प्रत्यक्ष माना जाता है उसी तरह मतिज्ञानादि अवयवों को देखकर अवयवीरूप केवलज्ञान यानी ज्ञानसामान्यका प्रत्यक्ष भी स्वसंवेदनसे ही हो जाता है। यहाँ आचार्यने केवलज्ञानको ज्ञानसामान्यरूप माना है।

[4]अकलंकदेवने सर्वज्ञताका समर्थन करते हुए लिखा है कि–आत्मामें समस्त पदार्थोंके जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्यके प्रतिबन्धक कर्मोंका पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञानको समस्त अर्थोंके जाननेमें क्या बाधा है? यदि [5]अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहोंकी

(१) "भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा आत्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणाः।" –आलापप० पृ० १६८।

(२) "तत्र निरुपाधिगुणगुण्यभेदविषयकोऽशुद्धनिश्चयः यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।" –आलापप० पृ० १७७।

(३) "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥"–आप्तमी० श्लो० ५।

(४) देखो न्यायवि० श्लो० ४६५।

(५) "धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुंसां कुतः पुनः।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत्साधनान्तरम्॥" –सिद्धिवि०, टी० पृ० ४१३। न्यायवि० श्लो० ४१४।

ग्रहण आदि भविष्यत् दशाओंका उपदेश कैसे हो सकेगा ? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है अतः यह मानना ही चाहिये कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थदर्शनके बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही भावी राज्यलाभ आदिका यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी भावी पदार्थोंमें संवादक और स्पष्ट होता है। जैसे प्रश्नविद्या या [1]ईक्षणिकादि विद्या अतीन्द्रिय पदार्थोंका स्पष्ट भान करा देती है। उसी तरह अतीन्द्रिय ज्ञान स्पष्टभासक होता है।

जिस प्रकार परिमाण अणुपरिमाणसे बढ़ता बढ़ता आकाशमें परममहापरिमाण या विभुत्वको प्राप्त होता है क्योंकि उसके प्रकर्षका तारतम्य देखा जाता है, उसी तरह ज्ञानके प्रकर्षमें भी तारतम्य देखा जाता है, अतः जहाँ यह ज्ञान निरतिशय[2] अर्थात् सम्पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हो जाय वहीं सर्वज्ञता आ जाती है।

[3]माणिक्य आदिमें मलको हटाते हटाते जैसे वह अत्यन्त निर्मल हो जाता है और मल समूल नष्ट हो जाता है उसी तरह ज्ञान भी आवरणके सम्पूर्णरूपसे हटनेपर निर्मल हो जाता है। यदि ज्ञानकी परम प्रकर्ष दशाकी संभावना न हो तो वेदके द्वारा भी अतीन्द्रियार्थोंका बोध कैसे हो सकता है ? 'संसारमें कोई सर्वज्ञ नहीं है' इस प्रकार जगत्‌की सर्वज्ञरहितताका परिज्ञान भी सर्वज्ञको ही हो सकता है असर्वज्ञको नहीं।

इस तरह अनेक साधक प्रमाणोंको बताकर उन्होंने जिस एक महत्त्वपूर्ण हेतुका प्रयोग किया है[4], वह है 'सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्व' अर्थात् बाधक प्रमाणोंकी असंभवताका पूर्ण निश्चय होना। किसी भी वस्तुकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए 'बाधकाभाव' स्वयं एक बलवान् साधक प्रमाण है। जैसे 'मैं सुखी हूँ' यहाँ सुखका साधक प्रमाण यही हो सकता है कि मेरे सुखी होनेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञकी सत्तामें कोई बाधक प्रमाण नहीं है, अतः उसकी निर्बाध सत्ता होनी चाहिये।

भगवान् महावीरके समयमें स्वयं उनकी प्रसिद्धि सर्वज्ञके रूपमें थी। उनके शिष्य उन्हें सोते, जागते, हर हालतमें ज्ञानदर्शनवाला सर्वज्ञ बताते थे। पाली पटिकोंमें उनकी सर्वज्ञताकी परीक्षाके एक दो प्रकरण हैं, जिनमें सर्वज्ञताका एक प्रकारसे उपहास ही किया है। [5]न्यायबिन्दु नामक ग्रन्थमें धर्मकीर्तिने दृष्टान्ताभासोंके उदाहरणमें ऋषभ और वर्धमानकी सर्वज्ञताका उल्लेख किया है। इस तरह प्रसिद्धि और युक्ति दोनों क्षेत्रोंमें बौद्ध ग्रन्थ वर्धमानकी सर्वज्ञताके एक तरहसे विरोधी ही रहे हैं। इसका कारण यही मालूम होता है कि बुद्धने अपनेको केवल चार आर्य सत्योंका ज्ञाता ही बताया था, बल्कि बुद्धने स्वयं अपनेको सर्वज्ञ कहनेसे इनकार किया था। वे केवल अपनेको धर्मज्ञ या मार्गज्ञ मानते थे और इसीलिए उन्होंने आत्मा मरणोत्तर जीवन और लोककी सान्तता और अनन्तता आदिके प्रश्नोंको अव्याकृत–न कहने लायक-कहकर इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंमें मौन ही रखा, जब कि महावीरने इन सभी प्रश्नोंके अनेकान्तदृष्टिसे उत्तर दिये और शिष्योंकी जिज्ञासाका समाधान किया। तात्पर्य यह है कि बुद्ध केवल धर्मज्ञ थे और महावीर सर्वज्ञ। यही कारण है कि बौद्ध-ग्रन्थोंमें मुख्य सर्वज्ञता सिद्ध करनेका जोरदार प्रयत्न नहीं देखा जाता, जब कि जैनग्रन्थोंमें प्रारम्भसे ही इसका प्रबल समर्थन मिलता है। आत्माको ज्ञानस्वभाव माननेके बाद निरावरण दशामें अनन्तज्ञान या सर्वज्ञताका प्रकट होना स्वाभाविक ही है। सर्वज्ञताका व्यावहारिक रूप कुछ भी हो, पर ज्ञानकी शुद्धता और परिपूर्णता असम्भव नहीं है।

---

(१) देखो न्यायवि० श्लो० ४०७। न्यायवि० वि० द्वि० भाग प्रस्तावना पृ० २६।

(२) "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्"–योगसू० १।२५। व्यासभा० १।२५। सिद्धिवि० ८।८।

(३) सिद्धिवि० ८।९–१५।

(४) "अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्"–सिद्धिवि० वृ० ८।६। 'जैनदर्शन' पृ० ३०९।

(५) "यः सर्वज्ञः आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति। तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः संदिग्धो व्यतिरेकः।"–न्यायबि० ३।१२०।

परोक्षप्रमाण–

'अकलङ्कन्याय' के प्रकरणमें स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान और आगमके प्रामाण्यके सम्बन्धमें कहा जा चुका है।[१] अकलङ्कदेवको एक ही दृष्टि है कि जो भी ज्ञान अविसंवादी हों उन्हें प्रमाण मानना चाहिए। स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क अपनी उत्पत्तिमें भले ही ज्ञानान्तरोंकी अपेक्षा रखते हो पर उत्पत्तिके अनन्तर स्वविषयप्रकाशन और स्वविषय-सम्बन्धी अविसंवाद तो उनमें बराबर है ही, अतः उन्हें प्रमाणतासे वंचित नहीं किया जा सकता। समस्त जीवनव्यवहार स्मृति और प्रत्यभिज्ञानसे ही चलता है। बन्धमोक्षादिव्यवस्था और कर्तृकर्मफलभाव आदिका ग्रहण प्रत्यभिज्ञानके बिना असंभव है। स्मृति और प्रत्यभिज्ञानके बिना अविनाभाव ग्रहणकी संभावना नहीं की जा सकती। संकेतस्मरण और संकेतग्रहण भी स्मृति और प्रत्यभिज्ञानके बिना असंभव हैं, अतः अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणकी सामग्रीके रूपमें भी इनकी सार्थकता है। व्याप्तिस्मरणके बिना अनुमान की और संकेतस्मरणके बिना आगमप्रमाणकी उत्पत्ति ही असंभव है। स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानमें पूर्व पूर्व उत्तर उत्तर में कारण होते हैं। स्मरण प्रत्यभिज्ञानमें, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान तर्कमें, तथा स्मरण प्रत्यभिज्ञान और तर्क अनुमानमें कारण होते हैं। जब अनुमानके बिना प्रत्यक्षकी प्रमाणताका निश्चय करना अशक्य है, दूसरेकी बुद्धिकी प्रतिपत्ति तथा परलोकादिका निषेध भी जब अनुमान के बिना संभव नहीं है तब अनुमान प्रमाण तो प्रामाणिक पद्धतिमें स्वीकार करना ही पड़ता है। किसी भी वादीका लोकव्यवहार स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानके बिना चल नहीं सकता। वे इनसे व्यवहार चलाना तो चाहते हैं, पर इनकी प्रमाणता स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं। किसी स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क या अनुमानको व्यभिचारी देखकर सभीको व्यभिचारी या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, अन्यथा किसी तैमिरिक रोगीका प्रत्यक्ष भी व्यभिचारी देखा जाता है तो प्रत्यक्षमात्रको भी व्यभिचारी मानना पड़ेगा। यह तो प्रमाताका अपराध है, जो वह उचित रीतिसे उनका प्रयोग नहीं करता या चूक जाता है, इसमें प्रमाणोंका कोई दोष नहीं है।

हेतु विचार–

अनुमानकी प्रमाणता स्थापित हो जानेके बाद उसके अवयवोंके विवेचन करनेका प्रसङ्ग क्रमप्राप्त है। अकलङ्कदेवने धर्मी साध्य और साधन आदिके लक्षण न्यायविनिश्चयके अनुमान प्रस्तावमें विस्तारसे किये हैं। यहाँ अनुमानकी उत्पत्तिमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान जिस हेतुका है और जिसकी व्याप्तिके बलसे ही अनुमानका उदय होता है उस हेतुसम्बन्धी विचार ही विशेष रूपसे प्रस्तुत किये जाते हैं।

जैनाचार्योंने प्रारम्भसे ही साधनका एकमात्र लक्षण माना है अन्यथानुपपन्नत्व[२] या अविनाभाव[३]। अन्यथा–साध्यके अभावमें अनुपपन्नत्व–नहीं होना, यही अन्यथानुपपन्नत्व है जो अविनाभावका पर्याय है। बौद्धपरम्परामें यद्यपि अविनाभावको हेतुका स्वरूप कहा[४] है पर वे उसकी परिसमाप्ति त्रैरूप्य[५] में मानते हैं। पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति हेतुके ये तीन रूप असिद्ध विरुद्ध और व्यभिचार इन तीनों दोषोंका वारण करनेके लिये माने गये हैं[६]। त्रैरूप्यका विवरण करते हुए अचार्य धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दु (२।५-७) में लिखा है कि–(१) लिङ्गकी अनुमेयमें सत्ता ही होनी चाहिए (२) सपक्षमें ही सत्ता और (३) विपक्षमें असत्ता ही होनी चाहिए। अकलङ्कदेवका यही ध्येय रहा है कि लक्षणमें उतने ही पद रखना चाहिए जो अत्यन्त आवश्यक हों तथा सर्वसंग्राहक हों। 'अविनाभाव' यह सामान्यलक्षण तो सही है पर इसके स्वरूपके लिये केवल 'विपक्षव्यावृत्ति' ही अनिवार्य है पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व नहीं। 'एक[७] मुहूर्तके बाद रोहिणी नक्षणका उदय

(१) पृ० ६३–६४।
(२) न्यायावता० श्लो० ५। (३) वही श्लो० २२।
(४) "अविनाभावनियमात्" –प्र० वा० ३।११। (५) "हेतुस्त्रिरूपः"–न्यायप्र० पृ० १।
(६) प्र० वा० ३।१४। (७) सिद्धिवि० ६।१७। लघी० श्लो० १३–१४।

होगा क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय है' इस पूर्वचर अनुमानमें कृत्तिकोदय हेतु रोहिणी नामक पक्षमें नहीं रहता, अतः पक्षधर्मत्व न रहनेपर भी मात्र अविनाभावके कारण यह सद्धेतु है। 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' बौद्धोंके इस प्रसिद्ध अनुमानमें सबको पक्ष कर लेनेके कारण सपक्षका अभाव होनेसे 'सपक्षसत्त्व' नहीं है फिर भी उनके मतमें यह सद्धेतु माना ही जाता है। अतः अविनाभावको ऐसे नियमोंमें नहीं जकड़ना चाहिए जिससे उसका स्वरूप अव्याप्त अतिव्याप्त या असम्भव बन जाय।

नैयायिक[1] उपर्युक्त त्रैरूप्यके साथ अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्वको भी हेतुका आवश्यक अंग मानकर अविनाभावकी परिसमाप्ति पंचरूपमें मानते हैं। किन्तु जब पक्षके लक्षणमें प्रत्यक्षाद्यनिराकृत या अबाधित विशेषण विद्यमान है तो फिर हेतुके लक्षणमें इस रूपकी आवश्यकता नहीं रह जाती। अविनाभावी हेतुमें किसी प्रकारकी बाधाकी सम्भावना भी नहीं है, क्योंकि बाधा और अविनाभावमें विरोध है[2]। प्रमाणप्रसिद्ध अविनाभाववाले हेतुका समानबलशाली कोई प्रतिपक्षी भी संभव नहीं है, अतः असत्प्रतिपक्षत्व रूप भी निरर्थक है।

हेतुबिन्दुटीका (पृ० २०५) में ज्ञातत्व और विवक्षितैकसंख्यत्व नामके दो अन्य रूपोंका भी पूर्वपक्षमें उल्लेख किया गया है। इनमें 'ज्ञातत्व'का पृथक् कहना इसलिये अनावश्यक है कि हेतु ज्ञात ही नहीं अविनाभावी रूपसे 'निश्चित' होकर ही साध्यका अनुमापक होता है। यह तो हेतुके लिए आवश्यक और प्राथमिक शर्त है। इसी तरह विवक्षितैकसंख्यत्वका कथन भी सत्प्रतिपक्षकी तरह अनावश्यक है क्योंकि अविनाभावी हेतुके प्रतिपक्षी किसी द्वितीय हेतुकी सम्भावना ही नहीं है जो इस हेतुकी विवक्षित एकसंख्याका विघटन कर सके।

धर्मकीर्तिके टीकाकार कर्णकगोमि[3]ने रोहिणीके उदयका अनुमान करानेवाले कृत्तिकोदय हेतुमें काल या आकाशको धर्मी बनाकर पक्षधर्मत्व घटानेका प्रयास किया है; किन्तु इस तरह परम्पराश्रित प्रयास करनेसे तो पृथिवीको धर्मी मानकर महानसगत धूम हेतु समुद्रमें भी अग्नि सिद्ध करनेमें पक्षधर्मत्वरहित नहीं होगा। व्यभिचारी हेतुओंमें भी काल आकाश और पृथिवी आदिकी अपेक्षा पक्षधर्मत्व घटाया जा सकेगा।

अतः अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व ही एकमात्र लक्षण हो सकता है। इसके रहनेपर अन्य रूप हों या न हों वह सद्धेतु होगा ही। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर पात्रस्वामीने त्रिलक्षणकदर्थनमें यह प्रसिद्ध कारिका कही है—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"

इसीका अनुकरण कर विद्यानन्दने प्रमाणपरीक्षा (पृ० ७२) में पंचरूपके प्रति यह कारिका कही है—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः॥"

[4]बौद्ध अविनाभावको तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नियत मानते हैं। उनके मतसे हेतुके तीन भेद हैं—स्वभाव कार्य और अनुपलब्धि। इनमें स्वभावहेतु और कार्यहेतु विधिसाधक हैं तथा अनुपलब्धिहेतु प्रतिषेध साधक। स्वभावहेतुमें तादात्म्य सम्बन्ध कार्यहेतुमें तदुत्पत्ति और अनुपलब्धिहेतुमें यथासंभव दोनों सम्बन्ध अविनाभावके साधक होते हैं।

अकलङ्कदेवने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि—जहाँ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्धसे हेतुमें गमकत्व देखा जाता है वहाँ अविनाभाव तो रहता ही है, भले ही वहाँ वह अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्तिप्रयुक्त कह लिया जाय, किन्तु अनेक ऐसे भी हेतु हैं जिनका अपने साध्यसे न तो तादात्म्य ही

---

(१) न्यायवा० १।१।५।
(२) "बाधाविनाभावयोर्विरोधात्"—हेतुबि० पृ० ६८।
(३) प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ११। (४) न्यायवि० २।२५।

है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध ही, पर वे मात्र सामान्य अविनाभाव होनेसे गमक होते हैं, जैसे कि कृत्तिकोदय आदि पूर्वचर और उत्तरचर हेतु। कृत्तिकाका उदय देखकर 'भरणीका उदय हो चुका' तथा 'रोहिणीका उदय होगा' ये अनुमान बराबर होते हैं, पर न तो कृत्तिकोदयका अतीत भरण्युदय और भविष्यत् शकटोदयसे तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध ही।

हेतुके भेद–अकलङ्कने सामान्यतया हेतुके दो भेद किये हैं–एक उपलब्धिरूप और दूसरा अनुपलब्धिरूप। दोनों ही प्रकारके हेतु विधि और प्रतिषेध दोनों प्रकारके साध्योंको सिद्ध करते हैं। इनमें उपलब्धिहेतुके स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये छह भेद हैं। बौद्ध इनमें स्वभाव और कार्य ये दो ही मानते हैं।

कारण हेतु–वृक्षसे छायाका ज्ञान या चन्द्रसे जलमें पड़नेवाले उसके प्रतिबिम्बका ज्ञान करना कारण हेतु है। यद्यपि[1] 'कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करे ही' यह नियम नहीं है; क्योंकि कारणोंकी सामर्थ्यमें रुकावट तथा सामग्रीके अन्तर्गत कारणोंकी विकलता भी देखी जाती है, किन्तु ऐसे कारणसे जिसकी शक्तिमें कोई प्रतिबन्ध न हो और कारणान्तरोंकी विकलता न हो, कार्यका अनुमान करनेमें क्या बाधा है? अनुमाताकी अशक्तिसे अनुमानको सदोष नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध रससे रूपका अनुमान करनेमें यह प्रक्रिया बताते हैं कि–रससे उसकी एक सामग्री अर्थात् पूर्व रूप और पूर्व रसका अनुमान किया जाता है। पूर्वरूप अपने सजातीय उत्तररूपको उत्पन्न करके ही उत्तररसकी उत्पत्तिमें सहकारी होता है। एक सामग्रीमें रूप तभी शामिल होता है जब वह अपने सजातीय उत्तररूपको उत्पन्न कर चुकता है।

किन्तु एक सामग्र्यन्तर्गत पूर्वरूपसे उत्तररूपका अनुमान करना कारणसे कार्यका अनुमान ही हुआ। कारणको हेतु बनानेकी यह शर्त मान्य होनी ही चाहिए कि–यदि सामर्थ्यका प्रतिबन्ध न हो और कारणान्तरों की विकलता न हो तो ऐसा कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करेगा।

[2]**पूर्वचर-उत्तरचर हेतु**–जिन साध्य और साधनमें निश्चित क्रमभाव तो है पर न तो परस्पर कार्य-कारणभाव है और न स्वभाव-स्वभाववान् सम्बन्ध है ऐसा साधन पूर्वचर या उत्तरचर हेतु होता है। जैसे भरणी कृत्तिका और रोहिणी ये तीनों नक्षत्र क्रमशः एक-एक मुहूर्तके अन्तरालसे उदयमें आते हैं। अतः 'कृत्तिकाके उदय होनेसे भरणीका उदय हो चुका है' यह हेतु उत्तरचर हेतु है, और 'रोहिणीका उदय होगा' यहाँ वही पूर्वचर हेतु है। ये हेतु स्वभाव कार्य या कारण किसी हेतुमें अन्तर्भूत नहीं हो सकते।

[3]**सहचर हेतु**–चन्द्रमाके इस भागको देखकर उस भागके अस्तित्वका अनुमान या तराजूके एक पलड़ेको उठा हुआ देखकर दूसरे पलड़ेके नीचे झुकनेका अनुमान सहचरहेतुजन्य है। इनमें परस्पर न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति ही; क्योंकि एक अपनी स्थितिमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता तथा दोनों एक साथ होते हैं, किन्तु अविनाभाव अवश्य है।

जैन दर्शनमें इसीलिये अविनाभावका नियामक केवल सहभावनियम और क्रमभावनियमको ही माना है। यह सहभावनियम कहीं तादात्म्यमूलक भी हो सकता है तथा कहीं केवल सहभाव ही होता है। इसी तरह क्रमभाव नियम कहीं कार्यकारणभावमूलक भी हो पर कहीं वह मात्र क्रमभावमूलक ही होता है। अतः अविनाभाव ही एकमात्र हेतुका सच्चा लक्षण हो सकता है।

अनुपलब्धि विचार–बौद्ध अनुपलब्धिको केवल प्रतिषेधसाधक मानते हैं किन्तु अकलङ्कदेवने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनोंको ही विधिसाधक और दोनोंको ही प्रतिषेधसाधक माना है। इसीलिये प्रमाणसंग्रह (पृ० १०४-५) में सद्भावसाधक ९ उपलब्धियों और अभावसाधक ६ अनुपलब्धियोंको लिखकर निषेधसाधक ३ उपलब्धियोंके भी उदाहरण दिये गये हैं।

---

(१) "नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति"–प्र० वा० स्ववृ० १।११।

(२) सिद्धिवि० ६।१६।

(३) सिद्धिवि० ६।१५।

माणिक्यनन्दी आचार्यने[1] विधिसाधक ६ उपलब्धियाँ, प्रतिषेध-साधक ६ उपलब्धियाँ, प्रतिषेधसाधक ७ अनुपलब्धियाँ और विधिसाधक ३ अनुपलब्धियाँ इस तरह हेतुके २२ भेद किए हैं।

वादिदेवसूरिने[2] विधिसाधक तीन अनुपलब्धियोंके स्थानमें पाँच अनुपलब्धियाँ तथा निषेधसाधक ६ अनुपलब्धियोंकी जगह ७ अनुपलब्धियाँ बताई हैं।

आ० विद्यानन्दने[3] अभूत भूतादि तीन प्रकारोंमें 'अभूत अभूतका' यह एक प्रकार और बढ़ाकर सभी विधि और निषेधसाधक उपलब्धि और अनुपलब्धियोंका इन्हींमें अन्तर्भाव किया है।

बौद्ध[4] दृश्यानुपलब्धिसे ही अभावकी सिद्धि मानते हैं। दृश्यसे उनका तात्पर्य ऐसी वस्तुसे है जो वस्तु सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती न हो तथा जो वस्तु प्रत्यक्षका विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धिके समस्त कारण मिलने पर भी यदि उपलब्ध न हो तो समझना चाहिए कि उसका अभाव है। सूक्ष्म आदि विप्रकृष्ट पदार्थोंमें हमलोगोंके प्रत्यक्ष आदिकी निवृत्ति होनेपर भी उनका अभाव नहीं होता। प्रमाणकी प्रवृत्तिसे प्रमेयका सद्भाव तो साधा जा सकता है पर प्रमाणकी निवृत्तिसे प्रमेयका अभाव नहीं किया जा सकता। अतः विप्रकृष्ट विषयोंकी अनुपलब्धि संशयहेतु होनेसे अभावसाधक नहीं हो सकती।[5] वस्तुके दृश्यत्वका सीधा अर्थ यह है कि–उसके उपलम्भ करनेवाले समस्त कारणोंकी समग्रता हो और वस्तुमें एक विशेष स्वभाव हो। घट और भूतल• एकज्ञानके विषय थे। जितने और जिन कारणोंसे भूतल दिखाई देता था उतने ही उन्हीं कारणोंसे ही घड़ा भी। अतः जब अकेला भूतल दिखाई दे रहा है तब यह तो मानना ही होगा कि वहाँ भूतलके उपलम्भके सभी कारण उपस्थित हैं। यदि घड़ा वहाँ होता तो वह भी भूतलकी तरह दिखाई देता। तात्पर्य यह कि एकज्ञानसंसर्गी पदार्थान्तरकी उपलब्धि इस बातका पक्का प्रमाण है कि वहाँ उपलम्भकी समस्त सामग्री मौजूद है। घटमें उसी सामग्रीके द्वारा प्रत्यक्ष होनेका स्वभाव भी है; क्योंकि यदि वहाँ उसी समय घड़ा लाया जाय तो वह उस सामग्रीसे अवश्य दिख जायगा। पिशाच आदि या परमाणु आदि पदार्थोंमें यह स्वभावविशेष नहीं है। अतः सामग्रीकी पूर्णता रहनेपर भी उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। पिशाचादिमें सामग्रीकी पूर्णताका प्रमाण भी नहीं दिया जा सकता; क्योंकि उनका एकज्ञानसंसर्गी कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता। इस तरह बौद्ध दृश्यानुपलब्धिको अभावसाधक और अदृश्यानुपलब्धिको संशयहेतु मानते हैं।

अकलङ्कदेवने इसकी समीक्षा करते हुए लिखा है कि दृश्यत्वका अर्थ केवल प्रत्यक्षविषयत्व ही नहीं है किन्तु उसका व्यापक अर्थ करना चाहिये प्रमाणविषयत्व। जो वस्तु जिस प्रमाणका विषय होती है वह वस्तु यदि उसी प्रमाणसे उपलब्ध न हो तो ही उसका अभाव मानना चाहिए। उपलब्धि या उपलम्भका अर्थ प्रमाणसामान्य ही है। मृत शरीरमें स्वभावसे अतीन्द्रिय भी चैतन्यका अभाव हमलोग श्वासोच्छ्वास उष्णता और वचनव्यापार आदिका अभाव देखकर ही करते हैं। यहाँ चैतन्यमें प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो है नहीं; क्योंकि परचैतन्य कभी भी हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं होता। जिन वचनव्यापार उष्णता आकारविशेष या श्वासोच्छ्वास आदिको देखकर हम परशरीरमें उसका सद्भाव साधते हैं, उन्हींका अभाव देखकर चैतन्यका अभाव करना न्यायप्राप्त कहा जाना चाहिए।

यदि[6] अदृश्यानुपलब्धि एकान्ततः संशयहेतु मानी जाय तो मृत शरीरमें चैतन्यकी निवृत्तिका सन्देह सदा बना रहेगा। ऐसी दशामें दाहसंस्कार करनेवालोंको हिंसाका पातक लगना चाहिए। बहुतसे अप्रत्यक्ष रोगादिका भी कार्याभाव देखकर अभाव मान लेना सदाका व्यवहार है। यदि अदृश्यानुपलम्भसे संशय ही हो तो 'मैं पिशाच नहीं हूँ' यह निश्चय स्वयंको ही नहीं हो पायेगा।[7] यदि वर्तमान पदार्थमें किसी भी

(१) परीक्षामुख ३।६०–८४। (२) प्र० नयतत्त्वा० ३।७४–। (३) प्रमाणप० पृ० ७२–७४।

(४) न्यायवि० २।२।२८–३०, ४६। (५) वही २।४८–४९

(६) "अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तं परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः, संस्कर्तॄणां पातकित्वप्रसङ्गात्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२। सिद्धिवि० ६।३५।

(७) सिद्धिवि० ६।३६। लघी० श्लो० १५।

प्रमाणसे अदृश्य पदार्थोंका अभाव स्वीकार न किया जाय तो दहीमें भी अदृश्य बुद्धशरीरके सद्भावकी शंका बनी रह सकती है। ऐसी दशामें बौद्धभिक्षुकी दहीके खानेमें निःशंक प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु बौद्धभिक्षुको भी दही खानेपर यह पक्का निश्चय होता है कि मैंने दही ही खाया है बुद्धका शरीर नहीं खाया। किन्तु आपके विचारसे उसे यह तो निश्चय हो सकता है कि 'मैंने दही खाया है काँजी नहीं खाई,' क्योंकि वह दृश्य काँजीका अभाव जान सकता है पर यह निश्चय नहीं हो सकता कि–'मैंने बुद्ध शरीर नहीं खाया' क्योंकि बुद्धशरीरके अदृश्य होनेके कारण उसका अभाव करना इनके लिये कठिन है, अदृश्यानुपलब्धिको तो संशयहेतु माना है।[1]

इसी तरह [2]चित्र निरंश संवित्तिको यदि सर्वथा अदृश्य माना जाय, क्योंकि वह प्रत्यक्षका विषय तो होती ही नहीं; तो उसमें जब 'सत्त्व' हेतु ही सिद्ध न हो सकेगा तब क्षणिकत्वकी सिद्धि कैसे की जायगी? अतः [3]जिस प्रकार दर्शनाभावके कारणोंकी असम्भवतामें दृश्यका अभाव अनुपलब्धिसे किया जाता है उसी तरह अनुमानाभावके कारणोंकी असम्भवतामें अनुमेय परचित्तादिका अभाव भी अनुपलब्धिसे किया जा सकता है, अन्यथा मृत-शरीरमें चैतन्याभावका निश्चय करना असम्भव हो जायगा और इस तरह अदृश्यकी आशंकासे समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जायँगे। जिस वस्तुको हम जिस प्रमाणसे जानते हैं उस प्रमाणके कारणोंकी समग्रता होनेपर भी यदि वह वस्तु उपलब्ध न हो तो उसका भी अभाव मान लेना चाहिए।

हेत्वाभास–

जो हेतुके लक्षणसे रहित होकर भी हेतुकी तरह प्रतिभासित होते हैं वे हेत्वाभास हैं। वस्तुतः इन्हें साधनके दोष होनेसे साधनाभास कहना चाहिए; क्योंकि निर्दुष्ट साधनमें इन दोषोंकी संभावना नहीं होती। साधन और हेतुमें वाच्यवाचकका भेद है। साधनके वचनको हेतु कहते हैं, अतः उपचारसे साधनके दोषोंको हेतुका दोष मानकर हेत्वाभास संज्ञा दे दी गई है।

नैयायिक हेतुके पाँच रूप मानते हैं अतः वे क्रमशः एक एक रूपके अभावमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास स्वीकार करते हैं।

बौद्धने हेतुको त्रिरूप माना है। अतः उसके मतसे पक्षधर्मत्वके अभावमें असिद्ध सपक्षसत्त्वके अभावमें विरुद्ध और विपक्षव्यावृत्तिके अभावमें अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास होते हैं।

कणादसूत्र (३।१।१५) में असिद्ध विरुद्ध और सन्दिग्ध इन तीन हेत्वाभासोंका कथन होनेपर भी प्रशस्तपादभाष्यमें अनध्यवसित नामके चौथे हेत्वाभासको भी गिनाया है।

जैन दार्शनिकोंमें आ० [4]सिद्धसेनने असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास गिनाये हैं। अकलङ्कदेवने अन्यथानुपपन्नत्वको ही जब हेतुका एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वभावतः इनके मतसे अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें एक ही हेत्वाभास हो सकता है। वे स्वयं लिखते हैं[5] कि वस्तुतः एक 'असिद्ध' ही हेत्वाभास है। चूँकि अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक प्रकारसे होता है, अतः विरुद्ध असिद्ध सन्दिग्ध और अकिञ्चित्करके भेदसे चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। एक स्थलमें तो उन्होंने विरुद्ध आदिको अकिञ्चित्करका ही विस्तार कहा है।[6] इस तरह इनके मतसे हेत्वाभासोंकी संख्याका कोई आग्रह नहीं है फिर भी उन्होंने जिन चार हेत्वाभासोंका निर्देश किया है, उनके लक्षण इस प्रकार हैं–

---

(१) "दध्यादौ न प्रवर्तेत बौद्धः तद्भुक्तये जनः।…"–सिद्धिवि० स्ववृ० ६।३७। देखो पृ० ६६।

(२) सिद्धिवि० ६।३८।

(३) "यथैव दर्शनाभावकारणासंभवे दृश्याभावोऽनुपलब्धेः सिध्यति तथैव अनुमाभावकारणासंभवे अनुमेयस्य परचित्तादेः भवत्यभावसिद्धिः; अन्यथा निश्चेतनपरशरीरप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः।"–सिद्धिवि० स्ववृ० ६।३५। (४) न्यायावतार श्लो० २३।

(५) "अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा मतः।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः॥"–न्यायवि० २।१९५।

(६) "अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे।"–न्यायवि० २।३७०।

१. असिद्ध–"सर्वथाऽत्ययात्"[1]। पक्षमें सर्वथा न पाये जानेवाला, अथवा जिसका साध्यके साथ सर्वथा अविनाभाव न हो। न्यायसार (पृ० ८) आदिमें विशेष्यासिद्ध विशेषणासिद्ध आश्रयासिद्ध आश्रयैकदेशासिद्ध व्यर्थविशेष्यासिद्ध व्यर्थविशेषणासिद्ध व्यधिकरणासिद्ध और भागासिद्ध इन आठ भेदोंका वर्णन है। इनमें आदिके छह भेद तो उन-उन रूपसे सत्ताके अविद्यमान होनेके कारण स्वरूपासिद्धमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। भागासिद्धमें यदि वह साध्यसे अविनाभावी है तो पक्षके जितने भागमें पाया जायगा उतनेमें ही साध्यकी सत्ता सिद्ध करेगा। जैसे–'शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्नका अविनाभावी है' यह अविनाभावी होनेसे सच्चा हेतु है। वह जितने शब्दोंमें पाया जायगा उतनेमें अनित्यत्व सिद्ध कर देगा।

व्यधिकरणासिद्ध भी असिद्ध हेत्वाभासमें नहीं गिनाया जाना चाहिये; क्योंकि–'एक मुहूर्त बाद रोहिणीका उदय होगा क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय है', 'ऊपर मेघवृष्टि हुई है, नीचे नदीपूर देखा जाता है' इत्यादि हेतु भिन्नाधिकरण होकरके भी अविनाभावके कारण सच्चे हेतु हैं। गम्यगमक भावका आधार अविनाभाव है, न कि भिन्न अधिकरणता या अभिन्नाधिकरणता। 'अविद्यमानसत्ताक'का अर्थ–'पक्षमें सत्ताका न पाया जाना' नहीं है, किन्तु साध्य दृष्टान्त या दोनोंके साथ जिसकी अविनाभावनी सत्ता न पाई जाय, उसे अविद्यमानसत्ताक कहते हैं–यह है।

इसी तरह सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध आदि का सन्दिग्धासिद्धमें ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। ये असिद्ध कुछ अन्यतरासिद्ध और कुछ उभयासिद्ध भी होते हैं। वादी जब तक प्रमाणके द्वारा अपने हेतुको प्रतिवादीके लिए सिद्ध नहीं कर देता, तबतक वह अन्यतरासिद्ध कहा जा सकता है।

२. विरुद्ध–"अन्यथाभावात्" (प्रमाणसं० श्लो० ४८) साध्याभावमें पाया जानेवाला। जैसे–'सब क्षणिक हैं, सत् होनेसे' यहाँ सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्वके विपक्ष कथञ्चित् क्षणिकत्वमें पाया जाता है।

'न्यायसार' (पृ० ८) में विद्यमान सपक्षवाले चार विरुद्ध तथा अविद्यमान सपक्षवाले चार विरुद्ध इस तरह जिन आठ विरुद्धोंका वर्णन है, वे सब विपक्षमें अविनाभाव पाये जानेके कारण ही विरुद्ध हैं। हेतुका सपक्षमें होना कोई आवश्यक नहीं है। अतः सपक्षसत्त्वके अभावको विरुद्धताका नियामक नहीं माना जा सकता, किन्तु विपक्षके साथ उसके अविनाभावका निश्चित होना ही विरुद्धताका आधार है।

दिङ्नाग आचार्यने विरुद्धाव्यभिचारी नामका भी एक हेत्वाभास माना है। परस्पर विरोधी दो हेतुओंका एक धर्मीमें प्रयोग होनेपर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाता है। यह संशयहेतु होने से हेत्वाभास है। [2]धर्मकीर्तिने इसे हेत्वाभास नहीं माना है। वे लिखते हैं कि जिस हेतुका त्रैरूप्य प्रमाणसे प्रसिद्ध है, उसके विरोधी हेतुका अवसर ही नहीं है। अतः यह आगमाश्रित हेतुके विषयमें ही संभव हो सकता है। चूँकि शास्त्र अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रतिपादन करता है, अतः एक ही वस्तु परस्पर विरोधी रूपमें वर्णित हो सकती है। अकलंकदेवने इस हेत्वाभासका विरुद्धमें अन्तर्भाव किया है। जो हेतु विरुद्धका अव्यभिचारी-विपक्षमें भी रहनेवाला है, उसे विरुद्ध हेत्वाभासकी ही सीमा में आना चाहिए।

३. अनैकान्तिक "व्यभिचारी विपक्षेऽपि" (प्रमाण सं० श्लो० ४९) विपक्षमें भी पाया जानेवाला। यह दो प्रकारका है–एक निश्चितानैकान्तिक और दूसरा सन्दिग्धानैकान्तिक।

न्यायसार (पृ० १०) आदिमें जिन पक्षत्रयव्यापक, सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति आदि आठ भेदोंका वर्णन है, वे सब इसीमें अन्तर्भूत हैं। अकलंकदेवने इस हेत्वाभासके लिए संदिग्ध शब्दका प्रयोग किया है।

४. अकिञ्चित्कर[3]–सिद्ध साध्यमें या प्रत्यक्षादिबाधित साध्यमें प्रयुक्त होनेवाला हेतु अकिञ्चित्कर है। अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने त्रिलक्षण हेतु हैं, वे सब अकिञ्चित्कर हैं।

---

(१) प्रमाणसं० श्लो० ४८।

(२) "ननु च आचार्येण विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः, स इह नोक्तः, अनुमानविषयेऽसंभवात्" –न्यायबि० ३।११२, ११३।

(३) "सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः।"–प्रमाणसं० श्लो० ४९। "सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।"–परीक्षामुख ६।३५।

अकिंचित्कर हेत्वाभासका निर्देश जैन दार्शनिकोंमें सर्वप्रथम अकलङ्कदेवने किया है, परन्तु उनका अभिप्राय इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेके विषयमें सुदृढ़ नहीं मालूम होता। वे एक जगह लिखते हैं[1] कि सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्धके भेदसे अनेक प्रकारका होता है। ये विरुद्धादि अकिञ्चित्करके विस्तार हैं। फिर लिखते हैं[2] कि अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण हैं, उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिये। इससे मालूम होता है कि वे सामान्यसे हेत्वाभासोंकी अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते हैं। इसके स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेका उनका प्रबल आग्रह नहीं है। यही कारण है कि आचार्य माणिक्यनन्दीने अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके लक्षण और भेद कर चुकने पर भी लिखा है कि इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका विचार हेत्वाभासके लक्षणकालमें ही करना चाहिये। शास्त्रार्थके समय तो इसका कार्य पक्षदोषसे ही किया जा सकता है।

आचार्य विद्यानन्दने भी सामान्य रूपसे एक हेत्वाभास कहकर असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिकको उसीका रूपान्तर माना है। उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके ऊपर भार नहीं दिया है। वादिदेवसूरि आदि भी हेत्वाभासके असिद्ध आदि तीन भेद ही मानते हैं।

कथा विचार–

परार्थानुमानके प्रसंगमें कथाका अपना विशेष स्थान है। पक्ष और प्रतिपक्ष ग्रहणकर वादी और प्रतिवादीमें जो वचन व्यवहार स्वमतके स्थापन पर्यन्त चलता है उसे कथा कहते हैं। न्याय परम्परामें कथाके तीन भेद माने गये हैं–१ वाद २ जल्प और ३ वितण्डा। तत्त्वजिज्ञासुओंकी कथा या वीतराग कथाको वाद कहा जाता है। जय पराजयके इच्छुक विजिगीषुओंकी कथा जल्प और वितण्डा है। दोनों कथाओंमें पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह आवश्यक है। वादमें[4] स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण प्रमाण और तर्कके द्वारा किये जाते हैं। इसमें सिद्धान्तसे अविरुद्ध पञ्चावयव वाक्यका प्रयोग अनिवार्य होनेसे न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पाँच हेत्वाभास इन आठ निग्रहस्थानोंका प्रयोग उचित माना गया है। अन्य छल जाति आदिका प्रयोग इस वाद कथामें वर्जित है। इसका उद्देश्य तत्त्वनिर्णय करना है। जल्प[5] और वितण्डामें छल जाति और निग्रहस्थान जैसे असत् उपायोंका अवलम्बन लेना भी न्याय्य माना गया है। इनका उद्देश्य तत्त्वसंरक्षण करना है और तत्त्वकी संरक्षा किसी भी उपायसे करनेमें इन्हें आपत्ति नहीं है। न्यायसूत्र (४।२।५०) में स्पष्ट लिखा है कि जिस तरह अंकुरकी रक्षाके लिए काँटोंकी बारी लगाई जाती है, उसी तरह तत्त्वसंरक्षणके लिए जल्प और वितण्डामें काँटेके समान छल जाति आदि असत् उपायोंका अवलम्बन लेना भी अनुचित नहीं है। जनता[6] मूढ़ और गतानुगतिक होती है। वह दुष्टवादीके द्वारा ठगी जाकर कुमार्गमें न चली जाय इस मार्गसंरक्षणके उद्देश्यसे कारुणिक मुनिने छल आदि जैसे असत् उपायोंका भी उपदेश दिया है। वितण्डा कथामें वादी अपने पक्षके स्थापनकी चिन्ता न करके केवल प्रतिवादीके पक्षमें दूषण ही दूषण देकर उसका मुँह बन्द कर देता है, जबकि जल्प कथामें परपक्षखण्डनके साथ ही साथ स्वपक्ष स्थापन भी आवश्यक होता है। इस तरह स्वमत संरक्षणके उद्देश्यसे एक बार छल जाति जैसे असत् उपायोंके अवलम्बनकी छूट होनेपर तत्त्व निर्णय गौण हो गया है; और शास्त्रार्थके लिए ऐसी नवीन भाषाकी सृष्टि की गई जिसके शब्दजालमें प्रतिवादी इतना उलझ जाय कि वह अपना पक्ष सिद्ध ही न कर सके। इसी भूमिकापर केवल व्याप्ति और हेत्वाभास आदि अनुमानके अवयवोंपर सारे नव्य न्यायकी सृष्टि हुई। जिसका भीतरी उद्देश्य तत्त्वनिर्णयकी अपेक्षा तत्त्वसंरक्षण ही विशेष मालूम होता है। चरकके

(१) देखो–पृ० ११९ टि० ५। (२) पृ० ११९ टि० ६।

(३) "लक्षण एवासौ दोषः व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्"–परीक्षामुख ६।३९।

(४) न्यायसू० १।२।१। (५) न्यायसू० १।२।२–३।

(६) "गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
मागादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः॥"–न्यायम० प्रमा० पृ० ११।

विमान स्थानमें संधायसंभाषा और विग्रह्य सम्भाषा ये दो भेद उक्त वाद और जल्प वितण्डाके अर्थमें ही आये हैं। यद्यपि नैयायिकने छल आदिको असद् उत्तर माना है और साधारण अवस्थामें उसका निषेध किया है, परन्तु किसी भी प्रयोजनसे जब एकबार छल आदि घुस गये तो फिर जय पराजयके क्षेत्रमें उन्हीं-का राज्य हो गया।

बौद्ध परम्पराके प्राचीन उपायहृदय और तर्कशास्त्र आदिमें छलादिके प्रयोगका समर्थन देखा जाता है किन्तु आचार्य धर्मकीर्तिने इसे सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे उचित न समझकर अपने वादन्याय ग्रन्थ (पृ० ७१) में उनका प्रयोग सर्वथा अमान्य और अन्याय्य ठहराया है। इसका भी कारण यह है कि बौद्ध परम्परामें धर्मरक्षाके साथ संघरक्षाका भी प्रमुख स्थान है। उनके त्रिशरणमें[1] बुद्ध और धर्मकी शरण जानेके साथ ही साथ संघकी शरणमें भी जानेकी प्रतिज्ञा की जाती है। जब कि जैन परम्परामें संघशरणका कोई स्थान नहीं है। इनके चतुःशरण[2] में अर्हन्त, सिद्ध, साधु और धर्मकी शरणको ही प्राप्त होना बताया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि संघ रक्षा और संघ प्रभावनाके उद्देश्यसे भी छलादि असद् उपायोंका अवलम्बन करना जो प्राचीन बौद्ध तर्क ग्रंथोंमें घुस गया है, उसमें सत्य और अहिंसाकी धर्मदृष्टि गौण तो अवश्य हो गई है। धर्म कीर्तिने इस असंगतिको समझा, और हर हालतमें छल जाति आदि असत् प्रयोगोंको वर्जनीय ही बताया है।

जैन तार्किक पहलेसे ही सत्य और अहिंसारूप धर्मकी रक्षाके लिए प्राणोंकी बाजी लगानेको सदा प्रस्तुत रहे हैं। उनके संयम और त्यागकी परम्परा साध्यकी तरह साधनोंकी पवित्रतापर भी प्रथमसे ही भार देती आयी है। यही कारण है कि जैन दर्शनके प्राचीन ग्रन्थोंमें कहीं पर भी किसी भी रूपमें छलादिके प्रयोगका आपवादिक समर्थन भी नहीं देखा जाता। इसके एक ही अपवाद हैं, अठारहवीं सदीके आचार्य यशोविजय। जिन्होंने वाद द्वात्रिंशतिकामें[3] प्राचीन बौद्ध तार्किकोंकी तरह शासनप्रभावनाके मोहमें पड़कर अमुक देशादिमें आपवादिक छलादिके प्रयोगको भी उचित मान लिया है।

अकलङ्कदेवने सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे छलादिरूप असत् उत्तरोंके प्रयोगको सर्वथा अन्याय्य और परिवर्जनीय माना[4] है। अतः उनकी दृष्टिसे वाद और जल्पमें कोई भेद नहीं रह जाता। इसलिये वे संक्षेपमें समर्थवचनको वाद[5] कहकर भी कहीं वादके स्थानमें जल्प[6] शब्दका भी प्रयोग कर देते हैं। उन्होंने बताया है कि वादी और प्रतिवादियोंके मध्यस्थोंके समक्ष स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण रूप वचनको वाद कहते हैं। वितण्डा[7] वादाभास है, इसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र खण्डन ही खण्डन करता है। यह सर्वथा त्याज्य है। न्यायदीपिकामें (पृष्ठ ७९) तत्त्वनिर्णयके विशुद्ध प्रयोजनसे जय पराजयकी भावनासे रहित गुरु शिष्य या वीतरागी विद्वानोंमें तत्त्वनिर्णयतक चलनेवाले वचनव्यवहारको वीतराग कथा कहा है और वादी और प्रतिवादीमें स्वमत-स्थापनके लिये जयपराजयपर्यन्त चलनेवाले वचनव्यवहार-को विजिगीषु कथा कहा है।

वीतराग कथा सभापति और सभ्योंके अभावमें भी चलती है, जबकि विजिगीषु कथामें वादी प्रतिवादी के साथ सभ्य और सभापतिका होना भी आवश्यक है। सभापतिके बिना जय और पराजयका निर्णय कौन

(१) "बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि।"

(२) "चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि"–चत्तारि दण्डक।

(३) "अयमेव विधेयस्तत्तत्त्वज्ञेन तपस्विना।
देशाद्यपेक्षयाऽन्योपि विज्ञाय गुरुलाघवम् ॥"–द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका यशो० ८।६।

(४) देखो सिद्धिविनिश्चय जल्पसिद्धि परि० ५।

(५) "समर्थवचनं वादः।"–प्रमाणसं० श्लो० ५१।

(६) "समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः।
पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ॥"–सिद्धिवि० ५।२।

(७) "तदाभासो वितण्डादिरभ्युपेताव्यवस्थितेः"–न्यायवि० २।३८४।

देगा और उभयपक्षवेदी सभ्योंके बिना स्वमतोन्मत्त वादी और प्रतिवादियोंको सभापतिके अनुशासनमें रखने का कार्य कौन करेगा ? अतः वाद चतुरंग होता है।

जयपराजय व्यवस्था–

नैयायिकोंने जब जल्प[1] और वितण्डामें छल जाति और निग्रहस्थानका प्रयोग स्वीकार कर लिया तब उन्हींके आधारपर जय-पराजयकी व्यवस्था बनी। उन्होंने प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस निग्रहस्थान माने हैं। सामान्यसे 'विप्रतिपत्ति–विरुद्ध या असम्बद्ध कहना और अप्रतिपत्ति–पक्ष स्थापन नहीं करना, प्रतिवादीके द्वारा स्थापितका प्रतिषेध नहीं करना तथा प्रतिषिद्ध स्वपक्षका उद्धार नहीं करना ये दो ही निग्रह स्थान[2]–'पराजय स्थान' होते हैं। इन्हींके विशेष भेद प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस[3] हैं, जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञाकी हानि कर दे, दूसरा हेतु बोल दे, असम्बद्ध पद वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहनेपर भी प्रतिवादी और परिषद् न समझ सके, हेतु दृष्टान्त आदिका क्रमभंग हो जाय, अवयव न्यून या अधिक कहे जायँ, पुनरुक्ति हो, प्रतिवादी वादीके द्वारा कहे गये पक्षका अनुवाद न सके, उत्तर न दे सके, दूषणको अर्धस्वीकार करके खण्डन करे, निग्रहयोग्यके लिए निग्रहस्थानका उद्भावन न कर सके, जो निग्रहयोग्य नहीं हैं उसे निग्रहस्थान बतावे, सिद्धान्तविरुद्ध बोले, हेत्वाभासोंका प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगा। ये शास्त्रार्थके कानून हैं, जिनका थोड़ा-सा भी भंग होनेपर सत्यसाधनवादीके हाथमें भी पराजय आ सकता है और दुष्ट साधनवादी इन अनुशासनके नियमोंको पालकर जयलाभ भी कर सकता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रार्थके नियमोंका बारीकीसे पालन करने और न करनेका प्रदर्शन ही जय-पराजयका आधार हुआ; स्वपक्ष सिद्धि या परपक्ष-दूषण जैसे मौलिक कर्त्तव्य नहीं। इसमें इस बातका ध्यान रखा गया है कि पञ्चावयववाले अनुमान प्रयोगमें कुछ न्यूनता अधिकता और क्रमभंग यदि होता है तो उसे पराजयका कारण होना चाहिए।

धर्मकीर्ति आचार्यने इन छल जाति और निग्रहस्थानोंके आधारसे होनेवाली जयपराजय व्यवस्थाका खण्डन करते हुए लिखा है कि–जयपराजयकी व्यवस्थाको इस प्रकार घुटालेमें नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादीका मात्र इसलिए निग्रह होना कि वह कुछ अधिक बोल गया या कम बोल गया या उसने अमुक कायदेका बाकायदा पालन नहीं किया, सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादीके लिए क्रमशः असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रहस्थान[4] मानने चाहिये। वादीका कर्त्तव्य है कि वह निर्दोष और पूर्ण साधन बोले, और प्रतिवादीका कार्य है कि वह यथार्थ दोषोंका उद्भावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधनके अंग नहीं हैं ऐसे वचन कहता है यानी साधनांगका अवचन या असाधनांगका वचन करता है तो उसका असाधनांग वचन होनेसे पराजय होगा। इसी तरह प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषोंका उद्भावन न कर सके या जो वस्तुतः दोष नहीं हैं उन्हें दोषकी जगह बोले तो दोषानुद्भावन और अदोषोद्भावन होनेसे उसका पराजय अवश्यम्भावी है।

इस तरह सामान्य लक्षण करनेपर भी धर्मकीर्ति फिर उसी घपलेमें पड़ गये हैं। उन्होंने[5] असाधनांग वचन और अदोषोद्भावनके विविध व्याख्यान करके कहा है कि–अन्वय या व्यतिरेक किसी एक दृष्टान्तसे ही साध्यकी सिद्धि जब सम्भव है तब दोनों दृष्टान्तोंका प्रयोग करना असाधनाङ्ग वचन होगा। त्रिरूप हेतुका वचन ही साधनांग है। उसका कथन न करना असाधनाङ्ग है। प्रतिज्ञा निगमन आदि साधनके

---

(१) "यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।"–न्यायसू० १।२।२।

(२) "[illegible]प्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्"–न्यायसू० १।२।१९।

(३) न्यायसू० ५।२।१।

(४) "अ[illegible] द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥"–वादन्याय पृ० १।

(५) देखो वादन्याय।

अंग नहीं है, उनका कथन असाधनांग है। इसी तरह उन्होंने अदोषोद्भावनके भी विविध व्याख्यान किये हैं। यानी कुछ कम बोलना या अधिक बोलना, इनकी दृष्टिमें अपराध है। यह सब लिखकर भी अन्तमें उनने सूचित किया है कि स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष निराकरण ही जय-पराजयकी व्यवस्थाके आधार होना चाहिये।

[1]आचार्य अकलङ्कदेव असाधनांगवचन तथा अदोषोद्भावनके झगड़ेको भी पसन्द नहीं करते हैं। त्रिरूपको साधनांग माना जाय, पंचरूपको नहीं, किसको दोष माना जाय किसको नहीं, यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थका विषय हो जाता है। शास्त्रार्थ तो बौद्ध नैयायिक और जैनोंके बीच भी चलते हैं जो क्रमशः त्रिरूपवादी पंचरूपवादी और एकरूपवादी हैं, तब हर एक दूसरेकी अपेक्षा असाधनांगवादी हो जाता है। ऐसी अवस्थामें शास्त्रार्थके नियम स्वयं ही शास्त्रार्थके विषय बन जाते हैं। अतः उन्होंने बताया कि वादीका काम है कि वह अविनाभावी साधनसे स्वपक्षकी सिद्धि करे और परपक्षका निराकरण करे। प्रतिवादीका कार्य है कि वह वादीके स्थापित पक्षमें यथार्थ दूषण दे और अपने पक्षकी सिद्धि भी करे। इस तरह स्वपक्षसिद्धि और परपक्षका निराकरण ही बिना किसी लागलपेटके जय-पराजयके आधार होने चाहिये, इसीमें सत्य, अहिंसा और न्यायकी सुरक्षा है। स्वपक्षसिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक भी बोल जाय तो भी कोई हानि नहीं है। 'स्वपक्षं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाऽभावात्' अर्थात् अपने पक्षको सिद्ध करके यदि नाचता भी है तो भी कोई दोष नहीं है।

प्रतिवादी यदि सीधे [2]विरुद्ध हेत्वाभासका उद्भावन करता है तो उसे स्वतन्त्ररूपसे पक्षसिद्धि करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि वादीके हेतुको विरुद्ध कहनेसे प्रतिवादीका पक्ष स्वतः सिद्ध हो जाता है। हाँ असिद्धादि हेत्वाभासोंके उद्भावन करनेपर प्रतिवादीको अपने पक्षकी सिद्धि करना भी अनिवार्य है। स्वपक्षसिद्धि नहीं करनेवाला शास्त्रार्थके नियमोंके अनुसार चलनेपर भी किसी भी हालतमें जयका भागी नहीं हो सकता।

इसका निष्कर्ष यह है कि नैयायिकके मतसे छल आदिका प्रयोग करके अपने पक्षकी सिद्धि किये बिना ही सच्चे साधन बोलनेवाले भी वादीको प्रतिवादी जीत सकता है। बौद्ध परम्परामें छलादिका प्रयोग वर्ज्य है फिर भी यदि वादी असाधनांगवचन और प्रतिवादी अदोषोद्भावन करता है तो उनका पराजय होता है। वादीको असाधनांग वचनसे पराजय तब होगा जब प्रतिवादी यह बता दे कि वादीने असाधनांग वचन किया है। इस असाधनांगमें जिस विषयको लेकर शास्त्रार्थ चला है, उससे असम्बद्ध बातोंका कथन नाटक आदिकी घोषणा आदि भी ले लिये गये हैं। एक स्थल ऐसा आ सकता है, जहाँ दुष्ट साधन बोलकर भी वादी पराजित नहीं होगा। जैसे वादीने दुष्ट साधनका प्रयोग किया। प्रतिवादीने यथार्थ दोषका उद्भावन न करके अन्य दोषाभासोंका उद्भावन किया, फिर वादीने प्रतिवादीके द्वारा दिये गये दोषाभासोंका परिहार कर दिया। ऐसी अवस्थामें प्रतिवादी दोषाभासका उद्भावन करनेके कारण पराजित हो जायगा। वादीको जय तो नहीं मिलेगा किन्तु वह पराजित भी नहीं माना जायगा। इसी तरह एक स्थल ऐसा है जहाँ वादी निर्दोष साधन बोलता है, प्रतिवादी अंट-संट दूषणोंको कहकर दूषणाभासका उद्भावन करता है। वादी प्रतिवादीकी दूषणाभासता नहीं बताता। ऐसी दशामें किसीकी जय या पराजय न होगी। प्रथम स्थलमें अकलङ्कदेव स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरणमूलक जय और पराजयकी व्यवस्थाके आधारसे यह कहते हैं कि यदि प्रतिवादीको दूषणाभास कहनेके कारण पराजय मिलती है तो वादीको भी साधनाभास कहनेके कारण पराजय होनी चाहिए; क्योंकि यहाँ वादी स्वपक्षसिद्धि नहीं कर सका है। अकलङ्कदेवके मतसे: एकका स्वपक्ष सिद्ध करना ही दूसरेके पक्षकी असिद्धि है। अतः जयका मूल आधार स्वपक्षसिद्धि है और पराजयका मूल कारण पक्षका निराकृत होना है। तात्पर्य यह कि जब एकके जयमें दूसरेका पराजय

(१) "तदुक्तम्–स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।
नासाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः॥"–अष्टसह० पृ० ८७। सिद्धिवि० ५।१०।

(२) अकलङ्कोऽप्यभ्यधात्–विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः।
आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते॥"–त० श्लो० २८०। रत्नाकरावता० पृ० ११४१।

अवश्यंभावी है', ऐसा नियम है तब स्वपक्षसिद्धि और पक्षनिराकृति ही जय-पराजयके आधार माने जाने चाहिये। बौद्ध वचनाधिक्य आदिको भी दूषणोंमें शामिल करके कुछ उलझ जाते हैं।

सीधी बात है कि परस्पर दो विरोधी पक्षोंको लेकर चलनेवाले वादमें जो भी अपना पक्ष सिद्ध करेगा वह जयलाभ करेगा और अर्थात् ही दूसरेके पक्षका निराकरण होनेके कारण पराजय होगा। यदि कोई भी अपनी पक्षसिद्धि नहीं कर पाता और एक वादी या प्रतिवादी वचनाधिक्य कर जाता है तो इतने मात्रसे उसका पराजय नहीं होना चाहिये। या तो दोनों का ही पराजय हो या दोनोंको ही जयाभाव रहे। अतः स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरण-मूलक ही जय-पराजयव्यवस्था सत्य और अहिंसाके आधारसे न्याय्य है। छोटे-मोटे वचनाधिक्य आदिके कारण न्यायतुलाको नहीं बिगड़ने देना चाहिये। वादी सच्चा साधन बोलकर अपने पक्षकी सिद्धि करनेके बाद वचनाधिक्य और नाटकादिकी घोषणा भी करे, तो भी वह जयी ही होगा। इसी तरह प्रतिवादी वादीके पक्षमें यथार्थ दूषण देकर अपने पक्षकी सिद्धि कर लेता है, तो वह भी वचनाधिक्य करनेके कारण पराजित नहीं हो सकता। इस अवस्थामें एक साथ दोनोंको जय या पराजयका प्रसंग नहीं आ सकता। एककी स्वपक्षसिद्धिमें दूसरेके पक्षका निराकरण गर्भित है ही, क्योंकि प्रतिपक्षकी असिद्धि बताये बिना स्वपक्षकी सिद्धि परिपूर्ण नहीं होती। पक्षके ज्ञान और अज्ञानसे जय-पराजय व्यवस्था माननेपर पक्ष-प्रतिपक्षका परिग्रह करना ही व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि किसी एक ही पक्ष में वादी और प्रतिवादीके ज्ञान और अज्ञानकी जाँच की जा सकती है।

शब्दका स्वरूप–

श्रुत या आगमके निरूपणके पहिले शब्दके स्वरूपका ज्ञान कर लेना इसलिये आवश्यक है कि—श्रुत प्रमाणका सम्बन्ध शब्दसे ही है और इसीमें संकेत ग्रहण करके अर्थबोध किया जाता है।

शब्द[1] पुद्गल स्कन्धकी पर्याय है जैसे कि छाया और आतप। कंठ तालु आदि भौतिक कारणोंके अभिघातसे प्रथमशब्द वक्ताके मुखमें उत्पन्न होता है। उसीको निमित्त पाकर विश्वमें सर्वत्र व्याप्त पुद्गल स्कन्ध शब्दायमान होकर झनझना जाते हैं। जैसे किसी जलाशयमें पत्थर फेंकनेपर पहिली लहर पत्थर और जलके अभिघातसे उत्पन्न होती है और आगेकी लहरें उस प्रथम लहरसे उत्पन्न होती हैं, उसी तरह वीचीतरङ्ग न्यायसे आगेके शब्दोंकी उत्पत्ति और प्रसार होता है। आजका विज्ञान शब्दको एक शक्ति मानता है जो ईथरके माध्यमसे सर्वत्र गति करती है। जहाँ उसके ग्राहक यन्त्र (Receiver) मिल जाते हैं वहाँ वह गृहीत हो जाता है। इस प्रक्रियामें जैनोंका कोई विरोध नहीं है। उनका इतना ही कहना है कि शक्ति कभी भी निराश्रय नहीं होती, वह सदा शक्तिमान्‌में रहती है। अतः शक्तिका गमन न मानकर शक्तिमान् सूक्ष्म पुद्गल द्रव्योंका गमन मानना चाहिए। शब्दको पौद्गलिक माननेसे रिकार्डके पुद्गलोंमें ऐसे सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं कि जब भी सुईकी नोकका संपर्क मिलता है उनकी शब्द पर्याय प्रकट हो जाती है। पुद्गलमें अनन्त शक्तियाँ हैं। निमित्त मिलते ही वे शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। कुछ पर्यायें ऐसी होती हैं जो जबतक निमित्तका सन्निधान रहता है तभी तक रहती हैं जैसे दर्पणमें होनेवाली प्रतिबिम्ब पर्याय। जब तक बिम्ब सामने रहता है तबतक उसके सन्निधानसे दर्पणके पुद्गल स्कन्ध नियतरूपसे उसके आकारकी पर्यायको धारण करते हैं जैसे ही वह बिम्ब हटा तैसे ही वह पर्याय समाप्त होकर दूसरी पर्याय आ जाती है। कुछ पर्यायें ऐसी होती हैं जो निमित्तके सन्निधानसे उत्पन्न होकर भी जबतक उसका संस्कार रहता है हीनाधिक रूपमें बनी रहती हैं। जैसे आगीके संयोगसे क्रमशः पानीमें आयी उष्णता अग्निके हटा लेनेपर भी जबतक उसका संस्कार रहता है, हीनाधिकरूपमें कायम रहती है, पीछे वह ठंडा हो जाता है। पुद्गलकी शब्द पर्याय भी जबतक अभिघातका संस्कार रहता है तबतक स्थूल या सूक्ष्म रूपमें बनी रहती है। उसका संस्कार तो रिकार्डमें बहुत कालतक रहता है और जैसे ही फिर निमित्त मिलता है वह जाग्रत होकर नया शब्द उत्पन्न कर देता है। शब्दके उपादानभूत पुद्गल स्कन्ध अनन्त हैं, अतः जिनमें जैसा स्थूल सूक्ष्म सूक्ष्मतर या

(१) "शब्दः पुद्गलपर्यायः स्कन्धः छायातपादिवत्"–सिद्धिवि० ९।२।

सूक्ष्मतम संस्कार उत्पन्न होता है वह उतने काल तक झनझनाता या कड़कड़ाता रहता है। बीच में यदि कोई प्रतिकूल वायु आदि प्रतिबन्धक कारण आ जाते हैं तो उसकी प्रक्रिया रुक जाती है।

वैशेषिक शब्दको आकाशका गुण मानते हैं। आकाश नित्य एक और अमूर्त द्रव्य है। अतः उसमें यह विभेद करना अशक्य है कि अमुक स्थानमें ही अमुकरूप में शब्द उत्पन्न हो अमुक स्थान में या अमुक रूपमें नहीं। एकद्रव्य होनेसे सर्वत्र उसकी उत्पत्ति होनी चाहिये। आजके विज्ञानने रेडियो आदि यन्त्रों द्वारा शब्दोंको पकड़कर और उसे इष्ट स्थानमें भेजकर उसकी पौद्गलिकता प्रयोगसे सिद्ध कर दी है। चूँकि शब्द पुद्गलसे ग्रहण किया जाता है, पुद्गलसे धारण किया जाता है, पुद्गलसे रुकता है, पुद्गलको रोकता है, पुद्गल कान आदिके पर्दोंको फाड़ देता है और पौद्गलिक वातावरणमें अनुकम्पन पैदा करता है अतः वह पौद्गलिक है। स्कन्धोंके परस्पर संयोग संघर्ष और विभागमें शब्द उत्पन्न होता है। पौद्गलिक जिह्वा तालु आदिके संयोगसे नाना प्रकारके भाषात्मक शब्दोंकी उत्पत्ति हमारे प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है। तात्पर्य यह कि शब्दके उपादान और निमित्त दोनों ही कारण चूँकि पौद्गलिक हैं अतः वह पौद्गलिक ही हो सकता है।

मीमांसक शब्दको नित्य मानते है। उसका प्रधान कारण है वेदको नित्य और अपौरुषेय मानना। यदि शब्द नित्य और व्यापक हों; तो व्यंजक वायुसे एक जगह उसकी अभिव्यक्ति होनेपर सभी जगह सभी वर्णोंकी अभिव्यक्ति होनेसे कोलाहल मच जायगा। एक जगह 'ग' के प्रकट होते ही सर्वत्र उसकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए आदि दूषण इस पक्षमें आते हैं। शब्दका अमुक समयतक सुनाई देना उसकी अनित्यता का खासा प्रमाण है।

शब्द जगत्में भरे हुए गतिशील पुद्गलस्कन्धोंमें उत्पन्न होता है और चारों ओर वातावरणमें फैलता है यानी वातावरणको, जो कि पौद्गलिक है, शब्दायमान करता है। इसमें जो शब्द जिसके श्रोत्रको प्राप्त होता है वह उसके द्वारा सुन लिया जाता है। इसमें जिस प्रकारका संकेत गृहीत होता है उसी तरहसे वह या उस जैसा दूसरा शब्द अर्थबोध करा देता है। जिसमें संकेत ग्रहण किया है उसीसे अर्थबोध करनेका नियम यदि माना जाय तो जिस महानसीय धूममें अग्निकी व्याप्ति गृहीत हुई है उसीसे अग्निका अनुमान होना चाहिए तत्सदृश पर्वतीय धूमसे नहीं। इस तरह समस्त अनुमानादि व्यवहारोंका उच्छेद ही हो जायगा।

शब्द पर्याय अनित्य होकर भी संकेतके द्वारा अपने सदृश शब्दोंसे अर्थप्रतीति करा सकती है। इस तरह मूर्तिमान् पुद्गलोंसे उत्पत्ति ग्रहण अवरोध और प्रतिघात आदिको प्राप्त होनेवाला शब्द निश्चयतः पौद्गलिक है। उसका रूप गुण चूँकि अनुद्भूत है अतः पौद्गलिक होनेपर भी वह आँखसे नहीं दिखाई देता।

सांख्य शब्दका आविर्भाव नित्य अमूर्त प्रकृतिमें मानता है। इसमें वेही दूषण हैं जो वैशेषिकके नित्य आकाशमें शब्दोत्पत्ति माननेमें आते हैं। अमूर्त प्रकृतिका गुण मूर्त इन्द्रियोंसे कैसे गृहीत हो सकता है आदि।

आगम-श्रुत–

मतिज्ञानके बाद जिस दूसरे ज्ञानका परोक्षरूपसे वर्णन मिलता है, वह है श्रुतज्ञान। परोक्ष-प्रमाणमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये मतिज्ञानकी पर्यायें हैं जो मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होती हैं। श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे श्रुत प्रकट होता है। उसका वर्णन सिद्धान्त आगम ग्रन्थोंमें भगवान् तीर्थङ्करकी पवित्र वाणीके रूपमें पाया जाता है। तीर्थङ्कर जिस अर्थको अपनी दिव्यध्वनिसे प्रकाशित करते हैं, उसका द्वादशांगरूपमें ग्रथन गणधरोंके द्वारा किया जाता है। यह श्रुत अंगप्रविष्ट कहा जाता है। जो श्रुत अन्य आरातीय शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा रचा जाता है, वह अंगबाह्य श्रुत है। अंगप्रविष्ट श्रुतके आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृतदश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह भेद हैं। अंगबाह्यश्रुत कालिक उत्कालिक आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है। यह वर्णन आगमिक दृष्टिसे है। जैन परम्परामें श्रुतप्रमाणके नामसे इन्हीं द्वादशांग और द्वादशांगानुसारी अन्य शास्त्रोंको आगम या श्रुतकी मर्यादामें लिया जाता है। इसके मूलकर्त्ता तीर्थङ्कर हैं और उत्तरकर्त्ता उनके साक्षात् शिष्य गणधर तथा उत्तरोत्तर कर्त्ता प्रशिष्य आदि

आचार्य परम्परा है। इस व्याख्यासे आगम प्रमाण या 'श्रुत' वैदिक परम्पराके 'श्रुति' शब्दकी तरह अमुक ग्रन्थों तक ही सीमित रह जाता है।

परन्तु परोक्ष आगम प्रमाणसे इतना ही अर्थ इष्ट नहीं है, किन्तु व्यवहारमें भी अविसंवादी और अवंचक आप्तके वचनोंको सुनकर जो अर्थबोध होता है, वह भी आगमकी मर्यादामें आता है। इसीलिए अकलङ्कदेवने[1] आप्तका व्यापक अर्थ किया है कि जो जिस विषयमें अविसंवादक है वह उस विषयमें आप्त है। आप्तताके लिए तद्विषयक बोध और उस विषयमें अविसंवादकता या अवंचकताका होना ही मुख्य शर्त है। इसलिए व्यवहारमें होनेवाले शब्दजन्य अर्थबोधको भी एक हद तक आगम प्रमाणमें स्थान मिल जाता है, जैसे कोई कलकत्तेका प्रत्यक्षद्रष्टा यात्री आकर कलकत्तेका वर्णन करे तो उन शब्दोंको सुनकर वक्ताको प्रमाण मानकर जो श्रोताको ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी आगम प्रमाणमें शामिल है।

वैशेषिक और बौद्ध इस ज्ञानको भी अनुमान प्रमाणमें अन्तर्भूत करते हैं परन्तु शब्दश्रवण और संकेतस्मरण आदि सामग्रीसे लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरणके बिना ही होनेवाला यह ज्ञान अनुमानमें शामिल नहीं हो सकता। श्रुत या आगम ज्ञान केवल आप्तके शब्दोंसे ही उत्पन्न नहीं होता किन्तु हाथके इशारे आदि संकेतोंसे, ग्रंथकी लिपिको पढ़ने आदिसे भी होता है। इसमें संकेत स्मरण ही मुख्य प्रयोजक है।

श्रुतके तीन भेद–अकलंकदेवने प्रमाणसंग्रहमें श्रुतके प्रत्यक्ष निमित्तक, अनुमान निमित्तक तथा आगम निमित्तक ये तीन भेद किये हैं। परोपदेशकी सहायता लेकर प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनेवाला श्रुत प्रत्यक्षपूर्वक श्रुत है, परोपदेश सहित लिंगसे उत्पन्न होनेवाला श्रुत अनुमानपूर्वक श्रुत और केवल परोपदेशसे उत्पन्न होनेवाला श्रुत आगमनिमित्तक है। जैनतर्क वार्तिककार[3] प्रत्यक्षपूर्वकश्रुत नहीं मानकर परोपदेशज और लिङ्गनिमित्तक ये दो ही श्रुत मानते हैं।

तात्पर्य यह है कि जैन परम्पराने आगम प्रमाणमें मुख्यतया तीर्थङ्करकी वाणीके आधारसे साक्षात् या परम्परा से निबद्ध ग्रन्थ विशेषोंको लेकर भी उसके व्यावहारिक पक्षको नहीं छोड़ा है। व्यावहारमें प्रमाणिक वक्ताके शब्दको सुनकर या हस्तसंकेत आदिको देखकर संकेत स्मरणसे जो भी ज्ञान उत्पन्न होता है, वह आगम प्रमाणमें शामिल है। आगमवाद और हेतुवादका क्षेत्र अपना अपना निश्चित है अर्थात् आगमके बहुतसे अंश ऐसे हो सकते हैं, जहाँ कोई हेतु या युक्ति नहीं चलती ऐसे विषयोंमें युक्तिसिद्ध वचनोंकी एक कर्तृकतासे अयुक्तिसिद्ध वचनोंको भी प्रमाण मान लिया जाता है।

वेदापौरुषेयत्व विचार–

मीमांसक पुरुषमें पूर्णज्ञान और वीतरागताका विकास नहीं मानता और धर्मप्रतिपादक वेद वाक्यको किसी पुरुष विशेषकी कृति न मानकर उसे अपौरुषेय या अकर्तृक मानता है। उस अपौरुषेयत्वकी सिद्धिके लिए अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु दिया जाता है। इसका अर्थ है कि यदि वेदका कोई कर्ता होता तो उसका स्मरण होना चाहिये था, चूँकि स्मरण नहीं है, अतः वेद अनादि है और अपौरुषेय है। किन्तु कर्ताका स्मरण नहीं होना किसीकी अनादिताका प्रमाण नहीं हो सकता। नित्य वस्तु अकर्तृक ही होती है। कर्त्ता का स्मरण होने और न होनेसे अपौरुषेयता और पौरुषेयताका कोई सम्बन्ध नहीं है बहुतसे पुराने मकान कुएँ और खण्डहर आदि ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनके कर्ता या बनानेवालोंका स्मरण नहीं है फिर भी वे अपौरुषेय नहीं हैं।

अपौरुषेय होना प्रमाणताका साधक भी नहीं है। बहुतसे लौकिक म्लेच्छादि व्यवहार गाली गलौज आदि ऐसे चले आते हैं जिनके कर्त्ताका कोई स्मरण नहीं है, पर इतने मात्रसे वे प्रमाण नहीं माने जा सकते

---

(१) "यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, परोऽनाप्तः। तत्त्वप्रतिपाद[illegible]ः तदर्थज्ञानात्।" –अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३६।

(२) "श्रुतमविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम्"–प्रमाणसं० पृ० १।

(३) जैनतर्कवार्तिक पृ० ७४।

'घटे घटे वैश्रवणः' इत्यादि अनेक पद वाक्य परम्परासे कर्त्ताके स्मरणके बिना ही चले आते हैं, पर वे प्रमाण कोटिमें शामिल नहीं हैं।

पुराणोंमें वेदको ब्रह्माके मुखसे निकला हुआ बताया है और यह भी लिखा है[1] कि प्रतिमन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न वेदोंका विधान होता है। "यो वेदाँश्चप्रहिणोति" (श्वेता० २।१८) इत्यादि वाक्य वेदके कर्त्ताके प्रतिपादक हैं ही। जिस तरह याज्ञवल्क्य स्मृति और पुराण ऋषियोंके नामोंसे अंकित होनेके कारण पौरुषेय हैं, उसी उसी तरह[2] कण्व माध्यन्दिन तैत्तिरीय आदि वेदकी शाखाएँ भी ऋषियोंके नामसे अंकित पाई जाती हैं। अतः उन्हें अनादि या अपौरुषेय कैसे कहा जा सकता है? वेदोंमें न केवल ऋषियोंके ही नाम पाये जाते हैं किन्तु उनमें अनेक ऐतिहासिक राजाओं, नदियों और देशोंके नामों का पाया जाना इस बातका प्रमाण है कि वे उन परिस्थितियोंमें बने हैं।

बौद्ध वेदोंको अष्टक ऋषिकर्तृक कहते हैं, तो जैन उन्हें कालासुरकर्तृक बताते हैं। अतः उनके कर्तृविशेषमें विवाद हो सकता है किन्तु वे पौरुषेय हैं और उनका कोई न कोई बनानेवाला है, यह विवादकी बात नहीं है।

'वेदका अध्ययन सदा वेदाध्ययनपूर्वक ही होता है, अतः वेद अनादि है' यह दलील भी पुष्ट नहीं है; क्योंकि 'कण्व आदि ऋषियोंने काण्वादि शाखाओंकी रचना नहीं की किन्तु अपने गुरुसे पढ़कर ही उसे प्रकाशित किया' यह सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है।

इसी तरह कालको हेतु बनाकर वर्तमानकालकी तरह अतीत और अनागत कालको वेदके कर्त्तासे शून्य कहना बहुत विचित्र तर्क है। इस तरह तो किसी भी अनिश्चितकर्तृक वस्तुको अनादि अनन्त सिद्ध किया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि महाभारतका बनानेवाला अतीत कालमें नहीं था, क्योंकि वह काल है जैसे कि वर्तमान काल आदि।

जब वैदिक शब्द लौकिक शब्दके समान ही संकेतग्रहणके अनुसार अर्थका बोध कराते हैं। बिना उच्चारण किये पुरुषको सुनाई नहीं देते तब ऐसी कौन-सी विशेषता है जिससे कि वैदिकशब्दोंको अपौरुषेय और लौकिक शब्दोंको पौरुषेय कहा जाय? यदि कोई एक भी व्यक्ति अतीन्द्रियार्थद्रष्टा नहीं हो सकता तो वेदोंकी अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकतामें विश्वास कैसे किया जाय?

वैदिक शब्दोंकी अमुक छन्दोंमें रचना है। वह रचना बिना किसी पुरुषप्रयत्नके अपने आप कैसे हो गई? यद्यपि मेघगर्जन आदि अनेकों शब्द पुरुषप्रयत्नके बिना प्राकृतिक संयोग-वियोगोंसे होते हैं परन्तु वे निश्चित अर्थके प्रतिपादक नहीं होते और न उनमें सुसंगत छन्दोंकी रचना और व्यवस्थितता ही देखी जाती है। अतः जो मनुष्यकी रचनाके समान ही एक विचित्र रचनामें आबद्ध हैं वे अपौरुषेय नहीं हो सकते।

अनादिपरम्परारूप हेतुसे वेदकी अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकताकी सिद्धि करना उसी तरह कठिन है जिस तरह गाली गलौज आदिकी प्रामाणिकता मानना। अन्ततः वेदके व्याख्यानके लिये भी अतीन्द्रियार्थदर्शी ही अन्तिम प्रमाण बन सकता है। विवादकी अवस्थामें 'यह मेरा अर्थ है यह नहीं' यह स्वयं शब्द तो बोलेंगे नहीं। यदि शब्द अर्थके मामलेमें स्वयं रोकनेवाला होता तो वेदकी व्याख्याओंमें मतभेद नहीं होना चाहिये था।

शब्द मात्रको नित्य मानकर वेदके नित्यत्वका समर्थन करना प्रतीतिविरुद्ध है; क्योंकि तालु आदिके व्यापारसे पुद्गलपर्यायरूप शब्दकी उत्पत्ति ही प्रमाणसिद्ध है, अभिव्यक्ति नहीं। संकेतके लिये शब्दको नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि जैसे अनित्य घटादि पदार्थोंमें अमुक घड़ेके नष्ट होनेपर भी अन्य सदृश घड़ोंमें सादृश्यमूलक व्यवहार चल जाता है उसी तरह जिस शब्दमें संकेत ग्रहण किया है वह नष्ट

---

(१) "प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते"—मत्स्यपु० १४५।५८।

(२) "सजन्ममरणर्षिगोत्रचरणादिनामश्रुतेः, अनेकपदसंहतिप्रतिनियमसन्दर्शनात्।
फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिहेत्वात्मनाम्, श्रुतेश्च मनुसूत्रवत् पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः॥"
—पात्रकेसरिस्तोत्र श्लो० १४।

भले ही हो जाय पर उसके सदृश अन्य शब्दोंमें वाचकव्यवहारका होना अनुभवसिद्ध है। 'यह वही शब्द है जिसमें मैंने संकेत ग्रहण किया था' इस प्रकारका एकत्व प्रत्यभिज्ञान भ्रान्तिके कारण होता है क्योंकि जब हम उस सरीखे दूसरे शब्दको सुनते हैं, तो दीपशिखाकी तरह भ्रमवश एकत्वभान हो जाता है।

आजका विज्ञान शब्दतरंगोंको उसी तरह क्षणिक मानता है जिस तरह जैन बौद्धादि दर्शन। अतः अतीन्द्रिय पदार्थोंमें वेदकी अन्तिम प्रमाणता माननेके लिये यह आवश्यक है कि उसका आद्य प्रतिपादक स्वयं अतीन्द्रियदर्शी हो। अतीन्द्रिय दर्शनकी असम्भवता कहकर अन्धपरम्परा चलानेसे प्रमाणताका निर्णय नहीं हो सकता। ज्ञानस्वभाववाली आत्माका सम्पूर्ण आवरणोंके हट जानेपर पूर्ण ज्ञानी बन जाना असंभव बात नहीं है। शब्द वक्ताके भावोंको ढोनेवाला एक माध्यम है जिसकी प्रमाणता और अप्रमाणता अपनी न होकर वक्ताके गुण और दोषोंपर आश्रित है। यानी गुणवान् वक्ताके द्वारा कहा गया शब्द प्रमाण होता है और दोषवाले वक्ताके द्वारा प्रतिपादित शब्द अप्रमाण। इसीलिये कोई शब्दको धन्यवाद या गाली नहीं देता किन्तु देता है उसके बोलनेवाले वक्ताको। वक्ताका अभाव मानकर 'दोष निराश्रय नहीं रहेंगे' इस युक्तिसे वेदको निर्दोष कहना तो ऐसा ही है जैसे मेघ गर्जन और बिजलीकी कड़कड़ाहटको निर्दोष बताना। वह इस विधिसे निर्दोष बन भी जाय पर मेघ गर्जन आदिकी तरह वह निरर्थक ही सिद्ध होगा, विधि और प्रतिषेध आदि प्रयोजनोंका साधन नहीं बन सकेगा।

व्याकरणादिकके अभ्याससे लौकिक शब्दोंकी तरह वैदिक पदोंके अर्थकी समस्याको हल करना इसलिए असंगत है कि जब शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं तब अनिष्ट अर्थका परिहार करके इष्ट अर्थका नियमन करना कैसे सम्भव होगा? प्रकरण आदि भी अनेक हो सकते हैं, अतः धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके साक्षात् कर्त्ताके बिना धार्मिक नियम उपनियमोंमें वेदकी निर्बाधता सिद्ध नहीं हो सकती और जब एक बार अतीन्द्रियदर्शीको स्वीकार कर लिया तब वेद को अपौरुषेय मानना निरर्थक ही है। कोई भी पद और वाक्य या श्लोक आदि की छन्दरचना पुरुषकी इच्छा और बुद्धिके बिना सम्भव नहीं है। ध्वनि निकल सकती है पर भाषा मानवकी अपनी देन है, उसमें उसके प्रयत्न विवक्षा और ज्ञान सभी कारण होते हैं।[1]

शब्दकी अर्थवाचकता

बौद्ध शब्दका वाच्य अर्थको नहीं मानते। उनका कहना है कि शब्द अर्थके प्रतिपादक नहीं हो सकते; क्योंकि जो शब्द अर्थकी मौजूदगीमें उनका कथन करते हैं वे ही अतीत अनागत रूपसे अविद्यमान पदार्थोंमें भी प्रयुक्त होते हैं। अतः उनका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अन्यथा कोई भी शब्द निरर्थक नहीं हो सकेगा। स्वलक्षण अनिर्देश्य है। अर्थमें शब्द नहीं है और न अर्थ शब्दात्मक ही है जिससे कि अर्थके प्रतिभासित होनेपर शब्दका बोध या शब्दके प्रतिभासित होनेपर अर्थका बोध अवश्य हो। शब्द वासना और संकेतकी इच्छाके अनुसार अन्यथा भी संकेतित किये जाते हैं। इसलिए उनका अर्थसे कोई अविनाभाव नहीं है। वे केवल बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोहके वाचक होते हैं। यदि[2] शब्दोंका[3] अर्थसे वास्तविक सम्बन्ध होता तो एक ही वस्तुमें परस्परविरोधी विभिन्न शब्दोंका और उन शब्दोंके आधारसे रचे हुए विभिन्न दर्शनोंकी सृष्टि न हुई होती। अग्नि ठंडी है या गरम इसका निर्णय जैसे अग्नि स्वयं अपने स्वरूपसे करा देती है। उसी तरह कौन शब्द सत्य है कौन असत्य इसका निर्णय भी पदार्थको अपने स्वरूपसे ही करा देना चाहिये था, पर विवाद आज तक मौजूद है। अतः गौ आदि शब्दोंको सुनकर हमें एक सामान्यका बोध होता है।

---

(१) देखो–सिद्धिवि० पृ० ५१२–१९।

(२) "अतीताजातयोर्वापि न च स्यादनृतार्थता।
वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता॥"–प्रमाणवा० ३।२०७।

(३) "परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना।
न स्यात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु॥"–प्रमाणवा० ३।२०६।

यह सामान्य वास्तविक नहीं है, विभिन्न गौ व्यक्तियोंमें पाई जानेवाली अगोव्यावृत्ति या अगोपोहके द्वारा गौ गौ गौ इस सामान्य व्यवहारकी सृष्टि होती है। यह सामान्य उन्हीं व्यक्तियोंको प्रतिभासित होता है जिनने अपनी बुद्धिमें इस प्रकारका अभेदभान कर लिया है। अनेक गायोंमें अनुस्यूत एक नित्य और निरंश गोत्व असत् है, क्योंकि विभिन्न देशवर्ती व्यक्तियोंमें एक साथ एक गोत्वका पाया जाना अनुभवविरुद्ध तो है ही साथ साथ व्यक्तिके अंतरालमें उसकी उपलब्धि न होनेसे बाधित भी है। जिस प्रकार छात्रमण्डल छात्रव्यक्तियोंको छोड़कर अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, वह एक प्रकारकी भावना है जो सम्बन्धित व्यक्तियोंकी बुद्धितक ही सीमित है, उसी तरह गोत्व मनुष्यत्वादि सामान्य भी काल्पनिक हैं, बाह्यसत् वस्तु नहीं। सभी गायें गौके कारणोंसे उत्पन्न हुई हैं और गौके कार्योंको करती हैं, उनमें अगोकारणव्यावृत्ति और अगोकार्यव्यावृत्ति अर्थात् अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिसे सामान्य व्यवहार होने लगता है। परमार्थसत् गौ वस्तु क्षणिक है, अतः उसमें संकेतग्रहण नहीं किया जा सकता और जिस गोव्यक्तिमें संकेत ग्रहण किया जाता है वह गौ व्यक्ति जब द्वितीय क्षणमें नष्ट हो जाती है तब वह संकेत व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि अगले क्षणमें जिन गौव्यक्तियों और शब्दोंसे व्यवहार करना है उन व्यक्तियोमें तो संकेत हो ग्रहण नहीं किया है, वे तो असंकेतित ही हैं। अतः शब्द वक्ताकी विवक्षाको सूचित करता हुआ बुद्धिकल्पित अन्यव्यावृत्ति या अन्यापोहका ही वाचक होता है अर्थका नहीं।

इन्द्रियग्राह्य पदार्थ भिन्न होता है और शब्दगोचर अर्थ भिन्न। शब्दसे अन्धा भी अर्थबोध कर सकता है पर वह अर्थको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। दाह शब्दके द्वारा जिस दाह अर्थका बोध होता है और अग्निको छूकर जिस दाहकी प्रतीति होती है, वे दोनों दाह जुदे-जुदे हैं इसे समझानेकी आवश्यकता नहीं है। अतः शब्द केवल कल्पितसामान्यका वाचक है।

यदि शब्द अर्थका वाचक होता तो शब्दबुद्धिका प्रतिभास इन्द्रियबुद्धिकी तरह विशद होना चाहिए था। अर्थव्यक्तियाँ अनन्त और क्षणिक हैं, इसलिए जब उनका ग्रहण ही सम्भव नहीं है तब पहले तो संकेत[1] ही नहीं हो सकता, कदाचित् गृहीत हो भी जाय तो व्यवहारकाल तक उसकी अनुवृत्ति नहीं होती, अतः उससे अर्थबोध होना असम्भव है। कोई भी प्रत्यक्ष ऐसा नहीं है, जो शब्द और अर्थ दोनोंको विषय करता हो। अतः संकेत होना ही कठिन है। स्मरण निर्विषय और गृहीतग्राही होनेसे प्रमाण ही नहीं है।

सामान्य विशेषात्मक अर्थ वाच्य है–किन्तु बौद्धकी यह मान्यता उचित नहीं है[2]। पदार्थमें कुछ धर्म सदृश होते हैं और कुछ विसदृश। इन सदृश धर्मोंको ही सामान्य कहते हैं। यह अनेकानुगत न होकर व्यक्तिनिष्ठ है। यदि सादृश्यको वस्तुगत धर्म न माना जाय तो अगोनिवृत्ति 'अमुक गौ व्यक्तियोंमें ही पायी जाती है, अश्वादि व्यक्तियोंमें नहीं' यह नियम कैसे किया जा सकेगा? जिस तरह भाव-स्वास्तित्व वस्तुका धर्म है, उसी तरह अभाव परनास्तित्व भी वस्तुका ही धर्म है। उसे तुच्छ या निःस्वभाव कहकर उड़ाया नहीं जा सकता। सादृश्यका बोध और व्यवहार हम चाहे अगोनिवृत्ति आदि निषेधमुखसे करें या सास्नादिमत्व आदि समानधर्मरूप गोत्व आदिको देखकर करें पर इससे उसके परमार्थसत् वस्तुत्वमें कोई बाधा नहीं आती। जिस तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय सामान्यविशेषात्मक पदार्थ होता है, उसी तरह शब्दसंकेत भी सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें ही किया जाता है। केवल सामान्यमें यदि संकेत ग्रहण किया जाय तो उससे विशेष व्यक्तियोंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अनन्त विशेष व्यक्तियाँ तत्-तत् रूपमें हमलोगोंके ज्ञानका जब विषय ही नहीं बन सकतीं तब उनमें संकेतग्रहणकी बात तो अत्यन्त असम्भव है। सदृशधर्मोंकी अपेक्षा शब्दका अर्थमें संकेत ग्रहण किया जाता है। जिस शब्दव्यक्ति और अर्थव्यक्तिमें संकेत ग्रहण किया जाता है भले ही वे व्यवहारकाल तक न जायँ पर तत्सदृश दूसरे शब्दसे तत्सदृश दूसरे अर्थकी प्रतीति होनेमें क्या बाधा है? एक घटशब्दका एक घट अर्थमें संकेत ग्रहण करनेपर भी तत्सदृश यावत् घट

(१) "तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते।
सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्याप्तिविरोधतः॥"–तत्त्वसं० पृ० २०७।

(२) देखो–सिद्धिवि० टी० पृ० ३२०–३०; ४४९–५२; ६३३–४६। न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५५७।

शब्दोंकी प्रवृत्ति होती ही है। संकेत ग्रहणके बाद शब्दार्थका स्मरण करके व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार प्रत्यक्षबुद्धि अतीत अर्थको जानकर भी प्रमाण है, उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है। न केवल प्रमाण ही किन्तु सविषयक भी है। जब अविसंवादप्रयुक्त प्रमाणता स्मृतिमें है तब शब्द सुनकर तद्वाच्य अर्थका स्मरण करके तथा अर्थको देखकर तद्वाचक शब्दका स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलता है।

एक सामान्य-विशेषात्मक अर्थको विषय करनेपर भी इन्द्रियज्ञान स्पष्ट और शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है जैसे कि एक ही वृक्षको विषय करनेवाले दूरवर्ती और समीपवर्ती पुरुषोंके ज्ञान अस्पष्ट और स्पष्ट होते हैं। [1]स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेदके कारण नहीं आती किन्तु आवरणके क्षयोपशमसे आती है। फिर शब्दसे होनेवाले अर्थका बोध मानस है और इन्द्रियसे होनेवाला पदार्थका ज्ञान ऐन्द्रियक। जिस तरह अविनाभाव सम्बन्धसे अर्थका बोध करानेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण है, उसी तरह वाच्य-वाचक सम्बन्धके बलपर अर्थबोध करानेवाला शब्दज्ञान भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण ही होना चाहिये। हाँ जिस शब्दमें विसंवाद या संशयादि पाये जाँय वह अनुमानाभास और प्रत्यक्षाभासकी तरह शब्दाभास हो सकता है। पर इतने मात्रसे सभी शब्दज्ञानोंको अप्रमाणकोटिमें नहीं डाला जा सकता। कुछ [2]शब्दोंको अर्थ व्यभिचारी देखकर सभी शब्दोंको अप्रमाण नहीं ठहराया जा सकता।

यदि शब्द बाह्यार्थमें प्रमाण न हो तो क्षणिकत्व आदिके प्रतिपादक शब्द भी प्रमाण नहीं हो सकेंगे। और तब बौद्ध स्वयं अदृष्ट नदी देश पर्वतादिका अविसंवादी ज्ञान शब्दोंसे कैसे कर सकेंगे[3]? यदि[4] हेतुवाद रूप (परार्थानुमान) शब्दके द्वारा अर्थका निश्चय न हो तो साधन और साधनाभासकी व्यवस्था कैसे होगी? इसी तरह आप्तके वचनके द्वारा यदि अर्थबोध न हो तो आप्त और अनाप्तका भेद कैसे सिद्ध होगा? यदि पुरुषोंके[5] अभिप्रायोंमें विचित्रता होनेके कारण सभी शब्द अर्थव्यभिचारी करार किये जाँय तो सुगतके सर्व-शास्तृत्वमें कैसे विश्वास किया जा सकेगा? यदि अर्थव्यभिचार होनेके कारण शब्द अर्थमें प्रमाण नहीं है तो अन्य शब्दकी विवक्षामें अन्य अर्थका प्रयोग देखा जानेसे विवक्षाव्यभिचार भी होता है, तो उसे विवक्षामें भी प्रमाण कैसे कहा जा सकता है? जिस तरह सुविवेचित व्याप्य और कार्य अपने व्यापक और कारणका उल्लंघन नहीं करते उसी तरह सुविवेचित शब्द भी अर्थ का व्यभिचारी नहीं हो सकता। फिर शब्दका विवक्षाके साथ कोई अविनाभाव भी नहीं है; क्योंकि [6]शब्द वर्ण या पद कहीं अवांछित अर्थको भी कहते हैं और कहीं वांछितको भी नहीं कहते।

यदि शब्द विवक्षामात्रके वाचक हों तो शब्दोंमें सत्यत्व और मिथ्यात्वकी व्यवस्था न हो सकेगी। क्योंकि दोनों ही प्रकारके शब्द अपनी-अपनी विवक्षाका अनुमान तो कराते ही हैं। शब्द में सत्य और असत्य व्यवस्थाका मूल आधार अर्थप्राप्ति और अप्राप्ति ही बन सकता है। जिस शब्दका अर्थ प्राप्त हो वह सत्य और जिसका अर्थ प्राप्त न हो वह मिथ्या होता है। जिन शब्दोंका बाह्य अर्थ प्राप्त नहीं होता उन्हें ही हम विसंवादी कहकर मिथ्या ठहराते हैं। प्रत्येक दर्शनकार अपने द्वारा प्रतिपादित शब्दोंका वस्तु-सम्बन्ध ही तो बतानेका प्रयास करता है और वह उसकी काल्पनिकताका परिहार भी जोरोंसे करता है। अविसंवादका आधार अर्थप्राप्तिको छोड़कर दूसरा कोई बन ही नहीं सकता।

※

(१) देखो–सिद्धिवि० ९।२९। न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५६५।

(२) सिद्धिवि० वि० ५।५। लघी० श्लोक २७।

(३) लघी० श्लोक २६।

(४) सिद्धिवि० ५।५। "आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः॥"–लघी० का० २८।

(५) सिद्धिवि० ७।४। लघी० श्लो० २९।

(६) "[illegible]क्यानामविशेषण वक्त्रभिप्रेतवाचिना[illegible]।
सत्यानृतव्यवस्था स्यात्तत्त्वमिथ्यादर्शनात्॥"–सिद्धिवि० ९।२८। लघी० श्लो० ६४,६५।

२ प्रमेयमीमांसा

जैन दर्शन वास्तवबहुत्ववादी है। वह अनन्त आत्माएँ, अनन्त पुद्गल परमाणु, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्य कालाणु द्रव्य मानता है। यह विश्व जिसे वह 'लोक' कहता है इन्हीं द्रव्योंका समुदाय है। ये छह द्रव्य जहाँ पाये जाँय वह लोक है। वह अनादि अनन्त है किसीने उसे बनाया नहीं है, वह अकृत्रिम है। जैनी द्रव्य व्यवस्थाका मूल सिद्धान्त यह है–

> "भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
> गुणपज्जएसु भावा उप्पायवयं पकुव्वंति॥" –पंचा० गा० १५।

अर्थात् किसी भाव यानी सत्का विनाश नहीं होता और अभाव अर्थात् असत्का उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्यायोंमें उपजते और विनशते रहते हैं। लोकमें जितने सत् हैं वे त्रैकालिक सत् हैं। उनकी संख्यामें कभी भी हेर-फेर नहीं होता। न कोई नया सत् कभी उत्पन्न हुआ था न होता है और न होगा। इसी तरह किसी विद्यमान सत्का न कभी नाश हुआ था होता है या होगा। समस्त सत् गिने हुए हैं। प्रत्येक सत् अपनेमें परिपूर्ण स्वतन्त्र और मौलिक है।

'सत्'का लक्षण[2] है उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होना। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपनी वर्तमान पर्यायको छोड़कर नवीन पर्यायको धारण करता हुआ वर्तमानको भूत तथा भविष्यत्को वर्तमान बनाता हुआ आगे चला जा रहा है। चेतन हो या अचेतन प्रत्येक सत् इस परिणामचक्रपर चढ़ा हुआ है। यह उसका निज स्वभाव है कि वह प्रतिसमय पूर्वको छोड़कर अपूर्वको ग्रहण करे। यह पर्यायपरम्परा अनादि कालसे चल रही है। कभी भी यह न रुकी थी और न रुकेगी। इस पर्यायधाराका अपनी धारामें अनन्त कालतक बहते जाना, न तो कभी रुकना और न सजातीय या विजातीय किसी द्रव्यकी धारामें विलीन होना या मिलना यही उसका ध्रौव्य है। अनन्त प्रयत्न करनेपर भी विश्वके रंगमंचसे किसी एक परमाणुका समूल विनाश नहीं किया जा सकता और न किसी एक द्रव्यका अस्तित्व दूसरेमें विलीन ही किया जा सकता है। यह जो प्रत्येक द्रव्यकी 'तद्द्रव्यता' है वही ध्रौव्य है। जिसके कारण प्रतिक्षण क्रमशः अनन्त परिणमन करनेपर भी उस द्रव्यका एक भी गुण धर्म या प्रदेश छीजेगा नहीं, कम नहीं होगा और न उसमें ऐसा कोई गुण धर्म या प्रदेश नया बढ़ेगा ही जिसकी शक्ति उसमें न हो। प्रत्येक द्रव्य अपनी उपादानभूत शक्तियोंके अनुसार प्राप्त सामग्रीके निमित्तसे अविराम गतिसे परिणमन करता रहता है। यह चक्र अनन्त कालतक विविध रूपोंमें चालू है। यह एक स्थूल नियम है कि–प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनमें यानी अपनी अगली पर्यायमें उपादान होता है, वह स्वयं अतीतका उपादेय बन कर वर्तमानमें आता है और भविष्यत्के लिये उपादान बन जाता है। जिस प्रकार आधुनिक भौतिकवादियोंने पदार्थको सतत गतिशील माना है और उसमें दो विरोधी धर्मोंका समागम मानकर उसे अविराम गतिमय कहा है ठीक वही बात जैनदर्शनके उत्पादव्ययध्रौव्यसे ध्वनित होती है। पदार्थमें उत्पाद और व्यय इन दो विरोधी शक्तियोंका समागम है, जिसके कारण पदार्थ निरन्तर उत्पाद और व्ययके चक्रपर घूम रहा है। उत्पाद शक्ति जैसे ही नूतन पर्यायको उत्पन्न करती है तो व्यय शक्ति उसी समय पूर्वका नाश कर देती है। वैसे पूर्वके विनाश और उत्तरके उत्पादमें क्षणभेद नहीं है, दोनोंका कारण एक ही है और वह है उत्पादविनाशस्वभाव। इस अनिवार्य परिवर्तनके बावजूद भी कभी द्रव्यका अत्यन्त विनाश नहीं होता। जो द्रव्यधारा अनादि कालसे बहती चली आई है वह अनन्त कालतक बराबर बहती जायगी कहीं और कभी उसका विराम नहीं होगा। इसी तरह वह धारा कभी भी दूसरी द्रव्यधारामें विलीन नहीं होगी। किसी एक भी धाराका अस्तित्व समाप्त नहीं होगा इसी असांकर्य और अनन्त अविच्छिन्नत्वका नियामक ध्रौव्य होता है।

---

(१) तुलना–"नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः।"–गीता २।१६।

(२) "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"–त० सू० ५।३०। सिद्धिवि० ३।१९।

ध्रौव्य और सन्तान–यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जैन जिस तरह प्रतिक्षण पर्यायोंका उत्पाद और व्यय मानते हैं बौद्ध भी उसी तरह पदार्थोंको क्षणपरिवर्तनशील कहकर क्षणिक मानते हैं। जिस प्रकार जैन ध्रौव्य मानते हैं उसी प्रकार बौद्ध सन्तान मानते हैं, तब दोनोंकी पदार्थव्यवस्थामें क्या मौलिक अन्तर है? यह सही है कि जैनका ध्रौव्य द्रव्यका कोई ऐसा अपरिवर्तिष्णु अंश नहीं है जो पर्यायोंके बदलनेपर भी बदलता न हो। यदि द्रव्य ऐसे दो अंशोंका समुदाय माना जाय जिनमें एक अंश परिवर्तिष्णु हो और एक अंश अपरिवर्तनशील, तो ऐसी वस्तुमें नित्यपक्षभावी और अनित्यपक्षभावी दोनों ही दोष आयेंगे। द्रव्यका अपनी पर्यायोंसे कथञ्चित्तादात्म्य मानने पर तो पर्यायोंके परिवर्तित होनेपर कोई ऐसा अपरिवर्तित अंश द्रव्यमें बच ही नहीं सकता, अन्यथा उस अपरिवर्तनशील अंशसे तादात्म्य रखनेके कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही हो जायँगे और इस तरह द्रव्य कूटस्थनित्य हो जायगा। अतः या तो वस्तु सर्वथा परिवर्तनशील मानी जाय यानी चेतन वस्तु भी अचेतन या अचेतन भी चेतन रूपसे परिणमन करनेवाली या फिर सदा कूटस्थनित्य सर्वदा अपरिवर्तनशील। पर ये दोनों मत वस्तुस्थितिके विपरीत हैं। सर्वथा नित्य वस्तुमें कोई अर्थक्रिया न होनेसे समस्त लोकव्यवहार शिक्षा-दीक्षा और संस्कार आदिके प्रयत्न निष्फल हो जाँयगे क्योंकि उनका प्रभाव द्रव्यमें तो आ ही नहीं सकेगा। और यदि सर्वथा परिवर्तनशील वस्तु मानी जाय तो पूर्वका उत्तरके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध न होनेसे उच्छेदवादका प्रसङ्ग आयगा। इसमें भी करेगा कोई अन्य तथा भोगेगा कोई अन्य। इस तरह कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष आते हैं। इन दोनों एकान्तोंसे बचनेका जो मार्ग है उसे ही हम ध्रौव्य या द्रव्य कहते हैं। जो न बिलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला ही जिससे एक अचेतन या चेतन अपनी तद्द्रव्यत्वकी सीमाको लाँघकर दूसरा चेतन या अचेतन बन जाय। सीधे शब्दोंमें उसकी यही परिभाषा हो सकती है कि–किसी विवक्षित एक द्रव्यके प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय करनेपर भी जिसके कारण उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणमन नहीं होता उस स्वरूपास्तित्वका ही नाम द्रव्य ध्रौव्य या गुण है। बौद्धके द्वारा सन्तान भी इसी प्रयोजनसे माना गया है कि नियत पूर्वक्षण नियत उत्तरक्षणके साथ ही कार्यकारणभाव रखे क्षणान्तरसे नहीं। तात्पर्य यह कि–इस सन्तानके कारण ही एक चेतनक्षण अपनी धाराके ही उत्तर चेतनक्षणका कारण होता है विजातीय अचेतनक्षण और सजातीय चेतनान्तरक्षणका नहीं। वे स्वयं कहते हैं[1]–

"यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥"

अर्थात् जिस सन्तानमें कर्मवासना है फल भी उसी सन्तानमें होता है, जैसे जिस कपासके बीजको लाखके रंगसे सींचा जाता है उसीसे उत्पन्न कपासमें लालिमा आती है।

इस तरह तात्त्विक दृष्टिसे सन्तान और द्रव्यके प्रयोजन उपयोग या कार्यमें कोई अनन्तर नहीं है। अन्तर है उसके स्वरूपमें।

बौद्ध जिस 'सन्तान'से प्रतिनियत कार्यकारणभाव बैठानेका गुरुतर कार्य कराते हैं उसी सन्तानको पंक्ति और सेनाकी तरह 'मृषा' भी कहते हैं[2]। जैसे दस मनुष्योंकी एक लाइनमें तथा सैनिक घोड़े आदिके समुदायमें पंक्ति और सेना नामका कोई एक अनुस्यूत पदार्थ नहीं है फिर भी उनमें पंक्ति और सेना व्यवहार हो जाता है। उसी तरह पूर्व और उत्तरक्षणमें कार्यकारणभावकी नियामक 'सन्तान' भी मृषा याने असत्य है, केवल व्यवहारके लिये कल्पित है। किन्तु ध्रौव्य या द्रव्यकी स्थिति इस प्रकारकी सन्तानसे सर्वथा भिन्न है। वह क्षणकी तरह सत्य है। जिस प्रकार 'पंक्ति' की सत्ता व्यावहारिक या सांकेतिक है उस प्रकार द्रव्य या ध्रौव्यकी सत्ता मात्र व्यावहारिक या सांकेतिक नहीं है किन्तु वह परमार्थसत् है। 'तब वह है क्या?' इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर यह है कि जिस स्वरूपास्तित्वके कारण क्रमिक पर्यायें निश्चित तद्द्रव्यकी धारामें

(१) तत्त्वसं० पं० पृ० १८२ में उद्धृत प्राचीन श्लोक।
(२) "सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा।"–बोधिच० पृ० ३३४।

असंकरभावसे अनन्त कालतक परिवर्तित होकर चली जा रही हैं वही पर्यायोंसे कथञ्चित्तादात्म्यको प्राप्त स्वरूपास्तित्व ध्रौव्य या द्रव्य कहलाता है। पंक्तिके अन्तर्गत कोई भी पुरुष उस पंक्तिसे पृथक् होकर दूसरी पंक्तिमें शामिल हो सकता है पर कोई भी पर्याय अपने द्रव्यसे चाहनेपर भी पृथक् नहीं हो सकती और न द्रव्यान्तरमें विलीन ही हो सकती है। उसकी कार्यकारणभावके अनुसार जैसी क्रमिक स्थिति है उससे वह इधर-उधर नहीं जा सकती। यही तद्द्रव्यत्वका नियामक स्वरूप ध्रौव्य या द्रव्य पदसे लक्षित होता है। बौद्धाभिमत सन्तानका खोखलापन तो तब समझमें आता है जब वे निर्वाणमें चित्तसन्ततिका समूलोच्छेद मान लेते हैं। प्रदीपनिर्वाणकी तरह चित्तनिर्वाण यदि माना जाता है तो चित्त एक अनादिकालीन उस धाराके समान रहा जो अन्तमें कहीं जाकर विलीन हो जाती है, उसका अपना मौलिकत्व सार्वकालिक न होकर अस्थायी ही सिद्ध होता है। किन्तु इस तरह किसी स्वतन्त्र अर्थका सर्वथा उच्छेद स्वीकार करना युक्ति और अनुभवके विरुद्ध तो है ही पदार्थव्यवस्थाके प्रारम्भिक नियमके प्रतिकूल भी है। अतः जैनाभिमत ध्रौव्य पंक्ति और सेनाकी तरह बुद्धिकल्पित सांकेतिक या व्यावहारिक न होकर तद्द्रव्यत्व रूप परमार्थ सत् है। इस तरह समस्त द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं, कोई भी इसका अपवाद नहीं है। ध्रौव्यको द्रव्य और उत्पाद और व्ययको पर्याय कहते हैं अतः उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मकका अर्थ होता है द्रव्य-पर्यायात्मक तत्त्व। अकलङ्कदेवने प्रमेयके निरूपणमें द्रव्य और पर्याय विशेषणके साथ सामान्य और विशेष शब्दका भी प्रयोग[1] किया है। अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक तत्त्व प्रमाणका गोचर होता है।

सामान्यविशेषात्मक अर्थ–

जैन दृष्टिसे पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है। उसमें कुछ धर्म सामान्यात्मक हैं और कुछ विशेषात्मक। प्रत्येक पदार्थमें दो प्रकारके अस्तित्व हैं–एक स्वरूपास्तित्व और दूसरा सादृश्यास्तित्व। एक द्रव्यको सजातीय या विजातीय किसी भी द्रव्यसे असङ्कीर्ण रखनेवाला स्वरूपास्तित्व है। इसके कारण एक द्रव्यकी पर्यायें दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यसे असंकीर्ण रहकर पृथक् अस्तित्व रखती हैं। यह स्वरूपास्तित्व जहाँ विवक्षित द्रव्यकी इतरद्रव्योंसे व्यावृत्ति करता है वहाँ वह अपनी कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें अनुगत भी रहता है। सारांश यह कि स्वरूपास्तित्वसे अपनी पर्यायोंमें तो अनुगत प्रत्यय होता है तथा इतरद्रव्यों और उनकी पर्यायोंमें व्यावृत्तप्रत्यय। इस स्वरूपास्तित्वको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। इसे ही द्रव्य कहते हैं, क्योंकि यह अपनी क्रमिक पर्यायोंमें द्रवित होता है अर्थात् क्रमशः प्राप्त होता है।

दूसरा सादृश्यास्तित्व है जो विभिन्नसत्ताक द्रव्योंमें सादृश्यमूलक अनुगत व्यवहार कराता है। जैसे कि स्वतन्त्र पृथक् सत्ता रखनेवाली अनेक गायोंमें 'गौ गौ' यह अनुगत व्यवहार करानेवाला गोत्व। इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं। यह सादृश्यरूप है और प्रत्येक व्यक्तिमें परिसमाप्त है। काली गायकी नीली गायसे जो सास्नादिमत्त्व आदि रूपसे समानता है वह दोनोंमें परिसमाप्त है अर्थात् कालीगायका सादृश्य नीली गायमें रहता है और नीली गायका सादृश्य काली गायमें। दोनों या अनेक गायों में मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया हुआ कोई एकगोत्व नहीं है। संक्षेपमें सार यह है कि–एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें अनुगत व्यवहार करानेवाला स्वरूपास्तित्व होता है। जिसे ऊर्ध्वतासामान्य द्रव्य या ध्रौव्य कहते हैं। विभिन्न अनेक द्रव्योंमें अनुगत व्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व होता है। इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं।

इसी तरह विशेष भी दो प्रकार के हैं–एक पर्याय और दूसरा व्यतिरेक। एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें विलक्षण या व्यावृत्त प्रत्यय पर्यायनामक विशेषसे होता है तथा विभिन्न दो द्रव्योंमें व्यावृत्तप्रत्यय व्यतिरेक विशेषसे होता है। तात्पर्य यह कि एक द्रव्यकी पर्यायोंमें व्यावृत्तप्रत्यय 'पर्याय' विशेषसे और अनुगत प्रत्यय 'ऊर्ध्वता' सामान्यसे होता है जब कि विभिन्न द्रव्योंमें अनुगत प्रत्यय 'तिर्यक्सामान्यसे' और व्यावृत्त प्रत्यय 'व्यतिरेक' विशेषसे होता है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मकके साथ-ही-साथ द्रव्यपर्यायात्मक भी होता है। 'द्रव्य' कहनेसे ऊर्ध्वता सामान्य और 'पर्याय' कहनेसे 'पर्याय' विशेष के गृहीत हो जानेसे

(१) सिद्धिवि० वि० ३।२३। "द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थगोचरम्"–न्यायवि० १।३।

सामान्यविशेषात्मकताका ही निरूपण होता है फिर भी 'सामान्यविशेषात्मक' विशेषणको पृथक् कहनेका प्रयोजन यही है कि पदार्थमें तिर्यक् यानी सादृश्य सामान्य और व्यतिरेक विशेष भी है जो उसकी सामान्य-विशेषात्मकताको परिपूर्ण करते हैं। अतः साधारणतया सामान्यविशेषात्मक कहनेसे तिर्यक्सामान्यात्मक और व्यतिरेकविशेषात्मक पदार्थका ग्रहण होता है और द्रव्यपर्यायात्मक कहनेसे ऊर्ध्वतासामान्य और पर्यायविशेषात्मक वस्तुका बोध होता है।

यद्यपि सामान्यविशेषात्मक कहनेसे द्रव्यपर्यायात्मकत्वका बोध हो जाता है फिर भी 'द्रव्यपर्यायात्मक' विशेषणसे यह सूचित होता है कि कोई भी पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मकता यानी उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मकता या परिणामीस्वभावके बाहर नहीं है। पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक न होकर भी सामान्यविशेषात्मक हो सकता है जैसे कि नैयायिक द्वारा स्वीकृत पृथिव्यादिके अणु। अतः समस्त पदार्थोंमें निरपवाद परिणामिरूपता सूचित करनेके लिये द्रव्यपर्यायात्मक विशेषण पृथक् दिया गया है। सामान्यविशेषात्मक विशेषण पदार्थके धर्मोंको विषय करता है जब कि द्रव्यपर्यायात्मक विशेषण पदार्थके परिणमनका निर्देश करता है। इस तरह सामान्यविशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ प्रमाणका प्रमेय होता है।

प्रमेयके भेद–

जैन परम्परामें प्रमेय अर्थात् द्रव्योंके मूलतः दो भेद हैं एक चेतन और दूसरा अचेतन। चेतनद्रव्य आत्मा या जीव है और अचेतन पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और कालके भेदसे पाँच प्रकारके हैं।

१ पुद्गल–रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले परमाणु पुद्गल द्रव्य हैं। ये अनन्त हैं। इनमें मूलतः पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि भेद नहीं है। ये भेद तो जब अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर स्कन्ध बनते हैं तब होते हैं। पुद्गल परमाणु जब स्कन्ध बनते हैं तब उनका रासायनिक बन्ध हो जाता है। उस समय उस स्कन्धमें जितने पुद्गल परमाणु सम्बद्ध हैं सबका लगभग एक जैसा परिणमन हो जाता है। और उसी औसत परिणमनके अनुसार स्कन्धमें रूपविशेष और रसविशेष आदिका व्यवहार होता है। जब किसी एक आम आदि स्कन्धमें सड़ाँद पैदा होती है तो इसका अर्थ है कि उस हिस्सेके परमाणु अब एक स्कन्ध अवस्थामें नहीं रहना चाहते, और वे धीरे-धीरे स्कन्धकी सत्ता समाप्त कर देते हैं। यह समस्त जगत् इन्हीं पुद्गल परमाणुओंके विविध परिणमनोंका खेल है। प्रतिसमय उनका कोई न कोई परिणमन करनेका निज स्वभाव है, अतः जब जैसी सामग्री मिलती है उसके अनुसार उनके विचित्र और अचिन्त्य परिणमन होते रहते हैं। पुद्गलका अर्थ है पूरण और गलन होना। यानी जिसमें कुछ आता रहे और जाता रहे।

धर्म द्रव्य–एक लोकव्यापी अमूर्त द्रव्य जो गमनशील जीव और पुद्गलोंकी गतिमें सहायक होता है। यह यद्यपि गतिका प्रेरक नहीं होता पर इसके बिना गति नहीं हो सकती।

अधर्म द्रव्य–लोकव्यापी अमूर्त द्रव्य जो स्थितिशील जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें सहायक होता है। यह भी प्रेरक नहीं होता पर इसके बिना स्थिति नहीं हो सकती। इन दो द्रव्योंके माननेका प्रयोजन यह है कि अनन्त आकाशमें इस लोक-विश्वका अमुक आकार या सीमा तभी बन सकती है जब उस सीमाके आगे जीव और पुद्गल न पाये जाँय। इन द्रव्योंके अभावके कारण लोककी सीमाके आगे जीवादि द्रव्य नहीं पाये जाते। यानी लोक और अलोकका विभाग इन द्रव्योंके कारण होता है। इन पाँच अजीव या अचेतन द्रव्योंके अतिरिक्त अनन्त जीव-द्रव्य हैं।

आकाश द्रव्य–अनन्त अमूर्त एक द्रव्य है जिसमें समस्त द्रव्योंका अवगाह होता है। इसके दो विभाग अन्य द्रव्योंके अवस्थानकी अपेक्षा हो जाते हैं। जहाँतक अन्य द्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है वह अलोकाकाश है।

काल द्रव्य–लोकाकाशव्यापी असंख्य कालाणु द्रव्य हैं, जो स्वयं तो परिवर्तन करते ही हैं साथ ही अन्य द्रव्योंके परिवर्तनमें निमित्त भी होते हैं। घड़ी, घण्टा, दिन आदि काल-व्यवहार इन्हींके निमित्तसे होता है।

जीवका स्वरूप–

भारतीय दर्शन ही क्या विश्वके दर्शनोंमें 'आत्मा' एक समस्या रही है। चार्वाकको छोड़कर शेष सभी दर्शनोंने जड़तत्त्वसे पृथक् आत्मतत्त्व स्वीकार किया है जो परलोकगामी होता है तथा बन्धनमुक्त हो जाता है, भले ही उसे चित्तप्रवाह कहा हो या अन्य कोई संज्ञा दी हो। चार्वाक चैतन्यशक्ति तो मानता है पर उसका उद्गम पृथिवी जल आदि भूतचतुष्टयके विशिष्ट रासायनिक मिश्रणसे स्वीकार करता है। [1]उसके मतमें पृथिवी जल अग्नि और वायुये चार ही मूल तत्त्व हैं। इनके समुदायसे शरीर इन्द्रियाँ आदि उत्पन्न होती हैं और उनमें[2] चैतन्य अभिव्यक्त या उत्पन्न होता है। शरीरके नष्ट होते ही उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसके मतमें किसी परलोकगामी जीवकी सत्ता नहीं है।

वैदिक परम्परामें अन्न[3] प्राण[4] इन्द्रिय[5] मन[6] प्रज्ञा[7] प्रज्ञान[8] विज्ञान[9] और आनन्द[10] रूपमें आत्माका वर्णन मिलता है। फिर उसका चेतन [11]ब्रह्मके रूपमें भी निरूपण है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४।४।२०) आदिमें इसका अजर अमृत अव्यय अज शाश्वतके रूपमें विस्तृत वर्णन आता है। इस तरह सामान्यतया उपनिषद् धारामें आत्माको स्वतन्त्र तत्त्व माननेका विचार बहुत प्राचीनकालसे चालू था। बुद्ध स्वयं अनात्मवादी थे। किन्तु उन्होंने अपने 'अनात्मवाद'में उपनिषत्के नित्य शाश्वत आत्माका निषेध किया है न कि आत्माके अस्तित्वका ही। वे आत्माको जिस प्रकार नित्य या शाश्वत नहीं मानना चाहते थे उसी प्रकार चर्वाकोंकी तरह उच्छिन्न भी नहीं मानना चाहते थे। उन्हें जिस प्रकार शाश्वतवादमें खतरा दिखाई देता था उसी तरह उच्छेदवादमें भी। इसलिये उन्होंने आत्माके स्वरूपको पहिले तो 'अव्याकृत' ही रखा। यदि किसीने कहलवानेका प्रयत्न भी किया तो उन्होंने इतना ही कहा कि न वह शाश्वत है और न उच्छिन्न। दो 'न' के सहारे उन्होंने आत्माको 'अशाश्वत अनुच्छिन्न' रूपसे व्यक्त किया है। बुद्ध जन्म-मरण परलोक बन्धन और निर्वाण आदि सभी मानते थे पर इनका आधार स्थायी तत्त्व नहीं मानना चाहते थे। उन्हें जिस प्रकार शाश्वत-आत्मवादमें आत्माके निर्विकारी या अपरिणामी रहनेसे ब्रह्मचर्य दीक्षा आदि उपायोंसे आत्मसंशोधन या निर्वाण असम्भव दिखता था उसी तरह चार्वाकके उच्छेदवादमें भी ब्रह्मचर्य आदिकी निरर्थकता साफ-साफ दिखाई देती थी। इसीलिये वे अपने भिक्षुओंको इन दोनों अन्तोंसे बचनेकी सलाह देते थे। उनका कहना था कि चित्त प्रवाह प्रतिक्षण परिवर्तित होता हुआ बहता चला आ रहा है, पूर्वसे उत्तर उत्पन्न होता जाता है। पूर्व नष्ट होता है तो उसी उपादानसे उत्तर उत्पन्न हो जाता है। जो भी संस्कार पूर्वमें प्राप्त थे वे उत्तरमें परिवर्तित होनेपर भी आते हैं। अतः ब्रह्मचर्य दीक्षा आदिसे यदि चित्तको अभिसंस्कृत किया जाता है तो उससे आगे उत्पन्न होनेवाला चित्त क्रमशः निरास्रव बन सकता है। इसमें ब्रह्मचर्य दीक्षा आदिकी निर्वेद वैराग्य निरोध और निर्वाण आदिके लिए सार्थकता है।

उपनिषद्वादी आत्माको नित्य मानकर उसे रागादिद्वन्द्वोंसे रहित वीतराग बनाना चाहते थे तो बुद्ध उसे क्षण परिवर्तित मानकर भी वीतराग बनाना चाहते थे। दोनोंका लक्ष्य एक था, पर विचार या दृष्टि-कोण जुदे-जुदे थे। जैन परम्परामें जीवका स्वरूप इस प्रकार बताया है–

> "जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
> भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई[12]॥"

(१) "पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः।"–तत्त्वोप० पृ० १।
(२) "तेभ्यश्चैतन्यम्"–तत्त्वसं० प० पृ० ५२० में उद्धृत।
(३) तैत्ति० २।१।२। (४) छान्दोग्य० ४।३।३।
(५) बृहदा० १।५।२१। (६) तैत्ति० २।३।
(७) कौषीतकी ३।२। (८) ऐतरेय ३।२।
(९) तैत्ति० २।४। (१०) तैत्ति० २।५। (११) तैत्ति० २।६।
(१२) द्रव्यसं० गा० २।

जीव उपयोगरूप है, अमूर्त है कर्त्ता और भोक्ता है, स्वदेहपरिमाण है, संसारी है और सिद्ध हो जाता है। वह स्वभावसे ऊर्ध्वगमनशील है।

यह बताया जा चुका है कि चैतन्य ही जीवका स्वरूप है, वही चैतन्य ज्ञान और दर्शन अवस्थाओंमें परिणत होता है। न्यायवैशेषिक आत्मासे ज्ञानको भिन्न मानकर उसमें ज्ञानादिका समवाय मानते हैं जबकि जैन चैतन्यको स्वरूपभूत गुण।

जीवको अमूर्त सभी जीववादी मानते हैं। पर जैन-परम्परा संसारी अवस्थामें सदा कर्मपुद्गलोंमे बन्धन रहनेके कारण उसे व्यवहारदृष्टिसे मूर्त मान लेती है। सांख्यका आत्मा सदा कूटस्थ नित्य है। नैयायिकके आत्मा तक किसी परिणमनकी पहुँच नहीं है, वह गुणोंतक ही सीमित है और गुण पृथक् पदार्थ हैं। बौद्धके यहाँ परिणमन है पर परिणमनोंका आधार कोई नहीं है जब कि जैन परिणमन भी मानता है और उसका आधार भी। इसलिये संसारी अवस्थामें जब कि उसका वैभाविक-विकारी परिणमन होता है, आत्माको कथञ्चित् मूर्त भी माना गया है। उसे स्वयं कर्ता और भोक्ता भी माना है। सांख्यके मतमें कर्तृत्व प्रकृतिमें है और भोक्तृत्व आत्मामें है। यह भोक्तृत्व भी ऊपरी है। वह इतना ही है कि बुद्धिरूपी उभयदर्शी दर्पणमें चैतन्य भी प्रतिफलित होता है और विषय भी। दोनोंका बुद्धि-दर्पणमें एक साथ प्रतिफलित हो जाना ही भोग है। तात्पर्य यह कि सब कुछ परिणमन होता है प्रकृतिमें किन्तु पुरुषमें भोक्तृत्व मान लिया जाता है। बौद्धने कर्तृत्व और भोक्तृत्व एक ही चित्तधारामें घटाया है। जैनका आत्मा तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमन करनेके कारण कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर्यायसे स्वयं परिणत होता है। बँधता भी वही है और मुक्त भी वही होता है। अनादिकालसे वह मूर्त कर्मपुद्गलोंसे बद्ध ही चला आ रहा है। इसीलिये अनादि कालसे ही वह कथंचित् मूर्त है और कर्मानुसार प्राप्त छोटे-बड़े शरीरके अनुसार संकोच और विकास करके उस शरीरके प्रमाण आकारवाला होता है। चूँकि स्वभावतः वह अमूर्त-द्रव्य है, पुद्गलसे जुदा है, और वासनाओंके कारण संसार अवस्थामें विकृत हो रहा है अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र आदि प्रयत्नोंसे धीरे-धीरे शुद्ध होकर कर्म-बन्धनसे मुक्त सिद्ध हो जाता है, उस समय उसका आकार अन्तिम शरीर जैसा ही रह जाता है। कारण यह बताया गया है कि जीवके प्रदेशोंमें संकोच और विकास दोनों ही कर्म-सम्बन्धसे होते थे। जब कर्म-बन्धन छूट गया तब जीवके प्रदेशोंके फैलनेका भी कारण नहीं रह जाता, अतः वे अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून आकारवाले रह जाते हैं।

आत्माके आकारके सम्बन्धमें उपनिषदोंमें अनेक मत हैं—उसे अणुपरिमाण[1], चावल[2] या जवके दानोंके बराबर, अंगुष्ठप्रमाण[3] और विलस्तप्रमाण[4] आदि रूपमें माना है। आत्माको देहपरिमाण माननेके विचार भी उपनिषदोंमें पाये जाते हैं[5]। किन्तु अन्ततः उपनिषदोंका झुकाव उसे सर्वगत माननेकी ओर है। चार्वाकका देहको ही आत्मा मानने और जैनका देहपरिमाण आत्मा माननेमें मूलभूत भेद यही है कि जैन आत्माको स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं जब कि चार्वाकके यहाँ उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

व्यापक आत्मवादियोंके मतसे मुक्त अवस्थामें आत्मा जहाँ-का-तहाँ जैसा-का-तैसा बना रहता है। व्यापक होनेके कारण उसका प्रकृति और मनसे संयोग भी बना रहता है। अन्तर इतना ही हो जाता है कि जो प्रकृति संसार अवस्थामें उसके प्रति प्रवृत्ताधिकार थी वह निवृत्ताधिकार हो जाती है। जो मन अपने संयोगसे संसारदशामें पुरुषमें बुद्धि सुख-दुःख आदि उत्पन्न करता था वह मोक्ष अवस्थामें उसके प्रति नपुंसक हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि मुक्ति प्रकृति या मनकी हुई। आत्माने तो अपने नित्य सर्वगत स्वभावको न पहिले छोड़ा था और न अब नया प्राप्त ही किया है, वह तो जैसा-का-तैसा है।

बुद्धने निर्वाण अवस्थामें चित्तका क्या होता है इस विषयमें मौन रखा है, उसे अव्याकृत कहा है। किन्तु प्रदीप निर्वाणकी तरह आत्मनिर्वाणकी कल्पना यानी चित्तके सर्वथा उच्छिन्न होनेकी बात पदार्थ-

(१) मैत्र्यु० ६।३८। (२) बृहदा० ५।६।१।
(३) कठोप० २।२।१२। (४) छान्दो० ५।१८।१।
(५) तैत्ति० १।२। कौषतकी ४।२०।

स्थितिके मूल दार्शनिक सिद्धान्तके विरुद्ध है। यह तो चार्वाक जैसा ही हुआ। जिस प्रकार चार्वाक चित्त या जीवका उच्छेद शरीरके साथ ही स्वीकार करता है उसी प्रकार बौद्धोंने भी उसका संसारके साथ उच्छेद मान लिया है। अन्तर यह अवश्य है कि चार्वाक उसका प्रारम्भ गर्भसे मानता है तो ये उसका 'प्रारम्भ' न मानकर उसे अनादि मानते हैं। पर आत्मा या चित्त न चार्वाकके मतमें मौलिक तत्त्व हुआ और न प्रदीप-निर्वाणवादी बौद्धों के यहाँ। मैं पहिले लिख आया हूँ कि बौद्धोंमें जब दार्शनिक वाद-विवादका युग आया और चारों ओरसे उनपर इस उच्छेदवादके दूषणोंकी बौछार पड़ने लगी तो शान्तरक्षित और तत्पूर्ववर्ती कुछ आचार्योंने मुक्तिमें भी शुद्धचित्तकी सत्ता स्वीकार करनेके मतका प्रतिपादन किया। तत्त्वसंग्रह पंजिका (पृ० १०४) में आ० कमलशील यह प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हैं—

> **"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।**
> **तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"**

अर्थात् जो चित्त रागादिक्लेशसे वासित होकर संसार कहलाता है वही जब रागादिक्लेशोंसे रहित हो जाता है तो भवान्त कहा जाता है। इतना ही नहीं शान्तरक्षित तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें लिखते हैं[1] कि–

"**मुक्तिर्निर्मलता धियः**"–अर्थात् बुद्धिकी निर्मलता ही मुक्ति है। इस चित्तशुद्धिरूप मुक्तिका प्रतिपादन करनेपर ही उनकी दार्शनिक वाद-विवादमें रक्षा हो सकी है।

देहसे भिन्न आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए 'अहम्' प्रत्यय ही सबसे बड़ा प्रमाण है, जो 'अहं सुखी, अहं दुःखी' आदिके रूपमें प्रत्येक प्राणीके अनुभवमें आता है। मनुष्योंके अपने-अपने जन्मान्तरीय संस्कार होते हैं, जिनके अनुसार वह इस जन्ममें अपना विकास करता है। जन्मान्तरके स्मरणकी अनेकों घटनाएँ सुनी गयी हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस वर्तमान शरीरको छोड़कर आत्मा नये शरीरको धारण करता है। यह ठीक है कि इस कर्म-परतन्त्र आत्माकी स्थिति बहुत कुछ शरीर और शरीरके अवयवों के अधीन हो रही है, किसी रोगसे मस्तिष्कके विकृत हो जानेपर समस्त अर्जित ज्ञान विस्मृतिके गर्भमें चला जाता है, रक्तचापकी कमीबेसी होनेपर उसका हृदयकी गति और मनोभावोंके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है। आधुनिक भूतवादियोंने भी (Thyroid and Pituitary) थाइराइड और पिचुयेटरी ग्रन्थियोंसे उत्पन्न होनेवाले (Hormone) नामक द्रव्यके कम हो जानेपर ज्ञानादिगुणोंमें कमी आ जाती है, यह सिद्ध किया है। किन्तु यह सब देहपरिमाणवाले स्वतन्त्र आत्मतत्त्वके माननेपर ही सम्भव हो सकता है। क्योंकि संसारीदशामें आत्मा इतना परतन्त्र है, कि उसके अपने निजी गुणोंका विकास भी इन्द्रियादिके सहारेके बिना नहीं हो पाता। ये भौतिक द्रव्य उसके गुणविकासमें उसी तरह सहारा देते हैं, जैसे कि झरोखेसे देखनेवाले पुरुषको देखनेमें झरोखा सहारा देता है। कहीं-कहीं[2] जैन ग्रन्थोंमें जीवके स्वरूपका वर्णन करते समय 'पुद्गल' विशेषण भी दिया है, यह एक नई बात है। वस्तुतः वहाँ उसका तात्पर्य इतना ही है कि जीवका वर्तमान विकास और जीवन जिन आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वासके सहारे होता है, वे सब पौद्गलिक हैं। इस तरह निमित्तकी दृष्टिसे उसमें पुद्गल विशेषण दिया गया है, स्वरूपकी दृष्टिसे नहीं। आत्मवादके प्रसङ्गमें जैन-दर्शनका उसे शरीररूप न मानकर पृथक् तत्त्व स्वीकार करके शरीरपरिमाण मानना अपनी अनोखी सूझ है, और इससे भौतिकवादियोंके द्वारा दिये जानेवाले आक्षेपोंका निराकरण हो जाता है।

इच्छा, संकल्पशक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्ककी उपज नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि किसी भी भौतिक यन्त्रमें स्वयं चलने, टूटनेपर अपने आपको सुधारने और अपने सजातीयको उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं देखी जाती। अवस्थाके अनुसार बढ़ना, घावका अपने आप भर जाना, जीर्ण हो जाना इत्यादि ऐसे धर्म हैं, जिनका समाधान केवल भौतिकतासे नहीं हो सकता। हजारों प्रकारके छोटे-बड़े यन्त्रोंका आविष्कार, जगत्के विभिन्न कार्य-कारणभावोंका स्थिर करना, गणितके आधारपर ज्योतिर्विद्याका विकास

(१) तत्त्वसं० पृ० १८४।
(२) "जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।"–अंगप० २।८६।

मनोरम कल्पनाओंसे साहित्याकाशको रंग-विरंगा करना आदि एक स्वयं समर्थ, स्वयं चैतन्यशाली द्रव्यका ही कार्य है। प्रश्न उसके व्यापक, अणु-परिमाण या मध्यम-परिमाणका हमारे सामने है। अनुभवसिद्ध कार्य-कारणभाव हमें उसे संकोच और विस्तारस्वभाववाला द्रव्य माननेको प्रेरित करता है। किसी असंयुक्त अखण्ड द्रव्यके गुणोंका विकास नियत प्रदेशोंमें नहीं हो सकता।

जैन देखने और सूँघनेकी शक्ति केवल उन-उन आत्मप्रदेशोंमें नहीं मानते, अपितु सम्पूर्ण आत्मामें मानते हैं। आत्मा अपने पूर्ण शरीरमें सक्रिय रहता है। अतः वह उन-उन चक्षु, नाक आदि उपकरणोंके झरोखोंसे रूप और गन्ध आदिका परिज्ञान करता है। अपनी वासनाओं और कर्मसंस्कारोंके कारण ही उसकी अनन्त शक्ति इस प्रकार छिन्न-विच्छिन्न रूपसे प्रकट होती है। अतः प्रतीति, अनुभव और युक्ति हमें सहज ही इस नतीजेपर पहुँचा देती है कि आत्मा केवल भूतचतुष्टयरूप नहीं है, किन्तु उनसे भिन्न, पर उनके सहारे अपनी शक्तिको विकसित करनेवाला स्वतन्त्र, अखण्ड और अमूर्तिक पदार्थ है। इसकी आनन्द और सौन्दर्यानुभूति स्वयं इसके स्वतन्त्र अस्तित्वके खासे प्रमाण हैं। राग और द्वेषका होना तथा उनके कारण हिंसा आदिके आरम्भमें जुट जाना, भौतिक यन्त्रका काम नहीं हो सकता। कोई भी यन्त्र अपने आप चले, स्वयं बिगड़ जाय और बिगड़नेपर अपनी मरम्मत स्वयं करले, स्वयं प्रेरणा ले और समझ-बूझकर चले यह असम्भव है। चैतन्य इन्द्रियोंका धर्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियोंके बने रहनेपर भी चैतन्य नष्ट हो जाता है। चैतन्य यदि प्रत्येक इन्द्रियका धर्म माना जाता है तो एक इन्द्रियके द्वारा जाने गये पदार्थका इन्द्रियान्तरसे अनु-सन्धान नहीं होना चाहिए। पर इमली या आमकी फाँकको देखते ही जीभमें पानी आ जाता है। अतः ज्ञात होता है कि आँख और जीभ आदि इन्द्रियोंका प्रयोक्ता कोई सूत्र-संचालक अवश्य है। जिस प्रकार शरीर अचेतन है उसी तरह इन्द्रिय भी अचेतन हैं। अतः अचेतनसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हो तो उसके रूप रस गन्ध और स्पर्श आदिका अन्वय चैतन्यमें उसी तरह होना चाहिए जैसे कि मिट्टीके रूपादिका अन्वय मिट्टीसे उत्पन्न घड़ेमें होता है। जीवको पृथक् सिद्ध करनेकी युक्तियोंका संग्रह इस प्रकार है–

> "तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेः भवस्मृतेः।
> भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातन ॥"[1]

अर्थात् तत्काल उत्पन्न हुए बालककी स्तनपानकी चेष्टासे, भूत राक्षस आदिके सद्भावसे, परलोकके स्मरणसे और भौतिक रूपादि गुणोंका चैतन्यमें अन्वय न होनेसे एक अनादि अनन्त आत्मा पृथक् द्रव्य सिद्ध होता है, जो सबका ज्ञाता है।

सिद्धिवि० (२।२५) में आत्माको पृथक् सिद्ध करनेके लिये धर्मकीर्तिकी सन्तानान्तरसिद्धिवाली युक्ति भी दी है कि–जब हम अपनी देहमें वचन व्यापार आदि चेष्टाओंकी बुद्धिपूर्वक उत्पत्ति देखते हैं और उन्हीं चेष्टाओंको दूसरोंके शरीरमें देखते हैं तब यह सहजमें कल्पना होती है कि उनमें भी बुद्धि है।

यह आत्मा स्वयं अपने कर्मोंका कर्ता और भोक्ता होता है। इसे पुण्य और पापको भोगनेके लिये स्वर्ग और नरक भेजनेवाले किसी प्रभु की सत्ता जैनपरम्परा नहीं मानती। प्राकृतिक नियमोंके अनुसार समस्त सृष्टिचक्र स्वयं चालित है।

इस प्रकार जैन-परम्परामें छह द्रव्य मौलिक माने गये हैं। सभी निरपवाद रूपसे द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक हैं।

*

३ नयमीमांसा

अधिगमके उपायोंमें प्रमाणके साथ नयका भी निर्देश किया गया है। प्रमाण वस्तुके पूर्णरूपको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशको जानता है। ज्ञाताका वह अभिप्राय-

---

(१) प्रमेयरत्नमाला ४।८ में उद्धृत।

विशेष 'नय है जो प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एक देशको स्पर्श करता है। वस्तु अनन्तधर्मवाली है। प्रमाणज्ञान उसे समग्रभावसे ग्रहण करता है, उसमें अंशविभाजन करनेकी ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। जैसे 'यह घड़ा है' इस ज्ञानमें प्रमाण घड़ेको अखंडभावसे उसके रूप रस गन्ध स्पर्श आदि अनन्त गुणधर्मोंका विभाग न करके पूर्णरूपमें जानता है जब कि नय उसका विभाजन करके 'रूपवान् घटः' 'रसवान् घटः' आदि रूपमें उसे अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार जानता है। एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि प्रमाण और नय ज्ञानकी ही वृत्तियाँ हैं, ज्ञानात्मक पर्यायें हैं। जब ज्ञाताकी सकलग्रहणकी दृष्टि होती है तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाणसे गृहीत वस्तुको खंडशः ग्रहण करनेका अभिप्राय होता है तब वह अंशग्राही अभिप्राय नय कहलाता है। प्रमाणज्ञान नयकी उत्पत्तिके लिये भूमि तैयार करता है।

यद्यपि छद्मस्थोंके सभी ज्ञान वस्तुके पूर्णरूपको नहीं जान पाते फिर भी जितनेको वह जानते हैं उनमें भी उनकी यदि समग्रग्रहणकी दृष्टि है तो वे सकलग्राही ज्ञान प्रमाण हैं और अंशग्राही विकलज्ञान नय। 'रूपवान् घटः' यह ज्ञान भी यदि रूपमुखेन समस्त घटका ज्ञान अखंडभावसे करता है तो प्रमाणकी ही सीमामें पहुँचता है और घटके रूप रस आदिका विभाजनकर यदि घड़ेके रूपको मुख्यतया जानता है तो वह नय कहलाता है। प्रमाणके जाननेका क्रम एक देशके द्वारा भी समग्रकी तरफ है जब कि नय समग्र वस्तुको विभाजितकर उसके अंशविशेषकी ओर झुकता है। प्रमाण चक्षुके द्वारा रूपको देखकर भी उस द्वारसे पूरे घड़ेको आत्मसात् करता है और नय उस घड़ेके खण्डकर उसके रूप आदि अंशोंको जाननेकी ओर झुकता है। इसीलिये प्रमाणको सकलादेशी और नयको विकलादेशी कहा है। प्रमाणके द्वारा जानी गई वस्तुको शब्दकी तरंगोंमें अभिव्यक्त करनेके लिए जो ज्ञानकी रुझान होती है वह नय है।

नय प्रमाणका एक देश है–

'नय प्रमाण है या अप्रमाण?' इस प्रश्नका समाधान 'हाँ और ना' में नहीं किया जा सकता? जैसे कि घड़ेमें भरे हुए समुद्रके जलको न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही। नय[2] प्रमाणसे उत्पन्न होता है अतः प्रमाणात्मक होकर भी अंशग्राही होनेके कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता और अप्रमाण तो वह हो ही नहीं सकता। अतः जैसे घड़ेका जल समुद्रैकदेश है उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश[3] है अप्रमाण नहीं। नयके द्वारा ग्रहण की जानेवाली वस्तु भी न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु किन्तु वस्त्वेकदेश ही वह हो सकती है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसागरका वह अंश नय है जिसे ज्ञाताने अपने अभिप्रायके पात्रमें भर लिया है। उसका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही है, पर उसमें वह विशालता और समग्रता नहीं है जिससे उसमें सब समा जाता है। लोग जैसे अपने छोटे-बड़े पात्रके अनुसार ही जल ग्रहण करते हैं उसी तरह प्रमाणकी रंगशालामें नय अनेक रूपों और वेशोंमें अपना नाटक रचता है।

सुनय दुर्नय–यद्यपि अनेकान्तात्मक वस्तुके एक-एक अंश अर्थात् धर्मोंको विषय करनेवाले अभिप्रायविशेष प्रमाणकी सन्तान हैं पर इनमें यदि सुमेल, परस्परप्रीति और अपेक्षा है तो ही ये सुनय हैं अन्यथा दुर्नय। नय अनेकान्तात्मक वस्तुके अमुक अंशको मुख्यभावसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंका निराकरण नहीं करता, किन्तु उनके प्रति तटस्थभाव रखता है। पिताकी जायदादमें जैसे सभी सन्तानोंका समान हक होता है और सपूत वही कहा जाता है जो अपने अन्य भाइयोंके हकको ईमानदारीसे स्वीकार करता है, उनके हड़पनेकी कुचेष्टा नहीं करता किन्तु सद्भाव ही उत्पन्न करता है, उसी तरह अनन्तधर्मा वस्तुमें सभी नयोंका समान अधिकार है और सुनय वही कहा जायगा जो अपने अंशको मुख्यरूपसे ग्रहण करके भी अन्यके

---

(१) "ज्ञातॄणामभिसन्धयः खलु नयाः"–सिद्धिवि० १०।१। "नयो ज्ञातुरभिप्रायः"–लघी० श्लो० ५२। (२) सिद्धिवि० १०।३।

(३) "नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।

नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥" –त० श्लो० १।६। नयविवरण श्लो० ६।

अंशोंको गौण करे पर उनका निराकरण न करे, उनकी अपेक्षा करे और उनके अस्तित्वको स्वीकार करे। जो दूसरेका निराकरण करता है और अपना ही अधिकार जमाता है वह कपूतकी तरह दुर्नय 'कहलाता है।

प्रमाणमें पूर्ण वस्तु समाती है नय एक अंशको मुख्यरूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंको गौण करता है, उनकी अपेक्षा रखता है और तिरस्कार तो कभी नहीं करता; किन्तु दुर्नय अन्यनिरपेक्ष होकर अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण[1] तत् और अतत् सभीको जानता है, नयसे तत्की प्रतिपत्ति होती है पर दुर्नय अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण[2] 'सत्'को ग्रहण करता है, नय 'स्यात्सत्' इसतरह सापेक्ष रूपसे जानता है जबकि दुर्नय 'सदेव' ऐसा अवधारणकर अन्यका तिरस्कार करता है। सापेक्षता ही नयका प्राण है। आचार्य सिद्धसेनने अपने सन्मतिसूत्र (१।२१-२५) में कहा है कि–

"तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा॥"–सन्मति० १।२२।

अर्थात् वे सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं जो अपने ही पक्षका आग्रह करते हैं–परका निषेध करते हैं। किन्तु जब वे ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्वके सद्भावक होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं। जैसे अनेक प्रकारके गुणवाली वैडूर्य आदि मणियाँ महामूल्यवाली होकर भी यदि एक सूत्रमें पिरोई हुई न हों, परस्पर घटक न हों तो 'रत्नावली' संज्ञा नहीं पा सकतीं उसी तरह अपने नियत वादोंका आग्रह रखनेवाले परस्परनिरपेक्ष नय सम्यक्त्वको नहीं पा सकते, भले ही वे अपने-अपने पक्षके लिये कितने ही महत्त्वके क्यों न हों। जिस प्रकार वे ही मणियाँ एक सूतमें पिरोई जाकर 'रत्नावली-हार' बन जातीं हैं उसी तरह सभी नय परस्पर सापेक्ष होकर सम्यक्पनेको प्राप्त हो जाते हैं।

"जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतेसु होंति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयरासायणा अण्णा॥"–सन्मति० १।५३।

जो वचनविकल्परूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषयका प्रतिपादन करते हैं, वह उनकी स्वसमय प्रज्ञापना है तथा अन्य निरपेक्षवृत्ति तीर्थंकर की आसादना है।

आचार्य कुन्दकुन्द इसी तत्त्वको बड़ी मार्मिक रीतिसे समझाते हैं–

"दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
णदु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो॥"–समयसार गाथा १४३।

स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयोंके वक्तव्यको जानते तो हैं पर अन्य नयका तिरस्कार करके किसी एक नयपक्षको ग्रहण नहीं करते। वे एक नयको द्वितीयसापेक्ष रूपसे ही ग्रहण करते हैं।

वस्तु जब अनन्त धर्मात्मक है तब स्वभावतः एक एक धर्मके ग्रहण करनेवाले अभिप्राय भी अनन्त ही होंगे, भले ही उनके वाचक पृथक्-पृथक् शब्द न मिलें पर जितने शब्द हैं उनके वाच्य धर्मोंके जाननेवाले उतने अभिप्राय तो अवश्य होते हैं। यानी अभिप्रायोंकी संख्याकी अपेक्षा हम नयोंकी सीमा न बाँध सकें पर यह तो सुनिश्चितरूपसे कह ही सकते हैं कि जितने शब्द हैं उतने तो नय अवश्य हो सकते हैं; क्योंकि कोई भी वचन अभिप्रायके बिना हो ही नहीं सकता। ऐसे अनेक अभिप्राय सम्भव हैं जिनके वाचक शब्द न मिलें पर ऐसा एक भी शब्द नहीं हो सकता जो बिना अभिप्रायके प्रयुक्त होता हो। अतः सामान्यतया जितने शब्द हैं उतने नय[4] हैं।

---

(१) "निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।" –आप्तमी० श्लो० १०८। सिद्धिवि० १०।४, २७।

(२) "धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च। प्रमाणात्तद-तत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०।

(३) "सदेव सत्स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।"–अन्ययोगव्य० श्लो० २८।

(४) "जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया"–सन्मति० ३।४७।

यह विधान यह मानकर किया जाता है कि प्रत्येक शब्द वस्तुके किसी न किसी धर्मका वाचक होता है। इसीलिये तत्त्वार्थभाष्य (१।३५) में 'ये नय क्या एक वस्तुके विषयमें परस्पर विरोधी तन्त्रोंके मतवाद हैं या जैनाचार्योंके ही परस्पर मतभेद हैं?' इस प्रश्नका समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'न तो ये तन्त्रान्तरीय मतवाद हैं और न आचार्योंके पारस्परिक मतभेद हैं किन्तु ज्ञेय अर्थके नाना अध्यवसाय हैं।' एक ही वस्तुको अपेक्षाभेदसे या अनेक दृष्टिकोणोंसे ग्रहण करनेवाले विकल्प हैं। ये हवाई कल्पनाएँ नहीं हैं और न शेखचिल्लीके विचार ही हैं किन्तु अर्थको नानाप्रकारसे जाननेवाले अभिप्रायविशेष हैं।

ये निर्विषय न होकर ज्ञान शब्द या अर्थ किसी-न-किसीको विषय अवश्य करते हैं। इसका विवेक करना ज्ञाताका कार्य है। जैसे एक ही लोक सत्की अपेक्षा एक, जीव और अजीवके भेदसे दो, द्रव्य गुण और पर्यायके भेदसे तीन, चार प्रकारके दर्शनका विषय होने चार, पाँच अस्तिकायोंकी अपेक्षा पाँच और छह द्रव्योंकी अपेक्षा छह प्रकारका कहा जा सकता है। ये अपेक्षाभेदसे होनेवाले विकल्प हैं मात्र मतभेद या विवाद नहीं हैं उसी तरह नयवाद भी अपेक्षाभेदसे होनेवाले वस्तुके विभिन्न अध्यवसाय-यानी निर्णय हैं।

[1]दो नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इस तरह सामान्यतया अभिप्रायोंकी अनन्तता होनेपर भी इन्हें दो विभागोंमें बाँटा जा सकता है एक अभेदको ग्रहण करनेवाले और दूसरे भेदको ग्रहण करनेवाले। वस्तुमें स्वरूपतः अभेद है, वह अखण्ड है और अपनेमें एक मौलिक है। उसे अनेक गुण पर्याय और धर्मोंके द्वारा अनेकरूपमें ग्रहण किया जाता है। अभेदग्राहिणी दृष्टि द्रव्यदृष्टि कही जाती है और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायदृष्टि। द्रव्यको मुख्यरूपसे ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यार्थिक द्रव्यास्तिक या अव्युच्छित्ति नय कहलाता है और पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायार्थिक पर्यायास्तिक या व्युच्छित्तिनय है। अभेद अर्थात् सामान्य और भेद यानी विशेष। वस्तुओंमें अभेद और भेदकी कल्पनाके दो प्रकार हैं। पहिला तो एक अखण्ड मौलिक द्रव्यमें अपनी द्रव्यशक्तिके कारण विवक्षित अभेद द्रव्य या ऊर्ध्वता सामान्यरूप है। यह अपनी कालक्रमसे होनेवाली क्रमिक पर्यायोंमें ऊपरसे नीचे तक व्याप्त रहनेके कारण ऊर्ध्वता सामान्य कहलाता है। यह जिस प्रकार अपनी क्रमिक पर्यायोंको व्याप्त करता है उसी तरह अपने सहभावी गुण और धर्मोंको भी व्याप्त करता है। दूसरी अभेद कल्पना विभिन्नसत्ताक अनेक द्रव्योंमें संग्रहकी दृष्टिसे की जाती है। यह कल्पना शब्दव्यवहारके निर्वाहके लिए सादृश्यकी अपेक्षासे की जाती है। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मनुष्योंमें सादृश्यमूलक मनुष्यत्व जातिकी अपेक्षा मनुष्यत्व सामान्यकी कल्पना तिर्यक् सामान्य कहलाती है। यह अनेक द्रव्योंमें तिरछी चलती है। एक द्रव्यकी पर्यायोंमें होनेवाली भेदकल्पना पर्यायविशेष कहलाती है तथा विभिन्न द्रव्योंमें प्रतीत भेद व्यतिरेकविशेष कहा जाता है। इस प्रकार दोनों प्रकारके अभेदोंको विषय करनेवाली द्रव्य दृष्टि है और भेदोंको विषय करनेवाली पर्यायदृष्टि है।

परमार्थ और व्यवहार–परमार्थतः प्रत्येक द्रव्यगत अभेदको ग्रहण करनेवाली ही दृष्टि द्रव्यार्थिक और प्रत्येक द्रव्यगत पर्यायभेदको जाननेवाली ही दृष्टि पर्यायार्थिक होती है। चूँकि अनेक द्रव्यगत अभेद औपचारिक और व्यावहारिक है अतः इनमें सादृश्यमूलक अभेद भी व्यावहारिक ही है पारमार्थिक नहीं। अनेक द्रव्योंका भेद पारमार्थिक ही है। 'मनुष्यत्व' मात्र सादृश्यमूलक कल्पना है। कोई एक ऐसा मनुष्यत्व नामका पदार्थ नहीं है जो अनेक मनुष्य द्रव्योंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया गया हो। सादृश्य भी अनेकनिष्ठ धर्म नहीं है किन्तु प्रत्येक व्यक्तियोंमें रहता है। उसका व्यवहार अवश्य परसापेक्ष है, किन्तु स्वरूप तो प्रत्येकनिष्ठ ही है। अतः किन्हीं भी सजातीय या विजातीय अनेक द्रव्योंका अभेदमूलक संग्रह केवल व्यावहारिक है पारमार्थिक नहीं। अनन्त पुद्गल परमाणु द्रव्योंको पुद्गलत्वेन एक कहना व्यवहारके लिये है। दो पृथक् परमाणुओंकी सत्ता कभी भी एक नहीं हो सकती। एक द्रव्यगत ऊर्ध्वता सामान्यको छोड़कर जितनी भी अभेद कल्पनाएँ अवान्तर या महासामान्यके नामसे की जाती है वे सब व्यावहारिक हैं। उनका वस्तुस्थितिसे इतना ही सम्बन्ध है कि वे शब्दोंके द्वारा उन-उन पृथक् वस्तुओंका संग्रह कर रही हैं। जिस

---

(१) सिद्धिवि० १०।४।

प्रकार अनेक द्रव्यगत अभेद व्यावहारिक है उसी तरह एक द्रव्यमें पर्यायभेद वास्तविक होकर भी गुणभेद और धर्मभेद उस अखंड अनिर्वचनीय वस्तुको समझने समझाने और कहने के लिये किये जाते हैं। जिस प्रकार हम पृथक्‌सिद्ध द्रव्यों का विश्लेषण कर उन्हें अलग स्वतंत्र भावसे गिना सकते हैं उस तरह एक द्रव्यके गुण और धर्मोंको नहीं। अतः परमार्थ द्रव्यार्थिकनय एकद्रव्यगत अभेदको विषय करता है, और परमार्थ पर्यायार्थिक एकद्रव्यकी क्रमिक पर्यायोंको। व्यवहारद्रव्यार्थिक अनेक द्रव्यगत कल्पित अभेदको जानता है और परमार्थ पर्यायार्थिक दो द्रव्योंके परस्पर भेदको जानता है। व्यवहार पर्यायार्थिककी मर्यादा एक द्रव्यगत गुणभेद और धर्मभेद तक है।

द्रव्यास्तिक और द्रव्यार्थिक–तत्त्वार्थ वार्तिक (१।३३) में द्रव्यार्थिकके स्थानमें आनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायार्थिकके स्थानमें आनेवाला पर्यायास्तिक शब्द इसी सूक्ष्म भेदको सूचित करता है। द्रव्यास्तिकका तात्पर्य है कि जो एकद्रव्यके परमार्थ अस्तित्वको विषय करे और तन्मूलक ही अभेदका प्रख्यापन करे। पर्यायास्तिक एक द्रव्यकी वास्तविक क्रमिक पर्यायोंके अस्तित्वको मानकर उन्हींके आधारसे भेद व्यवहार कराता है। इस दृष्टिसे अनेक द्रव्यगत परमार्थभेदको पर्यायार्थिक विषय करके भी उनके भेदको किसी द्रव्यकी पर्याय नहीं मानता। यहाँ पर्याय शब्दका प्रयोग व्यवहारार्थ है। तात्पर्य यह कि–एक द्रव्यगत अभेदको द्रव्यास्तिक और परमार्थ द्रव्यार्थिक, एकद्रव्यगत पर्यायभेदको पर्यायास्तिक और परमार्थ पर्यायार्थिक, अनेक द्रव्यों के सादृश्यमूलक अभेदको व्यवहार द्रव्यार्थिक तथा अनेकद्रव्यगत भेदको परमार्थ पर्यायार्थिक जानता है। अनेक द्रव्यगत भेदको हम 'पर्याय' शब्दसे व्यवहारके लिये ही कहते हैं। इस तरह भेदाभेदात्मक या अनन्त धर्मात्मक ज्ञेयमें ज्ञाताके अभिप्रायानुसार भेद या अभेदको मुख्य और इतरको गौण करके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी प्रवृत्ति होती है। कहाँ कौनसा भेद या अभेद विवक्षित है यह समझना वक्ता और श्रोताकी कुशलतापर निर्भर करता है। तीर्थंकरोंके द्वारा उपदिष्ट समस्त अर्थका संग्रह इन्हीं दो नयोंमें हो जाता है। उनका कथन या तो अभेदप्रधान होता है या भेदप्रधान।

तीन और सात नय–जब हम प्रत्येक पदार्थको अर्थ शब्द और ज्ञानके आकारोंमें बाँटते हैं तो इनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावतः तीन श्रेणियोंमें बँट जाते हैं–ज्ञाननय अर्थनय और शब्दनय। कुछ व्यवहार केवल ज्ञानाश्रयी होते हैं, उनमें अर्थके तथाभूत होनेकी चिन्ता नहीं होती, वे केवल संकल्पसे चलते हैं जैसे आज महावीरजयंती है। अर्थके आधारसे चलनेवाले व्यवहारमें एक ओर नित्य एक और व्यापी रूपसे चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है तो दूसरी ओर क्षणिकत्व परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियोंके मध्य की है। पहिली कोटिमें सर्वथा अभेद-एकत्व स्वीकार करनेवाले औपनिषद् अद्वैतवादी हैं तो दूसरी ओर वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमान क्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटिमें पदार्थको नानारूपसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक वैशेषिक आदि हैं। तीसरे प्रकारके व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री। ये एक ही अर्थ में विभिन्न शब्दोंके प्रयोगको मानते हैं। परन्तु शब्दनय, शब्दभेदसे अर्थभेदको अनिवार्य समझता है। इन सभी प्रकारके व्यवहारोंके समन्वयके लिए जैन परम्पराने 'नय' पद्धति स्वीकार की है। नय का अर्थ है–अभिप्राय, दृष्टि, विवक्षा या अपेक्षा है।

ज्ञाननय अर्थनय और शब्दनय–इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहार का संकल्पमात्रग्राही नैगमनयमें समावेश होता है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहारका जो **"आत्मैवेदं सर्वम्", "एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्"** आदि उपनिषद् वाक्यों से प्रकट होता है, संग्रह नयमें अन्तर्भाव किया गया है, इससे आगे तथा एक परमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहिले होने वाले यावत् मध्यवर्ती भेदोंको जिनमें न्यायवैशेषिकादि दर्शन शामिल हैं, व्यवहार नयमें शामिल किया गया है। अर्थकी आखिरी देश-कोटि परमाणुरूपता तथा कालकोटि क्षणिकता को ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्र नयमें स्थान पाती है। यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेदाभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियोंका नम्बर आता है। काल कारक संख्या तथा धातुके साथ लगने वाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिके साथ प्रयुक्त होने वाले शब्दोंके

वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न हैं इस कालकारकादिवाचक शब्दभेदसे अर्थभेद ग्रहणकरनेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश होता है। एक ही साधनमें निष्पन्न तथा एक कालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, इन पर्यायवाची शब्दोंमें भी अर्थभेद माननेवाली दृष्टि समभिरूढमें स्थान पाती है। एवम्भूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रियामें परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिये। इसकी दृष्टि से सभी शब्द क्रियासे निष्पन्न हैं। गुणवाचक शुक्ल शब्द शुचिभवन रूप क्रिया से, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमन रूप क्रियासे, क्रियावाचक 'चलति' शब्द चलने रूप क्रियासे और नामवाचक यदृच्छा शब्द देवदत्त आदि भी 'देवने इसको दिया' आदि क्रियाओंसे निष्पन्न होते हैं। इस तरह ज्ञान अर्थ और शब्दाश्रयी यावद् व्यवहारोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है।

मूलनय सात–नयोंके मूलभेद सात हैं–नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत। आचार्य सिद्धसेन (सन्मति० १।४।५) अभेदग्राही नैगमका संग्रहमें तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहार नयमें अन्तर्भाव करके नयोंके छह भेद ही मानते हैं। तत्त्वार्थभाष्य (१।३४, ३५) में नयोंके मूल भेद पाँच मानकर शब्दनयके तीन भेद करके नयोंके सात भेद गिनाये हैं। नैगमनयके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी भेद भी तत्त्वार्थभाष्य (१।३४,३५) में पाये जाते हैं। षट्खंडागममें नैगमादि शब्दान्त पाँच भेद नयोंके गिनाये हैं, पर कषायपाहुडमें मूल पाँच भेद गिनाकर शब्दनयके तीन भेद कर दिये हैं और नैगमनयके संग्रहिक और असंग्रहिक दो भेद भी किये हैं। इस तरह सात नय मानना प्रायः सर्वसम्मत है।

नैगमनय – संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय[1] होता है। जैसे कोई पुरुष दरवाजा बनानेके लिये लकड़ी लाने जा रहा है। पूँछनेपर वह कहता है कि दरवाजा लेने जा रहा हूँ। तो यहाँ दरवाजेके संकल्पमें ही दरवाजा व्यवहार किया गया है। संकल्प सत्में भी होता है और असत्में भी। इसी नैगमनयकी मर्यादामें अनेकों औपचारिक व्यवहार आते हैं। 'आज महावीर जयन्ती है' इत्यादि व्यवहार इसी नयकी दृष्टिसे किये जाते हैं। निगम गाँवको कहते हैं, अतः गाँवोंमें जिस प्रकारके ग्रामीण व्यवहार चलते हैं वे सब इसी नयकी दृष्टिसे होते हैं।

अकलंकदेवने[2] धर्म और धर्मी दोनोंको गौण मुख्य भावसे ग्रहण करना नैगमनयका कार्य बताया है। जैसे 'जीव' कहनेसे ज्ञानादि गुण गौण होकर द्रव्य ही मुख्य विवक्षित होता है और 'ज्ञानवान् जीव' कहनेसे ज्ञानगुण मुख्य हो जाता है और जीवद्रव्य गौण। यह न केवल धर्मको ही ग्रहण करता है और न केवल धर्मीको ही। विवक्षानुसार दोनों ही इसके विषय होते हैं। भेद और अभेद दोनों ही इसके कार्यक्षेत्रमें आते हैं। दो धर्मोंमें[3] दो धर्मियोंमें तथा धर्म और धर्मीमें एक को प्रधान तथा अन्यको गौण करके ग्रहण करना नैगमनयका ही कार्य है, जबकि संग्रहनय केवल अभेदको विषय करता है और व्यवहार नय मात्र भेदको। यह किसी एकपर नियत नहीं रहता अतः (नैकं गमः[4]) इसे नैगम कहते हैं। कार्यकारण आधार आधेय आदिकी दृष्टिसे होनेवाले सभी प्रकारके उपचारोंको भी यही विषय करता है।

नैगमाभास–अवयव अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् सामान्य और सामान्यवान् आदिमें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास[5] है; क्योंकि गुणीसे पृथक् गुण अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणोंकी उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही उचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेषमें भी कथञ्चित्तादात्म्य ही सम्बन्ध है। यदि गुण आदि गुणी आदिसे सर्वथा भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हों तो उनमें नियत सम्बन्ध न होनेके कारण गुण गुणी भाव आदि नहीं बन सकेंगे। कथञ्चित्तादात्म्यका अर्थ है कि गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं। जो स्वयं ज्ञानरूप नहीं हैं वह ज्ञानके समवायसे भी कैसे 'ज्ञ' बन सकता है ? अतः वैशेषिकका गुण आदिका गुणी आदिसे निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास[6] है।

---

(१) "अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः"–सर्वार्थसि० १।३३।

(२) लघी० स्व० श्लो० ३९।   (३) त० श्लो० पृ० २६९।

(४) धवला टी० सत्प्ररू०।   (५) लघी० स्व० श्लो० ३९।   (६) सिद्धिवि० १०।११।

'सांख्यका ज्ञान सुख आदिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास है। सांख्यका कहना है कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिके ही सुख और ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसीमें आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृतिके संसर्गसे पुरुषमें ज्ञानादिकी प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञान सुखादिरूप व्यक्त-कार्यकी दृष्टिसे दृश्य है तथा अपने कारणरूप-अव्यक्त स्वरूपसे अदृश्य है। पुरुष चेतन अपरिणामी कूटस्थ नित्य है। चैतन्य बुद्धिसे भिन्न है, अतः बुद्धि-चेतनपुरुषका धर्म नहीं है। इस तरह सांख्यका ज्ञान और आत्मामें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। बुद्धि उपलब्धि चैतन्य और ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची हैं। सुख और ज्ञानादिको सर्वथा अनित्य और पुरुषको सर्वथा नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि कूटस्थ नित्य पुरुषमें प्रकृतिसंसर्गसे भी बन्ध मोक्ष और भोग आदि नहीं बन सकते। अतः पुरुषको परिणामी नित्य ही मानना होगा तभी उसमें बन्धमोक्षादि व्यवहार घट सकते हैं। तात्पर्य यह कि अभेद-निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

संग्रह-संग्रहाभास–अनेक पर्यायोंको एक द्रव्यरूपसे या अनेक द्रव्योंको सादृश्य-मूलक एकत्व-रूपसे अभेदग्राही 'संग्रह नय होता है। इसकी दृष्टिमें विधि ही मुख्य है। द्रव्यको छोड़कर पर्याय हैं ही नहीं। यह दो प्रकारका होता है–एक परसंग्रह और दूसरा अपरसंग्रह। परसंग्रहमें सत् रूपसे समस्त पदार्थोंका संग्रह किया जाता है तथा अपरसंग्रहमें एक द्रव्यरूपसे समस्त पर्यायोंका, द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका, गुणरूपसे समस्त गुणोंका, गोत्वरूपसे समस्त गायोंका तथा मनुष्यत्वरूपसे समस्त मनुष्योंका इत्यादि संग्रह किया जाता है। यह अपरसंग्रह तबतक चलता है जबतक भेदमूलक व्यवहार अपनी चरमकोटि तक नहीं पहुँच जाता अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते-करते ऋजुसूत्र नयकी विषयभूत एक वर्तमानकालीन क्षणवर्ती अर्थपर्यायतक पहुँचता है यानी संग्रह करनेके लिये दो रह ही नहीं जाते तब अपरसंग्रहकी मर्यादा समाप्त हो जाती है। यद्यपि परसंग्रहके बाद और ऋजुसूत्र नयसे पहिले अपरसंग्रह और व्यवहार नयका सामान्य क्षेत्र है पर दृष्टिमें भेद है। जब अपरसंग्रहमें सादृश्यमूलक या द्रव्यमूलक अभेददृष्टि मुख्य है और इसीलिये वह एकत्व लाकर संग्रह करता है तब व्यवहारनयमें भेदकी ही प्रधानता है, वह पर्याय-पर्यायीमें भी भेद ही डालता है। परसंग्रहनयकी दृष्टिमें सद्रूपसे सभी पदार्थ एक हैं, उनमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जीव-अजीव आदि सभी सद्रूपसे अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने अनेक नीलादि आकारोंमें व्याप्त है उसी तरह सत्त्व सभी पदार्थोंमें व्याप्त है, जीव-अजीव आदि सभी उसके भेद हैं। कोई भी ज्ञान सन्मात्रतत्त्वको जाने बिना भेदोंको नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्रसे बाहर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन-सुखादिमें प्रवृत्ति करे या बाह्य अचेतन नीलादि पदार्थोंको जाने, वह सद्रूपसे अभेदांशको विषय करता ही है। इतना ध्यान रखनेकी बात है कि–एकद्रव्यमूलक पर्यायोंके संग्रहके सिवाय अन्य सभी प्रकारके संग्रह सादृश्यमूलक एकत्वका आरोप करके ही होते हैं और वे केवल संक्षिप्त शब्दव्यवहारकी सुविधाके लिये हैं। दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें चाहे वे सजातीय हों या विजातीय वास्तविक एकत्व आ ही नहीं सकता। संग्रहनयकी इस अभेद दृष्टिसे सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्धकी भेददृष्टि है, जिसमें अभेदको कल्पनात्मक कहकर उसका वस्तुमें कोई स्थान ही नहीं रहने दिया है। इस आत्यन्तिक भेददृष्टिके कारण ही बौद्ध अभेददृष्टिके विषयभूत अवयवी और स्थूल आदि पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक अभेदके आधारपर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक द्रव्य त्रिकालानुयायी हो तभी वह नित्य कहा जा सकता है। अवयवी और स्थूलता दैशिक अभेदके आधारसे माने जाते हैं। जब एक वस्तु अनेक अवयवोंमें कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे तभी वह अवयवी व्यपदेश पा सकती है। स्थूलतामें भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

इस 'नयकी दृष्टिसे कह सकते हैं विश्व सन्मात्ररूप है, एक है, अद्वैत है क्योंकि सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है। अद्वयब्रह्मवाद संग्रहाभास' है क्योंकि इसमें भेदका **"नेह नानास्ति किञ्चन"**

(१) सिद्धिवि० १०।१०।

(२) सिद्धिवि० १०।१३। "शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः।"–लघी० श्लो० ३२।

(३) "सर्वमेकं सदविशेषात्"–तत्त्वार्थभा० १।३५। (४) सिद्धिवि० १०।१७,१८।

[कठोप० ४।१।११] कहकर सर्वथा निराकरण कर दिया है। संग्रहनयमें अभेद मुख्य होनेपर भी भेदका निराकरण नहीं किया जाता, वह गौण हो जाता है, उसके अस्तित्वसे इनकार नहीं किया जा सकता। अद्वयब्रह्मवादमें कारक और क्रियाओंके प्रत्यक्षसिद्ध भेदका निराकरण हो जाता है। कर्मद्वैत फलद्वैत लोकद्वैत और विद्या-अविद्याद्वैत आदि सभीका लोप इस नयमें प्राप्त होता है। अतः सांग्रहिक व्यवहारके लिये भले ही परसंग्रह नय जगतके समस्त पदार्थोंको 'सत्' कह ले पर इससे प्रत्येक द्रव्यके मौलिक अस्तित्वका लोप नहीं हो सकता। विज्ञानकी प्रयोगशाला प्रत्येक अणुका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करती है। अतः संग्रह नयकी उपयोगिता अभेदव्यवहारके लिये है, वस्तुस्थितिका लोप करनेके लिये नहीं।

शब्दाद्वैत भी संग्रहाभास हैं। वह इसलिये कि इसमें भेदका और द्रव्योंके उस मौलिक अस्तित्वका निराकरण कर दिया जाता है जो अस्तित्व प्रमाणसे प्रसिद्ध है।

व्यवहार-व्यवहाराभास–संग्रहनयके द्वारा संगृहीत अर्थमें विधिपूर्वक अविसंवादी और वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय[1] है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहारका अविरोधी होता है। लोकव्यवहारविरुद्ध, विसंवादिनी और वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेवाली भेदकल्पना [2]व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ शब्द और ज्ञान तीनोंसे चलता है। जीवव्यवहार जीवअर्थ जीवविषयक ज्ञान और जीवशब्द तीनोंसे सधता है। वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुणपर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है इत्यादि भेदक वाक्य प्रमाणाविरोधी हैं तथा लोकव्यवहारमें अविसंवादी होनेसे प्रमाण हैं। ये वस्तुगत अभेदका निराकरण न करनेके कारण पूर्वापराविरोधी होनेसे सुव्यवहारके विषय हैं। सौत्रान्तिकका जड़ या चेतन सभी पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक निरंश परमाणुरूप मानना, योगाचारका क्षणिक अविभाग विज्ञानाद्वैत मानना, माध्यमिकका निरालम्बनज्ञान या सर्वशून्यता स्वीकार करना प्रमाणविरोधी और लोकव्यवहारमें विसंवादक होनेसे व्यवहाराभास हैं। जो भेद वस्तुके अपने निजी मौलिक एकत्वकी अपेक्षा रखता है वह व्यवहार है और अभेदका सर्वथा निराकरण करनेवाला व्यवहाराभास है। दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें वास्तविक भेद है, उनमें सादृश्यके कारण अभेद आरोपित होता है जब कि एक द्रव्यगत गुण और धर्मोंमें वास्तविक अभेद है, उनमें भेद उस अखण्ड वस्तुका विश्लेषण कर समझनेके लिये कल्पित होता है। इस मूल वस्तुस्थितिको लाँघकर भेदकल्पना या अभेदकल्पना करना तदाभास होती है पारमार्थिक नहीं। विश्वके अनन्त द्रव्योंका अपना व्यक्तित्व मौलिक भेदपर ही टिका हुआ है। एक द्रव्यके गुणादिका भेद वस्तुतः मिथ्या कहा जा सकता है और उसे अविद्याकल्पित कहकर प्रत्येक द्रव्यके अद्वैत तक पहुँच सकते हैं, पर अनन्त अद्वैतोंमें तो क्या, दो अद्वैतोंमें भी अभेदकी कल्पना उसी तरह औपचारिक है जैसे सेना वन प्रान्त या देश आदिकी कल्पना। वैशेषिककी प्रतीतिविरुद्ध द्रव्यादिभेदकल्पना भी व्यवहाराभासमें आ सकती है।

ऋजुसूत्र-तदाभास–व्यवहारनय तक भेद और अभेदकी कल्पना मुख्यतया अनेक द्रव्योंको सामने रखकर चलती है। किन्तु एक द्रव्यमें भी कालक्रमसे पर्यायभेद होता है और वर्तमान क्षणका अतीत और अनागतसे सम्बन्ध नहीं है यह विचार ऋजुसूत्र नय प्रस्तुत करता है। यह नय[3] वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायको ही विषय करता है। अतीत चूँकि विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अतः उसमें पर्यायव्यवहार ही नहीं हो सकता। इसकी दृष्टिसे नित्य कोई वस्तु नहीं है और स्थूल भी वास्तविक नहीं है। सरल सूतकी तरह यह नय[4] केवल वर्तमान पर्यायको स्पर्श करता है।

---

(१) "संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः"–सर्वार्थसि० १।३३।

(२) "कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।
प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥"–त० श्लो० पृ० २७१।

(३) "पच्चुप्पन्नगाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो।"–अनुयोग० द्वा० ४। अकलङ्कग्रन्थत्रय टि० पृ० १४६।

(४) "सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः"–राजवा० १।३३।

यह नय पच्यमान वस्तुको भी अंशतः पक्व कहता है। क्रियमाणको भी अंशतः कृत, भुज्यमानको अंशतः भुक्त और बध्यमानको भी अंशतः बद्ध कहना इसकी सूक्ष्मदृष्टिमें शामिल है।

इस नयकी दृष्टिसे कुम्भकार व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि जबतक कुम्हार शिविक छत्रक आदि पर्यायोंको कर रहा है तबतक तो कुम्हार कहा नहीं जा सकता, और जब कुम्भ पर्यायका समय आता है तब वह स्वयं अपने उपादानसे निष्पन्न हो जाती है।

जिस समय जो आकर बैठा है वह यह नहीं कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ'। इस नयकी दृष्टिमें ग्रामनिवास गृहनिवास आदि व्यवहार नहीं हो सकते क्योंकि हर व्यक्ति स्वात्मस्थित होता है।

'कौआ काला है' यह नहीं हो सकता; क्योंकि कौआ कौआ है और काला काला। यदि काला, कौआ हो; तो समस्त भौंरा आदि काले पदार्थ कौआ हो जायँगे। यदि कौआ, काला हो; तो सफेद कौआ नहीं हो सकेगा। फिर कौआ तो रक्त, मांस, पित्त, हड्डी और चमड़ा आदि मिलकर पचरंगी वस्तु होती है, अतः उसे केवल काला ही कैसे कह सकते हैं।

इस नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता; क्योंकि आगीका सुलगाना धौंकना और जलाना आदि असंख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षणमें नहीं हो सकतीं। जिस समय दाह है उस समय पलाल नहीं और जिस समय पलाल है उस समय दाह नहीं, तब पलालदाह कैसा ? 'जो पलाल है वह जलता है' यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बहुत सा पलाल बिना जला हुआ पड़ा है।

इस नयकी सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टिमें पान-भोजन आदि अनेकसमयसाध्य कोई भी क्रियाएँ नहीं बन सकतीं; क्योंकि एक क्षणमें क्रिया होती नहीं और वर्तमानका अतीत अनागतसे कोई सम्बन्ध इसे स्वीकार नहीं है। जिस द्रव्यरूपी माध्यमसे पूर्वापर पर्यायोंमें सम्बन्ध जुटता है उस माध्यमका अस्तित्व ही इसे स्वीकार्य नहीं है।

इस नयको लोकव्यवहारके विरोधकी कोई चिन्ता नहीं है। लोकव्यवहार तो यथायोग्य नैगम आदि नयोंसे चलेगा ही। इतना सब क्षण-पर्यायकी दृष्टिसे विश्लेषण करनेपर भी यह नय द्रव्यका लोप नहीं करता। वह पर्यायकी मुख्यता भले ही कर ले फिर भी उसकी दृष्टिमें द्रव्यका अस्तित्व गौणरूपमें विद्यमान रहता ही है।

बौद्धका सर्वथा क्षणिकवाद ऋजुसूत्रनयाभास[1] है क्योंकि उसमें द्रव्यका विलोप हो जाता है। जब निर्वाण अवस्थामें चित्तसन्तति दीपककी तरह बुझ जाती है, अस्तित्वशून्य हो जाती है तब द्रव्यका लोप स्पष्ट ही है।

क्षणिक पक्षका समन्वय ऋजुसूत्र नय तभी कर सकता है जब उसमें द्रव्यका पारमार्थिक अस्तित्व विद्यमान रहे, भले ही वह गौण हो; क्योंकि व्यवहार और स्वरूपभूत अर्थक्रियाके लिये उसकी नितान्त आवश्यकता है।

शब्दनय और तदाभास—काल कारक लिंग तथा संख्याके भेदसे शब्दभेद होनेपर भिन्न-भिन्न अर्थोंको ग्रहण करनेवाला शब्दनय[2] है। शब्दनयके अभिप्रायमें अतीत अनागत और वर्तमानकालीन क्रियाओंके साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि भिन्न साधनोंमें प्रयुक्त देवदत्त भी भिन्न है। 'देवदत्त देवदत्ता' इस लिंगभेदमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन द्विवचन और बहुवचनमें होनेवाला देवदत्त भी भिन्न-भिन्न है। इसकी दृष्टिमें भिन्नकालीन भिन्न-कारकनिष्पन्न भिन्नलिंगक भिन्नसंख्यक शब्द एक अर्थके वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिये। शब्दनय उन वैयाकरणोंके तरीकेको अन्याय्य समझता है जो शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना चाहते। अर्थात् जो एकान्तनित्य आदिरूप पदार्थ मानते हैं उसमें पर्याय-भेद स्वीकार नहीं

(१) सिद्धिवि० १०।२५।

(२) "कालकारकलिङ्गादिभेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्"—लघी० श्लो० ४४। सिद्धिवि० ११।२१। अकलंकग्रन्थत्रय टि० पृ० १४६।

करते। उनके मतमें कालकारकादि का भेद होनेपर भी अर्थ एकरूप बना रहता है; तब यह नय कहता है कि तुम्हारी यह मान्यता उचित नहीं है। एक ही देवदत्त कैसे विभिन्नलिंगक भिन्नसंख्याक भिन्नकालीन शब्दोंका वाच्य हो सकेगा ? अतः उसमें भिन्न शब्दोंकी वाच्य भूत पर्याय भिन्न-भिन्न स्वीकार करनी ही चाहिये अन्यथा लिंगव्यभिचार साधनव्यभिचार कालव्यभिचार आदि बने रहेंगे। व्यभिचारका यहाँ अर्थ है शब्दभेद होनेपर अर्थभेद नहीं मानना यानी एक ही अर्थका विभिन्न शब्दोंसे अनुचित सम्बन्ध रखना। अनुचित इसलिये कि हर शब्दकी वाचकशक्ति जुदा-जुदा होती है। यदि तदनुकूल पदार्थमें वाच्यशक्ति नहीं मानी जाती है तो अनौचित्य तो स्पष्ट ही है, उनका मेल कैसे बैठ सकता है ?

काल स्वयं परिणमन करनेवाले वर्तनाशील पदार्थोंके परिणमनमें साधारण निमित्त होता है। इसके भूत भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद हैं। केवल द्रव्य केवल शक्ति तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्तिको कारक नहीं कहते; किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्यको कारक कहते हैं। लिंग चिह्नको कहते हैं। जो गर्भधारण करे वह स्त्री, जो पुत्रादिकी उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष और जिसमें दोनों ही सामर्थ्य न हों वह नपुंसक कहलाता है। कालादिके ये लक्षण अनेकान्तात्मक अर्थमें ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्रीके मिलनेपर षट्कारकी रूपसे परिणति कर सकती है। कालादिके भेदसे एक ही द्रव्यकी नाना पर्यायें हो सकती हैं। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य वस्तुमें ऐसे परिणमनकी संभावना नहीं है; क्योंकि सर्वथा नित्यमें उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिकमें स्थैर्य नहीं है। इस तरह कारक व्यवस्था न होनेसे विभिन्न कारकोंमें निष्पन्न षट्कारकी, स्त्रीलिंगादि लिंग और वचनभेद आदिकी व्यवस्था एकान्त पक्षमें संभव नहीं है।

यह शब्दनय वैयाकरणोंको शब्दार्थकी सिद्धिका दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है और बताता है कि सिद्धि अनेकान्तसे हो सकती है। जबतक वस्तुको अनेकान्तात्मक नहीं मानोगे तबतक एक ही वर्तमान पर्यायमें विभिन्नलिंगक विभिन्नसंख्याक शब्दोंका प्रयोग नहीं कर सकोगे, अन्यथा व्यभिचार दोष होगा। अतः उस एक पर्यायमें भी धर्मभेद मानना ही होगा। जो वैयाकरण ऐसा नहीं मानते उनका शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद न मानना शब्दनयाभास है। उनके मतमें उपसर्गभेद, उत्तमपुरुषकी जगह मध्यमपुरुष आदि पुरुषभेद, भावि और वर्तमानका एक व्यक्तिसे सम्बन्ध आदि समस्त व्याकरणकी प्रक्रियाएँ निराधार और निर्विषयक हो जाँयगी। इसीलिये जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता आचार्यवर्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणका प्रारंभ **"सिद्धिरनेकान्तात्"** सूत्रसे और आचार्य हेमचन्द्रने हैमशब्दानुशासनका प्रारंभ **"सिद्धिः स्याद्वादात्"** सूत्रसे किया है। अतः अन्य वैयाकरणोंका प्रचलित क्रम शब्दनयाभास है।

समभिरूढ-तदाभास–[1]एककालवाचक एकलिंगक तथा एकसंख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढ नय उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दोंका अर्थभेद मानता है। इस नयके अभिप्रायसे एकलिंगवाले इन्द्र शक्र और पुरन्दर इन तीन शब्दोंमें प्रवृत्तिनिमित्तकी भिन्नता होनेसे भिन्नार्थवाचकता है। शक्र शब्द शासन क्रियाकी अपेक्षासे, इन्द्र शब्द इन्दन-ऐश्वर्य क्रियाकी अपेक्षा से और पुरन्दर शब्द पूर्दारण क्रियाकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुआ है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओंके वाचक हैं। शब्दनयमें एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दोंमें अर्थभेद नहीं था पर समभिरूढ नय प्रवृत्तिनिमित्तोंकी विभिन्नता होनेसे पर्यायवाची शब्दोंमें भी भेद मानता है। यह नय उन कोशकारोंको दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है जिनने एक ही राजा या पृथ्वीके अनेक नाम–पर्यायवाची शब्द तो प्रस्तुत कर दिये थे पर उस पदार्थमें उन पर्याय शब्दोंकी वाच्यशक्ति जुदा-जुदा स्वीकार नहीं की थी। जिस प्रकार एक अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य नहीं हो सकता उसी प्रकार एक शब्द अनेक अर्थोंका वाचक भी नहीं हो सकता। एक गोशब्दके ग्यारह अर्थ नहीं हो सकते; उस शब्दमें ग्यारह प्रकारकी वाचकशक्ति मानना ही होगी अन्यथा यदि वह जिस शक्तिसे पृथ्वीका वाचक है उसी शक्तिसे गायका भी वाचक हो तो एकशक्तिक शब्दसे वाच्य होनेके कारण पृथिवी और गाय दोनों एक हो जायँगे। अतः शब्दमें वाच्यभेदके हिसाबसे वाचकशक्तियोंकी तरह पदार्थमें भी वाचकभेदकी अपेक्षा वाच्यशक्तियाँ माननी चाहिये। प्रत्येक शब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त जुदे-जुदे होते हैं, उनके

(१) "अभिरूढस्तु पर्यायैः"–लघी० श्लो० ४। सिद्धिवि० ११।३१। अकलङ्क ग्र० टि० पृ०१४७।

अनुसार वाच्यभूत अर्थमें पर्यायभेद या शक्तिभेद मानना ही चाहिये। यदि एकरूप ही पदार्थ हो तो उसमें विभिन्न क्रियाओंसे निष्पन्न शब्दोंका प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। इस तरह समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दोंकी अपेक्षासे भी अर्थभेद स्वीकार करता है।

पर्यायवाची शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना समभिरूढनयाभास है। जो मत पदार्थको एकान्तरूप मानकर भी अनेक शब्दोंका प्रयोग करते हैं उनकी यह मान्यता तदाभास है।

एवम्भूत-तदाभास–[1]एवम्भूत नय पदार्थ जिस समय जिस क्रियामें परिणत हो उस समय उसी क्रियासे निष्पन्न शब्दकी प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जिस समय शासन कर रहा हो उसी समय उसे शक्र कहें इन्दनक्रियाके समय नहीं। जिस समय घटनक्रिया हो रही हो उसी समय उसे घट कहना अन्य समयमें नहीं। समभिरूढनय उस समय क्रिया हो या न हो पर शक्तिकी अपेक्षा अन्य शब्दोंका प्रयोग भी स्वीकार कर लेता था परन्तु एवम्भूतनय ऐसा नहीं करता। क्रियाक्षणमें ही कारक कहा जाय अन्य क्षणमें नहीं। पूजा करते समय ही पुजारी कहा जाय अन्य समयमें नहीं और पूजा करते समय अन्य शब्द भी नहीं कहा जाय। इस तरह समभिरूढ नयके द्वारा वर्तमान पर्यायमें शक्तिभेद मानकर जो अनेक पर्याय शब्दोंके प्रयोगकी स्वीकृति थी वह इसकी दृष्टिमें नहीं है। यह तो क्रियाका धनी है। वर्तमानमें शक्तिकी अभिव्यक्ति देखता है। तक्रियाकालमें अन्य शब्दका प्रयोग करना या उस शब्दका प्रयोग नहीं करना एवम्भूताभास है। इस नयको व्यवहारकी कोई चिन्ता नहीं है। हाँ कभी कभी इसमें व्यवहारकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। जैसे न्यायाधीश जब न्यायकी कुर्सीपर बैठता है तभी न्यायाधीश है, अन्यकालमें भी यदि उसके सिरपर न्यायाधीशत्व सवार हो तो गृहस्थी चलना कठिन हो जाय। अतः व्यवहारको जो सर्वनयसाध्य कहा है वह ठीक ही कहा है।

अर्थनय शब्दनय–इन सात नयोंमें ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नय अर्थग्राही होनेसे [2]अर्थनय हैं। यद्यपि नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे अर्थकी सीमासे बाहर हो जाता था पर नैगमका विषय भेद और अभेद दोनोंको ही मानकर उसे अर्थग्राही कहा गया है। शब्द आदि तीन नय पदविद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र-शब्दशास्त्रकी सीमा और भूमिकाका वर्णन करते हैं अतः ये शब्दनय हैं।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक विभाग–नैगम संग्रह और व्यवहार तीन द्रव्यार्थिकनय हैं और ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायार्थिक हैं। प्रथमके तीन नयोंमें द्रव्यपर दृष्टि रहती है जब कि शेष चार नयोंमें वर्तमान-कालीन पर्यायपर ही विचार चालू होता है। यद्यपि व्यवहारनयमें भेद प्रधान है और भेदको भी कहीं-कहीं पर्याय कहा है परन्तु व्यवहारनय एकद्रव्यगत ऊर्ध्वता सामान्यमें कालिक पर्यायोंका अन्तिम भेद नहीं करता। उसका क्षेत्र अनेक द्रव्योंमें भेद करनेका मुख्यरूपसे है। वह एक द्रव्यकी पर्यायोंमें भेद करके भी अन्तिम क्षण-वर्ती पर्यायतक नहीं पहुँच पाता अतः इसे शुद्ध पर्यायार्थिकमें शामिल नहीं किया है। जैसे कि नैगमनय कभी पर्यायको और कभी द्रव्यको विषय करनेके कारण उभयावलम्बी होनेसे द्रव्यार्थिकमें ही अन्तर्भूत है उसी तरह व्यवहारनय भी भेदप्रधान होनेपर भी चूँकि द्रव्यको भी विषय करता है अतः वह भी द्रव्यार्थिककी ही सीमामें है। ऋजुसूत्रादि चार नय तो स्पष्ट ही एक समयवर्ती पर्यायको सामने रखकर विचार चलाते हैं अतः पर्याया-र्थिक हैं। आ० जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ऋजुसूत्रको भी द्रव्यार्थिक मानते हैं। (विशेषा० गा० ७५,७७, २२६२)

निश्चय और व्यवहार–अध्यात्मशास्त्रमें नयोंके निश्चय और व्यवहार ये दो भेद प्रसिद्ध है। निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ भी [3]वहीं बताया है। जिस प्रकार अद्वैतवादमें पारमार्थिक और व्यावहारिक दो रूपमें, शून्यवाद या विज्ञानवादमें परमार्थ और सांवृत दो रूपमें या उपनिषदोंमें सूक्ष्म और स्थूल दो रूपोंमें तत्त्वके वर्णनकी पद्धति देखी जाती है उसी तरह अध्यात्ममें भी निश्चय और व्यवहार इन दो प्रकारोंको अपनाया है। अन्तर इतना ही है कि जैन अध्यात्मका निश्चयनय वास्तविक स्थितिको

---

(१) "एवम्भूतनयः क्रियार्थवचनः"–सिद्धिवि० ११।३१। अकलङ्क ग्र० टि० पृ० १४७।

(२) "···अर्थाश्रयाः। चत्वारोऽत्र च नैगमप्र-तयः शेषास्त्रयं शब्दतः॥"–सिद्धिवि० १०।१। लघी० श्लो० ७२।

(३) समयसार गा० ११।

उपादानके आधारसे पकड़ता है वह अन्य पदार्थोंके अस्तित्वका निषेध नहीं करता जब कि वेदान्त या विज्ञाना-द्वैतका परमार्थ अन्य पदार्थोंके अस्तित्वको ही समाप्त कर देता है। बुद्धकी धर्मदेशनाको भी परमार्थसत्य और लोकसंवृतिसत्य इस दो रूपमें[1] घटानेका प्रयत्न हुआ है।

निश्चयनय परनिरपेक्ष स्वस्वभावका वर्णन करता है। जिन पर्यायोंमें पर निमित्त पड़ जाता है उन्हें वह स्वकीय नहीं कहता। परजन्य पर्यायोंको पर मानता है। जैसे जीवके रागादिभावोंमें यद्यपि आत्मा स्वयं उपादान होता है, वही राग-रूपसे परिणति करता है, परन्तु चूँकि ये भाव कर्मनिमित्तक हैं अतः इन्हें वह अपने आत्माके नहीं मानता। अन्य आत्माएँ और जगत्के समस्त अजीवोंको तो वह अपना मान ही नहीं सकता। जिन आत्मविकासके स्थानोंमें परका थोड़ा भी निमित्त होता है उन्हें भी वह 'पर' के खातेमें ही डाल देता है। इसीलिए समयसारमें जब आत्मा के वर्ण रस स्पर्श आदि प्रसिद्ध पररूपोंका निषेध किया है तो उसी श्लोकमें गुणस्थान आदि स्वधर्मोंका भी परनिमित्तक होनेसे निषेध कर दिया है[2]। दूसरे शब्दोंमें निश्चयनय अपने मूललक्ष्य या आदर्शका खालिस वर्णन करता है जिससे साधकको भ्रम न हो और वह भटक न जाय। इसलिए आत्माका नैश्चयिक वर्णन करते समय शुद्ध ज्ञायक रूप ही आत्माका स्वरूप प्रकाशित किया गया है। बन्ध और रागादिको भी उसी एक 'पर' कोटिमें डाल दिया है जिसमें पुद्गल आदि प्रकट परपदार्थ पड़े हुए हैं। परसापेक्ष पर्यायोंको ग्रहण करनेवाला व्यवहार नय होता है। पर द्रव्य तो स्वतन्त्र हैं अतः उन्हें अपना कहनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

पंचाध्यायीका नय विभाग—पंचाध्यायीकार[3] अभेदग्राहीको द्रव्यार्थिक और निश्चय नय कहते हैं तथा किसी भी प्रकारके भेदको ग्रहण करनेवाले नयको पर्यायार्थिक और व्यवहारनय कहते हैं। इनके मतसे[4] निश्चयनयके शुद्ध और अशुद्ध भेद करना ही गलत है। ये वस्तुके सद्भूत भेदको व्यवहारनयका ही विषय मानते हैं। अखंड वस्तुमें किसी भी प्रकारका द्रव्य क्षेत्र काल और भाव आदिकी दृष्टिसे होनेवाला भेद पर्यायार्थिक या व्यवहारनयका विषय होता है। इनकी दृष्टिमें समयसारगत परनिमित्तक—व्यवहार ही नहीं किन्तु स्वगत भेदभी व्यवहारनयकी सीमामें ही होता है। व्यवहारनयके दो भेद हैं एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूत व्यवहारनय। वस्तुमें अपने गुणोंकी दृष्टिसे भेद करना सद्भूत व्यवहार है। अन्य द्रव्यके गुणोंकी बलपूर्वक अन्यत्र योजना करना असद्भूत व्यवहार है जैसे वर्णादिवाले मूर्त पुद्गल कर्मद्रव्यके संयोगसे होनेवाले क्रोधादिमूर्त भावोंको जीवके कहना। यहाँ क्रोधादिमें जो पुद्गलद्रव्यके मूर्तत्वका आरोप किया गया है—वह असद्भूत है और गुणगुणीका जो भेद विवक्षित है वह व्यवहार है। सद्भूत और असद्भूत व्यवहार दोनों ही उपचरित और अनुपचरितके भेदसे दो दो प्रकारके होते हैं। 'ज्ञान जीव का है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। 'अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है और वही जीवका गुण है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। इसमें ज्ञानमें अर्थविकल्पात्मकता उपचरित है और गुण-गुणीका भेद व्यवहार है।

अनगार धर्मामृत (अध्याय १ श्लो० १०४...) आदिमें 'केवल ज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारका उदाहरण दिया है। उसमें यह दृष्टि है कि शुद्धगुणका कथन अनुपचरित तथा अशुद्ध-गुणका कथन उपचरित है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय 'अबुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादि भावोंको जीवका कहता है और उपचरित सद्भूत व्यवहारनय उदयमें आये हुए अर्थात् प्रकट अनुभवमें आनेवाले क्रोधादि भावोंको जीवके कहता है। पहिलेमें वैभाविकी शक्तिका आत्मासे अभेद माना है। अनगार धर्मा-मृतमें 'शरीर मेरा है' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है तथा 'देश मेरा है' यह उपचरित असद्भूत

(१) "द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥"—माध्यमिककारिका आर्यसत्यपरीक्षा श्लो० ८।

(२) "णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥५५॥"—समयसार।

(३) पंचाध्यायी १।६५९–६१।

(४) पंचाध्यायी १।५२५...।

व्यवहारनयका उदाहरण माना गया है। पंचाध्यायीकार किसी दूसरे द्रव्यके गुणको दूसरे द्रव्यमें आरोप करना नयाभास मानते हैं जैसे वर्णादिको जीवके कहना, शरीरको जीवका कहना, मूर्तकर्म द्रव्योंका कर्त्ता भोक्ता जीवको मानना, धनधान्य स्त्री आदिका भोक्ता और कर्त्ता जीवको मानना, ज्ञान और ज्ञेयमें बोध्यबोधक सम्बन्ध होनेसे ज्ञानको ज्ञेयगत मानना आदि। ये सब नयाभास हैं।

समयसारकी दृष्टि–

समयसारमें तो एक शुद्धद्रव्यको निश्चयनयका विषय मानकर बाकी परनिमित्तक स्वभाव या परभाव सभीको व्यवहारके गड्ढेमें डालकर उन्हें हेय अत एव अभूतार्थ कह दिया है। यहाँ एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि नैगमादिनयोंका विवेचन वस्तुस्वरूपकी मीमांसा करनेकी दृष्टिसे है जबकि समयसारगत नयोंका वर्णन अध्यात्म भावनाको परिपुष्ट कर हेय और उपादेयके विचारसे मोक्षमार्गमें लगानेके लक्ष्यसे है।

निश्चय और व्यवहारके विचारमें सबसे बड़ा खतरा है–निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहनेकी दृष्टिको न समझकर निश्चयकी तरफ झुक जाने और व्यवहारकी उपेक्षा करने का। दूसरा खतरा है किसी परिभाषाको निश्चयसे और किसीको व्यवहारसे लगाकर घोलघाल करनेका। आ० अमृतचन्द्रने इन्हीं खतरोंसे सावधान करनेके लिये एक प्राचीन गाथा उद्धृत[1] की है–

> "जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
> एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥"

अर्थात् यदि जिनमतको प्राप्त हो रहे हो तो व्यवहार और निश्चयमें मोहको प्राप्त नहीं होना, किसी एकको छोड़ मत बैठना। व्यवहारके बिना तीर्थका उच्छेद हो जायगा और निश्चयके बिना तत्त्वका उच्छेद होगा।

कुछ विशेष अध्यात्मप्रेमी जैनशासनकी सर्वनयसंतुलनपद्धतिको ध्यानमें न रखकर कुछ इसी प्रकारका घोलघाल कर रहे हैं। वे एक परिभाषा एक नयकी तथा दूसरी परिभाषा दूसरे नयकी लेकर ऐसा मार्ग बना रहे हैं जो न तो तत्त्वके निश्चयमें सहायक होता है और न तीर्थकी रक्षाका साधन ही सिद्ध हो रहा है। उदाहरणार्थ–निमित्त और उपादानकी व्याख्याको ही ले लें।

निश्चयनयकी दृष्टिसे एकद्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता। जो जिस रूपसे परिणत होता है वह उसका कर्ता होता है। इसकी दृष्टिसे कुम्हार घड़ेका कर्ता नहीं होता किन्तु मृत्पिण्ड ही वस्तुतः घटका कर्ता है; क्योंकि वही घटरूपसे परिणत होता है। इसकी दृष्टिमें निमित्तका कोई महत्त्वका स्थान नहीं है क्योंकि यह नय पराश्रित व्यवहार को स्वीकार ही नहीं करता। व्यवहारनय परसापेक्षता पर भी ध्यान रखता है। वह कुम्हारको घटका कर्ता इस लिये कहता है कि उसके व्यापार से मृत्पिण्ड में से वह आकार निकला है। घटमें मिट्टी ही उपादान है इसको व्यवहारनय मानता है। किन्तु 'कुम्भकार' व्यवहार वह 'मृत्पिण्ड'में नहीं करके कुम्हारमें करता है। 'घट' नामक कार्यकी उत्पत्ति मृत्पिण्ड और कुम्भकार दोनों के सन्निधानसे हुई यह प्रत्यक्षसिद्ध घटना है। किन्तु दोनों नयोंके देखनेके दृष्टिकोण जुदे-जुदे हैं। अब अध्यात्मी व्यक्ति कर्तृत्वकी परिभाषा तो निश्चयनयकी पकड़ते है और कहते हैं कि हरएक कार्य अपने उपादानसे उत्पन्न होता है, अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यमें कुछ नहीं कर सकता। जिस समय जो योग्यता होगी उस समय वह कार्य अपनी योग्यतासे हो जायगा। और इस प्रतिसमयकी योग्यताकी सिद्धिके लिये सर्वज्ञताकी व्यावहारिक परिभाषाकी शरण लेते हैं। यह सही है कि समन्तभद्र आदि आचार्योंने और इसके पहिले भी भूतबलि आचार्यने इसी व्यावहारिक सर्वज्ञताका प्रतिपादन किया है और स्वयं कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसारमें व्यावहारिक सर्वज्ञताका वर्णन किया है किन्तु यदि हम समन्तभद्र आदिकी व्यावहारिक सर्वज्ञताकी परिभाषा लेते हैं तो कार्योत्पत्तिकी प्रक्रिया भी उन्हींके द्वारा प्रतिपादित बाह्य और अन्तरंग उभयविध कारणोंसे माननी चाहिए। और यदि हम कार्योत्पत्तिकी प्रक्रिया कुन्दकुन्दकी नैश्चयिक दृष्टिसे लेते हैं तो सर्वज्ञताकी परिभाषा

---

(१) समयप्रा० आत्म० गा० १४।

भी नैश्चयिक ही माननी चाहिए। एक परिभाषा व्यवहारकी लेना और एक परिभाषा निश्चयकी पकड़कर घोलघाल करनेमें वस्तुका विपर्यास ही होता है।

इसी तरह व्यावहारिक सर्वज्ञतामें नियतिवादको फलित करके उसे निश्चयनयका विषय बनाकर पुरुषार्थको रेड़ मारना तीर्थोच्छेदकी ही कक्षामें आता है। तीर्थ प्रवर्तनका फल यह है कि–व्यक्ति उसका आश्रय लेकर असत्से सत्, अशुभसे शुभ, अशुद्धसे शुद्ध और तमसे प्रकाशकी ओर जावें। परन्तु इस नियतिवादमें जब अपने अगले क्षणमें परिवर्तन करनेकी शक्यता ही नहीं है तब किसलिये तीर्थ-धर्मका आश्रय लिया जाय? दीक्षा-शिक्षा और संस्कारका आखिर प्रयोजन ही क्या रह जाता है? इस तरह जिनवरके दुरासद नयचक्रको नहीं समझकर और समग्र जैनशासनकी सर्वनयमयताके परिपूर्ण स्वरूपका ध्यान नहीं करके कहींकी ईंट और कहांका रोड़ा लेनेमें न वस्तुतत्त्वकी रक्षा है और न तीर्थकी प्रभावना ही।

आ० कुन्दकुन्दकी अध्यात्मभावना–आ० कुन्दकुन्दने अपने समयप्राभृतमें अध्यात्म-भावनाका वर्णन किया है। उनका कहना है कि आत्मसंशोधन और शुद्धात्मकी प्राप्ति के लिये हमें इस प्रकारकी भावना करनी चाहिए कि–निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। जिस गाथा[1] में उन्होंने व्यवहारको अभूतार्थ और निश्चयको भूतार्थकी बात कही है उसके पहिलेकी दो गाथाओंमें वे आत्मभावना करनेकी बात कहते हैं[2]। इतना ही नहीं वे निश्चयनयसे व्यवहारका निषेध करके निर्वाणकी प्राप्तिके लिये निश्चयनयमें लीन होनेका उपदेश करते हैं–

"एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥"
–समयप्रा० गा० २९६।

अर्थात्–इस तरह निश्चयनयकी दृष्टिसे व्यवहारनयका प्रतिषेध समझना चाहिये। निश्चयनयमें लीन मुनिजन निर्वाण पाते हैं।

इसी तरह उन्होंने और भी मोक्षमार्गी साधकको जीवनदर्शन की तथा आत्मसंशोधनकी प्रक्रिया और भावनाएँ बताई हैं। जिनसे चित्तको भावित कर साधक शान्तिलाभ कर सकता है। परन्तु भावनासे वस्तुस्वरूपका निरूपण नहीं होता। वही कुन्दकुन्द जब वस्तुस्वरूपका निरूपण करने बैठते हैं तो प्रवचनसार और पंचास्तिकायका समस्त तत्त्ववर्णन उभयनयसमन्वित अनेकान्त दृष्टिसे होता है।

भावनाको तत्त्वज्ञानका रूप देनेसे जो विपर्यास और खतरा होता है तथा उसके जो कुपरिणाम होते हैं वे किसी भी दर्शनके इतिहासके विद्यार्थीसे छिपे नहीं हैं। बुद्धने स्त्री आदिसे विरक्तिके लिए उसमें क्षणिक परमाणुपुञ्ज स्वप्नोपम मायोपम शून्य आदिकी भावना करनेका उपदेश दिया था। पीछे उन एक एक भावनाओंको तत्त्वज्ञानका रूप देनेसे क्षणिकवाद, परमाणुपुञ्जवाद, शून्यवाद आदि वादोंकी सृष्टि हो गई और पीछे तो उन्हें दर्शनका रूप ही मिल गया। जैन परम्परामें भी मुमुक्षुओंको अनित्य अशरण अशुचि आदि भावनासे चित्तको भावित करनेका उपदेश दिया गया है। इन्हें अनुप्रेक्षा संज्ञा भी इसीलिए दी गई है कि इनका बार-बार चिन्तन किया जाय। अनित्य भावना में वही विचार तो हैं जो बुद्धने कहे थे कि–जगत् क्षणभंगुर है अशुचि है स्वप्नवत् है माया है मिथ्या है आदि। इसी तरह स्त्रीसे विरक्तिके लिए उसमें 'नागिन सर्पिणी नरककी खान और विषवेल' आदिकी भावना करते हैं, पर इससे वह नागिन या सर्पिणी तो नहीं बन जाती

(१) "ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥"–समयप्रा० गा० १३।

(२) "णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिवि आदा तम्हा कुण भावणं आदे॥
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥"–समयप्रा० गा० ११।१२।

या नागिन और सर्पिणी तो नहीं है। जैसे इस भावनाको तत्त्वज्ञानका रूप देकर वस्तुविपर्यास नहीं किया जाता उसी तरह कुन्दकुन्दकी आध्यात्म भावना को हमें भावनाके रूपमें ही देखना चाहिये तत्त्वज्ञानके रूपमें नहीं। उनके तत्त्वज्ञानका ठोस निरूपण यदि प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदिमें देखनेको मिलता है तो आत्मशोधनकी प्रक्रिया समयसारमें।

निश्चय और व्यवहार नयोंका वर्णन वस्तुतत्त्वके स्वरूप निरूपणसे उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना हेयोपादेय-विवेचनसे। 'स्त्री किन-किन निमित्त और उपादानोंसे उत्पन्न हुई है' यह वर्णन अध्यात्म भावनाओंमें नहीं मिलता किन्तु 'स्त्रीको हम किस रूपमें देखें' जिससे विषयविरक्ति हो, यह प्रक्रिया उसमें बताई जाती है। अतः यह विवेक करनेकी पूरी-पूरी आवश्यकता है कि कहाँ वस्तुतत्त्वका निरूपण है और कहाँ भावनात्मक वर्णन है। मुझे यह स्पष्ट करनेमें कोई सङ्कोच नहीं है कि कभी कभी असत्य भावनाओंसे भी सत्यकी प्राप्तिका मार्ग अपनाया जाता है जैसे कि स्त्रीको नागिन और सर्पिणी समझकर उससे विरक्ति करानेका। अन्ततः भावना, भावना है, उसका लक्ष्य वैज्ञानिक वस्तुतत्त्वके निरूपणका नहीं है, किन्तु है अपने लक्ष्यकी प्राप्तिका; जब कि तत्त्वज्ञानके निरूपणकी दिशा वस्तुतत्त्वके विश्लेषणपूर्वक वर्णनकी होती है। उसे अमुक लक्ष्य बने या बिगड़े यह चिन्ता नहीं होती। अतः हमें आचार्योंकी विभिन्न नयदृष्टियोंका यथावत् परिज्ञान करके तथा एक आचार्यकी भी विभिन्न प्रकरणोंमें क्या विवक्षा है यह सम्यक् प्रतीति करके ही :सर्वनयसमूहसाध्य अनेकान्त तीर्थकी व्याख्यामें प्रवृत्त होना चाहिए। एक नय यदि नयान्तरके अभिप्रायका तिरस्कार या निराकरण करता है तो वह सुनय नहीं रहता दुर्णय बनकर अनेकान्तका विघातक हो जाता है। भूतबलि पुष्पदन्त उमास्वामी समन्तभद्र और अकलङ्कदेव आदि आचार्योंने जो जैन-दर्शनका बुनियादी पायेदार निर्बाध तथा सुदृढ़भूमिक निरूपण किया है वह यों ही 'व्यवहार' कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। कोई भी धर्म अपने 'तत्त्वज्ञान' और 'दर्शन'के बिना केवल नैतिक नियमोंके सिवाय और क्या रह जाता है? ईसाईधर्म और इस्लामधर्म अपने 'दर्शन'के बिना आज परीक्षाप्रधानी मानवको अपनी ओर नहीं खींच पाते। जैन-दर्शनने प्रमेयको अनेकान्तरूपता, उसके दर्शनको 'अनेकान्त दर्शन' और उसके कथनकी पद्धतिको 'स्याद्वाद भाषा'का जो रूप देकर आजतक भी 'जीवित दर्शन'का नाम पाया है उसे 'व्यवहार'के गड्ढे में फेंकनेसे तीर्थ और शासनकी सेवा नहीं होगी। जैन-दर्शन तो वस्तु-व्यवस्थाके मूलमें ही लिखता है कि–

"स्वपरात्मोपादानापोहनापाद्यत्वं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।"[1]

अर्थात् स्वोपादान यानी स्वास्तित्वके साथ ही साथ परकी अपेक्षा नास्तित्व भी वस्तुके लिये आवश्यक है। यह अस्ति और नास्ति अनेकान्तदर्शनका कवच है, जिसकी उपेक्षा वस्तुस्वरूपकी विघातक होगी।

जैन दर्शनने 'वस्तु क्या है, यह जो पर्यायोंका उत्पाद और व्यय है उसमें निमित्त उपादानकी क्या स्थिति है' इत्यादि समस्त कार्यकारणभाव, उनके जाननेकी क्या पद्धति हो सकती है इस समस्त ज्ञापकतत्त्वका पूरा-पूरा निरूपण किया है। इस कारणतत्त्व और ज्ञापकतत्त्वमें भावनाका स्थान नहीं है। इसमें तो कठोर परीक्षा और वस्तुस्थितिके विश्लेषणकी पद्धतिका प्रामुख्य है। अतः जहाँ वस्तुतत्त्वका निरूपण हो वहाँ दर्शनकी प्रक्रियासे उसका विवेचन कीजिए और उत्पन्न तथा ज्ञापित वस्तुमें किस प्रकारकी भावना या चिन्तनसे हम रागद्वेषसे परे वीतरागताकी ओर जा सकते इस अध्यात्म भावनाको समयसारसे परखिए। भावना और दर्शनका अपना अपना निश्चित क्षेत्र है उसे एक दूसरेसे न मिलाइए।

स्याद्वाद–

वास्तवबहुत्ववादी जैनदर्शनने सामान्यरूपसे यावत् सत्को परिणामी-नित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है। कोई ऐसा शब्द नहीं है जो वस्तुके पूरे रूपको स्पर्श कर सकता हो। 'सत्' शब्द भी वस्तुके एक 'अस्तित्व' धर्म को कहता है, शेष नास्तित्व आदि धर्मोंको नहीं। वस्तुस्थिति ऐसी होनेपर भी उसको समझने समझानेका प्रयत्न मानवने किया ही है

(१) त० वा० १।६।

और आगे भी उसे करना ही होगा। अतः उस विराट्को जानने और दूसरोंको समझानेमें बड़ी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। हमारे जाननेका तरीका ऐसा हो जिससे हम उस अनन्तधर्मा अखण्ड वस्तुके अधिकसे अधिक समीप पहुँच सकें, उसका विपर्यास तो हरगिज न करें। हमारी दूसरोंको समझानेकी–शब्द प्रयोग करनेकी प्रणाली ऐसी हो जो उस तत्त्वका सही-सही प्रतिनिधित्व कर सके, उसके स्वरूपकी ओर संकेत कर सके, भ्रम तो उत्पन्न करे ही नहीं। इन दोनों आवश्यकताओंने अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वादको जन्म दिया। अनेकान्त दृष्टि (नयदृष्टि) विराट वस्तुको जाननेका वह प्रकार है जिसमें विवक्षित धर्मको जानकर भी अन्य धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता, उन्हें गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है और इस तरह हर हालतमें पूरी वस्तुका मुख्यगौण भावसे स्पर्श हो जाता है। उसका कोई भी अंश कभी भी नहीं छूट पाता। जिस समय जो धर्म विवक्षित होता है वह उसी समय मुख्य या अर्पित बन जाता है और शेष धर्म गौण या अनर्पित रह जाते हैं। इस तरह जब मनुष्यकी दृष्टि अनेकान्त तत्त्वका स्पर्श करनेवाली बन जाती है तब उसके समझानेका ढंग भी निराला ही हो जाता है। वह सोचता है कि हमें उस शैलीसे वचन प्रयोग करना चाहिये जिससे वस्तुतत्त्वका यथार्थ प्रतिपादन हो। उस शैली या भाषाके निर्दोष प्रकार की आवश्यकताने 'स्याद्वाद' का आविष्कार किया है।

'स्याद्वाद' भाषाकी वह निर्दोष प्रणाली है जो वस्तुतत्त्वका सम्यक् प्रतिपादन करती है। इसमें लगा हुआ 'स्यात्' शब्द प्रत्येक वाक्यके सापेक्ष होनेकी सूचना देता है। 'स्यात् अस्ति' वाक्यमें 'अस्ति' पद वस्तुके अस्तित्व धर्मका मुख्यरूपसे प्रतिपादन करता है और 'स्यात्' शब्द उसमें रहनेवाले नास्ति आदि शेष अनन्त धर्मोंका सद्भाव बताता है कि 'वस्तु अस्तिमात्र ही नहीं है' उसमें गौणरूपसे नास्ति आदि धर्म भी विद्यमान हैं। मनुष्य अहंकारका पुतला है। अहंकारकी सहस्र नहीं अनन्त जिह्वाएँ हैं। यह विषधर थोड़ी भी असावधानी होनेपर डस लेता है। अतः जिस प्रकार दृष्टि में अहंकारका विष न आने देनेके लिए अनेकान्त दृष्टि-संजीवनीका रहना आवश्यक है उसी तरह भाषामें अवधारण या अहंकारका विष निर्मूल करनेके लिए स्याद्वाद-अमृत अपेक्षणीय होता है। अनेकान्तवाद इसी स्याद्वादका पर्यायवाची है अर्थात् ऐसा वाद अनेकान्तवाद कहलाता है जिसमें वस्तुके अनन्त धर्मात्मक स्वरूपका प्रतिपादन मुख्य-गौणभावसे होता है। यद्यपि ये दोनों पर्यायवाची हैं फिर भी 'स्याद्वाद' ही निर्दुष्ट भाषा शैलीका प्रतीक बन गया है। अनेकान्तदृष्टि तो ज्ञानरूप है, अतः वचनरूप 'स्याद्वाद' से उसका भेद स्पष्ट है। इस अनेकान्तके बिना लोकव्यवहार नहीं चल सकता। पग-पगपर इसके बिना विसंवादकी सम्भावना है। अतः इस त्रिभुवनके एक गुरु अनेकान्तवादको नमस्कार करते हुए आचार्य सिद्धसेनने ठीक ही लिखा है —

"जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वथा ण णिव्वयइ।
तस्य भुवणेकगुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स॥"
–सम्मति० ३।६८।

स्याद्वादकी व्युत्पत्ति–'स्याद्वाद' स्यात् और वाद इन दो पदोंसे बना है। वादका अर्थ है कथन या प्रतिपादन। 'स्यात्' विधिलिङ्से बना हुआ तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। वह अपनेमें एक महान् उद्देश्य और वाचक शक्तिको छिपाये हुए हैं। स्यात्के विधिलिङ् में विधि विचार आदि अनेक अर्थ होते हैं। उनमें 'अनेकान्त' अर्थ यहाँ विवक्षित है। हिन्दीमें यह 'शायद' अर्थमें प्रचलित-सा हो गया है, परन्तु हमें उसकी उस निर्दोष परम्पराका अनुगमन करना चाहिए जिसके कारण यह शब्द 'सत्यात्मा' अर्थात् सत्यका प्रतीक बना है। 'स्यात्' शब्द 'कथञ्चित्' के अर्थमें विशेषरूपसे उपयुक्त बैठता है। कथञ्चित् अर्थात् 'किसी सुनिश्चित अपेक्षा से' वस्तु अमुक धर्मवाली है। न तो यह 'शायद' न 'सम्भावना' और न 'कदाचित्' का प्रतिपादक हैं किन्तु 'सुनिश्चित दृष्टिकोण' का वाचक है। शब्दका स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है, इसलिए अन्यके प्रतिषेध करनेमें वह निरंकुश रहता है। इस अन्यके प्रतिषेधपर अंकुश लगानेका कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान् घटः' वाक्य घड़ेके रूपका प्रतिपादन भले ही करे पर वह 'रूपवान् ही है' यह अवधारण करके घड़ेमें रहनेवाले रस गन्ध आदिका प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह

अपने स्वार्थको मुख्य रूपसे कहे यहाँ तक कोई हानि नहीं, पर यदि वह इससे आगे बढ़कर 'अपने ही स्वार्थ' को सब कुछ मानकर शेषका निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तुस्थितिका विपर्यास करना है। 'स्यात्' शब्द इसी अन्यायको रोकता है और न्याय्य वचनपद्धतिकी सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्यके साथ अन्तर्गर्भ रहता है और गुप्त भावसे प्रत्येक वाक्यको मुख्यगौणभावसे अनेकान्त अर्थका प्रतिपादक बनाता है।

'स्यात्' निपात है। निपात द्योतक भी होते हैं और वाचक भी। यद्यपि स्यात् शब्द अनेकान्त सामान्यका वाचक होता है फिर भी अस्ति आदि विशेष धर्मोंका प्रतिपादन करनेके लिये 'अस्ति' आदि धर्म-वाचक शब्दोंका प्रयोग करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि 'स्यात् अस्ति' वाक्य में 'अस्ति' पद अस्तित्व धर्मका वाचक है तो 'स्यात्' शब्द 'अनेकान्त' का। वह उस समय अस्ति से भिन्न अन्य अशेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व करता है। जब 'स्यात्' अनेकान्तका द्योतन करता है तो 'अस्ति' आदि पदोंके प्रयोगसे जिन अस्तित्व आदि धर्मोंका प्रतिपादन किया जा रहा है वे 'अनेकान्त' रूप हैं यह द्योतन 'स्यात्' शब्द करता है। यदि यह पद न हो तो 'सर्वथा अस्तित्व' रूप एकान्तकी शंका हो जाती है। यद्यपि स्यात् और कथंचित्का अनेकान्तात्मक अर्थ इन शब्दोंके प्रयोग न करने पर भी कुशल वक्ता समझ लेता है परन्तु वक्ता को यदि अनेकान्त वस्तुका दर्शन नहीं हैं तो वह एकान्तके जालमें भटक सकता है अतः उसे आलोक स्तम्भके समान इस 'स्यात्' ज्योतिकी नितान्त आवश्यकता है।

स्याद्वाद सुनयका निरूपण करनेवाली विशिष्ट भाषा पद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह सुनिश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्म वाली ही नहीं है, उसमें इसके अतिरिक्त धर्म भी विद्यमान हैं। उसके अविवक्षित गुणधर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा 'स्यात्' शब्द करता है। 'रूपवान् घटः'में 'स्यात्' शब्द 'रूपवान्'के साथ नहीं जुटता, क्योंकि रूपके अस्तित्वकी सूचना तो 'रूपवान्' शब्द स्वयं ही दे रहा है, किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मोंके साथ उसका अन्वय है, वह 'रूपवान्'को पूरे घड़े पर अधिकार जमानेसे रोकता है और साफ कह देता है कि घड़ा बहुत बड़ा है, उसमें अनन्त धर्म हैं। रूप भी उनमेंसे एक है। रूपकी विवक्षा होनेसे अभी रूप हमारी दृष्टिमें मुख्य है और वही शब्दके द्वारा वाच्य बन रहा है पर रसकी विवक्षा होनेपर वह गौण राशिमें शामिल हो जायगा और रस प्रधान बन जायगा। इस तरह समस्त शब्द गौणमुख्य-भावसे अनेकान्त अर्थके प्रतिपादक हैं। इसी सत्यका उद्घाटन स्यात् शब्द सदा करता रहता है।

'स्यात्' शब्द एक सजग प्रहरी है, जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता। वह अविवक्षित धर्मोंके अधिकारका संरक्षक है। इसलिये जो लोग स्यात्का रूपवान्के साथ अन्वय करके और उसका शायद संभावना और कदाचित् अर्थ करके घड़ेमें रूपकी स्थितिको भी संदिग्ध बनाना चाहते हैं वे वस्तुतः प्रगाढ़ भ्रममें हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्यमें 'अस्ति' यह अस्तित्व अंश घटमें सुनिश्चित रूपसे विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्वकी स्थिति कमजोर नहीं बनाता। किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोंके गौणसद्भावका प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नामका धर्म, जिसे शब्दसे उच्चरित होनेके कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तुको ही न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियोंके स्थानको समाप्त न कर दे। इसलिये वह प्रतिवाक्यमें चेतावनी देता रहता है कि हे भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोंके हकको हड़पनेकी कुचेष्टा नहीं करना। इस भयका कारण है कि प्राचीनकाल से 'नित्य ही है', 'अनित्य ही है' आदि हड़पू प्रकृतिके अंशवाक्योंने वस्तु पर पूर्ण अधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगतमें अनेक तरहसे वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थके साथ तो अन्याय हुआ ही है पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक कुमतवादोंकी सृष्टि करके अहंकार हिंसा संघर्ष अनुदारता और असहिष्णुता आदिसे विश्वको अशान्त और संघर्षपूर्ण हिंसा-ज्वालामें पटक दिया है। स्यात् शब्द वाक्यके उस जहरको निकाल देता है जिससे अहंकारका सर्जन होता है।

'स्यात्' शब्द एक ओर एक निश्चित अपेक्षासे जहाँ अस्तित्वकी स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता

है वहाँ उसकी उस सर्वहरा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि–हे अस्ति, तुम अपनी अधिकार सीमाको समझो। स्वद्रव्य क्षेत्र काल और भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम घटमें रहते हो उसी तरह परद्रव्य क्षेत्रादिकी अपेक्षा नास्ति नामका तुम्हारा सगा भाई भी उसी घटमें रहता है, घटका परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है, इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी मुख्यता है, तुम्हारी विवक्षा है; पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि तुम अपने समानाधिकारी भाइयोंके सद्भावको ही उखाड़कर फेंकनेका दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है कि–यदि परकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो तो जिस घड़ेमें तुम रहते हो वह घड़ा 'घड़ा' ही न रह जायगा किन्तु कपड़ा आदि परपदार्थरूप हो जायगा। अतः तुम्हें अपनी स्थितिके लिये भी यह आवश्यक है कि तुम अन्य धर्मोंकी वास्तविक स्थितिको समझो। तुम उनकी हिंसा न कर सको इसके लिये अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहिले ही वाक्यमें लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि भाइयोंके साथ हिलमिलकर अनन्तधर्मा वस्तु में रहते हो, सब धर्मभाई अपने-अपने स्वरूपके सापेक्ष भावसे वस्तुमें रह रहे हैं, पर इन फूट डालनेवाले वस्तुद्रष्टाओंको क्या कहा जाय ? ये अपनी एकांगी दृष्टिसे तुममें फूट डालना चाहते हैं और प्रत्येक धर्मको प्रलोभन देकर वस्तुका पूरा अधिकार देना चाहते हैं और चाहते हैं कि तुममें भी अहंकारपूर्ण स्थिति उत्पन्न होकर आपसमें भेदभाव एवं हिंसाकी सृष्टि हो। बस 'स्यात्' शब्द एक अञ्जन-शलाका है जो उनकी दृष्टिको विकृत नहीं होने देता। वह उसे निर्मल और पूर्णदर्शी बनाता है। इस अविवक्षित संरक्षक, दृष्टि विषापहारी, सचेतक प्रहरी, अहिंसा और सत्यके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, शब्दको सुधामय करनेवाले तथा सुनिश्चित अपेक्षाके द्योतक 'स्यात्' शब्दके स्वरूपके साथ हमारे दार्शनिकोंने न्याय तो किया ही नहीं किन्तु उसके स्वरूपका शायद, सम्भव, कदाचित् जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका अशोभन प्रयत्न अवश्य किया है और आजतक किया जा रहा है।

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि 'घड़ा जब अस्ति है, तो नास्ति कैसे हो सकता है ? घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है ?' यह तो प्रत्यक्षविरोध है; पर विचार तो करो–घड़ा आखिर घड़ा ही तो है, कपड़ा तो नहीं है, कुरसी तो नहीं है टेबिल तो नहीं है। तात्पर्य यह कि वह घटभिन्न अनन्त पदार्थोंरूप नहीं है। तो यह कहनेमें आपको क्यों संकोच होता है कि घड़ा अपने स्वरूपसे अस्ति है और स्वभिन्न पररूपोंसे नास्ति है। इस घड़ेमें अनन्त पररूपोंकी अपेक्षा 'नास्तित्व' है, अन्यथा दुनियाँमें कोई शक्ति ऐसी नहीं जो घड़ेको कपड़ा आदि होनेसे रोक सके। यह नास्तित्व धर्म ही घड़ेको घड़ेके रूपमें कायम रखता है। इसी 'नास्ति' धर्मकी सूचना 'अस्ति' के प्रयोगकालमें 'स्यात्' शब्द देता है। इसी तरह घड़ा समग्रभावसे एक होकर भी अपने रूप रस गंध स्पर्श छोटा बड़ा हलका भारी आदि अनन्त गुण धर्मोंकी दृष्टिसे अनेक रूपोंमें दिखाई देता है या नहीं ? यह आप स्वयं बतावें। यदि अनेक रूपमें दिखाई देता है तो आपको वह मानने और कहनेमें क्यों कष्ट होता है कि घड़ा द्रव्यरूपसे एक होकर भी अपने गुण धर्म शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है। जब प्रत्यक्षसे वस्तुमें अनेक विरोधी धर्मोंका स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है, वस्तु स्वयं अनन्त विरोधी धर्मोंका अविरोधी क्रीड़ास्थल है तब हमें क्यों संशय और विरोध उत्पन्न करना चाहिए। हमें उसके स्वरूपको विकृतरूपमें देखनेकी दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिए। हम उस महान् 'स्यात्' शब्दको, जो वस्तुके इस पूर्णरूपकी झाँकी सापेक्षभावसे बताता है, विरोध संशय जैसी गालियोंसे दुरदुराते हैं, किमाश्चर्यमतः परम् ! यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकांश ध्यानमें आ जाता है कि–

"यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्"–प्रमाण वा० ३।२१०।

अर्थात् यदि यह चित्र-रूपता–अनेकधर्मता वस्तुको स्वयं रुच रही है, उसके बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है तो हम बीचमें काजी बननेवाले कौन हैं ? जगत्का एक-एक कण इस अनन्तधर्मताका आकर है। हमें तो सिर्फ अपनी दृष्टिको ही निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमें विरोध नहीं है, विरोध तो हमारी दृष्टियोंमें है। और इस दृष्टिविरोधकी अमृत (गुरबेल) स्यात् शब्द है, जो

रोगीको तत्काल कटु तो अवश्य लगती है पर इसके बिना यह दृष्टिविषमज्वर उतर भी नहीं सकता।

वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकता—वस्तु अनेकान्तरूप है यह बात थोड़ा गंभीर विचार करते ही अनुभवमें आ जाती है, और यह भी प्रतिभासित होने लगता है कि हमारे क्षुद्रज्ञानने कितनी उछल कूँद मचा रखी है तथा वस्तुके विराट् स्वरूपके साथ खिलवाड़ कर रखी है। पदार्थ भावरूप भी है और अभाव रूप भी है। यदि सर्वथा भावरूप माना जाय यानी द्रव्यकी पर्यायको भी भावरूप स्वीकार किया जाय तो प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावोंका लोप हो जानेसे पर्यायें भी अनादि अनन्त और सर्वसंकररूप हो जायगी तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप होकर प्रतिनियत द्रव्यव्यवस्थाको समाप्त कर देगा।

सदसदात्मकत्व—प्रत्येक द्रव्यका अपना असाधारण स्वरूप होता है। उसका निजी क्षेत्र काल और भाव होता है जिनमें उसकी सत्ता सीमित रहती है। सूक्ष्मविचार करनेपर क्षेत्र काल और भाव अन्ततः द्रव्यकी असाधारण स्थितिरूप ही फलित होते हैं। यह द्रव्य क्षेत्र काल और भावका चतुष्टय स्वरूपचतुष्टय कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपचतुष्टयसे सत् होता है पररूपचतुष्टयसे असत्। यदि स्वरूपचतुष्टयकी तरह पररूपचतुष्टय से भी सत् मान लिया जाय तो स्व और परमें कोई भेद नहीं रहकर सबको सर्वात्मकताका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि पररूपकी तरह स्वरूपसे भी असत् हो जाय तो निःस्वरूप होनेसे अभावात्मकताका प्रसंग होता है। अतः लोककी प्रतीतिसिद्ध व्यवस्थाके लिये प्रत्येक पदार्थको स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत् मानना ही चाहिये। द्रव्य एक अखंड मौलिक तत्त्व है। पुद्गल द्रव्योंमें ही परमाणुओंके परस्पर संयोगसे छोटे-बड़े अनेक स्कन्ध तैयार होते हैं। ये स्कन्ध संयुक्तपर्यायरूप हैं। अनेक द्रव्योंके संयोगसे ही घट पट आदि स्थूल पदार्थोंकी सृष्टि होती है। ये संयुक्त स्थूलपर्यायें भी अपने द्रव्य अपने क्षेत्र अपने काल और अपने असाधारण निजधर्मकी दृष्टिसे 'सत्' हैं और परद्रव्य परक्षेत्र परकाल और परभावकी दृष्टिसे असत् हैं। इस तरह कोई भी पदार्थ इस सदासदात्मकताका अपवाद नहीं हो सकता।

एकानेकात्मक तत्त्व—हम पहिले लिख चुके हैं कि दो द्रव्य व्यवहारके लिये ही एक कहे जा सकते हैं वस्तुतः दो पृथक् स्वतन्त्र सिद्ध द्रव्य एकसत्ताक नहीं हो सकते। पुद्गल द्रव्यके अनेक अणु जब स्कन्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं तब उनका रासायनिक मिश्रण होता है जिससे वे अमुककालतक एकसत्ताक जैसे हो जाते हैं। ऐसी दशामें हमें प्रत्येक द्रव्यका विचार करते समय द्रव्य दृष्टिसे उसे एक मानना होगा और गुण तथा पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेक। एक ही मनुष्यजीव अपनी बाल युवा और वृद्ध आदि अवस्थाओंकी दृष्टिसे अनेक अनुभव में आता है। द्रव्य गुण और पर्यायोंसे, संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भिन्न होकर भी चूँकि द्रव्यसे पृथक् गुण और पर्यायोंकी सत्ता नहीं पाई जाती या प्रयत्न करके भी हम द्रव्यसे गुणपर्यायोंका विवेचन—पृथक्करण नहीं कर सकते अतः अभिन्न है। सत् सामान्यकी दृष्टिसे समस्त द्रव्योंको एक कहा जा सकता है और अपने-अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे पृथक् अर्थात् अनेक। इस तरह समग्र विश्व अनेक होकर भी व्यवहारार्थ संग्रहनयकी दृष्टिसे एक कहा जाता है। एक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेकात्मक है। एक ही आत्मा सुख-दुःख ज्ञान आदि अनेकरूपसे अनुभवमें आता है। द्रव्यका लक्षण अन्वयरूप है जब कि पर्याय व्यतिरेकरूप होती हैं। द्रव्यकी एक संख्या है और पर्यायोंकी अनेक। द्रव्यका प्रयोजन अन्वयज्ञान है और पर्यायका प्रयोजन व्यतिरेकज्ञान। पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं और द्रव्य अनादि-अनन्त होता है। एक होकर भी द्रव्यकी अनेकरूपता जब प्रतीतिसिद्ध है तब उसमें विरोध संशय आदि दूषणोंका कोई अवकाश नहीं है।

नित्यानित्यात्मक—यदि द्रव्यको सर्वथा नित्य माना जाता है तो उसमें किसी भी प्रकारके परिणमनकी सम्भावना नहीं होनेसे कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी और अर्थक्रियाशून्य होनेसे पुण्य-पाप बन्धमोक्ष और लेन-देन आदिकी समस्त व्यवस्थाएँ नष्ट हो जाँयगी। यदि पदार्थ एक जैसा कूटस्थनित्य रहता है तो जगतके प्रतिक्षणके परिवर्तन असम्भव हो जायँगे। यदि पदार्थको सर्वथा विनाशी माना जाता है तो पूर्वपर्यायका उत्तरपर्यायके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध न होनेके कारण लेनदेन बन्धमोक्ष स्मरण और प्रत्यभिज्ञान

आदि व्यवहार विच्छिन्न हो जायँगे। जो करेगा उसके भोगनेका क्रम ही नहीं रहेगा। नित्यपक्षमें कर्तृत्व नहीं बनता तो अनित्य पक्षमें करनेवाला अन्य और भोगनेवाला अन्य होता है। उपादान-उपादेयभावमूलक कार्यकारणभाव भी इस पक्षमें नहीं बन सकेगा। अतः समस्त लोकव्यवहार लोक-परलोक तथा कार्यकारणभाव आदिकी सुव्यवस्थाके लिये पदार्थोंमें परिवर्तनके साथ-ही-साथ उसकी मौलिकता और अनादि अनन्तरूप द्रव्यत्वका आधारभूत ध्रुवत्व भी स्वीकार करना ही चाहिये।

इसके माने बिना द्रव्यका मौलिकत्व सुरक्षित नहीं रह सकता। अतः प्रत्येक द्रव्य अपनी अनादि अनन्त धारामें प्रतिक्षण सदृश-विसदृश अल्पसदृश अर्धसदृश आदि अनेकरूप परिणमन करता हुआ भी कभी समाप्त नहीं होता, उसका समूल उच्छेद या विनाश नहीं होता। आत्माको मोक्ष हो जानेपर भी उसकी समाप्ति नहीं होती किन्तु वह अपने शुद्धतम स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। उस समय उसमें वैभाविक परिणमन नहीं होकर द्रव्यगत उत्पाद व्यय स्वभावके कारण स्वभावमूलक सदृश परिणमन सदा होता रहता है। कभी भी यह परिणमनचक्र रुकता नहीं है और न कभी कोई भी द्रव्य समाप्त ही हो सकता है। अतः प्रत्येक द्रव्य नित्यानित्यात्मक है।

हम स्वयं अपनी बाल युवा वृद्ध आदि अवस्थाओंमें बदल रहे हैं फिर भी हमारा एक ऐसा अस्तित्व तो है ही जो इन सब परिवर्तनोंमें हमारी एकरूपता रखता है। वस्तुस्थिति जब इस तरह परिणामीनित्यकी है तब यह शंका 'जो नित्य है वह अनित्य कैसा ?' निर्मूल है। क्योंकि परिवर्तनोंके आधारभूत पदार्थकी सन्तानपरम्परा उसके अनाद्यनन्त सत्त्वके बिना बन नहीं सकती। यही उसकी नित्यता है जो अनन्त परिवर्तनोंके बावजूद भी वह समाप्त नहीं होता और अपने अतीतके संस्कारोंको लेता छोड़ता वर्तमान तक आता है और अपने भविष्यके एक-एक क्षणको वर्तमान बनाता हुआ उन्हें अतीतके गह्वरमें ढकेलता जाता है, पर कभी स्वयं रुकता नहीं है। किसी ऐसे कालकी कल्पना नहीं जा सकती जो स्वयं अन्तिम हो, जिसके बाद दूसरा काल नहीं आनेवाला हो। कालकी तरह समस्त जगत्के अणु-परमाणु चेतन आदिमेंसे कोई एक या सभी कभी निर्मूल समाप्त हो जाँयगे ऐसी कल्पना ही नहीं होती। यह कोई बुद्धिकी सीमाके परेकी बात नहीं है। बुद्धि अमुक क्षणमें अमुक पदार्थका अमुक अवस्था होगी इस प्रकार परिवर्तनका विशेष रूप न भी जान सके पर इतना तो उसे स्पष्ट भान होता है कि पदार्थका भविष्यके प्रत्येक क्षणमें कोई-न-कोई परिवर्तन अवश्य होगा। जब द्रव्य अपनेमें मौलिक है तब उसकी समाप्ति यानी समूल नाशका प्रश्न ही नहीं है। अतः पदार्थमात्र चाहे वह चेतन हो या अचेतन परिणामी-नित्य है। वह प्रतिक्षण त्रिलक्षण है। हर समय एक पर्याय उसकी होगी। वह अतीत पर्यायका नाश कर जिस प्रकार स्वयं अस्तित्वमें आई है उसी तरह उत्तर पर्यायको उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जायगी। अतीतका व्यय वर्तमानका उत्पाद और दोनोंमें द्रव्यगत ध्रुवता है ही।

वह त्रयात्मकता वस्तुकी जान है। इसीको स्वामी समन्तभद्र[1] तथा भट्ट कुमारिलने लौकिक दृष्टान्तसे इस प्रकार समझाया है कि–सोनेके कलशको मिटाकर मुकुट बनाया गया तो कलशार्थीको शोक हुआ मुकुटाभिलाषीको हर्ष और सुवर्णार्थीको माध्यस्थ्य भाव रहा। कलशार्थीको शोक कलशनाशके कारण हुआ मुकुटाभिलाषीको हर्ष मुकुटके उत्पादके कारण और सुवर्णार्थीकी तटस्थता दोनों दशाओंमें सुवर्णके बने

---

(१) "घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥"–आप्तमी० श्लो० ५९।
"वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः।
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्॥
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥"–मी० श्लो० पृ० ६१९।

रहनेके कारण हुई। अतः वस्तु उत्पादादित्रयात्मक है[1]। दूधको जमाकर दही बनाया गया तो जिस व्यक्तिको दूध खानेका व्रत है वह दहीको नहीं खायगा पर जिसे दही खानेका व्रत है वह दहीको तो खा लेगा पर दूधको नहीं खायगा। और जिसे गोरसके त्यागका व्रत है वह न दूध खायगा और न दही; क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें गोरसत्व है ही। इससे ज्ञात होता है कि गोरसकी ही दूध और दही दोनों पर्यायें थीं।

पातञ्जल[2] महाभाष्यमें भी पदार्थके त्रयात्मकत्वका समर्थन शब्दार्थ मीमांसाके प्रकरणमें मिलता है। आकृति नष्ट होनेपर भी पदार्थकी सत्ता बनी रहती है। एक ही क्षणमें वस्तुके त्रयात्मक कहनेका स्पष्ट अर्थ यह है कि पूर्वका विनाश और उत्तरका उत्पाद दो चीजें नहीं हैं किन्तु एक कारणसे उत्पन्न होनेके कारण पूर्व विनाश ही उत्तरोत्पाद है। जो उत्पन्न होता है वही नष्ट होता है और वही ध्रुव है। सुननेमें तो ऐसा लगता है कि जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है वह ध्रुव कैसे हो सकता है? यह तो प्रकट विरोध है। परन्तु वस्तुस्थितिका थोड़ी स्थिरतासे विचार करनेपर यह कुछ भी अटपटा नहीं है। इसके माने बिना तत्त्वके स्वरूपका निर्वाह ही नहीं हो सकता।

भेदाभेदात्मक तत्त्व–गुण और गुणीमें, सामान्य और सामान्यवान्में, अवयव और अवयवीमें, कारण और कार्यमें सर्वथा भेद माननेसे गुण-गुणी भाव आदि नहीं बन सकते। सर्वथा अभेद माननेपर गुण-गुणी व्यवहार नहीं हो सकता। गुण यदि गुणीसे सर्वथा भिन्न है तो अमुक गुणका अमुक गुणीसे ही सम्बन्ध कैसे नियत किया जा सकता है? अवयवी यदि अवयवोंसे सर्वथा भिन्न है तो एक अवयवी अपने अवयवोंमें सर्वात्मना रहेगा या एकदेश से? यदि पूर्णरूपसे; तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी मानने होंगे। यदि एकदेशसे; तो जितने अवयव हैं उतने प्रदेश उस अवयवीके स्वीकार करने होंगे। इस तरह अनेक दूषण सर्वथा भेद और अभेद पक्षमें आते हैं अतः तत्त्वको पूर्वोक्त प्रकारसे कथञ्चित् भेदाभेदात्मक मानना चाहिये। जो द्रव्य है वही अभेद है और जो गुण और पर्याय हैं वही भेद है। दो पृथक्सिद्ध द्रव्योंमें जिस प्रकार अभेद काल्पनिक है उसी तरह एक द्रव्यका अपने गुण और पर्यायोंसे भेद मानना भी सिर्फ समझने और समझानेके लिए हैं। गुण और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है जो इनमें रहता हो।

इसी तरह अन्यानन्यात्मक, पृथक्त्वापृथक्त्वात्मक तत्त्वकी भी व्याख्या कर लेनी चाहिये।

[3]धर्म धर्मिभावका व्यवहार भले ही आपेक्षिक हो पर स्वरूप तो स्वतः सिद्ध ही है। जैसे एक ही व्यक्ति विभिन्न अपेक्षाओंसे कर्ता कर्म करण आदि कारकरूपसे व्यवहारमें आता है पर उस व्यक्तिका स्वरूप स्वतःसिद्ध ही हुआ करता है, उसी तरह अनन्तधर्मा प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म स्वरूप सिद्ध होकर भी परकी अपेक्षासे व्यवहारमें आते हैं। निष्कर्ष इतना ही है कि प्रत्येक अखंड तत्त्व या द्रव्यको व्यवहारमें उतारनेके लिये उसका अनेक धर्मोंके आकारके रूपमें वर्णन किया जाता है; धर्मोंकी उस द्रव्यको छोड़कर स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। दूसरे शब्दोंमें अनन्त-गुणपर्याय और धर्मोंको छोड़कर द्रव्यका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कोई ऐसा समय नहीं आ सकता जब गुणपर्यायशून्य द्रव्य पृथक् मिल सके या द्रव्यसे भिन्न गुण और पर्यायें दिखाई जा सकें।

---

(१) "पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥"–आप्तमी० श्लो० ६०।

(२) "द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या···सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः, पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवतः, आकृतिरन्या अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।"–पात० महाभा० १।१।१। योगभा० ४।१३।

(३) आप्तमी० श्लो० ७३–७५।

इस तरह स्याद्वाद इस अनेकरूप अर्थको निर्दोष पद्धतिसे वचनव्यवहारमें उतारता है और प्रत्येक वाक्यकी सापेक्षता और आंशिक स्थितिका बोध कराता है।

इस स्याद्वादके स्वरूपको ठीक ठीक न समझकर 'शंकराचार्य गुणमति स्थिरमति धर्मकीर्ति प्रज्ञाकर अर्चट शान्तरक्षित कर्णकगोमि जयराशि व्योमशिव भास्कराचार्य विज्ञानभिक्षु श्रीकण्ठ रामानुजाचार्य वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य आदिके द्वारा तथा इन प्राचीन आचार्योंका अनुसरणकर आधुनिक लेखकोंके द्वारा की गई स्याद्वादसमालोचनाकी प्रत्यालोचना जैनदर्शन (पृ० ५६०–५९३) में देखना चाहिए। वहीं स्याद्वादमें दिये जानेवाले संशयादि दोषोंका परिहार भी किया गया है।

*

४ निक्षेप मीमांसा[1]

अनन्तधर्मात्मक पदार्थको व्यवहारमें लानेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नोंमें निक्षेपका भी स्थान है। जगत्में व्यवहार तीन प्रकारसे चलते हैं। कुछ व्यवहार ज्ञानाश्रयी कुछ शब्दाश्रयी और कुछ अर्थाश्रयी होते हैं। अनन्तधर्मा वस्तुको संव्यवहारके लिये उक्त तीन प्रकारके व्यवहारोंमें बाँटना निक्षेप है। निक्षेपका शाब्दिक अर्थ है रखना। यानी वस्तुके विवक्षित अंशको समझनेके लिये उसकी शाब्दिक आर्थिक सांकल्पिक आरोपित भूत भविष्यत् वर्तमान आदि अवस्थाओंको सामने रखकर प्रस्तुतकी ओर दृष्टि देना निक्षेपका लक्ष्य है। प्राचीनकालसे ही जैन परम्परामें पदार्थके वर्णनकी एक विशेष पद्धति रही है। सूत्रोंमें कोई एक शब्द आया कि उसको नाम स्थापना द्रव्य भाव काल और क्षेत्र आदिकी दृष्टिसे अनेकधा विश्लेषण करके सामने रखा जाता है। फिर समझाया जाता है कि इनमें अमुक अर्थ विवक्षित है। जैसे 'घोड़ेको लाओ' इस वाक्यमें 'घोड़' का निक्षेप करके बताया जायगा कि जिसका 'घोड़ा' नाम रख दिया जाता है वह नाम घोड़ा है। जिस तदाकार खिलौनेको 'घोड़ा' कहते हैं वह सद्भावस्थापना घोड़ा है, जिस अतदाकार शतरंजके मोहरेको घोड़ा कहते हैं वह असद्भावस्थापना घोड़ा है। जो जीव मरकर आगे घोड़ा होगा वह द्रव्यघोड़ा है। जो आज वस्तुतः घोड़ा है वह भाव घोड़ा है। इनमें स्थूलरूपसे नामघोड़ा शब्दात्मक व्यवहारके लिये आधार होता है तो स्थापना घोड़ा ज्ञानात्मक व्यवहारके लिये और द्रव्य और भावघोड़ा अर्थाश्रयी व्यवहारके लिये आधार बनते हैं। यदि कोई बालक घोड़ेके लिये रोता है तो वहाँ खिलौना घोड़ा लाया जाता है और शतरंजके समय वह मुहराघोड़ा ही पकड़ा जाता है। सवारीके समय भावघोड़ा ही उपयुक्त होता है और किसी सांकेतिक व्यवहारके लिये नामघोड़ेकी उपयोगिता होती है। तात्पर्य यह कि पदार्थके विवक्षित अंशको सटीक पकड़नेके लिए उसके संभाव्य सभी विकल्पोंको सामने रखा जाता है, फिर कहा जाता है कि इनमें 'अमुक अंश' विवक्षित है। धवला टीका[2]में निक्षेपविषयक यह प्राचीन गाथा उद्धृत है जो किंचित् पाठभेदके साथ अनुयोगद्वार सूत्र में भी उपलब्ध है–

> "जत्थ बहुं जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खिवे णियमा।
> जत्थ बहुयं ण जाणदि चउट्ठयं णिक्खिवे तत्थ॥"

अर्थात् जहाँ जितना बहुत जाने वहाँ उतने ही प्रकारसे पदार्थोंका विश्लेषण या निक्षेप करना चाहिये। जहाँ अधिक न जाने वहाँ कमसे कम चार प्रकारसे पदार्थोंका निक्षेप करना चाहिए। यही कारण है कि–मूलाचार[3]में 'सामायिक' के तथा त्रिलोकप्रज्ञप्ति[4]में 'मङ्गल' के नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे छह निक्षेप किये गये हैं। आवश्यक निर्युक्ति[5]में इन छह निक्षेपोंमें 'वचन' को ओर जोड़कर सात

(१) जयधवला भाग १ प्रस्ता० पृ० १००–।

(२) प्रथम पु० पृ० ३० ।

(३) षडावश्यकाधिकार गा० १७ । (४) गा० १।१८ । (५) गा० १२९

प्रकारके निक्षेप बताये हैं। यद्यपि निक्षेपोंके संभाव्य भेद अनेक हो सकते है और कुछ ग्रन्थकारोंने किये भी हैं परन्तु कमसे कम नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोंको माननेमें सर्वसम्मति है। पदार्थोंका इस प्रकारका निक्षेप प्राचीनकालमें अत्यन्त आवश्यक माना जाता था। आ० यतिवृषभ[1] लिखते हैं कि– जो प्रमाण नय और निक्षेपसे पदार्थकी ठीक समीक्षा नहीं करता उसे युक्त भी अयुक्त और अयुक्त भी युक्त प्रतिभासित होता है। धवला[2] में तो और स्पष्ट लिखा है कि निक्षेपके बिना किया जानेवाला निरूपण वक्ता और श्रोता दोनोंको कुमार्गमें ले जा सकता है।

आ० पूज्यपाद[3]ने निक्षेपका प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि **"स किमर्थः अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च"** अर्थात् अप्रकृतके निराकरणके लिये और प्रकृतका निरूपण करनेके लिये निक्षेपकी सार्थकता है। धवला (पु० १) में निक्षेपका प्रयोजन बतानेवाली यह प्राचीनगाथा उद्धृत है–

"उक्तं हि–अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥"

अप्रकृतके निराकरण प्रकृतके प्ररूपण संशयके विनाश और तत्त्वार्थके निश्चयके लिये निक्षेपकी सार्थकता है। वहीं इसका विशेष विवरण करते हुए लिखा है कि यदि श्रोता अव्युत्पन्न है और पर्यायार्थिक दृष्टिवाला है तो अप्रकृतके निराकरणके लिये तथा यदि द्रव्यार्थिक दृष्टिवाला है तो प्रकृतके निरूपणके लिये निक्षेप करना चाहिए। श्रोताको यदि पूर्ण विद्वान् या एकदेशज्ञानी होकर भी तत्त्वमें सन्देह है तो सन्देह निवारणके लिये, यदि तत्त्वमें विपर्यास है तो तत्त्वार्थके निश्चयके लिये निक्षेपकी आवश्यकता है।

अकलङ्कदेवने[4] निक्षेपोंका विवेचन करते हुए लिखा है कि–

"नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥"

अर्थात् निक्षेप पदार्थोंके विश्लेषणके उपायभूत हैं। उन्हें नयों द्वारा ठीक-ठीक समझकर अर्थात्मक ज्ञानात्मक और शब्दात्मक भेदोंकी रचना करनी चाहिए। इस वर्णनसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि अकलङ्कदेव विशेष रूपसे समन्तभद्रके[5] द्वारा प्रतिपादित बुद्धि शब्द और अर्थ रूपसे पदार्थके विश्लेषणकी ओर ध्यान दिला रहे हैं; क्योंकि तीनों प्रकारके अर्थोंमें ज्ञान एक जैसा ही होता है।

सिद्धिविनिश्चय (१२।१) में निक्षेपको अनन्त प्रकारका बतलाकर भी उसके चार मुख्य भेद वही कहे हैं जो तत्त्वार्थसूत्र (१।५) में निर्दिष्ट हैं। वे हैं नाम-स्थापना द्रव्य और भाव।

द्रव्य जाति गुण क्रिया और परिभाषा ये शब्दप्रवृत्तिके निमित्त होते हैं। इनमेंसे किसी निमित्तकी अपेक्षा न करके इच्छानुसार वस्तुकी जो चाहे संज्ञा रखना नाम निक्षेप है। यह अनेक प्रकारका है। यथा व्यस्त जीवविषयक नाम–जैसे यह देवदत्त है। समस्त जीव विषयक नाम–जैसे ये सब गर्ग आदि हैं। एक जीव विषयक नाम–जैसे आदिनाथ। अनेक जीवविषयक नाम–जैसे यह डित्थ यह डवित्थ यह जिनदत्त आदि। व्यस्त अजीव विषयक नाम-जैसे व्याकरणमें समासकी 'स' संज्ञा। समस्त अजीवविषयक नाम– जैसे व्याकरणमें भू आदि धातुओंकी 'धु' संज्ञा। एक अजीव विषयक नाम–जैसे आकाश काल आदि संज्ञाएँ। अनेक अजीव विषयक नाम–जैसे व्याकरणमें शतृ और शानच् प्रत्ययोंकी 'सत्' यह संज्ञा। जाति गुण आदिके निमित्तसे किया जानेवाला शब्दव्यवहार नाम निक्षेपकी मर्यादामें नहीं आता[6]। अनन्तवीर्या-

(१) त्रिलोक प्र० १।८२। (२) पुस्तक १ पृ० ३१।
(३) सर्वार्थसि० १।५।
(४) लघी० स्ववृ० श्लो० ७४।
(५) "बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्ताः तिस्रो बुद्ध्यादिवाचकाः।"–आप्तमी० श्लो० ८५।
(६) त० श्लो० पृ० १११।

चार्य[1]के मतसे वह स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भूत है। जिस वस्तुकी जो संज्ञा रखी जाती है नाम निक्षेपमें वह वस्तु उसी संज्ञाकी वाच्य होती है उसके पर्यायवाची अन्य शब्दोंकी नहीं। जैसे 'गजराज'[2] संज्ञावाले व्यक्तिको 'करि स्वामी' या 'हस्तिनाथ' नहीं कहा जा सकता। पुस्तक[3] पत्र चित्र आदिमें लिखा गया लिप्यात्मक नाम भी नाम निक्षेप है।

जिसका 'नाम' रखा जा चुका है उसकी उसीके आकारवाली मूर्ति या चित्रमें स्थापना करना तदाकार या सद्भाव स्थापना है। यह स्थापना लकड़ीमें बनाये गये, कपड़ेमें काढ़े गये, चित्रमें लिखे गये और पत्थरमें उकेरे गये तदाकारमें 'यह वही है' इस सादृश्यमूलक अभेद बुद्धिकी प्रयोजक होती है। भिन्न आकार वाली वस्तुमें उसकी स्थापना अतदाकार या असद्भावस्थापना है जैसे शतरंजकी गोटोंमें हाथी घोड़े आदिकी स्थापना।

नाम और स्थापना दोनों यद्यपि साङ्केतिक हैं पर उनमें इतना अन्तर[4] अवश्य है कि नाममें नामवाले द्रव्यका आरोप नहीं होता जब कि स्थापनामें स्थाप्य द्रव्यका आरोप किया जाता है। नामवाले पदार्थकी स्थापना अवश्य करनी चाहिए यह नियम नहीं है जब कि जिसकी स्थापनाकी जाती है उसका स्थापनाके पूर्व नाम अवश्य रख लिया जाता है। नाम निक्षेपमें आदर और अनुग्रह नहीं देखा जाता जब कि स्थापनामें आदर और अनुग्रह आदि 'अवश्य होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनुग्रहार्थी स्थापनादेवका आदर या स्तवन करते हैं उस प्रकार 'देव' नामक व्यक्तिका नहीं। अनुयोगद्वार-सूत्र (११) और बृहत्कल्पभाष्य[5]में नाम और स्थापनामें यह अन्तर बताया है कि स्थापना इत्वरा और अनित्वरा अर्थात् सार्वकालिकी और नियतकालिकी दोनों प्रकारकी होती है जब कि नाम निक्षेप नियमसे यावत्कथित अर्थात् जबतक द्रव्य रहता है तबतक रहनेवाला सार्वकालिक होता है। विशेषावश्यक भाष्य (गा० २५) में नामको प्रायः सार्वकालिक कहा है। उसके टीकाकार कोट्याचार्यने देवकुरु सुमेरु आदि अनादि पदार्थोंके नामोंकी अपेक्षा उसे सार्वकालिक बताया है।

भविष्यत् पर्यायकी योग्यता या अतीत पर्यायके निमित्तसे होनेवाले व्यवहारका आधार द्रव्यनिक्षेप होता है जैसे जिसका राज्य चला गया है उसे वर्तमानमें राजा कहना या युवराजको अभी ही राजा कहना। इस निक्षेपमें राजविषयक शास्त्रको जाननेवाला किन्तु उसमें उपयोग नहीं लगानेवाला व्यक्ति, ज्ञायकके भूत भावी और वर्तमान शरीर तथा कर्मनोकर्म आदि शामिल हैं। भविष्यत्में तद्विषयक शास्त्रको जो व्यक्ति जानेगा वह भी इसी द्रव्यनिक्षेपकी परिधिमें आता है।

वर्तमान पर्यायविशिष्ट द्रव्यमें तत्पर्यायमूलक व्यवहारका आधार भावनिक्षेप होता है। इसमें तद्विषयक शास्त्रका जाननेवाला उपयुक्त आत्मा तथा तत्पर्यायसे परिणत पदार्थ ये दोनों शामिल हैं। बृहत्कल्पभाष्यकी पीठिकामें बताया है कि द्रव्य और भाव निक्षेपमें भी पूज्यापूज्यबुद्धिकी दृष्टिसे अन्तर है। जिस प्रकार 'भाव-जिनेन्द्र' भक्तोंके लिये पूज्य और स्तुत्य होते हैं उस प्रकार द्रव्यजिनेन्द्र नहीं।

विशेषावश्यकभाष्य (गा० ५३-५५) में नामादिनिक्षेपोंका परस्पर भेद बताते हुए लिखा है कि—जिस प्रकार स्थापना इन्द्रमें सहस्रनेत्र आदि आकार, सद्भूत इन्द्रका अभिप्राय, 'यह इन्द्र है' यह बुद्धि इन्द्रभक्तों द्वारा की जानेवाली नमस्कार आदि क्रिया, तथा इन्द्रपूजाका फल आदि सब होते हैं उस प्रकारके आकार अभिप्राय बुद्धि क्रिया और फल नामेन्द्र और द्रव्येन्द्रमें नहीं होते। जिस प्रकार द्रव्य आगे जाकर भावपरिणतिको प्राप्त हो जाता है या पहिले भावपरिणतिको प्राप्त था उस प्रकार नाम और स्थापना नहीं। द्रव्य भावका कारण है तथा भाव द्रव्यकी पर्याय है उस तरह नाम और स्थापना नहीं। जिस प्रकार भाव तत्पर्यायपरिणत या तदर्थोपयुक्त होता है उस प्रकार द्रव्य नहीं। इस प्रकार इन चारोंमें भेद है।

---

(१) सिद्धिवि० टी० पृ० ७४०।

(२) विशेषा० गा० २५। (३) जैनतर्क भा० पृ० २५।

(४) धवला पु० ५ पृ० १८५। (५) पीठिका गा० १३।

निक्षेपोंमें नययोजना–

कौन निक्षेप किस नयसे अनुगत होता है इसका विचार अनेक प्रकारसे देखा जाता है–आ० सिद्धसेन[1] और पूज्यपाद[2] सामान्यरूपसे द्रव्यार्थिकनयोंके विषय नाम स्थापना और द्रव्य इन तीन निक्षेपोंको तथा पर्यायार्थिकनयोंका विषय केवल भावनिक्षेपको कहते हैं। अकलङ्कदेव[3]का भी यही अभिप्राय है। इतनी विशेषता है कि सिद्धसेन संग्रह और व्यवहारको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं; क्योंकि इनके मतसे नैगमका संग्रह और व्यवहारमें अन्तर्भाव हो जाता है। पूज्यपाद नैगमनयको स्वतन्त्र मानते हैं अतः इनके मतसे तीनों द्रव्यार्थिक नय हैं। दोनोंके मतसे ऋजुसूत्र आदि चारों नय पर्यायार्थिक हैं। अतः ये केवल भाव निक्षेपको विषय करते हैं।

आ० पुष्पदन्त भूतबलिने षट्खंडागम[4] आदिमें तथा आ० यतिवृषभ[5]ने कषायपाहुडके चूर्णिसूत्रोंमें इसका कुछ विशेष विवेचन किया है। वे नैगम संग्रह और व्यवहार इन तीनों नयोंमें चारों ही निक्षेपों को स्वीकार करते हैं। भावनिक्षेपके विषयमें आ० वीरसेन[6]ने लिखा है कि कालान्तरस्थायी व्यञ्जनपर्यायकी अपेक्षासे जो कि अपनी अनेक अर्थपर्यायोंमें व्याप्त होनेके कारण 'द्रव्य' व्यपदेश पा सकती है, भावनिक्षेप बन जाता है। अथवा द्रव्यार्थिकनय भी गौण रूपसे पर्यायको विषय करते हैं। अतः उनका विषय भावनिक्षेप हो सकता है।

ऋजुसूत्र नय स्थापनाके सिवा अन्य तीन निक्षेपोंका विषय करता है। चूँकि स्थापना[7] सादृश्यमूलक अभेद बुद्धिसे होती है और ऋजुसूत्रनय सादृश्यको विषय नहीं करता, अतः इसकी दृष्टिमें स्थापना निक्षेप नहीं बनता। कालान्तरस्थायी व्यञ्जन पर्यायको वर्तमान रूपसे ग्रहण करनेवाले अशुद्ध ऋजुसूत्रनयमें द्रव्यनिक्षेप भी सिद्ध हो जाता है। इसी तरह वाचक शब्दकी प्रतीतिके समय उसके वाच्यभूत अर्थकी उपलब्धि होनेसे ऋजुसूत्रनय नामनिक्षेपका भी स्वामी हो जाता है।

तीनों शब्दनय नाम और भाव इन दो निक्षेपोंको विषय करते हैं। इन शब्दनयोंका विषय लिङ्गादि भेदसे भिन्न वर्तमान पर्याय हैं, अतः इनमें अभेदाश्रयी द्रव्यनिक्षेप नहीं बन सकता।

जिनभद्रगणि[8] ऋजुसूत्रनयको द्रव्यार्थिक मानकर द्रव्यार्थिकनयमें चारों निक्षेप घटा लेते हैं। वे ऋजुसूत्रनयमें स्थापना निक्षेप सिद्ध करते समय लिखते हैं कि ऋजुसूत्रनय निराकार द्रव्यको भावमें हेतु होनेके कारण जब विषय कर लेता है तब वह साकार स्थापना को विषय क्यों नहीं करेगा? क्योंकि मूर्तिमें स्थापित इन्द्रके आकारसे भी इन्द्र विषयक भाव उत्पन्न होता है। अथवा ऋजुसूत्रनय नामनिक्षेपको स्वीकार करता है यह निर्विवाद है। नाम निक्षेप या तो इन्द्रादि संज्ञारूप होता है या इन्द्रार्थसे शून्य वाच्यार्थ रूप। अतः जब दोनों ही प्रकारके नाम भावके कारण होनेसे ऋजुसूत्रनयके विषय हो सकते हैं तो इन्द्राकार स्थापनाको भी भावमें हेतु होनेके करण ऋजुसूत्रनयका विषय होना चाहिए। इन्द्र शब्दका इन्द्र भावके साथ तो केवल वाच्यावाचक-सम्बन्ध ही संभव है जो कि एक दूरवर्ती सम्बन्ध है किन्तु अपने आकारके साथ इन्द्रार्थका तो एक प्रकारसे तादात्म्यसम्बन्धसा हो सकता है जो कि वाच्यवाचकसम्बन्धसे अधिक सन्निकट है। अतः नाम को विषय करनेवाला ऋजुसूत्र स्थापनाको भी विषय कर सकता है। विशेषावश्यक भाष्यमें ऋजुसूत्रनयमें द्रव्यनिक्षेप सिद्ध करनेके लिये अनुयोगद्वारसूत्र (१४) का प्रमाण देकर लिखा है कि–ऋजुसूत्रनय वर्तमानग्राही होनेसे एक अनुपयुक्त देवदत्त आदिको आगमद्रव्यनिक्षेप मानता है। वह उसमें अतीतादि

(१) सन्मति० १।६। (२) सर्वार्थसि० १।६।
(३) सिद्धिवि० १२।२।
(४) प्रकृति अनुयोगद्वार पृ० ८६२। (५) कसायपा० चू० जयध० पृ० २५९-६४।
(६) धवला पु० १ पृ० १४। जयध० पु० १ पृ० २६०। (७) जयध० पृ० २६३।
(८) विशेषा० भा० गा० २८४७–५३।
(९) जैनतर्कभा० पृ० २८।

कालभेद नहीं करता और न उसमें परकी अपेक्षा पृथक्त्व ही मानता है। इस तरह जिनभद्रगणिके मतसे ऋजुसूत्रनयमें चारों ही निक्षेप संभव हैं। ये शब्दादि तीन नयोंमें मात्र भावनिक्षेप ही मानते हैं। और उन्होंने इसका हेतु दिया है इन नयोंका विशुद्ध होना। विशेषावश्यक भाष्य[1] में एक मत यह भी है कि ऋजुसूत्रनय नाम और भाव इन दो निक्षेपोंको ही विषय करता है। एक मत यह भी है कि संग्रह और व्यवहार स्थापना निक्षेपको विषय नहीं करते। इस मतके उत्थापकका कथन है कि–स्थापना चूँकि सांकेतिक है अतः वह नाममें ही अन्तर्भूत है। इसका प्रतिवाद करते हुए उन्होंने लिखा है कि जब नैगमनय स्थापना निक्षेपको स्वीकार करता है और संग्रहिक नैगम संग्रहनयरूप है और असंग्रहिक नैगम व्यवहार नयरूप है तो नैगमके विभक्तरूप संग्रह और व्यवहारमें स्थापना निक्षेप भी विषय हो ही जाता है। इस तरह विवक्षाभेदसे निक्षेपोंमें नय योजनाका उपर्युक्त रूप रहा है।

इस तरह प्रमाण प्रमेय नय और निक्षेपके सम्बन्धमें संक्षेपमें कुछ खास मुद्देकी बातोंपर प्रकाश डालकर यह प्रस्तावना समाप्त की जाती है।

संस्कृत महाविद्यालय,
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
२६।३।५८

–महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
एम. ए.

(१) गा० २८४७–५३।

सिद्धिविनिश्चयटीका-प्रथमभागस्य

विषयानुक्रमः

इति प्रमाणान्तरसिद्धिः तृतीय प्रस्तावः

---

४ जीवसिद्धिः

इति जीवसिद्धिः चतुर्थः प्रस्तावः

---

५ जल्पसिद्धिः

इति जल्पसिद्धिः पञ्चमः

शुद्धि-वृद्धिपत्रम्

हिन्दी प्रस्तावना

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४	३१	७५१	७५३
१५	१३	ई० १९	ई० ६१९
१६	२६	(ई० ९६०-११६५)	(ई० ९८०-१०६५)
२०	३३	विजयेन्द्र	राजेन्द्र
२१	३०	विशामल	विशालामल
२१	३५	नयचक्र०	नयचक्र० लि० पृ०३७१ क० ३७९ ख०
७९	८	१०१८	१११८
८५	३	–न्वयति-	–न्वयव्यति-

मूल ग्रन्थ

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१९	५	प्रवृत्त्यर्थ	प्रवृत्त्यर्थं
२१	२	प्रपाद-	प्रमाद-
२१	१०	११५	११४
२३	२०	११४	११७
२५	९	अनिर्णीति-	अनिर्णीतार्थनिर्णीति-
२७	१८	११२८	११२७
३१	८	चिन्त्यग्नि-	चिन्तयि-
३८	३२	न्यायवि०	न्यायवि०
४४	८	२।२२५	२।१२५
४७	८	३।२१	३।१९
६६	२	न्यायवि० ३।१	न्यायवि० टी० २।२
९२	१४	स्वयमबु-	स्वयमवबु-
९८	२७	शावर-	शाबर-
१०५	२	परहृतं	परिहृतं
१११	१९	व्यवसायपितुं	व्यवसाययितुं
११५	२२	विनिश्चत्य	विनिश्चित्य
१३९	११	-दृष्टे-	-दृष्टे-
१४३	२०	वर्णं	वर्ण-
१५८	२४	-शार्थं	-शार्थं
१६०	६	बन्ध्या-	वन्ध्या-
१९७	८	,,	,,
२०४	१९	,,	,,
२७६	७	,,	,,

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
२९४	२०	वन्ध्या-	वन्ध्या-
३०८	१४	,,	,,
४१२	४	,,	,,
१९४	४	सटिग्धा	सटिग्धा (शीर्त्वा)
१९५	२२	विशेषोष-	विशेषोप-
२२३	४	पुष्णा-	पुष्णा-
,,	१७	-ध्यामा-	-ध्यमा-
२४४	२६	सीत्वा	सर्त्वा
२४५	२०, २४	,,	,,
२५०	२	वंचकाः	वञ्चकाः
२५५	१२	[न्याम० पृ० ७४]	[ ]
२६०	१४	छग-	छाग-
२६८	१७	-देशेसम-	-देशेऽसम-
२७२	८	-ति न च	-ति अन्यथा अनवस्था- प्रसङ्गात् नच
२७८	१४	वावेदनं	धा [सं] वेदनं
२८०	२७	कार्यकारण-	कार्यकरण-
,,	१९	ब्वव-	ब्यव-
३१०	२	५ वादसिद्धिः	५ जल्पसिद्धिः
३१२	३	श्लो० १७	श्लो० २१
३१५	३२	न्यायकालि०	न्यायकलि०
३१८	२३	११११५	१११३४
३२४	५	–प्रभावं	–प्रभवं
३६३	९	–गीयते	–मीयते
३६४	१५	(छेत्)	(छेत)
३७१	२८	–त्वं..." सन्मति टी० पृ० ५६०	–त्वं..."–तत्त्व सं० प० पृ० ४०५-६ । "तदुक्तं जैनैः' –सन्मति० टी० पृ० ५६९
४०९	२०	–व्रत्तमा–	–वर्तमा–
४३१	२०	[३५]	[३७]
५५५	२२	तदीप	तदपि
५६९	२२	सावयवत्वम्	सावयवत्वम्
५७४	२०	प्राधतहे[तु]	प्राग्नहेत (तु)-
६१४	१८	-ययवरूप-	-ययविरूप-
६३२	१९	निरंकुश-	निरङ्कुश-
६४२	३०	–निबन्ध–	–निबन्ध–
६४९	१५	–वच्छेन	–वच्छेदेन
६५४	८	[४।१]	[७।१]
६६३	२४	नरयैधि–	–नयैरधि–

शुद्धिपत्रम्

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
६६३	२०	[न्त] मे–	[न्त] रमे–
६८६	७	–तत्व–	–तत्त्व(–
६८७	९	–सत्त्व–	–तत्त्व–
६९१	५	नयासि–	नयाः सि–
६९८	२६	–न्तर्विद्विर्वर्तत	–न्तर्विद्विवर्तत
७०३	६	(अभि)	(आभि)
७७७	१३	१६२-१६	१६३।२६
७८०	१३	द्वेएव	द्वे एव [प्र० समु० बृ० ११२
,,	२०	प्रमाण्यं	प्रामाण्यं
,,	२६	जैनेनु	जैनेन्द्र
७८६	१८	४०७।३५	४०७।२५
७८७	१०	१८११६	१८३।१६
८०८	२७	सीरज	सीरीज

सिद्धिविनि
श्चयटीका
१

॥६०॥ ॐ नमोऽर्हते॥ अकलंकं जिनं नत्वा गुरुं देवीं सर- ं॥ नत्वा टीकां प्रवक्ष्यामि शुद्धां सिद्धिवि-
निश्चये॥१॥ अकलंकवचः काले कलौ न कलयापि यत्। नृषु लभ्यं क्वचित् लब्ध्वा तत्रैवास्तु मतिर्मम॥२॥
देवस्यानंतवीर्योपि पदं व्यक्तं तु सर्वतः। न जानीते कलंकस्य चित्रमेतत् परं भुवि॥३॥ अकलंकवचो-
ऽगाधः स्फुरन्नातिथयोऽयि। गृह्यानबद्धतिः स्मैरमङ्गनाकरणं क्रमः॥४॥ सर्वधर्मनैरात्म्यं कथया-
न्नपि सर्वथा। धर्मकीर्तिः पदं गाढं अकलंकधनं तु ॥५॥ शास्त्रस्यादौ तद्विघ्नप्रसिद्धिप्रवचनादिकं फ-
लमभिसमीक्ष्य सर्वज्ञमित्यादि मंगलमाहास्य ऽयमर्थः। सर्वज्ञं सर्वविदं नमस्य त्यक्त्वा न-
नु प्रतिज्ञा साध्येत यदनपस्मार्यो नाद्य सर्व तज्जानातीति सर्वज्ञः। स्वरूपज्ञत्वमस्य
भ्वीति। शासनमिति चेदत्राह। श्रीवर्द्धमानमिति। श्रीरनाषतवाधेज्ञानादिसंपदि दृश्यत।
। सा सर्वो पूर्वपर्यायपरित्यागा व्यापादानेन वर्द्धमानात् परमाविर्भावादण्यवर्त्त-
मानो यस्य सताषा मिति। कामचारेण विज्ञापनविज्ञाप्यताभावः। इति श्रीज्ञाह्यस्य विज्ञापण-
सिध्यपि यमनन्यस्य विज्ञापनानिषधयिद्वं वर्द्धमानान्हर नित्यादिवत्॥ इतरथा वर्द्धमानशाब्दस्य सर्वो-
निपातः श्रीशब्दस्य परतिपातः स्यात्॥ एवं वस्तु विज्ञापणस्य सर्वोतिपातानात्॥ तन्त्र चैवं विज्ञापणेऽपि नया-
षाके दोषनिवृत्तिर्न हि स्वपक्षविज्ञापणमात्रात् परपक्षनिवर्तनं तिष्ठसंगात्॥ अपि तु न्यायात् तत-

[जैन ज्ञानभंडार कोडाय (कच्छ) की प्रति]

सिद्धिविनिश्च
यटीका
५१७

स्या...तदावलानिमनाक्षिदीपतिनानीत्यर्थः । कुत इत्याह । प्रतिज्ञामात्रेदितोदनआदिग्राह्यानुपयोग
ना...दोषादाष्टस्यात कालातिलंघनत्यात्मस्यादि ---- मार्थः स्वापप्रावाधस्वदावादिग्राह्यनकर्मसरणा
दिद...आहानतिघातसत्ता नानानरनामानवतीति एतदवष्टम्भवेधकारणावतनास्वपेणासर्वत्रा
स्वस्वरवादावविज्ञाघातादाग्रानस्य कृत इत्याह । वि प्रतिपत्तेरित्यादिनदपि कृत इत्याह । स्वापत्या
दिनतुस्वापज्ञानंनास्त्यावतिविदत्वाहातद नाव ---------- ज्ञानस्यासतिसिद्धादरुपप
त्तेरिति सिद्धानिराद्धिर्यस्य मृत्योदस्तस्या उपपत्तेर्मरणपर्यान्तरकस्य चतुष्टयानावस्तव
स्वापवपुनस्तत्रैवज्ञानादयान्नायंप्रसं गहतिवत्राहतत्कोदयायागान् । जायज्ञा
नाहेतुकत्वंनिरस्तंचिरविनष्टस्याकारण ज्ञादितरथा ह्यति तं पुनस्तत्रैव शरीर चित्रकार
णमितिनमरणंनाममिति अप्रावधकर्मक्षम हइत्यारतदारंनकमिथ्यात्वान्नतद्यतिर केणक
र्मणा त्वावात्वादवविशिष्टकाममितावन्नविशिष्टस्यरवरविघातोयमस्यकाविशिष्टतानामस्वका
लमर्वस्याधिमत्वमितिनस्वप्राद्दष्टयोन्समनर्थकास्तुकंस्यात्तथाव्यवहारात्तावास्यादितिचेद
तिरत्रसमानंतत्रस्वप्नादौज्ञानानाः कान्तुस्कायंसिद्धादिर्नामरणानालावास्युस्मुपानावः स्नदना
वाप्यद्भिरुद्धोहेतुरितिचेदनुपलक्षितज्ञाननावइतिप्रतिपादितंतदस्मिंन्नंतुमवनारं तुमइतिपुन

५१७

सिद्धिविनिश्चयटीकायाः

प्रथमो भागः

"श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥"

—शुभचन्द्रः

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचित-सिद्धिविनिश्चयस्य

रविभद्रपादोपजीवि-अनन्तवीर्याचार्यविनिर्मिता

सिद्धिविनिश्चयटीका

आलोकाख्यटिप्पणसहिता

[१ प्रत्यक्षसिद्धिः]

॥ ॐ नमोऽर्हते ॥

अ क ल ङ्कं जिनं भक्त्या गुरुं देवीं सर[स्व]तीम् ।
नत्वा टीकां प्रवक्ष्यामि शुद्धां सि द्धि वि नि श्च ये ॥१॥

अ क ल ङ्क वचः काले कलौ न कलयापि यत् ।
नृषु लभ्यं क्वचिल्लब्ध्वा तत्रैवास्तु मतिर्मम ॥२॥

दे व स्या ऽ नं न्त वी र्यो ऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः । ५
न जानीते ऽक ल ङ्क स्य चित्रमेतत् परं भुवि ॥३॥

अ क ल ङ्क वचोऽम्भोधेः सूक्तरत्नानि यद्यपि ।
गृह्यन्ते बहुभिः सैर(स्वैरं) सद्रत्नाकर एव सः ॥४॥

सर्वधर्म[स्य]नैरात्म्यं कथयन्नपि सर्वथा ।
धं र्म की र्तिः पदं गच्छेदाकल[ङ्कं] कथं ननु ॥५॥ १०

शास्त्रस्यादौ तदविघ्नप्रसिद्धिप्रथनादिकं फलमभिसमीक्ष्य **'सर्वज्ञम्'** इत्यादि मङ्गलमाह–

**[सर्वज्ञं सर्वतत्त्वार्थस्याद्वादन्यायदेशिनम् ।
श्रीवर्धमानमभ्यर्च्य वक्ष्ये सि द्धि वि नि श्च य म् ॥१॥]**

अस्यायमर्थः–**सर्वज्ञम्** सर्ववेदिनम्, **अभ्यर्च्य** अर्चित्वा । नंनु 'प्रतिभासाद्वैता-दन्यस्याभावात् तदेव सर्वम्, तज्जानातीति सर्वज्ञः स्वरूपज्ञः, तमभ्यर्च्य इति प्राप्तम्' इति चेत्; १५ अत्राह–**'श्रीवर्धमानम्'** इति । **श्रीः** अशेषतत्त्वार्थज्ञानादिसम्पद् इह गृह्यते, सा पूर्वापूर्वपर्याय-(पूर्वपर्याय) परित्यागाऽजहद्वृत्त्युत्तरपर्यायोपादानेन **वर्धमाना** उपरमविरहेण प्रवर्त्तमाना यस्य स

अकलङ्कं नमस्कृत्य तुलनार्थावबोधकम् ।
आलोकाख्यमहं वक्ष्ये महेन्द्रष्टिप्पणं सुधीः ॥१॥

(१) लेशेन । (२) अनन्तशक्तियुक्तोऽपि, पक्षे ग्रन्थकारः । (३) वाक्यम् । (४) स्पष्टम् । (५) बौद्धाचार्यः । (६) अकलङ्कदेवः । (७) प्रतिभासाद्वैतवादी प्रज्ञाकरः प्राह । (८) प्रतिभासाद्वैतमेव । "परमार्थतः तदद्वैतावबोधादेव प्रमाणं भगवानपि न सर्वार्थपरिज्ञानतः । सर्वार्थपरिज्ञानं तु लोक-व्यवहारेण सांवृतमेव । तथा चोक्तम्– अद्वयं यानमुत्तमम् ।" –प्र० वार्तिकाल० २।७ । (९) तुलना– "पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तोत्तराकारान्वयप्रत्ययविषयस्योपादानत्वप्रतीतेः ।" –अष्टस० पृ० ६५ । "परापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणोऽर्थः"–प्रमाणसं० पृ० १२३ ।

तथोक्तत्वम् इति । कामचारेण विशेषणविशेष्यभाव इति श्रीशब्दस्य विशेषणाभिधायित्वम् [1]अन्यस्य विशेषा(ष्या)भिधायित्वम् , वर्धमानाक्षरनि(मि)त्यादिवत् , इतरथा वर्धमानशब्दस्य पूर्वनिपातः श्रीशब्दस्य परनिपातः स्यात् । एवं वा सविशेषणस्य पूर्वनिपातात् । नन्वेवंविशेषणेऽपि न यथोक्तदोषनिवृत्तिः । नहि स्वपक्षविशेषणमात्रात् परपक्षो निवर्तते अतिप्रसङ्गात् अपि तु न्यायात् , ततः [१ख] स एव उच्यतामिति चेत् ; अत्राह–'**सर्वतत्त्वार्थस्याद्वादन्यायदेशिनम्**' इति । **सर्वे तत्त्वार्थाः** जीवादयः तेषां **स्याद्वादः** अनेकान्तः, [2]विषयिशब्दस्य विषये[3] उपचारात् , तस्य **न्यायो** ग्राहकं प्रत्यक्षादिप्रमाणम् , तद्दिश(श)ति कथयति इत्येवं शीलं **तद्देशिनम्** इति । एतदुक्तं भवति–तदुपदेशे [4]मांसचक्षुषः के अन्ये इति भगवानेव(व)तदुपदेष्टा जातः, तदुपदेशाच्च केवलं वयं व्याभूताज्ञानतमःस(तमसः) स्वं परं च तद्धर्मेणि वर्तयितुं समर्थाः । तथाहि–दृश्यप्राप्ययोरिव विचारा[त्] [5]दृश्यमात्रेऽपि विज्ञप्तिरूपे [6]मत्योद्ध(द)धिस्तम्भादिभागानां नैकत्वमित्यतमः(त्यन्त्याः) परमाणव एवा वशिष्यन्ते, तत्र [7]चैकपरमाणुवेदनेन [8]अन्येषामनुपलम्भेन सन्तानान्तरवदसत्त्वात् तस्य च स्वात्मनेति[9] कस्य क्षणिकत्वदर्शनम् ? येनोच्यते–*"**यद्यथावभासते**" [10]इत्यादि ? *"**यदवभासते तज्ज्ञानम्**" [11]इत्यादि च । कस्य वा प्रतिभासाद्वैतता येनेदमप्युच्यते–*"**यद्यद्वैतेन तोपोऽस्ति मुक्त एवाऽसि सर्वथा।**"[प्र०वार्तिकाल० २।३७] [12]इत्यादि ?

यदि पुनः एकानेकविकल्पशून्यं तदिष्यते[13]; तर्हि प्रतिभासाऽसून्य (भासोऽशून्य)मेवेष्य-

(१) वर्धमानशब्दस्य । (२) विषयी स्याद्वादो वाचकत्वात् विषयश्च अनेकान्तः तद्वाच्यत्वात् । (३) अनेकान्ते । (४) चर्मलोचनाः । (५) निर्विकल्पकदर्शनविषयभूते । (६) बुद्ध्या । उदधिश्च स्तम्भादयश्च तेषां भागानाम् । तुलना–"अथ नानात्वे बुद्धीनां प्रतिपरमाणु तावत्यो बुद्धय इति परमाणुग्रहणप्रसङ्गोऽनेकप्रतिपत्त्यप्रसङ्गश्च परस्परमप्रतिपत्तेरभावात् (?) च खलु स्वसंविदितानां नानात्वप्रतिपत्तिः सन्तानान्तरस्यापि प्रतिभासप्रसङ्गात्......" –प्र० वार्तिकाल० ३।११ । "नन्वेवं नीलवेदनस्यापि प्रतिपरमाणु भेदात् नीलाणुसंवेदनैः परस्परं भिन्नैः भवितव्यं..." –अष्टस० पृ० ७७ । "तथाहि नीले प्रवृत्तं ज्ञानं पीतादौ न प्रवर्तते इति पीतादेः सन्तानान्तरवदभावः । पीतादौ च प्रवृत्तं तन्नीले न प्रवर्तते इत्यस्याप्यभावस्तद्वत् । नीलकुवलयसूक्ष्मांशे च प्रवृत्तिमज्ज्ञानं नेतरांशनिरीक्षणे क्षममिति संवेदनानामप्यभावः संविदितांशस्य चावशिष्टस्य स्वयमनंशस्याप्रतिभासनात् सर्वाभावः ।"–प्रमेयक० पृ० ९७ । (७) परमाणूनाम् । (८) एकपरमाणोः । (९) निरंशस्य प्रतिभासाभावात् स्वयमभावः । (१०) "यद् यथा भासते ज्ञानं तत्तथैवानुभूयते ।"–प्र० वा० ३।२२२ । तुलना–"तथा यद् यथावभासते तत् तथैव सत् इत्यभ्युपगन्तव्यं यथा नीलकुवलयं नीलतयावभासमानं तेनैव रूपेण सत् , क्षणपरिगतेनैव रूपेण अवभासन्ते च सर्वे भावाः इत्यनुमानतोऽपि ।" (पूर्वपक्षे)–न्यायकुमु० पृ० ३७८ । (११) तुलना–"तथाहि–यदवभासते तज्ज्ञानमेव यथा सुखादि, अवभासन्ते च भावा इति ।" (पूर्वपक्षे)–न्यायकुमु० पृ० ११७ । प्रमेयक०पृ० ८३। युक्त्यनु० टी०पृ० ४५ (१२) "न परलोको नेहलोको न परलोकबाधनं (–साधनं–पाठान्तरम्) न सन्देहो न महाभूतपरिणतिरित्यादि विज्ञप्तिमात्रकमेव । अथापि व्यवहारादेतत्; एवं परलोकोऽपीति । यद्यद्वैतेन तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वथा । वर्तते व्यवहारश्चेत् परलोकोऽपि चिन्त्यताम् ॥३९८॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५७ । (१३) "भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः । यस्मादेकमनेकञ्च रूपं तेषां न विद्यते ॥"–प्र० वा० ३।४६० । "यदेकानेकस्वभावं न भवति न तत्परमार्थसत् यथा व्योमकमलम् एकानेकस्वभावं च न भवति विज्ञानम् ।"–तर्कभा० मो० पृ० ३८।

ताम्। नहि परमाण्वाकारैस्तच्छून्यं चित्राद्वैतमाभाति अतीताऽनागतपर्यायैरेकात्मवत्। ग्राहकाभाव उभयत्राप्य (त्र। अथ) नीलाद्याकारैस्तदिष्यते[1]; तर्हि मेचकमणिदर्शनसमये नीलाद्याकाराणां परस्परमदर्शने सन्तानान्तराणामिव अभावः। दर्शने ऐक्यम्। निराकारवादोऽन्यथा भवेत्। [२क] तेषां[2] तथा[ऽ]दर्शनेऽपि सत्त्वे न परलोकादिनिषेधैकान्त इति कथमु (कथमुक्तं)–
*"तेन[3] स्वरूपवदन्यदस्तीति[4] तदेव सर्वमिति तज्जानन् सर्वज्ञः[5]" इति। ५

स्यान्मतम्–न्यायोन्यं (नान्योऽन्यं) तदाकाराणां दर्शनं नाप्यदर्शनमिति; तदपि न सूक्तं (क्तं) स्वरूपेऽपि तथा प्रसङ्गात्। तस्य[5] दर्शनान्नेति चेत्; अन्यविविक्तदर्शने उक्तो दोषः। अथ तेन[6] अन्यस्य अदर्शनम्; कथं तद् अन्यविविक्ततामात्मनोऽवैति ? कथं प्रकृति[7]पुरुषादीनामदर्शने नील[illegible]प्रतीतिः, कथं वा सुखादेः आत्मशून्यतावित्तिः, यतो नैरात्म्यदर्शनम् ? [8]तेषां दर्शने सुस्थितमद्वैतम्! अदर्शनादेव [9]तदभाव इति चेत्; किमिदं तददर्शनम् ? दर्शन- १०
निवृत्तिरिति[10]; कथमप्रतीता सा[11] अस्ति प्रकृत्यादिवत् ? नीलादिदर्शनं तददर्शनमिति चेत्; कथमन्यदर्शनम् अन्यादर्शनं विरोधात् ? अन्यविविक्तरूपत्वाच्चेत्; प्रकृत्यादीनामदर्शने केयं [12]तद्विविक्तताऽस्य[13] ? अन्यथा वी (पी) तादीनामदर्शनेऽपि नीलस्य [14]तद्विविक्तताप्रतीतिरिति कथन्न प्रकृतो दोषः ? ननु च अनीलव्यावृत्तिर्नीलम्, अनीलाभावे कथं तद्व्यावृत्तिः, एवं पीतादौ वक्तव्यमिति चेत् ? तर्हि अस्वसंवेदनव्यावृत्तिः स्वसंवेदनं तस्याऽस्वसंवेदनस्याभावे[15] तदपि मा- १५
भूत्। स्वरूपमेतदिति चेत्; नीलादिकमपि तथैवास्तु। तन्न नीलाद्याकारैस्तच्चित्रमिति। भवतु वा, तथापि मेचके नीलादीनामिव नीलमात्रेऽपि तद्विभागः (ग) चिन्तायां तदवस्थो [16]दोषः। ननु[17] यत एव चित्रैकज्ञानवन्नीलमात्रमपि न घटते [२ख] तत एव तदपि[18] परमार्थतो माभूत् मरीचिकातोयवत् *"मायामरीचिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इति वचनादिति चेत्; आस्तां तावदेतत्। अथ नीलमात्रं स्वभागैरेकमिष्यते; तथा मेचकमपि २०
नीलादिभिरेकमिष्यताम्। इष्यत एव *"चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिर्बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि[19] वचनादिति चेत्; तथा सति न केवलं दृश्यप्राप्ययोः अपि तु [20]संसारेतरावस्थयोरविच्छेदेन कथञ्चित्तादात्म्यं सिद्धमिति साधूक्तम्–'**श्रीवर्धमानम्**' इति। एवमन्येऽप्येकान्ताः प्रहन्तव्याः। निरूपयिष्यते चैतत् यथास्थानम्।

इदमपरं व्याख्यानम्–**श्रियोपलक्षितं वर्धमानं** पश्चिमतीर्थकरम् **अभ्यर्च्य**। कथ- २५
म्भूतम् ? **सर्वज्ञम्** साक्षात्कृताशेषपदाक्यं (र्थम्)। [21]ननु स एव कुतः सिद्धः *"स[22] तु

(१) तच्छून्यमिष्यते। (२) नीलाद्याकाराणाम्। ३ व्यवहारेण। ४ परलोकाद्यपि। (५) स्वरूपस्य। (६) स्वरूपेण। (७) सांख्याभिमत। (८) अन्येषां प्रकृतिपुरुषादीनाम्। (९) तेषां प्रकृतिपुरुषादीनामभावः। (१०) चेत्;। (११) दर्शननिवृत्तिः। (१२) प्रकृत्यादिविविक्तता। (१३) नीलादेः। (१४) पीतादिविविक्तता। (१५) स्वसंवेदनमपि। (१६) अभावप्रसङ्गः। (१७) प्रज्ञाकरगुप्तः प्राह। (१८) नीलमात्रमपि। (१९) "शक्यविवेचनं चित्रमनेकमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलादयः···"–प्र० वार्तिकाल०। (२०) संसारमुक्तावस्थाव्यापी एक आत्मा सिद्ध इत्यर्थः। (२१) मीमांसकः प्राह। (२२) "नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ इत्यपि। साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत्॥" श्लोकोऽयं कुमारिलनाम्ना तत्त्वसंग्रहे (पृ० ८४१) किञ्चित् पाठभेदेन वर्तते। द्रष्टव्यम्–न्यायावता० वा० वृ० पृ० ५५।

सर्वज्ञ इत्यपि" [तत्त्वसं० श्लो० ३२३०] धर्मसत्तासिद्धेर्धर्मिप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वादिति चेत्; अत्राह-**सर्वतत्त्वार्थस्याद्वादन्यायदेशिनम्** इति। '**सर्वतत्त्वार्थदेशिनम्**' इति वचनात् तत्सत्त्वमुक्तमिति गम्यते, वचनस्य वक्तृसत्त्वाऽव्यभिचारात्। न वेदेन व्यभिचारः; पक्षीकरणादिति। निरूपयिष्यते [च] तत्। '**स्याद्वादन्यायदेशिनम्**' इत्यभिधानात् तत्सर्वज्ञत्वमिति च। तमभ्यर्च्य। किमिति? अत्राह-**वक्ष्ये सि द्धि वि नि श्च य म्। सिद्धिः** प्रमाणम्।

ननु सिद्धिः [प्रमाणस्य फलम्] *"**प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः**" [सिद्धिवि० १।३] इति वक्ष्यमाणत्वादत्रैव (दन्यैव) तत्कथं सा प्रमाणमिति चेत्? एतदुत्तरत्र निरूपयिष्यते। **वि**शब्दः अतिशयप्रकर्षद्वैविध्यनाना[३क]त्वेषु वर्तमानो गृह्यते। तत्र अतिशये तावत् अन्यस्यापि जीवादितत्त्वस्य **निश्चयं वक्ष्ये** सिद्धेस्तु सातिशयं वक्ष्ये। कोऽस्या[अ]तिशयः सकलप्रमेयव्यवस्थाहेतुत्वम्, यद्वक्ष्यते-*"**सिद्धं यन्न परापेक्ष्यम्**" [सिद्धिवि० १।२४] इत्यादि। तथा प्रकर्षे; तस्याः प्रकृष्टं निश्चयं विनिश्चयं वक्ष्ये। कोऽस्यं प्रकर्षः? सौगतादिकल्पिततन्निश्चयादाधिक्यम्। तथा द्वैविध्ये; द्विविधं निश्चयं तस्या वक्ष्ये प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन 'किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परतः प्रमाणम्' इत्यनेन वा भेदेन, स्वपरविषयद्वैविध्येन, व्यवहिताव्यवहितफलद्वैविध्येन वा। तथैव नानात्वे; नाना निश्चयं वक्ष्ये स्वरूपसंख्याविषयफलविप्रतिपत्तिनिरासनानात्वेन।

ननु च नयादीनामपि विनिश्चयोऽत्र प्रतिपादयिष्यते तत्कथमुच्यते 'सिद्धेः प्रमाणस्य' इति चेत्; न; तेषां श्रुतभेदेन तत्रैवान्तर्भावात्। तदुक्तम्-*"**उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ प्रमाणनयभेदतः।**" [लघी०श्लो० ६२] न च प्रमाणस्य उपयोगोऽप्रमाणम्; विरोधात्, *"**प्रमाणनयैरधिगमः**" [त० सू० १।६] इत्यस्य व्याघाताच्च। प्रमाणैरधिगमवत्(मः) तर्हि वक्तव्यमिति चेत्; न; विकलादेशस्यापि तद्भेदत्वप्रतिपादनार्थं तथावचनमित्यदोषः। ततः प्रमेयनिर्णयहेतुत्वात् प्रमाणनयानां प्रमाणत्वे समानेऽपि सकलादेशात् नय(ये) निवार्यमाण(णे) प्रमाणशब्दः तत्रैव प्रवर्तते उत्कलितपुंस्केषु विशेषेषु गोशब्दवत्। यद्वक्ष्यते-

*"**स्यात्प्रमाणात्मकत्वेऽपि प्रमाणप्रभवो नयः।**
विचारो [३ख] निर्णयोपायः परीक्ष्येत्यवगम्यताम्॥"
[सिद्धिवि० प्रस्ता० १०] इति।

(१) धर्मः सर्वज्ञत्वम्। (२) सर्वज्ञत्वाधारस्य आत्मनः सत्त्वम्। (३) अपौरुषेयेण। (४) प्रतिपादितम्। (५) भिन्नैव। (६) सिद्धिः। (७) निश्चयस्य। (८) तुलना-"प्रामाण्यं तु स्वतःसिद्धमभ्यासात् परतोऽन्यथा।"-प्रमाणप० पृ० ६३। परीक्षामु० १।१३। (९) तुलना-"चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः संख्यालक्षणगोचरफलविषया।"-न्यायवि० १।२। प्रमाणसमु० टी० पृ० ४। (१०) ग्रन्थे। (११) प्रमाण एव। (१२) "उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ। स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा॥ अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः...प्रमाणं स्याद्वादः।"- लघी० स्व० श्लो० ६२। (१३) नयस्य। (१४) प्रमाणभेदत्व। (१५) सकलादेशे एव।

प्रमाणाच्च नयस्य भेदैकान्ते प्र मा ण सं ग्र हा दौ[1] *"प्रमाणे इति संग्रहः" [प्रमाणसं० श्लो० २] इत्यभिधाय पुनर्णयादिप्रणयनमयुक्तं [2]तेनासंग्रहात्। ततो यथा अन्यत्र[3] प्रमाणान्न नयादिपरिग्रहः तथा अत्रापि, इति सर्वं सुस्थम्।

ननु 'सिद्धिः अधिगतिः प्रमाणफलम्, तस्या विनिश्चयं निर्णयात्मकत्वं वक्ष्ये' इति व्याख्याने को दोषः येनेदं[4] नाश्रितमिति चेत्? सर्वार्थासंग्रहः। एवं हि फलविप्रतिपत्तिनिरास एव संगृहीतो न सर्वान् प्रतिवादिनः प्रति स्वरूपादिविप्रतिपत्तिनिरासः, ततः पूर्वमेव व्याख्यानम्[5]। 5

अथ किमर्थमिदमुच्यते–'**वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम्**' इति? [6]सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनप्रतिपादनार्थम्। तथाहि–**सिद्धि**पदेन शास्त्रस्य अभिधेयम् 'प्रमाणम्' उक्तम् [7]निरभिधेयाऽशक्यानानुप्रेयाशङ्कानिवारणार्थम्। '**विनिश्चयम्**' इत्यनेन प्रयोजनम्, निष्प्रयोजनत्वारेकाप्रतिषेधार्थम्। शास्त्रस्य अभिधेयेन वाच्यवाचकलक्षणः प्रयोजनेन च सह साध्यसाधनलक्षणः सम्बन्धोऽपि अर्थतोऽनेनोक्तो वेदितव्यः। तथावदसदादिमादि(तथा च दशदाडिमादि)वाक्यैसमनाचोद्यं निरस्तम्। ननु शास्त्रवद् अभिधेयस्यापि प्रयोजनं पृथगेव वक्तव्यम् काकदन्तवदप्रयोजनाशङ्कानिषेधार्थं यथा अन्यत्रोक्तम्–*"[8]प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयव्यवस्थायाः तद्व्युत्पादनार्थमिदमुच्यते" इति चेत्; न; सिद्धिशब्देनैव तदप्युक्तम्। यस्मादयं [४क]प्रमाणा(ण)फलवाचिनं सिद्धिशब्दमुपचारात् प्रवर्तयति तस्मादुक्तमेव फलम्, मुख्यादृते उपचारा[भावा]दिति। 10 15

किमर्थमादौ अभिधेयादिकमुच्यते इति चेत्? श्रोतृप्रवृत्त्यर्थम्[10]। *"[11]कृषीवलादिव

(१) आदिपदेन लघीयस्त्रयन्यायविनिश्चयौ ग्राह्यौ। तथाहि–"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः। परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः॥"–लघी० श्लो० ३। न्यायवि० श्लो० ४६९। (२) प्रमाणेन। (३) प्रमाणसंग्रहादौ। (४) कैश्चित्कृतं व्याख्यानम्। (५) युक्तम्। (६) "सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोता श्रोतुं प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥ यावत्प्रयोजनेनास्य सम्बन्धो नाभिधीयते। असम्बद्धप्रलापित्वात् भवेत्तावदसङ्गतिः॥ तस्माद् व्याख्याङ्गमिच्छद्भिः सहेतुः सप्रयोजनः। शास्त्रावतारसम्बन्धो वाच्यो नान्योऽस्ति निष्फलः॥" –मी० श्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० १७,२०,२५। सम्बन्धाद्यनुबन्धचतुष्टयस्य व्यस्तसमस्तरूपेण चर्चा निम्नलिखितग्रन्थेषु द्रष्टव्या–माध्यमिकवृ० पृ० ३। हेतुबि० टी० पृ० १। न्यायबि० टी० पृ० ५। बोधिचर्या० पं० पृ० ५। वादन्यायटी० पृ० १। तत्त्वसं० पं० पृ० २। सम्बन्धवा० पृ० ७। मा० गौडपा० शा० भा० पृ० ४। न्यायवा० ता० पृ० ४। न्यायम० पृ० ६। त०|श्लो० पृ० ३। न्यायकुमु० पृ० २०। प्रमेयक० पृ० २। सन्मति० टी० पृ० २६९। शास्त्रदी० पृ० ४। स्या० रत्ना० पृ० १४। जैनतर्कवा० पृ० ११। रत्नाकराव० पृ० ५। (७) "अनुक्तेषु तु प्रतिपत्तृभिः निष्प्रयोजनमभिधेयं संभाव्येतास्य प्रकरणस्य काकदन्तपरीक्षाया इव। अशक्यानुष्ठानं वा ज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवत्, अनभिमतं वा प्रयोजनं मातृविवाहक्रमोपदेशवत्।"–न्यायबि० टी० पृ० १४। (८) "तस्मात् प्रयोजनरहितं वाक्यं तदर्थो वा न तत् प्रेक्षावता आरभ्यते कर्तुं प्रतिपादयितुं वा, तद्यथा दशदाडिमादिवाक्यम्।"–हेतुबि० टी० पृ० २। (९) तुलना–"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि"–सांख्यका० ४। "उक्तं च प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३४०। (१०) "तस्मात् श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थः प्रयोजनादिवाक्योपन्यासः इति स्थितम्।" –तत्त्वसं० प० पृ० ६। "तत्र श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थमिति केचित्" –हेतुबि० टी० पृ० १। "तत्र श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमिति कश्चित्" न्यायावता० वा० वृ० पृ० १। (११) "संशयेनापि प्रवृत्तिदर्शनात् यथा कृषीवलादीनाम्"–तत्त्वसं० प० पृ० ६।

अर्थसन्देहात् प्रेक्षापूर्वकारिणोऽपि तद्वाक्यात् प्रवर्त्तन्ते" इत्येके[1] । *"सन्देहात् प्रवृत्तौ किमन्यत्रापि प्रमाणान्वेषणेन" इति प्रज्ञाकरगुप्तः[2] । *"तद्वाक्याद् अभिधेयादौ श्रद्धाकुतूहलोत्पादः, ततः प्रवृत्तिः" इति केचित् स्वयूथ्याः[3] । तान् प्रति अपरे[4] प्राहुः–यदि न तद्वचनं प्रमाणम्; कथं ततः श्रद्धाद्युत्पादेऽपि प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः ? इतरथा यतः कुतश्चित् स्यात् । प्रमाणं चेत्; न तत् प्रत्यक्षम्, वचनत्वात् । नाप्यनुमानम्; वचनस्य अर्थाप्रतिबन्धात् । अत एव नाऽऽगमोऽपि । तत्र ततः प्रवृत्तिरिति; तत्र (तन्न;) प्रत्यक्षवत् शब्दस्यापि प्रमाणत्वोपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वाददोषः ।

अथवा, शास्त्रार्थस्य[5] संग्रहवाक्यमेतत्, अस्मान्निबन्धनस्थानादत्वा (स्थानादर्थाः)[6] आदाय व्याख्यायन्त इति ।

तत्र स्वरूपनिश्चयं प्रमाणस्य तावत् दर्शयन्नाह–'**सिद्धिश्चेत्**' इत्यादि ।

> **[सिद्धिश्चेदुपलब्धिमात्रमविसंवादैकहेतोर्विना,**
> **निर्णीतेः क्षणिकादिसिद्धिरनुमा न स्यात् स्वयं सर्वथा ।**
> **निर्णीतिर्यदि निर्विकल्पमखिलं न स्यात् प्रमाणं स्वतः,**
> **तस्याश्चेज्जननात् प्रमाणमत एवास्तु स्वतो निर्णयः ॥२॥]**

सिद्धिः प्रमाणं तत्र फलोपचारात्, कथञ्चित्तादात्म्यनिबन्धनस्व (श्च) प्रमाणफलयोरुपचारः । तयोस्तर्हि कथञ्चित्तन्वित (कथञ्चित्तदिति) कदाचित् प्रमाणेन फलं कदाचित् फलेन वा प्रमाणं वायदिश्यते (व्यपदिश्यते) यथा मृद्घटयोः तथात्वे[7] मृदियं घटः घट (घटो) वा मृदिति । किमर्थः सं[8] इति चेत् ? अन्यमतएवप्रति (मतप्रति) षेधार्थः । अन्येषां[9] हि दर्शनं 'फलात्

(१) धर्मोत्तरादयः ।"अश्रुते प्रकरणे कथितान्यपि न निश्चीयन्ते । उक्तेषु त्वप्रमाणकेष्वप्यभिधेयादिषु संशय उत्पद्यते । संशयाच्च प्रवर्तन्ते । अर्थसंशयोऽपि हि प्रवृत्त्यङ्गं प्रेक्षावताम् ।"–न्यायबि० टी० पृ० २ । "आदिवाक्यादेव श्रोतुः शास्त्रप्रयोजनपरिज्ञानमर्थसंशयाच्च श्रवणे प्रवृत्तिः ।" –न्यायम० पृ० ६ । (२) "उपेयार्थितया सर्वः प्रवर्तननिवर्तने । करोति पुरुषस्तस्य सन्देहश्चेत् कथं प्रमा ॥"……तत उपायनिश्चये सति कृषीवलादिवत् प्रामाणिकाः प्रवर्त्तन्ताम् ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २६ । (३) तुलना–"श्रद्धाकुतूहलोत्पादनार्थं तदित्येके; तदप्यनेनैव निरस्तम्; तस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वपक्षयोस्तदुत्पादकत्वाऽयोगात् ।" –त० श्लो० पृ० ४ । (४) तुलना–"यच्च श्रोतुः प्रवृत्त्यङ्गं श्रद्धाद्युत्पादनं बुधैः । व्यावर्णितमसन्दिग्धमादिवाक्यप्रयोजनम् ॥ तदप्याप्तोक्तितश्चेत्स्यात् वाक्यमेतद् वृथा भवेत् । आप्ताज्ञयैव श्रद्धादेः संभवादादिवाक्यवत् ॥ अन्यथा ह्यादिवाक्येऽपि श्रद्धाद्युत्पत्तिकारणम् । वाक्यान्तरं प्रतीक्ष्यं स्यादनवस्थानदुःखदम् ॥ अनाप्तवचनत्वेऽस्य बालोन्मत्तादिवाक्यवत् । श्रद्धाकुतूहलोत्पत्तिरतः संभाव्यते कथम् ॥"–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५५ । (५) तुलना–"स चायं शास्त्रार्थसंग्रहोऽनूद्यते नापूर्वो विधीयते इति ।"–न्यायभा० ४।२।१ । "अत एव शास्त्रार्थप्रतिज्ञाप्रतिपादनपरः आदिवाक्योपन्यासः इत्याद्यपि प्रतिक्षिप्तम्"–सन्मति० टी० पृ० १७१ । स्या० रत्ना० पृ० १९ । (६) "अस्मात् खलु अर्था आदाय आदाय व्याख्यायन्ते ।"–हेतुबि० टीकालो० पृ० २४३ । (७) कथञ्चित्तादात्म्ये । (८) उपचारः । (९) नैयायिकादीनाम् । "अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् । वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा । यदा सन्निकर्षः तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानबुद्धयः फलम् ।"–न्यायभा० १।१।३ । "इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य करणभावाच्चाऽकरणा प्रमाणोत्पत्तिः ।" –न्यायवा० पृ० ६ ।

स्वपरग्रहणलक्षणाद् अन्यदेव अचेतनं सन्निकर्षादि प्रमाणम्' इति,[1] तन्निषेधार्थः। तथाहि–[2]न प्रमाणं सन्निकर्षादि अचेतनत्वात् घटादिवत् । न प्रदी[४ख]पादिना व्यभिचारः; तस्यापि पक्षीकरणात्। अथ[3] अव्यपदेश्याव्यभिचारिव्यवसायात्मकघटादिज्ञानहेतुत्वात् प्रमाणं प्रदीपादिः ; तन्न युक्तम् ; प्रामाण्यवत् प्रदीपादीनां तत (तज्)ज्ञानहेतुत्वस्यापि परं[4] प्रत्यसिद्धेः । न[4] घटादिज्ञानस्य हेतुः प्रदीपादिः, तत्परिच्छेद्यत्वात्, यद् यस्य परिच्छेद्यं न तत् तस्य जनकं यथा ईश्वरज्ञानस्य परिच्छेद्यः सदसद्वर्गो न तज्जनकः, घटज्ञानपरिच्छेद्यश्च प्रदीपादिः,घटेन सहैवैकस्मिन् विज्ञाने[5] तस्य[6] प्रतिभासनात् । अथ ईश्वरज्ञानं चेन्न[7] विषयेण जन्यते, अन्यथा तेन[8] तत्परिच्छेदायोगात ; न तर्हि[9] तत्सहभाविनां तेन[10] ग्रहणम् अकारणत्वात्[11], तथा च *"सर्वः सदसद्वर्गः कस्यचिद् एकप्रत्यक्षविषयः अनेकत्वाद् अङ्गुलिसमूहवत्" इति[12] व्याहन्यते । 'अजनकानामपि[13] तेषां तेन[14] ग्रहणं नान्येषाम्[15]' इति किंकृतो विभागः? ननु च प्रदीपादेर्घटज्ञानं प्रत्यकारणत्वे[16] तदभावेऽपि तत् स्यादिति चेत् ; दृष्टत्वाददोषः । दृष्टं खलु केषाञ्चिद्राति (त्प्राणिवि)शेषाणाम्[17] अञ्जनादिसंस्कृतलोचनानां वा[18] तदभावेऽपि रूपज्ञानम् । न च यदभावेऽपि यद् भवति तत्तस्य कार्यम् अतिप्रसङ्गात् । निराकरिष्यते च चक्षुषः तैजसत्वम् । यदि च प्रदीपाद्यभावे न रूपज्ञानम् ; कथं तर्हि तमःपटलावलोकनम्[19] ? [20]ज्ञानानुत्पत्तिरेव तमो [ना]न्यदिति चेत् ; आस्तां तावदेतत् ।

स्यान्मतम्–यदा दीपाद्यभावेऽपि रूपज्ञानं तदा अस्य अन्यत् कारणमस्तु, यदा तु दीपादिभावे तदा तदेव, अन्यथा सत्यस्वप्ने चक्षुषोऽभावेऽपि[21] तज्ज्ञानं दृष्टमिति सर्वदा[22] तद[५क] कारणम् अतीन्द्रिय (इति, *"इन्द्रियं[23])मनसी तत्कारणम्" [लघी० स्व० श्लो० ५४] *"अतीन्द्रियप्रत्यक्षम्" [लघी० स्व० श्लो० ६१] इति[24] च विरुध्यते इति ; तदपि न सारम् ; यदि खलु घटादिना सह दृश्यमानोऽपि दीपादिः तज्ज्ञानस्य हेतुः,तर्हि घटादिरपि प्रदीपादिज्ञानहेतुरिति

---

(१) "सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नमर्थान्तरवत्"–लघी० स्व० १।३ । "ज्ञानं प्रमाणं नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादि ।"–प्र० वा० मनोरथ० पृ० ३ । (२) "तस्मात् कर्तृकर्मव्यतिरिक्तमव्यभिचारादिविशेषणकार्थप्रमाजनकं कारकं करणमुच्यते, तदेव च तृतीयया व्यपदिशन्ति दीपेन पश्यामि चक्षुषा निरीक्षे लिङ्गेन बुध्ये शब्देन जानामि मनसा निश्चिनोमि इति ।"–न्यायम० पृ० १४ । (३) जैनं प्रति । (४) "आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।"–लघी० स्व० श्लो० ५५ । परीक्षामु० २।६ । प्रमाणमी० १।१।२५ । (५) प्रदीपितोऽयं घट इत्याकारकविज्ञाने । (६) प्रदीपस्य । (७) 'चेन्न' इति पदं व्यर्थमत्र । (८) ईश्वरज्ञानेन । (९) विषयपरिच्छेदायोगात् । (१०) ईश्वरज्ञानेन । (११) समसमयवर्तिनां कार्यकारणभावाऽभावात् । (१२) तुलना–सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनोऽनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलवत् इत्यत्र······"–प्रमेयक० पृ० १४२ । सन्मति० टी० पृ० ४७७। (१३) सहभाविनामपि । (१४) ईश्वरज्ञानेन । (१५) खरविषाणादीनाम् । (१६) प्रदीपाभावेऽपि । (१७) मार्जारादीनाम् । (१८) प्रदीपाद्यभावेऽपि । (१९) "नहि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकं तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् ।"–लघी० स्व० श्लो० ५६ । (२०) "तमसो निष्पत्त्यनभिक्लृप्तेः । रूपवत्त्वेन हि तमो द्रव्यं स्यात् , तच्चानेकद्रव्यारब्धं सच्चाक्षुषं भवेत् । न च द्रव्याणि सन्ति, सन्ति चेद्दिवाप्यारभेरन् अन्धानामिव नीलिमाभिमानः नभस एवेत्युक्तम् ।" –प्रक० प० पृ० १४३ । तन्त्ररह० पृ० २१ । "आलोकज्ञानाभावस्तम इति प्रभाकराः परिभावयन्ति ।" प्रश० सेतु० पृ० ४२'। न्यायकुमु० पृ० ६६३ । (२१) रूपज्ञानम् । (२२) चक्षुः। (२३) "ततः सुभाषितम्–इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः ।"–लघी० स्व० श्लो० ५४ । (२४) "अतीन्द्रियप्रत्यक्षं पुनः व्यवसायात्मकं स्फुटमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थविषयम् ।"–लघी०स्व०श्लो० ६१ ।

चक्षुरिव रूपप्रकाशनात् तैजसः स्यात् । प्रत्यक्षादिबाधनमन्यत्रापि । यदि पुनः केवलोऽपि प्रदीपादिः समुपलभ्यते इति न घटादिः तज्ज्ञानहेतुः[1]; प्रदीपादिरपि घटादिज्ञानस्य हेतुर्न स्यात् तस्यापि[2] केवलस्य उपलम्भ(म्भात्) इत्युक्तम् । यथैव च केषाञ्चित् प्रदीपाद्यालोकमन्तरेण न घटादिरूपज्ञानं तथा केषाञ्चिन्नक्तञ्चराणाम् अन्धकारमन्तरेणापि न तज्ज्ञानमिति तदपि[3] तद्धेतुरिति [4]**"तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् ।"** [प्र०व्यो०पृ० २५६] इत्यस्य अनेन व्यभिचारः । अथ [न] अन्धकारः तद्धेतुः ; आलोकोऽपि न भवेदिति 'प्रदीपवत्' इत्यस्य निदर्शनस्य साधनशून्यता । तत्र प्रदीपादिना व्यभिचारः । ननु न वेदनत्वेन[5] प्रामाण्यं स्यात् येन तदभावे न भवेत् , अपि तु यथार्थज्ञान[जन]कत्वेन । तत्र प्रदीपादिपरिहारेण सन्निकर्षादावस्तीति स प्रमाणमस्तु इति चेत् ; न; सन्निकर्षस्य ज्ञानं प्रति हेतुत्वस्य निषेत्स्यमानत्वात् । केवलमिन्द्रियमवशिष्यते । तदपि न प्रमाणम् ; तद्धेतुत्वेऽपि[6] विचेतनत्वात्[7] घटादिवदिति चर्चितं प्र मा ण सं ग्र ह भा ष्ये । ततः 'प्रमाणे फलोपचारः ततो भिन्नप्रमाणनिषेधत्व(धार्थः)' इति सूक्तम् ।

ततः **सिद्धिः** प्रमाणम् । **चेत्** यदि । किं तत् ? इत्याह–**उपलब्धि**[५ख]**मात्रम्** इति । उपलभ्यते अनया वस्तुतत्त्वमिति उपलब्धिः अर्थादुत्पन्ना तदाकारा च बुद्धिः सैव तन्मात्रम् । कथं तत्प्रमाणमिति ? अत्राह–**अविसंवादैकहेतोः** इत्यादि। अविसंवादः अर्थतथाभावः तस्य एकः प्रधानभूतः एकसंख्यायुक्तो वा हेतुः कारणं या **निर्णीतिः** यथार्थो विकल्पः तस्या **विना** तामन्तरेण । एतदुक्तं भवति–तदकिञ्चित्करं संशयकरं विपर्ययकरं यथार्थनिर्णयकरं चेति चत्वारः पक्षाः । तत्र उत्तरपक्षे '**तस्याश्चेज्जननात्**' इत्यादिदूषणमभिधास्यते इति । अन्यत्र पक्षत्रये **यदि प्रमाणमिति**। तत्र दूषणमाह–**क्षणिकादिसिद्धिः** इत्यादि । क्षणिक इति भावप्रधानो निर्देशः । ततः क्षणिकत्वम् आदिर्यस्य ज्ञानत्वादेः साधनादभिन्नस्य तत्तथोक्तम्, तस्य सिद्धिः प्रमाणम् **अनुमा** अनुमानं **न स्यात्** तत्साधकं न भवेत्, प्रत्यक्षमेव स्यात् नीलादिवत्तस्यापि[8] तेन[9] एव प्रतीतेः सर्वथा सारूप्यात् । कस्य ? इत्यत्राह–**स्वयम्** आत्मनो बौद्धस्य । [10]तत्र समारोपव्यवच्छेदकरणात् स्यादिति चेत् ; अत्राह–**[सर्वथा]** सर्वेण क्षणिकादिसाधनप्रकारेण वा अन्येनापि समारोपव्यवच्छेदप्रकारेणापि '**न स्यात्**' इति सम्बन्धः । कुतः ? [11]तदव्यवच्छेदकत्वात् । तथाहि–न समारोपव्यवच्छेदकृद् अनुमानम् अविकल्पकत्वात् प्रत्यक्षवत् । अविकल्पकत्वं च [12]**"सर्वचित्तचैत्तानाम् आत्मसंवेद [नं] प्रत्यक्षमविकल्पकम्"** [न्यायबि० १।१०]

(१) प्रदीपादिज्ञानहेतुः । (२) घटस्यापि । (३) तमोऽपि । (४) "तत्र तैजसं रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपस्य व्यञ्जकत्वात् । यद्यत् रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपस्य व्यञ्जकं तत्तैजसं यथा प्रदीपम्, तथा च रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपस्य व्यञ्जकं चक्षुः तस्मात्तैजसमिति ।"–प्रश० व्यो० पृ० २५६ । "तैजसत्वं तु तस्य रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत् ।" –प्रश० कन्द० पृ० ४० । प्रश० किरणा० पृ० ७३ । वैशे० उप० पृ० १२८ । (५) ज्ञानत्वेन । (६) तेषामिन्द्रियाणां ज्ञानहेतुत्वेऽपि । (७) विगतचेतनत्वात्, अचेतनत्वादित्यर्थः । (८) क्षणिकत्वस्यापि । (९) प्रत्यक्षादेव । (१०) नीलादौ । (११) समारोपाऽव्यवच्छेदकत्वात् । (१२) "चित्तमर्थमात्रग्राहि, चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः······नास्ति सा काचित् चित्तावस्था यस्यामात्मनः संवेदनं प्रत्यक्षं न स्यात् ।"–न्यायबि० टी० पृ० १४ ।

इत्यभिधानात् । अथैतन्नेष्यते [६क] तर्हि तद्वत् सर्वचेतसाम् आत्मसंवेदनं सविकल्पकं भवेत् । तत्र दूषणं वक्ष्यते–'**निर्णीतिर्यदि**' इत्यादि ।

ननु च अभ्यासदशायां भाविनि प्रवर्तकं प्रत्यक्षमविकल्पकमपि समारोपव्यवच्छेदकम्, अतोऽनैकान्तिको हेतुरिति चेत् ; न; तदा नीलादौ स्वयमेव तदभावात्[1] । क्षणक्षयादौ तु सोऽस्त्येव कथमन्यथा प्रत्यक्षमविसंवादि तदा स्यादिति यत्किञ्चिदेतत् । ५

ननु भवतु स्वरूपे तन्निर्विकल्पकम् अर्थे तु विकल्पकम्, अतो भावा (भागा) सिद्धो हेतुरिति चेत् ; किं पुनस्तस्य तात्त्विकं रूपद्वयमस्ति ? तथा चेत् ; तद्वत् क्रमेणापि एकस्य रूपद्वयसंभवात् न क्षणिकज्ञानं (ने) नीत्वा (ला) दिज्ञानवत् समारोप इति कथं तद्व्यवच्छेदकरणात् तत्प्रमाणम् ? अथ कल्पितं तत्र [8]तस्य सविकल्पकं रूपम् ; सुस्थितं तर्हि भागासिद्धत्वम्, कृतकत्वस्याप्येवं भागासिद्धत्वप्रसङ्गात्, वेदे कल्पनया अकृतकत्वस्य भावात् शब्दमात्रस्य अनित्यत्वसाधने । कथं वा तत् कल्पितं समारोपं व्यवच्छिन्द्यात् ? नहि माणवके अग्नित्वं कल्पितं शीतं व्यवच्छिनत्ति । तद्व्यवच्छेदोऽपि तादृश एवेति चेत् ; ततः तत्प्रमाणत्वमपि तादृशं प्रसक्तमिति कुतः परस्य तत्त्वव्यवस्था ? प्रतिभासाद्वैतस्य तत एव [सिद्धिरिति] चेत् ; तिष्ठतु तावदेतत् । ततोऽनुमानगतसविकल्पकस्वभावात् तद्व्यवच्छेदम् इच्छता (इच्छता) स तात्त्विकोऽभ्युपगन्तव्य इति स एव दोषः समारोपाभावलक्षणः । वक्ष्यते च– *"**प्रतिभासैक्यनियमे**" [सिद्धिवि० १।११] इत्यादि । १० १५

भवतु वा अनुमानं कीदृशमपि [६ख] तथापि नातः समारोपनाशः; [10]तस्याऽहेतुत्वोपगमात् । अथ अनुमानसन्निधानात् पूर्वसमारोपक्षणस्य उत्तरसमारोपोत्पादने असमर्थस्य भावात् पूर्वस्य स्वयमेव [11]तत्क्षणस्य नाशाद् [12]उत्तरस्य कारणाभावेन अनुत्पादात् एवमुच्यते–'अनुमानेन समारोपो नाशितः' इति प्रदीपेनेव तमः; तर्हि कुतश्चिद्देशसन्निधानात् यथार्थसु (शु) क्त्यादिविकल्पे सति पूर्वपूर्वरजतादिसमारोपक्षणानाम् उत्तरोत्तरतत्क्षणोत्पादने असमर्थानामुदयात् तथा स[13] प्रमाणं किन्न स्यात् यतो द्वे एव प्रमाणे स्याताम् ? तदुक्तम्– २०

*"**समारोपव्यवच्छेदात्तन्नवस्त्यधिगतेरपि ।**
तत्पृष्ठभाविनो युक्ता विकल्पस्य प्रमाणता ॥" इति ।

तन्न समारोपव्यवच्छेदादनुमानं प्रमाणम् । दर्शनानिर्णीतार्थनिर्णयात् स्यादिति चेत् ; २५
अत्राह–**निर्णीतिर्यदि** इत्यादि । अस्यायमर्थः–अनुमान (नात) दर्शनानिर्णीतक्षणिकादिनिर्णीतेर्यतस्ततो **यदि** चेत् क्षणिकादिसिद्धिरिति सम्बन्धः । अत्र दूषणमाह–**निर्विकल्पम्** इत्यादि । **निर्विकल्पः** अविकल्पकं **दर्शनमखिलं** च[14]तुर्विधमपि **न स्यात्** न भवेत् प्रमाणम् **स्वतो** बौद्धस्य । अत्रायमभिप्रायः–यथा दत्तेना (दर्शनेना) निर्णीतस्य क्षणिकादिनि (र्नि) र्णयात्

(१) समारोपव्यवच्छेदाभावात् (२) अभ्यासावस्था । (३) अनुमानम् । (४) आत्मादेः । (५) नित्यत्वादिसमारोपः । (६) अर्थरूपे अनुमानस्य । (७) अनुमानम् । (८) बौद्धस्य । (९) समारोपव्यवच्छेदम् । (१०) नाशस्य निर्हेतुकत्वस्वीकरात् । (११) समारोपक्षणस्य । (१२) समारोपस्य । (१३) शुक्त्यादिविकल्पः । (१४) इन्द्रियमानसस्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षलक्षणम् ।

तत्र अनुमानं प्रमाणं न दर्शनं तथा तेन[1] अनिर्णीतस्य नीलादे[2]र्निर्णयात्तत्र[3] विकल्प एव तत्पृष्ठभावी प्रमाणं स्यात् न दर्शनमिति सौगतानाम् उपलब्धिमात्रं चेत् प्रमाणम् क्षणिकाद्यनुमानं न स्यात् अर्थनिर्णीति[:] निर्विकल्पमखिलं न भवे[७क]दितीतः सरदतः(सर इतः) पाश इति प्राप्तम् ।

ननु *"यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इति नीलादि[4]क्षणिकादिविकल्पानुमान-
५ जननात् प्रमाणमविकल्पकमिति धर्मोत्तरप्रज्ञाकरगुप्तौ; तत्राह-**तस्याश्चेत्** इत्यादि । तस्याः विकल्पानुमानयोर्निर्णीतेश्चेत् यदि **जननात्** प्रमाणम् 'अविकल्पकम्' इति सम्बन्धः । **अत एव** यत एव निर्णीतिजननादविकल्पमपि प्रमाणं न स्वतः **अतो**ऽस्मादेव कारणाद् **अस्तु** भवतु **स्वत** आत्मनैव **निर्णयो** विकल्पः अनुमानाख्यः, यद्बलाद् दर्शनस्य प्रमाणता वरं तस्यैव साऽस्तु इति भावः ।

१० अथवा "अनभ्यासे दृश्यरूपलिङ्गक्षम(जम)नुमानं प्राप्ये स्यादौ" अभ्यासे निर्विकल्पकमध्यक्षम्, न चान्या दशाऽस्ति यस्यां विकल्पः प्रमाणं स्यात् , स एव चेष्यते जैनैः, तत्कथमुच्यते-*"वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम्" [सिद्धिवि० १।१] अस्यामाशङ्कायामाह-**सिद्धिश्चेद्** इत्यादि । अस्यायमर्थः-**सिद्धिः** प्रमाणं **चेत्** यदि **उपलब्धिमात्रं** पूर्वापराकारशून्यं मध्यदर्शनमात्रम् उपलब्धिमात्रम् । अत्र दूषणमाह-**क्षणिकादिसिद्धिः** इत्यादि । क्षणिकग्रहणं
१५ साधनादभिन्नसाध्यलक्षणम्, आदिशब्देन अग्न्यादीनां परिग्रहः, तेषां **सिद्धिः** प्रमाणम् **अनुमानं (न)स्यात्**-नोत्पद्येत **स्वयम्** आत्मनैव गृहीतग्राहित्वेन । एतदुक्तं भवति-*"**यथा दृश्यप्राप्ययोर्भेदः तथा दृश्यस्य दर्शनस्य च प्रत्ययवयं भेदात् न कस्यचिद्दर्शनम्**" इत्युक्तं प्र मा ण सं ग्र हा ल ङ्का रे । तथा पश्चाद्भावान्नानुमानमिति नाभ्यास्यो(सो) यतः तत्र[12] प्रत्यक्षं प्रमाणम्, अनुमानस्यैव अभ्यासोपगमात् । संवृत्या[13] स्यादिति चेत् [७ख] अत्राह-**सर्वथा** पर-
२० मार्थप्रकारेणेव संवृतिप्रकारेणापि न स्यात् कस्यचिदत्र(दनु)भवस्याभावे संवृतिविकल्पाभावात् [14]तत्पूर्वकत्वादस्य[15]। कदामानं(कदाऽनुमा न) स्यात् ? इत्यत्राह-**विना निर्णीतेः** स्थूलैकसादृश्यदर्शनं निर्णीतिः तामन्तरेण । कथंभूतायाः ? इत्यत्राह-**अविसंवादैकहेतोः** इति । पक्षहेतुदृष्टान्तानां याथात्म्येन प्रतिपत्तिरविसंवादः, तस्य एकहेतोः पक्षादिप्रतिपत्तेर्विकल्पात्मकत्वादिति भावः । भवतु दृश्यस्य सभेदस्य ग्रहणात् तत्र सविकल्पकं दर्शनं प्रमाणं न पूर्वापरको-

(१) दर्शनेन । (२) नीलादौ । (३) यस्मिन् नीलाद्यंशे । (४) विकल्पबुद्धिम् । (५) निर्विकल्पस्य । उद्धृतोऽयम्—प्रमेयक० पृ० ३१ । सन्मति० टी० पृ० ५१२ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५२३ । शास्त्रवा० टी० पृ० १५१ । (६) "तस्मादध्यवसायं कुर्वदेव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति ।"-न्यायवि० टी० १।२१ । (७) "प्रत्यक्षं सन्निहितरूपादिमात्रग्राहि विकल्पान्तरेणैकत्वाध्यवसाये सति प्रवर्तकम्"-प्र० वार्तिकाल० पृ० २११ । तुलना-"अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् । निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥"-तत्त्वसं० श्लो० १३०६ । (८) प्रमाणम् । (९) विकल्पस्यैव । (१०) "यत्र भाविगतिस्तत्रानुमानं मानमिष्यते । वर्तमानेऽतिमात्रेण कृतावध्यक्षमानता ॥"-प्र० वार्तिकाल० पृ० २१८ । (११) प्रमाणम् । (१२) अभ्यासे । (१३) कल्पनया । "प्रमाणमन्तरेण प्रतीत्यभिमानमात्रं संवृतिः"-प्र० वार्तिकाल० ३।५ । "असद्रूपपदार्थोल्लेखना हि संवृतिः तत्त्वसंवरणात् ।"-प्र० वार्तिकाल० पृ० २०३ । (१४) अनुभवपूर्वकत्वात् । (१५) संवृतिविकल्पस्य ।

त्योरिति चेत्; अत्राह–‘**निर्णीतिर्यदि**’ इत्यादि मध्यक्षणस्य सभेदस्य ग्रहणात् तत्र निर्णीतिः सविकल्पकं दर्शनं यदि प्रमाणम्; अत्र दूषणम्–**अ[१]कल्पमखिलम्** अभ्यासजमपि न केवलमन्यत् **स्याद्** भवेत् **अप्रमाणं स्वतो** बौद्धस्य अक्रमेणैव(णेव) क्रमेणापि सभेदभावं-भवाद् (अभेदसंभवात्) इति भावः। ननु च स्वरूपे पररूपे वा अक्रमेण क्रमेण[वा]स्वलक्ष-णदर्शनमविकल्पकम्, तत्पृष्ठभाविनी तु विकल्पबुद्धिः अनुमानादिव्यवहारमारच(रच)यति, तद्व- ५
शात् तत् प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**तस्याश्चेद्** इत्यादि। गतार्थमेतत्।

अथचेत्कमिदम् (अथवेत्थमिदम्) अवतार्य एवं व्याख्येयम्–अप्रमाणव्यवच्छेदत्वं प्रमाणलक्षणमुच्यते। न च व्यवच्छेद्यमप्रमाणमस्ति। द्विचन्द्रादिदर्शनमस्तीति चेत्; कुतस्तदप्रमा-णम्? बाध्यमानत्वात्; न; सर्वथा त[२]दयोगादिति, जाग्रद्दर्शनवद् द्विचन्द्रादिदर्शनमपि प्रणं (प्रमाणं) न वा किञ्चिदिति व्यवच्छेद्याभावात् ‘**वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम्**’ इत्यन-[८क] १०
र्थकमिति चेत्; अत्राह–**सिद्धिश्चेद्** इत्यादि। **सिद्धिः** प्रमाणं **चेद्** यदि **उपलब्धि-मात्रम्** बुद्धिसामान्यम्। कथं तत् प्रमाणम्? इत्याह–**अविसंवादैकहेतोः** इत्यादि। गता-र्थमेतदपि। इदमत्र तात्पर्यम्–‘अविसंवादिनी बुद्धिः प्रमाणं नान्या’ इति विभागमनपेक्ष्य त[३]न्मात्रं यदि प्रमाणमिति; अत्र दूषणमाह–**क्षणिकादिसिद्धिः** इत्यादि। क्षणिक आदिर्यस्य पराभ्युपगततत्त्वस्य तत्तथोक्तम् तस्य सिद्धिः तत्सम्बन्धनीयं प्रमाणमनुमानं(मा न) स्यात्। अय- १५
मभिप्रायः–यदि ज्ञानमात्रं प्रमाणं तर्हि नीलादाविव स्थूलादावपि प्रत्यभिज्ञानादि प्रमाणमिति तेन बाधितविषयत्वात् शब्दादौ[५] क्षणिकाद्यनुमा[४] न प्रमाणम्। न च एकत्र [६]परस्य अनेकप्रमा-णम् अर्थवत्, [७]अनभ्युपगमात्। अथ बाध्यमानत्वान्न स्थूलादिज्ञानं प्रमाणम्; तर्हि अबाधितं ज्ञानं प्रमाणयितव्यम्, न सर्वम्। तथा चेत्; अत्राह–‘**निर्णीतिर्यदि**’ इत्यादि। अबाधिता प्रतीतिः **अविसंवादैकहेतुः निर्णीतिर्यदि** प्रमाणम् **निर्विकल्पं** विकल्पात् निर्णीतिभेदा- २०
न्निष्क्रान्त (न्तं) संवेदनमात्रम् **अखिलं** निरवशेषं **न स्यात् प्रमाणं स्वतो** बौद्धस्य किन्तु संवेदनविशेषः [८]स्यादिति प्रतिज्ञाहानिः तस्य।

अत्राह वैशेषिकादिः–न निर्णीतिः, अपि तु त[९]द्धेतुत्वात् सन्निकर्षादिः प्रमाणमिति चेत्; अत्राह उत्तरम्–**तस्या** निर्णीतेश्**चेत् जननाद् अन्यत्**[१०] प्रमाणम् **अत एव** अस्तु **स्वतः** स्वयमेव **निर्णयः**–यस्य हि भावात् परनिरपेक्षा सिद्धिः तदेव प्रमाणं युक्तम्। निर्णीतिभावाच्च २५
[११]तथा तत्सिद्धिः, [१२]तदभावे [१३]अन्यभावेऽपि [१४]तदभावात्, अन्यथा[८ख]चक्षुषो रूपवद् रसादि-सिद्धिरपि[१५], [१६]संयुक्तसमवेतसम्बन्धस्याविशेषादिति मन्यते।

यदि वा, य एवमाह प्रमाभङ्गवादी प्रज्ञाकरगुप्तः (प्तः)–*“न प्रतिभासाद्वैतात् परं तत्त्व-

(१) निर्विकल्पकम्। (२) बाध्यमानत्वायोगात्। (३) बुद्धिमात्रम्। (४)अनुमा–अनुमानं प्रमाणं न स्यादित्यर्थः। (५) बौद्धस्य। (६) एकस्मिन् प्रमेये अनेकप्रमाणानां प्रवृत्त्यनभ्युपगमात्। (७) प्रमाणम्। (८) प्रमाणम्। (९) निर्णीतिजनकत्वात्। “उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम्”–न्यायभा० २।१।११।(१०) सन्नि-कर्षादि। (११)परनिरपेक्षा। (१२) निर्णीत्यभावे। (१३) सन्निकर्षादिसद्भावेऽपि। (१४) सिद्ध्यभावात्। (१५) स्यादिति सम्बन्धः। (१६) चक्षुःसंयुक्ते घटे रसस्यापि समवायात्।

मस्ति, इति[1] न तत्र किञ्चित् प्रमाणम्, तदद्वैतस्य[2] च स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात् न तत्र विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिर्वा यत्तन्निरासार्थं प्रमाणलक्षणप्रणयनम्। अतो व्यर्थमेतद्यक्ष(त्–अध्यक्ष") इत्यादि; अत्राह–**सिद्धिश्चेत्**। इदमत्र चिन्त्यते–सर्वविकल्पातीतप्रतिभासो वा तत्र[3] प्रमाणं स्यात्, 'घटमहं वेद्मि' इत्यादि प्रतिभासो वा? तत्र प्रथमपक्षं दूषयन्नाह–**सिद्धिः प्रमाणं चेत्** यद्येकानेकत्वादिभेदशून्यं प्रतिभासमात्रम् **उपलब्धिमात्रम्** उपलम्भनम् उपलब्धिः, सैव तन्मात्रम्। यदुक्तम्–*"**प्रतिभासः प्रतिभास एवेति कथं तत्प्रमाणम्?**" इति; अत्राह–'घटमहं वेद्मि' इत्यादि प्रतीतिः **निर्णीतिः** तस्या **विना** तामन्तरेण तदभावः। कथम्भूतायाः? **अविसंवादैकहेतोः** अविप्रतिपत्त्येकस्य हेतोः। भवत्वेवं को दोष इति चेत्; अत्राह–**क्षणिकादिसिद्धिः** क्षणिक आदिर्यस्य सारूप्यसन्तानान्तरादेः तस्य सिद्धिः प्रमाणं पराभ्युपगताऽ**नुमा[4] न स्यात् स्वयं** सौगतस्य तद्वत् पुरुषोपलब्धेर(ब्धेः) निवारणेन तया[5] बाधनादिति मन्यते। संवृत्या सा प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**सर्वथा** परमार्थप्रकारेणेव संवृतिप्रकारेणापि न स्यात्[6], तद्वत् नित्येश्वरानुमानमपि प्रमाणं स्यादिति निरूपयिष्यते। निर्णीतिरेव तर्हि प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**निर्णीतिः** स्वपरव्यवसायात्मिका बुद्धिः [९क] यदि प्रमाणम् **निर्विकल्पम्**–'अहमिति ज्ञानं ग्राहकं ग्राह्यो घटादिः तद्व्यवसायः फलम्' इति विकल्पो भेदः तस्मान्निष्क्रान्तम् अद्वयवेदनं **न स्यात् प्रमाणं स्वतः** स्वरूपेण। ततो [7]यदुक्तम्–*"**प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् इत्यादि व्यवहारेण प्रमाणलक्षणमुक्तम्, अज्ञातार्थप्रकाशो वेति परमार्थेन, प्रमाणान्तरेण अज्ञातस्य अद्वयप्रतिभासार्थस्य आत्मवेदनस्य एवमभिधानात्।**" इति; तन्निरस्तम्। शेषं पूर्ववत् व्याख्येयम्। ननु च यदि नीलादिः अर्थतद्भिन्न (अर्थः न) तद्व्यतिरेकेण [8]तद्ग्राहकमस्ति अनुपलम्भात्, शरीरसुखादेः प्रमेयत्वेन तद्ग्राहकत्वमिति कथं निर्णीतिः प्रमाणमिति चेत्; न; [9]आनोत्तरस्य अनन्तरं च [व]क्ष्यमाणत्वात्।

का पुनरियं सिद्धिः प्रमाणात्मनि या उपचारात् प्रवर्तते इति चेत्; अत्राह–'**प्रमाणस्य**' इत्यादि।

[[10]प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।
प्रतिपत्तुरपेक्ष्यं यत् प्रमाणं न तु पूर्वकम्॥३॥

स्ववृत्तिः– **यथास्वं प्रमेयस्य व्यवसायो यतस्तदेव स्वतः प्रमाणम्। ज्ञानं प्रमाणम् अन्यतः**

(१) "परमार्थश्चाद्वैतरूपता, तत्प्रकाशनमेव प्रमाणम्। तथा च प्रत्ययादिस्वरूपस्य स्वतो गतिरिति" –प्र० वार्तिकाल० २।५। पृ० ३०। "विचार्यमाणं सकलं विशीर्यते नाद्वैतादपरं तत्त्वमस्ति।"–प्र० वार्तिकाल० २।६। पृ० ३१। (२) प्रतिभासाद्वैतस्य। (३) प्रतिभासाद्वैते। (४) अनुमा–अनुमानं न स्यात्। (५) नित्यैकब्रह्मरूपपुरुषोपलब्ध्या। (६) क्षणिकादिसिद्धिः। (७) "अज्ञातार्थप्रकाशो वा–अथवेदं प्रमाणलक्षणम्, प्रकाश्यतेऽनेनेति प्रकाशः, अज्ञातस्यार्थस्य प्रकाशकं ज्ञानं प्रमाणम्। अथवा अर्थशब्देन परमार्थ उच्यते। अज्ञातार्थप्रकाश इति परमार्थप्रकाश इत्यर्थः। परमार्थश्चाद्वैतरूपता, तत्प्रकाशनमेव प्रमाणम्। तथा च प्रत्ययादिस्वरूपस्य स्वतो गतिरिति, उक्तञ्च प्रामाण्यं व्यवहारेणेति। तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत्, पूर्वं तु सांव्यवहारिकस्य।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३०। (८) नीलादिग्राहकम्। (९) दत्तोत्तरस्य। (१०) तुलना–"अत एवोक्तम्–प्रमाणस्य साक्षात्फलं सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।"–प्रमाणनि० पृ० २।

प्रवृत्तौ अविसंवादनियमयोगात् । तद्धेतुत्वं पुनः सन्निकर्षादिवत् दर्शनस्य । अभ्रान्तत्वेऽपि सर्वथा निर्णयवशात् प्रामाण्यसिद्धेः कथञ्चित् तदात्मकत्वं तत्त्वबुद्धेरभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा तद्फलमसाधनमसतो न विशेष्येत । अकिञ्चित्करसंशयविपर्ययव्यवच्छेदेन निर्णयात्मकत्वं नान्यथा । अनधिगतार्थाधिगन्तृ विज्ञानं प्रमाणमित्यपि केवलमनिर्णीतार्थनिर्णीतिरभिधीयते, अन्यथा अतिप्रसङ्गात् । अधिगतमात्रस्य विसंवादकस्य साधनान्तरापेक्ष्यगोचरस्य साधकतमत्वानुपपत्तेः । तदनधिगतस्वलक्षणाधिगतावपि दृष्टे प्रमाणान्तराप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । समानभूतसमारोपव्यवच्छेदे संवृत्यनुमानयोर्न कश्चिद्विशेषः । साक्षादनुभवादुत्पत्तिः महानपराधः । प्रतिपत्तुरुत्तरं प्रमाणं तत्साधनभावात् न तु पूर्वकम्, अनुमानेऽप्येवं प्रसङ्गात् ।] ५

प्रमाणस्य करणविशेषस्य यत् **फलं साक्षाद्** अव्यवहितं न व्यवहितं हानादिबुद्धिलक्षणम् । तत् किम् ? इत्यत्राह–**सिद्धिः** इति । सिद्धिशब्दवाच्यम् । ननु [1]तत्र आचार्याणां विप्रतिपत्तिदर्शनात् किं तत्फलमिति पृष्ट इव तद्दर्शयन्नाह–**स्वार्थविनिश्चयः** इति । स्वं च विज्ञानस्वरूपम् अर्थश्च घटादिः, यदि वा, स्वोऽर्थः स्वग्रहणयोग्यो भावः तयोः तस्य वा विनिश्चयोऽकिञ्चित्करत्वादि[2]व्यवच्छेदेन तद्ग्रहणम् । द्वितीयव्याख्यानेन घटाद्यर्थग्राहिणीनां सुखादिवित्तीनामपि स्वरूपार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणत्वमुक्तं वेदितव्यम् । ननु न नीलादिव्यतिरेकेण अपरमस्ति[3] यस्य स्वार्थविनिश्चयः फलं स्यात् । नीलादिरेवेति चेत् ; [९ख] न ; [4]तस्य स्वनिश्चयेऽपि अर्थनिश्चयाभावात् ततोऽन्यस्य अर्थस्याभावात् 'स्वार्थविनिश्चयः' इत्यनुपपन्नम् । 'अथ द्वितीयं व्याख्यानमाश्रित्य एतदुक्तमित्युच्यते ; न ; तत्र विज्ञप्तिवादो भ[व]तोऽनिष्टं स्यात् , नीलादेः स्वग्राहकत्वेन ज्ञानतापत्तेः । शरीरसुखादि [5]ततः परम् , [6]तस्य स्वरूपवत् नीलादावपि प्रवृत्तेरयमदोष इति चेत् ; न ; शरीरस्य नीलादिवत् प्रमेयत्वात् , सुखादेश्च नीलादिग्राहकत्वानभ्युपगमात् न [7]'**स्वार्थे**'त्यादि युक्तमिति चेत् ; न ; अहमहमिकया प्रतीयमानायाः संवित्तेः [8]ततोऽन्यस्याः अयत्माये (अभावे) नीलादौ कः समाश्वासः सुखादौ वा ? यत [9]इदं स्यात्– *"**नीलादि ज्ञानं प्रतिभासमानत्वात् सुखादिवत्**" इति । नन्वस्तु अहम्प्रत्ययः[10] ; स तु 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्' इति शरीरसामानाधिकरण्येन प्रतीतेर्न शरीराद् भिद्यते अपि तु तदेव,[11] [12]तस्य च नीलाद्यग्राहकत्वमुक्तमिति चेत् ; न ; चार्वाकमतचर्वणे चर्वणमस्य भविष्यति इति किमत्रैवोत्सुकिमन (त्सुक्येन) ? भवत्वयं [13]ततो भिन्नः ; तथापि कथं नीलादेर्ग्राहक इति चेत् ; कथं स्वरूपस्य ? [14]तत्र [15]तस्य प्रतिभासाच्चेत् ; नीलादेरप्यतः[16] एव ग्राहकोऽस्तु, तथा च लौकिकी प्रतीतिः–'नीलमहं वेद्मि पीतमहं वेद्मि' इति । ततो यदुक्तम्–*"**यदि समानकालस्य**

१०

१५

२०

२५

---

(१) फले । (२) आदिपदेन संशयविपर्ययौ ग्राह्यौ । (३) ग्राहकम् । (४) नीलादेः । (५) नीलादेः । (६) शरीरसुखादेः । (७) स्वार्थविनिश्चय इति । (८) नीलादेर्भिन्नाया इति । (९) "यथा च न सुखादि व्यतिरेकेणापरं विज्ञानं तथा नीलादिव्यतिरेकेणापि" –प्र० वार्तिकाल० ३।३८७ । (१०) नीलादेः परः । (११) शरीरस्वरूपमेव । (१२) शरीरस्य च । (१३) शरीरादेः । (१४) अहम्प्रत्यये । (१५) स्वरूपस्य । (१६) प्रतिभासादेव ।

नीलादेः ग्राहकः; नीलादिः तस्य स्यात् अविशेषात्" इति; तन्निरस्तम्। यदि हि समानकालत्वादेकस्य धर्मः सर्वस्य स्यात्; तर्हि चित्रे नीलाकारवत् नीलता पीताद्याकारेऽपि स्यात् पीताद्या[१०क]कारता वा नीले, ततः कथं चित्रं नाम, यतः *"चित्रं चित्रमेव" इति भवेत्? प्रत्यक्षबाधा अन्यत्रापि। न खलु यथा ग्राहकता अहम्प्रत्यये प्रत्यक्षतः प्रतीयते तथा तं (तत्र)[3] प्रतीयते। यथा वा नीलादेर्ग्राह्यता[4] तथा तं प्रति तत्प्रत्ययस्य सा[5] इति, अन्यथाऽविवादात् सौगतमेव सकलमिति शास्त्रप्रणयनमनर्थकम्।

स्यान्मतम्—न नीलादितत्प्रत्ययाभ्याम् अन्या ग्राह्यता ग्राहकता च प्रतीयते; नन्वेवं तयोः स्वरूपग्रहणमपि दुर्लभम्, अत्रापि न तत्स्वरूपादन्या ग्राह्यता ग्राहकता वा, न च तदभावे तद्ग्रहणम्। यदि पुनः स्वप्रकाशरूपत्वात् स्वग्रहणम्; तर्हि अहम्प्रत्ययस्य परप्रकाशनरूपत्वात् परग्रहणमस्तु, नीलादेश्च परप्रकाश्यरूपत्वात् परेण ग्रहणम्। न वै जैनेन स्वभावभूतयोग्यतायाः अन्या ग्राह्यता ग्राहकता वा अभ्युपगम्यते। तदुक्तम्—

*"स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः स्वयं ग्राह्यो यथा मतः।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं स्वयं तद्ग्राहकं मतम्॥" [लघी० श्लो० ५९]

एतेनेदमपि प्रत्यक्षं (प्रत्युक्तं) यदुक्तं परेण—*"यदि नीलादेः स्वभावभूतगृहीतिकरणात् संप्रत्ययो ग्राहकः; तर्हि तेन[10] स[11] एव जनितः स्यात् इति [12]तस्य [ज्ञानता] ज्ञानकार्यत्वात् उत्तरज्ञानवत्। अथ [13]अर्थान्तरगृहीतिकरणाव(द)र्थस्य न किञ्चित् कृतमिति न तेन[14] ग्रहणम्। गृहीत्या पुनर्गृहीतिकरणे अनवस्थानम्।" इति[15]। कथम्? स्वरूपग्रहेऽप्यस्य समत्वात्। तथाहि—स्वरूपस्य गृहीतिकरणाद् विज्ञानं चेद् ग्राहकम्; [16]तत्तस्य जनकं स्यात् न ग्राहकम्, न चैतद् युक्तम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। ततो भिन्नायाः [17]तस्याः करणा-[१०ख]त्तदोषश्चेत्; स्वरूपस्य न किञ्चित् कृतमिति कथं तेन ग्रहणम्? तया पुनर्गृहीतिकरणे अनवस्थानम्। साक्षात् स्वरूपग्रहणम् अर्थेऽपि। ननु [18]स्वग्रहणशक्त्या अर्थग्रहणे [19]तयोरैक्यम्। अन्यथा चेत्; एकस्य शक्तिद्वयम्, तदपि अन्येन तद्द्वयेन वेद्यते इत्यनवस्था स्यादिति चेत्; इदमपि वक्ष्यमाणेन चित्रैकज्ञानेन सुपरिहारमिति तिष्ठतु तावत्।

ननु यदुक्तम्—नीलादेर्ग्रहणे अहम्प्रत्ययस्य योग्यताऽस्ति न [20]तस्य तत्प्रत्ययग्रहणे इति;

(१) अहम्प्रत्ययस्य ग्राहकः। (२) तुलना—"समकालश्चेत्तर्हि यथा ज्ञानमर्थस्य ग्राहकम् एवमर्थोऽपि ज्ञानस्य ग्राहकः स्यात्। समसमयभाविन्वाविशेषात्। (पूर्वपक्षः)—स्या० रत्ना० पृ० १६२। प्रमेयक० पृ० ८५। (३) नीलादौ। (४) प्रतीयते। (५) अहम्प्रत्ययस्य। (६) ग्राह्यता। (७) नीलादितत्प्रत्यययोः। (८) ग्राह्यग्राहकतयोरभावे। (९) परस्य ग्रहणम्, अर्थात् परग्राहकत्वमस्तु। (१०) संप्रत्ययेन। (११) नीलादिरेव जनितः, यतो हि तस्य स्वभावभूता गृहीतिस्तेन जन्यते। (१२) नीलादेः। (१३) भिन्नगृहीत्युत्पादने च। (१४) संप्रत्ययेन। (१५) तुलना—"अथ गृहीतिकरणादर्थस्य ज्ञानं ग्राहकम्, ननु सा अर्थादर्थान्तरम् अनर्थान्तरं वा तेन क्रियते? अर्थान्तरत्वे अर्थस्य न किञ्चित्कृतमिति कथं तेनास्य ग्रहणम्? तस्येयमिति सम्बन्धासिद्धिश्च। तयाप्यस्य गृहीत्यन्तरकरणेऽनवस्था। अनर्थान्तरत्वे तु तत्करणे अर्थ एव तेन क्रियते इत्यस्य ज्ञानता ज्ञानकार्यत्वात् उत्तरज्ञानवत्।"—प्रमेयक० पृ० ८५। (१६) विज्ञानं स्वरूपस्य। (१७) गृहीतेः। (१८) स्वार्थग्रहणात्मकज्ञानपक्षे। (१९) स्वार्थयोः। (२०) नीलादेः।

तत्रेदं चिन्त्यते–अर्थग्रहणकार्यदर्शनात् तत्र[1] योग्यतास्ति इति गम्यते, न तस्याः[2] तद्ग्रहणम्[3], कार्यानुमेयत्वात्तस्याः। अथ तत[4] एव सा गम्यते इति मतिः; तर्हि ततो योग्यतासिद्धिः अतश्च तत्सिद्धिरिति अन्योन्यसंश्रय इति चेत्; उच्यते–*"यथा सुतीक्ष्णोऽपि असिः नात्मानं छिनत्ति तथा ज्ञानं न [स्वं] परिच्छिनत्ति स्वात्मन्यर्थक्रियाविरोधात्" इत्यत्र यदुक्तम् *"ज्ञानम् आत्मानं परिच्छिनत्ति तथाशक्तिः (क्तेः) नासिः छिनत्ति विपर्ययात्[5]" इति; ५ तत्राप्यस्य समत्वात्। तद्यथा स्वग्रहणात् तच्छक्तिसिद्धिः कार्यानुमेयत्वात्तस्याः न पुनः ततस्तद्[6]-ग्रहणसिद्धिः। स्वग्रहणसिद्धेः तत्सिद्धिरिति चेत्; अन्योन्यसंश्रयः – शक्तिसिद्धेस्तद्ग्रहणसिद्धिः तस्याः तच्छक्तिसिद्धिरिति। अथ स्वग्रहणं प्रत्यक्षतः सिद्धम्, 'तत कुतः' इति चोद्ये 'स्वशक्तितः' इत्युत्तरमुच्यते न पुनः तस्याः[7] तत्सिद्धिः; तदेतदन्यत्र समं न चेति (वेति) चिन्त्यम्। भवतु स्वग्रहणवत् नीलादेरपि तेन[8] ग्रहणं को दोष इति चेत्? अयम्–*"यदवभासते [११क] १० तज्ज्ञानं यथा सुखादि अवभासते च नीलादिः" इत्यत्र स्वस्य स्वेनैव अवभासस्य सुखादौ ज्ञानत्वेन व्याप्ततया दृष्टस्य नीलादावदर्शनाद् असिद्धो हेतुः स्यादिति, इतरथा स्वसंवेदनात्मकत्वेन तस्य[9] ज्ञानान्तरत्वात् सर्वज्ञज्ञानवत् वादिप्रतिवादिभ्यामविपर्यीकरणात् तौ प्रति आश्रयासिद्धता स्यात्। अर्थान्तरस्यापि ज्ञानस्य मतः (सतः) तस्य[10] [11]ताभ्यां ग्रहणं नार्थस्य सतः इति किंकृतो विभागः? अथ चित्रैकज्ञानमतमवलम्ब्य अहम्प्रत्यय[स्य] नीलाद्याकारैकत्वमिष्यते यदि; १५ तर्हि स्वभावादिभिन्नोऽप्यहम्प्रत्ययः कदाचिद् योग्यतया नीलादिना एकत्वमुपयाति [12]तयैव तद्-ग्राहकत्वमुपयाति तयैव तद्ग्राहकः स्यात्। तदनभ्युपगमे पुनरिदं भवेत् श्रोत्रियो[13] 'न चाण्डल्या [illegible]ामि स्पर्शं त्विच्छामि' इति।

---

(१) प्रत्यये। (२) योग्यतायाः। (३) तेन अर्थग्रहणेन ग्रहणम्। (४) अर्थग्रहणादेव। (५) तुलना–"ननु नीलं कथमात्मरूपं प्रकाशयति? न हि प्रकाश्या घटादयः प्रदीपाद्विना स्वप्रकाशकाः, आत्मनि क्रिया विरुद्ध्यते। न हि सैवासिधारा तयैव छिद्यते। अत्र परिहारः–प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः। यथा प्रकाशोऽभिमतस्तथा धीरात्मवेदिनी॥३३०॥ अवेद्यवेदकाकारा··· स्वात्मनि क्रियाविरोध इति कुतः प्रमाणादवगतम्? न हि दृष्टान्तमात्रादर्थस्य प्रसिद्धिः। समीहितस्य विपर्ययेऽपि दृष्टान्तस्य प्रदीपस्य संभवात्। यदि घटः प्रदीपेन बाह्यात्मना प्रकाश्यते, प्रदीपोऽपि तथाभूतेनापरेणेति न पर्यनुयोगः··· वस्तुस्वभाव एष इति का वात्र क्षतिः? अथ स्वात्मनि क्रियाविरोध इति; उच्यते–यदा स्वरूपन्तस्य तदा कैव विरोधिता। स्वरूपेण विरोधे हि सर्वमेव प्रलीयते॥ न हि स्वेनैव रूपेण कस्यचिद्विरोधः। तथा चेद् किञ्चिद्भवेत् स्वेन रूपेणेति सकलमस्तंगतं भवेत्। छेदस्तु पुनर्विशिष्टोत्पादनं न च तेनैव तस्योत्पादनम्। अयमेवार्थः स्वात्मनि क्रियाविरोध इति। स्वप्रकाशरूपं तु तस्य स्वरूपं न तेनैव विरुध्यते···"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३५३–५४। "अत्र केचिदाहुः न चित्तचैत्तानां स्वसंवेदनं घटते स्वात्मनि कारित्वविरोधात्। न हि सुशिक्षितोऽपि वटुः स्वस्कन्धमारोढुं शक्नोति। न हि तीक्ष्णाऽप्यसिधारा आत्मानं छिनत्ति। न हि सुप्रज्वलितोऽपि वह्निस्कन्ध आत्मानं दहति तथा चित्तचैत्तमपि कथमात्मानं प्रत्येतु?··· अत्रोच्यते न कर्मकर्तृभावेन वेद्यवेदकत्वं ज्ञाने वर्ण्यते। किं तर्हि? व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन। यथा प्रदीप आत्मानमात्मना प्रकाशते तथा ज्ञानमपि जडपदार्थविलक्षणं स्वहेतोरेव प्रकाशस्वभावमुपजायमानं स्वसंवेदनं व्यवस्थाप्यते।"–तर्कभा० मो० पृ० ९–१०। (६) स्वग्रहणशक्तेः। (७) स्वशक्तेः। (८) अहम्प्रत्ययेन। (९) नीलादेः। (१०) नीलादेः। (११) वादिप्रतिवादिभ्याम्। (१२) 'तयैव तद्ग्राहकत्वमुपयाति' इति निरर्थकं भाति। (१३) वदति यदहम्।

स्यान्मतम्–तत्प्रत्ययेन नीलादेभिन्नस्य ग्रहणेऽपि कथम् अर्थता गम्यते ? प्रतिभासादिति चेत्; स्वप्नादिदृष्टा[नामपि] स्यादिति तज्ज्ञानमपि प्रमाणमेव । [तथा] च किं प्रमाणलक्षणप्रणयनेन व्यवच्छेद्याभावात् । दुष्टकारणजनितदर्शनविषयत्वान्नेति चेत्; दर्शनं तत्तथेति कुतः ? अर्थ (अनर्थ) विषयत्वात्; अन्योऽन्यसंश्रयः–सिद्धे हि तथादर्शने तद्विषयस्य अनर्थत्वम्, अतः
५ तथा दर्शनमिति । बाधितप्रत्ययगोचरत्वान्नेत्यपि नोत्तं (त्तरम्) तस्य हि बाधनं नोदयकाले स्वरूपापहारः; तदा तत्प्रतीतेः । अन्यदा तु नश्वरत्वेन स्वयमेव नास्ति केन तद्बाधनम् ? देवरक्ता हि किंशुकाः, न तत्र नः प्रयासः । नापि विषयापहारः; तस्यापि [११ख] दर्शनात् । न च विषयापहारः प्रमाणधर्मः अपि तु नराधिपस्य । अथ न विषयस्यापहारो बाधनम्, अपि तु तस्य सतः प्रतिभासज्ञापनम्; तदपि न सुन्दरम्; यतो यद्यसौ असत्; कथं प्रतिभासः खरशृङ्गवत् ?
१० अथ प्रतिभासः; कथमसत् ? जाग्रद्दृष्टो घटादिरपि तथैव स्यात् । 'धिङ् मिथ्यैतद् वितर्कितं नायं घटादिः किन्त्वन्यदेतत्' इति प्रत्ययानुत्पत्तेर्नेति[10] चेत्; ननु मरीचिकायां जलदर्पिनो (जलार्थिनोऽपि) झटिति मरणे देशान्तरगमने वा[न]स प्रत्ययो जायते इति तज्जलं सत्यं स्यात् । सत्यपि च अर्थविशेषे क्वचित् स प्रत्ययो दृष्टः । अयमपि प्रत्ययो यद्यसदर्थः; कथमन्यस्य असदर्थतां ज्ञापयति, अतिप्रसङ्गात् । सदर्थश्चेत्; पूर्ववत् प्रसङ्गोऽनवस्था च । किञ्च, अयं प्रत्ययः पूर्वप्रत्ययसमा-
१५ नविषयश्चेत्; न तस्य कथञ्चिदपि बाधकः, अन्यथा सर्वेषाम् एकार्थज्ञानानामन्योन्यं बाध्यबाधकभावे (वो) भवेत् । भिन्नविषयश्चेत्; सुतरां न तस्य बाधकः, इतरथा घटज्ञानं पटज्ञानस्य बाधकमस्तु । नेति प्रत्ययानुत्पत्तेर्नेति चेत्; स एव प्रत्ययः कुतो न जायते ? एकाधिकरणत्वाभावात्[11]; रजतशुक्तिकाप्रत्ययोः कथमेकाधिकरणत्वम्, प्रमाणाभावात् ? पूर्वोत्तरप्रत्ययाभ्यां तदप्रतीतेः[12] इति क्षणभङ्गे चर्चितमेतत् । तन्न बाध्यमानज्ञानगोचरत्वात् स्वप्नदृष्टनीलादेरनर्थत्वम् ।
२० विसंवादिदर्शनगोचरत्वादिति चेत्; न दृष्टार्थप्राप्तिः अविसंवादः, सा स्वप्नेऽपि दृश्यते । अथ असौ[13] अर्थ एव न भवति अनर्थक्रियाकारित्वात्; अर्थक्रियापि तत्र दृश्यते [१२क] जलादिकार्यस्य स्नानादेर्दर्शनात् । अथ जाग्रतात् दर्शनात्[14] सा अर्थक्रियैव न भवति; तर्हि [15]अन्यापि न स्यात् सुप्तेनाऽदर्शनात् । किञ्च, यदि अर्थक्रिया असती; कथम् अतोऽन्यस्य सत्त्वम् ? सती

(१) "बोधमात्रसंगमो हि स्वप्नेतरप्रत्ययसंभवी समान एव सर्वत्र"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ४ । (२) स्वप्नदृष्टार्थज्ञानमपि। (३) न स्वप्नदृष्टार्थज्ञानं प्रमाणम् । (४) स्वप्नदृष्टार्थज्ञानस्य । "न तावज्ज्ञानान्तरेणाभावः स्वप्नज्ञानस्यान्यस्य वा केनचित् क्रियते, तत्काले तस्य स्वयमेव नाशात् । न चाक्षिनिमीलनाद्यष्टे ज्ञाने बाध्यता प्रतीयते ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ४ । (५) "दैवरक्ता हि किंशुका केन रज्यन्ते नाम" –प्रमेयक० पृ० ७५ । "दैवरक्ता हि किंशुकाः क पुनानधुना रञ्जयति ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३७४ । "दैवरक्ता हि किंशुकास्तवकायतंसकाः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५८४ । (६) "अन्येन नहि ज्ञानेन तस्य विषयापहारोऽसत्ताज्ञापनलक्षणो बाधः । न च स्वविषये प्रवृत्तमन्यविषयापहारं रचयितुमलम्, स्वविषय-(ज्ञान) स्वविषयस्य रूपसाधनं हि ज्ञानानां धर्मः । परविषयापहरणं तु नराधिपधर्मः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३५९ । (७) स्वप्नदृष्टस्य । (८) प्रतिभासमात्रमेतत् इति ज्ञापनम् । (९) असत् स्यात् । (१०) न घटादिरसन् किन्तु सत्यः । (११) चेत् । (१२) पूर्वेण उत्तरस्य उत्तरेण च पूर्वस्याज्ञानात् नैकाधिकरणत्वप्रतीतिरिति भावः । (१३) स्वप्नदृष्टः । (१४) जाग्रतेन सा अर्थक्रिया न क्रियते अतः सा अर्थक्रियैव न भवति । (१५) जाग्रद्दृष्टार्थक्रियापि अर्थक्रिया न स्यात् ।

स्वतश्चेत् ; भावोऽपि तथैव सन्निति किं तदपेक्षणेन ? अन्यतश्चेत् ; अनवस्था स्यात् । ततो यत्किञ्चिदेतदिति चेत् ; अत्र प्रतिविधीयते—

जाग्रद्दशावत् ; स्वप्नेऽपि बहिरर्थोऽस्तु, किं वा स्वप्नदशावत् अन्यदापि समान् दुभय तु सदेहः (स मा भूत् , भवतु सन्देहः), सर्वविकल्पातीतता वा यथा स्यादिति जाग्रत्-स्वप्नदशयोः अविशेषचोदनेयम् ? तत्र प्रथमपक्षे स्वप्नदशायामपि बहिरर्थसिद्धेः [1]तज्ज्ञानमपि प्रमाणमिति [2]तल्लक्षणप्रणयनमयुक्तं व्यवच्छेद्याभावादिति । [अस्मिन्] मते को दोषः? नापरः प्रमाणप्रमेयाऽनिषेधात् । परस्य मते को दोषः ? सकलस्वमतविलोपात् विज्ञप्तिमात्रादेः असिद्धेः । किञ्च, स्वप्नादिज्ञानवद् ईश्वराद्यनुमानादिकमपि स्वप्रतिभासिनाऽर्थेन अर्थवदिति [3]तन्निषेधवचनं प्र ज्ञा क र स्य गुप्तविगोपकम् । अथ दुष्टलिङ्गादिकारणजनितत्वात् [4]तन्निर्विषयम् ; पश्यत अस्य वान्ध्यं ध्यं (वान्ध्यम्) स्वयमेव स्वस्वप्नादिज्ञाने दुष्टकारणारब्धत्वं निराकृत्य [5]अत्र अभ्युपगच्छतः ।

एतेन इदमपि प्रत्युक्तम् तेन (यदुक्तं तेन) * "न तदनुमानाद्यर्थवत् स्वपरिच्छिन्नादन्यस्य प्रापकत्वात्" इति ; स्वप्नादावपि तथा प्रसङ्गात् । तन्न प्र ज्ञा क र स्य किञ्चिद् अनर्थज्ञानम् । तदुक्तम्—

*"बहिरङ्गार्थतैकान्ते प्रमाणाभासनिह्नवात् ।
सर्वेषामर्थसिद्धिः [१२ख] स्यात् विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥"

[आप्तमी० श्लो० ८१] इति ।

अपसिद्धान्तश्चास्य निग्रहस्थानं स्यात् । अथ मदीयोऽयं सिद्धान्त इति न दोषः ; न ; अस्य मीमांसकसिद्धान्तस्य हि 'सर्वं सालम्बनं ज्ञानम्' इति मतम् । अयं तु विशेषः—'क्वचिल्लौकिकः क्वचिदलौकिकोऽर्थ आलम्बनम्' इत्येके । सर्वत्र लौकिको आलोवा (अलौकिको वा) कस्मान्नेति चेत् ? अथ [6]परस्य मरीचिकाजलम् अन्यजलवत् कस्मान्न स्नानादिकृत् ? स्वकारणात् तथोत्पत्तेरिति चेत् ; किं पुनरस्य कारणम् ? अदृढवासनेति चेत् ; सर्वत्र एकरूपा वासना अन्यद्वा कुतो न ? तथाऽप्रतीतेरिति चेत् ; अत एव तर्हि न सर्वो लौकिकोऽलौकिको वाऽर्थः[7] । अथ जाग्रत्क्रियासमत्वात् स्वप्नार्थक्रिया लौकिकी, तत्कार्यर्थोऽपि तथाविधं एवेति मतिः ; तर्हि *"यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः, संश्च शब्दः" [हेतुबि० पृ० ५५] इति क्षणिकत्वप्रतिपत्त्यर्थक्रियासमत्वात् नित्येश्वरादिप्रतिपत्तिरप्यर्थक्रिया इति तत्कारणकलापोऽप्यर्थः स्यात् । यदि पुनः [10]इयमर्थक्रिया न भवति ; स्वप्नेऽपि न स्यात् । तथा जाग्रद्दशाभाविन्यपि न स्यादिति चेत् ; क्षणिकादिसिद्धिरपि न स्यादिति सर्वाऽविशेषचोदना ।

स्वप्ने [11]विपरीतख्यातिः अन्यदेशादिस्थस्य अन्यदेशादितया प्रतिभासनात् इत्यपरे[12] । सर्वत्र सैव कुतो नेति चेत् ? न ; तथाऽप्रतीतेः । नहि यथा लोके आदित्योऽन्यदेशोऽपि प्रातः पर्वत-

(१) स्वप्नज्ञानमपि । (२) प्रमाणलक्षण । (३) ईश्वराद्यनुमाननिषेधवचनम् । द्रष्टव्यम्–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३२ । (४) ईश्वराद्यनुमानम् । (५) ईश्वराद्यनुमाने । (६) बौद्धस्य । (७) आलम्बनम् । (८) लौकिक एव । (९) ईश्वरादिः । (१०) नित्येश्वरादिप्रतिपत्तिः । (११) तुलना–"अस्तु तर्हि विपरीतख्यातिः पूर्वकालमेव दृश्यते तत्कालतया···"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १९५ । (१२) जैनादयः । "विपरीतख्यातिस्तस्मादाश्रयणीया मतिमद्भिः ।"–न्यायम० पृ० १७३ । न्यायकुमु० पृ० ६६ ।

सँल्लग्नतयैव प्रतिभा[१३क]तीति प्रतिपद्यते, तथा पर्वतोऽप्यन्यदेशस्तद्देशतया[1] प्रतिभातीति ज्ञायते (पक्षेन) इति । यदि पुनरयं निर्बन्धः सर्वत्र सैवास्तु इति ; तर्हि यथा अनुमानस्य अस्पष्टः सामान्याकारो ग्राह्ये स्वलक्षणे आरोपात् प्रतिभाति, अन्यथा [2]ततः तत्र[3] प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथा सर्वत्र ज्ञाने स्वसंवेदनरूपता अन्यस्य तत्र आरोपिता प्रतिभाति [4]अन्यत्र अरोपिता प्रतिभाति अन्यत्रापि अन्यस्य इत्यनवस्था । असत्त्वख्याति(असत्ख्याति)रित्यन्ये ; तदनन्तरं निरूपयिष्यते । तत्र प्रथमपक्षः ।

[5]द्वितीयेऽपि स्वप्ने बहिरर्थाभावमुपलभ्य [6]अन्यत्र तदभावसाधने इदमनुमानमाश्रितं स्यात्—*"निरालम्बनाः सर्वप्रत्ययाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्" [प्र०वार्तिकाल० ३।३३१] इति । तत्रेदं चिन्त्यते—प्रत्ययत्वं यदि साकल्येन स्वसाध्येन व्याप्तं न ; कथमतः साध्यसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? व्याप्तं चेत् ; कथमप्रतीतं तत्तथा[7] ? तत्प्रतीतिश्चेत् निरालम्बना ; स एव दोषः, [8]अन्यथा अनयैव हेतोर्व्यभिचारः । एतेन अनुमानमपि चिन्तितम् । अथ नानुमानं सर्वप्रत्ययलंबनत्व(प्रत्ययानालम्बनत्व)विषयत्वात् प्रमाणम् अपि तु समारोपव्यवच्छेदात् ; भवेदेवं यदि अन्यतः प्रमाणात् [9]तत् प्रतिपन्नं स्यात्, न चैवमिति निरूपयिष्यते । अपि च, यथा सौगतः [10]स्वप्न[नि]दर्शनेन न[11] सर्वत्र बहिरर्थाभावं साधयति तथा [12]अन्योऽपि यदि ग्राह्याकारनिदर्शनेन संवेदनाभावं साधयेत् कथं संवेदनमात्रसिद्धिः यतस्तत्र सौगतस्य आस्था स्यात् ?

अथ तदपि तथास्तु ; तथाहि—[13]यद्विसंदर्शन [१३ख] दशावसेयं न तत् परमार्थसत् यथा कामलिना उपलब्धमिन्दुद्वयम्, विसंदर्शनावसेयं च संवित्त्यादीति । अत्रापि परमार्थसत्त्वादन्यत्, तदभावमात्रं वा साध्येत ? तत्र द्वितीयविकल्पस्य प्रथमचतुर्थव्यवि(र्थवि)कल्पे चर्चा भविष्यति । प्रथमविकल्पे तु पूर्ववद् दोषः । [14]न च सर्वविभ्रमे विभ्रमसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ।

ननु [न] परमार्थतः कस्यचित् केनचिद् व्याप्तिरिष्यते, नापि कुतश्चित् किञ्चित् साध्यते, अपि तु यथा व्यवहारेण बहिरर्थवादिना [15]एकत्र अग्नेर्धूमदर्शनात् सर्वत्र सर्वदा [16]तत एव स नान्यतः, धूमदर्शनाच्च अग्निरनुमीयते तथा प्रकृतमन्येन अनुमीयत इति चेत् ; उक्तमत्र *"सर्वेषामर्थसिद्धिः" [आप्तमी० श्लो० ८१] स्यादिति । शक्यं हि [17]तैरपि वक्तुम्—'नास्माभिः केनचित् कस्यचित् व्याप्तिः साध्यते, किन्तु घटादौ बुद्धिमत्कारणत्वादिना कार्यत्वादेः सहभावदर्शनात्, [18]अन्यत्र तद्दर्शनात् साध्यमनुमीयते ।' तथा च *"पक्षधर्मः" [हेतुबि० श्लो० १] [19]इत्यादि लिङ्गलक्षणमवाच्यम् नियत्याभावात् । अथ तथा पारमार्थिकी साध्यसिद्धिर्न स्यादिति मतिः ; सा अन्य-

(१) आदित्यदेशतया । (२) अनुमानात् । (३) स्वलक्षणे । (४) 'अन्यत्र आरोपिता प्रतिभाति' वाक्यमेतन्निरर्थकम् । (५) स्वप्नदशावत् जाग्रद्दशायामपि अर्थो नास्तीत्यस्मिन् विकल्पे । (६) जाग्रदवस्थायाम् । (७) साकल्येन स्वसाध्यव्याप्तं प्रतिपन्नमिति भावः । (८) सालम्बनत्वे । (९) अनुमानम् । (१०) स्वप्नदृष्टान्तेन । (११) 'न' इति निरर्थकम् । (१२) जैनादिः । (१३) यद् विसंवादिदर्शनविषयम् । (१४) "विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ।"–न्यायवि० १।५४ । (१५) महानसादौ । (१६) अग्नेरेव धूमः । (१७) नैयायिकादिभिरपि । "विवादास्पदं बोधाधारकारणं कार्यत्वात्, यद्यत् कार्यं तत्तद् बोधाधारकारणं यथा घटादि…"–प्रश० व्यो० पृ० ३७२ । (१८) तनुकरणभुवनादिषु । (१९) "पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः । अविनाभावनियमाद्धेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥"–हेतुबि० श्लो० १ । प्र०वा० ३।१

त्रापि समाना । यदि तत्र सा न पारमार्थिकी ; किं तर्हि पारमार्थिकम् ? [सं]वेदनाद्वैतं चेत् ; न ; द्वयप्रतिभासप्रतिपादनात् । तन्नायमपि पक्षो युक्तः ।

तृतीयविकल्पे नैकान्तेन अर्थनिषेधः, पाक्षिकस्य तद्भावस्य अनिषेधात् । नहि 'स्थाणुर्वाऽयं पुरुषो वा' इति सन्देहे [१४क] 'पुरुषो न भवति' इति निश्चयोऽस्ति, विरोधात् । ननु भवत्वेवम् ; तथापि किं तेन[1] अप्रवृत्तिहेतुना ? प्रवृत्त्यर्थं हि बहिरर्थ इष्यते इति चेत् ; कथं भवतः संवित्तिमात्रे प्रवृत्तिः ? बहिरर्थसन्देहे [2]तत्रापि सन्देहात् । कथं वा अर्थे सन्देहः ? तत्प्रतिभासस्य [3]तदभावेऽपि स्वप्नादौ दर्शनादिति चेत् ; एवं [4][तदा] [5]तदभाव एव युक्तो न सन्देहः, कथमन्यथा किञ्चित् प्रत्यक्षं स्वसंवेदनं निर्विकल्पस्वोप (ल्पञ्चोप)लभ्य सर्वत्र तथैव स्यात् ? अत्रापि सन्देह एव युक्तः । कुतो वा स्वप्ने बहिरर्थाभावसिद्धिः ? स्वयमनभ्युपगमात्, बाध्यबाधकभावनिषेधविरोधात् । पराभ्युपगमादिति चेत् ; न ; अतिप्रसङ्गात् । यथैव हि परेण [6]तत्र [7]तस्य असत्त्वमभ्युपगतं तथा क्षणिकत्वप्रकारादेरपि[8] इति सर्वत्र क्षणिकत्वादावपि सन्देहः स्यात् । अथ स्वप्नेऽपि सन्देहः ; स कुतो जातः ? तददर्शनादिति चेत् ; कथमदर्शनम् ? दर्शने अतिप्रसङ्गात् । तस्य तद्व्यभिचाराच्चेत् ; किं पुनरिदमुभयत्र दृष्टं येनैवम् ? तथा चेत् ; नैकान्तेन अर्थाभावः, तन्नायमपि विकल्पो युक्तः ।

चतुर्थविकल्पेऽपि यथा बहिः सदसत्त्वविकल्पातीतता तथा वेदनेऽपि स्वपरवेदनविकल्पातीतता स्यादिति न किञ्चित् स्यात् । अथ परनिरपेक्षस्वसंवेदनस्य वेदनस्य प्रतीतेर्नायं दोषः ; कथमदोषः, यतः स्वसंवेदनेऽपि सदसत्त्वविकल्पाती [१४ख]ततायाम् अर्थवन्न [9]तत्सिद्धिः, इतरथा अर्थानिषेध (धः) । किञ्च, अन्यस्मिन् पक्षे *"**प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् इत्यादि व्यवहारेण अज्ञातार्थप्रकाशो वा इति परमार्थेन प्रमाणलक्षणम्**" [प्र० वार्तिकाल०] इति[10] विहन्यते, उभयत्राविशेषात् । तदयम्[11] अन्तर्बहिरविशेषं ब्रुवन्नेव स्वसंवेदनाद्वैतं वदतीति कथं स्वस्थः ? अथ स्वसंवेदने (नं) परमार्थसदिष्यते बहिरर्थपरिहारेण ; तर्हि [12]अन्येनापि स्वप्नदृष्टपरिहारेण [13]अन्यदा दृष्टः तथा सन्निष्प्यतामिति स्थितम्–'अर्थविनिश्चयः प्रमाणस्य फलम्' इति । स्वनिश्चयः पुनः *"**अङ्गीकृतात्मसंवित्तेः**" [सिद्धिवि० १।१९] इत्यादौ *"**सिद्धं यन्न परापेक्षम्**" [सिद्धिवि० १।२४] इत्यादौ च निरूपयिष्यते ।

भवत्वेवं ततः किं स्यादिति चेत् ? अत्राह–**प्रतिपत्तुः** इत्यादि । स्वं च अर्थं च प्रतिपद्यते विषयीकरोतीति प्रतिपत्ता पुरुषः तस्य **अपेक्ष्यं** तेन अपेक्ष्यते स्वपरप्रतिपत्तौ **यत् ज्ञानं तदेव प्रमाणम् । ननु (नतु)** नैव **पूर्वकं** तत्कारणं निर्विकल्पकदर्शनं सन्निकर्षादि वा, पूर्वशब्दस्य कारणवाचित्वात् । नहि अन्यतः तत्फलनिष्पत्तौ अन्यत् प्रमाणम्, अतिप्रसङ्गात् । [14]ननु सुखादि-

(१) बहिरर्थेन । (२) संवित्तिमात्रेऽपि । (३) अर्थाभावेऽपि । (४) स्वप्नसमये । (५) अर्थाभावः । (६) स्वप्ने । (७) बहिरर्थस्य । (८) असत्त्वमभ्युपगतम् । (९) संवेदनसिद्धिः । (१०) द्रष्टव्यम् पृ०१२ टि०७। (११) संवेदनाद्वैतवादी । (१२) जैनादिनापि । (१३) जाग्रदवस्थायाम् । (१४) प्रतिभासाद्वैतवादी प्रज्ञाकरः प्राह । तुलना–"तस्मात् सुखादिनीलादिव्यतिरिक्तमपरमिह जगति संवेदनं नास्तीति सुखादिवत् स्वसंवेदनं नी[illegible] इति युक्त एष निर्णयः ।"–प्र० वार्तिकाल० ३।५०८ ।

नीलादिज्ञानव्यक्तिव्यतिरेकेण नापरः प्रतिपत्ता अस्ति, तत् कथमुच्यते 'प्रतिपत्तुः' इति चेत् ? न ; जीवसिद्धिप्रकरणे अस्य उत्तरनिरूपणं भविष्यति किमौत्सुक्येन ?

का[रिका]याः पूर्वार्धस्य सुगमत्वात् [१५क] उत्तरार्धस्य सयुक्तिकमर्थं दर्शयन्नाह– 'यथास्वम्' इत्यादि । अस्यायमर्थः–प्रमेयस्य घटादेः व्यवसायो विनिश्चयः नाधिगतिमात्रम् दृष्टे प्रमाणान्तरागृहीतिप्रसङ्गात् । यतो यदाश्रित्य यस्माद्वा 'भवति' इत्यध्याहारः तदेव नान्यत् प्रमाणम् । *"पक्षधर्मतानिश्चयः क्वचित् प्रत्यक्षतः" इत्यत्र यदुक्तं ध र्मो त रे ण– *"यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इति तद् व्येति, एतद् एवकारेण दर्शयन्ति । न हि प्रमेयव्यवसायः तदाश्रित्य ततो वा भवति इति, यद्वक्ष्यते अत्रैव– *"अभेदात् सदृशस्मृत्याम्" [सिद्धिवि० १।७] इत्यादि । भवतु वा निर्विकल्पदर्शनात् तद्व्यवसायः, तथापि तन्न प्रमाणमिति दर्शयन्नाह– स्वतः इति । [स्वतः] स्वात्मनो न परम्परया विकल्पजननात्, उक्तदोषात् *'तस्याश्चेद्' [सिद्धिवि० १।८] इत्यादिकाद् वक्ष्यमाणकाच्च *"अनुमानेऽप्येवं प्रसङ्गात्" इत्यस्मात् । एतेन सन्निकर्षादिरपि चिन्तितः । यदि तर्हि स्वतो यतः प्रमेयव्यवसायः तत् प्रमाणम्, परोक्ष-ज्ञानानुर(नान्तर)प्रत्यक्ष-प्रधानपरिणामज्ञानतः [न] स्वतः सदैव प्रमाणं स्यात् ; इत्यत्राह–'यथास्वम्' इति । स्वशब्दोऽयं ज्ञानात्मवाचक इति, तस्य अनतिक्रमेण यथास्वं स्वव्यवसायेन सह तद्व्यवसायो यत इत्यर्थः ।

[10]अन्ये तु अन्यता(था)बनार्थ एतद् व्याचक्षते–यदि [11]तद्व्यवसायो यतो भवति तदेव प्रमाणम् सर्व[ज्ञ]ज्ञानमेव प्रमाणं स्यादिति; अत्राह–यथास्वम् [१५ख] इति । यत्रास्य ज्ञानस्य स्वग्रहणयोग्यं तस्य अनतिक्रमेण इति । तत्र प्रमातुं शक्यं योग्यं स्वप्रमेयम् इत्यनेन गतः । ननु मा भूत् तज्ज्ञानं प्रमाणम्, रम्यात (सरस्यां) तारानिकरमिव चैतन्यस्वभावे पुंसि प्रमेयस्य अवभासनात् स[12] एव प्रमाणमिति चेत् ; अत्राह–ज्ञानम् इति । *"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" [त० सू० १।९] तत्प्रमाणम् न पुमान् तस्य प्रमातृत्वात् नित्य[त्व]प्रतिषेधाच्च । ननु [13]तद्व्यवसायफलं न ज्ञानं प्रमाणम् अपि तु [14]स्वकारणार्थाकारमिति चेत् ; न; जलाद्यारोपहेतोर्मरीचिकादिदर्शनस्यापि प्रमाणतापत्तेः, [15]ततोऽपि [16]सम्यग्ज्ञानपूर्विका सकलपुरुषार्थसिद्धिः स्यादिति मरीचिकाद्यर्थिनो…दिप्रसर्पणादिति गानुसरणमयुक्तं स्यात (?) [17]न चैवं तदनुसरणमयुक्तम् स्यात् । न चैवं तदनुसरणदर्शनात् । अथ जलादिज्ञानमेव नापरं तत्समानकालभावि पूर्वकालभावि वा मरीचिकादिदर्शनम् ; किं

(१) सन्निकर्षादि । (२) तुलना–"पक्षधर्मश्च यथास्वं प्रमाणेन निश्चितः"–प्र० वा० स्व० पृ०१८ । "तत्र पक्षधर्मस्य साध्यधर्मिणि प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रसिद्धिः"–हेतुबि० पृ० ५३ । (३) यस्मिन् नीलांशे । (४) सविकल्पबुद्धिम् । (५) निर्विकल्पस्य । (६) निर्विकल्पदर्शनात् । (७) ग्रन्थे । (८) प्रमेयनिश्चयः । (९) परोक्षज्ञानवादिनो मीमांसकाः, ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनो नैयायिकाः, प्रधानपरिणामज्ञानवादिनः सांख्याः । (१०) टीकाकाराः । (११) स्वपरव्यवसायः । (१२) पुरुष एव । (१३) तद्व्यवसायः प्रमेयनिश्चयः फलं यस्य तत् । (१४) स्वकारणभूतस्य अर्थस्य आकारधारकं यज्ज्ञानं तत्प्रमाणमित्यर्थः । (१५) मरीचिकादर्शनादपि । (१६) तुलना–"सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति…"–न्यायबि० १।१ । (१७) 'न चैवं तदनुसरणमयुक्तं स्यात्' इति व्यर्थमत्र पुनर्लिखितम् ।

पुनरिदं प्रमादभाषितम्–*"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन" [प्र० वा० ३।४३] इत्यादि[1]। तथा नीलादिविकल्पात् त्र्याक् (न प्राक्) नापि सह निरंशदर्शनमिति इदमपि प्रपादप्रभाषितम्– *"मनसोर्युगपद्वृत्तेः" [प्र०वा० २।१३३] इत्यादि[2]। भवतु तद्धेतुस (स्त) दर्शनम्, न तु तत्प्रमाणम् अप्रवृत्तिहेतुत्वात्, अन्यत प्रमाणं विपर्यायादिति चेत; अत्राह–**अन्यत** इत्यादि। स्वार्थविनिश्चयफलाद् यदन्यत् परस्तं ततो (परस्ततो) या **प्रवृत्तिसत्यां** (स्तस्यां) [१६क] ५ विषयभूतायां योऽ**विसंवादो**ऽविप्रतिपत्तिः तस्य **नियमेन** अवश्यंभावेन **अयोगात्** । न हि लौकिकाः 'प्रतिपरमाणुभिन्ननिरंशदर्शनाद् वयं प्रवृत्ताः प्रवर्त्तामहे प्रवर्तिष्यामहे' इति प्रतिपद्यन्ते। अभ्यासावस्थायामपि स्थूलस्यैकस्य तद्ग्रहणावयवव्यापिनो जलादेर्दर्शनात्। ननु तत्फलादपि[3] न दृश्यमाने प्रवृत्तिः; अनुभूयमानत्वान, नापि भाविनि अप्रतिभासनादिति चेत्; न; पशूनामपि तृणादौ प्रवृत्तिदर्शनात्। निरूपयिष्यते चैतत् *"व्यवसायात्मनो दृष्टेः" [सिद्धिवि० १।५] १० इत्यादौ। भवतु श (वा) दर्शनात प्रवृत्तिः तथापि तन्न प्र[माण]म्; अन्यथा मरीचिकाजलज्ञानमपि स्यात। अविसंवादि प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**अन्यत** इत्यादि। **अन्यतो**ऽविकल्पदर्शनात **प्रवृत्तौ** सत्यां योऽ**विसंवादः** दृष्टार्थप्राप्तिः तस्य **नियमेन अयोगो** निरंशक्षणिकपरमाणुदर्शनात स्थूलैकस्थिरप्राप्तेः। ननु व्यवसायफलादपि प्रवृत्तौ न दृष्टस्य प्राप्तिरस्ति तत्काले तदत्ययादिति चेत्; न; चित्रैकज्ञानवत् दृश्यप्राप्ययोः कथञ्चिदेकत्वस्याविरोधादिति। करिष्यते १५ अत्र···स्नः (प्रश्नः) *"पश्यन् स्वलक्षणान्येकम्" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादौ।

ननु माभून् क्षणिकनिरंशत्वादौ तदविसंवादः, दृश्य-प्राप्ययोः एकत्वारोप्य (पा)न्नीलादौ स्यादिति चेत; अत्राह–**अन्यत** इत्यादि। **अन्यत** इति व्याख्यातार्थम्, **प्रवृत्तौ** इति च, अनन्तरम् **अविसंवादस्य** यो **नियमः** [१६ख] सर्वत्र दर्शनगोचरे भावः तस्याऽ**योगात्** नीलादौ योगो न पूर्वापरक्षणविवेके। व्यवहारिणं प्रति तत्रापि तदविसंवादेन अभ्यासे प्रत्यक्षं भाविनि प्रमाणं २० भवेत, अन्यथा प्रतिपन्नव्यभिचारस्य शङ्खे पीतज्ञानं प्राप्ये संस्थाने प्रमाणमिति व्यर्थकमिदमनुमानं नाम–*"एवं प्रतिभासो यः" [प्र०वार्तिकाल० पृ० ५] इत्यादि। भवतु तत्रैवः (यत्रैव) तद्योगः तत्रैव प्र[मा]णं स्यात् नान्यत्र इत्येकस्य प्रमाणेतरभावः। व्यवहारतः सोऽप्यस्तु इति चेत; किं पुनरिदं व्यवहारादन्यत्र चिन्तितम्–*"प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्" [प्र०वा०२। १२३] इत्यादि। तथा चेत्; "चातुर्विध्यकथनमयुक्तम् परमार्थ[तः] तदसंभवात। अतोऽयुक्तमेतत्– २५

(१) "नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम्। शुक्तौ वा रजताकारः रूपसाधर्म्यदर्शनात्॥"–प्र० वा० ३।४३। (२) "मनसोर्युगपद्वृत्तेः सविकल्पाविकल्पयोः। विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति॥"–प्र० वा० २।१३३। (३) स्वार्थविनिश्चयफलादपि। (४) प्रवृत्तिकाले। (५) क्षणिकत्वेन तद्विनाशात्। (६) निर्विकल्पकदर्शनस्य अविसंवादः। (७) व्याख्यातार्थम्। (८) "पीतशङ्खादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियावाप्तेरभावात्। संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानं तथाहि प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः। एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत्॥ येन कदाचिद् व्यभिचार उपलब्धः स यथाभिप्रेते विसंवादाद् विसंवाद्यत एव। यस्तु व्यभिचारसंवेदी स विचार्य प्रवर्तते संस्थानमात्रं तावत् प्राप्यते परत्र सन्देहो विपर्ययो वा। ततोऽनुमानं संस्थाने संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५। (९) अविसंवादसद्भावः। (१०) "प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति। प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः॥" इति शेषः। (११) "तच्चतुर्विधम्"–न्यायबि० १।७। इन्द्रियमानसस्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षभेदात्।

*"**न द्वाभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते**" इति । *"**अभ्यासे भाविनि प्रवर्तकत्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणम्**" इति च । ननु मा भूत् दर्शनं साक्षात् प्रवर्तकम् अविसंवादकं वा, तथापि तथाविधविकल्पजननात् तदपि तथाविधमिति चेत्; अत्राह-**तद्धेतुत्वम्** इत्यादि । ननु च *"**तस्माच्चेत् जननात्**" [सिद्धिवि० १।२] इत्यादिना *"**प्रमेयव्यव-**
५ **सायः स्वतो यतः तदेव ज्ञानम्**" [सिद्धिवि० १।४] इत्यन्तेन अयमर्थ उक्तः, तत् किमनेनेति चेत्; न; [ममा]भ्यन्तरप्रतिपादनार्थत्वाददामः (ददोषः) । तथाहि-**तस्य** यथोक्तस्य विकल्पस्य **हेतुः** कारणम् तस्य भावः तत्त्वं **दर्शनस्य** यत्तत (यत्तत्) **सन्निकर्ष आदिर्यस्य** इन्द्रियादेः तस्येव **तद्वत्** । एतदुक्तं भवति-यथा चक्षुःश्रोत्रमनसाम् [१७क] अप्राप्यकारित्वात् तज्ज्ञानं प्रति सन्निकर्षस्य सत्यस्वप्नज्ञानं प्रति इन्द्रियस्य अकारणत्वात् न तत्र सन्निकर्षादेर्मानता
१० अपि तु ज्ञानस्यैव तथा 'यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकम्' इति व्याप्तिज्ञानं प्रति न दर्शनस्य कारणता नेत्र[10] तदभावात् न तत्र [11]तत् प्रमाणम् अपि तु विकल्प एव । अथ दर्शनमस्ति[12]; तर्हि ततः सर्वस्य दर्शनात् सर्वस्य सर्वदर्शित्वमनुपायसिद्धम्, कथमन्यथा [13]तस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिप्रतिपत्तिः-*"**द्विष्ठसम्बन्धप्रतिपत्तिः**" [प्र० वार्तिकाल० २।१] [14]इत्यादि वचनात् । प्रादेशिकी न च व्याप्तिः । अथेयमपि नेष्यते; कथमनुमानं यतो द्वे प्रमाणे स्याताम् ? व्यवहारेण तदङ्गीकरणात् अदो(अदो)-
१५ षश्चेत्; तर्हि व्यवहारेण उपगतेर्यथा प्राप्ये भाविनि प्रमाणमुपगतं तथा [15]तत्र अभ्युपगन्तव्यं तदर्था [16]मार्गभावना व्यर्था, तद्भावनाया अनुमानरूपायाः तस्य प्रागपि भावात् । संवृतिविकल्पश्चेत्; सिद्धं सन्निकर्षादिवत् तस्य तं प्रत्यव्याप्तिहेतुत्वम् । ततो यथा सन्निकर्षादिपरिहारेण सर्वत्र दर्शना(न)मेव अतः प्रमाणं तथा अत एव दर्शनपरिहारेण विकल्प एव प्रमाणम् ।

अथवा यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण-*"**भाविनि प्रवर्तकत्वात् साक्षाद् अभ्यासे दर्शनं**
२० **प्रमाणम् अनभ्यासे तत्रानुमानजननात्**" [17]इति; तत्राह-**तद्धेतुत्वं पुनः** इत्यादि । **तस्य** अनुमानविकल्पस्य हेतोर्दर्शनस्य भावः **तत्त्वं 'पुनः'** इति उभयत्र पक्षान्तरसमुच्चये सन्निकर्षादेरिव तद्वदिति । यथैव हि इन्द्रियार्थसन्निकर्षादिः [१७ख] अनुमानस्य न हेतुः तथा दर्शनमपि । यदि पुनरचेतनत्वात् नेन्द्रियादि तद्धेतुः; कथं दर्शनस्य चेतनत्वम् ? स्वतः प्रतिभासनाच्चेत्; न; शरीरसुखादिनीलादिव्यतिरेकेण [18]परेण तत्प्रतिभासानभ्युपगमात्, शरीरादिप्रति-
२५ भासस्य विकल्पकत्वमिति निरूपयिष्यते इति परस्य पाशारज्जूः । अथ [19]अन्यस्य अभ्युपगमाच्चे[20]-

(१) प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । उद्धृतमिदम्-तत्त्वोप० पृ० २९ । सन्मति० टी० पृ० ४६८ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २५६, ५३२ । (२) तुलना-"यत्रात्यन्ताभ्यासादविकल्पयतोऽपि प्रवर्तनं तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।"-प्र० वार्तिकाल० पृ० २१८ । (३) अविसंवादिप्रवर्तकविकल्पोत्पादकत्वात् । (४) प्रत्यक्षमपि । (५) इति प्रारभ्य । (६) इति पर्यन्तेन । (७) सन्निकर्षं विनापि ज्ञानोत्पादकत्वात् । "अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि"-अभिध० को० १।४३ । (८) प्रमाणता । (९) व्याप्तिविषये । (१०) निर्विकल्पदर्शनस्याभावात् सर्वविषयत्वाद् व्याप्तेः (११) निर्विकल्पदर्शनम् । (१२) सर्वोपसंहारवति व्याप्तिविषये । (१३) सर्वस्य । (१४) "नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥" इति शेषः । (१५) क्षणिकत्वादौ । (१६) नैरात्म्यमार्ग । (१७) तुलना-"यत्र भाविगतिस्तत्रानुमानं मानमिष्यते । वर्तमानेऽतिमात्रेण बुद्धावध्यक्षमानता ॥"-प्र० वार्तिकाल० पृ० २१८ । (१८) बौद्धेन । द्रष्टव्यम्-पृ० १९ टि० १४ । (१९) जैनस्य । (२०) दर्शनस्येति शेषः ।

तनत्वम् ; सुखादेः अचेतनत्वं तथा स्यात् सांख्येन तदभ्युपगमात् । तन्न दर्शनं सन्निकर्षादिवत् अनुमानविकल्पकारणमिति स्थितम् ।

तनु ([1]ननु) अभ्रान्तत्वात् सर्वत्र दर्शनमेव प्रमाणं न विकल्पो विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह– **अभ्रान्तत्वेऽपि** इत्यादि । अस्यायमर्थः–तद्दर्शनं स्थूलस्तम्भाद्याकारेण अभ्रान्तं चेत् ; *"**दूरस्थितविरलकेशेषु स्थूलप्रतिभासेन व्यभिचारात् न तथा प्रतिभासाद् अवयविसिद्धिः**" ५ [2]इत्यस्य *"**सर्वमालम्बने भ्रान्तम्**" [प्र०वार्तिकाल० ३।१९६] इत्यस्य च व्याघातः । कल्पनापोढत्वं च दुर्लभं [3]तस्य सवि[कल्प]कत्वात् । अथ तेन[4] भ्रान्तम् ; अन्यस्य अभ्रान्तस्य अभावाद् [5]अभ्रान्तमिति अनर्थकत्वान्न वाच्यम् । अथ व्यवहारेण [6]तदुक्तम् ; विषयस्तस्य वक्तव्यः ? जायन्संभादिः (जाग्रत्स्तम्भादिः) इति चेत् ; उक्तमत्र–कल्पनापोढत्वं [7]दुर्लभमिति परस्य निकटे (विकट)सङ्कटप्रवेशः इति **स न लभते** तत्त्वविवेचनविकटाटवीम् । [8]यदि तु तन्न १० तस्य तत्राभ्रान्तत्वं नाम । अभ्युपगम्य उच्यते **अभ्रान्तत्वेऽपि**, '**अन्यतः**' इत्यनेन [१८क] लब्ध'[9]ता'परिणामेन सम्बन्धाद् 'अन्यस्य' इति गम्यते । कथं तत्का (तथा) इत्यत्राह–**सर्वथा** इति । नीलादिप्रकारेणेव पूर्वोत्तरक्षणविवेकादिप्रकारेणापि **सर्वथा** । तस्मिन् सति किम् ? इत्यत्राह –**निर्णयवशात् प्रामाण्यसिद्धेः** अन्यस्य प्रमाणत्वस्थितेः कारणात् **तत्त्वा(तदा)त्मकत्वं** निर्णयात्मकत्वं **तत्त्वसिद्धेः** अभ्रान्तबुद्धेः प्रमाणस्य **अभ्युपगन्तव्यम्** । कथं प्रामाण्यसिद्धिः ? इत्य- १५ त्राह– **कथञ्चित्** इति । **कथञ्चित्** नीलादिप्रकारेण न प्रतिक्षणपरिणामादिप्रकारेण, तत्र व्यवहारिणो दर्शनव्यवहाराभावात । न दि (हि) स यस्यन् (पश्यन्) 'प्रतिक्षणपरिणामादिकं पश्यामि' इति मन्यते, [10]तदनुमानवैक(फ)ल्यप्राप्तेः, तद्व्यवहारसमारोपयोर्विरोधात् न [11]तद्व्यवच्छेदकरणात् तदर्थवत । अथ व्यवहारमुल्लङ्घ्य तेनापि प्रकारेण तत्सिद्धिरिष्यते गतमिदम्–*"**प्रामाण्यं व्यवहारेण**" [प्र० वा० १।४] इत्यादि । न च परमार्थप्रतिभासाद्वैते क्षणभङ्गादिसंभवः; २० सर्वविकल्पातीतत्वेन [12]तदभ्युपगमात् । ततो यथा व्यवहारेण क्षणभङ्गाद(द्य)भ्युपगमः तथा [13]तेनैव तत्र दर्शनम(नं) प्रमाणयितव्यमिति साधूक्तम्–**कथञ्चिदिति** । नन्वयमर्थः '**अन्यतः**' इत्यादेः तृतीयव्याख्यानेन दर्शितः तत् किमनेनेति चेत् ; न ; पूर्वं *"**प्रमाणमविसंवादि**" [प्र० वा० १।१] इत्यस्यापेक्षया, इदानीं *"**कल्पनापोढमभ्रान्तम्**" [न्यायवि० १।४] इत्यस्यापेक्षया इत्यदोषः । उभयमप्येतत् निर्णये नान्यत्र इति मन्यते । २५

ननु यदि तत्त्वसिद्धिः (द्धेः) [14]तदात्मकत्वं न स्यात् को दोष इति चेत् ? अत्राह–**अभ्यसे**

---

(१) बौद्धः । (२) "यथैव केशा दवीयसि देशेऽसंसक्ता अपि घनसन्निवेशावभासिनः परमाणवोऽपि तथेति न विरोधः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २९६, २८७ । "परस्परविविक्ताणु प्रथमप्रतिभासनम् । विकल्पकात्तु विज्ञानात् घनाकारावभासिता ॥"–प्र०वार्तिकाल० पृ०३३६ । (३) दर्शनस्य । (४) आलम्बनेन । (५) प्रत्यक्षलक्षणे अभ्रान्तमिति पदम् । (६) अभ्रान्तमिति पदमुक्तम् । (७) जाग्रत्स्तम्भादिविषयत्वे हि तस्य विकल्पकत्वं स्यादिति भावः । (८) 'यदि तु' इत्यधिकं भाति । (९) 'ता' इति षष्ठीविभक्तेः संज्ञा । (१०) क्षणिकत्वानुमान । (११) समारोपव्यवच्छेद । (१२) प्रतिभासाद्वैतस्वीकारात् । "ननु सर्वप्रत्ययप्रलय एवायं प्रवर्तते नात्र प्रतीतेरुदयः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २९३ । (१३) व्यवहारेणैव । (१४) निर्णयात्मकत्वम् ।

(अन्यथे)त्यादि। तत्त्वसिद्धं निर्णयात्मकत्वप्रकाराद् अन्येन अविकल्पकत्वप्रकारेण **अन्यथा तद्-फलम्** **'अन्यतः'** इत्येतदनुवर्तमानं वा[1]त(वान्त)मिह संपद्यते। तदन्यद्‌फलं **अविद्यमान-प्रयोजनं** क्वचिदनुपयोगात्। अत एव **असाधनमप्रमाणम्**। एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–**असतः** खरविषाणादे **न विशिष्येत** न भिद्येत **'यतोऽन्यथा'** इत्यनेन सम्बन्धः।

५ ननु निर्णयात्मकत्वं नाम स्वार्थग्रहणात्मकत्वमिति चेत, तदसंभाव्यमिति चेत; अत्राह–**अकिञ्चित्कर** इत्यादि। न किञ्चित करोतीति अकिञ्चित्करम् स्वापादिदर्शनं *"**सिद्धं यन्न परा-पेक्ष्यम्**" [सिद्धिवि० १।२४] इत्यादि कारिकावृत्तौ प्रतिपादयिष्यमाणं **संशयः** स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानम्, **विपर्ययः** स्थाणौ पुरुष इति तत्र[2] वा स्थाणुरिति वेदनं तौ करोतीति इति[3] **तत्करम्**, पुनर्द्वन्द्वः तयोः व्यवच्छेदेन निरासेन **निर्णयात्मकत्वम् नान्यथा**।

१० ननु तद्व्यवच्छेदो[4] नीलाद्यपेक्षायाम् अविकल्पदर्शनेऽप्यस्तीति चेत्; अत्राह–**अन्यथा** इत्यादि। येन प्रकारेण नीलादौ [5]तद्व्यवच्छेद इति भावः, ततः **[5]तदात्मकत्वं तत्त्वसिद्धेः अभ्युपगन्तव्यम्** इति स्थितम्।

ननु च *"**अज्ञातार्थप्रकाशो वा प्रमाणम्**" [प्र०वा० १।५] इति वचनात् अगृहीत-ग्रहणाद् दर्शनमेव प्रमाणं न विकल्पो [6]विपर्ययादिति चेत्; अत्राह–**अनधिगत** इत्यादि। प्रमा-

१५ णान्तरेण अप्रकाशि[१९क]तोऽनधिगतः स चासौ **अर्थश्च** तस्य **अधिगन्तृ** परिच्छेदकं यद् **विज्ञानं** तत् **प्रमाणम् इत्यपि** एवमपि न केवलं पूर्वप्रकारेण **केवलम्** अन्यानपेक्षा **अनिर्णीता-र्थस्य निर्णीतिः अभिधीयते**। अस्यानभ्युपगमे दूषणमाह–**अन्यथा** इत्यादि। उक्तप्रकाराद् अन्यप्रकारेण **अन्यथा** अनधिगतार्थाधिगन्तृ दर्शनमेव प्रमाणमित्यभिधीयते न निर्णयज्ञानमिति मन्यते। **अतिप्रसङ्गात्** नीलादाविव क्षणभङ्गादावपि दर्शनस्यैव प्रमाणत्वात् [8]तदनुमानमनर्थकं

२० स्यादिति **अतिप्रसङ्गात् अनिर्णीतार्थनिर्णीतिः अभिधीयत** इति पदघटना।

नन्वयमर्थः **'दृष्टे प्रमाणान्तरावृत्तिप्रसङ्गात् (ङ्गात्)'** इत्येतेन प्रतिपादयिष्यते तत्कि-मनेन ? तस्माद् अन्यथा व्याख्यायते–स्थिरस्थूलस्वगुणावयवात्मकघटादिनिर्णीतिरेव अनधिगता-र्थाधिगन्त्री प्रतीयते। तद् यदि ततोऽन्यद् अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणं कल्प्यते तर्हि तस्मादप्य-न्यत् तथाविधं तस्मादप्यन्यत इत्यनवस्था **अतिप्रसङ्गः** तस्माद् **अनिर्णीतार्थनिर्णीतिः अभि-**

२५ **धीयते**।

यत्पुनरुक्तम्– **'तत्प्रमाणम्'** इति। तत्र प्रमीयते अनेन तत् प्रमाणम्, करणकारकम्, तच्च स्वार्थपरिच्छित्तिक्रियां प्रति साधकतममेव युक्तम्। न चेत्कं दर्शयन्नाह–(न चेत् कदर्थय-न्नाह–) **अधिगतमात्रस्य** इत्यादि। **स्वकारणार्थाकारदर्शनमात्रस्य**। कथंभूतस्य ? इत्याह–**विसंवादकस्य** निरंशानेकक्षणिकपरमाणुदर्शने [१९ख] स्थूलैकस्थिरघटादिप्रापकत्वेन विप्रलम्भ-

---

(१) 'वा' इति प्रथमाविभक्तेः संज्ञा। वान्तं प्रथमान्तमित्यर्थः। 'अन्यतः' इति पञ्चम्यन्तं पदं 'अन्यत्' इति प्रथमान्तरूपेणात्र सम्बद्ध्यते इति भावः। (२) पुरुषे। (३) इतिपदं द्विर्लिखितमत्र। (४) संशयादिव्यवच्छेदः। (५) निर्णयात्मकत्वम्। (६) गृहीतग्राहित्वात्। (७) "अत एवानधिगतविषयं प्रमाणम्"–न्यायबि० टी० पृ० १९। (८) सर्वं क्षणिकमित्यनुमानम्।

कस्य **साधकतमत्वाऽनुपपत्तेः** कारणात् तन्निर्णीतिरभिधीयते । **'विसंवादकस्य'** इत्येतद्विशेषणमपि हेतुर्द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थो भवति–अधिगतिमात्रं स्वार्थप्रतिपत्तिं प्रति न साधकतमं विसंवादकत्वात् इन्दुद्वयदर्शनवदिति न प्रमाणम् । अतः सैवाभिधीयते । पुनरपि हेत्वन्तरमाह– **'साधनान्तरे**त्यादि । अधिगतिमात्रसाधनाद् अन्यत् नीलादौ [1]विकल्पज्ञानं क्षणिकादाद(दाव)नुमानं[2] तदन्तरं तस्य (तत) **अपेक्ष्यते** [य]स्य **गोचरस्य** विषय[स्य] । क्वचित् *"साधनान्तरापेक्ष्य(क्ष)गोचरस्य" इति पाठसू(स्त)त्रापि साधनान्तरमपेक्ष्यत इति तदपेक्षो गोचरो यस्य तस्य **साधकतमत्वाऽनुपपत्तेः** तन्निर्णीतिः अभिधीयते । अत्रापि पूर्ववत् **साधने**त्यादि विशेषणमपि हेतुर्द्रष्टव्यः । तद्यथा–अधिगतमात्रं तत्त्वप्रतिपत्तौ न साधकतमं साधनान्तरापेक्षा(क्ष्य)गोचरत्वात् सन्निकर्षादिवत् । ततः सूक्तम्–**अनिर्णीतिरभिधीयते** इति ।

ननु निर्णीतेरनधिगतसामान्यार्थाधिगमेऽपि अनधिगतस्वलक्षणाधिगमाभावात [3]अनधिगमाभावात् **अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्** इत्यनेन [4]साऽभिधीयते । तत्र अर्थशब्देन स्वलक्षणाभिधानात् [5]ततो दर्शनमेव अभिधीयत इति चेत्; अत्राह–**तद्** इत्यादि । तेन अधिगतिमात्रेण **अनधिगतस्य** ज्ञानान्तरेण अविषयीकृतस्य **स्वलक्षणस्य** अर्थक्रियासम[२०क]र्थार्थरूपस्य **अधिगतावपि** परिच्छित्तावपि । अपिशब्दोऽभ्युपगमसूचकः । न खलु अन्येन अधिगतम् अन्यद्वा स्वलक्षणमधिगच्छद् दर्शनं प्रतीयते । तस्यां किं प्राप्तम्? इत्यत्राह–**दृष्टे दर्शनेन** विषयीकृते नीलादाविव क्षणभङ्गे **प्रमाणान्तरस्य** अनुमानस्य गृहीतग्राहित्वभयाद् **अप्रवृत्तिप्रसङ्गात्** कारणात्तन्निर्णीतिः अभिधीयते । एवं हि अनिश्चितनीलक्षणिकत्वयोर्निश्चयाद् विकल्पानुमानयोः अपूर्वार्थता लभ्यते इति भावः । ननु मा भूद् अनिश्चितक्षणभङ्गनिश्चयात् प्रमाणान्तरं [6]तत्र वृत्तिमत्, अपि तु क्षणिके अक्षणिकज्ञानसमारोपव्यवच्छेदकरणात् स्यादिति चेत्; अत्राह–**समान** इत्यादि । **समाने** सदृशे अत्र **भूते** दर्शनेन दृष्टे यः **समारोपः** विपर्ययज्ञानविशेषः तस्य **व्यवच्छेदे** निरासे [7]**संवृत्यनुमानयोः** दर्शनोत्तरविकल्पानुमानयोः **न कश्चिद् विशेषः** भेदः । अनुमानं चेत्[8]; संवृतिरपि प्रमाणं स्यादित्यर्थः ।

ननु यथा क्षणिके अक्षणिकत्वसमारोपो नैवं नीले अनीलत्वसमारोपो यत्तद्व्यवच्छेदाय **'समान'** इत्याद्युच्यते इति चेत्; अयमत्राभिप्रायः–यथा पूर्वापरक्षणयोः तद्व्याप्ताया-(तद्व्याप्त)समारोपव्यवच्छेदादनुमानमर्थवत् तथा मध्यक्षणे स्थूलैकरूपे *"**सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः**" [9]इत्यनेन परमाणुदर्शनारोपव्यवच्छेदात् संवृतिरपि अर्थवती स्यादिति । मरीचिकायां तोयसमारोपव्यवच्छेदाद्वा [10]तयोः[२०ख]विशेषं दर्शयन्नाह परः–**साक्षात्** इत्यादि । **साक्षाद्** अव्यवधानेन **अनुभवाद्** दर्शनाद् **उत्पत्तिः** नार्थात्संवृतेः इति अनुभवानकृत् (वानुकृत)प्रवृत्तिविषयानुकरणात् न तस्या भिन्नो व्यापार इति मन्यते ।

(१) नीलमिदमित्याकारं विकल्पज्ञानम् । (२) सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यादि । (३) 'अनधिगमाभावात्' इति निरर्थकं भाति । (४) तन्निर्णीतिः । (५) 'अनधिगतार्थाधिगन्तृ' पदेन । (६) क्षणिके । (७) संवृतिर्विकल्पः । (८) प्रमाणम् । (९) तस्मिन् व्याप्तः यः एकत्वारोपलक्षणः समारोपः । (१०) "सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः इति सिद्धान्तः ।"–प्र०वा०मनो० २।१९४ । (११) संवृत्यनुमानयोः ।

अत्रोत्तरमाह–महानपराधः। उपहासपदमेतत्, अल्पीयसोऽप्यपराधस्य अभावेऽपि अभिधानात्। ततः तदुत्पत्तौ नितरामर्थविषयत्वसिद्धेः अनुमितेरिव अर्थप्रतिबन्धाद् एकविषयत्वञ्च न विरोधि सर्वज्ञेतरज्ञानवत् सन्तानविरोधिसर्वज्ञेतरज्ञानवत्। सन्तानभेदोऽत्रापि व्यवहारश्च। प्रतिपत्तुः इत्याद्युपसंहरन्नाह–प्रतिपत्तुः इत्यादि। उत्तरं विकल्पज्ञानं प्रमाणं तस्य उत्तरस्य साधनभावात्

५ हेतुत्वात्, ननु नैव पूर्वकं सन्निकर्षदर्शनादि प्रमाणमिति। कुत एतत्? इत्यत्राह–अनुमानेऽपि इत्यादि। न केवलं विकल्पे किन्तु अनुमानेऽपि एवम् उक्तवत् प्रसङ्गात् तत्रापि साधनावभासस्यैव ज्ञानं तत्कारणं प्राप्ये प्रमाणं स्यात् नानुमानम्। प्रमेयाविपर्यीकरणम् अन्यत्रापि इति भावः।

यदुक्तं प्रज्ञाकरेण–*"अभ्यासे दर्शनमविकल्पकम् अन्यदा अनुमानं प्रवर्त्तकत्वात् प्रमाणम्। निर्णीतिः पुनः क्वचिदप्यनुपयोगात् पक्षान्तरासंभवादप्रमाणता।" इति।

१० तत्र अनभ्यासे सति अभ्यास इति अनभ्यासे निर्णीतिः उपयोगं दर्शयन्नाह–व्यवसायात्मन इत्यादि।

[व्यवसायात्मनो दृष्टेः संस्कारः स्मृतिरेव वा।
दृष्टे दृष्टसजातीये नान्यथा क्षणिकादिवत् ॥४॥

दर्शनाभ्यासपाटवप्रकरणादेः दृष्टसजातीयसंस्कारस्मृतिप्रबोधे स्वभावव्यवसा-
१५ यमन्तरेण क्षणभङ्गादावपि लिङ्गानुसरणमनुपपन्नं तदविशेषान्नीलादिवत्।]

अस्यायमर्थः–सुखसाधनस्य सुखस(स्य) च पूर्वं या दृष्टिः तस्याः संस्कारः स्मृतिबीजम् आत्मपरिणामो 'जायते' इत्यध्याहारः। [२०क] स्मृतिर्वा स्मरणं च दृष्टेर्जायते इति। ननु दृष्टिः (ष्टेः) संस्कारः, ततः स्मृतिर्न दृष्टिः(ष्टेः) इति चे[न्;न;] उत्तरदृष्टेः संस्कारसहकारिणः तदुद्भवाददोषः। नन्वेकोऽयं दृष्टिशब्दः कथममुमर्थं प्रतिपादयति? आवृत्त्याभिसम्बन्धाद् एकस्या

२० दृष्टेः उभयत्र व्यापाराद् भेदावगतिः। क पुनः स्मृतिः तद्धेतुश्च दृष्टिः प्रवर्तत इति चेत्? अत्राह–दृष्टे इति। संस्कारहेतुदृष्ट्या विषयीकृतो दृष्टोऽर्थ उच्यते। तत्र उत्तरा दृष्टिः तत्कार्यभूता स्मृतिः प्रवर्तते, कथमन्यथा 'अयं मया दृष्टः' इति प्रतीतिः? अनेन पूर्वोत्तरदृष्टिसंस्कारस्मृतीनाम् एकविषयत्वं दर्शयति। तथा दृष्टसजातीये दृष्टश्चासौ उत्तरव्यक्त्यपेक्षया सजातीयश्च तत्र संस्कारः। स कुतः? इत्यत्राह–दृष्टेः इति। यत्र संस्कारः। तद्दर्शनात् तत्रैव च स्मृतिः।

२५ सापि कुतः? इत्यत्राह–दृष्टेः इति। सा क? इत्यत्राह–सजातीये दृष्टेन पूर्वदर्शनविषयेण

(१) 'सन्तानविरोधिसर्वज्ञेतरज्ञानवत्' इति द्विरुक्तं भाति, निरर्थकञ्च। (२) "हेयोपादेयविषये प्रवर्तकं हि प्रमाणमुच्यते। तत्र च प्रवर्तने धीरेव प्रधानम्। यद्यपि नाम भाव्यर्थो न प्रतिपन्नस्तथापि तत्र प्रवर्तनात् प्रमाणं यथानुमानस्याग्रहणेऽपि (प्रामाण्यं) न ह्यनुमाने वस्तुस्वरूपस्वीकार इति प्रतिपादयिष्यते। न च चक्षुरादिकात् प्रवर्तते ज्ञानमन्तरेण, विकल्पमन्तरेणापि बुद्ध्या अभ्यासात् प्रवर्तते। ततो हेयोपादेयविषये धीरेव पूर्विका प्रवर्तनात् प्रमाणं न विकल्पादयः। यत्र तु नाभ्यासस्तत्र अनुमानमेव [न] प्रत्यभिज्ञानादयोऽतो नातिप्रसङ्गः।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २२, २१८। (३) उद्धृतोऽयम्–प्रमाणप० पृ० ५४। "व्यवसायात्मनो दृष्टेः संस्कारः" इत्यंशः न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४९३, ५२१। (४) दर्शनात्। (५) साक्षात् स्मृतिरुत्पद्यते। (६) दृष्टिशब्दस्य।

सजातीये सदृशे उत्तरस्वव्यक्तिविशेषे। एतदुक्तं भवति–एकदा जलव्यक्तिं स्नानादिहेतुमुपलब्धवतः तत्राहितसंस्कारस्य पुनः तत्सदृशव्यक्तिदर्शनात् तत्समाने दृष्टे **स्मृतिः** इति । अनेन पूर्वोत्तरदर्शनसंस्कारस्मृतीनां सदृशविषयत्वं कथयति ।

अन्ये तु [1]*"**दृष्टे संस्कारः दृष्टजातीये स्मृतिः**" इति व्याचक्षते । तेनायमर्थो लभ्यते न वेति चिन्त्यम् ।

किञ्च, यदि दृष्टे संस्कारः, स्मृत्यापि [2]तत्रैव भवितव्यम् [3]*"**अनुभूते स्मृतिः**" इति वचनात् । नहि पूर्वसमुद्रदर्शनाहितसंस्कारस्य तत्सदृशे पश्चिमसमुद्रे स्मृतिर्युक्ता । कथंभूतायाः [२१ख] [4]दृष्टेः ? इत्यत्राह–**व्यवसायात्मनो** निर्णयात्मिकाया एव । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**नान्यथा** अन्येन निर्विकल्पकप्रकारेण या दृष्टिः तस्याः न संस्कारः स्मृतिर्वा । क्वेव ? इत्यत्राह–**क्षणिकादेवत्** । आदिशब्देन निरंशत्वादिपरिग्रहः, तत्रेव तद्वदिति । ननु च [5]तस्याः संस्कारः स्मृतिरेव इति वक्तव्यम्, किं **वा**शब्देन, तमन्तरेण समुच्चयगतेः ? न; अनुक्तसमुच्चयार्थत्वाददोषः । अनुक्तं हि अनेन प्रत्यभिज्ञोहानुमानादिकं समुच्चीयते । ततोऽयमर्थो लभ्यते–पूर्वसुखसाधनदर्शनाहितसंस्कारस्य [6] पुनस्तस्य तत्समानस्य वा दर्शनाद् दृष्टे स्मृतिः, [7]ततस्तदेवेदं तेन सदृशमिति वा प्रत्यभिज्ञानम्, ततोऽपि 'पूर्ववद् एतत् सुखसाधनसमर्थम्' इति तर्कः, अस्मादपि 'अनुमेये प्रवर्तमानस्य सुखप्राप्तिर्भविष्यति' इत्यनुमानम्, ततः प्रवृत्तिः अर्थप्राप्तिरिति । वक्ष्यते च–

*"**अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिन्तयन् ।**
आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते ॥" [सिद्धिवि० १।२८] इति ।

ननु च यदुक्तं सुखस्य तत्साधनस्य च दृष्टेः संस्कार इति; तत्रेदं चिन्त्यते–'इदं सुखसाधनम्' 'अस्माद् इदं सुखम्' इति कुतः प्रतीयते ? न तावत् तत्साधनदर्शनात्; तत्काले सुखानुद (नुत्पादात्, अ) नुत्पन्नं च निं(न) तेन गृह्यते । नापि सुखदर्शनात्; अस्यापि समये [9]तत्साधनात्ययात् । नापि तत्समुदायेन; क्रमभाविनोः [10]तदभावात् । पूर्वोत्तरकालभाविदर्शनमेकं विप्रतिषिद्धम्, सर्ववस्तुनः क्षणिकत्वात् । अथ 'अस्माद् इदमु[२२क]त्पद्यते' इति आत्मा प्रतिपद्यते; सोऽपि यदि सत्तामात्रेण,···तव्य इति [सुप्तमूर्च्छितादिष्वपि] प्रसङ्गः । अथ दर्शनपर्यायात्; पूर्ववत् प्रसङ्गः । तन्न सुखतत्कारणयोः दर्शनात्[11] तद्भावसिद्धिः । नाप्यनुमानात्; तस्य [12]तत्पूर्वकत्वेन तदभावे अभावात् । एतेन पूर्वदर्शनादेः उत्तरोत्तरसंस्कारादिजन्मप्रतिपत्तिः निरस्तेति ।

अत्र प्रतिविधीयते–सुखसाधनदर्शनस्य तद्ग्रहणाभिमुख्यमजहत [13]एव सुखग्रहणपरिणामोपपत्तेः [14]अप्रतिषेधः । वक्ष्यते चैतदत्रैव द्वितीयप्रस्तावे–*"**पूर्वपूर्वस्य स्वविषयग्रहणानुबन्धमजहत एव उत्तरोत्तरं प्रति साधकतमत्वात् स्मार्तज्ञानवत् ।**" [सिद्धिवि० २।१५] इति ।

(१) व्याख्यातारः । (२) । दृष्ट एवार्थे । (३) "अनुभूते हि स्मृतिः"–हेतुबि० टीकालो० पृ० २६९ । "तदित्याकाराऽनुभूतार्थविषया स्मृतिः"–प्रमाणप० पृ० ६९ । "अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः"–योगसू० १।११ । (४) दृष्टेः । (५) वा शब्दस्य । (६) पुंसः । (७) स्मृतेरनन्तरम् । (८) प्रमाणात् । (९) सुखसाधनविनाशात् । (१०) समुदायासंभवात् । (११) प्रत्यक्षप्रमाणात् । (१२) प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन । (१३) आत्मनः । (१४) अयुक्तः प्रतिषेधः ।

न चेदमप्रातीतिकम्, 'अस्माद्भावात् मे सुखभावः' इति प्रतीतेः। तदपलापे स्तम्भादिदर्शनमपि दुर्निरीक्ष्यं प्रसजतीति प्रतिपादयिष्यते। 'युगपदेकमनेकाकारं व्याप्नोति जानातीति वा, न क्रमेण' इति परमगहनमेतत्! ततः सिद्धा सुखतत्साधनयोर्हेतुफलभावप्रतीतिः। एतेन दर्शनादिसंस्कारादीनामपि सा चिन्तिता।

यत्पुनरुक्तम्–पूर्वोत्तरदर्शनसंस्कारस्मृतीनाम् एकविषयत्वं कुतः प्रतीयते इति? तदप्येतेन नोत्सृष्टम्[5]।

ननु भवत्वेवम्, तथापि प्रवृत्तिकाले सुखाप्रतिपत्तौ कथं तत्र दृश्यमानस्य[6] हेतुता प्रतीयेत यतस्तत्र (स्तत्र) प्रवृत्तिः स्यात्, प्रतिपत्तौ वा न प्रवृत्तिः तदैव सुखप्राप्तेः। §अथ प्रवृत्त्युत्तरकालं सुखप्रतिपत्तिः तर्हि तत्साधनप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिः तस्याश्च सुखवत् प्रवृत्तिः स्यात् [२२ख] प्रतिपत्तौ वा न प्रवृत्तिः तदैव सुखप्राप्तेः§ अथ प्रवृत्त्युत्तरकालं सुखप्रतिपत्तिः; तर्हि तत्साधनप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिः, तस्याश्च सुखप्रतिपत्त्या तत्साधनप्रतिपत्तिः इत्यन्योन्यसमाश्रयः। अथ सुखसाधनस्य पूर्वस्य तत्सदृशस्य वा पुनर्दर्शनादेवं भवति 'इदं सुखसाधनं तत्त्वात् पूर्वसदृशत्वात् पूर्ववत्' इति[10] ततः प्रवृत्तिः। नन्विदमनुमानम्, तच्चेत् सुखं न प्रत्येति, कथं [11]तत् प्रति कस्यचित्[12] कारणतामवैति? कार्यं (र्य)प्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् कारणताप्रतिपत्तेः। प्रत्येति चेत्; उक्तमत्र प्रवृत्तिर्न स्यादिति[13]। यदि पुनर्न सिद्धतया अपि तु साध्यतया[14] तत् प्रत्येति; तर्हि साध्यतया असतः, तस्य च प्रतीतिरित्यतिसाहसम्, इति कस्यचित् सुखसाधनस्याप्रतिपत्तेर्न तत्र[15] [प्र]वृत्तिः। सुख इति चेत्; न; तस्य दर्शनेतरविकल्पद्वये पूर्ववत् प्रसङ्गः। तन्न कुतश्चित् प्रवृत्तिरिति किं '**व्यवसात्मनः**' इत्यादिना इति चेत्; अत्रोच्यते–दृश्यदर्शनेन पूर्वोत्तरक्षणयोरदर्शने [16]ताभ्यां तस्य[17] कुतस्तृढत्ता[18] प्रतिपत्तिः यतः प्रत्यक्षसिद्धा क्षणिकता स्यादिति नेदं सुभाषितम्– ***"यद् यथावभासते तत्तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि यथा नीलं नीलतया भासमानं तथैव तद्व्यवहारावतारि, [अव]भासन्ते च भावाः क्षणिकतया।"** इति[19]। अथ [20]दृश्यदर्शनेन [21]तयोर्दर्शनम्; [22]दृश्यसमकालता तथैव पराभ्युपगमात्। [23]तयोरपि पुनः अन्याभ्यां पूर्वोत्तरक्षणाभ्यां [24]क्रत्य (त्रुट्य) त्ताप्रतिपत्तौ अन्ययोरपि तेन[25] दर्शनं पुनः तयोरपि [२३क] ततोऽन्याभ्यां क्रत्य (त्रुट्य) त्ताप्रतिपत्तौ दर्शनं तेन तयोरित्येककालता सकलसन्तानक्षणानामिति नित्यताप्रतिपत्तिवत् क्षणिकताप्रतिपत्तावपि युगपत् जन्ममरणावधिदशाप्रतिपत्तिरिति तदैव जातो मृतश्च स्यात्। अथ दृश्यस्य दर्शनेन यथास्वकालं तयोर्दर्शनम्[26]; सुखस्यापि तथैव [27]दर्शनमिति न दृश्ये तत्साधने प्रवृत्तिविरोधः।

---

(१) चित्रज्ञानम्। (२) क्रमेण एकः आत्मा नानापर्यायान् न व्याप्नोति न वा जानाति इति कथनं परमाश्चर्यकरम्। (३) कारणकार्यभावप्रतिपत्तिः। (४) पूर्वोत्तरपर्यायव्यापिना आत्मना तत्प्रतिपत्तिसंभवादिति भावः। (५) सुखे। (६) जलाद्यर्थस्य। (७) §एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः पुनरुक्तो भाति। (८) प्रवृत्तेश्च। (९) जलादेः। (१०) प्रतीतिः। (११) सुखं प्रति। (१२) जलाद्यर्थस्य। (१३) तदैव सुखप्राप्तेः। (१४) निष्पाद्यतया। (१५) सुखसाधने। (१६) पूर्वोत्तराभ्याम्। (१७) मध्यक्षणस्य। (१८) रहितताप्रतिपत्तिः, उतृदिर हिंसायामिति रौधादिधातोः निष्पन्नमिदं गणकार्यस्यानित्यत्वात्। (१९) प्रष्टव्यम्–पृ० २ टि० १०। (२०) मध्यक्षणप्रत्यक्षेण। (२१) पूर्वोत्तरक्षणयोः प्रत्यक्षम्। (२२) तर्हि पूर्वोत्तरयोः वर्तमानक्षणापत्तिः। (२३) पूर्वोत्तरयोरपि। (२४) त्रुट्यत्ता क्षणिकता, रहितता वा। (२५) मध्यक्षणदर्शनेन। (२६) पूर्वस्य पूर्वस्मिन् क्षणे उत्तरस्य च उत्तरक्षणे। (२७) भविष्यति निष्पाद्यत्वेन।

स्यान्मतम्—पूर्वोत्तरक्षणाभ्यां मध्यक्षणस्य क्रत्य(त्रुट्य)त्ता स्वभावभूता, ततः [1]तयोरदर्शनेऽपि [2]तद्दर्शनादेव प्रतीयते ; तर्हि [3]तस्य सुखहेतुता तथा[4] किन्न प्रतीयते सुखादर्शनेऽपि ? नहि सापि [5]ततो भिन्ना । नन्वेवं सर्वस्यापि भावदर्शनादेव [6]तत्प्रतीतेः सुखार्थिनो दुःखसाधने प्रवृत्तिः सुखहेतोर्वा निवृत्तिः भ्रान्त्या न स्यादिति चेत् ; न ; क्रत्य(त्रुट्य)त्ताप्रतिपत्तावपि स-समानमिति तदनुमान[मन]र्थकम् । समारोपकल्पनम् अन्यत्रापि । तथा सति कथं सुख[सा] धने प्रवृत्तिरिति चेत् ? क्रत्य(त्रुट्य)त्तायां कथम् ? समारोपव्यवच्छेदात् ; प्रकृते समः समाधिः । यथैव च घटादौ सत्त्वादेः क्षणिकत्वेन व्याप्तिदर्शनादन्यत्र ततः क्रत्य(त्रुट्य)त्ता[7] अनुमीयते तथा आकारविशेषस्य पूर्व (पूर्वं) सुखहेतुत्वेन व्याप्ततया दृष्टस्य पुनः क्वचिद् दर्शनात् सुखहेतुता अ-नुमीयताम् । ननु उक्तमत्र अनुमानेन सुखाप्रतिपत्तौ कथं तद्धेतुताप्रतिपत्तिः ? प्रतिपत्तौ न प्रवृ-त्तिरिति चेत् ; इदमप्युक्तम्—तेन पूर्वोत्तरक्षणाविषयीकरणे कथं तत्सम्बन्धिनी क्रत्य(त्रुट्य)त्ता मध्यक्ष-णस्य प्रतीयते यतः समारोपो निवर्तेत । [10]तद्विषयीकरणे च एकक्षणभाविता सन्तानस्य [२३ख] इति ।

एतेन एतदपि निरस्तं यदुक्तं परेण—*"यद्यपि दृश्यस्य सुखादर्शनेऽपि [11]तद्धेतुता प्र-तीयते तवा(था)पि निश्चेतुं न शक्यते" इति ; कथम् ? क्रत्य(त्रुट्य)त्तायामपि समानत्वात् । भवतु वा तदनिश्चयः तथापि को दोषः ? [12]तद्दर्शनं प्रवृत्तिहेतुर्न स्यादिति । कथं क्रत्य(त्रुट्य)त्तादर्श-नमनिश्चितम् अनुमानहेतुः, येन *"यद् यथावभासते" इत्यादि सूक्तम् ? [13]एतदनिश्चितम् अनुमानस्य कारणं न [14]पूर्वं प्रवृत्तेरिति महती प्रेक्षाकारिता ! यदि च, कार्यानवधारणक्षणे अस्य कारणतानवधारणम्; तर्हि कथं प्राप्यानवधारणे दृश्यस्य ततो विवेकावधारणम्, येनात्र पक्षत्रयमु-त्थापितम्—*"दृश्यप्राप्ययोः एकत्वाध्यवसायिनं प्रति प्राप्ये प्रत्यक्षं प्रमाणम् , अन्यं प्रति तदाभासम् , अवधारितविवेकं प्रति अनुमानम्" इति ? व्यवहारेण तदुत्थापितमिति चेत् ; तेनैव[15] कार्यानवधारणेऽपि कारणतावधारणमिति कारणे प्रवृत्तिसंभवादलं भाविनि प्रवृत्त्या, एकान्ते तदर्थेन कारणत्वोपवर्णनेन वा, व्यवहारविपर्ययात् । परमार्थेऽपि चित्रैकज्ञानाद्वैतरूपे नीलाकारः पीताद्याकारान् अनात्मसात्कुर्वन्नपश्यन् वा यथा तत्साधारणीं बोधरूपतामात्मसात्करोति पश्यति वा तथा कार्यानवधारणेऽपि कारणतावधारणं कारणदर्शनेन । सर्वविकल्पातीतेऽपि तस्मिन्[16] इद-मेव वक्तव्यम्; तथाहि—कारणत्वादिविकल्पानां प्रतिपत्तौ [२४क] कस्यचित् तद्विविक्ततावित्तिः । नहि अप्रतिपन्नमशकस्य 'नेह मशकाः सन्ति' इति निर्णीतिरस्ति । [17]तथा चेत् ; सुस्थितं तदद्वै-तम् ! अप्रतिपत्तौ चेत् ; [18]प्रकृतमनुषङ्गि । ततो यथा कस्यचित् तद्विविक्तस्य दर्शनात् तद्भाव [व्य]-

(१) पूर्वोत्तरयोः । (२) मध्यदर्शनादेव । (३) जलादिसाधनस्य । (४) साधनस्वभावभूता, अतः साधनज्ञानादेव प्रतीयताम् । (५) साधनात् । (६) सुखसाधनत्वप्रतीतेः । (७) क्षणिकतानुमानम् । (८) शब्दादौ । (९) क्षणिकता । (१०) मध्यक्षणदर्शनेन पूर्वोत्तरयोः विषयीकरणे च । (११) सुख-हेतुता । (१२) साध[illegible] । (१३) त्रुट्यत्तादर्शनम् । (१४) जलादिसाधनदर्शनम् । (१५) व्यवहारेणैव । (१६) अद्वैते । (१७) कारणत्वादिविकल्पप्रतिपत्तिश्चेत् । (१८) यथा कारणत्वादिविकल्पानामप्रतिपत्ता-वपि तद्विविक्तताप्रतिपत्तिस्तथा कार्यानवधारणेऽपि कारणतावधारणं स्यात् ।

वहारः तथा आकारविशेषदर्शनात् हेतुनाऽव्यवहारोऽपि साध्यते इति सूक्तं **व्यवसायात्मन** इत्यादि ।

ननु यदुक्तम्–'**नान्यथा क्षणिकादिवत्**' इति; तत्र यदि नाम निर्विकल्पदृष्टेः क्षणिकादौ संस्कारादिर्न जायते, तथापि नीलादौ जायते दृष्टत्वात् । न च दृष्टमन्यथा कर्तुं शक्यम् ।
५ न च 'दर्शनम्'[1] इत्येव सर्वत्र स्वगोचरे संस्कारादिहेतुः; अन्यथा व्यवसायात्मकमपि[4] तथा[2] इति गृहीतप्रघट्टकादि[3]विस्मरणादि न भवेत् । अथ तत्[5] दर्शनपाटवादिकमपेक्षते; प्रकृतमपि तथैव[6] अपेक्षते इति तदभावान्न क्षणिकादौ संस्कारादिः, अन्यत्र[7] तु अस्ति विपर्ययादिति चेत्[8]; अत्रोत्तरमाह–**दर्शने**त्यादि । प्रतिपत्तिगौरव (वं) **दर्शनपाटव**मिति । [9]तत्र संस्कारादिकार्ये सामर्थ्यम्, मुहुर्मुहुः चेतसि परिमलनम् **अभ्यासः**, तौ आदी यस्य **प्रकरणादेः** स तथोक्तः तस्मात् **दृष्टसजातीय-**
१० **संस्कारस्मृतिप्रबोधे दृष्टः** पूर्वदर्शनगोचरः स चासौ **सजातीयश्च** सदृशः उत्तरविशेषेण, उपलक्षणमेतत्, ततः तेनैकोऽपि दृष्ट इत्युच्यते, तत्र **संस्कारश्च स्मृतिश्च** तयोः **प्रबोधे** उत्पादे अभ्युपगम्यमाने । किमन्तरेण ? इत्यत्राह–**स्वभावव्यवसायमन्तरेण** दर्शनस्य स्वरूपभूतनिर्णयमन्तरेण **संस्कारस्मृति**[प्रबोध]वचनमप्युपलक्षणमिति प्रत्यभिज्ञानादिपरिग्रहः । तत्र किं स्यात् ? इत्यत्राह–**क्षणभङ्गादावपि** आदिशब्देन स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादिपरिग्रहः, न केवलं नीलादौ इति
१५ अपिशब्दार्थः, **लिङ्गानुसरणं** हेत्वाश्रयणम् उक्त**मनुपपन्नं** प्रत्यक्षत एव तत्सिद्धेरिति मन्यते । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तदविशेषात्** तस्य दन(दर्शन)पाटवादेः अविशेषात् क्षणभङ्गादावपि । निदर्शनमाह–**नीलादिवत्** तत्रैव (तत्रेव[11]) तद्वदिति । नहि दर्शनं स्वविषये [12]पाटवेतरात्मकं तदप्रसंगात् (अतिप्रसङ्गात्) । अभ्यासोऽपि मुहुर्मुहुः क्षणिकदर्शनस्य तद्विकल्पस्य वा वृत्तिः सौगतानां विद्यते, तथा अर्थित्वादयोऽपि । न च [13]तत्र [14]तत्प्रबोधः । तन्न [15]तत्कार्यम् । प्रयोगश्चात्र–यस्मिन्न-
२० विकलेऽपि यन्न भवति तन्न तत्कार्यम्, यथा अविकलेऽपि चक्रादौ अभवन् पटो न तत्कार्यः, अविकलेऽपि च दर्शनपाटवाभ्यासादौ न भवति क्षणिकादौ संस्कारादि[:]इति । विपर्ययप्रयोगः– यस्मिन्नविकले यद् भवति तत् तस्य कार्यम्, यथा अविकले चक्रादौ भवन् घटः तस्य कार्यः, भवति च निर्णयेऽविकले संस्कारादिः इति । ननु 'दर्शनपाटवादेः' इत्यस्तु [16]किमभ्यासग्रहणमिति

(१) ज्ञानम् । (२) संस्कारादिहेतुः स्यात् । (३) प्रघट्टकं प्रकरणम् । (४) व्यवसायात्मकं ज्ञानम् । (५) निर्विकल्पकदर्शनम् । (६) पाटवादिकमपेक्षते । (७) नीलादौ । (८) पाटवाभ्यासादिसद्भावात् । (९) तुलना–"येषां तु पुनरभ्यासपाटवादयो निश्चयस्य हेतवः सन्ति ते महामतिशक्तयः..."–प्र० वार्तिकाल० पृ० २४० । "यथा दृष्टस्याकारोऽभ्यासपाटवादिप्रत्ययान्तरसापेक्षो विशेषस्तस्य ग्रहणात् । न हि दृष्टमित्येव विकल्पेन गृह्यते ; दर्शनाऽविशेषात् सर्वाकारेषु विकल्पोदयप्रसङ्गात्, अपि तु कश्चिदेव अभ्यासादिप्रत्ययापेक्ष इत्याकारग्रहणेनाचष्टे ।"–हेतुबि० टी० पृ० २६ । "यथानुभवमभ्यासपाटवादिप्रत्ययान्तरसहकारिणां विकल्पानामुदयात् ।"–हेतुबि० टी० पृ० २२ । "अथ मतम् अभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थित्वेभ्यो निर्विकल्पकादपि दर्शनान्नीलादौ संस्कारः स्मरणं चोत्पद्यते न पुनः क्षणिकादौ तदभावात् ।"–प्रमाणप० पृ० ५४ । प्रमेयक० पृ० ३३ । स्या० र० पृ० ८४ । (१०) पाटवञ्च । "पाटवं तीक्ष्णता बुद्धेः इति, प्रकरणात् आदिशब्दात् प्रत्यासत्तितारतम्यादेर्ग्रहणम्"–हेतुबि० टीकालो० पृ०२७१ । (११) नीलादौ इव । (१२) नीलादौ पाटवम् क्षणिकादौ च [illegible] । (१३) क्षणिकादौ । (१४) संस्कारस्मृतिप्रबोधः । (१५) अभ्यासपाटवादिकार्यम् । (१६) किमर्थम् ।

चेत्; उभयत्र आदिशब्दसम्बन्धार्थम्–दर्शनपाटवादेः अभ्यासादेः इति। तेन एकत्र आदि-शब्देन दर्शनप्रतिबन्धकस्य गुणान्तरारोपस्य *"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन" [प्र० वा० ३।४३] इत्यादिना प्रतिपादितस्य [२५क] वैकल्यं गृह्यते। यद्वक्ष्यते अत्रैव–*"दर्शनपाटवाद्यविशेषेऽपि" इत्यादि। परत्र आदिशब्देन अर्थित्वादिपरिग्रहः। यदि वा, सर्वत्र अभ्यासस्य प्राधान्यप्रदर्श-नार्थम् अभ्यासग्रहणम्। यदुक्तं परेण–*"अभ्यासे प्रत्यक्षम् अनभ्यासे अनुमानं प्रमाणम्" ५ इति। तत्र क्षणभङ्गादाविव नीलादावपि अभ्यासविरहे कुतः संस्कारादिः यतोऽनुमानम्? एवं तर्हि 'दृष्टसजातीयसंस्कारादिप्रबोधे' इति वक्तव्यं नार्थः स्मृतिग्रहणेनेति चेत्; तत् क्रियते उत्त-रार्थम्। तत्र हि स्मृतिरेव प्रधानतया चिन्त्ययिष्यते *"अभेदात् सदृशस्मृत्याम्" [सिद्धिवि० १।६] इत्यादौ। अनेन व्यतिरेकमुखेन कारिकार्थो विवृतः।

इममेवार्थं समर्थयमा[नः] प्राह–**आधत्ताम्** इत्यादि। १०

[आधत्तां क्षणिकैकान्तस्वार्थसंवित् पटीयसी।
सदाभ्यासात्स्मृतिं सापि दृष्टसंकलनादिकम् ॥ ५ ॥

सदृशापरोत्पत्तिविप्रलम्भान्नावधारयतीत्यसमञ्जसम्; सर्वथा सादृश्यासंभवात्। वैलक्षण्यानवधारणे अतिप्रसङ्गः। तद्विकल्पकारणव्यतिरेक इत्यपि तादृगेव। स्वार्थदृष्टि-स्मृत्योः स्वभावव्यवसायाभावे कुतः संकलनाज्ञानं यतः सङ्केतस्मृत्यादयः? निर्विकल्पक- १५ **दृष्टावपि सजातीयाध्यवसायादिः सुप्तप्रबुद्धवच्चेत्; न; अर्थदर्शनभावेऽपि तदनुषङ्गात्।]**

ननु अयमर्थोऽनन्तरकारिकावृत्तावुक्तः। न च पुनस्तस्यैवाभिधाने स एव समर्थितो नाम अतिप्रसङ्गात् किन्तु अन्यस्माद्धेतोः[६], स चात्र नोक्तः, तस्मात् 'उक्तार्थोऽनन्तरश्लोकोऽयम्' इत्य न न्तं वी र्यः। अस्यायमर्थः–**आधत्तमादव्यक्ता (आधत्तां) क्षणिकैकानु(न्त) स्वार्थसंविद्** इति। क्षणिक इति भावप्रधानो निर्देशः, ततः क्षणिकत्वम् एकः असहायः अन्तो २० धर्मो ययोः स्वार्थयोः तयोः संवित् दृष्टिः। कथम्भूता? इत्यत्राह–**पटीयसी** पटुतरा। कदा? इत्यत्राह–**सदा** सर्वकालम्। कुतः? **अभ्यासात्।** किम्? इत्यत्राह–**स्मृतिविकल्पम्।** स्मृतिः किं कुर्यात्? इत्यत्राह–**सापि** स्मृतिरपि **दृष्टसंकलनादिकम्** दृष्टस्य पूर्वदर्शनेन विष-यीकृतस्य उत्तरपर्यायेण सह एकत्वेन सादृश्येन वा समीचीनं कलनं निर्णयनं येन तत् [२५ख] संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्, आदिशब्देन तर्कादिकं गृह्यते तद् **आधत्ताम्** इति। २५

यदुक्तम्–'**क्षणभङ्गादावपि लिङ्गानुसरणमयुक्तं तदविशेषात्**' इति; तत्राह–**परादर्शन (सदृशापरोत्पत्तिदर्शन)** इत्यादि। विवृतार्थमेतत्। **सदृशस्य** पूर्वेण समानजातीयस्य **अपरस्य** क्षणस्य या **उत्पत्तिः** उत्पत्तिविषयं दर्शनम् उत्पत्तिः विषयिणि[१०] [११]विषयशब्दोपचारात्। न खलु तदुत्पत्तिरेव विप्रलम्भहेतुः[१२], सर्वदा प्रसङ्गात्। तथा **विप्रलम्भः** [१३]गुणान्तरारोपः तस्मान्नावधारयति

(१) दर्शनपाटवे। (२) क्षणिकत्वादौ नित्यत्वाद्यारोपस्य। (३) "संयोज्येत गुणान्तरम्। शुक्तौ वा रजताकारः रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥" इति शेषः। (४) अभ्यासे। (५) द्रष्टव्यम्–पृ० २२ टि०१७। (६) समर्थितेन भाव्यम्। (७) हेतुः। (८) अनन्तवीर्योऽयं प्रकृतटीकाकारात् रविभद्रपादोपजीविनोऽनन्तवीर्याद् भिन्न एव भाति। (९) पृ० ३० प० १४। (१०) उत्पत्तिविषयके दर्शने। (११) उत्पत्ति। (१२) किन्तु उत्पत्तिविषयकं दर्शनम्। (१३) स्थिरस्थूलादिभ्रमः।

न निश्चिनोति 'क्षणभङ्गादिकम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । तत्र संस्कारादिमान (न्न) भवति जनः इत्यर्थः । तस्य उत्तरमाह–इत्यसमञ्जसम् इत्यादि । इत्येवं परमतम् असमञ्जसम् अयुक्तम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–सर्वथा सर्वप्रकारेण सादृश्यासंभवात्, पूर्वोत्तरक्षणयोः सारूप्यसंभवनाया अपि विरहात् । तथाहि–पूर्वपूर्वनित्यसमारोपक्षणाद् उत्तरोत्तरसमारोपक्षणो यदि सर्वात्मना सदृशो जायते तेन तर्हि पूर्वतत्क्षणवत्[2] उत्तरस्यापि उत्तरतत्क्षणोत्पादनस्य सामर्थ्यम्, एवमुत्तरोत्तरस्येति आसंसारं न क्षणोपरमः । नहि अनुमानेन पूर्वस्मिन्[3] समर्थे उत्तरं कार्यं[4] निवारयितुं शक्यते, तस्मिन् सति अवश्यंभावात् । नापि तत्सामर्थ्यम्[5]; सतो[6] निवारणायोगात् ।

*"तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता ।
निरंशत्वादधिकित्सास्य (नित्यत्वादचिकित्स्यस्य) कस्तां क्षपयितुं क्षमः ॥"
[प्र० वा० २।२२]

एवं सर्वभावेषु वाच्यम् । तथा [२६क] सति चरमक्षणाभावः स्यादिति चेत्; अयमपरोऽस्य दोषोऽस्तु । तस्य पूर्वोत्तरतत्समारोपक्षणयोः तत्त्वे[7] नैव उत्तर[8]...सामर्थ्येनापि सादृश्यम् । अपि च, यथा पूर्वस्य उत्तरं प्रति कारणत्वम्, एवं चेत्[9] [10]तस्यापि[11]तत्प्रति कारणत्वम्; युक्तं सर्वात्मना सादृश्यम् । न चैवम्, आत्मनि अर्थक्रियाविरोधात् । अथ पूर्वस्मात् तत्समारोपक्षणात् क्षणक्षयानुमानसहायाद्[12] अपरोऽपरजनने[13] असमर्थोऽसमर्थतरोऽसमर्थतमो जायते; तर्हि [न] [14]तत्समारोपत्वेन सादृश्यम् उक्तप्रकारेण । अन्यथा छतिति (भवति) निरंशवादहानिः । एवं सर्वत्र योज्यम् । ततः सूक्तम्–सर्वथा इत्यादि । एतदुक्तं भवति निरंशैकान्ते सदृशापरोत्पत्त्यभावेन विप्रलम्भाभावात्[15] तदवधारणं स्यादिति ।

ननु मा भूत् पूर्वापरयोः समानधर्मान्वयः सादृश्यं वैलक्षण्यानवधारणं तु स्यादिति चेत्; अत्राह–वैलक्षण्य इत्यादि । वैलक्षण्यं पूर्वोत्तरयोः वैसदृश्यं तस्य अनवधारणे अतिप्रसङ्गः। तथाहि–तदनवधारणं प्रसज्यप्रतिषेधरूपम्, पर्युदासरूपं वा स्यात्? प्रथमपक्षे[16] तदवधारणाभावमात्रमनवधारणं कथं सादृश्यं विप्रलम्भहेतुर्वा ? अन्यथा खरशृङ्गादिकमपि स्यात् । द्वितीयेऽपि किं तद् वैलक्षण्यावधा-

(१) "सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा, सदृशे हि तदेवेदमिति बुद्धिर्यमजे । ... अत्रापि सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो लूनपुनर्जातकेशनखादिवत्..."–प्र० वार्तिकाल० २।२०९ । "तस्मात् सदृशापरभावनिबन्धन एवायं केशकदलीस्तम्भादिष्विव आकारसाम्यतामात्रापहृतहृदयानां भ्रान्त एव तत्त्वाध्यवसायो मन्तव्यः... (पृ० ८१) सदृशापरभावग्रहकृतश्च अर्वाग्दर्शनानामेकत्वविभ्रमो लूनपुनर्जातेष्विव नखकेशादिष्विति किन्नेष्यते । (पृ० १२०) सदृशापरभावनिबन्धनं चैकतया प्रत्यभिज्ञानं लूनपुनर्जातेष्विव केशनखादिषु इत्यत्र विरोधाभावादिति ।"–हेतुबि० टी० पृ० १३६ । "तुल्येत्यादिना भदन्तशुभगुप्तस्य परिहारमाशङ्कते–तुल्यापरक्षणोत्पादाद्यथा नित्यत्वविभ्रमः । अविच्छिन्नसजातीयग्रहे चेत्स्थूलविभ्रमः ॥"– तत्त्वसं० श्लो० १९७२ । (२) समारोपक्षणवत् । (३) कारणभूतसमारोपक्षणे । (४) समारोपान्तरक्षणम् । (५) निवारयितुं शक्यते । (६) सामर्थ्यनिवारणाभावे । (७) बोद्धुस्य । (८) पूर्वक्षणवर्तित्व-उत्तरक्षणवर्तित्वरूपभिन्नस्वभावत्वे । (९) यदि । (१०) उत्तरस्यापि । (११) पूर्वं प्रति । (१२) द्वितीयः समारोपक्षणः । (१३) तृतीयसमारोपक्षणजनने । (१४) तयोः पूर्वोत्तरयोः समानसमारोपत्वेनापि सादृश्यं नास्ति इत्यर्थः । (१५) क्षणिकत्वावधारणं प्रत्यक्षत एव स्यात् । (१६) वैलक्षण्यावधारणाभावमात्रम् ।

रणाद् अन्यत् यत् तद[न]वधारणशब्दवाच्यं स्यात् ? स्वलक्षणमिति चेत् ; घटकपालादौ प्रसङ्गः, तथा च ततो विप्रलम्भात् न तत्र संस्कारस्मृतिप्रबोधः । अथ एकत्वावधारणं तदनवधारणम् ; तर्हि 'सादृश्याद् विप्रलम्भः' [२६ख] इति किमुक्तं स्यात् 'एकत्वावधारणाद् एकत्वावधारणं विप्रलम्भः' इति । न च तदेव तस्यैव कारणम्; विरोधात् । तदपि च एकत्वावधारणं कुतो भवति ? सादृशापरदर्शनादिति चेत् ; न; सर्वथा सादृश्यासंभवात् अतिप्रसङ्गः, अनवस्था च । ५

किञ्च, 'क्षणभङ्गादावपि लिङ्गानुसरणमयुक्तम्' इति वदता तदनवधारणमेव चोदितम् ; तत्र तदनवधारणमुत्तरं (णं सुतरां) साध्यसममिति न सादृश्यमिदमपि युक्तम् ।

पुनरप्याह परः[३]– तद् इत्यादि । तस्य वैलक्षण्यस्य विकल्पो निश्चयः तस्य कारणं तस्य व्यतिरेकोऽभावः सादृश्यम् । अत्रोत्तरमाह–इत्यपि इत्यादि । न केवलं पूर्वं किन्तु एतदपि तादृगेव पूर्वसमानमेव, दर्शनपाटवाभ्यासादेः तत्कारणभावात् सर्वथा तद्विकल्पकारणव्यति- १० रेकासंभवादिति मन्यते । यद्यस्मात् सादृश्यान्नावधारयति तदपि तादृगेव इति ।

एवम् अविकल्पस्य प्रतिबन्ध-वैकल्यविकलस्यापि दर्शनस्य क्षणभङ्गादौ संस्काराग्रहेतुत्व-वत् नीलादावपि तदभिधाय इदानीं प्रकारान्तरेणापि तदभिधातुकामः प्राह–स्वार्थ इत्यादि । स्वं च अर्थश्च तयोः दृष्टिश्च स्मृतिश्च तयोः स्वभावस्य स्वरूपस्य स्वभाव एव वा व्यवसायः तस्य अभावे । ननु भवतु दृष्टेस्तदभावः नतु स्मृतेः, तस्याः व्यवसायस्वभावत्वादिति चेत् ; न; तस्यां १५ अपि स्वभावे व्यवसायाभावे अर्थेऽपि स दुर्घटः एवमध्यं च (मर्थं च) फक्किकाया आदौ स्वभाव-ग्रहणम् , अन्यथा [२७क] व्यवसायेत्याद्युच्येत । अर्थे तत्र तस्या व्यवसाय इष्यते; दृष्टेरपि तथैव स्यात् । 'दृष्टिस्मृत्योः' इति सहवचनं च तयोः तुल्यधर्मताप्रतिपादनार्थम् । इतश्च परस्यं निर्वि-कल्पिका स्मृतिः तथाविधानुभवकार्यत्वात् उत्तरानुभवक्षणवत् । तस्मिन् सति किं जातमिति चेत् ? अत्राह–कुतः इत्यादि । कुतो न कुतश्चित् संकलनाज्ञानम् 'तदेवेदं तेन सदृशम्' इति वा प्रत्य- २० भिज्ञानं व्यवतिष्ठते, अत्रापि उक्तन्यायस्य संभवात् । कथम्भूतं तत् ? इत्यत्राह–यत इत्यादि । यतो यस्मात् संकलनाज्ञानात् सङ्केतस्मृत्यादयः आदिशब्देन अभिलापयोजनादिग्रहः, कार-णाभावात् तदभावः स्यादिति मन्यते । एतदुक्तं भवति–पूर्वं सङ्केतविषयस्यार्थस्य दर्शनम्, पुनः तस्य तज्जातीयस्य च दर्शनात् तस्य स्मृतिः, ततोऽपि 'तदेवेदं तेन सदृशम्' इति वा संकलनम् , ततोऽपि सङ्केतस्मृतिः, तस्याः पुरोवर्तिनि शब्दयोजनम् , अतोऽपि 'घटोऽयं पटोऽयम्' इति विकल्पं ज्ञानम्, २५ तत् सर्वं न स्यादिति । ननु च यथा मेघात् जलं प्रदीपात् कज्जलं विजातीयाद् भवति, तथा सर्वत्र अविकल्पदर्शनात् व्यवहारेण स्वरूपे अविकल्पकम् [13]अन्यत्र [14]विपरीतं स्मृत्यादिकं स्यात् । एतदेवाह–निर्विकल्प इत्यादिना । विकल्पान्निष्क्रान्ता सा चासौ दृष्टिश्च तस्यामपि सत्यां सजा-तीयाव्यव(याध्यव)सायादिः आदिशब्देन संकलनादिपरिग्रहः । अत्र निदर्शनमाह–सुप्तप्रबु-

(१) पूर्वोत्तरक्षणयोः । (२) वैलक्षण्यानवधारणमपि । (३) बौद्धः । (४) कारणान्तराणां विकलता । (५) संस्काराग्रहेतुत्वमभिधाय । (६) स्वभावव्यवसायाभावः । (७) स्मृतेरपि । (८) स्वभावे सर्वं ज्ञानं निर्विकल्पकमिति तत्सिद्धान्तात् । (९) व्यवसायः । (९) स्मृतेः । (१०) बौद्धस्य । (११) निर्विकल्पानुभव । (१२) पूर्वदृष्टस्य । (१३) अर्थरूपे । (१४) निश्चयात्मकम् ।

द्वत् इति । पूर्वं सुप्तः पश्चात् प्रबुद्धः सन्तानः स इव तद्वत् । [२७ख] एतदुक्तं भवति–यथा सुप्तपश्चात्तः (सुप्तस्य पश्चात्) प्रबुद्धावस्था तथा प्रकृतमपि इति । अत्रेदं विचार्यते–कोऽयं सुप्तो नाम ? स्वप्नदर्शी निद्राक्रान्त इति चेत ; न तस्य प्रकृतसमत्वा (त्वम्) । दर्शीति चेत् ; तस्य यदि निर्विकल्पं दर्शनम् , अतोऽपि प्रबुद्धः तथाविधदर्शनवान ; न [1]प्रकृतस्य तद्भवति । स्मृत्यादिमान[2];
५ साध्यसमता । न च परेण तस्य दर्शनमिष्यते अचेतनत्वोपगमात् । अथ चेतनारहितं सुप्तमित्युच्यते, न तस्मात् प्रबुद्धः, जाग्रद्दशातः तदभ्युपगमात् । कथं परसम्बन्धिनिदर्शनमेतत् प्रदर्शितमिति चेत ? न; अन्यथा व्याख्यानात्–सुप्त इव सुप्तः स्वलक्षणासाक्षात्करणात् सुगतस्यानुमानदशा: (सुगतस्य अनुमानदशा) विशेषः प्रबुद्ध इव प्रबुद्धः सर्वदर्श्यवस्थाभेदः, ततो न दोषः, परेणापि अनुमानात् सुगतत्वोपगमात् । चेच्छब्दः पराभिप्रायसूचकः । अस्योत्तरमाह–**नार्थ**
१० इत्यादि । नेति पूर्वपक्षनिषेधे । **अर्थदर्शनभावेऽपि** न केवलं [तदभावे] **तदनुषङ्गात्** सजातीयान्य (याम्य) समायायानुषङ्गात् । कुत एतत ? इत्यत्राह–**अभेदात्** इत्यादि ।

[अभेदात् सदृशस्मृत्यामर्थाकल्पधियां न किम् ।
संस्कारा विनियम्येरन् यथास्वं सन्निकर्षिभिः ॥६॥

वस्तुस्वभावोऽयं यत् संस्कारः स्मृतिबीजमादधीत । ततः सहकारिकारणवशात्
१५ **स्मृतिबीजप्रबोधः स्यात् । तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षापेक्षिणः तत्प्रबोधस्य अविकल्पकल्पनायां पूर्वं पश्चाच्च दर्शनमनर्थकम् ।]**

क्रमेण यौगपद्येन च सादृश्यैकत्वयोः विकल्पबुद्धिः **सदृशस्मृतिः** परमतापेक्षया उच्यते । परस्य हि मतम्–परमाणव एकार्थक्रियाकारिणः अतत्सन्तानपरावृत्ताः स्वसमानाः परम्परया तस्या हेतवः, **तस्यां** कर्त्तव्यायाम **अभेदात्** अविशेषात् । केषाम ? इत्यत्राह–
२० **अर्थाकल्पधियाम्** । अर्थाश्च अकल्पधियश्च तासाम इति । एतदुक्तं भवति– यथा [२८क] अनुभवात् निरंशात् सदृशस्मृतिसंभवः तथा अर्थादेव तथाविधात् [10]सोऽस्तु इति । न चेदमत्र चोद्यम्–[11]अर्थदर्शनपूर्विका स्मृतिः सा कथं [12]तदभावे भवेत् ? अन्यथा सर्वत्र तदनुषङ्ग इति । कथम् ? यदि हि दर्शनगोचरे स्वलक्षणे जायते स्मृतिः तदा [13]तत्पूर्विकेति स्यात् , न चैवं सामा-

(१) सुप्तस्य । (२) चेत् । (३) सुप्तस्य । (४) जाग्रद्दशाभाविचेतसः प्रबोधचेतस उत्पत्तिस्वीकारात् । "गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ६८ । (५) बौद्धमतप्रसिद्धमुदाहरणम् । (६) सुगतत्वप्राप्तिप्राक्कालभाविनी श्रुतमयी चिन्तामयी च भावना अत्र क्रमशः परार्थानुमान-स्वार्थानुमानरूपा ग्राह्या । (७) "न भावनामात्रत एव योगी भवति, अपि तु श्रुतमयेन ज्ञानेन अर्थान् गृहीत्वा युक्तिचिन्तामयेन व्यवस्थाप्य भावयतां तन्निष्पत्तौ यदवितथविषयं तदेव प्रमाणं तद्युक्ता योगिनः ।"–प्र० वार्तिकाल० ३।२८५ । "यादृशो योगिनां भावनाक्रमो विनिश्चये श्रुतमयेत्यादिनाऽभिहितः..."–न्यायवि० ध० पृ० ६८ । "वृत्तस्थः श्रुतचिन्तावान् भावनायां प्रयुज्यते । धियः श्रुतादिप्रभवा नामोभयार्थगोचराः ॥...श्रुतमयी प्रज्ञा हि आप्तप्रमाणजो निश्चयः, चिन्तामयी प्रज्ञा युक्तिनिध्यानजो निश्चयः..."–अभिध० को० ६।५ । (८) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ५२० । (९) निरंशात् । (१०) सदृशस्मृतिसंभवोऽस्तु । (११) "पूर्वानुभवाभ्यासान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी स्मृतिः"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ६१० । (१२) दर्शनाभावे । (१३) अर्थपूर्विका ।

[illegible], नैवं तस्याः एवमर्थं च **'सदृशस्मृत्याम्'** इत्युक्तम् । तथापि तत्पूर्विका चेत् ; नीलस्मृतिः पीतदर्शनपूर्विका स्यात् ।

अत्राह परः–'नार्थदर्शनादेवे केवलात् [illegible] सजातीयस्मृतिर्येनाऽयं दोषः, अपि तु पूर्व-सदृशस्मृत्याहितवासनातः उत्तरतत्स्मृतिजन्म, दर्शनं तु तद्वासनाप्रबोधहेतुत्वात् तद्धेतुः[3] इत्युच्यते, अत एव सदृशाकारः तत्र न विरुद्ध्यते' इति; तं [प्र]त्याह–**न किम्** इत्यादि । **संस्काराः** ५ पूर्वपूर्वविकल्पाहितवासना **विनियम्येरन्** उत्तरोत्तरनियतार्थसदृशस्मृतिजनने नियताः क्रियेरन्, **किं न** अपि तु विनियम्येरन्नेव, प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः । कैः ? इत्यत्राह–**यथास्वम्** इत्यादि । [illegible]: योग्यदेशावस्थानम् न संयोगादिः तस्य निषेत्स्यमानत्वात्, स विद्यते येषाम् अर्थे-न्द्रियाणां ते **सन्निकर्षिणः** तैः इति । यो यस्य संस्कारस्य प्रबोधनपटुः सन्निकर्षी तस्य अनति-क्रमेण यथास्वम् इति । तत्र क्वचिदर्थे दर्शनस्यै उपयोग इति मन्यते । १०

पूर्वस्य कारिकाद्वयस्य व्याख्यानम[२८ख]कृत्वा सुगमत्वात्, उत्तरस्य अक्षरद्वयाधि-कस्य व्याख्यानं कुर्वन्नाह–**वस्तुस्वभावोऽयम्** इत्यादि । वस्तुनः पदार्थस्य स्वभावोऽयं स्वरूपमिदं यद्यस्मात्तश्च (त्तत्स्व)भावाद् **व्यवसायो** विकल्पः **स्मृतिबीजम्** स्मरणनिमित्तं संस्कारम् **आद्-धीत** *"**व्यवसायात्मनो दृष्टेः**" [सिद्धिवि० १।४] इत्यादौ चिन्तितमेतत् । तत्र युक्तमेतत्–*"**वस्तुस्वभावोऽयं यदनुभवः पटीयान् स्मृतिबीजमादधीत ।**" इति । ततः किं स्यादिति १५ चेत् ? अत्राह–**ततः** तस्मात् **स्मृतिबीजप्रबोध** (धः) प्रकृष्टः संशयादिरहितो बोधः सदृशस्मृतिः **स्याद्** भवेत् । किं तत एव उतान्यतोऽपि ? इत्यत्राह–**सह[कारि]कारणवशात्** इति । तेन स्मृतिबीजेन सह करोति सदृशस्मृति[मिति]**सहकारि** तच्च **तत्कारणं** च इन्द्रियार्थादि तस्य **वशात्** । अनेन परप्रसिद्ध्या सदृशस्मृतेः प्रत्यक्षत्वे निमित्तं दर्शयति । प्रकृतमुपसंहरन्नाह–**तत्र** इत्यादि । **तत्र** तस्मिन् संभवे सति कस्य **तत्प्रबोधस्य** सदृशस्मृतिप्रबोधस्य । कथंभूतस्य ? २० **इन्द्रियार्थसन्निकर्षापेक्षिणः** इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षमपेक्षते इत्येवंशीलस्य, किम् ? **अविकल्प-कल्पनायां** पूर्वं पश्चाच्च **दर्शनमनर्थकम्** इति ।

ननु भवत्वेवं तथापि सदृशस्मृतेर्न वैशद्यम्, तदुक्तम्–

*"न विकल्पा[illegible]विद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता ।

स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्त्तं न च तत्तादृगर्थदृग् ॥"[प्र०वा० २।२८३] इति । २५ [२९क] विशदं च ज्ञानं भवतामध्यक्षमिति चेत् ; अत्राह–**वैशद्यम्** इत्यादि ।

[[illegible]त एव स्यात् व्यवसायात्मनः स्मृतेः ।

असंस्का[र]प्रमोषे हि संज्ञानं नापि पश्यता[ः] ॥७॥

व्यवसायात्मनः संस्कारप्रबोधस्य कारणसामग्र्या स्वतो वैशद्यमनुभवतः को विरोधः ?] ३०

---

(१) बौद्धः । (२) [illegible]त् । (३) स्मृतिहेतुः । (४) स्मृतौ । (५) आदिपदेन संयुक्तसम-वाय-सं[यु]क्तसमवेतसमवाय-समवाय-समवेतसमवाय-विशेषणविशेष्यभावा ग्राह्याः । (६) सन्निकर्षः । (७) निर्विकल्पस्य । (८) सविकल्पस्य ।

वैशद्यं स्पष्टत्वम **अत एव** इन्द्रियार्थसन्निकर्षापेक्षित्वादेव **स्याद्** भवेत्। कस्य ? **व्यवसायात्मनः स्मृतेः** इति। ननु संस्काराद् वासनाऽपरनाम्नः तत्स्मृतेः संभवे निर्विषया मा[2] भवेत्, वैशद्येऽपि कामाद्युपप्लुतज्ञानवदिति चेत; अत्राह-**असंस्का** इत्यादि। न संस्कारस्य प्रमोषः **असंस्कारप्रमोषः** संस्कारसद्भावः तस्मिन् **हि स्फुटम् 'अत एव'** इ-
५ त्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम **[सं] ज्ञानं समीचीनं** संशयादिरहितम् ज्ञानम्। एतदुक्तं भवति-संस्कारमात्रभावि निर्विषयम, न [3]चेदं तथा, अर्थादेरपि कारणस्य प्रतिपादनात्। दृश्यते हि तथाविधं समीचीनं स्वभ्यस्तं क्षणभङ्गादिवत जलादौ। ननु न वैशद्यं व्यवसायात्मनः स्मृतेः किन्तु दर्शनस्य तत्राध्यारोपात तं तस्यां इति व्यपदिशति। तदुक्तम्-

*"मनसोर्युगपद्वृत्तेः सविकल्पाऽविकल्पयोः।
१० विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति॥" [प्र० वा० २।१३३]

इति चेत; अत्राह-**नापि पश्यताम्** इति। **'अत एव'** इत्येतदत्रापि अनुवर्तनीयम्। ततोऽयमर्थो भवति-यत एव इन्द्रियार्थसन्निकर्षापेक्षी तत्प्रबोधः किमविकल्पकल्पनया ? अत एव यस्य तां (**पश्यतां**) स्वलक्षणं विषयीकुर्वतां दर्शनानां **नापि** नैवम् अवैशद्यमिति। इदमत्र तात्पर्यम्-यथा जपाकुसुमेषु रक्तत्वं तथा यदि दर्शनेषु वैशद्यं विनिश्चितं स्यात् तदा
१५ अन्यत्र तदध्यारोपात् प्रतिभातीति [२९ख] शक्यं वक्तुं नान्यथा अतिप्रसङ्गादिति।

कारिकार्थं विवृण्वन्नाह-**व्यवसायात्मन** इत्यादि। [**व्यवसायात्मनः**] निर्णयस्वभावस्य **संस्कारप्रबोधस्य** संस्कारस्य वासनापराभिधानस्य यः प्रकृष्टः समीचीनो बोधः चेतनापरिणामः तस्य अक्षार्थसन्निकर्षापेक्षया **स्वतो** न याचितकमण्डनन्यायेन दर्शनानां सम्बन्धि **वैशद्यम् अनुभवतः** स्वीकुर्वतः **को विरोधः** न कश्चित्। कुत एतत ? इत्यत्राह-**कारणसामग्र्या** इ-
२० त्यादि। सुगमम्। [11]परापेक्षया इदमुक्तम्। [11]भावतः पुनः आवारणविगमाद् ([12]आवरणविगमाद्) वैशद्यमिति।

ननु[13] स्वार्थयोश्चेत् प्रत्यक्षं सविकल्पकं स्वाभिधानसंसृष्टयोरेव ग्राहकं स्यात्, तदभिधानयोरपि स्वाभिधानसंसृष्टयोः इत्येवं युगपदनेकाभिधानप्रतीतिप्रसङ्गः अनुभवविरुद्धः। प्रयोगश्चात्र-[यत्] सविकल्पकं ज्ञानं तदभिधानसंसृष्टार्थग्राहकं यथा नीलमिदमिति ज्ञानम्, सविकल्प-
२५ कं च प्रत्यक्षमिति चेत; अयुक्तमेतत; अनैकान्तिकत्वात् हेतोरिति दर्शयन्नाह-**सदृश** इत्यादि।

[सदृशस्वार्थाभिलापादितस्मृतिर्नाप्यभिलापिनी।
तावतैवाविकल्पत्वे तुच्छा धीः स्याद्विकल्पिका॥८॥

किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धादिग्रहणमन्तरेण न भवितुमर्हति। ततः प्रत्यक्षसदृशार्थाभिधानस्मृतिरनभिलापिनी अभिलापादिविषया सिद्धा।

(१) सदृशस्मृतेः। (२) स्मृतिः। (३) स्मरणादिकम्। (४) स्मृतौ। (५) 'न' इति निरर्थकमत्र। (६) स्मृतेः। (७) संस्कारप्रबोधः। (८) विकल्पे। (९) निर्विकल्पारोपात्। (१०) बाह्यापेक्षया। (११) परमार्थतस्तु। (१२) ज्ञानावरणक्षय-क्षयोपशमाभ्यामेव ज्ञाने वैशद्यं भवति। (१३) बौद्धः।

तदन्याभिलापापेक्षणे अनवस्थाप्रसङ्गात् । अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पनेति विशेषणाददोषश्चेत् स्वार्थसन्निकर्षनिर्भासविशेषवैकल्यव्यतिरेकेण न तद्विशेषणार्थं...त्प्रेक्षामहे । ततः किम् ?]

सदृशः सन्निहितेन समानः सङ्केतसमयभावी **स्वश्च अर्थश्च** तस्य **अभिलापः** अभिधानम् **आदिर्यस्य** विशेषणविशेष्यसम्बन्धलोकस्थित्यादेः स तथोक्तः तस्य, **नापि** नैव **अभिलापिनी** शब्दवती, परपक्षनिक्षिप्तदोषप्रसङ्गः न्यायस्य समानत्वात् । अत एव अर्थाभिलापग्रहणं युगपद् [३०क] अर्थाभिलापः अभिलाप (अर्थाभिलाप) प्रतिभासप्रतिपादनार्थम् । अनवस्था च स्मर्यमाणाभिलापेऽपि स्मृतस्य तस्य[1] योजनात् , तत्रापि स्मृतस्येति । ततः अनैकान्तिको हेतुः । नाऽनैकान्तिकः तस्या[2] अविकल्पकत्वात् *"**अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना[3] । ततोऽन्या अविकल्पिका** ।" इत्यपरः । तस्य उत्तरमाह–**तावतैव** इत्यादि । **तावतैव** अनभिलापित्वमात्रेणैव **अविकल्पकत्वे** अङ्गीक्रियमाणे '**तत्स्मृतेः**' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । तुल्या (?) **तुच्छा** नीरूपा **धीः** बुद्धिः **स्याद्** भवेत् **विकल्पिका** कल्पनैव न स्यादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति–यदा तदभिलापस्मृतिः अविकल्पिका तदा कल्पनापोढत्वात् प्रत्यक्षैव स्यात्–*"**कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्**[4]" [प्र०समु०पृ०८] इति वचनात् । स्वलक्षणविषयत्वाच्च[5] । स्वलक्षणगोचरमध्यक्षम्[6], ततो न तद्विषयस्य अभिधानस्य दृष्टे योजनमिति 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पाभावः इति प्रत्यक्षलक्षणे कल्पनापोढपदमनर्थकं [7]व्यवच्छेद्याभावात् । माभूदयं दोषः इति [8]तत्स्मृतिः [9]अनभिलापिन्यपि सविकल्पिका अभ्युपगन्तव्येति स एव दोषः ।

एतेनेदमपि निरस्तं यदुक्तं परेण[10]–*"**न सोऽस्ति प्रत्ययः**[11]" [वाक्यप० १।१२४] इत्यादि ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**किञ्चिद्** इत्यादि । **किञ्चिद्** देवदत्तादिकं **केनचित्** दण्डादिना **विशिष्टं गृह्यमाणं विशेषणं** दण्डादि **विशेष्यं** देवदत्तादि तयोः **सम्बन्धः** संयोगादिः **आदि**-शब्देन लोकव्यवस्थादिपरिग्रहः तेषां **ग्रहणं** सङ्केतकाले प्रतिपत्तिः **तदन्तरेण न भवितुमर्हति** [३०ख] किन्तु तस्मिन् सति भवति । तदुक्तं परेण–

***"विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम् ।**
गृहीत्वा संकलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा ॥" [प्र०वा० २।१४५] इति ।

ततः किं जातम् ? इत्यत्राह–**तत** इत्यादि । यत एवं **ततः** तस्मात् **प्रत्यक्षः** पुरोवर्त्ती तेन **सदृशोऽर्थः** सङ्केतकालदृष्टः तस्य **अभिधानस्य** वाचकस्य **स्मृतिः अनभिलापिनी**

(१) अभिलापस्य । (२) अभिलापस्मृतेः अविकल्पकत्वेन शब्दशून्यत्वात्, अतो नापरशब्दापेक्षा । (३) "विशेषणादिसम्बन्धवस्तुप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना"–प्र०वार्तिकाल०पृ० २४५ । "वाच्यवाचकाकारसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना ।"–प्र०वा० मनो० ३।१२५ । "अभिलापिनी प्रतीतिः कल्पना"–तत्त्वसं०श्लो० १२१४ । (४) व्यर्थमेतत् । (५) "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्"–न्यायप्र० पृ० ७ । (६) प्रत्यक्षा स्यात् । (७) "तस्य विषयः स्वलक्षणम्"–न्यायबि० १।१२ । (८) व्यवच्छेद्यस्य विकल्पस्य अभावात् । (९) अभिलापस्मृतिः । (१०) शब्दरहिता अपि । (११) शब्दाद्वैतवादिना । (१२) "...लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे [illegible] ॥" इति शेषः ।

अभिलापसंसर्गरहिता अभिलापादिविषया सिद्धा। तदनभ्युपगमे दोषमाह—तद् इत्यादि। तस्य स्मर्यमाणस्य अभिलापस्य योऽन्योऽभिलापः तस्य अपेक्षणे अङ्गीक्रियमाणे अनवस्था-प्रसङ्गाद् अनभिलापिनी सिद्धेति। एतदुक्तं भवति—यदि अभिलापवर्ती प्रतीतिः कल्पना तर्हि तद्विपरीता अकल्पना इति स्वल्पा धीः स्याद् विकल्पिका इति।

५ एतत् परिहरन्नाह परः—'अभिलाप' इत्यादि। अभिलप्यते येन यो वा असौ अभिलापः शब्दसामान्यम् अर्थसामान्यं च, तेन अर्थस्य तस्य वा शब्देन संसर्गो योजनम् तस्मै योग्यः प्रतिभासो यस्याः सा तथोक्ता प्रतीतिः संवित्तिः कल्पना इत्येवं विशेषणात् कारणाद् अदोषः 'स्वल्पा धीः स्यात् विकल्पिका' इत्यस्य दोषस्य अभावः। प्रत्यक्षसदृशाभिलापस्मृतेरपि कल्पनात्मकत्वादिति। इत्येवं चेत् शब्दः पराभिप्रायसूचकः। अत्राह आचार्यः—

१० स्वार्थ इत्यादि। स्वं च अर्थश्च स्वस्य वा अर्थः तस्य वा सन्निकर्ष इन्द्रियेण सम्बन्धः तेन जनितः स चासौ [३१क] निर्भासविशेषश्च निरंशपरमाणुनिर्भासः तस्य वैकल्यम् अभावः, पर्युदासापेक्षया स्थूलैकप्रतिभास एव तद्वैकल्यं [illegible] तदपहाय न तद्विशेषणार्थं विशेषणाभिधानाभिधेयम् उत्प्रेक्षामहे इति किन्तु तदेव पश्यामः। ततः किम् ततः तस्मात् तद्विशेषणार्थात् किं दूषणमित्यपरः।

१५ अत्र आचार्यः प्राह—पश्यन् इत्यादि।

[पश्यन् स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं स्फुटम्।
यद्[illegible] वैशद्यं तद्[illegible] सदृशस्मृतेः ॥९॥

स्वलक्षणानि स्वयमभिमतक्षणक्षयपरमाणुलक्षणानि पश्यतोऽपि केवलमेको हि [illegible]वेशी स्थवीयानाकारः परिस्फुटमवभासते। यदि तुभ्यं रोचते। प्रकृतसदृश-

२० स्मृतेरिव अव्यापृताक्ष[illegible]द्भावप्रतिभासनात्। शब्दश्च सदृशाकारमशब्दं स्मरत्येव। तस्याश्च प्रामाण्यं युक्तम्। न हि तयाऽर्थं परिच्छिद्य अर्थक्रियायां विसंवाद्यते। अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावादयुक्तम्, इत्यत्रोक्तम्। तत्समुच्चयलक्षणे प्रमाणे अन्यतरस्यापि प्रामाण्यासंभवात्। तदशाब्दमविसंवादकं सदृशस्मरणमस्ति संहृतसकलविकल्पावस्थायां तथैव प्रतिभासनात्। तदर्थदर्शनमुपनिपत्य स्वतः स्मृतिं जनयत् नानात्मनान्तरीयकमाकारं पुर-

२५ स्कर्तुं युक्तं तदर्थवत्। तद्दर्शनं नासाधारणैकान्तगोचरं व्यापृताक्षस्य कदाचित् क्वचित्तथैवाप्रतीतेः। नहि बहिरन्तर्वा जातुचिदसहायमाकारं पश्यामो यथा व्यावर्ण्यते तथैवानिर्णयात्। नानावयवरूपायात्मन एकस्य परिणामिनो घटादेः बहिः संप्रतीतेः अन्तः चित्रैकाकारस्य एकस्य चित्रस्येव। न च तद्विपरीतार्थप्रकाशकं किञ्चिज्ज्ञानमस्ति यत् प्रकृतं भ्रान्तं स्यात्। न हि तदेकान्ते स्वसदसत्समये अर्थक्रियासंभवः। तथा सति

३० कथमक्षणिकत्वे [illegible]भ्यामर्थक्रियाविरोधात् तीरादर्शिशकुनिन्यायेन ततः सत्त्वं

(१) बौद्धः। "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना।"—न्यायबि० १।५। (२) शब्दसामान्येन। (३) अर्थसामान्यस्य। (४) उद्धृतोऽयम्—न्यायवि० वि० प्र० पृ० ९८।

निवर्तमानं क्षणिकत्वे अवतिष्ठते इति सतः साकल्येन क्षणभङ्गसिद्धिः ? तत्रैव ताभ्यां तद्विरोधात् । ततो यत् सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मकम् । तदेकान्तस्यासत्त्वम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तावनुपलभ्यमानत्वात् । अन्यथाऽप्रमेयत्वम् ।]

परस्परविलक्षणानि निरंशक्षणानि **स्वलक्षणानि पश्यन्** सौगतः अन्यो वा जिनः (जनः) अनेन *"**सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः**" इति परस्य सिद्धान्तो दर्शितः । ५ किमर्थमिति चेत् ?

*"**प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।**
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥" [प्र० वा० २।१२३]

इत्यस्य '**एकम्**' इत्यादिना वक्ष्यमाणेन प्रत्यक्षेण बाधाप्रदर्शनार्थम् ; तथाहि–

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेण निराकृतम् । १०
प्रत्यात्मवेद्यं सर्वेषां जात्यन्तरमिह स्फुटम् ॥

तद्यथा–**स्थूलं** महत्त्वोपेतं घटादिकं **व्यवस्यति** निश्चिनोति सौगतो जनो वा न सूक्ष्मं परमाणुरूपम् **एकं** युगपदनेकावयवगुणसाधारणम् । अनेन अक्रमानेकान्तो दर्शितः । **अक्षणिकं** पूर्वापरकोटिसंघटितशरीरं मृत्पिण्डादिषु कथञ्चिन्मृदेकत्वदर्शनात् । अनेन क्रमाऽनेकान्तः[6] । ननु व्यवस्यति तथाभूतं तत्तु कल्पनामिति (मति) कल्पितत्वात् अपरिस्फुटमिति चेत ; अत्राह–**स्फुटम्** १५ इति । **स्फुटं** विशदमिति । ततो निराकृतमेतत् यदुक्तं[7]–प्रज्ञाकरेण *"**अस्थूलाऽनेकापेक्षया तत् स्थूलमेकम् इति न पारमार्थिकम् । न हि वस्तुस्वभावाः परापेक्षया भवन्ति अतिप्रसङ्गात् ।**" [३१ख] इति । कथम् ? स्फुटत्वाभावप्रसङ्गात् । तथैव तत् , न परापेक्षमेतत् , स्वयं स्थूलस्यैव बिल्वकपित्थादेः सर्षपापेक्षया स्थूलताव्यवहारः । न हि तथाऽपरिणतम् अन्यापेक्षया तद् भवति अतिप्रसङ्गात् । **यत्** यस्मात् **वैशद्यं विद्धि** जानीहि **सदृशस्मृतेः** २० व्यवसायात्मनो दृष्टेः सम्बन्धीति ।

ननु यदि *"**प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्**" [प्र० वा० २।१२३] इत्यादेर्निषेधार्थम् '**एकम्**' इत्यादि वचनम् ; तर्हि '**एकं स्थूलम्**' इत्यनेन '**अक्षणिकम्**' इत्यनेन वा तन्निराक्रियत इत्युभयवचनमनर्थकमिति चेत् ; न; क्रमाऽक्रमानेकान्तयोः समानबलताप्रतिपादनार्थत्वात् तद्वचनस्य । तथाहि–यथैव प्रज्ञाकरस्य मध्यक्षणदर्शनं पूर्वोत्तरक्षणौ द्रष्टुमसमर्थमिति न तयोः[10] तेन[11] २५

---

(१) "यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत् स्वलक्षणम् । तदेव परमार्थसत् ।"–न्यायबि० १।१३, १४ । (२) रूपवेदनाविज्ञानादयः । "पञ्चसञ्चयस्यालम्बनात्"–प्रमाणसमु० श्लो० १७ । (३) तुलना–"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षादिनिराकृतम् ।"–न्यायवि० १।१५४ । (४) कथञ्चित् नित्यानित्यात्मकम् । (५) युगपदनेकद्रव्यव्यापकस्कन्धविषयकः स्थूलत्वग्राहकः । (६) दर्शितः । क्रमशः परापरपर्यायव्याप्येकद्रव्यविषयकः स्थिरत्वग्राहकः । (७) "परमार्थसन्तोऽवयवाः संवृतिसन्नवयवीति···"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५५५ । पृ० १८७ । (८) सत्तां स्वीकुर्वन्ति । (९) तथा परिणतमेव तत् भवति न परापेक्षया तथाऽपरिणतं तद् भवितुमर्हति, व्यवहार एव हि परापेक्षया भवति न स्वरूपम् । (१०) पूर्वोत्तरयोः । (११) मध्यक्षणेन ।

एकत्वं हेतुफलभावमन्यं वा सम्बन्धं प्रत्येतुमर्हति *"द्विष्ठसंबन्धसंवित्तिः[1]" [प्र० वार्तिकाल० २।१] इत्यादि वचनात्, नापि सत्त्वम् [2]अद्वैतोपगमात्। तथा मध्यक्षणस्य पूर्वसूक्ष्मनिरंशैकांश-ग्रहणे मग्नं न तद्[3] इतरभावत्वाक्षितुं (भावान् वीक्षितुं) क्षमते इति तेषामपि सैव वार्त्ता स्यात्[4]। न च तदंशज्ञान(नं) सामान्यवत्[5] इति सर्वशून्यताप्रसङ्गः। स मा भूदिति [6]स्तम्भज्ञानमेकम-

५ भ्युपगन्तव्यम्, तच्च मध्यभागे प्रवर्तमानं तद्ग्रहणानुबन्धमजहदेव ऊर्ध्वाधस्तर्यग्भागेषु यथा प्रवर्तते तथा मृत्पिण्डे प्रवर्तमानं तद्ग्रहणानुबन्धमजहदेव क्रमेण शिविका[३२क]दीनि अवस्यतीति सिद्धम्–अक्षणिकं स्फुटं व्यवस्यति इति। शेषं परस्य दुश्चेष्टितं प्रहन्तव्यं दिशाऽनया।

पूर्वकारिकायां सदृशेत्यादिना परकीयस्य हेतोः[7] अनैकान्तिकत्वं दर्शितम्, 'तावनैव' इत्यादिना *"कल्पनापोढम्" [प्र० वा० २।१२३] इति लक्षणस्य व्यवच्छेद्याभावः, अनेन

१० श्लोकेन [8]तदसंभवः इति विभागः।

कारिकां विवृण्वन्नाह–स्वलक्षणानि इत्यादि। स्वलक्षणानि कथम्भूतानि? [स्व]यम् आत्मना सौगतेन न जैनेन नैयायिकादिना वा अभिमतः अङ्गीकृतो यः क्षणे क्षणे क्षयः नासौ निरन्वयो न परिणामलक्षणः षट्कोणस्थानलक्षणो वा, तेन उपलक्षिता ये परमाणवः ते लक्षणं स्वरूपं येषां तानि तथोक्तानि। तानि किम्? इत्यत्राह–पश्यतोऽपि वीक्ष्यमाणस्यापि सौगतस्य

१५ न केवलमपश्यतः केवलम् एको हि ज्ञानसन्निवेशः(शी) स्थवीयान् आकारः परिस्फुटमवभासत इति। ननु [9]तथाविधानि स्वलक्षणानि पश्यतः तथाविध आकारोऽवभासते इति विरुद्धमेतत्। नहि नीलं पश्यतः पीतं तथाऽवभासते इति वचन[म]विरुद्ध[म्] इति चेत्; न; अर्थापरिज्ञानात्। अयं हि अस्यार्थः–*"सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः" इति [12]परस्य राद्धान्तः। तत्र च यावन्तः परमाणवो न तावन्त्येव तदाकारानुकारीणि ज्ञानानि, [13]सन्तानान्तरवद् भेदात्

२० सङ्ग्रहादिप्रतीतिविलोपात्, एकं तेषां ज्ञानं ग्राहकमभ्युपगन्तव्यम्। तच्च [14]अन्योऽन्यविविक्तानेक-परमाण्वर्पिताकारानुकरणाद् [३२ख] एव (एक) मुच्यते, एकः अनेकपरमाण्वर्पितभिन्नाकार-साधारणः। हि इति यस्मादर्थे, यस्मादेवं 'तदविसंवादकं सदृशस्मरणमस्ति' इत्यनेन सम्बन्धः। अत्रापि 'तत्' इत्येतत् तस्मादर्थे द्रष्टव्यः। कथम्भूतोऽसौ? इत्यत्राह–ज्ञानसन्निवेशो (शी) भेदविवक्षया परमाणुभिरर्पिता ज्ञानस्य आकारा ज्ञानानि सम्यक् कथञ्चित्तादात्म्येन निवेष्टुं

२५ शीलः [illegible]। पुनरपि कथम्भूतः? इत्यत्राह–स्थवीयान् स्थूलतरः। ननु कारिकायाम् 'स्थूलं व्यवस्यति' इति वचनात् नातिसायिकस्य (नातिशायिकस्य[15]) श्रुतिः वृत्तौ तु [16]सास्ति तत्कथं

(१)"नैकरूपप्रवेदनात्। द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम्।" इति शेषः। (२)प्रत्येतुमर्हति। "विचार्यमाणं सकलं विशीर्यते नाद्वैतादपरं तत्त्वमस्ति।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३१। (३) दर्शनम्। (४) पूर्वोत्तरादि। (५) असत्त्वं स्यादित्यर्थः। (६) इतरनिरपेक्षं सत् स्वरूपं लभते, इति अस्तित्वविहीन-मित्यर्थः। अथवा सामान्यवत्–सामान्यम् अस्तित्वं तद्वत् अस्तित्वशालि इत्यर्थः। (७) स्थूलस्कन्धज्ञानम्। (८) स्तम्भज्ञानमेकम्। (९) अभिधानसंसृष्टार्थग्राहकत्वे साध्ये सविकल्पकत्वादिति हेतोः। (१०) क्षणिक-स्वलक्षणग्राहकनिर्विकल्पप्रत्यक्षासंभवः। (११) क्षणक्षयपरमाणुलक्षणानि। (१२) बौद्धस्य। द्रष्टव्यम्–पृ० ३९ टि० २। (१३) विभिन्नपुरुषज्ञानवत्। (१४) परस्परविभिन्न। (१५) अतिशयवाचिनः प्रत्ययस्य। (१६) अतिशयेन स्थूल इति स्थवीयान् इत्यत्र अतिशयार्थस्य श्रुतिः वृत्तौ वर्तते।

वृत्तिकारिकयोः साङ्गत्यमिति चेत् ? अयमभिप्रायः–सौगतापेक्षया मध्यक्षणः स्थूलः एकस्यानेकभावव्याप्तेः, स एव जैनापेक्षया अतिशयेन स्थूलः सावयवः पूर्वोत्तरक्षणव्याप्तेः। ततः प्रकृत्य आदौ '**स्थूलम्**' इति व्याख्यातम्। तेन (एतेन) '**अक्षणिकम्**' इति व्याख्यानं (व्याख्यातम्)।
[1]तेनाक्षणिकमिति। कोऽसौ ? इत्यत्राह–कुतो: (**आकारः**) वस्तुस्वभावः। कथमवभासते ? इत्यत्राह–
परिस्फुटम् इति, क्रियाविशेषणमेतत्। ननु यदि मम[2] स्वलक्षणानि क्षणिकपरमाणुलक्षणानि पश्यतः ५
तथाविध आकारोऽवभासते कथं तथा न जानानि (तथा नाभ्यनुजानाति[3]) ? [4]कथमन्यथा 'यत् सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मकम्' इति वक्ष्यमाणकमनुमानमर्थवत् ? [5]इतरा(रस्य) क्षणक्षयेऽपि पक्षे [6]तदनुमानमनर्थकं न स्यादिति चेत्; अत्राह–जाना(ज्ञाना)सौष्ठवप्रदर्शनार्थः **यदि तुभ्यं** सौगताय **रोचते** दिण्डिक (डिण्डिक[7])रागं [३३क] परित्यज्य यदि तत्र रुचिं कुरुषे स्वयमेव।
न चैवम्, तस्मात् रुचिकरणार्थमनुमानमिति मन्यते। ननु ज्ञानसन्निवेशी स्थवीयानाकारोऽवभा- १०
सते, किन्तु तज्ज्ञानस्य[8] अनक्षजत्वात्, अक्षजं[9] ज्ञानं स्वार्थपरिस्फुटम्, [10]अभिधानजनितस्वर्गादि-[11]विकल्पप्रतिभासाऽविशेषाच्च न परिस्फुटमवभासत इति चेत्; अत्राह–**प्रकृत** इत्यादि। **प्रकृता** प्रमाणस्य उत्पादेः (दे) अधिकृता या **सदृशस्मृतिः** तस्यातिवा (तस्या इव) **अव्यापृताक्षस्य** अर्थग्रहणं प्रति अव्यापृताभ्येक्षणियस्य (अव्यापृतानि अक्षाणि यस्य तस्य) या **बुद्धिः** विकल्पिका तस्याम् **अप्रतिभासनात्** 'एकस्य ज्ञानसन्निवेशिनः स्थवीयसस्त्वाकारस्य (स्थवीयसः १५
आकारस्य)' इति [12]तापरिणामेन सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति–यथा प्रकृतसदृशस्मृतौ [13]तदाकारस्य प्रतिभासनं तथा यद्यव्यापृतेन्द्रियविकल्पबुद्धौ[14] स्यात् युक्तमेतत्, न चैवम्, [15]एकत्र स्फुटतया अन्यत्र विपर्ययेण प्रतिभासनात्। **शब्दैश्च** कारणभूतैर्बुद्धावप्रतिभासनात्। **च** शब्दो भिन्नप्रक्रमः। ततः किं जातम् ? इत्यत्राह–**सदृशाकार** इत्यादि। **सदृशः** साधारणः युगपत्क्रमभाविभागे स्वाकारो (भागेषु **आकारो**) यस्य तम् **अशब्दं** शब्दरर्वेमर्थं (रहितमर्थं) **स्मरत्येव** निश्चिनोत्येव। २०

[16]ननु भवतु प्रकृतसदृशस्मृतौ तथाविधाकारस्य [17]तथाभासनम् तथापि [18]सा प्रमाणं माभूद् दूरस्थितविरलकेशादौ तथाविधाकाराभावेऽपि तदवभासदर्शनादिति चेत्; इत्यत्राह–**तस्याश्च** इत्यादि। **तस्या** एव प्रकृतसदृशस्मृतेरेव **प्रामाण्यं** [३३ख] **युक्तम्** उपपन्नम्। **न हिः** यस्मात् **तया** प्रकृतसदृशस्मृत्या **अर्थं** सदृशाकारं वस्तु **परिच्छिद्य प्रवर्तमानः अर्थस्य क्रियायां** प्राप्तौ **विसंवाद्यते** दूरस्थितविरलकेशादिषु स्थूलैकाकारवद् विप्रलम्भं नार्हति। भवतु अविसंवादिनीयं[19] २५
तथापि नास्याः[21] प्रामाण्यं दर्शनदृष्टविषयत्वात्[22]। एतदेवाह–**अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावाद्**

(१) 'तेनाक्षणिकमिति' द्विर्लिखितम्। (२) बौद्धस्य। (३) परः। (४) जैनो नाभ्यनुजानाति अत एव। (५) इतरस्य बौद्धस्य। 'कथमन्यथा' इति अत्रापि योज्यम्। (६) क्षणक्षयानुमानम्। (७) "डिण्डिकरागम्–परेणोक्ते तस्योपरि मयाऽवश्यमयुक्ततया निष्फलमभिधानीयम् इत्यस्थानाभिनिवेशम्"–हेतुबि० टी० पृ० ७१। (८) विकल्पज्ञानस्य। (९) इन्द्रियजं निर्विकल्पज्ञानम्। (१०) शब्दजनित। (११) विकल्पप्रतिभासतुल्यत्वात्। (१२) 'ता' इति षष्ठीविभक्तेः संज्ञा जैनेन्द्रव्याकरणे। (१३) एकस्थूलाकारस्य। (१४) इन्द्रियव्यापारशून्यस्य पुंसः वासनाजन्यविकल्पज्ञाने। (१५) इन्द्रियजन्यविकल्पबुद्धौ। (१६) मानसकल्पनाज्ञाने। (१७) बौद्धः। (१८) स्फुटं प्रतिभासनम्। (१९) स्मृतिः। (२०) स्मृतिः। (२१) स्मृतेः। (२२) अनुभूतविषयत्वात् स्मृतेः।

अ॰क्राmति, दर्शनेन अनधिगतोऽपरिच्छिन्नो योऽर्थः तस्य अधिगन्तृत्वाद् (त्वाभावात) अयुक्तं प्रामाण्यमिति; अत्रोत्तरमाह–अत्रोक्तम् इति । अत्र पूर्वपक्षे उक्तम् उत्तरम् *"अनधिगत" [सिद्धिवि० पृ० २४] इत्यादि ।

*"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" [प्र०वा० १।३] इत्यादि *"अन्यतः प्रवृत्तौ अविसंवादनियमायोगात्" [सिद्धिवि० पृ० ११३] इत्यनेन *"अज्ञात[1]" [प्र० वा० १।७] इत्यादि च *"अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणमिति[2]" [सिद्धिवि०पृ० ११३] इत्यादिना च प्रत्येकपक्षे निराकृत्य ⸨[2]समुत्तरम् अनधिगतेत्यादि प्रमाणमविसंवादिज्ञानमित्यादि अन्यतः प्रवृत्तावविसंवादनियमायोगात् ⸩ समुदायपक्षे निराकुर्वन्नाह–तत्समुच्चय इत्यादि । तयोः *"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" [प्र०वा० १।३] *"अज्ञातार्थप्रकाशो वा" [प्र०वा० १।७] इत्येतयोः समुच्चयः समुदायः स एव लक्षणं प्रमाणस्य यस्य तस्मिन् प्रमाणे अङ्गीक्रियमाणे[3] प्रत्यक्षानुमानयोर्मध्ये अन्यतरस्य प्रत्यक्षस्य अनुमानस्य वा अपिशब्दाद् द्वयोरपि [३४क] प्रामाण्यासंभवात्, 'तस्याश्च प्रामाण्यं युक्तम्' इति सम्बन्धः । तथाहि–परस्य[4] प्रत्यक्षे अज्ञातार्थप्रकाशोऽस्ति न तु अविसंवादः, तत्र स्वार्थयोः विप्रतिपत्तिविषयत्वात् । अनुमाने अविसंवादोऽस्ति न पुनः अज्ञातार्थप्रकाशः, व्याप्तिग्राहकज्ञानगृहीतगोचरत्वात् । वक्ष्यते चैतत्–*"साकल्येनादितो व्याप्तिः" [सिद्धिवि० ३।३] इत्यादिना ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–'तद्' इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् अशाब्दम् शब्दानाम् इदं शाब्दं तत्कार्यमिति यावत्, न शाब्दम् अक्षजमित्यर्थः । अविसंवादकं स्वयम् अध्यवसितार्थप्रापकं सदृशस्मरणं युगपत् क्रमभाविभागसाधारणाकारज्ञानं परप्रसिद्ध्या 'सदृशस्मरणम्' उच्यते अस्ति विद्यते । ननु चेदं नाक्षजं किन्तु मानसं संहृतसकलविकल्पावस्थायाम् अक्षजस्य अन्यथा दर्शनादिति चेत्; अत्राह–संहृत इत्यादि । संहृताः सकला विकल्पा यस्याम् अवस्थायां तस्यामपि न केवलम् अन्यस्यां[5] तथैव उक्तप्रकारेणैव प्रतिभासनात् स्वार्थयोः इति । ननु यदि सा अवस्था; कथं तथैव प्रतिभासनम् ? तच्चेत्; न साऽवस्था, तथाप्रतिभासस्य विकल्पात्मकत्वादिति चेत्; सत्यम्, तथापि ततोऽन्यस्य विकल्पस्य अभावात् 'संहृत' इत्यादि वचनम् । अथवा परापेक्षया इदमभिधानमित्यदोषः । परेण हि याऽसौ तदवस्था उपवर्णिता *"संहृत्य सर्वतश्चिन्ताम्" [प्र० वा० २।१२४] [10]इत्यादिना, तस्यामपि तथैव प्रतिभासनादिति । अनेन सैव नास्ति इत्युच्यते । ततो निराकृतमेतत् [३४ख] यदुक्तं परेण–*"यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं यत्र नोपलभ्यते तत् तत्र नास्ति यथा प्रदेशविशेषे घटः, उपलब्धिलक्षणप्राप्ताश्च कल्पनाः संहृताशेषविकल्पावस्थायां दर्शने नोपलभ्यन्ते" इति । कथम् ? प्रत्यक्षबाधितत्वात् पक्षस्य ।

---

(१) "अज्ञातार्थप्रकाशो वा"–प्र०वा० । (२) ⸨एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः । (३) "तस्मादनधिगतार्थविषयं प्रमाणमित्यपि अनधिगते स्वलक्षणे इति विशेषणीयम् ।"–हेतुबि० पृ० ५३ । "तत्राप्यविसंवादग्रहणात् ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३० । "तस्मादुभयमपि परस्परसापेक्षमेव लक्षणं बोद्धव्यम् ।"–प्र० वा० मनो० १।८ । (४) बौद्धस्य । (५) निर्विकल्पकात्पूर्वं । (६) परिस्फुटरूपेण । (७) विद्यते । (८) स्थिरस्थूलादिरूपेण । (९) बौद्ध । (१०) "स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ।" इति शेषः ।

तथैव प्रतिभासनं हि कल्पनात्मकमात्मानं प्रतिपदम् आत्मनि [1]विपरीतकल्पनां प्रतिहन्तीति संहृताशेषविकल्पावस्थायां दर्शनस्य कल्पनाविरहसिद्धौ यत् साधनमुक्तं परेण[2]–*"**या कल्पना यस्मिन् काले विद्यते सा तत्कालसम्बन्धिनी पुनः स्मर्यते, यथा गोदर्शनकालसम्बन्धिनी अश्वकल्पना, न च संहृताशेषविकल्पावस्थाभाविनी पुनः स्मर्यते सा ।**" इति । तदुक्तम्–

*"**पुनर्विकल्पयन् किञ्चिद् आसीन्मे कल्पनेदृशी ।**　　५
इति वेत्ति न पूर्वोक्तावस्थायाम् इन्द्रियाद् गतौ ॥" [प्र०वा०२।१२५] इति ।

तत्रोत्तरमाह–**तदर्थदर्शनम्** इत्यादि । **दर्शनम्** अविकल्पार्थदर्शनं कर्तृ **उपनिपत्य** उपढौक्य स्वकार्यजन्मन्यव्यवहितं भूत्वा न पुनः सङ्केतस्मृतिजननेन[3] । अन्यथा इदं दूषणं स्यात्–

*"**यः प्रागजनको बुद्धेः उपयोगाऽविशेषतः ।**
स पश्चादपि तेन स्यादर्थापायेऽपि नेत्रधीः ॥"[4]　　१०

अस्यायमर्थः–यः अविकल्पो बोधः प्राक् स्वसत्तासमये अजनको बुद्धेः सदृशस्मृतेः स उपयोगाविशेषतः व्यापाराविशेषतः स पश्चादपि [३५क] सङ्केतस्मृत्युत्तरकालमपि ते सौगतस्य न स्यात् जनकः । ततः किं स्यात् ? इत्यत्राह–अर्थस्य[5] अविकल्पबोधलक्षणस्य अपायेऽपि अभावेऽपि नेत्रधीः अक्षजविकल्पबुद्धिः । ततो न युक्तमेतत्–*"**यत्रैव जनयेदेनाम्**" इत्यादि[6] । ततः सूक्तम्–**उपनिपत्य** इति । **स्वतः** आत्मनैव न वासनाप्रबोधद्वारेण*"**संस्कारा विनियम्येरन्**"　　१५
[सिद्धिवि० १।६] इति दोषात् **स्मृतिं** स्मरणम् **जनयद्** उत्पादयत **नानात्मनान्तरीयकम्** **आत्मनि** तदर्थदर्शनस्वरूपे **अविद्यमानमाकारं** सामान्यरूपं **न पुरस्कर्तुं**[7] स्मृतेः अग्रे दर्शयितुं **युक्तम्** उपपन्नम् । अत्र निदर्शनमाह–**तदर्थवत्** । तस्य दर्शनस्य अर्थो निरंशस्वलक्षणं **तदर्थः** स इव तद्वदिति । यथा तदर्थ उपनिपत्य स्वतो दर्शयन् नानात्मनान्तरीयकमाकारं पुरस्कर्तुं युक्तः तथा दर्शनमपि इति । अन्यथा अर्थादेव सामान्यावभासिनो[8] ज्ञानस्य उदयाद् इदमयुक्तं स्यात्–*"**तद्धि**　　२०
अर्थसामर्थ्यम् (?)" इत्यादि[9] ।

यत् पुनरत्रोक्तं प्र ज्ञा क र गु प्ते न–*"**नेदं स्वतन्त्रं साधनम् अपि तु प्रसङ्गसाधनम् । तथाहि–बहिरर्थग्राहकं चेद् दर्शनं परेणेष्यते तस्मादुत्पन्नं तदाकारानुकारि च अभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा तदयोगादिति निरंशाऽर्थानुकारित्वात् निर्विकल्पकं सिद्धम् ।**" इति; तदनेन अपास्तम्; यत्र हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः[10] प्रदर्श्यते [३५ख]　　२५

---

(१) निर्विकल्पकरूपाम् । (२) बौद्धेन । (३) अन्यथा भवितुमर्हति । (४) उद्धृतोऽयम्–तत्त्वो० पृ० ४० । न्यायम० पृ० ८६ । न्यायवा० ता० पृ० १२६ । अष्टस० पृ० १२२ । सन्मति० टी० पृ० ५२५ । (५) अर्थशब्देन अर्थविषयकं निर्विकल्पकज्ञानं ग्राह्यम् । (६) 'तत्रैवास्य प्रमाणता' इति शेषः । द्रष्टव्यम्–पृ० १० टि० ३ । (७) यदविद्यमानमाकारमुपदर्शयेत् । (८) विकल्पस्य (९)"तदुक्तम्–तद्ध्यर्थसामर्थ्येनोत्पद्यमानं तद्रूपमेवानुकुर्यात्"–हेतुबि० टी० पृ० १९५ । "तथाहि–अर्थस्य सामर्थ्येन समुद्भवात् इत्याह–तद्धि अर्थस्य सामर्थ्येनोत्पद्यमानं तद्रूपमेवानुकुर्यात् ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २७८ । (१०) न अन्तरा भवतीति नान्तरीयकम् अविनाभावीत्यर्थः ।

तत्प्रसङ्गसाधनम्[1]। न चेह तदस्ति आकारान्तरानुकारित्वस्याप्यविरोधात् । अर्थसिद्धिर्न स्यादिति चेत्; तथैव अविकल्पसिद्धिरपि । न चैवं नीलादिविकल्पस्य गृहीतग्राहित्वम् , इति न युक्तम् *"अज्ञातार्थ" [प्र०वा० १।७] इत्यादि । यदा चैवं व्यवहारी वदति यथा मम ज्ञाना-ननुत्पन्नः[2] अतदाकारानुकारी वा अर्थः तस्य[3] कारणम्, तथा अर्थादनुत्पन्नम् अतदाकारं ज्ञानं तस्य[4]

५ ग्राहकम् ; तदापि कथं प्रसङ्गसाधनम् ? ततः स्थितम्–तदर्थवत् इति । तथा च यथा दर्शनं तदर्था-ज्जायमानम् अविकल्पकम्, तथा तद्दर्शनादुत्पद्यमानं स्मरणमपि[5] इति विकल्पवार्तापि गता, इति न युक्तमेतत्–*"पुनर्विकल्पयन् किञ्चिद् आसीन्मे कल्पनेदृशी । इति वेत्ति" [प्र० वा० २।२२५] इति । न चा (न वा) स्मृतौ संहृताशेषविकल्पावस्थाप्यस्ति, कल्पनापि तदा तथैव अन्यथा भवेत् । अथ सामान्यावभासि स्मरणमिष्यते; दर्शनमपि तथेष्यतामिति कथं तद-

१० वस्थाभाविनी कल्पना न स्मर्यते इति भावः ।

उपसंहरन्नाह–तद्दर्शनम् इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् दर्शनं प्रत्यक्षं न असाधारणै-कान्तगोचरम् असाधारण एकः असहायः अन्तो धर्मो गोचरो यस्य तत् तथोक्तम् न । कुत एतत् ? इत्याह–व्यापृताक्षस्य इत्यादि । व्यापृतानि ज्ञानजनने प्रणिहितानि अक्षाणि इन्द्रियाणि यस्य तस्य कदाचित् संहृताशेषविकल्पावस्थायाम् अन्यदशायां वा क्वचिद् बहिरन्तर्वा तथैव

१५ [३६क] असाधारणगोचरप्रकारेणैव अप्रतीतेः 'दर्शनस्य' इति पदघटना । एतदेव भावयन्नाह–न हि इत्यादि । हिः यस्मात् न बहिरन्तर्वा जातुचित् कदाचित् असहायं प्रत्यनीकधर्मरहितम् आकारं वस्तुस्वरूपं पश्यामः यथा येन प्रकारेण व्यावर्ण्यते कथ्यते 'परैः[6]' इत्यध्याहारः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–तथैवाऽनिर्णयात् [तथैव] वर्णितप्रकारेण अनिर्णयात् अनिश्चयात् । निर्णीतं च गृहीतमुच्यते इति मन्यते । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–नानावयवरूपाद्यात्मनः

२० इत्यादि । घट आदिर्यस्य शरीरादेः स घटादिः तस्य । कथम्भूतस्य ? अर्थस्य न ज्ञानस्य । कुत एतत् ? बहिः ज्ञानादन्यत्र देशे संप्रतीतेः निर्णयात् एकस्य न परमाणुसंचयरूपस्य 'अस-हायमाकारं नहि पश्यामः' इति सम्बन्धः ।

एवमपि च अवयवगुणेभ्यो भिन्नस्य तस्य[7] संप्रतीतेः नैयायिकादिमतसिद्धिरिति चेत् ; अत्राह–नानावयवरूपाद्यात्मन इति । नाना अवयवाश्च रूपादयश्च आत्मानो यस्य स तथोक्तः,

२५ ते चलाश्च अचलाश्च आवृताश्च अनावृताश्च रक्ताश्च तद्विपरीताश्च नष्टा[श्चा]ऽनष्टाश्च अवयवाः नाना-वयवाः, तदात्मनः इति वचनात् चलैः पाण्यादिभिः चलः विपरीतैः अचलः स इत्युक्तं भवति । कथमेकस्तथेति चेत् ? 'तथासंप्रतीतेः' इति ब्रूमः । नहि 'पाण्याद्यवयवचलने स[8] न चलति' इत्यत्रापि तथासंप्रतीतेरन्यत् शरणमस्ति । [10]इयमेव प्रतीतिः, नेतरेति चेत् ; न; [३६ख]

(१) "प्रसङ्गसाधनं परस्येष्टया अनिष्टापादनात् ।···साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्या-भ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः व्यापकाभावो वा व्याप्याभावाविनाभावी इत्येतत्प्रदर्शनफलम् ।"–प्रमेयक० पृ० ५४४ । प्रश० कन्द० पृ०४३ । (२) ज्ञानाकाराननुकारी । (३) ज्ञानस्य । (४) अर्थस्य । (५) अविकल्पकं स्यात् । (६) संहृताशेषविकल्पावस्था । (७) बौद्धैः । (८) अवयविनो द्रव्यस्य वा । (९) अवयवी । (१०) अवयवचलनेऽपि अवयवी न चलतीत्याकारिका ।

एकदेशचलनेऽपि लोके 'शरीरं चलति' इति व्यवहारदर्शनात्, तथाहि– यदा 'किमयं मृत उत जीवति' इति कश्चित् सन्देहः, तदा 'जीवति अयं हस्तचलनेऽपि शरीरं चलयति (चलति) यतः' इति व्यवहारदर्शनात्। अवयवक्रियायाः अवयविनि उपचारात् तथाव्यवहारः, अश्वक्रियायाः पुरुषे उपचारात् 'पुरुषो याति' इति व्यवहारवदिति चेत्; तर्हि न अवयवेऽपि[1] परमार्थतः क्रिया स्यात्, तत्रापि परक्रियोपचारात् तथा व्यवहारात्। अस्खलत्प्रत्ययः[2] उभयत्र समानः। एकस्य चलेतररूपत्वमयुक्तं विरोधादिति चेत्; न; स्वरूपेण विरोधासिद्धेः। नहि यद् यस्य स्वरूपं तत् तेन विरुध्यते, सर्वभावेषु तथात्वापत्तेः। तत्स्वरूपं च तथाप्रतीतेः।

योऽप्याह परः[3]–*"पाण्यवयवे चलति न शरीरं चलति। कुतः? कारणविशेषात् क्रियाविशेषसिद्धेः। यः खलु अवयवस्य अङ्गुल्यादेः अल्पस्य क्रियाहेतुः प्रयत्नः नासौ महतः शरीरस्य क्रियाहेतुः, न वै यावान् संयोगः तृणमपसारयति तावाक्लेष्ट (तावान् काष्ठ)-मिति। नच अङ्गुल्यवयवे चलति शरीरं चलति इति प्रत्ययोऽस्ति।" इति; सोऽप्यनेन निरस्तः; न खलु अङ्गुल्यवयवे चलति तत्समवेतमपरमचलं स्वरूपं पश्यामः, तत्र[4] नाट्याकार-प्रतीतिविरहात्[5]। तथापि तत्कल्पने अचलावयवेषु चलमवयविरूपं कल्पनीयं स्यात्। प्रत्यक्ष-विरोधः अन्यत्रापि [३७क] न दण्डवारितः।

यत्पुनरुक्तं तेनैव[6]–*"यदि अवयवसं(सत्)कर्मसमानकालम् अवयविनि कर्म स्याद् अपि तर्हि अङ्गुल्यवयवे चलति शरीरं चलतीति प्रत्ययः स्यात्। किं कारणम्? असति देशव्यवधाने उपलभ्याधारसमवेतस्य कर्मणः प्रत्यक्षत्वात्, न चैवम् अङ्गुल्यवयवे चलति चलति शरीरमिति प्रत्ययः।" इति; तदपि न युक्तम्; उक्तोत्तरत्वात्, 'हस्तचलनेऽपि शरीरं चलयति (चलति) इति व्यवहारदर्शनात्' इति। किञ्च, अवयवात्मकत्वे अवयविनः अवयवस्य पाण्यादेः आकाशादिभ्यो विभागे नियमेन विभागः, तैर्वा संयोगे संयोगः सिद्धो भवति न भेदे। न हि हस्तस्य कुतश्चिद् विभागे केनचिद्वा संयोगे चलतः[7] अचलस्य[8] स[9] युक्तः। अथ विभागज[10]-

(१) अवयवेऽपि। (२) अवयवक्रियायाम् अबाधितप्रत्ययः प्रमाणमिति चेत्। (३) वैशेषिकः। तुलना–"अवयविसद्भावे तु बाधकं प्रमाणमस्ति। तथाहि–पाणौ कम्पवति तदाश्रितं शरीरं न कम्पते, पादे वा कम्पमाने तद्गतं शरीरं न कम्पते इत्येकस्य विरुद्धधर्मताप्रसङ्गः; तदसङ्गतम्; पाणौ कम्पमाने शरीर-कम्पस्यावश्यम्भावनियमाभावात्। यदा पाणिमात्रं चालयितुं कारणं भवति तदा तन्मात्रं चलति न शरीरं कारणाभावात्। यदा तु शरीरस्यापि चलनकारणं भवेत् तदा शरीरं चलत्येव नास्याचलनमस्तीति कुतो विरोधः?"–प्रश० कन्द० पृ० ४१-४२। (४) शरीरे। (५) शरीरं नृत्यति इत्याकारप्रतीत्यभावप्रसङ्गात्। (६) वैशेषिकेण। (७) क्रियाशीलस्य। (८) शरीरस्य। (९) संयोगः विभागो वा। (१०) "विभागजस्तु द्विविधः कारणविभागात् कारणाकारणविभागाच्च। कारणविभागात्तावत् कार्याविष्टे कारणे कर्मोत्पन्नं यदा तस्य अवयवान्तराद् विभागं करोति न तदा आकाशादिदेशात्, यदा तु आकाशादिदेशाद्विभागं करोति न तदा अवयवान्तरादिति स्थितिः। अतः अवयवकर्म अवयवान्तरादेव विभागमारभते। ततो विभागाच्च द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः, तस्मिन् विनष्टे कारणाभावात् कार्याभाव इत्यवयविविनाशः। तदा कारणयोर्वर्त-मानो विभागः कार्यविनाशविशिष्टं कालं स्वतन्त्रं वा अवयवमपेक्ष्य सक्रियस्यैवावयवस्य कार्यसंयुक्तादाका-शादिदेशात् विभागमारभते न निष्क्रियस्य, कारणाभावादुत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपभोग्यत्वप्रसङ्गः। न तु तदवयवकर्म आकाशादिदेशाद् विभागं करोति तदारम्भकालातीतत्वात्। प्रदेशान्तरसंयोगं तु करोत्येव

विभागोपपत्तौ संयोगजसंयोगोपपत्तेः अयमदोषः। कुत एतत् ? कारणेन वियोगिना [1]संयोगिना वा कार्यमवश्यं वियुज्यते संयुज्यते वा यथा तन्त्वादिसंयोगिना तुर्यादिना पटादिरिति चेत्; स्यादेतदेवं यदि कार्यकारणयोः कथञ्चिदैक्यं स्यात्, इतरथा कुम्भकार[3]... वियोगिना संयोगिना वा केनचित् सर्वं घटादि तत्कार्यं वियुज्येत संयुज्येत वा। 'समवायिकारणेन' इति विशेषणादयमदोषः,

५ कथमदाः (मदोषः ?) कार्यकारणभेदैकान्ते समवायीतरकारणविभागकारणाभावात्। समवायः तत्कारणमिति [३७ख] चेत; न; तस्य निषेधस्यमान (त्स्यमान) त्वात् *"प्रत्यक्षं सविकल्पकं(ल्पं) च" [सिद्धिवि० २।२६] इत्यादिना। अनिषेधेऽपि यथा विवक्षितयोः कार्यकारणयोः[4] अन्तराले समवायः; तथा घटादिकुम्भकारयोरपि। अथ सम्बन्धाऽविशेषेऽपि कुतश्चित् प्रत्यासत्तेः किञ्चित कस्यचित् समवायि केनचित् [संयुज्यमानेन] वियुज्यमानेन [वा] संयुज्यते वियुज्यते वा किञ्चित;

१० तर्हि तस्या एव कस्यचित् केनचित् तादात्म्यसिद्धेः किं समवायेन विभागजविभागेन संयोगजसंयोगेन च ? पाण्यादेश्च कुतश्चित केनचिद् विभागात् संयोगाद्वा न परं शरीरस्य विभाग (गं) संयोग (गं) वा पश्यामः। तथापि तत्कल्पने एकमेव न किञ्चित् स्यात। अथ पाणिशरीरयोरपि भेदः; कुतः ? विभागभेदात्[6]; अन्योऽन्यसंश्रयः–पाणिशरीरयोः भेदसिद्धेः विभागभेदसिद्धिः, अस्याश्च प्रकृतसिद्धिरिति। नापि पाण्याकाशयोः परिणामविशेषव्यतिरेकेण परस्तयोर्विभागोऽस्ति

१५ यः शरीराकाशविभागकारणं स्यात्, अन्यथा कारणविभागात् कार्यविभागात्, कार्यविभागस्य [10]तदन्तरं तयोरेकताभयात् स्यात्, तत्रापि [10]तदन्तरमित्यनवस्था। स्वरूपमेव ततस्तस्य विभक्तमिति चेत्; अन्यत्रापि तदस्तु। किञ्च, यदि आकाशादिना संयुक्ते प्रतीयमाने एव शरीरे ततः पाण्यादिविभागप्रतीतिः स्यात, युक्तमेतत्–*"पाण्याकाशविभागात् शरीराकाश-[३८क] विभागः ततः शरीराकाशसंयोगनिवृत्तिः।" इति। न चैवम्, तथा क्रमानुपलक्षणात,

२० पाण्याकाशविभागकाल एव शरीराकाशविभागदर्शनात। नहि कश्चित् [11]खादिना संयुक्त एव शरीरे मम [12]ततः पाण्यादिकं विभक्तमिति मन्यते। उत्पलपत्रशतवेधवद् आशुवृत्तेः तदनुपलक्षणमिति चेत्; भवेदेवं यदि तत्पत्राणां स्वरूपदेशभेदवत् तद्विभागानां स्वरूपकालभेदः कुतश्चित् सिद्धः स्यात्, न चैवम्, प्रतीतिबाधनात्।

यत्पुनरुक्तं परेण–*"पाण्याकाशयोर्विभागात् तत्संयोगविनाशः" इति; तन्न सुन्दरम्;

२५ संयोगे सति विभागानुत्पादात् तद्विरोधिनि। यथैव हि संयोगविरोधिनि विभागे समुत्पन्ने संयोगो नश्यति तथा विभागविरोधिनि संयोगे स्थिते विभागो नोत्पद्यते। न हि शीतविरोधिनि

अकृतसंयोगस्य कर्मणः कालात्ययाभावात्। कारणाकारणविभागादपि कथम् ? यदा हस्ते कर्मोत्पन्नमवयवान्तराद् विभागमकुर्वद् आकाशादिदेशेभ्यो विभागानारभ्य प्रदेशान्तरे संयोगानारभते तदा ते कारणाकारणविभागाः कर्म यां दिशं प्रति कार्यारम्भाभिमुखं तामपेक्ष्य कार्याकार्यविभागानारभन्ते, तदनन्तरं कारणाकारणसंयोगाच्च कार्याकार्यसंयोगाविति।"–प्रश० भा० पृ० ६७-६८।

(१) "कारणसंयोगिना ह्यकारणेन कार्यमवश्यं संयुज्यते इति न्यायः"–प्रश० भा० पृ० ४८५। "कारणसंयोगिना कार्यं संयुज्यते"–प्रश० कन्द० पृ० १४९। (२) "पटसंयुक्ततुरीवत्"–प्रश० कन्द० पृ० १४९। (३) निमित्तभूतेनापि। (४) तन्तुपटयोः। (५) प्रत्यासत्तेः। (६) भिन्नम्। (७) तुलना–"एकदेशाश्रयत्वे तु यदेकस्माद् विभागकृत्। तदेवान्यत इत्यस्ति न विभागो विभागजः॥"–न्यायम० पृ० १२३। (८) चेत। (९) अवस्थाविशेष। (१०) विभागान्तरम्। (११) आकाशादिना। (१२) खादेः।

पावके स्थिते शीतोत्पादादिः। संयोगे विनष्टे तदुत्पाद इति चेत्; कुतस्तर्हि तद्विनाशः? विभागादिति चेत्; अन्योन्यसंश्रयः–सति संयोगविनाशे विभागोत्पादः, तस्माच्च तद्विनाश इति। अथ दृश्यत एव संयोगे सत्येव विभागोत्पादः, 'न दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इति चेत्; न; तथाप्रतीतिविरहात्। संयोगविनाशात्मकविभागप्रतीतेश्च 'संयोगविनाशः, विभागः' इति नाम्नि भेदः नार्थे। विभागाभावे कुतस्तन्नाशः इति चेत्? तन्नाशाभावे कुतो विभागः? स्वकारणात् कर्मणो ५ इति चेत्; तासोऽपि (नाशोऽपि) 'स्वकारणात्' इति ब्रूमो द्रव्यादेरिति [३८ख] यद्वक्ष्यते–

*"अनादिनिधनं द्रव्यम् उत्पित्सु [स्थास्नु] नश्वरम्।
[स्व] तोऽन्यतो विवर्तेत क्रमाद्धेतुफलात्मना॥" [सिद्धिवि० ३।२१] इति।

न च अन्योन्यापसर्द्वस्तुव्यतिरेकेण परं कर्म, यद् विभागस्य अन्यस्य वा कारणं स्यात्, इतरथा उत्क्षेपणादिक्ष(क्रि)योत्पत्तावपि यदि द्रव्यं स्वभावतो न चलति न तर्हि तस्य कुतश्चिद् १० विभागः संयोगो वा देशान्तरादिना, अविशेषेण सर्वस्य प्रसङ्गात्। अथ यस्यैव तदिति मतिः; कस्य? समवायसम्बन्धः आकाशादेरपि। तत्सम्बन्धस्य तत्राप्यविशेषात्। एष यः चलयति (चलति) इति प्रतीयते तस्य तदिति; न; स्वयमचलति तत्प्रतीत्ययोगात् भ्रान्तताप्रसङ्गात्। स्वयं चलति चेत्; तर्हि द्रव्यस्वरूपविशेष एव क्रिया न परा, इति न युक्तमेतत्–*"एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेषु[10] कारणमनपेक्षमिति कर्मलक्षणम्।" [वैशे०सू० १।१।१७] इति[11] विफलम् *"[12]कार्यविरोधि कर्म" १५ [वैशे०सू० १।१।१४] इति च। एतेन आकाशशरीरयोर्विभागात् [13]तत्संयोगविनाशो व्याख्यातः।

यत् पुनरेतत्–*"उत्तराकाशपाणिसंयोगात् शरीराकाशसंयोगः।" इति; तदपि न प्रातीतिकम्; नहि 'पूर्वं शरीररहितस्य पाणेः आकाशेन संयोगः, पश्चात् शरीरस्य' इति प्रतीतिरस्ति। आशुवृत्त्या यौगपद्यविभ्रमोऽपि निरस्तः। अपि च, यदि गगनादिभ्यो वियुज्यमाने पाणौ शरीरं वियुज्यते, तैः संयुज्यमाने तस्मिन् तत् संयुज्यते वा; तर्हि तेभ्योऽवियुज्यमानेषु [३९क] पादा- २० दिषु तदैव [14]तन्न वियुज्यते इति युगपत् [15]तत् संयुक्तमन्यथा च स्यात्।

स्यान्मतम्–सर्वात्मना तद् वियुक्तमेव, किन्तु आकाशादिभिः संयुज्यमानेषु पादादिषु आशु [16]तत्संयोग इति तत्संयुक्तप्रतिपत्त्यविच्छेद इति; तन्न निरूपिताभिधानम्; अन्यथाप्यविरोधात्। न हि एकं चलावयवापेक्षया चलम् अन्यथा अचलम्, तथा विभक्त-संयुक्तावयवापेक्षया संयुक्तं विभक्तं च विरुद्धम्, सचलैकरूपवत्। अथ एतदपि नेष्यते; कथं तर्हि *"गुणाश्च गुणान्त- २५ रम्" [वैशे० सू० १।१।१०] इत्यत्र सूत्रे अन्तरशब्दस्य उक्तं प्रयोजनमिदं शोभते–*"कार्यकारणगुणयोः क्वचित् जात्यन्तरत्वज्ञापनार्थत्वाददोषः। कथम्? यथा शुक्लाशुक्लैः तन्तुभिरारब्धस्य पटस्य रूपं कारणरूपेभ्यो जात्यन्तरमिति। का पुनः तत्र रूपे जातिः?

(१) संयोगविनाशः। (२) विभागाच्च। (३) संयोगनाशः। (४) क्रियातः। (५) गमनशील। (६) संयोगस्य। (७) व्यापित्वात् समवायस्य। (८) कर्म। (९) चलनक्रियारहिते। (१०) "संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति"–वैशे० सू०। "संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति"–नयचक्रवृ० पृ० ३०। (११) विफलमिति निरर्थकम्। (१२) "कार्यं विरोधि यस्येति बहुव्रीहिः"–वैशे० उप० पृ० २१। (१३) शरीराकाशसंयोग। (१४) शरीरम्। (१५) शरीरम्। (१६) शरीरसंयोगः।

चित्रत्वमिति भ्रमः। विशेषानवधारणात्, यस्मा सौरूप (यस्माद्रूप)विशेषः शुक्लत्वादिः सोऽस्मात् नावधार्यते इति। न चेदमरूपं द्रव्यम् उप(अनुप)लब्धिप्रसङ्गात्[1] वायुवत्। उपलभ्यमानत्वाच्च तन्तुवत् रूपाधिकरणम्।" इति।

एतेन यदुक्तम्-

५ *"चित्रं तदेकमिति चेत्, इदं चित्रतरं महत्।" [प्र० वा० २।२००] इति;

एतदपि प्रत्याख्यातम्; चित्रशब्दस्य अनेकार्थविषयत्वानभ्युपगमात्[2]। क तर्हि वर्तते[3] इति चेत्? एकस्मिन् शबले रूपे वर्तते इति। तथा च प्रतिभासः-शबलो गौः शबलः खलु अश्व इति। कथम्? यदि हि शुक्लाशुक्लैः तन्तुभिर्जनिते पटे नीलादीनि रूपाणि [३९ख] भिन्नानि बहूनि वर्तन्ते; अपि तर्हि *"कर्माणि बहूनि युगपदेकस्मिन् द्रव्ये ण (न) वर्तन्ते[4], १० सजातीयत्वे समानेन्द्रियग्राह्यत्वे एकद्रव्यत्वे च सति अविभुद्रव्यवृत्तित्वात् रूपवत्।" इत्यत्र निदर्शनस्य साध्यविकलता। अथैकम्; नीलादयः क वर्तन्ते? द्रव्ये चेत्; प्रकृतो दोषः। तद्रूपे[7] इति चेत्; केन सम्बन्धेन? संयोगेनेति चेत्; तद्रूपनीलाद्योः द्रव्यत्वम्[8]। समवायेनेति चेत्; तद्रूपस्य[9] द्रव्यत्वं नीलादिसमवायिकारणत्वात्[10]। विशेषणीभावेनेति चेत्; रूपादयोऽपि द्रव्ये तेनैव[11] वर्तन्त इति समवायाभावः। नीलादीनां द्रव्यादिषु अनन्तर्भावात् पदार्थान्तरत्वम्। १५ तादात्म्येन चेत्; सिद्धं 'शबलैकरूपवत्'[12] इति। ततः स्थितम्-चलाचलसंयुक्तासंयुक्तत्वप्रतिपादनार्थम् 'एकस्य नानावयवात्मनः' इति वचनम्, दृशोः (दृश्यैः) अवयवैः अदृशोश्च (अदृश्यैश्च) दृश्येतरात्मकत्वप्रतिपादनार्थं च।

नन्वेवम्[13] एकतन्त्ववयव ग्रहणेऽपि पटो गृह्येत, न चैवम्, [14]भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षसहायस्य अवयवीन्द्रियसन्निकर्षस्य अवयव्युपलम्भकत्वादिति चेत्; स्यादेतदेवं यदि अवयव-२० अवयविनोभे(र्भे)दैकान्तः, स तु नेतीति निरूपितम्। एवं च न अवयवेन्द्रियसन्निकर्षोऽन्यः, अन्योऽवयवीन्द्रियसन्निकर्षः, येनोच्यते-'भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षसहायस्य अवयवीन्द्रियसन्निकर्षस्य [४०क] अवयव्युपलम्भकत्वात्' इति; साहाय्यस्य भेदनिबन्धनत्वात्। यदि च, अवयविनि इन्द्रियसन्निकर्षोऽस्ति; कुतस्तत्र[15] ज्ञानं नोत्पद्यते? कथमन्यथा समन्धकारादौ अवयविज्ञानम्, नहि तत्र भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षोऽस्ति सालोकादिप्रदेशवत्, इतरथा तज्ज्ञानेऽस्पष्टता-

(१) रूपसमवायस्य चाक्षुषप्रत्यक्षहेतुत्वात्। (२) अनेकरूपविषयत्वास्वीकारात्। (३) चित्रशब्दः। (४) तुलना-"एकदा एकस्मिन् द्रव्ये एकमेव कर्म वर्तते, एकं कर्म एकत्रैव द्रव्ये वर्तते।"-प्रश० कन्द० पृ० २९०। "अविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामसमवायादिति व्याहन्यते"-प्रश० व्यो० पृ० २२०। (५) चित्रं रूपम्। (६) उक्तानुमाने निदर्शनस्य साध्यविकलता। (७) चित्ररूपे। (८) द्रव्ययोरेव संयोगात्। (९) चित्ररूपस्य। (१०) द्रव्यस्यैव समवायिकारणत्वात्। (११) विशेषणीभावेनैव वर्तन्ताम्। (१२) चित्रैकरूपवदिति दृष्टान्तः। (१३) अवयवात्मक-अवयविस्वीकारे। (१४) "भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षानुगृहीतेन अवयवीन्द्रियसन्निकर्षेण ग्रहणात्।"-प्रश० व्यो० पृ० ४६। "इदं तस्य वृत्तं येषामिन्द्रियसन्निकर्षाद् ग्रहणमवयवानां तैः सह गृह्यते येषामवयवानां व्यवधानादग्रहणं तैः सह न गृह्यते।"-न्यायभा० २।१।३२। (१५) अवयविनि।

व्यवहारो न स्यात्। अवयवाऽग्रहणकृतः स[1] इति परस्य दर्शनम्। अथेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि तस्य[2] नेष्यते; एकावयवस्यापि न स्यादिति तस्यापि[3] न ग्रहणम्। ततोऽयुक्तमेतत्–*"एकतन्तुवीरण-संयोगात् पटकटसंयोगः" इति; तद्ग्रहणोपायाभावात्। अथ ते[4]शे (अथ ने)ष्यते तत्सन्निकर्षः; पटस्यापि स्यात *"कारणसंयोगिना कार्यमवश्यं संयुज्यते" [प्रश० भा० पृ० ६४] इति वचनात्, अन्यथा वीरणेनापि न स्यात। किंच, एकतन्त्ववयवेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि यदि ५ तद्भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षसहाय एव तन्तूपलम्भकः; तर्हि तदवयवेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि तद्भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षसहाय एव तदवयवोपलम्भकः, एवं यावत्परमाणवः। न च तेषामिन्द्रियसन्निकर्ष इति सर्वाग्रहणम्। यदि च एकावयवेन्द्रियसन्निकर्षात् तत्र ज्ञानं न स्यात्; तर्हि जलमग्नकरिणः करमात्रदर्शनात् 'करी तिष्ठत्यत्र' इति प्रतीतिर्न स्यात्, इष्यते च परेण। ततः साधूक्तम्–'दृश्यावयवैः दृश्यात्मनः विपरीतैः विपरीतात्मनः' इत्यस्य प्रदर्शनार्थम् 'नानावयवात्मनः' [४०ख] इति वचनमिति, तथा आवृतैः आवृतात्मनः विपरीतैर्विपरीतात्मन इत्यस्य च। १०

[10]नन्वेकस्या[ऽऽवृता]नावृतत्वानुपपत्तेः अयुक्तमेतत्। न खलु एकस्मिन्नवयवे पाण्यादौ आवरणे सत्यपि शरीरस्य आवरणमस्ति महत्त्वात्। न हि यावान् आवारकद्रव्यसंयोगः अवयवमावृणोति तावान् अवयविनं[11] तस्य महत्त्वात्तु पुनरन्य एकावारकद्रव्यसंयोगविशेष आवृणोति यथा प्रतिशरादिसंयोगविशेषः कुड्यमिति। अवयवावारकं तु द्रव्यम् अवयविना संयुक्तं नाऽऽवृणोति अमहत्त्वात् संयोगविशेषाभावाच्च, यथा कौपीनप्रच्छादकमल्पं[12] वासः यथा वा परिधानवास[13] इति। १५ समग्रावयव्युपलब्धिप्रसङ्ग इति चेत्; [14]'समग्राऽसमग्र' इतिशब्दयोः भेदविषयत्वात्, अवयविनस्तु अभिन्नत्वात्। न खलु अवयवी समग्रो नाप्यसमग्रः, तस्य एकत्वात्। अपि भवान् गृह्यमाणस्य अवयविनः किमगृहीतं मन्यते येनायमकृत्स्नो गृह्यत इत्याचष्टे ? आवृतोऽवयवो न गृह्यत इति चेत्; न गृह्यतां नाम, अवयवी तु गृह्यते[15] ततोऽन्यत्वात्। इयांस्तु विशेषः[16]–येषामव- २०

(१) समन्धकारादौ अस्पष्टताव्यवहारः (२) अवयविनः। (३) एकावयवस्यापि। (४) एकावयवेन्द्रियसन्निकर्षः। (५) एकावयवोपलम्भकः। (६) यावन्तः परमाणुरूपा अवयवाः सन्ति तावन्तो सन्निकर्षः आवश्यकः। (७) अवयविनि। (८) शुण्डा। (९) "एकं चलं चलैर्नान्यैः नष्टं नष्टैर्न चापरैः। आवृतैरावृतं रूपं रक्तं रक्तैर्विलोक्यते॥"–प्रमाणसं० पृ० १०२। न्यायवि० २।२७१। (१०) "न तावदेकस्यावयविनो ग्रहणाग्रहणे ; अवयवावरणेऽपि तस्य कतिपयावयवावस्थानस्य ग्रहणादेव। न च बह्ववयवावस्थानस्य ग्रहणे इव तादृशस्थौल्यानवभासादनवभासोऽवयविन इति साम्प्रतम्; परिमाणभेदो हि स्थौल्यमवयविधर्मः। न च तस्य तादृशस्यानवभासे अवयवी अनवभासितो भवति, तस्य ततोऽन्यत्वात्, तस्मादिन्द्रियसन्निकर्षमात्रादवयविनो ग्रहणम्। इन्द्रियेणार्थस्य इन्द्रियावयवैरर्थस्य इन्द्रियेणार्थावयवानाम् इन्द्रियावयवैरर्थावयवानां सन्निकर्षात् परिमाणभेदग्रहणमिति सामग्रीभेदादवयवितत्परिमाणभेदयोर्ग्रहणाग्रहणे उपपद्येते।"–न्यायवा० ता० पृ० ३८४। "एकावयवावरणे अवयव्यावरणस्याभावात्। स ह्येकोऽनेकेषु अनावृतेतरकतिपयावयवग्रहणेन गृह्यते तस्य सर्वत्राभिन्नत्वात्।"–प्रश० कन्द० पृ० ४२। (११) अवयविनः। (१२) अल्पस्य आवारकम्। (१३) अधिकस्यावारकं विशेषसंयोगसद्भावात्। (१४) "एकस्मिन् भेदाभावात् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥११॥-कृत्स्नमिति अनेकस्याशेषाभिधानम्, एकदेश इति नानात्वे कस्यचिदभिधानम्, ताविमौ कृत्स्नैकदेशशब्दौ भेदविषयौ नैकस्मिन्नवयविनि उपपद्येते भेदाभावादिति।"–न्यायभा० ४।२।११। (१५) अवयवात्। (१६) "यत्तु बहुतरावयवग्रहणवत् स्थूलप्रतीतिर्न भवति तद् भूयोऽवयवप्रचयग्रहणस्य परिमाणप्रकर्षप्रतीतिहेतोरभावात्। यत्र तु भूयसामवयवाना-

यवानाम् इन्द्रियसन्निकर्षः तैः[1] सहोपलभ्यते, येषां पुनः आवृतत्वान्नेन्द्रियसन्निकर्षः तैः सह नोपलभ्यत इति चेत्; उच्यते–इत्थंभूतस्य आवृतानावृतैकावयव्यनुपपत्तेर्नायुक्तमेतत्।

[४१क] यत्पुनरुक्तम्–'नहि यावा[नावा]रकसंयोगोऽवयवमावृणोति तावान् अवयविनम्' इति; तदपि न सूक्ष्मम्; *"कारणसंयोगिना हि कार्यमवश्यं संयुज्यते" [प्रश०भा०पृ० ६४]

५ इति वचनादवयववद् अवयविनोऽप्यावारकसंयोगोऽस्ति। तस्य[2] चोत्पत्तौ अवयवी समवायिकारणमिति सर्वात्मना स[3] तत्कारणं चेत्; तत् सर्वत्र तत्संयोगप्रतिपत्तिरिति कथन्न तावानेव तत्संयोगः तदावारको न स्यात् येनोच्यते–'अवयविनं पुनः अन्य एव आवारकद्रव्यसंयोगविशेष आवृणोति' इति। अथ न सर्वात्मना किन्तु एकदेशेन; सांशत्वमवयविनः। ननु चोक्तम्–समग्रासमग्रशब्दयोर्भेदविषयत्वाद् अवयविनस्तु अभिन्नत्वात् तदनुपपत्तिरिति; सत्यमुक्तम्, किन्तु 'तदभि-

१० न्नत्वात्' इति वदता तस्य एकं स्वरूपमङ्गीकृतम्। तेनैव चेत् संयोगसमवायिकारणम्; तत्र संयोगः समवेतः प्रतिभातीति न तद्रहितं तद्रूपमस्ति इति नोक्तदोषपरिहारः।

यच्चान्यदुक्तम्–'अपि च भवान् गृह्यमाणस्य अवयविनः' इत्यादि; तत्राप्युच्यते–अवयविस्वरूपं न गृह्यते नावयवस्वरूपम्। एवं कथञ्चिदवयवावयविनोस्तादात्म्यात्, अन्यथा आवारकजलादिमध्ये दृश्यभागस्य अवयविनः स्तम्भादेः सन्देहो न स्यात्–'किमस्ति किं वा नेति,

१५ कियान् वा समस्ति ?' इति।

यच्चान्यत्–'इयांस्तु विशेषः' इत्यादि; तदप्येतेन निराकृतम्; यथैव हि आवृतावयवा इन्द्रियैरसन्निकृष्टा नोपलभ्यन्ते तत्सहितश्च अवयवी[10], तथा आवारकसंयुक्तः केवलोऽपि[11] [४१ख] नोपलभ्यते। ततः स्थितम्–'आवृतावयवापेक्षया आवृतात्मनोऽन्यापेक्षया अन्यथाभूतस्य' इत्यस्य प्रतिपादनार्थम् 'नानावयवात्मनः' इति वचनम्। तथा 'नष्टैः नष्टात्मनोऽनष्टैरनष्टात्मनः' इत्यस्य

२० च प्रतिपादनार्थम्[12]।

ननु च नष्टा अवयवाः त एव ये निष्क्रियावयवेभ्योऽन्ये देशान्तरादिसंयोगिनो विच्छिन्नाः यथा पादादिभ्यो हस्तादयः, नच तेषु शरीरावयवी विनष्टे प्राक्तनः पादादिषु येनोच्यते–'अविनष्टावयवापेक्षया अविनष्टः' इति, अन्यथा निष्क्रियावयवेभ्य इव आकाशादिभ्यः चित्रपाण्यादिविभागो न भवेत्। तदुक्तम्–*"द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेषु अकारणमनपेक्ष इति

२५ गुणलक्षणम्" [वैशे० १।१।१६] इत्यत्र सूत्रे कैश्चित् *"तथा कारणयोः वंशदलयोः विभागो विभागमभिनिर्वर्तयिष्यन् वंशविनाशमपेक्षते। कस्मात् ? अविनष्टे वंशे अस्वातन्त्र्यात्। स्वतन्त्रावयववृत्तिर्विभागो विभागमारभते न कार्यबद्धावयववृत्तिः, एतच्च यथा सुबद्धं भवति तथा अग्रे वक्ष्यामः इति, तदुच्यते–कारणयोर्वंशदलयोः विभागात् सक्ते-(क्रि)यस्य अवयवस्य वंशदलस्य आकाशादिभ्यो विभागः" इति चेत्; स्यान्मतं संयोगौ

मावरणम् अल्पतरावयवग्रहणं च तत्रावयविनो न ग्रहणम्, यथा जलनिमग्नस्य शिरोमात्रदर्शनात्।" –प्रश० कन्द० पृ० ४२।

(१) अवयवैः। (२) संयोगस्य। (३) अवयवी। (४) सांशत्वानुपपत्तिः। (५) अवयविनः। (६) स्वरूपेण। (७) एकस्वरूपे अवयविनि। (८) संयोगरहितम्। (९) आवृतावयवविशिष्टश्च। (१०) उपलभ्यते। (११) अवयवी। (१२) नानावयवात्मनः इति वचनम्।

(गात्) सक्रियस्य अवयवस्य वंशदलस्य आकाशादिभ्यो विभागः स क्रियाज इति न [1]द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकस्य कर्मणः[2] । [यानि] द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधि-[४२क] [3]विभागारम्भकाणि कर्माणि न तानि द्रव्याना(द्रव्यार)रम्भकसंयोगविरोधिनं [4]विभागमारभन्ते यथा नृत्यतः अवयवकर्माणि, तथेहापि छेदनभेदनतक्षणकर्मणामपि आकाशादिभ्यो विभागजनकत्वे द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकत्वं न स्यात् । अस्ति च, [illegible]—छेदनपाटनतक्षणकर्माणि स्वाश्रयस्य[5] आकाशादिभ्यो न विभागमारभन्ते द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकत्वात् ; [6]यानि पुनः स्वाश्रयस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभन्ते न तानि द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभन्ते यथा नृत्यतः अवयवकर्माणि इति । [7]उभयसंयोगित्वाद् उभाभ्यां वियुज्यते इति चेत् ; स्यान्मतं यथाऽयं सक्रियोऽवयवः अवयवान्तरेण संयुज्यते तथा आकाशादिभिरपि, तस्माद् यथा अवयवान्तरेण संयुक्तत्वात् तेन वियुज्यते तथा आकाशादिभिरपि संयुक्तत्वात् तेभ्योऽपि वियुज्यते इति ; न ; अनेकान्तात् । नायमेकान्तः-हस्तावयवे उत्पन्नं कर्म [8]स्वाश्रयस्य सर्वसंयोगिभ्यो विभागमारभत इति, किं तर्हि कुतश्चिदेव इदम् , दृष्टत्वात् । दृष्टं खलु अङ्गुलिकर्म अङ्गुलिद्रव्यस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभते न अवयवान्तराद् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभत इति तथेद[मपि] पाटनाद्यवयवकर्म अवयवान्तराद् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभते नाकाशादिभ्यः इति तस्माद् [४२ख] 'उभाभ्यां वियुज्यते' इति अयुक्तमुक्तमिति । कुतः पुनरयं विशेष इति चेत् ? कारणविशेषात् ।

स्यान्मतम्—हस्ताद्यवयववृत्तित्वाऽविशेषेऽपि सति कानिचित् [9]कर्माणि स्वाश्रयस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभन्ते [10]कानिचित् पुनः अवयवान्तराद् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभन्त इति किंकृतोऽयं विभागः इति ? कारणविशेषात् क्रियाकारणविशेषादयं विशेषः । तदुक्तम्— *"नोदनविशेषात् [11]उदसनविशेषः।" [वैशे०सू०५।१।१०] इति । *"**तत्र कार्याविष्टे कारणे कर्म उत्पन्नं अवयवान्तराद् विभागमारभते, विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तिः, ततः कार्यद्रव्यं निवर्तते, तस्मिन् निवृत्ते कारणयोर्वर्तमानो विभागः सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभते**" [प्रश०भा० पृ० ६८] इति[12] । को हेतु रिति चेत् ? स्यान्मतं 'कार्यद्रव्यनिवृत्तौ कारणयोर्वर्तमानाद् विभागात् सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभाग उपजायते न पुनः पूर्वम्' इत्यत्र को हेतुरिति ? कार्यद्रव्यविनाशसहचरितत्वं हेतुः ; यदि सति कार्यद्रव्ये सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभाग उपजायेत, नैवं तर्हि तस्य कार्यद्रव्यविनाशसहचरितत्वं [13]न स्याद् अङ्गुल्याकाशविभागवदिति चेत् ; अत्र प्रतिविधीयते—

यत्तावदुक्तम्—'कारणयोर्वंशदलयोर्विभागो विभागमभिनिर्वर्तयिष्यन् [illegible]पेक्षते'

---

(१) द्रव्योत्पादक । (२) सकाशात् भवति । (३) आकाशादिदेशविभाग । (४) अवयवविभागम् । (५) द्रव्यस्य । (६) तुलना—"कर्मोत्पन्नं यदा तस्यावयवस्य अवयवान्तराद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशकं विभागं करोति न तदा द्रव्यविरुद्धाद् आकाशादिदेशाद्विभागं करोति । यदा चाकाशादिदेशात् ; न तदा अवयवान्तरादिति स्थितिनियमः ।"—प्रश० कन्द० पृ० १५५ । (७) [illegible]—अवयवान्तर-एतदुभयसंयोगित्वात् । (८) हस्तस्य । (९) हलनचलनादिरूपाणि । (१०) उत्पाटनादिरूपाणि । (११) दूरोत्क्षेपण । (१२) द्रष्टव्यम्—पृ ४५ टि० १० । (१३) 'न' इति निरर्थकमत्र ।

इत्यादि ; [४३क] तत्र अङ्गुल्यवयवे छेदक्रियातः अवयवान्तराद्विभागात् संयोगविनाशे सति यदि अवयविनः शरीरस्य विनाशः तर्हि तदवयवछेदनकर्मादिमात्रत एव शरीरस्य नाशे [1]तद्गुणानां नाशात् तदवयव्युपलम्भविकलतदारम्भकपादाद्यवयवानामेव उपलम्भः स्यात् । न चैवम्, [2]तच्छेदनात् प्राक् पश्चात् तत्समकालं च 'तदेवेदं शरीरम्' इति प्रतीतेः । [3]इतरथा छिन्नाङ्गुलिरपि ५ 'स एवायं मदीयः पुत्रः' इत्यादि व्यवहारविलोपप्रसङ्गः । ननु च एकावयवसंयोगविनाशे पूर्वद्रव्यनिवृत्तौ पुनः अवस्थितसंयोगेभ्योऽवयवेभ्यो अन्यद्रव्यमुपजायते अतोऽयमदोष इति चेत् ; [4]कोशपानेनैव केवलमर्थोऽयं प्रत्येयः, न प्रतीतेः, सर्वदैकत्वप्रतीत्युपलम्भात् । भ्रान्तेयमेकत्वप्रतीतिरिति चेत् ; न ; बाधकाभावात् । अथ पूर्वद्रव्यविनाशे द्रव्यान्तरोत्पत्तिरेव बाधिकेति चेत् ; सा कुतः सिद्धा ? तत्प्रतीतेर्विभ्रमाच्चेत् ; अन्योन्यसंश्रयः–सिद्धायां द्रव्यान्तरोत्पत्तौ तत्प्रतीतेर्विभ्रमः, त-
१० स्माच्च तत्सिद्धिरिति । यदि च, सर्वदा शरीरस्य एकत्वे प्रतीयमाने एकावयवसंयोगविनाशे पूर्वद्रव्यनिवृत्तौ पुनः अवस्थितसंयोगेभ्योऽवयवेभ्योऽन्यद्रव्यमुपजायते इतीष्यते ; तर्हि सह क्रमेण च वरं परमाणव एव अभ्युपगताः[5], तथा च अवयव्यादिसाधनप्रयासाद् भवन्तो मुच्येरन् । स्थूलैकप्रतीत्या बाधनमन्यत्रापि ।

किंच, [४३ख] 'अङ्गुल्यवयवे चलति आवृते शरीरं न चलति नाप्याव्रियते तथा
१५ प्रतीतेः' इत्यभ्युपगम्य एकावयवसंयोगविनाशे अवयविनाशः सर्वथाऽभ्युपगच्छन् कथं सुस्थः ? तथाप्रतीतेः समानत्वात् । अपि च, यदि नाम एकावयवसंयोगविनाशः किमायातं येन [6]ततो भिन्नस्य अवयविनो विनाशः अतिप्रसङ्गात् ? न ह्यवश्यं कारणनाशाद् उत्पन्नं कार्यं नश्यति अत्र (अन्यत्र) परिणामिकारणविनाशः(शात्) । न च संयोगः परिणामिकारणं परस्य[7] अन्यथाऽभ्युपगमात्[8] । असमवायिकारणविनाशादपि तन्नाशः[9] तथाप्रतीतेरिति चेत् ; न, एकावयव-
२० संयोगविनाशेऽपि कार्यद्रव्यस्य कथञ्चिदवस्थानस्य प्रतीतेः ।

एतेन भेदनादिभ्यः एकावयवस्य अवयवान्तराद् विभागेन संयोगनाशात् पूर्वावयविविनाशः प्रत्याख्यातः ; नहि कर्णिकावयवस्य भेदने शरीरस्य तन्त्वेकावयवस्य पाटने पटस्य वंशस्य स्वरल्पत्तकु(स्वल्पत्वक)तक्षणे विनाशः प्रतीयते । ननु कार्यद्रव्याऽविनाशकवंशक्रिया-[याः अ]वयवस्य आकाशादिभ्यो विभागः अस्वातन्त्र्यात् । स्वतन्त्रावयववृत्तिर्हि विभागः
२५ सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभते । कस्मादिति चेत् ? कार्यद्रव्यविनाशसहचरितस्य आकाशादिभ्यो विभागस्य तदवयवे दर्शनादिति चेत् ; तस्य तर्हि अवयवान्तराद्विभागः कार्यद्रव्ये अविनष्टे किं प्रतीयते ? अप्रतीते एकोऽस्ति नापर इति किं [४४क] कुतो विभागः ?

स्यान्मतम्–अवयवात्तद्विभागः[11] कार्यनाशान्यथानुपपत्त्या अनुमीयमानः पूर्वमप्यस्ति नाकाशादिभ्य इति ; न ; तदवयवान्तरादिव आकाशादिभ्योऽपि तदविभागे कार्य(र्या)विनाशात् ।

३० ननु यदि पूर्व (र्वं) [12]तदन्तरान्न तद्विभागः; कथमाकाशादिभ्यः ? कारणाभावे कार्यानुत्प-

(१) अवयविभूतशरीरगुणानाम् । (२) अवयवछेदनात् । (३) यदि शरीरविनाशः स्यात् तदा । (४) मद्यं पीत्वैव अयं विश्वासयोग्यः यत् तत्र अन्यत् शरीरमुत्पन्नमिति । (५) तदेवेदं शरीरमिति । (६) परमाणुष्वेव शरीरादिप्रतीतिर्भविष्यति । (७) अवयवात् । (८) वैशेषिकस्य । (९) संयोगस्यासमवायिकारणत्वस्वीकारात् । (१०) कार्यनाशः । (११) द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागः । (१२) अवयवान्तरात् ।

त्तेरिति चेत्; स्यादेतत् यदि अवयवकर्मणः तदन्तरादिव आकाशादिभ्यः तद्विभागो न स्यात्। एकस्मात् कर्मणः कथमनेको विभाग इति चेत्? कथम् आकाशकालदिगात्मादिभ्यो युगपत् [1]तस्य बहवो विभागाः तैर्वा संयोगाः, येनेदम् *"संयोगविभागानां कर्म" [वैशे० सू० १।१।२०] इत्यत्र बहुवचनस्य प्रयोजनमुक्तं शोभेत। एकावयववृत्तिकर्मणः अवयवाभ्यां द्वौ विभागौ अवयवेभ्यः बहवो विभागाः, न च आकाशादिभ्यः इति स्वरुचिविरचितमेतत्। ५

[3]स्यान्मतम्—छेदनादिकर्म सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभागं नारभते द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकत्वात्। यत् पुनः तदवयवस्य आकाशादिभ्यो विभागमारभते न तद् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभते यथा नृत्यतोऽवयवकर्म इति; नायं हेतुः असिद्धत्वात्, संयोगविनाशस्यैव विभागत्वादिति चिन्तितमेतत्। 'न च छेदनादेः [4]परं प्रति द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकत्वं सर्वथा सिद्धम् अवयविनाशप्रसङ्गात्' इति चेत्। यदि च १० [४४ख] नृत्यतोऽवयवकर्म सक्रियावयवस्य आकाशादिभ्यो विभागहेतुः, अवयवान्तरविभागहेतुर्न दृष्टः इति छेदादिरपि तद्वत् तदहेतुः[6] प्रकल्प्यते; तर्हि कारणयोर्वंशदलयोर्वर्तमानो विभागो निष्क्रियावयवस्य आकाशादिविभागहेतुर्न दृष्टः इति सक्रियस्यापि तथैव कल्प्यताम् अविशेषात्। प्रमाणबाधनं प्रकृतेऽपि।

किंच, *"संयोगविभागानां कर्म कारणं सामान्यम्" [वैशे० सू० १।१।२०] इति १५ वचनात् नृत्यतोऽवयवकर्माणि हस्ताद्यवयवानाम् अन्योऽन्यतो विभागं किन्नारभन्ते? एवं सति[8] ततः संयोगविनाशात् नृत्यतोऽवयविनो विनाशः स्यादिति चेत्; न; *"एकावयवसंयोगविनाशे पूर्वद्रव्यनिवृत्तौ पुनः अवस्थितसंयोगेभ्योऽवयवेभ्यः अन्यद्रव्यमुपजायते" इत्यभिधानात् पुनः प्रवृत्तिकर्मविशेषेभ्यः संयोगविशेषतोऽन्यद् द्रव्यं स्यात्। [9]अविच्छिन्नप्रतिपत्तिश्च आशुवृत्तेरिति। एवं सति किं लब्धमिति चेत्? *"छेदनादिकर्म सक्रिया- २० वयवस्य आकाशादिभ्यो विभागं नारभते द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकत्वात्। यत् पुनः तस्य[10] [11]ततो विभागमारभते न तत् [12]तज्जनकं यथा नृत्यतोऽवयवकर्म।" इति प्लवते, वैधर्म्यदृष्टान्तविलोपात्। ततो यथा सक्रियावयवस्य अवयवान्तरात् क्रियातो विभागः

(१) अवयवस्य। (२) "संयोगविभागवेगानां कर्म सामान्यम् ॥२०॥ कारणमित्यनुषङ्गः। यत्र द्रव्ये कर्मोत्पन्नं तेन समं यावद्द्रव्यं संयुक्तमासीत् तावत् संख्याकान् विभागान् जनयित्वा तावतः संयोगानपि पुनरन्यत्र जनयति..."–वैशे० उप० १।१।२० । (३) "कार्येणाविष्टं व्याप्तमारब्धकार्यमिति यावत् तस्मिन् कारणे कर्मोत्पन्नं न कारणमात्रे यदा अवयवान्तराद्विभागं द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं करोति न तदा आकाशादिदेशात्, यदा त्वाकाशादिदेशात् तदा अवयवान्तराद्विशिष्टं विभागमिति स्थितिः विभागजविभागचिन्तायाः प्रतिज्ञाता।"–प्रश० व्यो० पृ० ४९९। न्यायवा० ता० टी० पृ० २५०। "आकाशविभागकर्तृत्वं कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वेन व्याप्तम्। द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वविरुद्धं च द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकत्वम्। अतो यत्रेदमुपलभ्यते तत्र द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानुत्पादकत्वे निवर्तमाने तद्व्याप्तम् आकाशविभागकर्तृत्वमपि निवर्तते यथा वह्निव्यावृत्तौ धूमव्यावृत्तिः।"–प्रश० कन्द० पृ० १५६। (४) जैनं प्रति। (५) चिन्तितम्। (६) अवयवान्तरविभागाहेतुः। (७) परस्परविभागे। (८) उत्पन्नं भवेत्। (९) स एवायमिति एकत्वप्रतिपत्तिश्च। (१०) सक्रियावयवस्य। (११) आकाशादेः। (१२) द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकम्।

तथा तस्माद् [४५क] आकाशादिभ्यः । नच अनैकान्तिकोयं हेतुः ; तथाहि–[1]अङ्गुल्याकाशविभागाद् हस्ताकाशविभागो भवति न तु क्रियाजः (तः) इति । अनेकान्त इति चेत् ; उक्तमत्र अङ्गुलिचलने हस्तस्यापि कथञ्चित् चलनम्, आकाशादिभ्यः तद्विभागे हस्तस्यापि तदैव विभागः, अन्यथा[2] पृथक्सिद्धिः स्यादिति । ननु च यद्ययं सक्रियस्य अवयवस्य गगनादिभ्यो विभागः क्रियाजः
५ स्यात् ; तदपि तर्हि क्रियानन्तरमुत्पद्येत, आद्यावयवविभागवत् , न चोत्पन्नः । तदुक्तम्–
*"कुरुन्दारकोऽसि केन तदत्मरभ्रंसात् (तदवसरभ्रंशात्) ।" इति । कर्मणा यस्मिन्नवसरे विभागः कर्त्तव्यम (व्यः) सोऽस्य नष्ट इति चेत् ; न सत्यमेतत् ; विभागेऽप्य[स्य] समानत्वात् । शक्यं हि वक्तुं यद्ययं विभागात् स्यात् विभागः[3] तदनन्तरमुत्पद्येत , न चैवम् , क्षि[अवयव]विभागात् संयोगविनाशः तस्माच्च द्रव्यविनाशः पुनर्विभागः इत्यङ्गीकरणात् । कर्मानन्तरम् अवयवा-
१० न्तराकाशादिभ्यश्च विभागः ; इतरथा न कुतश्चित् तदनन्तरं भवेत् । तन्न कर्णाद्येकावयवच्छेदनादिभ्यः सर्वात्मना [4]पूर्वदृष्टविनाशो युक्तः ।

यत्पुनरुक्तम्–*"अवयवेषु कर्माणि ततो विभागः तेभ्यः संयोगविनाशः ततो द्रव्यविनाशः" [प्रश० भा० पृ० ४६] इति ; तदपि न परीक्षाक्षमम् ; अवयवेभ्यो भिन्नानां कर्मणामुत्पत्तावपि [6]तत्स्वरूपचलनाऽभावाद् [7]अतिप्रसङ्गात् । न तेषां[8] ततोऽपि[9] विभागभावः,
१५ भावेऽपि [10]तत एव न ततः तत्संयोगविनाशः । यद्यप्ययं[11] भवेत् तथापि संयोगाद् [४५ख] भिन्न इति संयोगस्य तदवस्थस्य अवस्थानानु (नान्न) कार्यस्य नासौ (नाशो) नाम ।

एतेन संयोगविरोधित्वं कर्मणः प्रत्याख्यातम् । यद् येन नाश्यते तत् तस्य विरोधि, न च संयोगेन नाश्यते कर्म । [12]ततो नाशाभावेऽपि कर्मणो न किञ्चित् जायते । नचेयं प्रणालिका [13]परस्य प्रतीतिगोचरचारिणी–पूर्वम गपु (पूर्वमवयवेषु) कर्म, ततो विभागः, तस्मात् संयोगविनाशः, ततो
२० ऽपि द्रव्यविनाशः, एतस्माच्च तदाश्रितरूपादिनाशः ; किन्तु दण्डादिपातानन्तरं घटादिनाश एव [14]तद्गोचरचारी । ततः स्थितम्–'नष्टावयवैर्नष्टः अन्यैः अनष्टोऽवयवी' इत्यस्य ज्ञापनार्थं 'नानावयवात्मनः' इति वचनम् ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम् यदुक्तं–*"द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते" [वैशे०सू० १।१।१०] इति ; *"द्रव्यं च तदन्तरं च कारणद्रव्येभ्योऽन्यत् कार्यद्रव्यम्" इति ; कथम् ?
२५ एकान्तेन तेभ्यः[15] तदन्यत्वनिषेधात् । कथञ्चित् पक्षे समवायवैयर्थ्यात् ।

यत् पुनरेतत्–*"द्रव्ये च द्रव्याणि च तदन्तरमारभन्ते" ते; नवैकस्य ततोः (ततः) संयोगः, अनेकवृत्तित्वाद् अस्य[16] । तदवयवानां संयोग इति चेत् ; न तेन तन्तुद्रव्यमुत्पादि... ।

---

(१) "यथा अङ्गुल्याकाशादिविभागात् हस्ताकाशविभागः···"–प्रश० व्यो० पृ० ५०९ । (२) अङ्गुलिहस्तयोः । (३) विभागानन्तरमेव । (४) पूर्वदृष्टशरीरविनाशः । (५) "कर्माण्युत्पद्यन्ते, तेभ्यो विभागाः, विभागेभ्यः संयोगविनाशाः, संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति ।"–प्रश० भा० ४६ । (६) अवयवस्वरूप । (७) भिन्नद्रव्यक्रियातः अन्यत्र चलनस्वीकारे । (८) अवयवानाम् । (९) कर्मणोऽपि । (१०) भिन्नत्वादेव । (११) विनाशः । (१२) संयोगात् । (१३) वैशेषिकस्य । (१४) प्रतीतिगोचरचारी । (१५) कारणद्रव्येभ्यः कार्यद्रव्यस्य भिन्नत्वनिषेधात् । (१६) संयोगस्य ।

न च येष्वेकं द्रव्यं यदैव अवयवेषु समवेतं तदैव तेषु अपरं समवैति इति चेत् ; न ; स्कन्धादपि स्कन्धोत्पत्तेः अप्रतिषेधात् , मृत्पिण्डादेः शिवकाद्युत्पत्तिदर्शनात् । नहि शिवकादेः[1] पूर्वं तदारम्भकाः क्रियासंयोगभाजो भागाः प्रतीताः ।

स्यादेतत्—'शिवकादयः [४६क] संयुक्तावयवारब्धाः कार्यद्रव्यत्वात् पटादिवत्' इति ; तन्न ; एकत्र तथाभावदर्शनात् सर्वत्र तद्भावकल्पने '[लोह] लेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठवत्'[2] इत्यादपि स्यात् । प्रत्यक्षबाधनान्नेति चेत् ; किं पुनः शिवकादीनाम् आरम्भका अवयवाः ततः प्राक् प्रत्यक्षतः सिद्धा येन तद्बाधनं न भवेत् । किंच, तन्तवः कथं पटस्य जनकाः ? तद्भावे भावाद् अभावेऽभावादिति चेत् ; अत एव मृत्पिण्डोऽपि शिवकादिकारणमस्तु । ननु मृत्पिण्डविनाशे शिवकभावः, अन्यथा [3]तत्कालेऽपि [4]तद्दर्शनं भवेत् पटकाले तन्तुदर्शनवदिति चेत ; न ; मृत्पिण्डस्य शिवकार(काकारपरि)णामात् । न च तन्तवोऽपि [5]प्राक्तनस्वभावपरिकरिततनवः पटे दृश्यन्ते तदापि अपरापरपटोत्पत्तिप्रसङ्गात् । तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये—

*"कारणस्याऽक्षये तेषां कार्यस्योपरमः कथम् ?" [न्यायवि० १।१०३] इति ।

[6]नानुपरतः, पटेन प्रतिबद्धास्तन्तवः पटान्तरं नारभन्ते । तदुक्तं परेण—*"तन्तवः पटमारभ्य पटेन प्रतिबन्धात् पटान्तरं नारभन्ते" इति ; तत्रेदं चिन्त्यते ; पेटन कारणस्य स्वरूपापहारः, शक्त्यपहारः, व्यापारापहारः, कार्यद्रव्योत्पत्तिनिषेधो वा तैदन्तरजनने प्रतिबन्धः स्यात् ? तत्र नाद्यः पक्षः ; कार्यकालेऽपि कारणसत्त्वोपगमात् । नापि द्वितीयः; नित्यस्य [10]तदयोगात । तदुक्तं कैश्चित्—

*"तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता ।
नित्यत्वादचिकित्स्यस्य कस्तां क्षपयितुं क्षमः ॥" [प्र० वा० २।२२] इति ।

[11]अत एव तृतीयोऽपि न युक्तः; शक्तैकस्वभावस्य [४६ख] सतः अवश्यं कार्यजन्मनि व्यापारात् । चतुर्थः पुनः अत्यन्तमसंभवी; [12]प्रति शक्तेन कारणेन क्रियमाणायाः कार्योत्पत्तेर्निषेधाऽयोगात । ततः पटकालेऽपि समवायि-असमवायि-निमित्तानां तन्तु-संयोगेश्वरादीनां सद्भावात् पटान्तरोत्पत्तिः स्यात् । अन्यथेदमयुक्तम्—*"निवृत्ते तत्पटे अवस्थितसंयोगात् पटान्तरमारभन्ते ।" इति । न च अकिञ्चित्करस्य[13] म (सत्ताऽ) पेक्षणीयेति ।

एतेनेदमपि निरस्तं यदुक्तं परेण—*"तथा पटोऽपि रूपादीनारभ्य रूपादिवत्त्वाद् रूपान्तरं नारभते । एवं कर्म(न) [illegible] मुसलादिप्रतिबन्धात् [14]तदन्तरं नारभते" इत्यादि । कथम् ? सति समर्थे कारणे केनचित् प्रतिबन्धाऽयोगात् । तस्त्पक्ष (ततस्त्यक्त) पूर्वस्वभावाः तन्तवः पटे अभ्युपगन्तव्या इति परिणामसिद्धिः । तथा च एकमपि द्रव्यं [15]तद[illegible]कमिति

(१) पटादेः । (२) "क्वचिन्न नियमो दृष्ट्या पार्थिवाल्लोहलेख्यवत् ॥ —बहुषु पार्थिवेषु काष्ठपाषाणादिषु लोहलेख्यत्वदर्शनेऽपि पार्थिव एव वज्रे अलोहलेख्यत्वदर्शनेऽपि पार्थिव एव…"—प्र० वा० मनो० ४।२४० । (३) शिवककालेऽपि । (४) मृत्पिण्डदर्शनम् । (५) पूर्वपर्यायविशिष्टाः । (६) किन्तु उपरत एव । (७) पटान्तरजनने । (८) पटकालेऽपि । (९) तन्तुसत्त्वस्वीकारात् । (१०) शक्त्यपहाराभावात् अन्यथा अनित्यत्वापत्तिः । (११) नित्यत्वादेव । (१२) 'प्रति' इति निरर्थकं भाति । (१३) संयोगस्य । (१४) कर्मान्तरम् । (१५) द्रव्यान्तरारम्भकम् ।

सिद्धम् । 'द्रव्याणि द्रव्यान्तराणि आरभन्ते' इत्येवं वक्तव्यम् , तेन ['द्रव्यान्तरं] द्रव्यान्तरे द्रव्यान्तराणि यथासंभवं द्रव्याणि आरभन्ते' इति लभ्यते । यथैव हि अनेकं द्रव्यम् एकं द्रव्यमारभमाणं दृश्यते तथा एकमपि द्रव्यम् एकं द्रव्यम् द्वे बहूनि द्रव्याणि आरभमाणमुपलभ्यते, यथैको घटो द्वे बहूनि वा कपालद्रव्याणि । ननु तेषां विभाग एव केवलं जायते न तानि, पूर्व-
५ मेव तद्भावात् । एवं घटोऽपि मृत्पिण्डावस्थायां कल्प्यताम् । उपम्ला(मा)र्थक्रिया-[४७क] व्यपदेशादिविरहः अन्यत्रापि । ततः साधूक्तम्-'**नानावयवात्मनो घटादेः बहिः संप्रतीतेः**' इति, तथा '**नानारूपादिस्वभावस्य**' ।

अथ रूपादेः ततो भेदात् कथं तदात्मन इति युक्तमिति ? तन्न; प्रतीतिविरोधात् । अपि च गुणगुणिनोर्भेदैकान्ते नियमेन घटादेर्देशान्तरप्राप्तौ रूपादेः तत्प्राप्तिर्न स्यात् । न चात्र विभागजो
१० विभागः संयोगजो वा संयोगः; *"**द्रव्याश्रयी अगुणवान् गुणः**" [वैशे० सू० १।१।१६] इति वचनात् । कृतोत्तरश्चायं पक्षः । न च रूपादेः स्वयं देशान्तरप्राप्तिनिमित्ता क्रिया समस्ति; द्रव्यत्वप्राप्तेः,*"**क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्**" [वैशे०सू० १।१।१५] इति वचनात् । ततो घटादेः रूपाद्यात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । एवमिति चेत्; तर्हि रूपाद्यात्मनामेव कारणद्रव्यान्तरारम्भो न रूपादिनिरपेक्षाणाम्, नापि रूपादिरहितः तदारम्भः । ततो य
१५ एव द्रव्याणां द्रव्यान्तरारम्भः स एव गुणानां गुणान्तरारम्भः इति न युक्तमेतत्-*"**गुणाश्च गुणान्तरम्**" [वैशे० सू० १।१।१०] इति ।

यत्पुनरेतदुक्तं परेण-*"**घटरूपाद्युत्पत्तौ घटः समवायिकारणं कपालगता रूपादयोऽसमवायिकारणम्** ।" इति; तदप्येतेन निरस्तम्; नहि रूपाद्युत्पत्तेः पूर्वं घटो रूपादिरहितः कुतश्चिन् मानात् प्रसिद्धो यः समवायिकारणं स्यात् ,तदभावात् कपालरूपादेः असमवायिकारणत्वञ्चा-
२० नुपपन्नम् । ततः स्थितमेतत्-'**नानारूपाद्यात्मनः**' इति ।

पुनरपि कथंभूतस्य ? [४७ख] **परिणामिनः** नवपुराणादिविवर्ताः परिणामाः तद्वत इति । चिन्तयिष्यते चैतत् । ननु नानावयवव्यतिरेकेण नापरः तदात्मा घटादिः संप्रतीयते, नापि रूपादिव्यतिरेकेण; तद्ग्रहणोपायाऽभावात् । तथाहि-चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दः घ्राणेन गन्धः रसनेन रसः स्पर्शनेन स्पर्शः संप्रतीयते तथाप्रतीतेः, न च अपरं गुणिरूपं तत्र प्रतिभासनमवधा-
२५ र्यते, न चेन्द्रियान्तरं तद्ग्राहकमस्ति; तत् कस्य एवं 'तदात्मनो घटादेः संप्रतीतेः' इत्युच्यतामिति चेत् ? अत्राह-'**अन्तः चित्रैकाकारस्य वा (स्येव)**' इत्यादि । **चित्तस्य** ज्ञानस्य **एकस्य**[अ]-

---

(१) कर्तृ । परापेक्षयदेमुक्तम् । (२) कपालानाम् । (३) कपालानि । (४) मृत्पिण्डावस्थायाम् घटस्य उपमा-उपमानम्, अर्थक्रिया-जलाहरणादि, व्यपदेशः घट इति संज्ञा, आदि पदेन लक्षणगुणादयो न दृश्यन्ते अतः तत्काले घटसत्त्वं नास्ति । (५) घटावस्थायां कपालस्वीकारेऽपि अर्थक्रियाव्यापदेशादयो न सन्तीति भावः । (६) घटादेः । (७) रूपाद्यात्मनः । (८) देशान्तरप्राप्तिः । (९) रूपादौ । (१०) सम्भवति । (११) "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्"-वैशे० सू० । (१२) गुणगुणिनोर्भेदैकान्तलक्षणः । (१३) घटरूपाद्योः परस्परं तादात्म्यं । (१४) घटाद्यारम्भः । (१५) पृथगारम्भाभावात् । (१६) "द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्"-वैशे० सू० । (१७) गुणिस्वरूपम् । (१८) प्रत्यक्षे । (१९) कमाश्रित्य ।

साधारणस्य नीलाद्याकारस्य । अत एव आह–**चित्रस्य** शबलस्य संशयादि [illegible] अर्थोऽनर्थ-विषयतया शबलस्य, **इव** शब्दो यथार्थः–यथा चित्तस्य ईदृशस्य अन्तः, तथा उक्तप्रकारस्य घटादेः संप्रतीतेः इति । अन्ये[1] '**चित्रस्यैव**' इति पठन्ति, तेषां कारिकोपात्तोऽयमर्थो भवति न वेति चिन्त्य-मेतत् । अस्माकं तु एव (इव) शब्दपठनान्न दोषः । *"**प्रतिभासैक(क्य) नियम**" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना समर्थयिष्यमाणो दृष्टान्तोऽत्र स्तवितो (सूचितः) *"**न सूचितस्य पात्रस्य** ५ **प्रवेशो निर्ग्नमो (निर्गमो) वा**" इति न्यायात् । नन्वस्ति तादृशस्य[3] बहिरन्तर्वा प्रतिभासः, स तु भ्रान्तः । तदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण–*"**मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः ।**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इति चेत्; अत्राह–**नचे**त्यादि । **न च** नैव **तस्माद्** उक्तादर्थात् यः **विप-रीतार्थः** तस्य **प्रकाशकं किञ्चित्** प्रत्यक्षमनुमानं वा **ज्ञानमस्ति यस्माज्ज्ञानात् प्रकृतमर्थतत्त्वं भ्रान्तं स्यात्** । प्रतिभासमानविपरीतार्थज्ञानेन हि बाधितं 'भ्रान्तम्' इति व्यवह्रियते यथा एक- १० चन्द्रज्ञानेन चन्द्रद्वयमिति मन्यते । ननु यत एव तद्विपरीतार्थप्रकाशकं न किञ्चित् ज्ञानमस्ति अत एव प्रकृतमर्थतत्त्वं[4] न भ्रान्तम्' इत्यपरः[5], तेन एवंवदता विभ्रमेतरविवेक[6] एव निरस्तः स्यात् न क्रमाऽक्रमाऽनेकान्तः । तथा च क्षणभङ्गादिसाधने प्रत्यक्षमनवसरम् । तदभ्युपगमे[7] प्रकृतमर्थतत्त्वं भ्रान्तमभ्युपगन्तव्यम्, तच्च[8] तद्विपरीतार्थप्रकाशके ज्ञाने सति, इति कथं न बाधकभावः ? न च तदस्ति । कथमिति चेत् ? अत्राह–**नहि** इत्यादि । **हिः** यस्मात् **तदेकान्ते** स चासौ एकान्तश्च १५ तदेकान्तः तस्मिन् निरंशक्षणिकपरमाणुलक्षणस्वलक्षणैकान्ते **स्वसदसत्समये** स्व आत्मीयः स्वस्य वा सौगतस्य सत्समयः परमार्थसमयः असत्समयोऽपरमार्थसमयः व्यवहारसमय इति यावत् । तदुक्तम्–

*"**द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।**
[illegible]**तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥**" [माध्यमिक० का० २४।८] इति । २०

तत्र अस्य सौगतकल्पितज्ञानाद्वये **वस्तुनः क्रिया** [४८ख] अनुभवः तस्याः **संभवो न** इति । तथाहि–तस्य सत्समयो यथा पूर्वोत्तरक्षणाभ्यां मध्यक्षणस्य विवेकैकान्तः[9], तथा मध्यक्षणेऽपि स्तम्भादिसर्वभागानाम् अन्योऽन्यतः इति [10]परमार्थसञ्चयमात्रं तत्त्वमिति; तत्र एकपरमाणुपर्य-वसितं दर्शनं न परमाण्वन्तराणि ईक्षितुं क्षमते; एकस्य अनेकार्थविषयत्वाऽयोगात्, मध्यक्षणदर्श-नस्य पूर्वापरक्षणविषयत्वायोगवत् समदोषत्वात् । तथा च परलोकप्रख्याति (परलोकं प्रत्या- २५ ख्याति[11]) । एकपरमाणुपर्यवसितं च दर्शनं पुरुषाद्वैतमाकर्षतीति निरूपयिष्यते । तत्र स्वसत्समये अर्थक्रियासंभवः । नाप्यसत्समये; तत्र दृश्यप्राप्ययोरेकत्वे [12]प्रत्यक्षप्रामाण्योपगमात् । भवतु तद-

(१) 'यथा' इत्यस्मिन् अर्थे प्रयुक्तः । (२) व्याख्याकाराः । (३) घटादेः । (४) क्षण[illegible]-णम् । (५) बौद्धः । (६) इदं भ्रान्तम् इदञ्चाभ्रान्तमिति विवेको भेदः । (७) क्षणभङ्गादिसाधने प्रत्यक्षस्या-नुपयोगस्वीकारे । (८) भ्रान्तत्वञ्च । (९) विवेकैकान्तः भेद इति यावत् । (१०) परमार्थानाम् स्वलक्ष-णपरमाणूनां सञ्चयमात्रमेव तत्त्वम् । (११) परलोको हि इहजन्मान्त्यचित्तस्य परजन्माद्यचित्तेन सहैक्य-प्रतिपत्तिगम्यः । सैव च न संभवति इति तत्प्रत्याख्यानमेव जातमिति भावः । (१२) 'प्रत्यक्षविषयभूतो ह्यर्थः प्रत्यक्षमुत्पाद्य क्षणिकत्वात् विनश्यति । अतः यत् दृश्यं भवति प्रत्यक्षस्य न तत् प्राप्यते इति अन्यद् दृष्टं प्राप्त[illegible] विसंवादि प्रत्यक्षं स्यात्' इत्याशङ्कायां समाहितम्–यत् दृश्य-प्राप्यक्षणयोः एकत्वमा-

संभव इति चेत्; अत्राह–तथा सति इत्यादि । तथा तेन ६ सदसत्समये इत्यनेन प्रकारेण तदेकान्ते अर्थक्रियासुसंभवे (याया असंभवे) सति कथं नैव अक्षणिकत्वे वस्तुनः कालत्रयानुयायित्वे क्रमयौगपद्याभ्यां क्रमेण यौगपद्येन वा अर्थस्य क्षणिकत्वलक्षणस्य क्रिया अनुभवः तस्याः विरोधात् । तथाहि–एकदा उपलब्धस्य पुनः पुनः उपलम्भे क्रमेणार्थक्रिया । न च पूर्वोपलम्भेन

५ पुनः पुनः तस्यैव उपलम्भ इति प्रतीयते, तत्काले उत्तरदर्शनानां तद्‌दृश्यस्य च अभावेन दर्शनाभावात् । नापि 'उत्तरदर्शनभावेन (र्शनेन) पूर्वोपलब्धं प्रतीयते' इति प्रतीयते; तत्कालेऽपि पूर्वदर्शनतद्‌दृश्यरूप[४९क] योरभावात् । न तत्समुदायेन; क्रमभाविनोः[3] तदसंभवात् । उभयकालवर्ति तज्ज्ञानमेकं न युक्तम्; उक्तदोषात् । पूर्वेण उत्तरेण वा दर्शनेन परस्य पूर्वस्य वा ग्रहणे सर्वग्रहणमविशेषादिति, तस्याः विरोधः । तथा साक्षादशेषपूर्वापरस्वभावानुभवो यौगपद्येन अर्थ-

१० क्रिया । तत्र चानाद्यनन्तस्वभावस्य एकक्षणे प्रतिभासनात्[6] तदेव क्षणिकत्वमिति तस्या विरोधः [त]स्मात् सतोऽनुभूयमानस्य साकल्येन क्षणभङ्गसिद्धिः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–तत्रैव इत्यादि । तत्रैव तस्मिन्नेव तदेकान्ते न अक्षणिकत्वे इति एवकारार्थः, तत्र [9]तदविरोधस्य तृतीयपरिच्छेदे प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । ताभ्यां क्रमयौगपद्याभ्यां तद्विरोधात् अर्थक्रियाविरोधात् । तथाहि–न तावत् निरंशक्षणिकपरमाणुलक्षणस्वलक्षणार्थस्य क्रमेण क्रिया अनुभवः; अक्षणि-

१५ कत्वप्रसङ्गात्, [11]तस्य [12]तल्लक्षणत्वात् । नापि यौगपद्येन; [13]योगिदर्शनप्रभृतितदनुभवकार्याणाम् एकपरमाण्वाकारदर्शनदेशकालस्वभावसाङ्कर्येण तद्वदसिद्धेः, [14]अन्यथा युगपदशेषदेशानां दर्शनेऽपि न कालसाङ्कर्यं भवेत् । [15]ननु न यथोक्तपरमाणुलक्षणं स्वलक्षणमिष्यते, नापि युगपदनेकानुभवकारि येनायं दोषः स्यात्, अपि तु यथा[व]भासम्, *"यद् यथावभासते तत् तथैव परमार्थसत्" इत्यादि वचनादिति चेत्; अत्राह–ततो यत्सत् इत्यादि । न [४९ख] यथोक्तपरमाणुरूपं

२० तत्त्वम्, अपि तु 'यथाप्रतिभासम्' इति योऽयं परस्य अभ्युपगमः तस्मात् यत् सत् उपलम्भगोचरचारि *"उपलम्भः सत्ता" [प्र० वार्तिकाल० ३।५४] इति वचनात्, तत् सर्वम् [illegible]कं गत्यन्तराभावात् तस्य ।

अथवा, यदुक्तम्–'न च तद्विपरीतार्थप्रकाशकम्' इत्यादि; तत्र उक्तनीत्या प्रत्यक्षं यद्यपि नास्ति तथापि 'यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः तथा च विवादाधिकरणम्' इत्यनुमानं स्यादिति

२५ चेत्; अत्राह–नहि इत्यादि । नहि तदेकान्ते क्षणिकैकान्ते स्वसदसत्समये 'सदसद्' इति

रोप्य यद् दृष्टं तदेव प्राप्तमिति एकत्वाध्यवसायकृतस्तत्र अविसंवादः । अतः प्रत्यक्षप्रामाण्यसमर्थनाय स्वासत्कालीनार्थक्रिया कथञ्चिदभ्युपगतैव सौगतेन इति भावः ।

(१) पूर्वोपलम्भकाले । (२) उत्तरदर्शनकालेऽपि । (३) पूर्वोत्तरयोः । (४) अर्थक्रियायाः । (५) यौगपद्यपक्षे । (६) उत्तरक्षणे च कर्तुं योग्यस्याभावात् अर्थक्रियाया अभाव एव । (७) अर्थक्रियायाः । (८) क्षणिकैकान्ते । (९) नित्यपक्षे । (१०) अर्थक्रियाविरोधाभावस्य । (११) अक्षणिकत्वस्य । (१२) एकस्यानेकक्षणव्यापित्वरूपक्रमेण अर्थक्रियाकारित्वादिति भावः । (१३) योगिदर्शने ते सर्वे पूर्वोत्तरकालवर्तिनः परमाणवः प्रतिभान्ति अतः विषयकारणतावादिनां सर्वेषां तदनुभवरूपकार्याणाम् वर्तमानपरमाणुकार्यभूतअनुभवेन सह एकदेशता एककालता च स्यात्, एतच्च साङ्कर्यमसिद्धम् । (१४) एवं न स्यात्तदा नित्यपक्षेऽपि यौगपद्येन अर्थक्रियाप्रसाधने कालसाङ्कर्यापत्तिः कथं दीयते ? (१५) प्रतिभासाद्वैतवादी प्राह ।

भावप्रधानो निर्देशः । ततोऽयमर्थः—**स्वसत्त्वसमये स्वाऽसत्त्वसमये च अर्थस्य**[1] **कार्यस्य क्रिया** करणं तस्याः **संभवः** एकत्र[2] अनाद्यनन्तसन्तानस्य एकक्षणपर्यवसानम्[3], अन्यत्र[4] कारणाभावेन कार्यानुदय इति मन्यते ।

ननु[5] च जाग्रद्विज्ञानादि[illegible] स्वसत्त्वशून्येऽपि समये प्रबोधादिकार्यं जनयति तत्कथमुच्यते स्वाऽसत्समये अर्थक्रियाऽसंभव इति चेत्; न; पूर्वं तस्मिन्[6] समर्थे अजातं पुनस्तदभावे[7] जायमानं स्वयमेव कथं तत्कार्यम्? तेन जन्यमानत्वादिति चेत्; कथमसत् तत् तस्य जनकं खरविषाणवत्? स्वोत्पत्तिकाले सदिति चेत्; तदैवं तत्कार्यमस्तु तज्जननशक्तेः तदैव भावात् । अथ ईदृशी तच्छक्तिः यतः कालान्तरे कार्यं तथैव दर्शनात्, यथा दृश्यते तथैव[10] तदिति चेत्; न; नित्यादपि पूर्वं समर्थात् [11]पुनः कार्यं न विरुध्येरन्[12] । अथ नित्यात् तथा कार्यं [५०क] जायमानं न दृश्यते; नित्यादर्शनात् । क्षणिकादर्शनात् ततोऽपि न दृश्यते । नहि जाग्रद्विज्ञानस्य अन्यस्य वा क्षणिकत्वं प्रमाणनिश्चितम् । ततः सूक्तम्—**नहीत्यादि** । भवत्वेवं को दोष इति चेत्? अत्राह—**तथा सति** इत्यादि । **तथा सति तत्र** अर्थक्रियाऽसम्भवे सति **कथम्** *“[13]अक्षणिकत्वे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् [14]तीरादर्शिशकुनिन्यायेन [15]ततः सत्त्वं निवर्तमानं क्षणिकत्वे अवतिष्ठते ।” इति न्यायात् **सतो**ऽर्थक्रियाकारिणः **साकल्येन क्षणभङ्गसिद्धिः**? नैव । कुत एतत्? इति चेत्? अत्राह—**तत्रैव** इत्यादि । **तत्रैव** तदेकान्त एव **ताभ्यां** क्रमयौगपद्याभ्यां **तद्विरोधात्** अर्थक्रियाविरोधात् । ननु च जाग्रद्विज्ञानं क्षणिकमपि [16]सहोच्छ्वासादि—शरीर[illegible]र्यमुपजनयति, क्रमेण च उच्छ्वासप्रबोधादि, तत्कथमुच्यते **'तत्रैव'** इत्यादि इति चेत्; न; उक्तमत्र तत्क्षणिकत्वाऽनिश्चयात् । अपि च, क्षणिकादक्रमेण[17] कार्यसंभवे ***“नाक्रमात् क्रमिणो भावाः”**

---

(१) तुलना—“सत्येव कारणे यदि कार्यम्; त्रैलोक्यमेकक्षणवर्ति स्यात्, कारणक्षणकाल एव सर्वस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात्, ततः सन्तानाभावात् पक्षान्तरासंभवाच्च ।...यदि पुनरसत्येव कारणे कार्यम्; तदा कारणक्षणात् पूर्वं पश्चाच्च अनादिरनन्तश्च कालः कार्यसहितः स्यात् कारणाभावाविशेषात् ।” —अष्टश०, अष्टस० पृ० १८७ । (२) सत्समयपक्षे । (३) द्वितीयः क्षणः स्वसत्समये अर्थात् द्वितीयक्षणे एव तृतीयमुत्पादयति अतः तृतीयस्य द्वितीयक्षणे स्थितिः । एवं द्वितीयस्य स्वकारण-प्रथमक्षणकाले इति उत्तरोत्तरकार्याणां प्रथमक्षणे एव स्थित्यापत्तिः । (४) 'असत्समये' इति पक्षे । (५) व्यवहितकारणवादी प्रज्ञाकरः प्राह । “अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता । तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम् । न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनं व्यवहितस्यापि कारणत्वात् । तथाहि—गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥ ...तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम् । कार्यकारणभावस्य तद्भाविन्यपि विद्यते ॥”—प्र० वार्तिकाल० पृ० ६८ । (६) जाग्रद्विज्ञाने । (७) जाग्रद्विज्ञानाभावे । (८) जाग्रद्विज्ञानम् । (९) जाग्रद्विज्ञानकाल एव । (१०) अभ्युपगन्तव्यमिति । (११) पश्चात् यथाकालम् । (१२) तथैव तच्छक्तिसंभवात् । (१३) “यत् सत् तत् क्षणिकमेव अक्षणिकत्वे अर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणवस्तुत्वं हीयते ।”—हेतुबि० पृ० ५४ । “यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यात्, अक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽयोगात् अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् ।”—वादन्या० पृ० ६–८ । (१४) “यथा किल वहनारूढैः वाणिग्भिः शकुनिर्मुच्यते अपि नाम तीरं द्रक्ष्यतीति । स यदा सर्वतः पर्यटंस्तीरं नासादयति तदा वहनमेवागच्छतीति तद्वदेतदपि द्रष्टव्यम्”—हेतुबि० टी० पृ० १९३ । (१५) नित्यात् । (१६) सह युगपत् । (१७) युगपत् ।

[प्र० वा० १।४५] इत्यादि विरुध्येत ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

उपसंहारमाह–तत इत्यादि । यत एवं स्वलक्षणानि स्वयमभिमतक्षणक्षयपरमाणुलक्षणानि पश्यतोऽपि एको हि ज्ञानसन्निवेशी स्थवीयान् आकारः परिस्फुटमवभासते तदेकान्ते स्वसदसत्समये अर्थक्रियाऽसंभवश्च[1] ततः तस्मात 'यत् सत् तत् सर्वम् अनेकान्तात्मकम्'
५ इति । साध्यान्तरमाह– तदेकान्तस्य [५०ख] इत्यादिना । 'ततः' इत्यनुवर्तते तत उक्तान्न्यायात तदेकान्तस्य क्षणिकैकान्तस्य असत्त्वम् अविद्यमानत्वम । कदा ? इत्यत्राह–उपलब्धिलक्षणप्राप्तौ प्रत्ययान्तरसाकल्यं[2] स्वभावविशेषश्च उपलब्धेः लक्षणं तत्प्राप्तौ । एवं मन्यते–तदेकान्तोऽसन्[3] उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे सति अनुपलभ्यमानत्वात् । ननु यदि तदेकान्तः[4] क्वचित् कदाचित् उपलम्भगोचरः कथमेकान्तेन तदभावः अतिप्रसङ्गात् ? एकान्तेन च तदभाव इति
१० दृश्यते । अथ क्वचित् कदाचित् स तथा[5] नेष्यते; तर्हि असिद्धो हेतुः, विशेषणाऽसिद्धेरिति चेत्; न; अन्यथा अभिप्रायात । नेदं साधनं स्वतन्त्रसाधनाभिप्रायेण प्रयुक्तम्, अपि तु प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण । तथा हि–तदेकान्तो[6] दृश्यश्चेदिष्यते, तर्हि दृश्यस्य सतोऽनुपलम्भात असत्त्वम् । अदृश्यश्चेत्; अप्रमेयत्वं प्रमाणाऽविषयत्वेन व्यवहारानुपयोगित्वात । एतेन 'आश्रयासिद्धिचोदनमप्ययुक्तम्' इत्युक्तम । एतदेव दर्शयन्नाह–अन्यथा अप्रमेयत्वम् इति । प्रसङ्गसाधने हि पक्षद्व[7]-
१५ योत्थापनं नान्यत्र युक्तम् 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तौ' इति वचनाच्च प्रसङ्गसाधनम, अदृश्यादर्शनस्यापि स्वयं गमकत्वोपगमात ।

ननु यदुक्तम–'अन्तः चित्रकारस्येव एकस्य चित्तस्य' इति; तदयुक्तम्; तस्यापि[8] तथाऽनभ्युपगमात[9] । तदुक्तम्–

*"किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि ।
२० यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥" [प्र० वा० २।२१०]

[५१क] इति[10] चेत; तत्रेदं चिन्त्यते–सौत्रान्तिकस्य योगाचारस्य माध्यमिकस्य वा मतमपेक्ष्य इदमुच्येत ? प्रथमपक्षे दूषणमाह–प्रतिभा ऐक्यानेयम इत्यादि ।

---

(१) यथैव अक्रम-नित्यकारणात् क्रमेण कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा तथैव–क्रमिकारणात् अक्रमेण कार्योत्पत्तिरपि विरुद्धैवेति भावः । (२) "उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च । उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यमिति ज्ञानस्य घटोऽपि जनकः अन्ये च चक्षुरादयः, घटाद् दृश्यादन्ये हेतवः प्रत्ययान्तराणि तेषां साकल्यं सन्निधिः ।··· यः स्वभावः सत्सु अन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु सन् प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावविशेषः ।" –न्यायबि० २।१४-१५ । (३) क्षणिकैकान्तः । (४) उपलम्भगोचरः । (५) 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे सति' इत्यसिद्धेः । (६) क्षणिकैकान्तः । (७) 'सत्-असत्' इति । (८) चित्रज्ञानस्यापि । (९) एकं सत् अनेकाकाररूपतया । (१०) "ननु यदि सा चित्रता बुद्धावेकस्यां स्यात्, तया च चित्रमेकं द्रव्यं व्यवस्थाप्येत तदा किं दूषणं स्यात् ? आह–न स्यात्तस्यां मतावपि, न केवलं द्रव्ये तस्यां मतावपि एकस्यां न स्याच्चित्रता । कथम् ? अनेकपुरुषप्रतीतिवत् । कथं तर्हि प्रतीतिरित्याह–यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्–यदीदम् अताद्रूप्येऽपि ताद्रूप्यप्रथनम् अर्थानां भासमानानां नीलादीनां स्वयम्–अपरप्रेरणया रोचते तत्र तथाप्रतिभासे के वयमसहमानाः अपि निषेद्धुम् । अवस्तु च प्रतिभासते चेति व्यक्तमालीक्यम्"–प्र० वा० मनो० ।

[प्रतिभासैक्यनियमे धीर्न स्यादेकाभिलापिनीः ।
प्रतिभासप्रतीर्ति [वा] दधत्येवान्यथात्मनः ॥ १० ॥

यद्ययमेकान्तः अन्तर्बहिर्वा विरुद्धधर्माध्यासे नैकत्वं स्यादिति कथं बहिरर्थविभ्रमचेतसां स्वसंवेदनम् ? कस्यचित् प्रमाणतदाभासस्वभावसाङ्कर्ये चित्तस्य कथं प्रतिभासभेदादिनैकत्वं निराक्रियेत ? सविकल्पकनिर्विकल्पयोः कथञ्चिदेकत्वे सुखदुःखयोरपि तथैव कथन्न भवेत् ? तद[illegible]मवलम्ब्य बहिरन्तर्मुखनिर्भासविभ्रमेतरविकल्पेतरचेतःस्वभावमनेकान्तनान्तरीयकं प्रतिपद्यमानः तद्द्वेषी तत्कारी चेति उपेक्षामर्हति ।] ५

अत्र द्वौ प्रतिभासशब्दौ तत्र आद्यः संवेदनवाची अन्यो विषयाकारवाची । ततोऽयमर्थः संपद्यते–**प्रतिभासस्य** संवेदनस्य **ऐक्यनियमे** [illegible]नियमे अङ्गीक्रियमाणे **धीः** बुद्धिः **एकैव न स्यात्** किन्तु अनेका स्यात् । किं कुर्वती ? **दधती** । किम् ? **प्रतिभासप्रतीर्तिं** विषयाकारगृहीतिम् । कथंभूताम् ? **अभिलापिनीम्** अभिधानवतीम् । कथम् ? **अन्यथा** अन्येन प्रकारेण । कुतोऽन्यथा ? **आत्मनः** स्वरूपप्रतीतेः सकाशात् **अन्यथा** अभिलापिनीम् । एतदुक्तं भवति–आत्मनः प्रतीतिम्*"**सर्वचित्तचैत्तानाम् आत्मसंवेदनं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्**" [न्यायबि० १।१०] इति अ[न]भिलापिनीं प्रतिभासप्रतीर्तिं [1]तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमाम् इत्यभिलापिनीं बिभ्राणा धीः एकैव न स्याद् अनेकैव स्यादिति । तथाहि–बहिरर्थविभ्रमचेतसाम् अन्यैव स्वसंवेदनात् [2]केशोण्डुकादिप्रतीतिः एकस्या भ्रान्तेतराकारद्वया[3]ऽयोगात् । न च सा ज्ञानरूपा (साऽज्ञातरूपा) अस्ति; अतिप्रसङ्गात् । तच्चेतःस्वसंवेदनेन तज्ज्ञाने नास्य विभ्रमः तदाकारानुकरणात्, नीलाकारानुकरणे नीलतावत् । तदाकारस्य ततो भेदे स एव दोषः अनवस्था च । अतदाकारानुकरणे न तेन तज्ज्ञानम्, इतरथा नि[illegible]म् [५१ख] । तस्याः स्वसंवेदनाभ्युपगमे एकस्य रूपद्वयभयात् स्वसंवेदनात् पुनरपि तत्प्रतीतिरन्याऽभ्युपगन्तव्या । 'न च साऽज्ञातरूपाऽस्ति' इति चोद्ये तस्मिन्नेव उत्तरे स एव दोषः अनवस्था च । तदेवं केशोण्डुकादिप्रतीतेः अनुपलम्भेन असत्त्वात तन्निवृत्त्यर्थम् अभ्रान्तग्रहणं प्रत्यक्षलक्षणे कृतमनर्थकम् । व्यवहारेण तत्कारणाददोष इति चेत्; तर्हि तेनैव *"**सर्वचित्त**" [न्यायबि० १।१०] इत्याद्यभिधानाद् एकस्य [illegible] । भवतु इति चेत्; तथा क्रमेणापि एकस्य सा[6] इति तेन क्षणभङ्गसाधनमनवसरम् । न चैतदिष्यते [7]परेण इति साधूक्तम्–**प्रतिभासैक्यनियम** इत्यादि । इदं च व्याख्यानं शास्त्रकारस्याप्यभिमतं न ममैव, वृत्तौ '**यद्ययमेकान्त**' इत्यादेर्वक्ष्यमाणत्वात् । १० १५ २० २५

(१) "तिमिरमक्ष्णोर्विप्लवः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणम् अलातादेः । मन्दं हि भ्राम्यमाणे अलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते, तदर्थम् आशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम् । एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम् । नावा गमनं नौयानम् । गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम् । संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम् । वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते । एतच्च अध्यात्मगतं विभ्रमकारणम् ।"–न्यायबि० टी० १।६ । (२) निरालम्बे नभसि केशाकारा उण्डुकाकारा च प्रतीतिः । (३) अर्थरूपे भ्रान्तं स्वरूपे च अभ्रान्तमिति द्व्याकारी । (४) 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' (न्यायबि० १।४) इत्यत्र । (५) केशोण्डुकादिज्ञानस्य । (६) रूपद्वयप्राप्तिः । (७) बौद्धेन । (८) टीकाकारस्य ।

इदमपरं व्याख्यानम्-**प्रतिभासैक्यनियमे** [illegible] बुद्धिः, 'धीः' इति सामान्यवचनात् कथमियं[1] लभ्यते इति चेत् ? अनन्तरवक्ष्यमाणगच्छाद् (माणस्याच्छब्दाद्) अन्यस्याः तदसंभवात् । सा **एकैव न स्यात्**, **'स्यात्'** इत्यनेन वा अनागतेन सम्बन्धात् । किं कुर्वती ? **दधती** । किम् ? **प्रतिभासप्रतीतिं** विषयाकारसंवित्तिम् । कथम्भूताम् ? **अभिलापिनीम्**
५ अभिलापसंसर्गयोग्याम् *"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना ।" [न्यायबि० १।५] इति वचनात् । पुनरपि किं दधती ? **आत्मनः ।** किंस्वरूपस्य ? **अन्यथा** अनभिलापिनीं प्रतीतिम् । तथा चोक्तम्-[५२क]

***"अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक् ।**
तेन तेषां स्वसंवित्तिः नाभिलापानुषङ्गिनी(णी) ॥" [प्र०वा०२।२४९] इति[2] ।

१० एतदुक्तं भवति-यथा आवृतात् अनावृतं चलाद् अचलं रक्ताद् अरक्तं कृतकाद् अकृतकं रूपमेकान्तेन अन्यत्[3] तथा अनभिलापिन्याः स्वप्रतीतेः अभिलापिनी प्रतिभासप्रतीतिरपि अन्या इति । न च सा अनुपलब्धा अस्ति; अतिप्रसङ्गात् । स्वत एव तदुपलब्धौ तस्याः[4] स्वसंवेदनमविकल्पकम्, अन्यथा प्रकृतमपि न भवेत् । एवं चेत् स एव दोषः- ततः सा भिन्ना इति । पुनरपि स्वत एव तदुपलब्धौ प्रकृतो दोषः । अनुपलब्धौ अनवस्था च । प्रकृतसंवेदनेन तदुपलब्धौ
१५ तस्य तदात्मकत्वे तस्य सविकल्पकत्वं तस्या वा निर्विकल्पकत्वम् । अतदात्मकत्वे तत उत्पन्नेन तदाकारानुकारिणा वा तेन तदुपलब्धौ तस्य सविकल्पकत्वम् । किंच, विकल्पस्य बुद्धिस्वसंवेदनात् तस्याः पूर्वत्वं पुनरपि तस्याः स्वसंवेदनोपगमे समानश्चर्चः, अनवस्था । तदनुपगमे वा अर्थाऽविशेषात् न सा बुद्धेः आकारः स्यात् । तदेवं प्रतीतेः अनुपलम्भेन असत्त्वात् न कल्पना नाम ***"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना"** [न्यायबि० १।५] इत्यस्य लक्षण-
२० स्याऽभावात्, इति तन्निवृत्त्यर्थं कल्पनापोढपदञ्च अनर्थकम् ।

एतेन ***"नहि इमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते च यतः सत्योऽपि अनुपलक्षिताः स्युः ।"** इति [५२ख]

***"सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः ।**
स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः ॥
२५ **ततो यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।**
जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥
ततो यो येन धर्मेण विशेषः संप्रतीयते ।
न स शक्यः ततोऽन्येन तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥" [प्र०वा०३।३९-४१]

---

(१) विकल्पिका । (२) "...रागादीनामनन्यभाक् । तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी ॥" -प्र० वा० ।"...नीलादीनामनन्यभाक् तेषामतश्च संवित्ति..."-तत्त्वसं० पृ० ३७८ । प्रकृतपाठः- सिद्धिवि० टी० पृ० १९० । शा० भा० भामती २।२।२४ ।"...नामादीनामनन्यभाक् । तेषामतो न चान्यत्वं कथञ्चिदुपपद्यते ।"-सन्मति० टी० पृ० १८५ । "...तथा मतो न वाच्यत्वं कथञ्चिदुपपद्यते ।"-तत्त्वसं० प० पृ० २९० । (३) भिन्नम् । (४) अभिलापिन्याः प्रतीतेः ।

इत्यादिकं च प्रकरणं निरस्तम् । कथम् ? कल्पनानामभावे तासामुदयव्ययौ लक्षणं 'व्यावृत्ति-निबन्धना जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते' इति च श्रद्धामात्रमतो(त्रतोऽ)पि दुर्लभमिति नानित्यत्व-सत्त्वयोः साध्यसाधनभावः, अभेदात् । संवृतेः अयं स्यादिति चेत्; ननु संवृतिः[2] विकल्पबुद्धि-रेव 'सा[3] च नास्ति, तत एव चायम्' अति (इति) विरुद्धमेतत् । स्वप्नवद् भ्रान्तेरिति चेत्; न; तत्रापि यदीयं[7] निर्विकल्पिका; न ततो[8] युक्तः । अन्यथा अन्यदापि तत एवेति व्याहृ-तमेतत्-*"सर्व एवायम्" [आ० दिग्नागः] इत्यादि । विकल्पिका चेत्; स एव दोषः-'सैव नास्ति तत एव चायम्' इति विरुद्धमेतत् । ततोऽस्य दोषस्य परिहारार्थं बहिरर्थेतरयोः चित्रेतरा-त्मकं सविकल्पेतरात्मकं वा एकं ज्ञानं सौत्रान्तिकेनापि अभ्युपगन्तव्यमिति कुतोऽस्य कचिन्निरं-शैकान्तसिद्धिः इत्यभिप्रायः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-यद्ययम् इत्यादि । यदि च अयम् अनन्तरमुच्यमानः एकान्तोऽ-वश्यंभावः अन्तः चेतसि बहिर्घटादौ, वा इति समुच्चयां(ये), विरुद्धधर्माध्यासे [५३क] सति नैकत्वं स्याद् भवेत् । इति शब्दः पूर्वपक्षसमाप्तौ । अत्र दूषणमाह-कथम् इत्यादि । बहिरर्थे शुक्लशङ्खादौ विभ्रमः पीतादिप्रतीतिलक्षणः येषां चेतसां विज्ञानानां तानि तथोक्तानि तेषां कथं स्वसंवेदनं प्रत्यक्षम् ? नैव स्यादिति चिन्तितमेतत् । [10]एतेन पर्वतादित्यादेः संलग्नतादौ विभ्रम-चेतसां कथं पर्वतादिग्रहणं प्रत्यक्षमिति द्रष्टव्यम् । 'कस्यचित्' इत्यादिना परमतमाशङ्कते-कस्य-चित्-तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्य प्रमाणतदाभासस्वभावसाङ्कर्ये प्रमाणं यः स्वभावः स्वसंवेदनलक्षणः तदभासो द्विचन्द्रादिग्रहणरूपो यः स्वभावः तयोः साङ्कर्ये कथञ्चित्तादा-त्म्ये चित्तस्य ज्ञानस्य अङ्गीक्रियमाणे दूषणमाह-कथम् इत्यादि । कथं न कथञ्चित् । केन ? इत्याह-प्रतिभासभेद आदिर्यस्य विरुद्धधर्माध्यासकारणदेशकालार्थक्रियादिभेदस्य स तथोक्तः तेन एकत्वं निराक्रियेत ? 'चित्तस्य' इत्येतदत्रापि योज्यं मध्ये करणात, चित्तस्य आत्मन इत्यर्थः ।

एतेन एतदपि निरस्तं यदुक्तं वैशेषिकादिना-*"अयम् इति ऊर्ध्वतासामान्यविशिष्टस्य धर्मिणोऽवधारणम् निर्णयः, स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति विशेषानवधारणं संशयः[11] [न] एक-एव प्रत्ययः एकस्य अवधारणाऽनवधारणात्मकत्वानुपपत्तिः" इति चेत्; दृष्टत्वादप्रतिषेधः ।

(१) साध्यसाधनभावः । (२) "प्रमाणमन्तरेण प्रतीत्यभिमानमात्रं संवृतिः । (पृ० १८१) संवृतिर्नाम विकल्पविज्ञानम् अधिमुक्तिमाह अनादिवासनातः (पृ०१८५) संवृत्यास्तीति भ्रान्तजनापेक्षया अस्तीति (पृ० ३७७)"-प्र० वार्तिकाल० । (३) संवृतिः । (४) साध्यसाधनभावः । (५) भ्रान्तिः । (६) भ्रान्तेः । (७) जाग्रद्दशायामपि । (८) भ्रान्तेरेव । (९) "तथा च अनुमानानुमेयव्यवहारोऽयं सर्वो हि बुद्धिपरिकल्पितः बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभेदेनेत्युक्तम्-आचार्यदिग्नागेनाप्येतदुक्तमित्याह तथा चेत्यादि"-प्र०वा० स्व०, टी०पृ०२४ । (१०) 'पर्वतशिखरे आदित्यः समुदेति' इत्यादौ । (११) "तत्र संशयस्तावद्व-स्तुस्वरूपानवधारणात्मकः प्रत्ययः । अनवधारणात्मकश्च प्रत्ययश्चेति व्याहन्यते ; न व्याघातः स्वरूपाव-धारणात् । स्वरूपमस्य अवधार्यते अस्ति मे संशयज्ञानमिति वस्तुस्वरूपं तु मानेन परिच्छिद्यते ।"-न्यायवा० पृ० १२ । "अयं हि सामान्यविशिष्टधर्म्युपलम्भेन धर्मविशेषानुपलम्भविरुद्धोभयविशेषस्मरण-सहकारिणा जन्यमान इति सामान्यविशिष्टं धर्मिणमवधारयन् स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विशेषमनवधारयन् अनवधारणात्मकः प्रत्ययश्च स्यात् । दृष्टं हि यत्र विलक्षणसामग्री तत्र कार्यमपि विलक्षणमेव यथा प्रत्य-भिज्ञानम् ।"-प्रश० कन्द० पृ० १७६ ।

दृष्टमिदम् [५३ख] एकं ज्ञानं सामान्यविशिष्टवस्तुनः अवधारणात्मकं सत् विशेषानवधारणात्मकमिति । अनेन विपर्ययोऽपि[1] व्याख्यातः । 'सोऽपि हि सामान्यविशिष्टस्य वस्तुनोऽवधारणात्मकः सन् विशेषे विपर्ययः यथा 'स्थाणौ पुरुषः' इति प्रत्यय इति । कथम् ? यदि संशयविपर्ययेतरस्वभावमेकं ज्ञानमिष्यते; तर्हि सामान्यविशेषात्मकं तथैव सर्वं स्यात्, अन्यथा अयमिति स्थाणु-

५ रिति पुरुष इति च प्रत्ययाः परस्परपरिहारस्थितत्तनवे[2] इति न संशयादिव्यवस्था ।

व्याख्याता एकेनार्थेन कारिका, द्वितीयेनेदानीं व्याख्यायते—**सविकल्पनिर्विकल्पयोः चेतः-स्वभावयोः** इति मन्यते । कस्य ? **चित्तस्य** इत्यनुवर्तते । तयोः **कथञ्चिदेकत्वे** अङ्गीक्रियमाणे । तत्र दूषणमाह—**सुखदुःखयोरपि तथैव** तेनैव प्रकारेण **कथं न भवेद्** भवेदेव कथञ्चिदेकत्वमिति । कुत एतत् ? **प्रतिभास** इत्यादि । चर्चितमेतत् । यदुक्तं धर्मोत्तरादिना—*"**कल्पनापोढमभ्रा-**

१० **न्तं प्रत्यक्षम्**" [न्यायबि० १।४] इत्यत्र *"**लौकिकी भ्रान्तिः** [3]**केशोण्डुकादिप्रतीतिरूपा,** [4]**कल्पना च जात्यादिविशिष्टग्रहणात्मिका ।**" तदनेन चर्चितम्, '**कस्यचित् चित्तस्य**' इति वचनात् । स हि कस्यचित् चित्तस्य भवति न पूर्वस्य, अन्यथा कल्पनारहितस्य भ्रान्तस्य वा (चा) संभवात् लक्षणमसंभवि स्यात् प्रत्यक्षस्य । यथोक्तं तेनैव—*"**शास्त्रीया च सकलालम्बनप्रतीतिः** '[5]**सर्वमालम्बने भ्रान्तम्**' **इति राद्धान्तात् ग्राह्यग्राहकाकारप्रतीतं** [५४क] **सर्वं ज्ञानं**

१५ **कल्पना**" इति[6] च । कथमिदमवगम्यते अविशेषेण अभिधानात् ? *"**सा**[7] **हि सर्वविज्ञानसाधारणी, तस्या ग्रहणे न किञ्चिद्विज्ञानं कल्पनापोढमभ्रान्तं वा लभ्येत**" इत्यभिधानात् । तन्निराकुर्वन्नाह—**तदयम्** इत्यादि । **तद्** इत्ययं निपातः 'सः' इत्यस्यार्थे वर्तते । ततोऽयमर्थः—सोऽयं धर्मोत्तरादिः **एकान्तं** क्षणिकनिरंशपरमाणुतत्त्वमात्रम् **अवलम्ब्य** । किम् ? इत्यत्राह—**बहिः** इत्यादि । **बहिश्च अन्तश्च मुखं निर्भासो** यस्य **विभ्रमेतरविकल्पेतरचेतःस्वभावस्य**

(१) विपर्ययोऽपि । (२) स्वतन्त्रस्वरूपाः । (३) "केशोण्डुकादिविज्ञाननिवृत्त्यर्थमिदं कृतम् ।"–तत्त्वसं० श्लो० १३१२ । "तैमिरिकाणामिव केशोण्डुकाद्याभासं विनाप्यर्थसत्त्वादिति ।"–मध्यान्तवि० पृ० १५ । "केशोण्डुकं यथा मिथ्या गृह्यन्ते तैमिरैर्जनैः ।"–लङ्कावतार० पृ० २७४ । "केशोण्डुका नाम पक्षिणः ये केशमूलान्युत्पाटयन्ति ।"–शिक्षासमु० पृ० ७० । "यथा चिरकालीनाध्ययनादिखिन्नस्य अस्थितस्य नीललोहितादिगुणविशिष्टः केशोण्डुकाख्यः कश्चिन्नयनाग्रे परिस्फुटति । अथवा करसंमृदितलोचनरश्मिषु येयं केशपिण्डावस्था स केशोण्डुकः ।" –शास्त्रदी० युक्ति० पृ० ९९ । (४) "अथ कल्पना च कीदृशी चेदाह–नामजात्यादियोजना । यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति । जातिशब्देन जात्या गौरयमिति । गुणशब्देन गुणेन शुक्ल इति । क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणी इति ।"–प्रमाणसमु० टी० पृ० १२ । न्यायप्र० वृ० पृ० ३५ । "जात्यादिसंसृष्टं तु मनोज्ञानं कल्पना इत्यन्ये कथयन्ति ।"–न्यायबि० टी० टि० पृ० २१ । "पूर्वापरमनुसन्धाय शब्दसंयुक्ताकारा प्रतीतिरन्तर्जल्पाकारा वा कल्पना ।"–तर्कभा० मो० पृ० ७ । (५) "सर्वमालम्बने भ्रमः ।··· परमार्थतस्तु सकलमालम्बने भ्रान्तमेव"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २८० । उद्धृतोऽयम्– सन्मति० टी० पृ० ५१२ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० ३२०, ४६७ । (६) "योगाचारमतेन च तथागतज्ञानमद्वयं मुक्त्वा सर्वं ज्ञानं ग्राह्यग्राहकत्वेन विकल्पितं कल्पना ।"–न्यायबि० टी० टि० पृ० २१ । "तस्मादनादितथाभूतानुमानपरम्पराप्रवृत्तमनुमानमाश्रित्य बहिरर्थकल्पनायां ग्राह्यग्राहकसंवेदनकल्पनाप्रवृत्तेः ग्राह्यादिकल्पना, परमार्थतः संवेदनमेवाविभागमिति स्थितम् ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३९८ । (७) कल्पना ।

स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति–बहिर्मुखो विभ्रमः चेतः *"स मालम्बन भ्रान्तम्" [प्र०वार्तिकाल० ३।१९६] इति वचनात्, अन्तर्मुख इतरोऽविभ्रमः चेतःस्वभावः, तथा बहिर्मुखो विकल्पः तत्स्वभावः *"ग्राह्य" [प्र० वा० ३।५३०] इत्याद्यभिधानात् अन्तर्मुख इतरोऽविकल्पः *"सर्वचित्त" [न्यायबि० १।१०] इत्याद्युक्तेः । तं कथम्भूतम् ? इत्यत्राह–अनेकान्तनान्तरीयकं प्रतिपद्यमानः तद् दुष्यते (द्विषतीति) अनेकान्तद्वेषी तत्कारी च अनेकान्तकारी ५ च इति हेतोः उपेक्षाम् अवज्ञाम् अर्हति ।

ननु नाऽसौ तद्द्वेषी तत्कारी च, सर्वदा बुद्धैः (बुद्धेः) एकस्याः चित्रायाः अभिन्नयोगक्षेमत्वेनोपगमात्, एकान्तस्य तु बहिः । तदुक्तं धर्मकीर्तिना–

*"नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक् ।
अशक्यदर्शनस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन् ॥ १०
यद्यथा भासते ज्ञानं तत्तथैवानुभूयते ।
इति नामैकभावः स्यात् चित्राकारस्य चेतसि ॥" [प्र०वा० २।२२०-२१]

प्रज्ञाकरगुप्तेनाप्युक्तम्–[५४ख] *"चित्रकाराप्येकैव बुद्धिः बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं हि बाह्यं चित्रम्, अशक्यविवेचनास्तु बुद्धेः नीलादय आकाराः [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इति चेत्; अत्राह–अन्तर्बहिर्मुखाभादि इत्यादि । १५

[अन्तर्बहिर्मुखाभादि नाक्रमं संवेदिनम् ।
भिनत्ति चेत्क्रमाधीनं भिन्द्यादेव सुखादिकम् ॥११॥

बहिरन्तर्मुखविभ्रमेतरविकल्पाविकल्पप्रमाणेतरत्वादि परस्पर[विभिन्नं] संविदं न भिनत्ति चेत् अवयविनं कथमाक्षिपेत् [हर्षादयो वा कथमात्मानं] यतो नैरात्म्यसिद्धिः ? एकत्राभिन्नविषयेऽपि अभिलापसंसर्गयोग्यायोग्यप्रतिभासयोः संप्लवप्रवर्तनं कथन्नेच्छेत् ? २० वस्तुनः स्वभावभेदस्य वस्तुभेदकत्वात् ।]

अन्तर्बहिश्च मुखं यस्या सा भा ग्राह्यग्राहकप्रतिभास आदिर्यस्य प्रमाणेतरत्वादेः तत् तथोक्तं तत् कर्तृ, संविदं न भिनत्ति, तत्सद्भावेऽपि एकैव संविदिति यावत् । चेद् यदि । कथंभूतम ? अक्रमम् संविदा सह उत्पत्तिदेशकालभावाऽननुभववत् । अनेन अभिन्नयोगक्षेमत्वं दर्शितम् । अत्र दूषणं तदयमुपेक्षामर्हति । इदमत्र तात्पर्यम्–यदि अन्त- २५ र्बहिर्मुखाभादि अक्रमत्वात् संविदं न भिनत्ति तर्हि एकक्षणभाव्यशेषज्ञानजातमपि न भिनत्ति

(१) "रूपादेश्चेतसश्चैवमविशुद्धधियं प्रति । ग्राह्यलक्षणचिन्तेयमचिन्त्या योगिनां गतिः ॥"–प्र० वा० ३।५३० । "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥"–प्र० वा० ३।३५४ । (२) "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्"–न्यायबि० १।१० । (३) "अलब्धधर्मानुवृत्तिर्योगः, लब्धधर्मानुवृत्तिः क्षेमः ।"–प्र० वा० स्व० टी० १। २४ । "प्रतिक्षणं विपयपरिच्छेदलक्षणो योगः तदर्थक्रियानुष्ठानलक्षणश्च क्षेमः परिपालनरूपः ।"–हेतुबि० टी० पृ० ३७ । (४) परस्परं संविदं न भिनत्ति ।

इति एकज्ञानमशेषम् एकदा जगत् , पुनरपि तथा पुनरपि तथैवेति एकसन्तानमात्रमपि, इति *"**परस्मै परार्थानुमानम्**" [न्यायवि० ३।१] इत्ययुक्तम्; परस्य अभावात् ।

एतेन नानाविज्ञानवादी योगाचारोऽपि चिन्तितो द्रष्टव्य इति ।

स्यान्मतम्–नाक्रमत्वाद् अन्तर्बहिर्मुखाभादिना संविद् ऐक्यमनुभवति येनायं दोषः स्यात्,

५ अपि तु कथञ्चित्तादात्म्येनावभासनादिति; अत्रोत्तरमाह–**न क्रमाधीनं भिन्द्यादेव सुखादिकं** क्रमायत्तं सुखम् आदिर्यस्य दुःखादेः तत् तथोक्तम्, तन्न भिन्द्यादेव संविदम्, क्रमभाविसुखाद्यात्मिका एका संवित् स्यात् तथाभासादिति मन्यते । तथा च परस्य क्षणप्रत्यभिज्ञा-[५५क] भङ्गसाधन[मन]वसरम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**बहिरि**त्यादि । **बहिश्च अन्तश्च मुखं** येषां तानि च तानि **विभ्रमे-**

१० **तरविकल्पाविकल्पप्रमाणेतरत्वानि** च तथोक्तानि **आदि**र्यस्य ग्राह्यादिर्नीलाद्याकारनिकुरुम्बस्य तत्तथोक्तम् । कथंभूतं तत् ? इत्याह–**परस्पर** इत्यादि । तत् किं कुर्यात् ? इत्याह–**संविदं** बुद्धिं **न भिनत्ति चेद्** यदि । एतदुक्तं भवति–**बहिर्मुखो विभ्रमः** *"**सर्वमालम्बने भ्रान्तम्**" [प्र० वार्तिकाल० ३।१९६] इति वचनात्, **अन्तर्मुख इतरोऽविभ्रमः** *"**सर्वचित्त**" [न्यायवि० १।१०] इत्याद्युक्तेः । एतेन **विकल्पाऽविकल्पौ** व्याख्यातौ । **प्रमाणेतरत्वे** पुनः बहिर्मुखे

१५ शब्दक्षणिकत्वाद्यपेक्षया चन्द्रद्वित्वाद्यपेक्षया च, अन्तर्मुखे च संवेतनस्वर्गप्रापणादिसामर्थ्यापेक्षया। तदेतद् विभ्रमादिकं ग्राह्यादिकं च एकसंविदात्मकमिति । ननु च विभ्रमेतरावेव प्रमाणेतरत्वे तत्किमर्थम् इत्यदोषः [?] । अत्रोत्तरम्–**हर्षे**त्यादि सुगमम् । अत्र अयम् [भिप्रायः ?] भिनत्ति [?] इति; तदनेन निरस्तम्; एकात्महर्षादौ साम्यात् । भवत्वेवम्; तथापि को दोष इति चेत् ? न कश्चित्, केवलम् *"**यद् यथावभासते तत्तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि यथा नीलं**

२० **नीलतया अवभासमानं तथैव तद्व्यवहारावतारि, प्रतिभासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावाः**" इत्यत्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं हेतोश्च आश्रयासिद्धिः, **यतो नैरात्म्यसिद्धिः** नैव नैरात्म्यसिद्धिः अपि तु सात्मसिद्धिरिति ।

अनेन *"**सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्**" [५५ख] [न्यायवि० ३।९७] इत्यत्र यदुक्तं परेण–*"**प्राणादिसत्त्वस्य (मत्त्वस्य) क्वचित् सात्मके दर्शनात् तदभावेऽपि**

२५ **भावाशङ्काऽनिवृत्तेः अनैकान्तिकत्वम्, विज्ञानसन्तान एव भावाद् विरुद्धत्वं च**" इति; तन्निरस्तमिति दर्शयति । कथम् ? यदि उक्तन्यायेन तत्र दृष्टमपि[10] न दृष्टम् अन्यत्र[11] दृष्टं वोच्यते; तर्हि अग्निमति धूमवत्त्वं दृष्टम् [12]तत्रादृष्टम् अन्यत्र दृष्टं वा कल्प्यताम् ।

---

(१) पुनः द्वितीयादिक्षणभाविज्ञानजातमपि परस्परं संविदं न भिनत्ति इति एकसन्तानमात्रमापतितमिति भावः । (२) प्रतिपाद्यभूतस्य सन्तानान्तरस्य । (३) प्रमाणत्वम् । (४) अप्रमाणत्वम् । (५) सत्त्वचेतनत्वाद्यपेक्षया प्रमाणत्वम्, स्वर्गप्रापणशक्त्याद्यपेक्षया अप्रमाणत्वम् इति ग्राह्यम् । (६) द्रष्टव्यम्–पृ० २ टि० १० । (७) "नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात्"–न्यायवा० पृ० १२३ । (८) "साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात् ॥१०८॥ ···नच सात्मकानात्मकाभ्यां परः प्रकारः संभवति । ततः प्राणादिमत्त्वाद् धर्मिणि जीवच्छरीरे संशय आत्मभावाभावयोरित्यनैकान्तिकः प्राणादिरिति ।"–न्यायवि० टी० पृ० २२२ । (९) सात्मके । (१०) प्राणादिमत्त्वम् । (११) विज्ञानसन्ताने । (१२) अग्निमति ।

यत्पुनरुक्तम्–

*"यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि भवति सास्वतः (शाश्वतः स्नेहः)।

स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषं तिरस्कुरुते ॥" [प्र० वा० १।२१९] इत्यादि;

तदप्यनेन निरस्तम्; यदि हि क्रमाऽक्रमानेकान्तचित्तात्मनि[1] दृष्टे अवश्यं स्नेहादिः संसारस्य[2]; न कदाचित् सौगतस्य मुक्तिः सर्वदा तस्यैव[3] दर्शनात्[4]। ननु अक्रमेणेव क्रमेणापि चित्तमेकं ५ चित्रमस्तु न बाह्यमिति चेत्; अत्राह–**अवयविनः** इत्यादि। **कथमाक्षिपेत्** निराकुर्यात्। ननु चैकत्र अवयवे गुणे वा प्रवृत्तमिन्द्रियं नाऽवयवान्तरं गुणान्तरं वेक्षितुं क्षमते, कथमतः तत्साधारणरूपस्य[6] ग्रहणम्, न च तदात्मकम् अन्यथा वा तदुपलभ्यते इति चेत्; अत्राह–**एकत्र** इत्यादि। **एकत्र अभिन्ने विषयेऽपि** ग्राह्येऽपि न केवलं चित्ते विषयिणि **संप्लवप्रवर्तनं कथं नेच्छेत्?** इच्छेदेव सौगतादिः। कयोः? इत्याह–**अभिलापसंसर्गयोग्यम्** अनेकविशेषसाधारणं सामान्यं १० **तदयोग्यो** विशेषः तयोः **प्रतिभासौ** तयोः, इति चित्तवद् विषयेऽपि सामान्यविशेष- [५६क] प्रतिभासादित्यभिप्रायः। तथा लौकिकी प्रतीतिः 'यमहं पश्यामि तमेवं स्पृशामि, यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामि' इति च।

अथवा, 'अभिलापसंसर्गयोग्यायोग्ययोः प्रतिभासयोः' इति व्याख्येयम्। तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये– १५

*"आत्मनाऽनेकरूपेण" [न्यायवि० १।९] इत्यादि[8]।

एवं तर्हि अभिलापसंसर्गयोग्यस्वभावाक्रान्तम् अन्यत्[9] तद्विपरीतस्वभावाक्रान्तञ्च अन्यद्वस्तु स्याद् [10]"अन्यथा क्वचिदपि तद्भेदो[11]" न स्यादिति चेत्; अत्राह–**वस्तुन** इत्यादि। अत्रैवं मन्यते–द्वौ भेदौ वस्तुनः स्वभावभूतौ यथा ज्ञानस्य[12] विभ्रमेतरत्वादिः, अन्यश्च यथा ज्ञानान्तरस्य, स एव तत्र **वस्तुनः स्वभावः** स्वरूप(पे)यो भेदः तस्य **वस्तुनः अभेदकत्वात्** कथमाक्षिपेत् इति? २० तत्र सौत्रान्तिकमते *"**किं स्यात्**" [प्र० वा० २।२१०] [13]इत्यादि युक्तम्।

यत्पुनरेतद् योगाचारस्य मतम्–

*"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥" [प्र० वा० २।३५४] इति;

तत्रापि तन्न युक्तमिति दर्शयन्नाह– **भागीव** इत्यादि। २५

[भागीव भाति चेत्किन्नासत्क्रमः [illegible]।

लक्ष्यतेऽभागबुद्ध्यात्मा बहिरन्त[illegible]वादिभिः ॥१२॥]

---

(१) कथञ्चित् नित्यानित्यात्मकचित्तसन्तानरूपे आत्मनि। (२) कारणं स्यात्तदा। (३) चित्तात्मन एव। (४) सर्वज्ञत्वात् सुगतस्य। (५) युगपदिव। (६) नानावयवात्मनोऽनेकगुणात्मकस्य च अवयविनः। (७) पदार्थम्। (८) "...बहिरर्थस्य तादृशः। विचित्रं ग्रहणं व्यक्तं विशेषणविशेष्यभाक् ॥" इति शेषः। (९) भिन्नम्। (१०) विरुद्धधर्माध्यासेऽपि भेदाभावे। (११) वस्तुभेदः। (१२) बाह्ये विभ्रमरूपस्यापि स्वरूपेऽविभ्रमात्मनः। (१३) "किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि। यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥"–प्र० वा० २।२१०।

अत्र 'स्वयम् अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा भागीव भाति' इत्येकं दर्शनम्, 'तदनन्तरभाविनी विकल्पिका बुद्धिः तमन्यथाप्रतिभासमपि सभागमिव व्यवस्यति' इत्यपरम्। तत्र प्रथमं दर्शयित्वा तावद् दूषयति-**न** विद्यते **भागो** यस्य स चासौ **बुद्ध्यात्मा** च बुद्धिरेव। स किम् ? इत्याह- **भाति** । क इव ? **भागीव** । कैः ? इत्याह-**बहिरन्तर्मुखादिभिः** आदिशब्देन संवित्ति-
५ परिग्रहः । तदुक्तं [५६ख] परेण *"**ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवान्**" [प्र० वा० २।३५४] इति **चेद्** यदि; दूषणम्-**अक्रमः** सुखादिक्रमरहितः **अविभाग (अभाग) बुद्ध्यात्मा किन्न क्रमवान् इव** सुखादिक्रमवानिव **भाति** इति संबुद्धौ (सम्बन्धः) । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवत् सुखादिभेदोऽपि न तात्त्विक इति तत्संवेदनस्य प्रत्यक्षत्वदर्शनवर्णनमनर्थकम् । ननु यद्यसौ[२] क्रमवान् प्रतिभाति क इवार्थः ? न हि नीलं नीलतया प्रतिभासमानं नीलमिव युक्तम् । अथ तथा
१० न प्रतिभाति, तथापि क इवार्थः ? न खलु नीलमपीततयाऽवभासमानं पीतमिव भवितुमर्हतीति चेत्; तर्हि यदि ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवत् प्रतिभाति क इवार्थः ? अन्यथापि क इवार्थ इति समानम् ।

किञ्च, यदि अविभागः प्रमाणतः स कदाचिन्न प्रतिपन्नः स्यात्; तदा अन्यदा सवि- भागदर्शनात् सविभाग इव इति युक्तो व्यवहारः, अजलस्य मरीचिकाचक्रस्य कदाचिद्दर्शनात्
१५ तत्र जलमिव इति व्यवहारवत् । न चैवमिति निरूपयिष्यते अनन्तरमेव '**स्वयमद्वयस्य द्वय- निर्भासप्रतीतेः**' इत्यनेन । तथा च निराकृतमेतत्-

*"**अविभागोऽपि**" [प्र० वा० २।३५४] इत्यादि ।

*"**मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणां यथा मृच्छकलादयः ।**
अन्यथैवाऽवभासन्ते तद्रूपरहिता अपि ॥
२० **तथैवाऽदर्शनात्तेषामनुपप्लुतचक्षुषाम् ।**
दूरे यथा वा मरुषु महामाल्यादि (महानल्पोऽपि) दृश्यते ॥
यथादर्शनमेवेयं मानमेयफलस्थितिः । [५७ क]
क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम्॥" [प्र०वा०२।३५५-५७] इति [च];

कथम् ? दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः असाम्यात् । न हि यथा अनुपप्लुतचक्षुषां मृच्छकलादि-
२५ दर्शनमन्यथा तथा बुद्ध्यात्मदर्शनमिति । न च दृष्टान्तमात्रादभिमतार्थः सिद्धिमुपगच्छति, अन्यथा सर्वं सर्वस्य सिध्येत् तदविशेषात् । एतेनैतदपि निरस्तम्-

*"**अन्यथैकस्य भावस्य नानारूपावभासिनः ।**
सत्यं कथं स्युराकाराः तदेकत्वस्य हानितः ॥" [प्र०वा० २।३५८] इति ;

दृश्यमानस्य नानारूपावभासतः सत्यताविरहात्, परमार्थस्य च दर्शनविरहान्न किञ्चित्

(१) सुखादिसंवेदनस्य । (२) अविभागबुद्ध्यात्मा । (३) जलरहितस्य । (४) मरीचिकाचक्रे । (५) सुवर्णादिरूपेण । (६) सुवर्णादिरूपात् भिन्नतया मृच्छकलादित्वेनैव । (७) अविभागरूपेण न कदाचिदपि भवतीति भावः । (८) दर्शनविपयीभूतस्य संवेदनस्य । (९) असत्यत्वात् । (१०) अद्वयस्य अविभागिनः ।

स्यात्, इति *"यथादर्शनमेवेयं मानमेयफलस्थितिः" आहो 'यथातत्त्वम्' इति कुतो निश्चयः ?

स्यान्मतम्–न क्रमभाविसुखादिव्यतिरिक्तेभावा (क्तोऽभाग)[1] बुद्ध्यात्मा अनुभूयते, केवलं क्रमजन्मसुखादि दनात्, कथं स[2] क्रमवानिव भाति इत्युच्यते ? अन्यथा खरविषाणं तथा भाति इति; ग्राह्याकारव्यतिरिक्तोऽपि नाऽनुभूयते 'नीलादिकमहं वेद्मि' इति सर्वदा प्रतीतेः ५ इति समानम् । तदाकारकल्पने[3] सन्तानान्तरवत् प्रसङ्गः[4] । यत्पुनरेतत्प्रसङ्गः[5] ।

यत्पुनरेतत्– प्र ज्ञा क र गु प्त स्य प्र ति भा सा द्वै त सि द्धि प्र क र णे चोद्यम्– *"यद्यसौ[6] क्रमवानवभासमानोऽपि क्रमवानिव भातीत्युच्यते तर्हि असन् सन्निव अचेतनश्चेतन इव भातीति किन्नोच्यते ?" इति; तदपि प्रकृते भवति न वेति चिन्त्यम् । तन्न प्रथमं दर्शनम् । १०

द्वितीयं दूषयति दर्शयित्वा–**भागीव भाति बुद्ध्यात्मा बहिरन्तःसुखादिभिः लक्ष्यते** [५७ख] निरंशदर्शनपृष्ठभाविविकल्पेन निश्चीयते **चेद्** यदि । अत्र दूषणम्–**अक्रमः किन्न क्रमवानिव लक्ष्यते** तेनैव विकल्पेनाव्य (नाध्य)वसीयते इति ? न्यायस्य समानत्वात् सर्वस्य ।

किञ्च, विकल्पोऽपि तथा तं व्यवसन् (स्यन्) ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवान्[7] भवति न वेति चक्षुषी निमील्य उन्मील्य वा चिन्तय तावत् । यदि स कुतश्चित् तथा[8] भवति; तद्वत्रि १५ (तद्वत् स) एव बुद्ध्यात्मा तत एव तथा भवतु इति किं विकल्पकल्पनया ? तत्रापि पुनस्तथा कल्पने अनवस्था । न च परस्य विकल्पो नाम इत्युक्तम् । तन्न द्वितीयमपि दर्शनं श्रेयः ।

कारिकायाः सुगमत्वाद् व्याख्यानमकृत्वा 'यद्यप्यभागबुद्ध्यात्मा भागीव क्रमवानिव वा भाति लक्ष्यते वा तथापि सौगतस्य पुरुषाद्वैतवादिनो वा मतं सिध्येत् न जैनस्य । [न] हि तथा[9]-भासनात् स तथैव भवति, न खलु जलमिव मरीचिकाचक्रं[10] जलमेव भवति' इति चोद्यं मनसि २० निधाय दूषयन्नाह–**[तत्र] सद्भिः** इत्यादि ।

[तत्र सद्भिरसद्भिर्वा एकत्वं कस्यचिद्यदि ।
तथैव किन्नानेकान्तः क्रमवद्भिरक्रमात्मनः ॥१३॥]

इदमत्र तात्पर्यम्–'**भागीव**' इति वचनात् तत्र बुद्ध्यात्मनि भासमाना अपि ग्राह्यादयो भागा न परमार्थसन्तः, असन्तोऽपि न बुद्ध्यात्मनो भिन्ना एव । *"**वित्तेर्विषयनिर्भास**" २५ [सिद्धिवि०] इत्यादि वक्ष्यमाणदोषात् । ततः ते ततः कथञ्चिदभिन्ना अभ्युपगन्तव्या इति ।

नन्वेवमपि '**असद्भिः**' इति वक्तव्यम् न्याय्यत्वात् किं '**सद्भिः**' इत्यनेन विपर्ययादिति चेत् ; सत्यम् ; तथापि *"**यद् यथावभासते** [५८क] **तत्तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि**

(१) अविभागबुद्ध्यात्मा । (२) चेत् । (३) ग्राह्याकारकल्पने । (४) ग्राह्याकारः ग्राहकाकारः संविदाकारश्च भिन्नसन्तानः स्यात् । (५) 'यत्पुनरेतत्प्रसङ्गः' इति द्विर्लिखितम् । (६) विकल्पः । (७) ग्राह्यग्राहकादिभेदवान् । (८) भागीव क्रमवानिव वा । (९) भागी क्रमवान् वा । (१०) भासमानम् ।

यथा नीलं नीलतयावभासमानं तथैव तद्व्यवहारावतारि, अवभासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावाः'' इत्यभिधाय यदि ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभागवत्तया भासमानोऽपि बुद्ध्यात्मा तथैव परमार्थसन्न भवेत ; तेनैव हेतोर्व्यभिचारः स्यात् , तस्मात् 'तथैव परमार्थसन्' इति प्र ज्ञा क र स्य प्रदर्शनार्थम् **'सद्भिः'** इति वचनं व्याख्यातम् [इति] तात्पर्यार्थः ।

५ शब्दार्थो व्याख्यायते–**सद्भिः** विद्यमानैः सच्चेतनादिवद् **असद्भिः** अविद्यमानैः मरीचिकातोयादिवत् [चेति] समुच्चये । कैः ? इत्याह–**बहिरि**त्यादि । **आदि**शब्दः संवित्तिग्रहणार्थः । तैः किम् ? इत्याह **यदि** इत्यादि । **कस्यचित्** इति सामान्यवचनं पूर्वस्य विकल्पस्य च बुद्ध्यात्मनः संग्रहार्थम् , **एकत्वं** सिध्येत । अत्र दूषणम् **तथैव** इत्यादि । **[तथैव]** तेनैव प्रकारेण सुखदुःखादिभिः क्रमवद्भिः **सद्भिः असद्भिर्वा किन्न अक्रमात्मनः**

१० सिद्धिः स्याद् एकत्वस्य इति मन्यते । ततः किं सिद्धम् ? इत्याह–**अनेकान्त** इत्यादि । उभयथापि सद्भिर्वा एकत्वप्रकारेण असद्भिरपि एकत्वे एकस्य विभ्रमेतरत्वसिद्धिः नैरात्म्यसिद्धेरभावः ।

एवं परस्य अनिष्टसिद्धिं प्रदर्श्य अधुना अत्रैव पूर्वपक्षे इष्टाभावं कथयन्नाह–**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।

१५ **[प्रत्यक्षमविभागं चेच्चित्तं भागीव किं बहिः ।**
नान्तस्तदेव प्रत्यक्षं कल्पनापोढमञ्जसा ॥१४॥

कल्पनापोढाभ्रान्तस्यापि विकल्पभ्रान्तिसंभवे प्रत्यक्षतदाभासयोः किं कारणमाश्रित्य भेदं लक्षयेदिति प्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरं शक्यं वक्तुम् , चन्द्रमेकं पश्यतोऽपि द्विचन्द्रभ्रान्तिः मानसी स्वयमविभागबुद्धौ कल्पनारचितग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदसंवेदन-

२० **वत् । बहिरप्यनुमानादिनिर्णयज्ञानं सविकल्पकमिव कुतश्चित् प्रतिभाति । तन्न प्रत्यक्षपरोक्षविषयव्यवस्था, प्रमाणेतरव्यवस्थाऽभावे तत्त्वेतरव्यवस्थाऽयोगात् ।]**

अविभागं भागीव सिवानिव (भागवानिव) **भाति चेत्** यदि **चित्तं** ज्ञानम् । अत्र दूषणमाह–**अन्तः** स्वरूपे **तदेव** चित्तं **प्रत्यक्षं कल्पनापोढं** [५८ख] कल्पनापोढत्वात् तदपि अभ्रान्तत्वात् यत् परेणोक्तं **'न लक्ष्यते'** इति पूर्वकारिकाक्रियापदेन सम्बन्धः ।

२५ **अञ्जसा** परमार्थेन [न] केवलम् इच्छयैव लक्ष्यत इत्यर्थः । निरंशस्य सांशतया अवभासंते (सने) विभ्रमस्य सदाकारसाधारणतया च कल्पनायाः वं कल्पनाया स्वभावादसिद्धो हेतुः इत्यभिप्रायः ।

ननु च प्रथमं दर्शनम् अविभागमेव आत्मानं पश्यति तदनन्तरभाविविकल्पस्तु तत्सभागमिव व्यवस्यति ततोऽयमदोष इति चेत् ; अत्राह–**किं बहिरि** [ति] **'न'** इत्येतदत्रापि सम्बन्ध-

(१) ग्रहण्यम्–पृ० २ टि० १० । (२) बुद्ध्यात्मनैव । (३) ग्राह्यग्राहकादिभेदवत्त्वेन । (४) बौद्धस्य । ''प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्''–प्र०समु० श्लो० (५)''कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्''–न्यायबि० १।४। (६) 'व कल्पनाया' इति पुनरुक्तम् । (७) निर्विकल्पम् । (८) स्वरूपम् ।

नीयं मध्ये करणात् । ततोऽयमर्थः **बहिः** चन्द्रादौ चित्तं सर्वे (सर्वं) **किन्न प्रत्यक्षं** कल्पना-**पोढम्** अभ्रान्तं लक्ष्यते किन्तु लक्ष्यत एव ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**प्रत्यक्ष** इत्यादि । **प्रत्यक्षं** च **तदाभासं** च तयोः । **किम्** न किञ्चिद् वन (बाह्य) **कारणं** निमित्तम् **आश्रित्य भेदं लक्षयेत् ?** आकस्मिकं लक्षयेद् इत्यर्थः । कदा ? इत्यत्राह–**कल्पना** इत्यादि । **कल्पनापोढस्य अभ्रान्तस्यापि 'चित्तम्'** ५ इत्यनुवर्तमानं[1] जात 'तौ'परिणामम् इह सम्बध्यते 'चित्तस्य' इति । अपिशब्दः परा-भ्युपगमसूचकः । **विकल्पभ्रान्तिसंभवे** एकस्य सदसदाकारसाधारणस्य भावात् **विकल्पस्य** नि-रंशस्य [illegible] अवभासभावाद् **भ्रान्तेश्च संभवे** सति । एतदुक्तं भवति–प्रत्यक्षत्वस्य कल्पनापोढाऽभ्रान्तत्वे व्यापके, ते च स्वविरुद्धकल्पना-भ्रान्तिव्याप्त [५९क] सर्वज्ञानेभ्यो व्यावर्तमाने स्वव्याप्यं प्रत्यक्षत्वमादाय निवर्त्तेते इति न प्रत्यक्षं नाम, तद्भावे[2] न तदाभासं[3] १० तदपेक्षत्वादस्य, **इति** तर्हि कल्पनापोढ (ढाऽ) भ्रान्तत्वाऽभावेऽपि **प्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरस्मात्** (**न्तरमस्मात्**) **शक्यं वक्तुं** प्रतिपादयितुम । किम् ? इत्याह–**चन्द्रम्** इत्यादि । **चन्द्रग्रहणम्** **एकग्रहणं** वा उपलक्षणं तेन संख (शङ्ख) करितुरगादिशुक्लतद्देशादिग्रहणं तं **पश्यतोऽपि** चक्षुर्ज्ञानेन साक्षात्कुर्वतोऽपि न केवलम् अपश्यतः । किम् ? इत्याह–**द्विचन्द्रभ्रान्तिः** इति । अत्रापि **द्विचन्द्र**-ग्रहणम् उपलक्षणनिमिति (क्षणमिति) स्वापादौ देशादिग्रहणं तस्य **भ्रान्तिः** अन्यथाग्रहणम् , सा च १५ **मानसी** इति द्रष्टव्या । तं पश्यतो[4][5] ऽन्यस्याऽसंभवात् । कस्य इव ? इत्यत्राह–**स्वयम्** इत्यादि। **स्वयम्** आत्मनः **अविभागा** निरंशा या **बुद्धिः** तस्यां **कल्पनारचिता** [**ग्राह्य**] **ग्राहकसंवित्ति-भेदाः** तेषां **संवेदनस्य** इव **तद्वत्** इति । एतदुक्तं भवति–यथा अविभागबुद्धिं पश्यतोऽपि ग्राह्य-ग्राहकसंवित्तिभेदसंवेदनं भ्रान्तिः मानसी तथा प्रकृताऽपि इति । तस्मात् **प्रत्यक्षे**त्यादि स्थितम् । पूर्वं 'प्रत्यक्षाभावात् तदाभासभेदं न लक्षयेत्' इत्युक्तम् , इदानीं 'तदाभासाऽभावात् प्रत्यक्षमिदं २० न लक्षयेत्' इत्युच्यते । ततो निराकृतमेतत्–

*"[6]**त्रिविधं कल्पनाज्ञानम् आश्रयोपप्लवोद्भवम् ।**
अविकल्पकमेकं च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम् ॥" [प्र० वा० २।२८८] इति ।

कथम् ? प्रत्यक्षाभस्य विकल्पस्य कस्यचिदभावात् । नेनु[7] द्विचन्द्रभ्रान्तिः मानसी चेत्; किमिदानीमिन्द्रियज्ञानं ? यद् [५९ख] इन्द्रियस्य भावाऽभावाभ्यां भावाऽभाववत् तत्त- २५ स्येति चेत्; द्विचन्द्रादिज्ञानम् अत एव तस्य[8] अस्तु । तस्य विकारे यद् विकारवत् तत्तस्येति चेत्; एतदपि अनेन नोत्सृष्टम् । तदुक्तम्–

---

(१) 'ता' इति षष्ठी । (२) प्रत्यक्षाभावे । (३) प्रत्यक्षाभासम् । (४) इन्द्रियप्रत्यक्षेण विषयी-कुर्वतः । (५) इन्द्रियभ्रान्तेः । (६) "त्रिविधं कल्पनाज्ञानं प्रत्यक्षाभं मरीचिकायां जलाध्यवसायि भ्रान्ति-ज्ञानम् संवृतौ विसंवादिव्यवसायसांवृतज्ञानम् पूर्वदृष्टैकत्वकल्पनाप्रवृत्तं लिङ्गानुमेयादिज्ञानम् । अविकल्प-कं चैकम् प्रत्यक्षाभम् । कीदृशम् ? आश्रयस्य इन्द्रियस्य उपप्लवः तिमिराद्युपघातः तस्माद् भवो यस्य तत्तथा । एवञ्च चतुर्विधञ्च प्रत्यक्षाभासम् ।"–प्र० वा० मनो० । (७) तुलना–"यदि तावत् मानसमेतत् द्विचन्द्रादिज्ञानमिन्द्रियभावाभावानुरोधि न स्यात् ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३६ । (८) इन्द्रियस्य ।

*"[1]किन्त्विन्द्रियं य [द्] क्षाणां भावाभावानुरोधि चेत् ।
तत्तुल्यं विक्रियावच्चेत् मा चेयं न किमिष्यते ॥" [प्र० वा० २।२९६]

किञ्च, द्विचन्द्रादिभ्रान्तिर्मानसी चेत ; तर्हि सर्पादिभ्रान्तिवत् इन्द्रिय विकृतावपि निवर्तेत, अक्षविप्लवे निवृत्तेऽपि वा न निवर्तेत । एतदप्युक्तम्–

५ *"[2]सर्पादिभ्रान्तिवच्चास्याः स्यादक्षविकृतावपि ।
निवृत्तिर्न निवर्तेत निवृत्तेऽप्यक्षविप्लवे ॥" [प्र० वा० २।२९७]

अपि च, सर्पादिभ्रान्तिवद् एतस्याः[3] शब्दैः तद्वाचकैः अन्यसन्ताने समर्पणं पूर्वदृष्टद्विचन्द्रादिस्मरणापेक्षणम् अपरिस्फुटप्रतिभासनञ्च स्यात[4] । तथा चोक्तम्–

*"कदाचिदन्यसन्ताने तथैवार्प्येत वाचकैः ।
१० दृष्टस्मृतिमपेक्षेत न भासेत परिस्फुटम् ॥" [प्र० वा० २।२९८]

इति चेत ; तन्न; अस्य प्रकृतेऽपि समानत्वात् । तथाहि–ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदसंवेदनं भ्रान्तिश्चेत्[5] मानसी; किम् इदानीमिन्द्रियज्ञानम ? इन्द्रियभावा[भावा]नुरोधि चेत ; तत्तुल्यमितरत्रापि । एवं शेषमपि वक्तव्यम् । तथापि इयं मानसी; तथा द्विचन्द्रादिभ्रान्तिरपि स्यादिति मन्यते ।

१५ एतेन एतदपि निरस्तं यदुक्तं परेण–*"निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्" [प्र० वार्तिकाल० ३।३३१][6]इति; कथम् ? वादिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् । अथ प्रतिवादिनं प्रति न तस्य [६०क] तद्विकलतेत्यदोषः; तर्हि प्रतिवादिनोऽनुसरणे न अविभागबुद्ध्यात्मसंवेदनसिद्धिः ।

एवम् *"अविकल्पकमेकं च प्रत्यक्षम् (क्षाभं)" [प्र० वा० २।२८८] इत्येतत् २० निराकृत्य *"त्रिविधं कल्पनाज्ञानं प्रत्यक्षाभम्" [प्र० वा० २।२८८] इत्येतत् निराकुर्वन्नाह–बहिः इत्यादि । अन्तः[7] परेण[8] अनुमानादेः अविकल्पकत्वमिष्यते इति बहिर्ग्रहणम्, तत्रापि[9] कल्पनापोढम् । किं तत ? इत्याह–अनुमानादिनिर्णयज्ञानम् इति । आदिशब्देन भ्रान्तिसंवृति स(सज्)ज्ञानादिपरिग्रहः । प्रत्यक्षवत् यदि अनुमानादि अविकल्पकम् ; [10]तद्गृहीतेऽपि समारोपः स्यादिति तन्निरासार्थं निर्णयज्ञानं सविकल्पकमिव मानसविकल्प इव २५ कुतश्चिद् विकल्पवशात् प्रतिभाति इति निराकृतमेतत्–*"भ्रान्ति[:] संवृतिसं(सज्)-

(१) "किन्त्विन्द्रियं-यदक्षाणां…संवेयं किन्निषिध्यते । …"तिमिरज्ञानं भ्रममनिच्छतोऽपि किं कीदृशमैन्द्रियज्ञानमिष्यते ? यदक्षाणां भावाभावयोरनुरोधि स्वभावाभावाभ्यामनुवर्तकं तदैन्द्रियमिति चेत् ; तत इन्द्रियभावाभावानुरोधित्वं तैमिरिकज्ञानस्यापि तुल्यम् । न हि इन्द्रियव्यापारमन्तरेण तैमिरिकज्ञानमुत्पद्यते । इन्द्रियविकारेण विक्रियावज्ज्ञानमैन्द्रियं चेत् ; द्विचन्द्रादिज्ञानानां तिमिरादीन्द्रियविकारेण विक्रिया । सैवेयम् अभूतार्थोपदर्शनात्मिका भ्रान्तत्वनिमित्तमुक्ताऽस्माभिः किं निषिध्यते ?"–प्र० वा० मनो० (२) यथा रज्जौ सर्पादिभ्रान्तिः मानसी इन्द्रियविकारे सत्यपि मानसविमर्शात् निवर्तते । (३) द्विचन्द्रादिभ्रान्तेः । (४) इन्द्रियस्य अकारणत्वात् स्पष्टप्रतिभासो न स्यात् । (५) ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदसंवेदनरूपा भ्रान्तिः । (६) "अत एव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदिति प्रमाणस्य परिशुद्धिः"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३५९ । (७) स्वरूपे । (८) बौद्धेन । (९) बहिरपि । (१०) अनुमानगृहीतेऽपि ।

ज्ञानम्'' [प्र०समु०१।८] इत्यादि । तथाऽव्यवहाराभावः अन्यत्रापि समानः ।

''[2]द्विविधो हि अर्थः प्रत्यक्षः परोक्षश्च, तत्र यो ज्ञानप्रतिभासं स्वान्वयव्यतिरेकावनुकारयति स प्रत्यक्षोऽर्थः अन्यः परोक्षः'' इत्येतदिदानीं दूषयन्नाह–तन्न इत्यादि । तत् तस्मात् उक्तन्यायात् न प्रत्यक्षव्यवस्था कल्पनापोढस्याऽभ्रान्तस्य विकल्पभ्रान्तिसंभवे न प्रत्यक्षार्थो लक्षणाभावादिति मन्यते । नापि परोक्षविषयव्यवस्था तैमिरिकं प्रति परोक्षत्वेन अभिमतस्य एकचन्द्रादेः आनुमानिकं च प्रति पावकादेः स्वप्रत्यक्षत्वादिति भावः । ततो निराकृतमेतत्–''प्रमाणं द्विविधं मेयद्वैविध्यात्'' [प्र० वा० २।१] इति; हेतोरसिद्धत्वात्[3] । अत्रैव धर्मिणोऽसिद्धिं दर्शयन्नाह–प्रमाणेत्यादि । [६०ख] प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्[4] इतरद् अप्रमाणम् तयोर्व्यवस्थाने (स्थाऽभावे), एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–तत्त्वेतर इत्यादि । तत्त्वं परमार्थाद्वयं ज्ञानम् इतरः अपरमार्थो द्विचन्द्रादिः तयोर्व्यवस्थाऽयोगात् उक्तन्यायेन तन्नि [षेधात्] । १०

[तन्न] योगाचारमतेऽपि *''किं स्यात्'' [प्र०वा०२।२१०] इत्यादि युक्तम् । केवलं *''मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः'' [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इत्येतत् *''तदेतन्नूनमायातम्'' [प्र० वा० २।२०९] इत्यादि च माध्यमिकस्य दर्शनमवशिष्यते, तत्रापि तन्न युक्तमिति दर्शयन्नाह–आत्मसंवेदनम् इत्यादि ।

[आत्मसंवेदनं भ्रान्तेरभ्रान्तं भाति भेदिवत् । १५
प्रत्यक्षं तैमिरं चान्द्रं किन्नानेकान्तविद्विषाम् ॥१५॥

न हि भ्रान्तेः स्वसंवेदनं भ्रान्तं युक्तम्, तदप्रत्यक्षत्वे विषयवत्स्वभावासिद्धिप्रसङ्गात् । नापि तत् सर्वथा अभ्रान्तमेव स्वयमद्वयस्यापि द्वयनिर्भासप्रतीतेः । यदि पुनः इदं प्रत्यक्षमेव तिमिराभ्युपहतचक्षुषां किन्न स्यात् ? तद्'''।]

भ्रान्तेः अन्तर्बहिर्विभ्रमस्य यदात्मनः स्वरूपस्य संवेदनं ग्रहणं तदभावे अर्थवत् २० तदसिद्धेरिति मन्यते । तत् अभ्रान्तम् अवितथम्, काक्वा[6] व्याख्येयमेतत् । यदीति वा अध्याहार्यम्, अन्यथा भ्रान्तेरसिद्धिः । अत्र दूषणमाह–भाति भेदिवत् । भाति चकास्ति तत्संवेदनं भेदी चित्रपतङ्गादिः तेन समानं तद्वत् । एतदुक्तं भवति–यथा चित्रपतङ्गादिः एकानेकरूपतया भाति तथा तत्संवेदनमपि विभ्रमेतरैकानेकरूपतया इति । केषां तदित्थम् ? इत्यत्राह–अनेकान्तविद्विषाम् विभ्रमैकान्तवादिनाम् । अत्रैव दोषान्तरमाह–प्रत्यक्षम् २५ इत्यादि । चन्द्रस्य इदं चन्द्रविषयं चान्द्रम् । किं सर्वम् ? न, तैमिरं तिमिरग्रहणं भ्रान्ति-

---

(१) ''भ्रान्तिः संवृतिसज्ज्ञानमनुमानानुमानिकम् । स्मरणं चाभिलाषश्चेत्यक्षाभासं सतैमिरम् ॥८॥ मरीचिकादिषु जलादिकल्पनाद् भ्रमज्ञानं प्रत्यक्षाभासम् । संवृतिसत्यं हि स्वस्मिन् अर्थान्तरमारोप्य तत्स्वरूपकल्पनात् प्रत्यक्षाभासम् । अनुमानं तत्फलं च पूर्वानुभवकल्पनात् न प्रत्यक्षम् ।''–प्र०समु० वृ० १।८ । (२) ''न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः ।''–प्र०वा०३।६३ । ''यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत् स्वलक्षणम् । अन्यत् सामान्यलक्षणम् ।''–न्यायबि० १।१३, १७ । (३) सामान्यविशेषात्मन एकस्यैव प्रमेयत्वात् । (४) ''प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् ।''–प्र० वा० २।१ । (५) ''इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः । यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥''–प्र० वा० । (६) 'काकु' इति प्रश्नपद्धती ।

कारणोपलक्षणम्, तस्माद् आगतम् द्विचन्द्रादिज्ञानमिति यावत् । तत् किम् ? इत्याह–**प्रत्यक्षं भावेव** **भाति** च कथञ्चित् प्रत्यक्षमित्यर्थः । केषाम् ? [६१क] **अनेकान्तविद्विषाम्** एव । तथा च यदुक्तं तैरेव–*"यदवभासते न तत् सत् यथा द्विचन्द्रादि, अवभासते च ज्ञानघटादि" इति; तन्निरस्तम्; सर्वथा विभ्रमस्य [2]दृष्टान्तेऽपि न सिद्धिरिति भावः ।

५ *"[3]एकानेकत्वाद्यशेषविकल्पशून्यं स्वसंवेदनमात्रनिष्ठं तत्त्वम्" इत्यपरः माध्यमिकः । तं प्रति आह–**आत्मसंवेदनम्** इत्यादि । **भ्रान्तेर्**नीलादिबुद्धेः स्मार्थ (रयमर्थः) *"निरालम्बनाः स्वरूपालम्बनाः प्रत्ययाः" [प्र० वार्तिकाल० पृ० ३६५] इत्यभिधानात् **आत्मसंवेदनं** स्वरूपग्रहणम् **अभ्रान्तम्** विभ्रमाकारशून्यम् अन्यथा सकलविकल्पशून्यताऽसिद्धेरिति मन्यते । अत्र दूषणम् **भ्रान्ति (भाति)** तदात्मसंवेदनं प्रतिभासते **भेदिना** चित्र-

१० पतङ्गादिना समानमिति । एतदुक्तं भवति–सर्वविकल्पातीतत्वेन निरंशस्य ग्राह्याकारैः सांशस्य इव भासनात् कथं तदभ्रान्तम् यतः प्रकृतमर्थतत्त्वं सिध्येत् ? तथापि प्रत्यक्षत्वे दूषणमाह–**प्रत्यक्षं** तदात्मसंवेदनम् **तैमिरं चान्द्रं** द्विचन्द्रादिविषयं ज्ञानम् **किन्न** प्रत्यक्षम् अपि तु प्रत्यक्षमेव । केषाम् ? इत्यत्राह–**स्याद्वादविद्विषां (अनेकान्तविद्विषाम्)** सर्वविकल्पातीतैकान्तवादिनाम् । तथा च *"यद् विशददर्शनावभासि न तत् परमार्थसत् यथा द्विच-

१५ न्द्रादि, तदवभासि च जाग्रत्स्तम्भादि ।" इत्यत्र बौद्धिनो दृष्टान्ते साध्यहीनता इत्यभिप्रायः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**नहि** इत्यादि । **भ्रान्तेः** बहिरन्तर्विभ्रमैकान्तस्य **स्वस्य** स्वरूपस्य **संवेदनं** ग्रहणं **नहि भ्रान्तम्** शक्यं **युक्त**मुपपन्नम् किन्तु अभ्रान्तमेव युक्तम् इति [६१ख] अनेकान्तसिद्धिः । अस्यानभ्युपगमे दूषणमाह–**तद्** इत्यादि । **तस्य** भ्रान्तिस्वसंवेदनस्य **अप्रत्यक्षत्वे** भ्रान्तत्वे इत्यर्थः **विषयवत्** घटादिवत् **स्वभावासिद्धिप्रसङ्गात्** भ्रान्तिस्वभावासिद्धिप्रस-

२० ङ्गात् । तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये–

*"विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिध्यति" [न्यायवि० १।५४] इति ।

द्वितीयमर्थं कथयन्नाह–**नापि** इत्यादि । पक्षान्तरसूचकः **अपि**शब्दः **सर्वथा** सर्वात्मना **तत्** भ्रान्तेः आत्मसंवेदनम् **अभ्रान्तमेव** । **नापि** न केवलं सर्वथा **न भ्रान्तमेव** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना सौगतोपगमाद् **अद्वयस्यापि तत्** (स्वसं)वेदनस्यापि

२५ सर्वविकल्पातीतस्य **द्वयनिर्भासप्रतीतेः** संवेदनग्राह्याकारैः एकानेकाकारप्रतीतेः । ननु च यदि नीलादिसुखादि ग्राह्यम् न ततोऽपरं [ग्राहकं] ग्रहणं वा प्रतीयते । अथ तद् ग्राहकम्; नापरं

(१) आशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादिकारणानामुपलक्षणम् । (२) द्विचन्द्रादौ । (३) "भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः । यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥"–प्र० वा० ३।३६० । (४) "ततो निरालम्बनाः सर्व एव प्रत्ययाः स्वप्नप्रत्ययवदिति कोऽर्थः ? स्वरूपालम्बनाः ।" (पृ०३६५) "निरालम्बनशब्दस्य स्वांशालम्बाभिधेयता ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३७२ । (५) माध्यमिकस्य । (६) "स्वरूपे सर्वमभ्रान्तं पररूपे विपर्ययः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३७२ । (७) नीलादिसुखादितः । तुलना– "तस्माच्च नीलादिव्यतिरेकेण बोधो बुद्धिरिति निरूप्यते । नीलाद्व्यतिरेकेण विषयिज्ञानमीक्षते । ज्ञानपृष्ठेन भेदस्तु कल्पनाशिल्पिनिर्मितः ॥"–प्र० वार्तिकाल०पृ० ४०६ । "नहि सितासितादिव्यतिरेकेण ग्राहकादिता प्रतिभासमानोपलभ्यते ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३७२ ।

ग्राह्यं ग्रहणं वा इति तदुक्तं 'स्वयम्' इत्यादि इति चेत्; तन्न 'अहं नीलादिकं वेद्मि' इति प्रतीतेरपलापे सर्वापलापप्रसङ्गात् ।

एतेन एतदपि निरस्तं तदुक्तं परेण-*"यन्निमित्तमस्ति अयं ग्राह्याकारः अयं ग्राहकाकारः अयं संवेदनाकार इति व्यवस्था, तस्य चेद् भेदः तर्हि तेषामपि भेद एव इति नैकं 'तदात्मकं युक्तम् , अन्यथा न तद्व्यवस्था ।" इति; कथम् ? एवं प्रतिभागं विचारणे सर्वस्य ५ परमाणुगमने न सन्तानान्तरसिद्धिः सकलशून्यतामात्रम् अत्राणं वा । अत एव एकानेकरूप-[६२क] विकल्पशून्यप्रतिभासमात्रमपि न युक्तम् । ततः प्रतिभासमात्रमभ्युपगच्छता 'नीलमहं वेद्मि' इत्येकं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यमिति सूक्तम्-'स्वयम्' इत्यादि । तथापि तदभ्रान्तमभ्युपगच्छतो दूषणमाह-यदि पुनः इत्यादि । इदम् अद्वयं द्वयनिर्भासवत् संवेदनं यदि पुनः प्रत्यक्षमेव संविदपि नाप्रत्यक्षम् इति एवकारार्थः । तिमिराभ्युपहतचक्षुषां किन्न स्यात् ? स्यादेव संवेदनं प्रत्यक्षमेव १० चन्द्रादिविषयम । कुत एतत् ? इत्यत्राह-तद् इत्यादि । सुगमम् । पूर्वव्याख्यानेऽपि एतदेव योज्यम् । अयं तु विशेषः तत्र कथञ्चिद् इति । तन्न माध्यमिकदर्शनेऽपि *"किं स्यात्" [प्र०वा० २।२१०] इत्याद्युपपन्नम् ।

उक्तमर्थमुपसंहृत्य दर्शयन्नाह-स्वार्थस्वलक्षणम् इत्यादि ।

[स्वार्थस्वलक्षणं ज्ञानं लक्षयेत् परिणामि च । १५
अन्तर्बहिश्च तत्क्वेदं प्रत्यक्षं कृतलक्षणम् ॥१६॥

अन्तः स्वलक्षणस्य परमार्थतो द्वयनिर्भासप्रतीतेः बहिरेकस्य स्थवीयसः प्रतिभासनात् । तदेकं स्थवीयांसं परिणामिनमाकारं सकललोकसाक्षिकमभ्रान्तं सन्दर्शयन्ती बुद्धिः अनेकान्तसिद्धिः स्वयमेकान्तं निराकरोतीति किन्नश्चिन्तया ?]

स्वस्वलक्षणमर्थस्वलक्षणं च स्वं स्वग्रहणयोग्यं वा अर्थस्वलक्षणं कर्मतापन्नं ज्ञानं २० कर्तृ परिणामि च उक्तन्यायेन लक्षयेत् निश्चिनुयात् पराभ्यु [पगत] परिणामं च इत्युक्तम् । क ? इत्यत्राह-अन्तर्बहिश्च इति । अन्तः स्वस्वलक्षणम् बहिः अर्थस्वलक्षणम् । ततः किं जातम् ? इत्यत्राह-तत् क्वेदम् इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् क [क]चित् बहिरन्तर्वा इदं सौगतेन उच्यमानम् किम् ? प्रत्यक्षम् । कथंभूतम् ? कृतलक्षणं*"कल्पनापोढमभ्रान्तम्" [न्यायबि० १।४] इति कृतं लक्षणं यस्य तत् तथोक्तम्, कचिदपि इति । यदि वा, २५ प्रत्यक्षं दर्शनग्राह्यं वस्तु कृतलक्षणं निश्चितस्वरूपं क इति व्याख्येयम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-अन्तः इत्यादि । [६२ख] अन्तःस्वलक्षणस्य ज्ञानस्वलक्षणस्य द्वयनिर्भासप्रतीतेः एकानेकाकारप्रतीतेः । किम् ? परमार्थतो न विपर्यासात् अन्यथाभूतस्य अन्यथाग्रहणात् । बहिः एकस्य इत्यनेन *"सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः" इति

---

(१) ग्राह्याद्यात्मकम् । (२) "...सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि । यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ।"-प्र० वा० ।

परस्य मतं न युक्तमिति दर्शयति । 'स्थवीयसः' इत्यनेन 'निरंशपरमाणुमात्रं तत्त्वम्' इति निराचष्टे[2] 'प्रतिभासनात्' इत्यतः तस्य विकल्पविषयत्वम्[3] । ततः किम् ? इत्यत्राह-तदेकम् इत्यादि । तस्य अन्तर्बहिःस्वलक्षणस्य एकम् अनेकरूपसाधारणं स्थवीयांसम् अत एव परिणामिनम् विवक्षितेतरपर्यायवन्तम आकारं लक्षणं सकललोकसाक्षिकम् अभ्रान्तं सन्दर्शयन्ती बुद्धिः
५ अनेकान्तसिद्धिः [अनेकान्ता सिद्धिः] निर्णीतिः यस्या सा तथोक्ता स्वयं वा तस्य सिद्धिः । सा किं करोति ? इत्यत्राह-स्वयम् इत्यादि । स्वयम् आत्मनैव न परेण एकान्तं निराकरोति, अनेकान्तसिद्धेः एकान्तनिषेधात्मकत्वादिति मन्यते । इति हेतोः किं नः अस्माकम् चिन्तया एकान्तनिषेधार्थपरीक्षयेति ?

ननु कथमेकान्तं सा निराकरोति एकान्तविषयानुमानेन बाधितत्वादिति चेत ? अत्राह-
१० ज्ञानम् इत्यादि ।

[ज्ञानं स्वार्थबलोद्भूतं स्वलक्षणविलक्षणम् ।
सामान्यलक्षणं सिद्धिरनेकान्तात्तथेक्षणात् ॥१७॥

यथा अन्तर्बहिर्वा परपरिकल्पितलक्षणं स्वलक्षणं प्रत्यक्षलक्षणं न पुष्णाति तथैव सामान्यम् । क्वचित्'''द्रव्य''''''।]

१५ ज्ञानं स्वग्राह्यस्य अर्थस्य न लिङ्गादेः बलेन उद्भूतम् उत्पन्नम् 'अध्यक्षम्' इति यावत् । यथा स्वलक्षणविलक्षणं निरंशक्षणिकपरमाणुग्रहणपराङ्मुखं तथा सामान्यलक्षणं सामान्यं लक्ष्यते यस्य [६३क] येन वा तत्तथोक्तं ज्ञानम् 'अनुमानम्' इति यावत् 'स्वलक्षणविलक्षणम्' इति सम्बन्धः । तथा च कुतः तेन तद्बुद्धेर्वा इति भावः । यथातथाशब्दावन्तरेणापि प्रतिवस्तूपमालङ्काराश्रयाणादयमर्थो लभ्यते । कुतस्तर्हि तत्त्वसिद्धिः ? इत्यत्राह-सिद्धिः
२० तत्त्वस्य आत्मलाभः निर्णीतिर्वा अनेकान्ताद् अनेकान्तमाश्रित्य तेन हेतुना वा । कुतः ? तथेक्षणात् अनेकान्तप्रकारेण सर्वस्य दर्शनादिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-यथा इत्यादि । यथा येन प्रकारेण अन्तर्बहिर्वा स्वलक्षणं कर्मतापन्नं प्रत्यक्षलक्षणम् अध्यक्षप्रमाणं कर्तृ न पुष्णाति न गृह्णाति । कथंभूतं तत् ? इत्याह-परपरिकल्पितं सौगतकल्पितं तथैव सामान्यं "विषयिणि विषयशब्दोपचारात् अनुमानं तत् (तन्न)
२५ पुष्णाति इति । 'परपरिकल्पितम्' इत्येतदत्रापि योज्यम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह-द्रव्य इत्यादि सुगमम् । तत्त्वं न पुष्णातीति ।

अथवा, अन्यथा कारिकेयमवतार्यते-यदि सौगतकल्पितम[illegible] दर्शनं न क्वचिदस्ति तर्हि इदमस्तु[7]-

*"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
३० बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥" [मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ११२]

(१) बौद्धस्य । द्रष्टव्यम्-पृ० २५ टि० १० । (२) निराकरोति । (३) निराचष्टे इति सम्बन्धः । (४) बुद्धिः अनेकान्तसिद्धिः (५) सामान्यविषयके अनुमाने । (६) सामान्य । (७) मीमांसकाभिमतम् ।

इति चेत्; अत्राह–**ज्ञानम्** इत्यादि। अत्रापि प्रतिवस्तूपमालङ्काराश्रयणात् यथा **ज्ञानं स्वार्थस्य** निरंशक्षणिकपरमाणुरूपस्य **बलेन उद्भूतम्** अविकल्पं दर्शनम् **स्वलक्षणविलक्षणं** स्वग्राह्यपराङ्मुखं तथा **सामान्यलक्षणं** सामान्यविषयं [६३ख] **स्वलक्षणविलक्षणं** स्वविषयग्रहणपराङ्मुखम्। उभयत्र 'लक्ष्यत इति लक्षणम्' इति व्युत्पत्तेरयमर्थः। कुत एतत्? इत्याह–**सिद्धिः** निर्णीतिः स्वलक्षणस्य सामान्यस्य **अनेकान्ताद्** अनेकान्तमाश्रित्य **तथेक्षणात्** तथा वा (तथैव) दर्शनात्। ५

यथा इत्यादिना कारिकार्थमाह–**यथा अन्तर्बहिर्वा स्वलक्षणं परपरिकल्पितं** सौगतकल्पितं **न** प्रमाणसिद्धं कर्तृ **प्रत्यक्षलक्षणं** *"**कल्पनापोढमभ्रान्तम्**" [न्यायबि० १।४] इत्यध्यक्षस्वरूपं कर्मतापन्नं **न पुष्णाति** तत्र स्वरूपासमर्पकत्वात्, तथैव परपरिकल्पितं **सामान्यं** तन्न पुष्णाति इति। कुत एतत्? इत्यत्राह–**क्वचित्** इत्यादि। एतदपि कुतः? इत्यत्राह–**द्रव्य** इत्यादि। १०

इतश्च सामान्यलक्षणमनुमानादि परस्य स्वलक्षणविलक्षणमिति दर्शयन्नाह–'**अङ्गीकृता**' इत्यादि।

[अङ्गीकृतात्मसंवित्तेर विकल्पोपवर्णनम्।
अनुमाद्यात्माऽविकल्पेनार्थस्याविकल्पनात् ॥१८॥

स्वानुभवमन्तरेण बुद्धेर्न स्वार्थानुभवः। यथा ज्ञानसत्तामात्रेण अर्थानुभवे न १५ **सर्वस्य सर्वदर्शित्वं संभवति तथैव अनिश्चितस्वानुभवसत्तामात्रेणापि अर्थनिश्चये तन्निश्चय इति सर्वस्य सर्वनिश्चय इति 'यः स्वभावो निश्चयेन न निश्चीयते स कथं तद्विषयः स्यात् बहिरर्थवत्' यतः प्रत्यक्षमविकल्पकं भवेत्? परतः संवेदने वा अनवस्थादेः।]**

अङ्गीकृता नैयायिकादिनिरासेन अभ्युपगता सौगतेन **आत्मसंवित्तिः** सर्वचित्तचैत्तानां स्वरूपगृहीतिः तस्या **अविकल्पोपवर्णनं**[1] निर्विकल्पत्वादि, **अनुमानादिः (मादिः)** २० तस्यात्**मा** स्वरूपं तस्य **अविकल्पो** निर्विकल्पकत्वं तेन **अर्थस्य** क्षणक्षयादेः **अविकल्पनाद्** अनिश्चयात् अविषयीकरणात्। *"**तत्र यः स्वभावो निश्चयैर्न निश्चीयते स कथं तेषां विषयः स्यात्।**" इत्यभिधानात् इति कथं तैः अनेकान्तसिद्धेः बुद्धेः बाधनमिति भावः।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**स्वानुभव** इत्यादि। **स्वानुभवं** स्वरूपग्रहणम**न्तरेण बुद्धेः** ज्ञानिस्या **(र्न स्वा)र्थस्य** [६४क] घटादेः **अनुभवो** ग्रहणं **यथा** येन **ज्ञानसत्तामात्रेण अर्थानुभवे** सन्ता- २५ नान्तरज्ञानसत्तामात्रापेक्षयादि (यापि) तदनुभवे **सर्वस्य सर्वदर्शित्वम् इति** प्रकारेण **न संभवति तथैव** तेनैव **अनिश्चितस्वानुभवसत्तामात्रेण अर्थनिश्चये** सन्तानान्तरज्ञानतन्मात्रेणापि **तन्निश्चय इति सर्वस्य सर्वनिश्चय इति** प्रकारेण स्वनिश्चयमन्तरेण स्वार्थनिश्चयो न तु संभवति इति सम्बन्धः। तथा च अनुमानम्–यत्र यस्य यदनिश्चितस्वरूपं ज्ञानं तत्र तस्य तदपेक्षया न परमार्थतो निश्चितव्यवहारः यथा घटादौ देवदत्तस्य यज्ञदत्तज्ञानापेक्षया न तथा तद्व्यवहारः, अनि- ३० श्चितस्वरूपं च सौगतस्य सर्वत्र सर्वविकल्पज्ञानमिति। अथ स्वविकल्पस्य विषयीकरणम् अन्यस्य

(१) "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्।"–न्यायबि० १।१०। (२) आत्मान्तर। (३) अर्थनिश्चयः।

विपर्ययः ततोऽयमदोष इति चेत्; अत्राह–**यः स्वभावः** इत्यादि । **यः स्वभावो** यत्स्वरूपं **निश्चयैर्न निश्चीयते स** स्वभावः **कथं** नैव **तेषां** निश्चयानां **विषयः स्याद्** भवेत् । अत्र दृष्टान्तमाह–**बहिरर्थ इव तद्वत्** इति । तथा च प्रयोगः–न स्वरूपं निश्चयानां विषयः तैः[1] तदनिश्चयात् बहिरर्थवत् । अस्य तद्विषयत्वे स्वलक्षणगोचरत्वं तेषामनिष्टं [स्यात्] । स्यान्मतम्–स्वरूपस्य दर्शनं बहि-
५ रर्थस्य ततो विशेष इति; न; अनिश्चितस्य क्षणिकत्ववद् दर्शनमिति कुतः ? सिद्धं फलं दर्शयन्नाह–**यत** इत्यादि । **यतः** तस्य तद्विषयत्वात् **प्रत्यक्षमविकल्पं** सर्वचित्तचैत्तानाम् आत्मसंवेदनं [६४ख] **भवेत्** । **यत** इति वा आक्षेपे, नैव भवेत् । अथ निश्चयानां स्वभावः निश्चयान्तरैर्निश्चीयत इत्यदोषः; तत्राप्याह–**परतः** इत्यादि । **परतः** अनुभवान्तरात् निश्चयान्तराच्च **संवेदने** निश्चये **वा** निश्चयानाम् **अनवस्थादेः** आदिशब्देन अविशेष्यविशेषणस्याविशेषः सौगतवैशेषिकयोरिति ।
१० ततो यथा वैशेषिकस्य अनुभवाभावेन प्रत्यक्षादेरभावात् *"**प्रत्यक्षानुमानागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तो हेतुः कालात्ययापदिष्टः**"[2] इत्ययुक्तम्, तथा सौगतस्य *"**अनिराकृतः**" [न्यायबि० ३।४०] इत्यपि[3], कस्यचित् [illegible]भावादिति भावः ।

ननु सौगतस्य अन्यस्य वा एकान्तवादिनो [न] कश्चित् प्रत्यक्षं कृतलक्षणम्, तद्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा न पुष्णाति । कथम्भूतं तर्हि तत्[6] कीदृशं वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा
१५ पुष्णाति इति चेत् ? अत्राह–**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं प्रसन्नाक्षेतरादिषु ।
यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता ॥१९॥

प्रत्यनीकधर्मसाधारणसंवित्स्वप्रमितेः असाकल्यसंभवे विषयस्वलक्षणेऽपि किन्न भवेत् इति किमाश्रित्य तत्राप्रमाणत्वम् ? प्रसन्नाक्षबुद्धेः सर्वथा संवादिनियमायोगात्
२० **किन्न प्रमाणमपि । दृष्टे प्रमाणान्तरावृत्तेः । उपप्लुताक्षाणामपि विनैव लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्त्या अर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तावविसंवाददर्शनात् । तावता च प्रामाण्यसिद्धेः ।]**

अत्रायमर्थः–यदा केनचित् चक्षुरादिसामग्र्यनुपचरितं प्रत्यक्षं प्रमाणमिष्यते तदा तत्र प्रसङ्गसाधनसामर्थ्यात् ज्ञानत्[illegible], तथाविधप्रत्यक्षप्रमाणस्य ज्ञानत्वेन व्याप्तेः । किमर्थमिति चेत् ? तदनभ्युपगच्छतः प्रसङ्गविपर्ययात्, तज्ज्ञानं प्रत्यक्षं प्रमाणं यथा स्यादिति । यदा तु
२५ केनचिद् अविशदं व्याप्त्यादिज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते तदा ज्ञानं विशदं प्रत्यक्षमिति साध्यते वक्ष्यमाणप्रमाणान्तरसद्भावाऽन्यथानुपपत्तेः । '**ज्ञानम्**' इति एकवचनं जात्यपेक्षया सर्वविशद-[६५क] ज्ञानपरिग्रहार्थम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**प्रसन्नाक्षेतरादि**[8] प्रसन्नाक्षाः पुरुषा इतरे अप्रसन्नाक्षाः, आदिशब्देन आसन्न-अ[illegible]ः, तेन यथा येन प्रकारेण यत्र

(१) निश्चयैः । (२) निश्चयस्य । (३) स्वरूपविषयत्वे । (४) "प्रत्यक्षागमविरुद्धः कालात्ययापदिष्टः"–न्यायकलि० पृ० १५ । न्यायकुमु० पृ० ३२० टि० ७ । (५) न युक्तम् । "स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्षः"–न्यायबि० । (६) प्रत्यक्षं वा । (७) प्रत्यक्षम् । (८) तुलना–"यथयैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ।"–लघी० श्लो० २२ । उद्धृतमिदम्–त० श्लो० पृ० १७० । अष्टस० पृ० १६३ । सम्मति० टी० पृ० ५९५ । (९) अनुपचरित ।

विषये विशदं तथा तेन प्रकारेण तत्र विषये 'प्रत्यक्षम्' इति सम्बन्धः, इतरत्र तदेव पमा(परो)-क्षमित्यभिप्रायः । न केवलं प्रत्यक्षम् अपि तु **यथा** येन प्रकारेण **यत्र** प्रसन्नाक्षेतरादिषु ज्ञानेषु मध्ये यस्मिन् ज्ञाने **अविसंवादो** वर्णनं (अवञ्चनम्) **तथा** तेन प्रकारेण **तत्र** ज्ञाने **प्रमाणता** । अनेन एतत् कथयति–सर्वं संसारिज्ञानं स्वगोचरे विशदमविशदं प्रमाणमन्यथा च इत्यनेकान्तः, तथा तत्साध्यमपि तदेव पुष्णाति इति । अथ कोऽयमविसंवादो नाम? स्वार्थव्यवसायः *"**नातः परोऽविसंवादः**" इति वचनादिति चेन्; स्वप्नादौ प्रसङ्गात् । तत्रापि[1] हि स्वार्थव्यवसायलक्षणस्य अविसंवादस्य भावात् विज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणेतरप्रविभागविलोपः ।

स्यान्मतम्–न तत्र[2] स्वार्थौ[3] बाध्यमानत्वात्, अतो न तद्[4]व्यवसायलक्षणोऽविसंवाद इति । ननु[5] किमिदं बाध्यमानत्वम्? तद् यदि प्रतिभासकाले ज्ञानान्तरेण बाधकेन स्वरूपापहारः असत्त्वज्ञापनं वा; तर्हि अश्रद्धेयम् । नहि ज्ञानस्य इतरस्य वा स्वरूपमपहर्तुं शक्यम्, प्रतिभासमानस्य अप्रतिभासप्रसङ्गात् । नापि असत्त्वज्ञापनम्; जाग्रत्स्तम्भादौ प्रसङ्गात् । यदि पुनस्तत्र[6] 'मिथ्या वितर्कितमेतत्' इति प्रत्ययाऽभावान्नायं दोष इति मतिः, सापि न युक्ता [६५ख] असत्येऽपि कदाचिद्भावात् सत्येऽप्यभावात् । प्रत्ययस्यापि सदर्थत्वे समानो दोषः; अनवस्था च । अथ कालान्तरे; तदा असतः सर्वथा कोऽपहारः अन्यद्वा । तन्न स्वार्थव्यवसायोऽविसंवादः । उपलब्धस्य पुनःपुनरुपलब्धिः फलेन वाऽभिसम्बन्धः स[7] इति चेत्; न; तस्य[8] क्षणिकत्वान्नाशेन तदसंभवात्[9], स्वप्ने भावाच्च । ततो न कचिद् अविसंवाद इति ।

अत्र प्रतिविधीयते–एवं हि सर्वप्रतिभासाऽविशेषे [10]प्रमाणेतरप्रविभागाऽभावाद् अर्थवत् कुतः स्वसंवेदनमात्रसिद्धिः, यतः प्रतिभासाद्वैतमन्यद्वा स्यात्? प्रतिभासात्सिद्धौ[11]; बहिरर्थसिद्धिः । [12]अत एव अत्र स्वप्नेऽपि तत्सिद्धेर्हि विभ्रमेतरवियोगः[13], [14]अपरत्र बहिरर्थसिद्धेः असौगतं जगत् स्यात् । प्रतिभासविशेषः अन्यत्रापि न वार्यते । ननु बुद्धेः स्वसंवेदनमस्तु प्रतिभासनात् नान्तर्बहिरर्थो विपर्ययात घटादीनामपि स्वसंवेदनात्मकत्वादिति चेत; तर्हि *"**यद् ग्राह्यतया ज्ञानवपुषि प्रतिभाति तदसत् तैमिरिककेशादिवत्, [15]तत्र प्रतिभाति च तथा जाग्रद्घटादिकम्**" इत्यत्र वादिनोऽसिद्धो हेतुः । प्रतिवादिनः[16] सिद्ध इति चेत; न; प्रमाणतः[17] तत्सिद्धौ द्वयोरपि सिद्धः,

(१) स्वप्नादावपि । (२) स्वप्नादौ । (३) वस्तुतः स्वार्थौ । (४) स्वार्थव्यवसाय । (५) तुलना–"कोऽयं बाधो नाम–परेण विषयाभावज्ञापनं स पदीप्यते । स्वार्थे प्रवृत्तिमज्ज्ञानमभावं ज्ञापयेत् कथम् ॥ न तावज्ज्ञानान्तरेणाभावः स्वप्नज्ञानस्यान्यस्य वा केनचित् क्रियते तत्काले तस्य स्वयमेव नाशात् । नाक्षिनिमीलनान्नष्टे ज्ञाने बाध्यता प्रतीयते । अन्येन न हि ज्ञानेन तस्य विषयापहारोऽसत्ताज्ञापनलक्षणो बाधः··· विजातीयविदुत्पत्तिर्यदि बाधकमुच्यते । घटज्ञाने पटज्ञानं बाधकं किन्न युक्तिमत्···तस्माद् यथा जाग्रत्प्रत्ययः स्वप्नप्रत्ययस्य बाधकः तथा विपर्ययोऽपि केवलग्रहणादिति न्याय एषः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ४–७ । (६) जाग्रत्स्तम्भादौ । (७) अविसंवादः । (८) प्रथमज्ञानस्य । (९) पुनः पुनरुपलम्भस्य फलेन वाभिसम्बन्धस्याभावात् । (१०) "व्यवहारमात्रमेवेदं स्वप्नास्वप्नभेदो नाम तथा प्रमाणाप्रमाणभेद इति हि वक्ष्यते ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५ । (११) स्वसंवेदनमात्रसिद्धौ । (१२) प्रतिभासमात्रादेव । (१३) विभ्रमेतरविभागाभावः । (१४) जाग्रदवस्थायाम् । (१५) ज्ञाने । (१६) जैनादिकस्य । (१७) तुलना–"यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम, परस्येव आत्मनोऽपि वादिनः सिद्धत्वात्, प्रमाणसिद्धस्य सर्वेषामविप्रतिपत्ति-

प्रमाणस्य कश्चित् पक्षपातेतरयोः अयोगात् । अभ्युपगमात्[1] तैत्सिद्धौ[2] न ततः कस्यचित् साध्यसिद्धिः अतिप्रसङ्गात्, इतरथा सौगतप्रसिद्धेन उत्पादविनाशात्मत्वेन घटवत् सुखादौ अचेतनत्वं साधयन्[3] सांख्यः ध र्म की र्ति ना किमिति प्रतिक्षिप्तः[4] ? [६६ क] प्रसङ्गसाधनत्वाददोषः, तथाहि—जाग्रद्घटादीनां ग्राह्यत्वेन अवभासनं चेदङ्गीक्रियते बहिरर्थवादिना, तर्हि तेषां[5] तैमिरिकोपलब्ध-

५ केशादिवदसत्त्वमभ्युपगन्तव्यम्, इतरथा न कस्यचिदित्येकान्त इति चेत्; न; अस्य प्रसङ्गसाधन-लक्षणाऽभावात् । यत्र हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः[6] प्रदर्श्यते तत् प्रसङ्ग-साधनम् । न चैतदत्रास्ति । स्वसंवेदनैकान्ते वादिप्रतिवादिनोः स्वप्नादावपि स्तम्भादीनां ग्राह्यत्वेन प्रतिभासाऽसिद्धेः कस्याऽसत्त्वेन व्याप्तिः यदभ्युपगम इतराभ्युपगमनान्तरीयकः प्रदर्श्येत ? परस्य सिद्धं सर्वमेतदिति चेत्; उक्तमत्र 'प्रमाणतस्तत्सिद्धौ उभयोः सिद्धम्, इतरथा परस्यापि न सिद्धम्'

१० इति । यदा च कश्चिद् गुडं विषं मारणात्मकं वा अभ्युपगम्य पुनर्मोहात् शर्करादिकमपि 'विषम्' इत्यवगच्छति, स किं विदुषैवं वक्तव्यः—यदि "तत् विषम्' इत्यभ्युपगच्छति तर्हि तन्न खादयेन म्रियसे, उक्तो[12] भक्षयित्वा किं म्रियते वा ? ततः सिद्धं हेतुमभ्युपगच्छता अभ्युपगन्तव्य एव बहिरर्थप्रतिभासः इत्ययुक्तं विपर्ययादिति[13] ।

अपि च, घटादीनां कुतः स्वसंवेदनात्मकत्वम् ? *"**यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादि,**

१५ **अवभासन्ते च घटादयः, जडस्य प्रतिभासाऽयोगात्**" इत्यनुमानादिति चेत्; उच्यते—जडस्य प्रतिभासाऽयोगः तत्र प्रतिभासाभावः । तत्र यद्ययं जडं कश्चित् विपक्षं न प्रतिपद्यते; कथं तत्र[17] साधनाभावमवैति ? नहि अप्रतिपन्नभूतलस्य 'अत्र [६६ख] भूतले घटो नास्ति' इति निश्चयो भवति, अन्यथा *"**क्वचिद् देशविशेषे प्रतिपत्तृप्रत्यक्षे**" इति[18] च वाचा (वचो) न जाघटीति । यथा च जडेऽप्रतिपन्नेऽपि तत्र प्रकृतसाधनाभावनिश्चयः तथा सर्वज्ञे अनुपलब्धेऽपि

२० तत्र वक्तृत्वादिसाधना(न)भावः कथन्न निश्चीयते ? यत इदमनुमानम्[20]—सुगतः सर्वज्ञः परम-वीतरागो वा न भवति वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवत्' इति । अथवा, यद्यपि जडं किञ्चिन्नोप-लभ्यते तत्र तथापि साधनाभावनिश्चयः तदभावादिति । कुत एतत् ? अनुपलम्भादिति चेत्; किं

विषयत्वात्'''यत् प्रमाणमन्तरेण सिद्धं तत् परस्यापि न सिद्धम् ।"—अष्टश०, अष्टस० पृ० ३६-३७ ।

(१) परस्य अभ्युपगमात् । (२) हेतुसिद्धौ । (३) 'सुखादयोऽचेतनाः उत्पत्तिमत्त्वात् घटादिवत्' इत्यादिना । (४) "कश्चिद् बहिःस्थितानेव सुखादीनप्रचेतनान् । ग्राह्यानाह न तस्यापि सकृद्युक्तो द्वय-ग्रहः ॥"—प्र० वा० २।२६८ इत्यादिना । "अचेतनाः सुखादयः इति साध्ये उत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम् ।"—न्यायबि० ३।६० । प्र० वार्तिकाल० पृ० ४७० । (५) घटादीनाम् । (६) अन्तरा विना भवतीति अन्तरीयकः विनाभावी, न अन्तरीयकः नान्तरीयकः अविनाभावीत्यर्थः । (७) प्रति-वादिनः । (८) वादिप्रतिवादिनोः । (९) प्रमाणतः सिद्ध्यभावे । (१०) प्रतिवादिनोऽपि । (११) शर्करा-दिकम् । (१२) एवं कथितो वा । (१३) 'न बहिरर्थो विपर्ययात्' इति । (१४) "यदेव दृश्यते तदेवाभ्यु-पगम्यते । तथाहि प्रतिभासात्मभूतमेव नीलमवभासते नापरं ततः प्रतिभासव्यतिरेकेण न प्रमाणम् ततो ना-भ्युपगमः ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३८९ । (१५) जडे । (१६) प्रतिभासाद्वैतवादी । (१७) जडे । (१८) "तत्रानुपलब्धिर्यथा न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटः = क्वचिदिति प्रतिपत्तृप्रत्यक्षे क्वचिदेव प्रदेशे इति"—न्याय-बि०, टी० २।१२ । (१९) 'प्रतिभाससमानत्वात्' इति । (२०) मीमांसकोक्तं न भवेत् । (२१) जडाभावात् ।

पुनः सर्वज्ञोपलम्भोऽस्ति ? [1]सोऽयम् 'अनुपलम्भमात्रात् सर्वज्ञाभावमनिच्छन् तेत एव जडाभावमिच्छति' इति स्वेच्छावृत्तिः, सर्वज्ञवत् जडस्यापि केनचिदुपलम्भाऽविरोधात् । ततो धर्मकीर्तिना यदुक्तम् [तदयुक्तम्]

*"यस्याऽदर्शनमात्रेण व्यतिरेकः प्रसाध्यते ।
तस्य संशयहेतुत्वात् [3]शेषवत्तदुदाहृतम् ॥" [प्र० वा० ३।१३] इति । ५

तदभ्युपगच्छता अदृष्टे जडे न साधनाभावोऽभ्युपगन्तव्यः । प्रज्ञाकरगुप्तस्तु *" तत्कार्ये कारणे वाऽप्रतिपन्ने न कारणकार्यभावनिश्चयः परचैतन्ये वाऽविषयीकृते न तस्य स्वदृष्टे वृत्तिः निश्चीयते" इति वदन् जडेऽदृष्टेऽपि हेत्वभावं प्रत्येति इति कथमनुन्मत्तः ? ननु [4]तस्मिन्नप्रतिपन्नेऽपि 'स्वतो वा परतो वा जडस्य प्रतिभासः स्यात्' इत्यादिविचारात् साधनाऽभावः प्रतीयते इति चेत् ; उच्यते—यद्ययं न प्रमाणम् , कथमतः क्वचित् कस्यचित् विधिप्रतिषेधयोः सिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? प्रमाण[६७क]त्वेऽपि न प्रत्यक्षम् ; परामर्शात्मकत्वाद् विचारस्य, तद्विपरीतत्वाच्च अध्यक्षस्य । भवतु वा तथापि न तत् स्वयमविषयीकृते विपक्षे साधनाभावमवैति तथाविधे अन्यथा परलोकादौ तत्सन्तानाभावमवैति इति यदुक्तं धर्मकीर्तिना विनिश्चये *"तदेव तत्र नास्ति, तत एव तदभावसिद्धिः इत्ययुक्तम्" इति प्लवते । नाप्यनुमानम् ; अलिङ्गजत्वात् । अपि च, *"यावान् कश्चित् प्रतिषेधः स सर्वोऽनुपलब्धेः, अप्रतिषिद्धोपलम्भस्याभावासिद्धेः" इति वचनात् , तत्र तदभावः अनुपलम्भात् प्रत्येयः । एवं चेत्तर्हि यद्ययं विकारः (चारः) अनुमानात्मकः स्वभावानुपलम्भजनित इष्यते; युक्तं प्रतिभासस्य पक्षयोर्घटादिसुखाद्योः उपलब्धस्य ततः क्वचिज्जडे विपक्षे अभावसाधनम् , किन्तु जडस्य [9]निषेध्यविविक्तस्य प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्या [10]तस्या एव [11]तदनुपलम्भात्मकत्वात् घटविविक्तभूतलप्रतिपत्तेः घटानुपलम्भात्मकत्ववत् । न च सेष्यते परेण । अथ च स्वभावविरुद्धहेतुः ज(तुज)नितः ; तर्हि कः तद्विरुद्धो हेतुः ? जडत्वमिति चेत् ; तदप्रतिपत्तौ कस्य तेन विरोधः प्रतीयताम् ? अन्यथा अदृश्यात्मनामेव तेषां तद्विरुद्धानां च सिद्धिः असिद्धिर्वा वेदितव्या *"[12]अन्येषां विरोधकार्यकारणभावाभावासिद्धेः" [न्यायवि० २।४७] इत्यस्य विरोधः ।

'ननु च सुखादौ प्रतिभासो ज्ञानत्वेन व्याप्तः प्रतिपन्नः, ज्ञानत्वविरुद्धं च जाड्यम् , ततोऽस्मान्निवर्त्तमानं ज्ञानत्वं स्वव्याप्यं प्रतिभासमादाय निवर्तत इति व्यापकानु[६७ख]पलब्धिजनितोऽयम्' इत्यपि वार्त्तम् ; अतिप्रसङ्गो हि एवं स्यात् । शक्यं हि वक्तुं क्वचिद् रथ्यापुरुषे वक्तृत्वादेः असर्वज्ञत्वं व्यापकं प्रतिपन्नं सर्वज्ञत्वेन विरुद्धम् , अतः [13]तन्निवर्तमानं स्वव्याप्यं

(१) बौद्धः । "सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते, इत्येवम्प्रकारस्यानुपलम्भस्य अदृश्यात्मविषयत्वेन सन्देहहेतुत्वात् ।"–न्यायवि० ३।७० । (२) अनुपलम्भमात्रात् न तु दृश्यानुपलम्भात् । (३) "सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं शेषवदुच्यते प्रतिबन्धाभावादित्यर्थः ।"–प्र० मनोरथ० । (४) जडे । (५) विचारः । (६) निर्विकल्पकत्वेन अविचारकत्वात् । (७) अविषयीकृते । (८) "यावान् कश्चित् प्रतिषेधः स सर्वोऽनुपलब्धेः"–प्र० वार्तिकाल० पृ०५२०, ६३८ । (९) निषेध्यः प्रतिभासः । (१०) प्रतिभासविविक्तजडप्रतिपत्तेरेव । (११) प्रतिभासानुपलम्भात्मकत्वादिति भावः । (१२) अदृश्यात्मनामेव । (१३) असर्वज्ञत्वम् ।

व[illegible]कमादाय निवर्तत इति [illegible]सिद्धिरिति । ततो यथा न वक्तृत्वादेः असर्वज्ञत्वेन व्याप्तिः तथा न ज्ञानत्वेन प्रतिभासस्य । अथ जडेन विरोधादस्य[1] तेन[2] व्याप्तिः; तर्हि अन्योऽन्यसंश्रयः–सिद्धे हि जडेन अस्य विरोधे तेन व्याप्तिः, अस्यां च सिद्धायां तेन विरोधः सिध्यति इति । ततो वक्तृत्वादिवद् शेषवानयं[3] हेतुरिति स्थितम् । अथ प्रतिपद्यते किञ्चित् जडम्; तेनैव ५ 'प्रतिभासमान' इत्यस्य हेतोर्व्यभिचारः । मा वा भूदयं दोषः, तथापि अतो हेतोर्जायमानमनुमानं स्वतोऽर्थान्तरं साध्यं न चेद् विपर्यीकरोति; कथं तत्र प्रमाणम् अतिप्रसङ्गात् ? *"भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा"[4] इति चेत्; नन्वत्र हेतुसाध्ययोः तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः हेत्वनुमानयोः कार्यकारणलक्षणः, अन्यस्यासंभवात् । ततः किम् ? यथैव योग्यतया हेतुः अनुमानं [5][illegible]कालमन्यथाभूतं वा जनयति तथैव ज्ञानम् अर्थं तथाविधं यदि गृह्णाति को विरोधः सर्वस्य सम- १० त्वात् ? अथात्र कश्चित् कार्यकारणभावलक्षणः अन्यो वा सम्बन्धो नेष्यते; तर्हि–

*"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।
प्रतिबन्धात् तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥" [प्र० वा० २।८२] इति प्लवते ।

व्यवहारेण तदभिधानाददोष इति चेत्; कोऽयं व्यवहारो नाम ? सम्बन्धा-[६८क]भावेऽपि तद्विकल्प[6] इति चेत्; कथं तद्दर्शितात्[7] सम्बन्धात् अनुमानं प्रेक्षकारिणः कुर्वन्तु ? कृताद्वा[8] १५ भावतः साध्यमनुमिन्वन्तु ? सर्वतः ईश्वराद्यनुमानात् सर्वस्य स्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात् तत्कल्पनायाः[9] सर्वत्राऽविशेषात् । यथैव च सौगतेन व्यवहारनिमित्तमग्न्याद्यनुमानं स्वमतसिद्धये वह्निकुलमिव (निष्फलमेव) कक्षीक्रियते तथैव ईश्वरादिवादिनापि सौगतानुमानम् । तत्र साध्यसम्बन्धात् तदनुमानं प्रमाणम् ।

एतेन 'समारोपव्यवच्छेदकरणात् तत्तत्र प्रमाणम्' [10]इति निरस्तम्; स्वसमानासमान- २० कालसमारोपव्यवच्छेदकरणवद् विज्ञानस्य अर्थग्रहणं न विरुध्येत ।

यत्पुनरुक्तं परेण–*"अनुमानं सहकारिकारणं प्राण (प्राप्य) पूर्वः समारोपक्षणः स्वकार्यं[11] तत्क्षणम्[12] उत्तरतत्क्षणजनने अक्षमं जनयति ।" इति; तदप्येतेन दूषितम्; कार्यकारणभाववद् ग्राह्यग्राहकभावसिद्धेः । संवृत्या ततस्तत्तथेति चेत्; [13]तत एव जडस्यापि प्रतिभासा (स) भावात् प्रत्यक्षतः पक्षबाधा किन्न स्यात् ? परमार्थतः तद्व्यवच्छेदकरणमपि दुर्लभम् । संवृतिसिद्धेन २५ [14]तत्करणेन अनुमानं प्रमाणं न [15]तया सिद्धेन घटादिनाड्य (जाड्य) ग्राहिप्रत्यक्षेण पक्षबाधनमिति

(१) प्रतिभासस्य । (२) ज्ञानत्वेन । (३) सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिक इत्यर्थः । (४) "भ्रान्तिरपि च वस्तुसम्बन्धेन प्रमाणमेव"–प्र० वार्तिकाल० ३।१७५ । "तदाह न्यायवादी–भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा ।"–न्यायबि० धर्मो० पृ०७८ । उद्धृतमिदम्–"भ्रान्तिरपि अर्थसम्बन्धतः प्रमा"–तत्त्वोप०पृ०३० । सन्मति० टी० पृ० ४८१ । "अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा"–षड्द० बृह० पृ० ४१ । (५) भिन्नकालं वा । (६) सम्बन्धकल्पना । (७) व्यवहारदर्शितात् । (८) परमार्थतः । (९) व्यवहारात् सम्बन्धकल्पनायाः । (१०) "प्रत्यक्षानन्तरोद्भूतसमारोपनिवारणात् । इष्टं तु लैङ्गिकं ज्ञानं प्रमाणम्..."–तत्त्वसं० श्लो० १३०२ । (११) समारोपक्षणम् । (१२) तृतीयसमारोपक्षण । (१३) संवृत्या एव । (१४) समारोपव्यवच्छेदकरणेन । (१५) संवृत्या सिद्धेन ।

किं कृतो विभागः ? अथ अनुमानेन अस्य प्रत्यक्षस्य बाधनात् नानेन पक्षबाधनम् ; अनेनाप्यनुमानस्य बाधनात् न तेन तद्व्यवच्छेदकरणमिति समानम्। ततो घटादे[illegible] अनुमानमिच्छता प्रमाणं तद्विषयमभ्युपगन्तव्यम्। तत्स्वतो[1] भिन्नं भावतोऽनुभवति न [६८ख] ज्ञानान्तरं जडमर्थमिति[2] स्वेच्छाविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्।

ततो निराकृतमेतत्–*"यदि भिन्नकालो ज्ञानेन अर्थोऽवगम्यते; अविशेषा[3] एकस्य तथाविधा[illegible]सङ्गः[4]। अथ समकालः; सम्बन्धाभावात् किं केनावगम्यते ? नीलादिना वा ज्ञानमवगम्यते[4]। गृहीतिकरणाद् विज्ञानं तस्य ग्राहकमिति चेत् ; न; अस्याः[5] ततोऽभेदे[6] ज्ञानं नीलादिः त[ज्ज]न्यत्वाद् उत्तरज्ञानवत्। भेदे ज्ञानं नीलादिः गृहीति च (श्च) परस्पराऽसम्बद्धं त्रितयमिति किं केन गृह्यते ? पुनस्तयापि तदन्तरकरणे[7] अनवस्था।" इत्यादि। कथम् ? प्रकृतेऽपि समत्वात्। यदि पुनस्तदनुमानं प्रमाणं नेष्यते; कुतः प्रकृततत्त्वसिद्धिः ? 'प्रत्यक्षात्' इत्यपि नोत्तरम् ; ततो[8] विवादस्यानिवृत्तेः। ननु यथा सुखादयोऽविद्यमानावे(नवे)दकाः[9] प्रतिभासमानाः प्रत्यक्षसिद्धस्वसंवेदना उच्यन्ते तथा घटादय इति चेत् ; यद्येवं लभ्येत, कृतं स्यात, तत्तु न लभ्यम्, 'घटमहं वेद्मि, पटमहं वेद्मि' इति अहमहमिकया प्रतीयमानप्रत्ययवेद्यतया सर्वदा तेषाम्[10] अकरासवात् (अवभासनात्)। न च तथावभासनादन्यत् स्वसंवेदनेऽपि शरणमस्ति। [11]परदुर्णयः प्रागेव चिन्तितः। तदेवं स्वसंवेदनवत् ग्राह्याकारस्यापि प्रतिभासभावात् स्वप्नेतरग्राह्याकारयोरिव तयोः समानः सर्वथा धर्मभावोऽस्तु। तथापि स्वसंवेदनस्यैव परमार्थत्वे जाग्रद्ग्राह्याकार एव परमार्थः तथा स्यादिति स्वार्थव्यवसायोऽविसंवादः नातिव्यापकः। [६९क] *"दृष्टस्य पुनः प्राप्तिरविसंवादः।" इत्यत्र यदुक्तम्–*"क्षणिकत्वेन नाशात् न तस्य तत्प्राप्तिः" इति; तत् *"प्रतिभासैक्यनियमे" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना निरस्तम्।

यच्चाप्युक्तम्–दृष्टस्य प्राप्तिः स्वप्नेऽप्यस्तीति[12] तत्रापि दर्शनं प्रमाणं स्यादिति; तत् ग्राह्यप्रतिभासेऽपि समम्। ततः सूक्तम्–'**यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता**' इति।

'**विशदम्**' इति प्रत्यक्षविशेषणमयुक्तं निवर्त्याभावात्। सामान्येऽनुमानादि दूरपादपादौ अवयविज्ञानमपि विशदं स्वविषयग्रहणलक्षणत्वात्[13], वै(अवै)शद्यव्यवहारः पुनः विशेषावयवाग्रहणकृतः' इत्येके। ध्यामलिताकारस्य नीलाद्याकारवत् बुद्ध्याकारत्वेन वस्तुत्वात् न [14]तदपेक्षया किञ्चिद् विज्ञानमविशदम्, बाह्यं तु न तस्य विषयः इति न तत्र तदविशदमन्यथा वा। एतेन अर्थाकारत्वमस्य चिन्तितम् ; अनर्थाकारत्वे न तत्र ज्ञानं प्रमाणं विसंवादकत्वात् अतः '**अविसंवादः**' इत्येवास्तु इत्यपरे।

अत्रोच्यते–[illegible] गृहीतेऽप्यस्पष्टताव्यवहारः इत्यु[क्त]म् ; न खलु [15]अन्य-

(१) स्वस्मात्। (२) अनुभवति। (३) भिन्नकालत्वाविशेषात्। (४) इत्यतिप्रसङ्गः। (५) गृहीतेः। (६) नीलादेः। (७) गृहीत्यन्तरकरणे। (८) प्रत्यक्षात्। (९) न विद्यते भिन्नो वेदको येषां ते, स्वसंविदिता इति यावत्। (१०) घटादीनाम्। (११) परस्य दुर्णयः दुरभिप्रायः। (१२) स्वप्नदृष्टार्थेऽपि। (१३) वैशद्यस्य। (१४) ध्यामलिताकारापेक्षया। (१५) विशेषावयवस्य।

स्याग्रहणे अन्यत्र तद्व्यवहारः, इतरथा घटाग्रहणे गृहीते पटे तद्व्यवहारः स्यात् । जातितद्वतोः अवयवावयविनोश्च भेदैकान्ते सम्बन्धाभावात् । ततो मण्याद्यन्तरितसूत्रादिवत् स्वत एवाविशदं ज्ञानमित्युन्नेयम् । ।

यत्पुनरेतत्–'श्यामलिताकारस्य' इत्यादि; तत्र न सारम्; सारूप्याऽभावात् । तत्प्रति-
५ ज्ञायाः प्रत्यक्षबाधनात् । अहमहमिकया अर्थग्राहिणो ज्ञानस्य निराकारस्य [६९ख] स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात्, न चासौ आकारः तत्र प्रतिभासाद् बहिर्युक्तः, तत एव अनुगताकारोऽपि स्यादित्ययमागतमशेषम् । एवमपि यथा चन्द्रादिद्वित्वादावसति[3] विशदं ज्ञानं तथा तदाकारेऽपि इति न किञ्चिदविशदं नामेति चेत्; तत्र न चन्द्रादौ द्वित्वादिवद् धर्मिणापि विसदृगत्र तु धर्मिण्यप्य (धर्मिण्यविशदम् अत्र तु धर्मिण्यप्य) विशदम् । न चैतावता न कस्यचिद् ग्रहणम्; अनुमा-
१० नात् तत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्, तथा च कुतो हेतुफलभावाद्यभावसिद्धिर्यतः प्रतिभासाद्वैतम् ? अनुपलम्भादिति चेत्; किमयं तत्प्रतिबद्धः[4] कश्चित् प्रतिपन्नो येनैवं स्यात् ? तथा चेत्; कथमनुमानं प्रमाणं नेष्टं स्यात् ? 'तदिच्छति, तत्त्वविषयं न' इति विरुद्धम् । ततोऽविशदानुमाननिवृत्त्यर्थं **विशद**ग्रहणम् । तथा 'यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः स सर्वोऽप्यग्निवान्' इत्यादि व्याप्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थं च । नहि तद् विशदम्, अनुमानप्रतिभासाविशिष्टप्रतिभासत्वात् । तथापि तथा
१५ तदभ्युपगमे न किञ्चिदविशदं भवेत् ।

एतेन अकस्मादू धूमदर्शनाद् अग्निरत्रे वि (त्रेति) ज्ञानं[5] चिन्तितम् ।

मनोऽक्षार्थसन्निकर्षजत्वादविशदमपि व्याप्तिज्ञानं प्रत्यज्ञानं (?) प्रत्यक्षम् इत्येके[6] । कुतः पुनः तत्तज्ञानं ज्ञानम् (तज्ज्ञानं प्रत्यक्षम् ? प्रत्यक्षं तज्ज्ञानम) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं (ज) ज्ञानत्वात् चक्षुरादिजनितरूपादिज्ञानवदिति चेत्; न; अनुमानादिज्ञानेन[10] व्यभिचारात् ।
२० अस्यापि पक्षीकरणे कुतः अध्यक्षाद् भेदः ? *"प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानशब्दाः प्रमाणम्" [न्यायसू० १।१।३] इति यतः [७०क] [11]संख्या व्यवतिष्ठेत । अथ इन्द्रियस्य अर्थेन साक्षात्सम्बन्धमन्तरेण भावात्[12] [13]ततोऽस्य भेदः; तथा व्याप्तिज्ञानस्यापि स्यात् । नहि तदपि तस्य अतीतानागतवर्त्तमानार्थेन [14]तथा सम्बन्धात् जायते, विरोधात् । सम्बन्धसम्बन्धः[15] [16]अन्यत्रापि न वार्यते । लिङ्गादिहेतुत्वाद् भेदे दृष्टसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानं प्रमाणान्तरं स्यात्, दूरादिज्ञानं
२५ च सर्वस्मादध्यक्षतं[17] इति निरूपयिष्यते । ततो वैशद्यादेव ततोऽस्य भेद इति सूक्तम्–'**विशदमेव ज्ञानं प्रत्यक्षम्**' इति ।

मा वा भूदस्य तन्निवर्त्त्यम्, तथापि*"**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्**" [न्यायसू० १।१।४] [18]इत्यादेः परकीयस्य प्रतिषेधार्थम् अध्यक्षस्य '**विशदम्**' इति विशेषणम् । [19]तल्लक्षणे हि

(१) गृहीते । (२) अस्पष्टताव्यवहारः । (३) अविद्यमाने । (४) अनुपलम्भः । (५) अभावाविनाभावीति । (६) व्याप्तिज्ञानम् । (७) अविशदमपि प्रत्यक्षमिति प्रज्ञाकरमतम्–"एतच्चानुमानज्ञानं क्वचित् प्रत्यक्षं क्वचित्तु प्रत्यक्षमेव अकस्माद् धूमाद्ग्निप्रतिपत्तौ । नहि पूर्वानुभूतकल्पनास्ति ।"–प्र० वार्तिकाल० ३।२८८ । (८) 'प्रत्यज्ञानं' इति द्विर्लिखितम् । (९) नैयायिकाः । सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्या धूमत्वेन अखिलधूमानाम् अग्नित्वेन च निखिलाग्नीनामलौकिकार्थसन्निकर्षेण ज्ञानसम्भवात् । (१०)तदपि परम्परया इन्द्रियार्थसन्निकर्षजम् । (११) प्रमाणसंख्या । (१२) अनुमानस्य । (१३)प्रत्यक्षात् । (१४) साक्षात् । (१५) परम्परासम्बन्धः । (१६) अनुमानेऽपि । (१७) पृथक् प्रमाणं स्यादिति भावः । (१८) अव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति शेषः । (१९) सन्निकर्षात्मकप्रत्यक्षलक्षणे ।

सुखादिसंवेदनमध्यक्षं न भवेत् तल्लक्षणविरहात्[1]। अथ 'तदपि इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं तत्त्वात् चक्षुरादिजनितरूपादिज्ञानवत्' इत्युच्यते ; तन्न ; तथाप्रतीतिविरोधात् । न खलु 'पूर्वमुत्पन्नैः सुखादिभिः इन्द्रियस्य सन्निकर्षे [2]तत्संवेदनमुपजायते' इति प्रतीतिरस्ति, यूनः कान्तासमागमे संवेदनस्य आह्लादनाकारात्मनः [3]तथानुभवात् , [4]स्वसंवेदनाध्यक्षबाधितः परपक्षः । हेतुश्च सुखादिसंवेदनवेदनेन व्यभिचारी । तस्यापि पक्षीकरणे 'अनवस्थादिप्रसङ्गः' इति प्रतिपादयिष्यते । कथम् ? ५ *"सिद्धं यन्न परापेक्षम्" [सिद्धिवि० १।२३] इत्यादिना । एतेन सत्यस्वप्नज्ञानं व्याख्यातम् । *"[5]सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनम् अनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलवत्" इत्यादिना अनुमितम[6]ध्यक्षं [7]परलक्षणेन कथमनुगृहीतम् ? इन्द्रियार्थ[७०ख]सन्निकर्षजत्वादिति चेत् ; कथमशेषं सदसद्वर्गं युगपद् विषयीकरोति ? न खलु मनसः अन्यस्य चे(वे)न्द्रियस्य युगपत् सर्वार्थसन्निकर्षोऽस्ति विप्रतिषेधात् । सम्बन्धः [8](सम्बन्धसम्बन्धः) प्राणभृन्मात्रस्य, ततः तस्यापि तज्ज्ञानं १० भवेत् । विशिष्टादि(दृ)ष्टसहकारिनियमकल्पनावि (पि) पापीयसी; [9]भेदैकान्ते [10]समवायाऽविशेषतः अदृष्टस्यापि नियमाऽसिद्धेः । तन्न इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं [11]तज्ज्ञानमिति कथन्न प्रकृतो दोषः ? 'चक्षुर्जनितं रूपज्ञानं च इन्द्रियार्थसन्निकर्षमन्तरेण भावात्' इति प्रतिपादयिष्यते *"पश्यत्येव हि सान्तरम्" [सिद्धिवि० ४।१] इत्यादिना ।

यत्पुनरेतत्-*"संप्रयोग" [मी०द० १।१।४] [12]इत्यादि ; तदप्येतेन नोत्सृष्टम् । १५

इन्द्रियवृत्तिः प्रत्यक्षम् इति [13]सांख्यः ; सोऽप्यनेन कृतोत्तरो द्रष्टव्यः; स्वसंवेदनादौ तदसंभवात् । किञ्च, तैमिरिके[14] तद्वृत्तिर्यदि प्रत्यक्षम् ; तदाभासविलोपः । यथार्थज्ञानहेतुरिति चेत् ; न ; तथाविशेषणाभावात् । अचेतनं प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणं न इति चर्चितम् । ततः साधूक्तम्-'**प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्**' इति । ननु च-

*"एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् । २०
कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥" [प्र० वा० ३।४२]

(१) सुखादिसंवेदनमपि । (२) सुखादिसंवेदनम् । (३) स्वसंविदितस्य । (४) अतः । (५) सद्वर्गः द्रव्यगुणकर्माणि सत्तासम्बन्धित्वात् । असद्वर्गशब्देन सामान्यविशेषसमवायाः ग्राह्याः । (६) सर्वज्ञप्रत्यक्षम् । (७) नैयायिकोक्तसन्निकर्षजरूपप्रत्यक्षलक्षणेन । (८) आत्मा सर्वार्थैः संयुक्तः, आत्मसंयुक्तं मनः इन्द्रियाणि च अतः परम्परासम्बन्धः सर्वार्थैः स्यात् । (९) अदृष्टात्मनोः सर्वथा भेदे । (१०) समवायस्य च व्यापकत्वात् सर्वात्मभिः तत्सम्बन्धहेतुः स्यादिति भावः । (११) सर्वज्ञज्ञानम् । (१२) "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।"-मी० द० १।१।४ । (१३) "इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्"-योगद० व्यासभा० पृ० २७ । "विषयैश्चित्तसंयोगात् बुद्धीन्द्रियप्रणालिकात् । प्रत्यक्षं साम्प्रतं ज्ञानं विशेषस्यावधारकम् ॥२३॥"-योगकारिका । (१४) तुलना-"श्रोत्रादिवृत्तिः भ्रान्तेऽपि न हि नाम न विद्यते । न च ज्ञानं विना वृत्तिः श्रोत्रादेरुपपद्यते ॥"-प्र० वार्तिकाल० पृ० ३४० । "श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं यदि तैमिरिकादिषु । प्रसङ्गः किमतद्वृत्तिस्तद्विकारानुकारिणी ॥"-न्यायवि० १।१६५ । प्र०समु० पृ० ६४ । तत्त्वोप० पृ० ६१ । न्यायवा० पृ० ४३ । न्यायवा० ता० टी० पृ० १५५ । २३३ । न्यायम० पृ० १०० । त० श्लो० पृ० १८७ । नयचक्र वृ० पृ० १०७ । षड्द० बृह० पृ० ४१ । प्रमेयक० पृ० १९ । प्रमाणमी० पृ० २४ ।

इति व्याख्याने प्रमितस्याऽप्रमिताम (तभाग) स्याभावात् कथमुच्यते–'**यथा यत्राऽविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता**' इति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यनीक** इत्यादि । **प्रत्यनीका** अन्योन्यं **विरुद्धा ये धर्मा** विभ्रमेतर-विकल्पेतर-संशयेतर-ग्राह्यग्राहकसंवित्त्यादयः [७१क] ते **का** (तेष्वेका) साधारणी या **संवित्** तस्याः **स्वप्रमितेः** स्वपरिच्छित्तेः **असाकल्यसंभवे** खण्डशः संभवे **अङ्गीक्रि-**

५ **यमाणे** । एतदुक्तं भवति–विरुद्धधर्माध्यासभयाद् एकस्य प्रमितेतररूपद्वयं नेष्यते, स च तदध्यासः अन्यथापि जात इति परं तस्याः स्वप्रमितेः असाकल्यसंभवोऽभ्युपेयः तस्मिन् वा इति । किम् इत्याह–**विषयस्वलक्षणेऽपि** । द्विविधो विषयः सामान्यं स्वलक्षणं च । तस्मात् सामान्ये कल्पिते तदभावेऽपि न सौगतस्य दोष इति स्वलक्षणग्रहणं तत्रापि, न केवलम् उक्तसंविदः **किन्न भवेत् इति किम्** निमित्तमाश्रित्य नाना (तत्र) विसंवाद (दात् अ)**प्रमाणत्वम्** तिमिरादिज्ञानस्य (तच्च)

१० **कथञ्चित्** चन्द्रत्वादिना संवादात् किन्न प्रमाणमिति, न केवलमप्रमाणमेव । यदि च कथञ्चिद् विसंवादात् तदप्रमाणमेव; तर्हि परस्य न किञ्चित् प्रमाणं स्यादिति दर्शयन्नाह–**प्रसन्न** इत्यादि । **प्रसन्नानि** निर्दोषाणि करणभूतानि **अक्षाणि** यस्याः **बुद्धेः** तस्या अपि न केवलं तिमिरबुद्धेः **सर्वथा** सर्वेण नीलादिना इव क्षणक्षयादिप्रकारेण **संवादिनियमाऽयोगात्** कारणात् **किन्न** कथञ्चित् संवादात् **प्रमाणमपि** भवेदिति । कुतस्तन्नियमाऽयोग इति चेत् ? अत्राह–**दृष्टे प्रमाणा-**

१५ **न्तरावृत्तेः** । **दृष्टे** दर्शनेन विषयीकृते शब्दादौ धर्मिणि **प्रमाणान्तरस्य** क्षणक्षयाद्यनुमानस्य **आ** समन्तात् **वृत्तेः** तन्नियमाऽयोगः ततः 'तद्' इति पदघटनात् । इदमत्र तात्पर्यम्–यदि दर्शनं शब्दत्वादिवत् [७१ख] नाशादावपि संवादकम्, तर्हि तदनुमानं संवृतिवदप्रमाणम् । अथ विसंवादकम्; तत्रास्तु प्रकृतवद् अप्रमाणमेवेति धर्माद्यसिद्धेः कुतः प्रमाणान्तरवृत्तिः ? अस्ति च, ततः प्रकृतमिति ।

२० अत्राह–प्र ज्ञा क र गु प्तः–*"**यत एव दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः अत एव शब्दादिवत् क्षणक्षयादेरपि दर्शनम्, अन्यथा दर्शनस्य क्षणिकत्वानुमानेन तस्य वा दर्शनेन बाधनं स्यात्** ।" इति; तस्य विप्लुताक्षः शुक्लं शङ्खं पीतं पश्यन् प्रतिपन्नव्यभिचारो यदैवं करोति 'शुक्लोऽयं शङ्खत्वात् पूर्वदृष्टशङ्खवत्' इति, तदा तद्दर्शनं शङ्खत्ववत् शुक्लतामपि पश्येत् । शक्यं हि वक्तुं यत एव विप्लुताक्षदर्शने दृष्टे प्रमाणान्तरं शुक्लताविषयं प्रवर्तते तत एव तत् शुक्ल-

२५ तामवैति, अन्यथा तद्दर्शनेन प्रमाणान्तरस्य अनेन वा तस्य बाधनं भवेत् । न चैवम् । न हिमालो (हिमालयो) डाकिन्या भक्ष्यते । अथ पीततामात्रे तस्याने[न] बाधनमिष्यते; न; सर्वात्मना धर्माद्यसिद्धिप्रसङ्गात्, तथा प्रकृतेऽपि इष्यतामिति साधूक्तम्–**प्रसन्ने**त्यादि ।

यत्पुनरर्हं स एव–'अप्रतिपन्नव्यभिचारः तैमिरिकः तज्ज्ञानात् प्रवर्तमानो विसंवाद्यते'

---

(१) विरुद्धधर्माध्यासः । (२) "यदाह–नहि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामपरं प्रमेयमस्ति । स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षं सामान्यलक्षणविषयमनुमानमिति ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १६९ । "स्वसामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति ।"–प्र० समु० वृ० पृ० ४ । (३) अविसंवादाभावेऽपि । (४) तिमिरादिजन्यद्विचन्द्रादिज्ञानम् । (५) विकल्पज्ञानवत् गृहीतग्राहित्वादप्रमाणं स्यात् । (६) "येन न कदाचिद् व्यभिचार उपलब्धः स यथाभिप्रेते विसंवादात् विसंवादत एव । यस्तु व्यभिचारसंवेदी स विचार्य प्रवर्तते । संस्थानमात्रं तावत् प्राप्यते, परत्र संदेहो विपर्ययो वा ततोऽनुमानं संस्थाने..."–प्र० वार्तिकाल० २।१ ।

इति न कथञ्चिदपि तत्प्रत्यक्षम् , प्रतिपन्नव्यभिचारस्तु 'प्रतिभासोऽयम् अभिमतसंस्थानवान् पूर्वदृष्टैवंप्रतिभासवत्' इति पर्यालोच्य प्रवर्त्तते इत्यनुमानमेव तत्राविसंवादकम् । तदुक्तम्–

***"ममैवं प्रतिभासो यः न स संस्थानवर्जितः ।**

एवमन्यत्र [७२क] दृष्टत्वात् अनुमानं तथा सति ॥" [प्र० वार्तिकाल० पृ० ५] इति ।

तत्रोत्तरम्–**उपप्लुताक्षाणामपि** इत्यादि । **उपप्लुताक्षाणां** न केवलं विपरीतानां[1] **विनैव** ५ **लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्त्या** लिङ्गं प्रतिभासविशेषः लिङ्गि संस्थानवत्त्वम् तयोः सम्बन्धः तादात्म्यं तेषां प्रतिपत्तिः तामन्तरेण **अर्थे परिच्छिद्य प्रवृत्तौ** सत्याम् **अविसंवाददर्शनात्** । न खलु विप्लुताक्षः (क्षाः) सर्वे सर्वदा ***"ममैवम्"** इत्याद्यनुतिष्ठन्तः समुपलभ्यन्ते । तथापि तदभ्युपगमे लिङ्गलिङ्ग्यनुमानयोः विभ्रमं प्रति अविशेषाद् अनुमानप्रतिभासेऽपि ***"ममैवं प्रतिभासः"** इत्यादि कल्पनायाम् अनवस्थाप्रसङ्गे नानुमान (नम्[2]।) व्यवहारिजनानुरोधादनुमानमविसंवादकमि- १० च्छन्[3] तत एव तैमिरिकज्ञानं कथञ्चित्तथा[4] नेच्छतीति स्वेच्छावृत्तिः । भवतु तदप्यविसंवादकं प्रमाणं तु न इति चेत् ; अत्राह–**तावता च** अविसंवाददर्शनादेव **प्रामाण्यसिद्धेः** कारणात् कथञ्चित् प्रमाणमपि भवेत् इति स्थितम्–**'यथा यत्र'** इत्यादि । शेषं सुगमत्वादव्याख्यातम् ।

एवं तावत् ***"चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्"** [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इति वचनात् चित्रमेकं ज्ञानमभ्युपगच्छतः संविदः स्वप्रमितेरसाकल्यसंभव १५ उक्तः । इदानीम् ***"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा"** [प्र० वा० २।३५४] इत्यादि वचनात्[5] तदनभ्युपगच्छतस्तं दर्शयन्नाह–**[वित्तेः** इत्यादि]

[वित्तेः विषयनिर्भासविवेकानुपलम्भतः ।

विज्ञातायाः क्वचित्सिद्धो विरुद्धाकारसंभवः ॥२०॥

बहिरन्तर्मुखनिर्भासविविक्तधर्माभ्युपगमे तस्या विषयनिर्भासविवेकपरमार्थप्रतीतावपि कथञ्चिदनेकान्तसिद्धिः । दूरदूरतरादिव्यापृतचक्षुषां च वस्तुसत्तामात्राविसंवादात् तद्भेदाप्रतिपत्तौ च तत्प्रमितिसाधनं समञ्जसम् । यतो यावदपि उपलम्भमन्तरेण प्रमाणान्तरावृत्तेरसंव्यवहारप्रसङ्गात् । यत्पुनरन्यत्–*"आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन" २० [बृहदा० ४।३।१४] **इति ; तत्रापि समानोऽयं प्रसङ्गः । केवलं समयान्तरप्रवेशः ।]**

वित्तेः बुद्धेः । कथंभूतायाः ? **विज्ञातायाः** स्वसंवेदनाध्यक्षगृहीतायाः अन्यथा तद्भा- २५ वासिद्धेः सम्बन्धी [७२ख] **विषयो** ग्राह्यो घटादिः तस्य स एव वा **निर्भास** आकारः तस्य **विवेको** बुद्धेः सकाशाद् अन्यत्वं तस्या**ऽनुपलम्भो** यः तस्मात् ततः क्वचित् तैमिरिकोपलब्धे चन्द्रादौ **सिद्धो** निश्चितो **विरुद्धस्य** दृश्यचन्द्रत्वाद्याकारापेक्षया प्रत्यनीकस्य अदृश्यैकत्वादेः **आकारस्य संभवः** । अत्रायमभिप्रायः–यद्ययं स्थवीयान् घटाद्याकारस्य न्नितरो (रः सन् इतरो) वा वित्तेः आत्मभूतः; तर्हि चित्रैका सा[7] भवेत् , तत्र चोक्तो दोषः । अथासन्नमा- ३०

---

(१) प्रसन्नेन्द्रियाणाम् । (२) प्रमाणं स्यात् । (३) व्यवहारिजनानुरोधादेव ।?(४) अविसंवादकम् । (५) चित्रज्ञानमस्वीकुर्वतः । (६) स्वसंवेदनाभावे । (७) संवित्तिः ।

त्मभूतः (अथ असन्नात्मभूतः) ततः सौगत्या (सा यथा) त्मनो भेदमवैति कुतस्तदाकारा भ्रान्तिः यतः *"**यदवभासते [तत्] ज्ञानम् यथा सुखादि, अवभासते च स्तम्भादिनीलादिकम्**" इत्यत्र आश्रयासिद्धिर्न स्यात् । नहि पीततारहिते शुक्ले शङ्खे प्रतिभासमाने पीतताविभ्रमो युक्तः । अथ तं नावैति; सिद्धः स्वप्रमितेरसाकल्यसंभवः इति ।

५ कारिकां विवृण्वन्नाह–**बहिरन्तर्मुख** इत्यादि । अत्र **आदि**शब्देन संवेदनविकल्पेतरादिपरिग्रहः, स एव **निर्भास** आकारः स एव च **विरुद्धो धर्मः** तस्य **अनभ्युपगमेऽपि** न केवलमभ्युपगमे **तस्याः** वित्तेः **विषयनिर्भासस्य** घटाद्याकारस्य संबन्धी यः **विवेकः** स एव **परमार्थः** तस्याः (तस्य) **प्रतीतावपि कथञ्चित्** संवेतनादिरूपेण संवेदनात् **अनेकान्तसिद्धिः** । एवं तावद् दृश्येतरविनिनिदर्शनेन सौगतप्रसिद्धेन विषयस्वलक्षणे प्रमितेरसाकल्यसंभव उक्तः । इदानीं तं

१० [७३क] प्रति लोकप्रसिद्धेन दृश्येतरबाह्यनिदर्शनेन स उच्यते **दूरे**त्यादिना । अत्र **आदि**शब्देन [दूरतर]दूरतमपरिग्रहः, तत्र **व्यापृतचक्षुषां** पुंसां **वस्तुनो** वृक्षादेः **सत्तैव तन्मात्रं** तस्य **अविसंवादात्** कारणात् **तस्या** असाकल्यप्रमितेः **साधनं समञ्जसं** युक्तम् । कस्मिन् सत्यपि ? इत्यत्राह–**तस्य** वस्तुसत्तामात्रस्य ये **भेदा** विशेषा वृक्षादयः तेषाम**प्रतिपत्तावपि** न केवलं प्रतिपत्तौ । **च** शब्दः अपिशब्दार्थः । एतदुक्तं भवति–यथा दूरदूरतरादौ प्रत्यक्षेण विशेषा-

१५ ग्रहणेऽपि तत्सत्तामात्रग्रहणं तथा प्रकृतेऽपि दृश्येतरत्वं स्यादिति । **'यतः'** इत्यादिना एतदेव भावयति–**यतः** यस्माद् **यावदपि** यत्परिमाणस्य पूर्वमुपलम्भो मयोक्तः तत्परिमाणस्य यथा भवति नाधिकस्य, तथा परेणापि उच्यते यदा तदा यावत् तावदपि यथा भवति तथा **उपलम्भः तमन्तरेण प्रमाणान्तरस्य** अनुमानस्य **अवृत्तेः** अप्रवृत्तेः हेतोः **असंव्यवहारप्रसङ्गात्** कारणात् **तत्प्रमितिसाधनं 'समञ्जसम्'** इति सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–दूरदूरतरादौ यथा तद्भेदाऽ-

२० प्रतीतिः तथा चेद् वस्तुसत्तामात्रस्याप्यप्रतीतिः तर्हि तत्र व्यापृतचक्षुषामन्धतैव स्यात् । न खलु सामान्यविशेषावन्तरेण तत्त्वमस्ति यत् तत्रावभासेत । तथा च विशेषमात्रमिदं सत्तामात्रं [७३ख] केनचिद् विशेषेण तद्वत्त्वात्[1] पूर्वदृष्टतन्मात्रवद् इति तदवृत्तिः, तस्या (तस्यां) च तत्र तदप्रवृत्तिः, न चैवम्, प्रवृत्तिदर्शनात् । ननु भेदवत् तन्मात्रस्यापि न तत्र प्रतीतिः, अभेदाध्यात् (दाध्यवसायात्) प्रतीतिः सा भ्रान्ता, तत एव प्रमाणान्तरवृत्तिः *"**समैव प्रतिभासो यः**"[प्र०वार्ति-

२५ काल० २।१] इत्यादि इति चेत्; उक्तमत्र–तत्र व्यापृतचक्षुषां वस्तुसत्तामात्राविसंवाददर्शनात् । तथापि तद्विभ्रमे न किञ्चिदभ्रान्तं स्यात् ।

अथवा, सौगतं प्रति दृश्येतरबुद्धिदृष्टान्तसद्भावादस्तु स्वप्रमितेर्विषयस्वलक्षणे असाकल्यसंभवो नैयायिकं प्रति विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह–**दूरे**त्यादि । तत्र **'व्यापृतचक्षुषाम्'** इत्यनेन वस्तुसत्तामात्रविषयं प्रत्यक्षं दर्शयति, **वस्तु** द्रव्यादि तस्य **सत्तामात्राविसंवादात् तत्प्रमिति-**

३० **साधनम्** असाकल्यप्रमितिसाधनं **समञ्जसं** युक्तम् । कस्मिन् सत्यपि ? इत्यत्राह–**तद्भेदाप्रतिपत्तौ च** तस्य तन्मात्रस्य भेदो द्रव्याद्याधारापेक्ष्याधे (रमपेक्ष्य आधे)यत्वविशेषः तदप्रति-

(१) सत्त्वेन चेतनत्वेन वेद्यादिरूपेण । (२) दूरदूरतरादौ । (३) विशेषवत्त्वात् । (४) सत्तामात्रस्यापि ।

पत्तावपि । नहि आधाराऽग्रहणे तदपेक्षमाधेयत्वम् आत्मभूतमपि प्रत्येतुं शक्यम् । ननु तर्ह्येवम् तन्मात्रस्याप्यप्रतीतिरिति चेत् ; अत्राह–यत इत्यादि । सामान्यप्रत्यक्षत्वे उभयावेशेषाणां[1] तद्विपरीतविशेषाणां वा स्मृतौ[2] संशयादिः, तद्व्यवच्छेदार्थं च प्रमाणान्तरं प्रवर्त्तते । तन्मात्राऽप्रत्यक्षे तु दुर्लभमेतत् [७४क] ततोऽसंव्यवहारप्रसङ्गात् तत्प्रमितिसाधनं समञ्जसम् इति।

किञ्च, अयं[3] 'स्थाणुः पुरुषो वा ? पुरुष एव' इति वा संशयादिज्ञानम् एकधर्मिणि अर्थविषयम् अन्यत्र विपरीतमभ्युपगच्छन् दृश्येतररूपमेकमियोग (कं नाभ्युपगच्छति इति) कथं न स्वर (स्वैर) चेष्टितः ? ५

साम्प्रतं सौगतादिदोषं गुणाद्वैतमतेऽपि समानमित्यस्य प्रदर्शनार्थं तदेव दर्शयति यत्पुनः इत्यादिना । यन्मतं पुनः सौगतादिमताद् अन्यत् । किम् तदागमं (तत् ? आरामं) चेतनादिभेदादोयं (भेदमारामं) तस्य पुरुषादेः पश्यन्ति द्रष्टारः न तं पुरुषादिमद्वैतरूपं कश्चन तेषां तद्द्रष्टृणां कश्चिन् पश्यति । इति शब्दः अर्थार्थः[4] । तेन– १०

*[5]"गुणानां[6] परमं रूपं[7] न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु[8] दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥"

*"[9]नित्यः सन्मात्रदेहः विविधकृतिरिह द्रव्यमेकः पदार्थः,
यत्तत्कुक्षिं प्रविष्टा जलमही(ह्यग्नि)वायवः प्राणिनश्च । १५
एको देशोऽस्य तिर्यक्सुरनरनरकेष्वस्ति सांसारिकत्वम् ,
देशोऽन्यः तस्य नित्यः शिवसुखमतुलं प्राप्तु तेसौ(सोऽ)द्विरूपः ॥"

इत्यादेर्ग्रहणम् । तत्रापि यत् तन्मतं 'यत्' इत्यनेन निर्दिष्टं तत्र इत्यनेन परामृश्यते । न केवलं सौगतादिमते अपि तु तत्रापि सर्वोऽप्युक्तदोषः अ क ल ङ्क दे व स्य प्रत्यक्षतया मनसि प्रतिभातीति तम् 'अयम्' इत्यनेन निर्दिशति । समानः साधारण[ः] प्रसङ्गो दोषः । तथाहि– २०
यदुक्तं सौगतं प्रति *"नहि बहिरन्तर्वा जातुचिद्[७४ख]साहायमाकारं पश्यामः यथा व्यावर्ण्यते तथैवाऽनिर्णयात् ।" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादि, त[द्]त्रापि समानम् ।

यत्पुनरेतत् *"एकान्तस्य उपलब्धिलक्षणप्राप्तौ असत्त्वम् अन्यथा स्यादप्रमेयत्वम्" [सिद्धिवि० १।९] इति तदपि, तथा *"प्रतिभासैक्यनियमे" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादि चेत् [[10]च] *"तस्यारामम्"[बृहदा० ४।३।१४] इति वचनात् [11]तदारामयोः कथञ्चिदेकत्वे विभ्रमेतरविकल्पेतरादीनाम् आकाराणां तेन एकत्वाभ्युपगमस्य अवश्यम्भावात् । अथ *"एक एव हि २५

---

(१) विशेषवत् । (२)"सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः"–वैशे०सू० २।२।१७। (३) नैयायिकादिः । (४) प्रकारार्थः । (५) सांख्यानां मतमिदम् । कारिकेयं निम्नलिखितग्रन्थेषु समुद्धृताऽस्ति–"तथा च शास्त्रानुशासनम्–गुणानां…"–योगभा० ४।१३ । "षष्टितन्त्रशासनस्यानुशिष्टिः–गुणानां…"–योगभा० तत्त्ववै० ४।१३ । "भगवान् वार्षगण्यः–गुणानां…"–शा० भा० भामती पृ० ३५२ । नयचक्रवृ० पृ० ६३ । तत्त्वोप० पृ० ८० । "गुणानां सुमहद्रूपम्…"–प्र० वार्तिकाल० ४।१२ । लघी० स्व०पृ० १४ । अष्टस०पृ० १४४ । (६) सत्त्वरजस्तमसाम् । (७) उत्कृष्टं रूपं प्रधानम् । (८) विकाररूपं महदादि । (९) अद्वैतवादी । (१०) दूषणम् । (११) अज्ञाततद्विवर्तयोः ।

भूतात्मा" [ब्र०बि० ११] इत्यादेः[1] *"**यथा विशुद्धमाकाशं**" [बृहदा०भा०वा० ३।५।४३] इत्यादेः[2] श्रुतेः अविभागोऽपि ब्रह्म भागीव लक्ष्यत इत्युच्यते ; तर्हि *"**सद्भिः[रसद्भि]र्वा**" [सिद्धिवि० १।१३] इत्यादि समानम् । शक्यं हि वक्तुम्–यदि सद्भिः असद्भिर्वा चेतनेतराद्याकारैः कस्यचिद् ब्रह्मणः एकत्वं तथैव बहिरन्तर्मुखादिभिः[3]तत् किन्न कस्यचिद्

५ बुद्ध्यात्मनः सिध्येत । यदि पुनः विभ्रमतरयोः एकत्वविरोधात् तस्माद् आगमो (आरामो) भिन्न इष्यते; तर्हि तदप्रत्यक्षत्वे इदं समानम्–*"**तदप्रत्यक्षत्वे विषयवत् स्वभावासिद्धिप्रसङ्गात्**" [सिद्धिवि० १।१५] इत्यादि । तथा च तदाग(रा)मयोरप्रतिभासनात् सकलशून्यता इति ।

स्यान्मतम्–[4]आरामस्य स्वतो दर्शनम् ; स्वसंवेदनग्राह्याकारवत् प्रसङ्गः । यदा तु आरामविविक्तमात्मानमसौ पश्यति ; तदा विभ्रमाभावः । नेति चेत ; आयातमिदं समानम्–**वित्तेः**

१० इत्यादि । तदेवं समाने प्रसङ्गे बुद्धिब्रह्मात्मनोः त्यागाभ्युपगमाविशेषेण इति मन्यते । ननु किमु [७५क] ते समानः, यावता [5]बुद्ध्यभ्युपगमे [6]क्षणयस्तत्तनान्तर (क्षणक्षयसन्तानान्तर) साधने महान् प्रयासः न पुनः ब्रह्मोपगमे तत्र तदभावाऽभ्युपगमादिति चेत्; अत्राह–**केवलम्** इत्यादि । सुगमम् । अयमत्राभिप्रायः–तत्प्रतिभासतया बुद्धिमेकाम् अनभ्युपगच्छतोऽपि **समयान्तरप्रवेशः** परस्य इति ।

१५ एवं *'**ततः किम्**' इत्यादिना ग्रन्थेन जातिगुणक्रियात्मिकाम् अध्यक्षे कल्पनां प्रसाध्य, साम्प्रतं यदुक्तं परेण[7]–*"**न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्**" इत्यत्र *"**यद् यत्र नास्ति तस्मिन् अवभासमाने तन्नाऽवभासते यथा रूपे रसः, नास्ति च अर्थे शब्दः**" इति ; तत्र पराभ्युपगमेन हेतोः व्यभिचारं दर्शयन्नाह–**स्थूलम्** इत्यादि ।

२० **[स्थूलमेकासदाकारं परमाणुषु पश्यताम् ।**
स्वलक्षणेषु पुनस्तेषु शब्दः किन्नावभासते ॥२१॥

शब्दवत् दृश्यमानस्वलक्षणानां तदनात्मतायां कथं तत्र स्थवीयानाकारोऽन्वयी अवभासते रसादिवत् ? यतोऽयं शब्दयोजनारहितमर्थं पश्येत् ।]

स्थूलं महत्त्वोपेतं **एकम्** अनेकावयवगुणसाधारणम् आकारम् पराभ्युपगमेन

२५ **असन्तम्** अविद्यमानं **स्वलक्षणेषु** । कथंभूतेषु ? **परमाणुषु पश्यतां** सौगतानाम् । **पुनः** इति पक्षान्तरसूचकः, तेषां **तेषु शब्दः किन्नावभासते** अवभासत एव असत्त्वाविशेषात् । तथा च *"**पश्यन्नयं अशब्दमर्थस्य पश्यति**" इति दुर्लभम् ।

ननु च मरीचिकादौ यथा जलाद्याकार एव असंप्र (असन्प्र) तिभाति ननुरागा (नतुरगा)-

---

(१) "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥"–ब्रि० ता०५।१२ । (२) "...तिमिरोपप्लुतो जनः । संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते॥ तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति॥"–बृहदा० भा० वा० ३।५।४३, ४४ । (३) एकत्वम् । (४) पर्यायस्य । (५) सौगताभिमत । (६) क्षणक्षयश्च सन्तानान्तरं च, तयोः साधने क्रियमाणे । (७) बौद्धेन । (८) उद्धृतमिदम्–न्यायप्र० वृ० पृ० ३५। अष्टस० पृ० ११८ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० १३२।

कारः तथा तेपु[1] स्थूलाकार एव प्रतिभाति न शब्दाकारः, प्रतिनियतत्वाद् भ्रान्तीनाम्। तथा दर्शनादिति चेत्; नैतदस्ति; यतः न खलु 'तेपु कदाचित् कचिदसतः स्थूलाकारस्य प्रतिभासदर्शनात् सर्वत्र सर्वदा तेनैव प्रतिभासितव्यम्, तथा शब्दाकारस्य तथा प्रति[७५ख]भासदर्शनात् तेन न प्रतिभासितव्यम्' इति निश्चयोऽस्ति, कस्यचिद्[2] उपलशकलविशेषे कदाचिदसतो रजताकारस्य प्रतिभासदर्शनेऽपि तत्रैव पर्यायेण[3] कनकोपयोगिनो[4]ऽसतः कनकाकारस्य प्रतिभासदर्शनात्, ५ तेपु[5] शब्दाकारोऽपि प्रत्यभात् प्रतिभात्यत्र प्रतिभास्यति इति शङ्का न निवर्तेत इति *"[6]तद्धि अर्थसामर्थ्यादुपजायमानम् अर्थस्यैव आकारम् अनुकरोति न शब्दादेः" इति[7] प्राकृतमेतत्।

अन्ये तु मन्यन्ते–'चक्षुरादिना रूपादिपरमाणुपु नेन्द्रियान्तरविपयस्या(स्य) सतोऽपि ग्रहणम्, अदर्शनात्। न वै विभ्रमदशायामपि चक्षुपि गन्धः प्रतिभाति इन्द्रियान्तरवैफल्यं वधिराभावश्च स्यात्' इति; तन्न युक्तम्; असर्वदर्शिनोऽदर्शनमात्रेण तथानिश्चयाऽयोगात्, अन्यथा तत १० एव सर्वरसादीनाम् एकाध्यक्षेण[10] ग्रहणासिद्धेरसर्वज्ञं[11] जगत् स्यात्। मनोक(ऽक्ष)विषयस्य स्थूलस्य अनेकावयवगुणसाधारणत्वेन सामान्यस्य एकस्याकारस्य अक्षान्तरे चक्षुरादिकेऽपि प्रतिभासाभ्युपगमात् परेण अनेकान्तः चेत (चेत्;) नेन्द्रियान्तरवैफल्यं निरस्तम्; अन्यथा समान्यस्य चक्षुरादिना ग्रहणे अनुमानवैयर्थ्यमापद्येत [12]तस्य सामान्यविषयत्वात् *"अन्यत् सामान्यं सोऽनुमानविपयः" [न्यायबि० १।१६, १७] इति वचनात्। १५

यत्पुनरुक्तम्–'वधिराऽभावः स्यात्' इति; तदपि न दोषाय; [13]कस्यचित् तत्प्रतिभासोपगमात्, तस्यावाधिर्येऽपि न सर्वस्य तत् [७६क] [14]सोऽपि वा वधिरोऽस्तु श्रवणेन शब्दाऽग्रहणात्। ननु प्रतिभातु शब्दोऽपि तेपु, नैतावता शब्दकल्पना अध्यक्षे, असता तेन[15] तदयोगादिति चेत्; तर्हि अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासात् कल्पना कचिज्[16] ज्ञाने न स्यात्, [17]सोऽपि तत्र अन्यत्र वा न परमार्थसन्। अथवा, यथा परमाणुरूपतायां स्थूलाकारोऽसन् न स्वरूपेण बाधकाभावात् २० तथा शब्दोऽपि इत्यदोषः।

यत्पुनरुक्तं परेण–

*"अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम्।
[18]अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्[19] ॥" [20]इति;

तदप्यनेन दूषितम्; स्थूलाकारवत् तेपु[21] शब्दाकारस्यापि अस्मृतस्य अवभासाविरोधात्। २५

(१) परमाणुषु स्वलक्षणेपु। (२) पुरुपस्य। (३) क्रमशः। (४) कनकार्थिनः कस्यचित्। (५) स्वलक्षणेपु। (६) "तदुक्तम्–तद्ध्यर्थसामर्थ्येनोपजायमानं तद्रूपमेवानुकुर्यात्।" –हेतुबि० टी० पृ० १९५। प्र० वार्तिकाल० पृ० २७८। (७) असंस्कृतमेतत्, प्राकृतमेतत् ग्राम्यार्थे प्रयुज्यते, असंस्कृतमित्यर्थः। (८) गन्धादेः। (९) अदर्शनमात्रादेव। (१०) अतीन्द्रियेण। (११) सर्वज्ञशून्यम्। (१२) अनुमानस्य। (१३) सर्वज्ञस्य। (१४) सर्वज्ञोऽपि। (१५) शब्देन। (१६) बालकस्य अव्युत्पन्नसङ्केतस्य। (१७) अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासोऽपि। (१८) निर्विकल्पकप्रत्यक्षम्। (१९) स्मार्तेन शब्दानुयोजनेन, तथा च साक्षात् स्वलक्षणरूपादर्थात् इन्द्रियज्ञानं न स्यात्। (२०) उद्धृतोऽयम्–तत्त्वोप० पृ० ४०। अष्टस० पृ० १२२। न्यायवा० ता० टी० पृ० १३६। न्यायम० प्र० पृ० ८६। सन्मति० टी० पृ० ५२५। (२१) स्वलक्षणेषु तद्ग्राहिषु इन्द्रियप्रत्यक्षेपु वा।

शब्दवत् इत्यादिना कारिकां विवृणोति—**शब्दस्य इव दृश्यमानानि** प्रत्यक्षीक्रियमाणानि यानि **स्वलक्षणानि** परमाणुलक्षणानि [तेषाम]**तदनात्मता (नात्मता) याम्**[1] अतत्स्वभावतायाम् अङ्गीक्रियमाणायाम् आकारस्य स्थवीयसः स **कथं तत्र आकारः स्थवीयान् अन्वयी अवभासते,** नैव । अत्र निदर्शनमाह—**रसादिकमिव** । यथा रसादिकं परस्परमनात्मतायां तत्र च स्पर्शात्मनि

५ नावभासते तथा प्रकृतमपि इति, तर्ह्यं आकारस्य प्रतिभाससंभवे स्वलक्षणेषु शब्दः किन्नावभासते ? **यतः** यस्मात् अनवभासात् **अयं** सौगतो लोको वा **शब्दयोजनारहितमर्थं पश्येत्** । 'यतः' इति वा आक्षेपे, नैव पश्येत् । तदेवं व्यवसायात्मके ज्ञाने प्रमाणे सति सुस्थितमेतत्—'**प्रमाणस्य फलं साक्षात्**' इत्यादि[3] ।

अत्रापरः प्राह—स्वार्थयोरभावाद् [७६ख] भ्रान्तत्वाद्वा कस्य का सिद्धिः यतः तस्याः

१० कस्यचित् प्रमाणस्य भावात् तत्सूक्तं स्यात् इति; [4]तं प्रत्याह—**ब्रुवन्** इत्यादि ।

[ब्रुवन् प्रत्यक्षमभ्रान्तं बहिरन्तरसंभवम् ।
अनुमानबलादध्यक्षमनात्म[ज्ञ]स्तथागतः ॥२२॥

स्वभावनैरात्म्यं सर्वथा सर्वभावानां ब्रुवन् प्रत्यक्षमभ्रान्तं लक्षयन् कथमनुन्मत्तः ? कुतश्च यथादर्शनमेव मानमेयफलस्थितिः न पुनः यथातत्त्वमिति स्वयमबुद्ध्येत बोधयति

१५ वा प्रमाणादेरभावात् । *"यथा यथार्थाः चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा" इति मिथ्याज्ञानान्न प्रतिपत्तुमर्हति समयान्तरवत् । कथञ्चिद्याथात्म्यप्रतिपत्तिमन्तरेण यथादर्शनमेवं क्षणिकभ्रान्तं [illegible]तसन्तानान्तराणि स्वभावनैरात्म्यं वेत्यादि ब्रुवतः शौद्धोदनेस्तावदयं प्रज्ञापराधः कथमिति सविस्मयं सकरुणं नश्चेतः[5] । सन्त्यस्यापि अनुवक्तार इति कमन्यदनात्मज्ञतायाः । यथादर्शनं चित्तं बहिर्मुखाकारं परमार्थैकसंवेदनं स्वयम-

२० भ्युपयतः परमात्मसिद्धिरेव किन्न भवेत् ? तत्त्वमक्रमं सकलविकल्पातीतं यथादर्शनं मिथ्याव्यवस्थामवतरति, तत्त्वमिथ्यास्वभावयोरेकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । तस्मिंश्च सामान्यविशेषात्मकत्वं बहिरन्तश्च परिणामि किन्न लक्ष्यते ? सर्वथा अनेकान्तसिद्धेरनिवारणात् ।]

बहिरन्तरसंभवम् । कथम्भूतम् ? **प्रत्यक्षं** प्रमाणप्रमितं स्वयं तत्प्रतीतौ तथागतस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणात्मकत्वेन प्रमाणान्तराभावात् इति मन्यते । कुत एतदिति चेत् ? अत्राह—

२५ **अभ्रान्तं** विभ्रमरहितं यतः, तथाविधस्यैव प्रत्यक्षत्वात् , इतरथा मरीचिकाजलवत् कथं प्रत्यक्षं तत् ? किं कुर्वन् ? इत्याह—**ब्रुवन्** विनेयसत्त्वा[न्] प्रति कथयन् । कुतः ? **अनुमानबलात्** त्रिरूपलिङ्गसामर्थ्यात् । वचनमात्रात् तेषां तत्प्रतिपत्त्ययोगात् , प्रमाणान्तरं वा स्यादिति भावः । अत्रापि '**अभ्रान्तम्**' इति क्रिय[ाविशेषणत्वेन] सम्बन्धनीयम् , अभ्रान्तं यथा कुर्वन् (ब्रुवन्) इति ।

---

(१) स्थूलात्मकताभावे । (२) स्थवीयसः । (३) सिद्धिवि० १।३ । (४) अभाववादिनं विभ्रमवादिनं वा । (५) प्र० वा० २।३५७ । (६) तुलना—"तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी बभूवेति वयं तावद् बहुविस्मयमास्महे ॥ तत्राद्यापि जडाः सक्तास्तमसो नापरं परम् ।"—न्यायवि० १।५२, ५३ । अष्टश०, अष्टस० पृ० ११६ । "आचार्यस्तस्यैव तावदिदमीदृशं प्रज्ञास्खलितं कथं वृत्तमिति सविस्मयानुकम्पं नश्चेतः । तदपरेऽप्यनुवदन्तीति निर्दयाक्रान्तभुवनं धिग्व्यापकं तमः ।"—वादन्या०टी० पृ० ५१ ।

कोऽसौ ? इत्याह–**तथागतः** सुगतः। कथम्भूतः? इत्याह–**अनात्मज्ञः** आत्मानं स्वस्वरूपम् उन्मत्तवत् न जानाति इत्यनात्मज्ञः । कथम् ? **अध्यक्षम्** स्पष्टं यथा भवति । तथाहि–यदि सर्वाभावः; न तर्हि प्रत्यक्षमपि, इति कुतस्तस्य तत्प्रतिपत्तिः[1] यतः तं परं प्रति ब्रूयात् । अथ प्रत्यक्षमस्ति; न सर्वथाऽभावः । अस्यापि ततो व्यतिरेके[2] तद्रूपताव्यतिरेके सम्बन्धाऽसिद्धेः, न तस्य ग्रहणम् । तदुत्पत्तिसारूप्यकल्पने; न सर्वशून्यता इति । तथा, परप्रतिपादनोपायलिङ्गवचनभावाभावयोः [3]अनिवृत्तः प्रसङ्गः । यदि च ज्ञानं भ्रान्तम्; कथं प्रत्यक्षम् ? ततः[4] तस्य सिद्धिर्वा विषयवत् । एवं वचनादावपि वक्तव्यम् । ५

स्वभाव इत्यादिना [७७क] कारिकार्थमाह–**स्वभावनैरात्म्यं** रूपरहितत्वम् **सर्वथा** पररूपादिना इव स्वरूपादिनापि **सर्वभावानां** चेतनेतरवस्तूनां **ब्रुवन्** विनेयसत्त्वान् प्रति कथयम् **प्रत्यक्षं** तद्विषयम् [6]आत्मनि विशदं ज्ञानम **अभ्रान्तं** विभ्रमरहितम [7]**लक्षयन् कथमनुन्मत्तः ?** सुगतः अन्यो वा उन्मत्त एव । यत्पुनरुक्तं परेण– १०

*"यथादर्शनमेवेयं [8]मानमेयव्यवस्थितिः ।
क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम् ॥" [प्र० वा० २।३५७] इति ;

तत्राह–**कुतश्च** इत्यादि । **कुतः** न कुतश्चित । **च** शब्दः पूर्वसमुच्चयार्थः । **यथादर्शनमेव**–यथाप्रतिभासमेव **मानमेयव्यवस्थितिः न पुनः यथातत्त्वम्** न तु परमार्थाऽनतिक्रमेण इत्येवम् **स्वयम्** आत्मना **अवबुद्ध्येत** पायं (प्रतिपाद्यं) **बोधयति वा** । कुत एतत् ? इत्यात्राह–**प्रमाणादेरभावात्** स्वाववोधे अध्यक्षस्य परावबोधे अनुमानस्य प्रमाणस्य आदिशब्देन वचनस्य अभावात । भावे वा स्ववचनविरोध इति मन्यते । १५

ननु च न प्रमाणबलात् स्वभावनैरात्म्यं *"यथादर्शनमेव" इत्यादि वा कश्चित प्रतिपद्यते प्रतिपादयति वा येनायं दोषः स्यात् ; अपि तु विचारात् । तदुक्तम्– २०

*"[9]तदेतन्नूनमायातं यद्वदन्ति विपश्चितः ।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥" [प्र०वा० २।२०९]

इति चेत् ; अत्राह–'**यथा यथा**' इत्यादि । **यथा यथा** येन अवयवावयविबाह्येतरसत्येतरादिप्रकारेण [**चिन्त्यन्ते**] विचार्यन्ते **अर्था** भावा **तथा तथा विशीर्यन्ते** शून्या भवन्ति इत्येवं **मिथ्याज्ञानात् न** [७७ख] **प्रतिपत्तुमर्हति**, विचारस्यास्य [10]प्रत्यक्षानुमानत्वेन प्रमाणत्वाभावात मिथ्याज्ञानत्वमिति भावः। ननु च सर्वस्य तत्त्वव्यवस्थापने अयं विचार एव परं शरणं परमार्थतः प्रमाणादेरभावादिति चेत ; अत्राह–**समयान्तरवत्** इति । समयान्तराणि नित्यादिदर्शनानि तथैव (तथेव) तद्वत् इति । यथा अयं सुगतोऽन्यो वा तेष्वपि[11] मिथ्याज्ञानात् न किञ्चित् प्रतिपत्तुमर्हति तथा स्वसमयेऽपि इति दृष्टान्तार्थः । २५

(१) बहिरन्तरर्थाभावस्य प्रतिपत्तिः । (२) भेदे । (३) लिङ्गवचनयोः भावः सद्भावश्चेत् ; न सर्वशून्यता । अभावश्चेत् ; कथं ताभ्याम् परस्य प्रतिपत्तिरिति भावः । (४) प्रत्यक्षात् । (५) सर्वाभावस्य । (६) स्वस्वरूपे । (७) "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" [न्यायबि० १।४] इत्यादिना लक्षयन् । (८) "मानमेयफलस्थितिः"–प्र० वा० । (९) 'इदं वस्तुबलायातम्'–प्र० वा० । (१०) प्रत्यक्षत्वेन अनुमानत्वेन वा प्रमाणत्वाभावे मिथ्याज्ञानत्वमेव आपद्येत । (११) मतान्तरेषु ।

अधुना **'यथादर्शनमेव'** इत्याद्युक्त्वा भावतः सौत्रान्तिकाद्यभेदेन क्षणक्षयादिकं वदतः सुगतस्य प्रज्ञापराधं दर्शयन्नाह–**कथञ्चिद्** इत्यादि । **कथञ्चित्** केनापि प्रत्यक्षप्रकारेण अनुमानप्रकारेण वा **याथात्म्यप्रतिपत्तिर्या तामन्तरेण यथादर्शनमेव** इत्यादि वचनं **ब्रुवतः** कथयतः । कानि ? **क्षणिकभ्रान्तैकान्तचित्तसन्तानान्तराणि** । क्षणिकग्रहणं सौत्रान्तिकमतत-
५ स्वोपलक्षणार्थम्, तेन सर्वसंसारेतरवर्तमतिर्विनिः गृह्यते । **भ्रान्तैकान्त**वचनम् *''**यद् विशददर्शनपथावतारि न तत् परमार्थसत् यथा तैमिरिकोपलब्धं केशादि**'' इत्यस्य माध्यमिकविशेषस्य मतसंग्रहार्थम् **'चित्तं च तत्सन्तानान्तराणि'** इति कथनं योगाचारस्य[1], तेषां द्वन्द्वः तानि इति । न केवलं तान्येव किन्तु **स्वभावनैरात्म्यं** वा सकलशून्यत्वं **वा ब्रुवतः** । कस्य किं जातम् ? इत्यत्राह–**शौद्धोदनेः** इत्यादि । **शौद्धोदनेः**[2] [७८क] सुगतस्यैव नान्यस्य **तावदयं प्रज्ञापराधः**
१० **कथं** केन प्रकारेण 'जातः' इत्यध्याहारः **इति** हेतोः **सविस्मयं** साश्चर्यं **सकरुणं** सदयं **नः** अस्माकं **चेतः** । *''**विधूतकल्पनाजाल**'' [प्र० वा० १।१][3] इत्यादि विशेषणस्य कारणमन्तरेणैव स जात इत्यभिप्रायः । साम्प्रतं तदनुसारिणां तदपराधं दर्शयन्नाह–**सन्ति** इत्यादि । **सन्ति अस्यापि** प्रज्ञापराधवतोऽपि **अनु** पश्चात् **वक्तारः** तदुक्तं समर्थयितारः **इति किम् अन्यद् अनात्मज्ञतायाः** सैव इति ।

१५ ननु च ग्राह्याकारं स्वप्नेतरसाधारणम् अविचारितरमणीयमुद्दिश्य *''**यथादर्शनमेव**'' [प्र० वा० २।३५७] इत्याद्युक्तम् । तथाह–प्रज्ञाकरगुप्तः *''**प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् इत्यादि प्रमाणलक्षणं व्यवहारेण**'' [प्र० वार्तिकाल० २।५] एतदेवाह–**यथादर्शनम्** इत्यादि । **यथादर्शनं** प्रमाणादिरूपेण अविचारितरमणीयम् । किं तत् ? इत्यत्राह–**चित्तं** ज्ञानम् । कथंभूतम् ? **बहिर्मुखाकारं** तेन रूपेण तत्तथेति मन्यते । स्वरूपसंवेदनं तूद्दिश्य परमार्थत एव
२० प्रमाणादिरूपम् । तथा चाह स एव *''**अज्ञातार्थप्रकाशो वा इत्येतल्लक्षणं परमार्थेन प्रमाणान्तरेण अज्ञातस्य संवेदनाद्वैतस्य प्रकाशनात्**'' [प्र० वार्तिकाल० २।५] एतदप्याह–**परमार्थ** इत्यादिना । **परमार्थो** वस्तुभूतम् **एकम्** अखण्डम् **संवेदनं** स्वसंवेदनाकारो यस्य तत् तथोक्तम् **'चित्तम्'** इति सम्बन्धः । ततः **'प्रमाणादेरभावात्'** इत्यसिद्धमिति भावः परस्य । अत्रोत्तरमाह–**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** इत्यादिना **अभ्युपयतः** [७८ख] अभ्युपगच्छतः तथा-
२५ विधं **चित्तं** सौगतस्य **परमात्मसिद्धिरेव** परमस्य अनेकान्तरूपस्य आत्मनो जीवस्य उक्तन्यायेन सिद्धिरेव न सन्देहादि **किन्न भवेत्** स्यादेव । **'परमार्थसिद्धिरेव'** इति वा पाठो द्रष्टव्यः । अत्रायमर्थः–यथा प्रतिभासाविशेषेऽपि संवेदनबहिर्मुखाकारयोः परमार्थतः सत्येतरव्यवस्था तथा तद्विशेषेऽपि स्वप्नेतरबहिर्मुखाकारयोरपीति निर्णीतप्रायमेतत् ।

स्यान्मतम्, सौत्रान्तिकादिदर्शनभेदः संवेदनबहिर्मुखाकारयोः सत्येतरभेदश्च व्यवहारेण न
३० परमार्थतः तथागतेनोक्तः ततोऽयमदोषः । तथा चोक्तम्–

(१) मतसंग्रहार्थम् । (२) शुद्धोदनस्य अपत्यं शौद्धोदनिः तस्य बुद्धस्येत्यर्थः । (३) "विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये । नमः समन्तभद्राय समन्तस्फुरणत्विषे॥" इत्यत्र । (४) प्रज्ञाकरगुप्तः "तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् पूर्वं तु सांव्यवहारिकस्य"–प्र० वार्तिकाल० ।

*"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥" [माध्य० का० पृ० ४०२] इति ।

यदि वा, पूर्वपक्षार्थं तत्तेनोक्तम्, पुनः प्रतिषेधविधानात् । तदुक्तम्—

*"सर्वमस्तीति वक्तव्यमादौ तत्त्वगवेषिणा ।
पश्चादवगतार्थस्य भावग्राहो निवर्त्तते ॥" इति । ५

शब्दविकल्पातीतं तु तत्त्वमिति । तदेवाह—**तत्त्वम्** इत्यादिना । तत्त्वं संविदः परमार्थस्वरूपम् **अक्रमम्** कालादिक्रमरहितम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्यत्राह—**सकलविकल्पातीतम्** । नित्याऽनित्य-सत्याऽसत्य-स्वपर-ग्राह्यग्राहकसंवेदन-एकानेकादिभावादयः सकलविकल्पाः तान् अतीतम् । कथं तत्तथेति चेत् ? अत्राह—**यथा** इत्यादि । दर्शनस्य प्रतिभासस्य अनतिक्रमेण **यथादर्शनम्** । अत्र दूषणं दर्शयन्नाह—[७९क] **मिथ्या** इत्यादि । **मिथ्याव्यवस्थाम्** असत्यामवस्थितिम् **अवतरति** । कथमिति चेत् ? उच्यते—अक्रमत्वं सकलविकल्पातीतत्वं यदि तस्य भावतोऽस्ति; कथं सकलविकल्पातीतम् ? तयोरेव विकल्पत्वात् । अथ नास्ति; तथापि कथं तदतीतम् ? तदतीतत्वनिषेधे सकलविकल्पप्रसक्तेः, अभावनिषेधस्य विध्यात्मकत्वात् । अथवा, यदुक्तं [न] तन्नित्यं तथोपलम्भवैधुर्यात् । एकं हि कालत्रयानुयायि नित्यम्, तस्य कुतश्चिदनुपलम्भ इति तत्र तदक्षा (भा)वोऽपि । यथैव हि मध्यक्षणे क्षीणकुक्षि प्रत्यक्षं न पूर्वोत्तरक्षणौ ईक्षितुं क्षमते तथा नीलावलोकनान्नीलं न शुक्लादिकमाम (मात्राम), एवं नीलमात्रांशेष्वपि तावद्विन्नस्यम् यावत् मध्यक्षणवत् प्रतिपरमाणुनियतसंविदां सिद्धिः, तत्र च एकपरमाणुवेदनेनान्यासामु(सामनु)पलम्भेन सन्तानान्तरसमतां, तद्वेदनमपि विवादगोचरचारीति किन्नाम तत्त्वं यद् अक्रमं सकलविकल्पातीतं भवेत् । एवम् अनित्यं तन्न भवति इत्यत्रापि चिन्त्यम् । यथा खलु पूर्वोत्तरक्षणयोरदर्शने न सत्त्वं नापि [६]ताभ्यां विवेको मध्यक्षणस्य क्षणिकत्वं प्रत्येतुं शक्यं तथा नीलादितदंशानां सत्त्वं विवेको वा प्रत्येतुं कथं शक्यो यतः सकलविकल्पातीतं तत्त्वं भवेत् । २०

एतेन [७]एकानेकविकल्पशून्यत्वं परीक्षितम्, न्यायस्य समत्वात् । तथापि तत्त्वकल्पने तत् **मिथ्या[व्य]वस्थामवतरति इति** हेतोः संवेदनलक्षणो यः **तत्त्वस्वभावः** स्थिरस्थूलादि [७९ख] ग्राह्याकारलक्षणश्च **मिथ्यास्वभावः** तयोरेकत्वम् **अभ्युपगन्तव्यम्** । **तस्मिंश्च** तत्त्वमिथ्यास्वभावैकत्वे अभ्युपगम्यमाने **सामान्यविशेषात्मकम्** । क ? **बहिरन्तश्च** । कथम् ? **यथादर्शनं** दर्शनाऽनतिक्रमेण । कथम्भूतम् ? **परिणामि** तत् **किन्न लक्ष्यते** ? लक्ष्यत एव तत्त्वमिति । ननु घटाद्याकार एव (रमेव) संवेदनं न तस्मात् तदन्यद् ग्राह्याकारो वा तत्कथं तत्त्वमिथ्यास्वभावैकत्वमिति चेत् ? २५

(१) बाह्यार्थोऽस्तीति ग्राहः अभिनिवेशः । उद्धृतोऽयम्—न्यायवि० वि० द्वि० पृ० १७ । (२) तुलना—"यत्रावस्वपरभावसत्यासत्यशाश्वतोच्छेदनित्यानित्यसुखदुःखशुच्यशुच्यात्मानात्मशून्याशून्यलक्ष्यलक्षणैकत्वान्यत्वोत्पादनिरोधादयो विशेषाः तस्य न संभवन्ति ।"—बोधिच० प० पृ० ३६६ । (३) अक्रमत्वसकलविकल्पातीतयोः । (४) सकलविकल्पातीतत्व । (५) सन्तानान्तरवदभाव इत्यर्थः । (६) पूर्वोत्तराभ्याम् । (७) "निःस्वभावा अमी भावाः तत्त्वतः स्वपरोदिताः । एकानेकस्वभावेन वियोगात् प्रतिबिम्बवत् ॥"—बोधिच० प० पृ० ३४८ ।

अत्राह–सर्वथा इत्यादि। सर्वथा सर्वेण तत्त्वमिथ्यास्वभावैकत्वेन घटाद्याकारस्य संवेदनेन अन्येन च उक्तेन प्रकारेण अनेकान्तसिद्धेरनिवारणात् कारणसामान्य इत्यादि लक्ष्यते इति।

एवं तावत् सिद्धिः अर्थनिश्चयः साक्षात् प्रमाणस्य फलं प्रसाध्य, अधुना सिद्धिः स्वनिनिश्चयः [1]तथा तत्फलं समर्थयमानः प्राह–**सिद्धम्** इत्यादि।

५ **[सिद्धं यन्न परापेक्षं सिद्धौ स्वपररूपयोः।**
तत्प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम्[2] ॥२३॥

प्रमातृप्रमितिप्रमेयप्रमाणानां साकल्येन प्रमेयत्वं सदृशं रूपम्, तत्रैतावान् विशेषः स्वतः सिद्धं प्रमाणम्। सिद्धिः अविप्रतिपत्तिः, अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासलक्षणाज्ञाननिवृत्तिः प्रमितिः। तद्यतः सम्पद्यते तत्प्रमाणम्। तत्पुनः यावतोः स्वभावपरभावयोः साध-
१० नमन्यानपेक्षं प्रमात्मत्वात् न पुनः स्वसंविन्मात्रं निर्णयरहितम् अतिप्रसङ्गात्। सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थमिच्छतां स्वापप्रबोधयोः को विशेषः संभाव्यते यतः स्वापादौ सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्न भवेत्। न हि स्वापादौ चित्तचैतसिकानामभावं प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति। न च तेषां तदा आत्मसंवेदनं मुक्त्वा सतां लक्षणान्तरमस्ति यतः प्रत्यक्षलक्षणं ततो निवर्तेत। स्वापादिस्वसंवे-
१५ दनस्य जाग्रच्चित्तचैतसिकक्षणक्षयादिस्वसंवेदनस्य च कञ्चिद् विशेषं संप्रेक्षामहे यतस्तदनुपलक्षितमास्ते। साक्षात् संप्रतिपत्तिभावाविशेषात्। तथा च स्वार्थविषयं प्रमाणमिति जाग्रद्विज्ञानक्षणक्षयादिस्वभावसंवित्तेः प्रत्यक्षात्मनोऽपि यद्यप्रमाणत्वं न तर्हि संवित्तेः प्रत्यक्षता। यदि पुनः संवित्तिस्तथैव सत्यपि प्रत्यक्षं न स्यात् प्रमाणं वा प्रमाणलक्षणं ततोऽन्यथैव व्यवस्थापनीयं यदतिव्यापकं न भवेत्। तथा च सर्वं स्वभावे परभावे
२० वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा। चक्षुरादिज्ञानस्यापि सर्वथा परतः प्रामाण्ये कुतस्ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्य पुनरविसंवादः? क्षणक्षयादौ विसंवादेऽपि नीलादौ प्रमाणत्वे मृगतृष्णादिज्ञानस्यापि सलिलादिविसंवादिनः कथञ्चित्प्रमाणत्वं परीक्षायाः प्रतिष्ठापयितुं युक्तम्, अन्यथा तद्दर्शिनः सुप्तत्वाविशेषप्रसङ्गात्। यथैव हि परतः प्रामाण्यैकान्ते अनवस्थानादप्रतिपत्तिः तथैव सर्वज्ञानानां स्वतः स्वभावानिश्चयैकान्ते। ततः
२५ सर्वज्ञानानां स्वरूपव्यवसायात्मकत्वं चित्तचैतसिकानां निर्विकल्पप्रत्यक्षलक्षणं निराकरोत्येव। स्वसंवेदनमन्तरेण अर्थग्रहणानुपपत्तिवत् स्वरूपव्यवसायमन्तरेण विषयव्यवसायानुपपत्तिश्चोक्ता। तत्रायमेकान्तः संवित्तिः सती संवित्स्वभावापि सती स्वरूपं वेदयत्येव वेदयति भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्, व्यवसायात्मकत्वाद्वा स्वरूपं सर्वथा व्यवस्यति। तथा च स्वार्थानुभवेतरस्वभावलक्षणं स्वपररूपव्यवसायेतरस्वभावं वा बिभ्राणं विज्ञानं तदन्त-
३० रेण न कथञ्चिदुपपनीपद्येत। तत्राविकल्पदर्शनं प्रमाणं स्वयमनुभूतस्वभावस्यापि सर्वथा अननुभूतकल्पत्वात् चेतनत्वेऽपि सुषुप्तादिवत्। स्वविषयीकृते वस्तुनि तदन्तरापेक्षत्वात्

(१) साक्षात्। (२) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ९८।

तद्[illegible]स्यैव प्रामाण्यम्, तत्कार[illegible] सन्निकर्षादिवत् मुख्यतः प्रमाणतानुपपत्तेः। उपचारतः [illegible]दिः [illegible]। यतः प्रभृति प्रेक्षापूर्विका पुरुषप्रवृत्तिः तस्य मुख्यतः प्रमाणत्वोपपत्तिः। स्वेक्षितेऽन्यानपेक्षस्य अविसंवादैकभवनस्य विकल्पविषयस्य च तत्त्वतः, यतोऽयम[illegible]त्तिः हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण प्रवर्तेत। अतस्तद्द्वेषी तत्कारी चेत्युपेक्षामर्हति।]　५

सिद्धं निश्चितं **यत्** तत् प्रमाणं न पुनः मीमांसक-सांख्यकल्पितं परोक्षं ज्ञानमिति मन्यते। क्व प्रमाणम्? इत्यत्राह–**सिद्धौ** निर्णीतौ कर्त्तव्यायाम् नाऽधिगतिमात्रे, क्षणक्षयाद्यनुमानवैफल्यप्रसङ्गादिति भावः। ननु निश्चयान्तरेण निश्चितं निर्विकल्पकं वा सविकल्पकं वा स्वसंवेदनं तत् प्रमाणम्, अतः सिद्धसाधनमिति चेत्; अत्राह–**न परापेक्षम्** इति। तत्सिद्धौ यत् परापेक्षं न भवति अपि तु स्वतः सिद्धमिति। **ततः** तस्माद् उक्तादन्यत् **न प्रमाणम्**। किं तत्? १० इत्यत्राह–[८०क] **अविकल्पमचेतनम्** च स्वसंवेदनशून्यं घटादिप्रख्यं यद् विज्ञानम् इति।

कारिकां विवृण्वन्नाह– '**प्रमातृप्रमिति**' इत्यादि। **प्रमाता** चेतनः परिणामी वक्ष्यमाणो जीवः **प्रमितिः** स्वार्थविनिश्चयः अज्ञाननिवृत्तिः साक्षात् प्रमाणस्य फलं **प्रमेयं** घटादिवस्तु तेषां **साकल्येन** अनवयवेन **प्रमेयत्वं** प्रमाणविषयत्वं **सदृशं रूपं** साधारणः स्वभावः **प्रमाण**[illegible] **च** निर्णयज्ञानस्य च अन्यथा तत्सत्ताऽसिद्धिरिति भावः। एवं तर्हि सर्वेषां प्रमेयत्वात् प्रमेयपदेनैव १५ वचनात् किमर्थं प्रमात्रादीनां पृथगुपादानमिति चेत्? प्रमेयशब्दस्य घटादावेव प्रवृत्त्यर्थम्। ततोऽयमर्थो लभ्यते–प्रमात्रादीनां प्रमातृत्वादिवत् प्रमेयत्वमप्यस्ति, प्रमेयस्य तु तदेवं इति यदुक्तं परेण–*"**प्रदीपादयः प्रमेया अपि ज्ञानहेतुत्वात् प्रमाणमपि**" इति; तन्निरस्तम्। प्रमीयते संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्। न च प्रदीपादिना तथा किञ्चित् मीयते, ज्ञानकल्पनावैफल्यप्रसङ्गात्। तद्धेतुत्वेन तत्प्रमाणत्वे घटादिरपि स्वं (रप्येवं) प्रमाणं भवेत् तद्- २० विशेषात् *"**अर्थवत् अर्थसहकारिव्यवसायात्मकाऽव्यपदेश्याऽव्यभिचारिज्ञानजनने प्रमाणम्**" इति वचनात्। *"**प्रमेयादर्थान्तरं प्रमाणम्**" इत्यपि वचनात् नायं दोष इति चेत्; तर्हि तत एव प्रमात्रादीनां प्रमातृत्वादि दुर्लभम्। तथापि तेषां तत्त्वे [८०ख] प्रमेयस्य प्रमाणत्वमनिवार्यम्। एवमर्थं च '**तेषां प्रमेयत्वं सदृशं रूपम्**' इत्युक्तम्। ततो यथा घटादीनां ज्ञानहेतुत्वेऽपि न प्रमाणत्वं तथा प्रदीपादेरपि किन्तु प्रमेयत्वमेव इति तथा तदुपादानमिति।　२५

स्यादेतत्–'सिद्धं परानपेक्षं प्रमाणम्' इति प्रस्तुते किमर्थमप्रस्तुतं प्रमेयत्वं तेषु प्रस्तूयत इति चेत्? उच्यते–*"**प्रमा**[illegible]**न्तरं प्रमाणम्**" इत्यभिधानात् प्रमाणवत् प्रमातृप्रमितिभ्यामपि ततो भिन्नाभ्यां भवितव्यम्। न चैवम्, अनुपलम्भेन तदसत्त्वादिति न सूक्ष्मे-

---

(१) क्षणक्षयस्य अधिगतिस्तु निर्विकल्पकप्रत्यक्षादेव जाता अतः तदेव तत्र प्रमाणमिति नानुमानस्य आवश्यकतेति भावः। (२) प्रमेयत्वमेव। (३) "प्रदीपप्रकाशो घटाद्युपलब्धिसाधनस्याङ्गत्वात् प्रमाणम्"–न्यायवा० २।१।१९। (४) ज्ञानहेतुत्वेन। (५) तद्धेतुत्वाविशेषात्। (६) प्रमात्रादित्वे। (७) "साधकतमं प्रमाणं न तु प्रमातृप्रमेये"–न्यायवा० पृ० ६। "प्रमातृप्रमेयव्यवच्छेदार्थं फलाङ्गत्वज्ञापनार्थञ्च साधनग्रहणम्।"–न्यायसा० पृ० २। "करणव्युत्पत्तेश्च कर्तृकर्मविलक्षणमेतद् वेदितव्यम्।" –न्यायकलि० पृ० १।

तत्–*"चतसृष्वेवंविधासु तत्त्वं परिसमाप्यते यदुत प्रमाता प्रमितिः प्रमेयं प्रमाणमिति" [न्यायभा० पृ० १]। अथ प्रमेयमपि तच्चतुष्टयं तथेष्यते; *"प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरं प्रमाणम्" इत्यस्य व्याघातः, इत्यस्य प्रतिपादनार्थं प्रस्तूयते । अथवा यदुक्तम्[1]–*"ज्ञानं स्वतोऽर्थान्तरेणैव ज्ञानेन वेद्यते प्रमेयत्वात् घटादिवत्" इति; तत्र यथा घटादिकं प्रमेयत्वे सति
५ भिन्नेनैव ज्ञानेन वेद्यमानं दृष्टं तथा प्रमात्रा[त्र]पि । ततो घटादिनिदर्शनेन यद्वत् प्रमेयत्वात् तज्ज्ञानं तदन्तरेणैव विषयीक्रियते इति साध्यते तद्वत् तत एव प्रमात्रापि तदन्तरेणैव विषयीक्रियते इति साध्यतामविशेषात् , तदन्तरमपि तदन्तरेणैवेत्यनवस्थानान्न कस्यचित् प्रमातुः प्रतिपत्तिः इत्यभावः । अथ तदविशेषे [८१क] प्रमाता स्वयमेव आत्मानं प्रमिणोति; तर्हि 'ज्ञानं ज्ञानान्तरेणैव ज्ञायते प्रमेयत्वात्' इत्यस्य तेनैवे व्यभिचार इत्यस्य कथनार्थं तत् प्रस्तूयते ।
१० एवमपि 'प्रमातृप्रमितिप्रमेयप्रमाणानां साकल्येन प्रमेयत्वं सदृशं रूपम्' इति वक्तव्ये किमर्थम 'प्रमाणस्य च' इति पृथग् वचनमिति चेत् ? स्वतः सिद्धत्वेन प्रमेयादस्य प्राधान्यस्यापनार्थम । एतदेव दर्शयन्नाह–तत्रैतावान् इत्यादि । तत्र तेषु प्रमात्रादिषु मध्ये प्रमाणस्य विशेषः भेदः एतावान् अधिकः स्वतः सिद्धं प्रमाणम् । ननु प्रमातापि स्वतःसिद्ध इति चेत् ; सत्यम्; अतएव नैवमवधारणीयम् 'प्रमाणमेव' इति, किन्तु 'स्वतःसिद्धमेव' इति । सिद्धं निर्णीतम्
१५ अधिगतमिति । ततो निरस्तमेतत्–*"परोक्षा हि नो बुद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः, स हि बहिर्देशसम्बद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति" [शाबरभा० १।१।५] इति । कथम् ? येन हि साक्षात् प्रमेयं परिच्छिद्यते तत्प्रमाणम् , न च परोक्षबुद्धया तथा किञ्चित् परिच्छिद्यते, इतरथा सन्तानान्तरबुद्धयापि परिच्छिद्यते (येत) इति सर्वदर्शित्वम् । आत्मबुद्धया इति नोत्तरम् ; परोक्षायां तथा निश्चयविरहात् । न खलु आत्मनि ज्ञानमस्ति परत्र च (वा) इति श्रोत्रियस्य निश्चयोऽस्ति ।
२० स्यान्मतम्–ममे[10]अर्थापरोक्षताजननात् 'मयि' इति निश्चय इति; तदपि न सुन्दरम् ; यतः अर्थापरोक्षता [11]तज्जनितापि केन प्रतीयते ? न तावदर्थेन; अचेतनत्वादस्य [८१ख] अर्थान्तरवत् । नापि बुद्धया; तस्याः परोक्षत्वात् , अतिप्रसङ्गात् । अत एव नात्मनापि । तन्न अर्थापरोक्षता उत्पन्ना प्रत्येतुं शक्या । किंच, 'मम [12]सा' इत्यपि कुतः ? मदीयबुद्धिजन्यत्वादिति चेत् ; अन्योन्यसंश्रयः–सिद्धे हि [13]तस्या मदीयबुद्धिजन्यत्वे 'मम सा' इति निश्चीयते, तन्निश्चये च तन्म-
२५ दीयबुद्धिजन्यत्वनिश्चयः इति । 'मम सा' इति निश्चयेऽपि न मदीयबुद्धिजन्यत्वनिश्चयः, अन्यसम्बन्धिकारणजन्यानामपि[14] 'मम' इति निश्चयदर्शनात् अन्यव्यानात ([15]अन्यध्यानात्) मम विषापहारादिवत् इति । तत्र *"प्रत्यक्षोऽर्थः" [शाबरभा० १।१।५] इत्यादि सूक्तम् ।

(१) "विवादाध्यासिताः प्रत्ययान्तरेणैव वेद्याः प्रत्ययत्वात् । एवं प्रमेयत्वगुणत्वसत्त्वादयोऽपि प्रत्ययान्तरवेद्यत्वहेतवः प्रयोक्तव्याः ।"–विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६७ । "ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत्"–प्रश० व्यो० पृ० ५२९ । (२) ज्ञानान्तरेणैव । (३) प्रमात्रन्तरेणैव । (४) प्रमात्रा । (५) प्रमाणस्य । (६) साक्षात् । (७) परम्परया, अथवा परोक्षरूपेण । (८) इयम् आत्मबुद्धिरिति । (९) मीमांसकस्य । (१०) अर्थविषयकप्रत्यक्षताजननात् । (११) ज्ञानजनितापि । (१२) अर्थापरोक्षता । (१३) अर्थपरो क्षतायाः । (१४) पुत्रादीनाम् । (१५) अन्येन मन्त्रप्रयोगे कृते यथा अन्यस्य विषापहारो भवति, तत्रापि 'मम' इति प्रत्ययो भवतीत्यर्थः ।

एतेन *"ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति" [शाबरभा० १।१।५] इति निरस्तम्; अर्थज्ञातत्वस्य[1] हेतोरसिद्धेः। अपि च, तज्ज्ञातत्वं क बुद्धौ प्रतिबद्धं प्रतिपन्नं येन ततस्तदनुमानम्? अथ अर्थप्रत्यक्षता कादाचित्कत्वात् कस्यचित् कार्यम्; कारणस्य ततः 'त[द्] बुद्धिः' इति नाम क्रियते इति; क्रियताम्, यदि चक्षुरादिव्यतिरिक्तं तत्कारणं[2] व्यवस्थापयितुं शक्येत[5]। इदं तु युक्तम्– चक्षुरादिव्यापारानन्तरं तद्भावात् तदेव[3] तत्कारणम्, चक्रादिव्यापारानन्तरं यथा घटस्य भावात् चक्रादि कारणम्। चक्षुरादेरेव तन्नाम इति चेन्; किं पुनरेतद्बालभाषितम्–*"सत्सम्प्रयोगे यद् बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्" [मी०द० १।१।४] इति? तन्न अर्थप्रत्यक्षताया बुद्धेरनुमानम्, उक्तन्यायेन परबुद्धेरपि तत्कारणत्वेस्त्व (णत्वं स्व)बुद्धेश्च। किं च तदनुमानम्? अथ[illegible]बुद्धिरेव। तस्या स्व (श्च) परोक्षत्वे तदेव [८२क] चोद्यमनवस्था च। तन्न श्रोत्रियमतं सूक्तम्।

एतेन *"इन्द्रियाणि अर्थमालोचयन्ति अहङ्कारोऽभिमन्यते मनः संकल्पयति बुद्धिरध्यवस्यति पुरुषश्चेतयते॥" इति[4] चिन्तितम्। पुरुषस्य परोक्षत्वे न तस्य बुद्धिः अन्यद्वा, प्रयुक्तन्यायस्य समानत्वात्।

तर्हि ज्ञानान्तरग्राह्यत्वात् सिद्धं तदिति चेत; अत्राह–**स्वत** इति। अत्रायमभिप्रायः–यथा खलु मीमांसकस्य परोक्षज्ञानग्राह्योऽर्थो न सिद्धो भवतीति ज्ञानान्तरं कल्पितं तथा परोक्षज्ञानग्राह्यं ज्ञानमपि न सिध्यतीति तत्रापि तदन्तरं कल्पनीयम्, अन्यथा द्वितीयमपि ज्ञानं न कल्पनीयं[6] भवेत्, तथा च अनवस्था[ना]त्*"स्वज्ञानं तदन्तरेणैव गृह्यते प्रमेयत्वात् घटादिवत्" इत्यत्र धर्मिहेतुदृष्टान्तासिद्धिः। अथ तज्ज्ञानं स्वतःसिद्धमिष्यते; तर्हि धर्म्यादिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टो हेतुः स्यात्।

यत्पुनरुक्तं परेण–*"ज्ञाने ज्ञानान्तरेण वेद्ये मम घटादिदृष्टान्तोऽस्ति न स्ववेद्ये जैनस्य" इति; तन्न; अस्य[7] दृष्टान्त एव नास्ति, भवतः[8] पुनः सकलानुमानसामग्र्यभावः। किञ्च, भवतोऽपि नीलं 'नीलम्[9]' इत्यत्र न कश्चिद् दृष्टान्तः। 'प्रत्यक्षसिद्धेः (द्धे) किं तेन[10]' इत्यपि[11] समानम्। यथा खलु नीले नीलतया न लोकस्य विवादः तथा अहमहमिकया प्रतीयमाने ज्ञाने स्वसंवेदनेऽपि। यदि पुनरयं निर्बन्धः–अनुमानमन्तरेण न तत्सिद्धिः, [12]तदपि न दृष्टान्तमन्तरेण इति; सोऽपि न, सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादि[८२ख]मत्त्वात्' इत्यादिवत् 'अर्थज्ञानं स्वग्रह[illegible] अर्थग्रहणात्मकत्वात, यत् पुनः स्वग्रहणात्मकं न भवति तद् अर्थग्रहणात्मकमपि न भवति यथा अर्थान्तरम्' इत्येतावतैव प्रयोजनपरिसमाप्तेः। तत्सूक्तम्–'**स्वतःसिद्धम्**' इति।

नन्वेवमपि कारिकायां वृत्तौ च 'दृष्ट'वचनं स्पष्टार्थं कर्त्तव्यं न 'सिद्ध'वचनमिति चेत्; तन्न;

---

(१) 'ज्ञातत्वात्' इति हेतोः। (२) अर्थप्रत्यक्षताकारणम्। (३) चक्षुराद्येव। (४) सांख्यमतम्। "एवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा–चक्षू रूपं पश्यति मनः सङ्कल्पयति अहङ्कारोऽभिमानयति बुद्धिरध्यवस्यति।"–सांख्यका० माठर० का० ३०। (५) न व्यवस्थापयितुं शक्यते। (६) द्रष्टव्यम्–पृ० ९८ टि० १। (७) जैनस्य तु केवलम्। (८) मीमांसकस्य। (९) नीलात्मकमेव। (१०) दृष्टान्तेन। (११) ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वे। (१२) अनुमानमपि।

[1]निर्विकल्पस्वसंवेदनदृष्टमपि 'दृष्टम्' इत्याशङ्का न निवर्त्तेत, न च तत्[2] प्रमाणम् । ज्ञापकं हि प्रमाणमिष्यते, न च तदेवम्, अन्यथा दान-हिंसाविरतिचेतसां स्वर्गप्रापणसामर्थ्यं स्वर्गादिफलज्ञापकं भवेत्, न चैवमिति प्रतिपादयिष्यते । विषयदर्शनवादिना सिद्धवचने पुनः क्रियमाणे सिद्धं 'निर्णीतम्' इति गम्यते, सिद्धः पक्षो निर्णीतः इति प्रसिद्धिदर्शनात् । ततः साधूक्तम्–'**स्वतः**
५ **सिद्धं प्रमाणम्**' इति ।

कुत एतदिति चेत् ? अत्राह–**सिद्धिः** इत्यादि । **सिद्धिः** तत्त्वनिर्णीतिः । अस्याः पर्यायमाह–**अविप्रतिपत्तिः** अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासलक्षणाज्ञाननिवृत्तिः । अनेकाधि (अनेन *"**अधिगतिः**) **तत्फलम्**" इति[4] वचनात् तन्मात्र(त्रं) सिद्धिः इत्यादि शङ्का (शङ्कां) निवर्त्तयति । तथा अप्र (अत्र) **सिद्धिः**, सा किम् ? इत्यत्राह–**प्रमितिः** प्रमाणफलम् । एतेन सर्वेण '**सिद्धौ**'
१० इत्येतद् व्याख्यातम् । सा **यतः** यस्मान्निग्रात् **सम्पद्यते** समाप्तिं प्रतिपद्यते **तत्** वस्तु **प्रमाणम्** । अत्र 'सिद्धसाधनम्' इत्यपरे । तान् प्रत्युत्तरमाह–**तत्पुनः** इत्यादि । ततः तन्निग्रात् '**पुनः**' इति भावनायाम् **स्वभावपरभावयोर्यावतोः** [८३क] यत्परिमाणयोः अनेन 'छद्मस्थज्ञानम् अंशेन प्रमाणम्' इत्युक्तं भवति । तयोः किम् ? **साधनं** साधकम् **यावतो**रिति वचनात् तावतोः 'प्रमाणम्' इति गम्यते *"**यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः**" इति न्यायात् । तत् किम् ? इत्याह–
१५ **अन्यानपेक्षम्** इति । व्याख्यातमेतत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**प्रमाण(तम)त्वात्** । **प्रमा** प्रमाणं तद् **आत्मा** स्वभावो यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्** । एतदुक्तं भवति–प्रमाणं करणम्, तच्च साधकतमम्, न च सिद्धिफलं प्रत्यन्यापेक्षं तद्युक्तमिति[6] ।

ननु मा भूत् नैयायिकादिकल्पितम् अन्यापेक्षं ज्ञानं प्रमाणं सौगतविकल्पितं तद्विपरीतं स्यादिति चेत्; अत्राह– **न पुनः** इत्यादि । **स्वसंवित्तेः** एतन्मात्रं **निर्णयरहितं** स्वसंवेदनं
२० तत् **न पुनः** नैव स्वभावपरभावयोः प्रमाणम् इति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**अतिप्रसङ्गात्** इति । स्वाप[म]दगर्भाण्डमूर्च्छितस्ववेदनमपि प्रमाणं भवेदविशेषात् । ननु किमुच्यते 'अविशेषात्' इति, यावता विशेषोऽस्ति इति चेत्; अत्राह–**सर्वचित्तचैत्तानाम्** इत्यादि । सर्वाणि जाग्रत्सुप्तमूर्च्छितादिसम्बन्धीनि यानि चित्तानि नीलादिज्ञानानि चैत्तानि सुखादि[illegible]नि तेषाम् **आत्मनः** स्वरूपस्य **संवेदनं प्रत्यक्षं** कल्पनापोढाऽभ्रान्तत्वाभ्यां प्रमाणम् । कथम्भूतम् ? इत्याह–
२५ **हित** इत्यादि । *"**सम्यग्ज्ञानपूर्विका सकलपुरुषार्थसिद्धिः**" [न्यायबि० १।१] इति वचनात् **हितं** स्रगादि, **अहितं** विषादि तयोः याथासंख्येन **प्राप्तिश्च परिहारश्च** [८३ख] तयोः **समर्थम्**, **इच्छतां** सौगतानां **स्वापो** सुस्वप्नदर्शिन्यवस्था, **प्रबोधः** तस्मात् उत्थिताचेत्तद[illegible]

(१) बौद्धाभिमत । (२) निर्विकल्पकम् । (३) दानचित्ते अहिंसकचित्ते च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यमस्ति । बौद्धमते च वस्तु निरंशं विद्यते । अतः 'तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ।' इति न्यायात् दानादिचित्तग्राहिणा निर्विकल्पेन तत्सामर्थ्यमपि गृहीतम्, तथा च दानादिग्राहिचित्तादेव स्वर्गादिफलज्ञप्तिः स्यादिति दोषः । (४) "किं पुनरस्य प्रमाणस्य फलम् ? प्रमेयाधिगतिः ।"–प्र० वार्तिकाल० ३।३०१ । (५) अधिगतिमात्रमेव सिद्धिरिति । (६) अन्यापेक्षित्वे प्रकृष्टसाधकत्वानुपपत्तेः । (७) अन्यानपेक्षं निर्विकल्पकम् । (८) "सर्वपुरुषार्थसिद्धिः"–न्यायबि० । (९) "हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थी सर्वः (पृ० २८) सम्यग्ज्ञानपूर्वकत्वं च हिताहितप्राप्तिपरिहारयोरुक्तम् ।"–हेतुबि० टी० पृ० ४० ।

तयोः अधिकरणयोः **को विशेषः** न कश्चिद्भेदस्तस्य **संभाव्यते**, साक्षात्सम्प्रतिपत्तेरभावाऽविशेषादिति मन्यते । [**यतः**] यस्मात् विशेषात् **स्वापादौ** आदिशब्देन मदादिपरिग्रहः **सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्न भवेत्** । 'यतः' इति वा आक्षेपे, स्यादेव इति । एतेन परस्य जाग्रत्-सुप्त-सुषुप्त-मृतावस्थाचतुष्टयाभावं दर्शयति ।

स्यान्मतम्–स्वापादौ तेषामनुपलम्भेन असत्त्वात् कथमयं दोषः? इत्यत्राह–**नहि** इत्यादि । ५
हि यस्मात् **न स्वपादौ चित्तचैतसिकानाम् अभावं प्रतिपद्यमानान्** प्रति यद् दर्शयति तत् **प्रमाणमस्ति** यावान् कश्चित् प्रतिषेधः स सर्वोऽनुपलब्धिः (ब्धेः), सा च प्रबोधेऽपि अस्ति । अत एवोक्तम्–'**स्वापप्रबोधयोः को विशेषः संभाव्येत**' इति । न च अनैकान्तिकाद् हेतोः साध्यसिद्धिः अतिप्रसङ्गादिति मन्यते ।

किञ्च, तदनुपलब्धिः स्वसम्बन्धिनी, परसम्बन्धिनी वा स्यात्? स्वसम्बन्धिनी चेत्; १०
सा उपलब्धिनिवृत्तिरूपा यदि; कथमतस्तदभावसिद्धिः[3]? इतरथापि तन्नि[वृत्ति]स्तदभावज्ञापिका स्यात् । ज्ञाता च सा तज्ज्ञापिका ज्ञापकत्वात् धूमवत् । तज्ज्ञप्तिश्च यदि तदन्तरात् ; अनवस्था । उपलब्ध्यन्तरस्वभावा चेत् ; तत्र तदन्तरभावे कथं चित्तचैतसिकानामभावः? तदभावोऽपि यदि तुच्छः; समयान्तर[८४क] गमनम् । स्वापादिशरीरादिस्वभावत्वे; तदप्रतिपत्तौ न तदभावनिश्चयः । न खलु भूतलाग्रहणे तत्र घटाभावग्रहणमस्ति । यदि पुनः जाग्रत्प्रबोधज्ञानं १५
तदनुपलब्धिः; एवमपि न तत्र तदभावसिद्धिः, अन्यथा इहलोकप्रत्यक्षात् परलोकाभावः सिध्येत्। तन्न स्वसम्बन्धिनी । परसम्बन्धिनी चेत् ; सापि तदा अदृश्यानां तेषां कथमभावमवैति इति, [10]सन्तानान्तरासिद्धिप्रसङ्गात् । अथ अवस्थाचतु[11]ष्टयान्यथानुपपत्तितः [12]तत्र तदभावसिद्धिः; तत्रेदं चिन्त्यते–यथा परपरिकल्पितस्य आत्मनोऽसिद्धौ न तेन आत्मजीवच्छरीरं सात्मकं सिध्यति इति, तथा निर्विकल्पकचित्तचैतसिकानामभावः । तदभावो(वा)सिद्धौ न [13]तदपेक्षे जाग्रत्सुप्त- २०
दशे सिध्यतः, तथा तन्निवृत्त्यपेक्षे मृतसुषुप्तदशे अपि । तर्वादौ चैतन्यासिद्धौ विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणासिद्धिवत् चतुष्टयमसिद्धम् । व्यवहारिणः सिद्धं चेत्; यदि प्रमाणतः ; प्रकृतो दोषः । एवमेव; इत्यपि वार्त्तम् ; वृक्षादौ मरणमपि [14]तथा सिद्धमस्तु ।

यत्पुनरेतत्–एवं विचारणे प्रतिभासाद्वैतमवशिष्यते इति; तत्रापि *"**चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि वचनात् चित्रैकज्ञानरूपेण यदि तेन २५
परितोषः; क्रमभाविसुखदुःखाद्यात्मनापि परितोषः क्रियताम् । अथ एकानेकविकल्पशून्येन ; तत्रापि सकलप्रतिभासशून्येन क्रियताम् इति चर्चितम् । ततः स्थितम्–**नहि** इत्यादि ।

सन्तु [८४ख] तर्हि [15]तत्रापि तानि इति चेत्; अत्राह–**न च** इत्यादि । **न च नैव तेषां चित्तचैतसिकानां तदा स्वापादिदशायाम् आत्मसंवेदनं मुक्त्वा सतां** विद्यमानानां लक्षणान्तरमस्ति

(१) चित्तचैतसिकानाम् । (२) ज्ञाननिवृत्तिरूपायाः । (३) सिद्धेर्ज्ञानधर्मत्वात् । (४) उपलब्धिनिवृत्तिः । (५) स्वापादौ । (६) चित्तचैतसिकान्तरसद्भावे । (७) नैयायिकमतप्रवेशः । (८) स्वापादिकालीनशरीराद्यप्रतिपत्तौ । (९) चित्तचैतसिकाभावनिर्णयः । (१०) अदृश्यानुपलम्भादप्यभावश्चेत् तदा । (११) जाग्रत्सुप्तसुषुप्तमृत । (१२) स्वापादौ । (१३) चित्तचैतसिकसद्भावापेक्षे । (१४) एवमेव, यद्वा तद्वा । (१५) स्वापादौ ।

स्वसंवेदनलक्षणत्वाज्ज्ञानस्येति मन्यते। यतो लक्षणान्तरात् प्रत्यक्षलक्षणं ततस्तेभ्यो निवर्त्तेत। ननु भवतोऽपि न तदा तथा(तद्बा)धोऽस्ति; आत्मनोऽपि निरुपलक्षणत्वात्। सतां च तेषां स्वपरावभासित्वं मुक्त्वा न लक्षणान्तरमस्ति ततः समानो दोषः इति चेत्; अत्राह–स्वापादे इत्यादि। स्वापादौ स्वस्यैव संवेदनं स्वापादिस्वसंवेदनम् तस्य जाग्रत्चित्तचैतसिकानां यः
५ क्षणक्षयादिस्वभावः, आदिशब्देन निरंशत्वस्वर्गादिप्रापणसामर्थ्यादिपरिग्रहः तस्य यत् स्वसंवेदनं ग्रहणं तस्य च तत्र (न) कञ्चिद् विशेषमन्तरं संप्रेक्षामहे, यतः तत् क्षणक्षयादिस्वभावसंवेदनम् अनुपलक्षितम् आस्ते तथा स्वापादिस्वसंवेदनमपि इति भावः। कुत एतदिति चेत ? अत्राह–साक्षात् इत्यादि। साक्षात् प्रत्यक्षतः या संप्रतिपत्तिः निर्णीतिः तस्या उभयत्र यो भावः तस्य अविशेषाद् अन्यथा क्षणक्षयादिभावानुमानमनर्थकम्। लिङ्गात संप्रतिपत्तिः उभ-
१० यत्र, एकत्र सत्त्वादेः अन्यत्र व्यापारव्याहारात इत्यभिप्रायः।

यदि पुनर्मतम्–पावकात दृष्टोऽपि धूमः यथा पुनः धूमादेव दृश्यते, तथा चित्ताद् दृष्टोऽपि [व्यापारादिः पुनः] व्यापारादेरेव दृक्ष्यत इति कथं ततस्तत्र स्वसंवेदनसिद्धिरिति ? तत्रोच्यते [८५क] *"अन्यधियो गतेः" इत्यनर्थकं भवेत, तद्गत्युपायविरहात। शक्यं हि वक्तुम्–पावकवत् निवृत्तेऽपि जन्मान्तरचेतसि इहजन्मनि सर्वदेहान्तरेषु व्यापारादेरेव व्यापारादिरिति न तदर्थं शास्त्र-
१५ प्रणयनम्। कथं चैवंवादिनो जलाद्याकारविशेषदर्शनात् भाविन्यामर्थक्रियायां तदर्थिनो नियमेन प्रवृत्तिः ? कदाचित तस्याः दृष्टोऽपि तदाकारविशेषः पुनस्ततं एव स[10] इत्याशङ्काऽनिवृत्तेः। तथा रूपादे[11] रसो दृष्टोऽपि रसादेर्वे[12] स भवेत् [इति] कथमिदमनुमानम्–*"एकसामग्र्यधीनस्य[13]" [प्र० वा० ३।१८] इत्यादि।

एतेन स्वभावविरुद्धोपलब्ध्यादिकं चिन्तितम्, न्यायस्य समानत्वात्। एवं प्रत्यक्षमपि
२० चिन्त्यम्। तदपि प्रथमनीलार्थात् तदाकारं पुनः तत[14] एव आसंसारमिति [15]अभ्रान्तग्रहणमनर्थकम्। व्यवहारी तथा न मन्यते; किं पुनरसौ स्वापादौ चैतन्याभावं मन्यते ? तथा चेत्; मृतवत् [16]तत्रापि दाहादिसाहसमाचरेत्।

एतेन नैयायिकादिरपि [17]तत्राऽभावं कल्पयन् निरस्तः। कुतो वा प्रतिबोधे आत्ममनःसंयोगात् (गादिः) ? आस्तां तावदेतत्। जाग्रद्विज्ञानात्; इदमपि आस्ताम् इति यत्किंचिदेतत्
२५ (यत्किञ्चिदेतत्। न) केवलं तद्विशेषासंप्रेक्षणे स्वापादौ स्वसंवेदनमनुपलक्षितं सिध्यति अपि तु इदं दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–तथा च इत्यादि। तथा तेन तद्विशेषासंप्रेक्षणप्रकारेण वा च शब्दः

(१) स्वापादौ। (२) चित्तचैतसिकसद्भावः। (३) यदि स्वापादौ ज्ञानं न स्यात्तदा आत्मनोऽभावः स्यात्। (४) बौद्धाभिमते चित्तचैतसिकसद्भावे, जैनाभिमते आत्मनि च। (५) व्यापारादेः। (६) स्वापादौ। (७) "प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः। प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥" कारिकेयं 'तदुक्तं धर्मकीर्तिना' इति कृत्वा प्रमाणपरीक्षायां (पृ० ६४) वर्तते। तर्कभा० मो० पृ० ४। (८) परसन्तानसमुद्धारार्थम्। (९) आकारादेव। (१०) आकारः। (११) सहकारिकारणात्। (१२) केवलात् उपादानभूतात् रसादेव। (१३) "…रूपादे रसतो गतिः। हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्" इति शेषः। (१४) नीलाकारादेव। (१५) प्रत्यक्षलक्षणे। (१६) स्वापादौ। (१७) स्वापादौ ज्ञानाभावम्।

अवधारणे तथैव इति । स्वं वा (च) अर्थश्च तावेव विषयौ गोचरौ तयोः प्रमाणम् इत्यभिमतं [८५ख] जाग्रद्दशायां सौगतस्य यद् विज्ञानं तस्य यः क्षणक्षयादिस्वभावः तस्य या संवित्तिः, अगमकत्वात् सापेक्षस्यापि वृत्तेः देवदत्तस्य गुरुभार्यावद् इति । यदि वा, तस्य क्षणक्षयादेर्ग्राहिणी स्वभावभूता संवित्तिः इति ग्राह्यम् । तस्याः प्रत्यक्षात्मनोऽपि विसभावा (निर्विकल्पाया) अपि क्षणक्षयाद्यनुमानाप्रमाणताभयात् यद्यप्रमाणत्वम् 'इष्यते' इत्यध्याहारः । न तर्हि संवित्तेः ५ संवित्स्वरूपस्य प्रत्यक्षता कल्पनापोढाभ्रान्तता प्रमाणम् ।

ननु तस्याः प्रत्यक्षता नास्ति । ततः कथं सा प्रमाणमिति चेत् ? अत्राह–यदि इत्यादि । यदि, पुनः इति वितर्के, संवित्तिः तथैव स्वसंवेदनप्रकारेणैव सत्यपि विद्यमानोऽपि (नापि) प्रत्यक्षं न स्यात् कल्पनापोढाऽभ्रान्तस्वभावा न भवेत् प्रमाणं वा संवादिनी वा न स्यात्, प्रमाणलक्षणं ततः *"सर्वचित्तचैतसिकानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षं प्रमाणम्" [न्यायबि० १० १।१४] इत्येवंरूपाद् अन्यथैव व्यवस्थापनीयम् । कथंभूतम् ? इत्यत्राह–यत् प्रमाणलक्षणम् अतिव्यापकं न भवेत् स्वापादिसंवेदने यन्नास्ति इत्यर्थः ।

ननु उक्तमेव–*"यत्रैव जनयेदेनां[3] तत्रैवास्य[4] प्रमाणता ।" *"प्रवर्त्तकं प्रमाणम्" [प्र० वार्तिकाल० पृ० १५१, २२] इति च वचनं स्वापादौ क्षणक्षयादौ वा तदस्ति इति चेत्; अत्राह–तथा च इत्यादि । तथा च परपरिकल्पितप्रकारेण च सर्वं प्रत्यक्षादि प्रमाणं स्वभावे १५ स्वस्वरूपे परभावे [८६क] पररूपे वा कथञ्चिदेव सच्चेतनादिनीलादिरूपेणैव न क्षणक्षयादिरूपेण प्रमाणम् । अत आह–न सर्वथा इति सिद्धम् । येन अभ्यासदशायां भाविनि प्रवर्त्तकत्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणमिष्टम्, तस्यापि तद्रूपादावेव प्रमाणं न दृश्यप्राप्यविवेके स्वयं विपर्यीकृतेऽपि, तयोरेकत्वाध्यवसायोऽन्यथा न स्यात् विरोधात् । सतोऽविपयीकरणे *"एकस्यार्थस्वभावस्य" [प्र० वा० ३।४२] इत्यादि विरुध्यते । २०

अत्रैव दूषणान्तरमाह–चक्षुरादि इत्यादि । न केवलं सर्वचित्तचैतसिकानामात्मसंवेदनस्य, अपि तु चक्षुरादिज्ञानस्यापि आदिशब्देन श्रोत्रादिज्ञानपरिग्रहः सर्वथा क्षणक्षयादाविव नीलादावपि परतः विकल्पात् प्रामाण्ये अङ्गीक्रियमाणे कुतः न कुतश्चित् ततः चक्षुर[illegible] अर्थे परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्य पुनः पश्चाद् अविसंवादः । कुत एतत् ? प्रवर्त्तनस्यैवाऽसंभवात् 'ततः' इत्यनेन सम्बन्धः । परत एव प्रवर्त्तनसंभवादिति मन्यते । पुनरत्रैव दूषणान्तरमाह–क्षणक्षयादि २५ इत्यादि । क्षणक्षयादौ आदिशब्देन परिमण्डलादौ विसंवादेऽपि 'चक्षुरादिज्ञानस्य' इति सम्बन्धः । नीलादौ प्रमाणत्वे अङ्गीक्रियमाणे मृगतृष्णादिज्ञानस्यापि न केवलम् अन्यस्य । कथम्भूतस्य ? सलिलादिविसंवादिनः शुक्लादिस्वभावाऽविसंवादात् कथञ्चित् न सर्वात्मना प्रमाणत्वं परीक्षायाः युक्तेः सकाशात् प्रतिष्ठापयितुं [८६ख] युक्तम् ।

स्यान्मतम्–मृगतृष्णादिज्ञानमविकल्पकमभ्रान्तं न तत्सलिलादिविषयं कथं तस्य[6] तत्र[7] ३० विसंवादः, अन्यथा नीलज्ञानं पीते विसंवादि भवेत् । यत्र सलिलादिज्ञानं संम (नं न) तन्मृग-

---

(१) असमर्थत्वात् समासाभाव इति चेन्न; सापेक्षस्यापि समासदर्शनात् इति भावः । (२) संवित्तेः । (३) सविकल्पां बुद्धिम् (४) निर्विकल्पस्य । (५) "···प्रत्यक्षस्य सतः स्वयं । कोऽन्यो न भागो दृष्टः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥" इति शेषः । (६) मृगतृष्णिकाज्ञानस्य । (७) सलिलादौ ।

[illegible]नं तोयादिविभ्रमस्य [illegible]दिति; न; तत्र ज्ञानद्वयानुपलक्षणात्। तथापि [illegible]स्कल्पनेऽप्युक्तम्। शक्यं हि वक्तुम्–चन्द्रमेकं पश्यतोऽपि द्विचन्द्रभ्रान्तिरिति इत्यादि। ननु मृग-[illegible]ज्ञानेन शुक्लादिस्वभावाग्रहणात् कथं तत्र तदविसंवादो यतः कथञ्चित् प्रमाणं स्यादिति चेत् ? अत्राह–**अन्यथा** इत्यादि। **अन्यथा** उक्ताभावप्रकारेण **तद्दर्शिनो** मृ[illegible]सलिल-

५ दर्शिनः पुरुषस्य **सुप्तस्याऽविशेषप्रसङ्गात्** कथञ्चित् तस्य प्रामाण्यं प्रतिष्ठापयितुं युक्तम्। दृश्य-मानस्यापि शुक्लादिस्वभावस्य अदर्शनकल्पने सलिलादिप्रतिभासे कः समाश्वास इति ? दृष्टान्त-द्वयस्य किं प्रयोजनमिति चेत् ? उच्यते–यदा एकस्मिन्नपि विज्ञाने तस्मिन् सलिलादिप्रतिभासं परोऽभ्युपगच्छति न शुक्लादिप्रतिभासं तदा उक्तन्यायेन सलिलादिप्रतिभासस्यापि निह्नवात् सुप्तेन अस्वप्नदर्शिनोऽविशेषप्रसङ्गात् इत्युच्यते। यदा पुनः शुक्लादिस्वभावविषयमविकल्पं दर्शनं

१० विशदं सलिलादिगोचरं पुनः सविकल्पमपि विशदं मानसं ज्ञानमभ्युपगच्छति, तदा निर्विकल्प-कस्य सतोऽप्य[८७क]नुपलक्षणाद् अस्पष्टसलिलाविज्ञानस्या[स]त्त्वेऽपि भावात् अन्येना-ऽविशेषप्रसङ्गाद् इत्यभिधीयते। अथ स्वसंवेदनाध्यक्षनिर्णयविचारप्रस्तावे न उपयोगः चक्षु-रादिज्ञानस्य येन तदत्र विचार्यते इति, स्वरूपे स्वसंवेदनाध्यक्षं कथञ्चिदेव न सर्वथा इत्यत्र निदर्शनार्थम्। अत एवोक्तम्–**स्वभावे वा परभावे वा** इत्यर्थः।

१५ साम्प्रतं ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानैकान्ते यद् दूषणं सौगतस्य प्रसिद्धं तदेव– *"**यत्रैव जनये-देनां तत्रैवास्य प्रमाणता**" इत्यत्रापि प्रदर्श्य स्वतः स्वरूपव्यवसायात्मकं सर्वं ज्ञानं प्रसाधय-न्नाह–**यथैव हि** इत्यादि। [**यथैव**] येनैव हि प्रकारेण **परतः** ज्ञानान्तरात् **प्रामाण्यम्** आद्यस्य ज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायः *"**प्रामाण्यं चेतसां स्वार्थव्यवसायः**" इति वचनात् इति एवम् **एका-न्ते** यौगकल्पिते **अनवस्थानात्** ज्ञानान्तरेऽपि तदन्तरापेक्षणात् **अप्रतिपत्तिः 'स्वार्थयोः'** इत्य-

२० ध्याहारः। **तथैव** तेनैव प्रकारेण **सर्वज्ञानानां** सविकल्पकनिर्विकल्पकचेतसां **स्वतः** आत्मना **स्वभावाऽनिश्चयैकान्ते** स्वभावस्य स्वरूपस्य अनिश्चयैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे **अनवस्थानाद्** अनवस्थितेः **अप्रतिपत्तिः स्वार्थयोरेव** (र व)गन्तव्या। एतदुक्तं भवति–यथा आद्यं दर्शनं स्वभावे व्यवसायसामर्थ्यविधुरमुत्पन्नमपि अनुत्पन्नकल्पमिति *"**यत्रैव जनयेदेनाम्**" इत्या-द्युक्तम्, तथा तत्स्वभावे समुत्पन्नापि विकल्पबुद्धिः स्वतः स्वव्यवसायसामार्थ्य[८८क]विधुरा

२५ इति उत्पन्नाप्यनुत्पन्नकल्पा इति तत्स्वभावव्यवसायेऽपि तदन्तरान्वेषणं तत्रापि तदन्तरान्वेषण-मित्यनवस्था। **ततः** तस्माद् अनन्तराद् दोषात् **सर्वज्ञानानां** स्वरूपव्यवसायात्मकत्वं **'अव-गन्तव्या'** इत्यनेन जातनपुंसकलिङ्गपरिणामेन सम्बन्धात्। तत् किं करोति ? इत्यत्राह–**निर्वि-**[illegible] निदि (ल्पेत्यादि) **निर्विकल्पं** च तत् **प्रत्यक्षलक्षणं** च तत् कर्मतापन्नं **निराकरोत्येव**। केषां सम्बन्धि ? इत्यत्राह–**चित्तचैतसिकानाम्** इति।

३० स्यान्मतम्–स्वरूपव्यवसायात्मकत्वाऽभावे किमनुपपन्नं यदर्थं तत् साध्यते ? इत्यत्र उत्तरमाह–**स्वसंवेदनम्** इत्यादि। **स्वस्य** आत्मनः **संवेदनं** ग्रहणम् [illegible] **अर्थग्रहणानुप-**

---

(१) सुप्तेन। (२) अनवस्थाल्पम्। (३) निर्विकल्परूपे। (४) विकल्पबुद्ध्यन्तर।

पत्तिवत् स्वरूपव्यवसायम् आत्मनिर्णयमन्तरेण **विषयस्य** स्वार्थलक्षणस्य **व्यवसायानुपपत्तिश्च** उक्ता । अनेन *"अ[नङ्गी]कृतात्मसंवित्तेः" [सिद्धिवि० १।१८] इत्यादिना परकृतं चोद्यं कृतमिति दर्शयति ।

उक्तमर्थमुपसंहरन्नाह–**तन्नायम्** इत्यादि । यत एवं '[स्वसंविद्]यप्रमाणा[भि]मतविज्ञानस्य' इत्यादि 'सुप्तत्वाविशेषप्रसङ्गात्' इत्यन्तं च व्यवस्थितं तस्मात् **नायम् एकान्तो** यः **संवित्तिः** ५ बुद्धिः **सर्वा** निरवशेषा सर्वज्ञशन्तिवद(सन्ततिवद्)न्यापि **स्वरूपम्** आत्मानं **वेदयत्ये**[व] **वेदयति** तस्य किञ्चिन्न वेदयति इत्येवकारार्थः । कथम्भूता ? इत्यत्राह–**संवित्स्वभावापि सती** इति । यदुक्तं धर्मोत्तरेण–*"**द्विविधा भ्रान्तिः–लौकिकी [स्थिरस्थूला]दिग्रहणात्मिका । शास्त्रीया च ग्राहकसंवित्तिभेदलक्षणात्मिका च**" तस्या अभावप्रसङ्गात् । तथाहि–सच्चेतनादिस्वरूपवत् तद्विभ्रमविवेकमपि यद्यात्मनः सा वेदयति कुतः तद्भ्रान्तिः ? इतरथा नील- १० ज्ञानस्य पीते सा भवेत् । एतेन लौकिकी भ्रान्तिर्निरस्ता; तस्या ग्राह्याकाराभावे अभावात्, तन्निबन्धनत्वात् ।

अत्रापरः प्राह–भ्रान्तेरभावो न दोषाय सौगतस्य तदभ्युपगमादिति ; तन्न; यथाप्रतिभासं तत्त्वोपगमे जैनदर्शनप्रसङ्गात् । तथा च सति भवतः किं सिद्धम् ? इत्यत्राह–**व्यवसाय** इत्यादि । '**तन्नाऽयमेकान्तः**' इत्येतदत्रापि अनुवर्त्तते । ततोऽयमर्थ–यतः परकीया संवित्तिः एवंविधा **तत्** १५ तस्माद् **व्यवसायात्मक**[**त्वात्**] इति हेतोरेव **वा संवित्तिः स्वरूपं** विषयरूपत्वात् **सर्वथा व्यवस्यति** इत्ययं **नैकान्तः** '**भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्**' इति सम्बन्धः । यथैव हि वैशेषिकस्य संवित्तिः व्यवसायात्मिका 'अयम्' इत्येवं [प्रत्यक्षत्वात्] धर्मिणं व्यवस्यति तथैव यदि तस्य स्थाणुत्वपुरुषत्वयोः अन्यतरविवेकं स्वभावभूतम्, अन्यथा स्वभावाव्यवस्थाप्रसङ्गात्, व्यवस्यति ; कुतः संशयादिव्यवस्था अतिप्रसङ्गात् ? एवं सर्वस्य एकान्तवादिनः आत्मनैकवाक्यतां समर्थितामुपसंहर- २० न्नाह– **तथा च** तेन प्रकारेण च सर्वैक[८८ख]वाक्यभावे **स्वं** च **अर्थश्च स्वो** वा **अर्थः** तयोः तस्य वा **अनुभवाश्च** (वश्च) **इतरश्चाऽननुभवः** तावेव **स्वभावौ लक्षणं** स्वरूपं **बिभ्राणं** दधानम् । किं तत् ? **विज्ञानम्** । एतत् सौगतमुद्दिश्य उक्तम्, **स्वपररूपव्यवसायेतरस्वभावं वा** स्वपररूपयोः व्यवसायो निर्णयः इतरोऽनिर्णयः तावेव स्वभावः स्वरूपं तं वा **बिभ्राणम्** । एतत् वैशेषिकमुद्दिश्य कथितम् । **तद्** अनेकान्तमन्तरेण कथं **न कथञ्चिद् उपपनीपद्येत** । २५

उपसंहारमाह–**तद्** इत्यादिना । यत एवं **तत्** तस्मात् **अविकल्पदर्शनं न** विद्यते विकल्पः स्वपररूपव्यवसायो यस्य सौगता[भिमतप्रत्यक्षस्य] तत् तथोक्तम्, **न** स्वपरभावयोः प्रत्यक्षं सत् **प्रमाणम्** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना **अनुभूतो** गृहीतो यः **स्वभावः** स्वरूपम् स्वो वा भावो ग्राह्यः पदार्थात्मा, तस्यापि न केवलमन्यस्य **सर्वथा** क्षणिकादिप्रकारेणेव नीलादि[प्रकारे]णापि । यदि वा, विकल्पानुभवान्त[र]भावापेक्षाभावप्रकारेणेव तदपेक्षाप्रकारे- ३० णापि **अननुभूतकल्पत्वात्** ।

---

(१) इति प्रारभ्य । (२) एतत्पर्यन्तम् । (३) भ्रान्तिः । (४) ग्राह्याकारनिबन्धनत्वात् । (५) चेत् ।

ननु मा भूत् नैयायिकादिदर्शनं प्रत्यक्षं सत् प्रमाणं स्वग्रहणसामर्थ्यवैधुर्येण घटादिवत्[1] न सौगतदर्शनं तत्सामर्थ्याभावेन चेतनत्वादिति [चेत्; अत्राह–] **चेतनत्वेऽपि** इत्यादि। **अपि**[:] संभावनायाम्, भावतः तत्र चेतनत्वासिद्धेः, तस्मिन्नपि। **'स्वयमनुभूतस्यापि सर्वथा** [८९क] **'अननुभूतकल्पत्वात्'** इति सम्बन्धः। अत्र निदर्शनमाह–**सुषुप्तादिवत्**
५ इति। चिन्तितमेतत्। ननु भावत एव तत्र चेतनत्वे कुतः कारणादुच्यते–**'चेतनत्वेऽपि'** इत्येतदिति चेत्; अत्राह–**स्वविषयीकृत** इत्यादि। **स्वेन** आत्मना **विषयीकृते** अनुभूते **वस्तुनि** क्षणिकादिनीलादिरूपे परकल्पितात् दर्शनप्रमाणात् अनुमानं विकल्पश्च **तदन्तरं** तद[2] कारणात् **'चेतनत्वेऽपि'** इत्युच्यते इति। ननु प्रमितिसाधकं प्रमाणम्, सा च नीलादौ दर्शनादेव जातेति तत्र विकल्पः प्रमाणमेव न भवति[3] किमुच्यते **'तदन्तरम्'**
१० इति चेत्; अत्राह–**सत्यं** इत्यादि। [illegible] **यस्यैव** क्षणिकत्वादौ अनुमानस्यैव नीलादौ विकल्पस्यैव **प्रमाणं (प्रामाण्यं)** प्रमितिं प्रति साधकतमत्वोपपत्तेः। तस्यैव 'प्रामाण्यम्' इति मन्यते। अथ प्रमितिं प्रति साधकतमस्य विकल्पस्य हेतुत्वाद् दर्शनमपि तां[4] प्रति साधकतममुच्यते। तदुक्तम् अ र्च टे न–***"पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षाज्जायते इति पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षत इत्युच्यते"** इति[5]। तत्रोत्तरमाह–**तत्कारणत्वेऽपि** इत्यादि। ***"अभेदात् सदृशस्मृत्याम्"**
१५ [सिद्धिवि० १।६] [illegible] दर्शनस्य विकल्पकारणत्वं नास्ति, अत एव **'तत्कारणत्वेऽपि'** इति, **अपि**शब्दः संभावनायाम्। **सा**[illegible]**र्षादेरिव तद्वत् मुख्यतः प्रमाणतानुपपत्तेः** [न] अविकल्पदर्शनं प्रमाणम्। उपचारतः तदुपपत्तिः स्यादिति चेत्; अत्राह–**उपचारत** इत्यादि। उपचारात् **सन्निकर्षादेः** [८९ख] 'प्रमाणम्' इति प्रकारेण **व्यपदेशाऽविघातात्**।

ननु व्यवहारे अन्यत् प्रत्यक्षं प्रमाणं नास्ति, अविकल्पदर्शनस्यैव मुख्यतः प्रमाणतोपपत्तिः
२० इति; अत्राह–**यतः** इत्यादि। **प्रभृति**शब्दोऽयम् आद्यर्थो रिसंज्ञिसंज्ञः (घिसंज्ञः)। ततोऽयमर्थः–**यतः [प्रभृति]** यस्मात् आदितः विज्ञानात् **पुरुषस्य प्रवृत्तिः तस्य** व्यवसायात्मनः विज्ञानस्य **मुख्यतः प्रमाणत्वोपपत्तिः** नाऽ[illegible] प्रमाणम् इति **प्रभृति**शब्देन एतद्दर्शयति–पूर्वमकस्मात् सुखहेतोः दुःखहेतोर्वा दर्शने ततः सुखाद्यनुभवने च [न] पुरुष एवमवगच्छति इदं मे सुखसाधनं दुःखसाधनं वा।

२५ यत्पुनरत्रेदं चोद्यम्–सुखादिसाधनदर्शनकाले न सु[illegible], तत्काले च न तत्साधनवेदनम्, तत् कुतः [illegible]धनयोः हेतुफलभावप्रतीतिरिति? तत् ***"प्रतिभासैक्यनियमे"** [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना निरस्तम्। ततः[10] तदवगमात् तस्य संस्कारः, पुनः कालान्तरे तस्य तज्जातीयस्य वा दर्शनात् संस्कारप्रबोधे तत्र स्मृतिः, ततः 'तदेवेदं तत्सदृशम्' इति वा प्रत्यभिज्ञा, अतोऽपि 'यदित्थं तद् इयता कालेन सामग्रीविशेषेण वा इत्थंभूतकार्यकारि' इति चिन्ता

---

(१) अस्वसंवेदित्वादित्यर्थः। (२) स्वसंवेदित्वेन। (३) निर्विकल्पके। (४) प्रमितिः। (५) गृहीतग्राहित्वादित्यर्थः। (६) प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो 'नीलमिदम्' इति विकल्पस्यैव। (७) प्रमितिम्। (८) "पक्षधर्मस्य साध्यधर्मिणि प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रसिद्धिः निश्चय इति"–हेतुबि०, टी० पृ० ३९। (९) सुखादिवेदनकाले च। (१०) अनुभवात्।

तर्कः, ततोऽपि 'इत्थं चेदं तस्मात् पूर्ववत् विवक्षितकार्यकारि' इत्यनुमानम्, अतः 'पुरुषस्य प्रवृत्तिः' इति । वक्ष्यते चैतदत्रैव-*"अक्षज्ञानैरनुस्मृ[त्य"] [सिद्धिवि० १।२७] [इ]त्यादिना ।

यत्पुनरेतत्-'प्रवृत्तेः फलभावेन असत्त्वान्न कस्यचित् कुतश्चित् प्रवृत्तिः' इति; तद् युगपदिव च क्रमेणापि चित्रैकज्ञान[९०क]संभवेन प्रत्यक्षबाधितमिति । ननु (१)प्रेक्षापूर्विकाज्ञानादपि पुरुषप्रवृत्तिरस्तीति तस्यापि मुख्यतः प्रमाणत्वोपपत्तिः स्यादिति चेत् ; अत्राह-**प्रेक्षापूर्विका** इति । प्रकृष्टा संशयादिरहिते [क्षा] दर्शनं पूर्वं कारणं यस्याः सा तथोक्ता सम्यग्ज्ञानपूर्विका इति यावत्, विभ्रमसर्वविकल्पातीतत्वाद्येकान्तनिषेधात् ।

ननु निर्विकल्पकदर्शनादेव तथा पुरुषप्रवृत्तिः, अतः तस्यैव मुख्यतः प्रमाणतोपपत्तिः । तदुक्तम्-

*"तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः ।
स्मरणादभिलाषेण व्यवहारः प्रवर्त्तते ॥" [प्र० वार्तिकाल० पृ० २४]

इति चेत् ; अत्राह-**स्वेक्षित** इत्यादि । **स्वेक्षिते** स्वानुभूते वस्तुनि **अन्यानपेक्षस्य** व्यवसायात्मनो विज्ञानस्य, अंत एव स्मरणादिः नान्यत इति मन्यते । उक्तं चैतदत्रैव-*"व्यवसायात्मनो दृष्टेः" [सिद्धिवि० १।४] इत्यादिना ।

स्यान्मतम्-भवतु व्यवसायात्मनो विज्ञानाद् आदितः प्रेक्षापूर्विका पुरुषप्रवृत्तिः तथापि न तस्य(३) मुख्यतः प्रमाणतोपपत्तिः अवस्तुसामान्यविषयत्वेन विसंवादकत्वात् । तदुक्तम्-*"विकल्पोऽवस्तुनिर्भासो विसंवादादुपप्लवः ।" इति चेत ; अत्राह-**अविसंवाद** इत्यादि । **अविसंवादस्य एकम्** अन्यनिरपेक्षं **भवनं** यस्मात् तस्य विकल्पविषयस्य च तत्त्वतो वस्तुत्वादिति भावः । एतदर्थमेवेदं **स्वेक्षित** इत्यादि ।

अत्र चोद्यते-व्यवसायात्मनो नातीते पुरुषप्रवृत्तिः तस्य अनुभूतत्वात्, न वर्तमाने [अनुभूयमानत्वात्] । नहि सुखादौ अनुभूयमाने कश्चित् प्रवर्त्तते (५)प्रवृत्तेरनवस्थाप्रसङ्गात् । नापि भाविनि; प्रत्यक्षतः तदप्रतिपत्तेः न [९०ख] क्वचित् पुरुषप्रवृत्तिरिति । तत्रोत्तरम्-**यतोऽयम्** इत्यादि । **अयं** चोद्यकारः प्र ज्ञा क र गु प्तः अन्यो वा **प्रवर्त्तेत** तथा विचारं कुर्वन्नपि न तिष्ठेत् । कथम्भूतः ? **अस्खलद्वृत्तिः** । एतदुक्तं भवति- यद्ययं प्रेक्षाकारी नियमेन प्रवृत्तिविषयं नास्ति इति पश्येत् न तत्र नित्यवद् अस्खलद्वृत्तिः प्रवर्त्तेत, न चैवं(६) § सुपरीक्षक विचारं कुर्वन्नपि न तिष्ठेत् कथंभूतः अस्खलद्वृत्तिः । एतदुक्तं भवति § सुपरीक्षकस्यापि जलादौ प्रवृत्तिदर्शनात् **अतः तत्कारी तद्द्वेषी** चेति **उपेक्षामर्हति** इति । क्व प्रवर्त्तेत इति चेत् ? अत्राह-**हित** इत्यादि । निमित्तयोः द्विवचनमेतत्, तेन **हितस्य** ओदनादेः **प्राप्तौ** प्राप्तिनिमित्तम् **अहितस्य** विषादेः **परिहारे** परिहारनिमित्तम् । न चैतच्चोद्यम्-सुखदुःखयोरप्रतिपत्तौ न तत्कारि(७) हितमहितं वा ज्ञातुं शक्यत इति; तथा अनुमानाद्यप्रतिपत्तौ(८) न लिङ्गस्य तद्धेतुत्वं प्रतीयते इति न तदर्थी तत्रापि(९) प्रवर्त्तेत तोनुदयात [अतोऽ-

(१) प्रेक्षापूर्विका । (२) व्यवसायात्मकज्ञानादेव । (३) व्यवसायस्य । (४) उद्धृतोऽयम्-प्रश० कन्द० पृ० १९० । प्रमेयक० पृ० ३१ । सन्मति० टी० पृ० ५०० । न्यायवि० वि० प्र० पृ० ३१४ । स्या० रत्ना० पृ० ३२ । धर्मसं० पृ० १३४ । (५) प्रवृत्तिरपि अनुभूयमाना, अतस्तत्रापि प्रवृत्तिर्भवेदिति प्रवृत्त्यनवस्था । (६) § एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः । (७) सुखकारि । (८) अनुमानाद्य । (९) लिङ्गे ।

नुमानानुदयात्] कुतः स्वयं तत्त्वमवबुध्येत परं वा बोधयेत् ? स्वसंवेदनाध्यक्षस्य अनंशस्य विवाद-गोचरापन्नत्वात्। तदयं भाव्यनुमानम् अप्रतियन्नपि लिङ्गस्य तद्धेतुतामवैति न पुनः तथाविधं सुखादिकम् अप्रतिपन्नौदनादेः (अप्रतियन् ओदनादेः) तद्धेतुतामि[च्छती]ति स्वेच्छावृत्तिः। कथं प्रवर्त्तते इति चेत् ? अत्राह–**सङ्कर** इत्यादि। [९१क] यस्य प्राप्तिः तस्य परिहारः यस्य परिहारः ५ तस्य प्राप्तिः इति **सङ्करः**, प्राप्तिविषये परिहारः परिहारविषये च प्राप्तिरेव **व्यतिकरः**, **तयोः व्यतिरेकेण** अभावेन **यतो** यस्मात् ततः '**यतः प्रभृति**' इत्यादि सुस्थम्।

अत्र अपरः सौगतः प्राह–*"**यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता**" इति ध र्मो-त्त र स्य मतमेतत्। तच्च यथैव युक्त्या अस्माभिर्निरस्तं तथैव जैनैः इति सिद्धोपस्थायित्वं तेषाम्[3], दर्शनं तु विकल्पनिरपेक्षं प्रमाणम्। यत्प्रमाणं विकल्पः कथं दर्शनेन अपेक्ष(क्ष्य)ते ? प्रमाणत्वे[4] १० प्रमाणसंख्याव्याघात इति। तत्रोत्तरमाह–**विषदर्शनवद्** इत्यादि।

[विषदर्शनवदज्ञस्य दर्शनमविकल्पकम्।
न स्यात्प्रमाणं सर्वमविसंवादहानितः ॥२४॥

विषमालोक्य तत्र अज्ञ इव प्रमाणयति न पुनः व्यवसायात्मकं प्रमाणमविसंवादकमिति लक्षयति चेति विपरीतलक्षणप्रज्ञो देवानांप्रियः। सर्वमेव दर्शनमविकल्पकं कथं १५ प्रत्यक्षं विसंवादकं अज्ञस्य विषदर्शनमिव। व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वोपपत्तेः। तदितरस्याव्यवसायात्मकत्वेन विसंवादात्। ननु अविकल्पकं सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानमविसंवादकम्; न च तदविसंवादकम् अपि तु विकल्पकमेव व्यवसायात्मकत्वात्। तदविसंवादिनः प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वे क्षणक्षयादिवत् साधनान्तरमपेक्षते अनिश्चयादिति। कल्पनापोढमभ्रान्तमपि दर्शनं विसंवादयत्येव यथादर्शनं निर्णयायोगात्। विशेषाका-२० रेण अर्थानामनवभासनात् सामान्याकारेण च व्यवसायानिर्णयात्। यथाप्रतिपन्नभिप्रायं प्रमाणलक्षणमविसंवादकत्वं प्रमाणान्तराबाधितविषयमयुक्तं स्वमतव्याघातात्। तस्मान्नायमविकल्पोऽनुभवः स्वलक्षणग्राही यथार्थनिर्भासं व्यवसाययितुं समर्थोऽविसंवादको नाम। न चाविकल्पितेन स्वभावेन स्वलक्षणव्यवस्थापनं युक्तमद्वैतवदिति भेदाभावात्। विकल्पानां भेदैकान्तेऽपि निःस्वभावत्वप्रसङ्गात्।]

२५ **अज्ञानस्य (अज्ञस्य)** विषे अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासोपेतस्य संबन्धि यत् **विषदर्शनं** स्वानुभूते वस्तुनि संशयविपर्ययकारि अकिञ्चित्करं वा तदिव **विषदर्शनवत्** इति, **सर्वं** चतुर्विधमपि, यदि वा **सर्वम्** अनभ्यासजमिव अभ्यासजमपि **दर्शनं न प्रमाणं स्यात्** भवेत्। कथम्भूतम् ? **अविकल्पकम्** *"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना" [न्यायवि० १।५] तदात्मकं न भवति निरंशार्थविषयमित्यर्थः। अत्रायमभिप्रायः–यदि विकल्प-३० निरपेक्षं स्वतन्त्रं दर्शनं प्रमाणम्; हन्त तर्हि विषाऽज्ञस्य विषदर्शनं तथाविधमनिवारितमिति तदपि प्रमाणं स्यात्। तथा च सति सन्देहादेः न कस्यचिद् विषे प्रवृत्तिः इति।

(१) अनुमानकारणताम्। (२) बौद्धविशेषैः। (३) जैनानाम्। (४) [illegible]। (५) कल्पनारहितम्।

यत्पुनः–*"यत्रैव जनयेदेनाम् अनुमानबुद्धिं तत्रैवास्य प्रमाणता" इति व्याख्यानम्; तदपेतेन निरस्तम्; भाविमरणसंबन्धिविषाकारविशेषलिङ्गदर्शनस्य सजातीय[९११ख]-स्मरणस्य च अनुमानहेतोः अत्रापि कदाचिद् भावात् अनुमानजननादपि प्रमाणं स्यात्। न चैवम्, अतो विषदर्शनवदज्ञस्य सर्व[मवि]कल्पकदर्शनमप्रमाणमिति। ननु नीलादावपि विषस्य अन्यस्य च अभ्यासदशायां दर्शनं प्रमाणं दृश्यते, ततः सर्वं दर्शनमप्रमाणमिति वदतो दृष्टबा- ५ धनमिति चेत्; अत्राह–अविसंवादहानितः इति। अभ्यासदशायां प्रतिपरमाणुनियतं दर्शनं प्रमाणम् इति यः अविसंवादः अविप्रतिपत्तिः तस्य हानितः सर्वं दर्शनं न प्रमाणमिति। यदि वा, दृष्टस्य परमाणुमात्रस्य अप्राप्तेः तद्धानितः इति व्याख्येयम्।

विषदर्शनं सोपहासं व्यतिरेकमुखेन विवृण्वन्नाह–विषम् इत्यादि। विषम् आलोक्य दर्शनविषयीकृत्य तत्र प्रमाणयति प्रमाणमाचष्टे। किम्? इत्यत्राह–अज्ञ इव इति। अज्ञो व्याख्यातः १० स इव अव्युत्पन्नः अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासः(यैस्तः) सौगत इत्यभिप्रायः। तत्र चोक्तं दूषणम्। किं पुनर्न प्रमाणयति? इत्यत्राह–न पुनः इत्यादि। व्यवसायात्मकं प्रमाणं प्रमाणयति न पुनः। कथम्भूतं तत्? इत्यत्र (त्राह–) 'अविसंवादकम्' इति। *"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" [प्र०वा० १।३] इति एवं लक्षयति च अवधारयति च इति हेतोः विपरीतलक्षणप्रज्ञो देवानां-प्रियः। यत् प्रमाणं तदविसंवादकं न भवति, [९२क] यच्च अविसंवादकं तत् प्रमाणं न वेत्ति इति १५ मन्यते। मा भूत् तर्हि विषदर्शनं प्रमाणं व्यवसायात्मकं वा ज्ञानमविसंवादकमपि तुदकमपि (?) तु दर्शनमिति चेत्; अत्राह–सर्वमेव इत्यादि। अनेन शेषमन्वयमुखेन व्याचष्टे–सर्वमेव निरव-शेषमेव दर्शनम्। कथम्भूतम्? अविकल्पकम् अज्ञस्य संबन्धि। केन प्रकारेण? कथं प्रत्यक्षं प्रमाणं न [कथं] चित्। पुनरपि कथम्भूतम्? इत्यत्राह–विसंवादकं 'विसंवादकत्वात्' इति गम्यते यथा 'सद् अनित्यम्' इत्युक्ते सत्त्वादिति। कस्य किमिव तत्तथाविधम्? इत्यत्राह– २० अज्ञस्य विषदर्शनमिव इति। तथा च प्रयोगः–सर्वमेव अविकल्पं दर्शनं न प्रमाणं विसंवाद-कत्वाद् अज्ञस्य विषदर्शनवत् इति यदुक्तं परेण–*"विवादगोचरमविकल्पं दर्शनं प्रत्यक्षं प्रमाणम् अविसंवादकत्वात्" इति; तत्र हेतोर्विरुद्धतां दर्शयन्नाह–व्यवसायात्मकस्यैव इत्यादि। व्यवसायात्मकस्यैव नान्यस्य इति एवकारार्थः। निगदितं विना अविसंवादकत्वोपपत्तेः।

ननु यदुक्तं 'सर्वमेव' इत्यादि; तत्र असिद्धो हेतुः; तथाविधदर्शनस्यैव अविसंवादभावा- २५ दिति चेत्; अत्राह–तद् इत्यादि। तस्य व्यवसायात्मनो [illegible] य इतरः अन्यः तस्य विसंवादात्। केन कृत्वा? इत्यत्राह–अव्यवसायात्मकत्वेन अवस्तुनिरंशैकान्तगोचरत्वेन।

ननु 'अव्यवसायात्मकं दर्शनं विसंवादकम् अव्यवसायात्मकत्वेन' [९२ख] इत्युच्यमान 'अनित्यः शब्दः शब्दत्वात्' इत्यादिवत् प्रतिज्ञातार्थैकदेशाऽसिद्धो हेतुरिति चेत्; आस्तां तावदेतत्, उत्तरत्र अस्य विचारयिष्यमाणत्वात्। ३०

(१) अज्ञस्य विषदर्शनेऽपि। (२) अविसंवादहानितः। (३) 'तु दकमपि' इति पुनर्लिखितं निरर्थकञ्च।

स्यान्मतम्–अविकल्पं दर्शनं यद्यपि क्षणक्षयादौ विसंवादकं[1] तथापि नीलादिसुखादौ संवादकमिति भागाऽसिद्धो हेतुरिति । एतदेव परः[2] दर्शयन्नाह–**ननु** इत्यादि । **ननु** इति वितर्के । **अविकल्पं च सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानम् अविसंवादकम्** । तत्रोत्तरमाह–**न च** इत्यादि । **न च नैव तत्** सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानम् **अविसंसादकं** निर्विकल्पकम् । किं तर्हि तत् ? इत्यत्राह–**अपि तु विकल्पकमेव** इति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**व्यवसायात्मकत्वात्** । वस्तुसत्सामान्यविशेषात्मकार्थनिर्णयात्मकत्वात् । न चान्यस्य[3] अविसंवादकत्वधर्मः अन्यस्य[4] इति परिकल्प्य भागासिद्धता हेतोः परिकल्पयितुं शक्या, अन्यथा क्वचित् शब्दादौ सामान्यादिप्रसिद्धम् असत्त्वादिकं परिकल्प्य तथा तदपि भागाऽसिद्धम् उद्भावनीयं भवेत् । तद् विकल्पकमिति कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? अत्राह–**तद्** इति । **तस्य** सुखादिनीलादिनिर्भासस्य **अविसंवादिनः प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वे** अङ्गीक्रियमाणे **क्षणक्षयादिनिर्भासवत् साधनान्तरमपेक्षते** 'प्रत्यक्षम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह– **[अ]निश्चयादिवत्** (दिति) सुखादि- [९३क] स्वभावस्य प्रत्यक्षेण अनिश्चयादिति । न च तदपेक्षते ततो वि[कल्प]कमेवेति ।

ननु यदि नाम साधनान्तरमपेक्षते अविकल्पकं दर्शनं नैतावता विसंवादकं साधनान्तरानुग्रहेण सुतरामविसंवादकत्वसिद्धेः आगमवत् । कल्पनापोढाऽभ्रान्तदर्शनमिति चेत ; अत्राह–**कल्पनापोढम्** इत्यादि । **कल्पनापोढमभ्रान्तमपि** । अपिशब्दः संभावनार्थ उभयत्र सम्बन्धनीयः । दर्शनेऽपि *"**तथा च सति स्वार्थ**" [सिद्धिवि० १।२३] इत्यादिना कल्पनायाः *"**अन्तःस्वलक्षणस्य द्वयनिर्भासप्रतीतेः**" [सिद्धिवि०] इत्यादिना च विभ्रमस्य व्यवस्थापितत्वात् **दर्शनं विसंवादयत्येव** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**यथा [दर्शनमिति]** दर्शनाऽनतिक्रमेण **यथादर्शनम् निर्णयस्य अयोगात्** । यदि यथादर्शनं निर्णयः स्यात् तर्हि तदनुग्रहात् तदविसंवादकं नितरां भवेदिति युक्तम्, न चैवमस्ति इति मन्यते । नचैतन्निर्विकल्पकमविसंवादकम् इति । अत्रैव युक्त्यन्तरमाह–**विशेष** इत्यादि । **विशेषाकारेण** सजातीयेतरविलक्षणाकारेण **चक्षुरादिबुद्धीन् (बुद्धौ) अर्थानां** सुखादिनीलादीनाम् **अनवभासनात्** कारणात् न चैतत् निर्विकल्पकमविसंवादकम् इति संबन्धः अपि तु विकल्पकमेव इत्यत्रापि तदाह–**सामान्य** इत्यादि । **सामान्याकारेण, च** शब्दः विशेषाकारेण इत्यस्य समुच्चयार्थः, **व्यवसायाऽनिर्णयात् चक्षुरादिबुद्धौ अर्थानाम्** अपि तु '**विकल्पकमेव**' इति पदघटना [९३ख] ।

ननु 'अविकल्पकं च सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानम् अविसंवादकम्' इत्यस्य साधिकां परस्य युक्तिं प्रदर्श्य दूषयन्नाह– **यथाप्रतिपत्त्रभिप्रायम्** इत्यादि । **प्रमाणस्य लक्षणम् अविसंवादकत्वम्** *"**प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्**" [प्र०वा० १।२] इति वचनात् । कथंभूतं तत् ? इत्यत्राह–**यथाप्रतिपत्त्रभिप्रायम्** दृश्यप्राप्ययोर्नैकत्वम्, अन्यथा दृश्यमेव प्राप्यमेव वा स्यात् । तथापि तयोरेकत्वाध्यवसायात् 'यदेव दृष्टं तदेव प्राप्तम्' इति प्रतिपत्तृणाम्[6] अभिप्रायः तस्य

---

(१) क्षणिकांशे समारोपव्यवच्छेदाभावात् । (२) बौद्धः । (३) विकल्पस्य । (४) निर्विकल्पकदर्शनस्य । (५) साधनान्तरापेक्षणमात्रेण । (६) दर्शनम् । (७) चेतनेतराणाम् । (८) "केवलं दृश्यविकल्प्यार्थैकीकरणमात्रेण व्यवहारमात्रमेतत् ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३९८ ।

अनतिक्रमेण **यथाप्रतिपत्रभिप्रायम्** न पारमार्थिकम् इत्यभिप्रायः । अथवा, मरीचिकाजलवत् सत्याभिमतमपि जलं न परमार्थसत्, तथापि अत्र वासनादार्ढ्येन[1] चिरं प्रतिभासानुगमेन 'सत्यमेतत् जलम् अर्थक्रियाकारित्वात् नेतरद् विपर्ययात्' इति तेषामभिप्रायः, तस्य अनतिक्रमेण **यथाप्रतिपत्रभिप्रायम्** । यदि वा, जाग्रद्दशावत् स्वप्नदशानामपि (दशायामपि) दृष्टस्य प्राप्तिः अविसंवादोऽस्ति इति तज्ज्ञानमपि प्रमाणं प्रसक्तम्, तथापि न तया जातपरितोषा जन्तवो जायन्ते इति न सा अर्थप्राप्तिः, जाग्रद्दशायां तु विपर्ययाद् भवति इति तेषामभिप्रायः तस्य अनतिक्रमेण **यथाप्रतिपत्रभिप्रायम्** इति । नन्वेवमपि विकल्पकमविसंवादकं प्राप्तम्, तत्रैवास्य सद्भावादिति चेत् अत्राह—**प्रमाणान्तराबाधितविषयम्** इति । प्रमाणान्तरेण [९४क] अबाधितो विषयो यस्य तत् तथोक्तम् **प्रमाणलक्षणम्** इति । तत् पुनः अविकल्प एव संभवि न विकल्पे, सामान्यादेः प्रमाणान्तरेण बाधनादिति; तत्र दूषणमाह—**अयुक्तम्** इति । एतदपि प्रत्यक्षलक्षणमयुक्तम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—**स्वमतव्याघातात्** । 'अन्तर्बहिश्च सर्वं क्षणिकं निरंशम्' इति बौद्धस्य स्वम् आत्मीयं मतं तस्य व्याघातात् । न हि क्षणिका निरंशाः परमाणवो दृष्टाः प्राप्ता वेति प्रतिपत्तॄणामभिप्रायोऽस्ति, यतः तस्य अनतिक्रमेण तल्लक्षणं युक्तं भवेत् । यदि च यथाप्रतिपत्रभिप्रायं न पारमार्थिकं तल्लक्षणं कुतः *"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः"[6] इत्यादिकस्य *"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति"[7] इत्यादिकस्य च परमार्थतः सिद्धिः समयान्तरवत् ? प्रतिभासाद्वैतस्य निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च अनन्तरमेव । प्रमाणान्तराबाधितविषयत्वं च प्रमाणमविकल्पदर्शनमेवेति च चिन्तितम् ।

उपसंहारमाह—**तस्मात् नायम् अविकल्पोऽनुभवः** । कथंभूतः ? **स्वलक्षणग्राही यथार्थनिर्भासम्** अर्थनिर्भासाऽनतिक्रमेण **व्यवसायपितुं** व्यवसायं कर्तुं न **समर्थः अविसंवादको नाम** किन्तु विसंवादक एव । ननु न व्यवसायकरणाद् अविसंवादकः अपि तु स्वलक्षणग्रहणात् । व्यवसायोऽपि[10] तद्ग्रहणात् नाऽपरः, जात्यादिप्रतिभासस्य इन्द्रियज्ञाने निषेधादिति चेत्; अत्राह—**न च** इत्यादि । **न च** नैव **अविकल्पितेन** अनिश्चितेन [९४ख] **स्वभावेन** स्वरूपेण **स्वलक्षणस्य व्यवस्थापनं युक्तम्** उपपन्नम् । अत्र दृष्टान्तमाह—**अद्वैतवत्** इति । पुरुषाद्वैतम् इह अद्वैतं

(१) "यत्र वासनादार्ढ्यं स जाग्रत्प्रत्ययः । (पृ० ७२) झटित्येव स्वप्नदृष्टं नश्यति । वासनादार्ढ्यमेतत् न स्वयं एव साधयितुं शक्यः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३६० । (२) स्वप्नज्ञानमपि । (३) स्वप्ने दृष्टप्राप्त्या । (४) अभिप्रायस्य । (५) प्रत्यक्षलक्षणम् । (६) "तत्रेदमुक्तं भगवता–"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्थिराणां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥"–तत्त्वसं० प०पृ० ११ । बोधिच० प० पृ० ३७६ । तन्त्रवा० पृ० १२० । "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः विज्ञानमात्रमेवेदं भो जिनपुत्राः यदिदं त्रैधातुकम्"–सन्मति० टी० पृ० ७३१ । (७) "नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्या नानुभवोऽपरः । तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥–प्र० वा० २।३२७ ।" "बुद्ध्यास्ति···ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं···" इति पाठभेदेन उद्धृतोऽयम्–प्रश० व्यो० पृ० ५२५ । न्यायम० पृ० ५४० । त० श्लो० पृ० १२१ । आप्तप० पृ० ४७ । अष्टस० पृ० ११० । मी० श्लो० टी० पृ० २७५ । शास्त्रदी० पृ० १९५ । प्रमेयक० पृ० ९० । न्यायकुमु० पृ० १३३ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २५१ । सन्मति० टी० पृ० ४८३ । स्या० रत्ना० पृ० १५० । स्या० म० पृ० १३९ । सर्वद० सं० पृ० ३१ । शाबरभा० टी० पृ० १७४ । (८) मतान्तरवत् । (९) मास्तु सिद्धिः, प्रतिभासाद्वैतोपगमादित्यत्र आह । (१०) स्वलक्षणग्रहणात् ।

गृह्यते न प्रतिभासाद्वैतं तत्र बौद्धस्य विवादाभावात्, तस्य इव तद्वदिति । ननु अद्वैत-स्वलक्षणयोः ...सेतरकृतो विशेषोऽस्ति अतः 'अद्वैतवत्' इत्ययुक्तमिति चेत्; अत्राह-**भेदाऽभावात्** इति। भेदस्य विशेषस्य अभावात् स्वलक्षणस्यापि अप्रतिभासनादिति मन्यते । ततः सूक्तम्-'**अद्वैतवत्**' इति । अथ मतम्-तदद्वैतं यदि सुखादिनीलादिप्रतिभासात्मकं तर्हि साकारे सौगतदर्शने पुरुष इति ५ नाम कृतं भवेत, अन्यथा अचेतनं नावभासते इत्यसत्, सुखादिनीलादिसत्त्वे च न तदद्वैतम्, तदसत्त्वे प्रकृतेऽपि तदस्तु इति; तत्रोत्तरमाह-**विकल्पानाम्** इत्यादि । वि...नां सुखादिनीलादिभेदानां **भेदैकान्तेऽपि** निरंशस्वलक्षणैकान्तेऽपि न केवलम् अद्वैते **निःस्वभावतोपपत्तेः** असत्त्वोपपत्तेः, अन्यथाप्रतिभासस्य तत्रापि भावादिति भावः, अन्यथा अनेकान्तसिद्धिः इत्युक्तम् ।

इदमपरं व्याख्यानम्-निरंशस्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनां **विकल्पानां** यथा स्थूलादिदू-१० रादिभेदा विषयाः तथा निःकलपुरुषदर्शनानन्तरभाविनां तेषां सुखादिनीलादिभेदा विषयाः, तेषां च **विकल्पानां भेदैकान्तेऽपि निःस्वभावतोपपत्तेः** । स्वः [९५क] आत्मीयः सौगतकल्पितो भावः पदार्थः तस्मान्निष्क्रान्तानां भावः तत्र तस्या उपपत्तेः भेदाऽभावादिति सम्बन्धः । ततः सूक्तम्-'**अविसंवादकज्ञानं विकल्पकमेव**' इति ।

भवत्वेवं तथापि न तत् प्रत्यक्षम्; मानसत्वेन वैशद्यविरहात्, तथा चोक्तम्-

१५ ***"न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता ।**
स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्त्तं न च तत् तादृगर्थदृग् ॥" [प्र० वा० २।२८३]

इति चेत्; अत्राह-**न चैतद्** इत्यादि ।

[न चैतद् व्यवसायात्मप्रत्यक्षं मानसं मतम् ।
प्रतिसंख्याऽनिरोध्यत्वादर्थसन्निध्यपेक्षणात् ॥२५॥

२० **न हीदं स्वार्थव्यवसायात्मकं मानसं प्रत्यक्षम्, गवि सन्निहिते मानसीं गोबुद्धिं विनिवर्त्य तदा अश्वकल्पनायामपि गोरेव विनिश्चयात् । स पुनः निश्चयः विकल्पान्तरवदर्थसन्निधिं नापेक्षेत । तस्मादिदं स्पष्टं व्यवसायात्मकं ज्ञानं स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंख्यानिरोध्यविसंवादकं प्रमाणं युक्तम् ।]**

एतत् सुखादिनीलादिनिर्भासिज्ञानम् । कथंभूतम्? **व्यवसायात्म** निर्णयात्मकं **मानसं** २५ मनोनिमित्तम् **न च** नैव **मतम्** । कुत एतत्? इत्यत्राह-**प्रत्यक्ष (क्षम्)** इति । **प्रत्यक्षं** विशदम्-इन्द्रियाश्रितं वा यत इदं तन्न मानसमिति । तदाश्रितं च अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् अन्धादा (अन्धादा)वभावात् । तथापि मानसत्वे अस्य द्विचन्द्रादिज्ञानस्यापि मानसत्वमिति व्याहतमेतत्-

***"किञ्चेन्द्रियं यदक्षाणां भावाभावानुरोधि चेत् ।**
३० **तत्तुल्यम् ।"** [प्र० वा० २।२९६] इति ।

(१) ...। (२) ...। (३) मानसो हि विकल्पो रागादिरूपः प्रतिसंख्यानेन प्रतिपक्षतत्त्व...नेन निवर्त्यते । (४) विकल्पस्य । (५) "विक्रियावच्चेद् सैवेयं किन्निषिध्यते" इति शेषः ।

अत्रैव युक्त्यन्तरमाह–**प्रतिसंख्या** इत्यादि। प्रतिसंख्यया प्रतिविकल्पेन **अनिरोध्यत्वाद्** अनिवार्यमाणत्वात्। तथा च प्रयोगः–एतद् विवादगोचरापन्नं ज्ञानं न मानसम्, प्रतिसंख्याऽनिरोध्यत्वात्, यत् पुनर्मानमं न तत् प्रतिसंख्याऽनिरोध्यं यथा गवि सन्निहिते 'गौरयम्' इति मानसो विकल्पः। पुनरपि तदन्तरमाह–**अर्थ** इत्यादि। **अर्थस्य** घटादेः **सन्निधिः** योग्यदेशाद्यवस्थानं **तदपेक्षणात्।**

कारिकां विवृण्वन्नाह–**नहीदम्** इत्यादि। **इदं** विवादा[९५ख]स्पदीभूतं ज्ञानम्। कथंभूतम्? **स्वार्थव्यवसायात्मकम्।** तत्किम्? **मानसम्** इति युक्तम्। **नहि** न खलु। कुत एतत्? **प्रत्यक्षं** विशदम् अक्षाश्रितं वा यतः। इतश्च न मानसम्; इत्याह–**गवि** इत्यादि। **गवि** पशुविशेषे। कथंभूते? **सन्निहिते। गोबुद्धिम्** गौरयं महान् शुक्लः दीर्घः अन्यथा वा इत्यादि परामर्शात्मिकां **मानसीं विनिवित्य (विनिवर्त्य) तदा** तद्विवर्त्तनकाले **गोरेव विनिश्चयात्।** कस्यां सत्याम्? इत्याह–**अश्वकल्पनायामपि** न केवलं तदकल्पनायाम्। एतदुक्तं भवति–यद्ययं स्थिरस्थूलसाधारणाकारे गोनिश्चयः प्रकृतगोबुद्धिवत् मानसः; तर्हि तद्वद् अश्वकल्पनायां विनिवर्तेत। न चैवम्, तन्न मानसः। **'विनिश्चयात्'** इत्यनेन एतद्दर्शयति। [2]तत्कल्पनाकाले गोदर्शनं यदि अविकल्पकम्; तर्हि क्षणक्षयदर्शनवत् [3]तद्व्यवहारो न भवेत् [4]तद्विकल्पानुत्पत्तेः, युगपद् विकल्पद्वयानभ्युपगमात्। तस्मात् निश्चयात्मकमिति। एवकारेण पुनः एतत् कथयति–दर्शनमात्रात् तथा गोव्यवहारे क्षणक्षयादिव्यवहारोऽपि भवेद् विशेषाभावात्। न चैवमिति।

ननु यदा गोविनिश्चयो न तदा अश्वविकल्पना, जैनस्य युगपद् उपयोगद्वयाऽनुत्पत्तेरिति चेत्; मानसं समुपयोगद्वयं युगपन्नेष्यते न इन्द्रियमानसे[5], कथमन्यथा न्या य वि नि श्च ये–*"सहभुवो गुणाः" [6]इत्यस्य–

*"सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधकम्। [९६क]।
शक्तिः क्रियानुमेया स्यात् यूनः कान्तासमागमे॥" [7]इति निदर्शनं स्यात्?

एतेन 'अक्षणिकज्ञानलक्षणसमारोपव्यवच्छेदात् क्षणिकानुमानं प्रमाणम्' इति निरस्तम्; अक्षणिकज्ञानस्य समारोपत्वाऽसिद्धेः, अश्वकल्पनायामपि तन्निवृत्त्यसिद्धेः इति। युक्त्यन्तरमाह–**स पुनः** इत्यादि। **सः** अनन्तरोक्तः **पुनः** इति युक्त्यन्तरसूचकः, **निश्चयः** गोव्यवसायः **विकल्पान्तरवद्** ईश्वरादिविकल्पवत् **यदि मानसः** स्यात् तथा (तदा) **अर्थस्य सन्निधिं** योग्यदेशाद्यवस्थितिं **न अपेक्षेत।** अपेक्षते च, तन्न मानसमिति। अनेन **'अर्थसन्निध्यपेक्षणात्'** इत्येतत् व्यतिरेकमुखेन व्याख्यातम्। उपसंहारार्थमाह–**तस्मात्** इत्यादि। यत एवं **तस्माद् इदम्** अनन्तरोक्तम् **स्पष्टं** विशदं **व्यवसायात्मकं ज्ञानम्।** कथंभूतम्? **स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरे-**

---

(१) "अशुभाद्यालम्बना रागादिप्रतिपक्षभूता प्रज्ञा प्रतिसंख्यानम्"–तत्त्वस० प० पृ० ५४७। "तेन प्रज्ञाविशेषेण प्राप्यो निरोधः इति प्रतिसंख्यानिरोधः।"–स्फुटार्था०पृ०१६। (२) अश्वकल्पनाकाले। (३) गोव्यवहारो। (४) गोविकल्पानुत्पत्तेः। (५) एकमिन्द्रियजन्यमपरं च मानसमिति। (६) "गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः।"–न्यायवि० ३।१११ (७) "यथोक्तं स्याद्वादमहार्णवे–सुखमाह्लादनाकारम्..."–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४२८। अष्टस० पृ० ७८। न्यायकुमु० पृ० १२९। सन्मति० टी० पृ० ४७८। स्या० रत्ना० पृ० १७८। प्र० रत्नमा० ४।८।

कानुविधायि प्रतिसंख्याऽनिरोध्यविसंवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम्। अथ [1]तस्य स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं चेत्; अर्थकार्यता, इति ल घी य स्त्र ये [2]तत्प्रतिषेधो विरुध्यते इति; तन्न; नोत्पत्तौ [3]तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वम्, अपि तु व्यापारो (रे), अर्थे सद्ग्रहणे व्याप्रियते नान्यथा इति आचार्याभिप्रायात्। कुत एतदवगम्यत इति चेत् ? स्वग्रहणात्। नहि ५ किञ्चित् स्वोत्पत्तौ स्वान्वयव्यतिरेकानुविधायि, विप्रतिषेधात्। ततः सर्वं सुस्थम्

स्यान्मतम्–माभूत्तन्मनसमपि त्वैन्द्रियं तथैन्द्रियं (त्तन्मानसमपि त्वैन्द्रियं तथापि) भ्रान्तमस्तु। न च [९,६ख] इन्द्रियविभ्रमाः प्रतिसंख्यानेन निवर्त्यन्ते 'चन्द्रमेकम्' इति भावयतोऽपि द्विचन्द्रप्रतिभासानिवृत्तेरिति। तत्रोत्तरमाह–तच्चेद् इत्यादि।

[तच्चेदवस्तुविषयमप्रमाणं यतोऽन्यतः।
१० निर्णयात्मकत्वात्सिद्धेः अर्थसिद्धेरसंभवात् ॥२६॥

दर्शनसिद्धिप्रतिज्ञायां विप्रतिपत्तिविषयस्य साधनान्तरप्रतीक्षस्य सिद्धेरनुपपत्तेः। अधिगतिरित्यपि निर्णीतिरेव। तथा च अनिश्चितार्थनिश्चयेन अविसंवादकं ज्ञानं स्पष्टप्रतिभासमन्यद्वा प्रमाणं नापरम्। ततो व्यवसाय एव अविसंवादनियमोऽधिगमश्च निश्चेतव्यः तत्रैव तद्भावात्, तद्वशादेव तत्प्रतिष्ठानात्।]

१५ **तद्** अनन्तरोक्तं **चेत्** यदि [7]**अप्रमाणम्**। कुत एतत् ? **अवस्तुविषयं यतः**। सामान्यविशेषात्मकत्वम् अवस्तु विषयो यस्य तत् तथोक्तम्। किं तर्हि प्रमाणम् ? न किञ्चिद् इत्यर्थः। 'अविकल्पकं दर्शनम्' इति चेत्; अत्राह–**अन्यतः** इत्यादि। **अन्यतः** मिथ्यैकान्तवादिकल्पितात् **प्रमाणाद् अर्थसिद्धिः** (**द्धेः**) अत्यन्तम् **असंभवात्**। ननु सिद्धिः अधिगतिमात्रं तेनोऽपि संभवति इति चेत्; अत्राह–**सिद्धेः निर्णयात्मकत्वात्**।

२० अस्याऽनभ्युपगमे दूषणमाह–**दर्शन** इत्यादि। **दर्शनम्** अर्थसाक्षात्करणं निरंशादर्थात् तदाकारात्मलाभ इति यावत्, तदेव **सिद्धिः** इति या सौगतस्य **प्रतिज्ञा** तस्यां च क्रियमाणायां **सिद्धेः** ज्ञप्तेः **अनुपपत्तेः** दर्शनस्य, सिद्धेः निर्णयात्मकत्वम् इति। कथंभूतस्य ? **विप्रतिपत्तिविषयस्य**। पुनरपि कथंभूतस्य ? **साधनान्तरप्रतीक्षस्य** साधनान्तरे प्रतीक्षा यस्य इति। अनेन दर्शनाऽभावात् [न] तत्सिद्धिः इत्युक्तं भवति।

२५ यत्पुनरेतत्–*"**अधिगतिस्तत्फलम्**" इति[6]; तद् अर्थतो निराकृतम्, शब्दतो निराकुर्वन्नाह–**अधिगतिः इत्यपि** न केवलमन्या अपि तु अधिगतिरित्यपि या सिद्धिः परस्यै सापि **निर्णीतिरेव**। निर्णीतिपर्यायः अधिगतिशब्दः इति मन्यते। ततः किं जातम् ? इत्याह–**तथा च** इत्यादि। **तथा च** तेन च प्रकारेण **अनिश्चितस्य अर्थस्य यो निश्चयः** न दर्शनमात्रम्, तेन **अविसंवादकं ज्ञानं स्पष्टप्रतिभासम् अन्यद्वा**ऽस्पष्टप्रतिभासं **प्रमाणं नापरम्** इति युक्तं पश्यामः।

---

(१) प्रत्यक्षस्य। (२) ज्ञानस्य अर्थकार्यतानिषेधः। "अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत्कारणं विदः। संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ॥५४" इत्यादिना क्रियमाणः। (३) अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानम्। (४) तत्त्वज्ञानेन। (५) अविकल्पादपि। (६) "स्वसंवित्तिः फलं चात्र"–प्र० समु० १।१०। "फलं स्ववित्"–प्र० वा० २।३३६। "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा···"–तत्त्वसं० श्लो० १३४४। (७) बौद्धस्य।

उपसंहारार्थमाह–**तत** इत्यादि । यत एवं **ततो व्यवसाय एव** निर्णये एव **अविसंवाद-नियमः अधिगमः** स्वार्थग्रहणं च **निश्चेतव्यः** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तत्रैव** व्यवसाय एव **अन्तयोः** (**तयोः**) अविसंवादनियम-अधिगमयोः **भावात्** । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–**तद्वशादेव** व्यवसायादेव **तत्प्रतिष्ठानात्** तयोः प्रतिष्ठानात् ।

एवं व्यवसायात्मकमविसंवादिज्ञानं प्रमाणं व्यवस्थाप्य साम्प्रतं ततः प्रवृत्तिक्रमं दर्शयति ५ अनागतमर्थं च सूत्रयति–'**अक्षज्ञानैः**' इत्यादिना ।

[अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिन्तयन् ।
आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते[1] ॥२७॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रमनांसि इन्द्रियाणि। तैः स्वविषयग्रहणम् अवग्रहाद्यात्मिका मतिः बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतरप्रकाराणाम्। अत एवानेकान्तसिद्धिः। १० **नहि संवित्तेः बहुबहुविधप्रभृत्याकृतयः स्वसंवेदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते वा यतः सत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः कल्पनावत् तथेतराकृतयः। स्वलक्षणसामान्यलक्षणैकान्ते पुनः संवेदनाकृतीः न पश्यामः तथैवापश्यन्तः कथमात्मानमेव विप्रलभामहे। तदेवं परमार्थतः सिद्धिः अनेकान्तात्। मन्यते [मननं वा इति मतिः, स्मरणं स्मृतिः, संज्ञानं संज्ञा, चिन्तनं चिन्ता, अभिनिबोधनमभिनिबोध इति] तथामनन्ति तत्त्वार्थसूत्रकाराः–** १५ ***"मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" [त० सू० १।१३] इति। मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनामन्तरेण न भवन्तीत्येकान्तो न यतस्तत्रान्तर्भाव्येरन्। तदेकान्ते पुनः न क्वचित् स्युः तन्नामस्मृतेरयोगात् अनवस्थानादेः]**

अतो निबन्धनस्थानाद् वाक्यान्तराणि उपप्लवन्ते–'**अक्षज्ञानैः तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते**' इत्येकं वाक्यम्, '**अनुस्मृत्य तद्भेदान् प्रवर्तते**' इति द्वितीयम्, **प्रत्यभिज्ञाय** २० **तद्भेदान् प्रवर्तते**' इति तृतीयम्, '**चिन्तयन्** वितर्कयन् **तद्भेदान् प्रवर्तते**' इति चतुर्थम्, **आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते**' इति पञ्चमम्, **चिन्तयन्नाभिमुख्येन तद्भेदान्विनिश्चित्य प्रवर्तते**' इति षष्ठं समुदितम्। तत्र **अक्षाणि** चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि तेषां कार्यभूतैः **ज्ञानैः तद्भेदान्** हिताहितार्थविशेषान् **विनिश्चित्य प्रवर्तते** पुरुषः। अयं च प्रवृत्तिक्रमः अभ्यासदशायां द्रष्टव्यः। नहि तस्यां प्रवर्त्तमानो नियमेन सजातीयानुस्मरणा- २५ दिकमपेक्षते जनः तथाऽप्रतीतेः [९७ख] अमुमेवार्थमाश्रित्य ***"अभ्यासे भाविनि प्रवर्त्तकत्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणम्"** इति[2]। तत्सर्वं युक्तम्, इदं तु अयुक्तम् प्रज्ञाकरगुप्तेनोक्तम्–'**भाविनि**' इति; दाहादिकारणे पावकादौ लोकस्य प्रवृत्तिदर्शनात्। दाहाद्यदर्शने कथं 'तत् तत्कारणम्' इति प्रतीयते इति चेत् ? अभ्यासात् किन्न जायते ? स्वयं च [3]व्यवहारमाश्रित्य

(१) उद्धृतोऽयम्–त० श्लो० पृ० १८९। न्यायवि० वि० द्वि० पृ० ४१। (२) "वर्तमानेऽतिमात्रेण वृत्तावध्यक्षमानता। यत्रात्यन्ताभ्यासादविकल्पयतोऽपि प्रवर्तनं तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २१८। (३) "तस्माद् व्यवहारमात्रप्रसिद्धानुमानाश्रयेण प्रसिद्धं सम्बन्धमाश्रित्य तदेतदर्थक्रियासाधनमिति दर्शनेन स्पृश्यादिसाधनस्य प्रतिपत्तौ प्रवर्तते। पश्चादभ्यासानुमानमन्तरेणापि प्रतिभासमात्रादेव वृत्तिरिति प्रत्यक्षमपि प्रवर्तकत्वात् प्रमाणम्। अत उच्यते प्रामाण्यं व्यवहारेणेति।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २५।

ततोऽप्रतिपन्नमपि प्रत्यक्षेण भावि प्रतिपन्नमिच्छन् तमेव[1] आश्रित्य वर्त्तमानं तत्कारणं प्रत्यक्ष-मिच्छन्तं न सहते इति प्राकृतबुद्धिः ।

अथवा, यदुक्तम्–'**गवि सन्निहिते गोबुद्धिं विनिवर्त्त्य तदा अश्वकल्पनायामपि गोरेव विनिश्चियात्**' इति; तत्र प्रवृत्तौ [2]इदं वाक्यम् , तत्र अनुस्मृत्यादेर्विरोधात् । '**अनुस्मृत्य तद्भेदान् प्रवर्त्तते**'[3] पूर्वव्यवस्थापितनिक्षेपादिपु प्रवृत्त्यर्थम् । '**प्रत्यभिज्ञाय तद्भेदान् तु प्रवर्तते**' इत्येतत् पुनः 'तदेवेदं तेन सदृशम्' इति वा अनुसन्धानमात्रेण प्रवृत्तौ । '**चिन्तयन् तद्भेदान् प्रवर्त्तते**' इतीदम् अदृश्यमेरुमकार(मकराकर)वाडवाग्निविवेका[illegible]येन देशाद्यन्तरवृत्तौ । '**आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते**' इत्येतत् 'अकस्माद् धूमदर्शनात् पावकोऽत्र इति प्रवृत्तौ । '**चिन्तयन् आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते**'

[इत्ये]तत् 'अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्' इत्याद्यनुमानात् प्रवृत्तौ । समुदितं तु वाक्यम् 'वह्निरत्र, धूमात् , यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः यथा महानसादौ, धूमश्चात्र' इत्येवमाद्यनुमानात् प्रवृत्तौ । तत्र अक्षज्ञानैः [९८क] पूर्वमनयोः सम्बन्धे गृहीते सति पुनस्तैरेव क्वचित् धूमे विषयीकृते पूर्वसंस्कारप्रबोधः, ततः स्मृतिः, तस्याः प्रत्यभिज्ञा, पुनः तर्कः, अतोऽनुमानं [ततः] प्रवृत्तिरिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**स्पर्शन** इत्यादि । **स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रमनांसि** । किम् ? **इन्द्रियाणि** । मनः सर्वज्ञसिद्धौ निरूपयिष्यते । **तैः** स्पर्शनादिभिः का(क)रणभूतैः **स्वविषयाणां** स्पर्शादीनां **ग्रहणं** तद्ग्राहकं यज्जन्यते ज्ञानम् । तत् किं नाम ? इत्यत्राह–**मितिः** इति । (**मति**-**रिति**) । किमात्मिका सा ? इत्यत्राह–**अवग्रह** इत्यादि । [4]**अवग्रहादयो** वक्ष्यमाणकाः **तदात्मिका** इति । केषां सा ? इत्यत्राह–**बहु**[5] इत्यादि । **बहु** च युगपत् समानजातीयानां बहूनां ग्रहणम्, **बहुविधं** च भिन्नजातीय नाम् , **क्षिप्रं** च झटिति, **अनिःसृतं** च आलोकाद्यनपेम (पेक्षम्) **अनुक्तं** च पानकादौ गुडादिरसविशेषस्य अकथितं च । **ध्रुवं** च दृढतया कालान्तरस्मरणकारणम् तेषाम् । कथंभूतानाम् ? **सेतरप्रकाराणाम्** सह इतरप्रकारैः अबह्वादिभिः वर्तमानानाम् । तथा च सति किं सिद्धम् ? इत्यत्राह–**अत एव** इत्यादि । यत एव तैः स्वविषयाणां ग्रहणमेवंविधम् , अत एव **अनेकान्तसिद्धिः** ।

ननु आगमादेव केवलात् सर्वमेतत् सिद्धं नान्यतः अनुपलक्षणात् , ततो भवत [6]आगमिकत्वमिति चेत् ; अत्राह–**नहि** इत्यादि । **नहि संवित्तेः** इन्द्रियमतेः सम्बन्धिन्यः **बहुबहुविधप्रभृत्याकृतयः स्वयम्** आत्मना **असंविदिता एव** अज्ञाता एव **उदयन्त** उत्पद्यन्ते [९८ख] **व्ययन्ते** विनश्यन्ति **वा यतो** यस्माद् असंविदितोदयव्ययात् सत्योऽपि **अनुपलक्षिताः स्युः** । अत्र [7]परप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह **कल्पनावत्** इति । यथा*"**नहि इमाः कल्पनाः**" [8]इत्यादि वचनात्

(१) व्यवहारमेव । (२) 'अक्षज्ञानैः तद्भेदान् विनिश्चत्य प्रवर्तते' इति । (३) इति वाक्यं तु । (४) "अवग्रहेहावायधारणाः ।"–त० सू० १।१५ । (५) "बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।"–त० सू० १।१६ (६) आगमानुसारित्वम् । (७) सौगतप्रसिद्धम् । (८) "तदाह–न चेमाः कल्पना अप्रतिसंविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते चेति ।" प्र० वा० स्व० टी० पृ० १२७ ।

ईश्वरादिकल्पना नाऽनुपलक्षिताः उदयन्ते व्ययन्ते च तथा प्रकृता अपि इति । **तथा तेनैव** प्रकारेण **इतराकृतयः** अब्राह्मणाकृतयः न सत्योऽपि अनुपलक्षिता उदयन्ते व्ययन्ते **वा इति** । तर्हि तथैव स्वलक्षणसंवेदनाकृतयः सामान्यसंवेदनाकृतय एव वा स्वयं स्वसंविदिता एव उद- यन्ते व्ययन्ते चेति चेत; अत्राह–**स्वलक्षण** इत्यादि । **स्वलक्षणं च सामान्यलक्षणं च** ते एव **एकान्तौ** तयोः **संवेदनाकृतीः पुनः न पश्यामः** । चर्चितं चैतत । तथापि ताः सत्यः कल्प्य- ५ ता(न्ता)मिति चेत्; अत्राह–**तथैव** इत्यादि । **तथैव** परपरिकल्पितप्रकारेणैव **अपश्यन्त** **(श्यन्तः) कथं कल्पनया** स्वलक्षणसामान्यलक्षणैकान्ते संवेदनाकृतिकल्पनया **आत्मानमेव** **विप्रलभामहे** वञ्चयामः ।

उपसंहारमाह–**तदेवम्** इत्यादिना । **तत्त गोत्** (तत् तस्मात) **एवम्** उक्तप्रकारेण **पर-** **मार्थतः सिद्धिः** सर्वभावानां निष्पत्तिः प्रति[illegible] [illegible]द् अनेकान्तमाश्रित्य ।　१०

मत्यादीनां निरु[क्तिं] दर्शयन्नाह–**मन्यते** इत्यादि[1] । सुगमम् । तत्त्वार्थसूत्रकारे- ण सहात्मनः ए[क]वाक्यतां दर्शयन्नाह–**तथा** इत्यादि । **तथा** उक्तप्रकारेण **आमनन्ति** तत्त्वार्थसूत्रकाराः । कथम् ? [९९क] इत्याह–*"**मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्**" [त० सू० १।१३] इत्येवम् । सर्वसूत्राणां सोपस्कारत्वात् अत्र 'प्रवर्तकः' इत्यध्याहार्यम् । **इति** शब्दः स्वसूत्रे वाक्यान्तरसमाप्त्यर्थः । ततोऽयमर्थो जायते–'मतिः प्रव- १५ र्तिका इति, स्मृतिः प्रवर्तिका इति, संज्ञा प्रवर्तिका इति, चिन्ता प्रवर्तिका इति, अभिनिबोधः प्रवर्तकः, चिन्ताभिनिबोधः प्रवर्तकः, मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोधः प्रवर्तकः इति च ।

ननु च एतन्मत्यादिकमन्योन्यं भिन्नमभिन्नं वा ? उभयथापि '**स्वलक्षण**' इत्यादि विरुध्यते इति चेत; अत्राह–**अनर्थान्तरम्** इति । ईषदर्थे नत (नञ्) प्रवर्तते । ईषत् कथञ्चिद् अर्था- न्तरम् **अनर्थान्तरमिति** । उक्तं [च] लघीयस्त्रये–*"**प्रमाणफलयोः क्रमभावेऽपि तादात्म्यं** २० **प्रत्येयम्**" [लघी० स्व० श्लो० ६] इति । अथवा, यदा(द)वग्रहविषयीकृतम् ईहा प्रत्येति, ईहितम् अवायोऽवैति, अवायानुभूतं धारणा, एवम् उत्तरत्रापि योज्यम्, तदेवमाह **अनर्थान्तरम्** इति, कथञ्चिदभिन्नविषय(यं) मत्यादिकम् इत्यर्थः । अन्त्यवाक्यापेक्षया '**अनर्थान्तरम्**– अभिन्नप्रवृत्तिप्रयोजनम्' इति वा व्याख्येयम् ।

ननु मत्यादिकं सर्वम् अभिधानपुरस्सरमेव स्वार्थं प्रत्येति इति शब्दश्रुत एवान्तर्भावोऽ- २५ स्य, तथा च तच्चिन्तने एवास्य चिन्ता भविष्यति इति पृथगिह चिन्तनमनर्थकमिति चेत; अत्राह– '**शब्दयोजनम्**' इत्यादि । **मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण ते न भवन्ति** किन्तु तद्योजने सति भवन्ति इत्येवम् **एकान्तो न, यत** एकान्तात् [९९ख] **तत्र अन्तर्भाव्येरन्** इत्यर्थः । **यत** इति वा आक्षेपे, नैव संकीर्येरन् । विपक्षे बाधकमाह–**तदेकान्त** इत्यादि । स चासौ एका- न्तश्च तस्मिन् अङ्गीक्रियमाणे **पुनः न कश्चिद्** बहिरन्तर्वा **स्युः मतिस्मृत्यादयः** । कुत एतत् ? ३०

---

(१) "मननं मतिः स्मरणं स्मृतिः संज्ञानं संज्ञा चिन्तनं चिन्ता आभिमुख्येन नियतं बोधनमभिनि- बोध इति"–त० वा० १।१३।५ ।

इत्यत्राह–तन्नाम इत्यादि । यस्य नाम्ना योजनात् मतिस्मृत्यादयः तत् तन्नाम इत्युच्यते, तस्य स्मृतेरयोगात् । एतदुक्तं भवति–न यत्र यत्र स्वार्थः तत्र तत्र तन्नाम, यतः तद्योजनात् नियमेन मतिस्मृत्यादयः स्युः अपि तु सङ्केतस्य योजनात्, तत्स्मृतेरेव च अयोगात् प्रकृतमिति । कुत एतत्? इत्यत्राह–अनवस्थानादेः अनवस्था [नम्]आदिर्यस्य अन्योन्यसंश्रयस्य स तथोक्तः तस्मात् ।
५ तथाहि– प्रथमा नामस्मृतिः तद्विषयाभिधानस्मृतेः, सापि तद्विषयनामस्मृतेः इत्यनवस्था । सन्निहिते च वस्तुनि मत्यादिना निर्णीते नामविशेषे स्मृतिः, तस्याश्च सत्यादिः (मत्यादिः) इत्यन्योऽन्यसमाश्रयः । अत एव अप्रतिपत्तिः प्रतिपत्तेरभावः, अन्धमूकं जगत् स्यादिति मन्यते । चर्चितं चैतत्–"सदृशार्थाभिलापादिस्मृतिः" [सिद्धिवि० १।८] इत्यादिना ।

एवं तावत् 'प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थ[वि] निश्चयः' [सिद्धि-
१० वि० १।३] इत्यस्य समर्थनद्वारेण *"अधिगतिः तत्फलम्" इत्येतन्निरस्तम् । इदानीम् *"सारूप्यं प्रमाणम्" [न्यायबि० १।२०] इत्येतत् प्रकारान्तरेण दूषयन्नाह–'प्रत्यक्षाः' इत्यादि ।

[प्रत्यक्षाः परमाणवो बहिरिमे स्थूलैकचित्राकृतेः,
संवित्तेर्विषया इति प्रलपता स्याद्वादविद्वेषिणा ।
१५ बुद्धेनालमलं [illegible]श्लीलमेवाकुलम्,
तन्नेर [illegible]मपोतरेण न विवेकात्मा न सा युज्यते ॥२८॥]

विषयो द्विविधो बौद्धस्य प्रत्यक्षः अनुमेयश्च । तत्र प्रत्यक्षः (क्षाः) सन्तो विषया गोचराः । के ? इत्याह–परमाणवः । क ? बहिरिति । के पुनस्ते ? इत्याह–[१००क] इमे परिदृश्यमानघटादिव्यपदेशभाजः । कस्याः ? इत्यत्राह–संवित्तेः । कथम्भूतायाः ? इत्याह–
२० स्थूलैकचित्राकृतेः स्थूला एका चित्रा शबला आकृतिः आकारो यस्याः सा तथोक्तः (क्ता) तस्याः *"सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः" इति[3] राद्धान्तात् । प्रलपता अलम् । केन ? बुद्धेन इतर (इतरेण) केन ? दि ग्ना गा दि ना । कथं प्रलपता ? अश्लीलमेव असम्बद्धमेव यथा भवति आकुलं च । अपिशब्दः भिन्नप्रक्रमः अत्र द्रष्टव्यः च शब्दार्थः । कथंभूतेन ? इत्यत्राह–[illegible] । एतदुक्तं भवति–यथा नीलाकृतेः संवित्तेः नीलं
२५ प्रत्यक्षं न पीतादि, सारूप्यकल्पनावैफल्यभयात् तथा स्थूलैक[illegible]तेः तस्याः प्रत्यक्षो विषयोऽपि तथाविधं एव कल्पनीयो न परमाणवः इति ।

यत्पुनरत्रोक्तं प्र ज्ञा क र गु प्ते न–*"तथाविधायाः तथाविधविषयसिद्धिः दूरस्थितविरलकेशेषु अतदात्मसु तथाविधायाः तस्याः दर्शनात् ।"[6] इति ; तत्र न तर्हि परमाणवः
३० तस्याः प्रत्यक्षः (क्षाः) सन्तो विषयाः किन्तु अनुमेयाः, इतरथा दूरस्थितविरलकेशा अपि अनेक-

(१) बाधकेन शब्देन । (२) "न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः ।"–प्र० वा० २।६३ । (३) "पञ्चसञ्चयस्यालम्बात्"–प्र० समु० १।१७। (४) संवित्तेः । (५) स्थूलैकचित्राकार एव । (६) "यथैव केशा दवीयसि देशे असंसक्ता अपि घनसन्निवेशावभासिनः परमाणवोऽपि तथेति न विरोधः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २९६, पृ०९४ ।

संवित्तेर्विषयाः तथा इति न भ्रान्तं नाम किञ्चित्, यतोऽयोगिनाम् [1] अभ्रान्तग्रहणं क्रियमाणमर्थवत् स्यात्। अथ तत्केशानां विरलनानुकरणेऽपि कृष्णतामात्रानुकरणवत् परमाणूनामन्योन्यविवेकाननुकरणेऽपि नीलतामात्रानुकरणात् ते [2] प्रत्यक्षा इति; तर्हि एकस्य गृहीतेतररूपतया अनेकान्तसिद्धिः नेति (इति) [१००ख] **स्याद्वादविद्वेषिणा अलम् अलम्** इति। न तत्त्वतः तस्याः ते [3] प्रत्यक्षं [क्षाः] किन्तु व्यवहारेणेति चेत्; उक्तमत्र नीलाकारसंवित्तेः नील- ५ वत् तस्या अपि स्थूलैकचित्रार्थप्रत्यक्षताप्रसङ्गादिति।

किंच, संवित्तिवद् एकस्य स्थूलैकचित्राकारोऽपि न विरुध्यते इति, एवमर्थं च '**स्थूलैकचित्राकृतेः**' इति वचनम्। तर्हि प्रतिपरमाणुभेदात् संवित्तिरपि तथाविधा मा भूत्। तदुक्तम्–

***"किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि"**

[प्र० वा० २।२१०] इत्यादि। १०

इति चेत्; अत्राह–**न सापि** इत्यादि। **न** केवलं बहिरर्थोऽपितु **साऽपि** संवित्तिरपि **विवेकात्मा न न युज्यते** युज्येतैव, प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः, इतरथा उक्तन्यायेन सकलशून्यता स्यादिति मन्यते। सैवास्तु इति चेत्; अत्राह–**तन्नैरात्म्यम्** इत्यादि। यत एवं तस्मात् **नैरात्म्यं** सकलशून्यत्वं **बहिरन्तर्वा** इति एवं '**प्रलपता**' इत्यादिना सम्बन्धः। स्याद्वादमन्तरेण तदप्रतिपत्तेरिति भावः। छ॥ १५

इति श्री रविभद्रपादोपजीवि-अनन्तवीर्यविरचितायां सिद्धिविनिश्चयटीकायां प्रत्यक्षसिद्धिः प्रथमः प्रस्तावः। छ॥

---

(१) प्रत्यक्षलक्षणे। (२) परमाणवः। (३) परमाणवः।

[द्वितीयः प्रस्तावः]

[२ सविकल्पसिद्धिः]

*"अक्षज्ञानैः" [सिद्धिवि० १।२७] इत्यादिना उक्तमर्थम् इतरग्रन्थेन समर्थयितुकामः तदादौ संग्रहवृत्तत्रयं '**स्वार्थ**' इत्यादिकमाह–

[स्वार्थावग्रहनीतभेदविषयाकाङ्क्षात्मिकेयं मतिः ,
भेदावायमुपेत्य निर्णयमयं संस्कारतां यात्यपि ।
स्मृत्या प्रत्यभिज्ञावतोहाविषयाद्धेतोरशाब्दानुमा ,
५ **कल्प्या आभिनिबोधिकी श्रुतमतः स्यात् शब्दसंयोजितम् ॥१॥]**

अस्याऽयमर्थः–**स्वं च अर्थश्च** तयोः ग्राहकोऽवग्रहः **स्वार्थोऽवग्रहः** स्वार्थावग्रहश्च नि पूर्वाद् इणः क्ति[1] शति (क्ते सति) भवति, अन्यस्याऽप्रकृतत्वात , प्रत्यासत्तेश्च अवग्रहेण **नीतम्** [१०१क] अवगतम् इति गम्यते । तत्र [2]भेदत्व[च]नसान्निध्यात् द्विविधं सामान्यम् इति च, तस्य **भेदो** विशेषो **विषयः** यस्या **आकाङ्क्षाया** ईहायाः सा तथोक्ता, ता-
१० **वात्मानौ** स्वभावौ यस्याः सा तदात्मिकेयं **मतिः** । किं करोति ? इत्यत्राह–**संस्कारतां याति** धारणात्मिका भवति । किं कृत्वा ? इत्यत्राह–**भेदावायमुपेत्य** उपढौक्य **निर्णयमयं** तदात्मिका भूता इत्यर्थः । **अतः** अस्याः मतेः **परम्** अन्यद् अस्पष्टज्ञानं **श्रुतम्** *"श्रुतमस्पष्टतर्कणम्" [त० श्लो० पृ० २३७] [3]इति वचनात् । तत्कथं जायते ? इत्यत्राह–**स्मृत (त्या)** इत्यादि । '**अतः**' इत्येतद् अनेनापि सम्बध्यते–ततो मतेः **स्मृतिः**, तया **स्मृत्या** कारण-
१५ भूतया **प्रत्यभिज्ञान(व)ता** 'तदेवेदं तेन सदृशम्' इति वा प्रत्यभिज्ञावता पुरुषेण **ऊह-विषयाद् हेतोः** लिङ्गाद् **अनुमा कल्प्या** । कथम्भूता ? **अशब्दा (अशाब्दा)** स्वार्थानुमा इत्यर्थः । अस्या नामान्तरमाह–**आभिनिबोधिकी** इति । अभि समन्ताद् अर्थस्य सामान्यरूपेणेव विशेषरूपेणापि निश्चितो बोधो ग्रहणम् तत्र नियुक्ता न पुनः सामान्यापोहमात्रग्रहणे इति मन्यते । अथवा, पूर्वज्ञानापेक्षया कथञ्चिदति(भि)नवस्य अपूर्वस्यार्थस्य ग्रहणम् अभि-
२० निबोधः तत्र नियुक्ता *"मतिपूर्वं श्रुतम्" [त० सू० १।२०] [5]इति वचनात् । मतेः स्मृतिः, ततः प्रत्यभिज्ञा, अत ऊहः, अस्माद् अशाब्दानुमा श्रुतम् इत्युक्तं भवति । **अपिशब्दो** भिन्नप्रक्रमः '**श्रुतमतः**' इत्यस्याऽनन्तरं द्रष्टव्यः । अतोऽपि परं **शब्दसंयोजितं** ज्ञानं श्रुतम् इति ।

स्यान्मतम्[6]– दर्शनम्[7], अतश्च भेदनिश्चयं इति किं [१०१ख] तदन्तराले आकाङ्क्षया इति ? तत्रोत्तरमाह–'**वैशद्य**' इत्यादि ।

---

(१) भूतकालार्थे क्ते प्रत्यये सति । (२) षष्ठ्या विग्रहे सति इत्यर्थः । (३) उद्धृतमिदम्–न्यायवि० वि० द्वि० पृ० १८७, ३६० । "श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्"–न्यायकुमु० पृ० ४०४ । (४) यथा बौद्धानाम् अनुमानं सामान्यविषयं न तथा । (५) "श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्"–त०सू० । (६) बौद्धः प्राह । (७) निर्विकल्पकम् । (८) विकल्पः ।

[वैशद्यं यदि भेदनिश्चयकरमेकान्ततो भावतः,
सर्वस्मात्परतः करोतु विपरीतारोपविच्छेदनम् ।
संकल्पाहितवासनापरिणतेः सर्वत्र चित्रेहनम् ,
प्रत्यक्षं न ततोऽनन्वयधियां का वासनानां कथा ॥२॥]

वैशद्यं स्वलक्षणसाक्षात्करणं **यदि भेदनिश्चयकरम्** अवायं करोतीति चेत् ; दृष्टेद- ५
(दं)र्शनस्य संबन्धि तद्वैशद्यम् **एकान्ततो**ऽवश्यं **भावतः सर्वस्मात्** सजा[सजातीयाद्विजातीया]याच्च **परतः** अन्यस्माद् वस्तुनः सकाशात् **करोतु** । किम् ? **विपरीतारोपविच्छेदनं** विपरीतस्य गुणान्तरस्य आरोपवित् समारोपज्ञानं तस्याः छेदनं विनाशः तदविशेषात् । तथा च आकाङ्क्षावत् सर्वं समारोपव्यवच्छेदकारित्वेनाभिमतमनुमानमनर्थकमिति मन्यते । नायं दोषः, सर्वत्र दर्शनपाटवादेरभावात्[3] इति परस्य आकूतं कृतोत्तरमिति मत्वा तत्पक्षान्तरमाशङ्कते १०
संकल्प इत्यादि । कल्पनं कल्पः व्यवसायः, समीचीनः कल्पः यथावस्थितभेदनिश्चयः तस्मा-याहिता व्यवस्थापिता, तेन वा, **वासना** तस्याः **परि[णतिः]** स्वकार्योत्पादनसामर्थ्यपरि-पाकः सा **चित्रा** शबला दृष्टार्थवैशद्याविशेषेऽपि कँचिदेव अंशे भेदनिश्चयहेतुः सा न सर्वत्र । तदुक्तम् –

*"परिव्राट्कांकस्तुना (कामुकशुना) मेकस्यां प्रमदातनौ । १५
क्रमणं (कुणपं) कामिनी भक्ष्या इति सा (तिस्रो) विकल्पनाः ॥"

इति चेत् ; अत्राह–**ईहनम्** इत्यादि । **ईहनम्** ईहा, प्रत्यक्षस्य ततः तत्परिणतेः चित्रतायाः सकाशाद् अस्तु प्रत्यक्षम् ईहात्मकं भवतु । एतदुक्तं भवति–न उपादानज्ञानाद् अन्या वासना, तत्परिणतेः चित्रत्वेन ज्ञानपरिणतिरेव चित्रा इत्युक्तं भवति । न च अवग्रह-[१०२क] ज्ञानादन्यत पूर्वम् अवायज्ञानात प्रतीयते ततः सा अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षापरि- २०
णतिस्वभावा अस्तु इति । न च परस्य वासना इति दर्शयन्नाह–**अनन्वय** इत्यादि । अन्व-यात निष्क्रान्त**धियां** सौगतानाम [**का** न] काचिद् **वासनानां कथा** इति निरूपयिष्यते *"**कार्यकारणता नास्ति**" [सिद्धिवि० ४।३] इत्यादिना ।

ननु पूर्वपर्यायप्रवृत्तमध्यक्षं नोत्तरपर्याये वृत्तिमत् , नापि उत्तरपर्यायविषयं पूर्वपर्यायवी-त्वं(क्षण)क्षमम् , अत एव नानुमानमपि[5], तत्कुतोऽवग्रहाद्यात्मकत्वं [6]कस्यचित् प्रतीयते ? न चै- २५
कस्य अनेकात्मकत्वम् विरोधादिति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षं क्षणिकं विचित्रविषयाकारैकसंवेदनम् ,
तत्त्वं चेत् सुखदुःखमोहविविधाकारैकसाधारणः ।
जीवो योगक्षेमभेदभृच्चेत् सन्तानभेदः कुतः ,
[8]चित्तानां क्षणभङ्गिनां सहभुवां सहभूतिसंवेदनात् ॥३॥] ३०

(१) एकत्वादेः । (२) सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यादिकम् । (३) न विकल्पोत्पत्तिः, अतः समारोपव्यवच्छेदाय अनुमानं सफलमिति । (४) नीलादौ, न क्षणिकत्वादौ । (५) उद्धृतोऽयम्–सर्वद० सं० पृ० ३० । (६) वासनापरिपाकस्य । (७) पूर्वोत्तरपर्यायग्राहकम् । (८) आत्मनः ।

विचित्रो नानाप्रकारो **विषयो** नीलादिः, तदाकार इव **आकारो** यस्य **एकस्य** अभिन्न-**संवेदनस्य** तत् तथोक्तम् , यस्यापि यौगस्य निराकारं[1] तं प्रति विचित्रविषयाकारेषु एकसंवेदनम् इति व्याख्येयम् । कथंभूतम् ? **क्षणिकम्** । तथा च यौगस्य[2] प्रयोगः–क्षणिका बुद्धिः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् शब्दवत् इति[3] । पुनरपि कथंभूतम् ? इत्याह–

५ **प्रत्यक्षम्** इति । स्वसंवेदनाध्यक्षविषयीकृतं ज्ञानान्तरविषयीकृतं वा भवतु । तत् किम् ? इत्यत्राह–**तत्त्वं चेदिति । तत्त्वं** परमार्थसत् **चेद्** यदि । तद् अन्यथा अङ्गीकुर्वतः सौगतस्य न किञ्चित् सिध्येदिति मन्यमान एवं पृच्छति, यौगस्यापि प्रतिविषयं विज्ञानभेदमभ्युपगच्छतः *"सदसद्वर्गः कस्यचिद् एकज्ञानालम्बनम् अनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलवत्" इत्यत्र साध्यदृष्टान्तविरोधः इति च । तथेति वदतो दूषणमाह–**सुख** इत्यादि । **सुखदुःखमोह**ग्रहणम्

१० उपलक्षणम् , तेन सर्वातीतानागतवर्तमानपर्याया गृह्यन्ते, ते च ते **विविधाकाराश्च** तेष्वेकः **साधारणः** तदेकः स चासौ **जीवश्च** । यदि वा, सुखदुःखमोहा विविधाकाराः स्वभावभूता धर्मा यस्य स तथोक्तः, स चासौ एकजीवश्च **न किं तत्त्वम्** ? अपि तु तत्त्वमेव । यथैव हि युगपत् संवेदनं चित्रमात्मानं प्रत्यक्षयति, नापि तेन विरुध्यते ; तथैव क्रमेण जीवः[4] तथा प्रत्यक्षयति[5] तेन वा न विरुध्यत इति भावः ।

१५ ननु सौगतं साकारज्ञानवादिनं प्रति अतत्त्वे तदनिष्टं न यौगं निराकारज्ञानवादिनं प्रति । [6]स हि निराकारेण एकज्ञानेन अनेकमर्थं विषयीकरोतीति चेत् ; न; एकेन स्वभावेन तद्विषयीकरणे कुतः अर्थभेदः ? [8]इतरथा एकस्वभावात् कारणात् कार्यभेदः स्यात् । न चैवमिति निरूपयिष्यते ईश्वरनिराकरणे ।

ननु एकस्मिन् सन्ताने सुखे उत्पद्यमाने अनुभूयमाने वा न दुःखमोहादय उत्पद्यन्ते अनु-

२० भूयन्ते वा, विनश्यति,[9] ततो भिन्नयोगक्षेमत्वात् रामाऽर्जुनादिवत्[10] तेषां भेद एव इति सौगतः; एतदेव दर्शयन्नाह–**योग** इत्यादि । **योगः** उत्पादः **क्षेमो** विनाशः संवेदनं वा, तयोः **भेदाऽभेदेनानु (भेदभृत्** न तु) प्रकृते सुखादौ इति **चेत्** ; अत्रोत्तरमाह–**सन्तान** इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–[१०२ख] एकसन्तानव्यपदेशभाजां भेदे साध्ये सुखादीनां भिन्नयोगक्षेमत्वात् , यत् अन्यद्–भिन्नं चित्रं ज्ञानं तद् विपक्षः, तस्य च हेतुविपर्ययेण [अ]भिन्नयोग-

२५ क्षेमेण[11] अनवयवेन व्याप्तौ, ततो[12] निवर्तमानो भिन्नयोगक्षेमलक्षणो हेतुः तद्भेदं साधयेत् नान्यथा, हेतुविपर्ययस्यापि साध्यविपर्ययेण व्याप्तौ चित्रमेकं क्षणिकं ज्ञानं प्रसिध्यति अभिन्नयोगक्षेमत्वेन । तथा च सति **सन्तानानां भेदो** नानात्वं **कुतः** ? न कुतश्चिन्मानात् । केषाम् ? **चित्तानाम्** । कथंभूतानाम् ? **क्षणभङ्गिनाम्** । पुनरपि कथंभूतानाम् ? **सहभुवाम्** इति । अनेन पदद्वयेन अभिन्नोत्पत्तिविनाशौ तेषां कथितौ । पुनरपि तद्विशेषणमाह–**भूतेः असंवेदना**

(१) ज्ञानम् । (२) नैयायिकस्य । (३) तुलना–"अनित्यः शब्दः गुणत्वे सति अस्मदादीन्द्रियविषयत्वात् बुद्धिवत् ।"–न्यायवा० पृ० २९९ । (४) विभुद्रव्यमत्र आत्मा । (५) चित्रविचित्ररूपेण । (६) अनेकाकारेण । (७) यौगः । (८) एकस्वभावेन विषयीकरणेऽपि अर्थभेदश्चेत् । (९) सुखे विनश्यति सति वा न दुःखमोहादयो विनश्यन्ति । (१०) सुखदुःखमोहादीनाम् । (११) साकल्येन । (१२) विपक्षभूतात् चित्रज्ञानात् ।

[सहभूनिसंवेदनात्] इति । अत्रायमर्थः–**सहभूतेः** कारणात् सहैव **संवेदनात्**। अनेनापि सहोत्पत्ति-संवेदने कथिते ततोऽभिन्नयोगक्षेमत्वात्तेषाम्[1] विवक्षितचित्रैकज्ञानवदेकत्वमिति । एतेन [2]अशक्यविवेचनमपि चिन्तितम् ।

अत्र अपरः प्रतिभासाद्वैतवादी आह–सन्तानाभावान् कस्य केन अभेदः चोद्यते इति चेत् ? [3]तन्निषेधकप्रमाणाऽभावात् । अनुपलब्धिः प्रमाणमिति चेन ; न; सुखदुःखयोः अन्योऽन्यमप्रवेद- ५ नादभावः, अन्यथा अनैकान्तिको हेतुः । सर्वाऽनुपलब्धिरसिद्धा । विचारयिष्यते चैतत् सर्वज्ञसिद्धौ । सतामपि सन्तानानामभिन्नयोगक्षेमत्वादभेदः इति न तैः व्यभिचारः पक्षीकरणादिति केचित् ; तदपि न युक्तम् ; [१०३ख] व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणादव्यभिचारे न कश्चिद्धेतुः व्यभिचारी स्यात् । [4]स्वयं च पक्षीकृतैः तर्कादिभिः (तर्वादिभिः) कार्यत्वादेः व्यभिचारमुद्भावयन् तथा निगदतीति यत्किञ्चिदेतत् । ततो यथा चित्रैकप्रतिभासादक्रमेण चित्रमेकं ज्ञानम् , १० तथा क्रमेणापि[6] इति स्थितं **स्वार्थं** इत्यादि ।

संग्रहवृत्तादर्थमुद्धृत्य विवृण्वन्नाह–

[अक्षधीरवगृह्णात्यभेदेन स्वार्थमादितः ।
विशेषेणेहयाऽवैति धारयत्यन्यथाऽस्मृतेः ॥४॥

प्रत्यक्षं स्वार्थं सामान्येनावगृह्णातु पुनरादातुं विशेषेण तदाकारेण अवैति यथा १५ अवायस्तेन संस्कारमाधत्ते । अभिमतस्वलक्षणानां कथञ्चिदसाधारणत्वेऽपि सदृशात्मनैव प्रतिभासनात् । अक्षबुद्धौ स्वावयवस्वभावं स्थवीयांसमेकमाकारं प्रतिभासमानं पूर्वापरान्वयि परिस्फुटमस्खलद्वृत्ति संपश्यामः । अन्यथा परिस्फुटं नावभासेत । प्रतिसंख्यानेन [अप्रत्याख्येयत्वाच्च] परस्परविलक्षणानां स्वलक्षणानां स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावाभावे अक्षज्ञानं सविकल्पं सिद्धम् , अन्यथा पररूपं स्वरूपेण तदेव कथं संवृणुयात् ? यतो बहिः २० सदृशात्मना स्फुटमवभासेत । अथायं परमार्थसद् (सन्) असाधारणानां कथमेकान्तेन संभवः तत्प्रत्यक्षविरोधात् । यदि कुतश्चित् प्रत्यासत्तेः बहिरिव अन्तःपरमाणवः संचितास्तथा प्रत्यवभासेरन्निति; परस्परमसंप्लवात् सन्तानान्तरवत् स्थूलैकान्वयाकारप्रतीतिर्न स्यात् । तद्विभ्रमं बहिरन्तश्च किञ्चित् कुतश्चिदप्रसिद्धम् इदन्तया नेदन्तया च तत्त्वं व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम् ! नचैतन्मन्तव्यम्–अवगृहीतसामान्यस्य विशेषा- २५ काङ्क्षणं मानसमिति; तदिष्यत एव, तदभावे अक्षज्ञानस्य नियमेन अवगृहीतसदृशाकारस्मृतेरयोगात् । न हि सन्निहितविषयबलोद्भूतं तदाकारस्वभावनियतमसाधारणैकान्तात्मविषयं नियमेन अभिमतसजातीयस्मरणकारणं युक्तम् , समयानभिज्ञस्येव कार्यस्मृति-

(१) सुखादीनाम् । (२) "चित्राभासापि बुद्धिरेकैव बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं चित्रमनेकमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलादयः ।"–प्र० वार्तिकाल० ३।२२० । (३) सन्ताननिषेधक । (४) बौद्धः । (५) 'उर्वीपर्वततरुतन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वात्' इति ईश्वरानुमाने पक्षीकृतैः तर्वादिभिः व्यभिचार उद्भाव्यते यत्–ते कार्याः न च बुद्धिमद्धेतुकाः । द्रष्टव्यम्–प्र०वा० १।१४–१७ । (६) एको जीवः पूर्वोत्तरपर्यायौ व्याप्नोतीति भावः ।

सामर्थ्यम् । यदि पुनरन्तर्वासनाप्रबोधविचित्रता, तर्हि ततः स्वयमवगृहीतसमानाकारार्थविशेषाकाङ्क्षालक्षणं परिस्फुटं प्रत्यक्षं किन्नानुमन्यत एव सन्निहितार्थप्रयोगात् यतः निर्विकल्पैकान्तसिद्धिः । तद् युक्तं चक्षुरादिज्ञानमपि सत्त्वद्रव्यत्वसंस्थानवर्णादिसामान्यविशेषाद् व्यापकव्याप्यस्वभावं प्रतिपद्यमानं स्वयमीहितं व्यापकग्रहणपूर्वकं प्रायः परि-
५ च्छिनत्ति । न वै चक्षुरादिज्ञानम् ईहा, अपि तु तत्समनन्तरजन्मना तदर्थानन्तरग्राहिणा मानसप्रत्यक्षेण जनितो विकल्पः । ततः स्मृतिरीहेति चेत् ; किं पुनः मानसप्रत्यक्षविकल्पनया लब्धम् ?]

अक्षधीः इन्द्रियबुद्धिः आदौ **आदितः स्वार्थम्** स्वम् अर्थञ्च **अभेदेन** सामान्याकारेण **अवगृह्णाति विशेषेण** विशेषाकारेण **अवैति** निश्चिनोति '**स्वार्थम्**' इति सम्ब-
१० न्धः । केन कृत्वा ? इत्यत्राह–**विशेषणेहया [ईहा]** आकाङ्क्षा तया । किं पुनः सा करोति ? **धारयति** स्वार्थसंस्कारमाधत्ते । कुत एतत् ? **अन्यथा** धारणाऽभावप्रकारेण **अस्मृतेः** स्मृतेरभावात् । यदि वा, सामान्याऽवग्रहाभावप्रकारेण अन्यथा [1]स्मृतेरभेदेन स्मृतेरभावप्रसङ्गात् । नहि स्वलक्षणात् भवात् (णानुभवात्) सामान्ये स्मृतिर्युक्त (क्ता) अन्यथा नीलानुभवात् पीते सा भवेत् । अथ स्यात्–विशेषाग्रहणे कथं सामान्याऽवग्रहः ? [2]व्याप्याप्रतीतौ व्यापकाप्रति-
१५ पत्तेरिति ; तन्न ; चित्रैकज्ञाने नीलाकारेण पीताद्याकाराननुकरणेऽपि तद्व्यापकज्ञानमात्रानुकरणवद्दोषः ।

कारिकां व्याचष्टे **प्रत्यक्षम्** इत्यादिना । **प्रत्यक्षं स्वम् अर्थाचा (अर्थं च) अवगृह्णातु** । केन प्रकारेण ? **सामान्येन** । किं कुर्वत् पुनः तत् किं करोति ? इत्यत्राह–**पुनः** इत्यादि । **पुनः** पश्चाद् **विशेषेण तदाकारेण** [१०४क] **स्वार्थमादानुप्रेव (दातुमेव)** विशेषाकारेणैव
२० **अवैति** निश्चिनोति । पुनरपि किं करोति ? इत्यत्राह–**यथा** इत्यादि । **यथा** येन प्रकारेण **अवायः** **स्वार्थयोः तेन**[3] **संस्कारमाधत्ते** । कुत एतत् सामान्येन अवगृह्यादिति चेत् ? अत्राह–**अभिमत** इत्यादि । **अभिमतानि** बौद्धैः अङ्गीकृतानि **स्वलक्षणानि** निरंशपरमाणुलक्षणानि तेषां **कथञ्चित्** केनापि देशादिभेदप्रकारेण **असाधारणत्वेऽपि** विलक्षणत्वेऽपि **सदृशात्मनैव** नीलादिकसमानस्वभावेन न असाधारणस्वभावेन इति एवकारार्थः, **प्रतिभासनात्** प्रकृतमिति । नवै
२५ परमाणुविवेकात्तत्प्रतिभासोऽपि अनेकप्रतीतिविरहप्रसङ्गात् । एतत्तु अभ्युपगम्य उक्तं न परमार्थतः इदमस्ति, इत्याह–'**स्वावयवस्वभावम्**' इत्यादि । **स्वावयवान् (वानां न)** द्रव्यान्तरावयवान् (वानाम्) ततो निराकृतमेतत्–*"**सर्वस्योभयरूपत्वे**" [प्र०वा० ३।१८१] इत्यादि, **स्वभावः** स्वरूपं यस्य स तथोक्तः । अनेन *"**द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते**" [वैशे० सू० १।१।१०] इत्येकान्तनिरासः, **तमाकारं संपश्यामः** । कथंभूतम् ? **स्थवीयांसम्** इति । एतत्तु
३० विशेषणमपि साधनत्वेन प्रत्येयम्–यतः स्थवीयांसम् ततः स्वावयवस्वभावमिति । न खलु निरव-

(१) यादृशोऽनुभवस्तादृशी स्मृतिरित्यभेदः । (२) स्मृतिः । (३) व्याप्तुं योग्यस्य विशेषस्य अप्रतिपत्तौ । (४) विशेषाकारेण । (५) अनेन धर्मकीर्तिना सर्वद्रव्याणां सर्वात्मकत्वं कल्पयित्वा 'चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति' इति दूषणं दत्तम्, तन्निराकृतम् ।

यव-अवयविकल्पनैकान्ते परमाणुवत् परस्परमवयविनां महत्त्वादिभेदोऽस्ति यतः स्थूलस्थूलत-रादिव्यवहारः[1] तत्र घटेत । तदारम्भकावयवबहुत्वाद्यपेक्षः सर्वोऽयं व्यवहार इति चेत् ; अत्राह- **एकम्** इति । **एकं स्थवीयांसम्** । एतदुक्तं भवति-योऽसौ स्थवीयान् आकारः स एकः प्रतीयते, अवयवबहुत्वाद्यपेक्षे तु [2]तद्व्यवहारे तत्र [१०४ख] स इति प्रतीयते न तु स्थवीयान् इति, स्थवीयस्त्वस्यावयवेपूपि (वेष्वपि) परस्यासंभवात । किं कुर्वन्तम् ? इत्याह-**प्रतिभासमानम्** । क ? **अक्षबुद्धौ** चक्षुरादिज्ञाने । यौगस्य 'अवयव-अवयविभेदैकान्तप्रतिज्ञा प्रत्यक्षबाधिता' इत्यनेन दर्शयति । ५

अत्राह परः[3]-सत्यम तथाविधमाकारं भवन्तः संपश्यन्ति, तत्तु क्षणिकम् अन्यथा दर्शनाऽशक्तेः, इत्यत्राह-**पूर्वापर** इत्यादि । **पूर्वापरौ परिणामा वन्वेतु (वन्वेतुं)** शीलं प्रतिभासमानम् **अक्षबुद्धौ संपश्यामः** इति । शेषमत्र निरूपयिष्यते । अनेन *"**यद् यथाऽवभासते तत् तथैव परमार्थसद् व्यवहारमवतरति**" [4]इत्यादिप्रयोगे हेतोरसिद्धतां दर्शयति । ननु दूरस्थितविरलकेशादिपु इव [5]तमाकारमेकमनन्तं भवन्तः संपश्यन्ति इति चेत ; अत्राह-**अस्खलद्वृत्ति** यथा भवति तथा तं पश्यामो बाधकाऽभावादिति मन्यते । नाक्षबुद्धौ किन्तु विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानं संपश्याम इति निगदन्तं प्रत्याह-**परिस्फुटम्** इत्यादि । **अन्यथा** अक्षबुद्धौ प्रतिभासनाभावप्रकारेण **परिस्फुटं** यथा भवति तथा **नावभासेत** । दूपणान्तरमाह-**प्रतिसंख्यानेन** इत्यादि । *"**नचैतद् व्यवसायात्म**" [सिद्धिवि० १।२५] इत्यादिना व्याख्यातमेतत् । एवं प्रतिभासबलेन अक्षज्ञाने सामान्याकारेण स्वार्थप्रतिभासं व्यवस्थापितमपि पादप्रसारिकया अनिच्छन्तं प्रति दूपणान्तरमाह-**स्वलक्षणानाम्** इत्यादि । **स्वलक्षणानां** बहिः निरंशक्षणिक[१०५क]परमाणूनाम् । कथंभूतानाम ? **परस्परविलक्षणानाम् स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावाऽभावे** स्पष्टो निर्भासो यस्य स चासौ अन्वयैकस्वभावश्च तस्य अभावे अङ्गीक्रियमाणे दूपणम् **अक्ष** इत्यादि । अयमत्राभिप्रायः-तत्स्वभावः प्रतिभासमानोऽपि तैमिरिककेशादिवद् यद्य[क्ष]संवित्तेर्विषय इत्यादि ; तत्र उत्तरम्-अथ सन्नपि न बहिः तर्हि गत्यन्तराभावात् ज्ञानस्य स इति **अक्षज्ञानं सविकल्पं** सभेदं **सिद्धम् अन्यथा** सविकल्पकत्वाभावप्रकारेण **पररूपं** बहिःस्वलक्षणरूपं **स्वरूपेण** स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावेन **तदेव** अक्षज्ञानमेव **कथं** [6]**संवृणुयात्** ? नैव । **यतः** संवरणात् **सदृशात्मना** समानस्वभावेन **अवभासेत परिस्फुटं** विशदं यथा भवति **बहिः** तदेवेति । [7]अन्ये तु **'स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावे'** इति पठन्ति ; तेषाम् **'कथमन्यथा'** इत्यादि विरोधः । नहि तेन तदेव संव्रियते अन्यथा पटः स्वात्मना संव्रियेत । भवतु तर्हि अक्षज्ञानवद् बहिरपि तत्स्वभावः न्यायबलायातस्य परिहर्तुमशक्यत्वादिति चेत् ; अत्राह-**अथायम्** इत्यादि । **अथायम्** अनन्तरनिर्दिष्ट आकारः **परमार्थेन सद् (सन्)** [illegible] अन्तरिव बहिरपि इति भावः । **असाधार-** १० १५ २० २५

(१) अवयविनि । (२) स्थूलस्थूलतरादिव्यवहारे । (३) बौद्धः । (४) द्रष्टव्यम्-पृ० २ टि० १० । (५) स्थवीयांसम् । (६) अत्रायं पूर्वपक्षः-"पररूपं स्वरूपेण यया संव्रियते धिया । एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः ॥" (७) 'अन्ये तु' इति पदेन अस्य व्याख्यान्तरं सूचयति टीकाकारः ।

णानां परस्परविलक्षणानां 'स्वलक्षणानाम्' इत्यनुवर्तते । **कथम् एकान्तेन** अवश्यंभावेन **संभवः** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तद्** इत्यादि । तेषां **प्रत्यक्षेण विरोधात्** । तर्हि वहिरन्तश्च परमाणव एव अविनिर्भागवृत्त्युत्पत्त्या संचिताः प्रतिभान्ति [१०५ख] तदुक्तम्–

*"तदेतन्नूनमायातं यद्वदन्ति विपश्चितः ।
५ यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा ॥"[1] [प्र० वा० ३।२०९]

इति चेत् ; एतदेव आशङ्क्य दूषयन्नाह–**कुतश्चिद्** इत्यादि । **कुतश्चित्** कस्याश्चिद् अविनिर्भागवृत्त्युत्पत्तिलक्षणायाः **प्रत्यासत्तेः बहिः** परमाणव **इव** तद्वत् । यदि पुनः **अन्तः परमाणवः संचिताः** पुञ्जीभूताः **तथा** स्पष्टनिर्भासान्वयैकस्वभावप्रकारेण **प्रत्यवभासेरन् इति** परमताशङ्का[2] । तत्र दूषणं **परस्परम्** इत्यादि । **परस्परम्** अन्योन्यम **असंप्लवात्** , एकस्य ज्ञान-
१० परमाणोः तदन्तरेषु तेषां वा तत्र स्वभावस्य व्यापारस्य वा यः संप्लवो गमनं तस्य अभावात् । अत्र परप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह–**सन्तानान्तरवत्** इति । सन्तानान्तराणामिव तद्वद् इति । एतदुक्तं भवति–यथा तेषां[3] नान्यः(न्य)स्वभावसंकीर्णता नापि विपर्याकरणं संप्लवः तथा अन्तःपरमाणूनामिति । ततः किं जातम ? इत्याह–**स्थूलैक** इत्यादि । **स्थूलैकस्य** अद्वयोपलक्षिताकारस्य **प्रतीतिः** स (सा) **स्थूलैकान्वयाकारप्रतीतिः** सा **न स्यात्** । **'सन्तानान्तरवद्'** इति निदर्शनं
१५ मध्ये करणादनेनापि सम्बन्धनीयम । ततो यथा त्रैलोक्यसन्तानान्तरगृहीतार्थापेक्षया न तत्प्रतीतिः तथा दार्ष्टान्तिकप्रतीतिरपि न स्यात । यस्तु अनुपलम्भात्[4] सन्तानान्तराभावात् निदर्शनमसिद्धमिति मन्यते, स कथम् एकज्ञानपरमाणुना वेद्यमानम् अन्यदभ्युपगच्छेत् यतः चित्राद्वैतं भवेत ।

एतेन सकल[१०६क] विकल्पातीतं तत्त्वं चिन्तितम् ; नीलप्रतिभा[सम] उपलभ्यमानं सुखादिप्रतिभासं सन्तमभ्युपगच्छन् सन्तानान्तरनिषेधं निगदति यत्किञ्चिदेतत् ।

२० अत्राह परः[5]–अस्तीयं प्रतीतिर्भ्रान्ता इति, तदुक्तं प्र ज्ञा क र गु प्ते न–*"**मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽपि अदोषः**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इति; तत्रोत्तरमाह–**तद्विभ्रम** इत्यादि । तस्याः तत्प्रतीतेः **विभ्रमे** अङ्गीक्रियमाणे । क ? **बहिरन्तश्च** । किं जातम् ? इत्यत्राह–**किञ्चित्** सुखादिकं नीलादिकं च तत् **कुतश्चित्** प्रत्यक्षादनुमानाद्वा **अप्रसिद्धम्** अनिर्णीतम् । केन प्रकारेण ? **इदंतया** क्षणिकज्ञानानन्यवेद्यविभ्रमसर्वविकल्पातीततया **नेदंतया** न
२५ तद्विपरीतरूपतया चेति तद् इत्थंभूतं **तत्त्वं व्यवस्थापयति** सौगतः इत्येवं **सुव्यवस्थितं तत्त्वम्** इत्युपहसनमेतत , विभ्रमात् कस्यचित् असिद्धे र [ति] प्रसङ्गात् इति मन्यते । ततः **'प्रत्यक्षम्'** इत्यादि सुस्थम ।

इदानीम् ईहाज्ञाने विप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्नाह– **ननु तस्मिन्**[6] **सति तत् मानसमन्यद्वेति विचारः प्रवर्तते, धर्मविचारस्य धर्मिसत्तानिबन्धनत्वात् । अतः तत्सत्तैव सध्येति चेत् ; नैतदस्ति;**

---

(१) "इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः । यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥" –प्र० वा० । (२) बौद्धमत । (३) सन्तानान्तराणाम् । (४) अनुपलम्भाद्धेतोः सन्तानान्तरस्य अभावं कृत्वा । (५) विज्ञानवादी । (६) ईहाज्ञानस्य विचारात्पूर्वं सत्येव ।

तत्सत्त्वस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात् । सिद्धे हि सामान्ये धर्मिणि तद्विशेषानादातुमीहमानस्य प्रतीतेः, तद्योग्योपायोपादानात्. निरीहस्य तदयोगादिति मन्यते । एवमर्थं चेदमुक्तमत्रैव *"नहि संवित्तः बहुबहुविधप्रभृत्याकृतयः" [सिद्धिवि० १।२७] इत्यादि । न च नैव एतन्मन्तव्यम् अवगृहीतस्य [१०६ख] अवग्रहेण विषयीकृतस्य सामान्यस्य विशेषाकाङ्क्षणं मानसं मनोनिमित्तम्, न इन्द्रियनिमित्तम् इति मानसं तद् इष्यत एव किन्तु तदेव न भवति इति एवकारार्थः । 'तदाकाङ्क्षणं मानसम्' इत्युक्ते अवग्रहज्ञानमपि तत्परिणामि तद् इत्युक्तं भवति, यथा 'मार्दो घटः' इत्युक्ते मृत्पिण्डोऽपि तदुपादानं मार्द इत्युक्तं भवति । यद्यपि चैतत *"न चैतद्व्यवसाय" [सिद्धिवि० १।२५] इत्यादिना निरस्तं तथापि प्रकारान्तरेण निराकरणार्थमित्यदोषः । कुत कुतन ? इत्यत्राह तदभाव इत्यादि । तस्य अवग्रहपरिणामेहाज्ञानस्य अभावे तदभावे । कस्य ? अक्षज्ञानस्य निरंशस्वलक्षणविषये अक्षज्ञाने अभ्युपगम्यमान इत्यर्थः, नियमेन अवश्यंभावेन अवगृहीतः अवग्रहेण विषयीकृतः पूर्वं यः सदृशाकारः अथवा इदानीम् अवगृहीतेन सदृशाकारः पूर्वं दृष्टः तस्य स्मृतेरयोगात् 'न चैतन्मन्तव्यम्' इति । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह— न हि इत्यादि । 'हिः' इति यस्मादर्थे, यस्मात् न सन्निहितो यो विषयः तस्य बलेन उद्भूतम् उत्पन्नमपि अक्षज्ञानम् [इति] विभक्तिपरिणामेन संबन्धः । पुनरपि कथंभूतम् ? इत्यत्राह— तद् इत्यादि । तस्य सन्निहितविषयस्य आकारम् अनुकरोति इत्येवंशीलो यः स्वभावः स्वस्वरूपं तत्र नियतम् स्वप्नेऽपि स्वरूपाद् अन्यन्न पश्यति इत्यर्थः । पुनरपि तद्विशेषणं दर्शयन्नाह— असाधारण इत्यादि । सर्वतो [१०७क] विलक्षणोऽसाधारणः एकः असहायः अन्तः धर्मो यस्य [आत्मनः स्व] भावस्य स विषयो यस्य तत्, कं (किम् ?) नियमेन अभिमतसजातीयस्मरणकारणं युक्तं पूर्वेण परः परेण वा पूर्वः क्षणः सजातीय इति स्मरणम् अभिमतसजातीयस्मरणम् तस्य कारणं युक्तम् । नहि असाधारणैकान्तात्मविषयानुभवात् तथाविधं बहिःस्मरणं युक्तं नीलानुभवात् पीतस्मरणवत् । तथा च सामान्यादिव्यवहारः परस्य दुर्घट इति मन्यते । समयेत्यादिना दृष्टान्ते तदेव समर्थयते—अयमुदात्तः अयमन्यः इत्यादिकः सङ्केतः समयः तदनभिज्ञस्य गोपालादेरिव शास्त्रव्याख्याकरणादि-स्वरादिभेदः 'कार्यम्' उच्यते तत्र स्मृतिसामर्थ्यमयुक्तम् । एतदुक्तं भवति—यथा उदात्तादिसमयाग्रहणे न तत्र गोपालादेः स्मृतिः तथा सदृशाकाराऽग्रहणेऽपि न तत्र स्मृतिरिति । एतेन 'अभेदेन अन्यथाऽस्मृतेः—स्मृतेरभावात्' इत्येतद् व्याख्यातम् ।

ननु नाक्षज्ञानम् असाधारणैकान्तविषयम् 'तत्स्मृतिकारणम्' इति सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति—यथा नीलानुभवाज्जायमाना वासना नीले स्मृतिकारणं न पीते तथा तदक्षज्ञानवासनापि असाधारणविषयस्मृतिकारणं न तत् स्मृतिकारणमिति ।

इदमपरं व्याख्यानम्—यत एव अक्षज्ञानमुक्तप्रकारं तत एव न केवलं तत्स्मृतिः, अपि तु वासनापि न भवेत् नोत्पद्येत तत इति न (नाऽ)साधारणैकान्त[१०७ख]विषया अक्ष-

(१) ईहाज्ञानस्य परिणामिकारणभूतम् । (२) मानसम् । (३) भिन्नं बाह्यं वस्तु । (४) अक्षज्ञानम् ।

...नवासना तत्कारणम्, अपि तु पूर्वसजातीयस्मृतिवासना । अयं तु विशेषः—तदक्षज्ञानप्रबोधिता सती तत्कारणम्, तत्प्रबोधश्च नीलादावेव न क्षणक्षयादौ इति चेत् ; अत्राह—**यदि पुनः** इत्यादि । अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिकल्पनाहितवासना **अन्तर्वासना** तस्याः **प्रबोधः** दर्शनादुत्तरसजातीयस्मरणजननपरिणतिः तस्य **विचित्रता** नीलादावेव न क्षणक्षयादौ तत्प्रबोध
५ इति, यदि पुनः 'इष्यते' इत्यध्याहारः; **तर्हि ततः** तद्विचित्रतायाः **प्रत्यक्षं किन्नाऽनुमन्यते ?** अनुमन्यत एव । कथंभूतम् ? इत्यत्राह—**स्वयम्** आत्मना अवगृहीतः विपर्यीकृतो यः **समानाकारोऽर्थः** तस्य **विशेषा** ये तेषु **आकाङ्क्षणं** तद्ग्रहणाभिमुख्यं **लक्षणं** स्वरूपं यस्य तत् तथोक्तम् । पुनरपि कथंभूतम् ? इत्यत्राह—**परिस्फुटम्** विशदम् । कुतः? **सन्निहितार्थोपयोगात्** सन्निहितेऽर्थे व्यापारात् । एतदुक्तं भवति—'तत्कल्पना ततः किं स्यात्' इत्यादिना 'प्रत्यक्षं प्रमाणम्' इत्युक्तम्,
१० तदाहितवासनाऽपरसजातीयविकल्प एव तत्प्रबोधविचित्रता कस्यचिदेव विशेषस्य निर्णयाकाङ्क्षा इति । **यतो** यस्माद् अननुमनना (अनुमननात्) **निर्विकल्पैकान्तसिद्धिः** इति । **'यतः'** इति वा आक्षेपे, नैव तत्सिद्धिरिति । **'न चैतन्मन्तव्यम्'** इत्यादिना **'वैशद्यम्'** इत्यादि वृत्तमपि व्याख्यातम् ।

उपसंहारार्थमाह—**तद्** इत्यादि । यत [१०८क] एवं **तत्** तस्मात् **युक्तम्** उपपन्नम् ।
१५ किं तत् ? इत्याह—**चक्षुरादिज्ञानमपि** न केवलं मानसं **क्रमेण परिच्छिनत्ति** जानाति इति । कान् ? इत्याह—**सत्त्वद्रव्यत्वसंस्थानवर्णादिसामान्यविशेषान्** । यदा पूर्वः पूर्वः सामान्यम् तदा उत्तरे विशेषा इति तद्विशेषान् इत्युच्यते । कथं परिच्छिनत्ति ? इत्याह—**व्यापक** इत्यादि । **[व्यापकेन]** व्याप्यः **स्वभावो** यस्य विशेषस्य स तथोक्तः तं **प्रतिपद्यमानं** निश्चिन्वन् । कथंभूतम् ? **स्वयम्** आत्मनेहितम् । कथमीहितम् ? इत्याह—**व्यापकग्रहणपूर्वकं** यथा भवति । किं
२० सर्वदा एवं परिच्छिनत्ति इति चेत् ? अत्राह—**प्रायः** बाहुल्येन, कदाचित् नैवम् इति प्रतिपादयिष्यते *"**वर्णसंस्थानसामान्यम्**" [सिद्धिवि० २।७] इत्यादिना ।

यत्पुनरत्रोक्तम्—*"**यदि चक्षुरादिज्ञानं स्वयमक्रमरूपं कथं तत्क्रमेण परिच्छिनत्ति विरोधात् ? अथ क्रमरूपं तर्हि स्वक्रममपि**[2] **परेण परिच्छिनत्ति तमपि परेण स्वक्रमेण इत्यनवस्थितिः ।**" तदेतत् *"**पूर्वपूर्वस्य स्वग्रहणानुबन्धमजहतः एव उत्तरोत्तरं प्रति साधक-**
२५ **तमत्वात्**" [सिद्धिवि० २।१५] इत्यत्र विचारयिष्यते अत्रैव प्रस्तावे ।

अत्राह परः[3]—**'नवै चक्षुरादिज्ञानम्'** इत्यादि । **नवै** नैव **चक्षुरादिज्ञानं** चक्षुरादीनां कार्यं यज्ज्ञानम् **तत् ईहा अपितु** किन्तु **तत्समनन्तरजन्मना** तस्मात् चक्षुरादिज्ञानात् समनन्तराद् उपादानात् जन्म यस्य तत् तथोक्तं तेन । केन ? **मानसप्रत्यक्षेण** । कथंभूतेन ? **तदर्थानन्तरग्राहिणा** तस्य चक्षुरादिज्ञानस्य योऽर्थः तस्य अनन्तरः तज्ज्ञान[१०८ख] सहकार्यर्थ-
३० क्षणः तद्ग्राहिणा । तदुक्तम्—*"**इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा जनितं मानसं प्रत्यक्षम् ।**" [न्यायबि० १।९] इति । **जनितो विकल्प**

(१) द्वितीयः श्लोकः । (२) क्रमेण । (३) बौद्धः ।

इहेति (ईहा इति) पद घटना । ततः तस्मात् कारणात् **स्मृतिः न** प्रत्यक्षम् ईहा इति अनुभवकार्यस्य तद्विषयस्य ज्ञानस्य गत्यन्तराऽभावात् इति भावः, **इति एवं चेत्** ; अत्र पृच्छति आचार्यः–**किं पुनः मानसप्रत्यक्षविकल्पकल्पनया लब्धम्** ? मानसं प्रत्यक्षमेव विकल्पो भेदः तस्य कल्पनया किं प्राप्तं सौगतेन ? तत्प्रत्यक्षं चक्षुरादिव्यापारकाले अन्यदा वा न प्रतिभाति केवलं कल्पनाशिल्पिकल्पितम् इत्येतत् **कल्पनया** इति । ५

अत्राह शा न्त भ द्रः[1]–*"**तत्कल्पनया बहिरर्थे मानसं स्मरणं लब्धम्, न हि तत् चक्षुरादि ज्ञायुक्तं (दिजं युक्तम्) भिन्नसन्तानत्वात्, अन्यथा देवदत्तानुभूते यज्ञदत्तस्य स्मरणं भवेत्, मानसात् तत्प्रत्यक्षात् तत्स्मरणं न विरुध्यते ।**" एतदाशङ्क्य दूषयन्नाह–**प्रत्यक्षाद्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षान्मानसादृते बहिर्नाक्षधियः स्मृतिः । १०
सत्त्वान्तरवच्चेत्तत् समनन्तरमस्य किम् ॥५॥

मनोऽक्षज्ञानानां सन्ताननानात्वेऽपि यतोऽनन्यसत्त्वव्यवस्था परस्परं समनन्तरप्रत्ययता च, तत एवेन्द्रियार्थे मनसः स्मृतिः स्यात् । तदलमन्तर्गडुना बहिर्मानसप्रत्यक्षेण ?]

प्रत्यक्षात्, कथंभूतात् ? **मानसादृते** तदन्तरेण **बहिः स्मृतिर्न**, कुतः सकाशात् ? १५ **अक्षधियः** चक्षुरादिज्ञानात् । दृष्टान्तमाह–**सत्त्वान्तरवद्** इति । सत्त्वान्तरं सन्तानान्तरं तस्माद (तद्वत्) इति । यथा देवदत्तान्न यज्ञदत्ते स्मृतिः तथा प्रकृतधियः **चेद्** यदि मतम् । अत्र दूषणम्–**तत्समनन्तरमस्य किम्** इति । इदमत्र तात्पर्यम्–इन्द्रियमानसप्रत्यक्षयोः अभिन्नः, भिन्नो वा सन्तानः स्यात् ? अभिन्नश्चेत्; **तत्** मानसं प्रत्यक्षं **समनन्तरम्** उपादानम् **अस्य** [१०९क] स्मृतिकार्यस्य **किम्** ? नैव । एतदुक्तं भवति–यथैव इन्द्रियज्ञानात् सन्ता- २० नान्तरात् न मानसं स्मरणम्, तथैव तदभिन्नसन्तानान्न मानसप्रत्यक्षादपि इति । यो हि जात्यश्वो न गर्दभात्, सः [2]तत्पुत्रादपि न भवति । भिन्नश्चेत्; **तद्** अक्षज्ञानं **समनन्तरम्** उपादानम् **अस्य** मानसाध्यक्षस्य **किम्** ? नैव, स्मृतिवत् तदपि [3]ततो न भवति ।

यत्पुनरुक्तं प्र ज्ञा क रे ण–*"**न स्मृतिलिङ्गतः [4]तदध्यक्षस्य व्यवस्था किन्न (किन्तु) प्रतीतितः, निश्चयात्मकात् नीलादिप्रतीतेः तदध्यक्षरूपत्वात् ।**" इति[5]; तदप्येतेन निरस्तम् ; २५

(१) "शान्तभद्रस्त्वाह–यद्यपि प्रत्यक्षतः तस्माद् भेदो न लक्ष्यते कार्यतो लक्ष्यत एव । कार्यं हि नीलादिविकल्परूपं स्मरणापरव्यपदेशं न कारणमन्तरेण कादाचित्कत्वात् । न चाक्षज्ञानमेव तस्य कारणं सन्तानभेदात् प्रसिद्धसन्तानान्तरतज्ज्ञानवत् । ततोऽन्यदेवाक्षज्ञानात्तत्कारणं तदेव च मानसं प्रत्यक्षमिति ।" –न्यायवि० वि०प्र० पृ० ५२६ । "इह शान्तभद्रेण सौत्रान्तिकानां मतं दर्शयता पूर्वं चक्षू रूपे चक्षुर्विज्ञानं ततस्तेनेन्द्रियविज्ञानेन सहजक्षणसहकारिणा तृतीयस्मिन् क्षणे मानसप्रत्यक्षं जन्यते इति व्याख्यातम्···इह पूर्वैः चक्षुरादिविज्ञानेनानुभूतत्वान्न विकल्पाभाव इति चाशङ्क्याभिहितम्–देवदत्तेनापि दृष्टे यज्ञदत्तस्यापि विकल्पप्रसङ्गः···"–न्यायबि० ध० पृ० ६१-६२ । (२) गर्दभपुत्रादपि । (३) इन्द्रियाध्यक्षात् । (४) मानसप्रत्यक्षस्य । (५) "इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासात् पुरतः स्थिते । साक्षात्करणतस्तत्तु प्रत्यक्षं मानसं मतम् ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३०५ ।

इन्द्रियज्ञानस्य तदुपादानस्य नैव तत् निर्णयात्मकत्वे तत एव सकलार्थसिद्धेः, तस्यैव प्रतीतेः **तदिन्द्रियज्ञानं समनन्तरमस्य किम्** ? अनिर्णयात्मकत्वे तन्निर्णयात्मकम् इन्द्रियज्ञानं **समनन्तरम् अस्य** निर्णयात्मनो मानसाध्यक्षस्य **किम्** ? अक्षार्थयोगादेव तत्संभवादात् (तत्संभवात् । *"**अभेदात्) सदृशस्मृत्याम्**" [सिद्धिवि० १।६] इत्यादौ चर्चितमेतत् ।

किंच, यदि [2]तत् क्षणिकनिरंशपरमाणुविषयं न तत्र प्रमाणान्तरवृत्तिः, निर्णीते समारोपाऽभावात् । *"**निश्चयारोपमनसोर्बाध्यबाधकभावतः**" [प्र० वा० १।५०] इति वचनात् । यदि च तत् मध्यक्षणस्य पूर्वापरक्षणापेक्षं कार्यकारणत्वमात्मभूतं न निश्चिनोति; सर्वाऽग्रहणम्, अन्यथा गृहीतेतररूपमेकं स्यात् । निश्चिनोति पूर्वापरयोरग्रहणेऽपि इति चेत् ; तर्हि–आकुलभाषितमेतत्–

*"**द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।**
द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।२] इति ।

तथा *"**पूर्वापरावस्थानिर्णयेऽपि स्वयमवस्थात्** (त्र)**निर्णयाद्वा**(द्व्या)**प्याप्रतिपत्तिः**" इति च । अथ [5]तद्ग्रहणे ; तर्हि तयोरपि कार्यकारणभावनिर्णयः अपरतद्ग्रहणे, इति पूर्वापरकोट्योरमा(रना)न्तयोर्विपर्यीकरणमवश्यंभावि, तथा तस्य परतः सर्वस्माद् विवेकनिश्चये **सर्वं वक्तव्यम्** ।

ततो यदुक्तं परेण–*"**मध्यक्षणदर्शनेना**(**नेनाऽना**)**गतक्षणदर्शने** [7]**तद्वत्त्वात् सर्वाऽतीतानागतक्षणदर्शनम्**" इति ; तन्निरस्तम् ; अन्यत्रापि समानत्वात् । अथ **क्वचित्** कार्यकारणभाव एव नेष्यते ; नैवम् ; इन्द्रियज्ञानाऽभावात् [8] [9]तत्प्रभवं मानसाध्यक्षं न स्यात् । व्यवहारेण तदस्तित्वे तत्रैव तदवस्थो दोषः । शेषमत्र प्र मा ण सं ग्र ह भा ष्या त् प्रत्येयम् ।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां विवृण्वन्नाह–**मनोऽक्ष** इत्यादि । **मनोऽक्षज्ञानानां** मानसेन्द्रियप्रत्यक्षाणां **सन्तानानानात्वेऽपि** न केवलं तदनानात्वे **यतो** यस्याः प्रत्यासत्तेः **अनन्यसत्त्वव्यवस्था** एकप्राणिव्यवस्था **परस्परम्** अन्योन्यं मनोऽक्षसंविदां **समनन्तरप्रत्ययता च** उपादानकारणता च । ननु अक्षसंविद एव मनःसंविदां समनन्तरकारणं न पुनः [10]एताः तासाम् ; तत्कथमुच्यते–'**परस्परम्**' इत्यादि इति चेत् ; नैवं शक्यं वक्तुम् , यथैव हि पावकादेव धूमो न तस्मात् पावको जायमानः प्रतीयते इति पावक एव [धूमस्य कारणं न] धूमः [११०क] पावकस्य इति निश्चयः, तथैव यदि इन्द्रियज्ञानादेव मानसं प्रत्यक्षं न तस्मादिन्द्रियज्ञानं जायमानं प्रतीयते युक्तमेतत्– इन्द्रियज्ञानमेव [11]तत्कारणं न [12]तत्तस्येति । यावता कल्पनया इन्द्रियज्ञानं तत्कारणं [13]तयैव च [14]तदपि कस्यचिदिन्द्रियज्ञानस्य कारणमस्तु, [15]तस्याः सर्वत्र निरङ्कुशत्वात् ।

(१) नीलादिप्रतीतिवत् । (२) अक्षज्ञानम् । (३) स्वस्वरूपात्मकम् । (४) अवस्थातुरनिर्णयात् । (५) पूर्वापरयोः ग्रहणे । (६) तुलना–"यदि कालकलाव्यापिवस्तुग्रहणमक्षतः । सर्वकालकलालम्बे ग्रहः स्यान्मरणावधेः ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५९२ । (७) मध्यक्षणवत् वर्तमानत्वात् । (८) इन्द्रियज्ञानस्य इन्द्रियेभ्यः अनुत्पादात् । (९) इन्द्रियज्ञानजन्यम् । (१०) मनःसंविदः । (११) मानसज्ञानकारणम् । (१२) मानसम् । (१३) कल्पनयैव । (१४) मानसमपि । (१५) कल्पनायाः ।

ततो यथा इन्द्रियज्ञानजनितं ज्ञानं मानसं प्रत्यक्षं तथा तज्जनितं प्रत्यक्षान्तरं स्यादित्यभिप्रायः। **तत एव** तस्या एव प्रत्यासत्तेः **इन्द्रियार्थे** चक्षुरादिविषये **मनसः** मनोऽध्यक्षात् **स्मृतिः ईहा स्यात्** भवेत नान्यतः कारणादिति भावः। ततः किं जैनेन प्राप्तम्? इत्याह–**तद्** इत्यादि। **तत्** तस्माद् उक्तन्यायाद् **अलं** पर्याप्तं **बहिर्मानसप्रत्यक्षेण** कल्पितेन। कथंभूतेन? **अन्तर्गडुना** स्मृत्यक्षज्ञानयोः [२]घाटाललाटयोरिव अन्तराल(ले)गडुलव[द्] वर्तमानेन अकिञ्चित्करेण? ५ इन्द्रियज्ञानादेव प्रकृतार्थसिद्धेरिति भावः।

एतदेव दर्शयन्नाह–**विकल्प** इत्यादि।

[विकल्पवासनास्पष्टप्रबोधोऽक्षार्थसन्निधेः।
व्यापकव्याप्यसामान्यविशेषार्थात्मगोचरः ॥६॥

वितर्कानुगततद्व्यापकसामान्यग्रहणपूर्वकं व्याप्यविशेषावायज्ञानं मनोऽक्षविकल्पानां समानम्। तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षः समयनियमेन अन्तर्वासनाप्रबोधं यथार्हं स्पष्टयतीति तेषां तत्समानम्। ततस्तेषामर्थप्रतिभासः अनुपलक्षणेऽपि भिद्येत न पुनरीहा निराक्रियेत लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृतिवितर्कवत् तदन्यथानुपपत्तेः अतर्कस्मृतेः व्याप्तिः न सिध्येत् अप्रतिपत्तेः।] १०

अवग्रहादीनाम् उत्तरोत्तरं ज्ञानं **विकल्पः** तेन आहिता **वासना** तद्वासना तस्याः **स्पष्टो** १५ किन्वाद (विशदः) **प्रबोधः** उन्मीलनम्। स कुतः? इत्याह–**अक्षार्थसन्निधेः** इन्द्रियार्थसंप्रयोगात् न मानसप्रत्यक्षादेरिति मन्यते। कथंभूतः? इत्यत्राह–**व्यापक** इत्यादि। **व्यापकं** च **व्याप्यश्च** तौ च तौ **सामान्य** [११०ख] **विशेषौ** च व्यापकं सामान्यम् व्याप्यो विशेषः तत्स्वभावौ **अर्थात्मानौ गोचरौ** यस्य स तथोक्तः।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**वितर्क**' इत्यादि। वितर्कणं [वितर्कः] विशेषाका[ङ्क्षण]वितर्कपरि- २० णामम् **अनु** पश्चाद् **गतम्** तच्च **तद् व्यापकसामान्यग्रहणं** च तत् पूर्वं कारणं परम्परया यस्य तत्तथोक्तम् [किं त]दित्याह–**व्याप्यविशेषावायज्ञानम्**। तत्कथंभूतम्? इत्यत्राह–**मनोऽक्षविकल्पानां समानम्** इति। **मनोविकल्पानाम् अक्षविकल्पानाम्** इन्द्रियज्ञानानां **समानं** सदृशमिति।

ननु प्रत्यक्षप्रस्तावे किमर्थमप्रस्तुतानां मनोविकल्पानामुपादानमिति चेत्? दृष्टान्तार्थम्। यथा मनोविकल्पानां वितर्कोऽनुगतव्यापकसामान्य[ग्रहणपूर्व] व्याप्यविशेषावायज्ञानं तथा अक्षविक- २५ ल्पानामिति। न चासिद्धो दृष्टान्तः; पूर्वं मनसा सामान्यव्यवसायः, तदनन्तरं तद्विशेषाकाङ्क्षणम्, अतश्च 'पुरुषः स्थाणुः' इति वा विशेषावायज्ञानम्, सौगतस्यापि प्रसिद्धमेतदिति। ननु यदि नाम [मनोविकल्पानां] वितर्कानुगतव्यापकसामान्यग्रहणपूर्वं व्याप्यविशेषावायज्ञानं किमायातं येन अक्षविकल्पानां तत् स्यात्? न हि एकस्य धर्मो नियमेन अन्यस्यापि, अन्यथा [३]अर्कस्य कटु-

(१) मानसाध्यक्षजनितम्। (२) "घाटामस्तकान्तरालवर्तिमांसपिण्डापरनाम गडुरिव गडुः निष्फलत्वात्।"–हेतु० टीकालो० पृ० २९५। प्र० वा० स्व० टी० पृ० २१७। (३) धत्तूरकस्य।

किमा गुडस्य स्यादिति चेत्; अत्राह–**तत्र** इत्यादि। **तत्र** दृष्टान्तेतररूपे तद्विकल्पानां सहनिर्देशः [१११क] **इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षः** योग्यदेशादिसन्निधिः **समयस्य** अवग्रहादिकालस्य **नियमेन** अव्यभिचारेण **अन्तर्वासनाप्रबोधम्** अन्तर्वासना मनोविकल्पवासना तस्याः प्रबोधम् उन्मीलनं **स्पष्टयति** विशदं करोति **इति** हेतोः **तेषां तत्समानम्** इति। एतदुक्तं भवति–मनो-
५ विकल्पा एव न तत्सन्निकर्षात् स्पष्टीभवन्ति ततः दृष्टान्तेतरभावो न विरुध्यते इति।

ननु मानसा विकल्पाः स्पष्टाकारविधुराः, तत् कुतः स्पष्टीभवन्ति इति चेत्? अत्राह–**यथार्हम्** इत्यादि। **यथार्हम्** यथायोग्यं सामग्रीभेदं प्राप्य स्पष्टयति इति। उपसंहरन्नाह–**ततः** तस्मात् **अर्थप्रतिभासा** (सः) **तेषां** विकल्पानां स्पष्टेतररूपतया **भिद्येत न पुनः ईहा निराक्रियेत अनुपलक्षणेऽपि** न केवलम् उपलक्षणे च। निदर्शनमाह–'**लिङ्ग**' इत्यादि। **लिङ्गलिङ्गिनोः**
१० **सम्बन्धः** अविनाभावः तस्य या **स्मृतिः** तद्रूपो यो **वितर्कः** तस्येव तदनुपलक्षणम्। एतदुक्तं भवति–यथा गृहीतव्याप्तिकस्य पुंसो धूमदर्शनानन्तरं धूमकेतुप्रतिपत्तौ अन्तराले विद्यमानस्यापि सम्बन्धवितर्कस्य अनुपलक्षणम्, तथा ईहायामपि इति। तथा च विपक्षेऽपि 'अनुपलक्ष्यमाणत्वात्' इत्यस्य साधनस्य सद्भावात् ईहा ततो न निराक्रियेत इति भावः इति [2]केचिदाचक्षते। तेषां धूमदर्शना[न]न्तरं पावकप्रतिपत्तौ अनुपलक्षितसम्बन्धस्मृतिसद्भावे [3]भ्रूणेऽपि [१११ख]
१५ [य]दकस्माद् धूमदर्शनाद् अग्निरत्र इति ज्ञानं तद्वै वै नैं बौद्धं प्रति *"**प्रमाणान्तरम्**" इत्युक्तं कथन्न विरुध्येत? यदा अनुपलक्ष्यमाणात् (णत्वात्) तत्स्मृतिं नेच्छति तदा तदुक्तं नान्यदेति चेत्; तदापि परप्रसिद्धस्य प्रकृतहेतुव्यभिचारविषयस्य अभावात् परस्य तत् प्रमाणान्तरं स्यात्, भवेत् (भवतः) पुनः ईहा हीयते इति समानाऽनिष्टापत्तिः। तस्मादन्यथा व्याख्यायते–**लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृतिः** परप्रसिद्ध्या ऊह एव उच्यते, तस्या **वितर्कः** विशेषाकाङ्क्षा तेन तुल्यं वर्त्तत
२० इति तद्वत्। एतदुक्तं भवति–यथा मीमांसकेन लिङ्गिलिङ्गिसामान्यसम्बन्धस्मृतिमिच्छता अनुपलक्ष्यमाणेऽपि तद्वितर्कना (तर्को न) सौगतेन निषिध्यते अपि तु इष्यते [एव] तथा प्रकृता ईहाऽपि इति। कुत इति चेत्? अत्राह–**तद्** इत्यादि। तस्याः तत्सम्बन्धस्मृतेः **अन्यथा** तद्वितर्काभावप्रकारेण **अनुपपत्तेः**। एतदपि कुतः? इत्यत्राह–**अतर्कित** इत्यादि। **न** विद्यते **तर्कितं** विशेषाकाङ्क्षणं यस्याः सा चासौ **स्मृतिश्च** तस्याः सकाशात् **व्याप्तिः** अनवयवेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धो
२५ **न सिध्येत्**। कुत इति चेत्? अत्राह–**अप्रतिपत्तेः**। अतर्कस्मृतेः व्याप्तेः अप्रतिग्रहणात्। नहि धूमस्य सामा(धूमसामा)न्यस्य अग्निसामान्येन व्याप्तिग्रहणे सा गृहीता नाम। लिङ्गलिङ्गिसामान्यस्यैव प्रतीतितो विशेषे अप्रवृत्तिप्रसङ्गादिति निरूपयिष्यते। एतत् '**वितर्कानुगत**' इत्यादावपि [११२क] निदर्शनं द्रष्टव्यम्।

ननु व्याप्याऽप्रतिपत्तौ न व्यापकप्रतिपत्तिरिति कथमुच्यते–'**वितर्कानुगत**' इत्यादि।
३० अथ व्याप्यप्रतिपत्तौ व्यापकप्रतिपत्तिः; तर्हि व्यापकसामान्यवत् व्याप्यविशेषस्यापि अवग्रहेणावग्रहणात् किम् ईहादिना? संशयाद्यभावः तस्मात् इति चेत्; अत्राह–**वर्ण** इत्यादि।

(१) अग्नि। (२) व्याख्याकाराः। (३) गर्भस्थेऽपि। (४) भट्टाकलङ्कदेवेन। (५) ईहादेः।

[वर्णसंस्थानादिसामान्यं दूरस्थस्यावगृह्यते ।
तद्विशेषेहयाऽवायो तदभावेऽपि जातुचित् ॥७॥

यथैव हि व्यक्तिव्यतिरेकसामान्यदर्शिनस्तदनुपलक्षणमयुक्तं तद्दर्शनबलाद् भिन्नेषु द्रव्यादिषु अभिन्नप्रत्यययोत्पत्तेः, तथैव स्वलक्षणदर्शिनस्तदनुपलक्षणं तद्दर्शनबलात्तदन्यव्यवच्छेदविकल्पोत्पत्तेः । तदनुभवेहितव्यपोहमात्मसात्कुर्वन् कथमनुपलक्षको नाम ? स्वलक्षणदर्शिनः स्वलक्षणोपलक्षणविकल्पमन्तरेणापि तदन्यापोहकल्पनायां जातिदर्शिनोऽपि तदुपलक्षणविकल्पमन्तरेणापि कुतश्चित् भिन्नेषु समवायिषु प्रत्ययः कथं विरुध्येत ? कारणशक्तेरचिन्त्यत्वात् इतरत्रापि एतदेवोत्तरं विशेषाभावात् ।] ५

वर्णश्च शुक्लादिः **संस्थानं** च ऊर्ध्वादिः **आदि**शब्देन कर्मादिपरिग्रहः, तेषां **सामान्यं** सदृशः परिणामः **दूरस्थस्य** भावस्य **अवगृह्यते** अवग्रहेण विषयीक्रियते । तथाहि–दूरस्थबलाकादिविशेषणशुक्लरूपाग्रहणेऽपि तद्रूपसामान्यग्रहणम् पुरुषादिविशेषण-ऊर्ध्वाग्रदर्शनं दूरे, तथा कर्मण्यपि योज्यम् । तत्र युक्तम्–'व्याप्याप्रतीतौ व्यापकाप्रतीतिः' इति । कथं तदवगृह्यते ? इत्याह–**तद्विशेषेहया** इति । तस्य सामान्यस्य विशेषाः तेषु ईहा आकाङ्क्षा तया सह । तर्हि तदीहातो नियमेन विशेषावायभावात् संशयाद्यभाव इति चेत्; अत्राह–**अवाय** इत्यादि । अवाय एव तस्या (तस्य) वा कारणभूता शक्तिः **तस्याः अभावेऽपि** न केवलं भावे **जातुचित्** कदाचित् न सर्वदा । १० १५

ननु दूरस्थस्य न तत्सामान्यमवगृह्यते किन्तु स्वलक्षणमेव, केवलम् (१)तद्धेतुफलव्यपोहसामान्यनिश्चयोत्पत्तेः तत्सामान्यमवगृह्यत इति व्यवहारी मन्यते इति परैः(२), तन्निराकरणद्वारेण कारिकार्थं समर्थयमान आह–[११२ख] **यथैव हि** इत्यादि । **यथैव हि** येनैव हि प्रकारेण **व्यक्तिभ्यो व्यतिरेको** भेदो यस्य तच्च **तत्सामान्यं च** तद्द्रष्टुं शीलस्य वैशेषिकादेः **तद्दर्शिनः** तस्य सामान्यस्य **अनुपलक्षणम्** अनिश्चयनम् **अयुक्तम्** अनुपपन्नम्, किन्तु उपलक्षणमेव युक्तम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तद्दर्शन** इत्यादि । तस्य सामान्यस्य दर्शनं तस्य **बलं** सामर्थ्यं तस्मात् **भिन्नेषु** देशादिभेदवत्सु । केषु ? इत्यत्राह–**द्रव्यादिषु** । द्रव्यमादिः येषां गुणादीनां ते तथोक्ताः तेषु, **अभिन्नः प्रत्यय**ग्रहणमुपलक्षणं तेन अभिधानोत्पत्तिः इत्यपि गृह्यते । एतदुक्तं भवति–विशेषाः (ष्याः) द्रव्यादयः विशेषणं सत्तादिसामान्यम्, न च (३)तदनुपलक्षितं तेषु विशिष्टप्रत्ययहेतुः इतरथा दण्डानुपलक्षणेऽपि कश्चिद् 'दण्डी' इति प्रत्ययः स्यात् । न चैवम्, *"**नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः**" इति वचनात् इति, **तथैव** तेनैव प्रकारेण **स्वलक्षणदर्शिनः** स्वलक्षणं पश्यति इत्येवंशीलस्य सौगतस्य **तदनुपलक्षणम्** स्वलक्षणानुपलक्षणम् '**अयुक्तम्**' इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तद्दर्शन** इत्यादि । **तस्य** स्वलक्षणस्य यत् **दर्शनं तद्बलात् तदन्यव्यवच्छेदविकल्पोत्पत्तेः** तस्य विवक्षितखण्डादिस्वलक्षणस्य अन्ये विजातीयाः कर्कादयः तेषां तेभ्यो वा २० २५ ३०

(१) अतत्कारणकार्यव्यावृत्तिरूपस्य सामान्यस्य निश्चयः संजायते । (२) बौद्धः । (३) सत्तासामान्यं विशेषणम् ।

व्यवच्छेदो व्यावृत्तिः तस्य विकल्पो निश्चयः तस्य उत्पत्तेः । ननु यदि नाम [1]तद्बलात् तद्विकल्पोत्पत्तिः [११३क] तथापि न स्वलक्षणोपलक्षणं नियमाभावादिति चेत् ; अत्राह–**तद्** इत्यादि । **तस्य** स्वलक्षणस्य **अनुभवो** दर्शनम् तेन **ईहित** आकाङ्क्षितो यो **व्यपोहो** विजातीयव्यावृत्तिः, अथवा व्यपोहविषयत्वाद् विकल्पो व्यपोहः, तम् **आत्मसात्कुर्वन्** सौगतः **कथम् अनु-**
५ **पलक्षको नाम** अनिश्चायको नाम किन्तु उपलक्षक एव । न खलु देवदत्तस्यानुपलक्षणे तस्य यज्ञदत्ताद् व्यपोहः सिद्धः शक्यः प्रत्येतुम् , तत्प्रतीतौ न तदुपलक्षणम् । अत्रायमभिप्रायः–यदाऽयं सौगतः अनुभूतस्वलक्षणस्य उपलक्षको भवति तदा दूरस्थस्य वर्णसंस्था[ना]दिसामान्यस्य विकल्पतोऽपि ग्रहणाभावात् तद्ग्रहणनिबन्धनः किमियं वलाका अहोस्वित् पताका, वलाकायां पताकैवेति (नाकैवेति), तथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा, पुरुषे स्थाणुरेव' इति संशयः विपर्ययो वा
१० न भवेत् । न चैवम् , ततो दूरस्थस्य [2]तत्सामान्यं प्रथममवगृह्यते इति ।

अधुना परपक्षान्तरमाशङ्क्य दूषयन्नाह–**स्वलक्षण** इत्यादि । **स्वलक्षणदर्शिनः** तथागतस्य **स्वलक्षणस्य उपलक्षणं** निश्चयनं येन यस्मिन् वा स तथोक्तः स चासौ **विकल्पः तमन्तरेणापि तस्य** विवक्षितस्वलक्षणस्य **अन्यो** विजातीयः तस्य **अपोहो** व्यावृत्तिः [3]तद्विषयो विकल्पः तथा[4] उच्यते तस्य **कल्पनायां** क्रियमाणायां **जातिदर्शिनोऽपि** [११३ख] वैशेषिकादेः
१५ **तदुपलक्षणविकल्पमन्तरेणापि** सामान्योपलक्षणनिश्चयमन्तरेणापि **कुतश्चित्** कस्याश्चिद् योग्यतायाः **समवायिषु** गोत्वादिसामान्यसम्बन्धवत्सु नान्येषु, कथम्भूतेषु ? **भिन्ने[षु] प्रत्ययः कथं विरुध्येत** । कथमनुपलक्षितं सामान्यं तत्प्रत्ययहेतुरिति चेत् ? अत्राह–**कारण** इत्यादि । तत्प्रत्ययस्य **कारणं** सामान्यं **तच्छक्तेः अचिन्त्यत्वात्** । ननु दृष्टे वस्तुनि चोद्ये **'कारणशक्तेरचिन्त्यत्वात्'** इत्येतदुत्तरं नान्यत्र अतिप्रसङ्गात् । तदुक्तम्–

२० *"यत्किञ्चिदात्माभिमतं दिवाय (विधाय)" [प्र० वार्तिकाल० पृ० ३५] इत्यादि[5] ।

न च सामान्यं क्वचिद् दृष्टमिति चेत् ; अत्राह–**इतरत्रापि** इति । न केवलं जातिवादिपक्षे अपि तु **इतरत्रापि** स्वलक्षणवादिपक्षेऽपि **'कारणशक्तेरचिन्त्यत्वात्'** इत्येतदेवोत्तरमिति मन्यते । अथ मतं स्वसामान्यलक्षणयोः दर्शनादर्शनकृतविशेषसद्भावात् कथमविशेषमिति चेत् ? अत्राह–**विशेषाऽभावात्** इति ? जातिवत् स्वलक्षणस्यापि दर्शनाऽभावात् , भवतो द्वयोरपि
२५ सत्त्वमसत्त्वं वा इति मन्यते । तन्न दर्शनजन्मना विकल्पेनैव सामान्यं गृह्यत इति युक्तम् ।

भवतु वा, तथापि स्वमतसिद्धिं दर्शयन्नाह– **असतः** इत्यादि ।

[असतः सद् व्यवच्छिन्द्यात् यथाऽनक्षविकल्पधीः ।
तथा स्पष्टाक्षधीः स्वार्थसन्निधेरनुमन्यताम् ॥८॥

दूरस्थस्य अर्थदर्शनं यदि असतः स्वविषयमपोहन्तीं किमप्यस्तीति विकल्पबुद्धिं
३० **जनयेत् तथा दूरस्थदृष्टिरपि पुनः अशेषवस्तुस्वभावानुपलम्भेऽपि सन्मात्रग्राहिणी संभा-**

(१) दर्शनबलात् । (२) वर्णसंस्थानादिसामान्यम् । (३) अपोहविषयः । (४) 'अपोह' इत्युच्यते । (५)"निरुत्तरः तत्र कृतः परेण । वस्तुस्वभावैरिह वाच्यमित्थं तथोत्तरे स्याद् विजयी समस्तः॥"–इति शेषः।

व्येत । न वै केवलमासन्नार्थदर्शी समविषमाकारदर्शनविशेषानेव नोपलक्षयति, [किं तर्हि] सत्तादिविकल्पविशेषानपि क्रमस्योपलक्षयितुमशक्तेः । *"पश्यन्नयमसाधारणमेव पश्यति" इति प्रतिज्ञाय कोशपानं विधेयम् । उपहतेन्द्रियैः चन्द्रादेर्दर्शनेऽपि तद्विशेषानुपलब्धेः । तत्र चन्द्राद्यदर्शनं कल्पयन् न केवलं रूपादिस्वलक्षणान्येव दृष्टे तत्प्रतिभासवैकल्यान्नोपलभ्यते अपि तु स्वयमन्तःस्वलक्षणं च यथाश्रुतमप्रतिभासानात् । स्वभावनैरात्म्य- ५ कल्पनामाविशन् आत्मानमहीकयति । साध्य [अप्रसिद्धेः] । ततो बहिरन्तश्च कृतम् ! तस्मादयं किञ्चित् केनचित् सदृशपरिणामविशिष्टं पश्येत् , तद्विशिष्टं प्रतीहमानो नावश्यं विशेषमवैति स्मरन्निव ।]

असन्त (असतः) इत्युपलक्षणम् । तेन सर्वस्माद् अनभिमताद् इति गृह्यते, **सद्** इति उपलक्षणम् सर्वस्याऽभिमतस्य । **सद्विया च (सद् व्यवच्छिन्द्यात्** व्य)वच्छिन्नं १० विषयीकुर्यात् । **यथा** येन योग्यताप्रकारेण [११४क] **अनक्षविकल्पधीः** मानसी विकल्पबुद्धिरिति । अनक्षविशेषणं स्वमतापेक्षया न सौगतापेक्षया, [1]तस्य हि सर्वा विकल्पधीः [2]अनक्षैव इति तद्विशेषणमनर्थकम् , **तथा** तेन प्रकारेण **स्पष्टाक्षधीः** प्रत्यक्षबुद्धिः **असतः सद् व्यवच्छिन्द्यात्** इति सम्बन्धः । कुतः ? इत्यत्राह–**स्वार्थसन्निधेः** । स्वग्रहणयोग्योऽर्थः स्वार्थः तस्य सन्निधेः योग्यदेशाद्यवस्थितेः । इति शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, इत्येवम् **अनुमन्यताम्** १५ अभ्युपगम्यताम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'दूर' इत्यादि । **दूरस्थस्य** पुरुषस्य **यदर्थदर्शनं** कर्तृ **यदि विकल्पबुद्धिं जनयेत्** । किं कुर्वाणाम् ? **अपोहन्तीम्** । किम् ? इत्याह–**स्वविषयम्** । कुतः ? **असतः** खरविषाणादेः केवलात् नान्यतो न सतो व्यपोहन्ती [म्] । केन प्रकारेण ? इत्यत्राह–**किमपि अस्ति इति** एवं **तथा** तेन प्रकारेण **दूरस्थदृष्टिरपि** न केवलम् अनक्षविकल्पधीः **संभाव्येत** । कथंभूता ? **सन्मात्रग्राहिणी** । **पुनः** इति वितर्के । कस्मिन् सति ? इत्यत्राह–**अशेषवस्तुस्वभावाऽनुपलम्भेऽपि** न केवलं तदुपलम्भे। अथ मतम्–अनर्थविषयत्वाद् अनक्षविकल्पधीः तथा युक्ता नेन्द्रियबुद्धिः [3]विपर्ययादिति चेत् ; न; तस्या अपि वस्तुविषयत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । वक्ष्यति च–*"**सम्यग्विचारिता वाक्यविकल्पास्तत्त्वगोचराः** ।" [सिद्धिवि० ५।४] इति । ततः स्थितम्–'**वर्णसंस्थानादिसामान्यम्**'[4] इत्यादि । २५

ननु दूरार्थदर्शने [११४ख] अवग्रहाद्यभावो मा भूत् तदुपलक्षणात्, आसन्नार्थदर्शने तत् स्याद् विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह–**नवै केवलम्** इत्यादि । वै शब्दः शिरःकंप्प(कम्पे), **न केवलमासन्नमर्थं पश्यति** इत्येवं शी [लः] **समश्च विषमश्च** तौ च तौ **आकारौ** च सदृशेतरपरिणामाकारौ तयोर्दर्शनम् ग्रहणं तस्य **विशेषा** अवग्रहादयः **तानेव नोपलक्षयति, किं तर्हि ? सत्तादिविकल्पविशेषानपि** सत्ता आदिर्येषां शब्दत्वादीनां तेषां विकल्पा व्यवसायाः ३०

(१) सौगतस्य । (२) न इन्द्रियजन्या, अपि तु मानसी निर्विकल्पजन्या वा । (३) अर्थसामर्थ्यसमुद्भूतत्वादर्थजन्यैव सा । (४) विकल्पबुद्धेरपि । (५) पृ० १३३ प० १ ।

त एव विशेषाः तानपि नोपलक्षयति । एतदुक्तं भवति–यथा कश्चित् सत्त्वादिविकल्पान् क्रमभाविन उपलभ्य पुनः आसन्नार्थदर्शी युगपद् व्यवसायेऽपि क्रमेणैव तत्प्रवृत्तिरिति व्यवस्थापयति युगपदनेकव्यापृतिविकल्पाऽसंभवात् तथा दूरे समविषमाकारदर्शनविशेषान् क्रमेण जायमानानुपलभ्य आसन्नेऽपि तथा तान् व्यवस्थापयति, दृष्टेन अदृष्टसिद्धेरनिवारणादिति ।
५ अथ मतम्–आसन्नार्थदर्शी यदि तद्दर्शनविशेषान् पश्यति किमिति तथैव नावधारयति इति ? तत्राह–क्रमस्य उपलक्षयितुमशक्तेः इति । आसन्नार्थदर्शिनो ये तद्दर्शनविशेषाः तेषाम् सत्तादिविकल्पवत् क्रमस्य उपलक्षयितुमशक्तेः इति ।

स्यान्मतम्– आसन्नार्थदर्शी क्षणिकनिरंशपरमाणुस्वलक्षणमेव पश्यति इति [११५क] तद्दर्शनविशेषान् असत्त्वान्नोपलक्षयति न सत एव तत्कथमुच्यते–'सम' इति ? अत्राह–पश्य-
१० त्ययम् इत्यादि । पश्यत्ययं सौगतो लोको वा असाधारणमेव नान्यत् पश्यति इत्येतत् प्रतिज्ञाय कोशपानं विधेयम् अन्यतः तत्प्रतिपत्तेरसंभवादिति भावः । ततः 'सम' इत्यादि सूक्तम् ।

सांप्रतं परैरभ्युपगतभ्रान्तेन्द्रियज्ञानबलेन सामान्यग्रहणं व्यवस्थापयन्नाह–उपहतेन्द्रियैः इत्यादि । उपहतानि कामलादिना दूषितानि इन्द्रियाणि येषां तैः चन्द्रादेः आदिशब्देन वर्तुलत्वादेर्दर्शनेऽपि न केवलम् अदर्शने, तथा तत्र उपहतेन्द्रियेषु आद्यं (चन्द्राद्यदर्शनं) चन्द्रादिदर्शनाभावं
१५ कल्पयन् सौगतादिः, कुतः कल्पयन् ? इत्यत्राह–तद् इत्यादि । तस्य चन्द्रदेर्विशेषः एकत्वादि[ः] तस्य अनुपलब्धिः (ब्धेः ।) तदनुपलब्धौ चन्द्राद्यदर्शनम् , एकस्य गृहीतेतररूपद्वयाऽयोगादिति मन्यते । किं करोति ? इत्यत्राह–न केवलम् इत्यादि । न केवलं रूपादिस्वलक्षणान्येव निरंशक्षणिकरूपादिपरमाणूनेव नोपलभते, कुत एतत् ? दृष्टे[ः] । रूपादिदर्शनस्य तत्प्रतिभासवैकल्यात् परप्रसिद्धस्वलक्षणप्रतिभासविरहात्, 'उपहतेन्द्रियैरिव अनुपहतैरपि बहिरर्थाऽदर्शनम्'
२० इति मन्यते । माभूत् तस्य दर्शनं तथापि विज्ञानवादिनो न किञ्चित् नश्यतीति (नश्यतीति) चेत्; अत्राह–अपि तु इत्यादि । अपि तु किन्तु स्वयम् आत्मना अन्तःस्वलक्षणं च ज्ञान- [११५ख] स्वलक्षणमपि नोपलभते इति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–यथा इत्यादि । यथाश्रुतं यथाभ्युपगम [म् अ]प्रतिभासनाद् 'अन्तः स्वलक्षणस्य' इति सम्बन्धः । तर्हि बहिरिव अन्यत्रापि विचारसाम्यात् शकलशून्यता अस्तु इति चेत्; अत्राह–स्वभाव इत्यादि । ज्ञानज्ञे-
२५ ययोः स्वभावस्य स्वरूपस्य नैरात्म्यं नीरूपत्वं तस्य कल्पनाम् आविशन् सौगतः आत्मानम् अह्रीकयति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–साध्य इत्यादि । ततो बहिरन्तश्च कृतम् ! अप्रतिभासेऽपि यथा सामान्यावभासनं तथा तद्विशेषानुपलम्भेऽपि चन्द्रादेर्दर्शनम् उपहतेन्द्रियैरिति कथन्न दृष्टिः सन्मात्रग्राहिणी संभाव्यत इति मन्यते । उपसंहारार्थमाह–'तस्मात्' इत्यादि । यत एवं तस्मात् अयं व्यवहारी किञ्चित् पुरुषादिकं केनचित् स्थाण्वादिना सह यः सदृशपरिणामः तेन विशिष्टं
३० पश्येत्, तद्विशिष्टं तत्परिणामभेदं तत्प्रति ईहमानोऽपि नाऽवश्यं विशेषमवैति न विशेषोऽ-

---

(१) क्रमेणैव । (२) क्रमेणैव । (३) समविषमाकारदर्शनविशेषान् । (४) मद्यपानादिना । (५) बौद्धाभिमत । (६) एकत्वादिविशेषानुपलब्धौ । (७) बहिरर्थस्य । (८) अन्तरपि ।

वायीभवति । निदर्शनमाह—स्मरन्नेव (रन्निव) इति । यथा कथञ्चित् स्मरन् केनचित् सदृश-
परिणामेन तद्विशेषं प्रतीहमानोऽपि नावश्यं तद्विशेषं स्मरति तथा प्रकृतमपि इति ।

यदि नावश्यं विशेषमवैति किं तर्हि तत् स्यात् ? इत्यत्राह—**समदृष्टेः** इत्यादि ।

[समदृष्टेर्विशेषेहा आरेका स्वार्थाविनिश्चये ।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि स्पष्टावभासिनी ॥९॥ ५

व्यापकं स्वभावं पश्यन् विशेषं प्रति पुनस्तदन्तरमीहमानो व्यवहारी नावश्यमवैति सामग्रीवैकल्यसंभवात् । तत्त्वेतरस्वभावा प्रतिपत्तिः संशीतिरनवस्थैव । अन्यथाप्रतिपत्तिः पुनर्विसंवादः । तत्त्वप्रतिपत्तिरवायः । सर्वञ्चेदमीहाविनाभावि । सामान्यप्रत्यक्षात् विशेषाप्रत्यक्षात् विशेषस्मृतेः सन्देहोपपत्तेः ।]

समदृष्टेः अवग्रहाद् विशेषाकाङ्क्षा **विशेषेहा,** तस्याः किम् ? इत्याह—**आरेके**ति । १०
'**विशेषेहा**' इत्येतज्जात 'का' विभक्ति [११६क] परिणाममिह संबध्यते । ततः तस्याः **आरेका**
संशीतिः । किं सर्वदा सा ततो भवति । 'न' इत्याह—**स्वार्थाविनिश्चये** । स्वशब्देन ईहा गृह्यते,
स्वस्य अर्थः तदाकाङ्क्षितो विशेषः तस्याऽविनिश्चये सति आरेका न विनिश्चये, कदाचित् ततः
तद्विनिश्चयोऽपि जायत इत्यभिप्रायः । न केवलं तत आरेकैव किन्तु विपर्ययोऽपि इति दर्शय-
न्नाह—**अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि** इति । भ्रान्तिरपि विपर्ययोऽपि न केवलम् आरेकाऽ- १५
वायावेव ततो जायेते इति । तत्स्वरूपं दर्शयितुमाह—**अतस्मिंस्तद्ग्रहः** [स्थाणौ] पुरुषाभिग्रहः
अबाह्ये बाह्यग्रहवत् । न च तद्ग्रहोऽसिद्धः; प्रतिभासनात् । यथैव च एकेन ज्ञानेन अन्योऽ-
न्यभिन्ननीलाद्याकाराणां व्याप्तिः तथा स्वतो भिन्नानां गृहीतिरिति निवेदितम् । निवेदयिष्यतैतद्-
विभ्रमे (च्यते चैतत्—*"अविभ्रमेऽ)सौगतं जगत्" [इत्यादिना] । सर्वविकल्पातीतत्वे स एव
दोषः कथञ्चिन् कुतश्चिदप्रतिपत्तेः । ततो बहिर्भ्रान्तिरभ्युपगन्तव्येति सर्वं सुस्थम् । कथम्भूता २०
सा ? इत्यत्राह—**स्पष्टावभासिनी** इति विशदा इति । अनेन *"सदृशदर्शनप्रभवा सर्वापि
भ्रान्तिः मानसी" इति [3]मतं निरस्तम्; तस्याः स्पष्टावभासित्वाऽयोगात् । प्रतीयते च तत्प्रभ-
वाऽपि मरीचिकादौ जलादिभ्रान्तिः तथावभासिनी ।

कारिकां विवृणोति—**व्यापक** इत्यादि । [**व्यापकस्वभावं**] नाऽव्यापकस्वभावं सादृश्यै-
कत्वपरिणामस्वभावं **पश्यन् विशेषं** तद्विदं **प्रति पुनः तदन्तरमीहमानो** व्यवहारी **नावश्यं** २५
[११६ख] नियमेन **अवैति** निश्चिनोति 'विशेषम्' इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—
सामग्री इत्यादि । विशेषे अवायस्य या सामग्री देशसन्निधानादिलक्षणा तस्या **विकल्प** (**वैक-
ल्य**) **संभवात्** । संशयादीनां स्वरूपं प्रदर्श्य ईहात उत्पत्तिं दर्शयन्नाह— **तत्व** (**त्वे**) इत्यादि ।
प्रतिपत्तिः संशीतिः । कथंभूता ? **तत्त्वेतरस्वभावा अनवस्थैव** । '**व्यापकस्वभावम्**' इति
वचनात् व्याप्योऽपि स्वभावः, आक्षिप्तस्तस्य तन्नान्तरीयकत्वात् । स चानेकः ततः सूच्यत ३०

(१) अवायात्मकनिश्चयविषयो भवति । (२) 'का' इति पञ्चमीविभक्तेः संज्ञा । (३) तुलना—
"मानसं तदपीत्येके तेषां ग्रन्थो विरुध्यते । नीलद्विचन्द्रादिधियां हेतुरक्षाण्यपीत्ययम् ॥"—प्र०वा० ३।२९५ ।
(४) सादृश्यप्रभवापि । (५) स्पष्टा । (६) व्याप्यस्य । (७) व्यापकं विना अभवनात् ।

(सून्यते) व्यापकस्वभावे दृश्यमाने तत्त्वस्वभावो विवक्षितव्याप्यस्वभावः इतरश्च [स्व]भावोऽविवक्षितव्याप्यस्वभावः तयोर्न विद्यते अवस्था अवस्थितिर्यस्या सा तथोक्ता उभयत्र दोलायमाना इत्यर्थः ।

'सामान्यविशेषात्मकतत्त्वप्रतीतिरपि संशीतिः' इत्येके;[1] तन्निरासार्थ एवकारः, तस्याः[2]
५ तत्त्वेतरस्वभावावस्थारूपत्वात् । **अन्यथा** अन्येन तत्त्वस्वभावे इतरस्वभावप्रकारेण, इतरस्वभावे तत्त्वस्वभावप्रकारेण **प्रतिपत्तिः पुनः विसंवादो** विपर्ययः । **तत्त्वप्रतिपत्तिः अवायः** विवक्षितव्याप्यस्वभावनिर्णयोऽवायः । **सर्वं निरवशेषं च इदं** संशीत्यादिकम् **ईहाऽविनाभावि** ।

ननु यदि नाम समदृष्टिः किमायातं येन अतो[3] विशेषेषु ईहातश्च आरेका स्यात् । नहि अन्यत्र दृष्टेः अन्यत्र सा युक्ता, अन्यथा घटदृष्टेः पटे भवेत् । किंच, सामान्यदृष्टौ विशेषो
१० [११७क] यद्युपलब्धिलक्षणप्राप्तिः (प्तः) सन्नोपलभ्यते तर्हि तदभाव एव न तत्र ईहा आरेका वा । अथ अन्यथा [अ] दृश्यानुपलब्धेरेव संशीतिः इति किं **'समदृष्टेः'** इत्यनेन ? न हि स्वर्गादौ तद्दृष्टेः संशीतिः इति चेत्; अत्राह—**सामान्य** इत्यादि । **'व्यापकस्वभावं पश्यन्'** इत्यनुवृत्तेः येषां विशेषाणाम् ईहा आरेका च तेषां व्यापकस्वभावं **सामान्यम्** इह गृह्यते तस्य **प्रत्यक्षा [द्]** दर्शनात् ।

१५ अनेन 'न ह्यन्यस्य दर्शने अन्यस्य सा युक्ता, अन्यथा घटदर्शने पटे सा भवेत्' इति; तन्निरस्तम् । न खलु यथा तत्सामान्यं विवक्षितविशेषस्वभावं तथा पटः (घटः) पटस्वभाव इति । **ईहमानस्य** तद्व्याप्यविशेषान् आदातुं चेष्टमानस्य । अनेन यदुक्तम्—*"**सामान्याऽदृष्टौ विशेषाणां दृश्यात्मनामदृष्टौ अभावः स्यात्** ।" इति; तन्निरस्तम्; तदा आचार्येण तद्दृश्यात्मतानभ्युपगमात्, अन्यथा '**ईहमानस्य**' इति न ब्रूयात् । को हि नाम दृश्यं पश्यन्नेव
२० आदातुमीहते ।

यत्पुनरुक्तम्—*[9]"**एवं सति अदृश्यानुपलब्धिरेव (ब्धेरेव) संशयात् किं सामान्यप्रत्यक्षात्**" इत्यनेन इति; तदप्येतेन निरस्तम्; तत्त्वेतरस्वभावव्यापकभवे (भाव) दर्शनादेव अनैकान्तिकहेतुदर्शनादि (द्, इतः) च तत्र नियमेन सन्देहो युक्तो न अदृश्यदर्शनादेव । अन्यथा अदृश्यपरचैतन्यादेः अनुपलम्भादभावासिद्धेर्मृतादिव्यवहारोच्छेदः स्यात् इति ।

२५ यच्चोक्तम्[10]—*"**सामान्यप्रत्यक्षमन्तरेणापि क्वचित् संशयः**" इति तदपि न [११७ख] सूक्तम्; तत्रापि शब्दादन्यतो वा सामान्याप्रतिपत्तौ [11]तदभावात् [12]समवाया (समया) दर्शिनः शास्त्रार्थसन्देहः अन्यथा[13] । 'सामान्यप्रत्यक्षात्' इत्येतस्य उपलक्षणार्थत्वात् । एवमर्थं च *"वित-

(१) बौद्धादयः । (२) सामान्यविशेषात्मकतत्त्वप्रतीतेः । (३) सामान्यदर्शनम् । (४) समदृष्टेः । (५) विशेषस्य अभाव एव । (६) उपलब्धिलक्षणप्राप्तो न भवति । (७) समदृष्टेः । (८) व्यापकभूतं सामान्यम् । (९) तुलना—"अन्यथा उपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भादभावो नानुपलब्धिमात्रात् । तथाप्यनुपलब्धेरेव संशयः व्यर्थमेतत् सामान्यप्रत्यक्षादिति ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १८ । (१०) तुलना—"दृश्यते कान्यकुब्जादिषु सामान्यप्रत्यक्षतामन्तरेणापि प्रथमतरमेव स्मरणात् संशयः ।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० १८ । (११) संशयाभावात् । (१२) सङ्केताग्राहिणो यथा शास्त्रार्थसन्देहो न भवति । अपि तु तस्य अप्रतिपत्तिरेव । (१३) स्यादिति सम्बन्धः ।

र्कानुगत" [सिद्धिवि० २।६] इत्याद्युक्तम् । आचार्यविप्रतिपत्त्यादेः समयोऽनेन चिन्तितः । **विशेषाऽप्रत्यक्षात्** तस्य सामान्यस्य ये **विशेषाः** तेषाम् [**अप्रत्यक्षात्**] अदर्शनात्, इदमप्युपलक्षणम् तदग्रहणस्य । **विशेषस्मृतेः** विशेषयोः स्मरणात् **सन्देहोपपत्तेः**[2] कारणात् '**सर्वं चेदम् ईहाविनाभावि**' इति सम्बन्धः । तदुपलक्षणम्, तेन विपरीतविशेषस्मृतेर्विपर्ययोपपत्तेः इत्यादि ग्राह्यम् ।　५

ननु यदीयं भ्रान्तिः तत्स्मरणपूर्विका, न तर्हि स्पष्टावभासिनी अनुमानवत्, अतोऽयुक्तमुक्तम्–'**भ्रान्तिरपि स्पष्टावभासिनी**' इति चेत ; न; जलादिभ्रान्त्या व्यभिचारात्[3] । नैयायिकस्य प्रत्यभिज्ञानेन[4]; कथमन्यथा तदध्यक्षमिति ।

ननु संशयादिः स्मृतिविशेषः, स च अविकल्पानुभवात् वस्तुस्वभावत इति किं तत्र ईहयेति ? एतदेवाह–**निर्विकल्प** इत्यादिना ।　१०

[निर्विकल्पदृष्टेरेव स्मृतौ वस्तुस्वभावतः ।
निराकारावबोधेन सजातीयस्मृतिर्न किम् ॥१०॥

तद्दृष्टावेव दृष्टेषु व्यवहारप्रवृत्तौ संविन्निबलात् सजातीयस्मृत्यभिलापादेरिति किं ग्राह्याकारकल्पनया ? केवलमवबोधमात्रं भावस्वभावतो प्रकृतस्मृतिहेतुः प्रतीयेत । कल्पयित्वापि विषयाकारं स विशेषो मृग्यः येन प्रतिविषयं भिद्येत अन्यथा अतिप्रसङ्गात् ।　१५
तेनैव संवेदनं प्रतिनियतार्थवेदनं स्यात् । यत उत्पन्नं ज्ञानं यज्जातीयस्मृतिहेतुतया व्यवहारयति तत्तस्य नेतरस्येति कुतोऽतिप्रसङ्गः, सदर्थाकारस्म स्वयमनुपलक्षितस्य स्मृतौ अभावानतिशायनात् । विप्लवे साकारदर्शनात् तदन्यत्र कल्पनायामतिप्रसङ्गात् । तावतैव सर्वव्यवहारप्रसिद्धेस्तथैवास्तु इति चेत्; स्वयमभिप्रेतभ्रान्तिमात्रासिद्धेः सर्वथाऽसम्बद्धप्रलापमात्रम्, अविद्यात एव विद्यासिद्धेरनिवारणात् अनिष्टानुषङ्गात् । भ्रान्तिमात्रात् परमा-　२०
र्थतोऽसिद्धस्वभावात् प्रतीतिविपर्यासेन भावान् इदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयितुकामः सौगतः एकान्तेन अविकल्प एवेत्यलमतिप्रसङ्गेन ।]**

निर्विकल्पदृष्टेः अविकल्पानुभवाद् **वस्तुस्वभावतः** भावस्वाभाव्यादेव नान्यतः इति **एव**कारार्थः । सजातीय**स्मृतौ** सामान्यविषयविकल्पबुद्धौ अङ्गीक्रियमाणायाम् दूषणमिदमिति दर्शयन्नाह–**निराकार** इत्यादि । **निराकारावबोधेन** अर्थसारूप्यरहितदर्शनेन　२५
हेतुत्य(तुना) **किन्न सजातीयस्मृतिः** सर्वोऽपि [११८क] सामान्यविकल्पो 'जायते' इत्यध्याहार्यम्, जायत एव । कुतः ? **वस्तुस्वभावतः** भावशक्तेरिति, येन कारणेन ग्राह्याकारोऽर्थाकारोऽत्रावबोधे कल्प्यते । ततो न युक्तमेतत्–

---

(१) विशेषाग्रहणस्य । (२) "नहि विशेषस्मृतिव्यतिरेकेणापरः संशयः, उभयांशावलम्बिस्मृतिरूपत्वादस्य ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १८ । (३) व्यभिचारः, तद्धि स्मरणपूर्वकमपि प्रत्यक्षं स्पष्टावभासि च । (४) प्रत्यभिज्ञानम् ।

*"स्मृतिश्चेदृग्विधं ज्ञानं तस्याश्चा[ऽनु]भवाद् भवः ।
स चार्थाकाररा[हि]तः सेदानीं तद्वती कथम् ॥" [प्र० वा० २।३७४] इति ।

यथैव हि निराकारादनुभवात् कथं सा तद्वती आकारवती[1]; तथा सामान्याकाररहितात्ततः तदाकारवती कथमिति समानम् । एवमर्थं च 'सजातीयस्मृतिः' इत्युक्तम् । 'वस्तुस्वभावतः' इत्यपि ५ नोत्तरम्; अन्यथा निराकारावबोधात् तत एव तद्वती[4] इति [illegible] ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–तद्दृष्टावेव इत्यादि । निर्विकल्पिका दृष्टिः तद्दृष्टिः तस्यां सत्यां पुनः ये दृष्टाः तेषु व्यवहारः[र]प्रवृत्तौ अङ्गीक्रियमाणायाम् । कुतः ? इत्यत्राह–संवित्ति इत्यादि । संवित्तेर्बलं सामर्थ्यम् तस्माद् या सजातीयस्मृतिः तस्या अभिलाप आदिशब्देन द्वेषपरिग्रहः तस्मात् इति किं दर्शनस्य ग्राह्याकारकल्पनया सारूप्यकल्पनया केवलं ग्राह्याकार- १० शून्यमवबोधमात्रं भावस्वभावतो वस्तुशक्तेः प्रकृतस्मृतिहेतुः सजातीयस्मरणकारणं प्रतीयेत । शेषमत्र चर्चितम् । तत्र साकारस्मृतेर्दर्शनं साकारं सिध्यति इति मन्यते ।

ननु मा भूत् साकारस्मृतेर्दर्शनस्य साकारतासिद्धिः, तस्या अन्यथा सिद्धिः, प्रतिकर्मव्यवस्थायाः तत्[7] स्यात् इति । तदुक्तम्–[११८ख]

*"अर्थेन घटयत्येनां[8] नहि मुक्त्वाऽर्थरूपताम् ।
१५ तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता[9] ॥" [प्र०वा०२।३०५] इति । चेत्;

अत्राह–कल्पयित्वापि इत्यादि । न केवलम् अकल्पयित्वा किन्तु कल्पयित्वापि विषयाकारं दर्शनस्य विषयसारूप्यं विशेषः अतिशयः मृग्यः सः अवबोधो येन विशेषेण प्रतिविषयं भिद्येत, अन्यथा अन्येन तद्विशेषान्वेषणाभावप्रकारेण अतिप्रसङ्गात् । तदाकारात् प्रतिकर्मव्यवस्थायाम् 'किञ्चिन्नीलज्ञानं सकलस्य नीलस्य, सदाकारं वा ज्ञानं सर्त[10]ः स्यात्' इति अतिप्रसङ्गः, २० तस्माद् विशेषो मृग्यः इति प्रतिकर्मव्यवस्थापि [11]अन्यथा सिद्धेति भावः । ननु भवतोऽपि अवबोधस्य निराकारस्य सर्वत्राविशेषादतिप्रसङ्गः समान इति चेत्; अत्राह–तेनैव इत्यादि । तेनैव योग्यताविशेषेणैव संवेदनं समीचीनं प्रतिनियतार्थवेदनं ग्रहणं स्यात् इति 'कुतोऽतिप्रसङ्गः' इति गत्वा सम्बन्धः । तेनैव च विशिष्टस्मृतिनिमित्तं स्यादिति कुतोऽतिप्रसङ्गः ।

(१) इति दूषणं दीयते । (२) दर्शनात् । (३) वस्तुस्वभावादेव । (४) आकारवती स्यात् । (५) तुलना–"तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः । स्मरणाद् व्यवहारश्चेदनुमानं तथा सति ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २४ । "येन वार्तिककार एवमाह–तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः । स्वव्यापारसंवकारणास्मरणादित्यादि"–न्यायबि० टी०टि०पृ० ३१ । "आह च–तद्दृष्टावेव·· स्मरणादभिलापेण व्यवहारः प्रवर्तते"–सन्मति० टी० पृ० ४९८ । "पुनश्चोक्तं दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनं स्मरणादित्यादि"–प्र० वा० स्व० टी० पृ० ६ । (६) साकारतायाः । (७) दर्शनं साकारं । (८) निर्विकल्पिकामर्थबुद्धिम् । (९) "साधनं मेयरूपता ।"–प्र० वा० । "तस्मादर्थाधिगतेः प्रमाणं [illegible] ।"–तत्त्वोप० पृ० ५३ । प्रकृतपाठः–न्यायकुमु० पृ० १६७ । प्रमेयक० पृ० १०७ । प्रश० कन्द० पृ० १२३ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २४० । सन्मति० टी० पृ० ३१२ । स्या० रत्ना० पृ० १३६ । प्रमेयरत्नमा० २।९ । स्या० म० पृ० १३७ । प्रमाणमी०पृ०३३ । सर्वद०पृ० ३६ । (१०) सर्वस्य सतः आकारमनुकुर्यादिति भावः । (११) योग्यतया ।

सांप्रतं नैयायिको भूत्वा सूरिः आत्मप्रस...पारेह...—यत इत्यादि । यतः यस्मात् स्थूलत्वादिधर्मोपेतादर्थाद् उत्पन्नं ज्ञानं तस्यार्थस्य तत् न इतरस्य अजनकस्यार्थस्य इति हेतोः कुतोऽतिप्रसङ्गः इतरथा अनग्नेः धूमः स्यात् । अतज्जन्यत्वम् अन्यत्रापि ।

स्यान्मतम्—'यत उत्पन्नं तस्य तत्' इत्युच्यमाने इन्द्रियादेः स्यादिति; तत्राह—[११९क] यज्जातीय इत्यादि । यत्समानः यज्जातीयः तस्य स्मृतिहेतुतया व्यवहारयति— ५ व्यवहारे प्रवृत्तं जनं करोति तस्य तत् नेतरस्य इति कुतोऽतिप्रसङ्गः ? न चेन्द्रियादिः सजातीयस्मृतिहेतुतया व्यवहारयति इति ।

ननु पदार्थान्तरं (यदार्थाकारं) ज्ञानं स्वयमनुभवात्मकं भवति तदा तेन अर्थो ज्ञातो भवति, तत्र च तत्स्मृतिहेतुर्नान्यथा, न चैतत् नैयायिकस्येति चेत्; अत्राह—तर्थे (सदर्थे)त्यादि । सति (सन्) प्रतिनियतो नीलादिः अर्थः तस्य आकार इव आकारो यस्य ज्ञानस्य तत् तथोक्तं तस्य १० अनुपलक्षितस्य अनिश्चितस्य स्वयम् आत्मना अभावेन शशशृङ्गादिनाऽनतिशायनात् । क्व ? स्मृतौ । तस्यां क्रियमाणायाम् अतिशयाभावात् यत उ[त्पन्नम् इ] त्यादि सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति—यदि निर्विकल्पकं दर्शनं तदतिशयरहितमपि स्मृतिकारणं नैयायिककल्पितं चित्त (तत्र) स्यात् इति; तर्हि विप्लवे अर्थाभावेऽपि तदाकारदर्शनात् ससाकारो (न स आकारो) ज्ञानस्य प्रतिभासमानस्य गत्यन्तराभावात् । तदुक्तम्— १५

*"अनर्थाकारशङ्का स्यादप्यर्थवति चेतसि ।" [प्र० वा० २।३७१] इति चेत्;

अत्राह—विप्लवे इत्यादि । विप्लवे विभ्रमदशायां यत् साकारदर्शनम् अविकल्पकं ज्ञानमेवमर्थं च दर्शनग्रहणम्, अन्यथा ज्ञानग्रहणं न्याय्यम् तस्मात् तेन हेतुना तद्वा आश्रित्य, 'तद्' इत्ययं निपातः 'तस्य' इत्यस्यार्थे द्रष्टव्यः । तस्य ग्राह्याकारस्य अन्यत्र जाग्रदशाज्ञाने कल्पनायां [११९ख] क्रियमाणायाम् अतिप्रसङ्गात् । यतः कुतश्चिदसिद्धात् निद- २० र्शनात्[2] यस्य कस्यचिदर्थस्य सिद्धिप्रसङ्गाविति 'नैवं (तेनैव) संवेदनम्' इत्यादिना सम्बन्धः । विप्लवेऽपि साकारदर्शनमसिद्धम् निराकारेण दर्शनेन तत्र कुतश्चिद् भ्रान्तेः घटादेरसत एव बहिरिव ग्रहणात् इत्यभिप्रायः । तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये—*"न चैतद् बहिरेव, किं तर्हि बहिर्बहिरिव प्रतिभासते । कुत एतत् ? भ्रान्ते[:], तदन्यत्र समानम्" इति ।

अत्राह परः[3]—तावतैव इत्यादि । तावतैव असतः प्रतिभासनमात्रेणैव सर्वस्य प्रमाणे- २५ तर...स्य व्यवहारस्य मिथ्याविकल्परचितस्य *"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र०वा० १।७] इत्यादि वचनात् प्रसिद्धेः कारणात् तथैवास्तु तेनैव निराकारेण ज्ञानेन असदेव घटादिकं गृह्यते इति प्रकारेणैव अस्तु 'सर्वम्' इत्यध्याहारः इति एवं चेत्; अत्राह आचार्यः—स्वयम् इत्यादि । स्वयम् आत्मना यदभिप्रेतम् अङ्गीकृतं भ्रान्तिमात्रं सौगतेन तस्य असिद्धेः तदप्रतिपत्तेः कारणात् । किम् ? इत्याह—सर्वथा इत्यादि । सर्वथा सर्वेण प्रकारेण असम्बन्ध(द्ध)स्य असम्बद्धं ३० वा प्रलापमात्रम् इति एवं निर्णीतमेतत् ...वे ।

(१) अर्थाकार । (२) दृष्टान्तात् । (३) बौद्धः ।

तदभिप्रेतसिद्धौ दूषणमाह–**ब्रह्म** इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा विभ्रमादेवं विभ्रमसिद्धिः तथा वा (चाऽ) **विद्यात एव** प्रत्यक्षादिलक्षणाया **विद्याया** ब्रह्मणो या **सिद्धिः** तस्या **अनिवारणाद्** [१२०क] **असंबद्धप्रलापमात्रम्** इति । ननु भवतु तत्सिद्धिः, तथापि घटादिवत् प्रतिभासमानस्य तस्य विभ्रमसिद्धेः सिद्धं नः समीहितमिति चेत्; अत्राह–**अनिष्टानुषङ्गात्** ।
५ सौगतस्य इष्टम्–अनेकं क्षणिकं सर्वथा भ्रान्तं ज्ञानम्, अनिष्टम्–एकमक्षणिकं व्यापकमभ्रान्तं ब्रह्मतत्त्वम्, अस्य अनुषङ्गात् 'तन्मात्रम्' इति सम्बन्धः । यथा खलु भ्रान्तिः भ्रान्तेः प्रतीयमानापि न भ्रान्तिः तथा ब्रह्मतत्त्वमपि इति मन्यते ।

तर्हि भ्रान्तिरपि न कुतश्चिन प्रतीयते इति चेत्; अत्राह–**भ्रान्तिमात्रात्** इत्यादि । भ्रान्तिरेव तस्मात् । कथंभूतात् ? **परमार्थतः** तत्त्वतोऽ**सिद्धस्वभावात्** अनिश्चितरूपात् **प्रतीति-**
१० **विपर्यासेन** स्वप्नादिदशा[विप]र्यासेन 'स्वप्नादिदशायां भ्रान्तं ज्ञानं न जाग्रद्दशायाम्' इति येयं प्रतीतिः लौकिकी प्रसिद्धिः तस्याः स्वप्नादिवद् अन्यदा विभ्रान्तं ज्ञानम् अन्यदेव वा स्वप्नादावपि अभ्रान्तम इति यो विपर्ययः तेन **भावान्** नवेतररूपानर्थानेवतया (चेतनेतररूपानर्थानेव **इदन्तया**) स्वाभिमतस्वभावतया **नेदन्तया** न पराभिमतस्वभावतया **वा** शब्दः पूर्वसमुच्चयार्थः **व्यवस्थापयितुकामः सौगतः एका[न्ते]न** अवश्यंभावेन **अविकल्प एव** परामर्शशून्य
१५ ए[व] । यदि वा ईषदसिद्धोन्मेषोऽयम् इत्येवम् **अलं** पर्याप्तम् **अतिप्रसङ्गेन** । ततो **'निराकारावबोधेन'** इत्यादि स्थितम् ।

निर्विकल्पदर्शनात् सजातीयस्मृतौ न [१२०ख] केवलमनुभवस्य ग्राह्याकारवैकल्यम् अपि तु तस्यापि इति दर्शयन्नाह–**सर्वतः** इत्यादि ।

[सर्वतः सर्वेण सर्वं विलक्षणमलक्षयन् ।
२० **बोधात्मा चेत्स्मृतेर्हेतुः सन्निकर्षस्तथा न किम् ॥११॥**

वस्तुस्वभावत एव समनन्तरप्रत्ययोऽवग्रहादिमतिः स्वयम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षविशिष्टः स्मृत्यादिव्यवहारहेतुः, सामग्रीविशेषात् वासनाप्रबोधवैशद्यसंभवात् स्वप्नादिवत् । तदयं स्पष्टावितथस्वग्राह्यविशेषान्वयप्रतिभासवासनाप्रबोधश्च साक्षात् दर्शननिमित्तो भवन् अनेकान्ततत्त्वं प्रतिष्ठापयति ।]

२५ **सर्वतः** सजातीयाद् विजातीयाच्च **सर्वेण** नीलादिप्रकारेण इव सदादिप्रकारेणापि **सर्वं** स्वविषयाभिमतमशेषं **विलक्षणं** व्यावृत्तरूपम् **अलक्षयन्** अनिश्चिन्वन् । कोऽसौ ? **बोधात्मा** निर्विकल्पो बोधः **स्मृतेः** स्मरणस्य **हेतुः चेद्** यदि **सन्निकर्षः** इन्द्रियार्थसंप्रयोगः **तथा** तेन वस्तुस्वभावप्रकारेण **न किं** स्मृतिहेतुः ? स्यादेव । तथा च अनुभववैकल्यं (फल्यं) तथा तद्लक्षयः (क्षयतो) नास्य [3]ततः चेतनत्वकृतो विशेष इति मन्यते ।

३० कारिकायाः सुगमत्वाद् व्याख्यानमकृत्वा प्रकृतमर्थमुपसंहरन्नाह–**वस्तुस्वभावत एव** न सारूप्यादेः इति एवकारार्थः, **समनन्तरप्रत्ययः**–समः ज्ञानत्वेन अनन्तरः उपादानत्वेन

---

(१) ब्रह्मसिद्धिः । (२) विभ्रमवादिनाम् । (३) सन्निकर्षात् ।

प्रत्ययः **अवग्रहादिमतिः** बोधः, कथम्भूतः ? इत्यत्राह–**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना न सांख्यस्य इव पारम्पर्येण **इन्द्रियार्थसन्निकर्षविशिष्टः** स्वव्यापारे नोत्पत्तौ इति चिन्तितम् । ततः तद्विशिष्टो (ष्टा) मानसाध्यक्षप्रत्ययपरित्यागः **स्मृत्यादिव्यवहारहेतुः** स्मृतिः आदिर्यस्य प्रत्यभिज्ञानादेः स एव तेन वा व्यवहारस्य हेतुः ।

स्यान्मतम्–अवग्रहादिप्रत्ययः सामान्यविशेषात्मवस्तुविषयत्वेन सविकल्पक इति वैशद्य- ५ विरहात् कथं तद्विशिष्टे इति ? तत्राह–**सामग्री** इत्यादि । सामग्र्या [१२१क] इन्द्रियार्थसन्निकर्षादिलक्षणायाः **विशेषात्** हेतोः **वासनाप्रबोधवैशद्यसंभवात्** तद्विशिष्ट इति सम्बन्धः । अत्र दृष्टान्तमाह–**स्वप्नादिवत्** इति । आदिशब्देन कामशोकादिविप्लवपरिग्रहः । स्यादेतत्–'वासनानिमित्तत्वेन प्रत्ययस्य स्वप्नादिवद् भ्रान्तता स्यात्' इति; तत्राह–**तदयम्** इत्यादि । **तत्** तस्मात् इन्द्रियार्थसन्निकर्षादिसामग्रीविशेषाद् **अयम्** अवग्रहादिप्रत्ययाभिधानः **अवितथो**ऽभ्रान्तः **स्पष्टो** १० विशदः **स्वस्य ग्राह्यो (ह्यौ) विशेषान्वयौ** भेदाभेदौ तयोः **प्रतिभासः** यस्मिन् स चासौ **वासनाप्रबोधश्च** पुनः अस्य **अवितथ** इत्यादिना यसः । एतदुक्तं भवति– यद्यपि अर्थप्रत्ययो वासनातो जायते तथापि न भ्रान्तः सामग्रीविशेषादुत्पत्तेः स्वप्नादौ असंभविन इति । ननु पूर्वदर्शनाहितवासनाप्रबोधः परदर्शनात् नेन्द्रियार्थसन्निकर्षादिति चेत्; अत्राह–**साक्षात्** इत्यादि । **साक्षाद्** अव्यवधानेन **दर्शननिमित्तो भवतु (न्)** तत्प्रबोधः **अनेकान्ततत्त्वं प्रतिष्ठापयति** १५ अनेकान्तदर्शनाद् अपरस्य दर्शनस्य तन्निमित्तस्य अभावादिति भावः ।

एतदेव दर्शयन्नाह–**न पश्यामः** इत्यादि ।

[न पश्यामः क्वचित् किञ्चित् सामान्यं वा स्वलक्षणम् ।
जात्यन्तरं तु पश्यामः ततोऽनेकान्तहेतवः ॥१२॥

यथोक्तं स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा न क्वचित् कदाचित् पश्यामः प्रत्यक्षे वर्णसंस्था- २० दिविचित्रमन्वयिनमुपलक्षयामः । स्वपरप्रतिबोधं प्रत्यक्षं कथञ्चिदप्रमाणयन् प्रमाणान्तरं कथमवतिष्ठेत ? स्वतः सिद्धस्य कस्यचिदन्यथानुपपत्तिवितर्कात् परोक्षार्थप्रतिपत्तिरनुमानं न पुनरनुपपन्नम् । प्रत्यक्षस्य आत्मनि परत्र वा कथञ्चित् परमार्थसिद्धौ कथं तन्मिथ्यैकान्तं अन्यानपेक्ष्यं साधयेत् यतोऽयं यथादर्शनमेव मानमेयफलस्थितिः क्रियते न पुनर्यथातत्त्वमिति ब्रूयात् । यथेहितं प्रमाणातीतं परमात्मतत्त्वमन्यथा वा कथयतः परस्यापि न २५ वक्त्रं वक्रीभवति यतः स्वलक्षणान्येव यथालक्षणं सिध्येयुः ।]

न पश्यामः क्वचिद् बहिरन्तर्वा **किञ्चित्** परमपरं वा व्यक्तिभ्यो भिन्नं तद्रहितं वा **सामान्यं वा**शब्दो भिन्नप्रक्रमः **'स्वलक्षणम्'** इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः । ततः स्वलक्षणं [१२१ख] वा न पश्यामः । **किञ्चित्** कल्पितं परमार्थरूपं वा । इवार्थो वा, सामान्यमिव स्वलक्षणं न पश्यामः । यथान्यासं भिन्नप्रक्रमो वा । किं तर्हि पश्यथ ? इत्यत्राह– **जात्य**- ३०

(१) इन्द्रियार्थसन्निकर्षरहित । (२) इन्द्रियार्थसन्निकर्षविशिष्टः । (३) कर्मधारयसमासः । (४) भवति । (५) दर्शनं निमित्तं यस्य । (६) वासनाप्रबोधकारणभूतस्य ।

न्तरं तु अनेकान्तं पुनः पश्यामः। अनेन तदेकान्ताभावसाधने विरुद्धोपलब्धिं दर्शयति । न केवलमध्यक्ष(ध्यक्ष)मेव नैकान्त(अनेकान्तं पश्यतीति)जातं परितोषम् , अपि तु सर्वलिङ्गमपि इति दर्शयन्नाह–तत इत्यादि । ततः तस्मात्त्यायद् [तस्मान्न्यायाद्] अनेकान्तस्य हेतवः 'सर्वेऽपि सम्बन्धिनः' इति वाक्यशेषः ।

५ कारिकार्थं प्रकटयन्नाह–'यथोक्तम्' इत्यादि । यथा येन प्रकारेण सौगतेन स्वलक्षणं नैयायिकादिना सामान्यलक्षणं च उक्तं कदाचिद् व्यवहारदशायां परमार्थदशायां वा क्वचित् न पश्यामः ? कुत एतत् ? इत्यत्राह–प्रत्यक्ष इत्यादि । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–वर्ण इत्यादि । वर्णो नीलादिः संस्थानं वर्तुलत्वादि आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते तेन [एकत्र] रसादेः अन्यत्र नव-पुराणादिभेदस्य परिग्रहः तेन विचित्रं शबलम् । कथंभूतम् ? अन्वयिनम् उपलक्षयामो

१० यत इति। वनादिवत्[1]प्रत्ययवत् भ्रान्तं तदुपलक्षणमिति चेत्; अत्राह–स्वपर इत्यादि। स्वपरयोः प्रतिबोधः ग्रहणं येन यस्मिन् वा तत्तथोक्तम्। किं तद् ? इत्याह प्रत्यक्षम्। कथञ्चित् केनापि प्रत्यक्षप्रकारेण अनुमानप्रकारेण वा अप्रमाणयन् अप्रमाणं कुर्वन् कथयन् वा [१२२क] प्रमाणान्तरम् अस्मात् प्रत्यक्षप्रमाणात् अन्यद् अविकल्पदर्शनम् अनुमानं च तदन्तरं कथं नैव अवतिष्ठेत प्रतिष्ठापयेत सौगतः । *"श्रदः प्रतिष्ठायाम्" इति दविधिः । ननु उक्तन्यायात्

१५ यद्यपि दर्शनं नावतिष्ठेत अनुमानं सविकल्पकमातिष्ठेत इति चेत; अत्राह–स्वत इत्यादि । स्वतो न साधानान्तरात् कस्यचित् कार्यस्य इतरस्य वा लिङ्गस्य सिद्धस्य निश्चितस्य यः अन्यथानुपपत्तिवितर्कः तस्मात् परोक्षार्थप्रतिपत्तिः अनुमानं त (न) पुनः अनुमानमनुपपन्नम् प्रत्यक्षस्य आत्मनि स्वस्वरूपे परत्र वा धर्मादौ कथञ्चित् सदादिरूपेण न क्षणभङ्गप्रकारेण परमार्थमि(सिद्धौ) क्रियमाणायाम् अन्यानपेक्ष्याम(क्ष्यम् अपेक्षाम)न्तरेण,

२० चर्चितमेतत्– * "सिद्धं यन्न परापेक्ष्यम्" [सिद्धिवि० १।२३] इत्यादिना । कथं नैव तन्मिथ्यैकान्तं प्रत्यक्षविभ्रमैकान्तं साधयेत् ? नहि स्वयमनुपपन्नम् अन्यद् व्यवस्थापयति अतिप्रसङ्गात् यतः तत्साधनादयं सौगतः–

*"यथादर्शनमेव (मेवेयं) मानमेयफलस्थितिः ।
क्रियते[2] [प्र० वा० २।३५७]

२५ न पुनर्यथातत्त्वमा (त्वं) क्रियते इति एवं ब्रूयात् इति । ननु[3] व्यवहारिणापि (णोऽपि) न [4]भावतो [illegible] । यदि पुनः अविचारितरमणीयं तेन व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं तदाश्रीयते तर्हि मयापि तथैवेति न दोष इति चेत्; अत्राह–यथेहितम् इत्यादि । ईहितस्य स्वेच्छाविषयीकृतस्य अनतिक्रमेण यथेहितम् प्रमाणातीतम् अप्रमाण[illegible] परमात्मतत्त्वं ब्रह्मतत्त्वम् अन्यथा वा [१२२ ख]प्रधानादे[illegible] वा कथयतो वचनमात्रेण प्रतिपाद[illegible] परस्यापि

(१) 'वत्' इति निरर्थकं भाति, वनादिप्रत्ययो यथा भ्रान्तः केवलं स[illegible] वृक्षादिव्यतिरेकेण वनस्य स्वलक्षणस्याभावात् । (२) "अविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम्" इति शेषः । (३) ननु इति वितर्के । (४) परमार्थतः। (५) अनुमानं स्वीक्रियते ।

पुरुषाद्यद्वैतवादिनोऽपि । न केवलं सौगतस्य **न वक्त्रं वक्रीभवति** । एतदुक्तं भवति–यथा-[ऽ]प्रमाणकं विभ्रममात्रं परप्रसिद्धादप्रमाणात् अनुमानात् सौगतस्य सिध्यति परमार्थतः तथा परस्यापि व्यवहारिप्रसिद्धवचनादेः पुरुषाद्यद्वैतादि सिध्यति । न खलु व्यवहारी वचनेनापि विना जीवितुं क्षणमते (क्षमते) इति निवेदयिष्यते । **यतो** वक्त्रस्य वक्रीभावात् **स्वलक्षणान्येव** नान्यत् **यथालक्षणं सिध्येयुः** । **'यतः'** इति वा आक्षेपे नैव सिध्येयुरिति । ५

एतेन 'भ्रान्तेतरविवेकैकान्तं कथं साधयेत्' इति प्रत्येयम् । 'प्रतिभासात्' इति चेत्; अत्राह–**यथेहितम्** इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः–यथा विभ्रमेतराकारशून्यं स्वसंवेदनमात्रं प्रतिभासात् सिध्यति तथा प्रमाणातीतमन्यथा वा सप्रमाणं वा पुरुषादितत्त्वं सिध्यति । शेषं पूर्ववत् । तदनन्तरोक्तं स्वपरप्रतिबोधं प्रत्यक्षं प्रमाणयितव्यम् ।

तन्नरित्रैक (तन्त्रित्रैक) ज्ञानप्रसादाद् अवग्रहाद्यात्मकमेकं प्रसाध्य अधुना अन्यथा साधयन्नाह–**फलानुमेय** इत्यादि । १०

[फलानुमेयशक्त्यात्म भेदेहात्मना च किम् ।
स्वार्थसंवित्प्रत्यक्षं नैकं सह क्रमेण वा ॥१३॥

स्वार्थलक्षणप्रत्यक्षं स्वलक्षणं स्वफलानुमेयसामर्थ्यात्मकं यद्येकं स्यात् सन्निहितार्थसामान्यविशेषावग्रहेहार्थात्मकमेकं कथन्न भवेत् ? यतो विशेषदर्शनादेव तद्विपरीत- १५ **तत्त्वारोपव्यवच्छेदस्मृतिः कल्प्येत । परस्परविरोधस्वभावैकत्वसिद्धौ सहक्रमाभ्यां विचित्रविवर्तपरमार्थैकस्वभावभावप्रतिपत्तेरप्रतिषेधात् । तदेतद्···कथञ्चित्तादात्म्यादवग्रहादीनाम् । शक्तिशक्तिमतोर्भेदे सम्बन्धासिद्धेः, अभेदैकान्ते व्यक्तिव्यक्तया व्यक्तिः परोक्षैव शक्तिवत् प्रसज्येत । संवृतेरपराधोऽयम् यदिमां संवृणोति पारिमण्डल्यादिवदिति शक्तेः संवृतिरियं शक्तिमसंवृण्वन्ती तदनेकान्तत्वं प्रसाधयति । तदयं समारोपः प्रत्यक्षे क्षणिक-** २० **पारिमण्डल्यादौ भवन् एकान्तकल्पनामस्तं गमयति । प्रत्यक्षस्य नीलादिसमारोपविवेकस्यैव व्यवसायात्मकत्वात् । दृष्टे···स्वलक्षण···]**

स्वशब्देन एकान्तवादी गृह्यते तस्यार्थेर्थाया (तस्मै **अर्था** याः) **स्वसंविदः** तासां सम्बन्धि यत **प्रत्यक्षं** प्रत्यक्षपरिच्छेद्यम् । [कथं] भूतम् ? इत्याह–**फल** इत्यादि । **फलेन अनुमेया** [१२३क१] **शक्तिः आत्मा** स्वभावो यस्य तत्तथोक्तं **सह वा** युगपदिव २५ **तत्प्रत्यक्षं क्रमेणैकं किं** न स्यादेव । केन ? इत्यत्राह–**भेदेहात्मना । भेदस्य** विशेषस्य **ईहा** तद्ग्राह्योऽर्थपर्यायः तथोच्यते ज्ञानपर्यायविशेषश्च, सैव **आत्मा** स्वभावः तेन, **च** शब्दाद् अवग्रहावायाद्यात्मना किन्न स्यात् इत्यर्थः प्रतिपाद्यः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**स्वार्थ** इत्यादि । **स्व**शब्दः पूर्ववद् व्याख्येयः । तस्य **अर्थैरेव** (एव) **लक्षणम्** अर्थस्वरूपं यत् **प्रत्यक्षं स्वलक्षणं** स्वस्वरूपं यत् **प्रत्यक्षं** प्रत्यक्षप्रमाणप्रमितं तत् ३० **स्वफलानुमेयसामर्थ्यात्मकं** स्वम् आत्मीयं यत् फलं तेन अनुमेयं यत् सामर्थ्यम् तदात्मकम् ।

(१) ब्रह्मवादिनः सांख्यस्य वा । (२) 'ईहा' इत्युच्यते ।

आत्मशब्देन सामर्थ्यस्य तद्वतो भेदैकान्तं निरस्यति, तत्र तदयोगात्। न खलु ततो भिन्नं सामर्थ्यं युक्तम्, भावस्य तन्निष्ठत्वाद् अन्यथा सर्वं सर्वस्य तत् स्यात्, समवायस्य निषेधात् सर्वत्राऽविशेषात्। अथ तद्विशेषेऽपि किञ्चित (क्वचित्) कस्यचित् सामर्थ्यम्। कुत एतत्? चित्रत्वाद् भावशक्तीनामिति चेत; किं पुनः तद्वतः तस्य च अन्याः पृथग्भूताः शक्तयः सन्ति येनै-
५ वम्? [तथा चेत] स एव दोषः अनवस्था वा। अपृथग्भूताश्चेत्; तथा आद्यं सामर्थ्यम् इति साधूक्तम्–तदात्मकमिति।

ननु 'फलानुमेयसामर्थ्यात्मकम्' इत्येवास्तु किं स्वशब्देन लोकवत्तरेणापि (वत्तदन्तरेणापि) तदर्थगतेः। न खलु लोको धूमादग्निं प्रतिपद्यमानमेवं वदति 'पावकोऽत्र स्वधूमात्' इति चेत्; उच्यते–[१२३ख १] अन्यमतनिषेधार्थत्वाददोषः। 'अनेकशक्त्यात्मकस्य भावस्य
१० अनेकं फलं तस्माद् एकशक्त्यात्मकमेवानुमानम्' इत्यन्येषां दर्शनम्; तन्निषेधार्थं स्ववचनमिति। **यदि एकं स्यात्** भवेत। अत्रोत्तरम्–**सन्निहित** इत्यादि। **सन्निहितोऽर्थो** घटादिः तस्य **सामान्यविशेषौ** तावेवावग्रहेहयोर्थातयोर्थ (तावेव **अवग्रहेहयोरर्थौ**) **तदात्मकमेकं कथन्न भवेत्?** स्यादेव। उपलक्षणमेतत्, अवायाद्यात्मकमपि भवेत्। **यतः** तदभवनात् **विशेषदर्शनादेव** दर्शनम् आश्रित्यैव **कल्प्येत**। किम्? इत्याह–**तद्** इत्यादि। तेषु विशेषेषु
१५ **विपरीतस्यैव [त]त्त्वस्य आरोपः तस्य व्यवच्छेदस्मृतिः** क्षणिकत्वानुमा नैव कल्प्येत, **यत** इत्यस्य आक्षेपार्थत्वात्, तद्विपरीतज्ञानस्य समारोपत्वासिद्धेरिति भावः। कुत एतत्? इत्यत्राह–**परस्पर** इत्यादि। **परस्परम्** अन्योन्यं **विरोधो** ययोः प्रत्यक्षानुमेययोः **स्वभावयोः एकत्वस्य** तादात्म्यस्य **सिद्धौ सहक्रमाभ्यां विचित्रविवर्तपरमार्थैकस्वभावभावप्रतिपत्तेरप्रतिषेधात्।** ततो [illegible]–

२० *"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन" [प्र० वा० ३।४३] इत्यादि।

उपसंहारार्थमाह–**तदेतद्** इत्यादि। सुगमम्। कुत एतत्? इत्यत्राह– **कथञ्चित्तादात्म्याद्** एकत्वाद् **अवग्रहादीनाम्।** ननु शक्ति-शक्तिमतोर्भेदैकान्तनिषेधे अभेद एव इति न पक्षान्तरसंभव इति न युक्तं **'फलानुमेय'** इत्यादि इति चेत्; अत्राह–**शक्तिशक्तिमतोः भेदे** नैयायिकोपगते या [१२३क २] **सम्बन्धासिद्धिः** तस्याः सकाशात् यः सौगतेन तयोः
२५ **अभेदैकान्तो**ऽभ्युपगतः **तस्मिन्** सति **व्यक्तिः** (क्तेः) चेतनस्य इतरस्य वा **व्यक्त्या** बुद्ध्या विषयीक्रियमाणे **स्वभावे व्यक्तिः परोक्षैव अदृश्यैव शक्तिवत् प्रसज्येत**। तथा च सर्वभावव्यवहारविलोप इति मन्यते। तथा प्रत्यक्षैव शक्तिः व्यक्तिवत् प्रसज्येत। ततः *"हेतुना यः"[13]

(१) सामर्थ्यवतो द्रव्यात्। (२) भेदैकान्ते सामर्थ्य-सामर्थ्यवद्भावाऽयोगात्। (३) सामर्थ्यस्वरूपत्वात्। (४) भेदेऽपि 'तस्येति' स्वीकारे। (५) नित्यत्वात् व्यापकत्वादेकत्वाच्च सर्वं प्रति समानः समवाय इति भावः। (६) भेदाविशेषेऽपि। (७) इष्यताम्। (८) स्वशब्दं विनापि। (९) भवस्य शिवस्यानुमानम्। (१०) नैयायिकानां दर्शनम्। (११) "संयोज्येत गुणान्तरम्। शुक्तौ वा रजताकारो रूपसाधर्म्यदर्शनात्॥" इति शेषः। (१२) भेदाभेदवाद। (१३) "कार्योत्पादोऽनुमीयते। अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः॥" इति शेषः।

समग्रेण" [प्र०वा० ३।६] इत्यादि । *"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः" [प्र० वार्तिकाल० १।१] इत्यादि च प्लवते ।

अत्र परमतमाशङ्कते–शक्तेः प्रत्यक्षत्वेऽपि संवृतेः विपरीतकल्पनायाम् (याः) अयमपराधो दोषः यद् यस्माद् इमां शक्तिं संवृणोति पारिमण्डल्यादिवत् । अत्र आदिशब्देन क्षणिकत्वादिपरिग्रहः इति एवं चेत् ; अत्राह–शक्तेः इत्यादि । शक्तिः (क्तेः) संवृतिः संवरणम् इयं ५ परेण उच्यमाना । किं करोति ? इत्याह–तस्य अनन्तरस्य अनेकान्तत्वं प्रसाधयति । किं कुर्वती ? इत्याह–शक्तिमसंवृण्वन्ती । तदेवं निश्चितेतरत्वेन गृहीतेतरं रूपं स्यात् इत्यर्थः । दृष्टान्तं दूषयन्नाह–पारिमण्डल्ये [त्या] दि । परोपहसनपरमेतत् । उपसंहारार्थमाह–तद् इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् अयं समारोपः विपरीतारोपः प्रत्यक्षे दर्शनगोचरे क्षणिकपारिमण्डल्यादौ भवन् नीलाभावन्ते (भवन् न नीलादावित्ये)कान्तकल्पनाम् अस्तंगमयति, अनेकान्तसिद्धेरिति मन्यते। १०

ननु स्यादयं दोषो यदि समारोपविवेकव[त्] निश्चितं गृहीतमन्पश्यन्नलैवम् (गृहीतं पश्येत् न चैवम्) अन्यथाप्यदोषात् इति चेत् ; अत्राह–प्रत्यक्षस्य इत्यादि । [१२३ख२] प्रत्यक्षस्य नीलादौ न क्षणिकत्वादौ समारोपस्य अनीलाद्यारोपस्य विवेको यस्मिन् येन वा तस्यैव नान्यस्य व्यवसायात्मकत्वाद् व्यवसितस्यैव प्रत्यक्षत्वात् इत्यहिप्रपात्ताम् (इत्यतिप्रसङ्गात् ताम्) 'अस्तंगमयति' इति सम्बन्धः । १५

ननु प्रत्यक्षाद् [2]व्यवसायोद्भवः, तत्र कथं तत्तदात्मकमिति चेत् ; अत्राह–दृष्टेः इत्यादि । चिन्तितमेतत् प्रथमप्रस्तावे । इतरश्च (श्च) न दृष्टेरविकल्पिकायाः विकल्प इति दर्शयन्नाह– स्वलक्षण इत्यादि । एतदपि तत्रैव निरूपितम् ।

एवमवग्रहमीहां च व्यवस्थाप्य अवायं व्यवस्थापयन्नाह– तत्स्वार्थ इत्यादि ।

[तत्स्वार्थोऽवाय एवायमन्यापोहः कथंचन । २०
अविकल्पकदृष्टेः स्यान्न विकल्पमनो यतः ॥१४॥

न ह्यन्यतः स्वार्थमव्यवच्छिन्दत् प्रत्यक्षं परिच्छिनत्ति, नापि कथञ्चिदपरिच्छिन्ददेव व्यवच्छिनत्ति सर्वथा अर्थस्वभावासिद्धिप्रसङ्गात् । निर्विकल्पेन गृहीतस्यागृहीतकल्पतया विकल्पबुद्धेर्निर्विषयत्वाच्च । न च [ततो विकल्पसंभवः] ततो वर्णसंस्थानादिविकल्पोऽपि मा भूत । कथमेवं न सुप्तायितम् , कथञ्चात्यन्तमसदृशात्मकं पूर्वापरपरा- २५ मर्शशून्यमलक्ष्यं निममेन सदृशविकल्पं वन्ध्यासुतदर्शनमिव योजयेत् ? यतो वि[illegible] कुतश्चिदविसंवादः सम्बन्धासिद्धेः । तन्नासाधारणैकान्ते प्रमाणप्रमेयफलव्यवस्था साधारणैकान्तवत् ।]

तद् इति निपातः स इत्यस्य अर्थे द्रष्टव्यः । स एव उपगतोऽयं निरूप्यमाणः । एवकारो भिन्नप्रक्रमः अन्यापोह इत्यस्याऽनन्तरं द्रष्टव्यः, ततोऽन्यो विजातीयः अपोह्यते स्ववि- ३० षयाद् भिन्नो व्यवस्थाप्यते येन व्यवसायेन सोऽन्यापोह एव स्वार्थोऽवायो जैनाभिमतः।

(१) "नैकरूपप्रवेनात् । द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥" इति शेषः । (२) व्यवसायो विकल्पः संजायते, न तु स्वयं तन्निश्चयात्मकम् ।

यदि वा, यथान्यासमेव एवकारोऽस्तु तद्वाय एव अन्यापोहो नान्य इत्यर्थः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**कथंचन** इत्यादि । **कथंचन** केनापि स्वयम् उपादानत्वप्रकारेण विकल्पवासना-प्रबोधप्रकारेण वा । **अविकल्पकदृष्टेः** अविकल्पदर्शनात् **स्यात्** भवेत् **न विकल्पमनोयमः** । एतदुक्तं भवति–यदि तद्वाय एव अन्यापोहः अयमेव वा तद्वायो न भवेत् किन्तु
५ अन्य एव दर्शनजनितो मानसो विकल्पः; तर्हि तदभाव एव स्यात् इति । तथाहि–यदि तद्दृष्टिः [१२४ क] कदाचिद् उपलम्भगोचरचारिणी युक्तमेतत्–'**यतो विकल्पमनः**' इति, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चैवमिति निश्चितम् ।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याख्यातुमाह–**नहि** इत्यादि । **हि** इति यस्मादर्थे । यस्मात् **नान्यतो**ऽविवक्षितात् **स्वार्थं** स्वम् अर्थञ्च (ञ्च) **अव्यवच्छिन्दत्** ततो भिन्नमविषयीकुर्वत्
१० **प्रत्यक्षं परिच्छिनत्ति** विपर्यीकरोति स्वार्थं नाम किन्तु व्यवच्छिन्ददेव । अनेन स्वार्थावाय एव अन्यापोह इति व्याख्यातम् । **नापि स्वार्थं कथञ्चित्** सच्चेतननीलादिप्रकारेण **अपरिच्छिन्ददेव [व्यवच्छिनत्ति]** अनेन अन्यापोह एव तद्वाय इति दर्शितम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**सर्वथा** इत्यादि । सर्वेण अन्यतो व्यवच्छिन्दता तत्परिच्छिन्नस्य (नर्त्तात्य)नेन कथञ्चित पत (परि)-च्छिन्दत व्यवच्छिनत्ति नाम इत्यनेन वा प्रकारेण **अर्थस्वभावाऽसिद्धिप्रसङ्गात्** । **नहि** इत्यादि ।
१५ एतदपि कुतः ? इत्याह–**निर्विकल्प** इत्यादि । अन्यव्यवच्छेदविकल्पात् निष्क्रान्तेन[१] **गृहीत[स्य अगृहीत] कल्पनया** हेतुभूतया **विकल्पबुद्धेः** अन्यव्यवच्छेदविकल्पस्य **निर्विषयत्वाच्च** । स्वार्थव्यवसायजननात् [नि]र्विकल्पकमेव अर्थस्वभावग्राहकमिति चेत्; अत्राह–**नच** इत्यादि **[नच ततो विकल्पसंभवः]**

ननु माभूत् क्षणिकादिविषयस्ततस्तत्रन्नीलादिविषयं तत्स्यात् (विषयात्ततः[२] सः नीला-
२० दिविषयात्[३] स्यात) इति चेत; अत्राह–**ततो वर्ण** इत्यादि । **ततो** निर्विकल्पकदर्शनात् न केवलं क्षणिकत्वादिविकल्पः किन्तु **वर्णसंस्थानादिविकल्पोऽपि मा भूत्** , एकस्य[४] स्वविषये [५]तज्जनकेतररूपासंभवादिति भावः । [१२४ख] इदमपरं व्याख्यानम्–**ततो** मानसतज्ज्ञान-योगाद् **वर्णेन** लिङ्गेन **संस्थानादिविकल्पः** तदनुमानमपि **मा भूत्** , दर्शनमात्रविषयीकृतस्य लिङ्गस्य [१२]तदकारणत्वात् । अत्रापि पूर्वो दृष्टान्तः संबध्यते (सम्बध्यते) । तन्न युक्तम्–

२५ *"**ममैवं प्रतिभासो यः न स संस्थानवर्जितः** ।" [प्र०वार्तिकाल २।१] [१३]इत्यादि ।
ततः किं जातम् ? इत्याह–**कथम्** इत्यादि । **एवम्** अनन्तरप्रकारेण सति दोषे **कथं न सुप्तायितम्** ? अत्रैव दूषणान्तरमाह–**कथम्** इत्यादि । **कथं च अत्यन्तं** सर्वात्मना **असदृशात्मकं** विलक्षणं कारणविषयस्वभावादिना '**वि(निर्वि)कल्पदर्शनम्**' इति विभक्तिपरिणामेन

---

(१) स्वार्थावायः । (२) निर्विकल्पकदृष्टिः । (३) स्वार्थावायः । (४) निर्विकल्पेन । (५) विकल्पस्य अवस्तुभूतसामान्यविषयत्वात् । (६) निर्विकल्पात् । (७) निर्विकल्पात् । (८) विकल्पः । (९) निर्विकल्पात् । (१०) निर्विकल्पस्य । (११) नीले विकल्पजनकत्वं क्षणिकांशे तदजनकत्वमिति रूपद्वयासम्भवादिति भावः । (१२) अनुमानहेतुत्वाभावात् । (१३) "एवमन्यत्र दृष्टत्वात् अनुमानं तथा सति।" इति शेषः ।

सम्बन्धः **सदृशविकल्पं नियमेन** अवश्यंभावेन **योजयेत्** अन्यथा नीलज्ञानं पीतविकल्पं योजयेत् अविशेषात्[1]। कथम्भूतं तत् ? इत्याह–**पूर्वापरपरामर्शशून्यं** पूर्वः कारणक्षणः अपरः कार्यक्षणः तयोः परामर्शो विषयीकरणम् तेन शून्यम्। एतदुक्तं भवति–यदा तद्दर्शनं पूर्वापरयोर्न प्रवर्त्तते तदा तद्गतं सादृश्यं न विषयीकरोति तत्कथं तत्र स्मृतिहेतुः ? अननुभूते तदयोगात्। इतरथा वर्त्तमाने वृत्तिमदिन्द्रियं तत्र दर्शनकारणं स्यात् इति न युक्तमेतत्– ५

*"वर्त्तमाने सदाक्षाणां वृत्तिर्नातीतभाविनि।
तदाश्रितं कथं ज्ञानं वर्ततातीतभाविनि॥" [प्र०वार्तिकाल३।१२६] इति।

अथ पूर्वस्मरणसहायमपरदर्शनं तद्विकल्पेन योजयेत्, एवमपि [१२५क] पूर्वमात्रस्मृतिः स्यात् नापरसदृशे[5] सादृश्याऽननुभवात्। तथापि तत्कल्पने परिमलस्मरणसहायं चक्षुः गन्धे ज्ञानमुपजनयेत्। अविषयत्वमुभयत्र समानम्। यदि पुनः पूर्वापरदर्शनाभ्यां तदभेदेन व्यवस्थितं १० सादृश्यं प्रतिपन्नमेव केवलं पूर्वस्मरणसहायादुत्तरदर्शनात् तत्र विकल्पः[9] स्यादिति चेत्; तर्हि तद्दर्शनाभ्यां[10] तदभेदेन व्यवस्थितमेकत्वं प्रतिपन्नमेव केवलं पूर्वस्मरणसहायादपरदर्शनात् तत्र एकत्वज्ञानं स्यात्। न चैवं परेण[11] इष्यते। तन्न परस्य[12] सदृशविकल्पं तद् योजयेदिति स्थितम्। पुनरपि कथंभूतम् ? इत्याह–**अलक्ष्यमिति**। निरंशपरमाणुरूपतया सन्तानान्तरवदभावेन सन्देहेन वा अनध्यवशेयंयमने (अलक्ष्यमनध्यवसेयं **नियमेन**) **बन्ध्यासुतदर्शनमिव** तत्र **कथं** १५ **योजयेदिति** दर्शयति। **यतो** योजनाद् **विकल्पानाम्** अयगविनामन्यथा (अयं गौरित्यादि) व्यवसायिनां **कुतश्चित्** परम्परया स्वलक्षणादुत्पत्तेः **अविसंवादः**। कुत इति चेत् ? अत्राह–**सम्बन्धाऽसिद्धेः** इति। एतदुक्तं भवति–यदि [13]परस्य स्वलक्षणात् [14]तद्दर्शनाद्वा विकल्पानामुत्पत्तिः स्यात् तदा तत्र सम्बन्धसिद्धेः अविसंवादः स्यात्। न चैवमिति। उपसंहारार्थमाह–**तन्न** इत्यादि। यत एवं **तत्** तस्मात् **न असाधारणैकान्ते प्रमाणप्रमेयफलव्यवस्था**। दृष्टान्तमाह– २० **साधारणैकान्तवत्** इति।

*"**प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः** [१२५ख] **स्वार्थविनिश्चयः**।" [सिद्धिवि० १।३] इत्यनेन प्रमाणस्य अक्रमरूपं फलं प्रतिपाद्य अधुना स्वपक्षे क्रमरूपं दर्शयन्नाह–**व्यापक** इत्यादि।

[व्यापकावग्रहव्याप्तसमीहावायधारणाः। २५
पौर्वापर्येण सम्प्राप्तप्रमाणफललक्षणाः॥१५॥

पश्यन्नयमसाधारणमेव पश्यति दर्शनात् इति परमसमञ्जसं स्थूलाकारस्य तत्र प्रतिभासात्, तद्व्यतिरेकेण स्वलक्षणानि परिस्फुटं तत्र प्रतिभासन्त इति रचितं शिलाप्लवं कः

---

(१) भिन्नत्वाविशेषात्। (२) पूर्वापरगतम्। (३) स्मरणाभावात्। (४) अतीतानागतादौ। (५) "योग्यदेशस्थितेऽक्षाणां वृत्तिर्नातीतभाविनि। तदाश्रितं च विज्ञानं न कालान्तरभाविनि॥"–प्र० वार्तिकाल०। उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० १४२। (६) पूर्वापरसदृशविकल्पेन। (७) स्मृतिः स्यात्। (८) पूर्वापरतादात्म्येन। (९) सदृशोऽयमिति विकल्पः। (१०) पूर्वापरतादात्म्येन। (११) बौद्धेन। (१२) बौद्धस्य। (१३) बौद्धस्य। (१४) स्वलक्षणदर्शनाद्वा।

श्रद्धधीत ? नहि सञ्चिताः परमाणवः पारिमण्डल्यं क्षणिकत्वं वा जहति यतोऽन्यथा प्रतिभासेरन् । तदेतत्सामान्यं व्यापकमवगृह्य विशेषं प्रतीहमानं तथाऽवयत् धारयति इति युक्ता प्रमाणफलव्यवस्थितिः । अत्रैव तद्व्यवस्थितिसम्बन्धः । पूर्वपूर्वस्य स्वविषयग्रहणानुबन्धमजहत एव उत्तरोत्तरं प्रति साधकतमत्वात् स्मार्तज्ञानवत् । यथादर्शनमेव सर्वत्र ५ **मानादिव्यवस्था न यथातत्त्वमित्येकान्ते कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिः ? प्रमाणान्तरस्याप्यसिद्धेः । प्रत्यक्षस्वभावत्वात् सर्वथाऽसिद्धेः]**

व्यापकं सामान्यं तस्य **अवग्रहश्च व्याप्तो** विशेषः तस्य **समीहा अवायो धारणाश्च** । ताः कथंभूताः ? इत्याह-**संप्राप्त** इत्यादि । **संप्राप्तम् प्रमाणफलयोर्लक्षणं** याभिः ताः तथोक्ताः । कथम् ? इत्याह-**पौर्वापर्येण** ।

१० ननु स्वलक्षणमात्रस्य सर्वत्र दर्शनात् अयुक्तमेतद्-**व्यापके**त्यादि इति चेत् ; अत्राह-**पश्यन्नयम्** इत्यादि । **पश्यन्नयं** सौगतः जनो वा [1]**असाधारणमेव** न साधारणं **पश्यति** । कुत एतत् ? **दर्शनात्** असाधारणस्य अवलोकनात् इत्येवं **परमसमञ्जसम्** । कुत एतत् ? इत्यत्राह-**स्थूलाकारस्य** इत्यादि । नास्त्येव तत्र[2] तस्य[3] प्रतिभासः स्वलक्षणप्रतिभासादिति चेत् ; अत्राह-**तद्व्यतिरेकेण** इत्यादि । **तद्व्यतिरेकेण** यथोक्तस्थूलाकारव्यतिरेकेण **स्वलक्षणानि परिस्फुटं** १५ यथा भवन्ति तथा **तत्र** अक्षबुद्धौ **प्रतिभासन्ते** इत्येवं **रचितं शिलाप्लवं कः श्रद्धधीत ?** यथोक्ताकारस्य तत्र[4] प्रतिभासेऽपि [5]एतेषां प्रतिभासकल्पने काष्ठप्लवे शिलाप्लवकल्पना स्यादिति मन्यते । अथ [6]तान्येव सञ्चितानि तथावभासन्ते ; तत्राह-**नहि** [१२६ क] इत्यादि । हिः यस्मात् **न परमाणवः** चेतनेतराणवः **संता (सञ्चिताः)** सन्तः **पारिमण्डल्यम्** असर्वगतनिरंशत्वं **जहति क्षणिकत्वं वा** सांशाऽक्षणिकत्वप्रसङ्गादिति मन्यते । **यतः** तत्त्यागाद् **अन्यथा** अन्येन परि- २० मण्डलक्षणिकत्वप्रकारादिनेन (राद् भिन्नेन) सांशाऽक्षणिकत्वप्रकारेण **प्रतिभासेरन्** । **यत** इति वा आक्षेपे, नैव प्रतिभासेरन् । तथापि तथावभासने न किञ्चिद्विज्ञानमभ्रान्तं स्यादिति भावः ।

उपसंहर्तुमाह-**तदेतद्** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्मात् **एतत्** प्रतीयमानं प्रत्यक्षम् **अवगृह्य** । किम् ? इत्याह-**सामान्यं** द्विविधमपि[7], कथम्भूतम् ? **व्यापकं** स्वसकलविशेषस्वभावम्, अन्यस्य व्यापकत्वाभावात् । किं कुर्वन् किं करोति ? इत्यत्राह-**विशेषं** तद्व्याप्यभेदं **प्रति** २५ **ईहमानं तथा** ईहितविशेषप्रकारेण **अवयत्** निश्चिन्वत् **धारयति** धारणीभवति **इति** एवं **युक्तं (क्ता) प्रमाणफलव्यवस्थितिः** ।

अत्राह-[8]नैयायिकादिः-*"**विशेषणस्य सामान्यस्य व्यापकस्य यदा ज्ञानं प्रमाणं**

(१) स्वलक्षणम् । "आद्यमसाधारणविषयमेव"-हेतुबि०, टी० पृ० २५ । (२) दर्शने । (३) स्थूलाकारस्य । (४) दर्शने । (५) स्वलक्षणानाम् । (६) परमाणुस्वलक्षणानि । (७) तिर्यगूर्ध्वताभेदम् । (८) "यदा सन्निकर्षः तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्..."-न्यायभा० १।१।३ । "तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्...प्रमितिः द्रव्यादिविषयं ज्ञानम्...अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षादवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं...प्रमितिः गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति ।"-प्रश० भा० पृ० १८७ । "यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं प्रमाणं तदा

तदा विशेषस्य विशेष्यस्य ज्ञानं फलम् , 'अस्य च प्रमाणत्वे संस्कारः फलम्" इत्यभिधानात् मदीय एव मते तद्व्यवस्थितिः; तत्राह–**अत्रैव** इति । परीक्ष्यमाणे अस्मिन्नेव अनेकान्ते तत्त्वे [१२६ख] **तद्व्यवस्थिति[रिति]** सम्बन्धः, अन्यत्र सामान्यादिव्यवस्थाऽभावादिति भावः ।

ननु च [2]मध्यक्षणेक्षणक्षीणम् अध्यक्षं न पूर्वोत्तरक्षणौ ईक्षितुं क्षमते । नापि पूर्वापरपर्यायालोकनं मध्यक्षणमालोचते, [3]खण्डे वृत्तिमत् न मुण्डादौ वर्तते तत्कुतः [4]तदाधारस्य सामान्यस्य ५ तस्य तद्व्यापकस्येति चेत् ? अत्राह–**पूर्वपूर्वस्य** । **पूर्वपूर्वं** यद्विज्ञानं तस्य **तस्य उत्तरमुत्तरं** च प्रतीतिः यज्ज्ञानं **तत्प्रति साधकतमत्वात्** अव्यवधानेन जनकत्वात् पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरज्ञानपरिणामादिति भावः । कथम्भूतस्य ? **स्वविषयग्रहणानुबन्धमजहत एव** स्वविषयं गृह्णदेव विषयान्तरग्रहणाकारेण परिणमते । ततः **तदेतदि** [त्यादि]ना सम्बन्धः । अत्र दृष्टान्तमाह–**स्मार्तज्ञानवत्** इति । स्मृतिरेव **स्मार्त्तं ज्ञानं** तस्य इव **तद्वत्** इति । एतच्च [5]परस्य सुप्रसिद्धम्, १० अन्यथा कथं काल्पनिकमपि सामान्यादिव्यवहारमारचयेत् ।

ननु सर्वत्र तद्व्यवस्था [6]यथादर्शनमेव न परमार्थत इति चेत् ; अत्राह–**यथा** इत्यादि । सर्वत्र अन्तर्बहिश्च महि (यदि) वा इतरमतवत् जैनमतेऽपि **यथादर्शनमेव मानादिव्यवस्था न यथातत्त्वम्** इत्येवम् **एकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे **कुतो न** कुतश्चित् **तत्त्वस्य** *[7]"यथादर्शनमेव" [प्र०वा०२।३५७] इत्यादि [१२७क] **स्वरूपस्य** क्षणक्षयादिस्वरूपस्य वा **प्रतिपत्तिः ?** १५ एतदुक्तं भवति–यदि तत्र यथादर्शनमेव तद्व्यवस्था बहिरर्थवन्न तत्सिद्धिः । अथ यथातत्त्वम् ; तदेकान्तप्रतिज्ञाहानिः इति । ननु मा भूत् प्रत्यक्षतः तत्प्रतिपत्तिः विचारात् स्यादिति चेत् ; अत्राह–**प्रमाणान्तरस्यापि** इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–यावान् कश्चिद्विचारः स सर्वोऽपि यदि अप्रमाणम् ; न ततो बहिरर्थवत् प्रकृततत्त्वसिद्धिः । अथ प्रमाणम् , न प्रत्यक्षम् ; विचारात्मकत्वात् [[8]कल्पनापोढत्वाद] भ्रान्तत्वाच्च प्रत्यक्षस्य । अनुमानं चेत् ; तर्हि **प्रमाणान्तरस्यापि** २० अनुमानस्याप्यसिद्धिः (द्धेः) **कुतः तत्त्वप्रतिपत्तिः ?** कुतः तदसिद्धिः ? इत्यत्राह–**प्रत्यक्षस्वभावत्वात्** इति । **प्रत्यक्षस्य** अविकल्पस्य **स्वभावः** क्षणिकनिरंशपरमाणुरूपता इव स्वभावो यस्य [तस्य] भावात् **तत्त्वात्** । एतदुक्तं भवति–यथा अविकल्पदर्शनं न लक्ष्यं तथा अनुमान-

---

द्रव्यादिविषयं विशिष्टं ज्ञानं प्रमितिरित्यर्थः । यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानमपि प्रमारूपमर्थप्रतीतिरूपत्वात् तदा तदुत्पत्तावविभक्तमालोचनमात्रं प्रत्यक्षं···विशेष्यज्ञानं विशेषणज्ञानस्य फलं विशेषणज्ञानं न ज्ञानान्तरफलं···यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं फलं तदा इन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रमाणम् , यदा विशेष्यज्ञानं फलं तदा सामान्यविशेषालोचनं प्रमाणमित्युक्तं तावत्···सम्प्रति हानादिबुद्धीनां फलत्वे विशेष्यज्ञानं प्रमाणमित्याह···"–प्रश० कन्द० पृ० १९९ । "प्रमाणफलते बुद्ध्योर्विशेषणविशेष्ययोः । यदा तदापि पूर्वोक्ता भिन्नार्थत्वनिराक्रिया॥ विशेषणे तु बोद्धव्ये यदालोचनमात्रकम् । प्रसूते निश्चयं पश्चात्तस्य प्रामाण्यकल्पना ॥ निश्चयं तु फलं तत्र नासावालोचितो यदा । तदा नैव प्रमाणत्वं स्यादर्थानवधारणात् ॥ हानादिबुद्धिफलता प्रमाणं चेद् विशेष्यधीः । उपकारादिसंस्मृत्या व्यवायश्चेदियं फलम् ॥"–मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ७०-७३ ।

(१) विशेष्यज्ञानस्य । (२) मध्यक्षणावलोकनमात्रपर्यवसितम् । (३) गोविशेषे । (४) व्यक्तिनिष्ठस्य । (५) बौद्धस्य । (६) व्यवहारतः । (७) "यथानुदर्शनं चेयं मानमेयफलस्थितिः। क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम् ॥"–प्र०वा० इति मतस्य । (८) "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" (न्यायबि०१।४) इति प्रत्यक्षलक्षणत्वात् ।

मपि । चिन्तितं चैतत्–*"अङ्गीकृतात्मसंवित्तेः" [सिद्धिवि० १।१८] इत्यादिना । न च तस्य रूपत्रयं येन कथञ्चिल्लक्ष्यं स्यात्, एकान्तहानिप्रसङ्गात् । एतदप्युक्तम्*"प्रतिभास्ये(सै)क" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना । अथवा प्रत्यक्षस्य स्वपरभावयोः विभ्रमः स्वभावः सर्वविकल्पातीतता वा स इव स्वभावो यस्य तस्य भावात् तत्त्वात् इति । ततो यथा प्रत्यक्षान्न स्वपरयोः सिद्धिः तथा अनुमानादपि इति । यथा वा, न विभ्रमादि[१२७ख]व्यवस्था तथा अध्यक्षानुमानव्यवस्थापीति भावः । व्यवहारेण तत्सिद्धिरिति चेत् ; अत्राह–सर्वथा इति । सर्वेण परमार्थप्रकारेणेव व्यवहारप्रकारेणापि सर्वथा सिद्धिः [असिद्धेः] इति विकल्पाभावे अत्यन्तव्यवहारापहारात् सिध्यैकान्ते तदप्रहादिति ।

एवं परस्य प्रतीत्यभावेन प्रमाणान्तराऽसिद्धिरुक्ता[1], साम्प्रतं कारणाभावेन सा उच्यते इति दर्शयितुमाह– निर्बोध इत्यादि ।

[निर्बोधः सर्वतोऽन्यस्य विलक्षणमलक्षयन् ।
अनीहः सदृशस्मृत्या हेतुरित्यविकल्पना ॥१६॥

स्वविषयविशेषनिर्भासं प्रत्यक्षमात्मानं कथञ्चिन्न लक्षयतीति विरुद्धम्, यथासमयं प्रतिपत्तेः । प्रतिपत्तौ वा प्रमाणान्तरावृत्तिप्रसङ्गात् । विशेषं लक्षयतो निराकाङ्क्षत्वात् कथञ्चिदप्रयतमानस्य कुतः स्मृतिर्यतः समारोपव्यवच्छेदविकल्पः । समा··· । तल्लक्षितसमारोपे अतिप्रसङ्गात् किमकिञ्चित्करादिदर्शनवत् । यदि पुनः अनुभूतं सर्वथा न लक्षयेत् कुतः समारोपव्यवच्छेदप्रयत्नः सुषुप्तवत् । विशेषं पश्यतो लक्षयतो वा समानाकारस्मृतिरयुक्तैव तयोरसम्बन्धात् । अतिप्रसङ्गो ह्येवं स्यात् । अनर्थिका चेयम् अर्थक्रियासमर्थस्वलक्षणदृष्टिग्राहकं यतः विकल्पबुद्धेरतद्विषयत्वात् । तत्त्वदर्शिनस्तद्विपरीतस्मृत्युत्पादनप्रयत्नानुपपत्तेः तद्दर्शनबलोत्पत्तेः तत्त्वे प्रवर्तनाच्च नानर्थिका अनुमानवदिति चेत् ; तस्यास्तर्हि प्रामाण्यं युक्तं तदभावे संवादायोगात् । प्रमाण··· । तदयं विशेषदर्शनात् सामान्यस्मृतिव्यवहारं प्रवर्तयन्नविकल्प एव ।]

निर्बोधो बोधो हेतुः कारणम् [अन्यस्य] प्रमाणान्तरस्य इति अविकल्पना बोन्मय(बोन्मत्त)स्य कल्पना । किं कुर्वन् ? अलक्षयन् अनिश्चिन्वन्, सर्वतः सजातीयाद् अन्यतोऽर्थान्तराद् विलक्षणं व्यावृत्तं परकल्पितं वस्तु धर्म्मादे (धर्म्यादेर)[2] सिद्धेः, अनिश्चितस्य अस्य अनुमानहेतुत्वे स्वापादौ प्रसङ्ग इति चोक्तम्, तदुत्तरकालभाविविकल्पापेक्ष (क्षः) तद्धेतुः इति चेत् ; अत्राह–सदृशस्मृत्या इति । सदृशस्मृत्या सदृशविकल्पेन कारणेन स[3] तस्य हेतुः इत्यपि अविकल्पना विकल्पप्रमाणान्तरतापत्तेः । यद्वक्ष्यति अत्रैव वृत्तौ[4] 'तस्याः तर्हि' इत्यादि । स[5] तर्हि तल्लक्षयन् तस्य हेतुरिति चेत् ; अत्राह–अनीहः इत्यादि । अनीहः सत्त्वादिवत् क्षणिकत्वादिरूपेणापि लक्षिते वस्तुनि अलक्षिता सा[6] सम्भवात्ति (वति तन्नि)राकाङ्क्षः तस्य[7] हेतुः

(१) प्रमाणान्तरासिद्धिः । (२) धर्म्यादिज्ञानस्य । (३) निर्बोधः । (४) टीकायाम् । (५) निर्बोधः । (६) ईहा । (७) निर्बोधस्य ।

[१२८क] **इत्यपि [वि] कल्पन** निश्चिते प्रमाणान्तरवैफल्यादिति मन्यते। विलक्षणे लक्षिते च सदृशस्मृतेरभावात् तया हेतुः इति ... **कल्पना** इति।

ननु स्यादयं दोषो यदि तत्सर्वथा न सर्वं लक्षयेत्। लक्षयति इति चेत्; अत्राह- **स्वविषय** इत्यादि। **स्वो** बोधात्मा **विषयो**ऽर्थः, यदि स्वावेव (तावेव) **विशेषौ** भेदौ सर्वतो व्यावृत्तत्वात्, **तयोर्निर्भासः** तदाकारता स विद्यते यस्य तत्तथोक्तं ज्ञानम्। कथंभूतम् ? **प्रत्यक्षम्** अविकल्प- ५ दर्शनम् **आत्मानं** स्वस्वरूपम्, उपलक्षणमेतत्–तेन विषयस्वरूपं च, **कथञ्चित्** सत्त्वादिरूपेण **न क्षपति (लक्षयति)** इत्येवं **विरुद्धम्** एकस्य लक्षितेतरस्वभावे अनेकान्तप्रसङ्गादिति मन्यते। सर्वथा तर्हि लक्षयति इति चेत्; अत्राह–**यथासमयम्** इत्यादि। **समयस्य** सौगतकल्पितं तस्य (ल्पितस्य) अनतिक्रमेण **यथासमयं प्रतिपत्तेः** तत्त्वस्य, लक्षयतीति विरुद्धम्। तत्प्रतिपत्त्यङ्गीकरणे दूषणमाह–**प्रतिपत्तौ वा प्रमाणान्तरावृत्तिप्रसङ्गात्** विरुद्धम्। कुत एतत् ? इत्यत्राह– १० **विशेषं लक्षयतो निराकाङ्क्षत्वात्**। तथापि तद्वृत्तिः स्यादिति चेत्; अत्राह–**कथञ्चित्** इत्यादि। नीलादिप्रकारेणेव क्षणिकत्वादिप्रकारेणापि **अप्रयतमानस्य** वस्तु साधयितुमनीहमानस्य **कुतः** कारणात् **स्मृतिर्दृ**ष्टान्तस्मरणं **यतः** स्मृतेः **समारोपव्यवच्छेद** [१२८ख] **विकल्पः** [1]तद्व्यवच्छेदकमनुमानम्। कुत एतत् ? इत्याह–**समे**त्यादि। तथापि तत्संभवे दूषणमाह–**तद्** इत्यादि। **तेन** प्रत्यक्षेण **लक्षितस्य समारोपे** अङ्गीक्रियमाणे **अतिप्रसङ्गात्** अनुमानलक्षित- १५ स्यापि स्यात्। भवतु को दोषः इति चेत्; अत्राह- **किम् [अकिञ्चित्कर]** इत्यादि। तस्य **अकिञ्चित्करादिकादि(रादि)दर्शनवत्** व्यवहारानुपयोगित्वादिति मन्यते। तर्हि सर्वथा न [ल]क्षयतीति चेत्; अत्राह–**यदि पुनः** इत्यादि। **अनुभूतं** [अनुभव]विषयीकृतं **सर्वथा** क्षणिकत्वादिना इव नीलत्वादिनापि **यदि न लक्षयेत्**, **'प्रत्यक्षम्'** इति सम्बन्धः। **कुतः समारोपव्यवच्छेदप्रयत्नः** समारोपव्यवच्छेदोऽनुमानं तत्र प्रयत्नः कुतः ? **सुषुप्तस्य इव तद्वत्** इति। २०

स्यान्मतम्–उत्तरविकल्पजननात् प्रत्यक्षं [2]तल्लक्षयति इत्युच्यते ततोऽयमदोषः इति; तत्राह–**विशेषम्** इत्यादि। **विशेषणं (पं) पश्यतो** दर्शनस्य लोकस्य वा **समानाकारस्मृतिरयुक्तैव**। कथंभूतस्य ? **लक्षयतो वा** [3]विशेषमिति लक्षणोकृतविकारेऽपि (लक्षणीकृतविचारेऽपि) पुनः **'लक्षयतः'** इति वचनं दोषान्तरप्रतिपादनार्थम्। कुतः [4]सा न युक्ता ? इत्याह–**तयोः** विशेषदर्शनसमानाकारस्मृत्योः **असम्बन्धात्** तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धविरहात्। २५

अथ मतम्–मा भूद् विसदृशयोः तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः, पावकधूमयोरिव [5]तदुत्पत्ति- [१२९क] लक्षणः स्यादिति चेत्; अत्राह–**अतिप्रसङ्गो हि एवं स्यात्** नीलानुभवस्य[6] पीतस्मृतिः स्यात् विसदृशत्वाविशेषात्।

ततः तदुत्पत्तिमभ्युपगम्य दूषणान्तरमाह–**अनर्थिका चेयम्** इत्यादि। **अनर्थिका** निष्प्रयोजनिका। **च** इति पूर्वदूषणसमुच्चये, **इयं** समानाकारस्मृतिः। कुतः ? इत्याह–**अर्थक्रिया** इत्यादि। ३०

(१) समारोपव्यवच्छेदकम्। (२) अनुभूतम्। (३) यद्यपि विशेषरूपेण लक्षणीकृत एव विचारः प्रवर्तते। (४) सदृशस्मृतिः। (५) कार्यकारणभावात्मकः। (६) नीलानुभववतः पुरुषस्य।

अर्थक्रियासमर्थस्य स्वलक्षणस्य दृष्टिर्दर्शनम् ग्राहकं यतः । तद्वत् तत्स्मृतिरपि[2] तद्ग्राहिका इति चेत्; अत्राह–विकल्पबुद्धेः अतद्विषयत्वात् अर्थक्रियासमर्थाऽविषयत्वात्[3] कारणात् अनर्थिका इति । भवतु अतद्विषया तथापि[4] तत्सत्तयैव नः प्रयोजनमिति चेत्;. अत्राह–तत्त्व इत्यादि । तत्त्वदर्शिनः सौगतस्य अन्यस्य वा अर्थक्रियार्थिनः तस्य तत्त्वस्य या विपरीता

५ समानाकारस्मृतिः तस्या उत्पादने यः प्रयत्नः तस्य अनुपपत्तेः 'अनर्थिका' इति । नहि नीलदर्शिनः[5] तत्क्रियार्थिनः पीतस्मृतिकरणे प्रयत्न उपपद्यते ।

अत्र परमतमाशङ्क्यते तद् इत्यादि दूषयितुम् । तस्य तत्त्वस्य दर्शनं तस्य बलं सामर्थ्यं तेन उत्पत्तेः तत्रत्वे (तत्त्वे) प्रवर्तनात्व (च) न अनर्थिका[6] अनुमानवत् इति चेत्; अत्राह–तस्याः समानाकारस्मृतेः तर्हि प्रामाण्यं युक्तम् उपपन्नम्, न दृष्टेः प्रामाण्यं युक्तम् इति ।

१० कुतः ? इत्याह–तद् इत्यादि । तदभावे तत्स्मृत्यभावे संवादायोगात् धर्मा (धर्म्या) द्यविप्रतिपत्तेरयोगात् । कुतः ? इत्याह–[१२९ख] प्रमाण इत्यादि । व्याख्यातमेतत् प्रथमप्रस्तावे । विशेषम् इत्याद्युपसंहरन्नाह–तद् इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् अयं सौगतः विशेषदर्शनात् सामान्यस्मृतिव्यवहारं प्रवर्त्तयन् अविकल्प एव परामर्शशून्य एव । तन्नास्यं प्रमाणान्तरस्य सिद्धिरिति कुतः तत्त्वप्रतिपत्तिरिति स्थितम् ।

१५ भवतु तर्हि यथातत्त्वमेव मानादिव्यवस्था, सा च सौगतमत एव; इत्यत्राह–

[विकल्पेऽनर्थनिर्भासे विसंवाद्यविकल्पके ।
प्रत्यक्षं किं तदाभासं प्रमाणान्तरमेव वा ॥१७॥

विकल्पबुद्धेः न केवलमवस्तुनिर्भासः किन्तु विसंवादोऽपि सामान्यप्रतिपत्तेः विशेषदर्शनात् । अनयाऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते । पुनरनुमानात्

२० क्षणभङ्गादिषु व्यवहर्त्रभिप्रायवशात् प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थायां विकल्पाविकल्पयोः प्रमाणेतरव्यवस्था प्रसज्यते । वस्तुतः पुनः विकल्पबुद्धेः विसंवादोऽपि तथैवाविकल्पबुद्धेः । कथमर्थनिर्भास इति चेत्; स्थूलस्यैकस्य प्रतिभासनात् वस्तुनो तद्विपरीतलक्षणत्वात् । तत एव विसंवादोऽपि विकल्पवत् ।]

विकल्पे अनुमाने अन्यस्मिन् वा अनर्थनिर्भासे वस्तुसामान्याकारे विसंवादिनि

२५ विगताऽविप्रतिपत्तिप्रपञ्चे यदि[वा]व्यभिचारिणि सत्यविकल्पके क्षणिकनिरंशैकपरमाणुनिष्ठे दर्शने प्रत्यक्षं किं न किञ्चिद् विकल्पज्ञानम् अन्यद्वा, यदि वा स्वसंवेदनम् अन्यद्वा, यत इदं सूक्तं स्यात्–*"कल्पनापोढं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" [प्रमाणसमु०पृ०८] इति, तदाभासं किम् ? न किञ्चित्, प्रत्यक्षापेक्ष्यस्यास्य[8] तदभावे[9] अभावादिति तद्व्यवच्छेदार्थमभ्रान्तग्रहणमयुक्तम्[10] । परस्य हि (यस्य[11] हि) बहिरिव अन्तः परमाणुमात्रं तत्त्वं न तस्य द्विचन्द्रादिदर्शनमपि । प्रत्यक्ष-

(१) दर्शनवत् । (२) विशेषस्मृतिरपि । (३) अर्थक्रियाकारिस्वलक्षणाविषयत्वात् । (४) विकल्पद्विसत्तावेनव । (५) नीलार्थक्रियाभिलाषिणः । (६) समानाकारस्मृतिः । (७) सौगतस्य । (८) प्रत्यक्षाभासस्य । (९) प्रत्यक्षाभावे । (१०) 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' इति प्रत्यक्षलक्षणे । (११) बौद्धस्य ।

प्रमाणाद् यद् अनुमानं तदन्तर॰ तदेव वा **किं** यत इदं शोभेत—*"त्रिरूपात् लिङ्गाद्" [न्यायबि० २।३] इत्यादि[1] । **'तदाभासम्'** इत्येतत् मध्ये [illegible]पे सम्बध्यते । प्रमाणान्तराभासं वा किम् ? तत (तत्र) सूक्तम्—*"**हेत्वाभासाः ततोऽपरे**" [हेतुबि० श्लो० १] इत्यादि । पक्षादितदाभासयोः [१३०क] साध्यज्ञानस्य वा असिद्धेरिति मन्यते ।

कारिकार्थं दर्शयितुमाह—**विकल्प** इत्यादि । **विकल्पबुद्धेः** लिङ्गविषयात्मा (यायाः) **न** ५ **केवलमवस्तुनिर्भासः** । किं तर्हि ? **किन्तु विसंवादोऽपि** वचनमपि (वञ्चनमपि) । ततो निराकृतमेतत्—

***"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।**
प्रतिबन्धात्[2] तदाभास[3]शून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥" [प्र०वा० २।८२] इति ।

कुत एतत् ? इत्यत्राह—**विशेष** इत्यादि । **सामान्यस्य प्रतिपत्तिः** यस्यां सा तथोक्ता १० तस्या विकल्पबुद्धेः प्रवृत्तेन **विशेषाणां दर्शनात्** शङ्खे[4] पीतप्रतिपत्तेः प्रवृत्तेन शुक्लदर्शनादिव । ननु विशेषेषु तद्विसंवादेऽपि न तत्साध्यायां स इति चेत् ; अत्राह—**अर्थम्** इत्यादि । **अर्थं** पावकादिकं **परिच्छिद्य अनया** विकल्पबुद्ध्या **प्रवर्तमानः** जनोऽर्थक्रियायां दाहादिलक्षणायां **विसंवाद्यते 'विशेषदर्शनात् सामान्यप्रतिपत्तेः'** इत्येतदत्रापि सम्बध्यते । एतदुक्तं भवति—यथाविधमर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तते जनः तथाविधार्थसाध्याऽर्थक्रियाप्राप्तौ तत्र तदविसंवादो नान्यथा, १५ इतरथा पीतज्ञानात् प्रवर्त्तमानस्य शुक्लशङ्खार्थकियाप्राप्तौ तत्र ज्ञानमविसंवादि स्यादिति । अनुमानविकल्पबुद्ध्या न विसंवाद्यते इति चेत् ; अत्राह—**पुनः** इत्यादि—**पुनः** लिङ्गबुद्ध्यनन्तरम् **अनुमानादर्थं** परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानो विसंवाद्यते, क ? **क्षणभङ्गादिषु** [१३०ख] विशेषदर्शनात् सामान्यप्रतिपत्तेः ।

ननु *"**व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति न व्यवहर्त्तारः । ते हि दृश्यविकल्प्या-** २० **वर्थौ एकीकृत्य यथेष्टं प्रवर्त्तन्ते, तदभिप्रायवशात् तदवञ्चनमुक्तम्**" [प्र०वा०स्व० १।७२] इति चेत् ; अत्राह—**व्यवहर्त्रभिप्राय** इत्यादि । **व्यवहर्तृणाम्** व्यवहारिणाम् 'यदेव अस्माभिः लिङ्गबुद्धेः लिङ्गिबुद्धेर्वा प्रतिपन्नम् तदेव प्राप्यते' इति योऽ**भिप्रायः तद्वशात् क्षणिकविकल्पानां प्रामाण्यव्यवस्थायां** नित्यादिविकल्पानां **वाऽप्रमाण(ऽप्रामाण्य)व्यवस्थायां** क्रियमाणायां **विकल्पा[विकल्प]योः प्रमाणेतरव्यवस्था प्रसज्येत** । दर्शनोत्तरकालभावी नीलादिनिश्चयः इह २५ विकल्प इत्युच्यते नाऽनुमानम् , अत्र परस्य[5] विवादाऽभावात्, तस्य प्रमाणत्वव्यवस्था—'यदेव तेन परिच्छन्नं तदेव प्राप्यते' इति, तदभिप्राय[6]वशाद् अविकल्पस्य अप्रमाणत्वव्यवस्था प्रसज्येत अनेन अर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमाना वयं तत्प्राप्तिनत्तइतितन्नेतितत्तद (न तत्प्राप्तिमन्त इति तद)-भिप्रायः अन्यथा *"**मनसोर्युगपद्वृत्तेः**" [प्र० वा० २।१२३] इत्यादि[7] अनर्थकं स्यात् ।

---

(१) "तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानम्"—न्यायबि० । (२) सम्बन्धात् । (३) लिङ्गाभास-लिङ्ग्याभासरहितयोः अर्थात् सम्यक्लिङ्गलिङ्गिनोः अवञ्चनम् अविसंवादः । (४) पीते । (५) बौद्धस्य । (६) व्यवहर्त्रभिप्रायवशात् । (७) "सविकल्पाविकल्पयोः । विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति ॥" इति शेषः ।

एतेन दर्शनदृष्टविषयत्वमपि विकल्पस्य निरस्तम्; तथा तदभिप्रायाभावात्। वस्तुविकल्पस्य तद्व्यवस्थेति चेत्; अत्राह–**वस्तुतः** परमार्थतः। **पुनः** इति पक्षान्तरद्योतने, **विकल्पबुद्धेः** अनुमानविकल्पबुद्धेरपि अन्यस्याः स्वयं [१३१क] परेण तत्त्वोपगमात् **विसंवादोऽपि** वञ्चनं न केवलमवस्तुनिर्भास एव। तथा च इतरविकल्पवद् अनुमानविकल्पोऽपि प्रमाणं न भवेदिति ५ मन्यते। अस्तु तर्हि सर्वा विकल्पबुद्धिरप्रमाणं विसंवादात् अवस्तुनिर्भासाच्च, अविकल्पबुद्धिस्तु प्रमाणं विपर्ययादिति चेत्; अत्राह–**तथैव** इत्यादि। **अविकल्पबुद्धेः** बौद्धेन स्वलक्षणविषयत्वोपगमात् कथं (कथं) तदवस्तुविषयत्वमिति मन्वानः परः पृच्छति **'कथमनर्थनिर्भासः'** इति? अत्रोत्तरमाह–**स्थूलस्यैकस्य [प्रतिभासनात्]** इत्यादि। इदमेव वस्तुलक्षणमिति चेत्; अत्राह–**वस्तुनः** इत्यादि। **वस्तुनः** अर्थक्रियाकारिणो भावस्य **तस्माद्** उक्तात्लक्षणाद् **विपरीतम्** १० अन्यथाभूतम् अद्वयरूपं **लक्षणं** यस्य (यस्य) तस्य भावात् **तत्त्वात्**। परप्रसिद्ध्या इदमुक्तम्, **तत एव** अवस्तुनिर्भासादेव **विसंवादोऽपि** न केवलम् अवस्तुनिर्भास एव **'अविकल्पबुद्धेः'** इति सम्बन्धः। तथा च * **"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्"** [प्र० वा० १।३] इत्यादि परस्य असंभवि प्रमाणलक्षणमिति प्राप्तम्।

ननु व्यवहारमाश्रित्य ***"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्"** इत्युक्तम् ***"व्यवहारेण"** १५ [प्र०वा०१।७] इत्यादि वचनात्। न च जनाः तदवस्तुनिर्भासेऽपि संवादभाजः प्रतीयन्ते, तदवस्तुनिर्भास एव वस्त्वध्यारोपेण प्रवृत्तौ तत्परितोषदर्शनात्, तत्परितोषश्च अविसंवाद इति सौगतं मतम्, तत् कस्येव तस्या विसंवाद इति चेत्; अत्राह–[१३१ख] **विकल्पवद्** इति। दर्शनोत्तरकालभाविनो विकल्पस्य इव तद्वदिति। एतदुक्तं भवति–यथा विकल्पस्य अवस्तुसामान्यनिर्भासिनो विसंवादः ततः प्रवृत्तौ जातपरितोषेऽपि व्यवहारिणि तथा अविकल्पबुद्धेरपि। २० इतरथा तद्वत् विकल्पस्यापि प्रामाण्यसिद्धिः (द्धेः) प्रमाणसंख्यानियमः स्वलक्षणैकान्तश्च निरवसरः स्यात्।

एतेनेदमपि निरस्तं यदुक्तम् अर्चटेन–*"व्यवहर्त्रभिप्रायवशाद् विकल्पस्य गृहीतग्रहणात् प्रामाण्यमुक्तं, न भावतः, तत्र तदभावात्, परमार्थतः पुनः अवस्तुनिर्भासात्" इति; कथम्? अविकल्पबुद्धेरपि अस्य समानत्वात्।

२५ अधुना योगाचारस्य मतं दूषयितुं दर्शयति–**यथा** इत्यादि।

[यथाकथञ्चित्तस्यार्थरूपं मुक्त्वाऽवभासिनः।
सत्यं कथं स्युराकारा निर्भासा यतो बहिः ॥१८॥

---

(१) दर्शनदृष्टविषयत्वव्यवस्था। (२) विसंवादत्वस्वीकारात्। (३) अविसंवादात्, स्वलक्षणवस्तुविषयत्वाच्च। (४) बौद्धाभिप्रायेण। (५) "प्रामाण्यं व्यवहारेण।"–प्र० वा०। (६) अविकल्पबुद्धेः। (७) प्रत्यक्षानुमानरूपप्रमाणद्वयसंख्या। (८) विकल्पे। (९) तुलना–"यद्यपि तेनानधिगतं सामान्यमधिगम्यत इति वर्ण्यते तथापि तदर्थक्रियासाधनं न भवतीति तदधिगन्ता तैमिरिकादिज्ञानप्रख्यो विधिविकल्पो न प्रमाणम्'''जातेस्तु अर्थक्रियासाधनत्वाभावादनधिगताया अधिगमेऽपि केशादिज्ञानस्येव न प्रामाण्यम्।" –हेतुबि० टी० पृ० २७।

इति; विज्ञप्तिमात्रेऽपि समानं एवमेव च ।
मुक्त्वा स्वतत्त्वं तस्य अन्यथा प्रतिभासनात् ॥१९॥]

यथाकथञ्चित् येन केनचित् सामान्यादिप्रकारेण विकल्पस्य अविकल्पस्य वा **अवभासिनः** । किं कृत्वा ? **मुक्त्वा** । किम् ? **अर्थरूपम्** । कथंभूतम् ? **सत्यम्** अवितथम् निरंशं तस्यैव सत्यत्वात् । तस्य किम् ? इत्याह–**कथम्** इत्यादि । '**सत्यम्**' इत्येतदत्रापि ५ योज्यं लब्धलिङ्गविभक्तिपरिणामम् । ततोऽयमर्थः–**सत्याः** अवितथाः **कथम्** ? कथञ्चित् **सु (स्युः)** भवेयुः **आकाराः निर्भासा यतः** सत्याकारेभ्यो **बहिः** । **इति** शब्दः पूर्वपक्षसमाप्त्यर्थः ।

तत्र उत्तरमाह–**विज्ञप्ति** इत्यादि । बहिरर्थशून्या **विज्ञप्तिरेव तन्मात्रं तत्रापि** न केवलं बहिरर्थे **सर्वं** निरवशेषम् अनन्तरं बहिरर्थदूषणं **समानम्** ततो [१३२क] बहिरर्थवत् माध्य- १० स्थ्यबद्धपरिकरेण प्रामाणिकजनेन [1]तदपि परिहरणीयमिति मन्यते । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**स्वतत्त्वम्** इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः–*"**चित्रं तदेकमिति चित्रतरं** [2]**ततः** ।"[प्र०वा० २।२००] इति वदता तन्मात्रमपि [3] चित्रमेकं नाभ्युपगन्तव्यं किन्तु निरंशमेकम्, तथा च *"**चित्रप्रतिभासापि एकैव बुद्धिः**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि [4] स्ववचनविरुद्धम् । तन्न नीलादिसुखादिशरीरव्यतिरिक्तम्, परस्य अनभ्युपगमात्, अन्यथा *"**न नीलादिसुखादि-** १५ **शरीरव्यतिरिक्तं जडार्थग्राहकमस्ति**" इति प्र ज्ञा क र गु प्त स्य [5]वचनं न सुभाषितं स्यात् । अप्रतिभासनाच्च, अन्य [था] ब्रह्मप्रतिभासोऽपि कथं निराक्रियेत ? ततो नीलादिसुखादिशरीरस्वभावं तदित्यभ्युपगन्तव्यम् । **तस्य च स्वतत्त्वम्** आत्मस्वभाव (वं) क्षणिकनिरंशपरमाणुपरिमाणं **मुक्त्वा** विहाय **अन्यथैव** स्थिरस्थूलसाधारणात्मना **प्रतिभासनात्** । उक्तं च अत्रैव–*"**पश्यन् स्वलक्षणान्येकं स्थूलम्**" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादि । इतरथा यदुक्तं २० प्र ज्ञा क रे ण–*"**तदेतन्नूनमायातम्**" [प्र०वा० २।२१०] [6]इत्यादिना परमाणुप्रतिभासं व्यवस्थापयतो (ता) 'अतिसूक्ष्मेक्षिकया विचारयतोऽपि स्थूलैकप्रतिभासो नति (नाति) वर्त्तते' इत्याशङ्क्य *"**मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवद् असत्त्वेऽप्यदोषः**"[प्र०वार्तिकाल० ३।२११] इति [7] तदनवसरं स्यात्, स्वतत्त्वावभासे तदयोगात् ।

यत्पुनरुक्तं तेनैव–*"**यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादि, अवभासते च नीला-** २५

---

(१) विज्ञप्तिमात्रमपि । (२) "चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः । ···चित्रं नीलपीताद्यात्मकं तत् पतङ्गादिकमेकमिति चेत्; इदम् 'चित्रमेकम्' यदुच्यते तत् ततः चित्रपतङ्गादपि चित्रतरम् आश्चर्यतरम् । चित्रमिति नानारूपाणि तदेव पुनरेकमुच्यत इत्युपहसति ।"–प्र० वा० मनोरथ० । (३) विज्ञप्तिमात्रमपि । (४) प्रज्ञाकरोक्तम् । (५) "नीलादिसुखादिव्यतिरेकेणापरस्य ज्ञानाकारस्यानुपलक्षणात्" (पृ० ३४५) "यथा च न सुखादिव्यतिरेकेणापरं विज्ञानं तथा नीलादिव्यतिरेकेणापि ।" (पृ० ४०९, ४५४) । "नीलाद्य व्यतिरेकेण विषयिज्ञानमीक्ष्यते" (पृ० ४०६) "न हि सितासितादिव्यतिरेकेणापरा ग्राहकादिता प्रतिभासमानोपलभ्यते ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३७८ । (६) "इदं वस्तुबलायातं यद् वदन्ति विपश्चितः । यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥"–प्र० वा० । (७) उत्तरं प्रदत्तं तदनवसरं स्यात् ।

दिकम्" इति; तदनेन [१३२ख] निरस्तम्; निरंशपरमाणुस्वभावस्य नीलादेः साध्यधर्मित्वे सुखादेश्च दृष्टान्तत्वे[1] साध्यधर्मिप्रभृति सर्वमसिद्धम् अप्रतिभासनात्। चित्रैकरूपस्य तत्त्वे[2] सर्वं सिद्धं विपर्ययात्, इदं त्वसिद्धम्–'तज्ज्ञानम्' इति, तत्र[3] तदसंभवाद् अनभ्युपगमात्, [4]परस्य चित्रैकज्ञानसिद्धेः। तत (तद)न्यत्र निरंशे वस्तुनि ज्ञानत्वं साध्यो धर्मो वर्त्तते अन्यत्र साध्यधर्मी
५ दृष्टान्तधर्मी च यत्र साध्यधर्मो वर्त्तते इति न किञ्चिदेतत्।

ननु च नीलादेर्यद्यपि स्थूलादिरूपेण स्वतत्त्वं मुक्त्वा अवभासनं तथापि न स्वसंवेदनरूपतया, अतः तया तस्य सत्यसत्य (सत्यताऽसत्यता) वा न प्रकृतरूपेणेति चेत्; अत्राह–**यथाकथञ्चित्** इत्यादि।

[यथाकथञ्चित्तस्यात्मरूपं मुक्त्वावभासिनः।
१० **स्यादन्तः सत्याकारो ज्ञानस्य बहिर्न किम् ॥२०॥]**

तस्य नीलादिसुखादिमात्रस्य। कथम्भूतस्य? **अवभासिनः** प्रतिभासवतः तच्छीलस्य वा। किं कृत्वा? **आत्मरूपं मुक्त्वा** अद्वयस्वभावं विहाय। कथमवभासिनः? **यथाकथञ्चिद्** येन केनचित् स्थूलादिग्राह्यादिप्रकारेण, **सत्याकारो (रः)** चित्स्वसंवेदनरूपतया न स्थूलादिरूपतया **स्यात्** भवेत्। कस्य? **ज्ञानस्य**। क्वान्तः (क्व? **अन्तः**) स्वस्व-
१५ रूपे तथा सन्ति (सति) विभ्रमेतररूपतया चित्रमेकं ज्ञानं स्यादिति मन्यते। भवत्वेवं को दोष इति चेत्; अत्राह–**बहिः** बाह्यं वस्तुनः किं स्यादेव सत्याकारं विभ्रमे(मै)कम्। अथवा **तस्य** ज्ञानस्य **सत्याकारः** [१३३क] **कथञ्चि**न्नीलादिरूपतया न स्थूलादिरूपतया न किञ्चित् स्यादेव। क्व? **बहिः**। तथा च सौत्रान्तिको विजयते न योगाचारः, तस्य क[थ]ञ्चित् जाग्रद्दशासम्बन्धितया न स्वप्नाद्यवस्थासम्बन्धितया। ततो [5]निराकृततो निराकृतमेतत्–*"**निराल-**
२० **म्बनाः सर्वे प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्।**" [प्र० वार्त्तिकाल० ३।३३१] *"**विवादगोचरापन्नो ग्राह्याकारोऽसत्यः तथा स्वप्नदृष्टतदाकारवत्**" इति[6]। कथम्? ज्ञानस्य स्थूलाद्याकारवत् प्रतिभासनात् स्वसंवेदनाकारस्यापि सत्यताविरहप्रसङ्गात् बहिरर्थवत् न तदाकारसिद्धिः स्यादिति।

कारिकायाः सुगमत्वाद् व्याख्यानमकृत्वा [7]क र्ण क मतप्रवेशार्थं पूर्वोक्तमुपसंहरन्नाह–
२५ **यथा** इत्यादि।

(१) साध्यधर्मित्वे दृष्टान्तत्वे च। (२) प्रतिभासनात्। (३) निरंशज्ञानात्मके तद्व्यवहाराभावादिति भावः। (४) प्रज्ञाकरस्य। (५) 'निराकृततो' इति पदं पुनरुक्तम्। (६) "न नीलाद्यतिरेकेण ग्राह्यत्वमपरं क्वचित्। नीलादिता च विभ्रान्तविज्ञानेऽप्यवभासनात् ॥ पुरः स्फुटावभासित्वं भ्रान्तेर्वा न किमीक्ष्यते। तस्मान्न किंचिद् ग्राह्यत्वं यद् भ्रान्तादतिरिच्यते ॥" (पृ० १७७)। "नीलादयो हि स्वप्नप्रतिभासवदसत्याः" (पृ० १८५) "ग्राह्यता प्रतिभासादन्या नास्ति" (पृ० १९६। २९५)। "तस्मादनादितथाभूतानुमानपरम्पराप्रवृत्तमनुमानमाश्रित्य बहिरर्थकल्पनायां ग्राह्यग्राहकसंवेदनकल्पनाप्रवृत्तेः ग्राह्यादिकल्पना। परमार्थतः संवेदनमेवाविभागमिति स्थितम्" (पृ० ३९८) "ग्राह्यग्राहकभावो हि नैवास्ति परमार्थतः। अपरप्रत्ययं रूपमतद्व्यावृत्तितस्तथा ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ०४२७। (७) कर्णकगोमिनामा प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीकाकारो बौद्धाचार्यः।

[यथार्थरूपं बुद्धेर्वितथप्रतिभासनात् ।
अविशेषात् स्वरूपं च न सिध्यति ततस्तथा ॥२१॥

स्वरूपमन्तरेण विभ्रमप्रतिभासासंभवादसमानम् , विषयाभावेऽपि बहुलं तथोपलब्धेः ।]

यथा येन प्रकारेण **बुद्धेर्वितथप्रतिभासनात्**[1] हेतुना ततः तद्वा आश्रित्य सौत्रान्तिकस्य[2] **अर्थरूपम्** अर्थस्य अचेतनस्य घटादे रूपम् अनेकक्षणिकनिरंशपरमाणुलक्षणं **न सिध्यति तथा** योगाचारस्यापि **स्वरूपं च ततो** बुद्धेर्न सिध्यति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**[अविशेषात्]** विशेषाभावात् वस्तुस्वभावपरिहारेण प्रतिभासस्य उभयत्र समत्वात्। यथा वा तेन बहिः स्थूलैकाकारो नेष्यते तथा योगाचारेणापि अन्तः । अथवा, **यथा बुद्धेर्वितथप्रतिभासनात्** स्वप्नादिदशायाम् **अर्थरूपं न सिध्यति** अविशेषेण नैयायिकादेः ५ १० तथा **स्वरूपं च** स्वसंवेदनं च **बुद्धेर्न** [१३३ख] सिध्यति अविशेषेण योगाचारस्य । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**अविशेषात्** विशेषाभावात् अर्थज्ञानपक्षयोः, एकत्र[3] स्वप्नादिः अन्यत्र ग्राह्याकारो दृष्टान्त इति मन्यते ।

कल्लकस्तु आह–**स्वरूपमन्तरेण** इत्यादि । बुद्धेः यत्स्वरूपमात्रा (मात्रं) साक्षात्करणलक्षणं तदन्तरेण **विभ्रमस्य** भ्रान्ताकारस्य यः **प्रतिभासः** तस्य **असंभवात्** , स्वतः तस्य १५ प्रतिभासे विभ्रमाऽयोगादिति मन्यते । **असमानं** स्वपरपक्षयोः अविशेषोऽसिद्ध इति । तथा प्रयोगः– अस्ति बुद्धेः स्वरूपं विभ्रमप्रतिभासाऽन्यथानुपपत्तेः । उक्तं च–***"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य[4] नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति"** इति । नन्वेवम् अर्थरूपमन्तरेणापि [5]तत्प्रतिभासासंभवात् ततस्तत्सिद्धिः[6] कस्मान्नेति चेत् ; अत्राह–**विषय** इत्यादि । **[विषयस्य]** घटादेरभावेऽपि न केवलं भावे **बहुलं तथा** विषयग्राहकत्वेन **उपलब्धे**र्बुद्धेः सर्वत्र सर्वदा तथा सेति मन्यते । **'असमानम्'** इत्येवं चेत् ; २० अत्र दूषणमाह–**अन्यथा** इत्यादि ।

[[7]अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिध्यति ।
चित्सामान्यविदा युक्तं स्वार्थसामान्यमीक्षितुम् ॥२२॥

कथञ्चिदसिद्धात्मनो बुद्धेः कथमसाधारणं रूपमनुमीयते ? यतः संभाव्यं स्यात् । स्वतस्तच्चिद्रूपसिद्धौ संभावितासाधारणात्मनः साकल्येन यत् सत्तत्सर्वं सामान्यविशेषात्मकमिति व्याप्तिसिद्धौ कथं द्रव्यस्य परमार्थस्यापि बहिरर्थस्य प्रत्यक्षप्रतिपत्तिरपह्नूयेत ? २५

(१) "यथास्वं प्रत्ययापेक्षादविद्योपप्लुतात्मनाम् । विज्ञप्तिर्वितथाकारा जायते तिमिरादिवत् ॥"–प्र० वा० ३।२१८ । (२) सौत्रान्तिकेन । (३) अर्थपक्षे । (४) अप्रत्यक्षश्चासौ उपलम्भश्च तस्य अस्वसंविदितज्ञानस्य इत्यर्थः । तुलना–"अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थवित्तिः प्रसिध्यति ।"–तत्त्वसं० श्लो० २०७४ । उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि०प्र० पृ०८१ । प्रमेयक० पृ० २९ । सन्मति० टी० पृ० ८१ । (५) ज्ञानप्रतिभास । (६) अर्थसिद्धिः । (७) तुलना–अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिध्यति ।"–न्यायवि० १।१२ । प्रमाणनि० पृ० १२ । प्रमेयरत्नमा० ३।१५ ।

न हि अगृहीतवस्तुसामान्यं चिद्रूपमात्रं प्रत्यक्षं कर्तुमवगाहते यतस्तेन चेन्नैकान्तसिद्धिर्विशिष्येत ।]

इदमत्र तात्पर्यम्–कथञ्चिद् बुद्धेः प्रत्यक्षत्वे **'यथाकथञ्चिद्'** इत्यादि दूषणमुक्तम् इति सर्वथा [1]तदप्रत्यक्षत्वमङ्गीकर्तव्यम् , तस्मिंश्च सति न विभ्रमप्रतिभाससंभवः, परेणापि तथाभ्यु-
५ पगमात् । तथा च **अन्यथा** अन्येन बुद्धिस्वरूपाभावप्रकारेण **अनुपपन्नत्वम् आसेद्धुः** अनिश्चितस्य विभ्रमप्रतिभासस्य न **सिध्यति** । नहि असिद्धस्य वन्ध्यासुतस्य तदभाव [१३४क]-प्रकारेण 'अनुपपन्नम्' इति वक्तुं शक्यम् । अनेन अन्यथानुपपन्नत्वं हेतुलक्षणं तद्वत्त्वे सिद्धमिति दर्शयति । नहि सचेतनादिरूपेण प्रत्यक्षा बुद्धिः नापरेणेति[2] चेत ; अत्राह–**चित्सामान्य** इत्यादि । नन्वनेन **'बहिर्न किम्'** इत्यनेन दूषणमुक्तम् , तत किमर्थं पुनरुच्यते इति चेत् ;
१० न ; तेन बुद्धेर्विभ्रमाकारस्य कथञ्चिद्भेदे इदमुक्तम् , अनेन 'एकान्तेन भेदे' इति विभागात् । **चिदेव** तस्या वा **सामान्यम्** तस्य **विदा** वेदनेन बुद्धिस्वभावभूतविभ्रमाकारविवेकग्रहणविमुखचिन्मात्रग्रहणेन इत्यर्थः । **युक्तम्** उपपन्नं **स्व**ग्रहणयोग्यो योऽर्थः तस्य **सामान्यम् ईक्षितुम्** । अनेन *"**बुद्धेः कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वम्**" *"**एकस्यार्थस्वभावस्य**" [प्र०वा० ३।४२] इत्यादि च वदतः[4] पूर्वापरविरोधो दर्शितः ।

१५ कारिकां विवृण्वन्नाह–**कथञ्चिद्** इत्यादि । **कथञ्चिद्** विभ्रमाकारविवेका[दि]प्रकारेणापि **असिद्धात्मनः** सर्वथा अगृहीतरूपाया **बुद्धेः कथम् असाधारणम्** अचेतनादिव विभ्रमादपि व्यावृत्तं यदद्वयं स्वस्वं(सं)वेदनरूपं तद्विभ्रमप्रतिभासान्यथानुपपत्त्या **अनुमीयेत** न कथञ्चित् । हेतोरेव(रेवाऽ) सिद्धवा(त्वा)दिति मन्यते । यतोऽनुमीयमानत्वात **संभाव्यं स्यात् 'असाधारणं रूपम्'** इति सम्बन्धः । स्यान्मतम्–तस्याः[5] सच्चेतना[दि] रूपं स्वतः
२० सिद्धम् ; इत्याह–**स्वतः** इत्यादि । **स्वतो** नान्यतः **तस्याः चिदेव रूपं** तस्य **सिद्धौ** अङ्गीक्रियमाणायां **'बुद्धेः'** इति सम्बन्धः । कथम्भूतायाः ? इत्यत्राह–**संभावित** इत्यादि । **संभावितः** अनुमेयः **असाधारणः** [१३४ख] **आत्मा** यस्याः सा तथोक्ता तस्यां (तस्याः) किम् ? इत्यत्राह–**साकल्येन** इत्यादि । **साकल्येन** बहिरन्तश्च **यत् सत् तत्सर्वं सामान्यविशेषात्मकम्** इत्येवं **व्याप्तिसिद्धौ कथं** प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षाः (क्षा) वा प्रतिपत्तिः **प्रत्यक्षप्रतिपत्तिः अपह्नूयेत** ? नैव ।
२५ कस्य ? इत्याह–**बहिरर्थस्यापि** न केवलं ज्ञानस्यैव । कथंभूतस्य ? इत्याह–**संभावित** इत्यादि । पुनरपि कथंभूतस्य ? इत्याह–**द्रव्येत्यादि परमार्थस्य** इति पर्यन्तम् । ननु यदि नाम न बुद्धिः प्रत्यक्षसं[illegible], बहिरर्थस्य किमायातं, येन सोऽपि[6] तथा स्यादिति चेत् ; अत्राह–**न हि अगृहीत** इत्यादि । **न हि प्रत्यक्षं कर्तु(तुम)वगाहते** विषयीकरोति । किम् ? इत्याह–**[illegible]मात्रम् चित्स्वसंवेदनलक्षण** (णं) **रूपं** यस्य भावस्य स तथोक्तः स एव **तन्मात्रं** कर्म[7]
३० [illegible]नसामान्यमिति यावत् । कथंभूतम् ? इत्याह–**अगृहीतवस्तुसामान्यम्** अगृहीतं बाह्यवा-

(१) बुद्धेरप्रत्यक्षत्वम् (२) विशेषाकारेण । (३) "प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् । कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ।" इति शेषः । (४) बौद्धस्य । (५) बुद्धेः । (६) बहिरर्थोऽपि । (७) विषयभूतम् ।

(बाह्यवस्तु) सामान्यं येन तत्तथोक्तम्। गृहीतवस्तुसामान्यमेव तत्[1] [2]तदवगाहते इति भावः। अनेन प्रत्यक्षसिद्धम् उभयत्र सामान्यं दर्शयति। **यतस्तेन** तन्मात्रावगाहनात् **चेत-नैकान्तसिद्धिर्विशेष्येत** भिद्येत अर्थसिद्धेः। **यतः** इति वा आक्षेपे, [सं]भावितेत्यादि। एतदुक्तं भवति–यथा व्यापकस्य चिद्रूपमात्रस्य अनुपलब्धौ तद्व्याप्यस्य संभाविताsसाधारणरूपस्य विभ्रमाकारविवेकलक्षणस्य अनुपलब्धिः तथा [१३५क] प्रकृतमपि इति यदुक्तं[3] प्र ज्ञा क रे ण– ५
*"अतीतानागतावस्थानामग्रहणेऽपि तदवस्थाता[4] गृह्यते"[5] इत्यत्र *"कथं व्याप्याऽप्रति-पत्तौ तद्व्यापकप्रतिपत्तिः" [प्र० वार्तिकाल० १।४४] इति; तदनेन निरस्तम्; विभ्रमाकारविवेकाप्रतिपत्तावपि तद्व्यापकचिद्रूपमात्रप्रतिपत्तिवद् विशेषाऽग्रहणेऽपि तद्व्यापकसामान्यप्रतिपत्तिसंभवात्। ननु बहि[ः] व्यापकोपलब्धावपि विशेषाणां[6] यन्नदर्शनं कथं '[7]तस्य ते' इति प्रतिपत्तिः? पुनस्तत्र[8] दर्शनादिति चेत्; पुनस्तत्र दर्शनं कुतः सिद्धम्? न तावत् पूर्व- १०
प्रत्यक्षात्; तस्य पश्चाद्भावात् [9]तत्राऽप्रवृत्तेः। नापि उत्तरप्रत्यक्षात्; अस्य पूर्वमभावात् व्यापकेऽप्रवृत्तेः। न च तत्समुदायात्; क्रमभाविनोः तदसंभवात्। उभयकालभावि च तदेकं क्रमभाविचक्षुरादिव्यापारचर्चितं न चारु चर्चनमर्हति। [10]तद्ग्रहणोपायासंभवाच्च [11]आत्मसत्तामात्रस्याऽविशेषात्, न ततः तत्सिद्धम् प्रत्यक्षपर्यायस्य कृतोत्तरत्वात्।

एतेन अनुमानमपि चिन्तितम्; तत्र [12]तदभावेऽस्याभावादिति[13] चेत्; अत्राह–**'चिद्रू-** १५
पम्' इत्यादि।

> **[चिद्रूपं सर्वतोऽभिन्नं पश्यतः परमार्थतः।**
> **तद्विशेषो यथा वेद्यस्तथा बहिरुपेयताम् ॥२३॥**

कुतश्चिदपि स्वयमव्यावृत्तं सामान्यं पश्यन्नेव आत्मा गृहीतुं प्रयतमानः अचेतन-व्यवच्छिन्नं चैतन्यं द्रव्यं क्रमेण गृह्णीयात्। ततः प्रत्यक्ष आत्मा स्वयमविप्रतिषिद्धः २०
यथासामर्थ्यमन्तर्गृह्णाति तथा च बहिरित्यवगन्तव्यम्। प्रत्यक्षपरोक्षैकात्मनः प्रमेयस्य बहिः प्रतिपेद्धुमशक्यत्वात्। कथञ्चिदप्रत्यक्षत्वे कुतो वस्तु संभावयेत् लिङ्गादेरसिद्धेः गाढनिद्राक्रान्तवत्।]

चितो बुद्धेः रूपं स्वभावः। कथम्भूतम्? **अभिन्नम्** अव्यावृत्तम्। कुतः? **सर्वतः** सजातीयाद् विजातीयाच्च सत्सामान्यं तस्यैव [14]तथाविधत्वादिति मन्यते। **पश्यतः** २५
विकल्पदर्शनेन विषयीकुर्वतः सौगतस्य **तद्विशेषः** तस्य चित्सम्बन्धिनः तत्सामान्यस्य विशेषः चैतन्यादिलक्षणः वृत्तौ वक्ष्यमाणो भेदः **यथा** येन प्रकारेण **वेद्यो** ग्राह्यः **'परमार्थतः'** इति

(१) प्रत्यक्षम्। (२) चिद्रूपमात्रम्। (३) "अथावस्थानामग्रहणे न (पि) पूर्वापरव्याप्तिप्रतीतिः; अवस्थाऽग्रहणेऽवस्थातृप्रतीतिः कथं भवेत्। व्याप्याप्रतीतावन्यस्य व्यापकत्वाप्रतीतितः॥"–प्र० वार्तिकाल०। (४) आत्मा। (५) इति शङ्कायामुक्तम्। (६) व्याप्यभूतानाम्। (७) व्यापकस्य सामान्यस्य ते विशेषा इति। (८) व्याप्ये। (९) व्याप्ये। (१०) उभयकालभाविनः एकस्य ग्राहकप्रमाणाभावात्। (११) क्रमभाव्युभयव्यापिनः एकस्य सिद्धौ तथाभूतस्यात्मनोऽपि सिद्धिः स्यादिति भावः। (१२) प्रत्यक्षाभावे। (१३) अनुमानस्याप्यभावादिति। (१४) सर्वतोऽव्यावृत्तत्वात्।

तन्मध्येकरणात् उभयत्र सम्बन्धनीयम् । [१३४ ख] **तथा** तेन प्रकारेण **बहिः** बहिरर्थे(र्थः) **उपयन्** सत्सामान्यं पश्यतोऽर्थस्य तथा विशेषो वेद्यः निदर्शनम् अनन्तरनीत्या प्रसाधितं न पुनः प्रसाध्यते ।

कुतश्चित् इत्यादिना कारिकार्थमाह--**कुतश्चिदपि** न केवलम् एकस्मात् **स्वयम्** आत्मना
५ **अव्यावृत्तं**, किम् ? **सामान्यं पश्यन्नेव** । किं कुर्यात ? इत्याह–**गृह्णीयात्** । किम् ? **चैतन्य**-कर्म तद्विशेषम । कथम्भूतं तत ? इत्यादि (इत्याह) **अचेतनव्यवच्छिन्नम्** । कोऽसौ गृह्णीयात् ? इत्याह–**आत्मा** जीवः । पुनरपि किं कुर्वन ? इत्याह–**प्रयतमानः** । किं कर्तुम् ? इत्याह–**गृहीतुं 'चैतन्यम्'** इति सम्बन्धः । पुनरपि कथंभूतम ? इत्याह–**द्रव्य** इत्यादि । कथम् ? **क्रमेण** । **ततः** तस्मादूर्ध्वं, कथंभूतः ? इत्याह–**प्रत्यक्ष** इत्यादि । दृश्यस्वभाव इत्यर्थः । ननु आत्मनो
१० नित्यत्वात् कथमेतदिति चेत ; अत्राह–**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना **अविप्रतिपिद्धोऽनिरा-कृतः** प्रथमप्रस्तावेऽत्र च चिन्तितमेतत । तर्हि तस्याविशेषात सर्वं सर्वदा सर्वत्र गृह्णीयादिति चेत् ; अत्राह–**यथा** इत्यादि । **सामर्थ्यस्य** अनतिक्रमेण गृह्णाति । एतत प्रकृते योजयन्नाह–**यथा** इत्यादि । **यथा** येना(न) व्यापकग्रहणपूर्वव्याप्यग्रहणप्रकारेण, यदि वा **यथा** शक्तिग्रहणप्रकारेण **अन्तर्गृह्णाति तथा च** तेनैव प्रकारेण [**बहिः**] गृह्णाति इत्येवम् अवगन्तव्यम् । तथा च यदुक्तं
१५ प्रज्ञाकरेण–*"**यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादि, अवभासते च नीलादिकम्, जडस्य प्रतिभासायोगात्**" इति; तदनेन [१३६क] निरस्तम्; ज्ञानवत् जडस्यापि [प्रति]भासा-विघातात् । अयं तु विशेषः–ज्ञानस्य स्वतः इतरस्य परतः इति । न च तदपह्नवो युक्तः,'स्तम्भा-दिकमहं वेद्मि' इति प्रत्ययात तत्प्रतीतेः, अन्यथा नीलादौ कः समाश्वासः ? 'कथं स[3] तस्य ग्राहकः' इत्यपि न चोद्यम ; 'स्वरूपस्य कथं ग्राहकः' इत्यपि चोद्यप्रसङ्गात् । स्वरूपवत् पररूप-
२० स्यापि ग्राहकः प्रतीयते इति न विशेषः । शेषं पुनरत्र परस्य भाषितम्–कार्यकारणभावम् अनु-मान-समारोप-व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदकभावं चित्रैकज्ञानाद्वैतम् अन्यद्वा विज्ञप्तिमात्रेऽपि निराकरोति इति निरूपयिष्यते ।

यत्पुनरेतत्–*"**नीलादि ज्ञानं चक्षुरादिव्यापारानन्तरम् उप[लभ्य]मानत्वात् तद्ग्राहकाभिमतज्ञानवत्**" इति ; तत्र 'तन्न नीलं तद्व्यापारानन्तरम् उपलभ्यमानत्वात
२५ **शङ्खवत्**' इत्यस्यापि प्रसङ्गः । प्रमाणबाधनमुभयत्र ।

किञ्च, चक्षुरादेर्बहिरर्थत्वे दर्शनाभावेन न तद्व्यापारानन्तरं[10] तदुपलम्भ इति **हेतोर-सिद्धिः** दृष्टान्तस्य च साधनविकलता, [11]अन्यस्य चक्षुरादेर्लिङ्गस्य वा व्यापारानन्तरं तदुपलम्भ-**भावे वा** प्रकृतहेतोर्व्यभिचारः, [12]ज्ञानत्वे तद्व्यापारानन्तरं नीलाद्युपलम्भेऽपि न परस्य[13] [14]तज्ज्ञा-

(१) आत्मनो नित्यस्य । (२) परतः । (३) प्रतिभासः । (४) जडस्य । (५) बौद्धस्य । (६) अनुमानेन समारोपस्य व्यवच्छेदः क्रियते इति तयोः व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावः । (७) तुलना–"नीलाद्व्यतिरेकेण विषयि ज्ञानमीक्ष्यते । ज्ञानपृष्ठेन भेदस्तु कल्पनाशिल्पिनिर्मितः ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ४०६ । (८) 'नीलं न नीलम्' इत्यप्यनुमानं स्यादित्यापादयति । (९) चक्षुरादि । (१०) नीलाद्युपलम्भः । (११) भिन्नरूपेण । (१२) चक्षुरादीनां ज्ञानत्वे । (१३) द्वितीयस्य । (१४) तद्ग्राहकाभिमतस्य ज्ञानस्य ।

नस्य उपलम्भ इति दृष्टान्ताऽसिद्धिः । अथ अर्थवादिनः [1]तत् सिद्ध[मि]ति न दोषः ; तद् यदि प्रमाणतः सिद्धम् ; सौगतस्यापि सिद्धम् , प्रमाणस्य क्वचित् पक्षपाताभावात् । तथा च *"न नीलादेः परं ग्राहकम्" इत्यस्य व्याघातः । यदि पुनः अप्रमाणतः; तर्हि न निदर्शनम् ; [१३६ ख] अप्रमाणसिद्धस्य तदयोगात् हेतुवत् , [2]इतरथा [3]चाक्षुषत्वादिकमपि हेतुः स्यादिति यत्किञ्चिदेतत् । ५

यत्पुनरेतत्[4]–*"जाग्रत्स्तम्भादि ज्ञानम् वासनाकार्यत्वात् कामशोकाद्युपप्लुतदृष्ट-कामिन्यादिवत्" इति ; तदपि न सारम् ; यतः तस्य [5]परं प्रति [6]तत्कार्यत्वासिद्धेः । ततः सूक्तम्–'यथा अन्तः' इत्यादि । एवमपि [न] बहिरर्थस्य सामान्यविशेषात्मकस्य प्रति-भासनं तस्य वा संभवो निषेधादिति चेत् ; अत्राह–प्रत्यक्ष इत्यादि । प्रत्यक्षो यः सामान्यरूपः स्वभावभेदः वस्तुन आत्मभूतो विशेषः संभाव्यः, यश्च (श्च) परोक्षा (क्षो) असाधारणलक्षणः १० स्वभावभेदः तयोः एकः साधारण आत्मा स्वभावो यस्य स तथोक्तः तस्य । कस्य ? प्रमेयस्य बहिर्ग्राह्यस्य प्रतिपद्येत निराकर्तुमशक्यत्वात् अन्यथा तथा वित्तेरपि निषेधः स्यादिति मन्यते । तर्हि बहिरन्तर्वा असाधारणरूपेणेव साधारणेनापि रूपेण अप्रत्यक्षताऽस्त्विति चेत् ; अत्राह–कथञ्चिद् इति । अप्रत्यक्षत्वे वस्तुनः प्रत्यक्षत्वाभावे कुतो लिङ्गादेर्न कुतश्चित् संभावयेद् वस्तु अनुमानेन विपर्यीकुर्यात् लिङ्गादेरसिद्धेः कथञ्चिदसाधारणवद् गाढनिद्राक्रान्त इव तद्वदिति । १५

प्रस्तावार्थोपसंहारकारिकां 'सद्रूपम्' इत्यादिकामाह–

[सद्रूपं सर्वतो वित्तेः तद्विविक्तं विवेचयेत् ।
चिदात्मा परिणामात्मा पुनः कालादिभेदकृत् ॥२४॥

सर्वं चेतनेतरसामान्येन वस्तुसत्त्वं पश्यन्नेव अचेतनं चेतनाद् व्यवच्छिन्दन् परिच्छिनत्ति जनः । पुनस्तमेव अन्यतोऽचेतनाद् व्यवच्छिन्दन् तद्वर्णसंस्थानादिविशेषान् २० क्रमशः कालादिभेदेन परिच्छिनत्ति नान्यथा । अन्तरङ्गस्य प्रतिपत्तावयमेव क्रमः–स्वपरचैतन्यसामान्यमचेतनाद्विविक्तं परिच्छिद्य पुनः परस्माद् व्यवच्छिद्य क्रमेण विशेषान् परिच्छिनत्ति निष्कल [स्वभावानवधारणात् ।]

अत्रायमर्थः–चिदात्मा विवेचयेत् गृह्णीयाद् दर्शनस्वभावः । किम् ? इत्यत्राह–सत् सत्तासामान्यं [१३७क] २५

*"[7]जं सामान्यग्रहणं दर्शनमिति (सामण्णं गहणं दंसणमिदि) भण्णये समये ।" [गो०जी०गा० ४८१] इत्यभिधानात् [8]तद् वैशेषिकादिकल्पितं गृह्णीयात् ; इत्यत्राह–

(१) ग्राहकाभिमतं ज्ञानम् । (२) अप्रमाणसिद्धस्य दृष्टान्तत्वे । (३) 'अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात्' । (४) तुलना–"वासनाबलभावित्वे बोधतैव प्रसज्यते । वासना स्मृत्यभिज्ञानकारणत्वेन लक्षिता ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३१९ । (५) जैनं प्रति । (६) वासनाकार्यत्वासिद्धेः । (७) "जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं । अविसेसदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ॥"–गो० जी० । उद्धृतेयं गाथा धवला-टीकायाः सत्प्ररूपणायाम् । "जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं ।"–सन्मति०२।१ । (८) सामान्यम् ।

रूपं स्वभावम । कस्य ? इत्यत्राह–**वित्ते**र्बुद्धेः आत्मन इत्यर्थः । **पुनः** पश्चात् **तां** **विरक्तं** विभिन्नम् । कुतः ? अन्यस्मात् विजातीयादचेतनात् अवग्रहरूपः सन् विवेचयेत् , पुनः **सर्वतो** विविक्तं सजातीयाद् विजातीयाच्च आकाङ्क्षादि**परिणामात्मा** पुनश्च **कालादिभेदकृत्** कालादिभिः भेदस्य (भेदो यस्य) तत्तथोक्तम् **'रूपम्'** इति सम्बन्धः, कालादिविशिष्टं तद्
५ विवेचयेत् ।

इयम् अपरापरायोजानिका (अपरा योजनिका) **सत्सत्** इति यद्**रूपं** सर्वभावानां साधारणं तद् **विवेचयेत्** , पुनः पुद्गलेतत्स्वभावं (पुद्गलेतरस्वभावं) तद् विवेचयेत् । कथम्भूतम् ? **सर्वस्या (सर्वतः** सर्वस्मात्) **विविक्त (क्तं) वित्तेः** सकाशात् अन्यस्माद् वित्तेः अर्थान्तरात् पुद्गलान्तरादिति यावत् **सर्वतो** निरवशेषात् । पुनरपि **कालादिना भेदं** कुर्वाणा
१० (णं) **विवेचयेत्** इति ।

कारिकां विवरीतुमाह–सर्व(र्वं) इत्यादि । **सर्वं चेतर(चेतनेतर)सामान्येन** तत्साधारणत्वेन **वस्तुनः सत्त्वं पश्यन्नेव अचेतनं** पुद्गलं **परिच्छिनत्ति जनः** आत्मा वा । किं कुर्वन् ? इत्याह–**व्यवच्छिन्दन्** पुद्गलम् इति । कुतः ? **चेतनात्** , पुनरपि **तमेव अन्यतः अचेतनाद्** अर्थान्तरतः पुद्गलान्तरात् **व्यवच्छिन्दन् तस्य** पुद्गलस्य **वर्णसंस्थानादिविशेषान् क्रमशः**
१५ **परिच्छिनत्ति** । कथम् ? **कालादिभेदेन** आदिशब्देन क्षेत्रादिपरिग्रहः **नान्यथा** [१३७ख] नाऽपरेण प्रकारेण । ननु प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा कालस्याऽग्रहे कथं तद्भेदेन परिच्छिनत्तीति चेत् ; न सदेतत् ; व्यवहारकालस्य प्रत्यक्ष (प्रत्यक्षत्वात् पर) मार्थकालस्य तर्कविषयत्वात् ।

द्वितीयां कारिकायोजनिकां दर्शयन्नाह–अन्तरङ्ग इत्यादि । **अन्तरङ्गस्य** चैतन्यस्य **प्रतिपत्तौ अयमेव** नान्यः **क्रमः** । तमेव दर्शयन्नाह–**स्वपर** इत्यादि । **'सर्वं चेतनेतरसामान्येन**
२० **वस्तुसत्त्वं पश्यन्नेव'** इत्यनुवर्त्तते । ततोऽयमर्थः–तत्सामान्येन तत्पश्यन्नेव **स्वपरचैतन्यसामान्यम् अचेतनाद्विविक्तं परिच्छिद्य पुनः परस्माद्** आत्मान्तराद् आत्मानं **व्यवच्छिद्य क्रमेण विशेषान्** अवग्रहादीन् स्वभावान् **परिच्छिनत्ति** इति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**निःकल** इत्यादि । सुगमम् ।

तद्भिन्नमैकान्ते बहिरर्थप्रतिपत्तिवत् सन्तानान्तरप्रतिपत्तिरपि सौगतस्य दुर्लभेति दर्शयन्नाह
२५ कारिकाम्–**'बुद्धिपूर्वाम्'** इत्यादिकाम् ।

[बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् ।
ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित् ॥२५॥

---

(१) व्याख्या । (२) तत् सत् द्विविधं पुद्गलात्मकम् पुद्गलभिन्नजीवादिरूपं च इत्यादिरूपेण । (३) कालादिभेदेन । (४) पलघटीमुहूर्तादिरूपस्य । (५) कालाणुरूपस्य । (६) अनुमान । (७) चेतनेतरसामान्येन । (८) वस्तुसत्त्वम् । (९) "उक्तं च–बुद्धिपूर्वां···मन्यते बुद्धिसद्भावः सा न येषु न तेषु धीः ॥" –स० वा० १ ० २६ । धर्मकीर्तिकृतसन्तानान्तरसिद्धौ प्रथमश्लोकोऽपि ईदृश एव । पूर्वार्धः–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ३०३ ।

स्वयं व्यापारव्याहारनिर्भासविज्ञानस्यैव साक्षात् चिकीर्षाविवक्षाप्रभवनियमः संभाव्येत इति कल्पने प्रमाणाभावात्। बुद्धिपूर्वा क्रियैव व्यापारव्याहारात्मिका परोक्षबुद्धेर्हेतुरिति स्वल्पमुक्तम्, आकारविशेषस्यापि हेतोरविप्रतिषेधात्। सुषुप्तादौ तयोरभावेऽपि कथमयं स्वभावविप्रकर्षिणाम् इन्द्रियायुर्निरोधमनुपलब्धेर्विजानीयात्? यतः स्थावरेषु तन्निरोधलक्षणस्य मरणस्य असंभवमाचक्षीत। यदि पुनरायुर्निरोधमेव मरणं किं स्याद्यतस्तद् विज्ञानादिनिरोधेन विशिष्यते? न जाने अहमपि ईदृशम्। तदयं स्ववेदनमद्वयं परिच्छिन्नव्यवधानमलक्षयन् परचित्तमत्यन्तपरोक्षं कुतश्चित् परिच्छिनत्ति व्यवच्छिनत्तीति च निष्प्रमाणिकैवास्य प्रवृत्तिः।] ५

बुद्धिः पूर्वं कारणं यस्याः ताम्। काम्? **क्रियाम्**। किम्? **दृष्ट्वा**। क्व? **स्वदेहे**। **अन्यत्र** परदेहे **तद्ग्रहात्** बुद्धिपूर्वक्रियाग्रहात् **'ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र'** इति पदघटना। कैः? **अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्** तमात्रे (तन्मात्रे) बुद्धिसामान्ये न विभ्रमैः न नानाविभ्रमैर्ज्ञायते (?) तल्लिङ्गस्य वाहारादेरर्थवदसितिभासवहारादि (व्याहारादेरर्थवदसत्त्वात्, व्याहारादि) प्रतिभासस्यापि निरालम्बनत्वादिति मन्यते। १०

स्यान्मतम्–जाग्रद्दशायां [१३८क] व्यापा(हा)रादिनिर्भासः साक्षात् चिकीर्षादेः, अन्यत्र[1] पारम्पर्येण ततोऽयमदोष इति; तत्रोत्तरमाह–**स्वयम्** इत्यादि। **स्वयम्** आत्मना **व्यापारः** कायस्य चेष्टा **व्याहारो** वचनस्व (वचनं च) तयो**र्निर्भासो** यस्मिन् **विज्ञाने** तत् तथोक्तं **तस्यैव चिकीर्षाविवक्षाप्रभवनियमः सम्भाव्येत**। कथम्? इत्याह–**साक्षात्** इत्येवं **कल्पने प्रमाणाभावात्**। १५

यस्तु प्र ज्ञा क रः स्वप्नान्तिकशरीरवादी[3] स्वप्नदशायामपि व्याहारादिनिर्भासज्ञानस्यापि साक्षात् चिकीर्षादिप्रभवनियममभ्युपगच्छति; तत्र तस्य बहिर्निर्भासज्ञानस्यापि साक्षात् बहिरर्थतत्त्वप्रभवनियमसिद्धेर्विज्ञप्तिमात्रवादो निरालम्बः स्यात्। २०

यत्पुनरुक्तं तेनैव–*"**सन्तानान्तरस्यानभ्युपगमात् तदसिद्धिर्न दोषाय**" इति; तदपि न सत्यम्; यतो योगाचारं प्रत्यस्य दोषस्याभिधानात् प्रतिभासाद्वैतवादिनं प्रति विपर्ययात्–तस्य हि नियत्व (तन्नियमवत्) स्वप्रतिभासस्यापि विचार्यमाणस्य घटनायोगात् सर्वाऽभाव एव दोषः इति किं तद्दूषणाभिधानेनेति। २५

सांप्रतं सन्तानान्तरहेतोः परप्रयुक्तस्य भागाऽसिद्धता(तां) दर्शयन्नाह–**बुद्धिपूर्वा** इत्यादि। **बुद्धिपूर्वा** बुद्धिः (द्धेः) कार्यभूता **क्रियैव**, कथम्भूता? **व्यापारव्याहारात्मिका परोक्षबुद्धेः** देहान्तरबुद्धेः **हेतुः** लिङ्गम् इत्येवं **स्वल्पमुक्तम्** पक्षीकृते सर्वत्रास्या[अ]संभव इति भावः। अथ मंडादौतवः (अथ तर्वादौ नं,) स च [१३८ख] अचेतनत्वाद् विपक्ष एव न पक्ष

(१) वचनादेः। (२) सुषुप्त्यनन्तरं प्रबोधावस्थायाम्। (३) "स्वप्नान्तिकशरीरसञ्चारदर्शनात्..." –प्र० वार्तिकाल० २।५४, पृ० ७२। "यथा स्वप्नान्तिकः कायस्त्रासलङ्घनधावनैः। जाग्रद्देहविकाराय तथा जन्मान्तरेष्वपि॥"–प्र० वार्तिकाल० २।३७। (४) अनेकविज्ञानसन्तानवादिनं प्रति। (५) सन्तानान्तरासिद्धिप्रसङ्गरूपेण। (६) व्यापारव्याहारात्मिका क्रिया।

इति; तत्रोत्तरमाह–**[आ]कारविशेषस्यापि** इत्यादि । न केवलं तत्क्रिया[या]एव, कस्यचित् लोकप्रसिद्धस्य अनुमेयबुद्धिसहचरस्य धर्मान्तरधर्मस्यादिः (धर्म्यन्तरधर्मस्यापि) सम्बन्धिनः चैतन्यस्य हेतोः लिङ्गस्य **अविप्रतिषेधात्** । एतदुक्तं भवति–तत्र चैतन्याभावे स विपक्षः स्यात् । न चैवम्, तद्व्यवस्थापकप्रमाणान्तराभावादिति ।

५ किञ्च, तत्क्रियातः परदेहे चैतन्यरहितं (चैतन्ये तद्रहितं) तद्विपक्षः, न वा(चा)स्य तत्र चैतन्याभावग्राहकमस्तीति दर्शयन्नाह–**सुषुप्तादौ** इत्यादि । **स्वभावविप्रकर्षिणां** 'पक्षसपक्षाभ्याम् अन्यस्य' इति वक्तव्ये 'इन्द्रियायु'ग्र(र्ग्र)हणम् उत्तरदूषणदित्सया, **कथं** केन प्रकारेण न केनचिद् **अयं** सौगतः **निरोधम्** अभावं **विजानीयात्** यतः कश्चिद् विपक्षः स्यात् । कुतो न विजानीयात् ? इत्यत्राह–**अनुपलब्धि(ब्धेः)** इत्यादि । ननु तत्कार्यस्य व्याहारादेरदर्शनात्

१० निरोधं विजानीयादिति चेत् ; अत्राह–**सुषुप्तादौ** । आदिशब्देन मूर्च्छितादिपरिग्रहः **तयोर्व्यापारव्याहारयोरभावेऽपि** ।

ननु तस्याः क्रियायाः अभावेऽपि 'तदभावेऽपि' इति वक्तव्ये किमर्थम्–'**तयोः**' इति वचनम् ? असन्देहार्थम्, इतरथा आकारविशेषस्य अभावेऽपि 'तदभावेऽपि' इत्यपि मतिः स्या भावान् (स्यात् । भवान्) **कथं** तेषां तं '**विजानीयात्**' इति सम्बन्धः । एवं मन्यते [१३९क]

१५ प्रतिबद्धसामर्थ्यस्य कार्याऽभावादभावावगतिः, न चैवं चैतन्यमिति ।

प्रज्ञाकरस्त्वाह–*"तत्रापि चैतन्यस्याभावे(वः) अन्यथा अवस्थाचतुष्टयाभावः" इति ; न स युक्तकारी ; प्रबोधाऽभावप्रसङ्गात् , विनष्टात् कारणात् कार्यानुत्पत्तेरिति निवेदयिष्यते अत्रैव अनन्तरप्रस्तावे । तेषां निरोधमजानतां यदपरं प्राप्तं तद्दर्शयन्नाह–**यतः** इत्यादि । **यतो** यस्मात् निरोधविज्ञानात् **स्थावरेषु** तर्वादिषु **तन्निरोधलक्षणस्य असंभवं मरणस्य आच-**

२० **क्षीत** । **यत** इति वा आक्षेपे नैव आचक्षीत ।

अत्र पार्श्ववर्ती कश्चिदाह–**यदि पुनः** इत्यादि । **यदि पुनः आयुर्निरोधमेव मरणम्** ; **किं स्यात्** किं दूषणं भवेत् **यतो** दूषणात् **तन्मरणं विज्ञानादिनिरोधेन** आदिशब्देन इन्द्रियनिरोधेन **विशिष्यते** इति ? अत्र आचार्यो दूषणमपश्यन् आह–**न** इत्यादि । **न जानेऽहमपि** न केवलम् अन्यो न जानाति **ईदृशं** परेण यादृशमुक्तम् ।

२५ उपसंहारमाह–**तद्** इत्यादिना । यत एवं **तत्** तस्माद् **अयं** सौगतः **स्ववेदनमद्वयम् अलक्षयन्** । कथंभूतम् ? इत्याह–'**परिच्छिन्न**' इत्यादि, स्वतादात्म्यव्यवस्थितमित्यर्थः । यदि वा **परिच्छिन्नं** प्रमाणेनानवगतम् (नावगतम्) स्वपरग्रहणे व्यवधानहेतुत्वाद् **व्यवधानम्** आवरणकारणं कर्म यस्येति व्याख्येयम्, स्वसंवेदनैका[न्तो]पगमादिति मन्यते । स किं करोति ? इत्याह–**पर** इत्यादि । **परचित्तम्** । कथंभूतम् ? [१३९ख] **अत्यन्तपरोक्षं कुतश्चिद्**

---

(१) बुद्धिपूर्वायाः क्रियाया एव । (२) तर्वादौ । (३) बुद्धिपूर्वक्रियातः । (४) बौद्धस्य । (५) "विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात्, तस्य च तरुष्वसंभवात् ।"–न्यायबि० ३।५९ । "विज्ञानादिनिरोधो हि मरणं बौद्धबोधतः । असिद्धं यस्य तरुषु विज्ञानं तन्मतिस्तथा ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ४६ ।

व्यापारादेः बुद्धिपूर्वका परिच्छिनत्ति स्वयं विषयीकरोति व्यवच्छिनत्ति च कुतश्चिद् वृक्षादेः व्याहारादितत्कार्याभावाद्वा इत्येवं निःप्रमाणिकैव अस्य बौद्धस्य प्रवृत्तिः 'सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्' इत्यस्मादन्य (दस्य) न्यायस्याभेदादिति मन्यते ।

ननु यदुक्तम्–'कथञ्चिदसिद्धात्मनो बुद्धेः' इत्यादि; तदयुक्तम्; सच्चेतनादिरूपेणापि तस्याः प्रत्यक्षत्वादिति चेत्; अत्राह–स्वतश्च (श्चेत्) इत्यादि । ५

[स्वतश्चेत्सर्वथा सिद्धिः बुद्धेः किं तत्र हेतुना ।
स्वतश्चेत्सर्वथाऽसिद्धिः बुद्धेः किं तत्र हेतुना ? ॥२६॥

यथैव ह्यवितर्कयतः समारोपव्यवच्छेदः न सविकल्पप्रत्यक्षमन्तरेण संभवति तथैव प्रत्यक्षविकल्पे च पुनः समारोपव्यवच्छेदस्मृतिः न कञ्चिदर्थं पुष्णाति स्वतः समारोपानुत्पादात्, कृतस्य करणाभावात्, अन्यथा कृतस्य स्वतः सिद्धौ प्रमाणान्तरानर्थक्यासंभवौ प्रतिपत्तव्यौ । निर्लोठितं चैतदिति] १०

स्वतः परनिरपेक्षा सिद्धिः ज्ञप्तिः चेद् यदि बुद्धेः सर्वथा सदादिरूपेणेव रूपान्तरेणापि किं न किञ्चित् तत्र बुद्धौ हेतुना लिङ्गेन नीलाद्याकारेणेव सर्वाकारैः तस्याः प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति भावः । तथा च *"यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादि । यद् यथाऽवभासते तत्तथैव परमार्थसद् व्यवहारावतारि यथा नीलं नीलतयाऽवभासमानं तथैव तदवतारि, १५ [अव] भासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावाः" इत्यादि[1] प्र ज्ञा क र स्य[2] विज्ञानैकान्तवादिनो न कञ्चिदर्थं पुष्णाति [3]समारोपव्यवच्छेदस्य निराकरिष्यमाणत्वादनन्तरम् । 'स्वतश्चेत् सर्वथाऽसिद्धिः बुद्धेः किं तत्र हेतुना' धर्माद्यसिद्धौ हेतोरप्रवृत्तिरिति भावः ।

सौत्रान्तिकं प्रति प्रतिपादितं दूषणं समानं योगाचारस्यापीति मन्वान आचार्यः तदेव दृष्टान्तीकृत्य 'तथैव' इत्यादिना कारिकां विवृणोति । यथैव हि [१४०क] येनैव हि प्रकारेण २० सौत्रान्तिकस्य न संभवति । किम् ? इत्याह–समारोपव्यवच्छेदः, समारोपव्यवच्छेदहेतुत्वाद् अनुमानं तद्व्यच्छेदं[4] इत्युच्यते । किमन्तरेण ? सविकल्पप्रत्यक्षमन्तरेण निर्विकल्पप्रत्यक्षाद् इत्यभिप्रायः । किं कुर्वतः ? [अ]वितर्कयतः धर्मादिकन (धर्म्यादिकम)[5] निश्चिन्वतः, न च अनिश्चितं तदनुमानाय प्रभवति, शेषमत्र चिन्तितम् । यद्वक्ष्यते–'निर्लोपि(निर्लोठि)तं चैतद्' इति । तर्हि सविकल्पकप्रत्यक्षेमति स भवति (प्रत्यक्षेऽपि न संभवति;) इत्याह–प्रत्यक्ष २५ इत्यादि । प्रत्यक्षस्य विकल्पे वा (च) भेदे च व्यवसायमकेव (यात्मके च) प्रत्यक्षे मतिः (सति) पुनः समारोपव्यवच्छेदस्मृतिः क्षणिकाद्यनुमानं न कञ्चिदर्थं पुष्णाति क्षणिकत्वादेः प्रत्यक्षतो निर्णयादिति भावः । समारोपव्यवच्छेदं करोतीति चेत्; अत्राह–स्वतः इत्यादि । स्वयं समारोपानुत्पादात्, निश्चये तदयोगात्, *"निश्चयारोपमनसोः बाध्यबाधकभावात्"[6]

(१) प्र० २ टि० १० । (२) अनुमानम् । (३) 'समारोपव्यवच्छेदं करोति' इत्याशङ्कायामाह–। (४) समारोपव्यवच्छेद इत्युच्यते कार्ये कारणोपचारात् । (५) धर्म्यादिकम् । (६) निश्चयचित्तस्य आरोपचित्तस्य च परस्परं बाध्यबाधकभावात् ।

[प्र०वा० १।५०] इति वचनात् 'न कञ्चिदर्थं पुष्णाति' इति मन्यते । तथापि तत्करणे दूषणमाह–कृतस्य करणाऽभावात् इति । अन्यथा अनेन (अन्येन प्रकारेण) कृतस्य बुद्धेः स्वतः सिद्धौ निर्णीतौ प्रमाणान्तरस्य अनुमानस्य आनर्थक्यम्, [1]असिद्धा च (द्धौ अ) संभवः तदानर्थक्याऽसंभवौ प्रतिपत्तव्यौ । निर्लोठितं चैतदिति ।

५ एवं सौगतस्य अविकल्पकमध्यक्षं निराकृत्य वैशेषिकस्य सविकल्पकं [2]तन्निराकर्तुमाह–प्रत्यक्षम् इत्यादि ।

[प्रत्यक्षं सविकल्पं चेत सामान्यसमवायिनाम् ।
अनुस्यूतिधियो न स्युरेकस्यात्र विनिश्चयात् ॥२७॥

न हि भिन्नेषु द्रव्यादिष्वनुवृत्तिज्ञानं युक्तं सदृशप्रतीतिर्वा । तदेकसम्बन्धप्रती-
१० तिरेव किन्न युज्यते भ्रान्तेरभावात् । न चैकवस्तुसम्बन्धमन्तरेण भिन्नेषु द्रव्यादिषु समानप्रत्ययो न भवति सामान्यानां स्वतः सत्त्वज्ञेयत्वादिप्रतीतेरभावप्रसङ्गात् । केषाञ्चित् स्वतः सत्त्वं नेतरेषामित्यस्यापि निष्प्रमाणिका प्रवृत्तिः, अन्यथा सामान्यसमवायानवस्थानुपङ्गात् सामान्यतद्वतोस्तादात्म्यं युक्तम् । समवायस्य समवायान्तराभावेऽपि वृत्तौ किं पुनरितरेषां तथैव वृत्तिर्न स्यात् । न च इह विषाणादिषु गौः शाखादिषु वृक्षः इति
१५ प्रतीतिः स्यात् । सामान्यसमवाययोर्व्यापित्वेऽपि क्वचिदेव समीहितप्रत्ययहेतुत्वं नान्यत्रेति वैचित्र्यसंभवे द्रव्यमेव चित्रं भवितुमर्हति । निरंशनिष्क्रियात्मनः सामान्यस्य समवायस्य च स्वविशेषव्यापित्वं कथं स्वस्थः प्रख्यापयेत् द्रव्याद्याधारभेदात् स्वरूपहानेः । तदेतत् प्रत्यक्षं द्रव्यपर्यायात्मकं युक्तम् ।]

प्रत्यक्षं सविकल्पकं (ल्पं) व्यवसायात्मकं **चेत्** यदि । केषाम् ? [१४०ख]
२० इत्याह–**सामान्य** इत्यादि । **सामान्येन समवायिनां** समवायवतां द्रव्यगुणकर्मणाम्, यदि वा, सामान्यानां समवायिनां च द्रव्य-गुण-कर्म-अन्त्यविशेषाणां समवायसम्बन्धवताम्, सामर्थ्यात् समवायस्यापि तद् इत्युक्तं भवति–*"नाऽगृहीतविशेषाणां (विशेषणा) विशेष्ये बुद्धिः" [4]इति वचनात् । समवायाप्रत्यक्षत्वे 'समवायिनां तत्' इति वक्तुशक्तेः । अत्र दूषणमाह–**अनुस्यूति** इत्यादि । सत्तासामान्येन द्रव्यगुणकर्मणाम्, [6]तैश्च तस्याः, द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्व-
२५ सामान्येन द्रव्यादीनां प्रत्येकम्, [8]तैः तस्य च, द्रव्येण गुणकर्मणाम्, तैः[10] तस्य[11], अवयविनां (अवयविना अवयवानाम्)[12], तै र्वा तस्य[13] कथञ्चित्तादात्म्येन व्याप्तयः **अनुस्यूयतः (तयः)** तासां **धियो** गृहीतयो **न स्युः**, **अत्र** अस्मिन् प्रत्यक्षे सविकल्पे सति अङ्गीक्रियमाणे वा । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**एकस्य विनिश्चयात्** इति । एकस्य इत्यत्र वीप्सा द्रष्टव्या । ततोऽयमर्थः–

(१) स्वतः असिद्धौ अनुमानस्य असंभव इति भावः । (२) प्रत्यक्षम् । (३) द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिना । (४) प्रत्यक्षम् (५) तुलना–"विशिष्टबुद्धिरित्येष नचाज्ञातविशेषणा ।"–मी० श्लो० अपोह० श्लो० ८८ । (६) प्रत्यक्षम् । (७) सत्तासामान्यस्य । (८) द्रव्यादिभिः । (९) द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसामान्यस्य । (१०) गुणकर्मभिः । (११) द्रव्यस्य । (१२) अवयवैर्वा । (१३) अवयविनः ।

एकस्य एकस्य असहायस्य असहायस्य स्वतन्त्रस्य वा सामान्यस्य द्रव्यस्य [गुणस्य] कर्मणोऽन्यस्य वा विनिश्चयात्। सन्निव (सन्ति च) ताः। ततः तदभावप्राप्तेः परस्य प्रमाणविरोध इति मन्यते। अत्रैवार्थे 'नहि' इत्यादि वृत्तिर्भविष्यति। अथवा, सामान्यानां सत्त्वादीनां या **अनुस्यूतिधियः** 'इदं सामान्यम्, इदं सामान्यम्' इति बुद्धयः, बहुवचनात् तथाभिधानानि च यानि ताः तानि **च न स्युः** इति। कुत एतत्? इत्यत्राह-**एकस्य** इत्यादि। एकस्य **एकस्य** [१४१क] अपरसामान्यसहायरहितस्य सत्त्वादिसामान्यस्य **विनिश्चयात्**। अत्रापि '**न चैकवस्तुसम्बन्धम्**' इत्यादि व्याख्यातम्। समवायिनां च या **अनुस्यूतिधियः** ताश्च **न स्युः**, बहुवचनं पूर्ववद् व्याख्येयम्। कुत एतत्? इत्यत्राह-**एकस्य** इत्यादि। **एकस्य** असहायस्य द्रव्यस्य गुणस्य कर्मणः समवायस्य अन्यस्य [च] **विनिश्चयात्**। अत्र व्याख्यानम्-'**समवायस्य**' इत्यादि। **समवायस्य वा** स्वतन्त्रस्य समवायसम्बन्धरहितस्य **विनिश्चयात्**। अत्र व्याख्यानं '**न चेह**' इत्यादि।

नहि इत्यादिना कारिकार्थमाह-**नहि भिन्नेषु**। केषु? इत्याह **द्रव्य** इत्यादि। तेषु किम्? इत्यादि(त्याह-) **अनुवृत्तिज्ञानं** 'सद् द्रव्यं सन् गुणः सत् कर्म' इत्याद्यनुगमज्ञानं **युक्तम्** उपपन्नम् **सदृशप्रतीतिर्वा** 'अनेन अयं समानः' इति बुद्धिर्वा नहि 'युक्ता' इति सम्बन्धः। यत् परस्यै युक्तं तदाह-किन्तर्हि **किन्न तेषां** द्रव्यादीनाम् **एकेन** असाधारणेन सामान्यादिना **सम्बन्धः** समवायः तस्य **प्रतीतिरेव युज्यते** नान्यानुभूतानामिक (नानामुक्तानामेक) सूत्रसम्बन्धप्रतीतिवत्। यदि वा, ते च, एकं च सामान्यादि सम्बन्धश्च समवायः तेषां प्रतीतिरेव परस्परविलक्षणानां युज्यते। ननु समवायस्य अतिसूक्ष्मत्वेन अनुपलक्षणाद् भ्रान्त्या तदनुवृत्तिज्ञानमिति चेत्; अत्राह-**भ्रान्तेरभावात्** अनुवृत्तिज्ञानविभ्रमाऽयोगात् जातितद्वताम् अवयव-अवयविनां गुण-गुणिनां क्रिया-तद्वतां सम्बन्धस्य च भेदेन निर्णये विभ्रमाऽभावात्। न वै खलु घट[१४१ख]पटयोर्भिन्नयोः निर्णये[ए]कस्यै अन्यतरानुवृत्तिप्रतीतिरिति मन्यते।

ननु यदुक्तम्-'द्रव्यादिषु भिन्नेषु अनुवृत्तिज्ञानं सामान्यनिबन्धनं न भवति' इति; तदयुक्तम्; अनुमानबाधनात् प्रतिज्ञायाः। तच्च अनुमानम्-'द्रव्यादिषु भिन्नेषु अभिन्नं ज्ञानं ततो भिन्नविशेषणनिबन्धनं तत्प्रत्ययविशिष्टप्रत्ययत्वात् पुरुषे दण्डीतिप्रत्ययवत्' इति चेत्; अत्राह-**नचैक** इत्यादि। **न च** नैव **एकेन वस्तुना** सामान्येन यः **सम्बन्धः तमन्तरेण भिन्नेषु द्रव्यादिषु समानप्रत्ययो न भवत्येव** अपि तु भवत्येव, प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः। कुत एतत्? इत्यत्राह-**सामान्यानाम्** इत्यादि। **सामान्यानां** सत्त्वादिजातीनां **स्वतः** अन्यसम्बन्धरहितानां आत्मनैव **सत्त्वज्ञेयत्वादि** आदिशब्देन पदार्थत्वपरिग्रहः, तस्य **प्रतीतेरभावप्रसङ्गात्**। '**नच**' इत्यादिना गतेन सम्बन्धः। अस्ति च तत्प्रतीतिः, ततोऽनैकान्तिको हेतुरिति मन्यते।

---

(१) विशेषस्य, अवयविनो वा। (२) अनुस्यूतबुद्धयः। (३) द्रव्यत्वगुणत्वादीनि अपरसामान्यानि। (४) वैशेषिकस्य। (५) द्रव्यादयः। (६) घटस्य पटस्य वा। (७) द्रव्यगुणकर्मसु सत्सदिति प्रत्ययो विशेष्यव्यतिरिक्तानुगतनिमित्तनिबन्धनः भिन्नेषु अनुगतप्रत्ययात् कम्बलादिषु नीलद्रव्यसम्बन्धात् नीलं नीलमिति ज्ञानवत्।...एवं दण्डीति ज्ञाने दण्डो निमित्तम्..."-प्रश० व्यो० पृ० ६८७। प्रश० कन्द० पृ० ३१३। (८) द्रव्यादिप्रत्ययात् विशिष्टप्रत्ययत्वात्।

एतेन 'सामान्यं सामान्यम्' इति प्रतीतिः चिन्तिता ।

ननु किमुच्यते–'तदभावप्रसङ्गात्' इति, यावता स्वत एव तेषां[1] तत्र सामर्थ्यम्, तत एव सेति चेत्; अत्राह–**स्वतः** इत्यादि । **केषाञ्चित्** सामान्य-समवाय-अन्त्यविशेषाणां **सत्त्वं** विद्यमानत्वम्, अन्यथा प्रधानादिवत् कुतस्तद्व्यवस्था, नाऽपर(स्था, **स्वतः** अपर)सत्तासम्बन्धमन्तरेण अनुस्यूतिप्रत्ययहेतुत्वं **नेतरेषां** द्रव्यादीनाम् **इत्येवम् अस्यापि** वैशेषिकस्यापि न केवलं सौगतस्यैव [१४२क] **निष्प्रमाणिका प्रवृत्तिः** ।

अत्र कश्चिदाह–'सामान्यादौ सत्त्वज्ञेयत्वा वंसतिमभिध्यति (त्वादौ असति सा मिथ्या इति) कुतो योगिनामपि ततः प्रधानादिविपर्ययेण सामान्यादिसिद्धिः ? कथं च सा तत्रोपचरिता ? भिन्नसत्तादिवस्तुसम्बन्धमन्तरेण उत्पत्तेः; द्रव्यादौ सा तथा स्यात्, अत्रापि तदभावाद्[10]अप्रतीतेः ।

१० तदुक्तम्–* **"न पश्यामः क्वचित् किञ्चित् सामान्यं वा"** [सिद्धिवि० २।१२] इत्यादि । तत्प्रतीतेः[11]अत्र तदनुमानं च चिन्तितम् । यदि पुनस्तत्र[12] तदुपचारात्, अत्र सा भिन्नविशेषणनिमित्ता[13] अन्यथा तद्योगादिति मतिः; सापि न युक्ता; अत्र[14] उपचारात् तत्र[15] मुख्या इत्यस्यापि प्राप्तेः । न च स्वयंकल्पितात् मुख्योपचारविभागात् तत्त्वसिद्धिः; अतिप्रसङ्गादिति ।

अपरस्त्वाह–'सामान्यं सामान्यम्' इत्यनुस्यूतिप्रत्ययस्य समवायहेतुत्वात् **'स्वतः'** इत्या-

१५ द्ययुक्तमिति; तत्र; इदमिहेतिप्रत्ययस्य तन्निमित्तत्वात्[16], इतरथा 'घटोऽयं घटोऽयम्' इत्यादेरपि प्रत्ययस्य तन्निमित्तत्वसिद्धेः किं सामान्येन ? अपि च, 'किमिदं सामान्यं नाम' इति प्रश्ने किमुत्तरं वक्तव्यम् ? 'एकम् अनेकवृत्ति तत्[17]' इति चेत्; अवयविद्रव्य-संयोग-द्वित्वादिसंख्यादौ[18] प्रसङ्गः । अनुवृत्तिविज्ञाननिमित्तमिति चेत्; समवायः सामान्यं प्रसक्तम्[19] इति न 'सामान्यं सामान्यम्' इति ज्ञानं[20]तन्निमित्तमिति साधूक्तम्–**'स्वतः'** इत्यादि । भवतु तर्हि सामान्यादीनामपि

२० अन्यतः सत्त्वमनुस्यूतिप्रत्ययहेतुत्वं चेति चेत्; अत्राह–**अन्यथा** [१४२ख] इत्यादि । अन्येन स्वतः ततप्र(तत्प्र)त्ययहेतुत्वाभावप्रकारेण अन्यतः तद्भावप्रकारेण **सामान्यानां समवायस्य च अनवस्थाऽनुषङ्गात् 'अस्यापि[21] निष्प्रमाणिका वृत्तिः'** इति सम्बन्धः । तथाहि–द्रव्यादिवत् यदि सामान्यानामपि अपरसामान्यसम्बन्धात् सत्त्वं तत्प्रत्ययहेतुत्वं वा; तर्हि तत्सम्बन्धात्तस्यापि अपरसत्सम्बन्धात् तस्याप्यपरसत्सम्बन्धादित्यनवस्था । समवायस्यापि अन्यतः तत्त्वे[22]; अन्यस्य

२५ समवायस्य चान्यः समवाय इति समवायानवस्था ।

---

(१) सत्त्वज्ञेयत्वादिप्रतीतेरभावप्रसङ्गात् । (२) सामान्यादीनाम् । (३) सांख्याभिमत । (४) सत्त्वादिप्रतीतेः । (५) सामान्यादौ । (६) "भिन्नविशेषणं मुख्यं दण्डयादिवत्"–प्र० वार्तिकाल० १९५ । (७) इति चेत्; । (८) उपचरिता । (९) भिन्नसत्तादीनां सम्बन्धाभावात् । (१०) भिन्नस्य सामान्यस्य अप्रतीतेः । (११) द्रव्यादौ । (१२) सामान्यादौ । (१३) अत एव मुख्या । (१४) द्रव्यादौ । (१५) सामान्यादौ । (१६) समवायहेतुकत्वात् । (१७) "स्वविषयसर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति…"–प्रश० भा० पृ० ३११ । (१८) सामान्यत्वप्रसङ्गः अनेकवृत्तित्वात् । (१९) समवायेऽपि समवायः समवायः इत्यनुवृत्ति[illegible]नं भवत्येव । (२०) समवायनिमित्तम् । (२१) वैशेषिकस्यापि । (२२) सत्त्वे तत्प्रत्ययहेतुत्वे च ।

§[1]अथ मतम्—सामान्यसमवायानवस्था §अथ मतम्—सामान्यसमवायानामपि सत्तासम्बन्धे ; द्रव्यादिवदपरसामान्यसम्बन्धः स्यात्, न चैवमिति । अयमपि [2]परस्यैव दोषोऽस्तु न जैनस्य, तेन क्वचिदप्यतस्तत्त्वानभ्युपगमात् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—**सामान्य** इत्यादि । **[सामान्यतद्वतोः]** जातितद्वतोः **तादात्म्यं** कथमेकत्वं **युक्तम्** उपपन्नं यत इति ।

एवं तावद् द्रव्यादिभ्यो भिन्नं सामान्यं निराकृत्य सांप्रतं तत्सम्बन्धं निराकुर्वन्नाह— ५
समवायस्य इत्यादि । ननु सोऽपि '**समवायानवस्थानुषङ्गात्**' इत्यनेन निरस्तः ; सत्यम् ; तथापि परतो जात्यादीनां तत्त्वे निरस्ते इदानीमन्यथापि निराक्रियत इति विशेषः । अत्र [3]परस्य अनेकं दर्शनम्—'स्वत एव समवायिषु समवायो वर्त्तते' इत्येकम्[4] । [१४३क] 'विशेषणीभावसम्बन्धात्' इत्यपरम्[5] । 'न वर्त्तते' इत्यन्यत् । तदेतद् दर्शनत्रयं चेतसि व्यवस्थाप्य प्रथमे तावद् दूषणं योजयति—**समवायस्य समवायान्तराभावेऽपि** 'स्वत एव' इति यावत्, **वृत्तौ** समवा- १०
यिषु वर्त्तते (वर्तने) अङ्गीक्रियमाणे **किं पुनः इतरेषां** द्रव्यादीनां **तथैव** येनैव प्रकारेण समवायस्य तेनैव[6] **वृत्तिर्न स्यात्** ? स्यादेव । तथा च किं समवायकल्पनयेति भावः । अत्रैव दूषणान्तरमाह—**न च** इत्यादि । **न च इह विषाणादिषु गौः शाखादिषु वृक्षः इत्येवं प्रतीतिर्बुद्धिः स्याद्** भवेत्, समवायस्य कार्यत्वेन 'सम्बन्धिनी' इति सम्बन्धः । एवं मन्यते 'इह विषाणादिषु गौः शाखादिषु वृक्षः' इति बुद्धेः समवायः साध्यते तत्कार्यभूतायाः, यदा तु समवायः १५
स्वत एव क्वचिद् वर्तते तह (तर्हि) 'समवायो वर्त्तते' इति बुद्धिर्न समवायनिमित्ता यथा तथा [7]प्रकृतापि इति, अनेन तद्धेतोर्व्यभिचार उक्तः । द्वितीये **समवायस्य समवायान्तराभावे अपि**शब्दाद् अन्यस्य विशेषणीभावसम्बन्धस्य भावे **वृत्तौ किं पुनः इतरेषां** द्रव्यादीनां **तथैव** समवायाद् **वृत्तिर्न स्यात्** ? स्यादेव, इति समवायतद्द्रव्यादीनामपि क्वचिद् वृत्तौ विशेषणीभावसम्बन्ध इति मन्यते । दूषणान्तरमाह—**न चेह** इत्यादि । पूर्ववद् व्याख्यानम् । अयं तु विशेषः २०
'इह समवायो वर्त्तते' इत्यस्याः प्रतीतेः यथा विशेषणीभावः कारणारथा (कारणं तथा) [8]अन्यस्या अपि इति । अथवा, विशेषणीभावः [१४३ख] सम्बन्धो यदि सम्बन्धान्तरं (न्तरेण) स्वसम्बन्धिषु वर्तते ; तह नि (तदाऽन)वस्थानात् **न**चेत्यादि दूषणम् । अथ स्वतः; समवायोऽपि [9]तथैव वर्तते इति **समवायस्य** इत्यादि तदवस्थम् । यदि पुनः, न ते समवाये तथा प्रसङ्गः इति कुतः [10]ततः 'इहेदम्' इति प्रतीतिः ? तृतीयेऽपि समवायस्य तदन्तराभावे, **अपि**शब्दो २५
भिन्नप्रक्रमः '**वृत्तौ**' इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः—**वृत्तावपि**, अपिशब्दाच्च (च्चाऽ)वृत्तौ '**किं पुनः समवायेन**' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । कुत एतत् ? अत्राह—**इतरेषां द्रव्या-**

---

(१) § एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः । (२) वैशेषिकस्यैव । (३) वैशेषिकस्य । (४) "अविभागिनो वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति तस्मात् स्वात्मवृत्तिः।"—प्रश० भा० पृ० ३२९ । (५) "समवाये अभावे च विशेषणविशेष्यभावादिति"—न्यायवा० १।१।४ "तस्माद् विना सम्बन्धान्तरं विशेषणविशेष्यभाव एषितव्य इति सिद्धम्"—न्यायवा० ता० टी० पृ० १११ (६) स्वत एव । (७) इह शाखादिषु वृक्षः इत्यादि बुद्धिरपि । (८) 'इह शाखादिषु वृक्षः' इत्यादि प्रतीतेरपि । (९) स्वत एव । (१०) समवायात् ।

दीनां तथैव वृत्तिर्न स्यात् । न खलु 'इदमनु(मत्र)वर्त्तते' इत्येतत्[1] तदसम्बन्धाद् युज्यते ; यतः कुतश्चित तदनुपङ्गात । 'सम्बन्धात स्यात्' इति चेत् ; कुतः सम्बन्धः[2] समवायः, सम्बन्धासम्बन्धाद् (सम्बन्ध्यसम्बद्धत्वात)गगनादिवत्[3] ? दूषणान्तरमाह–**न चेह** इत्यादि । अत्रायमर्थः– यत एव न द्रव्यादीनां क्वचिद् वृत्तिः अत एव तत्प्रतीतिरपि न स्यादिति, [4]अन्यथा ईश्वरादेरेव
५ स्यात । कथं वा कस्यचित प्रत्यक्षः समवायः इन्द्रियार्थसन्निकर्षाभावात् ? सर्वथापि ([5]अन्यथापि) तत्प्रत्यक्षत्वे अलं चक्षुषोऽर्थेन सन्निकर्षसाधनेन ?

[अनेन] यदुक्तं परेण[6]–'सर्वस्य सामान्यस्य सर्वगतत्वे समवायस्य च गोत्वादिप्रत्ययसाङ्कर्यमिति ***"दधि खादेति चोदितः उष्ट्रमपि धावेत्"** [प्र०वा० ३।१८३] [7]इत्यत्र चोद्ये प्रत्युत्तरम्–***सम्बन्धस्यापिवि(स्यावि)शेषेऽपि न सम्बन्धिनः स[8]:, नहि कुण्डबदरयोः**
१० **संयोगो यथा कुण्डे[बदरे च]वर्त्तते[9] तथा [10]बदरमपि"** इति तद् दूषयन्नाह–[१४४क] **सामान्य** इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–सर्वसर्वगते सामान्ये इदं प्रत्युत्तरम् , व्यक्तिसर्वगते वा ? प्रथमपक्षे **सामान्यसमवाययोर्व्यापित्वेऽपि क्वचिदेव** द्रव्यत्वस्य पृथिव्यादिषु एव गुणत्वस्य रूपादिष्वेव कर्मत्वस्य गमनादिष्वेव **समीहितप्रत्ययहेतुत्वं** द्रव्यादिप्रतीतिनिमित्तत्वं **नान्यत्र इत्येवं वैचित्र्यस्य** तयोः[11] [12]समर्थेतरस्वभावभेदेन शबलत्वस्य **संभवे** अङ्गीक्रियमाणे **द्रव्यमेव**
१५ **सामान्यविशेषात्मकं चित्रं भवितुमर्हति** । एवं मन्यते [13]तयोर्व्यापित्वपक्षे नेदं प्रत्युत्तरम्– ***"सम्बन्धस्याऽविशेषेऽपि तं (न) सम्बन्धिनः सः"** इति ; सम्बन्धवत सम्बन्धिनोऽपि सामान्यस्याविशेषात , इदं तु युक्तम्–तदविशेषेस्वा (षेऽप्या)त्मभूतकार्यजननशक्तिविशेषः[14] इति । [15]तत्र च सर्वत्रानेकान्तसिद्धिः । द्वितीये पक्षे[16] **स्वविशेषव्यापित्वं** देशादिभिन्नानेकस्वाकारव्यापित्वं **निरंशनिष्क्रियात्मनः सामान्यस्य समवायस्य च कथं** केन प्रकारेण **स्वस्थः**
२० **पिशाचाद्यनुपहतः प्रस्थापयेत्** । ननु [17]तथाविधस्यापि सर्वात्मना स्वावारेषु (स्वाकारेषु) वृत्तेः तत्तस्य स प्रस्थापयेदिति चेत ; अत्राह–**द्रव्य** इत्यादि । [द्रव्यादिषु] प्रत्याधारं तस्य **भेदात् स्वरूपहानेः 'कथं प्रस्थापयेत्'** इति ? यत एवं **तत्** तस्मात् **एतत्** प्रस्तुतप्रस्तावव्यवस्थाप्यमानं **प्रत्यक्षं द्रव्यपर्यायात्म[क]मेव** । यदि वा, **एतत्** विचार्यमाणं वस्तु **प्रत्यक्षं** तत्परिच्छेद्यं **द्रव्यपर्यायात्मकमेव युक्तम्** इति ।

---

(१) समवायसम्बद्धात् समवायात् । (२) तुलना–"द्रव्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः ।" आप्तमी० श्लो० ६४ । (३) नहि स्वसम्बन्धिभिः असम्बद्धः कश्चित् सम्बन्धो भवितुमर्हति । (४) वृत्त्यभावेऽपि तत्प्रतीतौ ईश्वरकालादेरेव सा प्रतीतिर्भवतु इति दोषः । (५) सन्निकर्षाभावेऽपि । (६) वैशेषिकेण । (७) "चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ।" (प्र० वा०) इति बौद्धस्य प्रश्ने । (८) अविशेषः, येन दध्याख्यः सम्बन्धी उष्ट्रस्य स्यात् । (९) उभयनिष्ठत्वात् संयोगस्य । (१०) बदराख्यं द्रव्यमुभयनिष्ठं न हि भवितुमर्हति । (११) सामान्यसमवाययोः । (१२) क्वचिदेव समीहितप्रत्ययहेतुतया सामर्थ्यमन्यत्र तु असामर्थ्यमिति स्वभावभेदेन । "यद्यपि अपरिच्छिन्नदेशानि सामान्यानि भवन्ति तथाप्युपलक्षणनियमात् कारणसामग्रीनियमाच्च स्वविषयसर्वगतानि" (पृ० ३१४) यथा कुण्डदध्नोः संयोगैकत्वे भवत्याश्रयाश्रयिभावनियमः तथा द्रव्यत्वादीनामपि समवायैकत्वेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदाद् आधाराधेयनियमः ।"–प्रश० भा० पृ० ३२७ । (१३) सामान्यसमवाययोः । (१४) स्वभावभूतशक्तिभेदः । (१५) स्वभावभूतशक्तिविशेषस्वीकारे च । (१६) स्वव्यक्तिसर्वगतत्वपक्षे । (१७) निरंशस्य निष्क्रियस्यापि ।

'**अन्यथानुपपन्नत्वम्**' इत्यादिकम्, अन्यच्च (अन्यस्य) स्वलक्षणादर्शनम्, वैशे-षिकस्यापि (स्यापि) भागिनो[2] [१४४ख] वर्त्तननिषेधं च दर्शयन्नाह-**प्रत्यक्षम्** इत्यादि।

[प्रत्यक्षं यतो द्रव्यं गुणपर्यायात्मकं ततः ।
परोक्षमपि द्रव्यस्य सिद्धस्यानुमितेः स्वतः ॥२८॥

अन्तम् (अत्र) **अपि** शब्दो भिन्नप्रक्रमः '**प्रत्यक्षम्**' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। **प्रत्य-** ५ **क्षमपि द्रव्यं** घटादि **परोक्षं** दृश्येतरात्मकं **यतः** ततो **गुणपर्यायात्मकम्** इति। कुत एतत्? इत्यत्राह-**स्वतः** स्वरूपेण **सिद्धस्य** निश्चितस्य **द्रव्यस्य अनुमितेः** अनुमेयत्वाद् अन्यथा सर्वो हेतुः आश्रयासिद्धः स्यात। न चैतदिष्यते परेण।

ननु यदि तत्[3]सिद्धं कथमनुमेयमिति चेत्? अत्रा[ह-]फलोपजननशक्त्याद्यात्मना। नहि व्यक्तिवत् शक्तिरपि तस्य[4] प्रत्यक्षा; तदनुमान[5]वैफल्यप्रसङ्गात्, तथाव्यवहाराभावाच्च। यदि पुनः १० सौगतस्येव नैयायिकस्यापि अविकल्पं दर्शनं ततोऽयमदोषः इति; तदपि नोत्तरम्; सौगतेन सहाय(न्य)स्मै जलाञ्जलेर्दानात्। निश्चिते च न विभ्रमभाव इत्युक्तम्। तन्न शक्तिः प्रत्यक्षा। नापि शक्तिवद् व्यक्तिरपि परोक्षा; सर्वस्य आन्ध्यप्राप्तेः प्रमाणविरोधात्। एवमपि व्यक्ति-शक्त्योरभेदे न त[6]तो गुणपर्यायात्मकं तदिति चेत; न प्र[7]त्यक्षेतरैकान्तः स्यात। भेदादिति चेत्; कथं 'द्रव्यस्य शक्तिः' इति व्यपदेशः अतिप्रसङ्गात[8]? तत्र समवायात्; न; [9]अस्य निषेधात्। १५ इहेतिप्रत्ययहेतुः समवायस्य शक्तिः यदि [10]ततो भिन्ना; कथं तस्य इति व्यपदिश्यतां समवायान्त-राभावात्? चर्चितमेतदिति यत्किञ्चिदेतत्।

तं प्रति दूषणान्तरमाह-**सामान्यादेकान्तः (सामान्येत्यादि)**।

[सामान्याद्यर्थसमवायादेर्विविक्तं ततो ह्यसत् ।
प्रत्येकं द्विबहुषु कार्यं स्वांशैः सर्वात्मना न तत् ॥२९॥] २०

[सामान्यादि] एकान्तेन **विविक्तं** भिन्नम्? कुतः? **अर्थसमवायादेः** [१४५क] **अर्थात्** द्रव्यादेः **समवायाद् आदि**शब्दाद् अन्त्यविशेषात्। समवायादिग्रहणं दृष्टान्ता-र्थम्। यथा [11]तस्य सामान्यादि **ततो** विविक्तमदृश्यम् **हि** यस्मात् तस्माद् **असत्** तथा [12]अस्यापि इति। तथा च प्रयोगः-यद् यद्रूपतया कालत्रयेऽपि न प्रतीयते न तत् तद्रूपतया सत् यथा आत्मादि पुद्गलरूपतया कालत्रयेऽपि अप्रतीयमानम्, तद्रूपतया असत्त्वेन प्रतीयते २५ च एकान्तेन अर्थसमवायादेः विविक्तं सामान्यादि इति। अत्रैव दूषणान्तरमाह-**प्रत्येकम्** इत्यादि। सामान्यादि एकमेकं **प्रत्येकं** समवायिषु मध्ये। कथम्भूतेषु? **द्विबहुषु** द्वयोः पर-माण्वादिद्रव्ययोः **कार्यं (कार्ये)** द्रव्यादि वर्त्तत इति द्विग्रहणं **स्वांशैः** स्वैकदेशैः **सर्वात्मना** सर्वस्वभावेन **न** 'वर्त्तते' इत्युपस्कारः। चर्चिमेतत् ॥छ॥

इति र वि भ द्र पादोपजीव्य न न्त वी र्ये विरचितायां सि द्धि वि नि श्च य टी का यां ३० सविकल्पकसिद्धिः द्वितीयः प्रस्तावः ॥छ॥

---

(१) बौद्धस्य। (२) निरंशस्य वृत्तिप्रतिषेधम्। (३) द्रव्यम्। (४) द्रव्यस्य। (५) शक्त्यनुमान। (६) व्यक्तिशक्त्यात्मकत्वात्। (७) अभेदे सति व्यक्तिः प्रत्यक्षा शक्तिः परोक्षेति द्व्यात्मकता न स्यादिति भावः। (८) घटस्यापि पटः स्यात्। (९) समवायस्य। (१०) समवायात्। (११) समवायादेः। (१२) द्रव्यादेरपि।

तृतीयः प्रस्तावः

[३. प्रमाणान्तरसिद्धिः]

एवं प्रस्तावद्वयेन सविकल्पमध्यक्षं प्रमाणं प्रसाध्य अधुना स्मरणप्रत्यभिज्ञानोहानां प्रामाण्यमविसंवादिनां व्यवस्थापयितुकामः तत्स्वरूपाविसंवादनिबन्धनं प्रस्तुतप्रस्तावद्वयार्थं स्मरन्नाह प्रस्तावादौ **सम्यग्** इत्यादि वृत्तम् ।

[सम्यक् सामान्यसंवित् व्यभिचरति न वै सत्स्वभावं परस्मात्,
५ **चित्तं निर्णेतुमनलं स्वमपगतं सिद्धसाध्यैकरूपम् ।**
संभाव्यार्थाकारविरहं तदपि विरहितं चित्रमेकं यदीयुः,
चित्राभं द्रव्यमेकं बहिरनुगमयन् तत्स्वतः पर्ययैस्तैः ॥१॥]

[१]अर्थः–सौगतानुसारेण स्मरणादिसंवित् **सामान्यसंवित्** इत्युक्तम्, [२]तत्र तस्या एव सामान्यसंवित्त्वात् । सा किम् ? इत्याह–**सम्यग्** इति । **सम्यग्** अविसंवादिनी सती वा
१० 'काचित्' इत्यपेक्षम् । अत्र युक्ति (क्तिं) '**व्यभिचरति**' इत्यादिकामाह–**चित्तं ज्ञानं व्यभिचरति** [१४५ख] जहाति **नवै** नैव **सत्स्वभावन(वं)** अर्थात्मनोः विद्यमानं स्वरूपम्, कचित् प्लुतौ (स्मृतौ) लौकिकशास्त्रीयविभ्रमे यदि विभ्रमेतररूपमेकं ज्ञानं चेदित्यर्थः । तदेव **निर्णेतुं** निश्चेतुं **स्वम्** आत्मानम्, उपलक्षणमेतत् तेन परं च गृह्यते, **अनल[म्]**समर्थम् । [कथं]भूतम् ? **अपगत (तं)** व्यावृत्तम् । कुतः ? **परस्माद्** अन्यस्मात् सजातीयाद्
१५ विजातीयाच्च '**अ[प]गतम्**' इति वचनात्, अन्यथा तं निर्णेतुं समर्थमिति गम्यते, यदि स्वविषये निर्णयजननेतरस्वभाववदित्यर्थः । तदेव च यदि **सिद्धसाध्यैकरूपं** सिद्धं निश्चितं सदादिसाध्यं फलानुमेयं स्वर्गादिप्रापणादिकम् एकं रूपं यस्य तत्तथोक्तं दृश्येतररूपमेकं चेदिति मन्यते । व्यवहारापेक्षया उक्तम् ।

यः पुनर्मन्यते धर्मोत्तरः–*"स्थवीयान् एको ग्राह्याकारो मिथ्या विचार्यमाणस्य
२० अयोगात्, ततो व्यतिरिक्तं निरंशं संविन्मात्रं परमार्थसत् ।" इति ; तत्राह–**संभाव्य** इत्यादि । **संभाव्यः अर्थाकारविरहः** आलोक्यः सदादिभेदो यस्य तत्तथोक्तं **चित्तमेकं यदि** इति ।

योवि (योऽपि) मन्यते प्रज्ञाकरगुप्तः[३]–*"न नीलादिसुखादिशरीरव्यतिरिक्तं संवेदनमस्ति अनुपलम्भात्" [प्र०वार्तिकाल०] तदेव चित्रमेकं ज्ञानम् *"चित्रप्रतिभा-
२५ साऽपि" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] [४]इत्यादि वचनात् । तं प्रत्याह–**विचित्र** इत्यादि ।

(१) कारिकार्थः । (२) संगच्छते । (३) "नीलादिसुखादिकमन्तरेणापरस्य ज्ञानाकारस्यानुपलक्षणात्"–प्र० वार्तिकाल० ३।३१३। (४) "चित्रामासापि बुद्धिरेकैव बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं चित्रमने [illegible]क्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलादयः ।"–प्र०वार्तिकाल० ।

नीलादिर्ग्राह्यादृश्याकारैः (नीलादिग्राह्यदृश्याकारैः) **चित्रा** सबला (शबला) **भा** प्रतीतिर्यस्य तत्तथोक्तम् , चेत्र... यदि **तदपि न विरहितम्** [१४६क] किन्तु सहितम् । कैः ? **पर्यायैः (पर्ययैः)** क्रमपरिणामैः **एकम्** अभिन्नम् उक्तन्यायेन **ईयुः** सौगताः अवगच्छेयुः **यदि** इत्यनेनैतद्दर्शयति । तदनवगमे सकलशून्यता स्यादिति तदवगन्तव्यमिति । ततो नेत्यकृतमेतत् यदुक्तं परेण-*"**अनुभूते स्मरणम् इत्येतन्नानुभवेन ज्ञायते तेन**[1] **स्मरणाऽविषयीकरणे,**[2] ५ **नानेन**[3] **अनुभवस्यापरिच्छेदात् ।**" इत्यादि[4] । 'तद् इदम्' इति स्मरणप्रत्यक्षे लेखक (एव तद्) व्यतिरेकेण नापरं[5] प्रत्यभिज्ञानम् ,[6] तदभावे न तर्कोऽपि इति कथमुक्तम् 'प्रतिपत्त्या बाधनात्' ? किं कारयत् तत्तथा यदि ? इत्याह-**बहिः** इत्यादि । **बहिः** स्वतः अन्यत्र **अनुगमयतु (त्)** ज्ञापयतु (त्) । किम् ? इत्याह-**द्रव्य** इत्यादि । यथैव हि तदेकं चित्राह (चित्राभ)-मात्मानं बिभर्त्ति तथैव तथाविधं बहिर्गमयति । तथा च यदुक्तं परेण[7]-*"**स्मरणविषयस्य क्षणिकत्वेन नाशात् प्रत्यभिज्ञागोचरस्य अभावात् [न] प्रवृत्तौ प्राप्तिर्यतः तदविसंवादः**" इति ; १० तदनेन निरस्तम । ततः स्थितम्-यदि[8] तथाविधं चित्तं तर्हि **सम्यक् सामान्यसंवि [दि]** ति ।

तदेवं स्मरणादेः अविसंवादे सिद्धे यदपरं सिद्धं तद्दर्शयन्नाह-**प्रमाणम्** इत्यादि ।

[[9]**प्रमाणमविसंवादात् मिथ्या तद्विपर्ययात् ।**
गृहीतग्रहणान्नो चेन्न प्रयोजनभेदतः ॥२॥ १५

प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यमविसंवादात् नपुनरर्थाकारानुकारितया अतिप्रसङ्गात् । स पुनरनुभूतस्मृतेर्यदि स्यात् प्रामाण्यं लक्षयति । सविकल्पेऽनधिगतार्थव्यवसायाभावादयुक्तमिति चेत् ; न; प्रयोजनविशेषात्, क्वचित् सदृशाकारभेदविशेषाणामुत्तरोत्तरपर्यायविशेषसाध्यार्थक्रियावाञ्छायां तथैव प्रामाण्याविरोधात् । अन्यथा कालादिभेदेन अनधिगतार्थाधिगतेरपि प्रमाणतानभ्युपगमात् ।] २०

प्रमाणं स्मृतिः । कुतः ? **अविसंवादात्** । **मिथ्या** अप्रमाणं स्मृतिः इति सम्बन्धः । [कुतः ? **तद्] विपर्ययात्** । विसंवादात् । 'प्रत्यक्षतदाभासवत्' इति निदर्शनमत्र

(१) अनुभवेन । (२) अनुभूतत्वस्य परिच्छेदायोगादिति भावः । (३) स्मरणेन । (४) तुलना-"ननु अनुभूते जायमानमित्येतत् केन प्रतीयताम् ? न तावदनुभवेन तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात् । न चासती विषयीकर्तुं शक्या । न चाविषयीकृता तत्रोपजायते इत्यधिगतिः । न चानुभवकाले अर्थस्य अनुभूतताऽस्ति, तदा तस्यानुभूयमानत्वात् । तथा चानुभूयमाने स्मृतिरिति स्यात् । अथानुभूते स्मृतिरित्येतत् स्मृतिरेव प्रतिपद्यते; न; अनया अतीतानुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्ययोगात् ।"-प्रमेयक० पृ० ३३६ । (५) "तस्मात् स एवायमिति प्रत्ययद्वयमेतत्"-प्र० वार्तिकाल० पृ० २२। "यदतीतं न तद् ग्राह्यं यदा ग्राह्यं न तत्तथा । स्मर्यमाणेन रूपेण तदतीतं न वस्तुसत् ॥ निश्चयस्य दृढत्वाच्च प्रामाण्यमुपपत्तिमत् । प्रत्यभिज्ञानमप्येवमक्षयोगस्त्वपार्थकः ॥"-प्र० वार्तिकाल० पृ० ५९१ । प्र० वा० स्ववृ० टी पृ० ७८ । (६) प्रत्यभिज्ञानाभावे । (७) बौद्धेन । "अविसंवादसद्भावात् प्रमाणं ज्ञानमिष्यते । वर्तमानेऽविसंवादो न तु पूर्वविनाशिनि ॥ न स्याद्यदि तदेकत्वं किं ततोऽर्थक्रिया न सा···"-प्र० वार्तिकाल० पृ० ५९१ । (८) चित्रात्मकम् । (९) तुलना-"प्रमाणमर्थसम्बन्धात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः।"-प्रमाणसं० श्लो० १० ।

वक्तव्यम् । ननु नाविसंवाद एव प्रमाणलक्षणं येनैवं स्यात्, अपि तु [1]अज्ञातार्थप्रकाशोऽपि । स्मृतौ तदभावात् न प्रमाणं मेति ; तदाह–[3]**गृहीतग्रहणात्** । गृहीतस्य दर्शनेन विषयीकृतस्य ग्रहणात् स्मृत्या विषयीकरणात् कारणात् **नो न चेत्** यदि स्मृतिः प्रमाणम् । अत्रोत्तरमाह–**न** इत्यादि । यदुक्तं परेण तन्न । कुतः ? **प्रयोजनभेदतः** । प्रमाणस्य हि प्रयोजनं फलम्–अज्ञान-
५ निवृत्तिः प्रवृत्तिश्च, तस्य भेदात्, प्रत्यक्षप्रयोजनात् स्मृतिप्रयोजनस्य विशेषात् । ततः यथैव हि प्राक् प्रवृत्तम् आत्मनोऽज्ञानम् अध्यक्षं निवर्त्तयति पुनः स्वगोचरे प्रवर्त्तयति जनं तथा स्मृतिरपि विशेषाऽभावात् ।

ननु यदुक्तम्–'स्मृतिः प्रमाणम् अविसंवादात् प्रत्यक्षवत्' इति ; तन्न सारम् ; दृष्टान्ते अर्थसारूप्यात् प्रामाण्यसिद्धेः स्मृतौ [4]तदभावादिति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यक्षस्यापि** इत्यादि ।
१० न केवलमन्यस्य किन्तु **प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यम् अविसंवादात् न पुनः अर्थाकारानुकारितया** । कुत एतत् ? इत्याह–**अतिप्रसङ्गात्** । भवतु अविसंवादात् [5]तस्य तदिति चेत् ; अत्राह–**स पुनः** इत्यादि । **सः** अविसंवादः **पुनः अनुभूतस्य** अर्थस्य **स्मृतेः यदि स्याद्** भवेत् **प्रामाण्यं लक्षयति** तत्स्मृतेः इति । दूषयितुं परमतमाशङ्कते–**सविकल्प** इत्यादिना । [सविकल्पे] सविकल्पकप्रत्यक्षपक्षे स्मृतेः **अनधिगतार्थव्यवसायाभावाद् अयुक्तं** प्रामाण्यम् । अनेन एतद्दर्शयति–
१५ [6]परः–यथा मम अनिश्चितार्थनिश्चयात् समारोपव्यवच्छेदाद्वा अनुभूतार्थमनित्यत्वाद्यनुमानम्[7], नैवं स्मृतिर्विपर्ययात्[8] निश्चिनुते तदयोगात्[9] इति एवं चेत् ; अत्राह– **न** इत्यादि । यदुक्तं परेण तन्न । कुतः ? **प्रयोजनविशेषात्** । स च निगदितः । अत्र परेण सह एकवाक्यतामात्मनो दर्शयन्नाह–**क्वचिद्** इत्यादि । **क्वचित्** सुभ्रादौ (स्तम्भादौ) **सदृशाकाराणां** [१४७क] प्रत्यक्षाणां ये **भेदा** धारावाभि(वाहि)विशेषाः तेषाम् **उत्तरोत्तरपर्यायविशेषसाध्यार्थक्रिया-**
२० **वाञ्छायां तथैव** प्रयोजनविशेषप्रकारेणैव **प्रामाण्याऽविरोधात्** प्रयोजनविशेषात् स्मृतेः प्रामाण्यं युक्तमिति । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**कालादिभेदेन** आदिशब्दात् क्षेत्रादिपरिग्रहः, **अन्यथा** अन्येन प्रयोजनविशेषाभावप्रकारेण **अनधिगतार्थाधिगतेरपि** अगृहीतार्थग्रहणादपि न केवलम् अन्यतः तद्विशेषाणां **प्रमाणताऽनभ्युपगमात्** सौगतेन यथा जलप्राप्त्येकार्थक्रियावाञ्छायाम् अवान्तरदर्शनविशेषाणाम्, इतरथा जलाध्यवसायकारणं मरीचिकादर्शनं तद्वत् प्रमाणं भवेत् ।

२५ यदि पुनरयं निर्बन्धः गृहीतग्रहणान्न स्मृतिः प्रमाणं तर्हि तत एव तद्वत्[10] सकल[मनु]-मानमपि प्रमाणं न स्यादिति दर्शयन्नाह–**साकल्येन आदितो व्याप्तिः** इत्यादि ।

[साकल्येनादितो व्याप्तिः पूर्वं चेल्लिङ्गलिङ्गिनोः ।
अनुमेयस्मृतिः सिद्धा न प्रमाणं विशेषवत् ॥३॥

(१) "अज्ञातार्थप्रकाशो वा"–प्र० वा० १।७। (२) अज्ञातार्थप्रकाशाभावात् । (३) "गृहीतग्रहणान्नेष्टं सांवृतं···"–प्र० वा० १।५। (४) अर्थसारूप्याभावात् । (५) प्रत्ययस्य । (६) बौद्धः । (७) प्रमाणं भवति । (८) अनिश्चितार्थनिश्चायकाभावात् (९) समारोपायोगात् कथं तद्व्यवच्छेद इति भावः । (१०) स्मृतिवत् ।

यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः स सर्वोऽपि अग्निमानिति व्याप्तावसिद्धायाम् अनुमेयप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः । सिद्धौ एवमनुमानं स्मृत्यन्तरान्न विशेष्येत । ततो लिङ्गलिङ्गिज्ञानयोः प्रमाणेतरव्यवस्था व्यतिकीर्येत । स्वयमनुभूताद् व्यतिरेके पुनरनवयवेन व्याप्तिसिद्धेरयोगात् । सामान्यविषया व्याप्तिः तद्विशिष्टानुमितेः इति चेत्; पूर्वानुभूतस्मृतेरपि तथाविधविशेषानिराकरणात् यत्किञ्चिदेतत् ।] ५

साकल्येन सामस्त्येन **आदितः** आदौ सकलानुमानप्रवृत्तेः **पूर्वं सिद्धा** निश्चिता **व्याप्तिः** अविनाभावः **चेत्** । कयोः ? **लिङ्गलिङ्गिनोः । अनुमेयस्मृतिः** अनुमानं **न स्यात् प्रमाणं 'साकल्येन'** इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् । अत्र दृष्टान्तमाह–**विशेषवदिति** अननुमानस्मृतिवदिति ।

यावान् इत्यादिना कारिकार्थमाह–**यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः**, उपलक्षणमेतत् १० धातु (तेन) कालोऽपि गृह्यते स प्रदेशादिः **सर्वोऽपि** न केवलं कश्चिदेव **अग्निमान्** इत्येवं **व्याप्तौ असिद्धायां** सत्यां **अनुमेयस्य** अप्रसिद्धस्य या **प्रतिपत्तिः** तस्या **अनुपपत्तेः अनुमान (नं) स्मृत्यन्तराद्** अलिङ्गजात् स्मरणात् **न विशेष्येत** न भिद्येत । एतदुक्तं भवति–यथा अननुभूते न स्मृत्यन्तरम् [१४७ख] अतिप्रसङ्गात् तथा व्याप्यत्वेनानिश्चितात् लिङ्गात् [1]व्यापकत्वेनानिश्चितस्यानुमेयस्य प्रतिपत्तिरपि न युक्ता, अन्यथा भूमिगृहवर्धितस्य[2] अकस्माद् धूमदर्शनाद् १५ अग्निप्रतिपत्तिः स्यात । तवैवं (न चैवम्) व्यापकत्वेनागृहीतस्य[3] ततः प्रतिपत्तिसंभावना. अनुमानस्य स्मृतिविशेषत्वात् अत एवोक्तम्–'**स्मृत्यन्तरात्**' इति, ततः तदसत्त्वेन न विशेष्येत इति मन्यते । तथा 'यावान् कश्चिद्भावः स सर्वः क्षणिक एव' इत्येवं [4]तस्यामसिद्धायां सर्वं वाच्यम् । तस्यां सिद्धायां को दोष इति चेत् ? अत्राह–सिद्धौ इति । **सिद्धौ** निश्चये **एवं** 'व्याप्तेः' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः, **अनुमानं स्मृत्यन्तरात् न विशेष्येत** । कुत एतत् ? २० इत्याह–**अनुमेय** इत्यादि । [5]"साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमनुमेयम् इति," [तस्य] या **प्रतिपत्तिः** तस्याः **अनुपपत्तेः** व्याप्तिज्ञानेन [6]तस्य निश्चये तदयोगात् । तथा च *"**त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्**" [न्यायवि० २।३] इति वचनमात्रम्; सिद्धसाध्यविषयत्वेन तस्य प्रमाणाभासतेति मन्यते । **अनुमान**ग्रहणमपि उपलक्षणम्, तेन उत्तरप्रदेशादिप्रत्यक्षमपि [7]ततो न विशेष्येत व्याप्तिज्ञानेन प्रदेशादेरपि ग्रहणात्, इतरथा '[8]स सर्वोऽपि अग्निमान्' इति प्रतिपत्तेर- २५ योगात्, व्याप्याप्रतिपत्तौ व्यापकाप्रतिपत्तिवत् आधाराप्रतिपत्तौ आधेयप्रतिपत्तिरपि नास्ति, एवमर्थं च प्रदेशग्रहणम्, अन्यथा 'यावान् कश्चिद् धूमः' इति ब्रूयात् । न च [9]भावक्षणिकत्वव्यतिरेकेण अपरं यत्त (यत् तज्) ज्ञानेनागृहीतम् उत्तराध्यक्षेण गृह्यते । तत एव न तद्व्याप्तिसिद्धिः । नाप्यनुमानमिष्यते इति [१४८क] प्र ज्ञा क र गु प्तः (प्ते न) कथं *"**द्वे एव प्रमाणे**" [प्र० वार्तिकाल० ३।६२] इत्युक्तम् ? व्यवहारेणेति चेत्; तेनैवं[10] तर्हि यथा व्याप्तिज्ञानेन गृहीते ३०

(१) साध्यत्वेन । (२) अगृहीतव्याप्तिकस्य । (३) पुरुषस्य । (४) व्याप्तौ (५) "साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्"–न्यायवि० २।३। (६) साध्यस्य । (७) स्मृतेः । (८) प्रदेशः । (९) 'यावान् कश्चिद् भावः स सर्वः क्षणिकः' इति प्रयोगे । (१०) व्यवहारेणैव ।

अनुमानं प्रमाणं तथा प्रत्यक्षानुभूते स्मृतेः[1] इति *"द्वे एव प्रमाणे" [प्र० वार्तिकाल०] इति मिथ्यावचः। व्यवहारे च प्रमाणमन्तरेण व्याप्तिसिद्धौ किमन्यत्रापि [2]तदन्वेषणेन इति स एव दोषो मिथ्या तद्वच[3] इति। [4]प्रतिभासाद्वैतादेश्च प्रतिषेधात् अत्रैव तेन स्थातव्यम्।

[5]तस्य [6]ततोऽविशेषे किं जातम्? इत्याह–तत इत्यादि। ततः तस्य ततोऽविशेषात्

५ प्रमाणेतरव्यवस्था व्यतिकीर्येत। कयोः? इत्याह–लिङ्गलिङ्गिज्ञानयोः लिङ्गज्ञाने व्याप्तिज्ञाने प्रमाणव्यवस्था लिङ्गिज्ञाने अनुमानज्ञाने [7]इतरव्यवस्था स्यात्। विपर्ययश्चेष्यते परेण। अथ लिङ्गज्ञानविषयाद् अन्यत्र लिङ्ग (लिङ्गि)ज्ञानस्य[8] वृत्तिरिष्यते ततोऽयमदोषः; तत्राह–स्वयम् इत्यादि। स्वयम् आत्मना अनुभूतात् व्याप्तिज्ञानेन विषयीकृतात् व्यतिरेको (के) लिङ्गिज्ञान-विज्ञानविषयस्य भेदे अङ्गीक्रियमाणे पुनः अनवयवेन साकल्येन व्याप्तिसिद्धेरयोगात् सा[9]

१० व्यतिकीर्येत इति सम्बन्धः। [10]तदनुभूते तद्वैफल्यम्, अन्यत्र तदप्रवृत्तिः इति मन्यते।

सामान्य इत्यादि अ र्च ट [11]मतं दूषयितुं शङ्कते–देशादिविशेषणरहितेन अग्निना तथा-भूतस्य धूमस्य व्याप्तिसिद्धिः सामान्यविषया व्याप्तिः इत्युच्यते, विशेषेण पक्षधर्मताबलाद् देशादिविशेषेण तद्भेदेन विशिष्टस्य तैः अनुमितेः इति चेत्; अत्रोत्तरमाह–पूर्वानुभूत इत्यादि। पूर्वं यदनुभूतं तस्य या स्मृतिः तस्या अपि न केवलम् अनुमितेरेव [१४८ख] तथाविधस्य

१५ अनुमितौ कल्पितस्य विशेषस्य [अ] निराकरणात् कारणात् यत्किञ्चिदेतत् न किञ्चिदेतदि-त्यर्थः। तथाहि–दे[शादि वि]शेषणरहितस्य अनुभूतस्य तत्सहितस्य पुनः स्मरणे न बाधकं पश्यामः। कथं तथाननुभूतस्य तथा स्मरणम् अतिप्रसङ्गादिति चेत्? कथं तथाविधस्य व्याप्ति-ज्ञानेनाविषयीकृतस्य अनुमितिः अतिप्रसङ्गात् इति समानात्मत्व (समानम्। [12]एकत्र) पक्षधर्म-ताग्रहणस्य [13]प्रकृते क्षयोपशमस्य बलमिति न विशेषः। दृश्यते हि केनचिद् विशेषेण रहितस्य

२० व्याख्यातुः प्रघट्टकस्य ग्रहणेऽपि पुनः स्मर्तृविशेषात् तद्विशिष्टस्य स्मरणम्। अत एव [14]तदनिरा-करणात् इत्युक्तम्।

एतेन यदुक्तं मीमांसकेन–

*"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥" [15]इति;

२५ तन्निरस्तम्; पूर्वानुभूतस्मरणेऽपि [16]अस्य अनुमानवद् भावात् सप्तमप्रमाणप्रसङ्गात्।

अधुना नैयायिको भूत्वा सूरिः *"सामान्यविषया व्याप्तिः विशेषेण अनुमितिः" इति [17]वदन्तं प्रमाणान्तरमन्यदापादयितुमाह–तदेवम् इत्यादि।

---

(१) प्रामाण्यं स्वीकर्तव्यमिति। (२) प्रमाणस्वीकारेण। (३) 'द्वे एव प्रमाणे' इति वचनम्। (४) अस्तु प्रमाणस्यापि विलोपः अद्वैतोपगमात् इति प्रज्ञाकरगुप्तः, तत्राह–। (५) अनुमानस्य। (६) स्मृत्य-न्तरात्। (७) अप्रमाणत्वं स्यात् गृहीतग्राहित्वादिति भावः। (८) अनुमानस्य। (९) प्रमाणेतर व्यवस्था। (१०) व्याप्तिज्ञानविषयीकृते। (११) तुलना–"सामान्येनान्वये सिद्धे पक्षधर्मत्वयोगतः। विशेषनिष्ठता तस्य सम्बन्धग्रहणात्मना॥"–प्र० वार्तिकाल० ३।४०। (१२) अनुमानस्थले। (१३) स्मृतौ। (१४) विशेषस्या[illegible]। (१५) प्र० वार्तिकाल० पृ० २१। श्लोकोऽयं मीमांसकोक्तत्वेन उपलभ्यते–सन्मति० टी० पृ० ३१८। प्रमेयक० पृ० ६१। हेतुबि० टी० पृ० २८०। (१६) प्रामाण्यस्य। (१७) अर्चटम्।

[तदेवमुपमावाक्यसंस्कारात्तत्र पश्यतः ।
तत्संज्ञासंज्ञिसंबन्धे विशेष्येदनुमानवत् ॥४॥

'गोसदृशो गवयः' इति वाक्यात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धमवगतवतः अस्येयं संज्ञेति विशेषणप्रतिपत्तिः पुनरनुमानं नातिशेते यतः प्रमाणमनुमानं नापरम् । यदि···]

'**तत्**' इत्ययं निपातः तस्मिन् इत्यस्यार्थे द्रष्टव्यः । तस्मिन् परोक्षे **एवम्** उक्तप्रकारेण ५ सति न्याये 'गौरिव गवयः' इति वाक्यम् **उपमावाक्यं** तेन आहितो यः **संस्कारः तस्मात्तत्र** *"ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च संस्कारः"[1] इति वचनात् । कथं तद्वाक्यात् स इति चेत् ? पारम्पर्येण ततः तस्य भावात् ततः स इत्युच्यते इत्यदोषः । तथाहि–तद्वाक्यात् प्रतिपत्तिरिति तद्विषयं ज्ञानम् , पुनः तत्सहकारिणा मनसा 'यावान् कश्चित् पदार्थः गोसदृशः स सर्वो [१४९क] गवयशब्दवाच्यः' इति सामान्येन वाच्यवाचकसम्बन्धविषयमानसमध्यक्षं जन्यते, ततः संस्कारः १० इति स्मृतिः स्मरणं 'जायते' इत्यध्याहारः । क्व ? इत्यत्राह–**तद्** इत्यादि । तौ च तौ **संज्ञासंज्ञिनौ** च गवयशब्द ग (गो) विशेषौ **तयोः सम्बन्धे** वाच्यवाचकलक्षणे । कस्य ? **पश्यतः** । किम् ? **गवयम्** । सा किम् ? इत्याह–**विशेष्येत** स्मृत्यन्तराद् भिद्येत । किमिव ? इत्यत्राह–**अनुमानवत्** तदिव तद्वदिति । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा सामान्यविषयायां व्याप्तौ विशेषेण अनुमानं जायमानमपूर्वार्थं तथा मानसप्रत्यक्षेण सामान्येन [संज्ञा]संज्ञिसम्बन्धे प्रतिपन्ने पुनः १५ तस्य सर्वस्य स्मरणाद् वने गवयदर्शनाद् विशेषेण [2]तत्प्रतिपत्तिः अपूर्वार्थास्तु ।

यत्पुनरत्रोक्तम्–'सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् , तत्प्रति [पत्तौ वि]शेषप्रतिपत्तिः' इति ; तदसारम् ; अन्यत्र समत्वात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**गोसदृशो गवयः**' इत्यादि । **गोसदृशो गवयः** इत्येवं **वाक्यात्** तद्विज्ञानात्[3] सहकारिणः **संज्ञासंज्ञिसम्बन्धम् अवगतवतः** ज्ञातवतः सामान्येन **पुनः** कालान्त- २० रेण गवयदर्शनाद् **अस्य** प्रतीयमानस्य **इयं** गवयः इति **संज्ञा** इत्येवं **विशेषेण प्रतिपत्तिः** व्याप्तिदर्शिनः 'सामान्येन' इति सम्बन्धः । **पुनः अनुमानं नातिशेते** । **यतः** अतिशायनात् **प्रमाणम् अनुमानं नाऽपरम्** उपमानं न प्रमाणं स्यात् । '**यतः**' इति वा आक्षेपे, यतो नापरं स्यात् ? स्यादेव, उपमानं प्रमाणमभ्युपगच्छेत् ।

सौगतस्य इतरस्य वा प्रमाणान्तरं दर्शयितुं मतमाशङ्कते–**यदि** इत्यादिना । सुगमम् । २५

अत्र दूषणमाह–'**प्रमाणान्तरम्**' इत्यादि ।

[प्रमाणान्तरमन्यत्र तत्संज्ञाऽसंभवस्मृतिः । ३ ।

तद्वाक्याहितसंस्कारस्य अगोषु स्वयं तन्नामासम्बन्धमर्थापत्त्या [उपगम्यते] यथा सामान्येन लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरं तथेयमपि प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणान्तरम् , न गवयोऽयं तादृशोपलब्धेः । अथवा, एकविषाणी खड्गः सप्तपर्णो विषमच्छद इत्या- ३० [दि]तत्संस्कारणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदर्शिनामभिज्ञानं किन्नाम प्रमाणं स्यात् ?]

---

(१) "ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च संस्कारः"–प्र० वार्तिकाल० ३।५२७। (२) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः। (३) वाक्यविज्ञानात् ।

उपमानादन्यत् [१४९ ख] प्रमाणं **[प्रमाणान्तरं]** स्यात् **अन्यत्र** गवयाद् अन्येषु महिष्यादिषु गवय इति संज्ञा **तत्संज्ञा** तस्याः **असंभवस्मृतिः** ।

कारिकाखण्डं व्याचष्टे–**तद्वाक्य** इत्यादिना । गोसदृशो गवयः इति वाक्यं **तद्वाक्यं** तेन उक्तविधिना **आहितः संस्कारो** यस्य तस्य प्रतिपत्तिवतः । किं तत् ? **तन्नामासंबन्धं**
५ गवयाभिधानसम्बन्धाभावम् । क्व ? इत्यत्राह–**अगो[षु]** विसदृशेषु इति । **स्वयम्** आत्मना ।

ननु 'गौरिव गवयः' इति वाक्यप्रतिपत्तिसहकारिणा मनसा भवतु गोसदृशेषु सामान्येन तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः तद्विसदृशेषु केन[1] तन्नामाऽसंबन्धप्रतिपत्तिः इति चेत् ? अत्राह–**अर्थापत्त्या** इति । यतो गोसदृशो गवयः, ततोऽर्थात् 'तद्विलक्षणो न गवयः' इतिवाक्यप्रतिपत्तिः **अर्थापत्तिः तया** स्यतेनैवतन्त्रे (उपगम्यते) तद्दर्शयति–**यथा सामान्येन लिङ्गलिङ्गिनोः संज्ञा-**
१० **संज्ञिनोः सम्बन्धस्य प्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरम्**[2] अनुमानादेः **तथा इयमपि** इति । किं जातम् ? इत्याह–**प्रमाणान्तरम्** उपमानादन्यत् प्रमाणम् । किं तत् ? इत्याह–**प्रत्यभिज्ञानम्** । कथं-भूतम् ? इत्याह–**न गवयोऽयम्** इति । अयं गोविसदृशो दृश्यमानो **न गवयः** न गवयशब्द-वाच्य इति । **'अयम्'** इत्यनेन सामान्यार्थापत्तेः अनुमानवदस्य विशेषं दर्शयति । तत् कुतो जायते ? इत्याह–**तादृशोपलब्धेः** इति । गोविसदृशोपलब्धेः इति प्रत्यभिज्ञानपदेन एतत् कथ-
१५ यति । यदि अस्य परो[3] वैधर्म्योपमाने अन्तर्भावं ब्रूयात् तर्हि जैनोऽपि अस्य उपमानस्य च असादृश्येतरप्रत्यभिज्ञाने इति [१५०क] नानयोः ततः प्रमाणान्तरत्वं प्रत्यक्षादिव आगमादे-रपि तद्भावादिति ।

अधुना अस्य कारिकाखण्डस्य अन्यार्थो व्याख्यायते–**अन्यत्रो**क्ताद् अ[न्य]स्मिन् विषये **तत्संज्ञासंभवस्मृतिः** तस्य अन्यस्य संज्ञा नाम तस्याः संभवस्मृतिः **प्रमाणान्तरमेव** ।
२० तस्याव्याख्याने उत्तरोऽर्थोऽकारिकार्थः स्यात् ।

एतदेव विवृण्वन्नाह–**अर्थेच (अथवा)** इत्यादि । **अथवा** इत्येतद् व्याख्यानान्तरसूच-कम् । **एकविषाणी खड्गः सप्तपर्णो विषमच्छदः** इत्येवम् **आहितसंस्काराणां** पुरुषाणां **पुनः** पश्चात् **तत्प्रत्यक्षदर्शिनां** तत्खड्गादिकं प्रत्यक्षेण द्रष्टुं शीलानाम् **अभिज्ञानम्**–अयं स खड्गादि-शब्दवाच्योऽर्थः इति प्रत्यभिज्ञानं **किन्नाम प्रमाणं स्यात्** साधर्म्योपमाने वैधर्म्योपमाने वा अस्य
२५ अनन्तर्भावात् तल्लक्षणत्वादस्यान्यन्नाम कर्त्तव्यमिति मन्यते ।

अत्रैवोदाहरणान्तरमाह **तथे(स्त्र्ये)**त्यादिना ।

[स्त्र्यादिलक्षणश्रवणेन पुनस्तथादर्शिनः ।
संख्यादिप्रत्यभिज्ञानं पूर्वापरनिरीक्षणात् ॥९॥

सोपानादिषु सह पृथग्वा दृष्टेषु पौर्वापर्यादिस्मृतिस्तदपेक्षैव ।]

३० **स्त्रा(स्त्र्या)दीनाम्** द्वन्द्वः, पुनः अस्य **आदि**शब्देन बहुव्रीहिः, अस्यापि **लक्षण-**शब्देन षष्ठीसमासः, अस्य च श्र**वणेन**, तस्मात् **पुनः तथा** श्रवणप्रकारेण **दर्शिनः** स्त्र्यादि-

(१) प्रमाणेन । (२) तर्काख्यम् । (३) नैयायिकः

दिदर्शनवतः संमभिज्ञानं **'किन्नाम प्रमाणम्'** इति सम्बन्धः। अपरमपि प्रमाणान्तरमस्य दर्शयन्नाह–**संख्यादि** इत्यादि। **संख्यै**कत्वादिलक्षणा **आदि**र्येषां कार्यकारणभावपरवाक्य-दूरासन्नादीनां ते तथोक्ताः तेषां **प्रतिपत्तिश्च 'प्रमाणान्तरम्'** इति सम्बन्धः।

'आत्मनो (आत्ममनो) ऽर्थसन्निकर्षजत्वात् मानसं प्रत्यक्षं सुखादिप्रतिपत्तिवत् सा' इत्येके। तत्राह–**पूर्व** इत्यादि। **पूर्वश्च अपरश्च** तयोः **निरीक्षणात्** तत्प्रतिपत्तिः। अत्रायमभिप्रायः– ५ यथा आत्ममनश्चक्षुरादर्थ[१५०ख]सन्निकर्षाज् जायमानं ज्ञानं चक्षुरादिप्रत्यक्षमुच्यते नान्यत्, तथा आत्ममनोऽर्थसन्निकर्षात्[3] मानसम् इत्युच्यतां न प्रकृतम्[4]। यदि पुनः तदपि ज्ञानत्वात् चक्षुरादिजनितरूपादिज्ञानवत् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजम्; तर्हि अनुमानादिना व्यभिचारः। अस्यापि पक्षीकरणे मानसप्रत्यक्षत्वम्। तद्धेतुलिङ्गादेरप्यपेक्षणान्न दोष इति चेत्; अन्यत्र पूर्वापरनिरीक्षणस्य अपेक्षणान्न दोष इति न समानमिति। १०

एतद्विवृण्वन्नाह–**सोपान** इति। अत्र **आदि**शब्देन कारणादिपरिग्रहः, तेषु **सह पृथग् वा दृष्टेषु** सोपानेषु पृथगेव दृष्टेषु कारणादिषु संख्यादिप्रतिपत्तिर्भवन्ती उक्तन्यायेन प्रत्यक्षादेः अतिरिच्येत, ततः पृथक् प्रमाणं भवेत्। कथंभूता? इत्याह–**'पौर्वा'** इत्यादि। **पूर्वापरयोर्भावः आदि**र्यस्य स्थूलेतरत्वादेः तस्य या **स्मृतिः तदपेक्षैव** नान्यथा इति एवकारार्थः। तथाहि–पूर्वदर्शनाहितसंस्कारस्य अपरदर्शने सति ततः पूर्वस्मरणे च तस्माद् 'अयमेकः तेन द्वितीयः' १५ इत्यादि प्रतिपत्तिः, एवं कारणभावादौ योज्यम्।

अन्यदपि [6]तद्दर्शयन्नाह–**नाम** इत्यादि।

[नामादियोजनाज्ञानं पश्यताञ्चोपमानवत् ।३।

पूर्वापरप्रमाणव्यक्त्यविनाभाविशब्दादियोजनाज्ञानं सर्वं प्रमाणान्तरम् ।]

नाम अभिधानम् **आदि**र्येषां जातिगुणादीनां ते तथोक्ताः तेषां **योजनाज्ञानं** केषां २० वत्? (तत्?) इत्याह–**पश्यताम्** अभिधेयाभिधानादिकम् उपलभमानानाम्। **च**शब्दो भिन्नप्रक्रमः **'ज्ञानम्'** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। तत् किम्? इत्याह–**उपमानवद्** इति। तद्वत् प्रमाणान्तरं स्यात् इत्यर्थः।

एतद्व्याचष्टे **पूर्वं** इत्यादिना। अभिधानाभिधेयविशेषणादीनां **पूर्वापरप्रमाणव्यक्तयः तदविनाभावि** यत् **शब्दादियोजनाज्ञानं** तत् **सर्वं** निरवशेषं [१५१क] उपमानमिव **प्रमा- २५ णान्तरम्**।

किं पुनः आपाद्यान्येतान्येव प्रमाणानि आहोस्वित् पराण्यपि सन्ति इति कश्चित्? सन्ति इति दर्शयन्तमाह–**अर्थापत्तिः** इत्यादि।

---

(१) 'इयं सा स्त्रीशब्दवाच्या' इत्यादि ज्ञानम्। (२) "प्रत्यभिज्ञानं हि नाम आद्यप्रत्यक्षनिरोधे द्वितीयदर्शने प्रागाहितसंस्काराभिव्यक्तौ स्मृतिपूर्वं तृतीयं दर्शनम्।"–न्यायवा० पृ० ४००। "एवं पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणमतीतक्षणविषय इति मानसी प्रत्यभिज्ञा।"–न्यायम० प्रमे० पृ० ३३। (३) जायमानम्। (४) प्रत्यभिज्ञानाख्यम्। (५) संख्यादिज्ञानम्। (६) अनुमानस्यापि। (७) तस्यास्तु ज्ञानत्वादेव हेतोः मानसज्ञानवत्। (८) प्रमाणान्तरम्–प्रत्यभिज्ञानाख्यम्।

[अर्थापत्तिरियं चिन्ता मेयान्यापोहनोहनम् ॥६॥

देशकालादिनियतं पश्यतः शृण्वतो वा पुनः इदमित्थमेव नान्यथेति विधिप्रतिषेधलक्षणं विकल्पद्वयं कथञ्चन स्मार्तमेवेति संकीर्येत न वा ? संभवप्रत्ययस्वभावमवधारणपरं स्मार्तमेव ।]

५ प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थः (योऽर्थः) साध्याभावे नियमेनाभवन् यत्र अदृष्टमर्थं कल्पयेत् सा अर्थापत्तिः । तदुक्तम्—

*"प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यथाभवन्[1] ।
अदृष्टं कल्पयेदर्थं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥" [मी०श्लो०अर्था०श्लो० १] इति ।

'अटव्यां गवयदर्शनात् नगरे गवि या स्मृतिः' इत्यनेन गृह्यते, अन्यस्याः प्रमाणान्तरत्वेन १० अविशेषेण प्रसाधितत्वात् । 'यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः स सर्वोऽप्यग्निमान्' इत्यादि प्रतिपत्तिः चिन्ता । अथ [2]इयम् अदृष्टश्रुतपूर्वा इति 'किं स्वरूपा सा' इति पृष्ट इव तत्स्वरूपं दर्शयितुमाह—मेय इत्यादि । मेयोऽनुमेयः अग्न्यादिः विपक्षः (पक्षः) तस्माद् अन्यो यो अनग्न्यादिविपक्षः तस्माद्धेतोः अपोहनं व्यावृत्तिः तस्य ऊहनं वितर्कणम् ।

अथवा, मेयो धूमादिहेतुः तस्य अन्यस्माद् अनग्न्यादेः अपोहनम् तत (इत्यूहनं १५ चिन्तन)मिति केचित्[3] ; तदुक्तमन्यथेति वा चिन्त्यम् ; सूत्र एव तदवयवव्याख्याने प्रयोजनाभावात्, [4]वृत्त्यविशेषप्रसङ्गात् अतिप्रसङ्गाच्च । तस्माद् अन्यथा व्याख्यायते—मेयः प्रत्यक्षादिप्रमाणपरिच्छेद्यः स्वपररूपाभ्यां भावाऽभावात्मको घटादिः तस्य ऊहनम् 'दीर्घोऽयम् अन्यथा वा' इत्यादि रूपेण दर्शनानन्तरं मानसविकल्पेन चिन्तनम्, तत्रैव अन्यस्य पटादेः अपोहनं व्यावृत्तिः, तस्य 'तदिह नास्ति' इति ऊहनं वितर्कणम् । एतदुक्तं भवति—यथा 'तदत्र नास्ति' २० इति ऊहनदर्शनाद् अभावाख्यं प्रमाणमिष्यते तथा 'इत्थमिदम्' इत्यूहनदर्शनाद् भावाख्यमपि अपरं [5]तदिष्यताम्, भावांशवद् अभावांशस्यापि [१५१ ख] प्रत्यक्षादेरेव [6]अन्यथा ग्रहणाद् अभावाख्यमपि तन्नाभ्युपगन्तव्यमिति, तदेतत् सर्वम् उपमानवदिति सम्बन्धः ।

मध्यपदद्वयस्य उत्तरकारिकाद्वयेन यथाक्रमं व्याकरिष्यमाणत्वात् । आद्यन्तपदद्वयं साधिकार्थं कृत्वा व्याख्यातुमाह—'पश्यतः' इत्यादि । पश्यतः चक्षुरादिना साक्षात्कुर्वतः । किम् । २५ इत्याह 'देश' इत्यादि । आदिशब्देन द्रव्यस्वभावपरिग्रहः, तैः नियतम् । अत्रायमभिप्रायः— यथा स्वदेशादिना सत्त्वं भावस्य प्रत्यक्षतः प्रतीयते तथा परदेशादिना असत्त्वमपि । ततो निराकृतमेतत्—

*"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव सम्बन्धः योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥" [मी०श्लो०अभाव०श्लो० १८] इति ।

३० यथैव हि ततो भावांशस्य प्रतीतेः तत्र तद् योग्यं तथा अभावांशस्यापि इति, अत्रापि

(१) अविनाभूतः सन् । (२) चिन्ता । (३) व्याख्याकाराः । (४) टीकातः सूत्रस्य भेदो न स्यादिति भावः । (५) प्रमाणम् । (६) नास्तिरूपेण ग्रहणसंभवात् । (७) प्रत्यक्षादेः । (८) भावांशे । (९) प्रत्यक्षादि ।

तद्योग्यमस्तु अविशेषात् ।

यत्पुनरेतत्[2]–'अभावः स्वसमानजातीयप्रमाणवेद्यः प्रमेयत्वात् भाववत्' इति; तदप्यनेन निरस्तम्; प्रत्यक्ष[3]बाधनात् प्रतिज्ञायाः । तथा **शृण्वतो वा** शब्दात् प्रतिपद्यमानस्य वा **देशकालादिनियतम्** । अनेन पूर्वस्य हेतोः व्यभिचारं दर्शयति ***"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"** [कृ० य० काठक० ६।७] इति[4] वाक्यात् स्वभावाद् अभिमतसत्त्ववद्[5] अनभिमतासत्त्वस्यापि प्रतीतेः, किमन्यथा तदुच्चारणेनेति ? तस्य किम् ? इत्याह–**पुनः** इत्यादि । **पुनः** दर्शनश्रवणाद् ऊर्ध्वं **विकल्पद्वयं** 'जायते' इत्युपस्कारः । कथंभूतम् ? इत्याह–**विधिप्रतिषेधलक्षणं** विधिप्रतिषेधयोः भावाभावयोः लक्षणं निश्चयनं [यस्य] यस्मिन् वा तत्तथोक्तम् । केन प्रकारेण ? इत्याह **इत्थम्** इत्यादि । **इदं** दृश्यमानं च **इत्थम्** अनेन [illegible]-[१५२क] प्रकारेणैव **नान्यथा** परदेशादिप्रकारेण नैव । एवकारोऽत्रापि सम्बध्यते । **च इति** समुच्चये । **इतिः** एवमर्थे । पुनरपि कथम्भूतम् ? **अवधारणपरमुक्तवत्** । तत्किम् ? इत्याह–**कथञ्चन** इत्यादि । **कथञ्चन** केनापि युक्तिप्रकारेण **स्मार्त्तमेव** । स्मृतिशब्दः पूर्वोऽनुवर्तते 'इत्येव वर्त्तते'[7] इत्येवं **संकीर्येत न वा ?** यदि संकीर्येत; तर्हि **विधिलक्षणविकल्पवत् प्रतिषेधलक्षणविकल्पोऽपि न स्मृतेः प्रमाणान्तरं स्यात् ।** अथ न संकीर्यते; प्रतिषेधलक्षणविकल्पवत् विधिलक्षणविकल्पोऽपि प्रमाणान्तरं स्यादिति मन्यते । तन्न कुमारिलः प्रमाणषट्कवादी[8] ।

योऽपि प्रभाकरो मन्यते[9]–'नाऽभावः प्रमाणान्तरं प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकशेषत्वादस्य' इति तं प्रत्याह–**संभव** इत्यादि । अस्यायमर्थः–अनुमानार्थाप[illegible]भाक्, च शब्दोऽत्र पूर्वसमुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । **'विकल्पद्वयम्'** इति सम्बन्धः । कथंभूतम् ? इत्याह–**संभवः** साध्यभावे भावः नियमेन तदभावे अभावः, दृश्यमानस्य श्रूयमाणस्य वा देशकालादिनियतस्य तयोः **प्रत्ययः** प्रतीतिः अन्यथानुपपत्तिग्रह इति यावत् । स एव **स्व** आत्मीयः कारणत्वेन **भावो** यस्य तत्तथोक्तम । अनेन यथा अनुमानस्य साध्याभावासंभवनियमनिर्णयलक्षणो हेतुः कारणं तथा अर्थापत्तेरपि इति दर्शयति । पुनरपि कथंभूतम् ? इत्याह–**अवधारणपरं** 'जीवादिः सत्त्वादिभ्यः परि-

(१) प्रत्यक्षादि । (२) "मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम् । भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता ॥ तथैवाभावमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता ।"–मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५-४६ । (३) प्रत्यक्षेण घटाद्यभावस्य प्रतीयमानत्वात् । (४) मैत्रा० ६।३६ । (५) अग्निहोत्रादियागप्रतिपादनवत् । (६) बौद्धादिकल्पितस्य 'खादेत् श्वमांसम्' इत्याद्यनिष्टार्थस्य निवृत्तिरपि ततः प्रतीयते इति भावः । (७) 'इत्येव वर्त्तते' इति द्विर्लिखितम् । (८) प्रत्यभिज्ञानाख्यस्य सप्तमस्यापि प्रमाणस्य प्रसङ्गात् । (९) "अप्रमीयमाणत्वमेव हि नास्तित्वं नापरं न चाप्रमीयमाणतैव प्रमेयं यस्मात्तदर्थासंसृष्टानुभवयुक्तैव आत्मनः तस्यार्थस्याप्रमीयमाणता । सा चावस्था आत्मनः स्वसंविदितैव, अतः प्रमेयं नावशिष्यते ।"–बृहती प०पृ० ११९-२० । "तस्माद् भावग्राहकप्रमाणाननुवृत्तिरेव अभावावगमं प्रसूते (पृ० ११९) अभावस्य तु स्वरूपावगतिर्नास्ति इति न प्रमाणाभावादन्यः प्रमेयाभावः । प्रमाणाभावोऽपि च स्वरूपान्तरानवगमादेव न भावान्तरप्रमितेर्भिद्यते, भावान्तरप्रमितिश्च स्वयं प्रकाशरूपा न प्रमेयतामनुभवतीति प्रमेयमभावाख्यस्य प्रमाणस्य नोपपद्यते । प्रमेयासद्भावाच्च न प्रमाणान्तरमवकल्पत इति स्थितम् । (पृ० १२४) नास्तित्वञ्च प्रमाणानामनुत्पत्त्यैव गम्यते । नास्तित्वप्रतिपत्तिर्हि तां विना नास्ति कुत्रचित् ॥ योग्यप्रमाणानुत्पत्तेः कारणत्वपरिग्रहात् । अतिप्रसङ्गदोषोऽपि नावकाशमुपाश्नुते ॥"–प्रक०प० पृ० १२९ । नयवि०पृ० १६२ । तन्त्ररह० पृ० १७ । प्रभाकरवि० पृ० ५७ ।

णाम्येव नान्यथा' इत्यवधारणप्रधानम् । एतेन तयोः [१५२ख] स्वरूपाभेदं कथयति । तत् किम् ? इत्याह–**संकीर्येत न वा संकीर्येत** ? कथम् ? इत्याह–**कथंचन**, अनुमानप्रकारेण अर्थापत्तिप्रकारेण चैकीभवेद्वा न वा ? यदि संकीर्येत; तर्हि यथा कु मा रि ल स्य प्रमाणषट्कवार्त्ता वार्त्तैव तथा प्रकारस्य (प्र भा क र स्य) प्रमाणपञ्चककथा कृत्वैव (कथैव) । अथ न संकीर्येत; त्रिरूपलि-
५ ङ्गजनितादनुमानानुमानवृत्त (दनुमानात्) यथा साधर्म्यदृष्टान्तरहिताया अर्थापत्तेः भेदः तथा तस्याः पक्षधर्मत्ववर्जिताया[2] इति स एव दोषः तयोः[3] प्रमाणसंख्याव्याघात इति मन्यते । नन्व-नुमानं स्मरणजम्, दृष्टान्तस्मरणभावे भावात्, नैवमर्थापत्तिर्विपर्ययात् ततस्तयोर्भेद इति चेत्; अत्राह–**स्मार्त्तमेव** इति । स्मृतेर्जातं स्मार्त्तम् । एवकारेण एतत्कथयति–यदि अनुमानोत्थापकोऽर्थो दृष्टान्तस्मरणमन्तरेण अनुमानं नोत्थापयितुमलम्, तर्हि अर्थापत्त्युत्थापकोऽपि तथैवाऽस्तु । अथ
१० विपक्षे सद्भावबाधकप्रमाणबलादेव अर्थोऽर्थापत्तिमुपजनयति, तथा अनुमानमपि इति निरूपयि-ष्यते । यदि पुनः अर्थापत्तौ दृष्टान्तस्याऽसत्तो न स्मरणम्, अनुमाने सतोऽपि; अकिञ्चित्करस्य किं स्मरणेन इति समानः तदभावः । अथायं निर्बन्धो लिङ्गं दृष्टान्तमन्तरेण साध्याविनाभावि ज्ञातुं न शक्यते इति; तथा अर्थापत्त्युत्थापकोऽप्यर्थः[9], इति सूक्तम्– **स्मार्त्तमेव** इति ।

ननु यदुक्तं स्मृतिः उपमानवदिति न दोषाय अभ्युपगमादिति चेत; अत्राह–**गवि स्मृतिः**
१५ इत्यादि ।

[गवि स्मृतिः प्रमाणं स्यात् गवयं पश्यतः कथम् ।
अन्यत्र तद्विलक्ष्येऽपि प्रयोजनवशान्न किम्[10] ॥७॥

उपमावाक्याद् यथा क्वापि सादृश्यप्रतिपत्तिस्तथा कस्यचित् केनचिद् वैलक्षण्य-प्रतिपत्तिः अर्थापत्तेः । तदुत्तरप्रत्यक्षात् पूर्वस्मृतिरविशेषेण प्रमाणमस्तु प्रयोजन[वशात्]
२० प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्[11], संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिश्च उपमानार्थ इति किं परिसंख्यानेन ? कृतेन अकृतवीक्षणस्य सर्वस्यैव भवति उपमानम् । नन्वेवमुपमाना-नुमानयोः अभेदप्रसङ्गः, तथास्तु । उदाहरणसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां सह पृथग्वा स एव तत्र साधनम् । अत्रापि उपमानसाधर्म्यानुमानयोरभेदः स्याद् विशेषादर्शनादिति विपरीतल-क्षणप्रज्ञो जडात्मा । ततोऽनुमानमेव, सर्वथा अविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रामा-
२५ ण्यानुपपत्तेः । प्रत्यक्षेऽपि समानः प्रसङ्गः । तथैवानुमानेऽपि । कस्यचित् कथञ्चित् स्वतः सिद्धिमन्तरेण उत्तरस्यावृत्तेः चिन्तोपमानवत् ।]

(१) अनुमानार्थापत्त्योः । (२) अर्थापत्तौ साधर्म्यदृष्टान्ते व्याप्तिग्रहणं नावश्यकम् । "अविनाभाविता चात्र तदैव परिगृह्यते । न प्रागवगतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम् ॥"–मी०श्लो० अर्था०श्लो० ३० । (३) अर्थापत्तेः । (४) अपि भेदोऽस्तु । "इति तद्रहिताऽर्थापत्तिः प्रमाणं स्यात् ।"–न्यायकुमु० पृ० ५१९ । (५) कुमारिलप्रभाकरयोः ।(६) अनुमानार्थापत्त्योः । (७) असत्त्वात् । (८) दृष्टान्ताभावः । (९) साध्या-विनाभावितया ज्ञातुं न शक्येत । (१०) तुलना–"उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् । तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥१९॥"–लघी० । न्यायावता० वा०श्लो० १४ । (११) "प्रसिद्धसाध-र्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्"–न्यायसू० १।१।६ ।

'गोरलाभे गवयेन तत्कार्यं कर्त्तव्यम्' इति [१५३क] श्रुत्वा कश्चित् कञ्चिद् आटव्यं[1] पृच्छति 'कथंभूतो गवयो भवति'? स तं प्रत्याह–'गौरिव गवयः' इति। स पृष्ट्वा एवं श्रुत्वा नगरे गामुपलभ्य पुनः अटवीं पर्यटन्, यद्वा (दा) तत्र[2] गवयमुपलभ्य गां स्मरति तदा सा **गवि** गवयसादृश्यविशिष्टे **स्मृतिः प्रमाणं** मीमांसकस्य उपमानाख्यं मानं **स्याद्** भवेत्, **गवयं पश्यतः** पुंसः। चेच्छब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, क्त्वा (क्का) वा तदर्थो व्याख्यातव्यः। अत्र दूषणमाह–'**कथम्**' इत्यादि। **कथं** केन प्रकारेण **न प्रमाणम् अपि तु** प्रमाणमेव। **अन्यत्र** क्वचित् महिष्यादौ '**स्मृतिः**' इति सम्बन्धः। कथंभूते? इत्याह–'**तद्**' इत्यादि। तस्माद् गवयाद् विसदृशरूपेण लक्ष्यते इति **तद्विलक्ष्यः** तस्मिन्नपि न केवलं तत्सदृशे गवि इति। एतदुक्तं भवति–यथा सादृश्यविशिष्टे [गवि तद्विशिष्टे वा] सादृश्ये, गोग्रहणमुपलक्षणम्, स्मृतिः प्रमाणान्तरं तथा वैलक्षण्यविशिष्टे महिष्यादौ तद्विशिष्टे वा वैलक्षण्ये[3] इति। ननु गोसदृशालम्भनादि[4] यथा सदृशस्मृतेः प्रयोजनं नैवं वैलक्षण्यस्मृतेरिति चेत्; अत्राह–**प्रयोजनवशात्** इति। वैदिकवद् इतरप्रयोजनभावादिति भावः।

कारिकां विवृणोति **उपमा** इत्यादिना। 'गौरिव गवयः' इति वाक्याद् **यथा क्वापि** गवि **सादृश्यप्रतिपत्तिः तथा कस्यचित्** महिष्यादेः **केनचिद्** गवादिना **वैलक्षण्यप्रतिपत्तिः**। कुतः? **अर्थापत्तेः**, यत एवं **तत्** तस्मात् **उत्तरप्रत्यक्षात्** गवयप्रत्यक्षात् **पूर्वस्य** गवादेः **स्मृतिः प्रमाणमस्तु** अविशेषेण, सदृशस्मृतिवद् [illegible]तिरपि प्रमाणं भवतु। कुत एतत्? इत्याह–[१६३ख] **प्रयोजन** इत्यादि।

ननु यदुक्तम्–'**चिन्तोपमानवत्**' इति; तत्र साकल्येन [लिङ्ग]लिङ्गिसम्बन्धबुद्धिर्यदि चिन्ततेयस्याः (चिन्ता; तस्याः) साक्षात् परम्परया मनोऽर्थसन्निकर्षादुत्पत्तेर्मानसप्रत्यक्षत्वेन प्रमाणता इति[6] सिद्धसाधनम्। अथवा यदुक्तम्–'प्रमाणान्तरम्' इत्यादि; तदपि तादृगेवं; **वैधर्म्योपमानत्वादस्य**, शेषं मानसमध्यक्षम् इति नैयायिकादयः। तान् प्रत्याह–**प्रसिद्ध** इत्यादि। **प्रसिद्धेन** गवादिना **प्रसिद्ध**[7] वा यत् **साधर्म्यं** तस्मात् **साध्यस्य** संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानस्य **साधनम्** प्रमातृप्रमेयाभ्यामन्यः[8] कारणकलापः **उपमानम्** प्रमाणम्। अस्य फलम् अर (आह-) **संज्ञा** इत्यादि। **उपमानार्थं** उपमानफलम् इत्येवं 'च' शब्दः पूर्वसमुच्चये **किं परिसंख्यानेन** परिगणनेन, न किञ्चित्। किं तर्हि भवतु? इत्याह–**कृतेन** इत्यादि। **कृतेन** निश्चितेन [अ]**कृतस्य परोक्षस्य** यद् **वीक्षणं** ज्ञानं तस्य **सर्वस्यैव** निरवशेषस्यैव **भवति उपमानम्**, उपमानादपरं परोक्षं प्रमाणं मा भूद् इति मन्यते। एतदुक्तं भवति–यथा विशदेन्द्रियार्थसन्निकर्षजज्ञानसाधर्म्यात्

५

१०

१५

२०

२५

(१) वनवासिनम्। (२) अटव्याम्। (३) प्रमाणान्तरमस्तु। (४) गोसदृशस्य यागादौ आलम्भनं क्रियते इति सदृशस्मृतेः वैदिकं प्रयोजनं विद्यते इति भावः। (५) लौकिकजनस्य गोविलक्षणमहिषादिज्ञानरूपं प्रयोजनमस्त्येवेति भावः। (६) "तस्य ग्रहणं प्रत्यक्षानुपलम्भसहायान्मानसात् प्रत्यक्षात्। धूममग्निसहचरितमिन्द्रियेणोपलभ्य अनग्नेश्च जलादेर्व्यावर्तमानमनुपलम्भेन ज्ञात्वा मनसा निश्चिनोति धूमोऽग्निं न व्यभिचरतीति।" –न्यायकलि० पृ० ३। (७) सिद्धसाधनमेव। (८) प्रमातृप्रमेयाभ्यामन्यस्य प्रमाणता भवति।

साक्षात् परम्परया तत्सन्निकर्षजं विशदमविशदं वा प्रत्यक्षमुच्यते तथा ...साधर्म्यात् साध्य-साधनोपमानसाधर्म्यात् कृतेनाकृतज्ञानम् उपमानमस्तु अवान्तरविशेषस्य सर्वत्र भावादिति[2]।

पर आह–नन्वेवम् इत्यादि । **ननु** इति अक्षमायाम् । **एवं** सति **उपमानाऽनुमानयोः अभेदप्रसङ्गः**; भेदश्च तयोर्लोके प्रसिद्ध इति मन्यते । [१५४क] **'तथास्तु'** इति वदन्तमाचार्यं ५ प्रत्याह–**स एव तत्र** इत्यादि । **तत्र** तयोः उपमानाऽनुमानयोर्मध्ये **साधनम्** अनुमानम् । काभ्याम् ? इत्याह–**उदाहरण** इत्यादि । **उदाहरणं** निदर्शनं तेन यत् **साधर्म्यं** कृतकत्वादि समानधर्मेण सदृशत्वम् **वैधर्म्यं** तद्धर्माऽभावेन विसदृशत्वं पक्षस्य **ताभ्याम्** इति । **सह** इत्यनेन अन्वयव्य-तिरेकवत् पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोऽदृष्टम् इत्यनुमानं दर्शयति **पृथग्वा** इत्यनेन केवलान्वयि पूर्व-वच्छेषवद् इति केवलव्यतिरेकि पूर्ववत्सामान्यतोऽदृष्टम् इति च उपमानलक्षणमुक्तमिति नोच्यते ।

१० अत्र दूषणमाह आचार्यः– **अत्रापि** इत्यादिना । न केवलं पूर्व(र्वं) व्याप्तिज्ञान[स्य] मानसाध्यक्षत्वकल्पने किं चैत्रापि (किन्त्वत्रापि) **उपमानसाधर्म्यानुमानयोरभेदः स्यात्** *"**प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्**" [न्यायसू० १।१।६] इत्यस्य *"**उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्**" [न्यायसू० १।१।३४] इत्यस्य च **विशेषाऽदर्शनात्** इति मन्यते । तथा च परैः परमार्थतः तयोर्भेदं कथयति लक्षणं च समानं ब्रूते इति **विपरीतलक्षणप्रज्ञो जडात्मा** १५ **इति** । सत्यं निदर्शनमात्रमेतत् तेन वैधर्म्योभयोपमानानुमानयोरभेदः स्यादिति च द्रष्टव्यम् ।

एवं स्वयम् आचार्येण नैयायिके निरस्ते सौगताः प्राहुः–**ततोऽनुमानमेव** इत्यादि । अस्यायमर्थः–यस्मात् **कृतेन अकृतवीक्षणं 'सर्वम्'** इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः ।

अत्राह परः–प्रसिद्धसाधर्म्यादन्यतो वा साध्या[१५४ख]विनाभाविनः साध्यसाधनमनुमा-नमस्तु[6] परं तु उपमानादिकं स्यादिति चेत् ; अत्राह सौगतः–**सर्वथा** इत्यादि । सर्वेण प्रसिद्धसाधर्म्य-२० प्रकारेण अन्येन वा **सर्वथा अविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तेः** विना **तमन्तरेण प्रामाण्यानुपपत्तेः अनुमानमेव अस्तु** इति सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–यदि प्रसिद्धसाधर्म्यस्य **अन्यस्य** वा अविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तिरस्ति ; सिद्धमस्मत्समीहितम् । अन्यथा ततो जायमानं न किञ्चित्प्र-माणम् अतिप्रसङ्गादिति । ननु यथा प्रत्यक्षस्य अविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तेर्विना प्रामाण्यं तथा उपमानादेः स्यादिति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यक्षेऽपि** इत्यादि । न केवलमन्यत्र[7] अपि तु **प्रत्यक्षेऽपि** २५ **समानः** सदृशः **प्रसङ्गः** प्रसक्तिः **'अविनाभाव'** इत्यादिकस्य । [8]तदपि हि वस्तुप्रतिबन्धात् तत्र प्रमाणं नान्यथा ।

अत्राह चार्वाकः–अनुमाने तर्हि अविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तेरभावात् प्रामाण्यं न स्यादिति; तत्राह–**तथैव** इत्यादि । **तथा** तेन प्रत्यक्षप्रकारेण **अनुमानेऽपि** न केवलम् अन्यत्र **समानः प्रसङ्गः** इति पदघटना । अस्ति च [9]तत्रापि सा[10] इति मन्यते । तदुक्तम्–

---

(१) ज्ञानम् । (२) न हि किञ्चिदवान्तरविशेषमात्रेण प्रमाणान्तरत्वं भवति । (३) "तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं चेति" (सू० १।१।५) "त्रिविधमिति अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति ।" न्यायवा० पृ० ४६ । (४) नैयायिकादिः । (५) नैयायिकः । (६) अविनाभावग्रहणं विना यत् ज्ञानं सादृश्याद् भवति तद् भवतु उपमानमित्यभिप्रायः । (७) उपमानादावेव । (८) प्रत्यक्षमपि । (९) प्रत्यक्षेऽपि । (१०) अर्थाविनाभावप्रतिपत्तिः ।

*"अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता ।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्[1] ॥" इति[2] ।

एवं स्वमतं व्यवस्थाप्य सौगताः कदाचिदेवं ब्रूयुः–अस्माकं कथं चिनो ('चिन्तो) पमानवद्' इति । तत्राह आचार्यः–**कस्यचिद्** इत्यादि । **कस्यचित्** धूमादेः **कथञ्चित्** केनापि प्रकारेण **स्वतः**[न]साधनान्तरेण ज्ञानापेक्षामन्तरेण **सिद्धिः**[१५५क]निर्णीतिः[ता]**मन्तरेण उत्तरस्य** ५ अध्यक्षद् (वत्) अनुमानस्याऽवृत्तेः **चिन्तोपमानवत्** इति । अत्रायमभिप्रायः–अस्याः सिद्धेः सद्भावे ततः अनुमानमेव अस्तु इत्ययुक्तं प्रत्याख्या[नम्] ।

[प्रत्यक्षा]नुमानयोरन्यतरत्र तदन्तर्भावात्[3] न दोष इति चेत्; अत्राह–**भूता** इत्यादि ।

[भूता भव्याः सर्वे सन्तो भावाः क्षणक्षयाः ।
इति व्याप्तौ प्रमाणं ते न प्रत्यक्षं न लैङ्गिकम् ॥८॥ १०

परोक्षस्य सम्बन्धात्तदविनाभाविनोऽन्यतः सिद्धिरनुमानमेवेति; अत्र सम्बन्धो नैव प्रत्यक्षो भवितुमर्हति यतोऽनुमानव्यवस्था स्यात् । न हि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं क्वचित् कदाचित् प्रत्यक्षं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात् । यदि तद्बलोत्पन्नं विकल्पज्ञानं न भवेत् अनुमानं च न स्यात् । अनधिगतलिङ्गलिङ्गिस्वलक्षणाध्यवसायेऽपि यदि न प्रमाणान्तरं प्रत्यक्षमपि न स्यात् । तत्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अविकल्पित [सांवृताभ्याम्] नार्थाधिगतिर्नाम । समारोपव्यवच्छेदस्याप्यभावात् । यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकमेवेति प्रत्यक्षसिद्धौ शब्दक्षणिकत्वमेव किमनुमेयम् ?] १५

भावाः सन्तः पदार्थाः **सर्वे** निरवशेषाः । के ते ? इत्याह–**भूता** इत्यादि । **क्षणि-(ण)क्षया** इत्येवं **व्याप्तौ** व्याप्तिविषये **प्रमाणं ते** सौगतस्य **न प्रत्यक्षं न लैङ्गिकम्** नानुमानम् । तदभावाभ्युपगमान्नायं दोष इत्येके । तेषां व्याप्तेरग्रहे[4] नानुमानं नाम, इत्ययुक्तमिदम्[5]–*"प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे एव प्रमाणे ।" इति । व्यवहारेण तदभिधानाददोष इति चेत्; व्यवहारेण तत् न परमार्थतः [इति] कुतोऽवसेयम् ? विचारादिति न युक्तम्; अस्य[6] अप्रमाणत्वे नीतस्तदवसेयम् अतिप्रसङ्गात् । प्रमाणत्वमपि नाध्यक्षत्वेन [अनभ्युपगमात्] विरोधाच्च । नानुमानत्वेन; अनभ्युपगमात् । तन्न विचारात् तदवसेयम् । प्रत्यक्षादिति; न; एवंवादिनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षादन्यस्य असंभवात् । न च तत्[9] स्वरूपादन्यत्र वृत्तिमत् इति कुतस्ततः 'अन्यत् प्रत्यक्षम् अनुमानं च व्यवहारेण' इति प्रतिपत्तिः ? नहि नीलज्ञानं पीतादिकम् इदंतया नेदंतया वा व्यवस्थापयितुमलम्, ज्ञानान्तरकल्पनावैफल्यप्राप्तेः । अथ अन्यत् प्रत्यक्षादिकम् असत्; २० २५

---

(१) प्रत्यक्षमनुमानञ्च । (२) "अत एवाह–अर्थस्यासंभवे···"–प्र० वार्तिकाल० ३।११७ । तत्त्वसं० प० पृ० ७७५ । आप्तप० पृ० १७३ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २० । सन्मति० टी० पृ० ५५५ । न्यायावता० वा० वृ० पृ० ८६ । "धर्मकीर्तिरप्येतदाह" प्रमाणमी० पृ० ८ । (३) चिन्तायाः तर्कस्य अन्तर्भावात् । (४) व्याप्तिज्ञान । (५) "द्विविधं सम्यग्ज्ञानम् । प्रत्यक्षमनुमानं च"–न्यायबि० १।२,३ । प्र० वा० २।१ । "प्रत्यक्षानुमानभेदेन द्विविधमेव प्रमाणं प्रतिपत्तव्यम्"–प्र० वार्तिकाल० २।१ । (६) विचारस्य । (७) विचारात् । (८) निर्विकल्पकस्य हि प्रत्यक्षत्वमभ्युपगम्यते, विचारस्य च विकल्परूपत्वादिति भावः । (९) स्वसंवेदनप्रत्यक्षम् ।

असतश्च सत्त्वेन अन्यथा वा कल्पनं नान्यतो व्यवहारात इति चेत ; कुतस्तदसत्त्वसिद्धिः ? 'अनुपलम्भात्' इत्यनुत्तरम ; स्वयमेव अतः परेण अनुमानव्यवस्थानात् [१५५ख]*"**प्रतिषेधाच्च कस्यचित्**" इति वचनादिति । अस्य व्यवहारेण प्रामाण्ये कुतः अन्तः परमार्थतोऽन्याभावसिद्धिः यतः स्वसंवेदनाध्यक्षाद्वैतमेव इति युक्तम् । नान्यत एव तदभावः सिध्यति; तत्र अस्य
५ अव्यापारात , इतरथा सुखादीनां परस्परमनुपलम्भात् सर्वाभावः स्यात् ।

एतेन यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण–*"**प्रतिभासाद्वैतादन्यस्य अभावात् कथमुच्यते भूता इत्यादि**" इति ; तन्निरस्तम । 'अस्याः' ग्रहणम उपलक्षणम , तेन अन्यस्यामपि, तत्र तस्य प्रमाणम इत्यनुमानोच्छेदः ।

कारिकार्थं दर्शयितुमाह–**परोक्षस्य** इत्यादि । **परोक्षस्य** इन्द्रियविषयस्य **सम्बन्धात्**
१० **तदविनाभाविनोऽन्यतः** ततोऽन्यस्मात **सिद्धिः अनुमानमेव** न प्रमाणान्तरम् । **इति** शब्दः परपक्षसमाप्तौ । सूरिः आह–**अत्र** इत्यादि । **अत्र** परपक्षे **संबन्धो** लिङ्गलिङ्गिनोः अविनाभावो **नैव प्रत्यक्षो भवितुमर्हति यतो** यस्मात तत्प्रत्यक्षभवनार्हत्वात **अनुमानव्यवस्था स्यात्** । यत इति वा आक्षेपे, नैव स्यात । एतदुक्तं भवति–*"**उपलम्भः सत्ता**"[प्र०वार्तिकाल० ३।५४] इति वचनात प्रत्यक्षभवनार्हत्वाभावेन सर्वंचस्तदभावे (सर्ववस्त्वभावे) नानुमानं कारणाभावे
१५ कार्यानुत्पत्तेरिति । एतदेव दर्शयन्नाह–**नहि** इत्यादि । हि यस्मात् **न कस्यचित्** सौगतस्य नैयायिकादेर्वा **साकल्येन** सामस्त्येन **व्याप्तिज्ञानं** लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणं **प्रत्यक्षं क्वचिद्** व्यवहारे परमार्थे वा देशे वा **कदाचित्** संसारिदशायां योगिदशायां वा काले वा **भवितुमर्हति** । ततो निराकृतमेतत–*"**यस्य यावता (ती) देशमात्रा**" [१५६क] [प्र०वार्तिकाल० ३।६१] इति । केनचिद् धर्मेण न तावद्वैशद्येन ; तत्र तदभावात , तथा अव्यवहारात् ।
२० तथापि तत्र तदङ्गीकरणे न किञ्चिदविशदं ज्ञानं भवेत् । नापि चक्षुराद्यक्षप्रभवत्वेन ; तत्र तदव्यापारात् , अन्यथा प्रत्यक्षसंख्यानियमव्याघातः । अभ्यासजत्वेनेति चेत् ; अत्रेदं चिन्त्यते–विकल्पमात्रं वा अभ्यासपरिकरगोचरीकृतं तत स्यात् , अनुमानं वा ? प्रथमविकल्पे न तत्प्रमाणम् , कामाद्युपप्लुतदृष्टिवत । द्वितीये व्याप्तिज्ञानादनुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् *"**नाऽकारणं विषयः**" इत्यस्य *"**प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्त्या प्रवृत्तिसामर्थ्याद् अर्थवत्**

(१) असत्त्वेन वा । (२) बौद्धेन । (३) "धर्मकीर्तिरप्येतदाह–प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः । प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥"–प्र०मी० पृ० ८ । प्रमेयरत्नमा० २।१ । "तथा चोक्तं तथागतैः–प्रमाणान्तरसामान्यस्थिते···"–सर्वद० सं० पृ० १९ । (४) "तस्मात् संवेदनमेव केवलमद्वैतमपरस्याभावादिति स्थितम् ।" (पृ० २९०) "नाद्वैतादपरं तत्त्वमस्ति"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३० । (५) "उपलम्भः सत्तेति व्यवस्था"–प्र० वार्तिकाल० । (६) व्याप्तिज्ञाने । (७) उद्धृतमिदम्–अनेकान्तजय० पृ० २०७ । धर्मसं० पृ० १७६ । बोधिचर्या० प० पृ० ३९८ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१९ । आप्तप० पृ० १६८ । प्रमेयक० पृ० ३५५, ५०२ । न्यायकुमु० पृ० ६४० । स्या० र० पृ० ७६९ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० २९० । स्या० मं०पृ० २०६ । "अहेतुश्च विषयः कथम्"–प्र० वा० ३।४०६ । "नाहेतुर्विषयः"–प्र० वार्तिकाल० ३।४०६ । "न ह्यकारणं प्रतीतिविषयः"–हेतुबि० टी० पृ० ८० । "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः"–न्यायकुमु० पृ० ६४० । सम्मति० टी० पृ० ५१० । प्र० मी० पृ० ३४ । षड्द० बृ० बृ० पृ० ३७ ।

प्रमाणम्" [न्यायभा० पृ० १] *"अर्थसहकारिव्यवसायादिविशेषणज्ञानकं प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरं प्रमाणम्" इत्यस्य च वचनात् स्वविषयकार्येण तेन भवितव्यम्, इति न स्वसमानसमयभुवो ग्रहणम् तस्य [1]तदकारणत्वात्। यच्च कारणं तदपि तद्देशादिसन्निहितमेव न सर्वं विवक्षितम्, अन्यथा स्वान्यकार्यदेशादौ तेन तत्कर्त्तव्यमिति निरूपयिष्यते अनन्तरमेव। ततः सूक्तम्–[सन्निहितेत्यादि] सन्निहितः तत्कालानन्तरकालो यो विषयः तस्य बलेन उत्पत्तेः ५ कारणात् प्रत्यक्षस्य, तज्ज्ञानं(तज्ज्ञानं) न प्रत्यक्षं भवितुमर्हतीति। हेत्वन्तरमाह–अविचारकत्वात् इति। अविकल्पकत्वाऽस्वग्रहणात्मकत्वाभ्यां सन्निहितस्यापि विषयस्य अव्यवस्थापकत्वात् तेन [2]तद् भवितुमर्हतीति। तद्व्याप्तिज्ञानं तर्हि अनुमानं स्यादिति चेत्; अत्राह–तद्बलाद् इत्यादि। न केवलं तज्ज्ञानं प्रत्यक्षं न भवितु [१५६ख]मर्हती त्कं (त्थम्) किन्त्वनुमानं च तदपि न स्यात्। यदि चेद् विकल्पज्ञानमूक(मूह) ज्ञानं न भवेत्। कथम्भूतम्? तद्बलोत्पन्नं प्रत्यक्ष- १० सामर्थ्योत्पन्नम् *"ऊहो मतिनिबन्धनः" इति वचनात्। अस्ति तत[4], केवलं प्रमाणं न भवति, प्रमाणमपि लिंगिक (लैङ्गिक)मेव इति चेत्; अत्राह–अनधिगत इत्यादि। अनधिगतं प्रत्यक्षादिना अविपर्यीकृतं लिङ्गलिङ्गिस्वलक्षणं यत् तस्याध्यवसायेऽपि न केवलम् अनध्यवसाये यदि न प्रमाणान्तरम्। तथाहि–यदि न प्रमाणं प्रत्यक्षमपि न स्यात् तस्यापि तल्लक्षणान्तराभावात्। यदि न तदन्तरं किन्तु अनुमानमेनमेव, अनुमानं न स्यात् अनवस्थानादिति मन्यते। १५

ननु माभूद् अनुमानं तथापि न सौगतस्य काचित् क्षतिः स्वयं तदभावोपगमात्। तस्वाभ्युपगतस्य प्रतिभासाद्वैतस्य प्रत्यक्षतः सिद्धिरिति चेत्; अत्राह–तत्प्रत्यक्ष इत्यादि। ते च ते सौगतकल्पिते परमार्थसंवृतिरूपे प्रत्यक्षम (क्षा) नुमाने च ताभ्याम्, कथम्भूताभ्याम्? इत्याह–अविकल्पित इत्यादि। सुगमम्। नार्थाधिगतिर्नाम व्यवहारे अर्थस्य व्याप्तिलक्षणस्य परमार्थे [5]तदद्वैतलक्षणस्य अधिगतिर्न, प्रत्यक्षस्य सकलविकल्पविकलस्य [6]परं प्रति असिद्धेः, अनुमानस्य २० च [7]सांवृतस्य तत्त्वाऽसाधकत्वादिति मन्यते।

ननु यदुक्तम्–'[8]माऽनुमा'–अनुमानेन नार्थाधिगतिः नाम इति; तत्सिद्धसाधनम्; [9]तेन तदधिगतेरनभ्युपगमात्। समारोपव्यवच्छेदकरणात् [10]तत् प्रमाणमिष्यत [१५७क] इति चेत्; अत्राह–समारोप इत्यादि। न केवलम् अर्थाधिगतेः अपि तु [11]तद्व्यवच्छेदस्याप्यभावात्। अर्थाधिगतिमन्तरेण स्वापादिवत् तद्व्यवच्छेदासंभवादिति मन्यते। २५

यस्तु मन्यते प्रज्ञाकरगुप्तः–*"योगिज्ञानं व्याप्तिज्ञानम्" इति[12]। तं प्रत्याह–

---

(१) समसमयभाविनोः कार्यकारणभावाभावात्। (२) व्याप्तिज्ञानम्। (३) प्रत्यक्षम्। (४) व्याप्तिज्ञानम्। (५) प्रतिभासाद्वैतस्वरूपस्य। (६) जैनादिकम्। (७) विकल्परूपस्य। (८) मा अनुमा प्रमाणम् इत्यर्थः। (९) अनुमानेन। (१०) अनुमानम्। "यदा पुनरनुमानेन समारोपव्यवच्छेदः कृतो न भवतीति तदर्थमन्यत् प्रवर्तते।"–प्र० वा० स्व० पृ० १२५। "समारोपविवेकेऽस्य प्रवृत्तिरिति गम्यते।"–प्र०वा० ३।४८। (११) समारोपव्यवच्छेदस्य। (१२) तुलना–"अन्ये तु व्याप्तिग्रहणकाले प्रतिपत्तुर्योगिन इवाशेषविषयं परिज्ञानमस्तीति ब्रुवते।"–प्रश० व्यो० पृ० ५७०। "योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिसिद्धिरित्यपि दुर्घटम्"–त० श्लो० पृ० १७९। न्यायकुमु० पृ० ४३२। प्रमेयक० पृ० ३५१।

यत्सत् इत्यादि । यत् सत् अर्थक्रियाकारि तत्सर्वं क्षणिकं नित्यं न भवति इत्येवं प्रत्यक्ष-सिद्धौ शब्दक्षणिकत्वमेव किमनुमेयं किन्तु सर्वम् अनुमेयं स्यात् इति न किञ्चित् प्रत्यक्ष-प्रमाणप्रमेयं भवेत् । अथ सुखादि-नीलादि तत्प्रमेयमिष्यते, तथा क्षणिकत्वमपि अस्तु तदविशेषा-दिति न किञ्चिदनुमेयम् । न च योगिज्ञानविषयीकृते समारोपोऽभ्यासदशाचद्यतः (रोपोऽनभ्या-
५ सदशा च, यतः) तद्व्यवच्छेदकरणादनुमेयं स्यात् , समारोपे वा न प्रत्यक्षतः तद्व्याप्तिसिद्धिः । न वा निश्चितलिङ्गवत् सा अनुमानकरणमिति मन्यते ।

एतेन सैन्यन्धसम्बन्धजं मानसमध्यक्षं चिन्तितम् ।

एवं तावत् सामान्येन परस्य साकल्येन व्याप्तिग्रहणे(णम)संभवीति प्रतिपाद्यं (द्य) यदुक्तम् अर्चटेन–*"सर्वस्य क्षणिकत्वेन साकल्यव्याप्तिग्रहणं नाध्यक्षतः, अपि तु
१० अक्षणिकात् सर्वतः सत्त्वं व्यावर्त्तमानं तीरादर्शिशकुनिन्यायेन गत्यन्तराऽभावात् क्षणिके व्यवस्थितिं कुर्वत् तेन व्याप्तमिति निश्चीयते, ततः तद्व्यावृत्तिश्च तद्व्यापिकाया अर्थ-क्रिया[याः] व्यावृत्तेः, अस्याश्च व्यापकयोः क्रमयौगपद्ययोः ।" इति । तत्राह–**सत्ताम्** इत्यादि ।

[सत्तां सर्वतोऽक्षणिकात् स्वनिवृत्तौ निवर्त्तयेत् ।
१५ व्याप्यामर्थक्रियां चेत्सा क्षणिके केन सिध्यति ॥९॥

**क्रमाक्रमयोः व्यापकयोरन्यतरेण क्षणिके अर्थक्रियायाः प्रत्यक्षप्रवृत्तिरेव विपक्षे बाधकप्रमाणवृत्तिः ।सा पुनः क्षणक्षयानुपलक्षणात् कथं प्रत्यक्षा ? प्रत्यक्षापि कथं तत्स-म्बन्धिनी। जातेः···कथंप्रत्यक्षा। क्षणिकस्यार्थक्रियासिद्धिमन्तरेण सत्ता व्यावर्तमाना कथ-ञ्चिदक्षणिके सत्तां साधयेत् विपक्षानतिशायनात् । तदयं क्षणिके अर्थक्रियामेव कुतश्चित्
२० साधयितुमर्हति अन्यथा विपक्षव्यावृत्त्यसिद्धेः। कारणस्य क्षणिकस्य सत्त्वैवार्थक्रिया प्रत्यक्षेति चेत्; तथाऽक्षणिकस्य अविशेषात् , प्रतीतिवस्त्वविशेषः इतरत्रापि । कार्योत्पत्तिः···अन्य-त्रापि समानम्। कारणाच्चेत्; किं केन व्याप्तम्? ततः स्वभावानुपलब्धिरेव विपक्षे बाधकं प्रमाणम्। सा पुनः क्षणिकोपलब्धिरसिद्धैव विप्रतिपत्तेः अन्यथा साधनवैयर्थ्यात् ।]**

(१) प्रत्यक्षप्रमेयम् । (२) व्याप्तिः । (३) मनःसंयुक्तेन आत्मना सम्बद्धाः सर्वेऽर्थाः । (४) "नैव प्रत्यक्षतः कार्यविरहाद्वा सर्वशक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उच्यते किन्तु तद्व्यापकविरहात् । तथाहि–क्रमयौगप-द्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोस्तयोरक्षणिकत्वे विरोधान्नि-वृत्तेस्तद्व्याप्तायाः कार्यक्रियाशक्तेरपि निवृत्तिरिति सर्वशक्तिविरहलक्षणमसत्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धि-राकर्षति विरुद्धयोरेकत्रायोगात् । ततो निवृत्तं सत्त्वं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवतीति यत् सत् तत् क्षणिकमेव इत्यन्वयव्यतिरेकरूपाया व्याप्तेः सिद्धिःनिश्चयो भवति ।"–हेतुबि० टी० पृ० १४६ । (५) "यथा किल वहनारूढैर्वणिग्भिः शकुनिर्मुच्यते अपि नाम तीरं द्रक्ष्यतीति । स यदा सर्वतः पर्यटंस्तीरं नासादयति तदा वहनमेवागच्छति तद्वदेतदपि द्रष्टव्यम् । यतश्चावश्याभ्युपगमनीयोऽयं पक्षः तस्मान्न किञ्चिदनया अविद्यमानप्रतिष्ठानया दिशः प्रतिपत्त्या प्रयोजनम् ।"–हेतुबि० टी० पृ० १९३ ।

सर्वतः कुदस्थात् (कूटस्थात्) कालान्तरस्थायिनश्च यदि वा दृश्याभिमताद् [१५७ख] अन्यतश्च **अक्षणिकात् चेत् सत्तां निवर्त्तयेत्** । कथम्भूताम् ? **व्याप्यां** 'स्वव्याप्याम्' इत्यवगन्तव्यम्, यथा 'मातरि वर्त्तितव्यम्' इत्यत्र 'स्वस्याम्' इति । का ? इत्यत्राह–**अर्थक्रिया** इति । कस्मिन् सति ? इत्याह–**स्वाने**(ऽ)**र्त्तौ** इति । तत्र दूषणम् **सा** अर्थक्रिया स्वाहिमेत (स्वाभिमत) **क्षणिके** वस्तुनि । **केन** प्रमाणेन प्रकारेण वा **सिध्यति**, न केनचित् । एतदुक्तं ५ भवति–अक्षणिके व्यापकयोः क्रमाऽक्रमयोरनुपलम्भः क्षणिकेऽपि इति तत्रापि तदभावो न वा क्वचिदिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह– **क्रम** इत्यादि । **क्रमाक्रमयोर्मध्ये** । कथंभूतयोः ? **व्यापकयोः 'अर्थक्रिया'** इति सम्बन्धः । **अन्यतरेण** क्रमेण अक्रमेण वा **क्षणिके** निरन्वयनश्वरे **वस्तुनि** या **अर्थक्रिया** तस्याः **प्रत्यक्षप्रवृत्तिः** अध्यक्षोत्पत्तिरवा (रेव) **विपक्षे** अक्षणिके । यदा हि १० 'शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्' साध्यते तदा अन्यैः सर्वः क्षणिकः सपक्षो भवति अक्षणिको विपक्ष इति **बाधकप्रमाणवृत्तिः 'अर्थक्रियायाः'** इति गतेन सम्बन्धः । अन्वयप्रतिपत्तिरेव व्यतिरेकप्रतिपत्तिः; कथमन्यथा *"**निश्चितान्वयवचनादेव सामर्थ्याद् व्यतिरेकगतेः तद्वचनं निग्रहस्थानम्**" उक्तं (इत्युक्तं) शोभेत ? सात्मके च क्वचित् प्राणादेरदर्शनेऽपि कुतश्चित् निरात्मकान्निवृत्तिः स्यादिति मन्यते । तथाभ्युपगच्छतो दोषमाह–**सा** इत्यादि । **सा** अर्थक्रिया । **पुनः** इति १५ वितर्के क्षणक्षयानुपलक्षणात् **कथं** केन प्रकारेण **प्रत्यक्षा** ? तस्या अपि क्षणिकैकान्ते क्षणिकत्वेन अनुपलक्षणादिति मन्यते । [१५८क] **प्रत्यक्षाऽपि कथं तत्सम्बन्धिनी** क्षणक्षयसम्बन्धिनी सिध्येत् । दृष्टान्तम् आह–**जातेः** इत्यादिकम् । **कथं** केन प्रकारेण **प्रत्यक्षा** । सुगमम् । मा सिधत्[५] तत्सम्बन्धिनी[६] सा[७]; को दोष इति चेत् ? अत्राह–**क्षणिकस्य** इत्यादि । **क्षणिकस्य अर्थक्रियायाः** या **सिद्धिः** निर्णीतिः **तामन्तरेण** क्षणिकात् **सत्ता** अर्थक्रिया **व्यावर्त्तमाना** २० **कथञ्चित्क्षणिके सत्ताम्** अर्थक्रियां **साधयेत्** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**विपक्षानतिशायनात्** । उपसंहारमाह–**तद्** इत्यादि । यत एवं **तस्माद् अयं** सौगतः **क्षणिके अर्थक्रियामेव कुतश्चित्** प्रमाणात् **साधयितुम् अर्हति, अन्यथा** तत्र तत्साधनाभावप्रकारेण **विपक्षव्यावृत्तेरसिद्धिः** (**द्धेः**) विप[क्षाद] क्षणिकाद् अर्थक्रियायाः या व्यावृत्तिः तस्या असिद्धेः इति । '**का**' इति योगविभागात् का-सः[९] तात्परः तपरः इति यथा । अपर आह–**कारणस्य** । कथम्भूतस्य ? २५ **क्षणिकस्य सत्तैव** स्वरूपसत्त्वमेव **अर्थक्रिया,** तदुक्तम्[१०]–*"**भूतिर्ये(यै)षां क्रिया सैव**" । कथंभूता सा ? इत्याह–**प्रत्यक्षा इति** एवं **चेद्** यदि । पराभिप्रायसूचकः **चेत्** शब्दः । उत्तरमाह

(१) अर्थक्रियाया अभावः । (२) प्रदीपादिः । (३) व्यतिरेकवचनम् । (४) "अन्वयव्यतिरेकवचनयोर्वा साधर्म्यवति वैधर्म्यवति च साधनप्रयोग एकस्यैवाभिधानेन सिद्धेर्भावात् द्वितीयस्यासामर्थ्यमिति तस्याप्यसाधनाङ्गस्याभिधानं निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानादेव ।"–वादन्या० पृ० ६५ । (५) अतीन्द्रियत्वात् । (६) क्षणक्षयसम्बन्धिनी । (७) अर्थक्रिया । (८) 'का' इति पञ्चमीविभक्तेः संज्ञा । (९) पञ्चमीतत्पुरुषसमासः । (१०) "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः अस्थिराणां कुतः क्रिया ? भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥"–बोधिचर्या० पृ० ३७६ । मध्यमकवृ० पृ० ११६ टि० १ । प्र० भा० पृ० ५३१ । रत्नाकराव० पृ० २९ । स्या० म० श्लो० १६ ।

आचार्यः–**तथा** तेन प्रकारेण **अक्षणिकस्य** कारणस्य सत्तैव अर्थक्रिया प्रत्यक्षा इति न ततः साध्यो व्यावर्तते इति मन्यते ।

अनन्ते (नन्वे)कस्य कालत्रयानुयायित्वम् अक्षणिकसत्त्वम्, न च तत[२] प्रत्यक्षतः प्रत्येतुं शक्यं तत्र तत्सामर्थ्यात्, [१५८ख] तस्य पूर्वापरकोटिविच्छिन्नत्वं क्षणिकसत्त्वम्, तच्च[३] ततः ५ प्रत्येतुं शक्यं ततोऽस्याभावात कथमुक्तमिति चेत ? अत्राह–**अविशेषात्** अस्य विशेषस्याभावादिति । यथैव हि एकस्य कालत्रयानुयायिसत्त्वं द्रष्टुमशक्यं तथा बाह्यस्येतरस्य वा परमाणोः क्षणमात्रसत्त्वम्[६] । कल्पनया तु तदुभयं शक्यमिति मन्यते ।

ननु न परमाणोः पूर्वापरयत्ता (योरसत्ता) क्षणिकत्वमुच्यते, अपि तु द्रव्यस्य स्थूलस्य, ततोऽयं विशेष इति चेत; अत्राह–**प्रतीतीत्यादि** । अत्रायमभिप्रायः–अस्मिन् पक्षे यथा युगपदे-
१० कस्य स्थूलस्य एकानेकात्मकत्वं तथा क्रमेणापि इति, क्षणक्षयपक्षे **प्रतीतित्वा(वत्त्व)लक्षणो विशेषः** अक्षणिकपक्षाद् भेदः **इतरथा** (त्रापि अ) क्षणिकपक्षे प्रतीत्यनुग्रहणलक्षणोऽन्य एक्षा ततान्यथा (णोऽप्यस्त्येव, ततोऽन्यथा) चिन्तितम् अन्यथा परस्य कार्यं प्रवृत्तम् ।

इतर आह–**कार्योत्पत्तिः** इत्यादि । अत्र दूषणम्–**अन्यथापि** (त्रापि) अक्षणिकेऽपि **समानम्** । 'तदुत्पत्तिः सा स्यात्' इति परमतमाशङ्कते–**कार[णात्]** इत्यादि । **चेत्** शब्दः परा-
१५ भिप्रायद्योतकः । नन्वेतद् आशङ्कितं परिहृतं च **'कारणस्य क्षणिकस्य'** इत्यादिना; सत्यम्; तथापि दूषणान्तरप्रतिपादनार्थं तत्पुनः आशङ्क्यते, तदेवाह–**किं तेन** (**केन**) इत्यादि । **किं सत्त्वं नानार्थ** (**केन** नाम अर्थ) क्रियालक्षणेन व्यापकेन **व्याप्तम् ?** न केनचिदिति । एव (वं) मन्यते–यदा सत्तैव अर्थक्रिया; तथाऽभेदान्न तयोः कल्पितोऽपि व्याप्यव्यापकभावः । नहि तदेव ते[९] । तथा सति यद् दूषणं तदाह–**तत** इत्यादि । **तत** [१५९क] उक्तन्यायात् **स्वभावस्य** सत्तास्वरूपस्य
२० **अनुपलब्धिरेव** उक्ता न व्यापकाऽनुपलब्धिः **विपक्षे** सत्ताबाधकं **प्रमाणम्** इति एवकारार्थः । अनेन अनुपलब्धिविशेषापरिज्ञानम् अ र्च ट स्य दर्शयति । सैवास्तु को दोषः इति चेत्; अत्राह–**सा पुनः** इत्यादि । **सा** परेण उच्यमाना **पुनः** इति वितर्के **क्षणिकोपलब्धिः** क्षणिकसत्ता विषये[१०] विषयिशब्दोपचारादेवमुच्यते । अथवा 'उपलभ्यते इति उपलब्धिः' इति व्युत्पत्तेः । **असिद्धैव** अज्ञातैव । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**विप्रतिपत्तेः** विरुद्धा अक्षणिकस्य प्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः तस्याः ।
२५ अनेन [११]तदभावसाधने विरुद्धोपलब्धिं दर्शयति । प्रतिपत्त्यभावाद्वा विप्रतिपत्तेः । अनेन स्वभावानुपलब्धिः । अस्यानभ्युपगमे दूषणमाह–**अन्यथा** अन्येन विप्रतिपत्त्यभावप्रकारेण **साधनस्य** क्षणिकत्वानुमानस्य **वैयर्थ्यात्** सा असिद्धैव इति । समारोपव्यवच्छेदोऽपि प्रथमं चिन्तितः । इदमत्र तात्पर्यम्–अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तायाः सत्तायाः न तावत् स्वभावानुपलब्धिः विपक्षेऽभावसाधनं स्वयमनभ्युपगमात् । नाप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तायाः; नित्यवत् क्षणिकेऽपि [१२]तददर्शने गत्यन्त-

---

(१) अक्षणिकात् । (२) कालत्रयानुयायित्वम् । (३) क्षणिकत्वम् । (४) प्रत्यक्षात् । (५) नित्यस्य । (६) अपि द्रष्टुमशक्यमिति सम्बन्धः । (७) अभावः । (८) सत्त्वमेव । (९) व्याप्यं व्यापकं च । (१०) उपलब्धिर्हि ज्ञानात्मिका विषयिणी तस्याः विषयभूतायां सत्तायामुपचारः क्रियते । (११) अक्षणिकाभाव । (१२) अर्थक्रियाऽदर्शने ।

राभावेन तदुपलब्धिलक्षणप्राप्तताऽसिद्धेरिति । तन्न प्रत्यक्षतः क्षणिकेऽर्थक्रियासिद्धिः । अत एव नानुमानतोऽपि; तत्पूर्वकत्वादस्येति मन्यते ।

ननु यदुक्तम्–'अन्यत्रापि समानम्' इति; न समानम्; अक्षणिकात् क्रमाऽक्रमाभ्यां कार्योत्पत्तेः [विरोधात्; तत्परिहरन्नाह–पूर्वमित्यादि] ।

[पूर्वं नश्वराच्छक्तात्कार्यं किन्नाविनश्वरात् । ५
कार्योत्पत्तिर्विरुध्येत न वै कारणसत्तया ॥१०॥

यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत्कार्यमितरत् कारणमिति क्षणिकत्वे न संभवत्येव सहोत्पत्तिप्रसङ्गात् कुतः सन्तानवृत्तिः ? ततः प्राक् तत्करणसामर्थ्ये अनुत्पन्नं तदभाव एव भावि तत्कार्यमिति मृत्वापि अङ्गीकर्त्तव्यम् । परपक्षे पुनः एतावानेव विशेषः कारणस्य···। न च कारणाभावेन तदुत्पत्तिर्विरुध्येत । तदेतत् कारणं कार्योत्पत्तौ तत्कालं वा तिष्ठतु मा १० वा भूत् प्राक् तत्करणसमर्थं पश्चान्न करोत्येव । न वै पश्चात् करोति अभावात्, तत् स्वयं पश्चात् भवति, इत्यत्रापि प्रतिनियतकालमपेक्ष्यम्, [यतो] यथास्वं क्रमेण कार्यं भवति ।]

पूर्वं स्वसत्ताकाल इति यावत् [१५९ख] शक्तात् समर्थात् । कुतः ? नश्वरात् क्षणिकात् कार्यं 'जायते' इत्यध्याहारः । कदा ? पश्चात् कालान्तरे । अत्र दूषणमाह–किन्न १५ इत्यादि । [किं] अविनश्वराद् अक्षणिकात् प्राक् शक्तात् कार्यं पश्चान्न जायते ? तथोत्पादनस्वभावस्य अविशेषात् । नन्वेवं कार्यकालेऽपि कारण[सं]भव इति कुतः कार्यभावं इति चेत्; अत्राह–कार्योत्पत्तिर्विरुध्येत नवै नैव कारणसत्तया किन्तु तदभावेन ।

यदुक्तं परेण–*"अन्वयव्यतिरेकनिबन्धनः कार्यकारणभावः । तत्र अन्वयः कारणभावे भावः, व्यतिरेकः तदभावे अभावः" इति तन्निराकृत्य कारिकार्थं दर्शयितुकाम आह– २० यस्मिन् इत्यादि । यस्मिन् सत्येव नाऽसति यद्भावः तस्य (तत्) कार्यम् इतरत् पूर्वं कारणम् इत्येवं क्षणिकत्वे भावानाम् अङ्गीक्रियमाणे न संभवत्येव । कुत एतत् ? इत्यत्राह–सहोत्पत्ति इत्यादि । कार्यकारणयोः युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गात् कुतः सन्तानवृत्तिः । एतदुक्तं भवति–यदि सत् कारणं कार्यं जनयति तर्हि स्वोत्पत्तिसमये जनयति, तत्रैव तस्य सत्त्वात् । तथा तत्कार्ये विश्व-

(१) प्रत्यक्षपूर्वत्वादनुमानस्य । (२) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४७५ । (३) कारणकार्ययोः सहभावविरोधात् । (४) "तद्भावे भावः तदभावेऽभावश्च प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनश्च कार्यकारणभावः"–हेतुबि० पृ० ५४ । "यतोऽन्वयव्यतिरेकनिबन्धनः कार्यकारणभावव्यवहारः"–हेतुबि० टी० पृ० १७० । "भावे भाविनि तद्भावः भाव एव च भाविता । प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।"–सम्बन्धप० श्लो० १६, प्र० वार्तिकाल० भू० । प्रमेयक० पृ० ५१० । "कार्यकारणभावप्रसाधनं भावाभावप्रसाधनप्रमाणाभ्यां यथा इदमस्मिन् सति भवति सत्स्वपि तदन्येषु समर्थेषु तद्धेतुषु तदभावे न भवतीति ।" –वादन्या० पृ० १४ । "अस्मिन् सति इदं भवत्यस्योत्पादादिदमुत्पद्यते इत्येतदेव हेतुलक्षणं भगवतोक्तम्" –प्र० वार्तिकाल० पृ० ६७, ६८, २७ । "अन्वयो नाम सर्वत्र सत्येव साध्ये हेतोर्भावो व्याप्त्या । चासति साध्ये हेतोरभावो व्यतिरेकः"–हेतुबि० टी० पृ० २२४ । (५) कार्यकारणयोः । (६) कारणकाले कार्यसद्भावे । (७) समस्तमुत्तरोत्तरक्षणवृत्तिकार्यम् ।

कार्यं स्वोत्पत्तिसमय इत्येककालीनता सकलसन्तानस्य इति । ततः तस्माद् अनन्तरदोषा[त्] प्राक् स्वोत्पत्तिसमये तत्करणसामर्थ्ये तस्य विवक्षितस्य कार्यस्य करणं [illegible] तत्र सामर्थ्ये तस्मिन् सति अनुत्पन्नं कार्यं तदभाव एव कारणाभावे एव भावि तत्कारणाभाव एव भवत् तस्य विनष्टस्य कार्यम् इत्येवं मत्वा सटित्वापि अङ्गीकर्त्तव्यम् । [१६०क] अयमत्राभिप्रायः–

५ यथा प्राक् समर्थात् नश्वरात् पश्चात् जायमानं कार्यं 'तस्य' इति व्यपदिश्यते तथा अनश्वरादपि इति न तत्रेदं दूषणं[1] ध र्म की र्त्ति ना कीर्त्तितं तत्कीर्त्तिमावहति । नन्वेवं तयोः अविशेष एव दर्शिनः इति चेत् ; अत्राह–परपक्ष इत्यादि । परपक्षे अक्षणिकवादिपक्षे पुनः एतावानेव अधिको विशेषः क्षणिकपक्षाद् भेदकः । कोऽसौ ? इत्याह–कारणस्य इत्यादि । नन्वेवं कार्योत्पत्तिर्न स्यात् कारणसत्तया तद्विरोधादिति चेत् ; अत्राह–न च इत्यादि । किं तर्हि कारणाभावेन

१० तदुत्पत्तिर्विरुध्येत, अन्यथा निर्हेतुकत्वमिति मन्यते । प्रकृतोपसंहारमाह–यत एवं तत् तस्मात् एतदुपलभ्यमानं पित्रादि कारणं कार्योत्पत्तौ क्रियमाणायां तन्निमित्तं वा तिष्ठतु तत्कालं वा अवस्थितिं करोतु मा वाऽभूत् पूर्वमेव वा नीरूपतां व्रजत् प्राक् तत्करणसमर्थं पश्चान्न करोति एवं (त्येव) किन्तु प्रागेव करोति ।

ननु सौगतस्य क्षणादूर्ध्वं [न] तिष्ठन्ति भावाः तत्किमर्थमिदमुच्यते–'तिष्ठन्तु' (तिष्ठतु)

१५ इति ? दृष्टार्थं (दृष्टान्तार्थम्) । यथा 'अवतिष्ठमानं प्राच्यमर्थं[3] तदैव सकलं करोतु' इत्युच्यते तथा तद्विपरीतमपि उच्यतामविशेषात् ।

पर आह–नन्वेवं नैव पश्चात् करोति स्वयमभावात् पश्चात् इति । किं तर्हि ? तत्कार्यं पश्चाद् भवति 'स्वयम्' इत्येतद् अत्राप्यपेक्ष्यम्, इत्येतत्कारणात् प्रतिनियतकालं क्रियाविशेषणमेतत् । यथास्वं क्रमेण 'स्वयम्' इत्यनुवर्तते, कार्यं भवति इति । [१६०ख] ततो

२० निराकृतमेतत्–*"नाऽक्रमात् क्रमिणो भावाः" [प्र० वा० १।४५] इत्यादि ।

ननु यथा नश्वरात् तत्कार्यं पश्चाज्जायमानमपि[न] सकलमेकदैव जायते तथा नित्यादपि जायते इति न युक्तम्–'प्रतिनियतकालम्' इत्यादि इति चेत्; अत्राह–यद् यद् (यदा) इत्यादि ।

[यद् यदा कार्यमुत्पित्सु तत्तदोत्पादनात्मकम् ।

२५ कारणं कार्यभेदेन न भिन्नं क्षणिकं यथा ॥११॥

यथा क्षणिकं प्रदीपादि कारणं स्वभावनानात्वमन्तरेण स्वभावदेशादिभिन्नमनेकं क्रमभावि तैलदशाननदाहादि कार्यं करोति तथाऽक्षणिकं कालभेदभिन्नम् कार्य···। यदनन्तरं यन्नोत्पन्नं न तत्तत्कार्यम् अक्षेपकारित्वात् कारणस्येत्ययुक्तं देशव्यवधानेऽपि तथा प्रसङ्गात्। कालस्यैव···]

---

(१) "न चैवाक्षणिकस्य कश्चित् कदाचित् शक्तिरस्ति क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रियाशक्तिविरहात्···" –हेतुबि० पृ० ६३ । (२) यदि कारणाभावेन कार्योत्पत्तेर्विरोधो नास्ति तदा । (३)करोति । (४)क्रमरहितात् नित्यात् । (५) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४७५ ।

यत् सजातीयं विजातीयं च **यदा कार्यम्** उत्पद्यते तस्य **तदा** यदुत्पादनं सत्ता सम्बन्धिनः करणं तदात्मकः । किं तत् ? इत्याह–**कारणम्** इति । नन्वेवं कार्यभेदात् तस्य भेदः स्यात् । तदुक्तम्–*"क्रमाद्भवन्ती धीश्चेयं क्रमं तस्यापि शंसति" [प्र० वा० १।४५] इति चेत्; अत्राह–**कार्यभेदेन [न] भिन्नं** 'कारणम्' इति पदघटना । दृष्टान्तमाह–**क्षणिकं यथा** इति । ५

दृष्टान्तं व्याचष्टे–क्षणिकं **प्रदीपादि कारणं स्वभावनानात्वमन्तरेण स्वभावदेशादिभिन्नम्**, अत्र आदिशब्देन चिरन्तर(न्तन) बौद्धापेक्षया सामर्थ्यपरिग्रहः इदानीन्तनापेक्षया कालपरिग्रहः, तस्य हि वल्ली दाहाद् एक(वर्तिदाहाद्येक)स्मात् **क्रमभावि** § तस्य पाकोर्थादे[1] § कार्यं जायते **अनेकं तैलदशाननदाहादिकं कार्यं यथा करोति** । दृष्टान्तं व्याख्याय दार्ष्टान्तिके योजयति–**तथा कालभेदभिन्नम्** अनेकं कार्यं करोति इति **अक्षणिकं 'स्वभावनानात्वमन्तरेण'** १० इत्येतदत्रापि अनुवर्त्तनीयम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**कार्य** इत्यादि । इतर आह–**यदनन्तरम्** इत्यादि । **यत्** तस्य **अनन्तरं यद्** वस्तु **नोत्पन्नम्** अपि तु पश्चात् कालान्तरे **न तत् तस्य कार्यम्**, कुत एतत ? **अक्षेपकारित्वात् कारणस्य** । अस्योत्तरमाह–इत्येवं परस्य **अयुक्तम्** । कुतः ? इत्याह–**देशव्यवधानेऽपि** न [१६१क] केवलं [काल] व्यवधाने तत् **तथा प्रसङ्गात्** ; तथाहि–यस्य अनन्तरदेशे यन्नोत्पन्नं न तत् तस्य कार्यम् अपेक्ष्यकारित्वात् कारणस्य इति न योगिज्ञानं १५ त्रैलोक्यकार्यमिति सर्वज्ञाभावः, इतरथा सर्वार्थदेशेन तेन[4] भवितव्यमिति प्राप्तम् ।

अथ देशव्यवधानेऽपि जातं 'तस्य' इत्युच्यते न कालव्यवधाने; तदाह–**कालस्यैव** इत्यादिना । तत्रोत्तरमाह–**'अप्राप्त'** इत्यादि ।

[अप्राप्तकार्यकालत्वात् यथा व्यवहितमकारणम् ।
तदुत्तरं वा तत्कार्यं न च जातेस्तदत्यये ॥१२॥ २०

व्यवहितस्य कार्योत्पत्तौ व्यावृत्त्यविशेषात् उपयोगो न विशेष्येत, निवृत्तेः निःस्वभावत्वात् । भावस्यैव कथञ्चिद् विशेषोपपत्तेः चित्रनिर्भासक्षणिकज्ञानवत् ततोऽनेन पूर्वस्याभावे भवता अनिष्टेऽपि भवितव्यम् अभावस्य सर्वत्राविशेषात् । अन्यथा स्वत एव नियतकालं कार्यलक्षणमतिवर्तेत । अभावस्य च भेदायोगात् । नहि आनन्तर्यमभावं विशेषयति अर्थस्वभावान्वयापत्तेः ।] २५

अत्रायमभिप्रायः–ध र्मो त्त रा दी नां पूर्वमनन्तरं कारणम्, उत्तरं कार्यम्, विपरीतम् अकार्यकारणम्, तत्र यदनन्तरं तैः कारणमभ्युपगन्तव्यम्, तत् कारणं न भवति इत्य**कारणम्** । कुतः ? **अप्राप्तः कार्यकालो** येन तस्य भावाद् **अप्राप्तकार्यकालत्वात्** । दृष्टान्तमाह–**यथा व्यवहितमिति** । यथा रण्डागर्भं प्रति परिणेता कालेन व्यवहितोऽकारणम् तथा प्रकृतमपि

(१) कारणस्य । (२) § एतदन्तर्गतः पाठो व्यर्थः । (३) दशा-वर्तिका तस्याः आननदाहः मुखदाहः इत्यर्थः । (४) योगिज्ञानेन । (५) तुलना–"सत्यभवतः स्वयमेव नियमेन पश्चाद्भवतः तत्कार्यत्वं विरुद्धम्, कालान्तरेऽपि किन्न स्यात्तदभावाविशेषात् समनन्तरवत् ।"–अष्टश० अष्टस० पृ० ९० ।

इति। द्वितीयं प्रयोगमाह–**नच उत्तरम्** अनन्तरं वा **कार्यं** तस्य कार्यं न भवति। कुत एतत्? इत्यत्राह–**जातं** उत्पन्नं [:] **तदत्यये** कारणाभिमतात्यये। अत्रापि **'यथा व्यवहितम्'** इति निदर्शनं योज्यम्। यथा भाविकालव्यवहितं विधवागर्भकार्यं विनष्टस्य परिणेतुर्न भवति तथा प्रकृतमपि इति।

५ कारिकायाः सुगमत्वाद् व्याख्यानमकृत्वा यदुक्तं परेण–***"अप्राप्तकालत्वाविशेषेऽपि पूर्वः अनन्तरमेव कारणं न व्यवहितं विचित्रत्वाद् भावशक्तेः। नहि प्राप्तकालमपि सर्वं कारणमिति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुः। एतेन द्वितीयोऽपि हेतुः चिन्तितः।"** इति; एतत परिहरन्नाह–**व्यवहितस्य** इत्यादि। **व्यवहितस्य** चिरविनष्टस्य अनन्तरनष्टस्य च कार्योत्पत्तौ [१६१ख] क्रियमाणायां **व्यावृत्तेः** निवृत्तेः **अविशेषात् उपयोगः** व्यापारो **न**

१० **विशिष्येत**। तथा च अनन्तरवद् व्यवहितमपि कारणं स्यात 'विचित्रत्वाद् भावशक्तेः' अत्रापि न दण्डधारितम इति प्र ज्ञा क र गु प्त स्यै व मतं न ध र्मो त्त रा दी ना म् इति मन्यते। कुतो न विशिष्यते? इत्याह–**निवृत्तेः निःस्वभावत्वात्**। ननु यदि निवृत्तेः निःस्वभावत्वान्न विशेषः, कस्य तर्हि विशेषः? इत्याह–**भावस्यैव** नाऽभावस्य **कथञ्चित्** केनापि समर्थतरादिप्रकारेण **विशेषस्य** भेदस्य **उपपत्तेः** उपयोगो न विशिष्यत इति।

१५ अत्राह कश्चित–व्यवहितमपि किञ्चित कारणं जाग्रज्ज्ञानादिः प्रबोधादेः, तस्य च स्वकाले भावत्वाद् विशेषोपपत्तिः इति साध्यविकलो दृष्टान्त इति तत्राह–**चित्र** इत्यादि। **चित्रो निर्भासो** यस्य तत्तथोक्तं तच्च **तत्क्षणिकज्ञानं** च तस्य इव **तद्वत्** इति। चित्रैकक्षणिकज्ञानसमानस्य भावस्य परिणामिन इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति–यत् तद् व्यवहितस्यापि कारणत्वे जाग्रद्विज्ञानं दृष्टान्तीकृतम्, तच्च निरंशैकपरमाणुपर्यवसितस्वभावम्; तर्हि न तत् वादिनः प्रतिवादिनो

२० वा प्रमाणतः सिद्धमिति कथं निदर्शनं पुरुषवत्? अथ ***"चित्रप्रतिभासापि एकैव बुद्धिः"** [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि वचनात् चित्रमेकम्; न तत् सौगतस्य दर्शनमनुसरति किन्तु जैनस्य अक्रमेण इव क्रमेणापि आत्मनो दृश्येतरस्वभावेनापि चित्रत्वप्रसाधनात्। तन्न किञ्चिदेतत्।

उपसंहारमाह–यत एवं **ततः अनेन**। केन? **उत्तरेण** कार्येण [१६२ क] कथम्भूतेन?

२५ **पूर्वस्य** कारणस्य **अभावे** एव न भावे **भवता** जायमानेन। किंकर्त्तव्यम् (किं कर्त्तव्यम्)? इत्याह–**अनिष्टेऽपि** न केवलम् इष्टे अनन्तरकाले **भवितव्यमिति**। इति **पूर्वाभावस्य** तत्कारणस्य **सर्वत्र** काले **अविशेषात्**। न चाऽविकले कारणे कार्यानुत्पादो युक्त इति मन्यते। ननु सर्वदा तदविशेषेऽपि कार्यं प्रतिनियतकालं जायते इति चेत्; अत्राह–**अन्यथा** इत्यादि। अनिष्टकालोत्पत्त्यभावप्रकारेण **अन्यथा स्वत एव** आत्मनैव **नियतकालं** यत् स्वातन्त्र्यं निर्हेतुकत्वं सूचयत्

३० **दुस्तरं कार्यलक्षणम्** परायत्तत्वम् **अतिवर्त्तेत** भावाऽभावयोः अनायत्तत्वात्।

---

(१) अभावस्य। (२) प्रज्ञाकरो हि व्यवहितकारणवादी। (३) प्रज्ञाकरः। "गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्। जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम्॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ६७। (४) जाग्रद्विज्ञानम्। (५) विज्ञानाद्वैतवादिनः प्रज्ञाकरस्य। (६) जैनादेः। (७) स्वतन्त्रत्वात्।

स्यान्मतम्, पूर्वस्याभावो यद्यपि इष्टकालवद् अनिष्टेऽपि काले समस्ति तथापि अभिमताभावकाल एव भवति कार्यमिति; तत्राह–**अभावस्य च** इत्यादि। अन्यस्माद् अभावाद् भिद्यमानोऽभवः कथञ्चिद्भावः[त]स्य ततो **भेदाऽयोगात्** इत्यभिप्रायः। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तर्हि(नहि)आनन्तर्यम्** इत्यादि। **न[हि]**यस्माद् **आनन्तर्यं** कार्योत्पत्तेः प्राग् अनन्तरम् अभावस्य भाव **आनन्तर्यमभावं विशेषयति** अन्यस्मादभावाद् व्यवच्छिनत्ति, तुच्छाभावस्य विशेषयितुमशक्तेः। एतदपि कुतः ? इत्याह–**अर्थ** इत्यादि। **अर्थस्य** जीवादेः **स्वभावस्य अन्वयापत्तेः**। एतदुक्तं भवति–यदा पूर्वस्य कथञ्चिदुत्तराकारेण गमनम् अभावः, तदाऽसौ केनचिद् बन्ध्यासुताद्यभावच्छिद्येत[वं व्यवच्छेद्येत]नान्यदा इति। यदि वा, कार्योत्पत्तेः प्राग् अनन्तरकारणस्य भाव आनन्तर्यं तदभावं विशेषयति। नहि पूर्वमनन्तर[१६२ख] स्याभावो न सर्वस्य इति। कुतः ? इत्याह–'**अर्थ**' इत्यादि। पूर्ववद् योज्यम्। १०

यदुक्तं सा(शा)न्त भद्रे ण–*"**निरुध्यमानं कारणं निरुद्धम्**" इति; तदसारम्; यतो निरुध्यमानं यदि स्वोत्पत्तिसमये; हेतुफलयोः समकालता, अन्यदा तु तदेव नास्ति इति किं निरुध्यमानं नाम ? अन्यथा **अर्थ** इत्यादि दोषः। ततः स्थितम्–यथा प्राक् समर्थे नित्ये कारणे अजातं कार्यं पश्चात् स्वयमेव नियतकालं जायमानं [न] तस्य[१] कार्यं तथा क्षणिकेऽपि स्वसत्ताकाले समत्वेऽनुपजातं पुनस्तथा जायमानं न तस्य[२] इति। १५

ननु च **यद् यदा कार्यम् उत्पत्स्यते तत्तदोत्पादनात्मकं कारणं** नित्यं यदि क्रमवत्सहकारिकारणमपेक्ष्यते तदेव अनित्यत्वम्, तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतो गत्यन्तराभावात्। अन्यथा किं तदपेक्षया[३] अतिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्–*"**अपेक्ष्येत परः कार्यम्**" [प्र०वा० ३।१८०] इत्यादि[४]। इति चेत्; अत्राह–**हेतोः** इत्यादि।

[हेतोरात्मा न भिद्येत स्थिरस्य सहकारिभिः। २०
उत्पत्तौ च क्षणिकस्य फलानां विविधात्मनाम् ॥१३॥

सामग्रीवशात् कार्यभेदेऽपि यथाऽक्षेपकारिणां क्षणिकानां स्वभावभेदो न भवति अनाधेयाप्रहेयातिशयत्वात् तथैव कालान्तरस्थायिनां क्रमोत्पित्सुकार्याविशेषेऽपि स्वभावभेदो मा भूत्। कार्यकाल···]

हेतोः कारणस्य उपादानत्वेन अभिमतस्य। किम्भूतस्य ? **स्थिरस्य** नित्यस्य **आत्मा** स्वरूपं **न भिद्येत**। कैः ? इत्याह– **सहकारिभिः** निमित्ताऽसमवायिकारणैः। कस्मिन् सति ? इत्यत्राह–**उत्पत्तौ** सत्याम् इति। केषाम् ? इत्याह–**फलानां विविधात्मनां** देशादिभिन्नस्वभावानाम्। '**सहकारिभिः**' इत्येतद् अत्रापि सम्बन्धनीयम्। अतोऽयमर्थो जायते–सहकारिभिः कृत्वा फलानां विविधात्मनामुत्पत्तौ न उपादानोपकारोत्पत्तौ हेतोः आत्मा न भिद्यत इति। यदि पुनरयं निर्बन्धः [१६३क] सहकारिण उपादानस्य उपकारं कुर्वन्त एव प्रकृतफलानि ३०

(१) नित्यस्य। (२) क्षणिकस्य। (३) सहकारिकारणापेक्षया। (४) "यदि विद्येत किञ्चन। यदकिञ्चित्करं वस्तु किं केनचिदपेक्ष्यते॥" इति शेषः।

जनयन्ति इति । तत्रेदं चिन्त्यते– उपकारमुपादानस्य अपरोपकारमुपकल्पयन्तः प्रकृतमुपकारं जनयन्ति, अनुपकल्पयन्तो वा ? प्रथमपक्षे–अपरोपकारकरणेऽपि तदुपादानोपकारकरणादित्यनवस्थायाम्, अपरापरोपकारकरण एव उपयुक्तशक्तीनां सहकारिणां प्रकृतकार्यजन्मनि व्यापारं (रो) [न स्यात्] । द्वितीयपक्षे–उपकारोपादानस्य उपकारमकुर्वन्त एव उपकारं कुर्वन्ति सहकारिणो न

५ कार्योपादानस्य तमकुर्वतः (न्तः) कार्यमिति किं कृतो विभागः ? अस्यैव समर्थनार्थं सौगतप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह–**क्षणिकस्य च** इति । च शब्द इवार्थो निपातानामनेकार्थत्वात् । तदयमर्थ उक्तो भवति–यथा क्षणिकस्य उपादानकारणस्य सहकारिभिः आत्मा न भिद्येत तैरेवै फलानां विविधात्मनामुत्पत्तौ तथा प्रकृतस्यापि इति । न हि तस्यापि निरंशस्य स्वहेतोः उत्पन्नस्य अर्थैः किञ्चित् क्रियते भेदप्राप्तेः इति ।

१० कारिकां विवृण्वन्नाह–**सामग्रीवशात्** इति । **सामग्रीवशात् कार्यभेदेऽपि** फलनानात्वेऽपि **क्षणिकानां स्वभावस्य** स्वरूपस्य **भेदो यथा न भवति** । कथम्भूतानां तेषाम् ? इत्याह–**अक्षेपकारिणाम्** इति अविलम्ब्यकारिणाम इत्यर्थः । कुत एतत् ? इत्याह–**अनाधेय** इत्यादि । निरंशत्वेन तेषु अतिशयस्य केन [अपि आधान] प्रहाणाभावादिति मन्यते । **तथैव** तेनैव प्रकारेण **कालान्तरस्थायिनां** नित्यानां **क्रमोत्पित्सु** [१६३ख] **कार्य(र्या)विशेषेऽपि स्वभावभेदो**

१५ **मा भूत्** '**सामग्रीवशात्**' इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् । तद्वशादितीदे (द्वि देशादि)भिन्नं कार्यमेव जायते न तेषाम् अतिशयाधानप्रहाणम इति मन्यते । कुतस्तर्हि क्रमेण कार्यमिति चेत् ? अत्राह–**कार्यकाल** इत्यादि । विचारितमेतत्– '**यद् यदा कार्यमुत्पित्सु**' इत्यादिना । तथा सति क्रमभाविसहकारिवैफल्यम् , उपादानादेव क्रमकार्यनिष्पत्तेः । तत्सहकारिणः तन्निष्पत्तौ उपादानं किमर्थं गृह्यते तत्राऽसमर्थत्वात् ? अन्यथा प्रागपि ततः कार्यं सहकारिणः समर्थाः जन-

२० यन्ति नोपादानम्[10] इति किं कृतो विभागः ?

तेषामेव[11] वा तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् न नित्यव्यापिनः सन्निधानेऽपि[12] अतिप्रसङ्गात् इति चेत् ; अत्राह–**नित्यैश्च** इत्यादि ।

[नित्यैश्च जातेष्वर्थेषु अन्योऽन्यसहकारिभिः ।
तेष्वेकत्र समर्थेऽन्ये न निवर्तेरन्नकालिकैः ॥१४॥

२५ **यथाकार्यकालं स्वभावतः कर्तरि स्वकारणा[त्तथोत्पन्नेषु] तत्करणसमर्थेषु पुन-** **[illegible] परस्पर[उपकारिषु] तत्करणसमर्थेऽन्यतमस्मिन् सति न वै अपरे निवर्तेर- प्रत्येकं तत्करणस्वभावत्वात् क्षणिकवत् । तदेवं क्षणिकेतरैकान्तौ नान्योन्यमतिशयाते । कार्यकारणयोः सहावस्थाने दधिक्षीरादिषु सहोपलम्भेन अभेदादिप्रसङ्गः इति चेत्; संविदो विभ्रमेतरस्वभावयोः सहभावेऽपि सहोपलम्भादेरभावात् । विज्ञप्तेः···तदन्यत्रापि**

३० **कल्पयन् केन वार्यते ? परिणाम···। चित्र···]**

---

(१) उपकारम् । (२) स्वरूपम् । (३) सहकारिभिरेव । (४) क्षणिकस्यापि । (५) स्वभावभेदप्राप्तेः । (६) नित्यानाम् । (७) पृ० १९४ । (८) सहकारिणः सकाशात् कार्यनिष्पत्तौ । (९) यद्युपादानं प्राक् समर्थम् । (१०) समर्थमपि । (११) सहकारिणामेव । (१२) तस्य कारणत्वम् ।

चशब्दो भिन्नप्रक्रमः इवार्थः **अकालिकैः** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थः–**आतेषु** निष्पाद्येषु। केषु ? **अर्थेषु** कार्येषु सत्सु। कैः ? इत्याह–**नित्यैः** इति। किंभूतैः ? इत्याह–**अन्योऽन्यसहकारिभिः** एककार्ये परस्परसहायैः इत्यर्थः। यदि वा, क्वचित् कार्ये एकस्य उपादान॰ अन्येषां तत्सामग्रीपतितानां सहकारित्वम्, तेषाम् उपादानत्वे तस्य सहकारित्वमित्यन्योऽन्यसहकारिणः तैः इति। किम् ? इत्याह–**अन्ये** इत्यादि। **तेषु** अर्थेषु **एकत्र** एकस्मिन् उपादाने सहकारिणि वा कारणे **समर्थे** व्याप्रियमाणे वा **अन्ये** सहकारिणः उपादानपदार्था हेतवो न **निवर्त्तेरन्** किन्तु सर्वेऽपि तान् कुर्वन्ति तत्करणैकस्वभावत्वात्। अत्र निदर्शनमाह–**अकालिकैः** इति। [१६४ क] यथा **अकालिकैः** क्षणिकैः अन्योऽन्यसहकारिभिः जन्येष्वर्थे [षु ए]कत्र अन्ये न निवर्त्तेरन् हेतवः तथा प्रकृतेऽपि[1] इति। ५

यथा इत्यादिना कारिकां विवृणोति। कार्यकालाऽनतिक्रमेण **यथाकार्यकालम् कर्त्तरि** कस्मिंश्चित् जनके सति। कुतः ? इत्याह–**स्वभावतः** स्वस्वाभाव्यात्। केषु सत्सु ? इत्यत्राह–**तद्** इत्यादि। अत्रापि '**स्वभावतः**' इत्येतद् अपेक्ष्यम्। **तत्करणसमर्थेषु** यथास्वकालम् उत्पित्सुकार्यजननशक्तेषु। किम्भूतेषु ? इत्याह–**स्वकारण** इत्यादि। पुनरपि किम्भूतेषु ? इत्याह–**पुनः** इत्यादि। पूर्वं समर्थे तस्मिन् सत्यपि **पुनः** पश्चात् **आगन्तुकेषु**। [पु]नरपि तानेव विशिनष्टि–**परस्पर** इत्यादिना। तस्मिन् सति किं जातम् ? इत्याह–'**तत्**' [इत्यादि। **तत्**] इत्यनेन विवक्षितं कार्यं परामृश्यते। **तत्करणसमर्थे अन्यतमस्मिन्** उपादानकारणे सहकारिणि वा सति **नवै** नैव [अ]**परे निवर्त्तेरन्**। कुवद् (कुत एतत् ?) इत्यत्राह–**प्रत्येकम्** इत्यादि। एकस्य एकस्य **तत्करणस्वभावत्वादिति** भावः। अत्र दृष्टान्तमाह–**क्षणिकवद्** इति। क्षणिक इव तद्वत् इति। यथा क्षणिके तत्करणसमर्थे अन्यतमस्मिन् अपरे [न] निवर्त्तेरन् तथा नित्येऽपि इति। १० १५ २०

यत्पुनरत्रोक्तं परेण–*"**क्षणिकस्य स्वहेतोः स स्वभावः यः सहकारिकारणापेक्षः कार्यजनकः, स न नित्यस्य, तदभावात्, आकस्मिकत्वे अनियमप्रसङ्गः**"[2] इति; तदसारम्; कार्याणां नित्यानां तदनिवारणात्। एवमर्थः नोक्तं (मर्थमत्रोक्तं) '**तथैव कालान्तरस्थायिना॰**' इत्यादि, अन्यथा 'कूटस्थानाम्' इत्यादि ब्रूयात्। [१६४ख] कूटस्थपक्षेऽपि अयं न दोषः नित्यत्वात् तत्स्वभावस्य, अनित्यो हि स्वभावः स्वयमुत्पद्यमानोऽनियतः स्यात् इति युक्तम्। अत एवोक्तम्–'**यथाकार्यकालम्**' इत्यादि। २५

प्रकृतं निगमयन्नाह–**तदेवम्** इत्यादि। **तत्** तस्माद् **एवम्** उक्तप्रकारेण **क्षणिकेतरैकान्तौ** क्षणिकाऽक्षणिकैकान्तौ **नान्योऽन्यं** परस्परम् **अतिशयाते** भेदं लभेते ? क्षणिकवद् अक्षणिकेऽपि अर्थक्रियासंभवेन व्यापकानुपलब्धिः(ब्धेः)[3], सत्त्वेन व्याप्तिसिद्धिः। अथवा, अक्षणिकवत्

(१) नित्येऽपि। (२) बौद्धेन। (३) 'सत्त्वमर्थक्रियया व्याप्तम्, सा च क्रमयौगपद्याभ्याम्, ते च नित्यान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्तेते, सा च स्वव्याप्यं सत्त्वम् इति' व्यापकानुपलब्धिबलात् सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिः साध्यते। यदा अक्षणिकेऽपि अर्थक्रिया सिद्धा तदा न सत्त्वक्षणिकत्वयोः व्याप्तिः सिद्धेति भावः। द्रष्टव्यम्–पृ० १९० टि० ४।

क्षणिकेऽपि तत्सम्बन्धे न तस्ये तद्व्याप्तिसिद्धिः इति मन्यते । यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं [यत्] नोपलभ्यते तत्र तन्नास्ति यथा प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यते च तथाविधं कारणं कार्ये इति स्वभावानुपलब्धिः । तत्र तदुपलम्भे वा सर्वस्य सर्वत्रोपलम्भ इति प्राप्तम् । न चैवम्, ततः प्रदेशविशेषे घटवत् कारणे कार्यस्य तत्र च कारणस्य अनुपलब्धिः द्वयस्य अभाव इति क्षणि-

५ कतासिद्धेः न युक्तम्–'तदेवम्' इत्यादि, इत्यभिप्रायवतो मतमाशङ्कते **कार्य** इत्यादि । **कार्य-कारणयोः सहावस्थाने** अभ्युपगम्यमाने । एतदुक्तं भवति–यथा मतः कारणस्य कार्ये अवस्थानं तथा कार्यस्य कारणे इति । [ततः] किं स्यात् ? इत्याह–**दधिक्षीरादिषु सहोपलम्भेन** 'कार्यकारणयोः' इति सम्बन्धः, **अभेदादिप्रसङ्गः** । अस्यायमर्थः–यदि कार्यं दध्यादि पूर्वं कारणेन क्षीरादिना, कारणं क्षीरादि कार्येण दध्यादिना पुनः सहोपलभ्यते तदा 'अस्य इदं

१० [१६५क] कारणम्, इदमस्य कार्यम्' इति यो भेदः तस्य अभावो **अभेदः**, यदि वा, यदा जैन-सांख्ययोः कारणे कार्यं तत्रे कारणं तादात्म्येन वर्त्तते तदा कार्यकारणयोः **सहावस्थाने** एकत्वेन अवस्थाने सति कदाचित् क्षीरादिषु । केन किम् ? इत्याह–**सहोपलम्भेन** एकत्वोपलम्भेन **अभेदः** कार्यमेव कारणमेव वा स्यात् , **आदि**शब्देन वर्त्तमानत्वादिव्यपदेशादिपरिग्रहः, तस्य **प्रसङ्गः** । इत्येवं **चेत्** ; अस्य उत्तरमाह–**संविद्** इत्यादि । **संविदः** तैमिरादिज्ञानस्य **यो**

१५ **विभ्रमस्वभावो** द्विचन्द्राद्यपेक्षया *"**तिमिराशुभ्रमण**" [न्यायवि० १।६] इत्यादि वचनात् यश्च **इतरस्वभावः** स्वरूपापेक्षयाऽविभ्रमस्वभावः *"**सर्वचित्तचैत्तानाम्**" [न्यायवि० १।१०] इत्याद्यभिधानात् । अथवा, **संविदो** निखिलकल्पनाज्ञानस्य यो **विभ्रमः स्वभावो** *"**अभिलापसंसर्ग**" [न्यायवि० १।५] इत्यादिवचनात् यश्च **इतरस्वभावः** स च कथितः, तयोः **सहभावेऽपि** न केवलम् असहभावे । किम् ? इत्याह–**सहोपलम्भादेः** इत्यादि । सहोप-

२० लम्भः सहदर्शनम् आदिर्यस्य अभेदादेः तस्य **अभावात्** । न वै द्विचन्द्रादिज्ञानस्य प्रतिभाससमये एव तत्स्वभावोपलम्भोऽस्ति विप्रतिपत्त्यभावेन ततः कस्यचित् कदाचिदपि क्वचित् प्रवृत्त्या[त्य]-भावप्रसङ्गात् । न चैवम्, ततोऽपि प्रवृत्तिदर्शनाद् असत्त्वख्यात्यादिवादभेदाभावप्रसङ्गाच्च । एतत् सौत्रान्तिकं प्रति पूर्वोक्तस्य व्यभिचारप्रदर्शनार्थं व्याख्यानम् । तयोः सहभावेऽपि कथ-ञ्चिदेकत्वम्, भावेऽपि सर्वथैकत्वोपलम्भादेरभावादचोद्यमेतत् इति व्याख्येयम् [१६५ख] ।

२५ साम्प्रतं योगाचारं प्रति व्याख्यानं क्रियते–**संविदो** यो **विभ्रमस्वभावो** ग्राह्यग्राहकसंवेदनत्रयस्वभावः यश्च **इतरस्वभावो**ऽद्वयसंवित्स्वभावः । तथा चोक्तम्–

*"**अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।**
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥
मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणां यथा मृच्छकलादयः ।
३० **अन्यथैवावभासन्ते तद्रूपरहिता अपि ॥**"

[प्र० वा० २।३५४, ५५] इत्यादि ।

(१) अर्थक्रियाया अभावे । (२) सत्त्वस्य । (३) क्षणिकत्वेन व्याप्तिसिद्धिः । (४) कार्ये । (५) 'सर्वचित्तचैत्तानाम्' इत्यादिना कल्पनाज्ञानस्यापि स्वरूपसंवेदनं अविभ्रमात्मकमेव । (६) यदि ततः प्रवृत्तिर्न स्यात्तदा ।

तयोः **सहभावेऽपि युगपद्भावेऽपि कथञ्चिदेकत्वभावेऽपि वा** । किम् ? इत्याह-**'सहोप'** इत्यादि । पूर्ववद् व्याख्यानम् । तथाहि-तस्याः विभ्रमः(म)स्वभावोपलम्भे न इतरस्वभावोपलम्भः । न हि शुक्ले शङ्खे पीततोपलम्भे शुक्लस्वभावोपलम्भः । ततो न युक्तम्-***"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा"** [प्र० वा० २।३५४] इति,

***"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।** ५
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥" [प्र० वा० २।३२७] इति च ।

वदात्मनः (संविदात्मनः) पुरुषवत् स्वप्नेऽप्यदर्शनात् ततो भ्रान्तिमात्रे व्यवतिष्ठेत । इतरस्वभावादर्शनेऽपि गतेयं विभ्रमवार्ता इति निरभिधेयमेतत्-***"अवेद्यवेदकाकारा"**[प्र०वा० २।३३०] इत्यादि । ***"अविभागोऽपि"**[प्र०वा० २।३५४] इत्यादि च । न खलु चन्द्रमस्यविभागेऽवभासने चन्द्रद्वयप्रतिभासकल्पननु (नं) लोकबाधनात् । प्र ज्ञा क रः (र स्य)***"पूर्वमविभागबुद्ध्यात्मनो दर्शनं पुनः तत्पृष्ठभाविना विकल्पेन स ग्राह्यग्राहकसम्वित्तिभेदवानिव लक्ष्यते"** इति वचनं [१६६क] नहि निर्विकल्पकेन किञ्चित् लक्ष्यते नाम, इति सः ध र्म की र्तेः अभिप्रायमज्ञात्वैव मन्यते, तथा तदभिप्रायाऽभावात् , अन्यथा ***"मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणाम्"** [प्र०वा० २।३५५] इत्यादि निदर्शनमप्रेक्षाकारितां तस्य सूचयेत् । नहि नाम सविभ्रमे अक्षविभ्रमो निदर्शनम् , ईश्वरादिविभ्रमस्य तज्जातीयस्य भावात् । न चास्य द्विचन्द्रादिभ्रान्तिरपि इन्द्रियजा इति सिध्यति । शक्यं हि वक्तुम्-प्रथमम् एकेन्दुदर्शनम् , पुनस्तस्य विकल्पेन द्वित्वाध्यवसाय इति । तथा च तस्या इन्द्रियजत्वं साधयतो ध र्म की र्तेः [अकीर्तिः] आयाता । शेषमत्र प्रथमपरिच्छेदेऽभिहितं प्रकृतेऽपि द्रष्टव्यम् । ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

एतेन नैयायिकादिरपि जैनं प्रति ***"कार्यकारणयोः"** इत्यादि वदन् निवारितो द्रष्टव्यः । तथाहि-संविदः संशयविपर्ययज्ञानस्य यः 'स्थाणुर्वा पुरुषो वाऽयम्' इति, पुरुषे स्थाणौ वा स्थाणुरिति पुरुषः इति वा विभ्रमस्वभावः, यश्च 'अयम्' इति धर्मिमात्रे इतरस्वभावोऽविभ्रमस्वभावः तयोः । शेषं पूर्ववत् । भवतु अविरुद्धमेकं ज्ञानमिति चेत्; अत्राह-**विज्ञप्तेः** इत्यादि । **तद्** अनन्तरोक्तम् **अन्यत्रापि** अर्थेऽपि समानं **कल्पयन् केन वार्यते** । कुत एतत् ? इत्यत्राह-**परिणाम** इत्यादि । सनिदर्शनमत्रैव हेतुमाह-**चित्र** इत्यादिना ।

यत्पुनः परेण भावविनाशयोरपि (रवि)नाभावसाधने उक्तम्- २५

(१) संविदः । (२) संवित् । (३) "यथा भ्रान्तैर्निरीक्ष्यते । विभक्तलक्षणग्राह्यग्राहकाकारविप्लवा ॥" इति शेषः । (४) "विकल्पेन अनुभवादुपजायमानेन व्यवस्थाप्यते व्यवहारतः । अनुदर्शनं दर्शनानुरूपो विकल्पः ।"-प्र० वार्तिकाल० ३।३५७ । (५) प्रज्ञाकरः । (६) धर्मकीर्तेः । (७) द्विचन्द्रादिभ्रान्तेः । (८) "नीलद्विचन्द्रादिधियां हेतुरक्षाण्यपीत्ययम् ॥···किं वेन्द्रियं यदक्षाणां भावाभावानुरोधि चेत् । तत्तुल्यं विक्रियावच्चेत् सैवेयं किं निषिध्यते ॥"-प्र०वा० २।२९०-९६ इत्यादिना भ्रान्तेरिन्द्रियजत्वं साधयतः । (९) अविभ्रमस्वभावः । (१०) दृष्टान्तसहितम् । (११) "अहेतुत्वाद्विनाशस्य स्वभावादनुबन्धिता । न हि विनश्वरं तद्भावे हेतुमपेक्षते स्वहेतोरेव विनश्वराणां भावात् ।"-प्र० वा० स्व० पृ० ३६० । "विनाशं प्रति सर्वेषामनपेक्षतया स्थितेः ।···सर्वत्रैवानपेक्षाश्च विनाशे जन्मिनोऽखिलाः । सर्वथा नाशहेतूनां तत्राकिञ्चित्करत्वतः ॥"-तत्त्वसं० श्लो० ३५३, ३५७ ।

*"विनाशनियतो भावः तं प्रत्यन्यानपेक्षणात् ।
तद्धेतूनामसामर्थ्यात्" इति;

तदेतदन्यत्रापि समानमिति तत्साधनमिति दर्शयन्नाह– 'उत्पादस्थितिभङ्गानाम्' इत्यादि ।

५ [उत्पादस्थितिभङ्गानां स्वभावादनुबन्धिता ।
तद्धेतूनामसामर्थ्यादतस्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥१५॥

यथैव हि भावस्य विनाशहेतुः स्वभावभूतस्य विनाशं न करोति कृतस्य करणाभावात् । नापि परभूतं करोति, तस्य करणेऽपि प्रागिव तदवस्थस्य तथोपलम्भादिप्रसङ्गात् । सम्बन्धासिद्धेः अस्येति व्यपदेशोऽपि मा भूत् । न च व्यतिरिक्तो घटादेर्विनाशो १० नाम । सन्नपि तादात्मानमखण्डयन् तदवस्थमेव स्थगयति यतो न दृश्येत । तदयं विनाशहेतुः तदतत्क्रियाविकलः कथमपेक्ष्यः यतः कादाचित्को विनाशः स्यात् ?]

प्रागसत आत्मलाभः उत्पादः, सतः पुनरभावो [१६६ख] भङ्गः पूर्वस्य द्वितीयादिक्षणे, अवस्थानं स्थितिः इति एतेषां **स्वभावात्** स्वरूपेण हेतुभूतेन **अनुबन्धिता** अविनाभाविता। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**हे(तद्धे)तूनाम्** इत्यादि । तेषाम् उत्पादस्थितिभङ्गानां ये हेतवः तेषाम् १५ **असामर्थ्यात्**, 'उत्पादस्थितिभङ्गेषु' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। **अतः** अस्मात् न्यायात् **तत्त्वं** जीवादिस्वरूपं **त्रयात्मकम्** उत्पादस्थितिभङ्गात्मकम् ।

सदृष्टान्तं कारिकार्थं दर्शयन्नाह–**यथैव** हि इत्यदि । **यथैव** येनैव प्रकारेण, हिः इति वितर्के **भावस्य** घटादेर्**विनाशहेतुः** मुद्गरादिः **स्वभावभूव** (तं) स्यात्म (स्वात्म)भूतं **'भावस्य'** इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम्, **विनाशम्** अभावं **न करोति** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**कृतस्य** २० इत्यादि । **कृतस्य** स्वकारणात् निष्पन्नस्य भावस्य **करणाभावात्** भावस्य स्वभावभूतविनाशकरणाभाव एव कृतः स्यात् , तस्य च स्वहेतोः उत्पत्तेर्न करणमिति मन्यते । अस्वभावभूतं तर्हि करोति; इत्याह–**नापि** इत्यादि । **परभूतम्** अर्थान्तरभूतं **नापि करोति तस्य** परभूतस्य विनाशस्य **करणेऽपि** न करणे (नाकरणे) **प्रागिव तदवस्थस्य** पूर्वावस्थाऽविचलितस्य भावस्य **तथा** पूर्ववद् **उपलम्भादिप्रसङ्गात्** । आदिशब्देन अर्थक्रियादिप्रसङ्गात् इति गृह्यते । दूषणा-

(१) विनाशं प्रति अन्यकारणानामपेक्षा नास्तीत्यर्थः । (२) "विनाशहेत्वयोगात् । स्वभावत एव भावा नश्वराः, नैषां स्वहेतुभ्यो निष्पन्नानामन्यतो विनाशोत्पत्तिः तस्यासामर्थ्यात् । न हि विनाशहेतुर्भावस्य स्वभावमेव करोति तस्य स्वहेतुभ्यो निर्वृत्तेः । नापि भावान्तरमेव ; भावस्य तदवस्थत्वात्तथोपलब्ध्यादिप्रसङ्गः । नापि भावान्तरेणावरणम् ; तदवस्थे तस्मिन्नावरणायोगात् । नापि विनाशहेतुना अभावः क्रियते अभावस्य विधिनाभ्युपगमे व्यतिरेकाव्यतिरेकविकल्पनातिक्रमात् । भावप्रतिषेधकरणे न तस्य किंचित् भवति न भवत्येव केवलमिति । एवं च कर्ता न भवतीत्यकर्तुरहेतुत्वमिति न विनाशहेतुः कश्चित् । वैयर्थ्याच्च । यदि स्वभावतो नश्वरः न किञ्चिन्नाशकारणैः, तत्स्वभावतयैव स्वयं नाशात् । यो हि यत्स्वभावः स स्वहेतोरेवोत्पद्यमानस्तादृशो भवति न पुनस्तद्भावे हेत्वन्तरमपेक्षते ।"–हेतुबि० पृ० ५६ । प्र०वा०स्व० १।२७२ ।

न्तरं दर्शयन्नाह–**सम्बन्ध** इत्यादि । **सम्बन्धस्य** पारतन्त्र्यस्य **असिद्धेः** कारणाद् अस्य घटादेर्विनाश इत्येवं **व्यपदेशोऽपि**, अभिधानमपि न केवलम् अनन्तर एव दोष इति अपिशब्दः, **मा भूत्** ।

ननु किमुच्यते [१६७क] **सम्बन्धासिद्धिः** (द्धेः) इति, यावता विशेषणीभावो भावाभावयोः सम्बन्धः सिद्ध इति चेत्; न; अत्र अनवस्थितेः प्रतिपादनात् । माभूत् तयोः[2] सम्बन्धो ५ व्यपदेशो वा तथापि न दोषः, सम्बन्धरहितस्य अभ्युपगमात् इत्येके; तदपि न सुन्दरम्; साक्षात् परम्परया वा तस्य इन्द्रियेण असम्बन्धो न; अग्रहणप्रसङ्गात् । तथापि ग्रहणे रूपादेः तेन[3] सम्बन्धकल्पनमनर्थकम् ।

स्यान्मतम्–अभावेन तस्य स्थगनात् तथोपलम्भाद्यभावादयुक्तस्य (क्वं'**तस्य**) **करणेऽपि**' इत्यादि । तत्रोत्तरमाह–**नच** इत्यादि । **नच** नैव **व्यतिरिक्तो** घटादेः अर्थान्तरभूतो **विनाशो नाम** । १० स्फुटार्थे **नाम** शब्दः, तद्ग्राहकप्रमाणाभावेन अभावात् । दूषणान्तरमाह–**तदात्मानम्** इत्यादि । अस्यायमर्थः–सन्नपि **तदात्मानं** तस्य दृश्यस्य घटादेः आत्मानं स्वभावम् **अखण्डयन्** अविनाशयन् **तदवस्थमेव** तदात्मानं **स्थगयति**, न च **यतः** स्थगनात् **न** दृश्येत । सता हि स्वविषयज्ञानजननयोग्येन अवश्यं तत्कर्त्तव्यमिति मन्यते । तदात्मखण्डनं स एव दोषोऽनवस्था[4] च ।

प्रकृतं निगमयन्नाह–**तदयम्** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्माद् **अयं**[5] लोके प्रतीयमानो १५ **विनाशहेतुः** मुद्गरादिः । **तदतत्क्रियाविकलो** घट[स्वभावा]स्वभावविनाशकरणविकलः **कथं** नैव **अपेक्ष्यो** 'विनाशकार्ये' इत्युपचारयतो (पस्कारः, **यतः**) अपेणात् **कादाचित्को** भावस्य **विनाशः** **स्यात्** । **यत** इति वा आक्षेपे, नैव स्यात्, नित्यः स्यात् इत्यर्थः ।

अत्रैव दूषणान्तरमाह–**विनाशो यद्यभाव[ः]स्याद्** इत्यादिना ।

[विनाशो यद्यभावः स्यात् क्रियाप्रतिषेधान्न[चेत्] । २०
भावं न करोतीति केनापेक्ष्येत तत्क्वचित् ॥१६॥

ततः स्वभावनश्वरोऽर्थः सिद्धः, तथैव भावस्य उत्पादहेतुरकिञ्चित्करः कृतस्य उत्पादने प्रयोजनाभावात् । तत एवाभावस्यापि स्वतः सिद्धत्वात् । प्रागभावं भावीकुर्वन्नुत्पादहेतुश्चेत्; प्राग्भावमभावीकुर्वन् विनाशहेतुः किन्नानुमन्यते ? यदि पुनर्भावस्य प्रध्वंसाभावोऽपि स्वत एव अभावान्तरवत् स्वहेतोरेव अभावत्वात्, तथैव भावस्य २५ **स्थितिरपि । यथा च स्वयमनुत्पित्सोः उत्पादहेतुः स्थास्नोः स्थितिहेतुरिति उत्पादस्थितिहेतुरिति उत्पादस्थितिभङ्गान् प्रत्यनपेक्षत्वं भावस्य सिद्धं तत्स्वभावापेक्षणात्, कांश्चिद् द्रव्यक्षेत्र[का]लस्वभावविशेषान् परिहृत्य अन्यत्र भवन् उत्पादो विनाशो वा तदपेक्षस्तद्धेतुश्च युज्येत प्रतीतेरविरोधात् ।]**

[विनाशः] **यद्यभावः** [प्रसज्यप्र]तिषेधरूपा [१६७ख] भावनिवृत्तिः **यदि** तर्हि अभावं ३०

(१) पूर्ववदुपलम्भादिप्रसङ्गलक्षणः । (२) भावाभावयोः । (३) इन्द्रियेण सह । (४) आत्मखण्डनं भिन्नमभिन्नं वा क्रियते इत्यादि । (५) भिन्नाभिन्नविनाशकरणरहितः ।

मुद्गरादिः करोति इत्येवं **'भावं न करोति'** इति हेतोः **क्रियाप्रतिषेधात्'** घटादेः करण-निराकरणात् अकिञ्चित्करत्वं विनाशहेतोः, क्रियाप्रतिषेधरूपत्वात् प्रसज्यप्रतिषेधस्य इति **[तत]** तस्मात् **केन अपेक्षेण** न केनचित् **क्वचित्** कार्ये इत्यर्थः ।

उपसंहरन्नाह–**तत** इत्यादि । यत एवं **ततः स्वभावतो नश्वरोऽर्थः सिद्धः** । तथा च ५ प्रयोगः–यो यं प्रति अन्यानपेक्षः स तत्स्वभावनियतः यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादनं प्रति अनपेक्षा तत्स्वभावनियता, विनाशं प्रति अन्यानपेक्षश्च भावः इति । एवं दृष्टान्तं व्याख्याय दार्ष्टान्तिकं विवृण्वन्नाह–**तथैव** इत्यादि । **तथैव** तेनैव प्रकारेण **भावस्य** घटादेः **उत्पादहेतुः अकिञ्चित्करः** । कुत एतदिति चेत ? अत्राह–**'कृतस्य उत्पादन'** इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा विनाशोऽभाव इति भाववतो भेदविचारमर्हति तथा उत्पादोऽपि तदविशेषादिति । तथाहि–१० यदि सत एव स्वभावभूत उत्पादः क्रियते; तर्हि स एव क्रियते इति **कृतस्य उत्पादने प्रयोजनाभावात्** हेतुस्वभाववदिति । एतेन स्वभावभूतोऽपि चिन्तितः । न खलु सतो घटस्य अर्थान्तरभूतोऽपि सः क्रियमाणः कञ्चन अर्थं पुष्णाति ।

स्यान्मतम्–अस्य विकल्पद्वयस्य निरालम्बनत्वात् नातः प्रकृतसिद्धिरिति चेत; अत्राह–**तत एव** इत्यादि । **तत एव** अनन्तरविकल्पभेदादेव नान्यतो**ऽभावस्यापि** न केवलमुत्पादस्य १५ **स्वभावतः सिद्धत्वात्** **'उत्पादहेतुः अकिञ्चित्करः'** इति सम्बन्धः । अस्य [१६८क] विकल्पद्वयस्य निरालम्बनत्वे सौगतस्य इष्टाऽसिद्धिरिति मन्यते ।

परमतमाशङ्कते–**प्रागभावम्** इत्यादिना । अथ कोऽयं प्रागभावो नाम ? उत्पत्तेः पूर्वमभाव इति चेत; स मृत्पिण्डादन्यः, स एव वा स्यात ? प्रथमपक्षे नैयायिकादेः तन्मतं न सौगतस्येति तन्मतानभिज्ञानात । न च तुच्छमभावं कश्चिद् भावीकरोति वन्ध्यासुतादेरपि तत्करणप्रसङ्गात्, २० भावोपादानकल्पनावैफल्यप्रसङ्गाच्च । तन्नाद्यः पक्षः । द्वितीयेऽपि पक्षे 'मृत्पिण्ड एव प्रागभावः, तं भावीकुर्वन्' इत्युक्तम् , तस्य पूर्वमेव सतः तदयोगात् । अथ तं[8] घटाभावात्मकं भावीकुर्वन् इत्ययमर्थो विवक्षितः, सोऽपि न युक्तः, ततो घटस्य भिन्नस्य भावात् व्यपदेशादिभेदात् । तन्न द्वितीयोऽपि युक्तः । यदप्यत्रोत्तरम्–**'प्रागभावम्'** इत्यादि । तत्रापि चिन्त्यते–किमिदं प्रागभावमिति ? यदि विनाशात पूर्वकालभावी घटः प्राग(ग्)भावः तमिति; तर्हि बौद्धस्य न कश्चित् २५ तुच्छो विनाश इति कस्य ततः प्राग् अन्यदा वा भावः ? न खलु वन्ध्यासुतात् प्राक् किञ्चिद् भवति । तत एव "[10]तम **अभावीकुर्वन्'** इत्ययुक्तम्; अभावस्य ततो [11]व्यतिरेकाव्यतिरेकयोर्यथोक्तदोषात् । अथ [12]तम **'अभावीकुर्वन् कपालीकुर्वन्'** इत्युच्यते; तदसारम्; तस्यैव कपालभावयोगात्, घटनाशे कपालभावायोगात्, ततो यत्किञ्चिदेतदिति ।

(१) "अथ क्रियानिषेधोऽयं भावं नैव करोति हि । तथाप्यहेतुता सिद्धा कर्तुर्हेतुत्वहानितः ॥" –तत्त्वसं० श्लो० ३६६ । (२) "यद्भावं प्रति यन्नैव हेत्वन्तरमपेक्षते । तत्तत्र नियतं ज्ञेयं स्वहेतुभ्यस्तथोदयात् ॥ निर्निबन्धा हि सामग्री स्वकार्योत्पादने यथा । विनाशं प्रति सर्वेऽपि निरपेक्षाश्च जन्मिनः ॥"–तत्त्वसं० श्लो० ३५४–५५ । (३) स्वकार्योत्पादनस्वभावनियता । (४) उत्पादः । (५) सद्भावकरणप्रसङ्गात् । (६) अभावादेव सर्वकार्योत्पत्तेः । (७) मृत्पिण्डस्य । (८) मृत्पिण्डम् । (९) मृत्पिण्डात् । (१०) प्रागभावम् । (११) भिन्नाभिन्नपक्षयोः । (१२) भावम् ।

अत्र प्रतिविधीयते—यथैव हि सौगतस्य प्रागभावः प्रध्वंसाभावश्च तुच्छो नास्ति तथैव करणात्, एकान्तेन भिन्नं कार्यमपि [१६८ ख] नास्ति किन्तु उपादानमेव उपादेयो भवति इति प्रतिपादितम्[1] *"विज्ञप्तेः" [सिद्धिवि० ३।१४] इत्यादिना। ततः प्रागभावं घटविविक्त-मृत्पिण्डाकारं द्रव्यं भावीकुर्वन् घटीकुर्वन् घटपर्यायोपेतं जनयन् उत्पादहेतुः उपादानम्, सहकारिकारण(णं)कारणकलापे[2] इति चेत्; प्रागभावं घटसत्त्वम् अभावीकुर्वन् स्वपर्यायकपालविविक्तं कुर्वन् विनाशहेतुः किन्नानुमन्यते ? अयमेवाचार्यस्य अभिप्रायः। 'यदि पुनः' इत्यादि[ना]पूर्व-पक्षान्(क्षं) यदि पुनः (तथैव) इत्यादिना तु अपरपक्षं दर्शयति। यदि इति पराभिप्रायसूचने, पुनः इति वितर्के, भावस्य घटादेः प्रध्वंसाभावोऽपि न केवलं प्रागभावः स्वत एव स्वस्मादेव नश्वरस्वभावात् नान्यतो मुद्गरादेः। अत्र निदर्शनमाह—अभावान्तरवत् इतरेतरात्यन्ताभाववत्, सोऽपि स्वभावः, कुतः ? इत्याह—स्वहेतोरेव। प्रध्वंसः कपालात्मना भावः स्वत एव अभावत्वात् इतरेतराभाववत्; अत्र दूषणमाह—तथैव इत्यादि। तथैव तेनैव प्रकारेण भावस्य [3]स्थितिः परापर[क्षणेषु] अवस्थानमपि न केवलं प्रध्वंस एव स्वत एव स्यात् इति। शक्यं हि वक्तुं भावस्य स्थितिः स्वत एव भावधर्मत्वात् प्रध्वंसवत्। न चात्र धर्म्यसिद्धिः[4]; पूर्वस्य उत्तरक्षणे विवेकवद्[5] अविवेकत्वात्[6][स्यापि प्रसिद्धेः, त]था चोक्तं न्या य वि नि श्च ये—

*"भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि।
अभेदज्ञानतः सिद्धा निरंशे न (स्थितिरंशेन) केनचित्॥" [न्यायवि० श्लो० ११४]

अत एव न स्वरूपासिद्धो हेतुः प्रत्यक्षादिबाधितो वा पक्षः। अनेन [१६९क] पूर्वस्य हेतोर्विरुद्धत्वमित्थं कथयति—तत्र यदुक्तं प्रागभावम् इत्यादि; तदयुक्तम्; यतो नश्वरं चेत् [7]तमभावीकुर्वन् विनाशहेतुः किं [8]तेन ? स्वयमेव नाशात्। [9]विपरीतं चेत्; तदशक्यम्। नहि अनश्वरं तं कश्चिद् अभावीकर्तुं समर्थ इति चेत्; अत्राह—यथा च इत्यादि। यथा इति वचनाद् अनुक्तमपि 'तथा' इति गम्यते। तथा स्वयम् आत्मनोऽपि अनुत्पित्सोश्च पुनः उत्पादहेतुः 'अकिञ्चित्करः' इति सम्बन्धः। प्रथमस्य [स्व]यम् उत्पत्तेरन्यस्य शशविषाण-वत् कारणसन्निधानेऽपि अनुत्पत्तेरिति भावः। एवं स्थितावपि दर्शयति स्थास्नोः इत्यादिना। स्थितिहेतुः अकिञ्चित्कर इत्येवं सर्वं समानम्। अनेनैव तद्दर्शयति—उत्पादस्थितिभङ्गान् प्रति अनपेक्षत्वं भावस्य सिद्धं तत्स्वभावापेक्षणात् इति तद्वि(तद्वद्वि)नाशेऽपि। 'यदि पुनः तं प्रति नापेक्षं तत्स्वभावस्य सर्वदा सन्निधानात्' इत्युच्यते तथा प्रतीतेः; तदितरत्र समानमिति। तथा च—

*"विरुद्धाव्यभिचारी स्यात् सर्वो हेतुः परोदितः।
समत्वात् परपक्षेऽपि यद्वा स्यात् कल्पितः स्वयम्॥"

(१) पृ० १९८। (२) अन्यः कारणसमूहः। (३) "तथैव स्थितिं प्रत्यनपेक्षं स्यात्तु तद्धेतोरकिञ्चित्करत्वात्, तद्व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताकरणादित्यादि सर्वं समानम्।"—अष्टश० अष्टस० पृ० १८५-८६। (४) स्थितिरूपस्य धर्मिणोऽसिद्धिः। (५) भेदवत्। (६) अभेदस्यापि। (७) भावम्। (८) विनाशहेतुना। (९) अनश्वरस्वभावम्।

ननु च उत्पादस्य अहेतुकत्वे नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा । तदुक्तम्–

*"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवात् ॥" [प्र०वा० ३।३४]

इति चेन्न ; अत्राह–**कांश्चित् द्रव्य** इत्यादि । **कांश्चिद्** विवक्षितान् द्रव्यक्षेत्रकाल-
५ **स्वभाव[विशेषान्]** विशेषशब्दः प्रत्येकं द्रव्यादिभिः सम्बन्धनीयम्(नीयः), **परिहृत्य** । क्व(क्व)? **अन्यत्र** अभिमतकालादौ **भवन्** जायमानः वाशब्दो भिन्न[१६९ख] प्रक्रम इवार्थः 'उत्पाद' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तत **उत्पाद इव विनाशः तदपेक्षो** अन्यद्रव्यापेक्षः **तद्धेतुः** द्रव्यादिहेतुको **युज्येत**। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**प्रतीति(ते)रविरोधात्** । अथवा, यथा [illegible] **वा** शब्दो व्याख्येयः । विनाशवद् उत्पादोऽपि स्वत एव इति स्वभाववादिनं प्रति '**कांश्चिद्**'
१० इत्यादेः उपन्यासात् । अत्र 'च' इति समुच्चये । शेषं पूर्ववत् ।

एवं सत्यपि दृष्टान्ते व्याप्तिग्रहणाभावात् क्षणक्षयादौ सर्वहेतूनां गमकत्वं प्रतिपाद्य संप्रति दृष्टान्ताभावात्तत्प्रतिपादयन्नाह–**जीवच्छरीर** इत्यादि ।

यदि वा, यदुक्तम् अर्चटेन–*"**सत्त्वादेः अन्वयाभावेऽपि व्यापकानुपलब्धेः विपक्षव्यतिरेकाद् गमकत्वम्**" इति(१) ; तत्र कृतं निषेध(धम्) उपसंहरन्नाह–**जीवच्छरीर**
१५ इत्यादि ।

[जीवच्छरीरे प्राणादिर्यथाऽहेतुर्निरन्वयात् ।
तथा सर्वः सत्त्वादिरहेतुः क्षणिके क्वचित् ॥१७॥

पक्षविपक्षाभ्यां सर्वस्य संग्रहात् यथा जीवच्छरीरे प्राणादिरनन्वयः तथा क्षणिकत्वेऽपि सत्त्वकृतकत्वादिरिति । न हि क्षणिकत्वेतराभ्यां तृतीया राशिरस्ति यत्र हेतुर्वर्तते
२० **शब्देऽपि तथाऽनिश्चयात् । अपरापरताल्वादिचक्षुरादितैलादिव्यापारसाफल्याच्छब्दादीनामपरापरस्वभावसिद्धेः क्षणि[illegible]श्चयः, तत एव अनित्यतामात्रं साध्यं क्वचित् सिद्धम्, तत्रैव तद्व्यापारस्य साफल्यात् ।]**

जीवच्छरीरे सात्मकत्वे साध्ये **प्राणादिः** हेतुः **यथा** येन प्रकारेण **अहेतुः** । कुतः ? इत्याह–**निरन्वयात्** साधर्म्यदृष्टान्ताभावात् । **तथा सर्वः** शुद्धाशुद्धस्वभावः सत्त्वादिः
२५ निरन्वयादहेतुः **क्षणिके क्वचित्** कस्मिंश्चित् शब्दादौ साध्ये क्षणिकत्वे वा क्वचित् साध्ये । अथवा, **जीवच्छरीरे** सात्मकत्वे साध्ये **प्राणादिः** हेतुः निरन्वयाद् अन्वयाभावं प्राप्य योऽसौ उक्तः स **यथा** येन व्यतिरेकाभावप्रकारेण **सत्त्वादिरहेतुः** । शेषं पूर्ववत् ।

(१) "एतच्च बाधकं प्रमाणं व्यापकानुपलब्धिरूपमुत्तरत्रावसरप्राप्तं स्वयमेव वक्ष्यति । तदनया बाधकप्रमाणप्रवृत्त्या साध्यधर्मस्य वस्तुनः साधनधर्मस्वभावता सिध्यति ।"–हेतुबि० टी० पृ० ४४ । (२) "अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहे अनैकान्तिकः । यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति । न हि सात्मकनिरात्मकाभ्यामन्यो राशिरस्ति यत्रायं प्राणादिर्वर्तेत । आत्मनो वृत्तिव्यवच्छेदाभ्यां सर्वसंग्रहात् ।···न तत्रान्वेति । एकात्मन्यपि असिद्धेः ।"–न्यायबि० ३।९६-९९, १०३-४। (३)शुद्धः सत्त्वं हेतुः । अभिन्नविशेषणविशिष्टः 'उत्पत्तिमत्त्वात्' इति, भिन्नविशेषणविशिष्टः कृतकत्वादिति । एतौ अशुद्धौ । द्रष्टव्यम्–न्यायबि० ३।९-११ ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–पक्ष इत्यादि । जीवच्छरीरं सर्वं पक्षः, घटादिः विपक्षः, ताभ्यां सर्वस्य चेतनेतरजातस्य संग्रहात् यथा जीवच्छरीर(रे)प्राणादिः अनन्वयः साधर्म्यदृष्टान्तरहितः तथा क्षणिकत्वे साध्ये, अपिशब्दो भिन्नप्रक्रमः 'सत्त्वकृतकत्वादिः' इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः । यदि वा, यथास्थानमेव अपिशब्दोऽस्तु । तत्रायमर्थः–क्षणिकत्वे अपिशब्दाद् अक्षणिकत्वेऽपि इति । नहि तत्रापि सपक्षोऽस्ति, अनन्वयः इत्यपेक्षा । कुतः ? इत्यत्राह–नहि ५ इत्यादि । [हि] यस्मात् न व्याप्तिसाधने सत्त्वादेः क्षणिकेतरत्वाभ्याम् अविनाभावसिद्धौ तृतीया राशिररित सपक्षाभिधाना प्रतिरत्र तद्रासौ (अस्ति यत्र तद्राशौ) हेतुः सत्त्वादिः वर्तेत । शब्दादिः तृतीया राशिरस्ति इति चेत्; अत्राह–शब्द इत्यादि । अपिशब्दात् न केवलं विवादगोचरे वस्तुनि इति तथा क्षणिकत्वप्रकारेण अनिश्चयात् सत्त्वादेः इति । न च तथाऽनिश्चितसत्त्वं वस्तु निदर्शनम्, इतरथा साध्यमपि स्यादविशेषात् । यदा पुनः शब्द एव क्षणिक[:] १० साध्यः तदा शब्दस्य बुद्ध्यादिभिः सह उपादानं तेन[१] तेषां[२] समानताप्रतिपादनार्थम् ।

अत्रापरः प्राह–अपरापरताल्वादि-चक्षुरादि-तैलादिव्यापारसाफल्यात् शब्दादीनाम् अपरापरस्वभावसिद्धिः(द्धेः) क्षणिकत्वविनिश्चयः; तदसारमिति दर्शयन्नाह–तत एव इत्यादि । यत एव अपरः तद्[३]व्यापारः अपरापरशब्दादिस्वभावमन्तरेण अनुपपन्नो वैफल्यात्, तत एव अनित्यतामात्रं परिणामिनित्यत्वं साध्यं क्वचित् सौगतस्य तत्रैव तद्व्यापारस्य उक्तविधिना १५ साफल्यात् । एतदुक्तं भवति–ततो न्यायात् शब्दादौ परिणामाऽनित्यत्वं सिद्धं तन्निदर्शनमुच्यते नान्यत्र सिद्धसाधनात्, तथा च दृष्टान्ताभावात्तदसाध्यमुक्तम् । [१७० ख] एतन्नोक्तमिति किमनेनेति चेत्; न; अन्यथा अभिप्रायात् । यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण–*"क्षणिकत्वे साध्ये न दृष्टान्ताभावो नीलादेः सर्वस्य, तत्र यद्य(द)वभासते तत्तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि यथा नीलं नीलतयाऽवभासनं तथैव तदवतारि, सर्वमवभासते च क्षणिकतया ।" इति; २० तत्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं हेतोश्च असिद्धत्वमनेन कथ्यते । अथवा, क्षणिकत्वात् नीलादेरव्यतिरेके तद्वत्[४] तस्यापि[५] स्वभावविप्रकर्ष इति दृष्टान्तस्य साध्यसाधनोभयवैकल्यम् । तत्र तदनभ्युपगमे क हेतोः उपसंहार इति प्रदर्श्यते ।

स्यान्मतम्–सौगतस्य दानादिचेतांस्येव पुण्यपापव्यपदेशभाञ्जि, तेषां च स्वसंवेदनाध्यक्षविषयत्वात् न [स्व]भावविप्रकर्ष इति साधनविकलता दृष्टान्तस्येति; तदशिक्षिताभिधानम्; यतः २५ ततः कालान्तरे फलाऽसिद्धेः, तदन्याभ्युपगमस्य अवश्यंभावात् । अथ मतम्–स्वभावविप्रकर्षेऽपि पुण्यपापयोः सर्वैरपि वादिभिः साधनात्, साध्यविकलता दृष्टान्तस्येति; तदनुपपन्नम्; प्रक्रमाऽपरिज्ञानात् । ततः तदसाध्य···साधनात् । साध्यं तु उक्तमेव ।

साम्प्रतं हेतोर्विरुद्धत्वात् न तत् साध्यम्; इत्याह–[illegible]द्धेः ।

(१) शब्देन । (२) बुद्ध्यादीनाम् । (३) ताल्वादिव्यापारः । (४) क्षणिकत्ववत् । (५) नीलादेरपि ।

[अनिष्टसिद्धेः पारार्थ्यं यथाऽनिष्टं प्रसाधयेत्[1] ।
संहतत्वं तथा सत्त्वं शब्द[क्षणिकतान्वयि] ॥१८॥

परार्थाश्चक्षुरादयः……नहि विपक्ष एव निर्णयात् कृतकत्वस्य । *"यद् यद्भावं प्रति अन्यान्यपेक्षं तत्तद्भावनियतं यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्यजननं प्रति" इति परस्य
५ चोदितचोद्यमेतत् । तथा चेत् ; भावः कालान्तरस्थानोत्पादं प्रत्यनपेक्षणात् तद्भावनियतः सिध्येत् नान्यथा । सतोऽर्थस्य पुनः उत्तरकालं स्थितौ किमपेक्षणीयं स्यात् यतः कादाचित्की स्थितिः स्यात्, तथा पुनरुत्पित्सोरुत्पत्तौ न किञ्चिदपेक्षणीयमिति समानम् । यदि पुनः भावः स्थास्नुरुत्पित्सुर्वा न भवेत् न कदाचिदपि तिष्ठेदुत्पद्येत वा खपुष्पवत् । नहि तन्नश्वरत्वमेव साधयतीति ममन्नमम् अन्यत्राप्यविशेषात् । तदिमेऽर्थाः स्वरसत एवोत्तरी-
१० भवन्तो यथायोगं परस्परोपकारमतिशयाधानमात्मसात्कुर्वन्ति । कस्यचित् कुतश्चिद्विनाशे परोऽन्य एव जायते । ननु निरन्वयनिवृत्तौ कस्य कारणाहिता कार्योत्पत्तिः ?]

अनिष्टस्य परिणामाऽनित्यत्वस्य **सिद्धेः** तत्रैव सर्वहेतूनां दर्शनान्न तत्साध्यमिति 'वैफल्यात्र साधनस्य' इति शेषः, यदर्थं तत्प्रयुक्तं तस्य असाधनात् अनिष्टसिद्धिं समर्थयते **पारार्थ्यम्** इत्यादिना । चक्षुरादीनां संबन्धि **संहतत्वं** कर्तृ **प्रसाधयेत् यथा** येन [१७१क]
१५ तत्रैव दर्शनप्रकारेण । किम ? इत्याह–**पारार्थ्यम्** । किम्भूतम ? **अनिष्टम्** तेषामेव[2] सांख्येन संहतं तत् साधयितुम् इष्टं संहतं प्रसाधयेत् । एवं परप्रसिद्धं निदर्शनं प्रतिपाद्य दार्ष्टान्तिकं प्रतिपादयति **तथा सत्त्वं** शुद्धेतररूपम् **'अनिष्टं प्रसाधयेत्'** इति सम्बन्धः । किंभूतं सत्त्वम् ? इत्याह–**शब्द** इत्यादि ।

कारिकार्थं प्रकटयति–**परार्थाश्चक्षुरादयः** इत्यादिना । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**नहि**
२० इत्यादि । **विपक्ष एव** परिणाम एव **निर्णयात्** कृतकत्वस्य इति । ननु यद्यपि कृतकत्वस्य[3] तत्रैव निर्णयः तथापि न तेन तद्व्याप्तिः अनुमानेन [4]तद्विपरीतव्याप्तिप्रसाधनादिति परः । तदेव दर्शयन्नाह–**यद् यद्भावम्** इत्यादि । ननु पूर्वम् **'उत्पादस्थितिभङ्गानाम्'** इत्यादिना सर्वमेतदुक्तम्[5], इति किमर्थं पुनरपि उच्यते इति चेत ? सत्यमुक्तम्, किन्तु पूर्वं विनाशे अयमिव ([6]अयमेव) स्वतन्त्रो हेतुः, अधुना अनेन कृतकत्वादेः नाशित्वेन अविनाभावः साध्यत इति
२५ विभागः । यद्वा **'विपक्ष एव निर्णयात्'** इत्यस्य हेतोभक्तेनैव परग्रथनासिद्धतामुद्भानेव (हेतोर्यसेनैव परं प्रत्यसिद्धता उद्भाविता) तां परिहरति **परस्य चोदितचोद्यमेतत्** इति निपातार्थं (निदर्शनार्थम्) । यद्वस्तु यस्य भावो यद्भावः तं प्रति अनपेक्षं तद्वस्तु तद्भावनियतं द्वितीयेन तच्छब्देन यदुक्तं तस्य परामर्शः । अत्र दृष्टान्तमाह–**यथा** इत्यादिकम् । **अन्त्या चासौ कारणसामग्री च** इति तत्सामग्री **स्वकार्यजननं प्रति अनपेक्षा सती तद्भावनियतैव** स्वकार्यजनन-

(१) "यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवदिति । तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धः ।"–न्यायवि० २।८७, ८८ । (२) चक्षुरादीनाम् । (३) विपक्ष एव । (४) पक्ष एव । (५) पृ० २०२ । (६) तद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादिति ।

भावान्नियतैव । पक्षधर्मोपसंहारमाह–**तथा** इत्यादि । सुगमम् । चेच्छब्दः [१७१ख] पराभिप्रायद्योतकः । अत्रोत्तरमाह–**भाव** इत्यादि । **भाव** इत्येतदुपलक्षणं तेन कृतक इत्येतदपि गृह्यते । **कालान्तरस्थान (नं) च उत्पादश्च** तौ **प्रति अनपेक्षणात् तद्भावनियतः** कालान्तरस्थानोत्पादभावनियतः **सिध्येत्** । अस्याऽनभ्युपगमे दूषणमाह–**नान्यथा** अतो हेतोर्विनश्वराभावः सिध्येत् व्यभिचारित्वात् हेतोरिति मन्यते । एतदनेन दर्शयति–यथा क्षणिकत्वे सत्त्वादिर्विरुद्धः [1]विपक्ष एव निश्चयात् , तथा अन्येन तस्य अविनाभावसाधकोऽप्यनपेक्षणादिति हेतुः [2]तत्रैव विनिश्चयाविशेषादिति । ५

स्यान्मतम्–'**कालान्तरस्थानोत्पादौ प्रति अनपेक्षणात्**' इत्यसिद्धम्; तद्भावनियतत्वे तौ प्रति सापेक्षत्वाद् भावस्य इति । तत्रोत्तरमाह–**सतोऽर्थस्य** इत्यादि । सतो विद्यमानस्य अर्थक्रियाकारिणो भावस्य **पुनः** इति वितर्के **उत्तरकालम्** उत्पत्तेः **स्थितौ किमपेक्षणीयं स्यात्** न किञ्चिदित्यर्थः । सतोऽर्थस्य स्वभावभूताया अन्यस्या[3] वा केनचित् करणे विनाशे च दोषात्, एवमर्थं च **सतोऽर्थस्य** इत्युक्तम् , **यतः** अपेक्षणीयात् **कादाचित्की स्थितिः स्यात् तथा** तेनैव प्रकारेण **पुनः उत्पित्सोर्भावस्य उत्पत्तौ न किञ्चिदपेक्षणीयम् यतो**ऽपेक्षणीयात् कादाचित्त्वो (त्को)त्पत्तिः स्यादिति । '**यतः**' इत्याद्यनुवृत्तेः । इत्येवं **समानं** विनाशवदत्वाप्यतदत्तप्येतदस्ति (वदन्यत्राप्येतदस्ति) इति मन्यते । १० १५

नन्वस्य अपेक्षणीयस्याभावेऽपि स्थास्नु-उत्पित्सु-स्वभावापेक्षणात् , अस्य च सर्वदाऽसन्निधानादसिद्धो [१७२ क] हेतुः इति चेत् ; अत्राह–**यदि पुनः** इत्यादि । **भावो** जीवादिः **स्थास्नुः उत्पित्सु वति (र्वा न) भवेत् न कदाचिदपि तिष्ठेद् उत्पद्येत वा खपुष्पवत् इति** । तिष्ठति उत्पद्यते च ततः [4]तत्स्वभाव इति । ननु तद्भावं प्रति अनपेक्षत्वं नश्वरत्वमेव साधयति प्रत्यक्षादिबाधाऽभावात् न स्थित्युत्पत्तिस्वभावं [5]विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह–**नहि** इत्यादि । **हिः** यस्मात् तद्भावं प्रति अनपेक्षत्वं **नश्वरत्वमेव** [6]नान्यत् **साधयति इति न समञ्जसम्** उपपन्नम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**अन्यत्रापि** । [7]आपाद्यसाध्येऽपि **अविशेषाद्** विशेषाभावात् ; तत्रापि प्रत्यक्षादिबाधाऽभावादिति मन्यते । २०

उपसंहारव्याजेन परकीयस्य हेतोरसिद्धतां दर्शयन्नाह–**तद्** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्मात् **इमे** प्रत्यक्षतः प्रतीयमाना **अर्था** जीवादयः **स्वरसत एव** [स्व] भावत एव **उत्तरीभवन्तः** [8]पूर्वाकारपरित्यागाऽजहद्वृत्तोत्तराकारं गच्छन्तः **आत्मसात्कुर्वन्ति** इति युक्तम् । किम् ? इत्याह–**अतिशयाधानं** योग्यतास्थापनम् । कथम् ? इत्याह–**यथायोगमिति** उत्पादविन[illegible]रेकारणसंबन्धो योगः तस्य अनतिक्रमेण । कथंभूतम् ? इत्याह–**परस्परोपकारम्** इति । **परस्परेण** सहकारिणा उपादानस्य अनेन[9] सहकारिणि **उपकारो** यस्मिन् येन इति २५

(१) कथञ्चिन्नित्ये । (२) विपक्ष एव । (३) स्थितेः । (४) उत्पत्तिस्थितिस्वभावः । (५) बाधासद्भावात् । (६) उत्पत्तिस्थितिस्वभावम् । (७)आपाद्यं यत् साध्यम् उत्पत्तिस्थितिस्वभावरूपं तस्मिन् । (८) पूर्वाकारपरित्यागः उत्तराकारस्वीकारश्च परस्परम् अजहद्वृत्तः–ध्रौव्यत्वं स्वीकुर्वन्नेव संजायते इति भावः । द्रष्टव्यम्–पृ० १ टि० ९ । (९) उपादानेन ।

वा विग्रहः । तदनेन उत्पादं प्रतीवपिनासं (प्रति इव विनाशं) प्रत्यपि भावस्य कृतकस्य वा[1] सापेक्षत्वाद् भावस्य विनाभावस विनासाविनाभाव (विनाशाविनाभाव)साधने [2]तद्भावं प्रत्य-नपेक्षत्वमसिद्धमित्युक्तम् [१७२ख] भवति । ननु यदुक्तम्–'तदिये (तदिमे) अर्थाः स्वर-सत एव उत्तरीभवन्तः' इति ; तदयुक्तम् ; [illegible] पूर्वस्य[3] कुतश्चिद् विनाशे परः अन्य

५ एव जायते इति चेत् ; अत्राह–ननु इत्यादि । ननु नैव निरन्वयनिवृत्तौ अत्यन्तमभावे कस्य कारणस्य कारणाकारणाहिता (कस्य कारणाहिता) कार्योत्पत्तिः अनियमप्रसङ्गादिति मन्यते ।

कथं तर्हि कार्योत्पत्तिः ? इत्यत्राह–अनादिनिधनम् इत्यादि ।

[अनादिनिधनं द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम् ।
स्वतोऽन्यतो विवर्त्तेत क्रमाद्धेतुफलात्मना[4] ॥१०॥

१० यदि सर्वं सत् उत्पादस्थित्यात्मकं सर्वदा न स्यात् सकृदपि तथा मा भूत् खर-विषाणवत्, तथा तत् पूर्वोत्तरपरिणामात्मना सततं विवर्तमानं प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं हेतुफल-व्यवस्थामात्मनि विकल्पयत् परत्र कार्यकारणव्यपदेशभाग् भवतीति समञ्जसम्, प्रत्यनी-कस्वभावाविनाभावात् ।]

अविद्यमाना (नम्) आदिनिधनम् अनादिनिधनं, [5]सादित्वे कार्यानुपादानकारणा-

१५ (ण)भावे[6] सदपि सहकारिकारणम् अकिञ्चित्करम् । न चैवं शक्यं वक्तुं कदाचिदनुपादाना कार्योत्पत्तिः अन्यदा अन्यथेति ; तथाऽदर्शनात् । दर्शनानुसारेण च तत्त्वव्यवस्थानात् । कथञ्चैवं वादिनां कार्यदर्शनाद् उपादानकारणानुमानम् ? सर्वत्राऽऽशङ्काऽनिवृत्तेरिति [8]तद्व्यवहारोच्छेदः । [9]सान्तत्वे पुनः अशेषसन्ताननिवृत्तिरिति । निरूपयिष्यते चैतत् जी व सि द्धौ[10] । किन्तदित्थ-म्भूतम् ? इत्याह–द्रव्यम् इति । न चैतत् चोद्यम्–"[11]रूपादिव्यतिरेकेण किं तत्' इति ?

२० *"प्रतिभासैक्यनियम" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना प्रसाधनात् । पुनरपि कथम्भूतं तदिति आहोस्वित् [तदित्याह–उत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम्] इत्यादि । तत्किं कुर्यात् ? इत्याह–विवर्त्तेत । केन प्रकारेण ? हेतुफलात्मना मृत्पिण्डघटादिस्वभावेन ।

[12]ननु च प्रधानं महदादिफलात्मना विवर्त्तते न [13]तद्धेत्वात्मना *"मूलप्रकृतिरविकृतिः[14]" [सांख्यका० ३] इति वचनादिति चेत् ; न ; महदादीनामुत्पादनस्वभावस्य अकादाचित्कत्वे

२५ [15]तदनुपरतिरिति कपिलोऽन्यो[16] वा मुक्तो न म कथं (वा कथं मुक्तः ?) यदि पुनः कपिलादिना [१७३ क] संसर्गाभावात्तदुपरति[17] [रिति] मतिः; सापि न युक्ता; [18]अविकले कारणे कार्यस्य

(१) हेतोः । (२) विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षणादिति हेतुः असिद्धः इति भावः । (३) पर्यायस्य । (४) उत्तरांशः उद्धृतः–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४१४ । (५) सर्वथा नूतनस्योत्पादे । (६) उपादान-कारणाभावे इत्यर्थः । (७) उपादानकारणात् । (८) कार्यकारणव्यवहाराभावः । (९) सर्वथा निरन्वय-विनाशवादिनः । (१०) चतुर्थप्रस्तावे । (११) गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं नास्ति इति शङ्काभिप्रायः । (१२) सांख्यः प्राह । (१३) न प्रधानम् अन्यहेतुतः समुद्भूतं तस्य नित्यत्वादिति । (१४) अकार्यभूता नित्येति । (१५) महदादिकार्याणां सर्वदोत्पत्तिः । (१६) जीवात्मा । (१७) कपिलादिकं प्रति महदादिकार्योत्पादस्या-भावः । (१८) नित्ये प्रधानाख्ये कारणे ।

अवश्यंभावात् । अथ [1]तत्संसर्ग एव स [2]स्वभावो न पूर्वम्; हन्त कथम् *"[illegible]लप्रकृतिः[3]" ? [सांख्यका० ३] इति युक्तम् हे[illegible]फलात्मना इति ।

एतेन [illegible] चिन्तितम् । यदैव द्रव्यस्य हेत्वात्मता तदैव फलात्मता । अयं तु विशेषः–कदाचित् कस्यचिदभिव्यक्तिः अनभिव्यक्तिस्वाह च (क्तिश्च, आह च–) *"[सर्वं] सर्वत्र विद्यते" इति कश्चित्[4]; तं प्रत्याह–क्रमाद् इति । क्रमम् आश्रित्य इत्यर्थः, इतरथा ५ सव्येतर[illegible] न हे[illegible]फलव्यपदेशः[5] । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽपि अस्य चोद्यस्याऽनिवृत्तेः ।

विवर्तते तदात्मनां किन्तु स्वत एवेति पुरु[illegible]दिनः *"पुरुष एवेदम्" [ऋक्० १०।९०।२] इत्यादि वचनात् । 'यद् उत्पद्यते तत् परतः, नश्वरः, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्[8], उत्पत्तिसमये स्वमयभावाच्च[9] । तथा परत एव विन (विनाशो न) स्वतः, सर्वदा [illegible]नाशप्रसङ्गा[illegible]' इति केचित्[10]; तान् प्रति आह–स्वतः अन्यतः इति । '[वि]वर्तेत' इति सम्बन्धः । स्वतः १० तथा विवर्त्तनस्वभाववैधुर्ये परतोऽपि न विवर्त्तेत खरशृङ्गवत्, गगनञ्चैयमर्थं (गगनवच्च[11], एवमर्थं) च [illegible] इत्याद्युक्तम् । परतः तद्विवर्तनप्रतिषेधे प्रत्यक्षादिविरोधः ।

'द्रव्यम् उत्पित्सु' इत्यादि समर्थयते यदि इत्यादिना । यदि चेत् स (सत्) विद्यमानं सर्वं सर्वदा उत्पादात्मकं न स्यात् [illegible] तथोत्पादात्मकत्वप्रकारेण मा भूत्, भवति च, ततो मन्यामहे सर्वदा उत्पादात्मकमिति । अनेन चरमक्षणकथा[12] क्षीणेति दर्शयति । ननु यदि १५ नाम च (न) कदाचिद् दुषात्मकं (उत्पादात्मकं) वस्तु तस्य किमायातं येन सर्वदा तत्[13] तदात्मकं स्यादिति चेत्; न तर्हि इदानीं कदाचित् स (सन्तं) क्षणिकमुपलभ्य सर्वदा[14] तत्तथा [१७३ख] इत्यनुमानम् । शेषं चर्चितमत्र । तथा स्थित्यात्मकं सर्वदा यदि न स्यात्; सकृदपि तथा[15] माभूत् । भवति च तदात्मकं[16] तत्प्रतीतेः प्रतिपादना[illegible] । ततः सर्वदा तद[illegible] निराकृतमेतत् यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण–*"दध (देव) दत्तादेः उपलम्भदशायां भवत् (तु) कालान्तर- २० स्थायिता तथाप्रतीति(ते) र्नान्यदा[17] विपर्यया[illegible]" इति; कथम्? [18]अदृष्टस्य ज्ञानादेः[19]अभिमतस्वाभावाऽसिद्धिप्रसङ्गात् । दृष्टानुरूपतत्त्वव्यवस्थापनम् अन्यत्र[20] समानम् । 'खरविषाणवत्' इति उभयत्र [illegible] । एतद् अन्यत्राऽवृत्ति (त्राप्यति) दिशन्नाह–तथा इत्यादि । पृथगस्य उपादानं दृष्टान्तार्थं परं प्रति अस्य[21] सिद्धत्वा[illegible], नैयायिकादिकं प्रति एतत् साध्यार्थम् पूर्वं दृष्टा-

(१) कपिलादिसंसर्गे सत्येव । (२) कार्योत्पादनस्वभावः । (३) अविकृतिः–नित्येति कथमुच्यते ? (४) सांख्यः । "किं सांख्यमतमवलम्ब्य सर्वं सर्वत्र विद्यते ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १८० । (५) समसमयभाविनोः कार्यकारणभावाभावात् । (६) हेतुफलात्मना । (७) "पुरुष एवेदं यद् भूतं यच्च भव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥"–श्वे० ३।१५ । (८) 'न स्वत [उत्पद्यते' इति सम्बन्धः । (९) स्वभावतः एव विनश्यतीति सम्बन्धः । इति बौद्धाः । (१०) [illegible] । (११) नैयायिकमतापेक्षया इदमुक्तम् । (१२) नहि स कश्चित् क्षणो विद्यते यस्मात् अग्रिम[illegible]णोत्पत्तिर्न भवति इति चरमक्षणस्य अभाव एव । (१३) उत्पादात्मकम् । (१४) 'सत् क्षणिकमेव' इत्यनुमानं स्यात् । (१५) स्यात्तु । (१६) स्थित्यात्मकम् । (१७) यदा देवदत्तो न दृश्यते तदा । (१८) यदि उपलब्धस्यैव तत्स्वभावता व्यवस्थाप्यते तदा अदृष्टस्य–अनुपलब्धस्य । (१९) अभिमतो यः [illegible] स्वभावः तस्य असिद्धिः स्यादिति भावः । (२०) देवदत्तादौ । (२१) खरविषाणस्य उत्पादादिस्वभावशून्यस्य ।

न्तार्थमिति विभागः । यत एवं तत् तस्मात् **पूर्वोत्तरपरिणामात्मना सततं विवर्त्तमानं क्षणं** [क्षणं]प्रति प्रतिक्षणं त्रीणि उत्पादस्थितिभङ्गाः **लक्षणानि** यस्य तत् **त्रिलक्षणम्** **'सत् सर्वम्'** इति सम्बन्धः । तत् किं कुर्वत् किं करोति ? इत्यत्राह–**हेतुफल** इत्यादि । **हेतुफलयोर्व्यवस्था** पूर्वः पूर्वो हेतुः परं परं फलम् इति लौकिकी स्थितिः **ताम्** इति । तदनेन यदुक्तं केनचित्[1] *"**पूर्वं**
५ **कार्यम् उत्तरं कारणम्**" इति; तन्निरस्तम्; *"**शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वात्**[2]" [न्यायप्र० पृ० २] इत्यादिवत् प्रसिद्धिबाधनादिति । यदि वा, **हेतुफलमेव विशिष्टा नाना-** प्रकारा या **अवस्था** दशा **ताम्** इति ।*"**स्वरूपमेव जन्यं जनकं च**" इति[3], तदनेन निरस्तम् । कथम् ? **वि[कल्पयन्]** जन्यजनकताप्रतीतेः **आत्मनि** स्वस्वरूपेण कल्पनायाम् ततस्तद्व्य-वस्थायाः[4] काल्पनिकत्वं **कल्पयन्**[5] अविकल्पं[6] इत्युक्तं भवति । नीलादिसुखादिविशेष [१७४क]
१० स्यापि (वि)कल्पत्वेन प्रतिभासाद्वैतमपि तथा स्यात् । प्रत्यक्षबाधनम् इतरत्र समानम् । *"**नहि पूर्वोत्तरपरिणामरहितं किञ्चित् क्वचित् प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभाति**" इत्युक्तम् ।

अथवा, 'अवस्थातुः एकान्तेन अवस्था भिन्नाः इति मतम्[8] अयुक्तमिति कथितं भवति । भवति **परत्र** सहकारित्वेन उपकारके सन्तानान्तरे सति **कार्यव्यपदेशभाग्**, [10]उपकार्ये **कारण-व्यपदेशभाग् भवति इति समञ्जसम्** । कुतः पुनः सत् सर्वं [11]तथाविधम् ? इत्यत्राह–**प्रत्यनीक**
१५ इत्यादि । उत्पादस्य **प्रत्यनीकस्वभावः** स्थितिः **तदविनाभावाद्** वस्तुस्वभावस्य उत्पादस्य । कुत एतदपि इति चेत् ? अत्राह–**द्रव्याद्** इत्यादि ।

[[12]द्रव्यात् स्वस्मादभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् ।
लक्ष्यन्ते गुणपर्याया धीविकल्पाविकल्पवत् ॥२०॥

गुणिनः कथञ्चिदभिन्नाः रूपादयः सुखादयो वा सकृत्प्रतीताः क्रमेण··· तथा···
२० **तत्सिद्धम्··· । यत्पुनरेतत्–परमाणूनां संयोगे दिग्विभागेन अङ्गीक्रियमाणे षडंशतापत्तेः । निरंशत्वे परस्परानुप्रवेशान्न प्रचयभेद इति; अत्रोत्तरम् ।]**

द्रव्यात् इत्यनेन गुणपर्यायैकान्तं निषेधति, **अभिन्नाश्च** इत्यनेन तेषां [13]तद्वतोर्भेदै-कान्तम्, **व्यावृत्ताश्च** इत्यनेन सांख्यमतम्[14], **परस्परं वा (चाऽ) भिन्ना व्यावृत्ताश्च** इत्यनेनापि[15], **स्वस्माद्** इत्यनेन *"**सर्वस्योभयरूपत्वे**" [प्र०वा० ३।१८१] इत्यादिकम्[16] ।

(१) प्रज्ञाकरेण भाविकारणवादिना । "यथा च कारणस्य पूर्वं भावं विना न भवति कार्यं तथा अवश्यंभावि कारणं कार्यस्य परभावं विना नेति समानं कार्यकारणभावनिबन्धनमिति द्वयोरपि परस्परं कार्यकारणभावः ।"–प्र० वार्त्तिकाल० पृ०२८ । (२) "लोकविरुद्धो यथा शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खशुक्तिवत्"–न्यायप्र०पृ०२ । परीक्षा० ६।१९। (३) यत् अद्वैतवादिनां मतम् । (४)हेतुफलव्यवस्थायाः । (५) कथयन् । (६) विवेकरहित एव । (७) कल्पनात्मकमेव । (८)नैयायिकादेः । (९) पदार्थान्तरे । (१०) उपकर्तुं योग्ये पदार्थे तु । (११) उपकार्यम् उपकारकं च, अत एव कारणकार्यात्मकम् । (१२) "उक्तं च–···द्रव्यात् स्वस्मादभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥" –न्यायकुमु० पृ० ३७० । "देवैर्निवेदितं चैतत् स्वयमन्यत्र तद्यथा । द्रव्यात् स्वस्माद्···"–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४३२ । (१३) द्रव्यात् । (१४) अभेदप्रतिपादकम् । (१५) सांख्यमतं नषेधति । (१६) धर्मकीर्तिकृताक्षेपं निषेधति ।

गुणाः सहभाविनो जीवस्य ज्ञानादयः, पुद्गलस्य रूपादयः, **पर्यायाः** क्रमभाविनः सुखदुःखादयः[1], शिवकादयश्च[2] **लक्ष्यन्ते** प्रत्यक्षप्रमाणेन निश्चीयन्ते । अनेन प्रतीतिसिद्धत्वेन काल्पनिकत्वम्[3] ।

*"**युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे**" इति[4] वदन्तं प्रति निदर्शनमाह–**धी[illegible]विकल्प[illegible]वद्** इति । **धियो विकल्पाविकल्पौ इव तद्वत्** इति । यथा धियः सकाशात् विकल्पौ आकारौ भिन्नौ अभिन्नैव (अभिन्नाविव) लक्ष्येते तथा प्रकृताः[5] स्वद्र- ५
व्याद् इति निष्ठुरविचारचतुरस्यै[6] अनेन स्वमतत्यागं दर्शयति । नैयायिकादिकं प्रति निदर्शनं नोक्तं प्रतीतिबलेन तेन[7] द्रव्यादिव्यवस्थोपगमात् । [१७४ख] अथवा, धियः सम्बन्धिनौ विकल्पौ स्वैः विभ्रमेतर-संशयेतर-दृश्येतर-ग्राह्येतर-नीलेतराकारैः भेदाभेदौ ताभ्यां तुल्यं वर्त्तत इति तद्वत् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**गुणिन** इत्यादि । गुणिनः सकाशात् **कथञ्चित्** तत् सर्वात्मना **अभिन्ना रूपादयः सुखादयो वा सकृद्** एकदा **प्रतीताः** परीक्षितप्रमाणप्रमिताः । किं कुर्व- १०
न्ति ? इत्याह–**क्रमेण** इत्यादि । दृष्टानुरूपत्वात् सर्वदा तत्त्वसिद्धेः इति भावः । तदनभ्युपगच्छतोऽपि हताद् (हठात्) आगच्छति इति दर्शयन्नाह–**तथा** इत्यादि । अत्रापि '**क्रमेण**' इत्यादि संयोज्य व्याख्या कर्त्तव्या । प्रकृतं निगमयन्नाह–**तत्सिद्धम्** इत्यादि ।

ननु अस्ति स्थूलस्य एकस्य नानावयवगुणपर्यायात्मनो बुद्धौ प्रतिभासनम् , स नैकोऽवयवी गुणी वा युक्तः विचारायोगात् । तदेव दर्शयन्नाह–**यत्पुनरेतद्** इत्यादि । **यत्** परेण यथोक्त- १५
प्रमेयदूषणम् 'उक्तम्' इति शेषः[8] । **पुनः** इति युक्त्यन्तरसूचने, **एतन्निवेद्यमानं स्थूलस्य सूक्ष्म**-[9]नान्तरीयकत्वात् '**परमाणूनाम्**' इत्युक्तम् । [10]ते च संयोगापेक्षा एव तं[11] जनयन्ति नान्यथा अतिप्रसङ्गात् इति **संयोगे** इति 'स'[12] च एकदेशेन सर्वात्मना वा स्याद् गत्यन्तराभावात्' इति मनसि निधाय प्रथमपक्षे दूषणमाह–'**दिग्विभागेन**' इत्यादि । [दिशः प्राच्यादयः] [13]तद्विभागेन **संयोगे** अङ्गीक्रियमाणे **षडंशतापत्तेः** [14]तेषामेव(क)परमाणुतैव न स्यात् सांशत्वात् घटादिवत् इति २०
मन्यते । द्वितीयपक्षे तदाह–**निरंशत्वे** परमाणूनाम् अङ्गीक्रियमाणे **परस्परानुप्रवेशा[illegible]** कारणात् **न प्रचयभेदः** स्कन्ध[१७५क]भेदः **इति** शब्दः पूर्वपक्षसमाप्तौ । तदुक्तम्–

*"**तत्र दिग्भागभेदेन षडंशाः परमाणवः ।**
नो चेत् पिण्डोऽणुमात्रः स्यात् न च ते बुद्धिगोचराः ॥" [न्यायवि० १।८६] इति ।

एतद् दूषयन्नाह–**अत्र** इत्यादि । **अत्र** पूर्वपक्षे **उत्तरम्** 'उच्यते' इति शेषः । २५

यथा[तथा]शब्दावन्तरेणापि तदध्यारोपात् प्रतिवस्तूपमालङ्कारमाश्रित्य कारिका व्याख्यायते–

---

(१) जीवस्य । (२) मृदः पुद्गलस्य । (३) निषेधति इति सम्बन्धः । (४) उद्धृतमिदम्–अष्टश०, अष्टस० पृ० २३४ । (५) गुणपर्यायाः । (६) युक्त्यैकान्तवादिनः । (७) नैयायिकादिना । (८) "षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता । षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥"–विंश० विंशि० श्लो० १२ । चतुःश० पृ० ४८ । तत्त्वसं० पृ० २०३ । (९) अन्तरा विना न भवतीति नान्तरीयकम् अविनाभावीत्यर्थः । (१०) परमाणवः । (११) [illegible] । (१२) संयोगः । (१३) दिग्विभागेन । (१४) परमाणूनाम् । यतः सर्वे षट्दिग्वर्तिभिः परमाणुभिः संयुज्यन्ते ।

[क्षणश्चित्क्षणमध्यस्थो न जहाति निरंशताम् ।
तथाणुरपि मध्यस्थः ततः प्रचयवर्धनम् ॥२१॥

विज्ञप्तिमात्रेऽपि ज्ञानस्य स्वहेतुफलमध्यवर्तिनः सांशत्वे अनन्तक्षणप्रसङ्गात् तावतैव परिसमाप्तत्वात्तदन्यकल्पनानर्थक्यम् । अनुप्रवेशे पुनः एकक्षणतेति निष्पर्यायं ५ जगत् स्यात् । यदि पुनः कथञ्चिन्निरंशत्वेऽपि तथा परमाणूनामनुप्रवेशाभावात् प्रचयभेदः स्यात् । क्रम··· । तथा मति–]

यथा **चित्क्षणमध्यस्थः** चिद्रूपौ कारणकार्यभूतौ यौ क्षणौ तयोर्मध्यम् अन्तरं तत्र तिष्ठति इति तत्स्थः । कोऽसौ ? इत्याह– **क्षणो** भागः पूर्वस्य कार्यभूतः उत्तरस्य कारणभूतः, सोऽपि चिद्रूप एव अन्यस्य [1]तदभावात् । स किं करोति ? इत्याह–**न जहाति** न परित्यजति । १० किम् ? इत्याह–**[निरंशताम्]** निरंशस्य 'सर्वात्मना एकदेशेन' इति विकल्पाऽयोगात् केवलं तत्र तिष्ठति इति न्यायात्, **तथा अणुरपि** परमाणुरपि न केवलं चित्क्षण एव **मध्यस्थो 'न जहाति निरंशताम्'** इति सम्बन्धः । ततः किं सिद्धम् ? इत्याह–**ततः प्रचयवर्धनं** तस्मान्न्यायात् कालप्रचयवत् देशप्रचयस्यापि वर्धनम्, 'स्यात्' इत्यध्याहारः ।

एतदुक्तं भवति–वित्क्षण (चित्क्षण) मध्यस्थः क्षणः पूर्वोत्तरक्षणाभ्यां सान्तरः, निरन्तरो १५ वा ? न तावदाद्यो विकल्पः; [2]चिरन्तनसौगतानां तथाऽभ्युपगमाभावात्, नैरन्तर्यविशिष्टानामेव क्षणानाम् उपादानोपादेयभावाभ्युपगमात्[3] । येषामपि प्र ज्ञा क र गु प्ता दी नां तथाभ्युपगमः तेषाम् असंसृष्टा क्षणा एव स्वकार्यं कुर्वन्ति न [4]परमाणवः इति किं कृतो विभागः ? अतिप्रसङ्गोऽत्रापि दुर्वारः । तन्न परमाणूनां कार्यारम्भे संयोगमुपकल्प्य [१७५ ख] [5]तन्निबन्धनं दोषचिन्तनं न्याय्यम् । [6]जागरणप्रबोधचेतसोः उपादानोपादेयभूतयोः २० व्यवधाने [7]नित्यवत् कार्यकारणभावनिषेधात् न सुस्थितं तन्मतम् । व्यवधानं च तयोः[8] नाभावेन नापि कालेन; तदनभ्युपगमात् । अत एव न सजातीयविज्ञानैः; स्वापादिदशायां तदनभ्युपगमात् । विजातीयैः [9]व्यवधाने; न विज्ञप्तिमात्रं स्यात् । भवतु वा तैर्व्यवधानम्, तथापि तेषामन्योन्यं तच्चेतोभ्यां च पुनरपि सान्तरत्वे तदेव चोद्यं तदेव उत्तरमित्यनवस्थाः प्रत्येकं गगनतलविसर्पिण्यो योज्याः । निरन्तरत्वे समायातो द्वितीयो विकल्पः । एवमर्थं च **'क्षणो** २५ **वित्क्षणमध्यस्थः'** इति सामान्येनोक्तम् । सोऽपि न युक्तः संयोगवत् दोषात् । नैरन्तर्यम् संयोग इति शब्दभेदमात्रमुत्पश्यामो नार्थभेदम् । अन्ये तु मन्यन्ते सर्वचेतसां परस्परं न सान्तरत्वं नापि विपर्ययः[10], तत्कथं **'क्षणो वित्क्षण'** इत्यादि दोष इति; तेन (ते) तत्प्रतीतिपृथुवक्त्र-

(१) चितः प्रति कारणकार्यभावाभावात् । (२) प्राचीनबौद्धानाम् । (३) "अर्थान्तराभिसम्बन्धाज्जायन्ते येऽणवोऽपरे । उक्तास्ते सञ्चितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मनः ॥ अणूनां स विशेषश्च नान्तरेणापराणून् ।···"–प्र० वा० २।१९५-९६ । (४) असंसृष्टाः परमाणवः । (५) सर्वात्मना एकदेशेन वा संयोगः इति संयोगनिबन्धनम् । (६) स्वापात् प्राग्वर्ति जाग्रच्चेतः स्वापानन्तरमुत्थितस्य प्रबोधचेतः, तयोः मिथः कारणकार्यभावः स्वापावस्थायां ज्ञानाभाववादिनः प्रज्ञाकरमतेऽस्ति । (७) यथा न नित्ये कारणकार्यभावः तथात्रापि । (८) जाग्रत्प्रबोधचेतसोः । (९) विज्ञानाद् व्यतिरिक्तैः अर्थैः । (१०) निरन्तरत्वं वा ।

निहतप्रज्ञामूर्त्तयः किन्नाम इदंतया नेदंतया व्यवस्थापयन्तीति यत्किञ्चिदेतत्[1]। सकृद् विज्ञानस्यैकस्य चित्रताप्रतीतिर्न नैरन्तर्यादिप्रतीतिः इति पर[म]गहनमेतत्[1]।

अपरस्तु आह–प्रतीयमानमेव ज्ञानं [न] पूर्वं[3] नापि परमिति कथमुच्यते '**क्षणो वित्क्षणमध्यस्थः**' इति; सोऽपि न युक्तकारी, विचारायोगात्। तथाहि–नीलादिव्यतिरेकेण ब्रह्मवत्तदभावात्[4]। नीलादयश्च चित्रत्वात् नैकं युगपत् नीलादिचित्रत्वं प्रत्येति। न क्रमेण सुखादिचित्रत्वमिति [१७६क] प्राकृतबुद्धिः। ५

'**क्षणो वा क्षणमध्यस्थः**' इति च पाठोऽस्ति। तत्रायमर्थः–अचेतनो नीलादिरूपः चेतनश्च तद्बुद्धिस्वभावः चेतन एव इति **क्षणो वा** क्षण इव **क्षणयोः** अचेतनयोः चेतनयोः तयोरेव वा कारणाकार्यभूतयोः **मध्यस्थो न जहाति निरंशताम् अणुरपि** इति। शेषं पूर्ववत्।

कारिकां स्पष्टयन्नाह–**विज्ञप्ति** इत्यादि। **विज्ञप्तिमात्रेऽपि** अन्तर्ज्ञेयवादिमतेऽपि न केवलं सौत्रान्तिकमत इति **अपिशब्दार्थः**। **ज्ञानस्य** अत्रापि अपिशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः, तेन अज्ञानस्यापि। कथंभूतस्य? **स्वहेतुफलमध्यवर्त्तिनः** स्वस्य स्वो वा यो हेतुः यच्च फलम् तयोर्मध्ये वर्तितुं शीलमस्येति तद्वर्त्तिनः, षट्परमाणुमध्यवर्त्तिनः। परमाणोरपि च **सांशत्वे** अङ्गीक्रियमाणे **नतत्क्षण (अनन्तक्षण) प्रसङ्गात्** कारणात् **तावतैव** तस्यानन्तक्षणप्रसङ्गमात्रेणैव **परिसमाप्तत्वात्** अनाद्यनन्तसन्तानप्रयोजनस्य इति मन्यते। **तदन्यकल्पनानर्थक्यम्** तेभ्यः अनन्तक्षणेभ्यः ये अन्ये क्षणाः तेषां कल्पनानर्थक्यम्। तथाहि– तन्मध्यवर्तिनः क्षणस्य स्वांशमध्यवर्तित्वेऽपि तदपरांशकल्पना, पुनरपि तस्मिन् सति तदन्यकल्पनेति परं सान्तरत्वे(त्व)चिन्तने स एव प्रसङ्गश्चिन्त्यः। सहभाविनां स्वसन्तानान्तरक्षणानाम् एतत् संभवति न वेति विचारचतुरस्रधियो विचारयन्तु। यदि संभवति; किमर्थं परमाणव एव उपद्रूयन्ते? निरंशत्वे दूषणं दर्शयन्नाह–**अनुप्रवेश** इत्यादि। '**ज्ञानस्य**' इत्यनुवर्तते। तस्य तद्वर्तिनः पूर्वत्र उत्तरत्र वा तयोर्वा तत्रानुप्रवेशे अङ्गीक्रियमाणे [१७६ख] **पुनः** इति पक्षान्तरसूचने। **एकक्षणवर्ति** एकक्षणमात्रं **जगत् स्यात्**। किंभूतम्? **निष्पर्यायम्** पर्यायरहितमिति। अनेन सौत्रान्तिकयोगाचारयोः सकलमतनिषेधं दर्शयति। प्र ज्ञा क र स्य तथाभ्युपगमं कुर्वतोऽपि उक्तम्–*"**युगपच्चित्रप्रतिपत्तिवत् क्रमेणापि तत्प्रतिपत्तेरनिषेधात् प्रत्यक्षविरोधः**" इति। १० १५ २०

'**यदि पुनः**' इत्यादिना परमतमाशङ्कते–**यदि पुनः कथञ्चित्** केनापि प्रकारेण **निरंशत्वेऽपि** '[इ]ष्यते' इत्यध्याहारः। कुतः? इत्याह–**अनुप्रवेशाभावात्** इति। तत्रोत्तरमाह–**तथा परमाणूनाम्** इत्यादि। **तथा** तेन प्रकारेण **परमाणूनां** घटारम्भकाचेतनसूक्ष्मभागानां **प्रचयभेदो** रचनाविशेषः '**स्यात्**' इति गतेन सम्बन्धः। अत्र निदर्शनम् '**क्रम**' इत्यादि। २५

एवं सति यत् सिद्धं तद्दर्शयन्नाह–**तथा सति** इत्यादि।

तथा सति– ३०

[अत्यक्तपारिमण्डल्यानां स्वाहेतुतागुणः।
तत्प्रत्यनीकमात्मानं संयोगैः बिभ्रतेऽञ्जसा ॥२२॥

---

(१) उपहासपदमेतत्। (२) ब्रह्मवादी। (३) न पूर्वं कारणम्, नापि परम् कार्यम्। (४) क्षणानामभावात्। (५) परमाणोः। (६) ज्ञानस्य। (७) क्षणमध्यवर्तिनः। (८) पूर्वोत्तरयोर्मध्ये। (९) चित्रप्रतिपत्तेः।

परमाणवः पारिमण्डल्यं [भित्त्वा] स्थूलमेकं स्वभावं स्वयमुपयान्तः समुपलक्ष्यन्ते तथापरिणामात् । न हि तथाऽपरिणतं तत् विप्रतिषेधात् ।]

एवं सति पारिमण्डल्यं च निरंशत्वं [च] नानात्वं च अदृश्यता च **अत्यक्ताः पारिमण्डल्यनानात्वाऽदृश्यता** यैः ते तथोक्ताः, ते च ते **अणवश्च** । ते किं कुर्वन्ति ? इत्याह-

५ **ननु** इत्यादि । **तत्प्रत्यनीकं** पारिमण्डल्यनानात्वादृश्यताप्रत्यनीकं सांशमेकं दृश्यम् इति यावत् । **आत्मानं** स्वभावं **बिभ्रते** स्वीकुर्वन्ति । कैः ? इत्याह-**संयोगैः** नैरन्तर्यैः । **अञ्जसा** परमार्थतः । **अत्यक्तपारिमण्डल्यपदेन** घटवत् तत्परावयवानामपि सांशत्वे अनवस्था स्यादिति कल्पनं निरस्यति, **अत्यक्तनानात्व**ध्वनिना अवयविनो निरंशत्वम्, **अत्यक्तादृश्यता**वचनेन [१५७ख] दृष्टे प्रमाणान्तरावृत्तिम्, '**अणवः**' इत्यनेन प्रकृतिः

१० कारणम्[3], पुरुषः कारणम्[4] इत्येतत्, **तत्प्रत्यनीकमि**त्यतः 'परमाणुभ्यः परमाणव एव निरन्तरा दृश्या जायन्ते' इति, '**आत्मानम्**' इत्यनेन वैशेषिकादिमतम् '**अञ्जसा**' इत्यनेन कल्पितत्वम् इति[5] ।

ननु कुतः परमाणवः सिद्धा येनैवं स्यात् ? नतावत् प्रत्यक्षतः; तत्र तत्प्रतिभासविरहात् स्वयमनभ्युपगमात् । तत्र युक्तम्-*"अत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः" [हेतुबि०

१५ पृ० ५४] इति[6] । तत एव नानुमानतोऽपि; प्रत्यक्षाभावे तन्मूलस्य[7] तस्य[8] अनवतारात् । नापि इन्द्रियवत्[9] कार्यव्यतिरेकतः तत्सिद्धिः; सत्सु अन्येपु कारणेषु [10]तदभावे नियतेन (नियमेन) अनुपजायमानस्य कस्यचित् कार्यस्याऽभावात्, स्थूलादेव मृत्पिण्डात् [11]तथाविधघटोत्पत्तिदर्शनात्।

यत्पुनरेतत्[12]-'यत्स्थूलं तद् अल्पपरिमाणकारणारब्धं यथा पटः, स्थूलं च अष्टाणुकादि कार्यम्, तत् स्व[ल्प]परिमाणकारणमिति परमाणुसिद्धिः' इति; तदसारम्; यतः सूक्ष्मम-

२० पेक्ष्य स्थूलमिति भवति । न च अष्टाणुकात् परं[13] रूपं सिद्धमस्ति यदपेक्ष्य अष्टाणुकं स्थूलं स्यात् । [14]अत एव तत्सिद्धिरिति चेत्; अस्यापि कुतः ? ततः[15] इति चेत्; अन्योन्यसंश्रयः-सिद्धे हि ततः परस्मिन् तद्रूपे ततः तत्स्थूलतासिद्धिः, अस्याश्च तत्सिद्धिरिति ।

यच्चान्यत्-'यत् स्थूलं तद्भिद्यमानं घादि (घटादि) दृष्टम्, स्थूलं च अष्टाणुकम्, ततः तदपि भिद्यते तावद् अभिद्यमानभेदपर्यन्तमिति तत्सिद्धिः' इति; तदपि विलक्षाभिधानम्; यतः अष्टा-

(१) अणुपरिमाणम् । "नित्यं परमाणुमनःसु, तत्तु पारिमण्डल्यम् । पारिमण्डल्यमिति तस्य नाम । तथाहि-परिमण्डलानि परमाणुमनांसि, तेषां भावः पारिमण्डल्यं तत्परिमाणमेव ।"-प्रश० व्यो० पृ० ४७३ । "पारिमण्डल्यमिति सर्वापकृष्टं परिमाणम् ।"-प्रश०कन्द०-पृ०१३३।"पारिमण्डल्यं परमाणुपरिमाणम् ।"-सप्तप० टी० पृ० ४९ । मुक्ता० श्लो० १५ । (२) कपालकपालिकादीनामपि । (३) सांख्यस्य । (४) ब्रह्मवादिनः । (५) 'निरस्यति' इति गतेन सम्बन्धः । (६) "प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामन्वयव्यतिरेकयोः गतिः..."-प्र० वार्तिकाल० पृ० १८३ । (७) प्रत्यक्षपूर्वकस्य । (८) अनुमानस्य । (९) यदीन्द्रियं न स्यात् तर्हि रूपादिज्ञानं न स्यादितिवत् यदि परमाणवो न स्युः तर्हि घटादिकार्यं कुतः स्यादिति । (१०) परमाण्वभावे । (११) स्थूल । (१२) "तथा कार्यादल्पपरिमाणं समवायिकारणं तस्याल्पपरिमाणमित्यादि कार्यं निरतिशयपरमाणुपरिमाणैरारब्धमिति ज्ञायते ।"-प्रश० व्यो० पृ० २२४ । (१३) सूक्ष्मं वस्तु । (१४) अष्टाणुकात् स्थूलात् । (१५) परस्मात् सूक्ष्मात् । (१६) परमाणु ।

णुकस्य भेदनतः परं न किञ्चिद् भवत्येव प्रमाणाभावात् । तन्न अणुसिद्धिः इति चेत्; अत्र-प्रतिविधीयते–[१७७ख]

परिमाणस्य उत्कर्षातिशयात् विज्ञानैर्महत्त्वपरिमाणकाष्ठासिद्धिवद् अपकर्षाविषयात (र्षातिशयात) [illegible]परिमाणकाष्ठासिद्धिः । प्रयोगः–परिमाणस्य अपकर्षः क्वचित् परमकाष्ठावान् अतिशयवत्त्वात् तत्प्रकर्षवत् । न च साध्यशून्यो दृष्टान्तः, इतरथा सर्वज्ञाद्यभावः[3] प्रमाणबाधितो ५ भवेत् ।

यत्पुनरुक्तं परेण–तदपकर्षकाष्ठायां भावः किमास्ते, आहोस्वित् सर्वथा नश्यति इति न निश्चयोऽस्ति इति; तदसारम्; सर्वथा तद्विनाशाभावात् युक्तिबाधनात् । तत्प्रकर्षेऽपि दोषाच्च।

कारिकां व्याचष्टे–परमाणव इत्यादिना । परमाणवः 'समुपलक्ष्यन्ते' इति सम्बन्धः, 'विशदाबाधितरूपेण समीचीनेन लक्ष्यन्ते' इत्यस्य प्रदर्शनार्थम्–सम्: अभिधानम् । 'स्वयं १० स्वग्राहकज्ञानसामीप्यम् उपगता न आकारसमर्पणेन' इत्यस्य कथनार्थम् उपस्यं, 'निश्चीयन्ते न अविकल्पदर्शनेन दृश्यन्ते' इत्यस्य च 'लक्ष्यन्ते' इत्यस्य । किं कुर्वाणाः किम् ? इत्याह–स्थूलमेकं 'प्रत्यक्षमात्मानम्' इत्यनुवर्त्तते । क्वचित् 'स्वभावम्' इति श्रूयते । पुनरपि किं कुर्वन् ? इत्याह–पारिमण्डल्य इत्यादि । सुगमम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–तथा इत्यादि । तथा तेन अनन्तरप्रकारेण परिणामात् । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–नहि इत्यादि । हिः यस्मात् १५ न तथा तेन अनन्तरप्रकारेण अपरिणतं तत् तदनन्तरं वस्तु भवति । कुतः ? विप्रतिपेधात् इति ।

प्रकृतनिगमनव्याजेन उपमानादीनां स्वाभ्युपगतज्ञाने अन्तर्भावं कुर्वन्नाह– 'तदेतद्' इत्यादि ।

[[10]तदेतत् उपमानादि मतिज्ञानप्रभेदलक्षणम् अवग्रहादिमतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनि- २० बोधात्मकं द्रव्यपर्यायविषयं सामान्यविशेषविषयं च प्रागभिलापसंसर्गात् प्रमाणमविसंवादात् तद्विपरीतमपि तत्प्रभेदलक्षणम् । मिथ्याऽज्ञानम् अप्रमाणम्, यथा एकान्तविषयदर्शनानुमानादिकमन्यद्वा ।]

यत एवं तत् तस्मात् एतद् [१७८क] अनन्तरं निरूप्यमाणं उपमानादि 'ज्ञानम्' इति सम्बन्धः । तत् किम् ? इत्याह–मतिज्ञान इत्यादि । मतिज्ञानस्य प्रभेदः प्रपञ्चः स एव २५ लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तं मतिज्ञानविशेष इति यावत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–['अवग्रह' इत्यादि] अवग्रह आदिर्यस्याः सा चासौ मतिः समासः, सा च स्मृतिश्च संज्ञा च चिन्ता

(१) यथा विज्ञानस्य उत्कर्षातिशयदर्शनात् पराकाष्ठासिद्धिर्भवति यथा वा परिमाणस्य अतिमहापरिमाणरूपता च प्रसाध्यते तथैव । (२) "तथा घटादिकारणकारणेषु अल्पतरादिभावः क्वचिद्विश्रान्तः तरतमशब्दवाच्यत्वात् महापरिमाणवत् । यत्र विश्रान्तस्ते परमाणव इति ।"–प्रश० व्यो० पृ० २२४ । प्रश० कन्द० पृ० ३१ । न्यायकुमु० पृ० २१७ । स्या० रत्ना० पृ० ८७० । (३) सर्वज्ञ-महत्त्वपरिमाणयोरभावो भवेत्, यश्च प्रमाणबाधितः । (४) पदार्थस्य नाशाभावात् । (५) परिमाणप्रकर्षेऽपि इयं कुकल्पना भवेत् । (६) उपसर्गस्य । (७) कथनम् । (८) प्रदर्शनार्थम् । (९) कथनम् । (१०) चूर्णिप्रकरणमेतत् ।

च अभिनिबोधश्च ते आत्मानो यस्य तत्तथोक्तम्। एतच्च तत्प्रभेदविशेषणमपि साधनं द्रष्टव्यम्, ततः तेज्ज्ञानं तदात्मकत्वात् मतिप्रभेदलक्षणम् इति।

ननु उपमानादीनां तत्रान्तर्भावो निरूपयितुमारब्धः तत्किमर्थम् अवग्रहादिमतिस्मृतिग्रहणमिति चेत् ? सत्यम्; तथापि प्रसिद्धसंज्ञादिज्ञानोत्पत्तिक्रमस्य उपमानादौ प्रदर्शनार्थं तद्-
५ ग्रहणमित्यदोषः। तथाहि-यथैव पूर्वपर्यायाऽवग्रहाद्याहितसंस्कारस्य परपर्यायावग्रहात् पूर्वपर्यायस्मृतौ प्रसिद्धसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोधाः तथैव गवयसदृशगवाद्यवग्रहाद्याहितसंस्कारस्य पुनर्गवयाद्यवग्रहाद् गोस्मरणे सति 'तेन सदृशोऽयम्' इति ज्ञानं जायते इति संज्ञातो न भिद्यते। एतेन वैलक्षण्यसंख्यादिज्ञानं चर्चितम्।

ननु च अवग्रहादिमतिस्मृतिप्रभवस्य ज्ञानस्य संज्ञात्मकत्वे सर्वतो व्यावृत्तस्य घटस्य
१० अवग्रहात् संस्कारे पुनः तथाविधस्य भूतलादेरवग्रहाद् अवगृहीतघटस्मरणाद् 'इह स घटो नास्ति' इति ज्ञानं संज्ञा भवेत्, न चैवम्, सादृश्यैकत्वप्रत्यवमर्शस्यैव तत्त्वोपगमात् *"प्रत्यभिज्ञा द्विधा" [न्यायवि० २।५०] इत्यादि वचनात्। तस्माद् अभावाख्यं तत् प्रमाणान्तरमिति मीमांसकः। तदुक्तम्-

*"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं [१७८ख] स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
१५ मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥"

[मी० श्लो० अभावप० श्लो० २७] इति चेत्;

तन्न सारम्; तस्यापि तत्त्वोपगमात्, दृष्टप्रत्यवमर्शात्मकत्वात्। *"प्रत्यभिज्ञा द्विधा" [न्यायवि० २।५०] इत्यादि तु वचनम् एकत्ववत् सादृश्ये प्रत्यभिज्ञात्वप्रतिपादनार्थं न परिगणनार्थम्, इतरथा *"मतिस्मृति-" [त० सू० १।१३] इत्यादि सूत्रम् अध्यापम्
२० (अन्याय्यं) भवेत्।

स्यान्मतम्, घटभूतलयोः अन्योन्यविवेकस्य तत्प्रत्यक्षाभ्यां गोगवययोः सादृश्यवत् प्रतीतौ पुनः तत्प्रत्यवमर्शः प्रत्यभिज्ञानं भवेत्, न चैवं मानसनास्तिताज्ञानादेव तत्प्रतीतेः। तथा चोक्तम्-

*"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः।
भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि॥"
२५ [मी० श्लो० अभावप० श्लो० १८] इति चेत्;

तन्न युक्तम्; भावांशवद् इतरस्यापि प्रत्यक्ष एव। प्रतियोगिनः सर्वान्यसंसृष्टस्य स्मरणे न कश्चित् प्रतिषेधः, अभ्युपगमबाधनात्। तदसंसृष्टस्य स्मरणं तथा पूर्वमनुभवे, अन्यथा अति-

(१) उपमानादिज्ञानम्। (२) अवग्रहाद्यात्मकत्वात्। (३) मतिज्ञाने। (४) पुरुषस्य। (५) उत्पद्यन्ते। (६) उपमानम्। (७) सर्वतो व्यावृत्तस्य। (८) प्रत्यभिज्ञानत्वोपगमात्। (९) सादृश्यनिबन्धना, एकत्वविषया च। (१०) शुद्धभूतलं वस्तु। (११) यस्य अभावः क्रियते सः प्रतियोगी तम्। (१२) प्रत्यभिज्ञानत्वस्वीकारात्। (१३) घट-भूतलग्राहिप्रत्यक्षाभ्याम्। (१४) अभावप्रतीतेः। (१५) अभावस्यापि। (१६) प्रतीतेः।

प्रसङ्गः। तत्रापि तदन्यप्रतियोगिस्मरणात् तथाप्रतिपत्तौ अनवस्था। घटविविक्तभूतलस्मरणादिति चेत्; अन्योऽन्यसंश्रयः, ततो यत्किञ्चिदेतत्। तथा अवग्रहादिमतिस्मृतिसंज्ञाभ्यो जायमानं ज्ञानं चिन्तात्मकत्वात् तत्प्रभेदलक्षणं न योगिप्रत्यक्षम्, तस्य तद्विरोधात्।

एतेन 'मानसं प्रत्यक्षं तत्[४]' इति निरस्तम्। चक्षुरादिप्रत्यक्षसामग्रीतो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च[५]। तथापि तत्त्वे अतिप्रसङ्गः। ५

तद्वत् चिन्ताप्रभवत्वाद् अर्थापत्तिरपि प्रसिद्धा [१७९क] अनुमानवत् तत्प्रभेदलक्षणम्[६] अभिनिबोधात्मकत्वात्।

स्यान्मतम्–एकत्वप्रत्यवमर्शः प्रत्यभिज्ञानम्, न सादृश्यादिप्रत्यवमर्शस्य तत्प्रभेदलक्षणे अन्तर्भाव इति चेत्; अत्राह–**द्रव्य** इत्यादि। अस्यायमर्थः–यस्मात् तदेतद् विज्ञानं परेण उच्यमानं **द्रव्यपर्यायविषयं सामान्यविशेषविषयं च** तस्मात् यथोक्तं (तथोक्तम्)। सामान्यं हि १० सादृश्यमेव तद्विषयं च ज्ञानं [७]परेणापि प्रत्यभिज्ञानमिष्यते इति मन्यते। किं सर्वं तन्न लक्षणं (तत्तल्लणम ?) न इत्याह– **प्राग् अभिलापसंसर्गात्** इति। गवयादिशब्दयोजनात् [प्राक्] यज्जायते उपमानादिज्ञानं तत्[८] न पुनः 'सोऽयं गवयशब्दवाच्यः' इत्यादि ज्ञानम्[९] इति भावः। न केवलं तत् तल्लक्षणमेव किन्तु प्रमाणमपि इति दर्शयन्नाह–**प्रमाणम्। च** शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। कुतः ? **अविसंवादात्**। अन्यदपि ज्ञानं तत्प्रभेदलक्षणं दर्शयन्नाह–**तद्** इत्यादि। तस्माद् १५ उक्ताद् उपमानादेः **विपरीतं** 'गोरिव गवयः' इत्याद्यागमाहितसंस्कारस्य[१०] 'शाखादिमान् वृक्षः क्षीराम्भःप्रविवेचनतुण्डो हंसः' इत्याद्यागमाहितसंस्कारस्य च नैयायिकाद्युपमानादिज्ञानं तदपि द्रव्यादिविषयं सत् [११]**तत्प्रभेदलक्षणं प्रमाणं वादादिति (णमविसंवादादिति)** सम्बन्धः।

साम्प्रतमप्रमाणं दर्शयन्नाह–**मिथ्याऽज्ञानम्** इति। **मिथ्या** 'अवग्रहादिमतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकं ज्ञानम्' इति **अज्ञानम् अप्रमाणम्** प्रमाणं न भवति 'मत्यज्ञानत्वात्' इति २० द्रष्टव्यम्। अत्र निदर्शनमाह–**यथा** इत्यादि। **एकान्तस्य विषयस्य** सम्बन्धि **दर्शनाऽनुमानादिकम्** आदि [१७९ख] शब्देन आगमपरिग्रहं तद्यथेति (हः तदिवेति)। **अन्यद्वा** स्वप्नादिज्ञानं वा। अनेन लौकिकशास्त्रीयदृष्टान्तद्वयं दर्शयति।

यदि वा, अन्यथा पूर्वपक्षयित्वा एतद् ज्ञातव्यम्, तद्यथा पूर्वप्रस्तावद्वये यदवग्रहादिधारणापर्यन्तं ज्ञानं चिन्तितम्, यच्च '**प्रमाणम् अविसंवादिस्मृतिः**' इत्यादिना स्मरणम् अस्मिन्[१२], २५ चतुर्थप्रस्तावे प्रत्यभिज्ञानं निरूपयिष्यमाणम्, तत्रैव[१३] लेशतः क्रमप्राप्तप्रस्तावनवशेन "**भूताभव्याः**" [१४]इत्यादिना पूर्वं चिन्तितं [तर्क] ज्ञानम्, षष्ठे चिन्तयिष्यमाणम् अनुमानं च, [१५]पंचसु ज्ञानेषु क अन्तर्भाव्यतामिति ? तत्राह–**तदेतद्** इत्यादि। **तदेतत्** निरूपितं निरूपयिष्यमाणं च।

---

(१) असंसृष्टत्वप्रतिपत्तौ। (२) घटविविक्तभूतलस्मरणाद् घटस्य भूतलासंसृष्टताप्रतिपत्तिः, घटस्य भूतलासंसृष्टताप्रतिपत्तौ च घटविविक्तभूतलस्मरणमिति। (३) मतिप्रभेदात्मकम्। (४) अभावज्ञानम्। (५) न तत् प्रत्यक्षात्मकम्। (६) मतिज्ञानप्रभेदलक्षणम्। (७) मीमांसकादिनापि। (८) मतिज्ञानम्। (९) एतत्तु श्रुतमेव। (१०) पुंसः। (११) मतिज्ञानप्रभेदलक्षणम्। (१२) तृतीयप्रस्तावे। (१३) तृतीयप्रस्तावे। (१४) पृ० १८७। (१५) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानेषु।

किम् ? **ज्ञानम्** । तत् किम् ? इत्याह–**[मति]ज्ञानप्रभेदलक्षणं** मतिज्ञानाऽन्तर्भूतमित्यर्थः । किम्भूतम् ? इत्याह–**अवग्रहादि** इत्यादि । पुनरपि कथंभूतम् ? इत्याह–**द्रव्य** इत्यादि । किं सर्वम् ? न, इत्याह–**प्राग्** इत्यादि । तत्संसर्गाद् ऊर्ध्वं 'श्रुतम्' इति मन्यते ।

ननु च पूर्वम् अत्र अन्यत्र च स्मरणादि सर्वं 'श्रुतम्' इत्युक्तम्, तत्कथन्न विरोध इति ५ चेत् ? न विरोधः, मुख्यश्रुतसाधर्म्याद् उपचारेण तथाभिधानात् । तच्च प्रमाणम् । कुतः ? **अविसंवादात्** । सर्वं तर्हि तदात्मकं ज्ञानं तल्लक्षणं प्रसक्तम् ; इत्याह–**तद्विपरीतम्** इत्यादि । **तत्** तस्मात् द्रव्यादिविषयात् तदात्मकाज्ज्ञानाद् **विपरीतं** विलक्षणं 'ज्ञानम्' इत्यनुवर्तते **मत्यज्ञानं** मतिज्ञानं न भवति । कुतः ? **अप्रमाणं** यतः द्रव्यादिविषयं न भवति इत्यभिप्रायः । शेषं पूर्ववत् ।

क्वचित्पुस्तके–*"**प्रमाणमेक**[१८०क] **मध्यक्षमगौणमपरे विदुः**" इत्यादि सकलं १० चू र्णि प्र क र ण मस्ति, तत् कैश्चिन्न व्याख्यातं, वद्गल्लं (?) पौनरुक्त्यस्य अप्रस्तुताभिधानस्य च तत्र भावात् ।

ननु यदुक्तम्–'**मतिज्ञानप्रभेदलक्षणं ज्ञानं प्रमाणम् अविसंवादकत्वात्**' इति; तदयुक्तम्; क्वचिद् अ[वि]संवादाभावात् । तथाहि–[न] दृष्टस्य पुनः प्राप्तिः अस्ति, भवतु वा सा स्वप्नेऽप्यस्ति । यदि पुनरसौ न तत्प्राप्तिः, कथम् अन्या ? विशेषाऽभावात् । अथ अर्थदर्शनम् १५ अविसंवादो न तत्प्राप्तिः; इदमपि तादृगेव, विप्लवेऽपि अस्य भावात् । अथ अर्थतद्व्यवस्था विपक्षवत्; तत्प्रतीतिश्च प्रत्यक्षतः अनुमानतो वा गत्यन्तराभावात् ? परपर्यनुयोगोऽपि नातो युक्तः असम्बद्धप्रलापित्वप्रसङ्गात् । भवतु तत एव सा इति चेत्; दृश्यते (उच्यते)–

[ज्ञानी येनातिशेते भवभृतमितरं तत्प्रमाणं समन्तात्,
हेयोपादेयसिद्धौ न पुनरनुभवोऽभूतकल्पोऽविकल्पः ।
२० **स्यात्प्रत्यक्षस्मृत्यभिज्ञा स्वपरविषयतर्कानुमात्मा मतिः,**
चिन्ताऽचिन्त्यात्मिकेयं कलयति विषयादन्यमन्यत्र सिद्धौ॥२४॥]

ज्ञानी प्रत्यक्षादिज्ञानवान्, **येन** प्रत्यक्षादिज्ञानेन **अतिशेते** विजयते, अन्येन तदतिशायनाऽयोगात् ज्ञानेन इति लभ्यते । कमतिशेते ? इत्याह–**भवभृतम्** अविद्याविलासिनीदर्शिताऽनेकजन्मादिविभ्रमप्रपञ्चम् । कथंभूतम् ? इत्याह–**इतरम्** अज्ञानिनं विभ्रमान्ये (मात्तम् २५ ए)कान्ततत्त्वे विपर्यासान[ध्य]वसायोपपन्नं नैयायिकादिकम् । तत् किम् ? इत्याह–**तद्** इत्यादि । स येन तम् अति [शेते] तत् 'तत्' इत्यनेन परामृश्यते, **तत्प्रमाणम्**, अन्यथा कुतस्ततः स्वेष्टसिद्धिः बहिरर्थवदिति मन्यते । किमर्थम् ? इत्यत्राह–**समन्तात्** इत्यादि । **समन्तात्** सर्वतो **हेयं** यत्तत्त्वं सत्येतरप्रविभागलक्षणं यच्च **उपादेयं** विभ्रमाद्य(द्ये)कान्तरूपं तयोः **सिद्धौ** तत्सिद्धिनिमित्तम् । एतदुक्तं भवति–यदि न किञ्चित् प्रमाणम् कुतः अभि- ३० मत[१८०ख]सिद्धिः ? तदस्ति चेत्; साकल्येन प्रमाभङ्गविधानविरोधः इति ।

---

(१) शब्दसंसर्गात् । (२) श्रुतत्वाभिधानात् । (३) व्याख्यातृभिः । (४) अर्थप्राप्तिः । (५) मिथ्याज्ञानेऽपि । (६) प्रमाणमस्ति ।

अपरस्तु आह–न किञ्चिद् विज्ञानं प्रमाणम् नाप्यप्रमाणं सकलविकल्पातीतत्वात् तत्त्वस्य[1], तस्य च स्वसंवेदनाध्यक्षप्रमाणतः सिद्धेः, नापि प्रमाभङ्गविधानविरोधः बहिः तद्विधानात्[3] इति। तत्राह–**न पुनः** इत्यादि। **न पुनः** नैव **अनुभवः** 'प्रमाणम्' इति सम्बन्धः। क? इत्याह–**हेयोपादेयसिद्धौ** हेयं सकलविकल्पतत्त्वं उपादेयं तद्रहितं[4] संवेदनमात्रम्, तत्सिद्धौ इति। किंभूतोऽनुभवः? इत्याह–**अविकल्प** इति। न विद्यते सत्येतरादिविकल्पो भेदो यस्य स ५ तथोक्तः। कुतः? इत्यत्राह–**अभूतकल्प** इति। अभूतम् अजातं कुतश्चित् कारणात् ब्रह्मादि तत्त्वं नित्यं तत्समानः। एतच्च विशेषणमपि हेतुत्वेन द्रष्टव्यम्–अभूतकल्पत्वाद् इति। कथमभूतकल्प इति चेत्? उच्यते–यथैकस्य अनेकात्मताभयात् नीलादिसुखादिभ्यो व्यतिरिच्यमानशरीरं सर्वसंख्यातीतं केनचिद् ब्रह्मतत्त्वमिष्यते[5] तथा तत एव संवेदनतत्त्वं तथाविधं निरंशं क्षणिकं सौगतेन अभ्युपगन्तव्यम्, तद्वदेव। तच्च न स्वपरव्यवस्थाहेतुः इति न प्रमाणमिति। १०

ननु न मया परेण वाऽदृष्टमेवं तदभ्युपगम्यते येनायं दोषः स्यात्, अपि तु यथाप्रतिभासमिति चेत्; अत्राह–**प्रत्यक्ष** इत्यादि। **प्रत्यक्षं** अवग्रहादिधारणापर्यन्तम्, अस्यैव प्रकृतत्वात् **स्मृतिश्च अभिज्ञा** च, **स्वं** च **परश्च** स्वपरौ तौ **विषयौ** यस्य स तथोक्तः, स चासौ **तर्कश्च** स च **अनुमा** च ता **आत्मानो** यस्याः सा तथोक्ता **मतिः स्याद्** भवेत् '**प्रमाणम्**' इति [१८१क] सम्बन्धः। अनेन एतत् कथयति–यदि यथाप्रतिभासं संवेदनं प्रमाणमिष्यते; तर्हि यथोक्ता मतिः प्रमाणयितव्या तस्या[10] एकत्र दर्शनादिप्राप्तिपर्यन्तव्यवहारोपयोगित्वेन प्रतिभासनात्। अथ अतिसूक्ष्मपरीक्षया व्यवतिष्ठमानं तद् ब्रह्म न किञ्चिद् व्यस्यात् (व्यवस्येत्) परस्य गत्यन्तराभावात् इति। १५

ननु स्वपरशब्देन किमर्थं **तर्क** एव विशेष्यते नान्यत् प्रत्यक्षादिकम्, तदपि [11]तथाविधमेव जैनस्येति चेत्; सत्यम्; यस्तथा नेच्छति तं प्रति तस्य तथाविधप्रसाधनाय तर्को दृष्टान्तीकर्तुं २० तथा विशेष्यते। यथा तर्कः स्वपरविषयः [12]ततः साकल्यव्याप्तिं साध्यसाधनयोः परेण इच्छता अभ्युपगम्यते तथा प्रत्यक्षादिकमभ्युपगन्तव्यमिति निराकृतमेतत्–*"**नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति**" [प्र० वा० ३।३२७] इत्यादि[13]। कथं तर्कस्तद्विषयः[14]? इत्यत्राह–**चिन्ता** इत्यादि। **चिन्ता** इति तर्कस्य संज्ञा [15]पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या। **चिन्ता** तर्कोऽ**चिन्त्यात्मिका** अचिन्त्यः कथमेवं विवे(विधे)यम् इत्यविचार्यः आत्मा स्वभावो यस्याः सा तथोक्ता **इयं** प्रत्यनुमातृ प्रत्यक्ष- २५ प्रमाणपरिच्छेद्या। कुतः **अचिन्त्यात्मिका**? इत्यत्राह–**कलयति** इत्यादि। **कलयति** अध्यवस्यति यतः। किम्? **अन्यम्** अर्थान्तरम्। कुतोऽन्यम्? इत्याह–**विषयात्** प्रत्यक्षादि-

(१) "तस्मान्न परमार्थतः किञ्चिदस्तीत्यस्तु यथा तथा संवृत्या एतावतापि प्रमाणाप्रमाणव्यवस्थितिर्न काचित् क्षतिः। अभिप्रेत एव भवत्पक्षोऽस्माकमिति न वस्तुतत्त्वमतिक्रम्य वर्तितुं शक्यम्।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १८६। (२) संवेदनाद्वैतस्य। (३) प्रमाणादिनिषेधकरणात्। (४) सकलविकल्पातीतम्। (५) अद्वैतवादिना। (६) एकस्य अनेकात्मकताभयात्। (७) अद्वैतवादिना। (८) सौगतेन। (९) अदृष्टम्–अप्रामाणिकम्। (१०) मतेः। (११) स्वपरविषयकमेव। (१२) तर्कात्। (१३) "तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥" इति शेषः। (१४) स्वपरविषयः। (१५) उमास्वामिना तत्त्वार्थसूत्रादौ निर्दिष्टा।

गोचरान् अन्यं परोक्षमित्यर्थः । क ? इत्यत्राह–**अन्यत्र** स्वदेशाद् अन्यदेशे, उपलक्षणमेतत् तेन अन्यदा च इति गृह्यते । किमर्थं कलयति ? इत्याह–**सिद्धौ** निर्णीतौ अन्यस्य अन्यत्र सिद्धिनिमित्तमित्यर्थः । अस्याऽनभ्युपगमे साकल्येन हेतोः साध्येन व्याप्तेरसिद्धेः–*"**यदवभासते तत् ज्ञानं यथा सुखादि**" [११८ख] इत्याद्यनुमानं प्रतिहतप्रसरं भवेत् । न च
५ स्वांशमात्रावलम्बिना *"**जडस्य प्रतिभासायोगात्**" इत्यादिना विचारेण तत्सिद्धिः, अन्यथा नीलज्ञानात् पीतादिसिद्धिः स्यादित्यलं प्रसङ्गेन ।

अथवा, सविकल्पकप्रत्यक्षपक्षे स्मृतेर्गृहीतग्राहकत्वेऽपि '**न प्रयोजनविशेषात्**' इत्यादिना प्रामाण्यं व्यवस्थाप्य संप्रति परपक्षोक्तं तस्यै गृहीतग्राहित्वं निराकुर्वन्नाह–**ज्ञानी** इत्यादि । ज्ञानी सचेतनो **येन** स्वभावेन **अतिशेते** । किम् ? इत्याह–**इतरम्** अचेतनं घटादिकम् , येन
१० स्वभावेन ततो भिद्यत इत्यर्थः । ननु स्वग्रहणविमुख्येन अर्थग्रहणात्मना धर्मेण तम्[४] अतिशेते स इति, सोऽपि धर्मः प्रमाणं स्यादिति चेत् ; अत्राह–**भवभृतम्** इति । **न** शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, भवभृतं च महेश्वरपोषकं नैयायिकादिकं **तत्** प्रमाणं स्वपरव्यवसायज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः । किमर्थम् ? इत्याह–**समन्तात्** इत्यादि । व्याख्यातमेतत् । अविकल्पानुभवेन मतं (स तम्[५]) विजयते अतः स प्रमाणम् , इत्यत्राह–**न पुनः** इत्यादि । **अभूतकल्पः** अभूतोऽजातः खरवि-
१५ षाणादिः ईषदसिद्धः, अभूतकल्पः **अविकल्पो**ऽनुभवः न प्रमाणम् नार्थपरिच्छेदकः । प्रयोगः– अविकल्पोऽनुभवः न कस्यचिद् ग्राहकः, असत्त्वात् , गगनकुसुमवत् इति । अतः कथं तद् गृहीतं किञ्चिद्[६] विज्ञानं गृह्णीति, (गृह्णाति) नान्यथा सोऽपि अन्यगृहीतं गृह्णाति इति स्यात् तदन्यवत् । अविकल्पानुभवस्यापि नानुभवः; तदनुभवस्य अप्रमाणत्वे [१८२क] न किञ्चित् प्रमाणं भवेत् । अन्यस्य कस्यचिदनुपलम्भेन असत्त्वाद् इत्यपरः । तं प्रत्याह–**प्रत्यक्ष** इत्यादि ।
२० विवृतम् , अस्याः प्रतिभासादिति मन्यते । निर्विकल्पानुभूतविषयत्वात् स्मृतिः अप्रमाणमिति ।

अत्रैव दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–**चिन्ता** इत्यादि । **चिन्ता** परकीया **इयं** गृहीतग्राहिज्ञानं सर्वं प्रमाणम् इत्येवं रूपा[ऽ]चिन्त्यमानेत्थम्[ऽ]चिन्त्यस्वभावा मानत्राणरहितातायाः भर्तृत्राणहीनायाः कुलयोषित इव तद्रूपत्वात् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**कलयति** इत्यादि । **अन्यत्र** अन्यस्याः **सिद्धौ** गृहीतौ, **अन्यत्र** इति वचनात् 'सूरेर्मनसि काचिद् विवक्षिता
२५ सिद्धिर्वर्त्तते इति गम्यते । **अन्यत्र** इत्यस्य संबन्धिशब्दात् (त्वात्) ततो विवक्षितसिद्धिविषयाद् **अन्यं** विषयान्तरम् एकान्तेन **कलयति** अध्यवस्यति यतः, न चैवमस्ति इति मन्यते । देशादिभेदेन एकत्रार्थे अनेकसिद्धिसंभवात् , न च सा प्रमाणं ततोऽप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । क्षणिकत्वादर्थस्य नैवं चेत् ; न; अत्र प्रमाणाभावात् । पूर्वोत्तरयोः मध्ये तस्यै च तत्रै[१०] अनुपलब्धिः प्रमाणमिति चेत् ; न; अस्याः क्षणिकनिरंशपरमाणुतत्त्वैकान्ते सर्वथाऽसिद्धेः युगपत् स्वावयवात्मक-
३० घटादितत्त्वसमयेऽपि[११] नितरां तत्र प्रत्यक्षाद्यात्मिकायाः मतेः प्रमाणत्वात् ।

(१) संवेदनाद्वैतसिद्धिः । (२) पृ० १७५ । (३) स्मरणस्य । (४) अचेतनम् । (५) अचेतनम् । (६) निर्विकल्पकगृहीतम् । (७) वस्तु । (८) अकलङ्कदेवस्य । (९) मध्यस्य क्षणस्य । (१०) पूर्वोत्तरयोः । (११) जैनमतेऽपि ।

यदि वा, अन्यथा पूर्वपक्षयित्वा इदं वृत्तं व्याख्यातव्यम् । ननु प्रत्यक्षमेव एकं प्रमाणम् तत्किमर्थं तदनन्तरं स्मरणादि प्रमाणत्रयमत्र चिन्त्यते इति चेत्; अत्राह–**ज्ञानी** इत्यादि । **ज्ञानी** परीक्षावान् स्वयं [१८२ख] चार्वाको **येन** अनुमानज्ञानेन **अतिशेते** । कम ? इत्याह– **भवभृतम्** भवः संसारः तं बिभर्ति पुष्णाति समर्थयत इति भवभृत् जैनादिः तम्, इतरवत् निषेधकम् स्वशिष्यादिकम् **अतिशेते** ततो विशेषं लभते । तदनुमानज्ञानं प्रमाणं किमर्थम् ? ५ इत्याह–**समन्ताद्** इत्यादि । **समन्तात्** साकल्येन **हेयस्य** परलोकदेवताविशेषधर्माऽधर्म-प्रमाणान्तरादेः **उपादेयस्य** भूतचतुष्टयपरचैतन्य-मुख्यप्रत्यक्षप्रमाणादेः **सिद्धौ** निर्णीतिनिमित्तम् ।

ननु प्रत्यक्षानुभवादेव तत्सिद्धिः इति स एव प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**न पुनः** इत्यादि। **न पुनः** नैव **अनुभवः** प्रत्यक्षज्ञानं प्रमाणं '**हेयोपादेयसिद्धौ**' इत्यनुवर्त्तते । किंभूतः ? **विकल्पः निर्णयात्मा** परापेक्षया इदमुक्तम् । पुनरपि किंभूतः ? इत्याह–**भूतकल्प** इति। १० भूतानि पृथिव्यादीनि तत्कल्पः तत्सदृशः । एतदुक्तं भवति–यथा पृथिव्यादीनि भूतानि स्वयम् अचेतनानि न हेयोपादेयसिद्धौ प्रमाणम्, अन्यथा ज्ञानकल्पनमनर्थकं स्यात्, तथा अनुभवोऽपि तदुपादानतया स्वयमचेतनो न तत्र प्रमाणम् । न खलु अचेतनोपादानं चेतनं युक्तम्, इतरथा अचेतनात् मृत्पिण्डात् चेतनो घटः स्यात् । तथा च प्रयोगः–यदचेतनोपादानं न तत् चेतनं यथा घटादि, अचेतनतोपा(नोपा)दानं च परस्य ज्ञानमिति । ननु तदुपादानत्वेऽपि तस्य चिद्रू- १५ पतया प्रतीतेः प्रत्यक्षबाधितः पक्षः इति चेत्; मृत एव विज्ञानात् तस्य तथात्वप्रतीति गस्त्य-त्तावदेतत् (रास्तां तावदेतत्) चतुर्थपरिच्छेदे [१८३क] निरूपयिष्यामाणत्वात् । यदि वा भूतानि कल्प्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते विपर्याक्रियन्ते येन स **भूतकल्प** इति व्याख्येयम् । न च तस्य तत्सिद्धौ सामर्थ्यं परलोकादेः अतद्विषयत्वात् । नापि यद् यद्विषयं न भवति तत्तस्य निषे-धकं व्यवस्थापकं वा अतिप्रसङ्गात् । २०

ननु भवतु अनुमानं प्रमाणम्, तथापि प्रकृते क उपयोग इति चेत् ? अत्राह–**प्रत्यक्ष** इत्यादि । व्याख्यातमेतत् । अत्रायमभिप्रायः–अनुमानं प्रमाणमिच्छता पूर्वं लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनम्, पुनः क्वचित् प्रायो लिङ्गदर्शनम्, सम्बन्धस्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानम्, तर्कः, पुनः अनुमानमित्यभ्युपगन्तव्यम् । अनुमानवच्च स्वविषयस्मृत्यादिकमपि प्रमाणमिति चेति ।

ननु च प्रत्यक्षेण लिङ्गलिङ्गिनोः साकल्येन सम्बन्धप्रतिपत्तौ प्रतिपत्तुः सर्वज्ञत्वम्, तेनैव २५ अनुमानेन प्रतिपत्तौ अन्योऽन्यसंश्रयः, तदन्तरेण अनवस्था, तत्कथं सम्बन्धप्रतिपत्तिः यतोऽनुमा-नमिति चेत्; अत्राह–**चिन्ता** इत्यादि । **चिन्ता** इत्यन्वर्थसंज्ञाकरणात् तर्कस्य मानसविकल्प-त्वोपवर्णनम्, प्रत्यक्षत्वनिषेधे तेन साकल्यव्याप्तिं प्रतिपद्यमानस्य जैनस्य सर्वज्ञत्वं नाऽनिष्टाय अभ्युपगमात् इति दर्शयति अनेन । तदुक्तम्–

(१) चार्वाकः । (२) भूतचतुष्टयात्मकं यत् परचैतन्यम् । (३) अनुभव एव । (४) भूतोपादनतया । (५) चार्वाकस्य । (६) ज्ञानस्य । (७) प्रत्ययस्य । (८) सिद्धे सम्बन्धे अनुमानोत्थानम्, तस्मिंश्च सम्बन्धसिद्धिः । (९) अनुमानान्तरेण व्याप्तिप्रतिपत्तौ । (१०) मानसविकल्पेन ।

*"अशेषविदिहि क्ष्य(विदिहेक्ष्य)ते सदसदात्मसामान्यवित् ।
जिन प्रकृतमानुषोऽपि किमुत अखिलज्ञानवान् ॥"
[पात्रकेसरिस्तोत्र श्लो० १९] इति ।

'अचिन्त्यात्मिका' इत्यनेन च विषयोत्पत्तिसारूप्ययोः लिङ्गाश्रितत्वस्य च अभा-
५ वेऽपि योग्यतया स्वविषयपरिच्छेदान्न तत्पक्षभावी दोषः । **'इयम्'** इत्यनेनापि तस्याः प्रत्यात्म
स्वसंवेदनाध्यक्षवेद्यतया निषेधने[2] प्रत्यक्षबाधनम । [१८३ख] सा किं करोति ? इत्याह—**कल-**
यति साकल्येन अवधारयति । किम ? **अन्यं** साधनं साध्यात् तस्य अन्यत्वात् । किम् ?
अर्थसिद्धौ सिद्धिनिमित्तम । क ? **अन्यत्र** । साधनात् **अन्यत्** साध्यं तत्र अनुमाननि-
मित्तमिति यावत । कुतः ? इत्याह—**विषयात्** इति । यथा 'मातरि वर्त्तितव्यम्, पितरि
१० शुश्रूषितव्यम' इत्युक्ते 'स्वस्यां स्वस्मिन्' इति गम्यते तथा **'विषयात्'** इत्युक्तेऽपि
'स्वविषयाद् अन्यथानुपपन्नत्वलक्षणान' इति गम्यते इति ।

इति रविभद्रपादकञ्जभ्रमर अनन्तवीर्यविरचितायां
सिद्धिविनिश्चयटीकायां प्रमाणान्तरसिद्धिः तृतीयः प्रस्तावः ॥छ॥

---

(१) हे जिन, यदा सामान्यमनुष्योऽपि सत्त्वसामान्येन सर्वं वस्तुजातं जानन् सर्वज्ञो भवति तदा अखिलज्ञानवान् यदि सर्वज्ञो भवेत् किमत्र चित्रम् । (२) यदि निषेधः क्रियते तदा ।

[चतुर्थः प्रस्तावः]

[४. जीवसिद्धिः]

एवं तावत् *"प्रमाणस्य साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः" [1]इत्यपेक्ष्य स्मरणं प्रमाणान्तरं सप्रपञ्चं चिन्तितम्। साम्प्रतम्–*"पूर्वं पूर्वं प्रमाणं स्यात् फलं स्यादुत्तरोत्तरम्" [लघी० श्लो० ७] इत्यभिसमीक्ष्य तदेव प्रत्यक्षा (प्रत्यभिज्ञा) फलजननात् चिन्तयितुं प्रत्यभिज्ञानं च आत्मसिद्धिपुरस्सरं तर्कजननात् प्रज्ञावादो (प्रस्तावादौ) **विज्ञानान्** इत्यादि (इत्याह)–

> **[विज्ञानान् विषयानशेषकरणैः स्मृत्वा मनोऽभिज्ञया ,** ५
> **तर्कं तर्किनगोचरैंतरविधिं नीत्वाऽभितो बुध्यते ।**
> **श्रोत्रादिसमुपेतमेव विषयीकुर्वीत चक्षुर्न वै,**
> [3]**पश्यत्येव हि सान्तरं पृथुतरं रश्मेः कुतो निःसृतिः ॥१॥]**

मन्यते बुध्यते अर्थान् इति **मनः** आत्मा। स किं करोति ? इत्याह–**बुध्यते** जानाति, न निरन्वयज्ञानसन्तानः प्रकृतिपरिणामो[4] व्यवसायः पृथिव्यादिर्वा[5] इति मन्यते। न चेदमत्र १० मन्तव्यम् 'सुखादिव्यतिरेकेण नात्मा अस्ति तत्कथमसौ बुध्यते' ? सुखादेः आत्मत्वेऽविप्रतिसारं[6] इति कुतः ? *"प्रत्यक्षं क्षणिकं विचित्रविषयाकारैकसंवेदनम्" [सिद्धिवि० २।३] इत्यादिना तद्व्यवस्थापनात्। वक्ष्यति च तत्सिद्धिम् [१८४क] अनन्तरमेव। किं बुध्यते ? इत्याह–**विषयान्** इति। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थान् न विषयार्पितस्वाकारान्। ततो यदुक्तं केनचित्–*"**येन वेद्यते तत्ततो न भिद्यते यथा तस्यैव वेदकस्य स्वरूपम्, वेद्यते च** १५ **आत्मना नीलादिकम्**" इति; तदनेन निरस्तम्; पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनात्, वेदकस्य अहमहमिकया [7]अन्यत्र [8]अन्यत्र च घटादेर्दर्शनात्, [9]इतरथा 'कोकिलकुलं धवलं पक्षित्वाद् बलाकावत्' इत्यपि स्यात्। अथ कथम् आत्मा [10]ततो भिन्नः अतदायत्तस्तात्त्वेत्ति (तस्तस्वतोऽस्ति)? तथादर्शनात्, कथमन्यथा अर्थस्तथाविधः [11]तज्जनकः? योग्यता अन्यत्रापि न वार्यते। शेषमत्र चिन्तितम्।

एतेन यदुक्तं सांख्येन–*"**इन्द्रियाणि अर्थमालोचयन्ति, अहङ्कारोऽभिमन्यते, मनः** २० **संकल्पयति, बुद्धिः अध्यवस्यति पुरुषश्चेतयते**" इति[12]; तन्निरस्तम्; बुद्ध्याकारवद् विषय-

(१) पृ० १२। (२) स्वरचितलघीयस्त्रये उक्तम्। (३) तुलना–"सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च। अधिष्ठानाद्बहिर्नाक्षं न शक्तिर्विषयेक्षणे ॥२०॥ सर्वार्थसम्प्रयोगे तु सान्तराधिकयोर्ग्रहः। यो दृष्टश्शब्दरूपाभ्यां बाध्यते स निरन्तरम् ॥४१॥"–प्र० समु० १।२०, ४१। (४) सांख्यसम्मतः। (५) चार्वाकाभिमतः। (६) निर्बाधता। "पश्चात्तापोऽनुतापश्च विप्रतीसार इत्यपि"–अमरकोशः। "तत्र विदूषणसमुदाचारोऽकुशलं कर्माध्याचरति तत्र तत्रैव च विप्रतिसारबहुलो भवति।"–शिक्षासमु० पृ० १६०। न विप्रतिसारः अविप्रतिसारः, दोषरहित इत्यर्थः। (७) अन्तः। (८) बहिः। (९) प्रत्यक्षबाधितस्यापि साध्यत्वे। (१०) ज्ञानात्। (११) ज्ञानजनकः। (१२) "एवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा–चक्षू रूपं पश्यति, मनः संकल्पयति, अहङ्कारोऽभिमानयति, बुद्धिरध्यवस्यति।"–सांख्यका० माठर० ३०।

स्येव (स्यैव) साक्षाद् वेदनसद्भावात् । कश्चायं नियमः–बुद्धिः तदनु(भव)मन्तरेण दृश्यते न विषय इति । न च [1]तस्यामज्ञातायाम [2]आदर्शवन्न(वन) तत्प्रतिबिम्बवेदनमिति । ननु यदि सत्तामात्रेण [3]स तानु (तान)[4] बुध्यते; तर्हि तद्विशेषान् सर्वः सर्वदर्शी स्यादिति चेत्; अत्राह–**अभिज्ञया** इति प्रत्यभिज्ञानेन ।

५ स्यान्मतम्–'तदेवेदम्' इति [ज्ञान]मभिज्ञा; तत्र 'तद्' इति स्मरणोल्लेखः, 'इदम्' इति च वर्तमानोल्लेखः, न चापरं[5] ज्ञानमस्ति यत् प्रत्यभिज्ञाभिधानं स्यादिति; तदसारम्; यतः प्रतिपरमाणुनियतस्य वेदनस्य पूर्वमेव निषेधात् । प्रत्यक्षस्य स्मरणस्य वा उल्लेखः, खरविषाणोल्लेखः, युगपत् चित्रैकसंवेदनाभ्युपगमः, पूर्वापर[१८४ख]पर्यायग्रहणोल्लेखद्वयमुल्लिखन्तीं प्रत्यभिज्ञामेकां समर्थयते । सापि प्रमाणम् । तथा च प्रयोगः–येन ज्ञानेन आत्मा विषयान् बुध्यते [तत्

१० प्रमाणम्, यथा घटादिज्ञानम्, बुध्यते] च सः प्रत्यभिज्ञानेन विषयान् इति । अथ मतं यद्यसौ गतो[9] [10]तया बुध्यते, तर्हि अदृष्टपूर्वस्यापि भावस्य पूर्वापरपर्यायैकत्वं प्रथमदर्शन एव तया स बुध्येत इति; तदपि न युक्तम्; इत्याह–**विज्ञानात्** इति । कैः ? इत्यत्राह–**अशेषकरणैः** सन्निहिते बीजपूरकादौ यानि रूपरसगन्धस्पर्शविषयाणि अशेषाणि समस्तानि करणानि चक्षुरादीनि, ज्ञानानि वा [11]कार्ये कारणोपचारात्, यदि वा पूर्वं यानि वृत्तानि[12] यानि च पश्चात् प्रवर्त्तन्ते तान्यशेषकरणानि

१५ तैः इति । नन्वेवं विज्ञातविज्ञानाद् अभिज्ञा प्रमाणं न स्यादिति चेत्; अत्राह–**न किं ते (तर्कित)** इत्यादि । **न किं तम् (तर्कितम्)** ऊहितम् यद् अवग्रहादि तस्य गोचरो विषय **इतरो विधिः** स्वभावः, 'स्वकारणैर्विधीयते इति विधिः' इति व्युत्पत्तेः तं **नीत्वा 'विषयान्'** इति वर्त्तते । तथाहि–चक्षुषा बीजपूरादेः एकस्य स्थवीयसो रूपात्मकस्य ग्रहणेऽपि न सोघ्राकस्य (रसाघ्रात्मकस्य) ग्रहणम्, रसवा(घ्रा)दिनोऽपि तस्य रसाघ्रात्मकस्य वेदनेऽपि न रूपात्मकस्य वेदनम्,

२० तथा पूर्वदर्शनेन पूर्वपर्यायविशिष्टस्य अवसायेऽपि नोत्तरपर्यायविशिष्टस्य अवसायः, नापि अपरपर्यायावग्रहेण पूर्वदशाविशिष्टस्य अवग्रह इति, प्रत्यभिज्ञया तु उभयावस्थाविशिष्टो बुध्यते इति नैकान्तेन गृहीतग्राहित्वमिति भावः । ननु यदि पूर्वेण उत्तरेण वा दर्शनेन कस्यचिद् [13]एकत्वं प्रतिपन्नं [१८५क] स्यात् युक्तं प्रत्यभिज्ञया तस्य[14] ग्रहणं दर्शनानुसारित्वादस्याः[15] । न च पूर्वापरैकत्वदर्शनं संभवि । [16]मा भूत्, प्रत्यभिज्ञा च तद्विषया स्यादिति चेत्; उक्तमत्र–पूर्वदर्शनाभावेऽपि

२५ स्यात् । तद्दर्शने सति इति चेत्; [illegible]दर्शनस्य[17] । आशुस्मरणे सतीति चेत्; पटदर्शनस्मरणात् घटे तदेकत्वप्रत्यभिज्ञानं भवेत् । [18]तदेकत्वादर्शनान्नेति चेत्; तत एव अन्यत्रापि मा भूद् अविशेषादिति चेत्; अत्राह–**अभिननव (अभितः)** इति । **अभि** नवं पूर्वपर्यायपरिहारेण अपरं यन्ति इति अभिमतः **(अभितः)** निपातत्वादयमस्यार्थ उक्तः । पूर्वत्वं कालान्तरस्थान-

---

(१) बुद्धौ । (२) दर्पणवत् । (३) आत्मा । (४) अर्थान् । (५) "तस्मात् स एवायमिति प्रत्ययद्वयमेतद् ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २२ । (६) प्रत्यक्षस्मरणव्यतिरिक्तम् । (७) आत्मा । (८) आत्मा । (९) अवस्थाः । (१०) अभिज्ञया । (११) इन्द्रियकार्यभूते ज्ञाने । (१२) जातानि । (१३) वस्तुनः । (१४) एकत्वस्य । (१५) प्रत्यभिज्ञायाः । (१६) पूर्वापरैकत्वदर्शनसंभवो मा भूत् तथापि । (१७) पुरुषस्य स्यात् । (१८) घटगतैकत्व ।

वत्तो(तो) विषयान् '**विज्ञातान् विषयान् अशेषकरणैः**' इति सम्बन्धः । तदुक्तम्– *"**पश्यन्स्वलक्षणान्येकम्**" [सिद्धिवि० १।९] इत्यादि । न चायमेकान्तः अपरापरदशादर्शने तद्वात्रयं (तद्वानवश्यं) दृश्यते इति, कथमन्यथा मध्यक्षणस्य दर्शनेन पूर्वापरक्षणादर्शने ततो विवेकप्रतिपत्तिः ? शेषमत्र पूर्वमत्रापि चिन्तितम् ।

स्यादेतद् यदि **विज्ञातान् विषयान् अशेषकरणैः आत्मा अभिज्ञया बुध्यते** ५ तर्हि सर्वान् आजन्मनः सर्वःता (सर्वास्ताः[1]) तया[2] बुध्यते (बुध्येत) इति चेत् ; अत्राह–**स्मृत्वा** इति । स्मरणेन विज्ञातान् पूर्वविषयान् कृत्योत्तर (कृत्वा उत्तर)विषयैः विज्ञानैः एकत्वेन ध्यसा (नाध्यवसाय) बुध्यते न सर्वानिति मन्यते । अनेन स्मृतेः[3] प्रत्यभिज्ञानफलत्वेन प्रामाण्यं दर्शयति ।

सांप्रतं तर्कफलत्वेन प्रत्यभिज्ञाया प्रमाणत्वमुपवर्णयन्नाह–**तर्कम्** इत्यादि । अस्यायमर्थः– अभिज्ञया करणभूतया कृत्वा **तर्कम्** ऊहं **नीत्वा** विषयान् तर्कग्राह्यान् तान् कृत्वेत्यर्थः । १० तान् विषयान् नीत्वा तं तद्ग्राहकमापाद्य [१८५ ख] इत्यर्थः । किम्भूतम् ? इत्याह–**तर्कितम्** इत्यादि । **तर्कितः** प्रत्यक्षप्रमाणेन निश्चितो गोचरः तस्मात् **इतरो**ऽन्यः देशान्तरभावी भावः तत्र **विधिः** विधानम् उत्पत्तिर्यस्य स तथोक्तः तमिति । अनेन प्रत्यक्षफलत्वम् एकान्तेन निराकरोति [4]अस्य । स किं करोति ? इत्याह–**बुध्यते अभितः** समन्ताद् विषयान् 'तर्केण' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । १५

ननु स्मरणादिविषयस्य तत्कालेऽभावात् कथं तेन [ग्रहणम् ?] ग्राहकसमानसमयो हि विषयः तेन गृह्यत इति युक्तम् , अन्यथा चक्षुरादिज्ञानमपि सर्वातीतादिग्राहकं स्यादिति चेत् ; अत्राह–**श्रोत्रादि** इत्यादि । इदं वाक्यं यथातथाशब्दावन्तरेणापि प्रतिवस्तूपमालङ्कारवशेन व्याहृतं यथातथाशब्दं[5] व्याख्येयम् । **श्रोत्रम् आदिः** यस्य घ्राणादेः स तथोक्तः यथा **समुपेतमेव** स्वसन्निकृष्टमेव नाऽसन्निकृष्टं **विषयीकुर्वीत** 'विषयम्' इति वचनपरिणामेन २० सम्बन्धः, **चक्षुः नवै** नैव समुपेतमेव विषयीकुर्वीत [6]तदसमुपेतमेव विषयं विषयीकुर्वन् प्रतीयत इति मन्यते । एतच्च सौगतस्य प्रसिद्धमिति न साधनमर्हति । यथा चक्षुरादिज्ञानं स्वकालविशेषणं वस्तु विषयीकुर्वीत स्मरणादिकं तु भिन्नकालविशेषणमपि इति, सर्वत्र तथाप्रतीतेरविशेषात् ।

एतेनेदमपि निरस्तं यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण–*"**स्मरणादिकम् अतीतादौ प्रवर्त्तमानं** २५ **निर्विषयं [7]तत्काले विषयाभावात्**" इति[8] ; तन्निरस्तम् ; चक्षुर्ज्ञानमपि तथा निर्विषयं स्यात् , तद्देशे तद्विषयाभावात् इति । [१८६क]

ननु सौगतस्य चक्षुरिव श्रोत्रमपि न वै समुपेतमेव विषयीकुर्वीत "**चक्षुःश्रोत्रमनसाम् अप्राप्यकारित्वम्**" इति राद्धान्तात् किमुच्यते **श्रोत्रादि** इत्यादि । तस्मादेवं वक्त[व्यं]

---

(१) अवस्थाः । (२) अभिज्ञया । (३) प्रत्यभिज्ञानं स्मरणस्य फलमिति भावः । (४) तर्कस्य । (५) यथातथाशब्दसहितम् । (६) चक्षुः असम्बद्धमेवार्थम् । (७) स्मरणकाले । (८) "गृह्यमाणे स्मृतिर्नास्ति ग्रहणानन्तरं हि सा । अतीतेग्रहणे तस्य रूपाभावे न सा स्मृतिः ॥ इदानीं स्मरणं जातं कथं जानाति पूर्वताम् । अविद्यमानं नीरूपं कथं तद्रूपता स्मृतेः ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ६०२ । (९) "अप्राप्ताक्षिमनःश्रोत्राणि"–अभिध० को० १।४३ ।

घ्राणादि इति । दूरे शब्दः निकटे शब्दः इति प्रतीतिश्च(तेश्च) चक्षुरिव श्रोत्रमप्राप्यकारि इति चेत्; आस्तां तावदेतत्, आगमप्रस्तावे अस्य निरूपयिष्यमाणत्वात् ।

अत्राह वैशेषिकः–श्रोत्रादिवत् बाह्येन्द्रियत्वात् चक्षुरपि समुपेतमेव विषयीकरोति, तत् किमर्थमुक्तम् **चक्षुर्न वै** इति; तं प्रत्याह–**पश्यत्येव हि** इत्यादि । **हि** यस्मादर्थः, यत् पश्यत्येव

५ ईक्षत एव न [न] पश्यति इति एवकारार्थः, चक्षुः इत्यनुवर्त्तते । ननु मनः पश्यति न चक्षुः अन्यथा तत्परिकल्पन[मनर्थकम्] इति चेत् ; न; आत्मानं विषयं पश्यन्तं चक्षुः [सह] करोति इति 'तत् पश्यति' इत्युच्यत इत्यदोषात् । किं पश्यति ? इत्याह–**सान्तरम्** । सह अन्तरेण देशेन नद्यादिना द्रव्येण काचाभ्र(भ्र)पटलादिना वर्त्तमानं घटादिकं 'विषयम्' इति वचनपरिणामेन सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–चक्षुरिति यदि गोलकस्य लोकव्यवहारतः अभिधानमाश्रीयते; तर्हि

१० तस्य देशादिव्यवहितेन घटादिना प्रत्यक्षतः ततोऽत्यन्तभिन्नेन प्रतीयमानेन सन्निकर्षसाधने प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन 'बाह्येन्द्रियत्वात्' इति कालात्ययापदिष्टो हेतुः स्यात् , यथा अश्रावणः शब्दः सत्त्वात् इति ।

तत्रैव युक्त्यन्तरमाह–**पृथुतरम्** इति । सर्षपादेः सूक्ष्मात् पृथु चक्षुः तस्मात् अतिशयेन पृथु पर्वतादिकं पृथुतरं तत् 'पश्यति' इति सम्बन्धः । [१८६ख] अत्रायमभिप्रायः–पूर्वोक्तेन

१५ विधिना देशादिना देशादिव्यवहितेन पर्वतादिना प्रमाणबाधितत्वान्न चक्षुषस्तेन सन्निकर्षोऽस्ति, तथापि पादप्रसारिकतया यदि इष्यते तर्हि यतः (यावतः) पर्वतादिप्रदेशस्य पृथुनो जलबुद्बुदसन्निभेन चक्षुषा सम्बन्धः, तावत एव तेन ग्रहणं स्यात् न योजनादिपरिमाणस्य पृथुतरस्य । न खलु हस्तेन अन्धस्य हस्तिहस्तमात्रसन्निकर्षे संपूर्णहस्तिप्रतिपत्तिरस्ति । विद्यते च चक्षुषा पृथुतरस्य ग्रहणम् । ततो मन्यामहे असन्निकृष्टं पश्यति चक्षुः इति ।

२० ननु न गोलकविशेषः चक्षुः येनायं दोषः स्यात् , अपि तु रश्मयः, तेषां च अर्थसन्निकृष्टानां तत्प्रकाशनसाधनात् । अस्मिंश्च पक्षे पृथुतरं तत् पश्यति इति न विहन्यते, मूले सूक्ष्माणां प्रदीपादिरश्मिवत् अग्रे स्थूलानां भावादिति चेत् ; अत्राह–**रश्मेः** इत्यादि । रश्मिः इति जातिव्यपेक्षयैकवचनम् , व्यक्त्यपेक्षायां तु रश्मीनां चक्षुष इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । **कुतः** ? न कुतश्चित् प्रमाणात् **निःसृतिः** प्रतिपत्तिः गत्यर्थस्य सरतेर्ज्ञानार्थत्वात् । न तावत् प्रत्यक्षतः ;

२५ तत्र तदप्रतिभासनात् । अनवस्थानात् तेषामपि अपर (अपरनयन)तद्रश्मिसंबन्धेन ग्रहणात् । नापि

(१) "प्राप्यकारि चक्षुः इन्द्रियत्वात् घ्राणादिवत् ।"–न्यायवा० पृ० ३६ । न्यायवा० ता० टी० पृ० १२२ । "प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत् ।" –प्रश० कन्द० पृ० २३ । (२) "चक्षुःश्रोत्रे प्राप्यार्थं परिच्छिन्दाते बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत् ।" –न्यायवा० ता० टी० पृ० ७३ । (३) मनःकल्पना व्यर्था । (४) साध्य । (५) अल्पेन । (६) चक्षुषा । (७) शुण्डादण्ड । (८) "रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम् ।"–न्यायसू० ३।१।३२ । "तयोर्महदण्वोर्ग्रहणं चक्षूरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद् भवति यथा प्रदीपरश्मेरर्थस्य चेति ।"–न्यायभा० । "चक्षुर्बहिर्गतं बाह्यालोकसम्बन्धाद् विषयपरिमाणमुपपद्यते…"–प्रश० व्यो० पृ० १५९ । "पृथुग्रहणस्यापि पृथ्वग्रतया तद्वदेवोपपत्तेः ।"–प्रश० किर० पृ० ७४ । (९) चक्षु । (१०) सृ गतावित्यस्य ।

अनुमानतः ; तदभावात् । ननु इदमस्ति[1]–रश्मिवच्चक्षुः स्वरश्मि[सम्बद्धं] सर्वत्र स्वार्थं प्रकाशयति, तैजसत्वात्, प्रदीपवत् इति चेत् ; कुतोऽस्य[2] तैजसत्वम् ? उष्णस्पर्शत्वात् ; न ; तद्विशेषस्यै[3] तत्राऽभावात् । सोष्णतामात्रस्य घ्राणादावपि भावात् । [१८७क] भासुररूपवत्त्वात् ; किमिदं रूपस्य भासुरत्वम् ? उज्ज्वलत्वमिति चेत् ; न ; अस्य निमित्तं (निशित[4])निस्त्रिंशादौ भावात् । कपिशत्वे सति इति चेत् ; न ; तस्य वरनारीलोचनेषु दुग्धधवलेषु अभावात्, कनकवच्च कनककेतकीकुसुमदलेषु भावात् । एतेन [5]मार्जारादिचक्षुरपि व्याख्यातम् । ५

अपरेषां दर्शनम्–'चक्षुः तैजसं रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' इति[6] ; तेषां सर्वे घटादयः प्रसिद्धाः पावकवत् सत्त्वात्[7] तैजसाः किन्न स्युः ? अथ उष्णभासुरस्पर्शरूपविविक्तघटादिग्राहिणा अध्यक्षेण पक्षस्य बाधनात् नैवम् ; प्रकृतेऽपि समानमेतत् ।

किंच, न तैजसं चक्षुः अत्यासन्नाऽप्रकाशकत्वात्[8], यत् पुनः तैजसं तद् अत्यासन्नस्यापि प्रकाशकं यथा प्रदीपादिः इति [व्यति] रेकी हेतुः अत्र किन्न विजृम्भते ? न चायं [9]परस्य अगमकः ; अन्यथा *"सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्" [10]इति न सुभाषितम् । १०

यदि वा, तमःप्रकाशकत्वात्[11] ; यत् पुनः तैजसं न तत् तमःप्रकाशकं यथा प्रदीपादि इति ग्राह्यम् । तदुक्तम्–

*"तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् । १५
कुड्यादिकं न कुड्यादितिरोहितमत्कका (तमिवेक्षकाः) ॥"

[लघी० श्लो० ५६] इति ।

प्रदीपाद्यालोकाभावेऽपि च [12]क्वचिद् रूपज्ञानस्य उदयदर्शनात् कथं तदालोकस्य नियमेन रूपप्रकाशकत्वम्, यतः साधनविकलो दृष्टान्तो न भवेत् ? तदेवं नायनरश्मीनामसिद्धेः तेषां चक्षुःशब्दवाच्यत्वेन धर्मित्वे 'बाह्येन्द्रियत्वात्' इति आश्रयस्वरूपासिद्धो हेतुरिति रत्नाकरोक्तम् । २०

इदमपरं व्याख्यानम्–**रश्मेः** चक्षूरश्मीनां **कुतः** कारणात् **निःसृतिः** निर्गमनं स्वाधिष्ठानात् । नहि अकारणम्[१८७ख] अदृष्टं सत्तया[13] कल्पनमर्हति, अतिप्रसङ्गात् । अर्थप्रकाशनं तत्कारणम्[14] इत्येके । तथा हि–इन्द्रियम् आत्मसंबद्धमर्थं प्रकाशयद् दृष्टम् । तत्र यदि गोलकवत्

(१) तुलना–"कृष्णसारं रश्मिवत् द्रव्यत्वे सति रूपोपलब्धौ नियतस्य साधनाङ्गस्य निमित्तत्वात् । अथवा, रश्मिवच्चक्षुः द्रव्यत्वे सति नियतत्वे च सति स्फटिकादिव्यवहितार्थप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् ।" –न्यायवा० पृ० ३८१ । न्यायवा० ता० टी० पृ० ५२५ । (२) चक्षुषः । (३) उष्णताविशेषस्य । (४) शाणीकृततीक्ष्णशस्त्रादौ । (५) "नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च । (सू०) दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयो नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनाम्, तेन शेषस्यानुमानम् ।"–न्यायभा० ३।१।४३ । न्यायम० पृ० ४८० । (६) द्रष्टव्यम् पृ० ८ टि० ४ । (७) हेतोः । (८) तुलना–"अप्राप्यकारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात् । यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात् । न च गृह्णाति ।"–त० वा० पृ० ६७ । (९) नैयायिकस्य । (१०) "नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात् ।"–न्यायवा० पृ० ४९ । (११) न तैजसं चक्षुः । तुलना–"न तैजसं चक्षुः तमःप्रकाशकत्वात् ।"–न्यायकुमु० पृ० ८० । स्या० रत्ना० पृ० ३२४ । (१२) नक्तञ्चरादौ । (१३) सद्रूपेण । (१४) रश्मिकारणकम् । तुलना–"करणं वास्यादि प्राप्यकारि दृष्टं तथा चेन्द्रियाणि तस्मात् प्राप्यकारीणि ।"–न्यायवा० पृ० ३९ । "इन्द्रियाणां कारकत्वेन प्राप्यकारित्वात् ।"–न्यायम० पृ० ३७ ।

तद्रश्मीनामपि अर्थसम्बन्धो न स्यात् कुतस्तत्प्रकाशनम् ? अस्ति च । ततो मन्यामहे रश्मेः निर्गमनमिति । मनोवत् सम्बन्धसम्बन्धात् तत्प्रकाशनापत्तेः अदोषः । तथाहि–यथा मन आत्मना संयुक्तम्, सोऽपि आकाशेन, तदपि सर्वभावैः इति सम्बन्धसम्बन्धात् तदर्थप्रकाशकम् । न खलु तस्यैं तद्रश्मीना[ञ्च] स्वार्थेन संयोगः परैः अभ्युपगम्यते । तथा चक्षुः मनसा, तदपि आत्मना
५ संयुक्तम्, सोऽपि आकाशेन, तदपि सर्वभावैः इति सम्बन्धसम्बन्धात् ऽ तदर्थप्रकाशकम् । न खलु तस्य तद्रश्मीनां स्वार्थेन संयोगः परैः अभ्युपगम्यते । तथा, चक्षुः मनसा तदपि आत्मना सोऽपि विषयैः संयुक्त इति सम्बन्धात् ऽ चक्षुरपि तत्प्रकाशकमित्यलं रश्मिनिर्गमनकल्पनया । न च इन्द्रियत्वाऽविशेषेऽपि मनः तथा प्रकाशयेच्चक्षुः (यति न चक्षुः) इति न विशेषं पश्यामः । एवं शाखाचन्द्रमसोर्युगपद्ग्रहणमुपपन्नं भवति, अन्यथा क्रमेण गच्छतां रश्मीनां पूर्वं शाखया
१० संयोग इति तस्या एव ग्रहणं पुनः चन्द्रमसा इति तस्य[10] ग्रहणमिति क्रमप्रतिपत्तिः स्यात् । न चैवम् ।

उत्पलपत्रशतवेधवत् शाखाचन्द्रमसोर्ग्रहणस्य आशुभावात् यौगपद्यप्रतिपत्तिभ्रम इत्यन्ये[11]; तन्न ; मूर्तस्य असर्वगतस्य सूच्यद्रव्यस्य तत्पत्रैः भिन्नदेशैः क्रमेण सम्बन्धात् युक्तो युगपत्त्वविभ्रमः नान्यत्र तद्विपरीते, इतरथा [१८८क] एवम् एकज्ञानवार्त्ता निर्मूला स्याद् वराकी ।
१५ यदि मतम्–अन्यत्रापि[12] तथाविधस्य रश्मेर्भिन्नदेशाभ्यां शाखाचन्द्रमोभ्याम् संयोगः क्रमेण इति; स्यादेतदेवं यदि सूचीद्रव्यवत् कुतश्चिद् रश्मिगमनप्रतिपत्तिः स्यात्, न सा अस्ति इत्युक्तम् । तद्विभ्रमाऽप्रतिपत्तौ अन्योऽन्यसंश्रयः । तथाहि–क्रमेण रश्मिगमनसिद्धौ[13] तद्विभ्रमसिद्धिः [तद्विभ्रमसिद्धौ च क्रमेण रश्मिगमनसिद्धिः] इति । ततः स्थितम्–**रश्मेः कुतो निःसृतिः** इति ।

ननु यस्य सकलज्ञेयग्रहणस्वभावं ज्ञानं तत्स्वभावश्च आत्मा कथं तस्य स[14] कस्यचिद्-
२० प्यर्थस्य स्वयं ग्राहको यतः अक्षापेक्षस्य अर्थे क्रमग्रहः स्यात् सर्वज्ञवत् । आवरणसद्भावात् स्वयमग्राहक इति चेत् ; कुतः तत्सिद्धिः[15] ? न प्रत्यक्षतः; तत्र तदप्रतिभासनात् । देशादीनाम् आवरणत्वे सर्वज्ञाभावः, [16]तेषां सर्वदा भावात् । रागादीनां सद्भावेऽपि विषयदर्शनभावान्न आवरणत्वम्[17] । अन्यस्य अनुमानतो न प्रतिपत्तिः ; तदर्थापक([18]तदुत्थापक)लिङ्गाभावात् । अथ

(१) तुलना–"तथैव कारणत्वस्य मनसा व्यभिचारिता । मन्त्रेण भुजङ्गाद्युच्चाटकादिकरेण वा ॥८८॥" –त० श्लो० पृ० २३५ । न्यायकुमु० पृ० ८२ । स्या० रत्ना० पृ० ३३० । (२) आकाशमपि । (३) चक्षुषः । (४) संयुक्तम् । (५) आत्मापि । (६) ऽ एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः । (७) तुलना–"पश्येच्चक्षुश्चिराद् दूरे गतिमद् यदि तद्भवेत् । अत्यभ्यासे च दूरे च रूपं व्यक्तं न तत्र किम् ॥१३॥ यदि चक्षुः प्राप्यकारित्वात् विषयदेशं गच्छेत् तदा उन्मिषितमात्रेण न चन्द्रतारकादीनर्थान् गृह्णीयात् ।" –चतुःश० पृ० १८६ । "चक्षुर्हि शाखाचन्द्रमसावभिन्नकालमुपलभते…"–त० वा० पृ० ६८ । (८) शाखायाः । (९) सम्बन्धः । (१०) चन्द्रमसः । (११) "यत्पुनरेतत्-शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणमिति ; तदपि न ; अनभ्युपगमात् को हि स्वस्थात्मा शाखाचन्द्रमसोः तुल्यकालग्रहणं प्रतिपद्यते । कालभेदाग्रहणात् मिथ्याप्रत्यय एषः उत्पलदलशतव्यतिभेदवदिति ।"–न्यायवा० पृ० ३५ । न्यायवा० ता० टी० पृ० १२० । प्रश० कन्द० पृ० २३ । प्रश० व्यो० पृ० १५९ । प्रश० किर० पृ० ७४ । मुक्ता० पृ० १७८ । (१२) मूर्तस्य । (१३) यौगपद्यविभ्रमसिद्धिः । (१४) आत्मा । (१५) आवरणसिद्धिः । (१६) देशादीनाम् अपायाऽसंभवात् । (१७) रागादीनाम् । (१८) अनुमानप्रयोजकहेत्वभावात् ।

सर्वविषयप्रकाशनस्वभावस्य[1] तदप्रकाशनात् तत्सिद्धिः[2]; तत्स्वभावता कुतस्तस्य[3] सिद्धा ? तदावरणापाये सर्वप्रकाशनस्वभावत्वात्; अन्योऽन्यसंश्रयः–सिद्धे हि सर्वप्रकाशनस्वभावे सति आवरणसिद्धिः, तत्सिद्धौ तत्क्षये तत्प्रकाशनस्वभावसिद्धिः इति चेत्; अत्राह–**मिथ्याज्ञानम्** इत्यादि ।

[मिथ्याज्ञानं विसंवादादप्रमाणं विषादिवत् ।　　५
ज्ञातुरावरणोद्भूतेः दोषहेतोः स्वतः सतः ॥२॥

मत्यज्ञानभेदा अवग्रहादयः प्रमाणाभासा मिथ्याग्रहणात्मकाः, प्रमाणस्य अविप्रतिसारलक्षणत्वात् । स्वतः प्रमाणभूतस्य आत्मनः परतो विपर्यासोपपत्तेः मत्तमूर्च्छितादिवत् । यदि पुनः स्वत एव ज्ञाता न स्यात् कुतः परतोऽचेतनवत् । न हि तथापरिणामरहितस्य तथा परिणामः । परस्य अन्यातिशयकल्पनायामात्मनः किन्न कल्प्यते ? ज्ञस्वभावस्य १० अप्राप्यकारिणः प्रतिबन्धाभावे त्रिकालगोचरमशेषं द्रव्यं कथञ्चिज्जानतो न कश्चिद्विरोधः, आत्मनः स्वविषये वैशद्यमनुभवतः परोक्षप्रत्यक्षवत् । नास्माकमावरणक्षयोपशमवशात् स्वकारणशक्तेः । स्वलक्षणदर्शनाहितसन्तानविकल्पवासनाप्रकृतिः संवृतिः वस्तुमात्राध्यवसायात् व्यवहारमारचयतीति चेत्; न; क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियाविरोधनिर्णयात् । ततः]　　१५

अस्यायमर्थः–यत् तस्मिन् **मिथ्याज्ञानम् अप्रमाणं विसंवादात्** वञ्चनात् प्रसिद्धं हि लोके [4]प्रकृत्यादिविषयं तत् धर्मि । तत्र साध्यम् आह–**आवरणोद्भूतेः** इति । जीवस्य स्वविषये प्रवृत्तिनिषेधकं [१८८ ख] ज्ञानावरणीयादि[5] कर्म आवरणं तस्य उद्भूतिः स्वकार्यकरणाभिमुख्यं तस्याः, 'भवति' इति शेषः । साध्यमेतत् । हेतुमाह–**दोषहेतोः** इति । दोषः अन्यथाग्रहणं स एव हेतुः लिङ्गं तस्मात् । दृष्टान्तमाह–**विषादिवत्** इति । विषम् आदिर्यस्य २० सुरादेः स तथोक्तः तस्मादिव तद्वदिति । एतदुक्तं भवति–यथा विषादेः उपजायमानं भूभ्रमणादिविषयं[6] विषाद्यावरणोद्भूतेः भवति तथा प्रकृत्यादिविषयमपि, [7]तद्वद्यावरणोद्भूतेः इति । प्रयोगः–विवादगोचरापन्नं [मिथ्याज्ञानम् आवरणोद्भूतेर्भवति, मिथ्याज्ञानत्वात्] मिथ्याज्ञानस्य उपलक्षणार्थत्वात् [तेन] अज्ञानत्वाद् अस्पष्टत्वादिति [च] गृह्यते, विषादिजनिततथाविध(धा)ज्ञानवत्, एवमर्थं च विषादिग्रहणम्, तदुपयोगे तत्रियाननिवृत्तेः (तत्त्रितयानिवृत्तेः)[8] इति । २५

अत्राह सौत्रान्तिकादिः–मिथ्याज्ञानात् प्राक् तदाधारस्य स्वविषयप्रकाशनस्वभावस्य[9] भावे कस्यचिद् आवरणकल्पना श्रेयसी; न च सोऽस्ति प्रमाणाभावात् । मिथ्याज्ञानमपि निराधारं जायते *"आदेशाः चित्रचैतसिका (अदेशाः चित्तचैतसिकाः)" इति वचनात् । ततस्तस्यापि[10] आवरणकल्पना कीदृशी ? तत्र भावान्तरादर्शनादिति पक्षस्य प्रत्यक्षबाधो दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्य-

---

(१) आत्मनः । (२) आवरणसिद्धिः । (३) आत्मनः । (४) सांख्याभिमत । (५) "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।"–त० सू० ८।४ । (६) मिथ्याज्ञानम् । (७) ज्ञानावरणोदयात् । (८) मिथ्यात्वम् अज्ञानत्वमस्पष्टत्वञ्च । (९) आत्मनः । (१०) आत्मनोऽपि ।

मिति ; तं प्रत्याह–**ज्ञातुः** इति। 'यः प्राक् शङ्खं शुक्लतया ज्ञातवान्, संप्रति जानाति पीततया, पुनर्ज्ञास्यति शुक्लतया स ज्ञाता' इत्युच्यते। स च *"प्रत्यक्षं क्षणिकं विचित्र [१८९क]**विषया-कारसंवेदनम्**" [सिद्धिवि० २।३] इत्यादिना लेशतः प्रदर्शितः, प्रपञ्चतः पुनरत्रैव प्रदर्शयिष्यते। तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये–

५ *"मन्यन्तमाद्रगायायां (मन्यं तमाहुराचार्याः) विद्यया विभ्रमेण यः।
सदर्थमसदर्थं वा पसुरोस्वावलोकतः (प्रभुरेपाऽवलोकते) ॥"

[न्यायवि० १।३८] इति।

वैशेषिकस्त्वाह–ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् आत्मा विद्यते, स तु तदा ज्ञानाभावादेव विषयं सन्तमपि न विषयीकरोति नावरणादिति; *"देवरक्ताः किंशुकाः" इति न तत्र नः प्रयासः आवरणसाधने[3]। तत्र केवलं धर्मादिसामर्थ्यतः समीचीनज्ञानम्, अन्यस्याः मिथ्याज्ञानमिति विभाग इति। तत्रोत्तरमाह–**स्वतः** इति। स्वात्मरूपेण न अर्थान्तरज्ञानसम्बन्धेन **'ज्ञातुः'** इति वृत्तौ[4] प्रतिपादयिष्यते।

विभ्रमैकान्तवादी प्राह–भवतु कश्चित् स्वयं ज्ञाता, स च स्वभावत एव विपरीतार्थग्राही नावरणादिति; तत उत्तरं पठन्ति–**सतो**ऽवितथस्य यथावस्थितस्वार्थग्रहणस्वभावस्य इत्यर्थः। १५ **'स्वतः'** इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम्, कथमन्यथा विभ्रमैकान्तस्यापि प्रतिपत्तिः। न हि विभ्रमादेव तत्प्रतिपत्तिर्युक्ता, अतिप्रसङ्गात्। तदुक्तं केनचित्–

*"प्रभासु(स्व)रमिदं चित्तं प्रकृत्याऽऽगन्तवो मलाः।"

[प्र० वा० १।२१०] इति।

परः पुनरेवं मन्यते–स्वतस्तस्य मिथ्यादर्शनात्मकत्वम् अन्यतो यथार्थदर्शनात्मकत्वमिति; २० स **'विषात्'** इत्यनेन निरस्तः; विषाद्युपयोगान्वयव्यतिरेकानुविधायितया दृश्यमानस्य मिथ्यादर्शनस्य अन्यतः कल्पने धूमोऽपि अग्निप्रभवो न स्यात्। स्वतश्च मिथ्यात्वेन सर्वसंविदां कुतः स्वसंवेदनपरमार्थ[१८९ख]सिद्धिः? नहि तत्र पूर्वसंवेदनादन्यस्य व्यापारः *"**चक्षुरादेर्विषय-प्रतिनियमः विषयात् तदाकारता आलोकात् स्पष्टता विज्ञानाद् विज्ञानस्य वि**[7]**द्रूपता।**" इति वचनात्। नापि स्वसंवेदनपरमार्थाऽसिद्धौ सौगताः सुखमासितुं कालकलालेशमपि समर्थाः, २५ कस्यचिद् विधिनिषेधायोगात्। ततः स्थितम्–**'स्वतः सतः'** इति।

नन्वेवं चेदिदमनुमानं तर्हि **'मिथ्याज्ञानमप्रमाणम्'** इत्येवास्तु, किं **'विसंवादात्'** इत्यनेन इति चेत्? उच्यते–'विवादास्पदीभूतं मिथ्याज्ञानम् अदृष्टावरणम्' इति साधयन्तं प्रति यदा कश्चिद् ब्रवीति 'कस्यचित् मिथ्याज्ञानस्य अभावात् साध्यदृष्टान्तधर्मिणोरसिद्धिः' इति; तदा तं प्रति तद्धर्मिणः (णोः) साधनार्थम् **'विसंवादात्'** इत्युच्यते। यतः अभ्युपगच्छतापि ३० प्र ज्ञा क रे ण प्रतिभासाद्वैतम् 'इदम् अतो जायते, इदमस्माद् दूरं निकटम्' इत्यादि विकल्पबुद्धीनां निर्विषयत्वापरनामा विसंवादोऽभ्युपगन्तव्यः कथमन्यथा प्रतिभासाद्वैतम्? तथा च

(१) ज्ञाता। (२) ज्ञानाभावान्न ग्रहणमित्यत्र। (३) सति। (४) टीकायाम्। (५) ज्ञाता। (६) विभ्रमप्रतिपत्तिः। (७) ज्ञानरूपता। (८) साध्यदृष्टान्तधर्मिणोः।

[1]कथं धर्म्यसिद्धिः ? तथापि 'मिथ्याज्ञानं विसंवादात्' इत्यस्तु किम् अप्रमाणपदेन इति चेत् ? न; 'अनुमानेन आवरणसत्ता साध्यते भवता, तच्च मिथ्या तत्कुतः ततो[2] भावतः[3] तत्सिद्धिः' इति वदन्तं प्रति एवमभिधानात् ।

अत्रायमभिप्रायः–अनुमानं चेत् मिथ्यात्व(थ्याप्य)पेक्ष्यते; तर्हि विसंवादादप्रमाणं स्यात्, प्रमाणं चेष्यते, तन्न मिथ्या इति । ननु स्यादेदत् (तद्) प्रमाणं यदि विसंवादकं स्यात्, यावता ५ मिथ्यात्वेऽपि मणिप्रभामणिज्ञानवत् साध्य[१९०क]प्रतिबन्धादविसंवादकमिति चेत्; ननु तन्मणिज्ञानम् अविसंवादेऽपि यदि न प्रमाणम्; कथमनुमानं[6] तल्लक्षणव्यभिचारात् ? प्रमाणं चेत्; प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा ? अन्यत्र मण्यध्यवसायः अन्यत्र मणिप्राप्तेः नाध्यक्षम्, इतरथा मरीचिकानिचये जलाध्यवसायः कूपादौ जलप्राप्तौ अध्यक्षं[9] स्यात् । भवति जातपरितोषस्य इति चोदवदेत् (चेत्; स्यादेतत्) यदि मणिभ्रान्तिः इन्द्रियज्ञानम, न चैवम्, रूपसाधर्म्यदर्शनापेक्ष- १० णात, अक्षविकारमन्तरेण भावात्, वावकैः[10] (वाचकैः) सन्तानान्तरेण समर्पणात्, प्रतिसंख्यानेन[11] बाधनात्, मानसी तु युक्ता युक्त(शुक्तौ) रजतभ्रान्तिवत् । अस्या[12] इन्द्रियजत्वे सति–

*"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन[13] संयोज्येत गुणान्तरम्[14] ।
शुक्तौ वा रजताकारः रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥"

[प्र० वा० ३।४३] इति विरुध्यते । १५

मनोविभ्रमं प्रति अक्षविभ्रमस्य दृष्टान्तत्वानुपपत्तेः इति । भवतु मानसी नेरतस्य (नेतरस्य) प्रमाणमिति चेत्; प्रत्यक्षाद् अन्यस्यां तदनुरोधात् प्रत्यक्षत्वे दर्शनपृष्ठभाविनो विकल्पस्य व्यवहारिणं प्रति स्मृतित्ववर्णनमयुक्तम् । न खलु व्यवहारी दर्शनाद् विकल्पमन्यमिच्छति *"मनसोर्युगपद्वृत्तेः" [प्र० वा० २।१३३] [15]इत्यादिवर्णनात् ।

अस्तु नाम तमः (अनुमानम्) तदन्यत्र मणिप्राप्तेः धूमादग्निवत्, पूर्वं च तत्प्रभाव्यवसायः २० स्यात, वृक्षाध्यवसाये शिंशपाध्यवसायवत, न चैवम्, अविचारैकमजातपरितोषं व्यवहारिणं प्रति तदप्रामाण्यवर्णनात् । एतेन कार्यलिङ्गत्वं तयोर्निरस्तम्; तदध्यवसायात प्राग् अग्निव्यवसायवत् प्रभाध्यवसायेन भवितव्यमिति कुतस्तत्र मण्यध्यवसायः ? नहि धूमं निश्चिन्वतः [१९०ख] पावकस्य अन्यस्य वा अध्यवसायो दृष्टः । तत्र मणिव्यवसायस्य अनुमानत्वे *"मणिप्रदीपप्रभयोः" [प्र० वा० २।५७] इत्यादि[16] सुघटम । यस्तर्हि अवधारितविशेषः एवमनुमानं करोति– २५ प्रभावानयं गृहप्रदेशविशेषः मणिसहितप्रभाविशेषत्वात् अन्यत्रोपलब्धैवंविधतत्प्रदेशवत् । कुञ्चिकाविवरप्रभाविशेषो वायं मणिसंस्थानवान् तद्विशेषत्वात् पूर्वोपलब्धतद्विशेषवत्' इति, [तत्र]

---

(१) मिथ्याज्ञानस्य प्रसिद्धेः । (२) अनुमानात् । (३) परमार्थतः । (४) आवरण । (५) मणिप्रभामणिज्ञानम् । (६) प्रमाणम् । (७) कुञ्चिकाविवरस्थायां मणिप्रभायाम् । (८) अपवरकाभ्यन्तरे । (९) प्रमाणम् । (१०) तुलना–"कदाचिदन्यसन्ताने तथैवार्प्येत वाचकैः । दृष्टस्मृतिमपेक्षेत न भासेत परिस्फुटम् ॥"–प्र० वा० २।२९८ । (११) तत्त्वज्ञानेन । (१२) भ्रान्तेः । (१३) सादृश्यादिना । (१४) नित्यत्वादिलक्षणम् । (१५) "सविकल्पाविकल्पयोः । विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति ॥" इति शेषः । (१६) "मणिबुद्ध्याभिधावतोः । मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥" इति शेषः ।

का वार्त्ता ? अनुमानमेव तदिति ब्रूमः । अयं तु विशेषः—यद्येतत् मिथ्याज्ञानमप्रमाणं कथमन्यस्य तथाविधस्य अनुमानस्य प्रामाण्ये दृष्टान्तः स्यात् ? न खलु साध्यमेव दृष्टान्तीभवति अतिप्रसङ्गात् । ततः स्थितम्—'अनुमानं चेत् मिथ्याज्ञानम् अप्रमाणं स्यात् , अर्थादुत्पत्तौ तैमिरिकज्ञानवत्' इत्यस्य प्रदर्शनार्थम् अप्रमाणग्रहणमिति ।

५ अथवा, अन्यथा पूर्वपक्षयित्वा इदं व्याख्येयम् । तथाहि—यदुक्तम् अनन्तरप्रस्तावे *"तदेतत् द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषविषयम्" इत्यादि *"प्रमाणम् अविसंवादात्" इत्यन्तम् ; तत्र तज्ज्ञानस्य वेदम (चेतन)स्वभावे आत्मनि समवायात् स[1] एव तांस्तथा बुध्यत[2] इति नैयायिकादिः । शरीरे समवायात् शरीरं[3] न मनः इति चार्वाकाः । प्रधानम्[4] इति सांख्याः । तज्ज्ञानं स्वतः प्रमाणं न परतः इति मीमांसकाः । तदुक्तम्—

१० *"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४७] इति;

तत्राह—**मिथ्याज्ञानम्** इत्यादि । **ज्ञातुः** 'अवग्रहादिमतिस्मृति [१९१क] संज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकं प्रागभिलापसंसर्गात् मतिज्ञानप्रभेदलक्षणं ज्ञानम्' इति[5] सम्बन्धः ।
१५ न शरीरस्य प्रधानस्य वा ; तस्य ज्ञातृत्वायोगादिति निरूपयिष्यते अचेतनत्वात् घटादिवत् इति । कुतो ज्ञातुः ? इत्याह—**स्वतः** स्वस्वाभाव्यात् , नार्थान्तरज्ञानसम्बन्धादिति च । तज्ज्ञानं च प्रमाणमुक्तम् । कुतः ? **अविसंवादात्** । सांप्रतं वोच्यते, स्वतः सतो ज्ञातुः । ततोऽयमर्थो जायते—तज्ज्ञानं प्रमाणम् अविसंवादात् , स्वविपर्यीकृतस्वार्थाऽव्यभिचारात् । अनेन स्वकार्ये प्रवृत्तिलक्षणे स्वग्रहणापेक्षणात् 'परतः तत्' इत्युक्तं भवति । **स्वतो** ज्ञातुः सकाशात् इति का[6]
२० विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः, 'उत्पत्तेः' इति शेषः, 'प्रमाणम्' इति घटनात् । किंभूतात् ? इत्याह—**स्वतः सतः** इति । विवृतमिदम् । अनेनापि कारणगुणतस्तदुद्भवात् परतः[7] तद् इति; मन्यते । अत्र दृष्टान्तमाह—**प्रमाणं मिथ्याज्ञानं विसंवादात् आवरणोद्भूतेश्च** यथा 'परतः' इति शेषः, आवरणाद् उद्भूतिः आवरणोद्भूतिः इणो (तस्याः) । कथंभूतात् ? **दोषहेतोः** इति । शेषम् उक्तवत् अनन्तकीर्तिकृतेः स्वतः प्रामाण्यभङ्गाद् अव-
२५ सेयमेतत् ।

यदि वा, **'दोषहेतोः'** इत्यादि अन्यथावतार्य अधुना व्याख्यायते—कुतो नु खलु आवरणोद्भूतिः ? यदि स्वतः ; मिथ्याज्ञानमपि तत (स्वत) एव अस्तु । परतश्चेत् ; स वक्तव्यः,न च सोऽस्ति, अप्रमाणत्वात् । नहि बीजमिव अङ्कुरम् आवरणं जनयन् कश्चिदुपलभ्यते अनुमीयते वा लिङ्गाभावात् । रागादिः उपलभ्यते ; सत्यम् ; किन्तु तदनन्तरमेव आवरणं जायमानं
३० नोपलभ्यते अनुमीयते वा । [१९१ख] भवतु वा सकारणमावरणम् , तथापि तेन मूर्तेन अमूर्तस्य आत्मनः पांशुराशिना इव आकाशस्य न सम्बन्ध इति ; अत्राह—**दोषहेतोः** इत्यादि । दोषो

(१) सिद्धिवि० २।२४ । (२) आत्मा । (३) बुध्यते । (४) बुध्यते । (५) पृ० २१७ । (६) 'का' इति पञ्चमीविभक्तिः । (७) प्रामाण्यम् ।

रागादिः स एव हेतुः कारणं तस्मात् **आवरणोद्भूतेः** यद्वा स हेतुर्यस्याः तस्या इति । दृष्टान्तमाह–**विषादिवत्** इति । जीवोपयुक्तविषादेरिव तद्वदिति । तथाहि–मिथ्याज्ञानादनुमिता आवरणोद्भूतिः ज्ञातृरागादिपूर्विका तदुपघातित्वाद् विषादिवत् इति । जीवोपयुक्तविषादेरिव तद्वत् इति । वक्ष्यति च–*"**मनोध्यक्षायकर्मनिराश्रवैः (मनोवाक्कायकर्मभिरास्रवैः) शुभैरशुभैश्च यथास्वं पुण्यपापबन्धो जीवानाम्**" [सिद्धिवि०प्रस्ता० ४] इत्यादि । यदुक्तम्–अमूर्त्तस्य कथं मूर्तेन सम्बन्ध इति ? तदप्यनेन निरस्तम् ; तत्सम्बन्धहेतोर्दोषस्य अमूर्त्तेऽपि[1] भावात् । ५ एतदपि वक्ष्यति–*"**मलैर्निसर्गाद् बध्येत**" [सिद्धिवि० प्रस्ता० ४] इत्यादिना । दोषस्य हेतोः विषयादेरिव (विषादेरिव) तद्वद् इति वा व्याख्येयम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**मत्यादि (मत्यज्ञान** इत्यादि) **मत्यज्ञानभेदा** मत्यज्ञानविशेषाः, उपलक्षणमेतत् तेन श्रुताज्ञानादिभेदा गृह्यन्ते । के ते ? इत्याह–**अवग्रहादयः** । आदि [शब्देन] १० ईहादिपरिग्रहः । एतदपि उपलक्षणम् अनुस्मरणादिभेदानाम् । ते किम् ? इत्याह– **प्रमाणाभासाः** प्रमाणं न भवन्ति इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह–**मिथ्या** इति । **मिथ्या** अन्यथा**ग्रहणात्मका** यतः ।

ननु अनुमानज्ञानम् अन्यथास्थितं स्वलक्षणम् अन्यथा गृह्णदपि प्रमाणं ततो नेदमप्रमाणलक्षणं व्यभिचारादिति चेत् ; अत्राह–**प्रमाणस्य** इत्यादि । **प्रमाणस्यापि (वि)प्रतिसारो** यथा- १५ वस्थितार्थनिर्णयो **लक्षणं** [१५२क] यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्** । एतदुक्तं भवति–प्रमाणत्वं यथार्थनिर्णयेन व्याप्तं सर्वप्राणभृतां सिद्धम् , मिथ्यैकान्तादिप्रवादेऽपि तद्विपयस्यैव परमार्थतो ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपवर्णनात् परैरपि, ततो यथार्थे निवर्तमाने तदपि निवर्त्तते यथा वृक्षत्वे निवर्तमाने शिंशपात्वम् , अन्यथा सर्वस्य प्रमाणमिति न कश्चित् स्वपक्षसिद्धिविकलः स्यादिति । अनुमानं चेत् मिथ्या अप्रमाणम् । शेषमत्र चिन्तितम् , चिन्तयिष्यते चानकस्य (चानेकधा । २० कस्य) कथम्भूतस्य कुतो भवन्ति ? इत्याह–**स्वतः** इत्यादि । [**स्वतः**] आत्मनो जीवस्य न निराधारो नापि शरीरस्य[2] प्रधानस्य[4] वा । किंभूतस्य ? **प्रमाणभूतस्य** । यथार्थग्रहणस्वभावस्य **स्वतो** नार्थान्तरज्ञानसमवायात् । कुतो भवन्ति ? इत्याह–**परतो विपर्यासोपपत्तेः** । अत्रापि '**आत्मनः**' इत्यपेक्ष्यम् , आत्मनः **परतः** मूर्त्तकर्मणः सकाशात् या विपर्यासोपपत्तिः अन्यथास्वभावापादनं तस्याः । अत्र दृष्टान्तमाह–**मत्त** इत्यादि । **मत्तमूर्च्छितस्य** इव **तद्वत्** इति । यथा २५ मत्तादेः परतो विषादेः विपर्यासोपपत्तेः मिथ्याऽवग्रहादयः तथा अन्यस्यापि इति निदर्शनार्थः ।

एतेन इदमपि प्रत्युक्तं यदुक्तं परेण–*"**कर्मणा आत्मस्वरूपाऽखण्डने तदवस्थं जैनस्य सर्वस्य सर्वदर्शित्वम् , खण्डने आत्माऽनित्यत्वम् । आवरणं च प्रकाश्यप्रकाशकयोः अन्तराले वर्त्तमानं घटप्रदीपयोरिव प्रावरणं प्रकाश्यस्यैव प्रकाशनं प्रतिबध्नाति न प्रकाशकस्य । नहि अन्तर्यवनिकया दीपस्य आत्मप्रकाशनं प्रतिहन्यते इति आत्मनः तस्मिन्[5] सत्यपि** [१५२ख] **सर्वथा स्वरूपप्रकाशनं स्यात् ।**" इति ; कथञ्चित् आत्मस्वरूपखण्डनस्य ३०

---

(१) जीवे । (२) सामान्यरूपेण । (३) चार्वाकाभिमतस्य । (४) सांख्याभिमतस्य । (५) आवरणे ।

अभिमतत्वात्, आत्मनः परतो विपर्यासोपपत्तिवर्णनात्, अन्यथा कोऽस्यार्थः स्यात्, कथञ्चिदनित्यत्वस्य व (च) सर्वथा अन्यत्रापि तदसंभवात्। दृश्यते हि किट्टिकालिकादिना कलुषितवपुषाम् अन्य(मण्या)दीनां स्वरूपेऽपि चित्रप्रकाशनम्–

*"मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः।
५ कर्मविद्धात्मनो व्यक्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः॥"

[लघी० श्लो० ५७] इति।

'स्वतः प्रमाणभूतस्य' इत्यस्याऽनभ्युपगमे दूषणमाह–**यदि** इत्यादि। **यदि** चेत्, **पुनः** इति वितर्के पक्षान्तरसूचने वा, **स्वत एव** स्वस्वभावत एव स्वकारणादेव यो **ज्ञाता** यथार्थग्राही **न स्यात्** न भवेद् 'आत्मा' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। तत्र को दोषः? इत्याह–
१० **परतः** इत्यादि। स्वरूपात् स्वहेतोर्वा परं ज्ञानं ततः, कुतो नैव स्यात् 'ज्ञाता' इति सम्बन्धः। अत्र दृष्टान्तमाह–**अचेतनवत्** इति। घटादिः अचेतनः तेन तुल्यं वर्त्तते इति तद्वत् इति। प्रयोगश्च–यो ज्ञानस्वभावरहितो नासौ ज्ञाता यथा घटादिः, ज्ञानस्वभावरहितश्च परस्य आत्मा इति।

ननु किमिदमचेतनमिति? चेतना[ऽ]समवायिकारणम्; तत्समवायिकारणं तर्हि चेतनं प्रसक्तमिति आत्मापि चेतन इति कथम् अज्ञाता, चेतनस्यैव तद्व्यपदेशादित्यभ्युपगमविरोधः।
१५ न च चेतनास्वभावो न तत्समवायिकारणम्; अरूपादिस्वभावस्यापि घटादे रूपादिसमवायिकारणत्वोपपत्तेः। अथ चेतनायाः अन्यदचेतनम् [१९३क] स्यात्; न च तदस्ति, प्रमाणाऽभावादिति दृष्टान्तमात्रमशेषमिति न साध्यधर्मिसंभवः, तद्भावे वा तत एवासिद्धेः (एव सिद्धेः) किमेतेन अनुमानेन? अत एव तत्सिद्धौ अन्योऽन्यसंश्रयः–तथा हतो (हि–अतः) तस्य आत्मतत्त्वसिद्धौ अन्ये घटादयो दृष्टान्तीभवन्ति, ततश्च तत्सिद्धिः इति। यदि पुनः अचेतनत्वाविशेषेऽपि आत्मन
२० आश्रयत्वं घटादेस्तत् 'अचेतनवत्' इति सामान्यवचनेन लभ्य[ते] इति चेत्; न; उभयथाप्यदोषात्। तथाहि–अस्तु तावच्चेतनाऽसमवायिकारणम् अचेतनं घटादि, चेतनं च तत्समवायिकारणम्, तथापि न इत्युपगममाहानिः (महानिः), चेतनापरिणामकारणस्यैव समवायिकारणत्वात् नान्यस्य, अन्यथा चक्षुरादेरपि तत्कारणत्वप्रसङ्गात्। तत्र तस्याः असमवायान्नेति चेत्; अथ कोऽयं तत्र समवायः? तस्मिन् सति आत्मलाभ इति चेत्; प्रसङ्गः पूर्ववद्भवेत्। तत्रो-
२५ त्कलितं(तत्वम्;) तदेव न बुध्यामहे। तस्मिन् सति तदात्मन उद्भव इति चेत्; न किञ्चित् परिहृतम्। 'तदाधेयत्वम्' इत्यपि वार्त्तम्; भूतले कलशादेः समवायप्रसङ्गात्। अयुतसिद्धस्य इति चेत्; किमिदमयुतसिद्धस्य इति? अपृथक्सिद्धस्येति चेत्; न; [अ]पृथक्सिद्धत्वं यदि कारणादेकान्तेनाभिन्नसिद्धत्वम्; सांख्यदर्शनम्। अथ कथञ्चित्; जैनशासनम्। स्यान्मतम्–

---

(१) दृष्टान्ते मण्यादौ। (२) चेतनस्य समवायिकारणं यन्न भवति तदचेतनमित्यर्थः। (३) ज्ञातृव्यपदेशात्। (४) चेतनमस्ति। (५) चेतनसद्भावे वा। (६) धर्मित्वम्। (७) दृष्टान्तत्वम्। (८) चेतनायाः समवायिकारणं यन्न भवति तदचेतनमित्यर्थः। (९) यः स्वयं चेतनरूपेण परिणमति तस्यैव। (१०) चेतनासमवायिकारणत्वप्रसङ्गात्। (११) चक्षुरादौ। (१२) चेतनायाः। (१३) समवायाभावात्। (१४) चक्षुरादौ सति चेतनाया आत्मलाभस्य प्रतीतेः। (१५) सांख्येन कार्यकारणयोरभेदत्वस्वीकारात्।

कारणाभिन्नदेशकालप्रभवत्वम् ; आकाशादि [1]समवायिकारणं किन्न स्यात् ? नहि तद्देशादिपरिहारेण चेतनासंभवः [2]तदसर्वगतत्वप्रसङ्गात् । बुद्ध्यात्मप्रदेशस्य चक्षुराद्यभिन्नदेशत्वे बुद्धेरपि तद्भवति न वेति चिन्त्यताम् । [१९३ ख] ततः चेतनैव चेतनासमवायिकारणम् , तदकारणमचेतनम् इति स्थितम् ।

यत्पुनरुक्तम्—अरूपादिस्वभावा घटादयो रूपादिसमवायिकारणमिति ; तदप्यनेन निरस्तम् ; ५ ननु घटादिवत् आत्मनोऽपि अतत्स्वभावस्य चेतनासमवायिकारणत्वे साध्यदृष्टान्तयोरविशेष इति चेत् ; आस्तां तावदेतत् , अनन्तरं निरूपणात् । भवतु वा चेतनाया अन्यदचेतनम् , तथापि न सर्वस्य दृष्टान्ताऽविशेषः, अचेतनत्वेऽपि आत्मनः साध्यधर्मित्वेन उपादानात् , 'अन्यद् अचेतनं दृष्टान्तीभवति, यथा पिण्डोऽयं सास्नादिमान् गोवत्' इत्युक्ते अन्यो गौः दृष्टान्तीभवति । न चान्यधर्मसिद्धिचोदनम् ; न्यायसिद्धे तस्मिन् परारोपितधर्मनिषेधात् । १०

इदमपरं व्याख्यानम्—**यदि पुनः स्वत एव** स्वेनैव रूपेण ज्ञाता अर्थग्रहणपरिणामी **न स्याद्** आत्मा **परतो**ऽसमवायि-निमित्तकारणात् **कुतः** स्यात् ? नवै नहि **तथापरिणामस्वभावरहितस्य** कस्यचिद् अन्यः **तथापरिणामः अचेतनवत्** पृथिव्यादिवत् इति, लोकायतापेक्षया घटादिवत् इति ।

ननु यदुक्तम्—'आत्मनः चेतनस्याभेदे तद्वत्[3] चक्षुरादिरपि तत्समवायिकारणं स्यात् , भेदस्य १५ समवायस्य वाऽविशेषादिति ; तन्न युक्तम् ; भेदाऽविशेषेऽपि कस्यचिदेव कस्याश्चित् प्रत्यासत्तेः कार्यं प्रति [4]तत्कारणत्वोपपत्तेः, चित्रत्वाद् भावशक्तीनामिति चेत् ; अत्राह—**परस्य** इत्यादि । **परस्य** ज्ञातुः अन्यस्य कारणस्य **अतिशयस्य** सामर्थ्यस्य [१९४ क] **कल्पनायां 'स्वत एव'** इत्यनुवर्त्तते, अन्यथा अनवस्था स्यादिति मन्यते । **आत्मनः किन्न कल्पयेत्** स्वत एव ग्रहणातिशयं नैयायिकः, कल्पयेदेव न्यायस्य समानत्वादिति मन्यते । २०

अथवा, अन्यथा पूर्वपक्षयित्वा इदं व्याख्येयम्—'नात्मा स्वतः परतो वा ज्ञाता तस्य ज्ञानसम्बन्धाऽभावात् , अपि तु [5]प्रधानं ज्ञातृ विपर्ययात् , ततस्तस्यैव मिथ्याज्ञानग्रहादयः परतो विपर्यासोपपत्तेः परिणामित्वात् , नात्मनो विपर्ययात् इति सांख्यः ; तं प्रत्याह—**परस्य** इत्यादि । **परस्य** आत्मनोऽन्यस्य प्रधानस्य **अतिशयकल्पनायां** यथार्थेतरज्ञानसामर्थ्यकल्पनायाम् **आत्मनः** पुरुषस्य तमतिशयं **किन्न कल्प्यते,** यतः सांख्यप्रधानवद् आत्मनोऽपि परिणामाऽविरोधाविति २५ मन्यते ।

ननु भवतु स्वतो ज्ञाता आत्मा सावरणश्च तथापि आवरणाभावे अक्षव्यापारसमकालमेव भावतोऽर्थं विषयीकरोतु तन्मात्र एव तत्सामर्थ्यात् । तद्यथा—*"**प्रदीपः अनावरणेऽपि स्वयोग्यमेव प्रकाशयति न सर्वम्**" इति प्र ज्ञा क रः ; तत्राह—**'ज्ञस्वभावस्य'** इत्यादि । जानाति इति ज्ञः स्वभावो यस्य **ज्ञस्वभावस्य** आत्मनः **जानतो न कश्चिद् विरोधः** । किम् ? इत्याह— ३०

(१) चेतनासमवायिकारणम् । (२) आकाशस्य असर्वगतत्वप्रसङ्गात् । (३) आत्मवत् । (४) समवायिकारणत्वोपपत्तेः । (५) प्रकृतिः सांख्याभिमता ।

द्रव्यम्, न गुणपर्यायौ। अनेन रूपाद्यवयवात्मन एकस्य स्थवीयसः तेन ग्रहणादिति मन्यते। वर्तमानकालविशेषणं तत्तस्य जानतो न विरोध इति चेत्; अत्राह–**त्रिकालगोचरम्**। त्रयः कालो गोचरो यस्य तत् तथोक्तं त्रिकालावयविरूपमित्यर्थः। एवमपि खण्डशो जानत इत्याह–**अशेषं सर्वम्**। केन प्रकारेण? [१९४ख] इत्याह–**कथञ्चित्**। येन केनचित् प्रकारेण। तथाहि–

५ पूर्वं चक्षुरादिना नवत्वादिविशेषणविशिष्टस्य घटस्य ग्रहणम्, पुनः तस्यैव[2] तेन पुराणत्वविशिष्टस्य, तदनन्तरं पूर्वपर्यायविशिष्टस्य स्मरणात्, प्रत्यभिज्ञानात् पूर्वापरपर्याययोः तां यावः (तदेकत्वस्य), तर्केण जन्मादिमरणपर्यन्तं पर्यायाणाम् एकत्वाविनाभाविनां दर्शनस्मरणाभिज्ञानजन्मना साकल्येन सामान्यतः स्वसाध्याऽविनाभावे तेषां[3] गृहीते सति, द्रव्यस्य अनन्तता अनुमानतः प्रतीयते इति।

एके अनुमानजन्मना मानसप्रत्यक्षेत्व (णेति; तत्) कथम् इति चिन्त्यम्। अक्ष-

१० जातयत्वात् (अक्षातीतत्वात्) न किञ्चिदप्रत्यक्षं स्यादिति चिन्तितम्।

कदा? इत्याह–**प्रतिबन्धाभावे**। यस्य ज्ञानस्य स्वविषये प्रवर्तमानस्य यत् प्रतिबन्धकं कर्म तस्य अभावे सति। ननु ज्ञानस्वभावस्य प्रतिबन्धकाभावेऽपि अभिन्नदेशकालाऽर्थग्रहणमात्मनः; अन्यथा अतिप्रसङ्ग इति चेत्; अत्राह–**अप्राप्यकारिणः**। प्राप्तुं ग्राहकसमानदेशकालं कर्तुं शक्यं प्राप्तं (प्राप्यं) यन्न तथा भवति तदप्राप्यं कर्तुं गृहीतुं शीलस्य अप्राप्यकारिणः, देशवत् कालभिन्न-

१५ स्यापि ग्रहणे विरोधाऽभावादिति मन्यते। [4]यस्तु मन्यते स्वरूपादन्यत्र न ज्ञानस्य प्रवृत्तिः तत्कथमुच्यते **अप्राप्यकारिण** इति? स द(प्र)ष्टव्यो भवति–कथं स्वरूपे वृत्तिः? तत्र वर्तमानस्य दर्शनादिति चेत्; तदितरत्र समानम्। निरूपपितु (रूपितं) चैतत्।

अत्राह मीमांसकः–तदशेषं जानतः षड्भिः प्रमाणैर्न कश्चिद् विरोधः'[5] इति। तं प्रत्याह–**स्व** इत्यादि। यथोपवर्णितस्य **आत्मनः स्वविषयं** सत् **सर्वम्** [१९५क] अन्यथा व्याप्त्यप्रतिपत्तिः[6],

२० तत्र **वैशद्यमनुभवतो न कश्चिद् विरोधः** 'प्रतिबन्धाभावे' इत्यनुवर्तते। दृष्टान्तमाह–**परोक्ष** इत्यादि। ननु प्रत्यक्षपरोक्षवत् इति वक्तव्यम् न्याय्यत्वादिति चेत्; न; परमतापेक्षया एवमभिधानात्। तथा हि– यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण–*"**कथमेकत्रैं क्रमवित्तयोऽवगम्यन्ते यतोऽशेषं द्रव्यं कथंविज्ञा(थञ्चिज्जा)नतो न कश्चिद् विरोध इति स्यात्**" इति तदुद्दिश्य **परोक्षं** साधारण-(णा) स्पष्टाकारविषयमानादिविकल्पज्ञानं तत्र **तत्प्रत्यक्षं** च स्वरूपापेक्षया तेन तुल्यं वर्तते इति

२५ **तद्वद्** इति व्याख्येयम्। यथा एकं युगपद् आकारद्वयसाधारणमवगम्यते तथा क्रमेण अनेक-वित्तिसाधारणमिति मन्यते। मीमांसकमुद्दिश्य समत्वका (समन्धका) राद्यन्तराऽविशदवृक्षादि-ज्ञानं **परोक्षं** तदिव। चकाराभावे वि(ऽपि) सत् प्रत्यक्षमुच्यते तस्य इव तद्वत् इति व्याख्येयम्।

पक्षे प्रमाणाबाधं दृष्टान्ते साध्यं दर्शयन्नाह सौगतः–**नास्माकं** इत्यादि। **नास्माकं** सौगतानाम् **आवरणं** च ज्ञानावरणीयादिकर्म, **क्षयश्च उपशमश्च** अन्यस्य अप्रकृतत्वात् अश्रुतेः,

(१) द्रव्यम्। (२) घटस्यैव। (३) पर्यायाणाम्। (४) प्रज्ञाकरः। (५) "यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते। एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते। नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते॥"–मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १११–१२। (६) व्याप्तेः त्रिकालगोचरत्वात्। (७) आत्मनि। (८) क्रमज्ञानानि। (९) परोक्षं ज्ञानम्।

स्वावरणस्यैव क्षय उपशमश्च गृह्यते तेषां च **सा (वशात्) बुद्धिः** नावरणवशात् **मिथ्याबुद्धिः** येन '**मत्यज्ञानभेदात्**' (दा) इत्यादि शोभेत। नापि तत्क्षयोपशमवशाद् यथार्थबुद्धिः यतो '**ज्ञस्वभावस्य**' इत्यादि च। कुतः तर्हि सा ? इत्यत्राह-**अपि तु,** किन्तु **स्वकारणशक्तेः** मिथ्याबुद्धेः कारणं कदाचित् कलुषितं लोचनादि *"**तिमिराशुभ्रमण**" [न्यायबि० १।६] इत्यादि[1] वचनात्, यथार्थबुद्धेः तदेव विपरीतम्, तस्य शक्तिः [१९५ख] यथोक्तज्ञानजननसामर्थ्यम् ५ तस्या बुद्धिः इति सम्बन्धः।

ननु यथा कामलाद्युपलिप्ताच्चक्षुरादेः इन्द्रियजा भ्रान्तिः तथा कर्माऽऽवरणोपलिप्तात्मनः सा मानसी विकल्पभ्रान्तिरिति; अत्राह-**स्वलक्षण** इत्यादि। **स्वलक्षणदर्शनेन आहिते** स्थापिते **सन्ताने** या **विकल्पवासना** विकल्पकारणभूता वासना। यदि वा, तद्दर्शनाहिता स्वकार्यजननं प्रत्यभिमुखीकृता पूर्वपूर्वविकल्पजनिता वासना तस्याः **प्रकृतेः** स्वभावात् नावरणो- १० द्भूतेः **संवृतिः** स्वतः उद्भूता तत्त्वसंवरणात् सामान्यादिति (वि) कल्पबुद्धिः। सा किं करोति ? इत्याह-**व्यवहारं** मिथ्येतररूपम् **आरचयति**। कुतः ? इत्याह-**वस्तुमात्रव्यवसायात्**-अस्वलक्षणेऽपि स्वाकारे स्वलक्षणलेशाध्यवसायात्। अनेन मिथ्यात्वमस्य दर्शयति। **चेत्** शब्दः पराकूतोद्द्योतकः।

ननु मत्तमूर्च्छितादेः इन्द्रियजा मानसी भ्रान्तिः विषादिमूर्च्छ्यसवसंय(मूर्च्छाशयसंपर्क) १५ कलुषितप्राक्तनात्मनसो दृष्टापि यद्दृष्टतथाविधभावसंपर्कमनःपूर्विका कल्प्यते; तर्हि क्षित्यादेः बीजसह[कृता]या दृष्टोऽपि अङ्कुरः खलविलादिव्यवहिते बीजे अङ्कुरो दृश्यमानः क्षित्यादेरेव किन्न कल्प्यते ? तथा, यद्यथा (?) यथा मदिरादिप्रतिबन्धनिवृत्तिः तथा ज्ञानेषु मिथ्यात्वनिवृत्तिर्दृष्टापि यद्यन्यथा स्यात्; न तर्हि कारणनिवृत्तिप्रयुक्ता कार्यनिवृत्तिरिति न क्वचिद् व्यवतिष्ठेत इत्यभिप्रायवता '**मिथ्याज्ञानम्**' इत्यादि वदता एतत् परिहृतं यद्यपि तथापि भङ्ग्यन्तरेण २० [१९६क] परिहरन्नाह-**न** इत्यादि। परोक्तनिषेधे **न** इति शब्दः। कुतः ? इत्याह-**क्षणिकैकान्ते अर्थस्य** कार्यस्य **क्रिया** करणं **तद्विरोधस्य निर्णयाद्** अनन्तरातीतप्रस्तावे इति शेषः।

ततः किं जातम् ? इत्याह-**कार्य** इत्यादि।

[कार्यकारणता नैव चित्तानां सन्ततिः कुतः।
सन्तानान्तरवद्भेदात् वा यवासकता कुतः ॥३॥ २५

सत्यां च कार्यकारणतायां कुतः क्वचित् सन्ताननियमः ? सर्वत्र सर्वेषामानन्तर्या-

---

(१) "तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्य···-तिमिरमक्ष्णोर्विप्लवः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम्। आशुभ्रमणम् अलातादेः। मन्दं हि भ्राम्यमाणे अलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्। एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम्। नावा गमनं नौयानम्। गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यत इति यानग्रहणम्। एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम्। संक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणाम्। वातादिषु हि क्षोभं गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते। एतच्च अध्यात्मगतं विभ्रमकारणम्। सर्वैरेव च विभ्रमकारणैरिन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिकाश्रयगतैः इन्द्रियमेव विकर्तव्यम्।"-न्यायबि० टी० १।६। (२) निरर्थकमिदम्।

विशेषात् । सत्यपि वास्यवासकता न भवत्येव प्रत्यासत्तेरभावात् । ततो विकल्प एव [न] भवेत् ।]

तद्विरोधनिर्णयात् **कार्यकारणता** कार्यता कारणता वा **नैव** । केषाम् ? इत्याह–**चित्तानां** 'क्षणिकैकान्ते' इत्यनुवर्तते । अर्थक्रियारूपत्वात्तस्या इति भावः । मा भूत् सा, तथापि

५ किम् ? इत्याह–**सन्ततिः** सन्तानः **कुतः 'चित्तानाम्'** इति सम्बन्धः । कार्यकारणताविशेषलक्षणत्वात् सन्ततेरिति मन्यते । भवतु वा तत्र तेषां कारणता तथापि दोषः, इत्याह–**वास्यवासकता** पूर्वचित्तं तस्य(तस्य) वासकता, उत्तरचित्तस्य वास्यता **कुतः** नैव । कुतः ? **भेदात्** नानात्वात् 'एकसन्तानत्वेन अभिमतचित्तानाम्' इति घटना । दृष्टान्तमाह–सन्तानान्तराणामिव **सन्तानान्तरवद्** इति ।

१० कारिकां विवृण्वन्नाह–**सत्यां च** इत्यादि । **च** शब्दः अपिशब्दार्थः संभावनायाम् । सत्यामपि **कार्यकारणतायां क्वचित्** लक्षणैकान्ते (क्षणैकान्ते) **कुतो** न कुतश्चित् **सन्ताननियमः**– 'अयम् एकः सन्तानः, एते च नानासन्तानाः' इति विभागः; 'तदेकान्ते' इत्यनुसम्बन्धः ।

ननु येषां क्षणानाम् आनन्तर्येण पूर्वापरभावः तेषामेकसन्तानत्वम् अन्येषां विपर्यय इति चेत्; अत्राह–**सर्वत्र सर्वेषाम्** इत्यादि । **सर्वेषां** भिन्नैकसन्तानपातिनां क्षणानाम् **आनन्तर्याऽ-**

१५ **विशेषात् सर्वत्र** बहिरन्तर्वा । यद्वा, **सर्वत्र** कार्यकारणाभिमतानाम् **सर्वेषां तदविशेषात्** इति प्रत्येयम् ।

अत्रापरः [१९६ख] प्राह–नानन्तर्यात् सन्ताननियमः, अन्यथापि तद्भावात्, जागत्प्रबोधचेतसोरिवेति; तस्य समानं कालंश्रये (कालं येषां तानि) जाग्रच्चेतांसि कस्यचित् प्रबोधस्य एकसन्तानानि कुतो न भवन्ति ? देशादि देशस्य भेदस्य सर्वत्राविशेषात् । एकस्य अनेको-

२० पादानाभावात् [न] इति चेत्; कथमेकस्माद् देवदत्तजाग्रद्विज्ञानात् प्रबोधज्ञानपञ्चकं कदाचित् भवति । एकस्यैव ततो भावे अन्येषामनुपादानत्वम् । तेषां तद्विज्ञानात् पूर्वज्ञानोपादानत्वे 'नैकसामग्र्यधीनः भावानां सहभावः' इति निःसारमेतत्–*"एकसामग्र्यधीनस्य" [प्र०वा० ३।१८] इत्यादि । रसादीनां सहभावे हि एकसामग्र्यधीनतानियमाभावात् । न कालभावा (नैककालभाविनाम्) एकसामग्रीव्यपदेशता इत्युक्तम् । तद्भावेऽपि न ज्ञायते किं कस्य तत्रोपा-

२५ दानमिति । रूपज्ञानं रूपज्ञानस्य, एवमन्यत्रापि योज्यमिति चेत्; आद्यं सौगतं ज्ञानमनुपादानं प्रसक्तम्, पूर्वं तथाविधस्य तदुपादानस्याभावात्, अन्यथा कुतः सोपायं सुगतत्वम् ? अनुमानस्य विकल्पेन भिन्नसन्तानत्वे तु प्रत्यक्षं प्रति उपादानत्वम्, अन्यथा विकल्पस्य तद् इति "**अभेदात् सदृशस्मृत्या**" [सिद्धिवि० १।७] इत्यादि दूषणमविचलितम् । अतो यथा एकमनेकस्य उपादानम् तथा अनेकमेकस्य, इतरथा जाग्रद्विज्ञानपञ्चकात् नैकं कदाचिद् [इति]

(१) कार्यकारणतायाः । (२) चित्तानाम् । (३) व्यवहितकारणवादी प्रज्ञाकरः । (४) व्यवहितेऽपि । (५) समानकालानि । (६) व्यर्थमेतत् । (७) प्रबोधचेतसः । (८) जाग्रच्चेतसः । (९) जाग्रद्विज्ञानात् । (१०) सर्वज्ञातुः ज्ञानस्य । (११) यदि पूर्वमपि सौगतं सर्वज्ञज्ञानमस्ति तदा कुतः 'उपायात् सर्वज्ञत्वं जायते' इति स्यात् ?

अन्येषामानर्थक्यम् । सहकारित्वान्नेति चेत् ; तर्हि विषादिमू[illegible]धं प्रति वैनतेयादि-ध्यानादकमपार्थकम्[1] । भिन्नकालानामेकत्र सहकारित्वे अनुमीयमानरूपसमानकाल्यरसः[2] पूर्व-रूपादेरुपजनने सहकारीति सामग्र्येकदेशः सामग्र्या लिङ्गमिति प्रसक्तम् ।

किञ्च, एकत्र भिन्नकालानेकोपादानसहकारिज्ञानव्यापारसंभवे न ज्ञायते भेदैकान्ते[3] सन्ततिनियम इति तदवस्थो दोषः । न च तेषां सजातीये उपयोगे अन्यत्र उपयोग इति चिन्ति-तम् । तत्र प्रबोधभिन्नकाले उपयोगो वा[4] तथैकस्य क्रमभाविनि कार्ये व्यापार इति *"नाऽक्रमात् क्रमिणो भावाः" [प्र० वा० १।४५] इति न बुद्ध्यामहे ।

अन्ये त्वाहुः–न अनन्तरं नापि भिन्नकालमुपादानम्, अपि तु सदृशम्, अतोऽयं नियम[5] इति ; तेषां शान्तचेतसः कुतश्चिद्[6] आविष्टप्रबोधभावे कथं स[7] इति निरूप्यताम् ? पुत्रस्य पितृचित्तधर्मानुवृत्तौ संभवेत्[8], नियमाभावः[9] अन्यत्रापि । तन्न सन्ताननियम इति स्थितम् ।

भवतु वा तन्नियमः, तथापि दोषः इत्याह–**सत्यपि** इत्यादि । पूर्वचित्तस्य **वासकता** अपरस्य **वास्यता न भवत्येव** । कुतः ? इत्याह–**प्रत्यासत्तेरभावात्** ।

अथ केयं प्रत्यासत्तिः यस्याः त्वया अत्राभावोऽभिधीयते ? हेतुफलभाव इति चेत् ; सा अस्त्येव इति हेतोरसिद्धिः, '**सत्यपि**' इत्यादि वचनात् । [10]अन्यथाऽभ्युपगमे वा दोषः । देशादि-नैकट्यम् ; तर्हि तदभावेऽपि[11] उपादानोपादेयभाववद् वास्यवासकभावोऽपि न विरुध्यत इति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुः । यदि पुनः तदभावे अनुपादानेतरभावोऽपि नेष्यते ; '**सत्यपि**' इत्यभ्युपगमविरोधः इत्युक्तो दोषः । यदि पुनः योग्यता ; कुतस्तदभावो भेदैकान्ते ? वास्य-वासकत्वेन अभिमतयोः देशादिभेदात् ; [१९७ख] उक्तमत्रापि जन्यजनकभावयोग्यताभावात्, इयमपि योग्यता न विरुध्यत इति । दृष्टत्वाच्च, दृष्टं खलु जाग्रच्चित्तं शास्त्रादिपरिज्ञानंपरि(नपरि)करं देशादिव्यवहिते प्रबोधचेतसि वा नि(वि)रूपां वासनामादधानम् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । न च स्वापादिदशाऽनु[भूयते] । यापि तत्परिकरचेतस्त्वचित्तकैः अनुभूयते [12]तद्दशाभावभयात् यतस्तत्र वासना कल्प्यते इति तथा कर्पसादि (कार्पासादि[13]) कुसुमं कुस्थमादिरक्तं कालादिव्यवहिते फलजाग्रि । बीजपूरादिकाण्डादि काण्डादिकरक्तं यतः स्यात् भवेत् (?) ।

यत्पुनरेतत् निदर्शनम्–'**सन्तानान्तरवत्**' इति ; तदपि न सूक्तम् ; वैधर्म्यात्, हेतुफल-भावस्य नियतत्वात् । अन्यत्रापि अस्य चोद्यस्य समत्वादिति ; तन्न ; अन्यथाऽभिप्रायात् ; तथाहि–राज्ञा (राज्ञो) राजपुत्राणामिव भेदेऽपि यथाकथञ्चिदस्तु लौकिकः सन्ताननियमः, वास्यवासकभावः पुनः कथञ्चित् कारणानुरूपकार्यभावः । स[14] पूर्वमेव कारणविनाशे न युक्तः ।

---

(१) गरुडध्यानादिकम् । (२) काले भवः काल्यः । (३) क्षणिकैकान्ते । (४) वा शब्दः 'यथा' अर्थे । (५) सन्ताननियमः । (६) क्रोधादिसद्भावे । (७) एकसन्ताननियमः । (८) एकसन्तानत्वम् । (९) नियमान्न पुत्रः पितृचित्तमनुवर्तते इत्युक्ते प्राह । (१०) हेतुफलभावाभावस्वीकारे । (११) देशादिनै-कट्याभावेऽपि । (१२) स्वापादिदशा । (१३) तुलना–"व्यवहितस्यापि लाक्षारसादेरुपधानस्य दर्शनादिति" –प्र० वार्तिकाल० पृ० ४३३ । "लाक्षादिरसावसिक्तानामिव बीजानां···"–तत्त्वसं० प० पृ० १८२ । (१४) वास्यवासकभावः कारणानुरूपकार्यभावो वा ।

न हि यथा पितरि मृतेऽपि कालान्तरे तत्सन्तानं च गृह्णन्ति पुत्रादयः, दृश्यते अद्यापि राज्य-स्थितेन राज्ञ (ज्ञाऽ)जनितोऽपि स्वराज्ये पुनः निवेशितः तत्सन्तानव्यपदेशभाक्, तथा [1]तदाकारम् ; अन्यथा चिरमृतेऽपि भर्त्तरि विधवायाः चिरभाविनि वा[2] कन्यायात्र(यास्त)दाकारमपत्यं भवेत् ।

५ यत्पुनरेतदुक्तम्–मृतेऽपि जाग्रच्चेतसि तदनुरूपं प्रबोधज्ञानमिति ; तदपि न सारम् ; *"सिद्धं यत्र परापेक्ष्यम्" [सिद्धिवि० ४।२४] [१९८क] इत्यादि कारिकाविचारे विचारितत्वात् । अपि च, अदर्शनमात्रेण स्वापादौ आत्माभावसिद्धौ घटादावपि स्यादिति न निराकुलमेतत्[3] *"अदृश्यानुपलम्भादात्मनो घटादिषु अभावाऽप्रतिसिद्धौ घटादीनां नैरात्म्याऽसिद्धेः निरात्मकेभ्यो घटादिभ्यः प्राणादेः अनिवृत्तिः" इ[ति]ना[दृश्यानुपलम्भ]

१० नादभावासिद्धिः, अपि तु प्रतिपत्रभिप्रायविषयाद् अवस्थाचतुष्टयादि[4][ति चेत्,] तर्हि सात्मकाऽनात्मकावस्थाभेदात् तद्विषयात् घटादीनां नैरात्म्यं केन वार्यते ? यथा च'सुप्तो देवदत्तः सुषुप्तो मृतो जीवति' इति व्यवहारभेदः, तथा कारणात् कार्यात् स्वभावाद् अन्यतश्च साध्यसिद्धिव्यवहारभेदोऽस्ति, स किन्नाऽभ्युपगम्यते ? कारणान्ययोऽर्यभिचारदर्शनात सर्वथानाश्वासे (कारणादीनामन्योन्यं व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रानाश्वासे) दृश्यादर्शनस्य व्यभिचारदर्शने स्वापादौ किन्नाम

१५ (किन्न आत्म)सत्त्वाशङ्का स्यात्, यतः जाग्रच्चेतस एव प्रबोधो निश्चीयेत ? न च व्यवहारः चैतन्यविर[हि]णीं स्वापादिदशां मन्यते, तद्वत्यपि[5] जीवद्व्यवहारप्रवर्त्तनात् । [6]तेषां च [7]तत्र [8]तदभावमननादभावे न क्वचित् क्षणभङ्गदर्शनं सिध्येत्[9] । '[10]तैः' अनुपलक्षितं [11]तदस्ति न स्वापादिचैतन्यम्' इति किं कृतो विभागः ?

यत्पुनरुक्तम्–कार्पासादिकुसुमे लाक्षादिरागात् फले तद्रागवासना इति ; तदप्यतिसाहसम्;

२० रञ्जितपुष्पस्य व्यवहितफलकारणत्वे अवान्तरबीजाङ्कुरादिवैफल्यम् । कथञ्चैवम् 'अनन्तरोऽर्थः ज्ञानं स्वाकारं जनयति' इति नियमः, [१९८ख] यतस्तदर्थिनां नियतदेशादौ वृत्तिः ? ततः स्थितम्–'क्षणिकैकान्ते वास्यवासकता न भवति' इति ।

तदभावे को दोषः ? इत्याह–तत इत्यादि । यत एवं **ततो विकल्प एव [न] भवेत्** कारणाभावादिति[12] मन्यते ।

२५ नन्वस्य सर्वस्य अभावो न बौद्धान् प्रति[13] प्रतिभासाद्वैतवादिनो बाधते अभीष्टत्वात् । न च पक्ष एव विपक्षः अतिप्रसङ्गादिति चेत् ; अत्राह–**अन्यतोऽपि (तो विनिवृत्ता)** इत्यादि ।

---

(१) पितुः आकारं न हि तत्सन्तानत्वेन गृह्णन्ति । (२) भर्त्तरि । (३) तुलना–"नेदं निरात्मकं [illegible]प्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात् । निरात्मकेषु घटादिषु दृष्टादृष्टेषु प्राणाद्यदर्शनात् तन्निवृत्त्या आत्मगतेः । अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धौ घटादेर्नैरात्म्यासिद्धेः प्राणादेरनिवृत्तिः ।"–प्र० वा० स्व० पृ० ६२ । (४) जाग्रत्सुप्त[illegible]सुषुप्तमृतेतिअवस्थाचतुष्टयमत्र ग्राह्यम् । (५) स्वापादिमत्यपि पुरुषे । (६) व्यवहारिणाम् । (७) स्वापादिदशायाम् । (८) चैतन्याभाव । (९) व्यवहारिभिः क्षणभङ्गस्याऽमननात् । (१०) व्यवहारिभिः । (११) क्षणभङ्गदर्शनम् । (१२) विकल्पस्य वासनाजन्यत्वस्वीकारात् । (१३) निरर्थकमेतत् ।

[अन्यतो विनिवृत्ता धीः स्वभावम् वर्तते ।
प्रत्य...थात्मैकः प्रतिक्षण[विलक्षणान्] ॥४॥

सर्वतोऽन्यस्याद् व्यावृत्तं चित्तं बहिरन्तर्मुखभ्रान्ताभ्रान्तस्वभावान्वयि तत्क्षणस्थितिधर्मकं परिकल्प्य आत्मानमेव स्वगुण[पर्यायात्मकं] स्वतः संवेदननिष्ठितं प्रतिक्षिपतीत्ययुक्तम् ।] ५

अत्रायमभिप्रायः–चित्रमेकं ज्ञानं तदद्वैतम्, निरंशानेकज्ञानमात्रम्, सर्वविकल्पातीतं विभ्रममात्रं वा यत्रेदमुक्तम् *"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवद् असत्त्वेऽपि अदोषः" [प्र० वार्तिकाल० पृ० २८६] इति ? तत्र प्रथमपक्षे–**अन्यतः** सजातीयात विजातीयाच्च **[वि] निवृत्ता** अपसृता **धीः** बुद्धिः **स्वभावान्** आत्मभूतान् आकारान् **अनुवर्तते** व्याप्नोति । कान् तान् ? इत्याह–**प्रत्यक्षादीन् प्रत्यक्षो**[ऽ]भ्रान्त **आदि**र्येषां भ्रान्तनीलादीनां ते १० तथोक्तानिति (क्ताः तानिति) । अनेन *"**एक[त्र] विरुद्धधर्मध्या[स]संभवे अनेकमेव न किञ्चित् स्यादिति सर्वस्य सर्वत्रोपयोगादिप्रसङ्गः**"[1] इत्यादि निरस्तमिति दर्शयति । चित्रैकचित्तस्य विरुद्धधर्माध्यासेऽपि पततोऽ(परमार्थतोऽ)भ्युपगमात् सौगतैरिति । **तथा** शब्दश्रवणात् यथाशब्दः अत्र लुप्तनिर्दिष्टोऽनुमीयते । **तथा** तेन एकस्य अनेकस्वभावभूताकारतादात्म्यप्रतिभासप्रकारेण, सहोत्पत्तिविनाशसंवेदनप्रकारेण सहभुवां सर्वेषां क्षणानामेकत्वप्रसङ्गेन [१९९क] १५ एकसन्तानापत्तेः **आत्मा** पुरुषः **एकः** 'स्वभावोऽनुवर्त्तते' इति सम्बन्धः । कथंभूतान् ? इत्याह–**प्रतिक्षण** इत्यादि । एतेन अशक्यविवेचनमपि शक्यपरिहारमिति दर्शितम् । नहि तदपि[2] स्वाकारतादात्म्याभासाद् अन्यथा उक्तदोषाद् [3]अपरम् । आत्मस्वभावानामध्य(मप) हरणं प्रचण्डनृपतिधना(न)मिव अशक्यसाधनम् । एतेन परमात्रेन(मार्थेन) तेषां दर्शनं निरूपितम् । २०

ननु प्रतिभासाद्वैते विवक्षितधीव्यतिरिक्तस्याऽभावात् कथमुच्यते–'**अन्यतो विनिवृत्ता धीः**' इति । नहि असतः किञ्चिद् व्यावर्त्तते । सतोऽपि अदर्शने कुतः कस्य केन विनिवृत्तिः प्रतीयते ? न च अ[न]न्यवेद्येषु[4] वेदनेषु केनचिद् अन्यवेदनमिति चेत्; उक्तमत्र अन्यभावग्राहकप्रमाणाभावः । यथा च सुखेनाऽसंवेदनाद् दुःखाभावः तथा तेन सुखभावस्याऽवेदनादभाव इति न किञ्चिन् स्यात् । सुखेन अविपयीक्रियमाणं दुःखमस्ति न ज्ञानान्तराणि इति पश्यत परस्य २५ सुधियो (यो) दुश्चेष्टितम् ।

यत्पुनरुक्तम्–'सतोऽन्य...ता न कस्यचिद् विनिवृत्तिप्रतिपत्तिः' इति; तदपि परस्य स्ववधा(वधा)य शूलतक्षा(तक्षणम्[5]) स्वप्रतिभासमात्रस्याप्यसिद्धेः, ज्ञानेन तद्विपरीतधर्माऽनिषेधात् तद्दर्शनोपगमात्[6] । यदि पुनः, निरपेक्षसुखादिवेदनमेव तद्विपरीतधर्मनिषेधनम्;

(१) तुलना–"न चैकस्य विरुद्धौ स्वभावौ संभवतः, विरुद्धधर्माध्यासेन तस्यैकत्वहानिप्रसङ्गात् ।" –हेतु बि० टी० पृ० २२० । (२) अशक्यविवेचनमपि । (३) भिन्नप्रकारम् । (४) स्ववेद्येषु इत्यर्थः । (५) तीक्ष्णकरणम् । (६) विपरीतधर्माणामदर्शनात् ।

अविपर्यीकृतादपि तर्हि विनिवृत्तिः प्रतीयते' इत्यायातम् । अपि च, अयं स्वयमेव सर्वविकल्पान् प्रतिपद्यमानोऽपि तदतीतं तत्त्वं प्रतिपद्यते[1] वदति च *"नाऽविपर्यीकृताद् विनिवृत्तिसिद्धिः" इति तत्कारी तद्द्वेषी चेति उपेक्षामर्हति ।

यच्चान्यदुक्तम् [१५५ख] 'अनन्यवेद्येषु वेदनेषु न चान्यवेदनम्'; तदपि न सुन्दरम्;
५ प्रतिभासाद्वैताऽसिद्धिप्रसङ्गात् सर्वसंविदां निरालम्बनत्वाऽसिद्धेः । ततः सूक्तम्-'**अन्यतो विनिवृत्ता धीः**' इति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह-**सर्वतोऽन्यस्माद्** इत्यादि । **सर्वतो** विजातीयात् उपादानोपादेयाभि (यानभि) मतात् क्षणाद् **अन्यस्मात्** स्वतो भिन्नाद् **व्यावृत्तम्** अपमृतं **चित्तं** ज्ञानं **परिकल्प्य** । कथम्भूतम् ? इत्याह-**बहिरन्तर्मुखभ्रान्तात् तत्स्वभावान्वयि** (भ्रान्ताऽभ्रान्तस्वभावान्वयि)
१० बहिश्च अन्तश्च **मुखम**वभासनं ययोः तौ तथोक्तौ तौ च तौ **भ्रान्ताऽभ्रान्तस्वभावौ** तौ **अन्वे**तुं शीलम्, **तदन्वयौ** वा अस्यास्तीति **तदन्वयि** बहिर्मुखाभ्रान्तस्वभावान्वयि । यदि वा, **बहिरन्तर्मुखौ** यौ स्वभावौ **भ्रान्तौ च** (**भ्रान्ताभ्रान्तौ च**) यौ स्वभावौ तान् अन्वेतुं शीलमिति ग्राह्यम् । तथाहि-परस्यै सर्वं विकल्पज्ञानं स्वरूपे अभ्रान्तम्, *"**सर्वचित्तचैत्तानाम्**" [न्यायबि० १।१०] इत्यादि वचनात्, बहिः अर्थरूपे भ्रान्तम् *"**भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा**"
१५ इत्यादि वचनात्[5] । उपलक्षणमेतत्, तेन अविकल्पेतरनीलेतरस्वभावान्वयि गृह्यते । पुनरपि किम्भूतम् ? इत्याह-**अक्षण (तत्क्षण) स्थितिधर्मकम्** । न चैतत् '**सर्वतोऽन्यस्माद् व्यावृत्तम्**' इत्यनेनैव कथितमिति किं पुनरुच्यते, यद् विसर्वतो (यद्धि सर्वतो) व्यावृत्तं तत्क्षणस्थितिधर्मकमेव, अन्यथा न कं (न तत्) सर्वतो व्यावृत्तमिति चेत्; सत्यम्; तथापि यः पूर्वापरक्षणव्यावृत्तं नेच्छति तं प्रति तत्साधनार्थमिदं **तत्क्षण** इत्यादि । तथाहि-यस्मात् क्षणस्थितिधर्मकं
२० नश्वरस्वभावं [२००क] तस्मात् नाशं प्रति अनपेक्षणात् प्रतिक्षणं नाशनियतमिति । यदि वा, पूर्वेण सहभाविनः सर्वस्माद् व्यावृत्तमुक्तम्, एतेन 'पूर्वापराभ्याम्'[6] इति विशेषः । किं करोति ? इत्याह-**प्रतिक्षिपति**-निराकरोति । किम् ? इत्याह-**आत्मानमेव** जीवमेव न तच्चित्तमेव इति एवकारार्थः । किम्भूतम् ? इत्याह-**स्वगुण** इत्यादि । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह-**स्वतः** इत्यादि । **स्वतः** आत्मनैव **संवेदननिष्ठितम्** इति हेतोः **अयुक्तम्** अनुपपन्नम् परस्य सर्वमिति ।
२५ सांप्रतम् उत्तरं विकल्पत्रयं दूषयितुकाम आह-'**अभ्रान्तम्**' इत्यादि ।

[अभ्रान्तञ्चामुञ्चन्ती न मुञ्चत्यात्मचेतनाम् ।
बुद्धिः सीत्वा सदित्वा च आत्मानं प्रतिक्षणम् ॥५॥

चेतनोऽयमितीक्षमाणः परस्मात् सर्वतः परावृत्तः प्रतिक्षणमात्मानं नात्यन्ताय वै

(१) सर्वविकल्पातीतम् । "परमार्थतस्तु विज्ञानं सर्वमेवाविकल्पकम् ।"-प्र० वार्तिकाल पृ० ३०८, ३९८ । (२) इति महदाश्चर्यम् । (३) वाक्यमिदं पुनरुक्तमिव भाति । (४) बौद्धस्य । (५) "भ्रान्तिरपि च वस्तुसम्बन्धेन प्रमाणमेव ।"-प्र० वार्तिकाल० ३।१७५ । (६) क्षणाभ्यां व्यावृत्तमिति कथितम् ।

जहाति स्वगुणपर्यायान्वयलक्षणत्वात् तद्वस्तुनः । तद्व्यतिरेकभावस्यानुपपत्तेः कुतः सहेतुरहेतुर्वापि ।]

अभ्रान्तं जाग्रद्दशायां स्वरूपेऽपि वा, भ्रान्तं स्वप्नावस्थायां ग्राह्याकारे च **आत्मानं** स्वभावं **प्रतिक्षणं** क्षणं क्षणं प्रति **अमुञ्चती** [illegible] **दद्धिः [बुद्धिः]** सर्वस्य प्रतीतिविशेषः । सा किं करोति ? इत्याह–**'सीत्वा'** इत्यादि । **च** शब्दः अपिशब्दार्थः भिन्नप्रक्रमः ५ **'मुञ्चत्यात्मचेतनाम्'** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । **'न'** इत्यपि निपातानामनेकार्थत्वात् ननि (ननु इ)त्यस्य अर्थे[1], आक्षेपे । ततोऽयमर्थः–बुद्धिः ननु आत्मचेतनामपि न केवलं गुणिनमवयति तं परिणामिनं मुञ्चति जहाति, सकलशून्यता स्यादिति मन्यते । किं कृत्वा ? इत्याह–**सदित्वा** इति सूक्ष्मपरीक्षया स्थूलाद्येकस्वभावापि कथित (क्वथित)फलवत्[2] निरंशाऽनेकपरमाणुदशायां गंधा (गत्वा) । पुनरपि किं कृत्वा ? **सीत्वा** तादृक्षसाऽनन्दने (तादृक् स्वसंवेदने) १० बहिः परमाणुवत् मृता इत्यर्थः । तथा च सर्वदात्वे जगति जाते प्रतिभासमात्रस्यापि प्रत्यस्तमयात् [२००ख] किमाश्रयोऽयं कारणादीनां प्रतिषेधं ब्रूयादिति मन्यते । अनेन मध्यविकल्पद्वयं निरस्तम् ।

अन्त्यविकल्पमाश्रित्य इदमपरं व्याख्यानम्–**भ्रान्तमात्मानम् अमुञ्चती,** इतरथा *"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इत्यस्य १५ व्यवस्थापकप्रमाणाभावेन प्रतिज्ञामात्रत्वप्रसङ्गात् । न खलु विभ्रमाद् विभ्रमसिद्धिः; अतिप्रसङ्गात् । **भ्रान्तमात्मानममुञ्चन्ती** बहिरन्तश्च विरुद्धधर्माध्यासिनो विचाराक्षमस्य स्वभावस्यापि तत्र प्रतिभासनात् **प्रतिक्षणं 'बुद्धिः'** इति उभयत्र संबध्यते । किं करोति ? इत्याह–**न मुञ्चत्यात्मचेतनाम्** आत्मापरनामिकां पूर्वापरपर्यायां नयती (न्तीं) चेतनां न जहाति इत्यर्थः । किं कृत्वा ? इत्याह–**सीत्वा सदित्वाच (त्वा च)** इति लौकिकी वचनप्रवृत्तिरियम् । २० यदि वा, तमात्मानं प्रतिक्षणममुञ्चती बुद्धिः **'स्वभावात्(न्) प्रतिक्षणविलक्षणाद् (न्) अनुवर्त्तते'** इति गतया कारिकया सम्बन्धः ।

ननु न भ्रान्तं नापि अभ्रान्तमात्मानं बुद्धिः बिभर्ति तस्मान्तम् (तस्यात्यन्तम)भावात् सर्वविकल्पातीतत्वात्तत्त्वस्येति चेत्; अत्राह–**सीत्त (त्वा)** इत्यादि । आत्मचेतनां स्वप्रकाशं न मुञ्चन्ती अन्यथा स्थूलादिग्राह्यरूपवत् तत्परित्यागे बहिरर्थसत्त्ववद् भ्रान्तेतरविवेकोऽपि न २५ सिध्येदिति ***"अज्ञानार्थकोऽसौ (अज्ञातार्थप्रकाशो वा) इति पारमार्थिकं प्रमाणलक्षणम्"** इति[3] प्लवते ।

स्वाभिमतप्रदर्शनपरं कारिकार्थं दर्शयन्नाह–**चेतनोऽयम्** इत्यादि । **चेतनः** स्वपरग्रहणस्वभावः आत्मा **'एकः'** इति गतेन सम्बन्धतः (न्धः, न) [२०१क] नैयायिकादिपरिकल्पितः **अयम्** इति स्वसंवेदनाध्यक्षेण **ईक्षमानः** (णः) अहमि(अहमहमि)कया न पुरुषाद्वैतवादिसांख्यकल्पितः, ३०

---

(१) द्रष्टव्य इति सम्बन्धः । (२) 'क्वथितफलवत्' शीर्णफलवत् इत्यर्थः । (३) "तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् । पूर्वं तु सांव्यवहारिकस्य"–प्रमाणवार्तिकाल० २।६ ।

तत्र नित्यम् आगमगम्यत्वेन 'अयम्' इत्युल्लेखाभावात् । ननु (ननु) आगमवत् तत्र स्वसंवेदनाध्यक्षमपि व्याप्रियते ततोऽयमदोष इति चेत् ; अत्राह–'परा' इत्यादि । **परावृत्तः** अपसृतः **परस्माद्** आत्मान्तराद् घटादेश्च तथाप्रतीतेः । नैवं[1] ब्रह्मात्मा ; [2]तदद्वैतोपरमात् । मदीय आत्मा तथा इति सांख्यः ; तत्राह–**सर्वतः** सर्वेण स्वरूपेण इव देशादिनापि **परावृत्तः** । सर्वतः

५ आत्मादिपाठान्तम् । यदि वा, सर्वस्मात् सर्वतः नैवं सांख्यात्मा सर्वथा *"सर्वं सर्वत्र विद्यते" इत्यस्य विरोधात् । अनेन आत्मनः सर्वगतत्वसाधनं सर्वमध्यक्ष[बाधित]मिति दर्शयति ।

प्रतिक्षणनाशिक्षणसन्तानात्मा इत्थम्भूत इति सौगतः; तत्राह–**प्रतिक्षणम्** इत्यादि । क्षणं क्षणं प्रति **आत्मानं** स्वरूपं **जहदपि नात्यन्ताय** 'नात्यन्तम्' इत्यस्यार्थेऽवंत (-र्थे चतुर्थ्यन्त) [3]प्रतिरूपकोऽयं निपातो वर्तते, **जहाति** किन्तु कथञ्चित् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–

१० **स्वगुण** इत्यादि । **स्वे** आत्मीया ये **गुणा** ये च **पर्याया** न द्रव्यान्तरसम्बन्धिनः तेषु **अन्वयः** अनुगमनम् तस्य **लक्षणं** ग्रहणं स एव [वा]लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तम् तस्य **भावात् तद्वस्तुनः** चेतनस्य इतरस्य वा भावस्य । आत्मनि प्रकृते । अपि च, **वस्तुन** इति सामान्यवचनं दृष्टान्ते न पराभ्युपेतोपलब्धिः इत्यस्य प्रदर्शनार्थम् । एतदपि कुतः ? इत्याह–**तद्व्यतिरेकेण** इत्यादि । **तद्व्यतिरेकेण** अनन्तरवर्णित [२०१ख] वस्तुव्यतिरेकेण **भावस्य** ब्रह्मण इव निरंशविज्ञान-

१५ सन्तानस्यापि **अनुपपत्तेः** प्रमाणाभावादिति मन्यते । ततः किं जातम् ? इत्याह–**कुतो न** कश्चित् (कुतश्चित्) **सहेतुः** सकारणो **अहेतुर्वा** अकारणो वा अपि ना *["यो यद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षः स तत्स्वभावनियतः यथा अन्त्या कारण]सामग्री स्वस्वकार्योत्पादनं प्रति अनपेक्षया (क्षा) सती लअ (तद्) भावनियता, विनाशं प्रति अनपेक्षश्च भावः" [4]इति दुर्भाषितं साध्याद्यन्त्यधर्म्यसिद्धिः (?) ।

२० पुनरपि परस्य सहेतुके विनाशे दोषमुपदर्शयन्नाह–**हेतुमत्त्वे** इत्यादि ।

[हेतुमत्त्वे विनाशस्य नाशाद्भावः पुनर्भवेत् ।
नान्यथैकान्तिकाः सर्वेऽहेतुमन्नाशहेतवः ॥६॥

विनाशो यदि भावस्वभावो न भवेत् तस्य किं कुर्वाणो हेतुः स्यात् ? न तावदुत्पादयति ; पूर्वावधिपरिच्छिन्नसत्तासम्बन्धलक्षणत्वादुत्पत्तेः । तस्य कथञ्चित् केनापि

२५ कार्यत्वे भावस्वभावानतिक्रान्तेः भावः स्यात्, तल्लक्षणत्वाद् वस्तुनः । कादाचित्कं सदकार्यमिति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रं विरोधात् । तथा अनुत्पत्तिधर्मकम् अनाधेयाप्रहेयातिशयात्मकं तथा स्वविनाशहेतुभावान्न विनश्यतीति । विनाशे वा विनष्टस्य सत्ता । यदि वा सतोऽनुत्पत्तिः उत्पत्तिहेत्वभावात् । घटादेरप्येवं प्रसङ्गात् । स्वसामग्रीजन्मनः तद्विनाशकारणस्यावश्यंभावनियमाभावान्न कश्चिद्धेतुरव्यभिचारी स्यात् । विनाशहेतुः प्राग-

(१) परव्यावृत्तः । (२) परस्वीकारे अद्वैतवादविरोधः । (३) चतुर्थीप्रतिरूपको निपातः । (४) तुलना–"ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियताः, यथा समनन्तरफला सामग्री स्वकार्योत्पादने नियता, विनाशं प्रत्यनपेक्षाश्च सर्वे जन्मिनः कृतका भावा इति स्वभावहेतुः ।"–तत्त्वसं० प० पृ० १३२ । द्रष्टव्यम्–पृ०···टि०···।

सतो विनाशस्य स्वभावं करोति न सत्तासम्बन्धमिति चेत् ; कः पुनर्भावानामन्योन्याभावप्रागभावकर्त्ता ? यतस्तत्स्वभावस्थितिः । अस्ति कश्चिद्विशेषः । परस्परस्वभावदेशकालपरि[हा]रपरिणतिमभावं विद्मः । तथा हेतुमत्त्वं क्षणिकस्य विरु[द्धं] प्रमाणबाधितम् । न हि अतीतेन वर्तमान[स्य] तद्वत्ता अतिप्रसङ्गात् ।]

अत्रायमभिप्रायः–एकान्तवादिकल्पितस्य वस्तुनः प्रमाणाभावेन असत्त्वान्न तस्य हेतुर्वा (तुना) विनाश इत्युक्ति (क्तेः) लौकिकस्य अर्थस्य परेण स विनाशः कल्पनीयः, तत्रापि पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिलक्षणविकारस्य विनाशोत्पत्तिव्यपदेशे उभयत्रापि जैनमतसिद्धिः इत्युक्तमनन्तरप्रस्तावे अहेतुविनाशपक्षे *"उत्पादस्थितिभङ्गानाम्" [सिद्धिवि० ३।१७] इत्यादिना, सहेतुविनाशपक्षेऽपि *"अनादिनिधनं द्रव्यमुत्पित्सु स्थासुश (स्थास्नु)नश्वरम् ।" [सिद्धिवि० ३।२१] इत्यादिना । ततः तद्भयात्[1] तेन नाशोत्पादवत उत्पाद एकान्तेन भिन्नः अभ्युपगन्तव्यः । एवं च विनाशस्य भावादेकान्तेन भिन्नस्य प्रध्वंसस्य **हेतुमत्त्वे** सकारणत्वे अभ्युपगम्यमाने **नाशात्** प्रध्वंसात् **'विनाशस्य'** इत्यनुवर्तते **भावो** घटादिः **पुनर्भवेत्** स्वोपलम्भार्थक्रियाकारी पूर्ववत् पश्चादपि स्यादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति–परव्यापाराज्जायमानो नाशः अन्यो[2] वा कृतको भवति, *"अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः [२०२क] कृतकः" [न्यायवि० ३।१४] इति वचनात् । कुतश्चिद् भवतोऽस्यापि[3] भावव्यपदेशाविरोधात्, कृतकश्च घटादिवदवश्यं नश्यति इति । ननु यस्य कृतकः स्वकारणान्नश्वरो जायते भवतु तस्यायं दोषो नास्माकम्, अनश्वरकृतकोऽपि हि भावः विनाशकारणसन्निपाताद् विनश्यति न स्वभावतः । न च नाशस्य नाशकं कारणमस्ति इत्येके ; तत्राह–**नान्यथैकान्तिका** इत्यादि । विनाशस्य नाशाभावप्रकारेण **अन्यथा नैकान्तिकाः** अव्यभि (**ऐकान्तिकाः** व्यभि) चारिणो **न सर्वे** निरवशेषाः अनैकान्तिकाः स्युः इत्यर्थः । के ? इत्याह–**हेतुमन्नाशहेतवः** सकारणप्रध्वंसस्य हेतवः लिङ्गानि कृतकत्वादीनि । यदि वा, तद्धेतवः तत्कारणानि मुद्गरादीनि । यथैव हि विनाशकृतकत्वेऽपि न तन्नाशहेतवः अवश्यंभाविनः तथा घटादिविनाशहेतवोऽपि ।

अत्र अन्येषां दर्शनम्–[विनाशस्य] विनाशेऽपि भावस्य न प्रादुर्भावः, नहि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भाव इति; तन्न सारम्; वैषम्याद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः । नहि यथा भावस्य प्रध्वंसभावः[4] तथा देवदत्तस्य हन्ताऽपि, तेन[5] आत्मनोऽन्यस्य देवदत्तेऽभावस्य[6] विधानात् । अस्य[7] नाशे भवत्येव तस्य प्रादुर्भावः, इतरथा तदभाववैफल्यम्, तस्मिन् सति जीवतोऽपि देवदत्तस्य अदर्शनप्रसङ्गः ।

अन्ये तु ब्रुवते–घटस्य प्रध्वंसवत् तत्प्रध्वंसोऽपि[8] उपलब्धिं[9] प्रतिबध्नाति इति तद्दर्शनमिति; तदपि न सूक्तम् ; अतिप्रसङ्गात् । तथाहि–यदि अन्याभावोऽन्यस्य उप-

(१) जैनमतसिद्धिभयात् । (२) उत्पादो वा । (३) नाशस्यापि । (४) प्रध्वंसरूपेण परिणतिः तथा हन्तुः देवदत्तविना[शरू]प[ेण] परिणतिः । (५) हन्त्रा । (६) तिरोधानस्य । (७) तिरोधानात्मकस्य अभावस्य । (८) प्रध्वंसप्रध्वंसोऽपि । (९) प्रध्वंसरूपस्य कपालस्य नाशेऽपि घटस्य दर्शनं न भवति ।

लब्धिप्रतिघातकृत ; तर्हि पटाभावः सकलस्य उपलब्धिप्रतिबन्धकारी स्यात् प्रत्यासत्ति [२०२ख] विप्रकर्षाभावात् । अशा (अन्या)भावेनापि भावस्य विशेषणीभावस्य अस्य (अन्यस्य) वा सम्बन्धस्य परं प्रत्यसिद्धत्वात , अनवस्थाना[न] सम्बन्धान्तराभावात । यदि पुनः, विशेषणीभावः अपरसम्बन्धरहितोऽपि कस्यचिदुच्यते; तर्हि समवायाद्यभावेऽपि गुणादिः कस्यचिदुच्यताम[1]-विशेषात् । इन्द्रियेणाऽसम्बद्धस्य च तस्य[2] ग्रहणे किमत्र [किमन्यत्र] इन्द्रियस्य विषयेण सम्बन्ध[3]-कल्पनेन ?

किञ्च, प्रध्वंसनाशवत प्रागभावनाशोऽपि घटोपलब्धिं प्रतिबध्नाति[4] इति न पुनः [घटोत्पत्तिः स्यात । अथ] घटभावेनं[5] तत्त्वाशयस्यु (तत्प्रागभावस्य) तिरस्कारात नासौ तदुपलब्धि[6]-प्रतिबन्धकः; किमसौ तद्भावः प्रध्वंसकाले नास्ति येन तस्कारको (तत्तिरस्कारको) न भवेत । न चैकस्य एकत्र क्रियाऽक्रिये विरोधात । अनादित्वात प्रागभावस्य गगनादिवन्न नाश इत्येके; तेषां प्रागिव घटोत्पत्तिकाले दृश्यः सन्[7] उपलभ्यते इति तदापि[8] घटो नाद्यापि उत्पद्यते इति प्रतीतिः स्यात पूर्ववत । अथ घटभावेन तिरस्कारात सतोऽपि[9] तारानिकरस्येव भास्वता तस्याऽनुपलम्भनम ; नित्यस्य स्वविषयविज्ञानोत्पादनयोग्यस्य (स्याऽ) समग्रेतरकारणस्य ति[रस्कारा]योगात । न च नित्यव्यापिनो व्यवधानं शब्दवत । तदेवम् अनुपलब्धिकारणेषु दूरत्वादिषु असत्स्वपि अनुपलभ्यमानोऽपि [२०३क] यदि प्रागभावो घटकालेऽस्ति शब्दः ताल्वादिव्यापारात् पूर्वमूर्ध्वं च तथा अस्ति इति तस्य[10] आकाशकार्यगुणत्वकल्पनमयुक्तम् ।

ननु यथा नित्यव्यापिनः सतो दृश्यस्यापि गोत्वादेः केनचित तिरस्कारस्तथा अत्रापि स्यादिति चेत ; न; तत्रापि समत्वाद् दोषस्य । यदि पुनरेतन्मतम्—[11]तदभावेन [12]तस्य दृश्यताखण्डनात्तिरस्कार इति; तर्हि प्रागभावस्यापि नाशोऽभ्युपगतः स्यात । अपि च, प्रध्वंसस्यापि [13]तदभावः तिरस्कारकोऽस्तु भावतिरस्कारकत्वात् प्रागभाववत् । अ[14]स्याऽनभ्युपगमे नानुमानव्यवस्था । ततः सूक्तम्—**हेतुमत्त्व** इत्यादि ।

अत्र केचित् चोदयन्ति—यदि भावाद् भिन्नं विनाशमुद्दिश्य इदं दूषणमुच्यते सूरिणा, तर्हि भावस्य [15]तत्कालेऽपि तदवस्थस्यैव भावात् किमर्थमुच्यते—'**विनाशस्य नाशाद्भावः पुनर्भवेत्**' इति । नहि गगनादेः सतः पुनर्भावो युक्तः । अथ '**पुनर्भवेत्**' इति 'पूर्ववद् दर्शनादिविषयो भवेत्' इति व्याख्यायते; तदपि न सुन्दरम् ; [16]तदापि ततः तद्विषयतानिषेधात् । [17]इतिना अस्यापि दोषस्य अत्रैव निर्देशात् । तथाहि—**हेतु[म]त्त्वे विनाशस्य** अभ्युपगमस्यमाने **नाशात्** ततो विनाशात् सकाशाद् **भावो** घटादिः **पुनः** इति अवधारणार्थः, अन्य[थेत्य]स्य अनन्तरं द्रष्टव्यः, **अन्यथैव** अन्येन एवकारेण एकान्तेन भिन्न इत्यर्थः **भवेत्** साधदि (स्यात् यदि) इति शेषः । अत्र पक्षे दूषणम् **ऐकान्तिका** इत्यादि । **न** इत्ययं भिन्नप्रक्रमः **ऐका-**

(१) द्रव्यस्य । (२) अभावस्य । (३) सन्निकर्ष । (४) अभावत्वाविशेषात् । (५) घटोत्पादेन । (६) घटोपलब्धि । (७) प्रागभावः । (८) घटोत्पत्तिकालेऽपि प्रागभावः स्यादिति । (९) प्रागभावस्य । (१०) शब्दस्य । (११) प्रागभावाभावेन । (१२) प्रागभावस्य । (१३) प्रध्वंसाभावाभावः । (१४) एतदनुमानानभ्युपगमे । (१५) विनाशकालेऽपि । (१६) पूर्वमपि । (१७) इतिशब्देन ।

न्तिक(का) इत्यूर्वमनं (इत्यूर्ध्वमनन्तरं) द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थः—**हेतुमतो नाश** य परेण ये **हेतवः** यानि कारणानि प्रतिपादितानि ते न **ऐकान्तिका** नावश्यकाभ्युपगमनार्हाः [२०३ख] तत्कृतनाशे सत्यपि तथैव घटादेः उपलम्भादिति मन्यते।

अथवा **अनैकान्तिकाः** अवश्यं तज्जनका नां (नाम)। यद्येवम् अनेन पर्याप्तमिति पूर्वदूषणमनर्थकमिति चेत्; न; हेतोः विनाशं तेन च भावस्य तिरोधानमभ्युपगच्छन्ति [ये] ५ तेषां **'विनाशो यदि'** इत्यादिकस्य **'कादाचित्कमकार्यम्'** इत्यस्य च वृत्तिग्रन्थस्य भेदो न स्यात्।

अन्येन अर्थेन कारिकां विवृण्वन्नाह—**विनाशो यदि** इत्यादि। **विनाशः** प्रध्वंसो **यदि भावः स्व(भावस्य)भावो न भवेत्** उत्तरपरिणामात्मको न स्याद् अपि तु भावाद् भिन्नः स्यादित्यर्थः। **तस्य** विनाशस्य **किं कुर्वाणो हेतुः** न किञ्चित्कुर्वाणः कारणं **स्यात्** मुद्गरादिः। १० अथवा, तस्य भावस्य किं कुर्वाणो विनाशः स्यात्, विनाशस्य च किं कुर्वाणो हेतुः स्यादिति योज्यम्। तथाहि—यदा भावाद् भिन्न एव विनाशः तदा नासौ '[1]तस्य किञ्चित्करोति' इति व्यपदिश्यते उपकारापेक्षत्वात् अर्थान्तरयोः[2] वास्तवसम्बन्धस्य, अन्यथा अतिप्रसङ्गात्[3]। योग्यता-सम्बन्धेऽपि अविनाभाव एव रूपरसादिवत्[4] न पुनर्भावनिवृत्तिः। सैव[5] तस्य[6] तेन[7] क्रियते इति चेत्; यदि स्वभावभूता; प्रथमोऽपि विनाशः [8]तथैवास्तु इत्यलं भेदैकान्तकल्पनया। अर्थान्तरं १५ चेत्; तदवस्थो दोषोऽनवस्था च। विनाशेन च विनाशकरणात् तस्यैव सोऽस्तु पावकस्येव धूमः। तथा वधिना त एव (च विनाश एव) [10]तत्सम्बन्धान्नष्ट इति स्यान्न भावः। भावसम्बन्धिनः[11] करणाददोषश्चेत्; उक्तमत्र, तेन तस्य उपकाराऽकरणात् 'तत्सम्बन्धिनः' इति घटनायोगात्। [२०४क] भावेनाप्यसौ[12] क्रियते ततस्तत्सम्बन्धीति चेत्; उभयोः स्यात, तव (न च) भावः स्वविनाशहेतुः, सर्वदा प्रसङ्गात्, नित्यस्य अपेक्षायोगात्। विशेषणीभावसम्बन्धस्य तत्रैव भावात् २० तत्सम्बन्धी इत्यपि वार्त्तम्; भेदैकान्ते [13]तत्सम्बन्धस्याविनमयि (स्यापि नियमयि)तुमशक्तेः। तन्निवृत्तिकरणाद् भावस्य विनाशः उपलम्भप्रतिबन्धकरणात् स्यादिति चेत्; उक्तमत्र **तदवस्थस्य** [14]**तदयोगा**दिति। किञ्च,

तिरोहिता ह्यभावास्ते योगिभिः स्वयं नेष्यन्ते। (नेष्यन्ते योगिभिः स्वयं।)
योगिनो [न च] युक्ताः [स्युः] कथं सर्वार्थवेदनैः॥ २५
सर्वज्ञत्वं तथा [चैवं] वर्ण्यते यैः स्वभक्तितः।
तेषामसर्वविद्वान्तर्गता (द्वार्ता गता) क्वेत्यपि चिन्त्यताम्॥
ते यदा तैः समीक्ष्यन्ते तदा क्षीणा प्रतिक्षीणां (क्षणं)।
योगिनः प्रति वार्त्तेयं नष्टानुत्पन्नगोचरा॥
सांख्यस्य योगिनः सर्वे चिरं जीवं (जीवन्तु) साम्प्रतम्। ३०

---

(१) भावस्य। (२) भिन्नयोः। (३) सर्वस्य सर्वव्यपदेशप्रसङ्गात्। (४) स्यात्। (५) भाव-निवृत्तिरेव। (६) भावस्य। (७) नाशेन। (८) अभिन्ना। (९) अभिन्नोऽस्तु। (१०) विनाशसम्बन्धात्। (११) विनाशस्य। (१२) विनाशः। (१३) विशेषणीभावस्यापि। (१४) उपलम्भप्रतिबन्धायोगात्।

सर्वदा [सर्वथा] भावा येभ्यःसोत्थोन (यैः कौटस्थ्येन) संस्थिताः ॥
योगिनः एवं चकारः (योगिनः वंचकाः) काकवद्भुवि वा नुः (?) ।
केरिक तैरता मर्तीनाः कं यान्तु मंश्रयम् (?) ॥
सदोपलभ्यमाना हि काटाः (भावाः) किन्नाम नाशिनः ।
५ अन्यथा नाशिनः सर्वे भवेयुः गगनादयः ॥
इति कपिलमुनीशैः संस्तुते संस्त (सांख्य) मार्गे,
अचलनिखिलभावानाश्रिते किन्तु नश्येत् ।
वत वदत विनाशे नैव चान्येन योगः ।
सत इह सततं तत् तन्निरोधो न वार्ता ॥ इति ।

१० तत् स्थितम्–'**विनाशो यदि भावस्वभावो न भवेत् तस्य किं कुर्वाणस्य स्याद् विनाशः**' इति ।

ननु यदुक्तम्–'**तस्य विनाशस्य हेतुः किं कुर्वाणः स्यात्**' इति ; तत्र उत्पत्तेः कुर्वाणः स्यादिति चेत् ; अत्राह–**पूर्व** इत्यादि । **न तावद् उत्पादयति** । तावच्छब्दो वितर्के[२०४ख] न क्रमार्थो(र्थे) अन्यस्य प्रयोजनस्यावचनात् **नोत्पादयति** न जनयति **हेतुः** मुद्गरादिः १५ '**विनाशम्**' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । कुतः ? इत्याह–**पूर्वावधिः** प्रागभावः तेन **परिच्छिन्नं** विशिष्टं **यद्वस्तु** घटादिः तस्य **सत्तया सम्बन्धः** समवायः स एव **लक्षणं** यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्** । कस्य (कस्याः ?) इत्याह–**उत्पत्तेः** इति । न च प्रागसततो विनाशस्य सत्तया सम्बन्धः ; अनभ्युपगमात् परस्य[1] *"**त्रिपदार्थसत्करी सत्ता**" इति वचनात् । नापि प्रध्वंसस्य परेण[2] द्रव्यादिष्वन्त त त वि (ष्वन्तर्भाव) इष्यत इति मन्यते ।

२० नन्वेवम् अत्यल्पमिदमुच्यते–'**स हेतुः विनाशं न तावद् उत्पादयति**' इति, यावता घटादेर्हेतुः तमवि(पि)[3] नोत्पादयति । तथाहि–न तावद् घटादेः प्रागसतः तद्धेतुः[4] आत्मलाभलक्षणामुत्पत्तिमुपजनयति[5]; तदन्योत्पत्तिकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात् । नापि प्रागसतः सत्तासम्बन्धलक्षणा (णाम्); सत्तासमवायस्य नित्यत्वात् । न च कुतश्चिदज्ञा (दजा) तस्य बन्ध्यासुतस्येव सत्तया अन्येन[6] वा सम्बन्धः, यतः किञ्चित् केनचिदुत्पादितं भवेत् । जातस्येति चेत् ; यद (यदि) २५ लब्धात्मलाभस्य; त[र्हि] उक्तो दोषः–किमन्यया उत्पत्त्या ? कथमन्यथा शशशृङ्गादेर्भेद इति चेत् ; अयमपरः परस्य[7] दोषोऽस्तु । न खलु अत्स (अंश) दोषाः सन्तोऽपि अकलङ्कमुपलीयन्ते[8] ।

ननु न विनाशस्याय (न्य) स्य[9] वा प्रागसतः सत्तासम्बन्धलक्षणा उत्पत्तिः हेतुना क्रियते यत्रायं स्यात्, अपि तु स्वरूपमेव क्रियताभिति चेत् ; अत्राह–**तस्य** इत्यादि । **तस्य** विनाशस्य **कथञ्चित् केनापि** सत्तासम्बन्धकरणलक्षणेन [२०५क] स्वरूपलक्षणेन वा प्रकारेण **कार्यत्वे** ३० **हेतुभाजतृत्वे** (हेतुना जन्यत्वे) **भावस्वभावानतिक्रान्तेर्भाव**रूपानतिक्रमात् '**न तावदुत्पाद-**

(१) वैशेषिकस्य । "सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता"–वैशे० सू० १।२।७। (२) वैशेषिकेण । (३) घटमपि । (४) घटहेतुः । (५) उत्पत्तिमुपजनयतीति सम्बन्धः । (६) समवायेन वा । (७) वैशेषिकस्य । (८) कलङ्करहितम् अकलङ्कन्यायम् । (९) घटादेः ।

यति' इति सम्बन्धो भावः स्यादिति मन्यते । तथापि स कुतो भावः स्यादिति चेत् ? अत्राह—**तल्लक्षणत्वाद् वस्तुनः** इति । परमतापेक्षया स सत्तासम्बन्धो **लक्षणं** यस्य तस्य भावात् तत्त्वाद् **वस्तुनः** सद्वर्गस्येति व्याख्येयम् । स्वमतापेक्षया तु सः प्रागसतो हेतोरात्मलाभो **लक्षणं** यस्य तस्य भावात् तत्त्वात् **वस्तुनो** भावस्य इति, स्वप्रागभावाद् अन्यथा प्रध्वंसो न विशिष्येत[1] अवान्तरजातिसम्बन्धविरहात्, इतरथा[2] द्रव्यादिवत् सत्तासम्बन्धः[3] । यदि पुनः [4]क्वचित्तद्-(द्)विरहेऽपि तत्सम्बन्धो नेष्यते ; तर्हि [कथं] तत्सम्बन्धविरहेऽपि द्रव्यादीनामेव अवान्तरजातियोगो न जात्यादीनामिति विभागः स्यात् । एतेन अन्यस्यापि विशेषकस्य धर्मस्य संभवो निरस्त इति मन्यते । व्याख्याता एकेन अर्थेन कारिका । ५

साम्प्रतं प्रथमेन व्यतिरेकतां व्याकुर्वन्नाह—**कादाचित्कम्** इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—अनन्तरन्यायेन प्रागसन् पुनः कुतश्चित् जायमानो विनाशः कार्यम् , अत एव वस्तुव्यवस्था मितं तत् (स्था, अभिमतं च तत्) । इदानीं विनाशलक्षणं वस्तु **कादाचित्कं** देशकालद्रव्यादिनियतं **सद्-कार्यम् इति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्र**श्राष्टपष्टि (**मात्रम्** स्वेष्टि) घटितकृतान्तैपदार्थप्रपञ्चकथनमात्रम् । मात्रशब्देन अव्यवस्थितं तत्त्वं दर्शयति । कुतः ? इत्याह—**विरोधात्** । पूर्वापराभ्युपगमयोः अन्योऽन्यबाधनात् । तथाहि—यदि विनाश(शो) वस्तु प्रागसत्(सन्) कुतश्चित् जायते कथमकार्यम् घटादिवत् ? अथाऽकार्यम् ; गगनादिवत् कथं कादाचित्कं [२०५ख] [कादाचित्कञ्च अका]र्यं चेति परस्परविरुद्धमेतत् । ततः 'कादाचित्कत्वात् कार्यम्' इति मन्यते । १० १५

तथा कादाचित्कम् 'अनुत्पत्तिधर्मकम्' इति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रम् । कुतः ? इत्याह—**विरोधात्** इति । तद्यथा **तत्कादाचित्कं** प्रागसत् पुनर्लब्धात्मलाभकं **कुड्यादिवत् कथमनुत्पत्तिधर्मकम्** अविद्यमानोत्पत्तिधर्मकम् ? तथात्मलाभस्यैव उत्पत्तिरूपत्वस्यचिद् (त्वात् । कस्यचिद्) अर्थान्तरसत्तासम्बन्धनिषेधात् । अथाऽनुत्पत्तिधर्मकम् आकाशवद् बन्ध्यास्तनधयवत् ; कथं कादाचित्कम् इति विरोधः ? तस्मात् कादाचित्कत्वाद् उत्पत्तिधर्मकमिति भावः । २०

तथा, कादाचित्कम् **अनाधेयाऽप्रहेयाऽतिशयात्मकम्** अजन्याविनाशसामर्थ्यस्वभावम् **इति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रम्** । कुतः ? **विरोधात्** । तथा च कुतश्चिद् आत्मानं तल्लभते चेत्यदिवत् (चेत् पटादिवत्) दुरुपपादमनाधेयाऽप्रहेयातिशयात्मकत्वम् , अन्यत आत्मलाभस्यैव आधेयप्रहेयातिशयात्मकत्वात् । यदि पुनः गगनादिवत् अनाधेयाऽप्रहेयात्मकम् ; कथं कादाचित्कम् ? अथ जातस्य पुनः अतिशय आवानुपानेतुं वामशक्यत (आधातुमपनेतुं वा न शक्यते) इति तत्तदात्मकमुच्यते ; तदसत्य (तदसन् ;) कादाचित्कत्वे अर्थक्रियाकारित्वे वा तत्र आधेय-:हेयातिशयात्मकत्वं घटादिवत् पुनरनुमितेः प्रतिपद्यमानः केन वार्यते ? २५

तथैव कादाचित्कमाविनश्वरं इति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रं विरोधात् , सर्वस्य कादा-

(१) प्रागभावत्वप्रध्वंसत्वादि । (२) जातिसम्बन्धस्वीकारे । (३) स्यात् इति शेषः । (४) सामान्यादौ अवान्तरजातिविरहेऽपि । (५) सत्तासम्बन्ध । (६) सिद्धान्त । (७) असतः आत्मलाभ एवोत्पत्तिरिति भावः ।

त्कस्य विनश्वरत्वेन प्रतीतिः (तेः) घटादिवत् इति। तथा कादाचित्कं स्वविनाशहेतु(हेत्व)-भावात् स्वशब्देन विनाश(शि) वस्तु परामृश्यते तस्य विनाशः स्वो विनाशस्य आत्मीयो वा विनाशः तस्य हेतोः कारणस्य अभावात् न विनश्यति इति प्रक्रियाव्यावर्णनमात्रं विरोधात् इति स्वमतव्याघातात्। [1]यो हि कादाचित्कं जगतोऽपि विनाशकारणमभ्युपगच्छति

५ तस्य [2]प्रकृते काऽक्षमा ? तथा 'विनाशे वा प्रध्वंसे वा 'विनाशवस्तुनः' इति सम्बन्धः। वा शब्दः अभ्युपगमसूचकः पक्षान्तरसूचको वा, विनष्टस्य प्रध्वंसविशेषणवतः सत्तासम्बन्धिनो घटादेः।

यदि वा, सतो विनाशाद् भिन्नस्य स्वतो विद्यमानस्य उत्पत्तिः पुनरप्रादुर्भावः। कुतः ? इत्याह-उत्पत्तिहेत्वभावात् इति। भावस्य उत्पत्तौ त्रिविधो हेतुः-समवायि-असम-

१० वायि-निमित्तभेदेन। न च विनाशः तेषामन्यतमः। आदित्यालोकाभावलक्षणे तमसि पुनः प्रदीपादिभावेन प्रहतेऽपि पुनः तदालोकोन्मज्जनम्। नाप्यन्यस्य तत्कारणस्य भावनियम इति प्रक्रियावर्णनमात्रम्। कुतः ? विरोधात्। यदि विनाशविनाशेऽपि प्रादुर्भावः ; न तर्हि विनाश-विनाशः तद्भावः, तल्लक्षणत्वादस्य, कथमन्यथा नैरात्म्यनिषेधे सात्मकत्वसिद्धिः। ततो यदि [विनाश]विनाशः ; कथन्न भावप्रादुर्भावः ? न चेत् ; कथं तन्नाशः ?

१५ यत्पुनरुक्तम्-उत्पत्तिहेतुभावादिति ; तदसारम्; यतो घटोत्पत्तौ अवयवसंयोगः कारणम्, तस्यापि क्रिया [, अ]तः क्रियाविनाशविनाशे तत्प्रादुर्भावः[3], ततः संयोगः ततोऽपि घटः। यदि वा, विभागेन संयोगविनाशः कृत इति सहेतुकः [4]तस्यापि कुतश्चिन्नाशे संयोगोन्मज्जनम्। अथवा, घटाद् भिन्नस्य नाशस्य [२०६ख] भावे न [5]तस्य किञ्चिदिति नाशनाशे निष्प्रतिद्वन्द्विनः केवलमुपलम्भो भवति तमोनाश इव इति किं हेतुना ?

२० यत्पुनरुक्तम्-आलोकाभावे तमसि नाशितेऽपि न दिनकरालोकप्रादुर्भाव इति; तदपि न सुपरीक्षिताभिधानम्; तत्रापि चोद्यस्य समत्वात्। न आलोकाभावमात्रं तमः, सालोकापवरके बहलालोकप्रदेशात् प्रविष्टस्य तमःप्रतिभासात्। विज्ञानाभावे चात्र तमसि सर्वत्र तद्भावे [6] एत-दस्तु नादित्यालोकाभावः[7]।

ज्ञान(ना)भावः तमः; अभावे न ज्ञानप्रादुर्भावः। न खलु चि (कचित्) तदभावे [8] एव

२५ मतः (तमः); इतरथा आलोकोऽपि तमोऽभावो भवेत्। भावप्रत्ययवेद्यत्वाच्च नाऽभावमात्रं तमो घटादिवत्। ततः सूक्तम्-कादाचित्कम् इत्यादि।

तत्रैव दूषणान्तरमाह-घटादेरपि इत्यादि। न केवलं विनाशस्य किन्तु घटादेरपि हेतुमर्थे (हेतुमत्त्वे) कादाचित्कत्वे च सति एवं विनाशवत् प्रसङ्गात् कारणात् 'प्रक्रियावर्णनमात्रम्' इति सम्बन्धः। पुनरपि दोषान्तरमाह-स्वसामग्रीजन्मन इत्यादि। स्वसामग्र्या जन्म यस्य भावस्य

३० [२०७क] अभावस्य [वा] तस्य। तद्विनाशकारणस्य यत् तद्विनाशकारणं परेण अभ्युपगतं

---

(१) बौद्धः। (२) विनाशहेतुस्वीकारे। (३) क्रियाप्रादुर्भावः। (४) संयोगविनाशस्यापि। (५) घटस्य। (६) विज्ञानाभाव एव तमोऽस्तु। (७) तमः। (८) ज्ञानाभाव। (९) तमोऽस्ति इत्यादि।

तत् तच्छब्देन परामृश्यते, तच्च तद्विनाशकारणं च इति तस्य, **अवश्यंभावनियमाऽभावात्** कारणात् **न कश्चित्** कृतकत्वादिः अनित्यत्वसाधनो **हेतुः अव्यभिचारी स्यादि**त्यर्थः ।

यदुक्तम्–न प्रागसतो विनाशस्य सत्तासम्बन्धलक्षणा उत्पत्तिः केनचित्[1] क्रियते अपि तु स्वरूपमेव; तत्राह सौगतः– [2]**विनाशहेतुः** इत्यादि । **विनाशस्य हेतुः** कारणं पराभ्युपगतः **प्रागसतः** स्वोत्पत्तेः पूर्वमसतोऽविद्यमानस्य **विनाशस्य स्वभावं** स्वरूपं **करोति न सत्तासम्बन्धम्** ५ इत्येवं **चेद्** यदि । तत्र दूषणमाह–**कः पुनः** इत्यादि । **कः** न कश्चित् **पुनः** इति अक्षमायाम्, **भावानां** घटादीनां यः **अन्योऽन्याभावः**, अत्यन्ताभावस्य एतद्विशेषत्वात् पृथगनभिधानम्, यश्च **प्रागभावः** तस्य **कर्त्ता, यतः कर्तुः तत्स्वभावस्थितिः ? यत** इति वा आक्षेपे, नैव तत्स्थितिः । तथा च प्रयोगः–[यः]अभावः स स निर्हेतुकः यथा प्रागभावादिः, अभावश्च विनाश इति । ननु यदि नाम प्रागभावादेरहेतुत्वं नैतावता विनाशस्य तत्, अन्यथा गगनादेरहेतुत्वात् घटादीनामपि १० त[3]द्भवेत । प्रत्यक्षबाधनमुभयत्र समानमिति चेत ; अत्राह–**अस्ति वा** इत्यादि । **अस्ति** विद्यते **वा कश्चिद्** देशादिकृतो **विशेषः** भेदः प्रागभावादेर्विनाशस्य ? नास्ति इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति–यथा प्रागभावादयः कारणान्वयव्यतिरेकाननुविधायिनः अकृतकाः तथा विनाशोऽपि । नहि महति दण्डादिसन्निपाते महान् [4]अन्यथाविधे अन्यथा विनाशः; विनिवृत्तिमात्रस्य [२०७ख] सर्वत्र अविशेषादिति । न च भावतः प्रागभावादयः सन्ति; इत्याह–**परस्पर** इत्यादि । १५ **परस्परम्** अन्योन्यं **स्वभावश्च देशश्च कालश्च** तेषां **परिहारः** तेन **परिणतिम्** आत्मलाभम् **अभावं विद्मः 'भावानाम्'** इति सम्बन्धः ।

एवं सौगतेनापि नैयायिकं विमुखतां नीत्वा अधुना सौगतं स्वयं तां[6] नयन्नाह–**तथा च** इत्यादि । **तथा च** तेन च तत्परणत्यभाववेदनप्रकारेण **हेतुमत्त्वं** सकारणत्वं **विरुद्धप्रमाणबाधितम्** । कस्य ? इत्याह–**क्षणिकस्य** 'भावस्य' इति वचनपरिणामेन सम्बन्धः । इदमत्र २० तात्पर्यम्–नैयायिकस्य हेतुमतोऽपि विनाशस्य विनाशमनभ्युपगच्छतः अनित्यत्वहेतवो व्यभिचारिणः, प्रागभावादिकमहेतुमभ्युपगच्छतो विनाशो विनिर्हेतुः (शोऽपि निर्हेतुः) तदभावो वा । बौद्धस्य पुनः क्षणिकत्वमभ्युपच्छतः कृतकत्वादयः असिद्धा एव इति [9]नासौ परमतिशेते इति । कुतस्तस्य न हेतुत्वम् ? इत्याह–**न ह्यतीत** इत्यादि । [हि] यस्माद् **अतीतेन** कार्योत्पत्तेः प्रागेव नष्टेन **भावेन वर्त्तमानस्य तद्वत्ता** हेतुमत्ता **[न] अतिप्रसङ्गात्** सर्वेण अतीतेन सर्वस्य तद्वत्ताप्रसङ्गात् । निरूपितं चैतत्[10] *"**कार्यकारणता नैव**" [सिद्धवि० ४।३] इत्यादि । २५

नन्वेवं नैयायिकस्येव सौगतस्यापि मताभावे सकलशून्यतैव स्यादिति चेत् ; अत्राह–**समक्षम्** इत्यादि ।

[समक्षं गुणपर्याय स्वभावद्रव्यसाधनम् ।
विपक्षेऽर्थक्रियायोगाद् व्यावृत्तं विभ्रमात्मनः ॥७॥ ३०

---

(१) कारणेन । (२) तुलना–"न हि विनाशहेतुर्भावस्य स्वभावमेव करोति; तस्य स्वहेतुभ्यो निर्वृत्तेः।"–हेतुबि० पृ० ५६ । (३) अहेतुकत्वं स्यात् । (४) अल्पे । (५) परमार्थतः । (६)विमुखताम्–युक्तिशून्यताम् । (७) बौद्धः । (८) नैयायिकम् । (९) हेतुमत्ता । (१०) पृ० २३९ ।

इति स्थितमेतत् सर्वम्···गुण···]

समक्षं प्रत्यक्षं **गुणाश्च पर्यायाश्च स्वभावा** आत्मानो यस्य **द्रव्यस्य** तस्य **साधनम्** बहिरन्तश्च गुणपर्यायात्मकद्रव्यप्रत्यक्षत्वात् इत्यर्थः । [२०८क] अनेन सकलशून्यतां कल्पयतः प्रत्यक्षबाधां दर्शयति । स्यान्मतम्–अस्ति प्रत्यक्षबुद्धौ यस्य प्रतिभासः, स तु भ्रान्तः बाध्यमान-
५ त्वाद् द्विचन्द्रादिप्रतिभासवदिति चेत ; अत्राह–**विपक्ष** इत्यादि । **विपक्षे** भावाद्येकान्ते **अर्थ-क्रियायाः** दर्शनादिलक्षणाया **अयोगात् व्यावृत्तम्** अपसृतम् । कुतः ? **विभ्रमात्मनः** भ्रान्तस्वभावात् **'समक्षम्'** इति सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–यथा एकचन्द्रदर्शनभावाद् द्विचन्द्रदर्शनं भ्रान्तं तथा एकान्तदर्शनादिभावे अनन्तरसमक्षं भ्रान्तं स्यात । न चैवमिति । कारिकार्थस्य नैकधा राजपर्थीकृतत्वात् प्रकृतमुपसंह[रन्नाह–इति] **स्थितमेतत्** इत्यादि । **स्थितं**
१० **निश्चितमेतत्** । किं तत् ? इत्याह–**सर्वम्** इत्यादि । तथा परं स्थितम् इत्याह–**गुण** इत्यादि । नु सद्भावोऽत्र द्रष्टव्यः द्रव्यलक्षणान्तरनिषेधार्थत्वात् ।

ननु चेतनाऽचेतनयोः अमूर्त्तमूर्त्तयोः जीवकर्मणोः सम्बन्धाभावेन एकस्य गमने स्थाने वा नान्यस्य नियमेन गमनं स्थानं वा गवाश्ववत् । सम्बन्धेऽपि तदुत्पत्तिलक्षणे स एव दोषः घटकुलालवत् । तादात्म्यलक्षणे तु नायं दोषः कृतकत्व-शब्दवत् , अत्रापि अन्यतरदेव स्यात
१५ कल्पितो वा भेद इति चेत ; अत्राह–**चेतना** इत्यादि ।

[चेतनाचेतनावेतौ बन्धं प्रत्यपेक्षताम् ।
भिन्नौ लक्षणतोऽत्यन्तं हेमादिश्यामिकादिवत् ॥८॥

परस्परविलक्षणावपि चेतनाचेतनौ बन्धं प्रत्येकत्वं प्रतिपद्येते हेमश्यामिकादिवत् । न च मूर्तामूर्तयोः संयोगो विरुद्धः पञ्चस्कन्धकदम्बकाभावप्रसङ्गात् आत्ममनःसन्नि-
२० **कर्षादेश्च ।]**

चेतन आत्मा **अचेतनः** कर्मपदार्थः तौ **चेतनाचेतनौ,** उपलक्षणमेतत् तेन अमूर्त्त-मूर्तौ **एतौ** प्रत्यक्षानुमानप्रतीयमानौ **बन्धं** संयोगविशेषम् **प्रति अपेक्षक(क्ष्य)ताम्** सह-चरादिकार्यसमानतादात्म्यं भिन्नद्रव्ययोः तद्विरोधात् । कुतस्तादात्म्यं न गतौ ? इत्याह–**भिन्नौ** परद्रव्यान्तरभूतौ यतः । [२०८ख] केन ? इत्याह–**लक्षणतः** स्वलक्षणेन आद्यादिपाठान्तः,
२५ तल्लक्षणमेव आश्रित्य । तथाहि–ज्ञानदर्शनोपयोगो जीवस्यैव लक्षणम्[४], अचेतने रूपाद्यात्मकत्वं [५]पुद्गलस्यैव इति । कथं भिन्नौ ? इत्याह–**अत्यन्तं** कालत्रयेऽपि परस्परं लक्षणसंक्रान्त्यभावमनेन दर्शयति । दृष्टान्तमुभयत्र दर्शयति **हेमादिश्यामिकादिवत्** । एकेन आदिशब्देन माणि-क्यादेः अपरेण किट्टादेः परिग्रहः ताविव तद्वदिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**परस्पर** इत्यादि । **परस्परम्** अन्योन्यं **विलक्षणावपि** विसदृश-
३० लक्षणावपि **चेतनाऽचेतनौ** जीवकर्मपुद्गलौ **बन्धं** प्रति **एकत्वं प्रतिपद्येते हेमश्यामिकादिवद्** आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ।

---

(१) द्रव्यस्य । (२) तादात्म्यसम्बन्धे । (३) जीव एव स्यात् कर्म एव वा । (४) "उपयोगो लक्षणम्"–त० सू० २।८ । (५) "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।"–त० सू० ५।२३ ।

ननु[मूर्त्ताऽ] मूर्त्तयोस्तयोः[1] संयो[illegible]लक्षणः कथं बन्धो येनैवं स्यादिति चेत् ? अत्राह–**न च** इत्यादि । **न च** नैव **मूर्ताऽमूर्तयोः** कर्मात्मनोः **विरुद्धः संयोगः** । कुतः ? इत्यत्राह–**पञ्चस्कन्ध** इत्यादि ।

ननु '**विषा[illegible]**' इत्यनेन परिहृतं यत इत्यदोषः । **पञ्चस्कन्धा** रूपादयः तेषां **कदम्ब-कस्य** समूहस्य **अभावप्रसङ्गात्** कारणात् **न च मूर्त्ताऽमूर्त्तयोर्विरुद्धः संयोगः** इति पदघटना । ५
तथाहि–कचित् शरीरे रूपस्कन्धो मूर्त्तः, अमूर्त्ता वेदनादयः, तत्समूहरूपपरापररूपतया उपजाय-मानस्य संसारव्यपदेशात् । मूर्त्तेतरयोश्च संयोगविरोधः (धे) अन्यत्र रूपम् अन्यत्र वेदनादयः सह्यविन्ध्यवदिति न शरीरे [सु]खाद्यनुभवनमिति प्राप्तम् ।

ननु तत्कदम्बकं यदि संयोगः; तर्हि तदभावो न सौगतस्य दोषाय अभ्युपगमादिति [२९९क] चेत्; नैरन्तर्यस्य तेनाप्युपगमात् । न च नैरन्तर्यादन्यः संयोगो जैनस्यापि[5] । ततो १०
यथा पञ्चस्कन्धानां मूर्त्तेतररूपाणामपि नैरन्तर्यलक्षणः संयोगः तथा जीवकर्मणोरिति । **आत्मनः (आत्ममनः) सन्निकर्ष** आत्ममनसोः संयोगः, *"आत्मा मनसा युज्यते" [न्यायम० पृ० ७४] इति वचनात् **आदिः** यस्य स तथोक्तः तस्य **च अभावप्रसङ्गात्** न च तयोः संयोगो विरुद्धः । **आदि**शब्देन मनोगगनसन्निकर्षः प्रकृतिपुरुषसन्निकर्षश्च गृह्यते ।

[अस्तु] यथार्थग्रहणस्वभावस्य आत्मनो मिथ्याज्ञानादनुमितो बन्धः, स तु केन हेतुना ? १५
इत्यत्राह–**शुभाऽशुभैः** इत्यादि ।

[शुभाशुभैश्चेतनो जीवो बध्यतेऽचेतनैः स्वयम् ।
यथास्वमास्रवैश्च स्वैः मनोवाक्कायकर्मभिः ॥९॥

मनोवाक्कायकर्मभिः शुभैरशुभैश्चास्रवैः यथास्वं पुण्यपापबन्धो जीवानामित्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति किन्तु सर्वेषामविगीतोऽयमिति ।] २०

जीवः आत्मा । किंभूतः ? **चेतनः** स्वपरग्रहणस्वभावः न वैशेषिककल्पितः[10] तस्य बन्धफलाभावात् । तस्य हि फलं सुखदुःखादिकं मिथ्याज्ञानमन्यद्वा । न च सर्वदा (था) अचेतनस्य[11] तद् युक्तं विरोधात् । भिन्नस्य उत्पत्तावपि न तस्य किञ्चिद् अतिप्रसङ्गात्, समवायनिषेधात् । स किम् ? इत्याह–**बध्यते** संयुज्यते । कैः ? इत्याह–**अचेतनैः** कर्मपुद्गलैः न सौगतकल्पितैः चेतनरूपैः कर्मभिः *"चेतना कर्म" [अभिध० को० ४।१] २५
इति[12] तथागतवचनात् । कुतः स्याः (कुतोऽस्याः[13]) कर्मत्व (त्वम् ?) विरोधात्, आत्मस्वभा-

---

(१) जीवकर्मणोः । (२) पृ० २२१ । (३) रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः । (४) पञ्चस्कन्धसमूहः । (५) संयोगाभावः । (६) अन्तरालाभावरूपस्य सम्बन्धस्य । "प्राप्तावस्थाविशेषे हि नैरन्तर्येण जातितः । ये पश्यत्याहरत्येष वस्तुनी ते तथाविधे ॥६६६॥ ये निरन्तरोत्पन्ने वस्तुनी ते एव संयुक्तशब्दवाच्ये···" –तत्त्वसं० प० पृ० २२१ । (७) "संयोगोऽपि नैरन्तर्यावस्थितार्थव्यतिरेकेण अपरो न प्रतीयते ।" –न्यायकुमु० पृ० २७७ । सन्मति० टी० पृ० ६७७ । (८) मूर्तामूर्तयोः । (९) सांख्याभिमतः । (१०) सर्वथा नित्यस्य निष्क्रियस्य स्वयमचेतनस्य च । (११) सुखदुःखादिकम् । (१२) "चेतना मानसं कर्म"– अभिध० को० । (१३) चेतनायाः ।

वत्वाच्चेतनायाः। विपरीता चेतना कर्मेति चेत्; तस्याः कुतो भावः ? वासनातश्चेत्; न; तन्निषेधात् अनन्तरमेव, तस्याश्च तत्त्व-तद्वेदनकाल एव नरकादिदुःखसामर्थ्यवेदनात्, सर्वस्यापि हिंसादिचेतनादिभ्यः अपरोपदेशात् निवृत्तिः स्यात् तत्त्ववेदिता(नां) योगिनामिव। न खलु कश्चित् सचेतनो दुःखसामर्थ्यतया न कं (नरकं) जानन्नेव आचरते दुःखभीरुः। न च
५ निर्विकल्पदर्शने [२०९ख] चेतनानिश्चयेऽपि तत्सामर्थ्यानिश्चयकल्पनमिति सुविचारितमेतत्। तत्सामर्थ्यग्रहणे च तद्वतोऽप्यग्रहणमिति न अचेतनकर्मपक्षाद् विशेषः।

ननु बध्यन्ते (ध्यतेऽ) सौ तैः, स तु नश्वरम (न स्वयम) अपि तु महेश्वरप्रेरितैः। तथाहि-यः चेतनेन बध्यते स धीमता प्रेरितेन बध्यते, यथा चौरो निगडादिना, बध्यते च आत्मा तथाविधस्तेनेति, योऽसौ तत्प्रेरकः स महेश्वर इति चेत्; अत्राह-**स्वयम्** इति।
१० **स्वयम्** आत्मना न ईश्वरादिना। यो हि चेतनः तैः बध्यते स एव आत्मबन्धनाय तेषां प्रेरकः किं तत्र ईश्वरेण अन्येन मन्यत वा (वेति मन्यते)। न चेदमत्र चोद्यम्-अर्वागदर्शी तानि अपश्यन् कथं तेषां प्रेरक इति; स्वप्नादौ अदृष्टानाना(ष्टाना)मपि स्वकरचरणादीनां प्रेरकत्वदर्शनात्। यस्य च 'ईश्वरज्ञानमेकं नित्यमनात्मवेदकम्, तस्य ईश्वरः 'तानि पश्यति' इत्यतिश्रद्धेयम्। अनित्यं चेत्; तत्तर्हि तस्य अदृष्टपूर्वकम्, अन्यथा *"**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स**
१५ **धर्मः**" [वैशे० सू० १।१।२] इति व्याहन्यते, अनेन व्यभिचारात्। तस्य च अदृष्टसम्बन्धो यदि अन्येन धीमता कृतः; अनवस्था। स्वयं चेत्; अन्यस्यापि तथा अस्तु। इति साधूक्तम्-**स्वयम्** इति।

अथ मतम्-यदि चेतनः तैः स्वयं मन्यते (बध्यते) मुक्तात्मानोऽपि बध्येरन् विशेषाभावादिति चेत्; अत्राह-**आस्रवैः** इति। आस्रवन्ति समागच्छन्ति संसारिणां जीवानां
२० कर्माणि यैः येभ्यो वा ते आस्रवा रागादयः तैः करणभूतैः कृत्वा। न केवलम् एतैरेव अपि तु **मनोवाक्कायकर्मभिश्च** मनोवचनशरीरव्यापारैश्च। यद्येव (यद्यास्रव) शब्दः रागादिवद् एतेष्वपि प्रवर्तते निमित्तसाम्यात् [२१०क] तत्किमर्थं तच्छब्देन रागादय उच्यन्ते इति चेत् ? सत्यम्, मनःप्रभृतीनां स्वशब्देनावि(भि)धानात्, तच्छब्देन तेषामेव अभिधानम् यथा *"**दोषावरणयोर्हानिः**"[आप्तमी० श्लो० ४] इत्यत्र दोषशब्देन आवरणयोरप्यभिधानेऽपि
२५ आवरणयोः पृथगभिधानात् दोषा रागादय उच्यन्ते।

यदि वा, **आस्रवैः** मनोवाक्कायकर्मभिः इति समानाधिकरण्येन सम्बन्धः करणीयः।

(१) विपरीतायाः। (२) वासनायाश्च। (३) निर्विकल्पदर्शने। (४) निश्चयानिश्चयलक्षणविरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गात्। (५) कर्मभिः। (६) "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा॥"-महाभा० वनप० ३०।२८। (७) कर्मणाम्। (८) कर्माणि। (९) वैशेषिकस्य। (१०) कर्माणि। (११) ईश्वरज्ञानम्। (१२) ईश्वरस्य। (१३) स्वयं सम्बन्धोऽस्तु। (१४) "कायवाङ्मनःकर्म योगः। स आस्रवः।"-त० सू० ६।१, २। (१५) आस्रवशब्देन। (१६) आस्रवशब्देन। (१७) रागादीनामेव। (१८) "वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः। ...आवरणात् पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्यूह्यते।"-अष्टस० पृ० ५१।

तत्र च लौकिकन्यायापेक्षया मनःकर्मभिः इत्यनेन मानसा व्यापारा रागादयोऽपि गृह्यन्ते, ततः सिद्धा[1] न तैर्बध्यन्ते [2]निराम्रय(व)त्वात्तेषामिति मन्यते । अनेन सर्वेण एतत् कथयति–'विवादगोचरापन्नं कार्यं बुद्धिमत्कारणं तत्त्वात्[3] घटादिवत्' [4]इत्यत्र यदि चेतनेन आत्मना साम्रवेण आत्मनोऽचेतनैर्बन्धः स्वयं क्रियते, इति स एव क्रियते इति स एव धीमान् तत्कारणं साध्यते; तर्हि सिद्धसाधनम् । परश्चेत्; दृष्टान्तेऽपि म(न)तत्सिद्धिरिति ।

ननु बध्यमानोऽसौ[6] आस्रवैः कृत्वा अचेतनैः स्वयम्, तथापि आत्मीयैरिव परकीयैरपि बध्यते इति मीमांसकः । स हि पुत्रादिसम्बन्धिभिः तैः[7] चिरमृतानामपि पित्रादीनाम् ब[द्ध]त्वमभ्युपगच्छति, सौगतो वा अन्यकर्मभिः अन्यस्य; तं प्रति आह–**स्वैः** इति । **स्वैः** आत्मीयैः आस्रवैः न परकीयैः, अव्यवस्थापत्तेः । न खलु पुत्रस्य सुरादर्शनाभिलाषादयः पितरम् अत्यन्तश्रोत्रियं सुरया योजयन्ति जीवन्तमपि किमङ्ग पुनः मृतान् ? अन्यथा कृतानेकयोगोऽपि पिता पुत्रदोषात् नरकं व्रजेदिति न कश्चित् प्रेक्षाकारी नियमेन सुकृतकारी स्यात् । कदाचित् पुत्रं दोषकारिणमाशङ्कमानः पुत्रो[२१०ख] वा न जननीयः । नहि वैरिणः[10] स्ववधमाशङ्कमान एव तम् आत्मनः सन्निहितमुपनयति । यदि पुनः कस्यचित् कश्चित् पुत्रः [11]श्रुतकारी दृष्ट इति स्वयं पुत्रजनने प्रवृत्तिः–अन्योऽपि तादृशो भविष्यति, कदाचिदर्थसन्देहो हि कृषीवलादिवत् प्रवृत्तेः अङ्गमिति; तदसाम्प्रतम्; यतः कस्यचिदपकार्यपि तादृक्षो भविष्यति इत्यनर्थसंज्ञा-(शङ्काऽ)निवृत्तेः । ततः सूक्तम्–**स्वैः** इति । यद्वा, **स्वैः** अचेतनैर्बध्यते; अन्यथा ठकपापैः[12] सर्वोऽपि बध्येत । यदि असौ[13] अन्यस्मै ददाति, तदा सोऽपि[13] बध्यते । तथाहि–सौगतः 'जन्म-(यन्म)योपार्जितं पुण्यं तेन त्वाः[14] सर्वे सर्वे सत्त्वाः सुखिनो भवन्तु' इति[15] सर्वोऽपि वदतीति चेत्; वर्तिनैता (नैतावता) तस्य पुण्येन अन्ये सुखिनो नाम, [16]इतरथामतिर्यदैव पापो भणति 'मदीयेन अतिपापेन सर्वे योगिनो दुःखिता भवन्तु' तदाऽसौ[17] सकलसंसारदुःखरहितो योगिनस्तु तत्सहिताः स्युः इति । यस्मै तद्दीयते स यदि(दी)च्छति, तनर्हि सर्वमेव तत्त (नहि सर्व एव तत्र) योगिनः तदिच्छन्ति इति चेत्; न युक्तमेतत्; यतो यदैव म्रियमाणाय चिरंजीविनम् [18]इच्छति, वर्षशतायुः स्वायुः ददाति, तद्दातुः तदैव मरणम् अन्यस्य चिरजीविनस्तम्(वित्वं) भवेत् । न चैवम् । किञ्च,

इष्टाय भाग्यहीनाय वक्रवन्ती (चक्रवर्ती) सपुण्यकम् ।
ददानः पुण्यहीनः स्यात् इष्टश्चक्रिपदं व्रजेत् ॥

---

(१) मुक्तपुरुषाः । (२) रागादिरहितत्वात् । (३) कार्यत्वात् । (४) "महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात्..."–प्रश० कन्द० पृ० ५५ । न्यायकुसु० ५।१ । (५) स्वयं स्वः क्रियते । (६) आत्मा । (७) आस्रवैः । (८) क्षणिकत्वात्, अन्येन क्रियते अन्यश्च बध्यते इति भावः । (९) इति मन्येत । (१०) सकाशात् । (११) वेदानुसारी । (१२) ठकः चौरवृत्त्या गृहीतं द्रव्यम् । (१३) ठकद्रव्यग्राही पुरुषोऽपि । (१४) 'त्वाः सर्वे' इति व्यर्थमत्र द्विर्लिखितं भाति । (१५) "...यत्प्राप्तमर्थं कुशलं मयाऽमलं । तेन सर्वजगदर्थसाधिनी सिद्धिरस्तु जगतोऽस्य सर्वदा ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ६४८ । तत्त्वसं० प० पृ० ९३६ । बोधिच० पं० पृ० ६०५ । (१६) कश्चित् पापबुद्धिः । (१७) पापी । (१८) कश्चिदिष्टजनः, अथ च ।

ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

कथंभूतैः तैः ? इत्याह–**शुभाऽशुभैः** इति । पुण्यहेतुभिः **शुभैः** अपुण्यहेतुभिः **अशुभैः मनोवाक्कायकर्मभिः आस्रवैः** इति । तद्धेतुत्वम् एतेषां [२११क] वृत्तौ[1] विवेचयिष्यति ।

ननु च य एव पुण्यहेतवः त एव पापहेतवः शुभाचरणवतोऽपि अपायदर्शनात्, तथा य
५ एव पापहेतवः त एव पुण्यहेतवोऽपि हिंसाद्यनुष्ठानरतस्यापि अभ्युदयदर्शनात् । एवं च हेतुसङ्करे कथं प्रेक्षाकारिणा धर्माद्युपायाचरणमिति चेत्; अत्राह–**यथास्वम्** इति । यानि स्वानि ये वा **यथास्वम्** इति । एतदुक्तं भवति–यस्य शुभस्य अशुभस्य वा चेतनस्य यानि मनोवाक्कायकर्माणि स्वानि कारणत्वेन प्रत्यासन्नानि ये वा आस्रवाः तेषामनतिक्रमेण चेतनोऽचेतनैर्बध्यते इति । न खलु शुभस्य अचेतनस्य कारणानि अशुभस्य सुता (मृता) भवितुमर्हन्ति, अन्यथा
१० शाल्यङ्कुरकारणानि यवाङ्कुरस्य स्युः । यस्तु शुभाचारवतोऽपि अपायो दृश्यते नासौ तदाचारात् तज्जन्यानाद्वा (जन्याद्वा) कर्मणः, अपि तु पूर्वकृतदुष्कर्मणः, इतरथा तदाचारफलस्य तदैव निष्पन्न[त्वान्न] कश्चिद् भाविना मन्त्रदेवताविशेषाराधनादिफलेन तद्वान् स्यात् । यदि च कदाचित् शुभाद्वाऽनन्तरमपायदर्शनात् स[2] एव तस्य[3] तत्कारणस्य वा कारणम्; हन्त सविषं दिव्यमाहारं भुञ्जानस्य मृत्युः तदाहारकृतः ! यदि पुनः प्रायशः तदाहारात्[6] स न दृष्टः, किन्तु विषाद् दृष्टः
१५ इति तदेव तत्कारणं कल्प्यते नाहारः; एवं प्रकृतेति (तेऽपि) कल्पनायाम् किं विरुध्येत यतः सा न क्रियेत ? अपायस्य वज्जलं (बन्धनं) विरुद्धाचरणादेव दर्शनात् । ननु स्यादेतदेवं यदि शुभावर्णेन (भाचरणात्) पुण्यं कुतश्चिन सिद्धं स्यादिति चेत्; आस्तां तावदेतत् वृत्तौ वक्ष्यति ।

एतेन 'हिंसाद्यनुष्ठानात् कदाचिद् [२११ख] हिरण्यादिलाभोपलम्भात् तदनुष्ठानं धर्मसाधनम्' इति निरस्तम्; तल्लाभस्य पूर्वकृतसुकृतादेव भावात् । तदनुष्ठानेऽपि तत्त्वाभा
२० (तल्लाभा)दर्शनात् । इदं तु स्यात्–इत्थं तेन कर्म कृतं यत्तदनुष्ठानसहितं फलं ददाति । [10]तत एव च 'तद्भावे गुरुभार्याभिगमनादेः [[11]तत स्यात्] ।

एतेन [13]इदमपि प्रयुक्तम्–*"परस्य अनुकूलेषु अनुकूलाभिमानजनितोऽभिलाषः अभिलषितुः अर्थाभिमुखक्रियाकारणं जनयति तत्तदात्मनोऽनुकूलेषु तज्जनिताभिलाषवत् ।"* इति; कथम् ? गुरुभार्यानुकूलेषु परपुरुषादिगमनादिषु पुत्रादेः तदनुकूलाभिलाषस्यापि धर्महेतुत्व-
२५ प्रसङ्गात् । गुरोः प्रतिकूलत्वान्नेति चेत्; मृते वा गुरौ स्यात् । यदि[14] प्रतिकूले च तपसि भतुर (कर्तुर)नुकूलाभिलाषोऽपि पुण्यहेतुर्न स्यात् ।

मीमांसकस्त्वाह–केव (नैव) हिंसाद्यनुष्ठानं मन्त्रसहितम्[15], यथा विषं केवलं मृत्यवे न

(१) टीकायाम् । (२) आस्रवकारकाः । (३) शुभाचारात् । (४) शुभ एव । (५) अपायस्य । (६) दिव्याहारात् । (७) मृत्युः । (८) विषमेव । (९) यज्ञादिदक्षिणायाम् । (१०) हिंसाद्यनुष्ठानादेव । (११) हिरण्यादिसुखसाधनलाभस्वीकारे (१२) सुखसाधनलाभः । (१३) तुलना–"परस्यानुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनितोऽभिलाषः अभिलषितुरर्थाभिमुखक्रियाकारणमात्मविशेषगुणमारभ्नोति अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषत्वात् आत्मनोऽनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषवत्' इत्यस्य···"–प्रमेयक० पृ० ५५५ । (१४) 'यदि' इति निरर्थकम् । (१५) पापहेतुः ।

मन्त्रादिसहितम्, ततोऽभ्युदयस्य व्याधिशमनस्य भावादिति; तदयुक्तम् ; स्वेच्छामात्राद् अर्थाऽसिद्धेः, अतिप्रसङ्गाच्च । वेदस्य प्रमाणत्वस्य निषेत्स्यमानत्वात् न ततोऽस्य विभागस्य प्रतिपत्तिः[1], खार्पटिकागमादपि तत्प्रतीतिप्रसङ्गाच्च । ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

यदि वा, '**शुभाऽशुभैः पुण्यापुण्यैरचेतनैः बध्यते**' इति सम्बन्धनीयम् । तर्हि अविशेषेण [२१२क] चेतनं (नः) तैः बध्यत इति चेत् ; अत्राह–**यथास्वम्** इति । यस्य ५ चेतनस्य यः स्वः मन्दतीव्रादिरूपः क्रोधादिस्वभावस्तस्य अनतिक्रमेण इति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**मनोवाकाय** इत्यादि । **मनोवाक्कायकर्मभिः आस्रवैः** । अथवा **आस्रवैः** इत्यत्र च शब्दो द्रष्टव्यः । किंभूतैः ? इत्याह–**शुभैरशुभैश्च** ।

ननु कारिकायां **शुभाऽशुभैः** इति समस्तो निर्देशः कृतः, अत्र किमर्थं व्यस्तः क्रियते इति चेत् ? सङ्करादिपरिहारार्थः । 'ये शुभाः ते शुभा एव, ये च स्वस्य ते स्वस्यैव नान्यस्य' इति १० प्रतिपादनार्थः तथानिर्देशः । कथम् ? इत्याह–**यथास्वम्** इति । किम् ? इत्याह–**पुण्यपापबन्धः** । केषाम् ? इत्याह–**जीवानाम्** । न प्रकृतेर्नापि ज्ञानक्ष[णस्य] । ता [कारिकायां सामान्यतो] जीव इत्युक्तम्, अत्र व्यक्त्यपेक्षं '**जीवानाम्**' इति वचनं जीवबहुत्वप्रतिपादनार्थम्, इतरथा अत्रापि 'जीवस्य' इत्येकवचनप्रयोगे मन्दमतेः आशङ्का स्यात्–'आचार्यमते [एक] एव जीवः' इति । न च तद्बन्धः तस्य तत्कारणाभावात् सत्तामात्रा(त्रे) प्रमाणभा(वा)च्च (णाभावाच्च) । शरीर- १५ परिमाणस्य चेतनापरिणामस्य अनाद्यनिधनस्य कर्तुर्भोक्तुः आत्मनः प्रतिपादनार्थं जीवग्रहणम् । अस्यैव ग्रहणम् अस्यैव तद्वाच्यत्वेन प्रसिद्धेः, आत्मादिशब्दानां तु परापेक्षया अन्यत्रापि प्रवृत्तेः ।

नन्वत्र परविप्रतिपत्तिनिरासार्थं प्रमाणं वक्तव्यमिति चेत् ; अत्राह–**अत्र** इत्यादि । **अत्र अर्थे न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति** ।

स्यान्मतम्–प्रमाणेन विषयीकृते प्रमेये न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति । न चायं तेन विषयी- २० कृतः । तथाहि– न तावत् प्रत्यक्षेण; तत्र [२१२ख] तदप्रतिभासनात् । न वै खलु [10]आतसादितैलादिसंपर्के घटादेः पांशुराशिसम्बन्ध इव मनोवाक्कायकर्मभिरास्रवैः शुभैरशुभैश्च पुण्यपापबन्धो जीवानां प्रत्यक्षतः प्रतीयते; विप्रतिपत्तेरभावप्रसङ्गात् । नापि अनुमानेन; लिङ्गाभावात् । न च तत्कर्मास्रवाः लिङ्गम् ; 'कारणात् कार्यानुमानम्' इति प्राप्तेः । न चैवम्, व्यभिचारात्, *"[11]नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति" [प्र० वा० स्व० १।६६] । न च ते अन्यत्र २५ अन्यदा तत्कारणत्वेन आतसतैलादिवत् प्रतीतं यतस्तेभ्यो बन्धोऽनुमीयेत [12]मालवकातसतैलसंपर्कादिव उदरमलबन्धः । लिङ्गान्तरमत्र साध्यसमम् । आगमेन विषयीकृत इति चेत् ; कथन्न तत्र कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति ? तद्विषयीकरणादेव विप्रतिपत्तीनामतीन्द्रियार्थे [13]'प्रकृतिः कारणं पुरुषः[14] कारणम्' इत्यादौ दर्शनात्, अन्यथा आगमेनापि तदविषयीकरणे निरालम्बा विप्रतिपत्तयो

---

(१) वेदात् । (२) इयं हिंसा पुण्यहेतुरियं च पापहेतुरिति । (३) पृथङ्निर्देशः । (४) सांख्याभिमतायाः । (५) बौद्धाभिमतस्य । (६) नित्यैकजीवस्य । (७) 'अस्यैव ग्रहणम्' इति पुनरुक्तम् । (८) वैशेषिकाद्यपेक्षया । (९) नित्ये व्यापिनि निष्क्रिये च । (१०) अतसीतैलादि । (११) द्रष्टव्यम्–हेतुबि० टी० पृ० २१० । न्यायबि० टी० २।४९ । (१२) मालवकतैलात् अतसीतैलाद्वा । (१३) सांख्यस्य । (१४) वेदान्तिनः ।

न प्रवर्त्तेरन् । यदेव च विप्रतिपत्तिकारणं तत एव तन्निवृत्तिरिति न हेतुफलव्यवस्था । आगमविशेषोऽपि अतीन्द्रिये दुरवगमः, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वादेर्निश्चेतुमशक्यत्वात् । अथ 'तत्कर्मास्रवेभ्यः पुण्यबन्धो जीवानाम्'इत्यादि वाक्यं प्रमाणम्, अर्हद्वाक्यत्वात्, परिणामिघटादिप्रतिपादकतद्वाक्यवत्' इति; तदपि न सुन्दरम् ; अत्र तद्वाक्यत्वाऽसिद्धेः[1] । यदि पुनः 'तदपि तद्वाक्यम्
५ अनेकान्तात्मकतत्त्वविषयत्वात् प्रसिद्धान्यतद्विषयवाक्यवत्' इति; तदपि तादृगेव; तद्विषयत्वे परापप्रतीतत्वाविरोधात्[2] । नहि एतन्नामकमतीन्द्रियं सप्तमद्रव्यं प्रतिक्षणं [२१३क] परिणमीति विकल्पविदो वदतो वक्त्रं वक्रीभवति । तन्न आगमेनापि विपर्यीकृतः ।

अपरे मन्यन्ते–न प्रयाससाध्योऽयमर्थः **किन्तु सर्वेषामविगीतोऽयम्**, सर्वेषां वादिनां विगानरहितोऽयमिति न कश्चिन् सचेतनो विप्रतिपत्तिमपि (मर्हति) प्रमाणाङ्कुशरहिताः स्वमत-
१० समर्थनमदबहलावलेपापन्ना गजा इव प्रवर्त्तमाना विप्रतिपत्तारः केन वार्यन्ते । दृश्यन्ते हि चार्वाकादयः अत्रैव विवदमानाः, न च ते तत्त्वप्रतिपत्तिं प्रति उपेक्षणीयाः समदर्शिभिः परहितावधानदीक्षावद्भिः अ क ल ङ्कैः । नापि तेषां विप्रतिपत्तय एवमेव निवर्त्तन्ते अपि तु प्रमाणात्, अतस्तदेवं तान् प्रति वक्तव्यं किमनेन '**अत्र न कश्चित्**' इत्यादिना ।

मीमांसकोऽपि *"**श्वेतं छगमालभेत स्वर्गकामः**" इति वचनात् द्रव्यादीनामेव[4] पुण्यत्व-
१५ मिच्छति, *"**ब्राह्मणो न हन्तव्यः**"[5] इत्यादि वचनाच्च ब्रह्मवधादीनामेव पापत्वम्, न ताभ्यां परं पुण्यपापबन्ध इति । प्र भा क र स्त्वाह–

*"**न मांसभक्षणे दोषः न मद्ये न च मैथुने ।**
प्रवृत्तिरेव हि भूतानां निवृत्तिस्तु फलमिति (महाफला)॥"[6]

[मनु० ५।५६] इति ।

२० सौगताः पुनः दानहिंसादिचित्तादिकमेव पुण्यादिकं पठन्ति । *"**दानहिंसाविरतिचेतसो स्वर्गप्रापणसामर्थ्यात्, तेषां प्रत्यक्षत्वेऽपि न प्रत्यक्षत्वम्**" इति सूरेर्वचनाद् इदमेवम् इत्यवसीयते । परमार्थतः कार्यकारणविरहान्न कस्यचित् तैस्तद्बन्ध[8] इत्यन्यः[7] ।

सांख्यस्य तु मतम्–तैः[10] प्रकृतिपरिणामविशेषो जायते, ततः तस्या[11] एव तद्बन्धो न पुरुषाणां शुद्धात्मनामिति[9] । तत्रैव–

२५ *"**गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।**
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्[12] ॥"

(१) अर्हद्वाक्यत्वासिद्धेः । (२) परस्य प्रतिवादिनो या अप्रतीतिः तस्याप्यविरोधात् । (३) प्रमाणमेव । (४) "श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः । चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता ॥"–मी० श्लो० सू० २ । (५) "न जातु ब्राह्मणं हन्यात् ।" मनु० ८।३८० । उद्धृतमिदम्–सन्मति० टी० पृ० ७३१ । (६) "प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।"–मनु० । (७) प्रतिभासाद्वैतवादी । (८) अचेतनैः कर्मभिः । (९) "न बध्यन्ते न मुच्यन्ते उदयव्ययधर्मिणः । संस्काराः पूर्ववत्सत्त्वो बध्यते न न मुच्यते ॥"–माध्य० का० १६।५ । (१०) मनोवाक्कायकर्मभिः । (११) प्रकृतेरेव । (१२) द्रष्टव्यम्–पृ० ८९ टि० ५ ।

इत्यभिधानात् न बन्धफलभावः [२१३ख] पारमार्थिक इत्येके। एवमन्येऽपि कुनया वक्तव्याः। तदेव (वं) विप्रतिपत्तिदर्शनात् कथमुच्यते—'**किन्तु सर्वेषामविगीतोऽयम्**' इति?

अत्र प्रतिविधीयते—'**पुण्यपापबन्धो जीवानाम् इत्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति**' इति वदतोऽयमभिप्रायः—सर्वाद्वैतनिषेधात् जीवबहुत्वसिद्धेः '**जीवानाम्**' इत्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति। कथं तत्प्रतिषेध इति चेत् ? उक्तमत्र, तथापि उच्यते किञ्चित्—विज्ञानलक्षणस्य अन्यस्य ५ वा अद्वैतस्य अदृष्टस्य कल्पने तथाविधानां परिणामिनामन्यथाभूतानां वा सन्तानान्तराणां[1] तथा-कल्पनायां तस्याः[2] पुरुषाधीनतया अनिवार्यत्वात् कथमद्वैतम् ? दृष्टस्य कल्पने; अन्यतो दर्शने अस्यै[3] सिद्धः परमार्थतो ग्राह्याभाव इति कथमद्वैतम् ? इतरथा ग्राह्यभेदवत् न ततस्तत्सिद्धिः।

एतेन आगमात् तत्सिद्धिः[5] प्रत्युक्ता। स्वतो दर्शनं वे (चेत्;) ज्ञाने एतत्[6] प्रतीयताम्। नहि अप्रमाणकं स्वदर्शनमन्यद्वा व्यवस्थ (स्वव्यव)स्थाम् अर्हति, अतिप्रसङ्गात्। १०

अथ मतम्—नीलाद्यात्मकमेव तदद्वैतम्, अन्यस्याप्रतिभासेनासत्त्वात्, नीलादेश्च स्वप्रतिभासात्मकत्वं सुखादिवत् प्रतिभासमानस्य सतोऽन्यग्राहकादर्शनादिति; तन्न युक्तम्; यतः प्रतिभासवशेन तत्त्वव्यवस्थायां 'नीलमहं वेद्मि, पीतमहं वेद्मि' इति अहमहमिकया ज्ञानस्वरूपवत् ततो भिन्नं नीलादिकं प्रतियत् प्रती[यते] इति तथैव स्यात्, अन्यथा न कस्यचिद्वेदकमिति स्वग्रहणमिति दूरोत्सारितम्। प्रत्यक्षबाधनमुभयत्र। न चेदमत्र चोद्यम्—'एकस्वभावेन स्वपरयोः[9] १५ ऐक्यम्। अनेकस्वभावेन; अनवस्था, तस्यापि पुनः अन्यस्वभावान्तरेण ग्रहणात्। [२१४क] न च ग्रहणस्वभावस्य ज्ञानस्य अगृहीतः स्वभावः; विरोधात्' इति। कथम् ? यस्माद् एकमेव (मेक)स्वभावमपि स्वपरो(रौ) प्रतियन् प्रतीयते तस्मात् तौ[10] प्रत्येति। नापि तयोरैक्यं तदप्रतीतेः, इतरथा नीलज्ञानं येन स्वभावेन पीताद्[11] व्यावर्तते तेनैव रक्ताद् व्यावृत्तौ[12] तयोरैक्यमिति महती चित्राद्वैतता ! स्वभावान्तरकल्पने तदवस्था अनवस्था। शेषमत्र चिन्तितम्। भवेत् (भवतु) २० वा तदनेकस्वभावं तद्ग्राहकम् तथापि नानवस्था, तद्वतो ग्रहणेऽपि स्वभावभूताया अपि योग्यतायाः ग्रहणनियमाऽयोगात्। केवलं कार्यदर्शनात् तदात्मिका[13] अनुमीय[ते] व्यवहारो नेदानीं (वेदानीं) प्रवर्त्स्यते। तद्वतो ग्रहणे तद्ग्रहणेऽपि नानवस्था; तत्स्वभावात्मकस्य तथैव प्रतिभासनात्। मध्यादिता(भा)गात्मकनीलमन्या (नीलाद्या)कारज्ञानवत्। अस्यानभ्युपगमे कुतस्तदद्वैतमिति कथं जीवनानात्वनिराकरणमप्रमाणकं युक्तम् ? भावे वा तस्य प्रागभावप्रध्वंसाभावाऽनभ्युपगमे न २५ [14]पुरुषाद्वैताद् भेद इति सुस्थिता चित्राद्वैतता ! [15]तदभ्युपगमे वा कथं प्रकृतविकल्पद्वयनिवृत्तिः ? तथाहि—येन स्वभावेन प्राक् पश्चाच्च तदसत् तेनैव स्वकाले सत्, स्वभावान्तरेण वा ? प्रथमपक्षे पूर्वं पश्चाच्च भावः[16] स्वकालेऽपि भावात्, कार्यकारणभावप्रतिषेधो वा पूर्वोत्तरक्षणविशेषयोरेव [17]तद्भावव्यपदेशात्। तदभावस्य विज्ञप्तिमात्रेऽपि उपगमाददोष इति चेत्; कथमदोषः, यावता

(१) आत्मान्तराणाम्। (२) अदृष्ट। (३) कल्पनायाः। (४) अद्वैतस्य। (५) अद्वैतसिद्धिः। (६) स्वदर्शनम्। (७) नीलादेः प्रतिभासास्वीकारे। (८) वेदने। (९) स्वपरयोः। (१०) स्वपरौ। (११) पीतज्ञानात्। (१२) पीतज्ञान-रक्तज्ञानयोः। (१३) योग्यता। (१४) नित्यत्वापत्तिरिति भावः। (१५) प्रागभावप्रध्वंसाभावस्वीकारे। (१६) सद्भावः। (१७) कार्यकारणभाव।

येनैव स्वभावेन कुतश्चिन जायते मध्यक्षणः तेनैव चेदपरस्य कारणम्; पूर्वापरयोरैक्यम्। तदन्तरकल्पनायाम् आकल्पमनवस्थालता सौगतभूरुहमावेष्ट्य वर्त्तते। [२१४ ख] पूर्वोत्तरक्षणानभ्युपगमे च यथा अक्षणिकस्य अक्रमेण स्वकार्यकारिणो युगपत् सकलं स्वविषयं विज्ञानमुत्पाद्य उपरतस्य द्वितीयादिक्षणा(ण)दर्शनाभावात् शून्यता तथा क्षणमात्रावलम्बिनो विज्ञानस्य

५ भवेत् न वेति सुधियः चिन्तयन्तु ? तदा च शून्यतायामपि यदि न परस्य अनिष्टं किञ्चिदापद्यते सर्वदा [1]सैवास्तु। प्रत्यक्षादिविरोधः अन्यत्रापि समानः।

किञ्च, *"स्वयं सैव प्रकाशते" [प्र० वा० २।३२७] [2]इत्येतदपि एवं सति अयुक्तं स्यात्, स्वग्रहणयोग्यतामन्तरेण जडार्थवत् [3]तदयोगात्। सापि स्वग्राह्यता योग्यतामपेक्षते, तत्र च प्रकृतविकल्पद्वयवृत्तिः अवश्यंभाविनी यथोक्तदोषात्। तन्न प्रत्यक्षसिद्धं स्वपरावभासकत्वं

१० चेतसां निर्विकल्पात् निराकर्तुं युक्तम् अतिप्रसङ्गात्।

ननु न समकालस्य परस्य प्रकाशिका बुद्धिः अप्रतिबन्धात्, स्वतन्त्रयोः उभयोः प्रतिभासनात्, पर एव वा नीलादिः [4]तत्प्रकाशकः स्यात्। अथ नीलादौ कर्मता प्रतीयते ततः स एतया [5]प्रकाश्यते न तेन बुद्धिर्विपर्ययादिति; तत्र (तन्न;) यतो नीलाव्य (न नीलाद् व्य)तिरेकेण कर्मतादर्शनम्। तत्स्वरूपमेव कर्मतेति चेत्; न; बुद्धावपि [6]तस्य भावात्। यदि पुनः

१५ गृहीतिकरणाद् बुद्धिरेव [7]तस्य ग्राहिका; तर्हि [8]सा यदि ततो भिन्ना क्रियते 'गृहीतिः बुद्धिः नीलम्' इति त्रितयं स्वतन्त्रमाभाति न किञ्चिन कस्यचिद् ग्राहकम्। गृहीत्यापि भिन्नस्य [9]तदन्तरस्य करणे स एव दोषोऽनवस्था च, तेनापि तदन्तरस्य करणात्। न गृहीतिरपि बहिरर्थवत्ता (वद्)गृहीताऽस्ति[10]। तद्गृहीतौ च [11]अनुबद्धप्रसङ्गः, अनवस्था च तत्रापि अपरा[परगृहीत्यपेक्षणात्।] अभिन्ना [२१५ क] चेत्; नीलादिरेव [12]तया क्रियते इति प्राप्तम्; तच्च न युक्तम्; अन्यत

२० एव [13]तस्य भावात्, कृतस्य करणायोगात्। [14]तया च क्रियमाणो नीलादिः उत्तरज्ञानवशतामेव (वंशतामेव) स्यात् न अर्थः। अर्थोपादानत्वान्नेति चेत्; न; अर्थाग्रहणात् तदुपादानत्वासिद्धिः। ग्रहणे वा कथं न प्रकृतो दोषः अनवस्था चक्रकं भवेत्। अभिन्नायाः तत्रापि गृहीतेः करणे पुनः पुनस्तस्यैव प्रवृत्तेः। तन्न समसमयस्य समुष्या (शेमुष्या) परस्य ग्रहणम्।

एतेन भिन्नकालस्यापि [15]तया ग्रहणं स्वा(निवा)रितम्; अविशेषात्, सर्वातीतानागत-

२५ ग्रहणप्रसङ्गाच्च। तन्न भिन्नस्य केनचित् कस्यचिद् ग्रहणमिति न जीववत् कुड्यमिति[16] चेत्; न; उक्तमत्र, अविकल्पेन प्रत्यक्ष(क्षेण) प्रतीयमानस्य बुद्धिनीलाद्योर्वेद्यवेदकभावस्य निराकर्त्तुमशक्तेरिति। [न] च बुद्धिवत् नीलादेः प्रतिभासनम् [17]अपराधीनं परं प्रति प्रसिद्धम्, अन्यथा

---

(१) शून्यतैवास्तु। (२) "नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्..."–इति पूर्वांशः। (३) स्वप्रकाशायोगात्। (४) बुद्धिप्रकाशकः। (५) बुद्ध्या। (६) स्वस्वरूपस्य। (७) नीलादेः। (८) गृहीतिः। (९) गृहीत्यन्तरस्य। (१०) 'अस्ति' इति वक्तुं शक्यते। (११) यः दोषप्रसङ्गः अर्थपक्षे अस्ति तस्य अनुबद्धत्वमत्रापि स्यात्। (१२) गृहीत्या। (१३) पूर्वनीलादेः। (१४) गृहीत्या। (१५) बुद्ध्या। (१६) न चेतनस्य जीवस्य सिद्धिर्नापि कुड्यस्य अचेतनस्येति भावः। (१७) स्वाधीनम्, न पराधीनम् अपराधीनम्' इति व्युत्पत्तेः।

'नीलमहं वेद्मि' इति स्वप्नेऽपि न स्याद् अविषये तदप्रवृत्तेः । नहि नीलदर्शी 'पीतमहं वेद्मि' इति कदाचिद् व्यवहरति ।

यत्पुनरुक्तम्–'नीलमेव शब्दः (बुद्धेः) कुतो न ग्राहकम्' इति ; तदपि तथा सुप्रतीत्या परिहृतम् । [1]परस्यापि नीलाकारं ज्ञानम् [2]आत्मवत् पीताकारज्ञानस्य ग्राहकं [3]तद्वद् आत्मनो वा अग्राहकं न स्यात् । आत्मनो ग्राहकत्वेन [4]अन्यस्य अग्राहकत्वेन प्रतीतेरिति चेत् ; अहमहमिकया बुद्धेः प्रतीयमानायाः स्वपरग्राहकत्वेन नीलादेश्च तद्ग्राह्यत्वेन प्रतीतिरिति समः समाधिः । ५

यत्पुनरेतत्–न नीलादिस्वरूपव्यतिरेकेण ग्राह्यता प्रतिभाति, स्वरूपं च यथा बुद्ध्यपेक्षया [२१५ ख] नीलस्य तथा तदपेक्षया[5] बुद्धेरपि इति ; तदपि न सारम् ; यतः सर्वभावानामन्योऽन्यं स्वरूपभेदात् । नहि एकस्य स्वरूपं [अन्यस्य]; सर्वस्य एक[त्व]प्रसङ्गात् । तथा १० च बुद्धे ग्राह्यं ग्राहकं च स्वरूपम् नीलादेः, ग्राह्यमेव, तथाप्रतीतेरिति । इतरथा यया योग्यतया नीलाकारम् आत्मसात्करोति नीलज्ञानं तया पीतज्ञानं तमात्मसात्कुर्यात् । अत एव न धिया [6]तस्य गृहीतिः काचित् क्रियते, अपि तु स्वरूपमेव गृह्यते, यथा कारणेन कार्यस्य स्वरूपं जन्यते । कथञ्चैवंवादिनाम् आत्मनोऽपि बुद्धिर्ग्राहिका ? गृहीतिकरणात् ; प्रसङ्गः पूर्ववत् । अथ न [7]तस्य सा ग्राहिका किन्तु स्वयं प्रकाशते ; न ; 'स्वयम् आत्मानं गृह्णाति' इति नाममात्रभेदात् , नीलं १५ वा न गृह्णाति किन्तु 'प्रकाशयति' इत्यपि स्यात् ।

यच्चाप्युक्तम्–न समसमयस्य इतरस्य वा ग्राहिका इति ; तत् सर्वगम् ; तथाहि–ज्ञानम् आत्मनि नीलाद्याकारं वित्समकालम् इतरं वा बिभर्त्ति इति सर्वं वाच्यम् । 'यथादर्शनमपि'; अन्यत्राप्युक्तम् ।

'ननु च नीलमहं वेद्मि' इति प्रतीतिः स्वप्नेऽपि ; ततः किम् ? तत्रेव[8] जाग्रद्दशायामपि २० नीलादिप्रतिभासः असदर्थः सिध्यति इति चेत् ; न ; एकत्र तथाभावेन सर्वत्र तथाभावनियमासिद्धेः, इतरथा स्ववेदनेऽपि तथाभावसिद्धेः बहिरर्थवत् तदपि त्यागाङ्गं [9]ततो बहिरर्थादिव साधनादिप्रयोजनासिद्धेः, इतरथा असत्प्रतिभासत्वाविशेषेऽपि तदङ्गीकरणात्[10] [11]अर्धवैसस (वैशस) न्यायोऽनुष्ठितः स्यात् । ततो यथा प्रतिभासाविशेषेऽपि बहिरर्थप्रतिभा[सोऽ]सदर्थ [२१६ क] इष्यते सौगतेन, न स्ववेदनप्रतिभासः, तथा परेण[12] स्वप्नार्थप्रतिभासोऽसदर्थ इष्यते न जाग्र- २५ त्प्रतिभा[सः । ननु यथा जाग्रत्प्रतिभा]सादेः स्तम्भादेः परमार्थसत्त्वं ततः स्वप्नेऽपि [13]तत्तस्य भवेदिति भावे को दोषो बहिरर्थवादिनः ? प्रमाणतदाभासप्रणयनमनर्थकमिति चेत् ; सौगतस्यापि

(१) प्रतिभासाद्वैतवादिनः । (२) स्वरूपवत् । (३) पीताकारज्ञानवद्वा । (४) पीताकारज्ञानस्य । (५) नील पेक्षया । (६) नीलादेः । (७) आत्मनः । (८) स्वप्नदशायामिव । (९) स्ववेदनात् । (१०) स्ववेदनस्वीकारात् । (११) "अर्धवैशन्यायः ॥२५६॥ यथा कश्चिद्यवनः कुक्कुटीमांसभोजनकामः तत्सन्ततिकामश्च तद्ग्रीवादिकं छित्वा भुङ्क्ते, उदरं च सन्तानार्थं स्थापयतीति यथा न संभवति तथा प्रकृतेऽपि ।"–भु० लौकिकन्याय० पृ० १०४ । "न चार्धवैशसं युक्तं तत्त्वज्ञाने विवक्षिते ।···कुक्कुटादेरेको देशः प्रसवाय कल्पते पच्यते देशान्तरमित्यर्धवैशसम्···"–बृहदा० वा० टी० १।४।१२७६ । लौकिकन्या० द्वि० । (१२) जैनादिना । (१३) स्तम्भादेः सत्त्वम् ।

*"सर्वमालम्बने, न स्वरूपे भ्रान्तम्" [प्र० वार्तिकाल० पृ० २८०] इति किमेवम[न]र्थकं न स्यात् ? अपि च, स्वप्नेतरयोः ततः परमार्थसिद्धौ मम प्रमाणतदाभासप्रणयनं वैकत्रस्य (न विफलं), सौगतस्य पुनः [१]सकलं दर्शनं विज्ञप्तिमात्राऽसिद्धेः इत्यहो तस्य परदूषणकौशलम् !

अपरेषां दर्शनम्–स्वप्नवद् अन्यदपि सत्येतरप्रविभागवियोग इति ; तेषामपि न विज्ञप्ति-
५ मात्रं प्रसिध्यति, ब्रह्मेरिव सकलविकल्पातीतस्यापि सिद्धेः दर्शनान्तरानुषङ्गात् । किं तेन तादृशा सिद्धेनेति चेत् ? किं ज्ञप्त्या ? न च अस्मिन्नेकान्ते न कस्यचित् सकलविकल्पातीतता क्षणिकैकान्तो वा सिध्यतीत्युक्तप्रायम् । भेदवद् अभेदस्यापि बहिरन्तश्च प्रतीतेः कुण्डलादिषु सर्पवत् । न चेयं प्रतीतिः कल्पितरूपा ; 'सः' इति प्रती(अती)तोल्लेखः 'अयम्' इति वर्त्तमान इति विकल्पयतोऽपि अनिवृत्तेः, अ[श्वं] विकल्पयतोऽपि गोबुद्धिवत् । तथा विकल्पयतः सकल-
१० शून्यतापि उक्ता । [न त]देकान्ते परेण बाध इष्यते यतो निर्विषयत्वं स्यात् स्वप्नज्ञानेऽपि तथानुषङ्गेन तदेकान्तहानेः । कुत [२]इयं प्रतीतिरिति चेत ? भेदप्रतीतिवत् चक्षुरादेः इति । क्रमः अपरापरतद्व्यापाराद् अपरविशेषश्च उपवर्णितः । केवलं पूर्वोत्तरपर्याय[२१६ख]स्मरण-दर्शनाभ्यां 'स एवायम्' इति प्रत्यवमर्शोऽन्यो जन्यते, यतः अपरपरिणामेषु तिष्ठतः पूर्वपर्याय-स्थिता व्यवसीयते । न च इन्द्रियज्ञानमेव सविषयम् ; सर्वस्य स्वप्रतिभासिना विषयेण सविष-
१५ यत्वात् । तदेकान्ते पुनः विशेषतः । एतेन कार्यकारणभावप्रतीतिरपि निरूपिता ; 'इदमस्माज्जातम्' इति अविगानेन प्रतीतेः । तन्न सर्वज्ञानानाम् विशेषकल्पना परस्य श्रेयसी ।

यत्पुनरेतत्–'यद् विशददर्शनमार्गावतारि न तत् परमार्थसत् यथा स्वप्नोपलब्धं मतङ्गजादिकम्, विशददर्शनमार्गावतारि च जाग्रद्दशादर्शनदृष्टस्तम्भादिकम्' इति ; तत्रापि दृष्टान्ते कुतः परमार्थसत्त्वाभावः प्राप्तः यतस्तेन विशददर्शनमार्गावतारित्वस्य अन्यस्य वा हेतोः व्याप्तिः
२० सिध्येत् ? अप्रतिपन्नेन सात्मकत्वेनेव प्राणादेः आत्मना इव संहतत्वादेः (संहतत्वादेः) कस्यचिद् व्याप्त्यसिद्धेः । प्रतिपन्ने इति चेत् ; यदि विशददर्शनात परमार्थसत् ; कथं हेतुः अव्यभिचारी, अनेन व्यभिचारात् ? अपरमार्थसत(न) चेत ; बहिरर्थवत न तत्सिद्धिरिति स एव दोषः– न तेन कस्यचिद् व्याप्तिः इति । एतेन अनुमानादपि तत्प्रतिपन्नता प्रत्युक्ता ; तत्रापि अपरनिदर्शनान्वेषणे अनवस्था । जाग्रद्दृष्टस्तम्भादि निदर्शनमिति चेत् ; अन्योऽन्यसंश्रयः–सिद्धे हि स्वप्न-
२५ दृष्टमतङ्गजादेः परमार्थसत्त्वाभावे ततो जाग्रद्दशोपलब्धस्तम्भादेश्च तत्सिद्धिः, अतश्च तत्सिद्धिः इति । यदि पुनः प्रतिपाद्येन स्वप्नदृष्टस्य घटादेः परमार्थसत्त्वाभावेऽपि उपगमात् [२१७क] तेन हेतोः व्याप्तिसिद्धेः, न हेतोः निरन्वयदोषः, दृष्टान्तस्य वा साध्यविकलता सन्दिग्धधर्मता वा ; तथा सति सांख्योऽपि 'अचेतनाः सुखादयः अनित्योत्पत्तिमत्त्वात् घटादिवत्' इति वदन् किमिति ध र्म की र्ति ना स्व (स्वयं) ग्रहणं व्याचक्षाणेन अकारणमेव निरस्तः ? प्रतिपाद्येन सौगतेन
३० लोकेन वा तत्र [अ]नित्योत्पत्तिमत्त्वादेः अङ्गीकरणात् । प्रतिपाद्यवशेन च दृष्टान्ते साध्यसिद्धिः

(१) द्रष्टव्यम्–पृ० १४ टि० ५ । (२) सांशम् न निरंशम् । (३) अभेदप्रतीतिः । (४) चक्षुरादिव्यापारात् । (५) परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवत् इत्यादेः । (६) दृष्टान्तं प्रतिपन्नम् । (७) सिध्येत् । (७) पक्षलक्षणे उपात्तं स्वयं शब्दं । (८) द्रष्टव्यम्–प्र० वा० ४।३०''' । (९) घटादौ ।

न पुनः साध्यधर्मिणि हेतोः इति कोऽयं नियोगः ? यदि वा प्रतिपाद्येच्छामात्रसिद्धं साध्यमादाय दृष्टान्ते तेन हेतोः व्याप्तिरिष्यते ; तर्हि [1]अस्वेच्छा (अन्येच्छा) मात्रसिद्धमादाय सा किन्नेष्यते ? अप्रमाणभूतयोः स्वपरेच्छयोरविशेषात्[2] । तथाभ्युपगमे को दोष इति चेत् ; न कश्चित् ; केवलं साध्यवत् साधनस्यापि स्वेच्छाकल्पितस्य अभिमतसाध्येन व्याप्तिभावात् *[3]"स्वदृष्टार्थ-प्रकाशकं परार्थमनुमानम्" इत्यत्र अर्थग्रहणमनर्थकम् । तत्र स्वपरेच्छामात्रसिद्धेन साध्येन ५ हेतोर्व्याप्तिसिद्धिरिति कथन्न निरन्वयादिदोष इति चेत् ? अत एव, पक्षीकृतेऽपि तदभावसिद्धेः हेतोः आनर्थक्यम् । न च प्रतीतस्य अनर्थकविकल्पितनिरासः अतिप्रसङ्गात् । विकल्पस्यास्य तदतद्विषयत्वे तदयोगात् सकलशून्यतानुकूलत्वाच्च । [२१७ ख] अथ जाग्रत्प्रत्ययो बाधक इष्यते, यतस्तस्मिन् सति परमार्थसन्न भवति स्वप्नघटादिकम्, अपि तु तथा असदपि सत्त्वेन मिथ्या वितर्कितमिति व्यवहारप्रवृत्तेरिति चेत् ; न ; परेण[4] तस्य[5] तद्बाधकत्वाऽनभ्युपगमात् । १० अभ्युपगमेऽपि जाग्रत्स्तम्भादौ [6]तदभावान्न परमार्थसत्त्वाभावः स्यात् । भवतु वा कथञ्चित् तरे (तत्र) तदभावो नैतावता सर्वत्र तत्सिद्धिः, विपक्षे सद्भावबाधकप्रमाणाभावे सन्दिग्धविपक्ष-व्यावृत्तिकत्वेन अनैकान्तिकत्वात् । नहि परमार्थसद्दर्शनमार्गावतारित्वं केन विज्ञानं तश्चिद् (केनचिज्ज्ञातं कुतश्चिद्) बाध्यमानं दृष्टं सर्वज्ञे वक्तृत्वादिवत् ; तथा सतः कस्यचि[त्तद्]-दर्शनात् । [7]तथापि तत्र तदभावसाधने न वक्तृत्वादीनां (नाम) गमकत्वमिति मीमांसकं प्रति १५ विद्वेषो निर्निबन्धनः । दर्शने वा हेतोर्व्यभिचारः कथं परिहृतः स्यात् ? सुतएव न (नच) विरो-धोऽपि साक्षात् तत्र तद्भावं बाधते, अदृष्टेन हेतोः विरोधद्वयासिद्धेः ।

ननु परमार्थसत्त्वविरोधी तदभावः, तेन व्याप्तो हेतुः, अतः परम्परापाया (परम्परया) विरोध इति चेत् ; यदि क्वचित् तयोः सहभावदर्शनात् तेन तद्व्याप्तिः, कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कार-णत्वेन व्याप्तिः[8], क्वचित्[9] सहभावदर्शनस्य अत्रापि भावात् । [10]विपक्षे बाधकम् अन्यत्रापि २० दुर्लभम् । भवतु वा विपक्षात् कथञ्चिदस्य व्यावृत्तिः, तथापि विशददर्शनगम्यत्वेऽपि परमार्थसत्त्वे हेतोः व्यभिचारापरिहारः । ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

ननु न बौद्धेन क्वचित् किञ्चित् साध्यते निषिध्यते वा तत्कुतः[11], केवलं यो व्यवहारी प्रतिभासादिना जाग्रत्स्तम्भादीनां [२१८क] परमार्थ[त्वं] साधयति शतेन (स तेन) स्वप्नादौ तद्व्यभिचारेण तदभ्युपगतेन निरान्त (राक्रि) यते, तेन तत्र परमार्थसत्त्वाभावाभ्युपगमात् इत्येके । २५ तत्र किं पुरुषाभ्युपगमादप्रमाणकात् साधनं व्यभिचारि भवति ? तथा चेत् ; सत्त्वादि सर्वम-नैकान्तिकं तद्वत् स्यात् , प्रतिपाद्येन अनित्यघटादिवत् नित्ये गगनादौ [12]तदङ्गीकरणात् । यदि च प्रतिभासादिः अनैकान्तिकः ततः किं बहिरर्थपरमार्थसिद्धिः ? [न हि] सन्दिग्धव्यभिचारिणः

(१) न स्वेच्छा अस्वेच्छा, अन्येच्छा इत्यर्थः । (२) विशेषाभावात् । (३) "तत्र परार्थानुमानं स्वदृष्टार्थ[illegible]त्याचार्यीयलक्षणम् ।"–प्र० वा० मनो० ४।१ । "तत्र परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थ-प्रकाशनम्"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ४६७ । (४) प्रतिभासाद्वैतवादिना । (५) जाग्रत्प्रत्ययस्य । (६) बाधका-भावात् । (७) अदर्शनमात्रेण । (८) स्यात् । (९) घटादौ । (१०) यथा कार्यत्वहेतोः विपक्षे बाधकं दुर्लभम् तथा अन्यत्रापि विश[illegible]ऽपि हेतौ दुर्लभम् । (११) एते दोषाः । (१२) सत्त्वस्वीकारात् ।

साधनात् साध्यसिद्धिरसन्दिग्धा उपजायते अतिप्रसङ्गात् । सन्दिग्धेऽर्थे सति को दोषः ? किं तेन व्यवहारा-[ग्योपेदा] समाश्रितेन इति ? किं पुनस्तत्त्वम्, यत् तत्परिहारेण समाश्रयणीयं स्यात् ? स्वसंवेदनमात्रमिति चेत्; ननु च प्रतिभासादिना तदपि सिध्यति, स च अभ्युपगमेन व्यभिचारीकृत इति न किञ्चिदेतत् । अथात्र विशेषोऽभ्युपगम्यते परेण; अन्यत्रापि सोऽभ्युप-
५ गम्यते इति । न च अन्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारः अतिप्रसङ्गात् । तदुक्तम्–

*"इन्द्रजालादिषु भ्रान्तिमीरयन्ति न चापरम् ।
अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः ॥" [न्यायवि० श्लो० ५१] इति ।

नन्वेवं बहिरर्थसाधनं प्रकृति (तं) चेत्; उच्यते–यथा बहिरर्थग्रहणानुबन्धमजहत एव ज्ञानस्य स्वग्रहणव्यापारः, स्वग्रहणानुबन्धं चाऽजहतो देशभिन्नार्थग्रहणव्यापारः, तथा कारण-
१० ग्रहणानुबन्धमजहत एव कालभिन्नकार्यग्रहणसिद्धेः कार्यकारणभावः पारमार्थिकः सिध्यति, [1]तत्सिद्धेश्च यथा क्वचिद् धूमदर्शनादग्नेः सिद्धिः तथा क्वचिद् वागुपलम्भात् [2]चैतन्यसिद्धिः इति [२१८ ख] यदुक्तम्–*"वाग्बुद्ध्योः प्रमाणाभावेन कार्यकारणभावाऽसिद्धेर्न वाचो बुद्ध्यनुमानम्" इति; तन्निरस्तम् ।

तत्त्वे (नन्वे)कदा बुद्धेर्वाचो दर्शनेऽपि न सर्वत्र सर्वदा तत एव, सालूकात् सालूकस्य
१५ दर्शनेऽपि पुनः गोमयादपि तद्दर्शनेन व्यभिचाराशङ्काऽनिवृत्तेः तत्रापि, तं (तत्) कथं वाचो बुद्ध्यनुमानम् इत्येके; ते चार्वाकादपि पापीयांसः; स्वयमेव 'यादृशाद् यादृशमुपलब्धम्, अन्यदापि तादृशादेव तादृशभावम्' अभ्युपगम्य पुनः [3]अन्य[थाभि]धानात् । कथं चैवं वादिनां सर्वं ज्ञानं स्वाग्राहिमा (स्वग्राहि न) पुनः परग्राह्यता[4] इति सिध्यति यतो मीमांसकादि-निवृत्तिः स्यात् । नहि प्रत्यक्षमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्, अविषये स्वयमवृत्तेः, एक
२० वाक्य (एकं[5] च तद्) द्वैतनिषेधात् । अथ यत् स्वग्राहि न भवति तज् ज्ञानमेव न भवति । कुत एतत् ? स्वग्रहणात् तल्लक्षणान्तराभावात् इति । तदपि कुतः ? तथादर्शनात् । नन्वेकत्र तथा-दर्शने सर्वत्र तथाभावः कथंभूतस्य वृक्षस्य (कथमभूत् ? प्रत्यक्षस्य) स्वभावस्य एकदा दर्शनेऽपि स्वभावातिक्रमाऽनिवृत्तेः[6] । एवं सत्यपि ज्ञानं स्वस्वभावं कदाचनापि न जहाति, कार्यं तु कारणं जहाति इति प्रचण्डनृपतिचेष्टितम् ! ततः साधूक्तम्–'जीवानाम् इत्यत्र न कश्चिद् विप्रत्ति-
२५ पत्तुमर्हति' इति ।

'पुण्यपापबन्ध' इत्यत्रापि न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति । तद्यथा, तेषां यथावस्थितस्वपर-प्रकाशनस्वभावत्वेना प्रकृत्याशुभासुरीणम् आमंतुके (त्वेन प्रकृत्या भास्वराणाम् आगन्तुकं) मिथ्याज्ञानं विषादिभ्यः समुपलभ्य आगन्तुकं सुखादिकमपि तथाविधकारणप्रभवम् इत्यनु [मातु]मर्हन्तु परीक्षकाः [२१९क] इतरथा धूमादेः अग्न्यादि कथमनुमीयते ? एतावांस्तु विशेषः–
३० यतो मिथ्याज्ञानादिकं विवादास्पदीभूतं भवति तत् 'पापम्' इत्याख्यायते, यतः सुखादिकं तत्

(१) कार्यकारणभावसिद्धेश्च । (२) बुद्धि । (३) व्यभिचारशङ्काप्रदर्शनात् । (४) ज्ञानं परेण ग्राह्य-मिति । (५) कथं चैवं वादिनां सर्वं ज्ञानम् एकं च सिध्यति तदद्वैतनिषेधात् इति सम्बन्धः । (६) स्वभा-वातिक्रमस्य आशङ्का स्यादिति भावः ।

'पुण्यम्' इति । तथा च प्रयोगः तेषाम्–आगन्तुकविवादगोचरापन्नं सुखादिकं तत्संयुक्तविषादिकारणसमानकारणप्रभवम् आगन्तुके सति तत्परिणामत्वात् प्रसिद्धमिथ्याज्ञानवत् ।

इदमपि तु सुभाषितम्–'**पुण्यपापबन्धो जीवानाम्** इत्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति' इति । तथैव '**तेषां तद्बन्धः मनोवाक्कायकर्मभिः आस्रवैः शुभाशुभैः** इत्यत्र न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति' इति । तथाहि–विषादो स्वपरात्मनोः अहिते हितबुद्धिः मिथ्याज्ञानतः, तत- ५
स्तत्र अविरतिः अत (अविरत) लक्षणा, ततोऽपि प्रमाणे (मादो) हितेतरविषयं मनसोऽप्रणिधानम्, तस्माच्च लोभः तदादातुं मनोवाक्कायव्यापारः, ततस्तदानम् (तदादानम्) आत्मनस्तेन संयोगः, तेन पुनः अपरं मिथ्याज्ञानम्, एवं परत्रापि वक्तव्यम् । तथा तत्रैव मिथ्याज्ञानात् क्रोधादयः तद्व्यापारः तदुपादानं मिथ्यात्म (व्यामा) नादिकमिति व्याख्यातव्यम् । तद्वद् विशिष्टौषधावौ सम्यग्ज्ञानादेः तदुपादाने सुखादिकं व्याख्यातव्यम् । तदेवं सिद्धायां व्याप्तौ पुण्यपापबन्धोऽनु- १०
मितोऽतो भवति इत्यनुमीयते, आज्ञादि (अज्ञानादि) मिथ्याज्ञानादिकं च [त]त्कारणमित्यपि[3] । न च कारणात् कार्यानुमानमयुक्तम, अन्यथा दृश्यानुपलब्धिः असद्व्यवहारसाधनम् अनिरूपितमेव स्यात, तस्याः तत्कारणत्वोपगमात् । योग्यतानुमानेऽपि प्रतिबन्धवैकल्यसंभवाशङ्कया कथं निःशङ्कं तदनुमानं तन्दुलादेः ओदनाद्यनुमानवत् । अत्र कारण[२१९ख]विशेषकल्पनायाम् अन्यत् समानम् । तदुक्तम्– १५

*"एषोऽहं मम कर्म शर्म हरते तद्बन्धनान्यास्रवैः,
ते क्रोधादिवशाः प्रमादजनिताः क्रोधादयः सो(तेऽ)व्रतात् ।
मिथ्याज्ञानकृतात्ततोऽस्मि सततं सम्यक् (क्त्ववान्) सव्रतो
दक्षः क्षीणकषाययोगतपसां कर्त्तेति मुक्तो यतिः ॥"

[यश० उ०पृ० २४६] इति । २०

तनुक्तोवादिभ्य (तत्र क्रोधादिभ्य) एव हीनसंस्थानसंक्रान्तित्वं तेभ्योऽन्यददृष्टं तत्कारणं जायते अत (तथा) दर्शनात इति । तदुक्तम्–

*"दुःखे विपर्यासमतिः तृष्णा च बन्धकारणम् ।
प्राणिनो यस्य ते न स्तः न स जन्माधिगच्छति ॥" [प्र० वा० १।८३] इति ।

चैव (?) **पुनर्बन्ध** इत्यादि । २५

[पुनः फलविकल्पः स्यात् सुखदुःखादिलक्षणः ।
यथास्वं कालदिग्भावसन्निधौ बन्धसन्ततः ॥१०॥
मूषिकालर्कविषविकारवत् ।]

पुनः तेषां पुण्यपापबन्धात् पश्चात् कालान्तर इत्यर्थः । **फलविकल्पः** तद्बन्धकार्यभेदः

(१) अचेतनकर्मबन्धः । (२) कर्मणा । (३) अनुमीयते इति सम्बन्धः । (४) असद्व्यवहारकारण । (५) "अस्यात्मास्तमितादिबन्धनगतः तद्बन्धनान्यास्रवैः । ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात् ॥ मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित् । सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते ॥"–आत्मानु० श्लो० २४१ ।

स्याद् भवेत्। किं लक्षणः ? इत्याह–सुख इत्यादि। तत्र आ[१]संग्रहे इष्टानिष्टशरीरादिपरिग्रहः। कस्मिन् सति स्यात् ? इत्याह– बन्धसहितौ (सन्ततौ) इति। जीवकर्मणोः संयोगविशेषः न समवायः चेतने समवायविरोधात् बन्धः तस्य [illegible] आफलावाप्तेः सन्तानेन समवस्थानम्। एतदुक्तं भवति–यदि क्रोधादिभ्यः आत्मसम्बन्धसन्तत्या प्राप्तफलकालं

५ किञ्चिन्न स्यात् कुतो जन्मान्तरे फलविकल्पः ? क्रोधादेश्च जन्मकाल एव विलयात्। न ततः क्षणिकैकान्ते सन्ताननिषेधात् स युक्तः।

एतेन *"श्वेतं छागमालभेत स्वर्गकामः" इति वचनात् [न] मनोवाक्कायकर्मभ्यः फलविकल्पः इति निरस्तम्; द्रव्यादीनाम् इष्टिकालादावेव विनाशात्। तत्प्रवाह(ह)स्थितौ वरं तेभ्यः समुत्पन्नकर्मणां तत्स्थितिरस्तु विरोधाऽभावात्, न द्रव्यादीनां विपर्ययात्, ऐहिकफल-

१० कालेऽपि [२२०क] तत्सन्ततेरप्रतिपत्तेरिति। तस्यां सत्याम् कथं कुतः स स्यात् ? इत्यत्राह–यथास्वम् इत्यादि। यस्य कर्मणो स (य) उदयः फलोपजन[न]सामर्थ्यपरिपाकः यथाकालम्, उदीरणम् अपक्वपरिपाचनं तस्य अनतिक्रमेण यथास्वम् इति। तयोर्ध्वंसा सामर्थ्यात् स्वस्यात् (तपसः सामर्थ्यात् तत्स्यात्।) अत्रायमभिप्रायः–यदि स्वेन स्वभावेन प्रथममुत्पन्नं शुभमशुभं वा कर्म तेनैव कालान्तरे स्थितमपि फलं जनयेत्, तदुत्पत्तिसमय एव तत्स्यात्। नहि कारणावैकल्ये

१५ फलवैकल्यम्, अतत्कार्यत्वप्रसङ्गात्।

स्यान्मतम्–इत्थंभूत एव असौ स्वभावः यत् कालान्तरे कार्यम्। दृश्यते हि मन्त्रतन्त्रादीनां स्वदेशे समर्थानां देशान्तरे कार्यकरणमिति; तन्न युक्तम्; तत्कार्याणां कालान्तरेऽपि सहभावप्रसङ्गात्। तथा च अस्य उत्पद्यते इदं कर्म इति योगिनोऽपि न बुद्धिः। न च परस्य अकारणं विषयः *"अर्थवत् अर्थसहकारि प्रमाणम्" इति वचनात्। 'योगिनः अकारणमपि विषयः'

२० इत्यपि वार्त्तम्; अन्यस्यापि तथासंभावनाप्रसङ्गात् *"यस्य यावती मात्रा" [प्र० वार्तिकाल० पृ० २२३] इतु (इति) न्यायात्।

ननु ईश्वरज्ञानं नित्यमपि अर्थग्राहकम्, तथा नित्यमस्तु, अन्यथा अनीश्वरयोगिनो ज्ञानं क[थ]मर्थग्राहकम् ? तत्कार्यत्वात्; कथमेकस्माद् एकस्वभावात् कर्मणः अन्यतो वा क्रमभावि कार्यद्वयम् ? तथा स्वभावादिति चेत्; स स्वभावः कारणस्य, कार्यस्य वा भवेत् ? न तावत्

२५ कारणस्य; एकस्वभावत्वात्। नहि य एव पूर्वकार्ये स एव अन्यत्र तद्व्यापारो युक्तः, कार्यकालभेदाऽभावप्रसङ्गात्। नापि कार्यस्य; उत्पन्न-अनुत्पन्नविकल्पद्वये तदयोगात्। नाऽनुत्पन्नस्य; खरविषाणवत्। नाप्युत्पन्नस्य; अन्योऽन्यसंश्रयात्– उत्पन्नस्य [२२०ख] तत्स्वभावता, तस्यां च तथोत्पत्तिः इति।

ननु यथा एकस्माद् एकस्वभावाच्च युगपद् देशभिन्नं कार्यं तथा क्रमेण कालभिन्नमिति

३० चेत्; भवतु सौगतस्य न जैनस्य, तस्य सर्वदा कारणस्वभावभेदादेव कार्यभेदभावात्।

(१) एकक्षेत्रावगाहे सत्यन्योऽन्यानुप्रवेशलक्षणः। (२) फलविकल्पः। (३) द्रव्यगुणक्रियादीनाम्। (४) यज्ञकाल एव। (५) द्रव्यादिभ्यः। (६) प्रवाहस्थितिः। (७) फलम्। (८) नैयायिकादेः। (९) "न ह्यकारणं प्रतीतिविषयः"–हेतुबि० टी० पृ० ८०।

अत्रापरः प्राह–यथा एकस्वभावेन कारणम् आत्मनि नानासामर्थ्यं बिभर्त्ति, तथा तेनैव नानाकार्यं कुर्यादिति, इतरथा अनवस्था इति; तन्न; जैनस्य समयाऽपरिज्ञानात्। न खलु जैनस्य 'किञ्चित् केनचित् स्वभावेन तत्सामर्थ्यं बिभर्त्ति' इति मतम्, अपि तु स्वकारणात् तदात्मकमुत्पद्यते संशयेतरस्वभावज्ञानवदिति।

तदेतेन यदुक्तं केनचित्–*"रूपादिवद् धर्माऽधर्मसंस्काराणाम् आधाराव्यापकत्वम्" इति; तन्निरस्तम्; सर्वत्र सर्वदा तत्कार्योदयप्रसङ्गात्, मोक्षाभावप्रसङ्गात् धर्माद्यभावरूपत्वात्तस्य[3]। तत्र तदभावे नाधाराव्यापकत्वं तेषाम्[4]; मोक्षे तद्रहितस्य आत्मनो भावात्[5]। कथं वा तत्र[6] तदभावोऽवसीयते? तत्कार्यशरीराद्यभावात्; किं पुनः 'कार्याऽभावात् कारणाभावगतिः' इत्येकान्तः? तथा चेत्; कथं सर्वत्र धर्मादिगतिः यतः सर्वगतात्मव्यापकत्वं सर्वत्र तत्कार्याभावात्। अदर्शनात् सत्कार्याभावात् तत्र तत्कार्याभावो न धर्माद्यभावात् इति नोत्तरम्; मोक्षेऽपि तथा प्रसङ्गात्।

किं च, आत्ममनःसंयोगः स्वाधाराव्यापकोऽपि चेत् सर्वत्र सर्वदा आत्मनि धर्मादिकं जनयति; धर्मादिः तथा स्वाधाराऽव्यापकोऽपि सर्वत्र कार्यं करोति इति किं तद्व्यापकत्वकल्पनया? इति यत्किञ्चिदेतत्।

ननु न सर्वत्र सर्वं तत्कार्यं कालादिसामग्रीवैकल्यात् [२२१क] तद्भावे तु भवत्येवेति चेत्; अत्राह–**कालादि** इत्यादि। **काल आदिर्येषां** ते देशद्रव्यविशेषादीनां ते तथोक्ताः तेषां **सामग्री** तः [ते[10]] एव विशिष्टपरिणामोपेता[11] न पुनः तेभ्योऽन्यैव[12], तस्या एव कार्योदयः (य) प्रसङ्गात्। भिन्नायाश्च[13] [14]तत्सम्बन्धाऽयोगात् समवायनिषेधात्। [15]उपकार्योपकारकभावकल्पने सामग्रीवत् ते[16] एव कार्यमुपकुर्वन्तु। पुनरपि तदन्तरकल्पने अनवस्था स्यात्। **तस्याः सन्निधौ** सन्निधाने अङ्गीक्रियमाणे उदय-उदीरणवशात् **फलविकल्पः स्यात्**। कर्मणां तत्कृतोपकाराभावे तत्सन्निधानवैयर्थ्यमिति मन्यते। यदि वा, तत्सन्निधौ फलविकल्पः स्यात्, तस्मिन् सत्येव भावात्, कर्मसु तेषु सत्स्वपि पूर्वमभावात् इति व्याख्येयम्। '**पुनः बन्धसन्ततौ फलविकल्पः स्यात्**' इत्यनेन दृश्यादेव सेवादेः तद्विकल्पन (ल्पं) निराकरोति 'समानसेवादीनामपि[17] कस्यचिद् अचिराद् अपरस्य चिरात् फलम् अन्यस्य चिरादपि फलं न' इति फलविकल्पस्य दर्शनात्। न च समाने कारणे फलवैचित्र्यम्; अतत्फलत्वप्रसङ्गात्। नहि शुक्लपद्मबीजेभ्यः शुक्लाऽशुक्लपद्मसंभवः।

एतेन दृश्यभूतविशेषात् [18]तत्संभवोऽपास्तः; परिम्लाव्यस्फटिकभाजने व्यवस्थापितादपि जलात् नानाजन्तुजन्मोपलम्भात्। तत्र सूक्ष्माद्दृश्यभूतविशेषकल्पनं कर्मवादान्न विशेष्येत।

(१) शास्त्र। (२) यथा संशयज्ञानं स्वाप्यवादावर्थे संशयरूपमपि स्वरूपे असंशयात्मकं भवति तथा। (३) मोक्षस्य। (४) धर्मादीनाम्। (५) धर्मादिशून्यस्य आत्मनः सद्भावात्। (६) मोक्षे। (७) धर्मादीनामभावः। (८) कार्याणि सन्त्यपि न दृश्यन्ते। (९) आत्मव्यापकत्व। (१०) कालादयः। (११) सामग्री। (१२) भिन्नैव। (१३) सामग्र्याः। (१४) कालादिकारण। (१५) सामग्री-कारणयोः। (१६) कालादयः। (१७) पुरुषाणाम्। (१८) फलविकल्पः।

तद्विशेषो कदाचित् क्वचिदेव भवन्नात्मनः कारणनियमं सूचयति । आकस्मिकत्वे मिथ्याज्ञानादिभेदोऽपि मिथ्याज्ञानादिनिमित्तास्रवपूर्वको न स्यात् । ततः स्थितं **पूर्वबन्ध (पुनर्बन्ध)** इत्यादि ।

दृष्टान्तमाह–[२२१ख] **मूषिक** इत्यादि । **मूषिका**ऽलर्कशब्दयोः कृतद्वन्द्वयोः **विष**-
५ शब्देन षष्ठीसमासः तस्य पुनः **विकार**शब्देन । यदि वा, मूषिकालर्कविषाणां कृतद्वन्द्वानां विकारशब्देन तत्समासोऽभिधेयः, तद्विकारेण तुल्यं वर्त्तते इति **तद्वत्** इति ।

'सुखदुःखादिलक्षणः' इत्यत्र आदिशब्देन विवक्षितं मिथ्यादर्शनज्ञानफलं निरूपि-(पयि)तुं कारिकामुपन्यस्यति **उदयोदीरण** इत्यादिना ।

[उदयोदीरणसद्भावे दृष्टिप्रतिबन्धकर्मणाम् ।
१० **मिथ्यादृष्टिधियौ कर्मप्रकृतीनां क्षयोपशमात् ॥११॥**

जीवादितत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम् । जीवे तावन्नास्तिक्यम् अन्यत्र जीवाभिमानश्च, मिथ्यादृष्टेः द्वैविध्यानतिक्रमात् विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिर्वेति । मिथ्यादृष्टेः क्षायोपशमिकभावस्यापि तद्घातिकर्मणामुदयोदीरणवशात् मत्यज्ञानादिपरिणतिः ।]

ननु च **आदि**शब्देन उपदर्शितोपदर्शनार्थं पुनः कारिका उच्यमाना पुनरुक्ततामावहेत्,
१५ अतिप्रसङ्गश्च इष्टानिष्टशरीरादिफलोपदर्शनार्थयोरपि तथावचनप्राप्तेः इति चेत्; न; अन्यथा तदुपन्यासात् । तथाहि–'मिथ्याज्ञानादेः अविरतिः, ततः प्रमादः, अस्मात् क्रोधादयः, तेभ्यः आस्रवः, [ततः] कर्मबन्धः, पुनः बन्धसन्ततौ फलविकल्पः स्यात्' इति सूरेः अभिप्रायः, ***"एषोऽहं मम कर्म शर्म हरते"** [यश० उ० पृ० २४६] इत्यादि वचनात् । तत्र प्रथमं मिथ्यात्वादिकं यदि अकारणमन्यकारणं वा सर्वं तथैव स्यादिति; अत्राह–**उदयोदीरण** इत्यादि ।
२० अत्रायमभिप्रायः–तदपि मिथ्या[त्वा]दिकम् अन्यस्मात् कर्मोदयोदीरणवशाद् अनादित्वात् तत्प्रबन्धस्य बीजाङ्कुरप्रबन्धवत् इति । यद्वा, तत्र आदिशब्देन इष्टस्थानसंक्रमणादिपरिग्रहः, न मिथ्यादर्शनादेः तत्र विवादस्य ***"मिथ्याज्ञानं विसंवादादप्रमाणम्"** [सिद्धिवि० ४।२] इत्यादिना निराकृतत्वात् । तदेव अत्र पुनरपि दृष्टान्तार्थमुपदर्शयितुम् **'उदयोदीरण'** इत्यादिकां कारिकामाह । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा मूषिकालर्कविषादि स्वकालादिसामग्री सत्तवा [सत्त्वे
२५ फलवत् तथा] उदयोदीरणवशात् [२२२क] मिथ्यात्वं किञ्चिद् उपलभ्य आगन्तुकम् अक्षणिकत्वादिमिथ्यात्वं तादृशादेव कारणादिष्यते तथा आगन्तुकसुखादिकमपि इति । उदये उदीरणे च सति । केषाम् ? इत्याह–**दृष्टि** इत्यादि । तद्रुचि (तत्त्वरुचि) ज्ञानप्रतिबन्धकर्मणाम् । किं स्यात् ? इत्याह–**मिथ्यादृष्टिधियौ** मिथ्यारुचि-मिथ्याज्ञाने 'स्याताम्' इति शेषः । [किं] सर्वदा इति चेत्; अत्राह–**कर्म** इत्यादि । यदा काश्चित् कर्मप्रकृतयः क्षयोपश-
३० मवत्यो भवन्ति तदा आत्मनो विचाराभिमुख्यम्, अन्यथा मत्तमूर्च्छितवत् तदयोगात्, तदापि कस्यचिद् उदयादिभावे मिथ्यारुच्यादिकमिति, यथा विषाद्युपयोगे मूर्च्छितस्य ।

---

(१) षष्ठीसमासः । (२) कर्मोदय-मिथ्यात्वादिसन्तानस्य । (३) ज्ञानोद्भवाभोगाः ।

अकासाविद् द्विष्टकलानां (अस्मदादि विषकल्पानां) कुतश्चित् क्षयोपशमे कदाचित् उद्बोदीरणे प्राथमिकप्रबोधे स विभ्रम इति मन्यते ।

'जीवादि' इत्यादिना कारिकां विवृण्वन् प्रथमं निर्दिष्टां मिथ्यादृष्टिं विवृणोति–मिथ्यादर्शनम् । किम् ? इत्याह–जीवादि इत्यादि । आदिशब्देन अजीवादिपरिग्रहः, स एव तत्त्वार्थः प्रमाणोपपन्नत्वात् तत्र अश्रद्धानम् अरुचिः । तदेव दर्शयन्नाह–जीव इत्यादि । तावत् ५ शब्दः क्रमवाची जीवे आत्मनि नास्तिक्यं नास्तिकस्य भावो 'मिथ्यादर्शनम्' इति सम्बन्धः। तत्रैव अपरं दर्शयति अन्यत्र चेतनापरिणामशून्ये स्वयं कल्पिते धर्मिणि सर्वगतत्वादिधर्मोपरक्ते जीवाभिमानश्च 'मिथ्यादर्शनम्' इत्यनुवर्तते, अतस्मिन् तदभिमानस्य तद्रूपत्वात्[2] । किं पुनः द्विविधमेव तत्[3] प्रदर्श्यते ? इत्याह–मिथ्यादृष्टेः इत्यादि । मिथ्या दृष्टिः रुचिर्यस्य तस्य द्वध्या (द्वैविध्या) नतिक्रमात् । कुतः ? इत्याह–[२ २ २ख] विप्रतिपत्तिः इत्यादि । तस्य जीवे विरुद्धा १० विपरीता वा प्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः अप्रतिपत्तिः प्रतिपत्त्यभावो यतः वा शब्दो विकल्पार्थः इति शब्दः मिथ्यारुचिसमाप्त्यर्थः ।

ननु 'किं जीवोऽस्तु (स्ति) न [वा]' इति, तथा 'चेतनपरिणामस्वभावः अन्यो वा' इति संशयपक्षोऽपि तृतीयोऽस्ति सः कस्मान्नेहोच्यते इति चेत् ? न; तस्य अप्रतिपत्तिशब्देन उक्तत्वात्, तथा वा (च) प्रतिपत्त्यभावरूपत्वात् संशयस्य इति । कथंभूतस्य मिथ्यादृष्टेस्तद्भवः ? इत्याह– १५ क्षायोपशमिकभावस्यापि कर्मणां यः क्षयश्च उपशमश्च क्षयोपशमः तत्र भवो भावो यस्य तस्यापि मिथ्यादृष्टेः । तदपि शब्दः तस्यैव इत्यवधारणे, वच्छता (मिथ्यात्व) रहितस्य तदभावात् । संभावनायां वा । कुतस्तत्तस्येति चेत् ? अत्राह–तद्घाति इत्यादि । तच्छब्देन जीवः परामृश्यते, तस्य जीवस्य घातिकर्माणि यानि तत् कर्मसामान्यवचनेऽपि दर्शनोपघातद्वारेण तदुपघातकानि प्रक्रमाद् गृह्यन्ते, तेषाम् उदयोदीरणवशात् इति । न केवलं मिथ्यादर्शनमेव तस्य २० अतो भवति अपि तु मिथ्याज्ञानमपि इति दर्शयन्नाह–मत्य इत्यादि । मत्यज्ञानम् मिथ्याऽवग्रहादिज्ञानम् आदिर्यस्य श्रुताऽज्ञानादेः स तथोक्तः स एव परिणतिः । च शब्देत्व (शब्दोऽत्र) द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः–तत्परिणतिश्च क्षायोपशमिकभावस्यापि तद्घातिकर्मोदयोदीरणवशादिति ।

ननु च जीववदन्यत्रापि नास्तिक्यसंभवे 'जीवे तावत्' इति क्रमवाची शब्दः प्रयुज्यते । न चान्यत्र तदिदिति चेत् ; अत्राह–तत्र इत्यादि । २५

[तत्रेति द्वेधा नास्तिक्यं प्रज्ञासत् प्रज्ञप्तिसत् ।
तथादृष्टमदृष्टं वा तत्त्वमित्यात्मविद्विषाम् ॥१२॥

कुम्भस्तम्भादि दृष्टं प्रज्ञप्तिसत् संस्थानादेः स्वलक्षणेष्वभावात् । वृत्तिविकल्पानवस्थादोषानुवृत्तेः । स्थूलस्याभावात्, परिमण्डलादेरप्रतिभासनात्, तद्व्यतिरेकिणोऽसम्भवात् । विज्ञप्तिमात्रं परमार्थसत् ; यथादर्शनं प्रज्ञप्तिसत्त्वात् भ्रान्तस्यापि नानैकत्व- ३०

(१) नैयायिकादिना । (२) मिथ्यात्वात् । (३) मिथ्यात्वम् । (४) संशयः । (५) संशयस्य । (६) नास्तिक्यम् ।

संभवात् ग्राह्य [ग्राहकसंविति] भेदावभासनात् संभावितैकरूपस्य स्वतोऽसिद्धेः परतश्च स्वभावनैरात्म्यं सर्वभावानां प्रमाणाभावे न प्रतिपत्तुमर्हति शून्यवादी, भावे च। तदयमात्मानं मिथ्याभिनिवेशेन अनर्थगर्ते प्रवेश्यमानोऽपि न चेतयते। प्रमाणाभावेन प्रत्यक्षमेकं नापरं प्रमेयतत्त्वं वेति न तथा प्रतिपत्तुमर्हति। प्रमाणान्तरप्रतिषेधे प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तेः ५ किं केन विदध्यात् प्रतिषेधयेद्वा यतः चातुर्भौतिकमेव जगत् स्यात्। यदि नाम स्वसंवेदनापेक्षया बहिरन्तश्चोपप्लुतमिति सूक्तमेवं तत्, निराकृतपरदर्शनगमनात्। विभ्रमैकान्तमुपेत्य स्वसंवेदनेऽपि अपलापोपलब्धेः अन्यथा विप्रतिषेधात् चतुर्भूतव्यवस्थामपि लक्षणभेदात् कथयितुमर्हति। न च चतुर्भूतव्यवस्थाकथनं युक्तम् परोक्षाणामपि लक्षणात् साकल्येन तत्त्वाप्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेः।]

१० तत्र 'क्षायोपशमिकभावस्यापि तद्घाति [२२३क] कर्मोदयोदीरणवशात् मिथ्यादर्शनम्' इत्येवं व्यवस्थिते सति मते वा नास्तिक्यं नास्तिकस्य भावः कर्म वा द्वेधा द्विप्रकारं बाह्याध्यात्मिकविषयभेदेन, यदि वा, जीवाऽजीवगोचरना[ना]त्वेन विज्ञप्तिमात्रस्य (स्याऽ) भावात्, अथवा जाग्रत्स्वप्नविषयभेदेन वा भेदगोचरत्वेन च, यदि वा अनुमानादिप्रमाणतत्प्रमेयविषयभेदेन तद्विविते (तद् द्वेधेति)। यदि वा, जीवे यन्नास्तिक्यं तस्य भेदं दर्शयन्नाह–तत्र १५ इत्यादि। तत्र जीवे नास्तिक्यं द्विधा (द्वेधा) सौगतचार्वाकचर्वणभेदेन। अथवा, तत्र तयोः नास्तिक्य-अन्यत्रजीवाभिमानयोर्मध्ये नास्तिक्यं तद्द्वेधा इति व्याख्येयम्। तत् किम्? इत्याह–प्रज्ञासत् संवृतिसत् इत्यर्थः।

ननु प्रज्ञाप्ति (प्रज्ञेति) शब्दो न क्वचित् संवृतिपर्यायतया रूढः तत एवं वक्तव्यं दृष्टं (स्पष्टं) संवृतिसत् इति, एवं हि स्पष्टो निर्देशो भवति *"तत्त्वसंवरणात् संवृतिः[1] मिथ्या- २० विकल्पबुद्धिः" इति सर्वत्र प्रसिद्धेः तया सत् इति। नापि एवंवचने कारिका मद (भ्रंश) इति चेत्; तन्न; परमतभेदप्रदर्शनार्थत्वात् तथावचनस्य। तथाहि–दृष्टं सर्वं चेतनमचेतनं वा) मिथ्येति मतम् *"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽपि अदोषः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इति वचनात्। कुतः? इत्याह–प्रज्ञप्तिसत् इति हेतोः, प्रगता ज्ञप्तिः यस्य तत् तथोक्तं प्रज्ञप्तिसत् सत्त्वं यस्य सर्वस्य तदपि तथोक्तम्। नहि कस्यचित् परमार्थसत्त्वग्राहकं २५ मानमस्ति, उपलम्भादेः स्वप्नेऽपि भावादिति। तथादृष्टम् उपलम्भगोचरचारि प्रकृष्टाऽद्वयज्ञप्तिरूपेण सद् विद्यमानं सर्वं सुखादिनीलादि न जीवाऽजीवरूपेण। *"यद् उपलभ्यते (?) च नीलादिकम्" इति वचनात्। अपरं दर्शनम् तथा च [२२३ख] अन्यादृष्टं सर्वं प्रज्ञप्तिसत् व्यवहारेण

(१) "समन्ताद्वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वाच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते। परस्परसंभवनं वा संवृतिः अन्योऽन्यसमाश्रयेणेत्यर्थः। अथवा संवृतिः संकेतो लोकव्यवहार इत्यर्थः। स च अभिधानाभिधेयज्ञानज्ञेयादिलक्षणः।"–माध्य० वृ० पृ० २४०। "प्रमाणमन्तरेण प्रतीत्यभिमानमात्रं संवृतिः।" "संवृतिर्नाम विकल्पविज्ञानमभिमुक्तिमाह अनादिवासनातः।"–प्र० वार्तिका० पृ० ३।४। "संव्रियत आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्चानयेति संवृतिः। अविद्या मोहो विपर्यास इति पर्यायः।"–बोधिच० प० पृ० ३५२।

सत् *"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र० वा० १।६] इत्यभिधानात् । प्रशिथिला आवचार्तिरम-णीया ज्ञप्तिः अस्य इति व्युत्पत्तेः इति । परमपि नास्तिक्यं दर्शयति अदृष्टम् अनुपलब्धं क्षणिकपरमाणुरूपवेदनं पुरुषवत् सकलशून्यत्वं वा परमार्थसत् इति । तत् अन्यदपि दर्शयन्नाह– तथा इत्यादि । तथा तेन प्रकारेण दृष्टं दर्शनं प्रत्यक्षम् इति यावत् । दृष्टमेव इति अवधा-रणीयम्, तेन न अदृष्टं दर्शनादन्यत् अनुमानादिकमपि गृह्यते । तत् किम् ? इत्याह–तत्त्वम् इति । तत्त्वविषयत्वात् तत्त्वं विषयिणि विषयोपचारात् यथा *"उपलम्भः सत्ता" [प्र०वार्तिकाल० ३।५४] इति । यदि वा, दृष्टमेव दर्शनविषयीकृतमिव (मेव) न अनुमानादिविषयीकृ-तम् आत्मादितत्त्वं परमार्थसत् इति ग्राह्यम् इति एवम् आत्मविद्विषां नैरात्म्यवादिनां सौगतलौकायतानाम् नास्तिक्यं द्वेधा इति सम्बन्धः ५

कारिकां विवृण्वन्नाह–कुम्भस्तम्भादि दृष्टम् इत्यादि । कुम्भस्तम्भौ आदी यस्य चेतनेतरवस्तुनः तत् तथोक्तम्, तच्च तत् दृष्टं च दर्शनविषयीकृतम् इत्यर्थः । १०

ननु च 'कुम्भादि' इति वक्तव्ये किमर्थं स्तम्भवचनमिति वक्तुं भव[ति]? स्तम्भस्य तद्वद्वा कुम्भस्य उपलम्भप्रतिपादनार्थम्, एकस्यापि तदपलापे द्वयोरपि स भवेत् । यथैव हि कुम्भदर्शनेन स्तम्भो न दृश्यते तथा स्तम्भदर्शनेन कुम्भोऽपि । परस्परपरिहारस्थिततदुपलम्भप्रतिज्ञाने कुतः सन्तानान्तरनिषेधो यतोऽद्वैतम् । एकस्य तदात्मकत्वे तद्ग्रहणे वा क्रमेणापि तस्य तदविरोधि (ध) इति कथं नैरात्म्यं क्षणिकत्वं वा इति तत्प्रतिपादने सिद्धं भवति । 'कुम्भादि' इति पुनरु-च्यमाने मतान्तरदृष्टम् आदिशब्देन पुरुषादि [२२४क] गृह्यते इति आशङ्क्येत । तत् किम् ? इत्याह–प्रज्ञप्तिसत् इति । प्रगतज्ञप्ति सहि (सदि) त्यर्थः । तैमिरिकदृष्टकेशोण्डुकवत् व्यवहारेण वा सत् । अत्र 'यद् विशददर्शन' इत्यादि साधनं द्रष्टव्यम् । तत्रैव युक्त्यन्तरमाह–संस्थानादेः इत्यादि । संस्थानम् दीर्घत्वादिकम् आदिः यस्य द्रव्यसामान्यादेः तस्य स्वलक्षणेषु बहिरन्तः-परमाणुलक्षणेषु अभावात् । कुतः ? इत्यत्राह–वृत्ति इत्यादि । गुणिनि गुणानाम् अवयवेषु अवयविनः विशेषेषु जातेः समवायेन वर्त्तनं वृत्तिः तस्याः विकल्पः 'किम् एकदेशेन उत सर्वात्मना, क्रमेण यौगपद्येन वा' इति भेदवित्तन(चिन्तनं) तेन तस्मिन् वा अनवस्था । 'एकदेशेन वर्त्तने तत्रापि अपरभिन्नदेशकल्पनम्, तत्रापि अपरमिति देशाव्यवस्थितिः, सर्वात्मना गुणगुणिनोः अन्यतरदेव स्यात्, §एवमन्यत्र गुणिनोः अन्यतरत् § एवमन्यत्रापि वक्तव्यम् । तथा सति गुणादयः[10] तद्वन्तश्च इति या व्यवहि(यो वृत्तिविकल्प आ)लम्बनादेः स तथोक्तः स चासौ दोषश्च तस्य अनुवृत्तेः सकाशात् कुम्भस्तम्भादि दृष्टं प्रज्ञप्तिसद् इति सम्बन्धः । १५ २० २५

ननु मा भूत् संस्थानादिः आधारव्यतिरिक्ता (क्तो) यथोक्तदोषात्, स्वयमेव तु स्वलक्षणं कुम्भादिस्थूलादिरूपं स्यादिति जैनः; तत्राह–स्थूलस्य अभावाद् इति । स्थूलस्य महत्त्वोपेतस्य, उपलक्षणमेतत्, तेन दीर्घादेरभावात् 'स्वलक्षणस्य' इति [illegible]परिणामेन सम्बन्धः । ३०

(१) नास्तिक्यम् । (२) उपलम्भविलोपे । (३) कुम्भस्तम्भादिप्रतिपादने । (४) पुरुषाद्वैतवादि-दृष्टम् । (५) द्रष्टव्यम्–पृ० २६४ प० ७ । (६) द्रव्यगुणकर्मसु । (७) एकदेशेऽपि । (८) वर्तने । (९) § एतदन्तर्गतः पाठो [illegible] । (१०) गुणादिवन्तश्च ।

तदभावः पुनः कारणाऽभावात्। तस्य हि कारणं च अवयवसंयोगः, स च सर्वात्मना एकदेशेन वा अवयवानां दुरुपपादः। अ[illegible], [illegible]अपेक्ष्य [सूक्ष्मादिकम्, सूक्ष्मादिकं चापेक्ष्य] [illegible] [२२४ख] लभते। न च अपेक्ष(क्षा)भाविनो धर्माः पारमार्थिकाः। अनेन अभेदवादो दर्शितः इति विभागः, तदभावात् कुम्भादिकं [illegible] इति घटना।

५ परमाणवस्तर्हि परमार्थसन्तो भवन्तु इति चेत्; अत्राह–परि[illegible] इत्यादि। [परिमण्डलं] सूक्ष्मनिरंशत्व[illegible] आदिः यस्य क्षणभङ्गादेः तस्य अप्रतिभासनात् स्वलक्षणेषु इति तत् तत्सत्[3] इति। यथोक्तविशेषशून्यं नीलादिमात्रं परमार्थसत् इति चेत्; अत्राह–त[illegible] [इत्यादि।] तस्मात् स्थूलकुम्भादेर्दृष्टाद् व्यतिरिक्तस्य नीलादेः असंभवात् 'अप्रतिभासनात्' इति अनन्तरोक्तो हेतुः अत्र द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थः–यथा अप्रतिभासनात् परिमण्डलादेरभावः तथा तद्- १० व्यतिरेकिणो नीलादेरपि" इति न युक्तमेतत्–*"यद् यथावभासते तत् तथैव परमार्थसद् यथा नीलं नीलतयाऽवभासमानम्।" इत्यादि; नीलदृष्टान्ताभावात्। तथापि तत्कल्पनायां परिमण्डलादेरपि सा केन वार्यत इति तन्निषेधवचनं पूर्वापरबाधितं 'त[illegible]' इत्यनेन एतद् दर्शयति। यदि स्थूलादिस्वभावाव्यतिरेकिणो नीलादेः तथावभासनेन परमार्थसत्त्वमिष्यते, सर्वस्य क्षणिकत्वस्य साधने तथावभासनहेतुना; नहि स्थूलादिप्रतिभासनवद् अक्षणिकत्व [प्रति]- १५ भासस्यापि कारणाऽभावादसिद्धो हेतुरिति। यदि पुनः नीलादेः तद्व्यतिरेकिणोऽपि परमार्थसत्त्वं न तस्य इत्युच्यते; व्यभिचारी हेतुः स्यादिति। ततो नीलादेः तद्व्यतिरेकिणोऽसंभवात् कुम्भादिकं तथासद् इति।

संप्रति प्र[illegible] अपरमप्यर्थं दर्शयन्नाह–विज्ञप्ति [२२७क] मात्रम् इत्यादि। विशिष्टा ज्ञप्तिरेव तन्मात्रम् 'कुम्भस्तम्भादि दृष्टम्' इति सम्बन्धः *"यदवभासते तज्ज्ञानम्" इत्याद्य- २० भिधानात्। तच्च किं भूतम्? इत्याह–परमार्थसद्, विज्ञप्तिमात्रस्य परमार्थसत्त्वेन उपगमात्। प्र ज्ञा क रे णा प्युक्तम्–*"अज्ञातार्थप्रकाशो वा इत्येतत् पारमार्थिकं प्रमाणलक्षणम्" [प्र० वार्तिकाल० २।५] इति। एतत् माध्यमिकेन कदर्थयन्नाह–यथादर्शनम् इत्यादि। अत्रायमभिप्रायः–यथादर्शनं वा विज्ञप्तिमात्रं कल्पेत(प्येत), अन्यथा वा? प्रथमपक्षे यथादर्शनं दर्शनाऽनतिक्रमेण प्रज्ञप्तिसत्त्व[illegible] बहिरर्थवद् अविचारितसद् विज्ञप्तिमात्रं न परमार्थसद् इति मन्यते। २५ कुत एतत्? इत्यत्राह–भ्रान्तस्य[illegible] इत्यादि। अत्रायमभिप्रायः–परेण *"चित्रप्रतिभासापि एकैव बुद्धिः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि वदता नानैकत्वेऽपि तस्याः परमार्थसत्त्वमङ्गीकृतं सर्वथा नैरात्म्यं निरूपयतो नानैकात्मनः तद्वत् संविदितात्मनः परिणामिनोऽपि आत्मनः परमार्थसत्त्वम्। तदेवं भ्रान्तस्यापि परिणामिन आत्मनः, न केवलम् अभ्रान्तस्य विज्ञप्तिमात्रस्य इति अपिशब्दार्थः। तस्य किम्? इत्याह–नानैकत्वसं[illegible]वात्। एवं मन्यते–यस्य ३० नानैकत्वसंभवो न तस्याभ्रान्तत्वं यथा परिणामिन आत्मनः, नानैकत्वसंभवश्च विज्ञप्तिमात्रस्य

---

(१) स्थूलस्य। (२) संयोगः। (३) प्रज्ञप्तिसत्। (४) स्थूलस्य। (५) कल्पना। (६) स्थूलादिस्वभावाव्यतिरेकिणः। (७) प्रज्ञप्तिसत्। (८) प्रज्ञाकरेण। (९) बुद्धेः।

इति । यदि पुनः तदात्मनोऽपि तद्वत् परमार्थसत्त्वं परो मन्यते को दोषः स्यात् ? न कश्चित्, ते गुण एव तु स्यात् । नानैकत्वस्य विपक्षसंक्रमानिवारणात् असौगतं जगत् स्यादिति चेत्; न जाने अहमपि ईदृशम् ।

ननु भवतु भ्रान्तस्य नानैकत्वसंभवः नाऽभ्रान्तस्य तन्मात्रस्येति चेत्; अत्राह–[२२५ख] **ग्राह्य [ग्राहकसंवित्ति]** इत्यादि । ग्राह्यादिशब्दानां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन षष्ठीसमासः ५ तेन **अवभासनात्** 'तन्मात्रस्य' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । द्वितीयपक्षे–संभावितैक-रूपस्य–**संभावितम्** अस्तीति मनसा अवतारि पुनं (अवभासितं) न पुनः प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन निश्चितम् एकत्र (म)सहायम्, अथवा सन्तानान्तरनिषेधेन एकसंख्यायुक्तं रूपं स्वभावो यस्य तस्य **स्वतः** स्वसंवेदनाध्य[क्ष]तो **असिद्धेः** अप्रतिपत्तेः । नहि असूक्ष्मिकया (अतिसूक्ष्मेक्षिकया) कालभेदमिव देशभेदमपि चिन्तयतो नीलादिस्वभावम् अन्यथाभूतं वा परमाणुरूपं वेदनमाभाति । १० यदि वा **स्वतोऽसिद्धेः** अनिष्पत्तेः अनुत्पत्तेः इत्यर्थः । नहि कस्यचित् स्वत उत्पत्तिः, अहेतुकत्वेन सर्वत्र सर्वदा भावप्रसङ्गात्, नीलादि पीतादिर्वा भवेत् । तथापि तन्नियमे अर्थाकार्यत्वेऽपि ज्ञानस्य तन्नियमः स्यादित्यलं तदुत्पत्तिसारूप्यकल्पनेन । तन्नियमवत् स्वरूपेऽपि कल्पनातो नान्यतः सिध्यति । एतेन नित्यस्यैकरूपस्य सहकार्यपेक्षस्य तत्कृतोपकारानपेक्षस्य क्रमतोऽपि कार्यकरणे स्वभावनियमो व्याख्यातः । ततः स्थितम्–**स्वतोऽसिद्धेः** इति । १५

तस्य परतोऽप्यसिद्धेः इति दर्शयन्नाह–**परतश्च** अन्यतोऽप्य**सिद्धेः** अप्रतिपत्तेः । तथाहि–संभावितैकरूपस्य चक्षुषि गन्धस्य, एवं परत्रापि, न प्रतिभानमस्ति नीलादिसुखादिव्यतिरिक्तव (रिक्तस्य वि)वादास्पदत्वात् । तत्र तत्प्रतिभासनभावेऽपि परमार्थतो ग्राह्यग्राहकभावाऽभावेन *"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति" [प्र० २।३२७] इत्यादि, *"निरालम्बनाः [२२६क] प्रत्ययाः" [प्र० वार्तिकाल पृ० ३८७] इत्यादि *"यदवभासते तज्ज्ञानम्" इत्यादि च २० विरुध्यते, ज्ञानस्येव जडस्यापि परतः प्रतिभासाऽविरोधात् ।

किञ्च परस्यापि तद्रूपस्य परतः सिद्धिः, तस्यापि परतः इत्यनवस्था । अतद्रूपत्वे किं तस्य निर्भागंध(गत्व)कल्पनया इति मन्यते ।

ननु तस्य स्वप्रतिभासरहितस्य परतः सिद्धौ विज्ञप्तिरूपतैव हीयते स्वप्रतिभासलक्षणत्वात्तस्याः, तत्कथं परानभ्युपगमो दूष्यत इति चेत् ? सत्यम्; तथापि यो (ये) अनिश्चित- २५ स्वसंवेदनरूपां ग्राह्यादिभ्रान्त्यन्यथानुपपत्त्या तां व्यवस्थापयन्ति तान् प्रति इदमुच्यते, *"अद्वयं यानमुत्तमम्" इत्यागमाद्वा[10] ।

इदमपरं व्याख्यानम्–**परतश्च** स्वतः अन्यतः कारणादपि **असिद्धेः** अनुत्पत्तेः । तद्यथा–

(१) तदात्मनोऽपि । (२) विज्ञप्तिमात्रस्य । (३) सत् भवेत् । (४) अहेतुकत्वेऽपि । (५) उत्पत्तिनियमे । (६) अर्थप्रतिनियमः । (७) अर्थप्रतिनियमवत् । (८) 'तस्या नानुभवोऽपरः । तस्यापि ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥' इति शेषः । (९) विज्ञप्तेः । (१०) विज्ञप्तिमात्रतां व्यवस्थापयन्ति तान् प्रति । "तथा चोक्तम्–अद्वयं···"–प्र० वार्तिकाल० २।७।

समकालात् परतस्तदुत्पत्तौ[1]; तदपि परस्य कारणम् अविशेषात्[2], तथा च सति अन्योऽन्यसंश्रयः। अथापि किञ्चिदेव कारणं कार्यं वा; तथा 'किञ्चिदेव कस्यचिदेव ग्राहकं ग्राह्यम्' इति [तथा] च निराकृतमेतत्[4]-*"नीलादिरपि ज्ञानस्य ग्राहकः स्यात्" इति । यथा च तस्य परेण जन्यते स्वरूपं नापरोत्पत्तिः क्रियते, तथा जंत (ज्ञानेन) तस्य नीलादेः स्वरूपं गृह्यते न गृहीतिः क्रियते ।

५ तस्मादेतदपि निरस्तम्-*"ज्ञानेन अर्थस्य तद्रूपाया गृहीतेः करणे एकत्र अर्थस्य करणम् अन्यत्र अनवस्था" इति । एतेन भिन्नकालादपि तदुत्पत्तिः उक्ता । अपि च जन्यविज्ञान-कालेऽसतः परस्मादुत्पत्तौ वन्ध्यासुतादपि उत्पत्तिः स्यात् [8]भेदाभावात् । अथ तस्य[9] [10]तत्कालेऽसत्त्वेऽपि स्वकाले सत्त्वं न वन्ध्यासुतस्य ततोऽयमदोषः; ननु तस्य कार्यकालेऽसत्त्ववत् स्वकाले सत्त्वं यदि न कुतश्चित् प्रतीयते; तर्हि वचनमात्रमेतन्न [२२६ख] समाधानमर्हति । प्रतीयते

१० चेत्; कथं ग्राह्यग्राहकभावनिवृत्तिः ? तन्न किञ्चिदेतत् । अथ परेण यतः कस्यचिदुत्पत्त्यनभ्युपगमात् किमर्थमेतदुच्यते इति मतिः; तस्य अनिष्टसिद्धिप्रतिपादनार्थम् । यदा हि तद्रूपस्य सतः स्वतः परतो वा नोत्पत्तिः अत एव [न] विनाशः, ततो नित्यत्वम् इति सर्वस्य क्षणिकत्वप्रतिज्ञाव्याघातः । ज्ञानवादिनां पुनः कालाऽभावाद् 'एकस्य कालत्रयानुयायित्वम्, एकक्षणानुवृत्तिः क्षणिकत्वम्' इति अपसिद्धान्तः ।

१५ ततः तदसिद्धिरस्तु । ततः किम् ? इत्याह-**स्वभावेन** स्वरूपेण **नैरात्म्यं** स्वरूपतुच्छता **सर्वभावानां** 'तदसिद्धेः' इति पदघटना । एवं शून्यवादिना विज्ञप्तिवादिनं घातयित्वा अधुना शून्यवादिनं स्वयमेव निहन्ति **प्रमाण** इत्यादिना । **प्रमाणस्य** प्रत्यक्षादेः **अभावेन** करणभूतेन [न] **प्रतिपत्तुमर्हति** शून्यवादी **'स्वभावनैरात्म्यम्'** इति सम्बन्धः । यस्य हि सर्वं शून्यं तस्य प्रमाणाभावोऽपि[11] । तेन[12] तत्प्रतिपत्तौ तस्यापि अनेन (अन्येन) तदभावेन प्रतिपत्तिः तस्याप्य-

२० न्येनेत्यनवस्थेति मन्यते । यदि वा, तदभावेन[13] तत्प्रतिपत्तौ किमन्यत्रापि प्रमाणान्वेषणेन इति ? अथ चेत्रैक (अथवा, एकत्र) नीलादिसुखादिप्रतिभासेन सकलशून्यताव्यवस्थाकारिणः प्रमाणस्य बाधनात् [14]**तदभावे न प्रतिपत्तुमर्हति**-प्रमाणाभावे सति न प्रतिपत्तुमर्हति **'स्वभावनैरात्म्यम्'** इति वा व्याख्यानम् ।

अत्राह प्र ज्ञा क र गु प्तः-*"**प्रतिभास एव कार्यकारणभावादिविकल्पशून्यत्वात्**

२५ **पर्युदासापेक्षया शून्यता यथा केवलं भूतलं घटशून्यता । तत्र च स्वसंवेदनाध्यक्ष-**[२२७क] **प्रमाणभावात् कथमुच्यते तदभावे न तत् प्रतिपत्तुमर्हति ।**" इति ; तं प्रत्याह-**भावे च** इति । भावेऽपि **प्रमाणस्य** प्रतिभासमात्रलक्षणस्वभावनैरात्म्यस्य वा अङ्गीक्रियमाणे । किम् ? इत्याह-**तदयम्** इत्यादि । **तत्** तस्माद् भावाद् **अयं** प्र ज्ञा क रा दिः **न चेतयते ।**

(१) उत्पद्यमानमपि । (२) समकालत्वात् । (३) परात् प्रकृतस्योत्पत्तिः, प्रकृताच्च परस्येति । (४) यदुच्यते प्रतिभासाद्वैतवादिना यदि समकालं ज्ञानं नीलादेर्ग्राहकम्, तदा नीलादिरपि कुतो न ज्ञानस्य ग्राहक इति ? (५) अर्थादभिन्नायाः । (६) अभेदपक्षे । (७) भेदपक्षे सम्बन्धार्थम् उपकारान्तरस्वीकारे अनवस्था । (८) विशेषाभावात् । (९) कारणस्य । (१०) कार्यकाले । (११) शून्य एव । (१२) प्रमाणाभावेन । (१३) प्रमाणाभावेन । (१४) प्रमाणाभावे ।

किं क्रियमाणेऽपि ? [illegible] । किम् ? इत्याह–अनर्थगर्त्ते स्वयम् अनर्थत्वेन अभ्यु-पगमाद् अनर्थः परिणामादिः तेन उपलक्षितं तद्रूपत्वा (पत्वात्) गर्त्तमिव गर्त्तम् तत्प्रविष्टो युगसहस्रैरपि ततो नात्मानमुद्धरति । किम् अनर्थगर्त्तम् ? इत्याह–आत्मानं जीवमिति । केन ? इत्याह–मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्या असत्यः अभिनिवेशः नैरात्म्याद्याग्रहः तस्य (यस्य) यस्मिन् चित्रैकप्रतिभासे स तथोक्तः तेन, स्वयम् आत्मना । ५

यद्वा, आत्मा न स्वत्तचेत (स्वतश्चेत् ;) अनर्थगर्त्तं सकलशून्यतागर्त्तं प्रवेश्यमानोऽपि नात्मा– चेतयते । कुतः पुनः [1]अयमपि नात्मानं न[2] चेतयते इति चेत् ? उच्यते–प्रमाणाभावे न तदभावे सति वा [तथा] प्रतिपत्तुं वा अर्हति यतः । किम् ? इत्याह–प्रत्यक्षमेकम् 'प्रमाणम्' इति शेषः, नापरम् अनुमानादिकम् इत्येतत् । किमेतदेव तथा प्रतिपत्तुमर्हति नापर-मपि ? इत्याह–प्रमेयतत्त्वं वा । वेति पक्षान्तरसूचने । प्रत्यक्षपरिच्छेद्यमेकं नापरम् आत्मादितत्त्वं प्रमेयतत्त्वम् इति । एतच्च कुतः तदभावे न तत्प्रतिपत्तुमर्हति ? इत्याह–प्रमाणान्तर इत्यादि । १० प्रत्यक्षप्रमाणाद् अन्यद् अनुमानादि तदन्तरं तस्य प्रतिषेधे निरासे सति प्रत्यक्षलक्षणानु-पपत्तेः । प्रत्यक्षस्य हि लक्षणं वैशद्यं [3]साविप्लवम् , तच्च अशेषतद्व्यक्तिनिष्ठं[4] न [5]प्रमाणान्तर-मन्तरेण प्रतिपत्तुं [२२७ ख] शक्यं प्रत्यक्षस्य नियतगोचरत्वात् । अकृतलक्षणत्वाच्च न ततः[6] तत्प्रतिपत्तिः, 'तदभावे न प्रतिपत्तुम् अर्हति' इति सम्बन्धः । १५

इदमपरं व्याख्यानम्–प्रमाणान्तरनिषेधे कर्त्तव्ये प्रत्यक्षलक्षणग्रहणं तन्निषेधस्य[7] तस्यानु-पपत्तेः । नहि 'सर्वथा प्रमाणान्तरं नास्ति' इति प्रत्यक्षम् इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम् नापर-मिति तदभावे न प्रतिपत्तुमर्हति ।

अत्र तत्त्वोपप्लवकृद्[8] आह–चार्वाकैश्चारु चर्चितं–स्वयम् एवं लक्षणतः तदनुपपत्तिः[9] तेषां न दोषाय, प्रत्यक्षोपगमस्तु व्यवहारेण इति ; तत्राह–किं केन ? इत्यादि । तदनुपपत्तेः २० कारणात् किं प्रत्यक्षादिलक्षणस्य परकीयस्य अतिव्याप्त्यादिकम् , केन ? न केनचित् विदध्यात् कुर्यात् चार्वाकः । न हि प्रमाणमन्तरेण तदपि कर्तुं शक्यं यतः *"परपर्यनुयोगपराणि बृह-स्पतेः सूत्राणि"[10] इति सूक्तं स्यात् । किं तत् अतिव्याप्त्यादिकं केन प्रतिषेधयेद्वा यतो यस्मात् कस्यचिद् विधानात् प्रतिषेधाच्च जगत् स्यात् । किं भूतम् ? इत्याह–चातुर्भौतिकमेव चतुर्भिः पृथिव्यादिभिः उपश्रुतत्वात् भूतैरिवेगृह्यते इत (भूतैरेवेति गृह्यते यतः) इति । यदि वा, २५

(१) चार्वाकः । (२) 'न' इति निरर्थकं भाति । (३) अविप्लवेन सहितं वैशद्यम् । (४) प्रत्यक्षव्यक्ति । (५) अनुमान । (६) प्रत्यक्षात् । (७) प्रमाणान्तरनिषेधस्य । (८) तत्त्वोपप्लवग्रन्थस्य कर्ता जयराशिभट्टः । "नास्ति तत्फलं वा स्वर्गादि···उक्तं च परमार्थविद्भिरपि–लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः ल···। लोकव्यवहारं प्रति सदृशौ बालपण्डितौ ॥" इत्यादि । ननु यद्युपप्लुतस्तत्त्वानां किमायातः···अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा इत्यादि ? न; अन्यार्थत्वात् । किमर्थम् ? प्रतिबिम्बनार्थम् । किं पुनरत्र प्रतिबिम्ब्यते? पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि,तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते किं पुनरन्यानि । (पृ०१) तदेवमुपप्लुतेष्वेव तत्त्वेषु अविचारितरमणीयाः सर्वे व्यवहारा घटन्त इति । (पृ० १२५)–तत्त्वोप० । (९) प्रत्यक्षानुपपत्तिः । (१०) उद्धृतमिदम्–सन्मति० टी० पृ० ६९, ७४ ।

किं पृथिव्यादिकं जीवादिकं च केन ।वेदृष्व्या. प्रतिषेधयेद्वा प्रमाणाभावे उभयोः[1] अभ्युपगमः प्रतिषेधो वा स्यात् इति मन्यते । एतदेवाह–यतो यस्माद् विधानात् प्रतिषेधाच्च चातुर्भौतिकमेव जगत् स्यात् चतुर्भूतनिर्मितमेव स्यात् । एतदुक्तं भवति–प्रमाणाभावेन आत्मादेः भूतपरित्यागे सकलशून्यतापत्तेः, भूतवद् आत्मादिग्रहे [२२८ क] व्यवहाराविशेषात् कुतः
५ चातुर्भौतिकमेव विपर्ययभावात् ? तन्नायं[2] सौगतम् अतिशेते इति 'तदयम्' इत्यादिकम् आदर्शयति तत्र हि प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणं प्रतिपिध्यते–तदुपलम्भादेर्बाधकाभावस्य अन्यस्य वा तैल्लक्षणस्य स्वप्नेऽपि भावात् । अदुष्टकारणारब्धत्वस्य ज्ञातुमशक्तेः अतीन्द्रियस्येन्द्रियस्य दुष्टत्वस्य [4]इतरस्य वा प्रत्यक्षतोऽज्ञाना[न् ज्ञा] नेऽपि पूर्वचोद्याऽनिवृत्तिः, पुनस्तत्रापि अदुष्टकारणारब्धत्वकल्पने 'तदेव चोद्यम् तदेव उत्तरम्' इत्यनवस्था । ज्ञानप्रामाण्यात् [5]तदवगमे अन्योऽन्य-
१० संश्रयः–तथाहि सिद्धे [6]तत्प्रामाण्ये ततोऽदुष्टकारणारब्धत्वसिद्धिः, तस्याः तत्प्रामाण्यसिद्धिः इति । तन्न बहिः किञ्चित् प्रमाणम् , कस्यचिद् विधानं प्रतिषेधनं तु स्वसंवेदनप्रत्यक्षबलात् इति कस्यचिन् एषैतोऽपि (एतत् शोभेत) ।

[अपि च] त स्वो प प्र व करणात ज य रा शिः सौगतमतमवलम्ब्य ब्रूयात् ; तत्राह–स्वसंवेदन इत्यादि । स्वेन स्वस्य वा वेदनं ग्रहणं तस्य उपेक्षया (अपेक्षया) अभ्युपगमेन
१५ यदि नाम इत्यरुचौ । तथा सति बहिः उपप्लुतम् , अन्तश्च [7]अन्यथा, [इति] सौगतमतमेव निरस्तप्रसरं त (न) चार्वाकम् इति 'प्रत्यक्षं प्रमाणम्' इत्येवमुक्तम् । यदि नाम इति सम्बन्धः । तत्र उपहासपरं वचनमाह–सूक्तमेवैतत् असूक्तेऽपि 'सूक्तम्' इत्यभिधानात् , निराकृतपरदर्शनगमनात् सकलस्वदर्शनत्यागात् सूक्तलेशोऽपि नास्ति इति एवकारेण दर्शयति । कस्मात् असूक्तम् यस्माद् उपहास्यमेतदिति कदाचित् सौगतः तत्पक्षपातमुद्वहन् ब्रूयाद् इत्याह–स्वसंवेदन इत्यादि ।
२० अत्र अपिशब्दो द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः–[२२८ ख] न केवलं बहिः अपितु स्वसंवे·नेऽपि अप्रस्तापो (अपलापो)पलब्धेः प्रलापस्य (अपलापस्य) निह्नवस्य उपलब्धेः दर्शनात् 'सूक्तमेवैतत्' इति सम्बन्धः । किं कृत्वा ? इत्याह–विभ्रमैकान्तमुपेत्य इति । बहिरिव तत्रापि विभ्रमस्य निरूपितत्वादिति नेदं पुनर्निरूप्यते । ननु सत्यं [8]तत्रापि अपलापोपलब्धिरस्ति बहुजनमजात्मनि जगति तत्रापि विवादवृत्तेरनिवारणात् , स तु उपलभ्यमानोऽपि अपलापो युक्त्या व्यव-
२५ च्छिद्यस्ये (द्यते इ)ति तस्य अपलापस्य व्यवच्छेदस्यापि तदुपलब्धिः इति सम्बन्धः । न च अविरुद्धविधिः तद्व्यवच्छेदकः ; अतिप्रसङ्गात् । तदभावः कुत इति चेत् ? अत्राह–अन्यथा इत्यादि । अन्यथा अन्येन विरोधाऽभावप्रकारेण विप्रतिषेधात् अन्योऽन्यविरोधात् तस्य तदुपलब्धेः इत्यपेक्षम् । तथाहि–यदि प्रत्यक्ष-अपलापयोः विरोधः ; तर्हि स्वसंवेदन(ना)भावे तद्भावे वा स्वसंवेदनस्य वार्त्तापि दुर्लभा । न चैवम् । अथ सहभावः; न विरोधगतिरिति । प्रत्यक्षं च
३० समानकालमन्यद्वा न तद्विरोधि ; अर्थग्रहणवत् दोषात् । विरोधोऽपि मिथ्यैकान्ते अनिदंते (निरंशे)

(१) पृथिव्यादि-जीवयोः । (२) चार्वाकः । (३) प्रमाणलक्षणस्य । (४) अदुष्टत्वस्य वा । (५) अदुष्टकारणारब्धत्वपरिज्ञाने । (६) ज्ञानप्रामाण्ये । (७) सत्यम् । (८) स्वसंवेदनेऽपि ।

कथमिव सतुप्य (सत्यत्य)वगम्यते ? नापि अनुमानतोऽनभ्युपगमात् इति मन्यते । अन्यथा स्वसंवेद-प्रत्यक्षप्रतिज्ञाव्याघातः ।

इदमपरं व्याख्यानम्–न तावत स्वसंवेदनात् तद्व्यवच्छेदः ; [1]तेन तस्य विरोधाऽभावात्, अन्यथा अन्येन अनुमानेन तद्व्यवच्छेदप्रकारेण विप्रतिषेधात् तस्य तदुपलब्धेः इति । तद्यथा–यदि [2]अनुमानेन तद्व्यवच्छेदः ; कथं स्वसंवेदनप्रत्यक्षमेव प्रमाणम् ? तच्च (तच्चेत् ;) कथं तेन तद्व्यवच्छेदः ? व्यवहारेण अनुमानोपगमाददोष इति चेत् ;[२२९ क] अथ कोऽयं व्यवहारो नाम ? असत्यपि अनुमाने प्रमाणे जनस्य तदस्तित्वविकल्पः [2]स इति चेत ; न; अत्र प्रमाणाभावात् । न स्वसंवेदनप्रत्यक्षम् ; तत्र विभ्रमैकान्त[म]नभ्युपेत्य अपलापोपलब्धेः, न च स्वयमनवस्थितम् अन्यव्यवस्थानिबन्धनम् अतिप्रसङ्गात् । नाप्यनुमानम् ; [3]तदेव नास्ति तत एव तद्व्यवस्थानमित्यतिसाहसम् । संवृतिसिद्धेन तेन तद्व्यवस्थापि तादृगेव ; *"यादृशो यक्षः तादृशो बलिः" इति [4]न्यायात ।

अन्यस्त्वाह– स्वसंवेदने विभ्रमैकान्ताभ्युपगमः प्रमाणाच्च युक्तः; विभ्रमात् तदसिद्धेः । तन्न युक्तम्–स्वसंविदित इत्यादि इति चेत् ; न; अत्र बहिरर्थसिद्धेरनिवारणा [त्] दोषो मा भूत परमतगमनमिति । तर्हि बहिरपि पृथिव्यादिमात्रे प्रत्यक्षं प्रमाणमिष्यते; तत्राह–चतुर्भूत इत्यादि । चतुर्णां पृथिव्यादीनां [भूतानां] व्यवस्था [illegible]तिरेकेण स्थितिः, तौ एव तामपि लक्षणभेदात् धारणेरणद्रवनानात्वात कथयितुमर्हति इति । तथा 'परो मिथ्याभिनिवेशेन स्वयम् अनर्थगर्तम् आत्मानं जानंध जीवं (जात्यन्ध इव) प्रवेश्यमानोऽपि [न] चेतयते' इति सम्बन्धः । तथाहि–यथा [illegible]भेदात् कालत्रयेऽपि परस्परं भिन्ना भूम्यादयः [तथा] तेभ्यः चेतना[illegible]स्वरूपभेदात् सहदर्शननियमेऽपि भिन्नश्च आत्मा इति ।

ननु यथा पूर्वमुक्तम् 'प्रतिपत्तुमर्हति' इति, एवमत्रापि वक्तव्यम्, किमर्थमुक्तम्–'कथयितुमर्हति' इति चेत् ? उच्यते–कथयति परं प्रतिपादयति, स च प्रतिपन्न [चैतन्यः] प्रतिपादनीयः, अन्यथा पाषाणादयः प्रतिपादनीयाः स्युः । अचेतनत्वान्नेति चेत्; प्रतिपाद्याभिमतेऽपि चैतन्यं कुतः प्रतिपन्नम् ? अध्यक्षत इति चेत् ; न; तस्य [10]तत्र [२२९ख] अप्रवृत्तेः । नहि परः परसुखदुःखादिकं प्रत्यक्षयितुमर्हति, अन्यथा सर्वज्ञनिषेधः[11]। चैतन्यमात्रं प्रत्यक्षयति, कथमन्यथा शरीरदर्शनात् 'जीवति' इति प्रतीतिः स्यात् , नहि विशेषणाऽग्रहणे तद्विशिष्टविशेष्यप्रतीतिः [12]दण्डा[ग्रहणे दण्डय]ग्रहणवद् इति चेत् ; न; चैतन्यस्य सुखाद्यव्यतिरेकात् । न च सुखाद्यग्रहेऽपि तदव्यतिरिक्तचैतन्यग्रहो युक्तः, अन्यथा [13]पिण्डाद्यग्रहणेऽपि मृद्द्रव्यग्रहः स्यात् ।

ननु यथा [14]भवदीयमते प्रतिक्षणपरिणामाऽग्रहेऽपि द्रव्यग्रहणम्, दूरे वा विशेषाग्रहणेऽपि

---

(१) स्वसंवेदनेन । (२) व्यवहारः । (३) अनुमानमेव । (४) "यथा बलिस्तथा यक्षः ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २९३ । (५) विभ्रमैकान्ताऽसिद्धेः । (६) 'ता एव' इति निरर्थकमत्र । (७) धारणं पृथिव्याः ईरणं वायोः द्रवत्वं जलस्य उष्णता च अग्नेः लक्षणम् । (८) भूतेभ्यः । (९) परः । (१०) चैतन्ये । (११) 'विरुध्यते' इति शेषः । (१२) दण्डाग्रहणे दण्डग्रहणवत् । (१३) पिण्डस्थासादिपर्यायाग्रहणेऽपि । (१४) जैनमते ।

सन्मात्रग्रहणं तथा अत्रापि स्यादिति चेत्; न; तत्परिणामस्य प्राकृत्[1]रूपावेद्यत्वात्। तद्विशेषाणाम् अतिदूरता(त्वा)दग्रहणं नैवं सुखादयोऽपि विपर्ययात्[2], तेषां स्वसंवेदनैकस्वभावत्वमिति चेत्; कुत एतत्? इन्द्रियेणाऽग्रहणात्। एतदपि कुतः? परत्र सुखादौ संशयात्। तत् चैतन्येऽपि समानम्। दूरत्वाद् इन्द्रियेण परस्य सुखाद्यप्रत्यक्षत्वे प्रत्यो (द्वयो)रन्योऽन्यं संश्लेषे सुखाद्यनुभवनं भवेत्। शरीरान्तःप्रवृत्तेः सुखादेरननुभवने चैतन्येऽपि प्रसङ्गः। तदन्तः[3]प्रविशिना वा अनुभवनम्। तन्न प्रत्यक्षतः तत्प्रतिपत्तिः। 'जीवति अयम्' इत्ययं तु प्रत्ययः शरीराकारविशेषा(ष)दर्शनात् धूमवस्त्वदर्शनात् [क्वचित्] प्रदेशे अग्निप्रत्ययवत् इति अनुमानत्वेन प्रमाणान्तरनिषेधस्य इत्यस्य प्रदर्शनार्थमिति।

यदि पुनः तद्व्यवस्था न तद्भेदात्[4] कथयितुमर्हति इति; तत्राह–**अन्यथा**। अन्येन तदभावेऽपि तत्कथनप्रकारेण **अनवस्थाप्रसङ्गात्** भूतचतुष्टयावस्थितेरभावप्रसङ्गात्। लक्षणभेदाऽभावे लक्ष्यभेदाऽनवधारणात्। तत्त्वात्त [द]न्येन [२३०क] तत्प्रसङ्गात् इति वा वाच्यम्। तद्भेदादेव तर्हि कथयितुमर्हति इति चेत्; अत्राह–**न च** इत्यादि। **न च** नैवं **चतुर्भूतव्यवस्था**[5]**कथनार्हत्वं (कथनं) तथा** लक्षणभेदप्रकारेण प्रत्यक्षेण करणभूतेन **युक्तम्** उपपन्नम्। कुतः? इत्याह–**परोक्षाणामपि** न केवलं प्रत्यक्षाणामेव भूम्यादीनाम् **लक्षणात्** धारणादिस्वभावानां ज्ञानात्।

यदि वा, प्रत्यक्षेण लक्षणभेदेन तद्व्यवस्थाकथनकाले परोक्षणात् (**परोक्षाणामपि लक्षणात्**) पुनः तथा लक्षणयुक्तानां दर्शनात्। न च तत्तथा प्रत्यक्षेण युक्तमिति। नहि धूमो देशान्तरादौ धूमध्वजपूर्वकत्वेन उपलभ्यमानः पूर्वप्रत्यक्षेण तथा कृतव्यवस्थ इति भणितुं शक्यते परोक्षाणामपि तद्रूपेणाङ्गनादिति। एतदपि कुतः? इत्याह–**साकल्येन** सामस्त्येन **तत्त्वानां** पृथिव्यादीनां **प्रतिपत्तेः** निर्णयस्य **अन्यथा** परोक्षाणामपि लक्षणाभावप्रकारेण **अनुपपन्नाः (पत्तेः)** तेषामपि[6] **लक्षणात्** इति सम्बन्धः।

यदि वा, परोक्षाणामपि तथादर्शनादिति। एतत् कुतः? इत्याह–**साकल्येन** इत्यादि। **साकल्येन तत्त्वस्य** पृथिव्यादिस्वरूपस्य इदंतया नेदंतया वा **प्रतिपत्तेः अन्यथा** पुनः पुनः तथैव तेषां दर्शनाभावप्रकारेण **अनुपपत्तेः** इति। तथा सति धर्माधर्मस्वभावाः परलोकानुयायिचैतन्यस्वभावा विशिष्टसुखज्ञानादिस्वभावा वा न भूम्यादय इति दुराराध्या प्रतिपत्तिः।

अथवा '**साकल्येन**' इत्यादि वाक्यम् उत्तरकारिकया सम्बद्ध्य व्याख्यातव्यम्–**साकल्येन** अनवयवेन **तत्त्वस्य** पृथिव्यादेः तृप्त्यादि (धृत्यादि) कार्यकारणस्वभावस्य या **प्रतिपत्तिः** तस्याः [२३०ख] **अन्यथा** अन्येन आध्यात्मिकज्ञानाभावप्रकारेण **अनुपपत्तेः** सकाशाद् **आध्यात्मिकं** ज्ञानं यद् अस्ति इति शेषः।

[आध्यात्मिकं यतो ज्ञानं प्रत्यक्षं भूतगौरवम्।
भूतमभूतं तद्भेदास्तां भूतपञ्चमम् ॥१३॥

(१) पूर्वापरपर्यायरूपपरिणामस्य। (२) अतिनैकट्यात्। (३) परकायानुप्रवेशकारिणा पुरुषेण। (४) लक्षणभेदात्। (५) चतुर्भूतव्यवस्था। (६) [illegible]। (७) परोक्षाणामपि।

पृथिव्यादिस्वभावभेदं प्रतिपद्य विज्ञप्तिस्वभावभेदम्, हर्ष [विषादाद्यनेकाकार-] अन्तःसमक्षं प्रतिक्षिपतीति कथं प्रेक्षावान् ? अपि च भूतप्रत्यक्षं यदि तत्त्वान्तरम् परिसंख्या: [illegible] । संविदः तेष्वन्तर्भावकल्पनायां तत्त्वमेकमेव स्यात् ।]

तथाहि– कुतश्चित् पृथिव्यादिविशेषात्[1] बुभुक्षादिपीडापाये एकदा प्रतिपन्ने यद् एवं-विधं तद् इयता कालादिना इत्थम्भूतप्राणिविशेषस्य तदपायकारणम् इति सिद्धायां व्याप्तौ पुनः ५ तस्य तादृशस्य वा दर्शनात् सम्बन्धस्मृतौ प्रत्यभिज्ञाने चिन्तायां दृश्यमानस्य तत्कारणस्वभाव-प्रतिपत्तौ प्रवृत्तिरिति प्रायिकमेतत् । तदुक्तमत्रैव–*"अक्षज्ञानम् (नैः)" [सिद्धिवि० १।२७] इत्यादि । न चैतत् पृथिव्यादेर्युक्तम्, पूर्वज्ञानस्य उत्तरज्ञानाकारपरिणामदर्शनात् मृत्पिण्डस्य स्थासपरिणामवत् । तदास्तां तिष्ठतु न विचारणीयम् । कुतः ? इत्याह– **प्रत्यक्षं यतः** । न वै खलु पृथिव्याद्यसंभविगुणपर्यायोपचिततया प्रत्यक्षं तत्त्वं पृथिव्यादिभ्यो भिन्नम् अन्यद्वा इति १० विचारमर्हति, तेषामपि परस्परं तत्प्रसङ्गात् । किं तर्हि विचारणीयम ? इत्याह–**भूतगोचरम्** इत्यादि । पृथिव्यादिविषयं ज्ञानं **प्रत्यक्षम्** इन्द्रियज्ञानम् इत्यर्थः ।

ननु अस्य आध्यात्मिकज्ञानादा (ज्ञानपदोपादाना) त्तत्परिहारेणैव परिहृतं तत् किमर्थं पृथगेतदुच्यते ? सत्यम् ; तथापि पूर्वं सामान्येन अयं विशेषेण उच्यते इति विभागः ।

अत्र परस्य[3] अनेकं दर्शनम्–भूतस्वभावः तद्[4] इत्येकम् । तत्परिणाम इत्यपरम् । तेभ्यो १५ भिन्नमतत्त्वं मरीचिकाजलवत् इति अन्यत् तत्त्वम् इति परम् । तत्कार्यत्वात्[5] तत्रैव अन्तर्भवति इति पृथक् । तत्र अनेकं वाक्यम्–**भूतं** पृथिव्यादि **भूतरूपं चेत्** यदि **भूतगोचरं ज्ञानं प्रत्यक्षम् आस्तां** पर्याप्तम् तेनेत्यः(त्यर्थः) । कुतः ? [२३१ क] इत्याह–**अभूतं स्यात् यतः** अभूतस्वभावं भवेत् । नहि सर्वभूतानि चेतनारूपाणि संविद्रते जगतः प्राणिमयत्वप्रसङ्गात् । क्वचित् तदाविर्भावतिरोभावकल्पनापि पापीयसी सांख्याविशेषात्[6], भूतव्यवस्था भूतरूपैव स्यादिति । २०

तथा **अभूतम्** ईषद्भूतरूपं परिणाममस्य कथञ्चित् परिणामिरूपत्वात् **चेत्** यदि तदपि **आस्ताम् अभूतं स्यात्** यतः कथञ्चिदपि[7] भूतरूपं न भवेत् अचेतनस्य चेतन-परिणामविरोधात् ।

तथा **अभूतं** भूताद् अन्यत् **चेद्** अस्वतं **(आस्ताम्)** मरीचिकाजलवदसत् स्यात् । **चेत्** इत्येतद् अत्रापि सम्बन्धनीयम् । तदप्या**स्ताम्** ।[8] ततः कस्यचित् विधानप्रतिषेधाऽभावात् २५ इत्युक्तत्वात् ।

भूतं परमार्थं **तच्चेद्** अस्तु **पञ्चमं** 'तत्त्वम्' इति शेषः । ततोऽन्यस्य सतो गत्य-न्तराभावात् इति मन्यते ।

तथा इदमपरम्[9]–**अभूतं** भूतेभ्यो व्यक्तात् कारणात् कार्यस्य अन्यत्वात् पटतन्तुवत् **चेत्** ; तथापि **भूतं चेद्** भूतरूपं यदि, तत्कार्यत्वेन तत्रैव अन्तर्भावात् पृथिव्यां घटवदिति । ३०

(१) अन्नादिरूपात् । (२) बुभुक्षादिपीडानिवारकम् । (३) चार्वाकस्य । (४) इन्द्रियज्ञानम् । (५) भूते एव । (६) सांख्यकल्पित । (७) सत्यार्थम् । (८) असद्रूपात् । (९) व्याख्यानम् ।

एतदपि आस्ताम् । अभूतं स्यात् भूतरहितं सर्वं स्यात् भूतानामन्योऽन्यं कार्यकारणभावेन अन्तर्भावाद् भूतव्यवस्था न स्यात् । यदि पुनः काष्ठादेरन्तर्भूतपावकादेः पावकादिसमुद्भव[1] इति न दोषः ; तत्राह-अस्तु पञ्चमं तत्त्वं पृथिव्यादेः अन्तर्भूतचेतसो भावात् इति भावः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-पृथिव्यादि इत्यादि । पृथिव्यादेः स्वभावभेदं स्वरूपनानात्वं ५ प्रतिपत्त्या (पद्य) अभ्युपगम्य विज्ञप्तिस्वभावभेदं बुद्धीनां सन्तानभिन्नानां रूपनानात्वं विज्ञप्तिग्रहणं सांख्यवैशेषिक-आत्मनिषेधार्थम् स्वभावभेदग्रहणं [२३१ ख] सकलाद्वैतबाधार्थम् । किं भूतम् ? इत्याह-रूपं इत्यादि । पुनरपि किंभूतम् ? इत्याह-अन्तः इत्यादि । अनेन शरीरात् गृहादिव दीपस्य [2]दर्शयति । समक्षं स्वसंवेदनप्रत्यक्षविषयं प्रतिक्षिपति निराकरोति इति हेतोः कथं प्रेक्षावान् ? अपि च इत्यादिना अत्रैव दूषणान्तरमाह-भूतप्रत्यक्षं पृथिव्यादिगोचरम् १० इन्द्रियज्ञानम् यदि तरं (तत्त्वान्तरं) पृथिव्यादिभ्योऽन्यत्वे सति यदि द्रव्यान्तरम् ; परिसंख्या चत्वार्येव तत्त्वानि इति परिगणनं विरुध्येत ।

इदमपरं व्याख्यानम्-तत्त्वं च पृथिव्यादिकार्यत्वेन अन्तरं च भिन्नम् इति चेत् ; अत्राह-संवित्तेः स्वपरग्रहणलक्षणायाः भूतप्रत्यक्षरूपचेतनायाः तेषु भूतेषु तत्स्वभावतया अन्तर्भावकल्पनायां क्रियमाणायां तत्त्वम् एकमेव स्यात् तच्चातुर्विध्यं हीयेत परस्पराऽन्तर्भावात् । १५ अथ पृथिव्यादीनां परस्परविविक्तानां प्रतिभासनान् [3]नैवम् ; तर्हि संवित्तिविभक्तानां तथैव[4] प्रतिभासनात्, अन्यथा प्राणिमयं जगत् स्यादिति प्रकृतमपि मा भूदिति मन्यते ।

यदि पुनः तत्स्वभावतया न [5]तत्रान्तर्भावः अपि तु [6]तत्परिणामतया तत्राह-स्यात् पर्याय इत्यादि ।

[स्यात्पर्यायः पृथिव्यादेः सलिलादेस्तथा न वै ।
२० चेतनोऽचेतनस्य वाऽचेतनश्चेतनस्य च ॥१४॥

पुद्गलद्रव्यं सूक्ष्मं खरादिविवर्तमासाद्य पृथिव्यादिव्यपदेशभाक् पुनरन्यथा बहुलं परिणामि लक्ष्यते, यथा चन्द्रकान्तमणिः पृथिवीस्वभावो द्रवति चन्द्ररश्मेः, शुक्रशोणितं भस्ममृत्तिकादिपर्यन्तं रूपादिपरिणामं याति, तथैव मुक्ताफलादि । काष्ठादिकमग्निसात् भवति अरण्यादिसंयोगात् । न पुनः चेतनश्चैतन्यं विहाय विपरिवर्तते अचेतनश्चेतनो २५ भवन् सँल्लक्ष्यते । तदयमुभयं चेतनेतरतत्त्वमेकीकुर्वन् पुद्गलद्रव्यलक्षणं पृथिव्यादिभेदेन चतुर्धा व्यवस्थापयन् कथं स्वस्थो विपर्यस्तबुद्धिर्देवानां प्रियः ? प्रत्यक्षस्यातीवलङ्घनात् । इहजन्मनि तावत् प्राणिनामाद्यन्तचित्तानि चित्तान्तरोपा[illegible]तानि चित्तत्वात् यथा मध्यचित्तम् । अत्र [illegible]रस्त्येव, जातस्य पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् भयादिप्रतिपत्तेः । अनेन पथिकाग्नेः ज्वालान्तरपूर्वकत्वं प्रत्यग्निवत् इति ३० व्यभिचारचोदनं प्रत्युक्तम्, तेजःकारणपूर्वकत्वस्य तत्र विरोधात् । सतश्चेतनस्य चित्स्वभावेन परिणमतः कारणान्तरानपेक्षत्वात् स्वयमक्षेपेण वि[illegible]तः अनिमित्तिक[illegible]

(१) न पुनः पार्थिवात् काष्ठादेरग्निः जलाद्वा पार्थिवं मुक्ताफलादिकम् । (२) भिन्नत्वं दर्शयति । (३) न चातुर्विध्यहानिः । (४) परस्परविविक्ततया । (५) भूतेषु । (६) भूतपर्यायतया ।

दचेतनवत् । द्वितीये तदवश्यम्भावात् । यदि पुनः अन्त्यक्षणस्य नोत्तरीभवनशक्तिः ; अवस्तुत्वं स्वोपादानप्रबन्धाभावं साधयेत् अर्थक्रियालक्षणत्वाद्वस्तुनः। समर्थं न करोति चेति विरुद्धम् । सामग्रीजन्मनां विसदृशकार्याणां कादाचित्कत्वं न तु उत्तरीभवनस्य। तदेतत् अन्ते [illegible] , मध्ये स्थितिदर्शनमपि स्थितिं प्रसाधयेदव्यभिचारात्। यदि चेतनः अचेतनाकारेण विवर्तेत स्वापप्रबोधवत् प्रेत्यभावसिद्धेः कथमानवद्यम्-अपर···। ५
चेतनेतरयोः स्वभावसिद्धयोः सङ्करव्यतिकरप्रतिपत्तिरयुक्तैव दृष्टहानेरदृष्टपरिकल्पनाच्च । [1]जलबुद्बुदवज्जीवाः [2]मदशक्तिवद् विज्ञानमिति परः अर्के कटुकिमानं दृष्ट्वा गुडे योजयति। विज्ञप्तेर्यदि स्वालक्षण्यादिविशेषेऽपि मदशक्त्यादिदृष्टान्तेन सत्त्वोत्पत्तिकृतकत्वादेः भूतस्वभावत्वम् ; तत एव परोऽपि भूतानामपि बुद्धेश्चैतन्यविवर्तानतिक्रमं सुखादिस्वसंवेदनवत् साधयेदिति विरुद्धाव्यभिचारीति मिथ्याभिनिवेशात् प्रमाणप्रमेयव्यवस्थामतिलङ्घयेत्] १०

इदमत्र तात्पर्यम्-संवित्तेः भूतपरिणामत्वेन [3]तत्रान्तर्भावे अनिष्टं किञ्चिन् सिध्यति इष्टं च न सिध्यति । अनिष्टसिद्धिं तावद्दर्शयति-**स्याद् भवेत् पर्यायः** परिणामः । कस्य कः ? इत्याह-**पृथिव्यादेः सलिलादिः** । अस्यार्थं [4]स्वयमेव वृत्तौ[5] वक्ष्यति तत्रेह उच्यते । ततः पृथिव्यादौ सलिलादेः अन्तर्भाव इति भावः । इष्टासिद्धिं दर्शयन्नाह-**तथा** इत्यादि । येन अन्वयव्यतिरेकानुविधान [२३२ क] प्रकारेण पृथिव्यादेः पर्यायः सलिलादिः **तथा नवै नैव** १५ **चेतनो**ऽवग्रहादिः **अचेतनस्य** चेतनस्वभावरहितस्य पृथिव्यादेः **अचेतनः** पृथिव्यादिः **चेतनस्य वा** पर्याय इति सम्बन्धः । तदनेन *"आत्मैवेदं सर्वम्" [छान्दो० ७।२५।२] इत्यादपि निरस्तम् । अवग्रहाद् ईहायाः ततोऽवायस्य अतो धारणायाः स्मृतेः प्रत्यभिज्ञाया अस्याः तर्कस्य अनुमानस्योत्पत्तिदर्शनात् । न चान्यस्य परिणामोऽन्यस्य ; अव्यवस्थापत्तेरिति मन्यते ।

स्यान्मतम्-यदि चेतनस्य नाचेतनः [6]तस्य वा चेतनः[7] ; कथं जाग्रद्दशातः स्वापदशा, २० तस्याश्च प्रबोधदशा यतस्तदा अवग्रहादिसंभव इति ? तत्र केषाञ्चित्परिहारः-तद्दशायामविकल्पकं दर्शनमस्ति [8]ततः प्रबोधः । [9]अन्येषां जाग्रद्विज्ञानात् सः[10] इति । [11]अपरेषां ज्ञानरहितादात्मनः[12] इति । नान्त्यः तावत् परिहारः संभवति ; ज्ञानाद् व्यतिरिक्तस्य आत्मनोऽन्यस्य वा भूताऽविशेषात्[13] । यद्यपि [14]कार्यभूतानां क्षणिकत्वमिति न स्मरणप्रत्यभिज्ञानादिसंभवतः (वः) तदापि (तथापि) तत्कारणभूतेभ्यः तत्संभवो नित्यत्वात्तेषाम्[15] । यद्यपि [16]तद्रूपादयः नास्मत्सदृशानां २५

(१) तुलना-"जलबुद्बुदवज्जीवाः" यथैव हि समुद्रादौ नियामकादृष्टरहिताः पदार्थसामर्थ्यवशात् वैचित्र्यव्यपदेशभाजो बुद्बुदाः प्रादुर्भवन्ति तथा सुखदुःखवैचित्र्यभाजो जीवाः···"-न्यायकुमु० पृ० ३४२। (२) "मदशक्तिवद् विज्ञानम्"-न्यायकुमु० पृ० ३४२ । ब्र० शा० भा० ३।३।५३ । न्यायक० पृ० ४३७। न्यायवि० वि० प्र० पृ० ९३ । "मदशक्तिवच्चैतन्यमिति"-प्रक० प० पृ० १४६। तुलना-"मद्याङ्गवद् भूतसमागमे ज्ञः···"-युक्त्यनु० श्लो० ३५ । (३)भूतेषु । (४) ग्रन्थकारोऽकलङ्कदेवः । (५)स्वोपज्ञटीकायाम् । (६) अचेतनस्य । (७)न परिणामः तर्हि । (८) अविकल्पदर्शनात् । (९) प्रज्ञाकरादीनाम् । (१०) प्रबोधः । (११) नैयायिकादीनाम् । (१२) प्रबोधः । (१३) भूतवदचेतनत्वादित्यर्थः । (१४) कार्यरूपाणां भूतानाम् । (१५) कारणात्मकभूतानां परमाणूनामित्यर्थः । (१६) कारणात्मकभूतपरमाणुगता रूपादयः ।

प्रत्यक्षाः तथापि बुद्धा (बुद्ध्या)द्यः [1]तदाश्रितत्वेऽपि प्रत्यक्षाः, यथा आकाशपरमम[हत्त्वाद्य]-प्रत्यक्षत्वेऽपि [2]तदाश्रितः शब्दः प्रत्यक्षः ।

यस्तु मन्यते बुद्धेः शरीराश्रितत्वे [3]तस्य क्षणिकत्वाद् देशान्तरादौ प्रत्यभिज्ञानं न स्यादिति; स्यादेतदेवं यदि कार्यसंयोगिना कारणं न संयुज्येत, न चैवम्, पटसंयोगिना तन्तु संयोगदर्शनात् ।
५ नापि मध्यमध्यमशरीरस्य प्रबोध(धा)कारणत्वात (त्वम); तद्भावे भावाद् [२३२ख] अभावे अभावात् । न जाग्रच्चित्तस्य[4], तदभाव एव भावात् । तथापि [5]तत् [6]तस्य चेत् कारणम्; तर्हि विधवाया गर्भः चिरमृताद् भर्तुः न सन्निहितात् परपुरुषात्, इति न सा[7] निग्राह्या स्यात् ।

यदि मतम्–प्रबोधस्य शरीरकारणत्वे जाग्रच्चित्तानुकरणविरोध इति; तदपि सुपरिहारम्; यतः कारणकारणस्यापि अनुका(क)रणसंभवात् तदविरोधः । तथाहि–तच्चेतसः शरीरं प्राणादिवत्,[8]
१० ततः पुनरपरं शरीरं प्राणादेरिव प्राणादिः तावद् अन्ता दशा, ततः पुनः तदनुरूपप्रबोधः पित्रनुरूप-पुत्रवत् इति । तद्यथा पितुः शुक्रादिपातः पुनः तत्परिणामविशेषात् पित्रनुरूपमपत्यशरीरम् ।

यदि वा, शरीरं बोधोपादानकारणम्, तच्चित्तं[9] सहकारिकारणम्, परस्य च सहकारि-कारणानुरूपं कार्यम्[10], अन्यथा कथमर्थानुरूपं ज्ञानम्? 'भिन्नकालं कथं सहकारि' इत्यपि नोत्तरम्; सर्पादिदष्टमूर्च्छितस्य पूर्वामूर्च्छितः(त)चित्तं प्रति भिन्नकालतास्यापि (लस्यापि) मन्त्रादेः सह-
१५ कारित्वस्य परैरभ्युपगमात् । प्रथमः पुनः अपर्यालोचित एव; स्वापादौ हि क्षणिकसंवेदनोपगमे जागरणात् तस्य विशेषो वाच्यः यतस्तत्र प्रत्यक्षसिद्धं क्षणक्षयादिकं तत्प्रवृत्त्यादिकारणं मरणवद् इति न स्यात् । समारोपः इति चेत्; न; तत्र तदभावात् । इतरथा तदुपलक्षणे न गाढनिद्रा दशा नाम । तदनुपलक्षणं तु *"नहि इमाः कल्पनाः" [प्र० वा० स्व० टी० पृ० १२७] इत्यादि[10] प्रतिहन्ति । यदि पुनः निश्चयाऽभावो विशेषः; सोऽपि न युक्तः; तदभाव एव अस्तु ।
२० कथमनुभूतं क्षणक्षयादिकमननुभूतं यतस्तत्र [२३३ क] तद्व्यवहारो न स्यात्? निर्विकल्पानु-भूतमननुभूतकल्पमिति चेत्; न तर्हि स्वापादेः संहृताशेषविकल्पदशा भिद्यत इति[11]तत्रैव अन्यत्रापि–

*"संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनाऽन्तरात्मना ।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥"

[प्र० वा० २।१२४] इति ब्रुवते ।

२५ तत्र नीलादिविकल्पसद्भावेऽपि ततस्तत्र संवेदनाऽप्रवेदनात्, चेतनस्य चेतनः तस्य वा अचेतनः पर्यायः इति न युक्तमेतत्–'नवै चेतनोऽचेतनस्य' इत्यादि इति चेत्; अत्र प्रति-विधीयते–

निर्णयेतरसंवित्तेः सदाऽभ्युपगमादयम् ।
न दोषो जायतेऽस्माकं सौगत[स्यैव]वत् ॥
३० प्रबोधस्यान्यश[रीरोपादान]ऽनुमीयते ।

---

(१) भूताश्रितत्वेऽपि । (२) आकाशाश्रितः । (३) शरीरस्य । (४) प्रबोधकारणत्वम् । (५) जाग्र-च्चित्तम् । (६) प्रबोधचित्तस्य । (७) विधवा । (८) आ[ग्रा]ह्यत्तम् । (९) भवत्येव । (१०) "अप्रतिसंवदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते वा यतः सत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः" इति शेषः । (११) स्वापादिवत् ।

संवित्तिरविकल्पाऽपि जैनैः किन्न सदा स्वयम् ॥
कार्यकारणभावोऽयमन्यथा नियतः कुतः ।
अहेतुरन्यत्[1] वाऽदृष्टहेतुः प्रसज्यते ॥

यदि स्वापे संवित्तिरनुपलक्षितेति प्रबोधोऽहेतुकः, तर्हि मेघादिः अनुपलब्धोपादानः तथैव अहेतुः इति सर्वे (र्वं) कादाचित्कमपि तथैव शङ्क्येत । अथ अन्यहेतुकः; तन्मेघादिरपि अन्यजाति- ५ कारण इति न चतुर्भूतव्यवस्था । अथ पृथिव्यादेरेव तदुत्पत्तिदर्शनात्[3]; अदृष्टमपि जलपटलादेः सजातीयं कारणमनुमीयताम् ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम्–*"**यथा अविकल्पात् स्वापात् सविकल्पप्रबोधसंभवः तथा अचेतनात् चेतनसंभवः**" इति; कथम्? अन्यत्रापि प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं यथा सूक्ष्मपृथिव्यादिभूतेभ्यः स्थूलतद्भूतभावः तथा जलादेः भूम्यादिभावस्या इति स्यात (वः स्यात्[4] इति ।) १०

ननु यथा आत्मवत् [२३३ख] पृथिव्यादयो भिन्नजातीयाः परस्परं कथं तद्वदेवे पृथिव्यादेः सलिलादिपर्याय इति चेत्; अत्राह–**पुद्गलद्रव्यम्** इत्यादि । रूपरसगन्धस्पर्शवद्द्रव्यं **पुद्गलद्रव्यं सूक्ष्मम्** । किं स्यात् ? इत्याह–**पृथिव्यादिव्यपदेशभाक् 'स्यात्'** इति शेषः । अत्र आदिशब्देन जलादिपरिग्रहः । किं कृत्वा ? इत्याह–**आसाद्य** प्राप्य । किम् ? इत्यादि **स्वर** (त्याह–**खर** इत्यादि । **खर**)**विवर्त्तमासाद्य** पृथिवीव्यपदेशभाक् । एवमन्यत्र योज्यम् । एत- १५ दुक्तं भवति–न पृथिव्यादयो भिन्नजातीया एकद्रव्यपर्यायत्वात् मृत्पिण्डादिवत् इति ।

ननु प्रतीयमानपृथिव्यादिभ्यः किमन्यत् तद्व्यपदेशभागिति चेत्; न; स्थूलस्य सूक्ष्मपूर्वकत्वस्यापि अव्यभिचारात् पटवत् इति तन्तुसिद्धेः । एवमपि भवतु पृथिव्याः स्वयं रूपरसगन्धस्पर्शवत्याः तथाविधकारणानुमानम्, न जलाऽनलाऽनिलेभ्यः गन्धरसरूपविरहितेभ्यो यथासंभवं किन्तु तदनुरूपं कारणान्तरमनुमीयते चेत्; न; तत्रापि [7]स्पर्शवत्त्वे सति गन्धाद्यनु- २० [8]मानाऽनिराकरणात् । किं पुनः तत् ? इत्याह–**पुनरन्यथा** इत्यादि । **पुनः** पश्चाद् **अन्यथा** अन्येन पृथिव्यादिविलक्षणप्रकारेण **बहुलं** परिणामि **लक्ष्यते** पुद्गलद्रव्यमिति । तदेव दर्शयति **यथा** इत्यादिना । '**यथा**' इत्ययमुदाहरणप्रदर्शने, **चन्द्रकान्तमणिः** खरत्वेन **पृथिवीस्वभावो द्रयविति (द्रवति)** जलीभवति । कुतः ? इत्याह–**चन्द्ररश्मेः** । न तन्मणिः द्रवति उपलम्भाद् अपि तु तत्संसक्ता जलात्मकाः चन्द्ररश्मयः इत्येके । तेषां तद्द्रुतौ को दोषः ? अद- २५ र्शनमिति चेत्; न; [२३४क] गन्धद्रव्यस्य सर्वदा सर्वदिक्षु भागानां गमनेऽपि तावत एव उपलम्भात्, तद्रश्मेश्चाप्यदर्शनं किन्न स्यात् ? [10]तदपरापरोत्पत्तिः न तन्मणेः इति किं कृतो विभागः ?

शुक्रशोणितं द्रवरूपं कललादि[illegible] **स्त्र्यादिपरिणामं याति** । किं भूतम् ? इत्याह–

(१) प्रबोधवत् कारणरहितः । (२) अहेतुकमिति । (३) पृथिव्यादिरेव तत्कारणं तर्हि । (४) इति न पृथिव्यादीनां तत्त्वान्तरम् । (५) आत्मवदेव । (६) "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।"–त० सू० ५।२३ । (७) जलानलानिलादीनि गन्धरसरूपसहितानि स्पर्शवत्त्वात् पृथिवीवत् । (८) "वायुस्तावद् रूपादिमान् स्पर्शवत्वात् घटादिवत् ।···आपो गन्धवत्यः स्पर्शवत्वात् पृथिवीवत् । तेजोऽपि रसगन्धवत् रूपवत्वात् ।" –स० सि० ५।३ । (९) चन्द्ररश्मेः । (१०) प्रतिक्षणं अपरापरचन्द्ररश्मय उत्पद्यन्ते चेत्; मणिरपि अपरापर एवोत्पन्नोऽस्तु ।

भस्म इत्यादि । **भस्म**-**'**त्तिकयोः कृतद्वन्द्वयोः **आदिशब्देन** बहुव्रीहिः, अत्र आदिशब्देन पिण्डादिपरिग्रहः, पुनः अस्य **पर्यन्तशब्देन** स एव विधेयः । **तथैव** तेनैव विशिष्टौषधादिप्रयोगप्रकारेण **मुक्ता**फलादि, आदिशब्देन हिमादि परिगृह्यते **'द्रवति'** इति अनुवर्त्तते । यदि वा, पुद्गलद्रव्यं स्नेहविवर्त्तमासाद्य **'मुक्ताफलादिकं परिणामं याति'** इति सम्बन्धः । अत्र

५ **आदिशब्देन** स्तनकादेः (सूतकादेः) गुटिकादिपरिणामो गृह्यते । **काष्ठादिकम्** आदिशब्देन तृणादिकम् **अग्निसाद् भवति** । कुतः ? इत्याह–**अरणि** इत्यादि । **आदिशब्दाद्** विशिष्टद्रव्यादि**संयोगात्** । ततः स्थितम्–**पुद्गलद्रव्यम्** इत्यादि ।

तर्हि तद्वत् पुरुषचेतनः तथा परिणमते न पुद्गलद्रव्यमिति ; अत्राह–**न [पुनः]** नैव **चेतनो** ब्रह्मात्मा **चैतन्यं** स्वपरावभासित्वं **विहाय विपरिवर्त्तते** पृथिव्यादिरूपेण परिणमते ।

१० एतदुक्तं भवति–पुद्गलद्रव्यं यथा पृथिव्यादिरूपेण विपरिवर्त्तते तत्र तद्रूपाद्यन्वयदर्शनात्, तथा यदि पुरुषः [1]तद्रूपेण विपरिवर्त्तिता (विपरिवर्तेत) ; चैतन्यान्वयः तत्र[2] प्रतीयेत । न चैवमिति । अचेतनस्तर्हि चेतनरूपेण परिणमत इति चेत् ; अत्राह–**अचेतनः** पृथिव्यादिः **पुनः चेतनो भवन् सँल्लक्ष्यते । 'न पुनः'** इत्यनुवर्त्तते, स (सँ)ल्लक्ष्यत इति । अनेनैतद् दर्शयति–[२३४ ख] यदि अचेतनः परिणामी चेतनः तत्परिणामः [4]तत्र तद्रूपान्वयः स लक्ष्यते

१५ (सँल्लक्ष्येत) । न च तदस्ति रूपादिरहितस्य अन्तःचेतनस्य परिस्फुरणात् । न च [5]तत्र रूपादीनामनाविर्भावकल्पना श्रेयसी ; भूतानामन्योऽन्यात्मनि लक्षणानाविर्भावकल्पने न लक्षणभेदेन [6]तद्व्यवस्थाकथनम (नं) युक्तं स्यात् ।

उपसंहरन्नाह–**तद्** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्माद् **अयं** वावाकस्वत्वं (चार्वाकः **स्वयं**) **पुद्गलद्रव्यलक्षणम्** एकसंख्योपपन्नम् **चतुर्धा** चतुर्भिः प्रकारैः **व्यवस्थापयन्** । केन ? इत्याह–

२० **पृथिव्यादिभेदेन कथं स्वस्थः** भूतगृहीत इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह–**विपर्यस्तबुद्धिः** । यथा चन्द्रमसमेकं द्वित्वेन व्यवस्थापयन् तथाविधबुद्धिः तथा अयमपि यतः ।

ननु परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात् [8]तथाविधबुद्धिरयमिति कुतो ज्ञायते इति चेत् ; अत्राह–**देवानांप्रिय** इत्यादि । देवानां मूर्खाणां प्रियो यतः । नहि असौ[9] सत्तामात्रेण तन्मयः (तत्प्रियः) अतिप्रसङ्गात्, अपि तु प्रमाणत्राणरहितत्वोपदेशात् सुखसंवर्धितमतीनां तेषां प्रमाणविषये अप्रवे-

२५ शात्, ततोऽसौ तथाबुद्धिः अवगम्यते । तथाविधतत्त्वो (ततत्त्वो) पदेशोऽपि [10]तस्य कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? अत्राह–**प्रत्यक्षस्य** इत्यादि । **प्रत्यक्षस्य** प्रमाणस्य प्रमेयस्य वा **अतीव लङ्घनाद्** अन्यथैव प्रतिपादनात् । किं पुनरयमेतदेव कुर्वन् अस्वस्थः ? न ; इत्याह–**चेतनेतरतत्त्वम् एकीकुर्वन्** । कथंभूतम् ? **उभयम्** ? अनेकशेषं पूर्ववदत्रापि ।

तदेवं मध्यावस्थायां चेतन एव चेतनीभवति इति साकल्येन [२३५क] विपक्षेऽनन्तर-

३० बाधकोपदर्शनेन सिद्धायां व्याप्तौ यत्सिद्धं तद्दर्शयन्नाह–**प्राणिनाम् इहजन्मनि** इत्यादि ।

---

(१) बहुव्रीहिः । (२) पृथिव्यादिरूपेण । (३) पृथिव्यादिषु । (४) चेतने । (५) चेतने । (६) पृथिव्यादिभूतचतुष्टयव्यवस्था । (७) विपर्यस्तबुद्धिः । (८) चार्वाकः । (९) विपर्यस्तबुद्धिः । (१०) चार्वाकस्य ।

प्राणा दश [1]आगमपठिता विद्यन्ते येषां ते **प्राणिनः** तेषाम् । एतेन सर्वसम्बन्धिनाम् आद्यन्तचित्तानां धर्मित्वेन उपादीयमानानां प्रमाण[illegible] (प्राणादिमत्त्वेन) अनुमानसिद्धत्वं दर्शयति, इतरथा प्रत्यक्षेण तेषामग्रहणाद् अनुमानस्य वा[ऽ]वचने हेतोः आश्रयासिद्धिः आशङ्क्येत । न च आत्मन एव तच्चित्ते तथा साधयितुमत्राभिप्रेत (तम्) 'चित्तानि' इति बहुनिर्देशात् । नापि एकत्र आत्मनि आद्यन्तयोः बहुचित्तसंभवः । ततः सूक्तम्–'**प्राणिनाम्**' इति वचनं ५ सर्वसत्त्वाद्यन्तचित्तान् (नानामनु)मानपरिच्छेद्यत्वज्ञापनार्थमिति । एवमपि तेषामनाद्यनन्तभूतानाम् आद्यन्तचित्तासंभव इति आश्रयासिद्धो हेतुः; यस्माद्धि न पूर्वचित्तमस्ति तद् आदिः, यस्माच्च नोर्थ (नोऽन्तः) तद् अन्त्यम् , न चैतत्[3] जीवानाद्यनिबंधन (निधन) त्वे युक्तमिति चेत् ; अत्राह– **इहजन्मनि** अस्मिन् जन्मनि । **तावत्** शब्दः क्रमवाच्येव पूर्वपूर्वजन्मस्वपि तत्साधनक्रमप्रदर्शनार्थः । **आद्यन्तचित्तानि** । कथम्भूतानि तानि ? इत्याह–**चित्त** इत्यादि । **चित्तान्तरम् उपा-** १० **दानोपादेयभूतं** येषां तानि तथोक्तानि । भूतशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततोऽयमर्थः–आदिचित्तानि चित्तान्तरोपादानभूतानि अन्त्यचित्तानि चित्तान्तरोपादेयभूतानि इति । यदि वा, **चित्तान्तरस्य उपादानोपादेयभूतानि** इति ग्राह्यम । तथा हि आदिचित्तानि पूर्वभवमरणान्त्यचित्तान्तरस्योपादेयभूतानि, अन्त्यचित्तानि भाविभवाद्यचित्तान्तरस्य उपादानभूतानि । एवमपि [5]एवं वक्तव्यम् [२३५ख] चित्तोपादानोपादेयभूतानि इति वक्तव्यं किमन्तरशब्देन भेदस्य १५ उपादानोपादेयभूतवचनादेव सिद्धेः [6]अन्यथा तदयोगात् , एकात्मवदिति चेत् ; न ; साङ्ख्यं प्रति सिद्धसाध्यतापरिहारार्थम् एवंवचनात् । साङ्ख्यो हि सर्वत्र कार्यकारणयोरभेदैकान्तवादी 'चित्तोपादानोपादेयभूतानि' इति वचने सिद्धसाध्यता मन्येत । तत्कुतः तानि तथाभूतानि ? इत्याह– **चित्तत्वात्** , विशेषस्य साध्यत्वात् सामान्यस्य साधनत्वात्[7] न प्रतिज्ञार्थैकदेशाऽसिद्धो हेतुः इत्येके[8] । विशेषयोः सामान्ययोर्वा एवं साध्यसाधनभावेऽपि नायं दोषः इत्यपरे । अन्यथा नित्यः २० शब्दः शब्दत्वात् इत्यादावपि स्यात । अत्र दृष्टान्तमाह दर्शयितुम्–**यथा** इत्यादि । **यथा मध्यचित्तम्** इत्यर्थः ।

ननु जैनस्य 'लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठवत्' इत्यादाविव न दृष्टान्तमात्राद् हेतुः गमकः, अपि तु अन्यथानुपपत्तेः, [9]स च अत्र, [अतः] आह–**अत्र** इत्यादि । **अत्र** हेतोः **पुनः** इति सौष्ठवे, **अन्यथा** साध्याभावप्रकारेण **अनुपपत्तिः** अघटना **अस्ति** । '**एव**' निपातेन मनागपि २५ तदुपपत्तिः नास्ति इति वदति । कुतः ? इत्याह–**जन्म तस्य (जातस्य[10])** इत्यादि । **जातैवादौवा**

(१) "पंच वि इंदियपाणा मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा । आणापाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ।"–गो० जीव० गा० १२९ । (२) आद्यन्तचित्तानाम् । (३) आदिः अन्तश्च । (४) जन्म । (५) 'एवं वक्तव्यम्' इति निरर्थकं भाति । (६) भेदाभावे उपादानोपादेयभावासंभवात् । (७) सामान्यस्य च विशेषनिष्ठत्वात् न निरन्वयदोषोऽपि । (८) "ननु प्रत्ययविशेषो धर्मी सामान्यं साध्यमिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशता ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३८७ । हेतु० टीकालो० पृ० ३९६ । प्रमेयर० १।१ । स्या० रत्ना० पृ० ४१–४२ । (९) अन्यथानुपपत्तिविशिष्टो हेतुः । (१०) तदहःसमुत्पन्नस्य बालकस्य । तुलना–"पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः ।"–न्यायसूत्र० ३।१।१९ ।

(जातस्य) अन्यतस्य (उत्पन्नस्य) **पूर्वम्** अतीतजन्मनि [illegible] (न्यभ्यस्त) स्तनादिपानादि[illegible] (कं तस्य) **स्मृतेरनुबन्धात्** अविच्छेदात् । एतदुक्तं भवति–मरणान्त्यचित्तस्य तत्त्वं यदि उत्तरजन्मादि[illegible]विनाभावि न भवेत्, तर्हि तत्र तदाहितसंकारवैधुर्ये जातस्य स्मृत्यनुबन्धः [न स्यात्] । मान्नपि (भवन्नपि)[1] पुरुषमात्रेण अन्येन कथमवगम्यते परचेतोवृत्तीनां [२३६क]
५ दुरन्वयत्वादिति चेत्; अत्राह–**भयादि** इत्यादि । **भयम् आदिर्यस्य** अभिलाषादेः तस्य **प्रतिपत्तेः** मुखविकारादिना निश्चितेः, अन्यथा कुतश्चित् परचेतोवृत्तिविशेषे प्रतिपत्त्यभावमुत्प्रेक्षामहे । न चैवम, अतो वक्तु (वक्त्र) विकारादेः भयादिप्रतिपत्तिः ततः[2] तदनुबन्धप्रतिपत्तिरिति ।

एतेन '**जातस्य पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात्**' इत्यस्य हेतोः स्वरूपासिद्धिरपि प्रत्युक्ता ।

ननु मध्यचेतसि चित्तत्वं यद्यपि चित्तान्तरोपादेयत्वसहितं दृष्टं तथापि आद्यन्तचेतसि
१० तत्तथा न युक्तम्, अन्यथा प्रत्यग्नेर्ज्वालापूर्वकत्वदर्शनात् पथिकाग्नेरपि पूर्वं (तत्पूर्व) कत्वं तत्त्वादनुमीयेत । व्यभिचाराशङ्का अन्यत्रापि इति चेत्; अत्राह–**पथिकाग्नेः** इत्यादि । '**अनेन**' इत्ययं शब्दः अन्ते करणात् '**प्रत्यग्निवत्**' इत्यस्य अनन्तरं यथास्थानं च द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः– **पथिकाग्नेः** पथिकसम्बन्धिनः पावकस्य, पथिकस्य अनवस्थायित्वेन तत्संबन्धित्वस्य परोक्षताज्ञापनार्थम्, अथवा ज्वालान्तरपूर्वकत्वेतरत्वेसंभवज्ञापनार्थं पथिकग्रहणम् तस्यैं हि अग्निः उत
१५ यद्यपि संभवति । **ज्वालान्तरपूर्वकत्वं** साध्यम्, अत्र हेतुः 'पथिकाग्नित्वात्' इति द्रष्टव्यः । निदर्शनमाह–**प्रत्यग्निवद्** इति । कश्चित् पथिकः शीतार्तो अरणिनिर्मथनाद् अन्यतो वा प्रज्वालिताग्निः निःशीतो भूतात् (भूत्वा) क्वापि गतः, पुनस्तत्रैव अपरः पण्डितमाना (मानी) समागत्य ततोऽग्नेः प्रत्यग्निं प्रज्वाल्य अनुमानं करोति पथिकाग्नि [ः] ज्वालान्तरपूर्वकः तत्त्वात् प्रत्यग्निवत् । न चैवम्, अतः **अनेन** भवदीयानुमानस्य [२३६ख] व्यभिचार **इति यद् व्यभिचार-**
२० **चोदनं तदनेन** अनन्तरग्रन्थेन **प्रत्युक्तम्** प्रकृते हेतुलक्षणभावाद् अन्यत्र विपर्ययात् । तमेव दर्शयन्नाह–**तेजःकारण** इत्यादि । **तेजसः कारणं** पुद्गलद्रव्यम् अनन्तरवर्णितम् **तत्पूर्वकत्वस्य तत्र** पथिकाग्नौ **[अ]विरोधात्** । विरोधाभावान्न ज्वालान्तरपूर्वकत्वमस्य, ननु (नतु) चेतने अभिहितनीत्या तत्पूर्वकत्वस्य अविरोध इति मन्यते ।

अथ सर्वत्र सर्वदा सन्तु तदादिचित्तानि इष्टसाध्यानि ननु (नतु) मरणान्त्यचित्तानि प्रमा-
२५ णाभावात् । तर्हि (नहि) [10]अर्वाग्भागदर्शिप्रत्यक्षम् इयतो व्यापारान् कर्तुं [समर्थम्] सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः । लिङ्गाभावेन अभावात् नाप्यनुमानम् । चित्तत्वस्य भावालिंगाता वो (भावाल्लिङ्गाभावो) असिद्ध इति चेत्; न; [11]तत् कार्यम्, कारणम्, अनुभयं वा स्यात् ? तत्र उपदेयाभिमतात् प्रागेव भावात् न कार्यम् । 'स्नानादेः प्रागपि भवन् जलादि[illegible]' इत्येके; तेषां [12]प्राप्यमर्थक्रियाजातं किं कुर्वाणं जलादेः कारणम् ? अकिञ्चित्करस्य [13]तद्योगाद् अतिप्रसङ्गात् ।

---

(१) भवन्नपि स्मृत्यनुबन्धः । (२) स्मृत्यनुबन्ध । (३) अग्निसमुद्भूतद्वितीयाग्नेः । (४) ज्वालापूर्वकत्वम् (५) अग्नित्वात् । (६) अन्यपथिकाग्निपूर्वकत्वज्ञापनार्थम् । (७) पथिकस्य । (८) अग्नित्वात् । (९) पथिकाग्नेः । (१०) अस्मदादिप्रत्यक्षम् । (११) चित्तम् (१२) भावि । (१३) कारणत्वायोगात् ।

न च अकारणं कार्यं युक्तम् । सत्ताम्[1] इति चेत्; ननु च अनुत्पन्नमसत्[2] खरविषाणसमं कथं कस्यचित्[3]तामुपजनयति ? स्वकाले सत्त्वाददोषः; कार्योत्पत्तेः प्रागपि तदा तत्सत्त्वे पूर्वभावित्वमेव कारणस्य अर्थादापतितं नानागतत्वम् । पश्चात् सत्त्वे प्रागेव उत्पन्ने कार्ये तदकिञ्चित्करत्वं कृतस्य करणाऽयोगात् । तत्र (तन्न) कार्यम् । नापि कारणम्; अर्वाग्दर्शिना कार्यादर्शने तद्विशिष्टताऽविनिश्चयात् । तद्दर्शने अनुमानवैफल्यम् । [२३७क] न च तन्मात्रं लिङ्गम्; प्रतिबन्धवैकल्यसंभवात् । अनुभयस्य प्रतिबन्धाभावात् अलिङ्गत्वमिति । तत्राह–सतः चेतनस्य इत्यादि । सतो विद्यमानस्य चेतनस्य 'अन्त्यदशायाम्' इति प्र[क्र]माद् एतल्लभ्यते । अनेन एतत् कथयति–मध्ये चेतनस्य अन्यस्य वा सत्त्वं भिन्नकार्यकारित्वेनेव उत्तरस्वपरिणामकारित्वेन व्याप्तं प्रतिपन्नम्, तदिदानीं यदि तदभावेऽपि स्यात् निःस्वभावत्वमिति कुतः कस्यचित् तत्त्वमन्यद्वा ? अन्यथा सर्वस्य व्याप्यस्य स्वव्यापकाभावेऽपि भावाशङ्कया अननुमानं जगत् स्यादिति । चित्स्वभावेन चिद्रूपेण परिणमतो विवर्त्तमानस्य कारणान्तराऽनपेक्षत्वात् । यस्मात् कारणात् उत्पद्यते असौ चेतनः तस्माद् अन्यत् कारणं तदन्तरम्, तत्र न विद्यते अपेक्षा यस्य तद्वा न अपेक्ष्यते इति तस्य भावाऽभावात् (तस्य भावात्) 'अत्र पुनः अन्यथानुपपत्तिः अस्त्येव' इत्यनेन सम्बन्धः ।

ननु तदनपेक्षत्वेऽपि तद्रूपेण परिणामो न भविष्यति ? इत्याह–स्वयम् इत्यादि । स्वयम् आत्मना अक्षेपेण झटिति विवर्तस्य उपपत्तेः । एतदपि कुतः ? इत्याह–अनैमित्तिक [त्वात्] इत्यादि । निर्हेतुकस्य अचेतनेचत् (तनवत्) पृथिव्यादिव [त्] । परमाशङ्कते द्वेव (दूष) यितुं द्वितीय इत्यादि । तत्र उत्तरमाह– तदवश्यम् इत्यादि । तस्य द्वितीयक्षणस्य नियमेन भावात् ।

तु स तनस्य (सतश्चेतनस्य) इत्यादि अनभ्युपगच्छतो दूषणमाह–यदि इत्यादि । पुनः इति पक्षान्तरद्योतने, अन्त्यक्षणस्य मरणचित्तस्य नोत्तरीभवनशक्तिः नोत्तरपरिणामसामर्थ्यम्, अवस्तुत्वम् अन्त्यक्षणस्य । तत् किं कुर्यात् ? इत्याह–स्वोपादान इत्यादि । स्व इत्यनेन अन्ते (अन्त्यः) क्षणः परामृश्यते तस्य उपादानप्रबन्धस्य अभावं साधयेत् । कुतः ? इत्याह– अर्थ इत्यादि । [२३७] अर्थस्य कार्यस्य [क्रिया] करणं तल्लक्षणत्वाद् वस्तुनः । तत्सामर्थ्यं तल्लक्षणम्, तच्चं सहकारिवैकल्यात् कार्याकारिणोऽपि तत्क्षणस्य अस्ति इति चेत्; अत्राह– समर्थम् इत्यादि । समर्थम् अन्त्यक्षणजातम् इति न करोति च इत्येवं विरुद्धम् । तथाहि– यदि समर्थम्; कथं न करोति ? न करोति चेत्; कथं समर्थम् ? अन्यथा नित्यं समर्थमपि सहकारिवैकल्यात् सर्वदा न कुर्यादिति मन्यते । नार्थक्रिया नापि तत्सामर्थ्यं तल्लक्षणम्, अपि तु सत्तासम्बन्ध इति[12] [illegible]तमिति चेत्; अव्यापकत्वात्, सामान्यादौ[13] अभावात्,

(१) कुर्वाणम् । (२) अविद्यमानम् । (३) सत्ताम् । (४) कारणमात्रम् । (५) कार्यकारण-उभयव्यतिरिक्तस्य । (६) उत्तरचित्तम् । (७) अनुमानशून्यम् । (८) अर्थक्रियासामर्थ्यम् । (९) वस्तुलक्षणम् । (१०) वस्तुलक्षणम् । (११) वस्तुलक्षणम् । (१२) वैशेषिकाभिमतम् । "द्रव्यादीनां त्रयाणामपि सत्तासम्बन्धः..."–प्रश० भा०, व्यो० पृ० १२१ । (१३) तेषां स्वतः सत्त्वात् सामान्यविशेषसमवायेषु सत्तासम्बन्धाभावात् ।

प्रतिषिद्धत्वाच्च। तर्हि तदुत्तरीभवनशक्त्यभावेऽपि विजातीयकरणशक्तेर्न तदवस्तुत्वम् इत्याशङ्कनीयमिति चेत्; न; चार्वा(र्वा)कस्य तथा मताभावाद् भूतसमुच्छेदानभ्युपगमात्। अत एवोक्तम् 'अचेतनवत्' इति।

ननु यथा चेतनस्य संसारे अवग्रहादयो न तत ऊर्ध्वं तथा मरणात् पूर्वं सोऽपि न पश्चा-
५ दिति चेत्; अत्राह–सामग्र्या जन्म येषाम् विसदृशकार्याणां केषां (तेषां) कादाचित्कत्वं सुवर्णे कटकादीनामिव स्यात् न पुन (तु न) च उत्तरीभवनस्य कादाचित्कत्वम्। 'अचेतनवत्' इत्येतदत्रापेक्ष्यम्। न च 'अन्त्यचित्तानि चित्तान्तरोपादेयभूतानि' इति साधयतः प्रत्यक्षबाधा पक्षस्य यथा 'अश्रावणः शब्दः' इति साधयतः। अन्त्ये (अन्ते) क्षयदर्शनादिति चेत्; अत्राह–तत् तस्माद् उक्तन्यायात् एतत् परेण उच्यमानम् अन्ते मरणाद् ऊर्ध्वं यच्चेतनस्य परेण क्षयदर्शनम्
१० उपगतम् तद् असिद्धम् अनिश्चितम्, तत्र तत्क्षयाऽसिद्धेः। अदर्शनं पुनः प्राणभिन्मात्रस्य (भून्मात्रस्य) तद्ग्रहणसामर्थ्यवैधुर्यात्[1]। न च तददर्शनं पक्षबाधनाय अलम्, [२३८क] अन्यथा शब्दे नित्यत्वाऽदर्शनमपि तद्बाधकं स्यादिति मन्यते। अतश्च तदसिद्धम् इत्याह–मध्ये जन्मन ऊर्ध्वं मरणात् प्राक् यत् स्थितिदर्शनं तदपि न केवलम् उक्तो न्यायः स्थितिं प्रसाध्ये(धये)त् 'अन्त्ये' (अन्ते) इति सम्बन्धः। कुतः? इत्याह–अव्यभिचाराद् अविनाभावात्। तथाहि–
१५ यदि अन्ते स्थांतुर्न (स्थास्नुर्न) भवेत् भावो मध्येऽपि न भवेद् अविशेषादिति सौगतं मतम्। यदुक्तम्–

*"जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते।
यो जातो न च विध्वस्तो नश्येत् पश्चात् सहेतव (स केन वा) ॥" इति।

अथ मध्ये स्थितिः, तर्हि तत्र यत्तस्य रूपं तदेवापि (तदेव अन्तेऽपि) इति पश्चात् स्थितिः
२० केन वार्यते। एतदप्युक्तम्–

*"यद्येकस्मिन् क्षणे जातः तिष्ठेत् क्षणमिहापरम्।
क्षणकोटी(टि)सहस्राणि ननु तिष्ठेत् तथैव सः ॥"

अथ मध्ये स्थास्नुरपि पुनः क्षरादि (क्षुरादि) विपायिप्रत्ययोपनिपाते नश्यति इति मतिः; सापि न युक्ता; यतः तथाविधस्य गगनादिवत् तदयोगात्[7] *"सतोऽत्यन्तविनाशाऽसंभवात्"
२५ इत्युक्तत्वाच्च।

सौगतमतानुसारी भूत्वा कदाचित् चार्वाको मध्ये स्थितेरनुपलब्धिं मध्ये स्थितेरदर्शनस्य असिद्धेश्च कारणात्, न केवलम् अव्यभिचारात् "मध्ये स्थितिदर्शनम्' इत्यादिना सम्बन्धः। अनेन मध्ये स्थितेर्दर्शनस्य असिद्धता परिहृता।

ननु प्रसाधयतु मध्ये स्थितिदर्शनम् अन्ते स्थितिं चेतनस्य, [8]तां तु अचेतनरूपेण, ततो
३० विरुद्धो हेतुः इति चेत्; अत्राह–यदि इत्यादि। चेतनः सन् अचेतनाकारेण विवर्त्तेत पुनः

(१) अन्ते। (२) अल्पज्ञत्वादिति। (३) उत्पत्तिरेव। (४) उद्धृतोऽयम्..."जातिरेव...नश्येत् पश्चात् स केन वा"–षड्द० बृह० पृ० १२। (५) मध्ये। (६) सदा स्थास्नोः। (७) विनाशासंभवात्। (८) स्थितिम्।

चेतनाकारेण विवर्त्तेत यदि स्वापप्रबोधवत् स्वापप्रबोधयोरिव प्रेत्यभावसिद्धेः मृत्वा पुनर्भवनसिद्धेः कथं न कथञ्चिद् अनवद्यं स्यात् । किं तत्? इत्याह–अपर इत्यादि । [२३८ख] एतदभ्युपगम्य दूषणमुक्तम्, यावता परमार्थतो नैतदस्ति इति । 'न पुनः चेतनः चैतन्यं विहाय' इत्यादिना उक्तं स्मारयन्नाह–चेतनेतरयोः इत्यादि । चेतनो जीवः इतरोऽचेतनः पृथिव्यादिः तयोः सङ्करश्च एकत्र प्रसक्तिः व्यतिकरश्च परस्परविषयगमनं तयोः प्रतिपत्तिः अयुक्तैव । कथं- ५ भूतयोः ? इत्याह–स्वभावसिद्धयोः एकैकपरिहारेण स्वस्वरूपेण सिद्धयोः । यदि वा, स्वस्मात् समानजातीय द्रव्यात् निष्पन्नयोः । कुतः ? इत्याह–दृष्टस्य तयोर्भेदस्य हानेः सर्वस्य प्रक्षयस्य (प्रत्यक्षस्य) सा[1] नासतां दर्शयति–नीलादिसुखादिप्रत्यक्षस्यापि तदनुषङ्गात् । अदृष्टस्य प्रत्यक्षेण अविषयीकृतस्य तयोः सङ्करादेः कल्पनाच्च इति । अनेनापि परस्य प्रमाणान्त[र] प्रसङ्गं दर्शयति तदभावे तद्योगात् । १०

ननु[2] भवतु अदृष्टकल्पनम् अप्रमाणकं तु न स्यात्, व्यवहारेण तदभेदसाधकस्य अनुमानस्योपगमात् । तच्च अनुमानम्–चेतनो भूतपरिणामः तत्स्वभावो वा सत्त्वादिभ्यो जलबुद्बुदवत् मदशक्तिवच्च इति । एतदेवाह–जल इत्यादिना । जलस्य बुद्बुदैः समानं वर्त्तते इति तद्वत् । के ? इत्याह–जीवाः । एतदुक्तं भवति–यथा सत्त्वादिसन्तो (मन्तो) बुद्बुदा जलात्मकाः[3] तत्रैव भवन्ति विनश्यन्ति [च] तथा जीवाः पृथिव्यादिषु इति मदस्य जातिकया १५ मन्त्या (शक्त्या) तुल्यं वर्तते इति तद्वत् । किं तत् ? विज्ञानम् । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा भतीकिवोदिनिः (सती किण्वादिभिः) मदशक्तिः आत्मभूता अभिव्यज्यते, तत्रैव पुनः सा तिरोभवति तथा भूतैः विज्ञानम् । अत्रोत्तरमाह–इत्येव (वं) परः केवलम् अर्कसा (अर्के) कटुकमानं [२३९ क] दृष्ट्वा गुडादावपि योजयति–कटुको गुडादिः सत्त्वादिभ्यो[4] गुडादिति (अर्कवत्) । तदनेन यथा अत्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं तथा प्रकृतेऽपि इति दर्शयति । हेतुं दूषयन्नाह–विज्ञप्तेः २० इत्यादि । विज्ञप्तेः परिणामिचेतनायाः, यदि 'साधयेत्' इति सम्बन्धः । किम् ? इत्याह–भूत इत्यादि । कुतः ? इत्याह–सत्त्वोत्पत्ति इत्यादि । केन दृष्टान्तेन ? इत्याह–मदशक्त्यादि इत्यादि । कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–स्वालक्षण्यस्य इत्यादि । अत्र आदिशब्देन पर्यायादिविशेषो गृह्यते, तत्प्रतिबन्धाभावं दर्शयति तस्य । दूषणमाह–तत एव सत्त्वोत्पत्तिकृतकत्वादेः[5] 'साधयति' इति सम्बन्धः । किम् ? इत्याह–बुद्धि इत्यादि । बुद्धिश्च प्रधानस्य आद्यः परिणामो २५ महदाख्यः चैतन्यं तु पुरुषः तयोः विवर्त्तः परिणामः तस्य अनतिक्रमम् । केषाम् ? इत्याह–भूतानामपि न केवलम् अन्यस्य । कस्य च (कस्येव) ? इत्याह–सुखादि इत्यादि । सुखादि स्वसंवेदनं च तयोरिव तद्वत् इति । कः ? इत्याह–परोऽपि सांख्यः–*"तस्मादपि षोडशकात्[6] पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि" [सांख्यका० २२] इति वचनात् । [ब्रह्म]ाद्वैतवादीव (दी वा)*"पुरुष एव इदम्" [ऋक्० १०।९०।२] इत्याद्यभिधानात्, न केवलं चार्वाक एव इति अपिशब्दः ३०

(१) हानिः । (२) चार्वाकः । (३) चेतनाचेतनयोरभेद । (४) जले एव । (५) आदिपदेन उत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादयो ग्राह्याः । (६) एकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रासमूहरूपात् षोडशकगणात् । (७) रूपरसगन्धस्पर्शशब्द लक्षण पञ्चतन्मात्राभ्यः ।

इति हेतोः **विरुद्धाऽव्यभिचारी** '**सत्त्वोत्पत्तिकृतकत्वादिः**' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः, विरुद्धं साध्यं न व्यभिचरति एवंशीलः चैतन्यभूतपरिणामवत् तेषामपि अन्यपरिणामप्रसाधनात् । यदि वा, विरुद्धेन साध्येन [अ]व्यभिचारी तदविनाभावी विरुद्ध इति यावत् । तथाहि–विज्ञप्तेः सत्त्वादि मध्यावस्थायाम् अनन्तरोक्तन्यायाद् विपक्षसद्भावबाधनात् चेतनो[illegible]दि प्रतिष्ठापितं [२३९ ख] यथा च [1]अन्तर्व्याप्तौ असिद्धायां बहिर्व्याप्तेरकिञ्चित्करत्वं तथा [2]न सिद्धायामपि इति । यद्वक्ष्यति–प्र मा ण सं ग्र हे–*"भविष्यति आत्मा सत्त्वात्" [प्रमाणसं० पृ० १०४] तत्र च न अचिद्रूपेण ; अनिष्टापत्तेः साधनवैफल्याच्च । नापि चिद्रूपेण ; तत्साधने पृथिव्यादावपि सद्भावे न तद्व्यभिचारी विशिष्टस्य हेतुत्वात् । इदमपरं व्याख्यानम्– **तत एव** इत्यादि । **भूतानामपि** इति, अयमपिशब्दो भिन्नक्रमः '**विरुद्धाऽव्यभिचारी**' इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थो न केवलं विरुद्धाऽव्यभिचारी किन्तु व्यभिचार्यपि । विज्ञप्तेर्मध्यदशायां चैतन्यविवर्ताऽनतिक्रमेऽपि सत्त्वोत्पत्तिकृतकत्वादेर्दर्शनात् ।

इति इत्यादिना उपसंहारमाह–इत्येवम् अनन्तरप्रकारेण **मिथ्याभिनिवेशाद्** असत्याऽऽग्रहात् **प्रमाणप्रमेयव्यवस्थाम् अतिलङ्घयेत् प्रमाणस्य** प्रमाणत्वस्य, भावप्रधानत्वात् निर्देशस्य, **व्यवस्था** विशद एव अभ्रान्त एव ज्ञाने स्थितिः ताम् **अतिलङ्घयेत्** अतीव प्रलयं नयेत् । तथाहि– भूतेभ्योऽत्यन्तमभिन्नं चैतन्यं भिन्नं (अत्यन्तभिन्नं चैतन्यमभिन्नं) पश्यत् प्रत्यक्षं यदि प्रमाणम् ; द्विचन्द्रादिज्ञानं कथं न भवेत्[3] यतो लौकिकी (कीं) प्रत्यक्षतदाभासव्यवस्थामनुसरन् लौकायतिकः स्यात् ? अथ अप्रमाणम् ; द्विचन्द्रादिज्ञानवत् सर्वमविशेषेण भवेद् भूतेभ्योऽभिन्नस्य स्वरूपस्य ततो भिन्नस्य सर्वेण ग्रहणात् । नहि किञ्चिद्विज्ञानम् आत्मानं रूपाद्यात्मकं प्रत्येति [4]सारूप्यनिषेधात् । तथापि तस्य तथा प्रतीतिकल्पने सर्वस्य सर्वदर्शित्वकल्पने [ऽ]लौकायतिकं जगत् स्यात् ।

किं च, तदात्मकत्वेन [२४० क] सर्वस्य ज्ञानस्य अवभासने चार्वाकचर्विता सर्वविप्रतिपत्तिः इति किं शास्त्रप्रणयनेन ? नहि नीलादिकं पश्यन्तं प्रति तदुपदेशः अर्थवान् । भ्रान्तिव्यवच्छेदार्थं तदिति चेत्; न; भ्रान्तिबुद्धेरपि [illegible]न अवभासने तदवस्थो दोषः, ततः ततोऽभिन्नस्य स्वरूपस्य भिन्नस्य ग्रहणात् किन्नामाभ्रान्तं यत् प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यात् ? भूतात्ममात्रे अभ्रान्तमिति चेत् ; स्यादेतदेवं यदि [5]तन्मात्रस्य कुतश्चित्सत्त्वं प्रतीयेत, दर्शनस्य तददर्शनेन व्यभिचाराद् , अत्रापि बाधकस्य दुर्लभत्वात् ।

यदि तर्हि तद् भूतेभ्यो भिन्नमवभासते तथैव सत् इत्येके । तथापि तस्य ततोऽभेदे [न] कस्यचित् कुतश्चिद् भेद इति न प्रत्यक्षप्रमाणव्यवस्था तत्प्रमेयव्यवस्था वा इत्यपरे ।

अपरस्य तु दर्शनम्–सत्यम् ; तद् भूतेभ्यः कारणत्वेन अभिमतेभ्यो भिन्नं तथाऽवभासनात्, कार्यस्य कारणात् भेदाच्च, तथापि यथा पार्थिवतन्तुभ्यः पटो जायमानो भिन्नोऽपि पार्थिव एव तथा चैतन्यं [illegible]तात्मकशरीराद्[6] भूतात्मकम् इति; तदसत्यम् ; यतो नहि यथा रूपादित्वेन तन्तुपटयोः

---

(१) पक्ष एव साध्यसाधनयोर्व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः । तुलना–"अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिरङ्गमनर्थकम्" प्रमाणसं० पृ० १११ । (२) 'न' इति निरर्थकम् । (३) प्रमाणम्' इति सम्बन्धः । (४) तदाकारतानिराकरणात् । (५) भूतात्ममात्रस्य । (६) जायमानं भिन्नमपि ।

साधर्म्यं तथा भूतचेतनयोः,[1] [illegible] चेतनस्य । तत्रापि तत्कल्पने न प्रत्यक्षम्[2], साधनान्तरनिषेधात् । नानुमानम्, अन्यथा 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणं नापरम्' इति प्रमाणव्यवस्थामतिलङ्घयति सत्त्वादेः पृथिवीदृष्टान्तेन चेतते (चेतने) रूपादे[illegible]साधने तत[3] एव भूतानां प्रत्येकं तत्साधनात् प्रमेयव्यवस्थाम् अतिलङ्घयति ।

'जीवे तावत् नास्तिक्यं मिथ्यादर्शनम्' इति व्याख्यातम्, संप्रति 'अन्यत्र जीवाभिमानश्च' इत्येतद् व्याख्यातुकाम आह–[२४०ख] **तथा च** इत्यादि । ५

[तथा चात्मा गुणैः कर्त्ताऽविकार्यप्यर्थान्तरैः ।
भोक्तेति मतं मिथ्या व्यापकादेशकल्पना ॥१५॥

स्वतः प्रवर्तमानस्यैवानेकरूपस्य परोपकारसंभवात् । तद्विहाय पुनरविकारिण एव प्रयत्नादृष्टसमवायात् कर्तृत्वं पुनः सुखदुःखादिसमवायात् भोक्तृत्वमिति वन्ध्यासूनोर्विक्रमादिगुणसम्पद्वक्तुमुपक्रमते । परिणामो वस्तुलक्षणम् । तथा परो जीवस्य तत्त्वं चैतन्यसुखदुःखादिपरिणामकर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणं चेतनः पुरुषः स्वयं स्वभावतः अकर्त्ता दर्शनात् भोक्तेति विभजते । प्रतिपन्नकार्यकारणात्मनोऽचेतनस्य प्रधानस्य तद्वृत्तिरिति सुख··· । स्वतः प्रवर्तमानस्यैव शरीरोपकारसंभवात् ।] १०

तथा तेनैव प्रकारेण **गुणैः** प्रयत्नाऽदृष्टादिलक्षणैः करणैः कृत्वा **आत्मा कर्त्ता** । किंभूतैः ? **अर्थान्तरैः** ततोऽत्यन्तं विभिन्नैः । किंभूतोऽपि ? इत्याह–**अविकार्यपि** अनाधेयाऽप्रहेयातिशयोऽपि **इत्येवं मतम्**[4] **मिथ्या तथा (तथा) गुणैर्बुद्ध्यादिभिः अर्थान्तरैः आत्मा अविकार्यपि** सुखाद्यनुभवरूपतया गगनवदपरिणतोऽपि **भोक्ता इति मिथ्या** युक्तिविरोधात् । एवं वैशेषिकादेः अन्यत्र जीवाभिमानं प्रदर्श्य सांख्यस्य दर्शयन्नाह– **भोक्ता** इत्यादि । तत्रायमर्थः–**गुणैः** सत्त्वरजस्तमोभिः कारणभूतैः **अर्थान्तरैः** प्रधानाश्रितैः आत्मा पुरुषः **भोक्ता** तदुप[illegible]र्थानाम् अनुभविता अविकार्यपि तत्स[illegible]त्करणपरिणामरहितोऽपि **इति मिथ्या** । नहि तथाऽपरिणतं तथा भवति, विप्रतिषेधात् । सदा तत्स्वभावत्वे[6] जाग्रत्सुप्ताद्यविशेषः । सति दर्शने सतो दृश्यस्य अदर्शनायोगात् । तदाविर्भावतिरोभावकल्पनापि[7] अविकारिणो[8] न युक्ता । एतेन पुरुषान्तरबुद्ध्यर्पिताकारस्य सर्वस्य सर्वैर्दर्शनम् उक्तम् । अदृष्टं न दर्शनस्य नियामकम् एकरूपत्वात्तस्य[9] । नापि दृश्यस्य निःस्वभावतापत्तेः । न च समानदर्शनानां कस्यचिद् दृश्यं यन्न दृश्यं (दृश्यमन्यस्यादृश्यं) दृष्टमिति । तथा 'भोक्तापि सन्नकर्त्ता' इति मिथ्या, भोक्तुः अकर्तृत्वविरोधात्, सकलशक्तिविरहलक्षणत्वाद् अकर्तृत्वस्य[10] । अधुना तयोः[11] साधारणं मिथ्यात्वं दर्शयन्नाह–**व्यापक** इत्यादि । १५ २० २५

---

(१) साधर्म्यमस्ति । (२) प्रमाणं साधकमस्ति । (३) सत्त्वादिभ्यः । (४) आत्मनः । (५) नैयायिकस्य । (६) दर्शनस्वभावत्वे । (७) कदाचिदाविर्भावः कदाचिच्च तिरोभावः । (८) [illegible]दृश्यानित्यस्य पुरुषस्य [illegible] । (९) अदृष्टस्य । (१०) भुजिक्रियायाः कर्तुरेव च भोक्तृत्वात् । (११) नैयायिकसांख्ययोः ।

व्यापक य आत्मनोऽदेशकल्पना निरंशत्वकल्पना मिथ्या तयोः विरोधात् इति निरूपयिष्यते । [२४१क] 'व्यापकादेर्विकल्पन्त(ल्पना)'इति क्वचित् पाठः । अत्र आदिशब्देन निरंशत्वादिपरिग्रहः, सोऽपि मिथ्या एकत्र प्रमाणाभावाद् अन्यत्र देहाऽव्यापकत्वप्रसङ्गात् ।

स्वतः इत्यादिना कारिकार्थमाह–स्वत आत्मना प्रवर्तमानस्यैव पूर्वाकारपरिहाराऽजह-
५ द्वृत्तमुत्तरं परिणामम् अनुभवत एवानेकरूपस्य परोपकारसंभवात् परेषाम् आत्मनो भिन्नानां बुद्ध्यादीनाम् उपकारो जनम् (जननम्) अथवा परैः सहकारिभिः उपकारः अतिशयो वा तत्तस्य (तस्य) संभवात् कारणात् तद्विहाय तत् स्वतः प्रवर्त्तमानं वऽतुमुत्यक्का(वस्तु मुक्त्वा) पुनरविकारिण एव कूटस्थनित्यस्यैव आत्मनो जीवस्य प्रयत्नाऽदृष्टसमवायात् सकाशात् कर्तृत्वं पुनः पश्चात् प्रयत्नाऽदृष्टाकृष्टेष्टपदार्थप्राप्त्यनन्तरं सुखदुःखादिसमवायाद् भोक्तृत्वम् इत्येवं
१० व्यासूनो (वन्ध्यासूनो)र्विक्रमादिगुणसम्पदं वक्तुम् उपक्रमते नैयायिकः । एतदुक्तं भवति–यथा वन्ध्यासुतस्य परोपकाराऽसंभवात् न विक्रमादिगुणसंपत्कीर्त्तनं न्याय्यं तथा अविकारिणः परोपकाराऽसंभवात् प्रयत्नाऽदृष्टयोरभावात् न तत्समवायात् कर्तृत्वं न्याय्यम् , तदभावात् तत्कृतः ? सुखदुःखादिविज्ञानाऽभावात् तत्समवायाद् भोक्तृत्वमपि तादृगेव इति । प्रयत्नाऽदृष्टयोः सहवचनं तयोः कार्यकारणभावाऽभावप्रदर्शनार्थम् । परेण हि प्रयत्नविशेषाद् अदृष्टः, तस्माच्च
१५ प्रयत्नविशेष इति इष्यते । तत्र अविकारिणि एकस्याप्यनुत्पत्तौ द्वितीयाभावस्य सुलभत्वात् । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावाऽभावप्रदर्शनार्थं वा– तेन हि प्रयत्नस्य दृष्टान्तत्वम् अदृष्टस्य दार्ष्टान्तिकत्वम् इष्यते [२४१ख] । तद्यथा–'प्रयत्नसमानधर्मेण हि देवदत्तगुणेन तदुपकारकाः पश्वादयः समाकृष्टाः कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् ग्रासादिवत्' इति ; तत्र प्रयत्नस्य अविकारिगुणत्वनिषेधे कुत एव अदृष्टस्य [10]तद्गुणत्वम् इति ?

२० ननु मा भूद् बन्ध्यासूनोः अत्यन्तमसतो विक्रमादिगुणसम्यग(सम्पद्)व्यावर्णनम् आत्मनस्तु अविकारिणोऽपिसत्त्वात् कर्तृत्वादिव्यावर्णनमुपपन्नमिति चेत् ; अत्राह–वस्तु इत्यादि । वस्तुनो भावस्य लक्षणं स्वभावः । किम् ? इत्याह–परिणामः । [11]तदभावे वस्तुत्वाऽयोगात् । तल्लक्षणं वस्तुनो विहाय पुनः अविकारिण एव वस्तुलक्षणपरिणामरहितस्यैव अवस्तुन एव इत्यर्थः, लक्षणनिवृत्त्या लक्ष्यनिवृत्तेरवश्यंभावात् । शेषं पूर्ववत् ।

२५ एवं नैयायिकमतं निराकृत्य कापिलमतं निराकुर्वन्नाह–तथा इत्यादि । तथा तेन प्रकारेण परः सांख्यः जीवस्य आत्मनः तत्त्वं स्वरूपं चैतन्यसुखदुःखादिपरिणाम कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणं विभजते विलभते । किं गजे व (किं वत्) कथम् ? इत्याह–प्रतिपन्न इत्यादि । प्रतिपन्नः कथञ्चिदभेदेन आत्मसात्कृतः कार्यस्य उत्तरोत्तरस्य महदादेः कारणस्य पूर्वपूर्वस्य आत्म-

(१) व्यापकत्व-निरंशत्वयोः । (२) सर्वगतत्वपक्षे । (३) निरंशत्वे । (४) परकृतस्य उपकारस्य आधानायोगात् । (५) तल्लक्षणकर्तृत्वाभावात् परोपकारः कुतः । (६) आत्मनः । (७) नैयायिकेन । (८) अदृष्टेन । (९) "देवदत्तविशेषगुणप्रेरितभूतकार्याः तदुपगृहीताश्च शरीरादयः कार्यत्वे सति तदुपभोगसाधनत्वात् गृहवदिति ।"–प्रश० किरणा० पृ० १४९ । (१०) अविकार्यात्मगुणत्वम् । (११) परिणामाभावे ।

(आत्मा) स्वभावो येन तस्य । कस्य ? इत्याह–**प्रधानस्य**[1] । किं भूतस्य ? इत्याह **अचेतनस्य** इति । **तस्य** सुखदुःखादि (देः) **वृत्तिः** तत्परिणतिः **इति** । **'प्रतिपन्न'** इत्यादिना प्रधानवद् यदि पुरुषस्यापि प्रतिपन्नकार्यकारणात्मता[2] को दोषः स्याद् येन [3]तस्य अविकारित्वं कल्प्यते ? न च दोषमन्तरेण तत्त्यागः अप्रेक्षाकारितापत्तेः । स्यात् प्रत्यक्षादि वा वा (बाधा) दोषो यदि अविकार्यस्या (र्यत्वमस्य) प्रतीयेते (येत) [२४२क] दर्शयति **'सुख'** इत्यादिना कृतोत्तरत्वम् । ५ कृतोत्तरं ह्येतत्–*"**स्यात्पर्यायः पृथिव्यादेः**" [सिद्धिवि० ४।१४] इत्यादिना ।

ननु स्यादेवं यदि चेतनाः सुखादयः सिद्धाः स्युः, न चैवमिति चेत्; कथं पुरुषः चेतनः ? अभ्युपगमात्, सोऽयम्[4] अन्यस्य सुखादावपि । न चास्य[5] स्वपरसम्बन्धित्वकृतो विशेषः; तद-किञ्चित्करत्वात् । एतेन 'आगमात्' इति चिन्तितम्[6] । यदि पुनः स्वयम् आत्मनो ग्रहणात्[7] स चेतनः; सुखादिरपि स्यात् । नहि तस्यापि पर एव साक्षात्कारी कश्चित् । पुरुष इति चेत्; १० तस्यापि तथा अन्यकल्पने अनवस्थितिः । अपरस्याऽदर्शनम् उभयत्र । अचेतनप्रधानपरिणामत्वात् पृथिव्यादिवद् अस्वग्रहणात्मकाः सुखादयः[9]; प्रत्यक्षेण पक्षबाधनं शब्दाऽश्रावणत्ववत् । कथं वा तत्परिणामाः ते[8] इत्यपि चिन्त्यम् । अनात्मग्रहणात्[10]; अन्योऽन्यसंश्रयः[11] । उत्पत्त्यन्यत्वादेः (उत्पत्तिमत्त्वादेः) घटादिवदचेतनाः सुखादय इत्येके; तत्र (तन्न;) सत्त्वात्[12] तद्वत् पुरुषोऽप्यचेतनः स्यात् । तत्र यथा सत्त्वाऽविशेषेऽपि किञ्चित् चेतनम्, अपरम्[13] [14]अन्यथा, तथा १५ उत्पत्त्याद्य (उत्पत्तिमत्त्वाद्य) विशेषेऽपि स्यात् । अत्र अन्ये हेतोः असिद्धतामुद्भावयन्ति; तन्न; अन्यथाभावस्य उत्पत्त्यादिव्यपदेशात्, तस्य सांख्यैरपि अङ्गीकरणात् अन्यस्य तद्व्यपदेशार्हस्य प्रमाणतः सौगतस्यापि असिद्धेः । ततः सुखादेः चेतनत्ववत् चेतनपरिणामत्वमुक्तमिति मन्यते । **चेतनः पुरुषः स्वयम्** आत्मना **अकर्त्ता** केवलं प्रधानकर्तृत्वारोपाद् उपचारेण कर्त्ता इत्युच्यते इति **'स्वयम्'** इत्यनेन दर्शयति, **स्वभावतः** स्वरूपतः न उपचारतः । **दर्शनाद्** दर्शितविषयस्य २० साक्षात्करणाद् **भोक्ता इत्येवं जीवस्य तत्त्वं विभजते** । एवं मन्यते भोक्तृत्ववत् [२४२ख] कर्तृत्वमपि बुद्धिपूर्वं चेतनस्यैव युक्तं नेतरस्य; अन्यथा[15] तत एव सकलपुरुषार्थसिद्धेः पुरुष-कल्पना कमर्थं पुष्णाति ।

स्वत इत्यादिनैव **'व्यापको देश (कादेश)कल्पना मिथ्या'** इति च व्याख्या-तम् । तथाहि–**स्वत** आत्मना **प्रवर्त्तमानस्यैव** युगपत् सर्वशरीरावयवान् स्वावयवैः व्याप्नुवतः २५ **परस्य शरीरो (शरीरस्य उ)पकारो** धारणादिः तस्य **संभवान्न** निश्र (वात् मिथ्या अ) देशस्य[16] सौगतकल्पिताविभागचित्तवद् इति । एतच्च चूर्णौ लट्वादे ([17]लटादेः) जीवसिद्धौ [18]शास्त्रकृता चिन्तितम् अवधार्यम् । एतदपि कुतः इत्याह–**अवस्तु (वस्तु) लक्षणम्** इत्यादि । **[परिणामः]** सह क्रमेण वा अन्यथाभावो भावलक्षणम् । शेषं पूर्ववत् ।

---

(१) प्रकृतितत्त्वस्य । (२) स्वीक्रियेत । (३) पुरुषस्य । (४) जैनस्य । (५) अभ्युपगमस्य । (६) जैनागमे सुखादेश्चेतनत्ववर्णनात् । (७) पुरुषः । (८) इति चेत् । (९) सुखादयः । (१०) आत्मत्वेना-ग्रहणात् । (११) सति सुखादेः आत्मत्वेनाग्रहणे अचेतनप्रधानपरिणामसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अनात्मग्रहण-सिद्धिरिति । (१२) पृथिव्यादिवत् । (१३) पृथिव्यादि । (१४) अचेतनम् । (१५) बुद्धिमतः प्रधानादेव । (१६) निरंशस्य । (१७) लटपिपीलिकादेः त्रसजीवस्य । (१८) अकलङ्कदेवेन ।

ननु यथा चरमक्षणः अनर्थक्रियाकार्यपि परार्थक्रियाकारिसाम्यात् [सन्] तथा आत्मापि स्यात्; तन्न युक्तं 'तद्विहाय' इत्यादि इति सांख्य-यौगाः; तत्राह–अन्त्य इत्यादि।

[अन्त्यचित्तक्षणवात्मा भावश्चेत् कारको यतः।
स्यादभावस्वतस्तद्वदभावेनाविशेषतः॥१६॥

५ नित्यस्यात्मनः अन्त्यबुद्धिक्षणस्य च स्वयमकिञ्चित्करस्यानर्थक्रियाकारिणः कुतश्चित्कारकादिसाधर्म्याद् वस्तुत्वे पुनः अकारकत्वादेव व्यक्तमवस्तुत्वम् अवस्तुसाधर्म्यात्।]

अन्त (अन्त्य) श्चासौ चित्तक्षणश्च स इव आत्मा पुरुषोऽकारकः कार्यमकुर्वन् भावो वस्तु स्याद् भवेत्। कुतः? कारको यतः, अन्येन कारकेण समानधर्मा यतः। चेत् शब्दः पराभिप्रायद्योतकः। अत्र दूषणमाह–अभावस्वच्छः (अभावस्तुच्छः) स्यात्

१० 'आत्मा' इति सम्बन्धः। ततः [तद्वत्] अन्त्यचित्तक्षणाद् (णवद्) अभावेन नीरूपत्वेन अविशेषतो विशेषाऽभावात्, जैनान् प्रति साध्यसमो दृष्टान्त इति मन्यते।

दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकौ एकेन तलप्रहारेण अपहस्तयन्नाह–नित्य इत्यादि। नित्यस्य अविकारिण आत्मनः अन्त्यबुद्धिक्षणस्य सौगतकल्पितस्य च इति समुच्चये। स्वयं न किञ्चित्करस्य अनर्थक्रियाकारिणः कुतश्चिद् वस्तुत्वे अङ्गीक्रियमाणे। कुतः कुतश्चिद्? इत्याह–

१५ कारकसाधर्म्याद् [२४२क] इति। कारकेण साधर्म्यात् ज्ञेयत्वादिलक्षणाद् आदिशब्देन वस्तुत्वादिपरिग्रहः।

ननु ज्ञेयत्वं स्वविषयज्ञानजनकत्वम्, अतः तेन[1] चेत् तस्यास्ति; 'स्वयम् अकिञ्चित्करस्य' इति विरुध्यते। वस्तुत्वादिसाधर्म्याच्च वस्तुत्वसाधने तदेव साधनं साध्यं च प्रसक्तम्। तत्र ज्ञेयत्वादिभावे व (च) यद्वक्ष्यति–'अवस्तुसाधर्म्यात्' इति; तदपि न सङ्गतम्, खरशृङ्गा-

२० दिना साधर्म्याभावादिति चेत्; न; अन्यथाऽभिप्रायात्। तद्यथा, यथाहि–परेण[2] अन्त्यचित्तक्षणस्य आत्मनो वा स्वयमकिञ्चित्करस्यापि वस्तुत्वं साध्यते कारि(र)काभिमतवत् केनचिद् उभयत्र विद्यमानेन धर्मेण, तदा हेतोरस्य असिद्धतोद्भावनार्थमाह–पुनः इत्यादि। पुनः अस्य प्रयोगस्य अनन्तरम् अकारण (क) त्वादेव कारकसाधर्म्याऽभावादेव न हेत्वन्तरात् इति एवकारार्थः। न हि स्वयमकिञ्चित्करस्य केनापि धर्मेण कारकसादृश्यं सदपि ज्ञातुं शक्यम्, तद्धर्म-

२५ ज्ञानोपायाऽसंभवात्। ततः किम्? इत्याह–व्यक्तं यथा भवति तथा अवस्तुत्वम् वस्तुत्वसाधनाभावः प्रकृतस्य[3] इति। इदं तु निश्चितं स्याद् इत्याह–अवस्तु इत्यादि। अवस्तुना खरविषाणेन साधर्म्याद् अकिञ्चित्करत्वसादृश्यात् व्यक्तमवस्तुत्वं निःस्वभावत्वम्। यदा परोऽकिञ्चित्करस्यास्य[4] वस्तुत्वसाधने कल्पितं कारकसाधर्म्यमिच्छति तदा अकारकत्वादेव इत्यादि प्रतिप्रमाणमुच्यते।

३० अन्त्यचित्तक्षणस्य अकिञ्चित्करस्य अवस्तुसाधर्म्यादि (द) वस्तुत्वे साध्ये अकारकत्वादेव इत्यस्य हेतोः परोपगतेन न्यायेन साध्याव्यभिचारं दर्शयन्नाह–सत्ताम् इत्यादि।

(१) ज्ञेयत्वं। (२) नैयायिक-जैनाभ्युपगतेन। (३) आत्मनः। (४) अन्त्यचित्तक्षणस्य।

[सत्तां व्याप्नोति चेत्कार्यसत्तैवार्थक्रिया स्वयम् ।
क्रमाक्रमाभ्यां कूटस्थात् स्वनिवृत्तौ निवर्तयेत् ॥१८॥

तत्सत्ताव्यतिरेकेण नार्थक्रियां प्रेक्षामहे । सा पुनः क्रमयौगपद्याभ्यां वस्तुसत्तां व्याप्नुया॰ अन्त्यचित्तक्षणात् नित्याद्वा स्वयं व्यावर्तमाना तत्सत्तां निवर्तयेत् । अव्यापक-व्यावृत्तौ व्यावृत्त्यनियमात् । सा च···कथमव्यभिचारी सत्त्वादिहेतुः यतः क्षणिकमेव परमार्थस॰ सिध्येत् ।] ५

सत्तां विद्यमानतां [२४३ख] **व्याप्नोति चेत्** यदि । किम्? इत्याह–**अर्थक्रिया स्वयम्** आत्मना । काऽसौ अर्थक्रिया ? इत्याह–**कार्यसत्तैव** तत्का(तत्क)रणसामर्थ्यम् , अस्य निरूप-यिष्यमाणत्वात् । साऽपि अर्थक्रिया **क्रमाक्रमाभ्यां** व्याप्ता, '**चेद्**' इत्यनुवर्तते, '**व्याप्नोति**' इत्यस्य कृतप्र(त्प्र)त्ययपरिणामस्य[1] अत्र सम्बन्धः । **कूटस्थाद्** अचलात् नित्यात् **स्वनिवृत्तौ** १० **सत्तां निवर्त्तयेद् अर्थक्रिया चेत्** । अथवा 'क्रमाऽक्रमौ स्वनिवृत्तौ निवर्त्तयतः' इति वचन-परिणामेन[2] सम्बन्धः 'अर्थक्रियाम्' इति तां (इप्[3])विभक्तिपरिणामेन[4] । नहि अन्त्यचित्तक्षणस्य अकारकत्वादेव '**अवस्तुसाधर्म्याद् व्यक्तमवस्तुत्वम्**' इति घटना ।

ननु अन्त्यचित्तक्षणो यद्यपि सजातीयं कार्यं न करोति, न चापि (तथापि) विजातीयस्य विषयविज्ञानादेः करणात् नाऽसिद्धो मदीयो हेतुः, भवदीय एव अकारकत्वादेव इत्यसिद्ध इति १५ चेत् ; एतच्चोद्यपरिहारपुरस्सरं न परमातरी (?)[5] इति गम्यते । **तस्य सत्ता** स्वोत्तरपरिणाम-सद्भावः तस्या **व्यतिरेकः** अभावः तेन त्ताम (स्वसत्ताम)न्तरेण इत्यर्थः । **नार्थक्रियां** विजा-तीयकरणं **प्रेक्षामहे** अपि तु तया[6] सहैव प्रेक्षामहे । एवं मन्यते यथा शिंशपायाः क्वचिद्[7] वृक्ष-स्वभावतामुपलभ्य देशान्तरादावपि तत्स्वभावता, अन्यथा निःस्वभावतापत्तेः, व्यवस्थाप्यते, तथा तत एव भावस्य बहुलं सजातीयेतरकार्यजननसामर्थ्यस्वभावता(ता)दर्शनात् सर्वदा सा[8] २० किन्न व्यवस्थाप्यते विशेषाभावात् ? इतरथा सर्वानुमानोच्छेदः ।

ननु भवतु तत्स्वभावता, तथापि सजातीयं न करिष्यति इति चेत् ; विरुद्धमेतत् [२४४क] 'समर्थं न करोति च' इति नित्यवत् । उपादानवच्च उपादेयस्याऽपि अदृश्यताविरोधात् । अथ कार्यत्तया (अथ न कार्यसत्तया) भावसत्ता[9] व्याप्ता ततो विजातीयकार्यासद्भावेऽपि सा न विरुध्यते । कुत एतत् ? तथादर्शनात्, तदितरत्र समानम् । यदि बन्धः (यदि पुनरयं निर्बन्धः) सजातीया- २५ करणेऽपि विजातीयकरणम् इति; तथा विजातीयाऽकरणेऽपि सजातीयकरणशङ्कया भाव्यमिति न निरारेका सुगतस्य इतरस्य वा सर्वज्ञता[10] नाम ? कथञ्चैवंवादिनां सामग्री जनिका ? यतः *"एकसामग्र्यधीनस्य" [प्र०वा० ३।१८] इत्यादि सुघटं स्यात्[11] । तस्माद् विजातीयवत् सजातीयस्यापि करणमस्तु इति ।

(१) व्याप्नोति इति क्रिया कृदन्तप्रत्ययान्ता 'व्याप्ता' इति रूपं प्राप्ता अत्र सम्बध्यते । (२) द्विवचन । (३) 'ता' इति षष्ठीविभक्तेः संज्ञा । (४) अत्र तु 'अर्थक्रियाम्' इति द्वितीयान्तं सम्बध्यते । (५) अत्र पाठः त्रुटितः । (६) सत्तया । (७) पुरःस्थिते । (८) सजातीयेतरकरणस्वभावता । (९) भाव-सत्ता । (१०) सर्वेऽर्थाः सजातीयमेव उत्तरक्षणं कुर्वन्तु न सर्वज्ञचित्तं विजातीयमिति भावः । (११) तत्र हि सजातीयमुत्तरक्षणं जनयित्वैव विजातीयं क्षणं प्रति सहकारिभावकल्पनेनैव निर्वाहः ।

भवतु एवं ततः किम् ? इत्यत्राह–**सा अनन्तरोक्ता पुनः अर्थक्रिया** वस्तुसत्तां **चेद् व्याप्नुयात्** । केन प्रकारेण सा ? इत्यत्राह–**क्रमयौगपद्याभ्याम्** इति । ततः किम् ? इत्याह–**व्यावर्त्तमाना** अर्थक्रिया **अन्त्यचित्तक्षणात् नित्याद्वा तयोः सत्तां** निवर्त्तयेत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**स्वयम्** आत्मना, **अव्यापकस्य व्यावृत्तौ** सत्यां **व्यावृत्तेः अनियमाद्** अवश्यंभावाऽ-
५ भावाद् 'अव्याप्यस्य' इति शेषः ।

स्यान्मतम्–व्यावर्त्ततामन्त्यचित्तक्षणाद् अर्थक्रिया तथापि सत्ता न निवर्त्तते अप्रतिबन्धान्[1] इति चेत्; अत्राह–**सा च** इत्यादि । **कथम् अव्यभिचारी** न कथञ्चित् **हेतुः सत्त्वादिः** अनर्थक्रियाकारिणि नित्येऽपि तद्भावाऽनिवारणादिति मन्यते । **यतः** व्यभिचारित्वात् **क्षणिकमेव परयार्थसत् सिध्येत्** ।

१० ननु न कार्यसत्तया वस्तुसत्ता व्याप्ता यतः तन्निवृत्तौ[2] साऽपि निवर्त्तेत अपि तु तज्जननसामर्थ्येन, तच्च[3] सहकारि [२४४]वैकल्यात्[4] चरमक्षणस्य अस्ति इति नाऽसत्त्वमिति चेत्; अत्राह–**सामग्री** इत्यादि ।

[सामग्री कारणं नैकं शक्तानां शक्तिमान् यदि ।
सामग्रीं प्राप्य नित्योऽर्थः करोत्येवं न किं पुनः ॥१९॥

१५ **नार्थक्रिया निवर्तमाना वस्तुसत्तां निवर्तयति, तत्सामर्थ्यं पुनरन्त्यक्षणस्यास्ति, न करोति सामग्रीवैकल्यात् । समर्थसादृश्यादित्ययुक्तम्; नित्यस्यापि सर्वदा सामर्थ्येऽपि सामग्रीसाकल्यवैकल्याभ्यां कार्यकरणाकरणप्रसङ्गात् । विशेषतः पुनः नित्योऽर्थः संभवसामग्रीसन्निधिः करोत्यपि न पुनरन्त्यक्षणः सर्वथाऽभावात् । सहकारिसन्निधौ च स्वतः कथञ्चित्प्रवृत्तिरेव भावलक्षणम् । तत्रागमो युक्तिबाधने समर्थम् व्याप्तेरसिद्धेः ।]**

२० **शक्तानां** गुणकार्योत्पत्तिं प्रति समर्थानां सहकारि-उपादानहेतूनां या **सामग्री** समग्रता मेव (सैव) **कारणं** कार्यजनिका इत्यर्थः, **न** तेषां मध्ये **एकां (एकं)** कारणम्[5] इति । चरमश्च क्षण[6] एक इति परो मन्यते । तदभिप्रायद्योतनो **यदिशब्दः** । अस्य उत्तरं पठति–**शक्तिमान्** इत्यादि । **शक्तिमान्** सदा समर्थः **सामग्रीं प्राप्य नित्योऽर्थः** आत्मा अन्यो वा **करोति एवं न [किं] पुनः** । एतदुक्तं भवति–यथा क्षणिकं वस्तु चरमदशायां समर्थमपि
२५ सामग्रीविकल्पात् (वैकल्यात्) कार्याणि न सम्पादयति अन्यदा[7] तु विपर्ययात् संपादयति तथा अक्षणमपि (अक्षणिकमपि) सर्वदा समर्थमपि सामग्रीवेलायां करोति नान्यदा इति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**नार्थक्रिया** इत्यादि । **न अर्थक्रिया** कार्यसत्ता **निवर्त्तमाना वस्तुसत्तां निवर्त्तयति** तस्याः[8] तेनव्याप्तेः (तयाऽव्याप्तेः) इति भावः । **तत्सामर्थ्यम् पुनः** इति सौष्ठवे **अन्त्यक्षणस्य अस्ति** । कार्यं कस्मान्न **करोति** इति चेत् ? आह–**सामग्रीवैकल्या**त्

(१) अर्थक्रियासत्तयोरविनाभावाभावात् । (२) कार्यनिवृत्तौ । (३) वस्तुसत्तापि । (४) तज्जननसामर्थ्यम् । (५) कार्याकरणेऽपि । (६) कार्यजनकम् । (७) उपान्त्यक्षणादौ । (८) अर्थक्रियायाः । (९) वस्तुसत्तया ।

सहकारिप्रत्ययवैधुर्यात् । कार्याकरणेऽपि 'अस्ति' इति कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? आह–**समर्थम्** इत्यादि । येन कार्यं कृतं तद् इह समर्थं गृह्यते, अन्यस्य साध्यसमत्वात्, तेन **तत्सादृश्यात्** कस्यचिद् आकारस्य उभयत्र सद्भावात् । विवेचयन्ति हि लौकिकाः कृतमरणकार्येण सादृश्याद् विशेषेणा (विषेण अ)परमपि[1] तत्समर्थमिति । तत्रोत्तरमाह–**इत्ययुक्तम्** । कुतः ? इत्याह–**नित्यस्यापि** न केवलं क्षणिकस्य **सामग्रीसाकल्या (साकल्यवैकल्या) भ्यां कार्यकरणाऽकरणप्रसङ्गात्** । [२४५क] कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–**सामर्थ्येऽपि** । कदा ? इत्याह–**सर्वदा** इति । चरमक्षणादस्य विशेषमपि दर्शयति–**विशेषत** इत्यादिना । **विशेषः (विशेषतः)** तत्क्षणाद् अतिशयेन, **पुनः** इति अतिशयभावनायाम् **नित्योऽर्थः करोति अपि**, न केवलं न करोति । किंभूतः ? इत्याह–**संभवात्(संभव)सामग्रीसन्निधिः** । **संभवात् (वा) सामग्रीसन्निधिः** अ[स्ये] ति सं वछेनैतच्छब्देन (**संभवसामग्रीसन्निधिः** इति शब्देन) एतद्दर्शयति । यद्यपि सहकारिणा तस्य न किञ्चित् क्रियते, तथाप्यसौ तस्य संभवति सहभूय कार्यकरणात् क्षणिकपक्षवदिति ।

ननु तथा अन्त्यक्षणोऽपि करोति इति न तस्मादस्य[2] विशेष इति चेत; अत्राह–**न पुनः** नैव **अन्त्यक्षणः** करोति '**अपि**' इति सम्बन्धः । कुतः ? इत्याह–**सर्वथा** सामस्त्यप्रकारेण न पुनः कार्यकाले **[अ] भावात्** । न च असन् कार्यजन्मनि व्याप्रियते, इतरथा चिरमृतादपि साक्षात् शरीरे व्रणादिप्रसव इत्याशङ्कायां चित्तक्षणसन्तानात्मनापि न सात्मकत्वं जीवच्छरीरे स्यात् । यदि पुनः [स्व] काले सत् कार्यकृदिष्यते; तदपि न सुन्दरम्; यतः पूर्वं तत्समर्थेऽपि पश्चात् कार्यभावे न नित्यार्थनिषेधः[3], तथा ग्राह्यग्राहकभावस्यापि अनिवारणात् । तदने[न] तस्य परत्रापि न व्यापार इति तदपि गतम् यत् पिञ्जने लग्नम् इति परस्य दर्शितं भवति ।

ननु चरमः अन्यो वा क्षणस्थायी भावः कार्यं कुर्वन् उपलभ्यते, न पुनः नित्योऽर्थः तत्कथं तस्मादस्य[4] विशेष इति चेत् ? अत्राह–**सहकारिण** इत्यादि । विसदृशकार्यजन्मनि यः स[ह]कारी तस्य संन्निवाव[5] **सन्निधौ च स्वतः** स्वरूपेण **कथञ्चित्** न सर्वात्मना **प्रवृत्तिरेव** उत्तराकारेण गमनमेव **भावलक्षणं** [२४५ख] वस्तुरूपं '**तथैव दर्शनात्**' इति मन्यते । तदेवम् अन्त्यचित्तक्षणस्य अवस्तुत्वे साधिते साधूक्तम्–'**अन्त्यचित्तक्षणो वात्मा**' इत्यादि ।

स्यान्मतम्[6]– *"**अकर्त्ता निर्गुणः शुद्धो भोक्ता सन्नात्मागमे**" यथा ते तस्यैव निषेधे शास्त्रविरोधः, न च शास्त्रमनेन न्यायेन वाध्याते (बाध्यते) भिन्नविषयत्वात् । तदुक्तम्–

---

(१) विषम् । (२) नित्यस्य । (३) तत्रापि पूर्वं सामर्थ्येऽपि यथासहकारिसन्निपातं कार्योत्पादात् । (४) नित्यस्य । (५) 'सन्निवाव' इति व्यर्थमत्र । (६) उद्धृतोऽयम्–"अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥" –स्या० म० पृ० १८५। षड्द० बृह० पृ० ४१ । "अकर्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा सांख्यनि[द]र्शने ।"–सूत्रकृ० टी० पृ० २१ । "अकर्ता निर्गुणः शुद्धः" –न्यायकुमु० पृ० ११२ । षड्० उ० पृ० २५० । "अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अमूर्तश्चेतनो भोक्ता आत्मा [illegible] ॥"–आत्मानुशा० टि० श्लो० १३७। तुलना–"तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥"–सांख्यका० १९ ।

*"अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यान्त्या(द्यान् पश्यन्त्या)र्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वच (वचनं तेषां) नानुमानेन बाध्यते ॥"

[वाक्यप० १।३८] इति ।

तत्राह–तन्न इत्यादि । तद्वस्तुभूतापरिणाम्यात्मप्रतिपादकशास्त्रम् आगमः न युक्तेः
५ अनन्तरोक्तायाः बाधने निराकरणे समर्थम् अपि तु सैव तद्बाधने समर्था, अतीन्द्रियेऽपि तस्याः [अ]प्रतिहतप्रसरत्वात् । व्याप्तेरसिद्धेः कथमन्यथा अनुमानप्रवृत्तिरिति मन्यते । यदि वा, तथाविवा(धा)त्मप्रतिपत्तिं विदव(ध)च्छास्त्रं तद्बाधने समर्थं न सत्तामात्रेण अतिप्रसङ्गात् । तत्प्रतिपत्तिश्च न प्रधाने अचेतने घटादिवत् करोति । नापि पुंसि तद्विकारशून्ये परोक्षे च सा सत्यपि कमर्थं पुष्णाति ? स्वसंविदिते पुनः प्रतिप्राणि सर्वषाम् आत्मना(नां) स्वसंवेदनाध्यक्ष-
१० सिद्धत्वात् किं शास्त्रं करिष्यति ? न चाऽविकारिणि भ्रान्तिः, यां तेन अपनीयते ।

एतेन पुरुषाद्वैतनिषेधेऽपि न शास्त्रं तद्बाधनसमर्थमिति निरूपितम् । ततः स्थितम्–'तन्न' इत्यादि ।

ननु यदि कथञ्चित् प्रवृत्तिरेवं भावलक्षणम् सा प्रधाने अस्ति इति तद्वस्तु, ततो नेतरवत् साङ्ख्यः एकान्तेन दूषितः स्यात् , तत्र च भेदानां परिमाणादेः साधनस्य भावात् न तदभा-
१५ वाशङ्कापि युक्तेति चेत् ; अत्राह–'अस्ति प्रधानम् इत्यत्र' इत्यादि । [२४६क]

[अस्ति प्रधानमित्यत्र भेदानामन्वयादयः ।
अन्यथैवोपपद्येरन् एकान्ते भावधर्मवत् ॥२०॥

भेदानामेककारणपूर्वकत्वे साध्ये वैश्वरूप्यकारणभावात् विरुद्धा एव नित्यादिवत्, विश्वरूपादिकारणानां परिणाम एव संभवात् । स्वयमेकस्यात्मनः पुनरेकस्वभावस्य
२० **विश्वरूपाद्यनभ्युपगमात् । सामान्यविशेषात्मनां विकाराणां स्वभावानुरूपोत्पत्त्यविप्रति-षेधात् । न वै कारणसामान्यवचनेऽपि चिच्छक्तेः सहकारिकारणम् अपरिणामित्वात् । नन्वेवं सति शेषो भावः प्रसज्येत ।]**

अस्ति प्रधानमित्यत्र साध्ये **भेदानां** महदादीनाम् **अन्वयः** अनुगमनम् **आदिः** येषां परिमाणादीनां ते अन्वयादयः परेण उच्यमाना हेतवः । कथम्भूताः ? इत्याह–**अन्यथा**
२५ साध्याभावप्रकारेणैव उपपद्येरन् मनागपि तद्भावप्रकारेण नोपपद्येरन् ततो नाऽनैकान्तिकाः किन्तु विरुद्धा एव इत्येवकारार्थः । अत्र दृष्टान्तमाह–**एकान्ते** नित्यक्षणिकैकान्ते साध्ये **भावधर्मवत्** भावः सत्त्वम्, उपलक्षणमेतत् , तेन कृतकत्वादिपरिग्रहः, स एव धर्मः पराश्रितत्वात् तेन तुल्यं वर्तते इति तद्वत् । स्वयम् 'अस्ति सर्वज्ञः' इति धर्मिणः सत्ताप्रसाधनात् तत्साधनदोषो नोद्भावितः स्वमतसिद्ध्यनुकूलत्वादि [ति] विरुद्धतैव आविष्कृता ।

(१) 'उक्तं च भर्तृहरिणा'–सन्मति० टी० पृ० ७५२। (२) युक्तिः । (३) युक्तेः । (४) प्रतिपत्तिः । (५) भ्रान्तिः । (६) युक्तिबाधन । (७) उत्तरपर्यायप्रवृत्तिः । (८) "भेदानां [illegible] समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च । [illegible]॥"–सांख्यका० १५ । (९) साधनाभावाशङ्का । (१०) साङ्ख्येन ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**एककारणपूर्वकत्वे** इत्यादि । **एकम्** अद्वितीयं यत् **कारणं** प्रधानाख्यं **तत्पूर्वकत्वे** तन्निमित्तत्वे **साध्ये** । केषाम् ? **भेदानां** महदादीनाम् ।

ननु कारिकायाम् **'अस्ति प्रधानम्'** इति अन्यत् साध्यं निर्दिष्टम्, वृत्तौ तु **'भेदानाम् एककारणपूर्वकत्वम्'** अन्यदिति कथं वृत्तिसूत्रयोः साङ्गत्यम् ? सूत्रानुरूपया च वृत्त्या भवितव्यमिति चेत्; अत्र केचित्[1] परिहारमाहुः–प्रधानधर्मिणः[2] सत्तासाधने भावाऽभावोभयधर्माणाम् ५ असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिकमिति दोषदर्शनात्[3], एवं साध्यान्तरकरणेऽपि विरुद्धतादोष इति प्रतिपादनार्थमेवं वचनमिति; तैः **'एककारणपूर्वकत्वे'** इत्यत्र अपिशब्दो द्रष्टव्यः, न केवलम् **'अस्ति प्रधानम्'** इत्यत्र अपि तु **तत्पूर्वकत्वेऽपि विरुद्धा एव** इति अर्थप्रतिपत्तिर्यथा स्यादिति तथा सूत्रेऽपि **'अस्ति प्रधानम्'** इत्येतद् [२४६ख] उपलक्षणत्वेन व्याख्येयम्, कथमन्यथा तदसाङ्गत्यपरिहारः ? १०

इदमपरं व्याख्यानम्–**'एककारणम्'** इति प्रधानस्य अपरमत्व(त्वा)र्थकमभिधानम्[4], तच्च तत् महदादिभ्यः पूर्वं भावात् **पूर्वकं** चेति तस्य भावे **तत्त्वे** साध्ये इति । पूर्वव्याख्याने **'भेदानाम्'** इत्येतत् पूर्ववद् उत्तरत्रापि सम्बध्यते । अस्मिन् उत्तरत्रैव भेदानां महदादीनां **वैश्वरूप्यकारणभावात्** ननु **विरुद्धा एव** इति । निदर्शनमाह–**नित्यादि** । कुतः ? इत्याह–**परिणाम एव संभवाद्** इति । स्वगुणपर्यायैर्न परगुणपर्यायैः भावः **परिणामः** **तत्रैव संभवात्** १५ वैश्वरूप्यकार्यकारणत्व पादी (त्वादी)नाम् इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–**विश्वरूपादिकारणानाम्** इति । रूपम् आदि रसादेः असौ रूपादिः, विश्वो निरवशेषो पादः (रूपादिः) [न] नैयायिकमतवद् विकलो[5] रूपादिर्येषां पुद्गलद्रव्याभिमतकारणानाम् *"रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः पुद्गलाः" [त० सू० ५।२३] इति वचनात्[6], तेषां विश्वरूपादिकारणानां **'परिणाम एव संभवात्'** इत्यनुवर्त्तते । एतदुक्तं भवति– २०

***"प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडशकः ।**
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥"

[सांख्यका० २२]

इति वचनात् यथा भूतानि रूपादिमन्ति तथा तत्कारणानि पञ्च तन्मात्राभिमतानि[7], एवं तावद्वक्तव्यम्–यावत् प्रकृतिः[8], विजातीयात् कार्यानुत्पत्तेः इति । **'कारणानाम्'** इत्यनेन २५ प्रधानस्य पुद्गलापरनाम्नो विशेषापेक्षया[9] बहुत्वं दर्शयति । तदपि कुतः एतत् ? इत्यत्राह–**स्वयमे-**

---

(१) व्याख्याकाराः । (२) प्रधानात्मकधर्मिणः । (३) भावसाधने असिद्धः, अभावे विरुद्धः उभयधर्मे च अनैकान्तिकः । "नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः । धर्मो विरुद्धोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ॥"–प्र० वा० ३।१९० । (४) न विद्यते परमं द्वितीयं यस्य तस्य भावस्तत्त्वम् अपरमत्वम्, तद् अर्थो यस्येति अपरमत्वार्थकम्, एकमेव प्रधानं न द्वितीयमित्यर्थः । (५) यथा नैयायिकमते अग्नौ रसगन्धौ जले गन्धः वायौ च रूपरसगन्धा न स्वीक्रियन्ते न तथा अत्र विकलत्वम् । (६) "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः"–त० सू० । (७) रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः तन्मात्राः । (८) मूलकारणभूता । (९) कार्यापेक्षया ।

कस्य इत्यादि । **स्वयं** सांख्येन **विश्वं** [२४७ क] संपूर्णं **रूपादि** यस्य पृथिव्यादिकार्यस्य तत् तथोक्तं तस्य **अनभ्युपगमात्** । कस्य सम्बन्धिनः ? इत्याह–**आत्मनः** पुरुषस्य । **पुनः** इति पक्षान्तरद्योतने । किम्भूतस्य ? इत्याह–**एकस्वभावस्य** । **एकः** चेतनालक्षणो न रूपादिलक्षणः **स्वभावो** यस्य तस्य इति । एवं मन्यते–यथा पुरुषस्य रूपादिरहितस्य न रूपादिमत्कार्यं तथा

५ अन्यस्या पातरवा (पि, इतरथा) पुरुषस्यैव तदिति किं तत्त्वान्तरकल्पनयेति । पुनरपि किंभूतस्य ? इत्यत्राह– **एकस्य** [एक] संख्योपेतस्य । इदमत्र तात्पर्यम्–यथा तस्य[3] देशकालस्वभावभिन्नम् अनेकं रूपादिमद् उपादेयमयुक्तं तथा एकस्य प्रधानस्य इति । इतश्च विश्वरूपादिकरणानां तत्रैव संभव इति दर्शयन्नाह–**विकाराणाम्** इत्यादि । **विकाराणां** विशिष्टकार्याणां न अविकारस्य प्रधानस्य । किंभूतानाम् ? **सामान्यविशेषात्मनाम्** इति । किं तेषाम् ? इत्याह–**स्वभाव** इत्यादि ।

१० तेषां विकाराणां यः **स्वो भावः** स्वरूपं **तदनुरूपस्य** विकारान्तरस्य **उत्पत्तिः** या तस्याः **अविप्रतिषेधात्** कारणात् तत्रैव [6]तेषां संभवात् इति सम्बन्धः । तत्र युक्तम्–

*"**मूलप्रकृतिरविकृतिः**" [सांख्यका० २२] इत्यादि ।

ननु मूलकारणाभावे कुतः तद्विकारा इति चेन ? अन्येभ्यो विकारेभ्यः तेऽपि अन्येभ्यः इति अनादि § विप्रतिषेधात् कारणात् तत्रैव तेषां संभवादिति सम्बन्ध विषयं § तत्परम्परा इति

१५ न[8] सांख्यं प्रतिपत्ति (प्रति यन्नि-) दर्शनमुक्तम्–नित्यक्षणिकैकान्त(न्ते) सत्को (सत्त्वो)त्पत्त्यादि-[रि] ति; तन्न युक्तम्, तस्य तदसिद्धेः । स हि सत्त्वादेः नित्यैकान्ते साध्ये नित्यपुरुषवत् परिणामिनि महदादौ सत्त्वस्य [२४७ख] भावाद् व्यभिचारमिच्छति, कृतकत्वादेः तत्र भावेऽपि प्रकृतिपुरुषयोरभावाद् भागासिद्धत्वम् । क्षणिकत्वे पुनः सर्वस्य [क्षणिकत्वे] साध्ये नित्ये पुरुषे सत्त्वस्य भावात् तदेव व्यभिचारित्वम्, कृतकत्वादे[ः] तथैव भागासिद्धत्वं न विरुद्धत्वम् । अथ प्रधान-

२० स्यैव तदुभयं साध्यते; भवेत् कृतकत्वादेर्विरुद्धत्वं परिणामिन्येव प्रधानादौ भावात्, न सत्त्वस्य नित्येऽपि पुरुषे तस्य भावात् ।

अथ पुरुषोऽपि परिणामी इति नैते दोषाः, तत्राह–**न वै** इत्यादि । **न वै** नैव **कारणसामान्यवचनेऽपि** परिणामिकारणम् इह गृह्यते । कुतः ? "**चिच्छक्तेः** (क्तिः)" [योगभा० १।२] इति वचनात् । नहि आत्मा **चिच्छक्तेः सहकारिकारणम्**; तस्याः [10]ततोऽव्यतिरेकात् ।

२५ ततोऽयमर्थः–नैव परिणामिकारणम् आत्मा चिच्छक्तेः चेतनारूपसामर्थ्यस्य । कुतः ? इत्याह–**अपरिणामि[त्वात्**, परिणाम] रहितत्वाद् 'आत्मनः' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । तन्न नित्यक्षणिकैकान्ते साध्ये सत्त्वादिर्विरुद्धः अपि तु यथोक्त इति कापिलो मन्यते । एतदाचार्यः परिहरन्नाह–**नन्वेवम्** इत्यादि । **ननु** इति भावनायाम्, **एवम्** उक्तप्रकारेण **सति** **तदकारणत्वे**

(१) सर्वं कार्यं महदादिरूपम् । (२) प्रधानाख्य । (३) पुरुषस्य । (४) कार्यम् । (५) विकाराणाम् । (६) "...महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः ॥" इति शेषः । (७) § एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः । (८) 'न' इति निरर्थकमत्र । (९) "चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्वगुणात्मिका चेयम् ।"–योगभा० । (१०) आत्मनः ।

इति शेषो भावः प्रसज्येत 'आत्मनः' इति सम्बन्धः । न चैवम् , अतः तस्य सत्त्वमिच्छता परिणामित्व मभ्युपगन्तव्यमिति कथं निदर्शनाऽसिद्धिरिति भावः ।

भवतु तर्हि तच्छक्तेः कारणम् आत्मेति चेत् ; अत्राह– ['बुद्ध्य' इत्यादि]

[बुद्ध्यध्यवसिते चिच्छक्तिः पुंसः स्वत एव चेत् ।
ज्ञानादयः कथन्न स्युश्चेतनस्यैव वृत्तयः ॥२१॥ ५

चेतनस्य वैश्वरूप्यादेः परिणामः सिद्धः, सुखादिव्यतिरेकेण चैतन्यवृत्तेरनुपलब्धेः। ततः दर्शनशक्तिः कार्यनिरपेक्षा बुद्ध्यध्यवसायवत् यतः बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते । उभययोः वैश्वरूप्यादेः संभवात् कुतः अपरिणामिनी चिच्छक्तिः बुद्धिविवर्तमनुविधत्ते ?]

बुद्ध्यध्यवसिते 'इन्द्रियाणि अर्थम् आलोचयन्ति' इत्यादिकया प्रणालिकया गृहीताकारवस्तूनि (वस्तुनि) **पुंसः चिच्छक्तिः** तद्दर्शनसामर्थ्यं **स्वत एव** न परतः **'वृत्तयः'** इत्यनेन [२४८क] लब्धैकवचनपरिणामेन सम्बन्धाद् वृत्तिः परिणामः, तथा **'स्युः'** इत्यनेनापि जातैकवचन[परिणामेन] सम्बन्धात् 'स्यात्' इति भवति । **चेद्** इति पराभिप्रायद्योतने । अत्र दूषणमाह–**ज्ञानादय** इत्यादि । **ज्ञानम् आदिर्येषां** सुखादीनां ते तथोक्ताः **कथं न स्युः** स्युरेव **चेतनस्यैव** पुरुषस्यैव **वृत्तयः** परिणामाः । एवं मन्यन्ते यथा ज्ञानादिभेदानां वैश्वरूप्यादयो नैककारणपूर्वका इतरथा शरीरादिवत् पुरुषाणामपि परिणामिनां किञ्चिद् अपरमेकं कारणं स्यात् इति व (न) सांख्यदर्शनम् तथा घटादिभेदानामपि इति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–चेतनस्य इत्यादि । **चेतनस्य परिणामः सिद्धः** । कुतः ? इत्याह–**वैश्वरूप्यादेः** सकाशाद् **आदि**शब्देन कार्यकारणभावादिपरिग्रहः । एतदपि कुतः ? इत्याह–**सुखादिव्यतिरेकेण चैतन्यवृत्तेः** चैतन्यपरिणामस्य **अनुपलब्धेः**, सुखाद्यात्मकत्वेन तत्तद्वृत्तेः (तद्वृत्तेः) उपलब्धेश्च इति भावः । प्रकृतमुपसंहरन्नाह–**ततः** अनन्तरात् न्यायात् **न दर्शनशक्ते (क्तिः)** भूतान (किंभूता ?) इत्याह–**कार्य** इत्यादि । **कार्य**शब्दोऽयं भावप्रधानः **कार्यत्वनिरपेक्ष्या (क्षा)** कार्यभूतैव इत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तमाह–**बुद्ध्यध्यवसायवद्** इति । **बुद्धेः** अध्यवसायः स्वपरनिर्णयः स इव तद्वत् । यथा तदध्यवसायो न कार्यत्वनिरपेक्षः तथा तच्छक्तिरपि, **यतः** तच्छक्तेः कार्यत्वनिरपेक्षत्वाद् *"**बुद्ध्यध्यवसितमर्थ (र्थं पुरुषः)** नित्यः पुमान् , **चेतयति (ते)**" पश्यति । **यत** इति वा आक्षेपे, तदभावात् नैव चेतयते। तन्न युक्तम्–*"**न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः**" [सांख्यका० २२] इति ।

(१) आत्मनः । (२) इन्द्रियाणि अर्थमालोचयन्ति बुद्धिरवधारयति मनः संकल्पते आत्मा चेतयते इति । "एवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा–चक्षू रूपं पश्यति मनः संकल्पयति अहङ्कारोऽभिमानयति बुद्धिरध्यवस्यति ।"–सांख्यका० माठर० पृ० ४० । (३) चैतन्यवृत्तेः । (४) उद्धृतमिदम्–त० श्लो० पृ० ५० । आप्तप० पृ० १६४ । प्रमेयक० पृ० १०० । न्यायकुमु० पृ० १९० । न्यायवि०वि० प्र० पृ० २३५ । स्या० रत्ना० पृ० २३३। (५) कारणम् । (६) कार्यम् ।

ननु यदि नाम बुद्ध्यध्यवसायः कार्यत्वनिरपेक्षे (क्षो) नास्ति तच्छक्तेः किमायातं येन सोपि तस्य ? [२४८ख] नहि एकस्य धर्मो ... अन्यस्य इति चेत्; अत्राह–वैश्व इत्यादि। **वैश्वरूप्यादेः संभवात्** उक्तनीत्येति मन्यते । कस्य सम्बन्धिनः ? इत्याह–**उभययोः** चैतन्य-शक्ति-बुद्ध्यध्यवसाययोः भेदानामपि इति *"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं नित्य (पुरुष) श्चेतय[ते] ।"

५ इति च ब्रुवाणेन बुद्धिवत् पुरुषोऽपि विषयाकारोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा बुद्धिप्रतिबन्धबाह्यमर्थम् अनाकारोऽपि पश्येन इति किं बुद्धिकल्पनया ? अथेष्यते सोऽपि[1] तदाकारः; तत्राह–**कुतः** न कुतश्चिन्न्यायात् **बुद्धिविवर्त्तः** (र्तम्) बुद्धेः अर्थाकारं परिणामम **अनुविधत्ते** अनुकरोति । का ? इत्याह–**चिच्छक्तिः** । किंभूता ? इत्याह–**अपरिणामिनी** । तदनुविधाने दर्पणादिवत् परिणामिनी स्यादिति भावः ।

१० इदमपरं व्याख्यानम्–**कुतः** कारणात् सा **अपरिणामिनी** अपि इति, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । **तद्विवर्त्तम् अनुविधत्ते** यदि स्वतः अर्थमपि तत एव अनुविधत्ते इति अनन्ततद्विवर्त्तेन अर्थे तदन्तरानवस्था स्यादिति मन्यते ।

तथा इदमपरम्[3]–**चिच्छक्ति [र]परिणामिनी** सदैकरूपा **बुद्धेर्विवर्त्तं** युगपत् क्रमभाव्य-नेकनीलादिसुखादिप्रतिबिम्बपरिणामं **कुतः अनुविधत्ते** ? नैकत्वेन तत्समा नानैव[4] भवेद् विरो-

१५ धात् । तथाहि–यदि सर्वदा एकरूपा[5]; तर्हि न बुद्धिविवर्त्तानुकारिणी । [सा][6] चेत्; नैकरूपा । न च विषयनानात्ववद् विषयिणः तद्ग्रहणशक्तिनानात्वमन्तरेण [7]तद्ग्रहणं युक्तम्, एकैकस्व-भावस्य[8] अनेककार्यकरणवत् ।

तदेवं 'ज्ञानादयश्चेत् तस्यैव वृत्तयः' इति प्रसाधिते यल्लब्धं तद्दर्शयन्नाह–[२४९ क] **ज्ञानम् (ज्ञानादिकम्)** इत्यादि ।

२० **[ज्ञानादिकमजीवस्य मूर्तस्य व्यतिरेकिणः ।**
ज्ञानं जीवस्य वा मिथ्या अनेकं वेत्यनात्मकम् ॥२१॥

वृत्तिरचेतनस्य ज्ञानं चेतनस्योपलब्धिरिति स्वयंक्लृप्तां भेदकल्पनां प्राह विशेषानु-पलब्धेः अतिप्रसङ्गाच्च । तथा परो द्रव्यस्य स्वतश्चैतन्यविकलस्य व्यतिरेकिणं गुणमाह सम्बन्धात् । सत्यपि भावतस्तदभावात् । कथमज्ञश्चेतनो नाम अर्थान्तरात् चैतन्यात्

२५ अतिप्रसङ्गात् । तथा पुनश्चैतन्यस्य मूर्तस्य इतरस्य ज्ञानमनात्मकमिति च मिथ्यादर्शनानि ।]

ज्ञानादिग्रहणम् उपलक्षणं सुखादेः, तेन **ज्ञानादिकं** वृत्तिः **अजीवस्य** अचेतनस्य प्रधानस्य । किंभूतस्य ? **मूर्त्तस्य** रूपादिमत इति **यज्ज्ञानं** तत् **मिथ्या** यथोक्तन्यायवचनात् । अत्र दृष्टान्तमाह–**जीवस्य** इत्यादि । वक्ष्यमाणको **वा** शब्द इवार्थः अत्रापि सम्बन्धनीयः । ततोऽ-यमर्थः संपद्यते **जीवस्य** आत्मनः । किंभूतस्य ? **व्यतिरेकिणो** ज्ञानाद् एकान्तेन भिन्नस्य ।

३० **'मूर्त्तस्य'** इत्येतद् विशेषणम् असंभवात्, परेण[9] तथाविधस्यापि आत्मनः अमूर्त्तत्वेन उपगमात्,

(१) चैतन्यशक्तिरपि । (२) पुरुषः । (३) व्याख्यानम् । (४) अनेकैव न भवेदिति अन्वयः । (५) चिच्छक्तिः । (६) बुद्धिविवर्तानुकारिणी चेत्; । (७) विषयग्रहणम् । (८) कारणस्य । (९) साङ्ख्येन ।

अत्र नाभिसम्बध्यते, **ज्ञानं** वृत्तिः इति । ज्ञानमिव प्रकृतमपि ज्ञानं मिथ्या । इदमपि किमिव **मिथ्या** ? इत्याह–**अनात्मकम्** इति । न विद्यते आत्मा यस्य तद् '**अनात्मकम् ज्ञानम्**' इति ज्ञानं यथा **मिथ्या** तथा '**जीवस्य व्यतिरेकिणो ज्ञानं वृत्तिः**' इति ज्ञानं **मिथ्या** इति । एतदुक्तं भवति–यथा [1]अन्यात्मकं ज्ञानम् अनाश्रयं[2] न कस्यचिद् गुणः तथा व्यतिरेकिणोऽपि[3] स गुणः स्याद् अतिप्रसङ्गात् । अथ आत्मन एव गुणः तत्र समवायात् ; न ; समवायस्य ५ अविशेषे[4] [5]तदविशेषात् , प्रमाण(णा)भावेन असत्त्वाच्च[6] । [7]तत उत्पत्तेः तस्य [8]तद्गुणत्वे ; [9]उत्तरोत्तरं ज्ञानं पूर्वपूर्वस्य क्षणिकज्ञानस्य गुण इति ततोऽन्यस्य गुणिनः साधनमनवसरमेव । यथैव च क्षणिकस्य स्वसत्तासमये कार्यं कुर्वतः कारणत्वं दुरुपपादम् , हेतुफलयोः सहभावापत्तेः, तथा [अ] क्षणिकस्यापि कार्यकालविशेषणात् [10]तद्रूपात् [11]पूर्वोत्तरतद्रूपयोः सर्वथा [अ] व्यतिरेके[12], तावन्मात्रत्वात्तस्य इति । यथैव वा [२४९ख] स्वसत्तासमये [13]तस्य [14]तत्कुर्वतः [15]तद् १० दुरुपपादम् कार्यकाले स्वयमभावात् तथा [16]इतरस्यापि पूर्वकालविशेषणाद् [17]रूपाद् उत्तरस्य सर्वथा [अ]भेदात्[18] , [19]इतरथा एकमेव न किञ्चित् स्यात् । किञ्च, न परात्मनो युगपदनेकदेशकालव्याप्तिः, निरंशत्वाद् अनात्मकचित्तवद् इति । उपसंहारमाह–**अनेक (कं) वेति मिथ्या** '**ज्ञानम्**' इत्यनुवर्त्तते ।

कारिकार्थं कथयन्नाह–'**वृत्तिः अचेतनस्य**' इत्यादि । **वृत्तिः** परिणामः **अचेतनस्य** १५ करणस्य । किम् ? **ज्ञानम्** , **चेतनस्य** पुरुषस्य **उपलब्धिः** दर्शनं **वृत्तिः** इत्येवं **स्वयम्** आत्मना न प्रमाणेन **प्रक्लृप्ताम्** अपरिचितां (उपरचितां) **भेदकल्पनां प्राह** सांख्यः । कुतः ? इत्याह–**विशेषस्य** ज्ञानोपलब्ध्योः भेदस्य **अनुपलब्धेः** ।

ननु अयमनैकान्तिको हेतुः अयोगोलक-पावकयोः विशेषानुपलम्भेऽपि भेदादिति चेत् ; अत्राह–**अतिप्रसङ्गात्** पुरुषचैतन्ययोरपि भेदप्रसङ्गात् । शक्यं वक्तुं पुंसः अन्यदेव चैतन्यम् , २० संसर्गाद् अयोगोलकवह्निभेदा[भाव]वदभेदाध्यवसायः । च शब्दः अवधारणे । अतिप्रसङ्गादेव स्वयं प्रक्लृप्तां भेदकल्पनां प्राह इति । न च [20]परिणामवादिनं प्रति दृष्टान्त[ः] सिद्धोऽस्ति ; अयोगोलकस्य [21]तथापरिणामात् । अतिप्रसङ्गं दर्शयन्नाह–**तथा** इत्यादि । येन स्वमवाषिका (मनीषिका)प्रकारेण सांख्यो बुद्धिचैतन्ययोर्भेदमाह **तथा परो** यौगो **द्रव्यस्य** इति । सामान्यवचनेऽपि प्रस्तावाद् 'आत्मनः' इति गम्यते **स्वतः** स्वरूपेण **चैतन्यविकलस्य** अचेतनस्य **व्यतिरेकिणम्** अर्थान्तरभूतं **गुणमाह** । नैतव्यं (नैतन्मन्तव्यं) दर्शनम् । कुतः ? इत्याह–[२५० क] २५ **सम्बन्धात्** समवायात् , तथा च बुद्धिवत् चैतन्यमपि न पुरुषस्य रूपम् , इति न युक्तमेतत्–
*"**चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्**" [योगभा० १।९] इति मन्यते ।

---

(१) सर्वथा भिन्नम् । (२) निराश्रयत्वात् । (३) अर्थस्य । (४) एकत्वे । (५) सर्वान् प्रति अविशेषात् । (६) समवायस्य । (७) आत्मनः । (८) आत्मगुणत्वे । (९) बौद्धः प्राह । (१०) तत्स्वरूपात् । (११) पूर्वक्षणवर्तिनः उत्तरक्षणवर्तिनश्च स्वरूपस्य । (१२) अभेदे कारणत्वं दुरुपपादमिति सम्बन्धः । (१३) क्षणिकस्य । (१४) कार्यम् । (१५) कारणत्वम् । (१६) नित्यस्यापि । (१७) स्वरूपात् । (१८) एकरूपत्वात् कारणत्वं दुरुपपादमिति सम्बन्धः । (१९) अभेदेऽपि एकत्वाभावे । (२०) जैनादिकम् । (२१) अग्निसंसर्गादग्नित्वेन परिणामात् ।

[1]स आह–किमुच्यते 'तथा' इति; यावता प्रमाणबलेन अहं सर्वमेतत् कथयामि इति। तत्राह–विद्यमानेऽपि मत्य[पि] सम्बन्धि(सम्बन्धे) द्रव्यचैतन्ययोः अत्यन्तभिन्नयोः समवायरूपे, अपिशब्दः संभावनायाम् भावतः प्रमाणाभावेन तदभावात्। बहिरन्तश्च ज्ञात्यन्तरप्रतिभासे 'इह अवयवे अवयवी' इत्यादि प्रत्ययाभावे धर्मिणो विरहात् तद्विषयानुमानावृत्तेः
५ इति। कथम् अज्ञे (ज्ञः अ)चेतनः सत्तात्मा (सन्नात्मा) चेतनो नाम? नैव। कुतः? इत्याह–अर्थान्तरात् ततो भिन्नाच्चैतन्यात् इति। कुतो न स्यात्? इत्याह–अतिप्रसङ्गात्। गगनादिरपि [2]ततः चेतनः स्यादिति बुद्ध्यादेर्विशेषगुणत्वं[3] 'नवद्रव्याणि' इति[4] च द्रव्यसंख्या विहन्यते, तत्सम्बन्धस्य[5] सर्वगतत्वेन [6]तत्राप्यविशेषात्। अथ सम्बन्धस्य [अ]विशेषे सम्बन्धिनोर्विशेष इष्यते; न; सम्बन्धवैफल्यप्रसङ्गात्। यथैव प्रत्यासत्त्या [7]तदविशेषेऽपि
१० [8]तद्विशेषेष्टिः तथैव 'अस्य अयम्' इति व्यपदेशनियमभावात्[9]।

किंच, यदि आत्मन्येव चैतन्यमुपलभ्येत; युक्तमेतत्; न चैवं तदात्मनोऽनुपलब्धिः (ब्धेः)। तथापि तत्र[10] तत्कल्पने अन्यत्रापि तदस्तु अविशेषादिति। यदि वा, अर्थशब्दोऽयं घटादिविषयवाची, तस्मादन्यः तद्वत् स्वतो भिन्नज्ञानग्राह्यत्वं ग[तः] तदन्तरं[11] विषयान्तरं तस्मात् स्वयम् अज्ञः सन् कथं चेतनो नाम? कुतः? इत्याह–अतिप्रसङ्गात् [12]प्रयत्नादिसम्बन्धेऽ-
१५ पि चेतन[ः] स्यात्। अथ अर्थग्रहणात्मकत्वाज् ज्ञानस्य, [13]तत्सम्बन्धादेव [२५०ख] चेतनः नेतरसम्बन्धात् तस्य [14]विपर्ययरूपत्वात्; [15]तस्य स्वग्रहणाभावे अर्थग्रहणमपि दुर्लभं घटादिवदित्युक्तप्रायमिति।

अतिप्रसङ्गं पुनरपि सांख्यस्य दर्शयन्नाह– तथा पुनः इत्यादि। तथा तेन सांख्यकल्पनाप्रकारेण पुनः सांख्यादिकल्पनायाः पश्चात् चैत[न्य]स्य[16] मूर्त्तस्य पृथिव्यादिचतुष्टयस्य ज्ञानम्
२० अनेन पौ रं[न्द रं[17]] मतं दर्शितम्। अथवा *"पुरुष एव इदं सर्वम्" [ऋक्० १०।९०।२] इत्यादि दर्शनम्। यदि वा, [18]स्वदर्शनम्, अत्र 'मूर्त्तस्य' इति न सम्बन्धनीयं जैनचेतनस्य अमूर्त्तत्वं (र्तत्वात्, मूर्तत्वं) [19]कादाचित्कमत्र अनुपयोगीति न वक्तव्यम्। इतरस्य अचेतनस्य वा भूम्यादेः मूर्त्तस्य, अनेन अ वि द्ध क र्ण स्य समयो दर्शितः। ज्ञानग्रहणे अनुवर्त्तमाने पुनः ज्ञानग्रहणं तद्व्यवहितमिति सन्निहितसम्बन्धार्थम् अनात्मकम् आत्मशून्यं 'ज्ञानम्' इत्येतदत्रापि
२५ सम्बन्धनीयम्। च इति समुच्चये इति च एवं सति मिथ्यादर्शनानि एकान्तवादिसंबन्धनीति (न्धीनीति) शेषः। उक्तानामपि यौगादिमतानां कापिलमतानन्तरं पुनः प्रदर्शनं तत्र अतिप्रसङ्गप्रतिपादनार्थम्।

---

(१) नैयायिकः। (२) भिन्नचैतन्यात्। (३) "रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दाः वैशेषिकगुणाः।"–प्रश० भा० पृ० ३९। (४) तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि सामान्यविशेषसंज्ञयोक्तानि नवैवेति।"–प्रश०भा० पृ० ३। (५) चेतनासमवायस्य। (६) आकाशेऽपि भावात्। (७) सम्बन्धाविशेषेऽपि। (८) सम्बन्धिनोर्विशेषता स्वीक्रियते। (९) किं सम्बन्धकल्पनया। (१०) आत्मनि। (११) अर्थान्तरम्। (१२) अन्यगुण। (१३) ज्ञानसमवायादेव। (१४) अर्थग्रहणस्वभावाभावात्। (१५) ज्ञानस्य। (१६) चैतन्यविशिष्टस्य। (१७) चार्वाकसम्बन्धि। (१८) जैनदर्शनम्। (१९) कर्मसम्बद्धदशायाम्।

ननु यदुक्तमत्रैव प्रस्तावे प्रथमकारिकायाम् **'मिथ्याज्ञानं स्वतः सतो ज्ञातुः आवरणोद्भूतेः'** इत्यादि; तदयुक्तम्; अमूर्त्तस्य आत्मनो मुक्तस्येव मूर्त्तेन आवरणाभिमतेन सम्बन्धाऽभावात् । न चासम्बद्धम् आवरणम्; अतिप्रसङ्गात् । एतदेवाह–[कथमित्यादि]

[कथं पुनरमूर्त्तस्य सम्बन्धः कर्मणेति चेत् ।
माणिक्यादेर्न वै मूर्तिः मलसम्बन्धकारणम् ॥२२॥ ५
मलैर्निसर्गाद् बध्येत जीवोऽमूर्तिः स्वदोषतः । ३ ।

जीवस्य मूर्तिं कल्पयित्वापि कर्मबन्धनिमित्तं स्वदोषान्तरं कल्पितव्यं माणिक्यादिवत् । ततः पुनरमूर्तस्य चेतनस्य नैसर्गिका मिथ्यादर्शनादयो बन्धहेतवः ।]

कथं न कथञ्चित् **पुनः अमूर्त्तस्य कर्मणा** मूर्त्तेन **सम्बन्धः** । ननु 'मूर्त्तेन' इत्यत्र न श्रूयते तत् कथं लभ्यमिति चेत् ? **'अमूर्त्तस्य'** इति वचनात् । यदि कर्माऽपि अमूर्त्तं १० स्यात् तद्वचनमनर्थकं स्यात्, अमूर्त्तयोः [२५१क] सम्बन्धाऽविरोधात् । **'कर्मणा'** इति वचनाद् इतरस्य कर्मत्वाऽयोगात् । न च मूर्त्ताऽमूर्त्तयोः विरुद्धः संयोग इति; अतः प्रस्तुतत्वाद्वा । **चेद्** इति पराभिप्रायद्योतकः । अत्र उत्तरमाह–**मलैर्निसर्गाद्** इति ।

नन्वेतत् **'परस्परविलक्षणावपि'** इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिपादितम्, **'शुभैः'** इत्यादिना च तद्बन्धकारणम्, तत् किमर्थं पुनरप्युच्यते इति चेत् ? तस्यैव प्रकारान्तरेण समर्थनार्थम् । १५ तथाहि–**'मनोवाक्कायकर्मभिः'** इत्यादि **'न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति'** इति पर्यन्तवचनेऽपि **'पञ्चस्कन्धवत्'** इत्यादिकमुल्लङ्घ्य कश्चिद् वदति मूर्त्ता एव हेमादयः मूर्तैः श्यामादिकाभिः सम्बन्ध्य(म्बद्ध्य)माना दृष्टा इति मूर्त्तिरेव बन्धकारणम्, आत्मनि तदभावान्न तद्बन्धः इति; तं प्रति उच्यते–**मलैः** इत्यादि । **नवै** नैव **मूर्त्तिः मूल (मल)संबन्धकारणम्** । किं कारणम् ? इत्याह–**माणिक्यादिः बध्येत** । कैः ? इत्याह–**मलैः** किट्टकालिकादिभिः । **'मूर्त्तैः'** २० इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । न चैवम्, अन्यथापि तस्य दर्शनादिति मन्यते ।

अत्राह **परश्च (परः–स्व) दोषतः** इति । स्वस्य स्वो वा दोषः दुष्टाकरप्रभवत्वादिलक्षणः तेन ततो **बध्येत** माणिक्यादिः 'इति' वा अनुवर्त्तते । कुतः ? **नैसर्गात्** स्वभावतः । एवमन्वयः– सदोषो माणिक्यादिः सम्बध्यते मणैः (मलैः) नेतरः, तथैव तस्य स्वाभाव्यात् तथा दर्शनादिति । तस्य उत्तरमाह–**जीवोऽमूर्त्तिः** इति । लुप्तः 'अपि' शब्दः अत्र द्रष्टव्यः २५ ततो **जीवोऽपि** न केवले (लं) माणिक्यादिरेव । किंभूतः ? इत्याह–**अमूर्त्तिः** अविद्यमानमूर्तिः । **मलैः** कर्मभिः **नैसर्गात्** **स्वभावतः** [२५१ख] **स्वदोषतः** आत्मीयेन मिथ्यात्वादिदोषेण ।

प्रकृत(तं) संभाव्य कारिकां विवृण्वन्नाह–जीवस्य इत्यादि । **जीवस्य मूर्तिं कल्पयित्वापि कर्मबन्धनिमित्तं स्वदोषान्तरं** भावकर्मलक्षणं **कल्पितव्यम् माणिक्यादेरिव** तद्वद् ३०

(१) पृ० ३२१ । (२) कर्मणा । (३) अमूर्तवचनम् । (४) अविद्यादेः । (५) पृ० २५४ । (६) पृ० २५५ । (७) पृ० २५५ । (८) कालिमादिभिः । (९) मूर्त्यभावात् । (१०) मकयुक्तस्ताभिजन्यत्वात् ।

इति । **ततः** तस्मान्न्यायात् पुनः **अमूर्त्तस्य नैसर्गिका बन्धहेतवः** । कस्य ? इत्याह–**चेतनस्य** । के ? इत्याह–**मिथ्यादर्शन** इत्यादि ।

ननु किममूर्त्तस्य मूर्त्तेन कर्मणा सम्बन्धकल्पनया, यावता [अ] मूर्त्तेनापि तेन[1] तद्गुणादिसमवाये[2] न कश्चिद् दोषः । तदुक्तम्–*"आत्मविशेषगुणः कर्तृफलदायी कार्यविरोधी ५ संयोगजोऽदृष्टो धर्मोऽपि व्याख्यातः"[3] इति चेन ; अत्राह–**जात्या** इत्यादि ।

[जात्या व्यतिरिक्तयाऽर्थाः स्युरन्या जातिः स्वतः सती ।
तथैवार्थान्तरैः किन्न द्रव्यं स्याद् गुणकर्मभिः ॥२३॥]

जात्या इति सामान्यैवचनेऽपि '**स्युः**' इति वचनात् सत्ता परिगृह्यते । नहि अन्यया अर्थाः सन्तो भवन्ति । किंभूतया ? **व्यतिरिक्तायाः (क्तया)** द्रव्यादेः एकान्तेन भिन्नया । किं १० तया ? इत्याह–**अर्थाः** द्रव्यगुणकर्माणि *"द्रव्यगुणकर्मसु अर्थः" [वैशे० सू० ८।२।३] इति[4] वचनात् । **स्युः** सन्तो भवेयुः । किन्नैव ? '**किम्**' इत्यनेन वक्ष्यमाणकेन सम्बन्धः । नहि स्वयमतद्रूपम् अन्येन तद् भवति, अन्यथा रूपादिना रादना (गगना)दिकं तद्वत्[5] स्यात् । तथाविधया जात्या अर्थानां समवायसम्बन्धोऽपि अत्रैव वृत्ते[7] निराकरिष्यते ।

किञ्च, जातिरपि यद्यसती; कथं तया किञ्चिदसत् सत् स्यात् ? नहि–वन्ध्यासुतो १५ गगनकुसुममालया सन्नाम । सती जात्यन्तरेण चेत् ; अनवस्था । स्वतो यदि; तत्राह परैः–अर्थेभ्यः **अन्या जातिः** सत्तासामान्यं **स्वतः** आत्मना स्यात् **सती** भवेत् '**किम्**' इत्यनेन '**स्यात्**' इत्यनेन वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । [२५२क] अर्था अपि तथैव स्वयं स्युः इति मन्यते । तदनेन द्रव्यगुणयोः अभावात् *"आत्मविशेषगुणो धर्मादिः" इति[10] निरस्तम्, [गुण][11]कर्मणोरभावात् *"आत्ममनःसंयोगजः" [12]इति च[13] । नहि कर्माऽभावे संयोगः; [14]तत्पूर्वक- २० त्वादस्य । अथवा, देवदत्तं प्रति उपसर्पतां पश्वादीनां पराभ्युपगमेन कर्माऽभावात् ततो धर्माद्य-[15]नुमानमनुपपन्नमिति दर्शयति ।

भवन्तु वा यथाकथञ्चित् परस्य अर्थाः, तथापि दोषं दर्शयन्नाह–**अर्थान्तरैः** द्रव्यादत्यन्तं भिन्नैः **द्रव्यं** पृथिव्यादि **स्याद्** भवेद् धवलं सङ्ख्येयादि गन्त्रादिकम् । कैः ? इत्याह–**गुणकर्मभिः । गुणैः** रूपादिभिः **कर्मभिः** गमनादिभिः याथासङ्ख्येन गुणैः धवल २५ (लं) सङ्ख्येयादि कर्मभिः गन्त्रादिकम् । '**किम्**' इत्येतद् अत्रापि सम्बन्धनीयम्, अन्यथा आत्मादिकमपि स्यात् अविशेषात् ।

---

(१) अदृष्टाख्येन । (२) स्वीक्रियमाणे । (३) "धर्मः पुरुषगुणः कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः अतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञानविरोधी पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसन्धिजः..."–प्रश० भा० पृ० १३८ । (४) "अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु"–वैशे० सू० । (५) रूपि । (६) भिन्नया । (७) वृत्तौ, श्लोके वा । (८) जैनः । (९) सन्तः । (१०) "धर्मः पुरुषगुणः"–प्रश० भा० पृ० १३८ । (११) गुणपदार्थस्य कर्मपदार्थस्य च । (१२) "पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसन्धिजः"–प्रश० भा० पृ० १३८ । (१३) निरस्तम् । (१४) क्रियापूर्वकत्वात् । (१५) "देवदत्तविशेषगुणप्रेरितभूतकार्याः तदुपगृहीताश्च शरीरादयः कार्यत्वे सति तदुपभोगसाधनत्वात् गृहवदिति..."–प्रश० किरणा० पृ० १४९ । प्रश०व्यो० पृ० ४११ । प्रश०कन्द० पृ० ८८ ।

ततः किं प्राप्तम् ? इत्याह–**निष्कर्माणि** [इत्यादि]–

[निष्कर्माणि वा गुणिनः कारकाणि गुणैर्विना ।
समवायेन किंवृत्तिस्तद्वदेव दुरन्वयम् ॥२४॥

कर्मभ्योऽपसृतानि निरस्तकर्माण्येवं वाचा (ण्येव **वा**) इत्यवधारणे । **कारकाणि** कर्त्रादीनि **गुणिनो** द्रव्याणि सर्वैर्**गुणैर्वा विना** 'स्युः' इत्यनेन गतेन सम्बन्धः, परस्परानापन्ना एव स्युः इति मन्यते । ५

ननु नायं दोषः जातितद्वतोर्गुणगुणिनोः कर्मतद्वतोः भेदेऽपि स[1] समवायवृत्त्या जात्यादीनां तद्वति[2] वर्त्तनादिति चेत ; अत्राह–**समवायेन** समवाय एव च अवृत्ति (एव **वा वृत्तिः**) **किम्** ? नैव वृत्तिः, कुत्सिता वा वृत्तिः इति, यतः समवायस्य समवायिषु वृत्तौ 'इह समवायो वर्त्तते' इति प्रत्ययः सम्बन्धान्तरनिबन्धनः स्यात्, पुनरपि तदन्तर[3]निबन्धन इत्यनवस्था, अन्यथा १० 'तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययोऽप्यनेनैव[4] [२५२ख] व्यभिचारात् न समवायसाधकः स्यात् । तेषु[5] तद्वृत्तौ[6] वा न कस्यचित् सम्बन्धोऽपरायत्तत्वाद् आकाशवत् । अत एव इहप्रत्ययकर्तृत्वमपि तस्य[7] **तद्वदेव दुरन्वयम्**, इतरथा संयोगेऽपि प्रसङ्गः[8] असम्बन्धेऽपि[9] इत्येवं युक्तिबाधितं संकीर्त्यते वैशेषिकैः ।

अनेन *"[10]**कार्यविरोधी कर्तृफलदायी**[11]" इति[12] च निरस्तं बोद्धव्यम् ॥ छ ॥ १५

इति र वि भ द्र पादपङ्कजभ्रमर-अ न न्त वी र्य विरचितायां
सि द्धि वि नि श्च य टी का यां जीवसिद्धिः चतुर्थ प्रस्तावः ।

---

(१) 'स' इति निरर्थकम् । (२) द्रव्यादौ । (३) सम्बन्धान्तर । (४) 'इह समवायिषु समवायः' इति प्रत्ययेनैव । (५) समवायिषु । (६) असम्बन्धे वा समवायस्य । (७) समवायस्य । (८) सम्बन्धत्वप्रसङ्गः । (९) स्वसम्बन्धिषु सम्बन्धाभावेऽपि । (१०) कार्यं सुखदुःखादिफलं विरोधि यस्य । अदृष्टं हि स्वकार्यं कृत्वा विनश्यतीति भावः । (११) धर्मः इति । द्रष्टव्यम्–पृ० ३०८ टि० ३ ।

[पञ्चमः प्रस्तावः]

[५ वादसिद्धिः]

एवम् अनन्तरप्रस्तावद्वयेन अशब्दयोजनं स्मरणादि श्रुतं व्याख्यातम् । यदुक्तमः (म्) 'शब्दैः परमन्ययोजितं श्रुतम्' इति; तत्[1] संप्रति व्याख्यातुम् अवसरप्राप्तम् , तच्च परार्थमिति, परप्रतिपादनाय च तत्प्रयोगे[2] न्यायवादिनमपि केचिदेकान्तवादिनो वचनाद्युपालम्भच्छलेन पराजयेन योजयन्तः समुपलभ्यन्ते तन्निषेधार्थं वादन्यायप्रस्तावं प्रस्तुवन् तदादौ संग्रहवृत्तमाह–

५ **पक्षस्थापनया** इत्यादि ।

[पक्षस्थापनया निरस्तविषयं वादे निगृह्णाति न,
स्वाकूतोज्झमसाधनाङ्गवचनादोषोक्तिसंकीर्तनैः ।
स्वार्थं साधितवन्तमस्तविषयस्तूष्णीम्भवन्तं ब्रुवन् ,
अन्यद्वा प्रलपन् परेण स समः स्वार्थासाधने (स्वार्थे असंसाधिते) ॥१॥]

१० **पक्षो** व [क्ष्यमाणल]क्षणः तस्य **स्थापना** समर्थनं तथा वादी प्रतिवादी वा **निगृह्णाति** विजयते । क ? **वादे** । कम् ? इत्याह–**निरस्तो विषयः** पक्षो यस्य स तथोक्तः तं वादिनं प्रतिवादिनम् । वादी अन्यथा कुर्वात् भिन्नाति (कुतो न निगृह्णाति ?) इत्याह–**न** इत्यादि । **स्वाकूत**शब्देन स्वपक्षः परामृश्यते तस्य **उत्स (उज्झा)** त्यागः क्रियाविशेषणमेतत् , **स्वाकूतोज्झा** यथा भवति तथा न निगृह्णाति । पक्षस्थापनाहीनो न निगृह्णाति इत्यर्थः । कैः

१५ कृत्वा ? इत्याह–[२५३क] **असाधनाङ्गम्** [न साधनाङ्गम्] असाधनाङ्गम (ङ्गं) तस्य वचनम् , अथवा **न साधनाङ्गवचनम्**[5] । न दोषोऽदोषः तस्य **उक्तिः**, यदि वा न दोषोक्तिः **अदोषोक्तिः** विद्यमानस्यापि दोषस्य अनुच्चारणम्, **असाधनाङ्गवचनं वादोक्तिश्च (च अदोषोक्तिश्च) तयोः संकीर्त्तनानि** प्रकाशनानि तैरिति । कं तैः न निगृह्णाति ? इत्याह–**स्वार्थं साधितवन्तम्** । किंभूतः ? इत्याह–**अस्तविषयः** निरस्तपक्षः । नन्वयमर्थः **'स्वाकू-**

२० **तोज्झम्'** इत्यनेन उक्तः किमर्थं पुनरुच्यते ? सत्यम् उक्तः, तथापि पूर्वमनाश्रितपक्षो[6] न निगृह्णाति इत्यस्य प्रतिपादनार्थम् । तदुक्तम्[7]–*"यतो वादिना उभयं कर्त्तव्यं स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं च" इति । जाचं (अयं) पुनः आश्रितपक्षोऽपि निरस्तविषयो न निगृह्णाति अस्येति विशेषः । इदमपरं व्याख्यानम्–**स्वाकूतो ज्ञानं (तोज्झं न) निगृह्णाति, न च स्वार्थं साधित न्तं तत्संकीर्तनैः अस्तविषयः** असिद्धमहामहीप्रा (पा) न्तरितविषयः[8] ।

---

(१) श्रुतम् । (२) शब्दप्रयोगे कर्त्तव्ये सति । (३) कथयन्तम् । (४) अन्यैः छलादिभिः उपायैः । (५) साधनाङ्गस्य अवचनम् । (६)वैतण्डिकः । (७) "विजिगीषुणा उभयं कर्त्तव्यं स्वपरपक्षसाधनदूषणम्" –अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८७ । (८) असिद्धश्चासौ महामहीपः महाभूपालः तेन अन्तरितः आक्रान्तः विषयः पक्षः यस्य असिद्धपक्ष इति यावत् ।

ननु यद्यपि स्वार्थं साधितवन्तं न निगृह्णाति तर्हि तूष्णींभवन्तं निगृह्णाति इति चेत्; अत्राह–**तूष्णीं- वन्तम्** इत्यादि। अत्रादिमतिप्रायः (अत्रायमभिप्रायः) तूष्णींभवन्तं किं परः स्वपक्षं साधयन् निगृह्णाति, किं वा त्वया साधनाभिधाने अधिकारेणापि न किञ्चिदुक्तम् मौनमेव अनुष्ठितम् इत्यद्वा (इति, यद्वा) स्वार्थसिद्ध्यनुपयोगि ब्रुवन्, स्वयं तूष्णींभवन् वा ? तत्र प्रथमपक्षे उक्तम्–'**पक्षस्थापनया**' इत्यादि। द्वितीय आह–**तूष्णीं भवन्तम्** '**न**' ५ [इति] सम्बन्धः। किं कुर्वन् ? **ब्रुवन्निति**। ब्रुवन् तूष्णींभावम् उद्भावयन्, **अन्यद्वा** असम्बद्धम् **प्रलपन्** वा पुरुषः। किंभूतः ? **परेण** निग्राहकेण **सम एव** [२५३ख] पूर्व एवकारोऽत्र द्रष्टव्यः। कस्मिन् सति तत्समः ? इत्याह–**स्वार्थासाधने** इति। यथैव हि तूष्णींभवतः साधनानभिधाने न स्वार्थसिद्धिः तथा तदुद्भावयतोऽपि अन्यद्वा ब्रुवतः। नहि तदुद्भावनमात्रेण स्वार्थसिद्धिः परस्य। शेषमत्र निरूपयिष्यते। तृतीयेऽप्याह– **सोऽन्ये** त्याहदि (**सोऽप्यन्य** १० इत्यादि) ब्रुवतोऽन्यः इतरः तूष्णींभूतः, सोऽपि तूष्णींभवन्तं न निगृह्णाति। केन कारणेन ? इत्याह–**साध्या (स्वाकृतोज्झया)** करणभूतया इति।

ननु '**वादे निगृह्णाति**' इत्युक्तम्, तत् को वादः ? इत्यत्राह–'**समर्थवचनम्**' इत्यादि।

[समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः १५
पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ॥२॥

वादिनः तत्त्वप्रतिपादनसामर्थ्यमन्तरेण यथैवोन्मार्गशोधनेन मार्गप्रभावना न संभवति एवं परिषद्बलस्य यथार्हं सत्यदोपनिवेदनसामर्थ्येऽसति। स्वयमेवोद्धृत्य न्यायवादिनमपि व्यापारव्याहाराभ्यां प्रतिक्षिपतां दर्शनात् स्वयमौद्धत्यप्रच्छादनार्थम्। छलजातिनिग्रहस्थानानां भेदो लक्षणं च नेह प्रतन्यते। तैः साधनोपालम्भो जल्प इति कैश्चिल्लक्षणात्। २० **ततश्चतुरङ्ग एव जल्पः वचनस्यापि सांकर्यं तदन्यतरतत्त्वेतरनिर्णयावसानमेव, न पुनः वक्त्रभिप्रायसूचनम्। साधनदूषणतदाभासव्यवस्थायाः वस्तुतत्त्वप्रतिबन्धात्, वक्त्रभिप्रायसूचनाभिधानस्य सर्वत्राविशेषात्। प्रतिबन्धाभावात् कथं शब्दैः स्वार्थप्रतिपादनमिति चेत्;]**

समर्थवचनं जल्पं विदुः जानीयुः। के ? इत्याह–**बुधाः** विद्वांसः स म न्त भ द्र २५ स्वा मि प्रभृतयः। यदि तर्हि तेषां जल्पलक्षणपरिज्ञानं किमिति न्यायान्तरवद् वादन्यायो न निर्दिष्टः; तदनिर्देशे च कुतः तत्परिज्ञानं तेषामवगम्यताम् ? वचनलिङ्गा हि वक्तृचेतोविशेषा असर्वविदामिति चेत्; क एवमाह–स तैर्न निर्दिष्टः इति ? यावता–

(१) तूष्णींभूतो भवानिति कथनमात्रेण। (२) तुलना–"समर्थवचनं वादः। प्रकृतार्थप्रत्यायनपरं साक्षिसमक्षं जिगीषतोरेकत्र साधनदूषणवचनं वादः।"–प्रमाणसं० पृ० १११। त० श्लो० पृ० २८०। प्रमेयरत्नमा० ६।४७। प्रमाणनय० ८।१। प्रमाणमी० २।१।३०। (३) जल्पपरिज्ञानम्। (४) समन्तभद्रादीनाम्। (५) जल्पः।

***"अन्वर्थसंज्ञः सुमतिः मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।**
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥"

[बृहत्स्व० श्लो० १७]

इत्यादिना भगवतो न्यायेन प्रतिपाद्यजनप्रतिबोधनं स्तुवद्भिः सर्वत्र तदेव अभ्युपगतमिति
५ ज्ञायते । कणचरादिवत् स्वशास्त्रे कचित् छलाद्यनभिधानाच्च । यो हि स्वयमयुक्तमकुर्वन् परं युक्तकारिणम् अभिनन्दति स लोके अभिमतयुक्तकारिणं त्व (कारी) इति अवगम्यते ।

कथं पुनः तेनमेस्तस्य तस्मुतम् (तेन तत्स्तुतम्) इति चेत् ? उच्यते–सुमतिः मुनिः त्वम् अन्वर्थसंज्ञः अनुगतार्थाऽभिधानवान् । [२५४क] केन कारणेन ? इत्याह–येन कारणेन 'त्वया' इति अध्याहारः, स्वयं मतं स्वपक्षः सुयुक्त्या (त्वया) अबाधितयुक्त्या प्रमाणात्मिकया न तच्छला-
१० द्यात्मिकया नीतम् अर्थिजनं प्रापितं स युक्त्या प्रबोधित इत्यर्थः । विपक्षे बाधकमाहुः यतश्च इत्यादि । ततः **'पक्षस्थापनया'** इत्यादि ***"वादिना उभयं कर्त्तव्यम्"** इत्यभिदधानेन उक्तं न वेति परीक्षकाः चिन्तयन्तु । यदि युक्तम्; किमिति तैः वादन्यायो नोक्तः ? तेषामेव च सूत्रकृतां भगवतां प्राकृतजनावेद्याभिप्रायाणामभिप्रायः सूरिणा अ क ल ङ्के न वा र्त्ति क का रे ण सप्रपञ्चः प्रकटीक्रियते ।

१५ अथ 'को वादः' इति प्रश्ने किमर्थं **'जल्पं विदुः'** इति उत्तरमुच्यते वादजल्पयोः भेदात् । प्रश्नानुरूपेण च उत्तरेण भवितव्यम् अन्यथा स्यात्पृष्टः कोऽपि दाराम् (आम्रान् पृष्टः कोविदारान्) आचष्टे इति स्यात् । अथ तयोरभेदः; एवमपि प्रकृतानुरूपं वक्तव्यम् 'वादं विदुः' इति । नव (न च) कारिकाभिप्रायेण एवमभिधानाद् अल्पमतीनां तद्भेदविभ्रमनिवारणार्थम् । अत एव वितण्डापि न कथान्तरम्, जल्पस्य वादादभेदे कथं वितण्डा तद्विशेषः ततो भिद्येत ।
२० नहि घटस्य पार्थिवत्वे तद्विशेषाः पदार्थान्तरम् । यदि [वा] 'वादं विदुः' 'वादे' इत्येतद् अनुवर्त्तमानं विभक्तिपरिणामेन इह सम्बध्यते, तन्न जल्पाद् अन्यो वाद इति मन्यते ।

किं तत् जल्पं विदुः ? इत्याह–**समर्थवचनम्** । अथवा कथम्भूतं **जल्पं** वादं **विदुः** ? इत्याह–**समर्थवचनम्** इति । समर्थं चेद् (चेदं) वचनं च । यदि वा, समर्थं वचनमस्मिन् जल्पे तम् इति । किं पुनः वचन (नं) समर्थम् ? येन स्वयमभिप्रेतोऽर्थः [२५४ख] साध्यरूपः
२५ साधनरूपः विरुद्धदूषणतल्लक्षणश्च परं प्रति प्रतिपाद्यते वचनेन तत्समर्थम् इति उच्यते । वचनं च यथा अर्थप्रतिपादकं तथा निरूपयिष्यते । तदनेन त्रिरूपलिङ्गवाक्यमेवं पञ्चावयवमेवं वाक्यं वाद इति एकान्तं निराकरोति । परप्रतिपादनाय तदुदाहारो[१०] न व्यसनेन । तत्र यावता वचनेन [११]तत्प्रतिपत्तिः तावत् समर्थम् इति किं नियमेन ? [तेन] ***"छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः"** [न्यायसू० १।२।२] इति निरस्तम्; छलादीनाम् असमर्थवचनत्वात् ।

(१) नैयायिकवैशेषिकवत् । (२) तत्त्वार्थवार्तिककारेण इत्यर्थः । अथवा प्रस्तुतग्रन्थगतमूलश्लोका अपि वार्तिकशब्देन उच्यन्ते, तत्कर्त्रा । (३) नैयायिकः प्राह । (४) वादजल्पयोर्भेदभ्रमनिराकरणार्थम् । (५) जल्पविशेषः । (६) वादात् । (७) घटविशेषाः । (८) बौद्धाभिमतम् । (९) नैयायिकस्वीकृतम् । (१०) उदाहरणम् उदाहारः कथनमित्यर्थः । (११) परप्रतिपत्तिः ।

नहि ते[1] स्वयं प्रयुक्ताः स्वपक्षं साधयन्ति साधनवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, परत्र च उद्भाविताः परपक्षं निराकुर्वन्त्य (न्त्य) विरोधात्[2]। तत्प्रयोगेऽपि[3] सम्यक्साधनवादिनः साध्यसिद्धेरप्रतिबन्धात् परव्यामोहनार्थम् एकवृत्तम् (एतद्वृत्तम्) अनुप्रेयम् असार्था (असामर्थ्यां) बरणम्। उभयत्र असिद्धानैकान्तिकोद्भावनमपि तादृगेव, तर्थे (तदर्थे) तस्मिन् जल्पे वितण्डाभावः। तथाहि–*"स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो जल्पो वितण्डा" [न्यायसू० १।२।३] इति; तत्र प्रतिपक्षस्थापनाहीनः ५ स्वपक्षसमर्थ[न]रहितश्चेत्; न समर्थवचन इति कुतो जल्पः यतो वितण्डा स्यात्? अथ वैतण्डिकः परपक्षदूषणाय अवश्यं यतते ततस्तद्दूषणवचनं 'समर्थवचनम्' इत्युच्यते; तदपि न सारम्; यतः स्वपक्षसिद्ध्यभावे परपक्षाऽनिषेधात्। यथाह–*"वितण्डा आत्मतिरस्कारः" इति चेत्; अयं परस्यैव दोषोऽस्तु।

यदि मतं समर्थवचनस्य जल्पत्वे व्याख्यानादिषु अतिप्रसङ्ग इति; तत्राह–**चतुरङ्गम्** इति। १० यदि वा, कथं जल्प एव वादः तयोर्विषयभेदात्, विजिगीषुविषयः[4] [२५५क] जल्पो न वादः अस्य शिष्यादिविषयत्वात्[5] इति; तत्राह–**चतुरङ्गम्** इति। चत्वारि वादि-प्रतिवादि-प्राश्निक-परिषद्बललक्षणानि अङ्गानि, नावयवाः, वचनस्य तदनवयवत्वात्।

द्वितीये तु व्याख्याने अङ्गशब्दो अवयववाची संभवति, '**चतुरङ्ग(ङ्गं) समर्थ(र्थं)वचनं जल्पं वादं विदुः**' इति। [वादि]प्रतिवादिवचनात् न व्याख्यानादिषु समर्थवचनं जल्प १५ इति दर्शयति तत्र तदभावात्। सभा (सभ्य) सभापतिवचनात् तस्य विजिगीषुविषयताम्[6] अन्यथा व्याख्यानादिवत् तत्परिग्रहवैफल्यम्। एतावदेव च वादस्यापि निग्रहवतो रूपमिति कथं तयोः विषयभेद इति?

एतेन एकस्य वादिप्रतिवादिभेदकल्पनेऽपि न[10] तद्वचनं जल्प इत्युक्तं भवति। यदि तद्वचनं जल्पः तदनवसानम्[11] तन्नियमकारणस्य असाधनादिः (असाधनाङ्गादेः) अवचनादिति चेत्; अत्राह– २० **पक्षनिर्णयपर्यन्तम्** इति। **पक्षस्य** विवादगोचरार्थस्य **निर्णयः** विप्रतिपत्तिपरिहारेण अवस्थानं **पर्यन्तो** यस्य स तथोक्तः तम् इति न वादिप्रतिवादिगुणदोषसंकीर्तनपर्यन्तमिति भावः।

ननु यदि 'वादिसम्बन्धिपक्षनिर्णयपर्यन्तम्' इति गृह्यते जल्पाप्रवृत्तिः, पूर्वमेव[12] तन्निर्णय-

(१) छलादयः। (२) परपक्षेण सह विरोधाभावात्। (३) छलादिप्रयोगेऽपि। (४) जल्पः। "यत्र विजिगीषुः विजिगीषुणा सह लाभपूजाख्यातिकामः जयपराजयार्थं प्रवर्तते सा विजिगीषुकथा। विजिगीषुकथा जल्पवितण्डासंज्ञोक्ता।"–न्यायसा० पृ० १६। न्यायकलि० पृ० १३। (५) "तत्र वादो नाम यत् परस्परेण सह शास्त्रपूर्वं विगृह्य कथयति। स वादो द्विविधः संग्रहेण जल्पो वितण्डा च।"–चरकसं० पृ० २६२। "वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा। सा द्विविधा–वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति। यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसंज्ञया उच्यते।"–न्यायसा० पृ० १५। "वादो नाम वीतरागयोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहपूर्वकः प्रमाणतर्कपूर्वकसाधनोपालम्भप्रयोगे क्रियमाणे एकपक्षनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः।"–न्यायकलि० पृ० १३। (६) "उक्तं च–स्वसमयपरसमयज्ञाः कुलजाः पक्षद्वयस्थिताः क्षमिणः। वादपथेष्वभियुक्तास्तुलासमाः प्राश्निकाः प्रोक्ताः॥"–न्यायप्र०वृ० पृ० १४। प्रमाणमी० पृ० ६३। न्यायता० टी० पृ० १५८। (७) वादिप्रतिवाद्यभावात्। (८) दर्शयति। (९) वादजल्पयोः। (१०) समर्थवचनम्। (११) अपरिसमाप्तिः। (१२) वादिपक्षस्य निर्णीतत्वादित्यर्थः।

भावात्, स्वनिश्चयवद् अन्यस्य निश्चयोत्पादनाय तद्धेतुप्रयोगात्, इतरथा गोपालवत् कुतस्तस्य जल्पे विकारः (जल्पेऽधिकारः)। एतेन प्राश्निकनिर्णय [य] पर्यन्तमिति चिन्तितम् "सिद्धान्तद्वयवेदिनः" इति वचनात् निर्णीतोभयपक्षाणामेव प्राश्निकत्वात्। पार्थिवः पुनः पार्थिव इव न सर्वः स्वयं तन्निर्णयवान् 'तन्निर्णयपर्यन्तम्' इति च दुरवगाहम्। नापि 'प्रतिवादितन्निर्णयपर्यन्तम्'
५ इत्युपपन्नम्; स्वदुरागमाहितदृढविभ्रमस्य प्रतिवादिनः [२५५ख] प्रतिपद्य (पाद्य) मानस्यापि तन्निर्णय (या) योगात्। तन्न युक्तं 'पक्षनिर्णयपर्यन्तम्' इति चेत्; न सुन्दरमेतत्; यतः साध्याविनाभाविसाधनप्रयोगोपन्यासाद् अपहाय प्ररूढमपि व्यामोहं प्रतिवादिनः परपक्षं प्रतियन्तः प्रतीयन्ते अभिमानिनोऽपि, आतुरा इव परमौषधम्। येऽपि च केचिन्न प्रतियन्ति खलमतयः तदपेक्षया तदुपन्यासजनितः सत्यनिर्णयो [ज्ञातो]भयकृतान्तानाम् अन्यवचनात् प्रतिपत्तिः
१० (तेः) जायते, इतरथा जन्मन (तन्मन) सि वादीतरगुणदोषप्रति[पत्ति]विरहवैधुर्यात् कुतो निकषोपलम्भसमा (षोपलसमा) नत्वं यतस्तदपेक्षा स्यादिति।

किं पुनरस्य फलम्? इत्याह-**फलं 'जल्पस्य'** इत्यनुवर्तते। किम्? इत्याह-**मार्गस्य** सम्यग्ज्ञानादेः **प्रभावना** प्रकाशनम्।

ननु तत्त्वस्य आत्मादेः अध्यवसायः कुतश्चित् स्वयं निर्णयः तस्य दस्युभ्यः सौगतादिभ्यः
१५ संरक्षणं तत्फलमस्तु *"**तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्**" [न्यायसू० ४।२।५०] इति वचनादिति चेत्; यदि प्रमाणतः तत्संरक्षणम्; अनुकूलमाचरसि प्रमाणविषये प्रवृत्तेः, तत एव तत्प्रकाशनस्य अवश्यंभावात्। अन्यतश्चेत्; तन्न युक्तमिति निवेदयिष्यते। दस्यवोऽपि यदि प्रमाणतः तन्निराकुर्वन्ति न छलादिवचनादप्रमाणकात् तस्य त्राणं प्राश्निकाः पक्षपातरहिताः तत्त्ववेदिनो मन्यते। यदि सप्रमाणकात्; स्वत
२० एव तद्रक्षितम्, किं तत्र छलादिप्रयासेन? दैवरक्ता हि हिंसकाः [किंशुकाः केन रज्यन्ते नाम]।

ननु च वादिना प्रतिवादी सभ्याश्च प्रतिपादनीयाः न सभापतिः सुकुमारप्रज्ञः, ततः किं तेन इति 'त्र्यङ्गं जल्पं विदुः' इत्येवास्तु [२५६क] इति चेत् अत्राह-'**वादि**' इत्यादि। **वादिनः** प्रतिवादिप्राश्निकयोः **तत्त्वप्रतिपादनसामर्थ्यम्** उपलक्षणमेतत् तेन 'प्रतिवादिप्राश्निकयोः तत्त्वप्रतिपादनसामर्थ्यम्' इत्यपि गृह्यते **तदन्तरेण यथैव** येनैव प्रतिपाद्यप्रतीत्योः अभावप्रकारेण
२५ **उन्मार्गस्य** एकान्तस्य **शोधनेन** अपसारणेन **मार्गप्रभावना न संभवति** वक्ष्यमाणविधिना। **एवं परिषद्बलस्य** राज्ञः **यथार्हं** यथायोग्यं **सत्ये**, राज्ञे वादिप्रतिवादिनं (नां) **दोषनिवेदने सति**

(१) तुलना-"स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः। परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः॥" -न्यायावता० श्लो० १०। (२) स्वपक्षनिर्णयाभावे। (३) पक्षनिर्णय। (४) "अपक्षपतिताः प्राज्ञाः सिद्धान्तद्वयवेदिनः। असद्वादनिषेद्धारः प्राश्निकाः प्रग्रहा इव॥ इत्येवंविधप्राश्निकाश्च······"-प्रमेयक० पृ० ६४९। (५) राजा, सभापतिपदे स्थितः। (६) अतः। (७) सभापतिपक्षनिर्णयान्तम्। (८) अविनाभाविसाधनप्रयोगजनितः। (९) प्राश्निकादीनाम्। (१०) वादिवचनाज्जायमानायाः प्रतिपत्तेः सकाशात्। (११) प्राश्निकादिचेतसि। (१२) 'कसौटी' इत्याख्यः पाषाणः सुवर्णपरीक्षणोपयोगी। (१३) प्राश्निकाद्यपेक्षा। (१४) मार्गप्रकाशनस्य। (१५) छलादितः। (१६) स्वकृततत्त्वाध्यवसायम्। (१७) क्रियमाणं। (१८) संरक्षणम्। (१९) यदि सौगतादयः सप्रमाणकवाक्यात् तत्त्वं निराकुर्वन्ति। (२०) सभापतिना।

तेन 'एवं त्वया स्थातव्यम्, त्वया एवं सभ्यैश्च यथावृत्तमेव अस्मि निवेदनीयम्' इत्यलङ्घनीयमा ापनं कर्त्तव्यम्, तत्र सामर्थ्येऽसति पुनर्न स्यात् तच्छोधनेन तत्प्रभावना इति । कुतः ? इत्याह–स्वयमेव उद्धृत्य इत्यादि । न्यायवादिनमपि न्यायं वदति इत्येवंशीलगुणमपि वादिनं प्रतिवादिनं(नां) प्रतिक्षिपतां दर्शनात् । काभ्याम् ? इत्याह–व्यापारव्याहाराभ्याम् अहो-पुरुषिकया । किमर्थम् ? इत्याह–स्वयम् आत्मना वा अद्धृत्य (औद्धत्य) प्रच्छादनार्थम् । ५ ननु सभ्याः तन्निवारकाः, तान् उल्लङ्घयन्तं क्षिपतां दर्शनात् इति मन्यते । न्यायशास्त्रमेव तर्हि नियामकमिति चेत्; अत्राह–छल इत्यादि । *"वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्" [न्यायसू० १।२।१०] *"दूषणाभासास्तु जातयः" [न्यायबि० ३।१४०] *विप्रतिपत्तिर-प्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्" [न्यायसू० १।२।१९] एषां भेदो लक्षणं च नेह प्रतन्यते विस्तरभयाद् अन्यत्रैव तद् द्रष्टव्यम् इति केचित् (कैश्चित्) तैः साधनम् उपालम्भश्च १० यस्मिन् स तथोक्तः । कोऽसौ ? इत्याह–जल्पं इत्येवम् वादात् पृथगेव जल्पस्य कैश्चित् नैयायिकादिभिः लक्षणात्, [२२६ख] 'ताभ्यां तं प्रतिपक्षिपतां दर्शनाद्' इति सम्बन्धः ।

छलादीनाम् आक्रोशचपेटादिसमत्वादिति मन्यते । तथाहि–'आढ्योऽयं नवकम्बलवत्त्वात्' इत्युक्ते स प्रतिवादी उद्भावयति 'मा अस्य नव कम्बलाः किन्तु एकः' इत्यसिद्धो हेतुरिति; तत्रेदं चिन्त्यते–किं सम्यक् साधनप्रयोगे पुरः स ए (प्रयोगपुरस्सरे) तदुद्भावने प्रतिवादिनः पराजयः, १५ विपरीते वा ? तत्राद्यपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैव वादी प्रतिवादिनं विजयते किमन्येन ? यदि पुनः 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इति तदुद्भावनेनापि; तदसत्यम्; युक्त्या निगृहीते तद्वैफल्यात्, "विषोपयोगमृते सत्तोमहि (शत्रौ नहि) तद्व्यापादनाय स्वल्पचपेटादिकं युञ्जते । कथञ्चैवं हेत्वन्तरं निग्रहस्थानं न दूषणान्तरोद्भावनम् इति विभागः, यतो वादिनो युगपत् जयपराजयौ न स्याताम् ? तस्मात् नवकम्बलत्वादि [ति] हेत्वर्थस्य विवक्षितत्वात् नायमसिद्धो हेतुः । प्रकरणादि- २० भिश्च अनेकार्थेषु शब्देषु नियतार्थसंप्रत्ययः कर्त्तव्यः, अन्यथा सर्वशब्दानामनेकार्थत्वात् सर्वोऽपि एवं हेत्वादिः दुष्टः स्यात् 'नास्त्यत्र सीतस्यसो (शीतस्पर्शो) धूमकेतोः–शिखिनः' इत्यादि प्रयो-

(१) राज्ञा । (२) आज्ञापने । (३) मार्गप्रभावना । (४) नैयायिकैः । (५) "यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः"–न्यायसू० १।२।२ । (६) तुलना–"तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरुपहर्त्तव्यमेव छलादि विजिगीषुभिरिति चेत्; नखचपेटशस्त्रप्रहारादीपनादिभिरपि इति वक्तव्यम् । तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः ।"–वादन्या० पृ० ७१ । "लकुटचपेटादिभिस्तन्न्यक्कारस्यापि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वानुषङ्गात् ।"–न्यायकुमु० पृ० ३३८ । (७) "नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः । अत्र नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः । विग्रहे तु विशेषो न समासे । तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यार्थम्–नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवता इति कल्पयति । कल्पयित्वा चासंभवेन प्रतिषेधति एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बलाः इति ? तदिदं सामान्यशब्दे वाचि छलं वाक्छलमिति । अस्य प्रत्यवस्थानम्... । सोऽयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया परवाक्योपालम्भो न कल्पते इति ।"–न्यायभा० १।२।१२ । चरकसं० पृ० २६६ । उपायहृ० पृ० १५ । न्यायसा० पृ० १६ । न्यायकलि० पृ० ११ । (८) छलाद्युद्भावने । (९) प्रयोजनम् । (१०) प्रतिवादिनि । (११) छलादिप्रयोगवैयर्थ्यात् । (१२) "अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्"–न्यायसू० ५।२।६ । (१३) निग्रहस्थानमिति । (१४) 'अग्नेः' इत्यस्यार्थे 'शिखिनः' इति प्रयोगे क्रियमाणे कश्चित् शिखिशब्दं मयूरार्थकं मत्वा दूषयेत् ।

णेऽपि तदुद्भावनसंभवादिति। एवमसौ निवारणीयो न तावता निग्रहणीयः, समीचीनसाधनप्रयोगवैफल्यम् अन्यथा स्यादिति। भावे च सकृत् जयपराजयौ वादिनः। किं पुनरेवंवादिना तदुद्भावनं न कर्त्तव्यम्? 'न निग्रहबुद्ध्या प्रकृतदोषान् अपि तु निवारणबुद्ध्या' इति ब्रूमः। अनुद्भावने को दोषः? न कश्चित्, यदि हेतुं समर्थयते। 'निग्रहः' इत्यपरे[4]; तदसाम्प्रतम्;
५ यतः प्रतिवादिप्रयुक्तछलानुद्भावनं [२५७क] वादिनः पराजयाधिकरणं यदि स एव 'मया प्रयुक्तं छलं कृपया (त्वया) नोद्भावितमिति पर्यनुयोज्योपेक्षणात् निगृहीतोऽसि' इति व्यवस्थापयेत्; तर्हि तस्यैव तदुद्भावने[11] स्वयं स्वदोषोद्भावनात्। अस्ति वा स्वभावतदुद्भावनावस्थयोः विशेषः? दृश्यन्ते हि स्वयम् उद्भावितेनापि दोषेण निगृह्यमाणाः चौरप्रभृतयः। *"को हि स्वं कौपीनं विवृणुयात्" इति [12]वचनात् स्वयं तदुद्भावनायोगाच्च। अथ सभ्याः[13]; ते तर्हि यथा तदनुद्भावनं
१० तस्य[14] पराजयं व्यवस्थापयति (न्ति) तथा समीचीनसाधनवचनं जयमपि व्यवस्थापयन्तु। 'सह जयेतरौ स्यातामिति चेत्; [15]जाल्पिकस्यैव अयं दोषोऽपरोऽस्तु। अथ तदनुद्भावनदोषैः न साधनसमीचीनता स्यात्[16], स[17] दोषोऽपि मा भूत्; अहो मध्यस्थाः प्राश्निकाः यदल्पदोषेण महागुणमपि साधनमसमीचीनं मन्यन्ते, न पुनः [18]तद्गुणेन अल्पदोषम् 'अदोषम्' इति। तत्र आद्यपक्षे समीचीनसाधनप्रयोगपुरस्सरे छलोद्भावने वादी परं विजयत इति।

१५ नापि द्वितीये, द्वयोः समत्वात् कस्य विजयः? अपरस्यापि पराजयो वा स्यात्? यथैव प्रतिवादिनः छलप्रयोगो दोषः तथा वादिनः साधनाभासप्रयोगः[19]। यदि प्रतिवादी [20]तदुद्भावयेत् तथैव, अन्यथा स[21] एव पराजयवान् स्यात् यदि वादी जयवान् न चेत्, तयोः[22] परस्परापेक्षत्वात्। भवति इति चेत्; तत्र प्रतिवादिनः पर्यनुयोज्योपेक्षणमनुद्भाव्यते; तर्हि सोऽपि वा नो दोषमनुद्भाव्य जयति इति पुनरपि सकृत् जयेतरौ। यदि उद्भाव्य; वादी एव जीयते इत्युक्तं स्वदोष-
२० [२५७ख] प्रकाशनात्। अथ प्राश्निकाः वादिदोषानुद्भावनं (ने) प्रतिवादिनो निग्रहं कल्पयन्ति; ते एव वादिनः साधनाभासवचनेन प्रतिवादिनः छलवचनेन[23] इति तदवस्था युगपद् द्वयोर्जयेतरव्यवस्था। अथ तयोः परस्परदोषोद्भावनं प्रतीक्ष्य जयेतरव्यवस्थां ते[24] विरचयन्ति; [25]तदनुद्भावने का वार्त्ता? [26]तयोः साम्येन व्यवस्थापनमिति चेत्; कुत एतत्? अन्यतरस्यापि पक्षाऽसिद्धेरिति चेत्; तदुद्भावनेऽपि तदेव[27] अस्तु विशेषाऽभावात्, अन्योऽन्यदोषोद्भावनविशेषभावेऽपि प्रकृत-
२५ तत्त्वाऽपरिसमाप्तेः। नापि प्रत्येकं जयेतरप्राप्तिपरिहारः।

---

(१) छलोद्भावन। (२) अनेकार्थकशब्दप्रयोगमात्रेण। (३) छलोद्भावनम्। (४) नैयायिकाः। (५) तदा स्यात् यदा। (६) प्रतिवादी। (७) प्रतिवादिना। (८) वादिना। (९) "निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्।" –न्यायसू० ५।२।२१। निग्रहस्थाने कृतेऽपि 'निगृहीतोऽसि' इति अवचनात्। (१०) प्रतिवादिन एव। (११) स्वकृतछलाद्युद्भावने। (१२) तुलना–"एतच्च कस्य पराजय इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयम्, न खलु निग्रहं प्राप्तः स्वकौपीनं विवृणुयादिति।"–न्यायभा० ५।२।२१। (१३) वादिनः छलाद्यनुद्भावनमुद्भावयन्ति। (१४) वादिनः। (१५) छलादिप्रयोगं जल्पे स्वीकुर्वतो नैयायिकस्य। (१६) तर्हि। (१७) छलाद्यनुद्भावनम्। (१८) साधनगुणेन। (१९) दोषः। (२०) साधनाभासमुद्भावयेत्। (२१) प्रतिवादी। (२२) जय-पराजययोः। (२३) निग्रहं कल्पयन्तु। (२४) प्राश्निकाः। (२५) दोषानुद्भावने। (२६) वादिप्रतिवादिनोः। (२७) साम्येन व्यवस्थापनम्।

किञ्च, साधनाभाव(स)वादिना परस्य छले समुद्भाविते किं तस्य तद्वादिना[1](ता) नष्टा येन जयं व्यवस्थापयन्ति ? तदुद्भावनेन तिरोधानानुष्टा (नाम्नष्टा) इति चेत् ; तदुद्भावनमपि[2] साधन-दोषेस(ण) तिरोधानान्नष्टमिव किन्न स्यात् ? एवमेतत् , स[3] दोषो यदि प्रतिवादिनो ।योतान्-भावने (नोद्भाव्येत । अनुद्भावने) किं स्यात् प्रतिवादिनः ? सतोऽपि दोषस्याऽनुद्भावनं निग्रह इति चेत् ; तस्य तद्द्यां (तद्द्वयं) प्रसक्तम् तन्न वा[4], अन्यतरं दोषमुद्भाव्य वादिनो जय- ५
मिच्छतः अंशेन पर्यनुयोज्योपेक्षणप्रसक्तिः । उभयदोषप्रकाशनेऽप्युक्तम् । एकप्रकाशने नवरि [द्वि]तीयप्रकाशनमिति तत्तच्छलवादिन (नं नि)गृह्णाति ।

ननु यदा छलवादी दोषमुद्भावयति तदा का गतिः ? सकृज्जयेतरप्राप्तिः । यदि वादी छलमुद्भावयेदिति चेत ; तथा वादिनोऽपि तत्प्राप्तिप्रकाशनेऽपि तस्य दोषद्वयमायातम् , छलाप्रकाशं साधनाभासवचनं च । तत्र च चिन्तितं [२५८क] दूषणमनन्तरमेव । तस्मात् न साधनाभास- १०
वाद्यपि छलवादिनं विजयते । एतेन पूर्वपक्षवादी छलं वदन् परेण जीयते इति मतं चिन्तितम् , प्रकृतविकल्पद्वये तथैव दोषात ।

ननु छलं त्रिविधम्[5]–वाक्छलम , सामान्यछलम , उपचारछलं चेति । तत्र आद्यस्य व्याख्यानम्–स्वत्रम(स्वयम) *"अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायाद् अर्थान्तरकल्पना वाक्-छलम्" [न्यायसू० १।२।१२] अस्यायमर्थः–अविशेषेण प्रत्यग्र[6]-संख्याविशेषवाचिसामान्य- १५
शब्देन अभिहितेऽर्थे 'नवकम्बलत्वात' इति हेतोः वक्तुरभिप्रायात् तदा उक्त (तदुक्त)प्रत्यग्रकम्ब-लाप्तदि (लान यत) अर्थान्तरस्य नवसंख्योपेतार्थस्य कल्पना वाक्छलम् । यथा हि 'एषः नव-कम्बलत्वात्' इत्युक्ते 'कुतोऽस्य एककम्बलस्य नव कम्बलाः' इति वचनम् ।

सामान्यछलव्याख्यानसूत्रम्–*"संभवतोऽर्थस्य अतिसामान्ययोगादसद्भूतार्थकल्प-ना सामान्यछलम्" [न्यायसू० १।२।१३] संभवतः श्रूयमाणस्य अर्थस्य अतिसामान्य[7]- २०
योगात् अनैकान्तिकसामान्ययोगाद् असद्भूतार्थकल्पना तस्य अनेकस्य सामान्यस्य अहेतोः हेतुत्वकल्पना तया वचन व्याख्यातः (विघातः) स नो (सामान्य)छलम् । यथा 'ब्राह्मणोऽयं विद्याचरणसम्पन्नः' इत्युक्ते कश्चिदाह–'संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद्' इति तत्स्तुतिः[8] । तत्रापरः प्राह–यदि ब्राह्मणत्वं तत्सम्पदो हेतुः ज्ञापकः कारको वाऽस्य; व्रातोऽपि (व्रात्योऽपि[9]) द्विजः "तत्सम्पन्नः[10] स्यादिति । २५

उपचारछलव्याख्यानम्–*"धर्मविकल्पनिर्देशे अर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारछलम्" [न्यायसू० १।२।१४] अयमत्रार्थः–उपचरितार्थाभिधाने [२५८ख] प्रधानार्थकल्पनया वचन-व्याघातः तच्छलमिति । यथा 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्युक्ते 'न मञ्चाः क्रोशन्ति किन्तु तद्गताः पुरुषाः' इति । तदेतत् त्रिविधमपि छलं छलमात्रम् न निग्रहाय उक्तवत् ।

---

(१) साधनाभासवादिता ।(२) छलोद्भावनमपि । (३) साधनाभासदोषः । (४) अथवा किमपि न स्यादिति भावः । (५) "तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यछलमुपचारछलं चेति ।"–न्यायसू० १।२।११ । (६) प्रत्यग्रं नूतनम् । (७) "यद्विवक्षितमर्थमाप्नोति च अत्येति च तदतिसामान्यम् । यथा ब्राह्मणत्वं विद्याचरण-सम्पदं क्वचिदाप्नोति क्वचिदत्येति ।"–न्यायभा० १।२।१३ । (८) ब्राह्मणस्य प्रशंसा । (९) असंस्कृतोऽपि । (१०) विद्याचरणयुक्तः ।

एतेन जातिरपि व्याख्याता । का पुनरियं जातिः ? *"साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" [न्यायसू० १।२।१८] तत्र प्रत्यवस्थानं जातिः इति जातेः सामान्यलक्षणम् । §प्रेक्षणं प्रत्यवस्थानम्; प्रत्यवस्थानमात्रं (नमत्र) प्रतिषेधाभास इत्येके; तदसत्यम्; प्रत्यवस्थानशब्दस्य उत्तरसामान्यवचनस्य तदाभासे[2] असत्य(त्या)र्थादौ वृत्तिविरोधात् । न चात्र तदस्ति ।

५ यत्पुनरत्रोदाहरणमुक्तम्–'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटादिवत्' इत्युक्ते वैशेषिकेण; कश्चिदाह–यथा घटेऽनित्यत्वे सति कृतकत्वं दृष्टं तथा आकाशगुणत्वाभावेऽपि, तत इदमपि प्रसक्तम्–'न आकाशगुणः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' इति; प्रत्यवस्थानमात्रमेतत्; कथम् ? अप्रस्तुताकारत्वानागुणत्वबाधनेपि अतिन्य (अप्रस्तुताकाशगुणत्वबाधनेऽपि अनित्य) त्वाबाधनात् । आगमबाधोऽपि इत्येके । तत्र वैशेषिकस्य सुभाषितम् आगमबाधने सर्वत्र

१० *"आगमः प्रतिज्ञा" [न्यायभा० १।१।१] इत्यस्य विरोधात् । न च विभागेन तदागमत्वम्; अन्यत्रापि अनाश्वासापत्तेः । अनेन पूर्वहेतोर्व्याप्तेरखण्डनात् तन्मात्रम् इत्यपरे; तेषामखण्डितप्राप्तिका (व्याप्तिकात्) प्रकृतसाधनसमर्थात् [प्रा] क्तनादेव हेतोः जयेतरव्यवस्थानात् नेदं निग्रहस्थानम्, इतरथा तद्वैफल्यम् । द्वाभ्यां निग्रहेऽपि उक्तम् । [२५५क] कथं वा अनेन तद्व्याप्तेः अखण्डनम्, यावता घटादौ आकाशगुणत्वाभावसहचरितस्य कृतकत्वस्य

१५ वचनेऽपि यदि तेनेन (ते न) तद्व्याप्तिः अनित्यत्वेनापि न स्यात् इत्येवं तत्र प्रतिवादिनः अभिप्रायात् । पत्र (न च) वैशेषिकस्य सहदर्शनाद् अन्यद् व्याप्तिसाधकमस्ति ।

यत्पुनरुक्तम्–आकाशाऽप्रतिपत्तौ अप्रसिद्धविशेषणः पक्षः, शब्दगुणात् तत्प्रतिपत्तौ न तत्प्रतिषेध इति आकाशगुणत्वाभावेन न कृतकत्वस्य व्याप्तिः इति न पूर्वसमानता इति; तन्न युक्तम्; यतः आकाशस्य प्रतिपत्तावपि 'न शब्दात् प्रतिपत्तिः' इति निरूपयिष्यते, ततो यत्कि-

२० ञ्चिदेतत् ।

तस्या[4] विभागार्थम् *"साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्" [न्यायसू० १।२।१८] इत्येतत् । साधर्म्येणोक्ते हेतौ प्रत्यवस्थानं दर्शयति भाष्यकारः–*"उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः" [न्यायसू० १।१।३५] इति, अस्य उदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं 'जातिः' इति शेषः । तत्र उदाहरणम्–'क्रियावान् आत्मा क्रियाहेतुगुणयोगत्वात्[7] लोष्टवत्' इति । अत्राह परः–यदि

२५ क्रियावद्द्रव्यसाधर्म्यात् क्रियाहेतुगुणसम्बन्धात् तथा[8] आत्मा साध्यते; तर्हि तद्रव्यदभु (तद्वद्

(१) § एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः । (२) उत्तराभासे । (३) यतो न घटः आकाशगुणः । (४) जातेः । (५) "साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ।"–न्यायसू० १।२।१८ । (६) "साधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः प्रतिषेधः । निदर्शनं क्रियावानात्मा द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुणयोगात् । द्रव्यं लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तः क्रियावान् तथा चात्मा तस्मात् क्रियावानिति । एवमुपसंहृते परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते निष्क्रिय आत्मा विभुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वात् । विभु च आकाशं निष्क्रियं च, तथा चात्मा, तस्मान्निष्क्रियः इति । न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं न पुनरक्रियसाधर्म्यान्निष्क्रियेणेति विशेषहेत्वभावात् साधर्म्यसमः प्रतिषेधो भवति ।"–न्यायभा० ५।१।२ । (७) क्रियाहेतुगुणः अदृष्टम् । (८) क्रियावान् ।

विभु) त्वाद् अक्रियत्वमस्यास्तु विशेषाभावादिति । एतच्च असदुत्तरं पूर्वहेतुव्याप्त्यखण्डनात् । उपलक्षणमेतत्, तेन उदाहरणसाधर्म्येणापि प्रत्यवस्थानं जातिः । तद्यथा—'निष्क्रिय आत्मा विभुत्वाद् आकाशवत्' इति, अत्र प्रत्यवस्थानम्—'सक्रिय आत्मा क्रियाहेतुगुणयोगित्वात् लोष्टवत् अविशेषात्' इति । एतदपि तत एव [२५९ख] असदुत्तरम् । वैधर्म्येणोक्ते हेतौ प्रत्यवस्थानं दर्शयति स एव 'उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः' इत्यस्य उदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानं ५ 'जातिः' इति शेषः । यथा 'न चेतनायतनं तृणादयः प्राणादिरहितत्वात्, यत् पुनः चेतनायतनं तत् प्राणादिमद् दृष्टं [यथा] जीवच्छरीरम्' इत्यत्र यदि जीवच्छरीर[वैधर्म्यादचेतनत्वं तर्हि तत्]साधर्म्यात मूर्त्तत्वात् तृणादीनां चेतनत्वमस्तु विशेषहेत्वभावात इति । उपलक्षणमेतत्, तेन 'उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः' इत्यस्य उदाहरणवैधर्म्येणापि प्रत्यवस्थानं जातिः इति । तत्रोदाहरणम्—'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात, यदनित्यं न भवति [न तत् कृतकं] यथा आका- १० शम्' इत्युक्ते पर आह—यदि नित्यवैधर्यात् कृतकत्वाद् अनित्यः शब्दः तर्हि अनित्यवैधर्म्याद् अस्पर्शवत्त्वात नित्योऽस्तु । कथिता जातिः । [3]निग्रहस्थानानि पुनरत्रैव यथावसरं कथयिष्यन्ते ।

निगमयन्नाह—ततः चतुरङ्ग इत्यादि । **'समर्थवचनं जल्पं विदुः'** इत्युक्तम् । तत्र किं तस्य साधर्म्यम् (सामर्थ्यम्) ? इत्याह—**वचनस्यापि** इत्यादि । **वचनस्यापि** न केवलम् अध्यक्षलिङ्गयोरेव **सामर्थ्यम्** 'अस्ति' इति वाक्यशेषः । किम्भूतम ? इत्याह—**तदन्य** इत्यादि । १५ तच्छब्देन वादिप्रतिवादिनोः तत्त्वे प्रकृते परामृश्येति [ते इ] ति **तदन्यतरस्य** वादित्वम् (वादिनः) **तत्त्वस्य इतरस्य** वा यो **निर्णयः** स एव **अवसानं** पर्यन्तं यस्य तत् तथोक्तं न इतरकल्पितम् इति एवकारार्थः । वक्त्रभिप्राय सूतमेव (सूचनमेव) [२६०क] तत् तस्येति चेत ; तत्राह—[न] **पुनः नैव वक्त्रभिप्रायसूचनम्** । एवकारोऽत्रापि द्रष्टव्यः अवधारणार्थो वा पुनःशब्दोऽत्र । कुतः? इत्याह—**साधन** इत्यादि । **साधनं च दूषणं च तदाभासश्च** साधनदूषणमात्रं (णतदाभासाः) तेषां **व्यवस्था** २० अभिधानविकल्पात्मिका स्थितिः **तस्या वस्तुवत्व(तत्त्व) प्रतिबन्धात्** । अस्याऽयमर्थः—[4]वस्तु परमार्थसत् यत् साधनादितत्त्वं तत्र प्रतिबन्धाद् आयत्तत्वात् । एतदुक्तं भवति—साधनादिविकल्पः [5]तद्विषयः, अन्यथा ततः [6]तत्सिद्धेः तद्व्यवहारोच्छेदः, अविकल्पनिषेधात । अनिषेधेऽपि [न] ततोऽपि[7], इतरथा अकिञ्चित्करादेरपि तत्सिद्धेः 'कृतकः शब्दः अनित्यत्वात् घटादिवत्' इत्यपि स्यात् । तद्वि-कल्पप्रभवाश्च नितरां तद्विषयाः, इति निराकृतमेतत्—*[8]"विकल्पयोनयः शब्दाः" इत्यादि । २५

---

(१) पूर्वहेतोः व्याप्तेरखण्डनादेव । (२) भाष्यकारः । "वैधर्म्येण चोपसंहारे निष्क्रियः आत्मा विभुत्वात् । क्रियावद् द्रव्यमविभु दृष्टं यथा लोष्टः, न च तथात्मा तस्मान्निष्क्रियः इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं निष्क्रियं द्रव्यमाकाशं क्रियाहेतुगुणरहितं दृष्टम्, न तथा आत्मा तस्मान्निष्क्रिय इति । न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावद्वैधर्म्यात् निष्क्रियेण भवितव्यं न पुनरक्रियवैधर्म्यात् क्रियावतेति विशेषहेत्वभावात् वैधर्म्यसमः । अथ वैधर्म्यसमः-क्रियाहेतुगुणयुक्तो लोष्टः परिच्छिन्नो दृष्टः, न च तथात्मा तस्मान्न लोष्टवत् क्रियावानिति । न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं न पुनः क्रियावद्वैधर्म्यादक्रियेणेति विशेषहेत्वभावाद् वैधर्म्यसमः ।"—न्यायभा० ५।१।२ । (३) "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।"—न्यायसू० १।२।१९ । (४) वस्तुनि । (५) वस्तुविषयः । (६) वस्तुसिद्धेः । (७) अविकल्पाद् वस्तुसिद्धिः । (८) 'विकल्पाः शब्दयोनयः । तेषामन्योऽन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ।' इति शेषः। —न्यायकुमु० पृ० ५३७ टि० ७ ।

'वक्त्रभिप्राय' इत्यादिना परमतमाशङ्कते दूषयितुम् । वक्तुः साधनादिवादिनः **अभिप्रायः** साधनादिविकल्पः सूच्यते अभिलप्यते येन **तत्सूचनम् अभिधानं** तयोः समाहारलक्षणो द्वन्द्वः तस्य **सर्वत्र** साधनादिसद्भाववत् तदभावेऽपि **अविशेषात्** । एतदपि कुतः ? इत्याह–**प्रतिबन्धाभावात्** साधनादिभिः सह वक्त्रभिप्रायसूचनस्य तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणाऽविनाभावा [भावा]
५ त्कारणात् **कथं शब्दैः** उपलक्षणमेतत् , तेन विकल्पैः **स्वार्थस्य** साधनादिलक्षणस्य **प्रतिपादनमिति चेत्** ; अत्र परस्य स्ववचनविरोधं दर्शयितुं कारिकां **नोपनेयम्** इत्यादिकामाह–

[नोपनेयं क्वचित् किञ्चिदसिद्धं नापनीयते ।
वाचाऽङ्गं सूच्यते चेति वक्ता कथमनाकुलः ॥३॥

शब्दाः कथं कस्यचित् साधनमिति ब्रुवन् कथमवधेयवचनः ? तत्कृतां तत्त्वसि-
१० **द्धिमुपजीवतीति साधनाङ्गवचनाद् भूतदोषोद्भावनाद्वा । शक्तस्य सूचनं हेतुवचनं स्वयमशक्तमपि, साध्योक्तिः पुनः पारम्पर्येण नालमिति परः प्राकृतशक्तिः ।]**

क्वचित् शब्दादिधर्मिणि **किञ्चिद् असिद्धम्** अनित्यत्वादिकं **नोपनेयं** नोपढौकनीयम् । [२६०ख] कया ? **वाचा** अनित्यत्वशब्देन, साधनानर्थक्यम् अन्यथेति मन्यते । तत एव **कुतश्चित** शब्दादेः **किञ्चित्** नित्यत्वादिकं **नापनीयते** न निराक्रियते **वाचा** 'न नित्यः'
१५ इति वचनेन । तदुक्तं वि नि श्च ये–*"ते तर्हि क्वचित् किञ्चिद् उपनयतोऽपनयतो वा कथं कस्यचित् साधनम्" इति । किं तर्हि तया क्रियते ? इत्याह– **वाचाऽङ्गं** लिङ्गं **सूच्यते च** *"परार्थं तु अनुमानं स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्" [प्र० वार्तिकाल० ४।१] इति वचनाद् इत्येवं यो **वक्ता** स **कथम् अनाकुलः** आकुल एव पूर्वापरविरुद्धाऽभिधानात् । **'वाचा'** इति उपलक्षणम्, तेन विकल्पेनापि **'सूच्यते च'** इति वा उपलक्षणम् , तेन व्यवसीयते च ।
२० कारिकां विवरीतुमाह–**शब्दा** इत्यादि । **शब्दाः कथं** न कथञ्चित् **कस्यचित् साधनम्** इत्येवं **ब्रुवन्** सौगतः **कथमवधेयवचनः** ? कुतः ? इत्याह–**तत्कृतां** शब्दकृतां **तत्त्वस्य सिद्धिं** निर्णीतिम् **उपजीवति इति** हेतोः । एतदपि कुतः इत्याह–सिद्धिः **साधनं** तस्य **अङ्गं** निमित्तम् त्रिरूपं लिङ्गम् ; साध्यते अनेन इति वा साधनम्, अस्यां पक्षधर्मत्वादेः (दिः) अवयवः तस्य **वचनात्** प्रतिपादनात् 'शब्दैः' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । **भूतस्य** विद्यमानस्य **दोषस्य**
२५ असिद्धादेः **उद्भावनाद्वा** । इदमत्र तात्पर्यम्–साधनदूषणवचनेन तदप्रतिपादने साधनाङ्गस्य अवचनाद् दोषस्य च अनुद्भावनाद् अनर्थकवचनाच्च निग्रहप्राप्तिः तद्वक्तुः । प्रतिपादने अयं दोषः अनुषङ्गी इति ।

---

(१) तुलना–"तत्कृतां वस्तुसिद्धिमुपजीवति न तद्वाच्यतां चेति स्वदृष्टिरागमात्रमनवस्थानुषङ्गात् ।" –अष्टश० अष्टस० पृ० १३० । (२) पूर्वपक्षः–"साध्याभिधानात् पक्षोक्तिः पारम्पर्येण नाप्यलम् । शक्तस्य सूचकं हेतुवचोऽशक्तमपि स्वयम् ॥"–प्र० वा० ४।१७ । (३) वाचा । (४) "स्वेन दृष्टं स्वदृष्टं वादिप्रतिवादिभ्यां प्रतिपाद्यप्रतिपादकाभ्यां स्वदृष्टस्येत्यर्थः । यदि प्राश्निकाः तेषामधिकारात् । विप्रतिपत्तिनिरासस्तु सामर्थ्यादेव प्रसिद्धः । प्रकाश्यतेऽनेन स्वप्रतीतोऽर्थः परं प्रति । तच्च कायवाग्विज्ञप्तिरूपम् । तत्र स्वदृष्टोऽर्थः त्रिरूपं लिङ्गम् ।"–प्र० वार्तिकाल० ४।१ । (५) सिद्धौ । (६) साधनदूषणरूपपदार्थाकथने ।

स्यान्मतम्–*"**न ततः किञ्चित् कश्चित् प्रतिपादयति प्रतिपद्यते [२६१क] वा केवलं तैमिरिकद्वयवद् भ्रान्त्या शब्दत इदं मया अयं प्रतिपादितः अहं च प्रतिपन्नः इति वक्तुः प्रतिपत्तुश्च बुद्धिः जायते**" इति; तन्न सारम्; यतः कथमेवं स्वयं जानन्नेव शाब्द-व्यवहारम् अनुबाधेत संयोग्यादिव्यवहारवत् ? यथैवायं संयोग्यादिलिङ्गं[2] प्रतिबन्धाभावेन सव्यभिचारमुपलभ्य परिहृतवान् तथा शब्दं परिहरेत्। अथ तत्परित्यागे क्षणमपि जीवितुं न शक्यते इति तत्यामः (न तत्त्यागः) तत एव भविष्यच्छकटाद्यनुमाने कृत्तिकाद्युदयपरित्यागोऽपि मा भूत्। तथा च *"**अद्य आदित्योदयात् श्व आदित्य उदेता इति नानुमानं व्यभिचार-संभवात्**" इति प्लवते। यदि पुनः व्यवहारी तथाविधादपि शब्दात् लिङ्गादिकं प्रतिपद्यते इति तदर्था (र्थं) तदङ्गीकरणम्; अत एव संयोग्याद्यङ्गीकरणमस्तु। तदयम्[7] अप्रतिबद्धादपि शब्दात् लिङ्गं प्रतिपादयति न तथाविधाल्लिङ्गात् लिङ्गिनमिति प्राकृतशक्तिः। तैमिरिकोऽपि विज्ञाततैमिर-ज्ञानमिथ्यात्वो न ततो व्यवहारमारचयति, इतरथा विभ्रमज्ञाने प्र ज्ञा क र स्य पक्षत्रयस्थापने-मयुक्तं स्यात्–प्रतिपन्नव्यभिचारो न ततः प्रवर्त्तते अपि तु अनुमानात्, अन्यस्य जातवि-प्रलम्भस्य तरस्यत (नरस्य न) प्रमाणम् इति।

ननु तस्य शब्दादपि वस्तुप्रतिपत्तिं ततः तत्प्राप्तिं मन्यमानस्य तत् ज्ञानं प्रमाणं स्यात्, अयमस्यैव दोषोऽस्तु, अतो लिङ्गादिवत् शब्दादपि अनेन व्यवहारं कुर्वता[10] तद्वत्[11] तस्य [२६१ख] वस्तुतत्त्वप्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्य इति स्थितम्।

भवत्वेतत्, तथापि शब्दो लि[ङ्गं] गमयति न साध्यमिति चेत्; अत्राह–'**शक्तस्य सूचनम्**' इत्यादि। **शक्तस्य** साध्यज्ञापने लिङ्गस्य समर्थस्य **सूचनम्**। किम् ? इत्याह–**हेतुवचनं** त्रिरूपलिङ्गवाक्यम्। किम्भूतम् ? इत्याह–**अशक्तमपि** साध्यज्ञापनेऽसमर्थमपि **स्वयम्** आत्मना इति। साध्यं(ध्य)वचनं किंभूतम् ? इत्याह–**साध्योक्तिः** अनित्यः शब्दः इति प्रतिज्ञावचनम्

(१) शब्दात्। तुलना–"अनेन एतदपि निराकृतम्–अद्वैते कथं परप्रतिबोधनाय प्रवर्तते इति। स्वपरयोरस्यार्थस्यासिद्धेः। अयं परोऽहं न परः इति स्वसंवेदनमेवैतद् उदयमासादयति। नात्र परमार्थतो विभागः–अहं प्रश्नयिता परः कथयति। द्वयोरपि स्वाकारोपरक्तप्रत्ययसंवेदनमेवैतत् न तु विभागः स्वप्न-प्रत्ययवत् उन्मत्तप्रत्ययप्रलापवच्च। उन्मत्तस्तर्हि वादी कथं ततोऽद्वैतप्रतीतिरपि ? ननु सर्वप्रत्ययप्रलय एवायं प्रवर्तते नात्र प्रतीतेरुदयः। किं तर्हि प्रतिवादिनाऽन्येन वा कर्त्तव्यम् ? किं क्रियमाणं किञ्चिद् दृश्यते ?" –प्र० वार्तिकाल० पृ० २९३। (२) वैशेषिकाभिमतं। "संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च।" –वैशे० सू० ३।१।९। (३) अविनाभावाभावेन। (४) शब्दत्यागे। (५) "भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात्। श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति॥"-लघी० श्लो० १४। कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिक्लृप्तिवत्।"–मी० श्लो० पृ० ३५१। (६) व्यभिचारिणोऽपि। (७) बौद्धः। (८) अविनाभावशून्यात्। (९) "पीतशङ्खादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियावाप्तेरभावात्। संस्थान-मात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानं। तथाहि–प्रतिभास एवंभूतो यः स न संस्थानवर्जितः। एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत्॥ येन न कदाचिद् व्यभिचार उपलब्धः स यथाभिप्रेते विसंवादात् विसंवाद्यत एव। यस्तु व्यभिचारसंवेदी स विचार्य प्रवर्तते–संस्थानमात्रं तावत् प्राप्यते परत्र संदेहो विपर्ययो वा, ततोऽनुमानं संस्थाने संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च।…शब्दविषयं तु ज्ञानमभिप्रायनिवेदनात् प्रमाणं…"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५। (१०) लिङ्गादिवत्। (११) शब्दस्य।

पुनः न केवलं साधनात् साध्यसिद्धेः साक्षाद् अपि तु वचनवत् **पारम्पर्येणापि नाऽलं** साध्यप्रतिपादने न समर्था (र्थम्) साध्य(ध्या)प्रतिपादनाद् इत्येवं **परः प्राकृतशक्तिः** प्राकृता प्राकृते वा शक्तिः अस्य, शक्तवत् साध्यप्रतिपादनसंभवादिति मन्यते ।

न तु (ननु) लिङ्गस्यैव साध्यस्यापि प्रतिपादने वचनस्य सामर्थ्ये तत एव साध्यसिद्धेः ५ हेतुवैफल्यमिति चेत ; अत्राह–**सम्यग्विचारिना** इत्यादि ।

[सम्यग्विचारिना वाक्यवि[कल्पाः] तत्त्वगोचरम् ।
साध्यं पश्यद्भिरज्ञेयं प्रायः प्राकृतबुद्धिभिः ॥४॥

सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो विकल्पारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षत इति चेत् ; कथमर्थादेव लिङ्गादर्थगतिः ? कथञ्च धर्मधर्मितया भेद एव १० बुद्धिपरिकल्पितो नार्थोऽपि, विकल्पानामवस्तुसंस्पर्शाभ्युपगमात् । वस्त्वाश्रयत्वाद्वस्तुविषयत्वे कथं साध्याविनाभाविहेतुमन्तरेणानुपपन्नं हेतुवचनं तत्त्वविषयं न भवेत् ?]

सम्यक् साध्याविनाभाविसाधनोपन्यासेन **विचारिताः** परीक्षिताः **तत्त्वगोचरं** 'नयन्तः' इति वाक्यशेषः । के ? इत्याह–**वाक्यानां** कार्यभूताः अर्थ**विकल्पाः** । यदि वा, **वाक्यानि विकल्पाश्च** इति ग्राह्यम् । वाक्यग्रहणं तस्यैव[2] केवलवर्णपदपरिहारेण व्यव- १५ हारोपयोगप्रतिपादनार्थम् । विकल्पग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । यथा उक्तविधिना सम्यग् विचारिता विकल्पाः तत्त्वगोचराः तथा वाक्यान्यपि, 'रूपादिशब्दा निर्विषय(या) विकल्पयोनित्वात् प्रधा[3]नादिशब्दवत्' इत्यत्र हेतोः असिद्धतोद्भावनार्थं वा [२६२क] ।

सर्वेण अनेन एतदुक्तं भवति–शब्दोऽनित्य इति प्रतिपाद्यमाना अपि स्वसमयावष्टम्भाद्[4] २० अनर्थकान्यशब्दसाधर्म्याद्वा [न] प्रतिपद्यन्ते तानुद्दिश्य हेतूपन्यास इति; तर्हि हेतोरेव साध्यसिद्धेः किं साध्यनिर्देशनेति चेत् ? अत्राह–**'प्रायः'** इत्यादि । **प्रायो** बाहुल्येन क्षणिकत्वादिरूपेण न शब्दादिस्वभावेन यच्छब्दादि **साध्यम्** अनुमेयम तद**ज्ञेयम्** अपरिच्छेद्यम् । कैः ? इत्याह–**प्राकृतबुद्धिभिः** सौगतैः । तेषां ज्ञानं सर्वमविकल्पम्, विकल्पस्यापि स्वरूपवद् बहिरपि एत्तेः (निर्विकल्पकत्वापत्तेः) एकस्यै रूपद्वयविरोधात्[5] । किं कुर्वद्भिः ? इत्याह– २५ **पश्यद्भिः** इन्द्रियाणि तत्र व्यापारयद्भिः, इन्द्रियग्राह्यं न भवेदित्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति–यथा हेतोः सिध्यति[6] साध्ये तत्प्रतीत्यर्थं वक्त्रविग्रहमावहति तथा चक्षुरादिव्यापारोऽपि द्रष्टुः अविशेषात् । को हि विशेषो येन इन्द्रियमनर्थकं दोषाय, अपि तु वचनमेव । यदि पुनः लिङ्गाद् गम्यमानेऽप्यर्थे नेन्द्रियव्यापारा स्किरतं (व्यापारतिरस्कारः तद्) बुद्ध्युत्पत्तावपि नापरापरस्य तस्यै[7] वैफल्यं स्यात् । अथ धर्मिमात्रे तत्साफल्यान्नायं दोषः; ३० क्षणिकत्वादिधर्मे स्यात् । एकत्र गुणः सर्वत्र गुणं करोति न दोषो दोषमिति चिन्त्यमेतत् । ततोऽस्माद्दोषा- बिभ्यता प्रतिज्ञावचनमिव इन्द्रियमपि तत्र परिहरणीयम् । धर्म्यसिद्धिः स्यादिति

(१) वचनादेव । (२) वाक्यस्यैव । (३) सांख्याभिमत । (४) स्वमताग्रहात् । (५) एकस्य विकल्पस्य स्वरूपे निर्विकल्पकत्वं बहिरर्थे च विकल्पकत्वमिति रूपद्वयं न संभवति विरोधादित्यर्थः । (६) सति । (७) इन्द्रियव्यापारस्य ।

चेत्; अयमपरोऽस्य दोषोऽस्तु ।

कारिकाया उत्तरार्धस्य व्याख्यानमकृत्वा सुगमत्वात् पूर्वार्धं समर्थयितुं पूर्वपक्षयन्नाह–**सर्व**[1] **एव** [२६२ख] इत्यादि । **सर्व एव** कार्यहेतोः स्वभावहेतोर्वा **अयं** प्रतीयमानः **अनुमानानुमेय-व्यवहारो** लिङ्गलिङ्गिव्यवहारो **विकल्पारूढेन** विकल्पावभासिना । केन ? इत्याह–**धर्मः** सत्त्वादिः **धर्मी** शब्दादिः तयोः **न्यायः** *"**सर्वे भावाः स्वभावेन**" [प्र०वा० ३।३९] इत्यादि[2] *"**धर्मा-न्तरप्रतिक्षेपाऽप्रतिक्षेपौ**" इत्यादिश्च, तेन । तर्हि तद्विकल्पस्य वस्त्वाश्रयत्वात् तद्व्यवहारः पारमार्थिकः इति चेत् ? अत्राह–**न बहिरपेक्षते** तद्व्यवहारः । किम् ? इत्याह–**सदसत्त्वम्** । [3]**सत्त्वमसत्त्वं** च धर्मधर्मिणोः ; इत्यपेक्षते, विकल्पस्य निर्विषयत्वादिति मन्यते । **चेद्** इति पराभि-प्रायद्योतकः । तत्र दूषणमाह–**कथं** न कथंचित् **अर्थादेव** वस्तुभूतादेव **लिङ्गात्** सत्त्वधूमादेः न कल्पितात् पक्षसपक्षाऽन्यतरत्वादेः इति एवकारार्थस्य (रार्थः । **अर्थस्य**) अग्न्यादेः **गतिः** १० प्रतिपत्तिः ? इष्यते च परेण[4] *"**अर्थो हि अर्थं गमयति**" इति वचनात् । कथं ततः[5] सा[6] न स्यादिति चेत् ? उच्यते–यदा हि धर्मधर्मिविकल्पो निर्विषयः तदा धर्मी शब्दः तद्धर्माः सत्त्वादयः पक्षसपक्षान्यतरत्वादेर्नातिरिच्यन्ते इति ।

ननु उक्तमत्र धर्मधर्मितया भेद एव बुद्धिपरिकल्पितो नार्थोऽपि इति चेत् ; अत्राह–**कथं** च इत्यादि । **धर्मधर्मिणो**र्भावः तत्ता तया यो **भेदः** स **एव बुद्धिपरिकल्पितो नार्थेप्यर्थोपि** १५ **(नार्थोऽपि)** लिङ्गलिङ्गि [२६३क] लक्षणो न केवलं तत्तया भेद एव कथं वा न बुद्धिपरिकल्पितः किन्तु तत्कल्पित एव । कुतः ? इत्याह–**विकल्पानाम्** इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–उक्तविधिना न अन्तर्बहिर्वा निरंशोऽर्थः संभवति सांश च (सांशश्च) विकल्पविषयत्वात्, **विकल्पानां च** सौगतैः **अवस्तुसंस्पर्शाऽभ्युपगमात्** *"**विकल्पोऽवस्तुनिर्भा[सो वि]संवादादुपप्लवः**" [7]इति वचनात्, [न] **अर्थोऽपि 'बुद्धिपरिकल्पितः'** इति सम्बन्धः । पश्यतु प्र ज्ञा क र स्य २० *"**सर्वविकल्पातीतं प्रतिभासमात्रं तत्त्वम्**" [8]इति मतम् । [9]तस्य सत्त्वादयः अर्थरूपतयापि विकल्पिता भवन्ति नवेति चिन्त्यमेतत् । यदि भवन्ति ; कथम् *"**अर्थो हि अर्थं गमयति**" इति ध र्म की र्त्ति वचनम् असौ गच्छेत् ? भवन्तु तर्हि वस्तुविषयाः ते[10] इति चेत् ; अत्राह–**वस्तु** बहिरन्तश्च सांशो भावः **आश्रयः** कारणम् अवलम्ब्यं येषां तेषां भावात् तत्त्वात् । **वस्तुविषयत्वे** अङ्गीक्रियमाणे **'विकल्पानाम्'** इत्यनुवर्त्तते, **कथं** केन प्रकारेण **तत्त्वविषय (यं)** न **भवेत्** । २५ किम् ? इत्याह–**हेतुवचनम्** । किंभूतम् ? इत्याह–**हेतुमन्तरेण अनुपपन्नः** । किंभूतं **हेतुम्** ?

(१) "तथा चानुमानानुमेयव्यवहारोऽयं सर्वो हि बुद्धिपरिकल्पितो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभेदेनेति उक्तम्"–प्र० वा० स्ववृ० १।३। "आचार्यदिग्नागेनाप्येतदुक्तमित्याह–तथा चेत्यादि···"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० २४ । (२) "स्वस्वभावव्यवस्थितेः। स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः ॥" इति शेषः । (३) सत्त्वं धर्मस्य असत्त्वं च धर्मिणः । (४) "अर्थादर्थगतेः"–प्र० वा० ४।१५ । (५) विकल्पात् । (६) अर्थगतिः (७) "अथोक्तम्-विकल्पोऽवस्तुनिर्भासाद् विसंवादादुपप्लवः इति ।"–प्रश० कन्द० पृ० १९० । सन्मति० टी० पृ० ५०० । स्या०रत्ना०पृ०८२ । धर्मसं०पृ० १२४ । सर्वद० पृ० ४४ । (८) "विचार्यमाणं हि सकलमेव विशीर्यते नाद्वैतादपरं तत्त्वमस्ति"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३१ । (९) प्रज्ञाकरस्य । (१०) विकल्पाः ।

इत्याह—साध्य इत्यादि । वस्तुनो विकल्पाः ततः तद्वचनमिति मन्यते । अनेन पूर्वार्धं समर्थितम् ।

एवं तावत् लिङ्गलिङ्गिविकल्पानां केषाञ्चिद् बहिरर्थविषयत्वप्रतिपादनेन तज्जन्मनोऽभिधानस्यापि [1]तद्विषयत्वं प्रतिपादितम । संप्रति विवक्षाप्रभवत्वेन तस्य[2] [२६३ख] तद्विषयत्वं परेण[3] यदुक्तं [4]तत्पूर्वपक्षयित्वा निराकुर्वन्नाह—**विवक्षा** इत्यादि ।

५ **[विवक्षाप्रभावं वाक्यं स्वार्थे न प्रतिबध्यते ।**
तत्सूचितेन लिङ्गेन कथं तत्त्वव्यवस्थितिः ॥५॥

वक्त्रभिप्रायमात्रं वाक्यं सूचयतीत्यविशेषेणाक्षिपन् पारम्पर्येणापि न ततस्तत्त्वं प्रतिपद्येत । न च वक्त्रभिप्रायमेकान्तेन सूचयन्ति श्रुतिदुष्टादेः अन्यत एव प्रसिद्धेः ।

***"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः ।**
१० अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥"
[हेतुवि० श्लो० १]

इत्यादिना स्वयमनभिमतस्यापि वस्तुनः प्रतिपत्तेः । तथा अनेकार्थेषु केनार्थोऽयं विवेचितः येन वक्त्रभिप्राय एवार्थः । शब्दैः क्वचित् विसंवादात् स्वयमनाश्वासे किं शब्दविकल्पव्यभिचारचोदनया स्वल्पकल्पनया, ज्ञानमेव किन्न प्रतिक्षिपेत् ?]

१५ **विवक्षैव प्रभवः** कारणं यस्य 'प्रभवति अस्मात्' इति व्युत्पत्तेः, विवक्षाया वा प्रभवो यस्य, ततः प्रभवति इति वा यत् तथोक्तम् । किम् ? इत्याह—**वाक्यम्** । तत् किन्न क्रियते ? इत्याह—**न प्रतिबध्यते** । क्व ? इत्याह—**स्वार्थे** स्व आत्मीयो वादिनो हेतुरूपोऽर्थः तस्मिन्, इति काका अर्थोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्रोत्तरमाह—**तेन** वाक्येन यत् **सूचितं** तेन । केन ? **लिङ्गेन** विवक्षा विकल्पारूढा इति मन्यते । अन्यस्य तेन सूचनस्य परैः अनभ्युपगमात् **कथं** न कथञ्चित्
२० **तत्त्वस्य व्यवस्थितिः** इष्टस्य [क्षण]क्षयादेः । एतदुक्तं भवति—यत् तेन[5] विकल्पारूढं लिङ्गं सूचितं न तस्य तत्त्वे प्रतिबन्धः, यस्य[6] च तत्र प्रतिबन्धो न तत्तेन सूचितम् । न च अन्यस्य सूचने अन्यत्र प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिर्वा, अन्यथा स्व(अश्व)शब्देन अश्ववचने गवि सा[7] भवेत् । अथ तदारूढेण प्रयोजनाऽसिद्धेः [8]अन्यत्र सा भवेत्; तन्न; अतिप्रसङ्गात् । यदि पुनः तत्त्वतस्तेन सूचनेऽपि भ्रान्त्या [त्रि]रूपं लिङ्गं सूचितमिति प्रतिपत्तिः; सापि न युक्ता; अविषये भ्रान्तेरपि
२५ प्रतिपत्तेरयोगात्, इतरथा ततः अश्वशब्दात् गवि प्रतिपत्तिः स्यात् । असादृश्यान्नेति चेत्; किं पुनः विकल्पाकार-अर्थस्वभावयोः सादृश्यमस्ति ? तथा चेत्; प्रत्यक्षवद् विकल्पानामर्थविषयत्वं केन वार्यते ? प्रत्यक्षस्यापि सर्वथा [9]तदभावात् ।

यस्तु मन्यते—'तदभावेऽपि आन्तरोपप्लववशात् तथाप्रतिपत्तिः' इति; सापि न [२६४ क] तत्त्वदृष्टिः; यतः यद् यत्कार्यं तत् तदेव गमयति प्रतिबन्धात्, यथा धूमः अग्निम्, विवक्षाकार्यं

(१) बहिरर्थविषयत्वम् । (२) शब्दस्य । (३) बौद्धेन । (४) "शब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥३॥ "वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥४॥"—प्र० वा० १।३-४ । (५) शब्देन । (६) वस्तुभूतार्थस्य । (७) प्रतिपत्तिः । (८) वस्तुभूतेऽर्थे । (९) सादृश्याभावात् ।

च वाक्यम् । तथा यत् यत्कार्यं न भवति तद् भ्रान्त्यापि तन्न गमयति यथा स[1] एव धूमः अपावकम् , अकार्यं च वाक्यम् अर्थस्य इति । यदि पुनः तथापि तया तत् तत्र बुद्धिं जनयति कुतश्चित् प्रत्यासत्तेः ; तत एव तर्हि परमार्थतः किञ्चिद् तत्र[2] ज्ञानं करिष्यति, तद्विज्ञानं च तत्र प्रमाणं स्यात् अविसंवादाभिमानिनः यथा कुञ्चिकाविवरमणिज्ञानं मणौ ।

स्यान्मतम् , न वाक्यं कथञ्चिदपि अर्थे ज्ञानं जनयति विवक्षाया अन्यत्र, केवलं विकल्पान्तरमेवं जायते अतो वाक्यादर्थः प्रतीय [ते] इति ; न ; तथा क्रमप्रतीतेरभावात् पूर्वं वाक्याद् विवक्षाविकल्पः पुनः अर्थविकल्प इति । ततः स्थितम्–'**[तत्] सूचितेन लिङ्गेन कथं तत्त्वव्यवस्थितिः**' इति । ५

इदमपरं व्याख्यानम्–'**विवक्षाप्रभवमपि** इति 'अपि' शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । **वाक्यं स्वार्थेन** स्वाभिधेयवस्तुना **प्रतिबध्यते कथम्**' इति प्रश्ने **तत्सूचितेन लिङ्गेन तत्त्वव्यवस्थितिर्येनः** इत्युत्तरम् । १०

कारिकां विवृण्वन्नाह–**वक्त्रभिप्रायमात्रं** भवद्भिः अर्थं **वाक्यं सूचयति** इत्येवम् अविशेषेण **आक्षिपन्** क्रोडीकुर्वन् सौगतः **पारम्पर्येणापि** न केवलं सन्ते तो (साक्षात्) वाक्यात् तत्त्वं साध्यं वस्तु **न प्रतिपद्येत** । अथ 'वाक्यात् लिङ्गम्, अतः[3] तत्त्वम्' इति ; परार्थानुमानं स्यादिति मन्यते । द्वितीयं कारिकाव्याख्यानं व्यतिरेकमुखेण अनेनैव दर्शितम् , वक्त्रभिप्रायसूचकत्वं [२६४ख] वाक्यस्याभ्युपगम्य दूषणमुक्तम् , इदानीम् एकान्तेन तदपि नास्तीति दर्शयन्नाह–**नच** नैव **वक्त्रभिप्रायम् एकान्तेन** अवश्यम्भावेन **सूचयन्ति** सूच्यत इत्युत (इति । कुतः ?) इत्याह–**श्रुति** इत्यादि । **आदिशब्देन** अर्थान्तरगमनपरिग्रहः । यत्रापि '**श्रुतिर्दुष्टा (श्रुतिदुष्टा)देः**' इति पाठः, तत्र **आदिशब्देन** कल्पनादुष्टादिपरिग्रहः । **श्रुतिदुष्टादेः अन्यत एव प्रसिद्धेः** । आदिशब्दलब्धमर्थम् उदाहरन्नाह–**पक्षधर्म** इत्यादि । [4]पक्षो धर्मी अवयवे समुदायोपचारात् , तस्य **धर्मः तदंशेन** तस्य पक्षस्य अंशेन साध्यधर्मेण न तदेकदेशेन पक्षशब्देन समुदायावचनात् **व्याप्तो** व्याप्तियोगात् । [5]व्याप्तिश्च व्यापकगता तत्र यत्रासौ साधनधर्मो भाव एव[6] नाभावे (वः) । व्याप्यगता तत्रैव यत्रासौ साध्यधर्मो[7] नान्यत्र । किम् ? इत्याह–**पुनः** इति वितर्के **हेतुरेव** मनागपि [अ] हेतुर्न भवति इत्येवकारार्थः । कति प्रकारः ? इत्यत्राह–**स हि स हेतुः खलु त्रिधा** । कुतः ? इत्याह–**विरुद्ध** इत्यादि । १५ २० २५

अत्र चोद्यते–यदि पक्षधर्मः ; कथम् असिद्धः ? स्वयम् आश्रयस्य च सन्देहे असिद्धो (द्धे) वाऽसिद्ध उच्यते । न च तदा कस्यचित् पक्षधर्मता । तथा यदि तदंशेन व्याप्तः ; कथं विरुद्धोऽनैकान्तिको वा ? तदंशव्याप्तिवचनेन अन्वयव्यतिरेकयोरभिधानेन [8]तन्निरासात् । स हि विपक्षे सन् असन् सपक्षे विरुद्धः, उभयत्र सन् संभाव्यमानो वा अनैकान्तिकः, न चास्य तदं-

(१) अग्निकार्यः । (२) अकारणभूतार्थविषयकम् । (३) लिङ्गात् । (४) "पक्षो धर्मी अवयवे समुदायोपचारात्"–हेतुबि० पृ० ५२ । (५) "व्याप्तिर्हि व्यापकस्य तत्र भाव एव, व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ।"–हेतुबि० पृ० ५३ । (६) व्यापकस्य भाव एव नाभावः कदाचन । (७) वर्तते तत्रैव व्याप्यस्य भावः । (८) विरुद्धानैकान्तिकनिराकरणात् ।

शव्याप्तिरिति ; न ; परापेक्षया एवमभिधानात् । [1]परो हि सत्त्वादीनां पक्षधर्मत्वं तदंशव्याप्तिं च [अभ्युपगच्छति] कुतोऽनेक[illegible]तस्य [२६५क] प्रमाणता ? [2]ते न क्वचित् सत्त्वादिसंभवः इति असिद्ध उच्यते, अनेकान्त एव वा अस्य तत्रोद्विराद्धः (संभवाद्विरुद्धः) कल्पितस्य क्षणिकैकान्तवद् अक्षणिकैकान्तेऽपि[3] व्यभिचारी इति, यद्वक्ष्यति–

५ *"असिद्धः सि द्ध से न स्य विरुद्धो दे व न न्दि नः ।
द्वेधा स म न्त भ द्र स्य हेतुरेकान्तसाधने ॥" [सिद्धिवि० परि० ६] इति ।

ततः परपरिकल्पितात् कार्यादेः अपरे कार्यादयो मरणादौ साध्ये अरिष्टादयः[4] हेत्वाभासा न [हेतवः] 'भवन्ति' इत्यध्याहारः । कुतः ? इत्याह–अविनाभावनियमात् । अस्यैव व्याख्यानं तत इत्यादि ।

१० द्वितीयं व्याख्यानमाह–ततः परे [5]संयोग्यादयो हेत्वाभासा भवन्ति इति । कुतः ? इत्याह–अविनाभावनियमात् । अस्यायमर्थः–विना भाव्य (साध्य)मन्तरेण अभाव्य (व) नियमः सा[ध्या]भावे अभावनियमः, पुनः अस्य न ह्ययोगे (न चायोगे) साध्याभावेऽपि भाव इत्युक्तं भवति, तस्माद् इति । ततः किं जातम् ? इत्याह–स्वयम् आत्मना आदिना (अपिना) अनभिमतस्यापि न केवलम् अभिमतस्यैव वस्तुनः अर्थस्य प्रतिपत्तेः 'शब्देभ्यः' इति विभक्तिपरि-
१५ णामेन सम्बन्धः । न च वक्त्रभिप्रायम् एकान्तेन सूचयन्ति शब्दा इत्यपेक्षम् (क्ष्यम्) ।

ननु यद्यप्येवं भावना (भावेन) व्याख्यायते–यथा (तथा) ऽयमस्य अर्थो न भवति किन्तु वक्त्रभिप्रायोऽर्थः इति चेत् ; अत्राह–तत्त्व (तथा) इत्यादि । तथा तेन उक्तप्रकारेण अनेकार्थेषु शब्देषु सत्सु केन पुरुषेण प्रमाणेन वा अर्थोऽयं निर्दिश्यमानो विवेचितः पृथक्कृतः येन वितेत्रेन (विवेचनेन) वक्त्रभिप्राय एव नान्यः स्यादर्थः न केनचित् इत्यर्थः ।

२० एतेन [२६५ ख] [6]पत्रमपि चिन्तितम् ।

अथ कदाचिद् अर्थाभावेऽपि वृत्तेः अनर्थकाः शब्दाः ? इत्यत्राह–क्वचित् न सर्वत्र विसंवादात् वञ्चनात् । कैः ? इत्याह–शब्दैः संवादेऽपि बहुलं शब्दैः इत्यपेक्षम् (क्ष्यम्) स्वयम् आत्मना बौद्धेन अनाश्वासे क्रियमाणे किं स्वल्पकल्पनया । किंभूतया ? इत्याह–शब्दानां विकल्पानां व्यभिचारस्य चोदनं यस्यां तया । तर्हि किं कुर्यात् परः ? इत्याह–ज्ञानमेव
२५ विकल्पानाम् अनन्तरं निर्देशात् ज्ञानशब्देन 'दर्शनम्' इह गृह्यते, तदेव, न शब्दविकल्पानाम्[8], तत्प्रतिक्षेपेणैव तत्प्रतिक्षेपणात् [8]तन्मूलत्वात्तेषामिति मन्यते । किन्न प्रतिक्षिपेत् ? बहिः प्रतिक्षिपेदेव तस्य स्वप्नादौ अर्थाभावेऽपि दर्शनात् इत्येके[9] । येन स्वसंवेदनेन ज्ञानं 'ज्ञानम्' इति भवति तत् 'ज्ञानम्' इत्युच्यते, तदेव किन्न प्रतिक्षिपेत् ? द्वयनिर्भासवत् तत्रापि[10] अनाश्वासात् ।

एतदेव दर्शयन्नाह–[शक्यं हि वक्तुम्–

---

(१) बौद्धः । (२) बौद्धस्य । (३) सम्भवात् । (४) भाविकारणवादिप्रज्ञाकरकल्पिताः । (५) वैशेषिककल्पिताः । (६) पत्रवाक्यं ह्यनेकार्थं भवति । (७) व्यभिचारचोदनया । (८) दर्शनमूलत्वात् विकल्पानाम् । (९) प्रतिभासाद्वैतवादिनः । (१०) स्वसंवेदनेऽपि ।

साध्योपलब्धेः प्रत्यक्षं पारम्पर्येण नाप्यलम् ।
शक्तस्य सूचिका साक्षात् काचन सर्वा न कल्पना ॥६॥
परमार्थैकतानत्वे बुद्धीनामनिबन्धना ।
न स्यात्प्रतीतिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु ॥७॥

प्रमाणाभावे ज्ञानमेव किन्न प्रतिक्षिपेदिति । प्रतिक्षेपासिद्धिरिति वाक्यप्रतिक्षेपेऽपि ५
समानम् । तत्त्वप्रतिपत्तिं प्रति वाक्यविशेषैः अनुमानवृत्तौ व्यवहर्तारोऽतिशेरते नान्यथा ।
तत्कार्यव्यभिचारेऽपि यथा गमकत्वं तथा शब्दस्य ।]

शक्यं हि वक्तुम् इत्यादि । **हि** यस्मात् **शक्यं वक्तुम्** । किम् ? इत्याह–**साध्योपलब्धेः** साध्यस्य क्षणक्षयस्य स्वसंवेदनाऽनन्यवेद्यादेः या उपलब्धिः दृष्टिः साक्षात्करणं तस्याः **प्रत्यक्षं** [1]चतुर्विधम् अविकल्पदर्शनं **नाऽलम्** न समर्थम् । कथम् ? इत्याह–**पारम्पर्येण** १०
'अपि' शब्दोऽत्र व्याख्येयो भिन्नप्रक्रमन्यायात् । [न] केवलं साक्षाद् अपि तु पारम्पर्येणापि । तथाहि–न तावत् साक्षात्, परमार्थाभावेऽपि तत्प्रवृत्तेः उपप्लववदशायाम् । तथा सति यदवभासते न तत् परमार्थसत् यथा तैमिरिकोपलभ्यमानं [२६६क]केशोंड्र (शोण्डु) कादि, अवभासते च ज्ञानस्य स्वसंवेदनादि । न चैतन्मन्तव्यम्–केशोण्डुकादेः ज्ञानात्मकत्वे तत्सत्त्वात् साध्यविकलो दृष्टान्त इति ; सारूप्यनिषेधात्, ग्राह्यग्राहकाकारभेदप्रतीतेः अन्येन अन्यग्रहणाविरोधात् १५
जननवत् । अस्याभावे विज्ञानवादिनोऽनुमानाभावः । [2]तद्धि त्रिरूपलिङ्गजमिष्यते तदभावमभ्युपगच्छन् कथम् *"**यदवभासते तज्ज्ञानं यथा सुखादि अवभासते च नीलादिकम्**" इत्याद्यनुमानं वदेत् ? अस्य सांवृतत्वे कुतः अतो नीलादेः [3]भावतो ज्ञानत्वसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? अथ *"**यादृशो यक्षः तादृशो बलिः**" [4]इति वचनात् सापि ततस्तथा[5] नेष्यते[6] ; वस्तुतः किं नीलादिकमस्तु ? 'ज्ञानम्' इति चेत् ; कुतः प्रमाणात् ? अत एवेति चेत् ; हन्त हतोऽसि, २०
प्रकृतविरोधात् । यदि चेदमनुमानं परम्परयापि न [7]तत्र प्रतिबद्धम्, कथमस्य [8]तदव्यभिचारः ? तथापि तद्भावो (वे)

*"**लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।**
प्रतिबन्धात् तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥" [प्र०वा०२।८२] इति प्लवते ।

यदि पुनः परम्परया तत्कार्यत्वेनोपगमान्नायं दोषः ; तथा सति सर्वमनुमानम् अव्य- २५
भिचारम् [10]अत एव स्यादिति न तदाभासो नाम । ततोऽस्य तत्र प्रतिबन्धाऽभावे न अव्यभिचार इति नातस्तत्सिद्धिः । प्रत्यक्षत इति चेत् ; न ; तस्य तावति व्यापारे सामर्थ्याभावात् । न हि [11]इदं सर्वं नीलादि 'ज्ञानम्' इति प्रत्येतुमर्हति, अनेन[12] (अन्येन) अन्यग्रहणप्रसङ्गात् । न च

---

(१) इन्द्रियमनःस्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षभेदेन । (२) अनुमानम् । (३) परमार्थतः । (४) "अद्वैतेऽपि कथं वृत्तिरिति चोद्यं निराकृतम् । यथा बलिस्तथा यक्ष इति किं केन सङ्गतम् ॥"–प्र०वार्तिकाल० पृ० २९३ । (५) परमार्थतः । (६) इति चेत् । (७) स्वार्थे । (८) अनुमानस्य । (९) अर्थाव्यभिचारः । (१०) परम्परया तत्कार्यत्वात् । (११) प्रत्यक्षं । (१२) अन्येन=प्रत्यक्षेण ।

सर्वं नीलादि [illegible]द् बहिर्भूतम् इति युक्तिरस्ति ; अत्र ततोऽन्यस्यापि अनिवारणात् । [२६६ ख] भवदीयानुपलम्भमात्रस्य तद्भावसाधने साधर्म्यात् (नेऽसामर्थ्यात्), इतरथा सुखेन दुःखस्य अनुपलम्भादभावः स्यात् ।

ननु [न] मदीयमध्यक्षम् अशेषस्य नीलादेः ज्ञानात्मकत्वमवैति किन्तु स्वयं विषयीकृतस्य ५ इति चेत् ; न ; तत्र विवादात् । तथाहि–त्वत्प्रत्यक्षं नीलादिकमात्म[illegible]तं प्रत्येति इति कः प्रत्येति ? तदेवेति चेत् ; [1]अन्यस्य प्रत्यक्षं [2]तत् स्वतो भिन्नं प्रत्येति । तथा व (च) तत्तथा प्रतिपद्यमानमात्मानं प्रत्येति तदेवेति न विज्ञप्तिमात्रसिद्धिः । स कथमिदं परस्मै निवेदयति ? कथं केन प्रक्षेण (प्रत्यक्षेण) त्वदीयप्रत्यक्षस्य परप्रतिपत्त्यहेतुत्वात्, ज्ञानान्तरवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अन्यज्ञानस्य अधिपतिप्रत्ययो[3] भवतीति चेत् ; तर्हि तस्य केनचित् प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात् सर्वस्य भवेदिति १० न विवादो नाम भवेत् । न चैवं जैनान्[4] । कथं चैवं कार्यकारणभावो न भवेत्, यतः तद्वत् परेण परस्य ग्रहणं विरुद्धता न्ययापि (विरुध्येत । अपि) च प्रत्यक्षं तथा परप्रतिपत्तिहेतुः तथैव (नवेष) स्यात् । मम नेति चेत् ; भवदीयमन्यस्य न इति समानम् । नाप्यनुमानेन ; उक्तदोषात् ।

यत्पुनरेतत्–विवक्षितप्रत्यक्षात् नीलादेरभेदात् स्वात्मभूतमेव [5]तत् [6]तत्प्रत्येति इति तस्य ततोऽभेदः, कुतस्तेन[7] ग्रहणम् ? तद्यथा–यद् येन गृह्यते तत् तेन स्वात्मभूतं गृह्यते यथा स्वरूपम्, १५ गृह्यते च नीलादिकम् इति । न [illegible] उक्तम् (युक्तम्) । तत्र अस्य परप्रतिपादनोपायोऽस्ति । पराभावाश्च [8]स प्रतिपाद्यत इति चेत् ; तदेतद् अन्यत्रापि समानम् । शक्यं हि अन्येनापि वक्तुम् [२६७ क] अहं तावत् नीलादिकं स्वतो भिन्नं पश्यामि, न चान्यः प्रतिपत्ता अस्ति यो मया प्रतिपाद्यते, मां प्रति चोद्य स्वा (द्यं स्वी)करोति, प्रतिपक्षात् नः स्वार्थसिद्धिः ।

यत्पुनरेतत्–कथं स्वतो भिन्नं तत्[9] तत्प्रत्येति इति ? अभिन्नं कथं प्रत्येति ? तथादर्शनात्[10]; २० अन्यत्र समानम् । तन्न केशोण्डुकादिकं ज्ञानात्मकं युक्तम् । ततो बहिर्भूतस्य परमार्थसत्त्वे च न विज्ञप्तिमात्रं प्रत्यक्षलक्षणे[11] वा अभ्रान्तग्रहणम् अर्थवदिति । तत्त्वसत्त्वाऽसत्त्वविकल्पविकलतापि एतेन चिन्तिता । ततः तदभ्युपगच्छता बहिः तैमिरिककेशादेः असत्त्वमभ्युपगन्तव्यमिति न साध्यशून्यो दृष्टान्तः ।

ननु प्रत्यक्षे सच्चेतनादेः प्रतिभासने कथं न तदुपलब्धिः ? तत्समर्थमिति चेत् ; न ; २५ परमार्थोपलब्धिः (ब्धेः) विवक्षितत्वात् । अत एव साध्यग्रहणम् । भ्रान्तस्य साध्यत्वे क्लेशमात्रं भवेदिति । तत्तत् (तत्र) साक्षात् साध्योपलब्धेः प्रत्यक्षं समर्थम् । अत एव तद्विषयानुमानजनकत्वेन [illegible][12]; सर्वथा भ्रान्त्या तदनुत्पत्तेरिति मन्यते ।

---

(१) जैनस्य । (२) नीलादिकम् । (३) "चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम् । तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥"–माध्यमिकका० १।२। तुलना–"नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता । समनन्तरप्रत्ययात् बोधरूपता । चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययात् रूपग्रहणप्रतिनियमः । आलोकात् सहकारिप्रत्ययाद्धेतोः स्पष्टार्थता ।"–ब्र०शा०भामती २।२।१९।(४) प्रति विवादसद्भावात् । (५) प्रत्यक्षम् । (६) नीलादिकम् । (७) प्रत्यक्षेण नीलादेर्ग्रहणमिति भेदप्रयोगः । (८) परः । (९) [illegible] । (१०) इति चेत् । (११) कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षमित्यत्र । (१२) साध्योपलब्धौ प्रत्यक्षं न समर्थमिति ।

ननु ग्राह्याकारवत्, स्वरूपेऽपि विभ्रमे विभ्रमोऽपि न सिध्यति । ततस्तन्मात्रमस्तु इति चेत्; अत्राह—**शक्तस्य** इत्यादि । **शक्तस्य** लिङ्गस्य [सूचिका] ज्ञापिका **[का]चन कल्पना** न सर्वा, न सत् (न सा) । **साक्षात्** तत्सूचने समर्था तद्विषया इति यावत् । कल्पनाग्रहण-मुपलक्षणम्, तेन शब्दोऽपि गृह्यते । यदि वा, कार्ये कारणस्य [1]तत्र वा कार्यस्योपचारात् कल्पना-शब्देन शब्द उच्यते । एतदुक्तं भवति—यथा प्रतिभासाविशेषे स्वरूपपरिहारेण अन्यत्र [2]भ्रान्तं तथा ५ शक्त [२६७ख] सूचकशब्दविकल्पपरिहारेण प्रधानादिशब्दादिभ्रान्तत्वमिति ।

यत्पुनरेतत्[3]—**परमार्थैकतानत्व** इत्यादि । तत्र दूषणमाह—**परमार्थैकतानत्वे** इत्यादि । **परमार्थः** स्वलक्षणं तस्मिन् **एकः** प्रधानभूतः **तानः** तादात्म्यादिप्रतिबन्धो यासां तासां भावे **तत्त्वे** अङ्गीक्रियमाणे । कासाम् ? **बुद्धीनाम्** इति । तस्यां किं स्यात् ? इत्यत्राह—**स्यात्** भवेत् **प्रवृत्तिः** वर्त्तनम् । क ? **अर्थेषु** । किंभूतेषु ? **समयान्तरभेदिषु** बहिः परस्परविविक्ततनवः १० क्षणिका निरंशाः परमाणवो दर्शनविषया अन्तश्च अद्वयं वेदनम् इति दर्शनम् इह 'समयः' इत्युच्यते, नान्यः अप्रस्तावात्, ततोऽन्यः तदन्तरम् तद्भेत्तुं सौगतसमयाद् अन्यत्वेन व्यवस्था-पनशीलेषु, स्थिरस्थूलसाधारणादिस्वभावेषु समस्तवो (समतन्त्रो)क्तिन्यायात् । किंभूता ? इत्याह—**निर्निबन्धना** आलम्बनरहिता इत्यर्थः । ततो मन्यामहे—बहिरन्तश्च बुद्धीनामविशेषेण परमार्थै-कतानत्वं नास्तीति शब्दानां निर्विषयत्वं व्यवस्थापयितुकामस्य बुद्धीनां तदाजातं (तदायातम्)[4] अतः १५ *"अधिकार्थिन्याः पतितं तदपि च यत् पिञ्जने लग्नम् ।" इत्यापतितम् ।

बहिरन्तश्च कस्यचित् प्रमाणाभावात् तदभावसाधनं त्व (च) सिद्धसाधनमिति मन्यमानस्य प्रज्ञाकरस्य मतं पूर्वपक्षेणैव दूषयित्वा कारिकाद्वयस्य तात्पर्यं कथयन्नाह—**प्रमाणाभाव** इत्यादि । अस्यायमर्थः यदुक्तम्—'**ज्ञानमेव किं न प्रतिक्षिपेत्**' इति । तत्र तत्प्रतिक्षेपे प्रमाणप्रतिक्षेपो [२६८ क] ज्ञानात्मकत्वात् प्रमाणस्य, अस्य वा भावे **प्रतिक्षेपासिद्धिः** ज्ञानस्य अन्यस्य वा २० निरासाऽसिद्धिः । परमार्थसिद्धिवत् तत्प्रतिक्षेपसिद्धिरपि प्रमाणमन्तरेण नोपपद्यते । तदुक्तं न्याय विनिश्चये—*"**प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्**" [न्यायवि० १।४९] इत्यादि । ततो वेदनमात्रमस्तु इति मन्यते । इत्येवं चेत्; अत्राह—**वाक्यप्रतिक्षेपे**ऽपि वाक्यस्य सविषयत्वनिरासेऽपि न केवलं ज्ञानस्य **समानं** सदृशम् । न त्वरो क्रमे (?) । तदेव दर्शयन्नाह—**तत्त्व** इत्यादि । **तत्त्वस्य** [क्षण] क्षयादेः **प्रतिपत्तिं प्रति अनुमानस्य वृत्तौ** प्रवृत्तौ । २५

ननु च [6]तत्प्रतिपत्तिरेव अनुमानं तत्कथमिदमुच्यते इति चेत् ? न; उपचारेण अनु-मानशब्देन लिङ्गाभिधानात् । कैः ? इत्यत्राह—**वाक्यविशेषैः** त्रिरूपलिङ्गवचनैः । तस्यां किम् ? इत्याह—**व्यवहर्त्तुं** (**हर्तारो**)व्याख्यातारोऽपि तिसेरते (**अतिशेरते**) **नान्यथा** नाऽपरेण प्रकारेण । इदमत्र तात्पर्यम्—'सर्वं वाक्यं बहिरर्थशून्यम्' इति प्रतिपादयतो न तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम् । यदि पुनः 'यद्यत्राप्रतिबद्धं न तत्तत्र यथार्थप्रतीतिजनकं यथा धूमोऽपावके, बहिरर्थोऽप्रतिबद्धं च सर्वं वाक्यम्' ३०

---

(१) कारणे । (२) बहिरर्थे भ्रान्तं प्रत्यक्षम् । (३) "परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना । न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु ॥"—प्र० वा० ३।२०६ । (४) निर्विषयत्वं प्राप्तम् । (५) "प्रतीतिम-तिलङ्घयेत् । वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥" इति शेषः । (६) तत्त्वप्रतिपत्तिरेव ।

इत्यनुमानं तत्र प्रमाणम्। अस्य वाक्यस्य लिङ्गप्रतिपादने [1]प्रतिज्ञा स्ववचनविरोधिनी, तद्-अप्रतिपादने कुतः परस्य लिङ्गप्रतिपत्तिः इति।

परमुपहसन्नाह–तदयम् (तत्कार्य) इत्यादि। अग्न्यादेः काष्ठादिजन्मनोऽपि मण्यादेर्दर्शने तत्कार्यस्य व्यभिचारेऽपि यथा गम[क]त्वं तथा शब्दस्य क्वचिद् व्यभिचारेऽपि।

५ तद्दर्शयन्नाह–सामग्रीभ्य इत्यादि।

[सामग्रीभ्यो विचित्राभ्यः काष्ठादिभ्योऽग्निसंभवे।
प्रतिपद्यते यतस्तत्त्वं किं शब्दं त्यक्तुमर्हति ॥८॥

तत्त्वप्रतिपत्तेः···शाब्दम्···। स्वार्थानुमानेऽपि प्रयोगदर्शनम् अन्यथाऽयुक्तमेव।]

सामग्रीभ्यः कारणकलापेभ्यः। किंभूताभ्यः? [२६८ ख] **विचित्राभ्यः** भिन्न-
१० जातीयाभ्यः। पुनरपि किंभूताभ्यः? **काष्ठादिभ्यः** आदिशब्देन मण्यादिपरिग्रहः। तेन काष्ठादय एव विशिष्टाः सामग्रीशब्देन उच्यन्ते नान्या तेभ्यः सा[2] इति दर्शयति। यदि स्यात् काष्ठादीनाम् इति ब्रूयात्।

किंच, अस्या[3] एव कार्यनिष्पत्तेः काष्ठादिकम् अनर्थकं स्यात्। [न] चान्यत उत्पन्नं कार्यमन्यस्य युक्तम् अतिप्रसङ्गात्। अथ तत्सम्बन्धिन्या जनकत्वे तस्याः[4] तदपि जनकं तत्स-
१५ म्बन्धनाक (न)। कुतः? तत्र समवायात्। [5]अस्य सर्वगतत्वे कुतः कस्यचिदेव सा[6] इति चिन्त्यम्। यदि पुनः समवायसम्बन्धाविशेषेऽपि तत्सम्बन्धिविशेष इष्यते; इष्यतां भिन्ना सामग्री तु न सिध्यति। यथैव प्रत्यासत्त्या समवायाविशेषेऽपि केचिदेव काञ्चिदेव सामग्रीं बिभ्रति तथैव ते तत्कार्यं कुर्वन्तु [7]तया किम्? समवायनिषेधाच्च न तत्सम्बन्धिनी। कार्यत्वादिति चेत्; तां तर्हि काष्ठादयोऽस्वरूपेण जनयन्ति कार्ये कः प्रद्वेषः यतः [8]तत् ते न जनयन्ति?
२० अपरया सामग्र्येति चेत्; स एव दोषः, अनवस्था चेति। **अग्निसंभवे** अपिशब्दा तु (शब्दोऽत्र) द्रष्टव्यः संभावनायाम्। नहि अग्निवद् धूमस्यापि विजातीयभावे कार्यं लिङ्गं संभवति। तत्संभवेऽपि कार्यं **लिङ्गम्** *"सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति" इति न्यायात् न **शब्दः**। किम्? **लिङ्गम्** इत्यनुवर्तते। किंभूतः? इत्याह–**यतः** शब्दात् **तत्त्वं** लिङ्गलक्षणम् अन्यद्वा **प्र[ति]पद्यते** सौगतः। तथाहि–योऽर्थे सति भवति शब्दः सोऽन्यः,
२५ यश्च [9]तदभावे सोऽपि अन्यः। [२६९ क] *"सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति" इत्येतत् न सौगतकाककुलचर्वितम्। न चैतत् चोद्यम्–य एव घटशब्दो घटे सति दृश्यते स एव [10]तदभावे, तत्कथं लिङ्गमिति; तदेकत्वाऽसिद्धेः, [11]उभयोरपि देशादिभेदात् इति। सादृश्यम् अन्यत्रापि न वार्यते।

स्यान्मतम्–काष्ठादिजन्यस्य पावकेन मण्यादिजन्यस्य तस्य[12] न सादृश्यं कारणवैसादृश्यात्,

---

(१) वाक्यं न बहिरर्थप्रतिपादकमिति प्रतिज्ञा। (२) सामग्री। (३) सामग्र्याः। (४) सामग्र्याः। (५) समवायस्य। (६) सामग्री। (७) सामग्र्या। (८) कार्यम्। (९) अर्थाभावे। (१०) घटाभावे। (११) शब्दयोः। (१२) पावकस्य।

न [तादृशात्] । तादृशाद्धि जायमानं तादृशं नान्यथा । § तादृ[ग]न्यादृशव्याद्धि जायमानं तादृशन्नमधा § तादृ[ग]न्यादृशव्यवस्थैव न स्यादिति । तदेवदुत्तरं शब्देऽपि समानम् । यथैव च घटशब्दं समानं सर्वत्र जनो मन्यते तथा का[ष्ठ]मणिजातं वह्निम्, सदृशत्वद[र्श]नात् ।

यस्तु मन्यते–इन्धनात् पावको जायते, तदिन्धनं काष्ठवत् मणिरपि, तत्र तादृशादेव तादृशोद्भव इति । तत्र किमिदमिन्धनम् ? पावकजननयोग्यं वस्तु इति चेत्; तर्हि धूमोऽपि ५ तज्जननयोग्यात्[2]शक्रमूर्धादेर्भवन् तादृशात् तादृशः स्यात् । न चैतावता[3] शक्रमूर्धादिः अग्निर्भवति, इतरथा काष्ठं मणिः [4]स्याद[विशेषा]त् ।

अन्येषां तु दर्शनम्–वक्तरि शब्दः देशान्तरादौ अर्थः तत्कथं स लिङ्गम् । न हि महानसधूमो महोदधिदहनस्य लिङ्गम् । कथं तर्हि पर्णकाद्या(द्यादि) देशान्तरादि तल्ली(वल्ली) दाहस्य कथं वा अन्यत्र प्रसुप्तस्य अन्यत्र प्रबोधस्थानान्तरादिचेतसो यतः प्र ज्ञा क र स्य १० निरुपादानः प्रबोधो न भवेत् । स्वयं च जलचन्द्रादेः चन्द्रादेरनुमानमिच्छति, [यदि] द[ं] [२६९ख] दर्शनमवतिष्ठत (ते) ततो यत्किञ्चिदेतत् ।

ननु यदि कार्यं कारणं व्यभिचरति मा भूत् ततस्तदनुमानमिति चेत्; एतदेवाह–**सामग्रीभ्यः विचित्राभ्यः काष्ठादिभ्योऽग्निसंभवे** सति कार्यलिङ्गं तल्लिङ्गमेव [न] भवति । तत्रोत्तरमाह–**शब्द [म्]** इत्यादि । **यतः** शब्दात् **तत्त्वम्** अभिमतं वस्तु **प्रतिपद्यते** सौगतः १५ चार्वाको वा स शब्दः किम् ? अयमत्राऽभिप्रायः–उक्तदोषादनुमानं त्यजन्नपि **न शब्दं त्यक्तुमर्हति** मूकताप्राप्तेः । तदपरित्यागे कम (प्रत्यक्षादिकं) यद्यप्रमाणं न तत[5]ः तत्त्वं प्रतिपद्येत, अन्यथा कथं प्रेक्षावान् किमर्थं वा अन्यत्र प्रमाणान्वेषणम् ? प्रमाणं चेत्; सिद्धं नः समीहितम्, एवमर्थं चशब्दः । '**किम्**' इति सामान्यवचनम् ।

कारिकायाः प्रथमार्धस्य तात्पर्यमाह–'[त]त्त्वप्रतिपत्तेः' इत्यादिना । [द्विती]यस्य[7] आह २० '**शाब्दम्**' इत्यादिना ।

ननु शब्दात् तत्त्वप्रतिपत्तेरभावा[द]... हेतुरिति चेत्; अत्राह–[**स्वार्थानुमानेऽपि** इत्यादि] न केवलं परार्थानुमाने अपि तु **स्वार्थानुमानेऽपि प्रयोगदर्शनम् अन्यथा अन्येन** [8][प्रयो]गदर्शनम् अन्यथा अन्येन] तत्त्वप्रतिपत्त्यभावप्रकारेण **अयुक्तमेव** तत्प्रयोजनाभावादिति भावः । २५

इदं वा अन्यथा अयुक्तमेव इति दर्शयन्नाह–'**तत्त्व**' इत्यादि ।

[तत्त्वप्रत्यायनाद्वादी जयति प्रति[प]... ।
भूतदोषं समुद्भाव्य [यु]गपत्संभव ...याः ॥९॥

शब्देन वक्त्रभिप्राय[प्रत्या]यनेन वादी निगृह्यते तत्त्वतः साधनाङ्गावचनात्,

(१) § एतदन्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः । (२) वल्मीकात् । (३) धूमोत्पादकत्वात् । (४) अग्न्युत्पा· कत्वा[वि]शेषात् । (५) शब्दः । (६) अप्रमाणभूतप्रत्यक्षादेः । (७) द्वितीयार्धस्य तात्पर्यमाह । (८)] एतदन्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः ।

तथा प्रतिवाद्यपि भूतदो[illegible]। तत्त्वं प्रमाणतोऽप्रतिपादयतः असाधनाङ्गवचनं भूतदोषं समुद्भावयति [illegible] युगपन्निग्रहप्राप्तिः जयनात्। तत्र स्वपक्षसिद्धिमन्तरेण कस्यचिज्जयो नाम न्यूनतया'''मार्गप्रभावनालक्षणत्वाज्जयस्य। त[illegible]पक्षत्वमेव निग्रहस्थानम्। कस्यचित्तूर्ष्णीभावे तावता परस्य जयाभावात् कः केन निगृह्यते ?
५ साधनदूषणतदाभासानामन्यतरस्य तथोद्भाव्यमाने तूर्ष्णीभावस्यापि युगपत्संभवात्'।]

तत्त्वस्य तु (त्रि)रूपहेतुरूपस्य, यदि वा साध्यरूपस्य **प्रत्यायनाद्** सौगतो **जयति** 'प्रतिवादिनम्' इत्यध्याहारः। न केवलं वाद्येव अपि तु **प्रतिवाद्यपि** स एव जयति 'वादिनम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। [२७० क] किं कृत्वा ? इत्याह-**भूतदोषं** पारमार्थिकासिद्धादिदोषमुद्भाव्येत (**दोषं समुद्भाव्य** इति) **'अन्यथा अयुक्तमेव'** इत्यनुवर्तते, अन्यथा
१० प्रतिपत्त्यभावप्रकारेण तत्त्वप्रत्यायन-भूतदोषोद्भावनयोः अत्यन्तमसंभवात्। एतदेव दर्शयन्नाह- **युगपद्** इत्यदि। **युगपद्** एकदैव **संभवात् तयोः** जयपराजययोः। तथाहि-यथा सौगते समीचीनसाधनवति परः तद्विपरीतः पराजयवान् तथा सौगतोऽपि स्यात, सतोऽपि तत्साधनस्य तेनाऽवचनात्। तथा, यथा सदोषसाधनवादी वैशेषिकादिः निग्रहवान् प्रतिवादी बौद्धोऽपि तथैव, तेन दोषस्य सतोऽपि अनुद्भावनात्।

१५ अथवा, अन्यथा पूर्वपक्षयित्वा कारिकेयं पठितव्या। यदि शब्दो (सत्त्वं) हेतुः[1] [2]तत एव साध्यसिद्धेः, पुनः कृतकत्वाद्युपादाने हेत्वन्तरं[3] नाम निग्रहस्थानं स्यात्। एतेन शाब्दं प्रमाणान्तरं च इत्येतदपि निरूपितमिति; अत्राह-**तत्त्व** इत्यादि। नन्वेतत् **'सम्यग् विचारिता'** इत्यादिना[4] शक्यपरिहृतम्, किमर्थं पुनरा [ह ?] दूषणान्तरप्रतिपादनार्थम् इत्यदोषः। **वादी** जैनो **जयति**, प्रतिवादिनम्। कुतः ? इत्याह-**तत्त्वस्य** जीवादेः समीचीनसाधनप्रतिज्ञादिवचनेन
२० **प्रत्यायनात् प्रतिपाद्येपि (वाद्यपि)** सौगतो वादिनं **जयति**। किं कृत्वा ? **भूतदोषं** प्रतिज्ञादिवचनं परमार्थदूषण**मनुद्भाव्य (णं समुद्भाव्य)**। न चैतद् युक्तम् इति मन्यते। कुतः ? इत्याह-**युगपत् संभवात् तयोः** जयेतरयोः। तथाहि-यदैव वादी स्वाभिमतं युक्तितः [२७० ख] प्रतिपाद्य परं विजयते, तदैव परोऽनर्थकप्रतिज्ञादिवचनमुद्भाव्य[5], तत्र चैकदा संभवः।

२५ परार्थेन[6] कारिकां विवृण्वन्नाह-**वक्त्रभिप्राय** इत्यादि। **वक्त्रभिप्रायस्य सूचनं शब्देन** कार्यलिङ्गेन यज्ज्ञापनं तस्य **अङ्गीकरणे वादी** सौगतो **निगृह्यते** नैयायिकादिना। कुतः ? इत्याह-**सा[illegible]नाङ्गस्य** पक्षधर्मत्वादेः। यदि वा, साधनमेव अङ्गं साध्यप्रतिपत्तेः निमित्तम्। अथवा, सिद्धिः साधनं तस्य अङ्गं कारणं तस्य, **अवचनाद्** 'वादिना' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। कथम् ? इत्याह-**तत्त्वतः** परमार्थेन। नहि अन्यसूचकेन तत्त्वतोऽन्यः सूचितो
३० नाम अतिप्रसङ्गात्। **तथा** तेन प्रकारेण **प्रतिवाद्यपि** सौगतो **'निगृह्यते'** इत्यनुवर्त्तते। कुतः ?

(१) 'अनित्यः शब्दः सत्त्वात्' इत्यत्र। (२) सत्त्वादेव। (३) एकस्मादेव साध्यसिद्धौ द्वितीयहेतूपादाने हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति। "अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्।"-न्यायसू० ५।२।६। (४) पृ० ३२२। (५) वादिनं जयतीति सम्बन्धः। (६) द्वितीयार्थेन।

इत्याह्–भूत इत्यादि । [भूतस्य] सतोऽपि असिद्धादिदोषस्य अप्रकाशनात् ।

द्वितीयेन [1]तां व्याख्यातुकाम आह–तत्त्वम् इत्यादि । तत्त्वं प्रमाणतः [अ]वगम्य-यतः सौगतस्य प्रतिज्ञादि असाधनाङ्गवचनम् भूतदोषं समुद्भावयति ? काका व्याख्येय-मेतत् । 'यदि' शब्दो वा अत्र द्रष्टव्यः । कः ? इत्याह–प्रतिवादी इति हेतोः [2]युगपन्निग्रह-प्राप्तिः । कुतः ? इत्याह–जयनात् 'युगपद्' इत्यनुवर्त्तते, भूतदोषात् पराजयवत् तत्त्वप्रत्याय- ५ नात् जयोऽपि वादिनोऽवश्यंभावी इति मन्यते । उपसंहारमाह–यत एवं तत् तस्मात् न कस्यचित् जयो नाम । केन विना ? इत्याह–स्वपक्ष इत्यादि । केन कृत्वा ? इत्याह न्यूनता इत्यादि । कुतः ? इत्याह–मार्गस्य सम्यग्दर्शनादेः प्रभावना प्रकाशनं लक्षणं यस्य [तस्य] भावात् [२७१क] तत्त्वात् । कस्य ? जयस्य इति । यत एवं तस्मात् निराकृतपक्षत्वमेव निरा-कृतः पक्षो यस्य तस्य भावः तत्त्वमेव नान्यत् प्रतिज्ञादिकं निग्रहस्थानं वादिनः प्रतिवादिनो १० वा । तत्तु असम्यक्साधनवादिनि जैने सौगतस्य प्रतिज्ञादिवचनमुद्भावयतोऽपि अस्तीति स एव निगृह्यते इति भावः ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तं यदुक्तम्–*"पञ्चावयवोपपन्नः" [न्यायसू० १।२।१] इत्यत्र[3] नैया-यिकादिना अवयवन्यूनता-विपर्यास-आधिक्यं निग्रहस्थानम् इति; पर आह अत्य ल (ल्प)-मिदमुच्यते–'निराकृतपक्षत्वमेव निग्रहस्थानम्' इति; यावता तूष्णींभावोऽपि[4] तदिति चेत् ; १५ अत्राह–कस्यचित् वादिनः प्रतिवादिनो वा तूष्णीम्भावे सति तावता तूष्णीम्भावमात्रेण परस्य प्रतिवादिनो वादिनो वा जयाभावात् कः केन निगृह्यते । कुतः ? इत्याह–युगपद् इत्यादि । न केवलं साधनाऽसाधनाङ्गप्रतिज्ञादिवचनोद्भावनयोः युगपत् संभवः किन्तु तूष्णी-म्भावस्यापि युगपत् संभवात् । एतदुक्तं भवति–यदि वादिनः तूष्णीम्भावात् पराजयः तस्यापि कदाचित् तद्भावात् वादिनः संभवेदिति सकृज्जयेतरौ स्याताम् इति । २०

ननु कस्यचित् तूष्णीम्भावमात्रेण न परस्य तयो (तयोः प्रसङ्गः) येनायं दोषः स्यात् , अपि तु तथोद्भावयतः, न च द्वयोः तूष्णीम्भावे तदस्तीति चेत् ; अत्राह–साधन इत्यादि । साधने ये (साधनं च) दूषणं च असिद्धत्वादि, तद् इत्यनेन साधनदूषणं परामृश्यते तदिव आभासत इति तदाभासम् च तत्त्वतो (तेषाम्) असिद्धादेः (अन्यतरस्यापि) तथा भावेन उद्भाव्यमान (ने)

---

(१) कारिकाम् । (२) सौगत एव । (३) "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावय-वोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः" (न्यायसू० १।२।१) इति वादलक्षणे । "अनेन च 'हीनमन्यतमेना-प्यवयवेन न्यूनम्, हेतूदाहरणाधिकमधिकम्' इति न्यूनाधिकयोरुद्भावनमनुज्ञायते । सिद्धान्ताविरुद्धग्रह-णेनापि 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' इति विरुद्धाख्यहेत्वाभासोद्भावनमनुज्ञातमित्येवं वादे त्रीणि निग्रहस्थानान्युद्भावनीयानि । अन्ये वदन्ति–विरुद्ध एव हेत्वाभासो वादे चोद्यते नानैकान्तिकादिरिति कथमेतद् युज्यते ? 'निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुपदिष्टाः हेत्वाभासा वादे चोदनीया भविष्यन्ति' इति भाष्य-कारवचनात् प्रमाणपदेन च तन्मूलावयवाक्षेपात् प्रमाणाभासमूलनिरासे सति सकलहेत्वाभासोद्भावनमपि तत्र सिद्धमिति । सिद्धान्ताविरुद्धग्रहणेन सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्त 'इत्यप-सिद्धान्ताख्यनिग्रहस्थानानि वादे उद्भाव्यन्त इति ।"–न्यायम० प्रमे० पृ० १५० । (४) निग्रहस्थानम् । (५) प्रतिवादिनोऽपि । (६) तूष्णीम्भावात् । (७) जयः । (८) उद्भावनमस्ति ।

तयोश्च 'युगपत् संभवात्' इति सम्बन्धः । एवं मन्यते वादिना [२७१ख] असिद्धादीनां साधनदोषाणाम् अन्येन्य तस्मिन् (अन्यतरस्मिन्) प्रयुक्ते तन्नोद्भावयति परः किन्तु अन्यमेव यदा; तदा कस्य जयः पराजयो वा ? न कस्यचित्, अन्यथा द्वयोरपि सकृत् स्यात्, समतैव तु न्याय्या । क एवं व्यवस्थापयति ? 'सभा' इति चेत्; कुतः ? द्वयोरपि तत्त्वसिद्धेरभावात्,

५ एकस्यै दुष्टसाधनवचनाद् अन्यस्यै अन्यदोषप्रकाशनात् । सैव तर्हि तूष्णीम्भावमात्रप्रकाशनेऽपि, कस्यचिदिष्टसिद्धेरभावात् अन्यथा साधनोपयोगाभावं तयोः समतां व्यवस्थापयितुमर्हति । यदि पुनः वादिनः तद्दोषप्रकाशनाद् इतरो जयवान् इत्युच्यते; तिष्ठतु तावदेतद् '**असाधनाङ्ग**' इत्यादि कारिकया निरूपयिष्यमाणत्वात् ।

यदा परस्य अन्यदोषोद्भावनमुद्भाव्यते तदा वादी जयति इत्येके; तत् केन उद्भाव्यते ?

१० वादिनेति चेत्; सकृज्जयेतरौ, परस्येव आत्मनोऽपि दोषस्य तेनैव प्रकाशनात् । एतेन 'सभया' इति निरस्तम्; सा हि यथा (यदा) वादिनोऽपि सन्तं दोषं नोपलक्ष्यते (नोपलक्षयति तदा) अमध्यस्थताप्रसङ्गादिति ।

अत्रैव दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–**असाधनाङ्ग** इत्यादि ।

[असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।

१५ **निग्रहस्थानमिष्टं चेत्[6] किं पुनः साध्यसाधनैः ॥१०॥**

वादिनस्तूष्णींभावादसाधनाङ्गवचनाच्च निग्रहस्थानपर्यन्तजल्पपरिसमाप्तौ समम् ।]

असाधनाङ्गस्य (साधनाङ्गस्य **अवचनम्**) अनुच्चारणं तूष्णीम्भावः **अदोषोद्भावनं** दोषस्य सतोऽपि अप्रकाशनम् उपेक्षणं **द्वयोः** याथासङ्ख्येन वादिप्रतिवादिनोः **निग्रहस्थानम् इष्टं चेत्** यदि [किं न] किञ्चित् **साध्यैः साधनैश्च** 'ज्ञातैः' इत्यध्याहारः । ध्यात्र

२० (व्यक्त्य)पेक्षया उभयत्र बहुवचनम् । **पुनः** इति वितर्के । इदमत्र तात्पर्यम्–तत्परिज्ञानं यदि स्वार्थमेव; परप्रतिपादनाऽसंभवात्, कुतः कस्यचित् क [२७२क] कारुणिकत्वं यतः शिष्योपाध्यायव्यवस्था । प्रतिपादकाभावे वा कथं कस्यचित् तत्परिज्ञानम् इत्यपि चिन्त्यम् । स्वत इति चेत्; सर्वस्य स्यादिति शास्त्रप्रणयनमनर्थकम् । परार्थम् अपै (वै)ति चेत्; किमर्थं तूष्णीम्भूतः कश्चित् निगृह्यते ? स तावत् प्रतिपादनीयो यावत् तत्त्वं प्रतिपद्यते अन्यथा किमर्थंतॄरेवा (किमर्थ-

२५ मेवम)भिधीयते–*"तावद् अभिधानीयं यावत् प्रतिपाद्यः प्रतिपद्यते ।" इति सुभाषितं स्यात् ।

कथं परोपन्यस्तमजान [न्] तैः पुनः पुनः प्रतिपाद्यते न पुनः स्वसाधनम् इति कोऽयं नियोगः–अन्यः सर्वः प्रतिपाद्यते न वादी प्रतिवादी वेति च । 'दस्युत्वात्' इति चेत्; कथं

---

(१) प्रतिवादी । (२) वादिनः । (३) प्रतिवादिनः । (४) सभा एव । (५) प्रतिवादिनः । (६) पूर्वपक्षः–"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः । निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥"–वादन्या० श्लो० १ ।

दस्युता ? समयान्तरावेशा[1]; तेन एव [illegible] तदावेशपरित्यागेन प्रतिपा[illegible] समावेशो यथा स्यात् । दृश्यन्ते हि समयान्तरा[illegible] पक्षिणोऽपि तत्र विशेषप्रतिपादनवशा[illegible] अन्यमता[illegible]-सारिणो भवन्तः । केचित् न सर्वे इति चेत् ; न तर्हि कश्चित् प्रतिपाद्यः, नहि अन्योऽपि प्रतिपाद्यमानोऽभाष्ट[illegible] एव वर्त्तते, तत्राप्रवर्त्तनस्य कस्यचित् समयान्तरे प्रवर्त्तनस्य च दर्शनात् । कथमेवं शिष्टादिः दस्युर्न भवेत् वादप्रवृत्तिकाले तैत्समावेशात्, इतरथा तत्र प्रवृत्तिः कुतः ? ५ सर्वदा नेति चेत् ; अन्ययोपि (अन्यस्यापि) सर्वदा स इति कुतो निश्चयः ? एतेन बोधकृत् शिष्योऽपि दस्युः स्यादिति विज्ञेयम् । अथ निग्रहबुद्ध्या प्रवृत्तेर्दस्युता; उक्तमत्र शिष्टादेः स्यात् ।

किञ्च, तूष्णमासीनो यदि वादी[5] दस्युत्वान्न प्रतिबोध्यते,. केवलं न (नि)गृह्यते; तर्हि वादिनाऽपि अनेन परोऽत एव न समीचीनसाधनात् प्रतिबोधनीयः, तं प्रति मौनं [२७२ख] विधातव्यं यत्किञ्चिद्वा भाषणीयम् । एवं सति स एव निगृह्णीति (निगृह्णातीति) चेत् ; तत्र १० ठकप्रयोगः कर्त्तव्यः यतोऽसौ वि[6]मुखो भवति, तत्परिज्ञानाय च ठकाः सेवनीयाः वादं चिकीर्षुभिः, न साधनपरिज्ञानार्थं तत्त्ववादिनः । ततस्तत्प्रयोगात्[7] निर्मुखीभूत एवं वक्तव्यः पर्यनुयोज्योऽपि अहमुपेक्षितस्त्वया ततो निगृहीतोऽसि इति । तया असाधुता स्यादिति चेत् ; न; दस्युनिग्रहे तदयोगात्, अन्यत्र समत्वात् ।

इदमपरं व्याख्यानम्–**साधनाङ्गं यत्र** भवति तस्य **वचनम्, दोषो** यो **न** भवति १५ तस्य **उद्भावनं द्वयोर्निग्रहस्थानम् इष्टं चेत् किं पुनः साध्यसाधनैः** इति । तथाहि– प्रतिज्ञादिवचनम् असिद्धादिवचनं च भूतदोषमुद्भाव्य वादिनि निगृहीते पुनः पुनः स्वपक्षसाधनाय प्रतिवादिनः प्रयासो निग्रहस्थानं स्यात् । तथाऽभूतदोषोद्भावनमुद्भाव्य प्रतिवादिनि वादिना निर्जिते पुनः तस्य स्वपक्षसाधनं[10]तादृशमेवेति ।

परः पुनरेतत् परिहरति–नैव कश्चित् निग्रहोत्तरकालं स्वपक्षसिद्धये यतते प्रयोजनाभावा[illegible], २० *"**वादिना उभयं कर्त्तव्यम् स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणम्**" इति[11] तु वादिप्रवृत्तिनियमार्थम् । वादिना हि [न] यत्किञ्चन भाषणीयम् अपि तु स्वपरपक्षयोः साधनदूषणे, 'वादिना' इति वचनात्, इतरथा तस्य निग्रहः स्यादिति; तन्न सारम् ; यतः नासाधनाङ्गं विरुद्धसाधनमत्र गृह्यते, तस्य पक्षसाधनैकत्वेन (परपक्षसाधकत्वेन) साधनाङ्गत्वात् , ततो निग्रहस्याभिमतत्वात्, '**तस्मात् निराकृतपक्षत्वमेव निग्रहस्थानम्**' इति वचनात् , अपि तु *"[12][illegible]-२५ [२७३क] **तद्वचनम् असाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रहस्थानम्** ।" [वादन्या० पृ० ६६] कुत एतत् ? ततः तत्पक्षासिद्धेरिति चेत्; किं पुनः परस्य पक्षसिद्धिरस्ति यतोऽसौ विजयी ? न च तज्जयमन्तरेण इतरस्य निग्रहो नाम, परस्परापेक्षत्वात् जयपराजययोः । न स्वपक्षसिद्ध्या

---

(१) चेत्; । (२) समयान्तरप्रवेशार्थमेव । (३) स्वमतावेशात् । (४) वादे । (५) प्रतिवादी । (६) मूकः । (७) ठकप्रयोगात् । (८) वाग्[illegible]नोः । (९) वादिनः । (१०) निग्रहायैव । (११) "तस्माज्जिगीषता स्वपक्षश्च स्थापनीयः परपक्षश्च निराकर्त्तव्यः ।"–वादन्या० पृ० ७२ । (१२) "साधनस्य सिद्धेर्यदङ्गम् असिद्धो विरुद्धोऽनैकान्तिको वा हेत्वाभासः तस्यापि वचनं वादिनो निग्रहस्थानम् असमर्थोपादानात् ।"–वादन्या० पृ० ६६ ।

परो वादिनमभिभवति किन्तु तद्वचनदोषमात्रात् । न चैवं भ्रूनर्त्तनादेरपि अभिभवेद् अविशेषात् । भवत्येव ततः परपक्षसिद्धिरिति चेत् ; न; इतरदोषमात्रात् तदयोगात् , अन्यथा साध्यस्य यानि साधनानि तदविनाभावीनि तैः किम् ? कथं चैवं वादिनो असिद्धादिः विरुद्धाद् विशिष्येत ?

ततः स्थितम्–**असाधनाङ्गस्य वचनं** वादिनो निग्रहस्थानम् **इष्टं चेत् किं पुनः**
५ **साध्यसाधनैः** इति । तथा **अदोषस्य उद्भावनं** प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं चिन्त्यम् । यदा हि वादिना अकलङ्कसाधने उपन्यस्ते परोऽदोषो (षे) दोषमुद्भावयति; तदा तत एव चेदसौ[२] निगृह्येत **किं साध्यसाधनैः** साध्यस्य सिद्धये यानि साधनानि उपन्यस्तानि तैः न किञ्चित् । परनिग्रहाय तदुपन्यासः स च अन्यतः एव जात इति मन्यते । ननु तदभावे[५] अदोषोद्भावनमेव न ज्ञायते; तस्य अन्यथापि परिज्ञानात् ।

१० किंच, सम्यक्साधनप्रयोगे यदा परो दोषं नोद्भावयति तदा कुतोऽसौ[६] निगृह्यते ? तत्प्रयोगादिति चेत् ; तत एव अदोषोद्भावनेऽपि निगृह्यताम् । नहि तत्प्रयोगः तदा तत्प्रयोगो भवति, अन्यथा अदोषोद्भावनमपि दुरन्वयम् । अथाभ्य(न्य)त एव निग्रहे किं ततः तेन ? त (तत) एव तद्भावे किमन्यतः तेन इति समानम् । [२७३ख] अत एव आह–**किं पुनः साध्यसाधनैः** इति । अस्यायमर्थः–अदोषोद्भावनं परस्य निग्रहस्थानमिष्टं चेत् ; **किं पुनः साध्य-**
१५ **साधनैः** तत् ? 'इष्टम्' इत्यनुवर्त्तते । इष्टं चेत् ; अदोषोद्भावनमनर्थकमिति मन्यते ।

स्यान्मतम्–अदोषोद्भावनं सदपि चेद् वादी निग्रहं नोद्भावयते; तर्हि पर्यनुयोज्योपेक्षणात् स एव निगृह्यते निराकृतपक्षत्वात् । तदुद्भावनेऽपि सर्वं समानम् । तदुभ[यस्य निग्रह] स्थानमिष्टमिति चेत् ; आस्तां तावदेतत् **'वादिनोऽनेकहेतूक्तौ'** [सिद्धिवि० परि०५] इत्यादिना निरूपयिष्यमाणत्वात् ।

२० अपरः प्राह–न साधुसाधनप्रयोगे अदोषोद्भावनं निग्रहस्थानमिष्टम् , अपि तु तद्विपरीतप्रयोगे इति; तत्राह–**किं पुनः साध्यसाधनैः** इति । तात्पर्यमिदमत्र–वादिना हेत्वाभासे प्रयुक्ते प्रतिवादिना च अदोषे समुद्भाविते न वादी प्रतिवादिनं निगृह्णाति; सदोषचेतनस्य (सदोषत्वेन तस्य) जयाभावात् , न तमन्तरेण इतरस्य निग्रहो नाम । तथा सति प्रतिवाद्यपि वादिनं निगृह्णीयादिति युगपत् जयेतरौ स्याताम् , ततः तयोः समतैव युक्ता । तथापि प्रतिवादिन एव
२५ स्थापयन्तः कथं प्राश्निका मध्यस्था यतो वादे अपेक्ष(क्ष्य)न्ते ? साध्यं साध्यते येषु तैः **साध्यसाधनैः** सभ्यैः **किम्** इति ।

ननु स्यात् समता यदि वादी प्रतिवादिनः अदोषोद्भावनं नाविर्भावयेत , आविर्भावने तु मतं न यतीति (सं[१०] तं[११] जयतीति) चेत् ; तत्रेदं चिन्त्यते–स्वदोषं प्रकाश्य, अन्यथा वा[१२]तदाविर्भावयेदिति ? तत्र न तावदन्त्यः पक्षः; स्वदोषाऽप्रकाशने 'मया प्रयुक्तो दोषः अनेन [२७४क]
३० नोद्भावितोऽपि कृत्य (तु अन्य) इति ज्ञातुमशक्तेः । नापि आद्यः; 'स्वयं स्वदोषप्रकाशनात्

(१) वादिपक्षे दोषोद्भावनात् । (२) प्रतिवादी । (३) साधनोपन्यासः । (४) अदोषोद्भावनादेव । (५) साधनाभावे । (६) प्रतिवादी । (७) सम्यक्साधनप्रयोगात् । (८) तदैव । (९) वादी । (१०) वादी । (११) प्रतिवादिनम् । (१२) तस्य प्रतिवादिनः अदोषोद्भावनमाविर्भावयेत् ।

तस्यैवं निग्रहप्राप्तिः' इत्युक्तत्वात् । यदि पुनः परत्रे [१] तदोषप्रकाशनात् जयः स्वात्मनि भूत-दोषो(षा)विर्भावनाद् विपर्ययोऽपि [३] स्यात् । अथ [२] तद्दोषोद्भावनगुणेन तिरस्कारात् नासौ दोषः; तेन अस्य तिरस्कारात् कथमयं गुणः ?

किञ्च, यदि अन्यात्मदोषप्रकाशनात् स्वदोषाः स्वात्मनि दोषात्मतां जहति ; तर्हि असि-द्धादीनां हेत्वाभासानामन्यतमं तदाभासं स्वयमेवोच्चार्य निव्वरं (निर्भरं) वक्तव्यम्–मया असि- ५ द्धोऽन्यो वा हेतुः प्रयुक्तोऽपि किया (त्वया) नोद्भावित इति । तया च सस माह–(तथा च समम् । इत्याह–) 'वादिनः' इत्यादि । [वादि]नः पूर्वपक्षवतः तूष्णींभावाद् असाधनाङ्ग-वचनात् स्वपरपक्षयोः साधनाङ्गं यन्न भवति प्रतिज्ञादिसिद्धा (ज्ञानसिद्धा) दि, तस्य वचनात्, न पुनः *"न साधनाङ्गवचनाद् असाधनाङ्गवचनात्" इति व्याख्यानम्, अस्य 'तूष्णीं-भावात्' इत्यनेन गतत्वात् । 'च' इति समुच्चये । निग्रहस्थानं पर्यन्ते यस्य जल्प[स्य] १० वादस्य तस्य परिसमाप्तौ सत्याम् ।

ननु वादिवत् प्रतिवादिनोऽपि तूष्णींभावे यत्किञ्चनभाषणभावे वा द्वयोः समत्वान्न तत्प-रिसमाप्तिरिति चेत् ; अत्राह–भूत इत्यादि ।

[भूतदोषं समुद्भाव्य जितवान् पुनरन्यथा ।
परिसमाप्तेस्तावतैवास्य कथं वादी निगृह्यते ॥११॥ १५

तन्न सुभाषितम्–*"विजिगीषुणोभयं कर्त्तव्यं स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं च"इति ।]

भूतदोषं तूष्णींम्भावादिपरमार्थदोषम् **उद्भाव्य (समुद्भाव्य)** कथमुद्भाव्य ? इत्याह–**जितवान्** इति । यदि वा, **तमु (समु)द्भाव्य वादी जितवान्** यतः ततः **पुनः** पश्चाद् वितर्के च पुनः इति ··· [स्व]पक्षसिद्धिप्रतिपत्तमातः (द्धिं प्रतिपन्नवता) प्रतिवादी **निगृह्यते** । कुतः ? इत्याह–**तावतैव** भूतदोषोद्भावनमात्रेणैव [२७४ख] प्रस्या **(अस्य)** २० वादिनिग्रहरूपस्य **पारे [illegible]ः** इति । **अन्यथा** तदपरिसमाप्तिप्रज्ञाकरेण (प्रकारेण) **कथं वादी निगृह्यते** न कथञ्चित् ।

तथाहि–तां प्रति तत्प्रयत्नः वादिनो निग्रहार्थः, प्रतिबोधनार्थः, सता (सभा)प्रतिबोधनार्थः, एवमेव वादिति (वा स्यादिति) चत्वारः पक्षः । तत्र आद्ये पक्षे तद्वैफल्यम् ; अन्यत एव तन्नि-ग्रहात्, तूष्णीम्भावादेरपि ठकप्रयोगाद्भावात् । द्वितीये तूष्णीम्भावादेर्निग्रहानुपपत्तेः । [न] २५ हि परप्रतिपादनाय कृतावासना (कृतौ असता) दोषमात्रेण परान् (न) निग्रहेण योजयन्ति

---

(१) वादिनः । (२) प्रतिवादिनि । (३) पराजयोऽपि । (४) "अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्य असाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानात् ।" –वादन्या० पृ० ६१ । (५) "अथवा सिद्धिः साधनं तदङ्गं धर्मो यस्यार्थस्य विवादाश्रयस्य वादप्रस्तावहेतोः स साधनाङ्गः तद्व्यतिरेकेणापरस्याप्यजिज्ञासितस्य विशेषस्य शाखाश्रयव्याख्यादिभिः प्रक्षेपो मोषणं च परव्यामोहनानुभाषणशक्तिविघातादिहेतोः, तदप्यसाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रहस्थानमप्रस्तुताभिधानात् ।" –वादन्या० पृ० ६६ । (६) स्वपक्षसिद्धिं प्रति ।

शिष्याणि (ष्याम्) च सिद्धान्तद्वयवेदिनं (नः) प्राश्निकाः। तृतीयविकल्पवार्तापि न युक्ता। चतुर्थे तु वक्तुः असम्बद्धाभिधायित्वम्, साक्षिसमक्षम् आत्मोत्कर्षज्ञापनार्थं तां प्रति यतते प्रतिवादी न तत्परिसमाप्तौ नितराम् आलोक्षाथा (?) ज्ञापितः स्यादिति सैव क्रियताम्।

अथ ततः तत्परिसमाप्तौ न कश्चित् स्वपक्षसिद्धिं प्रति यतते इति; अत्राह–**तन्न** इत्यादि।
५ **तत्** तस्मात् ततः तत्परिसमाप्तेर्न **सुभाषितम्**। किम्? इत्याह–**विजिगीषुणा** वादिना प्रतिवादिना वा **उभयं कर्त्तव्यम् स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणम्** इति। तथाहि–प्रतिवादिना विजिगीषुणा न तावत् तत्कर्त्तव्यम् अपि तु तेन वादी यतः कुतश्चित् निर्मुखः पिशाचो वा विधातव्यः। न तेनापि;[1] प्रतिवादी तथा विधातव्यः।

एतेन 'अदोषोद्भावनम्' इत्यपि व्याख्यातम्। ततः स्थितम्–**कस्यचित् तूष्णीम्भाव**
१० इत्यादि। यदि शाब्दो हेतुः शाब्दं प्रमाणं वा; 'अनित्यः शब्दः' इति वचनादेव साध्यसिद्धेः किं [२७५क] कृतकत्वादिना, तत्सिद्धौ तद्वचनं निग्रहस्थानमिति।

अत्रैव दूषणान्तरमाह–**साकल्येन** इत्यादि।

[साकल्येनाविनाभावे सिद्धे हेतोः प्रसिध्यति।
ततः सत्त्वादिवादीव पक्षधर्मत्ववाग्यपि ॥१२॥

१५ साकल्येन व्याप्तहेतुवचनात् पुनः पक्षधर्मत्ववचनं प्रतिज्ञोपनयवचनेन समानं भवेद्वा न वेति तथागतरागं परित्यज्य चक्षुषी निमील्य समुन्मील्य वा चिन्तय तावत् तत्तथा साधर्म्यवैधर्म्ययोः सहवचनेन साधनवाक्यं समानं भवेद्वा न वा ? यदि समानमिति किं प्रतिज्ञादिवचनैरेव ? साधनसामर्थ्यपरिज्ञानमुभयत्र समानम्।]

साकल्येन अ[न]वयवेन **अविनाभावे सिद्धे** निश्चिते सति। कस्य ? हेतोः।
२० **तत** एव हेतोः सकाशात् **प्रसिध्यति** सति साध्य (ध्ये) **सत्त्वादिवादी [व आदि]** शब्देन उपनयादिपरिग्रहः। **पक्षधर्मत्ववाग्यपि** 'स्यात्' इत्यध्याहारः। पक्षधर्मत्ववादी सत्त्वा[दि]वादीव वत् (तद्वत्) सदृशः सत्त्वा[दि]वादी स्यात् इत्यर्थः। नहि 'अनित्यः शब्दः' इत्यस्मात् 'सन् कृतको वा शब्दः' इत्यादेः विशेषं पश्यामः। **अपि** शब्दात् 'यत् सत् कृतकं वा तदनित्यं यथा घटः, सन् कृतकश्च शब्दः' इत्यादिवाक्यवादी गृह्यते। हि उपनयति (यनि) गमन (ने)
२५ युगपत् साधर्म्यवैधर्म्यप्रयोगवादिनो न विशिष्यते (ष्येते) इति प्रवृत्तौ (ति वृत्तौ[2]) निरूपयिष्यते।

कारिकां व्याख्यातुमाह–'साकल्येन' इत्यादि। **साकल्येन व्याप्तस्य हेतोः** 'यत् सत् कृतकं वा तदनित्यं यथा घटः' इत्यादि **यद्वचनं** तस्मात् **पुनः** पश्चात् **पक्षधर्मत्ववचनं समानम्** सदृशम्। केन ? इत्याह–**प्रतिज्ञोपनय** इत्यादि। **भवेद्वा नवेति तथागतरागं** सुगताग्रहम् अथवा **तथा** तेन 'प्रतिज्ञादिवचनं निग्रहस्थानम्, पक्षधर्मत्ववचनम्' इति[3] प्रकारेण **आगतरागं**

(१) वादिनापि, तत्कर्तव्यमिति सम्बन्धः। (२) टीकायाम्। (३) "अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि, तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानादेव।"–वादन्या० पृ० ६१।

परित्यज्य चक्षुषी निमील्य समुन्मील्य वा चिन्तय ता [वत्] तत्तथा साधर्म्यवैधर्म्ययोः सह युगपत् 'यत् सत् तदनित्यं यथा घटः, संश्च शब्दः, यदि (यद्) नित्यं न भवति तत् सदपि न भवति यथा आकाशं तथा च शब्दः' इति यद् **वचनं** तेन **समानम्** 'यत् सत् तत् सर्वमनित्यम् घटवत्, संश्च शब्दः' इत्यादि **साधनवाक्यं** [२७५ख] **भवेद्वा न वा** इत्यादि **सर्वं वक्तव्यम्**।

ननु 'अनित्यः शब्दः' इत्यनेन प्रतिज्ञावचनेन 'संश्च शब्दः' इति पक्षधर्मत्ववचनं समानं भाव्यम्, साध्यस्यैव निर्देशात्। यथैव हि विप्रतिपन्नं प्रति शब्दस्य अनित्यत्वं साध्यम्, तथा सत्त्वादिकमपि अन्यथा तद्वचनानर्थक्यं स्यात्। 'अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, यत् कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटः, कृतकश्च शब्दः' इति [1]उपनयवचनेन [2]च। यथैव हि 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्' इत्यनेन उक्त एव अर्थः 'कृतकश्च शब्दः' इत्यनेनोच्यते तथा 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इत्यनेनोक्तमेव 'कृतकश्च शब्दः' इत्यनेनापि उच्यते। साकल्यव्याप्तिवचनात् शब्दकृतकत्वाभिधानात् सामान्ये विशेषस्य अन्तर्भावात्। अन्यथा शब्दकृतकत्ववत् अन्यस्यापि तेनानभिधानाद् व्याप्तिवचनमनर्थकमापद्येत।

एतेन 'तस्मादनित्यः' इत्यनेन [3]निगमनवचनेन [4]तत्समानमिति चिन्तितम्। यथा खलु हेतुसामर्थ्येन उक्त एव अर्थो निगमनेन अभिधीयते तथा व्याप्तिवाक्येन उक्तः पक्षधर्मत्ववचनेन।

तथा साधर्म्यवैधर्म्ययोः सहवचनेन साधनवाक्यं समानम्। यथा वै खलु निश्चितेऽन्वये उक्ते व्यतिरेकस्य, अव्यतिरेकान्वय (व्यतिरेके च अन्वय)स्य अर्थापत्त्या गतिः तथा विपक्षसद्भावबाधकप्रमाणबलात् साकल्येन व्याप्तस्य अवगतस्य हेतोः वचनात् पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वम् अर्थापत्त्या अवगम्यते इति त्रिरूपसाधनवाक्यं क्वोपयुज्यत इति चेत्; अत्राह–**यद्(दि) समानम्** इति किं **प्रतिज्ञादिवचनैरिव (रेव)** [5]**प्रतिज्ञादिवचनैरेव** [२७६क] **किम्** इति, '**निगृह्येत**' इति पदघटना। नहि तैद्वचनैः हेतोर्व्याप्तिः खण्ड्यते तत्परिज्ञानं वा यतस्तत्प्रतिबन्धः स्यात्।

ननु परार्थमनुमानं न हेतुदोषादेव दुष्टम् अपि तु वादिदोषादपि, अस्ति च दोषः प्रतिज्ञादिवचनरहितस्यापि साधनस्य साध्यसिद्धौ यत्सामर्थ्यं तदपरिज्ञानम्, अन्यथा न तत्प्रयोगं कुर्यात्। को हि धीमान् अनर्थके ज्ञानं नेव (अनर्थकज्ञानेनैव) आत्मानं क्लेशयति इति चेत्; अत्राह–**साधन** इत्यादि। **साधनस्य** सत्त्वादेः **सामर्थ्यस्य परिज्ञानम् उभयत्र** प्रतिज्ञादिवचने पक्षधर्मत्वादिवचने च उक्तविधिना **समानम्**। ततः सत्त्वादिवादीव पक्षधर्मत्वादिवादी च पक्षधर्मत्वादिवाद्यपि निगृह्येत इति मन्यते।

किं च, यदि परार्थे अनुमाने साधनसाधर्म्या (सामर्थ्या) परिज्ञानं दोषः इति वादी निगृह्येत तर्हि सौगतस्य इदमपरं निग्रहस्थानं स्यादिति दर्शयन्नाह–**सत्त्वादेव** इत्यादि।

[सत्त्वादेव क्षणस्थाने उत्पत्त्यादौ निगृह्यते।
धर्माधिकोक्तितो वादी तत्सामर्थ्यानभिज्ञया ॥१३॥

---

(१) हेतोरुपसंहार उपनयः। (२) समानं भाव्यमिति सम्बन्धः। (३) प्रतिज्ञाया उपसंहारो निगमनम्। (४) पक्षधर्मत्ववचनम्। (५) प्रतिज्ञादिवचनैः। (६) साधनसामर्थ्यपरिज्ञाने।

केवलस्यापि भावस्य विनाशसाधनसामर्थ्यात् पुनः उत्पत्तेः कृतकत्वादेिति उपाधिविशिष्टोपादानात् निग्रहस्थानम् स्वपरव्यापारापेक्षभावलक्षणत्वात्तेषाम्। न हि येनावश्यं निग्रहस्थानं तेन शिष्या व्युत्पादनीयाः। न हि शुद्धस्यापि साधनत्वे पुनरुपाध्यपेक्षणं युक्तम्।]

५ **सत्त्वाद्** विद्यमानत्वाद् भिन्नाभिन्नो[1]पाधिरहितात् इति एवकारार्थ [:] **क्षणस्थाने** क्वचिद् धर्मिणि क्षणक्षये सिद्धे निश्चिते सति **उत्पत्त्यादौ** उत्पत्तिः आदिर्यस्य कृतकत्वादेः स तथोक्तः, तस्मिन् 'प्रयुक्ते' इत्यध्याहारः **निगृह्यते** 'वादी' इति शेषः।

ननु उत्पत्तिशब्देन प्रागभ्रतः आत्मलाभलक्षणं सत्त्वमुच्यते, कृतकशब्देनापि तदेता (देवाऽ)पेक्षितपरव्यापारभावम्, एवं प्रयत्नानन्तरीयकत्वादावपि वक्तव्यम्, ततो यथा 'अनित्यः शब्दः
१० सत्त्वात्' इत्युक्ते न निग्रहः तथा उत्पत्तेः कृतकत्वात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् इत्युक्तेऽपि न स युक्तः। न हि शब्दान्तरेण तदेव उच्यमानं निग्रहाय जायते [२७६ख] अन्यथा धूमोऽपि तेन[2] उच्यमानो जायेत इति चेत; अत्राह–**धर्म** इत्यादि। **धर्मेण** प्रागसत्त्व-परव्यापारादिरूपेण भिन्नाभिन्नविशेषणेन **अधिकस्योक्तिनः** उक्ते 'सत्त्वस्य' उत्पत्त्यादिना इति उभयत्र विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति–यच्छुद्धसत्त्वं सत्त्वशब्देनोच्यते तदेव उत्पत्त्यादिशब्देन
१५ यद्युच्येत; न दोषोऽयं स्यात्। तद्[3]वचने च *"**सत्त्वं[4] शुद्धाशुद्धभेदेन भिन्नाऽभिन्नविशेषणभेदेन च शिष्यव्युत्पादनार्थं सत्त्वकृतकत्वादिशब्दैः अभिधीयते**" इति[5] ब्रुवते।

किंच, कृतकत्वादिशब्देषु सङ्केतमात्राश्रयणं न व्युत्पत्तेः कथमेवं [8]सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य सपक्षैकदेशव्यापकत्वम्, तस्मिन्[9] वा साध्ये अनित्यत्वस्य अनैकान्तिकत्वं शुद्धे सत्त्वे तदयोगात्? अनेन[10] विशिष्टं तदुच्यते नोत्पत्त्यादिना इति किं कृतो विभागः?

२० एतेन अर्थान्तरं नोच्यते इति निरस्तम्।

ननु भवतु धर्मादि[धि]कस्य सत्त्वस्य अभिधानम् उत्पत्त्यादिना तथापि कथं तत्र निगृह्येत इति चेत; अत्राह–**तद्** इत्यादि। तच्छब्देन सत्त्वं परामृश्यते **तस्य सामर्थ्यं** केवलस्य साधनशक्तिः **तस्यानभिज्ञया** अपरिज्ञानेन। एवं मन्यते यदि–शुद्धस्य सत्त्वस्य साधनसामर्थ्यं किं विशेषणननोन्ये (णेनान्येन) यत्तदुपादा [नं] न निग्रहस्थानमिति।

२५ [11]अन्ये पुनराहुः– नोत्पत्त्यादेः क्वचित् क्षणिकत्वं साध्यते परमार्थतस्तदभावात्, अपि तु

---

(१) विशेषण। (२) शब्दान्तरेण। (३) सत्त्वशब्देनैव उत्पत्त्यादिवचने। (४) तुलना–"यथा यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकं यथा घटादयः, संश्च शब्दः।"–हेतुबि० पृ० ५५। (५) "उपाधिभेदापेक्षो वा स्वभावः केवलोऽथवा। उच्यते साध्यसिद्ध्यर्थं नाशे कार्यत्वसत्त्ववत्॥"–प्र० वा० ३।१८५, १८६। (६) "क्वचित् स्वभावभूतधर्मपरिग्रहद्वारेण यथा तत्रैवोत्पत्तिः।"–प्र० वा० स्व० पृ० ३४९। (७) "यत् सत् तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिरिति शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः। यदुत्पत्तिमत्तदनित्यमिति स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः। यत्कृतकं तदनित्यमिति उपाधिभेदेन। एवं प्रत्ययभेदभेदित्वादयो द्रष्टव्याः।"–न्यायबि० ३।११-१३, १५। "एतेन प्रत्ययभेदभेदित्वादयो व्याख्याताः।"–प्र० वा० स्ववृ० पृ० ३४८। (८) सत्त्वात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेरभेदे। (९) प्रयत्नानन्तरीकत्वे। (१०) सत्त्वेन। (११) प्रतिभासाद्वैतवादिनः प्रज्ञाकरादयः।

तथावभासनात् *"यथावभासते" इत्यादि वचनात्। तदेव च सत्त्वम् *"उपलम्भः सत्ता" [प्र० वार्तिकाल० ३।५४] इति वचनात्, तेनायमदोष इति; तेषामपि इदमेवोत्तरम्। तथा सत्त्वादेः क्षणिकत्वेन अवभासादेव [२७७क] सर्ववस्तूनां क्षणस्थाने सिद्धे निश्चिते अङ्गीक्रियमाणे निगृह्येत सौगतः। कुतः ? इत्यत्राह–**धर्माधिकोक्तितः** इति। **धर्मश्च अधिकश्च** तयोः **उक्तितः**। नहि एकान्तक्षणिकता[वभा]सनं सर्वभावानां धर्मिणां धर्मः प्रत्यक्षतोऽ- ५ नुमानतो वा सिद्धः। न तावत् प्रत्यक्षतः; तत्र तदप्रतिभासनात्[1]। न खलु चक्षुरादिबुद्धौ[2] क्षणिकत्वेन अवभासमाना भावा भासन्त इति निश्चयोऽस्ति 'कुण्डलादिपर्यायानुयायिनः सर्पादयः तत्रावभासन्ते' इति निर्णयात्।

विरोधादयोऽपि एवं कृतोत्तराः। भेदाभेदैकान्तसंकल्पः पर्यायतद्वतोः अनेकान्तेन निराकृतः। तत्र अनवस्थोद्भावनम्[3] अ र्च ट स्य स्वपक्षघातीव लक्ष्यते। हेतुत्रिरूपत्वनिश्चयेऽपि[4] १० तत्संभवात् अभिलाप्येतराकारद्वयस्य तत्रोपगमात्, इतरथा निर्विकल्पकैकान्ते धर्मधर्मिभावाभावान्न हे तु बि न्दो र पि कल्पनयापि व्यवस्था।

ननु पूर्वपर्यायप्रत्यक्षस्य नोत्तरपर्याये[5], तत्प्रत्यक्षस्य[6] पूर्वपर्याये वृत्तिरिति कथं तेन[7] तदनुयायित्वं कस्यचित् प्रतीयते इति चेत्; तर्हि स्वरूपमात्रपर्यवसितं तत्[8] कथमन्येषां ग्राहकं यतः तत् क्षणिकत्वावभासनं प्रतिपद्येत, धर्मप्रतिपत्तेः धर्मिप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् इति कथं सिद्धो १५ हेतुः ? अत एव नाऽनुमानम्; [10]तदभावे तदभावात्। यदि पुनः संवृतिसिद्धं सर्वं क्षणिकत्वावभासनमभ्युपगम्य हेतोः सिद्धिः प्रार्थ्यते; परोऽपि[11] संवृतिसिद्धम् एकस्य त्रिकालानुयायित्वावभासनमभ्युपगम्य असिद्धं [त]त्तथैव व्यवस्थापयेदविशेषात्।

अथ स्वयम् [२७७ख] उपलभ्यमानाद्भावात् (मानान् भावान्) क्षणिकत्वावभासनधर्मानुपलभ्य सर्वेऽपि तद्धर्मका व्यवस्थाप्यन्ते; अत्रापि तदवस्थं चोद्यम्–केन तथा व्यवस्थाप्यन्ते ? २० नाध्यक्षेण अनुमानेन वा; उक्तदोषात्। संवृत्या तद्व्यवस्थापने ततः क्षणिकत्वमपि संवृतिसिद्धं स्यादिति न पारमार्थिकभावस्वभावनिश्चय इति महती सौगतस्य भावस्वभावनिरूपणकुशलता !

किंवा स्वयम् उपलभ्यमानेषु भावेषु क्षणिकत्वम् ? अपरापरकोटिविच्छिन्नतेति चेत्; कोटिग्रहणपूर्वकमध्यक्षं यदि कस्यचित् तद्विच्छिन्नत्वं गृह्णीयात्, न तर्हि [12]अनुगमग्रहणं दूषितं स्यात्, विच्छिन्नत्ववत् तद्विपर्ययस्य[13] [14]अन्यग्रहणसंभवात्। अन्यथा चेत्; तथैव अनुयायित्वं २५

(१) प्रतिभासनमेव। (२) प्रत्यक्षे। तुलना–"तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः। पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥"–मी० श्लो० आत्मवाद श्लो० २८। "प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्।"–न्यायवि० २।११६। तत्त्वसं० श्लो० २२३-२४। (३) "एकान्तेन विभिन्ने च ते स्यातां वस्तुनी स च। तयोः केन विभिन्नाभ्यामभेदस्य विभेदतः। तेषामभेदसिद्ध्यर्थमभिन्नो यदि तुष्यते ॥ अन्यः स्वभावस्तस्यापि तदभेदप्रसिद्धये। कल्पनीयः स्वभावोऽन्यः तथा स्यादनवस्थितिः ॥"–हेतुबि० टी० पृ० १०५। (४) निश्चयो हि अर्थरूपे विकल्पकोऽपि सन् स्वरूपे अविकल्पको भवति। (५) वृत्तिरिति। (६) उत्तरपर्यायप्रत्यक्षस्य। (७) प्रत्यक्षेण। (८) धर्मिणो द्रव्यस्य। (९) प्रत्यक्षम्। (१०) प्रत्यक्षाभावे। (११) जैनोऽपि। (१२) पूर्वापरानुयायित्व। (१३) अविच्छिन्नत्वस्य। (१४) अन्येन प्रत्यक्षेण ग्रहणसंभवादिति भावः।

गृह्णीयात् इत्युक्तम् । देशव्यवहितवत् कालव्यवहितस्यापि प्रत्यक्षेण ग्रहणमविरुद्धम् सारूप्यनिषे-
धात् । न दृ[illegible]सिद्धिरिति चेत् (च) । तन्न प्रत्यक्षतः पक्षधर्मतासिद्धिरस्य । नाप्यनुमानतः;
तत्पूर्वकस्य अस्य तदभावे अभावात् । भवतु वा कुतश्चित् तत्सिद्धिः तथापि हेतुसिद्धित एव
साध्यसिद्धेः अनुमानमनर्थकम् । तथाहि–पूर्वापरविच्छिन्नत्वेन भासने क्षणिकत्वावभासन[म]-
५ निश्चितस्य हेतुत्वायोगात् । तच्चेन्निश्चितम्; किमनिश्चितं यदनुमानसाध्यम् ? तद्व्यवहार इति
चेत्; न; अस्य निश्चयात्मकत्वात् । तदिदमायातम्–घटविविक्तभूतलं निश्चिन्वतोऽपि न घटाभाव-
विनिश्चय इति । कथं चैवंवादिनः सविकल्पप्रत्यक्षगृहीते [२७८क] व्यवहाराय मा (अ)
नुमानं प्रवर्त्तेत ? कथं वा भावेषु क्षणिकत्वमनिच्छन्तः तथावभासनमिच्छन्ति ? परमार्थतः भाव-
धर्मप्रतिपत्तेर्भावप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् । क्षणिकभावधर्मश्च तथावभासनम्, अन्यथा *"को
१० हि भावधर्ममिच्छन् भावं नेच्छेत्" [प्र० वा० स्ववृ० १।१९३] इत्यादि सुभाषितं ?
कथम् ? यथा च क्षणिकत्वमनिच्छन्तो दृश्यन्ते तथा तथावभासनमपि । ततः स्थितम्–हेतुसिद्धावेव
सिद्धिः साध्यस्य अनुमानमपार्थकम् निग्रहस्थानम् । एतदेवाह–**अधिकोक्तितः** हेतुनिश्चयाद्
अधिकस्य अनुमानस्य **उक्तितो** निगृह्येत इति ।

यदि वा, क्षणिकाः सर्वे भावाः तथावभासनात्, यदि पुनः तथावभासमाना अपि तथा न
१५ स्युः नि (नी)रूपता स्यात् संविन्निष्ठत्वात् प्रमेयव्यवस्थितेः इति । एतावतैव चेत् (च) प्रकृतं
सिध्येत् नीलादिवद् इत्यने (इति) । न हि पुरुषाद्वैतवादिनं प्रति दृष्टान्तेऽपि परमार्थसाधने उपा-
यान्तरमस्ति अनवस्थापत्तेः । न च तं प्रति क्षणिकत्वं साध्यं विवादाऽविशेषात् । ततोऽधिकस्य
दृष्टान्तस्य उक्तेः निगृह्येत ।

यदि वा, अयमेकान्तः–यद् यथावभासते तत् तथैव परमार्थसत्; तर्हि स्तम्भादयः
२० स्थूलैकनानात्वस्वभावतया प्रतिभासमानाः तथैव सन्त इति *"मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभास-
त्वेऽपि (सवदसत्त्वेऽपि) अदोषः" [प्र० वार्तिकाल० ३।२२१] इति प्लवते । अक्रमवत्
क्रमेणापि सांशयितैक (सांशान्वितैक) वस्तुसंभवे च कथं ग[illegible]ः संभवः ? तत्प्रतिभास-
निषेधे च सर्वनिषेधनमिति नानुमानोत्थानं धर्मा (धर्म्या)द्यसिद्धेः । असमन्त (असन्त)श्चेत्
तैरेव हेतुः अनैकान्तिक इति तद्वचनात् निगृह्येत । तदाह–**धर्माधिकोक्तितः** [२७८ख]
२५ धर्मश्चासौ अधिकश्च इति कामचारेण विशेषणविशेष्यत्वमिति अधिकस्य विशेष्यत्वम् । अधिकत्वं
पुनः पक्षसपक्षस्यापि धर्मत्वात् निगृह्येत । तथा **सत्त्वादेव क्षणस्थानवद् उत्पत्त्यादौ**
सिद्धे अङ्गीक्रियमाणे सौगतो विरुद्धाव्यभिचारिहेतुवचनात् निगृह्येत । **उत्पत्त्यादौ** इत्यत्र
आदिशब्देन स्थितिविनाशयोर्ग्रहणम् । केन हेतुना निगृह्येत ? इत्यत्राह–**तत्** इत्यादि । **तस्य**
हेतुसाधकस्य प्रमाणस्य साध्ये यत् **सामर्थ्यम्**, अथवा तस्य हेतोर्दृष्ट[illegible] यत् तत्,
३० यदि वा स्वहेतोरिव परहेतोरपि, तस्या**नभिज्ञया** । यद्वा तस्य हेतोरभावेन **तत्सामर्थ्यस्य**

(१) प्रत्यक्षपूर्वकस्य । (२) व्यवहारस्य । (३) क्षणिकाः । (४) तुच्छत्वं स्यात् । (५) उपायान्त-
कल्पने । (६) अधिकशब्दस्य ।

वा अनभिज्ञायते (ज्ञया इति)।

कारिकां विवृणोति केवलस्य इत्यादिना। अपि शब्दो भिन्नप्रक्रमः, केवलस्यापि न केवलं धूमादेः केवलस्य विनाशः साधनं साधर्म्यात् (विनाशसाधनसामर्थ्यात्) कारणात् पुनः इति परामर्शे। उपाधिना 'प्रागसतः' इत्यादिना विशिष्टस्य उपादानाऽ(नात् प्र)प्रयोगात् 'भावस्य' इत्यनुवर्त्तते। कथम् ? इत्याह–उत्पत्तेः कृतकत्वाद्वा इत्येव (वं)। ततः किम् ? ५ इत्याह–निग्रहस्थानम् वादिनि (वादिन इति) शेषः।

ननु यथा केवलो भावः सत्त्वशब्देन उच्यते, तद्वद् उत्पत्त्यादिशब्दैरिति ; अत्राह– स्वपर इत्यादि। स्वपरयोः व्यापारयोः अपेक्षा यस्य तौ वा अपेक्षते इति तदपेक्षः स चासौ भावश्च इति तल्लक्षणत्वात् तेषाम् उत्पत्त्यादीनाम्। स्वव्यपारापेक्षभावलक्षणा उत्पत्तिः *"प्रागसत आत्मलाभ उत्पत्तिः" इति वचनात् अभिन्नविशेषणो भाव एवमुक्तः। परव्या- १० पारापेक्षभावलक्षणाः कृतकत्वादयः *"अपेक्षितपरव्यापारो [२७९क] हि भावः कृतकः" [न्यायवि० ३।१४] इत्याद्यभिधानात्। अनेन भिन्नविशेषणः। शुद्धस्यैव एवमभिधाने तद्धर्मानुक्तिः शब्दान्तराऽप्रयोगादिति मन्यते। क्वचित् 'स्वपरव्यापारापेक्षा' इति पाठः। तत्र तदपेक्षयो भाव इति व्याख्येयम्। शुद्धस्य सामर्थ्येति(पि) सिद्ध (शिष्य) व्युत्पादनार्थं तद्विशिष्टोपादान- मिति चेत् ; अत्राह–नहि इत्यादि। एवं मन्यते–येन प्रयुक्ते (क्तेन) अवश्यं निग्रहस्थानम् न १५ तेन शिष्याः तदनुग्रहाप्रवृत्तेः व्युत्पादनीया इति।

इदमपरं व्याख्यानम्–केवलस्य सजातीयविजातीयविविक्तनिरंशक्षणस्य यो भावः सत्ता विषयिणि विषयोपचारात्, वस्तुनो वा उपलम्भो वा तस्यापि न केवलम् अन्यस्य यत् परेण विनाशसाधनसामर्थ्यमभ्युपगतम्, यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं यत्र नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति यथा क्वचित्प्रदेशे तथाविधो घटः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तौ च पूर्वापरक्षणौ मध्यक्षणे, सा (असौ) वा तत्रै २० नोपलभ्यते च। यदि वा *"यद् यथावभासते" इत्यादि प्रयोगापेक्षः; तस्मात् तस्य निग्रह- स्थानम्। कस्मादिव ? इत्यत्राह–उत्पत्तेः कृतकत्वाद्वा इति। 'वा' इति इवार्थः।

एतदुक्तं भवति–यथा प्र ज्ञा क र स्य निरंशाद्वैतवादिनः न किञ्चित् प्रागसत् उत्पद्यते अपेक्षितपरव्यापारं कृतकं वा, तथापि तद्धेतु (तुं) वदतो निग्रहस्थानम् तथा न तस्य कस्यचिद् भाव उपलम्भो वा स्वभावविरुद्धस्थूलैकस्थिरप्रतिभासेन बाधनात्, तथा तस्यैव तत्सामर्थ्यात् २५ पुनः पश्चाद् उपाधिना सपक्षसत्त्वेन विशिष्टोपादान (नं) निग्रहस्थान(नम्)। यदि वा, पक्ष- धर्मत्वं सपक्षे सत्त्वम् असपक्षेऽसत्त्वम् उपाधिः [२७९ख] तद्विशिष्टहेतोः उपादानाद् इति ग्राह्यम्। तथा स्व स्ववादी (तथा च वादी) तयोः व्यापारौ साधनप्रयोगौ तदपेक्षो यो भावः तल्लक्षणत्वात् रूपत्वाच्च तेषाम्, प्र ज्ञा क र गु प्त म (गु प्ते न) प्रयुक्तविनाशहेतूनाम् 'निग्र-

(१) विशेषणेन। (२) उत्पत्तिशब्देन। (३) "स्वभावनिष्पत्तौ अपेक्षितव्यापारभावो हि कृतकः। तेनेयं कृतकश्रुतिः स्वभावाभिधायिन्यपि परोपाधिमाक्षिपति।"–प्र० वा० स्व० पृ० ३४८। (४) स्वपर- व्यापारापेक्षया। (५) शिष्यानुग्रहाभावात्। (६) मध्यक्षणो वा। (७) पूर्वापरक्षणयोः। (८) प्रज्ञाकरस्य।

हस्थानम्' इति सम्बन्धः। शक्यं वक्तुं यद् यत्र यथा उपलब्धिलक्षणप्राप्तम् उपलभ्यते तत् तत्त्वतः तथा विद्यते यथा चित्रज्ञानं स्वाकारेषु, कथञ्चिदुपलभ्यते च तथाविधो भावः स्वपर्यायेषु क्रमभाविषु। तथा निर्बाधबोधे यद् यथावभासते [तत् तथा परमार्थसत्] स्वसंवेदनवत्, प्रतिभासते च सर्वम् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेन। यथा (तथा) 'यो यं प्रत्यनपेक्षम्' (क्षः)
५ इत्यादिकमपि वाच्यम्। नहि शुद्धस्यापि हेतुदृष्टान्तरहितस्यापि 'भावस्य' इत्यनुवर्तते साधनत्वे हेतुहीनस्य प्रत्यक्षत्वेन, साध्यसाधकत्वदृष्टान्तरहितस्य लंगंधे (गमकत्वे) पुनः उपाधिः (धेः) पक्षधर्मत्वार (त्वादेर) पेक्षणं यस्मिन् लिङ्गे तत्तथोक्तम्, उपाधिः(धेः) सपक्षसत्त्वस्य अपेक्षणं युक्तं समर्थम् उपपन्नं वा।

पुनरपि तत्रैव पूर्वपक्षे दूषणान्तरं दर्शयन्नाह-**सर्वनाम्ना** इत्यादि।

१० **[सर्वनाम्ना विना वाक्यं तद्धितेन विना पदम्।**
संक्षेप्तव्यं समासार्थनिग्रहस्थानभीरुणा ॥१४॥

यत् सत् उत्पत्तिमत् कृतकं प्रयत्नानन्तरीयकं चेति वाक्यं सदुत्पन्नमित्यादि संक्षेप्तव्यं सदनित्यमिति वा। विपक्षे हेतुसद्भावबाधकप्रमाणबलेन व्याप्तौ सिद्धायां दृष्टान्तस्याकिञ्चित्करत्वात्। तथा च प्रतिज्ञैवेयं व्याप्तिः स्यात्। ततो वरं विनाशी
१५ शब्द इति प्रकृतं प्रतिज्ञातुम्।]

सौगतेन लिङ्गप्रतिपादकं यद् **वाक्यम्** इष्यते तत् **संक्षेप्तव्यम्**। कथम्? इत्याह-**सर्वनाम्ना विना**। 'यत् तत्'पदप्रयोगमन्तरेण। तत्रैव वाक्ये यत् **पदं** तदपि 'संक्षेप्तव्यम्' इति सम्बन्धः। कथम्? इत्याह-**तद्धितेन विना**। केन? इत्यत्राह-[**'समा'** इत्यादि।] **समान एवः (समास एव)** पदस्य पदान्तरेण प्रत्ययस्य प्रत्यक्षा (प्रकृत्या) यस्यार्थः स
२० तथोक्तः तेन **निग्रहस्थानं** तत्र **नीरुणा (भीरुणा)** सौगतेन नाऽपरेण।

कारिकां विवृणोति-'**यत् सद्** [२८०क] **उत्पत्तिमत् कृतकं प्रयत्नानन्तरीयकं च'** इत्यादि। तत्र प्रतिहेतुवाक्यभेदेऽपि। **'वाक्यम्'** इत्येकवचनं जात्यपेक्षम्। यदि च (यदि वा)

(१) उपलब्धिलक्षणप्राप्तो भावः। (२) स तत्स्वभावनियतः, यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने। (३) तुलना-"सत्त्वमात्रेण नश्वरत्वसिद्धौ उत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिवचनमतिरिक्तविशेषणोपादानात् कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकादिषु च कप्रत्ययातिरेकादसाधनाङ्गवचनं पराजयाय प्रभवेत्...."-अष्टश० अष्टस० पृ० ८६। "कथं कृतकत्वादिति हेतुः क्वचिद्वदतः स्वार्थिकस्य कप्रत्ययस्य वचनम्,यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टमिति व्याप्तिं प्रदर्शयते यत्तद् वचनमधिकं नाम निग्रहस्थानं न स्यात्, तेन विनापि तदर्थप्रतिपत्तेः। सर्वत्र वृत्तिपदप्रयोगादेव चार्थप्रतिपत्तौ संभाव्यमानायां वाक्यस्य वचनं कमर्थं पुष्णाति येनाधिकं न स्यात्...."-त० श्लो० पृ० २९१। "अन्यथा त्वत्प्रयोगेऽपि स्वार्थिकस्तद्धितस्तथा। यत्तत्पदं च दोषः स्यात् प्रतीतार्थतया स्थितेः॥ कृतं सर्वमनित्यं हि दृष्टं यद्वद् घटादिकम्। कृतश्च शब्द इत्येतन्मात्रात् साध्यस्य निर्णयात्॥ संक्षेप्तव्यं ततस्तेन विनापि वचनं त्वया। अन्यथा निग्रहादुक्तमिदं सिद्धिविनिश्चये॥ सर्वनाम्ना विना वाक्यं तद्धितेन विना पदम्। संक्षेप्तव्यं समासार्थनिग्रहस्थानाभीरुणा॥"-न्यायवि० वि० द्वि० पृ० २३७-३८। (४) तद्धितीयो यः 'स्वार्थे कः' इत्यादि प्रत्ययः तेन विना। 'कृतकम्' इत्यत्र 'कृतम्' इत्येव प्रयोक्तव्यमिति भावः।

'इति' शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते–'यत् सत् तदनित्यं यथा घटः संश्च शब्दः' इत्येवं वाक्यम्, एवं सर्वत्र योज्यम्। वाक्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन सन्नित्यादि पदमपि गृह्यते। तत् किं कर्त्तव्यम्? इत्याह–संक्षेप्तव्यम्। कथम्? इत्याह–सद् उत्पन्नं इत्यादि। सदनित्यम् इति, उत्पन्नम् अनित्यम् इति, एवं सर्वत्र योज्यम्। ननु 'सर्वनाम्ना विना वाक्यं संक्षेप्तव्यम्' इत्युक्तम् न 'दृष्टान्तेन विना' इति, तत् किं दृष्टान्तो भणनीयः? इत्यत्राह–'सद्' इत्यादि। वा ५ इति पूर्वहेतुसमुच्चये, ततः सदनित्यम् उत्पन्नमनित्यम् कृत [क] मनित्यम् यन्नित्यमनित्यम् इत्येवं विपक्षे हेतुसद्भावबाधकप्रमाणबलेन व्याप्तौ सिद्धायां निश्चितायां च दृष्टान्तस्य अकिञ्चित्करत्वात् तथा तत् संक्षेप्तव्यम् इति सम्बन्धः। तथा संक्षेपे को दोषः; इत्यत्राह–तथा च तेनैव अनन्तरोक्तप्रकारेण प्रतिज्ञैवेयं सदनित्यम् इत्यादिरूपा व्याप्तिः स्यात्। नहि 'शब्दोऽनित्यः', 'सदनित्यम्' इत्यवस्थयोः विशेषोऽस्ति, हेतुरत्र न कश्चित् स्यादित्येवकारार्थः। तथाहि– १० सदादेरेव पुनर्हेतुत्वेन उपादाने प्रतिज्ञार्थैकदेशता। यदि पुनः सदेव अनित्यत्वं गमयेत् तर्हि तस्य सर्वदा भावात् सर्वदा ततः साध्यप्रतीतेः विवादाभावः। भवतु प्रतिज्ञैव तत्र को दोषः? इत्यत्राह–ततः तस्माद् उक्तात् न्यायाद् वरं विनाशी शब्दः इत्येवं प्रकृतं प्रस्तावगोचरापन्नं प्रतिज्ञातुं यत् प्रकृतं [२८०ख] प्रतियतेत शिरस्ताडं क्रन्दतोऽपि प्रतिज्ञाया अनिवृत्तेरिति मन्यते।

ननु हेतोः साध्यसिद्धौ किं प्रतिज्ञया? तस्मिन् सिद्धौ किं हेतुना इति चेत्? अत्राह– १५ [वि] नाशी इत्यादि।

यदि च (वा), उक्तन्यायेन दृष्टान्तस्य अकिञ्चित्करत्वे सिद्धे सति शब्दत्वादेरसाधारणस्य वचनं हेतोः न निग्रहस्थानमिति सदृष्टान्तं दर्शयन्नाह–विनाशी इत्यादि।

[विनाशी भाव इति वा हेतुनैव प्रसिध्यति।
अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिर्व्याप्तिरसाधनम्॥१५॥ २०

विपक्षे हेतुसद्भावबाधकप्रमाणव्यावृत्तौ हेतुसामर्थ्यमन्यथानुपपत्तेरेव। ततो यथा सत्त्वं शब्दस्य नित्यत्वे नोपपद्यते तथा शब्दत्वम्।]

वा शब्दः इवार्थः, निपातानामनेकार्थत्वात्, 'विनाशी भाव' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थः–भावः सन् सर्वो विनाशी 'सद् अनित्यम्' इति वचनात्, यथा हेतुनैव न सदनित्यम् इति प्रतिज्ञामात्रेण प्रसिध्यति तथा ध्वनिः शब्दो विनाशी इति हेतुनैव प्रसिध्यति। २५ एवं मन्यते यथा 'सदनित्यम्' इत्युक्त्वा हेतुं वदतो न दोषः तथा शब्दोऽनित्यः इत्युक्त्वापि इति।

(१) तुलना–"अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिरङ्गमनर्थकम्।"–प्रमाणसं० पृ० १११। "अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ बहिरुदाहृतिः। व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः॥"–न्यायावता० श्लो० २०। "अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम्। पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः। यथा अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः, अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं यथा पाकस्थानम्।"–प्रमाणनय० ३।३५, ३६। धर्मसं० वृ० पृ० ८२। जैनतर्कभा० पृ० १२।

ननु न मया सर्वं सद् अनित्यत्वेन व्याप्तं हेतोः साध्यते किन्तु प्रत्यक्षतः। प्रत्यक्षं हि तद (सद्)नित्यमेव प्रतीयते इति चेत्; अत्राह–व्याप्तौ असिद्धायां 'विवादस्थाने साध्येन साधनस्य व्याप्तिः, तस्यां विपक्षे बाधकबलेन असिद्धायां सत्याम्, दृष्टान्ते व्याप्तिः बहिर्व्याप्तेः असाधनं 'साध्यस्य' इति शेषः। ततोऽन्तर्व्याप्तिसिद्धिमिच्छता साध्यवत्यवत्

५ (वत्येव) परोक्षा सापि हेतोरेव साध्येति भावः।

द्वितीयपातनिकायां कारिकाव्याख्यानम्–**विनाशी शब्दः इति** यत् प्रतिज्ञातम्, तत् **प्रसिध्यति**। केन? इत्याह–**ध्वनिः** इति भावप्रधानोऽयं निर्देशः, **इति** शब्दस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः ध्वनित्वं शब्दत्वम् इति यो **हेतुः तेनैव**, न हेत्वन्तरेण। [२८१ क] निदर्शनमाह–**विनाशी** इत्यादि। **वा** शब्दः पूर्वत्र द्रष्टव्यः, इतिशब्दोऽत्रापि योज्यः। ततो यथा भावः

१० विनाशी 'भावः' इत्यनेनैव हेतुना प्रसिध्यति तथा प्रकृतमपि इति। नहि भावस्य अनित्यत्वेन व्याप्तिसाधने हेत्वन्तरमस्ति।

इदमत्र तात्पर्यम्–'अनित्यः शब्दः' इत्यत्र धर्मिशब्देन अशब्दव्यावृत्तेः उक्तत्वान् पुनः 'शब्दत्वाद्' इति यथा भणितुं न लभ्यते तथा 'सदनित्यम्' इत्यत्र सच्छब्देन असद्व्यावृत्तेः कथनात् 'सत्त्वात्' इत्यपि[2]।

१५ ननु 'यत् सत् तत्सर्वम् अनित्यम्' इत्येतेन सर्वस्य असतो व्यावृत्तेः उक्तत्वात् 'संश्च शब्दः' इत्यपि तादृशमेव[3]। अयमपरोऽस्य[4] दोषोऽस्तु।

स्यान्मतम्–अदृष्टान्तं[5] शब्दत्वम् असाधनमिति; अत्राह–'**अन्तः**' इत्यादि। सुगमम्।

कारिकार्थं प्रकटयन्नाह–विपक्ष इत्यादि। **विपक्षे हेतोः सद्भावबाधकं यत् प्रमाणं** तस्य या **व्यावृत्तिः** तस्यां सत्यां **हेतुसामर्थ्यं** लिङ्गस्य स्वलिङ्गिज्ञापनशक्तिः। सा कुतः?

२० इत्याह–**अन्यथा** अन्येन साध्याभावप्रकारेण या **अनुपपत्तिः** लिङ्गस्य अघटना तस्या **एव** न पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वाभ्याम् इति **एवकारार्थः**, ततो यथा विपक्षे बाधकप्रमाणवृत्त्या हेतुसामर्थ्ये दर्शितेऽपि दृष्टान्तादिकमन्तरेण तदप्रतिपन्नवन्तं[6] प्रति दृष्टान्तवचनं तथा प्रतिज्ञावचनमन्तरेणापि तदप्रतिपत्ति ज्ञा (पत्तौ प्रतिज्ञा)वचनमिति मन्यते।

द्वितीयमर्थं दर्शयति–तत इत्यादिना। **ततो** विपक्षबाधकप्रमाणवृत्तिन्यायाद् **यथा सत्त्वं**

२५ शब्दस्य अन्यस्य वा **नित्यत्वे** सति **नोपपद्यते तथैव शब्दत्वम्** इति शब्द (सत्त्व)वत् शब्द[त्व]मपि हेतुः [२८१ ख] इति भावः।

ननु पक्ष एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिः अन्तर्व्याप्तिः, सा च *"**द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः**" [प्र० वार्तिकाल० १।१] इत्यादि वचनात् साध्ये प्रतिपन्ने प्रतीयेत नान्यथा। [7]तत्प्रतिपत्तिश्च यदि प्रमाणान्तरा[8]; अस्य[9] वैकल्यम्। [अस्मादेव;] इति चेत्; अन्योऽन्यसंश्रयः–सिद्धे

(१) पक्षे। (२) वक्तुं न शक्यम्। (३) न वक्तव्यमिति। (४) सौगतस्य। (५) सपक्षसत्त्वशून्यम्। (६) प्रतिपाद्यम्। (७) साध्यप्रतिपत्तिश्च। (८) अनुमानस्य। (९) अनुमानात्।

अतः साध्ये अस्य अन्तर्व्याप्तिसिद्धिः, अस्याश्च साध्यसिद्धिः। ततः साकल्यव्याप्तिः[1] श्रेयसी इति चेत्; अत्राह–**साकल्येन** इत्यादि।

[साकल्येन कथं व्याप्तिरन्तर्व्याप्त्या विना भवेत्। २।

बहिर्व्याप्तिमात्रं न साधनम्, साकल्यव्याप्तिः साध्यसिद्धिमाक्षिपत्येव, ततः श्रेयान् साध्यनिर्देशः। क्रम...शब्दत्व...। ततोऽन्तर्व्याप्तिरेव श्रेयसी, तदभावे साकल्येन ५ **व्याप्तिसाधने बहिर्दृष्टान्ताभावात् न कश्चित् हेतुः स्यात्। पक्षकल्पना फलवती। तद्भाव-हेतुभावयोरवाच्यत्वाद् किं विदुषः प्रति तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रदर्शनेन दृष्टान्तेन? यदुक्त-स्यासमर्थने साधनस्य निग्रहस्थानं स्यात्। तत्र साधनस्य दोषवत्त्वान्निग्रहस्थानमिति युक्तम्। *"दोषवत्त्वेऽपि यथा वाद्युक्तदोषोद्भावनायां प्रतिवादिनः सामर्थ्यान्निग्रह-स्थानम्।" इति परस्य बालभाषितम् अनवस्थाप्रसङ्गात्। तत्र व्याप्तिवचनं प्रतिज्ञा-** १० **मतिशेते।]**

साध्यधर्मिणि अत्र (अन्यत्र) च साध्येन साधनस्य व्याप्तिः **साकल्येन व्याप्तिः कथं** न कथञ्चिद् **भवेत् अन्तर्व्याप्त्या विना** तया स्याद् इति यावत्। बहिरिव साध्य-धर्मिण्यपि व्याप्तेःर्वाद् (प्तिः सर्वत्र) इतरथा प्रादेशित्यु (शिकी) व्याप्तिः स्यात्। तथैव भवतु सेति चेत्; तत्प्रतिपत्तौ कथमात्मदोषम् आत्मनि परिहरेत्? अथ पक्षे सा न प्रतीयते अपि १५ तु सपक्षे; न तर्हि तत्प्रतिपत्तिः साकल्यव्याप्तिप्रतिपत्तेः अतद्रूपत्वात्। यदि पुनस्तत्र तत्प्रतिपत्ते-[पत्तिर्न] प्यते; कथमेवम् अतिप्रसङ्गो न भवेत्।

कारिकार्धं व्याचष्टे–**बहिर्व्याप्तिमात्रम्** इत्यादिना। वज्रस्य लोहलेख्यत्वसाधने प्रत्यक्ष-विरोधात् तन्मात्रं **[न] साधनम्**। यत्र तु न तद्विरोधः[2] तत्र साधनमेव इति परः; न; तादात्म्य-प्रतिबंध्यभ्यवेपि (प्रतिबन्धसद्भावेऽपि) तद्विरोधसंभवे[3] अन्यत्र कः समाश्वासः? लक्षणयुक्ते २० बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्। तत्प्रतिबन्धभावः पुनः काष्ठादौ य [त] एव पार्थिवत्वं तत एव लोहलेख्यत्व दर्शनात्। नहि तद्भावे हेत्वंगपेक्षा (हेत्वन्तरापेक्षा) नाम। तत एव तस्य सद्भावे नित्यं तदभाव (तद्भाव) प्रसङ्गो नाशवत् [२८२ख] इति चेत्; न; योग्यताया नित्य-मविरोधात्। काष्ठादेः पार्थिवस्य लोहलेख्यत्वेऽपि न सर्वस्य तद्भावो विपर्यये बाधकाभावादिति चेत्; तर्हि सकलव्याप्तिः अभ्युपगता स्यात्। तथेति चेत्; अत्राह–**साकल्येन व्याप्तिः** २५ **साध्यसिद्धिम् आक्षिपत्येव**, तदभावे तत्प्रतिपत्तेरयोगात् इति मन्यते।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–**तत** इत्यादि। यत एवं **ततः** तस्मात् **श्रेयान् साध्यनिर्देशः** प्रति-[ज्ञा]वचनम्, अन्यथानुपपन्नत्वोपेतहेतुनिर्देशे तदनिर्देशः प्रशस्यः, ततोऽपि तन्निर्देशो[9] बालबुद्ध्य-

(१) पक्षे सपक्षे च सर्वत्र साध्यसाधनयोः व्याप्तिः सकलव्याप्तिः। (२) व्याप्तिः। (३) प्रत्यक्ष-विरोधः। (४) प्रत्यक्षविरोधसंभवे। (५) तुलना–"लक्षणयुक्ते बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वत्रानाश्वासः॥"–प्र० वा० स्ववृ० १।२२। प्र० वार्तिकाल० ३।७१। (६) लोहलेख्यत्वदर्श। (७) साकल्यव्याप्तिप्रतिपत्त्यसंभवात्। (८) साध्यानिर्देशः। (९) साध्यनिर्देशः।

नुमहार्थत्वात् प्रशस्यत[र] इति श्रेयान् इत्युच्यते । यदि वा, तस्मात् साकल्येन व्याप्तिः तद्गृहीतिः विषयिणि ... साध्यसिद्धिम् आक्षिपत्येव ततः श्रेयान् साध्यनिर्देशः ।

एवं मन्यते–स कल्यव्याप्त्याक्षिप्तस्यापि साध्यस्य पुनः हेतोः साधनं तथा प्रतिज्ञावचनेनापि इति शब्दत्वसाधननिर्देशस्य प्रशस्यमसमर्थनाह (स्यत्वमिति समर्थनार्थ) माह–क्रम इत्यादि ।
५ नन्वेतद् 'विपक्षे' इत्यादिना समर्थितम् किं पुनः समर्थ्यते ? न अस्य अन्यथावतारात् । तथाहि–साकल्येन व्याप्तिः साध्यसिद्धिम् आक्षिपत्येव, यदि सकलव्यापकप्रतिपत्तिनान्तरीयका सकलव्याप्यस्य तदविनाभावसम्बन्धप्रतिपत्तिः । न चैवम् ,किन्तु विपक्षे बाधकप्रमाणपूर्विका इति चेत्; अत्राह–क्रमेत्यादि । सुगमम । शब्दत्वग्रहणम् उपलक्षणम् तेन श्रावणत्वादिग्रहणम् । ततः किं जातम् ? इत्याह–यत एवं ततोऽन्तर्व्याप्तिः एव न बहिर्व्याप्तिः साकल्यव्याप्तिर्वा श्रेयसी
१० इति । [२८२ख] ।

इतश्च सैव श्रेयसी; इत्याह–तदभावे[1] विपक्षे बाधकप्रमाणवृत्त्यभावे साकल्येन अनवयवेन सत्त्वादेः अन्यस्य या व्याप्तिसाधने व्याप्तिसिद्धौ क्रियमाणायां बहिर्दृष्टान्ताभावात् न कस्यचित् (कश्चित्) स्वभावः कार्यं वा हेतुः स्यात् । यदुक्तं परेण–*"लक्षणकाले धर्मी प्रयोगकाले धर्मधर्मिसमुदायः व्याप्तिग्रहणकाले साधनधर्मः (साध्यधर्मः) पक्षः ।" इति[2];
१५ तदनेन निरस्तम् ; न हि यावान् कश्चिद् भावः धूमो वा स सर्वोऽपि विनाश-दहनाभ्यां व्याप्तः इति; अत्राह–न्य पक्ष (तत्पक्ष)कल्पना फलवती । ननु साकल्येन व्याप्तिसाधने बहिर्दृष्टान्ताभावात् माभूत् तदन्वेषणम् विपक्षे बाधकवृत्तेः तत्सिद्धेश्च, प्रयोगसमये तु तद्भा (द्भा)वादन्वेषणं युक्तमिति; अत्राह–तद्भाव इत्यादि । किं न किञ्चित् 'प्रयोजनम्' इत्याध्याहारः । केन? इत्याह–दृष्टान्तेन । किंभूतेन ? इत्याह–तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रदर्शनेन । कान् प्रति ? इत्याह–
२० विदुषः प्रति [वि]पक्षे हेतुसद्भावबाधकप्रमाणप्रवृत्तिप्रविजृम्भितहेतुसामर्थ्यपरिज्ञानवतः प्रति । कुतः ? इत्यत्राह–अवाच्यत्वात् । कयोः ? इत्यत्राह–तद्भावहेतुभावयोः इति । अत्रापि 'विदुषः प्रति' इति सम्बन्धनीयम् । एतदुक्तं भवति–'तादात्म्यतदुत्पत्ती दृष्टान्ते न प्रदर्श्यते (दर्श्येते) साधनस्य, ते[3] चेदन्यतो ज्ञायेते किं तेन ? यदुक्तम्–

*"तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।
२५ ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥" [प्र० वा० ३।२७] इति ।

किंभूतेन दृष्टान्तेन किम् ? इत्यत्राह–यदुक्तस्य येन दृष्टान्तेन असमर्थने । कस्य ? [२८३क] साधनस्य लिङ्गस्य । किंभूतस्य ? उक्तस्य उच्चरितस्य निग्रहस्थानं स्यात् 'तेन दृष्टान्तेन किम्' इति सम्बन्धः । अन्यत एव तत्समर्थनात् इति मन्यते ।

इदमपरमस्य व्याख्यानं यत् परेणोक्तम्–अविदुषः प्रति दृष्टान्तेनोक्तस्य स्वशब्देन प्रति-
३० पादितस्य साधनस्यासमर्थने निग्रहस्थानं स्यात् । 'इति' शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । पूर्वपक्षोऽयम्;

(१) अ... । (२) "अत्र हेतुलक्षणे निश्चेतव्ये धर्मी अनुमेयः । अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेयः । व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेयः इति"–न्यायवि० टी० ३१८ । (३) तादात्म्यतदुत्पत्ती ।

अत्र दूषणमाह–तत्र इत्यादि । तत्र पूर्वपक्षे साधनस्य दोषवत्त्वात् निग्रहस्थानं स्यात् इत्येव युक्तम् सैव निर्दोषता दृष्टान्तेन प्रकाश्यते इति; न; तस्या अन्यथापि प्रकाशनात् इत्यकमायम् । पूर्वके तु व्याख्याने 'तत्र' इत्यादि दूषणान्तरम् ऊह्यम् ।

पर आह–दोषवत्त्वेऽपि 'साधनस्य' इत्यनुवर्त्तते । यथा येन प्रकारेण वादिना उक्तो दोषः तेन[1] उद्भावनायां प्रतिवादिनः सामर्थ्ये तस्मात् प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं युक्तम् अन्यथा ५ दोषस्य सतोऽप्यप्रकाशनात् प्रतिवादी निगृह्येत । यदि वा, 'तथोद्भावनेऽसामर्थ्यात्' इति ग्राह्यम् । एतच्च प्रतिवादिनो निग्रहस्थानम् । इदं व्याख्यानं चिन्त्यम्, दोषवद्वेन(वत्त्वेन) साधनस्य, वादिनिग्रहाधिकारे अन्यानधिकारात् । अत्राह आचार्यः–इत्येवं भाषितं परस्य बालभाषितम् । कुतः ? इत्याह–अनवस्थाप्रसङ्गात् इति । तथाहि–वादिना दोष इति (वति) साधने प्रयुक्तेऽपि यदा प्राश्निकाः तस्य निग्रहं व्यवस्थापयन्ति प्रतिवादिनः तदुद्भावनमपेक्ष्य, तदा स तम्[2], अन्यं वो (अन्यं १० वा दोषमु)द्भावयेत्, न किञ्चिद्वा उद्भावयेत् इति त्रयः पक्षाः । तत्र प्रथमपक्षे यथा प्रयुक्तेऽपि दोषे तत्प्रकाशनापेक्षा तथा [२८३ख] तत्र प्रकाशितेऽपि तत्परिहारापेक्षा पुनः तत्समर्थनापेक्षा इत्यनवस्था । यदि पुनः भूतदोषोद्भावनामात्रेण प्रतिवादिनः ते[3] जयं व्यवस्थापयति (न्ति); तर्हि वादिनोऽपि तद्दोषप्रयोगमात्रेण पराजयं व्यवस्थापयेयुः अलं [4]द्वितीयोपन्यासापेक्षणेन । अथ तावन्मात्रेण [5]परस्य तथोद्भावनासामर्थ्यं न ज्ञायते इति [6]तदुपन्यासापेक्षणम्; तर्हि तदुपन्यास- १५ मात्रेण इतरस्य[7] तत्परिहारसामर्थ्यमपि न ज्ञायत इति तृतीयोपन्यासापेक्षणं हठादापतति । एतेन उत्तरं विकल्पद्वयं निरूपितम् ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–तन्न इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् न 'तत्सर्वम् अनित्यम्' इति व्याप्तिवचनं प्रतिज्ञाम् अतिशेते । [8]तद्वचनं प्रतिज्ञैव स्यात् इत्यभिप्रायः ।

अत्राह परः–यदुक्तम् 'साकल्येन व्याप्तिसाधने नहिर्दृष्टान्तो भावात्' (बहिर्दृष्टान्ताभावात्) २० इति ; सारम् (तदसारम्) विवादगोचरस्य भावस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिसाधने अन्यस्य दृष्टान्त-भावादिति ; तत्रोत्तरमाह–'न क्षणादूर्ध्वमस्थानम्' इत्यादि ।

[न क्षणादूर्ध्वमस्थानं तत्प्रत्यक्षात् प्रसिध्यति ।
उपलब्धिलक्षणप्राप्तं तत्रैकान्ते [च] किं पुनः ॥१६॥

अर्थक्रियायाः कुतो विपक्षाद् व्यावृत्तिः क्षणिकपक्षे प्रत्यक्षतानुपपत्तेः । तत्र २५ आधिक्यदोषमुद्भाव्य परमार्थवादिनं परो विजयते इति घटाम्रुपढौकते ।]

परिमाणोत्प्रदन्तर (परमाणोस्तदन्तर[10])व्यतिक्रमकाल [:] क्षणः तत ऊर्ध्वं भावस्य यदव (यद) स्थानं विनाशः तत्प्रत्यक्षणात् (क्षात्) न प्रसिध्यति । निरूपितं चैतत् *"पश्यन् स्वलक्षणान्येकम्" [सिद्धिवि० १।९] इत्यादिना । एतदुक्तं भवति–यदि क्षणिको

(१) निर्दोषतायाः । (२) दोषम् । (३) प्राश्निकाः । (४) प्रतिवाद्युद्भावनापेक्षणेन । (५) प्राश्निकैः सदोषत्वावचनवादिनः पराजयघोषणेन । (६) प्रतिवादिनः । (७) प्रतिवादिना कृतस्य दोषोद्भावनस्य अपेक्षा । (८) वादिनः । (९) व्याप्तिवचनम् । (१०) परमाण्वन्तर ।

भावः कश्चित् प्रत्यक्षसिद्धः स्यात्[1] तन्निदर्शनेन अन्योऽपि तथा स्यात् । न चैवमिति ।

स्यान्मतम्–पूर्वापरकोटिविच्छिन्नस्य मध्यक्षणस्य [2]तद्विविक्तयोर्वा तत्कोट्योः प्रत्यक्षेण उपलम्भाः (लम्भात्), अन्यथा एकक्षण [२८४ क] मानं (त्रं) प्रसज्येत, तत्र केवलं दृश्यानुपलब्धेः अभावव्यवहारः साध्यते इति ; तत्राह–**तत्र** इत्यादि । **[तत्र]** तस्मिन् बाह्येतरनिरंश-

५ निरन्वयक्षणिकपरमाणुरूपे । कस्मिन् ? इत्याह–**एकान्ते** । किम् ? इत्याह–**किं** पुनर्नैव **'प्रसिध्यति'** इत्यनुवर्त्तते । किम् ? इत्याह–**उपलब्ध (ब्धि)** इत्यादि । एतदुक्तं भवति–तत्र एकान्ते यदि उपलब्धिलक्षणप्राप्तं किञ्चिद् भवति तस्य अनुपलम्भा(लम्भाद्)भावः तद्व्यवहारो वा प्रसिध्येत , न चैतदस्ति इत्युभप्रायम् । **तल्लक्षणप्राप्तं तस्य** अनुपलम्भात् तत्र अभावः सिध्येत् । स तु नैकान्तेन, अक्रमेणेव क्रमेणापि एकस्य अनेकरूपसंभवादिति च, तत्तस्य

१० कस्यचिद्भावस्य क्षणक्षयदर्शनात् सर्वस्य तेन व्याप्तिसिद्धिरिति स्थितम् ।

यत्पुनरुक्तम् अ र्च टे न–*"**सत्त्वस्य विपक्षाद् व्यावृत्तेः क्षणिकत्वेन व्याप्तिसिद्धिः न बहिर्दृष्टान्तबलेन, दृष्टान्तवचनं तु कार्यहेत्वपेक्षया स्वभा[व]हे[त्व]पेक्षया च** ।" तन्निराकुर्वन्नाह–**'अर्थ'** इत्यादि । **कुतो** न कुतश्चित् प्रमाणात् **विपक्षाद्** अक्षणिकाभिमताद् **व्यावृत्तिः** । कस्याः ? इत्याह–**अर्थक्रियायाः** । [4]तया हि सत्त्वं व्याप्तम् , [5]सा ततो [6]व्यावर्त्तमाना [7]तदादाय

१५ निवर्त्तेत ; [8]सैव तु [9]ततो न निवर्त्तते । कुतः ? इत्याह–**क्षणिकपक्षे प्रत्यक्षतानुपपत्तेः** । **'अर्थक्रियायाः'** इति सम्बन्धः । यदा हि क्षणिकपक्षे क्रमयौगपद्याभ्यां प्रत्यक्षा अर्थक्रिया भवति तदा [10]कुतश्चित् तयोः[11] निवृत्तौ सा[12] विनिवर्त्तते । यदा तु अक्षणिकवद् [13]इतरत्रापि न प्रत्यक्षा, तदा कुतः सा तत[14] एव व्यावर्त्तेत इति भावः ।

उपसंहारमाह–**तन्ने**त्यादि । यत एवं परस्य [२८४ ख] सदनित्यम् इत्यादि संक्षेप-

२० करणं प्रसक्तम् **तत्** तस्मात् **न आधिक्यादिदोषम् उद्भाव्य परमार्थवादिनं परः** प्रतिवादी **विजयते** इत्येतद् **घटामुपढौकत** इति ।

यदि पुनः आधिक्यादिदोषमुद्भाव्य परमार्थवादिनं परो विजयते, नहीदम् (तर्हीदम्) अपरं दूषणम् इति दर्शयन्नाह–**साध्योक्ति [:] साधनम्** इत्यादि ।

[साध्योक्तिः साधनं शब्दाविनि[र्मु]क्तावसंभवात् ।

२५ **न भावः कृतकत्वं वा असमर्थितमसाधनम् ॥१७॥**

न हि...एतावता प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ किं सत्त्वकृतकत्वादिना ? नन्वेत-

---

(१) तदुदाहरणेन । (२) मध्यक्षणभिन्नयोः पूर्वापरयोः । (३) "सा हि साध्यविपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणवृत्तिः । यथा यत्सत् तत्क्षणिकमेव, अक्षणिकत्वे अर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणवस्तुत्वं हीयते ।"–हेतुबि० पृ० ५४ । "स्वभावहेतौ विपर्यये बाधकप्रमाणवृत्त्या तादात्म्यसिद्धिनिबन्धनत्वात् ।"–हेतुबि० टी० पृ० ५१ । (४) अर्थक्रियया । (५) अर्थक्रिया । (६) नित्यात् । (७) सत्त्वम् । (८) अर्थक्रिया । (९) नित्यात् । (१०) नित्यात् । (११) क्रमयौगपद्ययोः । (१२) अर्थक्रिया । (१३) अक्षणिकेऽपि । (१४) नित्यादेव ।

तदप्युक्तम्–नासमर्थितमेव साधनमिष्यते निग्रह [प्राप्तेः] शब्दत्वं साधनमेव साध्यव्यापक-स्वभावत्वात् साकल्येन अनित्यत्वसाधने सत्त्वादिवत् तदेकलक्षणोपपत्तेः, अन्यथा दृष्टान्ते सत्यप्यगमकत्वात् ।]

वचनम् **उक्तिः** अनित्यत्वविशिष्टा **साध्या** चासौ **उक्तिश्च** अनित्यः शब्दः इति । किं सा ? इत्यत्राह–**साधनं** हेतुः इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह–**शब्दस्य अ [वि] निवृत्तौ** अपरिणामे **[अ] संभवात्** कारणात् **'साध्योक्तिः साधनम्'** इति । ततः किं जातम् ? इत्याह–**न भावः कृतकत्वं वा** 'साधनम्' इत्यनुवर्त्तते, शब्दाऽनित्यत्वस्य २ व संभावि (असंभवादिति) वचनाद् अन्यत एव सिद्धेः । यदि पुनः 'अनित्यः शब्दः' इत्युक्त्वा 'सत्त्वात् कृतकत्वाद्वा' इति ब्रूयात्; तर्हि उक्तस्य शब्दत्वस्य [स्वय]मसमर्थस्य तत्सामर्थ्योपरिज्ञानेन सत्त्वादिकमुच्यमानं हेत्वन्तरतया निग्रहस्थानं स्यादिति मन्यते । ५ १०

ननु यदि शब्दो हेतुः; [१]तस्य सदा भावात् ततः सदा साध्यप्रतीतेः न कदाचित् कस्यचित् नाम नित्यत्वे विवादः स्यादिति चेत्; अत्राह–**असाधनम्** इत्यादि । **'भावः कृतकत्वं वा'** एतद् इह अनुवर्त्तते । **वा**शब्द इवार्थे । ततोऽयमर्थः–भाव इव कृतकत्वमिव शब्दः साधनं **नासमर्थितम्** अपि तु समर्थितमेव । समर्थनं च तस्य न सदा इति कुतः ततः सर्वदा ऽय (साध्य)प्रतीतिः, इतरथा अन्यत्रापि समानमेतत् । १५

नहि इत्यादिना कारिकां विवृणोति । **एतावता** शब्दस्य परिणाममन्तरेण [२८५ क] असंभवमात्रेण **प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ** शब्दपरिणामसिद्धिनिष्पत्तौ **किं सत्त्वकृतकत्वादिना** 'प्रयुक्तेन' इत्यध्याहारः । ननु सर्वस्य सर्वदा भावाद् अर्थप्रतीतेर्न विवाद इति चेत्; अत्राह–**ननु** इत्यादि । **ननु** इति शिरःकम्पे, **एतदप्युक्तम्** प्रतिपादितम् । किम् ? इत्याह–**नासमर्थितमेव साधनम् इष्यते** । कुतः ? इत्याह–**निग्रह** इत्यादि । न च सर्वदा तत्समर्थनम्, यतस्तत्रैव साध्यप्रतीति-रिति भावः । २०

ननु दृष्टान्तेन तत्समर्थन (नं न) न [२]सोऽत्र इति चेत्; अत्राह–**शब्दत्वं** श्रावणत्वं वा **साधनमेव** असाधनं न भवति । कुतः ? इत्याह–**साध्य** इत्यादि । **साध्यश्चासौ व्यापकश्च** सः **स्वभावो** यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्** । केव किमिते त्याह (किमिति चेत् ? आह–) **साकल्येन अनित्यत्वसाधने सत्त्वादिवत्** । एतदपि कुतः ? इत्याह–**तस्य एकं यल्लक्षणं** तस्य **उपपत्तेः, अन्यथा** एकलक्षणोपपत्त्यभावप्रकारेण **दृष्टान्ते सत्यपि अगमकत्वात्** । यथा 'प्रयत्नानन्तरीयकः अनित्यत्वाद् घटवत्' अत्र साध्यसाधनयोः तादात्म्यं सिद्धम्, अन्यथा 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' इत्यादि न स्यात् । नहि इदं साध्यं क्रियमाणं तादात्म्यं जहाति । न साधनम् इति युक्तम् । यदुक्तम् अ र्च टे ने–[३]**"प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्वभावम् अनित्यं** २५

(१) शब्दस्य । (२) दृष्टान्तः । (३) "यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्वमन्तरेणापि कृतकत्वस्य भावाद् तत्स्वभावत्वम्; अनित्यत्वेऽप्ययमेव वृत्तान्तः । ततश्च तादात्म्यविरहात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्यानित्यत्वेनान्वयो न स्यात्, तन्निवृत्तौ वा निवृत्तिरिति कथं ततस्तत् प्रतीयते ? नैष दोषः; प्रयत्नानन्तरीयकपदार्थस्वभावस्यैव अनित्यत्वस्य तेन साधनात् ।"–हेतुबि० टी० पृ० ७३-७४ ।

साधनमेव तन्मात्रम्" [हेतुबि० टी० पृ० ७४] इति ; न ; सर्वानैकान्तिकविलोपप्रसङ्गात् ।

पुनरपि आधिक्यादेश्चोद्भूतत्वा [त्] परमार्थवादिपराजये दूषणं दर्शयन्नाह-**सं वा (ना)म-क्त्वा** इत्यादि ।

[स नामनुक्त्वा वाऽनुक्तं साधनं चेत् समर्थ्यते ।
साध्यवद्दूष्यमन्यच्च अप्रत्युच्चार्य दूष्यते ॥१८॥

पक्षमनुक्त्वा साधनं ब्रुवन् स्वयं पक्षीकरोति, पुनः समर्थनात् । साधनं यदि अनुक्त्वा समर्थयेत् किं यत्कृतकम् इत्यादिना ? परस्य साधनमप्रत्युच्चार्य दूषणसंभवे कथमनुक्तं न समर्थ्यते ? तदुभयत्राविशेषात् । तदन्यतरोक्तौ यदुक्तं निग्रहस्थानं तदुभयवचनेऽपि ।]

संवास नित्यः (**स नाम्** 'अनित्यः) शब्दः' इति प्रतिज्ञा**मनुक्त्वा** तद्वचने निग्रहप्राप्तिः अनर्थकाभिधानाद्वा वेत (**चेत्**) [२८५ख] किम् ? इत्याह-**साधनं** सत्त्वादिलिङ्गम् । अत्र-दूषणम्-**समर्थ्यते** असिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वमलविकलं क्रियते **किन्न**, [1]किन्नकारयोः व्यवहितयोः अभिसम्बन्धः । किंभूतम् ? इत्याह-**अनुक्तम्** अनुच्चारितम् ।

नन्वेवं साधनाङ्गस्यावन्धना (वचनात्) निग्रहस्थानम्; उक्तस्य समर्थने प्रतिज्ञावचनं स्वयमभ्युपगतं निग्रहस्थानम् इत्युभयथा यामारज्जः (पाशारज्जू) ।

स्यादेतत्, उक्तं साधनं किमिव समर्थ्यते ? इत्याह-**साध्यवत्** शब्दानित्यत्ववद् इति । अनुक्तस्य समर्थने को दोषः इति चेत् ? उच्यते-**साध्यवत्** तत्र विप्रतिपत्तौ साधनान्तरात् समर्थितात् समर्थनम्, तस्यापि अनुक्तस्यैव समर्थनं तदन्तरात् तस्यापि अनुक्तस्यैव तदन्तरात् इत्यनवस्थानात् साधनप्रयोगोऽनवसरः । किं च, वादिना उभयं कर्त्तव्यम्-स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं च । तव (तत्र) प्रतिपक्षः तदा दूषितो भवति यदा प्रतिज्ञादिनिगमनपर्यन्तं साधनवाक्यं दूषयति । तच्च उच्चार्य यदि सौगतो वादी दूषयति; कथं प्रतिज्ञाप्रयोगो निग्रहदायी न भवेत् ? इति दर्शयन्नाह-**दूष्यम्** इत्यादि । **दूष्यम्** निराकरणम**न्यदीयं** (णीयम् **अन्यत्**) **'साधनम्'** इत्यनुवर्त्तते, पक्षादीनाम् उपलक्षणभूतम् । **च** इति पूर्वसमुच्चये । **प्रत्युच्चार्य** पूर्वपक्षयित्वा **दूष्यते** निराक्रियते **'किम्'** इत्यनेन सम्बन्धः । शास्त्रे वादकाले वा पूर्वपक्षो न कर्त्तव्यः अन्यथा प्रतिज्ञावचनमवश्यंभावीति मन्यते ।

एतेन नैयायिकादेः वादिनः सौगतः प्रतिवादी साधनं प्रत्युच्चार्य दूषयन् निरस्तो वेदितव्यः । यदि पुनः नियमेन तदप्रत्युच्चार्य [२८६ क] दूष्यते ; तत्राह-**दूष्यं** च इत्यादि । **च** इति यथाऽर्थे । यथा साधनमप्रत्युच्चार्य दूष्यते तथा अनुक्तं किन्न समर्थ्यते ?

कारिकार्थं स्पष्टयति-**पक्षमनुक्त्वा** इत्यादिना । 'शब्दोऽनित्यः' इति **पक्षम् अनुक्त्वा साधनं ब्रुवन्** सौगतः **पक्षीकरोति स्वयम्** उच्यमानं साधनं साध्यं करोति । कुतः ? इत्यत्राह-**पुनः** तद्वचनोत्तरकालम् **समर्थनात्** असिद्धाद्यभावविकलतया व्यवस्थापनात् 'साधनस्य' इति[3] विभक्तिपरिणामेन पदघटना । तच्च अवश्यम् अभ्युपेयम् अन्यथा निग्रहप्राप्तिः । अनुक्तं तत्[4]

(१) सौगतः । (२) 'किम्' 'न' इति शब्दयोः । (३) षष्ठीविभक्ति । (४) साधनम् ।

समर्थ्यते इत्यत्राह–साधनं यदि [illegible] अनुक्त्वा पक्षवत्। अत्र दोषः किं कुत्सितम्। किम्? इत्याह–यत् कृतकम् इत्यादि स्पष्टम्। परस्य [illegible] साधनम् अप्र[illegible] । तत्प्रत्युच्चारणं (णे) प्रतिज्ञावचनं अवश्यम्भावीति मन्यते। दूषणसंभवे दूषणोद्भावनं(न)-संभवे 'साधनस्य' इति [1]विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। कथम् साधनमयुक्तं युक्त्या (मनुक्तम् अनुक्त्वा) न समर्थ्यते समर्थ्यतैव। कुतः? इत्याह–तद् इत्यादि। त[दिति] निपातः तस्य ५ एतस्यार्थे। तस्य एवंवचनस्य उभयत्र साधनस्य दूषणा (णे) समर्थने वा (चा) विशेषादिति। ततः किं परस्य जातम्? इत्यत्राह–तदन्यतरोक्तौ तयोः साधन-तत्समर्थनयोः अन्यतरस्य साधनस्यैव समर्थनरहितस्य समर्थनस्यैव वा साधनरहितस्य उक्तौ सत्यां यत् परेण निग्रह-स्थानम् उक्तम् [2]एकत्र उक्तस्य साधनस्य असमर्थनम् अन्यत्र[3] [4]साधनाङ्गस्य अवचनम् तदयु-[क्त]म् उभयवचनेऽपि तदविशेषात् इति मन्यते। १०

यदुक्तं परेण–'शब्द[ः] प्रमाणान्तरं च इत्यत्र यदि शब्दो लिङ्गं तत एव तर्हि सक-लसमीहितसिद्धेः [२८६ख] अन्यहेतूपादानात् वादिनो निग्रहस्थानम्' इति; तत्राह–वादि-नोऽनेकहेतूक्तौ इत्यादि।

[वादिनोऽनेकहेतूक्तौ निगृहीतिः किलेष्यते।
नानेकदूषणस्योक्तौ वैतण्डिकविनिग्रहः ॥१९॥ १५

साधनस्यैकदोषमुद्भाव्य शेषस्यानुद्भावनात् प्रतिवादिनः सकृज्जयपराजयौ स्याताम्। अनेकदोषोद्भावने कथमनेकसाधनवादिनमतिशयीत?]

वादिनो जैनादेः निगृहीतिः कैलेत्यरुचा (किलेत्यरुचा) विष्यते सौगतेन। कस्मिन्? इत्याह–अनेकहेतूक्तौ एकत्र साध्ये अनेकस्य ज्ञापकस्य उक्तौ सत्यां प्रकाशितप्रकाशनवत्, एकेन हेतुना गतेऽर्थे अन्यवैफल्यादिति मन्यते परः। तत्रेदं चिन्त्यते–वादिना उभयं कर्त्तव्यं २० स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणमिति सौगतो वादी स्वहेतुमेकमभिधाय [5]परपक्षे अनेकान्ते विरोधवैय-धिकरण्यानवस्थाऽभावादिदोषमनेकं वदन् निगृह्यते, एकस्मादेव दोषात् परपराजये अन्यवैफल्यम्। तर्हि तेन सर्वत्र एकमेव दूषणं वक्तव्यमिति नियमेन कात्स्न्र्येन परपक्षो दूषितः स्यात्। एवमर्थं च 'किल' इत्युच्यते। अथ 'द्विर्बद्धं सुबद्धम्' इति वचनाद् अनेकदूषणवच[नेऽपि न] निगृ-हीति नेरत (तिरिष्यते, अत) एव अनेक[हेतु]वचनेऽपि न स्यात्। एतदेव दर्शयन्नाह– २५ नानेकदूषणस्योक्तौ वादिनो न(नि)गृहीतिः इत्यनुवर्त्तते। वैतण्डिकस्य न वादवतो विनिग्रहः। यदि वा, 'वादिनः अनेकहेतूक्तौ निगृहीतिः' इति वचनात् प्रतिवादी तदुद्भावने जयवान् वक्तव्य इतरथा तदयोगात्। तत्र च वादिनोऽनेकदोषसंभवः, अनेकस्य वचनं सेन दोषो वचन (चेन्न दोषवचनं) परस्य सर्वस्यावचने अनेकहेतुवचनवत् प्रसङ्गः। एतदेव आह–न निगृहीतिः अनेकदूषणस्योक्तौ परस्य। शेषं पूर्ववदिति। ३०

(१) षष्ठी। (२) प्रथमविकल्पे। (३) द्वितीयविकल्पे। (४) हेतोः। (५) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ३७३। (६) जैनमते। (७) विरोधाख्यात्। (८) वादिनो निग्रहायोगात्।

कारिकां व्याचष्टे–साधनस्य प्रतिपक्षसाधनस्य वादिना उपन्यस्तस्य च एकदोषमुद्भाव्य शेषस्य [२८७क] सतोऽपि दोषस्य अनुद्भावनात् प्रतिवादिनः सकृज्जयपराजयौ स्याताम्। पुनः अनेकदोषोद्भावने कथमनेकसाधनं वा नम (नवादिनम्) अतिशयीत 'प्रतिवादी' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः।

५ प्रतिज्ञादिवचनोपालम्भच्छलेन न्यायवादिनमपि निग्रहणेन संयोज्य आत्मानं मन्यमानं परमुपहसन्नाह–पक्षम् इत्यादि।

[पक्षं साधितवन्तं चेद्दोषमुद्भावयन्नपि।
वैतण्डिको निगृह्णीयाद् वादन्यायो महानयम् ॥२०॥

स्वपक्षस्थापनाहीनोऽपि प्रतिवादी तत्त्वं साधयन्तं सिद्धेरप्रतिबन्धकं दोषं वितण्ड-
१० योद्भावयन् जयतीति फल्गुप्रायम्, समर्थयोरेव विवादात् कथमन्यतरो वैतण्डिकः संभाव्येत? न वै तदन्यतरो वैतण्डिकः साधनं प्रत्युचार्य दूषयतः प्रतिवादिनः प्रत्यवस्थानात्, स्वयं कथञ्चिदुत्तरमभिधायेति वा, तथा तयोर्वैतण्डिकत्वे परिपूर्णो वादन्यायः स्यात्!]

पक्षम् स्वाभिप्रेतमर्थं साध्याविनाभाविसाधनेन साधयन् न निगृह्णीयात्। अपि शब्दः भिन्नप्रक्रमः वैतण्डिक इत्यस्य अनन्तरं द्रष्टव्यः, वैतण्डिकोऽपि स्वपक्षस्थापना-
१५ हीनोऽपि *"स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो जल्पो वितण्डा।" [न्यायसू० १।२।३] इति वचनात्, [1]प्रतिपक्षो हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन स्वपक्ष उच्यते [2]चेद् यदि तत्र दोषो वादन्यायो महानयम् वादन्यायो न भवति किन्तु वितण्डा स्यात्। प्रतिज्ञादिवचनवत् छलादेरप्यनर्थकस्य निग्रहबुद्ध्या उद्भावनसंभवादिति मन्यते। किं कुर्वन् स तं निगृह्णीयात्? इत्यत्राह–दोषमुद्भावयन्, 'पक्षं साधितवन्तम्' इति वचनात् पक्षसिद्ध्यप्रतिबन्धकमुद्भावयन्निति गम्यते।

२० कारिकां विवृण्वन्नाह–स्वपक्षस्थापनाहीनो जयति इति फल्गुप्रायम्। कः? इत्याह–प्रतिवादी। कया? वितण्डया। किं कुर्वन्? उद्भावयन्। किंभूतं कम? इत्याह–सिद्धेरप्रतिबन्धकं दोषम् इति। कम्? इत्याह–तत्त्वं साधयन्तं वैतण्डिकस्य इयमेव गतिः यत् यथाकथञ्चित् जयति इति चेत्; अत्राह–समर्थयोः इत्यादि। समर्थयोरेव सम्यक्साधनदूषणवचने शक्तयोरेव नाऽसमर्थयोः वादिप्रतिवादिनोः विवादात् [२८७ख] समर्थस्यासमर्थन(र्थेन)
२५ तस्य[3] वा समर्थेन सह विवादासंभवात्, प्रचण्डभूपतेरे व (रिव) क्लीबेनेति। कथम् अन्यतरो वादी [प्रतिवादी] वा वैतण्डिकः संभाव्येत तस्य तद्विपरीतत्वात्।

स्यान्मतम्–वादिना सम्यक्साधने प्रयुक्ते प्रतिवादी [4]भूतदोषमपश्यन् यदि प्रतिज्ञादिवचनं सिद्धेरप्रतिबन्धकमपि सन्तं नोद्भावयेत् तस्य[5] ऐकान्तिकः पराजयः स्यात्। तदुद्भावने तु तत्र

(१) प्रतिपक्षोऽत्र स्वपक्षः, प्रतिवादिपक्षापेक्षया वादिपक्षस्यापि प्रतिपक्षत्वात्। (२) "उत्तरपक्षवादी वैतण्डिकः प्रथमवादिप्रसाध्यमानपक्षापेक्षया हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन प्रतिपक्ष इत्युच्यते तमसावभ्युपगच्छन्नेव न तत्र साधनमुपदिशति परपक्षमेवाक्षिपन्नास्ते।"–न्यायम० प्रमे० पृ० १५३। (३) असमर्थस्य। (४) यथार्थं। (५) प्रतिवादिनः।

सन्देहः । यदा वादी तथैव परिहरति तदा पराजयः । अपरिहारे अन्यथापरिहारे वा वाद्येव पराजीयते *"ऐकान्तिकपराजयाद्वरं सन्देहः" इति[1] प्रतिवादी वैतण्डिको भूत्वा प्रतिज्ञादिवचनमुद्भावयति । तथा वाद्यपि [2]तस्मिन् उद्भाविते तथा यदि उत्तरं न वदति तर्हि तस्य ऐकान्तिकः पराजयः स्यात्, उत्तरमात्रे तु उक्ते सन्देहः । यदा परः[3] तथैव दूषयेत् जयवान् स्यात् अदूषणे अन्यथादूषणे वा पराजयवान् इति§ ऐकान्तिकपराजयवान् इति,§ ऐकान्तिकपराजयाद् ५ वरं सन्देहः इति वाद्यपि वैतण्डिको भूत्वा उत्तरमात्रं द[दा]तीति नाथोनरो (नान्यतरो) वैतण्डिकः अपि तु द्वावपि वैतण्डिकाविति । एतदेव दर्शयन्नाह–न वै इत्यादि । न वै नैव तदन्यतरो वादिप्रतिवादिनोः अन्यतरः वैतण्डिकः किन्तु द्वौ अपि वैतण्डिकौ इति भावः । कुतः ? इत्याह–प्रत्युच्चार्यन्ते द्य (च्चार्य इत्यादि), अन्यथा [4]अननुभाषणं निग्रहस्थानं स्यात् । किम् ? इत्याह–साधनं वादि हेच्छं (हेतुं) तत्किं कुर्वतः ? दूषयतः प्रतिज्ञादिवचनोपालम्भच्छलेन निरा- १० कुर्वतः । कस्य ? इत्याह–प्रतिवादिनः । तस्य किम् ? इत्याह– [२८८ क] प्रवि (प्रत्य)- वस्थानात् निराकरणात । केन ? इत्याह–स्वयम् आत्मना वादिनापि । कथम् ? इत्याह– कथञ्चित् यत्किञ्चिद् उत्तरमभिधाय इति शब्दः पूर्वपक्षसमाप्तौ, 'वा' इति पराभिप्रायद्योतने । अत्र दूषणमाह–तथा तेन उक्तप्रकारेण तयोर्वादिप्रतिवादिनोर्वैतण्डिकत्वे अभ्युपगम्यमाने वादन्यायः परिपूरिपूर्णत्यात् (परिपूर्णः स्यात्) उपहसनपरमेतत । वितण्डैव स्यात् न वादन्याय १५ इत्यर्थः ।

किञ्च, इदमसिद्धं द्रुयो (द्वयोः) यदि प्रतिज्ञादिवचनात् समीचीनसाधनवाद्यपि वादी निग्रहार्हः कथमसौ जेता [6]तद्वचनरहितसाधनवचनेन इति चेत् ? एतत् पूर्वार्धेन प्रदर्श्य उत्तरार्धेन च दूषयन्नाह–कारिकां जल्पाक इद का (इत्यादि) ।

[जल्पाकः साधयन्नर्थमनधिकोक्त्या जयत्यसौ । २०
प्रतिवादी किन्निगृह्ये त न प्रत्युच्चारणा... भेः ॥२१॥

वादिनः···साधन[नाङ्गवचनात्] प्रतिवादिनो निग्रहस्थानप्राप्तेः तथानुपपत्तेरिति फल्गुप्रायमिति ; साधनप्रत्युच्चारणवत् दोपान्तरोक्ति-अनुक्तिप्रभृतिभिः दोषवत्साधनवादिनापि पुनर्निगृह्येत । तदेतेन अप्रतिभादिः प्रत्युक्तः । कस्यचिद् विप्रतिपत्तौ अप्रतिपत्तौ वा परस्य स्वपक्षसिद्धिमन्तरेण जयाभावात् कः केन निगृह्यते ? यत्पुनः २५ इष्टस्य अर्थसिद्धिः साधनं च तदङ्गं पक्षधर्मत्वादित्रिलक्षणास्त्रयो हेतवो गमकाः तदविनाभावनियमात् ; तत्र पक्षधर्मत्वकार्यत्व·र्वत्वादिलक्षणम् असाधनम्, अन्यथानुपपत्तिमनिश्चिन्वानः साध्यसाधनयोस्तादात्म्यतदुत्पत्ती कथं प्रतिपद्येत ? तत्प्रतिपत्तौ किं सम्बन्धान्तरेण अन्तर्गडुना ?]

(१) "तथापि ऐकान्तिकपराजयाद्वरं सन्देह इति युक्तं तत्प्रयोगकरणेन स्फुटाटोपकरणम् ।"–न्यायम० प्रमे० पृ० १५२ । (२) प्रतिज्ञादिवचने । (३) प्रतिवादी । (४) "विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्यापि अप्रत्युच्चारणमननुभाषणम्"–न्यायसू० ५।२।१६ । (५) वादी । (६) प्रतिज्ञादिवचन ।
§ एतदन्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः ।

जल्पाको वादी **जयति** इति चेत् । किं कुर्वन् ? इत्याह–**साधयन्** । किम् ? इत्याह–**अर्थं** स्वपक्षम् । कथयं (कया ? इ)त्याह–**अनधिकोक्त्या** न विद्यते अधिका (कम्) उपलक्षणमेतत् तेन न्यूनमपि यस्यां सा तथोक्ता तया इति । तर्हि वादिनो जय एव प्रतिवादिनः पराजय इति कस्यामवस्थायां शेषः स्यात् ? त[दु]द्भावनं वा प्रतिवादिनः पराजयः स्यात् ।
५ न तावद् अनधिकोक्त्या अर्थं साधयाम् (साधयेत्) । अत्रापि इदं चिन्त्यते किं सतोऽपि (सतामपि) स्वदोषाणामनुद्भावनात , समीचीनसाधनवचनाद्वा वादी जयति ? तत्र अन्त्ये पक्षे उक्तं जल्पादि विरुध्येत इति, स एव परस्य पराजय इति । प्रथमपक्षेऽपि स एव वादी स्वयं स (स्व)दोषमुद्भाव्य जयति तर्हि [1]तस्य पराजय इत्युक्तम् । यदि पुनः प्राश्निकप्रकाशितात् तदनुद्भावनात ; तं[2] तर्हि यथा दोषस्य अनुद्भावनं [२८८ ख] परस्य पराजयं व्यवस्थापयन्ति
१० तथा वादिनोऽपि वचनमिति यत्किञ्चिदेतत् । एतेन सदोषसाधनवचनकालोऽपि निरूपितः । तत्र तस्मिन् पक्षे च प्रतिवादिनः परोक्तः पराजयः । एतदेव दर्शयन्नाह–**प्रतिवादी निगृह्येत किं नैव** । कैः ? इत्याह–**प्रत्युच्चारणादिभिः** । आदिशब्देन दोषोद्भावनादिपरिग्रहः ।

कारिकार्थं प्रकाशयन्नाह–**वादिन** इत्यादि । गतार्थमेतत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**साधन** इत्यादि । **प्रतिवादिनो निग्रहस्थानप्राप्तेः तथा** परोक्तप्रकारेण **अनुपपत्तेः फल्गुप्रायम्** इति
१५ **साधनप्रत्युच्चारणवद् दोषान्तरोक्तिश्च अनुक्तिश्च प्रभृति** येषाम् अदोषोद्भावनादीनां तैः इति वादिजयादेव तन्निग्रहस्थानप्राप्तेरिति मन्यते । तैरेव [3]तत्प्राप्तिः [4]नातः इति चेत् ; अत्राह–**दोषवत्साधनवादिनापि** न केवलम् अन्येन **पुनः** एवं सति **निगृह्येत** प्रतिवादी इति सम्बन्धः । शेषमत्र चिन्तितम् ।

एतदन्यत्रातिसं (तिदिश) न्नाह–**तदेतेन** इत्यादि । **तद्** इत्ययं निपातः तेन इत्यस्य अर्थे
२० वर्त्तते । तेन **पक्षस्थापनया** इत्यादिना **एतेन** इदानीं चेतसि प्रत्यक्षतया प्रतिभासमानेन । '**एतेन**' इत्युच्यमाने अनन्तरे संप्रतिपत्तिः स्यात् , 'तेन' इत्युच्यमाने [illegible]ते, तस्मात् '**तदेतेन**' इत्युच्यते । **प्रत्युक्तो** निरस्तः [कथम् ?] इत्याह–**अप्रतिभा** इत्यादि । [5]उत्तराप्रति[पत्तिरप्रति]-**भा आदिर्येषां** निग्रहस्थानानां तानि तथा । [6]तेषां प्रपञ्चः स नेह प्रदर्श्यते ग्रन्थगौरवभयात् कथात्रयभङ्गा[7]द् अवगन्तव्यः । [२८९ क] कथं प्रत्युक्त इत्युक्तः ? इत्यादि (ह–)
२५ **कस्यचिद्** वादिनो [प्रतिवादिनो] वा **विप्रतिपत्तौ** अन्यथा व्यवस्थितस्य परमार्थस्य अन्यथा-ग्रहणे **अप्रतिपत्तौ** तद्ग्रहणाभ्य वेच (णाभावे च) **परस्य** प्रतिवादिनो वा **स्वपक्षसिद्धिमन्तरेण जयाभावात्** कारणात् **कः केन निगृह्यते** न कश्चित् केनचित् ? जयपराजययोः अन्योऽन्यापेक्षत्वादिति ।

तदेवं '**वादिप्रतिवादिप्राश्निक**' इत्यादिना '**चतुरङ्ग एव**' इत्यनेन (इत्यन्तेन[8])
३० '**चतुरङ्गं विदुर्बुधाः**' इति[9] व्याख्यातम् । '**वचनस्यापि**' इत्यादिना[10] '**स्वार्था**[illegible]**मान**ऽपि

(१) वादिनः । (२) प्राश्निकाः । (३) निग्रहप्राप्तिः । (४) न वादिजयात् । (५) "उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा"–न्यायसू० ५।२।१८ । (६) निग्रहस्थानानाम् । (७) एतन्नामकाद् ग्रन्थविशेषात् । (८) पृ० ३११ । (९) पृ० ३११ । (१०) पृ० ३११ ।

प्रयोगप्रदर्शनः 'अन्यथाऽयुक्तमेव' इत्यनेन (इत्यन्तेन[1]) च समर्थं च तद्वचनं च इति समर्थवचनः इत्येतच्च[2], 'तत्त्वप्रत्यायनात्' इत्यादिना[3] 'मार्गप्रभावनालक्षणत्वात्' इति पर्यन्तेन[4] [5]पुनः पक्षनिर्णयपर्यन्तेन पुनः 'पक्षनिर्णयप[र्यन्तं] फलं मार्गप्रभावना' इति च[6]। 'कस्यचित् तूष्णींभाव' इत्यादिना[7] विपक्षे बाधकमुपदर्शितम् ।

संप्रति 'समर्थस्य साध्य सिद्धौ (सिद्धौ) शक्तस्य वचनं जल्पं विदुः' इत्येतद् ५ व्यवस्थापयितुकामः परमतं दूषयितुमुपन्यस्यति 'यत्पुनः' इत्यादि । यद् वादलक्षणं पुनः इति पक्षान्तरद्योतने । किं तत् ? इत्याह–[8]इष्टस्य वादिनोऽभिमतस्य अर्थसिद्धिः साधनम् अनुमेयप्रतीतिः इति यावत्, साध्यते अनेन इति साधनं लिङ्गम् इत्यर्थः. । च इति पूर्वसमुच्चयार्थः । तदङ्गम् तस्य साधनस्य लिङ्गस्य अङ्गम् अवयवः । किं तत् ? इत्याह–पूर्वपक्षधर्मत्वादि,[9] आदिशब्देन [10]सपक्षे सपक्षे सत्त्वमसत्त्वं वा पक्षे (असपक्षे) गृह्यते, तस्य वा सिद्धिः । उप- १० (अथ) साधनस्य अङ्गं निमित्तं के ? इत्याह–त्रिलक्षणाः [२८९ ख] त्रयः पक्षधर्मत्वादयो लक्षणं येषां ते तथोक्ताः । कियन्तः ते ? त्रय इति कार्य-स्वभाव-अनुपलम्भभेदेन[12] । ते किम् ? इत्याह–हेताव (हेतवो) गमकाः । यदि वा, पक्षधर्मत्वादीनि त्रीणि लक्षणानि येषाम् इति ग्राह्यम् ।

इदमपरं व्याख्यानं[13] नैयायिकाद्यपेक्षया । तस्य अनन्तरसाधनस्य अङ्गम् अवयवः । किम् ? इत्याह–पक्षधर्मत्वादि । केवलान्वयिनः साधनस्य पक्षधर्मत्वम् । आदिशब्देन स्वपक्षे १५ सर्वं (सपक्षे सत्त्वं) गृह्यते । ततः *[14]"पूर्ववच्छेषवत्" [न्यायसू० १।१।५] इति सूत्रं संगृहीतम् । साधनादिभ्यः पूर्वः पक्षः पूर्वम् अभिधानात्[15], स यस्यास्ति तत्[16]तद्वदिति । पक्षाद् उक्ताद् उद्धरितः शेषः सपक्षो यस्यास्ति तत्तद्वत्[17] । केवलव्यतिरेकिणो [लि]ङ्गस्य पक्षधर्मत्वम्, आदिशब्देन सामान्यतो दृष्टं चेति गृह्यते । तेन *"पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च" [न्यायसू० १।१।५] इति सूत्रपरिग्रहः । सामान्येन च शब्दाद् विशेषणेनैव (शेषेणैव) अदृष्टं विपक्षे इत्यर्थः । २० अन्वयव्यतिरेकवतः अङ्गं पक्षधर्मत्वम् । आदिशब्देन शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च इति गृह्यते । अतः तृतीयमपि सूत्रम् अनुगृहीतम्–*"पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च" [न्यायसू० १।१।५] इति । तस्याः सिद्धेः अङ्गं निमित्तं तदङ्गं त्रयो हेतवः केवलान्वय[केवलव्यतिरेक-अन्वय]

(१) पृ० ३३० । (२) पृ० ३११ । व्याख्यातम् इति सम्बन्धः । (३) पृ० ३३१ ।(४) पृ० ३३२ । (५) 'पुनः पक्षनिर्णयपर्यन्तेन' इति द्विरुक्तमत्र । (६) पृ० ३११ । व्याख्यातम् । (७) पृ० ३३२ । (८) "इष्टस्यार्थ (स्य, सिद्धिः साधनं तस्य निर्वर्तकमङ्गं तस्य वचनं तस्याङ्गस्यानुच्चारणं वादिनो निग्रहाधिकरणम्–तच्च साधनाङ्गमिह निश्चितत्रैरूप्यं लिङ्गमुच्यते, तस्य साधनाङ्गस्य वचनं त्रिरूपलिङ्गस्याख्यानं, तस्य साधनाङ्गस्यावचनमनुच्चारणमनभिधानम्···"–वादन्या० टी० पृ० ३ । (९) 'पूर्वं' इति निरर्थकम् । (१०) "त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव सपक्षे एव सत्त्वम् असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ।"–न्यायबि० २।५ । (११) एकः 'सपक्षे' शब्दः द्विर्लिखितः । (१२) "अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेति ।"–न्यायबि० २।११ । (१३) अग्रे उच्यमानम् । (१४) "तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च" इति । (१५) उच्चारणापेक्षया, हेतोः पूर्वं पक्षः समुच्चार्यते इत्यर्थः । (१६) पूर्ववत् इति । (१७) शेषवत् इति । तुलना "अथवा त्रिविधमिति पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं चेति । पूर्वं साध्यं तद्व्याप्त्या यस्यास्तीति तत् पूर्ववत् । साध्यतज्जातीयः शेषः तदस्यास्तीति तत् शेषवत् । पूर्ववन्नाम साध्यव्यापकं शेषवदिति समानेऽस्ति···"–न्यायवा० पृ० ४६ ।

व्यतिरेकिणः[1] । किं लक्षणाः ? **त्रिलक्षणाः** । उपलक्षणमेतत् तेन द्विलक्षणग्रहणम्[2] । यदि वा, **पक्षधर्मत्वादीनि त्रीणि लक्षणानि** येषां ते तथोक्ताः । उपलक्षणमेतत् ततः पक्षध[illegible]-दिलक्षणा अपि गृह्यन्ते । **त्रयो हेतवः** कारणाकार्य [कारण-कार्य-अकार्यकारण] सामान्यभेदेन ।

एवं च [3]पूर्ववत् [२९० क] कार्यात् पूर्वं जायमानत्वात् पूर्वं कारणम् अस्य अस्ति ५ इति । शेषवद् इति शेषं कार्यम् अस्ति इति शेषवद् इति । सामान्येन [अ]कार्यकारणत्वेन सामान्यतोदृष्टं रसादीनि (दीति) सूत्रत्रयम् अनुसृतं भवति । एतेन वीतादि[4] व्याख्यातम् । कुतः तदक्रम ? इत्याह–**तद्** इत्यादि । **तेषु** पक्षधर्मत्वादिषु त्रिषु हेतुषु वा **अविनाभावस्य नियमाद्** इति । वादाधिकारात् तद्वचनपरिग्रहः । तत्र दूषणमाह–**तत्र** इत्यादि । **[तत्र]** तस्मिन् पूर्वपक्षे **पक्षधर्मत्वं च कार्यत्वं** पूर्वत्वं[5] **पूर्वत्वं च तदादिर्**यस्य तत् तथोक्तं **तल्लक्षणं** यस्य तदपि १० तथोक्तम् । **आदिशब्दः** प्रत्येकमभिसम्बध्यते–पक्षधर्मत्वादि[6], तदस व्याप्तः (तदंशव्याप्तः) इत्यस्य संग्रहार्थः । कार्यत्वादि, [7]ततः स्वभावत्वादिपरिग्रहः । पूर्ववत्त्वादिः, शेषवत्त्वादेः आदि-शब्देन ग्रहणम् । **तदसाधनम्** अलिङ्गम् । कुतः ? इत्याह–**अन्यथा** इत्यादि ।

ननु भवतु त द्द (ते ई)हितत्वं[8] तथापि पक्षधर्मत्व-कार्यत्वादिलक्षणं साधनमेव तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धादिति चेत् ; अत्राह–**साध्य** इत्यादि । **साध्यादभेदात्** साध्यशब्देन १५ स्वभावहेतुः उच्यते, ततोऽभेदात् । **साधन**शब्देन कारणो हेतुः । तयोः **तादात्म्यं** च साध्य-रूपता **तदुत्पत्तिश्च** साध्याद् आत्मलाभः ते **तादात्म्यतदुत्पत्ती कथं** न कथंचित् **प्रतिपद्येत** सौगतः । किं कुर्वन् ? **अन्यथा** साध्याभावप्रकारेण **अनुपपत्तिम**घटां हेतोः सतीमसतीं वा **अनिश्चिन्वानः** । एतदुक्तं भवति–अन्यथानुपपत्त्या तादात्म्यतदुत्पत्ती व्याप्ते । नहि यद् यदभावेऽपि भवति तत् तत्स्वभावं तत्कार्यं वा मनीषिणो मन्यन्ते । ततः तस्या[9] निश्चयाभावे [10]तयोः २० [२९० ख] अनिश्चयात् । पूर्वत्वादिकार्यत्वादिलक्षणम् असाधनम् इति निश्चिनोति नाम इति चेत् ; अत्राह–**तत्प्रतिपत्तौ** तस्या अन्यथानुपपत्तेः प्रतिपत्तौ निश्चये [illegible] याः (?)

(१) "त्रिविधमिति अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति । तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् घटवदिति । अन्वयी विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति विपक्षहीनः । यथा सर्वानित्यत्ववादिनाम् अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति । अस्य हि विपक्षो नास्ति । व्यतिरेकी विवक्षितव्यापकत्वे सति सपक्षाभावे सति विपक्षावृत्तिः यथा नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति ।"–न्यायवा० पृ० ४६ । (२) केवलान्वयिनः विपक्षेऽसत्त्वाभावात्, केवलव्यतिरेकिणश्च सपक्षसत्त्वाभावात् । (३) "पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति । शेषवत् तद् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति । सामान्यतोदृष्टं व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्य अन्यत्र दर्शनमिति तथा चादित्यस्य ।"–न्यायभा० १।१।५ । (४) सांख्योक्तम् । "तत्र प्रथमं तावत् द्विविधं वीतमवीतं च । अन्वयमुखेन प्रवर्त्तमानं विधायकं वीतम्, व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम् । तत्रावीतं शेषवत्...वीतं द्वेधा पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च ।"–सांख्यत० कौ० का० ५ । (५) 'पूर्वत्वम्' इति पुनरुक्तम् । (६) इत्यत्र आदिशब्दः । (७) आदिशब्दात् । (८) इष्टसिद्धिः । (९) अन्यथानुपपत्तेः । (१०) तादात्म्यतदुत्पत्त्योः ।

किं सम्बन्धान्तरेण तादात्म्यादिलक्षणेन ? किंभूतेन ? **अन्तर्गडुना अनर्थकेन**। अन्यथानुपपत्तिसम्बन्धेन तत्प्रयोजनप्रसाधनादिति मन्यते।

स्यान्मतम्–सम्बन्धान्तरमन्तरेण 'सापि न सती निश्चीयते वा तत्कथं तस्य अन्तरं गतः नेति (अन्तर्गडुतेति) चेत् ; अत्राह–**एकलक्षणसिद्धिः** [इत्यादि]।

[एकलक्षणसिद्धिर्वा साकल्येन कथं तथा। ५
एतत्पूर्ववदादौ च योजनीयमसाधनम् ॥२२॥]

एकं प्रधानम् अन्यथानुपपन्नत्वं यत् साधनलक्षणं तस्य **सिद्धिः** निर्णीतिः **साकल्येन कथम्** इत्यादिना 'कृता' इति अध्याहारः। वक्ष्यमाणानन्तरपरिच्छेदे करिष्यते इति वा। एवं तावत् 'पूर्वत्वकार्यत्वादिलक्षणं सौगतकल्पितम् अन्यथानुपपत्तिरहितत्वादसाधनम्' इति प्रतिपाद्य [नैयायिकं] प्रति 'पूर्वत्वादिलक्षणं तद्रहितत्वादसाधनम्' इति प्रतिपादयन्नाह–**तथा** १० इत्यादि। **तथा** तेन अनन्तरप्रकारेण **योजनीयम् असाधनम्** इत्येतत्। क ? इत्यत्राह–**पूर्ववद्** इत्यादि। **आ**[दि]शब्देन वीतादिपरिग्रहः। तथाहि–पूर्ववच्छेषवत् पक्षसपक्षवत्, न साधनम् अन्यथानुपपत्तिरहितत्वात् तदन्यवत्। इतरथा 'विवादास्पदं सर्वमनित्यं सत्त्वात् दीपादिवत्' इत्यपि स्यात् पूर्ववच्छेषवद् इत्यस्य लक्षणस्य भावात्। अथ अनित्यत्वाभावेऽपि सत्त्वस्य आत्मादौ भावात् नेदं साधनम्; किं तर्हि स्यात् ? यत् तदभावे नियमेन न भवति; १५ अन्यथानुपपत्तिरियम्, इति अन्तर्गडुना किं 'पूर्ववद्' इत्यादिना ? तथा पूर्ववत्सामान्यतोदृष्टं [२९१क] विपक्ष (पक्षविपक्षवत्);इत्येतदपि तद्रहितं न साधनम्, अन्यथा 'स्वसंवेदनं घटादिज्ञानम् आत्मविशेषगुणत्वात्, यः पुनः स्वसंवेदनो न भवति स तद्विशेषगुणो न भवति इति यथा रूपादिः' इत्यपि स्यात्, पूर्ववत्त्वस्य विपक्षे सामान्यतो विशेषतो वाऽदर्शनस्य च भावात्। अथ मतं स्वसंवेदनाभावेऽपि प्रयत्नादौ तद्विशेषगुणत्वस्य भावात् नेदं साधनमिति; किं तर्हि स्यात् ? २० यत् तदभावे नियमेन न भवति ; उक्तमत्र अन्यथानुपपत्तिसमर्थनमिति। तथा पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोऽदृष्टम् इति वचन[म]युक्तम्; कथमन्यथा 'पक्वान्येतानि फलानि एवंरसानि च एकशाखाप्रभवत्वाद् उपयुक्तफलवत्, यानि पुनः एवंविधानि न भवन्ति तानि एकशाखाप्रभवाणि न भवन्ति यथा अविवक्षितफलानि' इत्येवमाद्यपि युक्तं [न] भवेत्। बाधितविषयत्वात् नेति चेत्; ननु *"लक्षणयुक्ते बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्" [प्र० वा०स्ववृ० २५ पृ० ६६] इति कथमन्यत्र समाश्वासो यतः पूर्ववत्त्वादि साधनं स्यात् ? अबाधितत्वस्यापि तल्लक्षणात् (क्षणत्वात्)। नाऽस्य लक्षणयोगः इति चेत्; किमिदं बाधिततत्त्वम (धितत्वम् ?) साध्याभावेऽपि साध्यधर्मिणि दर्शनम्; अबाधितत्वं तदभावे नियमेनाऽदर्शनम् इति अन्यथानुपपन्नत्वम्–अबाधितत्वम् इति नानयोः अवस्थयोः विशेषः।

---

(१) अन्यथानुपपत्तिरपि। (२) अन्यथानुपपत्तिरहितत्वात्। (३) अन्यथानुपपत्तिरहितम्। (४) आत्मविशेषगुणः। (५) साध्याभावे-विपक्षे इत्यर्थः। (६) अबाधितत्व-अन्यथानुपपन्नत्वयाः।

किञ्च, अबाधितविषयत्वं किं बाधकस्यादर्शनात् , उत पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोऽदृष्टम् इत्येतस्मात् , आहोस्विन् विपक्षे बाधकप्रमाणादिति त्रयः पक्षाः । तत्र आद्ये पक्षे व्यभिचारः, सतोऽपि बाधकस्य कुतश्चिददर्शनसंभवात् , पुनः पर्यायेण दर्शनात् , [२९१ख] अदृष्टदोषेषु शास्त्रेषु परीक्षया पुनः दोषदर्शन(नात्) । कालत्रयबाधा[ऽ]दर्शनम् अन्तर्व्याप्तिमन्वाकर्षति । द्वितीये प्रकृत-
५ मपि परिहृतम । तृतीये सिद्धो नः सिद्धान्तः ।

यत्पुनरेतत्–पूर्ववत् कारणवत् इति; तदप्यसारम् ; वीतरागाभावप्रसङ्गात् । क्षणचयान्यो या (कणचरोऽन्यो वा) वीतरागत्वेन अभिमतो रागादिमान् पुरुषवत् । पुरुषो हि रागादीनां कारणमिष्यते बुद्ध्यादीनां कार्याणां तद्विशेषगुणत्वोपगमात् । वीतरागत्वेनोपगतो न तत्कारणम् ; न तर्हि संसारिणो मोक्षः स्यात् , इति तदर्थमनुष्ठानमनर्थकम् । न चैतन्मन्तव्यम्–सामग्री रागादि-
१० कारणं न केवलः पुरुषः, तस्याः तदनुमाने सिद्धसाधनम् , पुरुषाद् व्यभिचार इति; नित्यस्य अपेक्षानिषेधात् तस्याः तत्कारणत्वानुपपत्तेः । यदि पुनस्तस्य तत्कृतोऽवस्थाविशेषः तदव्यभिचारी इति; तत एव तदनुमानम् एकलक्षणशासनम् ।

यच्चान्यत्–'शेषवत् कार्यवद्' इति; तदप्यसुन्दरम् ; यादृश एव घटादेः संस्थानविशेषः चक्रचीवरनारदण्डादेर्भवति तादृशस्यैव [11]पाकजोत्पत्तौ [12]तदभावेऽपि स्वयमभ्युपगमात् । एवं च सति
१५ चक्रादिवत् उपलब्धिमदभावेऽपि क्वचित्तत्संभवाशङ्कायां कथमतः पर्वतादौ बुद्धिमत्कारणानुमानं निःशङ्कम् । अथ यथा चक्राद्यभावेऽपि तद्दर्शनं [तथा] बुद्धिमदभावे यदि कदाचित् स्यात् को विरोधः ? विरोधे वा तत एव गमकत्वोपगतेः (त्वोपपत्तेः) किं 'शेषवत्' इत्यनेन ।

यत् पुनरन्यत्–[२९२क] सामान्यतः सामान्येन अकार्यकारणत्वेन दृष्टं रूपादौ रसादिकम्[13]; तदप्यसमीक्षिताभिधानम् ; यतः [14]कुतः कुतश्चित् यस्य कस्यचित् प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । अथ
२० एकस्मिन् द्रव्ये ततस्तदनुमानम् , अतोऽयमदोषः ; तर्हि रसाद् रूपवत् क्वचित् फले बुद्ध्यादेरनुमानं सहभावस्य कदाचिद्दर्शनं (नात) । तत्र[15] तस्य ([16]तस्याऽ)समवायाच्चेति चेत् ; एकार्थसमवायः तर्हि गमकत्वे निबन्धनम् । भवतु को दोष इति चेत् ; न; [17]ततः तद्वत्[18] [19]कर्मणोऽनुमितिः स्यात् तदविशेषात् । तथापि रूपादेरेव [20]तत्संभवे किमेकार्थसमवायेन ? यदि च रूपरसादेः क्वचित्[21] सहभावदर्शनाद् अन्यत्र रसाद् रूपगतिः; तर्हि स्पर्शवत्त्वादेः तत्र दर्शनात् स्पर्शात् जलादौ
२५ गन्धादिप्रतिपत्तिरस्तु । अथ अनुमीयमानजलादिसजातीये गन्धाद्यदर्शनात् नैवम् ; अत एव सर्वत्र तदनुमानम् । नचायमेकान्तः तत्सजातीये एव दृष्टसम्बन्धलिङ्गिनं गमयति तत्[22], अन्यथाप्यविरोधात् , इतरथा कथन्न परमतसिद्धिरिति यत्किञ्चिदेतत् ।

---

(१) क्रमेण (२) अबाधितत्वमपि । (३) कणादः इत्यर्थः । (४) रागादिकारणम् । (५) सामग्र्याः । (६) रागाद्यनुमाने । (७) यतः सामग्री रागादिकारणम् अतः केवलपुरुषात् तदुत्पादो न भवति । (८) पुरुषस्य (९) सामग्र्याः । (१०) पुरुषस्य । (११) अग्निसंयोगजरूपाद्युत्पत्तौ । (१२) चक्राद्यभावेऽपि । (१३) "सामान्यतोदृष्टं तु यदकार्यकारणभूताल्लिङ्गात् तादृशस्यैव लिङ्गिनोऽनुमानं यथा कपित्थादौ रूपेण रसानुमानम् ।"–न्यायम० प्रमा० पृ० ११९ । (१४) 'कुतः' इति द्विर्लिखितम् । (१५) फले । (१६) बुद्ध्यादेः । (१७) एकार्थसमवायात् । (१८) रूपवत् । (१९) क्रियायाः (२०) अनुमितिसंभवे । (२१) फले । (२२) लिङ्गम् ।

ननु साकल्येन साध्याभावे साधनाभावस्य प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तौ प्रतिपत्तुः सर्वज्ञत्वम् । अनुमानतोऽनवस्था[1] । न च मानान्तरमस्तीति चेत् ; अत्राह-'**सत्तर्केणोह्यते रूपम्**' इत्यादि ।

[सत्तर्केणोह्यते रूपं प्रत्यक्षस्येतरस्य वा ।
अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोरेकलक्षणम् ॥२३॥

सन्निकृष्टं विप्रकृष्टं वार्थं साकल्येनेदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयितुकामस्य अन्यथाभावविषयस्तर्कः परं शरणं नापरम्, सर्व [विषयत्वात्] ततः शब्दविकल्पयोस्तत्त्वसाधनमलङ्घ्यशासनं प्रचण्डभूपतेर्वा ।] ५

त(सत्त)र्केण सर्वत्र स्ववेदनाभावे ज्ञानत्वानुपपत्तिलक्षणान्तराभावाद् इति अस्पष्टोहविकल्पेन[न] दर्शनादिना **ऊह्यते** वितर्क्यते यद् **रूपं** स्वभावः । कस्य ? इत्याह-**हेतोः** लिङ्गस्य । किंभूतस्य ? **प्रत्यक्षस्य** प्रत्यक्षग्रहणयोग्यस्य [२९२ख] सत्त्वधूमादेः **इतरस्य वा** १० तद्ग्रहणयोग्यस्य वा । यथा अनन्तज्ञानस्य अनन्तसुखसाधने तस्य वा बुभुक्षाद्यभावे (च) साधने तत्रैव वा अनन्तवीर्यस्य । ए न च (एतच्च) अस्मदाद्यपेक्षया उक्तम् ; अन्यस्य अशेषं प्रत्यक्षमेव । किं तद्रूपम ? इत्याह-**अन्यथानुपपन्नत्वम्** साध्याभावे नियमेन साधनस्य अघटनम् । तत्किम् ? इत्याह-तद्रूपम् **एकलक्षणं** प्रधानलक्षणम् । कस्य ? इत्याह-**हेतोः** इति आवृत्त्या सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति-न प्रत्यक्षेण अनुमानेन वा निश्चितं रूपम् एकं लक्षणं हेतोः यतः १५ प्रतिपत्तुः सर्वज्ञत्वमनवस्था वा, किन्तु मनोविकल्पेन । सर्वज्ञत्वमतस्तस्येष्यत एव । यदाह-

*"अशेषविदिहेष्यते सद[illegible]मान्यवित् ।
जिन प्रकृतिमानुषोऽपि किमुताखिलज्ञानवान् ॥" [पात्रके० श्लो० १९] इति ।

ननु तर्को नास्ति अनुपलम्भात् खरविषाणवत्, कथं तेन असता किञ्चिदूह्यते ? सतोऽपि वा आनर्थक्यम्, तदर्थस्यान्यतः सिद्धिः नेति (सिद्धेरिति) चेत् ; अत्राह-**सन्निकृष्टम्** २० इत्यादि । **सन्निकृष्टं** पुरुषमात्रदर्शनयोग्यं **विप्रकृष्टं वा** तद्विपरीतम् **अर्थं** सत्त्व-धूमादिकम् **साकल्येन** देशकालान्तरव्याप्त्या **इदंतया** अनित्यादि-अग्निस्वभावकार्यतया **नेदंतया वा** नित्य-अनग्निस्वभावकार्यतया **अनव(व्यव)स्थापयितुकामस्य** लोकस्य **तर्कः परं** प्रकृष्टं **शरणम्** । किंभूतः ? **अन्यथा** साध्याभाव [**अभावः**] स **विषयो** यस्य स तथोक्तः । इदमुक्तं भवति-अनभिमतपरिहारेण अभिमतं तत्त्वम् अनवयवेन [२९३ क] व्यवस्थापयितुमिच्छता अनुमानमेष्टव्यम् । [6]तदप्यभ्युपगच्छता लिङ्गं साध्याविनाभावनियमैकलक्षणम् तश्चय स च (तन्निश्चयश्च) तर्कात् नान्यतः इति तर्कमभ्युपगम्य निषेधतो व्हिष्टकामितेति । २५

यत्पुनरुक्तम्-स्वतोपि (सतोऽपि) वानर्थक्यं तदन्यस्य (तदर्थस्य) अन्यतः सिद्धेरिति ;

(१) तस्याप्यन्यतोऽनुमानात् सम्बन्धप्रतिपत्तिरिति । (२) अनन्तसुखस्य वा । (३) बुभुक्षाद्यभावे साध्ये । तुलना-"केवली न भुङ्क्ते रागद्वेषाभावानन्तवीर्यसद्भावान्यथानुपपत्तेः ।"-प्रमेयक० पृ० ३००। "अनाकाङ्क्षारूपत्वेऽप्यस्या दुःखरूपतया अनन्तसुखे भगवत्यसंभवात् ।"-प्रमेयक० पृ० ३०५ । (४) सर्वज्ञस्य । (५) तर्केण । (६) अनुमानमपि ।

तत्राह– **नापरम् इति** तर्कादन्यदपरम् अध्यक्षादि कृतविचारं **न 'शरणम्'** इत्यनुवर्त्तते । कुतः स[1] एव शरणम् ? इत्याह–**'सर्वं'** इत्यादि । प्रकृतं निगमयन्नाह–**तत** इत्यादि । यत एवं **ततः शब्दविकल्पयोः** शब्दविकल्पाभ्यां [2]**तत्त्वसाधनम् अलङ्घ्यशासनम्** प्रचण्डभूपतेर्यदलङ्घ्यं शासनम् आज्ञापनं **वा** तदिव इति ।

५ ननु तर्कविकल्पप्रस्तावे किमर्थमप्रस्तुतशब्दग्रहणमिति[3] चेत् ? उच्यते–**'वचनस्यापि'** इत्याद्यभिधानादस्यापि[4] प्रस्तावात् ।

ननु [5]तयोरर्थे प्रतिबन्धद्वयस्याभावात् कथं तद्विषयत्वमिति चेत् ? अत्राह–**योग्य** इत्यादि ।

[योग्यः शब्दो विकल्पो वा सर्वः सर्वत्र चेत्स्वतः ।
मिथ्यात्वं परतस्तस्य चक्षुरादिधियामिव ॥२४॥
१० **शब्दानां चेत्स्वतोऽतत्त्वं न प्रयत्नैरपि शक्यते ।**
प्रत्यक्षस्य साध्यत्वात् कुतस्तत्त्वव्यवस्थितिः ॥२५॥]

योग्यः समर्थः प्रत्यक्षवत् तयोस्तत्र योग्यतासम्बन्धो नान्यः इति तन्निषेधेऽपि न दोष इति भावः । कः ? इत्याह–**शब्दो विकल्पो वा** । किं कश्चित् ? न इत्याह–**सर्वः** । कुतः ? **स्वतः** स्वमाहात्म्यात् । किंच अर्थे किंभूते ? **सर्वत्र** सर्वस्मिन् । **चेत्** शब्दः निपात-
१५ त्वादवधारणार्थः सर्वत्रैव इति । तन्न युक्तम्–*"तयोः[6] नियमार्थयोग्यतायां धूमादिवत् पुरुषेच्छावशादर्थान्तरे वृत्तिर्न स्यात्" इति; तत्रापि तद्योग्यत्वात् । युगपत् ततः सर्वार्थ-प्रतिपत्तिः इति चेत्; न; एकत्र[10] अपरेण[11] क्षयोपशमस्य [12]अन्यत्र सङ्केतस्य अनियतस्यापेक्षणात् । स्वयं योग्यस्य [२९३ख] किं तेन ? इत्यपि वार्तम्; अयोग्यस्य नितरां किं तेन ? न हि सिकताः पीडनमपेक्ष्य तैलोपादानमिति । नन्वेवमर्थाभावे [13]तद्प्रवृत्तिः; इत्यत्राह–**मिथ्यात्वम्**
२० इत्यादि । **[मिथ्यात्वं]** स्वार्थस्यान्यथा विषयीकरणम् 'शब्दस्य विकल्पस्य च' इति विभक्ति-परिणामेन सम्बन्धः । कुतः ? इत्याह–**परतः** [14]कस्यचित् [15]कर्मणः, अन्यस्य[16] मिथ्याज्ञानात् । तदुक्तम्–

*"विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता[17] ।" [प्रमाणसं० २।१६] इति ।

किं स्ये ति कि (किमिव ? इ) त्याह–**चक्षुरादिधियाम् [इव]** इति । * **प्रसर**
२५ **(प्रभास्वर) मिदं चित्तं प्रकृत्या"** [प्र० वा० १।२१०] [18]इति वचनात् [19]आसां स्वार्थे सतो (स्वतो) योग्यानां परतः तिमिरादेः यथान्वत् ([20]न्यत्वं) तथा [प्र]कृतस्यापि[21] इति ।

---

(१) तर्कः (२) परमार्थसद्वस्तु । (३) 'शब्दविकल्पयोः' इत्यत्र शब्दग्रहणम् । (४) शब्दस्यापि । (५) शब्दविकल्पयोः । (६) तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षण । (७) "यद्येवं शास्त्रकारेण कथमन्यत्र प्रतिपादितम्–योग्यः शब्दो···"–न्यायवि० वि० द्वि० पृ० ३२१ । (८) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि । (९) शब्दविकल्पयोः । (१०) विकल्पे । (११) जैनेन । (१२) शब्दे । (१३) शब्दविकल्पयोः । (१४) विकल्पस्य । (१५) ज्ञानावरणकर्मणः । (१६) शब्दस्य । (१७) 'वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ।' इति शेषः । (१८) 'आगन्तवो मलाः ।' इत्युत्तरार्धम् । (१९) बुद्धीनाम् । (२०) मिथ्यात्वम् । (२१) शब्दस्यापि ।

ननु शब्दः स्वार्थे योग्यो ज्ञानकार्यजननादवसीयते, तच्च सङ्केताद् इति । कुतस्तदवसाय इति चेत् ? अत्राह–**शब्दानां पूर्व** जात्यपेक्षया एकवचनम्, अत्र व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनम् । **स्वतः** स्वरूपतः **तत्त्वं (अतत्त्वं)** प्रतिपादनयोग्यत्वे (त्वं) न **चेत्** शब्दः पराभिप्रायद्योतने । **प्रयत्नैरपि** समयकरणैरपि **न शक्यते** कर्तुं तद्योग्यत्वम् । बहुवचने, न केवलम् एकेन द्वाभ्यां वा अपि तु बहुभिरपि इति दर्शयति । तथाहि–यो यत्र स्वतोऽयोग्यः स तत्र प्रयत्नैरपि तथा न भवति यथा सिकतादिः तैले, स्वतोऽयोग्याश्च परस्य शब्दाः तत्त्वप्रतिपादने इति । शक्यते च तत्कर्तुं प्रयत्नैः, ततस्तैः(स्ते) स्वतो योग्याः, रूपादिप्रतिपत्तिविशेषस्य रूपादिशब्दान्वयदर्शनात् । तदुक्तम्–*"विशेषं कुरुते हेतुः विस्रसा परिणामिनाम् ।" इति[3] मन्यते ।

तदनेन [एतत्] निरस्तम् ; *"**कार्यदर्शनाद् योग्यता अनुमीयते,**[२९४क] **योग्यतातः कार्यम्** [इति] **अन्योऽन्यसंश्रयात्**" इति । कथम् ? योग्यतातः तत्र कार्यप्रतिपत्तेरनभ्युपगमात्, तत्कार्यस्य प्रत्यक्षत्वात् । केवलं तत्कार्ये (यं) किं तादात्म्यादिप्रतिबन्धात् उत अन्यत इति विचारो योग्यतात इति ब्रूमः, तस्या विचारसहत्वादि [ति] स्यात्, तद्भावे (तदभावे) **कुतः तत्त्वस्य** स्वलक्षणस्य [**व्यवस्थितिः**] व्यवस्थानम् ? कुतश्चिदन्यस्य तद्व्यवस्थाहेतोः अभावादिति मन्यते । अविकल्पकप्रत्यक्षादिति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यक्षस्य** सविकल्प [स्य] बौद्धं प्रति विपक्षत्वाद् अविकल्पकस्य इति गम्यते । **साध्योऽप्रसिद्धः** *"**साध्यमप्रसिद्धम्**"[न्यायवि० श्लो० १७२] इति वचनात्, विषयो निरंशक्षणिकज्ञानरूपादिलक्षणो यस्य, अन्यस्य विकल्पविषयत्वात् तत्तथोक्तं तस्या [स्य] भावात् तथा तत्कुतः तद्व्यवस्था । यदि वा, साध्यं च तदद्वयं बुद्ध्यात्मनः पुरुषवद् अप्रसिद्धत्वात् विषयस्य स्वपराव्यवस्थापकत्वेन जडघटाविशेषात् तस्य भावात् तत्त्वादिति ग्राह्यम् ।

स्यान्मतम्–तत्त्वतः सविकल्पस्य [6]इतरस्य वा कचित् प्रमाणेन (णत्वम्) इष्टम् अतस्तदभावो नाद्वैतवादिनो दोषाय, तत्त्वाव्यवस्था वा । यत्तु इष्टं तद् व्यवहारेण *"**प्रामाण्यं व्यवहारेण**" [प्र० वा० १।६] इत्यभिधानात्[7]इति वचनात् इति ; तत्राह–**तत्त्व** इत्यादि ।

[तत्त्वावेत्य विना वेत्ति जगत्तन्त्रं क्षणक्षयम् ।
वक्ति वागगोचरं हेतुं साधयेत्किमसाधनैः ॥२६॥

निर्विषयं मिथ्याज्ञानम् अध्यक्षमनुमानं च स्थूलैकाकारगोचरं व्यवहारेण प्रमाणीकृत्य तत्त्वं व्यावर्णयितुमिच्छति प्रतिबन्धादि[विकल्पस्य] सर्वस्यैव असमीक्षित [तत्त्वार्थेन] अतिशयाभावात् परमार्थावताराय लोकप्रतीतिं न प्रमाणं समाश्रयति । तत्प्रमाणत्वे क्षणक्षयादेः बाधनम् । तदप्रमाणस्य कुतश्चित् परमार्थसाधनत्वे अन्यत्रापि प्रमाणान्वेषणं कैमर्थक्यं प्रतिपद्यते ? साकल्येन तत्त्वावताराय प्रति[पत्तिः]··· । वक्त्र[भिप्रायसूचकैः]

(१) प्रयत्नैरपि इत्यत्र । (२) बौद्धस्य । (३) "अत एवोक्तम्–विशेषं कुरुते हेतुः विस्रसा परिणामिनाम् । मुद्गरादिर्घटादीनामा [illegible] ॥ इति ॥"–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ९२ । (४) योग्यतायाः । (५) सामान्यस्य । (६) निर्विकल्पस्य । (७) 'इतिवचनात्' इति पुनरुक्तम् ।

शब्दैः परं तत्त्वसाधनं प्रतिपिपादयिषति साधनैः किं पुनस्तत्त्वं न साधयेत् यतस्तेन वादी निगृह्यते । न च प्रत्यक्षबुद्धिः स्वलक्षणं यथालक्षणं प्रसाधयति, स्थूलस्यैकस्य अनेकावयवरूपादिसाधारणस्य अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रस्य च तत्र प्रतिभासनात् । तदसाधारणस्य संवेदनाभ्युपगमे विकल्पस्यापि [illegible]क्यनिषेधम् ? तथा ५ सति संवेदनाद्वैताय साधनादिव्यवहाराय च दत्तो जलाञ्जलिः । विकल्पाविकल्पयोः प्रतीत्यभावाविशेषात् । न च प्रतिभासभेदमात्रं बुद्धीनामेकविषयत्वेन विरुद्धम् ।]

अस्यायमर्थः–निरंशाः क्षणिका ज्ञानज्ञेयपरमाणवः तथाविधा बहिरर्थशून्या विज्ञानसन्ततयः सर्वाः सर्वथा भ्रान्ताः, सर्वविकल्पातीतं प्रतिभासमात्रं सकलशून्यतित्वं (न्यात्मकम्) **तत्त्वम्** इति दर्शनभेदः तस्य **वित्तिः** याथात्म्येन ग्रहणं तया **विना** तामन्तरेण विकल्पानाम् १० [illegible]यत्वाद् **वेत्ति** जानाति [२९४ ख] सौगतः । किम् ? इत्याह–**जगत्तत्त्वम्** जगतः स्वरूपम् । किंभूतम् ? [**क्षण**] **क्षयम्** । उपलक्षणमेतत् [तेन] वि[illegible]तिमात्रम् भ्रान्तिमात्रम् सकलविकल्पविकलप्रतिभासमात्रम् शून्यमात्रम्, अनेन परस्य पूर्वापराभ्युपगमविरोधं दर्शयति । तथाहि–यदि जगत्तत्त्वं तथाविधं वेत्ति कथं तत्त्ववित्तिः परमार्थतो नास्ति यतः *"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र० वा० १।६] इति ब्रूयात् ? अथ नास्ति ; कथं विजानन् तदिति ? १५ *"संप्रति त्वेव व(द्येत्) विरोधवत्" इत्यादिना **वक्ति** कथयति । कम् ? **हेतुम्** । अन्यथा कुतः परार्थानुमानम् । पूर्वस्यानन्तरमस्य वचनम् जगतः क्षणक्षयप्रतिपत्तिमभ्युपगमयति इदं दूषणमिति प्रतिपादनार्थं नान्यथा । किंभूतम् ? इत्याह–**वागगोचरम्** वाचो गोचरो यो न भवति तम् इति, स्वयमेव वचनागोचरं हेतुं वदति तत्प्रतिपादनार्थं च वाक्यम् उपन्यस्यति इति स्ववचनविरोध इति मन्यते ।

२० ननु व्यवहारेण तत्त्ववित्तिर सि(स्ति) हेतुश्च वाग्गोचरो[1] न तत्त्वतः इति चेत् ; अत्राह–**साधयेत् किं** न किञ्चित् । कैः ? **असाधनैः** । परमार्थतः साधनानि यानि न भवन्ति तैः इति, स्वयमसाधनेभ्यो व्यवहारिणा साधनत्वेनोपगतेभ्यः अन्यस्य तत्त्वसिद्धौ सौगतेन उपगतेभ्यो वित्य (अनित्य)त्वादिभ्यः सुखादौ सांख्यस्य तत्त्वतोऽचेतनत्वसिद्धिः स्यादिति मन्यते।

यत्पुनरत्रोक्तम्–*"[3]यादृशो यक्षः तादृशो बलिः यादृशानि साधनानि तादृशमेव २५ तत् साध्यम्" इति ; तदनेन निरस्तम् ; परमार्थसाधनाभावे यादृशतादृशप्रतिपत्तेरयोगादिति । [२९५ क]

कारिकां विवृण्वन्नाह–**निर्विषयम्** इत्यादि । विषयान्निष्क्रान्तम् निरस्तविषयं वा **मिथ्याज्ञानम् अनुमानम् अध्यक्षं च स्थूलैकाकारगोचरं व्यवहारेण प्रमाणीकृत्य** स्वयमप्रमाणं प्रमाणयता न्य (अन्य) **तत्त्वं व्यावर्णयितुं** व्यवस्थापयितुम् **इच्छति सौगतः** । न च तद्व्य- ३० वस्था, मरीचिकाजलज्ञानात् सत्यजलव्यवस्थावदिति मन्यते । स्योदतत्–माभूत् प्रत्यक्षात्[4] तदा-

(१) विज्ञानसन्तत्यादिरूपम् । (२)व्यवहारेण । (३)"अद्वैतेऽपि कथं वृत्तिरिति चोद्यं निराकृतम् । यथा बलिस्तथा यक्ष इति किं केन संगतम् ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २९३ । (४) स्थूलैकाकारविषयात् ।

कारगोचरात् तद्व्यवस्था अनुमानात् स्यात् परम्परया तत्प्रतिबद्धात् *"**भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा**" [1]इति वचनादिति ; तत्राह–**प्रतिबन्धादि** इत्यादि । लिङ्गलिङ्गिनोः अविनाभावः **प्रतिबन्धः आदिर्यस्य** पक्षधर्मत्वादेः तस्य **यो विकल्पः** तद्ग्राही निश्चयः, अविकल्पस्य [2]तत्राप्रवृत्तेः स्वयमविष[ये तद]योगात् । नहि 'इदमतो जातम् , अयमस्य स्वभावो अस्य धर्मो वा' इति व्यापारो (रे) [3]तत्सामर्थ्यम्; कारणादिपरमाणुदर्शनव्यापारस्य [4]परं प्रत्यसिद्धेः। तस्य [5]**अतिशया- भावाद्** अनुमानाद् भेदाभावात् । केन ? इत्याह–**असमीक्षित** इत्यादि । किं कस्यचित् ? न; इत्याह **सर्वस्यैव** । एवमुक्तं भवति–प्रतिबन्धादिविकल्पस्य मिथ्यात्वे अनुमानस्य वस्तुनि पारम्पर्येणापि न प्रतिबन्धः इति न युक्तम् *"**लिङ्गलिङ्गिधियोरेवम्**" [प्र० वा० २।८२] [6]इत्यादि, *"**मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्या**" [प्र० वा० २।५७] [7]इत्यादि च । ५

यदि पुनरेतन्मतम्–न परमाणुदर्शनम् अग्निधूमयोः वृक्षशिंशपयोः, [8]धूमपर्वतस्य अदर्शनम् , अपि तु स्थूलैकत्वदर्शनमेव लोकस्य तत्रैव प्रमाणादिव्यवहारात इति, तदप्रमाणं [प्रमाणं] वा भवतः स्यात् ? प्रथमपक्षे दोषमाह–**लोक** इत्यादि । **लोकप्रतीतिं** स्थूलैकाकारसंवित्तिम् [२९५ख] किंभूता (ताम् ?) **न प्रमाणं समाश्रयति** । किमर्थम् ? इत्याह–**परमार्थावताराय** इति । द्वितीयेऽप्याह–**तत्प्रमाणत्वे, क्षणक्षयादेः** आदिशब्देन निरंशत्वादिपरिग्रहः । **बाधनमणाव (बाधनम् , अक्रमवत्)** क्रमेणापि एकस्य अनेकाकारसिद्धेः सविकल्पकं प्रमाणं स्यादिति भावः । १० १५

परमार्थावताराय [10]तामप्रमाणं समाश्रयतः को दोषः ? इत्यत्राह–**तदप्रमाणस्य** इत्यादि । सा चासौ लोकप्रतीतिः अप्रमाणं च तदप्रमाणं तस्य **परमार्थसाधनत्वे** अभ्युपगम्यमाने **कुतश्चित्** तत एव लोकव्यवहारमिथ्यादेः **अन्यत्रापि** नित्यत्रापि[11] नित्यत्वादावपि **प्रमाणान्वेषणं कैमर्थक्यं प्रतिपद्यते** प्रमाणमन्तरेण [12]अन्यस्यापि सिद्धेरिति । एतदेव दर्शयन्नाह–**साकल्येन** इत्यादि । **तत्त्वावताराय** आत्मेश्वरादितत्त्वप्रवेशार्थम् अप्रमाणं सार्थकम् '(सात्मकं) जीवच्छरीरम्' इत्यादि, 'विमत्यधिकरणभावापन्नं तन्वादि बुद्धिमत्कारणम्' इत्यादि वा अनुमानम् । मिथ्याज्ञानाद् अनुमानान्न क्षणक्षयादिसिद्धिः । 'अग्निरत्र' [इत्यनु]मानात् कथमग्निसिद्धिरिति ? तथा परेणाप्युच्यते–ततो मिथ्याज्ञानाद् आत्माद्यसिद्धौ कथं क्षणक्षयादिसिद्धिरिति ? ननु यथा लोकतः क्षणक्षयादौ सत्त्वादिप्रतिबन्धसिद्धिः[13] नैवम् आत्मादौ प्राणादिमत्त्वादेः इति चेत् ; उक्तमत्र–**प्रतिबन्धे**त्यादि । २० २५

अपरमप्युच्यते–**शब्दैः** इत्यादि । **तत्त्वस्य** क्षणक्षयादेः सम्बन्धि **साधनं** लिङ्गं **प्रतिपिपादयिषति परं** प्रति । कैः ? इत्याह **शब्दैः** । किंभूतैः ? इत्याह–**वक्त्र** इत्यादि । साधनाप्रतिबद्धैरिति भावः । **किं पुनः तत्त्वं न साधयेत् ?** साधयेदेव । कैः ? इत्याह–**असाधनैः**[२९६क]

(१) द्रष्टव्यम्–पृ० ८२ टि० ४ । (२) सम्बन्धादौ । (३) निर्विकल्पकप्रत्यक्षसामर्थ्यम् । (४) जैनादिकं । (५) प्रतिबन्धादिविकल्पस्य । (६) 'पारम्पर्येण वस्तुनि । प्रतिबन्धात् तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ।' इति शेषः । (७) 'अभिधावतोः । मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।' इति शेषः । (८) एवं सति धूमपर्वतयोः अदर्शनं स्यादिति भावः । (९) स्थूलैकत्वदर्शन एव । (१०) लोकप्रतीतिम् । (११) 'नित्यत्रापि' इति व्यर्थम् । (१२) नैयायिकादेरपि नित्यतत्त्वसिद्धिः स्यात् । (१३) अविनाभाव ।

साध्या [प्रतिबद्धैः] प्राणादिमत्त्वादिभिः यतो [ऽ]साधनैः तत्त्वसाधनं तेन निगृह्येत वादी । यत इति वा आक्षेपे नैव इति ।

ननु अनुमानानुमेययोरभावात् सन्ति च क्रमात् तस्य हेतुत्वादिप्रभेदविकलस्य भावात् (?) तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धेः नायं दोषः इत्यपरः । तं प्रति आह–न च इत्यादि ।

५ स्यान्मतम्–एतत् 'प्रतिबन्धादि' इत्यादिना उक्तमिति किमर्थं पुनरुच्यते इति चेत् ? सत्यमुक्तम्, तथापि–

*"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥" [माध्यमिकका० २४।८]

इति वचनात् लोकसंवृतिसत्यापेक्षया तदुक्तम्, प्रतिभासाद्वैतपरमार्थसत्यापेक्षया इद-
१० मुच्यते–न च नैव प्रत्यक्षबुद्धिः स्वसंवेदनाध्यक्षं स्वलक्षणं स्वस्वरूपं प्रसाधयति संशयादिरहितं व्यवस्थापयति । किं मनागपि न ? इत्याह–यथालक्षणं यत् तस्य परेणे ग्राह्यग्राहकाकारसंवित्तिरहिततया अविभागलक्षणमुच्यते तदनतिक्रमेण । कुतः ? इत्यत्राह–स्थूलस्यैकस्य इत्यादि । तात्पर्यमिदमत्र–नीलादेः शरीरसुखादिनीलादिव्यतिरिक्तस्य ग्राहकस्याभावात्, अवभासमानस्य स्वतः ज्ञानात्मकत्वमिति परः, तस्य स्थूलैकस्य अनेकावयवरूपादिसाधारणस्य
१५ केवलं तत्र प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासनात् ।

तस्यान्मथाव भासन्ते (स्यान्मतम्–यद् यथावभासते) तथा तद्द्वयं निरंशं भावेऽपि क्रमवद् भासत इति । तदुक्तम्–

*"मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणां यथा मृच्छकलादयः" [प्र० वा० २।३५५] इत्यादि ।
*"[दूरे] यथा वा मरुषु महानल्पोऽपि भासते ।" [प्र०वा० २।३५६] इत्यादि [२९६ख]

२० *"अविभागोऽपि" [प्र०वा० २।३५४] इत्यादि चेति । तत्राह–अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रं च तस्य स्थूलैकस्य तत्र प्रतिभासनात् । एतदुक्तं भवति–यदा परपरिकल्पि[त] तत्त्वं तदवभासात् पूर्वं पश्चाद्वा प्रमाणतः सिद्धं भवति यथा गजादिप्रतिभासात् मृछ (मृच्छक) लादयः तदा तत्तथा प्रतिभासत इति युक्तम् । न चैवम्, आबोधिमार्ग घहारान् (र्गं व्यवहारात्) तस्यैव प्रतिभासनात् । तथापि तस्यैव प्रतिभासोपगमो (मे) न किञ्चित् स्वरूपेण प्रतिगतं
२५ स्यात्, कदाचित्तत्रापि अन्यस्य तथावभासकल्पनादिति ।

ननु अस्थूलापेक्षया स्थूलम् अनेकापेक्षया च एकः कल्प्यते । न च अपेक्षया पारमार्थिका धर्मा भवन्ति; अतिप्रसङ्गात् । न स्थूलस्यैकस्य प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासनम् अपि तु विकल्पे, तत्र ज्ञानपरमाण्वभासनमिति चेत्; अत्राह–तदसाधारण इत्यादि । तस्य परकीयस्य असाधारणस्य सर्वतो व्यावृत्तस्य संवेदनाभ्युपगमे । किम् ? इत्याह–विकल्पस्यापि न केवलमध्यक्षस्य तद-

(१) विज्ञानाद्वैतवादिना । (२) नीलादेः । (३) 'अन्यथैवावभासन्ते तद्रूपरहिता अपि' इति शेषः । (४) 'तथैवादर्शनात् तेषामनुपप्लुतचेतसाम्' इति पूर्वार्द्धम् । (५) 'बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ।' इति शेषः । (६) प्रत्यक्षे ।

ङ्गीकरणं स्वपरसाधारणसंवेदनाङ्गीकरणम् **अशक्यनिषेधः** अङ्गीकरणस्य इच्छातोऽविशेषात्। **स तथा सति संवेदनाद्वैताय साधनाभिधानाय च दत्तो जलाञ्जलिः** तस्य स्वपरसामान्यगोचरत्वादिति ।

अथ मतम्–विकल्पात् तत्प्रतिभासाभावान्न तदङ्गीकरणमिति; तत्राह–**प्रतीत्य** इत्यादि । **विकल्पाऽविकल्पयोः** योऽयम् असाधारण (णं) **प्रतीत्यभावः** तस्य **अविशेषात्** । एवं सति प्रत्यक्षबुद्धौ असाधारणप्रतीत्यभावे *"यदत्रभासते तज्ज्ञानम्" [२९७क] इत्यादौ *"**यद् यथावभासते**" इत्यादौ च धर्मिप्रभृति सर्वमसिद्धम् । तत्र तत्प्रतीत्यभ्युपगमे विकल्पेऽपि स्वपरयोः तथाविधयोः प्रतीतिरिति । (प्रतीतिरस्ति न वेति)। प्रथमे; अनैकान्तिको हेतुः । परत्र; असिद्धः। एकस्य स्वपरयोरिव पूर्वापरयोरपि ग्रहणमविरुद्धमिति । ततः स्थितम्–**तत्त्ववित्त्या विना** इत्यादि । ५ १०

ननु च सिद्धि (?)

"शब्देनाभ्यामनाक्षस्व (नाव्यापृताक्षस्य) बुद्धावप्रतिभासनात् ।
अर्थस्य तद्दृष्टाविव तदनिर्दिष्टस्य वेदकम् ॥" इति ।

तत्कथमुच्यते–'**वक्त्यं वागगोचरं (वक्ति वागगोचरं) हेतुम्**' इति '**योग्यः शब्दः [विकल्पो वा] सर्वः सर्वत्र**' इति वेति (चेति) चेत्; अत्राह–**नच** इत्यादि । **नच** नैव **प्रतिभासभेदमात्रम्** । कासाम् ? **बुद्धीनाम् एकविषयत्वेन विरुद्धम्** एकविषयत्वेऽपि तन्मात्रस्य संभवात्, विशिष्टस्तु तद्भेदः तेन्न (तेन) [illegible] इति मात्रशब्देन दर्शयति । १५

तदेव सदृष्टान्तं दर्शयन्नाह–**दूरासन्नादि** इत्यादि ।

**[दूरासन्नादिसामग्रीप्रत्यक्षैकार्थसंविदाम् ।
प्रतिभासो यथा भिन्नः प्रत्यक्षेतरयोस्तथा ॥२४॥** २०

चक्षुरादिसामग्री प्रतिभासभेदमनुभवद् यदीष्यते; प्रत्यक्षादीनां सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदेऽपि एकविषयत्वं कथन्न स्यात् ? विकल्पस्य अतस्मिंस्तद्ग्रहाभिर्विषयत्वं वदन् हतस्त्वम् असाधनाङ्गवचनात् । सम्बन्धस्य एकान्तेन अतत्त्वरूपत्वात् । यथादर्शनं च तत्त्वम्; अन्यथा तत्त्वानुपपत्त्या अनेकान्तसिद्धिः । कथम् ? तल्लक्षणसिद्धिरन्यानपेक्षणमनन्तरं वक्ष्यामः ।] २५

दूरासन्नशब्दौ भावप्रधानौ, तेन दूरत्वम् आसन्नत्वम् **आ**[illegible] । **आदि**[illegible] दूरतरत्वआसन्नतरत्वादिपरिग्रहः, अथवा मन्दलोचनत्वादि[परि]ग्रहः, ता तथोक्तः (तास्तथोक्ताः) **सामग्र्यो** यामां (यासां) ता अपि तथा ताश्च ताः **प्रत्यक्षाश्च** पुनरपि ता **एकार्थ**-

---

(१) असाधारणसंवेदनप्रतीत्यभावे । (२) प्रत्यक्षबुद्धौ । (३) विकल्पविषयस्य परमार्थत्वसिद्धेः । (४) श्लोकोऽयम् अपोहसिद्धौ (पृ० ६) 'यच्छाक्रम्' इति कृत्वा समुद्धृतः । सम्मति० टी० पृ० २६० । (५) प्रतिभासभेदः ।

संविदश्च तासां **प्रतिभासो यथा** येन विशदेतरप्रकारेण **भिन्नः प्रत्यक्षेतरयोः** इन्द्रिय-शब्दज्ञानयोः **तथा प्रतिभासो** भिन्नः इत्यनुवर्त्तते ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**चक्षुरादि**' इत्यादि । **चक्षुरादिर्यस्य** घ्राणादेः तस्य **ज्ञानम् एकत्र** ग्राह्ये **प्रतिभासभेदं** [illegible]निर्भासातिशयम् **अनुभवद् यदीष्यते** सौगतेन । कुतः ?
५ **सामग्रीभेदात्** । **कथं न स्यात्** स्यादेव । किम् ? इत्याह–**एकविषयत्वम्** । कासाम् ? [२९७ख] इत्याह–प्रत्यादि (प्रत्यक्षेत्यादि) । कस्मिन्नपि ? इत्याह–प्रतिभासभेदेऽपि । ततो निराकृतमेतत्–
***"यौ भिन्नप्रतिभासौ प्रत्ययौ न भावेक (तावेक)विषयौ यथा रूपरसप्रत्ययौ, भिन्नप्रतिभासौ च शाब्द-इन्द्रियप्रत्ययौ** । तथा ***"यौ एकविषयौ तौ न भिन्नप्रतिभासौ यथा सन्निहिते नीले पुरुषद्वयस्य तत्प्रत्ययौ, एकविषयौ न (च) परस्य प्रकृत अन्ययौ (प्रत्ययौ)।"**
१० इति ; कथम् ? एकविषयत्वेऽपि मन्देतरचक्षुषोः[2] प्रत्ययप्रतिभासातिशयोपगमेन व्यभिचारात् ।

यस्त्वाह–प्र ज्ञा क रः ***"तद्विषयस्य परं प्रति असिद्धेः तत्रापि अविशदनिर्भासस्य एकविषयत्वाभावाद् अन्यत्वा (था) तदभावात् सामग्रीभेदात् तद्भावोऽखण्डैकविषयत्वेऽपि चक्षुरादिबुद्धीनां रूपादिप्रतिभासभेदः सामग्रीविशेषात् इति स्यात्"** इति ; स न प्रेक्षावान् ; यतः अविशदनिर्भासिनो विज्ञानाद् द्वंद्व (?) सौगतानामर्थे प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गः । नहि
१५ निर्विषयतां जानन्नेव जातस्य त नः (?) प्रेक्षाकारी प्रवर्त्तते, सर्वत्र प्रमाणपरीक्षाभावप्रसङ्गात् । प्रवर्त्तमाने च अविसंवादभाग् न भवेत् । भवति च, लिप्यादौ तद्व्यवहारदर्शनात् । ***"ममैवं प्रतिभासोऽयम्"** [प्र० वार्तिकाल० १।१] [3]इत्याद्यनुमानाद् अविशदनिर्भासा [न] तत्र ते प्रवर्त्तन्ते न इन्द्रियग्रामाद् इति महती काहलता ! पुनरपि अनुमाने अनवस्था । तन्न किञ्चिदे तत् । अथ स्वलक्षणविषयत्वाद् विशदेतरेन्द्रियज्ञानयोः एकविषयत्वमस्तु न प्रत्यक्षपरोक्षयोः,
२० [4]अवस्तुसामान्यविषयत्वात् परोक्षस्येति ; तदेवाह–**विकल्प** इत्यादि । **अतस्मिन्** [स्वलक्षणे **तद्ग्रहात्**] स्वलक्षण [२९८ क] ग्रहात **निर्विषयत्वम्** इत्येवं वेदन् स (इत्येवं **वदन्**) **हतो निराकृतस्त्वं पूर्वमेवेति** । कुतः ? इत्यत्राह–'**असाधनाङ्ग**' इत्यादि । एतदुक्तं भवति–यदा [अ] वस्तुसत्सामान्यविषयो विकल्पः तदा तत्प्रभवं वचनमपि [5]तद्विषयमिति न परमार्थसाधनाङ्ग-विषयमिति **तदवचनात्** निगृहीतैः अर्हन्न (न्) हतस्त्वम् इति । विकल्पस्य परम्परया स्वलक्षण-
२५ प्रतिबन्धात् [6]तत्प्रभवस्य वचनस्यापि [7]तत्र स[8] इति चेत् ; अत्राह–**सम्बन्धस्य** परस्पराविनाभावस्य **एकान्तेन** नियमेन [**अतत्त्वरूपत्वात्**] अतत्त्वं तदवस्तुरूपत्वात् । परपरिकल्पितस्वलक्षणस्य कुतश्चिदसिद्धेः कथं तत्र[9] साक्षादन्यथा वा कस्यचित् तत्त्वतः प्रति[बन्धो] भवेत् ? तदसिद्धौ (द्धौ) किं तत्त्वमिति चेत् ? अत्राह–**तत्त्वम्** इत्यादि । दर्शनानतिक्रमेण [**यथा**]**दर्शनं** च स्थूलादेः इति भावः । ततः किं जातम् ? इत्याह–**अन्यथा** इत्यादि । **अन्यथा** अन्येन अने-

---

(१) नीलप्रत्ययौ । (२) पुरुषयोः । (३) प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः । एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ॥"–प्र० वार्तिकाल० २।११। (४) अवस्तु यत् सामान्यं [illegible] । (५) अवस्तुविषयमिति । (६) विकल्पप्रभवस्य । (७) स्वलक्षणे । (८) सम्बन्धः । (९) स्वलक्षणे ।

कान्तसिद्धेरभावप्रकारेण तत्त्वस्य या अनुपपत्तिः तया अनेकान्तसिद्धिः । अत्र परः[1] पृच्छति सूरिम् 'कथम्' इत्यादिना ? संपृष्ट (सः पृष्ट) आह–तल्लक्षण इत्यादि । तस्य हेतोः लक्षणसिद्धिः अनन्तरं वक्ष्यमाणप्रस्तावः तत्र, अन्यस्य पक्षधर्मत्वादेः अनपेक्षणं वक्ष्यामः इति ।

तदेवं जल्पस्वरूपं निरूप्य अधुना सदसि [2]तदुपन्यासप्रयोजनं दर्शयन्नाह–स्याद्वादेन इत्यादि । ५

[स्याद्वादेन समस्तवस्तुविषयेणैकान्तवादेष्व-
भिध्वस्तेष्वेकमुखीकृता मतिमतां नैयायिकी शेमुषी ।
तत्त्वार्थाभिनिवेशिनी निरुपमञ्चारित्रमासादय-
न्त्यद्धाऽनन्तचतुष्टयस्य महतो हेतुर्विनिश्चीयते ॥२८॥]

स्यात् इति निपातः प्रशस्तार्थः । स्याद्वादेन च प्रशस्तजल्पेन । किंभूतेन ? समस्तवस्तुविषयेण समस्तेन संपूर्णेन वस्तुविषयेण ताद्विकेन (सामस्त्येन) वस्तु विषयो यस्य । किम् ? इत्याह–अभिध्वस्तेषु निराकृतेषु । केषु ? इत्याह–एकान्तवादेषु एकान्तसंबन्धि [२९८ख] कथाभेदेषु । बहुवचनात् सकलकथाप्राप्तेः । तेषु सत्सु किम् ? इत्याह–एकमुखीकृता अन्यकथाभ्यो विनिवर्त्य प्रशस्तजल्पनियता कृता च (का ?) इत्याह–सेमुखी (शेमुषी) । किंभूता ? नैयायिकी न्यायनियुक्ता । केषाम् ? इत्याह–मतिमतां प्राज्ञानाम् । सा तथा कुतः ? इत्याह–तत्त्व इत्यादि । तत्त्वार्थाभिनिवेशिनी न्याययुक्ता भवति । किं कुर्वाणा ? इत्याह–आसादयन्ती । किम् ? चारित्रम् वादिप्रतिवादिपक्षयोः माध्यस्थ्यम्, अनुपममुपमम् (निरुपमम् अनुपमम्) द्राक्दिति (अद्धा झटिति) हेतुर्लिङ्गं विनिश्चीयते । सकलविप्रतिपत्तिमलविविक्ता(क्तं) व्यवस्थाप्यते । कस्य सम्बन्धि ? इत्याह–अनन्तचतुष्टयस्य महत इति । १०, १५, २०

ननु पावकादेरपि हेतुः विनिश्चेतव्यः ; सत्यम् ; तथापि प्रधाने कृतो यत्नः [3]अन्यत्रापि भवति । अत एव उच्यते महत इति ।

यदि वा प्रस्तोष्यमाणप्रस्तावपातनिकावृत्तमेतत् । [4]अस्य एवं प्रवेशः । हेतुवद् अनुमेयज्ञानेऽपि विवादभावात् तदपि विनिश्चीयताम् ; इत्यत्राह–स्याद्वादेन अनेकान्तशासनेन समस्तवस्तुविषयिणा (विषयेण) *"उन्मिषितमपि अनेकान्तमन्तरेण न संभवति" इति २५ वचनाद् एकान्तवादेषु सौगतादिसमयेषु अभिध्वस्तेषु एकमुखीकृता अनेकान्ताभिमुखीकृता शेषं पूर्ववत् । अतः तस्य हेतुरेव विनिश्चीयते नानुमेयज्ञानमिति ।

ननु हेतुवत् तद्वाक्येऽपि विवादवृत्तेः [5]तदपि परैरिव भवद्भिरपि किन्न विनिश्चीयते इति चेत् ? न ; अस्य अनन्तरं विचारितत्वात् । अत एव [२९९ क] परार्थानुमानावचनमिति ।

(१) बौद्धः । (२) जल्पोपन्यास । (३) गौणेऽपि । (४) वृत्तस्य । (५) हेतुवाक्यमपि ।

मार्गप्रभावनायाः किं फलमिति वा शङ्क्यते **स्याद्वादेन** इत्यादि । **मेयार्थयकी** प्रमाण-प्रमेयन्यायनियुक्ता **शेमुषी** सम्यग्ज्ञानम् इति यावत् । **तत्त्वार्थाभिनिवेशिनी** तत्त्वार्था-भिरुचिसंप्रयुक्ता **निरुपमं चारित्रम्** पापक्रियानिवृत्तिः । **आसादयन्ती** झटित्यद्धा (स्यद्धा) [1]**अनन्तचतुष्टयस्य** अनन्तज्ञानादेः **महतो हेतुः** कारणम् तत्फलेति (तत्तथेति) ५ **विनिश्चीयते** ।

इति रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्यमुनि विरचितायां
सिद्धिविनिश्चयटीकायां जल्पसिद्धिः पञ्चमः प्रस्तावः ।

---

(१) अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणस्य ।

[षष्ठः प्रस्तावः]

[१ हेतुलक्षणसिद्धिः]

अथ स्वैरेव विपश्चिद्भिः हेतोः विनिश्चितत्वात् इह पुनरपि किमर्थं विनिश्चीयते इति चेत्; अत्राह–[हे] य इत्यादि ।

[हेयादेयविवेककाहलखलो बालः प्रलब्धाकुलः,
प्रायो नालमलं प्रबोद्धुममलालीढं पदं स्वामिनः ।
स्वीकुर्वन्मलिनीकरोति वितथैकान्तैर्न तत् केवलम् , ५
शपति क्रोशति साधुशासिन इति व्यक्तं विवेक्ष्यामहे ॥१॥]

बाल इव स्वभाध्व स्वभावतो वैमुख्यात् परः सौगतादिः **बालः** अनेन सहजं मोहमस्य दर्शयति । किंभूतः ? इत्याह–**हेयम्** पक्षधर्मत्वादिकम् **आदेयम्** अन्यथानुपपन्नत्वं तयोः **विवेको** विवेचनम् मिथः पृथक्करणम् तत्र **काहलश्चासौ खलश्च स काहलः (काहलखलः)** काहलकातः (कत्वतः) तद्विवेकक्लेशभीरुः । **खलः** शतः (खलत्वेतः) तद्विवेकम् अन्येन प्रतिपाद्यमानोऽपि स्वायम् (स्वयम्) अप्रतिपद्यमानःपूर्वः (नपूर्वः) तेन **प्रायेण** १० बाहुल्येन **प्रलब्धो** वञ्चितश्चासौ **आकुलश्च** इत्यनेन आभिसंस्कारिकं दर्शयन्ति । स किम् ? इत्याह–**नालं** शक्तः **अलम्** अत्यर्थं मनाक् समर्थ इत्यर्थः *"अविनाभावनियमात्" [हेतुबि० श्लो० १] इति वचनात् । किं कर्तुम् नालम् ? इत्यत्राह–**प्रबोद्धुं** ज्ञातुम् । किम् ? इत्याह–**पदम्** अधिकारात् हेतुं 'पद्यते गम्यते अनेन अनुमेयोऽर्थः' इति [२९९ख] १५ व्युत्पत्तेः ।

ननु सदोषं तत्, अतस्तदपरिज्ञानमदोषाय इति चेत् ; अत्राह–**अमलालीढम्** अमलैः गणधरप्रभृतिभिः आलीढम् आस्वादितम् । नहि ते सदोषमालिहन्ति अमलत्वहानिः(नेः) । कस्य तत् ? इत्यत्राह–स्वा मि नः पा त्र के श रि ण इत्येके । कुत एतत् ? तेन तद्विषय त्रि ल क्ष-

---

(१) 'स्वभावाध्व' इति व्यर्थमत्र । (२) नैसर्गिकं मिथ्यात्वम् । (३) खकत्वात् । (४) कारणेन । (५) परोपदेशजं मिथ्यात्वम् । (६) "पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः । अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥"–हेतुबि० श्लो० १ । प्र० वा० ३।३ । (७) तीर्थंकरस्य । (८) व्याख्याकाराः । तुलना–"नेदं स्वबुद्धिकल्पितम् अपि तु परागमसिद्धमित्युपदर्शयितुकामो भावत्सीमन्धरस्वामितीर्थकरदेवसमवसरणात् गणधरदेवप्रसादादासादितं देव्या पद्मावत्या यदानीय पात्रकेसरिस्वामिने समर्पितमन्यथानुपपत्तिवार्तिकं तदाह–अन्यथानुपपन्नत्वं…"–न्यायवि०वि० द्वि० पृ० १७७ । "हेतुलक्षणं वार्तिककारेणैवमुक्तम्–अन्यथानुपपन्नत्वं…"–त० श्लो० पृ० २०५ । प्रमाणप० पृ० ७२ । जैनतर्कवा० पृ० १३५ । सूत्रकृ० टी० पृ० २२५ । प्र० मी० पृ० ४० । "अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते…नान्यथानुपपन्नत्वं… अन्यथानुपपन्नत्वं…"–सन्मति० टी० पृ० ५६० । न्यायदी० पृ० ३२ । "तदुक्तं पात्रस्वामिना –अन्यथानुपपन्नत्वं…"–स्या० रत्ना० पृ० ५२१ । "अन्यथाऽसम्भवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम् ।"–प्रमाणसं० पृ० १०४ । "तदुक्तम्–अन्यथानुपपन्नत्वं…"–प्र० वा०स्ववृ०टी० पृ० ९। (९) पात्रकेसरिणा ।

णकदर्थनम् उत्तरभाष्यं यतः कृतमिति चेन्; नन्वेवं सीमन्धरभट्टारकस्य अशेषार्थसाक्षात्कारिणः तीर्थकरस्य स्यात्। तेन हि प्रथमम्

*"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"

५ इत्येतत् कृतम्। कथमिदमवगम्यते इति चेत्? पात्रकेशरिणा त्रिलक्षणकदर्थनं कृतमिति कथमवगम्यते इति समानम्? 'आचार्यप्रसिद्धेः' इत्यपि समानमुभयत्र। कथा च महती सुप्रसिद्धा। तस्यै तत्कृतत्वे प्रमाणमाण्ये (प्रमाणाभावे) तत्प्रसिद्धौ[6] कः समाश्वासः? तदर्थं करणात् तस्येति चेत्; तर्हि सर्वं शास्त्रं तदवि[भि]धेयं च अत एव शिष्याणामेव न 'तत्कृतम्' इति व्यपदिश्येत। पात्रकेसरिणोऽपि वा न भवेत्; तेनापि अन्यार्थं तत्करणात् तेनाप्य-

१० न्यार्थमिति न कस्यचित् स्यात्।

अनेन 'तद्विषयप्रबन्धकारणात् पात्रकेसरिणः तद्' इति चिन्तितम्; मूलसूत्रकारेण [10]कस्यचिद् व्यपदेशाभावप्रसङ्गात्। तस्मात् साकल्येन साक्षात्कृत्य उपदिशत एव अयं भगवतः तीर्थकरस्य हेतुः इति निश्चीयते। एतच्च अमलालीढत्वे कारणमुक्तम्।

ननु नेनापि तदङ्गीक्रियते साध्याभावे नियमेन साधनाभावस्योपगमात्, तत् किमुच्यते

१५ बालं (नालं) **प्रबोद्धु**मिति? [३००क] अत्राह—**स्वीकुर्वन् 'बालः पदम्'** इति च अनुवर्त्तते। **मलिनीकरोति** अमलं करोति। कैः? इत्याह—**वितथैकान्तैः** पक्षधर्म एव सपक्षे सन्नेव इत्यादयो पि **तथा (वितथा)** मृषा **एकान्ताः** तैः इति। निर्मलं समलं विधाय प्रतिपद्यमानः तत्प्रतिपद्यते द्विचन्द्रदर्शी [व] चन्द्रमसमिति मन्यते। अनेन बालत्वं हेया-देयविवेककाल (काहल) विप्रलम्भत्वञ्चोपदर्शयति।

२० संप्रति तत्खलप्रलब्धाकुलतां दर्शयन्नाह—**न केवलम्** इत्यादि। **न केवलं** तत् मलिनीकरोति किन्तु **क्रोशत्यपि**।। कान्? इत्यत्राह—**साधुशासिनः** दृष्टेष्टाविरुद्धप्रतिवचनप्रणेतॄन्। **'स्वामिनः'** इत्येतत् ज्ञात (जात ता) विभक्तिवचनपरिणामम् इह संबध्यते। *"**एतेनैव यदह्रीकाः**" [प्र० वा० ३।१८०] [11]इत्यादि वचनात् **शपति** इत्यवगम्यते। तत्खलविप्रलब्धाकुल एव तान् **शपति** नान्यः **इति** हेतोः **व्यक्तं** विशदं यथा भवति तत् पदं तथा **विवे-**

२५ **क्ष्यामहे**।

किं तस्य पदं केन वाच्यं व्यक्तं करिष्यते इति? अत्राह—**पक्ष** इत्यादि।

**[[12]पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तोऽप्येति हेतुताम्।
अन्यथानुपपन्नोऽयं न चेत्तर्केण लक्ष्यते ॥२॥**

---

(१) सीमन्धरेण। (२) एतन्नामकं शास्त्रम्। (३) आराधनाकथाकोशे। (४) अन्यथानुपपत्तिश्लोकस्य। (५) सीमन्धरकृतत्वे। (६) पात्रकेशरिकृतमिति प्रसिद्धौ। (७) पात्रकेशर्यर्थम्। (८) स्वशिष्यार्थम्। (९) व्याख्यान। (१०) सूत्रस्य। (११) "किमप्ययुक्तमाकुलम्। प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात्॥" इति शेषः। (१२) तुलना—"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः..."—हेतुबि० श्लो० १।

स्वार्थानुमाने [1]जिज्ञासितविशेषो धर्मी पक्षः। परार्थानुमाने पुनः जिज्ञापयिषित-विशेषः [2]स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनाय पक्षपरिग्रहात्। सत्याञ्च परस्य जिज्ञासायां तत्प्रतिपादयिषोः पक्षव्यपदेशो वक्त्रभिप्रायस्यैव प्रत्यासत्तेः परार्थव्यपदेशवत्। तादृश-पक्षस्य निरुपचरितस्य धर्मः तदंशेन च व्याप्तः। निरुपचरितस्य [3]तदंशः तद्धर्मस्तदेकदेश इति, [4]पक्षशब्देन समुदायवचनात्। पक्षो धर्मीत्युपचारे तद्धर्मतापि न सिद्धा। नहि तत्र ५
तद्धर्मः साधयितुमिष्टः तथा च सर्वः सर्वधर्मा स्यात् इच्छाया निरङ्कुशत्वात्। तदनिराकृतौ साधयितुमिष्टः तद्धर्मः इति सन्देहः स्यात्, अन्यथा हेतुवचनानर्थक्यात्। सन्दिग्धधर्मणः पक्षधर्मत्वे कथं तत्रोपचरितपक्षव्यपदेशः सन्दिग्धं धर्ममिच्छन् हेतोरसिद्धिमाशङ्क्येत ? यतोऽयं उपचारमाश्रयेत्। यदि पुनः उपचरितपक्षस्य धर्मिणः असन्दिग्धेन व्याप्तो हेतुः; शब्दस्य नित्यत्वे कृतकत्वादिरपि सत्त्वप्रमेयत्वादिना व्याप्तो हेतुः स्यात् न तद्धर्मिणा। १०
न च स्वयमेकदेशोपचारवृत्तेः पुनः सर्वनाम्ना परामृश्य समुदायशब्दस्य समुदायवृत्तिर्-युक्ता, यतः पक्षशब्देन समुदायस्यावचनात् धर्मिण एव वचनात् तदंशवत् तद्धर्मो न तदेकदेशः इति [5]सूक्तं स्यात् यथा ग्रामस्य तदेकदेशस्थितोऽहमद्राक्षमिति। तदेतत् मुख्य-शब्दार्थलङ्घनं गङ्गास्नानभयात् कर्कटीभक्षणन्यायमनुसरति तत्रैव दोषात्। [6]व्याप्तिर्व्याप-कस्य तत्र भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः; तत्र अन्यथानुपपत्तिरेव नान्यत् रूपम्। १५
न चेत्; किं कस्य व्याप्यं व्यापकं च ? कारणं कार्यस्य स्वभावो भावस्य चेत्; क्षणिक-कारणस्य कार्यकालमप्राप्नुवतः कथं व्याप्तिर्नाम ? तत्स्वभावयोश्च भेदैकान्ते किं केन व्याप्यते ? व्यवहर्त्रभिप्रायवशात् तत्त्वमसमीक्ष्य तादात्म्यतदुत्पत्तिव्यवस्थायां स प्रमाणा-न्तरं प्रसज्येत अविसंवादकत्वात्। विसंवादित्वे तदाश्रयणमप्रेक्षाकारित्वं प्रकृतानुप-योगात्। तदेतस्मिन् प्रतिबन्धनियमे कथं [7]चन्द्रादेरर्वाग्भागदर्शनात् परभागोऽनुमीयेत ? २०
नानयोः कार्यकारणभावः सहैव भावात्। न च तादात्म्यम्; लक्षणभेदात् अलम् अन्य-थानुपपत्तेरनवद्यमनुमानम्। किं पुनरन्यथोपपद्यते ? न वै भावाः पर्यनुयोगमर्हन्ति ? तादात्म्ये किं पुनः कारणं वृक्षस्वभावा शिंशपा, धूमोऽग्निकार्यमतिप्रसङ्गात् अत्रापि तदेवोत्तरम्।]

अनेन हेतो रूपं तद्ग्राहकं प्रमाणम्, तदनभ्युपगमे तदा सतां (तदसत्तां) च दर्शयति।,पक्षः २५

---

(१) "अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी।"–न्यायबि० २।६। (२) तुलना–"नन्वाचार्यस्य पक्षवचनमभिमतमेव। यदाह–स्व निश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनेच्छया। पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योक्तेर-न्यवर्जनम्॥"–प्र०वार्तिकाल० पृ० ४८७। "स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः। परार्थं मानमा-ख्यातं वाक्यं तदुपचारतः॥"–न्यायावता० श्लो० १०। (३) "तदंशो हि तद्धर्म एव"–हेतुबि० पृ० ५२। (४) "पक्षो धर्मी अवयवे समुदायोपचारात्"–हेतुबि० पृ० ५१। (५) "तदा हि वक्तुरभिप्रायवशान्न तदेकदेशः तदंशः पक्षशब्देन समुदायावचनात्।"–प्र० वा० स्ववृ० पृ० १६। (६) "तस्य व्याप्तिर्हि व्यापकस्य तत्र भाव एव। व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः।"–हेतुबि० पृ० ५३। (७) तुलना–"चन्द्रादे-र्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा।"–लघी० श्लो० १३। "सास्नाविषाणयोरेवं चन्द्रार्वाक्परभागयोः।" –न्यायवि० ३।१७१।

वक्ष्यमाणलक्षणः । **अपि** शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । **धर्मोऽपि**, अपि शब्दात् **पक्षधर्मोऽपि अयं शब्दे** सत्त्वादिः शकटोदये[२] कृत्तिकोदयः प्रत्यक्षप्रतीयमानो **हेतुतां** गमकत्वमेवेति (कत्वम् एति) तथा **तदंशेन व्याप्तोऽपि** । अत्रापि अपिशब्दात् तेनाव्याप्तोऽपि ताम् एति । त[द्दे]-शोदाहरणम्–अनित्यः शब्दः सत्त्वात् घटवत् श्रावणत्वाद्वा इति । तदंशपदम् अत्रैव वृत्तौ निरूप-
५ यिष्यते । [३००ख] किंभूतस्ताम् एति ? इत्यत्राह–**अन्यथा** साध्याभावप्रकारेण **अनुप-पन्नः** । किं सर्वोऽपि स तथाविधः तामेति ? **न**; इत्याह–**लक्ष्यते** निश्चीयते । **अन्यथानु-पपन्नोऽयं चेत्** यदि । केन ? इत्याह–**तर्केण** । अस्यानभ्युपगमे दोषमाह–**न चेदम्(चेत्)** अन्यथानुपपन्नो न हेतुतामेति, अन्यथा स श्यामः तत्पुत्रत्वात् इत्यादिरपि आगच्छेत । तथा परमार्थतोऽन्यथानुपपन्नोऽपि **न चेत् तर्केण अन्यथानुपपन्नोऽयम् इति न लक्ष्यते हेतु-**
१० **ताम् एति** इतरथा कचिद् धूमदर्शनात् नालिकेरद्वीपादागतस्य अग्निप्रतिपत्तिः स्यात् । अथवा तर्केण लक्ष्यते चेद् अन्यथानुपपन्नोऽयं नैनु हेतुतामेति किन्तु एत्येवेति ।

कारिकां व्याचष्टे **स्वार्थ** इत्यादिना । **स्वार्थं** यद् **अनुमानं** तत्र **धर्मी पक्षः** । किंभूतः ? **जिज्ञासितविशेषः** । परस्मै पदार्थं **(परार्थं)** यद् **अनुमानं** तत्र **पुनः** इति पक्षान्तरसूचने **जिज्ञा-पयिषितविशेषो धर्मी** 'पक्षः' इत्यनुवर्तते । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**स्वनिश्चयं चेद् (यत्)**
१५ इत्यादि । **इव (स्व)** इत्यनेन प्रतिपादकः परामृश्यते । तस्य निश्चयः अनुमेयप्रतिपत्तिः तेन तुल्यं वर्तते इति **तद्वद् अन्येषां** प्रतिपाद्यानाम् **निश्चयोत्पादनाय** अनुमेयप्रतीतिजननाय **पक्ष-परिग्रहात्** प्रतिपादकस्य कारणात् **जिज्ञापयिषितविशेषः** स इत्युच्यते । यत्र हि परं प्रति असिद्धो धर्मः प्रतिपादयितुमिष्टो भवति स एव तथोच्यते ।

ननु स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनाय पक्षपरिग्रहेऽपि यदि प्रतिपाद्याभिमतस्य तत्र
२० धर्मजिज्ञासा नास्ति [३०१ क] कथमसौ जिज्ञापयिषितविशेषः ? तत्र विशेषं ज्ञातुम् इच्छन्तं प्रतिपादयितुमिष्टविशेषः जिज्ञापयिषितविशेष इत्युच्यते इति चेत् ; अत्राह–**सत्यां च** इत्यादि । सत्यामेव **परस्य** प्रतिपाद्यस्य **जिज्ञासायां** जिज्ञापयिषितविशेषो धर्मी पक्ष उच्यते ।

ननु तत्र तस्य यदि जिज्ञासा [स्या]त्तर्हि यथा स्वार्थे अनुमाने[४]तद्वत एव पक्षव्यपदेशः तथा परार्थेऽपि परस्य तद्वतः[५] तद्व्यपदेश इति तद्गुणदोषाभ्यां [६]परस्यैव सम्बन्धो न प्रति-
२५ पादकस्येति चेत् ; अत्राह–**वक्त्रभिप्रायस्यैव** इत्यादि । **'सत्यां च'** इत्यादि अनुवर्तते । ततोऽ-यमर्थः–सत्यामपि परस्य जिज्ञासायां **तत्** अप्रतीतार्थं **प्रतिपादयिषोः** प्रतिपादकस्य इत्यर्थः । पक्षेण व्यपदेशः **पक्षव्यपदेशः** तस्य स पक्ष इति यावत् नेतरस्य । कुतः ? इत्यत्राह–**वक्तुः** प्रतिपादकस्य योऽ**भिप्रायः** तदप्रतीतार्थप्रतिपादनाभिसन्धिः **तस्यैव** न इतराभिप्रायस्य **प्रत्यासत्तेः** कारणात् । तथाहि–प्रथमं परस्य तत्त्वबुभुत्सा तदनन्तरं तन्निवेदनं पुनः प्रतिपादकस्य तत्प्रति-
३० पादनाभिप्रायः पक्षपरिग्रहश्च इति पक्षपरिग्रहं प्रति वक्त्रभिप्रायस्य प्रत्यासत्तिः । [उभ]यत्र [७]साधितं निदर्शनमाह–**परार्थव्यपदेशवद्** इति ।

(१) शब्दानित्यत्वे साध्ये । (२) साध्ये । (३) 'ननु' इति वितर्के । (४) जिज्ञासावतः । (५) जिज्ञासावतः । (६) प्रतिपाद्यस्यैव । (७) प्रसिद्धमित्यर्थः ।

एवं पक्षस्य लक्षणं प्रतिपाद्य प्रयोगं दर्शयन्नाह–तादृशस्य उक्तरूपस्य पक्षस्य धर्मः तदाश्रितत्वात्। अत्र पूर्वापरावधारणनियमचिन्ता न कृता उभयत्रापि दोषाभावस्य निरूपयिष्यमाणत्वात्। 'हेतुः' इति सम्बन्धः। किंभूतः ? व्याप्तः इति। तत्र व्याप्तियोगाद् [३०१ ख] व्याप्त उच्यते। व्याप्तिश्च व्याप्यव्यापकोभयगता[1]। व्याप्यगता तत्रैव[2] तत्र (तस्य[3]) भावः, व्यापकगता तत्र[4] भाव एव[5] व्यापकस्य इति। केन ? इत्याह–तदे दंशेन (तदंशेन) तच्छब्देन ५ [पक्षः] परामृश्यते। यद्यपि च शाब्द्या वृत्त्या[6] [7]पक्षस्य धर्मविशेषणतया अप्राधान्यं तथापि आर्थन्यायानुसारि तस्य[8] प्राधान्यं [9]तदाश्रितत्वाद् धर्मस्य इति। तस्य अंशेन अवयवेन। [10]अनेन सर्वेण पक्षधर्म-[11]अन्वय-[12]व्यतिरेकलक्षणं रूपत्रयमस्य दर्शयति। किंभूतस्य ? इत्यत्राह–निरुपचरितस्य मुख्यस्य इत्यर्थः।

तदंशपदं व्याचष्टे–तस्य पक्षस्य अंशः तदंशः। अंशपर्यायम् आह–तद्धर्मः। पुनरपि १० तदन्तरमाह–तदेकदेश इति।

ननु यदि धर्मः; न तद्देशः (तदंशः[13]) तदवयवः। [14]स चेत्; न [15]तद्धर्मः। [तद्धर्मश्च] तदेकदेशश्च इति परस्परविरुद्धमेतत्, [16]तयोर्भेदात्। अत एव धर्मकीर्तिना [17]उक्तम्–*"तद्धर्मो न तदेकदेशः" [हेतुबि० टी० पृ० १७] इति चेत्; नैतत्सारम्; धर्मैकदेशयोः भेदाभावाभिप्रायेण एवं वचनात्। भेदाऽभेदात्मके हि ज्ञेये भेदाः कदाचिद् धर्मशब्देन कदाचिद् अंशशब्देन १५ कदाचिद् एकदेशशब्देन भेदशब्देन पर्यायशब्देन अनेन बोध्यन्ते (अन्येन बोध्यन्ते), तदात्मके ज्ञेय इति द्रव्यपर्यायात्माऽर्थः इति वस्तुभूतां (त)धर्माधिष्ठानं भावः इत्यादि व्यवहारदर्शनात्। [18]कीर्तिः पुनः *"कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्यात्" [प्र०वा० ३।४४] इति *"दृष्ट एव अखिलो गुणः" [प्र०वा० ३।४२] इति *"धर्मधर्मितया" [प्र०वा०स्ववृ०पृ०२४] इति[19] च वदन्नेव धर्मैकदेशयोः भेदं स्ववचनविरुद्धं वदन्तीति (वदतीति) दर्शयितुमिदमुक्तम्–तद्धर्मः तदेकदेश इति। २० समुदायपक्षैकदेशस्य [३०२ क] उपचरितप्रदेशस्य धर्मिण एकदेश इति चेत्; अत्राह–पक्षशब्देन समुदायवचनात्। निरूपितमेतत्।

एवं तावत् परप्रतिपाद्ये सति मुख्ये किं गौणकल्पनया इति [20]वार्तिक-हे[21]तु बिन्दु शास्त्रे उपचरितं [22]परोपचरितं परोपदर्शितं पक्षं दूषयितुम् उपदर्शयन्नाह–पक्षो धर्मी इत्यादि।

---

(१) "व्याप्तिर्हि व्यापकस्य तत्र भाव एव, व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः।"–हेतुबि० पृ० ५३। (२) व्यापके साध्ये सत्येव, न तु व्यापकाभावे। (३) व्याप्यस्य। (४) व्याप्ये सति। (५) सद्भाव एव न तु कदाचिदप्यभाव इति। (६) व्याकरणानुसारिसमासेन। (७) 'पक्षधर्म' इत्यत्र। (८) पक्षस्य। (९) पक्षाश्रितत्वात्। (१०)"एतेन अन्वयो व्यतिरेको वा पक्षधर्मश्च यथास्वं प्रमाणेन निश्चित उक्तः।"–हेतुबि० पृ० ५३। (११) सपक्षसत्त्वम्। (१२) असपक्षेऽसत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरित्यर्थः। (१३) न तदंशपदस्य 'तदवयवः' इत्यर्थः स्यात्। (१४) यदि तदंशपदेन अवयवः परिगृह्यते तर्हि। (१५) स अवयवः तद्धर्मपदेन न वक्तुं शक्यते इत्यर्थः। (१६) धर्म-अवयवयोः। (१७) तुलना–"तच्छब्देन पक्षः परामृश्यते न धर्मः। धर्मस्य धर्मासंभवात्। अंशश्च धर्मो नैकदेशः। [पक्षशब्देन धर्मिमात्रवचनात् न तदंशः तस्य एक] देशाभावादिति।"–हेतुबि० टी० पृ० १७। (१८) धर्मकीर्तिः। (१९) "धर्मधर्मितया भेदो बुद्ध्याकारकृतः।"–प्र० वा० स्ववृ०। (२०) प्रमाणवा० स्ववृ० पृ० १२। (२१) "पक्षो धर्मी अवयवे समुदायोपचारात्"–हेतुबि० पृ० ५२। (२२) 'परोपचरितं' इति द्विर्लिखितम्।

पक्षो धर्मी इत्येवम् उपचारे धर्मधर्मिसमुदायं (ये) वा अविनाभावतः पक्षधर्मस्य तदेकदेशे धर्मिणि एकदेशाभावेन परमार्थतोऽध्यारोपे अङ्गीक्रियमाणे । किम् ? इत्याह–तद् इत्यादि । स साध्यो धर्मो यस्य तस्य भावः तद्धर्मता सापि न सिद्धा इति । 'धर्मिणः' इति [ता[1]] विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । अपिशब्दात् न केवलं तदेकदेशता न सिध्यति । यथैव हि निरंशस्य धर्मिणो न एक-
५ देशसंभवः स्वयं समुदायप्रसङ्गात् तथा [न] तद्धर्मस्यापि संभवः, धर्मधर्मिरूपसमुदायप्राप्तेरनिवारणात् । कथमन्यथा *"प्रयोगकाले धर्मधर्मिसमुदायः पक्षः" इत्युच्यते[2] इति मन्यते ।

ननु धर्मदेकदे (धर्मः तदेकदेशः) कथमुच्यते न केवलं तदेकदेशता अपि तु तद्धर्मता न सिध्येदिति ; सत्यम् ; नैवं वक्तव्यं परापेक्षया तूक्तम् । सत्यम् एकदेशवत् तत्र [3]वस्तुनो धर्मोऽपि न संभवति, साधयितुं तत्रेष्टि (ष्टम्) इति चेत् ; अत्राह–नहि इत्यादि । नेत्र (न) खलु
१० तत्र निरंशे धर्मिणि साधयितुम् इष्टः तद्धर्मः तस्य धर्मिणो धर्मः । नहि पुरुषेच्छावशाद् भावोऽन्यथा भवति, तदेकदेशता अन्यथा अस्तु इति मन्यते । दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–तथा च इत्यादि । तथा तेन 'तत्र साधयितुम् इष्टः तद्धर्मः' इत्यनेन च प्रकारेण सर्वो नीलादिः अर्थः सर्वधर्मा सर्वः [३०२ ख] पीतत्वादिको धर्मो यस्य इति स तद्धर्मा स्यात् इति ।

ननु यथा शब्दे नित्यत्वं साधयितुं जनो वाञ्छति नैवं नीलादौ पीतत्वादिकम्, अतोऽयम-
१५ दोषः इति चेत् ; निरङ्कुशत्वात् निवारकाभावात् । कस्याः ? इत्याह–इच्छायाः 'काककोकिलकुलादिकं पीतं सत्त्वात् कनकवत्' इति साधयतो निवारकाभावात् ।

ननु पक्षबाधकं तर्ह्यैः, यत्र तु तन्नास्ति तत्र साधयितुम् इष्टः तद्धर्मः इति चेत् ; अत्राह–तदनिराकृतौ तस्य साधयितुम् इष्टस्य धर्मस्य प्रत्यक्षादिनाऽनिराकृतौ अनिराकरणे 'साधयितुम् इष्टः तद्धर्मः' इत्यङ्गीक्रियमाणायां सन्देहः स्यात् 'तदनिराकृतौ' इति सम्बन्धः । एवं
२० मन्यते–'अनित्यः शब्दः सत्त्वात् घटवत्' इत्यादावपि तदिच्छाकाल एव नहि तदनिराकृतिः अवसीयते, अनवसितत्वे न लक्षणमिति । तदसन्देहे दूषणमाह–अन्यथा अन्येन तदनिराकृतसन्देहप्रकारेण हेतुवचनानर्थक्यात् हेतोः सन्देहः स्यात् इति पदघटनात् । तथाहि–तत्र धर्मिणि साध्यविनिश्चयात् तदनिराकृतिनिश्चये न सन्देहनिवृत्तिः हेतूपन्यासाच्च प्रागेव तद्विनिश्चये किं [6]तेनेति ?

२५ स्यान्मतम्–न साध्यविनिश्चयात् तत्सन्देहविनिवृत्तिः, विनिश्चयोऽपि त (न) तत्र प्रतिबद्धलिङ्गदर्शनादिति; तन्न सारम्; यत एवं वै परमार्थतः तद्धर्मः, इतरथा न तत्प्रतिबद्धलिङ्गस्य तत्र दर्शनम् । न च निरंशे तदुपपन्नम्, न पुनः साधयितुम् इष्ट एव तद्धर्मः । न वै सधूमः प्रदेशः स्या (सा) ग्निमनिच्छन्तं प्रत्य [न्य]था भवतीछन्नं (ति, इच्छन्तं) प्रति साग्निर्भवति इति न्यायोऽस्ति । न च निरंशं नाम [३०३क] किंवा न (किंचन[7] इति) निरूपितं निरूपयिष्यते चात्रैव ।

---

(१) षष्ठी । (२) "तत्र हेतुलक्षणे निश्चेतव्ये धर्मी अनुमेयः, अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेयः । व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेय :"–न्यायबि०टी० पृ० ९७। (३) निरंशस्य । (४) इच्छायाः । (५) साध्यनिश्चये । (६)हेतुना । (७) वस्तु ।

स्यादेतत् [न] तत्र बाधितो निश्चितो वा अपि तु सन्दिग्धः तद्धर्मः इति चेत्; अत्राह– तत्र धर्मिणि **उपचरितपक्षः(क्ष)व्यपदेश (शः) सन्दिग्धं धर्ममिच्छन् कथम् असिद्धम् आशङ्केत्** । कस्य ? इत्याह–**हेतोः** इति, नैव आशङ्केत । कस्मिन् ? इत्याह–**पक्षस्य धर्मत्वे** हेतोः अङ्गीक्रियमाणे । किं भूतस्य ? इत्याह–**सन्दिग्धधर्मणः**, सन्दिग्धः साध्योऽनित्यत्वादिधर्मो यस्य तस्य इति । एतदुक्तं भवति–यथा सन्दिग्धेन तद्धर्मेण हेतोः व्याप्तिरिष्यते तथा सन्दिग्धसिद्ध- ५ धर्मधर्मिसमुदायः पक्ष इष्यताम् इति न युक्तमेतत्–*"**यदि हेतुप्रयोगात् पूर्वं समुदायसिद्धिः. किं हेतुना ? तदसिद्धौ हेतोः तद्धर्मता[ऽ]सिद्धिः**" इति[2]।

किंभूतामसिद्धिं 'कथम् असिद्धिं[3]' कथमाशङ्केत ? इत्यत्राह–**यतो** यस्मात् तदसिद्धिशङ्कनाद् **अयं** [4]**कीर्तिः उपचारम् आश्रयेत** *"**पक्षो धर्मा (र्मी अ)वयवे समुदायोपवाद् (चारात्)**" [हेतुबि० पृ० ५२] इत्यनेन इति । **यत** इति वा आक्षेपे नैव तमाश्रयेत । को हि १० अनुन्मत्तः सन्दिग्धेन धर्मेण हेतोर्व्याप्तिमिच्छति न पुनः समुदायमिति ।

ननु मया यथा सन्दिग्धेन समुदायो नेष्यते धर्मेण तथा व्याप्तिरपि हेतोर्नेष्यते, किन्तु असन्दिग्धेन इति चेत्; अत्राह–**यदि** इत्यादि । ननु एतद् आशङ्क्य '**अन्यथा हेतुवचनानर्थक्यात्**' इत्यनेन परिहृतं किमर्थं पुनः आशङ्क्यते इति चेत् ? अधिकदूषणप्रतिपादनार्थम् इति। आदौ यो **यदि** इति पराभिप्रायस्य, '**पुनः**' इति पक्षान्तरस्य द्योतकः । **उपचरितस्य** पक्षस्य । १५ कस्य ? **धर्मिणः** न समुदायस्य **असन्दिग्धेन** निश्चितेन, 'धर्मेण' इत्यनुवर्त्तते **व्याप्तो** **हेतुः** 'इष्यते' इत्यध्याहारः । अत्र दूषणम्–[३०३ख] **शब्दस्य नित्यत्वे** [अ]कृतकत्वे साध्ये **कृतकत्वादिः** आदिशब्देन उत्पत्त्यादिपरिग्रहः **हेतुः स्यात्**, विरुद्धो न स्यादिति मन्यते । न केवलम् *"**दर्शनस्य परार्थत्वात्**" [जैमिनिसू० १।१।१८] इत्यादिरेव इति **अपि** शब्दार्थः । किंभूतः ? **व्याप्तः** । केन ? इत्याह–**सत्त्वप्रमेयत्वादिना न तद्धर्मिण (तद्धर्मेण)** पक्षधर्मिधर्मिण (धर्मेण)। २० न हि सत्त्वादिकमन्तरेण कृतकत्वादिरस्ति, इति तेन व्याप्त उच्यते । अथ य एव साधयितुमिष्यते तेनैव व्याप्तो हेतुः नान्येन, [6]सोऽसन्दिग्धो न भवति; हेतुवचनानर्थक्यप्रसङ्गात् इत्युक्तम् ।

स्यान्मतम्–दृष्टान्ते [7]सोऽसन्दिग्धः न पक्षे, तत्र तु साधयितुमिष्टत्वात्, सेत्स्यति इति वा तस्य इत्युच्यते इति; तन्न सारम्; यतो हेतोः पुनः समुदाय(ये) सिद्धे स तस्य भविष्यति २५ इति प्रागपि तस्यैवोच्यताम् न धर्मिमात्रस्य । यथा कश्चित् कञ्चित् पचन्तमुपलभ्य अन्यं पृच्छति 'कस्य अयं पक्षा (पक्ता)' इति ? स पृष्ट आह–ओदनस्य इति । न तदा ओदनस्य[8]; प्रयत्नवैफल्यप्रसङ्गात् । अस्ति च तथाव्यपदेशः । ततो मन्यामहे–यस्मिन् ओदने जाते 'अस्य' इति

(१) साध्यधर्मेण । (२) तुलना–"पक्षधर्म इत्यत्र हेतुलक्षणेऽपि क्रियमाणे यदि समुदायः पक्षो गृह्यते योऽनुमानविषयः तदा सर्वो हेतुरसिद्धः, सिद्धौ वा अनुमानवैयर्थ्यमित्याह पक्षो धर्मीति ।"–हेतुबि० टी० पृ० १७ । (३) 'कथमसिद्धिम्' इति द्विर्लिखितम् । (४) धर्मकीर्तिः । (५) दर्शनस्य उच्चारणस्य परार्थत्वात् नित्यः शब्दः । न ह्यनित्यस्य पुनरुच्चारणं घटते इति । (६) साधयितुमिष्टः (७) साध्यः । (८) किन्तु अपक्वतन्दुलस्य पक्ता ।

व्यपदेशभाक् स भविष्यति तेन पूर्वं व्यपदिश्यत इति धर्मिणि पक्षोपचाराऽनर्थक्यम् ।

तदुपचारमभ्युपगम्य दूषणं दर्शयन्नाह–न च इत्यादि । न च नैव समुदायवृत्तिः अयुक्ता समुदाये वर्त्तनं नाऽयुक्तम् । कस्य ? समुदायशब्दस्य धर्मधर्मिसमूहवाचिपक्षशब्दस्य । किंभूतस्य ? स्वयम् आत्मना एकस्मिन् देशे समुदायैकभागे धर्मिणि उपचारेण वृत्तिः वर्त्तनं
५ यस्य तस्य तद्वृत्तेः । पुनरपि किंभूतस्य ? इत्याह–पुनः पश्चात् सर्वनाम्ना 'तदंशेन' [३०४क] इत्यत्र तच्छब्देन परामृश्य । यतो यस्मात् तद्वृत्तेः अयुक्तत्वात् तदंशः तद्धर्मो न तदेकदेशः, कुतः पक्षशब्देन समुदायस्यावचनात् धर्मिण एव वचनात् इत्येवं सूक्तं नैव स्यात् इति । एवं मन्यते–समुदायशब्दस्य उपचारात् तदेकदेशवृत्तस्यापि यदा समुदायवृत्तिर्न विरुध्यते तदा तस्यैव तच्छब्देन परामर्शः–'तदंशः तदेकदेशः' इति न विरुध्यते इति । अत्र दृष्टान्तमाह–
१० ग्राम [स्थे] त्यादि । ग्रामस्य तदेकदेशस्य न सर्वस्य, अन्यथा 'तदेकदेशस्थितोऽहम् अद्राक्षम्' इत्यस्यानुपपत्तिः । अनेन ग्रामशब्दस्य उपचारेण तदेकदेशे वृत्तिम् आह । अदाहम् (अहम्) अद्राक्षम् । क्व स्थितः ? इत्यत्राह–तदेकदेशस्थितः । तच्छब्देन अत्र मुख्यस्य समुदायरूपस्य ग्रामस्य परामर्शः न तदनेकदेशस्य, पाटकान्तरव्यवस्थितस्य एवं प्रयोगात् तस्य एकदेशे तिष्ठति इति तत्स्थः । यथा इति दृष्टान्तार्थः ।

१५ उक्तमर्थं निगमयन्नाह–तदेतद् इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् एतत् परेण क्रियमाणम् । किम् ? इत्याह–मुख्यशब्दार्थलङ्घनम् मुख्यश्चासौ शब्दार्थश्च । तथाहि–अंशशब्दस्य मुख्यो लोको (केऽ)र्थः[3] भागः, पक्षशब्दस्य धर्मधर्मिसमुदायः तस्य अतिलङ्घनं अतिक्रमणम् । तत् किं करोति ? इत्याह–गङ्गास्नानभयात् यः कर्कटीभ(त)क्षणन्यायः तम् अनुसरति ।

ननु तद्भयात् कर्कटीतक्षणे वधबन्धादिको दोषोऽस्ति न तल्लङ्घने तत्कथमुच्यते–तन्न्याय-
२० मनुसरति इति चेत् ? अत्राह–तत्रैव इत्यादि । तत्र उल्लङ्घने दोषात् न तल्लङ्घन इति एवकारार्थः । निरूपितम् । ततः स्थितम्–जिज्ञासित इत्यादि, न पुनः पक्षो धर्मी इत्यादि ।

एवं 'पक्षधर्मः तदंशेन' [३०४ख] इत्येतद् द्वयं व्याख्याय 'व्याप्तः' इत्येतद् व्याचष्टे–व्याप्तिः इत्यादिना । इदमत्र तात्पर्यम्–व्याप्तियोगाद् व्याप्त उच्यते । सा च व्याप्यव्यापकोभयाश्रितेति व्याप्तिः व्यापकस्य सम्बन्धिनी यत्र असौ व्याप्यो धर्मो धर्मिणि वर्त्तते तत्र, न पुनः
२५ धर्मे एवं तत्र अन्यधर्माऽभावात् , भावं एव व्याप्यस्य 'व्याप्तिः' इत्यनुवर्त्तते, वा शब्दः समुच्चये यत्रैव धर्मिणि व्यापको धर्मो विद्यते तत्रैव नान्यत्र भावः । किमेवं सति जातम् ? इत्यत्राह–तत्र तस्यां व्याप्तौ अङ्गीक्रियमाणायाम् अन्यथा साध्याभावप्रकारेण हेतोः अनुपपत्तिरेव नान्यद् रूपम् 'उक्तम्' इत्यध्याहारः । अनेन 'पक्षधर्मः तदंशेन व्याप्तः हेतुतामेति, अन्यथानुपपन्नोऽयं चेत् तर्केण लक्ष्यते' इति समर्थितम् ।

३० तदनभ्युपगमे दोषं दर्शयन्नाह–न चेद् इत्यादि । अन्यथानुपपत्तिर्यदि न किं साध्यम्

(१) 'यथा ग्रामस्य तदेकदेशस्थितोऽहमद्राक्षम्' इत्यत्र । (२) धर्मकीर्तिना । (३) अभिधेयः । (४) गङ्गास्नानभयात् । (५) व्याप्तिः । (६) धर्मो वर्तते । (७) धर्मे । (८) सद्भाव एव न तु कदाचिदप्यभावः ।

कस्य [व्याप्यं] साधनं व्यापकं चित् (चेति)। कस्यचित् [illegible] (तस्या)भावेऽपि अन्यस्य भावादिति मन्यते [इति] पुष्टमिव आत्मानं मन्यमानः [1]परः प्राह–कारणं पावकादिकं कार्यस्य धूमादेः स्वभावो वृक्षत्वादिः भावस्य शिंशपात्वादेः 'व्यापकम्' इत्यनुवर्त्तते। चेत् शब्दः पराभिप्रायसूचकः। तत्र उत्तरं दर्शयन्नाह–क्षणिकस्य इत्यादि। यदि कारणं कार्यस्य स्वभावो भावस्य नियमेन व्यापक इष्यते तर्हि [2]तदभावे अवश्यं [3]तन्न भवति इति अन्यथानुपपत्तिरेव समर्थिता। सा च अनेकान्त एव संभवतीति 'क्षणिकस्य' इत्यनेन दर्शयति। क्षणिकस्य उत्पत्तिसमयानन्तरं निरन्वयनाशिनः कारणस्य पराभिप्रायेण इदमुक्तम्, तत्त्वतः तन्न[4] [३०५ क] कारणम्। किंभूतस्य ? कार्यकालम् अप्राप्नुवतः कार्योत्पत्तेः प्रागेव नस्तस्य (नष्टस्य) कथं न कं (कथ)ञ्चिद् व्याप्तिर्नाम। कारणस्य हि व्यापकस्य व्याप्तिः[5] यत्र कार्यं तत्र भाव वच(वचनम्)। न च प्रागेव नष्टस्य सं लभ्यते। एवं हि कार्यमहेतुकं [6]तदभावे भवत् केन वार्यते ? शेषमत्रोक्तमिति भावः।

स्वभावहेतुं दूषयन्नाह–भावस्वभावयोश्च सत्त्वक्षणिकत्व[यो]श्च अभेदैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे किं केन व्याप्यते व्याप्यव्यापकद्वयविरहात्। [7]तत्र च सामान्यविशेषाभाववत् (भावात्)। तदभावे व्याहतमेतत्–

*"व्यापकं [8]तदतन्निष्ठं व्याप्यं [9]तन्निष्ठमेव वा।" इति।

यत्पुनरेतत्–नित्या (नित्यत्वव्यावृत्त्या) कल्पितेन अनित्यत्वेन असत्त्वव्यावृत्त्या कल्पितं सत्त्वं व्याप्येत इति ; तदपि तदेकान्ते दुर्लभम् ; विकल्पाभावे तत्कल्पनस्य अत्यन्त[म]संभवात्। तद्भावे वा अभिलाप्येतराकारयोः कथञ्चिद् विरुद्धयोः एकत्र संभवाद् [10]अ पो ह वा र्तिका य निरवशेषाय दत्तो जलाञ्जलिः। एवमर्थं चाऽभेदैकान्ते इत्युक्तम्।

अत्राह प्र ज्ञा क र गु प्तः–*"कारणं न कार्यस्य स्वभावो वा भावस्य नाव्यापकः[11] प्रमाणाभावेन [12]तयोरभावात्। यत्तु कार्यादेः कारणादिकं प्रति हेतुत्वमुच्यते, तद् व्यवहर्तुः अभिप्रायवशात् *"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र० वा० १।६] इति वचनात्" इति ; तं प्रत्याह–व्यवहर्तुरभिप्रायवशात् व्यवहर्त्तारः शास्त्रसंकाररहिता लोका न तत्संस्कारवन्तो नैयायिकादयः तेषामन्यथाभिप्रायात्, तेषां व्यवहर्तृणाम् परमार्थयोः हेतुफलयोः भावस्वभावयोरभावेऽपि सर्वत्र अग्नेरेव धूमः वृक्ष एव शिंशपा इत्यभिप्रायः तद्वत् सा (तद्वशात्) तादात्म्यतदुत्पत्तिव्यवस्थायां क्रियमाणायाम्। किं कृत्वा ? असमीक्ष्य। किम् ? तत्त्वम् [३०५ख] हेतुफलादीनां परमार्थरूपम्। अथवा तत्त्वं प्रतिभासाद्वैतं समीक्ष्यते, तत्समीक्षणे तदव्य (तद्व्य)-वस्थायोगात्। तस्यां किम् ? इत्याह–स तदभिप्रायः प्रमाणान्तरं प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अन्यत् प्रमाणं प्रसज्येत। न तावत् प्रत्यक्षस्य (क्षे तस्य[13]) अन्तर्भावः; सविकल्पकत्वात्। व्यवहारेणापि

(१) बौद्धः। (२) व्यापकाभावे। (३) व्याप्यम्। (४) क्षणिकम्। (५) सद्भावः। (६) कारणाभावे। (७) अभेदैकान्ते। (८) व्याप्यसद्भावे व्याप्याभावे च भवति। (९) परं व्याप्यं व्यापकनिष्ठमेव, न कदाचिदपि व्यापकाभावे भवति। (१०) प्रमाणवार्तिके यदपोहप्रकरणं तस्मै। (११) न अव्यापकः किन्तु व्यापकः। (१२) कार्यस्वभावयोः। (१३) विकल्पाभिप्रायस्य।

अविकल्पं परेण प्रत्यक्षमुच्यते । तत्र[1] तदन्तर्भावे वा प्रत्यक्षवशात् तद्व्यवस्था इति सांवृतत्वमनुपपन्नमस्य[2] । तत्त्वसंवरेण[3] संवृतेः विकल्पात्मकत्वात् । नाप्यनुमाने ; अन्योऽन्यसंश्रयदोषात् । तथाहि–तादात्म्य-तदुत्पत्तिव्यवस्थायाम् अनुमानम् , अतः तद्व्यवस्थितिः ।

किंच *"न अननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् नाऽकारणं विषयः" [4]इति वचनात् ५ अनुमानं [5]तद्व्यवस्थायाः कार्यं सद् व्यवस्थापकम् ; तच्च तत्कार्यं तदभिप्रायात् , स च अनुमानम् , तत्रापि तदेव चोद्यं तदेव उत्तरम् , अनवस्था च । ततः सः[6] प्रमाणान्तरमिति स्थितम् ।

ननु [सः][7] प्रमाणमेव न भवति तल्लक्षणाभावात्[8] कथं [9]तदन्तरमिति चेत् ? अत्राह–**अविसंवादकत्वात्** तद्व्यवस्थाऽव्यभिचारित्वात् । अपि(वि)संवादकं च ज्ञानं *"**प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्**" [प्र० वा० १।३] इति वचनात् परेण[10] प्रमाणमिष्यते । असिद्धोऽयं हेतुरिति १० चेत् ; अत्राह–**विसंवादकत्वे** अविसंवादकत्वाभावे [11]तदभिप्रायस्य अभ्युपगम्यमाने **तदाश्रयणं** तस्य तदभिप्रायस्य अङ्गीकरणम् **अप्रेक्षाकारित्वं** बौद्धस्य । कुतः ? इत्याह–**प्रकृतानुपयोगात्** । प्रकृतायां तद्व्यवस्थायाम् अनुपयोगात् । तथाहि–यद् विसंवादं(वादि) तद् व्यवहारेऽपि नाभिमतव्यवस्थोपयोगि [३०६ क] यथा मरीचिकाजलज्ञानम् , विसंवादी च तदभिप्रायः । यद् यद्व्यवस्थोपयोगि न भवति न तत् तदर्थिना उपगम्यते यथा जलार्थिना तदेव ज्ञानम् , १५ तद्व्यवस्थानुपयोगी च तदभिप्रायः । तदेवं तदभिप्रास्य अविसंवादकत्वे परस्य[12] प्रमाणान्तरमापतति, अन्यथा तदनाश्रयणात् तन्निबन्धनव्यवहारविलोप इति स्थितम् ।

[13]अयमपि न दोषः अभ्युपगमादिति चेत् ; आस्तां तावदेतत् । अन्यदुच्यते–सत्यामपि तद्व्यवस्थायाम् अव्यापकत्वम् । एतदेव दर्शयन्नाह–**तद् एतस्मिन्** इत्यादि । **तस्मिन्** परमतगते **एतस्मिन्** उच्यमाने **प्रतिबन्धनियमे** तादात्म्यादिरूपे अङ्गीक्रियमाणे **कथम् अर्वाग्भागदर्शनात्** २० **परभागोऽनुमीयेत** । कस्य ? **चन्द्रादेः** इति । कथम् ? इत्याह–**नानयोः** अर्थात् सागावरभाग (अर्वाग्भागपरभाग)योः **कार्यकारणभावः** । कुतः ? **सहैव भावात्**[14] । न च नैव **तादात्म्यं** **लक्षणभेदात्** । कुतस्तर्हि तदनुमानम् ? इत्याह–**अलम् अन्यथाऽनुपपत्तेः अनुमानम्** । विसंवादि स्यादिति चेत् ; अत्राह–**अनवद्यम्** अव्यभिचारि ।

'**किं पुनः**' इत्यादि परमतमाशङ्कते–**किं पुनः** कारणम् **अन्यथा** परभागाभावप्रकारेण २५ **उपपद्यते** अर्वाग्भाग इति चेत् ? अस्योत्तरम्–**नवै** नैवाः (नैव **भावाः**) **पर्यनुयोगम् अर्हन्ति** किमेवं भवन्तो भवति (भवन्तु) इति ? केवलं यथा ते बाधबोध (तेऽबाधबोधे) प्रतिभान्ति तथैव अङ्गीकर्त्तव्याः प्रज्ञालोचनैः । पादप्रसारिका एवं स्यादिति चेत् ; अत्राह–**तादात्म्य** इत्यादि । **[तादात्म्ये] किं पुनः कारणं वृक्षस्वभावो शिंशपा धूमः अग्निकार्यम्** इत्येवं

---

(१) प्रत्यक्षे । (२) विकल्पस्य (३) तत्त्वाच्छादनेन । (४) द्रष्टव्यम्–पृ० १८८ टि० ७ । (५) तादात्म्यतदुत्पत्तिव्यवस्थायाः । (६) विकल्पः । (७) विकल्पः । (८) प्रमाणलक्षणाभावात् । (९) प्रमाणान्तरम् । (१०) बौद्धेन । (११) व्यवहर्त्रभिप्रायस्य । (१२) बौद्धस्य । (१३) विज्ञानवादी प्राह । (१४) सहभाविनोरपारतन्त्र्यात् कार्यकारणभावाभावात् ।

प्रसङ्गात् ; अत्रापि तदेवोत्तरम्–'नवै भावाः [३०६ ख] (भावस्वभावाः) पर्यनुयोगमर्हन्ति' इति ।

भवतु तर्हि अर्वाग्भागोऽन्यथाऽनुपपत्तेरेव परभागस्य हेतुरिति चेत् ; अत्राह–**परभाग** इत्यादि ।

[परभागोऽविनाभावमर्वाग्भागस्य कल्पयन् । ५
स्वभावं कार्यहेतुञ्च तत्रान्तर्भावयेन्न किम् ॥३॥

तदर्वाग्भागस्य परभागाविनाभावस्वभावं कल्पयता धूमस्यापि पावकाविनाभावस्वभावादेव तत्र गमकत्वं प्रतिपत्तुं युक्तं किं तदुत्पत्त्या ? तस्यां च सर्वथा गम्यगमकभावः सर्वथा जन्यजनकभावात् । भावानामंशेन जन्यजनकभावः प्रसज्येत ।]

परभागोऽविनाभावम् अन्यथानुपपत्तिलक्षणं **कल्पयन्** वादी । कस्य ? **अर्वाग्भागस्य** । किं कुर्यान ? इत्यत्राह–**स्वभावं कार्यहेतुं च तत्र** अन्यथानुपपत्तौ **अन्तर्भावयेत् न किम्** ? अन्तर्भावयेदेव । १०

कारिकां व्याख्यातुमाह–**तदर्वाग्भागस्य** इत्यादि । **तस्य** चन्द्रादयो (देर्यः) **अर्वाग्भागः** तस्य **परभागाविनाभावस्वभाव (वं)** तदव्यभिचारिस्वरूपं **कल्पयता** न केवलमस्यैव अपि तु **धूमस्यापि पावकाविनाभावस्वभावादे [व] तत्र** पावके **गमकत्वं प्रतिपत्तुं युक्तम्** इति । १५ ततः किम् ? इत्याह–**किं** न किञ्चित् **तस्मात्** पावकात् **उत्पत्त्या** धूमस्य इति सम्बन्धः । अथ तदुत्पत्त्यैव धूमस्य तत्र[1] गमकत्वम् ; इत्यत्राह–**सा च (तस्यां च)** तदुत्पत्तावेव गमकत्वे (त्वम्) अभ्युपगम्यमानायां **सर्वथा** सर्वेण प्रकारेण **गम्यगमकभावः** पावकधूमयोः 'स्यात्' इत्यध्याहारः । यथा पावको दाहपाकादिकारिणा सामान्यप्रकारेण गम्यः तथा सजातीयविजातीयव्यावृत्तासाधारणेन देशकालाकारनियतेनापि स्यात् इति प्रत्यक्षवत् स्वलक्षणविषयता अनुमितेः इति नातो[2] २० विशेषः । अवैशद्याद् विशेषः ; इत्यपि वार्त्तम् ; विशेषविषयत्वे तदयोगात्, [3]परस्य तथाभ्युपगमाभावात् । कथमेवं सति विषयसंप्लवात्[4] प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणद्वैविध्यमिति चेत् ; अयमपरोऽस्य दोषोऽस्तु ।

यत्पुनरेतदुक्तम्–*"**तदविनाभाव(वात्) धूमविशेषावसाय इष्यते एव सर्वथा गम्योऽग्निः कुङ्कुमचन्दनागुरु [३०७क] जनितधूमावधारणे ततः तत्प्रतिपत्तिदर्शनात्**" २५ इति; तदनेन निरस्तम् ; तत्रापि कुङ्कुमादिसामान्यधर्मानुमितेः, इतरथा अन्त्यविशेषविषयत्वाद् अनुमितेः ततस्तत्र[5] सन्देहः कुतः ? विशेषानुमाने अन्वयाभावश्च चिन्त्यः । निरूपयिष्यते चेदमनन्तरम् । तथा धूमः सर्वथा गमक इति विशेषधर्मेण च (णेव) कण्ठाक्षविकारकारिणा सामान्यधर्मेणापि सत्त्वादिना स्यादिति धूमे संशयादिभावेऽपि सत्त्वादिविनिश्चयं (ये) ततोऽग्निप्रतिपत्तिरस्तु, ततः सन्दिग्धाद्यसिद्धताकीर्त्तनमसारमिति मन्यते । ३०

---

(१) पावके । (२) प्रत्यक्षात् । (३) बौद्धस्य । (४) एकस्मिन् स्वलक्षणविशेषे द्वयोः प्रमाणयोः प्रवर्तनात् । (५) चन्दनागुरुवह्निप्रतीतिदर्शनात् । (६) विशेषे ।

स्यान्मतम्–पावकस्य सामान्यधर्मा एव जनकाः, ततः तैरेव गम्यः, धूमस्य विशेषधर्मा एव जन्या इति तैरेवं गमक इति चेत्; अत्राह–**सर्वथा** सर्वप्रकारेण [जन्य]**जनकभावात्**। अस्यानभ्युपगमे दोषमाह– **भावानाम्** इत्यादि। बहुवचनं सर्वथा अर्थपरिग्रहार्थम्[१], **अंशेन** अवयवेन **जन्यजनकभावः प्रसज्येत** यथा पावकः सामान्यधर्मैः न विशेषधर्मैर्जनको धूमो
५ विशेषधर्मैर्न सामान्यधर्मैः जन्यः तथा सर्वे भावा इति। तत्र (तन्न) ग्राह्यग्राहकभावोऽपि तन्निबन्धनो ज्ञानैव (?) इति न युक्तमेतत्–*"एकस्यार्थस्वभावस्य" [प्र० वा० ३।४२] इत्यादि[२]।

यदि मतं सर्वथा जन्यजनकभावः सर्वथा [गम्य]गमकभावश्च इष्यते, एवं तज्जन्यविशेषावसाय इति; तत्राह–**तज्जन्यविशेष** इत्यादि।

[तज्जन्यविशेषः कः स्वयमभिमतोऽपरः।
१० **सैवाऽन्यथानुपपत्तेः अन्यत्राभिमतेऽपि [च] ॥४॥**

तादात्म्याविशेषेऽपि व्याप्यस्यैव गमकत्वं कथयन् एकलक्षणमेव समर्थयते पक्षधर्मत्वाद्यनपेक्षणात्।]

स धूमगतोऽवान्तरो भेदोऽयं **जन्यो** यस्य स तथोक्तः, स चासौ **विशेषश्च** पावकगतो भेदः। कः? न कश्चिद**भिमतः स्वयं** सौगतेन 'गम्यः' इति सम्बन्धः। किंभूतः?
१५ इत्याह–**परो** विद्यमानः [३०७ख] परो विशेषो यस्माद् इत्य**परो**ऽसाधारण इत्यर्थः। किं सर्वथा नाभिमतः? इत्यत्राह–**अन्यत्र अन्यथाऽनुपपत्तेः** अन्यथानुपपत्तिमन्तरेण तस्यास्तु[३] अभिमत एव, निदर्शनमन्तरेण तद्गम्यत्वोपगमात्।

इदमपरं व्याख्यानम्–**तेन** अग्निना जन्यते इति **तज्जन्यः** स चासौ धूमत्वविशेषणः सत्त्वादिः धूमगतो विशेषश्च **तद्विशेषः कोऽपरो**ऽन्यः **अभिमतः स्वयं** सौगतेन। **अन्यत्र**
२० **अन्यथानुपपत्तेः सैव अभिमतेऽपि**। तथाहि–धूमे धर्मिणि धूमत्ववत् सत्त्वादेरपि पावककार्यत्वाऽविशेषेऽपि धूमत्वमेव तदन्यथानुपपत्त्या गमकं नेतरदिति निरस्ता तदुत्पत्तिः।

तादात्म्यं दूषयन्नाह–**तादात्म्याविशेषेऽपि**। व्याप्यव्यापकयोः इत्यपेक्ष(क्ष्य)म्। **व्याप्यस्यैव** सत्त्वादेर्न[४] व्यापकस्य अनित्यत्वादेः **गमक[त्वं] कथयन्** परं[५] **एकलक्षणमेव समर्थयते पक्षधर्मत्वाद्यपेक्षणाया (द्यनपेक्षणात्)** आदिशब्देन तदंशव्याप्तिग्रहणम्।

२५ ननु साधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तयोरन्यतराभावे न हेतुः इति चेत्; अत्राह–**तद्** इत्यादि।

[तत्सिद्ध्यसिद्ध्योः सत्योः बहिर्व्याप्तेरसाधनात्।
साधनं सकलव्याप्तेरुभयदोषानतिक्रमात् ॥५॥]

तस्याः अन्तर्व्याप्तेः **सिद्धिश्च** ज्ञप्तिः आत्मलाभो वा **असिद्धिश्च** विपर्ययः तयोः सत्योः **बहिर्व्याप्तेः** पक्षादन्यत्र व्याप्तिः बहिर्व्याप्तिः, तयोः सकाशाद् **असाधनात्** साधना-

---

(१) विशेषधर्मैरेव। (२) 'प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्। कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्यात् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥' इति शेषः। (३) अन्यथानुपपत्तेस्तु। (४) सत्त्वादि। (५) बौद्धः।

भावात्, ताम्[1] आश्रित्य [न] किञ्चित् साधनं भवतीति । यदि वा, तस्याः साध्यभावात्[2] । अथवा, तस्याः असाधनत्वात् इति सा न **साधनम्** इति यावत् । तर्हि सकलव्याप्तेः हेतुः, इत्यत्राह-**सकल** इत्यादि । पक्षे अन्यत्र च व्याप्तिः **सकलव्याप्तिः** तस्या **उभयदोषानतिक्रमात्** तदेव समर्थयत इति [३०८] । तथाहि-नान्तरेण अन्तर्व्याप्ति [म्] सकलव्याप्तिः[3], स[4] (सा) चेत् सिद्धा कुतश्चित्; किमपरेण ? न चेत्; का सकलव्याप्तिः ? तथा विना बहिर्व्या- ५ प्त्यापि न सा युक्ता, तात्तरया (?) ।

सत्यम्, अर्वाग्भागदर्शनात् चन्द्रादेः परभागोऽनुमीयते, स तु नान्यथानुपपत्तेरपि तु एकसामग्र्यधीनतया इति; एतत्कदर्थयन्नाह-**चित्तभ्रान्ति** इत्यादि ।

[चित्तभ्रान्तिस्वसंवित्त्योस्तादात्म्यं चेद्विलक्षणैः ।
दृष्टैर्भाव्यं स्वभावैः स्वैर्नश्वराणामनश्वरैः ॥६॥ १०

भ्रान्तिः⋯तथा च ।]

भ्रान्तिश्च अतस्मिन् तद्ग्रहः । उपलक्षणमेतत् तेन विकल्पसंशयविपर्यासादीनां ग्रहणम्, **स्वसंवित्तिश्च** स्वसंवेदनाध्यक्षम् । एतदपि उपलक्षणमिति निर्विकल्पकत्वप्रत्यक्षादीनाम् । **चित्तस्य** ज्ञानस्य **भ्रान्तिस्वसंवित्ती** तयोः **तादात्म्यं चेद् विलक्षणैः** विसदृशैः **दृष्टैः** इन्द्रियगोचरैः **भाव्यम्** भवितव्यम् । केषां कैः इत्याह-**नश्वराणाम्** प्रतिक्षणभङ्गुराणाम् १५ **अनश्वरैः** स्थितैः । किंभूतैः ? **स्वभावैः** स्वरूपैः । किं सर्वैः ? न इत्याह-**स्वैः** आत्मीयैः न बुद्ध्यन्तरगतैः ।

कारिकां व्याचष्टे-**भ्रान्ति** इत्यादिना । व्याख्यातमेतत् प्रथमप्रस्तावे । यद्यपि च भ्रान्तिग्रहेणन विपर्यास उक्तः तथापि द्वयोः उपादानं बाह्येतरविभ्रमप्रतिपादनार्थम् ।

एवं सति किं लब्धम् ? इत्याह-**तथा च** इत्यादि । ते च (**तथा च** तेन च) नश्वराणाम् २० अनश्वरस्वभावप्रकारेण च ।

[यथानुदर्शनं तत्त्वप्रतिपत्तिर्न लङ्घ्यते ।
तादात्म्यमती सूक्ष्माणां भिन्नानां सुपरीक्षितैः ॥७॥

स्थूलैरभिन्नैः स्वभावैः स्वैः चाक्षुषाणामचाक्षुषैः ।
अप्यन्यथानुपपन्नैः यथा लोके प्रतीयते ॥८॥ २५

स्कन्धोऽर्वागूर्ध्वपरमध्यभागात्मैकः कथञ्चित् ।
अनुमेयः केनचित्कश्चिद् बुधैः रूपरसादिवत् ॥९॥

प्रत्यनीकस्वभावतादात्म्यमन्यथानुपपत्त्या कश्चित् सिद्धमुपयन् एकान्त[भिन्नविषयं] प्रतीतिविरुद्धमविकल्पं निर्विषयं चानुमानं परिकल्प्य ततस्तत्त्वसिद्धिं व्यवस्थापयतीति किमतः परमयुक्तम् अन्यथानुपपत्तेरतिक्रमात् । ततोऽपरः सहभाविनां रूपादिपर- ३०

(१) बहिर्व्याप्तिम् (२) असिद्धत्वादित्यर्थः । (३) सिध्येत् । (४) सकलव्याप्तिः ।

भागादीनाम् रसार्वाग्भागादिभिः प्रक्लृप्तः प्रतिबन्धनियमश्च स्वमतघाती, उपयुक्तरसानुमेयोपादानशक्तितः रूपसिद्धौ प्रतीतिं स्वलिङ्गसंख्याश्च लङ्घयेत् । उपयुक्ताद्रसात् रूपाद्युत्पत्तौ सहकारित्वं तदुपादानस्वभावं प्रतिपन्नवान् , पुनः तत्कार्यं रूपादिकं प्रत्येति । स्वोपादानस्य शक्तिप्रवृत्त्या विना न रसोत्पत्तिः सैव रूपादिकारणमिति अतीतैककालानां

५ गतिर्नानागतानां व्यभिचारात् इति कोऽयं प्रतिपत्तिक्रमः तथैव व्यवहाराभावात् । तथा च कारणात् कार्यानुमानम् । सहभाविनश्च रसात् पारम्पर्येण रूपाद्यनुमानं न केवलं प्रतीतिप्रसिद्धिमुपरुणद्धि किन्तु अनुमीयमानं प्रतिबन्धनियमं च ।]

यथानुदर्शनं दर्शनानतिक्रमेण । **नु** वितर्के । **तत्त्वप्रतिपत्तिर्न लङ्घ्यते** न निराक्रियते । किंभूता सा ? इत्यत्राह–**तादात्म्यमर्भा** वि (अपि) शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । केषाम् ?

१० इत्यत्राह–**सूक्ष्माणाम्** । किंभूतानाम ? **भिन्नानाम्** अन्योऽन्यव्यावृत्तानाम् । कैः ? इत्यत्राह–**स्थूलैः** । किंभूतैः ? **अभिन्नैः**, अनेकावयवसाधारणैः । पुनरपि किंभूतैः ? **सुपरीक्षितैः** कथं सुपरीक्षकैः ? [३२८ख] (क्षितैः ?) इत्याह–**अन्यथानुपपन्नैः** इति । **स्वैः** आत्मीयैः । न केवलं तैः तेषामेव तत् किन्तु **चाक्षुषाणाम्**, उपलक्षणमेतत् सत्त्वं (सर्वे)न्द्रियाणाम्[1] । **अचाक्षुषैः** एतदप्युपलक्षणम्[2] । किंभूतैः ? **स्वप्रावैः (स्वभावैः) अपि** शब्दः **'चाक्षुषा-**

१५ **णाम्'** इत्यत्र पति (पठि) तव्यः । **यथा लोके प्रतीयते** इत्यनेन च प्रतीतिसिद्धश्चानेकान्तं दर्शयति । प्रकृते कोऽस्य उपयोग इति चेत् ? अत्राह–**स्कन्धोऽर्वाग्भाग**इत्यादि । **स्कन्धः** चन्द्रादिः अवयवी । किंभूतः ? **अर्वागादीनां** द्वन्द्वः, पुनः **भाग**शब्देन कर्मधारयः, ते **आत्मानो** यस्य स चासौ **एकश्च** तदात्मको **यथा लोके प्रतीयते** । तत्र स्कन्धे **केनचिद्** अर्वाग्भागेन **कश्चिद्** भागो मध्यादिः **अनुमेयः** स्यात् । कैः ? **बुधैः** परीक्षकैः । निदर्शन-

२० माह–**रसाद् रूपादिवद्** इति । यथा कथञ्चित्तादात्म्यात् रसाद् रूपादिरनुमेयः, नैकसामग्र्यधीनत्वेन तत्रां (तथा) तत्र केनचिद् भागेन कश्चिद् भागोऽनुमीयते इति निदर्शनार्थः ।

कारिकात्रयं सुगमत्वाद् अव्याख्याय निदर्शनं समर्थयितुकामः [आह] **प्रत्यनीक** इत्यादि प्रैत्यादि[3] । **प्रत्यनीकौ** अन्योऽन्यविरुद्धौ यौ **स्वभावौ** विकल्पाऽविकल्पौ भ्रान्ति-प्रत्यक्षौ विपर्ययप्रत्यक्षे (क्षौ) संशयप्रत्यक्षौ तयोः **तादात्म्यम्** एकत्वम् क्वचिद् विज्ञानादौ **सिद्धं** प्रमाण-

२५ निश्चितम् उपपन्नम् (उपयन्) अभ्युपगच्छन् । कया ? इत्यत्राह–**अन्यथा** इत्यादि । **अन्यथा** अन्येन तादात्म्याभावप्रकारेण तयोः स्वभावयोः या **अनुपपत्तिः** तया इति । तथाहि–निर्विकल्पस्वभावाद् विकल्पस्वभावाद्धि (वस्य) भेदैकान्ते कुतः तद्वेदनं[4] यतः तत्कल्पनम् ? [३०९क] अज्ञातकल्पने अतिप्रसङ्गात् । तथा च *"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना" [न्यायबि० १।५] यवि (इति) कल्पनयापि न लभ्यत इति दूरं संवृतिवार्ता । स्वत इति चेत् ;

३० तर्हि विकल्पस्वभावोऽविकल्प इति तदवस्था (स्थः) प्रसङ्गः *"सर्वचित्तचैतसिकानाम्[5]" [न्याय-

---

(१) सर्वेन्द्रियगोचराणाम् । (२) अस्ति मातुलिङ्गे रूपं रसात् इत्यादि । (३) 'प्रत्यादि' इति निरर्थकमत्र । (४) विकल्पस्वरूपसंवेदनम् । (५) "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्"–न्यायबि० ।

वि० १।१०] इत्यादि कथम्[1] ? अन्यथा तत्रापि अपरतत्स्वभावकल्पनम् उक्तदोषम् अनवस्थामन्वाकर्षति । यदि पुनः अविकल्पस्वभावाद् अन्येन अन्यवेदनम् इति निराकारदर्शनम्, असतश्च ततस्तस्य वेदनमिति स्वपरयोः प्रत्यनीकयोः तादात्म्यम्; अत्रापि भेदैकान्ते मे (?) प्रकृतमनुवर्त्तेत इति चक्रकम् । एतेन शेषमपि चिन्त्यम् । ततस्तयोः[3] तादात्म्यमन्वेष्यम् । **तदुपयन् व्यवस्थापयति इति किमतः परमयुक्तम् ?** इदमेव अयुक्तमिति । किंभूतं किंभूत्वा कुतः ५ किं व्यवस्थापयति ? इत्यत्राह–**अविकल्पं परिकल्प्य** । किम् ? इत्याह–**एकान्त** इत्यादि । किंभूतम् ? **प्रतीतिविरुद्धम्** । नहि एकैकपरमाणुपर्यवसितवपुः अध्यक्षं प्रतीत्यारूढं लक्ष्यते दृश्यानुपलब्धिः (ब्धेः) अभावप्रसङ्गात् एकज्ञानसंसर्गिपदार्थद्वयाभावात् । कथमेवं विभ्रमतोऽपि स्थूलदीर्घादिप्रतीतिः, यतः पर्वतादिव्यवस्था इति चेत् ? अयमपरो दोषोऽस्तु ।

यदि पुनः अनेकपरमाणुविषयं साकारमेकं दर्शनम्; किं स्यात् ? उक्तमत्र **प्रत्यनीक** १० इत्यादि । **निर्विषयं च अनुमानं परिकल्प्य** । अत्रापि '**प्रतीतिविरुद्धम्**' इत्यनुवर्त्तते । क्वचित् प्रत्यनीकस्वभावयोः प्रमाणसिद्धतादात्म्योपगमे नित्यत्वानित्यत्व-कृतकत्व-सत्त्वादीनां प्रत्यनीकस्वभावनाम् शब्दे तादात्म्यसिद्धेः प्रतीतिविरुद्धं निर्विषयं तदिति मन्यते । **ततोऽविकल्पात्** [३०९ख] प्रत्यक्षात् तद्विरुद्धा [त्] निर्विषया [च्च] अनुमानात् **तत्त्वसिद्धिम्** इति । कुत इदमेव अयुक्तम् ? इत्यत्राह–**अन्यथा** इत्यादि । यतः **अन्यथानुपपत्तेः** क्वचित् प्रत्यनीकस्वभावयोः १५ तादात्म्यमभ्युपैति सौगतः, तस्या एव ततः तत्त्वसिद्धिं व्यवस्थापयतोऽतिक्रमात्, ततो न क्वचित् तयोः तादात्म्यमिति, इदमेव अयुक्तमिति भावः ।

इदमत्र तात्पर्यम्–रसादिक्षणिकपरमाणूनां विवेकैकान्ते विकल्पाभावात् कुतो निर्विषयमप्यनुमानम्, यतः तत्त्वव्यवस्था ? तदस्ति चेत्; विकल्पाविकल्पप्रत्यनीकस्वभावयोः क्वचित् तादात्म्यं सिद्धम्, रसादीनामपि तदस्ति इति न दृष्टान्तासिद्धिः । २०

यैस्तु मन्यते–अर्वाग्भागा[त्] संयोगिनः परभाग[गः] रसाद् एकार्थसमवायिनो रूपादिः अनुमीयते, न तादात्म्याद् अन्यतो वेति; सोऽप्यनेन निरस्तः; शक्यं हि वक्तुं **प्रत्यनीकस्वभावयोः** सामर्थ्येतरयोः अन्ययोर्वा **तादात्म्यम् अन्यथानुपपत्त्या क्वचित्** तादात्म्यादौ (तादात्म्यम् आत्मादौ) **सिद्धम् उपयन्** वैशेषिकादिः **प्रतीतिविरुद्धम्** एकान्तभिन्नस्वभावद्रव्यगुणकर्माक्षणक्षयप्रध्वंस [म]**विकल्पं** निरंशैकार्थम् नियतं **परिकल्प्य** तत्पूर्वकत्वेन **निर्विषयम्** २५ **अनुमानं** चेति । शेषं पूर्ववदिति ।

ननु यद्यपि अर्वाग्भाग-परभागयोः रूपादिरसाद्योः तादात्म्यं तथापि न तदन्यथानुपपत्त्या गम्यगमकभावः, अपि तु पूर्वविशिष्टकारणस्य अनुमानेन, तत एव तादात्म्यस्यापि भावादिति चेत्; अत्राह–**ततोऽपरः** इत्यादि । **ततः** तादात्म्याऽन्यथानुपपत्तेः **अपरः** अन्यः **स्वयम्** आत्मना सौगतेन न लोकेन प्रमाणेन वा [३१०ख] **प्रक्लृप्तो** रचितः । अनेन परस्य तत्र ३०

(१) 'सूक्तं स्यात्' इति सम्बन्धः । (२) 'मे' इति निरर्थकमत्र । (३) प्रत्यनीकस्वभावयोः विकल्पाविकल्पयोः । (४) अन्यथानुपपत्तेरेव । (५) एकस्मिन् द्रव्ये तादात्म्यमिति । (६) वैशेषिकः ।

स्वातन्त्र्यं दर्शयति । कः ? इत्याह–प्रतिबन्धनियमः । च शब्दो न केवलं प्रत्यक्षादिकं प्रस्तावाद् अर्वाग्भागपरभागयोः रूपादिरसाद्योः इति गम्यते । यदि वा, ततः साक्षात् तादात्म्यतदुत्पत्ति-प्रतिबन्धाद् अपरोऽन्य एकसामग्र्यधीनतालक्षण इति व्याख्येयम् । कुतः स प्रक्लृप्तः ? इत्याह–सहभाविनाम् अनुमानप्रसङ्गात् । केषाम् ? इत्याह–रूपादिपरभागादीनाम् । कैः ? इत्य-

५ त्राह–रस-अर्वाग्भागादिभिः । स किंभूतः ? इत्यत्राह–स्वमतघाती । स्व इत्यनेन सौगत-परामर्शः तस्य मतघाती । कुतः ? इत्यत्राह–उपयुक्तरसेन इत्यादि । उपयुक्तेन आस्वादितेन रसेन अनुमेया या उपादानस्य [1]उपयुक्ततत्सहभाविरसरूपपरिणामिकारणस्य शक्तिः सामर्थ्यं रसस्य रसोत्पत्तौ[2] उपादानशक्तिः रूपोत्पत्तौ सहकारिशक्तिः रूपस्यापि रूपोत्पत्तौ उपादानशक्तिः अन्यत्र[3] सहकारिशक्तिः ततः रूपसिद्धौ रूपानुमितौ क्रियमाणायां प्रतीतिं लोकप्रसिद्धिं लङ्घयेत्

१० सौगतः । नहि पूर्वम् उपयुक्ताद् रसात सामग्रीविशेषानुमानम् [ततो रूपानुमानम्] इति लोके परम्पराप्रतीतिरस्ति; तत्र[4] उपयुक्तरसादेव रूपानुमितिप्रतीतेः । तथापि तत्कल्पने 'शक्यं हि बोद्धुम् स्वभावहेतुर्भावम्' इत्यादिना दूषणं निरूपयिष्यते । अथ प्रतीतिलङ्घने कथं स स्वमतघाती इति चेत् ? उक्तमत्र दूषणं निरूपयिष्यते इति ।

किञ्च लोकानुमानस्य मननं यच्च कीर्तितं कीर्तिना[5] तन्च (तत्र) किं तस्य प्रतीति-

१५ विलंघमेनतः (विलङ्घनेन ? ततः) तत्सिद्धौ दूषणान्तरमाह–[३१०ख] स्वलिङ्गसंख्यां कार्य-स्वभावानुपलब्धिगोचरां च लङ्घयेत् ।

एवं कारणलिङ्गोपगमात 'रसाद् उपयुक्ताद्' इत्यादिना कारिकां विवृणोति–रसात् । किं भूतात ? उपयुक्तात् प्रतिपन्नवान् सौगतो लोको वा । किम् ? इत्याह–सहकारित्वम् । क ? इत्याह–रूपाद्युत्पत्तौ । किंस्वभावम् ? इत्याह–तदुपादानस्वभावम् । तस्य उपयुक्तरसस्य यद्

२० उपादानं तत्स्वभावम् , पुनः पश्चात् तत्कार्यम् तस्य[6] तत्र तत्स्वभावस्य सहकारित्वस्य कार्यम् । तदेवाह–रूपादिकम् । तत् किं करोति ? इत्याह–प्रत्येति । कुतः ? इत्याह–तौ (?)[7] 'शक्ती-त्यादि[8] । शक्तेः प्रवृत्तिः कार्ये व्यापारः तया विना न रसोत्पत्तिः उपयुक्त-रसात्मलाभः । कस्य तया विना ? इत्याह–स्वोपादानस्य उपयुक्तरसोपादानस्य किन्तु तत्प्रवृत्त्या तदुत्पत्तिः । ततः किम् ? इत्याह–सैव तस्य शक्तिप्रवृत्तिरेव रूपादिकारणम् इति हेतोः 'अतीतैककालानां गतिः

२५ प्रतीतिः नानागतानाम् । कुतः ? व्यभिचारात् , इति[9] शब्दः परपक्षसमाप्तौ । तत्र दूषणमाह–'कोऽयम्' इत्यादि । पूर्वम् उपयुक्तरसात् तदुपादानरसस्य[10] रूपसहकारिणः प्रतिपत्तिः पुनः ततो रूपस्य इति प्रतिपत्तिक्रमोऽयं परेण उच्यमानः कः कुत्सित इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह–तथैव व्यवहाराभावात् । यद्वा, 'अतीतैककालानां गतिः नानागतानाम्' इति[11] प्रतिपत्तेः क्रमः

(१) उपयुक्तस्य रसस्य तत्सहभाविनो रूपस्य च परिणामिकारणस्य उत्तररसात्मकत्वेन उत्तररूपात्म-कत्वेन च स्वयं परिणामिनः । (२) उत्तररसोत्पत्तौ । (३) उत्तररसोत्पत्तौ । (४) लोके । (५) धर्मकीर्तिना । (६) रसस्य । (७) 'त' इति निरर्थकमत्र । (८) "शक्तिप्रवृत्त्या न विना रसः सैवान्यकारणम् । इत्यतीतैक-कालानां गतिस्तत्कार्यलिङ्गजा ॥ ...... (९) अतीतैककालानां गतिर्नानागतानां व्यभिचारात्"–प्र० वा० स्ववृ० १।१२ । (१०) पूर्वरसस्य । (११) प्र० वा० स्ववृ० १।१२ ।

परिपाटिः न्यायानतिलङ्घनम् कोऽयम् । कुतः ? इत्याह–तथैव इत्यादि । तथैव *"अतीतैक-कालानां गतिर्नानागतानाम्" [प्र०वा० स्ववृ० १।१२] इत्यनेनैव प्रकारेण व्यवहाराभा-वाद् अन्यथापि [३११ क] व्यवहारात् सौगतस्य इति द्रष्टव्यम् । स्वयमेव 'उपयुक्तरसानुमित-रसादिना[1] तदपेक्षया ना (चा)नागतस्य रूपादे[र]व्यभिचारगतेः' इत्युपगमात् । दूषणान्तर-माह–तथा च तेनैव परपरिकल्पितप्रकारेण कारणात् कार्यानुमानम् । ५

यस्तु मन्यते[2]–'भावि कारणम्' इति ; अस्मिन् दर्शने कार्या[त् कारणा]नुमानम्, न कारणात् कार्यानुमानम् इति ; स[3] कीर्तेः[4] अनन्तरवचनं कृत्यति ; तस्यापि उपयुक्तरसेन पूर्वरसप्रतिपत्तिः कारणात् कार्यानुमानं स्यात् । तदनभ्युपगमे *"एकसामग्र्यधीनस्य" [प्र० वा० ३।१८] [5]इत्यादि निरर्थकम् । अन्योऽन्यहेतुफलभावे अन्योऽन्यसंश्रयः । एवमनेन 'प्रतीतिं स्वलिङ्गसंख्यां च लङ्घयेत्' इति व्याख्यातम् । १०

अधुना सा: (कृतनाशाऽ)कृताभ्यागमदोषं दर्शयन्नाह–राह [सह]भाविनश्च इत्यादि । अनुमीयमानरूपादिना सह भवनशीलाद् रसात् समकालरूपाद्यनुमानम् । कथम् ? इत्याह–पारम्पर्येण वर्णितप्रकारेण । तत् किं करोति ? इत्याह–न केवलं प्रतीतिप्रसिद्धिम् उपरुणद्धि निराकरोति । अनेन कृतनाशो दर्शितः, किन्तु प्रतिबन्धस्य तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणस्य नियमं च विरुणद्धि । कथम् ? अनुमीयमानम् रूपेण सह प्राक्तनरसादेः तादात्म्याद्यभावेऽपि प्रति-बन्धान्तराद्[6] गमकत्ववर्णनात् । एतेन अकृताभ्युपगमः कथितः । १५

स्यान्मतम्–न तया परमार्थतः पूर्वम् उत्तरस्य उत्तरं वा पूर्वस्य कारणं लिङ्गं च इष्यते येनायम् अन्योऽन्यसंश्रयादिदोषः स्यात्, अपि तु व्यवहारिणा केवलं तन्मतानुसारिणा अनु-मीयते, तदेव अनूद्यते । तत्रापरः प्राह–स तर्हि साक्षाद् रसाद् रूपप्रतिपत्तिं [३११ ख] कुर्वन् किमिति प्रतिक्षिप्तः ? तत्प्रतिबन्धाभावादिति चेत् ; पूर्वोत्तरयोः कः प्रतिबन्धः ? तदुत्पत्तिरिति चेत् ; [7]प्रमाणतः सिद्धा, किमुच्यते व्यवहारिणेति ? प्रमाणसिद्ध[स्योभ]योरपि अभ्युपगमार्ह-त्वात्, अन्यथा त्परतः प्रामाणिकत्वान्नो येन (परस्यापि न प्रामाणिकत्वम्) । व्यवहार्यभ्युपगमात् चेत् ; अत एव प्रतिबन्धान्तरमस्तु । न च अप्रमाणाभ्युपगमसिद्धे द्वैवैस स (द्धेः अर्धवैशस) न्यायो[8] न्यायानुसारिणां युक्तः । तदपि अस्तु इति चेत् ; अत्राह–सहभाविनश्च इत्यादि । सहभाविन एव रसात् समकालरूपाद्यनुमानं न केवलं पारम्पर्येण या प्रीति (प्रतीतिः) सौगताभ्युपगता तामुपरुणद्धि किन्तु प्रतिबन्धनियमं च उपरुणद्धि इत्यनुवर्त्तते । सहभाविनोः प्रतिबन्धान्तरसिद्धेः नील-तद्विज्ञानवदिति । २० २५

तदेवं दृष्टान्ते निराकुलीकृते पर आह– 'यदुक्तम्–भ्रान्तिप्रत्यक्षयोः तादात्म्येन भवितव्यम्'

---

(१) एकसामग्र्यन्तर्गतपूर्वरस-पूर्वरूपादिना । पूर्वरूपं हि स्वसजातीयं उत्तररूपमुत्पाद्यैव उत्तररसोत्पादकसामग्रीमनुप्रविशति इति आस्वाद्यमानरसात् सामग्र्यनुमानं यद्यपि कार्यात् कारणानु-मानं तथापि एकसामग्र्यन्तर्गतपूर्वरूपात् उत्तररूपानुमानं कारणात् कार्यानुमानमेव इति भावः । (२) प्रज्ञाकरः । (३) प्रज्ञाकरः । (४) धर्मकीर्तेः । (५) "एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः । हेतुधर्मानु-मानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥"–प्र०वा० । (६) एकार्थतादात्म्यात् । (७) तर्हि तदुत्पत्तिः । (८) द्रष्टव्यम्–पृ० २६३ टि० ११ ।

इति ; तन्न सारम् ; प्रत्यक्षाद् आत्मसंवेदनरूपाद् भ्रान्तेः चित्राकारनिर्भासरूपायाः विरुद्धधर्माध्यासेन भेदादिति चेत् ; अत्राह-**स्वं स्वं खण्डशश्चेद्** इत्यादि ।

[स्वं खण्डशश्चेत्संवित्तिः बहिर्वेद्यं न किं तथा ।
सामग्रीभेदाद् भिद्येरन् यतः पुद्गलसंविदः ॥१०॥

५ **पुद्गलस्यैकस्यैव चक्षुरादि[सामग्रीभेदात्]रूपादिज्ञानप्रतिभासभेदः विज्ञानस्येव । तद्भ्रान्तिकल्पनायामुभयाकारानतिक्रमात् तदवस्थं चोद्यम् ।]**

स्वम् आत्मानं **खण्डशः** सचेतनादिरूपेण न विभ्रमाकारविवेकरूपेण सताऽपि भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात **संवित्तिः** विपर्याकरोति **वित्तिः** बुद्धि**श्चेद्** यदि । तत्र दूषणम् **बहिर्वेद्यं** घटादि **किन्न 'खण्डशः संवित्तिः'** इति पदघटना । संवेते (संवित्तेः) तथैव प्रतीतेः इति

१० मन्यते । कथं खण्डशः स्यात तत्संवित्तिः ? इत्यत्राह-**सामग्री** इत्यादि । **यतो** यस्मात् खण्डशः संवेदनाद् **भिद्येरन्** भिन्नाः स्युः परस्परम् । काः ? इत्यत्राह-**पुद्गलसंविदः** [३१२क] रूपरसगन्धस्पर्शात्मकघटादिबुद्धयः । कुतः ? इत्याह-**सामग्रीभेदात्** चक्षुरादिकारणकलापभेदात् । एकस्य तद्विषयत्वादिति भावः ।

पूर्वार्धस्य सुगमत्वाद् व्याख्यानमकृत्वा परमर्धं व्याचष्टे-**पुद्गलस्य** रूपादिमयघटादेः

१५ **एकस्यैव** स्वगुणपर्यायसाधारणात्मन एव न परकल्पितरूपादि-परमार्थैकान्तभिन्नअवयव-अवयविरूपस्य **रूपादिज्ञानप्रतिभासभेदः** केवलं न स्वरूपभेद इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह-**चक्षुरादि** इत्यादि । तत्र दृष्टान्तमाह-**विज्ञानस्यैव** (स्येव) इत्यादि ।

ननु च ग्राह्याकाराद् भिन्नं ज्ञानमाश्रित्य कारिका प्रवृत्ता (प्रवृत्ता) तत्कथमिदमुच्यते इति चेत् ; न; एकस्य दृश्येतरसंभववद् बाह्याकारसंभवाविरोधाभिप्रायेण एवमभिधानात् ।

२० यदि मतम्-न ज्ञानस्य ग्राह्याद्याकाराद् भेदो नापि परमार्थतः तत्तदात्मकम् तदाकारस्य भ्रान्तस्य ततः तत्त्वान्यत्वाभ्या (भ्याम) निर्वचनीयत्वात् । तदुक्तम्-

*"वस्तुन्येष विकल्पविवेद (कल्पः स्याद्विधेः) वस्त्वनुरोधतः ।" इति[3] ।
*"मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणाम्" [प्र० वा० २।३५५] इत्यादि[4] ।
*"अविभागोऽपि" [प्र० वा० २।३५४] इत्यादि[5] वेति (चेति) ।

२५ तत्राह-**तद्भ्रान्ती**त्यादि । **तस्य** ग्राह्यादिनिर्भासभेदवतो ज्ञानस्य **भ्रान्तिकल्पनायां** क्रियमाणायां **उभयाकारानतिक्रमात्** स्वपररूपापेक्षया[6] अविभ्रमेतराकारानतिलङ्घनात् **तदवस्थं चोद्यम्** 'कथमेकम् अनेकात्मकम्' इति ?

अथ पररूपवत् स्वरूपेऽपि तद्भ्रान्तमिष्यते; तत्राह-**यथास्वम्** इत्यादि ।

---

(१) 'स्वं' इति द्विर्लिखितम् । (२) रूपादयः एव एकान्तभिन्नाः परमार्था इति बौद्धकल्पितम् , अवयव-अवयविनौ एकान्तभिन्नाविति यौगैः परिकल्पितम् । (३) उद्धृतोऽयम्-न्यायवि० वि० द्वि० पृ० १४ । (४) 'यथा मृच्छकलादयः । अन्यथैवावभासन्ते तद्रूपरहिता अपि ।' इति शेषः । (५) "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥" (६) स्वरूपेऽविभ्रमाकारः पररूपे च विभ्रमाकारः ।

[यथास्वं न चेद्बुद्धेः स्वसंविदन्यथा पुनः।
स्वाकारविभ्रमात् सिध्येद् भ्रान्तिरप्यनुमानधीः ॥११॥

प्रत्यक्षानुमानयोः स्वभावविभ्रमात् अनेकान्तमन्तरेण प्रत्यक्षस्यापि स्वार्थसंवेदनानुपपत्तेः सुव्यवस्थितं तत्त्वम् ।]

बुद्धेः न चेद् यदि नास्ति। किम् ? इत्याह–**स्वसंवित्** स्वरूपवेदनम्। किं [३१२ख] सर्वथा ? न इत्याह–**यथास्वं** *"सर्वचित्तचैत्तानाम् आत्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्" [न्यायबि० १।१०] अविकल्पकं बुद्धेः स्वरूपम् *"प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्या" [प्र० वा० १।२१०] इत्यभिधानात्, तदनतिक्रमेण। **अन्यथा पुनः** विद्यते। कुतः ? इत्याह–**स्वाकारविभ्रमात्** बुद्धेः **स्व** आत्मीय **आकारः** स्वप्रकाशता *"स्वयमेव (यं सैव) प्रकाशते" [प्र० वा० २।३२७] इति[1] तस्य तत्र वा **विभ्रमात्**। ततः किम् ? इत्याह–**सिध्येत्** स्वलक्षणबुद्धेः भ्रान्तिरूपम्। केन प्रमाणेन ? [न] केनचित्, स्वयं भ्रान्तात् प्रत्यक्षात् तदसिद्धेः बहिरर्थवत्। अनुमानेन इति चेत् ; अत्राह–**भ्रान्ती**त्यादि। **अपि**शब्दो भिन्नप्रक्रमः, **अनुमानधीरपि भ्रान्तिः**।

कारिकार्थं दर्शयन्नाह–प्रत्यक्ष इत्यादि। सुव्यवस्थितं तत्त्वम् सर्वं भ्रान्तत्वम (न्तं तत्त्वमु-) पहसनवचनमिदम्। स्वसंवेदनप्रत्यक्षमेव अभ्रान्तमिति चेत् ; अत्राह–**अनेकान्तमन्तरेण** इत्यादि। एवं मन्यते–तत् स्वसंवेदनप्रत्यक्षं 'नीलमहं वेद्मि' इति ग्राह्यग्राहकसंवेदनस्वभावम्, ततोऽन्यद्वा स्यात् ? प्रथमपक्षे **अनेकान्तमन्तरेण** न केवलमनुमानस्य अपि तु **प्रत्यक्षस्यापि स्वार्थसंवेदनानुपपत्तेः सुव्यवस्थितं तत्त्वम्** स्वयमेव स्वस्य वा अर्थः इति। द्वितीये सुखनीलादौ का वार्त्ता ? भ्रान्तत्वमिति चेत् ; अन्यस्य तद्विपरीतस्य अदर्शनेनाऽसत्त्वात्। दर्शनेऽपि तद्वदेव, ततः तदेव चोद्यम् 'प्रत्यक्षानुमानयोः स्वभावविभ्रमात् सुव्यवस्थितं तत्त्वम्' इति।

स्यान्मतम्–तद् विभ्रमविवेकनिर्मत (ल) तया यद्यथा (द्यप्या) त्मानं न दर्शयति तथापि तच्चेतनदया (सच्चेतनादितया) दर्शयति इतरस्य विभ्रमाभाव इति; तत्राह–**सु (स्व) व्यक्त** इत्यादि।

[स्वव्यक्तसंवृतात्मानौ व्याप्नोत्येकं स्वलक्षणम्।
यदि हेतुफलात्मानौ व्याप्नोत्येकं स्वलक्षणम् ॥१२॥

न बुद्धेर्ग्राह्यग्राहकाकारौ भ्रान्तावेव स्वयमेकान्तहानेः। तौ चेद् भ्रान्तौ किमभ्रान्तं यत् प्रत्यक्षं स्यात् ? तौ हि तदात्मानौ तद्व्यतिरेकेण एकान्तस्यानुपलब्धेः। कथञ्चिदुपलब्धौ सत्याञ्च तद्विवेकानुपलब्धौ उपलब्धस्यापि संवृतौ चेतःस्वलक्षणस्य सकृद् व्यक्तेतरस्वभावौ व्याप्नुवतः क्रमेण हेतुफलभावौ कः प्रतिबन्धः ?]

व्यक्तः [३१३ क] प्रत्यक्षः संविदेत बोधस्वभावः **संवृतः** तद्विपरीतो वेद्यवेदकाकारविवेक इत्येके **'स्वं स्वण्डशः चेत संवेत्ति (संवित्तिः)'** इत्यादि नानार्थमेतद् इत्यपरे।

(१) "नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥"–प्र० वा०।

तस्मात् सचेतनादिरूपेण इव विभ्रमविवेकरूपेणापि बुद्धिः चकास्ति केवलं तदुत्तरकालभाविनी विकल्पबुद्धिः तत्रासन्नं ग्राह्याद्यावरणपटं परिकल्प(ल्प्य) तद्विवेकं संवृणोति नेतरद् रूपम्। तदुक्तं केनचित्–

*"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
५ ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥" [प्र० वा० २।३५४]

विकल्पेन निश्चीयते इति। तत्राह–सु (स्व)व्यक्त इत्यादि। व्यक्तोऽसंवृतः चेतनादिस्वभावः, तत्संवरणं क्षणविवेकवत् बुद्धिव्यवहारोच्छेदः। संवृतो दर्शितः तदभावे विभ्रमविरहात् शास्त्रमनर्थकम्। स्वौ च तौ (च तौ) व्यक्तसंवृतात्मानौ च व्याप्नोति तदात्मकं भवति एकं स्वलक्षणं बुद्धिवस्तु यदि इत्यनेन पराभ्युपगमं दर्शयति। तर्हि इति अत्र द्रष्ट-
१० व्यम्। हेतुफलात्मानौ व्याप्नोति एकं स्वलक्षणम्। तदेवं क्रमाऽनेकान्तसिद्धेः एकस्य कार्यकारणभावनिषेधनं सौगतमतघाति।

ग्राह्याद्याकारविवेकं निर्मलं विज्ञानं तावत्र न संभवति इति न बुद्ध्या (बुद्धेरित्या) दिना प्रतिपादयन् तदभ्युपगम्य चेयं कारिका कृता इति च 'कथञ्चिद्' इत्यादिना 'व्यक्तेतर' इत्यादिना कारिकां विवृण्वन्नाह–न बुद्धेः इत्यादि। न बुद्धेः ग्राह्यग्राहकाकारौ भ्रान्तावेव
१५ मनोविकल्पभ्रान्तिरचितावेव न तात्त्विकौ इति एवकारार्थः। कुतः? इत्यत्राह–स्वयं सौगतस्य योऽयम् 'सर्वमविभागं ज्ञानम्' इति एकान्तः [३१३ ख] तस्य हानेः विकल्पे तो (तौ) भावतः स्याताम्, कथमन्यथा *"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा, ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव विकल्पेन लक्ष्यते।" [प्र० वा० २।३५४] इति सुभाषितं त[स्य] स्यात्, तदेकान्ते विकल्पभावात्। सोऽपि तदन्तरेण न; इत्यपि वार्त्तम्; तत्रापि तथाकल्पने अनवस्थानात्। *"विकल्पो
२० वस्तु तस्व द्वा (ऽवस्तुनिर्भासः)" नान्यदिति किं कृतोऽयं विभाग इति मन्यते।

तत्रैव दूषणान्तरमाह–तौ वेदिनौ (वेदिनः) ग्राह्यग्राहकाकारौ चेत् यदि भ्रान्तौ निरंशबुद्धौ विकल्पारोपितौ किम् अभ्रान्तम् तदाकाररहितम् न किञ्चित् यद् अभ्रान्तं प्रत्यक्षं स्यात्। इदमत्र तात्पर्यम्–यदि अविभागो बुद्ध्यात्मा कदाचित् प्रतिपन्नः स्यात् तद् 'विकल्पेन तौ[1] तत्र[2] आरोपितौ' इति, नान्यथा। नहि शुक्तिकाऽसिद्धौ तत्र रजतारोपसिद्धिः, रजतत्ववद् रजते
२५ विकल्पे च [3]तौ यदि सिद्धौ भवतः। न चैवमिति।

ननु प्रतिभासि (भासते) सर्वदा तदात्माऽविभागः, तौ च विकल्पारूढौ इति चेत्; अत्राह–तौ ग्राह्यग्राहकाकारौ हि खलु तस्य बुद्ध्यात्मनः आत्मानौ स्वभावौ। कुतः? इत्याह–तद्व्यतिरेकेण तदाकारव्यतिरेकेण एकान्तस्य एको ग्राह्यादिरहितोऽश्चेतनैव (तोऽन्तश्चेतनैव) अन्तो धर्मो यस्य तस्य अनुपलब्धेः। तदुपलम्भमभ्युपगम्य दूषणमाह–कथञ्चिद् इत्यादि।
३० शब्दादिरूपेण न विवक्षितरूपेण उपलब्धौ संशयादिव्यवच्छेदेन निर्णीतौ सत्यां च तद्विवेकानुपलब्धौ तस्य विभ्रमस्य विवेकस्य अनुपलब्धौ उपलब्धस्यापि संवृतौ 'सत्यां च' इत्यनु-

(१) ग्राह्यग्राहकाकारौ। (२) अविभागबुद्धौ। (३) ग्राह्यग्राहकाकारौ।

वर्तेत । [३१४ क] किम् ? इत्याह–**व्यक्तेतरस्वभावौ सकृद् व्याप्नुवतः** । कस्य ? **चेतः-स्वलक्षणस्य क्रमेण स्वहेतुफलव्याप्तौ कः प्रतिबन्धः ?**

ननु फले वृत्तिमद् विज्ञानं न हेतौ वृत्तिमत् स्वकाले तदभावात्, अत एव हेतौ वृत्तिमत् न फले, तत्कथं चेतःस्वलक्षणस्य स्वहेतुफलव्याप्तिप्रतिपत्तिः यतः तत्र '**कः प्रतिबन्धः**' इति स्यादिति चेत्; अत्राह–**संवृणोत्येव** इत्यादि ।

[संवृणोत्येव यथा वित्तिः सामान्येन स्वार्थयोः ।
विशेषाहितफलैकान्तभेदानवभासेत स्वतः ॥१३॥
प्रत्यासत्त्या यथैक्यं स्यात् भ्रान्तिप्रत्यक्षयोस्तथा ।
स्वहेतुफलयोरैक्यं ततस्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥१४॥

क्वचिदेकान्तसंभवे अनेकान्ता प्रतीतिरियं क्रियेत । यावता बुद्धेः खण्डशः स्वार्थ- १०
संवेदनं भवत् साकल्येन तावदान्ध्यविजृम्भणम् । परस्पर···]

संवृणोत्येव स्थगयत्येव । का ? इत्याह **वृत्तिः (वित्तिः)** ज्ञानम् । कान् ? इत्याह–**विशेषाहितु (हित) फलैकान्तभेदान्** । कयोः ? इत्यत्राह–**स्वार्थयोः** स्वस्य अर्थस्य च । **स्वतः** आत्मना । केन ? इत्यत्राह–**सामान्येन** पूर्वापरैकत्वेन '**स्वार्थयोः**' इत्येतद् अत्रा-प्यपेक्षं (क्ष्यम्) भेदैकान्तविरोधिसामान्यात्मकहेतुफलग्राहिणी इति यावत् । नन्वेवं भवता १५
कल्प्यते, नन्वेवं (नत्वेवं) सा प्रतिभासते इति चेत्; अत्राह–**अवभासेत** इत्यादि । **यथा** शब्दश्रवणा[त्] तथाशब्दानुमानम् यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । ततोऽयमर्थः–**यथा** येन प्रकारेण लोके प्रतीयते वित्तिः तथावभासेत । संवृतविशेषा च सामान्येन स्वार्थयोः लोके प्रतीयते अतः तथैवावभासते । न च हेतो (तौ) वृत्तस्य ज्ञानस्य फलग्रहणाभिमुख्यं विरुद्धम्, अन्यथा स्वात्मनि वृत्तस्य परत्र वृत्तिर्विरुद्धा भवेदिति सर्वस्य क्षणिकतापि (ताप्र)साधनमनवसरम् । एतावाँस्तु २०
विशेषः एकत्र देशस्य अन्यत्र कालस्य भेद इति ।

ननु हेतुफलसामान्यानां प्रतिभासते (ने) अन्योऽन्यविविक्तं वस्तुत्रयमापतितं नैकं तदात्मकम्, इतरथा नानैकं स्याज्जगत् [३१४ख] इति चेत्; अत्राह–**प्रत्यासन्न (सत्त्या)** इत्यादि । **प्रत्यापोद्यतया यथा (प्रत्यासत्त्या यया)** तथाऽवभासलक्षणया, स्वहेतोः तथोत्पत्ति-लक्षणया अशक्यविवेचनरूपया वा **ऐक्यं** तादात्म्यं **स्यात्** । कयोः ? इत्यत्राह–**भ्रान्तिप्र-** २५
त्यक्षयोः । तथाहि–यदेव पतिशङ्खज्ञानम् अर्थक्रियास्थितिविरहात् भ्रान्तं तदेव स्वरूपे अभ्रान्तं संस्थानमात्रे वा [ऽ]विपर्ययात् । । न च तत्र ज्ञानान्तरस्य अविसंवादकल्पना, तत एव तद्दर्श-नात्, अन्यथा अन्यतोऽपि न भवेत्, ततोऽपि अन्यत एव कल्पनादित्यव्यवस्थानात् । यथैव

---

(१) ज्ञानकाले । (२) ज्ञानकारणस्य फलस्य अभावात् । (३) "एतदेव स्वयं वेदैकत्वं सिद्धिवि-निश्चये । प्रत्यासत्त्या यथैक्यं स्यात् भ्रान्तिप्रत्यक्षयोस्तथा । भागतद्वद्भेदेऽपि तत्तत्त्वं त्र्यात्मकम् ॥" –न्यायवि० वि० प्र० पृ० १६८ । (४) हेतुः पूर्वपर्यायः फलमुत्तरपर्यायः तयोश्च अन्वितं सामान्यं द्रव्यमिति वस्तुत्रयम् ।

हि शङ्खे पीतज्ञानस्य पीतसम्बन्धार्थ (म्बन्ध्यर्थ)क्रियाविरहः तथा संस्थाने साधारणास्पष्टानुमानाकारार्थक्रिया[ऽ]भावः अन्यथा सामान्यवस्तु (सामान्यं वस्तु स्यात[1]) । व्यवहारी नैवं मन्यते इति चेन् ; पीतज्ञाने संस्थानप्रतिभासे सम (च समत्वम्) । व्यवहारे तदैक्यमिति चेत् ; तत्रैव क्षणभङ्गादिखण्डनम् , परस्तु परमार्थोऽपि चिन्तितः । तदैक्ये किम् ? इत्याह-**तया**

५ प्रत्यासत्त्या **स्वहेतुफलयोः ऐक्यम् । नन** ऐक्यात् **तत्त्वं त्रयात्मकम्** उत्पादाद्यात्मकम् ।

प्रथमकारिकां व्यतिरेकमुखेन व्याख्यातुकाम आह-**क्वचिद्** इत्यादि । **क्वचिद्** बहिरन्तर्वा यद्वा विभ्रमे अन्यत्र वा व्यवहारे परमार्थे वा **एकान्तसंभवे एकान्तस्य** अशेषपरवादिमतस्य प्रमाणबलात् **संभवे** सति **प्रतीतिः अयं [इयं] क्रियेत** । किंभूता ? इत्याह-**अनेकान्ता** इत्यादि । समस्ति (नास्ति) तत्संभवः ततस्तदपलाप इति; अत्राह-**यावता** इत्यादि । **स्वार्थयोः**

१० **संवेदनं** ग्रहणं **बुद्धेः** खण्डशः स्वसंवेदनम् स यदि (सातादि) रूपेण न विभ्रम-[३१५क] विवेकस्वरूपेण इति ध र्मो त्त रा दिः । तथा ज्ञानरूपेण न उत्तरार्थक्रियासम्बन्धिना स्वभावेन *"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः" [प्र०वार्तिकाल० २।१] इत्यादि वचनात् । इतरथा साधनज्ञानप्रतीतिकाले एव प्रमाणतायाः प्रतीतेः तत्परीक्षणं[3] बालविलसितम् । यदि पुनः तत्सन्धिता (तत्सम्बन्धिना) तद्वद्ग्रहणात् , गृहीतोपि (तापि) अर्थक्रिया दर्शने[न] न निश्चीयते; न तर्हि गृहीता ।

१५ नहि व्यवहारी गृहीतमनिश्चितं मन्यते । तदनुसारी च भवान् , परमार्थतः कार्ये (कार्य) कारणभावो (वा)भावेऽपि तदिच्छया[4] तदङ्गीकरणात् ,

*"परमार्थाविकल्पेन सांवृतत्वं विहन्यते ।
तद्ग्रहे सांवृतत्वे तु तद्ग्रहोऽस्तु विकल्पतः ॥" इति

प्र ज्ञा क रः । तथा 'अर्थवेदनमपि नीलादितया न जातया (जडतया) इति सौत्रान्तिकः ।

२० द्रव्यादेः तद्रूपेण न सकल तजन्येकलंनक (तज्जन्यफलजनक)शक्तिरूपेण, तत्र अविवादप्रसङ्गात् , शक्तेः ततो भेदैकान्तेऽपि उक्तम् , इति वैशेषिकादिः । **भवत्** जायमानम् । किं करोति ? इत्याह-**साकल्येन** इत्यादि । **तावद्वान्त्यविचंभणं (तावदन्ध्यविजृम्भणं)** तत्त्वपरीक्षायाम् मध्यस्थं यदि चेतः, तद्विज्ञभणे (तद्विजृम्भणे) तु नेति ।

द्वितीयां विवृण्वन्नाह-**परस्पर** इत्यादि । सर्वं सुगमम् ।

२५ परमपि अन्यथानुपतत्ता (पपत्तेरु)दाहरणं दर्शयन्नाह-**परस्पर** इत्यादि ।

[परस्पराविनाभूतौ नामौन्नामौ तुलान्तयोः ।
स्थाल्यादौ लिङ्गमीदृक् चेत् सर्वं कार्यं न किं पुनः ॥१५॥

---

(१) अर्थक्रियाकारित्वात् । (२)"इह च रूपादौ वस्तुनि दृश्यमाने आन्तरः सुखाद्याकारस्तुल्यकालं संवेद्यते । न च गृह्यमाणाकारो नीलादिः सातरूपो वेद्यते इति शक्यं वक्तुम्; यतो नीलादिः सातरूपेणानुभूयते इति न निश्चीयते ।"-न्यायवि० टी० १।१० । (३) प्रमाणतापरीक्षणम् । (४) व्यवहारिजनेच्छया । (५) तुलना-"तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया न हि । नामरूपादिहेतुत्वं न च तद्व्यभिचारिता ॥ तादात्म्यं तु कथञ्चित् स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ।"-न्यायवि० २।३३८ । प्रमाणसं० पृ० १०७ ।

तुलान्तयोर्नामोन्नामयोरेकतरस्य दर्शनादन्यतरस्यानुमानम्, वृक्षादेः छायाद्यनुमानं कार्यलिङ्गं संभावयन् स्वभावहेतुमुपरुणद्धि । शक्यं हि वक्तुम्–भावः सन् कृतकं वा वस्तु जनयन् अनश्वरमेव जनयति । अतः स्वकारणस्वभावानुमानात् कारणात्मनः प्रतिपत्तिरिति दुःखं बतायं तपस्वी, तस्य स्वोरस्ताडं क्रन्दतोऽपि लोकानिवृत्तेः ।]

तुलान्तयोः नामोन्नामौ परस्पराविनाभाविनौ 'अनुमीयेते' इत्यध्याहारः । उन्नामाविनाभावी नामस्तदविनाभावी चोन्नामः 'अन्यथानुपपत्तेः' इत्यनुवर्तते । वृक्षाच्छायादौ आदिशब्देन जले चन्द्रादिग्रहणम्, सति द्रव्यमेघादौ 'अनुमीयते' इत्युपस्कारः । अत्रापि 'अन्यथानुपपत्तेः' [३१५ख] इत्यनेन घटना । अथ पूर्वम्, एतच्च पूर्वसामग्रीकार्यमिति, अतः सैवाऽनुमीयते; इत्यत्राह–ईदृग् इत्यादि । कार्यम् ईदृग् लिङ्गं चेत् यदि [इ]ति किं पुनर्न कार्यम् सत्त्वादिकमपि कार्यमेव स्यादिति ।

'ईदृग्' इत्यादि भागं विवृण्वन्नाह–तुलान्तयोः इत्यादि । तुलान्तयोः यौ नामोन्नामौ तयोः एकतरस्य नामस्य उन्नामस्य वा दर्शनाद् अन्यतरस्य उन्नामस्य नामस्य वा अनुमानम् तथा वृक्षादेः सकापा (सकाशात् छाया) द्यनुमानम् अथवा वृक्षा:(क्षादेः) सम्बन्धि छायादिना अनुमानम् कार्यलिङ्गं संभवं भवन् (संभावयन्) सौगतः स्वभावहेतुम् उपरुणद्धि निराकरोति, कार्यं हेतुं तं ब्रूयात् । एतदेव दर्शयन्नाह–शक्यं हि इत्यादि । [शक्यं हि वक्तुम्] भावं (वः) सत् तत् कृतकं वा[2] अपेक्षितपरव्यापारं वा वस्तु जनयतु [यन्] स्वस्मैवां [अनश्वरमेव] नित्यरूपमेव जनयति घटादौ तथा दर्शनात् इति मन्यते । ततः किम् ? इत्याह–[अ]तः कारणाद् अतो वा लिङ्गात् स्वकारणस्वभावानुमानाद् भावस्य कृतकस्य वा यत् कारणं तस्य यः स्वभावो नश्वरश्च कार्यजननरूपः तस्य अनुमानात् कारणात्मनः कृतकस्य वा प्रतिपत्तिः इति न साक्षात् तत्कालभाविना ता न (तन्न)श्वरत्वमनुमीयत इति भावः । अथ यदा अतः स्वकारणस्वभावानुमितिः तदा कार्यं सत्त्वादि, यदा तु स्वभावभूतं नश्वरत्वं तदा स्वभाव इति चेत्; तर्हि यदा रसादेः स्वभावानुमानं तदा कार्यत्वं यदा तु समानकालरूपाद्यनुमानं तदा [३१६ क] लिङ्गान्तरत्वम् । प्रकृते तादात्म्यसम्बन्धो नात्रेति चेत्; अत्रापि योग्यता इति समानम् । यथैव वा अर्थान्तरयोः अकार्यकारणयोः कचित् कदाचित् सहदर्शने(न)भावेऽपि पुनः एकाभावेऽपि तददर्शनात् सर्वत्रानाश्वासः तथा अनर्थान्तरयोरपि कचित्तादात्म्यदर्शनेऽपि तदन्यथादर्शनात्, यथा वृक्षत्वाभावेऽपि चूतत्वस्य[3] इति सर्वत्र अनाश्वासः । एवं परीक्षणे लोकस्य व्यवहारविलोपः । न चायं पक्षः क्षमो भवता तदङ्गीकरणात्, सौगतस्य कथं क्षमः तेनापि अयमङ्गीकृतः ? प्रागद्वैतावतारात् लोकात् तादात्म्यादिप्रतिबन्धसिद्धिवत् सहभाविनां रूपादीनाम् अन्यथानुपपत्तिप्रतिबन्धसिद्धिरपि अस्तु विशेषाभावादे (वात् । एतदे) वाह–दुःखम् इत्यादिना ।

(१) तुलना–"न हि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति । चन्द्रादेर्जलचन्द्रादि प्रतिपत्तिस्तथानुमा । न हि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा ।"–लघी० स्ववृ० श्लो० १२–१३ । (२) "अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ।"–न्यायबि० ३।१२ । (३) आम्रकतासंभवात् ।

दुःखं यथा भवति तथा 'जीवति' इत्यनुसन्धिः, बत इति विषादे। अयं सौगतः तपस्वी वराकः। किं कुर्वन्? इत्याह–लोक इत्यादि। कुतः? इत्याह–तस्य सौगतस्य सपादो दरसि र स्तानं (स्वोरस्ताडं) क्रियाविशेषणमेतत्। क्रन्दतोऽपि रुदतोऽपि लोकस्य अनिवृत्तेः अन्यथानुपपत्त्या प्रवृत्ताद् व्यवहारात् इति सम्बन्धः।

५ अत्रैव उदाहरणान्तरं दर्शयन्नाह–तथैव इत्यादि।

[तथैव ज्योतिषां मध्ये उदिताज्ज्योतिषोऽनुमा।
उदेष्यति कुतो हेतोः कृत्तिकादेः भवेदिति ॥१३॥

प्रतिबन्धपरिसंख्यायाम् [1]उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयादिति किं प्रमाणम्? न चात्र कश्चिद् व्यभिचारोऽस्ति। नो चेत्; प्रमाणसंख्या प्रतिबन्धपरिसंख्याघातिनीव लक्ष्यते।
१० ज्योतिषामनागतोदयास्तमयादिफलज्ञानमनुमानमनिच्छतः प्रमाणान्तरप्रसङ्गात्। तादात्म्येन कुतश्चित् *"अतीतैककालानां गतिर्नानागतानां व्यभिचारात्" [प्र० वा० स्ववृ० पृ० ४९] इति व्याप्तिमेव प्रतिक्षिपन् न केवलमनुमानमुद्रां भिनत्ति किन्तु समस्तप्रमाणप्रमेयव्यवस्थामपि।]

यथैव अन्यथानुपपत्तेः नामोन्नामयोः एकतरदर्शनाद् अन्यतरानुमानं वृक्षादेः छाया-
१५ द्यनुमानं तथैव तेनैव प्रकारेण अनुमा 'भवेत्' इति सम्बन्धः। कुतः क? इत्याह–ज्योतिषां मध्ये उदिताज्यो (ज्ज्यो)तिषः कृत्तिकादेः हेतोः लिङ्गाद् उदेष्यति [३१६ ख] ज्योतिषि शकटादौ इति भवन् शेष्यते (न चेष्यते) सौगतैः इति चेत्; अत्राह–कुतो नैव भवेत्? *"अतीतैककालानां गतिः" [प्र०वा० स्ववृ० पृ० ४९] प्रतिपत्तिः नो चेत्; न यदि भविष्यतां व्यभिचारादिति व्यवहारानुसारिणोऽपि तद्व्यवहारविलोपः।

२० न कृत्तिकोदयात् भविष्यच्छकटाद्यनुमानम् अपि तु द्वयोः कारणभूतयोः सामग्र्या इत्येके। तेषां तयोः यौगपद्यम्, इतरथा रसादीनामपि तु न स्यादिति निरर्थकम्– *"अतीतैककालानां गतिः" [प्र० वा० स्ववृ०] इति।

किञ्च, एकसामग्र्यधीनत्वेऽपि [2]तयोर्यौगपद्ये मानसाध्यक्षविषय[3] इन्द्रियज्ञानसहकारी न स्यात्।

२५ ननु कथञ्चित् सामग्रीस्वभावानुमानेऽपि न भाविशकटोदयात्(नु)मानम् *"अतीतैककालानां गतिः" [प्र० वा० स्ववृ०] इत्यस्य विरोधा वे विदं (धादिति चेत्; इदं) स एव जानाति य एवं वदन्ति (ति)।

साध्यपि (भाव्यपि) कारणम्, कृत्तिकोदयात् शकटोदयस्य करणस्य (कारणस्य) अनु-

---

(१) तुलना–"भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात्। श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति॥ तदेतद् भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसंख्यां प्रमाणसंख्यां च प्रतिरुणद्धि।"–लघी० स्व० श्लो० १४। (२) कृत्तिकोदय-शकटोदययोः। (३) इन्द्रियज्ञानविषयस्य अनन्तरो विषयः इन्द्रियज्ञानस्य सहकारी भवन् मनोविज्ञानमुत्पादयति, तन्न स्यादिति भावः।

मानम् इत्यपरे[1]। तेषां [2]स्वग्रन्थे 'श्व आदित्य उदेता अद्य तद्व इन्द्रियात् (तदुदयात्)' [3]इत्यनुमाननिषेधं(ध)कथा प्रमाणानाम् अयुक्तम् (क्ता)। उभयोः अनभ्युपगमे कथमनाभावि (नागामि)-निवृत्तिः ऐकान्तिकी स्यात् ? पूर्वभावित्वे च कार्यस्य सुगतस्य सुगतत्वा प्रोक्तनीया दशासर्वा (सुगतत्वात् प्राक्तनी या दशा सा सर्वा) कार्यभूता उत्तरा कारणरूपा ततः तदर्थं प्रवृत्तेः। तथा च [4]"अत्र भगवतो हेतुफलसंपत्त्या प्रमाणभूतत्वं(त्वे)न स्तोत्राभिधानम्[5], तत्र हेतुः ५ आशयप्रयो॰सम्पत् सांव्यवहारिकप्रमाणापेक्षया, आशयो जगद्धितैषिता, प्रयोगो जगच्छास्तृत्वं (जगच्छासनात् शास्तृत्वं) फलं स्वपयत् स्वार्थसंपत् (स्वार्थसम्पत्) सुगतत्वेन" [प्र० समु० वृ० १।१] इत्यादि[5] सर्वमयुक्तम्; संव्यवहारापेक्षयैव [३१७ क] व्याख्याने 'अग्निः कारणं दाहाद्यर्थक्रिया तत्फलम्' इत्यनभ्यासे अग्निकारणलिङ्गदर्शनात् तत्फले प्रवृत्तिः इति प्रसक्तम्, तथापि तत्क्रिया[या] एव कारणत्वे वल्लीदाहः(हे) फलपर्णकौघः १० कारणम्, अतः तद्दाहानुमानं कारणात् कार्यानुमानम्। कथमेवं सुगतत्वं तायित्वं व (च) हेतुः आशयप्रयोग [:] तत्फलं न स्यादिति तदवस्थः पूर्वो व्याघातः[6] स्यादिति चेत्; कुत एतत् ? सुगतत्वाभावे आश्रय (आशय)प्रयोगसंपदोऽस्य [भावात्, [7]तद]भावे न सुगतत्वम्। अन्यत्रा (थाऽ)हेतुत्वम्। अन्योऽन्यहेतुकत्वे वा अन्ये [अन्योऽन्य]समाश्रयान्नैकतरस्यापि सिद्धिः। संव्यवहाराश्रयात् सर्वत्र हेतुफलभावम् अन्योश्रयदोषदृष्टमप्यभी (अन्योऽन्याश्रयदोषदुष्टमप्यभी)- १५ ष्टमिच्छति न पुनः अकारणभूतात् कृत्तिकोदयाद् अन्यथानुपपन्नात् तद्दोषपरिवर्जितात् शकटोदयानुमानमिति सत्यं परो[8]गुप्तप्रज्ञः (ज्ञ एव)। एतेन अरिष्टादेः मरणाद्यनुमानं चर्वितं(त)चर्वितम्।

कारिकार्थं व्याचष्टे–प्रतिबन्ध इत्यादिना। प्रतिबन्धस्य अविनाभावस्य **परिसंख्यायां** तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव नान्यः प्रतिबन्ध इति परिगणने क्रियमाणे **उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् इति किं प्रमाणम् ?** इति पृच्छति। न प्रत्यक्षम्; लिङ्गाश्रयणात्। ना[नुमा]नम्; २० परप्रतिबन्धमन्तरेण भावात्। प्रमाणान्तरं स्यादिति भावः। यद्वा परस्य **किं नैव प्रमाणम्** इति व्याख्येयम्। व्यभिचा[रा]न्न प्रमाणमिति चेत् [अत्राह–] **न चात्र** इत्यादि। देशकालाकारविपर्ययग्रहणलक्षणानां **व्यभिचाराणां** मध्ये **नैकोऽप्यस्ति** इति कश्चिद् ग्रहणम्। कुत एतत् ?

---

(१) भाविकारणवादिनः प्रज्ञाकरगुप्ताः। (२) तुलना–"तेन यदुच्यते भट्टेन–यः सवितुरुदयो भावी न तेनाद्योदयोऽन्वितः। अथ चाद्योदयात् सोऽपि भविता श्वोऽनुमीयते॥···तदपास्तम्,यतश्च यथोपवर्णितः साध्यान्वयो हेतुर्विद्यते।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० १८। "यथाद्योदयात् श्वः सूर्योदयाद्यनुमानं न तदनुमानं नियामकलिङ्गाभावात्, अद्य गर्दभदर्शनात् श्वः सूर्योदयानुमानवत्।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ४९। (३) "श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति"–लघी० श्लो० १४। (४) "साक्षाद्वी साक्षार्थत्वात्। भगवानेव हि प्रमाणभूतोऽस्मिन् प्रसाध्यते।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १। (५) "अत्र च भगवतो हेतुफलसम्पत्त्या प्रमाणभूतत्वेन स्तोत्राभिधानं प्रकरणादौ प्रसादजननार्थम्। तत्र हेतुराशयप्रयोगसम्पत्, आशयो जगद्धितैषिता, प्रयोगो जगच्छासनात् शास्तृत्वम्, फलं स्वार्थसम्पत्। स्वार्थसम्पत् सुगतत्वेन त्रिविधमर्थमुपादाय। प्रशस्तार्थं सुरूपवत्। अपुनरावृत्त्यर्थं सुनष्टज्वरवत्, निःशेषार्थं सुपूर्णघटवत्···"–प्र० समु० वृ० अ० १।१। (६) सुगतत्वाभावेऽपि तत्सद्भावात्। (७) आशयप्रयोगसम्पदभावे। (८) प्रज्ञाकरगुप्तः नष्टप्रज्ञः इत्यर्थः।

इत्यत्राह–कृत्तिका इत्यादि ।

यदि वा, तत्प्रमाणम् । कुतः ? इत्यत्राह–[३१७ख] कृतात्यादि (कृत्तिकेत्यादि) । ननु तदन्यथानुपपत्तिः कुतोऽवगम्यते ? विवक्षितशकटोदयाभावे अदर्शनादिति चेत् ; न; सर्वदर्शिनोऽदर्शनं सर्वत्र अर्थाभावं गमयति, नान्यस्य[1] व्यभिचारात् । एकदा तदा (तथा) दृष्टानां सच्चाथवान्नी-
५ फलानां पुनरन्यथापि[2] दर्शनात् । नाऽयं सौगतपक्षे दोषः तदवगमनिमित्तस्य[3] तादात्म्यादिप्रति-
बन्धस्य भावादिति चेत् ; नैतत्सारम् ; यतो यथैव बहुलं शिंशपायाः वृक्षस्वभावदर्शनात् ['तद्-विना]भूतं सर्वत्र सर्वदा वृक्षस्वभावस्य' इति गम्यते अन्यथा सकृदपि तत्स्वभावा न भवेत् ; तथा कृत्तिकोदयः बहुलं [शकटोदया]विनाभाविस्वभावः प्रतीयमानः सर्वत्र सर्वदा तत्स्वभावः, अन्यथा सकृतदपिस्य (सकृदपि तस्य) तत्स्वभावताऽयोगादिति गम्यते । अत्र अदृष्टव्यभिचाराशङ्का
१० न शिंशपा...मिति किंकृतो विवेकः ? यथा च वृक्षाभावेऽपि तद्भावो(वे) निःस्वभावता तस्याः तथा कृत्तिकोदयस्य तदविनाभाविस्वभावविरहे तदवस्थैव निःस्वभावता । न चेदमत्र चोद्यम्– 'तत्स्वभावता तस्य कुतः' इति; शिंशपायामपि तुल्यत्वात् । न तुल्यम् ; तस्याः स्वकरणात् (स्वकारणात्) । अत्रापि इदमेव उत्तरमस्तु । तदनुमानप्रसङ्गश्चेत् ; शिंशपायामपि इति ।

स्वभावहेतवे दत्तः सांप्रतं किं जलाञ्जलिः ।
१५ येनैवं (वं) सौगते (तो) भूते नो चेत् लिङ्गान्तरं न वित् (किं) ॥

अत्रैव दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–प्रमाण इत्यादि । एवं मन्यते–अस्य अनुमाने अन्तर्भावात्तु 'द्वे प्रमाणे' इति प्रमाणसंख्या प्रतिबन्धपरिसंख्याघातिनी[व] द्विविध एव प्रतिबन्ध इति तत्परिसंख्या प्रमाण [३१८क] परिसंख्याघातिनी लक्ष्यते । 'इव' शब्देन अनादरं दर्शयति । कुतः ? इत्यत्राह–ज्योतिषां ग्रहादीनां यौ अनागतोदयास्तमयौ तौ आदी यस्य तत्फलस्य
२० तस्य ज्ञानम् उक्तप्रतिबन्धाद् अनुमानमनिच्छतः प्रमाणान्तरप्रसङ्गात् । उपलक्षणमेतत्–तेन इच्छतः[10] प्रतिबन्धान्तरप्रसङ्गादिति गम्यते ।

पुनरपि तद्दर्शयन्नाह–तादात्म्येन इत्यदि । कुतश्चित् लिङ्गा[त् अतीतैककालानां गतिः] नानागतानाम् । कुतः ? व्यभिचारात्, इत्येवं न केवलम् अनुमानमुद्रां भिनत्ति । किं कुर्वन् ? प्रतिक्षिपन् । काम् ? व्याप्तिमेव[11] तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति भावः । तथाहि–
२५ तत्प्रतिबन्धनियमसमये बुद्धेः नाऽकारणम् अर्थो विषयः[12], न च साकल्यव्याप्तिविष[या]याः तस्याः[13] सर्वम् अतीतं वर्त्तमानमनागतं च कारणम् ; अनन्तरातीतस्यैव सर्वत्र कारणत्वोपगमात्, इतरथा [14]तत् स्वान्यकार्यदेशादिसङ्गतां(तं[15]) कुर्यादिति ।

(१) न चानुमाता सर्वदर्शी विद्यते, अनुमानवैफल्यात् । (२) देशान्तरे कालान्तरे कृत्तिकास-द्भावे च मेघुराणामपि दर्शनात् । (३) अविनाभावावगम । (४) आदिपदेन तदुत्पत्तिग्रहः । (५) वृक्ष-स्वभावा । (६) शिंशपायाः । (७) तत्स्वभावाया एव उत्पन्नत्वात् इति सम्बन्धः । (८) कारणानुमानप्र-सङ्गः । (९) शकटोदयानुमानं स्वीकुर्वतः । (१०) तादात्म्य-तदुत्पत्तिव्यतिरि[illegible]कार्यकारणरूप-अविना-भावस्वीकारापत्तेः । (११) व्याप्तिग्राहक । (१२) इति नियमानुसारेण । (१३) बुद्धेः । (१४) कारणम् । (१५) अन्यदेशे अन्यकाले च कार्यं कुर्यादिति ।

नास्माकं प्रतिभासाद्वैतवादिनां तन्मुद्राभेदो दोषाय सूक्तार् (सूक्तत्वात्) इत्यत्र आह—किंचिद् (किन्तु) इति । किन्तु अपि तु समस्तप्रमाणप्रमेयव्यवस्थापि 'विनापि' इत्यनुवर्त्तते । अनुमानाभावे [1]तदयोगात् , इतरथा *"प्रमाणेतरसा[illegible]" [2]इत्यादि-[illegible]वचनम् अन्यत् सर्वम् ।

तद्व्यवस्थाभेदेऽपि प्रत्यक्ष [ः] प्रमाणप्रमेयव्यवस्थाभेद इति चेत् ; अत्राह—प्रत्यक्ष । ५ इत्यादि ।

[प्रत्यक्षमेकान्तेन स्वल[illegible]लक्षणम् ।
मिथ्यानुमाऽसदर्था स्वलक्षणं लुब्धलक्षणम् ॥१७॥

विशद···कालान्तर···तथा संविर्त्ति ग्राह्यग्राहकविकल्पविभ्रमात्मिकां संपश्यामो न पुनरेकान्तम् ।] १०

[3]तस्य हि लक्षणं देशान्तरादिव्याप्त्या विधातव्यम् । न च स्वसंवेदनव्यक्तिभिः स्वलक्षिताभिः तच्छक्यमिति तात्पर्यम् । युक्तमेतत्—यदि साकल्येन चतुर्विधप्रत्यक्षलक्षणमुच्येत, न चैवम् तदभावात् , विपर्ययात् स्वसंवेदनस्यैवोच्यते [३१८ख] [4]तत् प्रत्यक्षसिद्धमिति चेत् ; अत्राह—प्रत्यक्षम् इत्यादि । प्रत्यक्षं स्वसंवेदनाख्यम् अन्यद्वा । किंभूतम् ? इत्याह—[illegible] सम्बन्धि यद् एकान्तेन असाधारणत्वेन एकेन असहायेन अन्तेन धर्मिना (धर्मेण) उपलक्षितं १५ स्वलक्षणं तेन विलक्षणं विसदृशं न तदाकारं ततो विमुखं वा । अनुमितेः तत्सिद्धिरिति चेत् ; अत्राह—मिथ्या विसंवादिनी अनुमा । कुतः ? इत्यत्राह—असदर्था निर्विषया निष्प्रयोजना वा, प्रतिभासाद्वैतस्य स्वतःसिद्धेरभ्युपगमात् । यद्वा असदर्था हेतुलक्षणाभावेन यस्या इति । ततः किम् ? इत्याह—स्वलक्षणं परकीयं लुब्धलक्षणम् , अनेन स्वलक्षणशब्दमिरुक्तं (रिक्तं) करोति । २०

कुतः पुनः प्रत्यक्षं तद्विलक्षणम् ? इत्यत्राह—विशद इत्यादि । यथैव च युगपद् [illegible] स्थवीयसो ग्रहणसंभवः तथा [illegible]स्थायिनोऽपीति ; अत्राह—कालान्तर इत्यादि । अनेन तत्प्रत्यक्षत्वा (त्व)साधने विरुद्धोपलब्धिं दर्शयति ।

यद्येकस्मिन् तदद्वैतवाञ्छा तेऽत्र स्थवीयसि ।
पूर्वोत्तरानुगभागे मुक्त एवासि सर्वथा ॥ इति मन्यते । २५

यदि पुनः ततो भिन्नं तदद्वैतम् ; तत्राह—यथासंविर्त्तिम् इत्यादि । तथा संविर्त्ति संपश्यामः ग्राह्यग्राहकावेव विकल्पौ भेदौ ताभ्यां विभ्रमात्मिकाम् । एवं मन्यते—यदि स्तम्भादिव्यतिरिक्त-

(१) प्रमाणप्रमेयव्यवस्थाऽयोगात् । (२) यदा हि प्रमाणप्रमाणाभासयोः सामान्या स्थितिर्भवति तदा इदं प्रमाणम् इदञ्चाप्रमाणमिति विभागः अविसंवादिहेतुमूलकेन अनुमानेनैव भवति । (३) "अन्य-धियो गतेः । प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्' इति शेषः । 'श्लोकोऽयं [illegible]' इति कृत्वा उद्धृतः प्रमाणमीमांसायाम् (पृ० ४) तद्भूतत्व प्रमाणप० (पृ० ६७) प्रमेयक० (पृ० १८०) स्या० रत्ना० (पृ० २६१) इत्यादिषु । (४) प्रत्यक्षस्य । (५) स्वसंवेदनम् । (६) स्वलक्षणविलक्षणम् ।

मानशरीरं तदर्शनम् स्तम्भादि किं भविष्यति ? [भविष्यति] चेत् ; स्वतोऽस्या'वभासनोत व (ने 'तद्)योगात् , स्वसंवेदनविभ्रमप्राप्तेः । अन्यतः चेत्[3] ; सिद्धं नः समीहितम् । एकान्तमपि संपश्यन्ति भवन्त इति चेत् ; अत्राह–न पुनः इत्यादि ।

तदयं बहिरन्तश्च अनेकान्ते [३९९ क] सिद्धे यत् प्राप्तं तद्दर्शयन्नाह– **स्वभावो**
५ **व्यवहारोऽपि** (रेऽपि) इत्यादि ।

[स्वभावो व्यवहारेऽपि हेतुस्तत्त्वप्रवर्त्तनात् ।
संपश्यतामनेकान्तं तन्मिथ्याभिनिवेशिनाम् ॥१८॥
तत्तद्विरुद्धादिशब्दज्ञानतर्कप्रयोगतः । २ ।

स्वभावोपलम्भः भावस्वभाव एव । ततः व्यवहारोऽनेकान्तविषयः साध्यः । तत्र
१० **विषयप्रतिपत्तौ अप्रतिपन्नविषयिणो दर्शनात् न युक्ता । तन्नैतत्सारं कार्येत्यादि । अनुपलम्भः पुनः व्यतिरेकव्यवहारसाधनः । तदयं बहिरन्तश्चानेकान्तं पश्यन्नेव तत्त्वदृष्टिपराङ्मुखः समयावष्टम्भादन्यतो वा तर्कप्रयोगैस्तद्व्यवहारमवतार्यते । सत्त्वाद्यनुपलब्धेः तथैव भावः अनेकान्तात्मक एव । बहिरपि एकान्तानुपलब्धेः, अन्यथाऽनुपपत्तेः ।]**

१५ भिन्नप्रक्रमोऽपिशब्दः **स्वभाव** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । ततो न केवलम् अलंभः (उपलम्भः) अपि तु स्वभावोऽपि अनेकान्तोपलम्भोऽपि **हेतुः** लिङ्गम् । क ? इत्यत्राह–**व्यवहारे,** प्रक्रमाद् 'अनेकान्तस्य' इति गम्यते । ननु तदुपलम्भादेव साक्षाद् अनेकान्तसिद्धेः कुतोऽसौ हेतुः ? इत्यत्राह–**तत्त्वे** अनेकान्तस्वरूपे **प्रवर्त्तनाद्** अन्तर्भूतणिजर्थो या (ऽयं) द्रष्टव्यः । केषाम् ? इत्याह–**संपश्यताम्** । अपिशब्दोऽत्रापि द्रष्टव्यः । किम् ? इत्याह–**अनेकान्तं**
२० **तन्मिथ्याभिनिवेशिनाम्** । तस्मिन् अनेकान्ते **मिथ्या योऽभिनिवेशः** एकान्ताभिनिवेशः तद्वतां तन्निरासार्थम् इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति–यथा स्वभावहेतुरपि अनुपलम्भः साध्या(ध्य)भेदाद् भिन्ने (न्न) उच्यते तथाऽयं (तथाऽयं) स्वभावोपलम्भोऽपि कार्यव्याप्यस्वभावाभ्यां भिन्न इति *"त्रीण्येव लिङ्गानि" [न्यायबि० २।११] इति[4] व्याहन्यते, इति प्र ज्ञाक र प्रयुक्तस्य हेतोः पक्षस्य च स्वयं तेन दर्शितो बाधः ।

२५ बोध्ये निरंशैकान्तसाधने कथं तत्र स हेतुः इत्य था (इत्यत्राह–) **तत् तद्विरुद्ध** इत्यादि । **तच्छब्देन** अनेकान्तं(न्तः) परामृश्यते, **तद्विरुद्ध** इत्यनेन वा (च) अनेकान्तः(न्त) विरुद्धो नित्याद्येकान्तः तौ **आदी** येषां ते तथोक्ताः । **आदिशब्दः** प्रत्येकमभिसम्बध्यते–तदादयः तद्विरुद्धादय इति । तत्र आद्येन आदिशब्देन अनेकान्तकारणकार्यसहचा (च)रादीनां ग्रहणात् , द्वितीयेन एकान्तकारणादीनाम् , तेषां यथासंख्येन **[शब्दश्च] ज्ञानं** च तयोः **तर्केण** विपक्षे सद्भाव-
३० बाधको(क)**हेतुप्रयोगतः** प्रयोगेण तत्प्रतिपादकवाक्योच्चारणेन । उदारप्रपञ्चस्तु नेहोक्तो ग्रन्थ-

(१) स्तम्भादेः । (२) स्तम्भादिरवायोगात्, स्वसंवेदनरूपताप्राप्तेरित्यर्थः। (३) प्रतिभासते स्तम्भादिकम्, तदा । (४) "त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि"–न्यायबि० ।

गौरवात्, प्र मा ण सं ग्र हा त्[1] ज्ञेयः [३१९ ख] पण्डितैर्मानसाभिः (र्मानशालिभिः)।

कारिकामाविष्कुर्वन्नाह–**स्वभावोपलम्भ** इत्यादि। स्वभावोपलम्भः, **स्वभाव एव** अनेकान्तभावस्वरूपमेया (रूपतया) उपलभ्यते इति **उपलम्भः** स्वभावश्चासौ उपलम्भश्च इति व्युत्पत्तेः। यदि वा, तदुपलम्भे न स्वभावः सतिविति (सन्निति) व्यवस्थाप्यत इति विषयी(यि)-शब्दस्य विषय उपचारो पवृत्तेः (चारोपपत्तेः) तदुपलम्भस्वभाव इत्युच्यते। ततः किं क्रियते? ५ इत्याह–**ततः** स्वभावाद् **व्यवहारोऽनेकान्तविषयः** सदिति ज्ञानादिः **साध्यः**।

ननु स्वभावोपलम्भे सोऽपि सिद्ध एवेति कथं साध्य इति चेत्? अत्राह–**तत्र** इत्यादि। **तत्र** अनेकान्ते **विषयस्य** तदुपलम्भस्य **प्रतिपत्तौ** सत्यां **अप्रतिपन्नो विषयी** येन **तस्य** सौगतादेः **दर्शनात्** [तदुप]लम्भरूपोऽनुपलम्भोऽविकल्पः ततः तत्प्रतिपत्तावपि विषयिणोऽ-प्रतिपत्तिः युक्ता, न भवतोऽनेकान्तोपलम्भस्य व्यवसायरूपत्वात्। न च अतः परो व्यवहारः १० यस्ततः साध्यः इति चेत; उक्तमत्र **तत्र** इत्यादि। दृश्यते हि अनेकान्तोपलम्भवतोऽपि विप-रीतारोपः। न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। अत एव उक्तं '**दर्शनात्**' इति। न च भूतलदर्शनम-विकल्पकम् इत्युक्तं प्रथमपरिच्छेदे इति यत्किञ्चिदेतत्।

ततः किं जातम्? इत्याह–**तत्रैतत्सारम्** इत्यादि। यत एवं **तत्** तस्मात् **एतत्** [किम्] इत्यत्राह–**कार्ये**त्यादि। **अनुपलम्भः, पुनः** इति पक्षान्तरद्योतने **व्यतिरेकतद्व्यवहारसाधनो** १५ भावाभावव्यवहारयोः साधन इति स्वभावोपलम्भः इत्यादिरपि व्यवहारणो वा (रेणैव) साधन-त्वादिति मन्यते।

प्रकृतं निगमयन्नाह–**तद्वयम्** (तदयम्) इत्यादि। यत एवं **तत्** तस्मात् **अयम्** एकान्तवादी सौगतादिः **अनेकान्तं** [३२०क] **पश्यन्नेव**। क्व? इत्याह–**बहिरन्तश्च**। स किम्? इत्याह–**तत्त्वस्य** अनेकान्त-जीवादेर्या **दृष्टिः** तस्याः **पराङ्मुखो** विमुखः तत्त्वं पश्यन्नपि न पश्यामि २० इति मन्यते इति भावः। कुतः? इत्याह–**समयावष्टम्भात्** स्वागमाग्रहग्रहावेशात् **अन्यतो वा** पूर्वक नर्म्म (पूर्वकर्मतः)। स किं क्रियते? इत्यादि यमोऽर्थव्यवहारमवतापि त (इत्याह **तद्व्यवहारमर्थव्यवहारमवतार्यते**) कैः? इत्याह–**तर्कप्रयोगैः** तर्कमूलैः साधनवाक्यैः ता (तमेव) दर्शयन्नाह–**सत्त्व** [इ]त्यादि। [**आदि**]शब्देन स्वपरसमयप्रसिद्धनिखिलहेतुपरिग्रहः। अनेन '**ज्ञानतर्कप्रयोगतः**' इति व्याख्यातम्। अधुना तद्विरुद्धाद्यज्ञानतर्कप्रयोग इति (तद्विरु- २५ द्धादि) व्याख्यातु माह–**स्वभाव** इत्यादि। **स्वभावो**ऽनेकान्तस्वरूपं **तद्विरुद्धो** नित्याद्येकान्तः उपलक्ष्य[ते, उपलक्षण]मेतत् तेन तत्कुर्यादि (तत्कार्यादि) परिग्रहः। तस्या **अनुपलब्धेः तथैव** तेनैव प्रकारेण **भावः अनेकान्तात्मक इव** (एव) इति सम्बन्धः। असिद्धो हेतुः इति चेत्; अत्राह–**बहिरपि एकान्तानुपलब्धेः** इति। चिन्तितमेतत्।

ननु तदनुपलब्धिश्च स्यात् नापि भावोऽनेकान्तात्मको विरोधाभावात् [इति] सन्दिग्ध- ३०

(१) एतन्नामकात् ग्रन्थात्। द्रष्टव्यम्–प्रमाणसं० पृ० १०४। (२) एकान्तानुपलब्धिश्च।

विपक्षव्यावृत्तिको हेतुरिति चेत्, अत्राह–अन्यथा अन्येन भावस्य अनेकान्तात्मकस्वाभावप्रकारेण अनुपपत्तेः तत्र नन्वनुपलब्धिर्हेतुरिति । तथाहि–तदनुपलब्धिः उपलब्धिनिवृत्तिम् (त्तिः,) अन्योपलब्धिः वा ? प्रथमपक्षोऽनभ्युपगमाद् दत्तोत्तरः, प्रमाणाऽसत्त्वेन असत्त्वात् । द्वितीयः पुनर्नानेकान्तमन्तरेणापिति (र्णेति) विभिन्नम् ।

५ तत्राह (अत्राह)–बहिरर्थविभ्रमैकान्तवादी बहिर्विभ्रमैकान्तोपलब्धिः (ब्धेः) तत्र असिद्धो हेतुरिति; तन्मतमाशङ्क्य दूषयन्नाह–प्रत्यक्षैक [३२०ख] इत्यादि ।

[प्रत्यक्षैकस्थिरस्थूलस्वभावैर्न्नैविलक्षणैः ।
एकान्तभ्रान्तस्वभावाच्च भाव्यमप्रमादिभिः ॥१९॥

स्वलक्षणानां दृश्यैकस्थिरस्थूलस्वभावविरोधात् व्यतिरेके वृत्ति विकल्पानवस्थादि-
१० दोषप्रसङ्गात् बहिरर्थनिराकृतौ विज्ञप्तेरपि सर्वं समानम् । वेद्यवेदकभ्रान्तिसंवेदनविकल्पाविकल्पादीनां परस्परं सर्वथा तादात्म्यासंभवात् न किञ्चित् भ्रान्तं ज्ञानं स्यात् । व्यतिरेके सन्तानान्तरवत् अन्योऽन्यं सम्बन्धासिद्धेः । न च भावानां साकल्येन नैरात्म्यं प्रतिपत्तुं युक्तम् प्रमाणाभावात् । प्रतिपक्षैकान्तवत् तत्प्रमाणोपगमविरोधात् ।]

एकश्च स्थिरश्च स्थूलश्च एकस्थिरस्थूलाः ते च ते स्वभावाश्च पुनरेतेषां
१५ कर्मधारयः कार्यः तैः, ना (न) भाव्यम् । किंभूतैः ? विलक्षणैः अन्योऽन्यविसदृशैर्भेद् यदि । कुतः ? इत्याह–एकान्तभ्रान्तस्वभावाद् एकान्तेन अवश्यंभावेन भ्रान्तो यः स्वभावः तेषामेव, ततः तस्मात् तेन हेतुना । भावप्रधानो वा निर्देशः, एकान्तेन भ्रान्तः स्वभावो येषां तेषां भावात् तत्त्वात् इति द्रष्टं (ष्टव्यम्) । तथाहि–नैते स्वभावाः सन्तः सद्भिः अभ्युपगन्तव्या एकान्तभ्रान्तस्वभावत्वात् स्वप्नदृष्टराजादिस्वभाववत् । एकान्तभ्रान्त-
२० स्वभावत्वं च प्रायसमानाधिकरणतया अवभासनात्, एकत्र विरोधाद्वा दूरस्थितविरलकेशी (शानां) तत्स्वभाववत् ।

एवं परमतमुपदर्श्य अत्र दूषणमाह–अप्रमादिभिः इति । इदमत्र तात्पर्यम्–एकस्थिरस्थूलस्वभावानां विलक्षणानाम् एकान्तभ्रान्तस्वभावोपगमे तद्वेदकं प्रमाणमन्वेष्यम्, इतरथा अर्थवत्तदसिद्धेः । तत्र तत्प्रतिभासनं च अन्यथा तेन तद्विभ्रमाऽग्रहणात्, परचित्तार्थग्रहणे तदेकार्था-
२५ ग्रहणवत् । तदन्वेषणे च यत एव असन्त [:] तत्र तत्स्वभावाः प्रतिभान्ति तत एव तत्प्रमाणम्, यत एव च तेषाम् एकान्तेन विभ्रमस्वभाववेदकम् अत एव [अ]प्रमाणम्, ईषत् प्रमाणम् अप्रमा आदिर्येषां विकल्पादिस्वभावानां तैरपि न भाव्यम् । एतदुक्तं भवति–प्रमाणेतरस्वभावयोः ऐक्यम् एकान्तेन भ्रान्तस्वभावं तत्त्वाद् अवयवरूपाद्यैक्यवत् पूर्वापरभागैक्यस्थिरत्ववत् बह्ववयवसंसर्गैकत्वपरिणामस्थौल्यवद्वा । तथा च न केवलं बहिः स्वप्नाऽस्वप्नविभागो दुर्लभः
३० किन्तु ज्ञानवादो (वादे) [३२१क] ज्ञानार्थविभागोऽपि ।

(१) अन्योपलब्धिरूपा अनुपलब्धिः अनेकान्तमन्तरेण न सिद्धिमुपयाति । (२) प्रतिवादिनामेव ।

तत्र यदुक्तं द्वितीयः पुनः अनेकान्तमन्तरेण नेति निश्चितमिति यदुक्तम्–यथानेकक्षणिक-सूक्ष्मस्वभाववद् एकस्थिरस्थूलस्वभावा अपि प्रत्यक्षसिद्धा एकत्र स्युः, न चैवं विचारायोगात्, केवलम् अने (यत एव) कल्पिता तत्त (तत) एव भ्रान्ताः इति चेत्; एतदेवोपदर्श्य दूषयन्नाह–**प्रत्यक्षैक** इत्यादि । **न** भाव्यम् बहिरन्तरपि इति सम्बन्धः । कैः ? इत्याह–**प्रत्यक्षैकस्थिरस्थूलस्वभावैः ।** प्रत्यक्षविशेषणात् सांवृतैकस्थिरस्थूलस्वभावैः भाव्यम् इति गम्यते । इतरथा सामान्येन ५ एकादिग्रहणं क्रियेत । दूषणमाह–**विलक्षणैः** इत्यादि । **विलक्षणैः** सर्वतो व्यावृत्तैरपि इति । **अपि** शब्दः अत्र द्रष्टव्यः, **न भाव्यम्** इति । किंभूतैः ? इत्यत्राह **अप्रमाऽऽदिभिः । न** विद्यते **प्रमा आदि**शब्देन हेतुफलभावादिः येषां तैः इति । कुतः ? इत्यत्राह **एकान्तभ्रान्तस्वभावात् ।** एतदुक्तं भवति–यथा एकादिस्वभावा विशदतया अवभासमाना अपि कल्पिता इष्यन्ते तथा विलक्षणाश्च विशेषाभावादित्यतम् । १०

कारिकां विवरीतुमाह–**स्वलक्षणानाम्** इत्यादि । स्वलक्षणानां भावविशेषाणां **दृश्यैकस्थिरस्थूलस्वभावविरोधात्** कारणात् **बहिरर्थनिराकृतौ** । तत्र हेत्वन्तरमाह–**व्यतिरेके** स्वलक्षणेभ्यः तत्स्वभावस्य भेदे अङ्गीक्रियमाणे वृत्तिविकल्प-अनवस्थादिदोषप्रसङ्गात् । च शब्दः अत्र द्रष्टव्यो हेतुसमुच्चयार्थः ।

ननु तत्स्वभावविरोधात् तद्दोषप्रसङ्गाच्च तत्स्वभावस्यैव बहिर्निराकृतिरस्तु न स्वलक्षणानावत (णानां, तत) कथम् अविशेषेणोच्यते '**बहिरर्थनिराकृतौ**' इति ? एवं मन्यते–यथोक्तहेतुद्वयेन तत्स्वभावस्य [३२१ख] दृश्यस्यापि निराकृतौ अन्यत्र कः समाश्वासः ? एतमर्थं च पूर्वपक्षिकायां दृश्यग्रहणम्, अतत्स्वभावलक्षणानाम् अनुपलम्भाच्च । तस्यां किम् ? इत्याह–**विज्ञप्तेरपि** । न केवलं बहिरर्थेश्च (स्य) **सर्वम्** उक्तमनुक्तं च दूषणं **समानं** साधारणम् । तथा च निरूपित(तं) निरूप्यते च वेद्य इत्यादिना । **वेद्यश्च** स्तम्भादिग्राह्याकारः **वेदकश्च** तद्ग्रहणयोग्यो ज्ञानाकारः **तावेव भ्रान्तिः** सा च **संवेदनं** च आदौ येषां **विकल्प्या(पा) विकल्प्या(पा)दीनां** तेषाम् । यद्वा **वेद्य**शब्देन नीलादय आकारा उच्यन्ते, **वेदक**शब्देन तदाकारं तद्ग्राहकं ज्ञानम् । यच्चेदमुक्तम्– २०

> *"विषयाकारभेदाच्च अधिगमभेदानां (धियोऽधिगमभेदतः) ।
> भावादेवास्य तद्भावे स्वरूपस्य स्वतो गतिः ॥"
>
> [प्र० वा० ११६] इति

२५

भ्रान्तिशब्देन ग्राह्यग्राहकसंवेदनभेदो बुद्धेः गृह्यते *"मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणाम्" [प्र० वा० २।३५५] इत्यादेः, *"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र० वा० २।३५४] इत्यादेश्च वचनात् **संवेदन**ध्वनिना अद्वयं वेदनम्, एतेषां कृतद्वन्द्वानाम् **आदि**शब्देन विकल्पादिग्राहिणां बहुव्रीहि [:] कार्यः तेषाम् । किंभूतानाम् ? इत्याह–**परस्पर** इत्यादि । **सर्वथा** ३० सर्वप्रकारेण **तादात्म्यस्य** ऐक्यस्य वा अनेन **असंभवात्** कारणात् **न किञ्चिद् भ्रान्तं ज्ञानं**

(१) कल्पिता एव स्वीकर्त्तव्या इति भावः । (२) एकदेशेन वृत्तिः सर्वात्मना वा इत्यादयो वृत्तिविकल्पाः । (२) द्रष्टव्यम् पृ० ३८८ टि० ४ । (३) द्रष्टव्यम्–पृ० ३८८ टि० ५ ।

स्यात् । अयमभिप्रायः वेद्यवेदकभ्रान्तिसंवेदनयोः एकान्तेन ऐक्ये संवेदनमेव भ्रान्तिमात्रमेव वा प्रमाणकं स्यात् । यदि वा, वेद्यवेदकयोः सर्वथा तादात्म्ये अन्यतरदेव स्यात् इति **न चित्र-मेकं ज्ञानम्** , तथा सांख्यमतेऽपि, परीक्षायां माध्यमिकम् इति **न किञ्चित्** चित्रमचित्रं वा **ज्ञानं स्यात्** इति व्याख्येयम् । तथा भ्रान्तिसंवेदनयो तथा तत्त्वे अन्यतरदेवेति [३२२ क] न ५ किञ्चिद् ग्राह्यमन्यद् भ्रान्तम् ।

तर्हि तेषां व्यतिरेक इति चेत् ; अत्राह–**व्यतिरेके** तद्भेदे 'संबन्ध' इत्यनुवर्त्तते, **सन्ताना-न्तराणामिव** तद्वत् तेषाम् **अन्योऽन्यसंबन्धासिद्धेः** कारणात् **न किञ्चिज्ज्ञानं स्यात्** , इति किंवा वार्त्तायुक्तिः–※"**स्वरूपस्य स्वतो गतिः**" [प्र० वा० १।६] इति न किञ्चिद् भ्रान्तं स्यात् इति ।※"**प्रामाण्यं व्यवहारेण**" [प्र० वा० १।७] इति च, भ्रान्तिविकल्पाभावे तदयोगात् । १० तर्हि बहिरिव अन्यत्रापि तत्त्वस्य विचार्यमाणस्याऽयोगात् साकल्येन शून्यता । तदुक्तम्–※"**तद-तद्रूप[तत्त्वत]मायातम्**" [प्र० वा० २।२०९] इत्यादि इति चेत् ; अत्राह–**न च नैव प्रतिपत्तुं युक्तम्** । । किम् ? **नैरात्म्यं** निःस्वभावत्वम् । केषाम् ? **भावानाम्** । कथम् ? इत्याह–**साकल्येन** सामस्त्येन परस्परेण इवं स्वरूपेणापि । कुतः ? इत्याह–**प्रमाणाभावात्** तन्नैरात्म्य इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । अत्र दृष्टान्तमाह–**प्रतिपक्षैकान्ते** इव तद्वदिति १५ भावैकान्तवदिति । तत्र प्रमाणोपगमे दूषणमाह–**तत्प्रमाणे**त्यादि । **तस्य** नैरात्म्यस्य तस्मिन् वा यत् **प्रमाणं** तस्य **उपगमविरोधात्** । तथाहि–यदि साकल्येन भावानां नैरात्म्यं न तत् प्रमाणं [4]विचारस्याप्ययोगात् । [5]तच्चेदस्ति ; न तु नैरात्म्यम् ।

स्यान्मतम्–न कश्चित् सकलप्रतिभासवैकल्यं नैरात्म्यमाह–※"**मायामरीचिप्रभृति-प्रतिभासवदसत्त्वेऽपि अदोषः**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इति वचनात् , स्तम्भादिप्रतिभास-२० मात्रस्य भ्रान्तस्य भावा[द्] विभ्रमेतररहितस्या (स्य) वेति ; तत्राह–**मिथ्यैकान्त** इत्यादि ।

[**मिथ्यैकान्तधियाऽनर्थास्थिरधीचित्रसन्ततेः ।**
नो वेद बहिस्तत्त्वं कृतान्तविषमग्रहम् ॥२०॥

चित्रपतङ्गनिर्भासादेरैकयोगक्षेमत्वं प्रतिभासस्य स्वभावभेदं न निराकरोति सन्तानैकत्वप्रसङ्गात् , बहिरपि स्वभावभेदादेव स्वलक्षणानामेकस्वभावानभ्युपगमात् ।]

२५ **मिथ्या** इति भावप्रधानोऽयं निर्देशः तेन **मिथ्यात्वम् एकान्तो** यस्या **धियः** तया **तत्त्वं** स्वरूपं तस्या एव धियो मिथ्यैकान्तत्वं **वेद** वेत्ति सौगत इति **कृतान्तविषमग्रहम्** 'विभ्रमाद् विभ्रमासिद्धेः' इत्युक्तत्वात् । तथा परमपि परस्य [३२२ ख] तद(द्)ग्रहं दर्श-यन्नाह–**अनर्थे** इत्यादि । न विद्यते **अर्थो** बहिः ग्राह्यो यस्याः सामर्थ्ये (साऽनर्था) स्वरूपा-लम्बना इत्यर्थः, न **स्थिरा** अस्थिरा क्षणिका इत्यर्थः, अनर्था च **साऽस्थिरा** च, सा च सा

(१) तादात्म्ये । (२) अन्तरापि । (३) "इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः । यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥"–प्र० वा० । (४) प्रमाणात्मकविचारस्याप्यभावात् । (५) प्रमाणं चेदस्ति ।

धीश्च तस्याः **चित्रं** चित्रत्वं भावप्रधानत्वात् निर्देशस्य, तेन वा **सन्ततिः** तस्याः **तत्त्वम्** एकत्वं **वेद** । एतदुक्तं भवति–हेतुफलादीनामभावं वदता सरूपोऽसौ वक्तव्यः, अन्यत्र प्रमाणनिषेधात्, सोऽपि चित्रैकप्रतिभासात्मकः, अन्यथा 'सकलशून्यम्' इत्युक्तम् । तत्प्रतिभासोऽपि पूर्वापरक्षणैकत्वनान्तरीयक इति **बहिः** घटादौ **न तत्त्वं वेद** अयमपि सिद्धान्तविषमग्रहः उभयत्राविशेषादिति । शेषस्य पूर्वमेव गतत्वात् । ५

'**अनर्थास्थिरधीचित्रसन्ततेः तत्त्वं वेद बहिर्न**' इत्येतद् व्यतिरेकमुखेन व्याख्यातुकाम आह–**चित्र** इत्यादि । **चित्रपतङ्गस्य निर्भासः** तदाकारं ज्ञानम् **आदिर्यस्य** चित्रास्तरणादिनिर्भासस्य प्रत्यक्षेतरादिनिर्भासस्य वा स तथोक्तः, तत्र **नैका[क]योगक्षेमत्वं योगः** उत्पादः **क्षेमः** उत्पन्नस्य संरक्ष[ण]म् अनुभवन(वनं) यस्य, अस्थिरज्ञानपक्षे संरक्षणस्याभावात् । अथवा **क्षेमो** विनाशः, तत्र तच्छब्दस्य सङ्केतात् द्विष्टे[2] भद्रिकाशब्दवत्, **एकम्** अभिन्नं **योगक्षेमं** यस्य तस्य भावः तत्त्वं **प्रतिभासस्य** चित्रपतङ्गबुद्धेः **स्वभावभेदं न निराकरोति** । कुतः ? इत्यत्राह–**सन्तानैकत्वप्रसङ्गात्** इति । **सन्तानानाम् एकत्वम्** अभेदः तस्य **प्रसङ्गात्** । यदा हि एकं ज्ञानमुत्पद्यते वेद्यते वा तदा सन्तानान्तरज्ञानान्यपि; अन्यथैकज्ञानसन्तानमात्रं जगत्, तथा च सति सुगतज्ञानसन्तानान्न पर-(न्तान्नापर)मिति यदुक्तं केनचित् [३२३क]–※"**स्वसंवेदनमेव एकं प्रत्यक्षं प्रमाणम् नापरम्, प्रपञ्चस्तु विनेयजनानुरोधात्**" इत्यादि; तत्सर्वं प्लवते; विनेयजनाभावात् । तस्माद् एकज्ञानोदयकाले अन्यज्ञानोदयोऽभ्युपगन्तव्य इति सन्तानानाम् एकयोगक्षेमत्वं स्वभावभेदं निराकुर्यादिति पुनरपि नानन्तरदोषः(ष)परिहारः । न चैवम्, अतः[3] तेन स्वभावभेदनिराकरणे अकिञ्चित्करपि(मि)ति मन्यते । १० १५

ननु त्रिपतंग (चित्रपतङ्ग)निर्भासादौ प्रतिभासस्य यद्यपि एकयोगक्षेमत्वं स्वभावभेदं न निराकरोति तथापि एकत्वं स्यादिति चेत्; अत्राह–**बहिरपि** इत्यादि । न केवलम् अन्तः किन्तु **बहिरपि स्वभावभेदादेव** नान्यतः **स्वलक्षणानां** रूपादिपरमाणूनाम् **एकस्वभावाऽनभ्युपगमात्** परेण, इति कारणात् तस्यास्तं तस्य निराकरोति इति । एतदुक्तं भवति–यथा स्वभावभेदात् नैकत्वं बहिःपरमाणूनां तथा अन्तरपि इति । २०

※"**किं स्यात् सा चित्रैकस्यां न स्यात्**" [प्र० वा० २।२१०] इत्यादि वचनाद्दोषोऽयमिति चेत्; अत्राह–**[अ] सिद्ध** इत्यादि । २५

[असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः ।
द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने ॥२१॥

(१) "अलब्धधर्मानुवृत्तिर्योगः, लब्धधर्मानुवृत्तिः क्षेमः ।"–प्र० वा० स्ववृ० टी० ११२४ । (२) दुष्टे । (३) अभिन्नयोगक्षेमत्वम् । (४) 'तस्यां मतावपि । यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्' इति शेषः । (५) "असिद्धः ···सत्त्वादिरचलात्मनि ।"–प्रमाणसं० पृ० ११४ । प्रकृतपाठः न्यायवि० वि० द्वि० पृ० १८१ । "असिद्धः··· विरुद्धो मल्लवादिनः ।···"–जैनतर्कवा० पृ० १०७ । स्या० रत्ना० पृ० १०३२ ।

सत्त्वादेर्वस्तुधर्मस्य असिद्धत्वं साकल्येन क्षणिकेतरैकान्तयोरसिद्धेः । अन्यथानुपपत्तेरनेकान्तसाधनात् विरुद्धत्वम् । अनैकान्तिकत्वं पुनः सत्त्वादेः क्षणक्षयादिसाधने असमीक्षिततत्त्वार्थैः लोकप्रतीतिं प्रमाणमाश्रित्य तथा हेतुरुभयत्र वर्तते स्वपक्षविपक्षयोः, प्रागेव तत्करणसमर्थात् कारणात् पुनः स्वकालनियतकार्योत्पत्त्यविरोधेन संभवात् । न च स्वकारणसत्तया कार्योत्पत्तिर्विरुध्यते यतोऽक्षणिक एव दोषः स्यात् निर्णीत...तत्सूक्तमेतत् ।]

स्वलक्षणैकान्तस्य साधने सिद्धौ अङ्गीक्रियमाणायां सर्वो हेतुः सिद्धसेनस्य[1] भगवतः **असिद्धः** । कथमिति चेत् ? उच्यते– बहिरिव (वापि) सूक्ष्मपरीक्षया अन्तरपि स्वलक्षणं प्रतिसमयविभिन्नमिति किं साधनज्ञानं यतो वादिनः प्राप्यस्य अनुमानादभ्यासे तत्र प्रवृत्तिः स्यात् ? किं वा पूर्वापरविविक्तस्वसंवेदनं यस्मात् *"यद् यथाऽवभासते" इत्यादि क्षणभङ्गज्ञानमानीयेत ? किं वा नीलाद्यवभासनं येन *"यदवभासते तज्ज्ञानम्" इत्यादि सिध्येत ? एतेन सत्त्वादयोऽपि निरस्ताः । अभावैकान्तवत् भावैकान्तेऽपि तस्य सर्वो हेतुः असिद्धः, अनुपलम्भेन तदभावात् [७ ३ ३४] सर्वसङ्करात्त्व । परस्पराऽनात्मकभावाऽभावैकान्तसाधने तु पररूपेण न अनवस्थाप्रसङ्गात् विरोधः, सर्वस्य सर्वात्मकत्वं प्रागभावा[द्यभावा]दिति । सम्बन्धाभावे अन्यस्य न अन्येन समवायादिसम्बन्धनिषेधात् । न चैवं वादिनः प्रागभावादीनामन्योन्यम् अन्यतो वा भेदः सिध्यति, अनवस्थाप्रसङ्गात् अपरप्रागभावाद्यभावात् । ततः सूक्तम्–**एकान्तसाधने हेतुरसिद्धः** सिद्धसेनस्य इति ।

कश्चित् स्वयूथ्यः अत्राह– सिद्धसेनेन कपिलस्य असिद्धस्याऽवचनादयुक्तमेतदिति; तेन कथमिदमुक्तम् ?

*"जे सच्चपायवाय(संतवाय)दोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं ।
संखा वि असव्वाए (असद्भावे) तेसिं सव्वेवि ते सच्चा (सच्चा) ॥"

[सन्मति० ३।५०] इति[4] ।

अथातो रूपात् चित्रमेकं ज्ञानमिष्यते; तत्राह–**विरुद्धो** देवनन्दिनः[5] **हेतुः एकान्तसाधने**, क्रमेणेव [अ]क्रमेणापि चित्रैकविरोधात् । तथा च कथञ्चिदेव क्षणिकत्वेन अवभासनात् सतस्तथैव भावानां क्षणिकत्वसिद्धिः । एवं सत्त्वादयोऽपि भाव्याः ।

ननु यस्य वैशेषिकादेः[6] निराकारज्ञानवादिनो नैकं ज्ञानं नीलादिनिर्भासैः चित्रं [तं] प्रति केन दृष्टान्तेन सर्वस्य अनेकान्तात्मकत्वं सिध्यति येन तदीयैकान्तसाधने विरुद्धो हेतुः स्यादिति चेत्; न; तस्यापि प्रतिप्राणि त्रिकालविषयानेकव्याप्यव्यापकपदार्थग्रहणानेकशक्त्यात्मकैकमानसज्ञानसद्भावात् । इतरथा कुतो लिङ्गलिङ्गिनोः साकल्येन व्याप्तिग्रहो यतोऽनुमानम् ? न च यैव

(१) सिद्धसेनस्य । (२) नैयायिकस्य । (३) क्षणिकपक्षात् । (४) यान् सद्वाददोषान् शाक्यौलूक्या भणन्ति सांख्यानाम् । सांख्या अपि असद्वादे तेषां सर्वेऽपि ते सत्याः । (५) पूज्यपादस्य । (६) वैशेषिकस्यापि । (७) तथाभूतमानसज्ञानाभावे

तस्य अतीतग्रहणे अश्वता (णोन्मुखता) सैव वर्त्तमानादिग्रहणोन्मुखता; ग्राह्यैकत्वप्राप्तेः । [३२४क] नहि चक्षुरादिज्ञानेषु यैव रसग्रहणोन्मुखता सैव रूपादिग्रहोन्मुखता; ज्ञानभेदवैयर्थ्यापत्तेः । तत्रापि शैक्त्यः तत एकान्तेन व्यतिरिच्यन्ते । सम्बन्धाभावेन समवायनिषेधात् तस्य ता इति व्यपदेशविलोपात् । तदुपकारशक्तिकल्पनायाम् अनवस्था । ततोऽनेकशक्त्यात्मकमेकं ज्ञानं तेनाप्यभ्युपगन्तव्यमिति । कथञ्च अनेकं कस्य (तस्य) चित्रं ज्ञानम ? ततः स्थितम्–**विरुद्धो** इत्यादि । ५ तदुक्तम्–*"**सिद्धिः अनेकान्तात्**" [जैनेन्द्रव्या० १।१।१] शब्दार्थसम्बन्धानां सिद्धिः निष्पत्तिः आत्मसत्ताज्ञप्तिर्वा अनेकान्तात् नान्यतः इति ।

अपरस्त्वाह–न मया प्रतिभासाद्वैतवादिना परमार्थतः कश्चिद् हेतुः इष्यते, यस्तु इष्यते स व्यवहारेण *"**प्रामाण्यं व्यवहारेण**" [प्र० वा० १।७] इत्यभिधानादिति ; तं प्रत्याह–**द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुः एकान्तसाधने** इति । पक्षवद् विपक्षेऽपि वर्त्तते इति **द्वेधा** १० अनैकान्तिक इति यावत् । तथाहि–सत्त्वम् अर्थक्रियाकारित्वम् , अक्षणिकवत् क्षणिकेऽपि स्वसद्मतसमये भावतोऽसंभवि ; कल्पनया पुनः उभयत्रापि न वार्यत इत्युक्तम् । एतेन *"**उपलम्भः सत्त्वम्**" [प्र० वार्तिकाल० पृ० २३१] इति निरूपितम् । यथैव हि एकस्य कालत्रयानुयायित्वं नित्यत्वं न कुतश्चित् प्रत्येतुं शक्यं तथा एकपरमाणुपर्यवसितं क्षणिकत्वमिति च । तथापि तत्प्रतिपत्त्यभ्युपगमे सर्वस्य त्रिकालगोचराऽशेषावस्थानुयायिद्रव्यदर्शनं किन्न अभ्युपगम्यते ? यत इदं १५ स्यात्–*"**यद् यथावभासते तत् तथैव परमार्थसत् यथा सुखं तत्त्वेनावभासमानं तथैव परमार्थसत् , अवभासन्ते च भावा [अ]नित्यत्वेन**" इति । तथा व्यवहारा वा (राभावश्चा)-ऽन्यत्रापि [३२४ख] 'सर्वस्य सर्वदर्शित्वम्' इत्यपि नोत्तरम् ; एकैकपरमाणुनियतक्षणिकत्वदर्शनेऽपि सर्वस्य सुगतत्वात् । नहि तथादर्शिनो भावतः सौगतैः अन्यः सुगत इष्यते । तथेष्टत्वाददोषश्चेत् ; प्रकृतेऽप्यस्तु तदुत्तरम् । संसारीतरव्यवस्थाऽभाव इति चेत् ; सुगतेतराभावोऽपि २० तथा न किम् ? परमार्थतो यथाऽस्याभावः तथा अन्यस्यापि । व्यवहारेण उभयोरपि सिद्धिः न वा कस्यचित् ।

यत्पुनरेतत्–[1]प्रथमक्षणदर्शनसमये अतीताऽनागतदशादर्शने तदैव उत्पन्नमृतप्रतीतिः स्यादिति ; तदपि न सुन्दरम्; [उभयत्रापि स] मत्वात् । यो हि [2]पूर्वापरविविक्तमेकं परमाणुं पश्यति स नितरां तदैव उत्पन्नमृतम् आत्मानं पश्यति इति न कस्यचित् कचित् प्रवृत्तिः निवृत्तिर्वा २५ कुतश्चिदिति प्राप्तम् । [3]तदभ्युपगमे सकलकालकालीनदशास्थितानस (तात्म)दर्शिनोऽपि सदभ्युपगमः केन वार्यते ? अथ मध्यक्षण एव उत्पन्नो मृतश्च स्यादिति मतिः ; सापि न युक्ता ; यथासमयमेव तद्ग्रहणात् । [4]अस्याऽनभ्युपगमे अन्यत्र कः समाश्वासः ? ततोऽक्षणिकवत् क्षणिकस्यापि न तत्त्वतो दर्शनम् । कल्पनया तु द्वयोरपि, इति साधूक्तम्–**द्वेधा समन्तभद्रस्य** इति । क पुनरनेन भगवता एकान्तवादिहेतूनामनैकान्तिकत्वमुच्यत इति चेत् ; न ; ३०

(१) शक्त्यः । (२) परमार्थतः । (३) नित्यपक्षे । (४) प्रवृत्तिनिवृत्तिस्वीकारे ।

*"ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः ।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियः ॥" [बृहत्स्व० श्लो० ९९]

इत्येतेन तदुद्भावनात् । अस्यायमर्थः–ये वादिनः अपात्रम् अभाजनम् । कस्य ? इत्याह–तन्मत(त्वन्मत)श्रियः [३२५क] इति । तत्र अरजिनस्य भगवतो मतमासन्नं (मतं शासनं) तस्य श्रीः सर्वपदार्थव्यापि-अनेकान्ताभिधेयम्, तस्याः, एकान्तवादिनः इति यावत् । ते किं कुर्युः ? नैव किञ्चित्, स्वपरपक्षसिद्धिनिषेधौ नैव कुर्युः इत्यर्थः । किंभूताः ? तपस्विनो वराकाः । कुतः ? इत्याह–परस्खलितोन्निद्रा इत्यादि । परस्य सौगतापेक्षया नित्यवादिनः [1]तदपेक्षया सौगतस्य, स्खलितं क्रमयौगपद्याभ्याम् अर्थक्रियाऽसामर्थ्यं तत्रोन्निद्रा (तत्रोन्निद्राः) तदुद्घाटाः । स्वदोषेभनिमीलिनः स्वदोषान् पश्यन्तोऽपि अपश्यन्त इव वर्तन्ते । ततः सत्त्वादेः क्षणिकत्ववद् अक्षणिकत्वसाधनमपि समानमिति ।

कारिकां व्याचष्टे–**सत्त्वादेः** इत्यादिना । **सत्त्वम्** अर्थक्रियाकारित्वम् उपलम्भम् अन्यद्वा **आदि**र्यस्य एकान्तवादिसम्बन्धिनिखिलहेतोः स तथोक्तः तस्य । किंभूतस्य ? **वस्तुधर्मस्य असिद्ध[त्व]म्** एकान्तवस्तुन एव कस्यचिदभावात् तद्धर्मोऽपि तादृश एवेति मन्यते ।

ननु नित्यैकान्ते तदभावेऽपि क्षणिकत्वे तद्भावात् नाऽसिद्धत्वमिति चेत्; अत्राह–**साकल्येन** सामस्त्येन **क्षणिकेतरैकान्तयोः असिद्धेः** सत्त्वादेः इति ।

स्यान्मतम्–एकान्तवादिपरिकल्पिततत्त्वसमीक्षायां तदसिद्धिरस्तु, यथादर्शनं तदङ्गीकरणे अयमदोष इति; तत्राह–**अन्यथाऽनुपपत्तेः** इत्यादि । **विरुद्धत्वम्** 'सत्त्वादेः' इत्यनुवर्तते । कुतः ? इत्याह–**अनेकान्तसाधनात्** । एतदपि कुतः ? इत्याह–**अन्यथा** अनेकान्ताभावप्रकारेण **अनुपपत्तेः** यथादर्शनं सत्त्वादेः इति ।

अपरः पुनराह–सर्वविकल्पातीतं तत्त्वतः [३२५ख] व्यवहारेण क्षणभङ्गादिसाधनम् । तत्राह–**अनैकान्तिकत्वम्** इत्यादि । व्यभिचारित्वं सत्त्वादेः । **पुनः** इति वितर्के । **क्षणक्षयादिसाधने** क्रियमाणे अशेषैकान्तवादिसाध्यपरिग्रहार्थम् **आदि**ग्रहणम् । कुतः तत्साधने ? **सत्त्वादेः** इति । कैः ? इत्याह–**असमीक्षिततत्त्वार्थैः** असमीक्षितो विपरीतारोपनिरासेन न सम्यग् ईक्षितः तत्त्वार्थः प्रतिभासाद्वैतलक्षणो यैः तैः, पृथग्जनैः इत्यर्थः । किं कृत्वा ? **आश्रित्य** । किम् ? **लोकप्रतीतिम्** भेदविषयां विकल्पबुद्धिम् । तदुक्तं कैश्चित्–*"**प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् इत्यादि प्रमाणलक्षणं संव्यवहारापेक्षया**" [प्र० वार्तिकाल० १।५] किंभूताम् ? इत्याह–**प्रमाणमिति** परमार्थतः इति मन्यते । कथमनैकान्तिकत्वम् ? इत्याह–**स्वपक्ष** इत्यादि । तदा **तेन** परिकल्पितप्रकारेण अर्थक्रियालक्षणो हेतुः **उभयत्र** पक्षवद् विपक्षेऽपि **वर्तते** यतः । कुतः ? इत्याह–**प्रागेव** कार्योत्पत्तेः पूर्वमेव **तत्करणसमर्थात्** कार्योत्पादनशक्तात् कारणात् **पुनः** उत्तरकालं **स्वकालनियतकार्योत्पत्तेः अविशेषेण** विशेषाभावेन **संभवात्** । क्व ? **स्वपक्षविपक्षयोः** क्षणिकाऽक्षणिकस्वभावयोः । ततो यदुक्तं केनचित्–*"**यदि नित्यो महेश्वरो भावीनि सर्व-**

(१) नित्यवाद्यपेक्षया ।

कार्याणि कर्तुं प्रागेव शक्तः तानि युगपत् कुर्यात् प्रागेव, पुनः ततोऽपि प्रागेव पुनः ततोऽपि प्रागेव इति न कार्योत्पत्तिकालव्यवस्था ।'' इति ; तन्निरस्तम् ; कथम् ? चेतनालक्षणं क्षणिकं कर्म चेत् स्वकार्योत्पत्तौ वैचित्र्यं स्वसत्तासमये कर्तुं शक्तम् ; [३२६क] तदेव कुर्यात्, तस्यापि चेतनालक्षणस्य कर्मणो यत् सर्वम् अन्यद्वा कार्यं स्वसत्तासमये करोतु तस्यापि कारणं स्वं फलं तदा जनयति इति क्षणिकपक्षेऽपि कार्योत्पत्तिकालव्यवस्था दुर्घटा, इति न युक्तम्-- ५

*''स्थित्वाप्रवृत्ति-संस्थानविशेषाऽर्थक्रियादिषु ।
इष्टसिद्धिः सिद्धसाधनम् ।'' [प्र० वा० १।२०] इति[1] ।

यदि पुनः प्रागेव समर्थादपि क्षणिकात् कारणात् कालान्तरे कार्योत्पत्तिः प्रार्थ्यते, कथमन्यथा सुप्तस्य चिरोत्थितस्य पूर्वाऽभ्यासाद् विकल्पा इति; तथा नित्यादपि प्रार्थ्यताम्, इति न युक्तम्-*''नित्यादुत्पत्तिविश्लेषात्'' [प्र० वा० १।९] इति[2] । १०

ननु पूर्वं समर्थमपि नित्यं पश्चात् स्वकार्यं करोतु, तथापि (तदापि) तेनैव कार्योत्पत्तेः, ऊर्ध्वं तस्य स्थाने पुनरपि तदेव कर्त्तव्यमिति कार्यस्योपरमः कथमिति चेत् ? उक्तमत्र-पुनः स्वकालनियतकार्योत्पत्तेः संभवादिति पुनः पुनः तस्यैव करणे न स्वकालनियतकार्योत्पत्तिसंभवः। क्षणिकपक्षेऽपि सर्वं समानम् ; तथाहि-येन स्वभावेन प्रदीपः प्रमातरि ज्ञानमुपजनयति तेनैव चेद् अन्यत्र[3] कज्जलम् ; तत्र तज्ज्ञानमपि जनयेत् प्रमातरि वा कज्जलम् इति । १५

ननु कार्यकालं प्राप्नुवतः कारणस्य तत्त्वं[4] विरुद्ध्यत इति चेत् ; अत्राह-नचेत्यादि । **नच नैव कार्योत्पत्तिः स्वकारणसत्तया विरुध्येत ।** विरोधे कारणसत्तया विरुध्यते यथा अग्निसत्तया शीतोत्पत्तिः इति । स्वाकारणग्रहणं कुतो न विरुध्यते इति चेत् ? विरोधद्वयस्याप्यभावात् । नहि तदुत्पत्तेः तत्सत्तया सहानवस्थानलक्षणो विरोधः; अविकलकारणायाः कस्याश्चिद् भवत्याः [३२६ख] तदन्यतरस्याः[5] सन्निधाने नियमेन निवृत्त्यदर्शनात्, पटोत्पत्तिसमयेऽपि तत्कारण- २० तन्तुदर्शनात् । नापि परस्परपरिहारस्थिततालक्षणः; सुवर्णात्मककटकप्रतीतेः ।

न चेदमत्र चोद्यम्-[6]पूर्वापरैकता केन प्रतीयते इति ? कृतोत्तरत्वात् । किंभूतः स नास्ति ? इत्याह-**यतो** विरोधाद् **अक्षणिक** एव न क्षणिके **दोषः स्याद्** अर्थक्रियाभावलक्षणः । कृतप्रतिक्रियत्वमस्य दर्शयन्नाह-**निर्णीतेत्यादि** । निगमयन्नाह-**तत्सूक्तमेतद्** इत्यादि ।

यत्पुनरुक्तम् अर्चटेन-*''**सत्त्वम् अर्थक्रियया व्याप्तम्, साऽपि क्रमयौगपद्याभ्यां** २५ **प्रकारान्तराभावात् तत्करणस्य, ते[8] च अक्षणिकान्निवर्तमाने तामर्थक्रियामादाय निवर्त्तेते, [9]सापि सत्त्वमिति तीरादर्शिशकुनिन्यायेन क्षणिकत्वम् अवलम्बते सर्वं पक्षान्तराभावात्,**

(१) ''स्थित्वा प्रवृत्तिसंस्थानविशेषाऽर्थक्रियादिषु । इष्टसिद्धिरसिद्धिर्वा दृष्टान्ते संशयोऽथवा ॥ १० ॥ ते एते कार्यहेतुत्वेनाभिमताः स्थित्वाप्रवृत्त्यादयो नैते सम्यग्घेतवः । यत एषु सत्स्वपीष्टस्यैव सिद्धिः सिद्धसाधनम् । न च सिद्धः पक्षो भवतीति····''-प्र० वार्तिकाल० । (२) ''अपेक्षाया अयोगतः ।'' इति हेत्वंशः । (३) भित्तौ गवाक्षे वा । (४) कारणत्वम् । (५) ''द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः । अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावे अभावाद् विरोधगतिः । शीतोष्णस्पर्शवत् । परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भावाभाववत् ।'' -न्यायबि० ३।७२-७५ । (६) तद्भिन्नायाः । (७) पूर्वापरपर्याययोः । (८) क्रमयौगपद्ये । (९) अर्थक्रिया ।

तत्कथं क्षणिकत्वे तदै(दनै)कान्तिकम् ।'' इति; तदेतत् पक्षान्तरेऽपि समानमिति दर्शयन्नाह–**स्यात् सत्ता** इत्यादि ।

[स्यात् सत्ता हेतुरक्षणिके विपक्षेऽर्थक्रियाऽग्रहात् ।
व्यापकानुपलब्धेश्चेद् व्यतिरेकः प्रसिध्यति ॥२२॥

५ यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकं विपक्षे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । तल्लक्षणा सत्ता ततो निवर्तमाना पक्षं सत्त्वं तथाभूतं प्रसाधयति । यदि स्वपक्षे प्रत्यक्षवृत्त्या तत्र व्यापकानुपलब्धिर्निर्णीयेत । विपक्षव्यावृत्त्या पक्षे प्रत्यक्षवृत्तिः, पक्षे प्रत्यक्षवृत्त्या च विपक्षाद्व्यावृत्तिरिति परस्पराश्रयं चक्रकम्, यतः तद्व्यवस्थैव न स्यात् । नन्वक्षणिके अर्थक्रियायाः सत्त्वं प्रत्यक्षसिद्धम् ? अन्यथा किं तत्रानुमानेन ? विप्रतिपत्तिस्तत्र अन्यथा-

१० र्थक्रियानुपपत्तिप्रयोगात् निराक्रियते । तद्द्वयमयुक्तम् ।]

स्याद् भवेत् । **सत्ता** हेतुः सिद्धम् । क्व ? इत्याह–**अक्षणिके** 'अर्थे' इत्यध्याहारः । कुतः ? इत्याह–**विपक्षे** क्षणिके **अर्थक्रियायाः** क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्तायाः सत्त्वस्य व्यापिकायाः **अग्रहात्** कुतश्चिदप्रतिपत्तेः । एतदुक्तं भवत्येवं वक्तुम्–क्षणिकात् सत्त्वं स्वव्यापक-निवृत्त्या व्यावर्तमानं गत्यन्तराभावाद् अक्षणिके व्यवतिष्ठते इति ।

१५ स्यान्मतम्–विपक्षे क्षणिके त्वंक्रियाः (त्वर्थक्रियायाः) व्यापारानुपलब्धेरभाव [:] सिध्येद् यदि सा[1] अक्षणिकात् निवर्तेत, अन्यथा अनैकान्तिकी[2] कथं तत्र[3] तदभावं[4] साधयेत ? [5]ततः [6]तन्निवृत्तिश्च क्रमयौगपद्याभ्याम् अक्षणिके [7]अर्थक्रियादर्शने । न च [8]तत्र [३२७क] [9]तद् इति ; तत्राह–**व्यापक** इत्यादि । **व्यापकयोः** क्रमयौगपद्ययोः याऽ**नुपलब्धिः** [त] क्षणिका-सत्त्वसाधनायोपन्यस्ता तस्याः **व्यतिरेकः** क्षणिकाद् विपक्षाद् व्यावृत्तिः प्रसिद्धा, नित्ये

२० प्रतिभानस्य क्रमेतराभ्याम् अर्थक्रियाकारित्वस्य व्यवस्थापितत्वादिति मन्यते । **चेत् शब्दः** अवधारणार्थः, निपातानाम् अनेकार्थत्वात् '**अर्थक्रियाग्रहाद्**' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । भवतु तर्हि सत्ताऽक्षणिके हेतुः तथापि जैनस्य [प्र]कृतं हीयते (हीयते) इति चेत् ; अत्राह–**स्याद्** इत्यादि गतार्थमेतत् । **व्यापकानुपलब्धेश्चेद्** यदि **व्यतिरेकः प्रसिध्यति,** स तु न

(१) "तथाहि क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोः तयोरक्षणिकत्वे विरोधाच्चिवृत्तेस्तद्व्याप्तायाः कार्यक्रियाशक्तेरपि निवृत्तिरिति सर्वशक्तिविरहलक्षणमसत्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति विरुद्धधर्मिकत्वायोगात् । ततो निवृत्तं सत्त्वं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवतीति यत् सत् तत् क्षणिकमेवेति अन्वयव्यतिरेकरूपायाः व्याप्तेर्निश्चयो भवति (पृ० १४६, ४७) तस्मात् तीरादर्शिनेव इत्यादि । यथा किल वहनारूढैर्वणिग्भिः शकुनिर्मुच्यते अपि नाम तीरं द्रक्ष्यतीति । स यदा सर्वतः पर्यटंस्तीरं नासादयति तदा वहनमेव आगच्छति तद्वदेतदपि द्रष्टव्यम् । (पृ० १९३)" –हेतुबि० टी० । (२) व्यापके क्रमयौगपद्ये । (३) अर्थक्रिया । (४) अनेकान्ता वर्तमाना, अथवा पक्षविपक्षयोर्वर्तमाना । (५) क्षणिके । (६) सत्त्वाभावम् । (७) क्षणिकात् । (८) सत्त्वनिवृत्तिश्च । (९) सति भवति । (१०) अक्षणिके । (११) अर्थक्रियादर्शनम् ।

प्रसिध्यति इति मन्यते । एवं तर्हि क्षणिके हेतुः स्याद् वस्तुधर्मस्य गत्यन्तराभावात्, कथम-नैकान्तिकत्वमिति चेत् ; अत्राह-**स्याद्** इत्यादि ।

कारिकाम् **'यत् सत् तत् सर्वम्'** इत्यादिना व्याचष्टे । **यत् सद्** अर्थक्रियाकारि **तत् सर्वं सत् क्षणिकम्**, वाशब्द इवार्थः **'क्षणिकम्'** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । क्षणिकमिव इत्यर्थ[ः] । निदर्शनमत्र नो(क्त)म् अ र्च टे न [1]तदन्तरेण अस्य गमकत्वोपवर्णनात् । कुतः ? इत्याह-**विपक्षे** इत्यादि । **विपक्षः** अक्षणिकापेक्षया क्षणिकः, तत्र **क्रमयौगपद्याभ्यां** क्रमेण यौगपद्येन च **अर्थक्रियाविरोधात्** । तथाहि-न तावत्तत्र[2] क्रमेण अर्थस्य करणम् ; एकं कृत्वा पुनः [3]तेनैव परस्य करणं क्रमेण तत्करणम्, न च नित्यवदि चं तस्यापि (वदितरस्यापि)[4] निरंशैकस्वभावस्य [5]तत् संभवति । .

एतेन जाग्रच्चेतसः[6] समनन्तरचिरभाविप्राणादिप्रबोधकार्यद्वयं तिरस्तं (निरस्तम्) यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण- *"**तस्मात्**

कारणं यदि तज्ज्ञानं स्वभावो वार्थजन्मनः ।

कार्यं वा सर्वथा तेन [३२७ख] **ज्ञाप्यतेऽर्थक्रियोदयः॥"** [प्र० वार्तिकाल० १।५] इति;

तत्रेदं चिन्त्यते-यदि कारणम् ; कथमतोऽभ्यासे प्रवृत्तिः पुनः अर्थक्रियोदयः इति क्रम-भाविकार्यद्वयम् ? यदि पुनः प्रवृत्तिः ततो नेष्यते कथमुक्तम्-*"**अभ्यासे भाविनि प्रवर्त्तकत्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणम्**" इति ? *"**अनभ्यासेऽपि पूर्वम् अतोऽनुमानं पुनः तदुदयः**" इति च । तन्न नित्यादिवत् क्षणिकात् क्रमेण अर्थक्रियोदयः । नाप्यक्रमेण ; एकेन युगपदनेकस्य करणं [7]तथोक्तं भवेत्, तच्च नित्यस्य कालभिन्नमिव [8]इतरस्य एकस्वभावत्वे देशभिन्नमपि न संभवति इत्युक्तम् । माभूत् क्षणिकेऽर्थे काचिदर्थक्रिया को दोष इति चेत् ; अत्राह-**तल्लक्षणा** अर्थक्रिया-लक्षणा **सत्ता ततः** क्षणिका**न्निवर्त्तमाना पक्षं** साध्यं **सन्तं तथाभूतम्** अक्षणिकं **प्रसाधयति** इति युक्तम् ।

अत्र अ र्च ट मतमाशङ्कते दूषयितुं **यदि** इत्यादि । **व्यापकयोः** [क्रमाऽ]क्रमयोः **अनुपलब्धिः** व्यतिरेकः अक्षणिकाद् व्यावृत्तिः **यदि निर्णीयेत तदा 'पक्षं सन्तं साधयति'** इति युक्तम्, नचैवमिति मन्यते । कया नीत्या ? ह (इत्याह-) **स्वपक्षे** अक्षणिके **प्रत्यक्षवृत्त्य (वृत्त्या) तत्र** क्रमाऽक्रमयोः, प्रत्यक्षवृत्त्या तदनुपलब्धिर्बाध्यते नान्यथा । अथ [य]त एव अक्षणिकापेक्षया यो विपक्षः क्षणिकः तस्माद् व्यावृत्तिर्बोध[क]स्य अत एव स्वापक्ष (स्वपक्षे) प्रत्यक्षवृत्तिः इति चेत् ; अत्राह-विपक्ष इत्यादि । **विपक्षाद् व्यावृत्तिः** या व्यापकस्य तया **पक्षे** क्षणिके **प्रत्यक्षवृत्तिः** तत्र व्यापकदर्शनं **पक्षे प्रत्यक्षवृत्त्या च विपक्षावृत्तिः** (विपक्षाद्-व्यावृत्तिः) इत्येवं **परस्पराश्रयं** चक्रमिव आवर्तते **चक्रकम् यत** एवं [9]**तयोर्व्यवस्थैव** व्यवस्थिति-र्न कस्यचित् **स्यात्** [३२८क] ।

(१) दृष्टान्तमन्तरेण । (२) क्षणिके । (३) स्वभावेन । (४) क्षणिकस्यापि । (५) क्रमकरणम् । (६) जाग्रच्चित्तं हि अनन्तरं प्राणादि जनयति सुषुप्त्यनन्तरं प्रबोधं च उत्पादयति । (७) युगपत्करणम् । (८) क्षणिकस्य । (९) प्रत्यक्षवृत्ति-विपक्षव्यावृत्त्योः ।

अत्रान्तरमाह नित्यवादी–न स्व (नन्व)क्षणिक इत्यादि । ननु इति सौगते [अ]क्षणिके या **अर्थक्रिया** क्रमाक्रमाभ्यां तदर्थकरणं तस्याः **प्रत्यक्षमस्ति** 'ग्राहकम्' इत्युपस्कारः । किंभू-तम् ? इत्याह–**सत्यम्** अवितथम् अकल्पितं वा । तथाहि–पश्यन्नयम् इन्द्रियैः कालत्रयानुया-यिनमर्थं पश्यति **अन्यथा** क्षणस्थायिनमपि न (पि तत्) पश्येत **किं** तर्हि **तत्र अनुमानेन ?** नहि प्रत्यक्षानुमानमर्थं तत (प्रत्यक्षमर्थमनुमानं तत) इति चेत ; अत्राह–**विप्रतिपत्तिस्तत्र** गृणिके (क्षणिके) सौगतानां [अ]क्षणिकारोपलक्षणा **निराक्रियते** । कुतः ? इत्याह–**अन्यथा** क्षणिक-त्वाभावप्रकारेण या **अर्थक्रियाया अनुपपत्तिः तत्प्रयोगात्** तत्प्रतिपादकवाक्योच्चारणादिति ।

इदमपरं व्याख्यानम्–'यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकम्' इति सौगतः, अक्षणिकम् इति नित्य-वादी, सत्त्वात् इति गम्यते । उभयत्र अनेन एतत् कथयति–यथा 'अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षा-न्यतरत्वात्' इति कल्पितः तथा सत् इति रूपकात (इष्यते) इति । विपक्षे बाधकं सहा (बाधकमाह) **विपक्ष** इत्यादि । क्षणिकापेक्षया अक्षणिकः तदपेक्षया इतरो विपक्षः । शेषं पूर्ववत् । **तद्द्वयम्** आचार्यः स्वयं दूषयन्नाह–**अयुक्तम्** इत्यादि । व्याख्यातमेतत् ।

ननु क्षणिके प्रत्यक्षवृत्तिरस्ति न ततो न परस्पराश्रयमिति चेत ; अत्राह–**चक्रकं** पुनः पुनरुक्तस्य प्रवृत्तेः इति । किमनेन वृत्तिरस्ति । येन तत्साधनेदं सदो सत्या (येन तत्साधनेनेदं स्या) दित्यभिप्रायमान परः पृच्छति–**ननु अक्षणिके** परिणामभिन्न्येव वस्तुत्य (अपरिणामिन्येव वस्तुन्य)-**र्थक्रियायाः** सवन्धि **प्रत्ययक्ष** सत्ति (**प्रत्यक्षमस्ति** ?) नैवास्ति । **ननु** इत्यस्य (स्या) क्षेपार्थ-त्वात् । आचार्य उत्तरमाह–सत्यमि (मि) ति । यदुक्तम्–'**अक्षणिके** [३२८ख] **अर्थक्रियायाः प्रत्यक्षमस्ति**' इति तत् सत्यमवितथम् । हेतूपन्यासः तर्हि तत्र अनर्थक इति चेत ; अत्राह–**विप्रतिपत्तिः** इत्यादि ।

स्यान्मतम्–एकस्य अनेकस्वभावविरोधात् तत्रापि न तदिति चेत; अत्राह–**स्वभावे** इत्यादि ।

[स्वभावेऽविभ्रमे भ्रान्तः सविकल्पेऽविकल्पकः ।
संशयेऽसंशयो भावो नित्येऽनित्योऽनुबुध्यते ॥२३॥

नित्यं द्रव्यम् अनित्यस्वभावानुपपत्तेः । स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमेकस्वभावमन्तरेण भ्रान्तीतरादिस्वभावाः निःस्वभावाः स्युः स्कन्धान्तर... स्वभावभेदस्य भेदकत्वे किं प्रतीतिविपर्यासकल्पनया ?]

भावो ज्ञानलक्षणोऽन्यो वा चन्द्रादिः, **स्वभावे** स्वरूपे सति । किंभूते ? **[अ]विभ्रमे** विभ्रमविवेकनिर्मले सञ्चेतनाधावल्यादिलक्षणो (णे) **भ्रान्तः** सविभ्रमो ग्राह्यग्राहकाकारद्वित्वादिना, तथा **सविकल्पे** अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासे '**स्वभावे**' इत्यनुवर्तते **विकल्पः (अवि-कल्पकः)** कल्पनारहितो '**भावः**' इति पदघटना । यद्वा **सविकल्पे** सभेदे नीलादिनिर्भास-वत्य कुल्पो भिन्नः (वति **अविकल्पकः** अभिन्नः) । तथा **संशये** स्थाणुः पुरुषः (षो वा)

(१) प्रतिपत्ता । (२) 'न' इति निरर्थकम् ।

इति स्वभावे **असंशयो** 'विद्यमानसंशयोऽयम्' इत्युल्लेखरूपेण भावो भवतीति काका व्याख्येयम्। अत्र सिद्धान्तः **नित्ये** स्वभावे **अनित्यो** नित्य (त्योऽयमिति **अ)नुबुध्यते** ज्ञायते भावः। यदि वा, अनित्ये नित्य इति वैशेषिकादिरपि एकान्तेन नित्येतरस्वभावयोः भेदं कल्पयन् एतेन निरस्तः; तस्यापि अर्थावधारणानवधारणात्मकस्य संशया प्रत्यस्यनावो (संशयस्य प्रत्याख्यान) विरोधात्। ५

सोपपत्तिकं कारिकार्थं दर्शयति–**नित्यदिन** (नित्यमित्यादिना)। **द्रव्यम्** उक्तलक्षणं धर्मि **नित्यं** कालान्तरस्थायि इति तत्साध्यं परिणा[मि]नित्यत्वम अत्र साध्यम् अन्यस्याऽनिष्टेः। कुतः? इत्याह–**अनित्यस्वभावानुपपत्तेः** एकान्ताऽनित्यरूपस्य अघटनात्। उपलक्षणमेतत् तेन 'अनित्यं द्रव्यं नित्यस्वभावानुपपत्तेः' [३२९क] इति च द्रष्टव्यम्।

ननु रूपादिव्यतिरेकेण अन्यस्य द्रव्यस्याप्रतिभासेन असत्त्वाद् आश्रयासिद्धो हेतुरिति १० चेत; अत्राह–**भ्रान्तीत्यादि**। **भ्रान्त्यादीनां** कृतद्वन्द्वानाम् आदिशब्देन बहुव्रीहिः, पुनः **'स्वभावाः'** इत्यनेन षष्ठीसमासः ते **निःस्वभावाः स्युः**। किमन्तरेण? इत्याह–**स्वसंवेदनम्** इत्यादि। एकं साधारणं स्वभावमन्तरेण। किंभूतम्? **प्रत्यक्षं** प्रत्यक्षग्राह्यमेतद् (मेतद् इति) बहिर्द्रव्यम। पुनरपि किंभूतम्? **स्वसंवेदनम्,** एतच्च अन्तःप्रत्यक्षमपि विशेषणम् अव्यभिचारादत्र युक्तम्। कुतः? इत्यत्राह–**स्कन्धान्तर** इत्यादि। एवं मन्यते–यथा रूपादीनाम अनेका- १५ न्तेन परस्परभेदः तथा विभ्रमेतरादीनां स यदि स्या[न] तत्प्रसङ्गो दुर्निवार्यः। न च तथा तत्त्वव्यवस्थेति निःस्वभावाः स्युः इति भावः। भवतु तर्हि विभ्रमेतरादिनिर्भासैः एको भावः इति चेत; अत्राह–**स्वभावभेदस्य** इत्यादि। भावस्य यः **स्वभावभेदः** तस्य **भेदकत्वे** अङ्गीक्रियमाणे **किं** न किञ्चित् **प्रतीतेः** बहिरन्तश्च एकानेकरूपायाः **विपर्यासकल्पनया** इति सिद्धं द्रव्यम्। ततो यदुक्तं केनचित् *"**स्वरूपस्य स्वतो गतिः**" [प्र० वा० १।६] इति, तत्र २० यदि एकानेकरूपस्य; सिद्धं नः समीहितम्। अथ अन्यथाभूतस्य *"**निःस्वभावा [:] सर्वे-भावाः**" इति[3], बालिशगीतमेतत्[4] *"**अज्ञातार्थप्रकाशो वा इति पारमार्थिकं प्रमाणलक्षणम्**" इति [प्र० वार्तिकाल० पृ० ३०]।

'स्वभावनैरात्म्यं न दोषाय इष्टत्वात्' इत्यपरः[5]; तं प्रत्याह–**येन (येना) भाव** इत्यादि।

[येनाभावः प्रमेयः स्यात्तज्ज्ञानं चेन्न तत्त्वतः। २५
स्वार्थसिद्धिर्न बाध्येत विरुद्धानुपलम्भनः ॥२४॥

बहिरन्तश्च धर्मनैरात्म्यं प्रमाणतः प्रतिपत्तुं नार्हत्येव विप्रतिषेधात्। प्रमाणाभावे परमार्थतो नैरात्म्यप्रतिपत्तेरभावात्। ततो भावोपलब्धिर्भवत्येव अनेकान्तसिद्धिः स्वभावविरुद्धानुपलब्धेः।]

येन ज्ञानेन **प्रमेयः** परिच्छेद्य [:]। कः? इत्याह–**अभावः** सकलव्यावृत्तिः **तज्ज्ञानं** ३०

(१) परिणामे सत्यपि नित्यत्वम्, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वमित्यर्थः। (२) कूटस्थनित्यत्वस्यानिष्टेः। (३) कथनात्। "सर्वे भावा निःस्वभावत्वात् शून्याः इति।"–विग्रहव्या० श्लो० १। "अतो लक्षणशून्यत्वान्निःस्वभावाः प्रकाशिताः।"–प्र० वा० २।२१५। (४) अनन्तरोक्तम्। (५) शून्यवादी।

चेत् न तत्त्वतो 'विद्यते' [३२५ख] इत्यध्याहारः। तत्र दूषणं **स्वार्थसिद्धिर्न बाध्येत** इति। स्वं वा (**स्वं** च **अ**)र्थश्च तयोः **सिद्धिः** आत्मलाभो ज्ञानज्ञेयसिद्धिः इति यावत्। **न बाध्येत** न निराक्रियेत। ग्राह्यग्राहकभावेऽन्यभावतद्भावस्यापि सिद्धेरनिवारणादिति मन्यते।

यदि वा, यदा सौगतः अभ्युपगताऽभावज्ञानेनापि वर्जितो भवति तदा वन्ध्यासुतवत्

५ तेनाभ्युपगतस्वार्थयोः सिद्धिं ज्ञप्तिं प्रति न किञ्चिद् बाधकं ब्रूयात्। वदित्वा कथन्न स्ववचन-विरोधी, इति स्वार्थयोः ज्ञप्तिर्न बाध्येत लोकसिद्धा। तत्र प्रमाणं तत्त्वतो न भवति *"**प्रामाण्यं व्यवहारेण**" [प्र० वा० १।६] इति वचनादिति चेत्; अत्राह-**येन अभावः प्रमेयः तद्विज्ञानं** प्रमाणं **चेत् न तत्त्वतः** परमार्थतः किन्तु संवृतिरूपव्यवहारतः। अत्र दूषणं **स्वार्थ** इत्यादि। इदमत्र तात्पर्यम्-अथ प्रमाणाद् अभावप्रतिपत्तेः भावप्रतिपत्तिरपि स्यात् इति।

१० यद्वा अप्रमाणसिद्धो नाभावः पारमार्थिकः इति तदवस्थो भाव इति। तत्र हेतुमाह-**विरुद्धानुपलम्भतो विरुद्धस्य** अत्यन्ताभावस्य **[अनुपलम्भतः]** अप्रतिपत्तेः।

कारिकार्थं दर्शयति **बहिः** इत्यादिना। **बहिरन्तश्च धर्मनैरात्म्यं** सकलशून्यत्वं **प्रमाणतः प्रतिपत्तुं** बौद्धो **नार्हत्येव**। कुतः? इत्याह-**विप्रतिषेधात्** सकलाभावप्रमाणसत्त्वयोः अन्योऽन्यं विरोधात्। अप्रमाणात्तर्हि तत्प्रतिपत्तुमर्हति इति चेत्; अत्राह-**परमार्थतो नैरात्म्यप्रतिपत्तेर-**

१५ **भावात्**। कस्मिन् सति? इत्याह-**प्रमाणस्याभावे**। **ततः** किं जातम्? [३३०क] इत्याह-**भावोपलब्धिः(ब्धेः) भवत्येव अनेकान्तसिद्धिः**। अथ एकान्तभावोपलब्धेनैव (ब्धेः) नैवम्; अत्रार्थ (अत्राह) **स्वभाव** इत्यादि। अनेकान्तस्वभावविरुद्ध[स्य] एकान्तस्याऽनुपलब्धेः।

यदुक्तं भावोपलब्धि(ब्धे)रिति; तत्रास्ति तावन्नीलादेः उपलब्धिः, सा तु भावस्य इति कुतः? तस्य तत्त्वसाधनाभावात्। उपलब्धिरेव तत्साधु (तत्साधि)केति चेत्; न; स्वप्नेऽपि

२० तस्यास्तं (तस्याः) तत्त्वम् इति न सत्येतरप्रविभागः पारमार्थिकः। न च तस्याः क्वचित् बाधकसद्भावेतरकृतो विशेषः; साकल्येन बाधकाभावव्यवस्था[नात्]। नाप्यर्थक्रियातः; नित्याऽनित्ययोः तदभावात्, स्वप्नेऽपि भावाच्च। सा अर्थक्रिया न भवतीति चेत्; कथमन्या? प्रतिभासात्; अन्यत्र समानम्। बाधकाभावोऽपि तादृगेव।

किंच, अर्थक्रियापि तदन्तरात्[10] चेद् भावरूपा; अनवस्था तत्रापि तदन्तरापेक्षणात्।

२५ भावजन्यत्वाच्चेत्; अन्योऽन्यसंश्रयः। स्वतश्चेत्[12]; घटादिरपि तथास्तु। परितोषहेतुत्वात्; स्वप्नेऽपि अत एव सा तथास्तु अविशेषात्। तन्न भावोपलब्धिर्नाम इति; तत्राह-**मिथ्येत्यादि**।

[मिथ्यार्थाभास्थिरज्ञानचित्रसन्तानसाधकः।
तत्त्वज्ञान[13] गिरामङ्ग[14] दूषकस्त्वं विदूषकः ॥२८॥

(१) नीलाद्युपलब्धिः। (२) भावस्य। (३) भावरूपत्वसाधकाभावात्। (४) उपलब्धेः सद्भावात्। (५) भावरूपत्वम्। (६) उपलब्धेः। (७) विशेषः। (८) उभयैकान्तयोः। (९) स्वप्नभाविनी। (१०) अर्थक्रियान्तरात्। (११) भावजन्यत्वात् अर्थक्रियाया भावरूपता, अर्थक्रियायाश्च भावस्य भावरूपतेति। (१२) अर्थक्रियायाः भावरूपत्वञ्चेत्। (१३) वचनानाम्। (१४) 'अङ्ग' इति सम्बोधने।

स्वसंवित्तेः भ्रान्तया अर्थसंवित्त्या तादात्म्यं प्रतियतः कथमेकत्र कृतकाकृतकयोः स्थूलसूक्ष्मयोर्वा विरोधः ? तत्र मिथ्याबुद्ध्या अन्तर्ज्ञेयं साकल्येन परमार्थतो भ्रान्तमन्यथा वा प्रतियतः बहिरर्थेन कोऽपराधः कृतः यतः प्रतिक्षिपेत् ? तद्विधिप्रतिषेधतत्त्वप्रतिपत्तेः मिथ्यैकान्ते विरोधाविशेषात् । तदयं ततोऽन्तर्बहिश्च तत्त्वमेकान्तभ्रान्तया मिथ्यात्वं च व्यवस्थापयितुकामः क्षणिकेतरपक्षविधिप्रतिषेधवादिनं न विजयते साधनप्रयोगप्रतिषेधात् ।]

अस्यायमर्थः-**ज्ञानानि** च **गिरश्च** ज्ञानगिरः, गिरां ग्रहणं बहिरर्थोपलक्षणार्थम्, **तत्त्वानि** च ताः **ज्ञानगिरश्च** तासां **तत्त्वज्ञानगिरां** तत्त्वज्ञानानां तत्त्वार्थानां च **दूषकस्त्वम् अङ्ग** यतः सौगतः, ततो **विदूषक** उपसहनकारी बहिरर्थवस्त्वभिमतज्ञानतत्त्वदूषणात् । उभयत्र उक्तन्यायसाम्यात् । तथाहि-यथा 'प्रतिभासात् जाग्रद्दशायां स्तम्भादीनां परमार्थसत्त्वे [1]स्वप्नावस्थायां तत्स्यात्' इत्युच्यते तथा तत[2] एव ज्ञानानां परमार्थसत्त्वे बहिः स्तम्भादीनामपि तद्[3] इति [न] ज्ञानैकान्तवादावतार इति [३३०] व्याहतम्-*"अद्वयं नाग (यान) मुत्तमम्" इति[4] । यथा वा 'प्राति (प्रति) भासाध्यासिततनवोऽपि[5] स्वप्नघटादयो न परमार्थसन्तः तथाऽ[6]न्येऽपि' इति कथ्यते तथा प्रतिभासवन्तोऽपि जाग्रद्घटादयोऽसन्तः[7][इति]ज्ञानेषु कः समाश्वासः इति बहिरर्थवत् तत्परित्यागो[8] न्याय्यः । तथा च कुतो ज्ञानवादी परः[9] । शेषमत्रापि पूर्ववत् सर्वं वक्तव्यम् । 'बहिरर्थवद् विज्ञानस्यापि न परमार्थसत्त्वम्' इति चेत् ; अत्राह-**मिथ्या** इत्यादि । **अर्थस्य आभा** प्रतिभासो येषां तानि **अर्थाभानि**, न स्थिराणि **अस्थिराणि** क्षणिकानि इत्यर्थः, **अर्थाभानि** च तानि **अस्थिराणि** च पुनः तानि च तानि **ज्ञानानि** च, मिथ्या च तानि ज्ञानानि च तेषां **चित्रा** नानाकाराः **सन्तानाः** तेषां **साधकस्त्वम् अङ्ग**[10] यतः ततो **दूषकः [त्वं विदूषकः]** विभ्रमैकान्ते तत्साधकत्वायोगात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-'**स्वसंवित्तेः**' इत्यादि । सर्वचित्तचैत्तानां या **स्वसंवित्तिस्तस्याः** **अर्थसंवित्त्या** बहिरर्थग्रहणेन । किंभूतया ? **भ्रान्तया** स्वप्नवदसदर्थविषया (यया) **भ्रान्तया, तादात्म्यं** तौ भ्रान्तौ आत्मानौ यस्याः तस्या भावः **तादात्म्यं प्रतियतः** सौगतस्य । एतदुक्तं भवति- यथा अर्थसंवित्तिः याथात्म्यसंवित्तिः भ्रान्ताऽभ्रान्ता वा तथा [स्व] संवित्तिरपि यदि भ्रान्ता [11]अन्यथा वा स्यात्, एकान्तेन तत्र अर्थसंवित्त्या भ्रान्तया तस्याः[12] तादात्म्यं प्रतियतः **कथमेकत्र** बाह्ये वस्तुनि **कृतकाकृतकयोः स्थूलसूक्ष्मयोर्वा** धर्मयोः **विरोधः** ? स्वसंवित्तिवत् [13]तत्संवित्तेरपि अभ्रान्तत्वाद् इति मन्यते ।

[14]इदं व्याख्यानं कस्मान्न भवति-'**स्वसंवित्तेः अर्थसंवित्त्या** बाह्यनिर्भासेन भ्रान्तेन अभ्रा-

---

(१) परमार्थसत्त्वम् । (२) प्रतिभासादेव । (३) परमार्थसत्त्वमिति । (४) द्रष्टव्यम्-पृ० १ टि० ८ । (५) प्रतिभाससमानशरीराः । (६) स्तम्भादयः । (७) यदि असन्तः तर्हि । (८) ज्ञानस्यापि परित्यागः । (९) विज्ञानवादी बौद्धः । (१०) सम्बोधने । (११) अभ्रान्ता । (१२) स्वसंवित्तेः । (१३) बहिरर्थे विरुद्धधर्मप्रतिभासस्यापि । (१४) अनन्तरोक्तम् ।

न्तेन वा तादात्म्यम् एकत्वं [३३१क] प्रतियतः कथमेकत्र तयोर्विरोधो विरुद्धधर्माध्यासस्य ज्ञानेऽप्यनिवारणात्' इति[1] ? *"स्वभावेऽविभ्रमं भ्रान्तः" [सिद्धिवि० ६।२३] इत्यादिना पुनरुक्ततापसङ्गात् । अर्थसंवित्त्या भ्रान्तया सह तस्याः तादात्म्यं भ्रान्तत्वं प्रतियतः तत्र तस्यां स्वसंवित्तौ मिथ्याबुद्ध्या भ्रान्तया धिया अन्तर्ज्ञेयं ज्ञानस्वरूपं भ्रान्तम् अन्यथा वा प्रतियतः साकल्येन अनवयवेन परमार्थतो न व्यवहारेण कोऽपराधो न कश्चिद्दोषो बहिरर्थेन कृतः यतोऽपराधात् प्रतिक्षिपेत् सौगतः 'बहिरर्थम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः ।

एवं मन्यते–मिथ्याबुद्ध्या अन्तर्ज्ञेयं साकल्येन परमार्थतो भ्रान्तम् अन्यथा वा यथा परः प्रतिपद्यते तथा सत्त्वं बहिरर्थं प्रतिपद्यताम् अविशेषात् ।

स्यान्मतम्–यदि तया बहिरर्थं प्रतिपद्यते; कथं सा मिथ्या ? तथा चेत्; न तया किञ्चित् प्रत्येति । 'तथा (तया) प्रत्येति मिथ्या न सा' इति विरुद्धमिति; तत्राह–तद् इत्यादि । तयोः अन्तर्ज्ञेय-बहिरर्थयोः यौ विधिप्रतिषेधौ अन्तर्ज्ञेयस्य बहिरर्थस्य च यो (यौ) विधिप्रतिषेधौ इत्यर्थः, तयोर्या तत्त्वप्रतिपत्तिः याथात्म्यसंवित्तिः तस्या मिथ्यैकान्ते विरोधाविशेषात् । अयमभिप्रायः–यथा तदेकान्ते कस्यचिद् विधेः तत्त्वतः प्रतिपत्तिर्नास्ति तथा प्रतिषेधस्यापि इति तन्निषेधाभावे न तदेकान्तसिद्धिरिति ।

प्रकृतं निगमयन्नाह–'तदयम्' इत्यादि । यत एवं तत् तस्माद् अयं सौगतः व्यवस्थापयितुकामः । कुतः ? इत्याह–ततो बुद्धि सत्त्वं (बुद्धिसत्त्व)व्यवस्थापकात् न्यायात् । किं व्यवस्थापयितुकामः ? इत्याह– अन्तर्बहिश्च । च इति भिन्नप्रक्रम इवार्थो 'अन्तः' इत्यस्या[३३१ख]नन्तरं द्रष्टव्यः । अन्तरिव बहिस्तत्त्वं परमार्थसत्त्वमिति । तथाहि–स्वप्नाऽस्वप्नयोरविशेषं प्रतिपाद्य बहिरर्थं निराकुर्वतापि बुद्धिः परमार्थरूपा अभ्युपगन्तव्या, परमार्थसांव्यवहारिकप्रमाणलक्षणप्रणयनात् । तदभ्युपगमे[10] न्यायो बहिरपि न राजदण्डवारित इति भावः । तत्कामः किं करोति ? इत्याह–क्षणिकेतर इत्यादि । क्षणिकश्च इतरश्च [अ]क्षणिकः, तयोः तावेव वा पक्षौ (पक्षौ) तयोर्यथासंख्येन विधिप्रतिषेधौ वदति इत्येवं शीलस्तद्वादी तं न विजयते । यथा क्षणिकपक्षविधिवादी स्वन्यायेन क्षणिकपक्षं विदधाति, [11]तन्निषेधवादी तद्दोषेण क्षणिकपक्षं निषेधति, तथा अयमपि इति । तर्हि बहिरिव स्वरूपविभ्रान्ता बुद्धिरिति चेत्; अत्राह–मिथ्यात्वं च । 'तदयम् अन्तर्बहिः' इत्यनुवर्त्तते, स्वयम् आत्मना व्यवस्थापयितुकामः, कया ? एकान्तभ्रान्त्या (न्तया) । शेषं पूर्ववत् । अयं तु विशेषः–यथा क्षणिकवादी कल्पनया स्वपक्षं साधयन् विपक्षं न जहाति विपक्षं वा निषेधन् नित्यग्राहकप्रमाणप्रतिविधानेन स्वपक्षं तिरस्करोति तथाऽयमपि इति ।

न उक्तं (नन्वुक्त)विधिना क्षणिकेतरपक्षविधिप्रतिषेधवादिनो न तत्त्वसाधनमस्ति,

(१) शङ्कायाः । (२) पूर्वश्लोकेन । (३) स्वसंवित्तेः । (४) अभ्रान्तम् । (५)संवित्त्या । (६)मिथ्या चेत् । (७) बहिरर्थप्रतिषेधाभावे । (८) विज्ञानैकान्तवादसिद्धिरिति । (९) 'अज्ञातार्थप्रकाशो वा' इति पारमार्थिकं प्रमाणलक्षणम् । 'अविसंवादिज्ञानम्' इति तु व्यावहारिकमिति । (१०) बहिरर्थस्वीकारेऽपि । (११) क्षणिकपक्षनिषेधकः ।

अस्य तु विद्यते इति कथमुच्यते '**न तद्वादिनं विजयते**' इति चेत् ? अत्राह–**साधन** इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्–विज्ञप्तिमात्रं परमार्थसद् बहिरर्थः पुनः तद्विपरीत [इति] दर्शने विज्ञप्तिवद् अन्यस्यापि प्रत्यक्षतः सिद्धे तन्मात्रसाधने पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनमिति [३३२क] न तत्र हेतूपन्याम [:] तदुक्तम–*"**न तस्य हेतुभिस्त्राणम् उत्पन्ने च (उत्पतन्नेव) यो हतः**" इति । **साधनस्य** तन्मात्रलिङ्गस्य **प्रयोगो** वचनं तस्य **प्रतिषेधात्** निराकरणात् , निराकृते तदनुपयोगात् । 'बहि- ५ रर्थवत् तन्मात्रस्यापि न परमार्थसत्त्वम्' इति मते साधनमपि तथाविधमेव । नचाऽसत् असतो लिङ्गम् ; अतिप्रसङ्गात् । ततः '**साधनप्रयोगप्रतिषेधात्**' असतः प्रयोगवैफल्यात् इति मन्यते । यदि वा, तत्प्रयोगस्य प्रतिषेधात् , भ्रान्तिमात्रे तद्वचनस्य स्वयमेव निराकरणा [त्] तदयं तद्वादिनं न विजयते इति ।

अत्र अपरः प्राह–'न चित्रप्रतिभासमानस्य चित्रप्रतिषेध उच्यते येनाऽयं दोषः स्यात् १० अपि तु परमार्थसत्त्वारोप एव विवादगोचरे घटादौ निराक्रियते तैमिरिककेशादिनिदर्शनेन' इति; सोऽपि अनेन निरस्तः । तथाहि–तैमिरिककेशादौ परमार्थसद्भावः कुतश्चिन् परमार्थतो यदि सिद्धः; तर्हि तेनैव तत्रावच्छेदहेतोः व्यभिचारः इति **साधनप्रयोगप्रतिषेधात्** सव्यभिचारात् साधनस्य अप्रयोगात् । नो चेत्[10]; न तर्हि तत्र[11] कस्यचित् साधनस्य तेन[12] व्याप्तिरिति साध्यविकलो दृष्टान्तः । अत आह– **साधन** इत्यादि । साध्याव्याप्तसाधनस्याप्रयोगार्हत्वात् । १५

अम (अथ न) व्यवहारिणा तत्र तदभाव इष्यते तेन तद्व्याप्तिः[13]; तर्हि सौगतेन ज्ञानेषु स्वसंवेदने(नेन) परमार्थसत्तयोपगतेन उपलम्भस्य व्याप्तेः 'यदुपलभ्यते तत् परमार्थसद् यथा स्वसंवेदनम् उपलभ्यते च जाग्रत्स्वप्नदशायां बहिरर्थः' इति बहिरर्थसत्यैकान्तवादी अथ स्यात् (स्यात् । अथ) न तेन स्वसंवेदनं परमार्थसद् इष्यते; व्यवहारिणापि तत्र तदभावो नेष्यते इति-समानम् । कथं तस्य[14] सत्येतर [३३२ख] प्रविभाग इति चेत् ; इतरस्य कथं परमार्थसंव्यवहार २० प्रमाणलक्षणा(ण) भेदः ? कथं वा तदपरमार्थसत्त्वे बहिरर्थाद् विशेष्या(षो) येन बहिरर्थः त्यज्यते न तदिति ? सोऽयं स्वसंवेदनकृतां सर्वविकल्पाभावसिद्धिमुपजीवति न तत्परमार्थसत्त्वम् [इच्छति] इतरथा[16] परसंवेदनस्य अपरमार्थसत्त्वेऽपि ततो बहिरर्थसिद्धिः स्यात् । एतेन 'परोपगतेन साध्येन दृष्टान्तेन हेतोर्व्याप्तिः' इति निरस्तम् ।

किंच, व्यवहारिणा तत्र प्रमाणमन्तरेण यदि नाम तदभावोऽभ्युपगतो नैतावता सर्वत्र २५ तदभाव इति कचिद् बहिरर्थेऽपि परमार्थसत्त्वाशङ्काऽनिवृत्तेः कथं मतिमतं(मतां) सौगतमत एव मतिः ? अन्यथा कचित् पुरुषे स[17] सर्वज्ञत्वाभावस्तेन उपगतः इति सर्वत्र तदा(द)भावः

---

(१) विज्ञानवादिनः । (२) अपरमार्थसत् । (३) अर्थस्यापि । (४) विज्ञप्तिमात्र । (५) विज्ञप्तिमात्रस्यापि । (६) अपरमार्थसदेव । (७) चित्रत्वेन प्रतिभासमानस्य । (८) प्रमाणात् । (९) प्रमाणेन । (१०) यदि तैमिरिककेशादीनां न परमार्थसद्भावः तर्हि । (११) तैमिरिककेशादौ । (१२) स्वसाध्येन । (१३) स्वीक्रियते । (१४) व्यवहारिणः । (१५) स्वसंवेदनस्य परमार्थसत्त्वम् । (१६) अपरमार्थसत्त्वेऽपि तस्मादिष्टसिद्धेः । (१७) 'स' इति निरर्थकम् ।

तथा च मीमांसकपक्षे परस्य प्रद्वेषो निर्निबन्धनं (नः) । आह (?) साधन इत्यादि । सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेन साधनप्रयोगप्रतिषेधात् ।

ननु ज्ञानवद् यदि अर्थोऽप्युपलभ्येत युक्तमेतत् 'उभयोरविशेषेण सत्त्वमसत्त्वं वा' यावता ज्ञानमेव उपलभ्यते, नीलादेः सहोपलम्भनियमेन तद्रूपत्वादिति चेत् ; अत्राह–सहोपलम्भ ५ इत्यादि ।

[सहोपलम्भनियमात् स्याद्भेदो नीलतद्धियोः ।
असहानुपलम्भश्चेदसिद्धः पृथगीक्षणात् ॥२३॥

सहोपलम्भनियमादभेदैकान्तसाधने भ्रान्तिप्रत्यक्षयोरन्यतरस्याभावात् न कचिद् १० भ्रान्तिज्ञानं स्यात् तदेकान्तेन भ्रान्तिविविक्तप्रत्यक्षस्वभावोपपत्तेः सुषुप्तवत् । बहिरन्तश्च नीलतद्धियोर्दर्शनात् कुतः सहोपलम्भनियमः सिद्धः । सकृदेकार्थोपनिबद्धदृष्टीनां परज्ञानानुपलम्भेऽपि तदर्थदर्शनात् कुतो नियमः ? तदेकक्षणवर्तिनां सहोपलम्भनियमात् स्वयं वेदनेनोत्पत्तेः सकलं जगदेकसन्तानं प्रसज्येत । यदि पुनरेकज्ञानोपलम्भनियमो हेतुः; असिद्धः अनैकान्तिकश्च, नीलस्य सकृदनेकेन ज्ञानेन उपलम्भसंभवात्, बहूनामपि १५ द्रव्याणामेकज्ञानोपलम्भाप्रतिषेधात् । यदि पुनरसहानुपलम्भ इति; को विशेषः ? प्रसज्यप्रतिषेधमात्रमसाध्यसाधनम् शशविषाण-खरविषाणयोरिव, अर्थादर्थगतिलक्षणात् । विज्ञानस्य···भ्रान्तैकान्तवत्···।

नीलतद्धि[य]योः नीलनीलज्ञानयोः यः **सहोपलम्भनियमो** यौगपद्योपलम्भनियमः परेण तदभेदभावनाय उपन्यस्तः तस्माल्लिङ्गात् **स्यात्** भेदे **भेदो** नानात्वं '**नीलतद्धियोः**' इति आवृत्त्या सम्बन्धः । तन्नियमस्य तर्कतो भेदनिष्ठत्वात्, ततः तत्सिद्धेर्विरुद्धोऽ- २० यमभेदसाधन इति मन्यते । नहि एकत्वे [३३३ख] तत्सम्भवो (तत्सहभावः) । न खलु नीलस्यैव उपलम्भे नीलपीतयोः सहोपलम्भ इति युक्तम् ।

ननु चन्द्रद्वयस्य अभेदेऽपि तन्नियमः तत्कथमस्य भेदेन व्याप्तिरिति चेत् ? उक्तमत्र सहोपलम्भो न स्यात् तदन्यस्वत् इति । सहशब्दस्य यौगपद्यार्थम् उक्त्वा तदर्थान्तरं परिकल्पितमा- २५ शङ्क्य दूषयन्नाह– **असहानुपलम्भश्चेद्** इति । अस्यायमर्थः–सहानुपलम्भः पर्युदासवृत्त्या

(१) बौद्धस्य । (२) ज्ञानरूपत्वात् । (३) बौद्धेन विज्ञानवादिना । (४) "सकृत्संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह । विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिध्यति ॥ विषयस्य हि नीलादेः धिया सह सकृदेव संवेदनं धिया सह न पृथक्···"–प्र० वार्तिकाल० ३।३८८। "धर्म्यत्र नीलाकारतद्धियौ तयोरभिन्नत्वं साध्यधर्मः यथोक्तः सहोपलम्भनियमो हेतुः । ईदृश एवाचार्यीये प्रयोगे हेत्वर्थोऽभिप्रेतः ।"–तत्त्वसं पं० पृ० ५६७ । (५) 'भेदे' इति निरर्थकम् । (६) सहोपलम्भस्य । (७) सहोपलम्भनियमात् । (८) भेदसिद्धेः । (९) वक्तुं युक्तम् । (१०) भ्रान्तविज्ञानस्थले । (११) एकत्वेऽपि । (१२) सहोपलम्भनियमः । (१३) तुलना–"तत्र भदन्तशुभगुप्तस्त्वाह–विरुद्धोऽयं हेतुः, यस्मात् सहशब्दश्च लोकेऽन्यो (स्या) न्यैवान्येन विना क्वचित् । विरुद्धोऽयं ततो हेतुर्यद्यस्ति सहवेदनम् ॥ पुनः स एवाह–यदि सहशब्द एकार्थः तदा हेतुरसिद्धः । तथाहि– नटचन्द्रमल्लप्रेक्षासु न ह्येकेनैवोपलम्भः । तथाहि–नीलोपलम्भेऽपि

पृथगुपलम्भः, तस्य नञा प्रसज्यप्रतिषेधवाचिना, न पर्युदासवाचिना उक्तार्थप्रसङ्गात्, अभिसम्बन्धे पृथगुपलम्भाभावः **असहानुपलम्भः** सहोपलम्भः। सहशब्दस्य अनेकार्थत्वात्। **चेत्** शब्दः पराभिप्रायद्योतकः। अत्र दूषणम् **असिद्धो हेतुः** अस्मिन्नर्थे सहोपलम्भलक्षणः। कुतः? इत्याह–**ईक्षणात्** नीलतद्धियोः **पृथग्** दर्शनात्। तथाहि–प्रमातरि अहमहमिकया ज्ञानं प्रतीयते अन्यत्र घटादिकं समानकालेऽपि। तथा अन्यदा स्मर्यमाणोऽर्थः अन्यदा स्मरणम्। ५ अस्य च निर्विषयत्वे अननुमानम्, तत्काले सम्बन्धाऽग्रहणात्। पूर्वं तद्ग्रहत्तद्भावे तद्गहद्ग्रहाद् (पूर्वं तद्ग्रहात्तदा तद्भावे बाल्ये तद्ग्रहाद्) वृद्धदशायां तद्भावप्रसङ्गः। अरिष्टादिलिङ्गाद् भाविनो मरणादेरनुमाने कालपृथक्त्वेन अनुमानानुमेययोः प्रतिभासनं सिद्धमेव।

एतेन यौगपद्योपलम्भनियमोऽपि चिन्तितः; सर्वत्राभावात्। अथ स्वरूपा[न्ना]न्यत्र ज्ञानवृत्तिः तेनायमदोषः; उक्तमत्र अन्यत्रापि तद्वृत्तिदर्शनात्। १०

किंच, नीलतद्धियोरभेद स्यात् (दस्यात्) मानेनाऽविषयीकरणे किं सहोपलम्भनियमोपन्यासेन? समारोपव्यवच्छेदोऽपि चिन्तितोऽस्माभिरन्यत्र। धर्मिसाध्यधर्मानुमा [३३३ख] नानाम् अभेदो अभिन्न- (अभेदे नानुमानम्। भिन्न) वेदने सिद्धं पृथगुपलम्भनम्।

सहशब्दस्य एकार्थवाचित्वात् 'एकस्य ज्ञानस्यैव उपलम्भनियमः सहोपलम्भनियमः' इति एतेन निरस्तम्; उभयोरुपलम्भात्। यदि वा, 'स्याद्' इति निपातोऽयम्, अतः शेषहेत्वादिदोषपरिग्रहः। १५

कारिकां विवृण्वन्नाह–**सहोपलम्भ** इत्यादि। **[सहोपलम्भनियमात्]** यौगपद्योपलम्भनियमाद् **अभेदैकान्तसाधने** अङ्गीक्रियमाणे **'नीलतद्धियोः'** इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। किम्? इत्यत्राह–**भ्रान्तीत्यादि**। भ्रान्तिशब्देन *"भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा" इति[१०] वचनात् नीलतद्विज्ञानयोः अभेदैकान्तानुमानस्य अनुमेये विभ्रमो गृह्यते। प्रत्यक्षशब्दे (ब्देन च) २० *"**सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पकम्**" [न्यायबि० १।१०] इत्यभिधानात्,

तदुपलम्भानामन्यसन्तानगतानामनुपलम्भात्। यदा च सत्त्वं प्राणभृतां सर्वे चित्तक्षणाः सर्वज्ञेनावसीयन्ते तदा कथमेकेनैवोपलम्भः सिद्धः स्यात्। किंच, अन्योपलम्भनिषेधे सत्येकोपलम्भनियमः सिध्यति। न चान्योपलम्भप्रतिषेधसंभवः स्वभावविप्रकृष्टस्य विधिप्रतिषेधायोगात्। अथ सहशब्द एककालविवक्षया; तदा बुद्धज्ञेयचित्तेन चित्तचैत्तैश्च सर्वथा अनैकान्तिकता हेतोः। यथा किल बुद्धस्य भगवतो यद्विज्ञेयं सन्तानान्तरचित्तं तस्य बुद्धज्ञानस्य च सहोपलम्भनियमेऽप्यस्त्येव च नानात्वम्, तथा चित्तचैत्तानां सत्यपि सहोपलम्भे नैकत्वमित्यतोऽनैकान्तिको हेतुरिति।...स्यादेतत् यद्यपि विपक्षे सत्त्वं न निश्चितं सन्दिग्धं तु, ततश्चानैकान्तिको हेतुः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्।"–तत्त्वसं० प० पृ० ५६७–६९। "सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्धियोः। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धव्यतिरेकानन्वयत्वतः॥"–न्यायवि० १।८३। शाबरभा० बृह० पं० १।१।५। शा० भा० भामती २।२।२८। योगसू० तत्त्ववै० ४।१४। न्यायकणि० पृ० २६४। अष्टश० अष्टस० पृ० २४२। प्रमेयक० पृ० ७९। न्यायकुमु० पृ० १२२। सन्मति० टी० पृ० ३५२। स्या० रत्ना० पृ० १५२।

(१) भूतलादिप्रदेशे। (२) अतीते। (३) वर्तमाने। (४) स्मरणस्य। (५) अनुमानोत्पत्तिर्न स्यात्। (६) अविनाभावसम्बन्ध। (७) घटादौ बहिरर्थे। (८) मतम्। (९) ज्ञानस्य अर्थस्य च। (१०) द्रष्टव्यम् –पृ० ८२ टि० ४।

तस्यै आत्मवेदनम्[1] तयोरन्यतरस्य भ्रान्तेः प्रत्यक्षस्य वा [अ]भावात् न क्वचित् तदभेदेऽन्यत्र वा भ्रान्तिज्ञानं मिथ्यानुमानं स्याद् भवेत्, ततो लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः । अनुमानेन तद्भेदसिद्धिमिच्छतोऽनुमानमेव नष्टम् । तदभावः कुतः ? इत्यत्राह-तदेकान्तेन इत्यादि । तन्नियमाद्[2] योऽसौ भ्रान्तिप्रत्यक्षयोः तदेकान्तो भेदैकान्तः तेन हेतुना भ्रान्त्या साधारणाऽ-
५ स्पष्टनिर्भासेन विविक्तो विकलः प्रत्यक्षस्य स्वला (स्वसं)वेदनाध्यक्षस्य यः स्वभावः तस्य उपपत्तेः कारणात् । एतदुक्तं भवति-यदा भ्रान्तिः प्रत्यक्षादभिन्ना भवति तदा तदेवं[3] सा । यद् यस्मादभिन्नं तत् तदेव भवति यथा प्रत्यक्षस्वरूपम्, अभिन्ना च भ्रान्तिस्ततः इति । प्रत्यक्षविविक्तभ्रान्तेः प्रसङ्गात् कारणात्, तदभावात् न क्वचिद् भ्रान्तिज्ञानं स्यात् । अत्रायम (अत्रान्वय) दृष्टान्तमाह-सुषुप्तवद् इति । गाढनिद्राक्रान्तः सुषुप्तः तस्य इव तद्वत् । एवं
१० मन्यते-भ्रान्तेः प्रत्यक्षस्याभेदे सैव तद् इति साधारणविशदाकारमात्रं स्वसंवेदनरहितं प्रमाणत्राणश्च स्यं (प्रत्यक्षप्रमाणश्च) प्रसक्तम् । न चैवं. पराभ्युपगमः । ततोऽनुमानाभ्युपगमाद् भ्रान्तिप्रत्यक्षयोः भेद एव तन्नियमसद्भावाद् विरुद्धो हेतुः इति भावः । अनेन व्यतिरेकमुखेन 'सहोपलम्भनियमात् स्याद्भेदो नीलतद्धियोः' इति व्याख्यानम् (तम्) ।

१५ निपातस्याच्छब्दलब्धमर्थं[4] दर्शयन्नाह-नील इत्यादि । नीलतद्धियोर्दर्शनात् । क्व ? इत्यत्राह-बहिरन्तश्च नीलस्य बहिः तद्धियोऽन्तः, चशब्दाद् अन्य[दा] स्मर्यमाणानुमेयार्थयोः अन्यदा स्मरणानुमानयोः इति दर्शयति । ततः किम् ? इत्याह-कुत इत्यादि । कुतो न कुतश्चित् मानात् सहोपलम्भनियमः सिद्धो हेतुः इत्यर्थः । प्रकारान्तरेण तदसिद्धतां दर्शयन्नाह-सकृद् एकहेलया एकस्मिन्नर्थे नर्तक्यादौ उपनिबद्धा व्यापृता दृष्टिर्येषां ते तथोक्ताः
२० पुरुषाः तेषां परज्ञानानुपलम्भेऽपि न केवलं पुरुषविशेषाणामुपलम्भे तदर्थदर्शनात् तेषां पुरुषाणां ज्ञानानां च अर्थस्य दर्शनात् कुतो नियमः सहोपलम्भस्य ?

ननु तज्ज्ञानानुपलम्भे कथमयं तदर्थ इति ज्ञायते ? *"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः" [प्र० वार्तिकाल० २।१][5] इत्यादि वचनात् । अथ पुरुषाणां तत्र प्रवृत्तिदर्शनात् 'तज्ज्ञानविपर्याकृतोऽसौ अर्थः' इति परिच्छिद्यते ; एवं तर्हि य ए[व] केनचिदुपलभ्यते स एव परेणापि इति
२५ अनुमानादवगम्य[ते] तथा च द्वयोः समानप्रवृत्तिदर्शनात् समानार्थदर्शनं सिध्येत् । सामान्यविषय[३३४ ख]त्वादनुमानस्य नैकार्थदर्शनम्, अन्यथा सदृशरोमाञ्चकञ्चुकितत्वदर्शनात् एकसुखप्रतिपत्तिः स्याद् इति चेत् ; तदसत् ; यतः पशवोऽपि स्वदर्शनाभिलषितां पशुयोषितम् अन्यैरभिलषितां प्रतिपद्यमानाः तैः सार्द्धं धु (यु)द्ध्यमाना दृश्यन्ते । 'यादृश्यस्माभिरभिलषिता तादृशी अन्यैः' इति प्रतिपत्तौ तदयोगात् । कुतस्ते तथा प्रतिपद्यन्ते इति चेत् ; कार्यविशेषा-

(१) भ्रान्तिज्ञानस्य । (२) गृह्यते । (३) यौगपद्योपलम्भात् । (४) प्रत्यक्षमेव । (५) भ्रान्तिः । (६) प्रत्यक्षतः । (७) भ्रान्तिरेव । (८) प्रत्यक्षम् । (९) स्यादिति निपातलब्धम् । (१०) 'नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥' इति शेषः ।

वधारणाद् इति सिद्धः (?) कथमन्यथा *"**तद्विशेषावधारणे इष्यत एव सर्वथा गम्य-गमकभावः**" इति वचनं शोभेत ? न चायमेकान्तः 'दृष्टान्तसाधर्म्यात् सामान्यमेव अनुमेयम्' इति, *"**विदुषा (पां) वाच्यो हेतुरेव हि केवलः**" [प्र० वा० ३।२६] [1]इति वचनात्। मा वा भूत्–'यमर्थं पश्यत्ययं तमेव अन्योऽपि' इति निश्चिता प्रतीतिः, तथापि परेण तद्दर्शन-निषेधाभावात् तन्नियमस्य सन्दिग्धाऽसिद्धता। अथ नर्थक्य (नर्तकी अ)न्यदर्शनविकला ५ प्रतीतिनियत(ता) इति तद्बाधनम्; तर्हि खलविलान्तर्गतबीजाद् अङ्कुरं तद्विविक्तं प्रतीयते इति न तत्र[2] तद्व्यापारः। ततो यथा कार्ये [अ]दृष्टस्यापि कारणस्य व्यापारः तथा प्रमेये अन्यज्ञानस्य संभाव्येत। हेतुफलभावानभ्युपगमे च तन्नियमात्[3] नीलतद्धियोरभेदस्य अनुमानम-युक्तम्। व्यवहारेण तदङ्गीकरणं(णे), तेनैव[4] तन्नियमस्य सन्दिग्धासिद्धतामन्वाकर्षेति इति यत्किञ्चिदेतत्। १०

स्यान्मतम्–यज्ज्ञानस्याकारोऽसौ [5]तेन वेद्यते नान्येन; तन्न; यतः तदाकारता तस्याः (तस्य[6]) कुतः सिद्धा ? [7]तन्नियमादिति चेत्; अन्योऽन्याश्रयात् [३३५ क]–सिद्धे तदाकारत्वे तन्नियमः सिध्यति, ततः तदाकारत्वम्। अन्यतश्चेत्; अस्य वैफल्यम्।

सिध्यतु वा कुतश्चित् तदाकारत्वम्, तथापि सुगतेन तद्वेद[ने तद]वस्थोऽपि दोषः। [त]तस्तद्विज्ञानावेदनेऽपि पृथग्जनेन (ग्जनेन) तदर्थवेदनात् कथं सुगतः § [8]सर्वज्ञ स्त तदतात् १५ कथं सुगतः § सर्वज्ञस्ते तदवेदने ?

अपरस्तु मन्यते–

*"**ग्राह्यं न तस्य ग्रहणं न तेन ज्ञानान्तरग्राह्यः(ह्य)तयापि शून्यः।**
तथापि च ज्ञानमयः प्रकाशः प्रत्यक्षपक्षस्य तथाविवा(रा)सीद्॥"

इति वचनान्नाऽशेषज्ञाता(ज्ञता) तस्य[9] सर्वज्ञता अपि तु स्व[रूपज्ञता], तस्याप्येतन्न २० सुन्दरम्; इतरस्मात्तदविशेषात् *"**प्रमाणभूताय**" [प्रमाणसमु० श्लो० १] [10]इत्यादेः आनर्थ-क्यप्रसङ्गात्। व्यवहारेण तदभिधानेऽप्युक्तम्–'तेनैव हेतोरसिद्धत्वम्' इति।

यदि च स[11] तथाविधो न कुतश्चित्[12] प्रतिपन्नः; कथमस्ति येन [13]तथा स्तूयते ? तदिद-मायातम्–यथा ईश्वरे नित्येऽप्यप्रमाणता तथा सुगतेऽपि प्रमाणशून्यता। अथ प्रतिपन्नः; तर्हि भवता सुगतोऽपि ज्ञायते न तेन[14] परं किञ्चिदिति मूढता। ततस्तस्य अस्तितत्त्व(स्तित्वमव)- २५ गम्यते विशेष (षं) वाभ्युपगच्छता·········मिति कथं न प्रकृतो दोषः ? तत्[:] स्थितं '**कुतो नियमः**' इति।

---

(१) 'तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः। ख्याप्येते···' इति शेषः। (२) अङ्कुरे। (३) सहो-पलम्भनियमात्। (४) व्यवहारेणैव। (५) तज्ज्ञानेनैव। (६) ज्ञानस्य। (७) सहोपलम्भनियमात्। (८) § एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः। (९) सुगतस्य। (१०) 'जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने। प्रमाणसिद्ध्यै स्वकृतिप्रकीर्णनात् निबध्यते विप्रसृतं समुच्चितम्' इति शेषः।–प्रमाणसमु०। 'जगद्धि-तैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने। कुतर्कसम्भ्रान्तजनानुकम्पया प्रमाणसिद्धिर्विधिवद्विधीयते।' इति शेषः–प्र० वार्तिकाल० पृ० १। (११) सुगतः। (१२) प्रमाणात्। (१३) 'प्रमाणभूताय' इत्यादिरूपेण। (१४) सुगतेन।

स्याच्छब्दः(ब्द)प्राप्तिनं परमप्यर्थ (र्थं) दर्शयन्नाह–**तदेक** इत्यादि । **तेन विवक्षित-**
नीलज्ञाने[न ए]**कस्मिन क्षणे वर्त्तितुं** शीलानाम एकक्षणभाविसन्तानान्तरज्ञानानाम इत्यर्थः ।
सहोपलम्भनियमात् । तदपि कुतः ? इत्याह–**स्वयम्** आत्मना वा **वेदनेनोत्पत्ते**[:] । ततः
किम ? इत्याह–दि [**सकलं जगदिति**] । न चैवम , अतो व्यभिचारी हेतुः इति भावः ।

५ स म न्त भ द्र स्य तु मतम्–*"**यथा**: ········**सहोपलम्भ**" इत्यादिना [२३५ख]
तदभेदे न त ग्राह्यग्राहकतया तन्नियम इति च ग्राहकाभिमता [न] ग्राह्यस्य भेदे न तेनास्य ग्रहणम्
अ[न]न्यवेदनानियमाद् अपि तु स्वयमेव तदपि प्रतिभाति, तथापि सहोपलम्भनियमात् तयोरभेदे
तदेकेत्याद्युक्तम । तदेतदित्थम अन्ये परिहरन्ति–नीलतद्धियोरभेदे नैकत्वम् अपि तु ज्ञानत्वेन
सदृशत्वम , यथा ज्ञानं ज्ञानं तथा नीलमपि सहोपलम्भनियमात्तथा········:दस्ति इति न तैः
१० व्यभिचारो हेतोः विपक्षे[ऽ]गगनादिनि ; ते न युक्तकारिणः ; यतो यदि यज् ज्ञानेन सह
उपलभ्यते तदपि ज्ञानं तर्हि नीलज्ञानैकक्षणवर्त्तिनां ज्ञानान्तराणां सहोपलम्भनियमात् नीलत्व-
मापद्येत । पुनः तत्कार्यस्यापि ज्ञानस्य नीलत्वे तदवस्थो दोषः[1] पुनरपि तदवस्थ इति नीलमात्रं
जगत् । तदाह **तदेके**त्यादि । **तेन** नीलज्ञानेन **एकक्षणवर्त्तिनां स्वयम्** आत्मना **वेन**
(**वेदने**)**नोत्पत्तेः** कारणात अनेन सहवृत्तिवद् वेदनमपि सहैव दर्शयति–**सहोपलम्भनियमात्**
१५ **सकल**(**लं**) **जगद् एकसन्तानं** सदृशसन्तानं **प्रसज्येत** । न चैवं परेस्ति (परेष्टि)स्ततो
व्यभिचारी हेतुः । तत्र न तन्नियममात्रात[2] नीलं ज्ञानमिति गम्यते अपि तु ज्ञानवत् स्वयं प्रति-
भासनात । न च नियतनीलज्ञानवत सर्वज्ञज्ञानं नीलतया चकास्ति येनातिप्रसङ्गः स्यादिति चेत ;
तर्हि 'नीलं ज्ञानं स्वयं प्रकाशनात तज्ज्ञानवत्' इत्येवास्तु किं व्यभिचारिणा तन्नियमेन[3] ?
तदेवास्तु इति चेत ; न ; [२३६ क] परत एव[4] तत्प्रतिभासप्रतिपादनात ।

२० परस्य तु दर्शनं विवेक ज्ञान (चित्रैकज्ञाना)द्वैताभ्युपगमात् सकलं जगद् एकज्ञानमिष्यते
न पुनः एकसन्तानं[5] तदभावात इति न तेन तद्व्यभिचार इति; तन्न सूक्तम ; नीलमात्रदर्शिनोऽ-
पि सकलजगदपेक्षचित्रत्वप्रतीतिप्रसङ्गात अन्यथा 'नानेकम[6]' इत्युक्तं भवेत युगपदिव क्रमेणापि
च तत्प्रसङ्गात । अत आह–**सकलम्** इत्यादि ।

एवं यौगपद्यार्थे सहशब्दं निरूप्य निपातानामनेकार्थत्वात एकार्थं[7] निरूपयन्नाह–**यदि**
२५ इत्यादि । **यदी**ति पराभ्युपगमसूचकः, **पुनरि**ति पक्षान्तरस्य[8], **एकज्ञानोपलम्भनियमः** एकस्य
ज्ञानो (ज्ञानस्य उ)पलम्भो नार्थस्य इति तन्नियमः, एकेन ज्ञा[ने]नोपलम्भो नीलस्य न तदन्तरेण
इति वा तन्नियमो हेतुः सहोपलम्भनियमो **यदी**त्यर्थः । आद्ये पक्षे दूषणमाह–**असिद्धो 'हेतुः'**
इत्यनेन सम्बन्धः, अर्थस्याप्युपलम्भात । द्वितीये आह–**अनैकान्तिकश्च** इति । **अनैकान्तिको**
व्यभिचारी । **च** शब्दाद् असिद्धो हेतुः इति । असिद्धतां दर्शयन्नाह–**नीलस्य** इत्यादि । **कस्य-**
३० चिन्नर्त्तक्यादिगतस्य **सकृच्छब्देन** सहिति (सह इति[9]) व्याख्यातम् , **अनेकेन ज्ञानेन उपलम्भ-**

(१) नीलत्वापत्तिलक्षणः । (२) स्यादिति । (३) सहोपलम्भनियममात्रात् । (४) सहोपलम्भनियमेन । (५) नीलप्रतिभास । (६) सन्तानाभावात् । (७) अनेकमेकरूपम् । (८) सहशब्दम् । (९) सूचक इति ।

[संभ]वादिति । अनेन सन्दिग्धासिद्धतां दर्शयति । विचारितं चैतदनन्तरम् । अनैकान्तिकतामाह–**बहूनामपि** न केवलमेकस्य **द्रव्याणाम्** । अनेन तत्पक्षीकरणं निषेधति, नहि जीवादीनाम् एकज्ञानो (ज्ञाने) पक्षीकरणमात्रेण एकत्वं प्रमाणबाधनात् । 'पर्यायाणाम्' इत्युच्यमाने तेषां द्रव्यापेक्षया एकत्वात् स्यादपि पक्षीकरणम । **एकज्ञानोपलम्भः एकेन ज्ञानेन [उपलम्भस्य] दर्शनस्य अप्रतिषेधात्** निषेधाभावात् । अन्यथा [३३६ ख] व (च) सकलशून्यतेत्युक्तम् । ५

अर्थान्तरमाशङ्कते दूषयितुं **यदि** इत्यादिना । सहोपलम्भनियमाद् इति हेतुः स **यदि पुनः असहानुपलम्भ** इति स्यात ; तत्र दूषणं **को विशेष इति** पूर्वोक्तादर्थान् न कश्चिदस्य भेदः । तथाहि–पर्युदासवृत्त्या सहानुपलम्भः पृथगुपलम्भः अस्य नजाति सम्बन्धे (नञा[1] अभिसम्बन्धे) तद्वृत्त्या सहोपलम्भ इति प्राप्तिः । अथात्र प्रसज्यप्रतिषेधोऽपेक्षा (क्ष्यते ;) तर्हि साध्यमपि [2]तथाविधमस्तु अन्यथा सम्बन्धाऽसिद्धेः । तथेति चेत ; अत्राह–**प्रसज्येत्यादि** । १०

प्रसज्यप्रतिषेधमात्रमसाध्यसाधनम् साध्यं न भवति साधनं च न भवति इत्यर्थः । कयोरिव ? इत्यत्राह–सम्येव (**शशविषाण-खरविषाणयोरिव**) इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**अर्थाद्** धूमादेः [स]काशाद् **अर्थस्य** अग्न्यादेर्या **गतिः** प्रतिपत्तिः तस्या **लक्षणाद्** दर्शनात । अथवा [अर्थ]-सम्बन्धि यत्लक्षणम्–*"**अर्थो ह्यर्थं मयता (गमयति)**" इति शास्त्रं[3] तदाश्रित्येति ।

आह उक्त (क्तं) भवता–'नीलाकारस्य ज्ञानस्यैकस्य उपलम्भो नार्थस्य तन्नियम न्यत्र १५ (मः, तत्र) असिद्धो हेतुः अर्थस्याप्युपलम्भात' इति ; तन्न युक्तम ; अर्थस्य [4]स्वसदसत्समयभाविन [:] केनचिद्ग्रहणात । न चैकस्य उभयत्र व्यापारो विरोधात् इति चेत ; अत्राह–**विज्ञानस्य** इत्यादि । चर्चितमेतद् बहुशः पुनर्न चर्चनमर्हति ।

'**भ्रान्तैकान्तवद्**' इति निदर्शनं सावपि तु (साधयितुं) भ्रान्तैकान्ते [त्यु] पन्यस्य दूषयति–'**विप्लुताक्षा**' इत्यादिन (ना) । २०

[विप्लुताक्षा यथा बुद्धिर्वितथप्रतिभासिनी ।
तथा सर्वत्र किन्नेति जडाः सम्प्रतिपेदिरे ॥२७॥

विप्रतिपत्तिविषयापन्नज्ञानानां [निर्विषयतासाधने] सर्वज्ञानानां स्वयमविषयीकृतानां निर्विषयतासिद्धेः स्याद्वादलङ्घने इष्टविघातकृत् विरुद्धः बहिरर्थाविशेषात् स्वसंवेदनं च न सिध्येत् । तदभ्रान्तैकान्ते सहोपलम्भविरोधात् सह पृथग्वा द्विचन्द्रनिर्भासवत् २५ **नीलतद्धियोरनुपलब्धेरेव भेदाभेदयोरभावसाधने व्यतिरेकसिद्धिर्विरुध्येत ।]**

विप्लुतानि अक्षाणि यस्याः सा तथोक्ता **बुद्धिः** कामलाद्युपहतेन्द्रियकेशोणु (ण्डु)-कादिर्बुद्धिरिति **यथा** येन ग्राह्यग्राहकादिप्रवृत्तप्रकारेण अन्येन वा चि **तथा (वितथ)प्रति-**

(१) असहानुपलम्भ इत्यत्र नञ्समासे । (२) अभावरूपमेव । (३) "अर्थादर्थगतेः"–प्र० वा० ४।१५ । (४) ज्ञानकालीनस्य अर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणत्वाभावात् सहभाविनोः कार्यकारणभावाभावात् । ज्ञानकालेऽविद्यमानस्य ग्राह्यत्वे सकलातीतानागतस्य ग्रहणप्रसङ्ग इति भावः । (५) पूर्वपक्षः–"यथास्वं प्रत्ययापेक्षादविद्योपप्लुतात्मनाम् । विज्ञप्तिर्वितथाकारा जायते तिमिरादिवत् ॥"–प्र० वा० २।२१७ । (६) निरालम्बे नभसि केशाकारा उण्डुकाकारा–मशकाद्याकारा या बुद्धिः ।

भासिनी असदर्थप्रतिभासवर्ती **तथा** तेन प्रकारेण [३३७क] **सर्वत्र** स्वपररूपयोः अथवा जाग्रत्स्वप्नयोः या बुद्धि [:] वितथप्रतिभासिनी **किन्न** वितथप्रतिभासिन्येव प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः । एतेनेन दूषयति **इति** एवं **जडाः** प्रज्ञाहीनाः सौगताः **संप्रपेदिरे** ज्ञातवन्तः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**विप्रतिपत्ति**त्यादि । तत्र दूषणमाह–**सर्वे**त्यादि । तात्पर्यमत्र–
५ अनेनानुमानेन **विप्रतिपत्तिविषयापन्नज्ञानानां** निर्विषयता साध्येत, सविषयतासमारोपव्यवच्छेदो वा क्रियेत गत्यन्तराभावात् इति ? तत्र आद्ये पक्षे अनेन धर्मिणां ज्ञानानामपरिच्छेदे न तद्धर्मस्य निर्विषयत्वस्य परिच्छेदो देवदत्ताग्रहणे तच्छ्यामत्ववत् । तथा च अकिञ्चित्करो हेतुः । तदाह–**सर्वज्ञानानां** विवादास्पदीभूतवेदनानां **स्वयम्** आत्मानुमानेन **अविषयीकृतानाम् निर्विषयतासिद्धिः** (द्धेः) कारणात् **इष्टविघातकृत्** वादिन इत्थेष्टं (वादिना यदिष्टं) तस्य खण्डन-
१० कृत् ,अतश्च **हेत्वाभासः** । किन्नामेत् (किन्नामा ? इत्याह–) **विरुद्धः** किञ्चित्करत्वविपरीतेन अकिञ्चित्करत्वेना (त्वेन) **रुद्धः** आक्रान्तो **विरुद्धः** । तेषाम् अनेन परिच्छेदे; सिध्यति विषयता (सविषयता) किन्तु तद्वदन्येषामपि प्रतिभासिनाऽर्थेन विषयत्वसिद्धिः, इतरथा अस्यापि न स्यात् इति तदवस्थमकिञ्चित्करत्वम । एतदेवाह–**सर्वज्ञानानां स्वयम् अविषयीकृतानां निर्विषयतासिद्धेः** इत्यभिप्रायः । **इष्ट [वि] घातकृत् इष्टं** सौगतस्य जाग्रत्स्वप्नप्रत्ययानां निर्विषयत्वम्
१५ तस्य **विघातकृत् विरुद्धो हेत्वाभासः** । तथाहि–अतद्व्याप्तेः तद्व्याप्तिविभ्रमोपितो (सोपितो) विरुद्ध इति सर्वापिणो मन्यन्ते । [प्र]कृतानुमाने च ग्राह्यग्राहकसंवेदनाकारत्वम् [३३७ख] अन्यद्वा विषयत्वेन व्याप्तं सिद्धम् । तत एवं वक्तव्यम्–जाग्रत्स्वप्नप्रत्ययाः सविषय (याः) ग्राह्यग्राहकसंवेदनाकारत्वाद् अन्यतो वा परकीयहेतोः प्रकृतानुमानवद् इति । स्वप्नज्ञानस्य सविषयत्वसाधने प्रसिद्धिबाधादिदोष इति चेत ; जाग्रद्विज्ञानस्य निर्विषयत्वसाधनेऽपि समानः ।
२० कस्मिन् सति विरुद्धः ? इत्यत्राह–**स्याद्वादलङ्घने** । किञ्चिद्विज्ञानं सविषयं किञ्चिद् विपरीतम् तदपि कथञ्चित् इति **स्याद्वादः** तस्य **लङ्घने** परित्यागे सति । एवं मन्यते–यदा यथा बौद्धेन परप्रसिद्धमिथ्यास्वप्नज्ञाननिदर्शनेन सर्वज्ञानस्य मिथ्यात्वं साध्यते तथा परेणापि बौद्धप्रसिद्धसत्यानुमाननिदर्शनेन सर्वज्ञानस्य सत्यता, तदा विरुद्धः । तदा (यदा) तु स्याद्वादमवलम्ब्य 'स्वप्नज्ञानस्य मिथ्यात्वेऽपि प्रकृतानुमानवत् तदाकारत्वेऽपि किञ्चिद्विज्ञानं सालम्बनं स्यात् , इति
२५ साधयति परः, तदाऽनैकान्तिको हेत्वाभास इति ।

यदि पुनः समारोपव्यवच्छेदः क्रियते; तत्राप्युच्यते–निर्विषयेषु सविषयताविकल्पः समारोपः । तदनुमानात् प्राक् तत्र प्रमाणान्तराप्रवृत्तौ कथं निर्विषयतासिद्धिर्यतः तद्विकल्पः[10] समारोपः, तद्व्यवच्छेदकरणाच्च अनुमानमर्थवद्भवेत् । एतदेवाह–**सर्वज्ञानानां** स्वप्नेतरप्रत्ययानां

(१) विपरीतेन रुद्धः विरुद्ध इति । (२) विवादास्पदीभूतवेदनानाम् । (३) न केवलमस्यैव । (४) तद्व्याप्तिशून्यः । (५) तद्व्याप्तिविभ्रमकारीत्यर्थः । (६) साध्येत इति । (७) ग्राह्यग्राहकाकारत्वे सत्यपि । (८) विज्ञानवादी । (९) 'प्रकृतानुमानेन सविषयतासमारोपव्यवच्छेदः क्रियते' अस्मिन् विकल्पे दूषणमाह । (१०) सविषयताविकल्परूपः समारोपः स्यात् ।

स्वयं सौगतेन, अन्येन तद्विषयीकरणेऽपि तस्य तन्निर्विषयताऽसिद्धेरिति भावः, **अविषयीकृतानाम्**, कस्मिन् सति ? इत्याह–**स्याद्वादलङ्घने स्वरूपवत्** पररूपेऽपि एकस्य ज्ञानस्य ग्रहणशक्तिसद्भावः स्याद्वादः तस्य लङ्घने [३३८क] स्वरूपमात्रपर्यवसितज्ञानपक्ष इत्यर्थः **निर्विषयतासिद्धेः** कारणात् **इष्टविघातकृतं (त्) 'स्वयम्'** इत्यनुवर्त्तते स्वयमिष्टो वादिना समारोपः तस्य व्या(वि)घातोऽभावः तस्य तत्करणम् । ततः किम् ? इत्याह–**विरुद्धः** पूर्ववद् **अकिञ्चित्करो हेत्वाभासः** । अथ स्वयं तेषां विषयीकृतानामेव सर्वमेतदिच्छेत ; तत्राह–**सर्व** इत्यादि । पूर्वद्वितीयव्याख्यानवदत्र व्याख्यानम् । अयं तु विशेषः येन प्रत्यक्षेण सर्वज्ञानं(न)निर्विषयतां प्रतिपद्यते[1] तेन विरुद्धोऽनैकान्तिकश्च हेत्वाभासः पूर्ववद् योज्यः ।　५

ननु तदपि प्रत्यक्षमानं च निर्विषयमेव तेनायमदोष इति चेत् ; अत्राह– **बहिरर्थाविशेषात्** इत्यादि । **'स्वयम्'** इत्येतदत्रापि अनुवर्त्तते । **स्वयं** बौद्धस्य न केवलं बहिरर्थाविशेषात् सन्तानान्तरे स्वहेतुफलसिद्धिः न भवति अपि तु किन्तु **स्वसंवेदनं च न सि[ध्ये]त्** । तथा च कुतो विभ्रमोऽन्यो वा सिध्येदिति भावः । ततो यथा बहिरर्थ(र्था)विशेषेऽपि स्वसंवेदनस्यैव सत्त्वम् न बहिरर्थस्य तथा स्वप्नेतरप्रतिभासाविशेषेऽपि जाग्रद्घटादेरेव तत्[2] इति कथं नाऽसिद्धो हेतुः ।　१०

अत्राह प्र ज्ञा क रः–जाग्रद्घटादिवत् स्वप्नघटादेरपि सत्त्वम् । तदुक्तम्–　१५

*"व्यवहारमात्रकमिदं सत्यताऽसत्यतेति च ।
स्वरूपसाक्षात्करणे सत्यतेत्यादि दुर्घटम् ॥" [प्र०वार्तिकाल० २।२७] इति;

तत्राह–**तदभ्रान्तैकान्ते तयोः** स्वसंवेदन-बहिरर्थ[योः अ]**भ्रान्तैकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे । अत्रायमभिप्रायः–**'सत्यवादीतिं (सत्यतेत्यादि) दुर्घटम्'** इति कोऽर्थः ? यदि सर्वमसत्यम्, सत्यासत्यविभागशून्यं वा; तत्रोक्तं **बहिरर्थाविशेषादित्यादि** [३३८ख] । अथ सत्यम्; तत्रेदमुच्यते–**सहोपलम्भविरोधाद्विरुद्धो हेत्वाभासः**, द्विचन्द्रादावपि सहोपलम्भस्य भेद एव भावादिति भावः ।　२०

अथवा यदुक्तम्–**'बहिरर्थाविशेषात् स्वसंवेदनं च न सिध्येत्'** इति तत्र 'स्वसंवेदन[नं] प्रतिभासात् सिध्यति, बहिरर्थः विपर्ययात्' इति परः[3]; तत्राह–**तदभ्रान्तैकान्त** इत्यादि । अत्र द्वैतं निरंशं क्षणिकं तत्स्वसंवेदनम्, चित्रमेकं वा ? तत्र द्वितीये पक्षे–**'तत्र'** इत्यादि वक्ष्यमाणं दूषणमिति । प्रथमे दूषणम्–**तद्** इत्यनेन स्वसंवेदनं परामृश्यते तस्य [**अ**]**भ्रान्तो** य **एकः** असहायः सर्व्वतोधर्मधर्मित्तसु (स चान्तो धर्मः तस्मिन् अभ्यु)पगम्यमाने **सहोपलम्भविरोधात्** नीलरूपस्य एकस्य ज्ञानस्यैव, एकेनैव एकस्यैव [वा] उपलम्भस्य **विरोधाद**भावात्, बहिरन्तर्वा असहायस्य उपलम्भनिषेधेन, कारणात् **सह** यौगपद्येन **पृथग् वा** कालादिभेदेन, वेति समुच्चये, **नीलतद्धियोः** येनमु (येयम् अ)नुपलब्धिरदर्शनम् तस्या **एव न**　२५ ३०

(१) तत् प्रत्यक्षं निर्विषयताविषयकत्वात् सविषयमिति भावः । (२) सत्त्वम् । (३) प्रज्ञाकरः । (४) निरंशस्य ।

'सहोपलम्भात्' इत्येवकारार्थः, **भेदाऽभेदयोः** भेदस्य अभेदस्य **वाऽभावसाधने नीलतद्धियोः** अङ्गीक्रियमाणे तु । दृष्टान्तमाह–**द्विचन्द्रनिर्भासवत्** इति । यथा द्विचन्द्रनिर्भासयोरन्योऽन्यं न भेदो नाप्यभेदः, तयोः[1] वस्तुनिष्ठत्वात्, तन्निर्भासयोरवस्तुत्वात् तथा प्रकृतयोरपि इति । तत्र दूषणमाह–**अनुपलब्धेः** [भेदा]भेदयोरभावसाधने हेतुत्वेन उपन्यस्तायाः **व्यतिरेकसिद्धिः** **विपक्षाद्** भावरूपाद् **व्यतिरेकस्य** व्यावृत्तेः **सिद्धिः** निर्णीतिर्**विरुध्येत** [३३९क] **निरंश**-स्वसंवेदनभावेऽपि तस्या भावात् । न चाऽनिश्चितव्यतिरेको हेतुः गमक इति मन्यते ।

ननु न तद् एकान्त[अभ्रान्त]रूपम् इष्यते किन्तु [स्व]रूपे अभ्रान्त(न्तं) ग्राह्याकारे अन्यथा इति चेत्; अत्राह–**तत्त्वमि**त्यादि (**तत्त्वमिथ्ये**त्यादि ।)

[तत्त्वमिथ्याग्रहैकान्ते बुद्धेः स्वार्थोपलम्भयोः ।
सहोपलम्भनियमः क्वान्तर्ज्ञेयतत्त्वधीः ॥२८॥

न चानेकान्तमन्तरेण नीलतद्धियोः सहोपलम्भनियमः । तमन्तरेण स्वयमन्त-र्ज्ञेयतत्त्वस्य बहिरन्तस्याप्यसत्त्वात् कथञ्चिदनेकान्ते नैकान्तैनैकत्वम् ।]

बुद्धेः स्वोपलम्भे **अर्थो**पलम्भे च याथासंख्येन **तत्त्वाग्रहैकान्ते मिथ्या**ग्रहैकान्ते वा अभ्युपगम्यमाने **सहोपलम्भनियमः क्व** ?न क्वचित् । निरंशसंवेदनानुभवाभावेन अर्थोप-लम्भस्यापि दुर्घटत्वात् *"**अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति**" इति मन्यते । तदनु-भवभावे व्यर्थव्युक्तस्यापि (ऽप्यर्थवत तस्यापि) अलीकत्वात्। क्षान्तर्ज्ञे (**क्वान्तर्ज्ञेय**) **तत्त्वधीः ।**

कारिकां व्याचष्टे–**न च** इत्यादिना । **न च** नैव **अनेकान्तमन्तरेण** एकान्ते इत्यर्थः । **नीलतद्धियोः सहोपलम्भनियमः**, तयोः उपलम्भस्यैव अभा[वा]दिति भावः । तदुपलम्भेऽपि **तमन्तरेण स्वयम् अन्तर्ज्ञेयतत्त्वस्य 'न च'** इति पदघटना **बहिरन्तस्याप्यसत्त्वात्** । अन्त-र्बहिश्च भवत्वनेकान्त इति चेत्; अत्राह–**अनेकान्ता(न्ते)** ज्ञानयोः (ज्ञानार्थयोः) एकानेकात्म-कत्वे अङ्गीक्रियमाणे **कथञ्चित्** न सर्वथा। किम् ? इत्याह–**न** इत्यादि । एवं मन्यते–तत्र बहिर-न्तर्वा भेदाऽभेदयोः तन्नियमेऽपि **नैकान्तैनैकत्वं** तथा नीलतद्धियोरपि । यदि च उपलम्भाऽ-विशेषेऽपि स्वोपलम्भे तत्त्वग्रहैकान्तः अर्थोपलम्भे मिथ्याग्रहैकान्त इत्य**नेकान्ते कथञ्चित्** जाग्र-द्दशायां स्वप्नदशायां (?) शेषं पूर्ववत् । अथवा, [स्व]रूपे विश्रान्तं ज्ञानम् अर्थे[पी]त्य**नेकान्ते** बहिरर्थतत्त्वं **कथञ्चित्** प्रत्यक्षपरोक्षात्मकं यथा प्रमाणं [३३९ख] व्यवस्थितमेव । अनेन तन्निय-मस्य भागासिद्धतां दर्शयति–चेतनानीलतारूपेण तद्भावेऽपि क्षणक्षयाद्यात्मना अभावात् । ।

ननु बुद्धेर्मिथ्याकारो न स्वाकारः किन्तु पराकारः, ततोऽयमदोष इति चेत्; अत्राह–**स्वप्रत्यक्ष** इत्यादि ।

[स्वप्रत्यक्षपरोक्षात्मज्ञानसिद्धौ न सिध्यति ।
अर्थः प्रत्यक्षपरोक्षात्मा एकः कालादिभेदतः ॥ २९॥

---

(१) भेदाभेदयोः । (२) द्विचन्द्रनिर्भासयोः । (३) भ्रान्तम् । (४) निरंशसंवेदनानुभवसद्भावे-ऽपि । (५) अनुभवस्यापि । (६) सहोपलम्भनियमेऽपि ।

स्वभावनानात्वं यदि भावस्य भेदकं न भवेत् किं परव्यावृत्तेः कार्यकारणसन्तान-कर्मफलसम्बन्धप्रभृतितदर्थस्मरणाद्यनेकछिद्राशक्यपिधानानर्थनिबन्धनया निरन्वयकल्पनया ?]

अयमभिप्रायः–परस्य सुखादिनीलादिशरीरव्यतिरिच्यमानप्रतिभासं स्वसंवेदनम् । न च [1]तस्य नानैकत्वविरुद्धधर्माध्यासिना तादात्म्यम् । अतो भेदेऽपि तादात्म्यावभासो भ्रान्त्या, अन्यथा ५ अनेकान्त इत्युक्तम इति **[स्व]प्रत्यक्षं** च चेतनादिरूपेण **परोक्षश्च** सुखादिविरोधवदाकार-विवेकः तौ च तावात्मानौ च **स्वौ प्रत्यक्षपरोक्षात्मानौ** यस्य तत्त[थो]क्तं तच्च **तज्ज्ञानं** च तस्य **सिद्धौ** अङ्गीक्रियमाणायां **न सिध्यति** किं सिध्यत्येव । किमित्य व (किमिव) किमित्याह–**एकोऽर्थः** । किंभूतः ? **प्रत्यक्षपरोक्षात्मा** । केन ? इत्याह–**कालादि-भेदेन:** कालक्षेत्रादिभेदेन । एवं मन्यते–यस्माद् विज्ञानमेकं प्रत्यक्षपरोक्षात्मकं तस्मात् प्रत्यक्ष- १० परोक्षात्मैकः सिध्यति । यस्माच्च ज्ञानतद्विवेकयोरभेदेन पक्षीकृतयोरपि [2]तन्नियमोऽविद्यमानत्वेन भागासिद्धः तस्मादर्थः सिध्यति इति ।

स्वभावेत्यादिना कारिकार्थमाह–प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण यत् **स्वभावनानात्वं** ज्ञानस्य **तद्भा-वस्य** तस्यैव **भेदकं** नानात्वापादकं **यदि न भवेत् परस्मात्** सजातीयाद् विजातीयाच्च या **व्यावृत्तिर्भावस्य** तस्याः सकाशात् **किं निरन्वयकल्पनया** ? किंभूतया ? इत्याह–**कार्ये-** १५ त्यादि । **कार्यं च कारणं च सन्तानश्च** [३४० क] **कर्म च** वासनारूपं *[3]"**चेतना कर्म**" [अभिध० को० ४।१] इति वचनात्, **फलं** च देहान्तरसंचारादि, तयोः **सम्बन्धश्च** तदुत्पत्तिः, पुनः एतेषां **प्रभृति**शब्देन बहुव्रीहिः, **तदर्थः स्मरणादिः** तस्य **अनेकम्** अनन्तरोक्तं **छिद्रं** दूषणम् तस्याशक्यं **पिधानम्** उत्तरं तदेवानर्थनिर्वचो (निबन्धो) यस्यां **तया** इति ।

ननु नार्थवद् बुद्धेः स्वरूपं भ्रान्तम्, नापि स्वपररूपयोः अभ्रान्तेतरस्वभावं स्वग्राह्याकार- २० स्वभावं स्वग्राह्याकारविवेकापेक्षया दृशो (दृश्ये)तरस्वभावं वा येनाय (यं) दोषः स्यात्, अपि तु सुखादिनीलादिशरीराकारमेव [4]तन्नियमात् इति चेत्; एतद् बुद्धज्ञान-तद्वेद्याभ्यां व्यभिचारयन्नाह–

[5]**तन्नियमेऽपि तयोर्भेदे अन्यथा अनेकान्तं साधयन् (साधनम्) प्रत्यक्षे-**त्यादि ।

> **[तन्नियमेऽपि तयोर्भेदेऽन्यथाऽनेकान्तसाधनम् ।** २५
> **प्रत्यक्षो मध्यरूपार्वाग्भागार्थस्तदात्मनः ॥३०॥**
> **परोक्षता पूर्वरूपापरभागादिभिर्बुद्धबुद्धिवत् ।[6]।**

न केवलं सन्तानक्षणानां तन्नियमादेकसन्तानत्वमपि तु सन्तानान्तराणाम् । बुद्ध-श्चेत् सन्तानिनां सन्तानान्तराणां च बोद्धा, तदेकोपलम्भात् सन्ततिर्न भवेत्तदेकतापत्तेः । संवित्तेः पुनरनन्यवेद्यनियमे कथं मिथ्याविकल्पमन्तरेण स्वपरसन्तानविकल्पमात्रोपदेशः ? ३०

(१) स्वसंवेदनस्य । (२) सहोपलम्भनियमः । (३) "चेतना मानसं कर्म"–अभिध० । (४) सहोपलम्भनियमात् । (५) सहोपलम्भनियमेऽपि । (६) बुद्धचित्त-तद्ग्राह्यसकलपदार्थयोः ।

तन्मिथ्याविकल्पानामनेकान्तात्मकत्वम्। पूर्वापरकोट्योरदृश्यात्मना कथमुपलभ्यमध्यस्वरूपं न वर्तेत। दृश्य'' इत्यलं प्रसङ्गेन। तत्र बहिरन्तर्वा मिथ्यैकान्तैः तत्त्वं प्रतिपत्तुमर्हति। प्रत्यक्षेणापि-]

नन्वेतत् पूर्वमुक्तम् अस्माभिः न शास्त्रकृता इति। **प्रत्यक्षः मध्यरूपो** मध्यस्वभावोऽर्वाग्**भागो** यस्य स तथोक्तः सचा [सा]**वर्थश्च** तस्मात्मनः (**तस्य आत्मनः**) स्वरूपस्य **परीक्षता**। तत्परीक्षता कः? इत्यत्राह-**पूर्व** इत्यादि। अत्र **आदिशब्देन** रसादिपरिग्रहः। दृष्टान्तमाह-**बुद्धबुद्धिवत्** इति सुगतबुद्धेरिव तद्वत् इति। एतच्च निदर्शनम् [1]अनेकान्तापेक्षया न दृश्येतररूपापेक्षया।

कारिकां विवृण्वन्नाह-**न केवलम्** इत्यादि। अस्यायमर्थः-यदा सुगत आत्मसन्तान-
१० सन्तानान्तरातीतानागतक्षणान् अन्यसन्तानक्षणांश्च पश्यति वा, न वा? प्रथमपक्षे **न केवलं सन्तानक्षणानां** सहोपलम्भनियमात् येन ज्ञानेन ते उपलभ्यन्ते तेन सह **तन्नियमाद् एकसन्तानत्वं एकोऽभिन्नः कथञ्चिदन्योऽन्यसन्तानः** [2]सन्तानं येषां [तेषां] भावः तत्त्वम्, **अपितु सन्तानान्तराणाम्** एकसन्तानत्वं सुगतज्ञानेन सह 'स्यात्' इत्यध्याहारः [३४०ख] **बुद्धश्चेद् यदि बोद्धा सन्तानिनां सन्तानान्तराणां च**। तथा च तद्व[द]न्यत्रापि दृश्येतररूप-
१५ तया। अथ यथादेशकालं (लं) तेषामसौ बोद्धा; अनैकान्तिको हेतुः इति भावः। अथ एतद्दोषद्वयभयाद् एकान्तेन न सहैकत्वमिष्यते तेषाम्; तत्राह-**तदेक** इत्यादि। **तस्य** बुद्धस्य विवक्षितं **यदेकम्** अतनमज्ञानं (मानसज्ञानं) तेन **उपलम्भात्** कारणात् सन्तानिनां सन्तानान्तराणां च **सन्ततिर्न भवेत्**। कुतः? इत्यत्राह-**तदेकतापत्तेः** तेन उपलम्भकेन ते (लम्भेन ए) कतापत्तेः तेषामिति। अथ [स्व]रूपमात्रपर्यवसानात् न बुद्धस्तेषां[3] बोद्धा; तत्राह-
२० **पुनरि**त्यादि। **पुनः** अतो दोषात् पश्चात् **संवित्तेर्ज्ञानस्य** 'बुद्धस्य' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः। **अनन्यवेद्यनियमे** अङ्गीक्रियमाणे। किम्? इत्याह-**स्वपर** इत्यादि। **स्वश्च परश्च** तावेव **सन्तानौ** तयो**र्विकल्पः** क्षणक्षयादिभेदः स एव **तन्मात्र**शब्देन बहिरर्थाभावमाह, **तस्योपदेशः कथं** न कथञ्चित् बुद्धस्य। यो यन्न पश्यति न स तदविपरीतम् उपदिशति परेभ्यः यथा रथ्यापुरुषः शास्त्रार्थम्, न पश्यति च बुद्धः तद्विकल्पमात्रमिति कारणानुपलब्धिः। तन्न
२५ युक्तम्-*"**अत्र भगवानेव धर्मादौ प्रमाणभूतत्वेन साध्यते**" [प्र० वार्तिकाल० पृ० १] [4]इति भावः।

स्यान्मतम्- *"**स्वरूपस्य स्वतो गतिः**" [प्र०वा० १।६] इति वचनात् स्वरूपमात्र-पर्य (पमात्रपर्य)वसितेषु ज्ञानेषु न बुद्धेतरप्रति(वि)भागो [5]भावतोऽस्ति। [6]तन्मात्रोपदेशः पुनः

(१) बुद्धज्ञानं हि सकलार्थैः समम् उपलभ्यते न च तैः सह तस्य एकत्वमिति सहोपलम्भोऽनेकान्तः व्यभिचारीत्यर्थः। (२) 'सन्तानं' इति पुनरुक्तं भाति। (३) सन्तानानां सन्तानान्तराणां च। (४) "अत्र भगवतो हेतुफलसम्पत्त्या प्रमाणभूतत्वेन स्तोत्राभिधानं शास्त्रादौ शास्त्रार्थत्वात्, भगवानेव हि प्रमाणभूतोऽस्मिन् प्रसाध्यते।"-प्र० वार्तिकाल०। (५) परमार्थतः। (६) स्वपरसन्तानविकल्पमात्रोपदेशः।

ततोऽन्यस्यं विचार्यमाणस्याऽयोगात् इति; तत्राह-**मिथ्येत्यादि**। काकाक्षगोलकन्यायेन **कथं** शब्द उभयत(त्र) संबध्यते [३४१क] ततो बुद्धस्येतरस्य वा मिथ्याविकल्पमन्तरेण तदुपदेशः कथं संभवति निर्विकल्पेन तद्विचारायोगात् इति भावः। अस्त्येव तद्विकल्प इति चेत्; अत्राह-**तन्मिथ्येत्यादि**। तयोः बुद्धेतरयोः **मिथ्याविकल्पानाम्**।

ननु च 'विकल्पानाम्' इत्युक्तेऽपि मिथ्यात्वं लभ्यते तद्रूपत्वात्तेषाम्[2] तन्मिथ्येतिवचन- ५ मनर्थकमिति चेत्; उच्यते-सुगतस्य केचिदलिङ्गजं विकल्पज्ञानमिच्छन्ति। तद्यदि यथार्थम्; प्रमाणान्तरं स्यात् प्रत्यक्षेऽनन्तर्भावात्। अन्तर्भावे वा तद् (तद्वत्) तस्यापि सविकल्पं प्रत्यक्षं स्यात् गृहीतग्रहणात्। तत्[3] प्रमाणं न भवति कथं तदन्तरमिति चेत्; तस्य निर्विकल्पवत् सविकल्पस्यापि सन्तानवृत्तिसंभवे तद्गृहीतग्रहणात् अविकल्पमप्रमाणमस्तु तन्नग (तन्न ग)तार्थम् इत्यस्य प्रतिपादकमिति। यदि वा, परापेक्षयैव तथाभिधानाददोष इति। **अनेकान्तात्मकत्वं** १० भ्रान्तेतरात्मकत्वम्, भवत्वेवं को दोष इति चेत्? अत्राह-**कथम्** इत्यादि। **उपलभ्यं मध्यस्वरूपं** यस्य वस्तुनः तत् **कथं न वर्त्तेत?** वर्त्ततेव। क्व? **पूर्वापरकोट्योः**। केन? **अदृश्यात्मना**।

एवं क्रमाऽनेकान्तं प्रतिपाद्य स्कन्धेऽक्रमानेकान्तं कथयन्नाह-**'दृश्य'** इत्यादि। **'कथं न'** इति सम्बन्धः। **इति एवमलं प्रसङ्गेन**। प्रकृतं निगमयन्नाह-[**तन्ने**]त्यादि। यत एवं **तत्तस्मात्** १५ **न बहिरन्तर्वा तत्त्वं प्रतिपत्तुमर्हति**। कैः? इत्याह-**मिथ्यैकान्तैः** दर्शनैः विकल्पैश्च सौगतः। यथायं तथा भवानपि[7] तत्त्वमनेकान्तं न प्रतिपत्तुमर्हति इति चेत्; अत्राह-**प्रत्यक्षेणापि** [३४१ख] इत्यादि।

ननु प्रत्यक्षं वर्त्तमानक्षणमात्रग्रहणमनर्थं (मग्नं) न पूर्वापरकोटिवीक्षणपद्ध (पटु, अ)तिप्रसङ्गात्। तथा तदर्त्रं अर्वाग्भागदर्शनं(ने) मग्नं न परभागादि वीक्षते अतो न तत्तदेकत्वं[9] २० प्रत्येति। अत एव नानुमानं तत्तकार्यवद् (तत्कार्यवत्) दृश्येतरात्मकत्वं कस्यचित् प्रतिपद्यते इति चेत्; अत्राह-**'पश्यन्'** इत्यादि।

[पश्यन् जीवः स एवैकः सत्तामात्रं विकल्पयन्।
अन्यथानुपपत्त्या च तमेवाभिनिबुध्यते ॥३१॥

***"मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्"** [त०सू० १।१३] **इति** २५ **मत्यादीनां तादात्म्यलक्षणं सम्बन्धमाह सूत्रकारः[10]। तदन्यतमस्याप्यतादात्म्यैकान्ते अर्थप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः सन्तानान्तरवत्।]**

जीव आत्मा **अभिनिबुध्यते** पूर्वापरयोः अभि समन्ताद् एकत्वं जानाति। किं वैशेषिकाद्यभ्युपगतः, न इत्याह-**स** इत्यादि। अत्रैव पूर्वं प्रसाधित इत्यर्थः। ननु ज्ञानात्मकोऽ-

(१) कपिलादेः। (२) विकल्पानां मिथ्यारूपत्वात्। (३) विकल्पज्ञानम्। (४) प्रमाणान्तरमिति। (५) सविकल्पेन गृहीतस्य ग्रहणात्। (६) बौद्धमतापेक्षयैव 'मिथ्या' इति विशेषणं प्रदत्तमिति। (७) जैनोऽपि। (८) प्रत्यक्षम्। (९) पूर्वापरैकत्वम्। (१०) उमास्वाम्याचार्यः।

सो[1] ज्ञानानां च एकान्तेन भेदात् सोऽपि भिन्न इति चेत्; अत्राह–**एक** इति। पूर्वापरस्वपर्यायसाधारणः। कया युक्त्या? इत्याह– **अन्यथानुपपत्त्या। अन्यथा** एकत्वाभावप्रकारेण या जीव इतरस्य वा (जीवस्य इतरस्य वा) उक्तविधिना **अनुपपत्तिः** तया। स[2] यदि सत्तामात्रेण अभिनिबुध्यते सर्वस्य सर्वदर्शित्वमिति चेत्; अत्राह–**पश्यन् सत्तामात्रं** चेतनेतरसाधारणं दर्शनेन विपर्यासीकुर्वन्। तथाहि–चेतनेतरत्वादिसामान्यविशेषव्यवसायः ततोऽपरसामान्य[3]दर्शनपूर्वकः, विशेषव्यवसायत्वात् दूरे स्थाणुत्वादिव्यवसायवत्। न च सत्तायाः परं सामान्यम्; यतोऽनवस्था स्यात्। अथ निकटे सामान्यग्रहणमन्तरेणापि विशेषव्यवसायः ततो व्यभिचारः; न; तत्रावग्रहादिभेदस्य सतोऽप्यनुपलक्षणात्।

नन्वेवमपि सत्तामात्रमस्तु ग्रहणात्, न विशेषाणां विपर्ययात् इति चेत्; अत्राह–**विकल्पयन्** तदेव सत्तासामान्यं [३४२क] चे[तने]तरत्वादिविशेषभिन्नम् अवग्रहादि[4]धारणापर्यन्तज्ञानेन **विकल्पयन्** व्यवस्यन् पूर्वं पश्चाच्च तथा स्मृत्वा प्रत्यभिज्ञाय चिन्तयन् **अभिनिबुध्यते** इति।

इदमपरं व्या[ख्या]नम्–उपलम्भमध्यरूपस्य पूर्वापरकोट्योः अदृश्यात्मानं दृश्यार्वाग्भागस्य परोक्षं परभागस्य [रसस्प]र्शादिकम् अभिनिबुध्यते अनुमिनोति। कया? इत्याह–'**अन्यथा**' इत्यादि। दृश्यपूर्वापरकोट्योः अदृश्यात्माभावप्रकारेण अनुपपत्त्या। चर्चितमेतत्। किं कुर्वन्? इत्याह–**पश्यन्** इत्यादि। व्याख्यातमेतत्।

कारिकां विवृण्वन्नात्मनः तत्र (सूत्र)कारेणैकवाक्यतां दर्शयति–[**मति**]रित्यादिना। '**अनर्थान्तरं**' पदं व्याचष्टे–**मत्यादीनां तादात्म्यलक्षणं** कथञ्चिदेकत्वस्वरूपं **सम्बन्धमाह** '**अनर्थान्तरम्**' इत्यनेन सूत्रकारो[5] न पर्यायपदत्वम्, प्रतीतिविरोधादिति। कुतः? इत्यत्राह–**तदन्यतम** इत्यादि। **तेषु** मत्यादिषु **अन्यतमस्यापि** न केवलं सर्वेषाम् **अतादात्म्यैकान्ते** भेदैकान्ते सति **अर्थस्य** घटादेः अनुमेयस्य वा वह्न्यादेः **प्रतिपत्तेः** अध्यक्षबुद्धेः, सर्वतो व्यापृतस्य (व्यावृत्तस्य) परमाणुमात्रस्य दर्शनाभावात्, **अनुपपत्तेः सन्तानान्तरवत्**। यथा सन्तानान्तरं परस्य अदृश्यं तथा परमाणवः सर्वस्य। तथापि दृश्यत्वकल्पने सन्तानान्तरे कः प्रद्वेषः यतः तदनुमेयत्वं तदभावं वाऽदर्शनात् कश्चिद् आचक्षीत? **प्रतिपत्तेः** अनुमानबुद्धेर्वा **अनुपपत्तेः सन्तानान्तरे** इव **तद्वद्** इति। यथैव अन्यस्य[7] धूमदर्शनाद् अपरस्य तद्दर्शिनोऽस्मरणात्, अपरतत्स्मरणात् पुरुषान्तर[स्याऽ]प्रत्यभिज्ञानात्[9], इतरस्य तर्काभावात् न सन्तानान्तरे [३४२ख] अनुमानम्, तथा प्रकृतेऽपि।

यदि पुनः कुतश्चित् प्रत्यासत्तेः एकसन्ताने, नान्यत्र, पूर्वपूर्वदर्शनादेः उत्तरस्मरणादिवृत्तेः अयमदोषः कल्प्यते; तन्न; यतः तत्रा (तत्र) हेतुफलभावनियमेऽपि उपादानेतरकारणवि[भागा]भावप्रसङ्गात्। यद्धि यद्रूपतया परिणमते तत् तस्य उपादानम्। न चैतद् भेदेऽस्ति।

(१) जीवः। (२) जीवः। (३) अपरं भिन्नं सामान्यं सत्ताख्यम्। (४) अवग्रहेहावायधारणारूपेण। (५) तत्त्वार्थसूत्रकारेण। (६) परमाणूनाम्। (७) चार्वाकः। (८) पुरुषस्य। (९) प्रत्यभिज्ञानं न भवतीत्यर्थः।

नापि तद् रूपान्तरं सन्तानकारणकारणम् उपादानकारणमिति चेत् ; कोऽयं सन्तानो नाम ? हेतुफलप्रवाह इति चेत् ; न; सुगतेतरयोः [1]एकसन्तानत्वप्रसङ्गात् । सुगतश्चेद् इतरस्य दृष्टा (द्रष्टा);[2] तत्कार्यतया [एव भवितुमर्हति] । सदृशः तत्प्रवाहः सः; इत्यपि नोत्तरम् ; हेतुफलावस्थयोः[3] सुगतैकसन्तानापत्तेः । ज्ञानत्वेन सादृश्ये, न प्रकृतदोषपरिहारः[4] ।

अथ उपादानोपादेयक्षणप्रबन्ध इष्यते तच्चैतदेव बुभुत्सितम्[5]–भेदैकान्ते किमुपादानम् ५ इतरद्वा इति ? यदि पुनः एकस्मिन् सन्ताने पूर्वम् उपादानं परम् इतरत्[6] ; तर्हि सिद्धे सन्ताने सति उपादानेतरसिद्धिः, तस्याः स्वसन्तानसिद्धिः इत्यन्योऽन्यसंश्रयः । अथ यद्विकारेण यद् विक्रियते तदुपादानम् इतरद् उपादेयम् ; केयं यद्विकारेण यद्विक्रिया नाम ? शास्त्रादिना संस्कृतचित्तात् [7]तादृशचित्तोत्पत्तिः ; ततो[8] योगिज्ञाना तद्रूपं (ज्ञानं तेषु[9]) [10]तादृशं किन्न भवति येनैवम् ।

किं च, शास्त्रादिना प्रथमसंस्क्रियमाणं चित्तं पूर्वस्मात् तदसंस्कृतादेव ततो[11] जायते इति १० न युक्तम्–'यद्विकारेण' इत्यादि । तस्यापि तेन संस्कार इत्यपि नोत्तरम् ; अनवस्थाप्रसङ्गात् । ततो यद् उपादेयत्वेन परिणमते तदुपादानम् [३४३ क] ।

ननु सुप्तस्य स्वप्नदर्शिनो जाग्रद्विज्ञानं प्रबोधरूपेणापरिणममाण(न)मपि तदुपादानम्, अतो व्यभिचारः ; उक्तमत्र परिच्छेदे । कुतश्च [12]तत्तस्योपादानम् ? तद्रूपप्रबोधदर्शनात् ; सुगतज्ञानमपि तद्रूपं त्वया इष्यत एव तथा च तज्ज्ञानमुपादानम् बुद्धज्ञानमुपादेयम् इति प्रसक्तम् । देश- १५ भेदान्नेति चेत् ; [13]अन्यत्र सुप्तस्य अन्यत्र प्रबोधे न स्यात् ।

एतेन [14]स्वप्रान्तिकशरीरचित्तं तदुपादेयं निरस्तम् । अथ सुप्तस्य शरीरवत् चित्तस्याप्यनुच्यत्सन्तानतया देशान्तरगमनमिष्यते; कालान्तरगमनपरी(नमपी)ष्यताम् अविशेषात् । तस्मादुक्तमेव उपादानं युक्तमिति सूक्तम्–तदन्येत्यादि ।

एवं तावत् '**असिद्धः सि द्ध से न स्य**' इत्यादिना मिथ्यैकान्ते हेत्वभावं प्रदर्श्य २० अधुना एकलक्षणविरहे सर्वत्र तदभावं दर्शयन्नाह–**एकलक्षणे**त्यादि ।

[एकलक्षणसामर्थ्याद्धेत्वाभासा निवर्तिताः ।
विरुद्धानैकान्तिकासिद्धाज्ञाताकिञ्चित्करादयः[15] ॥३२॥

---

(१) यदा सुगतः इतरजनचित्तं जानाति तदा इतरजनचित्तं सुगतचित्तस्य कारणं भवति, अतस्तयोः एकसन्तानतापत्तिः । (२) सन्तानः । (३) घटपूर्वोत्तरक्षणयोः ज्ञायकेन सुगतज्ञानेन सह एकसन्तानत्वापत्तिः । (४) इतरजनज्ञान-तज्ज्ञायकसुगतज्ञानयोरेकसन्तानत्वापत्तिः ज्ञानत्वेन सादृश्यात् । (५) ज्ञातुमभिलषितम् । (६) उपादेयम् । (७) संस्कृतचित्तोत्पत्तिः। (८) संस्कृतचित्तात् । (९) योगिषु । (१०) संस्कृतमेव । (११)चित्तात् ।(१२)जाग्रद्विज्ञानं प्रबोधस्योपादानमिति ।(१३) गच्छच्छकटे देशान्तरे सुप्तस्य अन्यत्र च प्रबोधे ।(१४) "यथा स्वप्रान्तिकः कायः श्रासलङ्घनधावनैः ।"–प्र०वार्तिकाल० २।३७ । (१५) तुलना– "असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते । विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु ॥"–न्यायाव० श्लो० २३। "अन्यथासंभवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः ॥" –न्यायवि०श्लो० ३६५–३६६ । "स विरुद्धोऽन्यथाभावाद् असिद्धः सर्वथाऽत्ययात् । व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिञ्चित्करीऽखिलः । अज्ञातः संशयासिद्धव्यतिरेकानन्वयादितः ॥"–प्रमाणसं० श्लो० ४८-४९।

अन्यथानुपपत्तिनिर्णीतो हेतुः गमक इति हेत्वाभासा निराकृताः । कथम् ? अन्यथैवोपपत्त्या विरुद्धः । तथा च अन्यथा चोपपत्त्या अनैकान्तिकः । अन्यथा च संभूष्णुरसिद्धः । तदज्ञाने पुनरज्ञानोऽकिञ्चित्करः । तथैवोदाहरणम् । न ह्येकलक्षणाभावे त्रिलक्षणं गमकम् ? अनुपलब्धिः... । कुत एतत् ? उपलब्धिस्तावच्चित्रा निश्चेतुमशक्यैव । कथम् ?]

५ [एकलक्षणसामर्थ्यात्] अन्यथानुपपन्नत्वमाहात्म्यात् **हेत्वाभासाः** हेतुप्रतिरूपकाः **निर्वर्त्तिताः** हेतुसामर्थ्येन पृथक्कृताः । के ते ? इत्याह–**विरुद्धे**त्यादि । **विरुद्धादीनां** द्वन्द्वं कृत्वा **आदिशब्देन** बहुव्रीहिः कर्त्तव्यः । तत्र **आदिशब्देन** सन्दि[ग्ध]परिग्रहः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**अन्यथा** इत्यादि । [**अन्यथा**] साध्याभावे नियमेन या **अनुपपत्तिः** तया **निर्णीतः** पदार्थो **हेतुः गमकः** इत्येवं सामर्थ्याद् **हेत्वाभासा** विरुद्धादयो **निराकृता** [हे]-

१० तुत्वेन । पर[:] पृच्छति '**कथम्**' इति ? सूरिराह–**अन्यथैव** साध्याभावप्रकारेणैव साध्यान्तर एव **उपपत्त्या विरुद्धः** । **तथा च** साध्यभावप्रकारेण च **अन्यथा च** साध्याभावप्रकारेण च **उपपत्त्या अनैकान्तिको** व्यभिचारी । तथा, **अन्यथा च संभूष्णुः असिद्धः** । **तदज्ञाने** तस्य हेतोः सतोऽपि संशयादिनाऽज्ञाने अनिर्णये [३४३ख] **पुनरज्ञातः** '**असिद्धः**' इत्यनुवर्त्तते । यदि वा, **तस्य** हेतुलक्षणस्य पक्षे अन्यत्र वाऽज्ञाने **पुनरज्ञातोऽकिञ्चित्करः** । अनेन '**संदिग्ध**'

१५ इत्यादि विवृतम् । अत्रोदाहरणं किम् ? इत्यत्राह–**तथैव** यथैव '**असिद्धः सिद्धसेनस्य**' इत्यादौ उक्त**मुदाहरणं** प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु नैकलक्षणविरहाद् विरुद्धादिनिराकृतः किन्तु पक्षधर्मत्वादिविरहादिति चेत् ; अत्राह–**न ह्येकलक्षणाभावे त्रिलक्षणं** त्रीणि पक्षधर्मत्वादीनि लक्षणानि[1] यस्य तत्तथोक्तं वस्तु **गमकं** लिङ्गम् अपि तु तत् तद्भाव एव । एवं मन्यते–यदि त्रिलक्षणं व्याप्तं गमकत्वं (कं) तर्हि

२० स्यादेतत् 'तदभावे न स्यात्' इति, यावतैव (नैक)लक्षणव्याप्तं तदभावे एव न भवेत् इति [किं त्रिलक्षणेन ?] किं तत् त्रिलक्षणं लिङ्गमिति चेत् ; अत्राह–**अनुपलब्धिः** इत्यादि । **कुत एतत्** ? 'तदभावे तद्गमकम्' इत्येतत् कुत इति परः । सिद्धान्तवादी आह–'**उपलब्धि**' इत्यादि । **तावच्छब्दः** क्रमवाची, **चित्रा** नानारूपा **निश्चेतुमशक्यैव** । न चानिश्चिता गमिका इति मन्यते । परः पृच्छति **कथमिति** केन प्रकारेण निश्चेतुमशक्या इति ?

२५ ततोत्तरमाह–**न दृश्यलक्षणप्राप्त** इत्यादि ।

[न दृश्यलक्षणप्राप्ते दृश्यादृश्यार्थलक्षणे ।
यतः परस्पराभावस्वस्वभावव्यवस्थितिः ॥३३॥

तत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च । नहि उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं तद्विरहो वा स्वयमुपलब्धिलक्षणप्राप्तं यतः तदन्योऽन्याभाव-
३० **रूपेण निर्णयः स्यात् ।]**

(१) त्रैरूप्यं पुनः लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव ॥ ५ ॥ सपक्षे एव सत्त्वम् ॥ ६ ॥ असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ॥ ७ ॥"–न्यायबि० परि० २।

दृश्यस्य लक्षणं वक्ष्यमाणं **प्राप्तं** यकाभ्यां ते तथोक्ते **न** भवतः । क॰ ? इत्यत्राह–**दृश्येत्यादि** । **दृश्यादृश्यार्थयोर्लक्षणे यतो** दृश्यलक्षणप्राप्तत्वात् । किम् ? इत्याह–**परस्पर** इत्यादि । दृश्यार्थलक्षणे [अ]दृश्यार्थलक्षणस्य, तत्र वा दृश्यान्यथार्थे (दृश्यार्थ) लक्षणस्याभावः **परस्पर(रा)भावः** तेन **स्वस्वभावव्यवस्थितिः** तल्लक्षणयोर्व्यवस्थिति-[३४४क] हेतुत्वात् । निर्णयो व्यवस्थितिशब्देन उच्यते । **'परस्पराभावस्वभावव्यवस्थितः'** इति पाठान्तरम् । स्वेन रूपेण व्यवस्थितौ निर्णीतः दृश्योऽत्र लक्षणस्य इतरत्र तस्य च प्रकृत एव अभावो न सङ्करव्यतिकरो इत्यर्थः । अत्रायमभिप्रायः–यदा दृश्यार्थलक्षण-मवसितं भवति तदा लक्षणप्राप्तिः क्वचिदवगम्यते, अनुपलम्भाच्च तया स्या (तस्या)भावः, न चैवम् इति ।

अत्राह परः–दृश्यार्थलक्षणं प्रत्ययान्तरसाकल्ये सति स्वविषयविज्ञानोत्पादनयोग्यत्वम् । तच्च टादे (घटादे)स्वस्तुत्वभयान्नार्थान्तरम् इति तस्यावभासे अवभासते *"**एकस्यार्थस्वभावस्य**" [प्र॰ वा॰ ३।४२] इत्यादि वचनात् । कथञ्च दृश्यलक्षणं प्रत्ययान्तराणां घटादिसह-चारिणां साकल्यं नमस्कारा (मनस्कारा)दीनां न तेभ्यो व्यतिरिच्यत इति दृश्यलक्षणपरिहारेण प्राप्तत्वे तादृशमेव । अदृश्यार्थलक्षणं पुनः तद्विपर्ययः । सोऽपि पर्युदासवृत्त्या उक्तभावस्वभाव इति न युक्तम् **'न दृश्यलक्षणप्राप्ते'** इत्यादि । भवतु वा दृश्यार्थलक्षणं ऽ न दृश्यार्थलक्षण-प्राप्तमंत्येभः ऽ तथापि तस्य इतरत्र तादात्म्यनिषेधो न विरुध्यते इति ।

अत्र प्रतिविधीयते–स्वभावविशेषः प्रत्ययान्तरसाकल्यं च विषयस्य प्रत्ययान्तराणां च रूपादिज्ञानकार्यजननयोग्यता । सा च न दृश्यलक्षणप्राप्ता, कारणशक्तेः अस्मादृशां नित्यं कार्यानुमेयत्वात् । अन्यथा कारणदर्शिनो न कार्ये सन्देहः इति न परलोकानुमानम् अर्थवत् । यद्वक्ष्यति *"**मन्त्रौषधादिशक्तेश्च दृश्यलक्षणानुपपत्तेः**" [सिद्धिवि॰ ६।३५] इति । न च तावन्मात्रापेक्षं तद्वचनम्,[३४४ख] अन्यत्रापि तदविशेषात् । दृश्यसादृश्यरूपाविरोधश्चोक्तः । अदृश्यार्थलक्षणमपि तद्योग्यताविरहः; सोऽपि न दृश्यलक्षणप्राप्तः । न दृश्यस्य धर्मादेरभावः तत्प्राप्तो युक्तः । तदेवम् उभयो[र]दृश्यत्वेन परस्पराभावस्वस्वभावपरस्थिति (व्यवस्थितिः) । न खलु परमाणुपिशाचयोः तद्व्यवस्थितिः । अत एव न तादात्म्यनिषेधोऽपि; दृश्येऽन्यस्याभ्यु-पगमात् । अथ विरोधात् दृश्यार्थलक्षणे अदृश्यार्थलक्षणाभावः; तदपि न; दृश्यात्मनामे[व] परेण विरोधोपगमात् । *"**दृश्यात्मनामेव तेषां तद्विरुद्धानाम्**" इत्यादि वचनात् । यदि पुनः कार्यानुमेयायां योग्यतायाम् इतराभावसिद्धिः प्रार्थ्यते, तदपि प्रार्थनमात्रमिति प्रतिपादयिष्यते **'अदृश्यस्य'** इत्यादिना ।

(१) अदृश्यार्थलक्षणे । (२) प्रतियोगिव्यतिरिक्त-उपलम्भकारणान्तराणां समुदाये सति । (३) घटस्य । (४) 'प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् । कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥' इति शेषः । (५) मनस्कारः चेतसः आभोगः–उपयोग इति यावत् । (६) ऽ एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः । (७) "तत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च ।"–न्यायबि॰ २।१४ । (८) योग्यता शक्तिरूपा । (९) परलोकगामिनो जीवस्य प्रत्यक्षत्वे तद्योग्यताया अपि साक्षात्करणं यतो जातम् । (१०) दृश्यलक्षणप्राप्तः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–'**तत्रोपलब्धि**' इत्यादि। तत्र पक्षद्वयम्–उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च दर्शनविषयता वा। प्रथमपक्षे **तत्र** *"**उपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिः अभावहेतुः**" [हेतुबि० पृ० ६४] इति ग्रन्थे **उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः** उपलब्धेः बुद्धेः लक्षणं कारस्मिन् (कस्मिन्) सति सा लक्ष्यते तत्प्राप्तिः **उपलम्भस्य प्रत्ययान्तराणि** घटप्रत्ययापेक्षया इन्द्रियादीनि तेषां **साकल्यं** तज्जननयोग्यदशाप्राप्तिः **स्वभावविशेषश्च** घटस्य स्वभावविशेषः तत्र योग्यता। च इति समुच्चये। ततः किम्? इत्याह–**नहि उपलम्भ** इत्यादि। [न हि] नैव **उपलम्भप्रत्ययान्तराणां साकल्यम्**, उपलक्षणमेतत् [तेन] स्वभावविशेषोऽपि गृह्यते। कस्य वा (?) **तद्विरहो वा स्वयमुपलब्धेः** [३४५क] **लक्षणप्राप्तं यतः** तत्प्राप्तत्वात् **तयोः** साकल्यवैकल्ययोः **अन्योन्याभावरूपेण निर्णयः स्यात्**। **यत** इति वा आक्षेपे। नैव स्यात्।

ततः किम्? इत्यत्राह–**कार्य**त्यादि।

[कार्यस्वभावयोऽनैवं व्यतिरेको न सिध्यति।
त्रिकालविषयं [यस्मादविनाभावः परस्परम्] ॥३४॥

उपलब्धि···तदैकान्तिकं न कस्यचित् स्यात्। अतीतस्य वर्तमानस्य प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिर्यदि पर्युदासात्मिका; नावृक्षः शिंशपा भविष्यति धूमोऽनग्निजन्मा वेत्यजानन् कथं व्याप्तिज्ञः? पुनस्तत्रानुमानं कुर्यात्? तन्नायमेकान्तः–उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिरभावसाधनीति।]

च शब्दात् अनुपलब्धेश्च **व्यतिरेको न सिध्यति** साध्याभावे साधनाभावो न सिध्यति। दृश्यस्या (दृश्यादृश्या)र्थलक्षणयोः दृश्यलक्षणप्राप्तत्वाभावे दृश्यार्थलक्षणस्य इतरलक्षणविधुरस्य अनिर्णयात् न दृश्यार्थलक्षणं कारणे कार्ये भावे स्वभावे वा सिध्यति। तथा च कारण-भावयोः कश्चिन्निवृत्त्यसिद्धेः कुतः तन्निवृत्तिपूर्विका कार्यस्वभावनिवृत्तिः इति मन्यते। मा भूद् व्यतिरेकसिद्धिः, अन्वयमात्रेण कार्यादेर्गमकत्वमिति चेत्; अत्राह–**त्रिकालविषयम्** इत्यादि। [ता] त्पर्यमिदमत्र–व्यतिरेकासिद्धावन्वयोऽपि न सिध्यति, परेण परस्परम् अविनाभावोपगमादनयोः[3]। तथा च तन्निबन्धनतादात्म्यादि प्रतिबन्धोऽपि न सिध्यति। केवलम् अस्य साध्यसाधनयोरनवयवेद (वेन) दर्शनं प्रतिबन्धसाधकम्[5], तच्च नास्तीति।

कारिकां विवृणोति **उपलब्धि** इत्यादिना। सुगमम्। ततः किम्? इत्याह–**ततः** तस्माद् उक्तन्यायाद् **एकान्तिकम्** अव्यभिचारित्वं कार्यादीनां मध्ये **न कस्यचिद्** हेतोः **स्यात्**। एवं परस्य उपलब्धिलक्षणप्राप्त्यभावं तस्मिंश्च सति दूषणं यत् तदपि प्रतिपाद्य, इदानीम् अनुपलब्धिव्यतिरेकप्रसाधिकां दूषयितुं पृच्छति–**निवृत्तिः पर्युदासात्मि [का] [३४५ख] यदि**। कस्य निवृत्तिः? इत्याह–**प्रतितत्व (प्रतिपत्तृ)प्रत्यक्षस्य** यो वृक्षस्याभावे शिंशपात्वस्य वह्नेरभावे धूम-

(१) अदृश्यार्थलक्षणरहितस्य। (२) अत्र ग्रन्थस्त्रुटितो भाति। (३) अन्वयव्यतिरेकयोः। (४) साकल्येन। (५) अविनाभावसाधकम्।

त्वस्य अभावं प्रतिपद्यते तत्प्रत्यक्षस्य न पुरुषविशेषप्रत्यक्षस्य । किंभूतस्य ? इत्याह–**अतीतस्य वर्त्तमानस्य** । चशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः समुच्चयार्थः । अन्यस्य निवृत्तावपि भावनिवृत्त्यसिद्धेः इति भावः । अत्र दूषणमाह–**नावृक्ष** इत्यादि । **शिंशपा न भविष्यति** इतेवमजानं (इति एवम् अजानन्) **अवृक्षो** वृक्षो यो न तथा **धूमो न भविष्यती**त्येवमजानन् । किंभूतः ? **अनग्निजन्मा** [न] विद्यते अग्नेर्जन्म [य]स्येति । **कथं व्याप्तिज्ञे (व्याप्तिज्ञो)** न कथञ्चिन् सौगतः, व्याप्तिज्ञत्वस्य साकल्येन अन्वयव्यतिरेकज्ञाता(ज्ञता)रूपत्वात् । **पुनः** पश्चात् **तत्र** वृक्षे अग्नौ वा **अनुमानं कुर्यात्** कथमति (**'कथम्'** इति) सम्बन्धः । तदज्ञस्य तत्करण(णा)योगात् । उपसंहारमाह–**तन्नायमेकान्त** इत्यादि । **तत्** तस्मात् **नायमेकान्तो** निर्णयः । कस्य ? **उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य** । उपलक्षणमेतत् , तेन तद्विपरीतस्य वा **अनुपलब्धेः (ब्धिः) अभावसाधनीति** नायमेकान्तः । कः ? इत्याह–**उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य** । एवकारोऽत्र द्रष्टव्यः । **अनुपलब्धिः** निषेध्याकारविविक्तभावान्तर-तज्ञान(तज्ज्ञान)रूपा **[अ]भावसाधनीति** । भाविनोऽदृश्यस्य कालादेः, अदृश्येन शिंशपात्वादिना वृक्षत्वाद्यभावेन प्रसाधनात् इति भावः

नन्वेतत् हे तु बि न्दौ[4] चोदितं प्रहृत (परिहृतम्) न देशान्तरादौ कारणादेरभावेन कार्याद्यभावः साध्यते किन्तु तत्र[5] तदभाव[३४६]स्याऽनिर्णयात् , केवलं 'वृक्षाभवश्चेत् (वृक्षाभावश्चेत्) न शिंशपया भवितव्यम् , [6]निःस्वभावतापत्तेः, अग्नेरभावे न धूमेन निर्हेतुकत्वं स्यादिति प्रसङ्गसाधनमुच्यते' इति चेत् ; उक्तमत्र अन्वयव्यतिरेकाऽनिर्णये प्रतिबन्धाऽनिर्णयान्नेत्रमिति । कथं च शिंशपा वृक्षस्वभावा येन [9]तदभावे न स्यात् ? तथा दर्शनात् ; यदि सर्वत्र[10][11]; प्रतिपत्तुः सर्वज्ञत्वम् । क्वचिच्चेत्[12]; अनित्यस्य प्रयत्नानन्तरीयकस्वभावता[13] घटादौ तथा दर्शनात् । अथ वनकुसुमादौ [14]अन्यथापि दर्शनात् [15]तस्य न तत्स्वभावता; 'शिंशपा वृक्षाभावे न भविष्यति' इति तथैव न प्रमाणम्[16] । एतेन धूमो व्याख्यातः । तदभावे [अ]भावात् [17]तस्याः तत्स्वभावता[18]; अन्योऽन्यसंश्रयः–सिद्धे तत्स्वभावे [[19]तदभा] वात्तस्या[20] अभावः सिध्यति, ततः तत्स्वभावता इति न किञ्चिदेतत् ।

---

(१) अज्ञातव्याप्तिकस्य । (२) अनुमानकरणाभावात् । (३) अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य । (४) "यदि कारणव्यापकौ तदन्यभावसिद्ध्या अनुपलब्ध्या सिद्धसद्व्यवहारौ अन्यस्याभावमभावव्यवहारं च साधयतः, सा च तयोरुपलब्धिलक्षणप्राप्तावेवासद्व्यवहारस्य साधिकेति कथं तयोः कारणव्यापकानुपलब्ध्योः परोक्षेऽर्थे प्रयोगः ? नैव प्रयोगः प्रमाणतया लिङ्गस्यानिश्चयात् । केवलं कारणव्यापकयोर्हि सिद्धसम्बन्धयोर्येष्वभावः परस्याप्यवश्यं नियमेनाभाव इत्येतस्य दर्शनार्थमेते क्वचित् प्रयुज्येते इति ।" (हेतुबि० पृ० ६८) "कारणव्यापकयोर्हि कार्यकारणभावप्रसाधकेन पूर्वोक्तेन प्रमाणेन व्याप्यव्यापकभावसाधकेन च तदुत्पत्तिलक्षणे तादात्म्यलक्षणे च सम्बन्धे साधिते सिद्धसम्बन्धयोर्येष्वभावः यत्र यत्र अभावः स्यात् परस्यापि कार्यस्य व्याप्यस्य वा अवश्यं नियमेनाभावः, अन्यथा अहेतुकत्वप्रसङ्गाच्च……"–हेतुबि० टी० पृ० २०३–४ । (५) देशान्तरादौ । (६) अन्यथा । (७) भवितव्यम्, अन्यथा । (८) अविनाभाव । (९) सिद्धा । (१०) वृक्षाभावे । (११) तथादर्शनम् । (१२) तथादर्शनं तर्हि । (१३) स्यात् । (१४) प्रयत्नाभावेऽपि अनित्या दृश्यन्ते इति चेत् । (१५) अनित्यस्य । (१६) वृक्षाभावेऽपि शिंशपालतायाः संभाव्यमानत्वादिति । (१७) शिंशपायाः । (१८) वृक्षस्वभावता चेत् । (१९) वृक्षाभावात् । (२०) शिंशपायाः ।

ननु भवतु दृश्यादृश्यार्थलक्षणे न दृश्यलक्षणप्राप्ते इति, तथापि चक्षुरुन्मीलनादिसन्निधौ रूपादिज्ञानकार्यदर्शनात् क्वचिद् दृश्यार्थलक्षणे (णं) विविक्तं प्रतीयते, तददर्शनाददृश्यार्थलक्षणम् इतरविविक्तमिति चेत्; अत्राह–[अ] दृश्यस्येत्यादि ।

[[1]अदृश्यस्याननुमेयस्य दृश्यस्यानुपलम्भवत् ।
कथन्नाभावोऽनुमाभावकारणासंभवे सति ॥३७॥

यथैव दर्शनाभावकारणासंभवे दृश्याभावोऽनुपलब्धेः सिध्यति तथैव अनुमानाभावकारणासंभवे अनुमेयस्य परचित्तादेः भवत्यभावसिद्धिः अन्यथा निश्चेतनपरशरीरप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । तदयं भूतचैतन्यवादिनमपि धाष्ट्याद्विजयते सर्वथा अनुमानोच्छेदप्रसङ्गात्[2], दृष्टार्थापलापात् क्वचिद् व्यवस्थित्यभावात् परपक्षाक्षेपमात्राग्रहात् स्वपक्षप्रतिक्षेपाच्च । कथम् ?]

अदृश्यस्य अनुपलभ्यरूपस्य । किंभूतस्य ? **अननुमेयस्य** अनुमानाऽपरिच्छेद्यस्य अप्रदर्शितकार्यादेः इत्यर्थः । किम् ? इत्याह–**कथं नाऽभावः** [प्रतीयते ?] प्रतीयत एव । कस्मिन् सति ? इत्याह–**अनुमाभावकारणासंभवे** इति । **अनुमाया अभावो**ऽसत्त्वं तस्य **कारणम्** अनुमात्राद्यभावः तस्यासंभवे तद[स]द्भावे **सति** ।

स्यान्मतम्–यदि सर्वदा साध्यमदृश्यं कथं तत्र किञ्चिन प्रतिबद्धं सिध्यति ? किंच, न कार्याद्यभावेन नियमेया (नियमेन कारणाद्य)भावः, अन्यथा धूमशिंशपयोरभावो(वे) अग्निवृक्षयोः [२४३ख] तथाभावः स्यात् । न चैवमिति चेत्; अत्राह–**दृश्यस्य अनुपलम्भवद्** इति । **दृश्य[स्य]** दृश्यार्थलक्षणोपेतस्य, उपलभ्यते इति उपलम्भः दृश्य इत्यर्थः, उपलभ्यतेऽनेन इति वा, न उपलम्भोऽ**नुपलम्भः** तेन इव तद्वत् इति । एतदुक्तं भवति–यथा दर्शनाभावकारणासंभवे द्रष्टा (ष्टा)दिसंभवे दर्शनाभावेन दृश्यलक्षणप्राप्तस्यापि, दृश्यलक्षणे[ऽ]भाव उपलम्भस्य, अदृश्ये[ऽ]भावो ग्राह्य तथा प्रकृतस्यापीति ।

यत्पुनरुक्तम्–'अदृश्ये कथं कस्यचित् प्रतिबन्धः' इति; त[द]युक्तम्; दृश्यलक्षणशक्तेरदृश्यत्वे कथं तत्र दर्शनप्रतिबन्ध इति चिन्त्यम् ।

यच्चान्यत्–न धूमाभावात् धूमध्वजाभाव इति; तदपि सुपरिहारम्; यतः दर्शनस्य घटादिकार्यस्याभावे कथं क्वचिद् घटाभावसिद्धिः ? शक्यं हि वक्तुम्–नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति

(१) तुलना–"अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तं परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः संस्कर्तॄणां पातकित्वप्रसङ्गात्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात् ।"–अष्टश० अष्टस० पृ० ५२ । "अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः । तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तितः ॥"–लघी० श्लो० १५ । (२) "यदि पुनरयं निर्बन्धः विप्रकर्षिणामभावासिद्धेस्तदा कृतकत्वधूमादेर्विनाशानलाभ्यां व्याप्तेरसिद्धेर्न कश्चिद् हेतुः । ततः शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत् अनुमानोच्छेदप्रसङ्गात् ।"–अष्टश० अष्टस० पृ० ५२ । लघी० स्ववृ० श्लो० १५ । प्रमाणसं० पृ० १०८ । (३) अनुमानकर्तुरभावः हेत्वाद्यभावश्च । (४) अभावः स्यादित्यर्थः । (५) उपलम्भः । (६) द्रष्टुः प्रकाशादेर्वा सद्भावे । (७) दृश्ये वस्तुनि आधारभूते । (८) प्रत्यक्षस्य ।

भवन्ति इति[1]। अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य[2] भवत्येव तत्सिद्धिः[3] इत्यपि नोत्तरम् ; सामर्थ्यस्य अदृश्यत्वा-[त्] प्रतिबद्धसामर्थ्येतरविभागानवधारणात् ।

किं च, प्रतिबद्धसामर्थ्यस्य समर्थ्यस्य (अर्थस्य) सतोऽपि सर्वस्य सर्वत्राऽभावाऽविनि-श्चयाद् भावशङ्कया न केनचित् प्रवर्तितव्यं निवर्तितव्यं वा कुतश्चिद् इत्येतदापतितम् ।

कारिकां व्याचष्टे **यथैव** इत्यादिना । **दृश्यवस्तुनोऽभावोऽनुपलब्धेः** दर्शनाभावात् ५ **सिध्यति यथैव** । कस्मिन् सति ? इत्याह–**दर्शन** इत्यादि । **दर्शनस्याऽभावोऽ**नुत्पत्तिः तस्य **कारणं** प्रत्ययान्तरवैकल्यं तस्या**संभवे** प्रत्ययान्तरसाकल्य इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति–प्रत्ययान्तर-साकल्येऽपि यदा भूतलघटे (भूतले घट)दर्शनं नोत्पद्यते तदा तदभावः[5] प्रतीयते [३४७क] दृश्या भा (दृष्टान्ता)सिद्धिमुपदर्श्य दर्शनकारणसंभवमुपदर्शयता तदेवाङ्गीकृतम् इति । **तथैवा-नुमेयस्य** अनुमातुं योग्यस्य **परचित्तादेः भवत्यभावसिद्धिः** । कस्मिन् सति ? इत्याह–**अनु-** १० **मानाभावकारणासंभवे** इति । **अनुमानाभावस्य कारणम्** अनुमातृपक्षदृष्टान्तादीनामभावः, तस्या**संभवे** तेषां संभवः इत्यर्थः । कुतस्तत्संभवे तस्य भवत्यभावसिद्धिः इति चेत् ? अत्र हेतुः '**अनुपलब्धेः**' इत्यनुवर्त्तनीयः अनुमानोपलब्धेरभावात् । नन्वनुमानम् अनुमेयकार्यम् ; अतोऽ-स्याभावे कथं तदभावः इति चेत् ? अत्राह–**अन्यथा** इत्यादि । **अन्यथा** अन्येन अनुपलब्धिः (?) तत्संभवे तदभावासिद्धिप्रकारेण **निश्चेतनपरशरीरप्रतिपत्ते[रनुपपत्तेः]** '**भवत्यभावसिद्धिः** १५ **अनुमेयस्य**' इति[11] ।

स्यान्मतम्–चेतनाकार्यस्य व्यापाराख्या (व्यापाख्या)हारादेः[12] अदर्शनात् परवपुषि चेतनाविरहसिद्धिः, न च कार्याभावात् कारणाभाव(वः), प्रतिबद्धसामर्थ्यस्य [कारणान्तर-वैकल्यस्य] वा शङ्काऽनिवृत्तेः, ततो **निश्चेतनपरशरीरप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः** इति सिद्धं साध्यत इति चेत् ; अत्राह–**तदयम्** इत्यादि । '**तद्**' इत्येतत् 'सः' इत्यस्यार्थे । सोऽयं सौगतो **भूत-** २० **चैतन्यवादिनं** यत् कालत्रयेऽपि नाभूतं तद्भूतम्, तदा सत्वे (तदेव **चैतन्यम्**) तद्वादिनं सांख्य (सांख्यं) **धार्ष्ट्यान** (**र्ष्ट्यात्**) **विजयते** । यथा असौ[13] सर्वं सर्वत्रादृष्टमभ्युपगच्छति तथायमपि परशरीरे प्रतिबद्धसामर्थ्यचैतन्यवत् स्वज्ञाने प्रतिबद्धसामर्थ्यस्य सर्वत्र सर्वस्य भावो-पगमात् । यदि वा, **भूतान्येव चैतन्यं तद्वादिनमपि** इति ग्राह्यम् । यथा, तेन[14] भूतेषु अनुद्भूत-मपि चैतन्यमिष्यते तथाऽनेन सर्वं सर्वत्र इति । कथं विजयते ? इत्याह–[**'सर्वथा'** इत्यादि । २५ **सर्वथा**] सर्वप्रकारेण ।

ननु [३४७ख] सौगतस्य अनुमानमस्ति न तस्य[15] तत्कथं धार्ष्ट्येनैव विजयते इति चेत् ? अत्राह–**अनुमानोच्छेदप्रसङ्गात्** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**दृष्ट** इत्यादि । पावकादेर्धूमादि

---

(१) "न च कारणान्यवश्यं कार्यवन्ति भवन्ति"-न्यायबि० टी० २।४८ । (२) कारणस्य । (३) कार्यसिद्धिः । (४) प्रतिपत्तुः । कारणस्य वा । (५) सामर्थ्यप्रतिबन्धसद्भावाशङ्कया । (६) घटाभावः । (७) अनुमातृपक्षदृष्टान्तादिसद्भावे । (८) परचित्तादेः । (९) अनुमेयस्याभावे । (१०) अनुमानाभावः । (११) सम्बन्धः । (१२) व्याहारो वचनम् । (१३) सांख्यः । (१४) चार्वाकेण । (१५) चार्वाकस्य ।

जायते वृक्षादिस्वभावः शिंशपादिरिति दृष्टोऽर्थः, सौगतेन तस्यापि[1] न केवलम् अन्यस्य ईश्वरादेः अपलापात् । यथैव हि सुतत्र (मृताभिमत)शरीरे अदृष्टकार्यस्वभावमपि चैतन्यं सदिति शङ्क्यते ※"अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्यैव कारणस्य कार्याभावोऽभावं गमयति ।" इति वचनात्, तथैव अग्निवृक्षादेः पूर्वं पश्चाद्वा अदृष्टज्ञानकार्यधूमशिंशपादिसत्ता शङ्क्यत इति न प्रतिबन्धसिद्धिरिति मन्यते । तदपि कुतः ? इत्याह–**क्वचिद्** इत्यादि । **क्वचित्** नियतदेशादौ **व्यवस्थितेरभावाद्** अनवस्थितेर्भावस्य । तत्रैव हेत्वन्तरमाह–**पर** इत्यादि । 'जीवच्छरीरे आत्मनः घटादौ तस्माद् आत्मनिवृत्तौ प्राण(ण)निवृत्तिः' इति **परस्य** जैनादेः **पक्षः** तस्याक्षेपो निरासः । तथाहि–परात्मनः पूर्वापरस्वभावानुगतचेतनालक्षणस्य न घटादौ दृश्यतारहितस्य प्रत्यक्षेणाऽनुपलम्भादभावः, अतिप्रसङ्गात् । नापि कार्यादर्शनात् मृतशरीरवद् अतस्तत्र तदभावसिद्धिः, न तत आत्म-

१० निवृत्तिपूर्विका प्राणादिनिवृत्तिः । स एव **तन्मात्रं** तत्राभिनिवेशाद् आग्रहात् **स्वपक्षप्रतिक्षेपाद्** 'अग्निनिवृत्तौ कुड्यादेः धूमनिवृत्तिः कार्यहेतोः विपक्षाद् व्यतिरेकः' इति **स्व** आत्मीयः सौगतस्य यस्तस्य (पक्षः तस्य) **प्रतिक्षेपः** प्रतिहतिः । तद्यथा मृताभिमतशरीरे प्रतिबद्धसामर्थ्यं स्वकार्यमकुर्वदपि चैतन्यं घटादौ वा [३४८क] यथा संभाव्यते तथा कुड्यादौ अग्निः संभाव्यते इति नाग्निनिवृत्तिपूर्विका ततो धूमनिवृत्तिः इति तस्मात् । न (च) शब्दः पूर्वसमुच्चये ।

१५ आचार्यीयमभिप्रायमजानन् परः पृच्छति '**कथम्**' इति ? तं प्रति उत्तरम् **अदृश्य** इत्यादि ।

[[11]अदृश्यानुपलम्भादेकान्तेऽयं न लक्षयेत् ।
पिशाचो नाहमस्मीति दृश्यादृश्यविकल्पधीः ॥३६॥

स्वलक्षणं परस्परविविक्तक्षणिकपरमाणुलक्षणं स्वरूपं पररूपं वा सजातीय [विजातीयव्यावृत्तं] स्वस्व [भावव्यवस्थितेः] पश्यतः कथम् अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तनिरंशार्थ-

२० **स्वभावासिद्धौ तद्व्यावृत्तस्य भावस्य दर्शनम् ? तदभावे साकल्येन दृश्यादृश्यस्वभावविवेकसिद्धेरतिनिद्रायितं जगत् स्यात् ।]**

न च '**न दृश्यलक्षणप्राप्ते**' इत्यादिना उक्तमेतदिति चेत् ; '**उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः प्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च**' इत्यत्र तदुक्तम्, इदं तु 'दर्शनविषयता [12]तल्लक्षणप्राप्तिः' इत्यत्र उच्यते । **अयं** सौगतादिर्न **लक्षयेत्** । किम् ? इत्याह–**पिशाचो नाहमस्मि** न

२५ भवामि **इति** । उपलक्षणमेतत्, तेन 'चेतनोऽचेतनो न भवति, अचेतनश्चेतनो न भवति' इति **न च लक्षयेत्** । एवं नीलादावपि वाच्यम् । किंभूतः ? इत्याह–**दृश्याऽदृश्ययोर्न**

(१) दृष्टस्यापि । (२) तुलना–"कारणानि च नावश्यं कार्यवन्ति भवन्तीति कार्यादर्शनादप्रतिबद्धसामर्थ्यानामेवाभावः साध्यः नत्वन्येषाम् ।"–न्यायबि० टी० २।३२ । (३) अदृष्टं ज्ञानाख्यं कार्यं येषां धूमशिंशपादीनाम् । एवंभूता धूमशिंशपादयः, ये स्वविषयकं ज्ञानमपि नोत्पादयन्ति । अनुपलब्धाः इत्यर्थः । (४) अविनाभावसिद्धिः । (५) सद्भावः । (६) कार्यादर्शनात् । (७) घटादौ । (८) घटादेः । (९) भित्त्यादेः । (१०) भित्त्यादेः । (११) "इदमेवाकलङ्कदेवैरन्यत्रोक्तम्–अदृश्यानुपलम्भादेकान्ते"–न्यायवि० वि० द्वि० पृ० २६ । (१२) उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः ।

विद्यते **विवेके** भेदे **धीर्यस्य** स तथोक्तः, गुडगोरसकारी इति यावत्। कस्मिन् सति ? इत्याह–**अदृश्यानुपलम्भारेकैकान्ते**[1] सति इति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**स्वलक्षणम्** इत्यादि । **स्वलक्षणं परस्पर विक्षिक्षणि** (विविक्त-क्षणिक) **परमाणुलक्षणम् स्वरूपम्** आत्मस्वभावं **पररूपम्** अर्थस्वभावं **वा** । किंभूतम् ? इत्याह–**सजातीय** इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**स्वस्व** इत्यादि । तत्किम् ? इत्याह–**पश्यतः** सौगतस्य । ५ किं जातम् ? इत्याह–**कथम्** इत्यादि । **कथं** न कथञ्चित् तद्विवृत्तस्य (**तद् व्यावृत्तस्य**) **सजा-तीयविजातीया**(य)व्यावृत्तस्य **स्वभावस्य दर्शनम्** । कस्मिन् सति ? इत्याह–**अनुपलब्धि** इत्यादि । **अनुपलब्धिलक्षणं प्राप्तो** दर्शनागोचरो **निरंशो** यो **अर्थ**[स्त]स्य **स्वभावासिद्धौ** सत्याम् । नहि अदृश्यखण्डादिपरमाणुषु[2] तथाविधकर्कादिपरमाणूनामभावः[3] [३४७ख] सिध्यति । तन्न युक्त[म्–] *"सर्व (सर्वे) भावाः" [प्र० वा० ३।३९] इत्यादि का[रिका]त्रयम्[4] । १०

माभून्न तद्दर्शनं को दोष इति चेत्; अत्राह–**तदभावे** तद्दर्शनाभावे **साकल्येन** अनवयवेन **दृश्यादृश्यस्वभावविवेकासिद्धेः** सुखादिर्नीलादयो **दृश्यस्वभाव(वाः)** ईश्वरादयोऽदृश्य-**स्वभावा** इति यो **विवेको** विभागः तस्य **असिद्धेः** कारणात् **अतिनिद्रायितं जगत् स्यात्** ।

अनभ्यासो नवाऽभ्यासो नाद्वयं वेदनं तथा ।
मानत्राणविनिर्मुक्तेः शून्यत्वे लोकसुस्थितिः ॥ १५

स्यान्मतम्–न कचित् मया[5] परमाणव इष्यन्ते यथाव्याहारं (व्यवहारं) तत्त्वोपगमात् तेनायमदोष इति; तत्राह–**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षं विश्वतः पश्यन्न चेद् व्यावृत्तमन्यतः ।
स्वलक्षणमदृश्यार्थस्वभावाभावदृक् कथम् ॥३७॥

यथैकं पश्यन् तदर्थान्तरस्वभावाभावं नियमेन पश्यति तथा उपलब्धि [लक्षण- २० **प्राप्तस्य] अन्यथा असङ्कीर्णस्वभावोपलब्धेरनुपपत्तेः । तथा च–**

दध्यादौ न प्रवर्त्तेत बौद्धः तद्भुक्तये जनः ।
अदृश्यां सौगतीं तत्र तनूं संशङ्कमानकः ॥
दध्यादिके तथा भुक्ते न भुक्तं काञ्जिकादिकम् ।
इत्यसौ वेत्तु नो वेत्ति न भुक्ता सौगती तनुः ॥ इति । २५

व्याधिभूतग्रहेन्द्रियादीनामेकान्ते निवार्यमाणे प्रवृत्तिनिवृत्त्योः कुतः सिद्धिर्यतः प्रत्ययान्तरसाकल्यं वैकल्यमन्यद्वा प्रवर्तेत मन्त्रौषधादिशक्तेश्च दृश्य [लक्षणानुपपत्तेः] । न चायमेकान्तः दृश्यस्य आत्मशक्तिर्दृश्यैव इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।]

---

(१) अदृश्यानुपलम्भाद् आरेकैकान्ते संशयैकान्ते सति । (२) खण्डमुण्डादिगोविशेषेषु । (३) कर्कादि–श्वेताश्वादि । (४) "सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः । स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः॥ तस्माद् यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः । जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥ तस्माद्यो येन धर्मेण विशेषः संप्रतीयते । न स शक्यस्ततोऽन्येन तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥"–प्र० वा० ३।३९-४१ । (५) विज्ञानवादिना ।

प्रत्यक्षं कर्तृ **चित्रकर्ता** चित्रमाश्रित्य यद् व्यवस्थितम् । तत् किं कुर्यात् ? इत्यत्राह–**स्वलक्षणं पश्यन्** । किंभूतम् ? **अन्यतः** सजातीयविजातीयाद् **व्यावृत्तं चेत्** यदि; कथम् **अदृश्यार्थस्वभावाभावदृग् न** ननु अदृश्यार्थस्वभावस्य अभावदृग् कथं न ? भवत्येव । अन्यथा अन्यतो व्यावृत्तं स्वलक्षणं तेन कथं पश्येत् ।

५ कांचिकाम् आविष्कुर्वन्नाह–**यथैकम्** इत्यादि । **यथा** येन व्यापि (व्यवहारि) जनानुरोध-प्रकारेण **एकं** भुञ्जानं पश्यन् सौगतः उपलब्धिलक्षणप्राप्ता [न] **तदर्थान्तरस्वभावाभावं पश्यति नियमेन** अवश्यंभावेन **तथा** तेन प्रकारेण । किं करोति ? इत्याह–**उपलब्धि** इत्यादि । '**पश्यन्ति**' इति सम्बन्धः । न ह्यसौ दध्यादिकं (दध्यादि) स्वलक्षणप्राप्ता (प्राप्तो) रजतादेः (रजतादेः)रेवाभावं पश्यति न पुनरदृश्य वो विषमस्य (वोपिसमस्य)समूहस्य । अस्यानभ्युपगते
१० (गमे) दूषणमाह–**अन्यथा** इत्यादि । अनेन (अन्येन) उक्तादपरेण [३४९क] प्रकारेण **अनु-पपत्तेः** । कस्याः ? **असंकीर्णस्वभावोपलब्धेः** । तथा च–

दध्यादौ न प्रवर्तेत बौद्धः तद्भुक्तये जनः ।
अदृश्यां सौगतीं तत्र तनुं संशङ्कमानकः ॥
दध्यादिके तथा भुक्ते न भुक्तं काञ्जिकादिकम् ।
१५ इत्यसौ वेत्तु नो वेत्ति न भुक्ता सौगती तनुः ॥ इति ।

दूषणान्तरमाह–**व्याधी**त्यादि । व्याधिभूतग्रहेन्द्रियादीनाम् एकान्ते[ऽ]स्मिन् वि(नि)-वार्यमाणे **प्रवृत्तिनिवृत्त्योः** सद्भा[वाऽ]सद्भावयोः **कुतः सिद्धिः** ? न कुतश्चित् , **यतः** सिद्धेः प्रत्ययान्तराणां साकल्यं वैकल्यम् अन्यत्र प्रतिपद्येत । पुनरपि तदन्तरमाह–**मन्त्रौषधादि-शक्तेश्च** '**प्रवृत्तिनिवृत्त्योः कुतः सिद्धिः**' इत्यादिना सम्बन्धः । नायं दोषः तस्याः दृश्यत्वात्
२० इति चेत् ; अत्राह–**दृश्ये**त्यादि । **न चायम् एकान्तः दृश्यस्य आत्मशक्तिः दृश्यैव** इति, क्षणभङ्गेन व्यभिचारित्वात् **इत्यलमतिप्रसङ्गेन** दूषणपरम्पराया(रया) ।

ननु व्यवहारे अदृश्यानुपलब्धिः संशयहेतुः उक्ता, तत्र चायं दोषोऽस्तु न पुनः प्रति-भासाद्वैते, तत्र अदृश्यस्यापि परचित्तादे(चित्तादे)र्निषेधादिति चेत् ; अत्राह–**स्वभाव** इत्यादि ।

[स्वभाव [विप्रकृष्टत्वे] चित्रैकानंशसंविदाम् ।
२५ **क्षणिकत्वं कुतः सिद्धं सत्त्वस्यानुपलम्भतः ॥३८॥**

संविदां तत्त्वमनंशमदृश्यं कथमस्ति ? कथं च न ? स्वभाव [विप्रकर्षात्] । अत एव स्वपरभावाभ्यां व्यावृत्तिर्न सिध्येत् । अप्रत्यक्षोपलब्धेः कुतो बहिरर्थसिद्धिः संभाव्येत । न च सत्तानुमानं युक्तं यतः ।]

इदमत्र तात्पर्यम्–निरंशैकपरमाणुरूपं तत् संवेदनं **चित्रम्** , **एकं** वा ? प्रथमपक्षे

(१) प्रत्यक्षम् । (२) प्रत्यक्षम् । (३) दधिभक्षणाय । (४) शरीरम् । (५) दध्यादिनिषेधम् । (६) भक्षको भिक्षुः । (७) दूषणान्तरमाह । (८) क्षणभङ्गो हि दृश्यघटादेरात्मभूतोऽपि अदृश्यो भवति । (९) "विप्रकृष्टविषया पुनरनुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः ।"–न्यायबि० २।४७ ।

सत्त्वान्तरवदनुपलब्धेः तदभाव इति **क्षणिकत्वं कुतः सिद्धम् ?** न कुतश्चित । केषाम् ? इत्याह–**अनंशसंविदाम् ।** कुतः ? इत्याह–**सत्त्वस्य** [स्व] भावविप्रकर्षात [**अनुपलम्भतः**] । अनुपलम्भेन तत्सत्त्वस्यैवाभावात इति भावः । कस्मिन ? इत्याह–**स्व** इत्यादि ।

कारिकाविवरणमाह–**संविदाम्** इत्यादि । **संविदां तत्त्वं** स्वरूपम [३४९ख] **अनंशम-दृश्यमनुपलभ्यम** अतो न **अस्ति** इति मन्यते । ततः किं जातम ? इत्याह–**कथम्** इत्यादि । **'कथं च न'** इति परस्य प्रश्नः । तत्र हेतुरुच्यते **स्वभाव** इत्यादि । **अत एव** स्वभावविप्रकर्षादेव **स्वपरभावाभ्यां व्यावृत्तिर्न सिध्येत् । मन्धियाम् [संविदाम्]** इति सम्बन्धः । ५

ननु मिथ्याग्राह्याकारदर्शना [न] तदस्तीत्यनुमीयते ततकथमुक्तं 'नास्ति' इति चेत ? अत्राह–**कुतो बहिरर्थोपलब्धिः अप्रत्यक्षोपलब्धेः** सकाशात '[१]अप्रत्यक्षोपलब्धेः' **संभाव्येत** संविदां तत्त्वम इति । दूषणान्तरमाह–**न च** नैव **सत्तानुपमानमितं**(नुमानम् अनुमितं) **बौद्धैः** १० *"**सत्तायां हि साध्यायां सर्वो हेतुः त्रयीं होष्यैजगतां नापि य सेम (त्रयीं दोषजातिं नातिवर्तते)**" [प्र० वा० स्ववृ० १।१९३] इति वचनात **युक्तं** वा **न च सत्तानुमानम्** इति हेतोरभावादिति भावः । अत्रापि यतः सत्तानुपमा (नुमा)नात संभाव्येत इति व्याख्येयम ।

उपसंहारकारिकां **दृश्यस्वभाव** इत्यादिकामाह–

[दृश्यस्वभाव एकान्ते नैवान्तर्बहिः क्वचित् । १५
कुतः का क्व [च] भावः [स्यात्]क्वाभावव्यवहारकृत् ॥३९॥

बहिरन्तर्वा संशयस्यापि सिद्धेरयोगात् किं केन व्यवस्थाप्येत ? तदयं भूतचतुष्टयवादिनः पापीयान् ।]

एकान्ते क्वचिद् दृश्यस्वभाव उपलभ्यस्वभावो(वे) **नैव अन्तर्बहिः** । [कुतः] किं जातम ? इत्याह–**कुतः** प्रमाणात , **का** उपलब्धिः, **क्व भावः** सत्ता उपलब्धिनिबन्ध- २० नत्वात्तस्याः । तदभावेऽभावादिति **क्व अभावव्यवहारकृत्** सौगतः, तद्व्यवहारनिबन्धनस्य अन्योपलम्भस्याऽभावात् ।

कारिकां व्याचष्टे–**बहिरन्तर्वा** इत्यादिना । संशयस्तर्हि स्यादिति चेत ; अत्राह–**संशयस्यापि** न केवलमन्यस्य **सिद्धेः** प्रतिपत्तेर**योगात्** , तस्यापि ज्ञानत्वात् निरंशत्वेन अन्यसमानत्वात् । अथवा, **सिद्धेः** निष्पत्तेर**योगात्** तन्निबन्धनभावाभावसाधारणोपलब्धेरभावात् । २५ अस्तु सकलशून्यत्वं [३५०क] तदपि बौद्धाभिमतमेवेति चेत ; अत्राह–**किं** शून्यत्वे (त्वं) **केन** प्रमाणेन **व्यवस्थाप्येत** न किञ्चिन केनचित । यत एवं **तत्** तस्मादयं सौगतः **भूतचतुष्टय-वादिनः पापीयान्** तेन प्रत्यक्षप्रतीतस्य आत्मन एव निषेधः कृतः अनेन सर्वस्य इति मन्यते ।

(१) 'अप्रत्यक्षोपलब्धेः' इति द्विर्लिखितम् । (२) असिद्धविरुद्धानैकान्तिकसंज्ञिकाम् । सत्तासाध्ये भावधर्मो हेतुरसिद्धः, अभावधर्मो विरुद्धः, उभयधर्मश्च अनैकान्तिक इति । (३) सत्तायाः । (४) उपलब्ध्यभावे । (५)'अर्थान्तरोपलम्भस्य । (६) चार्वाकात् ।

मा भूत् सकलप्रतिभासवैकल्यमात्रमप्रमाणकं शून्यत्वम् , अपि तु *"**प्रतिभास एव एकानेकत्वादिधर्मशून्यः तथैव च सांवृतः कार्यकारणभावः**" इति प्रज्ञाकरः; तत्राह–**प्रत्यक्षत्वम्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षत्वमभावानां कार्यकारणतेत्यपि ।
तेषामेव प्रसङ्गेन निरंशानुपलम्भनात् ॥४०॥

परमार्थसतोऽनुपलब्धेः । प्रत्यक्षानुमानयोः साकल्येन अवस्तुविषयत्वात् , कार्यस्वभावहेत्वोरवस्तुरूपत्वात् कुतस्ततः किञ्चित् सिध्येत । न चैतत् निरंशं तत्त्वं सांव्यवहारिकं प्रमाणं प्रतिपत्तुं युक्तं प्रतीतिविपर्यासात् , तदेकान्तेऽनुपपत्तेः ।]

प्रत्यक्षत्वं तद्विषयत्वं वा **अभावानां** वन्ध्या (वन्ध्या)सुतादीनां **कार्यकारणता** हेतुफलभावः **इत्यपि** **तेषामेव प्रसङ्गेन** न वस्तूनाम् । कुतः ? इत्याह–**निरंशस्य** तत्त्वस्य सर्वविकल्पातीतसंवेदनस्य अन्यस्य वा **अनुपलम्भनात्** ।

कुत एतत् ? इत्यत्राह–**परमार्थसत** इत्यादि । निरंशपरमाणुभागचित्राद्वैतस्य **परमार्थसतोऽनुपलब्धेः** । कुतः ? इत्यत्राह–**प्रत्यक्ष** इत्यादि । **प्रत्यक्षस्य** वचनवदवस्तुस्थूलाकार**विषयत्वात्** , **अनुमानस्य** तथाविधसामान्यगोचरत्वात् , **साकल्येन** अ[न]वयवेन ।

नन्वनुमानस्य अवस्तुविषयत्वेऽपि वस्तुसाधनत्वं तत्र प्रतिबन्धादिति चेत ; अत्राह–**कार्य** इत्यादि । **कार्यस्वभावहेत्वोरवस्तुरप (रूप)त्वात्** मरीचिकाजलवत् असत्स्वभावत्वात् । यदि वा; निरंशत्वादनुपलम्भेन तयोरपि वस्तुरूपत्वाभावात् । एतदुक्तत्वं(क्तं) भवति–यदि कार्यस्वभावयोः परमार्थतः तत्त्वम् ; तर्हि तयोः साध्ये प्रतिबन्धात् तज्जाति (तज्जनि)तस्यानुमानस्यापि संभवेत । न चैवम् इति **कुतः** कारणात् **ततः** ताभ्यां कार्यस्वभावहेतुभ्यां **किञ्चित्** पराभिमतं **सिध्येत्** न कुतश्चित् । यद्वा, 'प्रत्यक्षा [३५०ख] नुमानाभ्याम्' इति ग्राह्यम् । अथ व्यवहारिणः अभ्यासानभ्यासयोः यथा ताभ्यामेव तिद्वप (तद्विप)याभ्यां भाविवस्तुसिद्धिः उपायान्तराभावात् तथा ममापि निरंशत्वसिद्धिः इति; तत्राह–'**न चैतद्**' इत्यादि । **न च** नैव इति (एतत्) **निरंशं तत्त्वं** कर्तृ **प्रतिपत्तुम्** आश्रयितुं **युक्तं** शक्तम् । किम् ? इत्याह–**सांव्यवहारिकं प्रमाणम्** । कुतः ? इत्याह–**प्रतीतिविपर्यासात्** । यथा पूर्वं पश्चाच्च सांव्यवहारिको प्रतीति-तद्विपर्यासेन तत्त्वोपगमात् , प्रतीत्यनुसारेण च तद्व्यवस्था; तर्हि निरंशस्य अनुपलब्धेः उपलभ्यमानस्य च विचारासहत्वात् चेति ।

मात्रवस्तु (नन्वस्तु) *"**मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२१५] इति चेत; अत्राह–**तदि(तदे इ)त्यादि** । **[तदेकान्ते]** मिथ्यैकान्तेऽभ्युपगम्यमाने **अनुपपत्तेः** । '**प्रत्यक्षत्वम्**' इत्यादिना सम्बन्धः ।

---

(१) काल्पनिकः । (२) अभावानामेव । (३) शब्दवत् । (४) अवस्तुभूत । (५) वस्तुनि । (६) कार्यस्वभावहेत्वोरपि । (७) तत्त्वम् । (८) कार्यस्वभावहेतुभ्यामेव ।

विभ्रमाऽसिद्धेः इति चेत् ; अत्रोत्तरम्-अन्तर्वृत्तेन 'तादात्म्य' इत्यादिना दर्शयति ।

[तादात्म्यादि प्रतीमः एकलक्षणविदो वयम् ।
सहक्रमविदामेकं तर्कात् स्वसंवेदनम् ॥४१॥

यतस्तत्त्वं यथा युगपत् प्रत्यक्षेतरत्वयोः ।
समुदाय्यपि सम्बन्धात् तथैव समुदायिनाम् ॥४२॥

गुणीति गुणसमुदायः एकान्तः क्व नु संभवेत् ।
यदिदं प्रतीयमानं नोल्लङ्घ्यमपरैः जनैः ॥४३॥]

तादात्म्यं साध्यसाधनयोः द्रव्य-पर्याययोः कथञ्चिदेकत्व**मादि**र्यस्य हेतुफलभावै-कत्वानेकत्वादिनाः (दीनां) तत्तथोक्तं **प्रतीमः** । के ? इत्याह-**एकलक्षणविदो वयं** जैनाः [कस्मात् ?] इत्याह-**तर्कात्** विचारात् । १०

ननु पूर्वपर्यायपर्यवसितज्ञानानन्तरपर्यायवृत्तिमत् तत् कथं तादात्म्यादिकं प्रतीमः इत्यु-च्यते इति चेत् ; अत्राह-**सहे**त्यादि । [**सहविदां** रूपरसादिगुणग्रहणानाम्] **क्रमविदां** मृत्पिण्डशिवकछत्रकादिपर्यायग्रहणानाम् **एकमभिन्नं स्वसंवेदनं स्वम्** 'आत्माऽयम्' **संवेदनं** आत्मापरनामकं **तर्कात् प्रतीमो यतः** इति । कदा कयोरिव ? **युगपत् प्रत्यक्षेतरत्वयोः ।** यथैव संवेदनं ततः प्रतीमः इति **तथा सम्बन्धात्** संयोगात् । केषाम् ? **समुदायिनाम्** १५ अवयवासंहतां (अवयवसंहतानाम्[2]) हस्तपादादीनां [३५१क] यः **समुदायि(यी)** शरीर-व्यपदेशभाक् सोऽपि **तत्त्वमेकत्वं** 'प्रतीयते' इति विभक्तिवचनपरिणामेन सम्बन्धः । [यथा] परमाणुसन्निवेशमात्रं **तथैव गुणानां** रूपादीनां **समुदायः तत्त्वं** प्रतीयते । यस्या (अस्य) पर्यायमाह-**गुणीति । इति** हेतोः **एकान्तः क्व नु संभवेत् ?** न क्वचित् । **यद्** यस्माद् एकान्त(न्ता)संभवात् **इदं प्रतीयमानं** स्वलक्ष्यात्मलक्षणम् अनेकान्तरूपत्वमु (त्वं **नो**) २० **ल्लङ्घ्यमपरैः जैनैः (जनैः)** ।

इति सि द्धि वि नि श्च य टी का याम् अ न न्त वी र्य विरचितायां
हेतुलक्षणसिद्धिः षष्ठः प्रस्तावः ॥ छ ॥

---

(१) मृत्पिण्डशिवकछत्रकस्थासकोशकुशूलघटाः क्रमवर्तिनः पर्यायाः मृदो घटाकारभवनोन्मुखायाः ।
(२) अवयवरूपेण संहतानाम् एकत्रीभूतानाम् स्कन्धानाम् ।

[सप्तमः प्रस्तावः]

[७ शास्त्रसिद्धिः]

प्रत्यक्षादिवत् शब्दोऽपि अर्थप्रसाधकः, तत्र च अविप्रतिपत्तेः तदुपपादनार्थमाह–**शास्त्रम्** इत्यादि ।

> **[शास्त्रं शक्यपरीक्षणेऽपि विषये सर्वं विसंवादकम् ,**
> **मिथ्यैकान्तकलङ्कितं बहु समुद्वीक्ष्य तर्कागमैः ।**
> **स्यात्कारश्रुतसत्यलाञ्छनमुपादेयं सतां शासनम् ,**
> **कारेकाऽत्र परीक्षणक्षमधियामेकान्तपक्षैरलम् ॥१॥]**

५

शास्त्रं महावाक्यं (महत्वा)न्तरवाक्यात्मकं वचनम् , केवलस्य वर्णस्य पदस्य न व्यवहारानुपयोगात् । तत् किम् ? **उपादेयम्** आप्तप्रणीतं प्रामाणिकं (आप्तप्रणीतं प्रामाणिकम्) कर्तव्यम् इत्यर्थः । कथम् ? इत्याह–**परीक्षणक्षमधियाम्** । कर्तरि वा *"कर्तृकर्मणोः
१० कृति" [पाणिनि० सू० २।३।६५] इति । 'तत्त्वपरीक्षणक्षमबुद्धिभिः' इत्येके (इत्यर्थः । क ? इ)त्याह–**शक्यपरीक्षणेऽपि** । **शक्यं परीक्षणं** यस्मिन् लिङ्गादौ न केवलम् अत्यन्तपरोक्ष एव **विषये** । किं किञ्चिदेव ? न ; इत्याह–**सर्वं** सर्वज्ञेतरप्रणीतम् । किंभूतम् ? इत्याह–**स्यात्कार** इत्यादि । 'स्यात्' इति करणम् उच्चारणं यस्य तत् **स्यात्कारं** तस्य तत्र (तत्) **श्रुतं च** शब्दः तदेव **सत्यम्** अवितथं **लाञ्छनं** यस्य
१५ तत्तथोक्तम् । कुतः ? इत्याह–**सतां** विद्यमानानां जीवादीनां **शासनं** प्रतिपादकम् । अथवा सताम् अर्हतां ज्ञापकम् तत्कार्यत्वेन यतः । इत्थम्भूतत्वमस्य सन्दिग्धमिति चेत् ? अत्राह–काऽत्र कोविदारेका (**का ? न** काचित् **आरेका**) संशीतिः **अत्र** सतां शासने । [७ ७ १ ख] केषाम् ? इत्याह–**परीक्षणे**त्यादि ।

नन्वत्रैकान्तवादिप्रयुक्ता दोषाः सन्ति तत्कथमुपादेयमिति चेत् ? अत्राह–**एकान्त**त्यादि ।
२० विषयिण्येकान्तवादिनि विषयस्य एकान्तस्य उपचारात् **एकान्तपाक्ष्यैः (भाष्यैः)** तद्वादिव्यामोहैः **अलं** पर्याप्तमात्रेति (पर्याप्तम् **'अत्र'** इति) सम्बन्धः, तद्दोषाणां निराकरणादिति मन्यते । किं कृत्वा तदुपायम् (तदुपादेयम् ?) इत्याह–**विसंवादकम्** इत्यादि । **मिथ्यैकान्तकलङ्कित (तं) विसंवादक बुद्धीक्ष्य (कम् उद्वीक्ष्य)** ज्ञात्वा **'शास्त्रम्'** इत्यादि अत्रापि सम्बध्यते । कैः ? इत्यत्राह–**तर्कागमैः**, **तर्केण** तस्यैव दृष्टेऽपि युक्तेतरविवरणात्

(१) महावाक्यमवान्तरवाक्यञ्च शास्त्रे भवतः । (२) षष्ठी । (३) "कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात्"–सि० कौ० २।३।६५ । (४) भगवदर्हतः कार्यं श्रुतम् । (५) एकान्तवादिप्रयुक्तदोषाणाम् । (६) शास्त्रमुपादेयम् ।

न्यायाराद् (यान) **आगमैश्च** तत्त्वाक्यैः (तद्वाक्यैः) इति । किंभूतैः ? इत्याह–**बहुमुखैः** बहुभेदैः ।

ननु सांव्यवहारिकप्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सकलार्थसिद्धेः किमर्थं शास्त्रमुपादेयमिति चेत् ? अत्राह–**श्रुतम्** इत्यादि ।

[श्रुतं श्रेयःपथः पुंसां बोद्धृणां परिणामिनाम् ।
सोपायोपेयतत्त्वार्थं न वक्त्राकृतसूचनम् ॥२॥ ५

करणं पुरुषस्य ऐकान्तिकात्यन्तिकानादिदुःखनिवृत्तेरुपायतया गुणपुरुषान्तरभेदतत्त्वं यथा यथा शृणोति गृह्णाति संधारयति विजानाति वितर्कयति अभिनिविशते तथा तथा चेतनोऽपरिणामी पुरुषः एतद्दर्शितं निर्वेदं पश्यन् कैवल्यमनुभवन् मोक्षमुपैति । पुनः करणं न दर्शयति । न चायं पुरुषः औत्सुक्यनिवृत्तेः वश्यति इति केचित्[1] । तदुपायो- १० पेयतत्त्वममृष्यन्तो नैयायिकाः कथं चिद्वृत्तिः अचेतनस्य करणस्य अतिप्रसङ्गात् ? कथं वाऽचेतनस्योपलब्धिः ? कथं करणमन्यकरणं विना पश्येत् ? कथं चेतनस्याप्यकर्तुरुपलब्धिः ? दृश्यदर्शनस्वभावयोः व्यापकयोः वा तदवस्थयोः कथं वा संयोगः ? इति आत्मादितत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ दोषानुत्पत्तेः प्रवृत्त्यसंभवात् जन्मनिवृत्तौ अशेषगुणरहितस्यात्मनः स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षमाहुः[2] नैयायिकाः । सोऽयमात्मात्मीयग्रहः १५ संसारहेतुः अयोनिशो मनस्कारो यतः कथं मोक्षाय ? नित्यस्य वस्तुत्वमेव न संभाव्यम् इति चतुःसत्यभावनोपायं सकलसन्तानोच्छेदरूपं निर्वाणं ब्रुवाणाः[3] सौगताः प्रत्यवस्थाप्येरन् । कथं चतुःसत्यप्रतिपादकवचनजनितमिथ्याज्ञानस्य अर्थाविषयत्वात् ततः तत्त्वप्रतिपत्तिः ? कथमतत्त्वभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं तत्त्वज्ञानं निर्वाणं च । नैरात्म्येतरपक्षयोः मिथ्यैकान्ताविशेषे अस्ति वा कश्चिद्विशेषः ? प्रत्यक्षहेतुतदाभासविकल्पसम्बन्ध- २० भावाभावयोश्च, मिथ्याविषयताविशेषात्, यथालक्षणं स्वलक्षणविलक्षणजात्यन्तर-

(१) "एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् । अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥ ज्ञानं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपमित्यर्थः । प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ । ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥ इत्थमैकान्तमत्यन्ततः तापत्रयस्याभावात् उपरमाद्-नुत्पत्तेः कैवल्यं मोक्ष इत्यर्थः, तमाप्नोति ।"–सांख्यका० माठरवृ० । (२) "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।"–न्यायसू० १।१।२। (३) "अथवा, एतेसं अभिसम्बुद्धत्ता अरियभावसिद्धतोपि अरियसच्चानि । यथाह–इमेसं खो भिक्खवे चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतं अभिसम्बुद्धत्तो तथागतो अरहं सम्मासम्बुद्धोत्ति वुच्चतीति [सं० ५।४३३]"–विसुद्धि० १६।२०-२२। "यद्विनिश्चयः–चतुरार्यसत्यदर्शनवदिति। आरात् पापकेभ्यो धर्मेभ्यो याता इत्यार्याः । अत एव तानि सत्यतया मन्यन्त इति तेषां सत्यानि । चतुष्ट्वाच्च तेषां चत्वारीत्युक्तम् । फलभूताः पञ्चसंक्लेशस्कन्धाः दुःखाख्यं सत्यमेकम् । त एव हेतुभूतास्तृष्णासहायाः समुदयाख्यं सत्यं द्वितीयम् । चित्तस्य निष्क्लेशावस्था निरोधाख्यं सत्यं तृतीयम् । तदवस्थाप्राप्तिहेतुर्नैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो मार्गाख्यं सत्यं चतुर्थमिति ।" –न्यायबि० ध० प्र० पृ० ६७ ।

लक्षणात् कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिः ? साधनवचनस्यापि तत्त्वानभिधानोपगमात्, ततः कीदृशी सुगतस्य तत्त्वदेशना ?]

श्रुतमेव न प्रत्यक्षानुमाने, तयोरल्पविषयत्वात्। **श्रेयो** मोक्षः तस्य **पन्था** मार्गः, तन्मार्गस्य सम्यग्दर्शनादेः उपदेशात् श्रेयःपथः। केषाम् ? इत्याह–**पुंसाम्** आत्मनां न क्षणिकचित्तसन्ततीनां तदभावात्। ज्ञानाद् एकान्तेन भिन्नानां स्यादिति चेत्; अत्राह–**बोद्धृणाम्** स्वपरस्वभाववेदकानाम् अन्येषां सदपि श्रुतमनुपयोगि, घटादीनामिव तस्य श्रवणे अर्थावधारणे तदनुष्ठाने तत्फले मोक्षे च सति [न] तेषां तदुपयोगि। न च ज्ञानात् भिन्नात्मनां तदस्ति गगनादीनामेवेदितिनात्म्न (नामिव इति नात्म)कल्पनं फल्ववत्।

अथात्मनां ज्ञानं बन्धो (ज्ञानसम्बन्धः) न गगनादीनां ततोऽयमदोषः; [३५२क] कथमदोषो यतः समवायसम्बन्धनिरोधात्, गतोऽपि सर्वत्राविशेषात्। न च भिन्नस्य आत्मनो दर्शने 'इह ज्ञानम् आत्मनि' इति प्रत्ययोऽस्ति येन समवायोऽत्र स्यात्, अन्यथा 'खरशृङ्गे ज्ञानम्' इत्यपि स्यात्।

अथ ज्ञानं द्रव्याश्रितं गुणत्वाद् रूपादिवत्, गुणतद्वतोश्च भेदः अन्यथा तद्योगादिति मतिः; सापि न युक्ता; य ततः (यतः) सापि ज्ञानादिरूपादिभ्यो भिन्नस्य आधारस्य दर्शने सत्येव स्यात्, न च तदस्ति इत्युक्तं पुरस्तात्। तथापि तद्दर्शनकल्पने ततोऽप्यन्यस्य तदाधारस्य ततोऽप्यन्यस्य तदाधारस्य दर्शनकल्पनमित्यनवस्था स्यात्। तर्हि नानादि (ज्ञानादि) रूपादिमात्रमापन्नमिति नात्म (नात्मा) नापि घटादिस्कन्ध इति शाक्यशासनं समस्तमिति चेत्; न; पूर्वापरीभूतैकज्ञानस्य आत्मत्वप्रसाधना तथ (प्रसाधनात्, तथा) रूपादिविशेषाणां कथञ्चिदेकत्वमुपगतानां घटादिस्कन्धस्थापनात्। तथाविधज्ञानस्य अपरद्रव्याश्रितत्वसाधने तपक्ष (मत्पक्ष) साधन(नं) हेतुश्च असिद्धः, तस्य गुणत्वासिद्धेः: *"**द्रव्याश्रय (य्य)गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणम् [अनपेक्षः] गुणः**" [वैशे० सू० १।१।१६] इति गुणलक्षणम्। न चास्य द्रव्याश्रयित्वम्; पूर्वापरज्ञानभेदेन वाऽस्य सम्बन्धात् द्रव्यगुणयोरविशेषः। अथ पूर्वोत्तरस्वभावयोः गुणत्वं तदाश्रितत्वं च उच्यते; अत्र परिहारः–

ज्ञानाद्भिन्नस्तथा न स्यादात्मा स्त (स्तु त)था मतिः (सति)।
समवायस्तथैकार्थसमवायिविदा च वित ॥

ततः सूक्तम्–**बोद्धृणाम्** इति। एवमपि *"**चैतन्ये (न्यं) पुरुषस्य स्वं रूपमपिति (स्वरूपम्)**" [योगभा० १।९] इति वचनात् सांख्यपुरुषाणां तत्स्यात् इति चेत् [३५२ख] अत्राह–**परिणामिनाम्** इति।

(१) मोक्षमार्गस्य। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"–त० सू० १।१। (२) सन्ततीनामभावात्। (३) ज्ञानाद् भिन्नानाम्। (४) श्रुतस्य शब्दस्य। (५) विद्यमानस्यापि सर्वगतस्य एकस्य। (६) आत्मनि। (७) गुणत्वायोगात्। (८) आधारदर्शनम्। (९) पूर्वापरीभूतैकज्ञानस्य। (१०) जैनपक्ष। (११) श्रेयः।

ननु साङ्ख्यस्य पुरुष द्रष्टारो बोद्ध (पुरुषा द्रष्टारः, बोद्धृ) पुनः प्रधानं बोधपरिणामात्, तत्कथमेवमाशङ्कितमिति चेत्? न; बोधदर्शनयोरव्यतिरेकात्[1]।

स्यान्मतम्– [2]नित्यं श्रुतं तेषां श्रेयःपथो[पायं स्यादिति चेत; अत्राह–**सोपायो]पेय-तत्त्वार्थम्** इति। **उपायो** हेतुः संसारस्य मिथ्यात्वादिः मोक्षस्य सम्यग्दर्शनादिः **उपेयं** फलं संसारो मोक्षश्च, सह उपायेन वर्त्तत इति **सोपायम्** तच्च तद् **उपेयं** च तदेव **तत्त्वम्** ५ **अर्थो** विषयो यस्य तत्तथोक्तम्। [न] च नित्यं वेदश्रुतम एवंविधिमिति निवेदयिष्यते। [3]पि ट-क त्र याख्यं तेषां[4] तत्पथं इति चेत; अत्राह–**न वक्त्राकृतस्टव (सूच)नम्** इति। पुरुषाभिप्रायसूचकं सौगतं वचः श्रेयःपथो न।

सांख्य (ख्यं) नैयायिकेन नैयायिकं सौगतेन [5]तं च स्वयं निराकुर्वन्, व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याचष्टे–'**करणम्**' इत्यादिना। तत्र सांख्यमतं तावद्दर्शयति--**करणं** श्रोत्रादि **यथा यथा** १० **शृणोति गृह्णाति** श्रुतं शास्त्रार्थमवगच्छति **संधारयति** कालान्तरस्मरणधारणाविषयतां नयति **विजानाति** तदर्थपरिणतं भवति **वितर्कयति** 'युक्तमिदम् इदं वान्यथा' इति विजयते (विचयते[6]) **अभिनिविशते** युक्तं रुचिं करोति। किम्? इत्याह–**गुणे**त्यादि। **गुणाः** सत्त्वादयः **पुरुषाः** पुमांसः तेषाम् **अन्तरं** भेदः स एव **तत्त्वं** तदिति। केन रूपेण? **उपायतया** कारणतया। कस्य (स्याः)? इत्याह–**अनादिदुःखनिवृत्तेः**। किंभूतायाः इत्ये (इत्याह–ऐ)**कान्तिके-** १५ त्यादि। कस्य सम्बन्धिन्याः? इत्याह **पुरुषस्ये**ति। **तथा तथा पश्यन्**। किम्? इत्याह–**निर्वेदं** वैराग्यं च। किंभूतम्? इत्याह [३५३क] **एतद्दर्शितं** करणदर्शितम्। कः? इत्याह–**पुरुषः**। किंभूतः? **चेतनः**। पुनरपि किंभूतः? **अपरिणामी** सन् (स तम) पश्यन् किं करोति? इत्याह–**मोक्षमुपैति**। किं कुर्वन्? **अनुभवन्**। किम्? **कैवल्यम्**।

ननु मुक्तस्यापि पुनः संसारः स्यादिति चेत; अत्राह–**पुनः** पश्चात् **तरणं (करणं) न** २० **दर्शयति** 'आत्मानम्' इत्यध्याहारः। **न च नैवार्यपुरुषः वश्यति**। कुतः? इत्याह–**औत्सुक्य-निवृत्तेः इत्येवं केचित्** कापिलाः।

तत् नैयायिकेन दूषयन्नाह–**तद्** इत्यादि। **तत्** साङ्ख्यसम्बन्धि। किम्? **उपायोपेय-तत्त्वम् मृष्यतो (अमृष्यन्तः)** असहमानाः **नैयायिका मोक्षम् 'आहुः'** इति सम्बन्धः। कथं मृष्यत (अमृष्यन्तः)? इत्याह–**कथमित्यादि**। **कथं चिद्वृत्ति[ः]** ज्ञानं श्रवणादिरूपम्। २५ कस्य? इत्याह–**अचेतनस्य** प्रधानपरिणामस्य **करणस्य**। कुतः? इत्याह–**अतिप्रसङ्गात्** घटादेरपि तत्प्रसङ्गात्। [वा] अथवा **कथं** केन प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण **उपलब्धिः** प्रतिपत्तिः **अचेतनस्य** परकल्पितस्य न केनचित् तत्र तदभावात्[9] कथं '**करणम्**' इत्यायु(यु)क्तम्।

ननु यदि तत्र स्यात् कथं [10]तद्दर्शितं पुरुषः पश्येदिति चेत्? अत्रोच्यते–करणं कथं पश्येत्

(१) भेदाभावात्। "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्"–न्यायसू० १।१।१५। (२) मीमांसकः प्राह। (३) बौद्धः प्राह। सूत्रपिटकं विनयपिटकम् अभिधर्मपिटकं चेति त्रयम्। (४) पुरुषाणाम्। (५) श्रेयःपथः। (६)सौगतम्। (७) विचारं करोति। (८) पुरुषे। (९) उपलब्ध्यभावात्। (१०) करणदर्शितम्।

अन्यकरणं विना ? अन्यथा अर्थमपि तथैव पश्येदिति किं कृतं करणकल्पनया ? तत्रापि तदन्तरकल्पने अनवस्था । तथापि तत्कल्पनायां दोषमाह–**अतिप्रसङ्गात्**, अन्यस्यापि तथा कल्पना स्यात् इति । तत्र युक्तं कारणम् (**करणम्**) इत्यादि ।

यत्पुनरुक्तम्–'**पश्यन्**' इत्यादि; तत्राह–**कथं चे[त]नस्या[प्य]कर्तुरुपलब्धिः अतिप्रसङ्गात्** इति । अकर्तुः पुरुषस्य *"अकर्ताऽगुणः शुद्धः पुरुषः कापिलदर्शने ।"[1] इति वचनात् कथम् **उपलब्धिः** अर्थसाक्षात्करणं चेतनस्य दर्शस्या (दर्शनस्व)भावस्य । नहि अर्थसन्निधानात् प्राक् [दर्शनस्य] तद्दर्शने [अ]व्यापृतं रूपं यहतः (रूपमजहतः) पुनः तद्दर्शनं युक्तम्[2] पूर्वं न युक्तं पूर्ववत् । परित्यागे कथ [न] कर्तृत्वं करणक्रिययेव दर्शनक्रिययापि क्लिष्टकर्तृत्वात्[3] । अथ सर्वदा उदासीनः पुरुषो दर्पणसंस्थानीयो यो (नीयो) यदा सन्निहितोऽर्थो भवति तं तदा पश्यति इति; तदा(द)युक्तम् ; औदासीन्यापरित्यागे तद्योगादिति । अथ सर्वदा पश्यत्यसौ;[4] तत्राह–**अतिप्रसङ्गादिति** । सर्वस्य सर्वदा सर्वत्र सर्वार्थोपलब्धिप्रसङ्गात् ।

दूषणान्तरमाह–**दृश्ये**त्यादि । **दृश्यदर्शनस्वभावयोः** प्रकृतिपुरुषयोः **व्यापकयोः कथं संयोगो वा** तदेवा (**भवेत् ? वा**)शब्दो प्रसङ्गसमुच्चयार्थः । ननु कदाचित्तयोः अवस्थान्तरावाप्तिः ततोऽयमदोष इति चेत्; अत्राह–**तदवस्थयोः** कूटस्थयोः इत्यर्थः । ननु प्रधानस्य परिणामित्वात् '**तदवस्थयोः**' इत्ययुक्तमिति चेत्; न; पुरुषस्यापि[5] तद्वत् परिणामित्वापत्तेरविशेषादिति मन्यते । यतः (अतः) संयोगो भवेत्[6] यम (भवेदित्यस्या)निवृत्तिरिति । एवं व्यतिरेकमुखेन **परिणामीति** व्याख्यातम् ।

संप्रति नैयायिकमतं दर्शयति सौगतेन दूषयितुम् **आत्मा** इत्यादि । **आत्मादि** प्रधानं यस्य पदार्थसमूहस्य स एव **तत्त्वं** **तज्ज्ञानात् मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ** सत्यां **दोषानुत्पत्तेः** दोषा रागादयः तेषामनुत्पत्तेः **प्रवृत्तेरसंभवात्** रागादिकार्य[धर्मा]धर्मयोरसंभवात् **जन्मनिवृत्तौ अशेषगुणरहितस्य आत्मनः स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षमाहुः नैयायिकाः** । तदुक्तम्–

*"**प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः** ।" [न्यायसू० १।१।१]

*"**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावात्[अपवर्गः]**" [न्यायसू० १।१।२] इति ।

एतद्दूषणमाह सौगतः–**सोऽयम्** इत्यादि । **सः** साङ्ख्याभिमतः **अयं** नैयायिकेन उच्यमानः । कः ? इत्याह **आत्मात्मीयग्रहः कथं मोक्षाय** ? कुत इति चेत् ? आह–**संसारहेतुतः** । न च संसार[कारणमेव मोक्ष]कारणं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् । एतदपि कुतः ? इत्याह–**अयोनिशो मनस्कारो यतः**[9] निर्विषयो विकल्पो[10] यतः इति मन्यते । तदुक्तम्–

(१) "उक्तं च–अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥"–षड्द० बृह० पृ० ४२। (२) 'पूर्वं न युक्तम्' इति पुनर्लिखितम् । (३) द्रष्टापि दर्शनक्रियायाः कर्ता एव । (४) दर्शनकर्तृस्वरूपद्रष्टृत्वायोगात् । (५) पुरुषः । (६) प्रकृतिपुरुषोः । (७) प्रधानवत् । (८) तदव्यवहितपूर्वस्याभावात् । (९) "अयोनिशो मनस्कारः भ्रान्तः निर्णयः'–अभिध० को० टी० ५।३४। (१०) भ्रान्तः इत्यर्थः ।

*"आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥" [प्र० वा० १।२२१] इत्यादि ।

दूषणान्तरमाह–**नित्यस्य** इत्यादि । **नित्यस्य** अविचलितरूपस्य **वस्तुत्वमेवं संभाव्याऽनेन** (मेव न संभाव्यम् । अनेन) तथादृणाम । (**'बौद्धाणाम्'**) इत्येतदपि व्याख्यानम् ।

अधुना सौगतमतं स्वयं दूषयितुमुपन्यस्यति–**चतुःसत्य** इत्यादि । दुःखसत्यादिदुःखसमुदा(द)यनि [रोधमार्गसंज्ञकानि चतुःसत्यानि] तेषां **भावनापायो** हेतुर्यस्य स तथोक्तः तं **ब्रुवाणाः सौगताः** । किं तद् ? इत्याह–**निर्वाणम्** मोक्षम् । किंभूतम् ? इत्याह–**सकल** इत्यादि । [**सकलसन्तानोच्छेदरूपं**] **प्रत्यवस्थायेरन** (**स्थाप्येरन्**) पर्यनुयुज्येरन इति । कथमिति चेत् ? अत्राह–**कथमि**त्यादि । चतुःसत्यप्रतिपादकवचनजनि[तं] तद्विषयं ज्ञानं **मिथ्याज्ञानम्** [तस्य] **अर्थे** (अर्था^ऽ)विषयत्वात् अर्थाप्रतिबन्धात् साक्षात् तस्मादनुत्पत्तेः शब्दस्य १० च तैरर्थे [त]त्प्रतिबन्धानभ्युपगमात् **ततः कथं** न कथञ्चित् **तत्त्वस्य** चतुःसत्यलक्षणस्य [३५४ख] **प्रतिपत्तिः** । तथापि यदेव तेनः प्रतीयते तदेव भाव[य]तां मुक्तिः स्यात इति चेत्; अत्राह–**कथम्** इत्यादि । **कथम् अतत्त्वस्य** शब्दार्थस्य **भावनायाः** तस्याः **प्रष** (**प्रकर्ष**) **पर्यन्तः** प्रकर्षावसानं तस्माज्जातं **तज्जं तत्त्वज्ञानं** चतुःसत्यज्ञानं **निर्वाणं** **'च'** इति पूर्वदूषणसमुच्चये कामशोकाद्युपप्लुतज्ञानमिव अतत्त्वज्ञानमेव स्यादिति । न (तत्र) युक्तम्– १५

*"स्वर्गापवर्गमार्गस्य प्रमाणं भेदको (वेदको) नरः ।
अन्यस्याप्यपरिज्ञाने संभवेदपि तस्य तत् ॥" [प्र० वार्तिकाल० २।३१] इति ।

तत्रैव दोषान्तरमाह–**मिथ्यैकान्त** इत्यादि । नित्यात्मादिप्रतिपादकशास्त्रार्थज्ञानस्येव चतुःसत्यप्रतिपादकशास्त्रस्यापि **मिथ्यैकान्ताविशेषः तस्मिन्** सति **नैरात्म्येतरपक्षयोः नैरात्म्यम्** आत्मरहितत्वम **इतरत्** सात्मकत्वं तयोः **पक्षो** [तयोः] प्रतिज्ञतरयोः **अस्ति वा** २० **कश्चिद्विशेषः** ? न कश्चिदस्ति इत्यर्थः । ततो यथा आत्मा (न आत्म)भावनातो मुक्तिः तथा नैरात्म्यभावनातोऽपि इति मन्यते ।

ननु किमुच्यते तयोर्न कश्चिद्विशेष इति, यावतनैरात्म्यपक्षादिकयावता तरात्म्य पक्षादिकमस्ति (यावता नैरात्म्ये प्रत्यक्षादिकमस्ति) नेतरपक्ष (पक्षे) ततः श्रुतादर्थमवगम्य पुनः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां विचार्य भावयतां नैरात्म्यवादिनामेव मुक्तिरिति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यक्षे**त्यादि । २५ **प्रत्यक्षं** च **हेतुश्च** लिङ्गं **तदाभासौ** च **प्रत्यक्षहेतुतदाभासौ** त एव **विकल्पा** भेदाः तेषां **सम्बन्धो** अर्थाविनाभाव[स्त]स्य **भावाभावौ** प्रत्यक्षहेतुविकल्पयोः अर्थसम्बन्धाभावः (न्धभावः) प्रत्यक्ष [३५५क] हेतुत्वाभासविकल्पयोः सम्बन्धाभावः, तयोश्च **'नैरात्म्येतरपक्षयोः अस्ति वा कश्चिद्विशेषः'** इति सम्बन्धः । पक्षद्वयेऽपि प्रत्यक्षादिनिषेधात । कल्पनया उभयत्रापि तत्समानमिति मन्यते । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–**मिथ्ये**त्यादि । **मिथ्या** कल्पितो ३० **विषयो** [गोचर] स्तयो **भावः तत्ता** तस्या **अविशेषात्** । सोऽपि कुतः? [इत्यत्राह–**यथालक्षणम्**]

(१) अर्थैरेव । (२) शब्दात् । (३) नैयायिकशास्त्र । (४) बौद्धशास्त्र । (५) आत्मवादपक्षे ।

इत्यादि । लक्षणानतिक्रमेण **यथालक्षणं** तत्र तद्वलणं च (तत **स्वलक्षणं च**) नैरात्म्येतरवादिकल्पितं वस्तु तस्माद् **विलक्षणं** विसदृशं **जात्यन्तरं** तस्य इति **लक्षणात्** । तत्र नैरात्म्यपक्षे तत्त्वज्ञानम् (नात) निर्वाणं युक्तम् । एवमस्तु इति चेत् ; अत्राह-**कुतः** इत्यादि । कुतश्चित् प्रमाणात् **तत्त्वस्य प्रतिपत्तिः** सुगतस्येतरस्य वा । एवं तावत् स्वार्थसंपत्तिः सुगतस्य निषिद्धा ।

५ अधुना [परार्थसं]पत्ति निराकुर्वन्नाह-**साधन** इत्यादि । **साधनवचनस्यापि** त्रिरूपलिङ्गवचनस्यापि *"यत् सत् तत् सर्वमनित्यम्" [वादन्या० पृ० ६] इत्येवमादिकस्य न केवलम् *"अग्निहोत्रं जुहुयात्" [मैत्रा० ६।३६] इत्येवमादिकस्य **तत्त्वानभिधानोपगमात्** सौगतैः । [ततः] किम् इत्याह-**ततः कीदृशी** इत्यादि । चतुः **सत्या** (**तत्त्वस्य** चतुःसत्यस्य) **देशना सुगतस्य कीदृशीति** । तत्र युक्तम्-

१० *"ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥" [प्र०वा० १।३२] इति ।

ज्ञानवति सत्यपि तद्वचनात् तत्त्वाप्रतिपत्तेः, वक्तुरभिप्रायमात्राय(र्थ)प्रतिपत्तिः पुनरन्यवचनादपि । तत एवं वक्तव्यम्-

ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये ।
१५ न ज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥ इति ।

सुगतसन्निधानात् स्वयमेव जनस्य तत्त्वप्रतिपत्तिः, *"**कुड्यादिभ्यो वा देशनाः** ।" इति केचित् ; [३५५ ख] तदयुक्तम् ; यतः तत्सन्निधानात्तस्य तत्त्वप्रतिपत्तिः अध्यक्षरूपा, विकल्परूपा वा स्यात् ? प्रथमपक्षे तत्सन्निधानोपाया जन्मिनां सर्वज्ञतेति प्रसक्तम् । चतुः [सत्यज्ञस्य] सर्वज्ञत्वम् इति परस्य मतम् । तदुक्तम्-

२० *"**हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसविस्तो (मसाविष्टो) न तु सर्वस्य वेदकः ॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे ॥**"

[प्र०वा० १।३४-३५] इत्यादि ।

२५ तथा च तत्त्वाभ्यासोऽनर्थकः । द्वितीयपक्षे-विकल्पमात्ररूपा, अनुमानरूपा वा स्यात् ? अत्रापि प्रथमविकल्पे उक्तो दोषः **कथमतत्त्वभावना** इत्यादि । [यदि] पुनस्तस्याः परमार्थविषयत्वमिष्यते, व्याहतमेतत्-*"**द्वे एव प्रमाणे**" [प्र० वार्तिकाल० ३।१] इति *"**विक-**

(१) कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकम् । (२) नैयायिकादिवचनादपि संभवति (३) "संभाराबेधतस्तस्य पुंसश्चिन्तामणेरिव । निःसरन्ति यथाकामं कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥"-तत्त्वसं० श्लो० ३६८० । "सान्निध्यमात्रतस्तस्य···" मी० श्लो० सू० २ श्लो० १२८। (४) जगतः । (५) सुगतसन्निधानमात्रेण । (६) हेयं दुःखसत्यम्, उपादेयं निरोधसत्यम्, तयोः अभ्युपायः समुदय-मार्गसत्ये । (७) एत आगच्छत । (८) पक्षिणो । दूरदर्शिनः दूरश्रुतींश्च । (९) विकल्पात्मकभावनायाः । (१०) "द्विविधमेव प्रमाणम्" -प्र० वार्तिकाल० ।

ल्पोऽवस्तुनिर्भासः" इत्यादि च । द्वितीयविकल्पे लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानम् अनुमानम् । लिङ्गस्य च स्वयं प्रतिपत्तौ ततः साध्यप्रतीतिरपि स्वयमेव इति किं [1]तत्सन्निधानेन ? नहि धूमाद् अग्निं प्रतिपद्यमानं प्रति [2]तदुपयोगि । अथ साध्यवह्लिङ्गज्ञानं तत एव; तच्चेत् प्रत्यक्षम्; अतीन्द्रियत्वाऽविशेषेऽपि लिङ्गे प्रत्यक्षं [3]ततो न साध्ये इति किं कृतो विभागः ? यदि विकल्पमात्रम्; कथमतो लिङ्गप्रतिपत्तिः यतोऽनुमान [रूपत्वम्, अनुमान]त्वे प्रकृतमनुवर्त्तेत इत्यनवस्था । तन्न ५ तत्सन्निधानात् कस्यचित्तत्त्वप्रतिपत्तिः ।

यत्पुनरुक्तम्–'कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः' इति; तत्र ज्ञानमात्रेणापि वर्जितेभ्यः [4]तेभ्यो देशनासंभवे कथमिदं सूक्तम्–

*"विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः । [३५६क]
तेषामन्योऽन्यसम्बन्धान्नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥" इति ? १०

अथ अन्य एव ते शब्दा ये विकल्पाभावेऽपि भवन्ति; तर्हि अन्यदेव तन्निमित्तं यत्ता[यत्तदं]भावेऽपि स्यादिति परलोक(का)सिद्धिः । कथं चैवं सति व्याहारादेः परशरीरे चैतन्यप्रतीतिः ? कथं च न स्यात् ? किं कुड्यादिकवत् कस्यचित्[5] सन्निधानात् भ र्म की र्त्या द यो वदन्ति उत स्वयमेव इति शङ्काऽनिवृत्तेः ।

किंच, तद्देशनाभ्यो यदि न कस्यचित्तत्त्वप्रतीतिः किं ताभिः ? अस्ति चेत्; सिद्धः शब्दः १५ अर्थवाचकः । तद्वद् अन्योऽपि तत्सन्निधानात्तया (था) इति चेत्; [6]अन्यसन्निधानाद् [7]अन्या अपि, भावनियमाभावात् शक्तीनामिति ।

यत्पुनरेतत्–*"विवक्षाप्रतिबद्धजन्मानो[8] विवक्षामेव गमयेयुः ।" इति; तत्रापि कुड्यादिप्रतिबद्धजन्मानः ताः[9][10] कुड्यादिकं गमयेयुः, तच्च तत्सन्निधानमिति दूरे तत्त्वप्रतिपत्तिः व्यवहिता वा स्यात् । ततः स्थितं **कीदृशी तत्त्वदेशना** इति । तथैवैतेन '**सोपायोपेय**' इत्यादि २० व्याख्यातम् ।

ननु सुगतस्यापि विकल्पोऽस्ति ततो धर्मादेना (धर्मदेशना) इति चेत्; अत्राह–'**सोपायोपेय**' इत्यादि ।

**[सोपायोपेयतत्त्वञ्चेद् बुद्धो निश्चित्य वाचकैः ।
परं निश्चाययेच्छब्दविकल्पास्तत्त्वगोचराः ॥३॥** २५

सोऽयं परमार्थासंस्पर्शिभिः विकल्पैस्तत्त्वं निश्चिन्वन् तत्त्वानभिधानैः वाचकैर्विकल्पविषयं निश्चाययति इति क इमं व्याघातभारमुद्वोढुं समर्थः अन्यत्रैकान्तविनश्वरात् ।]

(१) सुगतसन्निधानेन । (२) सुगतसन्निधानं सार्थकम् । (३) सुगतसन्निधानात् । (४) कुड्यादिभ्यः । कुड्यादिभ्यः इति पाठे मूलगन्धकुटीतः इत्यर्थः । (५) चैतन्याभावेऽपि भूतमात्रात् । (६) सुगतस्य । (७) कपिलादि । (८) कपिलादिदेशनाः अपि तत्त्वप्रतिपादिकाः स्युः। (९) शब्दाः। (१०) देशनाः।

बुद्धः सुगतः **निश्चिन्त्य** विकल्पविषयतां नीत्वा [अ]विकल्पेनाऽनिश्चयात्। अनेन एतद्दर्शयति बुद्धस्य शुद्धनिर्विकल्पबोधसद्भावे न ततो वचनप्रवृत्तिरिति तत्कल्पनमनर्थकम्।

एतेन इदमपि निरस्तं यदुक्तं धर्मकीर्तिना–

*"ये कल्पयन्ति कवयः सुगतस्य वाचमेतं कल्पनामपि मुनिः (नेः) परिकल्पयन्ति।

५ तस्यामवाक्तनया चकास्ति दोषं तत [:] स्तुतिपदैर्निगदन्ति तेऽर्थान्॥" इति।

कथम्? [३५३ख] तद्वचनाभावे किं तेन अनर्थकेन अर्था (अनर्थ)पोषिणेन? शेषं चिन्तितमनन्तरम्। अथा द्वैतमस्त्येव (अथ द्वैतमस्त्येव)मुक्तम्, तेन तत्र सर्वमिदमुक्तमयुक्तम्; एतद्वचनतार्थोऽभावात्। ततो वचनप्रवृत्तो (त्तौ) वा, तदर्थो वा ततः प्रतीयेत उभयथापि स्वलक्षणविषयत्वं शब्दानाम्। सौगतानां (सुगते न) स्यादिति चेत्; न; अन्यत्रापि

१० तदनिषेधात्। न वस्तुगतं स्यैव हि प्रत्यक्षम् (न च सुगतस्यैव अविकल्पप्रत्यक्षम्;) अन्यस्यापि स्वयं तदभ्युपगमात्। अभ्यासं जं (अभ्यासजं) च तदस्ति *"यस्य यावत (ती) मात्रा" [प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३] इति। न कस्यचिदविकल्पादन्यस्य विकल्पाद्वचनमिति युक्तम्; इतरथा धर्मोऽपि अविवक्षः अन्यत्रा[न्य]तोऽपि स्यात्। अर्थविषयं सुगतवद् अन्यस्य (अन्यस्यापि)। तथा बुद्धस्यापि निश्चयाद् (निश्चयादेव) वचनमिति। किं **निश्चिन्त्य**? इत्याह–

१५ **सोपाय** इत्यादि। स कैः किं कुर्यात्? इत्यत्राह–**वाचकैः** शब्दैः **परम्** आत्मनोऽन्यं विनेयज्ञानं (विनेयजनं) **निश्चाययेत चेद्** यदि। ततः किं जातम्? इत्याह–**शब्दविकल्पाः तत्त्वगोचराः** सु(स्व)लक्षणविषयाः 'स्युः' इत्यध्याहारः। एवं मन्यते–योऽसौ सुगतस्य विकल्पः स जात्यादिविषयश्चेत्; इतरविकल्पवत् तद्वचनस्य तत्प्रतिबद्धत्वे ततः स एव प्रतीयते इति स एव दोषः 'साधनवचनस्यापि' इत्यादिकः। अथ स्वलक्षणविषयः; तर्हि [न] नीलादिविकल्पो-

२० ऽवस्तुगोचरः तत्त्वात्' मरीचिकानिचये जलविकल्पवदिति। ततः *"विकल्पोऽवस्तुनिर्भासो विसंवादादुपप्लवः" [इति कथन]मात्रम्, सुगतवचनस्यापि तदनिवारणात्, तथा च तत्प्रभवस्य शब्दस्यापि तद्विषयत्वमिति।

व्यतिरेकमुखेन [३५७क] कारिकां व्याचष्टे–**परमार्थ** इत्यादिना। सोऽयं हेयोपादेयतत्त्व (त्त्वं) **परमार्थः तदसंस्पर्शिभिः** तदगोचरैः। किं [भूतै]रित्याह–**विकल्पैः**। किं कुर्वन्?

२५ इत्याह–**निश्चिन्वन्** व्यवस्यन्। किम्? **तत्त्व [तत्त्वम्**। कः? **सोऽयम्]** बुद्धः **शिष्यान् निश्चाययति**। कैः? **वाग (च) कैः**। किम्भूतैः? **तत्त्वानभिधानैः**। किम्भूतं किम्? इत्यत्राह–**विकल्पविषयम्** स्पष्टसाधारणरूपं **तत्त्व[म्] इति क इमं व्याघातभारं** स्वनाशकदोषभारम् **उद्वोढुं समर्थः अन्यत्र एकान्तविनिश्वरार(विनश्वरात्)** वोढुं समर्थः पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वात्।

ननु शिष्याः सुगतवचोभिः तत्त्वं साक्षात् न प्रतिपद्यन्ते अपि तु तदभिप्राय(यम्),

(१) बुद्धत्वकल्पनम्। (२) सुगतात्। (३) वचनात्। (४) इति दोषः। (५) साधारणजनस्य। (६) निर्विकल्पकम्। (७) सुगतस्य। (८) अस्मदादेः। (९) यथा सुगतस्य वचनमर्थवत् तथा अन्यस्यापीति। (१०) सुगतवचनस्य। (११) अर्थसम्बद्धत्वे। (१२) विकल्पत्वात्। (१३) 'वोढुं समर्थः' इति पुनर्लिखितम्।

पुनः स्वयमेव तत्त्वं युक्त्य (क्त्याऽ) वबुद्धयन्ते इति चेत; अत्राह-**शाब्दश्चेद् (शाब्दैश्चेत्)** इत्यादि ।

[शाब्दैश्चेद्वक्त्रभिप्रायं प्रतिपद्य परीक्षकाः ।
युक्त्या तत्त्वं प्रतिप(प्रप)द्येरन् किन्नैवं चक्षुरादिभिः ॥४॥

न खलु युक्तायुक्तपरीक्षया तत्त्वेतरप्रतिपत्तौ दृष्टश्रुतयोरर्थयोः कश्चन अतिशयोऽ- ५ **स्ति यतः चक्षुरादिज्ञानमेव तत्त्वविषयम् । तत्समारोपव्यवच्छेदस्यैव प्रामाण्ये निर्विकल्प-ज्ञानस्य प्रामाण्यं न भवेत्, सर्वथा अन्यस्यापि प्रसङ्गः स्यात् । संवृतिप्रभृतेरेव स्यात् । तच्च [नास्ति] ।]**

वक्तुः सुगतस्य **अभिप्रायं** विवक्षां **प्रतिपद्य** । कैः ? इत्याह-**शाब्दैः** इति । के ? इत्याह-**परीक्षकाः** तत्त्वचिन्तकाः । किं कुर्वीरन् ? इत्याह-**प्रतिप(प्रप)द्येरन्** । किम् ? १० **तत्त्वमिति** । कया ? **युक्त्या** प्रत्यक्षानुमानरूपया । **चेद्** यदि । दूषणमाह-**किं नैव (वं)** कस्मादेवं **चक्षुरादिभिः तत्त्वं न प्रतिपद्येरन् परीक्षकाः** । चक्षुर्ग्रहणम् उपलक्षणम् अन्येन्द्रियाणाम् । आदिशब्देन अनुमानपरिग्रहः । एतदुक्तं भवति-यदि सुगतव[च]ने प्रवृत्तेऽपि न ततः[1] तत्त्वप्रतीतिः अपि तु युक्तिः (क्तेः) प्रत्यक्षादिरूपायाः । तथा सति प्रत्यक्षादिविषयं तत्त्वम् इति तत एव तत्प्रतीतिः इति किं सुगतवचनेन ? इति व्यर्थम्-'**शाब्दैर्वक्त्रभिप्रायं** १५ **प्रतिपद्य**' इति ।

कारिकाया व्याख्यानं सुगमत्वा तत्कृतं (त्वान्न कृतम्) '**शाब्दैर्वक्त्रभिप्रायं प्रति-पद्य**' इत्यत्रैव दूषणान्तरमाह-**नखीत्यादि** (**न खल्वित्यादि**) **नखल** (लु) तत्वेतन (**तत्त्वेतर**) **प्रतिपत्तौ** [३५७ ख] क्रियमाणायाम् । कया ? इत्याह-**युक्तायुक्तपरीक्षया** इति । इदं युक्तम् इदं वाऽयुक्तम् इति या परीक्ष (क्षा) तया । किम् ? इत्याह-**कश्चन अतिशयोऽस्ति** नैव २० कश्चेद्वेदो (कश्चिद्भेदोऽ)स्ति । कयोः ? इ[त्य]त्राह-**अर्थयोः** । किम्भूतयोः ? **दृष्टश्रुतयोः** इन्द्रिय-शब्दप्रतिपन्नयोः । एवं मन्यते-यदि (यथेन्द्रि) यात्तत्त्वं प्रत्य (प्रति) पद्य नाभिप्रायं परीक्ष्य [परीक्ष]का युक्त्या तदेव तत्त्वं प्रतिपद्येरन, तथा शब्दादपि तत्त्वं प्रतिपद्य नाभिप्रायं तदेव ते तया प्रतिपद्येरन् इति । कीदृशस्तयोरविशेषः अतिशयो नास्ति ? इत्याह-**यतो** यस्मात् अतिशयात् **चक्षुरादिज्ञानमेव तत्त्वं(त्त्व)विषयं** न पुनः श्रुतज्ञानं भवेत तत्त्वविषयं सोऽतिशयो नास्ति । २५

ननु श्रुतज्ञानं प्रवृत्तमपि स्वविषये समा[रो]पं न व्यवच्छिनत्ति 'अनित्यः शब्दः' इत्युक्ते-ऽपि नित्यज्ञानाऽनिवृत्तेः, इतरथा [2]साधनमनर्थकं भवेत् । [3]तद्व्यवच्छेदकं च प्रमाणमिति चेत ; अत्राह-**तदि[त्यादि]** । **तत्समारोपो** दृष्टश्रुतार्थसमारोप[स्तद्] **व्यवच्छेद** (दोऽ) नुमानं [**तस्यैव**] तद्व्यवच्छेदस्यैव न श्रुतज्ञानस्य **प्रामाण्ये** अङ्गीक्रियमाणे **निर्विकल्पज्ञानस्य प्रामाण्यं न भवेत्** तद्व्यवच्छेदकत्वाभावादिति मन्यते । कथं न भवेत् ? इत्याह-**सर्वथा** [4]तद्व्यवच्छेद- ३०

(१) सुगतवचनात् । (२) 'शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्' इत्यादि । (३) समारोपव्यवच्छेदकम् । (४) समारोपव्यवच्छेद ।

प्रकारेणेव अर्थग्रहणप्रकारेणापि अन्यस्यापि प्रसङ्गभयात (ङ्गः स्यात्) अथवा, क्षणिकद्व (कत्व)प्रकारेणेव नीलादिप्रकारेणापि, अत्रापि विकल्पापेक्षणात । यदि वा अनभ्यास [प्रकारेणेव अभ्यास] प्रकारेणापि, तदापि दृश्यप्राप्यैकत्वसमारोपभावात [३५८ क] कथमन्यथा प्रत्यक्षं [भाविनि]प्रमाणम ? तर्हि क [स्याः] स्यादिति चेत ? अत्राह–संवृतीत्यादि । भेदसंवरणात संवृतिः अवयव्यादिविज्ञान (नं) तत्प्रभृतेः तदाः प्र (तत्प्र)भृतिशब्देन स्मरणादिपरिग्रहः, विकल्पस्यैव स्यात । भवतु को दोष इति चेत , अत्राह–तच्च इत्यादि । प्रमाणनियमा[भावा]पत्तेः इ[ति] भावः ।

एवं सुगतस्य 'तत्त्वदेशना कीदृशी' इति सामान्येन प्रतिपाद्य संप्रति 'तदुक्तनैरात्म्यलक्षणमार्गानिर्व(निर्वा)णविशेषणा कीदृशी तत्त्वदेशना' इत्येतद् दर्शयन्नाह–नीतेत्ये(ते)त्यादि ।

[नीता नैरात्म्यशङ्काऽस्तं निर्विकल्पेतरात्मना ।
सहक्रमभवान्योऽन्यव्यावृत्तैकात्मसंविदाम् ॥५॥

स्वतोऽन्यतो वा स्वपरचेतसां सत्यपि सदृशेतरपरिणामातिशये जीवोऽयं पृथक् प्रत्यात्मवेदनीयः सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकात् स्वपरचेतसामस्खलत्तादात्म्यसामान्यगोचरप्रत्ययविषयतां प्रथयन् स्वयं प्रतिक्षिपन्तं दुर्विदग्धबुद्धिं तिरस्करोत्येवेति अत्र किन्नश्चिन्तया ? न चेतसोविजृम्भणम् । स्वपरदर्शनविकल्पक्रमपरिणामस्वभावजीवमन्तरेण एकान्तविशेषाणां क्षणस्थितेरदृष्टेरनुपपत्तेश्च ।]

नीता प्रापिता अस्तम् अभावम । का ? इत्याह–नैरात्म्यशङ्का तेन (केन ?) इत्याह–निर्विकल्पेतरात्मना इति । निर्विकल्प इतरश्च स्व (स)विकल्पः आत्मा स्वभावो यस्य विकल्पज्ञानस्य तेन । तदुक्तम् अत्रैव प्रथमपरिच्छेदे *"प्रतिभासैक्यनियमे" [सिद्धिवि० १।१०] इत्यादिना । केषाम ? इत्याह–सह इत्यादि । सहक्रमाभ्यां भवती (न्ती)ति सहक्रमभवाः ताश्च ताः अन्योऽन्यं परस्परं व्यावृत्ता स्वे (श्च) पुनरपि तास्ताः एकात्मनः(त्मानः) एकसन्तानश्च (ताश्च) संविदश्च तासाम इति ।

[1]अन्ये 'क्रमभावान्यान्यतावृत्तं कात्मसंविदा' (क्रमभवान्योऽन्यव्यावृत्तैकात्मसम्बन्धिसंविदाम्) इति पठन्ति । तत्रायमर्थः–क्रमभवाश्च अन्योऽन्यव्यावृत्ताश्च सुखाद(य)स्तेषु एकस्यात्मनो जीवस्य या सम्बन्धितया(न्धिन्यः)[संविदः तासाम्] इति । स्वरप(स्वपर)प्रसिद्ध्या युक्त (क्तं) द्वयमत्र ।

स्यान्मतम्–क्वचिज्ज्ञाने सविकल्पेतराकारयोः एकत्वदर्शनानुक्र (नात क्रम)संविदामेकत्वसाधनमयुक्तम् , अन्यथा अर्के कटुकत्वदर्शनार्थ (नात) गुडेऽपि किन्न [6]तत्साध्यते ? प्रत्यक्षबाधनं क्रमविदामेकत्वसाधनेऽपि । [३५८ ख] ।

तास (ननु न तासा) मेकत्वं चेतनारूपतां विहाय अपरं प्रत्यक्षगम्यम् । तद्रूपता च सन्ताना-

(१) सुगतोक्त । (२) निर्वाण । (३) ग्रन्थे । (४) व्याख्याकाराः । (५) कटुकत्वम् । (६) तासां क्रमसंविदाम् । (७) चेतनारूपता ।

न्तरापेक्षयापि इति सर्वात्मनामेकात्मकत्वम् । देशादिभेदो [1]विवक्षितसंविदामपि इति नात्मसिद्धिः । ए[ते]न द्वितीयं व्याख्यानं चिन्तितमिति चेत् ; अत्राह–**स्वतोऽन्यतो वा** इत्यादि । **स्वा [नि]** स्वसन्तानपतितानि **[पराणि]** पुत्राणि (दि) सन्तानान्तरभूतानि तानि च तानि **चेतांसि** तेषां **सत्यपि** विद्यमाने वि (ऽपि) **सदृशेतरपरिणामा विषये (तिशये)** विसदृशपरिणामातिशये । कुतः ? इत्याह–**स्वतः** सोपादा (स्वोपादा) नकारणा [त अ] **न्यतो वा** सहकारिकारणात् वेति समुच्चये । तदुक्तम्–*"**स्वतोऽन्यतो वा विवर्त्तेत क्रमा [द्] हेतुफलन्याति (लात्मना)** ।" [सिद्धिवि० ३।१९] इति । तस्मिन् सत्यपि कुतः किं कुर्वन् कः किं करोति ? इत्याह–**सङ्करे-** त्यादि । **जीवो य (ऽयं)** स्वसंवेदनाध्यक्षविषयः **तिरस्करोत्ये [व]** । कम् ? इत्याह–**दुर्विदग्धबुद्धिं** सौगतं चार्वाकं च । किं कुर्वन्तम् ? **प्रतिक्षिपन्तम्** । किम् ? **स्वयं** जीवमेव । केषां कुर्वन्ति इत्याह–**स (स्व) परचेतसामस्खलत्तादात्म्यसामान्यगो [चर] प्रत्ययविषयतां** स्वचेतसाम् अस्खलत्तादात्म्यप्रत्ययविषयतां परद (परचे) तसां स्वापेक्षयाऽस्खलत्सामान्यप्रत्ययविषयतां **प्रथयन्** प्रसिद्धिं तदा न (तन्वन्) । कुतः ? इत्याह–**सङ्कर** इत्यादि । **संङ्करे (रः)** स्वस्वचेतस्सु तादात्म्यप्रत्ययविषयतावत् सामान्यप्रत्ययविषयता, परचेतस्सु सामान्यप्रत्ययविषयतावत् [ता] दात्म्यप्रत्य [य] विषयता, **व्यतिकरश्च** स्वचेतस्सु तथाविधसामान्यप्रत्ययविषयता परचेतस्सु तादात्म्यप्रत्ययविषयता [३५९क] तयो **र्व्यतिरेको**ऽभावः **तस्मात्** तं वा प्राप्य ।

नन्नु सर्वत्र एक एव जीवः, इति न युक्तं '**स्वतः**' इत्यादिकमिति चेत् ; अत्राह–**पृथग्** इति । **पृथग्** भिन्नः । किंभूतः ? **प्रत्यात्मवेदनीयः**, अत्र अस्मिन् न्याये सति जीवे वा **किं नश्चिन्तया** अनुमानेन ? किमर्थं तर्हि तत्र '**[क्र] मोपलब्धि**' इत्यादि वक्ष्यते तद् इति चेत् ? अत्राह–**न च (चेत्)** इत्यादि । **तमसो**ऽज्ञानस्य **विजृम्भणं [चेत्]** यदि **न** तर्हि **किन्न-श्चिन्तया** । तद्विजृम्भणात् तदिष्यते, तद्व्यवच्छेदार्थमिति भावः । कस्य ? इत्याह–**एकान्त (न्त)** इत्यादि । स्वपरचेतसां तद्विषयतां प्रथयन् इति । एतदपि कुतः ? इत्याह–**स्वपरे**त्यादि । **स्वपरयोः दर्शनं** चावग्रहो **विकल्पश्च** स्मरणादिः तावेव **क्रमपरिणामः** स एव **स्वभावो** यस्य स तथोक्तो **जीवो**ऽन्यपदार्थः **तमन्तरेणा**ऽदृष्टेः । कथम् ? इत्यत्राह–**एकान्तविशेषाणाम्** । परस्परं विशिष्यन्ते इति **विशेषा** द्रव्यादयः अत एव [2]तद्वादी वैशेषिक इत्युच्यते, **एकान्तेन विशेषा** एकान्तविशेषा[ः]तेषामिति । न केवलं तेषामेव अपि तु **क्षणस्थितेः** '**च**' शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, **अदृष्टे**रिति । हेत्वन्तरमाह–**अनुपपत्तेश्च** इति । '**एकान्तविशेषाणां क्षणस्थितेश्च**' इति सम्बन्धः ।

तदनुपपत्तिं दर्शयन्नाह–**क्रमोपलब्धि** इत्यादि ।

[क्रमोपलब्धिनियमात् स्यादभेदः स्वसंविदाम् ।
सुखःदुःखादिभेदेऽपि सहवीक्षानियामवत् ॥९॥

(१) क्रमभाविनीनां संविदाम् । (२) सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः । (३) परस्परविषयगमनं व्यतिकरः । (४) अस्खलत् । (५) वेदान्तवादी प्राह । (६) जीवे । (७) अग्रिमश्लोके । (८) अनुमानम् । (९) अनुमानम् । (१०) विशेषपदार्थवादी ।

भेदैकान्तेऽपि क्षणिकस्य उत्पत्तिविनाशयोस्तादात्म्यं सिद्धं क्रमोपलम्भनियमात् । हेतुफलविनाशोत्पादयोः समानकालोपलम्भाभ्युपगमात् । न च स्थितिरेव भावस्य विनाशः यतः सहोपलम्भनियमः । विधिमुखप्रतिषेधफलो हि नियमः । क्षणस्थितेः प्रत्यक्षानुपलम्भयोः बहिरपेक्षया विना एकस्वभावविषयतानुपपत्तेः । तथा च सहोपलम्भनियमात्
५ हेतुफलविनाशोत्पादयोरैक्यं स्यात्, यतः पूर्वस्य वैकल्यमपरस्य कैवल्यम् । न चान्योन्यविरुद्धस्वभावयोरनयोः कथञ्चित्तादात्म्यं विरुद्धम् निश्चय... स्थित्या सह जन्मविनाशयोरैक्यमुपयन् कालादिभेदेऽपि सुखादिव्यापिनं प्रत्यक्षं भावं कथं प्रतिक्षिपेत् ? स्वलक्षणं परस्परव्यावृत्तिलक्षणं यतः प्रतिक्षणं त्रिलक्षणम् ।]

स्वस्य स्वा वा संविदः **स्वसंविदः** स्वसंविदां न परसंविदः तासाम् । किम् ? इत्याह—
१० **अभेद** ऐक्यम् । नहि विवक्षितैकक्ष[ण]मात्रः स्यादात्मा सर्वस्य तत्र प्रवेशात् इति **[स्यात्]** कथञ्चित् न सर्वात्मना इति ।

स्यान्मतम्—सुखदुःखादिभेदाद् भेद एव तासां भेद इति; तत्राह—**सुखदुःखादिभेदेऽपि** च केवलम् अभेदे । [२५९ख]

ननु [भेदा]भेदयोरन्योन्यपरिहारस्थितलक्षणयोः किमिव ऐक्यमिति चेत् ? अत्राह—
१५ '**सहवीक्ष्या(क्षा)नियामवत्**' इति । **वि** चित्रा नाना विभ्रमेतराद्याकारा **ईक्षा** दृष्टिः **वीक्षा** तस्या **नियमः (नियामो)**ऽवश्यम्भावः, अन्यथा सकलशून्यता इत्युक्तम्, **सहवीक्ष्यानियम (वीक्षानियाम)**स्य इव तद्वदिति ।

अथ मतम्—न दृष्टान्तमात्रात् साध्यं सिध्यति अतिप्रसङ्गात् अपि तु हेतोः, अतः स एव उच्यतामिति; तत्राह—**क्रम** इत्यादि । पूर्वम् उपादानस्य पुनः उपादेयस्य उपलब्धिः **क्रमेणो-**
२० **पलब्धिः** तस्या **नियमात्** इति ।

ननु यद्यपि कदाचित् घटपटयोरुपलब्धिः तथापि नियमाभावात् नैक्यमिति सिद्ध्यति, तथापि यथा सहभाविनां सन्तानान्तरसंविद्क्षणानां भेदेऽपि सहोपलम्भनियमस्य भावाद् व्यभिचारः तथा क्रमभाविनां तेषामेव क्रमोपलम्भनियमस्य भेदेऽपि भावाद् व्यभिचारस्तदवस्थ एव निशादिवसयोश्च इति चेत्; उच्यते—**क्रम**शब्देन प्रक्रमाद् उपादानोपादेयभूतस्वपरदर्शन-विकल्प-
२५ क्रमो गृह्यते तस्योपलब्धेः, अन्यथाऽभावो **नियमः**, तस्मादिति । एतदुक्तं भवति—स्वसंविदां पूर्वस्याः पूर्वस्या उपादानत्वेन परस्याः परस्या उपादेयत्वेन च येयं क्रमेणोपलब्धिः तस्या नियमाद् अन्यथानुपपत्तेः [२६०क] तासां **स्याद् भेद** इति । अत एव दृष्टान्तापेक्षणमत्राऽयुक्तम् ।

अन्ये पुनराचार्याः **क्रम**मविशिष्टमादाय **तदुपलब्धेः नियमाद्** अवश्यम्भावात् इति

(१) तुलना—"तस्यान्यस्य प्रदेशस्य केवलस्य यत्तत् कैवल्यम् एकाकित्वमसाहयता तदेव अपरस्य प्रतियोगिनो घटादेः वैकल्यम् अभाव इति ।"—हेतुबि०, टी० पृ० १८८ । (२) बौद्धः प्राह । (३) संविदाम् । (४) नियमः नियामः इत्येकार्थौ । (५) चशब्द इवार्थः । (६) प्रकरणात् । (७) संविदाम् । (८) व्याख्याकाराः । (९) साधारणं न तु उपादानोपादेयतया क्रमम् ।

हेतुमभिधाय **सहवीक्ष्या(क्षा)नियामवत्** सहोपलम्भनियामवत् इति दृष्टान्तं ब्रुवते ; तेषां कथमुक्तव्यभिचारपरिहारः तत्र क्रमोपलब्धिनियमा [मभावेऽपि अभेदा] भावात ? कथन्न साधनविकलता दृष्टान्तस्य उपलम्भनियममात्रस्य भावेऽपि [1]सकलहेतोरभावात । न चानेकशः स्वयं दूषितं पुनः स्वपक्षसिद्धये अङ्गीकर्तुं युक्तम् । साध्यविकलता च वादिनं प्रति, नील-ज्ञानयोस्तेन[2] अभेदानभ्युपगमात । [3]परापेक्षया इदं निदर्शनमिति चेत ; तं प्रति साध्यविकलता, ५ कथञ्चिद्भेदस्याऽनभ्युपगमात । तन्न किञ्चिदेतत् ।

परेणापि [4]अतो हेतोः क्षणिकस्य उत्पादविनाशयोः तादात्म्यम् अभ्युपगम्यमिति पायत (पातयन्[5]) कारिकां व्याचष्टे **भेदैकान्ते**ऽपीत्यादिना । न केवलं स्याद्भेदे अपि तु **भेदैकान्ते**ऽपि सौगतवैशेषिकसम्बन्धिन्यभ्युपगम्यमाने **क्षणिकस्य** भावस्य प्रध्वंसवत(वतः) उपलक्षणमेतत तेन अनित्यस्य सर्वस्य ग्रहणम , यौ **उत्पत्तिविनाशौ** तयोस्तादात्म्यं कथञ्चिदेकत्वं **सिद्धम्** । १० कुतः ? इत्याह-**क्रमोपलम्भनियमाद्** इति । पूर्वम उत्पत्तेः, पुनः तत्परिणामस्य विनाशस्य उपलम्भः तस्या (तस्य) नियमात । यदि पुनः उत्पद्यमानात उत्पत्तिः अन्या[6] स्यात ; तया तत्सम्बन्धाभावा[त] न कश्चित तद्वान्[7] इति न कश्चित उत्पद्येत इति, न विनश्येत खरविषाण-वत , अन्यथा आत्मादेरपि तत्सम्बन्ध इति [३६० ख] सोऽपि[8] उत्पद्यते इति स्यात ।

अथ 'प्रागसतः स्वकारणसमवायः सत्तासमवायो वा उत्पत्तिः[9], न सा आत्मादेः सर्वदा १५ सत्त्वात' इति मतिः ; कुतः प्राक् ? 'उत्पत्तेः' इति चेत ; कस्योत्पत्तेः ? घटादेरिति चेत् ; उक्तमत्र भिन्ना कथं तस्य[11] ? [अन्यथा[12]] आत्मादेरपि न (पि सा) स्यादिति । न च निराश्रया सा, इति कथं पूर्वं तदुपलम्भः ? खरविषाणवत् अलब्धात्मरूपस्य कः स्वकारणेन सत्तया वा समवायः ? लब्धात्मरूपत्वे[13] तदेवोत्पत्तिः इत्यलं भिन्नोत्पत्तिकल्पनया ।

तथा यदि भावाद् विनाशोऽन्यः, न तेन तस्य सम्बन्ध इति कथं भावो [विनष्टो] नाम, २० अतिप्रसङ्गात । भावो विशेष्यः अभावो [विशेषणम अतः] विशेषणीभावस्तेन[14] [15]तत्सम्बन्ध इति चेत् ; विशेषणकाले विशेष्यसद्भावे युक्तो विशेषणविशेष्यभावः, किन्तु कथं भावे सति अभावः ? नहि जीवत एव देवदत्तस्य मरणम । भावयोः सहदर्शनं च नीलोत्पलयोरिव । अथाव (अथ वि) नाशेन प्रच्छादनान्न [16]भान्न भावोपलम्भः ; तर्हि न [17]तदनुरक्तभावोपलम्भः इति । न [च] विनाशो विशेषणम । स्वानुरक्तं विशेष्ये प्रतीतिमुपजनयत् विशेषणमुच्यते ; नीलत्वं [18]तदनुरक्तं २५ तत्प्र (रक्तोत्पल प्र) तीतौ वा, न तत्प्रच्छादनम (दकम) । यदि पुनर्न विनाशसमये भावसद्भावः; कथमन्यकालेऽन्यस्याभावो यत्रासौ स्वयं निवर्तेत, अन्यथा पटोत्पत्तिकाले घटाभावः स्यात् ।

(१) सन्तानान्तरसंवित्तिभिः क्रमवार्तिनीभिः । (२) 'क्रमोपलम्भात्' इति समग्रस्य हेतोः । (३) वादिना । (४) विज्ञानवाद्यपेक्षया । (५) क्रमोपलब्धिनियमात् । (६) दूषणं ददत् । (७) भिन्ना । (८) उत्पत्तिवान् । (९) आत्मादिरपि । (१०) "स्वकारणसत्तासम्बन्धः, तेन सता कार्यमिति व्यवहारात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० १२९ । (११) 'घटादेः' इति व्यपदिश्येत । (१२) भिन्नापि यद्युत्पत्तिः घटादेर्व्यपदिश्यते तदा । (१३) लब्धात्मरूपत्वमेव । (१४) भावेन । (१५) विनाशसम्बन्धः । (१६) 'भान्न' इति पुनर्लिखितम् । (१७) विनाशोपरक्तः विनष्ट इत्यर्थः । (१८) नीलानुरक्त ।

असम्बन्धान्नेति चेत् , कः पुनः भावविनाशयोः सम्बन्धः ? विशेषणीभावश्चेत् ; उक्तमत्र–'तस्यापि ताभ्यां भेदात् , सोऽपि तयोः क[थम्] इति ? सम्बन्धान्तरकल्पने अनवस्था । तदभावेऽपि सा (स) तयोरिति चेत् , [३६१ क] समवायाद्यभावेऽपि गुणादयः सद्वतः स्युः अविशेषात् । न स कस्यचित् इत्यपि नोत्तरम् ; अध्यक्षेण तद्ग्रहणप्रसङ्गात् , इन्द्रियेण तद्-
५ सन्निकर्षात् । सन्निकर्षे वा, स न संयोगः ; तत्सम्बन्धस्याद्रव्यत्वात् । नापि संयुक्तसमवायादिः , तस्यातन्त्र्यापगमात् । साक्षात् सन्निकर्षे सुखादावपि तथैव इत्यलं तत्र सम्बन्धसम्बन्धकल्पनया । ननु भावविनाशोरय (नाशयो)र्विशेषणीभावेन (भावः सम्बन्धः) । विरोध इत्येके , सोऽपि न युक्तः ; अग्निनेव शीतस्य तेन भावर्तनात् (भावानिवर्तनात् ।) न वा (चा०)निवर्तको धर्मो विरोधी नाम, अतिप्रसङ्गात् । निवर्तने वाऽस्य ततो व्यतिरेकप्रसङ्गः
१० पूर्ववद्भवेद् अनवस्था च । अव्यतिरेके विनाशेन क्रियमाणो विनाशः तदव्यतिरिक्तो नान्य इति न युक्तो विभागः । ततः सूक्तम्–**क्रमोपलम्भ** इत्यादि ।

ननु भवतु 'क्षणिकस्य उत्पत्तिविनाशयोः तादात्म्यं सिद्धम्' इति, तत्तु न **क्रमोपलम्भनियमात्** , अपि तु सहोपलम्भनियमादिति चेत् , अत्राह–'**हेतु**' इत्यादि । **हेतुः** कारणम् **फलं** कार्यम् तयोर्यथासंख्येन यो **विनाशोत्पादौ** तयोः **समानकालोपलम्भाभ्युपगमात्** ।
१५ तथाहि–यदैव मृत्पिण्डस्य विनाशोपलम्भः तदैव शिवकोपलम्भः न पुनर्हेतुविनाशोत्पादयोः, इतरथा उत्पादविनाशयोः परस्परं विरोधिनोः एकत्र एकदा भावेन बाध्यबाधकभावे न किञ्चित् स्यादिति मन्यते । विनाशः फलात्मया विविक्तता, सा च तस्य उदयकाल एव प्रतीयते इति ; तदसत्यम् ; यतः तथाभ्युपगमात् । यथैव हि फलकाले हेतोरभावः प्रतीयते तथा हेतुकाले [३६१ख] फलस्यापि केवलं नस्त (नष्ट)रूपस्य तदभावः । एतदेवाह–**न च** इत्यादिना । **न**
२० **च** नैव **स्थितिरिव** उत्पत्तिसमय(मव)स्थानमेव **भावस्य विनाश [:]** स्वरूपस्य निवृत्तिः **सहोपलम्भनियमो यतः** स्थितिरिव विनाशात् [शः] स्यात् । **यतः** इति वा आक्षेपे, **यतः सहोपलम्भनियमः** स्यात् । नैव स्यात् , स्थित्या विनाशस्य तेन स्थितेर्बाधनात् । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–**विधि** इत्याह (दि) । यदा हेतोः उत्पादस्य तदा विनाशस्य उपलम्भो **विधिः मुखं** प्रधानं यस्य **प्रतिपधस्य**, न पूर्वं तदुदयस्य पश्चाद् विनाशस्य इत्येवं रूपस्य, स तथोक्तः स
२५ एव **फलं** यस्य सोऽपि तथोक्तः । कोऽसौ ? इत्याह–**नियमः** । **हि** शब्दो यस्मादर्थे । न च विधिरत्रास्ति इति दर्शयन्नाह–**क्षणस्थितेः** इत्यादि । **क्षणस्य** परकल्पितस्य या **स्थितिः** आत्मलाभः तस्याः यो **प्रत्यक्षानुपलम्भो** [दर्शना] दर्शने तयोः **एकस्वभावविषयतानुपपत्तेः** एकस्वभावो विषयो ययोः तयोर्भावः तत्ता, तस्या अनुपपत्तेः । केन विना ? इत्याह–**बहिरपेक्षया**

(१) विशेषणीभावस्यापि । (२) भावविनाशाभ्याम् । (३) सम्बन्धाभावेऽपि उत्पत्तिः (४) विशेषणीभावः । (५) द्रव्यस्य । (६) द्रव्य-द्रव्ययोरेव संयोगात् । (७) संयुक्तसमवायादिर्हि परतन्त्राणां गुणकर्मजात्यादीनां भवति । (८) संयुक्तसमवायरूपः सम्बन्धसम्बन्धः मनःसंयुक्ते आत्मनि सुखादीनां समवायात् । (९) उत्पादेन विनाशस्य तेन वोत्पादस्य बाधनात् न उत्पादो विनाशो वा स्यादित्यर्थः । (१०) क्रमवर्तिनः ।

इति । प्रथमक्षणे **प्रत्यक्षं** द्वितीयादौ **अनुपलम्भो बहिरपेक्षया विना,** युगपत् प्रत्यक्षानुपलम्भापेक्षया तदनुपपत्तेः इत्यर्थः ।

स्यान्मतम्–भवतु क्षणस्थितेः प्रत्यक्षानुपलम्भयोः बहिरपेक्षया एकस्वभावविषयतोपपत्तिः, तथा च किं स्यात् ? इत्यत्राह–**तथा च** इत्यादि । **तथा च** तेन च प्रकारेण **हेतुफलविनाशोत्पादयोः ऐक्यं** कथञ्चित्तादात्म्यं **स्याद्** भवेत् **सहोपलम्भनियमात्** । कुतः ? इत्यत्राह– ५ **पूर्वस्य** कारणस्य **वैकल्यम्** अभावः **अपरस्य** [३६२क] फलस्य **कैवल्यम् यतः** अनेन भिन्नमभावं निषेधति ।

ननु हेतोर्निवृत्तिरूपः प्रध्वंसः फलस्य च उत्पादः प्रागसतः कारणादात्मलाभः सत्तास्वभावः, तदनयोः अन्योऽन्यविरुद्धस्वभावयोः कथमैक्यमिति चेत् ? अत्राह–**न च** इत्यादि । **अनयोः** विनाशोत्पादयोः । किंभूतयोः ? इत्याह–**अन्योऽन्य** इत्यादि । [**अन्योऽन्यविरुद्धस्वभावयोः न च**] १० नैव **कथञ्चित्तादात्म्यं विरुद्धम्** तथाप्रतीतेरिति मन्यते । दृष्टान्तमाह–**श्रेय(माह–निश्चय)**त्यादि । तर्हि हेतुफलयोः विनाशोत्पादयोः ऐक्यं यदि परोऽभ्युपगच्छेत् को दोषः स्यात् ? इत्यत्राह–**जन्म** इत्यादि । फलस्य यज्जन्म हेतोर्यश्च **विनाशः** तयोः **ऐक्यमुपयन्** अभ्युपगच्छन् सौगतः । केन ? **साहस्थित्याह** स्थित्या [केन ? इत्याह–**सहस्थित्या**] किं कुर्यात् ? इत्याह–**भावं कथं प्रतिक्षिपेत् ?** किंभूतम् ? **प्रत्यक्षम्** अध्यक्षपरिच्छेद्यम् । पुनरपि किम्भूतम् ? इत्याह– १५ **सुख** इत्यादि ।

ननु सुखदुःखादीनाम् एकसन्ततिपतितानाम् सत्त्वचेतनाऽभेदात् यदि **तद्व्यापिन (त्व)**मुच्यते तर्हि सन्तानान्तरगतानामपि तदविशेषात् तदुच्यताम् । अथात्र कालादिभेदान्नैवमुच्यते; अन्यत्रापि नोच्यतां तदविशेषादिति चेत् ; अत्राह–**कालादि** इत्यादि । अत्र **आदिशब्देन** देशादिपरिग्रहः । चिन्तितमेतत्–'**स्वतोऽन्यतो वा स्वपरचेतसाम्**' इत्यादिना । न (स) हि २० साङ्ख्यकल्पितं भावं तद्व्यापिनं कथं प्रतिक्षिपेदिति चेत् ? अत्राह–**स्वलक्षणम्** इत्यादि । **स्व** आत्मा लक्षणं यस्य स तथोक्तः तमिति । कुतः ? इत्यत्राह–**परस्पर** इत्यादि । **परस्परं व्यावृत्तिः लक्षणं** यस्य तं **यतः** । '**प्रत्यक्षम्**' इत्येतदत्रापि योज्यम् । वैशेषिकादि [३६२ख] सम्बन्धिनं तं कथं प्रतिक्षिपेत् ? इत्यत्राह– **प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं** प्रत्यक्षमिति ।

ननु च स्वसंविदां क्रमोपलब्धिनियमः कार्यकारणभावाद् एकसन्तानत्वाच्च न पुनरभेदात्, २५ ततोऽन्यथासिद्धो हेतुः इति किमर्थमुच्यते–'**क्रमोपलब्धिनियमात् स्यादभेदः स्वसंविदाम्**' इति चेत् ? अत्राह–**कार्यकारणता** इत्यादि ।

[कार्यकारणता नास्ति क्षणिकानां क्व सन्ततिः ।
निरन्वयात् कुतस्तेषां सारूप्यमितरार्थवत् ॥७॥

सद्रूपसंस्थनादिविवर्त-विचित्रग्राह्यग्राहकाकारैकसाधारणज्ञानानुभवाविरुद्धं पूर्वोत्तरस्वभावभेदात् हेतुफलभूतं भावनैरात्म्यवादी प्रतिक्षिपतीति क्षणिकभावं समक्षमति- ३०

(१) कार्यस्य । (२) सत्त्वेन चेतनत्वेन च अभेदात् । (३) सन्तानान्तरगतानाम् ।

लङ्घयति । सति क्षणिके कारणे यदि कार्यं स्यात् तदिदं जगत् क्षणिकमक्रमं निःसन्तानि च स्यात् । तस्मिन्नसति भवतः कुतः पुनः तदनन्तरोत्पत्तिनियमः यतस्तदनिष्टकालोत्पत्तिर्न भवेत् । सदेव तत्समर्थं कारणं स्वसत्ताकालमेव कार्यं प्रसह्य जनयेत् । स्वरसतः कार्योत्पत्तिकालनियमे स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम् । नैरन्तर्यमात्रात् प्रभवनियमे सर्वत्र
५ सर्वेषामविशेषे कुत एव नियमः । द्रव्यस्य प्रभवनियमे न किञ्चिदतिप्रसज्यते स्वहेतूपादानस्य परप्रत्ययतायाम् । न च निरन्वयानां भावानां सादृश्यात् प्रभवः सन्ततिर्वा व्यवस्थाप्येत तद्विपर्ययेऽपि तथोपलब्धेः । भेदैकान्ते सादृश्यं च यथा यथा विचार्यते तथा तथा विशीर्यते नीलनिर्भासज्ञानवत् ।]

क्षणिकानां भावानां हेतुफलभावो **नास्ति**, तदभावात् क्व बहिरन्तर्वा **सन्ततिः**
१० सन्तानः, तस्य तदात्मकत्वात् । तदभावोऽपि कुतः ? इत्याह- **निरन्वयात्** । क्षणिकानां स्वफलकाले सर्वथा विलयात् । सत्यपि कार्यकारण(भावाभावा)भावे पूर्वापरयोः सारूप्यम् एकसन्ततिव्यपदेशनिबन्धनं सत्यन्तराभावात् [स्यात्] तच्च नास्ति इति दर्शयति- **कुतः** कारणात् प्रमाणाद्वा **तेषां** क्षणिकानां **सारूप्यं** समानरूपता । निदर्शनमाह- **इतरार्थानामिव** इति ।

स्यान्मतम्- सकलशून्यतायाः निरंशप्रतिभासाद्वैतस्य चोपगमात् न सौगतानामयं दोष इति
१५ चेत् ; अत्राह- **सद्रूप** इत्यादि । । '**भावं प्रतिक्षिपति**' इत्ययुक्तम् , तत्प्रतिक्षेपे प्रमाणप्रतिक्षेपायोगे इति मन्यते । किम्भूतम् ? इत्याह- **समक्षम्** । । अनेन तत्प्रतिक्षेपे प्रत्यक्षबाधां दर्शयति । पुनरपि किंभूतम् ? इत्याह- **सद्रूप** इत्यादि । सदिति भावप्रधानोऽयं निर्देशः । तेन सत्त्वं स्वरूपं स्वभावो यस्य **संस्थानादेः**, आदिशब्देन सकलक्रमभाविवाह्यधर्मपरिग्रहः, स तथोक्तः, सद्रूपपदेन संस्थानादे[:] कल्पितत्वं निषेधति, **स विवर्तो** यस्य घटादेः स तथोक्तः । **विचित्रौ** [३६३क]
२० नानाप्रकारौ यौ **ग्राह्यग्राहकाकारौ** तयोः **एकं** च तत् **साधारणज्ञानं** च तदपि तथोक्तम् , पुनरनयोर्द्वन्द्वः तयो**रनुभवः** तेनाऽ**विरुद्धम्** । अनेनापि प्रतिभासाद्वैतमपि प्रत्यक्षबाधितं दर्शयति । तत एव क्रमानेकान्तोऽप्यविरुद्ध इति दर्शयन्नाह- **हेतुफल** इत्यादि । कुत एतत् ? **पूर्वम् उत्तरं** चेति चेत्राह (चेति, हेतुः पूर्वं फलञ्चोत्तरमिति) **स्वभावभेदात्** स्वरूपत्वाभावात्तावस्य (वात् 'भावस्य') इति सम्बन्धः । कः प्रतिक्षिपति इत्यादि (इत्याह-) **भावे**त्यादि । सौगतः इत्यर्थः ।
२५ अथ मतम्- '**क्षणिकभावं समक्षमतिलङ्घयति**' इत्युक्तम् , (इत्ययुक्तम्) तस्य सकलहेतुफलभावव्यवहारनिबन्धनत्वात् नान्यं विपर्ययात् इति चेत् ; अत्राह- **सती**त्यादि । **सति** विद्यमाने **क्षणिके** क्षणमात्रावलम्बिनि **कारणे यदि कार्यं स्याद्** उत्पद्येत **तत्** परेणोपगतमिदं विचार्यमाणं **जगत्** स्यात् । कथम्भूतं तत् ? इत्याह- **क्षणिक**मिति । किम्भूतं स्यात् ? इत्याह- **अक्रम**मेव (मेक)क्षणप्रतिष्ठं[6] स्यात् इत्यर्थः । तथा च परलो[का]दिसाधनं परस्य स्ववचनबाधितं

(१) सन्तानस्य हेतुफलभावरूपत्वात् । (२) कार्यकारणभावाभावोऽपि । (३) येन प्रमाणेन तत्प्रतिक्षेपः क्रियते तस्य भावरूपत्वादिति भावः । (४) रूपम् । (५) क्षणिकस्य । (६) सति कारणे यदि कार्यं तदा सर्वेषामुत्तरोत्तरकार्यभूतक्षणानां पूर्वपूर्वकारणकाले संक्रमात् एकक्षणमात्रं जगत् ।

भवेदिति मन्यते। पुनरपि किम्भूतं स्यात ? इत्याह–**निःसन्तानि** सन्तानिनः उपादानोपादेय-भूतक्षणाः तेभ्यो निष्क्रान्तं निरस्ते (स्तं) वा येन **तन्निःसन्तानि** सव्येतरगोविषाणवत्। अक्रमाणां हेतुफलभावविरोधात इति भावः। यदि वा, यत एवाक्रमत (मं तत) एव निःसन्तानि क्षमात्र (क्षणसन्तान) रहितं भवेत। पूर्वोत्तरहेतुफलयोरभावे कार्यकारणत्वादव (त्वाभावः) स्यादित्यर्थः। तथापि सत्त्वे न सामान्यादिनिषेधः। एतदुक्तं भवति–स्वोत्पत्तिसमये क्षणिकं कारणं ५ सत , तदेव कार्यभावे [३६३ख] हेतुफलयोः समसमयता इति। अथवा साम्प्रतिकं कार्यं पूर्वमुत्तरं वा कारणं स्वकाले जनयति, तदपि स्वकारणस्वकाले (कारणकाले) तदपि स्वकारणं स्वकाले (कारणकाले) इति उत्पत्तिकालानवस्थितेः अक्रमम। उपलक्षणमेतत, तेन असहभावि च स्यादिति।

अथ मा भूदयं दोष इति कालभूतो (कालभेदो) हेतुफलयोरिष्यते; तत्राह–**तस्मिन्नसति** १० इत्यादि। **तस्मिन्** क्षणिके कारणे **असति** अतीते विनाशे, न भाविन्यनुत्पन्नसत्त्वेन, कार्यकाले अविद्यमाने **भवतो** जायमानस्य कार्यस्य **कुतो** निमित्तात न कुतश्चित। **पुनरि**ति वितर्के **त-[दनन्त]रोत्पत्तिनियम[ः]** **तस्य** कार्यस्य **कारणानन्तरोत्पत्तिनियमः**। **तस्य** वा कारणस्य योऽनन्तरः कालः तत्रो **त्पत्तिनियम** इति। **यतः** तन्नियमान्न **भवेत्**। किम् ? इत्यादि (इत्याह)। **तस्य** कार्यस्य **अनिष्टकालोत्पत्तिः** पूर्वभावि[त्वे]नाभिमतं पश्चात स्यात, पश्चाद्भावित्वेन १५ वा पूर्वं स्यात , इति नानुमेयादिव्यवहारो नियतः स्यादिति मन्यते। कारण सति भावतो-हेतुकत्वम (कारणेऽसति भवतोऽहेतुत्वम्) अहेतोश्च न देशादिनियमः इति। यदुक्तं स्वयमेव परेण *"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा" [प्र० वा० १।१८२] इत्यादि।

स्यादेतत् कालान्तरे स्वयमेव भवतः कार्यस्यायं दोषो न कारणात् भिन्नदेशमिव भिन्न-कालमपि कारणं कारणमेव, यथादर्शनं तद्व्यवस्थानात। दृश्यते च प्रबोधकाले असदपि २० जाग्रद्विज्ञानं तत्कारणमिति ; तत्राह–**सदेव** इत्यादि। **सदेव** नान्तं (**तत्**) **समर्थं** कार्यजननयोग्यं [३६४क] **कारणं** कर्तृ **कार्यं जनयेत्**। किं कालम ? इत्याह–**स्वसत्ताकालमेव** आत्मसत्ताकालमेव **प्रसह्य** हठादिति। अत्रायमभिप्रायो यथा 'नित्यं यदेव स्वयं समर्थं तदेव प्रसह्य कार्यं जनये-[न' इ] त्युच्यते तथा क्षणिकमपि। यदि पुनः पूर्वं समर्थमपि क्षणिकं कार्यकालमेव कार्यं जनयेत तत्स्वभावत्वात ; तथा नित्यमपि। तदुक्तम–*"**यद्यदा कार्यमुत्पित्सु**" [सिद्धिवि० ३।११] २५ इत्यादि। तन्न युक्तम्–'क्षणिकत्वेन कार्यजनकत्वं व्याप्तम' इति, अन्यत्राप्यविशेषात। अथ स्वकाले समर्थेऽपि कारणे कार्यं स्वभावतः पश्चाज्जायते; तत्राह–**स्वरसतः** इत्यादि। **स्वरसतः** स्वभावतः **कार्यस्य उत्पत्तिकालनियमं** कस्यचिदनन्तरम , अपरस्य कालान्तरे उत्पत्तिनियमः उत्पत्तिकालनियमः तस्मिन्नङ्गीक्रियमाणे **स्वतन्त्रस्य** स्वप्रधानस्य **कुत एव कार्यत्वं** नित्यपक्षवत्

(१) अर्थक्रियाकारित्वाभावेऽपि। (२) नित्य। (३) पूर्वमुत्तरं वा कारणं साम्प्रतिकं कार्यं स्वकाले पूर्वकाले उत्तरकाले वा जनयति। पूर्वं कारणं भवत्येव। उत्तरं तु भाविकारणापेक्षया उक्तम्। (४) पूर्वत्र उत्तरत्र वा। (५) अभिमतम्। (६) अकारणस्य। (७) 'हेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः।' इति शेषः। (८) प्रज्ञाकरः प्राह। (९) कारणमन्तरेण। (१०) उत्पन्नस्य।

इति मन्यते । परतन्त्रं हि कार्यम् , परस्मिन् समर्थे अवश्यं जायते इति । परस्य तु दर्शनम्-पूर्वमनन्तरं कारणम् अपरं कार्यमिति ; तत्राह-नैरन्तर्येत्यादि । कार्यकारणयोः नैरन्तर्यं व्यवधानाभावः तन्मात्रात् प्रभवनियमे हेतुफलनियमे कुत एव नियमो न कुतश्चित् ? कुतः ? इत्याह-सर्वत्रेत्यादि । सर्वत्र कार्ये अन्यत्र च सर्वेषां कारणानाम् इतरेषां च अविशेषे निरन्तरत्वसंभवात् कुत एव नियम इति ।

ननु सर्वत्र कार्यकारणा (ण)भावेऽयं दोषः इति सं न भवेत् इति चेत् ; अत्राह-द्रव्यस्य इत्यादि । द्रव्यस्य जीवादेः प्रभवनियमे अङ्गीक्रियमाणे न [३६४ख] कश्चिद (किञ्चिद्)नन्तरमतिप्रसज्यते । किम्भूतस्य ? इत्याह-स्वहेत्वित्यादि । कदा ? इत्याह-परेत्यादि । परोऽन्यः प्रत्ययः सहकारिकारणं यस्य तस्य भावः तत्ता तस्याम् । चर्चितमेतत्-

१० *"अनादिनिधनं द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम् ।
स्वतोऽन्यतो विवर्तेत क्रमाद्धेतुफलात्मना ॥" [सिद्धिवि० ३।१९] इत्यादिना ।

स्यादेतत् नानन्तर्यमात्रात् तन्नियमः अपि तु सादृश्यात् , पूर्वं सदृशमुपादानम् इतरद् उपादेयमिति चेत् ; अत्राह- नचेत्यादि । [न च] नैव निरन्वयानाम् अन्वयरहितानाम् । केषाम् ? भावानां सादृश्यात् समानरूपत्वात् प्रभवः कार्यकारणभावः सन्ततिः सन्तानः,
१५ वेति समुच्चये, व्यवस्थाप्यते । कुतः ? इत्यत्राह-तदित्यादि । तद्विपर्ययेऽपि सादृश्यविपर्ययेऽपि न केवलमविपर्यये तथा प्रभवसन्ततिप्रकारेण उपलब्धेः 'भावानाम्' इति सम्बन्धः । तथाहि-काष्ठभस्मनोः अनुमान-सुगतज्ञानयोः सादृश्याभावेऽपि तथोपलब्धिरिति । यदि वा, तद्विपर्ययेऽपि प्रभवादिविपर्ययेऽपि तथा सादृश्यप्रकारेण यमलकादिवद् भावानाम् उपलब्धेः इति । सादृश्यमभ्युपगम्य इदमुक्तम् , यावता भेदैकान्ते तदेव नास्ति इति दर्शयन्नाह-सादृश्यं च
२० इत्यादि । सादृश्यं च शब्दो दूषणसमुच्चये यथा यथा येन येन भेदाभेदादिप्रकारेण विचार्यते तथा तथा विशीर्येत (र्यते) । क्व ? भेदैकान्ते । प्र ज्ञा क र गु प्त स्य च नित्यत्ववत् सादृश्येऽपि कथं प्रमाणवृत्तिः इति चिन्त्यताम् ? यथैव हि मध्यक्षणग्राहिणा प्रत्यक्षेण पूर्वापर-[३६५क] क्षणयोरग्रहणे न तद्गतैकत्वस्य ग्रहणं तथा सादृश्यस्यापि । अत्र निदर्शनमाह-नीलेत्यादि । नीलो निर्भास आकारो यस्य तच्च तज्ज्ञानं चेति तस्येव तद्वदिति ।

२५ एवं नैरात्म्ये निरस्ते सति यत्सिद्धं तद्दर्शयन्नाह-प्राप्तेत्यादि ।

[प्राप्तव्यक्तिनिरोभावो जीवः सिद्धः प्रतिक्षणम् ।
स स्वापादिप्रबोधात्माऽनादिः संसारमुज्झति ॥८॥

द्रव्याश्रयस्य गुणान्तराधानस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात् । प्रतिक्षणं व्यक्तितिरोभावौ

(१) बौद्धस्य । (२) अव्यवहितम् । (३) उत्तरमनन्तरम् । (४) कार्यकारणभावः । (५) कार्यकारणनियमः । (६) श्रुतमयी भावना परार्थानुमानरूपा चिन्तामयी च भावना स्वार्थानुमानरूपा, ताभ्याम् अनुमानरूपाभ्यां योगिज्ञानं निर्विकल्पकं जायते इत्यर्थः । (७) सादृश्यमेव । (८) पूर्वापरगतैकस्य । (९) पूर्वापरसादृश्यस्यापि न ग्रहणमिति ।

समनुभवतः क्रमवृत्तेस्तथैवाऽप्रतिषेधात्। स्वापप्रबोधान्यथानुपपत्तेः अनादिरयम्। सन्तानस्यापि परिणामिनमन्तरेण नियमासंभवात्। परत्वव्यावृत्तेः संसारे निर्वाणे वैकः सिद्धः।]

जीव आत्मा **सिद्धो** निश्चितः। किंभूतः ? इत्याह–**प्राप्तौ व्यक्तितिरोभावौ** येन स तथोक्तः। क्व ? **प्रतिक्षणं** क्षणं क्षणं प्रति। तथाहि–सच्चेतनादिरूपेण प्राप्तव्यक्तिभावः क्षणक्षयादिरूपेण प्राप्ततिरोभावः। न चैकत्र दृश्येतरस्वभावविरोध इति निरूपितम्। ५

ननु दृश्याद् यदि अदृश्यं रूपम् अभिन्नम्, दृश्यमेव स्यादिति चेत; स्यादेव तदेवं (स्यादेतदेवं) यदि वस्तुसत्तापेक्षाणि ग्रहणानि[1] स्युः यावता पुरुषशक्त्यपेक्षाणि। पुरुषो [य]-दि समर्थः किञ्चिन्[2] अत्यन्तमपि भिन्नेन[3] सह गृह्णाति यथा चन्द्रमसा स्वाङ्गुलिम्। विपरीत[4]: पुनरपि भिन्नेनापि सह न गृह्णाति यथा चन्द्रपर्वतयोः संलग्नतादर्शी तद्विवेकेन ताविति। अथ दृश्यस्य अदृश्येन सहैकत्वे खरविषाणेनापि स्यात्; तर्हि दृश्यस्य नीलाकारस्य ज्ञानस्य दृश्येनापि १० पीताकारेण एकत्वे सर्वस्य स्यादविशेषात्। एकत्वाभावे सर्वाभाव इत्युक्तम्। अथ यथा कस्यचिन्नीलज्ञानस्य केनचित् पीताकारेण एकत्वं प्रतीयते, नैवं सर्वस्य सर्वेण; तर्हि यथा चन्द्रपर्वतयोः तद्विवेकन नैवं (तद्विवेको नैवं) खरविषाणेन इति समानम्। अनुपलब्धि न(म्भेन) कथमिति चेत् ? पुरुषान्तरेणोपलम्भ(लभ्य)मानेन [३६५ख] स्यात्, अन्यथा अनुमानेनापि प्रतीयमानेन क्षणिकत्वेन एकत्वं शब्दादेर्न स्यात्, स्वयं वा पुनरुपलभ्यमानेन। कुतः पश्चाद् उपलभ्यमानं १५ पूर्वोपलब्धस्य रूपमिति चेत् ? 'तथाप्रतीतेः' इति ब्रूमः, अक्रमेणेव क्रमेणापि चित्रैकवस्तुग्रहणप्रसाधनात्। ततः '**प्राप्तव्यक्तितिरोभावः**' इति युक्तम्।

ननु यद्यात्मा बोधस्वभावः, सर्वदा तद्रूपत्वात् स्वापाद्यवस्थाभावश्चेत्; अत्राह–**स** जीवः **स्वापादिप्रबोधावात्मानौ यस्य** इति। एवं मन्यते–यथा प्रबोधरूपे[5]ऽपि प्रतिबन्धकारणवशात् प्राप्तव्यक्तितिरोभावौ युगपत् तथा क्रमेणापि स्वापादिप्रबोधात्मेति। यस्तु मन्यते–स्वापा- २० दावनुपलम्भात् तदभाव इति; तस्य तत एव सर्वत्र क्षणक्षयाभावः। तदुपलम्भे[6] स्वापादौ जीवोपलम्भः किन्न स्यात् ? अत्र तदभावः[7]; अन्यत्र अनुमानाद्यभावः।

ननु यथा क्षणिकत्वव्यवस्थापकं सत्त्वादि लिङ्गम्, नैवं तत्र[8] आत्मव्यवस्थापकं किञ्चित् इति [चेत् ?] 'प्रबोधः' [इति] शिष्मः[9]। नहि चिरव्यतीते उपादाने जायमाने कार्ये उभयप्रसिद्धमुदाहरणमस्ति। सर्वं सर्वस्य [10]तथाविधम् उपादानम्, चिरविनष्टं चेदुपादानम्। सादृश्यं २५ व (च) कृतोत्तरम्। ततो युक्तम्–**स्वाप**त्यादि। [यदि] पुनरेतन्मतं [11]परस्य गर्भादिमरणपर्यन्त एव जीवः सिद्धो नानाद्यनन्तः प्रमाणाभावात्। न च तेन परलोकवादिनः सिद्धेनापि [12]किञ्चिदिति। तत्राह–**अनादिः** इति। अनन्तश्च उपलक्षणत्वादस्य। तथाहि–यद् द्रव्यं तदनाद्यनन्तात्मकं यथा पुद्गलद्रव्यं [३६६क] पृथिव्यादिद्रव्यं [च] जीवः। जीवो **द्रव्यम्** गुण-

(१) ज्ञानानि। (२) वस्तु। (३) वस्तुना। (४) असमर्थः। (५) बोधरूपत्वात्। (६) क्षणक्षयोपलम्भे। (७) जीवाभावः। (८) स्वापादौ। (९) ब्रूमः। (१०)चिरविनष्टम्। (११) चार्वाकस्य। (१२) किञ्चित् प्रयोजनम्।

पर्यायात्मकत्वात् तद्वत् [1]। तत्र गुणाः ज्ञानादयः पर्यायाः सुखादयश्चोक्ताः । न च जीवः पृथिव्यादिपर्यायः, तन्निषेधात् । शेषमत्र चिन्तितम् ।

नन्वसौ जीवः संसारस्वभावोऽन्यथा वा भवेत् ? प्रथमपक्षे–निर्वाणप्रहाणम् । द्वितीये संसाराभावः । कदाचित् संसाररूपः अन्यदा अन्यथा इति चेत् ; अनित्यत्वमिति तदभावः [2] इति चेत् ; अत्राह–**संसारम् उज्झति** इति । **संसारं** गर्भादिसंचरणम् तत्कारणं भाव[कर्म [3]] द्रव्यकर्म च **उज्झति** त्यजति सामर्थ्यविशेषवशात् । कथञ्चिदनित्यत्वं च नानिष्टम् अनेकान्तवादिनाम् इति ।

कुत एतत् ? इति चेत् ; अत्राह–द्रव्येत्यादि । संसरणलक्षणात् **गुणात्** स्वरूपाद् मोक्षरूपो गुणः **तदन्तर(रं) तस्याधानं** सम्यग्दर्शनादिना स्वाधारत्वव्यवस्थापनम्, तस्य **प्रतिपद्भुमशक्यत्वात्** । किंभूतस्य ? इत्याह–**द्रव्याश्रयस्य** द्रव्यम् आश्रयो यस्य इति । अनेन सौगतनैयायिकादिकल्पितस्य निराश्रयस्य शक्यनिषेधतां दर्शयति । नहि नित्यैकस्वभावः तस्य आत्मा आश्रयो युक्तः । आश्रितस्य तेन [4] व्यतिरेके मोक्षसंसारयोरन्यतर एव ऐकान्तिकः । व्यतिरेके न तस्य तौ; असम्बन्धात् [5], समवायनिषेधात् । तदनिषे[धे]ऽव्यतिप्रसङ्गात्, तस्यापि ततो व्यतिरेकात् । प्रतिपद्भुमशक्यत्वं च कुतः ? इत्याह–**प्रतिक्षणम्** इत्यादि । क्षणं क्षणं प्रति **व्यक्ति-तिरोधाभावौ (तिरोभावौ) समनुभवतो** जीवस्य **क्रमवृत्तेः तथैवाऽप्रतिषेधात्** ।

ननु यस्यां प्रतिबोधावस्थायां व्यक्तिः न तस्या (स्यां) तिरोभावः, यस्यां स्वापाद्यवस्थायां तिरोभावो न तस्यां [३६६ख] व्यक्तिः, अतो[ऽ]दर्शनात् तत्र तं भाव (तद्भावः) इति चेत् ; अत्राह–**स्वाप** इत्यादि । निरूपितमेतत् । तदनुपपत्तेः किं जातम् ? इत्याह–**अनादिरयं** स्वसंवेदनप्रत्यक्षग्राह्यो जीवः । एवं मन्यते–यथा स्वापादिदशापरिगतः पुनः प्रबुद्धो भवति, प्रबुद्धो वा तद्दशापरिगतः, तथा जीवोऽनादिः । [न जीवोऽनादिः] अपि तु ज्ञानक्षणसन्तानः, तत्रैव बन्धमोक्षव्यवस्थेति चेत् ; अत्राह–**सन्तानस्यापि** इत्यादि । सन्तानस्यापि न केवलं बन्धमोक्षयो[ः] **परिणामिनं भावमन्तरेण नियमासंभवात्** । सर्वः सन्तानः सर्वस्य यस्मा (स्यात्) तन्नियामकस्य प्रभवादेर्व्यभिचारात्, **संसारे निर्वाणे वा एक[ः] सिद्धः** ।

तनु (ननु) योऽसौ संसारनिर्वाणयोरेकः [11] ततस्तयोरव्यतिरेके अभेदः स्यात् । यो हि अभिन्नादभिन्नः सोऽप्यभिन्न एव [यथा] स्वरूपम्, अभिन्नौ च अभिन्नात् [12] संसारमोक्षौ इति चेत् ; अत्राह–**परत्वव्यावृत्ते(त्तेः इति)** । **परत्वं** नानात्वं संसारनिर्वाणयोः ऐकान्तिकं यत् तस्य **व्यावृत्तेः** तत्र **एकः सिद्धः** । [13] तयोः नैकान्तेन अभेदो भेदो वा; अन्यथा संसारनिर्वाणयोरेकाधिकरणत्वाभावात् अनुपादानं निर्वाणं स्यादिति भावः ।

(१) पृथिव्यादिवत् । (२) जीवाभावः । (३) रागादि । (४) पुद्गलात्मकम् । (५) जीवस्य । (६) नित्यद्रव्यादभेदे । (७) सम्बन्धाभावात् । (८) समवायस्यापि । (९) स्वापप्रबोधान्यथानुपपत्तेः । (१०) स्वापादिदशापरिगतो भवति । (११) संसारनिर्वाणयोः । (१२) जीवात् । (१३) संसारनिर्वाणयोः ।

ननु हेतुफलभूताः क्षणा एव प्रत्यक्षा नात्मा कश्चित् । तेषु एकप्रतीतिस्तु सतो (सत्तो)-पलम्भेन सदृशापरोत्पत्त्या वा विप्रलम्भेन आरोपितविषया यमलकवत् मायामा(गो)लकवच्च । ततो चेतःक्षणे (चित्तक्षणाः) एव परमार्थसन्तः नैकत्वमिति चेत्; अत्राह–[अ]क्रमम् इत्यादि ।

[अक्रमं क्रमजन्मार्थैः सदसद्भिर्भात्यविद्यया ।
बहिरन्तर्मुखाकारैः सद्भिस्तत्त्वमिव स्वयम् ॥९॥　　५
भेदोऽपि न परमार्थः तद्वदित्यपरे विदुः ।
भेदैकान्तेऽपि न वै कारकज्ञापकस्थितिः ॥१०॥

नापि बहिरन्तर्वा प्रतिक्षणं परमार्थतो भेदोपलब्धिर्यथा व्यावर्ण्यते, प्रत्यक्षस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वात् निर्विषयत्वाच्चानुमानस्य । न वै किञ्चिज्ज्ञानं सन्मात्रतत्त्वं व्यभिचरति भेदष्वेव व्यभिचारात् । स्वपरसन्तानविकल्पस्य मिथ्यावभासाद् भेदैकान्तेऽपि १० कुतः सिद्धिः ? व्यापारादिबुद्धेश्च समीहामात्रव्यभिचारे पारम्पर्येणापि क्रियाऽव्यभिचारः किन्न स्यात् यतो बहिरर्थसिद्धिर्न भवेत् ? स्वपरक्रमविकल्पानां सर्वथाऽविद्यात्मकत्वात् सर्वविकल्पातीतं तत्त्वमिति; तदनुपपत्तिः प्रमाणाभावात् भेदैकान्तवत् ।]

सत् सत्ता भावप्रधा[नत्वा]न्निर्देशस्य । **नाति (भाति)** प्रतिभासते । किंभूतम् ? [३६७क] इत्याह–**अक्रम (मं)** हेतुफलादिक्रमरहितम् । कैः सह भाति ? इत्याह– १५ **असद्भिर**विद्यमानैः । केन कारणेन तथाविधैः तैः तदाभाति ? इत्याह–**अविद्यया** इति । **अविद्यया** मिथ्याज्ञानेन, न पुनर्विद्याया अभावेन तस्य हेतुत्वायोगात् । स्यादन्येन; विद्यायाः सत्तालक्षणायाः अन्यस्याभावात् । अवस्तुभूता[या]स्त्वविद्यायाः ततः तत्त्वान्य त्वाभ्यामवाच्यत्वादिति । अत्र सौगतप्रसिद्धं निदर्शनमाह–**बहिरि**त्यादि । 'यथा' अर्थे इवशब्दः । **तत्त्वं** ज्ञानलक्षणं यथा **बहिरन्तर्मुखाकारैः सद्भिः आभात्यविद्यया** तथा **सत्** । ततोऽ- २० भेदवत् **भेदोऽपि न परमार्थ इत्येवमपरे** सौगतादन्ये सत्तैकान्तवादिनो **विदुः** इति । इदं व्याख्यानं सुन्दरं यद्वक्ष्यति वृत्तौ–'**नवै किञ्चिज्ज्ञानं सन्मात्रतत्त्वं व्यभिचरति भेदष्वेव व्यभिचारात्**' इति । अथवा यदुक्तम्–"**संसारे निर्द्वाणा (निर्वाणे) वैक (कः) सिद्धः**' इति; तदसत्यम्; किन्तु स सकलपुरुषपरिणामादिकल्पित[ः] स्यात् । यदुक्तम्–*"**पुरुष एवेदम्**" [ऋक्० १०।९०।२] इत्यादि । *"**विश्वः सन्मात्रदेहो विविधकृतिरिह द्रव्यमेकं** २५ **(कः) पदार्थः ।**" इत्यादि च । यदि वा ब्रह्मैव परमार्थसत् अपर(रोऽ)विद्यावशादाभातीति वादिकल्पितः स्यात् । एतदप्युक्तम्–

(१) हेतुफलभूतक्षणेषु । (२) "तां पुनरनिश्यतां पश्यन्नपि मन्दबुद्धिर्नाध्यवस्यति सत्तोपलम्भेन सर्वदा तद्भावशङ्काविप्रलब्धः सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा···"–प्र० वार्तिकाल० २।२०८ । (३) "क्वचित्तदपरिज्ञानं सदृशापरसम्भवात् । भ्रान्तेरपश्यतो भेदं मायागोलकभेदवत् ॥"–प्र० वा० २।१०४ । हेतुबि० टी० पृ० १२० । (४) ज्ञानाभावस्य । (५) इवशब्दः 'यथा' इत्यस्यार्थे । (६) अस्मिन्नेव श्लोके । (७) पूर्वश्लोके ।

*"यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।
संकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति ॥" [३६७ख]
[बृहदा० भा० वा० ३।५।४३,४४ ।] इति

५ दर्शयन्नाह–**अक्रममित्यादि । तत्त्वमाभाति इत्यपरं** पुरुषवादिनो **विदुः ।** किंभूतम् ? **अक्रमम् स्वगम्** उत्पत्तिविनाशादिवर्जितम् । केनाभाति ? इत्याह–**क्रमजन्मार्थैः** इति । किंभूतैः ? इत्याह– **असद्भिरिति । सद्भिः** इत्यनेनात्र सम्बन्धः ।

ननु यदक्रमं तत्कथं क्रमवदाभाति इति चेत् ? अत्राह–**बहिरि**त्यादि । अस्यायमर्थः–
१० यथाऽक्रमं विज्ञानतत्त्वं भेदवादिनः **बहिरन्तर्मुखाकारैः सद्भिराभाति** तथा प्रकृतमपि इति । अनेन *"**पुरुष**" [कक०] इत्यादि दर्शितम् । तथा अक्रमं तत्त्वमाभाति । कैः ? **क्रमजन्मार्थैः ।** किंभूतैः ? इत्याह–**असद्भिरिति** । संभवतो विशेषणविशेष्यभावः इति '**अविद्यया**' इति विशेषणम् अ[नेनै]व सम्बध्यते न पूर्वेण । **बहिरि**त्यादि निदर्शनम् । अविद्यया बहिरन्तः तत्त्वमाभाति इति ।

१५ ननु यदि सत्तामात्रं तत्त्वं कथं कारकादिभेदप्रतीतिः[1] इति चेत् ? अत्राह–**भेदैकान्तेऽपी**त्यादि । न केवलम् अभेदैकान्ते सत्तैकान्ते किन्तु **भेदैकान्तेऽपि** कार्यकारणभावनिषेधात् **कार [काणां]** कर्त्रादीनां **ज्ञापकानां** प्रत्यक्षादीनां **स्थितिः**[2] **नवं** नैव **परमार्थतः** किन्तु कल्पनातः । कल्पना च अन्यत्रापि ।

ननु भेदैकान्तस्य प्रमाणविषयत्वात् तत्र तत्स्थितिः परमार्थत इति चेत् ; अत्राह–**प्रति-**
२० **क्षणम्** इत्यादि । क्षणं क्षणं प्रति **नापि भेदोपलब्धिः** । क्व ? इत्याह–**बहिरन्तर्वा** । कथं नास्ति ? इत्याह–**यथा** येन क्षणिकैकपरमाण्वाकारप्रकारेण **व्यावर्ण्यते** सौगतैः भेदोपलब्धिः तेन प्रकारेण । कुत एतत् ? [३६८क] इत्यत्राह–**प्रत्यक्षस्य** इत्यादि । **प्रत्यक्षस्य** परकल्पित-कल्पनापोढाभ्रान्तज्ञानस्य[3] **विप्रतिपत्तिविषयत्वात्** विवादगोचरत्वात् । नहि तद् वादिप्रतिवादिनोः अविगानेन प्रसिद्धम् , येन ततः किञ्चित् सिद्धं चेत् अविवादं स्यादिति न सौगतेन
२५ तदेकान्ते[4] साधनं वाच्यम् । न चान्यकल्पनया सिद्धं नाम कस्यचित् साधनं वा अन्यथा बुद्धि-चैतन्ययोर्भेदसिद्धिरेवं[5] किन्न स्यात् ?

स्यान्मतम्–मा भूत् एकैकपरमाणुनिष्ठस्य प्रत्यक्षसिद्धिः ततो वा वस्तुनः; व्यवहारात्तु परस्य स्यात् , ततो भेदोपलब्धिरपि स्यादिति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यक्षस्य विरुद्धा विचित्रा वा**
३० **प्रतिपत्तिः** अनेकान्तप्रतिपत्तिः **तद्विषयत्वात् ।** नापि भेदोपलब्धिः यथा व्यावर्ण्यत इति । मा भूत् प्रत्यक्षात्तदुपलब्धिः अनुमानात् स्यादिति चेत् ; अत्राह–**निर्विषयत्वाच्च अनुमान-**

(१) कारकक्रियादीनां भेदप्रतीतिः । (२) कारकज्ञापकस्थितिः । (३) "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम-भ्रान्तमिति"–न्यायबि० १।४ । (४) क्षणिकैकान्ते । (५) सांख्यमतीय ।

स्येति । सामान्यविषय[मनु]मानम् *"अन्यत् सामान्यं सोऽनुमानस्य विषयः" [न्यायबि० १।१६,१७] इति वचनात् । सामान्यं च परस्य[1] न किञ्चित्, ततो मरीचिकाजलज्ञानवत् नातो[2] वस्तुसिद्धिरिति भाविभक्तिपरिणामेन[3] सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति–यदि प्रत्यक्षं पूर्वं पश्चाच्च भेदैकान्तविषयं स्यात् युक्तमेतत्–तत उत्पत्तेः तदव्यभिचाराच्च तत्रानुमानं प्रमाणमिति, न चैवमिति । ५

यत्पुनरेतत् परस्य[4] मतम्–यद्यपि बहिरन्तश्च भेदवदभेदस्यापि प्रतिभासः तथापि भेद एव पारमार्थिकोऽव्यभिचारात् न (ना) भेदो विपर्ययादिति; तत्राह–न वै किञ्चिदि [त्यादि] [३६८ख] न वै नैव किञ्चित् प्रत्यक्षम् अन्यद्वा ज्ञानम् तन्मात्रतत्त्वं व्यभिचरति । क्व तर्हि तस्य व्यभिचारः ? इत्याह–भेदेष्वेव व्यभिचारात् ज्ञानस्येति । तथाहि–द्विचन्द्रादिज्ञानं द्वित्वं व्यभिचरति । ततो भेदवदभेदस्यापि न वा कस्यचित् सिद्धिरिति । १०

ननु सत्तामात्रं चेत् तत्त्वम्; तर्हि प्रतिपाद्यप्रतिपादकभेदविरहात् कुतः कः तत्त्वं प्रतिपादयत इति चेत् ? अत्राह–स्वेत्यादि । स्वो वादी परः प्रतिवादी तयोः सन्तानौ तयोर्विकल्पस्या व्य (ध्य) वसायस्य भेदस्य वा मिथ्यावभासाद् भेदैकान्तेऽपि कुतः सिद्धिः भेदैकान्तस्येति । तथाहि–स्वसन्तानप्रत्यक्षस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वात्, अनुमानस्य निर्विषयत्वात्, परसन्तानविषयस्य[5] स्वप्ने तदभावेऽपि[6] व्यापारादिलिङ्गभावादिति भावः । अथ जाग्रद्दशायां परचेतसो व्याहारादिः १५ साक्षात्, स्वप्ने परम्परया, ततो न व्यभिचार इति; अत्राह–व्यापार इत्यादि । व्यापारादिबुद्धेश्च समीहा चेष्टा सैव तन्मात्रम् तत्राव्यभिचारे अङ्गीक्रियमाणे । केन प्रकारेण ? इत्याह–पारम्पर्येणापि । अपि शब्दात् 'साक्षात् तदव्यभिचारे' इति ग्राह्यम्, क्रियाऽव्यभिचारः क्रिया व्यापारव्याहारात्मिका इह गृह्यते, क्रियाग्रहणम् उपलक्षणं तेन घटादेरपि ग्रहणम्, तदव्यभिचारः किन्न स्यात् ? स्यादेव 'तद्बुद्धेः' इति सम्बन्धः, यतोऽव्यभिचारस्या (स्य) भवनाद्, बहिरर्थसिद्धिर्न भवेत् । एवं मन्यते–यथा स्वप्ने अर्थरूपक्रियाविरहेऽपि तदवभासदर्शनात् अन्यदापि[7] तद्विरहेऽपि[8] तदवभास इति [३६९क] नार्थसिद्धिः तथा स्वप्ने परम (पर) समीहा[ऽ]भावेऽपि व्यापारव्याहारनिर्भासबुद्धेर्भावाद् अन्यत्रापि[9] तदभावेऽपि[10] तद्भाव[11] इति न सन्तानान्तरसिद्धिः इति । २०

एतेन स्वप्नान्तिकशरीरमवितथं कल्पयन्[12] विनिवारितो द्रष्टव्यः बहिरर्थाऽनिराकरणात् । २५

अत्र प्रज्ञाकरमतमाशङ्क्य दूषयितुं स्वपरेत्या [दि] । सर्वविकल्पातीतं तत्त्वम् इति । कुतः ? इत्यत्राह–सर्वथा[ऽ]विद्यात्मकत्वात् । कस्य ? इत्याह–स्वेत्यादि । स्व स्व [श्च] परश्च क्ष (क्र) मश्च हेतुफ[ल]भावः तेषां विकल्पो व्यवसायः । अनेन तेषां प्रत्यक्षविषयतां दर्शयतां (ता सत्तां) दर्शयति तस्य । अत्र दूषणमाह–प्रमाणाऽभावाद् इत्यादि । तस्य सर्व-

(१) बौद्धस्य । (२) अनुमानात् । (३) 'आ' इति तृतीयाविभक्तिः । (४) बौद्धस्य । (५) अनुमानस्य । (६) परसन्तानाभावेऽपि । (७) जाग्रद्दशायामपि । (८) अर्थक्रियाविरहेऽपि । (९) जाग्रद्दशायामपि । (१०) सन्तानान्तराभावेऽपि । (११) व्यापारव्याहारादिसद्भावः । (१२) प्रज्ञाकरः ।

विकल्पातीतस्य[य] तत्त्वस्य **अनुपपत्तिः तदनुपपत्तिः**। कुतः ? **प्रमाणाभावात्**। तथाहि–न तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्, अनेकान्तात्मकसुखादिघटादिव्यतिरेकेण तदनुपलब्धिः (ब्धेः)। न च धर्मधर्मिविकल्पाभावे अनुमानं विकल्पेतरस्वरूपाभावे च। अत्र निदर्शनमाह–**भेदवदिति**। नीलादिसुखादिनानात्वस्येव **तद्वद्** इति। एतेन प्रथमार्थेन कारिका व्याख्याता।

५ इदमपरं व्याख्यानम्–**भेदैकान्तेऽपि** इत्यादिः। न केवलमभेदैकान्ते अपि तु **भेदैकान्तेऽपि कारकज्ञापकस्थितिः न वै** नैव **परमार्थतः** किन्तु पुरुषपरिणामपक्ष इति भावः। अनेन **'अक्रमं क्रमजन्मार्थैः सद्भिराभाति'** इति व्याख्यातम्। कुत एतदिति चेत् ? अत्राह–**प्रतिक्षण**मित्यादि। सुगमम्। एतदपि कुतः ? इत्याह–**प्रत्यक्षस्य** इत्यादि। स्वसंवेदनाध्यक्षस्य ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदरूपस्य [३६९ख] **विप्रतिपत्तिविषयत्वात्**, इन्द्रिय-

१० प्रत्यक्षस्यापि अनेकावयवरूपाद्यात्मकभाति (कस्य विप्रति)पत्तिविषयत्वात्, **निर्विषयत्वाच्च** मिथ्याविकल्पवासनोपकल्पितस्वांशमात्रविषयत्वाद्वा। **अनुमानस्य कुतः** प्रत्यक्षादनुमानाद्वा **भेदैकान्तस्य सिद्धिः** परिणामस्यैव स्यादिति मन्यते।

अनेन **बहिरन्तराभाति तत्त्वमि**वेति निगदितम्। **न वै** न खलु। किम् ? **विज्ञानं सन्मात्रतत्त्वं** संवेदनं मात्र (दनमात्रं) तत्त्वं संदनं [सत्]संवेदनमित्यर्थः। सदि (सदे)र्गत्य-

१५ र्थस्या (स्य) वेदनार्थत्वात्। **व्यभिचरति सर्वेषाम्** आत्मनाम् संवेदनापेक्षया **एकात्मकत्वाद्** एक एवात्मा परमार्थसन्नित्यर्थः। क तर्हि व्यभिचारः ? इत्याह–**भेदेष्वेव** सुखादिष्वेव **व्यभिचारात्** ज्ञानस्येति।

ननु स्वपरसन्तानभेदात् कथं पुरुषमात्रमिति चेत् ? अत्राह–**स्वपरे**त्यादि। अनेन **'अक्रमं क्रमजन्मार्थैरसद्भिरविनाशा भाति'** इति व्याख्यातम्। उपसंहारमाह–**स्व-**

२० **परे**त्यादि। **सर्वविकल्पातीतं** सर्वभेदरहितं **तत्त्वं** पुरुषस्वरूपम्। **इति** शब्दः पूर्वपक्षसमाप्त्यर्थवचो [प्तौ। अत्रोत्त]रमाह–**प्रमाणाभावात्** इत्यादि। तस्यात्मनः सकलपरिणामात्मतोपपत्तिः। कस्य चे [कस्येव ? इ]त्याह–**भेदवद्** (**भेदैकान्तवत्**) इति। सर्वस्य सर्वतो व्यावृत्ति[:] **भेदः** [तस्य **एकान्तः**] तस्येव तद्वद् इति। कुतः ? इत्याह–**प्रमाणाभावात्** 'सर्व (र्वं) पुरुषस्यैकस्य परिणामः' इत्यत्र प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात्। नहि यथा एकसन्तानपतितेषु

२५ सुखादिषु अहमहमिकया अस्खलदेकत्वप्रत्ययविषयत्वं तथा सर्वस्य तत्रोत्तसुर (सर्वसन्तानान्तर) सुखादिषु [३७०क] घटादिषु च। योऽपि (यापि) तत्रे यत्तत वीति (सच्चेतनादिना एकत्व) प्रतीतिः सोऽपि (सापि) समानपरिणामविषया, नैकत्वविषया, तत्तथाननुभवनात्। न चान्यप्रतीतेः अन्यविषयसिद्धिः, अन्य[था]नीलप्रतीतेः पीतसिद्धिः स्यात्। ततः प्रत्यक्षस्य अत्राभावः, तदभावादनुमानस्यापि तत्पूर्वकत्वादस्यै। न चैकात्मपरिणामित्वमन्तरेण जगतः किञ्चिदनुपपन्नं

३० यतः तत्परिकल्पनं स्यात्। सर्वस्य स्वसामग्रीतः एव भावात्। स्वपर-दातृगृहीतृ-वध्य-वधकादिव्यवहारोऽप्यत्र दुर्घटः। तन्न अनुमानात् [तत्सिद्धिः।]

---

(१) सवनं गमनमित्यर्थः। (२) सद्गमने धातोः। (३) घटादिषु सुखादिषु च। (४) अनुमानस्य। (५) एकात्मपरिणामस्वीकारे।

ननु 'प्रमाणाभावात्' इत्यसिद्धम्, *"पुरुष एवेदम्" [ऋक्० १०।९०।२] इत्यादि आगमस्य भावादिति चेत्; न; अस्यं अध्यक्षबाधितत्वेन अनागमत्वात् पि ट क त्र या दिवत्, तदन्तरसद्भावाच्च । यदि वा, तस्यामलस्य निर्विकल्पस्य ब्रह्मणा [णो]ऽनुपपत्तिः, तदनुपपत्तिः । कस्येव ? इत्याह–भेदैकान्तवद् इति । भिद्यते अन्यस्मात् सर्वतः इति भेदा [दः] निरंशज्ञानं तस्येव तद्वद् इति । कुतः ? प्रमाणाभावात् । तदभावोऽपि प्रत्यक्षस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वात् चेतनेतरभेदविषयत्वात्, निर्विषयत्वाच्च अनुमानस्य । तत्रापीदं वक्तव्यम्–कुतः सिद्धिः अभेदैकान्तस्य इति ? आगमोऽपि यदि ततोऽनन्यः; तद्वदसिद्धिः (द्धेः) । न च तदेव प्रतिपाद्यं प्रतिपादकं च, विरोधात् । आगमप्रतिपत्तिरेव वा अस्मिन् दर्शने तत्प्रतीतिः इति कस्तत्र आगमस्योपयोगः ?

किंच, आगमाद् ब्रह्म वा तत्स्वरूपं प्रतिपद्येत, अन्यो वा ? प्रथमपक्षे– १०

स्ववित्तिरहितं ब्रह्म यदि वेत्ति, ततः कथम् ।
आत्मानं घटवत् पूर्वमिति सर्वं निरूपितम् ॥१॥
विद्याऽविद्याविभागोऽयं [३७०ख] निक्षिप्तोऽवि त्तिक्त एकोके (ऽविविक्तके) ।
नेत्याहो (नेत्यपो) ध्रियते तस्मान्मानत्राणविवर्जितः ॥२॥
तस्यात्मवेदनं नित्यं तच्चेत् प्रागपि विद्यते । १५
आगमादस्य वैफल्यं सिद्धस्यास्तु क्रिया कुतः ॥३॥
आगमेन कृतत्वेऽस्य कथं नित्यत्वमुच्यताम् ।
तदनित्यत्वतः प्राप्तमात्मनोऽपि तदेव तु ॥४॥
अविकल्पात्मसंवित्तै(त्ति)रन्या चेदागमाद् भवेत् ।
आत्मभूतैव तस्येह ध्रुवता कथमुच्यते ॥५॥ २०
न चान्ययात्मसंवित्तिशून्यया वेत्ति कश्चन ।
आत्मानमन्यथा प्राप्तम् आत्मवैफल्यमञ्जसा ॥६॥
तन्न वेत्त्यात्मना रूप स्वसं (पं स्वं सद्) ब्रह्म ततः पुनः ।
अन्येन वेदने तस्य तदद्वैतं कथं भवेत् ॥७॥
अविद्यानिर्मितोऽन्यश्च स कथं प्रतिपद्यताम् । २५
ब्रह्मरूपं जलभ्रान्तेः पिपासानाशकं न हि ॥८॥
अन्योऽपि वेत्तिमात्मानं (चेत्तमात्मानं) यदि सोऽस्तु कथं हि सन् ।
अन्येन वेदने तस्य वार्यते नानवस्थितिः ॥९॥
अन्यस्यापि ततोऽन्येन यस्मात् वित्तिपरिग्रहः ।
ब्रह्मवद् वित्तिसद्भावः तस्य स्यात् स्वयमेव चेत् ॥१०॥ ३०

(१) आगमस्य । (२) भेदसाधक-आगमान्तरसद्भावाच्च । (३) ब्रह्मणः । (४) अभेदवादे । (५) ब्रह्मप्रतीतिः तयोरभेदात् (६) अभेदस्वरूपम् । (७) आत्मवेदनस्य । (८) अभेदात् ।

अविद्यानिर्मितत्वेऽस्य का वार्त्ता वत भण्यताम् ।
ब्रह्मणा वेदनं तस्य यदि भण्येत भावतः ॥११॥
विज्ञानरात्मता प्राप्ता ब्रह्मणि स्यात्मवेदने ।

नन्न कस्यचित् ब्रह्मप्रतिपत्तिः । तन्न युक्तम्–

५ *"अनि (अती)न्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥"[वाक्यप० १।३८] इति ।

कस्यचिद् दृष्टत्वाभावादिति ।

आगमस्य ततोऽन्यत्वे तदद्वैतं कथं मतम् ।
तेनास्य वेदने [३७१क] प्राप्तो ग्राह्यग्राहकतानयः ॥

१० अवेदने कथं सिद्धिरागमस्यास्तु तत्त्वतः ।
अविद्यैव मतः सोऽपि त्वया चेदागमः कथम् ॥
तेनास्तत्त्वं प्रतीयेत सं वा केन प्रतीयताम् ।
अप्रतीता तथा वाच्या अन्यत्वेनेतरेण वा ॥
अविद्या कथमुच्येत विद्यायाः पण्डितैः स्वयम् । इति ।

१५ ततः स्थितम्–'प्रमाणाऽभावात्' इत्यादि ।

इतश्च नैकान्ततो भेदोऽभेदो वाऽर्थानामिति दर्शयन्नाह–भेदा[भेदा]त्मक इत्यादि ।

[भेदोऽभेदात्मकोऽर्थानामन्यथानुपपत्तितः ।
भेदात्मकस्तथाऽभेदः तत्त्वं नैकान्ततस्ततः ॥११॥

लोकस्य मार्गप्रतिपत्तेः प्रमाणं अन्धयष्टिकल्पम् । तदविद्यात्मकं चेत् केनायं २० प्रतिपक्षमन्धायति ? समारोपव्यवच्छेदस्यापि तत्त्वाप्रतिपत्त्यात्मकत्वात् कुतस्तत्त्वं प्रतिपद्येत ? यदिमौ नान्योन्यमतिशयाते यतः परमार्थसत्त्वाभावः प्रतीयते । तन्न *"यथादर्शनमेवेयं मानमेयफलस्थितिः" अपि तु परमार्थतः, परमार्थाभ्युपगमान्यथानुपपत्तेः अव्यवस्थाप्रसङ्गादिति । भेदैकान्ते संविदितस्य असंविदिताकारासंभवे भ्रान्तिरेव न क्वचित् स्यात् । संवेदनस्य कंचनाकारं(रम)संवृण्वतो विभ्रमस्यैवायोगात् व्यक्ताकार- २५ त्ववत् ।]

प्रस्तावाद् अर्थानाम् एकसन्तानसुखादीनाम् न सन्तानान्तराणां[६] तत्र [अ]भेदाऽनभ्युपगमात् । भेदो नानात्वम् । स किम् ? इत्याह–अभेदात्मकः कथञ्चिदेकत्वस्वभाव इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह–अन्यथानुपपत्तितः इति । अन्यथा अन्येन भेदस्याऽभेदात्मत्वाभावप्रकारेण अनुपपत्तितः भेदस्य अर्थानाम् इति वा योज्यम् । यथैव हि तेषां

(१) आगमात् । (२) आगमः । (३) भिन्नत्वेन अभिन्नत्वेन वा । (४) "यथानुदर्शनञ्चेयं मानमेयफलस्थितिः । क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम् ॥"–प्र० वा० २।३५७ । (५) प्रकरणात् । (६) सन्तानान्तरगतसुखादीनाम् अभेदो नास्ति इत्यर्थः ।

भेदाऽभावे नार्थक्रियादयः तथा [अ]भेदाऽभावेऽपि । **भेदात्मकः तथा** तेन अन्यथानुपपत्ति-प्रकारेण **अभेदः तत्त्वमने (त्त्वं नै)कान्ततः ततः** ।

नेनु सर्वस्य ग्राह्यस्य तैमिरिककेशादिवदसत्त्वात् **'अर्थानाम्'** इत्ययुक्तमिति चेत्; अत्राह—**प्रमाणम्** इत्यादि । **प्रमाणं** प्रत्यक्षादि **अन्धयष्टिकल्पम्** । कस्य सम्बन्धि ? इत्याह—**मार्गप्रतिपत्तेः** यो येनाभ्युपगतो मोक्षोपायः स तस्य मार्ग इष्यते । [अभ्युपगता] च सौग- ५ तेन प्रमेयासत्यता निर्वाणोपायः, ततः सैवे तस्य **मार्गः**, तस्य **प्रतिपत्तेः** । न हि सा प्रमाणता-मन्तरेण सिध्यति विषयवत् । कस्य स (त)त्तथाभूतम् ? इत्याह—**लोकस्य** तथागतजनस्य । ततः किम् ? इत्याह—**तच्चेद्** इत्यादि । **तत्** प्रमाणं **चेद्** यदि **अविद्यात्मकं** [३७१ख] स्वरू-पेऽपि च भ्रान्तम् । एवं मन्यते—स्वप्ने घटादेरविद्यात्मकत्वदर्शनात् अन्यदापि परेण तस्य तत्त्व-मिष्यते, तदुभयत्र तत्त्वदर्शनात् प्रमाणस्यापि तदिष्यताम् इति **केन** हेतुना **अयं** सौगतलोकः १० **प्रतिपक्षं** सकलस्य परमार्थसत्त्वे मन्धामति । न् । ते (सत्त्वम् **अन्धायति**) न केनचिद् इत्यर्थः । परमार्थप्रमाणाभावे प्रतिपक्षवस्त्व (वत् स्व)पक्षस्याप्यसिद्धेः इति ।

ननु न सौगतः कस्यचित् केनचित् तत्त्वतोऽसत्त्वं साधयति येनाऽयं दोषः, किन्तु परमार्थसत्त्वाभावे यदारोपितं बहिरन्तर्वा परेण तत्सत्त्वं तदेव अनुमानेन अविद्यात्मनापि निरा-क्रियते इति चेत्; अत्राह—**समारोप** इत्यादि । परमार्थसत्त्वरहितेऽपि परमार्थसत्त्वज्ञानं **समारोपः** १५ तस्य **व्यवच्छेदो** निरासः तदनुमानं वा तस्यापि न केवलं प्रत्यक्षस्य **तत्त्वाप्रतिपत्त्यात्मकत्वात्** । **तत्त्वम्** अविद्यात्मकत्वं तस्याऽ**प्रतिपत्तिः** तदा**त्मकत्वात्** । यथैव हि प्रत्यक्षात् तथा तद्व्यव-च्छेदादपि न तत्त्वप्रतिपत्तिरिति । [न] ततोऽपि तत्प्रतीतिरिति चेत्; अत्राह—**कुत** इत्यादि । **तत्त्वं** मिथ्यात्वं **प्रतिपद्येत** विभ्रमाऽसिद्धेः इति भावः । **यद्** यस्मात् तत्त्वप्रतिपत्तिरूपादियौ (दिमौ) विचार्यमाणौ भेदाऽभेदैकान्तौ द्रव्यपर्यायैकान्तौ **न अन्योन्यमतिशय(या)ते यतः** २० **परमार्थसत्त्वाभावः प्रतीयते** ।

तदस्ति (नन्वस्ति) स्वसंवेदनाध्यक्षं परमार्थत इति चेत्; अत्राह—**तन्न** इत्यादि । **तत्** तस्मात् सर्वविकल्पाभावप्रतीतिरूपात् स्वसंवेदनात् [३७२क] **न** *"[11]**यथादर्शनमेवेयं मानमेय-फलस्थितिः ।"** [प्र० वा० २।३५७] कथं तर्हि सा ? इत्याह—**अपि तु** किन्तु **परमार्थतः** । कुतः ? इत्यत्राह—**परमार्थे**त्यादि । **परमार्थस्य** सकलविभ्रमादिस्वभावस्य यो**ऽभ्युपगमः तस्य अन्यथा** २५ अन्येन तत्त्वतो मानमेयस्थित्यभावप्रकारेण **अनुपपत्तेः** हेतोः तत्त्वतः "'सा' इति सम्बन्धः ।

ननु [12]तदभ्युपगमश्च स्यान्न च तत्त्वतः [13]तत्स्थितिः; इत्याह—**अव्यवस्थाप्रसङ्गादिति** । 'विभ्रमादिकमेवास्ति न नित्यत्वादिकम्' इत्यभ्युपगमस्य या **व्यवस्था** तदभावोऽ**व्यवस्था** तस्याः **प्रसङ्गात्** तत्त्वतः तत्स्थितिः इति । अनेन **'अर्थानाम्'** इति समर्थितम् ।

---

(१) विज्ञानवादी प्राह । (२) प्रमेयासत्यता । (३) जाग्रदवस्थायामपि । (४) अविद्यात्मकत्वम् । (५) अविद्यात्मकत्व । (६) अविद्यात्मकत्वम् । (७) प्रतिपक्षम् अन्धकल्पितमिव मूते । (८) बाह्यार्थ-वादिना । (९) समारोपव्यवच्छेदरूपादनुमानादपि । (१०) दर्शनानुसारेण व्यवहारेणेत्यर्थः । (११) मानमेयफलस्थितिः । (१२) सकलविभ्रमाभ्युपगमश्च । (१३) मानमेयफलस्थितिः ।

ननु भवतु(न्तु) अर्था बहिरन्तश्च, तथापि तेषां भेदात्मकोऽभेदो [अभेदो] वा भेदात्मकः कुतः, विरोधादिति चेत ? अत्राह–भेद इत्यादि। **भेदैकान्ते संविदितस्य** चेतनस्य इतरस्य वा ज्ञानेन विपर्यीकृतस्य वस्तुनः **असंविदितः** तदैव तेनैव ज्ञानेन [अ]विपर्याकृतो य **आकारः** क्षणिकक(त्व)कार्यजननसामर्थ्यविषयाकारविवेकादिलक्षणः **तस्याऽसंभवे** तस्य सर्वात्मना
५ संवेदनाङ्गीकरणे इत्यर्थः, **भ्रान्तिरेव** (रेव) **न कचिद्** बहिरन्तर्वा याद (**स्याद्**)भ्रान्तिः सर्वत्र **स्यात्** इत्येवकारार्थः । तथा **भेदैकान्ते संविदितस्य** [चेतनस्य इतरस्य] वा सच्चेतनादिरूपेण **असंविदितस्या**विनाशिविवेकरूप**स्याऽसंभवे भ्रान्तिरेव न कचित् स्यात्** । कुत एतत ? इत्यत्राह–**संवेदनस्य** इत्यादि । **संवेदनस्य** स्वपरगोचरज्ञानस्य **कंचन आकारं** क्षणि[क]-त्वादिकं रूपं **मुंगृण्वतो विभ्रमस्यैवाऽयोगात्** । अत्र निदर्शनमाह–**व्यक्ताकारत्व** [३७३ख]
१० **वदिति** । तथा च प्रयोगः– यस्य यो विषयोऽसंवृतः तस्य न तत्र भ्रान्तिः, यथा विवक्षित-संवेदनस्य सच्चेतनाद्याकारे, असंवृतश्च ज्ञानस्य सुखाद(दे)र्विवादास्पदीभूत आकार इति नानु-मानं भ्रान्तिव्यवच्छेदफलं नाम । इष्यते च परेण भ्रान्तिः, ततो मन्यामहे–संविदिताकार इति । अनेन **भेदोऽभेदात्मक** इत्यादि समर्थितम् ।

ननु भवन्मतेऽपि यथावस्थिताशेषपदार्थग्रहणस्वभावस्य जीवस्य कथं भ्रान्त (भ्रान्ति)-
१५ संभव इति चेत ? अत्राह–**जीवस्य** इत्यादि ।

[जीवस्य संविदो भ्रान्तिनिमित्तं मदिरादिवत् ।
तत्कर्मागन्तुकं तस्य प्रपञ्चोऽनादिरिष्यते ॥१२॥

ज्ञानस्वभावो जीवः चेतनस्यापरिणामिनः अचेतनस्याऽपरिणामिनः जीवस्य निषे-धात् नैरात्म्यासिद्धेश्च तदन्यथात्वं द्रव्यान्तरसम्बन्धात् मदादिवत् । यदि पुनः कर्मणामेव
२० **कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रबन्धोऽनादिः ; निरात्मकादयन्न विशिष्येत, स्वभावान्तरानवधारणात् क्षणक्षयादिवत् । आत्मनस्तथापरिणाममन्तरेण प्रयत्नसुखदुःखादिदर्शनबुद्धीनां समवायि-कारणतानुपपत्तेः अनुपयोगादिति । चेतनस्य तदेव कर्म साक्षात् संसारनिमित्तं न पुनः प्रयत्नसधर्मा जीवपरिणामः । द्रव्यान्तरसम्बन्धोदयोदीरणादिवशात् मिथ्यादर्शनादि-विकारदर्शनात् , तत्परिक्षयान्मोक्षः । ईश्वरादिकं कल्पयतापि अतिप्रसङ्गात् । तस्यापि**
२५ **ईश्वरः संसारनिमित्तं स्यात् जीवाविशेषात् । यथाकर्मसम्बन्धं विपर्यये वा प्रवर्तने पारमैश्वर्यानुपपत्तिः ।]**

जीवस्य आत्माऽपरनामकस्य । किंभूतस्य ? इत्याह–**संविदि[द]** इति । समीचीना, यथावस्थिताशेषवस्तुग्रहणरूपा वा, तत्तदास्येन (तत्तादात्म्येन) स्थिता वा[3] विभ्रमहेतुत्वाऽयोगात्, इतरथा यस्य कस्यचित् कर्मणो यस्य कस्यचिद् भ्रान्तिः इति नाभ्रान्तिः कश्चित् (कस्यचित्)
३० स्यात् । किमिव तन्नास्य [इ]ति चेत् अत्राह–**मदि[रादि]वत्** । आदिशब्देन [4]मदन-त्वोप्रादि

(१) जैनमतेऽपि । (२) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० १७९ । प्र० नि० पृ० ७१ । (३) अन्यथा । (४) कामोद्वेग ।

(क्रोद्रवादि)परिग्रहः । यथैव हि देवदत्तविभ्रमहेतुः मदिरादिः तस्य तथैव कर्मापि । अथ अत-दीयोऽपि सूर्यग्रहणादिः तद्विभ्रमे हेतुः, शुक्ले वस्त्रे ततः[1] पीतज्ञानदर्शनात् ततो व्यभिचार इति चेत ; न ; तत्सम्बन्धे तद्धर्मीनां तदीयत्वात् । एवमन्य[द]पि कुचोद्यं चिन्त्यम् ।

ननु कर्मसम्बन्धे जीवस्य न चेत् स्वरूपहानिः ; न ततस्तद्भ्रान्ति [:, अतः] मुक्तेतरा-विशेषः । तद्धानि स्वेद ([2]तद्धानिश्चेत , अ)नित्यत्वमात्मनः इत्यभावः । न चैतदिष्यते तद्धा- ५ दिना । तदुक्तम्–

*"यस्यात्मा वल्लभः तस्य समासं (स नाशं) कथमिच्छति ।"

[प्र० वा० १।२३६] इति चेत् ;

अत्राह–**जीवस्य** इत्यादि । **मदिरादिवत तत्कर्म तद्भ्रान्ते (तद्भ्रान्तेः) निमित्तम्** । एतदुक्तं भवति–[३७३क] यथा मदिरादिसम्बन्धे तस्य कथञ्चिदन्यथाभावः, १० अन्यथा मत्तेतराऽविशेषः सन्तानभेदो वा, [तथा] कर्मसम्बन्धेऽपि इति ।

योऽपि मन्यते–न तस्य मदिरादेरपि स्व[रू]पान्यथाभावो नित्यत्वात अपि तु मदावस्था ततोऽर्थान्तरभूता जायते इति; तस्योत्तरम्–तदवस्थायास्ततो भेदे न स मत्तः स्याद् आत्मान्तर-वत् । [5]तस्याः तेन अनुभा (भ)वान् मत्त इति चेत ; कथमेवं योगी न [6]स्यात । समवाय(या)-भावात न [7]ततो विशेषः । अथ अवस्था तत्कार्यत्वात तस्य इत्युच्यते ; ईश्वरादेरपि उच्यताम १५ अविशेषात । निषिद्धश्च नित्ये हेतुफलभाव इति न किञ्चिदेतत ।

स्यान्मतम्–तत्कर्मास्तित्वे किं प्रमाणमिति ? तत्राह–**जीवस्य** इत्यादि । **जीवस्य** स्वपरावभासनस्वभावस्य या **भ्रान्तिः** तस्याः **तत्कर्म मदिरादिवत्** 'प्रतीयते' इत्यध्याहारः । किं पुनः [8]तत्तस्या[9] यतोऽनुमीयत इति चेत् ? अत्राह–**निमित्त**मिति । यतो नित्यत्वाद्येकान्त-भ्रान्तेः म[दिरा]दिवत् कर्म निमित्तम् , ततः तत्ततः प्रतीयते । तथाहि–प्राणिनां नित्यत्वाद्ये- २० कान्तभ्रान्तिः तत्सम्बन्ध(तत्सम्बद्ध)द्रव्यान्तरविशेषपूर्विका, तत्त्वात , मदिराद्युपयोगिनो दिगादि[भ्रा]न्तिवत् । योऽसौ तद्द्रव्यान्तरविशेषः स [10]नः कर्म इति मे[11] ।

परे प्राहुः–उपलादौन (उत्पलादौ[12]) कदाचिद् भ्रान्तिर्भवतु तदुपयुक्तद्रव्यविशेषपूर्विका तथा दर्शनात् , क्षणक्षयाद्येकान्तभ्रान्तिस्तु सत्पूर्व (तत्पूर्व) भ्रान्तिनिमित्ता, परस्य कर्मणोऽन्यस्य वा निमित्तस्यादर्शनादिति । नन्वेवम्[13] अङ्कुरोऽपि अदृष्टबीजः तत्पूर्वको न भवेत् । अथ तज्जाती २५ [14]यस्य [15]तत्पूर्वकत्वदर्शनात् तस्यापि तथानुमानम् ; [३७३ख] प्रकृतेऽपि समानमिदम् । यथा च इन्द्रियभ्रान्तयः तथा मनोभ्रान्तयोऽपि मत्तस्य द्रव्यान्तरसम्बन्धात् प्रतीयन्ते । अथा (अथ)

(१) सूर्यग्रहणात् । (२) स्वरूपहानिश्चेत् । (३) जीवस्य । (४) मदावस्थायाः । (५) मत्तः न स्यात् तेन मदावस्थायाः प्रत्यक्षेणानुभवात् । (६) योगिनि तदवस्थायाः समवायो नास्तीति चेत् । (७) समवायस्य नित्यत्वात् सर्वगतत्वाच्च न ततो विशेषः, तस्य सर्वत्राविशेषात् । (८) तत्कर्म । (९) भ्रान्तेः । (१०) अस्माकं जैनानाम् । (११) 'मे' इति निरर्थकम् । (१२) नीलोत्पले पीतभ्रान्तिः पित्तादि-संक्षोभात् भवति । (१३) अदर्शनाद् यद्यभावः । (१४) अङ्कुरस्य । (१५) बीजपूर्वकत्व ।

विशिष्टोपदेशादपि [1]तद्भ्रान्तयो दृश्यन्ते; ता अपि तदुपदेशसहकारिणः कर्मणः [2]कर्मण एव मदिरादिवत् । अपि च [3]तद्भ्रान्तेरेव भ्रान्तिसंभवे चिरगाढसुप्तोत्थितस्य कुतः तत्संभवः, स्वापादौ मनोभ्रान्तेरभावात्, पुनस्तथैवाऽस्मरणात्, तथापि [4]तत्र तदभ्युपगमे न संहृताशेषविकल्पावस्थासंभवः कस्यचित् । [5]तज्ज्ञानमात्रस्यापि तत्रानभ्युपगमः; न च व्यवहितं कारणम् इत्युक्तम् ।
५ ततः तस्याः कर्म निमित्तमिति । [6]तन्नित्यत्वे भ्रान्ते न (र्न) उपरम इति चेत्; अत्राह–**आगन्तुक**मिति । तत्कार्यभ्रान्तेः कादाचित्कत्वात् [7]तत् कादाचित्कमित्यर्थः । नहि नित्यकार्यं कादाचित्कं युक्तम् । तदुक्तम्–

*"**कारणस्याक्षये तेषां कार्यस्योपरमः कथम् ।**" [न्यायवि० १।१०३] इति ।

एवमपि पूर्वं शुद्धस्य ततो (सतो) मुक्तवत् कथं कर्मणा सम्बन्ध इति चेत्? अत्राह–
१० **तस्य** इत्यादि । **तस्य** कर्मणः **प्रपञ्च**(ञ्चः)प्रवाहोऽ**नादिरिष्यते**, तत्कार्यप्रबन्ध[स्या]नादित्वप्रसाधनात् तद्गतिः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**ज्ञान** इत्यादि । [**ज्ञानस्वभावो जीवः**] कुत एतत्? इत्यत्राह–
चेतनस्याऽपरिणामिनः सांख्यकल्पितस्य **अचेतनस्याऽपरिणामिनो** वैशेषिककल्पितस्य, **जीवस्य निषेधात्** निराकरणात् **नैरात्म्याऽसिद्धेश्च** कारणादिति । ज्ञानस्वभावस्य अन्यथात्वं
१५ कुत इति चेत्? अत्राह–**तदन्यथात्व**मिति । **तस्य** जीवस्य **अन्यथात्वं** भ्रान्तत्वं [३७४क] **द्रव्यान्तरसम्बन्धात्** आत्मद्रव्याद् अन्यत् कर्मद्रव्यं दतंतरं (तदन्तरं) तेन सम्बन्धात् । निदर्शनमाह–**मद**(**मदादि**) इत्यादि । यथा **मदादि** तदन्यथात्वं तत्सम्बन्धात् तथा प्रकृतम् ।

[8]ननु न कुतश्चित् [9]तस्य अन्यथात्वं नित्यत्वेन [10]अनाधाराऽप्रहेयातिशयत्वात्, केवलं कर्मणां प्रकृतिपरिणामविशेषाणां शरीरेन्द्रियादिकरणात् कर्तृत्वं सुखदुःखादिनंशति (दुःखाद्यभि)-
२० व्यक्तिहेतुत्वाद् भोक्तृत्वम् । पुरुषे तु भोक्तृत्वमुपचारेणाकर्तृ[त्वात्] परमार्थेन तदभावादिति चेत्; एतदेव दर्शयन्नाह–**यदी**त्यादि । परमतस्य सूचने **यदी**ति, पक्षान्तरस्य **पुनरति** (प्रकान्तरस्य **पुनरिति**) **कर्मणामेव** नात्मनः इत्येवकारार्थः । किम्? इत्याह–**कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रबन्धः** । किंभूतः? इत्याह **अनादिः** 'इष्यते' इत्यध्याहारः । एतद् दूषयन्नाह–**निरात्मकान्न विशिष्य** (ष्ये)**तेति**–**निरात्मकाद्** आत्माभावपक्षाद् **अयं पक्षो न विशिष्येत** न भिद्येत, कर्तृत्व-
२५ भोक्तृत्वरहितस्य सतोऽप्यात्मनो[ऽ]सदविशेषात्[11] इति भावः ।

अथ मतं द्रव्यान्तरसम्बन्धकृतान्यथात्वलक्षणं[12] भोक्तृत्वं तस्य न विद्यते अर्थान्तरभूतस्य सुखादेरनुभवनलक्षणं तु विद्यते *"**चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्**" [योगभा० १।१।९] इति वचनात्, इति चेत्; अत्राह–**स्वभावे**त्यादि । चैतन्यात्मकसुखाद्यनुभवरूपभोक्तृत्वस्वभावादन्यो [13]नित्यनित्यनिरवयवदर्शनस्वभावः **तदन्तरं तस्य अनवधारणाद्** अनिश्चयात् **क्षणक्षयादिवत्** ।

(१) मनोभ्रान्तयः । (२) 'कर्मणः' इति पुनर्लिखितम् । (३) पूर्वभ्रान्तेरेव । (४) स्वापादौ । (५) तस्मात् ज्ञानमात्रमपि स्वापादौ न स्वीक्रियते इति शङ्काकर्तुः प्रज्ञाकरस्याभिप्रायः । (६) कर्मणो नित्यत्वस्वीकारे । (७) कर्म । (८) सांख्यः प्राह । (९) जीवस्य । (१०) अनाधेयाप्रहेयातिशयत्वात् । न कश्चिदतिशयः आधातुं प्रहातुं वा शक्यते इत्यर्थः । (११) असत्तुल्यत्वात् । (१२) विकारित्वं । (१३) 'नित्य' इति पुनर्लिखितम् ।

एको हि हर्षविषादादिविवर्त्तना(न)चैतन्यस्वभावोऽनुभूयते नाऽपरम् इति। तर्हि प्रयत्नस्य समवायात् कर्तृत्वं सुखदुःखादिदर्शनस्य [३७४ख] भोक्तृत्वम् आत्मनो न कर्मणाम् इत्येके[३]। तान् प्रत्याह–**आत्मन** इत्यादि। **आ[त्म]नो** जीवापरनाम्नः **तथा** तेन प्रयत्नसुखादिदर्श(दर्शन)प्रकारेण यः **परिणामस्तमन्तरेण प्रयत्नश्च सुखदुःखादि** वा (श्र, आ)दिशब्देन इच्छादिपरिग्रहः **दर्शनं** च प्रयत्नादे रूपादेश्च **बुद्धिः** तेषां **समवायिकारणस्य** भावः तत्ता ५ तस्या **अनुपपत्तेः** तदन्यथा[त्व]मिति पदघटना। कुत एतत्? इत्याह–**अनुपयोगा**दिति प्रयत्नादिरूपेण(णाऽ)परिणामात्, परिणामिकारणस्यैव समवायिकारणतोपपत्तेः इति भावः।

कारणात् कार्यभेदैकान्ते समवाय(स्य)समवायिनिमित्तकारणभेदाऽपरिज्ञानम्। यत्रोत्कलितं कार्यं जायते तत् समवायिकारणमिति चेत्; किमिदं 'यत्रोत्कलितम्' इति? यत्र समवायेन सम्बध(द्ध)म् इत्युक्तं (इत्ययुक्तम्)। न च पटतदवयवव्यतिरेकेण [त]दन्तरालस्थितमपरं[१] पश्यामः। तथापि तद्दर्शनकल्पने वरम् अवयवाऽवयविनोः गुणगुणिनोः जातितद्वतोः कथञ्चित्तादात्म्यमविगानदृष्टमस्तु। तथा च कृतनाशाऽकृताभ्यागमदोषपरिहारः। न केवलं तयोस्तादात्म्ये मेव (तदेवा)विरुद्धम् अपि तु दर्शनकल्पनमपि, अदृश्यस्य। कथञ्चित्तादात्म्यं च तथादर्शनाद् वस्तुनो रूपम्। न च स्वरूपेण कस्यचिद् विरोधः; निःस्वभावतापत्तेः।

ननु [न] दर्शनात् समवाय[व्य]वस्था, अपि तु तत्कार्यतः। तच्च कार्यम् [किम्?] इत्याह–'अवयवेषु अवयवी इति प्रत्ययः' इति चेत्; न; तादात्म्येऽपि तदुपपत्तेः। [३७५क] इह तन्तुषु पटः इति कोऽर्थः? तेषु कथञ्चित्तादात्म्येन वर्तते इत्यर्थः, यतो विवक्षातः 'पटे तन्तवः' इत्यपि प्रतीयते। तदेवं समवायाऽसिद्धेः 'यत्रोत्कलितम्' इत्यु(त्ययु)क्तम्।

एते[न] स्वकारणकारणा(ण)समवाय्यसमवायिकारणम् इति निरस्तम्। न च प्रथमं रूपादिरहितस्य पटस्योत्पत्तिः प्रतीयतेऽध्यक्षतः येन तद्रूपाद्युत्पत्तौ तन्तुरूपादीनाम् असमवायिकारणता स्यात्, रूपादिसहितस्यैव उत्पत्तिदर्शनात्। आशुवृत्तेः तथादर्शनाभिमान इत्यपि वार्त्तम्; सर्वत्र तथा प्रसङ्गात्। ततः स्थितम् **आत्मन** इत्यादि।

अथ मतम्–भवतु आत्मनः तथापरिणामे प्रयत्नादिसमवायिकारणतोपपत्तिः, तथापि जैनस्य किं सिद्धम्? इत्याह–**चेतनस्य** इत्यादि। **चेतनस्य** प्रयत्नसुखदुःखादिदर्शनपरिणामस्य **तदेव** द्रव्यान्तररूपमे[व] **कर्म संसारनिमित्तम्** इष्टानिष्टशरीरादिकारणं **साक्षात्**, तदन्तरं (तदनन्तरं) हीनस्थानपरिग्रहदर्शनात् मत्तस्य अशुचिस्थानपरिग्रहवत्। न पुनः प्रयत्नसधर्मा जीवपरिणामः; तस्य [अ]कारणत्वात्। अथ देशादिप्राप्तेर्वाञ्छापूर्वकत्वदर्शनात् सो च (सापि) तन्निमित्तम्; न; अशुचिस्थानपातिना मत्तेन व्यभिचाराद् इत्येवकारार्थः। कुत एतत् तदेव कर्म तन्निमित्तम्? इत्यत्राह–**द्रव्यान्तरे**त्यादि। **द्रव्यान्तरं** व्याख्यातम्, तेन **सम्बन्धस्य उदयो**

(१) तुलना–"एकमेवेदं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्।"–प्र० वार्तिकाल० ३।२७७। (२) समवायात्। (३) वैशेषिकाः। (४) समवायम्। (५) स्वशब्देन पटरूपं गृह्यते, तस्य कारणं पटः, तत्कारणेषु तन्तुषु समवायि तन्तुरूपं पटरूपं प्रत्यसमवायिकारणम्। (६) पटरूप। (७) पटस्य।

यथाकालफलदानम् उदीरणा अपक्वपाचनम् आदिशब्देन द्रव्यान्तरसंस्कारादिपरिग्रहः, तस्य वशात् मिथ्यादर्शनादेः मिथ्यात्वस्यादेः [३७५ख] आदिशब्देन मिथ्याज्ञानपरिग्रहः, विकारस्य जीवपरिणामस्य दर्शनात् । एवं मन्यते–संसारिणो जीवस्य आगन्तुकसुखदुःखादिकं द्रव्यान्तरबन्धोदयोदीरणवशात् आगन्तुकत्वात् मिथ्यादर्शनादिवत् ।

५ तथो (ततो) यदुक्तं परेण–*"विवादास्पदीभूतं सुखदुःखादिकं संसारिणः प्रयत्नसधर्मणा तद्गुणेन कृतम्, कार्यत्वे सति तदुपका[र]कत्वात् ग्रामादिवत्" इति; तन्निरस्तम् । यदि परम्परया; सिद्धसाधनम् । अथ साक्षात् ; तर्हि द्रव्यान्तरसम्बन्धात् तद्विकारस्य साक्षाद् दर्शनेऽपि अन्यहेतुकल्पने अनवस्था । भवतु तदेव संसारकारणमिति चेत् ; अत्राह–तत्परिक्षयात् कर्मपरिक्षयात् मोक्ष इति । तथाहि [यत्] यन्निमित्तं तत् तदभावे न भवति यथा १० बीजाभावे अङ्कुरः, कर्मनिमित्तश्च संसार इति ।

परः प्राह–

*"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव च ॥"

[महाभा० वनप० ३०।२८] इति

१५ ईश्वरः तन्निमित्तम् इति ।

*"कालः पचति भूतानि" [महाभा० आदिप० १।२७३-७५] इत्यादि वचनात् कालः तन्निमित्तम् इति ।

*"पुरुष एव" [ऋक्० १०।९०।२] इत्याद्यभिधानात् पुरुषः कारणम् ।

*"प्रकृतेर्महान्" [साङ्ख्यका० २२] इत्यादिवचनात् प्रकृतिः कारणम्, [न] कर्मैव इति;

२० तत्राह–

ईश्वरादिकं 'संसारनिमित्तम्' इत्यनुवर्तते । 'कल्पयतोऽपि' इति पदेन एतेन एतद्दर्शयति–उक्तविधिना न तत्र किञ्चित् प्रमाणम्, केवलं कल्पनामात्रमिति । तदभावे कर्माभावे अतिप्रसङ्गात् । अतिप्रसङ्गं दर्शयन्नाह–तस्यापि इत्यादि । केवलम् अन्येषां मुक्तात्मनां संसारिणां चाविशेषेण तत् तन्निमित्तं स्याद् अपि तु तस्यापि ईश्वरस्यापि ईश्वरः २५ संसारनिमित्तं [३७६क] स्यात् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–जीवावि[शे]षात् । जीवैः

(१) तुलना–"देवदत्तविशेषगुणप्रेरितभूतकार्याः तदुपगृहीताश्च शरीरादयः कार्यत्वे सति तदुपभोगसाधनत्वात् गृहवदिति ।"–प्रश० किरणा० पृ० १४९ । (२) अदृष्टेन । (३) अव्यवस्था स्यादित्यर्थः । (४) "कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥ कालो विकुरुते भावान् सर्वाल्लोके शुभाशुभान् । कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ॥ कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः । कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥ अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम् । तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि ॥"–महाभा० । (५) "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्"–ऋक्० । (६) "प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥"–सांख्यका० ।

अविशेषाद् ईश्वरस्येति । यथैव हि निःकर्मणां जीवानामसौ[1] संसारकारणं तथा तथाविधस्य-न्मानोऽपि (स्य आत्मनोऽपि) स्यात् । अथ सर्वज्ञत्वाद् आत्मनत्त (आत्मानं न) दुःखेन योज-यति; [त]त एव परमपि निर्दोषं न तेन योजयेत् शुद्धविपस्तद संवान् (शुद्धधियस्तदसंभवात्)।

एतेन क्रीडा तत्र निषिद्धा। तस्य तया तन्निमित्तत्वे आत्मन्यपि स्यात् । दृश्यन्ते हि तया[2] प्रराणिका [पूरणिकाः[3]] आत्मानं चित्सारयन्तः ।'स्वभावत एव स[4] तन्निमित्तम्' इत्यपि नानेन ५ परिहृतम् । न चादर्शने परत्रैव स तस्य[5] स्वभावो नात्मनि इति विभागो [यु]क्तः । यदि वा तस्यापि ईश्वरस्यापि संसारनिमित्तम् अन्ये जीवाः । कुत एतत् ? इत्यत्राह-**जीवाऽविशेषात्** । अकर्मणां हि सर्वज्ञत्वादिना गुणेन जीवानां विशेषाभावात् ।

ननु किमुच्यते तदभाव इति, यावता तद्भावे स तन्निमित्तमिति चेत् ; अत्राह-**यथा-कर्मसम्बन्धम्** इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः-न कर्मणा [ई]श्वरस्य ते[न] वा कर्मणः किञ्चित् १० क्रियते, केवलं तयोरन्योऽन्यसहकारिणोः कार्ये व्यापारः । कर्मणा वा प्रेरित ईश्वरः कार्यं जनयति नकर्मतरवत् (कर्मान्तरवत्), ईश्वरेण वा[6] कर्म अचेतनत्वाद् वास्यादिवत् इति ? तत्र प्रथमपक्षे **'यथाकर्मसम्बन्धम्'** इत्यादि । अन्यत्र **'विपर्यये च'** इत्यादि । यस्य प्राणिनो यः कर्मसम्बन्धः मुरूपा (पौऽ)न्यथा वा झटिति फलदायान्य (दायी अन्य)था वा तदनुसारेण **यथाकर्मसम्बन्धं प्रवर्त्तने**[7] तत्सम्बन्ध (न्धं) सहकारिणमाश्रित्य कार्यजन्मनि ईश्वरस्य प्रवृत्ता- १५ वङ्गीक्रियमाणायां **प(पा)रमैश्वर्यानुपपत्तिः (त्तेः) 'अतिप्रसङ्गात्'** इत्येतद् [३७६ ख] अत्रा-प्यनुवर्त्तते । **तदेव** कर्म **'संसारनिमित्तम्'** इति सम्बन्धः । तथाहि-कर्मसहकारिणः तस्य कार्यं कुर्वतोऽपि यदि पारमैश्वर्यम् ; कालादेरपि स्यादविशेषात् । अथ ईश्वरो ज्ञत्वाज्ञत्वात् (ज्ञत्वात् ज्ञात्वा) कार्यकारणकलापं कार्यं जनयति अन्यथा कालादिः विपर्ययात्[8] , ततोऽयं विशेष इति चेत् ; कुतस्तस्य[10] तत्परिज्ञानसिद्धिः ? [11]जननात् ; कालादिना व्यभिचारः । 'आत्मत्वे सति २० तज्जननात्' इत्यपि नोत्तरम् ; गाढसुप्तेन स्वव्यापारव्याहारहेतुना व्यभिचारः । 'सर्वव्यामोह-रितत्त्वे (रहितत्वे) सति' इति चेत् ; तदपि कुतः ? सर्वज्ञानात् ; अन्योऽन्यसंश्रयः-सर्वव्या-मोहविरहसिद्धौ तत्परिज्ञानम् , अतः तत्सिद्धिरिति । तन्न कालादेरस्य[12] विशेषः । भवतु वा तत्परिज्ञानम्, तथापि [13]ततोऽस्य[14] न विशेषः अकिञ्चित्करत्वात्तत्परिज्ञानस्य । यो हि कर्मवशात् अकर्त्तव्ये प्रवर्त्तमानमज्ञं ज्ञात्वा कर्त्तव्ये प्रवर्तयति जनम् , तस्य परिज्ञानं फलवत् , [15]अयं पुनः २५ [16]तत्रैव । यदि यादिव (यदि वा) **यथाकर्मसम्बन्ध(न्धं) प्रवर्त्तने** सर्वज्ञत्वादिना गुणेन यत् **पारमैश्वर्यं** तस्याऽनुपपत्तेः **कर्मैव तन्निमित्तम्** ।

अत्र **'अतिप्रसङ्गात्'** इति नापेक्षणीयम् । तथाहि-कर्म अचेतनमपि यदि यथाकालं कार्यजननसमर्थम् ; तत एव तन्निष्पत्तेः किम् ईशेन तज्ज्ञेन ? नहि तथाजननासमर्थम् अन्य-सन्निधानेन जनयति, अन्यथा यवबीजं शाल्यङ्कुरं तत्परिज्ञानवतः सन्निधाने कुर्यात् । ज्ञानं ३०

---

(१) ईश्वरः । (२) क्रीडया । (३) इन्द्रजालकारिणः । (४) ईश्वरः । (५) ईश्वरस्य । (६) प्रेरितं । (७) कर्मसम्बन्धात्मकं सहकारिणम् । (८) ईश्वरस्य । (९) अज्ञत्वात् । (१०) ईश्वरस्य । (११) उत्पादनाच्चेत् । (१२) ईश्वरस्य । (१३) कालादेः । (१४) ईश्वरस्य । (१५) ईश्वरः । (१६) तं प्रवर्तयति इति सम्बन्धः ।

च सहकारि निषेद्धुमशक्यम् । न चेशस्तथा । अथ तस्य[1] तत्सामर्थ्यं तेन[2] क्रियते ; [३७७ क] तर्हीशेन क[र्म] जन्यते न कार्यम् इति कथं स[3] तत्सहकारी [4]तज्जनयति ? द्वयमपि स[5] एव इति चेत् ; कुत एतत् ? अन्यतः तथाविधजनककर्माऽसंभवादिति चेत् ; ईश्वरस्य तत्कार्यद्वयजनने कुतः सामर्थ्यमायातम् ? [6]अहेतुकम् ; सर्वत्र स्यात् , इतरथा अन्यत्रापि किं हेतोः

५ कार्यनियमकल्पनेन ? तत्सामर्थ्यस्य नित्यत्वाददोष इति चेत् ; न ; तन्निषेधात् । स्वहेतोः इति चेत् ; कर्मणोऽपि तत एव इति किम् ईशेन ? इति स्थितम्—**यथा** इत्यादि । अथ कर्मणा ईश्वरः प्रेरितः, तेन तत् कर्म कार्यकृत् इष्यते ; तत्राह—**विपर्यये वा** इत्यादि । उक्तक्रमाद् अन्यः क्रमो विपर्ययः, स च ईश्वरकर्त्तृत्वादिमते[ऽ]नन्तर एव संभवति, तस्मिंश्च **प्रवर्त्तने पारमैश्वर्यानुपपत्तेः कर्मैव तन्निमित्तम्** । तथाहि—पृथग्जनवत् कर्मणा प्रेरितस्य तस्य[7] प्रवर्त्तने न ततो विशेषः ।

१० किञ्च, तेन[8] प्रेरितः, पृथग्जन एव स (स्व) कार्यं विदधातु किमीशप्रेरणेन ? अचेतनमपि [9]तत् ईशं प्रेरयति न तज्ज्ञा ([10]तत्)नमिति [किं]कृतो विभागः ? 'अन्येन (अथ तेन[11]) प्रेरितमीशं प्रेरयति' इत्ययुक्तम् , अनवस्थापत्तेः । तन्न कर्म ईश्वरं प्रेरयति । नापि ईश्वरः कर्म; पारमैश्वर्यानुपपत्तेः । तथाहि—स्वं कार्यमेव तेन कृतं किं कर्मप्रेरणेन ? [12]यस्य कार्येऽसामर्थ्यं तस्य [13]तत्प्रेरणे सामर्थ्यम् अतिश्रद्धेयम् । कर्मण एव वा [14]तदस्तु किं तत्प्रेरकेण ।

१५ अथ अचेतनं तद्[15] वास्यादिवत् चेतनाधिष्ठितमेव (चेतनाधिष्ठितमेव) कार्ये [प्र]वर्त्तते[16] तदधिष्ठापकस्य[17] ज्ञानादे[ः] कथं चेतनत्वं घटादिवत् ? अस्मदादिवत् स्यादिति चेत् ; तदेतद् सत् ; [18]यदसता समुदायहतम् (तः समुदाहृतम्); अस्मदादेरपि [19]ततो भेदे; न चेतनत्वम् । ज्ञानसमवायाच्चेतनत्वं चेत् ; न; तन्निषेधात्[20] । सतोऽपि सर्वगतत्वेनाऽविशेषात् किं क्व ज्ञानम् ? अथ सम्बन्धा(न्ध्य)विशेषेऽपि सम्बन्धविशेष इष्यते; कुत एतत् ? स्वभाव[त] इति चेत् ; [21]तदपि

२० कुतः ? तथा दर्शनात्[22] ; युक्तमेतद् यदि गगनादिपरिहारेण ईश्वर एव किं देव (किञ्चिदेव) ज्ञानं दृश्येत । स एव पश्यतीति चेत् ; कोशपानात्[23] प्रत्येयम् । एतेन योगिनि(न) श्चिन्तिताः । स्वभावत एव च सम्बन्धनियमे किं समवायेन ? इहेति प्रत्ययोऽपि [24]तत एव भविष्यति । तन्न परस्य कश्चित् चेतनो यः तस्य[25] अधिष्ठाता स्यात् । ज्ञानात(त्त)स्याभेदे अन्यत्रापि गुणगुणिनोर्भेदैकान्तो विशीर्येत । तथा च अनीश्वरस्य अनित्यज्ञा[ना]दिस्वभावस्य कार्यत्वम् इति,

२५ [26]तद्दृष्टान्तेन ईश्वरस्यापि [27]तत्प्रसक्तमिति तस्यापि अन्यो धीमान् कर्त्ता, ततः पारमैश्वर्यानुपपत्तिः इति ।

(१) कर्मणः । (२) ईशेन । (३) ईश्वरः । (४) कार्यम् । (५) ईश्वर एव । (६) यदि कारणं विना तर्हि । (७) ईश्वरस्य । (८) कर्मणा । (९) कर्म । (१०) पृथग्जनम् । (११) कर्मणा । (१२) ईश्वरस्य । (१३) कर्मप्रेरणे । (१४) कार्योत्पादकत्वमस्तु । (१५) कर्म । (१६) "प्रधानपरमाणुकर्माणि प्राक् प्रवृत्तेः बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्तन्ते अचेतनत्वात् वास्यादिवत् ।"—न्यायवा० पृ० ४५७ । (१७) ईश्वरस्य । (१८) असिद्धस्य उदाहरणरूपेण कथनं कृतम् । (१९) चेतनत्वात् ज्ञानाद्वा । (२०) समवायनिराकरणात् । (२१) ईश्वरस्वभावं ज्ञानमिति । (२२) इति चेत् । (२३) एतदुच्यमानं मद्यपानादेव बुद्धौ समाविशति । (२४) स्वभावादेव । (२५) कर्मणः । (२६) अस्मदादिदृष्टान्तेन । (२७) कार्यत्वं ।

किंच, यदि सर्वमचेतन [नं चेतना]धिष्ठितमेव कार्ये प्रवर्त्तते इत्येकान्तः ; तर्हि यस्य यत् कर्मादि स एव तस्यापि (तस्या)धिष्ठाता इति व्यर्थम् ईश्वरकल्पनम् । नहि [1]तस्यापि तत्र सन्निधानादपरम् अधिष्ठातृत्वम् । [2]प्रेरकत्वमिति चेत् ; [3]अन्यस्याप्यस्तु । 'तदज्ञाने तत्कथम्' इत्यपि नोत्तरत्वानक्षोत्तरत्वात् (न; उक्तोत्तरत्वात्) सुप्तस्याऽज्ञानेऽपि स्वाङ्गावयवप्रेरणं(ण)-दर्शनादिति । ५

यदि पुनरिदं चोद्यम्–शरीरसम्बन्धात् प्राग् अशरीरस्य कथं तदधिष्ठातृत्वमिति ? तदीश्वरेऽपि समानमिति दर्शयन्नाह–**जीवोपयोग** इत्यादि ।

[जीवोपयोगयोग्यैरीश्वरस्यानुमीयते ।
वितनोश्चेच्छा तद्धेतुः शरीरकरणादिभिः ॥१३॥

शरीरेन्द्रियादिसङ्गमनुभवतोऽनिष्पन्नकायकरणस्य उत्पत्तुः कथमात्मोपभोगयोग्य- १० निष्पादनसामर्थ्यम् ? तत्परिग्रहात् निष्पन्न[स्य]तत्कृतिर्न संभाव्येत । पारिशेष्यादीश्वरः कारणमिति वैशेषिकादयः । वितनुकरणस्य पुनरिच्छया जीवोपभोगयोग्यशरीरादिकरणं कथं संभाव्येत ? तदुत्पत्त्यविशेषात् , प्रतिषिद्धं च । तत्परिणामोपगमेऽपि समवायिकारण-त्वस्थित्वाप्रवृत्त्यादेश्च परिणामिन एव संभवात् प्रवर्तनालक्षणाः दोषास्तज्जन्महेतवः कथञ्च स्युः ? अत एव कर्मसम्बन्धोपपत्तेः । चेतनकृतं किञ्चिदुपभोगयोग्यं संप्रेक्ष्य सर्वत्र १५ कल्पनायां सतनुकरणकृतिः किन्न प्रसज्येत ? तथा च अनवस्था । दृष्टव्यतिक्रमे स्वकर्मणः तत्सामर्थ्यं कल्पयितुं युक्तम् ।]

च शब्दो[३७८ क]अप्यर्थो भिन्नप्रक्रमः '**ईश्वरस्य**' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । न केवलमन्यस्य अनीश्वरस्य अपि वी[तु ई]**श्वरस्यापि** । किंभूतस्य ? **वितनोः** अशरीरस्य । किम् ? **अनुमीयते** । कैः ? इत्याह–**शरीरका(क)रणादिभिः** आदिशब्दाद् भुवनादि- २० परिग्रहः, अभेदोपचारात् तद्गताः कार्यत्वादयः **शरीरकरणादयः** उच्यन्ते । किंभूतैः ? इत्याह–**जीवापयोगयोगैः (जीवोपयोगयोग्यैः)** ईश्वराद् अन्य(न्ये)**जीवा** गृह्यन्ते, तस्य '**ईश्वरस्य**' इत्यनेन अभिधानात् , तेषामु**पयोगः** तज्जननव्यापारः तत्र **योग्यैः** यथा ईश्वरेण ते निष्पादयितुं शक्याः तथा अन्यैरपि इत्यर्थः । तस्य का[4] किमनुमीयते ? इत्याह– **इच्छा** सिसृक्षा । किंभूता ? इत्याह–**तद्धेतुः** शरीरकरणादिकारणादिकारणम्[5] । यथा २५ वितनोरन्यस्य तद्धेतुः सो(सा)नानुमीयते तथा ईश्वरस्यापीति भावः । यदि वा **चशब्दः** अवधारणे, ईश्वरस्येव(स्यैव) किमनुमीयताम् ?

ननु यथा ईश्वरस्य [6]तत्करणे सामर्थ्यम् , नैवमन्यस्येति चेत् ; युक्तमेतद् यदि तथादर्शनं स्यात् । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । अथ ईश्वरेण सर्वस्य जननात् किमन्येनेति चेत् ? एतदपि युक्तं यदि कुतश्चित् सिद्धं स्यात् , यावता शरीरादिकार्यदर्शनात् ईशोऽप्यनुमीयते । [7]तच्च नानाविधमिति ३०

(१) ईश्वरस्यापि । (२) अस्मदादेरपि । (३) प्रेरकत्वम् । (४) 'का' इति प्रश्ने । (५) 'कारणादि' इति निरर्थकं पुनर्लिखितम् । (६) शरीरादिकरणे । (७) कार्यम् ।

तथाविधम् आत्मनः कर्तारमनुमापयन्ति (ति) घटपटनगरारामादिवत् । अथ केनोच्यते–[ए]कस्य कारणदर्शनाद् एकः प्रतीयते ? प्रतीयताम् यदि कार्ये तद्विज्ञानानुगमः स्यात्, न चैवम् शब्दाद् इत्येवंनिभयत्र्यत्रापरा (चैवमिति । अत्रापरः) प्राह–सकलं जगद् एकोऽवयवी तस्य प्रासादवद् अनेककर्तृसंभवेऽपि [३७८ ख] सूत्रधारसमानेन एकेन सकलकारकग्रामवेदिना भवितव्यम् इति;
५ तदप्ययुक्तम् ; यतः एकस्यापि भागशः अनेकसूत्रधारसंभवात् ।

'वितनुका(क)रणस्य' इत्यादिना कारिकां व्याख्यातु(तुं) शरीरेन्द्रियेत्यादि पूर्वमुपचति (पूर्वपक्षमुपन्यस्यति) तन्वादिमङ्गमनुभवति(तः) संसारिण इत्यर्थः । स्वयम् आत्मना [न] ईश्वरादिना, उत्पत्तुः गर्तादि(कृत्यादि) संबन्धितया जायमानस्य । किंभूतस्य ? इत्याह–अनिष्पन्नकायकरणस्य कथम् ? न कथञ्चित्, आत्मापयोग्य(आत्मोपभोग)योग्यनिष्पादन-
१० सामर्थ्य [म्] । कुतः ? इत्याह–तत्परिग्रा(ग्र)हेत्यादि । नोत्पत्तुः तन्निष्पादनसामर्थ्यमपि तु तद्विपरीतयोः पित्रोः इति चेत ; अत्राह–निष्पन्नेत्यादि । मैथुने तद्व्यापारात् । न च तदेव तत्र व्यावृत्तिः (व्यापृतिः) प्रतिमैथुनमपत्योत्पत्तिप्रसङ्गात् इति भावः । कर्मणा(णां) तत्र व्यावृत्ति (पृति) रिति चेत्यादि (चेत ; इत्याह–) तत्कृतिः शरीरेन्द्रियादिनं संभाव्येत । कुतः कस्य सा संभाव्यत [इत्याह–पारिशेष्यात्] इत्यादि । प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यसिद्धि[:] पारिशेष्यं
१५ तस्माद् ईश्वरः कारणम् । तथाहि–शरीर तिपादि(न्द्रियादि) कार्यं कारणाविनाभावि, तस्य च उक्तविधिना [ना]न्यत् कारणम् इति पारिशेषाद् (ष्यात्) ईश्वरः इत्येवं वैशेषिकादयः । तत्त्वदूषकादयः । तत्त्वदूषणमाह–वितनुकरणस्य इत्यादि । वितनुकरणस्य 'ईश्वरस्य' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । पुनरिति वितर्के । इच्छया शरीरादिकरणं वाञ्छया कथं संभाव्येत ? किम् ? इत्याह–जीवोपभोग इत्यादि । इतरथा[तथा]विधस्य स्वयमुत्पत्तुः इच्छया
२० तन्निष्पत्तिः संभाव्येत । तस्येच्छा तादृशी कुतोऽवगम्यते ? [३६९ क] ईश्वरस्य कुतः ? कार्यनिष्पत्तेः ; अन्यत्र समानम् । 'जन्मोत्तरकालं तदिच्छातः कुतो न कार्यम्' इत्यपि नोत्तरम् ; ईश्वरेच्छा (च्छया) सर्वैक कार्यनियातं (सर्वैककार्यनिपातः स्यात्) । तत्र प्रमाणाभा वाह्यनिवारः (वोऽन्यत्राप्यनिवार्यः) संभाव्येत । सक्ष(साक्षा)दुत्पन्नेऽपि ततो जगत्कार्ये पुनस्तस्यामपि तन्नोत्पद्यते ।

२५ स्यान्मतम्–आत्मनः शरीरादिसम्बन्धकरणे न कस्यचिद् इच्छा अस्ति, सती वा कथं नेदानीं सर्वैः स्मर्यते इति ; [तन्न] सारम् ; यतः तस्यार्थस्यमरणे(तस्य अर्थस्मरणे)प्यनिवारणात् अस्मरणं मथापि (णमन्यत्राप्य) विशिष्टम्, सामर्थ्यम् उभयत्र सन्दिग्धमिति मन्यते । एतदेवाह–तद् इत्यादि । स चासौ उत्पत्ता वनेना(च तेनाऽ)विशेषाद् ईश्वरस्येति । यत एव विशेषोऽत एव वरमीश्वरण सिष्टः (रेण सृष्टः) एवं तदाराधनाद् धर्मसिद्धेः इति चेत् ;
३० अत्राह–प्रतिषिद्धं च इत्यादि ।

(१) तत्कृतिः । (२) 'तत्त्वदूषकादयः' इति पुनर्लिखितम् । (३) शरीरादिकरणरूपा । (४) उत्पद्यते इति उत्पत्ता ।

ननु मम बुद्धिमत्कारणमात्रसिद्ध्या प्रयोजनम्, तत्कारणम् ईश्वरो भवतु परो वा परिणाम्येव इति चेत्; अत्राह–**समवायी**त्यादि। **तस्य** ईश्वरस्य अन्यस्य वा **परिणामोपगमेऽपि**, अपिशब्दः पक्षान्तरसूचकः। कुतः तदुपगमः? इत्याह–**समवायी**त्यादि। **समवायिकारणत्वं च स्थित्वाप्रवृत्तिश्च आदिशब्देन** निमित्तकारणत्वादिपरिग्रहः तस्य **परिणामिन एव संभवात्** इति। तत्र दूषणम्–**प्रवर्त्तने**त्या[दि। **प्रवर्तनालक्षणा] दोषा** रागादयः **कथं न स्युः** नैव ५ ईश्वरस्येति। किंभूताः? इत्यत्राह–**तज्जन्महेतवः** तत्र तनु (**तत्**) शरीरेन्द्रियादिसम्बन्धलक्षणं **जन्म** तस्य **हेतवः**, तस्यापि संसार इतरजीववत् स्यादित्यर्थः। तस्य दोषास्तित्वे किं प्रमाणमिति चेत्? अत्राह–[३७९ख] प्रवर्त्तमानानां जन्तूनां प्रेरणा **प्रवर्तना** सैव **लक्षणं** चिह्नं येषां ते तथोक्ताः। तथाहि–यः परमिष्ट (परम इष्टानिष्ट)कर्मणा योजयति स रागादिमानेव (दिमानेव) तनो यथा ध्यानो [?] योजयति च तेन परमीश्वर इति। रागाद्यभावेऽपि तस्य तत्प्र- १० वर्त्तना[ऽ]विरोधादनैकान्तिको हेतुरिति चेत्; अत्रोत्तरम् '**तन्वादिकरणाद्**' इत्यादि भविष्यति। सतोऽपि (सन्तोऽपि) तस्य रागादयो न कर्मसम्बन्धकारणं देवताविशेषत्वाद् यथा मयूरस्य विषं न रमण (मरण)कारणम्। **अत एव** दोषसद्भावत एवं(व) **कर्मसम्बन्धोपपत्तेः तज्जन्महेत[वः] कथन्न स्युः** इति? अन्यथा सर्वस्यापि तैतस्तत्सम्बन्ध(न्धा)भावं इति मन्यते। १५

एवं तायत् (तावत्) स्वयुक्त्या संसारित्वं तस्य दर्शनम् (दर्शितम्)। अधुना परयुक्त्या दर्शयन्नाह–**चेतनकृतम्** इत्यादि। **चेतनकृतं सूपादि किञ्चित्**, न सर्वं तथा, प्रमाणाभावात् परस्य इति निरूपितम् *"भूता भव्याः" [सिद्धिवि० ३।८] इत्यादिना। किंभूतम्? इत्याह–**उपभोगयोग्यम्** प्राणिना(नां) भोग(ग्य)मित्यर्थः। तत्किं कृत्वा? इत्याह–**संप्रेक्ष्य** दृष्ट्वा **सर्वत्र** सर्वस्मिन् उपभोगयोग्य**कल्पनायां** क्रियमाणायां '**चे[त]नकृतत्वस्य**' इति सम्बन्धः। तथा २० च परप्रयोगः–राज्यादिवा(व)न्नरेन्द्रादिभिः केनचित् चेतनावता कल्पितं भुज्यते, भोग्यत्वात्, सूपादिवत्। योऽसौ ते (अन्ते) [१]कः संभवावान् (स भगवान्) महेश्वर इति। तत्र परिहारः–**सतनुकरणकृतिः** तनुकरणवता करणम् उपभोगयोग्यस्य **किन्न प्रसज्येतो** च (**ज्येत**?) अत्रापि स एव प्रयोगो दृष्टान्तोऽपि सूपकार एव **तथा च** तेना(न) च स्वशरीरादिकम् अन्ये[न] [३८०क] तदनुभुज्यते, तेनाप्यन्येन **इत्यनवस्था** इति भावः। अथासौ[२] अतनुकरण इष्यते अन्येन २५ वा दत्तं शरीरादि भुङ्क्ते; न; अत्राह–**दृष्टे**त्यादि। परोपभोगयोग्यस्य सूपादेः करणम्, दान (नं)वा सतनुकरणस्य सूपकारादेः अन्यदत्तं जातस्य(प्राप्तं) वा **दृष्टम्** तद्व्यतिक्रमे क्रिया [?] क्रियमाणे **स्वकर्मणः** भोक्तुर्यदात्मीयं कर्म तस्य **तत्सामर्थ्यं** भोक्त्रुपभोगयोग्यकरणसामर्थ्यं **कल्पयितुं युक्तम्**। यथा [अ]चेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य [३]तत्सामर्थ्यं न दृष्टं तथा चेतनस्य वितनुकरणस्यापि न दृष्टम्। कल्पनम् अन्यत्रापि समानमिति भावः। ३०

(१) ईश्वरस्य। (२) दोषात्। (३) कर्मसम्बन्धाभावः स्यात्। (४) ईश्वरस्य। (५) परमात्मा। (६) ईश्वरः। (७) उपभोगयोग्यकरणसामर्थ्यम्।

ननु स्वशरीरकरणसंचरणकरणं[1] प्राणभृतां[2] विततनुकरणस्यैव सर्वस्य दृष्टम् , तत्संचरणकरणे अपरतनुकरणादेरभावात् , तत्तेन दृष्टव्यतिक्रम इति चेत् ; उच्यते—स्वापाद्यवस्थस्य विचेतनस्यापि न दृष्टव्यतिक्रमः। नहि तस्यामवस्थायां परेण[3] चेतनाऽभ्युपगम्यते यतस्तदा चेतनः पुरुषः स्यात् । अन्यदा समाप्य(सत्यप्य)नुपयोगिनी । जैनोपगमा[त्] तदा[4] तदस्तित्वे तदुपगमादेव सर्वस्य[5] शरीरान्तरं कार्मणं[6] तत्संचरणकारणं सिध्येत् । अथेश्व[रः] तदवस्थस्य[7] तत्संचरणकारणं ततोऽयमदोषः , नहि स एव सतनुकरणप्राणभृतः तत्संचरणकारणमिति नातनुकरणस्य तत्संचरणहेतुत्व(त्वं) दृष्टं कुतः विचेतनाता(तनता त)त्प्रेरकस्य ? तथादर्शनात् , सतनुकरणस्यापि । ततो न कश्चिद् (किञ्चिद्)ऽतत् ।

अत्राह परः—नेश्वरस्य जन्महेतवो[दो]षाः, तद्रहितस्यापि च संसारनिमित्त[त्व]म् इति, तत्राह—तत्त्वाद् (तन्वादि) इत्यादि ।

[तन्वादिकरणात् सत्त्वान् भवक्लेशेन योजयन् ।
बुद्धिमानन्यथा कस्मात् स्वयं द्रोहमकुर्वतः[8] ॥१४॥
सकर्मणां वा जन्तूनां हेतुर्देहादि कर्मणि ।
ईश्वरेच्छाप्रवृत्तिः किं प्राणिस्थन्नेश्वराद्विना ॥१५॥

मुक्तात्मनां तनुकरणादिदुःखोपयोगमकुर्वतः स्वयं स्वप्रेरकं कर्म ईश्वरोऽवश्यमपेक्षते यतः तदिच्छामात्रं सन्निधापयति तत एव देहादिकं निष्पादयन् किमीश्वरेच्छया ? तद्वरमीश्वर एव]

[३८० ख] तत्त्वादी (तन्वादी)नां करणाद् भवक्लेशेन संसारदुःखेन कस्मात् कुतः कारणात् न कुतश्चित् योजयेत् सत्त्वान् प्राणिनः स्वयम् आत्मना द्रोहम् अपराधमकुर्वतः ईश्वरः, सर्वस्यात्मनो बुद्धिमत्त्वाऽव्यभिचारा[त्] । बुद्धिमानिति वचना[त्] निर्दोषया सकलविषयया बुद्ध्या तद्वयात (तद्वान्) गृह्यते जन्तुभिः इत्यादिना । अथापराधमकुर्वतोऽपि[9] तान् तैर्योजयति; तत्राह्यन्य (तत्राह—अन्य)था अपराधम (म)कुर्वतोऽपि[10]योऽपि योजयति इत्यन्यथाशब्दार्थः, प्रेक्षापूर्वकारितानुपपत्तिः । तत्र यद्यसौ[11][12] तांस्तैर्न योजयति संसाराभावः स्यादि[ति] संसारप्रवृत्त्यर्थं तैस्तान् योजयतीति चेत् ; अत्राह—भवक्लेश इत्यादि । तादृशेन प्रेक्षापूर्वकारिणा न भवक्लेशहेतुना इति भावः ।

यदि पुनर्मतम्—नाऽकृतापराधतान् (धकान्) स्वयमीश्वर[ः] संसारदुःखैर्जन्तून् योजयति, अपि [तु] भूतैरेव तादृशानि कर्माणि कृतानि यः (यैः) प्रेर्यमान (णः) तैः तद्योजने क्षमस्यो

(१) परलोकशरीरान्तरसंचरणम् । (२) प्राग्भवीयशरीरादिरहितस्य । (३) बौद्धेन । (४) सती अपि । (५) स्वापाद्यवस्थायाम् । (६) यतः आत्मा परलोके शरीरान्तरं प्रति संचरति । (७) शरीरान्तरसंचरण । (८) दोषरहितस्य, शरीरादिरहितस्य वा । (९) "अद्रोहकृत्सु तत्कार्यं निग्रहस्तेन योजयेत् । कर्तुं बुद्धिमता देवैरिदमन्यत्र भाषितम् ॥ तन्वादिकरणात्···"—न्यायवि० वि० द्वि० पृ० २३१ । (१०) सत्त्वान् । (११) ईश्वरः । (१२) ईश्वरः ।

(क्षमोऽपि औ)दासीन्यं न [ल]भत इति ; तत्राह–**सकर्मणां वा** इत्यादि । **सकर्मणामेव** न निष्कर्मणां **जन्तूनां देहादिकर्मणि हेतुः ।** का ? **प्रवृत्तिः** । कस्याः ? **ईश्वरेच्छायाः** अशेषां (अन्येषां) तत्प्रेर[क]कर्माभावादिति मन्यते । अत्र दूषणम्–**प्राणिस्थ**मित्यादि । **प्राणिस्थं देहादिहेतुः किन्न ईश्वराद्विना** ईश्वरमन्तरेण **'सकर्मणाम्'** इति सम्बन्धः । एवं मन्यते–यथा प्रत्यासत्त्या कर्माणि ईश्वरं प्रेरयन्ति नयन्ति[1] तथा देहादि हादिकुर्न्विति (कुर्वन्तु इति) ।　५

ननु देहादिकर्मणीश्वरेच्छायाः प्रवृत्तिर्हेतुरिति पूर्वः पक्षः कृतः, दूषणं पुनरीश्वर एवो-च्यते, [३८१क] पूर्वपक्षानुसारिणा च दूषणेन भवितव्यमिति चेत ; न; तास्थाता[तात्स्थ्यात् त]-च्छब्दमिति इच्छया ईश्वरः तेन च साध्य इति न दोषः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**मुक्तात्मनाम्** इत्या[दि] । **मुक्तात्मनां तनुकरणादिदुःखोपयो-राम कुर्वन् कुतः** (पयोगमकुर्वतः) अकर्मकत्वात्तेषाम् , सकर्मणामेव कुर्वन्ति इत्यर्थः । **कर्म** 'तत्रोप-र्मी (र्वी)यत इति अध्याहारः । ततः किम ? इत्याह–**स्वयमित्यादि** । **स्वयं** स्वस्य **प्रेरकम् ईश्वरोऽपेक्षते कर्म**[त्या]**ग**वश्य(श्यं) नियमेन । तथा वा (चा)चेतनं(न)कर्ममाहात्म्याद् नियमेन । **यतः** यस्मात् सामर्थ्या[त्] **तदिच्छामात्रम्** ईश्वरेच्छामात्रं **सन्निधापयति** तत एव माहात्म्यात् देहादिकं **ततो निष्पादयेदचेतनम् किम् ईश्वरेच्छया** ? दूषणान्तरमाह–**तद्व[र]**मित्यादि ।　१०　१५

ननु न केनचित् प्रेरितोऽसौ[2] तन्निमित्तम् , अपि तु क्रीडया इति चेत ; अत्राह–**मुक्ता-त्मनोऽपि** इत्यादि ।

[मुक्तात्मनोऽपि देहादि कुर्वन् स्यात् क्रीडनोऽन्यथा ।
बुद्धिमान् योजयेज्जन्तून् कथं भवितव्यतावशात् ॥१६॥　२०

यदि···।]

न केवलं सकर्मणाम् अपि तु **मुक्तात्मनो**ऽन्यकर्मणोऽपि **कुर्वन् स्यात्** देहादीः (दि) क्रीडा(ड)नः **नान्यथा ।** न सिष्ट (शिष्ट)परिहारेण राजा कृतदोषं वधबन्धनादिना योजयन् क्रीडनो नाम । मुक्तात्मनोऽपि तत्करणे सिष्ट (शिष्टः) न स्यादिति चेत ; किं क्रीडनस्य (डनः स्यात ?) । तया तस्यापि करोतीति चेत ; अत्राह–**किं बुद्धिमान्** नैव क्रीडन इति सम्बन्धः ।　२५

किंच, यदि क्रीडनः सन् देहादीन् देहिनां विदधाति महेश्वरः, तदा शुभकारिणोऽपि नर-कादिना योजयेद् अशुभकारिणोऽपि स्वर्गादिना इति तदाराधनादिकमनर्थकम् ; एतदेवाह–**योज-येदि** [त्यादि] । **योजयेत् जन्तून्** 'देहादिभिः' [३८१ख] इति [वि]भक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । कुतः ? इत्याह–**भवितव्य[ता]वशात्** न शुभाशुभकर्मवशात् **कथं** नैव सङ्करेण योजयेत् इत्यर्थः ।　३०

कारिकार्थं स्पष्टयन्नाह–**यदीत्यादि** । सर्वं गतार्थम् ।

---

(१) 'नयन्ति' इति पुनर्लिखितम् । (२) ईश्वरः । (३) क्रीडया ।

एतेन पद्मविकासकारणभास्वतं इव तस्य देहादिकरणे स्वभावः चिन्तितः । कर्मणो जीवस्य वा संसारिण[:] तत्स्वभावकल्पनापत्तेः ।

ननु देहादीनामारम्भका अवयवा बुद्धिमदधीनाः स्व(वि)कारित्वात् तन्त्वादिवत् । तथा, शरीरादयो बुद्धिमत्का[रणकाः स्वा]रम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्वात् अचेतनोपादानत्वात् ५ कार्यत्वात् पटादिवत् इति चेत्; अत्राह–**स्थित्वा प्रवृत्ती**त्यादि ।

[स्थित्वा प्रवृत्तिसंस्थानविशेषार्थक्रियादयः ।
अन्यथैवोपपद्येरन् ततो नेश्वरहेतवः ॥१७॥

नैव तनुकरणादीनां बुद्धिमद्धेतुकत्वे स्थित्वाप्रवृत्तिः अर्थक्रियाकारित्वं वा हेतुः व्यभिचारात् । नित्येषु [आत्मादिषु] स्वयमभिमतत्वात् । स्वारम्भकावयवसन्निवेशनिमि-
१० त्तत्वं सतनुकरणस्य घटादेरिव हेतुः स्यात् । बुद्धिमत्कारणपूर्वतामात्रं परेषामिष्टमेव । वितनुकृतः...तत् ।]

नन्वेतद् ईश्वरसाधकं प्रमाणं पूर्वं **'जीवोपयोगयोग्यैः'** इत्यादिना दूषि[त]-मपि किमर्थं पुनर्दूष्यते इति चेत् ? न; पूर्वम् ईश्वरस्य वितनोः शरीरादिकरणसामर्थ्यं निरस्तम्, इदानीं तत्साधनं निराक्रियते इति विभागः । **स्थित्वा प्रवृत्तिश्च** विरम्य कार्ये व्यापारः
१५ **संस्थानविशेषश्च** स्वारम्भकावयवसन्निवेशभेदः **अर्थक्रिया** च कार्यः कारणान्ताः (कार्य-करणम्, ताः) **आदयो** येषाम्, **आदि**शब्देन कार्यत्वादिपरिग्रहः, ते, **अन्यथैव** ईश्वरा[भा]वप्रकारेण **उपपद्येरन्** ततो विरुद्धा इति ।

ननु विपक्ष एव भवन् विरुद्धो हेतुः, अयं तु सपक्षेऽपि घटादौ वर्त्तते, व्यभिचारी तु स्यात् । अथ नित्येश्वरविरुद्धे परिणामिनि वर्त्तते इति विरुद्ध उच्यते; तस्यैव साधने कथं
२० विरुद्धः ? नित्यत्वप्रतिज्ञाव्याघात इति चेत्; न; भवतोऽपि *"**लोके (कः) खलु अकृत्रिमः**" इत्यस्य [३८२क] तत्साधनेऽपि विरोधः । न च सेश्वरसाङ्ख्यवादिनः सत्प्रतिज्ञा ।

(१) सूर्यस्य । (२) ईश्वरस्य । (३) "महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात्...सावयवत्वात्" –प्रश० कन्द० पृ० ५४ । प्रश० व्यो० पृ० ३०१ । वैशे० उप० पृ० ६२ । "शरीरानपेक्षोत्पत्तिक बुद्धि-मत्पूर्वकं कारणवत्त्वात्..." –प्रश० किरणा० पृ० ९७ । न्यायली० पृ० २० । न्यायमुक्ता० दि० पृ० २३ । "बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादिव्यक्तं सुखदुःखादिनिमित्तं भवति रूपादिमत्त्वात् तुर्यादिवत् । धर्मा-धर्मौ बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितौ पुरुषस्योपभोगं कुरुतः करणत्वात् वास्यादिवत् ।" बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु स्वासु धारणादिक्रियासु महाभूतानि वायवन्तानि प्रवर्तन्ते अचेतनत्वात् ।" –न्यायवा० पृ० ४५७–६७ । "विवादाध्यासिताः तनुतरुमहीधरादयः उपादानाभिज्ञकर्तृका उत्पत्तिमत्त्वात् अचेतनोपादानत्वाद्वा... यथा प्रासादादि ।" –न्यायवा० ता० टी० पृ० ५९८ । न्यायमं० पृ० १९४ । "कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः । वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥" –न्यायकुसु० ५।१ । "तत्राविद्धकर्णो-पन्यस्तम् ईश्वरसाधने प्रमाणद्वयमाह–यत्स्वारम्भकेत्यादि । यत्स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशेषवत् । बुद्धिमद्धेतुगम्यं तत्तद्यथा कलशादिकम् ॥ द्वीन्द्रियग्राह्यमग्राह्यं विवादास्पदमीदृशम् । बुद्धिमत्पूर्वकं तेन वैधर्म्येणाणवो मताः ॥ तन्वादीनामुपादानं चेतनावदधिष्ठितम् । रूपादिमत्त्वात्तन्त्वादि यथा दृष्टं स्वकार्य-कृत् ॥" –तत्त्वसं श्लो० ४७-४९ । (४) पृ० ४७७ । (५) शरीररहितस्य । (६) ईश्वरस्यैव । (७) "लोगो अकिट्टिमो खलु" –मूला० गा० ७१२ ।

चे (नन्वे)तस्य परिणामित्वे कार्यत्वेन अन्येश्वरपूर्वकत्वम् अनवस्थाकारि, अन्यथा अनैकान्तिको हेतुः इति चेन् ; अयमेव तर्हि दोषोऽस्तु किमपरेण इति चेत् ; न ; अन्यथा व्याख्यानात् । एवकारो निपातत्वाद् अपिशब्दार्थः, ततः '**अन्यथाप्युप च (प्युपपन्ने)-रंस्ततो नेश्वरहेतवः**' इत्यर्थः । '**नेव तनुकरण**' इत्यादि वृत्तिर्भविष्यति । यदि वा, य एवं वदति 'नित्योऽशरीरो महेश्वरः शरीरादिकारणम्' इति; तदपेक्षया एवकारो[ऽव]धारणे, [1] **अन्यथैव** न भाव एवोपपन्नेरन् **ततो न ईश्वरहेतवो** विरुद्धत्वात् । एवमनर्थं (एवमर्थं) चेश्वरग्रहणम्, इतरथा बुद्धिमद्ग्रहणं कुर्यात् । अत्र वृत्तिः **स्वारम्भक** इत्यादि ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**तनुकरणे**त्यादि । **स्थित्वा प्रवृत्तिः अर्थक्रियाकारित्वं वा [न] हेतुः** । कुतः ? **व्यभिचारात्** । अयमपि कुतः ? इत्याह–**नित्येषु** इत्यादि । **स्वयम्** आत्मना ईश्वरवादिनाऽभिमतत्वा[त्] स्थित्वाप्रवृत्तेः अर्थक्रियाकारित्वस्य च । नित्यग्रहणेन १० तत्रायम् बुद्धिमत्कारणाभावं दर्शयति, आत्मग्रहणेन स्वकार्येऽन(ऽन्य)चेतनाधिष्ठितत्वाभावम्, अन्यथा अनवस्था स्यात् । **स्वारम्भकावयवसन्निवेशनिमित्तत्वं स्यात्** '**हेतुः**' इत्यनुवर्त्तते । कस्य ? इत्याह– **सतनु (सतनु)करणस्य** । कस्येव ? इत्याह–**घटादेरिव** । अनेन इष्टसाध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धमुक्तम् । एतेन कार्यत्वादिकं चिन्तितम् ।

यस्तर्हि सशरीरमनित्यज्ञानम् ईश्वरं कारणमिच्छति तस्य कथं दोषः ? इत्याह–**परेषाम्** १५ इत्यादि । **परेषाम्** [३८२ख] जैनैः **इष्टमेव** । किम ? इत्याह–**बुद्धिमत्कारणपूर्वतामात्रं** 'तनुकरणभुवनादीनाम्' इति सम्बन्धः । **च** शब्दः पूर्वसर्वदूषणसमुच्चयार्थः । एवं मन्यते–ईश्वरस्य ज्ञान-तनुकरणभुवनादीन्युपकरणानि यदि तत्कर्मणो [3] भवन्ति परस्यापि तत एवेति किम् ईश्वरेण ? तदधिष्ठितादिति चेन् ; एतदपि नाऽनेन उत्सृष्टम् । ईश्वरादेव इति चेन् ; तद्व्याघातः अकर्मवादश्च । अति (अनि)त्यज्ञानस्य दे (महे)श्वरस्य सकलोपकरणादिज्ञानं प्र मा ण सं ग्र ह- २० भा ष्ये निरस्तम् ।

किंच, स्वतन्वादिकरणे यत्नान याव[न्] परं तदपेक्षेत संसारित्वम् इतरवत् । अनपेक्षणे अन्यतन्वादिकरणेऽपि किं तदपेक्षणेन ? वितनुकरणोऽपि [4] स्वस्य देहादिकं सम्पादयन्ति (यति) न परस्य इति महती प्रेक्षापूर्वकारिता ! एतदेव दर्शयन्नाह–**वितनुकृतः** इत्यादि । निगमनमाह–**तदि**त्यादि । २५

क ण च र स्य अ क्ष पा द स्य च देहादीनाम् ईश्वरं कारणं वदतः स्ववचनविरोधम् इदानीं दर्शयन्नाह–'**संसार**' इत्यादि ।

[संसारसुखसंवित्तिक्षयात् मोक्षात्मकं वदन् ।
देहादेरीश्वरो हेतुर्यदि शास्त्रं विहन्यते ॥१८॥

सू त्र का रः आत्मादितत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमं परं पुरुषार्थमाह । स एव ३० **संसारं परं सूचयति, यतः देहादिरीश्वरहेतुः । तदनयोः परस्परविरोधात् सू त्र का र स्य**

(१) ईश्वरस्य । (२) नित्यस्य ईश्वरस्यापि अन्यचेतनाधिष्ठितत्वे । (३) ईश्वरकर्मणः । (४) अन्यजनस्यापि । (५) ईश्वरः ।

बुद्धिमत्त्वं कथं कल्प्येत ? कः प्रेक्षावानपवर्गमचेतन्यं प्रतीयते तद्विषयं शास्त्रं कुर्यात् यतो नेश्वरो बुद्धिमान् ? तन्न, अन्यस्यासंभवात् ।]

देह आदिर्यस्य सकलकार्यग्रामस्य स तथोक्तः तस्य **ईश्वरो** नित्यो व्यापी यदि हे **(हेतुः) शास्त्रे (स्त्रं)** क ण च रा देर्वचन म (नं तदेव)वा **विहन्यते** बाध्यते । किं ५ कुर्वन् ? इत्याह–**वदन्** कथयन् । किम् ? इत्याह–**मोक्षात्कथं (मोक्षात्मकम्)** मोक्षमित्यर्थः । कुतः ? इत्याहा (ह–) **संसार [सुख]संवित्तिक्षयात्** , **संसारो** जन्ममरणादिप्रबन्धः **सुख**ग्रहणमुपलक्षणं दुःखादेः, **संवित्ति**[:]बुद्धिः दुःखादिविन्सं चेतेरपि [३८३क] ग्रहणे (दुःखादिवित संविनेरपि तेनैव ग्रहणे) प्राप्ते तदुपादानं पृथक्[1] मोक्षस्यास्याऽयुक्ततां प्रतिपादयितुम् , [2]**तासां क्षयात्** । एतदुक्तं भवति–यदा सर्वोत्पत्तिमताम् एकस्व-
१० भावो नित्यो व्यापीश्वरः कारणम् ; तदा सर्वं सर्वदा सर्वेषामविशेषेण देहादय इति न तत्क्षयात् मोक्षः ; तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये–

*"कारणस्याक्षये तेषां कार्यस्योपरतिः कथम् ।" [न्यायवि० १।१०३] इति ।

भव (न च) नित्यस्या (स्व)भावे या (अन्या)ऽतिशयस्य काचिदपेक्षा इत्युक्तम् । ननु तत्क्षय (ननु तत्क्षय)स्यापि स[4] एव कारणं तत्कथं तदनुपपत्तिरिति चेत ; संसारनिर्वाणपुर-
१५ प्रवेशः । ततो मोक्षमिच्छता प्रकृत्यादिवद् ईश्वरोऽपि तत्कारणं नाभ्युपगन्तव्य इति ।

यदि चैवं (वा, एवं) व्याख्यायते–**देहादी(देरी)श्वरो हेतुः यदि** । किं कुर्वन् ? **वदन् ?** किम् ? **शास्त्र[म्]** । किं भूतम् ? इत्याह–**मोक्षाह्व(त्म)कं** मोक्षस्य [स]न्निधानं यस्मिन्निति । कुतः ? इत्याह–**संसार**त्यादि । तर्हि **विहन्यते** परस्परविरोधेन स्वरो (ईश्वरो) निराक्रियते । तथाहि–सर्वदा आत्मनो देहादिकर्तृत्वं प्रतिपद्यमान एव संसारादिक्षो
२० (संसारादिक्ष)यान् मोक्षह्वकं (क्षात्मकं) शास्त्रं वदन् तदभावं वदतीत्येष विरोधः । अथ तच्छास्त्रं तत्प्रणीतं [न] भवत्यन्यतो[6] भावात् ; न सर्वमीश्वरकृतम् , तेन[7] व्यभिचारात् ।

अथवा, यदुक्तम् 'कर्मपरवशः किं बुद्धिमानवेतम (नचेतनम)तिशेते संसारिणं वाऽऽत्मानम्' इति ? तत्त्व (तत्र) परकीयं तद्बुद्धिमत्त्वसाधनमाशङ्क्य दूषयन्नाह–**संसार**त्यादि । **देहादेरीश्वरो हेतुः यदि** 'प्रतीयेत' [इ]त्यध्याहारः। कि कृत्वा [३८३ख] **तद्धेतुरसौ** ?
२५ इत्याह–**संसारसुखसंवित्तिक्षयात्** तत्क्षयमाश्रित्य शुद्धसुखसंवित्ती[:] समाश्रित्य इति यादेव (यावत । एव)मर्थं च संसारग्रहणम् , इतरथा सुखसंवित्तिग्रहणमेव कुर्यात । किं कुर्वन् समाश्रित्य तद्धेतुः प्रतीयते ? इत्याह–**वदन् मोक्षात्मकं शास्त्रम्** , मोक्षग्रहणं तदुपज्ञाशेषतत्त्वोपलक्षणार्थम् । अत्र दूषणम् **विहन्यते ईश्वर** इति । तद्यथा–यदि शुद्धं सुखं संवेदनं चेश्चेष्टं (चेश्वरस्येष्टम् ,) तदेव परेषामपि विधातव्यम् , न शरीरादि । यदि पुनः न शरीरा ये

(१) पृथक्संवित्तिपदस्य ग्रहणम् । (२) संसारसुखसंवित्तीनाम् । (३) 'कार्यस्योपरमः कथम्'–न्यायवि० । (४) ईश्वर एव । (५) संसारावस्थायामेव मोक्षः स्यादित्यर्थः समर्थकारणसद्भावात् । (६) ग्रन्थकारादेः । (७) अन्यकृतशास्त्रेण ।

च [?] आत्मानोऽपि तदेव कुर्यात । अथ कर्मणः सहकारिणः परत्र भावात्तत्रैव तत्कुर्या [त] नात्मनि विपर्ययात ; कर्मापि इष्टतया आत्मनि विधातव्यम् , अन्यथा नान्यत्रापि । तस्य तदा [तद]हेतुत्वे[3] कथमव्यभिचारो हेतूनाम्[4] ? अथ[वा] शास्त्र(स्त्रं) विहन्यत(ते) प्रमाणेन इति व्याख्यातव्यम् । अत्र '**कः प्रेक्षावान्**' इत्यादि वृत्तिर्भविष्यति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**सूत्रकार** इत्यादि । **सूत्रकारः** अक्षपादादिः **परं** [५] **पुरुषार्थमाह** । किम ? **निःश्रेयसाधिगमं** निःशेषवैशेषिकगुणप्रहाररूपनिर्वाणप्राप्तिम् । कुतः ? इत्याह–**आत्मादेः तत्त्वज्ञानात्** , नेश्वरात ; अन्यथा तद्वैफल्यम् । ईश्वर(रो) यावत तत्त्वज्ञानोत्पादनात्यांया (नाया)त्मानं क्लेशयति तावन्मोक्षमेव विदधातु इत्येतदनेन दर्शयति । **स एव सूत्रकारः संसारं मुक्तेः परं** प्रकृष्टं **सूचयति** । कुतः ? इत्याह–**देहादिरीश्वरहेतुः 'इति'** शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । इत्येवमाह **यतः** । निगमयन्नाह–**तदि**त्यादि । यत एवं **तत्तस्मात** [२८४क] [१०] **अनयोः** सूत्रकारवचसोः **परस्परविरोधात् बुद्धिमत्त्वं कथं कल्प्येत सूत्रकारस्य** इति । यदि वा, **सूत्रकारो** महेश्वरः सर्वस्य तत्पूर्वकत्वात अपरं पूर्ववत्[6] । अयं तु विशेषः **बुद्धिमत्त्वं कथं कल्प्येत** 'ईश्वरस्य' इति । अथवा, अक्षपादादियप्रेप (अक्षपादो निः-श्रेय)साधिग[म]माह, **देहादिः सूचयती**ति वाक्यभेदेन व्याख्यातव्यम् । '**देहादिर्हेतुरीश्वरः**' इति च पाठोऽस्ति । तत्राप्येवं वाक्यभेदः **तदनयोः ईश्वरकारयोः सूत्रकारये** (ईश्वरसूत्रका- [१५] रयोः) **बुद्धिमत्त्वं कथं कल्प्येत ?** परस्य ईश्वरबुद्धिमत्त्वसाधकं '**कः**' इत्याद्याशङ्कते दूषयितुम्– **कः प्रेक्षावान्** अतीन्द्रियार्थदर्शी **अपवर्गम्** उपलक्षणमेतत् अशेषाऽऽत्मादितत्त्वस्य । किंभूतम ? **अचैतन्यं** चेतनारहितत्वं **प्रतीयते,** त (यतः) **तद्विषयं शास्त्रं कुर्यात्** न कश्चित ? सुगतादेर-सम्बंधा(रसम्बद्धा)भिधायित्वात् कणचरादेश्च तदुपदेशादेह(देव)[9] समीहितसिद्धेः **यतोऽ**-न्यस्य तंप्रतिपन्ना (तत्प्रतिपत्तौ) **नेश्वरो बुद्धिमान्** । **यत** इति वाऽऽक्षेपे **यतो न बुद्धिमान्?** [२०] तद्वानेव । अत्र दूषणमाह–**ने**त्यादि । यदुक्तं **तन्न** । कुतः ? उक्तप्रकारादन्यस्य मुक्तिप्रकारस्य **संभवावेवमन्यन्ते** (**संभवात्** । एवं मन्यते) यथा ईश्वरस्य अनन्तज्ञानस्वभावस्य सतः तद्विव-नुक (तद्विघातक)कर्मापाये यदा सर्वज्ञत्वं न कदाचिदा(द)चैतन्यं तथाऽन्यस्यापि । विशेषः पुनरयमेव भवन्स्यापगमेन (मलस्यापगमेन) कस्यचित स्वाभाविकस्तदपायोऽन्यस्योपायात , [२५] ततोऽन्या(न्यो)विमुक्तिं प्रति यतत इति ।

एतदेव दर्शयन्नाह–**आत्मलाभ**मित्यादि ।

[[10]आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ।
नाभावं नाप्यचैतन्यं नचैतन्यमनर्थकम् ॥१९॥

(१) अन्यप्राणिषु । (२) कर्मणः । (३) ईश्वराहेतुकत्वे । (४) कार्यत्वादीनाम् । (५) बुद्धिसुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा विशेषगुणाः । (६) तत्त्वज्ञानं व्यर्थं स्यात् । (७) महेश्वरपूर्वकत्वात् । (८) व्याख्येयम् । (९) ईश्वरोपदेशादेव । (१०) तुलना–"न हि गुणादिविनाशात् जडः, गुणगुणिविनाशात् शून्यः, भोग्यविरहात् तदभोक्ता"–लघी० स्ववृ० श्लो०७६ । "स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः । नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥"–तत्त्वानु० श्लो० २३४ ।

न वै निर्वाणम् अभवितुः निरात्मकम् अशेषगुणवैकल्यं सात्मकं दृश्य[दर्शन-रहितम्] शिष्मः द्रव्यान्तरवत् । किं तर्हि? मल[क्षयात्] जीवस्य आत्मलाभं मणिवत् । अन्यथा व्यर्थः प्रयासः । तथा सति नेश्वरो बुद्धिमान् अशेषगुणवैकल्यरूपमोक्षाभिधानात्, न कणभक्षादिः तदर्थं तद्वचनात् प्रवृत्तेः, परस्परविरुद्धाभिधानात् बुद्धवत् ।]

जीवस्य आत्मलाभम् अ[न]न्तज्ञानादिस्वभावलाभं **विदुर्मोक्षं** । तल्लाभः (तल्लाभः) कुतः? इत्याह–**अन्तर्मलक्षयात्** जीवस्य स्वभावान्यथाभावोऽन्तर्मलम् [३८४ख] तस्य क्षयात् । अनेन सामर्थ्याद् द्रव्यमलक्षयोऽप्युक्तः, तदभावे तदभावात् । **नाभावं जीवस्य मोक्षं विदुः** अस्याऽप्रमाणत्वात् । नापि तस्याचैतन्यं चेतनारहितत्वम् । किं **विदुः? [मोक्षं]** अत एव **न चैतन्यमनर्थकं** ग्राह्यशून्यं तस्य तं विदुः । स्वपरप्रकाशनलक्षणस्य ¹⁰ प्रतिबन्धाभावे नितरां लक्षणाभिव्यक्तिः न पुनरभावः । नहि भानुः जलदपटलविलये स्वपर-प्रकाशनरूपं विजहाति ।

[कारि]कां विवृण्वन्नाह–**नवै** नैव **निर्वाणं शिष्यः**(शिष्मः) । किम्भूतम् भवितं (तस्य ? **अभवितु**) रनुत्पत्तिमात्रस्य । वैशेषिकनिर्वाणाद् विशेषमाह–**निरात्मकम्** । तथा **न चैव निर्वाणं शिष्यः** (शिष्मः) । किम्भूतम् ? **अशेषविशेषगुणवैकल्यम्** बुद्ध्यादितत्त्वम् । सौगतादस्य ¹⁵ विशेषमाह–**सात्मकमिति** । कस्येव तद्वैकल्यं नवै ? इत्याह–**द्रव्यान्तरवदिति** । जीवा(व)-द्रव्यादन्यद् द्रव्यं पृथिव्यादि **तदन्तरम्** तस्येव **तद्वत्** । यथा निःस्वभावताभयात् न पृथिव्या-देरशेषगुणवैकल्यं तथा जीवस्यापि । अनेन परस्य तद्वैकल्य(ल्ये) दृष्टान्ताभावमाह । **तथा नवै निर्वाण(णं) शिष्मः** । कथम्भूतम् ? इत्याह–**दृश्येत्यादि** । किंभूतं तर्हि तद्भवन्तः कथयन्ति ? इत्याह–**किं तर्हि** इत्यादि । **किं तर्हि** किन्तु **जीवस्य** ज्ञस्वभावस्य **आत्मलाभं निर्वाणं** शिष्मः ।

(१) तुलना–"तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम् । उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः ॥" –प्रमाणवा० २।२५६ । "तत्र निरवशेषस्याविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाण-मिष्यते । तत्रोपधीयतेऽस्मिन्नात्मस्नेह इत्युपधिः । उपधिशब्देन आत्मप्रज्ञप्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते । शिष्यते इति शेषः । सह उपधिशेषेण वर्तते इति सोपधिशेषं । किं तन्निर्वाणम्? तत्र स्कन्ध-मात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादिक्लेशतस्कररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण । तत्सोपधिशेषं निर्वाणम् । यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रमपि नास्ति तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम् । निर्गत उपधि-शेषोऽस्मिन्निति कृत्वा, निहताशेषचौरगणस्य ग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण । तदेव चाधिकृत्योच्यते··· ऽसंलीनेन कायेन वेदनामध्यवासयत् । प्रद्योतस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः ॥"–माध्य० वृ० पृ० ५१९–२० । (२) "नवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।"–प्रश० व्यो० पृ०६३८ । "यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः । तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्नावकल्प्यते ॥ ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मा-वशिष्यते । स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ।"–न्यायम० पृ० ५०८ । प्रश० कन्द० पृ० २८७ । प्रश० किर० पृ० ६ । (३) तुलना–"तस्मात्तत्संयोगाद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः, या तु द्रष्टुः स्वरूपो-पलब्धिः सोऽपवर्गः ।"–योगभा० २।२३ । (४) द्रव्यकर्माभावः । (५) अन्तर्मलरूपभावकर्माभावे । (६) जीवस्य । (७) जीवस्य । (८) मोक्षम् । (९) ब्रूमः । (१०) वैशेषिकस्य । (११) "शिवमजरमरुज-मक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम् । काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनपूताः ॥"–रत्नक० श्लो० ४०। सर्वार्थसि० पृ०१।

कुतः ? इत्याह–**मलेत्यादि** । कस्य वा[1] ? इत्याह–**मणीत्यादि** । तदनभ्युपगमे दूषणभावान्यथे (दूषणमाह–**अन्यथा** इ)त्यादि । निर्वाणस्यास्याभावप्रकारेण **अन्यथा** मोक्षार्थिनां[2] **व्यर्थः प्रयासः** । सभावस्य (अभावस्य) नाशयितुमशक्तेः प्रयोजनाभावाच्च इति भावः । एवं जीवस्य आत्मलाभ-लक्षणो(णे) मोक्षे सति यज्ज्ञानं [३८५क] परस्य तद्दर्शयन्नाह–**तथा सतीत्यादि** । **तथा** तेन प्रकारेण **सति** जीवस्य आत्मलाभलक्षणे मोक्षे **नेश्वरो बुद्धिमान् अशेषविशेषगुणवैकल्यरूपस्य** ५ **मोक्षस्या नभि(स्याभि)धानात्**, **न कण (कण)भक्षादिः**[3] बुद्धिमान् **तदर्थं**[4] **तद्वचनात् प्रवृत्तेः** । एतदेव दर्शयन्नाह–**परस्परेत्यादि** । स्वात्मन्यवस्थानम् आत्मनोऽशेषगुणवैकल्येन, तस्मिन् सति[5] तदभावापत्तेः[6] **विरुद्धं** तदपि[7] तस्य तत्रावस्थानेन[8], तस्या**भिधानात्** । निदर्शनमाह–बुद्धेन तुल्यं वर्त्तते इति **बुद्धवत्** ।

बुद्धस्याऽबुद्धिमत्त्वं दर्शयन्नाह–**तत्त्वमित्यादि** । १०

[तत्त्वं शून्यं पदार्थानां येषां ते निरात्मनः ।
निर्वाणं किं विशिष्येत तदर्थञ्च तपश्चरेत् ॥२०॥

पञ्च[स्कन्ध]अपुनर्भवलक्षणं निर्वाणं स्वरसतः सिद्धं यदर्थं तपस्तपेत् । सन्तानस्य असंस्कृतत्वादसत्त्वात् । चरमचित्तस्य अकिञ्चित्करत्वेन अवस्तुत्वे तद्धेतुपरम्परया अपि तथाऽभावात् । द्रव्यसन्तानानां स्वहेतुफलप्रवृत्तिरेव लक्षणं परस्परप्रत्ययात्मकत्वात् । १५ कथमन्यथा 'यस्मिन् सत्येव यद्भाव एव विकारे च विकारः तत् कार्यमितरत् कारणम्' इति लक्षणं व्यवतिष्ठेत ? न चापरमन्योऽन्यप्रत्यक्षलक्षणम् । यदि पुनश्चिन्तामयीमेव प्रज्ञामनुशीलयतां विभ्रमविवेकनिर्मलमनःप्राप्तिः निर्वाणम्; तदपि मिथ्याभावनायां न संभवति [कामशोकभयोन्मादादिवत्] नैरात्म्यम्...]

ते तव । कस्य ते ? इत्याह–**निरात्मनः** सौत्रान्तिकादिमतवतां([9]मतवतः) बुद्धस्य २० इत्यर्थः । ये **पदार्थाः** रूपादयः पञ्चस्कन्धः (न्धाः), बहिरर्थशून्याः विज्ञानसन्तानाः, सकल-शून्यता वेति **तेषां तत्त्वं** स्वरूपं **शून्यं** निःस्वभावं निरुपितविधिना तत्त्वस्य घटनायोगात् । तथा सति [किम् ? इ] त्याह–संसार (रात्) **किञ्चिष्येन (किं विशिष्येत) निर्वाणं** तेनैव भिमतरयोः (अभिमततरयोः) अविशेष इति यावत् । दूषणान्तरमाह–**तदर्थम्** । किम् ? **तपः चरेत्त**[10] जनः । **च** शब्दो दूषणसमुच्चये । २५

[कारि]कार्थं दर्शयन्नाह–**पञ्चेत्यादि** । **निर्वाणं सिद्धम्** । किं रूपमपि (पम् ? इ) त्याह–**[अ]पुनर्भवलक्षणम्** । कुतः ? इत्याह–**स्वरस्व(स)तः** । कारणमन्तरेण कस्यचिदभावे पुनर्भवाभावादिति भावः । **यदर्थ(र्थं)** यस्य निर्वाणस्य निमित्त(त्तं) यस्तस्येन (**तपस्तपेत्**)

(१) वा इवार्थे । (२) कणाद-अक्षपादादयः । (३) मोक्षार्थम् । (४) ईश्वरवचनात् । (५) अशेषगुणवैकल्ये सति । (६) स्वात्मन्यवस्थानस्य अभावः स्यात् । (७) अशेषगुणवैकल्यम् । (८) स्वात्मन्यवस्थानेन । (९) विरुद्धमिति । (१०) मतवादिनः । (११) ते तव ।

तत्स्वत एव सिद्धम् । सन्तानक्षयार्थं तपस्तप्यत इत्येवं चेत्; अत्राह–[सन्ता]नेत्यादि । असंस्कृतत्वात् सन्तानिभ्यो भिन्नस्याभिन्नस्य वा सन्तानस्य स्या (तस्याऽ)सत्त्वात्, ततः तत्क्षयार्थो यत्नः किंशुकरागावधिरिफल एव इति भावः । इतश्च न तत्क्षयार्थो यत्न इति [३८५ख] दर्शयन्नाह–चरमेत्यादि । यस्य न कदाचिदपरं सजातीयं चित्तं भविष्यति तच्चरमचित्तं [न] स्यात् किञ्चित्करत्वेन।र्थक्रियाकारित्वेन अवस्तुत्वे सति तद्धेतुपरम्परया अपि तथा तेन अवस्तुत्वप्रकारेण अभावाय(त्र) सन्तानक्षयार्थं तपस्तप्यत इति । ततो विजाती(य)योगिज्ञाना-(न)भावादपि इति चेत्; अत्राह–स्वेत्यादि । स्व वत (स्वं च तत्) हेतुफलं च स्वोपादानोपादेय इत्यर्थः, ताभ्यां प्रवृत्तिः । केषाम् ? इत्याह–द्रव्यसन्तानानां गुणपर्यायवन्ति द्रव्याणि, तत्सन्तानानां द्रव्याणां च तत्प्रवृत्तिरेव लक्षणं तथैव दर्शनात् । न च यस्य यल्लक्षणं

१० तत्तदभावे भवति, स्वसंवेदनाभावे ज्ञानवत् । ततो यथा ज्ञानात् तत्संवेदनसिद्धिः तथा द्रव्यात् तत्प्रवृत्तिसिद्धिः इत्यस्य पुनर्दर्शनार्थं द्रव्यग्रहणम् । इतश्च तत्प्रवृत्तिरेव तेषाम्, इत्याह–परस्परेत्यादि । परस्परमन्योन्यं प्रत्ययः कारणं भावप्रधानोऽयं निर्देशः, स एव आत्मा स्वभावो येषां तेषां भावात् तत्त्वात् तेषां प्रवृत्तिरेव । एवं मन्यते–यथा योगिनोऽन्यस्य वा अचरमचित्तं सहकारिकारणम् अन्यथा विपक्षत्वायोगात्, तथा मच्चि (स्वचि)त्तस्यापि योग्यत्यो वा, अन्यथा

१५ रूपस्य रसं प्रति सहकारित्वेऽपि न रसस्य तंप्रति तद् इति *"एकसामग्र्य (सामग्र्य)-धीनस्य" [प्र० वा० ३।८] इत्यादि प्लवते । तथा सति उपादानसहकारिप्रत्ययसानिध्य (सान्निध्ये) विजातीयवद् अन्यदवि(पि) कार्य(र्यं) केन वार्यते ?

एतेन वम(चरम)स्योपादानशक्तिवैकल्यं निरस्तम्, अन्यत्रापि प्रसङ्गात् । अथापि स्यात् [३८६क] सजातीयानुसत्त्वा (नुबन्धात्) तस्य तृष्णापि कारणम् इति "तदनु[बन्धा]-

२० भावादननुसन्तानं" [नः] । तदुक्तम्–

*"दुःखे विपर्याससतिः तृष्णा वा बन्धकारिणम् (कारणम्) ।
प्राणिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति ॥" [प्र० वा० १।८३]

इति चेत्; न, तत्कार्यस्य हीनस्थानानु सत्त्वा (नानुबन्धसन्ता)नस्य तदभावेऽभावात् न चित्तमात्रस्यस्यातत्कार्यत्वा हि (त्रस्यातत्कार्यत्वात् वि)तृष्णेऽपि स्थानिति भावात् ।

२५ अथ मतम्–शुद्धाशयानां वहाव (महाक)रुणावशात् सदवस्था न (सदावस्थानम्) तदुक्तम्–
*"तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ।" [प्र० वा० १।२०१] सन्तानोच्छेदवतां तु

(१) उत्पादादित्रयरहितत्वात् असत्त्वादित्यर्थः । "उक्तं हि भगवता त्रीणीमानि भिक्षवः संस्कृतस्य संस्कृतलक्षणानि । संस्कृतस्य भिक्षव उत्पादोऽपि प्रज्ञायते व्ययोऽपि स्थित्यन्यथात्वमपि इति । न चाविद्यमानस्य खरविषाणस्येव जात्यादिलक्षणमस्ति ।"–माध्य० वृ० पृ० १४५ । (२) क्षणेभ्यः । (३) सन्तानक्षयार्थः । (४) युक्तम् । (५) हेतुफलभावप्रवृत्तिरेव । (६) कारणम् । (७) उत्तररसं प्रति । (८) उपादानकारणत्वम् । (९) 'रूपादे रसतो गतिः । हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्' इति शेषः । (१०) तृष्णानुबन्धाभावात् । (११) न अनुसन्तानः अननुसन्तानः, पश्चात् सन्तानाभाव इत्यर्थः ।

तंदभावात् सदानवस्थायित्वमिति; तदयुक्तम् ; अचेतनवत्तदभावेऽपि स्वहेतोरेव प्रबन्धाऽनिवृत्तेः। तत[:] स्थितम्–'**परस्परप्रत्ययात्मकत्वात्**' इति ।

स्यादेतत् चरमचित्तस्योभयशक्तियोगेऽपि परत्र बहुलं तथा दर्शनात्तदनुरूपं या[वद्]-दृष्टकल्पनं युक्तम्, अन्यथा ज्ञानमनवयवेन स्वावभासि कथं सिध्येत् ? बा[ध]कमन्यत्रापि दर्शितम् 'रसाद् रूपप्रतिपत्तिर्न स्यात्' इति । विजातीयवत् सजातीयं कार्यं स्वयमेव न जायत ५ इति कथमुच्यते–'**स्वहेतुफलप्रवृत्तिरेव द्रव्यसन्ता[ना]नाम्**' इति ? तत्राह–**कथमन्यथा** इत्यादि । तत्प्रभवे(भवा)कारणान्यथा **यस्मिन्** कारणाभिमते **सत्येव** नासति **यद्भावो** यस्य कार्याभिमतस्य भावः उत्पाद एव इत्यवधारणीयम् **विकारे** च यस्य विकृतौ च **विकारो 'यद्विकारः'** इति द्रष्टव्यम् , इदम् उपादेयस्य, पूर्वं कार्यमात्रस्य लक्ष[णम्] **तत्तस्य कार्यं** तथेतरत् **कारणम्** इति च द्रष्टव्यम् इत्येवं **लक्षण[णं]** कार्यकारणयोः **कथं** न कथञ्चिद् **व्यवतिष्ठेत ?** १० यथैव हि [३८६ख] चरमचित्ताभिमते समर्थेऽपि स्वयमेव न भवति, तथा अस्मिन् सत्यपि स्वयमेव भविष्यति, यथा सभागमकुर्वतोऽपि विसभागकरणम् तथा विसभागमकुर्वतोऽपि अन्यकरणमिति न सामर्थ्यजन्यता कार्यस्य, कदाचिदुभयं वा स्वयमेव न भविष्यति, इति कार्यमकुर्वतोऽपि चरमस्य सत्त्वं नित्यस्यापि तमिति (तदिति) भावः ।

यदि मतम्–उपादानेन सहकारिकारणस्ते (णस्य तेन वोपा)दानस्यातिशयापादनं न सह- १५ कारित्वम् अपि तु सर्वेषाम् एकत्र कार्ये व्यापारः, स चरमस्यापि न विरुध्यते इति ; तत्राह–**नचे**त्यादि । **नचापरम्** उक्तादन्यत् **अन्योऽन्यप्रत्ययलक्षणं** किन्तु एतदेव । न हि सदा स्वं नित्यस्य समर्थस्य परापेक्षा इत्युक्तम् । एतेन अन्त्यशब्दस्य ककालीयानारंभे(सजातीयानारम्भे) सत्त्वं निरंशसन्ना (निरंशसत्ता) सम्बन्धोऽपि चिन्तितः ।

ननु मा भूत् चित्तसन्ताननिवृत्तिर्निर्वाणम् , आस्रववि(नि)रोधो निरास्रवचित्तोत्पत्तिः २० तत् स्यात् ; एतदेव दर्शयति दूषयितुं **यदि** इत्यादिना । **यदि पुनः विभ्रमविवेकनिर्मलमन-[:] प्राप्तिर्निर्वाणम्** । किं कुर्वताम् ? इत्याह–**चिन्तामयीमेव** अनित्यत्वाद्यनुमानरूपामेव नान्यां **प्रज्ञां** बुद्धिम् **अनुशीलयताम्** अभ्यस्यताम् इति । तत्र दूषणमाह–**तच्चे**त्यादि। **तदपि** निर्वाणं **न संभवति** इत्युक्तम् । कथम् ? **अतत्त्वभावने**त्यादिना। कस्मिन् सति तन्न संभवति ? इत्याह–

(१) महाकरुणाऽभावात् । (२) दीपादौ । (३) "सत्येव यस्मिन् यज्जन्म विकारे चापि विक्रिया । तत्तस्य कारणं प्राहुः···"–प्र० वा० १।१८२ । (४) कार्यम् । (५) सजातीयम् । (६) विजातीय । (७) सत्त्वमिति । (८) 'स्वं' इति निरर्थकम् । (९) निर्वाणम् । (१०) "कार्यकारणभूताश्च तत्राविद्यादयो मताः । बन्धस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिर्निर्मलता धियः ॥···यथोक्तम्–चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥"–तत्त्वसं० प० पृ० १८४। (११) वृत्तस्थः श्रुतचिन्तावान् भावनायां प्रयुज्यते । धियः श्रुतादिप्रभवा नामोभयार्थगोचराः ॥ ५ ॥ श्रुतादिभ्यः प्रज्ञा प्रभवति (जायते) तत्र श्रुतमयी प्रज्ञा नामार्थम् , चिन्तामयी उभयस्य नाम्नोऽर्थस्य च कृते । भावनामयी प्रज्ञा केवलमर्थस्य कृत इति वैभाषिकाः । सौत्रान्तिकाः (वसुबन्धुः) श्रुतमयी प्रज्ञा हि आप्तप्रमाणजो निश्चयः, चिन्तामयी प्रज्ञा युक्तिनिध्यान (युक्त्या नितीरण)जो निश्चयः, समाधिजो निश्चयः भावनामयी प्रज्ञा ।"–अभिध० को० टी० पृ० १६१ ।

मिथ्याभावनायां मिथ्या परस्यै सर्वस्य (सर्वस्य क्षणिकत्वा) नुमानं तस्य **भावनायां** सत्याम्। नहि मिथ्याज्ञा[ना]भ्यासात् तत्त्वज्ञानं कामशोकभयोन्मादादिवत् ।

अपर आह–यथा आत्मन्यवैनतेयेऽपि 'वैन[ते]योऽहम्' [३८७क] इति, [1]मिथ्याभावनायामपि विषापहारः तथा प्रकृतायामपि दोषापहार इति चेत् ; न ; आत्मादिभावनायामपि
५ तत्प्रसङ्गा[त्], निदर्शनस्य चोभयत्र समानत्वात् । '[2]वस्तुप्रतिबन्धात् मिथ्यात्वेऽपि न दोषः' इत्यपि न यु[क्तम्, उ]क्तोत्तरत्वा[त्] तदभावादिति । 'तन्निर्वाणमुपपन्नं न तत्कारणम्' इत्यनेन दर्शयति । स्वयं च निर्वा(र्वी)जीकरणदृष्टान्तेन दीक्ष(क्षा)या निर्वाणहेतुत्वं साधयन्तं निराकृत्य विषापहारनिदर्शनेन मिथ्याभावनया: तत्साधयति इत्ययुक्तकारी ।

ननु मिथ्यात्वाविशेषेऽपि *"सर्वं दुःखमनित्यम्" इत्याद्युक्तेः विषयेषु वैराग्यम्
१० *"**उपस्थमूत्रछिः(छिद्र)वत्**" इत्युक्ते[:] *"**नात्मावि(दि)तत्त्वम्**" इत्युक्ते[श्च] । ततो नैरात्म्यभावनैव मुक्त्यङ्गमिति चेत् ; अत्राह–[**वैराग्य**] मित्यादि । अत्रायमभिप्रायः–आत्मेकोऽनादि[नि]धना(न)ज्ञानस्वभावः, तस्य आगन्तुका रागादयः, मर्त्या(शरी)रादयश्चेत्युक्तेऽपि तत्र तत्त्वविदो वैराग्यसंभवात् , यथा कस्यचित् महाद्भावस्य (महाकुलोद्भवस्य) कुतश्चिदकर्त्तव्ये प्रवृत्तस्य पुनः कुलशौर्यादिवर्णने तत्र वैराग्यम् , अतत्त्वविदो मूत्रच्छिद्रम् इत्युक्तेऽपि न तत्र तत् ।
१५ गलंगधि(गलद्गन्धि)रादितच्छिद्रदर्शनेऽपि [10]तस्य तत्र प्रवृत्तिदर्शनात् , [11]विपरीतस्य [12]वराङ्गमित्युक्तेऽपि [13]तदिति । [14]यदिति ।

यदि वा, मदीये पक्षे मिथ्याभावनायां निर्वाणं न संभवति आत्मवादिमते तु तदर्थमनुष्ठानमपि[15] । तथाहि–

*"**यः पश्यता(त्या)त्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतस्नेहः ।**
२० **स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ॥"**
[प्र० वा० १। २१९]

इति चेत् ; अत्राह–**चेतनोऽहम्** इत्यादि ।

[चेतनोऽहं मम ज्ञानं स्वरूपं कर्मणाऽरिणा ।
तद्वैकल्यमितीहेत कैवल्यार्थमुपायतः ॥२१॥

(१) बौद्धस्य । (२) गरुडभिन्नेऽपि । (३) गरुडोऽहम् । (४) "कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः । अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥"–प्र० वा० २।२८२ । (५) अनुमानस्य परम्परया वस्तुप्राप्तेः । (६) "इदानीं नास्ति सामर्थ्यं दीक्षादीनामजन्मने । यदि स्यान्मरणादूर्ध्वमिति नास्ति प्रमेदृशी ॥...निर्ह्रासातिशयात् पुष्टौ प्रतिपक्षस्वपक्षयोः ॥२६७॥ दोषाः स्वबीजसन्ताना दीक्षितेऽप्यनिवारिताः ।"–प्र० वा०, प्र० वार्तिकाल० पृ० १६० । (७) "तस्माद् भूतमभूतं वा यद् यदेवाभिभाव्यते । भावनापरिनिष्पत्तौ तत् स्फुटाकल्पधीफलम् ॥"–प्र० वा० ३।२८६ । (८) जायते । (९) वैराग्यम् । (१०) अतत्त्वविदः । (११) तत्त्वज्ञस्य । (१२) श्रेष्ठमङ्गम् । (१३) वैराग्यम् । (१४) 'यदिति' निरर्थकमत्र । (१५) 'न संभवति' इति सम्बन्धः ।

आ[त्मा]त्मीयतत्त्वमजानन्नेव कः दुःख[पीडितोऽपि] हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः प्रवर्तेत मत्तवत् ? यदा पुनः कुतश्चित् अनन्तज्ञानादिकं चैतन्यमात्मतत्त्वं तत्त्वज्ञानेन च तदुपेयं मिथ्यात्वादि कर्म हेयं प्रतिपद्येत तदा आत्मानं परं वा निर्व्याधितं कर्तुकाम इव निसर्गात् तदुपायेऽभियुज्येत नान्यथा। एकान्तपक्षे स्वपरश्रेयःप्राप्तेरत्यन्तमसंभवात् ।] ५

चेतनः स्वयं(स्व)परज्ञोऽहम् । कुतः ? इत्यत्राह–**मम ज्ञानं स्वरूपं** यतः अन्यथा [३८७ख] घटादिवत्तदयोगात् ।

[1]ननु ज्ञानसम्बन्धाच्चेतनो न ज्ञानस्य [2]तत्स्वरूपत्वादिति चेत् ; [3]सम्बन्धे तस्य प्राक्नार्थतन (प्राक्तनाचेतन)रूपपरित्यागे अनर्थकं तत्सम्बन्धकल्पनम् , तत्स्वरूपत एत (पत्यागत) एव चेतनोपपत्तेः । [4]तदपरित्यागे न चेतन[ः] स्यात् , तद्वाँस्तु भवेत् । नहि दण्डसम्बन्धाद् १० देवदत्तो दण्डो भवति । 'धनुः प्रविशति' इत्यादिवत्[5] स्यादिति चेत् ; न; उपचारमात्रं दृढप्रत्ययवर्जितं भवेवं (भवेत्) । कथं च भिन्न(न्नं)ज्ञानं [तस्य] ? सम्बन्ध(न्धा)सिद्धिः(द्धेः) । तदुपचारान्चेत् ; सोऽपि कुतः ? तत्सम्बन्धात्[6] ; अन्योऽन्यसंश्रयः ।

किञ्च, ज्ञानस्यापि स्वग्रहणविक[ल]स्य कुतश्चेतनता, यतोस्योपि (यतोऽन्योऽपि) तत्सम्बन्धाच्चेतनः स्यात् । अर्थग्रहणादिति चेत् ; न ; स्वग्रहणाभावे [7]तदयोगात् । स्वपरप्रकाशनं १५ वरमात्मन एव कल्पितं किमपरेण ज्ञानेन ? ततः स्थितम्–**'मम ज्ञानं स्वरूपम्'** इति ।

[8]सर्वस्य सर्वदर्शित्वं चेत् ; अत्राह–**कर्मणा** [इ]त्यादि । **कर्मणा** । किम् (म्भू)तेन ? **अरिणा** तत्स्वरूपनाशकत्वाद् वैरिणा । **तद्विकल्पं (तद्वैकल्यम्)** तस्य ज्ञानस्वरूपस्याऽसम्पूर्णत्वम् नियतप्रकाशनरूप**मिति** हेतोः **कैवल्यार्थं** केवलस्य कर्मविकलस्य आत्मनो भावः कैवल्यं तदर्थम् । **उपायतः** सम्यग्दर्शनादिकमुपादाय (मुपाय)माश्रित्य **ईहेत** यतेत । २० को हि नाम ज्ञानवा[न् आ]त्मनो वैरिणं सोपायविलयं वीक्ष्य(क्ष)माणोऽपि उपेक्षते तत्कृतागन्तुकसुखलेशपाशवशात् ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**आत्मेत्यादि** । अत्रायमभिप्रायः–अतत्त्वज्ञो वाऽऽत्मदर्शी तदर्थं न प्रवर्त्तेत, तत्त्वज्ञो वा ? त[त्र] प्रथमपक्षे सिद्धसाधनमित्याह–**कोनन्नेव (कोऽजानन्नेव) प्रवर्त्तेत ?** किम् ? इत्याह–**आत्मीयतत्त्वम्** [३८८ क] अनन्तज्ञानादिकं यावद्द्रव्यभावि- २५ त्वादिति निरूपयिष्यते, न शरीरादिकं[10] तत्प्रभवं वा सुखादिकं विपर्ययात्[10] परतन्त्रत्वाच्च[11] । के (क्वे)त्याह–**हितेत्यादि** । **हितं** निर्वाणं तत्साधनं च **अहितः** संसारः तद्धेतुश्च तयोर्याथासङ्ख्येन **प्राप्तिश्च परिहारश्च** तयोरिति । क इव ? इत्याह–**मत्तेत्यादि** ।

ननु दुःखानुभवे तदजानन्नपि तत्र प्रवर्त्तेत इति चेत् ; अत्राह–**दुःखेत्यादि** । नहि

(१) नैयायिकः प्राह । (२) आत्मस्वरूपत्वात् । (३) ज्ञानसमवाये । (४) अचेतनस्वरूपापरित्यागे । (५) उपचारात् । (६) चेत् ; । (७) अर्थग्रहणायोगात् । (८) तथा सति । (९) आत्मीयं तत्त्वम् । (१०) यावदात्मद्रव्यं तावत् शरीरादिकं न भवति । (११) इन्द्रियाद्याश्रितत्वात् ।

बुभुक्षापीडितोऽपि बालकः उदनं (ओदनं) तदुपायं च जानन् तत्र प्रवर्त्तते । द्वितीयपक्षे आत्मदर्शी तदर्थं प्रवर्त्तते ; इत्याह--**यदा** [इत्यादि] । **पुन**रिति पक्षान्तरद्योतने, **कुतश्चिद्** अनुमानादिप्रमाणा[न] **प्रतिपद्येत** पुरुषः । किम् ? इत्याह-**आत्मतत्त्वं** जीवस्वरूपम् । किं तत् ? इत्याह-**चैतन्यम्** ।

५ ननु तेन सर्वदा प्रतिपन्नं सर्वोऽपि, इति स तदर्थं प्रवर्त्तेत इति चेत ; अत्राह-**अनन्तज्ञान** इत्यादि । चैतन्यविशेषणम् अन्यत । तत्किम् ? इत्याह-**उपेयम्** । तथा **यदि पुनः प्रतिपद्येत,** किम् ? इत्याह-**कर्म** । किंभूतम् ? **हेयम्** । केन ? इत्याह-**तत्त्वज्ञान** इत्यादि । यथा च 'तत्त्वं यं' तथा प्रतिपादयिष्यते । पुनरपि किंभूतं तत् ? इत्याह-**मिथ्ये**त्यादि । तत्प्रभवं तदात्मा नित्वा (तदात्माऽनित्यत्वादिकं) तदुपयुक्तमदिरादिवत् । तत्र कुतश्चिदिति । तत्कुतो

१० जायते ? इत्याह-**निसर्गादितवा (निसर्गादि**त्यादि, **तदा) तदुपाये** निर्वाणोपाये **भिश्रक्ष्युत (अभियुज्येत)** । क इव ? इत्याह-**आत्मान**मित्यादि । **[आत्मानं]** स्वं **परं वा निर्व्याधितं कर्तुकाम इव,** वैद्य इव इत्यर्थः । यथा आत्मानं पश्यन्नपि वैद्यः तत्त्वदर्शी स्वस्य परस्य ताधागं (वा व्याधारोग)हानार्थं तदुपाये वमानादौ (वमनादौ) तदा(द)धिकं सुखं मन्यमानः प्रवर्त्तते तथा प्रकृतोऽपि पुरुष इति, न्यथा (**नान्यथा**) नापरेण प्रकारेण तत्राभियुज्येत

१५ [३८८ख] । कुतः ? इत्याह-**एकान्तपक्षे** [नित्यैकान्तपक्षे] क्षणिकैकान्तपक्षे च **स्वपरयोः श्रेयसो** मुक्तेः **प्राप्तेरत्यन्तमसंभवात्** ।

एतदपि कुतः ? इत्याह-**चित्ते**त्यादि ।

[चित्तस्वपरसन्तानभेदाभेदाव्यवस्थितेः ।
मैत्र्यादिर्विशेषेण क्रियासङ्करशङ्किनाम् ॥२२॥

२० **स्वसंवेदनमेव लक्षणं चित्तस्य, अन्यथा सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं नोपपद्यते । न चैकान्तस्वसंवित्तिश्चित्तस्य भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् । यथादर्शनम् अनेकान्तात्मकत्वात् , यथाकृतं तत्त्वस्य स्वतः प्रतिपत्तेः । परतश्च न संभवत्येवाधिगतिः, ज्ञानान्तरस्य अतद्विषयत्वात् अनन्यवेद्यनियमात् अनेकान्तस्वरूपस्यापि ग्रहणाविरोधात् । तत्र स्वपरचित्तव्यवस्था । विषयाकारविवेकस्य स्वतोऽवोध्यस्य परत्वप्रसङ्गात् । परचित्तस्यापि**

२५ **सहोपलम्भादिभिः स्वस्वभावापत्तेः । चित्तानां कुतः सन्ततिः कार्य...स्वपर...यस्मिन् सति...खरविषाणवत् । न च...ततो नैरन्तर्यम् । कार्य...तथा चात्यन्तमसतः कार्यत्वं प्रतिषिद्धं वेदितव्यम् । कथं पुनः सतः कार्यत्वं कृतत्वात् कारणवदिति ? एकान्तानङ्गीकरणादनुकूलमाचरसि । यथैव तर्हि सत्कार्यं तथैव नोत्पत्तुमर्हति निष्पन्नत्वात् , यथा चासत् तथा च अत्यन्तमसंभवात् खपुष्पवत् इति । तच्चेदं कृतोत्तरम् । न क्वचिदेकान्त-**

३० **दर्शनं यदवलम्ब्य अनेकान्तसिद्धिः संशयादिना उपालभ्येत । तदपह्नवे क्व कस्य करणादयः ? स्वपरसन्तानभेदानुपलब्धौ सत्त्वभेदाभावात् । सत्यां च स्वपरसन्तान-**

(१) चैतन्यम् । (२) चैतन्य-कर्मणी । (३) 'यं' इति व्यर्थम् ।

व्यवस्थायां कथमेवं पराप्रत्यक्षत्वात् कार्यादृष्टेश्च प्रमाणाभावात् गुणदोषान् कथञ्चिद-जानानोऽयं यथाविषयं मैत्र्यादीन् भावयेत् ?]

चित्तं द्विविधम्–क्षणिकन (कम)व्यापकं सौकतकल्पितम्, नित्यं व्यापकं च साङ्ख्य-वेदान्तवाद्यभिमतम्, तत्त्व **स्वे परो व** (तत्र **स्वः परश्च) सन्तानश्च** सभागहेतुफलप्रब-न्धः, तदभावे विसभागप्रस(गस)न्तानो दूरोत्सारित एवं (एव) तदपेक्षत्वात, तस्य **भेदश्च** ५ प्रव्यादी (पृथिव्यादी)नां नानात्वम् **अभेदश्च** तेषामेव एकत्वम् तेषाम् **अव्यवस्थितेः** कारणात् '**एकान्तपक्षे**' इति सम्बन्धः। तथाहि–निरंशं न किञ्चित सदपि चित्तं स्वतोऽध्यक्षतः प्रतीयते। अत एव नाऽनुमानतोऽपि ; हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तस्य स्वयमनुभवात। विचारितं चैतद् विचारयिष्यते च। [1]तदप्रतीतौ च स्वपरेत्यादिव्यवस्थापि दुर्घटा। न केवल(लं) तत्र श्रेयः-प्राप्तेरत्यन्तमसंभवः किन्तु मैत्र्यादेरपि इति दर्शयन्नाह–**मैत्र्यादि**रित्यादि। न केवलं **आदि**- १० शब्देन करुणादेरेव परिग्रहः किन्तु दीक्षादेरपि, स त्क सिष्ठे (सः शिष्ये)ऽन्यत्र वा न क्वचि-त, अनुष्ठानवतः कस्यचिदभावादिति भावः। युक्त्यन्तरमाह–**विशेषेणे**त्यादि। न्यायातिरेक-म(मे)तेन दर्शयति। **क्रिया** व्यापारव्याहारादिः तस्याः **सङ्करः** सरागे वीतरागे(ग)[2]चेष्टासंभवः [2]तत्र वा सरागाचरणं(ण)संभवः तं किंतुनां (**शङ्कितुं**) शीलानां सौगतानाम्। क मिष्यादौ (शिष्यादौ) **मैत्र्यापि(दिः)** ? तस्य सतो ज्ञातुमशक्यत्वात। यदि वा तच्छङ्किनां साङ्ख्या- १५ नाम्। ते हि *"**सर्वं सर्वत्र विद्यते**" [3]इति वदन्तः मैत्रीविषये उपेक्षाविषयं [३८९ क] किन्न शङ्कते(न्ते)। एतेन वैशेषिकादिरपि चिन्तेतः (चिन्तितः) गुणिनो(गुणगुणिनो)र्भेदैकान्ते शिष्ट-त्वादिगुणाधारनियमाऽशिष्टेः(माद्दृष्टेः)।

कारिकार्थं कथयितुमाह–**स्वसंवेदनमेव** इत्यादि। अयमेवकारः स्थानत्रये द्रष्टव्यः–**स्वसंवेदनमेव लक्षणमेव चित्तस्यैव** इति। २०

ननु परसंवेदनमपि [4]तस्यास्ति तदपि लक्षणं कस्मान्नोक्तमिति चेत ; अव्यापकत्वात्, सुखादावसत्त्वात्। तदेव तल्लक्षणं कुत इति चेत् ? अत्राह–**सर्वे**त्यादि। स्वसंवेदनमेव चित्त-स्यैव लक्षणमेव इत्यस्याभावप्रकारेण **अन्यथा आत्मसंवेदनं** स्वरूपग्रहणं **नोपपद्यते** तदेकार्थम-समर्थ (तदेकार्थ)समवेतानन्तरज्ञानेन[5] अर्थापत्त्या[6] वा तद्ग्रहणे अनवस्थाप्रसङ्गादिति भावः। अनेन तल्लक्षणमेव इति कथितम्। केषाम् ? इत्याह–**सर्वेषां चित्तानां** नीलादिज्ञानानां **चैत्तानां** २५ सुखादीनामेव इत्यवधारणीयम्, [7]अन्यस्यापि प्रसङ्गात्। तदात्मवेदनाभावे च न विशेषव्यवस्था इति मन्यते। भवन्तस्य (भवतु तस्य) तदेव लक्षणमिति चेत् ; अत्राह–**न** इत्यादि। **न च नै** चि कान्त (नैव **एकान्ते) स्वसंवित्तिः** स्वस्य स्वयं गृहीतिश्चित्तस्य(तिः **चित्तस्य**) किन्तु कथञ्चि[दि]त्यर्थः। कुतः ? इत्यत्राह–**भ्रान्ते**रित्यादि। साङ्ख्यस्य पुरुषश्चेतनः यथा आत्मानं

---

(१) निरंशचित्ताप्रतीतौ। (२) वीतरागे। (३) "किं सांख्यमतमवलम्ब्य सर्वं सर्वत्र विद्यते।" –प्र० वार्तिकाल० पृ० १८०। (४) आत्मनः। (५) तदात्मसमवेतद्वितीयज्ञानेन। नैयायिकापेक्षया। (६) मीमांसकापेक्षया। (७) अन्यथा।

सच्चेतनादिरूपतया स्वत्वय(स्वय)मवगच्छति तथा चेत [1]प्रकृतिविविक्तया (क्तया) ; तर्हि सर्वदा [2]प्रकृतिपुरुषान्तरतत्त्वपरिज्ञानाव(नात) कुत इयं भ्रान्तिः-

*"तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनवदिह लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥" [सांख्यका० २०] इति

५ यतः संसार स्यात् ? नहि निरंशयोस्तयोः[3] संयोगेऽपि ततथावेदने (तथा भेदज्ञाने) उपचारभ्रान्ति[३८९ ख]संभवः । प्रकृतेः सा भ्रान्तिः न पुरुषस्य इति चेत ; तस्याः स्वरूपावेदने कुतस्तद्व्यवस्था ? न ह्यचेतनमेवमवैति-'ममात्र भ्रान्तिः' इति । [4]तद्वेदने पुरुषकल्पनाऽनर्थक्यम । पुरुषोऽवैति चेत ; न ; तेन प्रकृतेरवेदने तदयोगात । वेदने यथा तस्यैव [5]स्वप्रधानग्रहणं यथार्थम , अयथार्थग्रहणं कुतश्चित्तथास्तु किं प्रकृतेर्विभ्रमकल्पे न (कल्प-

१० नेन) । कथमेकस्य[6] विभ्रमेतरकल्पनम् ? कथं प्रधानस्य[7] ? परिणामित्वात् ; पुरुषेऽपि [8]तत्कल्पने को विरोधः ? ततः स्थितम-'**नचैकयमृतेन (नचैकान्तेन) स्वसंविति[:] भ्रान्तेरभावश्च (वस्य) प्रसङ्गात्**' इति ।

एतेन ब्रह्मवादाभिनिनिरस्तः (वादोऽपि निरस्तः) ब्रह्मणोऽप्येकान्तेन स्वसंवित्तिसंभवे कुत ए- [व] नगरा[गा]मादिविभ्रमः तेन तदवेदनात ? स्वयं वेदने ब्रह्मणो वैक(फ)ल्यमिति ।

१५ यस्तु मन्यते-[अ]नेकक्षणस्थायि स[न्] न क्षणिकं ज्ञानम् आत्मनि समवेतम् , तत्र समवेताः सत्ताद्य (सत्तादयः) इति ; सोऽप्यनेन योऽस्टष्टो (नोत्सृष्टः[10]) यतः अर्थग्रहणरूपवद्-नेकक्षणसम्बन्धित्वं(त्व)स्यापि स्वत एव ग्रहणे कुतस्तत्र भ्रान्तिः ? यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं शास्त्र-प्रणयनम् ।

एतेन [11]तस्यात्मनि तत्र सत्तादीनां समवेतत्वं चिन्तितम ।

२० किंच, सत्तादेस्ततो[12] व्यतिरेके किं तस्य रूपं यस्त्वयं (यत् स्वयं) जानीयात् , तेनचा (वा) संबंध्ये (सम्बध्ये)त ? अर्थग्रहणमिति चेत ; *"**अर्थग्रहणं बुद्धिः**" [न्यायभा० ३।२।४६] इति वचनात [13]तदपि ततो विभिन्नं कुतो न भवति सत्तावत्तत्रापि भेदप्रत्ययस्याः (यः 'अस्याः) बुद्धेरिदमर्थग्रहणम्' ? 'अस्या इदम्' इति भावात् बुद्धिरेव तद्रूपं यथा नीलमेव नीलरूपं जातिरेव जातिरूपमिति चेत ; [३९०क] उच्यते-अथ केयं बुद्धिरित्यर्थःग्रहमिति

२५ (बुद्धिरिति ? अर्थग्रहणमिति) चेत् ; पुनः पुनसादेवा(नस्तदेवा)वर्त्तत इति चक्रकम् । अपि च,

समवायस्य तेनैव वेदने विभ्रमः कुतः ।
तत्र तद्धेतुना(ता)भावे सम्बन्धित्वगतिः कुतः ॥
न च सत्तादिकं (दि) सम्बन्धशून्यं सम्बध्यते तया ।
स्वरूपं संविदश्चोपि (दन् कोऽपि) यतः कल्पनमर्हति ॥

---

(१) प्रकृतिभिन्नस्वरूपेण । (२) प्रकृतिपुरुषयोर्भेदपरिज्ञानात् । (३) प्रकृतिपुरुषयोः । (४) ममेति स्वरूपसंवेदने । (५) स्वस्वरूपम् । (६) स्वज्ञानग्रहणं । (७) पुरुषस्य । (८) एकस्य । (९) परिणामित्वकल्पने । (१०) खण्डित इत्यर्थः । (११) ज्ञानस्य । (१२) ज्ञानात् । (१३) अर्थग्रहणमपि ।

स्वरूपेद(ऽप्य)गृहीने चेद् विभ्रमः स्यात्ततोऽपरः ।
तस्यापि सर्वतो वित्तौ दूषणं तदवस्थकम् ॥

ततो यत्किञ्चिदेतत् । सौगतमतं तु *"वित्तेर्विषयनिर्भासविवेकानुपलम्भतः" [सिद्धिवि० १।२०] इत्यादिना चर्चितम् ।

इतश्च एकान्तपक्षे 'न चैकान्तेन श्च(स्व)संवित्तिश्चित्तस्य' इति दर्शयन्नाह–यथा- ५ दर्शनमित्यादि । दर्शनानतिक्रमेण यथादर्शनम् अनेकान्तात्मकत्वात् यथाकथं (यथाकूतम्) यथापराभिप्रायं तत्त्वस्य चित्तस्वरूपस्य [स्वतः]अप्रतिपत्तेः, कुतः *"स्वरूपस्य स्वतो गतिः [प्र० वा० १।६] ? अनेन–

*"यथादर्शनमेवेयं मानमेयफलस्थितिः ।
क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम् ॥" १०

[प्र० वा० २।३५७] इत्याद्यपि

अनेकान्त एव संभवति इति दर्शयति यथाकूतम् इत्यादिना । परस्य धर्माप्य (धर्म्याद्य)-सिद्धेः अनुमानाद्यभावात् कुतश्चिन्तामयी भावने[त्या]दि ?

स्यान्मतम्–न कस्यचिद्विज्ञान[स्य] स्वतः संवित्तिः, आत्मनि क्रियाविरोधात् । [नापि] परतः, तस्य अज्ञेयत्वाद् घटादि[वदि]ति; तत्राह–परतश्चेत्यादि । च शब्दः समुच्चये । न १५ केवलं यथाकूतं तत्त्वस्य स्वतः प्रतिपत्तिर्नास्ति किन्तु परतश्च प्रत्यक्षोत्तराद् (प्रत्यक्षादुत्त-रात) अर्थापत्त्यादेर्वा त्र (न) संभवत्येवाधिगतिरि[ति] । कुतः ? [३९०ख] इत्याह–ज्ञानान्तरस्य इत्यादि । विवक्षितज्ञानादन्य[त] प्रत्यक्षादि तदन्तरं तस्यान्तद्विषय (तस्य अतद्विषय)त्वात् निरंशदित्ता (निरंशादितत्त्वा)विषयत्वात् । एतदुक्तं भवति–स्वात्मनि क्रियाविरोधान्न तत्र ज्ञानप्रतिभासः, परत्रापि[न] निरंशस्य प्रतिभास इति कथोच्छेदः । हेत्वन्तर- २० माह–अनन्यवेद्य [इत्या]दि । यमान्न (यस्मान्न) न विद्यते अन्यद् वेद्यमस्य नान्यस्य वेद्यं तस्य नियमात् । अथवा अन्यचे (अन्यं च) तद्वेद्यं च तस्य नियमो(मः) तदेव गृह्यते ज्ञानेन, पुनरस्य तत्रा (नैत्राऽ)भिसम्बन्ध(न्धः) तस्मात् , अनेकान्ते(न्त)स्वरूपस्यापि ग्रहण(णा)विरोधात् । कथमन्यथा घटादिवत्तेनार्थ (वत् तेन अर्थ)ग्रहणम् ? प्राणादिवदसंपक्षस्याप्यस्य गमकत्वमुक्तम् ।

निरंशज्ञानसंवित्तौ यज्ज्ञानान्तरकल्पनम् । २५
तदनर्थकमे[व] स्यादन्यतः कार्यसिद्धितः ॥ इत्यनेन दर्शयति ।

यदि वा, अन्यस्य वेद्यं तस्य नियमः–ज्ञानान्तरेणैव ज्ञानं वेद्यते, न स्ववेद्यं नापि परोक्षं यत्त्वव (अन्यव)त्तेनार्थाग्रहणा[त] । नान्यवेद्यनियमोऽनन्यवेद्यनियमः तस्मात् । प्रथम-द्वितीये विषमदोषत्वात् , अन्यथा किं द्वितीयकल्पेन ? यद्वा यदुक्तं साङ्ख्येन बुद्धि[ः] प्रत्यक्षा परोक्षा परोक्षः पुरुष इति ; तत्राह–अ[न]न्यवेद्यनियमात् , वनान्यवेद्योरे (न अन्यवेद्यः अ)- ३० नन्यवेद्यः पुरुषः तस्य नियमात् , ततश्च स्वतः परतश्च तस्याग्रहणात् सर्वाग्रहणमेव ।

(१) स्वात्मनि । (२) ज्ञेयभिन्नत्वात् ज्ञानत्वादित्यर्थः । (३) 'अन्यवेद्यनियमात्' इत्यस्य । (४) नञ्समासे सति, 'अनन्यवेद्यनियमात्' इति सिध्यति । (५) सपक्षरहितस्य । (६) सन्तानान्तरवत् । (७) 'परोक्षा' इति निरर्थकम् ।

एतेन वेदान्तरपक्षोऽपि चिन्तितः ।

निगमयन्नाह–तत्रेत्यादि । यत एवं तत् तस्मात न स्वपरचित्तव्यवस्थेति ।

स्यान्मतम्–न चिन्तितं (चित्तं) तदन्तरा(न्तर)वेद्यं नापि परोक्षमेव सच्चेतनादिस्वभावेन स्वयं प्रत्यक्षत्वात, [इत्यत्राह–विपर्येत्यादि] विषयाकारा[र]विवेकः [३९१क] स्थूल-
५ स्तम्भाद्याकारशून्यत्वम, यदि वा, विषयः प्रधानं तस्याकारः कर्तृत्वादि तेन विवेकः तस्य । किंभूतस्य ? इत्याह–स्वतोऽग्राह्यस्य(ग्राह्यस्य) परोक्षस्य इत्यर्थः, परत्वप्रसङ्गात् सं चित्ते (संवित्तेः) सकाशादसत्त्वे (दन्यत्वे) प्राप्ते तत्र तद्व्यवस्थेति तस्य ततोऽन्यत्वे संविद्विषयाकारयोः तादात्म्यप्रसङ्गादिति भावः ।

इदमपरं व्याख्यानम्–विषयो [१]ज्ञानत्वादि ज्ञानवेद्यः ततो भिन्नः ततो विवेकस्येति । शेषं
१० पूर्ववद् इति ।

एतेन ब्रह्मणो[ऽ]विद्याविवेकोऽपि व्याख्यातः ।

एतेन *"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र० वा० २।३५४] इत्यादि मतम् ; तत्र; न विषयाकारादन्या संवित्ति[ः] नीलाद्याकारस्यैव तत्त्वात । तत्र सहोपलम्भनियमादिभिः इति कश्चित् सौगतः ; तत्राह–परचित्तस्यापीत्यादि । न केवलं विषयाकारस्य अपि तु परचित्तस्यापि
१५ स्वस्वभावापत्तेः विवक्षितज्ञानरूपतापत्तेः तत्तद् (न तद्) व्यवस्था इति । कैः ? इत्याह–सहोपलम्भनियमादिति (दिभिः) । यदि (आदि)शब्दा[त] सहोत्पत्त्यादिभिरिति ।

ननु विषयाकारस्य विज्ञानाद(द्) एकत्वं नानेकत्वमिति चेत् ; अयमयतो(मपरो) दोषोऽस्तु । इतश्च न स्वपरचित्तव्यवस्था इति दर्शयन्नानाम् (न्नाह–चित्तानाम्) इत्यादि । [चित्तानां] चेतसा(सां) कुत[ः] सन्ततिः ? कुतो न स्यात ? इत्याह–कार्येत्यादि । ततः
२० किं जातम ? इत्याह–स्वपरेत्यादि । तदसंभवं दर्शयन्नाह–यस्मिन् सतीत्यादि । विनष्टात् कारणात तत्संभव इति चेत ; अत्राह–नर (खर)विषाणस्येव इत्यादि । न सति नाप्यसति कारणे तदसंभवः किं तथेति चेत ; अत्राह–न चेत्यादि । गत्यन्तरस्याद्वयस्यापि तर्कतोऽभो (भा)वस्तस्य[३९१ख] देशाद्यपेक्षा[ऽ]योगात । अनन्त[रं] कारणमिति चेत ; अत्राह–ततो नैरन्तर्यमित्यादि । यतः खरविषाणस्येव असतः कथं हेतुत्वम ? ततो नैरन्तर्यमयुक्तत (क्तम ।) [कुतः ?]
२५ इत्यत्राह–कार्येत्यादि । नहि अत्यन्ताऽनन्तरविनष्टयोः कश्चिद्विशेष इति भावः । चिरविनष्टं तु कारणं नित्य[म]विशिष्टमिति न तदनपेक्ष्यते (तदपेक्षा इति) । तत्रासत्करणात (त्कारणम्) । नापि कार्यमिति दर्शयन्नाह–तथा च इत्यादि । [तथा च] तेनैव प्रकारेण अत्यन्तमसतो हेत्ववस्थायामविद्यमानस्य कार्यत्व (त्वं) प्रतिपिद्धम् वेदितव्यम् 'खरविषाणस्येव' इत्यनुवर्त्तते ।

ननु खरविषाणस्य सर्वदाऽसमा (ऽसतो) मा भूत् कार्यत्वम् , घटादेस्तु प्रागभागभाववतः
३० (प्रागभाववतः) स्यादिति चेत् ; अन्योऽन्यसंश्रयः । उत्पन्नस्य, नानुत्पन्नस्य खरविषाणवत् ,

(१) चित्तान्तरवेद्यम् । (२) 'ज्ञानत्वादि' इति निरर्थकम् । (३) 'विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥'–प्र० वा० । (४) संवित्तिरूपत्वात् । (५) अभिन्नस्य । (६) सिद्धे हि कार्यत्वे प्रागभावसिद्धिः, ततश्च कार्यत्वमिति ।

सम्बन्धे वा उत्पत्तिरि [ति ?] न च वस्तुव्यतिरेकेण प्रागभावो नाम (नाम) प्रमाणसिद्धोऽस्ति येन तद्वत[:] कार्यत्वम् । कारणसत्त्वैव प्रागभाव इति चेत् ; न सदेतत् ; यतः कारणस्यैवाऽपरिज्ञानात् । प्रागभावि कारणं न चे (चेत्) तथाविधं सर्व (सर्वं) भवेत् इत्यतिप्रसङ्गः । यैस्यान्वयव्यतिरेकौ कार्यमनुकरोति तत् कारणमिति चेत् ; किमिदम् अन्वयानुकरणम् ? तस्मिन् सति कार्यस्य भवनं चेत् ; अनुवंद्धः प्रसङ्गः-सहोत्पत्तिप्रसङ्गादिति ।

किं वा व्यतिरेकानुविधानम् ? तदभावेऽभवनं चेत् ; कार[ण]स्याभावे एव भवतः कथं तदनुविधानम् ? स्वकाले तस्य भावः , इत्यपि वार्त्तम् ; सर्वस्य तत्काले भावात् । तन्नासतः कार्यत्वम् ।

पर आह-**कथं पुनः** न कथञ्चित् **सतः** उत्पत्तेः प्राग् विद्यमानस्य **कार्यत्वम्** । कुतः ? इत्यत्राह-[३९२ क] **कृतत्वात्** कारणव्यापारात् प्रागेव जनितत्वात् **कारणवदि**ति । १०

नन्वपेक्षितपरव्यापारभावत्वं कृत[क]त्वमुच्यते, कृतकत्वात् कारणव्यापारात् प्रागवि (प्रागपि) सत्त्वाद् इत्यर्थात् , करोतेः क्रियासामान्यवाचित्वात् ।

यदि वा, कृतत्वात् , यद् यत् कार्यत्वं तत '**कथं पुनः सतः**' इति व्याख्येयम् । अथवा **कथं पुनः सतः कार्यत्वं कारणवत्** 'सत्त्वात्' इति गम्यते इत्येवं वाक्यम् ।

ननु नासतो जन्यत्वात् कार्यत्वम् अपि तु सतोऽपि व्यङ्ग्यत्वा[त् घटा]दिवत्तदिति १५ चेत् ; अत्राह-**कृतं (कृतत्वात्) कारणवदि**ति । **कृतत्वात्** 'परिहारस्य' इत्यध्याहारः । सर्वथा यथैव सतो न जन्यत्वं तथा व्यङ्ग्यत्वमपि इति । सो (स्वो) त्तरमाह-**तदेकान्त** इत्यादि । 'अत्यन्तं सतः कार्यत्वम्' **इत्येकान्तः**, तस्याऽनङ्गीकरणाद् **अनुकूलमाचरसि** केनैरपि (जैनैरपि) तस्य कार्यत्वानभ्युपगमादिति भावः । कथञ्चित् सतोऽपि कार्यत्वे दूषणमस्तीति दर्शयन्नाह परः-**यथैव**त्यादि । [**यथैव**] येनैव प्रकारेण **तर्हि** हेत्ववस्थायां **सत्कार्यां** (**यं तथैव**) २० तेनैव प्रकारेण **नोत्पत्ति(त्तु)मर्हति** । कुतः ? **निष्पन्नत्वात्** 'कारणवत्' इति योज्यम् । **यथा च** येन च प्रकारेण **असत् तथा च नोत्पत्तुमर्हति, अत्यन्तमसंभवात् खपुष्पवत्** । **इति** शब्दः पूर्वपक्षसमाप्तौ । तस्योत्तरमाह-**तच्चेदं** तदपि **कृतोत्तरम्** इति । किमुत्तरं कृतम् ? इत्याह-*"**प्रतिक्षणम्**" [सिद्धिवि०] इत्यादि । ततो निराकृतमेवतत् (मेतत्)-*"**अशक्तं सर्वम्**" [प्र० वा० २।४] इति, प्रत्यक्षादिप्रबाधनात् । २५

यदि विज्ञानमन्यद्वा अनेकान्तात्मकमुभयसिद्ध (द्धं) स्यादेवता नैवमे (देवं न चैवम् ए)-कान्तस्य भावादिति चेत् ; अत्राह-**न** इत्यादि । **क्वचिद्** बहिरन्तर्वा **न एकान्तदर्शन (नं)** **यदेकान्तदर्शनमवलम्ब्य** आश्रित्य [३९२] **द्रव्येष्वनेकान्तसिद्धिः उपालभ्येत** । केन कृत्वा ? इत्यत्राह-**संशय** इत्यादि । प्रत्यक्षविषये संशयादेरनवतार इति भावः । एकान्तवदनेकान्तस्यापि तत्कचिद् (न्तस्यापि न कचिद्)र्शनमिति चेत् ; अत्राह-**तदि**त्यादि । **तस्याऽनेका**- ३०

(१) "तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम् । कार्यकारणभावस्य"-प्र० वार्तिकाल० पृ० ६८ । (२) पूर्ववत् दोषः इत्यर्थः । (३) कारणव्यतिरेकानुविधानम् । (४) दूष्येत ।

न्तस्य प्रत्यक्षस्यापह्नवे क न कश्चित् कस्य न कस्यचित् करुणादयः । कुतः ? इत्यत्राह– **स्वपरेत्यादि** । **स्वस्य** निरंशचित्तस्य [**परस्य च सन्तानभेदस्य**] **अनुपलब्धौ** तत्प्रतिबद्ध-लिङ्गदर्शनात् परत्रापि नानुमानम् इति भावः । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**सत्त्वभेदाऽभावादिति** । सत्त्वगुणाधिकादिप्राणिभेदाऽभावात् ।

५ ननु '**स्वपर**' इत्यादिना गतार्थमेतदिति चेत् ; न, तेन तत्सन्तानभेदस्य स्वरूपाभाव उक्तः, [1]अनेन स्वपरचित्तसन्तानभेदे सत्यपि सत्त्वानां भेदस्य गुणाधिक्यादिविशेषस्य प्रमाणा-भावेनाभाव उच्यते । एतदेव दर्शयन्नाह–**सन्तावे (सत्यां च [2])**त्यादि । सत्यामपि **स्वपरासत्त्व (स्वपरसन्तान)व्यवस्थायां** न केवलमसत्यां **कथमयं** सौगतो **यथाविषयं** गो[त्व]गुणाधि-कादिविषयानतिक्रमेण **मैत्रादा (मैत्र्यादीन्) भावयेत्** । किं कुर्वन् ? इत्याह–**अप्रतिपन्न**

१० **कानतः (अप्रतिजानानः) कथञ्चित्** केनापि प्रकारेण । कथं कान् ? इत्याह–**एवमित्यादि** । सुगमम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**परेत्यादि** । परसन्तानस्य(स्या)**प्रत्यक्षत्वे** तद्गुणदोषा न प्रत्यक्षीभवन्तीति भावः । कायवाग्व्यवहारविशेषानुमेयाः स्युरिति चेत् ; अत्राह–**कार्य(काय)** त्यादि । तत एव **प्रमाणाभावादित्युच्यते** इति । न केवलमेव (लम् एवं) न वेत्यन्यगुणदोषान् सङ्कर[व्यतिकर]व्यतिरेकेण कथञ्चिदप्रतियन् कथमयं यथाविषयं मैत्र्यादीन् भावयेत् अपि तु तान-

१५ प्रतिजानानः [३९३क] सुगतमपि कथं जानीयादिति दर्शयन्नाह–'**विप्रलम्भशङ्कानुबन्धात्**' इत्यभिकां कारिकाम् ।

> **[विप्रलम्भशङ्कानुबन्धात्**
> **चेष्टते चेत्यथाकृतं वीतदोषः सदोषवत् ।**
> **पुरुषातिशयो ज्ञातुं यत्नशक्यः किमिष्यते [3] ॥२३॥**

२० **वीतरागादयो विचित्राभिसन्धयः कायवाग्व्यवहारान् मिथ्यापि प्रवर्तयेयुः सदोष-वत् । सरागादिवत् पुरुषातिशयः सन्नपि ज्ञातुं यत्नशक्यः ; यदि पुरुषातिशयापेक्षि शास्त्रं प्रमाणमिष्टं स ज्ञातुं शक्येतेति धर्मकीर्ति वचनं पोप्लूयते । सुगतस्यापि तादृशः संभवात् । हरिहर···]**

विप्रलम्भो वचनं (वञ्चनं) तस्या (तस्य) **शङ्का** तस्या **अनुबन्धात्** कारणात्

(१) 'सत्त्वभेदाभावात्' इत्यनेन । (२) "मैत्र्यद्वेषः करुणा च मुदिता सुमनस्कता । उपेक्षाऽलोभः आकारः सुखिताः बत दुःखिताः । मुदिताः सत्त्वा बत च । मैत्रीभावनाया आकारः सुखितान् सत्त्वान् दृष्ट्वा सुखिताः बत सत्त्वाः, करुणाभावनायाः दुःखिताः बत सत्त्वाः, उपेक्षा माध्यस्थ्यरूपा । मुदितायाः मुदिता बत सत्त्वाः ।"–अभिध० टी० ८।३०। "सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् । माध्यस्थ्य-भावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥"–सामायिकपा० श्लो० १ । (३) तुलना–"तथान्य-गुणदोषेषु संशयैकान्तवादिनाम् । पुरुषातिशयो ज्ञातुं यत्नशक्यः किमिष्यते ॥"–न्यायवि० श्लो० ३८८ । प्रमाणसं० पृ० ११६ । (४)"पुरुषातिशयापेक्षं यथार्थमपरे विदुः । इष्टोऽयमर्थः प्रत्येतुं शक्यः सोऽतिशयो यदि । अयमेवं नवेत्यन्यदोषा निर्दोषतापि वा । दुर्लभत्वात्प्रमाणानां दुर्बोधेत्यपरे विदुः॥"–प्र०वा०१।२२०-२१ ।

पुरुषातिशयः किमिष्यते नेष्टव्य इत्यर्थः । [1]तदतिशयो हि यथार्थदर्शनादिगुणलक्षण इष्यते[ऽ][2]विप्रलम्भार्थः । तदुक्तम्–

*"ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥"

[प्र० वा० १।३२] इति । ५

*"वीतरागा अपि सरागा इव चेष्टन्ते" इति वचनात् [3]ततोऽपि विप्रलम्भाशङ्कानुवृत्तेः किं तेन इति तदनुवृत्तिकारणं दर्शयन्नाह–**चेष्टन्ते** व्याप्रियन्ते वेत्यादि (**चेत्** यदि) [4]**यथाकृतम्**। कः ? इत्याह–**वीतदोषो** वीतरागः । क इव ? इत्याह–**सदोषवद्**िति । दूषणान्तरमाह–**पुरुषातिशयः** सन्नपि **ज्ञातुं यत्नशक्यः किमिष्यते** ?

तदशक्यत्वं दर्शयन्नाह–**चेष्टन्ते चेद**ित्यादि । **वीतराग आदि**र्येषां यथार्थदर्शनादीनां ते १० तथोक्ताः । किंभूतास्ते ? इत्याह–**विचित्राभिसंचयभा (भिसन्धयः ना)**नाभिप्राया यतः । ततो यदि **कायवास्यव (वाग्व्यव)हारान्** मिथ्यापि न केवलं सत्यात(न) **प्रवर्त्तयेयुः** । के इव ? इत्याह–**[स]दोषवद्**िति । दूषणान्तरमाह–**पुरुषातिशयः सन्नपि ज्ञातुं यद्य[शक्यः] सरागादय इवेति** । अत्र दूषणमाह–**पुरुष**ेत्यादि । **पुरुषस्य अतिशयो** यथार्थदर्शनादिरूपः **तस्मिन् पेक्षी (अपेक्षा)** यस्य तत्तथोक्तम् । किम् ? इत्याह–**शास्त्रं प्रमाणमिष्टम**भ्युपगतं **सौगतैर्यदि** १५ **स** यथार्थदर्शनादिलक्षणोऽतिशयो **ज्ञातुं शक्येत** इत्येवं **धर्मकीर्तेर्वचनं पोप्लुतेन (पोप्लूयते)** । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**सुगतस्यापी**त्यादि [३९३ ख] ततः किम् ? इत्याह–**तादृश** इत्यादि । **तादृशः** संभवद (**संभवात्** , अ)सत्याभिधान[स्य] । दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–**हरिहर**ेत्यादि ।

एवं तावत् *"**तायित्वात् प्रमाणो** एवं न (भगवान्) **चतुरार्यसत्याभिधान- लक्षणात् सुगततत्त्व(सुगतत्व)मनुमीयते, ततोऽप्युपायानुष्ठानम्**" इत्यादि व्याख्यानं *"**प्रमाणभूताय**" [प्र० समु० १।१] [6]इत्यादि(दे)निरस्तम् । अधुना *"**जगद्धितैषित्वात् शास्तृत्वम् उपायाभ्यामलक्षणम् अनुमीयते, ततोऽपि सुगतत्वम्**" इति व्याख्यानं[7] निरा- कुर्वन्नाह–**नदेतस्मिन्नेकान्ते** इत्यधिकां **कार्यं वे(चे)**त्यादि कारिकाम् । २०

[नदेतदस्मिन्नकान्ते–
कार्यञ्च नानुमेयं चेत्समग्रादपि कारणात् ।
हेयोपादेयतत्त्वं वा सोपायं केन मीयते ॥२४॥ २५

(१) पुरुषातिशयः । (२) अविसंवादार्थम् । (३) पुरुषातिशयस्वीकारेऽपि । (४) यथाभिप्रायम् । (५) स्वदृष्टमार्गोपदेशकत्वात् । "ततः प्रमाणं तायी वा चतुःसत्यप्रकाशनम्"–प्र० वा० १।१४७ । "तस्माच्चतुरार्यसत्यप्रकाशनमेव तायः, तस्मात् । चतुःसत्योपदेशलक्षणात् कार्यभूतात् तायाद्धि भगवान् सुगत इति ज्ञायते ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १६४ । (६) "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने । प्रमाणसिद्ध्यै स्वमतात् समुच्चयः करिष्यते विप्रसृतादिहैकतः ॥–प्र० समु० १।१ । (७) "उपायाभ्यास एवायं तादर्थ्याच्छासनं मतम्"–प्र० वा०, वार्तिकाल० १।१३९ ।

प्रवृत्तिकामः प्रेक्षावान् मोपायं हेयोपादेयतत्त्वमन्वेषते न व्यसनेन । तच्चानागत-विषयमप्रमाणम् समग्र[कारणत्वे]ऽपि] प्रतिबन्ध[संभवात्] । तदर्थानर्थयोः इदन्तया नेदन्तया वा प्रमातुमशक्यत्वात् कथमर्थं अनर्थं सन्दिग्धे प्रवर्तेत निवर्तेत वा ? स्वयम-योनिशो मनस्कारेऽपि भविष्यति प्रमाणाभावात्, तथा दुःखसन्ततेः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः,
५ **स्यात् रूपादिवत् भूतैककालयोः नियमात् । नावश्यं [कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति]**

तदेतस्मिन्ननेकान्ते सोगतैकान्ते इत्यर्थः । **कार्यं** च न केवलमकार्यम् अपितु कार्य-मपि **नानुमेयं** नानुमानपरिच्छेद्यं **चेद्** यदि । कुतः ? इत्याह–**समग्रादपि** न केवलमसमग्रात् **कारणात्** । [1]नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति प्रतिबन्धवैकल्यसंभवादिति भावः । अत्र दूषण[माह]–**हेयोपादेयतत्त्व**मिति । **हेयः** संसार **उपादेयो** मोक्षः तावेव **तत्त्वं केन** न
१० केनचित् प्रमाणेन **मीयते** । किंभूत(तम्) ? **सोपायं** संसारस्य कारणमविद्यादृष्टे (तृष्णे) मोक्षस्य नैरात्म्यं(त्म्य)दर्शनं **वाशब्दः** अपिशब्दार्थः ।

एतदुक्तं भवति–नातीतः संसारो हेयोऽत्र (ऽनु) भूतत्वा[त्] । नापि वर्त्तमानः ; नुय-मानत्वात् (अनुभूयमानत्वात्) । भावी तु हेयः स्यात् । स च [न] प्रत्यक्षतोऽनुमीयते, तत्र तदप्रवृत्तेः, अन्यथा [2]चार्वाक त(कमत)मखिलं जगत् स्यात् । अथ प्रत्यक्षेऽपि तद्विपर्यय-
१५ समारोपाददोषोऽयम्; नैवम् ; सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तेः । शक्यं हि वक्तुं सर्वस्य सर्व-दर्शित्वेऽपि तद्विपर्ययारोपान्नथा (न्न तथा) व्यवहार इति ।

ननु यदि न भावी [३९४क] संसारः प्रत्यक्ष [: ;] कथं भाविनि प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तं[3] प्र ज्ञा क े ण ? तत उत्पत्तेरिति चेत् ; तदितरत्र समानम् । न हि परस्माद् अन्यं चिन्त्यन्त (चित्तं न) जायते अतद्रूपं वा, अन्यथा किञ्चिदपि भाविनो न भवेत् । लोकस्य तथा व्यवहारा-
२० भावात् ततस्तन्नेति चेत्; अत एव न प्राप्यादृश्ययुक्तिः (?) अन्यत्रापि विजृम्भितैव ।

स्यान्मतम्–नान्य[त्] प्रत्यक्षं भाविनि संसारे प्रमाणं दृश्यैकत्वाव्य(ध्य)वसाया-भावात्, प्राप्ये तु प्रमाण(णं) [5]विपर्ययात् । तत्र तदव्य(ध्य)वसायस्य किन्निमित्तम् ? हेतुफलभाव इति चेत् ; प्रकृतेऽपि समानम् । 'वासना' इत्यपि नोत्तरम्; अन्यत्र समत्वात्, कथमन्यथा सत्त्वदृष्टिः ? भवतु तर्हि तत्र संसारे तत्प्रमाणमिति चेत् ; उक्तमत्र ।

२५ किञ्च, पित्रादिचेतसोऽपि भावनि (भाविनि) प्रत्यक्षत्वम्, स्पर्शादिवद् एकत्वव्यवसाय-निमित्तस्य ऐक्यसामग्र्यधीनत्वस्याऽविशेषात् । तन्न हेयः संसारः प्रत्यक्षतो नीयते[10] । नाप्यनु-मानतः; तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात् । तेयं(?) चायतनं लिङ्गम् इति चेत् ; तथा हि–शरीर तृ कं (?)

(१) तुलना–"नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति प्रतिबन्धवैकल्यसंभवात्"–हेतु बि० टी० पृ० २१० । (२) मन्त्रादिना । (३) भाविनि । (४) प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः । (५) प्रत्यक्षमात्रप्रमाणकं स्यादि-ति भावः । (६) न चार्वाकमतप्रसङ्गो दोष इति चेत् ; (७) "ततो भाव्यर्थविषयं विषयान्तरगोचरम् । प्रमाणमध्यारोपेण व्यवहारावबोधकृत् ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५ । (८) एकत्वाध्यवसायसद्भावात् । (९) प्राप्ये । (१०) ज्ञायते इत्यर्थः ।

चित्तं मध्यावस्थायामनु सन्धान (नुसन्धान) कारणमुपलब्धम्, उपलभ्यते तदन्त्यावस्थायाम-विकल (लम्) । न वा (चाऽ) विकले कारणे कार्यानुदयः, असत्कार्यप्रसङ्गात् इति; तन्न; यतः—

कारणात् कार्यसंवित्तिः तथा सति भवेदियम् ।

[1]नियमो लिङ्गसंख्यायाः कथं (कार्यं) व्रजति ते यया ॥

स्यान्मतम्—नान्त्याद्विग्रहसतृष्णा (ष्ण) चेतसो भाव्यनुसन्ध्य (सन्धा) नमनुमीयते, किन्तु ५ तस्यैव [2]तज्जननसामर्थ्यं स्वभावभूतम्, तावन्मात्रनिबन्धनत्वात्तदनुसन्धानस्य, ततः स्वभाव-हेतुरिति । तदुक्तम् [३९४ख]—

*"हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते ।

अर्थान्तरानपेक्षत्वात् सः स्वभावोऽनुवर्णितः ॥"

[प्र० वा० ३।१०] इति; १०

तदप्यसारम्; यतः ततः कार्यानुमाने को दोषः ? व्यभिचारश्चेत्; किं पुनर्योग्यतायाम-व्यभिचारः ? तथा चेत्; कार्येऽप्यस्तु । योग्यस्यावश्यंभाविकार्यत्वात् । न योग्यताप्य नियम (तापि नियमव) त्यनुमीयते अपि तु संभवः, तथाहि—अन्त्यं शरीरम् (सशरीर) तृष्णं वित्त (चित्तं) प्रतिबन्धवैकल्याऽसंभवे वि[व]क्षितकार्ये योग्यं तत्त्वात् पूर्ववदिति चेत्; अत्रेदं चिन्त्यते—तच्चेतसोऽनु सत्वाने (अन्त्यचेतसस्तदनुमानम्,) प्रतिबन्धासंभवि वा ? प्रथमपक्षे कारणात् १५ कार्यानुमानमदूषितं स्यात् ।

द्वितीये परलोकस्य प्रतिपत्तिर्न निश्चिता ।

प्रेक्षावतस्तथा च स्यात्तदभ्युपगमः [3] कथम् ॥

अभ्युपाये तथाप्यत्र मानचिन्ता वृथा भवेत् ।

अन्यत्रापि वि (हि) मानस्य सिद्धौ मानं करोतु किम् ॥ २०

संभवानुमितिर्मानं यदि नेति तयात्र किम् ।

संभवानुमितिर्मानं यदि किन्न विबन्धकम् ॥

सन्दिग्धविपदां (यं) ज्ञानं मानं चेति विरूकम्[4] ।

स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानं मानं भवेत्तथा ॥

कादाचित्की यतोऽर्थस्य प्रमिस्तत्रापि विद्यते । २५

अनिश्चितार्था मतिर्मानमतिसूक्तं च किमुतां (क्तं किमुच्यताम्) ॥

अथ गत्यन्तराभावा[न्] संभवानुमितिर्मता ।

कार्ये तत्रोत्तरं पूर्वमुक्तं न पुनरुच्यते ॥

विविधं ते यथा कार्यं कारणाव्यभिचारि ते ।

कारणं तद्वदेव स्यात् कार्यकावा (र्यस्याव्य) भिचारि मे ॥ इति । ३०

ननु तच्चेतसि न प्रतिबन्धवैकल्यसम्भ[वः, त]थापि स्वभावहेतोरेव तत्र गमकत्वे

(१) स्वभावकार्यानुपलब्धिभेदेन त्रित्वनियमः । (२) तज्जननसामर्थ्यमात्र । (३) परलोक-स्वीकारः । (४) असङ्गतम् ।

किं कारण[३९५क]कल्पनयेति चेत; कारणस्य गमकत्वे किं स्वभावहेतुना इति समानम? किंवा (किञ्च),

प्रोक्तं हेतुपरीक्षायामुत्तरं ह्यत्र सुन्दरम् ।
एक एव स्वभावः स्याद्धेतुस्तस्माद्विचारणात् ॥

५ अपर आह–तच्चित्तं भाव्यम(व्यनु)सन्धानकार्य (र्यं) तदव्यभिचारात् अर्थान्तरत्वे सति, भावि च कारणम्, कथमन्यथा अरिष्टादेर्मरणानुमानम्, ततोऽन(ऽनु)सन्धाने (नं) कार्य(र्यं)हेतुरिति; स न युक्तकारी; यतः पूर्वजन्मान्त्यचित्तानुमानाभावः स्यात्, तच्चित्तस्य आगामिकं चित्तं कारणम् अर्थान्तरत्व (त्वे) सत्यव्यभिचारात्, अन्यथा कथं भावि कारणम्? कारणत्वेनाभ्यभिमतस्यापि भाविनः तस्मा (तस्या)पेक्षया ऐहिकत्वात् ।

१० किं च, अ[ना]द्यनन्तसंसारवादिनः सौगतस्य न भावी भवः, तदतीतकर्मविप्रतिपत्तिवादिशून्य (?) ततस्तं प्रति कथमतीतजन्मानुमान (नं) कारणात् कार्यानुमितिप्राप्तेः । अथ तज्जन्म तद्वाच्य(च्य)मेततः कारणमिष्यते, नान्त्यचेतसो भाविभवानुमानं कारणात् कार्यप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । अन्योऽन्यहेतुत्वेऽप्युक्तम्–अन्योऽन्यसंश्रयान्नैकस्यापि सिद्धिरिति । तन्न परस्य हेयतत्त्वप्रतिपत्तिः । एतेन उपादेयमोक्षतत्त्वप्रतिपत्तिर्नास्ति इति दर्शितम्, उपायाभावात् ।

१५ तदप्रतिपत्तौ च कथं मोक्षार्थी तदुपाये प्रवर्त्तेत ?

ननु किमुच्यते उपायाभावादिति, यावता किल नैरात्म्याद(त्म्या)भ्यासः तदुपायः । तथाहि– यो यत्कारणमविकलमनुतिष्ठति स तत्फललाभी दृष्टः, यथाऽन्यथो रूप स साकारण (यथा रोगी व्याध्युपशमकारण)मविकलमनुतिष्ठन् [३९५ख] तदुपशमफललाभी, अनुतिष्ठति च कश्चित् मोक्षकारणमविकलं नैरात्म्यदर्शनाभ्यासमिति चेत्; उच्यते–युक्तमेतद् यद्यवि

२० (यद्यवि)कलकारणाद्वश्यं (णादवश्यं कार्य) [प्र]सवः । तथाभ्युपगमे नैतः कार्यानुमानं केन वार्येत ? कार्यादर्शने तदपि ज्ञातुं न शक्यते, तद्दर्शने किं तत्रानुमानेन इति चेत् ? तर्हि मोक्षकार्यानुमानं न [न स्यात् तद]दर्शने जगति कस्यचित्तदविकलकारणानुष्ठानस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्, सर्वत्र प्रतिबन्धवैकल्याशङ्काऽनिवृत्तेः । तद्दर्शनात्तत्प्रतीतिरिति चेत्; न; तद्दर्शनाभावात् । चतुरार्यसत्योपदेशात्तत्प्रतीतिश्चेत्; सिद्धमाप्तोपदेशादागमप्रमाण्यम् । इदं

२५ त्वसिद्धम्–*"वीतरागा अपि सरागा इव चेष्टन्ते" इत्यादि । ततस्तत्सिद्ध (द्धि)मभ्युपगच्छतो न तदुपदेशात्तत्प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्येति न तदुपायानुष्ठानम् ।

किंच, [क]थं कारणादर्शने कार्यप्रतीतिः, यतः ततस्तदनुमीयेत ? पूर्वदृष्टकार्यसाधर्म्यादिति चेत्; पूर्वदृष्टकारणसाधर्म्यात् कारणप्रतीतिरपि तथास्तु ।

अथ मतम्–अन्त्यकारणदर्शनात् पूर्वतत्स्मरण (णं) तथाप्रतीति (ते) र्नेतरथा, तथा सति

३० तत्स्मरणकाल एव कार्य (र्यं) प्रत्यक्षीभवतीति किमनुमानेन इति; तदसत्यम्; कार्यात् पूर्वकाल-

(१) भाविकारणवादी प्रज्ञाकरः । (२) भाविमरणकार्यभूतात् । (३) मोक्षाप्रतिपत्तौ च । (४) मोक्षोपायः । (५) कार्योत्पत्तिः । (६) कारणात् । (७) अविकलकारणत्वम् । (८) आप्तोपदेशात् । (९) मोक्षप्रतीतिः ।

भावि वा कारणमपि तथा प्रत्यक्षं किन्न स्यात् ? [1]खलविलान्तर्गतमन्यथापि[2] दृश्यते इति चेत् ; कार्यमपि तथा दृश्यत एव । तथाहि–शब्दादेर्दृश्यस्य सतोऽनन्तरभाव्यपि [३९६ क] कार्यं नावश्यं दृश्यम् , [3]तदभावेऽप्युक्तम् । यस्य तु व्यवहितमपि कारणम् तं प्रति सुपरिहारमिदम् ।

किंच, यथा दृष्टान्तस्मरणाभावेऽपि कार्यादेर्गमकत्वं तथा यदि कारणस्यापि, अनर्थकत (कं)चोद्यम् । अथ[त]दपि नेष्यते ; तर्हि निरवकाशमिदम्–*"तद्भावहेतुभावौ हि" [प्र० वा० ३।२६] [4]इत्यादि । अथ तथापि न कारणस्य गमकत्वम् ; न ; उपादेयतत्त्वाप्रतीतेः । एतेन उपायप्रतीतिरपि चिन्तिता, कार्याऽपरिज्ञाने कारणापरिज्ञानात् । ५

कारिकां विवृण्वन्नाह–**प्रवृत्ती**त्यादि । **प्रवृत्तिकामः** । कः ? इत्याह–**प्रेक्षावान्** । किं कुरुते ? इत्याह–**अन्वेषते** । किम् ? इत्याह–**हेयोपादेयतत्त्वम्** । किंभूत[म् ?] इत्याह–**सोपायं** सकारणम् । न प्रवृत्तिकामतदन्वेषते (कामस्तदन्वेषते) अपि तु व्यसनेन इति चेत् ; १० अत्राह–**न व्यसनेन,** अप्रेक्षावत्ताप्रसङ्गादिति मन्यते । भवत्वेवं को दोष इति चेत् ? अत्राह–**नच** (तच्च) इत्यादि । **तच्च** हेयोपादेयतत्त्वम् । किंभूतम् ? इत्याह–**अनागतविषयं** भाविकाल-योगम् (योग्यम्) **अप्रमाणम्** अविद्यमानप्रमाणं भाविनि प्रमाणाभावादिति । एतदपि कुतः ? इत्याह–**समग्रे**त्यादि । एतदपि कुतः ? इत्याह–**प्रतिबन्धे**त्यादि । ततः किं जातं परस्यं इत्याह–**तदर्थे**त्यादि । **तत्** तस्मात् उक्तान्न्यायात् **अर्थो** मोक्षः तत्कारणं च **अनर्थः** संसारः तत्कारणं १५ च तयोः **इदंतया** [अर्थतया **नेदंतया** अ]नर्थतया **वा प्रमातुमशक्यत्वात्** कारणात **कथ-मर्थे** मोक्षादौ **प्रवर्त्तेत परः** । किंभूते । इत्याह–**सन्दिग्ध**(ग्धे)तिवर्त्तेतया (**निवर्तेत वा अ-**) **नर्थे** संसारादौ **सन्दिग्धे** सति [5]**तस्मादिदमपेक्षम्**(क्ष्यम्) ।

स्यान्मतम्–अर्थो मोक्षः साकान्तद्धेतु (स [6]कामं तद्धेतुश्च) अतीन्द्रियत्वादस्तु [३९६ ख] सन्दिग्धः, अनर्थः पुनः संसारः तत्कारण व विपर्ययावत (–णं च विपर्ययात्) कुतः सन्दिग्ध २० इति चेत ? अत्राह–**स्वेय(स्वय)मयोनिसा(शो)मनस्कारेऽपि** इत्यादि । अ(यम)भिप्रायः–न खलु संसारः कण्टकवद् उद्धर्तुं शक्यः सति कारणे पुनः प्रवृत्तेः, अपि तु कारणक्षयेण । तच्च कारणमतीतं जातत्वानुशक्यं मासंतेतु (जातत्वान्न शक्यमपनेतुम्) । नापि वर्त्तमानम् ; जाये-मातत्वात् । (जायमानत्वात्) । भविष्यदेव तु प्रतिरुद्ध्यते, तदन्मयि ([7]तदन्य)विरुद्धाचरणेन । न च तत्र प्रमाणमिति । **स्वयम्** आत्मना **प्रमाणाभावात्** । क ? इत्याह–[8]**अयोनिसो(शो)** २५ **मनस्कारेऽपि** योनिम्–आर्यसत्यवत्म(वर्त्म)रूपं न (–पं तस्मिन्नसति) यो मनस्कारः तस्मिन्न-मिन् (न्नपि न)केवलम् अन्यस्मिन् **भविष्यति** तृष्णाविद्याचेतसि इत्यर्थः । किंभूते ? इत्याह–**भविष्यति** भाविभवभाविनि इत्यर्थः । **तथा दुःखसन्ततेः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः प्रमाणाभावात्**

---

(१) खलविलान्तर्गतं बीजाख्यं कारणम् । (२) अङ्कुरानुत्पादकमपि । (३) शब्दस्य कार्यानुत्पाद-कत्वे अनर्थक्रियाकारित्वेन अवस्तुत्वं स्यात् इति भावः । (४) 'दृष्टान्ते तदवेदिनः । ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ।' इति शेषः । (५) बौद्धस्य । (६) 'अनर्थे' इत्यस्य पञ्चम्यन्तं 'अनर्थात्' इतिरूपमपेक्ष्यम् । (७) यथेच्छम् । (८) इन्द्रियग्राह्यत्वात् । (९) तत्प्रतिपक्षभूतचारित्रेण । (१०) "अयोन्या अन्यायेन क्लेशयोगेन च प्रवृत्तो मनस्कारः ।"–अभिध० को० टी० ४।९४ ।

भविष्यत्योरिति वचनपरिणामेन सम्बन्धः कार्यः । संसारकारणे संसारे तदभावे व (च) भाविनि प्रमाणाभावादिति भावः । कुत एतत ? इत्यत्राह–**रसादित्यादि** । **भूतश्च एककालश्च तयोर्नियमात्** 'प्रमाणस्य' इत्यध्याहारः । परप्रसिद्धं निदर्शनमाह–**रसाद्** इत्यादि ।

ननु इदयादः रूपान प्राग्ये भाविनि रूपादौ रेण (परेण) प्रमाणमिष्यते एव, तत्कथं निदर्श-
५ नमिति चेत ? उक्तमत्र । किंच, कथमस्मिन् दर्शने भूतैककालस्य रूपादेः कुतश्चिद्ग (द्र) तिः, अप्रतिबन्धात् (न) यत इदं सुभाषितम्–*"**भूतैककालानां गतिः**" इत्यादि । यदतीतं कारणं तदपेक्षमिदमिति चेत , [३९७क] यदि तत्र कस्यचित प्रवृत्तिविषयः किं तेन ? तं वि (नहि) पयइनेन ; न भाविन (भूतेन) भाव्यम । अथ भावि भूतं चैककार्यमिष्यते ; न ; भिन्नजात्या (काल्या) नाम एकत्र सहकारित्वाभावात , तथा [ऽ] व्यवहारात चरमक्षणाभावश्चेति
१० यत्किञ्चिदेतत । यदि मतं भविष्यतोऽपि कारणं (णात) गतिरिति चेत ; तत्राह–**नावश्यमि**त्यादि । भवतां तर्हि कथं नेदं चोद्यम ? इत्याह–**एकलक्षणे**त्यादि ।

कुत एतत ? इत्यत्राह–**यन्नोपपद्यत** इत्यादि ।

[यन्नोपपद्यते यस्मिन्नेष्यति चानुदेष्यति ।
तल्लिङ्गं लोकतः सिद्धमविनाभावैकलक्षणात् ॥२९॥

१५ **कर्मफलसम्बन्धतत्कारणादिकं प्रशस्तपण्डितवेदनीयम् अरिष्टं तथा लक्षणं कृतम् , यथा अहं मरिष्यामि, प्रकृतजनमस्तके भृङ्गं नोदेष्यतीति च, अत्रापि संशीतिरवतरति। प्रवृत्तोऽयं व्यवहारः इतरथा दृष्टेऽपि कुतश्चिदाशङ्कायां न कस्यचित् प्रवृत्तिः स्यात् ।]**

यत्पुनः (**यत्** पुनः) कारणस्य अन्यस्य वा रूपं **नोपपद्यते** न घटते **यस्मिन्** कार्या-
२० भिमते अन्यस्मिन् वा शकटादौ[2] । कस्मिन् ? इत्याह–**एष्यति** भविष्यति । किंभूते तस्मिन्नोपपद्यते ? इत्याह–**अनुदेष्यति** अनुत्पत्स्यमाने । **च** शब्दोऽवधारणे । **तद्**रूपं **लिङ्गं सिद्धम्** । कुतः ? इत्याह– **लोकत** इति । तदपि कुतः ? इत्याह–**अविनाभावे**त्यादि ।

कारिकार्थे 'न केवलं परस्य हेयोपादेयतत्त्वे सोपाये संशीतिरपि तु लोकव्यवहारेऽपि' इति दर्शयन्नाह–**कर्म** च **फलं** च तयोः **सम्बन्धश्च** ते **आद्यो** यस्य तत्तथोक्तं तत्कारणादि-
२५ कम । किंभूतम् ? इत्याह– [**प्रशस्त**] **पण्डिते**त्यादि । **प्रशस्तपण्डितवेदनीय(यं)**तत्किम् ? इत्याह–**अस्तं विष्टं(अरिष्टं)** नु (न तु) मनुष्येणापण्डितरूपेण, **तथा लक्षण(णं)**रूपं **कृतं** निश्चितं **यथा** येन निश्चितलक्षणप्रकारेण**ाहं मरिष्यामि**, अनेन भाविनि मरणेऽरिष्टादेरकार्यस्वभावस्यापि गमकत्वमाह **व्याजनमत (प्रकृतजन)मस्तके भृङ्गं नोदेष्यति इति च** तेन लक्षणं कृतम् , अनेन च स्वभावानुपलब्ध्यादेरपि भविष्यति[6] शृङ्गोदयाभावे[7], परस्य **अत्रापि** न
३० केवलं परलोकादौ **संशीतिरवतरति** ।

(१) द्विवचन । (२) "अतीतैककालानां च गतिर्नानागतानाम्"–प्र० वा० स्व० पृ० ४९ । (३) कृत्तिकोदयस्य हेतोः । (४) शकटोदयादौ साध्ये । (५) दर्शयन् कारिकार्थमाह इति अन्वयः । (६) भाविनि । (७) 'गमकत्वमाह' इति सम्बन्धः ।

स्यान्मतम्–कस्य [३९७ ख]चिद्रसायनादेः सेनावनाभो (सेवनतः) देवतानुग्रहाद्वा तस्य मरणं न भविष्यति शृङ्गं ये(वो)देष्यतीति संभावना यदा तदा संशीति[रिति] चेत ; अत्राह–प्रवृत्त्ये[त्तोऽ]यमित्यादि । विशिष्टाऽरिष्टदर्शने मरणं नदि (भवि)ष्यति न तत्र कुत-श्चिन प्रतिबन्धः संभवति इत्ययं व्यवहारः प्रसिद्धः, अन्यथा सर्वत्राऽनुमानविलोपः । तथा प्रा (प्र)कृतपुरुषमस्तके शृङ्ग(ङ्गं) न भविष्यती व (तीति च) प्रवृत्तोऽयं व्यवहारः, इतरथा ५ दृष्टे उदनावपि (ओदनादावपि) कुतश्चित् कण्टकादु(दु)देष्यतीत्याशङ्कायां न कस्यचित् प्रवृत्तिः स्यात् नेदानीं प्रवर्त्त्येत इति ।

ननु प्रतिभासाद्वैतस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धस्य भावान्न हेयोपादेयतत्त्वं तदुपायो वा, नापि तत्र संशीतिः निर्णीतिर्वा ततोऽयमदोष इति चेत ; अत्राह–प्रत्यक्षेत्यादि ।

[प्रत्यक्षैकान्तचित्तानां कोपादेयेतरस्थितिः । १०
संविदां विभ्रमः सिध्येत् स्याद्वादेन विना कथम् ॥२६॥

कथञ्चित् संविदां विभ्रमेऽपि आत्मसंवेदनं प्रत्यक्षमभ्रान्तमिच्छन् स्याद्वादमनु-वर्तेत । सर्वथा मोक्षः संसारं नातिशेते । कथञ्च तद्भावनापरिनिष्पत्तौ दुःखसंवेदनं परिस्फुटमुपादेयम्? सर्वथा विभ्रमविवेकनिर्मलत्वे न किञ्चित् क्वचिदिदमपरिस्फुटं ज्ञानं यत् परिस्फुटं स्यात् । न च रागादिक्लेशनिवृत्तिः दुःखसंवेदनस्य स्फुटतैव काम···] १५

एकोऽन्तो धर्मो यस्य तच्च तच्चिजन्नं (तच्चित्तं) च निरंशचित्तमित्यर्थः । प्रत्यक्षं स्वसंवेदनवेद्यम् एकान्तचित्तं येषां सौगतानां तेषां कोपादेयेतरस्थितिः? उपादेयः प्रतिभासाद्वैतलक्षणो मोक्षः तस्य परेण मोक्षत्वोपगमात् , तदुक्तम्–

*"यद्यद्वैतेन तोपोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वथा ।"

[प्र० वार्तिकाल० पृ० ५७] इति । २०

इतरो हेयो भेदः तयोः स्थितिर्व्यवस्था का? न काचित् , तन्निबन्धनप्रमाणाभावात् । न हि निरंशचित्तम् अन्यद्वा अनुभूयते, स्थूलनीलादिवेदनात् , यद् (यत)स्तदुपादेयम् । नात्रि (नापि) भेदबाधक(कं) येन स हेयः प्रथ(थे)त । देवान्वयं (नन्वयं) भ्रान्त्या तथा न भासते; तत्राह–विभ्रम इत्यादि । विभ्रमो भ्रान्तिः स्थूलादिप्रतिभासरूपः संविदाम् ऐक्त्यावार्थं (ऐक्याभावार्थं) बहुवचनम् , सिध्येत् स्याद्वादेन विना कथं सर्वथा विभ्रमे [३९८क] २५ तदयोगात् । नहि विभ्रमादेव विभ्रमसिद्धिः बहिरर्थवत् कथञ्चिदेकान्तसिद्धिः ।

कारिका(कां) व्याख्यातुमाह–कथञ्चिदित्यादि । कथञ्चित् स्थूलग्राह्याकारेण न स्व-संवेदन(ना)कारेण विभ्रमेऽप्यङ्गीक्रियमाणे संविदां न केवल[म]विभ्रमे स्याद्वादमतीष्ट-(मनिष्ट)मनुवर्त्तित(वर्तेत) । कः ? इत्यत्राह–आत्मसंवेदनं प्रत्यक्षमभ्रान्तम् इच्छेत् (इच्छन्) सौगतः इत्यर्थः । ततः स्वसंवेदनपरिहारेण स्थूलाकार एव विभ्रममभ्युपगच्छन्त ३० (च्छन्) सत् (तत)संख्यादिकं निराकरोति इति कथं स्वस्थः ?

---

(१) प्रतिभासाद्वैतवादी प्राह । (२) अनुभूयते । (३) भेदः ।

ननु मिरंसमेव सु(सं)विदां स्वरूपमाभाति न क (त)दाकार इति चेत् ; अत्राह–**मवंथेत्यादि । मोक्षः संसारं नातिशेते** मोक्षसंसारयोरविशेष इति यावत् । *"**ग्राह्यं न तस्य**" इत्यादिवचनात् आत्मसंवेदन (ने) नैकान्तिकं मोक्षः, तच्च संसारेऽविशिष्टमिति भावः ।

अन्येषां दर्शन(नम्–) न संसारो नामास्ति अनुनु (?) कल्पनायाम् इति; तेषां ५ चित्रैकसंवेदने तदने (?) तदप्रतिषेधः, इतरथा सकलशून्यतेति न मोक्षो नाम इत्युक्तम् । अस्मिन् दर्शने परमपि दोषं परस्य दर्शयन्नाह–**कथं** च इत्यादि । च शब्दो दूषणान्तरद (रं दत्त)मिति प्रदर्शने । **कथमुपादेयं** न कथञ्चित । किम् ? इत्याह–**दुःखसंवेदनं दुःखं** संसारिणः स्कन्धाः, तेषां **संवेदनं** ग्रहणम् । किंभूतम् ? **परिस्फुटं** विशदम् । किन्निमित्तम् ? इत्याह–**तद्भावनापरिनिष्पत्तौ** दुःखभावनासमाप्तिनिमित्तम् , निमित्तलक्षणेयं सप्तमी । कथन्नोपादेयमिति चेत् ? १० उच्यते–**सर्वथा विभ्रमविवेकनिर्मलत्वं** (त्वे) सर्वचेतसां **न** [३९८ख] **किञ्चित् क्वचिदिदं** (दम्)**परिस्फुटं ज्ञानं यद्** भावनापरिनिष्पत्तौ **परिस्फुटं स्यात्** । न चात्मसंवेदनैकान्ते दुःखसंवेदनं नामेति । यतः तदुपादेयत्वा[न] चित्तमेव परिस्फुटं भावतः स्यात् , नैव भवेत् ।

[स्या]न्मतम्–रागादि(दि)क्लेशविनिर्मुक्तिः भवान्तः, सा च दुःखसंवेदनस्फुटतेति वे (चेत् ; इ)त्याह–**न** चेत्यादि । **न च** नैव **रागादिक्लेशनिवृत्तिः स्फुटतैव दुःखसंवेदनस्य ।** १५ अत्र निदर्शनमाह–**कामे (काम)** त्यादि । अत्र स्पष्टतायामपि विभ्रमक्लेशभावादिति भावः ।

ननु कामशोकादिषु स्विष्ट (स्पष्ट)ता विकल्पे(ल्प)मात्रभावना[तः] उद्भवति (न्ती) भ्रान्ता युक्ता, न दुःखसंवेदनस्य स्पष्टता[3] अर्थसम्बन्धानुमानमूलत्वादिति वेश (चेत् ; अ)नुमानाभ्यासे तद्विषये एव सामान्ये स्पष्टता न स्वलक्षण इत्यनिवृत्तेः । नहि चित्राभ्यासे धनुषि कर्मणः स्पष्टाद् (स्पष्टता; इत्याह–) आस्रवसंवरनिर्जरादिषु **श्रुतं प्रमाणं स्यात्कार-** २० **लाञ्छनमविसंवादि ।**

[प्रमाणमविसंवादि श्रुतं स्यात्कारलाञ्छनम् ।
ज्योतिर्ज्ञानादिचिन्तासुखदुःखाद्यदृष्टवत् ॥२७॥

सर्वथैकान्तविश्लेषात् सम्यग्दर्शनादिना सकलकर्मक्षयेण प्रतिलब्धात्मस्वभाव एव कैवल्यं भविष्यतीति सुनिश्चितं नश्चेतः । न हि तदभावे प्रमाणमस्ति । भावे किम् ? २५ अनुपदेशमलिङ्गमविसंवादं श्रुतज्ञानं मूम इति । तत्प्रत्यनीकसाधनस्य स्याद्वादेन निराकृतत्वात् । स्वयं बहिरन्तश्च अर्वाग्भागमध्यपरभागादिविवर्तकद्रव्यं दृश्याद्येकरूपं व्यावहारिकमलक्षयन् ज्योतिर्ज्ञानादिकमपरोपदेशं कथं प्रतिपद्येत ? न चैकान्तवादिनामत्र प्रमाणमस्ति । श्रुतेरतद्विषयत्वात् ।]

स्यान्मतम्–अविसंवादस्तत्र प्रमाणान्तरवृत्तिः, न च सा जीवादावस्ति इति; तन्न युक्तम् ;

(१) 'तदने' इति व्यर्थम् । (२)"दुःखं संसारिणः स्कन्धाः"–प्र० वा० १।१४९ । रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराख्याः पञ्च स्कन्धाः । (३) भ्रान्ता । (४) अत्र पाठस्त्रुटितो भाति । (५) प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः ।

स्वात्मनि प्रत्यक्षस्य अपरत्रानुमानस्य तदनाशनन्ततयोश्च प्रमाणान्तरस्य वृत्तेरुक्तत्वात् । कर्मबन्धे[2] च, तथा नि (तथा हि–) स्वभावशुद्धस्य आत्मनः शरीरे अशुचिनि सरावस्थानं (सदावस्थानं) तस्य तत्र स्थापकतत्संदंध (त्सम्बद्ध) पुद्गलविशेषपूर्वकं तत्त्वात् गाढनिगडनिबद्धस्य सावोवि (साधोरिव) । कारागारे अन्यनस्तत्र तस्य प्रवेशो वा तत्पूर्वकः तत एव, मत्रस्याश्च वि (मत्तस्य अशुचि)-पूर्णगर्त्तप्रवेशवत् । व्याप्तिज्ञानं वा साधारणं (सावरणं) स्वविषये[ऽ]स्पष्टत्वार (त्) [३९९ख] ५ रजोती (नी) हाराद्यन्तरिततर्व्यापि (तर्वादि) ज्ञानवत् । मिथ्यादृशाम् अनेकान्ते नित्याद्येकान्तज्ञानम् आवरणवत् अतस्मिंस्तद्ग्रहात्मकत्वात्[3] मदिराद्युपयोगिनः स्थिरभूते भ्रमणानुभववत् । वासनादिनिषेधात् । तथा आस्रवे[4]; तद्यथा–चेतनस्य जीवस्य सतोऽभिरतिसहितं शरीरादिष्ववस्थानं तदभिलाषाद्युपात्तपुद्गलविशेषपूर्वग (कं) तत्त्वात् अङ्गनाङ्गाभिरत्यभिलाषोत्पत्तौ (त्यत्युपयुक्तौ) पथविशेपस्य कामुकस्य तदङ्गस्था[न]वत । तदभिलापो वा तदवस्थाननिमित्तम् आत्मनि १० पुद्गलमवस्थापयति योषिदङ्गाभिव (भिर) त्यभिलाषवदिति । एवमन्यत्रापि वक्तव्यम् । तदुक्तमत्रैव–*"शुभाशुभैर्यथाम्य (स्व)मास्रवैः स्वैः" [सिद्धिवि० ४।९] इत्यादि ।

ननु कस्यचित् तदौपधाभावेऽपि तदङ्गे तथावस्थानं दृष्टमिति चेत् ; न ; तस्यापि पक्षीकृतत्वात् न तेन व्यभिचारः । तदपि तथाविधकारणपूर्वकम् , अन्यथा सर्वस्य सर्वत्राङ्गनाङ्गे तत्स्थानं भवेत् । न चैवम् , स्वाङ्गनायामपि कस्यचिद् वैमुख्यदर्शनात् । नु (न तु) रूपाद्योऽपि[5] १५ व्यभिचारो नोत्तरं (चारात् । अतः) तस्यां तत्रापि तथाविधं किञ्चित् कारणमिति ।

स्यान्मत (तम्–) तदभिलाप[:] स्वस्य अत्र तु तदवस्थाननिमित्तं पुद्गल (लं) कारणम् , नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति । नहि अङ्गनाद्दे (नाङ्गे) तदभिलापः सर्वोऽपि तदवस्थाननिमित्तं योगमात्मसात्करोति इति; तन्न सारम् ; उक्तत्वात्–*"कार्यं च नानुमेयं च" [सिद्धिवि० ७।२४] इत्यादि । २०

किञ्च,

> स्वभावानुपलब्धिपश्व (श्च) व्यवहारे कथं [भवेत्] ।
> लिङ्गं सं (सत्) योग्यताया च (श्च) व्याभिचारो न किं स्वतः ॥
> उपलभ्यानुपम्भवत् (श्चेत्) केवलस्तस्य कारणम् ।
> विषयामिपलो (याभिलाषः) कोऽपि भवबीजस्य कारणम् ॥ २५
> [३९९ ख] क्वचित् दृष्टस्य तस्यास्तु विपरीते परत्र तु ।
> प्रकृतेर्व्यौपधितस्य (तेऽप्यौपधेस्तस्य) केवलस्यैव हेतुता ॥

ननु तदभिलाषो यावद् अन्यस्य कर्मण[:] कारणं तावन्न तदवस्थानस्यैव इति चेत् ; न ; तस्मिंश्चिरविनष्टे कार्यानुदयप्रसङ्गात् । एतेन योगादेः कर्मत्वं निषिद्धम् । प्रयत्नसधर्मा आत्मविशेषगुणं[:] तत्साध्यः कर्म इति चेत् ; न ; प्रयत्नवत् पुद्गलविशेपसम्बन्धेऽपि देवदत्तं ३० प्रति योषिदाद्युपसर्पणदृष्टेः तत्सधर्मताऽसिद्धेः ।

---

(१) सन्तानान्तरे । (२) अनुमानप्रमाणस्य प्रवृत्तिः । (३) विपरीतत्वादित्यर्थः । (४) प्रमाणान्तरस्य प्रवृत्तिः । (५) अङ्गनाद्यभिलाषः । (६) ग्रन्थे चतुर्थपरिच्छेदे । (७) तन्निमित्तम् । (८) अदृष्टम् ।

किञ्च, तत्कर्म अचेतनं मूर्त्तमभ्युपगन्तव्यम्। कथमन्यथा देशान्तरस्थद्रव्याकर्षकम्, यतो विशेषात्तस्याकृष्टपरमाण्वारब्धं शरीरं स्यात् ? मूर्त्ता यदहय (एव ह्य)यस्कान्तादयस्तुयदा (दयोऽयसा)कृष्टिहेतवो दृष्टा नात्मादयः, इतरथा आत्मन एव तत्सिद्धेः किं कर्मकल्पनया ? तद्विशेषोपपत्तेः नाऽविशेषकल्पनापि।

५ यदि मतम्–अमूर्तोऽपि मन्त्रः तदाकृष्टिहेतुः अतो व्यभिचार इति ; न ; शब्दस्य मूर्त्तत्वात्। ध्यानेनानेकान्त इति चेत् ; न ; तस्य मूर्त्तकर्म चेतसि (विशिष्टस्य) तत्त्वात्, अन्यथा आत्मैव तद्धेतुः इत्युक्तं स्यात्, तत्र च उक्तो दोषः। प्रयत्नेन इति चेत् ; न ; कर्मविशिष्टात्मप्रदेशत्व(शस्पन्द)व्यतिरेकेण परं प्रति तदसिद्धेः। न च प्रयत्नस्य केवलस्य तद्धेतुत्वम् ; तदभावेऽपि तद्भावात्। ततो मूर्त्तमेव तदभ्युपगन्तव्यमिति कथं नाभिमतं परस्य न सिध्यति। १० तत्क्षयेवा (तत्क्षये चा)नुमानमदे वा ग मा दे वगन्तव्यम्।

ततोऽ**विसंवादि तत् श्रुत**मिति। केचिदि (च्चिव ? इ)त्याह–**ज्योतिर्ज्ञानादिवदिति**। [४०० क] ज्योतिर्निश्चयादि**ज्ञानम् चिन्ता सुखदुःखादि तदादि**र्येषां न (तद)**दृष्टादीनां** तेष्विव **तद्वत्** इति।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**सर्वथैकान्त** इत्यादि। **सकलस्य कर्मणः क्षयेण** नाभ्याससा[पे]क्षेण विशिष्टादृष्टमात्रेण अनेन (अन्येन) वा **प्रतिलब्धोऽयम आत्मस्वभावो-** १५ तत्र (वः स च)ज्ञानादिलक्षणः स **एव कैवल्यं** तद् भविष्यति [इति] एवं **सुनिश्चितं नश्चेतः**। केन ? इत्याह–**सम्यग्दर्शने**त्यादि। तदपि केन ? इत्याह–**सर्वथैकान्त** इत्यादि। सुगमार्थमेतदसकृत्।

स्यान्मतम्–अध्यक्षादिबाधितेयं प्रतिज्ञेयं तत् कैवल्यमस्तु इति ; तत्राह–**नहि** इत्यादि। २० **तदभावे** कैवल्याभावे **न प्रमाणमस्ति**। विचारितमेतत् सर्वज्ञसिद्धौ। पर आह–**भाव** इत्यादि। तं प्रति उत्तरमाह–**श्रुते**त्यादि। न खलु ज्ञानविशेषमन्तरेण **अनुपदेशमलिङ्गमविसंवादं श्रुतज्ञानं संभव(वे)दिति**। पत्र (पटप)दार्थादिश्रुतज्ञानं तद्विपरीतं प्रमाणमिति चेत् ; अत्राह–**तत्प्रत्यनीके**त्यादि। **तस्य** उक्तकैवल्यस्य **प्रत्यनीकं** यत् तस्य **साधनस्य** सिद्धेः **स्याद्वादेन निराकृतत्वात्**। श्रुतज्ञानस्य वा तद्भावे (सद्भावे) **श्रुतज्ञानं ब्रूम** इति। [त]त्प्रत्यनीकसा- २५ **धनस्य** तदभावसाधनस्येति कस्मान्न व्याख्यायत इति चेत् ? न ; '**श्रुतज्ञानं ब्रूमः**' इत्यनेन तन्निरासात्। नहि तदभावे 'सर्वत्र सर्वका[लं]सर्वज्ञ (ज्ञो) नास्ति' इति वचनमविसंवादि संभवति। तत् नापौरुषेयम् ; निषेत्स्यमानत्वात्।

ननु स्याद्वादाभावात् कथं तेन कस्यचिद्बाधनमिति चेत् ; अत्राह–**दृश्ये**त्यादि। सुगतोऽन्यो वा क ण च रा दिः **स्वयम्** आत्मना [४००ख] **कथं न कंचन (कथंचन) प्रतिपद्येत**। किम् ?

(१) तदाकृष्टिहेतुत्वात्। (२) व्यभिचारः (३) जैनं प्रति। (४) प्रयत्नस्यासिद्धेः। (५) अपि तु सिध्यत्येव। (६) "दोषावरणयोर्हानिः निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥" –आप्तमी० १।४। (७) आप्तमीमांसायाः अपरनाम देवागमः। (८) वैशेषिकाभिमत। (९) श्रुतज्ञानाभावे। (१०) श्रुतम्।

इत्याह–**ज्योतिर्ज्ञानादिकम्** । किंभूतम् ? इत्याह–**अपरोपदेशम्** अविद्यमानपरोपदेशे (शं) साक्षादसौ [1]तत्प्रतिपद्येत । अपि तु अन्यतः तत्साक्षात्कारिण इति भावः । **ज्योतिर्ज्ञानादिप्रति[पत्ति]-य[2]तः** तस्य तत्प्रतिपत्तेः स्याद्वादमन्तरेणाप्युपपद्येत । यत इति वाऽऽक्षेपे न चेति । किंकुर्वन्नसौ कथं तन्न प्रतिपद्येत ? इत्यत्राह–**अलक्षयन्** अनवधारयन् । क ? **बहिः** । किम् ? इत्याह–**अर्वाग्भाग** इत्यादि । **अर्वाग्भागादीनां** द्वन्द्वः पुनः तेषाम् **आदिशब्देन** बहुव्रीहिः **विवर्त्ता** (विवर्त्ता) स्तदर्थाः **तेष्वेकम्** अभिन्नं यद् **द्रव्यं** तदिति । पुनरपि किंभूतम् ? इत्याह–**दृश्ये**-त्यादि । **दृश्यादिरेकः** प्रधानं **रूपं** स्वभावो यस्य तत्तथोक्तम् । पुनरपि क किमि[ति] लक्षयन् ? इत्याह–**अन्तश्चे**त्यादि । किंभूतम् ? इत्याह–**व्यावहारिकम्** इति । दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–**न च** इत्यादि । **न च** नैव **एकान्तवादिनां** वैशेषिकादीनां **अत्र** भाविनि जाति (ज्योतिर्ज्ञा)-नादौ **प्रमाणमस्ति** । कथमिति चेत् ? उच्यते–अत्र न तावत्प्रत्यक्षमैन्द्रियम् ; तेन इन्द्रियसंसर्गा-भावात् । नहि असता भाविना इन्द्रियसंसर्गः, अतिप्रसङ्गात् । तत्संसर्गे च (र्गाच्च) परस्य[3] [4]तत्प्रत्यक्षम् *"**आत्मा मनसा युज्यते तद् इन्द्रियेण तदप्यर्थेन**" [न्यायम० पृ० ७४] इति [6]वचनात् । एतन्मानसमपि तदत्र निरस्तम् ; तदपि आत्ममनःसंयोगसहचारिणाऽर्थेन जन्यते । न च पूर्वतत्संयोगकाले सोऽस्ति ; भा[वित्व]विरोधादिति । एवत (एवं) तन्मनसापि भावि भविष्यति सः, न तदा संसर्गः प्रा (प्र) कृतरयाप्यस्ति । परम्परासत्यत्वेऽप्यसता कीदृशः ? सत्त्वा[त्] कथं [४०१ क] सर्वस्य तत्र ज्ञानं न जन[येत्]घटः ? तदग्रहणात्मकत्वात् । कुत एतत् ? अबुद्धित्वादिति चेत् ; एतदपि कुतः ? अर्थग्रहणात्मकत्वात् ; अन्योऽन्यसंश्रयः, तथाहि–घटादेरबुद्धित्वे तदग्रहणात्मकत्वम् , अतोऽबुद्धित्वमिति । अथ घटग्राहिणा प्रत्यक्षेण स[7] [8]तद्ग्रहणविमुखः प्रतीयते ततोऽयमदोषः ; किं पुनर्नित्येश्वरज्ञानं तद्ग्रहणाभिमुखं प्रतीयते ? न चेत् ; कस्तस्य घटाद् विशेषः ? प्रतीयत इति चेत् ; न स्वयम् , अस्वसंवेदनात्मकत्वात् [9]अन्यथा परमतसिद्धिः । [10]तस्यैव [11]तत्तथेति [चे]त् ; किमेतद् ईश्वरचेष्टितम् ? तत्र यथा नित्यज्ञानं [12]तस्यैव नेतरस्य, तथा स्वसंवेदनमपि कुतोऽयं विभागो लभ्यते ? नह्येकधर्म (र्मेण) वैलक्षण्ये सर्वैरवि (पि) तथा भवति, अन्यथा तयोर्ज्ञानत्वादिनाऽपि वैलक्षण्यं भवेत् । अथ तेन[13] [14]तयोर्न विरोधः ; स्वसंवेदनेनापि न विरोधः ।

अथ इतरज्ञानस्य स्वसंवेदनप्रतिज्ञा अनुमानेन बाध्यत इति विपध (विरोधः) तथाहि–‘अनीश्वरज्ञानं ततो भिन्नेनैव ज्ञानेन वेद्यते ज्ञेयत्वात् पटादिवत्’ इति चेत् ; ईश्वरज्ञानेन हेतोर्व्यभिचारः[15] । यदि पुनः ‘अनीश्वरज्ञानज्ञेयत्वात्’ इति विशिष्य उच्यते ; तथाप्यगमक-

(१) ज्योतिर्ज्ञानादिकम् । (२) इन्द्रियसंसर्गात् । (३) नैयायिकस्य । (४) इन्द्रियप्रत्यक्षम् । (५) "तच्चेदं प्रत्यक्षं चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षात् प्रवर्तते । तत्र बाह्ये रूपादौ विषये चतुष्टयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते–आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति । सुखादौ तु त्रयसन्निकर्षात् ज्ञानमुत्पद्यते, तत्र चक्षुरादिव्यापाराभावात्···"–न्यायम० । "उक्तं च–आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण···"–बृहत्सं० ७४।३ । (६) मानसप्रत्यक्षम् । (७) घटः । (८) अर्थग्रहण । (९) ईश्वरज्ञानस्य स्वसंवेदनात्मकत्वे । (१०) ईश्वरस्यैव । (११) ज्ञानं स्वसंवेदि । (१२) ईश्वरस्यैव । (१३) ज्ञानत्वादिना । (१४) ईश्वरज्ञान-अस्मदादिज्ञानयोः । (१५) तदपि ज्ञेयं न च ज्ञानान्तरवेद्यम् ।

त्वं व्यतिरेकाऽसिद्धेः । नहि विशेषणमात्रेण तत्सिद्धिः ; अतिप्रसङ्गात् । कथम् ? यदीश्वरस्य स्वपरग्राहिज्ञानं तावतैव सकलप्रयोजनसिद्धिः किमीश्वरेणा वारमलरेण(णाऽऽत्मान्तरेण)[1]? कथमवस्थानं [2]तस्येति चेत् ; कुत एतत् ? गुणत्वाद् रूपादिवदिति चेत् ; अत एव अस्मदादिज्ञानवत् अस्वसंवेदनमस्तु । ततो यथा ज्ञानत्वाऽविशेषेऽपि [3]तदेव स्वसंवेदनं [४०१ख] ततो (तथा)
५ [4]निराधारमप्यत्र भ्रमह । क[थ]मेवं सति तस्य गुणत्वम्[5] ? युगपत् स्वपरग्रहणस्वभावद्वयवत् क्रमेणाप्यनेकस्वभावसंभवप्रध्यन्वात (वोऽस्तु अध्यक्षसिद्धत्वात) । अथैकस्वभावेन यथा कारणम् अनेककार्यं[6] तत तथेदं स्वपरग्राहकमिति चेत ; न ; [7]परं प्रति दृष्टान्तासिद्धेः ।

एतेन इदमपि निरस्तम्–'अनेकस्य परस्येव स्वपरयोरपि तदेकमेव ग्राहकम्' इति ; तदितरवत [8]तदपि नात्मवेदनमिति न घटाद्विशेषः ।

१० स्यान्मतम्–ईश्वरः स्वज्ञानस्य अर्थग्रहणात्मकत्वं प्रत्येति ; तदपि चिन्त्यते–गृहीतस्य, इतरस्य वा ? न तावदितरस्य[9] ; इदंतया नेदन्तया वा तस्य व्यवस्थापित्तमश न्तो(स्थापयितुमशक्तः) ज्ञानकल्पनावैफल्यापत्तेः । गृहीतस्य इति चेत ; द्वितीयज्ञानाभावान्न युक्तमेवतत (मेतत) । भावे वा नित्यमेकत्रानेकम् , अनवस्थान(नं) च विज्ञानं प्रसज्येत ।

स्यान्मतम्–[10]तस्य ज्ञानद्वयमस्ति–एकं स्वतोऽन्यस्य[11] सर्वस्य[12] वेदकम् , [13]अपरं तस्येति;
१५ तन्न ; यस्मादेकत्र यावदो(यावद्)द्रव्यभाविनः सजातीयस्य युगपद् गुणद्वयस्याऽयोगात् अन्यथा घटादौ यद्वयं (रूपद्वयं) तथा भवेत । [14]अन्योऽन्यसंश्रयश्चात्रोक्तः । अथ महेश्वरः तज्ज्ञान(नं) स्वयमेव तथा प्रत्येति ; बहिरर्थमति(मपि)तथेति व्यर्थं सर्वत्र ज्ञानकल्पनम् । तथा प्रतिपद्यमानमात्मानं न चेदीशः प्रतिपद्यते ; कुतस्तेन तत्परिच्छेद[:] ? तदास्ति (तदस्ति)त्वं वा[स्वयं] प्रतिपद्यते चेत ; एकस्य स्वपरा[व]भासित्वम् । अ[त]श्चेत ; अनवस्थानम् । तन्नेश्वरज्ञानं
२० घटाद्विशिष्यत [४०२क] इति न ज्योतिर्ज्ञानादौ प्रमाणम् ।

एतेन[वैशेषि]कस्यापि चिन्तितम्–तस्य अचेतना बुद्धिः परोक्षः पुमानिति ।

सुगतज्ञानं तत्र प्रमाणमिति चेत् ; यदि तत् सकलभेपानुकारि (भेदानुकारि ;) कथं क्वचिदप्येकान्तसंभवः ? तत एवोच्यते–न वै(चै)कान्तवादिनामिति । प्रत्याकारं भेदे ; नैकः सुगतः ? तदाकारयितुः तेनादर्शनात् नापि सर्वज्ञः । कथत्या (कथमयं[15]) स्वमेकमनेकाकारं स्वयं
२५ प्रतिपद्यमानः [16]परं निसंक्षणिकंध्रुवं (निरंशं क्षणिकं ब्रुवन्) स्वस्थः ? निराकारं चेत ; तथैतत्[17] सर्वस्येति न युक्तम्–

*"अर्थेन घटयत्येनां[18] नहि भङ्ग (नहि मुक्त्वाऽ)र्थरूपताम् ।"

[प्र०वा० २।३०५] [19]इत्यादि ।

---

(१) मध्यवर्तिना । (२) ज्ञानस्य । (३) ईश्वरज्ञानमेव । (४) ईश्वरं विनापि तज्ज्ञानं निराश्रयमेव भवतु । (५) द्रव्याश्रयिणः एव गुणत्वं भवति न तु निराश्रयस्य । (६) करोति । (७) जैनेन तस्यापि अनेकस्वभावस्वीकारात् । (८) ईश्वरज्ञानमपि । (९) अगृहीतस्य । (१०) ईश्वरस्य । (११) स्वभिन्नस्य । (१२) अर्थजातस्य । (१३) द्वितीयं ज्ञानम् अर्थग्राहिज्ञानं वेत्ति । (१४) द्वितीयेन ज्ञातं सत् प्रथमज्ञानमात्मसत्तां ख्यापयेत् , ख्यापितात्मसत्ताकञ्च प्रथमं द्वितीयेन ज्ञायेत इति । (१५) बौद्धः । (१६) बाह्यार्थम् । (१७) निराकारत्वम् । (१८) बुद्धिम् । (१९) "तस्मात् प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ।" इत्युत्तरार्धः ।

सुगतवत् सर्वोऽपि सर्वदर्शी स्यादिति चेत् ; न ; नियतशक्तित्वाद् भावानाम् । नहि एकस्य शक्तिरशेषस्य । नाप्येकस्यापि या एकत्व(त्र)शक्तिः सैवान्यत्र ; अन्यथा सकलस्य ग्रहणवत् ज्ञानमपि ([1]जननमपि) सुगतस्य स्यादिति नेश्वरबाधनम्[2] । इतरथा स्वसन्तानज्ञानजननभिगत (जननमपि न तस्य) स्यादिति कथं वस्तुत्वम्[3] ? अथ तस्य[4] ग्रहणशक्तिरेव सर्वत्र[5], इतरा[6] तु क्वचिदेव[7] ; यद्य (यद्येवम् ए) कस्यैव नानात्मनि नितराम्[8] । एकस्य सर्वग्रहणेऽपि, अन्यत्र ५ विपर्ययात् ।

नन्वे[व]म् एकस्य शक्तिद्वयात्मक[त्व]मिति चेत् ; अयं परस्य[9] दोषोऽस्तु । न चाऽशेषग्रहणशक्तिरेव प्रतिनियतजननशक्तिः, सा[10] वा प्रकृता[11] ; ग्रहणजन[न]योरविशेष:(ष)प्रसङ्गात् । अनेकं वार्थ[म]नेकस्वभावेन प्रतियतः[12] [13]स्वात्मत (त्मन्य) नेकान्तः । एकस्वभावेन त्रिकालार्थग्रहणवत् यदि [14]तथाविधकार्यजननं[15] निरालम्बनमिदम्– १०

*"नाऽक्रमात् क्रमिणो भावः(वाः)" [प्र० वा० १।४५] इत्यादि ।

किंच, योग्यताबले[न] [16]तदर्थस्य ग्राहकम्[17] ; प्रतिबन्धद्वयव्याघातेन[18] लिङ्ग [४०२ख]-[19]सङ्ख्यानियमवैयर्थ्यम् । तत उत्पत्तेश्चेत् ; न भाविनः चिरभूतस्य वा ग्रहणं तस्मादनुत्पत्तिः (त्तेः) । [20]उत्पत्तौ च; अपरतत्कार्यकाल एव तेन[21] भ(भा)व्यमिति [22]तन्नियतकालता ।

स्यान्मतम्–इतरजनापेक्षयार्थस्य वि[भिन्न]कालत्वं न सुगतापेक्षया, तस्य साक्षात् १५ रूपेण सर्वज्ञेना (सर्वम् आ)त्मनि प्रतिभासमानं वर्त्तमानमेव, § [23]साक्षात्करणमेव वर्त्तमानमेव § साक्षात्करणमेव वत्त्व सम (च ज्ञत्वम)र्थस्य न वर्तमानकालसम्बन्धित्वं [24]तदभावादिति ; तदसारम् ; यतः तद् पेक्षयतेः (तदपेक्षया) तज्जनकमपि न किञ्चित् स्याद् वर्त्तमानेषु तदयोगात्, अनभ्युपगमाच्च । इतरापेक्षया अर्थादुत्पत्तिः तस्य[25], समकालयोः परमार्थतः कार्यकारणभावं प्रतियन्(न्) स भ्रान्तः स्यात् । तद्बलेन सुगतस्य परग्रहणे सोऽपि तथाविधः[26] इति २० न च वन्दनीयः । [एतेन] विभ्रमशून्यप्रतिभासाद्वैतपक्षाः निरन्ताः (निरस्ताः) । तन्न सुगतप्रत्यक्षमप्यत्र प्रमाणम् । अत एव नानुमानमपि तत्स्वार्थकस्वाधस्य (तत्पूर्वकत्वादस्य[27]) । ततः स्थितम्–न चेत्यादि ।

ननु प्रत्यक्षम् अर्थसन्निकर्षमतो (र्षजम्, अतो) जन्मया ([28]जन्मनाम)पेक्षते नागमः, ततः स[29] एवात्र प्रमाणमिति चेत् ; अत्राह–श्रुतेः इत्यादि । श्रुतेः आगमस्य अतद्विषयत्वात् २५ ज्योतिर्ज्ञानाद्यगोचरत्वात्, 'न चैकान्तवादिनामत्र प्रमाणमस्ति' इति सम्बन्धः । एवं मन्यते–

(१) उत्पादकत्वमपि । (२) स्वयं सुगतस्य सृष्टिकर्तृत्वप्राप्तेः । (३) अर्थक्रियाकारित्वाभावात् । (४) सुगतस्य । (५) अर्थेषु । (६) जननशक्तिस्तु । (७) स्वसन्तानज्ञानजनन एव । (८) अस्तु । (९) बौद्धस्य । (१०) जननशक्तिः । (११) ग्रहणशक्तिः । (१२) जानानस्य । (१३) स्वस्वरूपे । (१४) कालान्तरवर्ति । (१५) स्यात् तदा । (१६) ज्ञानम् । (१७) चेत् । (१८) तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप । (१९) त्रित्वसङ्ख्या । (२०) चिरभूतात् भाविनश्चार्थात् सुगतज्ञानोत्पत्तिस्वीकारे । (२१) सुगतेन । (२२) अपरकार्यकालतायाम् कालान्तरस्थायित्वं स्यादिति भावः । (२३) § एतदन्तर्गतं पुनर्लिखितम् । (२४) कालाभावात् । (२५) ज्ञानस्य । (२६) भ्रान्तः । (२७) अनुमानस्य । (२८) उत्पत्तिमपेक्षते । (२९) आगम एव ।

यदे (यदा) कान्तवादिनां परोक्षविषयमध्यक्षं भवति तदा तत्पूर्विका श्रुतिरपि तद्विषया[1] स्यान्नान्यथा, न चैवमिति ।

मीमांसक आह– स्वत एव परोक्षश्रुतिः प्रमाणं न तत्प्रत्यक्षापेक्षा । तदुक्तम्–[४०३क]

*"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
५ न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४७] इति;

तत्राह–नाप्यभन्ये (नाप्यनये)त्यादि ।

[नाप्यनया मार्गप्रतिपत्तिः यामाश्रित्य श्रुतेः स्मृतेः ।
मन्त्रं नित्यं प्राकृताः प्रतिपद्येरन् तदर्थकम् ॥२८॥

१० नित्यस्यानेकार्थसंभवात् न तस्मादर्थं प्रतिपत्तुमर्हति, कथमन्यथा विप्रतिपत्तिः स्यात् । यदि पुनः रागादिरहितस्य कस्यचिदुपलब्धिर्यतो वेदार्थप्रतिपत्तिः स्यात् । रागादिमत्त्वेऽपि यदि कश्चिद् विवक्षिततदर्थतत्त्वं जानीयाद् ब्रूयाद्वा किं तेन ? न ब्रूमः रागादिमत्त्वात् अपि तु परोपदेशापेक्षीति; कः पुनः तदर्थदर्शिनः परः सः यस्योपदेशमुपवर्णादयः प्रमाणयन्तः कपिलादीन तिशेरते ? तदनेकार्थसंभवात् १५ कुतस्तत्त्वमिदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयेत् यतः पौरुषेयाद् विशिष्येत ।]

शब्दात् अर्थगतिनगरप्राप्तिहेतुत्वात् मार्ग इव **मार्गः** शब्दार्थसम्बन्धो वाच्यवाचकरूपः तस्य **प्रतिपत्तिः नापि** श्रोतुः । केन ? अन्व[य]परम्परैकान्तेनात्वा इवात्या (न्तेन ज्ञात्वा) जैमिन्यादयः शास्त्रार्थदर्शनविगुणत्वात्तेषाम् परै वेकान्तः (परम्परैकान्तः) तेन, न ह्यान्वेता (ह्यवेत्ता) परोत्वो (परात्) मार्गं प्रतिपद्यते । किंभूता सा नापी (स्ती) त्याह–**यःया** (?) २० **यामाश्रित्य श्रुतेः** वेदात् सकाशादकृत (कृत्रि) मायास्तत्त्वप्रतिपत्तिः स्यादित्याध्याहारः । कुतो यामामुत्ये (माश्रित्ये) त्याह–**स्मृतेः** । एतदुक्तं भवति–पूर्वं साक्षात् शब्दार्थसम्बन्धदर्शनः (शिनः) सम्बन्धप्रतिपत्तिः परस्य पुनः शब्दश्रवणात् तत्प्रतिपत्तिः, न चैवमिति । यदि वा, स्वर्गापवर्गयो**मार्गो** यागादिः तस्य **प्रतिपत्तिः नापीति** व्याख्येयम् । शेषं पूर्ववदिति । माभूत् तेन तत्प्रतिपत्तिः, श्रुतेरेव तु तत्त्वप्रतिपत्तिः स्यादिति चेत ; अत्राह–**मन्त्रमि**त्यादि । २५ **मन्त्र (न्त्रं)** घृताग्नाहवनवाक्यं स्वर्गादिदानसमर्थं **प्रतिपद्येरन्** इदन्तया जानीयुः । के ? इत्याह–**प्राकृताः** शूद्रादयो जैमिन्यादिकं (दिवत्) । तथा च तद्वत्तेऽपि तदर्थानुष्ठायिनः स्युः इति मन्यते ।

जैमिन्यादय एव तत्प्रतिपद्यन्ते नान्यदिति (नान्य इति) चेत् ; अत्राह–**नित्यमिति** । अयमभिप्रायः–यदा नित्यः सर्वगतो मन्त्रः पुरुषनिरपेक्षः स्वमर्थं प्रतिपादयति तदा सर्वत्र तद्- ३० विशेषात् शब्दोऽपि (शूद्रोऽपि)[2] प्र[ति]पद्येत, न वा कश्चित् । न ह्याकाशमेवं त्याहासमन्यं (मेकं प्रत्याकाशम् अन्यं) प्रत्यन्यथा । सा (अथा) सौ द्विजायैव तं प्रतिपादयति । कुत एतत् ? [४०३ख]

(१) परोक्षविषया । (२) शूद्रादयः ।

स्वभक्तत्वात् । पक्षपातिना किं तेन ? परोऽपि तद्भक्तः समुपलभ्यते । अथ तस्यैव आगम एव; तदपि कुतः ? तेन तदर्थानुष्ठानात् ; अन्येनापि दृश्यते । विप्रोपदेशात् ; किन्तेन, यदि मन्त्र एव समर्थं (तमर्थं) कथयति ।

एतेन [1]तेन पाठात्तस्येति[2] निरस्तम् ।

यदि पुनः द्विजाराधनातः तं प्रत्येव तत्प्रतिपादनसमर्थो जातः; कथं नित्यः ? ५

किं च, तदाराधनाक्रमो यदि मन्त्रार्थः; सोऽपि ततोऽन्येनापि प्रतीयते। नो चेत् ; पुरुषकल्पितो नाभिमतफलदायी स्यात् अन्यथा किं मन्त्रेण ? 'अथ विप्र एव तद्ग्रहणानुष्ठाने योग्यः, न चैतावता मन्त्रोऽनित्यः, नित्यानामपि आत्मादीनां कार्यनियमदर्शनात्' इति; तन्न सारम् ; यतः स्यादेतदेवं यदि परोपदेशादद्विजस्य तदर्थप्रतिपत्तिर्न स्यात् , अग्नेरिव धूमः, न चैवं ततः तद्दर्शनात् । द्विजस्यापि अपरोपदेशिका न तत्प्रतीतिः । १०

किंच, न ताव[त्] मन्त्रो 'द्विजोऽयम्' इति स्वयं ज्ञात्वा तस्मै स्वसमर्थं (स्वस्यार्थं) निवेदयति अचेतनत्वात् , अन्यथा आत्मज्ञानकल्पनावैक(फ)ल्यम् । नापि 'यस्मादहं ब्राह्मणः तस्मादहं मन्त्रार्थं गृह्णामि' इति द्विजो जानाति; ब्राह्मणत्वप्रतिपत्तेः तस्यापि स्वयमसंभवात् । वेत्तिनं प्रति (निवेदितं) चैतद् वर्णं (वृत्तो)स्वयमेव शास्त्रकृता। ततो **मन्त्रं नित्यं प्राकृता[ः]प्रतिपद्येरन्** इति । 'कम्' इति प्रश्ने उ[त्त]रमाह–तदर्थज्ञोऽयं[सम्]प्रदायाद् वृत्तते (वर्तते) मन्त्रार्थज्ञसम्प्रदायो भावप्रकारेण विशेष्यते तदभिमत (?) यतः तत्सम्प्रदायमन्तरेण प्राकृतानां तत्प्रतिपत्तेः मन्त्रो नित्यः न नात् (स्यात्) [४०४क] पौरुषेयात्मत्वात् । नहि परोपदेशापेक्षणे तस्य ततो भेदः । १५

कारिकां विवृण्वन्नाह–**नित्यस्य** इत्यादि । **न तस्माद्** नित्याद् वेदात् इति । कथम् ? इत्याह–**कथ(अथ)**मित्यादि । **अन्यथा** अन्येन ततः तस्य तत्प्रति[प्रत्ति]प्रकारेण **कथं विप्रतिपत्तिः स्यात्** [3]प्रतिव्याख्यात्रि(तृ)व्याख्याभेदः स्यात् । नहि स्वयमेव नियतं स्वमर्थं निवेदयति[4] वे ते (**वेदे**) नित्ये सति [5]सा युक्ता । अथवा, प्रतिपत्त्यभावो **विप्रतिप्रत्तिः कथं** कस्यचित **स्यादिति** चेत ? तदेक एवार्थः ततः प्रतीयत इ[ति]नास्ति सा इति; तत्राह–**अनेक** इत्यादि । वेदस्य पुरुषापेक्षया **अनेकस्य** नियोगादि[6]रूपस्या**र्थस्य संभवात्** कथं स्यादिति ? अथ, याना(यावा)नर्थो वेदात् प्रतीयते स सर्वोऽपि तस्यैव, अन्यथा न कोऽपि स्यादिति चेत ; अत्राह–**नित्यस्य** इत्यादि । स्वर्गोऽ**र्थः**, तस्य काम्यमानत्वात् *"**स्वर्गकामः**"[7] इति वचना[त्] तस्मै तन्निमित्तं तत्त्वं (तच्च) यागादि तत् (तम) **तस्मात् कथं प्रतिपत्तुमर्हति** ? कुतः ? इत्याह–**अनेकार्थसंभवाद्** वेदस्य अनेकार्थोऽर्थतत्त्वम्, अन्यथा 'सारमेयमांसभक्षणात् स्वर्गः स्यात्' एकः [8]तस्यार्थ इति चेत ; अत्राह–**कथ**मित्यादि । अनेकार्थसंभवाभावप्रकारेण **अन्यथा** ।

२०

२५

---

(१) द्विजेन । (२) द्विजस्य । (३) व्याख्यातारं व्याख्यातारंप्रति प्रतिव्याख्यातृ । (४) निवेदनकर्तृरि सति । (५) विप्रतिपत्तिः । (६) आदिपदेन भावनाविध्यादिपरिग्रहः । (७) 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादौ । (८) 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यस्य अग्निं हन्तीति अग्निहः श्वा, तस्य उत्रं मांसं जुहुयात् खादेत् इत्यर्थः स्यात् । "तेनाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ । खादेत् श्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा ॥"–प्र० वा० ३।३१८ ।

ननु न जै मि नि [:] वेदाद् अर्थनार्थे(अर्थं)प्रत्येति, अपि तु स्वयं साक्षात् तत्प्रतिपद्य-[ते]वीतरागत्वात्, वेदेन यावद् बोधयति परमिति चेत् ; तदाह–**यदि पुनः** इत्यादि । कस्य च (**कस्यचित्**) जै मि नि(नेः)ब्रह्मणो वा रागाद्यातस्यरूप (**रागादिरहितस्य उपलब्धिः,** उप)लक्षणमेतत् यथार्थदर्शनस्य, **तद्यदि** स्याद् **यतो** रागादिरहितात् **वेदार्थप्रतिपत्तिः स्यात्**
'परस्य' इत्यध्याहारः । दूषणमत्र [४०४ ख] **कथं विवक्षित** इत्यादि । जै मि न्या दि ना हेतोर्व्यभिचारादि[ति]भावः । अथ तस्यापि पक्षीकरणान्न दोषः, तत्राह–**रा[गा]दिमत्त्वेऽपि** इत्यादि । **[विवक्षित]तदर्थतत्त्वं** वेदार्थतत्त्वं **कश्चिदतन्तरज्ञेय** (त्तरोक्तो) **यदि जानीयाद् ब्रूयाद्वा किमन्यथा तेन** कुतः पौरुषेयस्य वचनस्य प्रामाण्यं न स्यात् ? स्यादेव । कुतः ? इत्याह–**रागादीन्**यादि । 'तत्त्वज्ञानात्' इति च द्रष्टव्यम् ।

पर: प्राह–**न ब्रूमो रागादिमत्त्वादिति अपि[तु]परोपदेशो(शा)पेक्षी वेत्ति ब्रूयाद्वा इति** ब्रूमः, इतिशब्दः परपक्षसमाप्तौ । तत्र दूषणम्–**कः पुनरित्यादि** । **यस्योपदेशम्** उ प व र्षा द यो जै मि न्या द यः **प्रमाणं यतः** (णयन्तः) **क पि ल दी न तिमरते** । (**क पि ला दी न् अतिशेरते**) उ प व र्षा द यस्तत्त्ववादिनो न क पि ला द य इति भिन्नेरन् । **स कः परः** उ प व र्षा दि भ्योऽन्यः प्रकृष्टो वा कः ? [न] कश्चिन । कुतः ? इत्याह–**तदर्थदर्शि(शि) न** इत्यादि । वेदार्थदर्शन(र्शिन) इति । परोऽपि परोपदेशापेक्षी स[न]स्वार्थं वेत्ति ब्रूयात् ता(वा:)सोऽपि तदुपदेशापेक्षी इत्यनादिरियम् उपदेशपरम्पराऽविसंवादिनी इति चेत् ; अत्राह–**तदनेकार्थसंभवात्** कारणात् **कुतो** न कुतश्चित् प्रमाणादृत्य (णाद् **व्यवस्थापयेत्**) '**परः**' इति पदघटना । **किम्?** इत्याह–**तत्त्वमित्यादि** । इदन्तया अभिमतरूपतया **नेदं ब्रूया ना** (**नेदन्तया वाऽ**) नभिमतरूपतया वा **यतः** तत्त्वस्य व्यवस्थापनात् **पौरुषेयाद्** वचनाद् **विशेष्येत** वेद इति । एवं मन्यते–यदि तस्य एक एवार्थः § स्यात् परमार्थः § स्यात् परमार्थतः सन्नियतः तदा तस्य कल्पनाशतेनाप्यन्यथा कर्तुमशक्यत्वात् [४०५ क] स्याद्यत्यता (स्यादप्यना) द्युपदेशपरम्परातः तत्त्वप्रतिपत्तिः, अनेकार्थसंभवे त (तु) कस्तत्र अनादिः को वा कल्पितः इति तज्ज्ञायेतार्थ (न ज्ञायेत । योऽर्थः) शिष्टसंगृहीतोऽनादिरस्योत्य (दिः सः अन्योऽन्यः[3]) इति मतिः ; [कः] शिष्टः ? ब्राह्मण इति चेत् ; उक्तमत्र–'तदनिर्णयात्' इति । तत एव अनेकोऽपि तदर्थः स्यात् अविशेषात् ।

किं च, सौगतमतानुसारेणा (सारिणा) द्विजेन श्वपिशिताशनमुच्यमानं कुतोऽनादि न वेदार्थः ? अवान्तर (अर्थान्तर) कल्पना न, प्रमाणाभावात् । अथासौ न द्विजधु(जः, क)स्तर्हि सः ? ब्राह्मणःत्वं (णत्व) योगी चेत् ; किं पुनस्तस्य [4]तद्योगो नास्ति ? तथा चेत् ; कथं तदनुसरणात्[5] पूर्वं स ब्राह्मणः ? न हि गोत्वैः (गोत्व)सम्बन्धरहितः कर्कः[6] कदाचनापि गौरिति । तदापि न ब्राह्मण इति चेत् ; क इदानीं ब्राह्मणः ? यः कालत्रयेऽपि न मन्त्रान्तरायोगी ([7]मतान्तरयोगी) ति चेत् ; क एव (वं) प्रतिपद्यतां यतो देवदत्तादयः प्रतीयमानाः द्विज (जाः) कार्या हो सः (येहन्तारः)।

(१) मीमांसकाचार्याः । (२) § एतदन्तर्गतः पाठः पुनर्लिखितः । (३) कल्पितः । (४) ब्राह्मणत्वयोगः । (५) सौगतमतग्रहणात् प्राक् । (६) श्वेताश्वः । (७) धर्मान्तरकारी ।

तदाप्यसौ ब्राह्मणः [1]तदनुप्रवेशे तु विपरीतः इति चेत ; ननु किं ब्राह्मणत्वं नष्टम् ? तथा चेत् ; न नित्यं सामान्यमिति [2]कर्कमध्यमध्यासीनो मुण्डो न गौः स्यात्। अथ न नष्टम् ; तदनुप्रवेशेऽपि[3] ब्राह्मण एव । वेदे भक्त्यभावान्नेति चेत ; किं [4]तद्भक्तिरेव ब्राह्मण्यम् , अन्यद्वा ? प्रथमपक्षे न तत्सामान्यम् ज्ञानविशेषत्वात्तस्याः[5] । तथा च सुप्रावस्थस्य[6] व्यापादना वधेऽपि (व्यापादनेऽपि) न ब्रह्महत्यादिदोषः । द्वितीयपक्षे [7]तदभावेऽपि तदवस्थं तदिति स एव दोषः । अथ तद्भक्त्या[8] स एव ज्ञाप्यते ; न; शूद्रेऽपि तद्भावात्[9]। वेदपाठरहिते[10] सत्यपि[11] सा[12] न ज्ञायत इति [चेत :] कुतः तत्र[13] द्विजत्वज्ञानम ? गोत्रादेरिति चेत ; इतरत्र समानम ।

एतेन तदर्थानुष्ठानं प्रत्युक्तम । [४०५ ख] । तथाहि–[14]तदेव द्विजत्वम् , अन्यद्वा सामान्यम ? तदेव चेत ; तद्रहितः सिसुः(शिशुः)स[15] न भते (भवेत) । [तथापि तदा][16] तदभ्युपगमे अन्यदापि[17] कुतः तदनुष्ठाना[न] स्यात ? अन्योऽपि स्यात[18]। तस्य तदभावान्नेति [चेत :]कुत एतत ? अद्विजत्वादिति चेत ; प्रकृतस्यापि त(न)भवेत । तदनुष्ठानात् स द्विज इति चेत ; अन्योऽन्यसंश्रयः–द्विजत्वे तदनुष्ठानम , अतस्तदिति ।

एतेन संस्कारादयोऽपि चिन्तिताः । सामान्यं तद्[19] इति चेत ; [20]तदभावेऽपि [21]तत्तदवस्थमिति [22]नामावब्राह्मण[:] । तत्र ब्राह्मणगृहीतोऽर्थः वेदस्य । बहुजनगृहीत इति चेत् ; न; अनेकोऽपि तद्गृहीत[23] एव समानसभक्षेऽपि (श्वमांसभक्षणमपि) बहुजनपरिगृहीतमेव । द्वेषेण तत्कल्पितम् अतो नार्थ इति चेत ; भक्त्या अन्योऽपि[24] द्विजैः कल्पित इति समानम् । ततः स्थितम्– **तदनेकार्थ** इत्यादि ।

वेदस्य प्रमाणत्वे परोक्तां युक्तिं दूषयितुं दर्शयन्नाह–**वेद** इत्यादि ।

[वेदः प्रमाणं नित्यत्वात् कर्तुरस्मरणाद्यदि ।
स्वशास्त्रकर्तुः स्मर्ता अपलप्येत न किं परैः ॥२९॥

शब्दस्य अन्यस्य वा परिणामित्वं सिद्धम् इत्युक्तम् । अपरिणामेऽपि नचाक्षरराशेरपौरुषेयत्वं युक्तं येन वेदः स्वतः प्रमाणं स्यात् , शास्त्रान्तरस्यापि तदनुषङ्गात् विशेषाभावाच्च । कर्तुरस्मरणान् व्यभिचार्ययमपि । तावता प्रमाणत्वे शास्त्रान्तरस्यापि प्रमाणत्वं भवेत् न वा श्रुतः । वर्णानां पदानां च न क्वचित् प्रामाण्यं न भवेत् । सङ्केतात्तदर्थप्रतिपत्तौ प्रकृतवाक्यराशेरितरं प्रति न कश्चिद्विशेषः ? पौरुषेय्या व्यक्त्या च । स्वतः प्रमाणत्वे सङ्केतादर्शिनोऽपि प्रमाणं स्यात् । कर्तुरस्मरणेऽपि प्रबन्धानादित्वं स्यात् । तथापि कथं प्रामाण्यं तद्राशेः म्लेच्छव्यवहारवत् । तत्र अपौरुषेयस्यापि सङ्केतवशात्

(१) सुगतमतानुप्रवेशे । (२) अश्वमध्ये तिष्ठन् मुण्डः । (३) सौगतमतस्वीकारेऽपि । (४) वेदभक्तिरेव । (५) भक्तेः । (६) द्विजस्य मारणेऽपि । (७) वेदभक्त्यभावेऽपि । (८) वेदभक्त्या । (९) वेदभक्तिसद्भावात् । (१०) वेदपाठाधिकाररहिते शूद्रे । (११) विद्यमानापि । (१२) भक्तिः । (१३) ब्राह्मणे । (१४) वेदार्थानुष्ठानमेव । (१५) द्विजः । (१६) अनुष्ठानरहितत्वेऽपि शिशुकाले ब्राह्मणत्वस्वीकारे । (१७) यौवनाद्यवस्थायाम् । (१८) अद्विजोऽपि वेदार्थानुष्ठानात् द्विजः स्यात् । (१९) द्विजत्वम् । (२०) वेदार्थानुष्ठानाभावेऽपि । (२१) द्विजत्वम् । (२२) सुगतमतानुसारी । (२३) बहुजनगृहीत एव । (२४) यागादिरूपः ।

अर्थप्रतीतौ विश्रामः । सम्प्रदायाविच्छेदोऽपि पौरुषेयस्य विप्रतिपत्तिनिराकरणोपायः स्यात्, तदर्थदर्शिभिः पुनः पुनः उच्छिन्नस्य उच्छिन्नस्य प्रवर्तनात् ।]

वेदः प्रामाण्यं (प्रमाणम्) । कुतः ? इत्याह–**नित्यत्वाद**पौरुषेयत्वात् । एव (वं) मन्यते–शब्दे [अ]प्रामाण्य (ण्यं) रागादिकृत दृष्ट चित्जन्मनि । (कृतं दृष्टम् विट्जन्मनि[1]) ५ रागादयश्च पुरुषाश्रिताः, ततो वेदात् पु[रुषः]निवर्तमानः स्वाश्रयान् रागादीनादाय निवर्तते । रागादिनिवृत्तौ च तन्निबन्धन (म) प्रामाण्यमपि निवर्तते इत्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यमवतिष्ठते । तथाहि–यन्नि (न्नि) बन्धनं न तत्तदभावे भवति पावकाभावे धूमवत् । रागादिनिबन्धनं च शब्दे[अ]प्रामाण्यम् । ततो वेदे तदभावान्न भवति । तदुक्तम्–

> *"शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम् ।
> १० तदभावः क्वचित् सिद्धो गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥
> वेदे वक्तुरभावानु (त्तु) दोषाशङ्कं च (शङ्कैव)नास्ति नः ।" [४०५क]
> [मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६२] इति ।

कुतस्तत्र नित्यत्वमिति चेत ? अत्राह **क[र्तु]रस्मरणात्** । तथाहि–यदस्मर्यमाणकर्तृकं तन्नित्यं यथा गगनम् तथा वेदः । **यदि** शब्दः पराभिप्रायद्योतकः । अत्र दूषणम्–**[स्वशा-** १५ **स्त्रकर्तुः** इत्यादि । **स्वशास्त्रस्य** स्वामृता (स्वमता) गमस्य प्रवचनादेर्यः **कर्त्ता** जिनादिः तस्य यः **स्मात्ता (स्मर्ता) सोऽपलप्येत न किं परैः** अपलप्येतैव जैनादिभिः । इदमत्र तात्पर्यम्– वेदवत् प्रधानस्यापि (प्रवचनस्यापि) तदस्मरणं तेन तत्त्वमस्तु, तत्र[2] वेदेऽपि हिरण्यगर्भादयः स्मर्यन्ते । तदपलापोऽन्यत्रापि इति न वेदेतरयोः विशेषः स्यात् । अन्यचिद् (अन्यथा) वेदेऽपि तव्य (स्मर्तव्य)मिति ।

२० [कारि]कायाम् अनुक्तोति (अनुक्तां) नित्यत्वस्य असिद्धतां दर्शयन्नाह–**शब्दस्य** इत्यादि । वाशब्द इवार्थः । **अन्यस्य** सुवर्णादेरिव **शब्दस्य** अनेकान्तमन्तरेण अदः तत्र मित्युक्तम् , **अपूर्वमन्यस्य** (?) **परिणामित्वं सिद्धम्** कु मा रि ल स्ये व [इति] दृष्टान्तः ।

ननु परिणामनित्यत्वं न कूटस्थनित्यत्वम् हेतुः, तस्य च उभया (य) सिद्धत्वात् नासिद्धो

(१) व्यभिचारिपुरुषे । (२) रागाद्यभावात् । (३) दोषाभावः । (४) 'तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे सङ्क्रान्त्यसम्भवात् ।' इति शेषः । (५) "तेन वेदे व्यवहरद्भिः अवश्यं स्मरणीयः सम्बन्धस्य कर्ता स्यात् व्यवहारस्य च···तस्मात् कारणादवगच्छामो न कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारार्थं केनचिद् वेदाः प्रणीता इति···तस्मादपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः ।"–शाबरभा० १।१।५ । बृहती० पृ० १७७ । "यदा चाप्त-प्रणीतत्वात् शब्दोऽर्थं प्रतिपादयेत् । न स्वशक्त्या तदाप्तत्वं मितो न स्मर्यते कथम् ॥ तस्मादवश्यं स्मर्तव्यस्य वेदानां सम्बन्धानां च कर्तुरस्मरणात् योग्यानुपलम्भनादभावेऽवधारिते सिद्धं वेदानां सम्बन्धानां च नित्यत्वमित्याह दृष्ट इति ।"–मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १२३, १३० । न्यायरत्ना० । "कथं पुनरपौरुषेयत्वं वेदानाम् ? पुरुषस्य कर्तुरस्मरणात् ।"–प्रक० पृ० १४० । "कर्तुरस्मरणाच्चापौरुषेयत्वम्"–भाट्टदी० पृ० ३३ । नयवि० पृ० २७९ । "स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणात् योग्यानुपलब्धिनिरस्तस्य कर्तुरनुमानासंभवात् समाख्याप्रवचननिमित्तत्वात् अपौरुषेया वेदा इति ।"–शास्त्रदी० पृ० ६९, ६१६ । (६) अपौरुषेयत्वं नित्यत्वं वा । (७) प्रवचन इव । (८) प्रवचनेऽपि ।

हेतुः इति चेत् ; अत्राह–**परिणामे**ऽपि परिणामनित्यत्वेऽप्यङ्गीक्रियमाणे **नवाक्ष(न चाक्षर)राशेर-पौरुषेयत्वं युक्तम्** अपुरुषकर्तृकत्वम् उपपन्नम् **येन** पुरुषाश्रितदोषाभावात् **स्वतः प्रमाणं वेदः स्यात्** । कुतस्तन्न युक्तम् ? इत्याह–**शास्त्रान्तरस्यापि** इत्यादि । **तदनुषङ्गाद्** अपौरुषेयत्वानु-षङ्गात् परिणामनित्यत्वस्य तत्रापि भावात् । न चैवम् , अतो व्यभिचारी **हेतुः** इति भावः ।

अथ 'दुर्भणत्वादिमत्त्वे सति तन्नित्यत्वात्' इति विशिष्टोऽन्यर्त इति न दोषः; तत्राह– ५ **विशेषाभावाच्चेति** । तदन्तरपरिहारिण(हारेण) वेदे विशेषस्याभावात् , अशेषविशेषस्य अन्य-त्रापि[४०६ख] करणसंभवा[त] । **च** इत्यवधारणे । परस्य तत्र नित्यत्वसावकां(साधिकां) युक्तिं हन्तुमाह– **कर्तुरित्यादि** । **व्यभिचारी अयमपि** हेतुः । दूषणान्तरमाह–**तावतेत्यादि** । **तावता** कर्तुरस्मरेण(स्मरणे) नित्यत्वमात्रेण **प्रमाणत्वे वेदस्य** कर्त्तुस्मर्ता एननस्मत (कर्तुः स्मर्ता एव न स्मृतः) **शास्त्रान्तरस्यापि** न केवलं वेदस्य हिरण्यगर्भादिवत् ततः तस्यापि **प्रमाणत्वं** १० **भवेदिति** । अनेन उत्तरभागो व्याख्यातः । अथ शास्त्रान्तरस्य तथापि न प्रमाणत्वम् ; तत्राह **श्रुतेः** इत्यादि । **प्रमाणत्वमिति** ।

किंच, श्रुतेर्वर्णानां[पदानां वाक्यानां] वा प्रमाणत्वं भवेदिति पक्षाः । तत्रान्य(तत्राद्य) पक्षद्वये दूषणमाह–**वर्णानां पदानां च न क्वचित् प्रमाण्यं न भवेत्** , अपि तु वेदवयादावपि (वेदवत् वर्णपदादावपि) भव[त] प्रतिषेधद्वयेन प्रत्यक्षा(प्रकृता)र्थगतेः । नहि लोके वेदे च १५ वर्णपदःअग्न्यादि(वर्णपदे अग्न्यादिरूपे भिन्ने, उ)भयत्राविशेषात् । तृतीयपक्षे द्वैद्वत(द्वैतम्, कृत)-सङ्केतापेक्षाणाम् , अन्यथाभूतानां वा ? प्रथमपक्षे दूषणमाह–**सङ्केत** इत्यादि । **प्रकृतवाक्य-राशेः** वैदिकवाक्यराशेः **इत्यं प्रति**(इतरं प्रति)पौरुषेयवाक्यराशिं प्रति **न कश्चिद्विशेषः** प्रमाणत्वेतरकृतो न भेदः । कस्मिन् सति ? इत्याह–**सङ्केतात् तदर्थप्रतिपत्तौ**, रागादिमान् पुरुषः सङ्केतं कुर्यादिति तन्नियतः सङ्केत इति मन्यते । दूषणान्तरमाह–प्रकृतवाक्यराशेः पौरुषेय- २० वाक्यान्तरं प्रति न[क]श्चिद् विशेषः । **व्यक्तिः** सदा सतः तद्वाक्यराशेः प्रकाशनम् , न तदर्थस्य **सङ्केत**त्यादिना उक्तत्वादस्य । **पौरुषेयी** च सा **व्यक्तिः** चिति(चिन्तिता) । **तया** तद्राशेः ईतरं प्रति न कश्चिद् विशेषः ।

एवं मन्यते–यथा[अ]सतां वाक्यराशेः[४०७क] रागादिमवा(मता)करणे नेति नियतार्थता, तथा प्रकृतवाक्यराशेः सतोऽपि तथाविधपुरुषेण व्यक्तौ तदन्यथा व्यक्तिरिति स २५ एव दोषः ।

ननु यथा[10] व्यङ्ग्यं तेनापि (तेनाभि)व्यक्तिः, घटादौ तथादर्शनादिति चेत् ; न खट्वादौ (खड्गादौ[11]) मुखादेरन्यथापि[12] व्यक्तिदर्शनात् । अथ सर्वत्र प्रसृतस्य तद्वाक्यराशेः न केन-

---

(१) शास्त्रान्तरात् । (२) शास्त्रान्तरपरिहारेण । (३) वाक्यानां प्रमाणत्वमित्यत्र । (४) द्वैतमिति द्वौ विकल्पौ वक्ष्यमाणौ इत्यर्थः । (५) वैदिकवाक्यराशेः । (६) पौरुषेयवाक्यराशिं प्रति । (७) वैदिकवाक्य-राशेः । (८) रागादिमता । (९) इष्टविपरीता अभिव्यक्तिः स्यात् । (१०) यादृशम् । (११) आयते खड्गे आयतः मुखः दृश्यते । (१२) आयताद्याकारतया ।

चिदन्यथा व्यक्तिः क्रियते, जनापवादभयादनादेयताप्राप्तेश्च, या भ्रान्त्या कस्यचिदना(न्य)-थापि तद्व्यक्तिः सोऽव्ययनम्लत्यानके स (सापि अभ्यस्तास्तिक)समुदायान्निवर्त्तते । [अ]त एवेन्द्रोत्सवे सहभूय वेदज्ञाः तत्पाठमद्यापि शोधयन्तीति चेत ; उच्यते–अनादावतीते काले तथैव सर्वत्रार्यं प्रकृत(प्रसृत) आसीदिति किमत्र प्रमाणम ? न तावत प्रत्यक्षम ; इदानीन्तनस्य कस्य-

५ चित तत्कालाध्यक्षाभावात । भावे युक्तं(ऽयुक्तम) । तत्कालीन[स्य] स्यादिति चेत ; कोशपानं विधेयम । नाप्यनुमानम ; तदभावात । तद्धि(नन्वि)दमस्ति–'वेदः तत्काले सर्वत्र प्रकृत(प्रसृत) एव तत्त्वाद् यथेदानीम' इति चेत ; कथमेवं भ र ता(भा र ता)दीनां तत्काले प्रकृ(सृ)तत्वं न स्यात ? व्यास कृतिबाधनादिति चेत ; न ; हिरण्यव्यक्तिबाधनमत्रापि । अस्य विलोपो(पे) अन्यत्र कः समाश्वासः ? अथ यथेदानीं तथा अन्यदापि वेद आसीदिति प्रसिद्धिः अत्र प्रमा-

१० णम ; अन्यदा हिरण्यगर्भादिकृत इत्यपि प्रसिद्धिः अविशिष्टास्ति । नाप्यागमः ; तदभावात । नहि आत्मनः सर्वदा सर्वत्र प्रसृतत्वप्रतिपादकः परस्य आगमोऽस्ति, कार्येऽर्थे तदभ्युपगमात ।

एतेन अनागते काले तत्प्रसृतत्वेऽप्रमाणं(तत्त्वाद्वेदस्य प्रामाण्यं) चिन्तितम । तदेवं सर्वदा तत्प्रसृतत्वसिद्धेः कदाचिदन्यथापि व्यक्तिः संभाव्यत इति ना(न) [४०७ ख] पौरुषेयादस्य विशेषः ।

१५ ननु यदुक्तम–'सङ्केतवशात्तदर्थप्रतिपत्तौ' इति ; तदयुक्तम ; तद्वशात पदस्यार्थः प्रतीयते न वाक्यस्य, प्रतिपन्नपदार्थस्यापूर्वस्यापि श्लोकस्यापि श्रवणे तदर्थप्रतीतिदर्शनात , वाक्यार्थश्च वेदार्थ इति चेत् ; अत्राह–**स्वत** इत्यादि । **स्वतः** स्वमाहात्म्यात तद्वसन्नि(तद्वक्तृनि)-रपेक्षत्वात **प्रमाणत्वे** स्वार्थप्रतिपादकत्वे प्रकृतवाक्यराशेः **सङ्केतादर्श(र्शि)नोऽपि प्रमाणं स्यादिति** । परिज्ञातपदार्थस्य सर्वस्यापि तद्वाक्यराशिश्रवणा द(णेऽपि) परोपदेश(शादेव) तदर्थ-

२० प्रतीतिः स्यात , न चैव(वम ।) [न] च पण्डितोऽपि परकाव्यं तदुपदेशाद् यथावदवगच्छति ।

स्यान्मतम , यदुक्तम–'**पौरुषेयव्यक्त्या(क्त्या) प्रकृतवाक्यराशेः इतरं प्रति न कश्चिद् विशेषः**' इति; तदनुपपन्नम् ; तद्व्यक्तिरपि नित्यैव पुनः पुनः प्रवर्त्तते न पुनरपूर्वात(र्वा) कदाचित केनचित कृतात(कृतेति) । तत्कर्तुरस्मरणादिति ; तत्राह–**कर्तुरस्मरणेऽपि** इत्यादि । संभावनायाम **अपि**शब्दः, तद्व्यक्तेः यः कर्ता तस्यास्मरणेऽपि **प्रबन्धानादित्व(त्वं) स्याद्**

२५ व्यक्तेः न पुनः नित्यत्वमेव । भवत्वे(त्वे)वम् इति चेत् ; अत्राह–**तथापि** इत्यादि । **[तथापि]** तत्प्रबन्धानादित्वप्रकारेणापि **कथं प्रामाण्यं तद्राशेः म्लेच्छव्यवहारवत्** ।

(१) वेदः । (२) वेदत्वात् । (३) महाभारतरामायणादीनाम् । (४) अतीतकाले । (५) 'महाभारतं व्यासकृतम्' इति प्रसिद्ध्या । (६) 'हिरण्यगर्भेण व्यक्तो वेदः' इति प्रसिद्ध्या । (७) अतीतकालेऽपि । (८) 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति' इत्यादिना हिरण्यगर्भकृतो वेदः इति प्रसिद्धिः वेदेऽपि समानेति भावः । (९) 'कुर्यात्' इति विध्यंशे एव तत्प्रामाण्यस्वीकारात् । (१०) सङ्केतवशात् । (११) परोपदेशादेव । (१२) तुलना–"म्लेच्छादिव्यवहाराणां नास्तिक्यवचसामपि । अनादित्वात्तथाभावः पूर्वसंस्कारसन्ततेः ॥ तादृशेऽपौरुषेयत्वे कः सिद्धेऽपि गुणो भवेत् ।"–प्र० वा० ३।२४५–४६। अष्टश० अष्टस० पृ० २३८ ।

प्रकृतं निगमयन्नाह-**तन्न** इत्यादि । **न[अ]पौरुषेयस्यापि** वाक्यराशेः **सङ्केतवशादर्थप्रतीतौ** कथं **विश्वासः** इदीनीन्त(नीन्तन)स्य रागादिमत्त्वा[त]सङ्केतविधातुः । यदि वा, व्यक्तिवन्[1] तत्करणमपि अन्यथा संभाव्यते इति चेत ; अत्राह-**पौरुषेयस्य** इत्यादि । [४०८क][**पौरुषेयस्य**] पुरुषवचनस्य **विप्रतिपत्तिनिराकरणोपायः स्यात्** । कः ? इत्याह-**समुपाया (सम्प्रदाया) विच्छेदोऽपि** न केवलं माहात्म्यमेव । सोऽपि कुतः ? इत्याह-**तदर्थदर्शिभिः** इत्यादि । शास्त्रार्थदर्शिभिः, **पुनः पुनः** उच्छ(च्छि)न्नस्य **उच्छ(च्छि)न्नस्य प्रवर्त्तनात्** सम्प्रदायस्य । ५

अथ मतम्-अपौरुषेयवत् पौरुषेयमपि शास्त्रम् अर्थे तादात्म्यादिप्रतिबन्धाभावात् प्रमाणं मा भूत् , अत्राह-**शास्त्रम्** इत्यादि ।

> **[शास्त्रं शक्यविशेषरूपविषयाशेषं प्रमाणं स्वतः,**
> **सर्वज्ञैः सह चेतसो विनियतं प्रतिपादकैः स्यात् परम् ।**
> **कोऽन्यः शंसति वेदवेदकवचःऽन्यं वचश्चेत्कथम् ,**
> **तत्त्वं वस्तुगतागतं जडधियः शुद्धोदनेः शिष्यकात् ॥३०॥]** १०

शास्त्रं प्रमाणम् । कुतः ? इत्याह-**स्वतः** स्वयोग्यतावशात् न तादात्म्यादिबलात् , कृत्तिकोदयवद् भविष्यति[2] शकटे । सर्वं स्यादिति चेत् ; अत्राह-**विनियतं** किञ्चिदेव न सर्वम् । किं तत् ? इत्याह (ह-)**शक्य** इत्यादि । **शक्यस्त्वासा (शक्यश्चासौ) विशेषश्च** प्रत्यक्षादिरूपः तस्य **विषयो** गोचरोऽ**शेषो** यस्य तत्तथोक्तं प्रमाणान्तरादि(वि)संवादकम् इति यावत् । अतीतानागतयोरसतोः प्रवर्तमान(नं) निर्विषयं तदप्रमाणम् ; तत्राह-**सर्वज्ञैः सह तश्चेतः(चेतसः)प्रमाणम्** । एव(वं) मन्यते-यथा सर्वज्ञात्म(सर्वज्ञज्ञानम्)तीतादौ प्रवर्त्तमाना अपि(नमपि) स्वतः प्रमाण(णं)परमार्थतः तथा इदमपि इति । ततः 'यदि च सामान्यं व्यक्तिर्वा[वा]च्यं शब्दानां भवेत् अतीतानागतं वाच्यं न स्यात्' इति[3] ; तन्निरस्तम् ; सर्वज्ञानवक्षा वृत्तस्यापि तत्रानिधारणात् (सर्वज्ञज्ञानवत् अतीतानागतस्यापि तत्रावधारणात्) । १५ २०

यत्पुनरेतत्-

> *"अतीतानागतेऽप्यर्थे सामान्य[वि]निबन्धनाः ।
> पिनिविशन्ते (श्रुतयो निविशन्ते सद)सद्धर्मः कथं भवेत् ॥" २५
> [प्र०वा० २।३४] इति[4] ;

तत्रेदं चिन्त्यते-कुतोऽतीतानागतयोर्न तद्धर्मः ? तयोरसत्त्वात् । कदाऽसत्त्वम् ? स्व-

(१) अभिव्यक्तिवत् । (२) भाविनि । (३) "अतीतानागतं वाच्यं न स्यादर्थेन तत्क्षयात्"-प्र० वा० २।१८ । (४) "अतीतानागतेऽप्यर्थे सामान्यनिबन्धनाः सामान्याश्रयाः श्रुतयो निविशन्ते व्यवतिष्ठन्ते-आसीत् घटो भविष्यतीत्यादयः । तथा चासतो घटस्य सामान्यं धर्म इत्युक्तं स्यात् तच्च सामान्यं सत् असतोऽतीतादेर्धर्मः कथं भवेत् ? न हि तैक्ष्ण्यं शशविषाणस्य भवति ।"-प्र० वा० मनोरथ० ।

काले ; वर्त्तमानमपि (नेऽपि) तदनुषङ्गः, तस्याप्यन्ये (प्यन्य) कालापेक्षयोऽतीतानागतत्वा (पेक्षया अतीतानागतत्वात्)। कथमेवं [४०८ख] सर्वज्ञ (सर्वज्ञाः) निर्विषयाः शब्दयतनस्यः (स्त्वेवम स्युः) तेषामपि[1] सामान्यं व्यक्तिर्वा विषयः। उभयत्रापि शब्दवत प्रसङ्गः। अथान्यकाले ; स्वकाले तर्हि शब्दं (सन्) प्रसक्तमिति कथं तद्धर्मः सामान्यमसद्धर्मः ? अथातीतादेर्वर्त्तमानस्य (मानेऽ)-
५ सत्त्वात्तदसद्धर्म इत्युच्यते ; तर्हि चित्रैकज्ञाननीलाकारे अविद्यमानेषु पीतादिषु वर्त्तमानम-सद्धर्मः स्यादिति दुस्तरम्।

अथ अतीतादेः स्वरूपेण प्रतिभासने कथमतीतादि ? तदुक्तम् (तदप्युक्तम्–)

***"स्वरूपेण हि य दृष्टं (यद् दृष्टं) तदतीतादिकं कथम् ?**
नहि अदृश्याद् अतीतादि परं रूपादिभा(द्विभा)व्यते ॥"

१० [प्र० वार्तिकाल० ३।२४]

इति चेत ; न सत्यमेतत् ; यतः सर्वज्ञेषु[2] स्वरूपेण प्रतिभासमानं कथम अतीतादिकमति (कमिति)समानम। न समानम, तेषु[3] प्रतिभासमानस्य सर्वस्य वर्त्तमानत्वादिति चेत् ; उक्तमत्र न तेषां[4] किञ्चित कारणं स्यात वर्त्तमानानां[5] तदनभ्युपगमात।

किंच, सुगतश्चेत स्वहेत्ववस्थानं (स्थां न) प्रत्येति ; कथं सर्वज्ञः ? प्रत्येति चेत् स्वात्मना
१५ वर्त्तमानतया ; कथमात्मनः तत्त्वाभ्यासदशां हेतुं[6] जानीयाद् ब्रूयाद् वा ? अन्यथा समकालं रूपं प्रतीयमानं रसस्य हेतुं जानीयादिति रसात् सामग्र्यनुमानं कुर्वती (ता) धर्मकीर्त्तिता (ना) सुगतमतं न व्यज्ञायि। यदि पुनरात्मनः[7] प्रागभावितया ; न तर्हि स्वरूपेण प्रतिभासमानं न वर्त्तमानता (सतं न वा वर्तमानतया)। अथ सुगतः स्वरूपादन्यन्न पश्यति ; कुत एतेन (एतत् ?) ***"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति"** [प्र०वा० २।३२७] [8]इत्यादि वचनादि[ति]चेत ; कथमे-
२० वम आगमप्रामाण्यं निराकुर्वतो (ता) योगिनो [४०९ क] नतिप्रकृता (न निराकृताः ?)। तन्न-युक्तम्–***"भूतार्थभावनाप्रकर्षजं योगिप्रत्यक्षम्"** [न्यायबि० १।११] इति। स्वरूपमात्र-दर्शिनो योगिन इति चेत् ; सर्वेऽपि स्युः[9] अविशेषात्। कथं चैवं स्वरूपमात्रयस्यवसानं (मात्र-पर्यवसाने) सर्वज्ञान (ज्ञत्वं) कस्यचित सिध्येद् इत्युक्तम्। प्रतिभा[सा]द्वैतं च चिन्तितम्। कस्य-चित्[10] तत्सिद्ध्यभ्युपगमे सुगतस्यापि तत्सिद्धिरनिवारिता इति सर्वज्ञा इव शब्दा अप्यतीता-
२५ दावप्रतिषिद्धप्रसंग (प्रसराः) इति सामक्तं (साधूक्तम्) **सर्वज्ञैः सहेति**।

ननु शास्त्रं चेद् अर्थे प्रमाणम् शब्देन्द्रियज्ञानयोरविशेषः तदुक्तम्–***"सैवैकरूपाच्छ-ब्दादेर्भिन्नाभासा मतिः कुतः ?"** [प्र०वा० २।२४] [11]इति। यदि वा, [12]तत एव अर्थप्रतीतेः

(१) सर्वज्ञानामपि। (२) सर्वज्ञज्ञानेषु। (३) सर्वज्ञज्ञानेषु। (४) सर्वज्ञज्ञानानाम्। (५) कारणत्वानभ्युपगमात्, अनन्तरपूर्वस्यैव कारणत्वस्वीकारादित्यर्थः। (६) हेतुत्वेन। (७) तत्त्वाभ्यासदशाम्। (८) 'तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥' इति शेषः। (९) योगिनः स्युः। (१०) सर्वज्ञान। (११) "सैव प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाभासा भिन्नाभासा मतिः एकरूपात् शब्दादेः, आदिशब्दात् गन्धरसादेः कुतः ? एकरूपविषया च भिन्नाभासा चेति विरुद्धम्।"–प्र० वा० मनोरथ०। (१२) शब्दादेव।

इन्द्रियसंहतेर्वैफल्यं स्यादिति। एतदप्युक्तम्–शब्दाद् व्यक्तिरूपप्रतिपत्तौ तात्स्थेवत्संहतेः (तौ न ताव-दक्षसंहतेः) साफल्यम् , वैफल्यं भवेदिति; तत्राह–**प्रतिपादकैरि**ति। परांत्वमव (**परं** तत्त्वमव)-बोधयद्भिः। एतदुक्तं भवति–सर्वज्ञवचनाच्चेत् जनः तत्त्वमवैति स्वरूपेण; कथं न उक्तदोषद्वयम्? नो चेत्; किं सर्वज्ञपरिकल्पनेन? यतः इदं सुभाषितम्–*"ज्ञानवान् मृग्यते" [प्र०वा० १। ३२][1] इत्यादि। विकल्पाकारमिति चेत्; कथं तदप्रतिबद्धजन्मनः? अथ 'सर्वज्ञे[2]षु विकल्पोऽ- ५
स्ति न युक्तमेतत्; उक्तोत्तरत्वात्। तथाहि–स्वलक्षणगोचरश्चेत् तेषु विकल्पः; न पूर्वदोष-परिहारः, परत्रापि तदनिवारणा[त्] नापि प्रमाणसंख्याव्यवस्था[3]। अवस्तुसामान्यगोच[र]-श्चेत्; अस्तु, तेषु भ्रान्तता[4]। तत्र (तन्न) किञ्चिदेतत्। मानादि (तन्वनादि) सर्वज्ञैः सह इति चेत्; अत्राह–**स्याद्** इत्यादि।

ननु वेद्यवेदकवचनानामभावात् कथं कस्यचित् कस्यचित् शास्त्र (स्त्रं) स्वतः प्रमाण- १०
मिति चेत्; अत्राह–**कोऽत्र (न्य)** इत्यादि। [५०९ ख] मिद्धोदिनः शिका (**शुद्धोदनेःशिष्य-कात्**) दिग्नादेः (दिग्नागादेः) **कोऽन्यो** विपश्चित् **संस (शंस)** त्युच्चारयति, किन्तु स एव। किम्? इत्याह–**वचः**। किंभूतम्? इत्याह–**वेद्यं** च घटादि **वेदकं** च ज्ञानं **वच**श्च घटा-द्यभिधानम् तानि **शून्यानि** निःस्वभाविति (निःस्वभावानि) यस्मिंस्तत्तथोक्तम्। अनेन परस्य स्ववचनविरोधं दर्शयति। तथाहि–किञ्चिदपि चेन्नास्ति; **[कथम्]** केने (केन) तत्प्रतिपादकं १५
वचनम्? अस्ति चेत्[5]; कथं 'न किञ्चिदस्ति' इति? स्वप्नादिवत् स्यादिति चेत्; कथं त[त्]? भ्रान्त्या इति चेत्; उक्तमत्र विभ्रमैकान्ते तदसिद्धेरिति[6]। सर्वविकल्पातीततयेति चेत्; अत्रा-प्युक्तम्। किंभूतात्? इत्याह–**जडधियः** इदन्तया[निदन्तया]वा तत्त्ववेदन[वि]मुखधियः। आनापि (अनेनापि) स्वसंवेदनाध्यक्षविरोधम्[7]। तथा शून्यता चेत्, स्वसंवेदनाच्च ध्यात (ज्ञाने) सर्वविकल्पातीतता, सा चेतसा (चेतसा) तद्वेत्ति[8]। कुत एतत्? इत्यत्राह–**तत्त्व (त्त्वं)** जीवा- २०
[दि]वस्तु, **वस्तुबलेनागतं यतः**।

इति र वि भ द्र पादपङ्कज च (भ्रम) रा न न्त वी र्ये विरचितायां
सि द्धि वि नि श्च य टीकायां शास्त्रसिद्धिः सप्तमः प्रस्तावः।

---

(१) 'कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये...' इत्युत्तरांशः। (२) सर्वज्ञेषु। (३) प्रमेयद्वैविध्याद्धि प्रमाणद्वित्वसंख्या व्यवस्थाप्यते। (४) स्यादित्यर्थः। (५) 'अस्ति' इति कथ्यते। (६) किञ्चिदस्तीति यदि उच्यते। (७) विभ्रमस्याप्यसिद्धेः। (८) दर्शयति।

[अष्टमः प्रस्तावः]

[८ सर्वज्ञसिद्धिः]

ननु '**सर्वज्ञः**' इत्यवाच्यम् ;[1]तदभावात् प्रमाणाभावेन इति चेत् ; अत्राह–**सिद्धोऽर्थ** इत्यादि ।

[सिद्धोऽर्थः सकलः त्रिकालविषयोऽनेकान्ततत्त्वात्मकः,
बुद्ध्यात्मा परमार्थतः स्वविषये वैशद्यमासादयन् ।
आवरणातिशयः प्रहीणतिमिराक्षेन्द्रपलम्भादिवत् ,
५ **हेतुः कर्मविमोक्षणाय न पुनर्द्रव्यस्य लोके श्रुतः ॥१॥]**

[अर्थः] स्वपरप्रकाशको भावः, **बुद्धिः** सैव **आत्मा** जीवः न पुनः बुद्धेरन्यः[2] तत्प्रतिभासविरहात् । **सिद्धो** निश्चितो यथोक्तन्यायात् । यदि पुनः[3]ततोऽन्यः स्यात् कुम्भकारस्यापि[4]तया सम्बन्धाभावान्नाभावात्(न्धाभावात्) न घटादिकम् उपलब्धिमत्कारण[मि]ति कुतः तद्ब-लात्[5] कस्यचित् चेतनावतः तनुभुवनादिकर्तृत्वम् , यतः तस्य[6] सकलहेतुफलग्रामपरिज्ञानं
१० सिध्येत । अथ तत्कार्यत्वाद्[४१०क]बुद्धिः तस्य[7] इत्युच्यते ; घटादेरपि उच्यताम् , प्रमेय-कार्यत्वेनापि तदभ्युपगमात् । आलम्बनप्रत्ययत्वान्नेति[8] चेत् ; आत्मनः(आत्ममनः) संयोगस्य स्यात् । असमवायिकारणत्वान्नेति चेत् ; कस्य तर्हि ? समवायिकारणस्य इति चेत् ; न ; हेतुफलयोः भेदैकान्तेन समवायीतरकारणविधिकस्य (तरकारणविभागस्य) कर्तुमशक्यत्वात् ।

अथ यत्र समवेतं चेति (भवति[9]) कार्यं तत् समवायिकारणम् ; 'समवेतम्' इति कोऽर्थः ?
१५ समवायेन वृत्तम् ; कोऽयं समवायो नाम ? अयुतसिद्धयोराधाराधेयभूतयोः यः सम्बन्ध इहेति-प्रत्ययहेतुः[स] समवाय[10] इति चेत् ; न ; हेतुफलविशेषयोरेव[त[11]]त्प्रत्ययहेतुतोपपत्तेः । ननु हेतौ हेतुरिति बुद्धिः, फले फलमपि न सिति न हेतौ (फलमिति, न इहेति इ)ति चेत् ; तर्हि समवायेऽपि इहेतिबुद्धिः स्यात्[12] न पुनः इदं सामान्यम् इदं सामान्यम् इत्यनुगतबुद्धिः, समवायस्यात्र प्रत्ययहेतुत्वं न पुनः प्रकृतहेतुफलयोः हेतुरिति किंकृ[त]मेतत् ।

२० किंच, समवाय[ः]समवायिभिरसम्बद्ध्यमान एव योगिनोऽन्यस्य वा यदि 'अयं समवाय इति तन्तुषु पटः' इति च बुद्धिमुत्पादयति स्वमाहात्म्यात् न आकाशादिः ; तर्हि पटोऽपि तन्तु-भिरनभिसम्बद्ध्यमान एव 'अयं पटः' इति[स] च इहेति बुद्धिमुत्पादयेत्[13] तत एव । अयमेव त्वान्यः पक्षः (?) वृत्तेदं (वृक्षे) शाखा इत्यपि प्रतीतेः, तत्न(तत्र) द्वयोरपि (भि) सम्बन्धः । ततो यथा शाखा-

(१) सर्वज्ञाभावात् । (२) भिन्नः । (३) बुद्धेर्भिन्नः । (४) बुद्ध्या । (५) घटदृष्टान्तात् । (६) तनुकरणभुवनादिकर्तुः । (७) ईश्वरस्य । (८) न घटस्य । (९) उत्पद्यते । (१०) "अयुतसिद्धानामाधार्या-धारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः ।" –प्रश० भा० पृ० ५। (११) इहेतिप्रत्यय । (१२) अत्र पाठस्त्रुटितः इति । (१३) स्वमाहात्म्यादेव ।

यां वृक्ष इति ततो भवति बुद्धिः तदा तत्र[1] शाखा इत्यपि इति चेत् ; न ; शाखाया [2]वृक्षारभ्यु(रभ्य)त्वप्रसङ्गा[त् । अ]थ यत् पूर्वं तदारं(तद् आरम्भकम् ;)शाखाश्च पूर्वा इति ; तन्न सारम् ;[४१० ख]पूर्वा(पूर्वं)तामामदर्शनात् पटात् पूर्वं तन्तुवत् । अनुमीयन्त इति चेत् ; शाखाभ्यः पूर्वं वृक्षोऽस्तीत्यनुमीयताम् । सूक्ष्म(क्ष्मात्)स्थूलवत [3]स्थूलादपि सूक्ष्मस्य कपालादेर्दर्शनात् । अथ दृश्यस्य सतोऽदर्शनम् पूर्वबाधकम् ; एतदन्यत्रापि समानमिति न किञ्चिदेतत् । ५ न च कुण्डबदरसम्बद्ध्यमान एव कश्चिद् 'इह कुण्डे बदराणि' इति प्रत्ययहेतुः प्रतिपन्नः, यतोऽन्यत्र[4] तथा कल्पना स्यात् । तत्सम्बन्धः समवाय इति चेत् ; 'इह समवायिषु समवायो वर्त्तते' इति बुद्धिर्यदि अन्यसमवायनिबन्धना ; अनवस्था । नो चेत् ;अनयैव व्यभिचारस्तत्साधनस्य।

स्यान्मतम्–विशेषणीभाव:(व)सम्बन्धनिबन्धना तद्बुद्धिरिति ; तन्न सारम् ; समवायवत् [5]जात्यादयोऽपि द्रव्यादीनां विशेषणम् इति सर्वत्र तद्बिन्धत्व(तन्निबन्धनत्व)प्रसङ्गात् । १० विशेषणीभावेऽपि समवायवत्[6] प्रसङ्गः चिन्त्यः । तन्न समवायो नाम ।

अथ बुद्धिरूपतयात्मनः परिणाम[णाभात् अ[7]]स्यात्तत्र[8] समवायः ; तर्हि सिद्धमिदम् '**बुद्धिः आत्मा**' इति । ननु सौगतमतं स्यादिति चेत् ; अत्राह–**अनेकान्ते त**(न्तेत्यादि) तत्त्वतः सिद्धः तदात्मा इत्य**नेकान्तः तत्त्वं** स्वरूपं यस्येति । एकस्याऽनेकधर्मात्मकत्वस्य कल्पितत्वाद् अनर्थः स भवेत् इति चेत् ; अत्राह–**अर्थः** सिद्धो निरूपितनीत्या नियतविषय[:] १५ सिद्धः । ततो न विवादपरिसमाप्तिः इति चेत् ; अत्राह–**त्रिकालविषय** इति । त्रिषु कालेषु व्यवस्थिताः पदार्था अपि त्रिकालशब्देन उच्यन्ते, **त्रयः काल (ला) विषयो** यस्य इति । [9]तदभावे [४११ क] सकलव्याप्तेरसिद्धेर्न किञ्चिदनुमानं भवेत् । चोदना वा कस्मै[त्रि]कालविषयमर्थं निवेदयेत् ? यतः *"**चोदना हि**" [शाबरभा० १।१।२] [10]इत्यादि सुभाषितं भवेत् ।

सर्वज्ञरहितं सर्वं चिन्तयंश्चारुचक्षुषा । २०
स चार्वाकश्चिरं चित्रवधं नीतोऽनया दिसा(शा) ॥

कश्चिदेव तथा स्यादिति वैशेषिकः ; तत्राह–**सकलो** निरवशेषः, नहि कश्चिदेवात्मा चेतनः । साकल्येन व्याप्ति[:]ज्ञं या । तथा चेत् ; इतरो तरो [11](इतरोऽपि), नानुमानो(नं) वा स्यात् । न चानुमानमन्तरेण अजातोऽपि(चार्वाकोऽपि)जीवतीति निरूपितम् ।

यदि मतम्–षट्प्रमाणकः तद्विषयः[12] इति सिद्धसाधनम् ; तदुक्तम्– २५

(१) वृक्षे । तुलना–"पटस्तन्तुष्वित्यादिशब्दाश्चेमे स्वयं कृताः । शृङ्गं गवीति लोके स्यात् शृङ्गे गौरित्यलौकिकम् ॥"–प्र० वा० १।३५० । "वृक्षे शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिका मतिः ।···ताः पुनस्तास्विति ज्ञानं लोकातिक्रान्तमुच्यते ॥"–तत्त्वसं० पृ० २६७। लघी० स्ववृ०पृ० १४।(२) वृक्षोत्पाद्यत्व । (३) घटात् । (४) इह तन्तुषु पटः इत्यत्र । (५) सामान्यादयः । (६) विशेषणीभावोऽपि स्वसम्बन्धिभ्यां सम्बद्धः असम्बद्धो वा इत्यादि । (७) बुद्धेः । (८) आत्मनि । (९) त्रिकालविषयकजीवाभावे । (१०) "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवञ्जातीयकमर्थमवगमयितुमलं नान्यत्किञ्चनेन्द्रियादिकम्"–शाबरभा० । (११) सर्वज्ञोऽपि सिद्धः स्यात् । (१२) त्रिकालविषयः ।

*"यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते ।"

[मी० श्लो० चोद० श्लो० ११०] इति[1];

तत्राह–**स्वविषय** इत्यादि । स्वस्मि[न्] त्रिकालरूपे **विषयो(ये) वैशद्यमासाद्य-**

न्न व(**सादयन्**, तत्र च) '**सकलः**' इति न सम्बद्ध्यते उत्तरग्रन्थविरोधात् । **स्वग्रहणेन**

५ नियतसर्वज्ञत्वनिषेधः । नहि सर्वस्वगोचरं निरावरणं ज्ञान(नं) नियतप्रकाशकं युक्तम् भानुमण्डल-

वत् । तदुक्तम्–

* "ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादिति (स्यादसति)प्रतिबन्धरि ।

दाह्येऽ(ह्येऽ)ग्निः दाहको न स्याद[स]ति प्रतिबन्धरि ॥"

[योगबि० श्लो० ४२१] इति[2] ।

१०   यत्पुनरत्रोक्तं प्रज्ञाकरेण–*"**सकलविषयत्वे सति आत्मनो निरावरणत्वे तत्र वैशद्य-**

(द्यं) सिध्यति तत्सिद्धौ च तद्विषयत्वं सिध्यति इत्यन्योऽन(न्य)समाश्रयः ।" इति ; तत्

'**त्रिकालविषयः**' इत्यनेन निरस्तम् । न तस्यानुमानमन्तरेण प्रतिभासाद्वैतेऽपि जीवितमस्ति

इत्युक्तम् । तच्च व्याप्तिग्रहणमन्तरेण नेत्यपि[3] । विषयग्रहणेन कामशोकभयादिवद्[4] वैशद्यमिति

निषिद्धम् । नहि तद्विषये वैशद्यम् [४११स्य] ।

१५   ननु त्रिकालविषयं मनोज्ञानम् अन्यस्य तददृष्टेः । तेन किमिव तत्र विशदं यथार्थं वा

स्यात्, दृष्टान्तयुक्त्या(क्त्य)भावे तदसिद्धेः । तदुक्तम्–

*"मृष्यमाणो यथाङ्गारः शुक्लतान्नेति जातुचित् ।

मनोज्ञानं तथाभ्यासात् नैव याति सदर्थताम् ॥" इति ;

तत्राह–**प्रहीण** इत्यादि । **प्रहीणं तिमिरम्,** उपलक्षणमेतत् रजोनीहारादेः, यस्य

२० तत्तथोक्तम् **अक्षम्** इन्द्रियं यस्य तस्येन्द्रुपलम्भ(तस्य **इन्दुपलम्भ**) आदिर्यस्य वृक्षोपलम्भादेः

सोऽपि तथोक्तः स इव **तद्वदिति** । एवं मन्यते–यथा चन्द्रादिज्ञानं स्वविषये अविशदमयथार्थं

वा आवरणवशात् न स्वतः तथा मनोविज्ञानम्, यथा च तद् आवरणापाये विशदं तत्र यथार्थं

च तथा मनोज्ञानमपीति । एवं हि भवदीयं भवेद् यदि तद् अविशदायथार्थग्रहणस्वभावं नित्यं

वा स्यात्, तच्चायुक्तम् '**अनेकान्ततत्त्व**' इति वचनात्, सत्यं स्वप्नावावसत्या(सत्यस्वप्ना-

२५ दिवत् सत्य)विशदयथार्थग्रहणदर्शनाच्च । तथापि तत्स्वभावं तद् इति चे(चेत् हि)चन्द्रादि-

ज्ञानमपि तत्स्वभावम् इति न परतोऽप्रामाण्यम् । यथा चात्र तिमिरादि तत्कारणमुपलभ्यते तथा

मनोज्ञानमनुमीयते । न च मीमांसकस्य अनुमान[म]प्रमाणं वेदनित्यताऽसिद्धिप्रसङ्गात् ।

(१) मीमांसकः । "एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते । नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते ॥"–मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १११ । (२) उद्धृतमिदम्–जयध० प्र० भा० पृ० ६६ । अष्टस० पृ० ५० । 'असति प्रतिबन्धके···न स्यात्कथमप्रतिबन्धकः'–योगबि० । (३) अनुमानम् । (४) उक्तम् । (५) काल्पनिकं भावनात्मकम् । (६) कामादिभावनाविषये । (७) मनोज्ञानम् । (८) "घृष्यमाणो हि नाङ्गारः शुक्लमेति जातुचित् । निजः स्वभावसम्पर्कः केनचिन्न निवार्यते ॥"–प्र० वार्तिकाल० २।२३४ । (९) दोषात् ।

ननु[द्वि]चन्द्रादिज्ञानं यदि तत्स्वभावं कदाचनापि न ततो विशदस्य यथावस्थितस्य वाऽर्थस्य प्रतीतिः स्यादिति चेतिदितितत्र(चेन ; तदितरत्र)समानम् । अथ सत्यस्वप्ने तस्य अन्यतः सत्यार्थता वैशद्यं च, तत एव चन्द्रादिज्ञाने ज्ञानेऽपि इति स्वतोऽप्रामाण्यं परतः [४१२क] प्रामाण्यमिति प्रसक्तम् । अन्यस्यादर्शनमुभयत्र समानम् ।

ननु तदुपलम्भवत तस्य स्वविषये वैशद्यासादनेको(वैशद्याभावादनेकान्तो)हेतुः इति चेत ; ५ अत्राह–**[अ]तिशयो हेतुः** इति । **अतिशय** उत्कर्षः । कस्य इति चेत ? उच्यते– **[आवरणस्य] 'प्रहीणतिमिराक्षेन्दूपलम्भादिवत स्वविषये वैशद्यमासादय-न्तीति(यन्'** इति) वदता 'प्रहीणावरणतिमिर' इत्युक्तं भवति । तस्माद् **आवरणातिशयो हेतुर्लिङ्गम** । तथा च प्रयोगः–आवरणप्रहाणं पुरुषेषु कचित परमकाष्ठानिष्ठम अतिशयत्वात तिमिरादिप्रहाणवत । १०

ननु तत्प्रहाणवत दृष्टिप्राहमस्य(प्रहाणमस्य)तिशयवद् उपलभ्यते ततोऽस्या अपि तद्वद्-भावः स्यात , न चैवमिष्यते, ततो व्यभिचार इति चेत ; अत्राह–**कर्म** इत्यादि । **कर्मणां नि(वि)मोक्षणम** आत्मनः सकाशाद् अपसारणं तस्मै तदर्थो हेतुः न पुनः तदत्यन्ताभावार्थः। कुतः ? इत्याह–**न पुनः** नैव **द्रव्यस्य** जीवस्य पुद्गलस्य अन्यस्य वा क्षयः अत्यन्ताभावोपल-(भावो ल)क्ष्यते यतः सतोऽत्यन्तविनाशाभावात इति प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते । ततो न १५ यथात्मनःर्मणां तथा तस्यप्यनात्मना(ततो यथा आत्मनः कर्मणां तथा तस्या अपि न आत्मनः) विमोक्षणसंभवान्न व्यभिचार इति भावः । यदि वा ज्ञानस्य थैसत्यस्य(वैशद्यस्य)वा अतिशयो गृह्यते ।

नन्वेवं **स्वविषये सद्य(वैशद्य)मासादयन् सिद्धो**ऽपि किं सुगतोऽन्यो वेति विशेष-रूपतया न सिद्धः तत्प्रतिबद्धहेत्वभावादिति चेत ; अत्राह–**श्रुत** इत्यादि । **श्रुतेः(श्रुतः)**श्रवण- २० विषयतामुपनीतो **लोके** अनन्तरप्रस्तावे नाः(वा)स्याद्वादः स्यात्कारलाञ्छनो वाक्यराशिः प्रशस्तो वा कर्मफलसम्बन्धादिविशेषः **ततः**[४१२ख]सिद्धिः (सिद्धः) 'तद्विशेषः' इत्यध्याहारः, वचनविशेषाद् वक्तु(क्तृ)विशेषसिद्धे[र]प्रतिषेधात ।

ननु सुगतेनापि कल्पितः स्याद्वाद उक्त इति सोऽपि नैतस्तत्र वैशद्यमासादयन् सिद्धः स्यादिति चेत ; अत्राह–**परमार्थतः** । २५

स्यान्मतम्–ज्ञानस्य वैशद्यम् अक्षव्यापारात ; अक्षाणां च सन्निहिते वर्त्तमाने व्यापारः, तत्कथं सं तत्र वैशद्यमासादयन् सिद्धोऽपि सर्वज्ञः स्यात । उक्तं च–

> *"सन्निहितं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना ।
> न तत्स[मु]द्भवं ज्ञानं जायतेऽतीतभाविनि ॥" इति ।

चेत ; अत्राह–**धीः** इत्यादि । ३०

(१) 'ज्ञाने' इति दुर्लिखितम् । (२) आवरणप्रहाणवत् । (३) दृष्टिज्ञानम् । (४) दृष्टेरपि । (५) आवरणवत् । (६) आकाशादेः । (७) दृष्टेः । (८) तदविनाभावि । (९) श्रुतात् कल्पितात् । (१०) बुद्ध्यात्मा । (११) "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना"–मी० श्लो० सू० ४ श्लो० ८४।

[[1]धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुंसां कुतः पुनः ।
[2]ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत् साधनान्तरम् ॥२॥

परोक्षज्ञानमिष्यत एव कथमनागतार्थविशेषेषु ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः तत्स्वभाव-कार्ययोः प्रागग्रहणात्, श्रुतेश्च तत्र प्रामाण्यानभ्युपगमात् विध्यादिविषये नियमात्, ५ प्रमाणान्तराभावात् । यदि पुनः त्रिकालविषया श्रुतिरिष्यते, प्राप्तं परोक्षाणां पुरुष-ज्ञानमिति ।]

मानन्तगोक्ता (**धीः** अनन्तगोक्ता) बुद्ध्यात्मा वैशद्यमासादयन्त (यत् **न**) **चेत्** न विद्यते यदि । **क्वा**(क ? अ)**त्यन्तपरोक्षेऽर्थे** धर्मादि (धर्मादौ) । 'स्वतः' इति द्रष्टव्यं लिङ्गादिव्य-पोहार्थम् । **कुतः** प्रमाणान्न कुतश्चित् । **पुनः** इत्यत्र वीप्सार्थो द्रष्टव्यः—पुनः पुनः अनाद्यनन्त-१० काले, **ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः ज्योतीषि(ज्योतींषि)** ग्रहनक्षत्रादीनि तेषां **ज्ञानं** ग्रहणा-पराग(णोपराग)प्रचलनादितत्फलतत्कारणाभावधर्मादिप्राणिक्षेत्रादिपरिच्छेदः तस्या**विसंवादः** तदभावे तदन्यकारणाभावात् । केषाम् ? इत्याह—**पुंसाम्** पृथगतान्यम् (पृथगात्मनाम्) अस्ति च तदविसंवादः ततोऽस्ति तत्र धीरिति । यस्तु क्वचिद् विसंवादः समास्त्रार्थ(सः शास्त्रार्थ)-सम्बन्धापरिज्ञानात् लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धाऽज्ञानाद् अनुमेयज्ञानविसंवादवत् । तत्सवम्ब(तत्सम्ब-१५ न्ध)परिज्ञाने तदविसंवाददर्शनात् । अपौरुषेयं शास्त्रमस्ति ततः तदविसंवाद इति चेत् ; अत्राह—**[श्रुतात्]** शास्त्रात् **चेत्** तदविसंवादः **साधनान्तरम्** अतिशयरूपात् सर्वज्ञस्यरा(सा)धना-दिदं शास्त्ररूपम् अपरं साधनम् । [अ]विसंवादाद्वा तमन्तरेण [४१३क] तदभावात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—**परोक्षज्ञानमि**त्यादि । ननु परोक्षस्य अस्मदाद्यपेक्षया देशादिव्य-वहितस्य धर्मादेर्ज्ञानं केन अनुमानमवेष्यते, येनैवमो(वं चो)द्यते ? न सौगतादिना सर्वज्ञ-२० वादिता(ना) ; प्रत्यक्षस्यापि तज्ज्ञानस्य तेनाभ्युपगमात् । नापि मीमांसकेन ; आगमस्यापि तेनाभ्युपगमात् । न च लौकायतिकेन ; तज्ञा(तज्ज्ञा)नस्यानुमानस्य अन्यस्य वा प्रमाणत्वेन तेनानभ्युपगमादिति चेत् ; 'सौगतेन' इति ब्रूमः । तथाहि—यस्माद् उत्पन्नं यदाकारानुकारं (रि च) तस्यैव ग्राहक(कं) ज्ञानं सुगतस्यापीति तदाकाराभायकः परोक्ष[ः] । स च तदाकारज्ञानव्य-तिरेकानु (कात्) यथा अस्मदादिभिरनुमीयते तथा सुगतेनापीयितरथा (पि, इतरथा) प्रत्यक्षेण २५ अनुमानेन वा[त]दर्थस्य तेनाऽपरिच्छेदात् पृथग्जनादप्यसौ पापीयान् । यदिवा, चा[र्वा]केणेति शिष्मः । तेनस्र(तेनापि अ)सर्वज्ञागमजादिना(वादिना[10]) व्यवहारमिच्छता परचैतन्यादाविव नष्टादावप्यनुमानमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा न संपूर्णव्यवहारसिद्धिः ।

(१) उद्धृतोऽयम्—"···श्रुताच्चेत्···" प्र० मी० पृ० १२। (२) तुलना—"ग्रहादिगतयः सर्वाः सुखदुःखादिहेतवः । येन साक्षात्कृताः तेन किन्न साक्षात्कृतं जगत्॥"—न्यायवि० ३।४१४। चन्द्रसूर्योपरागादेः ततः संवाददर्शनात् । अप्रत्यक्षेऽपि पापादौ न प्रामाण्यं न युज्यते ॥—शास्त्रवा० २।३। (३) असर्वज्ञानाम् इत्यर्थः । (४) अत्यन्तपरोक्षेऽर्थे । (५) सर्वज्ञसिद्धिमन्तरेण । (६) शास्त्रेऽविसंवादाभावात् । (७) परोक्ष-ज्ञानस्य । (८) इति नियमात् । (९) तदाकारज्ञानान्यथानुपपत्तेरित्यर्थः । (१०) सर्वज्ञागमनिरा-करणवादिना ।

भवतु तत्तदेवेति चेत् ; अत्राह–**कथमनागत** इत्यादि । **अनागतार्थविशेषेषु ग्रहणादिषु** भाविषु **ज्योतिर्ज्ञान(नाऽ)विसंवादः कथं**[न कथं]चित । कुतः ? इत्यत्राह–**तद्** इत्यादि, **तेषाम्** अनागतार्थविशेषाणां ये **स्वभावकार्ये** तयोः **प्रा[गग्रहणात्]** ग्रहणादेः पूर्वनिर्णयासंभवात् । एवं मन्यते–सुगतेन सह तत्स्वभावस्य निर्णये तेषामनागतार्थातां(तार्थता) कुतः ? तद्रूपज्ञानस्य प्रश्नादेर्वा तत्कार्यस्यापि निर्णये स एव दोषः । 'नहि भावि कारणम्' इति निरूपितम् । ५ यदि वा, अनुमानप्रवृत्तिः(त्तेः) [४१३ख] प्राज्ञात(प्राग् व्याप्ति)निर्णयासंभवात् एकद्विप्रमाणनियमवादिनाम् इति द्रष्टव्यम् । तर्हि परोक्षज्ञानम् आगमोऽप्यस्ति ततोऽयमदोष इति; तत्राह–**श्रुतेश्च** इत्यादि । श्रुतिजनितं परोक्षार्थज्ञानं **श्रुतिः** तस्याश्च तत्र अनागतग्रहादौ **प्रामाण्यानभ्युपगमात्** सौगतादिभिः । इदमत्र तात्पर्यम्–यदा अनागतविषयं प्रत्यक्षमनुमानञ्चा(नं वा) सुगतस्य अन्यस्य वा न विद्यते, तदा अपौरुषेयी श्रुतिः तत्र प्रमाणमितव्या । न च तत्प्रमाणमिति १० मीमांसकैः तत्प्रामाण्यमिष्यत इति चेत; अत्राह–**विध्यादी**त्यादि । **विधिः आदि**र्यस्य नियोगभावनादेः स एव **विषयः** तत्र **नियमात्**; श्रुतेस्तत्रैव प्रामाण्याभ्युपगमात् मीमांसकैरपि इति । अन्यदेव तत्र प्रमाणमिति चेत् ; अत्राह– **प्रमाण** इत्यादि । निरूपितात् प्रमाणादन्यस्य [**प्रमाणान्तरस्य**]तत्राऽ**भावात्** इत्यर्थः । अथ अविशेषेण **त्रिकालविषया श्रुतिः इष्यते**; तदाह–**यदि पुनः** इत्यादि । तत्रोत्तरमाह–**प्राप्तम्** इत्यादि । १५

अथ वेदः स्वयमेव परोक्षमर्थं प्रतिपादयति इति किं तत्र ज्ञानेन इति चेत ? अत्राह–**त्रिकालविषयम्** इत्यादि ।

[त्रिकालविषयं तत्त्वं कस्मै वेदो निवेदयेत् ?
अक्षय्यावरणैकान्तान्न चेद्वेत्ति तथा नरः ॥३॥

पुरुषाः कुतश्चनापि तदविद्यावरणविच्छेदानिष्टेः न बोद्धुमर्हन्ति, तत्प्रकर्षानिवारणात् । वेदो न कस्यचित् स्वतः प्रमाणम्, तदविनिश्चयात् ।] २०

कस्मै न कस्मैचित् **वेदो निष्पादयेत्(निवेदयेत्)तत्त्वम्** । किन्तु(किं तत् ?) **त्रिकालविषयम्** अचेतनत्वात् इत्यभिप्रायः । चक्षुरादिवत् स्वयोग्यं(ग्ये) तत्र ज्ञानं जनयेत् सर्वस्य न वा कस्यचित् तत्र सङ्केतानर्थक्यम् । किमपिमेवेण(किमविशेषेण) न निवेदयेत् ? इत्याह–**अक्षय्यावरणे(णै)कान्तात्** कारणात् **न चेद्** यदि **वेत्ति** त्रिकालविषयं तत्त्वं २५ **तथा** विशदप्रकारेण **नरः** तथा [४१४क] तद्वेदने निवेदयेत् सङ्केतकारिणो विशिष्टस्य नरस्य अभावादिति ।

वेदार्थस्य साक्षात् कश्चित् ज्ञाताऽस्तु न तु सर्व इति चेत ; अत्राह–**पुरुषा** इत्यादि । तद्विषयदोषावरणविच्छेदाद् बोद्धुमर्हन्तीति निवेद[य]न्नाह–**कुतश्चनापि** इत्यादि । न केवलं

(१) एकप्रमाणवादिनः चार्वाकस्य, द्विप्रमाणवादिनः बौद्धस्य च । (२) वेद । (३) अनागते । (४) प्रमाणं स्वीकृतम् । (५) अनागतादौ । (६) उद्धृतोऽयम्–प्र० मी० पृ० १२। (७) त्रिकालविषय ।

स्वत एव **अपि तु कुतश्चन** कारणात् सम्यग्दर्शनादेः तच्च (तच्च) रागादि **अविद्यावरणं** च तयोर्विच्छेदस्य नाशस्य **अनिष्टेः न वोढुमर्हन्तीति** ।

ननु साकल्येन तदावरणविच्छेदो नास्ति पुरुषाणाम् अनाकमनोविभ्रमे (?) इति चेत् ; अत्राह–तदित्यादि । **तस्य** तद्विच्छेदस्य **प्रकर्षस्य** अतिशयस्य सर्वज्ञा[ज्ञ]सिद्धेरनिवारणात्
५ **'प्राप्तं परोक्षाणां पुरुषज्ञानम्'** इति । चर्चितमेतदनन्तरम् ।

ननु सत्यम् , पुरुषा न वेदार्थं वोढुमर्हन्ति, वेदः पुनरपौरुषेय[:]**स्वतः** स्वार्थं प्रतिपा- (पा)दयति । तदाह–**वेद** इत्यादिना । परः पृच्छति कस्य **प्रमाणम्** इति वेद इति । तं प्रत्याह– **न कस्यचित्** मुकथयेत (स कथयेत) । कुतः ? इत्यत्राह–**तदित्यादि** । वेदार्थतत्त्वाऽविनि- **श्चयात्** पुरुषत्वेन रथ्यापुरुषवत् स्वयं तर्हि निश्चयाभावात् , वेदस्य वाऽचेतनत्वेन तत्र विनि-
१० श्चयानुत्पादनात् इति भावः ।

किंच, सर्वं वचनं[अन्यथा , अ]र्थप्रतिपादनं च पुरुषापेक्षम् आत्मनि द्वय (द्वयं) दृष्टमपि यदि वैदिकं वचनमन्यथा संभाव्येत, तर्हि पुरुषेषु अर्थज्ञानं विशदं अक्षा[द्] दृष्टमपि तदभावेऽपि स्यात् ।

ननु वेदे कर्तु[र]स्मरणं साधनमस्ति नेह तदिति चेत् ; न ; अत्रापि ज्ञानातिशयोऽस्ति
१५ इति दर्शयन्नाह–**जीवानाम्** इत्यादि ।

[जीवानामसहायाक्षादाशास्त्रार्थविदः क्रमात् ।
विज्ञानातिशये विद्वान्न वै विप्रतिपद्यते ॥४॥

स्थावरादेः शास्त्रार्थतत्त्वज्ञपर्यन्तस्य जीवराशेः उत्तरोत्तरबुद्धिप्रकर्षं प्रति न कश्चिद् विप्रतिपत्तुमर्हति अन्यत्र विप्रकृष्टसंशीतिवादिनः शौद्धोदनिशिष्यकात् । शास्त्रा-
२० र्थविदां च तदर्थज्ञानप्रकर्षः स्वभावपाटवाभ्यासतारतम्यात् सर्वथाऽस्त्येव । कथम् ? उपनिबन्ध···तथैव कस्यचित् शास्त्रार्थनिरपेक्षं परोक्षज्ञानपाटवं यदि स्यात् किं विरुध्येत ? यतोऽसंभवत्प्रकर्षेषु स्वत एव वेदः प्रमाणं न स्यात् । यथा वचनत्वाविशेषेऽपि वेदः स्वत एव स्वार्थं प्रतिपादयति तथा पुरुषत्वाविशेषेऽपि कश्चिदेव अक्षनिरपेक्षः परोक्षार्थं विषयी- करोति । लोके कीदृशं प्रमाणं सर्वज्ञस्याभावसाधकम्, प्रत्यक्षादेः अभावविषयत्वविरोधाद-
२५ भावप्रमाणवैफल्यापत्तेरनभ्युपगमाच्च । तदभावे शास्त्रं युक्त्यबाधितमस्ति ।

'नास्ति सर्वज्ञः अनुपलब्धेः खपुष्पवत्' इत्यत्रोच्यते–यदि साधकप्रमाणनिवृत्तिः आत्मा वा तद्रहितोऽनुपलब्धिः ; यथास्वं नैरात्म्यं प्रसज्येत । न ह्यसर्वदर्शी तथैव सर्वात्मविशेषान् साक्षात्कर्तुमर्हति । तत एव प्रत्यात्मविशेषाणामनुमातुमशक्यं लिङ्गा-

(१) आवरणविच्छेदस्य । (२) अर्थानाम् । (३) 'नास्ति कश्चित् वेदार्थतत्त्वज्ञः पुरुषत्वात् रथ्यापुरुषवत्' इत्यनुमानेन । (४) एतद्द्वयम् । (५) अपौरुषेयम् नित्यं च । (६) इन्द्रियात् । (७) इन्द्रियाभावेऽपि । (८) अपौरुषेयत्वसाधकम् । (९) उद्धृतोऽयम् –···विज्ञानातिशये··· न्यायवि० वि० द्वि० पृ० २५२।

भावात् । तदविशेषेण अनेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वसाधनात् । कुतश्चित्तत्प्रतिपत्तौ अप्रतिपन्नविशेषाविनाभाविनः प्रतिपन्नस्वभावस्यापि तथैवानात्मकत्वप्रसङ्गात् । ततो न कस्यचिदुपलब्धिरिति सर्वाभावः । श्रुतस्याप्येवं प्रसङ्गात् । न हि···विशिष्टविषयत्वात् पुरुषार्थसिद्धेः । अन्यथाऽनवधेयत्वमेव शास्त्रस्य । तदियं प्रतिपत्तृप्रमाणनिवृत्तिः सर्वसम्बन्धिनी प्रतिपत्तुमशक्येति न केवलं सर्वज्ञाभावं साधयति अपि तु सर्ववस्तुव्यतिरेकं च । भावे तर्हि किं प्रमाणम् ? शास्त्रं ब्रूमः । तत्सद्भावप्रतिपादनात् चतुर्दशगुणस्थानोपवर्णनाच्च । कथमस्य प्रामाण्यम् ? चोदनायास्तर्हि कथम् ? नित्यत्वात् , तस्यास्तत् ; तत एव प्रवचनस्यास्तु । कथं प्रवचनस्य नित्यत्वम् ? यथा चोदनायाः । कथं तर्हि चोदनायाः नित्यत्वम् ? कर्तुरस्मरणादिति ; तत एव परमागमस्य । परमागमस्य तीर्थकराः कर्तारः स्मर्यन्ते इति चेत् ; ननु कणभक्षादयो वेदस्य कर्तारं स्मरन्ति । कणभक्षादीनां स्मरणस्य अप्रामाण्ये पुनः इतरेषां परमागमकर्तृविषयस्मृतेः प्रामाण्ये न कश्चिद्विशेषः । तदेतत् प्रवचनमपौरुषेयम् , तीर्थकराः समुत्पन्नं प्रवचनं प्रवर्तयन्तीति सर्वज्ञागमयोः प्रबन्धनित्यत्वेन नित्यत्वोपगमात् कुतस्तत्र एवमन्योन्याश्रयणं स्यात् । तन्नानुमानं सर्वज्ञाभावसाधनं प्रवचनं चेति स्थितम् । न च नानेकान्तशासनं जीवानां नानापरिणामप्रतिपादकम् । न च तत्प्रत्यनीकं प्रमाणमस्ति स्याद्वादेन बाधितविषयत्वात् पिटकत्रयवदिति । स हि एकान्तो न संभवति निर्विषयं चेति राजपथीकृतमेतदिति । यदि पुनः ते न सर्वज्ञाः वक्तृत्वादिभ्यः [वक्तृत्वात् पुरुषत्वात् रागादिमत्त्वात्] रथ्यापुरुषवदिति; जैमिनिरन्यथा [वेदज्ञः कुतः] ? नहि किञ्चित्साधर्म्यात् सर्वं तथैवेति प्रतिपत्तुं युक्तमतिप्रसङ्गात् । तदिमे वक्तृत्वादयोऽहेतवः अन्यथानुपपत्तिरहितत्वात् विपक्षे बाधकाभावात् । 'सर्वज्ञो नास्त्यनुपलम्भात्' इति व्याप्तिसाधने [3]स्वोपलब्धिः [असिद्धा] सर्वप्रामाण्य···सर्वज्ञानां [स्वपरोपलम्भसंभवात्]

न विद्यते **[सद्भागो]** यस्य **तदसद्भागम्** [४१४ ख] अतर्क(**अक्ष**)मिन्द्रियम् तस्माद् एकेन्द्रियादेः **आशास्त्रार्थविदः जीवानां** प्राणिनां**[क्रमात्]**क्रमेण**[वि]ज्ञानातिशये न वै विद्वान् विप्रतिपद्यते**, यथा परमाणोः परिमाणाद् आरभ्य आगगनात् परिमाणातिशय इति । नन्वयमर्थः *"ज्ञानस्यातिशयात् सिध्येद् विभुत्वम्" [सिद्धिवि० ८।८] इत्यादिना [4]प्रतिना प्रतिपादयिष्यते, तत्किमर्थमिह उच्यते ? तस्माद् अन्यथा व्याख्यायते— **विद्वान्** पठितैः(पण्डितः)शास्त्रेषु उक्तानुक्तपर्यालोचनपटुः **न[वै]**नैव**[वि]प्रतिपद्यते** अक्ष-

(१) तुलना—"एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् । नर्ते तदागमात् सिध्येत् न च तेन विनागमः ॥ सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः । प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥"-न्यायवि० ३।४१२-१३ । (२)तुलना—"सर्वज्ञप्रतिषेधे तु सन्दिग्धा वचनादयः ।"-न्यायवि० २।३४९। (३) तुलना—"सकलज्ञस्य नास्तित्वे स्वसर्वानुपलम्भयोः । आरेकासिद्धते तस्याप्यर्वाग्दर्शनतोऽगतेः॥"-न्यायवि० ३।४०६। "सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्यभिचारिणी । विन्ध्याद्रिरन्ध्रदूर्वादेरदृष्टावपि सत्त्वतः ॥"-तत्त्वसं० पृ० ६९ । प्रमाणसं० पृ० १००। त० श्लो० पृ० १३। आप्तमतत्त्ववि० पृ० ९४। (४)'प्रतिना' इति द्विर्लिखितम् ।

(अनक्ष)**विज्ञानातिशये** अतीन्द्रियार्थग्रहणयोग्यतायां ज्ञानस्य । कस्य ? इत्याह–**[आ]शास्त्रार्थविदः आ** समन्तात् सकलात् (सकलस्य) शास्त्रस्य वेदस्य योतिः (ज्योतिः) **शास्त्रस्य** वा **अर्थम्** अतीन्द्रियं वेत्तीति **तदर्थवित्** सर्वज्ञः तस्य । कुतस्तदतिशयः ? इत्याह–**अक्षकृत् सद्दाक्षा (असद्दाग्याक्षात्** अक्षा)भावात् । अथ अक्षाभावे कुतः स इति चेत् ?

५ अत्राह–**क्रमादिति** आम्नायाद् आगताद् दर्शनादेः । **जीवानाम्** इति निर्धारणे षष्ठी । यो हि विद्वान् स्वयं शास्त्रानुक्रम(माद)र्थमभ्यूह्य जानाति स कथमन्यत्र असद्दा[या]क्षार्थस्य ज्ञानरि विप्रतिपन्न [ने]ति भावः ।

ननु तदतिशये यद्यपि वद्वांत (विद्वान्) विप्रतिपद्यते, संसते (संशेते) अत्यन्तादृश्ये [1]अनक्षज्ञाने गत्यन्तराभावात् । तदुक्तम्–

१० *"[2]अनिश्चा(श्च)यकरं प्रोक्तम् ईदृक्षानुपलम्भनम् ।
तन्नैरा(वा)तीन्द्रियार्थानां सदसत्तादिविनिश्चयौ ॥"
[प्र० वा० २।९४]

इति सौगतः, तत्राह–**स्थावराद्** इत्यादि । **स्थावरो** वृक्षादिः **आदिर्यस्य शास्त्रार्थतत्त्वज्ञः पर्यन्तो** यस्य तस्य । कस्य ? इत्याह–**जीवराशेः** अनेन **'जीवानाम्'** इति [४१५क] व्याख्यातम् ।

१५ **उत्तरस्योत्तरः** अधिकस्यापि अधिको **बुद्धिप्रकर्षो** यस्य स तथोक्तः **तं प्रति न कश्चित् विप्रतिपत्तुमर्हति** वक्ष्यमाणम् इति **अन्यत्र शौद्धोदनिशिष्यकात्** । किंभूतात् ? इत्याह–**अविप्रकृष्ट [विप्रकृष्टसंशीतिवादिनः[3]]** इत्यादि । स एव विप्रतिपत्तुमर्हति संशीतेर्विप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वात् । अन्यः कस्मान्न विप्रतिपत्तुमर्हति इति चेत् ? अत्राह–**शास्त्रार्थविदां च** इत्यादि । **च** शब्दः अप्यर्थः, शास्त्रेण अर्थं विदन्तीति तदर्थविदः तेषामपि न केवलमन्येषां विवादगोचराणाम् **तदर्थ-**

२० **ज्ञानप्रकर्षः** शास्त्रार्थज्ञानाधिक्यम् **सर्वथा** सर्वप्रकारेण **अस्त्येव** । स कुतः ? इत्यत्राह–**स्वभाव** इत्यादि । **स्वभावेन पाटवं** च **अभ्यासश्च** तौ **आदी** यस्य औषधादिसेनादेः (सेवनादेः) तस्य **तारग्यात्(तारतम्यात्)** । **'कथम्'** इति प्रश्ने तस्य उत्तरम् **उपनिबन्ध** इत्यादि । को हि नाम स्वयं शास्त्रार्थ(र्थं) प्रतिपद्यमानः अन्यत्रापि(त्र वि)प्रतिपद्यते ? अनेन **'विद्वान्'** इति प्रतिपादितम् । **तथैव** तेनैव स्वभावपाटवाभ्यासादितारम्य(तारतम्य)प्रकारेण **कस्यचित्** पुरुष-

२५ विशेषस्य **शास्त्रार्थनिरपेक्षं परोक्षज्ञानपाटवं यदि स्यात् किंचिरुध्येत(किं विरुध्येत ?)** न किञ्चित् । एतेन शेषं निवृत्तम्[5] ।

तदनभ्युपगमे दूषणमाह–**तथा** इत्यादि । **यतो** जै मि न्या देः प्राकृताद् वि(ताऽवि)-शेषात् **स्वत एव** पुरुषनिरपेक्ष एव **प्रमाणं वेदो न स्यात्** स्यादेव । ततः स्थितम्– **यथा**

(१) अतीन्द्रियज्ञाने । (२) "अनिश्चयकरं प्रोक्तं ईदृक्क्षानुपलम्भनम् । तन्नात्यन्तपरोक्षेषु सदसत्ताविनिश्चयौ ॥–किन्तु ईदृगतीन्द्रियार्थविषयमनुपलम्भनमनिश्चयकरं प्रोक्तम्, सत्यप्यर्थे सम्भवात् । तत् तस्मात् अत्यन्तपरोक्षेषु सदसत्तानिश्चयौ न स्तः, सत्यपि प्रमाणावृत्तेः । प्रमाणनिवृत्तावपि अर्थाभावासिद्धेः ।"–प्र० वा० मनोरथ० २।९४ । (३) "विप्रकृष्टविषया पुनरनुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः ।"–न्यायबि० २।४७ । (४) बौद्धः । (५) शेषः श्लोकांशः व्याख्यात इत्यर्थः ।

वचनत्वाविशेषेऽपि वेदएवं(वेदः स्वत एव) पुरुषनिरपेक्षः स्वार्थं प्रतिपादयति तथा पुरुषत्वाविशेषेऽपि कश्चिदेव अक्षनिरपेक्षः परोक्षाथ(र्थं) विषयीकरोति इति ।

नन्वेवं स्वपरपक्षयोरविशेष एव उक्तः स्यात् , न पुनः स्वतःप्रामाण्य(ण्यं) वेदस्य निराकृत(तं) स्यादिति चेत्; अत्राह–**संभवत्प्रकर्षेष्विति**। संभवदतीन्द्रियार्थदर्शनेषु पुरुषविशेष(षेषु) **स्वत एव प्रमाणं वेदो न स्या**दिति सम्बन्धः, [1]तेभ्य एव तत्प्रमाणत्वभावादिति भावः । ५

स्यान्मतम्–वेदस्य परानपेक्षस्य अर्थप्रतिपादने न किञ्चित् प्रमाणं वायव(बाधक)मस्ति पुरुषस्य तु अक्षानपेक्षस्य अर्थविषयीकरणा[ऽसंभव एव] तद्बाधकमस्ति तत्कथं साम्यमिति चेत् ? अत्राह–**प्रमाण**मित्यादि । **लोके** निरवशेषे जागति(जगति) कचित् तदभावसाधने सिद्धसाधनम् इति लोकग्रहणम् , **प्रमाणम् कीदृशं** न किञ्चित् प्रमाणमित्यर्थः **सर्वज्ञस्याभावसाधकं प्रत्यक्षादेः** प्रमाणपञ्चकस्य **अभावविषयत्वविरोधात् अभावप्रमाणवैफल्यापत्तेः अनभ्युपगमाच्च**। चार्वाकस्य नायं दोष इति चेत् ; न ; तस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः सर्वत्र लोके तदभावसाधनमयुक्तम्, स्वयं सर्वज्ञतापत्तेः, अनुमानादेरभावात् । पराभ्युपगमात् तस्य तदिति नोत्तरम् ; त(तत्) एव अतीन्द्रियज्ञानप्रसङ्गात् । यथैव परस्य अनुमानमन्तरेण [न] तद्व्यवहारः तथा [1]तदपि न अतीन्द्रियज्ञानमन्तरेण । अविशदं तदस्तु इति चेत् ; न; अनुमाने जीवति विशदमपि [1]तदनिषेधनि(म इ)त्यास्तां तावदेतत् । अभावः [11]तत्साधनम् ; तदुक्तम्– १५

*"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जीवते(जायते) ।
वस्तुसत्तावबोधार्थ(र्थं) तत्र(तत्रा)भावप्रमाणता ॥"

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

[४१६ क] इति चेत् ; न ; धर्मादेरपि[12] स[13] [14]तत्साधनम् , सर्वज्ञवत् प्रत्यक्षादेः [15]तत्राप्रवृत्तेः । आगमस्य भावादसिद्धः [16]तत्र प्रमाणपञ्चकाभाव इति चेत् ; न ; सर्वज्ञेऽपि २० तस्य[17] भावात् । तदाह–**तदभावे(तद्भावे)सर्वज्ञाभावे(ज्ञसद्भावे)शास्त्रम्** अस्माकम**स्ति,** ततोऽत्राप्यसिद्धम् अभावाख्यं प्रमाणमिति मन्यते ।

ननु सर्वज्ञोक्ततया [18]तत् प्रमाणम् , [19]तत्प्रमाणतया च [सर्वज्ञ]सद्भाव इत्यन्योऽन्यसमाश्रय इति चेत् ; अत्राह–**न युक्त्या बा(ह–युक्त्यबा)धितम्** प्रमाणेन यतु(णेन तु) बाधितं शास्त्रं[त]दस्ति । न तदुक्तत्वेन [20]तत्प्रमाणम् अपितु बाधारहितत्वेम(त्वेन) प्रत्यक्षादिवत् इति गम्यते । २५

ननु [21]तत्र शास्त्रं युक्त्या(क्त्य)बाधितम् असिद्धम्, अनुपलम्भस्य तद्बाधकस्य भावात् । एतदेव दर्शयन्नाह–**नास्ति** इत्यादि ।

---

(१) अतीन्द्रियज्ञेभ्यः एव । (२) अतीन्द्रियज्ञाभाव । (३) 'सर्वत्र सर्वज्ञो नास्ति' इति प्रत्यक्षं जानतः स्वयं सर्वज्ञता । (४) पराभ्युपगमादेव । (५) चार्वाकस्य । (६) लोकव्यवहारः । (७) अनुमानमपि । (८) व्याप्तिज्ञानं विना । (९) अतीन्द्रियज्ञानम् । (१०) अतीन्द्रियज्ञानम् , न विद्यते निषेधो यस्य तत् अनिषेधम् अशक्यनिषेधमित्यर्थः । (११) सर्वज्ञाभावसाधकम् । (१२) अतीन्द्रियधर्मादेरपि । (१३) अभावः । (१४) अभावसाधकः । (१५) धर्मादौ । (१६) धर्मादौ । (१७) आगमस्य । (१८) शास्त्रम् । (१९) शास्त्रप्रमाणतया । (२०) शास्त्रम् । (२१) सर्वज्ञे ।

अत्र केचित् चोदयन्ति–सर्वज्ञस्य धर्मिणोऽसिद्धौ आश्रयासिद्धिः। [1]सिद्धौ ; प्रतिषेधानु-
पपत्तिः तद्ग्राहकप्रमाणबाधनात्, असिद्धश्च हेतुः। नहि सिद्धस्य अनुपलब्धिः ; विप्रतिषेधात्।
किमर्थमिदम् अनुमानमुपन्यस्तम् ? परमतानुवादमात्रम् इत्येके ; न ; परस्य [2]तदभावा[त्], न
भाव[ः]प्रमाणात् तदभावसाधनात्। न च प्रेक्षावता तन्मतम् असम्य[ङ्]मनूद्यते इति ; तत्रो-
५ च्यते–अभावप्रमाणमेवमुक्तं नानुमानम्। तथाहि–**नास्ति सर्वज्ञः** इत्यभावप्रमाणम्। तत्कुतो
जायते ? इत्याह–**अनुपलब्धेः** प्रमाणपञ्चकाभावात्। क्वचित्–[किं वत् ? इत्य]त्राह–**खपुष्प-
वदिति**। यदि वा, अर्थापत्तिरियं पक्षधर्मत्वनिरपेक्षा। यदि वा, जैनमतापेक्षया परेणाद(परे-
णेदम्)अनुमानमुक्तम्। [3]तस्य हि मतम्–अस्ति सर्वज्ञः सुनिर्णीतासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्
सुखादिवत् [४१६ ख] इति। अत्र पूर्वपक्षे इदमुच्यते **यदि साधकप्रमाणनिवृत्तिः** सर्ववित्-
१० साधकस्य प्रमाणस्य निवृत्तिः **आत्मा वा तद्रहितः अनुपलब्धिः यथास्वं नैरात्म्यं प्रस-
ज्येत**। कुतः ? इत्यत्राह–**सर्वात्म** इत्यादि। तदेव दर्शयन्नाह। **नहि असर्वदर्शी तथैव** यत्र
सर्वात्मविशेषा व्यवस्थिताः **तान् साक्षात्कर्तुमर्हति**। अनुमानेन प्रत्येति इति चेत् ; अत्राह–
ततदेव(तत एव)इत्यादि। यत एव स तान् साक्षात्कर्तुं नार्हति **तत एव अनुमान(तु)मशक्यम्**,
भावप्रधानोऽयं निर्देशः असत्यत्र(अशक्यत्व)मिति। केषाम् ? इत्याह–**प्रत्यात्म** इत्यादि।
१५ कुतः ? इत्याह–**लिङ्ग** इत्यादि।

ननु परात्मनो(त्मानो) यतोऽनुमानात् प्रतीयते(यन्ते) ततः सामान्यविशेषात्मका एव, तन्न
युक्तम्–'**अनुमानम्(तुम्) अशक्यत्वं प्रत्यात्मविशेषाणाम्**' इति चेत् ; अत्राह–**तदविशेषेण**
इत्यादि। **तद्** इत्ययं निपातः तस्माद् इत्यस्य अर्थे वर्तते। तस्माद् अनुमानात् **अनेकान्ता-
त्मकवस्तुतत्त्वसाधनात्**। केन रूपेण ? इत्याह–**अविशेषेण** सामान्येन। [न]हि परात्मा नियते-
२० [न]विशेषेण संयुक्तोऽनुमानात् प्रतीयते, प्रत्यक्षानुमानयोरविशेषप्रसङ्गा**दनुमान(तु)मशक्यत्वं
प्रत्यात्मविशेषाणाम्** इति।

स्यान्मतम्–त्या(व्या[4])हारादिविशेषात् क्रोधादिविशेषोऽपि प्रतीयते, तन्नेदमुत्तरमिति ;
तत्राह–**कुतश्चिद्** इ[त्यादि]। **कुतश्चित्** व्यव(व्या)हारादिविशेषात् **तत्प्रतिपत्तौ** प्रत्यात्मवि-
शेषप्रतिपत्तौ सत्याम् **अप्रतिपन्नविशेषाविनाभाविनः**। एव(वं) मन्यते–व्याव(व्या)हारादिविशे-
२५ षात् क्रोधादिप्रतिपत्तिरपि अनुमान एव(नमेव) [5]तदपि क्रोधादिकम् [४१७ क]अवान्तरसामान्येन
विषयीकरोति न नियतविशेषेण। नहि क्रोधादेः प्रकृति(प्रति)क्षणसूक्ष्मविशेषाः अनुमानमशक्यः
(मातुं शक्याः)। ततस्तेषामनुपलब्धि(ब्धे)रभावः प्रसक्त इति; तन्न; **[अप्रतिपन्नविशेषं]**विना-
[न] भवति इत्येवंशीलस्य **अप्रतिपन्नविशेषाविनाभाविनः प्रतिपन्नस्वभावस्यापि** क्रोधादिसा-
मान्यस्य **तथैव अनात्मकत्वप्रसङ्गात्**। तथाहि–प्रतिक्षण[6]क्षणसूक्ष्मविशेषापेक्षया सामान्यविशेषा
३० आत्मनो भवति(न्ति) तदभावे तेऽपि तस्य न स्युः प्रतीयमाना अपि। न च तद्विविक्त आत्मा
उपलभ्यत इति तदभावो भवन् नैरात्म्यम् [स्यात्]। तत्र को दोष इति चेत् ? अत्राह–**तत**

(१) सर्वज्ञस्य। (२) सर्वज्ञाभावात्। (३) जैनस्य। (४) व्याहारो वचनम्। (५) अनुमानम्। (६) 'क्षण' इति द्विर्लिखितम्।

इत्यादि। **ततो** नैरात्म्यात् कस्यचिद् उपलब्धेरभावात् (न) **कस्यचिदुपलब्धिः** इत्युपलम्भनिवृत्तिभावात् सर्वज्ञवत् **सर्वाभावः**।

अथ श्रुतात् प्रत्यात्मविशेषाः प्रतीयन्ते इत्यदोषः; तत्राह–**श्रुतस्यापि** इत्यादि। **श्रुतस्यापि** न केवलं प्रत्यक्षादेरेव**म्** उक्तवत् **प्रसङ्गात्**। कुतः? इत्याह–**नहि** इत्यादि। तदपि कुतः? इत्याह–**विशिष्टविषयत्वात् पुरुषार्थसिद्धेरिति**। अथ विपर्यीकरोति शास्त्रम् इति ५ चेत्; अत्राह–**अन्यथा** इत्यादि। अनेन (अन्येन) निरवशेषविपर्यीकरणप्रकारेण अ **नाव (अनव)-धेयत्वमेव शास्त्रस्य** इति।

निगमयन्नाह–**तदियम्** इत्यादि। यत एवं **तत्** तस्मात् **इयम्** अ[न]न्तरवर्णिता **प्रतिपत्तृप्रमाणनिवृत्तिः प्रतिपत्तुः** मीमांसकस्य सम्बन्धिनी सर्वज्ञविषयप्रत्यक्षादि**प्रमाणनिवृत्तिः सर्वसम्बन्धिनी** सत्यपि **प्रतिप[त्तुम]शक्येति**। [४१७ख]प्रतिपत्तृग्रहणं **न केवलं सर्वज्ञाभावं** १० **साधयति अपि तु** किन्तु **सर्ववस्तुव्यतिरेकं च** सर्वभाववस्तुनोऽभावं च साधयति स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थायां सर्वत्र तन्निवृत्तेर्भावात्। अन्यैः तदा सर्वस्य दर्शनं न वं(न सर्व)स्येति किं कृतमेतत्? पुनस्तेनैव तस्य दर्शनम्; जन्मान्तरे तेनैव सर्वज्ञस्य दर्शने किं विभाव्येत? यदि वा, परोक्षज्ञानैकान्तवादिनः सर्वत्र तन्निवृत्तिरिति।

यथा च शास्त्रात् प्रतीयमाने धर्मादौ न साधकप्रमाणनिवृत्तिः अनुपलब्धिः, तथा सर्व- १५ मपि इति दर्शयितुम् आत्मानं परेण पर्यनुयोजयन्नाह–**भावे** सर्वज्ञस्य **तर्हि किं प्रमाणम्** इति? तत्रोत्तरं **शास्त्रं ब्रूमः** इति। कुतः? इत्यत्राह–**तदित्यादि**। **तस्य** सर्वज्ञस्य **सद्भावप्रतिपादनात्** [1]**चतुर्दशगुणस्थानोपवर्णनात्** न केवलं लब्धिकथनाच्चेति। **कथमस्य** [2]तत्सद्भावप्रतिपादकस्य शास्त्रस्य **प्रामाण्यमिति चेत्?** इति परमतम्; अत्रोत्तरम्–**चोदनायाः तर्हि कथमिति** धर्मादिप्रतिपादकम् वैदिकं वाक्यं चोदना, तस्याः कथं **प्रामाण्यम्?** उभयोरप्रामाण्ये धर्मादेरपि लोप २० इति मन्यते।

[3]पर आह–**नित्यत्वात् तस्याः** [4]तदिति। सूचिराह (सूरिराह–) **तत एव** नित्यत्वादेव **प्रवचनस्य** गुणस्थानप्रतिपादकस्य आगमस्य **अस्तु** प्रामाण्यम्। **कथं प्रवचनस्य** इति [5]परः; तस्योत्तरं **यथा** इत्यादि। पार्श्ववर्त्ती पृच्छति–**कथं तर्हि चोदनायाः नित्यत्वम्** इति? श्रोत्रियः प्राह–**कर्तुर[स्मर]णादिति**। आचार्यः प्राह–**तत एव** इत्यादि। कर्तुरस्मरणादेव २५ **परमागमस्य नित्यत्वम्** इति। **कर्त्तारः तीर्थकराः** परमागमस्य **स्मर्यन्त**[४१८क]**इति चेदिति** परमताशङ्का; अत्रोत्तरम्–**वेदस्य** इत्यादि।

ननु साक्षादयो (कणभक्षादयो [6]**)वेदस्य कर्त्तारं स्मरन्ति**। तेषां च स्मरणमप्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**कणभक्ष** इत्यादि। **पुनः इतरेषां** मीमांसकानां या **परमागमकर्तृविषया स्मृतिः** तस्याश्च **प्रामाण्ये न कश्चि[द्वि]शेषो** वेदपरमागमयोरिति। ३०

ननु वेदे परवादिनामेव [7]तत्स्मरणं न वादिनाम्[8] ततस्तदप्रमाणम् उपपन्ने प्रवचने तु

(१) मिथ्यात्वसासादनादि अयोगिकेवल्यन्तानि। (२) सर्वज्ञसद्भाव। (३) मीमांसकः। (४) प्रामाण्यम्। (५) मीमांसकः। (६) वैशेषिकबौद्धादयः। (७) कर्तृस्मरणम्। (८) मीमांसकानाम्।

उभयेषां तत्स्मरणमिति नाप्रमाणमिति चेत ; अत्राह–**तदेतद्** इत्यादि । **तत्** सर्वज्ञप्रतिपादकम् **एतद्** विचार्यमाणं **प्रवचनमपौरुषेयं** नित्यम । यद्यपौरुषेयं तीर्थकराः (१)तत्र किं कुर्वन्ति येन तत्कल्पनमिति चेत ? अत्राह–**तीर्थकराः प्रवर्त्तयन्ति** (२)**समुत्मन्नं(न्नं)** समुत्सन्नं(न्नं) **प्रवचनम्** व्यञ्जयन्ति **इति** जैनाः । कुत इति चेत ? **मर्वज्ञागमयोः प्रबन्धनित्यत्वेन नित्यत्वोपगमात् ।**

५ कथं तस्य(३) तर्हि द्वादशाङ्गस्य समुच्छेदः ? वेदशास्त्रवदिति । तद्वदेता ग(देव आरा)तीयाचार्यैः(४) स्मरणं न का(क)रणम इति सर्वं सुस्थम ।

एवं सति यल्लब्धं तदाह–**कुतो** न कुतश्चित कारणात **तत्रैव(वं)** व्यवस्थिते न्याये सत्या न्यो(सति अन्यो ऽ)**न्याश्रयणं स्यात्** यत इदं शोभेत–

*"**नर्ते तदागमात् सिध्येत् न च तेन विनाऽऽगमः ।**"

१० [मी० श्लो० चोदना० श्लो० १४२] इति ।

परमपि यल्लब्धं तदपि दर्शयन्नाह–**तन्न** इत्यादि । यत एव शास्त्रं प्रमाणमस्ति **तत्** तस्मा**न्नानुमानं** किञ्चिदपि **मर्वज्ञ(मर्वज्ञा ऽ)भावमाधनं**(६) शास्त्रविषये तदप्रवृत्तेः इति भावः । तदुक्तं कैश्चित–

*"**अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।**
१५ **ये भवात्व(भावान्)वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥**"

[वाक्यप० १।३८] इति ।

अथ नामी(७) शास्त्रस्य विषय इति चेत ; अत्राह–[४१८ख] **प्रवचनं च** इत्यादि । **इत्येवं स्थितं** निश्चितमेतत ।

ननु मा भूदनुमानं तत्माधन(नं)शास्त्रान्तरं तु स्यात समबलत्वादिति चेत ; अत्राह–

२० **न वेद्याद्य(न चे**त्यादि । अयम)भिप्रायः–न तावद् **अनेकान्तशासनं न जीवानां नानापरिणामप्रतिपादकम्**(७) । ननु (न तु)यदेव यद्विधात् तदेव तस्य निषेध(र्धृ;) विरोधात । अन्यच्चेत ; **न च** नैव **तत्प्रत्यनीकं** शास्त्रं **प्रमाणमस्ति** । कुतः ? इत्याह–**स्याद्वादेन[बाधितविषयत्वात्]** इत्यादि । निदर्शनमाह–(९)**पि ट क त्र य वदिति ।**

ननु पि ट क त्र यस्य कथं स्याद्वादेन बाधितविषयत्वं यावता स्याद्वाद एव तेन बाधित-

२५ विषय इतरेद(इति चेत ; अ)त्राह–**स हि** इत्यादि । **स** पि ट क त्र ये प्रतिपाद्यमानः **हि** यस्माद् **एकान्तो न संभव[ति]** । कः ? इत्यादि (ह)–**निर्विषयम्** इत्यादि **वा इत्येवं** । कथं सा(स)न संभवति ? इत्याह–**राजपथीकृतमेतद्** इति । कृत प्रतिनि(वि)धानताम् अस्य अनेन दर्शयति । तथाहि–निर्विषयं यतः ततो मिथ्याज्ञानम् अनुमान(नं)यदि ; कुतः किं सिध्येत् ? नहि निर्विषया[त्] ततः(१०) तत्त्वसिद्धिः द्विचन्द्रादिज्ञानवत् ।

(१) प्रवचने । (२) उच्छिन्नम् । (३) जैनस्य । (४) शिष्यभूताचार्यैः । (५) सर्वज्ञः । (६) सर्वज्ञाभावसाधनम् । (७) अपि तु प्रतिपादकमेव । (८) निषेधकम् । (९) सूत्र-विनय-अभिधर्माख्यं पिटकत्रयम् । (१०) अनुमानात् ।

ननु मणिप्रभायां मणिज्ञानामिथ्याज्ञानमिथ्या (मणिज्ञानात् मिथ्या) ज्ञानादपि तत्त्वप्रतिपत्तिः ततो व्यभिचार इति चेत ; न ; तस्य साध्यान्तःपातित्वात् । यदि पुनः अनुमानमध्यक्षं चेत; तर्हि कल्पनापोढेन अभ्रान्तेन तेन भाव्यमिति न तेन व्यभिचारः । व्यवहारेण तत्तथा । यो हि मन्यते–य एव मणिर्दृष्टः स एव प्राप्त इति तं प्रति प्रत्यक्षं तद्[1] इति चेत ; यस्तर्हि मीमांसकादिः 'स एवायम्' इत्येकं [४१९क] प्रत्यभिज्ञानम् इन्द्रियजात (जम) विसंवादि मन्यते[2] तं प्रति तदपि ५ प्रत्यक्षमिति न प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणं द्विविधम्, अस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि सामान्यविषयत्वात्, [6]अविकल्पैकान्तव्याघातश्च । कथं चैवंवादिनः प्रत्यक्षसिद्धं (द्धा) क्षणिकता येन *"**यद्यथावभासते**" इत्यादि सूक्तं भवेत् । अस्य [8]विचारतोऽप्रत्यक्षत्वे तत एव प्रकृतस्यापि प्रत्यक्षत्वं मा भूत् ।

एतेन भाविनि प्राप्ये प्रत्यक्षत्व (त्वं) चिन्तितम् । किंच, यदि भाविनि प्रत्यक्षं प्रमाणम्; प्रतिबन्धद्वयव्याघात[:] । भावि च कारणं निषिद्धम् । ततो निराकृतमेतत्– १०

*"**अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता ।**
याति (गति)रप्यन्यथा दृष्टा पक्षश्चायं कृतोत्तरः ॥" [प्र० वा० २।५६] इति ।

स्यान्मतम्–यदि भाविनि न प्रत्यक्षं प्रमाणं तर्हि प्रमाणमेव न भवेत् । यदि वर्त्तमाने स्यात् को दोषः ? न च वर्त्तमाने क्वचिद् व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्र स युक्तः, स्वसंवेदनमात्रेऽपि तदनुषङ्गाद् इत्युक्तम् । १५

अपि च, यत्रानुमानमविसंवादं कथं निर्विषयम् ? अवस्तुसामान्यविषयत्वादिति चेत ; प्रत्यक्षमपि तथा स्यादिति [मणि]प्रभायां मणिज्ञानस्य अनुमानस्य अविसंवादः केन प्रतीयता (प्रतीयेत) ? नहि प्राप्यमणिप्रत्यक्षं निरंशपरमाणुग्राहकम् इत्युक्तम् । ततो न किञ्चिदेतदिति ।

ननु यदुक्तम्–'**तीर्थकराः प्रवचनं प्रवर्तयन्तीति**' इति ; तत्सत्यमस्तु, केवलं **ते सर्वज्ञा न** भवन्ति [10]**वक्तृत्वादिभ्यो रथ्यापुरुषवदिति;** तदेव दर्शयन्नाह–**यदि पुनः** इत्यादि । २० तत्र दूषणमाह–**जं मि निरन्यथा** इत्यादि । [४१९ख]

ननु पुरुषान्तरे वक्तृत्वादौ सति सर्वज्ञत्वमुपलब्धम्, उपलभ्यते च तीर्थकरेऽपि वक्तृत्वादिकमिति तत्रापि [11]तदस्तु, अन्यथा नु (न) कृतकत्वादेः अनित्यादिप्रतीः (प्रतीतिः) स्यादिति चेत ; अत्राह–**न हि** इत्यादि । तीर्थकरपुरुषान्तरयोः **किञ्चित्साधर्म्यात्** वक्तृत्वादिसाधर्म्यात **सर्वम्** असर्वज्ञत्वादिकं **तथैव** वक्तृत्वादिप्रकारेण **इति प्रतिपत्तु (त्तुं) न हि युक्तम्**, २५ **अतिप्रसङ्गात्**–वक्ता मूर्खो दृष्ट इति सर्वोऽपि तथा[12] स्यात । यदि पुनः पण्डितोऽपि सं[13] कादाचि (कदाचित्) दृश्यते; सर्वज्ञेऽपि (ज्ञोऽपि) दृश्यते इति समानम् ।

---

(१) "मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः । मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥" –प्र० वा० २।५७। (२) अनुमानम् । (३) "तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वं वापि यत्स्मृतेः । विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥"–मी० श्लो० ४।२३६ । (४) प्रत्यभिज्ञानमपि । (५) प्रत्यभिज्ञानस्य । (६) प्रत्यक्षमविकल्पकमेवेति । (७) प्रत्यभिज्ञानस्य । (८) विचाररूपत्वात् । (९) प्रत्यक्षेऽपि हि अन्यद् दृश्यते प्राप्यते चान्यदिति । (१०) वक्तृत्वात् पुरुषत्वात् हस्तपादादिमत्त्वात् इत्यादिभ्यः । (११) असर्वज्ञत्वमस्तु । (१२) मूर्खः । (१३) वक्ता ।

निगमयन्नाह–**तदिमे** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्मात् **इमे** परेण उच्यमाना **वक्तृत्वादयोऽहेतवः** । कुतः ? इति[चेत्;] **अन्यथा** इत्यादि । [**अन्यथानुपपत्तिरहितत्वात्**] न तादात्म्यतदुत्पत्त्यादिरहितत्वात् इत्यनेन दर्शयति तस्यात्र भावादिति निरूपितम् । असर्वज्ञ ज्ञाता (असर्वज्ञो वक्ता) सर्वदा तेषां दर्शनात् , कथं तद्रहितत्वमिति चेत् ? **विपक्षे**[1] **बाधकाभावात्** ।
५ कृतकत्वादिवत् विरोधो बाधक इति चेत् ; न ; [2]तद्ग्राहकाभावात् । यदि हि संवेदनोत्कर्षे [3]तदपकर्षः स्यात् , भवेद् विरोधगतिः, न चैवम् इति । अनुपलम्भस्तत्र बाधकः ; तदाह–**सर्वज्ञ** इत्यादि । [**सर्वज्ञो नास्ति अनुपलम्भात्**] इत्येवं साध्येन हेतोः **व्याप्तिसाधने** अङ्गीक्रियमाणे । दूषणमाह–**स्वोपलब्धि** इत्यादि । सर्वेर्नोपलभ्यते इति चेत् अत्राह–**सर्वप्रामाण्य** इत्यादि । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**सर्वज्ञानाम्** इत्यादि ।
१० तदुपाभ(तदुपलम्भाभावान्न) सन्ति सर्वज्ञाः, तत्कथं ते[6] स्वं परं वा सर्वज्ञमुपलब्धय(भ)न्त इति चेत् ? अत्राह–[४२०क] **सर्वज्ञाभा(ज्ञभा)वसन्देह** इत्यादि ।

[सर्वज्ञभावसन्देहेऽनुपलम्भो न सिध्यति ।
ततः स्यात्सर्वहेतूनां तत्रान्योऽन्यसमाश्रयः ॥७॥

'नास्ति सर्वज्ञः' इत्यत्र यथा अन्योऽन्याश्रयत्वं तथैव वक्तुः सर्वज्ञस्यानुपलब्धौ ।
१५ एतेन रथ्यापुरुषादन्ये सर्वे पुरुषाः रागादिमन्तो वक्तृत्वादिभ्यस्तद्वदिति साकल्येन रागादिमत्त्वसाधनं प्रत्युक्तम् । तथा तत्साधने जैमिन्यादेरपि साधनान्न वेदः प्रमाणमितरत् अन्यथेति ।]

सर्वज्ञानां यो **भावः** परेण इष्यते तत्र **सन्देहे** **अनुपलम्भः** सर्वानुपलब्धिर्न **सिध्यति** सर्वज्ञाना(ज्ञानां) स्यपरोलम्भवात् (स्भसंभवात्) । पुनरपि तेषां तदनुपलम्भेनाभाव-
२० साधने तदवस्थो [1]दोषोऽनवस्था चक्रकमिविमन्वनं(मिवावर्तनं) । अथ मतम्–यः सर्वज्ञः भा-(सर्वज्ञः स आ)त्मानं पर[ञ्च] पश्यति' इत्युच्यते; नासौ सर्वज्ञः पुरुषत्वादिभ्यो रथ्यापुरुषवदिति चेत् ; उक्तमत्र–'**अन्यथानुपपत्तिरहितत्वात् नैते हेतवः**' इति । सर्वज्ञस्य पुरुषस्व-(त्व)वक्तृत्वानुपलब्धिः (ब्धेः) प्रकृतव्याप्तिरिति चेत ; पुनरपि तदेवावर्तनं इति चक्रकम् ।

ननु[न]विपक्षे[ऽ]भावसिद्ध्या पुरुषत्वादयः क्वचित सर्वज्ञा वा भावं (ज्ञाभावं) साधयन्ति
२५ किन्तु यद्व्याप्त्यो(तद्व्याप्त्या) ; ननु सर्वज्ञाभावसन्देहे तद्व्याप्तिरपि कथं सिध्यति ? तथैव तदसन्देह इति चेत ; अन्योऽन्यसंश्रयः । तथाहि–सिद्धानां (द्धायां) तद्व्याप्तौ तदभावः सिध्यति तत्सिद्धौ च सा सिध्यति । तदाह–**ततोऽ**नुपलम्भस्याऽसिद्धितः **स्यात् तत्र** सर्वज्ञाभावसाधने व्याप्तौ वा **सर्वहेतूनां** पुरुषत्वा[दीना]**मन्योऽन्यसमाश्रयः** ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**नास्ति सर्वज्ञ** इत्यादि । सर्वज्ञाभावे सिद्धे सर्वाभावो(सर्वज्ञा-
३० भावो)पलम्भनं सिध्यति, तत्सिद्धौ च तदभावः[9] सिध्यति इति **अन्योऽन्याश्रयत्वं यथा, तथैव**

(१) तादात्म्यादेः । (२)अन्यथानुपपत्तिरहितत्वम् । (३)सर्वज्ञे । (४)विरोधग्राहक । (५)वक्तृत्वापकर्षः । (६) सर्वज्ञाः । (७) अनुपलम्भः स्वस्य सर्वस्य वा? इत्यादि । (८) व्याप्तिः । (९)सर्वज्ञाभावः ।

वक्तुः सर्वज्ञस्यानुपलब्धौ साध्यायाम् इतरेतराश्रयत्वम् । तथाहि–सर्वविदोऽभावे सिद्धे साकल्येन वक्तुः सर्वविदो[ऽ]दर्शनं ततः तदभावसिद्धिरिति ।

एतदन्यत्रापि दिशन्नाह[४२० ख] एतेन इत्यादि । एतेन प्रस्तूयमाण प्रस्ताव(मान-प्रस्तावेन)रागादिमत्त्वसाधनं प्रत्युक्तम् । केन रूपेण तत्साधनम् ? इत्याह–साकल्येन, रथ्यापुरुषाद् अन्ये सर्वे पुरुषाः रागादिमन्तः वक्तृत्वादिभ्यः तद्वदिति । कथं प्रत्युक्तम् इति चेत् ? उच्यते–तथा तत्साधने ऽपि न्याय दोषस्य साधनांत(नान्त)रेदाः[प्र]माणमितरत् अन्यथा । विवक्षितपुरुषस्येव तत्साधने ऽपि निः अन्यो वा तद्विपरीत इति तेन हेतूनां व्यभिचारः । अन्यत्रापि समानम् । ५

एवं तावत् तत्त्वा (एवं तावत् तत्त्वात्) चोदनावचनस्य[अ]प्रामाण्य(ण्यं)व्यवस्थाप्य[अ]-मुना– १०

*"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्ध(ब्धं)प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥" इति

परकीयव्याख्यानं तदेव दर्शयन्नाह–प्रमाण(प्रामाण्य)मक्षबुद्धेश्च(श्चेत्) इत्यादि ।

[प्रामाण्यमक्षबुद्धेश्चेत्तथाऽबाधाविनिश्चयात् ।
निर्णीतासंभवद्बाधः सर्वज्ञो नेति साहसम् ॥६॥ १५

चक्षुरादिज्ञानस्य अन्यस्य वा अबाधितविषयत्वेन स्वयं यदि प्रामाण्यं ततः तेन प्रवचनस्यापि युक्तम् । अतः अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिनीलादिवत् । तत्र सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणं सिद्धं शास्त्रप्रामाण्यात्]

अक्षबुद्धिग्रहणम् उपलक्षणमिति चोदनादिबुद्धिरपि गृह्यते, तस्याः तथा(यथा) येन प्रकारेण प्रभुना तेन(प्रवृत्त्या तेन) एव भाव(अबाधावि)निश्चयात् प्रामाण्यं चेत् यदि निर्णीतासंभवद्बाधः निर्णीतोऽसंभवन्वात (द्बाधो) यस्य स तथोक्तः सर्वज्ञ(ज्ञो)नेति साहसम् इति भावः । २०

कारिकां व्याख्यातुमाह–चक्षुरादिज्ञानस्य इत्यादि । अन्यस्य चोदनाज्ञानस्य वा स्वयम् आत्मना यदि प्रामाण्यम् । केन ? अबापि(अबाधि)तविषयत्वेन ततः तेन[अ]बाधितविषयत्वे[न] प्रवचनस्यापि सर्वज्ञप्रतिपादिका(पादका)गमस्यापि [४२१क] प्रामाण्यं युक्तम् । २५

प्रकृतं निगमयताह (निगमयन्नाह–) अत इत्यादि । अतः प्रवचनप्रामाण्याद् अस्ति सर्वज्ञः । कुतः ? इत्याह–सुष्ठु निश्चितम् असंभवद्बाधकं यस्य तत् तथोक्तं प्रमाणं शास्त्रं यस्य तस्य भावात् तत्त्वात् । निदर्शनमाह–सुखादि इत्यादि । बाह्येतरभेदेन दृष्टान्तद्वयोपदर्शनम् । तत्र यथा सुखादिनीलादिषु सुनिश्चितासंभवद्बाध[क]प्रमाणं प्रत्यक्षादि नैवं सर्वज्ञे,

(१) सर्वविदभावसिद्धिः । (२) अर्हतः । (३) रागादिमत्त्वसाधने । (४) वचनत्वात् चोदनावचनमप्रमाणम् इतरवचनवत् । (५) भाट्ट । उद्धृतोऽयम्–हेतुबि० टी० पृ० ३३ । प्र० परी० पृ० ६३ । त० श्लो० पृ० १७३ । प्रमेयक० पृ० ६११ । सन्मति० टी० पृ० ३१८ । नयोप० पृ० ३३ ।

ततोऽसिद्धो हेतुरिति चेत् ; अत्राह-सुनिश्चितेत्यादि । [1]सुनिश्चितासंभवद्बाध[क]प्रमाणं तत्र सर्वज्ञं सिद्धं यत परेणोक्तं 'प्रत्युक्तम्' इत्यनुवर्त्तते । कुतः ? इत्यत्राह-'शास्त्रप्रामाण्यात्' उक्तनीत्या तत्प्रतिपादकागमप्रामाण्यात् ।

अपरे 'शास्त्राप्रामाण्यात्' इति पठन्ति, तेषाम् अनन्तरमेव तत्प्रामाण्य[(2)]मेवत्प्रामाण्यं[(3)]-

५ समर्थनं[(4)] किं विस्मृतं येन एवं पठन्ति ?

संप्रति-

*"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
नहि स्वतोऽसती शक्ति(क्तिः) कर्तुमन्येन शक्यते ॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४७] इति ।

१० "अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्" इति च पर[(5)]कीयं मतद्वयमाश्रित्य तत्प्रवचनस्य [प्रा]माण्यं व्यवस्थापयन्नाह-सर्वज्ञोऽस्ति इत्यादि ।

**[सर्वज्ञोऽस्तीति विज्ञानं प्रमाणं स्वत एव तत् ।
दोषवत्कारणाभावात् बाधकासंभवादपि ॥७॥**

सर्वज्ञे अस्तीति विज्ञानं नहि [न स्वतः प्रमाणम् ।]न च तत् दोषवत्कारणं तत्प्रतिपादकस्यापि शास्त्रस्य अपौरुषेयत्वात् बाधकप्रमाणाभावः सिद्ध एव । स्वोपलम्भ···। कस्यचिदनुपलम्भमन्तरेण व्यतिरेकासिद्धेरभावप्रमाणवैफल्यापत्तेः । साकल्येन स्वयं लिङ्गेन्द्रियादिनिरपेक्षस्य भावप्रतिपत्तेः सर्वज्ञाभावप्रतिपत्तेर्विरोधात् ।]

सर्वज्ञोऽस्ति इत्य(इति) प्रवचनाद्[(6)] यद्विज्ञानं सर्वज्ञगोचरमुपजायते तत् प्रमाणं स्वत एव नान्यतः कारणात् । हेत्वन्तरमाह-दोषवत्कारणाभावात् । अपि शब्दो भिन्न-

२० प्रक्रमः, अ[(7)]स्यानन्तरं द्रष्टव्यः । सोऽपि कुतः ? इत्याह-बाधकस्यासंभवादिति (वादपि)।

कारिकां विवृण्वन्नाह-सर्वज्ञोऽस्ति इति विज्ञानम् इत्यादि [५०१ख] । कुत एतत ? इत्यत्राह-नहि इत्यादि । ननु तस्य औत्सर्गिकं यत स्वतःप्रामाण्यं तद्दोषवत्कारणजन्यत्वे[ना-] पोह्यते इति चेत ; अत्राह-न च इत्यादि । न च नैव तत् प्रकृतं विज्ञानं दोषवत्कारणं दोषवत्कारणं यस्येति । कुतः ? इत्याह-तद् इत्यादि । [तत्प्रतिपादकस्यापि] सर्वज्ञप्रतिपादक-

२५ स्यापि न केवय(वलं)वैदिकस्य शास्त्रस्य अपौरुषेयत्वात् दोषाश्रयपुरुषरहितत्वात ।

ननु बारमानं(यद् बाध्यमानं) तद्दोषवत्कारणम, यथा[शुक्ले]शङ्खे पीतज्ञानम् , बाध्यमानं च सर्वज्ञोऽस्तीति[विज्ञानमिति] चेत ; अत्राह-बाधकप्रमाणाभावः सिद्ध एव । अनेन हेतोरसिद्धतामाह । अनुपलम्भो बाधक इति चेत ; अत्राह-स्वोपलम्भ इत्यादि । प्रमाणान्तरं

(१) तुलना-"तदस्ति सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात् सुखादिवत्"-लघी० स्व० ११४। त० श्लो० पृ० १८५। आप्तप०श्लो० १०१। अष्टश० अष्टस० पृ० ४४। प्र० मी० पृ० १४। प्र० नि० पृ० २९। षड्द० बृह० पृ० १४ । (२) व्याख्याकाराः । (३) 'मेवत्प्रामाण्यं' इति व्यर्थमत्र द्विर्लिखितम् । (४) आगमप्रामाण्यसमर्थनम् । (५) मीमांसकीयम् । (६) शास्त्रात् । (७) 'दोषवत्कारणाभावात्' इत्यस्यानन्तरम् ।

बाधकमिति चेन ; अत्राह–**कस्यचिदनुपलम्भमन्तरेण** कस्यचिदपि सर्वज्ञस्य अन्यस्य वा अनुपलम्भमन्तरेण **व्यतिरेकाऽसिद्धेः** अभाव(वा)सिद्धेः [1]**अभावप्रमाणवैफल्यापत्तेः ।**

माभूदनुपलम्भात् तदभावसिद्धिः प्रत्यक्षात्तु स्यात् । अभावप्रमाणवैफल्यमिति चेत् ; तदिष्यत एव, प्रत्यक्षाविशेषत्वात्तस्य[2] इति परः । तं प्रत्याह–**साकल्येन** इत्यादि । प्रत्यक्षतः तदभावसाधने द्वैतं[3] भवति कविशा(कश्चित् , सा)कल्येन वा ? प्रथमपक्षे(क्षोऽ)भिमतत्वान्न [4] दूषयितुमाशङ्कितः सर्वभावसत्त्वस्य सप्रतिपक्षत्वात्[4] । द्वितीयेऽपि पक्षे द्वैतमेद्वैत(द्वैतम्–) सेन्द्रियाद् , अन्यतो वा ? अत्रापि प्रथमपक्षः श्रोत्रियस्य अनभिमतः सन्निहितमात्रे चक्षुरादि-व्यापारोपगमनेन नाशङ्कि(नाशङ्कि)तः । केवलं[४२२क]द्वैतद्वये स्य(अन्त्य)पक्षद्वयमवशिष्यते । तत्र **साकल्येन** अनवयवेन **स्वयम्** आत्मना लिङ्गेन्द्रियादिनिरपेक्षस्य मीमांसकादे[:] **भावप्रतिपत्तेः सर्वज्ञाभावप्रतिपत्तेः विरोधात्** तत्प्रतिपत्तेः[6] इति भावः । तथाहि–साकल्येन स्वयं तदभावप्रतिपत्तिश्चेत् कस्यचित् ; स एव सर्वज्ञ इति तत्प्रतिपत्तिः[7] । सा चेत् न ; स सर्वज्ञ इति न तत्प्रतिपत्तिरिति । यदि वा, तथा तत्प्रतिपत्तेः सकाशाद् विरोधात् *"**सम्प्रयोग**" [मी० सू० १।१।४][10]इत्यादेः बाधकप्रमाणाभावः सिद्ध एव इति । एवं तावत् परप्रसिद्धया धर्मादिवत् सर्वज्ञस्य आगमात् सत्तां प्रसाध्यता(प्रसाधयता) तत्र *"**प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।**" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १][11]इत्यादि निरस्तम् ।

अधुना अनुमानात्[12] तां प्रसाध्य[13] तन्निराकुर्वन्नाह–**ज्ञानस्य** इत्यादि ।

[ज्ञानस्यातिशयात् सिध्येद्विभुत्वं[14] परिमाणवत् ।
वैशद्यं क्वचित् दोषमलहानेस्तिमिराक्षवत् ॥८॥

यथा···दोषा [वरणयोः क्षयात् वैशद्यम् मलहानेस्तिमिर···]

ज्ञानस्य विभुत्वं सकलज्ञेयसाक्षात्करणलक्षणं **सिध्येत् ।** क ? **क्वचित्** मलविप-क्षभावनापर्यन्तवति पुरुष(षे) । कुतः ? इत्याह–**अतिशयाद्** वृद्धे[:]ज्ञानस्येति । कस्य वा[15] ? इत्याह–**परिणाम(परिमाण)वद्** इति । एतेन तत्र सुगतादेरपि विभुत्वं व्याख्यातम् ।

ननु तस्य भवतु विभुत्वम्, न च सकलव्यापिज्ञानस्य वा[ऽ]विशदस्य सकलस्य वा स्यादिति चेत् ; अत्राह–**वैशद्यम्** इत्यादि । **'ज्ञानस्य' 'अतिशयात्'** इति चानुवर्तते । तयोरति-शयात् । अत्र निदर्शनतिः(नं **मलहानेः)तिमिराक्षस्येव** तद्वत् ।

(१) अन्यथा। (२) अभावप्रमाणस्य। (३) द्वौ विकल्पौ। (४) प्रतिपक्षसापेक्षत्वात् असत्त्वसापेक्ष-सत्त्ववत्। (५) "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना"–मी० श्लो० सू० ४ श्लो० ८४। (६) सर्वज्ञा-भाव। (७) सर्वज्ञप्रतिपत्तिः। (८) साकल्येन सर्वज्ञाभावप्रतिपत्तिः यदि न। (९)सर्वज्ञाभावप्रतिपत्तिः। (१०) "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां यद् बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्"–मी० सू०। (११) 'वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता' इति शेषः। (१२) सर्वज्ञसत्ताम्। (१३) प्रमाणपञ्चकमित्यादि अभावप्रमाणग्रन्थम्। (१४) तुलना–"एतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिश-यत्वात् परिमाणवदिति, यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः।"–योगभा० १।२५। प्र० मी० पृ० १२। (१५) 'वा' इवार्थः।

कारिका(कां)व्याख्यातुमाह–यथा इत्यादि । सुगमम् । कुतोऽस्य वैस्पष्टम (वैशद्यम्) इति चेत् ? अत्राह(अत्राह–)दोष इत्यादि । निदर्शनमत्राह–निस्ति(मलहानेरस्ति)मिर इत्यादि ।

स्यान्मतम्–'दोषावरणयोः[४२२ख]क्षयात् ।' इत्यत्रापि (इत्यत्रापि) नात्यन्तं क्षयोऽदर्शनात् सर्वात्मनस्य इति चेत् ; अत्राह–माणिक्यादेरित्यादि ।

५ [माणिक्यादेर्मलस्यापि व्यावृत्तिरतिशयवती ।
आत्यन्तिकी भवत्येव तथा कस्यचिदात्मनः ॥९॥

न ह्यत्रातिशयाद्धेतोः क्वचिद् व्यभिचारः इति । चैतन्याभावोऽस्त्येव, अज्ञानाद् ···आशास्त्रविदः]

माणिक्यादेः आदिशब्दात्[सु]वर्णादेः **अतिशयवती** वृद्धिमती **मलस्य** किट्टि-
१० कालिकादेः **व्यावृत्तिः आत्यन्तिकी भवत्येव कस्यचित्** मलप्रतिपक्षोपयोगप्रकर्षवतो[1] यथा **तथा आत्मनोऽपि** सा तथाविधा[2] भवत्येव इति ।

ननु बुद्धिव्यावृत्तिरपि अतिशयवत्यवती(शयवती) दृश्यते इति सापि क्वचित् आत्यन्तिकी स्यात्, अन्यथा हेतोर्व्यभिचार इति चेत्, अत्राह–न ह्यत्र इत्यादि । **न[हि]**खलु **अत्र** आत्मनि[**अति**]-**शयादिति[हेतोर्व्यभिचारः]**ततो यथा अचेतनस्य कर्मणः आत्मन्यभावः तथा आत्मनोऽपि
१५ कर्मणि अचेतनो(नसो)भाव इति साध्यान्तःपातित्वान्न व्यभिचारः इति । एतदेव दर्शयन्नाह–**क्वचिद्** इत्यादि । लोष्टादिरूपे पुद्गलादाव(दौ) **चैतन्याभावोऽस्त्येव** । कुतः ? इत्याह–**अज्ञान** इत्यादि । अा कुतः ? इत्याह–**आशास्त्रविद्** इति ।

ननु जैनस्य न निदर्शनमात्रतो हेतुर्गमकः अपि तु विपक्षे [illegible] , न च विशुद्ध्यभावे ज्ञानातिशयसाधकम् इति चेत् ; अत्राह–**ज्ञानम्** इत्यादि ।

२० [ज्ञानं निरुपमं नो चेत् वेद सर्वगतं स्वतः ।
सर्वज्ञविकलान् लोकान् कुतो वेदानकृत्रिमान् ॥१०॥

कृतमेतत्–उत्पाद···। अतो ज्ञानं द्रव्यं स्वभावं व्याप्नोत्येव । स्वविषये विपर्ययः परतः तिमिरादेः । प्रतिपक्षे सति रागाद्यपकर्षदर्शनात्, तत्प्रयोगातिशयवशात् दोषावरणविमुक्तेः कैवल्यसिद्धिः स्वभावोपलब्धिरेव न पुनः स्वभावातिक्रान्तिः । तन्न लङ्घ-
२५ नादिदृष्टान्तोऽपि ज्ञानस्वभावातिशयकाष्ठाप्राप्तिप्रतिरुणद्धि वैषम्यात् ।]

ज्ञानं नो चे[त्]नास्ति यदि कां(किं)भूतम् ? इत्याह–**निरुपमं** मलोत्तरम्[3] अतीन्द्रियं **विशदम**बाधम् । पुनरपि किंभूतम् ? इत्याह–**सर्वगतं** सर्वविषयपरिच्छेदनसमर्थम्, **स्वतः** स्वमहात्मा(स्वमाहात्म्यात्) नेन्द्रियाद्यपेक्षातः **कुतः** प्रमाणाद् **वेद** वेत्ति मीमांसको लौकायतिको वा **लोकान्** जगन्ति[४२३ क]किंभूतान् ? इत्याह–**सर्वज्ञविक-**

(१) शोधकोपायप्रयत्नप्रकर्षशीलस्य । (२) आत्यन्तिकी । (३) उदाहरणमात्रात् । (४) मलातीतम् निर्मलमित्यर्थः ।

लानीति(नि) । यदि वा **लोकान्** पुरुषान् **सर्वज्ञविकलान्** इति द्रष्टव्यम् ? **वेदान-कृत्रिमान**नादिनिधनान् **कुतो वेद** ? नहि तथाविधज्ञानमन्तरेण तद्वेद[न]संभवः इन्द्रिय-ज्ञानस्य तत्रासामर्थ्यात् , अनुमानाभावात् ।

ननु [1]इदमस्ति–विवादगोचरो [दे]शकालौ सर्वज्ञविकलौ(लौ) तत्रादा([2]तत्त्वात् आ)सन्न-देशकालवदिति चेत् ; न ; उक्तमत्र–अन्यथानुपपत्तिरहितत्वादहेतव इति, अन्यथा कंचिद्देश ५ (शं)कालं वा पण्डितपुरुषरहितं स्वमातृविवाहरहितस्योपलंभस्य(रहितं वोपलभ्य) सर्वे([3]सर्वान्) तथा किन्न साधयेत्(न)? पर्यायेण[4] नरान्तरेण वा तस्य दर्शनं[न] सर्वज्ञस्येति किंकृतमेतत् ? आग-मस्य [5]तदभावे अप्रमाणत्वात् , [6]विधा(ध्या)दिविषयत्वाच्च । उपमानन्तु भूतं(त) देशकालं(ल) न-स्माक्षात्करणमन्तरेण दूरोत्सारितमेव, सर्वोपमानोपमेये तदयोगात् । अर्थापत्तिः पुनः सर्वज्ञ(ज्ञा)-भावमन्तरेण कस्यचिदनुपजायमानस्य अर्थस्य अभावात् अयुक्ता वा(क्तैव) । १०

एतेन वेदानादित्वमपि चिन्तितम् । नहि तत्रानुमानम् ; लिङ्गाभावात् । कर्तुरस्मरणादयः कृतोत्तराः । आगमात्(मात्तद्)कृत्रिमत्वसिद्धिरिति चेत् ; कुतः तस्य प्राभाण्यम् ? [7]तत एव इति चेत् ; अन्योऽन्यसंश्रयः–सिद्धे तदकृत्रिमत्वे ततः प्रामाण्यम्, अतश्च तत्सिद्धिरिति । न चापरं वाक्यं तथाविधमस्ति येन तस्मादन्यस्माद् वेदस्य तत्सिद्धि[:]स्यात् । नापि तदन्तरेण किञ्चित् प्रतिपन्नमनुपपन्नमस्ति[४२२ख]येन अर्थापत्त्या[अ]कृत्रिमत्वप्रतिपत्तिः स्यात् । केवलं(लं) १५ प्रत्यक्षमवशिष्यते । तच्चेद्(दं) अनाद्यनन्तकालविपर्यीकरणेऽसमर्थं चेत् ; तत्ततः कुतः तत्प्र-तिपत्ति[रिति] ?

'ज्ञानं निरुपमं सर्वगतमस्ति' इत्येतद् व्याख्यातुमाह–**कृतमेतद्** इत्यादि । **कृतं** निश्चितमेतत् । किम् ? इत्याह–**उत्पाद** इत्यादि । निगमयन्नाह–**अत** इत्यादि । **अतो** न्यायात् **ज्ञानं** कर्तृ **व्याप्नोति एव** विषयीकरोत्येव । किम् ? **द्रव्यम्** । किंभूतम् ? इत्याह–**स्वभाव** २० इत्यादि । [8]सर्वस्याविशेषात् तत्तद् व्याप्नुयादिति चेत् ; अत्राह–**स्वविषय(ये)** लोकालोकरूपे **तद्विपर्ययः** तस्य ज्ञानस्य अप्रवृत्ति-अवैशद्य-मिथ्यात्वलक्षणो **विपर्ययः** 'जायते' इत्यध्याहारः । कुतः ? इत्याह–**परतः** कर्मणः । **'तिमिरादेः'** इत्यादि अत्र निदर्शन(नम्) । कुतः तत्प-रिक्षयलक्षणा सिद्धिः ? इत्याह–**प्रतिपक्ष** इत्यादि । दोषावरणयोः **प्रतिपक्षः** सम्यग्दर्शनादिः **तस्मिन् सति रागाद्यपकर्षदर्शनात्** [10]अदृष्टपूर्वार्थदर्शनाद् उपनिबन्धादेः अनन्यकर्तृकस्य प्रवर्त- २५ नात् । न चावरणविगमाभावे स्वविषयोन्मुखता ज्ञानस्य, तिमिरोपहतलोचनस्य तथा[ऽ]दर्शनात् । [11]**तस्य प्रयोगः** समग्रता तस्यातिसएवसात्(तिशयवशात्) **दोषा** रागादिः व्याख्यातः प्र मा ण

(१) "अतीतोऽपि कालः सर्वज्ञशून्यः कालत्वात् इदानीन्तनकालवत् ॥"–मी० श्लो० ता० पृ० ७५। (२) देशत्वात् कालत्वाद्वा । (३) पारसीकदेशान् स्वमातृविवाहशून्यान्, कालांश्च पण्डितरहितान् । (४) क्रमशः, कालान्तरे कश्चिदपण्डितोऽपि पण्डितो भवति । (५) सर्वज्ञाभावे । (६) वेदागमस्य कार्येऽर्थे प्रामाण्यात् न तु स्वरूपे । (७) अकृत्रिमत्वादेव । (८) प्रमाणसिद्धं वस्तु । (९) सर्वात्मना स्वभाव-सद्भावात् । (१०) सर्वथा नूतनपदार्थदर्शनात् । (११) प्रतिपक्षस्य सम्यग्दर्शनादेः ।

गं म ह भः ये, **आवरणं** ज्ञानादिप्रच्छाद[कं]कर्म **तयोः वियुक्तेः**(विमुक्तेः)सकाशात् **कैवल्य-सिद्धिः** । किंभूता ? इत्याह–**स्वभावोपलब्धिरेव** ।

स्यान्मत[म् अ]सर्वज्ञस्य सर्वज्ञत्वकल्पने [४२४ क]स्वभावातिक्रमो भवेदिति ; तत्राह–**न पुनः** नैव **स्वभावस्य** किञ्चिज्ज्ञत्वस्य **अतिक्रान्तिः** [1]तत्कल्पने जीवस्य तत्स्वभावात्[2]
५ [अभावः स्यात्] ।

तत्रे(दे)वम् आत्मस्वभावे सर्वज्ञत्वे सिद्धे सति सिद्धं फलं दर्शयन्नाह–**तत्र** इत्यादि । यत एवं ज्ञानस्यातिशयाद् विमुक्तम् आत्मस्वभावं मलक्षयसाध्यत्वादपुनय(र्य)त्नसाध्यं **तत्तस्मा-नु(न्न) लङ्घनादिदृष्टान्तोदृ्या(न्तोऽपि, आ)दि**शब्देन उदकतापपरिग्रहः, **ज्ञानस्त(स्व)भावा-तिशयकाष्ठाव्याप्तिम् उपरुणद्धि** निराकरोति, दृष्टान्तेन तया(तस्या[3])**वैषम्यात्** ।

१० स कि(तत् कि)कारणं स्वभावोपलब्धिरेव सिद्धिर्न पुनः अविद्यमानधर्मा वा तमिति (?) चेत् ; अत्राह–**नहि** इत्यादि ।

[न हि तत्कर्तुमशक्यत्वादक्षलिङ्गादिभिः [स्वयम्] ।
स्वविषयं व्याप्नुयाज्ज्ञानं नान्यथा······॥११॥
न किञ्चित्प्रतिपद्यं न विप्रकर्षादयं कथम्॥ १ ॥]

१५ **[हि]**यतः **तस्या[ः]कर्तुमशक्यत्वात् अक्षलिङ्गादिभिः आदिशब्दाद्** आगमा-भ्यासधर्मादिपरिग्रहः,**स्वविषयं** सद्दासद्वर्ग([4]सदसद्वर्ग)लक्षणम् **व्याप्नुयात् ज्ञानं नान्यथा** न स्वतो दोषावरणापाये इति स्यात् । नहि आकाशादीनां बुद्ध्यादिसमवायिकारणत्वशक्तिरहितं (तत्त्वं)स्वतः अन्यतः तत्सहितं क्रियते, पदार्थस्वभावव्यवस्थाभावापत्तेः । अथ आत्मनः सकल-विषयग्रहणस्वभावज्ञानजनिका शक्तिः आत्मभूता[न]अन्येन क्रियते; आत्मनोऽपि क्रियाप्रसङ्गात् ,
२० ज्ञानं तु क्रियते इति चेत् ; उच्यते–[5]परया शक्त्या स(स्वभाव)भूतया स[6] ज्ञानं भिन्नम् उपजनयति[7], तथैव अर्थस्य ग्राहकोऽस्तु किं [8]भिन्नकल्पनया ? अथ भिन्नज्ञानमन्तरेण [9]तद्ग्रहणं नास्ति ; भिन्नशक्तिमन्तरेण तज्जननं मा भूत् । तथेति चेत् ; युक्तम् अत्र शक्तेरेव[४२४ ख]ज्ञानाभाव (ज्ञानभावे[10]:) सैव[11] तत्समयकारिणम्(तत्समवायिकारणम्)इत्यकारक आत्मेति तदवस्तुत्वम् । समवायनिषेधा[त्]न सा तत्र समवेता । [12]सतोऽपि तस्याऽविशेषाद्[13] आकाशादेरपि सा न किम् ?
२५ यदि पुनः सम्बन्धस्याविशेषेऽपि सम्बन्धिनोर्विशेष इष्यते ; स कुतो मतः ? स्वयोगता(योग्यता) शक्तिः उन्य(न्य)ते,[त]स्या अपि ततो भेदे अनवस्था । अभेदे ; आद्यापि तथैवास्तु किं तद्भेद-कल्पनया इति स एव दोषः ।

किंच, शक्तेस्ततो भेदे नित्यत्वे व्यापित्वे च, अन्यथा न सर्वत्र सर्वदा ज्ञानोदयः, इति न

(१) स्वभावातिक्रान्तिकल्पने । (२) तत्स्वभावत्वात् । (३) ज्ञानस्वभावातिशयकाष्ठावाप्तेः । (४) सद्वर्गः द्रव्यगुणकर्मरूपः सत्तासामान्यसम्बन्धवान् , असद्वर्गश्च सामान्यविशेषसमवायात्मकः सत्तासम्बन्धरहितः स्वतःसन् इत्यर्थः । (५) द्वितीयया । (६) आत्मा । (७) चेत् । (८) भिन्नज्ञान । (९) अर्थग्रहणम् । (१०) ज्ञानात्मकत्वपरिणतिः । (११) शक्तिः । (१२) समवायस्य । (१३) समानत्वात् ।

युक्तम्-*"**सर्वगत आत्मा सर्व[त्र]उपलभ्यमानगुणत्वात्**" इति। यदि पुनः अन्यत्र अन्यदा [1]सा केनचित् क्रियते; कथं तद्रहितेन[2] तत्करणम् ? अन्यथा गगनादावपि तत् स्यात्। अयोग्यत्वान्नेति चेत् ; किं पुनः आत्मनि तद्योग्यम(ग्यताऽ)स्ति ? भिन्नं(अस्ति भिन्ना;) तथा चेद्नवस्थापरा[3] ततो नित्यव्यापिनी च सा इति किम् आत्मना ? तत एव तत्कार्यसिद्धेः। सैव आत्मा इति चेत्, अनुवद्धः प्रसङ्गा(ङ्गः-)ज्ञानोत्पाद-तदर्थग्रहणं [4]तयैवाऽस्तु इति। यदि पुनः भिन्नं ज्ञानत्व(ज्ञानं न)ग्रहणम् ; तर्हि भिन्ना शक्तिः [न] तज्जननमिति, शक्तेऽपि अपरा शक्तिः इत्यनवस्था चक्रकं शक्त्यन्तरस्य नित्यत्वसर्वगतत्वे। तन्न आत्मनो भिन्ना शक्तिः।

ननु यदि सैवार्थस्य ग्राहिका, तर्हि तस्याः सर्वस्य सर्वत्र सर्वदाऽविशेषात् सर्वोऽपि सर्वदर्शी स्यादिति चेत् ; न ; तज्ज्ञानस्यापि ततः सर्वत्र सर्वदा सर्वस्योत्पत्तिप्रसङ्गादिति [४२५क] परपक्षेऽपि स एव दोषः। सहकार(रि)वैकल्यान्नेति चेत् ; यथा तर्हि [5]तद्वैकल्यात् ज्ञानं न जनयति ; तथा आवरण(णा)वैकल्यादर्थं न गृह्णाति। [6]तस्य आवरणेन किं क्रियते ? तद्वैकल्येन[7] किं क्रियते ? न किञ्चिदिति चेत् ; आवरणेनापि न किञ्चित्। अर्थग्राहिका कुतो नेति चेत् ; ज्ञानवत् जनिका कुतो नेति समानम्। अथ [8]तस्या ईदृशः स्वभावो यतस्तद्वैकल्यान्न जनयति अपि तु सहकारिसाकल्याज्जनयति; तर्हि ईदृशोऽपि स्वभावोऽस्तु येन आवरणसद्भावे न प्रकाशयति अर्थम् अपि तु तद्वैकल्ये,भावशक्तेः अचिन्त्यत्वात् इति। तत्त्वा(तदा)वरणेना(णेन) न चेत् तत्स्वरूपखण्डन-(नम् ;) किं तेन ? तच्चेत् ; सौगतमतमिति चेत् ; सहकारिणा न चेत्तस्याः किञ्चित् क्रियते ; नान्यथा(नापेक्षा[10] इति)स एव दोषः। यथा [11]तत्सान्निध्येन करोति, तथा आवरणसान्निध्ये न ज्ञानस्वभावातिशयकाष्ठास्तु परोव(काष्ठापि, अपरेण)प्रकारेण **अन्यथा कथमयं प्रतिपद्येत।** किम् ? इत्याह-**न कश्चित्** इ (**किञ्चित्** इत्यादि)। सुगतम(सुगमम्)। अत्र हेतुमाह-**विप्रकर्षादि**वति(दिति) स्वभावादिव्यवधानात्।

अनन्तरार्थस्य(र्थं) *"**दशहस्तान्तरं व्योम्नीत्योम्नि(व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।**" [तत्त्वसं० पृ० ८२६ पूर्वपक्षे] इत्यादिकं प्रकारान्तरेण निराकर्तुं[12] **'यदि नाम'** इत्यधिकां **'दशहस्तान्तरम्'** इत्यादिकां कारिकामाह-

> **[यदि नाम**
> **दशहस्तान्तरं व्योम्नो नोत्प्लवेरन् भवादृशः।**
> **योजनानां सहस्रं किन्नोत्प्लवेत पक्षिराडिति ॥१२॥**

वीर्यान्तरायक्षयातिशयवशात् लङ्घनादिशक्तेरतिशयप्रतिपत्तेः आगरुडादनिवारणात् सातिशयपुरुषोपपत्तिः।]

---

(१) योग्यताशक्तिः। (२) शक्तिरहितेन। (३) द्वितीया। (४) शक्त्यैव। (५) सहकारिवैकल्यात्। (६) आत्मनः। (७) सहकारिवैकल्येन। (८) शक्तेः। (९) अनित्यत्वापत्तिरिति। (१०) सहकारिणोऽपेक्षा न स्यात्। (११) सहकारिसान्निध्येन। (१२) कुमारिलमतम्। श्लोकोऽयं कुमारिलोक्तमिति कृत्वा तत्त्वसंग्रहे उद्धृतः। 'न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि' इत्युत्तरार्धम्।

दशहस्तान्तरं व्योम्नो नोत्प्लवेरं(रन्) भवादृशाः यदि नाम, योजनानां सहस्रं किन्नोत्प्लवेत पक्षिराड् (पक्षिराट् ? उत्प्लवेत्) वैनेय । ओन्यन्तरत्वम[४२५ख] अन्यत्रापि नास्ति (तम्), युक्तं तस्य मनुष्य इति स पश्येत सधुना नरैः चालिमिरिति (?) वैनतेयस्या-दर्शनात योजनसहस्रोत्प्लवनम असिद्धमिति चेत ; न ; भेरुण्डादीनाम इतरपक्ष (पक्ष्य) पेक्षया सातिशयोत्प्लवनदर्शनात वैनतेये तदनिवार्यम इत्येवमुक्तत्वात ।

ननु च भेरुण्डस्य तदुत्प्लवनं जातिमात्रभावित्वात सहजम, पुरुषस्य तु ज्ञानातिशयो लङ्घ-नवदभ्यासजः इ[ति]तद्वन्नियतो युक्त इति चेत ; अत्राह–**वीर्यान्तराय** इत्यादि । **वीर्यं** सामर्थ्यं तस्य **अन्तरायः** यतोऽध्यावारंभः (ध्यनारम्भः) कर्मविशेषः तस्य **क्षयातिशयो** विश्लेषविशुद्धिः तस्य वशा (वशात्) **लङ्घनादिशक्ते रतिशयप्रतिपत्तेः** । आकुत (आ कुतः ?) इत्याह–**आगरुडाद् निवारणात्** कारणात **सातिशयस्य पुरुषस्य उपपत्तिः** सातिशयोपपत्तिः । एवं मन्यते [न] गरुडस्य सहजं लङ्घनम, अपि तु तद्विघातिकर्मक्षयजम, तथा प्रकृतमपि स्यादिति । कर्मादि (कस्मादि)दमवगम्यते ? आत्मनि वीर्यं सदेव केनचिद् आहतं तत्क्षयाद् व्यज्यते, न पुनः ज्ञात्यादेः अस्मदेव भवतीति चेत ; आत्मविशेषगुणत्वा[त]ज्ज्ञानवदिति ।

ननु यदुक्तम्–'**दोषावरणविमुक्तेः कैवल्यसिद्धिः**' इति ; तत (तत्र) दोषविमुक्ते[ः] सर्वज्ञेऽपि वक्तुर्य (वक्तरि अ)संभवात क्वचित, तत्प्रतिज्ञायाः[3] वचनलिङ्गजरा[गा]द्यनुमानेन बाधनात । [4]वचनं हि रागादिमत्कार्यमिति चेत ; अत्राह–**वचो रागादिमत्कार्यम्** [४२६क] इति ।

[वचो रागादिमत्कार्यं सर्वं चेच्चोदना कथम् ।
प्रमाणं नित्यता तासां वक्तारः किं करिष्यते ॥१३॥

सर्वो वक्ता तत्त्वादेव रागादिमान् तत एव अविशेषेण यद्यप्रमाणम् ; कथं वेदस्य प्रामाण्यम् ? वाक्यानां[नित्यत्वे]ताल्वादिव्यापारवैफल्यम् अन्यथा अभिव्यक्तिः क्रियते न वाक्यमिति किंकृतमेतत् ? न च वैदिकवाक्यानि तत्त्वाविशेषेऽपि वक्तृदोषैर्नोपलिप्ये-रन् यतः प्रवचनमितरस्मात् विशेषयेत्, नान्यथा । न च वाक्यम् [इच्छाकार्यम्]गुमादौ अन्यथापि दर्शनात् । बुद्धि[करणपाटवहेतुकं वाक्यम्] तच्च ज्ञानपाटवं स्वकार्यं पर-स्मात् विशेषयेत् । न तन्नित्यवाक्यं तत्त्वतः, व्याख्याविप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । वाक्या-न्तराणां चैतन्यनान्तरीयकत्वं न वेदवाक्यानामिति स्वभावातिक्रमो माभूत् । तत्...।]

अत्रेदं विचार्यते–सर्वं वचनं रागादिमत्कार्यम्, अथ किञ्चित् ? किञ्चिच्चेत् ; यदा (यद्) दृष्टकर्तृकं तत्तथा[6] कुतोऽवगम्यते ? अत (अन्य) दृष्टकर्तृकसाम्या[त्]चेत ; कुतः साम्यम ?

(१) गरुडः पक्षिजातीयः, इतरस्तु मनुष्यजातीय इति भिन्नजातीयत्वम् । (२) वीर्यमुत्पद्यते । (३) दोषविमुक्तिप्रतिज्ञायाः । (४) "अयं च वक्तृत्वाख्यो हेतुः 'यस्य ज्ञेयप्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः' इत्यत्र आदिपदेन आक्षिप्त एवेति ।"–तत्त्वसं० प० पृ० ८८१ । (५) "ततश्चैतन्यकरणपाटवयोरेव साधकतमत्व-मिति ॥"–अष्टस० पृ० ७३। (६) रागादिमत्कार्यमिति ।

वर्णादेः इति चेत् ; सोऽयं वर्णादिः सर्वत्र समानः [1]तथा प्रत्यभिज्ञाना[न्न]वा किञ्चिद् इत्य-युक्तम्–*"**असदर्थाभिधानाद्**" इति चेत् ; असदर्थविषयं तर्हि वचनं रागादिमत्कार्य [मिति] तत्कर्तुरेव रागादिमत्त्वं नान्यस्य इति सिद्धसाधनम । यदि पुनः **सर्वं वचो** वचनं सर्वतत्त्वादे (सर्वज्ञादेः) **रागादिमत्कार्यं चेद्** यदि **चोदना** वेदवचांसि **कथं प्रमाणम्** [2]तत एव तद्वत [3]तत्कार्यत्वात् ।　५

ननु सर्वकर्तृकं सर्व (वं) तत्कार्यम उच्यते, चोदना पुनरकर्तृका नित्यत्वेन इति चेत् ; अत्राह–**नित्यता** इत्यादि । **तासां** चोदनानां सम्बन्धिनी **नित्यता** तासामेव **कर्तार (वक्तारः) किं करिष्यते** ? ते च तस्याः प्रमाणाभावेन निश्चेतुमश [क्यत्वा]त् । न हि [4]सा सत्यपि प्रत्यक्षेण निश्चीयते, तन्निश्चेतुः सर्व[ज्ञ]तापत्तेः । तदुक्तमत्रैव–'**ज्ञानं निरुप-मम्**' इत्यादि । केवलं कर्तुः [अ]स्मरणात (त्) साध्यते ; तदपि [5]जीर्णकूपादिना व्यभिचारी-त्यभ्यायतनन (रीत्यभिधाय तत्) निरस्यति । यदि वा, व्यभिचारिणी[6] प्रवचनादौ भावा[त्] इत्युक्तम । यद्वा, अन्यथा विचार्यते–कूटस्थनित्यता, परिणामनित्यता वा हेतुः स्यात ? प्रथमपक्षोऽ-युक्तः; प्रतिषिद्धत्वात् । द्वितीयोऽपि सुवर्णादौ [8]तस्यामपि सुवर्णादौका (सुवर्णका) रादिसाफल्यात्[9] ।　१०

कारिका ख्या (कां व्याख्या) तुमाह–**सर्वो वक्तव्ये**(**वक्त**)त्यादि । [**सर्वो**]निरवशेषो **वक्ता** [10]**तत्त्वाद**[**व**]**रागादिमान्** '[11]वचनं सर्वलिङ्गम' इति लिङ्गपरिणामेन सम्बन्धः । **तत एव वक्ता** (वक्तुः) रागादिमत्त्वादेव[४२६ ख]**अप्रमाणमविशेषेण यदि कथं वेदस्य प्रामाण्यम्** ? वेदस्य कर्ता नास्तीति चेत ; अत्राह–**वाक्यानाम्** इत्यादि । **ताल्वादिव्यापारवैफल्यम्** , **अन्यथा व्यक्तिरयतो** (रभिव्यक्तिः) **क्रियते न वाक्यम् इति किं कृतमेतत्** ? निरूपितं चैतत् ।　१५

ननु वैदिकाः शब्दाः स्वत एव अर्थमभिदधति न पुरुषात् ; [12]ततः कृत्रिमत्वेन अप्रामाण्यं तेषामिति चेत ; अत्राह–**न च** इत्यादि । [**न च**] नैव **वैदिकवाक्यानि वक्तृदोषौ ताप-** (**दोषैर्नाप**) **लिप्येरन्** [किन्तु] उपलिप्येरन्नेत्वा (रन्नेव, तत्त्वाऽ) **विशेषे**ऽपि पुरुषपूर्वकत्वाविशे-षेऽपि । न केवलं पूर्वोक्तविधिना [यतः] नित्यत्वविशेष (षो) वचनस्य सर्वज्ञत्वंप्रवचम (सर्वज्ञोक्तं **प्रवचनम्**,) **इतरस्माद्** वेदादविशेषयेत (वेदात् **विशेषयेत्**) प्रमाणत्वेन भिन्नं ततो व्यवस्थापयेत नान्यथा नप्रकाराण (नान्येन प्रकारेण) ।　२०

ननु चोक्तम्–'**रागादिमत्कार्यं वचः सर्वम्**' इच्छाया रागादिविशेषत्वादिति चेत् ; **न च वाक्यम्** इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**सुप्तादौ** आदिशब्देन अन्यत्रगतचित्तादौ **अन्यथापि** [13]समनन्तरेच्छाहितप्रयत्नाभावेऽपि दर्शनाद्वास्येति (**दर्शनात्** 'वाक्यस्य' इति) किं तत्कारणम ? इत्याह–**बुद्धि** इत्यादि । सुप्तादौ बुद्धिव्यवस्थापनात् न व्यभिचारः[14] । अथ सर्वस्य [15]तत्पूर्वकत्वा-　२५

(१) वर्णत्वेन । (२) वचनत्वादेव । (३) रागादिमत्कार्यत्वात् । (४) नित्यता । (५) प्रस्तावे । (६) कर्तुरस्मरणम् । (७) नित्यता । (८) परिणामनित्यतायामपि । (९) कटककुण्डलादिपर्यायोत्पादने । (१०) वक्तृत्वादेव । (११) वचनशब्दः । (१२) यदि पुरुषात् अर्थमभिदध्युः तदा । (१३) अव्यवहित-पूर्वकालीनेच्छाप्रेरितयत्नाभावेऽपि । (१४) बुद्धिकरणपाटवाभावेऽपि वचनोत्पत्तिलक्षणः । (१५) बुद्धिकरण-पाटवपूर्वकत्वेऽपि ।

विशेषे कथमन्योऽन्यं समयानां भेद इति चेत् ; अत्राह–**न च (तच्च) ज्ञानपाटवं** जीवादिज्ञान-पाटवं **स्वकार्यं** प्रवचन(नं) **परस्मात्** सुगतादिवचनात् **विशेषयेत्** । दृश्यते हि तरज्ञाति (तत्त्वेतरज्ञानि) वचसां सत्येतरतया भेदः । तत्पाटवं नित्यं वाक्यं परस्माद् विशेषयेत् स्वकार्यम् इति चेत् ; अत्राह–**तन्नित्यवाक्यं तत्ततो** [४२७क] **[न]विशेषयेत्** । कुतः ? इत्याह–**व्याख्या-**
५ **विप्रतिपत्तेरभावप्रसङ्गात्** । एवं मन्यते–यदि नित्यत्वं स्वयं स्वार्थ(र्थं) प्रतिपादयेत्, युक्तमेतत्, न चैवम् । तद्विप्रतिपत्त्यभावप्रधानता वा निर्देशः, न नित्यत्वं वाक्यं परस्माद् विशेषयेत् । कुतः ? इत्याह–**व्याख्यानता (व्याख्याविप्रतिपत्त्य)**इत्यादि । तत्र यदुक्तम् 'वाक्यं बुद्धिपूर्वकमेव इति नियमः स्यात्' इति ; तन्न सुभाषितम् । वैदिकवाक्यस्य अन्यथा भावादिति चेत् ; अत्राह–**चैतन्य** इत्यादि । चैतन्यनान्तरीयकत्वं बुद्धिपूर्वकत्वं **वाक्यं नराणाम् (वाक्यान्त-**
१० **राणाम्)** प्रवचनादिवाक्यानां कथं साक्यकल्पितानवयवत्वेनात (शक्यकल्पितम् अवयवत्वेन **न**) **वेदवाक्यानां** तन्नान्तरीयकत्वम् इत्येवं यः परेण **स्वभावातिक्रमः** कल्पितः सर्वज्ञवीतरागवादिनं प्रति स्वभावातिक्रमं दोषं वदतापि **स मा भूत्** । कुतः ? इत्याह–**तत्ते (तत् श्रुतेः** इ)त्यादि । **तत्** सुगादौ इच्छाव (इच्छाऽप्यभि) चारि बुद्धिपूर्वकं कृत्वं (वक्तृत्वं) **श्रुतेः** वेदस्य **पौरुषेयत्वं** सावयवत्वे च (**साधयत्येव**) यतः तत्साधने निःकलत्वात् (?) ।

१५ ननु वाक्यत्वं स्यात् न च श्रुतेः पौरुषेयत्वं साधयिष्यति, विपक्षव्यावृत्तेः सन्देहादहेतु-[रित्याह–] **पुरुषातिशयः सिद्धः** इत्यादि ।

[पुरुषातिशयः सिद्धस्तथैवेत्यनुमीयते ।
सर्वज्ञाभावसंवित्तेस्त्वन्यथानुपपत्तितः ॥१४॥

नित्यं वेदं ब्रुवतामपि सर्वज्ञो वीतदोषः सिद्धः । कुतः ? सकल···यथासमयं···
२० **कर्तुरस्मरणात् वेदनास्तिक्यवचनाद्योः नित्यत्वाविशेषात् । न च सर्वत्र···। कथं [सर्वज्ञोऽसर्वज्ञैः ज्ञायते] यतः प्रवृत्तिकामस्तत्प्रवचनं प्रतिपद्येत । तदन्यत्रापि समानम् ।]**

तथैव इति श्रवणात् यथैव **इत्यनुमीयते** यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । ततोऽयमर्थः–यथैव चान्यत्वा (वचनत्वाऽ)विशेषेऽपि आगमस्य वेदस्य नित्यता न परस्य, वक्तृत्वाद्यविशेषेऽपि पुरुषस्यातिशयः सर्वज्ञवीतरागादिलक्षणः सिद्धः तथैव, अन्यथा तन्नित्यतापि[४२७ख]माभूद-
२५ विशेषात् । नाविशेषे(षः) वेदे नित्यतानिबन्धनस्य प्रामाण्यस्य भा[वात्] पुरुषे त्वतिशयनिबन्धनस्य विपर्ययादिति चेत् ; न; अस्य (आगमस्य) तदतिशयनिबन्धनत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् अत्रैव । 'कर्त्रभावः तन्नित्यत्वनिबन्धनम्' इत्यपि तादृगेव । नहि सकलदेशकालकलापव्यापी व्यामीश (कलापव्यापी र्सः) तदतिशयमन्तरेण प्रत्येतुं शक्यः । तमन्तरेणात् (ण तत्) प्रतीयते

(१) शास्त्राणाम् । (२) आगमः । (३) चैतन्यनान्तरीयकत्वम् । (४) मीमांसकेन । (५) वेदनित्यतापि । (६) प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः नित्यो वेद इति । (७) वेदनित्यत्व । (८) कर्त्रभावः । (९) पुरुषातिशयमन्तरेण ।

इत्यनुक्तसमम् । यतः प्रा[ण]भृन्मात्रदर्शनेन यदि पदार्थसत्तामात्रं व्याप्यते तद्दर्शनं च स्मरणेन, युक्तमेतत् स्यात् , न चैवमिति ।

स्यान्मतम्–सर्वज्ञस्याभावात् न स[1] वेदस्य कर्त्ता, तस्यधेयतो(अन्यस्य च इयतो)ग्रन्थ-प्रबन्धस्य परोक्षेऽर्थे प्रमाणभूतस्य करणाऽसामर्थ्यात् सिद्धा तन्नित्यता[2], नैवं तदतिशयः, एवं-विधा(धो)पायाभावादिति ; अत्राह–**सर्वज्ञ(ज्ञा)भावसंवित्तेस्वा(स्त्व)न्यथानुपपत्तिनः पुरुषातिशयः सिद्धः** इति घनायमृदु(घटनात् । यत्तु) सर्वज्ञस्याभावानु(वान्न) स वेदस्य कर्ता इति, साकल्येन तदभावे[3] निश्चिते सति[4], शङ्का[ऽ]निवृत्तिरन्यथा[5] तन्निश्चयोऽपि[6] सर्वज्ञाद् इति भावः । ५

कारिकां व्याख्यातुमाह–**नित्यम्** इत्यादि । **नित्यं वेदं ब्रुवतामपि** न केवलमन्येषाम् **सर्वज्ञो वीतदोषः सिद्धो** वाक्यत्ववत् वक्तृत्वादेरपि सदोषत्वात् इति । युक्त्यन्तरं दर्शयितुं ‘**कुतः**’ इति पृच्छति । तदाह–**सकले**त्यादि । अनेन **सर्वज्ञ[:]सिद्ध** इति दर्शयति, ‘**यथा समयम्**’ इत्यादिना **वीतदोष** इति च[४२८क] नित्यत्वादेवं वेदो[न]नास्तिक्यवचनादिकम् अनित्यम् अविशेषत इति चेत् ; अत्राह–**कर्तुरस्मरणाद्** इत्यादि । **वेदनास्तिक्यवचनायो[:] नित्यत्वाऽविशेषात्** । यदि वा, नित्यत्वाद् वेदः प्रमाणम् नान्यो विपर्ययात् ; तत्र हेतोः व्यभिचारं दर्शयन्नाह–**नत्र (नच)** इत्यादि । अनेन वेदवत् मातृविवाहादेरप्रमाणस्यापि नित्यत्वं दर्शयति । प्रमाणं सोऽपि[7] चेत् ; वेदार्थवद् अनुष्ठेयत्वम् । कर्त्ता तस्य स्मर्यत इति चेत् ; अत्राह–**सर्वत्र** इत्यादि । १० १५

ननु भवतु सर्वज्ञः, सत्त्यसर्वज्ञेन(स तु असर्वज्ञेन)तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितानेवा(रहितेनाव)गन्तुं न शक्यते । तदुक्तम्–

*"स[र्व]ज्ञोऽयमिति ह्येतत्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः ।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥" २०

[मी० श्लो० चोदना० श्लो० १३४]

सर्वज्ञेन ज्ञायते;तन्मतेन सर्वज्ञप्रसङ्गात् । एतदप्युक्तम्–

*"कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुः बहवस्तव ।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते ॥" २५

[मी० श्लो० चोदना० श्लो० १३५] इति ।

एतदेवाह–**कथम्** इत्यादि । मा ज्ञायता(तां) किं तेन ज्ञातेनेति चेत् ; अत्राह–**यत** इत्यादि । **यतो** यस्मात्वृद्धि(स्मात्तद्वि) ज्ञानात् **प्रवृत्तिकामः तत्प्रवचनं** सर्वज्ञप्रवचनं **प्रतिपद्येत**। तदुक्तम् *"**सर्वज्ञो येन न ज्ञातः**" [मी० श्लो० चोदना० श्लो० १३६]इत्यादि । इति चेत् ; अत्राह–**तद्** इत्यादि । **तत्** परकीयचोद्यम् **अन्यत्रापि** परमतेऽपि **समानम्** । ३०

(१) सर्वज्ञः । (२) वेदनित्यता । (३) सर्वज्ञाभावे । (४) स्यादिति । (५) तदभावो यदि न निश्चितस्तदा । (६) साकल्येन सर्वज्ञाभावनिश्चयोऽपि । (७) वेदः प्रमाणम् । (८) "सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च येनैव स्यान्न तं प्रति । तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥"–मी० श्लो० ।

एतदेव दर्शयन्नाह–**सर्वात्मज्ञान** इत्यादि ।

[सर्वात्मज्ञानविज्ञेयाज्ञ यतत्त्वं विवेचयन् ।
नो चेद्वेत्ति कथं तस्य सर्वज्ञाभाववित्स्वयम् ॥१५॥
तज्ज्ञेयज्ञानवैकल्यात् यदि बुध्येत न स्वयम् ।३।

नहि ...पुरुषविशेषस्यापि वक्तृत्वादिसामान्यादसर्वज्ञत्वसाधनेऽपि समानमेतत् , विपक्षेऽभावासिद्धेः]

सर्वे स्थावरप्रभृतयः सकलजगद्वासिन **आत्मानो** जीवाः तेषां च यानि[**ज्ञानानि**] यत्र **विज्ञेयं** परिच्छेद्यम **अज्ञांयं(अज्ञेयम)** अपरिच्छेद्यं **तत्त्व(त्त्वं) तद्विवेचयन** प्रत्यक्षेण जानन , अन्यस्य तत्राव्यापारादिति निरूपयिष्यते[४२८ख] मीमां[सकः] सर्वज्ञः स्यात्।
१० यथैव हि सर्वज्ञस्य ज्ञानं तद्विज्ञेयतृत्वम (यतत्त्वं) वा जानता(वाऽजानता) 'सर्वज्ञोऽयम' इति ज्ञातुं न शक्यते, तज्ज्ञानेव (तज्ज्ञाने च) सोऽपि सर्वज्ञः, तथा सर्वात्मना(नां) तज्ज्ञानानांविज्ञेयाग्राज्ञयं(विज्ञेयाज्ञेय) तत्त्वस्य वा[अ]साक्षात्करणे एतेनाम(एतच्च) नुजानाति प्रवृत्तिम अन्यत्रने त्यजानेन (अन्यत्र नेत्यजानन) कथं साकल्येन सर्वज्ञाभाववित ? जानन् स एव सर्वज्ञः इति । तथा च *"**धर्मे चोदनैव प्रमाणम्**" *"**नान्यत् किञ्चन इन्द्रियादिकम्**" [शाबरभा०
१५ १।१।२] इति भाष्यं स्तवते (प्लवते) । सर्वज्ञत्वेन आत्मानं यदि स्वयमेव जानाति अन्योऽपि तथैव स्वं तथा जानाति इति तद्विषयानुपलब्धिर्धासिद्धा (लब्धिरसिद्धा)। अतः कः ? सर्वज्ञसद्भावश्चाबा- (व एव) अनेन ज्ञायते [इति] स एव दोषः । तथा सति *"**कल्पनीयाश्च सर्वज्ञाः**" [मी० श्लो० चोदना० श्लो० १३५] इत्यादि परपक्षेऽपि समानम ।

किंच, तस्य ज्ञानं कचित कदाचिद्यदि (कदाचिद् यदि) परिसमाप्तम् ; तावन्मात्रत्वम्
२० आत्मनां ज्ञानानां चेति प्राप्तमिति कथम अनाद्यनन्तता तेषामिति क इदानीं चेदस्य(वेदस्य) अनाद्यनन्ततां प्रतीयात् ? ततः परं तत्पाठको वा ? यतः सत्त्वं संभाव्येत ? अथ तत्परिसमाप्तावपि न तेषां तावन्मात्रता ; तर्हि तेनापरिच्छिन्नस्वरूपाणामपि भावात , न वा कालस्य किञ्चिज्ज्ञतासिद्धिः । यदि पुनर्न कचित् तत्परिसमाप्तमिष्यते ; न तर्हि बहुकल्पसहस्रैरपि '**सर्वात्मज्ञानविज्ञेयाज्ञे[य]तत्त्वविवेचनम्**' य एव तेन अज्ञातः तत्रैव सर्वज्ञत्वाशङ्का
२५ नात (न)निवर्त्तते ।

यस्यात्मकं(स्यान्मतम्) यथाभावमसौ प्रत्येति तेनाऽयमदोषः ; अन्योऽपि सर्वज्ञः (ज्ञ)

(१) प्रमाणस्य । (२) पुरुषेण । (३) "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"–मी० सू० १।१।२। "चोदनैव प्रमाणञ्चेत्येतद् धर्मेऽवधारितम्"–मी० श्लो० चो० सू० श्लो० ४। (४) "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलं नान्यत् किञ्चनेन्द्रियादिकम्" –शाबरभा० १।१।२ । (५) सर्वज्ञस्य । (६) अवशिष्येत इति सम्बन्धः । (७) वेदस्य । (८) सर्वज्ञज्ञानपरिसमाप्तावपि । (९) आत्मनां ज्ञानानां वा । (१०) अपि तु तेनाज्ञातानामपि सद्भावात् । (११) कालत्वादिति हेतोः वर्तमानकालवत् इति यः सर्वज्ञताऽभावः साध्यते स न इति भावः ।

तथैव प्रत्येति इति तत्रास्य[४२९क]दोषा स्याद्भावात् । मयुक्तम्(दोषस्योद्भावनमयुक्तम् ।) एव-मन्यदपि परस्य दुश्चेष्टितां(तं) चिन्त्यम् । ननु स्यादयं दोषो यद्यसौ सर्वात्मज्ञानविज्ञेयाज्ञेय-तत्त्वं विवेचयेत् , यावता नैवमिति चेत् ; अत्राह–**नो चेत्** न यदि भयेत् (**भवेत्**) **स्वयम्** आत्मनैव **सर्वज्ञाभावविन् कथं** नैव । निरूपितमेतत् । सर्वज्ञ(ज्ञा)भावावेदने च *"**धर्मे चोदनैव प्रमाणम्**" इत्यन्ययोगव्यवच्छेदेन[1] चोदनाप्रामाण्यसाधनमसारम् । ५

किंच, तदभावसन्देहे[2] वेदेऽकर्तृत्वं[3] सन्दिग्धं कथं प्रामाण्यं साधयेत्[4] यतः प्रवृत्तिकामोऽ-पौरुषेयाद् वचनात् ततः प्रवर्तेत ? सर्वज्ञस्य अस्मदाद्यदृश्य[स्य]तत्कर्तुः[5] सद्भावाशङ्काऽनिवृत्तेः । अस्मरणमपि तदभावं[6] न साधयति ; स्मरणं हि अनुभवकार्यं न प्रमेयकार्यम् , अविशेषेण सर्वस्य[7] ततः तत्प्रसङ्गात् । [अ]तदभावात्[8] प्रमेयाभावात्[9] प्रमेयाभावः ; अन्यथा[10] धूमा(धूमा)भावात् सर्वा-भावः स्यात् । किन्तु यदि स्यात्[11] तत्कारणस्य[12] अनुभवस्य स्यात् । न च अस्मदाद्यनुभवः १० सर्वप्रमेयकार्यः येन तदभावे[13] विवक्षितप्रमेयाभावः स्यात् । तथा वेदस्य[अ]कर्तृत्वमिच्छता [14]तदभावो ज्ञातव्य इति न प्रकृतदोषपरिहारः ।

अथ तदविवेचयन्नेव [15]तदभावं वेति(वेत्ति ;) तत्राह–'**यदि**' इत्यादि । **तस्य** सर्वज्ञयस्य (सर्वज्ञस्य) **ज्ञानं** तस्य **ज्ञेयं** तत्र **ज्ञानं** तेन **वैकल्यात्** सुतरां सर्वात्मनामसर्वज्ञत्वम् **स्वयं न बुध्येत** असर्वज्ञ इति । कुत(कुतः ?) इत्यत्राह–**नहि** इत्यादि । गतार्थमेतत् । स्यादयं दोषो १५ यदि सर्वात्मनामसर्वज्ञत्वम् अध्यक्षेण प्रतीयेत, न चैवम[४२९ख]अनुमानेन तत्प्रतीतेरिति चेत् ; अत्राह–**पुरुष** इत्यादि । **पुरुषस्यवि(रुषवि)शेषस्य(स्या)पि** सुगतादेरसर्वज्ञत्वसाधनेऽपि न केवलं प्रकृतसाधने । कुतः ? इत्याह–**वक्तृत्वादि** इत्यादि । सुगतरथ्यापुरुषस्यो(रुषयोः) यद् **वक्तृत्वादिसामान्यम् तस्मात्** । तत्र किम् ? इत्याह–**समानमेतद्** अनुमानमिति । [16]सर्वात्म-ज्ञानविज्ञेयाज्ञेयावेदने सर्वज्ञा(ज्ञ) **विपक्षे** वक्तृत्वाद्य**भावासिद्धेः** । शेषमत्र चर्चित(चर्चितम्) २० चारुचक्षुषा स्वयमेवोपेण(मेवोह्यम्) ।

एव(एवं)परस्य सर्वज्ञताप्रतिपादने यत् फलं प्राप्तं तद्दर्शयन्नाह–**नर** इत्यादि ।

[नरः शरीरी वक्ता वाऽसकलज्ञं जगद्विदन् ।
सर्वज्ञः स्यात्ततो नास्ति सर्वज्ञाभावसाधनम् ॥१६॥

सत्यपि पुरुषत्वादिसामान्ये यथा केचिदेव सर्वज्ञशून्यं जगत् तद्रागादिमत्त्वं वा २५ **विदन्ति नेतरे तथैव यदि केचन सर्वज्ञाः स्युः किन्नोपपद्येत यतः सर्वज्ञो नैव स्यात् ?]**

(१) वेदान्यस्मिन्-सर्वज्ञे योगस्य-प्रामाण्यसम्बन्धस्य यः व्यवच्छेदोऽभावः तेन रूपेण । (२) सर्वज्ञाभावे संशये सति । (३) कर्त्रभावोऽपि । (४) वेदस्य । (५) वेदकर्तुः । (६) कर्त्रभावम् । (७) जैनादिकस्यापि । (८) स्मरणाभावात् । (९) 'प्रमेयाभावात्' इति द्विर्लिखितम् व्यर्थम् । (१०) अकार्यादपि यदि अकारणस्य अभावः स्यात्तदा । (११) यदि स्मरणाभावादभावः स्यात् । (१२) स्मरणकारणस्य । (१३) अनुभवाभावे । (१४) सर्वज्ञाभावः । (१५) सर्वज्ञाभावम् । (१६) असर्वज्ञत्वे साध्ये ।

नर[:]पुरुषः **शरीरी वक्ता वा सकलकलङ्क किंचिज्ज्ञत्वाजगद्विदतु(वा असकलज्ञम्** , किञ्चिज्ज्ञं **जगद्विदन्) सर्वज्ञः स्यात् ततो नास्ति सर्वज्ञाभावसाधनम्** , तत्साधनस्य तेन व्यभिचाराद् इति भावः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-**सत्यपि** इत्यादि । **सत्यपि** न केवलम् असति **पुरुषत्वादिसा-**
५ **मान्ये यथा केचिदेव सर्वज्ञशून्यं जगत्** जैमिन्यादयो **विदन्ति,** कस्य(तस्य) सुगतादे **रागादिमत्त्वं वा** परोक्षस्य विदन्ति **नेतरे** व्यापुरुषाः **तथैव यदि सर्वज्ञः(ज्ञाः) केचन स्युः किन्नोप[प]द्येत यतोऽनुपपत्तेः सर्वज्ञ(ज्ञः) नैव** न **कश्चिन स्यात्** ।

ननु स्यादयं दोषो यदि प्रत्यक्षेण जगत् तथा विदन्ति केचित्[१], किन्तु अनुमानेन । तथाहि-सर्वात्मज्ञानानि (नानि) प्रत्यक्षाभिमतानि विवादगोचरतां गतानि, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजानि
१० नियतविषयाणि वा (वा), तत्त्वात्[२], अत्रेदानींतनाक्ष ज्ञानत्वं (दानीन्तनप्रत्यक्षज्ञानवत्)। तथा विषया विवादविषयाः[४३०क] प्रतिनियतार्थेन्द्रियाध्यक्षविषयाः, तत्त्वात्[३], विवक्षितविषयवत्[४] । तदुक्तम् (तदप्युक्तम्-)

*"यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
दृष्टं संप्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥"

१५ [मी०श्लो० चोदना०श्लो० ११३]

इति चेत ; न ; सत्यस्वप्नेन अस्य व्यभिचारात । *"**तद्धि सत्यस्वप्नज्ञानम् इन्द्रियासंसृष्टं व्यवहितं चार्थमवैति**" इति प्रमाणसंग्रहे[५] निरूपितम् ।

तर्हि बाधकवत् साधकस्यापि सर्वज्ञोभा (सर्वज्ञेऽभा-)वात् संशय इति चेत ; एतदेवाह-**साधक** इत्यादिना[६] ।

२० **[साधकबाधकाभावात् सर्वज्ञे संशयः क्वचित् ।**
बाधकासंभवात् सिद्धं साधकस्यैव संभवात् ॥१७॥

केन तद्द्वयस्याभावनिर्णयः ? तत्र बाधकाभावनिर्णयात् । तत एव प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यम् । यथादर्शनं तत्त्वप्रतिपत्तौ अतिप्रसङ्गात् । तत्र साकल्येन बाधकप्रमाणव्यावृत्तेरन्यत् साधकं नाम, यतस्तस्य साधकबाधकप्रमाणाभावात् सर्वज्ञत्वं संशीतिमवतरेत् ।
२५ **साधकबाधकयोरन्योऽन्यं विधिप्रतिषेधलक्षणत्वात् ।]**

अत्र दूषणमाह-**बाधकासंभवा**[त्यादि] । **क्वचित्** पुरुषविशेषे सर्वज्ञत्वं सिद्ध (द्धम् ।) कुतः ? इत्याह-**बाधकाऽसंभवात्** । अनेनैतत् कथयति-बाधकाभावः परमार्थसत्त्वेन व्याप्तः, सुखादिस्वसंवेदने तथादर्शनात्, परमार्थत(स)त्त्वाभावे च ग्राह्यमरीचिकादिनिराद्याकारो (ग्राह्यमरीचिकादिनीराद्याकारे) बाधकाभावनिवृत्तेः । यन्निवृत्त्या यन्नियमेन निवर्त्तते तत्तेन व्याप्तम् , यथा

(१) जैमिन्यादयः । (२) प्रत्यक्षत्वात् । (३) विषयत्वात् । (४) घटादिवत् । (५) "स्वयं प्रभुरलङ्कनार्हः स्वार्थालोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वप्नवत् ।"-प्रमाणसं० पृ० ९९ । (६) "साधकबाधकप्रमाणाभावात् सर्वज्ञे संशयोऽस्तु इत्ययुक्तम्..."-अष्टस० पृ० ४९ ।

ज्ञानत्वं स्वसंवेदनेन, निवर्तते च [1]तत्सत्त्वनिवृत्तौ [2]तदभाव इति ।

स्यान्मतम्–[3]तत्सत्त्वाभावेऽपि स्वप्नादिदृष्टघटादौ [4]तदभावा[त्]न तेन [5]तद्व्याप्तिरिति ; तत्तन्(तन्न) स्वसंवेदनग्राह्याकारयोरविशेषप्रसङ्गात् तदाकारनिवेदनात् । ततः स्वप्नादिग्राह्याकारस्य असत्त्वमिच्छता त[द्]बाधकसद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः ।

अपरे मन्यन्ते–प्रागभावादौ तत्रासंबंध(सत्तासम्बन्ध)रहिते [7]तत्सत्त्वाभावेऽपि बाधकप्रमाणाभावः इति नानयोः [8]व्याप्यव्यापकभाव इति ; तन्न ; भावाद् भिन्ने[ऽ]भावे बाधकसतस्य (संभवस्य) दर्शितत्वात् , सत्तासम्बन्ध वा (न्धे च) । ततो य[त]एव बाधकासंभवाद् भावनिश्चयः तत एव तत्र[४३०ख]शब्देहम्बवदतः (सन्देहं वदन्तः) मूढमतय इति । ५

ननु न ततं एकेनं तत्स्वरूपात् केवलात् क्वचित् संशीतिर्निरस्यते, अपि तु साधकाभावसहितात् । साधकप्रमाणात्मको हि बाधकाभावो भावं गमयति । न च सर्वज्ञे सोऽस्तीति चेत् ; अत्राह–'सावकस्यैवं(साधकस्यैव)संभवात्' इति [11]व्यतिरेचको [12]निगतोऽयं(निपातोऽयं) 'सिद्धम्' इत्यस्याऽनन्तरं द्रष्टव्यः । साधकस्य संभवात् क्वचित् सर्वज्ञत्वं सिद्धं सच(सिद्धमेव) तत्संभवो दर्शितो नेह पुनरुपदर्श्यते । यदि च(वा) आत्मनः सकलपदार्थसाक्षात्कारी कस्यचिद् (कश्चिद्)अवस्थाविशेषः समस्तीति श्रोतो बाधकरहिता प्रतीतिः तत्साधकं प्रमाणमिति । १०

यत्पुनरुक्तं धर्मकीर्तिना–*"साधकबाधकप्रमाणाभावात्तर्हि सन्देहोऽस्तु" [13]इति ; तत्राह–केन प्रमाणेन तद्द्वयस्य साधकबाधकप्रमाणद्वयस्य अभावनिर्णयः न केनचिद् इति निवेदितमेतत् । एवं मन्यते–सर्वज्ञे हेतोः सन्देहसाधनम् , हेतुना[च] सिद्धेन भवितव्यम्, अन्यथा [14]ततः [15]तत्साधनायोगात् , सन्दिग्धासिद्धा(द्ध)वचनप्रसङ्गादिति । १५

ननु मा भूत् [16]तद्द्वयाभावनिर्णयः, सन्देहो भवद्वि(त्वि)ति चे[न ;] तते [17]एव [18]तत्र सन्देहः स्यात् न तद्द्वयाभावात् इ[ति । अस्तु] तत एव सन्देह इचिति(इति) चेत् ; अत्राह–बाधक इत्यादिना । [त]त्र शब्दः क्रमवाची, तन्न तत्सन्देहात्[त]त्र सन्देह इति भावः । तथापि तत एव तत्र सन्देहं(हः) चेत् ; अत्राह–तत एव इत्यादि । बाधकाभावनिर्णयादेव । कुतः ? इत्याह–प्रत्यक्षस्यापि, न केवलम् आगमस्य[४३१क] तत एव प्रामाण्यं य[तः] इति । २०

स्यान्मतम्–प्रतिभासात् तत्प्रमाण्यं न [19]त[तः] इति ; तत्राह–यथादर्शनम् इत्यादि ।

(१) परमार्थसत्त्वनिवृत्तौ । (२) बाधकाभावः । (३) परमार्थसत्त्वाभावेऽपि । (४) बाधकाभावात् । (५) परमार्थसत्त्वेन । (६) बाधकाभावव्याप्तिः । (७) परमार्थसत्त्वाभावेऽपि । (८) बाधकाभावपरमार्थसत्त्वयोः । (९) बाधकाभावात् । (१०) केवलेन । (११) व्यावर्तकः । (१२) एवकारः । (१३) तुलना–"साधकबाधकप्रमाणाभावमात्रं चात्र सन्देहेन लक्ष्यते ।"–प्र० वार्तिकाल० ४।९१ । "सेयं साधकबाधकप्रमाणानुपपत्तौ सत्यां समानधर्मोपलब्धिः विनश्यदवस्था विशेषस्मृत्या महाविनश्यदवस्थया एकस्मिन् क्षणे सती संशयज्ञानस्य हेतुरिति सिद्धम् ।"–न्यायवा० ता० टी० पृ० २४७ । न्यायकुमु० स्त० २ पृ० ८। "साधकबाधकप्रमाणयोर्निर्णयात् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिः अनिर्णयादारेका स्यात् ।"–अष्टश० अष्टस०, पृ० ४९ । लघी० स्ववृ० पृ० २ । प्रमाणनय० १।११ । प्रमेयरत्नमा० ३।२९। प्र० मी० पृ० ५। (१४) हेतोः । (१५) सर्वज्ञसन्देहसाधनायोगात् । (१६) साधकबाधकाभावद्वय । (१७) साधकबाधकाभावसन्देहात् । (१८) सर्वज्ञे । (१९) बाधकभावनिर्णयात् ।

तत्त्वप्रतिपत्तौ प्रामाण्यप्रतिपत्तावङ्गीक्रियमाणायाम् **अतिप्रसङ्गात्** सकलज्ञानप्रमाणताप्रसङ्गात् , स्व वेदनद्वाह्यमपि (स्ववेदनवत् बाह्यमपि) निराकृ(कं)भवेत् ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–**तन्न** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्मात् **न साकल्येन बाधकप्रमाण-व्यावृत्तेः** सकाशात् **अन्यत् साधकं** प्रमाणं **नाम** किन्तु सैव साधिका इति, **यतोऽ**न्यस्य साध-
५ कस्य (स्या) भावात् **तस्य** सर्वज्ञत्वस्य[साधक]**बाधकप्रमाणाभावात् सर्वज्ञत्वं संशीतिमवतरेत्** । एतदपि कुतः ? इत्याह–**साधक** इत्यादि । **साधकबाधकयोः अन्योऽन्यं** परस्परं **यौ विधि-प्रतिषेधौ** तावेव **लक्षणं** ययोः तयोर्भावात् **तत्त्वात्** । तथाहि–बाधकप्रतिषेध एव साधकविधिः, [1]तत्प्रतिषेध एव स(च) बाधकविधिः, तथा बाध[क]विधिरेव साधकप्रतिषेधः [2]तद्विधिरेव बाधक-प्रतिषेध इति । अन्यथा जीवच्छरीरे नैरात्म्यनिषेधः सात्मको न स्यात् , कृतकत्वादेर्वा हेतोः
१० असति विपक्षे अभावाभावो भावात्मको न भवेत् ध र्म की र्तेः इति । तन्न 'बाधकनिवृत्तिश्च स्यात् न च सर्वज्ञसद्भावः प्रतिबन्धाभावात्' इति ; सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तेः शेषवत् साधनम् ।

एतदेव दर्शयन्नाह–**कथम्** इत्यादि ।

[कथं बाधकनिवृत्तिः सा सती सर्वविदोऽत्यये ।
जगत्सकलज्ञवैकल्ये तद्भावे हेतुरेव वा ॥१८॥

१५ सती बाधकनिवृत्तिः सर्ववित्सत्तां साधयेत् नात्र संशयः । न वै कस्यचिदप्य-भावे बाधकप्रमाणमेव न स्यात् किन्तु तदभावे साधकप्रमाणं च न । तदियमेव निश्चिता सर्वज्ञसद्भावं कुतो न साधयति, साधकव्यावृत्तेरसंभवात् । प्रमेयान्तरस्यापि सत्त्वमबाधि-तविज्ञानज्ञेयत्वादेव । तदस्ति सर्वज्ञोऽपि । साधकबाधकप्रमाणाभावे संशयोऽपि मा भूत् नैरात्म्यवत् । सुप्तम्··· । इत्यलं प्रसङ्गेन ।]

२० **जगतः सकलज्ञवैकल्ये** साध्यविपर्ययरूपे **सति(सती) तद्बाधकनिवृत्तिः** संभ-वन्ती **तत्सद्भावे(तद्भावे)हेतु [:]** सर्वज्ञसद्भावहेतुः, **कथ**मिति ? तत्रोत्तरम्–**[बाधक] निवृत्तिः** इत्यादि । [3]व्यतिरे[च]को[४३१ स्य]नियतो([4]निपातः) **'सती'** तस्य (इत्यस्य) अनन्तरं द्रष्टव्यः । **बाधकस्य** या **निवृत्तिः** सा **सत्येव** । कस्मिन् सति ? इत्याह–**सर्व-विदोऽत्यये** सर्वज्ञाभावे, तन्निवृत्तेः[5] तत्सद्भावेन[6] व्याप्तत्वात् ।

२५ ननु कथं [7]तत्सद्भावाऽसिद्धौ तेन [8]तद्व्याप्तिः ? तन्निवृत्तेः तत्सिद्धिरिति चेत् ; अन्योऽ-न्यसंश्रयः । तथाहि–तन्निवृत्तेः तद्व्याप्तिसिद्धौ [9]ततः [10]तत्सद्भावः सिध्यति, पुनः तेन तद्व्याप्तिः इति ; तन्न ; शब्दानित्यत्वेन कृतकत्वादेर्व्याप्तिसाधनेऽप्यस्य समानत्वात् । अथात्र न धर्मिणि व्याप्तिसिद्धिः इष्यते, अपि तु सपक्षे घटादौ ; तर्हि त सर्वज्ञो धर्मिणि तन्निध्यत्वसद्भावेन व्याधिः

(१) साधकप्रतिषेध एव । (२) साधकविधिरेव । (३) व्यावर्तक इत्यर्थः । (४) एवकारः । (५) बाधकनिवृत्तेः । (६) सर्वज्ञसद्भावेन । (७) सर्वज्ञसद्भावासिद्धौ । (८) बाधकनिवृत्तेः व्याप्तिः । (९) बाधकनिवृत्तेः । (१०) सर्वज्ञसद्भावः ।

(तर्हि न सर्वज्ञे धर्मिणि [1]तन्निवृत्तेस्तत्सद्भावेन[2] व्याप्तिः) साध्यते किन्तु सपक्षे सुखादौ। [3]तत्र[न] [4]तत्सत्त्वमिति चेत्; यदापि त (घटादावपि न) शब्दाऽनित्यत्वम्। [5]अत्र अनित्यत्वसामान्येन[6]; अन्यत्र सत्त्वसामान्येन व्याप्तिरिति समानम्। एवमर्थं चोक्तम्–'**प्रत्यक्षस्यापि**' इत्यादि।

नन्वेवं बहिर्व्याप्तिरुपसिता (रुपदर्शिता) स्यात्। तव (न च) एतावता[7] हेतोगम (हेतोर्गमक)-त्वम्; [8]तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वप्रसङ्गात्, अन्तर्व्याप्तेः [9]तस्य गमकत्वोपगमात्, [10]सा च धर्मिणि ५ गृह्यते। न चैतन्न निवृत्ते र स्ता (न चैतत् तन्निवृत्तेरस्ति इ) ति चेत्; अत्राह–**सती** इत्यादि। सर्वदे दि (सर्वविदि) धर्मिणि **बाधकस्य निवृत्तिः सर्वविदः सत्तां साधयेत् नात्र** साध्ये **संशयः** 'कार्यः' इत्यध्याहारः। अन्यथा चक्षुरादिविषयेऽपि सत्तासन्देहः स्यात्। बाधकनिवृत्तेः अन्यस्य [11]तल्लक्षणस्याभावा[त्, अ]दर्शनमात्रस्य व्यभिचारात्।

ननु इदमनुमानम् [12]तदन्तरबाधितविषय (यं) कथं साध्यसाधकमिति? तथाहि–नास्ति १० सर्वज्ञा (सर्वज्ञः) [४३२क] सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण त्वांतरा (णत्वात्। तदाह–) **न वै** इत्यादि। **कस्यचिद्प्यर्ह** त (**कस्यचिदपि** अर्ह) तोऽन्यस्य वा सर्वज्ञस्य **अभावे** अङ्गीक्रियमाणे **बाधकप्रमाणमेव न स्यात्** उक्तविधिना सर्वज्ञस्य इति **किन्तु** अपि तु **तस्याभावे** साध्ये **साधकप्रमाणं च न स्यात्** साधकप्रमाणाभावः स्यादिति। **न वै** नैव सर्वज्ञाभावे साधक-प्रमाणाभावस्य निश्चेतुमशक्तेः, तस्य तदन्तरस्य वा तत्साधकप्रमाणस्य भावात्। तदभावान्नेति १५ चेत्; कुतः [13]तदभावः? अन्यत इति चेत्; अस्य वैफल्यम्। अत इति चेत्; अन्योऽन्य-संश्रयः;–सिद्धे तदभावे साकल्येतदसा (ल्येन तत्सा) धक प्रमाणं न स्यादिति स्यानभवे (साधक-प्रमाणाभावे) च तदभावसिद्धिरिति यत्किञ्चिदेतत्।

उपसंहरन्नाह–**तत्** तस्माद् **इयं** बाधकप्रमाणव्यावृत्तिरेव नान्यत्। किं कृता? इत्याह–**निश्चिता** सती। किं करोति? इत्याह–**सर्वज्ञ** इत्यादि। साधकव्यावृत्तिः तदभावं कुतो न २० साधयति? इत्याह–**साधकव्यावृत्तेरसंभवात्** सर्वज्ञाभावे तन्निर्णया[संभवा]द् इति भावः। विपक्षे बाधकं दर्शयन्नाह–**प्रमेयान्तरस्यापि** सुखादिरूपस्य न केवलम् अशेषवित्प्रमेयस्य **सत्त्वं** परपार्श्वतत्त्वम (सत्त्वं परमार्थत्वम) **अबाधितविज्ञानज्ञेयत्वादेव**, [14]दर्शितमात्रस्य व्यभिचारि-त्वात्। अर्थक्रियाकारणादिति चेत्; न; तदप्रतिभासने ततः तदिति स्वपा (निश्चया ऽ) योगात्। प्रतिभासनेऽपि उक्तम्। अबाधितप्रतिभासात् तद्व्यवस्था; अन्यत्र समाना। एतेन अर्थक्रियातः २५ तदिति निरस्तम्, अनवस्था च तत्रापि तदन्तरापेक्षणात्। सत्तासम्बन्धात्[15] इत्येके; मरीचिका-तोये शक्रतो (तत्कृतो) न? बाधनादिति चेत्; पतितोऽसि[४३२ख] मदुपदिष्टो धर्मन्य च सर्थे-(ष्टे धर्मे इत्येवमर्थं) चेत्कारकरणम्।

(१) बाधकनिवृत्तेः। (२) सर्वज्ञसद्भावेन। (३) सुखादौ। (४) सर्वज्ञसत्त्वम्। (५) शब्दा-नित्यत्वे साध्ये। (६) व्याप्तिरिति चेत्;। (७) सपक्षे बहिर्व्याप्तिमात्रेण। (८) गर्भस्थो मैत्रतनयः श्यामो भविष्यति मैत्रतनयत्वात् इत्यादेः। (९) हेतोः। (१०) अन्तर्व्याप्तिः। (११) सत्तालक्षणस्य। (१२) अनु-मानान्तर। (१३) सर्वज्ञाभावः। (१४) दर्शितं दर्शनविषयीभूतम् एतावन्मात्रेण प्रमाणत्वं नेति भावः। (१५) सत्त्वम्।

स्यान्मतम्–अबाधितविज्ञानज्ञेयत्वम् अशेषविदि असिद्धम् ; इत्यत्राह–तदबाधितज्ञानज्ञेयत्वम् **अस्ति सर्वज्ञे**ऽपि, गतार्थमेतत् । तन्न सूक्त (क्तम्–) *"**साधकबाध[क]प्रमाणाभावात्तत्र संशयः**" इति ।

दूषणान्तरमात्र(मत्रै)व दर्शयन्नाह–**साधन(धक)** इत्यादि । **साधकप्रमाणं** सर्वज्ञविषयं ५ ज्ञानम् **बाधकं प्रमाणं** तदभावविषयं [१]तेन **तदभावे** तद्विषयज्ञानरहितत्वे अङ्गीक्रियमाणे **संशयोऽपि मा भूत्** । नहि धर्मिमात्रस्याप्यग्रहणे सं युक्तः । निदर्शनमाह–**नैरात्म्यवत्** [२]पञ्चत्वे इव तद्वत् ।

ननु सर्वज्ञानम् आत्मार्थानं [३]पञ्चत्वे तदभावात् कथं नदिति चेत् ? अत्राह–**सुप्त** इत्यादि । पूर्वं सौगतं [४]परं [५] मीमांसकं प्रति । एतेन धर्म्यसिद्धिर्निरस्ता । परमप्यत्र वक्तव्यमस्ति इति दर्शयन्नाह–**इत्यलं प्रसङ्गेन** इति ।

१० ननु सत्यपि सर्वज्ञे कथम् अर्हन्नेव सर्वज्ञो नेतरः ? तदुक्तं [६]युक्तम् ।

*"सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥"

[तत्त्वसं० श्लो० ३१४९ पूर्वपक्षे] इति ।

एतदेव दर्शयन्नाह–**सत्यपि** इत्यादि ।

१५ **[सत्यपि स्वानुभूतस्य तत्त्वमेकान्तवादिनः ।
अलक्षयन्तः कल्प्येरन् सर्वज्ञाः किं परीक्षकैः ॥१९॥]**

तत्रोत्तरमाह–**एकान्तवादिन** इत्यादि । सुगतादयः **तत्त्वं** स्वरूपम**लक्षयन्तो**ऽनिश्चितवन्तः । कस्य ? **स्वात्र(स्वानुभूतस्य)** वस्तुनः सुखादिर्नीलादेः अनेकान्तात्मनोऽनुभूतस्य **एकान्तरूपतया** लक्षणात् **कल्पेरन्(कल्प्येरन्)सर्वज्ञः(ज्ञाः) किं परीक्षकैः** ? नैव ।

२० स्यान्मतम्–परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात् कथमवगम्यते 'तदलक्षयन्तः' इति ? अन्यथाभिधाना[४३२क] दूरतलिवाद्विप्रन्तति (द् विप्रलभन्ति) प्रायाः ।

तत्रापि–

**[सर्वस्यैव सतः सिद्धा स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः ।
क्वचित् कथञ्चिदुद्भूता वृत्तिरन्यतमात्मनः ॥२०॥**

२५ उत्पत्तिरात्मलाभः, स्थितिः [सत्त्वम्], नाशः पुनः स्वभावप्रच्यवनम् च, एतत् परस्परैकार्थात्मकं कथम् ? **अपरिणामिनोऽपि तावत् क्षणिकस्य कलान्तरस्थायिनो वाऽर्थस्य यो यदात्मा यथाभूतः स तं सदैव लभते । न च त्यात्मव्यतिरेकेण उत्पत्तिः स्थितिर्विपत्तिर्वा युज्येत, द्रव्यान्तरव्यावृत्तिलक्षणत्वात् स्वस्वभावस्थितेः । परिणामिनश्चार्थस्य सतः पूर्वस्वभावप्रच्युतिरेव पुनः स्वभावान्तरप्राप्तिः । परिणामिकारणस्य स्वकार्या-**

---

(१) ज्ञानम् । (२) संशयः । (३) शून्यत्ववत् इत्यर्थः कदाचित् स्यात् मृतवत् इत्यर्थः । (४) शून्यत्वे । (५) प्रति । (६) द्वितीयम् । (७) 'सुक्तम्' इति निरर्थकं पुनर्लिखितम् ।

त्मविवर्त प्रत्यन्यानपेक्षणात् । पूर्वस्य वैकल्यम् उत्तरस्य वैकल्यम् । सतो द्रव्यस्य दृश्यं मध्यरूपं कथञ्चित्सदेव, अन्यथा...सर्वथा...। स्वसन्तानपतितमुत्तरपरिणाममप्राप्नुवतः परोपकारासंभवात् । सकल...। परस्परप्रवर्तननिवर्तनाभ्यामन्वयव्यतिरेकलक्षणत्वादन्योऽन्यं द्रव्याणाम् । तदन्ते क्षयदर्शनात् पूर्वमपि क्षयमिच्छन् मध्ये स्थितिदर्शनात् पूर्वापरकोट्योरपि स्वभावस्थितिं निश्चेतुमर्हति अविशेषात् । दृश्यादृश्याद्यात्मकमेकम् प्रत्यक्ष- ५ परोक्षवत् उद्भूतरूपस्पर्शादिपुद्गलवत् । प्रत्यक्षस्वभावस्यैव कथञ्चिदनुमेयतोपपत्तेश्च । नहि तद्विरुद्धम् ; संवित्तेरपि अभावप्रसङ्गात् । तन्मिथ्यैकान्ताभिनिवेशवन्तः...किंच उत्तरत्र निपतस्यमानत्वात् ।]

ननु (नतु) अनेकान्तात्मकत्ववत एकस्य प्रतिक्षणं स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकत्वम् , न च मन्या (मण्या) दीना (नां) तथोत्पत्तिव्ययौ, चरमध्य (गान्त्य) क्षणानां च स्थितिः प्रतीयते इति चेत ; १० अत्राह-**सर्वस्यैव** इत्यादि । **सर्वस्यैव** न नियतस्य चेतनेतरवर्गस्य **सतो** विद्यमानस्य, हेतुफलभावेन । किंभूतस्य ? इत्याह-**स्थितित्व (तिय)** त्यादि । तस्य किम् ? इत्याह-**सिद्धा** निश्चिता । का ? इत्याह-**वृत्तिः** । किंभूता ? **उद्भूता** । किं सर्वत्र सर्वथा ? **न** इत्याह, **क्वचित् कथञ्चिद्** इति स्थित्युत्पत्तिव्ययानां मध्ये **अन्यतमात्मनः** अन्यतमस्वभावस्य मन्यादौ (मण्यादौ) स्थित्यात्मनः संसारिजीवादौ त्र्यात्मनः । १५

कारिकां व्याख्यातुं पूर्वपक्षयन्नाह-**उत्पत्तिः** इत्यादि । **उत्पत्तिः** प्रादुर्भावः । का ? इत्याह-**आत्मलाभः** आत्मनः स्वरूपस्य[लाभः], प्रागसतो न कारणसमवायः सत्तासमवायो वा इति भावः । तथाहि-पूर्वं स्वतः सतश्चेत् समवायः उत्पत्तिः ; आत्मादिविभुत्वादीनां च स्यात् । असतश्चेत् ; शशविषाणादीनां भवेत् । पूर्ववत् पश्चादपि तेषामसत्त्वात् नेति चेत् ; किमिदं तदसत्त्वम् ? तत्सम्बन्धाभावश्चेत् ; सोऽपि कुतः ? अभावाच्चेत् ; अन्योऽन्यसंश्रयः- २० तथाहि-सिद्धे तदभावे तत्सम्बन्धत्वाभावः, तस्माच्च तदभाव इति । कारणाभावात् तदभावे इदमे[व] वक्तव्यम् । तद्यथा कुतः तत्कारणाभावः ? अत्यन्ताभावरूपत्वात् । तदपि कुतः ? कारणाभावात् ; अन्योऽन्यसंश्रयः । कथं[४३३ख] व (च) प्रध्वंसाभावो विद्यमानः ? यतो मुद्गरादिसाफल्यम् । नहि तस्य[स]मवायि-असमवायिकारणमिष्यते । 'निमित्तकारणमस्ति' इति चेत् ; इतरत्र (इतरत् नेति) कुतः ? अदर्शनादिति चेत् ; तेन एव बुद्धिशब्दादीनाम् अत्यन्तभिन्नम् २५ आत्माकाशादि समवायिकारणं न स्यात् । नहि तदुपलभ्यते यथोपवर्ण्यते परेण । निराधारता स्यात् चेत् ; अस्तु, को दोषः ? नि (र्नी) रूपता इति चेत् ; न ; प्रध्वंसेन व्यभिचारात् । गुणत्वाभावश्चेत् ; किमिदं गुणत्वं नाम ? स्वरूपमेव इति नोत्तरम् ; प्रध्वंसेतिपि (सेऽपि) प्रसङ्गात् । एतेना (न) गुणत्व (त्वं) चिन्तितम् । द्रव्याश्रितत्वम् इति चेत् ; तदपि कुतः ? गुणत्वादिति तु भा (दुर्भा) षितम् , अन्योऽन्यसंश्रयात्-गुणत्वे तदाश्रितत्वं ततो गुणत्वमिति । ३०

---

(१) प्रतिक्षणम् । (२) शशविषाणादीनाम् । (३) शशविषाणादीनामभावे । (४) इति चेत् ; । (५) कारणाभावे अत्यन्ताभावरूपता सिद्ध्यति, तस्याश्च कारणाभाव इति । (६) समवायिकारणम् असमवायिकारणं च कुतो न ? (७) अदर्शनादेव । (८) शब्दादीनाम् । (९) द्रव्याश्रितत्वम् ।

यत्पुनरेतत्–*"बुद्ध्यादिः गुणः निषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वाद् रूपादिवत्" इति[1]; तदपि न सुन्दरम् ; प्रध्वंसेन व्यभिचारात् । न व्यभिचारः ; तस्य [सत्ता]सम्बन्धित्वाभावादिति चेत् ; न; तस्य सत्तासम्बन्धोऽपि[भवतु]दोषाभावात् । कथमन्यथा 'प्रध्वंसः सन्' इति प्रत्ययः ? औपचारिक इति चेत् ; कुत एतत् ? तत्सम्बन्धाभावात्स्या(भा-
५ वाच्चेत्[2] ; तद)पि कुतः ? तत्प्रत्ययस्य औपचारिक[त्वाच्चे]त् ; अन्योऽन्यसंश्रयः । अथ प्रध्वंसे सत्प्रत्यय उपचरितो 'द्रव्यादिविषयउपचरितो'[3] द्रव्यादिविषयत्वे सति तत्प्रत्ययत्वा[त्] सामान्यादिवदिति ; तद्विषयत्वं[4] कुतः ? तत्प्रत्ययोपचारात् ; पुनः अन्योऽन्यसंश्रयः । अथ न प्रध्वंसो द्रव्यादीनामन्यतमोऽन्याश्रियत्वेताप्रतीतेच(न्यतमः, अन्याश्रितत्वेनाप्रतीतेः । अ)त एव बुद्ध्यादिरपि[४३४ क]न स्यादिति तदेव आवर्तते इति चक्रकप्रसङ्गः ।

१० स्यान्मतम्–प्रध्वंसाता(ध्वंसे सत्ता)सम्बन्धे अभावत्वं हीयते इति[5] ; तस्योत्पादे अर्थक्रियाकारित्वे वा कुतो न हीयते ? ततो यथा तदविशेषेऽपि तन्न हीयते तथा तत्सम्बन्धाविशेषेऽपि इति सर्वं सुस्थम् ।

किञ्चित(किञ्च)तत्सम्बन्धाभेदेऽपि यदि द्रव्यादीनां भावाभावभेदः ; [अभावोऽपि]भिन्न[:] स्यात् , अवान्तरसामान्यस्य अभावेष्वपि निषद्धुमशक्यत्वात् । अन्यथतत्र(अन्यथा तत्र
१५ अ)भावप्रत्ययाभिधानानुगमो दुर्लभो भवेत् । तन्न बुद्ध्यादीनां गुणत्वं प्रध्वंसवदिति न समवायिकारणसिद्धिः ।

अथ बुद्ध्यादेः का[दा]चित्कत्वं समवायिकारणं गमयति ; तदपि प्रध्वंसेन व्यभिचारि । 'भावत्वे सति'[7] इत्यपि न सुन्दरतरम् ; प्रध्वंसवत् भावस्यापि कस्यचित् तथोत्पत्त्य(त्त्य)विरोधात्, चित्रत्वाद् भावस्वभावानाम् । अथ बुद्ध्यादेः समवायिकारणाभावे[8] कुत उत्पत्तिः ?
२० प्रध्वंसवत् निमित्तकारणात् किन्न स्यात् ? इतरथा प्रध्वंसस्यापि न स्यात् । निर्हेतु प्रध्वंसभावे न कारणाभावप्रयुक्त [:कार्याभाव] इति चेत् ; सोविक्रते(सोऽपि कुतः ?)अभावत्वादित(ति)चेत्[6] ; उक्तमत्र । अपि च, 'घटादीनां कारणं सत्तासम्बन्धो वा 'अस्ति' इति कुतः ? स्वरूपेण सत्त्वे तदपि वेतिने चेत् स्वत्व(तथेति स्वरूपसत्त्व)मायातम् । उभयमपि नेति चेत् ; पदार्थान्तरं तथाविधं किन्न स्यादतः(त् ? यतः)पदार्थसंख्यानियमो व्यवतिष्ठेत । अदर्शनादिति चेत् ; अन्यत्र समानम् ।
२५ तस्माद् 'आत्मलाभ उत्पत्तिः' इति ।

स्थितिमाह **स्थि[ति]**रित्यादिना । **पुनः** इत्यादिना सं(नाशं)**स्वभावशब्देन**[४३४ ख] भावा[द्]भिन्नं स्वातसं(नाशं)प्रतिषेधति[9] **प्रच्यवनम्** इत्यनेन सतः तिरोभावम्, निरूपितं चैतत् । **एतत्** उत्पत्त्यादित्रयं **परस्परस्य** अन्योऽन्यस्य **एकार्थ आत्मा** स्वभावो यस्य तत्तथोक्तम् ।

(१) तुलना–"गुणः शब्दो द्रव्यकर्मान्यत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात् रूपादिवत् ।" –प्रश० व्यो० पृ० ६४९ । (२) सन्निति प्रत्ययस्यौपचारिकत्वे तत्सम्बन्धाभावः, तस्मिंश्च तत्प्रत्ययस्यौपचारिकत्वमिति । (३) 'द्रव्यादिविषय उपचरितो' इति पुनर्लिखितं व्यर्थम् । (४) सत्प्रत्ययस्य द्रव्यादिविषयत्वम् । (५) चेत् ; । (६) चेत् ; । (७) 'भावत्वे सति कादाचित्कत्वात्' इति । (८) समवायिकारणाभावेऽपि । (९) प्रतिषेधति ।

'कथम्' इत्येतत् कारिकाव्याख्यानेन परिहरन्नाह–**अपरिणामिनोऽपि** इत्यादि । **अपरिणामिनोऽपि** इत्यादि । **अपरिणामिनोऽपि** न केवलं परिणामिनः, **तावत्** शब्दः भावनायाम् । कस्य ? इत्याह–**अर्थस्य** । किंभूतस्य ? **क्षणिकस्य कालान्तरस्थायिनो वा** नित्यस्य इत्यर्थः । तस्य किम् ? इत्याह–**यो (यो) यस्य** क्षणिकस्य नित्यस्य **आत्मा** स्वभावो **यथाभूतः** क्षणिको नित्यो वा **सोऽर्थस(र्थः त)**मात्मानं **सदैव लभते** कदाचिन्नेति नायं विभागः अन्यथा सर्वत्र ५ सर्वदा क्षणिकम् आत्मादिकं वा नित्यं तस्या (न स्यात्) । तथा तया (तदा) त्मकोऽप्यर्थः **'तं सदैव लभते'** इति भावः ।

स्यादेतदेवम् यात्म (यदात्म) कोऽर्थः स्यात् करणवमेत् (कारणवशात्) कदाचित् प्राप्तेः इति चेत् ; अत्राह–**नचेत्यात्म्य' (न च** इत्यादि । [1]**त्र्यात्म्य'**) त्र्यात्मकत्वं तस्य **व्यतिरेको**ऽभावः तेन **उत्पत्तिः** नहि । उत्पत्तिस्वभावरहितं खरविषाणादि कारणाभावादनुत्पत्तिमत् न घटादिर्विप- १० र्ययादिति चेत ; उक्तमत्र ।

किं च, सदधि (सदपि) कारणम् अनुत्पित्सुस्वभावं नोत्पादयति, अन्यथा [3]अविनश्वर (रं) विनाशयेत् । न कस्यचिदुत्पत्तिरिति चेत् ; उक्तमत्र चक्रादिवैफल्यम् इति । तथा [4]तद्व्यतिरेकेण **न स्थितिः** । न खलु स्थितिस्वभावरहितं [5] कुतश्चित स्थाय न (कुतश्चित् स्थापन) मर्हति । नहि [6]कर्म दत्तफलम् [४३५ क] ईश्वरेणापि स्थापयितुं शक्यधि (शक्यमिति) *"**कार्यविरोधि**" १५ [वैशे० १।१।१४] [7]इत्यस्य विरोधात् । अथ ईश्वरस्य तत्स्थापनशक्तिः नास्ति; [8]अन्यत्र कथम् ? अन्यथा [8]उभयरूपता ईशस्य । यथा वा [ऽ] शक्तो न स्थापकः तथा स्थितिशक्तिरहितो न कुत- श्चित् तिष्ठति इति समानम् । एतेन स्थापने तद्वा (तद्व्यव) स्थापि निरस्ता ।

ननु न स्थितिस्वभावताप्रयुक्ता स्थितिः, तस्यामपि विनोश्रुत्यय (विनाशप्रत्यय) प्रणि- धाने [9] घटादेर्विनाशदर्शनादिति चेत् ; न ; तस्य [10] विनश्वरस्वभावत्वात् । सर्वदा कुतो न नाशए २० (नाशमे) ति चेत् ? क एवमाह–ने तीति ('न एति' इति) ? केवलं तिरोधाना [द्] नुपलक्षणं [11]सुवर्णे उष्णस्पर्शवत् । कारणभेदात् कदाचित्की श[क्ति]स्तु विनाश (शेऽपि) इति स्थितिस्वभाव एव तिष्ठति ।

तथा तद्व्यतिरेकेण **विपती र्व्य (विपत्तिर्वा)** विनाशो **वा न युज्येत** । नहि तत्स्वभाव- रहितस्य सामान्यधर्मपक्षस्य (धर्मवत् कस्य) चित् कुतश्चित् विनाशः । न विनाश इति चेत् ; कपालादौ [12] घटादिदर्शनप्रसङ्गः । तिरोधानान्नेति चेत् ; तदस्थास्य (तदवस्थस्य) [13]तदयोगाव (त) । २५ एतदेव दर्शयन्नाह–**द्रव्य** इत्यादि । स्वद्रव्यादिन्योनेद्रव्यादुपः (स्वद्रव्यादिभ्योऽन्ये द्रव्यादयः) **तदन्तराणि** तेभ्यो **व्यावृत्तिः लक्षणं** यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्** 'वस्तुनः' इत्यध्याहारः ।

---

(१) त्र्यात्मनो भावः त्र्यात्म्यम्, उत्पादादित्रयात्मकत्वमित्यर्थः । (२) कारणसद्भावात् । (३) नाशस्वभावरहितम् । (४) त्र्यात्मकत्वव्यतिरेकेण । (५) रहितम् इत्यर्थः । (५) अदृष्टं धर्माधर्मादि । (६) 'कार्यविरोधि कर्म'–कर्म स्वकार्येण फलेन विरुध्यते विनाश्यते इत्यर्थः । (७) तन्वाद्युत्पादने । (८) शक्ताशक्तरूपता । (९) सन्निधाने । (१०) घटादेः । (११) तेजोद्रव्यात्मके सुवर्णे उष्णस्पर्शानुद्भवो यथा । (१२) घटविनाशानन्तरसमुद्भूतखर्परादौ । (१३) तिरोधानायोगात् ।

एतदपि कुतः ? इत्याह–स्वेनेत्यादि । **स्वेन स्वभावेन स्थितेः** सर्वभावानाम् , अन्यथा सर्वात्मकम् अनाद्यनन्तं च सर्व(र्वं) स्यात् इति भावः । तदुक्तम्–

*"सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासात् न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥"

५ [आप्तमी० श्लो० १५] इति ।

ननु स(स्व)स्वभावस्थितिः[४३५ख] क्षणिकेष्वेव भावेषु । तथा चोक्तम्–*"**सर्वे भावाः स्वभावेन**" [प्र० वा० ३।३५] इत्यादि ; इति चेत् ; अत्राह–**परिणामिन** इत्यादि । पु(च) इत्यवधारणे **परिणामिन** एव **अर्थस्य** त स्थितेः(तत्स्थितेः) **'सदेवं(व)लभते'** इति । कुत एतद् इति चेत् ? अत्राह–**सतो** विद्यमानस्य **पूर्वस्वभावप्रच्युतिरेव** सौगतेन इष्यमाणा **पुनः**
१० पश्चात् **स्वभावान्तरप्राप्तिः** । यदि वा, तत्प्राप्तिरेव तत्प्रच्युतिः न पुनरन्यः प्रध्वंसः । तत्र यदा उत्तरकार्यमनन्तरं भवति तदा भवतु एतत् , यदा काले न भवति वा तदा कथमिति चेत् ? अत्राह–'**परिणामि**' इत्यादि । **परिणामिकारणस्य** उपादानकारणस्य **स्वका[या]त्मनो यो विवर्त्तः** तं **प्रत्य[न्या]नपेक्षणा[त्]** तत्प्रच्युतिरेक(रेव)तत्प्राप्तिः ।

स्यान्मतम्–न तत्प्राप्तिरेव तत्प्रच्युतिः किन्तु भिन्नो[ऽ]भाव इति चेत् ; अत्राह–**पूर्वस्य**
१५ **वैकल्यम्** अभावः **उत्तरस्य कैवल्यम्** पूर्वाकाररहितता परस्य न तस्थः(तत्स्थः)प्रध्वंसः । तददा (तद् यदा) काले न भवति वा तदा कथमिति चेत् ? अत्राह–**परिणामी**त्यादि । **परिणामिकारणस्य** उपादानकारणस्य **स्वका(या)त्मनो यो विवर्तः** तं **प्रत्य[न्या]नपेक्षणात्** तत्प्रच्युतिरिति (तत्प्रच्युतिरिति) । तर्हि पूर्वापराकारविनाशोत्पादमात्रं स्थितिः इति प्रसक्तमिति चेत् ; अत्राह–**न च** इत्यादि ।

२० निगमयन्नाह–**तदुत्पाद** इत्यादि । तद् युक्तं तदात्मकगता(कम् , अतो) नानवस्था परोदिता । अथ मतं यत्र निरन्तरं सप(रूप)त्रयं लभ्यते[त]त्र स्थितिप्रतिपत्तिरस्तु, यत्र मध्यरूपमेव तत्र [४३६क]कथमिति चेत् ? अत्राह–**सत** इत्यादि । **सतो द्रव्यस्य दृश्यं** यत् **मध्यरूपं तत्** पूर्वापरकोट्योरनुपलभ्यम् **सदेव कथञ्चित्** न सर्वात्मना । कुतः ? इत्याह–**अन्यथा** तदसत्त्वप्रकारेण । शेषं स्वगमं(सुगमम्) । कुतः ? इत्यत्राह–**सर्वथा** इत्यादि ।

२५ यदि मतम्–पूर्वं तत सदश्रुतिः(सदस्तु, असतः) कारणोत्पत्तिविरोधात् , पश्चात् कुतः ? [इत्याह] **स्वम्(स्वसन्तान)** इत्यादि । **स्वसन्तानपतिवम्** (पतितम्) **उत्तरपरिणामं** नुपाप्रेक्षण (उपादेयक्षणम्) **प्राप्नुवतः सत[ः]परोपका[रासंभवा]द्** विजातीयकार्यकारणा(करणा) संभवात् । तथा [ऽ]दर्शनात् ; रसाद् रूपानुमानाभावप्रसङ्गात् । मा भूत् तत्राप्युपकारः; इत्यत्राह–**सकल** इत्यादि । कुद(कुत) इदमवगम्यते तत्परिणाममप्राप्नुवतः तदुपकारासंभवः ? इत्याह–**परस्पर**

(१) इतरेतराभावाभावे सर्वात्मकम्, प्रागभावाभावे–उत्पत्त्यभावे अनादि, प्रध्वंसाभावाभावे अनन्तं स्यादिति भावः । (२) बौद्धः । (३) स्वाभावान्तरप्राप्तिरेव । (४) पूर्वस्वभावप्रच्युतिः । (५) तस्मिन् तिष्ठतीति तत्स्थः, पूर्वावस्थाभावी । (६) उपलभ्यते । (७) कारणादुत्पत्तिविरोधात् खरविषाणवत् । (८) सत् । (९) अन्यथा ।

इत्यादि । **परस्परम्** अन्योन्यं **प्रवर्त्तनं** समर्थरूपेण उत्पादनं प्रवृत्तिः असमर्थरूपेण **निवर्त्तनं** निवृत्तिः ताभ्याम **अन्वयः** अनुग्रामो (अनुगमः) **व्यतिरेको** व्यावृत्तिः तावेव **लक्षणं** यस्य तस्य भावात् **तत्त्वात्** । कस्य ? इत्याह–**अन्योऽन्य** इत्यादि । केषाम् ? इत्याह–**द्रव्याणाम्** इति । तथा अन्यदा दर्शनादिति भावः ।

एवं सति यत् सिद्धं तद् दर्शयन्नाह–**तद्** इत्यादि । यत एवमनन्तरं संवृत्तं [तत् त]स्मात् ५ **अन्ते** विसदृशकार्योत्पादकाले कार्यानुत्पादसमये वा **क्षयदर्शनात्** द्रव्याणां पर्व्येपि क्षयंतिप्रि' छन् (**पूर्वमपि क्षयमिच्छन्**) सौगतो **मध्ये स्थितिदर्शनात् पूर्वापरकोट्योः अधि** (अपि) **स्वभावस्थितिं निश्चेतुमर्हति** । अथ अत्र प्रमाणबाधनम तत्पूर्वत्र (न पूर्वत्र) ; इत्याह–**अविशेषादिति** । मध्ये व्यवस्थितिदर्शनमुक्तमिति नेहोच्यते ।

ननु दृश्याद् दृश्यस्वभावयोर्भेदात् [४३६ख] कथमेकं दृश्येतररूपमिति चेत् ? अत्राह– १० **दृश्य** इत्यादि । **आदिशब्देन** चलितेतरादिरूपपरिग्रहः । अत्र निदर्शनमाह–**प्रत्यक्ष** इत्यादि । निरूपितमेतत्–*"वित्तेर्विषयनिर्भासविवेकानुपलम्भतः" [सिद्धिवि० ११२०] इत्यादिना।

वैशेषिकादिकं प्रति निदर्शनमाह–**उद्भूत** इत्यादि । [**उद्भूतानुद्भूतौ**]**रूपस्पर्शौ आदी** येषां गन्धादीनां ते तथोक्तात, दूमू(क्ताः, **उद्भू**) **तानुद्भूता**(त)**रूपस्पर्शादयो** यस्य युगलेत्रा- (**पुद्गलस्य**, अत्रा)न्यपदार्थः,[2] तस्यैव तद्वदिति । तथाहि–पृथिव्यां रूपादयः सर्वेऽपि सामान्येन १५ उद्भूता दृश्याः, विशेषापेक्षया तु उभयथा विभक्ति (भवन्ति) अप्सु गन्धोऽनुद्भूतो नेतरे[3], तेजसि गन्धरसौ[4], वायौ स्पर्श एव उद्भूतः ।

अथ जलादौ गन्धादयः सत्ता (सन्तः इ)ति कुतः प्रतीतिरिति चेत् ? स्पर्शवत्त्वात् पृथि[वी]वत् । अन्यत्र तजा (तज्जा)तीये उद्भूतिः स्यादिति चेत् ; न; पृथिव्यां तद्भावाद् अदो- पात् । कथं तस्याः तज्जातीयत्वम् ? कथं हेमजातीयत्वम् ? हेमजातीयत्वम् अग्नेः तेजोद्रव्य- २० त्वात् ; 'पुद्गलत्वात्' इति समानम् । कथं तत्र ? हात्रि (हेम्नि) कथं तेजस्त्वम ? नहि अपरं तत्र त्साधाहाति (तत्साधकमस्ति) विवादाभावप्राप्तेः । उपदेशसहायादिन्द्रियात् तत्प्रतिपत्तिः पुद्गलत्वेऽपि समान (ना) । भासुररूपदर्शनात्र (नात् तत्र) तंत्रानुमीयते ; अनुमीयतां यदि अस्य अव्यभि- चारः स्यात् । न चैवम् , पीतत्वागन्धनिर्मल (पीतत्वस्य निर्मल) मसृणपाषाणमर्दिते वस्त्रे तद्दर्शनात् । तथा स्पर्शदर्शनात् पुद्गलत्वमनुमीयता[म]विशेषात् । इतश्च पुद्गलद्रव्यविशेषा भूम्या- २५ दयः परिणामपरिग्रहदर्शनात , जलादेः [४३७क] मुक्ताफलादिभावादिव (भावात् । एव) मर्थं च **'पुद्गलवत्'** इत्युक्तम् ।

गुणिना (नो) गुणानां[च]भेदात् न तद्दृश्येतरत्वा स्या (त्वात्मकत्वं) दृश्यते इति चेत् ; न; अस्य पक्षस्य निषेधात् । भेदेऽपि प्रतिभासमानगुणसम्बन्धिनैव (नैव) दृश्या नेतिरेति (नेतरेति) स एव प्रसङ्गः । [10]तस्या अपि दृश्यत्वे सकलगुणग्रहः, [11]तदभावे तत्सम्बन्धिताऽग्रहणात् , अन्यथा दृश्य- ३०

(१) स्थितिपक्षे। (२) बहुव्रीहिसमास इत्यर्थः । (३) रूपरसस्पर्शाः । (४) अनुद्भूतौ । (५) इति चेत् ; । (६) तेजस्त्वम् । (७) सुवर्णे । (८) भासुररूपादेः । (९) गुणगुणिनोर्भेदैकान्तस्य । (१०) इतर- गुणसम्बन्धितायाः । (११) गुणग्रहणाभावे ।

मानगुणग्रहणेऽपि तत्सम्बन्धिताप्रतीतिः[न स्यात्] । स्यापिकिन्नेवि(सापि अन्यैवेति) चेत ; कथं तस्य ? सम्बन्धान्तरेण ; अन्या तत्सम्बन्धिता पुनरपि अन्या पुनरपि अन्या इत्यनवस्था । ततो दृश्येतरात्मकम् एकं युक्तम् ।

'तत्रैव युक्तं' तत्रैव युक्त्यन्तरमाह-प्रत्यक्ष इत्यादि । प्रत्यक्षः स्वभावो यस्य शब्दादेः
५ तस्यैव, नान्यस्य धर्मिणोऽसिद्धेः अनुमेयतोपपत्तेश्च 'दृश्यादृश्यादि' इत्यादिना सम्बन्धः ।

ननु तत्स्वभावस्य किमनुमेयत्वयेनिवेद(यत्वेनेति चेत ; अ)त्राह-कथञ्चित् शब्दादिरूपेण न क्षणक्षयादिरूपेण तत्स्वभावस्य तदनुमानवैफल्यापत्तेः । अनिश्चितनिश्चया[ऽभावा]-त्तेति चेत , स एव दोषः-उभयरूपता इति । समारोपव्यवच्छेदोऽपि विहितोत्तर[:] ।

ननु दृश्यस्वभावकाले अन्यस्यादर्शने कथं तयोरेकत्वम् श्रुतो(च्युतो)त्पन्नपदार्थान्तरवदिति
१० चेत ? अत्राह-नहि इत्यादि । कुतः ? इत्यत्राह-संवित्ति(त्तेः) इत्यादि । न केवलं वहिन्न शब्दादि(वहिःशब्दादे)रपि तु [संवित्तेरपि]ज्ञानमात्रस्यापि अभावप्रसङ्गात् । क्षणिकत्वोत्तर-कार्यजनकत्वाप्रतिभास(से)सर्वाप्रतिभासनात , सर्वस्य विभ्रममात्रे समवेसात(समावेशात् न) किञ्चित कश्चित शक्तम । एव(एवं)दृश्य[त्वादृश्यत्व]विरुद्धधर्माध्यासेन[४ ३ ७ ख]असत्त्वाद् अन्यस्याप्रतिभासेनासत्त्वात नैकस्य दृश्येतररूपतेति चेत ; अत्राह-तन्मिथ्यैकान्त इत्यादि ।
१५ तत् संवित्तिमात्रमपि मिथ्येति पेयस(योऽयम)एकान्ताभिनिवेशः तत्त्वतः(तद्वन्तः)स्वग(सुग)तादयो गृह्यन्ते । शेषं सुगमम् । किंच इत्यादिना दोषान्तरमाह-तत्रोत्तरं तु(उत्तरत्र)सुगतस्य निपत्स्यमानत्वात् ।

वैशेषिकादि(दिं)निराकुर्वन्नाह-ससं(सत्सं)प्रयोग[ज]त्वेन इत्यादि ।

[सत्सम्प्रयोगजत्वेन विरुद्धा सकलज्ञता ।
२० **प्रागसकलज्ञस्य कुतः पश्चान्नित्यस्य साऽन्यतः ॥२१॥**

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् कथं निरवशेषज्ञानम् ? सत्यपि तपःप्रभावे इन्द्रियाणां सम्प्रयोगानतिक्रमात् नियतविषयत्वात् । अणोर्मनसोऽदृष्टवशात् बहिरर्थसन्निकर्षशैघ्र्यकल्पनायाम् युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गं न भवेत् ।]

ननु नित्यमपि तस्य ज्ञानमस्ति, तेन किं सा[ऽ]विरुद्धा येन तदत्र दूषयितुं नाशङ्क्यते ?
२५ नो चेत् ; तत्तर्हि तदाशङ्कनीयम् । अथ ईश्वरनिराकरणे तन्निरस्तमिति नाशङ्क्यते ; तर्हि क्षणिकनिरंशवस्तुनिषेधेन अन्यस्यापि निषेधा[त्त]दपि नाशङ्कनीयम् । प्रपञ्चार्थमिति चेत् ; नित्यमपि तथैव इति चेत् ; न ; तदभावात् । सतो हि भावस्य धर्मचिन्ता नासतः । तदभावः

(१) गुणसम्बन्धितापि । (२) 'तत्रैव युक्तं' इति व्यर्थं पुनर्लिखितम् । (३) अन्यथा क्षणक्षयानुमानवैयर्थ्यं स्यादिति भावः । (४) विनष्ट । (५) क्षणिकत्वं च उत्तरकार्यजनकत्वं च तयोरप्रतिभासे । (६) "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।"-न्यायसू० १।१।१६ । (७) ईश्वरस्य, वैशेषिकस्य वा । (८) सकलज्ञता । (९) विरुद्धा चेत् । (१०) सुगतज्ञानस्यापि । (११) नित्यज्ञानाऽभावात् ।

कथमिति चेत् ? प्रमाणाभावात् । न तत्र प्रत्यक्षम्[1]; अतीन्द्रिये[2] तदप्रवृत्तेः । नानुमानम् ; लिङ्गाभावात् । न ज्ञानत्वं लिङ्गम् ; अस्मदादिज्ञानेन व्यभिचारात् ।

एतेन 'विभुद्रव्यविशेषगुणत्वे सति विभुत्ववत्' इति निरस्तम् । सर्वविषयत्वे सति इति चेत् ; न; इतरयोगिज्ञानेन[3] । 'सर्वदा तद्विषयत्वे सति' इ[ति] चेत् ; यदि तस्यैव तदेव साध्यं तदेव हेतुविशेषणम् इत्यसारं परस्या(स्य) नित्यत्वम् । न चात्र निदर्शनम् । ५

स्यान्मतम्–'ईश्वरज्ञानं नित्यं[सत्त्वे]सति धर्मादिकारणाजन्यत्वात् [न]द् विभुत्ववत्' इति । न चेश्वरस्य धर्मादिरस्ति; तत्कारणाभावात् । न च [4]परधर्मादेः तद्विज्ञानम् ;[४३८ क] आत्मगुणानाम् आत्मान्तरगुणाकारणत्वादिति । किं पुनः ईश्वरज्ञानं न किंचित् करोति ? तथा चेत् ; कुतोऽशेषकार्यजन्म ? महेश्वराच्चेत् ; न ; बुद्धिनिरपेक्षस्य पुंसः कार्यव्यापारे अचेतनकर्मणोऽविशेषः[5] । सत्यपि बुद्धिः अनुपयोगिनी । अथ पदार्थग्रहणे [न]तज्जन्मनि[6]; सर्वस्यापि बुद्धेः तत्रैव[7] व्यापारो न कार्यजन्मनि, इति 'इदं बुद्धिपूर्वम् , इदमथा(मन्यथा) कार्यम्' इति व्यवहारविलोपः । अथ '[8]तत्सहितेन पुंसा कृतम्'इति उपचारेण 'बुद्धिकृतम्' इत्युच्यते ; [9]तयापि तत्करणे को विरोधः ? १०

किं च, यदि नान्यात्मगुणः अन्यात्मगुणनिमित्तं कथं मन्त्रिण(णो)ध्यानाद् अन्ययोषितः तं प्रति प्रत्या(प्रत्याकर्षणम् ?) अन्यमन्त्रोऽपि (मन्त्रेऽपि) आत्मन एव तच्च (तद्धे) तुल्यमिति चेत् ; न; धर्मादेः सर्वत्रानुपयोगापत्तेः, आत्मन एव उपयोगात् । अथ मन्त्रिणो ध्यानं चित्तविकारकारणम् ; ईश्वरज्ञानमपि तथैव स्यात् । भवतु को दोष इति चेत् ; तद्वद् अन्यधर्मादिः [10]तत्कारणम् इति कारणाभावोऽसिद्धः । तन्नानुमानमत्र[11] । १५

ननु यथा भवदीये मते सर्वज्ञः तेन[12] तदन्तरेण[13] वा ज्ञायते, तथा मदीये तदेव ज्ञानम् आत्मनित्यत्वमवैति तदन्तरे स्यात्([14]तदन्तराभावादिति) चेत् ; न; एकत्वसंवेदनतापत्तेः, ईश्वरकल्पनमनर्थकम् , तावतैव[15] तत्प्रयोजनसिद्धेः । [16]यथा ज्ञानत्वाऽविशेषेऽपि तदेव नित्यं तथा गुणत्वाविशेषेऽपि तदेव[17] अनाश्रयम् इति । [18]अन्यत्र अनित्यानित्यत्वा (अनित्यत्वनित्यत्व)[19]दर्शनद्वयम् । एकत्र उक्तो दोषे(षः) अन्यत्र[सत्]सम्प्रयोगजत्वेन इत्यादिकः ।[४३८ ख]तन्न नित्यं ज्ञानम् इत्यवशिष्यते । २०

तत्र **सता** अर्थेन **सम्प्रयोगः** सन्निकर्षः इन्द्रियाणां तज्जत्वे **न** ज्ञानस्य **विरुद्धा** **सकलज्ञता** कु मा रि लो क्ताऽशेषदोषापरिहारात् इति भावः । दूषणान्तरमाह–**नित्यस्य** आत्मनः **सर्वज्ञता कुतः** कारणात् ? न कुतश्चित् , नित्यत्वविरोधात् । स्वभाविकी सा[20] २५

(१) प्रमाणम् । (२) नित्यज्ञाने । (३) व्यभिचारात् । (४) आत्मान्तर । (५) विशेषाभावः । (६) कार्योत्पादे व्यापारः । (७) पदार्थग्रहणे एव । (८) बुद्धिसहितेन । (९) बुद्ध्यैव । (१०) ईश्वरज्ञानोत्पत्तिकारणम् । (११) प्रमाणम् । (१२) स्वेन । (१३) सर्वज्ञान्तरेण । (१४) ईश्वरज्ञानान्तराभावात् । (१५) ज्ञानमात्रेणैव । (१६) ननु निराश्रयं ज्ञानं कथं स्यादित्याशङ्कायामाह । (१७) ईश्वरज्ञानमेव । (१८) ज्ञानसामान्ये । (१९) द्वौ विकल्पौ इत्यर्थः । (२०) सकलज्ञता ।

इति चेत् ; अत्राह–**कुतः** प्रमाणात् 'अवगम्यते' इत्यध्याहारः । आत्मस्वभावस्य उत्कर्षवतः तथा दर्शनात् ।

ननु कारणेन भिन्न(न्नं)ज्ञान[म]शेषविषयं जन्यते, तत्सम्बन्धात् [1]तस्य [2]सा इति चेत् ; अत्राह–**असकलज्ञस्य** तस्य **प्राक्**, **पश्चात्** ज्ञाने उत्पन्ने [3]**सा** कुतः ? नहि स्वयम् अर्थ-
५ ग्रहणाभिमुख्यरहितस्य **अन्यतः** तद् युक्तम् ।

कारिकां विवरीतुमाह–**स्वस्व**(आत्म) इत्यादि । **आत्मा च इन्द्रियं च मनश्च अर्थश्च** तेषां **सन्निकर्षात्** संयोगादिरूपात् **कथं निरवशेषज्ञानम्** इतर(इति) यावत् । तपःप्रभावात्, निरवशेषविषयं ततोऽपि ज्ञानमिति चेत् ; अत्राह–**तपःप्रभाव** इत्यादि । **तपसः प्रभावः** सामर्थ्या(र्थ्य)विशेषः **तस्मिन् सत्यपि न** केवल[म]सति[**इन्द्रियाणां**]**सम्प्रयोगाननिक्रमाद्**
१० **विज्ञानस्य** । नहि तत्र सति ज्ञानं [4]प्रयोगनिरपेक्षम् ; परमतसिद्धेः । यदि च (वा,)'**इन्द्रियाणाम् तत्प्रयोगानतिक्रमात्**' इति व्याख्येयम् । न खलु तस्मिन् सति इन्द्रियाणि सतसम्बन्ध-(न्ध)मर्थं[न] गृह्णन्ति ; तेषां सन्निकर्षसाधकहेतूनां व्यभिचारप्रसङ्गात् । अथ 'अस्मदादिचक्षुः सम्बन्ध(न्ध)मर्थमवे(वै)ति तत्प्रभावरहितत्वे[४३९ क]सति इन्द्रियत्वात् स्पर्शनवत्' [इति चेत् ;] न ; तद्रहितत्व(त्वाऽ)सिद्धे[:], [5]जन्मान्तरे तदनिषेधात् । 'यस्य यावती मात्रा' विशेषण-
१५ मत्त्वात् हेतोरगमकत्वात् अतिप्रसङ्गात् । अथ [6]तत्प्रभावाद् इन्द्रियाणि तथाविधानि ज्ञायन्ते यानि (जायन्ते येन) सर्वविषयैः अति(गतिः) संपद्यते ; तत्राह–**नियत** इत्यादि । नहि स्पर्शनादिकं तत्प्रभावतः शरीरं विहास(विहाय) प्रतिविषयं भ्रमति, तेन सह भ्रमणे तस्य सर्वगतत्वम् । चक्षुरश्मीनां सर्वत्र गमनेऽपि रूपस्यैव सर्वस्य ग्रहणं स्यात् न रसादेः । तेनैव[7] [8]तस्यापि[ग्रहणे] इतरेन्द्रियवैफल्यम् । तदाह–**नियत** इत्यादि । मानसं योगिनो[ऽशे]षगोचरमध्य(चरमध्यक्षं)
२० न चक्षुरादिजमिति चेत् ; अत्राह–**मनस** इत्यादि । **मनसः अणो[:]**[**सका[शा]द्**] **बहिरर्थ-सन्नि[कर्ष]वैशद्यकल्पनायां** कुतः ? इत्याह–**[अ]दृष्टवशाद्** धर्मादिसहा[या]त् ; केवलस्य तत्संवित्तिवैशद्यकारण(णाऽ)सामर्थ्याद् अतीतादी(दौ) तन्मानससंवित्तिवदे(वदिति) वचनम् ।

ननु स्वप्नादिप्रत्ययानां मनस एव वैशद्यमिति चेत् ; अन्येषामपि स्यात् तदविशेषात् । अपि च, तत एव योगिनोऽशेषार्थज्ञानवैशद्ये सर्वस्य सात्त(स्यात्, त)स्य [9]सम्ब[न्ध]सम्बन्ध-
२५ स्य(चाऽ)भेदात्[10] । न चैवम्, अतोऽदृष्टमेष्टव्यम् । तस्याम् [किम् ?] इत्यत्राह–**युगपत्ज्ञान** इत्यादि । सर्वेन्द्रियविषयसन्निधानेऽपि या **युगपज्ज्ञानानामनुत्पत्तिः** सा **मनसो लिङ्गम् न भवेत्** । तद्वैशद्यवत्[11] [12]तदनुत्पत्तेरपि अदृष्टत ए[व भा]वादिति भावः ।

एतदेव दर्शयन्नाह–['**तद्**' इत्यादि]

---

(१) नित्यस्यात्मनः । (२) सर्वज्ञता । (३) सर्वज्ञता । (४) सन्निकर्षनिरपेक्षम् । (५) जन्मान्तरीयतपसः संभावना वर्तते इति भावः । (६) तपःप्रभावात् । (७) चक्षुषैव । (८) रसादेरपि । (९) आत्मना मनः संयुक्तम्, तेन च सर्वेऽर्थाः इति परम्परासम्बन्धस्य । (१०) भेदाभावात् । (११) अशेषार्थवैशद्यवत् । (१२) युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेरपि ।

[तद्वैचित्र्याच्च केषाञ्चित् स्याद्युगपत्संविदन्यथा ।
स्मृतीनां युगपदुत्पत्तिः सत्यपीत्थं प्रसज्यते ॥२२॥
तदात्मसन्निकर्षस्य चाणोस्तेनानपेक्षिणा ।
प्रदेशतद्वद्द्व्यतिरेकात् स्यादवस्तुत्वमित्यतः ॥२३॥
तद्व्यतिरेकवतः कोऽर्थः षट्पदार्थप्रवादिनः । ५
तेषामन्येन मनसा वा संयोगः कुतो यतः ॥२४॥
द्रव्यातिरेकाद्विभागश्च स्मृतिः स्यात्कदाचित् ।
न चात्मत्वं समवेतं प्रदेशेषु तदात्मनः ॥२५॥
भेदप्रसङ्गात्प्रत्यात्मं सन्निकर्षाद्यप्यनात्मनः ।
प्रदेशतद्वतोर्भेदे नार्हन्त्यात्मनि सुखादयः ॥२६॥ १०

आत्ममनोऽक्षार्थसन्निकर्षाद्बहिरर्थज्ञानोत्पत्तौ युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः किन्न भवेत् ? मनसामेकत्वे एकैव बुद्धिः स्यात् । प्रत्येकमेकैकात्मसम्बन्धस्य नियमायोगात् । यदि तदर्थ⋯तस्य तादृशस्य क्रमशः क्वचित् ज्ञानसम्बन्धात् सर्वज्ञत्वम् ; किं पुनरसर्वज्ञस्वभावमजहतः इदम् ? प्राक् तज्ज्ञानस्वभावसम्बन्धविकलस्य तत्समवायिकारणत्वमसंभाव्यम् असमवायिकारणत्वं च ।] १५

तद् इत्यनेन तद्वैशद्यकारणम् अदृष्टं परामृश्यते, तस्य **वैचित्र्यात्** कारणात [४३५ख]-चक्षिन्तश्च **केषाञ्चिद्** ईश्वरप्रभृतीनां **युगपत् संवित् स्यात्**, तपःप्रभावविकलानाम् **अन्यथा** क्रमेण **इत्थं** व्यवतिष्ठेत ।

ननु अनुमानगम्यस्य एवमभावायोगात् , इतरथा सर्वत्र कार्ये दृष्टस्यापि कारणस्य वैफल्यं भवेत् , अत एव तन्निष्पत्तेरिति चेत् ; न ; तल्लिङ्गस्य क्वचित् तेन प्रतिबन्धादृष्टेः, अदृष्टस्येवापवस्य मा (स्यैवावश्यम)भ्युपगमनीयत्वात । अत एव लिङ्गं न भवेत् ; इत्याह–⋯⋯ । २० दूषणान्तरमाह–**सत्यपि** इत्यादि । न केवलमसति किन्त्व (किन्तु) **सत्यपि** मनसि **स्मृतीनां युगपदुत्पत्तिः प्रसज्येत(ज्यते)** ।

कुत एतत् ? इत्यत्राह–**तदात्म** इत्यादि । **तच्च** मन **आत्मा** पुरुषः तयोः **सन्निकर्षस्य** अपेक्षका(**अपेक्षिणा**)चितो (तो)त्पत्तेः । केन ? इत्याह **[ते]न** इत्यादि । यदि वा, २५ **तदात्मसन्निकर्षस्य च** युगपदुत्पत्तिः स्यादिति च व्याख्येयम् । कुतः ? इत्याह–**[ते] नानपेक्षित्वेन(क्षिणा)** इत्यादि । कस्य ? इत्याह–**अणोः** इत्यादि । स्मृतीनामयौगपद्ये अङ्गीक्रियमाणे किम् ? इहाह–(इत्याह–)**प्रदेश**[इत्यादि ।]

ननु चक्षुरादिबुद्धीनामपि तत एव परेण यौगपद्यं नेष्यते, ततः सामान्येन 'संवित्तीनाम्' इति वक्तव्यम् । न च स्मृतिशब्दः सामान्यवाची तद्विशेषवाचित्वात् , तन्न युक्तम् **'स्मृतीनाम्'** ३० इत्येतदिति चेत् ; चक्षुरादिधियां कदाचिद् यौगपद्यमपि स्यात् , तथा प्रतिभास नानुमाम

(१) अदृष्टादेव । (२) संवित्तिविशेष ।

(नात् न तु) मत्विकल्पानां विपर्ययात् । अस्त (अस्तु) वा, तिष्ठतोद्भावचनमिति (?) **प्रदेशत-द्वतोः** संस्कृतप्रदेशात्मनो[ः]**व्यतिरेकात्** परस्परं भेदो (भेदात् अ)व्यतिरेके अन्यतरदित्येयदेव (त्येक एव)स्यादित्येवं वचनम् , तत्प्रदेशानाम् **अवस्तुत्व(त्वं)स्यात्** । कुतः ? इत्याह–**षट्पदार्थ** इत्यादि । ततोऽन्यस्य पदार्थस्य अनभ्युपगमात् परेण इति भावः ।

५ तद्व्यतिरिक्ता अपि ते सत्य(सन्ति)इत्येके; तत्र (तत्राह–)**कोऽर्थ** इत्यादि । द्रव्यगुण-कर्माणि अर्थाः *"द्रव्यगुणकर्मसु अर्थः" [वैशे० सू० ८।२।३] इति वचनात् । **तेभ्यो व्यतिरेकवर्तः** पदार्थस्य सत्तायाः समवाय समवायासंभवात् *"**त्रिपदार्थसत्करी सत्ता**" इत्यभिधानात् । सामान्याविपत्ते सन्त(स्यादिरूपापत्तेः सन्तः) इति चेत्; अत्राह–[**द्र**]**व्ये**त्यादि । **तेषाम्** आत्मप्रदेशानां **मनस्य(सा** अ)न्येन **वा** शरीरादिना वा **संयोगः**

१० अन्यत[र]कर्मकः (जः) संयोगजाया(जो वा) **कुतः** ? नैव । विभागश्च कुतः ? तस्य संयोग-पूर्वतत्त्व(वकत्वात्) तदभावेऽभावात् ।

कुतो न स्यात् ? इत्याह–**द्रव्यातिरेकात्** द्रव्याद् भेदात् **तेषाम्** इति, द्रव्यस्य च तदन्तरेण[कुतः] संयोगादिःगुणः ? **यतः** संयोगात् । कुतश्चिद् अदृष्टादेः सहकारिणः द्रव्या-नतिरेकैः तेषामिति चेत्; अत्राह–**तवे** ('**न च**'इ)त्यादिना । तात्पर्यमिदमत्र–आत्मनो व्यतिरि-

१५ च्यमानाः तत्प्रदेशाः यदि द्रव्यम् , यथा घटाद् व्यतिरिच्यमाना कपालादयः; तदात्मद्रव्यम् , तदन्तरं वा स्युः ? तत्र आद्ये पक्षे आत्मत्वसमवायाद् आत्मद्रव्यं ते[13] प्रथमात्मवत्; तच्चायु-(युक्तम् ;)युक्तिविरोधात् । तदाह–**न च** नैव **आत्म[त्व]**मवान्तरं सामान्यं प्रदेशेषु **सम-वेतम्** ।

कुतः ? इत्याह–**प्रत्यात्मम्** आत्मानम् आत्मानं प्रति **प्रत्यात्मम् आत्मनं(नो)**

२० **भेदप्रसङ्गाद्** बहुत्वप्राप्तिः । एवं मन्यते–एकत्रात्मनि [11]तद्बहुत्वे [४४०ख] अवयवारब्ध (ब्ध)-त्वादिप्रसङ्गः । किञ्च, तेषाम्[12] असर्वगतत्वे आत्मसर्वगतत्वैकान्तप्रतिज्ञाहानिः । तेषां च मनसा संयोगे अदृष्टसमवायोऽपि तेषामेव तत्संयोगजन्यत्वात् , §तस्य संयोगजन्यत्वात् तस्य संयोगजः§ *"**अदृष्टः आत्ममनःसंयोगजः**"[13] इत्यभिधानात् । न च अन्यसंयोगजः अन्यं समवेति(वैति) सत्त्वान्तरेऽपि तत्प्रसङ्गात् । अदृष्टफलं च [14]तेष्वेवास्तु *"**कर्तृ फलदायी**"[15] इति वचनात् । तेषां

२५ च लोकान्तरगमने क्रियावत्त्वम् , अत्रामने(अगमने) संसारभेदविलोपः । ता(ना)प्यन्यस्या-दृष्टाद् अन्यस्य संसारः; अतिप्रसङ्गात् । [16]द्वितीयपक्षे देशान्तरद्रव्यैः तत्संयोगविरहात् कथं तददृष्टेन तदाकर्षणम् इत्यविचि(इत्यपि) चिन्त्यम् । प्रदेशमनःसंयोगः परमाणुसंयोगवत् सदोष इति न असर्वगतत्व(त्वम् ।) सर्वगतत्वे प्रथमवत् प्रसंघातवस्था(प्रसङ्गात् अनवस्था) च ।

---

(१) अभेदे । (२) वैशेषिकेण । (३) षट्पदार्थभिन्ना अपि । (४) भिन्नस्य । (५) 'समवाय' इति व्यर्थम् । (६) तुलना–"सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ।"–वैशे० सू० १।२।७ । (७) संयोगा-भावे । (८) अभेदः । (९) प्रदेशानाम् । (१०) प्रदेशाः । (११) प्रदेशबहुत्वे । (१२) प्रदेशानाम् । § एतदन्तर्गतः पाठो व्यर्थः । (१३) "आत्ममनसोः संयोगाद्धर्मोत्पत्तिरिति"–प्रश० भा० पृ० १३८ । (१४) आत्मप्रदेशेषु । (१५)"कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः"–प्रश० भा० पृ० ६३७ । (१६) तदन्तरमितिपक्षे ।

तत्परिकल्पनवैफल्यं वा, प्रथमात्मना(का)न् कार्यनिष्पत्तेः पुनरपि स एव दोषः । पुनरपि तत्परिहाराय तत्प्रदेशकल्पने तदेव आवर्त्तत इति चक्रकम् इति न किञ्चिदेतत् । द्वितीयपक्षे दोषं दर्शयन्नाह–**नाप्यनात्मन** इत्यादि । पक्षान्तरसूत्रापि(सूचने **अपि** शब्दः) **अनात्मनं (नः)** प्रदेशस(स्व)रूपस्य द्रव्यान्तरस्य मनसा यः **सन्निकर्षः तस्मात् न सुखादयः** स्मृतयो भवितुमर्हन्ति । कुतः ? इत्यत्राह–**आत्मन्यादि (आत्म** इत्यादि) । दूषणान्तरमाह– ५ **प्रदेशतद्वतोः** इत्यादि । सुगमम् ।

पुनरपि **महात्म्य**(पुनरपि दूषणमाह– **आत्म**) इत्यादि । **'आत्मा** मनसा युज्यते, **मनः** [४४१क] **अक्षेन(अक्षेण)** इन्द्रियोता(येण अ)**क्षम् अर्थेन'** इति य **आत्ममनोऽक्षार्थसन्निकर्षः** संयोगादिसम्बन्धः **तस्माद् बहिरर्थज्ञानोत्पत्तौ** सत्यां **युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः किन्न भवेत्** ?

नन्वेकत्वा[न्म]नसो न तेनं सर्वेन्द्रियाणां [1]तैरर्थानां युगपत् सम्बन्ध इति चेत ; अत्राह– १० **मनसाम्** इत्यादि । **एकत्वे** मनसो **युगपद् एकैव बुद्धिः स्यात्** । न चैवमस्ति, अनभ्युपगमात् । तयैव(तथैव)आत्मान्तरेषु ज्ञानानुदयप्रसङ्गात् । तत एव तदुदये एकत्रापि युगपदेक-(दनेक)ज्ञानोदयोऽनिवार्यः, अनेकत्रोत्पादाय इतिति(यतति) नैकत्र इति किंकृतो विभागः ?

स्योदतन् बहुत्वेऽपि एकेनैव मसाऽतोकः (मनसा आत्मैकः) संयुज्यते ; इत्यत्राह–**प्रत्ये-कम्** इत्यादि । एकम् एकं मनः **प्रत्येकंकस्य आत्मनो** यः **सम्बन्धः** तस्य **नियमेन** अवश्यंभावेन १५ **अयोगात्** आत्मनां व्यापित्वविरोधात् इति भावः । कष्णदृष्टस्य घटनानियाम(कष्टा अदृष्टस्य घटनात् नियम)कल्पना ; उक्तं(क्त)दोषदुष्टत्वात् । अथ अतदे(अप्रदे)शस्य आत्मनः प्रदेशदोष-योजना कीदृशी ? इत्यत्राह–**यदि** इत्यादि । कुतः ? इत्यत्राह–**तदर्थ** इत्यादि । **तस्य** आत्मनः । दूषणान्तरमाह–**तादृश** इत्यादि । **तादृशस्य** कूट[स्थ]स्य **क्रमशः** क्रमेण पुनः पुनः इति **क्वचित्** कस्यांचिद् अवस्थायाम् **ज्ञानसम्बन्धात् सर्वज्ञत्वम् 'असंभ(भा)व्यम्'** इति वक्ष्यमाणेन २० सम्बन्धः । तर्हि(न हि) तस्यं संम्बन्धेऽपि विषयग्रहणोन्मुखता पूर्ववत् ।

युक्त्यन्तरमाह–**किं पुनः** इत्यादि । **पुनः** इति पूर्वदूषणदस्यानिश्चय(णादस्य निश्चय)-सूचकः । **असर्वज्ञस्वभावमजहतः किं सर्वज्ञत्वम् ?** इदम् दमस्त्वेवं पर्यत्र[४४१ख] (इदममस्त्वा एवं पर्यनुयोगः तं)त्सम्बन्धात् पूर्वविषयानभिमुखस्वभावो गगनादिवत् अमाम्नते (अस्त्येव, उत) तदभिमुखस्वभावः[10] ? प्रथमपक्षे पूर्वं वाक्यं (पूर्ववत् वाच्यम्[11] ।) द्वितीयेऽपि २५ सकलविषयाभिमुखः, कतिपयपदार्थाभिमुखो वा अस्य स्वभावः ? तत्र आद्ये विकल्पे [12]जन्मि-मात्रस्य सकलकृत्वाम् (सकलज्ञत्वम) इति । द्वितीये द्वितीयमिति[13] ।

नत्व चोत्तरज्ञानं सति (ननु च उत्तरज्ञानं प्रति) समवायिकारणत्वमेवास्य विषयाभिमुखं (मुख्यं) नापरम्, सहकारिविशेषात् कदाचित् कीदृक्षज्ञानं प्रति तस्य तद्[14] इति चेत् ? अत्राह–

(१) मनसा । (२) इन्द्रियैः । (३) आत्मान्तरे ज्ञानोदये । (४) कठिना इत्यर्थः । (५) प्रदेश-रहितस्य । (६) आत्मनः कूटस्थस्य । (७) ज्ञानसम्बन्धेऽपि । (८) नित्यत्वात् पूर्वावस्थावत् । (९) ज्ञानसम्बन्धात् । (१०) उत्पद्यते इति शेषः । (११) 'न हि तत्सम्बन्धेऽपि विषयग्रहणोन्मुखता पूर्ववत्' इति दूषणं वक्तव्यम् । (१२) प्राणिमात्रस्य । (१३) सर्वज्ञत्वमसंभाव्यमिति । (१४)समवायिकारणत्वम् ।

प्राग् इत्यादि । **प्रागिव**(प्राग् अव)स्थितज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं न ज्ञान (तज्ज्ञान)**स्वभावसम्बन्धः-विकस्य**(**न्धविकलस्य**) तज्ज्ञानमेव स्वभावः स एव सम्बन्धः तेन विकलस्य(लस्य)अचेतनस्य[1] इत्यर्थः, **तत्समवायिकारणत्वं** ज्ञानसमवायिहेतुत्वम् **असंभाव्यम्** । तथाहि त्स(यत्)ज्ञानस्वभावं (भाव)सम्बन्धविकलं त(लं न तत्)ज्ञानसमवायिकारणम् यथा पृथिव्यादि, तथा च परस्य आत्मा
५ तद्विकलः; इतरथा पृथिव्यादिरपि तत्कारणं भवेत् ।

ननु कार्यस्य पृथिव्यादेः तत्कारणत्वे प्रत्यभिज्ञाविलोपः, शरीरादेरनित्यत्वादिति चेत् ; परमाणूनां स्यात् । तेषामदर्शनात् नेति चेत् ; किं पुनः परपरिकल्पितात्मना(त्मनः) दर्शनमस्ति ? तथा चेत् ; परमाणूनामस्तु । ज्ञानस्य गुणत्वाद्[2] आधारमात्रं सिध्येत् तु ज्ञा(त , तच्चा)त्मा परमाणवो वा इति न निश्चयः । [3]तेषां तत्कारणत्वे तद्रूपादिवद् बुद्धेः अस्मदादिभिरग्रहणमिति
१० चेत् ; आत्मनोऽपि तत्कारणत्वे तद्विभुत्ववत् तदग्रहणं किन्न स्यात् ? अत्र गुणवैचित्र्यं न परत्रे-[ति] न[४४२क] विभागहेतुः[4] ।

अथ परमाणूनां बुद्धिगुणत्वे व्यापित्वं व्योमवत् स्यात् । तथाहि–'परमाणवो विभवः नित्यत्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षगुणाधारत्वाद् व्योमवत्' इति चेत् ; न ; घटादिना व्यभिचारात् । एकान्तिकनित्यत्वस्य सर्वत्र निषेधात् । ततो यथा तत्सम्बन्धविकलत्वात् न परमाणवः
१५ तत्समवायिकारणं तथा आत्मापि मा भूत् । असमवायिकारणत्वं स्यादिति चेत् ; अत्राह–**असमवायिकारणत्वं च इति** सर्वमसंभाव्यम् ।

ननु किमिदम् असमवायिकारणम् ? समवायिकारणाद् अन्यदिति चेत् ; निमित्तकारण-मपि ततोऽन्यद् भवति, तथा च चक्षुरा[दिवत् त]द्विकलमपि[10] [11]तत्कारणम् इति निषेधानुपपत्तिः । अथ स्वकारणसमवायि[12] च उत्तरशब्दस्य पूर्वशब्दः, स्वकारणकारणसमवायि[13] यथा पटः(पटरूपं
२० प्रति तन्तुरूपम्), कारणकारणसमवयिवापि वा(समवायि[14] वा) यथा ज्ञानस्य आत्ममनः-संयोगः, असमवायिकारणमुच्यते ; तदयुक्तम् ; आत्मनः क्वचित् काये(कार्ये) तदनभ्युपगमात् । अभ्युपगमाच्च पृ(मात्र इ)ष्यन्त इति चेत् ; उच्यते–स्मरणज्ञानोत्पत्तौ संस्कारस्य, तस्य[15] [16]तदुत्पत्तौ ज्ञानस्य *"**ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च संस्कारः**" [17]इति वचनात् असमवायिकारणत्व-मिष्यते परेण, स्वकारणसमवेतत्वस्य[18] भावात् ; तदपि तद्विकलस्य[19] असंभाव्यम् । यथैव हि
२५ चेतनस्य चातन(नाऽचेतन)मुपादानम् , तथा तत्समवेतं चेतनं युक्तम् ।

(१) अनित्यस्वभावस्य । (२) ज्ञानसमवायिकारणत्वे । (३) हेतोः । (४) आधारमात्रम् । (५) पृथिव्यादिपरमाणूनाम् । (६)ज्ञानकारणत्वे । (७) विद्यते इति शेषः । (८) ज्ञानसम्बन्ध । (९) समवायिकारणाद्भिन्नम् । (१०) ज्ञानस्वभावसम्बन्धविकलमपि । (११) ज्ञानसमवायिकारणम् । (१२) उत्तर-शब्दस्य कारणम् आकाशः तत्र समवायि । (१३)पटरूपस्य कारणं पटः, तस्य कारणं तन्तवः, तेषु समवायि समवायसम्बन्धेन वर्तमानं तन्तुरूपम् । (१४) ज्ञानस्य एकं कारणम् आत्मा, अपरञ्च कारणं मनः, उभयत्र समवायसम्बन्धेन वर्तमानः आत्ममनःसंयोग इति । (१५) 'तस्य' इति व्यर्थम् । (१६) संस्कारोत्पत्तौ । (१७) तुलना–"ज्ञानजो···" प्र० वार्तिकाल० ३।५२७ । (१८) स्मरणस्य कारणम् आत्मा तत्र समवेतः संस्कारः इति । (१९) ज्ञानस्वभावविकलस्य आत्मनः ।

भवतु आत्मनः प्रदेशाः, ते च(न)ततः कथञ्चिद्भिन्ना इति चेत् ; अत्राह–यदि पुनः इत्यादि ।

[यदि पुनः

प्रदेशतद्वदैक्यं चेत् प्रतिपत्ताऽयं न लक्षयेत् ।

स्याद्द्रव्यपर्यययोस्तत्त्वं जयेद् धाष्ट्र्येन सौगतान् ॥२७॥　५

आत्मादीनां प्रदेशतद्वतोः भेदेऽपि स्वभावत एव कथञ्चित्तादात्म्यं सम्बन्धान्तराभावात् । गुणगुणिनोः सहभूतयोः जातितद्वतोश्च न कथञ्चित्तादात्म्यमिति स्वमनीषिकया तत्त्वमिदन्तया प्रतिष्ठापयितुकामः वैयात्येन कुतर्कविभ्रमात् स्वार्थाकारयोः तादात्म्यपरिणामं प्रतिक्षिपतः शौद्धोदनिशिष्यकान् विजयते । नहि प्रदेशतद्वतां घटपटवत् स्वातन्त्र्यं समवायासंभवादन्यत्र तादात्म्यात् ।]　१०

प्रदेश-आत्मनोः कथञ्चित्तादात्म्येऽपि अत्र तत्त्वं नेति (अन्यत्वं नेति) चेत् , अत्राह–[४४२ख] तद्वदेस(प्रदेश)तद्वदैक्यं चेत् इत्यादि । प्रदेशतद्वतोः ऐक्यं प्रपत्त(प्रति)पन्नः (प्रतिपत्ता) प्रतिपन्नवानयं नैयायिको न लक्षयेचित(लक्षयेत् चेत) स्यात् कथञ्चिद् द्रव्यपर्या(र्य)ययोः[तत्त्वम्] एकतानात्व(नानात्व)मेव लक्षयेद् इत्यर्थः । जयेद्धाष्ट्र्येन सौगतान् द्रव्यपर्याययोः ऐक्यम् अलक्षयतः ।　१५

कारिकां विवृण्वन्नाह–आत्मादीनाम् आदिशब्देन गम(गग)नादिर्गृह्यते, प्रदेशतद्वतोः भेदेऽपि कथंचित्तादात्म्यं स्वभावत एव । कुतः ? इत्याह–'सम्बन्धा' इत्यादि । तादात्म्यसम्बन्धादन्यस्य सम्बन्धस्य अभावात् । न तावत्तयोः[1] संयोगः ; सतःसंयोगवत प्रसङ्गात । न चैवम् आत्मादीनाम् तेषु तेया(ते वा प्रदेशाः)स्युः, इतरथा घटादयोऽपि[2] संयोगाऽविशेषात् । घटादीनामपि स्वप्रदेशैः संयोग एव स्यात् । अयुतसिद्धत्वमन्यत्रा प्रकृतेऽपि समानम् । नापि　२० समवायः ; तेषां[3] तदारब्धत्वप्रसङ्गात् , तथा च घटादिवदनित्यत्वम् , स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्वेन ईश्वरस्याप्यन्येश्वरपूर्वकत्वम्[4] । तत एव संयुक्तसमवायादयो दूरोत्सारिता एव । न गुणगुणिनोः कथञ्चित्तादात्म्यम् , अपि तु भेद एव । किंभूतयोः ? इत्याह–सह इत्यादि । पुनरपि कयोः ? इत्याह–जातीत्यादि । चेति समुच्चये । इत्येवं स्वमनीषिकया तत्त्वम् इदन्तया भेदैकान्तरूपतया च नानेकान्तक्षणिकादिरूपतया प्रतिष्ठापयितुकामः शौद्धोदनिशिष्यकान्　२५ च वैयात्येन विजयते । किंकुर्वतः ? इत्याह–तादात्म्यपरिणामं प्रत्यक्षं प्रतिक्षिपतः कुतर्कविभ्रमात् । [४४३क] कथं तं प्रतिक्षिपतः ? इत्याह–स्वार्थाकार इत्यादि । प्रपञ्चेन चर्चितमेतत् । प्रदेशतद्वतोरपि तादात्म्यं नेति चेत् ; अत्राह–नहि प्रदेशतद्वतां घटपटवत् स्वातन्त्र्य (न्त्र्यं)भवेद् इति भावः । समवायादेर्भावात् नैवं[5] चेत् ; अत्राह–समवाय इत्यादि । किं सर्वथा तदसंभवः ?, इत्याह–अन्यत्र इत्यादि । तादात्म्याद् अन्यस्मिन् सम्बन्धत्वे इष्यमाणे तद-　३० संभवः, तादात्म्ये तु संभव एव ।

(१) प्रदेशतद्वतोः । (२) आत्मादीनाम् स्युः । (३) प्रदेशानाम् । (४) स्यादिति । (५) न स्वातन्त्र्यम् । (६) समवायासंभवः ।

एतदेव दर्शयन्नाह–**संयोग** इत्यादि ।

[संयोगसमवायाभ्यामन्यत्र विभुद्रव्यवत् ।
स्वतः स्वभावतादात्म्यादृते न व्यवतिष्ठते ॥२८॥

सर्वत्र तथापरिणामं मुक्त्वा नापरः संयोगः समवायो वा सम्बन्धः परिकल्प्यः।
५ तदभावे सर्वगतानां स्वप्रदेशवृत्तेरप्रतिबन्धात्। तद्भेदैकान्ते समवायवृत्तेः···समवायस्य विशेषणीभावोऽत्र सम्बन्धश्चेत् ; सर्वत्र अयमेवास्तु । ननु तत्···]

स्वतः स्वभावतादात्म्याद् ऋते विना **अन्यत्र** अन्येषु परस्परं भिन्नेषु **कुतः सम्बन्धो व्यवतिष्ठेत(ष्ठते)?** दृष्टान्तमाह–**विभुद्रव्यवद्** इति । संयोगाते(दि)र्व्यवतिष्ठेत इति [चे]त ; अत्राह–**संयोगसमवायाभ्यां न व्यवतिष्ठते** इति ।

१० कारिकार्थ[मा]ह–**सर्वत्र** इत्यादि । **न्यथा(तथा)परिणामम्** अविनिर्भागपरिणतिं **मुक्त्वा नापरः** पुरुषदण्डयोः **सम्बन्धः परिकल्प्यः** । कोऽसौ ? इत्याह–**संयोगः**,किन्तु तथा परिकल्प्यः । यदि पुनर्द्वयोः कथञ्चित्तादात्म्येन वर्तमानः संयोगः स्यात् , तस्य पुरुषदण्डाववयवौ सं च अवयवी इति प्रसक्तम् कपालघटवदिति तथा च एकाकर्षणात नियमेन सर्वाकर्षणम् । आत्मशरीरयोरपि अन्योऽवयवी[२], न चैवम् इति । तथा गुण्यादीनां **तथा परिणामं** तादात्म्य-
१५ परिणाम(मं)**मुक्त्वा नापरः सम्बन्धः परिकल्प(ल्प्यः)** । कः ? इत्याह **समवाय** इति । कुतः ? इत्यत्राह–**तदभावे** तथा परिणामाभावे **सर्वगतानाम्** आत्मादीनाम् **स्वप्रदेशेषु वृत्तेरप्रतिबन्धभावात् (न्धात्)** सम्बन्धाभावात् तथापरिणामः परिकल्पः(ल्प्यः) । [४४३ब] कस्मिन् ? इत्याह–**तद्भेदैकान्ते** तत्प्रदेशतद्वतोः नानात्वैकान्त इति । समवायः प्रतिबन्ध इति चेत् ; अत्राह–**समवायवृत्तेः** इत्यादि । समवायस्य स्वत एव वृत्तिः इति चेत् ; अत्राह–**समवायस्य**
२० इत्यादि ।

असम्बन्धः समवाय इत्येके ; तेषां गुणो गुणी समवाय इहेति प्रत्ययजननात् तत्सम्बन्ध उच्यते; नासकस्ये(न; अशक्तस्य) पदार्थान्तरवत् तज्जननविरोधात । शक्तश्चेत् ; तर्हि शक्तियोगात्तथा[यथा] शुक्लगुणयोगात् शुक्लः । शक्तेश्च ततो भेदे सम्बन्धासिद्धिः । पुनः समवायकल्पने नैवनेवस्था(ल्पने अनवस्था ।) **विशेषणीभावात्र(वोऽत्र)सम्बन्धश्च(श्चेत्) सत्रं च**
२५ **(सर्वत्राऽ)यमेवास्तु** किं समवायेन ? नहि गुणादयो द्रव्यस्य न विशेषणम् । गुणानुरक्तप्रतीति[:] एव(वं) स्यात् न इहप्रतीतिः इति चेत् ; कथं 'समवाये शक्तिः' इति प्रतीतिः ? सोऽयं विशेषणीभावः इहे इहेतिप्रत्ययहेतुः नान्यत्र[सत्य]मीश्वरविलसितम् ! तत्सम्बन्धेति(न्धेऽपि) तदन्तरकल्पने अन्याऽनवस्था । विशेषणीभावोऽपि भावस्य किं कुर्वाणः स्यात् ? अकिञ्चित्करस्य वस्तुत्वाऽयोगात् । किञ्चित्करत्वे सर्वं तदवस्थम् । शक्तिः ततोऽभिन्नेति चेत्; तथा गुणादयोऽपि

(१) संयोगः । (२) स्यात् , तयोः संयोगात्मकः । (३) सम्बन्धः । (४) अन्यः सम्बन्धो न विद्यतेऽस्येति असम्बन्धः । (५) समवायात् । (६) समवाये । (७) द्रव्यादौ । (८) सम्बन्धान्तरकल्पने । (९) समवायात् ।

तद्वतो न व्यतिरिच्यन्ते । 'घटस्य रूपादयः' इति न स्यादिति चेत् ; 'तद्वतः शक्तिः' इति कथम् ? गुणगुणिनोरभेदे एकग्रहणे सर्वग्रहणमिति चेत् ; किं पुनर्द्रव्यादिग्रहणे सन्नि (शक्ति)-ग्रहणम्[2] ? तथा चेत् ; मन्त्रादौ संशयादिः कुतः ? इति यत्किञ्चिदेतत् । [३४४क] परमतम् आशङ्कते नन्वे इत्यादि । तच्छब्देन आत्मानि (दि) परिग्रहः ।

तत्र दूषणमाह-**निरंश** इत्यादि । ५

[निरंशात्माणुसंयोगात् स्मृतिर्नित्यं प्रसज्यते ।
परमाणुवदिष्टं चेत् स्मृतिषट्कं सहेक्ष्यताम् ॥२९॥

आत्ममनसोः निरंशत्वैकान्ते सन्निकर्षासंभवात् अकादाचित्कत्वात्मविभुत्ववद्यावद्द्रव्यभावित्वात् कथं तत्प्रभवगुणविशेषस्य अन्यानपेक्षिणः कादाचित्कत्वं यतः कदाचित् स्मृतिः । अदृष्टकारणत्वे मनोऽहेतुकं स्यात् । सत्यपि अणौ मनसि आत्मनः स्मृतीनां १० **षण्णां सप्तानां वा सहैवोत्पत्तिः स्यात् परमाणुवत्··· । तदेतत् तदागमपठितं करणमात्मान्तरं द्रव्यान्तरं सदपि विचार्यमाणं अन्तर्बहिश्चाकिञ्चित्करम् ।]**

अणुरिति मनसोऽभिधान (नम्) **निरंशौ** यौ **आत्माणू** तयोः **संयोगाद्** हेतेः (हेतोः) **स्मृतिः नित्यं** सदा, उपलक्षणमेतदिति सर्वत्र च **प्रसज्यते** । न खलु समर्थस्य कारणस्य सर्वत्र सर्वदा भावे कार्यकादाचित्कत्वम् ; अतत्त्वार्थत्वप्रसङ्गात् । १५

ननु संयोगस्य द्रव्ये सर्वत्राऽवृत्तेः नायं दोषः, नहि परमाणूनां संयोगाः (गः) तावद्व्याप्य वर्त्तते ।-तदाह-**परमाणुवद् इष्टं चेत्** इति । यथा परमाणुषु संयोगो वर्त्तमानो न सर्वदा तदात्मनि वर्त्तते अयावद्द्रव्यभावित्वादस्य तथा आत्ममनसोरप्य (रप्ये) **तदिष्टं चेत्** ; अत्रोत्तरमाह-**स्मृतिषट्कं सह** युगपद् **ईक्ष्यताम्** ।

एवं मन्यते-आत्मनो व्यापिनो मध्ये वर्त्तमानस्य अणुमनसोऽयावद्द्रव्यभाविनोऽवश्यं २० घट (षट्) संयोगाः आत्मन[:], स्वात्मना तस्य षड्भिः दिग्भिः सम्बन्धात् , तथा च तयोः तदेव सावयवत्वम् , अन्यथा कुतोऽस्य प्रदेशवृत्तित्वमिति ? अथ यथा जैनस्य परमाणूनां नैरन्तर्येण अवस्थानं संयोगः तथा ममापि आत्ममनसोः इति ; युक्तमेतत् , किन्तु न संयोगो गुणः सर्वगतत्वं (तः) मनोदेशपरिहारा[त्]। भवन्तु तस्य युगपत् षट्संयोगाः, तेभ्यस्तु स्मृतिः एकैव वज्जा (तज्जा) तन्तुभ्य एकपटवत् तत्संयोगेभ्यो वा इति चेत् ; न ; अन्यथाऽभिप्रायात् । तथाहि- २५ यथा एकत्वेऽपि मनसः ततः सहात्मनि समवेताः संयोगाः षट् तथा स्मृति (त) योऽपीति [४४४ख] न तदेकत्वं स्मृत्येकत्वं (त्व) निबन्धनमिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-**आत्म** इत्यादि । **आत्ममनसोः निरंशत्वैकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे **सन्निकर्षस्य** आत्ममनसोः संयोगस्य तयोरन्यस्य सम्बन्धस्य **असंभवात् अकादाचित्कत्वात्मविभुत्ववद्यावद्द्रव्यभावित्वात्** कारणात् **कथं तस्य तत्प्रभवगुणविशेषस्य तस्मात्** सन्नि- ३० कर्षात् **प्रभव** उत्पत्तिः यस्य स चासौ **गुणविशेषश्च** बुद्ध्यादिः **तस्य** । न[नु]तदपेक्ष (क्ष्य) स्य

(१) गुण्यादेः । (२) अस्ति ? (३) संयोगस्य । (४) भवति ।

सहकारिणः कादाचित्कत्वात् **कादाचित्त्वम्** इति चेत् ; अत्राह–**अन्यान्यपेक्षिण** इति । चर्चित-मेतत् । **यतः** तत्कादाचि[त्क]त्वात् **स्मृतिः कदाचित्** 'स्यात्' इत्यध्याहारः । ततो यदुक्तम्–***"सुखादिस्वसंवेदनादिज्ञानानि इन्द्रियजनितानि, तत्त्वात्, चक्षुरादिजनितरूपादिज्ञानवत्, यत् तद् इन्द्रियं तत् मनः"** इति[2] ; तन्निरस्तम् । ततः तद्भावे[3] क(का)दाचित्कत्वमयुक्तमिति

५ मन्यते । अदृष्टस्य कादाचित्कत्वमभ्युपगम्य तस्यपि (तस्यापि) तत्कारणत्वे दोषं दर्शयन्नाह–**अदृष्ट** इत्यादि । **अहेतुकम्** अविद्यमानलिङ्गं **मनः स्यात्** ।

ननु चक्षुरादिज्ञानम् अदृष्टादुपजायते इति; तत एव तन्निष्पत्तेश्चक्षुरादिकम् अनर्थकं भवे[त् ।] तत्प्रतीतेर्नेति चेत् ; मनोऽपि तत एव नाऽनर्थकम् अनन्तरानुमाना[त्] तत्प्रतीतेः इति चेत् ; न ; स्वसंवेदनव्यभिचारात् , तस्य च साधनात् । अधुना मनोऽभ्युपगम्य दूषण-

१० माह–**सत्यपि** इत्यादि । सत्यपि न केवलमसति **अणौ** सूक्ष्मे **मनसि** प्रदेशवत्त्वे सत्त्वत्य (त्वेऽसत्य) प्यात्मनः **स्मृतीनां षण्णां समानां** [४४५क] वा···म स्यनाप्या(वा **मनसो**ऽप्या)त्मनः **सम्बन्धा[त्]सहैवोत्पत्तिः स्यात्** । कुतः ? इत्यत्राह–**परमाणुवदि**[त्यादि]

स्यान्मत(तं) त्वम(त्वन्म)तेऽपि मनोऽस्ति, तदप्येवमहेतुकं स्यात् । आगमगम्यत्वान्नैवं चेत् ; मदीयं तथास्तु । तत्प्रयोजनस्य अदृष्टतः सिद्धेर्नैवं चेत् ; त्वदीयेऽपि समानम् । उभय-

१५ कल्पनम् उभयत्रेति ; अत्राह–**तदेतदात्म्य(दागम**[7]**)** इत्यादि । **तदागमयति(मपठि)तमेतद् विचार्यमाणम्** अतोऽ[**किञ्चित्करम्**] किञ्चिदपि कर्तुं न समर्थ(र्थम्) । किंभूतम् ? **सदपि** आगमपाठमात्रेण विद्य[मानमपि । ननु अन्यार्थक्रियाकरणात्तद्]**किञ्चित्करं** कथं सप[स्या]दिति चेत् ? त[द्]न्यस्य(स्व)कार्यकरणेऽपि सुखादिवेदनादौ विकलेन्द्रियादिवद् अनुपयोगाद् एवमभि-धानात् । पुनरपि किंभूतम् ? **करणमिति** । केन रूपेण तत्तत् ? इत्याह–**आत्म** इत्यादि । तद-

२० र्थान्त[र]त्वेन । पुनरपि किंभूतम् ? इत्याह–**द्रव्यान्तरम्** , प्रतीयमानात् चक्षुरादिद्रव्याद[न्यद् द्रव्यं **द्रव्या]न्तरम्** इति । क्व अकिञ्चित्करम् ? इत्याह–**अन्तर्बहिश्च** । **अन्तः** सुखादिस्ववेदने, नहि सुखादिस्वसंवेदन न शेषमिन्द्रियवत्र न तस्के(स्वसंवेदने शेषमिन्द्रियम् , अमनस्के) अन्यथा विभागोपगमात् (?) **बहिस्त** (बहिश्च) घटादौ । तत्र कस्यविज्ञानस्य(स्वविज्ञानस्य) चक्षुरादेरपरस्यानुभवादे 'स्परस्य अनुभवादे'[9]र्भावात् । सिक्षायदि(शिक्षालापादि)ग्रहणाग्रहणे

२५ संस्कारदृढत्वेतरकृते, मनुष्यस्य व्याकरणप्रक्रियाग्रहणेतरवत् । तदूदृढतरत्वेनरे आवरणक्षयोपश-मविशेषात् । **'सत्यपि'** इत्यनेन आगमगम्यत्वम् , **'अकिञ्चित्करम्'** इत्यनेन तदसाधार णकार्योऽभावाद् अननुमेयत्वं दर्शयतिस्म ।

ननु (ननु) [10]आत्मप्रदेशावरणक्षयोपशमरूपस्य भावेन्द्रियस्य द्रव्यकरणापेक्षत्वात् [४४५ ख]

(१) सहकारि । (२) तुलना–"सुखादयो वा करणपरिच्छेद्याः ग्राह्यत्वाद् रूपादिवत् ।"–प्रश० व्यो० पृ० ४२५। "सुखादिप्रतीतिरिन्द्रियजा अपरोक्षप्रतीतित्वात् ।···स्मृतिः इन्द्रियजा ज्ञानत्वात् ।"–प्रश० क० पृ० ९०। (३) मनसः सकाशात् उत्पादे ।(४) अदृष्टादेव । (५) रूपादिज्ञानोत्पत्तेः । (६) जैनमतेऽपि । (७) 'तदेतदागम' इति वक्ष्यमाणायाः वृत्तेः प्रतीकम् । (८) 'अकिञ्चित्करम्' इति । (९) 'स्परस्यानुभवादे' इति द्विर्लिखितम् । (१०) आत्मप्रदेशेषु यः अवारणक्षयोपशमः तद्रूपस्य ।

[तन्] सिद्धिरिति चेत्; कु(क्व) तस्यै तदा(द)पेक्षा? रूपादौ इति चेत्; तत्र चक्षुरादिलिङ्गादेर्भावा[त्] सिद्धसाधनम्। तत्र ततोऽप्यन्यस्य साधने; साङ्ख्यमतवद्[3] अनवस्था।

किंच, सर्वस्य तत्रूपे वे समस्य(तत्क्षयोपशमस्य) प्रमेये प्रवृत्तावधि(वपि) ज्ञानं पराश्रयम् इति प्रत्यक्षत(क्षं न) स्यात्। कु (क्व)? भाविनि सुखादाविति चेत्; न; उक्तमत्र [अ]मनस्कसुखादिना व्यभिचारादिति। ५

किं च, एवं वादिनः सर्वमध्य[क्ष]म् इन्द्रियजं तत्त्वात्[8] कुतो न सिध्यति? अन्यथानुपपत्तिर्वैकल्यात्; इतरत्र समानमिति स्थीयतामविवादेन।

भवतु वा परपक्षि(परि)कल्पितं मनः ततो ज्ञानं वा, तथापि यौगमते 'न सर्वज्ञानं वा तथापि यौगमते' न सर्वज्ञः इति दर्शयन्नाह–**स्वत** इत्यादि।

[स्वतोऽसत्यः पुनः संवित्प्रकाशासंभवात्ततः। १०

अत्यन्तमात्मनि परतः अनवस्थानतः कुतः ॥३०॥

सत्यपि सर्वार्थसन्निकर्षे असर्वज्ञत्वं सदसदात्मकत्वात् वस्तुनः। यतोऽयं योगनिर्मितेन्द्रियशरीरः ऋद्धौ सर्वान् अनेकधा पश्येदनुस्मरेद्वा।]

स्वतः स्वरूपेण **अत्यन्तम्** एकान्तेन **आत्मनि** स्वरूपेऽ**सत्या(त्यः)**तत्राऽव्या[प्रियमा]णायाः **संविदो** ज्ञानस्य **प्रकाशासंभवात्** तस्याः प्रतिभा[साभा]वात् कुतः पुनः १५ सर्वज्ञत्वम् स्वबुद्धेरप्यग्रहणात्। तत्र युक्तम्–*"**सदसद्वर्गः कस्यचिद् एकज्ञानालम्बनमेकत्वात्(त्वम् अनेकत्वात्) पंचाद्गुणवत् (पञ्चाङ्गुलवत्)**।" इति; तत्संविदा व्यभिचारात्। ज्ञानान्तरात् तस्याः प्रकाशः; इत्यत्राह–**परतः** अन्यतो ज्ञानात् तस्याः '**प्रकाशासंभवात्**' इति सम्बन्धः, **अनवस्थानतो(स्थानतोऽ)**र्थमात्रस्यापि ग्रहणाभावात्।

यद् यस्मात् [सन्निकर्ष]सत्वा(सत्त्वा)दयं परीक्षमाण आत्मा **सर्वान्** अर्थान् **पश्येत्**। २० किंभूतः? इत्याह–**योग** इत्यादि। कस्मिन् सति? इत्याह–**सिद्धा(ऋद्धा)** वित्यादि। कथं किंच? इत्याह–**अनेकवा(धा)** इत्यादि। तथा **अनुस्मरेद् वा**। '**यतः**' इति वा आक्षेपे [४४६क] नैव[अनुस्मरेत्]।

अथ संविद् आत्मनि सत्त्वेऽपि सन्निकर्षवादिनः प्रकारान्तरेण सर्वज्ञत्वाभाव(वं) दर्शयन्नाह–'**सत्यपि**' इत्यादि। संभवनायाम् **अपि** शब्दः। **योगनिर्मितेन्द्रियशरीरस्यापि** योगिनः २५ **मनसः** चक्षुरादेर्वा **अर्थैः** सन्निकर्षस्य भावतो[ऽ]भावात्रिद्धि(वात्। ऋद्धि)प्रादुर्भावात् पूर्वम् उत्पद्य विनष्टैः सद्धि(तैद्)व्युपरमात्, [10]ऊर्ध्वं उत्पत्स्यमानैः सन्निकर्षाभावात्। तथापि उच्यते–**सत्यपि** सर्वतः **सर्वार्थैः सन्निकर्षे** अस्य '**अयम्**' इत्यनेन जातविभक्तिपरिणामेन सम्बन्धात्। किम्? **असर्वज्ञत्वम्**। कुतः? इत्यत्राह–**सदात्मकत्वा सदा(सदसदा)त्मकत्वात्** सदात्म[कत्वादसदात्म]कत्वाच्च। कस्य? **वस्तु[नः]इति**। द्रव्यादीनां[नां सदात्मकत्वम् अ]सदात्मकत्वं ३०

---

(१) भावेन्द्रियस्य। (२) द्रव्येन्द्रियापेक्षा। (३) तेन एकादशेन्द्रियस्वीकारात्। (४) अध्यक्षत्वात्। (५) इति चेत्;। (६) 'न सर्वज्ञानं वा तथापि यौगमते' इति द्विर्लिखितम्। (७) स्यात्। (८) परमार्थतः। (९) सन्निकर्षस्य नष्टत्वात्। (१०) आगामिकाले। ऋद्धिप्रादुर्भावानन्तरम्।

प्रागभावादीनामिति । अपरापेक्षया इदमुच्यते। अयमभिप्रायः–येषामर्थानामिन्द्रियसन्निकर्षः सदात्मनाम् तेषां तेन ग्रहणमस्तु, असदात्मनानुमा(नां तु सत्ता)नास्तीति कथं तेन ग्रहणम् ? घटादिप्रागभावादिः[न]इन्द्रियेण संयुक्तः अद्रव्यत्वात्[1]। नापि तत्र समवेतः; तत्त्वस्त (तत्त्वतस्त)-त्प्रत्ययप्रसङ्गात् । अत एव सम्बन्धसम्बन्धोऽपि[2] दुर्घटः ।

५ स्यान्मतम्–इन्द्रियेण घटादिक(कं) सन्निकृष्टं तेन च प्रागभावादिः[3], ततो रूपादिवद् अस्य ग्रहणमिति ; तदस त्य(सत् ; य)तः अभावस्य अद्रव्यत्वात् न तेन[4] घटस्य संयोगः । न च समवायः ; अभावकाले तदभावात् । अत एव नान्योऽपि सम्बन्धः ।

अथ मतम्–घटसंयुक्तेन्द्रियस्य घट (टा) भावेन संयुक्तविशेषणीभावसम्बन्धः, रूपाद्यभावेन संयुक्तसमवेतसमवेत[6]विशेषणीभावसम्बन्धः, रूपा (पत्वा) द्यभावेन संयुक्तसमवेतसमवेतसमवेत-

१० विशेषणीभावः, [४४६ख] एवं कर्मादावपि वक्तव्यमिति ; तदप्यसत् ; सु(स्व)समया(य)-व्याघातात् । यद(यो)हि घटस्य प्रा[गभावप्र]ध्वंसाभावाभ्या(भ्यां) साक्षात् सम्बन्धः सैव (स एव) अनित्यता इति । *"उभयान्त्यधि(न्तव्यवधि)सत्ताऽनित्यता" [न्यायवा० पृ०२८४] इति[8] किमनेन ?

किंच, विशेषणीभावसम्बन्धाप्रतिपत्तौ 'इदमस्य विशेषणम्' इति कुतः प्रतिपत्तिः ? न

१५ हि संयोगाप्रतिपत्तौ 'इदमप्यस्य संयोगि' इति संवित्तिर्युक्ता ।

ननु यथा समवायाग्रहणेपा(णेऽपि 'इ)दमत्र समवेतम्' इति प्रतीतिः, तथा अत्रापीति चेत् ; न ; साध्यसमत्वात् निदर्शनस्य । 'समवेतम्' इति हि समवायापेक्षिणी प्रतीतिः, यथा 'संयुक्तः' इति संयोगातप(गापे)क्षिणी । न च तदप्रतीतौ सा[10] युक्ता, अन्यथा शुक्लताऽप्रतीतौ शुक्ल इति संवित्तिः स्यात् । न चैवम् इति । प्रतीयते सोऽपीति चेत् ; [11]तस्य इन्द्रियेण कः सम्बन्धः ?

२० विशेषणीभाव इति चेत् ; अनवस्था । अपि च, इन्द्रियघटसंयोगकाले न प्रागभावः प्रध्वंसो वा,[त]त् कथम् इन्द्रियस्य तेन पारम्पर्यसम्बन्धः । न हि असता सतः सम्बन्धः खरविषाणे-नेव । प्राक्पश्चाततस्थोर्भाव (श्चात्स्थो[12]ऽभावः) इति चेत् ; तदा न घटः नापि इन्द्रियसंयोगः । न च अभावोऽप्रतिपन्नो विशेषणम् , दण्डवत् । प्रतिपन्नश्चेत् ; न तावेत् (तावत्) सह घटेन, [13]तत्काले [14]तदभावात् । नापि केवलः; तद्ग्रहणोपायाभावात् । अत एव स्मर्यमाणोऽप्यसौ[15] न

२५ विशेषणम् ।

---

(१) द्रव्यद्रव्ययोः संयोगात् । (२) संयुक्तसमवायः समवेतसमवायादिको वा, विशेषण-विशेष्यभावो वा, न संभाव्यः, सम्बद्धयोरेव तद्भावात् । (३) सम्बद्धः । (४) अभावेन । (५) घटस्या-सद्भावात् । (६) एकः 'समवेत' शब्दोऽधिकः । इन्द्रियसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तद्विशेषणमभावः । (७) एकः 'समवेत' शब्दोऽधिकः । इन्द्रियसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वं समवेतं तद्विशेषणमभावः । (८) तुलना–"यस्योभयान्तव्यवधिसत्तासम्बन्धवाचिनी । अनित्यताश्रुतिः = यस्य नैयायिकादेः उभयस्य प्राक् पश्चाद् भावस्य अन्तस्य व्यवधायकः सत्तासम्बन्धः तद्वाचिनी अनित्यताश्रुतिरिष्टा"–प्र० वा० मनोरथ० २।१११। "या उभयान्तपरिच्छिन्नवस्तुसत्ता सा अनित्यता"–न्यायवा० । (९) संयोगसमवाया-प्रतीतौ । (१०) संयुक्त इति समवेत इति वा प्रतीतिः । (११) संयोगस्य समवायस्य वा । (१२) प्राक्पश्चाच्च तिष्ठतीति प्राक्पश्चात्स्थः । (१३) घटकाले । (१४) अभावस्य असद्भावात् । (१५) अभावः ।

परः प्राह–इन्द्रियसंयुक्ते घटे सत्ता समवेता तद्विशेषणं प्रागभावादिः, ततः संयुक्तसमवेतविशेषणीभाव इति ; तदप्यसारम् ; नित्यायाः तस्याः [४४७क] तद्विशेषणायोगात् आत्मादिवत् ।

किंच, प्रागभावो घटकाले विनश्यति तदा तस्यापि प्रध्वंसोऽस्ति, तथा प्रध्वंसस्य प्रागसतो भावे प्रागभावः, न च तत्रेयं ग्रहणप्रद्विया(प्रक्रिया) ; सत्तासमवायाऽभावादभावस्य । न च तस्यानित्यताव्यपदेशः ; उभयान्तव्यवधिसत्तासम्बन्धाभावात् । नास्तीति चेत् ; पेदादो(पटादौ) कः समाश्वासः ? उपचारात् स तत्रेति चेत् ; अन्यत्रापि ततः स्यादविशेषात् । विशेषणीभावो परतो व्यमानोऽवधानात (भावोऽपरतः सम्बध्यमानश्चेत्) तस्यापि तेन कः सम्बन्धो येन ग्रहणं भवेत् ? विशेषणीभाव इति चेत् ; किं पुनरसाधनेकः(सो अनेकः ?) तथा चेत् ; समवायोऽपि स्यात् । समवेतबुद्धेरभेदान्नैवं चेत् ; तन्निबन्धनापि बुद्धिर्न भिद्यत इति समानम् । तन्न असदात्मना इन्द्रियसन्निकर्ष इति न तस्य ग्रहणम् इति[न]सर्वज्ञत्वं सन्निकर्षवादिनः इति स्थितम् ।

तथापि सर्वज्ञत्वोपगमे नैयायिकवत् सौगतस्यापि किञ्चित् स्वाभ्युपेतं नश्य(नश्य)तीति दर्शयन्नाह–**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षं सर्वविषयं भिन्नकालमनागतम् ।
वेत्ति चेदर्थसारूप्यात् प्रामाण्यं संविदां न वै ॥३१॥

कुतश्चिदर्थादुत्पन्नं ज्ञानं यदि तदतिक्रान्तावेव योग्यतया प्रत्यक्षम् ; अनागतेऽपि किन्न स्यात् ? तत्सारूप्यातिशयसंभवात् तदुत्पत्तेश्च तत्प्रत्यक्षत्वकल्पनायामतिप्रसङ्गात् । यस्य दर्शनयोः''' अलम् असद्ग्रहकल्पनया अतिप्रसङ्गात् । यथैव हि कारणाभावलक्षणे भवतः स्वतन्त्रस्य कार्यत्वमत्यन्तमयुक्तं तथैव स्वकार्यकारणस्वलक्षणसंवेदनं च । यदि कुतश्चित् संवित्तेः परिच्छेदसामर्थ्यम् ; प्रमेयकाले एव स्यात् । दृश्यदर्शनयोरुपकार्योपकारभावस्य सर्वदा भावात् । तदेतद् द्रव्यं स्वत एव यथा परिणामलक्षणं तथैव जीवात्मकमेतत् स्वत एव ज्ञानस्वभावकं प्रत्येयम् । कारकज्ञापकशक्तेः स्वतः सद्भाविन्या एव परतः परिणामात्मोपकार्यविशेषप्रतिलम्भोपपत्तेः । तन्न कश्चिदज्ञानात्मा ज्ञानसम्बन्धात् ज्ञाता नाम घटादिवत् । स्वत एव सकलग्रहणप्रकाशोऽपि । तदयमात्मैव स्वतः संविदात्मा सुखादिरूपेण, दोषावरणविमुक्तः स्वलक्षणमनन्तज्ञानादि केवलं प्रतिपद्येत ।]

प्रत्यक्षं तत् **सर्वविषयम्** , किंभूतम् ? **अनागतं** भावि, उपलक्षणमेतत् तेन भूतमपि गृह्यते । तत् किं करोति ? इत्याह–**भिन्नकालार्थो(कालम् अर्थं) वेत्ति चेद्** यदि भूतं भाविनो भावि भूतानिशे(न्निःशे)षानिति **प्रामाण्यं संविदा(दां) नवै** नैव **अर्थसारूप्यात्** किन्तु अन्यतः कुतश्चिद् अतिशयाद् भवेत् । नहि भाविनो योगिनोऽपि ज्ञानं जायते, यतः

(१) सत्तायाः । (२) प्रागभावस्यापि ।(३) प्रागभावप्रध्वंसाभावमध्यवर्तिन्याः सत्तायाः सम्बन्धाऽभावादित्यर्थः । अर्थात् यः उत्पद्यते विनश्यति च स एवानित्यः । (४) विशेषणीभावः । (५) भेदाऽभावात् । (६) विशेषणीभावनिबन्धनापि । (६) अर्थात् ।

तदाकारं स्यात् , अन्यथा सर्वभाविभावकार्यकाल एव तेन भवितव्यमिति [४४७ख] न ज्ञायेत नात्र कार्यकाले, कस्य काले तेन भवितव्यम् इति । तथा अनादिसकलार्थकार्यकालेऽपि भवति इदम् । एवं वक्तव्यम् तथा एकस्माद् भिन्नकालं कार्यद्वयम् *"नाक्रमात् क्रमिणो भावाः" [प्र० वा० १।४५] इत्यादिविरोधात् । अथ योगिनः सकलं वर्तमानमेव, न तस्य किञ्चिन
५ कारणं न च कार्यं नापि तज्ज्ञाने स्वाकारसमर्पकम् इति; प्रश(थ)मकार्यका(क)रणे च तज्ज्ञाने सकलं तथैव भवेत् । अथ न ज्ञानम् अनन्कार्यम् अतदाकारं ग्राहकम् ; सकलं तथास्तु, *"यस्य यावती मात्रा" इति न सर्वाविशेषः । एतत् सौगतं प्रति । तथा संविदा(दां) तत् तस्माद् अर्थात् जन्म न वै । नहि विवक्षितज्ञानं प्रति सर्वे भाविनो भूता वा अर्थाः कारणम् । कार्यकाले सन्निहितस्यैव योगेः(योगिः) कार[ण]त्वोपगमात् , इतरथा अर्थदेशे असन्निहितं तत्र चक्षुर्ज्ञानमुपजनयेत् ,
१० अदृष्टो वा अग्न्यादिदेशे[असन्निहितः] तस्य ऊर्ध्वज्वल(ज्वलननिमित्त)मिति नात्मसर्वगत्वम् । एतद् उभयं प्रति ।

कारिकार्थमाह-**कुतश्चिद्** इत्यादिना । **कुतश्चिद्** अनन्तरादतीताद् भाविनो वा विज्ञान-समानकालाद्वा **अर्थात् उत्पन्नं ज्ञानं यदि प्रत्यक्षम्** अर्थसाक्षात्कारि । कस्मिन् सति ? इत्याह-**तदतिक्रान्तावे[व]**तस्य अर्थादुत्पन्नार्थस्य अतिक्रान्तिः अतिक्रमः तस्यामेव **योग्यतया**
१५ तत्त्व[स्य]प्रमेय तत्प्र(यस्य प्र)त्यक्षं तदुत्पन्नत्वादिति भावः। **अनागतेऽपि** अपिशब्दाद् वर्तमानेऽपि **किन्न स्यात्** ? **'प्रत्यक्षम्'** इत्यनुवर्तते, तत्र च उक्तो दोषः [४४८क] । विपक्षे बाधां दर्शयन्नाह-**तद्** इत्यादि । तेन प्रमेयेण **सारूप्यातिशयो** यः तस्य **संभवात् ततः** प्रमेयादुत्पत्तेश्च तं **प्रत्य(तत्प्रत्यक्ष)त्वकल्पनायाम् अतिप्रसङ्गात्** । तत्र सारूप्यातिशयात्तत्कल्पनायाम् अतिप्रसङ्गं दर्शयन्नाह-**यस्य दर्शनयोः** इत्यादि । सुगमम् ।

२० अत्रैव दूषणान्तरं दर्शयन्नाह-**अलम्** इत्यादि । तात्पर्यमत्र-यदा ग्राह्यतहे[तु]-त्वमेव तदाकार(कारार्पण)क्षमम् उच्यते तदा 'अमुत एव ग्राह्यता' इत्युक्तं स्याद् **अलं** पर्याप्तं **असतो ग्रहकल्पनया** । कुतः ? इत्याह-**अतिप्रसङ्गात्** । तत उत्पत्तेश्च तत्कल्पनायाम अतिप्रसङ्गं दर्शयन्नाह-**यथैव हि** इत्यादि । येनैव हि प्रकारेण **कारणाभावलक्षणे** भावलक्षणे **भवतः** जायमानस्य । किंभूतस्य भवतः ? **स्वतन्त्रस्य कार्यत्वम् अत्यन्तमयुक्तम्** ।
२५ एतच्च नैयायिकेनापि उक्तं सौगतं प्रति । **तथैव स्वस्य** स्वस्य **कार्यस्य** यत् **कारणस्वलक्षण-(णं)**ज्ञानकालेऽविद्यमानं तस्य **संवेदनं च** अत्यन्तमयुक्तम् । एवं मन्यते-यथा सौगतस्य[य]दि नष्टं कारणं न कार्यजन्मनि व्याप्रियते कार्यं वा न 'तस्य' इति व्यपदिश्यते, तथा संवेदनकाले अविद्यमानं न तद्ग्राह्यशक्तिसमन्वितम्, संवेदनं वा ग्रहणसामर्थ्यसहितम्, अन्यथा हेतुफल-भावो भिन्नकालयोः ग्राह्यग्राहकवद् भवेदविशेषात् । अथवा, संवेदनस्य **कारणं स्वलक्षणं** तस्य
३० [४४८ख] **संवेदनमत्यन्तमयुक्तम्** कार्यविशेषत्वादस्य । कारणात्यये च जायमानं न 'तस्य'

(१) अग्नेः । (२) "भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम् ॥"-प्र० वा० । (३) तत्प्रत्यक्षत्वकल्पनायाम् । (४) 'भावलक्षणे' इति व्यर्थम् ।

इति व्यपदिश्यते विरत(चिरतरातीत)वत्। तर्हि यथा कारणं कार्यकाले सदेव तदुत्पादयति तथा संवेदनं प्रमेयसमये सदेव तद् गृह्णाति, तत्फलत्वाद् इति नैयायिकः; तत्राह-**यदि कुतश्चित् सम्बन्धात्** तदुत्पत्तिलक्षणात् **संवित्तेः परिच्छेदसामर्थ्यम्;** अत्र दूषणम्-**प्रत्येयंक**(प्रमेय)**ज्ञानकाल एव वस्तुनि स्यात् परिच्छेदसामर्थ्यम्** न अतीते न भाविनि इति कथं कस्यचित् सर्वज्ञत्वमिति भावः। अतीतानागतं वा ज्ञानस्य कारणम् इति तत्रैव तत्सामर्थ्यम् इति। नहि ५ अतीताऽनागतमादृश्यमपि दर्शनस्य मिथ्याबुद्ध्यवसायादन्यतः परस्य नि(इति) मन्यते।

संप्रति दर्शनस्य न सम्बन्धः उपकाराभावादिति चेत्; अत्राह-**उपकार्योपकारकभावस्य दृश्यदर्शनयोः सर्वदा** कालत्रयेऽपि **भावात्** मिथ्याविकल्पबुद्धेः सकाशाद् इति।

ननु *"ग्राह्यं न तस्य ग्रहणं न तेन" इत्यादिवचनात् 'स्वरूपे(प)वेदनमेव सर्वज्ञत्वम् न सर्ववेदनम् इत्यपरः; तत्राह-**तदेतद् द्रव्यम्** इत्यादि। **तत्** तस्माद् उक्तान्न्यायात् **एतत्** १० प्रतीयमानं **द्रव्यं स्वत एव**[न]भिन्नपरिणामाद् **यथा परिणामलक्षणं** परिणामो लक्षणं यस्य इति **तथैव जीवात्मकं** भेतनत(एतत्) **स्वत एव** नान्यतो **ज्ञानस्वभावकं** स्वपरग्रहणपर्यायात्मकम् **प्रत्येयं** चित्रैकरूपस्य स्वपरग्रहणस्वभावाविरोधात्। चक्षुरादि[४४९क] व्यापार[रेणैव स्वयं त]-स्य तत्स्वभावकुत्वे(वक्त्त्वं) स्यादिति चेत्; अत्राह-**कारक** इत्यादि। **कारकं** कर्त्रादि, जानातीति **ज्ञापक** आत्मा **तयोः शक्तेः स्वतः सद्भाविन्या एव परतः** चक्षुरादेरपि **परि-** १५ **णामात्मोपकार्यविशेषप्रतिलम्भोपपत्तेः।**

ननु च ज्ञातृविचारे किमर्थम् अप्रस्तुतस्य कारकस्य ग्रहणमिति चेदह(चेत् ? दृष्टा)न्तार्थम्। यथैव कारकस्य शक्तिः स्वतः सती शालिबीजादेः, परतोऽपि परिणामात्मोपकार्यविशेषप्रतिलम्भः तथा ज्ञातुरपि। नहि किश्या(कृष्या)दिना यवबीजस्य शाल्यङ्कुरजातिका(जनिका) शक्तिः आधीयते। २०

निगमयन्नाह-**तन्न** इत्यादि। य [त एवं]तत्तस्मात् **कचिद्** आत्मा अन्यो वा **अज्ञानात्मा** ज्ञानस्वभावरहितो **ज्ञानसम्बन्धात् न ज्ञाता नाम घटादिवद्** इति।

ननु घटादेः तत्सम्बन्धोऽपि नास्ति तत्कथं निदर्शनमिति चेत्; न; समवायस्य व्यापकस्य सर्वत्राविशेषा[त्] निषेधाच्च। स्वत एव ज्ञानस्वभावत्वे सर्वस्य सर्वदर्शित्वमिति चेत्; अत्राह-**स्वत एव** इत्यादि। तदन्ययेर्थान्तरसम्बन्धा व्यापप्रबोधश्च (तदन्यया अर्थान्तरसम्बन्धिन्या २५ वा स्वापप्रबोधश्चेत् आत्मनः)**सकलग्रहणप्रकाशोऽपि**। यत एवं **तत्** तस्माद् **अयं** स्वसंवेदनाध्यक्ष **आत्मैव स्वतः संविदात्मा** नादा(न तु आ)त्मसंविदोर्भेद इत्यर्थः। स च किंभूतः ? इत्याह-**सुखादिरूपेण** इत्यादि। **दोषावरणविमुक्तो** दोषावरणवैकल्यात् **स्वलक्षणं** स्वस्वरूपम् **अनन्तज्ञानादि केवलम्** असहायं **प्रतिपद्येत** यतः स्वभावविभुत्वम् इति।

भवन्तु तर्हि आत्मनः स्वभावभूताः [४४९ख] प्रदेशाः; इत्यत्राह-**यथा** इत्यादि। ३०

---

(१) कार्यम्। (२) प्रमेयम्। (३) द्रष्टव्यम्-पृ० ४१९। (४) ज्ञानस्वभावकत्वम्। (५) ज्ञानसमवायोऽपि।

[यथात्मा सम्यग्येनानन्तप्रदेशैः स्वतः ।
तथार्थोऽनन्तपर्यायैः तन्नार्थाः समवायिनः ॥३२॥

कथञ्चित्...]

यथा अनन्तप्रदेशैः सम्यग्येन विस्तरात्मादि(?)स्वतः न समवायादिवशात्
५ तथा अर्थः-प्रमेयो घटादिः अनन्तपर्यायैः तत्तन्मा(ततस्मात)न्नार्थाः समवायिनः समवायवन्तः ।

कारिकां व्याख्यातुमाह-कथञ्चित् इत्यादि । सर्वं[सुगमम्] ।

आत्मप्रदेशाभावे पुनरपि दोषमाह-तद् इत्यादि ।

[तत्प्रदेशोपचारेऽपि युगपज्ज्ञानसम्भवः ।
१० दूराच्छब्दश्रुतिरस्ति यथैकान्तवादिनाम् ॥३३॥

परमार्थतः प्रदेशनानात्वाभावे आकाशस्य प्रत्येकं रूपादिज्ञानं प्रसज्येत । आकाशस्य कर्ण···कथं स्युः । कार्यव्यतिरेकोपलक्षणाच्च कारणभेदस्य । न हि अग्निरारोपितोऽपि दहति, मुख्यार्थाभावप्रसङ्गात् । कुतश्चित् प्रदेशनियमाभ्युपगमे तद्दोषोऽवश्यम्भावी । विप्रकृष्टदेशानामपि शब्दानां श्रुतिः स्यात् संयुक्तसमवेतत्वस्य ग्रहणकारणस्य भावात् आत्माकाशयोः
१५ सर्वगतत्वात् मनसश्च सक्रियत्वात् । अदृष्टनियमं मनः अतिरिच्यताम् ।]

तस्य आत्मनः प्रदेशोपचारेऽपि वस्तुतोऽप्रदेशस्य[1] उपचरित[प्र]देशोपगमेऽपि युगपज्ज्ञानसंभवः । दूषणान्तरमाह-दूरात् शब्दश्रुतिरस्ति एकान्तवादिनां नैयायिकानाम् ।

कारिकार्थं दर्शयन्नाह-परमार्थतः अनुपचारतः प्रदेशनानात्वाभावे स्वाकाशस्य(आका-
२० शस्य)प्रत्येकं रूपादिज्ञानं प्रसज्येत । यदेव हि चक्षुरादीनामन्यतमेन मनः संयुज्यते तदेव आकाशेन, ततः संयुक्तसमवायाद् रूपादिग्रहणकाले गगनसमवेतसर्वशब्दग्रहणमिति । यदि पुनः आकाशेन संयोगेऽपि[2] न श्रोत्रेण इत्युच्यते; अत्राह-आकाशस्य इत्यादि । कर्ण आदि(त्यादि) परमतम् आशङ्कते दूषयितुम् । अत्र दूषणं कथम् इत्यादि । स्युरेव । कुतः ? इत्याह-कार्य इत्यादि । कार्यं शब्दः तज्ज्ञानं च आकाशस्य, तस्य व्यतिरेकः सर्वत्राभावः तेन उपलक्षणाच्च
२५ कारणभेदस्य [ग]गनप्रदेशनानात्वस्य । उपचारितः(चारतः) तस्य प्रदेशभेदः ततः श्रुतिभेदः इति चेत्; अत्राह-नहि अग्निरित्यादि, कुतो न दहत्येव ? इत्यत्राह-[आरोपितोऽ]पीत्यादि । माणवकाद् अन्यस्मिन्नपि जलादौ न दहति[४५०क] अयमिति यन्मुखोस्यः(यन्मुख्योऽर्थः) तस्य अभावप्रसङ्गात् । उपचारस्य सर्वत्र कर्तुं[शक्यत्वात्] सम्बन्धाद्[3] उष्णस्पर्शाभावस्य च अविशेषादिति भावः ।

(१) प्रदेशरहितस्य । (२) संयोगः । (३) यतोऽग्निरपि स्वतः उष्णस्पर्शरहितः, उष्णसम्बन्धादेव उष्णो भवति इत्यर्थः ।

सन्तु तत्त्वतः तत्प्रदेशा इति चेत्; अत्राह–**कुतश्चित्** तदविनाभाविकार्यात् **प्रदेशनियमाभ्युपगमे** 'कर्णशष्कुल्यवरुद्धः अन्यः तद्विपरीतः अन्यः प्रदेशः इति' नियमस्य अङ्गीकरणे **तस्य** आकाशस्य **भेदा(दो)ऽवश्यंभावी** । तथा च एकत्वं गगनस्य दुर्लभम्, आत्मप्रदेशवत् प्रसङ्गश्च चिन्त्यः । निष्प्रदेशत्वे तस्य पुनरपि दूषणमाह–**विप्रकृष्ट** इत्यादि । यत्र न[भ]सि समवेताः सर्वशब्दाः तत्र संयुक्तं मनः ततः **संयुक्तसमवेतत्वस्य ग्रहणकारणस्य भावात्** तं ५ च वरणमिति (तत्श्रवणमिति) तर्हि आमन्नेऽपि एतदेव श्रवणकारणम् । स्यान्मतम्–मनःसंयुक्तात्मप्रदेशसंप्राप्तः शब्दो मनसा गृह्यते, 'विभुद्रव्यविशेषगुणत्वे सति अस्मदाद्युपलभ्यमानत्वात्, सुखादिवत्, ततोऽयमदोष इति; तत्राह–**आत्माकाशयोः सर्वगतत्वात् मनसश्च [स]क्रियत्वात् विप्रकृष्टदेशानामपि शब्दानां श्रुतिः स्यादिति** ।

एवं मन्यते–क्रियावत् मनः शब्दोऽक्रियः, ततः शब्ददेशं प्राप्य तत् प्रकाशकं चक्षुरश्मिवत् । एवं च दूरादिप्रतीतिः सौगतकल्पिता न विरुध्यते । वीचीतरङ्गन्यायेन अक्रियस्य शब्दस्य आगमनप्रयासपरिहारश्च । अध्व (अथ) दूरदेशानां श्रवणे कथं निकटा प्रतीतिः ? कथं सखो- (शाखा) प्रदेशे चन्द्रमसः प्रतीतिः ? [४५०ख] इन्द्रियस्याऽऽशुवृत्तेः; अत्रापि मनसः शब्दग्रहणे तथैव आशुवृत्तिः । अथ मनः शरीरं विहाय नान्यत्र याति; कथं चक्षुर्याति ? गमनादर्शनम् उभयत्र ।

स्यान्मतम्– चक्षुः अर्थदेशं गत्वा तं प्रकाशयति तैजसत्वात् प्रदीपवत्; मनोऽपि इन्द्रियत्वात् नयनवत् इति समानम् । अथ ये श्रूयन्ते शब्दाः तद्देशे तद्गमनम् नान्यत्र देशे; केन कृतमेतत् ? अदृष्टेन इति चेत्; अत्राह– **अदृष्ट** इत्यादि । **अदृष्टेन नियमे मनः अतिरिच्यताम्**[3] अदृष्टत एव तदर्थसिद्धेः त[द्]नर्थकमिति ययुक्तं (यदुक्तं) परेण गन्थेकस्य (ग्रन्थे, *"एकस्य) **सर्वैः [मूर्ति]मद्भिः युगपत् संयोगः सर्वगतत्वम्, आत्मा**र(त्मादेः") इति; २० तं निरसत्वे (तन्निरंशत्वे) अनुपपन्नम् इति ।

यद् (तद् दूषय)न्नाह– **प्रदेशा** इत्यादि ।

[प्रदेशाः सन्तु मा वा सम्बध्येद् युगपद्विभुः ।
अनन्तैरपि पर्यायैः तथात्माप्यसकृत्स्वतः ॥३४॥

विभोरात्मनः अन्यस्य वा यावद्भिः परस्परव्यावृत्तमूर्तिमद्भिः संयोगाः तावन्तस्ते परस्परव्यावृत्तात्मानः संयोगिनः तावतः स्वभावभेदान् अन्यथानुपपत्त्या साधयन्ति । ते पुनः प्रदेशव्यापदेशभाजो भवन्तु मा वा, भावस्तादात्म्यात्तैः स्वत एव सम्बध्येत । एतेन···पर्याय···। संयोगभेदाभावे तदन्यतमविभागे सर्वेषां सह विभागप्रसङ्गात् । तथा च कस्यचिच्चलने सर्वकार्यद्रव्यं सकृदेव चलेत् सर्वत्र संयोगैकत्वोपपत्तेः । तथा विभुद्रव्यवत् परमाणोः स्वत एवानन्तपर्यायसिद्धिः ।] ३०

प्रदेशा भागाः **सन्तु मा** व (वा) भूवन् प्रदेशा गगनादेः तथापि **सम्बध्येत् विभुः**

(१) आकाशस्य । (२) विभुद्रव्यम् शब्दे आकाशः । (३) त्यज्यताम् इत्यर्थः ।

सर्वगतः पदार्थात्मा(पदार्थ आत्माकाशादिः) **युगपत्** 'सर्वमूर्तैः' इतीपेक्षम(इतीदमत्रापेक्ष्यम्)। ततः किं जातम् ? इत्याह–**अनन्तैः पर्यायैः आत्म**सम्बाध्येत(**आत्मा संबध्येत**)**स्वत** आत्मने(आत्मना) **असकृत्** क्रमशोऽपि **तथा** ।]

कारिकां विवृणोति– **विभोः** सर्वगतस्य **आत्मनोऽन्यस्य वा** गगनादेः **यावद्भिः सह संयोगाः** । कैः ? इत्याह–**मूर्तिमद्भिः** असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिः, तद्वद्भिः । किंभूतैः ? इत्याह–**परस्यादि**(परस्परेत्यादि) । किंभूतास्ते ? इत्याह– **परस्परव्यावृत्तात्मानः ते संयोगाः तावन्त एव संयोगिन** आत्मादेः **तावतः स्वभावभेदान् साधयन्त्येव** । केन हेतुना ? इत्याह– **अन्यथानुपपत्त्या** [४५५क] **[अन्यथा]** अन्येन तावतां स्वभावभेदानामभावप्रकारेण तेषां याऽनुपपत्तिः तया । तदि (तथाहि–) येन स्वभावेन नभोऽभिसम्बद्ध्यते एकेन परमाणुना, तेनैव सर्वद्रव्यैः ; तत्परमाणुसंयुक्तस्वभावे सर्वस्य प्रवेश[प्र]सङ्गा[त्] । न वैव(चैव)मिति । **ते** स्वभावभेदाः, **पुन**रेतद् वितर्के **प्रदेशव्यपदेशभाजो भवन्तु मा वा भूवन्, भावो** गगनादिः **तैः** स्वभावभेदैः **स्वत एव** संयोगादिति न पेक्ष्य (दिनिरपेक्ष) एव **सम्बध्येत** । **कुतः** ? इत्यत्राह– **तादात्म्यादि**ति ।

नन्वेकः परमाणुः षड्भिः[1] संयुज्यते, न च तस्य तावन्तः स्वभावभेदाः ततो व्यभिचार इति चेत् , अत्राह– **एतेन** इत्यादि । कुतः ? इत्यत्राह– **पर्याय** इत्यादि । तदनुपपत्त्यो(त्त्या) किं स्यादिति चेत् ; अत्राह– **संयोगभेदाभावे** सर्वावयवानां संयोगैकत्वे तदन्य[2] **तदन्यतम-विभागे तेषां** कार्यद्रव्यारम्भक-परमाणूनामन्यतमस्य परमाणोः **विभागे** संयोगाभावे सति **सह** युगपत् **सर्वेषामणूनां विभागप्रसङ्गात्** । तथा किं स्यात् ? इत्यत्राह– **तथा च** सर्वेषां विभाग-प्रकारेण पक्षविन(पक्षिवत्) पटादौ **कस्यचित्** परमाणो तेचने(गोश्चलने) **सर्वकार्यद्रव्यं सकृदेव चलेत्** नास्यतु(नास्थात्) । कुतः ? इत्यत्राह–**सर्वत्र** इत्यादि । सर्वपरमाणुषु **संयोगे-(गै)कत्वोपपत्तेः** कारणात् **कस्यचित्** परमाणोः **चलने सर्वकार्यद्रव्यं सकृदेव चलेत्** ।

आह परः–क्रियातो विभागः, तत एकस्मिन् परमाणौ क्रियायां तत्रैव स युक्तो नान्यत्र । नहि देवदत्ता[द्] दण्डस्य विभागो(गे) [४५५ख] सर्वतः सर्वस्य भवितुमर्हति तत्कथमुच्यते– **'तदन्यत[म]विभागेसह(भागे सह)सर्वेषां विभागप्रसङ्गात्'** इति ? तन्न ; संयोगविनाशस्य विभागत्वात् , संयोगस्याधकत्वे(स्यैकत्वे) तस्याप्येकत्वात् । न हि एकस्य घटस्य बहवः प्रध्वंसाः । अथ विभागात् संयोगविनाशो न पुनः स एव स इति चेत् ; न ; तथाऽप्रतीतेः । नवै खलु संयोगप्रतीति (संयोगविनाशात् पृथक् विभागप्रतीति) रस्ति, यतः सः सन् तस्य विनाशक(कः) स्यात् । [तथा] प्रतीतिसद्भावे या(च) सकृदेव संयुक्तं विभक्तो (संयुक्तविभक्तौ) पुरुदंडादिति (पुरुषदण्डाविति) प्रतीतिः स्यात् । न चैवम् , विरोधात् । नहि यदैव दण्डी तदेकदण्डी (तदैवाऽदण्डी) पुरुषो भवति । अथ संयोगस्य विनश्यदवस्थायाः विभागः[10] तेनायमदोषः; [11]तदवस्था संयोग एव चेत् ;

(१) पूर्वादिदिग्वर्तिभिः परमाणुभिः । (२) 'तदन्य' इति निरर्थकं पुनर्लिखितम् । (३) विभागः । (४) तद्विनाशरूपस्य विभागस्य । (५) भवति । (६) संयोगनाशः । (७) विभागः । (८) विभागः । (९) संयोगस्य । (१०) जायते । (११) संयोगस्य विनश्यदवस्था ।

स एव दोषः । अन्या चेत् ; यदि तत्कालभाविनी ; युगपत् त्रयप्रतीतिः–'संयोगः, तदवस्था, विभागश्च' इति । अथ तदुत्तरकालभाविनी ; तदा न तर्हि संयोगः । तथा चेत् ; न नहि (न तर्हि) विभागात् संयोगनाशः । पूर्वं तस्य नाशात् तदंत (तत) श्चेत् ; अन्योऽन्यसंश्रयः–संयोगनाशाद् विभागतः (गः, ततः) तन्नाश इति ।

पर आह–विनाशसक (शक) कारणसमग्रता विनश्यदवस्थेति ; तत्काले संयोगस्य भावे ५ स एव दोषः–संयोगविभागयोः सहप्रतीतिरिति, विभागस्यैव तद्विनाशककारणत्वात् । अथ विभागजेन विनाशेन तिरस्कारात् न तत्काले[1] तत्प्रतीतिः[2] ; तदसत् ; ताभ्यामुत्तरकालभावी विनाशः कथं पूर्वसंयोगतिरस्कारकारी । नहि रात्राद् (व) विन्नमानो [४५२क] दिवाकरप्रतानः तदाकारा (तारा)-निकरतिरस्कारकारी ।

स्यान्मतम्–विभागसंयोगस्यव (गवि) नाशयोराशुवृत्तेरेककालताध्यवसायः, ततो विभाग १० कालेऽपि अध्यारोपेण तद्विनाशस्य भावात् तेन तत्तिरस्कारः[3] ; तदपि न सुन्दरम् ; यतः अध्यारोपितस्य अर्थक्रियासामर्थ्यनिषेधात् ।

किं च, भावपक्षस्य बलीयस्त्वात् भावेन सता संयोगेन विनाशस्य तिरस्कारो युक्तः, इतरथा ज्ञानज्ञानव्यवाये विच्छिन्ना व्यवाये विच्छिन्ना (ज्ञानव्यवाये 'विच्छिन्ना) वंशादिस्वर-धारा'[4] प्रतिपत्तिर्न स्यात् । १५

अपि च, कोऽयं तेन[5] तस्य तिरस्कारः ? विनाशकरणं चेत् ; तर्हि [न] विभागात् संयोगवि-नाशः, ततः संयोगस्य[6] [अ]भावतो विनाशो न विभागादिति प्राप्तम् । अथ सातस्थगतं (अथ तत्स्थं तत) तदपि[8] ; दृश्यसा (स्य) स्वरूपाखण्डने युक्तम् । तत्र संयोगकाल (ले) विभागः । पुनः स्यादिति चेत् ; तद्विनाशसमये स्यादिति न विभागप्रयुक्तः तद्विनाशः, सहभावात् । कुतस्तर्हि विनाशः ? कुतो विभागः ? क्रियत (क्रियातः) इति चेत् ; अत एव विनाशः, तथादर्शनात् । २० न च तद्विनाशास्त (श-त) त्कालेऽपि विभागः प्रतीतिभाक् । ततः स्थितम्–'संयोगविनाशो विभागः, तस्य चैकत्वे विभागैकत्वम्' इति । एवमनैकान्तिकत्वे परिहृते यत्प्राप्त (प्तं तत) दर्शयन्नाह–

तथेत्यादि । तथा तेन प्रकारेण सति तत्परिहारे **विभुद्रव्यवत् परमाणोः अनन्तपर्यायसिद्धिः स्वत एव** ।

निगमनमाह–**तत** इत्यादि । [४५२ख] २५

[ततः

क्रमेणानुभवत्तत्त्वं चेतनाचेतनात्मकम् ।
चैतन्यं संसारेतरव्यवस्थाप्रत्यनीकतः ॥३५॥
नान्यदेव ततो ज्ञानं सामान्यात्तदात्मनः ।
स्वतस्तादात्म्यपरिणामात् सम्बन्धादनवस्थितेः ॥३६॥] ३०

---

(१) विभागकाले । (२) संयोगप्रतीतिः । (३) संयोगतिरस्कारः । (४) इति । (५) विनाशेन । (६) विनाशात् । (७) तस्मिन् तिष्ठतीति तत्स्थम् । (८) उच्यते उपचारात् । (९) एतत् उच्यमानम् । (१०) तद्विनाशकाले तत्काले वा ।

क्रमेण तत्त्वमेकत्वम् अनुभवत् 'द्रव्यं भवति' इत्याध्याहारः। किंभूतम् ? इत्याह–चेतनेत्यादि (त्यादि)। कीच (जीव) द्रव्यं चेतनात्मकम् [चेतनात्मक]न्यदिति। कुतः चेतनात्मकमिति चेत् ? अत्राह–चैतन्यमित्यादि। कथं संसारेतरव्यवस्था इति चेत् ? अत्राह–प्रत्यनीक इत्यादि। यत एवं ततो नान्यदेव ज्ञानम् आत्मनः। कुतः ? इत्याह–सामान्येत्यादि।
५ सोऽपि कुतः ? इत्याह तादात्म्यपरिणामात्। एतदपि कुतः ? इत्याह–[सम्बन्धादनवस्थितेः] सम्बन्धान्तरकल्पनायामनवस्था[ऽ]निवृत्तेः। कुतस्तन्निवृत्तरि (त्तिः ? इ) त्याह–स्वत इत्यादि। तादात्म्यसम्बन्धादेव नान्यतः।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–तदयम् इत्यादि।

[तदयं चेतनो ज्ञाता संवेदनात्मा प्रतिक्षणम्।
१० तत्प्रतिबन्धविश्लेषे सर्वज्ञः सर्वार्थदृक् ॥३७॥
अन्यथाऽप्राप्यकारित्वात् कुतो व्याप्तिग्रहो यतः ॥३ ॥

यत एवं तत् तस्मादयं (दयं) प्रत्यक्षवेद्यः। किं घटादिः ? नेत्याह–चेतनः। चेतनासम्बन्धात् सः इति चेत्; अत्राह–संवेदनमेव आत्मा स्वभावो यस्य स संवेदनात्मा। [अ]भावमात्रात्मकः इति चेत्; नेत्याह–ज्ञाता स्वं परं च जानातीत्यर्थः। स किम् ? इत्याह–
१५ सर्वज्ञः। कस्मिन् सति ? इत्याह–[तत्]प्रतिबन्धविश्लेषे। कुतः ? इत्याह–सर्वार्थ इत्यादि। कदाचित् सर्वज्ञः पुनरितरः स्यादिति चेत्; नेत्याह–प्रतिक्षणं पुनः प्रतिबन्धकारणाभावादिति भावः। सन्निहितमेव जानाति नेतरतन्नेदमिति (नेतरदिति) चेत्; अत्राह–अप्राप्यकारित्वाच्चे (च्चे) तनस्येति। कुतोऽन्यथा व्याप्तिग्रहः ? यतोऽनुमानं वेदार्थपरिज्ञानं वा ?

२० विपक्षे बाधकं दर्शयन्नाह–सर्वज्ञ इत्यादि।

[सर्वज्ञः करणपर्यायव्यवधानातिवर्तिधीः।
परिक्षीणदोषावरणो नो चेत् भासयते हि कः ॥३८॥

तत्रापरतः कस्यचित् सर्वज्ञत्वं सत्···इति सुभाषितम्।]

करणानि इन्द्रियाणि, पर्यायः परिपादिः (टिः) क्रम इति यावत्, व्यवधानं देशा-
२५ दिभिर्वि (ति) रोधानम्, त्य (तान्य) तिवर्त्तति (ते) इत्येवं शीला धीर्यस्य स तथोक्तः सर्वज्ञः। कुतः ? इत्याह–[४५३क] परिक्षीणदोषावरणभासयतो (णो भासयते) नो चेत् इत्थम्भूतः सर्वज्ञे (ज्ञो) न यदि, कः सर्वज्ञः ? न कश्चित्।

(१) चेतनः। (२) प्रतिभासमात्रत्वात् शून्यः स्यादिति शङ्काकर्तुरभिप्रायः। (३) तुलना–"यदाह अकलङ्कः–यदि सूक्ष्मे व्यवहिते वा वस्तुनि बुद्धिरत्यन्तपरोक्षे न स्यात् कथं तर्हि ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः ? ज्योतिर्ज्ञानमपि हि सर्वज्ञप्रवर्तितमेव, एतस्मादविसंवादिनो ज्योतिर्ज्ञानात् सर्वज्ञसिद्धिः। तदुक्तम्–धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुंसां कुतः पुनः। ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत्साधनान्तरम् ॥ इति।"–धर्मो० प्र० पृ० २४६। (४) आदिशब्देन काल-स्वभावपरिग्रहः।

कारिकातात्पर्यं दर्शयन्नाह–तन्न इत्यादि । यत एवं तत् तस्मात् नापरतः भिन्नज्ञानात् चक्षुरादेर्वा कस्यचिद् ईश्वरादेः सर्वज्ञत्वम् । कुतः ? इत्यत्राह–सत् इत्यादि । इत्येवं सुभाषितं 'मम' इत्याध्याहारः ।

एवं यौगसौगतसायने (शासने) अशेषज्ञो (ज्ञानं) निराकृत्य साङ्ख्यमते तन्निराकर्तुकामः तन्मतमुपन्यस्यव्यवका (न्यस्यति, अहङ्का) रेत्यादि– ५

[अहङ्कारमनोबुद्धिचैतन्यादिविभागतः ।
उपयोगमात्मनोऽज्ञस्य साङ्ख्याः संचक्षतेऽचितः ॥३९॥

चैतन्यवृत्तिमचेतनस्य 'स्वार्थमिन्द्रियाणि आलोचयन्ति मनः सङ्कल्पयति अहङ्कारोऽभिमन्यते बुद्धिरध्यवस्यति इति' विनियोजयन्तः कापिलाः केवलं···। बुद्ध्यध्यवसितमेवार्थं पुरुषश्चेतयते इत्येकान्ते न कश्चित् सर्वदर्शी स्यात् चक्षुरादिनिवृत्तेर्बुद्धेर्दर्शनात् । यदि पुनः स्यात् तथैव पुरुषस्य बुद्धिरिति अध्यवस्यत्येव तत्र किमालोचनादिभेदकल्पनया ? अवग्रहादिज्ञानविशेषाभिधानबहुत्वात् परिसङ्ख्या विरुध्येत तदुपयोगविशेषाणां मतिश्रुतादिविषयत्वात् ।] १०

अहङ्कारादीनां कृतद्वन्द्वंजां (द्वन्द्वानाम्) **विभागेन** सह तासः (तसः) तेन ततः, **आत्मनो** जीवस्य **उपयोगं** व्यापारविशेषं आलोचन-मनन-सङ्कल्पनाऽध्यवसायलक्षणसं- (णम् अ)**ज्ञस्य** अचेतनस्य । किं कुतः स न ? इत्याह–**अपित:(अचित:)** चितः पुरुषाद्न्यस्य इत्यर्थः । **साङ्ख्याः संचक्षते** कथयन्ति । तथा च तेषां राद्धान्ते[२] *"**इन्द्रियाण्यर्थमालोचयन्ति, अहङ्कारोऽभिमन्यते, मनः संकल्पयति, बुद्धिरध्यवस्यति, पुरुषश्चेतयते ।**" इति । १५

अनेन चेतनात्मधर्मान् आलोचनादीन् अचेतने प्रधाने अध्यारोपयन्तः कापिला मूढमतयः इति दर्शयति । नहि अन्यधर्ममन्यत्र जानन् स्वस्थः, इतरथा हेम्नो (म्नः) पीततां शुक्ले शङ्खे पश्यन् स्वस्थो भवेत् । कथं ते तद्धर्मा[३] इति चेत ? कथं घटस्य रूपादयः ? तथा दर्शनात्[४] ; अन्यत्र समानम्–[५]चेतनाकप (कव) लितानाम् आलोचनादीनां प्रतीतेः, ज्ञानदर्शनोपलक्षणत्वादात्मनः । अथ तेषु चेतना समारोपिता प्रतिभाति (भाति) न मुख्यतः ; क पुनरियं[६] मुख्यतः ? पुरुषे इति चेत् ; न ; तंत्रैवोप[च]रिताऽस्तु[४५३ख] अन्यत (त्र तु) मुख्या । तदा (न हि आ) लोचनादिव्यतिरिक्ततत:(क्तः) पुरुष (षः) प्रतीतिभाक्, यस्य चेतना स्यात् । अथ परमार्थतः पुरुषस्यैव सा बाधवर्जनात , न तेषां[१०] विपर्ययात् ; किं पुनस्तेषां स्वतन्त्ये (चैतन्ये) बाधकम् ? 'चेतनायाः परिणामित्वापत्तिः' इति चेत् ; किं पुनः साङ्ख्यस्य परिणामित्वमसिद्धम् ? तथेति चेत् ; प्रधानमपरिणामीति न युक्तम्–[११]प्रकृष्ट *"**प्रकृतेर्महान्**" [साङ्ख्यका० २२] इत्यादि । प्रकृतिः परिणामिनी, न चेतना इति किं कृतो विभागः ? २० २५ ३०

(१) तत्पुरुषसमासः इत्यर्थः । (२) सिद्धान्ते । द्रष्टव्यम्–पृ० ९९ टि० ४ । (३) आत्मधर्माः । (४) इति चेत् । (५) चेतनाव्याप्तानाम् । (६) चेतना । (७) पुरुष एव । (८) आलोचनादौ । (९) चेतना । (१०) आलोचनादीनाम् । (११) 'प्रकृष्ट' इति व्यर्थम् ।

स्यान्मतम्–प्रकृतेः परिणामित्वेऽपि न पुंसस्तत गोत्र(चित्र)त्वात भावस्वभावानाम्, अन्यथा दहनवत जलमपि वा(दा)हकं स्यादिति । स्यादेतदेवं यदि प्रधानपरिहारेण पुंस्ये[व] अविकारिरूपं कुतश्चित् प्रतिपन्नं स्यात, जलपरिहारेण पावकस्य उष्णरूपवत । न चैवमिति । आगमात प्रतिपन्नम, यदाह–*"न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" [साङ्ख्यका० २३] इति
५ तन्नैतदुक्तम ; अन्यत्र समत्वात ।

किंच, तस्य(वं: त)थाविधं पुरुषं कः प्रत्येति ? प्रधानमिति चेत ; कथमचेतनम्[4] ? अन्यथा बुद्ध्यध्यवसितमर्थं चेतयमानोऽपि पुरुषः अचेतनः स्यात । पुरुष इति चेत ; आगमेन क्रियमाणा तस्य स्वप्रतिपत्तिः यदि कादाचित्का ; तदेव तत्परिणामित्वमि वे(मिति । न चे)दागम-वैफल्यम । अभिव्यक्तिरपि नित्यस्य निरस्तेति यत्किञ्चिदेतत ।

१० कारिकां व्याख्यातुमाह–**चैतन्यवृत्तिम्** इत्यादि । **चैतन्यस्य वृत्तिम्** आलोचनादिपरिणतिम, **अचेतनस्य** प्रधानस्य **विनियोजयन्तः** [४५४क] तत्सम्बन्धिनीं कुर्वन्तः **क(का)पिलाः**[5] ; केन प्रकारेण ? इत्यत्राह–**स्वार्थम्** इत्यादि । ते किं कुर्वन्ति ? इत्याह–**केवलम्** इत्यादि । दर्पणान्तरमत्रैव दर्शयन्नाह–**बुद्ध्यध्यवसितम्** इत्यादि । बुद्ध्यध्यवसितमनुकृतंतनिश्चितं (नुकृतनिश्चयम) निश्चयस्यापि(धि) गमरूपत्वाद् एवकारेण वाह्यस्य व्यवच्छेद स हा(दमाह)
१५ **अर्थम्** अर्थाकारं **पुरुषश्चेतय[ते]** इत्येवं यत्र **कान्तो**ऽवश्यंभावः[तस्मिन्] **न कश्चित्** कपिलोऽन्यो वा **सर्वदर्शी स्यात्** । कुतः ? इत्यत्राह–**चक्षुरादिति(दिनि)वृत्तेः** चक्षुरादीनां व्यावृत्तेः । कुतः ? इत्यत्राह–**दर्शनाद् बुद्धेः** पुरुषेण साक्षात्करणात ।

स्वरि (सूरि)रेवं मन्यते–यदि बुद्धिं पुरुषो न पश्यति ; कथं तदयवसि (तदध्यवसि)-तमर्थं पश्येत ? नहि दर्पणाऽदृष्टौ तद्गतमुखविम्बदृष्टिरस्ति ।

२० किंच, बुद्धेस्तेनाऽदर्शने कुतस्तस्याः सिद्धिः, अर्थाध्यवसायसिद्धिर्वा ? पुरुषादिति चेत ; 'स तां न पश्यति, [10]तत एव तत्सिद्धिः' इति व्याहतम् अतिप्रसङ्गात । स्वत इति चेत ; सौगत-मतानुप्रवेशः, अर्थाकारस्य स्वसंवेदनस्य सौगतेनोपगमात । अथ करणमन्तरेण अर्थग्रहाऽसिद्धेः [11]तत्सिद्धिः ; न ; चक्षुरादेरेव तथा सिद्धः([12]तत्सिद्धेः) ततोऽप्यन्यकल्पनायामनवस्था–ततोऽप्यपरस्य कल्पनातु(नात) । पश्यतीति चेत ; यदा(यदि आ)लोचनादिप्रक्रमेण अर्थवम त्त-
२५ (वत ; तद) युक्तम ; तत्र अपरचक्षुरादिविरहानवस्थाप्राप्तार(प्राप्तेः । अ)न्यथेति चेत ; अर्थमपि तत्रैव (तथैव[13]) पश्यतीति सूक्तम–'**बुद्ध्यध्यवसितम्**' इत्यादि ! ततः सूक्तम् '**चक्षुरादि-निवृत्तेर्दर्शनात्**' इति ।

अपरे[14] [४५४ख] पठन्ति '**चक्षुरादिवृत्तेर्दर्शनात्**' इति । तत्रास(तत्राय)मर्थः–चक्षुरादिवृत्त्या दर्शनाद् अर्थस्य तस्या[15] एव तेन[16] सम्बन्धात, पुरुषस्तु बुद्धिप्रतिबिम्बमेव पश्यति
३० नार्थ(र्थम्)सुगतवदिति ।

(१) कारणम् । (२) कार्यम् । (३) युष्माकं मते । (४) 'प्रत्येति' इति सम्बन्धः । (५) सांख्याः । (६) आचार्यः । (७) बुद्धेः । (८) पुरुषः । (९) बुद्धिम् । (१०) पुरुषादेव । (११) करणभूतायाः बुद्धेः सिद्धिः । (१२) अर्थग्रहणसिद्धेः । (१३) चक्षुरादिकमन्तरेण । (१४) व्याख्याकाराः । (१५) चक्षुरादिवृत्तेरेव । (१६) अर्थेन ।

परमतमाशङ्कते–**यदि पुनः** इत्यादि । **यदि** इति पराभिप्रायस्य **पुनः** इति पक्षान्तरस्य द्योतने यथा **कश्चित् सर्वदर्शी स्यात् तथैव** तेनैव आलोचनाद्यन्तरमन्तरेण प्रत्यक्षताप्रकारेण **पुरुषस्य(पश्य)बुद्धिः 'स्यात्'** इति गतेन सम्बन्धः । **अध्यवस्यत्येव** निश्चिनोति तथैव 'बुद्धिः अर्थम्' इति सर्वमपेक्षम(क्ष्यम) । एवकारेण कस्यचिदप्यर्थस्य अनध्यवसायो नास्तीति दर्शयति ।　५

एतद् दूषयन्नाह–**'किं तत्र'** इत्यादि । **तत्र** [त]स्मिन्ननन्तरोक्ते परमते **किम् आलोचनादिभेदकल्पनया ? *"स्वार्थमिन्द्रियाण्यालोच्यन्य (लोचयन्ति)"** इत्यादिना **किम्** ? यथैव पुरुषः तद्भेदकल्पनामन्तरेण बुद्धिं पश्यति, बुद्धिर्वा[अर्थम्] इन्द्रियाणि तदालोचनाति(नानि) मनः तत्संकल्पनम, अहङ्कारं तदभिमा[नम] तदपरेन्द्रियादिकल्पनामन्तरेण [अ]ध्यवस्यति, अन्यथा अनवस्था । ततो न कश्चित् सर्वदर्शी स्यात, तथा सोऽर्थं पश्येत् १० इति भावः ।

अधुना 'चैतन्यान्नान्या बुद्धिः' इति दर्शयितुं तदीयहेतोर्व्यभिचारविषयं दर्शयन्नाह–**'अवग्रहादिज्ञान'** इत्यादि । तात्पर्यमिदमत्र-तथा (यथा) चैतन्यं बुद्धिः इत्यभिधानभेदमाद्[य, तथा अ]**वग्रहादिज्ञानविशेषाधात(षाभिधान)बहुत्वात्** कारणात् **परिसंख्या** बुद्धिश्चैतन्यमिति परिगणनं [४५५ क] **विरुध्येत** तत्त्वबहुत्वं स्यादिति ।　१५

स्यान्मतम्–तदभिधानबहुत्वं जैनस्य स्वेच्छाकल्पितमिति; परमपि साङ्ख्यस्येति समानम् । लोकप्रसिद्धिरुभयत्र । स्यादेतत्, अवग्रहादिज्ञानविशेषा बुद्धेरेव भेदाः ततस्तदभिधानबहुत्वं बुद्धेरेव पर्यायशब्दबहुत्वमिति; तत्राह–**सति (मति)** इत्यादि । तस्य आत्मनः उपयोगविशेषाः **तदुपयोगविशेषाः** तेषां **मतिः** अवग्रहाद्यात्मिका **श्रुतं** शाब्दं ज्ञानम् **आदि**(पदेन स्मृत्यादि)–परिग्रहः ते **विषयो** येषां तेषां भावात् तत्त्वात् **परिसङ्ख्या विरुध्येत** । एवं मन्यते–यथा अवग्रहादेर्बुद्धावन्तर्भावः तथा तस्या आत्मनीति ।　२०

भवतु बुद्धिचैतन्ययोरभेदः । तत्र को दोष इति चेत् ? अत्राह–**नास्ति ज्ञत्व**मित्यादि ।

[नास्ति ज्ञत्वं प्रधानस्य चेतनाऽपरिणामिनः ।
पुरुषस्य न वै कश्चित् सर्वज्ञोऽनुभयात्मकः ॥४०॥

यथैव हि शरीरयोगात् शरीरी प्राणयोगात् प्राणीति व्यपदेशश्चेतनस्य तथा अर्थान्तरेण अहङ्कारादिना योगाद् अहङ्कारी बोद्धेति यदि व्यपदिश्येत ; दृष्टिश्च पृथक् प्राप्नोति । ततोऽयुक्तम् घटादेरिव अचेतनस्य आलोचनादिकम् । तत्र···अन्यथा । सतोऽपि अज्ञत्वाबुद्धिमत्त्वाभ्यां न स युक्तः । कः सर्वज्ञः ?]　२५

[अयं]भावः–**चेतना** परिणामात्मिका बुद्धिर्न **प्रधानस्य पुरुषस्य वाऽपरिणामिनः** इति । **ज्ञत्वं नास्ति प्रधानस्य** अचेतनस्य । **न च** नैव इष्यते । साङ्ख्येन पुंसा ज्ञत्वं परिणामित्वक्रयाकपिलमास्ते (क्रियाकवलितमास्ते) को **न कश्चित् सर्वज्ञोऽनुभयात्मकः**　३०

(१) आलोचनादिभेदमन्तरेण । (२) अवग्रहादिज्ञानविशेषाभिधाननानात्वम् ।

प्रधानपुरुषस्वरूपाद् भिन्नस्वाभ्या (स्वभावस्या) स्यस्यानभ्युपगमात् । अथवा, तत्र **क** आत्मा सर्वज्ञः स्यात् तदुरूप (तदुभय) स्वभावाद् भिन्नस्वभावः ।

कारिकार्थं दर्शयन्नाह–**यथैव हि** इत्यादि । **यथैव हि** स्पष्टं **शरीरयोगाद्धे**तोः जीवः **शरीरी प्राणयोगात् प्राणी** इत्येवं **व्यपदेशः**[1] **चेतनस्य** जैनमते अर्थान्तरमात्मनोऽनात्म (त्मनस्तच्छ)-
५ रीरादि, तद्योगादेवं, न स्वतः, **तथाऽर्थान्तरेण अहङ्कारादिना योगाद् अहङ्कारी बोद्धा** इत्येवं **यदि व्यपदिश्येत** साङ्ख्यैः 'चेतनः' इत्यनुवर्त्तते । [४५५ख] एव (एतद्) दूषयन्नाह–**दृष्टिश्चे**-त्यादि । **दृष्टिरपि** चैतन्यमपि न केवलम् अहङ्कारादि **पृथक्** भिन्नं पुरुषात्[2] **प्राप्नोति** । नैयायि-कस्य न साङ्ख्यस्य (-ति साङ्ख्यस्य[3] न नैयायिकस्य तेन) मनन्या (मनना) दिति भावः । न चैवम् , अतो दृष्टिवद् अहङ्कारादिकं ततोऽभिन्नमभ्युपेयम् । यत एवं **ततोऽयुक्तम्** । कस्य ? इत्याह–
१० **अचेतनस्य** इत्यादि । किम् ? इत्याह–**आलोचने**त्यादि । कस्येव ? इत्याह–**घटादेरिव** । प्रकृत-मुपसंहरन्नाह–**तन्न** इत्यादि । विपक्षे बाधकमाह–**अन्यथा** इत्यादि । पुरुषस्य स स्यादिति चेत्; अत्राह–**सतोऽपि** । साङ्ख्यं पुरयो (साङ्ख्यपुरुषस्य अ) प्रमाणकत्वादसन्नेव । तथाप्युच्यते–**सतोऽपि** पुरुषस्य **न संयुक्तः** (स युक्तः) कुतः ? इत्याह–**अज्ञत्वाऽबुद्धिमत्त्वाभ्याम्** । अन्यः **सर्वज्ञ** इति चेत ; अत्राह–**क** इत्यादि । पूर्ववद् व्याख्यातव्यम् ।

१५ साम्प्रतं पुरुषसाधकं परस्य प्रमाणं दूषयन्नाह–**चेतनाचेतन**मित्यादि ।

[चेतनाचेतनं सर्वं चेतनं वाऽनुमीयते ।
परार्थं सङ्घातत्वात् कर्तृत्वं चक्षुरादिवत् ॥४१॥

परार्थाः [चक्षुरादयः सङ्घातत्वात् शयनाद्यङ्गवत्] इति चेतनसङ्घातेन चेतनाचेतनसङ्घातेन अपरार्थेनानैकान्तिकत्वादहेतुः । न हि चक्षुरादीनां सङ्घातत्वमन्यदेव ।
२० **तत्समवस्थानमितरत्रापि विशेषाभावात् व्यामोहाभावात् ।]**

चेतनं सर्वं चेतनाचेतनं वा **सर्वम्** इति धर्मिद्वयम् न पुनः 'अचेतनं सर्वम्' इति वक्तव्यम् , परि (परं) प्रति सिद्धसाध्यतापत्तेः, तेन तथाभ्युपगमात् । **परार्थं** परप्रयोजन-**मनुमीयते** अकापिलेन (कापिलेन) । कुतो हेतोः ? इत्याह–**सङ्घातत्वाच्चक्षुरादि[वदि]**ति । चेतनस्य सर्वस्य **कर्तृत्वम्**[5], अन्यथा चक्षुरादेरपि तन्न स्यात् । नहि तस्यापि परोपकरणा-
२५ दन्यत् । तथा च *"अकर्त्ता निर्गुणः"*[6] इत्यादि विरुध्यते । अथ नानुमीयते[4], तर्हि तेनैव पुरुषसाधनस्य व्यभिचारः इति भाः (भावः) । पक्षीकरणान्न [४५६क] तेनम् (तेन) व्यभिचार इत्य दि (पि) चेतनवर्गात् चेतनाचेतनवर्गाद्वा सोऽन्यः स्याद् यदर्थं तन्निमित्तं सकलं जगद् भवेदि[ति] । तन्न कश्चित् साध्यानवस्थितेः तत्राप्यपरापरसाधनात् ।

कारिकां व्याख्यातुं परप्रयोगमाह–**परार्था**[7] एतावन्त (इत्यादि । तद्) दूषयन्नाह–**चेतने**-

(१) व्यपदेशः । (२) पुरुषात् । (३) साङ्ख्यस्य । (४) अनुमीयते । (५) कर्तृत्वम् । (६) द्रष्टव्यम्–पृ० २९९ टि० ६ । (७) 'परार्थाः चक्षुरादयः सङ्घातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवत्' इति ।

त्यादि । चेतनसङ्घातेन पुरुषसङ्घातेन चेतनाचेतनसङ्घातेन प्रकृतिपुरुषसङ्घातेन अपरार्थेन अनैकत्वा(कान्तिकत्वा)द्धेतुः सङ्घातत्वादिति धर्मः ।

ननु यथं[1] यादृशं सङ्घातत्वं चक्षुरादीनां न तादृशं विपक्षे, ततो न व्यभिचार इति चेत् ; अत्राह–नहीत्यादि । [हि] यस्मान्न चक्षुरादीनामपि न केवलं प्रकृतस्य सङ्घातत्वमन्यदेव अन्यत्र समवस्थानात् अविनिर्भागवर्तनादपि तु तदेव । भो तु (भवतु) तथापि न तद्विपक्ष इति ५ चेत ; अत्राह–तत्समवस्थानमितरत्रापि प्रकृतविपक्षेऽप्यस्ति । न चक्षुरादीनां सङ्घातत्वम् एकत्वम्, न न(येन) [चेतनानां] चेतनाचेतनानां वा ततो[ऽ]विशेष इति चेत ; अत्राह–विशेषाभावादिति । *"भेदानां परिमाणात्"[2] इत्यादिना [साङ्ख्यका० १५] एकपरिमाणस्य रूपादेभात (रूपादेरभावात) भेदस्य च सर्वत्र साधयितुं [श]क्यत्वात इति भावः ।

यत्पुनरुक्तम्–शयनाद्यङ्गवदिति । तत्रेदं विचार्यते–कस्तत्र परः यदर्थं तत् ? शरीरमिति १० चेत ; न ; तद्धोक्तृत्वापपत्तेः । अत एव न बुद्धिरपि । पुरुष इति चेत ; कः तत्तदर्थं च प्रत्येति ? प्रधानमि[ति] नोत्तरम् ; उक्तत्वात । स एव स्वपरप्रकाशरूपत्वात्तस्येति चेत ; चक्षुरादावपि स्वार्थमिन्द्रियादि स एव अवगच्छतीति किमर्थं तत्रानुमानम् ? व्यामोहव्यवच्छेदार्थं [४५६ख] (र्थं) ; शयनादौ तदर्थं (तदस्ति, यदर्थं) तद[त]स्तत्राह–व्यामोह(हा)भावात् । तथेति चे[त ;] निदर्शनान्तरास(प)त्तिः अ[न]वस्थाकारिणी । चक्षुरादा करणम्(?) अन्योन्यमप्रयमावकति १५ (अन्योऽन्याश्रयमाकर्षति) ।

किञ्च, स्वपरप्रकाशकत्वं पुंसः परिणामाविरोधि, सदेकस्वभावे तदयोगात् ।

ननु रश्वे(ननु स्वे)तरग्रहणवत् कस्यचित् कारणापि (कारणेऽपि) यदि तस्योपयोग[ः] किं विरुध्येत ? न किं[चित्], केवलमकर्तृत्वं न स्यात् ।

अपि च, आत्मग्रहणे यस्य(यदि)आलोचनादिकमपेक्षेत ; अनवस्थानम् । अन्यथा विषये २० स किं[तदपेक्ष]ते ? ताथा(तथा)त्मानं तत्प्रत्येति[3], तदर्थ(र्थं)शयनादिकं न प्रतीयते(येत), उभयप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्व तत्परीतेहितिदृशांत(कत्वात्तत्प्रतीतेरिति दृष्टान्ते)सर्वमसिद्धम् ।

एतेन धर्म्यासिद्धिरपि विन्तिता (चिन्तिता) । तन्न कपिलमते कश्चिद्दर्शपवित्, नापि मुक्त इति ।

[तदेवाह–दृश्य-]दर्शनयोरित्यादि । २५

[दृश्यदर्शनयोर्मुक्तिर्नित्यव्यापकयोः कथम् ।
यतस्तापाद् विमुच्येत तदर्थं पुरुषो यतेत ॥४२॥

न प्रधानस्यापि परिणामातिक्रमः, चैतन्यस्य वा, अन्यथा अदृश्यस्वभावं प्रधानस्य प्राप्नोति । दृश्य···तथा···। एतेन पुरुषकैवल्यार्था प्रकृतिप्रवृत्तिरिति प्रतिविहितम्,

(१) 'यथं' इति व्यर्थम् । (२) 'समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य॥' इति शेषः । (३) पुरुष एव । (४) स्वपरप्रकाशकत्वायोगात् । (५) अन्यथा । (६) "तदुक्तमन्यत्र –दृश्यदर्शकयोः···यतस्तापाद्विमुच्येत तदर्थं च तपश्चरेत् ॥"–न्यायवि० वि०प्र० पृ० २३२ । (७)"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥"–सांख्यका० २१ ।

प्रागपि प्रकृतिनिवृत्तेः पुरुषकैवल्यसिद्धेः । अत एव न कश्चित् ताप[विमुक्तये यतेत] नहि...। दोषदर्शनतदपघाततद्धे तुप्रयत्नस्वभावकपुरुषाभावे क्षणिकत्ववत् हेयोपादेयेषु कुतः प्रवृत्तिरिति ? तन्न......]

दृश्यं प्रधानं **दर्शनरूपः** पुरुषः **तयो[र्मु]क्तिः कथम्** ? किंभूतयोः ? इत्याह–
५ **अनित्ये(नित्ये)**त्यादि । **यतो** यस्यां वक्तुं (यस्मात्) **तापात्ता**पत्रयाद् **विमुच्ये[त] तदर्थं वा** तापविमोक्षार्थं वा **यतेत** । कः ? **पुरुषः** । **यत** इति [वा आ]क्षेपे, नैव विमुच्येत **मतेन (यतेत)** वा ।

कारिकार्थमाह–**प्रधाने**त्यादिना । ननु प्रधानं परिणामि न नित्यम्; इत्याह–**न प्रधानस्ये**त्याद(त्यादि । अ)भ्युपगमसूचको चि(ऽपि)शब्दः, भोक्तस्तत्परिणामाभावः, सर्वत्र
१० आविर्भावतिरोभावोपगमात् । स एव परिणामश्च (मश्चेत्,) सोऽपि स्यादतः(दृ अन्तः)करणसंयोगापाये तस्याभिव्यक्तरूपगमात् । माभूत्तस्य **तदतिक्रमः** पुंसो दर्शनशक्त्यतिक्रमः स्यादिति [४९५क] चेत; अत्राह–**चेतनस्यस्य वा** इत्यादि । कुतः ? इत्यत्राह–**अन्यथे**त्यादि । दृश्यस्वभावं जहाति प्रधानमिति चेत; अत्राह–**अदृश्यस्वभावम्** इत्यादि । **प्रधानस्य प्राप्नोति**[3] स्यात् । दर्शनभाव एव कुतः ? इत्यत्राह–**दृश्ये**त्यादि । तत्र यदि सर्वथा दृश्यस्वभावतत्तज्ज
१५ (वतां नैव ज)हाति, स्यादयं दोषः, अन्यथा उभयरूपे(रूप)रहितस्य वन्ध्यास्तनत्वं (वन्धयवदसत्त्वं) यावता मुक्तात्मानं प्रति [8]तत्स्वभावपरित्यागोऽपि(गेऽपि) परं प्रति विपर्ययः, इतथा (इतरथा) कपिलेन सह सकलं जगन्मुक्तिभाग् भवेदिति चेत; तदसत्; यतः यत्र तदा तद्दृश्यरूपता, तत्र तदा सर्वेषां पुंसां दर्शनस्वभावानां भावानां[10] भावात् । नहि समानदर्शनदृश्यानां समानदेशानां घटादीनामयं विभागो दृष्टः । अथ यथा प्रकृते[:] दृश्यस्वभावस्य
२० परित्यागः,[11] तथा [12]पुंसो दर्शनस्वभावस्येति चेत; अत्राह–**तथे**त्यादि ।

दूषणमेतदन्यत्र अतिदिशन्नाह तेऽत्पाद(न्नाह–ए)**तेन** इत्यादि । ए)**तेन 'दृश्यदर्शनयोः मुक्तिः नित्यव्यापकयोः कथम्'** इत्यादिना, **पुरुषकैवल्यार्था** पुरुषस्य कैवल्यं मुक्तिः तदर्था, **प्रकृतेः प्रवृत्तिः** इत्येतत् **प्रतिविद्धि(विहि)तं** निरस्त(स्तम्) । न ह्युभयो[13][:]र्व्यापिनित्यत्वे कस्यचित् प्रवृत्तिर्युक्ता । नहि गगनं(गगनं) [14]तथाविधं कचित् प्रवर्तते निवर्तते वा
२५ कुतश्चित् , व्यापिताहानेः ।

किं च, का तस्याः[15] [16]तदर्था प्रवृत्तिः ? तेन संयोगस्य करणम्; न, तस्य सर्वदा भावात्, कृतस्य कारणाभावात् । तत्संयोगश्च आत्मनः संयोगेन सदृशः एवेन दर्शितं चितं मथ(एतेन दर्शितं चित्तम् । अथ)कादाचित्का[४९५ख]तत्प्रवृत्तिरिष्यते; तत्राह–**प्रागपि** पूर्वमपि **तत्प्रवृत्तेः**

(१) परमार्थतः । (२) परिणामातिक्रमः । (३) इति । (४) प्रधानम् । (५) यदि सर्वथा जह्यात् । (६) वन्ध्यापुत्रवदभावः । (७) दृश्यस्वभाव । (८) संसार्यात्मानं प्रति । (९) यदि संसार्यात्मानं प्रत्यपि दृश्यस्वभावतापरित्यागः । (१०) मुक्तात्मनामपि प्रति । (११) संसारिणं प्रति । (१२) मुक्तस्य । (१३) प्रकृतिपुरुषयोः । (१४) व्यापि नित्यं च । (१५) प्रकृतेः । (१६) पुरुषविमोक्षार्था ।

प्रकृति[नि]वृत्तेः पुरुषकैवल्यासिद्धेः(ल्यसिद्धेः) प्रतिविहितम् । नहि मुक्तस्य संसारो नाम, अतिप्रसङ्गात् ।

दोषान्तरमाह–**अत एव** पूर्व(र्वं) केवल्यसिद्धेरेव । किम् ? इत्याह–**न कश्चित्** इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**ताप**त्यादि । एतदेव भावयन्नाह–**नही**त्यादि । सुगमं (गमम्) । पुरुषस्तर्हि य[ते]त इति चेत ; अत्राह–**दोषदर्शन** इत्यादि । **दोषाणां** रागादीनां च **दर्शनं तेषां** दोषाणा- ५ **मपघातो** विनाश[ः]**तद्धेतुश्च** सम्यग्दर्शनादिः **प्रयतश्च**(त्नश्च) ते एव **स्वभावो** यास्यस्ववासा-वेक(यस्य स चासौ एक) **पुरुषश्च तदभावे क्षणिकत्ववत् कुतः प्रवृत्तिः । क्व** ? इत्याह–**हेयोपादेयेष्विति ।**

निगमनमाह–**तन्ने**त्यादि ।

स्वरूपपात्रवेदी सर्वज्ञ इत्येके । तत्राह–[**सर्वज्ञ** इत्यादि] १०

[सर्वज्ञः सकलार्थ··· अशेषदोषावृतिच्छेदतः,
स्यात् करण······················पुनरत्ययात् ।
ईहानन्तरभाविनां[नु वचसां]·········गतिः,
विज्ञेयान्यविलक्षणा च महतां ज्योतिर्गणानामिव ॥४३॥]

सर्वज्ञः स्याद् भवेत् । किंभूतः ? इत्याह–**सकले**त्यादि । स्वरूपमात्रवेदनस्य १५ सर्वत्राविशेषात्[१] न तावता[अ]शेषज्ञ इति भावः । स्वभावतः स भवेदिति चेत् ; अत्राह–**अशेष-दोषावृतिच्छेदानिति (दतः** इति) । कया ? इत्याह–**करणे**त्यादि । कादे (?) स्यादिति चेत ; अत्राह–**अपुनत्तृत्ययादिति** (?) ननु यद्वसौ वति(वाग्)विवक्षावान्त(वान्भ) वेदिति न[स]कलदोषविच्छेदः । अथ न ; किं तेनाऽनुपकारिणा इदिचे(इति चेत ? अ)त्राह–**ईहान-न्तरभाविना**मित्यादि । स्वापादावन्यथा[२] भावादिति भावः । ननु वक्ता सर्वोऽपि रथ्यो(रथ्या)- २० पुरुषवत् सदोष इति चेत ; अत्राह–**विज्ञेये**त्यादि । [४५८क] **महताम्** अशेषविदां **गतिः अन्यविलक्षणा** प्राक्तनपुरुषविलक्षणा ज्ञातव्या **ज्योतिर्गण(णा)नामिव** ॥ छ ॥

इति र वि भ द्र पादोपजीव्य न न्त वी र्य विरचितायां सि द्धि वि नि श्च य-
टी का यां सर्वज्ञसिद्धिरष्टमः प्रस्तावः ॥ छ ॥

---

(१) मिथ्याज्ञानेऽपि । (२) विवक्षाभावेऽपि ।

[नवमः प्रस्तावः]

[९. शब्दसिद्धिः]

ननु यदीहानन्तरभाविनां वाग्वृत्तिर्व्यभिचरति ; वाचः तर्हि का वार्त्ता इत्यत्राह–**संसर्गादि**त्यादि ।

[संसर्गात् परमाणवः परिणता भावाः श्रुतेः गोचराः,
तद्भेदः प्रतिलब्धवर्णपदवाक्यात्माऽभिलापः स्वनः ।
५ **सिद्धार्थो यमुपेत्य वक्ति किमयमाहेत्यसङ्कीर्तितः,**
स्वार्थेऽक्षादिव भेदकाङ्क्षणमना सामान्यवेदी जनः ॥१॥

निःश्रेयसाधिगतेः···]

श्रुतेः श्रवणेन्द्रियस्य **गोचरा** विषया **भावाः** शब्दा न सर्वे घटादयः । शब्दाः ते मा भूवन् तत्परिणामाः स्युः । तदुक्तम्–

१० *''अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥'' [वाक्यप० १।१]

इति चेत् ; न ; तेषां तदात्मकत्वेन प्रतीति[प्र]सङ्गात् गृहात्म(मृदात्म)कत्वेन् घटादिप्रतीतिवत् । नहि मृदः ते परिणामा घटादयोऽतदात्मकाः प्रतीयन्ते किन्तु तदात्मकाः । इतरथा नालिकेरद्वीपायातस्य दहन[वत्]दभिधानाप्रतीतिः स्यादिति सर्वत्र सङ्केतानर्थक्यम् ।

१५ अथ मतम्–यथा भवतः शब्दे रूपादयो नहि(योऽनभि)व्यक्ताः सन्ति तथा ममापि शब्दो घटादौ इति ; तदसारम् ; यतः तत्र तेषामनभिव्यक्तानामनुमानतो व्यक्तिदर्शनादिति प्रतिपादयिष्यते अनन्तरकारिकया । न च तथा घटादौ शब्दास्तित्वे अनुमानाद्य(नमस्ति । अथ) सङ्केतात्तत्र तत्प्रतीतेः, पूर्वमपि से[10] तत्रेति मतिः ; सापि न युक्ता ; [11]ततोऽपि तत्र[12] [13]तदप्रतीतेः । वक्तरि शब्दस्य, भूमावपं(मौ अर्थ)स्य प्रतीतेः । नापि देशभेदेन प्रतीयमानयोः[14] परिणा-
२० मिभावः, सहचरघटपटयोरपि तत्प्रसङ्गात् । भ्रान्तेस्तत्प्रतिभासो द्विचन्द्रवत् जलेतरचन्द्रवद्वा इति चेत् ; तर्हि स्वप्नादिवत् [15]शब्दघटप्रतिभासोऽपि भ्रान्त इति कः कस्य परिणामः ? बाधकाभावोऽन्यत्रापि ।

तत्त्व (ननु) तयोर्देशभेदे कथं घट[पट]वत् सामानाधिकरण्यम् ? अस्ति च, गौरयमिति

(१) विवक्षाप्रभवताम् । (२) ते घटादयः, शब्दाः शब्दस्वरूपाः । (३) शब्दब्रह्मपर्यायाः । (४) शब्दात्मकत्वेन । (५) 'न' इति निरर्थकमत्र । (६) मृदात्मकाः । (७) यदि शब्दात्मकाः स्युर्घटादयः । (८) यथा नालिकेरद्वीपायातस्य दहनं न प्रतीयते तद्वत् अभिधानस्य प्रतीतिः न स्यात् इति व्यतिरेक्युदाहरणमिदम् । (९) शब्दे । (१०) शब्दः । (११) सङ्केततोऽपि । (१२) अर्थे । (१३) शब्दाप्रतीतेः । (१४) शब्दार्थयोः । (१५) शब्दात्मकस्य घटस्य प्रतिभासोऽपि ।

[प्रतीतेः इति] चेत् ; एवं सति 'स्थूलोऽहम्' इति प्रतीतेः नात्मा शरीराद्भिन्नः स्यात्, कुन्तेभ्यो वा पुरुषाः[1] 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इति प्रतीतेः । सहचरणाद् अत्राऽभेदोपचारश्चेत् ; अन्यत्रै बाधकाभावादिति समानम् । हेतुफलयोस्तत्त्वादेव [४५९क] परस्परमभेदोपचारो भवति 'चक्षुषा पश्यति', 'अन्नं वै प्राणाः' इति, किमङ्ग पुनः वाच्यवाचकयोः न भवति ?

किं च, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामेकस्मिन्नधिकरणे प्रवृत्तिः सामानाधिकरण्यात्त्चार्थं (ण्यम्, ५ तच्च[3] अयं[4])गोशब्दयोरस्तीति तयोरेव[5] ऐक्यं युक्तं न गोशब्दार्थयोः[6] तदभावात् । न हि तयोरेकत्वार्थे (त्वार्थे) प्रवृत्तिः, तदपरस्याऽभावात् । एकविभक्तिकत्वं तदिति चेत् ; घटपटयोः स्यात् घटपटा (घटः पटः) इति प्रतीतेः । तादात्म्यं तदिति चेत् ; तदसिद्धं तयोः, तदेव च साध्यं साधनं चं । तस्मादभेदोपचारेण अयं तत्र शब्द[ः] प्रवर्त्तते–अयं मांसपिण्डो गोसंज्ञः, तथा भेदेन च अस्य मांसपिण्डस्य गौरिति संज्ञा । १०

अपरेषां तु परिहारः–'गौः शब्दो यस्य स गोशब्दः' इत्यस्य पदसमुदायस्य लुप्तो (प्रा) ऽन्तरावयवस्य प्रयोगः 'गौः' इति, यथा भीमसेनं[8] इति ; तेषां स न युक्तः । सर्वत्र संज्ञाशब्देषु तथा कल्पनेन 'भीमसेनः' इत्यादावपि न स्यात् अपि तु 'भीमसेनशब्दः' इत्यादि स्यात् । न चैवम्, तथा शाब्दिकानां व्यवहारादर्शनात् । केवलानां पदार्थानां संज्ञिषु[10] योजनप्रतीतेः, अन्यथा 'गौः शब्दो यस्य' इत्यन्यपदार्थोऽपि न स्यात्, पृथक् पृथक् केवलयोः सिद्धयोरेव[11] तद्दर्शनात् चित्रगुः १५ इत्यादिवत् । तन्न शब्दात्मका घटादय इति स्थितम् ।

भवतु (न्तु) श्रुतेः गोचरा भावाः शब्दाः, न तु नित्याः स्युरिति मीमांसकाः[12] ; तत्राह–**परिणता** इति । श्रुत्यगोचररूपपरिहारेण तद्गोचराकारेण गताः परिणता निरुच्यन्ते [४५९ख] अन्यथा पूर्ववत् पश्चादपि कुतस्तेषां श्रवणम् ? तदगोचरस्वभावत्वे ताल्वादिव्यापारात् पूर्वमपि चा (पूर्वमिव पश्चादपि अ)श्रवणम् । तद्गोचरस्वभावत्वे सेन्द्रियस्य प्रणिहितमनसः[13] पूर्वम[पि]श्रव- २० णम् । व्यञ्जकाभावादिति चेत् ; आस्तां तावदेतत्, अन्यत्र विचारणात्, अत्रापि लेशतो विचारयिष्यमाणत्वात् **'तदिमे परमाणवः'** इत्यादिना ।

[ग]गनगुणाः शब्दाः इत्यपरे[14] । तत्राह–**परमाणवः** इति । रूपरसगन्धस्पर्शवन्तोऽतिसूक्ष्माः पुद्गलाः **परमाणवः** ते श्रुतिगोचरत्वेन परिणताः शब्दाः ।

---

(१) न भिन्नाः स्युः । (२) शब्दे । (३) शब्दसामानाधिकरण्यम् । (४) अयं शब्द-गोशब्दयोः । (५) शब्दयोरेव । (६) गोशब्दगवार्थयोः । (७) स्यात् । (८) शब्दाख्यस्य । (९) भीमसेनः शब्दः संज्ञा यस्य स भीमसेन इत्यत्र 'शब्द' इति शब्दः लुप्यते तथा 'गौः' इत्यत्रापि 'गौः शब्दो यस्य' इति शब्दशब्दस्य लोपो द्रष्टव्यः । (१०) संज्ञावाचकेषु शब्देषु । (११) अन्यपदार्थप्रधानबहुव्रीहिदर्शनात् । (१२) "नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । नित्यः शब्दो भवितुमर्हति । कुतः दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारणं तत्परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यान् अर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात्, अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथ न विनष्टस्ततो बहुश उपलब्धत्वात् अर्थावगम इति युक्तम् ।"–जैमिनिसू०, शाबरभा० १।१।१८। शास्त्रदी० पृ० ५४०, ५५९, ५६८ । नयवि० पृ० २४२। मी० श्लो० शब्दनि० । भाट्टचि० पृ० २६ । तन्त्ररह० पृ० २६ ।.बृह० १।१।१८। (१३) ताल्वादिव्यापारात्पूर्वमपि । (१४) "शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः ।"–प्रश० भा० पृ० १४४। "आकाशश्च शब्दवानिति, स एव श्रोत्रं तद्गुणश्च शब्दः ।"–प्रक० प० न्यायसू० ।

ननु परमाणु-गगनयोः अत्यन्तपरोक्षत्वाऽविशेषे कथं गगनपरिहारेण परमाणुकारणः शब्दं(ब्दः) सिध्यतीति चेत ; उत्तरमत्र–'**नत्वाकारणगुणाः**' इत्यादि भविष्यति । माभूदाकाशं तत्कारणम्, तथापि 'परमाणवः तत्कारणम्' इति कुतः सिध्यति ? न तावत प्रत्यक्षतः ; तेन तदग्रहणात । तेन गृहीतेषु प्रत्यक्षत इदं भवति–अस्मादिदं जातम्, अग्नेर्धूमवदिति । नाप्य-
५ नुमानतः ; तल्लिङ्गाभावात । अथ पटवत स्थूलस्य शब्दस्य ततोऽल्पपरिमाणेन उपादानेन भाव्य-मिति तत्सिद्धिरिष्यते ; साऽपि न युक्ता ; स्थूलादपि मृत्पिण्डात तथाविधघटोत्पत्तिदर्शनात । कदाचित स्थूलादपि सूक्ष्मसंभव(वाऽ)विरोधः, जीर्णहेमसूतकवत[२] ।

स्यान्मतम्–यथा यत्र यद् दृश्यते तथा तत्र तद् भवति, यत्र स्थूलं दृश्यते तत्र तत, यत्रे-तरः तत्र इतरदुपादानम् । न च शब्दस्य द्वयोरन्यतरदुपादानमीक्ष्यते । [४६०क] न चाऽनु-
१० पादानं कार्यमिति अदृश्यकारणसिद्ध्या तत्सिद्धिः ; न ; अदृश्यस्यापि स्थूलत्वाऽविरोधात, तदुत्तरपरिणाम[रूपत्वेऽपि] तत एव अल्पं कारणमिष्यते । तस्य तत्त्वेऽल्पे यावत परमाणुरिति ; न ; स्थूलादपि तत्प्रतिपादनात । निरंशपरमाण्वस्थाप्राप्तौ तु किञ्चिद् भवस्य जंवितीति (भवतीति)न प्रमाणमस्ति ।

किंच, महतकारा (संहतकरा[३])स्यामेव शब्दोदयदर्शनात तदुपादानः स इति युक्तम् ।
१५ स्यादेतत–उपादानोपमर्दनेनो(नेन उ)पादेयसिद्धिरिति शब्दोत्पाद[क]करादर्शनं घटोत्पा-त्तौ(त्पत्तौ) मृत्पिण्डादृष्टिवदिति ; तदपि न सारम् ; चन्द्रकान्तेन व्यभिचारा[त] चन्द्रकरसंयो-गात्तस्य जलपरिणामेऽपि तावत (त) एव दर्शनात ।

अन्ये पुनरेतद् इत्थं परिहरन्ति–न तत्संयोगा तु (गात च)न्द्रकान्तच्युतिः अपि तु विधकरा (विधुकरा[४]) द्रवन्तीति ; तेषां प्रतिक्षणं कर्पूरादिद्रव्यं स्वल(न तत)परिमाणात न्यून-
२० परिमाणं स्यात । सर्वदिक्षु तद्रूपादिगमनात तत्राऽपरप्रवेशो(शे) अन्यत्रापि स एवाऽस्तु । तन्न परमाणवः शब्दाः[५] ।

यदि वा, वायवीयाः ते ; तथाहि–नाभिप्रदेशाद् ऊर्ध्वमाक्रामन् वायुः कण्ठादिभिरभिहतः शब्दः इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्–नाप्यनुमानतस्तत्प्रतिपत्तिः लिङ्गाभावादिति ; तन्न ;
२५ चेतनाऽचेतनयोः परिमाणा[प]कर्षस्याऽतिशयाः क्वचिद् व्यवस्थितात सा(स्थिताः) तत्त्वा[त] तदुत्कर्षस्य अतिशयवत । यत्र अचेतने सैं व्यवस्थितात्मा स नः परमाणुरिति । न च तस्याऽ-दर्शनादभावः ; अनुमेये तदयोगाद् अतिप्रसङ्गात । न च साध्यविकलता निदर्शनस्य; [४६०ख] प्रसाधनात् सर्वज्ञस्य । भवन्तु परमाणवः, ते तत्तत्कारणमिति कुतः ? किं तर्हि शब्दस्य उपा-दानकारणं मूर्त्तस्य ? न चानुपादानं कार्यम् ; अतिप्रसङ्गात् । दण्डभेर्यादिकमिति चेत् ; किं

(१) स्थूल । (२) सुवर्णात् पारदाच्च भस्म सूक्ष्मं भवति । (३) परस्परसंघट्टितहस्ताभ्याम् । (४) चन्द्रकिरणानि । (५) शब्दाः । इति शिक्षाकारा मीमांसकाः । (६) अतिशयत्वात् । (७) अपकर्षातिशयः । (८) अदर्शनमात्राद् अभावायोगात् । (९) ज्ञानोत्कर्षातिशयवतः ।

सहकारिकारणम् ? तदभावे च कार्यं न दृष्टमिष्टं वा कस्यचित् । अदृष्टं सहकारिकारणं नोपादानमिति किंकृतो विभागः ?

किंच, ताल्वादीनां तदुपादानत्वे तदुपमर्दः तदूभावे, उपादेयाकारगमनलक्षणत्वाद् उपादानस्य । अथ तद्भागाः केचन अदृश्याः तद्रूपतया परिणमन्ते, अपरे च तथाविधास्तत्र प्रविशन्ति, ततो न ततापितस्य(?)शब्दानां सर्वदिक्कं विसर्प[णमि]ति मतिः ; सिद्धं तर्हि नः समीहितम् ५ तद्भागानामेव परमाणुपदे(णुत्वपदे)शात् । कथमेवं[य]वा यदि नाम[अ]दृष्टबीजाः शाल्यङ्कुरः कि स्यादि उ(रे किं स्यात् येन स तदु)पादानो न स्यात् ? अन्यत्र बीजादर्शनादिति चेत् ; पूर्वमदृष्टस्थूलकारणस्य तद्विपरीतहेतुपूर्वकत्वाऽदर्शनात् अन्यत्र समानम् ।

योऽपि मन्यन्ते(ते)—वायवीयः शब्दः इति ; सोऽनुकूलमाचरति, पुद्गलपर्यायाऽनतिक्रमात्, वायोस्तत्परिणामत्वात् । निर्वाते च भूमिगृहादौ करताडनात् कुतः शब्दः ? स्तिमितात्ततः इति १० चेत् ; एतदप्यनुकूलमेव । जातिमूकस्य च प्रमाण वाय(प्राणवायु)सद्भावेऽपि न शब्दः । तद्विशेषकल्पनायां चरं(वरं)परमाणुकल्पनमस्तु दृष्टकल्पनाऽविशेषात् इति ।

प्रत्येकं परिणताः प्रायेण स्युः इति चेत् ; अत्राह–**संसर्गा**दिति । सन्तु ध्वनयः परस्परसंसृष्टपरमाणुपरिणामविशेषाः, [४६१क] वर्णादिस्फोटः तद्व्यङ्ग्यो नित्यो व्यापकोऽमूर्त्तः स्यादिति चेत् ; अत्राह–**तद्भेद** इत्यादि । **तेषां** श्रुतिगोचरत्वेन परिणतानामणूनां **भेदो** विशेषः । १५ किंभूतः ? इत्याह–**[प्रतिलब्ध** इत्यादि] **प्रतिलब्धो वर्णपदवाक्यात्मा** येन स तथोक्तः । एवं मन्यते न श्रवणेन्द्रियग्राह्याकारादिव्यतिरेकेण ध्वनिः तद्ग्राह्यो वा वर्णस्फोटः प्रतीतिभाक् । एवं पदवाक्ययोर्वाच्यम् ।

ननु न श्रोत्रेन्द्रियाध्यक्षगम्योऽसौ अपि तु अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या अर्थापत्तिगम्यः इति चेत् ; अत्राह–**अभिलाप** इति । अभिलप्यते अनेन **इत्यभिलापः** वाचकः, **तद्भेदो** २० वर्णाद्यात्मा, तत एव अर्थप्रतीतिदर्शनात् । तथापि अन्यतः तत्कल्पने अनवस्था, ततोऽप्यन्यतः कल्पनासंभवात् ।

अथ एकपदार्थः बहुभिरयुगपद्भाविभिरस्थिरैर्घकारटकारविसर्जनीयैः प्रतिपादयितुमशक्य

(१) अप्रत्यक्षीभूतम् । (२) ताल्वादिभागाः । (३) अदृश्याः । (४) "तथा च शिक्षाकाराः आहुः वायुरापद्यते शब्दतामिति"–शाबरभा० १।१।२२ । (५) वायोः । (६) जन्मजातमूकस्य । (७) "नानेकावयवं वाक्यं पदं वा स्फोटवादिनाम् । निरस्तभेदं पदतत्त्वमेतत्..."–स्फोटसि० श्लो० २९-३६ । स्फोटभा० पृ० १। स्फोट० न्या० पृ० १। "तस्यतस्तु वाक्यमेवाखण्डमयूराण्डकललवदविभागं भिन्नार्थप्रतीतिहेतुभूतं स्फोटाख्यमभ्युपगन्तव्यम् ।"–स्फोटप्र० । "इत्यनवयवः प्रत्यस्तमितवर्णपदविभागो वाक्यस्फोट एव श्रेयान् ।"–स्फोटत० । स्फोटच० । "वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति । अत एव स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्यः स्फुटति स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायकः इति स्फोटशब्दार्थमुभयथा निराहुः ।"–सर्वद० पृ० ३००। वैयाकरणभू० पृ० २९४। परमलघु० पृ० २। (८) स्फोटः । "प्रत्येकमप्रत्यायकत्वात् साहित्याभावात् नियतक्रमभववर्तिनामयौगपद्येन संभूयकारित्वानुपपत्तेः नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यश्च प्रत्ययादर्शनात् क्रमविपर्यये यौगपद्ये च । तस्माद् वर्णव्यतिरेकी वर्णेभ्योऽसंभवन्नर्थप्रत्ययः स्वनिमित्तमुपकल्पयति ।"–स्फोटसि०पृ०२८।

इत्येतेन (मशक्य इति एकेन)भाव्यमिति[1] ; तदपि न युक्तम् ; यतस्तदपि एकमनभिव्यक्तं चेदत्र प्रतीतिहेतुः ; सर्वदा स्यात् इति घकाराद्युच्चारणमनर्थकम् । अभिव्यक्तं चेत् ; यद्यन्येन स; एव दोषः घकारादिवैफल्यमिति । घकारादिभिरिति चेत् ; तर्हि यथा प्रत्यासत्त्या एकंप्रकां(एकं[3]) प्रकाशयन्ति वाचकम् , तथा अर्थम् इति किमपरेण ? न च नित्यस्य कस्यचिद्वस्तुत्वमिति निरूप-
५ यिष्यतेऽनन्तरम् ।

किंच, एवं परम्परापरिश्रमश्च घकारादिभ्यो वाचकस्याभिव्यक्तिः, ततोऽर्थप्रतिपत्तिः तेभ्योऽर्थगतौ न स्यात् । अनेकप्रतीतिप्रसङ्गश्च–पूर्वं व्यञ्जकस्यं पुनर्व्यङ्ग्यस्य [४६१ख] पुनरर्थस्य । न चैवं व्यवहारः, तथापि तत्कल्पने धूमादग्न्यैः प्रतीयते ततोऽग्निरिति स्यात् । एवं प्रत्यक्षेऽपि वाच्यम् । ततः **तद्भेदोऽभिलापः स्वनः ।** तदाह–**स्वनः** अव्यवधानेन ।

१० ननु तद्भेदेन किञ्चिदभिलप्यते ? न तावत् सामान्यम् , तदभावात् , प्रयोजनाभावाच्च । नहि सामान्यं वाह(द)दोहादावुपयुज्यते, विशेषाणामेव तत्रोपयोगात् 'लक्षितलक्षणया[10] प्रवृत्तिः' इति न युक्तम् , तया(तथा)सामान्यप्रतीतौ स एव प्रसङ्गः[11] । विशेषगतौ, सा तद्व्यतिरस्तु(सा तैरस्तु), न चैवम् , अक्षसंहतेवैफल्यप्रसङ्गात् । ततः तद्भेदोऽनर्थक इति चेत् ; अत्राह–**सिद्धार्थ मति** (इति) । सिद्धोऽर्थो यस्य स तथोक्तः **तद्भेदः ।** तथाहि–यथा चक्षुरादिव्यापारात्
१५ अथ(र्थ)प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिः प्राप्तिश्च, तथा शब्दादपि इति, निरूपयिष्यते शेषमत्रैव ।

अथ मतम्–प्रतिबन्धाऽभावात् कथमसौ अभिलापः[12] ? तथाहि–न शब्दार्थयोः देशभेदात् तादात्म्यरूपः प्रतिबन्धः । अर्थाभावेऽपि भावात् न तदुत्पत्तिः । न च [13]तदन्तरमस्ति इति ; तत्राह–**स्वनः सिद्धार्थ** इति । **स्वनः** स्वयोग्यतातः **सिद्धार्थो** नान्यतः । कुतः ? इत्यत्राह– **यमुपेत्य** इत्यादि । **यं** तद्भेदम**ुपेत्य** श्रवणविषयतां नीत्वा **वक्ति** ब्रूते । कः ? इत्याह–
२० जनकभूता(**जनः ।** किम्भूतः ?) **असङ्कीर्त्तितः** सङ्केतरहितः । पुनरपि किम्भूतः ? **सामान्य-वेदी 'यमुपेत्य'** इत्येतदत्राप्यपेक्ष्यम् , शब्दं श्रुत्वा तद्वेदी इत्यर्थः । सामान्याभावात् नैव(वं) चेत ; न ; वस्तुषु[४६२क]समानपरिणामव्यवस्थापनात् । किं वक्ति ? इत्याह । **किमयमाह** इति । **अयं** वक्ता **'किमाह'** इत्येवम् । यदि प्रथमं शब्दश्रवणात् सामान्यं तेन विदितं किमर्थमेवं ब्रूते ? नहि नीले स्वरूपेण ज्ञाते 'किमेतत्' इति तद्रूपे प्रश्नो युक्तः इति चेत् ; अत्राह–**भेद**
२५ इत्यादि । तस्य सामान्यस्य **भेदो**ऽवान्तरविशेषः तस्य **काङ्क्षया** ग्रहीतुमीहा तत्र **मनो** यस्य इति ।

(१) स्फोटेन । (२)"वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात् । आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात् । अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावात् । एकस्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात्, तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचकः ।"–पा० महाभा० प्र० पृ० १६ । स्फोट० न्या० पृ० २। सर्वद० पृ० २९९। (३) अभिव्यक्तं भवति तथा । (४) स्फोटम् । (५) स्फोटस्य । (६) घकारादिभ्यः । (७) ध्वनेः ।(८) स्फोटस्य । (९) कश्चित् अग्निस्फोटः ।(१०) शब्देन लक्षितं सामान्यम्, तेन लक्ष्यते विशेष इति लक्षितलक्षणा । (११) प्रयोजनाभावादिरूपः । (१२) वाचकः । (१३) सम्बन्धान्तरम् ।

ननु सामान्यवेदने भेदवेदनम्, अन्यथा सामान्यस्यापि कुतोऽतादात्म्येन, उभयात्मकं तत्त्वमिति, न तत्र काङ्क्षणम्। तादात्म्योऽपि प्रथमं सामान्यस्यैव कुत इव (एव) शब्दात्[3] स्यात् इति चेत्; अत्राह–**अक्षादिव**। क? **स्वार्थे** रूपादौ। यथैव हि दूरे अक्षात् मनुष्यत्वादिसामान्यप्रतीतिः, पुनः तद्भिदा[4]काङ्क्षणम्, पुनरपि देशनैकट्यादिसामग्रीवशात् तद्भेदावायः। तदुक्तमत्रैव *"**समदृष्टेर्विशेषेहा**" [सिद्धिवि० २।९] इत्यादिना। तथा शब्दातु(त्) प्रथमं सामान्यप्रतीतिः पुनः तद्भेदाकाङ्क्षणम् ततोऽपि सङ्केतसामग्रीतो भेदनिश्चयौ (यो) नैतावता शब्दः स्वतोऽशक्तः; अक्षेऽपि प्रसङ्गात्। यथा च शब्दात् स्वार्थसन्देहः तथा अक्षादपि। कारणस्य रूपवत् सामर्थ्यप्रतिपत्तावपि तत्र सन्देहदर्शनात्। अथ तत्र ज्ञानान्तरं सन्देहरूपम्, अन्यत्रापि तदेव। नहि घटाभिधानादेव घटो(घटोऽस्ति) नास्तीति वा सन्देहो जायमानो जनेन विभाव्यते, ततोऽप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अथ शब्दादर्थप्रतीता वन सुतोपि (तीतौ तत एव) कुतः सन्देहः? स्वसंवेदनात् दानादिचेतसां स्वर्गप्रापणसामर्थ्यप्रतीतौ ततोऽपि [४६२ख] स कुतः। अथ तद्भावाभावयोः तत्प्रतीते[:] साधारणत्वात् स इति मतिरि तत्र(तिः; इतरत्र) समानम्। तथा सति कथं शब्दोऽर्थविषयः' इति अनेन निरस्तम्। निर्विकल्पिका तत्प्रतीतिस्ततोऽयमदोषः[9]; चेतनत्वादपि(त्वादावपि) स्यात्।[10]तत्र निर्णयोत्पत्तेर्नेति चेत्; [11]यस्य रूपसुखादौ निर्णयरूपं मानसमध्यक्षं तस्य तत्सामर्थ्येऽपि दुर्लभः संशयः। इतरथा शब्दार्थेऽपि स तथा न भवेत्। [12]यस्यापि मानसो[ऽ] विकल्पो[ऽ]निश्चयः, तेन तस्य स्वलक्षणग्रहणात्, अविकल्पेन गृहीतस्य अगृहीतकल्पत्वात् [13]तथा। यथा शब्दा(ब्दोऽ)वस्तुविषयः सन्देहहेतुत्वात्, तथा प्रत्यक्षमपि [14]परस्य। ततोऽक्षात् सामान्यग्रहणात् विशेषाकाङ्क्षणे विशेषाऽवायकारणाभावे यथा संशीतिः तथा शब्दादपि इति स्थितम्।

स्यादेतत्–भाषान्तरे संकीर्त्तित (सङ्केतित[15]) एव शब्दात् सामान्यं प्रतिपद्यते[न] अकृतसङ्केतात्, ततः सङ्केत एव पारम्पर्येण तद्धेतुरिति; तर्हि इन्द्रियादपि पूर्वं प्रतिपन्नसामान्य एव[16]–ततः पुनः सामान्यं प्रत्येति इति। तदेवेन्द्रियमन्यदापि तद्ग्रहणकारणम्। अत्य(अन्य)त्वमन्यत्रापि इति यत्किञ्चिदेतत्।

नमु(ननु) निःप्रयोजनशब्दस्वरूपपरीक्षणेन किम्? लोकत एक(एव) तत्स्वरूपसिद्धेः; इत्यत्राह–**निःश्रेयसाधिगतेः** इत्यादि।

किमाह इति चेत्? अत्राह–**शब्द** [४६३क] इत्यादि। २५

[[17]शब्दः पुद्गलपर्यायः स्कन्धः छायातपादिवत्।
बुद्धिकार्यो विशेषात्माभिलापः स्वार्थगोचरे ॥२॥

---

(१) वेदनमिति। (२) विशेषे। (३) वेदनम्। (४) भित् भिदा भेद इति यावत्। (५) सामर्थ्यज्ञापकं ज्ञानम्। (६) शब्दान्तरं यत् सन्देहं करोति। (७) सन्देहः। (८) मतम्। (९) सन्देहाभावलक्षणो न दोषः। (१०) चेतनत्वादौ। (११) मीमांसकस्य। (१२) बौद्धस्य। (१३) सन्देहाभावः स्यात्। (१४) बौद्धस्य। (१५) सङ्केतितात् इत्यर्थः। (१६) पुरुषः। (१७) "तथा चाहुर कलङ्कदेवाः–शब्दः पुद्गलपर्यायः स्कन्धः छायातपादिवत्।"–त० श्लो० पृ० ४२४।

अणवः पुद्गलपरिणामविशेषात् भेदसंसर्गप्रतीतेः । कथम् ? कथं च न स्यात् ? सर्वथा निरंशानां दिग्भागभेदेन प्रत्येकं षडंशतापत्तेः कथं संसर्गः ? किं पुनरसंसर्गिण एव पृथक् स्युः ? कथं तेषां व्यवधानम् प्रकृतविकल्पानतिवृत्तेः ? स्वकार्यकारणक्षणाभ्यां स्वत एव नैरन्तर्यमनुभवतः कालप्रचयभेदोपलक्षणात् न वै क्षणवत् कस्यचित् कैश्चिन्नैर-
५ न्तर्येऽपि सांशत्वम्, व्यवधानाभावस्यैव तत्संयोगात्मकत्वात् । अन्यथा कार्यकारणव्यवस्थैव मा भूत् । वस्तुस्वभावतः तद्व्यवस्थायां कुतः संयोगप्रबन्धः ? तत्संयुक्तानामविशेषप्रसङ्गात् । स्वत एव प्रदेशमात्रस्य व्यवधायकतोपपत्तेः; अनंशस्यापि स्वभावभेदात् ग्राह्य[ग्राहकाकारसंवेदनवत्] तदिमे...... नहि... प्रतिषिद्धं च । तथापरिणामस्यैव तद्गुणत्वसंभवात् । कथञ्च अत्यन्तपरोक्षस्य गुणः प्रत्यक्षः ? परिमण्डलानां तादा-
१० त्म्यपरिणामोपपत्तेः । वायोरपि [प्रत्यक्षत्वात्] असमानम् । तदिमे चैतन्यविशेष [कार्याः] वर्ण[पदादिरूपाः] कथञ्चित् अर्थसंसर्गयोग्यतां प्रतिपद्य व्यवहारपदवीमुपनीयन्ते नान्यथा शब्दान्तरवत् ।]

शब्दः श्रवणेन्द्रियगोचरो भावः । सत्तापि स्यादिति चेत्; किं पुनः सा ततो भिन्ना येन एवं न स्यात् ? तथा चेत्; असत् शब्दः । तत्सम्बन्धात् सत् इति चेत्; उक्तमत्र । तस्य ततोऽभेदे
१५ स एव सद्(सत् भ)वेत् इति चेत्; अत्राप्युक्तम् । कथञ्चित् तत्समानपरिणामस्य अन्यत्रापि भावात् । एतेन गुणत्व(त्वं) चिन्तितम् । न च गुणः शब्दः । स किम् ? इत्याह-**पुद्गलपर्यायः** । रूपादिमन्तः पुनः **पुद्गलाः**, तेषां **पर्यायो** विकारः, न तत्पर्यायाः पुद्गलाः इतरथा शब्दानुगतस्य चक्षुरादिना घटादिग्रहणं भवेत्, सद्रूपानुगतस्य इव ।

ननु यदि परमाणुरूपपुद्गलपर्यायः; तद्गतश्यामत्वादिवत् तर्हि तस्य अस्मदादीन्द्रियेण
२० अग्रहणं स्यादिति चेत्; अत्राह-**स्कन्ध** इति । **स्कन्धः** अवयविद्रव्यम् । स्कन्धः शब्दः मूर्तत्वे अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति सावयवत्वात् पटादिवत् । सः मूर्तः स्पर्शवत्त्वात् तद्वत् । स्पर्शवत्त्वं चास्य मृदुखरादिप्रत्ययग्राह्यत्वात्तद्वदेव । न चैतदसिद्धम्; सर्वलोकप्रसिद्धेः । तथाहि-वीणादिशब्दात् जयघण्टादिशब्दं खरं निगदन्ति जनाः । तथापि तदसिद्धौ न किञ्चित् सिद्धं स्यात् । कर्णाभिघातदृष्टेश्च तत्सिद्धिः ।

(१) सत्ता । (२) शब्दात् । (३) समवायस्य सर्वत्राविशेषात् इत्यादि । (४) शब्दस्य पर्यायाः पुद्गलाः । (५) शब्दग्रहणवादिवत् पुद्गलस्य शब्दपर्यायत्वे । (६) शब्दस्य । (७) तुलना-"सद्दो खंदप्पभवो खंदो परमाणुसंघसंघादो । पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥"-पञ्चास्ति० गा० ७९ । "पुद्गलस्कन्धस्यैकद्रव्यस्य शब्दाश्रयत्वोपपत्तेः सिद्धसाधनत्वात् ।"-त० श्लो० पृ० ४२२ । न्यायकुमु० पृ० २४२ । सन्मति० टी० पृ० ६७० । "पौद्गलिकः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे अचेतनत्वे च सति क्रियावत्वात् बाणादिवत् ।"-प्रमेयक० पृ० ५६३ । (८) तुलना-"द्रव्यं शब्दः स्पर्शाल्पत्वमहत्त्वपरिमाणसंख्यासंयोगगुणाश्रयत्वात् ।"-प्रमेयक० पृ० ५५० । न्यायकुमु० पृ० २४३ । (९) शब्दस्य । तुलना-"कर्णशष्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवनमात्रुपघातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिरस्पर्शत्वकल्पनामस्तं गमयति ।" -अष्टश०-अष्टस० पृ० १०७ । "स्पर्शवान् शब्दः स्वसम्बद्धार्थान्तराभिघातहेतुत्वात् मुद्गरादिवत् । सुप्रतीतो हि कंसपात्र्यादिध्वानाभिसम्बन्धेन श्रोत्राद्यभिघातः ।"-प्रमेयक० पृ० ५५० । न्यायकुमु० पृ० २४३ । (१०) स्पर्शवत्त्व सिद्धिः ।

अपर आह–तीव्रत्वमन्दत्वजातिसम्बन्धात् तत्प्रत्ययविषयत्वंते(यते)ति[1]; सर्वत्र तथा प्रसङ्गेन स्पर्शाभावप्रसङ्गात्।

शब्दसहचरितस्य वायोः तद्विषयता[2] इत्येके; तेषामपि वाग(वायव)सहचरितस्य[3] अन्यस्य[4] तद्विषयता इत्येवमनवस्था[४६३ख]।

स्यान्मतम्–असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्त्तिः[5] न स्पर्शवत्त्वम्, अन्यथा मनसोऽमूर्त्तत्वं स्यात् ५ तदभावादिति; तन्न; शब्देऽप्यस्य भावा[न्] स्पर्शवत्त्वा[न्]द्रव्यत्वमसर्वगतत्वं केचास्य(त्वं च केनास्य) वार्यते? परिमाणं दीर्घादिप्रतीतिविषयत्वात् सुप्रसिद्धमेव।

किंच, तल्लक्षणम्[6] अतिप्रसङ्गि; तस्य आत्मन्यपि भावात् सर्वगतत्वनिषेधात्तत्र। ततः सिद्धम् मूर्त्तत्वम्। अस्मदादिप्रत्यक्षत्वम् अविप्रतिपत्तिविषयम्।

नापि 'साव[यव]त्वात्' इत्यसिद्धम्; सावयवो ध्वनिः अल्पमहत्त्वग्रहणग्राह्यत्वात्[7] १० स्तम्भादिवत्। अथ व्यङ्ग्ये व्यञ्जकधर्मारोपात् तद्ग्रहणग्राह्यता न स्वतः, मुखस्येव दर्पणादौ इति चेत्; स्यादेतदेवम्–यदि एकरूपः सर्वदा शब्दः कुतश्चित् स्यात्। न च दृष्टान्तमात्रात् साध्यं सिध्यति, अतिप्रसङ्गात्। अतः स्कन्धः शब्दः।

नन्वेवं लोष्टादिनेव शरीरावयवादिघातैः(घातः)तेन[9], तद्वत्तस्य[10] नियतदेशगमनम्, एकत्र कर्ण(र्णे)प्रविष्टस्य [11]तदन्तराऽगमनम्, वायुनाभिहतस्य लोकान्तप्रसर्पणम्, इन्द्रियान्तरेण च १५ दर्शनम्[12] इति[13] चेत्; अत्राह–**छाया** इत्यादि। **आदि**शब्देन अन्धकारादिपरिग्रहः, तेन तुल्यं वर्त्तते इति तद्वत् इति। यथा अत्र[14] न ते दोषाः तथा शब्देऽपि इति दृष्टान्तार्थः। नहि अन्धकारस्य स्कन्धेऽपि स्पर्शादिना ग्रहणम्।

अपौरुषेयः शब्दो गकारादिः इत्येके[15]। तत्राह–**बुद्धि** इत्यादि। **बुद्धेः कार्यं** तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। न हि यद् यस्य अन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते [४६४] तद् अन्यहेतुक- २० महेतुकं वा युक्तमतिप्रसङ्गात्। तदभिव्यक्तिः तावनुविधत्ते इति चेत्; न; अनवस्थाप्रसङ्गात्, तत्रान्यस्य तदनुविधानकल्पनात्। कृतप्रतिक्रियश्चायं[16] पक्षः अन्यत्र। **स एव**

(१) "अनित्यः शब्दः तीव्रमन्दविषयत्वात् सुखदुःखवदिति।"–न्यायवा० पृ० २९०। (२) तीव्रादिप्रत्ययविषयता। तुलना–"नादवृद्धिः परा। १७। यच्चैवं बहुभिर्भेरीमाध्नद्भिः गोशब्दमुच्चारयद्भिः महान् शब्द उपलभ्यते, तेन प्रतिपुरुषं शब्दावयवप्रचय इति गम्यते; नैवम्; निरवयवो हि शब्दः अवयवभेदानवगमात्। निरवयवत्वाच्च महत्त्वानुपपत्तिः। अतो न वर्धते।...तेन नादस्यैषा वृद्धिः न शब्दस्येति।"–जैमिनिसू० शाबरभा० १।१।१७। (३) शब्दस्य। (४) कस्यचित् अदृष्टस्य। (५) "असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिरिति हि पदार्थविदः।"–तत्त्वबि० पृ० १५८। (६) मूर्तत्वलक्षणम्। (७) अल्पत्वमहत्त्वग्रहण। (८) "न च स्थूलत्वसूक्ष्मत्वे लक्ष्येते शब्दवृत्तिनी। बुद्धितीव्रत्वमन्दत्वे महत्त्वाल्पत्वकल्पना। सा च पट्वी भवत्येव महातेजःप्रकाशिते। मन्दप्रकाशिते मन्दा घटादावपि सर्वदा। एवं दीर्घादयः सर्वे ध्वनिधर्मा इति स्थितम्।"–मी० श्लो०, शब्दनि० पृ० ७८५। (९) शब्देन। (१०) शब्दस्य। (११) कर्णान्तर। (१२) स्यात्। (१३) तुलना–"पुद्गलस्वभावत्वे दर्शनविस्तारविक्षेपप्रतिघातकर्णपूरणैकश्रोत्रप्रवेशाद्युपालम्भो गन्धपरमाणुकृतप्रतिविधानतयोपेक्षामर्हति।"–अष्टश०, अष्टस० पृ० १०६। (१४) छायायाः पुद्गलरूपत्वेऽपि। (१५) मीमांसकाः। (१६) शब्दाभिव्यक्तिवादपक्षः।

विशेष(षो)वर्णादिभेद **आत्मा** यस्य स तथोक्तः । अनेन तद्व्यतिरिक्तः स्फोटात्मा निरस्तः । कुतः ? इत्याह-**अभिलापः** स एव यतोऽभिलप्यतेऽनेन इति । क ? इत्याह-**स्वार्थगोचरे** सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि व्यञ्जनपर्याये वा ।

'शब्दः पुद्गलपर्यायः' इत्यत्र साध्य(ध्ये) सूरेर्मनसि 'मूर्त्तित्वात्' इति हेतुर्वर्त्तते । निदर्शन-५ मुक्तमेव । तस्य परमाणुभिर्व्यभिचारः, न हि ते[1] मूर्त्तित्वेऽपि तत्पर्यायाः ततः परस्य सूक्ष्मस्य तस्यै अभावादिति । तं परिहरन्नाह-**अणवः** इत्यादि । कुतः ? इत्यत्राह-**[पुद्गल]परिणाम-विशेषात्** । **पुद्गलस्य परिणामो**ऽन्यथाभावः, स एव **विशेषः** स्थूलैकस्य सूक्ष्मनानारूपभेदः, सूक्ष्मनानारूपस्य वा स्थूलैकरूपभेदश्च तस्मात् । तदपि कुतः ? इत्याह-**भेद** इत्यादि । **भेदो** नानात्वम् **संसर्गः** एकत्वपरिणामः तयोः **प्रतीतेः** । एतदुक्तं भवति-यथा अनेकस्मात् अल्प-१० परिमाणात् संसृष्टाद् एक(कं) महत्त्वोपेतं जायमानं प्रागस[त्] दृष्टमिति तत्कार्यम्, तथा एकस्मात् महत्त्वोपेतात् तद्विपरीतं प्रागसत् कपालादि दृष्टम् तत्कार्यमस्तु अविशेषात् । अथ कपालादीनां प्रागपि भावात् न तत्कार्यता; साङ्ख्यदर्शनमायातम्, घटादेरपि तथा भावप्रसङ्गात् । अदर्शनान्नैवं चेत्; तदन्यत्र समानम् । तन्तवः [४६४ख] पटे दृश्यन्ते इति चेत्; न; तदा पटस्यैव(वाऽ) भावात्, अन्यथा(थाऽसौ[2] गतः) सौगतशासनम् । ततोऽन्य इति चेत्; न; १५ अस्यै पक्षस्य निषेधात् ।

किञ्च, यदि घटकाले ततो भिन्नानि कपालानि सन्ति, तेषां तेन सह उत्पत्तेर्न समवायि-कारणत्वम् अन्योऽन्यमिव । तेषां प्रागपि भावान्नेति चेत्; तथा घटस्यापि प्राग(ग्) भावोऽस्तु । प्रमाणबाधकमु(नम् उ)भयत्र । अनुमानात् तत्साधनान्न तद्बाधनम्; पटोऽपि महाकारणपूर्वकः घटवदिति कल्प्यते ? तत्र स्थूलस्य अत्र सूक्ष्मस्यादर्शनम् । तन्तूनां वैयर्थ्यं स्यादिति चेत्; अत्र २० मृत्पिण्डस्य इति समानम् ।

ननु मृत्पिण्डस्य घटकारणत्वे तत्र स्थितस्य घटस्य उपलब्धिः तन्तुस्थितपटवत्[10] इति चेत्; न; कार्याकारण(कारेण) परिणतस्य उपादानत्वोपगमात् । तन्तवोऽपि पटीभवन्ति । ततो यथा बहूनां संसर्गादेकं[11] तथा तस्य विश्लेषादनेकमिति कथन्न परमाणवः तत्पर्यायाः ?

अत्राह सौगतः-**कथमित्यादि** ? तमाचार्यः पृच्छति-**कं(कथं) च न स्यात्** इति । स २५ उत्तरमाह-**सर्वथा** इत्यादि । अन्य न(अन्येन) कथञ्चित् सम्बन्धस्य प्रकारेण **निरंशानां परमा-णूनां दिग्भागभेदेन प्रत्येकं षडंशतापत्तेः**[12] **कथं संसर्गः?** परिहारोऽत्र-**किं पुनः असंसर्गिण एव** इत्यभिप्रायः । एवं संसर्गं दूषयताऽपि तेन बहिरर्थमभ्युपगच्छता बहीरूपादिपरमाणवोऽभ्यु-पगता एव-

(१) तद्विशेषात्मा । (२) परमाणवः । (३) पुद्गलस्याभावात् यस्य ते पर्यायाः स्युः । (४) अनेकमल्पपरिमाणोपेतञ्च । (५) इति चेत्; । (६) वादी । (७) अवयवावयविभेदपक्षस्य । (८) पटे । (९) घटे । (१०) स्यात् । (११) जायते । (१२) "षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता । षण्णां समान-देशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥"-विंश० विंशिका पृ० ७। चतुःशत० पृ० ४८। तत्त्वसं० पृ० २०३।

*"अर्थान्तराभिसम्बन्धाज्जायन्ते येऽणवोऽपरे ।
उक्तास्ते सञ्चिताः ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मनः ॥
अणूनां स विशेषत्वा(षश्च)नान्तरेण(णाऽ)परानणून् ।"

[प्र० वा० २।१९५-९६] इत्यभिधानात् । [४६५क]

ते चासंसर्गिणः संसर्गरहिता एव । **किं पुनर्नैव पृथक् ? पृथका(पृथग् व्य)वस्थिताः**– तद्रहिताः, सञ्चितास्तु संसर्गिणः ; अन्यथा स्तम्भादौ अधो मध्योर्ध्वतिर्यग्भागादिषु अविच्छिन्ना प्रतिपत्तिरिति नैयायिकं प्रति एतद् दूषणमसङ्गतम्–*"**अविच्छिन्ना न भासेत ततस्तत्संवि(त्संवि)त्तिः क्रमग्रहे ।**" [प्र० वा० २।२५६] इति तत्संवित्तिः ।

ननु च रूपादिग्रहणे सहैव सुखादिग्रहणमुपलभ्यते इति चेत ; स्तम्भादौ भागप्रतिपत्तिरविच्छिन्ना तथैव उपलभ्यते इति समानम् । १०

अपरः प्राह–नाविच्छेदप्रतिभासनात्तेषाम् अविच्छेद[स्य]सिद्धिः, तदभावेऽपि दूरस्थितविरलकेशादौ[3] तत्प्रतिभासनादिति ; तस्यापि [4]तेषां[तथा]प्रतिभासने यदवभासते अविच्छिन्नं रूपं न तत्तेषाम्, यन्नावभासते विच्छिन्नं तत्तेषामिति प्राप्तम् । तथा च संवेदनं प्रतिभासमानं स्ववेदनं तद्रूपं न भवेत् । तदभावे तदभावे इति चेत् ; कुत एतत् ? तद्रूपत्वात्तस्य इति चेत् ; तदपि कुतः ? तथावभासनात ; अन्यत्र समानम् , अबाधनं च । न चैकत्र तदभावेऽपि तत्प्रतिभासदर्शनात सर्वत्र तथा कल्पनम् ; अतिप्रसङ्गात । परमाणवो नावभासन्ते इति चेत् ; कुतो ग्राह्याः ? ज्ञानकारणत्वात्[6] ; चक्षुरादौ प्रसङ्गः । स्वाकारसमर्पणात्[7] ; ज्ञानात्मनि तदाकारोऽन्योऽन्यविच्छिन्नः, तस्यैव समर्पणमिति स एव दोषः । [8]नीलतादिमात्रसमर्पणे ; सांशता इति न पूर्वपक्षाद्विशेषः । १५

किंच, तेषामप्रतिभासने [४६५ख] किं कल्पनेन ? नीलादिज्ञानं तु अन्यत एव रूपादिरूपाद्ग्राह्यतः स्यात् । ते[9] स्वयमविच्छेदविकलाः अविच्छिन्नं ज्ञानं जनयन्ति नान्यद् अरूपादिस्वभावं रूपाद्याकारं ज्ञानमिति किं कृतमेतत् ? तस्मात् परमाणूनामभ्युपगमे तत्प्रतिभासोऽभ्युपगन्तव्यः । स च अविच्छिन्न इति तेऽपि तथेति साधूक्तम्–'**किंपुनरसंसर्गिण एव**' इति । २०

दूषणान्तरमभिधातुं पूर्वपक्षमुत्थापयति–**स्युरिति** भवेयुः '**असंसर्गिणः**' इत्यत्र वर्त्तते । उत्तरम्–**कथम्** इत्यादि । **तेषां** सञ्चितपरमाणूनां **व्यवधानं** विजातीयावस्थानम(याव्यवधानम् अ)न्तरालेऽतस्याऽभावात् । एतदपि कुतः ? इत्याह–**प्रकृत** इत्यादि । **प्रकृतो विकल्पो** व्यवधायकव्यवधीयमानयोः संसर्गोऽसंसर्गो वा तस्याऽ**नतिवृत्तिः(त्तेः)** [10]एकत्र प्रतिज्ञाहानिः, [11]अन्यत्र अनवस्था–पुनरपि अपरापर व्यवधानकल्पनात् । यदि वा, **प्रकृतो विकल्पः** 'सर्वथा अन्यथा' इति **तस्यानतिवृत्तेः** व्यवधानेऽपि । भवतु तेषां व्यवधानाभावः, ननु प्रसङ्गः षडंशतापत्तेरिति २५

(१) बौद्धेनोक्तम् । (२) अविच्छेदाभावेऽपि । (३) "यथा विरलदेशस्था अपि केशमशकमक्षिकादयः एकघनाकारं प्रत्ययमुपजनयन्ति ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ९४। (४) परमाणूनाम् । (५) संवेदनाभावः । (६) इति चेत् ; । (७) इति चेत् ; । (८) यद्यपि नीलता जडता च स्तः, तथापि केवलं नीलताया ज्ञाने समर्पणम् । (९) परमाणवः । (१०) संसर्गस्वीकारे । (११) असंसर्गपक्षे ।

चेत् ; अत्राह–**न वै कस्यचित्** इत्यादि । **[न वै] कस्यचित्** मध्यवर्तिनः परमाणोः(णोः) **कैश्चित्** दिग्भागव्यवस्थितैः परमाणुभिः **नैरन्तर्येऽपि सांशत्वम्** । कुतः ? इत्याह–**व्यवधानाभावस्यैव तत्संयोगात्मकत्वात्** । तच्छब्देन परमाणुपरामर्शः । एतदपि कुतः ? इत्याह–**पारिमण्डल्यम्** इत्यादि ।

५ ननु सर्वस्याभावस्य अगुणात्मकत्वात् संयोगस्य च गुणात्मकत्वात् [४६६क] कथमुच्यते '**व्यवधानाभावस्यैव संयोगात्मकत्वात्**' इति चेत् ; न; अव्यवहिताङ्गुलिद्वयव्यतिरेकेण तेदप्रतीतेः, व्यवधानाभावे एव संयोग इत्यभिधानप्रवर्त्तनात् ।

किंच, अवयवेभ्योऽवयविन इव संयोगिभ्योऽस्याऽभेदे एकाकर्षणे पादाद्याकर्षणवत्(णं स्यात्) । एवं सति अवयविनो वैयर्थ्यम्, तत्प्रयोजनस्य अत एव सिद्धेरिति चेत् ; अयमपरोऽस्य
१० दोषोऽस्तु । तस्यापि प्रतिभाससत्त्वात् नैवं चेत् ; न ; घटाद्यवयवेष्वभिन्नपदार्थद्वय[प्र]तिभासविरहात् । एको हि अवयवरूपाद्यात्मकः प्रतीयते, स संयोगः अवयवी वा भवतु । संयोगस्य अवयवित्वे अनेकमस्त्राणि(मणि)समूहोऽवयवी भवेत् इति, निरन्तरब्राह्मणचाण्डालसमूहो वा इति चेत् ; अयमपि तस्यैव दोषोऽस्तु येन तेभ्योऽभिन्न एकः संयोग इष्यते नाऽस्माकं तेषां व्यवधानाभावं संयोगमिच्छताम् । तन्न एतेभ्योऽभिन्नः स इति चेत् ; उक्तमत्र समवायनिषे-
१५ धात्, सम्बन्धाऽसिद्धिरिति ।

तेभ्य उत्पत्तेः स तेषामिति चेत् ; अत्रेदं विचार्यते–निरन्तराः सन्तः ते तं जनयन्ति, अन्यथा वा ? प्रथमपक्षे अवयविनमेव ते जनयन्तु किं संयोगजननेन परम्परापरिश्रमकारणात् । तथा दृष्टेरदोषश्चेत् ; स्याददोषः यदि तथादर्शनं न भवेत्, न चैवम्, नहि ते पूर्वं संयोगं पुनः अवयविनं जनयन्तः प्रतीयन्ते । आशुवृत्तेस्तथाप्रतीतिरिति चेत् ; युगपद् द्वयप्रतीतौ इदमुत्तरं
२० स्यात्, न चास्ति, अन्यथा संयोगमपि परं तमुत्पाद्य जनयन्तीति प्राप्तम् । [४६६ख] द्वितीयेऽपि दूरस्थिताः तमुपजनयन्तु तत्रापि तन्निमित्तक्रियाभावात् । तत[ः]स्थितम्–**व्यवधानस्यैव** इत्यादि ।

अपरे आहुः–नास्माभिः ज्ञानस्य अन्यस्य वा परमाणवः कारणमिष्यन्ते स्वयं तन्निषेधात्, तन्नि(तन्न)युक्तम्–'**किं पुनः**' इत्यादि ; तत्राह–**क्षणवदित्यादि** । **क्षणवत्** इति सामान्ये-
२५ न वचनेऽपि ज्ञानक्षण [ए]व इह गृह्यते, तस्यैव परेण परमार्थेनाभ्युपगमात् क्षणस्य इव तद्वत्, **न वै कस्यचित् कैश्चित् नैरन्तर्येऽपि सांशत्वम्** । किं कुर्वतः क्षणस्य ? इत्याह–**अनुभवतः** । किम् ? इत्याह–**नैरन्तर्यम्** । केन ? इत्याह–**स्वकार्यकारणक्षणाभ्याम्** । **स्व**शब्देन दृष्टान्तीकृतो मध्यक्षणो गृह्यते, तस्य कार्यक्षण उत्तर उपादेयक्षणः कारणक्षणः उपादानक्षणः, ताभ्याम् । कुतः तदनुभवतः ? इत्याह–**स्वत एव** न संयोगादेः इत्यर्थः । एतदपि कुतः ? इत्यत्राह–**काल**
३० इत्यादि । **कालप्रचयभेदः** ज्ञानसन्ताननानात्वम् तस्य **उपलक्षणात्** । अस्यानभ्युपगमे दूषण-

(१) गुणरहितत्वात् । (२) संयोगस्याप्रतीतेः । (३) संयोगस्य । (४) एकाङ्गुल्याकर्षणे । (५) अवयविनोऽपि । (६) परमाणवः । (७) संयोगम् । (८) 'न' इति निरर्थकम् ।

माह–**अन्यथा** इत्यादि । नैरन्तर्याभावप्रकारेण **अन्यथा कार्यकारणव्यवस्था** उपादानोपादेययोः सङ्करादि[1]परिहारेण स्थितिरेव **मा भूत्** ।

भवेन्मतम्–'जाग्रत्प्रबोधज्ञानवत् वस्तुस्वभावत एव अन्यत्रापि नैरन्तर्याभावेऽपि तद्व्यवस्था[2]' इति; अत्रोक्तमुत्तरम् । तदन्तरं[3] वक्तुमाह–**वस्तुस्वभावतः** इत्यादि । **वस्तु** कार्यकारणे तयोः **स्वभावो** योग्यता **ततः तद्व्यवस्थायां** कार्यकारण[४७७क]व्यवस्थायाम् । **कुतः** ५ कारणात् **संयोगप्रबन्धः** । किमेकदेशेन सर्वात्मना वा संयोगः ? इत्याह–**तत्संयुक्ता[:]स्वपरमाणवः तेषां** पराभ्युपगमादेवमुक्तम्, परमाणवोऽपि क्षणवस्तुस्वभावत एव संसर्गरहिताः स्थूलमेकं परिणाम(मं) विभ्रति इति मन्यते । सर्वेषां तत्प्रसङ्ग इति चेत्; क्षणानामपि समानम् । शक्यं हि वक्तुम्–भिन्नकालं यावत् प्रबोधस्य जाग्रद्विज्ञानं कारणं तावत् अतीतजन्मान्तरज्ञानं कुतो न भवति ? अन्यत्[4]; उभयत्र समानम् । तन्तवस्तर्हि पृथगवस्थिताः कुतो न पटकारणम् १० इति चेत् ? जाग्रद्विज्ञानवत् कस्मान्न अग्निः धूमस्य कालव्यवहितः कारणम् ? तथा[ऽ]दर्शनम् अन्यत्राप्युत्तरम् । एतदेवाह–**अविशेषप्रसङ्गात्** तद्व्यवस्थायाः स्वपरपक्षयोरिति ।

इदमपरं व्याख्यानम्–यद्यपि ततः क्वचिद् व्यवधानेऽपि तद्व्यवस्था, तथापि **तत्संयुक्तानां** तेन मध्यक्षणेन संयुक्तानाम् अव्यवधानेन व्यवस्थितानां पूर्वापरक्षणानां धारावाहिनां **कुतः संयोगः(ग)प्रबन्धः ?** संयोगेन व्यवधानाभावे प्रबन्धः प्रवाहः कुतो न स्यात् ? इत्याह– १५ **अविशेषप्रसङ्गात्** अविशेषेण प्रसङ्गाद्दोषात् देशप्रचयवत् कालप्रचयेऽपि दोषादित्यर्थः ।

अथवा, यदुक्तं परेण–*"**किं स्यात् सा चित्रतैकस्याम्**" [प्र० वा० २।२१०] इत्यादि; तत्राह–**कुतः** इत्यादि । **तेन** विवक्षितनीलज्ञानपरमाणूनां **संयुक्तानामपि** न(मवि)-निर्भागवृत्तिभाजाम् अन्येषां नीलज्ञानपरमाणूनां **कुतः**[४६७ख]**संयोगेनाविनिर्भागेन प्रबन्धः** प्रकृष्टो विच्छेदरहितो **बन्धः** सहवर्त्तनं कुतो न स्यात् ? इत्याह–**अविशेष** इत्यादि । २०

स्यान्मतम् सौगतमते न क्वापि केनचित् किञ्चित्संयुक्तम्; इत्यत्राह–**स्वतः** इत्याद्य(दि । अयम)भिप्रायः–नैरन्तर्याभावे सान्तरत्वं प्रसक्तम्, तच्च व्यवधायके सति नान्यथा, तस्य **स्वत एव** अन्यनिरपेक्षस्य **प्रदेशमात्रस्य** निरंशस्य **व्यवधायकताया उपपत्तेः ननु कस्यचित् कैश्चिन्नैरन्तर्येऽपि सांशत्वमिति** उपपत्तेः इति । अनेन तदनभ्युपगमे अनवस्था स्यादिति दर्शयति ।

मा भूत् कार्यकारणव्यवस्था तथापि न दोषः, प्रतिभासाद्वैतवादिना तदभ्युपगमादिति- २५ चेत्; अत्राह–**अनं संख्यादि(शस्यापि)** इत्यादि । न केवलं सांशस्य अपि तु **अनंशस्यापि स्वभावभेदात् 'ननु'** इत्यादि सङ्गतिः । निदर्शनमत्र **ग्राह्य** इत्यादि ।

निगमनमाह–**तदिमे** इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**नहि** इत्यादि । तदपि कुतः ? इत्यत्राह–**प्रतिपिद्धं च** इत्यादि ।

वैशेषिकः प्राह[5]–गुणः शब्दः निषिध्यमानद्रव्य कर्मत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात् रूपादिवत्[6] । ३०

---

(१) आदिपदेन व्यतिकरः । (२) कार्यकारणव्यवस्था । (३) परिहारान्तरम् । (४) अन्यत्वमित्यस्मिन्नर्थे 'अन्यत्' इति । (५) द्रष्टव्यम्–पृ० ६० टि० १० । (६) "शब्दः क्वचिदाश्रितः गुणत्वात्…"–प्रश० व्यो० पृ० ३२२। "न द्रव्यकर्मजातीयः शब्दः श्रोत्रग्रहणयोग्यत्वात् शब्दत्वादिवत् । गुणः शब्दः द्रव्यकर्मान्यत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात् रूपादिवत् ।" –प्रश० व्यो० पृ० ६४९ ।

गुणत्वादेव द्रव्याश्रितत्वम् । तदाधारो द्रव्यं विभु नित्यत्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षगुणत्वात् आत्मवत् । यश्च तथाविधः तदाधारः तदाकाशमिति चेत् ; अत्राह-**तथा शब्दप्रकारेण परिणामो** यस्य तस्यैव **तद्गुणत्वस्य** शब्दगुणत्वस्य **संभवात्** । न चैवम् आकाशं नित्यत्वेनोपगतं रूपादिरूपम् ; [रूप] परिणामस्यैव [४६८क] [परेणापि] रूपादिगुणत्वोपवर्णनात् ।

५ दूषणान्तरमाह-**कथं च** इत्यादि । **कथं च न** । कथञ्चिद् **अत्यन्तपरोक्षस्य** [गगनस्य] **गुणः** शब्दः **प्रत्यक्षः** अस्मदादीन्द्रियग्राह्यः ? तथाहि[3]-योऽत्यन्तपरोक्षगुणः नासौ अस्मदादिप्रत्यक्षः यथा परमाणुरूपादिः, अत्यन्तपरोक्षगुणश्च परस्य शब्द इति ।

ननु च अत्यन्तपरोक्षगुणत्वं स्यात् प्रत्यक्षश्च इति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुः इति चेत् ; अत्राह-**परिमण्डलानां** परमाणूनां स शब्द आत्मा स्वभावभूतो गुणो येषां तेषां भावः

१० **तादात्म्यं** स एव **परिणामः** तस्य **उपपत्तेः** । यथा [अ]द्रव्यस्याकाशस्य तथा वि(तद्वि)धानां परमाणूनां न स्यादिति भावः । अथ तस्य परमाणुगुणत्वे तद्रूपादिवदप्रत्यक्षता स्यादिति चेत् ; आकाशगुणत्वेऽपि तद्विभुत्ववत् सा भवेदिति समानम् । अत्र गुणवैचित्र्यसंभवे अन्यत्र कोऽपरितोषः ? तन्न युक्तम् 'परमाणु[गुण]त्वे शब्दस्य तद्रूपादिवत् अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः' इति ।

यत्पुनरुक्तम्[6]-'शब्दाधारो द्रव्यं विभु नित्यत्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षगुणत्वात् आत्म-

१५ वत्' तदनेन निरस्तम् ; परमाणूनामपि विभुत्वप्राप्तेः । न चात्मनि तत् इत्युक्तम् ।

अथ अत्यन्तपरोक्षगुणस्य परोक्षत्वम् ; वायुगुणस्य स्पर्शविशेषस्य समानं तदिति चेत् ; अत्राह-**असमानम्** । कुतः ? इत्याह-**वायोरपि** इत्यादि । स्पर्शात्मना इति । अनेन स्पर्शविशेषस्वभावतां वायोः दर्शयति अन्यथा [न] गुणगुणिभावः । कथं च वायुः प्रत्यक्षः ? [४६८ख] अक्षेणाऽसन्निकर्षात् ; स्पर्शेऽपि भवेत्, तस्य तत्सन्निकर्षद्वारेण तेन सन्निकर्षात् संयु-

२० क्तसमवायोपगमात् । अथ वायोः तेन सम्बन्धोऽस्ति, स तु तत्र ज्ञानं नोपजनयति ; येन इन्द्रियं साक्षात्सम्बद्धं तत्र न ज्ञानं संपादयति येन तद्द्वारेण तत्सम्पादयति, तदिदमायातम्-[11]'यस्य भोजनं खण्डशराव इव । स्पर्शे उत्पादयद् दृष्टं तेन तत्र उत्पादयति, नान्यत्र विपर्ययात् । कुत एतत् ? स्पर्शप्रतीतिः(तेः) इति चेत् ; किं पुनः इयं प्रतीतिर्नास्ति-'मृदुः खरः अन्यथा वा वायुः मे लगति' इति ? भ्रान्तेरियमिति चेत् ; कुत एतत् ? अप्रत्यक्षेऽपि तस्मिन् प्रत्यक्षत्वारोपात् । तदपि

२५ कुतः ? तत्प्रतीतेः विभ्रमात् ; अन्योऽन्यसंश्रयः-सिद्धे तद्विभ्रमे तदप्रत्यक्षत्वम्, अतः तद्विभ्रम इति ।

---

(१) शब्दाधारः । (२) प्रतौ अक्षरचतुष्टयं त्रुटितम् अतिघृष्टं च 'परेणापि' इत्येव पठितुं शक्यते । (३) तुलना-"अमूर्तगुणस्य आत्मगुणवद् इन्द्रियविषयत्वादर्शनात् ।"-त० वा० पृ० ६९। त० श्लो० पृ० ४२१। पञ्चास्ति० टी० पृ० १८५। "आकाशगुणत्वे च अस्मदादिप्रत्यक्षतानुपपत्तिः ।"-न्यायकुमु० पृ० २४७ । (४) शब्दस्य । (५) अप्रत्यक्षता । (६) तुलना-"यद्याकाशं व्यापकं न भवति तदा सर्वत्र शब्दोत्पत्तिर्न स्यात्, समवायिकारणाभावे कार्योत्पत्त्यभावात् । दिवि भुव्यन्तरिक्षे चोपजाताः शब्दा एकार्थसमवेताः शब्दत्वात् श्रूयमाणाद्यशब्दवत् । श्रूयमाणाद्यशब्दयोश्च एकार्थसमवायः कार्यकारणभावेन प्रत्येतव्यः ।"-प्रश० कन्द० पृ० ६२ । (७) स्पर्शस्य । (८) वायुसन्निकर्ष । (९) इन्द्रियेण । (१०) सम्बद्धम् । (११) अयमर्थः-यस्य भोजनं कृतं तस्य शरावः भाण्डः खण्डितः ।

स्यान्मतम्, स्पर्शमात्रे वायोरारोपात् 'स लगति' इति प्रतीतिः न तद्ग्रहणात्[1] इति; तर्हि रूपे घटारोपात् 'घटं पश्यामि' इति वित्तिः न तद्दर्शनात् इति सौगतमतम्। रूपोपाधिर्घटः प्रतीयते न स्पर्शोपाधिर्वायुः इति कुतोऽयं विभागः ? अथ [2]द्वीन्द्रियग्राह्यं द्रव्यं प्रत्यक्षम्, न च वायुस्तथा[3]; चन्द्रार्कादीनां प्रत्यक्षत्वं न स्यात्। पार्श्ववर्तिना[4] तेषाम् इन्द्रियद्वयेन ग्रहणाददोषश्चेत्; वायोरपि विशिष्टपुरुषेण[5] तद्द्वयेन ग्रहणाददोषोऽस्तु। किमत्र प्रमाणम् ? 'अन्यत्र किम्' इति समानम्। [6]तस्य रूपादेरभावान्न विशिष्टेनापि तथा[7] ग्रहणमिति चेत्; चन्द्रादौ स्पर्शादिरस्ति इति कुतः ? रूपवत्त्वात्; प्रकृते [४६९क] 'स्पर्शवत्त्वात्' इत्यभ्युपगमात्। शेषं चिन्तितमत्र।

यदि चायमेकान्तः [8]द्वीन्द्रियग्राह्यमेव[10] प्रत्यक्षम्; आत्मा प्रत्यक्षो न स्यान्मतम (स्यात्, मनस) एव तद्ग्रहणे व्यापारो नान्येन्द्रियस्य। किं च,

एकैकस्य नचेच्छक्तिः इन्द्रियस्येह तद्ग्रहे।
तद्द्वयस्यास्तु सा कस्मात येनैवमभिधीयते ॥

तन्न किञ्चिदेतत्।

अथवा, गगनवत् परमाणवोऽपि अत्यन्तपरोक्षा इति तत्परिणामोऽपि शब्दः प्रत्यक्षो न स्यादिति समानमिति चेत्; अत्राह-**परिमण्डलानाम्** इत्यादि। **तादात्म्यपरिणामोपपत्तेः** प्रत्यक्षत्वपरिणामोपपत्तेर**समानं** दूषणमिति। वायुना व्यभिचार इति चेत्; अत्राह-**वायोरपि** इत्यादि।

उपसंहारमाह-**तदिमे** इत्यादिना। यत एवं **तत्** तस्मात् **इमे** शब्दाः। किंभूताः ? इत्याह-**चैतन्ये**त्यादि। **चैतन्यग्रहणेन** अपौरुषेयशब्दव्युदासः, **विशेषपदेन** मिथ्याज्ञानप्रसूत-ध्वनिपरिहारः। किंभूताः पुनरपि ? इत्याह-**वर्ण** इत्यादि। ते किं क्रियन्ते ? इत्याह-**व्यवहार-पदवीमुपनीयन्ते**। किं कृत्वा ? इत्याह-**कथञ्चिद्** इत्यादि। केनचित् उपपत्तिप्रकारेण **प्रतिपद्य** ज्ञात्वा। काम् ? इत्याह-[**अर्थ** इत्यादि] **अर्थे** घटादौ **संसर्गः** सम्बन्धो यस्याः शब्दानां **योग्य-तायाः** ताम्। ननु नार्थे शब्दानां योग्यतयापि सम्बन्धः, तथापि पुरुषप्रकारेण ते व्यवहारपदवीमुप-नीयन्ते इति चेत; अत्राह-**नान्यथा** इति। तदेव दर्शयन्नाह-**कथञ्चित्** इत्यादि। निदर्शन-माह- **शब्दान्तरवत्** इति। अवर्णाद्यात्मकसमुद्रघोषादिवदिति [४६९ख]।

ननु योग्यता कार्यदर्शनादनुमीयते, न च शब्दानामर्थप्रतीतिरूपं कार्यमस्ति, तेभ्यः अस्पष्ट-साधारणाकारस्यैव प्रतीति(स्तेत)न्निरासार्थं न्वस्ति (?) तेषामिन्द्रियेऽन्यथा प्रतिभासनात्। भिन्नावभासिनोस्व(श्च) ज्ञानयोः नैकविषयता रूपादिज्ञानेष्वपि तत्प्रसङ्गात्। अथ योग्यतातः तत्कार्यव्यवस्था; अन्योऽन्यसंश्रयः-योग्यतायाः [11]तद्व्यवस्था, अतश्च योग्यतासिद्धिरिति चेत्; अत्राह-**वाग्** इत्यादि।

(१) वायुग्रहणात्। (२) चक्षुःस्पर्शनेति। (३) इति चेत्; (४) तदधिष्ठायकदेवेन। (५) योगिना। (६) वायोः। (७) द्वीन्द्रियेण। (८) वायौ रूपादिः। (९) चक्षुस्पर्शनेन्द्रियाभ्याम्। (१०) द्रव्यम्। (११) तत्कार्यव्यवस्था।

[वागक्षसंविदेकार्थगोचरत्वेऽपि युज्यते ।
प्रतिभासभिदा दूरासन्नैकार्थोपलम्भवत् ॥३॥

सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदेऽपि नार्थभेदैकान्तः प्रत्यासन्ने[तरज्ञानवत्] । कथमन्यथा अभ्रान्तज्ञानेन वस्तु पश्यन्नयं शुक्तिकाया विशिष्टमेव रूपं न पश्यति ? समानरूपासंभवात् ।
५ तत्संभवे प्रत्यासन्नेन रूपद्वयोपलम्भप्रसङ्गात् । तदयमासन्नवत् तदसाधारणं रूपं पश्यन्नपि न निश्चिनोति निश्चयप्रत्ययवैकल्यादिति उच्यमानं न जाघटीति । न हि प्रत्यासन्नेतर-विज्ञानयोः स्पष्टास्पष्टप्रतिभासविशेषमन्तरेण निश्चयप्रत्ययसाकल्यवैकल्यसंभवः । कथं च तयोः दूरेतरत्वादिसामग्रीभेदात् दर्शनस्वभावभेदो न स्यात् ? यतः प्रत्यासन्नवत् दूरस्थः स्पष्टमेव पश्येत् ? तन्न···]

१० **वाचाम् अक्षाणां** स्वकार्यभूताः **संविदः** तासाम् **एकार्थगोचरत्वेऽपि यो(यु)-ज्यते** । का ? इत्याह–**प्रतिभासभिदा** स्पष्टेतरप्रतिभासभेदः, निदर्शनमाह–**दूर** इत्यादि । **दूरासन्नौ यौ** पुरुषौ तयोः **एकः** साधारणो योऽ**र्थः** वृक्षादिः तस्य **उपलम्भयो**रिव **तद्वत्** । यथा दूरस्य तत्रैवार्थो(र्थे)ऽस्पष्ट उपलम्भः आसन्नस्य इतरः तथा क्षणस्य अस्पष्टैकत्रार्थे संविदिति न दोषः ।

१५ कारिकां व्याख्यातुमाह–**सामग्री** इत्यादि । शब्दाऽक्षादि**सामग्र्याः भेदात्** नानात्वाद्धेः (त्वाद्धेतोः) **प्रतिभासभेदेऽपि नार्थभेदैकान्तः** । निदर्शनमत्र **प्रत्यासन्न** इत्यादि ।

ननु दूरस्थस्य अविशदं ज्ञानम् अनर्थविषयमेव, तदवभासिनो घनाऽविशदाकारस्य अर्थऽ-भावात् । भावे वा आसन्नस्यापि [1]तत्प्रतीतिप्रसङ्गः । विशदेतररूपद्वयसद्भावे उभयत्र उभ-यप्रतीतिः, न चैवम् । तन्नाविशदार्थगोचरमविसंवादः, प्रमाणान्तरात् (?) तथा चोक्तम् ।
२० *"**समेव (ममैव) प्रतिभासो न स संस्थान[४७०क]वर्जितः ।**" [प्र० वार्तिकाल० २।१] इत्यादि । वस्तुविषयं तु शुक्तिकादिज्ञानं दूरेऽपि विशदमेव, तत्र रजतादिप्रतीतिः अन्या मानसी भ्रान्तिः तत्कथमुक्तम् **सामग्री**त्यादि इति चेत् ? अत्राह–**कथमन्यथा** इत्यादि । **अन्यथा** सामग्रीभेदाद् बुद्धिप्रतिभासभेदे अर्थभेदैकान्ते(न्त)प्रकारेण दूरस्थः **पश्यन् अभ्रान्तज्ञानेन** अविकल्पेन **वस्तु** प्रतिपद्यमानो**ऽयं जनः** ।

२५ तेन 'दूरस्थस्यापि शुक्तिकादिज्ञानं परस्य प्रत्यक्षम् , ततः परं रजतादिभ्रान्तिः मानसी, अन्यथा तद्भ्रान्तेः न किञ्चिदुदाहरणम्' इति मतं दर्शयति–**शुक्तिकायाः**, उपलक्षणमेतत् तेन 'मरीचिकाचक्ररज्वादेः' इत्यपि गृह्यते, **विशिष्टमेव** सर्वतो व्यावृत्तमेव **रूपं** स्वभावं **न पश्यति** कथमिति सम्बन्धः पश्यत्येवे[त्य]र्थः । तथा च आसन्नवद् दूरेऽपि रजतादिभ्रान्तिः । नहि नीले अन्यतो व्यावृत्ते दृश्यमाने सोऽस्ति इति भावः ।

३० स्यान्मतम्–यथा दूरेऽपि विरलकेशेषु परस्परविवेकाप्रतिभा[से]सर्वसाधारणी कृष्णता प्रतिभाति ; तथा शुक्तिकायाः विशिष्टरूपादर्शनेऽपि शुक्तिकारजतसाधारणं चैकचित्र (चाकचिक्य)-

(१) घनैकाकारप्रतीति । (२) भ्रान्तिः ।

मात्रं पश्यति इति ; तत्राह–**समानरूपासंभवादिति** । **समानस्य** शुक्तिकारजतसादृशस्य **रूपस्य** स्वभावस्य सौगतमतेऽ**संभवात्** । तथा च दूरे केशप्रतीतिवत् शुक्तिकायामपि समानरूपप्रतीति-र्मानसी भ्रान्तिः स्यादिति मन्यते । तत्र तद्रूपभावे दूषणमाह–**तत्संभवे** समानरूपसंभवे **प्रत्या-सन्नेन** नरेण **रूपद्वयोपलम्भप्रसङ्गात्** [३७०ख] तद्रूपासंभवादिति । पश्यत्येव तर्हि तस्या विशिष्टमेव रूपम् अन्यथा अनेकान्तः स्यादिति चेत् ; अत्राह–**तदयम्** इत्यादि । **सोऽयं दूरस्थः** ५ **तदसाधारणं** तस्याः शुक्तिकाया विशिष्टं **रूपम् आसन्नवत्** आसन्न इव तद्वत् **पश्यन्नपि न निश्चिनोति** तद्रूपम् । कुतः ? इत्याह–**निश्चय** इत्यादि । [**निश्चयप्रत्ययवैकल्यात्**][2] **इति** एवं परेणोच्यमानं **न जाघटीति** । कुतः ? इत्याह–**नहि** इत्यादि । **हि**र्यस्मात **न प्रत्यासन्ने-तरविज्ञान[यो:]स्पष्टास्पष्टप्रतिभासविशेषमन्तरेण** प्रत्यासन्नस्य विज्ञानस्य स्पष्टप्रतिभासभेदम् इतरस्य दूरस्य विज्ञानस्य अस्पष्टप्रतिभासभेदं विनाशमान(विना समान)प्रतिभास इत्यर्थः । १० **निश्चयस्य प्रत्ययो** हेतुः तस्य **साकल्यवैकल्यसंभवः** । अनुभवो हि तत्प्रत्ययः, स च द्वयो-रपि समानः, नैकत्र तस्य साकल्यम् अपरत्र वैकल्यम् इति भावः । दर्शनपाटवादिकमपि तत्कार-णम्, तद् दूरस्थे नास्तीति चेत् ; अत्रेदं चिन्त्यते–किमिदं तत्र दर्शनस्य पाटवम् ? प्रवृत्त्यभाव इति चेत् ; कुतः तस्य शुक्तिकायां मानसो रजतविपर्ययः ? यत इदं स्यात्–

*"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन संयु[यो]ज्येत गुणान्तरम् । १५
शुक्तौ वा रजताकारः रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥" [प्र० वा० ३।४३] इति ।

दर्शनाभावः रूपसाधर्म्यदर्शनं च इति विरुद्धम् । अथ सतोऽपि निश्चयजननासाम-र्थ्या[त्] तदिष्यते शुक्लतामात्रेऽपि ततो निश्चयो न भवेदिति न तत्र दर्शनव्यवहारः । तत्र सामर्थ्यम् [४७१क] अन्यत्र विपर्ययश्चेत् ; न निरंशे तदप्ययोगात्[3] । एकत्र सामर्थ्यमन्यत्र विपर्ययश्चेत् ; न ; नित्यानिषेधप्रसङ्गात् । २०

किंच, स्वग्रहणशक्तिरेव परग्रहणशक्तिः इति न बहिरर्थग्रहणनिषेधोऽपि । यदि पुनः अवैशद्यम् अपाटवम् ; तर्हि इदमायातम्–'इतरविज्ञानाऽस्पष्टप्रतिभासविशेषे सति निश्चयप्रत्ययवैकल्य-संभवः' इति, स्वभ्यासादिमतोऽपि दूरस्थस्य तन्निश्चयः इति न तद्वैकल्यं तत्र तदभावहेतुः । अथ अदूरत्वमपि निश्चयप्रत्ययः, ततो दूरस्थस्य तत्प्रत्ययवैकल्यसंभव इति चेत् ; अत्राह– **कथं च** इत्या द(दि । अयम)भिप्रायः–यथा प्रत्यासन्नेतरयोः शुक्तिरूपानुभवाऽविशेषेऽपि निकट- २५ त्वाऽनिकटत्वप्रत्ययभेदा[न्]निश्चयानिश्चयौ[4], तथा अर्थाविशेषेऽपि **तयोः**[5] **दूरेतरत्वादि-सामग्रीभेदाद् दर्शनस्य स्वभावभेदः** विशदेतररूपविशेषः **कथन्न स्यात् ?** स्यादेव, **यतो** दर्शनस्वभावभेदाभावात् **प्रत्यासन्नवत् दूरस्थ[:]स्पष्टमेव पश्येत्** । **यतः** इति वा आक्षेपे नैव पश्येत् । यदि च, यथा आसन्नः तथा दूरस्थोऽपि शुक्तौ विशिष्टं स्पष्टमेव रूपं पश्येत् ; तर्हि दूरस्थितविरलकेशानामपि तथाविधमेव रूपं पश्यति, निश्चयप्रत्ययवैकल्यात् न निश्चिनोति ३०

---

(१) शुक्तिकायाः । (२) अत्र पाठस्त्रुटितः प्रतीयते । (३) रूपद्वयाभावात् ।
(४) भवतः । (५) प्रत्यासन्नेतरयोः ।

इति स्यात । तथा च *"अणवो दूरविरलकेशवत् घनैकाभासमतिहेतवः" [प्र० वार्तिकाल० २।९२] इति प्रज्ञाकरस्य वचनं प्लवते । धर्मकीर्तेः *"चन्द्रद्वयज्ञानम् इन्द्रियजम्" इति । [४७१ ख]शक्यं हि वक्तुम्-प्रथममेकं त(मेकेन्दु)दर्शनं तदनन्तरं तद्द्वयविकल्प इति । कथमस्य वैशद्यमिति चेत ? कथं स्थूलैकघटादिविकल्प[स्य ?] ।

५ ननु च उक्तमत्र *"मनसोर्युगपद्वृत्तेः" [प्र० वा० २।१३३]इत्यादि । सत्यमुक्तम्-तत्तु अन्यत्राप्युक्तम् । 'अक्षभावाभावानुविधानं कथम् ?' इत्यपि न चोद्यम्; अस्य तद्विकल्पेऽपि समत्वात् । न च तत्र तन्नास्ति ; लोकस्य तथैव व्यवहारात् तदुक्तम्-*"अक्षज्ञानमनेकान्तमसिद्धं स्पराकृतेः ।" [प्रमाणसं० १।४] इति ।

अक्षजदर्शनान्तरभावित्वात्तत्र तद्विभ्रमः इति चेत् ; तथा चोक्तम्-

१० *"प्रत्यक्षासन्नवृत्तित्वात् कदाचिद् भ्रान्तिकारणम्" इति ; तदपि तादृगेव ।

यत्पुनरेतत्-अन्यत्र *"दृष्टस्मृतिमपेक्षेत" [प्र०वा० २।२९८] इति ; तदप्येतेन निरस्तम् ; नहि तद्विकल्पः तामपेक्षते क्वचित्तद्दर्शनाऽनभ्युपगमात् । तद्वासनातः तद्विकल्पः इति चेत् ; न ; सर्वस्य सर्वदा तस्य भावात् । व्यवहिता सा ; तद्द्वयविकल्पेऽपि । कामाद्युपप्लववत् बहिरर्थाभावः स्यादिति चेत ; अत एव संवेदनस्यापि स्थूलैकाकारवत् न द्विचन्द्रा-

१५ कारस्य विकल्पगोचरत्वेऽपि सन्तानान्तरे वाचकैः समर्पणम् । यदि पुनः तथापि तैमिरिकः चन्द्रादेः[वि]शिष्टं रूपं न पश्यति ; दूरस्थः शुक्तिकादेरपि तन्न पश्यति । तथाप्यस्य वस्तुविषयत्व(त्वे)शब्दस्याप्य त्वे(प्यस्तु । ए)तदेव दर्शयन्नाह-तत्र इत्यादि ।

ननु सामान्यं शाब्दे ज्ञाने प्रतिभाति । तच्च(न च)वस्तुनो भिन्ने(न्नं)तद्रूपमस्ति विरोधात्, ततो निर्विषयं तदिति चेत ; अत्राह-शब्द इत्यादि । [४७२ क] ।

२० **[शब्दसंसर्गयोग्येतरनिर्भासैकविकल्पवत् ।**
स्याद्भेदो बहिरर्थस्य ततस्तत्त्वं द्वयात्मकम् ॥४॥

यथैव हि···ततः परमार्थसन् शब्दबुद्धौ प्रतिभासेत । यदि पुनरयं स्थिरस्थूलाकारः असन्नेव कथं प्रत्यक्षः कथं वा स्वार्थक्रियाकारी यतो लोकव्यवहारः ? तथा विकल्पस्वलक्षणस्य तदतदात्मकत्वमनिष्टमप्युपपद्येत । तथा च बहिरर्थस्य कस्यचित्

२५ **अक्षशब्दज्ञानविषयत्वं कथन्नाङ्गीक्रियते यतः शब्दानां विकल्पानां च मिथ्यैकान्तताऽवसीयते । न चैतद् युक्तम्, कस्यचित्सम्यक्त्वमन्तरेण तन्मिथ्यैकान्तप्रतिपत्तेरयोगात् । तत्तत्त्वविकल्पसंभवे कथं सर्वविकल्पमिथ्यात्वम् ? तथाऽविकल्पसंवित्तेः निर्णयविरोधात् ।]**

शब्दस्य तेन वा **संसर्गः** सम्बन्धः तस्मै **योग्यः इतरो**ऽयोग्यः तौ आकारौ **निर्भासौ** तयो**रेकः** साधारणो **विकल्पः** । ननु सोऽपि असाधारणरूपमग्नोऽविकल्प

---

(१) "यथा विरलदेशस्थिता अपि केशमशकमक्षिकादयः एकघनाकारं प्रत्ययमुपजनयन्ति···"-प्र० वार्तिकाल० । (२) 'प्लवते' इति सम्बन्धः । "नीलद्विचन्द्रादिधियां हेतुरक्षाण्यपीत्ययम् ।"-प्र० वा० २। २९४ । (३) इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानम् । (४)अन्यसन्ताने ।

एवेति चेत् ; आस्तां तावदेतत् । तस्यैव तद्वत् । **स्याद् भेदो बहिरर्थस्य ततः तत्त्वं द्व्यात्मकम्** सामान्यविशेषात्मकम् ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**यथैव हि** इत्यादि । निगमनमाह–**तत** इत्यादि । यत एवं **ततः परमार्थसन्** न संवृतिसन् **शब्दबुद्धौ प्रतिभासेत** ।

ननु विकल्पस्वलक्षणस्य अभिलापसंसर्गयोग्यत्वेनाभिमत आकारः ततो न व्यतिरिच्यते ५ इति स्वलक्षणमेव, तन्न दृष्टान्तसिद्धिरिति चेत ; अत्राह–**यदि पुनः** इत्यादि । **अयं** परि-दृश्यमानः **स्थिरस्थूलाकारः** शब्दवाच्यो **यदि पुनः असन्नेव** अविद्यमान एव विकल्पबुद्धि निरंशासेति (निरंशेति) यावत **कथं प्रत्यक्षः** स्वसंवेदनाध्यक्षग्राह्यः ? येन प्र ज्ञा क र गु प्त स्य इदं व[च]नं शोभेत– *"**प्रमेयद्वैविध्यं प्रमाद्वैविध्यसाधनं प्रत्यक्षतः प्रतीयते**"[1] इति । दृश्यसञ्च स (नहि असत् शश) विषाणमध्यक्षगोचरः ; तथा च स्वलक्षणमेकमेव प्रमेत्र[2] प्रमे- १० यम् , तत्र प्रत्यक्षमेव प्रमाणं न द्वितीयप्रमाणावकाश इति भावः ।

स्यान्मतम्–स एव तदाकारो विशेषेषु समारोपितः सामान्यम , ततोऽयमदोषः इति ; तत्राह–**कथं च (वा)** इत्यादि । शब्दवृत्तिः अनुमानप्रवृत्ति[श्च]**स्वार्थक्रिया तत्कारी** विकल्पबुद्धेरयमाकारोऽसन्नेव कथम ? **'वा'** इति दूषणसमुच्चये, **यतः** तत्का (तत्करणात[3]) **लोकस्य व्यवहारः** [४७२ ख] प्रवृत्त्यादिरूपः । १५

इदमत्र तात्पर्यम्–आकारोऽयं विशेषेषु किं तेनैव विकल्पेन आरोप्यते, विकल्पान्तरे-ण वा ? येनोच्यते प्र ज्ञा क रे ण–*"**स एवाकारोऽस्पष्टः ततोऽव्यतिरिच्यमानतनुः स्वलक्षणमपि भिन्ने खण्डादौ चारोप्यमाणः सामान्यम्**" इति[4] । तत्राद्ये पक्षे सिद्धा विकल्पस्य अभिलापसंसर्गयोग्यता, (?) अन्यत्र आरोप्यरूपस्य भ्रान्तस्यापि स्वीकारात् । न चैवं परस्य मतम् । एतेन द्वितीयोऽपि विकल्पश्चिन्तितः ; तथाहि–द्वितीयोऽपि विकल्पः २० प्रथमविकल्पस्य आकारमन्यत्र आरोपय रि[यति]स्वस्य नेति तस्यापि [5]भ्रान्ते[त]रूपापरि-त्यागः । अथ तस्यापि तत्र तदारोपः (?) स्वाकारत्वात स्वलक्षणम् ; अत्रापि स एव दोषः **'असन्नेव कथं स्वा–'** इत्यादिकः । पुनरपि विकल्पान्तरेण तस्य तत्र तदारोपे अनवस्था, पुनरपि [6]तदन्तरकल्पनात् ।

किं च, आद्य एव अन्यत्र स्वाकारमारोपयतु किं द्वितीयेन ? तत्र सत्यपि एकत्र विभ्र- २५ मेतरत्वानिवृत्तेः । भवतु आद्य एव तथा विकल्पः तथापि न भवतोऽभिमतसिद्धिः, आरोपिता-कारस्य असत्त्वात् , ततोऽनेकान्तेऽपि तथा स्यात् परमार्थाकारानेकान्तोपगमादिति चेत् ; अत्राह–**स्वलक्षणस्य** इत्यादि । **विकल्पस्वलक्षणस्य तदतदात्मकत्वम्** आरोपितेतराकारा-त्मकत्वं **तथा** तेन अनन्तरोक्तप्रकारेण **उप[प]द्येत** । किं भूतम् ? इत्याह–**अनिष्टमपि** सौग-

---

(१) "विषयद्वैविध्यं प्रत्यक्षत एव सिद्धम्"–प्र० वार्तिकाल० ३।२।(२) 'प्रमेत्र' इति व्यर्थम् । (३) अर्थक्रियाकरणात् । (४) "रूपादय एवाविशेषेण सामान्यमनुमानगोचरम् । व्यक्त्यन्तरापरित्यागे हि व्यक्त-य एव सामान्यमुच्यन्ते ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १९२ । (५) द्वयरूपतापत्तिरित्यर्थः । (६) विकल्पान्तर ।

तस्य अनभिमतम् । नहि निरंशैकान्तवादिनो [४७३ क] भ्रान्तोऽपि द्वितीयोंऽशः सुखाय । **अपि**शब्दः **तथा** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । **तथा च** तदनिष्टानुषङ्गप्रकारेण च **बहिरर्थस्य** घटादेः **कस्यचित्** जैनोपगतस्य नापरस्य **अक्षशब्दज्ञानविषयत्वं कथं नाङ्गीक्रियते ?** एकत्र भ्रान्तेतराकारद्वयाविरोधे अभ्रान्तसाधारणेतराकारद्वयाविरोधोऽपि दुर्निवार इति भावः ।
५ **यतो** संगी (यदङ्गी) करणात **शब्दानां विकल्पानां च मिथ्यैकान्तता अवसीयते** । विकल्पाकारस्य शब्दसंसर्गयोगस्य (स्य) सत्त्वमभ्युपगम्य इदमुक्तम् ।

अधुना तत्रा (तन्त्रा) र्त्तानि दर्शयन्नाह–**न चैतद् युक्तम्** इत्यादि । **न च** नापि **एतद्** विकल्पस्वलक्षणस्य तदात्मकत्वम् आरोपिताकारात्मकत्वं **युक्तम्** उपपन्नम् । कुतः ? इत्याह– **कस्यचित्** इत्यादि । **कस्यचिद्** विकल्पस्य **सम्यक्त्वं** यथार्थत्वमन्तरेण **तेषां** विकल्पानां यो
१० **मिथ्यात्वैकान्तः** तस्य **प्रतिपत्तेरयोगात्** । अस्त्येव स विकल्पः सम्यक्, यतः तदेकान्तप्रतीतिरिति चेत् ; अत्राह–**तत्त्व** इत्यादि । **स** तन्मिथ्यात्वैकान्तः **तत्त्वं** परमार्थो यस्य **विकल्पस्य** तस्य **संभवे कथं सर्वविकल्पमिथ्यात्वम् ?** 'विवादगोचरापन्ना विकल्पा मिथ्या [1]तत्त्वात् [2]ईश्वरादिविकल्पवत्' अतोऽनुमानात् तत्प्रतीतिः । [3]तच्च [4]अतत्त्वविषयमपि प्रमाणम् अविसंवादात्, [5]सोऽपि पारम्पर्येण वस्तुनः उत्पत्तेः । तथा चोक्तम्–

१५ *"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥"
[प्र० वा० २।५७]

[४७३ ख] तत्कथमुच्यते **तत्संभव (तत्तत्त्वसंभवे)** इति ? तदप्यसत्यम् ; यतः अनुमानस्य अतत्त्वविषयत्वे ततः तत्त्वाऽसिद्धेः, अन्यथा [6]प्रधानादिविकल्पादपि [7]तत्प्रसङ्गात् ।
२० [8]अस्य वस्तुन्यप्रतिबन्धात् नेति चेत् ; मरीचिकाजलज्ञानादपि तत्त्वसिद्धेः तदपि प्रमाणं भवेत्, तस्यापि पारम्पर्येण [9]तत्र प्रतिबन्धात् । तथाहि–मरीचिकाभ्यः तद्दर्शनम्, अतो जलविकल्पः इति । *"नो चेत्" [प्र० वा० ३।४३] [10]इत्यादि वचनादस्तु प्रमाणमिति चेत् ; प्रमाणान्तरं स्यात् । न प्रत्यक्षम् ; विकल्पत्वात् । नाप्यनुमानम् ; अलिङ्गजत्वात् । इतरथा *"**अनुमानानुमानिकम्**" [प्र० समु० १।८] इत्यनेन पर्याप्तमिति *"**भ्रान्तिसंवृतिसंज्ञा**
२५ **(सज्ज्ञा)नम्**" [प्र० समु० १।८] [11]इत्यनर्थकम् । जलस्यासतो ग्रहण (णं) तु प्रमाणमनुमानम्, तस्मात् सात्मनो (स्वात्मनो) ग्रहणात् । लोक एवं न मन्यते ; यो मन्यते तं प्रमाणे ति (णमिति) किं स्यादप्रमाणम् ? इतरथा शुक्लशङ्खादौ पीतादिज्ञानं विसंवादधियं प्रति प्रमाणं स्यादिति

(१) विकल्पत्वात् । (२) अनुमानम् । (३) सामान्यविषयमपि । (४) अविसंवादोऽपि । (५) साङ्ख्याभिमत । (६) तत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात् । (७) प्रधानादिविकल्पस्य । (८) वस्तुनि । (९) "नो चेद्भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम् । शुक्तौ वा रजताकारः रूपसाधर्म्यदर्शनात् ।"–प्र० वा० । (१०) "भ्रान्तिसंवृतिसज्ज्ञानमनुमानानुमानिकम् । स्मार्ताभिलापिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम् ।"–प्र० समु० । भ्रान्तिज्ञानं मृगतृष्णिकायां जलावसायि, संवृतिसतो द्रव्यादेर्ज्ञानम्, अनुमानं लिङ्गज्ञानम्, आनुमानिकं लिङ्गिज्ञानम्, स्मार्तं स्मृतिः, आभिलापिकं चेति विकल्पप्रभेद आचार्यदिग्नागेन उक्तः ।"–प्र० वा० मनोरथ० २। २८८ ।

तत्रानुमानोत्थापनमयुक्तमिति चेत् ; उच्यते-*"व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति"[प्र०वा० स्ववृ० १।७२] [1]इति वचनात् तेषां तत् प्रमाणं न स्यात्।

अथ ते विवेचयन्तोऽपि गत्यन्तराभावात् दृश्यविकल्प्ययोरेकीकरणात् प्रवर्त्तते (न्ते) ; तर्हि दूरस्थोऽविशदप्रतिभासाद् विवेचनचतुरधीरपि प्रवर्त्तते इति तदवस्थम् अनुमानोत्थापनमनर्थकम्। प्रवर्त्ततां को विरोध इति चेत् ? अनुमानवत् प्रमाणम् । अस्तु इति चेत् ; किं नाम ? प्रत्यक्ष- ५ मिति चेत् ; अनुमानमपि स्यात् । अवैशद्यान्नेति चेत् ; अत्र (अन्यत्र) समानम् । लिङ्गजत्वा-न्नेति चेत् ; एवं तर्हि कारणभेदात् [४७४क] मानभेदो न प्रमेयभेदात्[2] । तथा सति अक्षजन्मनो[3] मानसादि प्रमाणान्तरं स्यादिति न प्रमाणसङ्ख्यानियमः ।

स्यान्मतम्-स्वलक्षणगोचरत्वात्तदपि प्रत्यक्षम्, दूरस्थानुमानज्ञानयोः साधारणाविशद-विषयत्वादेकप्रमाणत्वमस्तु । अथ व्याख्यातॄणां नानुमानं प्रमाणम् ; कुतः ते स्वयं तत्त्वमव- १० बुद्ध्यन्ते परं वा प्रबोधयन्ति, येन ध र्म की र्ति प्र ज्ञा क र गु प्त द यो व्याख्यातारः स्युः ?

अथ मतम्-परप्रसिद्धानुमाने न तेषां वृत्तिरिति[4] चेत् ; न ते चार्वाकेभ्यो विशिष्यन्ते । तन्न युक्तम्-*"प्रमाणेतरसामान्यस्थितेः" [5]इत्यादि। स्वयं चानुमानमनिच्छन्तो *"निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः इति कोऽर्थः ? स्वरूपालम्बनाः" [प्र० वार्त्तिकाल० पृ० ३६५] इति कथं ब्रूयुः तत्र प्रत्यक्षावृत्तेः इत्युक्तम् । अद्वैतं च निराकृतम् । अथ अनुमानमर्थविषयमिति तेषा- १५ मपि प्रमाणं न मरीचिकातोयज्ञानम् ; आगतास्तेऽपि तर्हि मदीयं पन्थानमिति साधूक्तम्-**सर्वविकल्पमिथ्यात्वमिति** ।

अपरः प्राह-व्यवहारेण अनुमानं प्रमाणमिष्टम् "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र०वा० १।५] इति वचनात् । व्यवहारत्यागे तत्त्यागो भाण्डत्यागे शुक्ला (दुग्ध) त्यागवत् , तत्त्वं पुन-रविकल्पाध्यक्षात् सिद्ध्यति ; इत्यत्राह-**अविकल्पसंवृत्तेः(संवित्तेः)** इत्यादि । कुतः ? इत्यत्राह- २० **तथा** तेन मिथ्या सर्वे विकल्पा इति प्रकारेण **निर्णयविरोधात् अविकल्पसंवित्तेः** इति । तथाहि-

> विकल्पानुकृतेस्तस्य अविकल्पकता कुतः ।
> तेषां तया न निर्णीतिः [४७४ख]तादृप्यत्ययमिच्छताम् ॥
> सारूप्यमन्यथा वित्तौ निराधारं व्रजेदधः ।
> स्वरूपेतरसंवित्तौ नाविकल्पकताप्यतः ॥ २५
> तन्मिथ्यात्वस्य निर्णीतौ तया तस्या भवेत्कथम् ।
> अविकल्पकता नाम क्षणभङ्गे यतोऽनुमा ॥
> नसं (नन्व) निर्णयज्ञानं प्रत्यक्षं कैश्चिदीक्ष्यते ।
> निरस्ता ग्रन्थतोऽस्मात्ते समदोषानुषङ्गतः ॥

---

(१) "व्याख्यातार एवं विवेचयन्ति न व्यवहर्तारः, ते तु स्वालम्बनमेव अर्थक्रियायोग्यं मन्यमाना दृश्यविकल्प्यार्थावेकीकृत्य प्रवर्तन्ते ।"-प्र० वा० स्ववृ० १। ७२ । (२) प्रमाणभेदः । (३) निर्विकल्पात् । (४) प्रबोधनव्यवहारः । (५) 'अन्यधियो गतेः । प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ।' इति शेषः ।

यदि वा, तथा 'सर्वं विकल्पज्ञानं मिथ्या' इत्यनेन प्रकारेण **अविकल्पसंवित्तेः सकाशात् निर्णयविरोधात्।** विचारितमेतत् *"**अभेदात् सदृशस्मृत्या**" [सिद्धिवि० १।६] इत्यादिना।

ननु तस्य दर्शने न कश्चिद् विकल्पो नाम, स्वरूपमात्रवेदने तदयोगादिति चेत; उक्तमत्र–**स्थूलैकाकारप्रतिभासादिति।** तथाप्यविकल्पकत्वे विकल्पे नामान्तरम्[1]। अथायमाकारो न

५ ज्ञाने नाप्यर्थे, वनादिवद्विचार्यमाणस्यायोगात्, केवलमविद्याबलादाभातीति; तत्राह–**स्वग्राह्याकारं विकल्प(कारवैकल्य)**मित्यादि।

[स्वग्राह्याकारवैकल्यं संवित् संवृण्वती स्वतः।
भेदेऽप्यभेदग्रहणात् स्वभावानपि स्वार्थयोः ॥७॥

चित्तस्वलक्षणं कथञ्चित् प्रतिभासनं स्वार्थयोः प्रतिभासेत ग्राह्य[ग्राकारत्वात्]
१० **यतः, ततो न युक्तम् अनंश[विषयं]प्रत्यक्षादि, विकल्पकं निर्विषयम् इति।]**

ग्राह्याकारस्य स्थूलाकारस्य **वैकल्यम्** अभावः तच्च ज्ञानस्य स्वरूपमेव। **स्वं** च तद् **ग्राह्याकारवैकल्यं** च इति तत्। **संव(संवि)त्** बुद्धिः **संवृण्वती स्वतः** आत्मनैव सदपि स्वयं विषयतामनयन्ती, इतरथा न स्थूलाकारावभासः स्यात्। नहि नीलविविक्तयाते वत्र(क्ते पीते वेद्य)माने नीलस्य विभ्रमतोऽपि प्रतिभासः। अथ तदाकाराद्भिन्नमात्मानमसौ वेत्ति
१५ *"**नीलादिशरीरव्यतिरेकेण संवेदनस्यान्यस्याप्रतिभासनात्**"[2] इत्यस्य विरोधात्।

किंच, अयमाकारः [४७४क] संवेदना[त्]चेद्भिन्नः; कथमाभाति? स्वतश्चेत; संवेदनान्तरम्, तत्र चोक्तो दोषः–विरुद्धधर्माध्यासैकवस्तुसिद्धिरिति, *"**मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इत्यस्य विरोधश्च। संवेदनत्वेऽप्यसत्त्वमिति चेत्; न, *"**अज्ञातार्थप्रकाशः इति परमार्थलक्षणम्**" [प्र० वार्तिकाल० १।५] इत्यस्य विरोधात्।
२० विभ्रमाच्चेत; न विभ्रमसिद्धिः। पुनरपि संवेदनाद्भेदे अनवस्था। अविद्यावभासे एकस्य विभ्रमेतररूपता। अथ विकल्पेन आरोप्यते स तत्राकारः; न; स्पष्टताप्रसङ्गात्।

किंच, संवेदनात्तस्य भेदेनावभासे साकारभ्रान्तिर्न स्यात्। नहि नीलाद्भेदेन पीते प्रतिभासमाने तत्र नीलाकारेण साकारत्वभ्रमः कस्यचित्। अथ अभेदाध्यारोपादभेदभ्रमः; स कुतो मतः? उत्तरविकल्पात्; संहृताशेषविकल्पदशायां[3] न स्यात्, अभ्यासात् प्रवर्त्तमानस्य च[4]।
२५ तत एव संवेदनाच्चेत्; न[नु] च तेन तत्र तदव्यापारो(तदध्यारोपो)ऽभेदग्रहणान्नापरः। एवमिति चेत; तर्हि **भेदेऽपि अभेदग्रहणात्** तत्संवृण्वती इति सूक्तं भवत्वेवन्वेव(भवतु, एव)मिति चेत्; अत्राह–**स्वभाव** इत्यादि। **स्वभावान्** क्षणिकत्वादीन**पि** संवृणोति। कयोः? इत्याह–**स्वार्थयोः** इति।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**चित्तस्वलक्षणम्** इत्यादि। चेतसो निरंशत्वप्रतिपादनार्थं **स्वलक्षण-**

---

(१) कृतं स्यात्। (२) "नीलादिसुखादिकमन्तरेणापरस्य ज्ञानाकारस्यानुपलक्षणात्। (पृ० ३४५) सुखादिनीलादिव्यतिरिक्तमपरमिह जगति संवेदनं नास्तीति सुखादिवत् स्वसंवेदनं नीलादिकमपीति युक्त एव निर्णयः।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ४५४। (३) निर्विकल्पावस्थायाम्। (४) 'न स्यात्' इति सम्बन्धः।

ग्रहणम्, परस्य तत्रैव स्वलक्षणत्वोपगमात्, **कथञ्चित् प्रतिभासेत** न सर्वथा। किं कारणम्? इत्याह–**स्वार्थयोः** इत्यादि। किं कुर्वाणम्? इत्याह–**कथञ्चित्** [४७५ख] सच्चेतनादिप्रकारेण न धर्मान्तरे[ण]**प्रतिभासमानम्**। एतदपि कुतः? इत्याह–**ग्राह्य** इत्यादि। **यत** इति **यत** एवं **ततो न युक्तम्**। किम्? इत्याह–**प्रत्यक्षादि**। कुतः? इत्याह–**अनंश** इत्यादि। **विकल्पकं निर्विषयम्** इति। तदविकल्पकवदन्यस्यापि[अ]साधारणगोचरत्वादिति मन्यते। ५

प्रत्यक्षस्य असाधारणविषयत्वमाधिकां परकीयां युक्तिमपनुदन्नाह–**प्रत्यक्षम्** इत्यादि।

[प्रत्यक्षं स्वार्थशक्तेः स्वार्थाकारानुकारि चेत्।
सविकल्पमनस्कारशक्तेः स्यात् सविकल्पकम् ॥६॥

ततश्चैकत्वप्रसङ्गात् कस्यचित् केनचित् क्रमाक्रमनैरन्तर्यविप्रकर्षादिव्यवस्थैव न स्यात्।] १०

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं ज्ञानम्। किंभूतं तत्? इत्याह–**स्वार्थो** रूपादिपरमाणवः **तद(तदाकारा)नुकारि चेत्** यदि **स्यात्**। कुतः? इत्यत्राह–**स्वार्थस्य शक्तेः** सामर्थ्यात्। अत्र दूषणमाह–**सविकल्पमनस्कारशक्तेः** सामर्थ्यात् **स्यात् सविकल्पकं 'प्रत्यक्षम्'** इत्यनुवर्त्तते। तथाहि–सौगतप्रत्यक्षम् अनुमानसविकल्पकमुपादाय उपजायते, तथा कामशोकाद्युपप्लवः, एतदुभयोरपि नाल(तुल्य)त्वात् कुतस्तयोः अन्योऽन्यतो व्यावृत्तिः येन १५ व्यपदेशभेदः स्यात्। अथ ज्ञानस्य अर्थाज्ञा(अर्थाज्जा)तत्वेन, अर्थस्य ततो जडत्वेन; कुत एतत्? एकैकस्वभावस्यान्यासदृशस्यापि अन्यत्राभावादुच्यते; तयोः सदृशेतरतां(ता)प्रसङ्गः। अपि च, येन स्वभावेन तयोः अकार्यकारणेभ्यो व्यावृत्तिः तेन चेत् परस्परमकारणता[तयोरैक्यम्]।

तदेतेन अनुपादानोपादेयव्यावृत्तिरपि[४७६क] चिन्तिता। येन च स्वभावेन घटव्यपदेशभाजः परमाणवः मेरुपरमाणुभ्यो व्यतिरिच्यन्ते, तेन चेदन्योऽन्यम्; समूहाभावः। सुगत- २० ज्ञानं स्वोपादानानुमानक्षणात् येन रूपेण व्यावर्त्तते तेन यदि स्वोपादेयोत्तरक्षणात्; तस्योपादेयत्वमेवं न उपादानत्वम्। एतदेव दर्शयन्नाह–**ततश्च** तस्माच्च **एकत्वप्रसङ्गात् कस्यचित्** कारणक्षणस्य कार्यक्षणस्य वा **केनचित्** कार्यक्षणेन[कारणक्षणेन]वा यः **क्रमः** कस्यचिद् रसादेः केनचिद् रूपादिना यश्च **अक्रमः** कस्यचिज्जाग्रद्विज्ञानस्य केनचित् पूर्वज्ञानेन **नैरन्तर्य**(र्यं)प्रत्यासत्तिः स्वापव्यवहितप्रबोधित(प्रबोधेन) **विप्रकर्षः, आदि**शब्देन जडेतरत्वादिपरिग्रहः। यदि वा, घटे २५ कस्यचित् परमाणोः केनचित् परमाणुना **नैरन्तर्यं** प्रत्यासत्ति[:] द्रव्यान्तरपरमाणुना **विप्रकर्षादिः** तेषां **व्यवस्थैव न स्यात्**। एतेन द्वितीयोऽपि पक्षः चिन्तितः। तथाहि–चित्रज्ञानं येन स्वभावेन केवलनीलज्ञानाद् व्यावृत्तं पीतेन तेन चेत् तथा विज्ञानान्तरेभ्यः; पीतमेव स्यात्

---

(१) श्रुतमयी चिन्तामयी च भावने अनुमानरूपे, तत्प्रकर्षपरिप्राप्तौ सुगतज्ञानं भवति। (२) सुगतज्ञानं प्रमाणम्, कामाद्युपप्लवः तदाभासमिति। (३) अस्ति प्रतिभासभेदः। (४) व्यतिरेकस्तर्हि। (५) स्यात् किन्तु।

इति कुतः चित्रं नाम ? पूर्वमत्र यथासंभवं योज्यम् । विज्ञानपरमाणुसमुच्चयदर्शने अर्थपरमाणुसमुच्चयवद् वक्तव्यम् ।

ननु यदुक्तम्-*"तत्र दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाऽखिलो गुणः" [प्र० वा० ३।४४] इति ; तदसारम् ; दृष्टस्य अदृष्टस्वरूपायोगात् अतिप्रसङ्गात् तस्येति सम्बन्धाभावात् शशविषाणवत् । [४ ७६ख] न हि दृष्टस्य घटस्य अदृश्यं शशविषाणमिति भ[व]ति व्यपदेशः । पश्चात्तत्रैव प्रतीयमाने[नै]ति चेत् ; न; अत्र प्रमाणाभावात् इति ; अत्राह-**दृश्यादृश्यात्मभेदेऽपि** इत्यादि ।

[दृश्यादृश्यात्मभेदेऽपि तादात्म्यं रसादिषु ।
स्वसंविद्ग्राह्यनिर्भासविवेकादिवदञ्जसा ॥७॥

१० एकद्रव्य···स्वसंवेदनवत् ।]

उपलभ्यानुपलभ्यस्वभावनानात्वेऽपि **तादात्म्यम्** एकत्वं स्यात् । क्व ? इत्याह-**रसादिषु** । निदर्शनमाहात्र-**स्वे**त्यादि । **स्व**श्चासौ **संविद्ग्राह्यनिर्भासविवेक**श्च स **आदि**र्यस्य चित्रज्ञाननीलाद्याकाराणां ते तथोक्ताः तेष्विव **तद्वत्** । **अञ्जसा** परमार्थेन ।

कारिकार्थमाह-**एकद्रव्य** इत्यादिना । अत्र निदर्शनम्-**स्वसंवेदन** इत्यादि ।

१५ लब्धं फलं दर्शयन्नाह-[**तत एव** इत्यादि]

[तत एवोपाधितद्वद्भेदाभेदानुषङ्गिणः ।
अनवस्थादिदोषाः स्युस्तदनेकान्तहेतवः ॥८॥

यच्चेदम्-उपाधितद्वतोर्भेदैकान्ते सम्बन्धो न सिध्येत् । तदुपकारेऽपि तदेकोपाधिद्वारेण सर्वोपाध्युपकाराङ्गैकात्मना धर्मिणो ग्रहणे प्रमाणान्तरावृत्तिः । तदुपकारि-
२० कशक्तीनां परस्परतो भेदकल्पनायामनवस्था । माभूदनवस्थेति तदभेदकल्पनायां कुत एतत् समस्तमनेकान्तसाधनम् उपाधि···तदेकोपाधिविशिष्टस्य धर्मिणः प्रतिपत्तावपि प्रमाणान्तरम्, तदन्यविशिष्टस्य तस्याप्रतिपत्तेः । व्यवसायात्मकस्य [प्रवर्तकत्वात्] । यदर्थसामर्थ्योत्पन्नं तदाकारमेवानुकरोति प्रत्यक्षं तदनन्तरवत् ; नायमेकान्तः चित्स्वभावाभावप्रसङ्गात् । तदनेकान्ते सामग्रीभेदात् सविकल्पादिरूपता ।]

२५ **तत एव** तेषां तादात्म्यादेव । किम् ? इत्याह-**उपाधि** इत्यादि । **उपाधयः** विशेषणानि **तद्वन्तो** विशेष्याः तेषाम् **अन्योऽन्यम्** एकान्तेन यौ **भेदाभेदौ तदनुषङ्गिणो** ये **अनवस्थादिदोषाः** आदिशब्देन विरोधादिपरिग्रहः, **स्युः** भवेयुः । किंभूताः ? इत्याह-**तदनेकान्तहेतवः** ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-**यच्चेदम्** इत्यादि । पूर्वपक्षसमुच्चये चशब्दः । **यत्** (1)परं

(1) अन्यत् ।

परेणोक्तम्[1] **उपाधितद्वतोर्भेदैकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे **सम्बन्धो न सिध्येत्**। समवायादेरन्यस्य सम्बन्धस्य निषेधात्।

नन्वेवम् अग्निधूमयोरपि स न सिध्येत ; इत्यत्राह–**यद्यनुपकारः** इति। तयोर्यद्युपकाराभावः तदा न सिध्येत, उपकारे तु सिध्येदेव। उपकारोऽस्ति चेत ; अत्राह–**तदुपकारेऽपि** इत्यादि। तयोः परस्परम् एकस्मादेकस्य[४७६ क]चोपकारेऽपि **प्रमाणान्तरावृत्तिः**। ५ कस्मिन् सति ? आह–**धर्मिणो ग्रहणे सति**। केन ? इत्याह–**तदेकोपाधिद्वारेण, तस्य** धर्मिणो य **एक उपाधिः** विशेषणं **तद्द्वारेण**। किंभूतस्य तस्य ? इत्याह–**सर्वोपाध्युपकाराङ्गैकात्मनः**। **सर्वस्य उपाधेः** य **उपकारः** तस्य **अङ्गं** निमित्तम् **एको**ऽभिन्नः **आत्मा** स्वभावो यस्य तस्य इति। एवं मन्यते परः–एकोपाधिद्वारेण सकलोपाध्युपकारशक्त्यात्मा तद्वान् प्रतीयमानः सकलोपाधीआह(धीग्राहि)यति, तदग्रहे तदग्रहात इति कुतः प्रमाणान्तरवृत्तिरिति। १० अथ तदुपकारशक्तयो भिन्नाः तेनायमदोषः ; तत्राह–**तदुपकार** इत्यादि। **तेषामुपाधीनाम् उपकारिकाः** ताश्च ताः **शक्तयश्च** तासाम् **भेदकल्पनायाम्**। कुतः ? इत्याह–**परस्परत** इत्यादि। तथाहि–शक्तिशक्तिमतोर्भेदैकान्ते सम्बन्धो न सिध्येत् यद्यनुपकारः। तदुपकारेऽपि पूर्ववद्वक्तव्यम्। पुनरपि तद्भेदकल्पनायां स एव दोषः **इत्यनवस्था** स्यात्।

सांख्यस्य मतमाशङ्कते परो दूषयितुम **मा भूत्** इत्यादि। **माभूदनवस्था इति** हेतोः **तयोः** १५ उपाधितद्वतोर**भेदकल्पनायां** सांख्येन क्रियमाणायाम ? किम ? इत्याह–**कुत** इत्यादि[2]। स्वयमेतन्निराकुर्वन्नाह–**एतत्** परेणोच्यमानं **समस्तं** निरवशेषम **अनेकान्तसाधनम्**। कुतः ? इत्याह–**उपाधि** इत्यादि। ततः किं जातम ? इत्याह–**तदेकोपाधि** इत्यादि। **तत्** तस्मात् **तयोः** [४७७ख] कथञ्चित्तादात्म्यात् **एकोपाधिविशिष्टस्य धर्मिणः प्रतिपत्तावपि प्रमाणान्तरं** 'प्रवर्तते' इत्यध्याहारः। कुतः ? इत्याह–**तद्** इत्यादि। **तस्मात्** उक्तादुपाधि न्येरोपाधिना (धेर- २० न्येन उपाधिनाऽ) **विशिष्टस्य तस्याऽप्रतिपत्तेरिति**।

स्यान्मतम्–'प्रतिपन्नस्य अप्रतिपन्नं रूपम्' इति कुतोऽवगम्यते ? इत्यत्राह–**व्यवसायात्मकस्य** इत्यादि। **व्यवसायात्मकस्य** सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयस्य **[प्रवर्तकत्वात्]** न प्रतिपरमाणुनिष्ठाजं (निष्ठम) भ्रान्तमविकल्पकम् इन्द्रियज्ञानं चाभ्यासे प्रवर्त्तकं केषाञ्चित्[3]।

एतेन सुखादिसंवेदनं व्याख्यातम्। तदपि अभ्यासजं परस्य। अभ्यासश्च नाऽविकल्प- २५ कस्य ; चक्षुरादिज्ञानं च चिरप्रवृत्ति(त्त)केवलविकल्पसन्तानान्तरभावि। नहि तस्याविकल्पकारणं पूर्वं सन्निहितमस्ति। 'चिरविनष्टं उपादानं च'[4] निरस्तम्। तेषां च सविकल्पकत्वे तत्सन्ता-

---

(१) तुलना–"योऽपि मन्यते उपाधयः परस्परमाश्रयाच्च भिन्ना एव, तन्निबन्धनाः श्रु तयोऽपि तदाधारे तत्रैव वर्तन्ते, तदयमप्रसङ्ग इति; तस्यापि नानोपाधीनामुपकाराङ्गशक्तिभ्योऽभिन्नात्मनः सर्वात्मना ग्रहे कृते उपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः। (स्ववृत्तिः) तयोरात्मनि सम्बन्धादेकज्ञाने द्वयग्रहः। धर्मोपकारशक्तीनां भेदे तास्तस्य किं यदि। नोपकारस्ततस्तासां तथा स्यादनवस्थितिः॥ एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे। दृष्टे यस्मिन्नदृष्टास्ते तद्ग्रहे सकलग्रहः॥"–प्रमाणवा० स्ववृ० पृ० १३२–३८। (२) बौद्धः। (३) प्रज्ञाकरादीनाम्। (४) इति।

मितां तदेवं । एतेन मानसमपि चिन्तितम् । तदपि स[वि]कल्पाध्यक्षात्[1] तादृशमेवं । यदि पुनः तन्मनस्कारात्चित्द्रूपानुकरणमेव नाभिलापसंसर्गयोग्यानुकरणं तथा दृष्टेः, भावशक्तेरचिन्त्यत्वात् ; तत एव तर्हि परमाणुभ्यो नीलाद्याकारानुकारितैव न परस्परविवेकानुकारितैति (रितेति) प्राप्तम् , तथा च परमाणूनां सावयवत्वम् , प्रत्यक्षं च सामान्यगोचरम् अनेकसाधारणा-
५ कारानुकरणात् । अथ तत्रासौ आकारो नास्ति, कथमभा(कथमवभा)ति ? असन्नेवेति चेत् ; भ्रान्तमध्यक्षम् । तथेति चेत् ; [४७८क] लक्षणे[5] अभ्रान्तग्रहणमनर्थकं विषयाभावात् । व्यवहारार्थं तदिति चेत् ; न ; अनुम(मान)शब्दज्ञानगोचरस्यापि स्वलक्षणत्वमिति *"प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणं द्विविधम्"[6] इत्यसारम् , विचार्यमाणस्याऽयोगात् । नेति चेत् ; अत एव चक्षुरादिगोचरस्यापि न स्यात् । व्यवहारादिति चेत् ; प्रकृतं न परिहृतम् । अथ अनुमानादि-
१० विषयो न स्वलक्षणम् , तस्य इन्द्रिये अन्यथा प्रतिभासनात् ; स्थूलाकारोऽपि न स्वलक्षणं योगिज्ञाने अन्यथा प्रतिभासनात् । अन्यथा कुतः परमाणुसिद्धिः येनोच्यते–*"दूरविरलकेशवत् परमाणवः स्थूलप्रतिभासहेतवः"[7] इति ? अनुमानात्तत्सिद्धिरिति चेत् ; असोः कोशस्य तीक्ष्णता–यद् योगिनाऽप्रतिपन्नम् अनुमानं प्रत्येति ।

किंच, इतरवद् योगिनो भ्रान्तत्वं सविकल्पकत्वं च, तदाकारे योगिन[:]स्वलक्षणं मा भूत्
१५ अन्यस्य भविष्यतीति चेत् ; अभिलापसंसर्गयोग्याकारोऽपि व्याख्यातृणां मा भूत् व्यवहारिणां भविष्यति । अनर्थक्रियाकारित्वान्नेति चेत् ; तदाकारः किमर्थ[क्रिया]कारी ? तथा चेत् ; परमाणुकल्पनाम(नम)नर्थकम् । व्यवहारिणां स तत्कारीति चेत् ; अभिलाप्याकारोऽपि । नहि ते[9] शब्दाऽक्षज्ञानगोचरयोः भेदं मन्यन्ते । व्याख्यातारो मन्यन्ते इति चेत् ; तदनुसरणे शून्यतैव शरणम् ।[10] तत्र–

२० न विकल्पो नास्य(नाप्य)विकल्प इति[प्रवदन्ति]कोविदः ।
कोविदो अ(दोऽ)र्धाता येनाऽद्वैतादि[वि]कल्पना ॥
कोविदः स्यात् निषेधात्तन्निराशङ्को विदोऽत्यये ।

ततः सिद्धं व्यवहारतः[४७८ख]शब्दाक्षज्ञानयोः सामान्यविषयत्वम् ।

विविकल्पकसिद्धौ परकीयां युक्तिं दर्शयन्नाह–**यदर्थ** इत्यादि । **प्रत्यक्षं यस्यार्थस्य**
२५ **सामर्थ्येन उत्पन्नं तस्याकारमेव** न जात्यादेर**नुकरोति** । निदर्शनमत्र, **तस्य** प्रत्यक्षजनकस्य अर्थस्य **अनन्तरम्** उपादेयोऽर्थस्वलक्षणमिव **तद्वदिति** । दूषणमत्र–**नायमेकान्त** इति । कुतः ? इत्याह–**चित्स्वभावाभावप्रसङ्गात्** प्रत्यक्षस्य । तथाहि–यथा तत्[11] तथा [12]तत्तस्य[13] नीलतां तथा जडतामनुकरोति[14] द्वितीयार्थक्षणवत्[15] [जडत्वापत्तिः] । अन्यथा

---

(१) सविकल्पत्वमेव । (२) जायते इति । (३) सविकल्पकमेव । (४) विकल्पात्मकात् । (५) प्रत्यक्षलक्षणे । (६) "मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात्"–प्र० वा० २।१। (७) "यथैव केशा दवीयसि देशेऽसंसक्ता अपि घनसन्निवेशावभासिनः, परमाणवोऽपि तथेति न विरोधः ।"–प्र० वार्तिकाल पृ० २९६। (८) अर्थक्रियाकारी । (९) व्यवहारिणः । (१०) शून्यतायाम् । (११) 'तत् तथा' इति निरर्थकमत्र । (१२) प्रत्यक्षम् । (१३) स्वलक्षणार्थस्य । (१४) चेत् । (१५) जडमेव स्यात् ।

विषयसांशत्वम्[1] इदं[2] निराकुर्यात् *"शब्दादर्थप्रतीतौ अक्षसंहतेर्वैफल्यम्" इति[3]। ननु पित्रोराकारमनुकुर्वदपि अपत्यं न सर्वथा यथानुकरोति तथा इदमर्थस्य इति चेत्; अत्राह–**तदे(तदने)कान्त** इत्यादि। **तस्य** अर्थस्य **अनेकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे। किम्? इत्याह–**सविकल्प** इत्यादि। [अयम्]अभिप्रायः–अनेकान्तेऽपि तत उत्पत्तेः तदाकारानुकरणेऽयं दोषो नान्यथा इति, **सविकल्पे** त्यागनेन व्याख्यातम्। ५

स्यान्मतम्–यथा [तत्]अर्थस्य नीलत्वमनुकरोति न जडत्वं तथा तन्मनस्कारात् चिद्रूपतामात्रं[4] नाभिलाप्यमाकारम्; इत्यत्राह–**सामग्रीभेदात्** इत्यादि। तात्पर्यमिदमत्र–यथा कुतश्चित् प्रत्यासत्तेः प्रत्यक्षम् अर्थस्य नीलतामात्रमनुकरोति नाचेतनां तथा शाब्दं ज्ञानं तन्मात्रं तस्य गृह्णाति न वैशद्यमिति। ततो यदुक्तम्–*"यदि विशदोऽन्यथा वाऽर्थः तथैव उभयत्रापि प्रतिभासेत"; [४७९क] तन्निरस्तम्; अन्यत्र दोषात्। १०

यथा अर्थस्य चेतनाद् व्यावृत्तिरन्या अन्या वा(चाऽ)नीलव्यावृत्तिः नीलस्य, अन्यथा नीलानुकरणे जडतानुकरणमवश्यंभावि, तथा एकस्य यतो व्यावृत्तिः तद्रूपापेक्षया परमार्थभूतास्तावत्यो वावृत्तयः(व्यावृत्तयः) प्राप्नुवन्तीति दर्शयन्नाह–**एकस्य** इत्यादि।

[एकस्य सर्वतोऽन्यस्मात् व्यावृत्त्याऽनन्तरूपता।
तत्र दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ॥९॥ १५

कस्यचित्...नहि कश्चिदेकस्माद् व्यावृत्तः तदेकत्वप्रसङ्गात्। अविकल्पप्रत्यक्षस्य अन्यस्य च एकदा प्रवृत्तौ कुतः पुनः प्रवृत्तिः, तस्य तद्ग्राह्यस्य चार्थस्य व्यवसायोपपत्तेः। अत एव अक्षशब्दज्ञानानां कथञ्चित् परमार्थैकविषयत्वम् प्रत्यक्ष...]

एकस्य भावस्य **अनन्तररूप(नन्तरूप)ता**। कया? इत्याह–**व्यावृत्त्या,** जात्यपेक्षया एकवचनम् व्यावृत्तिभिः इत्यर्थः। कुतस्तया? इत्याह–**सर्वतः** साजा[तीयाद् विजातीया]च्च **अन्यस्मात्** परस्मात्। ततः किं जातम्? इत्याह–**तत्र** इत्यादि। यत एव **तत्** तस्मात् **दृष्टस्य[भावस्य]** उपलक्षणमेतत् अनुमितस्य शब्दप्रतिपादितस्य च **न दृष्ट एव** इदमप्युपलक्षणम् अनुमित एव **अखिलो गुणः** जडतावद् अन्यस्यापि अदृष्टस्य विरोधात्। २०

कारिकां व्याख्यातुमाह–**कस्यचित्** इत्यादि। तदनभ्युपगमे दूषणमाह–**नहि एकस्मात्** इत्यादि। येन स्वभावेन कश्चिद् एकस्माद् व्यावर्त्तते तेन परस्मादपि इति सौत्रान्तिकस्य। योगाचारस्य दर्शनम् अन्यस्यात्रातविकारात (अन्यस्मात्)। तत्र प्रथमपक्षे हि[5]यस्मात् **न कश्चिद्** भाव **एकस्मात्** चेतनाभिमतात् **व्यावृत्तः**। कुतः? इत्याह–**तदेकत्वप्रसङ्गात्**। २५

(१) आपाद्यमानं कर्तृ। (२) उच्यमानम्। (३) तुलना–"न तद् वस्तु अभिधेयत्वात् साफल्यादक्षसंहतेः।"–प्र० वा० २।११। "यदि समस्ताः सामान्यज्ञानेन प्रतीयन्ते तदा शब्दादुत्पद्यते यत्सामान्यज्ञानं तेन सकलव्यक्तिस्वरूपप्रतिपत्तेरक्षसंहतेर्वैफल्यप्रसङ्गः।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १९२। (४) सविकल्पचित्तात्। (५) अनुकुर्यात् प्रत्यक्षम्। (६) अत्रायं पूर्वपक्षः–"तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।"–प्र० वा० ३।४४।

तल्लक्षणेन येभ्यो व्यावृत्तः ते गृह्यन्ते, तेषामेकत्वं समानरूपता तस्य प्रसङ्गात् । तथाहि–यथा ज्ञानाज्जडतामादाय व्यावृत्त इति [४७९ख]म(न)ज्ञाने जडता तथा अन्यतोऽपि इति, ततः तस्यापि जडता न स्यात्, एकत्रैव सा भवेत् । अथ जडता यथा एकत्र[त]था अन्यत्रापि इति मतिः ; तर्हि(न तर्हि) यथैकस्मात् व्यावृत्तः[तथाऽन्यस्मादपि ।]

५ किंच, नीलज्ञानार्थयोः यैवाऽतन्नीलात् स्वभावभूता व्यावृत्तिः सैव चेत् परस्परम् ; तदा [अ]नीलाद् व्यावर्त्तमानस्य ज्ञानस्य ततो यथा नीलव्यपदेशः तथा बहिरर्थादपि व्यावर्त्तमानस्य स एव स्या[त्] न व्यपदेशान्तरं तन्निमित्ताभावात् । अथ तयोरनीलान्नीलतया व्यावृत्तिः न तया ज्ञानस्य नीलार्थात् ; कुत(कुतः अ)विकल्पप्रत्यक्षस्य अन्यस्य च अनुमानादेः प्रवृत्तौ सत्याम् एकदा पुनः पश्चात् प्रवृत्तेः(त्तिः)तत्रैव 'व्यवसायात्मकस्य' इति घटनात् । कुतः ?

१० इत्याह–तस्य इत्यादि । तस्य प्रत्यक्षस्य अन्यस्य वा तद्ग्राह्यस्य चार्थस्य व्यवसायोपपत्तेः । पुनरित्येतदत्रापि द्रष्टव्यम् । 'उपपत्तेः' इत्यनेन एतद्दर्शयति–यथैकचित्रज्ञानं स्वनिर्भासेषु युगपदावर्तते तथा क्रमेणापीति, [अ]त एव अनन्तरन्यायाद् अक्षशब्दज्ञानानां कथंचित् परमार्थैकविषयत्वं 'सिद्धम्' इत्यध्याहारः । कुतः ? इत्याह–प्रत्यक्ष इत्यादि ।

तदेव दर्शयन्नाह–प्रत्यक्षस्ये[त्या]दि ।

१५ **[प्रत्यक्षस्य पूर्वापरकोट्योः शब्दादेस्तथा ।**
स्वहेतुफलसन्तानो यथा स्वापप्रबोधयोः॥१०॥

मध्यरूपं पूर्वापरकाल्योरपि कथञ्चित् उपलभ्यं स्वभावविरुद्धानुपलब्धेः । न हि दृश्यात्मकमेव एकं स्तम्भाद्यवयवरूपमुत्प्रेक्षामहे, संवित्तिमात्रस्याप्यभावप्रसङ्गात् । तदेकान्ते यतोऽर्थक्रियानुपपत्तिः विरुद्धकार्योपलब्धिरेव । तदेतत् द्रव्यं दृश्यादृश्यान् सह-
२० **भूतान् स्वान् स्वभावानसङ्करेण स्वयं स्वव्यापकतया लक्षयेत् स्वलक्षणमाश्रित्य मिथ्यासन्तानव्यवस्थापनात् । स्वापप्रबोधादिषु तदतिप्रसङ्गोपालम्भेन कुतः सन्तानैकत्वं प्रतिपद्येत ?]**

[प्र]त्यक्षस्य मध्यावस्थायाम् अक्षज्ञानस्य वैशद्यस्य(द्यं) शब्दादेः तथा परोक्षता । क्वेत्याह(क ? इत्याह)–पूर्वापरकोट्योरिति । दृष्टान्तमाह–स्वहेतुफलसन्तानो यथा

२५ स्वहेतुफले उपादानोपादेयक्षणे, तयोः[४८०क] सन्तानो येन यथा प्रतीत्यादिप्रकारेण प्रत्यक्षः सन् परोक्षः तथा प्रकृतमपि । क स तथाभूतः ? इत्याह–स्वापप्रबोधयोरिति । स्वापेऽयं हि परोक्षः प्रबोधे प्रत्यक्षो भवति, पुनः तत्र प्रत्यक्षः स्वापे परोक्ष इति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–उपलभ्य[म्]इत्यादि । उपलभ्यं मध्यरूपं पूर्वापरकोट्योरपि न केवलं मध्य एवाऽस्तु । तर्हि पूर्वमेव परमेव वा स्यादिति चेत् ; अत्राह–कथञ्चिदिति । कुतः ?

३० इत्याह–स्वभाव इत्यादि । 'स्वभाव' इत्यनेन एकान्तस्वरूपं परामृश्यते तस्य विरुद्धो नित्याद्ये-

(१) नीलज्ञानस्य । (२) अनीलव्यावृत्तेः । (३) नीलज्ञानव्यपदेश एव स्यात् । (४) तदा । (५) प्रबोधे ।

कान्तः तस्य **अनुपलब्धिः**(ब्धेः) सुविवेचितमेतदसकृत् । **नहि** इत्यादिना एतदेव दर्शयति । **हि** यस्मात् **दृश्यात्मकमेव एकं स्तम्भाद्यवयविरूपं** व्यवस्थितमुत्प्रेक्षामहे युगपत् क्रमेण च कथञ्चिददृश्यताविरोधात् । एतदपि कुतः ? इत्याह-**संवित्ती**त्यादि । **संवित्तिरेव तन्मात्रं** तस्यापि न केवलं बहिरर्थस्यैवा**भावप्रसङ्गात्** । तदपि कुतः ? इत्यत्राह-**तदेकान्त** इत्यादि । **तदेकान्ते** संविदोऽन्यस्य वा दृश्यात्मकैकस्वभावैकान्ते **अर्थक्रियानुपपत्तिः यतोऽर्थस्य** उत्तरकार्यस्य **क्रिया** ५ **तदनुपपत्तिरिति** विचारितमेतत् ।

ननु संवित्तिमात्रदर्शने तदनुपपत्तिरिष्यते । *"अशक्तं सर्वम्" [प्र० वा० २।४] इति वचनात्, न च [त]दनुपपत्तेः संवेदनमात्रस्य प्रतीयमानस्याप्यभाव इति चेत्; अत्राह-[४८०ख] **विरुद्ध** इत्यादि । तदेकान्तविरुद्धोऽनेकान्तः तस्य **कार्यं** पूर्वस्य उत्तरपरिणामलक्षणं तस्य **उपलब्धिरेव** नानुपलब्धिः । संवित्तिमात्रमभ्युपगच्छतापि चित्रमेकमभ्युपगन्तव्यम्, तच्च १० तदविरुद्धमिति मन्यते ।

निगमनमाह-**तदि**त्यादि । यत एवं **तत्**तस्मा**दे**तत् प्रतीयमानं **जीवादि द्रव्यं लक्षयेत्** चिह्नयेत् । कया ? इत्याह-**स्वव्यापकतया** स्वेन रूपेण न समवायेन या व्यापकता तया इति । कान् ? इत्याह-**स्वान् स्वभावान् स्वयं** नेश्वरेण । किंभूतान् ? इत्याह-**सह** इत्यादि । पुनरपि किंभूतान् ? इत्याह-**दृश्ये**त्यादि । केन ? इत्याह-**असङ्कर** इत्यादि । कुतः ? इत्याह-**स्वलक्षणं** १५ न द्रव्यमाश्रित्य **मिथ्यासन्तानव्यवस्थापनात्** सौगतेनेति । तदनभ्युपगमे दोषमाह-**कुत** इत्यादि । **कुतः** कारणात् प्रमाणाद्वा **सन्तानैकत्वं प्रतिपद्यत**(द्येत) सौगतः ? न कुतश्चित् । केन ? इत्याह-**नदिति (तदति)प्रसङ्गोपालम्भेन-तस्य** द्रव्यस्य **अतिप्रसङ्गोपालम्भो** *"सर्वस्योभयरूपत्वे" इत्यादिकः [प्र०वा०३।१८१] तेन इति । क्व ? इत्याह **स्वापप्रबोधादिष्विति** । २०

तु (ननु) स्वापे यत एव चैतन्यं नोपलभ्यते तत एव नास्ति, तत्कथं तन्निदर्शनेन एकस्य दृश्येतरतासाधनमिति चेत् ? अत्राह-**परोक्ष** इत्यादि ।

[परोक्षक्षणिकानन्ताणुवर्णपरिमण्डलः ।
स्यात्प्रत्यक्षस्थिरैकात्मस्थूलोऽर्थः स्फुटदर्शनात् ॥११॥

न हि...परिस्फुटम्, तदतिक्रमे दृश्यादृश्यव्यवस्थानुपपत्तेः । सुदूरमपि गत्वा २५ **दृश्यादृश्यात्मैकरूपस्य चित्तस्य इतरस्य वा प्रतिक्षेपे अभावात् किं केन प्रमीयेत ।]**

अर्थः **स्यात्** भवेत् । किंभूतः स्यात् ? इत्याह-**परोक्षम्** इन्द्रिय(या) ग्राह्यं **क्षणिकानाम् अनन्तानामणूनां वर्णपरिमण्डलं** यस्य स तथोक्तः । पुनरपि किंभूतः ? इत्याह-[४८१क] **प्रत्यक्षात्थ**···[**प्रत्यक्षश्चासौ**] **स्थिरः** कालान्तरस्थायी **एकः** साधारण **आत्मा** स्वभावो यस्य स चासौ **स्थूलश्च** । कुतः ? इत्याह-**स्फुटदर्शनात्** । स्थिरैकात्मनः स्थूल- ३०

---

(१) अर्थक्रियानुपपत्तेः । (२) 'तद्विशेषानिराकृतेः । चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥' इति शेषः ।

स्यार्थस्य विशददर्शने प्रतिभासनात् नाविशदकल्प इत्यर्थः । ततो यन्नदर्शनात् स्वापचैतन्याभावः; तत एव अर्थस्य क्षणिकानन्ताणुवर्णपरिमण्डलभाव इति सौत्रान्तिकः, सर्वदा स्वापाक्रान्तः अन्यथा हेतोरनेक(नैकान्ति)व्यभिचार इति भावः । अथ तत्परिमण्डलस्यैव प्रत्यक्षता ; स्वापचैतन्यस्यस्त्वास्तु (स्यात्यस्तु)[1]। स्वापाभावः स्यादिति चेत ; कोऽयं स्वापो नाम ? चैतन्यरहिता सिद्धदशा इति चेत् ;
५ कथमदृश्यस्य चैतन्यस्य तदा[ऽ]भावः ? अदृश्यानुपलब्धेर्गमकत्वापपत्तेः । व्यवहार(रि)जनात् ; स हि स्वप्नदर्शनविरहिणीं तां दशां मन्यते इति चेत् ; स एत(एव) तर्हि तत्परिमण्डलदर्शनविकलां सकलां सकलकालकलापकलितां तां मन्यते इति समानम् । कथमन्यथा विवादः यतः तदर्थं शास्त्रप्रणयनम् ?

स्यान्मतम्–न व्यवहारिणोऽनभ्युपगमात् परमाणुदर्शनाभाव इति स्वापे चैतन्याभावोऽपि
१० मा भूत् ***लक्षणयुक्ते बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्"** [प्र०वार्तिकाल०पृ०२२६] इति । व्यवहारी(रो)मया दूषितः स्यादिति चेत ; क्रियापीति समः समाधिः । यथा च तव तद्दूष-ने(तद्दूषणेऽ)पि न दोषः परमाणुसिद्धि(द्धे)रनिवारणात् तथा ममाप्यात्मसिद्धिः अबाधनात् । अथ तद्दूषणे ममापि तेन, अहमपि यतो व्यवहारी[2]; तवापि [४८१ख] तदिति समानम्, बहिः परमाणुषु त्वमपि व्यवहारी ***"प्रामाण्यं व्यवहारेण"** [प्र०वा०१।५] इति वचनात् । अथ
१५ प्रथमं व्यवहारी परमाणून्यस्य(णून् पश्यति) दर्शनोत्तरकालभाविन्या त(तु) विकल्पबुद्ध्या स्थिरै-कात्मस्थूलाध्य(लाध्य)वसायो मिथ्या इति चेत् ; न ; उक्तमत्र–**स्फुटदर्शनादि**ति ।

किं च, स्वापेऽपि स चैतन्यं पश्यति स्ववेदनदर्शनात्, तत्र तन्निश्चयविरहात् पुनः जाय-माना मिथ्याविकल्पबुद्धिः तदभावं व्यवस्यति । संहृतविकल्पदशायां ज्ञानहेतुत्वात्ते[3] दृश्याः ; प्रबोधहेतुत्वात् स्वापचित्तं दृश्यम्[4] । कथमन्यस्य दृश्यत्वमन्यस्य इति चेत ? परमाणुषु कथम् ?
२० तदाकारता च नेष्यते, परेणाप्यनेकाकारप्रतिभासोपगमात् । यदि सद्भावेऽपि सर्वत्र नीलज्ञाना-भावात् परमाणवोऽनुमीयेते(यन्ते) ; मृतशरीरे अन्त्यचित्तसद्भावेऽपि प्रबोधादर्शनात् सुप्तस्य 'प्रबोधाऽदर्शनात्[5]' स्वापे चैतन्यमनुमीयताम् । जाग्रच्चित्तात्तत्प्रबोध इति चेत ; स्थूलात्तत्प्रतिभास इति न परमाणुसिद्धिः ।

अथ केशेषु तदाकाररहितेष्वपि तत्प्रत्ययदर्शनान्न तत्सिद्धिः ; परमाण्वभावेऽपि कामलिक-
२५ केशादिप्रत्ययदर्शनात् तदवस्थो दोषः । ज्ञानवदर्थेऽपि स्थूलाकाराऽविरोधात् । तथापि परमाणव एव तत्कारणं कल्प(ल्प्य)न्ते त्वया मया स्वापचित्तप्रबोधकारणं कल्प्यते ।

ननु चित्तं चेत् ; कथमदृश्यम् ? अदृश्यं चेत् ; कथं चित्तमिति चेत् ? उच्यते–[४८२क] परमाणवश्चेदालम्बनकार्यं (कारणम्) कथम् अतदाकारज्ञानहेतवः ? तथा चेत् ; कथमालम्ब[न]-कारणम् ? अन्यथा नीलज्ञानस्य पीतं[6] स्यात् । अथ न तेन(ते)[7] तदालम्बनकारणम् ; अन्यदेव

(१) तथा सति । (२) दूषणम् । (३) इति चेत् । (४) बौद्धः । (५) परमाणवः। (६) इति चेत् । (७) अस्तु । (८) 'प्रबोधादर्शनात्' इति व्यर्थमत्र पुनर्लिखितम् । (९) 'आलम्बनं स्यात्' इति योजनीयम् । (१०) परमाणवः ।

तद्वक्तव्यम्, तस्याप्यणुरूपत्वे अन्यद्वाच्यमित्यनवस्था । नीलतामात्रेण स्वाकारज्ञानहेतव इत्य-दोष[श्चे]न् ; कथञ्चित् प्रत्यक्षतेति आत्मनोऽपि स्वापेऽप्रत्यक्षस्यापि प्रबोधे प्रत्यक्षतेति सर्वं सुस्थम् ।

अपरः प्राह–स्वापेऽपि प्रत्यक्षं चित्तमिति चेत् ; सोऽप्यनेन निरस्तः ; तत्परिमण्डल-प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । विज्ञानवादिनो न यं(नायं) दोष इति चेत् ; न ; तस्यापि स्थिरैकात्मस्थूल-ज्ञानसम्भवे यथाप्रतिभासं तत्त्वसिद्धिः । किंनु (किं च,) दृश्येतरता एकस्याविरोधिनीति प्रति-पादितम् । तदसंभवो(वे) सौत्रान्तिका[द्]विशेषः ।

कारिकायाः विवरणमाह–**नहि** इत्यादिना । [कथं] तर्हि तत्र प्रतिभासते ? इत्याह–**परिस्फुट**मित्यादि । क्रियाविशेषणमेतत्, प्रतिभासत इति वचनपरिणामेन सम्बन्धः[2] । (?) **तदतिक्रम** इत्यादि । **तस्य** यथोक्ताकारप्रतिभासस्य **अतिक्रमे दृश्ये(श्यो)** घटादिः, **अदृश्य** ईश्वरादिः तयोः **व्यवस्थायाः अनुपपत्तेः** ।

ननु दृश्यव्यवस्थानुपपत्तिरिति वक्तव्यम् ततोऽन्यस्य अदृश्यस्याऽभावात्, न पुनः अदृश्यव्यवस्थानुपपत्तिः इति ततोऽन्यस्य सर्वस्या[स्य] दृश्यव्यवस्थानुपपत्तिः अन्यस्य तत्परि-मण्डलस्य प्रतिभासोपगमे [४८२ख] तद्वदाकाशकुशेशयादेरपि तदुपगमापत्तेः अदृश्यव्यवस्था-नुपपत्तिरिति । माभू [न् दृश्याऽ]दृश्यव्यवस्था, सकलशून्यतोपगमादिति चेत् ; अत्राह–**सुदूर-मपि** इत्यादि । **सुदूरं** सकलशून्यत्वम् अशेषसौगतमतान्ते व्यवस्थानात्, **तदपि** गंधाम(गत्वा न) केवलमदूरं सौत्रान्तिकादिमतिं(मतं) **किम्** शून्यतादिकं **केन** प्रत्यक्षादिना **प्रमीयेत** ? न केनचित् । कुतः ? इत्याह–**अभाव** इत्यादि । कस्मिन् सति ? इत्याह–**प्रतिक्षेपे** । कस्य ? **चित्ते (त्तस्ये)तरस्य वा** वचनस्य । यदि वा, **इतरस्य वा** बाह्यस्य च । किंभूतस्य ? **दृश्या-दृश्यात्मकरूपस्य** ।

ननु चित्तस्य यथास्थिताशेषार्थग्रहणस्वभावत्वात् कथमदृश्यात्मना अन्यसम्बन्ध(न्धः ?) तदेकत्वे अन्यतरदेव । तथापि स्वरूपनानात्वे अन्यत्य(अन्यत्वम् अन्य)त्राऽकिञ्चित्करमिति तदवस्थ(स्थं) चित्तस्य स्वपरयोः सर्वात्मना ग्रहणमिति चेत् ; अत्राह–

> **[तदेतच्चित्तमन्यद्वा बन्धं प्रति परस्परम् ।**
> **एकत्वेऽपि लक्षणतो हेमादिश्यामिकादिवत् ॥१२॥**
> **नानात्वमजहज्जातिं तथापरिणामलक्षणाम् ।**
> **अनुरूणद्ध्येव तद्बुद्धौ वस्तुनोऽप्रतिभासनात् ॥१३॥**
> **वर्णाकृतिपरिमाणादिभेदैः विकलात्मनः ॥ ३ ॥**

व्यपोहस्य भेदात्मकत्वे···समारोप···निर्विकल्प···विकल्पोत्पादात् । तन्नाक्ष-विज्ञानस्य सदेकान्तविषयत्वम्, प्रत्यक्षस्य अतीतविषयत्वाभ्युपगमात् । शब्दोत्थापित-विकल्पस्यापि स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात् । कथम्···]

(१) स्थिरैकात्मस्थूलज्ञानासंभवे । (२) अत्र किञ्चित् त्रुटितमिति भाति ।

तद्देनचित्तमन्यथा (मन्यद्वा अ)चेतनं कर्म वस्तु **परस्परमन्यो**ऽन्यं **बन्धं** संयोग-विशेषं **प्रति** एकत्वेऽपि **लक्षणतो** लक्षणेन **नात्व(नानात्वम्) हेमादिश्यामिकादिवत् अजह[द्]**परित्यजन् **तथा** तेन द्रव्याद्द्रव्यात्मैकरूपपरेण **परिणामलक्षणामेव** नान्यथा **जातिम्** आत्मलाभम् **अनुरुणद्धि** स्वीकरोति । कुतः ? इत्याह–**वर्ण** इत्यादि । **तद्बुद्धौ** चित्तेतरग्राहिकायां बुद्धौ **अप्रतिभासना[त्]** चित्तेतरवस्तु[नः] किं स तस्य (किम्भूतस्य ?) इत्याह–**वर्णः** नीलादिः **आकृतिः** वर्तुलत्वादिः **परिमाणम्** इयत् तोन्या(इयत्ता तानि **आ)दि**भूतानि [४८३क] येषां अनुगतेचेत(गतचेतनाचेतन)धर्माणां ते तथोक्ताः तैः **विकलात्मनः ।**

ननु नार्थः शब्दगोचरः अपि त व्यापोहत्वा(तु व्यपोहगोचरत्वाच्छ)ब्दविज्ञानस्य असदे-कान्तविषयत्वमिति चेत्; अत्राह–**व्यपोहस्य** इत्यादि । व्यपोहनं **व्यपोहः** अनभिमतव्यावृत्तिः तस्या **तदा** (तस्य **भेदा**)त्मकत्वे स्वलक्षणात्मकत्वे अङ्गीक्रियमाणे **'किं केन प्रमीयेत'** इति सम्बन्धः ।

ननु शब्देन लिङ्गेन वा समारोपे व्यवच्छिन्ने तेन स्वलक्षणं प्रमीयत इति चेत्; अत्राह–**समारोप** इत्यादि । तदपि कुतः ? इत्याह–**निर्विकल्प** इत्यादि । कुतः ? इत्याह– **विकल्पोत्पा-दा**दिति । **तन्न** इत्यादुपसंहरन्नाह–**अक्षविज्ञानस्य सदेकान्तविषयत्वं न** । कुतः ? इत्याह–**प्रत्यक्षस्य** इत्यादि । **प्रत्यक्षस्य** अक्षविज्ञानस्य **अतीतविषयत्वाभ्युपगमात्**, उपलक्षणमेतत् तेनाअगत(तेन अनागत)विषयत्वाभ्युपगमादिति च गृह्यते, ततो व्यवहारे शब्दविज्ञानस्यापि असदेकान्तविषयत्वमिति भावः । **शब्दात्थापितविकल्पस्यापि** न केवलम् अध्यक्षस्य **स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात्** । अतिप्रायो(अयमभिप्रायो)यथा अर्थव्यापारः तथा आत्मव्यापारोऽपि, तद्विक-कल्पस्य शब्देनान्यथा तदतज्जन्यरूपतया स एको भवेत् । अथ स्वसंवेदनरूपता पूर्वज्ञानात्; कुत एतत् ? यस्मिन् सति भावाच्चेत्; शब्देऽपि सति समानम् । तदभावेऽभावादिति चेत्; इद-मपि समानम्[*] । नहि शब्दविकल्पाः तदभावे स्वरूपं लभन्ते,[अ]तत्कार्यताप्रसङ्गात् *"विक-ल्पाः शब्दयोनयः" इति प्लवते । अथ स्वसंवेदनरूपता [४८३ख] शब्दाभावेऽपि प्रत्यक्षेऽ-स्तीति न तज्जन्या; तर्हि विकल्परूपतापि सङ्केतभाविनि शब्दे तदभाव इति (वेऽस्तीति) सापि तज्जन्या न भवेत् । अन्या सा इति चेत्; अन्यत्रापि समः समाधिः । उभयं तत इति चेत्; उभयमसत्यं न वा किञ्चित् । न चैवमिति मन्यते ।

स्यान्मतम्–अध्यक्षस्य अतीतात् भाविनो वा उत्पत्तेः स्वरूपेण तादात्म्यात् तद्विषयता, न शब्दस्य अर्थविषयता विपर्ययादिति चेत्; एतदेवाह–**कथमि**त्यादि ।

परिहारमाह–**यथार्थे**त्यादि ।

---

(१) पुद्गलात्मकं ज्ञानावरणादि कर्म । (२) चेतनत्वाऽचेतनत्वरूपेण । (३) पूर्वज्ञानाभावे । (४) शब्दे समानम् । (५) शब्दाभावे । (६) शब्दाकार्यत्वप्रसङ्गात् । (७) द्रष्टव्यम्–पृ० ३१९ टि० ८ । (८) शब्दजन्या ।

[यथार्थविभ्रमैकान्तो न सिध्येद् विभ्रमात्स्वयम् ।
तथार्थाप्रतिबन्धत्वात् सर्वमुक्तं मृषेत्यपि ॥१३॥

बहिरर्थप्रतिक्षेपे सर्वज्ञानानां विभ्रमैकान्तः। विभ्रमैकान्तात् यथा विभ्रमो न सिध्यति तथैव साकल्येन शब्दानामर्थानभिधानम् अर्थाप्रतिबन्धात् । सत्यपि बहिरर्थे विकल्पानां विभ्रमैकान्ते तद्विभ्रमैकान्तासिद्धेः निर्विकल्पस्य [अनिर्णयात्मकत्वात्] तद्विवक्षाविषयैकान्ते कुतः सत्यमिथ्याव्यवस्था यतो जयपराजयव्यवस्था कल्प्यते ?] ५

अयमभिप्रायः–यदि अर्थाप्रतिबन्धान्निर्विषया एव शब्दाः तन्निर्विषयताप्रतिपादनाय न शब्दप्रयोगः श्रेयानिति । तथाहि–**यथा** येन प्रकारेण **अर्थविभ्रमैकान्तः** 'स्तम्भादिज्ञानमशेषं भ्रान्तम्' इत्येकान्तः। यदि वा, **अर्थे विभ्रमैकान्तो** विकल्पानामभिप्रेतो **न सिध्येत्**। कुतः ? इत्याह–**विभ्रमात्** । नहि विभ्रमाद् विभ्रमसिद्धिः । अथ सिचत (अथ असिधत) १० **स्वयं** बौद्धस्य **तथा** तेन प्रकारेण **सर्वं** निरवशेष**मुक्तं** वचनम्, 'उच्यते स्म उक्तम्' इति व्युत्पत्तेः, **मृषा** मिथ्या **इत्यपि** सिध्येत । कुतः ? इह (इत्यत्राह–) **अर्थाप्रतिबन्धत्वादिति।** अत्रोऽर्थ (अत्र **अर्थः**) सर्वशब्दमिथ्यात्वं पराभ्युपगतं गृह्यते तत्रा**ऽप्रतिबन्धत्वात्** तन्मिथ्यात्वप्रतिपादकं शब्दानां 'तथा च सर्वे मृषा शब्दाः' इत्यपि न भाषणीयम् तदर्थानभिधानात्। तथापि भाषणे असाधनाङ्गवचनं वक्तुः निग्रहस्थानम् । १५

स्यान्मतम्–व्यवहारी न मन्यते सर्वशब्दमृषात्वम् ,[४८४क] अतः तैमिरिकवदपरतैमिरिकेण स मिथ्याशब्देन प्रतिबोध्यत इति ; तदसारम् ; यतः 'घटमानय' इत्यादौ भवतु काचिद् गतिः ' वस्तु वाचामगोचर(रम्') इत्यभिधाने तु साकल्येन यद्यसौ तथा प्रतिपद्यते, न तत्त्वं प्रतिपादितः स्यात । नहि शब्दात् सर्वशब्दमिथ्यात्वं प्रतिपद्यमानः तत्प्रतिपद्यते, न तत्त्वं प्रतिपादितः यात । नहि शब्दात् सर्वशब्दमिथ्यात्वं प्रतिपद्यमानः तत्प्रतिपद्यते नाम विरोधात् । २० तथाहि–यदि ततः तत्प्रतिपद्यते ; न सर्वशब्दमृषात्वम् । [न]प्रतिपद्यते चेत ; न ; ततः तत्प्रतिपत्तुमर्हति । नहि शब्दस्य अन्यस्य वा मृषात्वं जानन्नेव कश्चित तदस्त (ततः त)दवैति । यतोऽवैति नत्तस्य तन्नावैति इति चेत् ; कुत एतत् ? ततस्तत्परिज्ञानात्[3] ; पटादिशब्दात् पटादिकमवैतीति तस्यापि तन्न प्रत्येतीति समाना(नम्) । नहि व्यवहारी सर्वप्रत्ययानां मिथ्यैकान्तं (कान्तत्वं) मिथ्याप्रत्ययात् तथाऽवगतादवगच्छति । एवमर्थं च '**अर्थविभ्रमैकान्तो न सिध्येत्** २५ **विभ्रमात्**' इत्युच्यते, अगत्या तत एतत्प्रतीयताम् । प्रत्यक्षादिति चेत् ; आस्तां तावदेतत् । अथ अर्थविषया न शब्दाः तत्राऽप्रतिबन्धात् हेत्वाभासवत (न ; कुत) इदमवगम्यते ? तदप्रतिबन्धोऽपि कुतः ? प्रत्यक्षादिति चेत् ; न न्न क्त (न् ; तन्नोक्त)म् , आस्तां तावदेतदिति । तदभावेऽपि प्रवृत्तेरिति चेत् ; उक्तमत्रोत्तरं पूर्वम्–अक्षज्ञानस्यापि तदभावे प्रवृत्तेः । अन्यत्वम् ; उभयत्रापि । मिथ्याविकल्पयोनित्वाच्चे[त]; तदुक्तम्– ३०

(१) शब्दमिथ्यात्व । (२) 'वाचामगोचरम्' इति सर्वशब्दमृषात्वं वा । (३) इति चेत् । (४) अर्थाभावेऽपि । (५) अर्थाभावे प्रवृत्तिमज्ज्ञानमन्यत्, अन्यच्च तत्सद्भावे प्रवृत्तिकारि ।

*"विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः । [४८४ख]
तेषामन्योन्यमम्बन्धा(न्धो) नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥" इति ;

ननु सर्वविकल्पानां मिथ्यात्वैकान्ते इदमपि दुरवसेयम् । अत एव उच्यते–'अर्थे विभ्रमैकान्तो विकल्पानान्न सिध्येद् विभ्रमात्' इति ।

५ किंच, सर्वशब्दमृषात्वप्रतिबद्धः, अन्यथा वा तत्प्रतिपादकः[2] शब्दो भवेत ? आद्ये विकल्पे सिद्धं नः समीहितम्, तद्वदन्यस्यापि स्वार्थप्रतिबन्धसंभवात् । द्वितीये तद्प्रयोगः[3] । नहि जानन्नेव सौगतः साध्याप्रतिबद्धं वस्तु, तेन व्यवहारमुपरचयति ; प्रेक्षाकारिताहानेः । अगत्या तेनापि[4] रचयति इति चेत ; किम् इदानीमध्यक्षस्य अन्यस्य वा तदुत्पादि(त्पाद)कल्पनया ? स्वयमप्रतिबद्धाद्[5] व्यवहारं कुर्वन्नन्यस्मै[6] तत एव[7] तं कुर्वाणाय कुप्यतीति कथं स्वस्थः ? [8]तद्वि-
१० वक्षायां तत्प्रतिबन्ध इति चेत ; अत्रोत्तरम्–'**सदसद्वस्तुभेदेन**' इत्यादि भविष्यति । तत एवाह–**अर्थाप्रतिबद्धत्वात** इत्यादि ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**बहिरर्थप्रतिक्षेप** इत्यादि । **बहिरर्थस्य प्रतिक्षेपे** क्रियमाणे निराचारेण योगाचारेण । किम् ? इत्याह–**सर्वज्ञानानां विभ्रमैकान्ते** बहिरर्थवत स्वरूपस्यापि प्रतिक्षेपप्रसङ्गात्, [9]"स्वरूपवत अर्थस्यापि प्रतिभासनात्[10]" । चिन्तितमेतत । ततः किम् ?
१५ इत्याह–**विभ्रमैकान्ताद्यथा विभ्रमो न सिध्यति तथैव साकल्येन शब्दानाम् अर्थानभिधानं न सिध्यति** । कुतः ? इत्याह–**अर्थाप्रतिबन्धात्** साकल्येन शब्दानामिति । [४८५क] यथा वा सौत्रान्तिकस्य **सत्यपि बहिरर्थे विकल्पानां विभ्रमैकान्ते तद्विभ्रमैकान्तासिद्धिः** तच्छब्देन विकल्पानां परामर्शः, तथैवे(**तथैव** इ)त्याद्यत्रापि पूर्ववत् । अविकल्पात्तत्सिद्धिरिति चेत ; अत्राह–**निर्विकल्पस्य** इत्यादि ।

२० ननु 'सर्वे शब्दा निर्विषयाः' इत्यस्यां विवक्षायां प्रतिबन्धोऽस्ति मदीयस्य शब्दस्य, ततोऽयमदोष इति चेत ; अत्राह–**तद्विवक्त**(क्षे)त्यादि । निर्विषयाः [13]'सविषयाः' सर्वे शब्दा इति वाञ्छा **तद्विवक्षा विषयो** यस्य तस्य भावः तत्ता **तदेकान्ते कुतः सत्यमिथ्या** सर्वे शब्दा बहि(बहिरर्थ)रहिता इति वचनं **सत्यम्**, तत्सहिता इति च **मिथ्या** तयोः **व्यवस्था कुतः यतो जयपराजयव्यवस्था कल्पते (कल्प्यते)** ? विवक्षाव्यभिचारः ; उभयत्रापि । अर्था-
२५ प्रतिपादनं च[14] ।

(१) 'तेषामन्योन्यसम्बन्धे' न्यायमं० पृ० १५८ । 'तेषामत्यन्तसम्बन्धो' नयचक्रवृ० पृ० २४३ । 'कार्यकारणता तेषां नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यपि'–न्यायावता० टी० पृ० ४४ । रत्नाकराव० पृ० ९ । स्या० मं० पृ० १७५ । 'तेषामन्योन्यसम्बन्धः'–न्यायकुमु० पृ० ५३७ । स्या० र० पृ० ७०१ । (२) 'सर्वं मृषा' इत्याकारकः । (३) शब्दप्रयोगो न कर्त्तव्य इति । (४) वस्त्वप्रतिबद्धेनापि शब्देन । (५) अर्थादुत्पाद । (६) शब्दात् । (७) चार्वाकाय । (८) अप्रतिबद्धात् शब्दात् हेतोर्वा । (९) व्यवहारम् । (१०) शब्दविवक्षायाम् । (११) अन्यथा । (१२) तत्सत्त्वं स्यादिति भावः । (१३) 'सविषयाः' इति व्यर्थमत्र पुनर्लिखितमिव । (१४) उभयत्रापि ।

स्यान्मतम्–मदीया विवक्षा परम्परया अर्थप्रतिबद्धा नेतरा, ततः तद्व्यवस्था इति ; तदपि मदीयमतानुकूलम् ; बहिरर्थेऽपि तथा प्रतिबन्धसद्भावात् ।

अत्रैव दूषणान्तरं दर्शयन्नाह–**सदसद्वस्तु** इत्यादि ।

[सदसद्वस्तुभेदेन विवक्षायामनादरात् ।
तद्वस्तु चिन्त्यते यत्र प्रतिबद्धः फलोदयः ॥१४॥ ५

शब्दार्थविवक्षामनादृत्य सर्वोऽर्थक्रियार्थी तत्समर्थमेव शब्दार्थं परीक्षेत तत्रैव··· ततः व्यवहारं शास्त्रं च कुर्वाणः तदर्थप्रतिपादनायैव कर्तुमर्हति नान्यथा । न चायमेकान्तः सर्वत्र अर्थप्रतिबन्धादेव बुद्धीनां प्रामाण्यम् । क्वचित् रूपमात्रप्रतिभासनात् वर्णरसादिप्रतिबन्धाविशेषेऽपि···तज्जन्मसारूप्ययोरवस्तुत्वात् सर्वथा तदनुपपत्तेः स एव प्रतिबन्धोऽस्तु अन्यत्र विकल्पघटनात् । यद्ययं निर्बन्धः "नाकारणं विषयः" प्रत्ययस्येति ; १० कथमनुमानज्ञानं क्वचित् प्रमाणम् ? कथं च न ? संविदितप्रतिबन्धविशेषस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । तदन्यत्र प्रतिबन्धासिद्धेः कथं प्रमाणम् ? सामान्येन ; किं पुनरन्यापोहः ? तदनुमानकल्पनायामनवस्थानात् । न प्रमाणमन्तरेण तत्प्रतिपत्तिः ; अन्यत्रापि प्रमाणकल्पनानर्थक्यात् । सादृश्यलक्षणजातिमन्तरेण कथं पावकादिकमन्यव्यावृत्तमेकत्वेन प्रतीयात् ? विवक्षितज्ञानपदार्थस्य अन्यव्यावृत्तेः सर्वत्राविशेषात् ।] १५

तद् वस्तु चिन्त्यते परीक्ष्यते **यत्र** वस्तुनि **प्रतिबद्ध(तिबद्धः)** आयत्तः **फलोदयः** फलात्मलाभः शब्दाविषयत्वेनि (शब्दविषयत्वेन इ)त्यध्याहारः । कथं चिन्त्यते ? इत्याह–**सच्चा[ऽसच्च] सदसत्** भावाऽभावावित्यर्थः, **सच्च(सदसच्च) तद्वस्तुभेदश्च** सः **तेन** । 'कस्य शब्दस्य बहिरर्थोऽस्ति, कस्य नास्ति' इत्यनेन रूपेण विवक्षा कस्मान्न चिन्त्यते ? इत्याह–**विवक्षायामनादरा[त्]** । नहि तस्यां जलाहरणादिफलं प्रतिबद्धम्, अन्यथा न बहिः २० कश्चित् प्रवर्त्तेत । सर्वस्य वा फलं(ल)सम्बन्धः सर्वत्र विवक्षाभावा[त्] । [४८४ख] विवक्षा चेच्छब्दार्थः ; तत्रैव प्रवृत्तिः स्यात् न बहिरर्थे । न हि शब्दादन्यप्रतिपत्तौ अन्यत्र प्रवृत्तिः, इतरथा गोशब्दाद् अश्वे प्रवृत्तिः[3] । अथ विवक्षा अर्थप्रतिबद्धा, ततः तत्प्रतिपत्त्यौ तत्र प्रवृत्तिः ; नन्वेवं मीमांसकस्य प्रति (प्रतीत)परसामान्यस्य विशेषे वृत्तिरविरुद्धा स्यात् ।

स्यादेतत्, विवक्षितस्यार्थस्य स्वलक्षणे समारोपाद् भ्रान्त्या तत्र वृत्तिरिति ; तन्न सारम् ; २५ यतः सर्वस्य सर्वत्रारोपात् प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।

अथ मतम्–गोविवक्षारूढस्य स्वदा(खण्डादा)वेवारोपः सादृश्यात्, नान्यत्र विपर्ययात् ; सिद्धं तर्हि विवक्षाविकल्पस्य बहिरर्थगोचरत्वम् । नहि प्रत्यक्षस्यापि सादृश्यादपरं तत्[7] । सर्वथा सादृश्यं सर्वत्र दुर्लभम् ।

ननु नियतवृत्तयो भ्रान्तयः ततः काचित् क्वचिदिति न सर्वत्र प्रवृत्तिरिति चेत ; कुत ३०

(१) "नाकारणं विषयः"– प्र० वा० मनोरथ० २।२५७ । (२) विवक्षायाम् । (३) स्यादिति । (४) अर्थप्रतिपत्त्या । (५) अर्थे । (६) अश्वादौ । (७) बहिरर्थगोचरत्वम् ।

एतत् ? य एव हि पारम्पर्येण तद्विकल्पवासनाप्रबोधकाः तत्रैव तद्विकल्पस्य दर्शनात्, कथमेव-मानवन्ता (कथमेवम् अनुमानवत् ना)र्थप्रतिबद्धजन्मानो विकल्पाः, यतस्तद्योनयः शब्दाः तथा न स्युः ? भवन्तु तत्परिबद्धा (तत्प्रतिबद्धाः) ननु (ननु) तद्विषया इति चेत्; प्रत्यक्षस्य तद्वि-षयता न भवेत्। सारूप्यादिति चेत्; कुतः तस्य तत् ? तस्मादुत्पत्तेरिति चेत्; अविकल्पादु-
५ त्पत्ति(त्ते)र्विकल्पस्यापि स्यादित्युक्तम्।

किन्त्व(किं च,)पारम्पर्येण स्वलक्षणादुत्पत्तेः तदध्य(तदध्य)वसायी चेद् विकल्पः; चक्षु-रादध्य(रध्य)वसायी स्यात्। अयोग्यत्वान्नेति चेत्; स्वलक्षणे योग्यत्वं कुतः ? [४८६क] तदनुभवादुत्पत्तेः; तस्यानुभव इति कुतः ? [तत]उत्पत्तेश्चेत्; चक्षुरादेः स्यात्। 'अतद्रूप-त्वान्न' इत्यपि नोत्तरम्; स्वलक्षणेऽप्यस्य समानत्वात्। तत[:] स्थितम्–'शब्दाद्विवक्षाप्रतीतौ
१० अर्थे प्रवृत्तिर्न स्यात्' इति।

कारिकार्थमाह–**शब्दार्थ** इत्यादिना। **शब्दस्य अर्थः** 'स विद्यमानोऽसत्त्वा[द]विद्य-मानो वा' इति **तद्विवक्षाम्** अर्थवाञ्छाम् **अनादृत्य(दृत्य)सर्वः**। कः ? **अर्थक्रियार्थी** जला-द्याहरणार्थी **तत्समर्थ[मेव अर्थ]**क्रियायोग्यमेव **शब्दार्थं परीक्षेत**। कुतः ? इत्याह–**तत्रैव** इत्यादि। यत एवं 'तत एवं' **ततः [व्यवहारं] शास्त्रं च कुर्वाणः** सुगतोऽन्यो वा तदनायैव
१५ **(तदर्थप्रतिपादनायैव)** अर्थक्रियासमर्थप्रतिपादनायैव **कर्तुमर्हति नान्यथा** नान्येन विवक्षाप्रतिपादनप्रकारेण, तत्प्रतिपादनेऽपि प्रयोजनाभावादिति। कथं पुनः अर्थाऽप्रतिबद्धजन्मनः शब्दाद् अर्थप्रतिपत्तिः इति ? अत्रैव पुनरपि दूषणमाह–नचेत्यादि(न च इत्यादि)**न च** नैवा-**यमेकान्तः**। कोऽसौ ? इत्याह–**सर्वत्र** मेय(प्रमेये)**बुद्धीनां प्रामाण्यम् अर्थप्रतिबन्धादेव** इति। कुतः ? इत्याह–**'इन्द्रिय'** इत्यादि। युक्त्यन्तरमत्रैव दर्शयन्नाह–**क्वचित्** इत्यादि। **क्वचित्**
२० चक्षुर्विज्ञाने **रूपमात्रप्रतिभासनात्**, **मात्र**शब्देन रूपविशेषस्य क्षणनाशादेरप्रतिभासनात्, **वर्णरसादिप्रतिबन्धाविशेषेप्या** [४८६ख]··········[४८७क]सत्त्वविशेषात् (?)[10] नापि व्यतिरिकानुविधानेन; संशयादिज्ञानस्य अर्थाभावेऽपि भावात्, अपि चक्षुरादिषु समर्थेषु सत्स्वपि अर्थाभावे ज्ञानाभावः। तदनुविधानं तच्च(तं च) न तेनैव ज्ञानेन प्रतीयते; तदा तदभावात्, अन्यथा तद्विरोधः। अन्येन प्रतीयत इति चेत्; उभयदशावलम्बिना तेन भवितव्यम्, इतरथा
२५ तेन तद्ग्रहणायोगात्। तस्यापि स्वद(स्वार्थ)कार्यता, अन्येन तदनुविधानग्रहण इत्यनवस्था। ततः स्थितम्–तज्जनो (तज्जन्मसारूप्ययोर)**वस्तुत्वात् सर्वथा [तद]नुपपत्तेः स एव प्रतिबन्धोऽस्तु**। तथा (**सर्वथा** तस्य) सारूप्यस्य सर्वेण सर्वात्मना[न] कथञ्चित् प्रकारेण **अनु-पपत्तेः** ज्ञानजडत्वानेकान्तप्रसङ्गात्, स एव अस्तु इति। यदि वा, **सर्वेण** प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण

(१) विकल्पाज्जायमानाः। (२) अर्थप्रतिबद्धाः। (३) अर्थविषयाः। (४) अर्थविषयता। (५) सारूप्यम्। (६) चक्षुरादेरपि परम्परया तदुत्पत्तिदर्शनात्। (७) इति चेत्;। (८) स्वलक्षणात्। (९) 'तत एवम्' इति निरर्थकमत्र। (१०) अत्र आदर्शप्रतौ '४८६ ख' तमे पृष्ठे पङ्क्तिद्वयं रिक्तमलिखितम्, '४८७ क' तमः पृष्ठश्च संपूर्णो रिक्तः; ४८७ ख पृष्ठे च पङ्क्तिरेका रिक्ता वर्तते।

तदनुपपत्तेः इति ग्राह्यम् । तथाहि–ज्ञानार्थयोः द्वयोरपि दर्शने इदमनेन समानमिति भवति निश्चयो यमलकवत् । न च परस्यार्थद[र्शनमस्ति अ]न्यत्रोपचारात् । सोऽपि न युक्तः, यतः पूर्वं (र्वं) द्वयो[:]दर्शने, पुनरन्यतरदर्शना[त्] तत्सदृशान्यदर्शनाध्यारोपस्य (पः स्यात) तत्त्वा[त्] चैत्र-मैत्रदर्शनाध्यारोपवत् । द्वयोर्दर्शने वा तदाकारेण चेतसा ; तदवस्थो दोषोऽनवस्था । भ्रा[न्त्या] तदाकारेण वेदने सिद्धं नः समीहितम् ।   ५

प्रत्यक्षं च सदात्मान(नं) नीलाद्याकारवर्जितम् ।
वेत्ति तस्मान्न सारूप्यं सिद्धं ज्ञानार्थयोः क्वचित् ॥
घटादिकमहं वेद्मि [४८७ख] देशभिन्नं परिस्फुटम् ।
इति लोके यतो दृष्टो व्यवहारो ह्यविगानतः ॥
अहंप्रत्ययतो नान्या संवित्तिर्वीक्ष्यते मतम् ।   १०
सारूप्यं सौगतैर्यस्या मानत्राणसमन्वितम् ॥
प्रत्यक्षबाधनात् सिध्येत् सारूप्यं नानुमानतः ।
प्रत्यक्षबाधितः पक्षो नान्यतः सिद्धिमृच्छति ॥
द्वयोरेकेन दृष्टिश्च दृष्टत्वान्न विरुध्यते ।
सममन्यच्च तेन स्यादेकस्मात् कार्यमन्यथा ॥   १५
वासना कारणं वित्तेः चिन्तनीया मनीषिभिः ।
बहिरर्थग्रहे दोषैः सापि योज्या समस्तवैः (?) ॥
यस्याप्यहेतुकं ज्ञानं चित्तमेकमनाविलम् ।
तस्यापि चार्थसंवित्तिरविरुद्धेति साधितम् ॥
निरंशानेकविज्ञानवादः पूर्वं कृतोत्तरः ।   २०
एकानेकविकल्पादिशून्यं हि सर्वथा ततः ॥

सारूप्यस्य सर्वथानुपपत्तेः स एव प्रतिबन्धोऽस्तु किं सर्वथा तज्जन्मसारूप्ययोरवस्तुत्वम् ? न ; इत्याह–**अन्यत्र विकल्पघटनात्** विकल्पे[घट]नात् अन्यस्मिन् परमार्थपक्षो(क्षे) वस्तुत्वं तद्घटनात्तु वस्तुत्वमेव इत्यर्थः ।

ननु *"**प्रामाण्यं व्यवहारेण**" [प्र०वा० १।५] इत्यभिधानात् सौगतेन[न] संवृत्या[3] तया त एव दोषाय इति चेत् ; न ; अन्यथाभिप्रायात् । तथाहि–तज्जन्मसारूप्यवत् विकल्प-घटना[त्] निराकारमेव ज्ञानं वस्तु(मस्तु) तथैव लोके व्यवहारादिति ।   २५

पुनरपि तत्रैव दूषणान्तरमाह–**यद्ययं निबन्धः** (निर्बन्धः) इत्यादि । [न] प्रत्ययस्य **ज्ञाना(नस्य अ)कारणम्** अपि तु कारणमेव **विषयः इति ; कथम्** न **अनुमानज्ञानं** [४८८क] **क्वचित्** पावकादौ साध्ये **प्रमाणम्** ? परः पृच्छति–'**कथं च न**' इति ? तस्योत्तरमाह–**संविदित** इत्यादि । **संविदितः** प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नः **प्रतिबन्धविशेषः** तदुत्पा(त्पत्त्या)दिलक्षणो यस्य   ३०

(१) योगाचारस्य । (२) अविवादतः । (३) कल्पनया ।

महानससम्बन्धिनोऽन्यादेः **तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्**, न तत्र तेन प्रमाणमिति। अन्यत्र प्रमाणमिति चेत ; अत्राह–**तदन्यत्र** इत्यादि । **तस्मादन्यत्र** प्रत्यक्षादन्यत्र परोक्षे **प्रमाणं कथम्** ? कुतः ? इत्याह–**प्रतिबन्धासिद्धेः** अन्यत्र इति ।

स्यान्मतम्–धूमसामान्यम् अग्निसामान्येन व्याप्तमेकदा प्रतिपन्नं सर्वदा प्रतिपन्नमेव इति
५ चेत ; तदाह–**सामान्येन** इत्यादि । परं पृच्छति '**किं पुनः**' इत्यादिना । पर आह–**अन्यापोहः सामान्य[म्** इत्यादि । **अन्य]स्माद्** विजातीयाद**पोहः** व्यावृत्तिः, अन्यस्य वा अपोहः, अन्यो वा अपोह्यतेऽस्मिन विकल्पाकारे इति । विकल्पान्तरवदपोहविषयत्वेन प्रत्यक्षस्य विकल्पकत्वप्राप्तेः इति मन्यते । अथ अनुमानात तत्प्रतीतिरिष्यते ; तत्राह–**तदनुमान** इत्यादि । **तस्य** व्याप्य-व्यापकापोहसामान्यस्य **अनुमानकल्पनायां** सत्याम **अनवस्थानात् कथमनुमानज्ञानं क्वचित्**
१० **प्रमाणमिति** ? तथाहि–सामान्यम अनुमानात प्रतीयते। तदपि लिङ्गादुदयवत , तत्रापि सामान्येन प्रतिबन्धवेदनम् , तत्रापि तदेव वक्तव्यं यावन्न क्वचिदवस्थानमिति ।

स्यान्मतम्–प्रमाणमन्तरेण तत्प्रतीयते इति ; तत्राह–**प्रमाणमन्तरेण न तस्य** अपोहस्य **प्रतिपत्तिः तत्प्रतिपत्तिः** । कुतः ? इत्याह–**अन्यत्रापि** इत्यादि । [४८८ख] **अन्यत्रापि** प्रत्य-क्षानुमानाभिमतेऽपि **प्रमाणकल्पनाऽनर्थक्यात्** प्रकृतसामान्यवद् अन्यस्यापि तदन्तरेण प्रतीतेः ।
१५ व्यवहारेण तस्य सार्थकत्वे प्रतिबन्धज्ञानं तथास्तु । योगिप्रत्यक्षं तदस्तीति चेत ; उक्तमत्र 'सर्वस्मात स्वविषयात तदनुत्पत्तेः' 'इत्यत्तेः' इतरथा तत एव साध्यसिद्धेः किमनुमानेन ? तत्रापि सामान्येन प्रतिबन्धग्रहणे सविकल्पं तत इति । दूषणान्तरमाह–**सादृश्य** इत्यादि । सदृशपरिणाम-लक्षणं(णां)जातिं सामान्य**मन्तरेण कथम् अन्यव्यावृत्तम्** अन्यस्मात विजातीयादपसृतं **पावका-दिकम् एकत्वेन** अभेदेन **प्रतीयात्** ? न कथञ्चित । स्वयं हि सादृश्याद् व्यावर्त्तते नान्ये सदृश-
२० परिणामलक्षणजातिसद्भावे च किमन्यापोहसामान्येन इति भावः । कुतः न कथञ्चित प्रतीयात ? इत्याह–**विवक्षित** इत्यादि । **विवक्षितं ज्ञानम्** अशेषं स एव **पदार्थः** पदाभिधेयः तस्य **अन्यस्माद्**-ज्ञानात पटात **व्यावृत्तिः** तस्याः **सर्वत्र** घटादावविशेषात् । तथा च अज्ञानात् पटाद् व्यावर्त्त-मानं यथा ज्ञानं ज्ञानपदाभिधेयं तथा घटादिकमपि स्यात । अथ स्वयं ज्ञानमेव ततो व्यावर्त्तमानं तद्व्यपदेशभागुच्यते ; तर्हि साम्प्रतम्–**सदृश** इत्यादि ।
२५ ननु न परमार्थतः सादृश्यमप्येवं सामान्यमस्ति, केवलमेकप्रत्यवमर्शज्ञानहेतुत्वात् धियामभेदः, तदभेदाद् व्यक्तीनामभेद इति । तदुक्तम्–[४८९क]

*"**एकप्रत्यवमर्शस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी ।**
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता ॥" [प्र० वा० ४।१०८] इति;

तत्राह–**सादृश्येन** इत्यादि ।

३० **[सादृश्येन विनार्थानां प्रत्यभिज्ञाबलात् किल ।**
प्रतिपत्ता तदतद्धेतूनर्थान् विभजते स्वयम् ॥१५॥

(१) अनुमानम् । (२) अनुमानमपि । (३) अविनाभावसम्बन्ध । (४) प्रमाणमन्तरेण । (५) 'इत्यत्तेः' इति निरर्थकमत्र । (६) योगिप्रत्यक्षादेव । (७) घटपदाभिधेयं स्यात् ।

तदेकप्रत्यवमर्शस्य···]

साहृश्येन सदृशपरिणामेन विना तदन्तरेण। केषाम् ? अर्थानां पावकादीनाम् प्रत्यभिज्ञाबलात् प्रतिपत्ता सौगतोऽन्यो वा अर्थान् विभजते विभागेन व्यवस्थापयति। किंभूतान् ? तदतद्धेतून् [तद्धेतून्] उदकाद्याहरणहेतून् घटान् अतद्धेतून् पटादीन् स्वयम् आत्मना किल इति अरुचौ, सादृश्याभावे प्रत्यभिज्ञानस्यापि दुर्लभत्वात्। नहि लूनपुनर्जात- ५ केशादावपि तदस्ति, अन्यथा तृणदर्शनादपि त एव केशा इति स्यात् इति मन्यते।

कारिकां व्याख्यातुमाह–तदेकप्रत्यवमर्शस्य इत्यादि। तेषां खण्डादीनाम् एकप्रत्यवमर्शस्य। शेषं गतार्थम्।

अत्र दूषणमाह–विषय इत्यादि।

[विषयविषयिव्यवस्थैवं सर्वत्रोत्सन्नैव किल। १०
वर्णादिप्रत्यभिज्ञानकृतेर्वर्णादिसंविदः ॥१६॥

···किंचन व्यवस्थापयेत् यावता तत्संविद्धेतुत्वात् वर्णादिमत्त्वं सादृश्यवत्। ततः किं कस्य कारणं कार्यं वा यतोऽयं व्यवहारः प्रवर्तते। न वर्णादेः प्रत्यक्षाद् व्यवस्था; सदृशात्मनः प्रत्यक्षत्वात्। न प्रतीतेः प्रमेयव्यवस्था; एवं हि वर्णादिव्यवस्थापि मा भूत्। तदेको हि स्थवीयानाकारः समक्षसन्निवेशी परिस्फुटमवभासते। तदप्रत्यक्षत्वे न कोऽपि १५ प्रत्यक्षार्थः।]

विषयो रूपादिः विषयि तद्विज्ञानम् तयोर्व्यवस्थैव(वं)सर्वत्र बहिरन्तश्च उत्सन्नैव स्यात् किलशब्दः अनेन व्याख्यातः। कुतः ? इत्याह–वर्णादि इत्यादि। वर्णः शुक्लादिः रूपमादिर्यस्य रसादेः तस्य प्रत्यभिज्ञानं मानसो विकल्पविशेषः तस्य कृतेः कारणात् वर्णादिसंविदः रूपादिसंवित्तयः वर्णादिसंविदां हेतुः वर्णादिः(देः)स्यात् न ततो वर्णादिः २० स्यात्। अथ मतम्–वर्णाद्यभावे खरविषाणवत् न तत्संविदः, तदभावे न तत्प्रत्यभिज्ञानमिति; समानमेतदन्यत्रापि।

कारिकां विवृण्वन्नाह–किंच ते(चन इ)त्यादि। कुतो न व्यवस्थापयेत ? इत्याह–यावता इत्यादि। वर्णा[दि]प्रत्यभिज्ञाताद्(नाद्)वर्णादिसंविदो व्यवस्थाप्यन्ते [४८९ख] तत्संविदां वर्णादिधियां हेतुत्वा[त्]मानानां वर्णादिमत्त्वं न स्वभावतः सादृश्यवत् इति निदर्शनम्। ततः २५ तस्मात् भ[ा]वानां तत्त्वा(त्त्व)व्यवस्थाभावात् किं चेतनमचेतनं वा कस्य तथाविधस्य कारणं कार्यं वा न किञ्चित् कस्यचित् इत्यर्थः। यतोऽयं कस्यचित् कार्यकारणभावात् व्यवहारः प्रवर्तते। परमतमाशङ्कते दूषयितुं वर्णादिः(देः) इत्यादि। तात्पर्यम्–वर्णादेः प्रत्यक्षाद् व्यवस्था, न प्रत्यभिज्ञानात्। अत्र दूषणम्–'न' इत्यादि। न इति परपक्षनिषेधे। कुतः ? इत्याह–सदृशात्मनो वर्णादेः प्रत्यक्षत्वात्। तथाहि–संमयरहितस्य अन्यत्र गतचित्तस्य वा क्वचित् ३० खण्डमुण्डादिदर्शिनः 'एते समानाः' इति प्रतीतिः, अस्या अपलापे सकला(ल)प्रतीतिविलोपरः

(१) सादृश्यं विना प्रत्यभिज्ञानमस्ति। (२) सङ्केतरहितस्य। (३) सदृशप्रतीतेः।

(लोपः) । परः प्राह–**न प्रतीतेः प्रमेयव्यवस्था** इतरथा मरीचिकायां जलव्यवस्था तत्प्रतीतेः स्यादिति ; सोऽनेन निरस्तः ; **एवं हि वर्णादिव्यवस्थापि मा भूत्** । शक्यं हि वक्तुं न तत्प्रतीते[:] तद्व्यवस्था[1] मरीचिकाजलवदिते (दिति) । बाधकाभावं नैवं (भावान्नैवं) चेत् ; सादृश्यप्रतीतेः किं बाधक (कम् ?) प्रत्यक्षमिति चेत ; किं पुनः तद्[2] आत्मानं बाधते ? सादृश्यमात्र

५ इति चेत ; भेदमात्र इति समानम । प्रतीतेः[3] ; इतरत्रापि मास्ति ।

किंच, तदात्मनि बाधितेतररूपद्वयं प्रतिपद्यमानमेव (न एव) अन्यत्र सदृशेतरस्वभावद्वयं न सहत इति महती प्रेक्षाकारिता ! किंच तेन तत्र बाधनम् ? अग्रहणमिति चेत् ; तदसिद्धं वर्णादिमात्रेऽपि प्रसङ्गात । तदग्रहणे प्रत्यक्षाभावः; अन्यत्रापि । अतस्मिंस्तद्ग्रहज्ञापनमनेन

[४५०क] चिन्तितं (चिन्तितम्) वर्णादिवद् अन्यत्रापि न तथाप्रतीतिः । तन्न प्रत्यक्षं बाधकम् ।

१० अत एव नाऽनुमानमपि ; तदभावे [ऽ]भावात[4] । व्यक्तिव्यतिरेकेण तददर्शनं बाधकमिति चेत ; किं पुनः वर्णादेः तद्व्यतिरेकेण दर्शनमस्ति ? स एव व्यक्तिरिति चेत ; सादृश्यमप्यस्तु । नहि नैयायिकेनेव जैनेन तद (तद्-)[6] भिन्नं सामान्यमिष्यते । व्यक्तय एव स्युः इति चेत ; भवन्तु का नो हानिः ? केवलं परस्परं सदृशात्मान इति । निरंशपरमाणुदर्शनात न तासां सदृशेत[र]रूपतां (ता)[7] युक्ता इति चेत ; अत्राह–**तदेको हि** इत्यादि । **तस्य** वर्णादेः **एकः**

१५ साधारणः **हिर्भावनायाम** । कः ? इत्याह–**आकारः** । किंभूतः ? **स्थवीयान्** । पुनरपि किंभूतः ? **समक्षसन्निवेशी** । कथं किम् ? इत्याह– **परिस्फुटं** यथा भवति तथा **अवभासते** इति । अस्यानभ्युपगमे दूषणमाह–**तदप्रत्यक्षत्वे** तस्य आकारस्याऽप्रत्यक्षत्वे तको (**न कोऽपि**) **न कश्चित प्रत्यक्षार्थः**[8] । विचारितमेतत अनेकधा, न पुनरुच्यते । एवं मन्यते–यदि अयमाकारः बहुषु परमार्थसन् खण्डादिषु सदृशपरिणामोऽपि स्यादिति ।

२० प्रज्ञाकरगुप्तस्त्वाह–*"**न तदाकारदर्शनाद् बहिः तथा वस्तुसिद्धिः दूरविरलकेशादौ तदाकारप्रतिभासेन व्यभिचारात्**" इति ; स प्रष्टव्यो भवति–किं बहिरर्थमाश्रित्य एवमुच्यते, उत ज्ञानमात्रम , विभ्रममात्रम , शून्यतामात्रं वा ? प्रथमपक्षे बहिर्वर्णादिव्यवस्थापि मा भूत शुक्ले शङ्खे पीतप्रतिभासनेन व्यभिचारात । न सुवर्णादौ पीतभासावऽ (पीतावभासः) तत्प्रतिभासात ; मधुरे क्षीरे [४५०ख] पित्तज्वरिणः कटुकप्रतिभासेन अनेकान्तात । निम्बादौ

२५ कटुकता तत्प्रतिभासात् । एवं सर्वत्र योज्यमिति साध्वी सारूप्यव्यवस्था ! बाधकाभावोऽन्यत्रापि । द्वितीयविकल्पे बहिरिव ज्ञानेऽपि स कथम् आकार इति चिन्त्यम् ? नास्तीति चेत् ; किं पुनः नीलादेरन्यद्विज्ञानम् ? तथा चेत् ; नीलादिः किम् ? न किञ्चिदिति चेत् ; विज्ञानमपि तथास्तु । प्रतीत्यपलापे परं (वरं) सर्वालापः । एवं हि सुतरां क्लेशविच्छेदः । भ्रान्त इति चेत ; तेन तर्हि व्यभिचारात् न प्रतिभासात् कस्यचित् स्वसंवेदनसिद्धिः । नीलादिरेव ज्ञानमिति चेत् ; कथं

३० तत्र तदाकारः पारमार्थिकः ? अन्यथा अर्थेऽपि स्यात् । अथ दूरविरलकेशेषु व्यभिचारात् न तत्र

(१) वर्णादिव्यवस्था । (२) प्रत्यक्षम् । (३) इति चेत् । (४) प्रत्यक्षाभावे । (५) अनुमानस्याप्यनुपपत्तेः । (६) व्यक्तिभिन्नम् । (७) व्यक्तीनाम् । (८) 'न' इत्यत्रापि योज्यम् ।

सं तथा ; तत एव ज्ञानेऽपि न स्यात् । अथ ज्ञानपक्षे तत्केशानामभावात् न तैर्व्यभिचारचोदना; परपक्षे तैरसद्भिः सा कथं क्रियते ? पराभ्युपगमादिति चेत् ; भवदभ्युपगमाद् विज्ञानवद् अर्थेऽपि स आकारः परेण किन्न साध्यते ? सन्देहः स्यादिति चेत् ; तथहि–किं ज्ञानवदर्थेऽपि स सन् उत तत्केशवदसन् इति ? तदेतदसत् ; यतः ज्ञानेऽपि सन्देहानिवृत्तेः । तद्यथा स्तम्भाद्यर्थवत् ज्ञाने सन् अयमाकारः अहोस्विन्न[न्न]केशादिव[द]सन्निति । भवेदयम् अर्थवादिनः ५ सन्देहो व्यभिचारविषय(ये)तेनाङ्गीकरणे भ्रममवि(मपिवि)पर्ययादिति चेत् ; न ; सारमेतत् ; यतः यथैव पराभ्युपगतव्यभिचारविषयमादाय परस्य सन्देह उत्पाद्यते, तथा आत्मन्यपि उत्पादनीयः, एवं हि मध्यस्था(स्थ)ता स्यात् । [४९१क] परो वा यदा एवं वदति–बहिरिव ज्ञानेऽपि तत एव व्यभिचारात् नायमाकारः सत्यः ; तदा किं त्वया वक्तव्यः–'तदभ्युपगमादेव स व्यभिचारः स चाभ्युपगमो न प्रमाणम्' इति चेत् ; न ; अप्रमाणात् संसित्प्रत्या(संवित्प्रतिपाद)दनायोगात्। १० अथं(अथ) परो यथाकथंचिद्वक्तव्य इति, तत एव संशयगर्त्तपाती क्रियते; तर्हि बौद्धोऽपि परेण यथा कथंचिद्वक्तव्य इति व्यभिचारविषयमनादृत्य विज्ञानवदर्थेऽपि तदाकारसत्यता साध्यते । अभ्युपगतपरित्यागो दोष इति चेत् ; न ; यत्परित्यागेऽपि बहुतरं सिद्ध्यति स्वपक्षे परपक्षक्षयकारी तत्परित्यागेऽप्यदोषात् । तदुक्तम्–

*"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् । १५
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥" तदिति ।

अथ ज्ञानेऽपि न स परमार्थतः ; तर्हि तेन व्यभिचारात् वर्णादिरपि तत्र तथास्तु । तन्न द्वितीयोऽपि पक्षः श्रेयान् । इदानीं तृतीयो विचार्यते–येन विभ्रमोवि(मोऽधि)गम्यते तत्प्रतिभासस्य विभ्रमेण(सत्याविभ्रमे तेनैव) व्यभिचारान्न सत्यता । मा भूत् इति चेत् ; उक्तमत्र–विभ्रमासिद्धेरिति । २०

चतुर्थः पञ्चतां नीतः पक्षः पूर्वं यथाविधि ।
प्रमाणबाधनात् सत्तत(सत्यं त)स्माद्भावा यथोदिताः ॥

ननु यया प्रत्यासत्त्या किंचित् सादृश्यं केचन भावाः स्वीकुर्वन्ति तया स्वयमतदात्मकाः तथावभासिष्यन्त इति चेत् ; अत्राह–**स्वीकुर्वन्ति** इत्यादि ।

[स्वीकुर्वन्ति गुणानर्था यया शक्त्याऽगुणा न किम् । २५
तया तत्संविदः कुर्युर्भिन्नाश्चेदेकसंविदः ॥१७॥

यथा तत्सामान्यमेकं व्यक्तय उपकुर्वन्ति न पुनरेकबुद्धिमिति न युज्येत तथैकं घटादितत्त्वमात्मनि स्पर्शादीन् बिभर्ति न पुनः स्पर्शाद्याकारप्रत्ययानेव करोतीति न घटां प्राञ्चति, ततो निराकारोऽर्थः स्यात् ।]

---

(१) तदाकारः । (२) पारमार्थिकः । (३) व्यभिचारचोदना । (४) बौद्धेन ।(५) शून्यतामात्रमिति पक्षः । (६) पञ्चतां नाशतां प्राप्तः । (७) उद्धृतोऽयम्–न्यायवि० वि० प्र० पृ० ४०८ ।

स्वीकुर्वन्ति गुणान् रूपादिज्ञानादीन् **अर्थाः** [४९१ख] घटादयः **यया शक्त्या अगुणा** गुणरहिताः **न किं तया** शक्त्या **तत्संविदो** गुणसंविदः **कुर्युः भिन्नः (भिन्नाः)** परस्परविलक्षणाः अर्थाऽन्येन् यदे(यदि ए)**कसंविदः** एका संविद् येषामिति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह-**तत्सामान्यम्** इत्यादि । **तत्सामान्यं** सादृश्यसामान्यम् **एकं**
५ सकलबाहुलेयादिव्यक्तिसाधारण**मुपकुर्वन्ति** आत्मनि धारयन्ति व्यञ्जयन्ति वा । काः ? **व्यक्तयः** खण्डादिविशेषाः । **न पुनरेषां(रेक)बुद्धिं** गौर्गौः इति प्रत्ययं **कुर्वन्ति** व्यक्तय इत्येवं **यथा** येन तद्बुद्धिकरणप्रकारेण **न युज्येत** किन्तु तदेकबुद्धिमेव कुर्वन्ती[ति] युज्येत [त]त्रैव सामर्थ्य-दर्शनात्, **तथा एकमखण्डं घटादितत्त्वम् आत्मनि** स्वस्वरूपे **स्पर्शादीन् गुणान् बिभर्त्ति न पुनः स्पर्शाद्याकारप्रत्ययानेव करोति** इत्येवं **न घटां प्राञ्चति** अपि तु अतद्गुणमपि तत्प्रत्ययान्
१० करोतीति घटां प्राञ्चति । **ततोऽनन्तरन्यायात् निराकारोऽर्थः स्यात् ।**

एवं हि (एवं वहिः) निराकारमर्थं प्रतिपाद्यान्तः(य अधुना अन्तः) प्रतिपादयन्नाह-**जीव** इत्यादि ।

[जीवः मुग्धादिपर्यायानेति शक्त्या यया तया ।
शक्तिमानिव लक्ष्येत चित्रबुद्धिः यथा स्वयम् ॥१८॥

१५ यया ... ततो भेदैकान्ते क्व दर्शनप्रत्यभिज्ञानादयः कथञ्चिद् व्यवहारपदवीमव-तरेयुः ?]

जीवः आत्मा **मुग्धादिपर्यायान् एति** गच्छति **शक्त्या** योग्यतया **यया तया** शक्त्या **शक्तम वा (शक्तिमा)निव लक्ष्येत** अनुभवोत्तरविकल्पबुद्ध्या व्यवसीयेत नानु-भवेन गृह्यत(ह्येत) । परप्रसिद्धनिदर्शनमाह-**चित्राद्दे(त्रे)त्यादि** । चित्रमेव(मेच)कादौ
२० प्राह्यादौ वा **बुद्धिः स्वयम**चित्रापि **यथा** [1]'चित्रापि यथा' चित्रानिव (चित्रेव) लक्ष्यते ।

कारिकाविवरणमाह-**यया** इत्यादि । [४९२क] ततः किं जातम् ? इत्याह-**ततः** तस्मात् न्यायात् **क्व** बहिरन्तर्वा न क्वचिद् **दर्शनप्रत्यभिज्ञानादयः कथञ्चिद् व्यवहारपदवमेव (दवीमव)तरेयुः** कभेयुः (भवेयुः) । क्व ? **भेदैकान्ते** इति ।

भेदैकान्ते एकप्रत्यवमर्शमभ्युपगम्य दूषणमुक्तम्, इदानीं य (स) [2]एव नास्तीति दर्शय-
२५ न्नाह-**अर्था** इत्यादि ।

[अर्थाः प्रत्यवमर्शस्याहेतवोऽविषयीकृताः ।
ततस्तत्प्रतिबन्धस्य अविनाभावो न लैङ्गिकम् ॥१९॥

नहि प्रत्यभिज्ञानं स्वयमविषयीकृतान् प्रत्यवमृशति, प्रमेयाधिक्याच्च प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गात् । ततस्तत्र प्रतिबन्धाऽसिद्धौ साकल्येन व्याप्त्यसिद्धेश्च कुतोऽनु-
३० **मानम् ?]**

(१) 'चित्रापि यथा' द्विर्लिखितम् । (२) एकप्रत्यवमर्श एव ।

अर्थाः परपरिकल्पितक्षणिकपरमाणुरूपा घटादयः **प्रत्यवमर्शस्यास्याहेतवः** अकारणम् । किंभूताः ? इत्याह–**अविषयीकृताः** अदृष्टा इति यावत् । **ततः** तदहेतुत्वात् **तत्प्रतिबन्धस्य** तेषां लिङ्गलिङ्गिभूतार्थानाम् **अविनाभाव[ः]** स्यात् **न लैङ्गिकम**नुमानं स्यात् ।

'**नहि**' इत्यादिना कारिकार्थमाह–न खलु **स्वयं** प्रत्यभिज्ञात्रा **अविषयीकृता** ननुभूता ५ नर्थांतु प्रत्यभि(न् अननुभूतार्थान्) **प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यवमृशति** तथाविधे विषये तदुदया-भावात्, अन्यथा सर्वत्र तदुदयः स्यादिति मन्यते । अथाविषयीकृतानपि प्रत्यवमृशति इति ; तत्राह–**प्रमेय** इत्यादि । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अविकल्पलिङ्गजाभ्याम् अन्यत् **प्रमाणं तदन्तरं** तद्भावः तत्त्वं तस्य **प्रसङ्गात्** प्रत्यभिज्ञानस्य इति । '**नहि**' इत्यादिना सम्बन्धः । कुतः ? इत्य-त्राह–**प्रमेयाधिवाक्या(धिक्या)च्च** इति । प्रत्यक्षानुमानाविषयीकृतप्रमेय(ये)प्रवर्त्तनात् '**प्रमेया-** १० **धिक्यात्**' इत्युक्तम् । च शब्दात्म(न स)विकल्पालिङ्गजत्वात् इति ।

लब्धं फलं दर्शयन्नाह–**ततः** स्वयमविषयीकृतस्य प्रत्यभिज्ञानेनाऽपरामर्शात् **तत्र** निरंशे तत्त्वे **प्रतिबन्धासिद्धौ** [४९,२ख] लिङ्गस्याविनाभावाऽनिश्चये **कुतो** लिङ्गाद**नुमानम्** ? न कुतश्चित् । भवतु वा सन्निहिते प्रत्यक्षतः विषयीकृते प्रत्यभिज्ञानेन प्रत्यवमर्शः, तथापि साकल्येन तदभावान्नानुमानमिति दर्शयन्नाह–**साकल्येन** इत्यादि । च शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । १५ सामस्त्येन व्याप्त्यसिद्धेश्च **कुतोऽनुमानम्** ?

इन्द्रियजात् प्रत्यक्षात्[3] तथा व्याप्तिसिद्धिः इत्येके[4] । योगिप्रत्यक्षात् इत्यपरे[5] । मानसात् इत्यन्ये[6] । अनुमानात् इति केचन । व्यापकानुपलब्धेः इत्यर्थः । तत्राह–**प्रत्यक्षात्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षात् क्वचिद् व्याप्तिरनुमानेनानवस्थितिः ।
व्यापकानुपलम्भश्च व्याप्त्यसिद्धौ न सिध्यति ॥२०॥ २०

यावान्...**इत्यविचारितेन नामात्मना प्रतिबन्धं व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितः**

---

(१) प्रत्यभिज्ञानकर्त्रा । (२) अननुभूते । (३) सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्या अलौकिकप्रत्यक्षेण । (४) नैयायिकाः । "लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षम् ।"–न्यायवा० पृ० ४४ । "भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः । ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयोः ।"–मी० श्लो० अनु० श्लो० १२ । "भूयो-दर्शनबलादग्निधूमयोर्देशादिव्यभिचारेऽपि अव्यभिचारग्रहणम् ।"– प्रश० व्यो० पृ० ५७० । "तस्माद्-भिजातमणिभेदतत्त्ववत् भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहितमिन्द्रियमेव धूमादीनां वह्न्यादिभिः स्वाभाविक-सम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्पश्यामः ।"–न्यायवा० ता० पृ० १६७ । ता० प० पृ० ६९७ । प्रश० किरण० पृ० २९५ । प्रश० कन्द० पृ० २०९ । तत्त्वचि० अनु० पृ० २१० । (५) तुलना–"अन्ये तु व्याप्तिग्रहणकाले प्रतिपत्तुर्योगिन इवाशेषविषयं परिज्ञानमस्तीति ब्रुवते । अन्यथा हि सर्वो धूमोऽग्निं विना न भवतीति व्याप्तिस्मरणं न स्यात् ।"–प्रश० व्यो० पृ० ५७० । (६) "तस्य ग्रहणं प्रत्यक्षानुपलम्भसहायात् मानसात् प्रत्यक्षात् । धूममग्निसहचरितमिन्द्रियेणोपलभ्य अनग्नेश्च जलादेर्व्यावर्तमानमनुपलम्भेन ज्ञात्वा मनसा निश्चिनोति धूमोऽग्निं न व्यभिचरतीति ।"–न्यायकलि० पृ० ३ । न्यायम० पृ० १२१, १२३ ।

प्रतिबन्धः ! तदनुमानकल्पनायाम् [अनवस्था]क्षणिकत्वेन[व्याप्त्यसिद्धौ व्यापकानुपलम्भश्च न सिध्यति ।]

ननु विचारितमेतत्–*"**भूता भव्या भवन्तो वा सर्वे भावाः**" [सिद्धिवि० ३।८] इत्यादिना तत्किमर्थं पुनरुच्यते इति चेत् ? तत्र साक्षादनुमाननिरूपेण(पणे) तदुक्तम्, अत्र तु
५ शब्दस्य प्रतिबन्धाभावे अगमकत्वे लिङ्गस्यापि तेन स्यादिति प्रदर्शनार्थम् इत्यदोषः । **क्वचिद्** वह्निरन्तर्वा कार्यस्वभावे वा **प्रत्यक्षात**(**न**) कुतश्चनापि **व्याप्तिर्न सिध्यति** न तद्विषयतां गच्छति । अनुमानात सिध्यतीति चेत ; अत्राह–**अनुमानेवं** (**नेन** अङ्ग)गीक्रियमाणे अनवस्थितिः सत्त्वस्य **व्यापकम्** अर्थक्रियाकारित्वं(त्वं) तस्य नित्येऽ**नुपलम्भः** सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिं साधयतीति चेत ; अत्राह–**व्यापकानुपलम्भश्च न सिध्यति** सत्त्व-
१० व्यापकस्य अर्थक्रियाकारित्वस्य अनुपलम्भोऽपि अक्षणिके साकल्येन न सिध्यति । नहि अर्थक्रियाविकलमक्षणिकं सर्वं द्रष्टुं शक्यं येन तत्र तदभावे सत्त्वाभावः स्यात वृक्षाभावे शिंशपाभाववत । अथा(अथ) क्षणिकत्वाभावात [४९३क] तत्रै अर्थक्रियाकारित्वानुपलम्भः ; कुतः ? तदभावेऽदर्शनादिति चेत ; मीमांसकस्यापि दर्शननिवृत्तिः सर्वज्ञसत्तां नि[वर्तयेत इति] साधूक्तम् –सुगतो न सर्वज्ञः वक्तृत्वादिभ्यो रथ्यापुरुषवदिति । अथ अक्षणिके सर्वादर्शनं न सर्वज्ञः
१५ (ज्ञं), तत्र स्वयं सर्वज्ञान्तरेण दर्शनसंभवात । प्रकृते सर्वादर्शनं कुतः सिद्धम् ? तद्द्रष्टः(तद्द्रष्टुः) कस्यचिज्जगति भवतोऽदर्शनात । मीमांसकेनापि सर्वद्रष्टः(द्रष्टुः) तत्र कस्यचि[द्]दर्शनात् इति समानम् । तस्य सर्वज्ञता स्यादिति चेत ; भवतोऽपि । भवतु इति चेत ; परस्यापि । वेदाप्रामाण्यं स्यादिति चेत ; भवतोऽनुमानस्य । नहि सर्वज्ञस्य अनुमानेन किंचित । परार्थं तदिति चेत ; परस्यापि इच्छामात्रेण अशेषज्ञत्वात ।

२० ननु यदि कश्चिदक्षणिकदर्शी स्यात , स यदि इन्द्रियज्ञानेन ; तन्न शक्यम् ; तस्य वर्त्तमानमात्रविषयत्वात । अथ अनुमानेन ; तन्न ; तदभावेऽभावात । न च प्रमाणान्तरादिति चेत ; कथमिदवगतम्–'सर्वमक्षज्ञानं वर्तमानविषयमेव' ?

स्यान्मतम्–अखिलमिन्द्रियज्ञानं वर्त्तमानविषयं तत्त्वात अस्मदादित नहि (दिज्ञानवत इति ; तर्हि) 'सुगतो न सर्वज्ञो वीतरागो वा पुरुषत्वादिभ्यो रथ्यापुरुषवत' इत्यपि स्यात ।
२५ अथ पुरुषत्वाद्यविशेषेऽपि कश्चित सर्वज्ञः कल्प्यते ; इन्द्रियज्ञानमपि यदि किञ्चिदेव त्रिकालानुयायिनमेकमर्थं पश्येत को विरोधः, यतोऽक्षणिके सर्वादर्शनं सिध्ये[त् ?] तन्न अदर्शनात् क्षणिकाभावः । केवलम् अर्थक्रियावैकल्यमवशिष्यते । [४९३ख] तदप्यदर्शयन्नसिद्ध(र्शनान्न सिद्ध)त्युक्तन्यायात ।

यदि मतम्–क्षणिकत्वेन अर्थक्रिया व्याप्ता, तच्च विरोधादक्षणिकाद् व्यावर्त्तमानं

(१) अगमकत्वम् । (२) अक्षणिके । (३) मीमांसकेन । (४) अक्षणिके । (५) सर्वादर्शनसाक्षात्कर्तुः । (६) यदि मीमांसकः सर्वज्ञद्रष्टा स्यात् तदा । (७) मीमांसकः यदि सर्वज्ञं स्वीकुर्यात् तदा । (८) वैयर्थ्यं स्यात् (९) प्रयोजनम् । (१०) इन्द्रियज्ञानस्य । (११) प्रत्यक्षाभावे । (१२) क्षणिकत्वम् ।

'तामानं' तामादाय व्यावर्त्तते, सा च त (स)त्त्वमिति ; तत्राह–**व्याप्त्यसिद्धौ न सिध्यति** क्षणिकत्वेन अर्थक्रियायाः या **व्याप्तिः** तस्याः **असिद्धौ** उक्तनीत्या **न सिध्यति।**

कारिकार्थमाह–यावान् इत्यादिना ।

अत्राह परः–प्रत्यक्षात न परमार्थतः कस्यचित् केनचित् सौगतेन व्याप्तिसिद्धिरिष्यते, अपि तु[संवृतेः],संवृतिश्च विचारानुपपत्तिः इति ; तत्राह–**अविचारित** इत्यादि । **अविचारितेन** विचाराऽसहिष्णुना **आत्मना** स्वभावेन संवृतिकल्पितेन इत्यर्थः, **नात्म**(नाम इ)त्यरुचौ(चौ) **प्रतिबन्धं** लिङ्गलिङ्गिनोरविनाभावं व्यवस्थापयति सौगत **इति** एवं **सुव्यवस्थितः प्रतिबन्ध** इत्युपहासः । तथा शब्दार्थयोरपि स्यादिति भावः ।. अनुमानात्तत्सिद्धिरिति चेत ; अत्राह–**तदनुमानकल्पनायाम्** इत्यर्थः । व्यापकानुपलब्धेस्तत्सिद्धिरिति चेत ; अत्राह–**क्षणिकत्वेन** इत्यादि । ततः स्थितम्–साकल्येन प्रतिबन्धसिद्धिमन्तरेण यदि लिङ्गं गमकं शब्दोऽपि स्यादिति ।

अत्रैव युक्त्यन्तरमाह–**समनन्तर**मित्यादि ।

[समनन्तरमज्ञेयं स्वरूपार्पणकारणम् ।
प्रतिबन्धान्तरं शंसेत् प्रत्यर्थनियतं धियाम् ॥२१॥

तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धेऽपि समनन्तरप्रत्ययस्य अविपर्यीकरणात् कारण···यत्र यदेव यदर्थ[नियतं]तदेव तमर्थं विपयीकरोतीति युक्तः प्रतिबन्धः । स शब्दज्ञानज्ञेययोरपि पारमार्थिकः प्रतिपद्युमशक्यत्वात्]

ननु चायमर्थः **'न चायमेकान्तः सर्वत्र अर्थप्रतिबन्धादेव बुद्धीनां प्रामाण्यम्'** इत्यनेन[4] उक्तः, किं पुनरुच्यते ? 'तदुपसंहारार्थम्' इत्येके[5] । न त्रा(तन्न ; अ)न्यथा व्याख्यानात । **समनन्तर**मिति[6] न उपादानज्ञानमुच्यते उक्तत्वात, अपि तु **समं** नीलाकारज्ञानसदृशं नीलम **अनन्तरं** सन्निहितं पूर्व(तत्पूर्वम) [४९४क]किंभूतम् ? इत्याह–**स्वरूपार्पणकारणम् स्वरूपार्पणेन कारणं** समानन्तरमकारणमपि त्य(त)स्योपादानम । तथाहि–देवदत्तनीलज्ञानस्य पूर्वानन्तरक्षणभावि सर्वनीलसमनन्तरं(सर्वं नीलं समनन्तरं) च । तत्किम् ? इत्याह–**अज्ञेयं** प्रत्यक्षस्याऽपरिच्छेद्यम् अदृश्यं वर्त्तमानं च ज्ञेयम् इत्यर्थः । तथाहि–अहमहमिकया स्वसंवेदने ज्ञानमघटाकारमपि घटग्राहकं प्रतीयते । ततो यदुक्तम्–*"**न नीलादिसुख्यादि(दिसुखादि)व्यतिरेकेण तद् ग्राहकं प्रतीयते**" इति[7] ; तत् प्रत्यक्षप्रतीतिबाधितमिति । तत्किं कुर्यात ? इत्याह–**प्रतिबन्धान्तरं** सामर्थ्यलक्षणं **धियां शंसेत्** अर्थमर्थं प्रति[प्रत्यर्थं तत्र नियतं]**प्रत्यर्थनियतं** । यथैव हि विसदृशादपि गोमयादेरेव सां(शा)लूकादेव जायमानं तस्यैव आत्मनि सामर्थ्यं सूचयति न सर्वस्य । नहि एवं तत्र वक्तुं शक्यम्–

(१) 'तामानं' इति व्यर्थमत्र द्विर्लिखितम् । (२) अर्थक्रिया । (३) बौद्धः । (४) वाक्येन । (५) व्याख्याकाराः । (६) पदेन । (७) "यथा च न सुखादिव्यतिरेकेणापरं विज्ञानं तथा नीलादिव्यतिरेकेणापि ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ४०९।

'सर्वं विज्ञानीयं तत्कारणमनु न वा किञ्चित्' इति, प्रतीतिबाधनात् , तथा विसदृशात् समानकालात् नियमादेव ज्ञानात् नियतो घटादिः प्रतीयमानः तस्यैव आत्मग्रहणे शक्तिं संशति (शंसति) । यतो यदुक्तम्–*"नियतकार्यदर्शनात् योग्यतानुमीयते कारणस्य, न योग्यतायाः तत्कार्यम्[1] अतीन्द्रियत्वात्तस्याः । परम्परतोऽनुमाने अन्योऽन्यसंश्रयः ।" इति ;
५ तदनेन निरस्तम् ; नियतवर्त्तमानार्थग्रहणादेव प्रतिबन्धान्तरानुमानात् ।

एतेन इदमपि चिन्तितम्–*"-संविन्मात्रस्य सर्वत्राविशेषात् सर्वस्य सर्वदर्शित्वम्" इति ; नियतार्थदर्शनप्रतीत्या बाधनात् । ननु अर्थदर्शनं नीलादिवदर्थधर्मश्चेत् ; [४९४ख]कथमर्थस्य संभवेत ?

एतेन अनुभयधर्मता चिन्तिता इति चेत ; उच्यते–कार्यकरणं नीलादिकार्यधर्मश्चेत् ;
१० सर्वोऽपि कस्यचित् कार्यस्य हेतुः । यथैव हि तस्य नीलत्वं नैकं प्रत्येव अपि तु सर्वं प्रति, तथा जन्यत्वमपि येन य(ज)न्यते तं प्रत्येव तत् ; तदितरत्र समानम् । कारणधर्मश्चेत् ; अर्थदर्शनवत् प्रसङ्गः ।

एतेन उभयधर्मता[निर]स्ता ; अनुभयधर्मता तत्सत् व्याख्यात (व्याघात)कारिणी । अथ कचिदपि हेतुफलभावो नेष्यते; किमिष्यते ? स्वसंवेदनमात्रमिति चेत ; एतदपि तादृगेव । तथाहि–
१५ नीलज्ञानलत्वं (नत्वं) यथा सर्वाणि ज्ञानान्युद्दिश्य तथा(तथा)स्य संवेदनमपि इति 'सर्पीति'[2] सर्वैः तत्संविदितं भवेत् ; विशेषकल्पनसर्थेऽपि समानम् । अथ अन्यज्ञानं नेष्यते ; किं तर्हि स्यात् ? 'एकव्यक्तिप्रतिभासाद्वैतम्' इति चेत् ; अत्राह–मितीव[3] घटादेरपि प्रतिभासे तद्योगात् । घटज्ञानयोः सहप्रतिभासे स्वरूपसंवेदनमात्रनियतता इति चेत ; पररूपसंवेदननियतता कुतो न भवति, कल्पनायाः निरंकुशत्वात् ? यदि च सहप्रतिभासादेकरूपता ; तथा प्रतिभासमानयोः
२० निम्बाम्रयोः कटुकता मधुरता वा स्यात् । अथ न सहप्रतिभासात् समानता किन्तु तथा प्रतिभासात् ; न तर्हि घटज्ञानयोः संवेदनैकरूपता, ग्राह्यग्राहकतयावभासनात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः स्थितम्–'**प्र[ति]बन्धान्तरं शंसेत् प्रत्यर्थनियतं** [४९५क] **धियाम्**' इति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–ते **तदुत्पत्तीत्यादि** ।–(ह–**तादात्म्य** इत्यादि) **तादात्म्यं च तदुत्पत्तिश्च** ते तादात्म्यतदुत्पत्ती, ते एव **सम्बन्धः** तस्मिन्नङ्गीक्रियमाणेऽपि **समस्य** सदृशस्य
२५ **अनन्तरस्य** अव्यवहितस्य **प्रत्ययस्य** कारणस्य **अविषयीकरणाद्** असदृशस्य वर्तमानस्य विषयीकरणात् इत्यर्थः । ततः किम् ? इत्याह–**कारण** इत्यादि । तदेव दर्शयन्नाह–**यत्र** इत्यादि । **यत्र** प्रमेये **यदेव** मतिज्ञानम् अवग्रहादिसंवेदनं श्रुतज्ञानं वा । किंभूतं तत् ? इत्याह–**यदर्थ** इत्यादि । **तदेव ज्ञानं तमर्थं विषयीकरोति इति युक्तः प्रतिबन्धः** । **स** प्रतिबन्धः **शब्दज्ञानज्ञेययोरपि** शब्दस्य यज्ज्ञानं यच्च तस्य[ज्ञेयं] प्रमेयं तयोरपि **पारमार्थिकः** । कुतः ?
३० इत्याह–**प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्** ।

अस्य हेतोरसिद्धतां पादत्रयेण उद्भाव्य चतुर्थपादेन परिहरन्नाह–अफलत्वात् इत्यादि ।

(१) अनुमीयते ।(२) 'सर्पीति' इति व्यर्थमत्र ।(३) मितिः संवेदनम् सा इव संवेदनवत् इत्यर्थः ।

**[अफलत्वादशक्तेश्च न सङ्केत्येरन् स्वलक्षणे ।
वाचोऽसङ्केतितं वाहुरित्यनेकान्तसाधनम् ॥२२॥**

नहि [शब्दाः असङ्केतितं प्रतिपादयन्ति] सङ्केतं च कुर्वन् प्रतिपित्सुर्वा ततः प्रतिपत्तुमिच्छन् अर्थक्रियामेव समुद्दिश्य कर्तुं प्रतिपत्तुं वाऽर्हति । न च स्वलक्षणमेव सङ्केतितम् [व्यवहारकालमन्वेति] पुनः असङ्केतितशब्दार्थप्रतिपत्त्ययोगात् । न चायं ५ स्वलक्षणे शक्यः कर्तुम् अविषयीकृतयोः विषयीकृतयोश्च भिन्नेन्द्रियग्राह्ययोरसंभवात् । मनोविकल्पमन्तरेण अस्येदमिति घटनाऽयोगात् । मनोविकल्पेन च''' तन्न''' । सामान्येऽपि सुतरां न सङ्केतः तस्य दृष्टावप्रतिभासनात् सतोऽप्यर्थक्रियाऽसामर्थ्यात् । तदपोहविषयः सङ्केतः । तद्विषयं शब्दज्ञानं विभ्रमवशात् दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य पुरुषं व्यवहारे नियुङ्क्ते । अस्यापि सङ्केतितातत्कार्यकारणव्यपोहैकरूपस्य पुरुषार्थक्रियाकारिणः कथम- १० भावैकान्तत्वम् ? खपुष्पादः''' तत्कृतामर्थक्रियामुपजीवति न पुनस्तद्भावतत्त्वमिति तथागतप्रज्ञो देवानां प्रियः । संविदः समानेतरपरिणाममन्तरेण प्रवर्तमानासंभवात् न हेतुफलभावनियमः । तत्संभवे बहिरपि किन्न स्यात् ?]

वाचः शब्दा **न सङ्केत्येरन्** । क ? **स्वलक्षणे** । कुतः ? इत्याह–**अफलत्वात्** सङ्केतकरणस्य[फलाभावात्] । तथाहि–सङ्केतविषयस्य प्रत्यक्षविषयत्वात् न तत्र सङ्केतोपयोगः । १५ अन्यत्र तदभावात् । इतश्च न तत्र ते सङ्केत्येरन् ; इत्याह–**अशक्तेश्च** इति । **च** शब्दो हेतुसमुच्चये । तद्यथा, नाप्रतिपन्नयोः शब्दार्थस्वलक्षणयोः सङ्केतः ; अतिप्रसङ्गात् । नापि प्रतिपन्नयोः इन्द्रियज्ञानेन ; तस्य 'इदमस्य वाच्यमिदं वाचकम्' इति परामर्शायोगात् । नापि विकल्पेन अवस्तुविषयेन । तन्न ते तत्र सङ्केत्येरन् । असङ्केतितमर्थं शब्दाः कथयन्ति इति चेत् ; अत्राह– [४९५ख] **असङ्केतितं वाहुः न,** परोपदेशवैफल्यापत्तेः । २०

इदमपरं व्याख्यानम्–चशब्दमन्तरेणापि हेतुसमुच्चयगतेः । **न** शब्दो भिन्नप्रक्रमः '**स्वलक्षणे**' इत्यस्याऽनन्तरं द्रष्टव्यः उक्तसमुच्चये । ततोऽयमर्थः–न केवलं **स्वलक्षणे** अपि तु सामान्येऽपि **शब्दा न सङ्केत्येरन्** । कुतः ? इत्याह–**अफलत्वात्** तत्र वाचाम् । नहि शब्दप्रतिपादितमपि सामान्यं वाहाद्यर्थक्रियाकारि, विशेषकल्पनावैफल्यापत्तेः । हेत्वन्तरमाह– **अ[श]क्ते**रिति तत्र सङ्केतस्य कर्तुमशक्यत्वात् अप्रमाणविषयत्वात् । अथ शब्दात् सामान्यं २५ ततोऽपि विशेषः प्रतीयते इति मतिः ; तत्राह–**असङ्केतितं वाहुः न** । अस्यायमर्थः–न विद्यते सङ्केतितं सामान्यं यस्मिन् स्वलक्षणे **तदसङ्केतितं** न च वाचः कथयन्ते(न्ति) । नहि यद्द्वारेण विशेषे प्रवृत्तिः तत्र सामान्यमस्ति । तत्र उत्तरमाह–इत्येवं परेण उच्यमानम् **अनेकान्तसाधनम्** ।

'नहि' इत्यादिना कारिकार्थमाह–**[न हि शब्दाः असङ्केतितं प्रतिपादयन्ति]** सङ्केतितं ३०

(१) प्रत्यक्षाविषये । (२) सङ्केताभावात् । (३) इन्द्रियज्ञानस्य । (४) सामान्ये । (५) मीमांसकस्य ।

प्रतिपादयन्ति इति चेत ; अत्राह–**सङ्केतं च कुर्वन्** सङ्केतकारी **प्रतिपित्सुर्वा ततः** सङ्केतं प्रतिपत्तुमिच्छत्ता(न् ना⁽¹⁾)प्रतिपाद्यः **अर्थक्रियामेव समुद्दिश्य कर्तुं प्रतिपत्तुं वा अर्हति**, अन्यथा अप्रेक्षाकारितापत्तेः । द्वयोरपि⁽²⁾ तथेति चेत ; अत्राह–**स्वलक्षणमेव** इत्यादि । तत्रैव सङ्केत इति चेत ; अत्राह–**न च** इत्यादि । कुतः ? इत्यत्राह–**सङ्केतेति (सङ्केतिते)**त्यादि । व्यवहारका-

५ लक्षणस्य [असङ्केतितत्वात । तस्य] असङ्केतितस्य प्रतिपत्तिरिति चेत ; अत्राह–**पुन**रित्यादि । सङ्केतात पश्चात **असङ्केतितशब्दार्थप्रतिपत्त्ययोगात्** [४९६क] अन्यथा गोशब्दाद् अश्वप्रतीतिः स्यात । अनेन '**अफलत्वात्**' इति व्याख्यातम ।

द्वितीयं हेतुं व्याख्यातुमाह–**न चायम्** इत्यादि । कुतः ? इत्यत्राह–**अविषयीकृतयोः** शब्दार्थयोरसंभवात सङ्केतस्येति । विषयीकृतयोः स्यादिति चेत ; अत्राह–**विषयीकृतयोश्च**

१० विषयीकृतयोरपि **असंभवादिति** । किंभूतयोः ? इत्याह–**भिन्नेन्द्रियग्राह्ययोः** भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात इति । श्रवणेन्द्रियज्ञानस्य शब्दमात्रे चक्षुरादिज्ञानस्य रूपादिमात्रे पर्यवसानात । नान्योन्यविषयीकरणे⁽³⁾ च 'अस्येदम' इति घटनायोगात सन्तानान्तरवत् । कुतस्तर्हि सङ्केतः ? इत्याह–**मनोविकल्पमन्तरेण घटनायोगात्, 'अस्येदम्' इति** सम्बन्धस्य करणासंभवात, मनोविकल्पादेव⁽⁴⁾ तद्योगात इत्यर्थः । तत एव भवतु इति चेत ; अत्राह–**मनोविकल्पे(ल्पेन) च** इत्यादि । **न**

१५ **चायं सङ्केतः स्वलक्षणे शक्यः कर्तुमिति** । उपसंहरन्नाह– **तन्न** इत्यादि ।

द्वितीयमर्थं कथयन्नाह–**सामान्येऽपि** न केवलं स्वलक्षणे वस्तुनि **सुतरां न सङ्केतः** । कुतः ? इत्याह–**तस्य** सामान्यस्य **दृष्टौ** इन्द्रियज्ञानेऽ**प्रतिभासनात्** । अनेन अशक्तं (**अशक्ते**रिति व्याख्यातम्) **सतोऽपि** विद्यमानस्यापि **तस्य अर्थक्रियाऽसामर्थ्यात्** सामान्येऽपि **न सङ्केत** इति । यत एवं **तत्तस्मात अपोहविषयः सङ्केतः** । तत्रापि⁽⁵⁾ शब्दात् कथं स्वलक्षणे प्रवृत्तिः इति

२० चेत् ; अत्राह–**तद्विषयम्** इत्यादि । **सोऽपोहः विषयो** यस्य शब्दज्ञानस्य तत्तथोक्तम । तत्पक्षी (तत क किं)करोति ? इत्याह–**पुरुषं व्यवहारेषु** [४९६ख] **नियुङ्क्ते** इति । किं कृत्वा ? इत्याह–**दृश्य** इत्यादि । **दृश्यं** स्वलक्षणं **विकल्पः(ल्प्यः)** शब्दज्ञानाकारः तौ **एकीकृत्य** । कुतः ? इत्याह–**विभ्रमवशात्** इति । अस्योत्तरमाह–**अस्य** इत्यादि । **अस्यापि** व्यपोहस्यापि **कथम् अभावैकान्तत्वम्** नीरूपतैकान्तत्वम् । किंभूतस्य ? **पुरुषार्थकारिणः** । पुनरपि किंभूतस्य ?

२५ इत्याह–**सङ्केतिते**त्यादि । **न तत्** विवक्षितं **कार्यकारणं** येषां विजातीयाभिमतानां ते **अतत्कार्यकारणाः** तेभ्यः तेषां चा(वा) **व्यपोहः, सङ्केतितानाम अतत्कार्यकारणव्यपोहः** खण्डादीना स **एकं रूपं** यस्य तस्य इति । तथापि अभावैकान्तत्वे दूषणमाह–**खपुष्पादेः** इत्यादि ।

सौगतमुपहसन्नाह–'**तत्कृताम्**' इत्यादि । **तत्कृतां** व्यपोहकृताम् **अर्थक्रियामुपजीवति न पुनः तद्भावतत्त्वं** तस्य व्यपोह[स्य]भावरूपमुपजीवति । कोऽसौ ? इत्याह–**तथागतप्रज्ञः** तथागते

३० सुगते प्रज्ञा यस्य स तथोक्तः **देवानांप्रियः** । यदि वा, **तथा** तेन प्रकारेण **गता** ध्वस्ता **प्रज्ञा**

---

(१) प्रतिपत्सुमयोग्यः । (२) प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः । (३) अन्योन्याविषयीकरणे इत्यर्थः । (४) मनोविज्ञानादेव । (५) अपोहविषयत्वेऽपि ।

यस्य इति ग्राह्यम्, अत एव **देवानां प्रियः** । भावा(भवाँ)स्तर्हि कुतोऽस्य भावतत्त्वमुपजीवति इति चेत् ? अत्राह–**संविद्** इत्यादि । **संविदो** ज्ञानस्य नीलतया अर्थेन सह यः 'नं' **समानो** यश्च जडेतररूपतया **इतरः** असमानः **परिणामः** तमन्तरेण **तथा** प्रत्यक्षादिप्रकारेण दृश्यप्रा-प्ययोरेकत्वाध्यवसायप्रकारेण वा **प्रवर्तमानासंभवात्** 'व्यवहारिणः' इत्यध्याहारः । **प्रवर्त-मान(नः)** संसार(रः), पूर्वपावकादिवासनात उत्तरोत्तरपावकादिप्र[ति]भासप्रवृत्तिः [४९७क] ५ तस्या**ऽसंभवात्** । किमन्तरेण ? इत्याह–**समान** इत्यादि । तथाहि–पूर्वोत्तरपावकज्ञानयोः उपा-दानोपादेयभूतयोः भासुरतया **समान** उपादानोपादेययोग्यतया **इतरः परिणामः** तथापि समान-परणामो विज्ञानवादेऽपि न हेतुफलभावनियमः । निरस्तमद्वैतम् । संविदो भवत्त(तु त)त्परिणामो नार्थस्य इति चेत्; अत्राह–**तत्संभवे** समानपरिणामसंभवे 'संविदः' इत्यनुवर्त्तते **बहिरपि किन्न स्यात्** तत्परिणामः ? १०

यदुक्तं परेण–*"न चायं सङ्केतः स्वलक्षणे शक्यः कर्तुम्" इति[3]; तत्र दूषणं दर्शयन्नाह–**अशक्यसमयमि**त्याह (त्यादि) ।

[अशक्यसमयं रूपं यथार्थानामनन्यभाक् ।
अशक्यदर्शनं रूपं तथार्थानामनन्यभाक् ॥२३॥

यथा अर्थरूपं तथैव द्रष्टुमशक्यं कारणस्यापि दृष्टेरविषयत्वात् कालभेदात् तत्स- १५ **मानाकारदर्शनात् । तद्विषयीकरणव्यवस्थायां साकल्येन तत्सामान्यं विषयः स्यात् । न चेयं दृष्टिः स्वकारणस्यैव रूपमनुकरोति, क्वचित् स्वयमुपादानरूपमनुकरोत्यपि, स्वकार-णोपादानस्य च । कथञ्चित् सादृश्यस्य अन्यत्राप्यनिवारणात्, सर्वथानुकरणासंभवात् । साक्षात्तदुत्पत्तेरभावादतत्प्रतिभासित्वमयुक्तम्; स्वप्नादावभ्रान्तत्वापत्तेः ।]**

अशक्यः समयः सङ्केतो यस्मिन् तत्तथोक्तम् । किम् ? **रूपं** स्वभावः । केषाम् ? २० इत्याह–**अर्थानाम् यथा** येन अनन्तरोक्तप्रकारेण । किंभूतम् ? **अनन्यभाग्** असाधारणम् **अशक्यदर्शनं रूपं** क्षणिकपरमाणुलक्षणम् **तथा अर्थानाम[न]न्यभाक्** इति विचारित-मेव(त)न ।

का[रि]कां विवृण्वन्नाह–**यथार्थरूपम्** इत्यादि । **तथैव द्रष्टुमशक्यमिति** । कुतः ? इत्याह–**दृ[ष्टे]**रित्यादि । कारणे(ण)स्य विषयता स्यादिति चेत्; अत्राह–**कारणस्यापि दृष्टे-** २५ **रविषयत्वात्** । कुतः ? इत्याह–**कालभेदात्** दृष्टिकालपरिहारेण अर्थकालो व्यवस्थितः । एव-मन्यत्रापि योज्यम् । न च परस्य कालभेदे ग्राह्यग्राहकभावः । तदाकारानुकरणात् तैत्तस्यै ग्राहक-मिति चेत्; अत्राह–**स(त)त्समान** इत्यादि । **तेनार्थेन समानो य आकारः** ज्ञानस्य तस्य

(१) 'न' इति निरर्थकम् । (२) ज्ञानं न जडम्, अर्थस्तु जड इति । (३) "शब्दाः सङ्केतितं प्राहु-र्व्यवहाराय स स्मृतः । तदा स्वलक्षणे नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र न ॥"–प्र० वा० ३।९१ । (४) ज्ञानम् । (५) अर्थस्य ।

दर्शनात् तद्विषयीकरणव्यवस्थायाम्, तदित्यर्थः परामृश्यते। **साकल्येन** [४९७ख] बहिरन्तश्च **तत्सामान्यं** सदृशपरिणामसामान्य(न्यं) **विषयः स्यात्** दृष्टिः(दृष्टेः) इति सम्बन्धः। ज्ञान-ज्ञेयवदन्यत्रापि तत्सामान्यस्य निषेद्धुमशक्यत्वादिति भावः। अनेन कारिकायाः पाश्चात्यो भागो विवृतो न पूर्वः सुगमत्वात्।

५ यच्चान्यदुक्तम्–*"**मनोविकल्पमन्तरेण योजनासंभवात् मज्ञो(मनो)विकले च वस्तुप्रतिभासप्रत्ययस्तमयात्**" इति; तत्राह–**न चायम्** (**चेयम्**) इत्यादि। च शब्दः अपिशब्दार्थः भिन्नप्रक्रमः '**दृष्टिः**' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। तयोऽयमर्थः –**दृष्टिरपि न** केवलं मनोविकल्पः **इयं** परेण अभ्युपगम्यमाना अविक[ल्पिका] न **स्वकारणस्यैव** कारणशब्दात् सामान्यवाचिनोऽपि प्रकमाद् आलम्बनकारणस्य परिग्रहः। स्वशब्दाद् अव्यवहितकारणस्व(स्यै) **रूपं**

१० **स्वभावमनुकरोति**। कुतः ? इत्यत्राह–**क्वचिद्** इत्यादि। **क्वचित्** सितादिशङ्खादौ **स्वयम्** आत्मना न पारम्पर्येण **उपादानस्य** समनन्तरकारणस्य **रूपमनुकरोति अपि** न केवलं नानुकरोति, तत्र हि उत्तरोत्तरं पीतज्ञानं पूर्वपूर्वपीतज्ञानस्य आकारमनुकरोति नार्थस्य तदा[का]राभावात्। अयमभिप्रायः–मनोविकल्पस्य[क]चिदर्थाभावेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात् तत्र सर्वत्र यदि वस्तुप्रतिभासप्रत्ययस्तमयः, दृष्टिरि(दृष्टेर)पि कस्याश्चित् अर्थाकारानुकरणाभावात् सर्ववस्तुप्रतिभासप्रत्ययस्तमय

१५ इति तथा **स्वकारणोपादानस्य च रूपमनुकरोति** अपि। [४९८क] अत्रापि '**क्वचित्**' इत्यनुवर्तते। **क्वचिद्** शीघ्रभ्रमदलाभा(दलाता)दौ दृष्टेः **स्वकारणम्** 'अनन्तरक्षणम्'[६] अनन्तर(रः) क्षणः, तस्य च यत् साक्षात् पारम्पर्येण **उपादानं** तयोः द्वन्द्वैकवद्भावः, तस्य च **रूपमनुकरोत्यपि**। स्वकारणस्यैव रूपानुकृतौ एकचक्रा[का]रा प्रतीतिर्न स्यात् सर्वदा प्रसङ्गात्। कथं भिन्नकालरूपानुकृतिरिति चेत् ? कथं भिन्नदेशरूपानुकृतिः ? यतो दूरविरलकेशेषु घनैकप्रतीतिः स्यात्।

२० अथ यावतो(न्तो)ऽलातक्षणाः तावत्य एव क्रमभाविन्यो दृष्टयः कल्प्यन्ते[७]; सन्तानान्तरवत् चक्रबुद्धिर्न स्यात्। मानसी सा इति चेत्; न; स्पष्टत्वात् द्विचन्द्रदर्शनवत्। ततः **स्वकारणोपादानस्य च रूपमनुकरोत्यपि**।

स्यान्मतम्–भासुरतामात्रानुकृतिरेव तत्र, नाशेषरूपानुकृतिः, न चैक(न वा एकत्वाद्याकारानुकृतिरिति चेत्; अ)त्राह–**कथञ्चित्** इत्यादि। **कथञ्चित्** भास्वरतामात्रेण न इतराकारेण

२५ **यत्सादृश्यं** सारूप्यं तस्य **अन्यत्रापि** प्रत्यक्षाभिमतेऽपि ज्ञाने **अनिवारणात्** इति। निरूपितमेतत्। कुत एतत् ? इत्यत्राह–**सर्वथा** इत्यादि। नीलाकारेणैव कारेणैक(नीलाकारेणेव एक)-त्वाद्याकारेऽप्यनुकरणम् **सर्वथानुकरणम्** तस्य स्वकारणं प्रत्य**संभवात्**। कार्यकारणयोरविशेषा(ष)-प्रसङ्गादिति।

ननु 'यत एव साक्षद्यते(साक्षादुत्पद्यते)ज्ञानं तस्यैव रूपमनुकरोति नापरस्य' इति कदा-

३० चित् निराकृतोऽपि परो[८] ब्रूयात्; तत्राह–**साक्षात्** इत्यादि। अव्यवधानेन **तस्मात्** स्वकारणोपादा-

(१) तदिति शब्देन। (२) सदृशपरिणामसामान्यस्य। (३) प्रकरणात्। (४) परिग्रहः इति सम्बन्धः तस्य। (५) मनोज्ञाने। (६) 'अनन्तरक्षणम्' इति व्यर्थमत्र। (७) तदा। (८) बौद्धः।

नात् उत्पत्तेरभावात् [४९८ख] अतत्प्रतिभासित्वं तदुपादानाप्रतिभासित्वमयुक्तम् । कुतः ? इत्याह–स्व आद(स्वप्नादा)वित्यादि । अत्र आदिशब्देन कामशोकाद्युपप्लवपरिग्रहः । नहि तत्रै साक्षादर्थो ज्ञानकारणम्, अभ्रान्तत्वापत्तेः । नापि तदाकारं ज्ञानम्[२]; चिरकालव्यवहितादपि तदाकारा[ज्]ज्ञानात् तत्रार्थप्रतिभासप्रतीतेः । तदे[व] तदुपादानमिति चेत्; एवं कालव्यवहितोऽर्थोपि त[३]ज्ज्ञानकारणम् इति न स्वप्नादिज्ञानस्य वासनामात्रभावित्वम् । तिमिरादिज्ञानं (नस्य) ५ च कथमेवंवादिनो निर्विषयता ; तत्रापि व्यवहितस्यार्थस्य कारणत्वोपपत्तेः । अव्यवहितार्थाभावात् निर्विषयत्वे ; अनन्तरोपादानाभावाद् अनुपादानं किन्न स्यात् ?

स्यादेतत्–लाक्षारसावसेकोपकृतकुसुमाहितशक्तिकात् कार्पाससन्तानाद् अन्तरालविजातीयनीलपत्रादिसंभवेऽपि यथा फले रक्तता, तथा नीलादिज्ञानाहितशक्तिकात् चित्तसन्तानात् विजातीयाऽन्तरालविज्ञानभावेऽपि स्वप्ने नीलादिज्ञानमिति ; तत्रापि यदि सजातीया(य)ज्ञानाहितवासनं १० भिन्नजातीयम् उपादानकारणम् ; न तर्हि साक्षात्कारणस्यैव आकारमनुकरोति व्यवहितस्याप्यनुकरणात् ।

परमतमाशङ्कते भ्रान्तेः इत्यादि ।

[भ्रान्तेरदोषः स्वप्नादौ अन्यत्राप्यात्मनः कथम् ।
संवित्तेश्चेदभ्रान्तिः अविशेषात्सतोऽसतः ॥२४॥　　१५

तदतद्ग्रहणलक्षणत्वात् कथं च न दोष एव तल्लक्षणव्यभिचारेऽपि इति चित्रमेतत् ।]

स्वप्नादौ भ्रान्तेः कारणाददोषः 'अर्थप्रतिभासाभावप्रसङ्गः' इति यो दोषः तस्याभावः ; साक्षादकारणस्यापि आकारानुकरणादिति चेत् ; अत्रोत्तरमाह–**कथम्** इत्यादि । [४९९क] **अन्यत्रापि** जाग्रज्ज्ञानेऽपि सौगतस्य **अभ्रान्तिः** कथम् ? कुतः ? इत्याह–**आत्मान(त्मन)** इत्यादि । **आत्मनः** स्वरूपस्य । किंभूतस्य ? **सतः** विद्यमानस्य । कस्य(स्याः) ? **संवित्तेः** २० अर्थस्य घटादेः **असतः** प्रतिपत्ते**रविशेषात्** । उभयत्रापि प्रतिभासाभेदात् कथमन्यत्रै भ्रान्तिरिति?

उपसंहारमाह–'**तद**' इत्यादि । यस्मादेवं **तत्** तस्मात् **अतद्ग्रहणलक्षणत्वात्** न तद्त्त (तद् अतत् त)स्य **ग्रहणं** तदेव **लक्षणं** यस्य तस्य भावात् तत्त्वात्, अन्यस्य **कथंचन दोष एव** । कस्मिन् सति ? आह–लक्षणा(ण)**व्यभिचारेऽपि** तदुत्पत्तिसारूप्ये बहिरर्थदर्शनलक्षणं तद्व्यभिचारेऽपि **इति चित्रमेतत्** । अनेन सौत्रान्तिकस्य सर्वत्र विभ्रमेतररूपतां दर्शने दर्शयति । २५

'यस्मात् यत् साक्षादुपाश्राय ते(दुत्पद्यते) तस्येव द्रूय(तस्यैव तद्रूप)मनुकरोति' इत्यत्र पुनरपि दूषणमाह–**तद्रूपानुकृतौ** इत्यादि ।

[तद्रूपानुकृतौ हेतुः तत्साक्षाज्जन्मतैव न ।
परिणामाविनाभावात् गर्भपित्रादिरूपवत् ॥२५॥

न वै गर्भः साक्षात्तदुत्पत्तिरपि पितृरूपमनुकरोति । साक्षादनुत्पत्तेः, तथापरिणाम ३०

(१) स्वप्नादौ । (२) तत्र कारणम् । (३) स्वप्नादिज्ञान । (४) स्वप्नादौ ।

एव तदाकारानुकारित्वलक्षणं पितामहाद्याकारानुकारित्वोपपत्तेः । तथा च प्रत्यक्षवत् स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कादेरतीतार्थानुकरणात् वस्तुनि सङ्केतो न पुनर्व्यावृत्तौ नीरूपत्वात् खपुष्पवत् । वस्तुतत्परिणामस्यैव वस्तुनि भावात्, अविरोधात् । अर्थक्रिया[करणाच्च] तत्रैव सङ्केतः फलवान् व्यवहारकालेऽपि तद्भावान्नान्यत्र । अन्यथा प्रत्यक्षानुमानयोरपि
५ निरर्थकत्वम् । नहि तयोरकारणं विषयः, कारणं व्यवहारकाले न संभवत्येव अक्षणिकतापत्तेः । विकल्पकल्पितान् दृश्यप्राप्यैकत्वादवस्तुनः अर्थक्रियासिद्धौ स्वलक्षणदर्शनं क्वोपयुज्येत ? तत्कारणत्वेऽपि…]

तस्य विवक्षितस्य रूपं तस्यानुकृतौ क्रियमाणायां हेतुः कारणम् तस्माद् विवक्षितात् साक्षाद् अनेन (अव्यवधानेन) जन्म यस्य तस्य भावः तत्ता सैव न । कुतः ? इत्याह–
१० परिणामाविनाभावा[त्] तद्रूपानुकृतौ इति । निदर्शनमाह–गर्भ इत्यादि ।

कारिकार्थमाह–पितृरूपम् इत्यादिना । अनेन व्यवहितकारणरूपानुकरणं कार्यस्य दर्शयति । नहि पितुः साक्षादपत्यं भवति शुक्रादेस्तथा ततो भावात् । तस्यापि तद्रूपानुकृतिरिति चेत् ; अत्राह–साक्षात् इत्यादि । ननु गर्भः शुक्रशोणितसंपातः पितृरूपमनुकरोति । किंभूतः ? इत्याह–साक्षात्तदुत्पत्तिरपि साक्षात् तस्मादप्युत्पत्तिर्यस्य इति । [४९९ख]

१५ द्वितीयं निदर्शनं व्याख्यातुमाह– साक्षादनुत्पत्तेः इत्यादि । विवृतमेतत् । (तमेतत्) । यदि साक्षात् तज्जन्म नाकाराधानकारणं किं तर्हि स्यात् ? इत्यत्राह–तथा तेन व्यवहितेऽपि कार्ये तदाकारसमर्पणप्रकारेण परिणाम एव तदाकारानुकारित्वलक्षणं विवक्षितवस्त्वाकारित्वज्ञापकम् । पितामहाद्याकारानुकारित्वस्य उपपत्तेर्दर्शना[त्] । भवत्वेवं तथापि प्रकृतं किं सिद्धम् ? इत्याह–तथा च इत्यादि । तेन हि तका(तत्का)रणाकारानुकरणप्रकारेण च
२० प्रत्यक्षस्य च (स्येव)तद्वत् स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कादेरतीतार्थानुकरणात् कारणाद् वस्तुनि सङ्केतो न पुनर्व्यावृत्तौ । कुतः ? इत्याह–नीरूपत्वात् व्यावृत्तेरिति 'खपुष्पवत्' इति सूक्तम्–*"तस्य य(व्य)पोह(ह्य)वस्तुषु भावात्"[2] तत्कथं नीरूपत्वमिति चेत् ? अत्राह– वस्तु इत्यादि । वस्तु च तत्परिणामश्च सः सादृश्यरूपः तस्यैव वस्तुनि खण्डादौ भावात् न एकान्तवादिकल्पितस्यापोहादेः इत्येवकारार्थः । एतदपि कुतः ? इत्याह–अविरोधात् प्रमाण-
२५ बाधाभावात् । साधनान्तरमाह–अर्थक्रिया इत्यादि । तत्रैव सदृशपरिणाम एव सङ्केतः फलवान् व्यहारकालेऽपि तस्य भावात् नान्यत्र फलवान् विपर्ययादिति भावः । यच्चान्यदुक्तम्–

*"शब्दाः सङ्केतितं प्राहुः व्यवहाराय स स्मृतः ।
तदा स्वलक्षणं(णे) नास्ति सङ्केतस्तत्र तेन [न] ॥"[प्र० वा० ३।९१] [इ]ति ।

तत्राह–अन्यथा इत्यादि । अन्येन वस्तुनि सङ्केताभावप्रकारेण अन्यथा प्रत्यक्षानुमानयोरपि
३० [५००क] न केवलं शब्दस्यैव निरर्थकत्वं निष्फलत्वम् । एतदेवाह–न हिर्यस्मात् तयोः प्रत्यक्षा-

(१) निःस्वभावत्वात् । (२) तुलना–"तस्य वस्तुषु भावादि साकारस्यैव साधनम्"–न्यायवि० १।१४८ ।

नुमानयोः **अकारणं विषयः** किन्तु कारणमेव, परापेक्षया[1] इदमुक्तम् । भवत्वेवमिति चेत् ; अत्राह-**कारणं व्यवहारकाले न संभवत्येव अक्षणिकतापत्तेः** । तथाहि—पूर्वकालभावि कारणम् पूर्वं[2] सौगतानाम् । न च तत्र[3] योगिनापि प्रवर्तितुं शक्यम् । नापि वर्त्तमाने ; तस्य अकारणत्वेन तद्विषयत्वात्[4] । तथापि प्रवृत्तौ न प्रमाणात् प्रवृत्तः स्यात् । न च तस्य देशभिन्नस्य तदेव (तदेव) प्राप्तिः। नहि यदेव धूमादग्निः अनुमीयते, तदेव प्राप्यते । अप्रवृत्तिः इति　५
चेत् ; तदकारणं नास्ति सङ्केतितवत् । तत्सदृशे भाविनि प्रवृत्तौ तत्रापि प्रवृत्तिर्यथा देवदत्तसदृशे यज्ञदत्ते इति ; तर्हि सङ्केतितसदृशे[5] प्र[वृ]त्तिरस्तु । भ्रान्तिरुपचारो वा स्यादिति चेत् ; प्रत्यक्षादौ तथैव भाविनि[6] । भ्रान्त्यैव तत्[7]प्रमाणमिति चेत् ; शब्दो[8]ऽप्यस्तु, तथा च कुतः प्रमाणद्वयम् ? अथ सङ्केतव्यवहारकालार्थयोः भिन्नसन्तानत्वात् न ; एकान्तेन सन्तानभेदाभावात् ; एकस्मिन्नपि देवदत्तसन्ताने सङ्केतव्यवहारयोर्दर्शनात् ।　१०

किंच, प्राप्य-प्रत्यक्षादिकारणयोः[9] एकसन्तानतानिश्चयः कुतः ? सादृश्यादिति चेत ; न; व्यभिचारात् यमलकेन । 'हेतुफलभावाधिकात्[10]' इति चेत ; न; सुगतेतरज्ञानेन[11] [व्यभिचारात्] । [12]पूर्वस्य च रसत्वे चान्यस्य तत्सदृशस्य कुतश्चित् सन्निधानाशङ्कायां दुरवबोधमेतत् । नहि कार्यमेव अनन्तरं सदृशं वा ; सर्वस्यापि तथाविधस्य [५००ख] कार्यत्वप्रसङ्गात् । ततः सूक्तम्—**'कारणं व्यवहारकाले न संभवत्येव'** इति ।　१५

भावि तयोः कारणम् तत्र (तद् भावि) काल एव संभवात्य परः (वर्तीत्य) परः[13]; शब्दस्यापि यदि व्यवहारकालोऽर्थः कारणं को दोषः ? चिरभावी कथं कारणमिति चेत् ; कथं मरणादिः तथाविधः[14] अरिष्टादेः येन[15] अतः तदनुमानं कार्यलिङ्गज (ङ्गजं स्यात्) ? नरकादिदेशव्यवहितं कथं देशान्तरे शब्दकारणमिति चेत ; उक्तमत्र कथं भवतोऽपि स्वप्नान्तिकशरीरं देशान्तरे सुप्तशरीरात् ? सुप्तादेर्वा देशान्तरनीतस्य[16] पूर्वचित्तात्[17] प्रबोध इति ।　२०

ननु यद्यर्थात् कुतश्चित् शब्दस्य जन्म ; तदा (तद्)भावे[18] स न भवेत् , भवति च [19]अन्यथापीति चेत ; उच्यते—यदि [20]प्राप्या[त्] दृश्यस्य जलाभासस्य[21] जन्म, कथं मरीचिकाचक्रे[22] ? नहि तत्र स्नानादिकं प्राप्यमस्ति । भ्रान्तः स इति चेत् ; अन्यत्र समानम् । अर्थभावाभावयोः

(१) बौद्धापेक्षया । "नाऽहेतुर्विषयः"–प्र० वार्तिकाल० ३।४०६ । "अहेतुश्च विषयः कथम्"–प्र० वा० । "नाकारणं विषयः"–प्र० वा० मनोरथ० २।२५३। (२) 'पूर्वं' इति निरर्थकम् । (३) पूर्वकालभाविनि । (४) ज्ञानाविषयत्वात् । (५) सदृशे प्रवृत्तौ । (६) प्रवृत्तौ भ्रान्तता स्यात् ।(७) प्रत्यक्षम् । (८) शब्दः प्रमाणम् । (९) प्रत्यक्षादिना यदेव दृष्टं स्वकारणभूतं वस्तु यच्च तेन प्राप्यम् प्रवृत्तौ सत्याम्, तयोरेकसन्तानतानिश्चयः कुतः इत्यभिप्रायः । (१०) 'कार्यकारणभावे सति सादृश्यात्' इत्यर्थः । 'हेतुफलभावः' इत्यधिकं विशेषणं 'सादृश्यात्' इति हेतौ देयमिति भावः ।(११)यदा सुगतः इतरजनज्ञानं जानाति तदा सुगतज्ञानेन इतरजनज्ञानस्य विषयतया कार्यकारणभावोऽस्ति, सादृश्यमपि ज्ञानरूपतया विद्यते एव, अतः तयोरेकसन्तानत्वं स्यादिति भावः । (१२) पूर्वं रसोऽपि सन् तस्माज्जायमानः कदाचित् अन्यः स्यात् अथवा सन्तानान्तरवर्ती सदृशो रसः स्यादिति शङ्का न निवर्तते । (१३) भाविकारणवादी प्रश्नाकरः । (१४) चिरभावी । (१५) अरिष्टादेः । (१६) पुरुषस्य । (१७) जाग्रच्चित्तात् । (१८) अर्थाभावे । (१९) अर्थाभावेऽपि । (२०) भाविनः । (२१) विपरीतज्ञानस्य । (२२) जलज्ञानं स्यात् ।

एकः शब्दः' ; कुत एतत ? प्रतिज्ञानात् ; अत एव प्राप्यार्थक्रियाभावाभावयोः जलप्रतिभास एकः स्यात । 'व्यवहारी तथा न मन्यते' इत्युभयत्र समानम् । तन्न किंचिदेतस्य (तत्) ।

ननु दृश्यप्राप्ययोरेक त्व (कत्वाध्य) वसायत (यात) दृश्य (श्यः) व्यवहारकालेऽप्यस्ति इति चेत ; अत्राह-विकल्प इत्यादि । **विकल्पेन कल्पितं दृश्यप्राप्ययोरेकत्वं** तस्मात **विकल्प-**
५ **कल्पिता[त्]** । किंभूतात ? **अवस्तुनः अर्थक्रियासिद्धौ** अङ्गीक्रियमाणायां **स्वलक्षणदर्शनं क उपयुज्येत** ? न क्वचित , विकल्पादेव सर्वदा प्रवृत्तिसद्भावात [५०१क] सोऽयं दृश्यप्राप्य-योरेकत्वाध्यवसायेन प्रत्यक्ष (क्षं) भाविनि प्रमाणमिच्छन अभ्यासेऽविकल्पकमेव इच्छतीति कथं स्वस्थः ?

किंच, दृश्ये प्राप्यस्य कुतश्चित सर्वथा आरोपे, तावन्मात्रमेव इति कथं तथापि प्रवृत्ति-
१० र्यतोऽस्य व्यवहारः सुघटः स्यात ? प्राप्ये दृश्यस्य प्राप्यवदस्यापि परोक्षता इति स एव प्रवृ-त्यभावः । नहि परोक्षे समारोपितमन्यथा भवति । कथञ्चिद्वादोऽनिष्टः परस्य । अथ विकल्प-कारणत्वाद[वि]कल्पः प्रमाणम ; तत्राह-**तत्कारणत्वेऽपि** इत्यादि । '**न चेयं दृष्टिः स्वका-रणस्यैव रूपमनुकरोति**' इत्यनुत्र (नुवर्तते) ।

पुनरपि युक्त्यन्तरमाह-**ज्ञानं नीलेन** इत्यादि ।

१५ **[ज्ञानं नीलेन सारूप्यं स्वस्य रूपस्य दर्शयेत् ।**
नो चेन्नीलान्तराणां वा सर्वथाऽयमसद्ग्रहः ॥२३॥]

वर्णाद्यात्मकोऽवबोधोऽयं स्वार्थेन स्वस्य अत्यन्तसारूप्यं स्वीकरोति न तत्कारणा-दीनामपि नीलान्तराणामिति कथं सम्भाव्यम् ? यतः अनन्यभागसाधारणोऽर्थात्मा प्रत्यक्षविषयः स्यात् । संविदां तदाकारानुकारित्वात् ।]

२० **वा** इत्यवधारणे '**नीलेन**' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । **नीलेनैव** साक्षात कारणेनैव **ज्ञानं सारूप्यं स्वस्य रूपस्य** स्वभावस्य **दर्शयेत् सर्वथा** नीलत्वमात्रेणेव क्षणक्षयादिनापि **नो** न **चेत्** यदि **नीलान्तराणं (णां)** रूपस्य नीलेन सारूप्यं स्वस्य वा दर्शयेत् **अयं पर-स्यासंग्रहः (सद्ग्रहः)** विरूपाभिनिवेशः ।

कारिकार्थमाह-**अयं** स्वसंवेदनविषयो वा**ऽवबोधो** बाह्यघटादिज्ञानं सौत्रान्तिकस्य, **वर्णा-**
२५ **द्यात्मि (द्यात्म) कः** बाह्यरूपादिप्रतिबिम्बः **स्वार्थेन स्वस्य** साक्षात कारणेन **अर्थेन** नीलादि-विशेषेण **स्वस्य आत्मनः अत्यन्त[सा]रूप्यं** सर्वाकारसादृश्यं **स्वीकरोति न नीलान्तराणां स्वस्य सारूप्यं स्वीकरोति** । किंभूतानाम् ? **तत्कारणादीनामपि** इति । तच्छब्देन ज्ञानस्य स्वार्थो नीलादिविशेषः [५०१ख] परामृश्यते । **तस्य कारणमादिर्येषां** तत्सन्तानपातिनां सर्वेषामन्येषां वा तानि **तेषामपि इति कथं संभाव्यम् ?** न कथंचित् । **यतः** संभावनात्
३० **अनन्यभाग् असाधारणोऽर्थात्मा प्रत्यक्षविषयः** 'स्यात्' इत्यध्याहारः । एवं मन्यते-नहि

(१) एक एव शब्दः कथं प्रयुज्यते ? (२) दृश्यमात्रमेव । (३) प्राप्तु योग्यस्याभावात् । (४) सर्वथा आरोपे सति । (५) दृश्यस्यापि । (६) प्रत्यक्षम् । (७) इति चेत् । (८) योगाचारस्य ।

ज्ञानं स्वार्थस्यापि दायाद इव धनम् आकारं गृह्णाति इत्युच्यते । सदृशं च तत् सर्वनीलार्थैः इति । यदि स्वार्थेनैव सारूप्यम् ; तर्हि चित्रो मित्रानुकारीति लोके व्यपदेशो न स्यादिति ।

ननु स्वार्थस्यैव रूपं स्वीकुर्वेदुपलभ्यते ज्ञानम् [न] नीलान्तराणाम् तेन एवमुच्यते इति चेत् ; अत्राह–**तदाकार** इत्यादि । **तेषां** नीलान्तराणाम् **आकारानुकारित्वात् संविदाम् ।**

भवत्वेवम् , ततः किम् ? इत्याह–**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।　５

[प्रत्यक्षं सदसद्रूपसामान्यार्थं तथा स्मृतिः ।
प्रत्यभिज्ञा वितर्कश्च सङ्केतस्तत्र नासति ॥२७॥

सदसदात्मनि प्रत्यक्षमन्यत्र स्मरणादिकं प्रमाणं तद्व्यवहारान्यथानुपपत्तेः । शब्दार्थविकल्पयोः तद्विषयत्वात् । तत्र समयः कर्तुं शक्यः फलवानपि तादृशस्त्रिकाल-विषयत्वात् । अन्यथा अर्थक्रियानुपपत्तेः कथं कुतश्चित् व्यवहारप्रवर्तनं यतः तत्प्रामाण्यम्,　१०
अर्थक्रिया[ऽभावे तदभावात् ।]

प्रत्यक्षं चक्षुरादिज्ञानम् । तत् किंभूतम् ? इत्याह–**सद्** इत्यादि । **सच्च** विज्ञानं तस्य स्वयमुपलभ्यमानत्वात्–*"**उपलम्भः सत्ता**" [प्र० वार्तिकाल० ३।५४] इति, **असच्च** तत् स्वकारणकारणादिकम् , अस्य साक्षादप्रतीतेः **सदसती** तयो **रूपं** स्वभावो न व्यावृत्तिमात्रं ततो भिन्नं वा, तत्स्वामान्यं(**तत्सामान्यं**) च सदृशपरिणामलक्षण**मर्थो** यस्य　१५
तत्तथोक्तम् । यथा अर्थेऽदृष्टेऽपि तत्सदृशज्ञानदर्शनदर्शनात् 'नै' नीलादिता 'दृष्टा' इत्युच्यते, तथा शावलेयादावदृष्टेऽपि तत्सदृशखण्डदर्शनात् तत्सदृशपरिणामसामान्यं दृष्टमुच्यतामिति भावः । तवा च (तथा च) यदुक्तम् अ र्च टा दि ना–*"**एकव्यक्तिदर्शनकाले अन्यासाम-दर्शनात्** [५०२क] **कथं तदाधारं सामान्यं प्रत्यक्षतः प्रतीयते ?**" इति ; तदनेन निर-स्तम् । भवतु प्रत्यक्षं तदर्थम् , ततः किम् ? इत्याह–**तथा** तेन प्रकारेण **स्मृतिः** सदसद्रूप-　२०
सामान्यार्थेति, तथा **प्रत्यभिज्ञा** तदर्था, **वितर्कश्च** तदर्थः **सङ्केतः तत्र** तस्मिन् याये-(न्याये) सति **नासति** अपोहे अपि तु वस्तुनि ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**सदसदात्मनि** भावाभावात्मके वस्तुनि **प्रत्यक्षम् अन्यत्र स्मर-णादिकं प्रमाणम्** । कुतः ? इत्याह–**तद्व्यवहार** इत्यादि । प्रमाणव्यवहारस्य **अन्यथानुप-पत्ते**रिति निवेदितमेतत् ।　२५

ननु भवतु तत्र[३] प्रत्यक्षम् अन्यत्व (अन्यद्वा) प्रमाणम् , ननु (नतु) शब्दः तज्जो[४] वा विकल्पः तत्र प्रमाणम् , अन्यविषयत्वादिति चेत् ; अत्राह–**शब्द** इत्यादि । **शब्दस्वा (ब्दश्चाऽ) र्थविकल्प-[श्च]** न ईश्वरादिविकल्पः, तयोश्च **तद्विषयत्वात्** सदसदात्मकवस्तुगोचरत्वात् । तथा चोक्तम्–

***"सदसद्वस्तु (तदतद्वस्तु) वागेषा तदेवेत्यनुशासती ।**
न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः कथं तत्त्वार्थदेशना ? ॥"　३०

[आप्तमी० श्लो० ११०] इति ।

---

(१) उत्तराधिकारी । (२) 'न' इति निरर्थकमत्र । (३) सदासदात्मकवस्तुनि । (४) शब्दजः । (५) सामान्य ।

ततः किं जातम् ? इत्याह–**समयः** सङ्केतः **तत्र** सदसदात्मनि वस्तुनि **शक्यः कर्त्तुं** न केवलं शक्य एव कर्तुम् अपि तु **फलवानपि** । कुतः ? इत्याह–**तादृशः** सदसदात्मनोऽर्थस्य **त्रिकालविषयत्वात्** । एतदपि कुतः ? इत्याह–**अन्यथा** इत्याद(दि) । अन्येन अर्थस्य त्रिकालविषयत्वाभावप्रकारेण **अर्थस्य** उत्तरकार्यस्य अनुभवस्य वा **क्रिया** करणं तस्याः **अनुपपत्तेः** इति ।

५ तस्याः किम् ? इत्याह–**कथम्** इत्यादि । **कुतश्चित्** प्रत्यक्षात् अनुमानाद्वा **व्यवहा[र]प्रवर्त्त[नं]यत** एकान्तवादिनः [५०२ख] **कथं तत्प्रामाण्यं** प्रत्यक्षादिमानत्वम् । ननु यदि नाम तदनुपपत्तिः प्रामाण्यस्य किमायातम् येन तत्र स्यात् ? इत्याह–**अर्थक्रिया** इत्यादि ।

एवं शब्दानां वस्तुनि सङ्केतं तत्र च तत्साफल्यं प्रतिपाद्य अधुना यदुक्तम्–*"**विवक्षाप्रतिबन्ध(बद्ध)जन्मानः शब्दाः तामेव सूचयेयुः**" इति[1] ; तद्दूषयन्नाह–**वाक्यानाम्** इत्यादि ।

१० **[वाक्यानामविशेषेण वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम् ।**
सत्यानृतव्यवस्था स्यात्तत्त्वमिथ्यादर्शनात् ॥२८॥

वाक्येषु वक्त्रभिप्रायसूचनेषु अविशेषेण तत्त्वविषयत्वमन्तरेण सत्यानृतव्यवस्था नोपपद्यते प्रत्यक्षवत् । संवृतेः मिथ्यैकान्तात्मकत्वात् तद्विकल्पात् कुतः तत्त्वप्रतिलम्भो यतो वादी विजयी स्यात् । बहिरन्तश्च प्रतिक्षणं परस्परात्मकं स्वलक्षणमनुभवतोऽपि

१५ **तिमिरादिप्रत्यक्षस्य ज्ञानावरणकर्मण उदयोदीरणाभ्यामन्यत्र कुतः निरन्वयैकान्ते विपर्ययप्रतिपत्तिः ?]**

पदस्य अर्थव्यभिचाराद् व्यवहारानुपयोगाद् वाक्यानां विपर्ययात्[3] इति **वाक्यानाम्** इत्युक्तम् । तेषां किंभूतानाम् ? इत्याह–**वक्त्रभिप्रेतवाचिनाम्** विवक्षितवाचिनाम् इत्यर्थः । केन ? इत्याह–**अविशेषेण** साकल्येन यथा हरिहरहिरण्यगर्भवाक्यानां तद्वाचित्वम् ; तत्राह–

२० **सत्यानृतव्यवस्था** सुगतवाक्यानां **सत्यव्यवस्था** क ण च रा दिवाक्यानाम् **अनृतव्यवस्था** या सा **स्यात् न** । पूर्वकारिकातो '**न**' इत्यनुवर्त्तते । क **(वक्त्र)भिप्रेतवाचिनाम्**इत्येतद्विशेषणं हेतुश्च अविशेषेण तद्वा[चित्वा]दिति । एवं मन्यते–तद्वाचित्वात् यदि सुगतवाक्यानां सत्यव्यवस्था अन्येषामपि[5] स्यात् । नहि तान्यपि वक्त्रभिप्रेतादन्यत्र वर्त्तन्ते । अथ तेषां तत्त्वप्रतिपादनाभावादनृतव्यवस्था ; अत एव सुगतवाक्यानामपि ईयमेवास्तु[6] । नैवम् ,

२५ अर्व (अर्थ) प्रतिबन्धेतरकृतं(त) विशेषसद्भावात्[7] । तथाहि–अर्थेभ्यः सुगतज्ञानं[8] ततो वाञ्छा तस्याश्च वाक्यानि, नैवमन्यत्र । ततोऽपि तद्व्यवस्था अनुमान(नं) तदा भवदुक्तम्(भवेत् , तदुक्तम्–) *"**मणिप्रदीपप्रभयोः**" [प्र०वा०२।५७] इत्यादि इति चेत् ; उक्तमत्र अनुमानवत्तेषां प्रमाणान्तरत्वमिति [५०३क] तत्र तद्व्यवस्था स्यादिति । कुतः स्यात् ? इत्यत्राह–**तत्त्वमिथ्या-**

(१) अर्थक्रियानुपपत्तिः । (२) तुलना–"वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ।"–प्र० वा० १।४ । (३) अर्थव्यभिचाराभावात् । (४) अभिप्रायवाचित्वात् । (५) कणादादिवाक्यानामपि । (६) अनृतव्यवस्थैव । (७) सुगतवाक्यं परम्परया अर्थप्रतिबद्धं नेतरवाक्यमिति । (८) उत्पद्यते । (९) 'मणिबुद्ध्याभिधावतोः । मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥' इति शेषः ।

र्थदर्शनादिति । **तत्त्वार्थस्य मिथ्यार्थस्य दर्शनात्** प्रतिपादनात्, दृशेर्णिजन्तस्य अयं प्रयोगः ।

कारिकार्थं कथयितुमाह–**वाक्य** इत्यादि । **वाक्येषु सत्यानृतव्यवस्था नोपपद्यते** । किं सर्वेषु ? न, इत्याह–**वक्त्रभिप्रायसूचनेषु** । तेष्वपि केषुचित् सा भव[ती]ति चेत् ; अत्राह–**अविशेषेण** इति । किमन्तरेण नोपपद्यते ? इत्याह–**तत्त्व** इत्यादि । अत्र दृष्टान्तमाह–**प्रत्यक्ष** ५ इत्यादि । न परमार्थतः तत्र तद्व्यवस्था अपि तु संवृतेः, अतः परमार्थतः तत्र तदभावसाधनं सिद्धसाधनमिति चेत् ; अत्राह–**संवृतेः** इत्यादि । सत्यानृतव्यवस्थाऽभावेऽपि तद्व्यवस्थाविकल्पः **संवृतिः** तस्याः **मिथ्यैकान्तात्मकत्वात्** मिथ्यारूप एकान्तः मिथ्यैकान्तः तदात्मकत्वात् कारणात् **तद्विकल्पात्** शब्दविकल्पात् **कुतो** न कुतश्चिन् **तत्त्वस्य** कृतकत्वादिसाधनस्य अन्यस्य वा **प्रतिलम्भो यतः** कृतकत्वादिवचनात् **वादी विजयी स्यात्** । नहि तद्विकल्पसंवृत्या तत्त्वविपर्यो १० व्यवस्थाप्यमानः तत्प्रतिलम्भहेतुः, अतिप्रसङ्गात् ।

स्यादेतत्–द्विचन्द्रदर्शितैमिरिकद्वयवत् सर्वत्र तद्व्यवस्था इति चेत् ; अत्राह–**तिमिर** इत्यादि । **स्वलक्षणमनुभवतोऽपि** न केवलमन्यस्य **विपर्ययविप्र(यप्र)तिपत्तिः** विपरीतार्थगृहीतिः । किंभूतम् ? इत्याह–**परस्पर** इत्यादि । भेदाभेदात्मकमित्यर्थः । क्व ? इत्याह–**बहिरन्तश्च प्रतिक्षणमनुभवन्तः(तः)** [५०३ ख] कस्य ? इत्याह–**प्रत्यक्षस्य** । किंभूतस्य ? इत्याह– १५ **तिमिर** इत्यादि । व्याख्यातमेतत् ।

सा तस्य कुतः ? इत्यत्राह–**कुतोऽन्यत्र** इत्यादि । **स्वयमुदयावी(दी)रणाभ्यां कुतोऽन्यत्र** अपि तु ताभ्यामेव तस्य [त]त्प्रतिपत्तिः इति । कस्य ताभ्याम् ? इत्याह–**कर्मणः** । किंभूतस्य ? इत्याह–**'ज्ञान'**[इत्यादि । कस्मिन् ?]इत्याह **निरन्वयैकान्त** इत्याद्य(दि । अयम)भिप्राय(यः)– द्विचन्द्रदर्श(र्शि)तैमिरिकद्वयस्य भ्रान्त्या शब्दव्यवहारदर्शनात् सर्वत्र तत्कल्पनाया(यां) प्रत्यक्ष- २० स्यापि व्यावर्णितरूपस्य मिथ्यादृष्टेः क्वचिद् विपर्ययप्रतिपत्तिदर्शनात् सर्वत्रानाश्वासः स्यादिति ।

ननु भवतु प्रत्यक्षस्य कर्मसंश्लिष्टस्य ताभ्यां तत्प्रतिपत्तिः शब्दस्तत्त (शब्दस्य तु) तद्विपरीतस्य सा कुतः ? इत्याह–**उदयोदीरणाभ्याम्** इत्यादि ।

[उदयोदीरणाभ्यां च तदावारककर्मणाम् ।
मिथ्यार्थदर्शनज्ञानान्मिथ्यार्थत्वं गिरां स्मृतम् ॥२९॥ २५

क्षायोपशमिकस्यापि भावस्य घातिकर्मोदयोदीरणाभावे तत्त्वप्रतिपत्तिः, न केवलं तज्जन्म [सारूप्याभ्याम्] तदनेन कुतश्चित्तत्त्वं व्यवस्थापयितुकामेन स्वाभिप्रेतमात्रं निरस्ततत्त्वं संसूचयितुमयुक्तम् पक्षान्तरानतिशायनात् । स्वयमभिमतस्य सत्यानृतस्य अनृतानृतात् न कश्चिद्विशेषं पश्यामः वक्त्रभिप्रायमात्रे तद्व्यापारोपगमात् ।]

गिरां शब्दानां **मिथ्यार्थत्वं स्मृतं** पूर्वाचार्यैरनुज्ञातम् । कुतः ? इत्याह–**मिथ्यार्थ-** ३०

(१) 'दर्शनात्' इति । (२) विपरीतार्थगृहीतिः । (३) उदयोदीरणाभ्याम् । (४) विपर्ययप्रतिपत्तिः ।

दर्शनज्ञानादिति । तदपि कुतः ? इत्याह–**उदयोदीरणाभ्याम्** । केषाम् ? इत्याह–**तद्** इत्यादि । [**तदि**]त्यनेन शब्दनिमित्ते दर्शनज्ञाने गृह्येते [**तदावारककर्मणाम्**] ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**क्षायोपशमिकस्यापि** इत्यादि । **भावस्य** ज्ञानस्य । किंभूतस्य ? [**क्षायोपशमिकस्यापि**] क्षयोपशमप्रयोजनस्यापि । तस्य किम् ? इत्याह–**तत्त्वप्रतिपत्तिः** ।
५ कस्मिन् सति ? इत्याह–**घाति** इत्यादि । **घातिकर्मोदयोदीरणाभावे** सति इत्यर्थः । तदुत्पत्तिमात्रकृपाभ्यां स्यादिति चेत ; अत्राह–**न केवलं तज्जन्म** इत्यादि । प्रकृतं निगमयन्नाह–**तदनेन** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्मात् **अनेन** सौगतेन **तत्त्वं** चतुरार्यसत्यादिलक्षणं त्रिरूपं हेतुलक्षणं वा वस्तु **कुतश्चित्** सुगतसम्बन्धिनोऽन्यसम्बन्धिनो वा वाक्याद् **व्यवस्थापयितुकामेन स्वाभिप्रेतमात्रम्**, किंभूतम् ? **निरस्ततत्त्वं संसूचयितुमयुक्तम्** 'वाक्यात्' इति घटना ।
१० अन्यथा गां प्रतिपादयितुकामेन अश्वोऽपि सूचयितुं युक्तः स्यात् । अप्रकृतत्वमुभयत्र । गत्यन्तरस्याभावात तत्सूचनमिति चेत ; न ; तद्भावप्रतिपादनात ।

किंच, साधु कर्तुमशक्तिमता साधुना किमसाधु कर्तव्यम ? तत्र उपेक्षैव तस्य[1] न्यायो (न्याय्ये)ति भावः । कुत एतत ? इत्याह–**पक्षान्तर** इत्यादि । सौगतपक्षात नित्यादिपक्षः **तदन्तरं** तस्मादनतिशायनात् स्वपक्षस्य, तत्सूचनस्याविशेषात्[2] इति ।

१५ ननु सौगतपक्षे वाक्यस्य क्षणक्षयविज्ञानविभ्रमशून्यैकान्ते यद्यपि विसंवादः तथापि न रूपादौ, वक्त्रभिप्रायद्वारेण ततः तत्प्रतीतेः, पक्षान्तरे तु सर्वत्र विसंवादः तत्कथमुच्यते '**पक्षान्तरानतिशायनात्**' इति चेत् ; अत्राह–'**सत्यानृतस्य**' इत्यादि । **सत्यं** च तद् रूपादौ **अनृतं** च क्षणिकत्वाद्येकान्ते **सत्यानृतं** शास्त्रं **तस्य** । किंभूतस्य ? **स्वयं** बौद्धेन **अभिमतस्य** अङ्गीकृतस्य **अनृतात्** सतोऽप्यर्थस्याप्रतिपादनं तत्प्रतिपादनाभिप्रायेण सौगतैः प्रयुज्यमानं
२० वचनमनृतं **तस्माद**पि अत्यन्तासतोऽक्षणिकत्वा(द्ये)कान्तस्य प्रतिपादनाभिप्रायेण[५०४ख] प्रयुज्यमानमृत (नम् अनृत)**मनृतानृत**(तं)**तस्मात् कंचि**[**द्विशेषं न पश्यामः**] तत्त्वज्ञानात इत्यर्थः । न च परस्य तदस्ति, **वक्त्रभिप्रायमात्रे तद्व्यापारोपगमात्** , सतोऽपि रूपादेः बहिः शब्देनाप्रतिपादने असदविशेषात इति भावः ।

कथं तत्त्वे असम्बन्धाच्छब्दात[3] तत्त्वज्ञानं भवत्पक्षे[4]ऽपीति चेत् ? अत्राह–**वाच्य-**
२५ **वाचकसम्बन्ध** इत्यादि ।

[वाच्यवाचकसम्बन्धः स्वतः शङ्काऽन्यथा कथम् ?
असङ्केतितानन्तवाच्यभेदेऽपि गिरां श्रुतौ ॥३०॥

वाच्यवाचकयोः स्वतः सम्बन्धः कथञ्चित् सिद्धः परिणामविशेषात् चक्षूरूपवदिति । कथमन्यथा किमयमाहेति वाच्यविशेषशङ्का उपपद्येत अप्रतिपन्नरूपदर्शिनः
३० **तद्विशेषवत् । कथम् ?]**

(१) साधोः । (२) वक्त्रभिप्रायमात्रसूचनस्य समानत्वात् । (३) असम्बद्धात् । न विद्यते सम्बन्धो यस्येति । (४) जैनपक्षे ।

वाच्यो घटादिः **वाचको** घटादिशब्दः तयोः **सम्बन्धो**ऽविनाभावः । **स्वतः** स्वमाहात्म्यात् । न सङ्केतमात्रादेव इत्यर्थः । **कथमन्यथा** अन्येन स्वतः सम्बन्धाभावप्रकारेण **शङ्का** संशीतिः । कदा ? इत्याह–**गिरां** शब्दानां **श्रुतौ** समीचीनश्रवणेऽ**पि** न केवलमश्रवणे । क ? इत्याह–**असङ्केतितानन्तवाच्यभेदे** । अनेन तद्भेदे न सामान्ये शङ्केति दर्शयति । ५

कारिकां विवृणोति–**वाच्यवाचकयोः** घटतच्छब्दयोः **स्वतः सम्बन्धः** । स्वतः संभवंति (संभवन् नि)त्यः स्यात् । *"**औत्पत्तिकस्तु शब्दार्थसम्बन्धः**" [मी०सू० १।१।५] स्वाभाविक इत्यर्थः । तथा च मीमांसकपक्षः, तदुक्तम्–*"**नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः**" [वाक्य प० २।२३] इत्यादि; अत्राह–**परिणामविशेषादि** वाच(दिति । वाच्य)वाचकयोः यः **परिणामविशेषः** तदभावे उभयोरभाव इति **तस्मात्, कथञ्चित्** देशनादि(देशादि)नियतत्वेन **सिद्धो** निष्पन्नो निश्चितो वा **सम्बन्ध** इति । निदर्शनमाह–**चक्षु(चक्षू)रूपवदिति** । चक्षु-(चक्षू)रूपयोरिव तद्वत् । उपलक्षणमेतत्, श्रोत्रादिशब्दादीनां परिणामविशेषस्तत्सम्बन्धादेव चक्षुरेव रूपमेव प्रकाशयति न घ्राणादिकं[५०५क] रसादिकं वा । १०

स्यान्मतम्–चक्षुषो रूपेण सन्तानवृत्त्याऽतिशयः कश्चिदापादितोऽस्ति, न तत्तदेव प्रकाशयति, नैवम् अर्थेन शब्दस्य, तत्कथं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमिति ; तदसत् ; यतः चक्षुषा रूपस्य किमिदं प्रकाशनम् ? तत्र ज्ञानजनकत्वं चेत् ; स्वसमानकालभाविनि रूपक्षणे तज्ज्ञानं जनयति, कथमन्यथा तज्जनने रूपलक्षणः(रूपक्षणः) तत्सहकारी यतो ज्ञानेन गृह्येत, अकारणस्याविषयत्वात् ? न च समानसमयेन तत्क्षणेन चक्षुषोऽतिशयः क्रियते । तत्कारणं (तत्करणं) हि तज्जननान्[नाऽ]परम् । एकलक्षण(एकक्षण)योश्च हेतुफलभावः सन्ताननाशकृत् । तन्न चक्षुःसहकारिणा रूपेण[कश्चिदतिशय]स्तथापि तत्प्रकाशयति तत् । अथ तदुपादानेन तदुपकारः क्रियमाणः तेन कृत इत्युच्यते सन्तानापेक्षया ; तदपि न सुन्दरम् ; एवं हि रसादिनापि कृतः इति स्यात् । यथैव हि [11]तद् रूपग्राहकरूपजनकं तथा तत्समानकालरसादेरपि । कथमन्यथा [12]तयोः एकसामग्र्यधीनता । नोपादानत्वेन इति चेत् ; न ; उपादानेतरभावस्य भेदैकान्ते[अ]प्रमाणत्वादिति प्रतिपादितम्, अन्वयव्यतिरेकानुकरणस्य सर्वत्राविशेषात् । भवतु रसादेरपि तदुपकार इति चेत् ; न ; तस्यापि तेन[13] प्रकाशनप्रसङ्गात् । अयोग्यत्वान्नेति चेत् ; तर्हि योग्यतैव प्रकाशननिबन्धनमस्तु किं तदुपकारकल्पनया ? १५ २० २५

किंच, पूर्वापररूपमेत्कणाममे(रूपक्षणानामे)वैकसन्तानत्वेऽपि नीलतामिव जडतामपि तेषां [14]तत्प्रकाशयेत्, [15]तस्याः अपि [तदुपकारकत्वात्] अन्यथा अंशेन जन्यजनकभावः । न

(१) मीमांसकः प्राह । (२) 'शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'–मी० सू० । (३) 'तत्राम्नाता महर्षिभिः । सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥' इति शेषः ।(४) कश्चिदतिशय आपाद्यते । (५) रूपक्षणेन । (६) अतिशयकरणम् । (७) समानसमयवर्तिनोः कार्यकारणभावे न सन्तानः स्यात्, सर्वेषामेकक्षणे एव उत्पद्य अनन्तरं नाशात् । (८) वर्तमानरूपक्षणस्य उपादानेन पूर्वरूपक्षणेन । (९) चक्षुषः क्रियमाणः उपकारः । (१०) वर्तमानरूपेण । (११) पूर्वरूपम् (१२) रूपरसयोः (१३) चक्षुषा । (१४) चक्षुः । (१५) जडतायाः ।

चैवम । ततो योग्यतैवास्तु इति साधूक्तम् चक्षु(क्षू)रू[पादिवदि[1]]ति ।

तदनभ्युपगमे दोषमाह–**कथमित्यादि** । **कथम् अन्यथा** अन्येन स्वतः सम्बन्धाभाव-प्रकारेण **उपपद्येत** घटेत । का ? इत्याह–**वाच्यविशेषशङ्का** । किंभूता ? इत्याह–**किमयमाह** इति । कुतः ? इत्याह–**अप्रतिपन्न** इति । निदर्शनमत्राह–**रूपदर्शिनः** पुरुपस्य **तद्विशेषवत्**

५ रूपविशेष इव ।

परमतमाशङ्कते निग[कर्त्तुं]'**कथम्**' इत्यादि । तत्रोत्तरमाह–**यथा** इत्यादि ।

[यथा प्रत्यक्षभेदाः स्युः समयापेक्षनिर्णयाः ।
तथा शब्दार्थभेदाः स्युः सङ्केतापेक्षनिर्णयाः ॥३१॥

प्रत्यक्षेण विषयीकृतेषु स्वपररूपादिविशेषेषु यथा कृतसङ्केतनिश्चयपाटवाः स्वानु-

१० **भूतविशेषान् विवेचयन्ति न तथेतरे । न चैतावता इतरे अनुपलब्धा एव, सत्यपि सङ्केते तथाऽप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । तथा शब्दार्थोपलम्भिनः समयस्तद्विशेषनिर्णयहेतुः । कथं पुनः स्वाभाविकः सम्बन्धः सङ्केतादन्यथा क्रियेत ? न हि भावस्वभावाः पुरुपेच्छया परावर्त्यन्ते निःस्वभावताप्राप्तेः ? वचनं तु दाराः पण्णगरीत्यादौ यथा वाचकत्वेन वक्तृभिर्नियम्यते तत्तथैवानपेक्षितबाह्यार्थं परावर्त्यम् । नैतदेवम्, परमार्थतः तत्सम्बन्धव्यपदेशयोः सङ्करव्य-**

१५ **तिकरप्रसङ्गात् ।]**

प्रत्यक्षप्रमितोऽर्थः **प्रत्यक्षः** तस्य **भेदाः** अवान्तरविशेषाः **यथा** येन तथा योग्य-[ताप्र]कारेण अन्येन वा **स्युः** भवेयुः । किंभूताः ? इत्याह–**समयापेक्षनिर्णयाः** समयापेक्षः निर्णयो येषामिति, सङ्केतग्रहणमुपलक्षणं तेन दर्शनपाटवादेरपि ग्रहणम् । **तथा शब्दार्थभेदाः स्युः सङ्केतापेक्षनिर्णयाः ।**

२० एवं मन्यते–यथा अनुभवः स्वार्थभेदनिश्चये स्वतो योग्योऽपि, न हि तस्य तद्योग्यता निश्चयेन क्रियते अन्योऽन्याश्रयदोष(षात्), न स्वसत्तामात्रेण निश्चयं तत्र जनयति क्षणभङ्गादौ प्रसङ्गात्, अपि तु सहकारिकारणं सङ्केतादिकमपेक्ष्यत(क्षते) तथा शब्दोऽपि स्वतो योग्यत[2] एव स्वार्थविशेषे सङ्केतमपेक्ष्य निर्णयं जनयति । तथादृष्टेरुभयत्र समत्वादिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**प्रत्यक्षेण** इत्यादि । [**प्रत्यक्षेण**] चक्षुरादिदर्शनेन **विषयीकृतेषु** । केषु ?

२५ [५०६क] **स्वपररूपादिविशेषेषु** **स्वं** च प्रत्यक्षं **परश्च** बहिर्घटादिः तयोर्यथासंभवं ये **रूपादि-विशेषाः** तेषु **यथा कृतसङ्केतनिश्चयपाटवाः** कृतश्चासौ **सङ्केतश्च** तेन **निश्चयपाटवं** येषां ते तथोक्ताः **यथा स्वानुभूतविशेषान् विवेचयन्ति** व्यवस्यन्ति **न तथा इतरे** [अ]कृतसङ्केतपाटवः (वाः) तथा न ताव यं ति (तान् व्यवस्यन्ति) **न चैतावता तैरितरे** विशेषाः **अनुपलब्धा एव** अपि तु उपलब्धाः । कुतः ? इत्याह–**सत्यपि सङ्केते तथाऽप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । तथा**

३० **शब्दार्थोपलम्भिनः समयः** सङ्केतः **तद्विशेषनिर्णयहेतुः** शब्दार्थभेदनिश्चयकारणम् ।

परः प्राह–'**कथम्**' इत्यादि । **कथं पुनः स्वाभाविकः** वाच्यवाचकयोरात्मभूतः योग्यता-

(१) अत्र प्रतिः त्रुटिता । (२) योग्यत्वादेव ।

लक्षणः **सम्बन्धः सङ्केतादन्यथा** अर्थान्तरप्रतिपादनप्रकारेण **क्रियेत** । अयमभिप्रायः परस्य-शब्दस्य वित् (चेत्) सर्वत्र वार्थे स सम्बन्धः, प्रतिनियते वा ? प्रथमपक्षे युगपत् ततः सकलार्थप्रतीतिः स्यात् । इतरत्र विपरीतसमयाद् अर्थान्तरे प्रवृत्तिर्न स्यात् । अथ सङ्केतान्तराद् अर्थान्तरप्रतिपादनयोग्यता अस्य इति चेत्; अत्राह–**नहि** इत्यादि । हिर्यस्मात् **न भावानां** शब्दादीनामर्थानां **[स्व]भावाः [पुरुष]च्छया परावर्त्यन्ते** अन्यथा अन्यथा च जायन्ते । ५ कुतः ? इत्याह–**निःस्वभावता**[प्राप्ते स्तद्भा]विनामिति । शब्दस्वभावोऽपि तर्हि सङ्केतानु (तान्न) परावर्त्तत (वर्त्येत) इति चेत्; अत्राह–**वचनं** न्वि[[1]त्वित्यादि । **दाराः पण्णगरीत्यादौ]** **यथा वाचकत्वेन वक्तृभिर्नियम्यते तद्वचनम्** [५०६ख] **तथैवानपेक्षितबाह्यार्थं परा**व[[2]र्त्यमिति जातपरिणा]मेन सम्बन्धः । "**दाराः पण्णगरी**" इत्यादि अत्रोदाहरणम् । एतद् दूषयन्नाह–**नैतदेवम्** इत्यादि । **एतत्** परक[[3]ल्पितं भाषितं] **परमार्थतो नैवम्** । कुतः ? इत्याह–**तत्सम्बन्ध** १० (**तत्सम्बन्धे**) त्यादि । **तयोः** वाच्यवाचकयोः **सम्बन्धश्च व्यपदे**[शश्च अस्येदं] वाचकं वाच्यं चेति प्रतिपादनं तयोः **सङ्करः** सर्वेषामयोगव्यवच्छेदादीनामेव व (मेकत्र) गमनं **व्यतिकरः** परस्परविषयगमनम् तयोः **प्रसङ्गात्** ।

तत्प्रसङ्गोऽस्त्येव इति चेत्; अत्राह–**विशेषण** इत्यादि[4] ।

[विशेषणविशेष्याभ्यामुक्तौ च क्रियया सह । १५
अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगं न चान्यथा ॥३२॥

व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः ।
सामर्थ्याच्चाप्रयोगेऽर्थो गम्यः स्यादेवकारयोः ॥३३॥

न वै पुरुषेच्छया चैत्रो धनुर्धर एव, पार्थ एव धनुर्धरः; नीलं सरोजं भवत्येवेति अयोगव्यवच्छेदादिस्वभावस्थितवाक्येषु अन्यथात्वं संभाव्यते, तथाप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । २० तत एव एवकारप्रयोगविकलेष्वपि वाक्येषु सामर्थ्यात् भवत्येव अयोगव्यवच्छेदादिप्रतिपत्तिः, न विवक्षया तत्प्रतिपत्तिः, तद्ग्रहणत्वात् । तथैव स्यात्कारप्रयोगविकलेष्वपि वाक्येषु स्वरूपादिप्रतिपत्तिः ।]

विशेषणं नीलत्वादि **विशेष्यम्** उत्पलत्वादि **ताभ्याम्, क्रिया** भवत्यादिका **तया च सहोक्तौ** द्र(प्र)योगे सति **अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगं व्यवच्छिनत्ति** । २५ कस्य ? इत्याह–**धर्मस्य** । कः ? इत्याह–**निपातः** । किं सर्वः ? न, इत्याह–**व्यतिरेचकः**

---

(१) अत्र प्रतिस्त्रुटिता । (२) तुलना–"यद् यथा वाचकत्वेन वक्तृभिर्विनियम्यते । अनपेक्षितबाह्यार्थं तत्तथा वाचकं वचः ॥ दाराः पण्णगरीत्यादौ..."–प्र० वा० ३।६५, ६६ । (३) अत्र प्रतिस्त्रुटिता । (४) तुलना–"अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगमेव च । व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः ॥ विशेषणविशेष्याभ्यां क्रियया च सहोदितः । विवक्षातोऽप्रयोगेऽपि सर्वोऽर्थोऽयं प्रतीयते ॥ व्यवच्छेदफलं वाक्यं यतश्चैत्रो धनुर्धरः । पार्थो धनुर्धरो नीलं सरोजमिति वा यथा ॥"–प्र० वा० ४।१९०-९२ ।

एवकार इत्यर्थः । तथा[हि]–विशेषणेन सहोक्तो [1]अयोगं विशेषेण(ष्येण) अन्ययोगं[2] क्रियया वा अत्यन्तायोगम् एवकारो धर्मस्य [व्य]वच्छिनत्तीति । पुरुषेच्छातो न स्वस्वभावत इति चेत्; अत्राह–न च नैव अन्यथा उक्तापिछातः(क्तोऽपीच्छातः) [3]तं तस्य सं[न्]व्यवच्छिनत्ति तथाऽदर्शनात् । नहि 'चित्रो धनुर्धर एव' इत्युक्ते इच्छातोऽपि [4]पर्योगस्य व्यवच्छेदः प्रतीतिविषः(षयः)

५ इतरथा यथाविन्यासमेव च इष्टार्थप्रतीतेः भिन्नप्रक्रमयोजनं सर्वत्र अयुक्तं भवेत् । स्यादेतत्–अनादिरयं सङ्केतो विशेषणादिना सह प्रयुज्यमान एवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदकृदिति, ततः तथा प्रतीतिः न शब्दस्वभावात् [५०७क] अन्यथा सङ्केते हि तथैव तं व्यवच्छिनत्ति, न वादी प्रमादस्ति (न चात्र दोषोऽस्ति) इति; तदयुक्तम्; यतः तथा सङ्केतयतोऽपि लोकस्यानिवृत्तेः। न खलु 'पक्षस्यैव धर्मो हेतुः' इति वाक्याद् 'अयोगव्यवच्छेदं प्रतिपद्यस्व' इत्युक्तोऽपि लोकः तथा

१० प्रतिपद्यते इति ।

अत्रैव युक्त्यन्तरमाह–सामर्थ्याच्च इत्यादि । च शब्दः अपिशब्दार्थः भिन्नप्रक्रमः । ततोऽयमर्थः–अप्रयोगेऽपि अनुच्चारणेऽपि । कयोः ? स्यादेवकारयोः । किम् ? इत्याह–गम्यः । कः ? इत्याह–अर्थः । कुतः ? इत्यत्राह–सामर्थ्यात् । एतदुक्तं भवति–यदि इच्छात एव तदर्थः प्रतीयते, तदा [10]तदप्रयोगे तदिच्छास्तीति कुतो निश्चयः ? अथ च तदर्थः सामर्थ्यात्

१५ प्रतीयते इति ।

[कारि]काया युगलं विवृण्वन्नाह–चित्रो धनुर्धर एव इत्यादि । चित्रो विशेषः(ष्यः) तस्य धनुर्धर इति विशेषणम् अस्मात् परः एवकारः, पोऽर्थोजनो(पार्थः अर्जुनः) विशेष्यः अस्माच्च परः एव स (एवकारः) तद्विशेषणं धनुर्धर इति, 'नीलं सरोजम्' इति विशिष्टं कर्तृ निर्दिष्टं तत्क्रिया'भवति' इति, अस्याः पर एवकार इत्येवं यथा स्तम(स्वम्) अयोगा(ग)व्यव-

२० च्छेदादिना स्वभावेन स्थितानि यानि वाक्यानि तेषु नवै नैव पुरुषेच्छया अन्यथात्वं विपरीतत्वं संभाव्यते । कुतः ? इत्याह–तथा इत्यादि । तथा तेन पुरुषेच्छया अन्यथात्वप्रकारेण प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् अयोगव्यवच्छेदादिसंवित्तिप्राप्तेः । अथवा 'तथा सौगताभिमतप्रकारेण प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्' [५०७ख] इति ग्राह्यम् । विशेषणादिसहि स तान्न (सहितात्त)तो गर्दभादिप्रतीतिप्रसङ्गादिति ।

२५ अधुना 'सामर्थ्याच्च' इत्यादि व्याख्यातुमाह–तत एव इत्यादि । तत एव पुरुषेच्छया अन्यथा संभावनाभावादेव सामर्थ्याद् भवति अयोगव्यवच्छेदादिप्रतिपत्तिः । क ? इत्याह–वाक्येषु । किंभूतेषु ? इत्याह–एवकारतत्प्रयोगविकलेष्वपि । विवक्षया तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्; अत्राह–न विवक्षया तत्प्रतिपत्तिरिति । तथाहि–*"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तः" । [प्र० वा० ३।१] इत्यादि वाक्ये अन्यथा विवक्षायामपि नान्यथात्वं संभाव्यते प्रमाणबाधनात्,

३० प्रत्यक्षाभासवत् ।

---

(१) असम्बन्धं व्यवच्छिनत्ति । (२) अन्येन सह सम्बन्धं व्यवच्छिनत्ति । (३) अत्यन्तसम्बन्धाभावं व्यवच्छिनत्ति, तत्र सम्बन्धमेव द्योतयति । (४) अयोगादिकम् । (५) विशेषणादेः । (६) एवकारो निपातः । (७) अन्यसम्बन्धस्य (८) चैत्राद् भिन्नस्य मैत्रस्यापि धनुर्धरत्वाविरोधात् । (९) सङ्केतात् । (१०) एवकाराद्यप्रयोगे ।

ननु यदि एवकारप्रयोगविकलानि वाक्यानि कानिचित् सन्ति, कुतः तेषु इदमवगम्यते–'अयमर्थः अत्र एवकारस्य' इति ? नहि शशशृङ्गस्य अयमर्थ इति शक्यमवसातुम् । अदर्शनमुभयत्र, इति चेत् ; अत्राह–**तद्ग्रहणत्वादिति** । **तेन** सामर्थ्यलभ्येन **अर्थेन ग्रहणम्** उपादानं यस्य एवकारस्य तस्य भा[वा]त्तत्त्वात् । यथैव हि धूमः प्रतीयमानः स्वकारणमग्निं [त]दविनाभावाद्गमयति तथा अर्थोऽपि कुतश्चित् प्रतीयमानः स्ववाचकमव्यभिचारं[1] । तद्यथा, *"**नेधुखे[ऽ]गे**" ५ [जैनेन्द्र० १।१। १८] इत्यनेन घोः (धोः) एत्वे (एत्वेप) योः प्रतिषेध उच्यमानः तयोः विकारि-[विकारत्व] द्भावं सूचयति तदभावे तयोरभावात् प्रतिषेधानुपपत्तिः । ततो ज्ञायते 'न घोः(घोः) सर्वस्य खे' इति, सोऽपि ज्ञायमानः श्रुतार्थापत्त्या एकदेशशब्दं गमयतीति, लोकेऽपि 'स्थूलबहलो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यं [५०८क] 'रात्रौ भुङ्क्ते' इति गमयति । एतत् स्यात्कारेऽपि अतिदिशन्नाह–**तथैव** इत्यादि । तेन सामर्थ्यप्रकारेण **स्यात्कारविकलेष्वपि** १० **वाक्येषु** । किम् ? इत्याह–**स्वरूपादि** इत्यादि ।

प्रमाणविरोधं दर्शयन्नाह–**चैत्रस्यायो**(स्य इत्यादि ।)

[चैत्रस्यायोगे व्यवच्छिन्ने योगः प्रतिपादितो भवेत् ।
सर्वथा चैत्रता सिध्येन्न च स्याद्वादविद्विषाम् ॥३४॥

चैत्रो धनुर्धर एव इति···**तदयुक्तम्–पक्षधर्म एव** इत्ययोगव्यवच्छेदेन **विशेषणम्** । १५ **यदि पुनः** अन्ययोगव्यवच्छेदेन **पक्षधर्मं विशेषयेत् पक्षस्यैव धर्मो हेतुरिति; तद्विशेषणापेक्षस्य हेतोरसाधारणता** अन्यत्राप्यवृत्तेः इत्ययुक्तम्, **कथम् ?]**

(अयम)भिप्रायः–**चैत्रस्य** धनुषा **अयोगे व्यवच्छिन्ने योगः प्रतिपादितो भवेत्** इतरथा 'चैत्रो धनुर्धर एव' इति प्रयोगानुपपत्तिः । स च **सर्वथा**, कथंचिद्वा स्यात् ? आद्ये पक्षे **चैत्रस्य** धनुषा **[अ]योगे व्यवच्छिन्ने** सति **न** २० **चैत्रता सिध्येत्** धनुर्भावः सिध्येत । केषाम् ? इत्याह–**स्याद्वादविद्विषाम्** एकान्तवादिनाम् इत्यर्थः । **सर्वथा** तस्य तेन योगे गर्दभाक्षीरतापत्तिः तयोः अन्यथा एकान्त इति भावः ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**चैत्रो धनुर्धर एव इति** इत्यादि । निगदेनैं विवृतमेतत् । ततः किं जातम् ? इत्याह–**तदयुक्तम्** इत्यादि । **तत्** तस्मादुक्तन्यायात् **अयुक्तम्** अनुपपन्नम् । किम् ? इत्याह–**पक्षधर्म एव इति अयोगव्यवच्छेदेन विशेषणम्**, पक्ष-धर्मयोरेकत्वापत्त्या २५ गुडयोरसत्तापत्तेः (गुणिगुणयोरसत्त्वापत्तेः) **पुनः** अयोगव्यवच्छेदव्यवस्थापरेण अन्यत्र[2] दूषणमुक्तम्, त[द्] दूषयितुं प्रकटयन्नाह–**यवि(दि) पुनः** इत्यादि । **[पुनरिति]** पक्षान्तरद्योतने **अन्ययोगव्यवच्छेदेन** अन्यो विपक्षः तेन अयोगः पक्षधर्मस्य तस्य व्यवच्छेदो निरासः तेन **विशेषयेत् पक्षधर्मं पक्षस्यैव धर्मो हेतुरिति** कश्चिद् व्याख्याता *"**पक्षधर्मस्तदंशेन**" [हेतुबि० पृ० ५२] इत्यादेः । तत्र दूषणमाह कीर्त्ति [**स्तद्विशेष]णे**त्यादि । स च पक्षो ३०

(१) यथा स्यात्तथा 'गमयति' इति सम्बन्धः । (२) 'घु' इति धातोः संज्ञा । (३) प्रयोगः । (४) स्वशब्देन । (५) हेतुबि० पृ० ५२ । (६) अन्ययोगव्यवच्छेदे । (७) धर्मकीर्तिः । (८) "तद्विशेषणापेक्षस्यान्यत्राननुवृत्तेरसाधारणतेति चेत्; न; अयोगव्यवच्छेदेन विशेषणात् ।"–हेतुबि० पृ० ५२ ।

विशेषणं च [५०८ ख] तत, तस्मिन्नपेक्षा यस्य, तद[पेक्षा तद्विशेषणे, **तद्विशेषणा]पेक्षः** तस्य । कस्य ? **हेतोः** लिङ्गस्य । किम् ? इत्याह–**असाधारणता** । कुतः ? इत्याह **[अन्यत्रापि** विप]**क्षेऽप्यवृत्तेः** । अत्र सूरिः दूषणमाह–इत्येवं परेणोच्यमानम् '**अयुक्तम्**' इत्यनुवर्त्तते । **क[थम्** इ]ति प्रश्ने, केन प्रकारेण [अ]युक्तम् इति ?

५ अस्योत्तरमाह–**अन्ययोगव्यवच्छेदात्** इत्या[दि ।]

[अन्ययोगव्यवच्छेदात् सपक्ष एव सन्निति ।
सोऽपि चेत् पक्षधर्मः स्यात् एवकारस्य किं फलम् ॥३५॥

सजातीये सन्नेव हेतुरित्ययोगव्यवच्छेदे शब्दानित्यत्वे प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गभयात् 'सजातीय एव सन्' इति अन्ययोगव्यवच्छेदेनैव विशेषयेत् , तथैव १० विशेषितोऽपि तद्धर्मः सन् एकान्तमतिक्रम्य यदि वस्तुस्वभावेन पक्षधर्मः स्यात् तर्हि पक्षे एव सन्निति विशेषितोऽपि सजातीये वर्तेत स्वरसतः अनेकान्तावलम्बनात् । न च···तदन्तर्व्याप्तेः अन्ययोग···]

[अन्य]योगव्यवच्छेदेन हेतुना सं(**सन्**)विद्यमानः **सपक्ष एव** नान्यत्र तद्विरुद्धे हेतुरि**ति** [सम्बन्धः]**स** इत्थंभूतोऽ**पि चेद्** यदि **पक्षधर्मः स्यात्** इतरथा चाक्षुषत्वादिवद् १५ अपक्षधर्मः स्यात् , तदपक्ष एव सन् सपक्षे किन्न स्यात् ? स्यादेव । विशेष्येण सह **एवकारस्य** उच्चारणे **किं फलम्** इति चेत् ? अथ 'तत्तुल्य एव सन्' इत्यत्र किं फलम् ? अतुल्ययोगव्यवच्छेद(द)इति चेत ; अन्यत्रापि स एवास्तु । तुल्ययोगव्यवच्छेदः कस्मान्नेति चेत् ? पक्षयोगव्यवच्छेदो भवतोऽप्यस्तु, विपक्षवत् पक्षोऽपि अन्य एव । एतत् परे परिहरन्ति इत्थम्–*"**अनुमेयेत् कथ(येऽथ) तत्तुल्ये सद्भावः**"[1] इत्यत्र अनुमेये प्रथमं हेतोः सद्भावमभिधाय २० 'तत्तुल्य एव' इत्युच्यमानम् उक्तनिषेधकं न भवति, यथा *"**द्वौ पुत्रौ जनयांबभूव नरं नारायणमेव च**"[2] इति 'नारायणमेव' इति श्रुतिः नरमुक्तं न निषेधति, अनुक्तनिषेधपरत्वात् । अत्रापि इदमेवोत्तरम्–**अन्ययोगव्यवच्छेदात्** इत्यादि । एवमर्थं च स तु '(सन्)सपक्ष एव' इत्यभिप्राय(यः) । 'पक्ष एव सन्' इत्युक्ते यथा परेण [५०९क] '**पक्षधर्मः**' इत्युक्त्वा '**तदंशेन**'[3] इत्युक्तम् ।

२५ कारिकार्थं प्रकटयितुं *"**सन् सजातीय एव**" इत्यवधारणे पराभिप्रायं द्योतयन्नाह–**सजातीये सन्नेव** इत्यादि । **सजातीये सन्नेव** नाऽसन् मनागपि हेतुः इत्येवम् **अयोगव्यवच्छेदे** अङ्गीक्रियमाणे **शब्दानित्यत्वे** साध्ये **प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेः** आदि शब्दादन्यस्यापि तत्प्रकारस्य सपक्षैकदेशवृत्तेः **अहेतुत्वप्रसङ्गभयात् अन्ययोगव्यवच्छेदेनैव विशेषयेज्जनः 'सजातीय एव सन्'** इति ।

---

(१) अत्र प्रतिस्त्रुटिता । (२) अत्र प्रतिस्त्रुटिता । (३) "यदेतदाचार्येण–अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति । निश्चित ···"–हेतुबि० टी० पृ० २२२ । (४) "नरं च नारायणमेव चादौ स्वतः सुतौ द्वौ जनयांबभूतव"–हेतुबि० टीकालो० पृ० २४७ । (५) "पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः"–हेतुबि० पृ० ५२ । (६) "तत्र हेतुलक्षणमेव तत्र यः सन् सजातीये' इत्यादिकं युक्तं वक्तुम्'–प्र० वा० मनोरथ० ४।१८९ ।

एतद् दूषयितुं सूत्रार्थमाह–**तथैव** इत्यादिना । **तथैव** अन्ययोगव्यवच्छेदप्रकारेणैव **विशेषितोऽपि** तद्धर्मः सन् **एकान्तमतिक्रम्य** विशेष्येण सहोदितो निपातो व्यतिरेचकः अन्ययोगव्यवच्छेदनियममपहाय । केन ? इत्याह–**वस्तुस्वभावेन** शब्दमाहात्म्येन **यदि पक्षधर्मः स्यात्** । **तर्हि पक्षे एव सन्निति विशेषितोऽपि सजातीये वर्त्तेत** । कुतः ? इत्याह–**स्वरसतः** स्वभावेन **अनेकान्तावलम्बनात्** । अन्ययोगव्यवच्छेदेऽपि 'अनुक्तस्यैव व्यवच्छेदो नेतरस्य' इति योऽयम् ५ **अनेकान्तः तस्याश्रयणात्** कारणात् 'पक्ष एव सन्' इत्युक्तेऽपि सपक्षे वृत्त्यनिषेधः । दृश्यते हि पूर्वोक्तस्यैव एकस्मिन् वाक्ये पश्चादप्युक्तस्याऽनिषेधः, तद्यथा ।

*"**जिन एव परा भक्तिः सर्वज्ञे नरसेविधं(वितं) । सिसासने (?) तस्य सर्वदा ।।**"

अस्याप्रमाणत्वे प्रकृते कः समाश्वास इति न किञ्चिदेतत् ।

यत्पुनरुक्तम्–'असाधारणता स्यात्' इति; सोऽपि (सापि) न दोष इति दर्शयन्नाह–**न च** १० इत्यादि ।[५०९ख] कुतः ? इत्याह–**तदन्तर्व्याप्तेः** इत्यादि । विचारितमेतत् । तत्र 'पक्ष एव सन्' इत्युक्तेऽपि असाधारणता नाम दोषः, अयं तु स्यादिति दर्शयन्नाह–**अन्ययोग** इत्यादि ।

यच्चान्यदुक्तम्–*"**क्रियया सहोदितोऽत्यन्तायोगमेव च व्यवच्छिनत्ति निपातो व्यतिरे[च]कः** ।" [प्र० वा० ४।१९०] इति ; तत्र दूषणमाह–**प्राप्तम्** इत्यादि ।

[प्राप्तं नीलं सरोजैकरूपं व्यक्तमिदं जगत् । १५
नित्यं समन्ताद्भवत्येव चेन्नीलं सरोजमिति ॥३६॥

नीलं सरोजं भवत्येवेत्यत्यन्तायोगव्यवच्छेदैकान्ते स्वकालादिनियमाक्रान्तं सर्वं नीलमयं सरोजात्मकं शाश्वतं जगत् स्यात् । ततो नीलं सरोजमित्येव न स्यात् व्याघातादिति । कथमन्यथा अनेन 'पक्षस्य धर्मो भवत्येव' इति नाश्रियेत ? यतोऽयोगव्यवच्छेदेनैव विशेषयेत् ? तन्न···न च स्याद्वादे काचिदनवस्थितिः, स्वयमभिमत- २० **वस्तुतत्त्वप्रत्यायनात् ।]**

नीलं सरोजं भवत्येव इति चेत् यदि तर्हि **समन्तात् नित्यं** सर्वदा **नीलं सरोजैकरूपं व्यक्तं** यथा भवति तथा **इदं जगत् प्राप्तम्** । [अयम्] अभिप्रायः–सर्वथा, कथंचिद्वा नीलं सरोजं भवत्येव ? प्रथमपक्षे अयं दोषः । अन्यत्र अनेकान्त इति ।

कारिकाविवरणमाह–**नीलम्** इत्यादि । **नीलं सरोजं भवत्येवे[ति एव]मत्यन्तायोगव्य-** २५ **वच्छेदैकान्ते** अङ्गीक्रियमाणे । किम्? इत्याह–**स्व** इत्यादि । **काल आदिर्यस्य** द्रव्यादेः स तथोक्तः पुन[:]स्वशब्दो(ब्दे) नास्य कर्मधारयः तेन **नियमः** तेन, स च **अतिक्रान्तो** येन तत्तथोक्तम्, **सर्वं नीलमयं जगत् स्यात्** । किं नीलमयमेव स्यात् ? न, इत्याह–**सरोजात्मकं** जगत् स्यात् । **शाश्वतं** नित्यं स्वकालनियमातिक्रमात् । ततः को दोषः ? इत्याह–**तत** इत्यादि । तस्मात् अनन्तरैकान्तात् **नीलं सरोजम् इत्येव न स्यात्** । कुतः ? इत्याह– **व्याघातादिति** । 'यदिति'[२] ३०

(१) कथंचिदिति पक्षे । (२) 'यदिति' व्यर्थमत्र ।

यदि नीलमयं[न] सरोजात्मकम् , अथ तदात्मकं[न]नीलात्मकम् इत्यनयोः अन्योन(ऽन्य)-विरोधात् ।

स्यान्मतम्–'नीलं सरोजं भवत्येव' इति वचनेऽपि नायं दोषः यथाभावस्वभावम् अभिधानप्रवृत्तेरिति चेत ; अत्राह–**कथमि**त्यादि । [५१०क] **अनेन**, अस्य दोषस्य अभावप्रकारेण

५ **अन्यथा पक्षस्य धर्मो हेतु[ः]भवत्येव** इति **कथं नाश्रियेत** यतोऽनाश्रयणात् **अयोगव्यवच्छेदेनैव विशेषयेत्** । । प्रकृतं निगमयन्नाह–**तन्न** इत्यादि ।

ननु स्याद्वादेऽपि तथैव दोषः; इत्याह–**न च** इत्यादि । [**नच**]नैव **स्याद्वादे काचिद् अनवस्थितिः** भावानामवस्थितेरभावः । कुतः ? इत्याह–**स्वयं** जैनस्य **अभिमतं** यद्वस्तुतत्त्वं तस्यैव **प्रत्यायनात्** ।

१० पुनरपि वक्त्रभिप्रेतमर्थं शब्दाः सूचयन्तीत्येकान्ते दूषणमाह–**एवकार** इत्यादि ।

[एवकारः स्वतः स्वार्थं स्वक्रममनुवर्तयन् ।
वक्त्रभिप्रायमित्यत्र यथा श्रुतेन तथा परः ॥३७॥

ध्वनयो वक्त्रभिप्रायमेव सूचयन्ति इत्येकान्ते यथा एवकारः भिन्नप्रक्रमः चकारो वेति यदा स्वार्थप्रतिपादने कथञ्चित् शक्तिस्वाभाव्यं न भवेत् स्वेच्छया क्रमं न लङ्घयेत् ।

१५ **योगरूढेषु दाराः पण्णगरीत्यादिष्वपि भेदप्रतिपत्तौ शब्दशक्तिरेवानुगन्तव्या । विचारितं चैतत्** *"**स्वाभाविकत्वादभिधानस्य एकशेषानारम्भः**" इत्यत्र भगवद्भिः **पूज्यपादैः शब्दानुशासनदक्षैः । पदावधिकः समयः स्वार्थप्रतिपादने पुरुषाभिप्रायाधीनश्चेत् ; न ; तावन्मात्रेण व्यवहाराभावात् । पदान्तरसन्निधाने स्वत एव विशिष्टार्थप्रतिपादने कथं वाचकस्य स्वत एव शक्तिः प्रत्याख्यायेत ? एकपदस्य नानार्थप्रतिपादनसंभवे**

२० **सर्वथा नियमासंभवात् एकान्तो न सिध्यति इत्यलं प्रसङ्गेन]**

एवकारः स्वार्थे अयोगव्यवच्छेदादौ **श्रुतेन स्वतो** बौद्धेन । किं कुर्वन् ? इत्याह–**अनुवर्त्तयन्** अनुवर्त्तमानं प्रयुञ्जानः भिक्षादिवद् अचेतनस्यापि हेतुकर्तृत्वम् । किम् ? इत्याह–**स्वक्रमम्** स्वस्य आत्मनः क्रमम् । तं किमनुवर्त्तयन् ? इत्याह–**वक्त्रभिप्राय**मिति । क ? इत्याह–**अत्र** विवक्षा शब्दार्थ इत्येकान्ते । तदन्यत्र अतिदिशन्नाह–यथा एवकारः **तथा**

२५ **परो**ऽन्यस्तादिः(न्यः स्यादादिः) **आदि**शब्दः निपातगणिग्रहणार्थः **श्रुतेन अनुवर्त्तयन् स्वक्रमं वक्त्रभिप्रायम्** । न चैवम्, व्यवधानेन प्रयोगेऽपि यावद्विशेषणादिना ना[भि]-संबध्यते, तावत् ततः तदर्थाऽप्रतिपत्तेः इति भावः ।

कारिकाविवरणमाह–**ध्वनयो वक्त्रभिप्रायमेव नार्थं सूचयन्ति इत्येकान्ते** सति **यथा** येन प्रकारेण **एवकारः भिन्नप्रक्रमः, भिन्नः** विशेषणादिव्यतिक्रमेण **प्रक्रमः** प्रयोगपरिपाटि-

३० र्यस्य स तथोक्तः, तस्यैव (**तथैव**) **चकारो** यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् [तथैवेति] गम्यते । न केवलं चकारः किन्तु **'वा' इति** । इति शब्दः[५१०ख] प्रकारवाची वा, [एवं] प्रकारोऽन्योऽपि

(१) सरोजात्मकम् । (२) बौद्धेन । (३) जैनेन्द्र० १।१।१०० । (४)'तं' इति व्यर्थम् ।

शब्दः[1]। तत् किं कुर्यात् ? इत्याह–**क्रमं स्वविन्यासस्थितिं न लङ्घयेत्** पुरुषकारणे अन्यत्र उद्दिष्टो विशेषणादिना न सम्बन्धमर्हेत् यथान्यासमवे (थान्यासमेव)तमर्थं गमयेदित्यर्थः। कदा ? इत्याह–**यदि (यदेत्यादि) यदा शक्तिस्वाभाव्यं कथंचित्** केनचित् प्रकारेण निगदितेन **स्वार्थप्रतिपादनेन भवेत्**। केन कृत्वा ? इत्याह–**अस्तेच्छया(स्वेच्छया)** पुरुषेच्छानुवर्त्तनेन, शब्दशक्तिस्वाभाव्ये तु तं लङ्घयेत् अन्यत्र निर्देशेऽपि विशेषणादिसम्बन्धमन्तरेण तदर्थाप्रतिपत्तेरिति। कथं तर्हि ५ तत्स्वाभाव्ये एकस्मिन् कामिनीकाये 'दाराः' बहुवचनम् ? तस्य बहुत्वे नियतत्वात्। षण्णां नगराणां समूहे 'षण्णगरी' इत्येकवचनम् ? अस्य एकत्र नियमात्, षण्णगरव्यतिरेकेण तत्समूहाभावात्। दृश्यते च तद्वचनम्[2], ततो मन्यामहे विवक्षार्थाऽशब्दा(र्थाः शब्दाः) इति; तत्राह–**योग** इत्यादि। [**योगरूढेषु]दारा[:]षण्णगरी इत्यादिष्वपि** ध्वनिषु न केवलं पूर्वेषु **भेदप्रतिपत्तौ** बहुत्वैकप्रतिपत्तौ **शब्दशक्तिरेव अनुगन्तव्या** न विवक्षामात्रम्, अन्यथा तत्रैकवचनादि- १० प्रसङ्गात्। **विचारितं चैतत्–**"स्वाभाविकत्वादभिधानस्य एकशेषानारम्भः"** [जैनेन्द्र० १।१।१००]इत्यत्र **भगवद्भिः पूज्यपादैः शब्दानुशासनदक्षैः** इति।

पुनरपि परमतमाशङ्क्ते दूषयितुं **पदावधिक** इत्यादि। **पदमवधिर्यस्य** स तथोक्तः। कः ? इत्याह–**समयः** शब्दागमः। स किम् ? इत्याह–**पुरुष** इत्यादि। [५११क]**पुरुषस्य** वक्तुः **अभिप्रायः** समिच्छा **तदधीनः** तदायत्तः **स्वार्थप्रतिपादने** इति चेत्; अत्राह–**न** इत्यादि। १५ यदुक्तं परेण **तन्न**। कुतः ? इत्याह–**तावन्मात्रेण** पदमात्रेण **व्यवहाराभावात्** शब्दस्य प्रवृत्तिरूपस्य निवृत्ति[रूपस्य वा] व्यवहारस्याऽयोगात्। न खलु घट इति वचनमात्रेण तद्भावः।

स्यान्मतम्–पदान्तरेण अभिसम्बन्धाद् विशिष्टार्थप्रतिपत्तिः, ततो व्यवहार इति; तत्राह–**पदान्तर** इत्यादि। विवक्षितपदाद् अन्यत् पदं तदन्तरम् तस्य **सन्निधाने** सति **स्वत एव** आत्मनैव पुरुषकृतसङ्केतमन्तरेण **विशिष्टार्थप्रतिपादने** अङ्गीक्रियमाणे। न हि सर्वा वाक्यार्थ- २० प्रतिपत्तिः सङ्केतमपेक्षते असकृत पूर्ववाक्यादपि केषांचित् सुधियाम् अर्थप्रतीतिदर्शनात् **कथं स्वत एव शक्तिः वाध(वाच)कस्य प्रत्याख्यायेत ?** एवमभ्युपगम्य पदावधिकस्य समयस्य पुरुषाभिप्रायाधीनत्वमिदं दूषणमुक्तम्।

अधुना तत्रापि तदधीनत्वं नास्तीति दर्शयन्नाह–**नानार्थ** इत्यादि। **नानार्थस्य** अनेकार्थस्यैकस्य(स्यैकस्य)पदस्य **प्रतिपादनं(न)संभवे,** यथा *"**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**" २५ [मैत्रा० ६।३६] प्रत्यत्र (इत्यत्र) वाक्ये अग्न्यादिपदस्य वक्त्रभिप्रायमेव शब्दाः सूचयन्तीति **नियमासंभवात् सर्वथा अयं** परकीय **एकान्तो न सिध्यति**। तथाहि–यदि वक्त्रभिप्रायमेव शब्दाः सूचयन्ति; तर्हि वक्तुः मीमांसकस्य अग्निः स्वेत्य(अग्निहः श्वा इत्य)भिप्रायाभावात् कथं कीर्त्तेः[9] ततः स्वार्थ([10]श्वार्थ) प्रतिपत्तिर्येन उच्यते–

(१) ज्ञातव्यः। (२) इति। (३) दाराशब्दस्य। (४) एकवचनं बहुवचनं च। (५) विवक्षातः। (६) समये। (७) पुरुषेच्छाधीनत्वम्। (८) अग्निं हन्तीति अग्निहः श्वा तस्य उत्रं मांसम् अग्निहोत्रमिति। (९) धर्मकीर्तेः। (१०) 'श्वा' इत्यर्थस्य।

*"[तेन] अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ ।
खादेत् [५११ख] श्वमांसमित्येष नार्थः इत्यत्र का प्रमा ॥"
[प्र० वा० ३।३१८] इति ।

[तस्य] व्याख्यानैव वक्ता इत्युच्यते ; न ; व्याख्यातृकथितार्था[द]धिकस्यापि सयुक्तिके
५ श्रोतरि प्रमेयस्य प्रतिभासनात् । पघट्टक (प्रघट्टक) मुपसंहरन्नाह–इत्येवमर्थ (म अलं) पर्याप्तं
प्रसङ्गेन वचनपरम्परया ।

अथ मतम्–न परमाणुव्यतिरेकेण वर्णाः पदानि वाक्यानि च सन्ति अत्र (अन्यत्र) संवृतेः,
तत्कथमुक्तम् *"तद्भिदः (तद्भेदः) प्रतिलब्धवर्णपदवाक्यात्मा" [सिद्धिवि० ४।१] इति ?
तत्राह–**पदमि**त्यादि ।

१० **[पदमभिन्नं भिन्नैः स्वैः आकारैरवभासते ।**
सदसद्भिर्यथा ज्ञानमात्मनीति प्रचक्षते ॥३८॥

**यथादर्शनं ज्ञानतत्त्वव्यवस्थायामनेकान्तप्रसङ्गात् तत्त्वमेकरूपं कथञ्चिददृष्टपूर्वमा-
स्थेयम् । तथा च व्यलीकमात्रानिर्भासमक्षरं वितथवर्णनिर्भासं पदमदृष्टपदार्थं वाक्यमप्य-
प्रतिषिद्धम् अक्रमप्रतिपत्तेः । दृष्टहानिरदृष्टकल्पनेति चेत् ; संवित्तावपि समानः प्रसङ्गः ।
१५ तद्भेदाभेदात्मकत्वे अन्यत्र कः प्रद्वेषः ?]**

तात्पर्यमत्र–सौगतस्य चित्रैकज्ञानोपगमे जैनस्य वर्णादि[:]सिद्धः । तदनभ्युपगमे निरंशत-
त्वोपगमाद् वैयाकरणस्य इति न तथागतस्य पतस्य (पर)पक्षपाताद् विमोक्षः इति । **पदम्** इत्युप-
लक्षणम् वर्णवाक्ययोः, ततो वर्णः पदं वाक्यं **चावभासते** । कैः सह ? इत्याह–**आकारैः**
भेदैः । किंभूतैः ? **स्वैः** आत्मीयैः । कथंचित् तदात्मभूतैः, अन्यथा सत्त्वासिद्धेः, समवायादि-
२० सम्बन्धनिषेधात् । पुनरपि किंभूतैः ? इत्याह–**भिन्नैः** परस्परविलक्षणैः । किंभूतं तत् ? इत्याह–
अभिन्नं स्वावयवसाधारणम्, अथवा निरंशम् । पुनरपि किंभूतैः ? इत्याह–**सदा (सद) सद्भि-**
रिति जैनमतापेक्षया **सद्भिः** विद्यमानैः वैयाकरणविशेषदर्शनापेक्षया **असद्भिः** । अत्र
निदर्शनमाह–**यथा** इत्यादि । **यथा** येन प्रकारेण **ज्ञानम्** आकारैः तथाविधैः**अवभासते**
इत्येवं केचित् **प्रचक्षते** जैनाः वैयाकरणाश्च ।

२५ ननु क्व तद[व]भासते ? स्वात्मनि इति चेत् ; विज्ञानम्[४] । अन्यस्मिन् प्रत्यक्षे चेत् ; न ;
तन्निषेधात्, [५१२क] सतोऽपि तस्य वर्त्तमानमात्रपर्यवसानाच्च । नानुमानेऽपि ; प्रत्यक्षाभावे
तदभावात्[६] इति चेत् ; **आत्मनि** अनेकात्मनि स्वपरसंवेदनपरिणामात्मनि तदवभासते इति
ब्रूमः । तदुक्तं न्या य वि नि श्च ये–*"आत्मनाऽनेकरूपेण" [न्यायवि० १।८] इत्यादि ।
पूर्वपूर्ववर्णश्रवणाहितसंस्कारस्य अन्त्यवर्णश्रवणात् पूर्ववर्णस्मरणे सति मानसं प्रत्यक्षमुपजायते,

(१) अत्र प्रतिः घृष्टा । (२) प्रकरणम् । (३) स्फोटवादिनो मतसिद्धिः । (४) विज्ञानवादः स्यात्, अथवा विज्ञानरूपतापत्तिः । (५) प्रत्यक्षस्य । (६) अनुमानोत्पत्त्यभावात् । (७) "नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥"–वाक्यप० १।८५। न्यायकुमु० टि० पृ० ७४९ ।

तत्रावभासते इत्येके[1]। तदसत्यम्; निरंशैकस्वभावे तत्र क्रमभाविवर्णादिप्रतिभासायोगात्। शेषं चिन्तितमत्र।

कारिकां विवृण्वन्नाह–[यथा]दर्शनमित्यादि। दर्शनानतिक्रमेण **यथादर्शनं ज्ञानतत्त्वव्यवस्थायां** क्रियमाणायाम् **अनेकान्तप्रसङ्गात्** अनेकान्तात्मकवर्णादिप्रसङ्गात् कारणात् **तत्त्वं** ज्ञानं वस्तु, किंभूतम् ? **एकरूपम्** निरंशमास्थेयम्। पुनरपि किंभूतम् ? इत्याह–**कथंचित्** ५ प्रत्यक्षादिप्रकारेण स्वसंवेदनाद्वैतादिप्रकारेण वा[ऽ]**दृष्टपूर्वम्**, न हि निरंशं ज्ञानं पुरुषवत् द्रष्टुं शक्यम्। इष्यत एव तथाविधं ज्ञानतत्त्वमिति चेत्; अत्राह–**तथा** च तेन च तथाविधज्ञानाभ्युपगमप्रकारेण **अक्षरम्** '**अप्रतिपिद्धम्**' इति गत्वा सम्बन्धः करणीयः। किंभूतम् ? इत्याह–**व्यलीकमात्रानिर्भासं** व्यलीकोऽसत्यो मात्राणां ह्रस्वादीनां निर्भासो यस्मिन्निति। न केवलम् अक्षरम् अपि तु **पदमप्यप्रतिपिद्धम्**। किंभूतम् ? इत्याह–**वितथवर्णनिर्भासं** तथा **वाक्यमपि** १० **अप्रतिपिद्धम्**। किंभूतम् ? इत्याह–**दृष्टपरमार्थम्** (अदृष्टपदार्थम्) असत्यपदप्रतिभासम्। कुत एतत् सर्वम् ? इत्याह–**अक्रमप्रतिपत्तेः** इत्यादि। [५१२ख]

परमाशङ्कते दूषयितुं **दृष्टहानिः** इत्यादि। **दृष्टस्य** मात्रादिभेदस्य **हानिः अदृष्टस्य** निरंशाक्षरादेः **कल्पना** इति चेत्; अत्राह–**संवित्तावपि** न केवलम् अक्षरादौ **समान[:]प्रसङ्गो** दोषः। न समानः तत्र चित्रैकरूपत्वोपगमात् *"**चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः**" [प्र० १५ वार्तिकाल० ३।२२०] इत्यादि वचनादिति चेत्; अत्राह–**तद्** इत्यादि। **तस्याः** संवित्तेः **भेदाभेदात्मकत्वे अन्यत्र** वर्णादौ **कः प्रद्वेषः** भेदाभेदात्मकत्वस्य यत्तत्र[2] तन्न[3] भवेत् ?

नानु (ननु) नादृष्टपूर्वं ज्ञानतत्त्वमिष्यते येनायं दोषः, अपि तु दृष्टम्, स्वसंवेदनात्मकस्य परोक्षत्वविरोधात्। तत्पुनरभिन्नमिव अवभासते। तदुक्तम्–

*"**अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा**" [प्र० वा० २।३५४] इत्यादि, २०

*"**मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणाम्**" [प्र० वा० २।३५५] इत्यादि च।

तत्राह–**अभिन्नम्** इत्यादि।

[अभिन्नमन्यथा ज्ञानमात्मानमवभासयेत्।
नाक्रमं सक्रमं कुर्यात्तज्ज्ञानं पदमविद्यया ॥३०॥

यदि पुनः ज्ञानपरमाणवः सर्वथा भिन्नाः; कुतस्तत्त्वमन्यथा प्रतिभासेरन् ? २५ वेद्याकारः पुनः वेदकाद्याकारविलक्षण एव संवित्स्वभावमतिवर्तेत अर्थान्तरवत्। वेदकाकारः तद्व्यतिरेकेणासंवेद्यः कथं चेतनः यतः तस्य स्वसंवित्तिः स्यात् ? तन्न तदभेदैकान्ते विभ्रमवशादन्यथावभासः, बहिरपि विभ्रमवशात् निःकलस्यैव पदादेरन्यथावभासः कल्पेत।]

अभिन्नमविभागं ज्ञानं यत् सौगतेष्टम् **अन्यथा** ग्राह्यग्राहकसंवित्तेर्भेदवन्तमिव ३०

(१) स्फोटवादिनः। (२) अक्षरादौ। (३) भेदाभेदात्मकत्वम्।

आत्मानं स्वस्वरूपम**वभासयेत्** । कया ? **अविद्यया** । तत्किं कुर्यात ? इत्याह–**नाक्रममित्यादि** । **अक्रमं** क्रमरहितं **सक्रमं** क्रमवदिव **कुर्यात्** गृह्णीयात् करोतेः क्रियासामान्यवाचित्वात् । किम ? **न** कुर्यादेव **तज्ज्ञानम्** ? किम ? **पदम्**, उपलक्षणमेतत वर्णादेः । कया ? **अविद्यया** इति ।

५ स्यान्मतम्–न ज्ञानमन्यथा आत्मानमवभासते, चत्प्रतिमद्वा (तत्प्रतिभासा)द्वयस्यावभासनात् । केवलं विकल्पबुद्धिः ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदकल्पितमिव श्रद्दध्य (तद्दृश्य)वस्यति । [त]त एव केनचिदुक्तम्–*"ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते" [प्र० वा० २।३५४] न 'गृह्यते' इति; तत्राह–**यदि पुनः** इत्यादि । **[यदि]** चेत **पुनः** इति वितर्के । **ज्ञानपरमाणवः** । किंभूताः ? इत्याह–[५१३ क] **सर्वथा भिन्नाः** परस्परव्यावृत्ततनवः **तत्त्वम्**

१० इत्यध्याहारो (त्यध्याहारो ऽ)न्यथा थंध (स्कन्ध)स्य नि[ः]कल्पत्वासिद्धेः । ततः किम् ? इत्याह–**कुतः** कारणात न कुतश्चित , **कथंचिदेकत्वेन** उपलक्षणमेतत तेन स्थूलत्वेन दीर्घत्वेन सावयवत्वेन **प्रतिभासेरन्** । नहि यद्रूपं यत्र भवति तद्रूपेण स्वग्राहिणि ज्ञाने तत प्रतिभाति, इतरथा चक्षुपि रूपं च रसात्मना प्रतिभासेत । नास्ति च तत्परमाणुपु प्रत्येकं समुदितेपु वा तदेकत्वादिकमिति, प्रतिभासन्ते च, संहृताशेपविकल्पदशायामपि स्थूलस्यैकस्य दर्शनात । तदुक्तं धर्म की र्ति ना पि–

१५ *"सरूपयन्ति किं ज्ञानं स्थूलाभासं च तेऽणवः ।"

[प्र० वा० २।३२१] इति[4] ।

स्यान्मतम्–नाभात्येष आकारः, स तु ग्राह्याकारोऽसन्नेव *"**मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोपः**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इति वचनादिति चेत्; अत्राह–**वेद्याकार** इत्यादि । **वेद्याकारः** ग्राह्याकारः स्थूलैकरूपः '**यदि**' इत्यनुवर्तते **पुनः वेदकाद्या-**

२० **कारविलक्षण एव, वेदकः** येनासौ वेद्याकारो गृह्यते, तदभावे तदप्रतीतिः । स्वतः प्रतीतिरिति चेत ; प्राप्तं ज्ञानत्वम इति चित्रैकतत्त्वसिद्धिः । न चैतत परस्य पथ्यम , ततो ज्ञानादन्य एवासौ । **स आदिर्यस्य,** संवेदनाकारस्याप्यभावे तदसिद्धिः । नहि क्रियारहितं कर्म अस्ति, तदेवाकारः तस्माद् **विलक्षण एव** भिन्न एव **संवित्स्वभाव(वं)** ज्ञानस्वरूपं स्वसंवेदनलक्षण**मतिवर्त्तेत** अतिक्रामेत, वेद्याकारोऽचेतनः स्यात् इत्यर्थः । तथा च *"**यदवभासते**

२५ **तज्ज्ञानं यथा सुखादि**" इत्यस्य अनेन व्यभिचारः । [५१३ ख]

अनेन *"**नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति**" [प्र० वा० २।३२७] इत्यादि निरस्तम् ।

अत्र निदर्शनमाह–**अर्थान्तरवत्** इति । नीलार्थाद् अन्योऽर्थः तदन्तरम् पीत्यादि (पीतादि) तदिव तद्वत इति । यथा पीतं नीलस्वभावमतिवर्त्तते तथा वेद्याकारोऽपि संवित्स्वभावमिति । यदि वा, **संवित्** कर्त्री **स्वभावं** नीलबोधरूपताया(तया)द्व्यात्मानं *"**विषयज्ञानं-**

(१) प्रतिभासाद्वैतम् । (२) धर्मकीर्तिना । (३) इत्युक्तमपि तु 'लक्ष्यते'–आभाति इत्युक्तम् । (४) "ते परस्परं भिन्ना अणवः तज्ज्ञानं स्थूलाभासं स्थूलाकारं केन रूपेण सरूपयन्ति ? यदणुस्वरूपमस्थूलमस्ति न तत् ज्ञानारूढम् । यच्च ज्ञानारूढं स्थौल्यं नाणुपु तदस्ति ।"–प्र० वा० मनोरथ० ।

(न)तज्ज्ञानविशेषाच्च द्विरूपता ।'' [प्र० समु० १।१२] इति वचनात् **अतिवर्त्तेत** निराकारा स्यात् इत्यर्थः । वेदकाकारे दूषणमाह–**वेदकाकारः** । किंभूतः ? **असंवेद्यः** । कथम् ? इत्याह–**तद्व्यतिरेकेण** ग्राह्याकारव्यतिरेकेण कथंचित् प्रत्यक्षादिप्रकारेण । नहि नीलादिव्यतिरेकेण निरंशं ज्ञानमनुभूयते । **कथं चेतना** [ऽय]मतदाकारो **यतः** चेतनत्वात् **स्वसंवित्तिः** तस्य **स्यात्** । निगमनमाह–**तन्न** इत्यादि ।　५

ननु न वेद्याकारः संवेदनादन्यः, किन्तु परमार्थतोऽतद्वत्यपि[2] तद्वतीव प्रतिभातीति चेत ; अत्राह–**तदभेदैकान्ते विभ्रमवशादन्यथावभासः** सांशतयेव प्रतिभासनम । अत्रोत्तरं **बहिरपि** न केवलम् अन्तः, **विभ्रमवशादन्यथाऽवभासः कल्पेत** । कस्य ? **पदादेः** । किंभूतस्य ? **निःकलस्यैव** ।

ननु वर्णादिस्फोटस्य तदवयवा व्यञ्जका इष्यन्ते, तेषां चाविगति (चाभिव्यक्ति) क्रिया व्यापारः । नहि मरीचिकाजले (लं) कांति द (काञ्चिद) र्थक्रियां विधातुमलमिति चेत ; अत्राह–**मिथ्याकारैः** इत्यादि ।　१०

[मिथ्याकारैर्यथा ज्ञानमेकं जातुचित्तथा ।
[3]द्वैध्यं मिथ्याक्रमैः वाक्यं व्यज्यते व्यञ्जकैः पदैः ॥४०॥

नानानिर्भासैरेकं ज्ञानं यदि वितथैरर्थैरपि व्यज्येत ; वितथक्रमैः पदैः वाक्यं व्यङ्ग्यं किन्न भवेत् विशेषाभावात्]　१५

मिथ्या असत्यैः**राकारैः** अंशैः **यथा** येन तद्द्वारेण प्रतिपत्तिप्रकारेण **ज्ञानम् एक**मद्वयं **द्वैध्यं त्यज्यत (व्यज्यते) जातुचित्** कदाचित् **तथा मिथ्याक्रमैः** मिथ्या क्रमो येषां [५१४क] तैः इति । **वाक्यम्** उपलक्षणमेतत् , तेन वर्णः(र्णैः) पदं **व्यज्यते** । किं कैः ? इत्याह–**व्यञ्जकैः** वर्णपदवाक्यावयवैः इति ।　२०

कारिकाविवरणमाह–**नाना** इत्यादि । **नानाभि (नि) र्भासैः** वेद्याद्याकारैः **एकं** निरंशं **वितथैरर्थैरपि यदि व्यज्येत ज्ञानं वितथक्रमैः पदं (पदैः) वाक्यं व्यङ्ग्यं किन्न भवेत्** ? भवेदेव । कुतः ? इत्याह–**विशे**षेत्यादि ।

ननु नित्यो व्यापी च स्फोटः[5] परैरिष्यते । न च तथाविधस्य वेदनमिति चेत ; अत्राह–**न ज्ञाये[ते]**त्यादि ।　२५

[न ज्ञायेत नोत्पद्येत न नश्यत्येकमञ्जसा ।
धीवर्णपदवाक्यादि तद्भित्तिवितथात्मना ॥४१॥

(१) "विषयज्ञानतज्ज्ञानभेदाद् बुद्धेर्द्विरूपता । स्मृतेरप्युत्तरं काले न ह्यसावविभावितः ॥"–प्र० समु० । (२) वेद्याकारशून्यापि संवित्तिः संवेदने । (३) वेद्याकारसहितेव । (४) द्विधा भावः द्वैध्यम् । (५) "नानेकावयवं वाक्यं पदं वा स्फोटवादिनाम् । निरस्तभेदं पदतत्त्वमेतत्…"–स्फोटसि० श्लो० २९, ३६ । "वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायकः नित्यः शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति …"–सर्वद० पृ० ३०० । द्रष्टव्यम्–न्यायकुमु० पृ० ७४५ टि० ९ ।

प्रत्यक्षानुपलम्भसाधने कार्यकारणभावे न किञ्चित् कस्यचित् कार्यम्, निष्कलसाक्षात्कृतेरसंभवात्। तत एव न नश्येत् उपलब्धिसत्त्वात्]

न ज्ञायेत न गृह्येत **नोत्पद्येत न नश्यत्येकमञ्जसा** परमार्थेन। किं तत्? इत्याह-**श्रीवर्णपदवाक्यादि** आदिशब्देन शब्दब्रह्मादिपरिग्रहः। केन हेतुना? इत्याह-
५ **तद्वित्तेरि**(**तद्वित्ति** इ)त्यादि। **तस्य** ज्ञानत्व-जन्म-नाशस्य **वित्तिः** तद्वित्तिः तस्या **वितथो** य **आत्मा** स्वभावः **तेन**। एतदुक्तं भवति-यदि ज्ञानमज्ञानमपि स्वरूपमात्रपर्यवसितं क्षणिकम् अहेतुफलभूतम् अनंशं चोच्यते; हि(र्हि) वर्णादिकमदृष्टमपि नित्यव्यापितया इष्यताम्। अस्यानुपलम्भेन असत्त्वं ज्ञानेऽपि समानमिति।

कारिकां विवृण्वन्नाह-**प्रत्यक्ष** इत्यादि। **कार्यकारणभावे** अङ्गीक्रियमाणे। किंभूते?
१० इत्याह-**प्रत्यक्षानुपलम्भसाधने**। किं जातम्? इत्याह-**न** इत्यादि। **किंचित्** जाग्रद्विज्ञानं स्वापादिविज्ञानं वा **कस्यचित्** चक्षुरादेः वासनादेर्वा **कार्यं** न तथा **किंचित्** सुबन्तमिदमन्यद्वा पदं वाक्यं वा **कस्यचित्** ताल्वादेः गगनस्य वायोः शब्दस्य वा न कार्यम्। कुतः? इत्याह-**निष्कल** इत्यादि। [**निष्कलस्य**] ज्ञानादेः निरंशस्य या **साक्षात्कृतिः** [(१)स्य] तस्याः **असंभवात्**। मा भूत् तत्कार्यं तत, तथापि अनित्यं स्यादिति चेत्; अत्राह-**तत एव** तदसंभ-
१५ वादेव **न नश्येत्**। एतदपि कुतो(तः?) इत्याह-**उपलब्धि** इत्यादि। ततः संन्नि(सन्नि)-त्यमेव तदिति भावः।

ननु ज्ञानस्य निष्कलस्य साक्षात्कृतेरसंभवेऽपि विभ्रमाकारैरनुमानादिति चेत्; अत्राह-**'ज्ञानतत्त्वस्य'** इत्यादि।

[ज्ञानतत्त्वस्य निर्भासैस्तादात्म्यं नास्ति सर्वथा।
२० **तथा भ्रान्तैस्तदुत्पत्तिर्यत्तैस्तदनुमीयते ॥४२॥**

ज्ञानतत्त्वं निरंशं न प्रत्यक्षम्, यदङ्गीकृत्य स्फोटमुपालभेरन्, सर्वविकल्पातीतं निरंशं तत्त्वं यदि सांशमिव लक्ष्यते न प्रत्यक्षेण गृह्यते; तदितरत्रापि समानम्। अनादिनिधनं सादिनिधनवत् अक्रमं क्रमवदिव प्रतिभासते इति तत्त्वस्य कुतश्चित् स्वभावतः सिद्धौ सत्यां स्यात्, अन्यथा सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्, सर्वथा [विभ्रमस्य असिद्धेः]

२५ **ज्ञानतत्त्वस्य** निरंशस्य **निर्भासैः** ग्राह्यग्राहकाकारैः **नास्ति तादात्म्यं सर्वथा भ्रान्तैः** हेतुपदमेतत् वितथत्वादिति। नहि अभ्रान्तस्य भ्रान्तेन तादात्म्यं विरोधात्। **तथा** नास्ति **तदुत्पत्तिः तस्य** तैः **यद्** यस्मात् तादात्म्यात् **तदनुमीयते** तैराकारैरिति।

ज्ञानतत्त्व 'मितेतत्त्व' मित्यादिना कारिकार्थमाह-[**ज्ञानतत्त्वम्**] किंभूतम्? इत्याह-[**निरंशं**] यद् विज्ञानतत्त्वम् **अङ्गीकृत्य** आश्रित्य **स्फोटम् उपालभेरन्** सौगताः शब्दब्रह्म
३० वा, **तन्न प्रत्यक्षम्** इति।

(१) "प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः।"-हेतुबि० पृ० ५४। (२) सिद्धान्तम्। (३) अविभागस्य। (४) 'मिततत्त्व' इति व्यर्थमत्र। (५) अत्र पाठस्त्रुटित आभाति।

यत्पुनरुक्तम्[1]–'भेदवानिव लक्ष्यते न गृह्यते' इति ; तत्राह–**सर्वान्** सत्त्वादीन् **विकल्पा-[न् अ]तीतं तत्त्वं** ज्ञानस्वरूपं **यदि निरंशं** वेद्यांस(वेद्याद्यंश)विकलं सत् **सांशमिव** सभेदमिव **लक्ष्येत** (क्ष्यते)विकल्पेन व्यवसीयेत (यते) **न प्रत्यक्षेण गृह्यते**; तद् अनन्तरोक्तम् **इतरत्रापि** पदादावपि **समानम्** । शक्यं हि वक्तुम्–अविकल्पबोधेन पदादि अक्रमं प्रतीयते, तदुत्तरकाल-भाविन्या तु विकल्पबुद्ध्या सक्रममिव व्यवसीयते । ननु सकलं ज्ञानं स्वरूप एव मग्नं कथं ५ पदादौ भिन्ने प्रवृत्तिमत् ? स्वरूपे मग्नमिति कुतः ? इतरथा, ज्ञानं तत्र भवे (तन्न भवेत्)[2] । लक्षणान्तराभावात् इति चेत्; अत[3] एव पदरूपेऽपि [५१५क] मग्नमित्यप्यस्तु । तथाऽदर्शना-न्नेति[4] चेत् ; इतरत्र समानम् । तथा कल्पनमुभयत्रापि ।

भवतु तर्हि 'वा (वर्ण)पदवाक्यादि जन्मादिरहितम्' इति चेत् ; अत्राह–**अनादि** इत्यादि । न विद्यते आदिनिधने जन्मविनाशौ यस्य तद**नादिनिधं**धस्यादि (**निधनम्** तत् १० **सादि) निधनवदक्रमं** हेतुफलक्रमरहितं **क्रमादिव(क्रमवदिव)** हेतुफलक्रमवदिव **प्रतिभासत इति** एवं **तत्त्वस्य** ज्ञानादिस्वरूपस्य **कुतश्चित्** प्रत्यक्षात् अनुमानात् अन्यतो वा **स्वभावतः** स्वभावेन **सिद्धो (द्धौ)** निर्णीतौ **सत्यामेवं (व)** स्यात् , **अन्यथा** स्वभावतः तत्सिद्ध्यभावप्रकारेण **सर्वत्र** सुखादावपि **अनाश्वासप्रसङ्गात्** । तथाहि–'न सुखादिकं नाम किंचन, केवलं सुखादिक-मिव न (व तत्) प्रतिभासते, 'प्रतिभासत इव' इत्यपि स्यात् । ननु नास्त्येव सुखादिनीलादि- १५ व्यतिरेकेण परस्य प्रतिभासनम्, सुखादिनीलादेश्च विचार्यमाणस्यायोगात्, प्रतिभासनेऽपि भ्रान्तता इति चेत् ; अत्राह–**सर्वथा** इत्यादि । निरूपितमेतत् ।

अत्राह प्र ज्ञा क रः[5]–*"**प्रतिभास[मा]नस्य विभ्रमायोगात् प्रतिभासाद्वैतमस्तु**" इति ; तत्राह–**ध्वनिभ्यः** इत्यादि ।

[ध्वनिभ्यो वाचकं भिन्नं श्रद्धेयं विदुर्बुधाः । २०
ज्ञानतत्त्वं विनिर्भासाद् व्यतिरिक्तं तथाऽन्यथा ॥४३॥

यथादर्शनमिति परीक्षानिमित्तं न भवति, प्रमाणागोचरं । तन्न···]

ध्वनिभ्यः पदादिव्यञ्जकेभ्यो **वाचकं** स्फोटाख्यं **भिन्न**मर्थान्तरभूतं **श्रद्धेयं** श्रद्धागम्यम् न प्रमाणगम्यं स्यात् । **अन्यथा तथा ज्ञानतत्त्वं** श्रद्धेयं **विदुर्बुधाः** । किंभूतम् ? इत्याह–**विनिर्भास** इत्यादि । विधा(विविधो) विचित्रो वा सुखादिनीलादिनिर्भासः तस्माद् **व्यति-** २५ **रिक्तमिति** । अत्रायमभिप्रायः–प्रतिभासाद्वैतं स्तम्भादिस्वभावम्, अन्यद्वा स्यात् ? प्रथमपक्षे आह–*"**यथादर्शनम्**" [प्र० वा० २।३५७][6] इत्यादि **परीक्षायाः** [५१४ख] **निमित्तं न भवति**, जीवादितत्त्वाप्रतिकूलं हि तत् इति । द्वितीये दोषमाह–**प्रमाणागोचरम्** इत्यादि । तन्न युक्तम्–*"**अज्ञातार्थप्रकाशो वा इति पारमार्थिकं प्रमाणलक्षणम्**" [प्र० वार्तिकाल० पृ० ३०] इति । ३०

(१) पृ० ६५६ प० ८। (२) यदि स्वरूपमग्नं न स्यात्तदा ज्ञानमेव न स्यात् । (३) लक्षणान्तरा-भावादेव । (४) प्रमाणात् । (५) प्रतिभासाद्वैतवादी प्राह । (६) "यथादर्शनमेवेयं मानमेयफलस्थितिः । क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम्॥"–प्र० वा०

उपसंहारमाह–**तत्र** इत्यादि ।

सांप्रतं सौगतस्य अनवस्थितचेष्टितं प्रकटयन्नाह–**बहिरर्थोऽस्ति** इत्यादि ।

[बहिरर्थोऽस्त्यनाकारा बुद्धिश्चाप्यनाकृतिः ।
असंभाव्याननुमेयेत्याकुलं किमतः परम् ॥४४॥

५ बहिरन्तर्ज्ञेययोः विधिप्रतिषेधैकान्तसंवृतिवादान् परस्परविलक्षणानवलम्ब्य किमप्याकुलं कथयन् कथं स्वस्थात्मा नाम यतोऽयं परीक्षकसमयमवतरति ?]

बहिरर्थोऽस्ति अर्थाकारा बुद्धिश्चास्ति इति सौत्रान्तिकाः । नास्ति बहिरर्थः **अर्थाकारा** नीलाद्याकारा[1], तत्रैव लोकस्य अर्थ इति व्यवहारात् एवमभिधानम्[2] **बुद्धिर**स्तीति योगाचाराः । बहिरपि(रिव) बुद्धावपि परमाण्वाकारपरिहारेण व्यवस्थितस्य स्थूलस्य नीलाकारस्य असंभवात्

१० **अनाकृतिः** न विद्यते आकृतिः नीलाद्याकारो यस्याः सा अनाकृतिः बुद्धिरस्ति इत्यन्यैः तद्विशेषैः[3] । नीलादिपरिहारेण प्रत्यक्षे तदप्रतिभासनाद् ब्रह्मवदिति, सद्भाव्या भ्रान्तान्यथा(न्नार्थान्यथा)नुपपत्त्याऽनुमेया[ऽ]नाकृतिर्बुद्धिः मीमांसकबुद्धेरिव । अर्थदृष्टतया तस्यापि क्वचिद् भ्रान्त्या सद्दर्शनाभावात् न ततस्तदनुमानम् इत्य**संभाव्याऽननुमेये**त्येवमा **कुल** मनवस्थितत्वं **किमतः परम्** ? अपि तु इदमेव आकुलत्वम् ।

१५ अथवा दृष्टापलापित्वेन सौगतस्य चौर्यन्द(चौर्यं द)र्शयन्नाह–**बहिर**स्ति इत्यादि । **बहिरर्थो** विचेतनो घटादि**रस्ति** प्रमाणवलावलं वा (बलाबलम्बी) विद्यते, तथापि नास्ति बहिरर्थः[4] । **बुद्धिरनाकृतिरस्ति** तथापि अर्थाकारा संभाव्या अहमहमिकया स्वसंवेदनाध्यक्षानिश्चेया(या) तथाप्यसंभाव्या सुखादिनीलादि [५१६क]व्यतिरेकेण अध्यवसेयेत्त्य**वमाकुलम्** असम्बद्धं वचनम् **किमतः परम्** इदमेव प्रमाणवादिताभिधानात् (भिघातात्] ।

२० कारिकाविवरणमाह– **बहिरन्तर्ज्ञेय** इत्यादि । **बहिर्ज्ञेयं** घटादि **अन्तर्ज्ञेयं** बुद्धिसुखादि **तयोः** पूर्वं **विधिश्च** पुनः **प्रतिषेधश्च तावेकान्तौ** च **संवृतिवादश्च** तान् । किंभूतान् ? **परस्परविलक्षणान्** अन्योऽन्यपरिहारस्थितस्वभावान् । किम् ? **अवलम्ब्य** आश्रित्य **आकुल**मनवस्थितम् **किमपि** रूपादि[5] स्कन्धजातं दुःखादि[6] जातं वा **कथयन् कथं स्वस्थात्मा नाम यतः** स्वस्थात्मत्वादयं सौगतः **परीक्षकसमयमवतरति** । द्वितीये तु व्याख्याने **बहिरन्तर्ज्ञेययोः** यो

२५ **विधिः** स्वरूपादिचतुष्टयेन, यश्च **प्रतिषेधो** विपर्ययेण **भावेनै**(तावेव ए)**कान्तौ** प्रधानधर्मो (र्मौ)तयोः **संवृतिवादान्** कल्पनाशिल्पितधर्मभेदवचनविशेषाविति(षानिति) ग्राह्यम् । शेषं पूर्ववत् ।

तर्हि सर्वस्य वस्तुनो विचार्यमाणस्यादयो(स्याऽयो)गात् सकलशून्यतैव भवत्विति चेत्; अत्राह–**एतत् वस्तुबलागतम्** इत्यादि ।

---

(१) बुद्धिरेव । (२) 'अर्थाकारा' इति कथनम् । (३) माध्यमिकः । (४) योगाचारविशेषः । (५) आदिपदेन वेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानस्कन्धपरिग्रहः । (६) आदिपदेन समुदयनिरोधमार्गलक्षणार्यसत्यपरिग्रहः ।

[एतद्वस्तुबलागतं जगदिदं शून्यं यदाप्तोऽब्रवीत्,
यस्माद्वस्तु विचार्यमाणमखिलं नावस्थितं चेतरत् ।
लोकेऽयमवधेयवाक्किल महाकष्टं प्रविष्टः कलिः,
एकान्तग्रहरक्तरक्तपटवाचालविप्रलब्धाकुलः ॥४५॥]

यदाप्तः सुगतोऽ**ब्रवीत्** त**देतद् वस्तुबलागतम्** अर्थसामर्थ्येनागतम् । किं तत् ? ५
इत्याह–**जगदिदं शून्यम्** इति । कुतः ? इत्याह–**यस्मात्** इत्यादि । **यस्मात्** कारणात्
वस्तु च **इतरजातं (रञ्च** तत) **विचार्यमाणम् अखिलं** निरवशेषं **नावस्थितम् । च**
इत्यवधारणे **इति** एव**मयं** ध र्म की र्तिः **लोके**ऽस्मिन्न अवधेयवाक् **(न् अवधेयवाक्)**
आदेयवचनः **किल महाकष्टं प्रविष्टः कलिः** । किंभूतोऽसौ ? इत्याह–**एकान्तग्रहेन**
(हेण) रक्ताः त एव **रक्तपटाश्च वाचालाश्च** तैः पूर्वं **विप्रलम्भः (लब्धः)** वञ्चितः १०
[५१६ख] **पश्चादाकुलः** प्रमाणप्रमेयविकलवचनादिति ।

इति र वि भ द्र पादोपजीवि-अ न न्त वी र्य विरचितायां सि द्धि वि नि श्च य
टी का यां शब्दसिद्धिर्नवमः प्रस्तावः ।

[दशमः प्रस्तावः]

[१० अर्थनयसिद्धिः]

प्रमाणसिद्धिविधानानन्तरं नयसिद्धिं विधित्सुः तदादौ तदर्थसंग्रहवृत्तमाह–**ज्ञातॄणाम्** इत्यादि ।

[ज्ञातॄणामभिसन्धयः खलु नयास्ते द्रव्यपर्यायतः,
द्वेधा द्रव्यमनन्तपर्ययपदं भेदात्मकाः पर्ययाः ।
५ **तच्छुद्धिभिदया नया बहुविधाः सम्प्रादितोऽर्थाश्रयाः,**
चत्वारोऽत्र च नैगमप्रभृतयः शेषास्त्रयं शब्दतः ॥१॥]

प्रमाणेन प्रत्यक्षादिना स्वार्थं जानन्ति **ज्ञातारः** तेषाम् **अभिसन्धयः** प्रमाणप्रमितार्थैकदेशावसायकल्पाः **खलु** स्फुटं **नयाः** । नयसामान्यलक्षणमेतत् । तद्भेदमाह–**ते** नया **द्वेधा** द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यवतिष्ठन्त(न्ते) इत्यध्याहारः । कुतः ? इत्याह–**द्रव्य** इत्यादि । **द्रव्यतो**
१० द्रव्यमाश्रित्य **पर्यायतः** पर्यायाणाना(याना)श्रित्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनया इत्यर्थः । द्रव्यस्वरूपमाह–**द्रव्यम् अनन्तपर्ययपदम्** अनन्ताः पर्यवसानरहिताः प[र्य]याः पर्यायाः परिणामा इत्यर्थः तेषां पदं स्थानम् । उपलक्षणमेतत्–तेन अनादिपर्ययपदम् इत्यपि ग्राह्यम्, अनेन नित्यैकरूपं द्रव्यमपास्तम् । निरूपितं चैतत् । तेन पर्यायाणां पदम् इत्यनेन तेषां स्वातन्त्र्यं निषेधति । तद्ध[द्]द्रव्यस्य किं पदम् ? द्रव्यान्तरम् इति चेत्; तस्यापि तदन्तरम् इत्यनवस्था ।
१५ स्वतन्त्रं तदिति चेत्; पर्यायाः तथा सन्त विशेषाहेतु (सन्तु विशेषहेत्व)भावादिति चेत्; उक्तमत्र–चित्रैकज्ञाने नीलादिनिर्भासवत् परतन्त्राणां सदा तेषामवभासनात् तज्ज्ञानवदेव । न च तस्य अवश्यम् अपरस्थानान्वेषण(णं) न्यायोपपन्नम् । अनादिपर्ययपदम् इत्यनेन जीवादेर्द्रव्यस्य सादित्वं प्रत्याचष्टे । [५१७ क] **अनन्तपर्ययपदम्** इत्यनेनापि प्रदीपादेः तत्त्वम्, उभयत्रोक्तप्रमाणबाधनात् ।

२० ननु यदा द्रव्यादयो भिन्नाः समवायेन च तत्र वर्तन्ते, तदापि तेषां तत्पदम्, तत्कुतोऽस्य व्युदास इति चेत् ? अत एव, द्रव्यपर्यायसमवायानाम् अन्योऽन्यं भेदैकान्ते 'किं कस्य पदम्' इति न निश्चयहेतुरस्ति । पर्यायस्वरूपमाह–**भेदात्मकाः भेदः** परस्परव्यावृत्तिः **आत्मा** स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः **पर्याया (पर्ययाः)** इति परियन्ति भेदम् इति व्युत्पत्तेः । ननु पर्याया इति निपातनं बाधकमिति तदसिद्धिरिति चेत्; न; *"**पर्या[या]र्हर्णोत्पत्तौ वुन्**" [जैनेन्द्र०
२५ २।३।९२] इत्यत्र पर्याय इति निपातनात् । सिद्धावपि *"**न्यायपरिणायपर्यायः**" [जैनेन्द्र०

(१) द्रव्यम् । (२) पर्यायाणाम् (३) पर्यायवत् । (४) पर्यायाणाम् । (५) सान्तत्वं प्रत्याख्यातं भवति । (६) जीवादिद्रव्यस्य सादित्वे, प्रदीपादेः सान्तत्वे च । (७) नैयायिकः प्राह ।

२।३।३६] इति निपातनं क्रियमाणं ज्ञापकम् तदनित्यत्वस्य इति उभयसिद्धेरिति । पुनरपि त[द्]द्वैविध्यं दर्शयन्नाह-**तच्छुद्धि** इत्यादि । तेषां द्रव्य-पर्यायाणां शुद्धिश्च (शुद्धिः **तच्छुद्धिः**) द्रव्यस्य **शुद्धिः** पर्याय(या)निराकृतिः, पर्यायाणां शुद्धिः तेषां परस्परापेक्षा, तयोर्द्वन्द्वैकवद्भावेन नपुंसत्वह्रस्वादेशः । तदेव तस्य वा **भेदतश्च**(**भिदा** भेदः) तया **द्वेधा** इति घटना । पूर्वं सुनयापेक्षम्[2], इदं तु सुनयदुर्नयापेक्षं द्वैविध्यम् इति विशेषः । पुनरपि तेषामवान्तरभेदं दर्शयन्नाह-**बहुविधाः** । अपि कियन्तः ? इत्याह-**सप्त** इति । '**द्रव्यपर्यायतः**' इति वा अत्रापि द्रष्टव्यम् । सप्तस्वपि अवान्तरभेदोऽस्ति इति दर्शयन्नाह-**आदित** इत्यादि । सप्तानां नयानाम् आदौ **आदितो** ये **चत्वारो नैगमप्रभृतयः अत्र** लोके ते **अर्थाश्रयाः** अर्थप्रधानाः **शेषाः** शब्दादयः । कियन्तः ? **त्रयं** स्ते(ते) किम् ? [५१७ख] इत्याह-**शब्दतः** शब्दमाश्रित्य प्रवर्तयन्त(र्तन्ते) इति ।

एतदेव वृत्तं विवृण्वन्नाह-**ज्ञानम्** इत्यादि ।

[ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः नयो ज्ञातुर्मतं मतः ।
ताभ्यामधिगमोऽर्थानां द्रव्यपर्यायशालिनाम् ॥२॥

ज्ञानमेव इत्यवधारणात् सन्निकर्षादेरसंविदितात्मनः व्युदासः । स्यात्कारमन्तरेण मत्यज्ञानादेः व्युदासे कथञ्चिदनभिमतात्मनापि व्युदस्येत । ज्ञानं प्रमाणमेवेत्युच्यमाने अनभिमतेनापि प्रसज्येत अकिञ्चित्करादेरतिचारणात् तदविसंवादनियमाभावात्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् । नयस्य प्रमाणात्मकत्वे पृथग् वचनमनर्थकम्, अन्यथा कथं तेनाधिगमो नाम यतः प्रमाणनयैरधिगमः प्रतिपाद्येत, तन्न; ततस्तत्त्वाधिगमोपपत्तेः तत्परीक्षालक्षणत्वान्नयस्य । द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकद्वयविचारे सति परमार्थप्रतिपत्त्यविरोधात् ।]

ज्ञानम् इति वचनात् 'ज्ञानमेव' इति द्रष्टव्यम्, एवमन्यत्रापि, अन्यथा तद्वचनमनर्थकम्, **प्रमाणम्** इत्यस्य तं तं(मतम्) । नयमाह-एतन्मूलत्वात[6] **नयो ज्ञातुः** प्रमाणवतो **मतम्** अभिप्रायः **मतः** । किमर्थं प्रमाणनयनिरूपणमिति चेत् ? अत्राह-**ताभ्यां** प्रमाणनयाभ्याम् **अधिगमो** निर्णयः *"प्रमाणनयैरधिगमः" [त० सू० १।६] इति वचनात् । केषां किंभूतानाम् ? इत्याह-**अर्थानाम्** इत्यादि[7] ।

(१) सम्बन्धः । (२) द्वैविध्यमुक्तम् । (३) तुलना-"अत्थप्पवरं सद्दोवसज्जणं वत्थुमुज्जुसुत्तंता । सद्दप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विंति ॥"-विशेषा० गा० २७५३ । लघी० श्लो० ७२ । त० वा० पृ० २६१ । नयवि० पृ० २६२ । प्रमाणनय० ७।४४, ४५। जैनतर्कभा० पृ० २३ । नयप्र० पृ० १०४ । (४) तुलना-"णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो । णिक्खेवो वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥"-ति० प० गा० ८३ । "ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते । नयो ज्ञातुरभिप्रायः युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥"-लघी० श्लो० ५२ । प्रमाणसं० पृ० १२७ । उद्धृतोऽयम्-ध० टी० संत० पृ० १६ । (५) इत्यनेन सम्बन्धः । (६) प्रमाणमूलत्वात् । (७) अत्र 'किम्भूतानाम्' इति प्रश्नस्य उत्तरेण 'द्रव्यपर्यायशालिनाम्' इति भवितव्यम् ।

कारिकाविवरणं 'ज्ञानमेव' इत्यादि । **ज्ञानमेव प्रमाणम् इत्यवधारणात् सन्निकर्षादेः।** किंभूतस्य ? **असंविदात्मनः** मत्यज्ञानादेः **व्युदासो** निरासः प्रमाणत्वेन ।

ननु भवता अत्रानुग(त्राग)मानुसारिणा ज्ञानपदेन मत्यज्ञानादिकं निराक्रियते, सौगतादिना अभ्रान्तादिपदेन ततः तस्माद् भवतः को विशेष इति चेत ? अत्राह-**कार(स्यात्कार)**मित्यादि ।
५ **स्यात्कारमन्तरेण मत्यज्ञानादेः कथंचित्** केनापि तेच्छेदकविशेषेण (पण) प्रकारेण 'व्युदासे' इत्यनेन 'कात' सम्बन्धः । अत्र दूषणम्-**अभिमतात्मनापि** सौगतादिभिः येनात्मना स्वसंवेदनादिस्वभावेन मत्यज्ञानादेः प्रामाण्यमभिमतम् तेनापि न केवलं द्विचन्द्रादिरूपेण **व्युदस्येत** मत्यज्ञानादिरिति । विचारितं चैतत । न चैवम्, अतः सर्वत्र स्यात्कारोऽपेक्षा (क्ष्य) इति भावः ।

ननु ज्ञाने[प्रामाण्यं]नियतमुपदर्शितं ज्ञानं त्वनियतम् [५१८ क]अप्रामाण्यमपि गच्छेत;
१० तन्न युक्तम्-*"**मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् । तत्प्रमाणे**" [त० सू० १।९, १०] इति, इति चेत; अत्राह-**ज्ञानं प्रमाणमेव** इत्युभयावधारणमत्र इति भावः । एकान्तवादिनोऽप्येवं स्यादिति चेत; अत्राह-**अनभिमत** इत्यादि । **'स्यात्कारमन्तरेण'** इत्यनुवर्तते । यतोऽयमर्थः-स्यात्कारमन्तरेण 'ज्ञानं प्रमाणमेव' **इत्युच्यमाने** येनात्मना तत्प्रमाण**मनभिमतं** परस्य **तेनापि प्रसज्येत** प्रमाणमिति । कुतः ? इत्यत्राह-**अकिञ्चित्करादेः**
१५ इत्यादि । स्वापादौ बोधोऽ**किञ्चित्करः** प्रवृत्त्यनङ्गत्वात् । मत्र (अत्र) तदभावे प्रबोधोऽनुपादानः स्यात । जाग्रच्चित्तोपादान इति चेत ; समानसमयसुप्तपित्रादि विधो(दिचित्तो)पादानः कुतो न स्यात ? भिन्नकालत्वात्; इतरत्र समानम् । भिन्नसन्तानत्वात्; अन्यत्रैकः सन्तानः इति कुतः ? उपादानोपादेयभावात्; अन्योऽन्यसंश्रयः; तथाहि-विवक्षितजाग्रच्चित्तप्रबोधयोः एकसन्तानत्वे सिद्धे सति उपादानोपादेयभावः, तत्र सति एकसन्तानत्वमिति । तत एव पितापुत्र-
२० जाग्रच्चित्तप्रबोधयोः एकः सन्तानोऽस्तु । तदभावान्नेति चेत; स कुतो मतः ? भिन्नसन्तानत्वात; अयमपरोऽन्योऽन्यसंश्रयः- तदभावे भिन्नसन्तानत्वम्, अतश्च तदभावः । अथ भिन्नशरीरवर्तित्वात न जनकजाग्रच्चित्तं जन्यप्रबोधोपादानकारणम्; तर्हि सुप्तशरीरचित्तात् स्वप्नान्तिकशरीरचित्तं तस्माच्च सुप्तदेहे चित्तम् स्वापशरीरप्रबोधचित्तं वाऽचेतनोपादानं स्यात् । कथं वा ऐहिकदेहचित्तात परलोकदेहचित्तम् ?

२५ किंच, [५१८ ख] देवदत्तजाग्रत्सुप्तप्रबुद्धशरीरैकत्वं भेदैकान्ते [कथम् ?] उपादानोपादेयभावात; अत एव अन्यत्राप्यस्तु । यदि पुनः भिन्नदेशयोः जनकापत्यशरीरयोः न उपादानोपादेयभावः; सुप्तस्वप्नान्तिकदेहयोर्न स्यात । अन्यत्र सुप्तस्य अन्यत्र प्रबोधश्च, चित्तयो[:] भिन्नदेशयोरपि उपादानोपादेयभावो न शरीरयोः इति चिन्त्यमेतत् ।

स्यान्मतम्-पितृशरीरे तदवस्थ एव ततः कथम् उपादेयमपत्यशरीरं जायत इति[10]; कथं
३० सुप्तशरीरे तदुच्छ्वासादौ वा तदवस्थे स्वप्नान्तिकशरीरोच्छ्वासादिकम्[11] ? तन्न किञ्चिदेतत् ।

(१) तदुच्छेदक । (२) 'कात्' इति व्यर्थमत्र । (३) निश्चितं प्रामाण्यम् । (४) स्वापादौ । (५) इति चेत्; । (६) उपादानोपादेयाभावात् । (७) उपादानोपादेयभावः । (८) इति चेत्; । (९) भवति । (१०) चेत्; । (११) जायते ।

अथ मतम्–विवक्षितजाग्रच्चित्तानुकारित्वदर्शनात् प्रबोधस्य तदेतदुपादानम् । तथाहि–रुष्टस्य सुप्तस्य मूर्च्छितस्य वा तदनुरूप एव प्रबोधो लक्ष्यते, पुनः शब्दादिग्रहणादिना इति; तन्न; नियमाभावात् । कदाचित् प्रसन्नस्य व्यामोहवतो वा [प्रबो]धस्य दर्शनात् । कदाचित् कथं[चित्] तदनुकारित्वम् अन्यत्रापि । तथाहि–गर्भे शुक्रशोणितसंपातानन्तरं कुतश्चिन् मृते पितरि कालान्तरादौ पुनरपत्यं जायमानं चेतसापि तदनुकारि प्रतीयते । अपि च, यदि दीर्घकाल- ५ व्यवहितमपि उपादानकारणम्; ज्ञानस्य आलम्बनकारणं तथाविधं[1] किन्न स्यात् ? भवतु को दोष इति चेत्; भ्रान्त्यभावः, तैमिरिके अन्यदेशादेः केशोण्डुकादेः प्रतिभासनात् । व्यवहारी नैवं मन्यते इति चेत्; व्यवहिता[त्] जाग्रच्चित्ता[त्] प्रबोधमप्यसौ[2] न मन्यत इति [५१९ क] समानम् । न हि सुप्तस्य व्यवहारी मृतव्यवहारं ना च चशति (रमाश्चयति) किन्तु विशिष्टाकारदर्शनात् चैतन्यमनुमिनोति । स्वयमनुपलक्षितं तत्तत्र[3][4][5] कथमस्तीति चेत् ? मानसमध्यक्षं तथाविधं[6] कथमस्ति ? १० यथा तत्[6] आगमे पठ्यते तथा स्वापादिचेतनापि । नचानयोरवस्थयोः विशेषः । सोऽक्ष्यं सोपगत (स्वोपगत)मनुपलक्षितम् 'अस्ति' इति वदति न परोपगतमिति स्वेच्छाचारी ।

ननु नीलमिदं पीतमिदमिति निर्णयात्मकं मानसं प्रत्यक्षं लक्षितमेवास्ते इत्यपरः; उक्तमत्र–इन्द्रियव्यापारदशायां तत्कल्पने इन्द्रियजमेव तत् इत्यस्यैव नामान्तरकरणम् । न च अन्या रूपाद्य-वभासिनी दशाऽस्ति, यत्कल्पना स्यात् । 'सत्यस्वप्रदशा' इति चेत्; तत्र तर्हि पूर्वं पश्चात् १५ चाक्षु[ष]व्यापाराप्रतीतेः *"इन्द्रियज्ञानेन जनितम्" [न्यायबि० १।६] इति[7] व्याहन्यते ।

कथमेवं योगिप्रत्यक्षं तत्प्रत्यक्षं न स्यात् ? अथ अभ्यासदशायां मानसं तदिष्यते; तत्रेदं चिन्त्यते–प्राप्यभाविविषयम्, वर्त्तमानविषयं वा ? प्रथमपक्षे तदेव तत्र प्रमाणं नेन्द्रियजमिति अप्रामाण्यमस्य विकल्पवत् । इतरत्र मानसस्याप्रामाण्यम् अप्रवर्त्तकत्वात् । अपि[च,] वर्तमाने अक्षाणां व्यापारः तत्र मानसम्[8], भाविनि न[10] तद्व्यापारः तत्र इन्द्रियजम् इति व्याघातो महानिति । २०

स्यान्मतम्–इन्द्रियव्यापारावस्थायां प्रत्यक्षद्वयं मानसम् इन्द्रियजं च सदा प्रवर्त्तते इति; तर्हि नैयायिकस्येव सौगतस्यापि अस्य सर्वदा द्विःप्रतिभासं[भवेत्] रूपादीनाम् । अथ मनुषे यदुत अनिर्णयात्मना मानसेसि(सेन) [५१९ख] तिरस्कारादिन्द्रियज्ञानमविकल्पमनुपल-क्षितमास्ते तथा स्वापादिसंवेदनं तथाविधं मिद्धादितिरस्कृतमस्तु इति साधूक्तम्–'स्वापादिबोधः' इति । स आदिर्यस्य संशयविपर्यासकरस्य स तथोक्तः तस्यातिचारणात् विज्ञानाभिमतात्म[ना]पि २५ प्रसज्येत इति ।

भवतु तस्यापि प्रामाण्यमिति चेत्; अत्राह–**तद्** इत्यादि । **तस्य** [अ]किञ्चित्करादेः **अविसंवादस्य नियमेन** अवश्यंभावेन **असंभवात्** । अथवा **तस्मिन् अविसंवादकस्य(दस्य)यो नियमः तस्याऽसंभवात्** । स्यात्कारमन्तरेण अनभिमतात्मनाप(पि)प्रसज्येत इति । भवतु

(१) दीर्घकालव्यवहितम् । (२) व्यवहारी । (३) चैतन्यम् । (४) सुप्ते । (५) स्वयमनुपलक्षितम् । (६) मानसमध्यक्षम् । (७) "स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् ।"–न्यायबि० (८) मानसप्रत्यक्षम् । (९) स्वीक्रियते । (१०) चाक्षुषव्यापारः ।

तदसंभवः, तथापि तस्य प्रामाण्यम् अज्ञातार्थप्रकाशनादिति चेत् ; अत्राह–**अनधिगत** इत्यादि। ततः सूक्तम् ज्ञानं(नमेत्र) **प्रमाण**मिति ।

'**नयो[ज्ञातु]र्मतं मतः**' इति न व्याचष्टे सुगमत्वात् । केवलं तत्र चोद्यं परिहर्तुं कुर्वन्नाह–**नयस्य** इत्यादि । **नयस्य प्रमाणात्मकत्वे पृथक् वचन[मन]र्थकम्** , 'ज्ञानं प्रमाणम्'
५ इत्येतावदेव वक्तव्यम् तथा च परैकवाक्यता । तस्य तदात्मकत्वं नास्ति, ततः पृथग्वचनमिति चेत् ; अत्राह–**अन्यथा** प्रमाणात्मकत्वाभावप्रकारेण **कथं तेन** नयेनाधिगमो **नाम** स्वार्थव्यवसायो नाम यत्नेन अधिगमा[त् *"प्रमा]णनयैरधिगमः" [तत्त्वार्थसू० १।६] **प्रतिपाद्येत** त त्त्वा र्थ सू त्र कृ ता । नहि अप्रमाणेन कस्यचिदधिगमः, प्रमाणपरीक्षानर्थक्यप्राप्तेः इति भावः । तत्रोत्तरम्–**न** इत्यादि । यदुक्तं परेण **तन्न** ; कुतः ? इत्याह–**ततो** नयात् **तत्त्वस्य**
१० जीवादेः **अधिगमोपपत्तेः** । एतदपि कुतः ? इत्याह–**तत्परीक्षालक्षणत्वात्** [५२०क] तस्य जीवादेः परीक्षा विचारः सैव लक्षणं स्वरूपं यस्य तस्य भावात् तत्त्वात् **नयस्य** इति, ततः तदधिगमोपपत्तिः । कुत इति चेत् ? अत्राह–**द्रव्य** इत्यादि । **द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोः** नययोः **द्वयेन** द्वयस्य वा **विचारे** सति **परमार्थप्रतिपत्तेः** परमार्थस्य परमार्थो वा प्रतिपत्तिः तस्याः **अविरोधात्** । सुविचारितं तत्त्वं सुस्थिततरं भवतीति परीक्षकन्यायः ।
१५ ननु यदि तेतः तदधिगतिः ; तर्हि प्रमाण[त्वापत्ति]स्तस्य तल्लक्षणत्वात् । तथा च अन्त्यचोद्यपरिहारो नान्यस्य(नात्रस्य) इति चेत् ; अत्राह–**स्यात् प्रमाणात्मकत्वेऽपि** इत्यादि ।

[स्यात्प्रमाणात्मकत्वेऽपि प्रमाणप्रभवो नयः ।
विचारो निर्णयोपायः परीक्षेत्यवगम्यताम् ॥३॥

२० **स्वयं साक्षात्कृतेऽपि विवाददर्शनात् पुनः ऊहापोहाभिप्रायमन्तरेण न तत्र तत्त्वाभिप्रायाभिनिवेशः यतः सर्वत्र तदनुष्ठानम् । प्रत्यक्षोपलम्भस्य परीक्षेतरयोरविशेषात्, तावताऽर्थसिद्धौ न कस्यचित्तत्त्वज्ञानं स्यात् । कुतः पुनस्तत्त्वज्ञानमन्यद्वेति चेत् ; सुनयदुर्णयाभ्याम् । समानेऽपि साक्षात्करणे अभिप्रायभेदात् तत्त्वेतराभिनिवेशोपपत्तेः तन्निष्ठत्वात् परीक्षायाः]**

२५ **स्यात्** भवेत् प्रमाणभावः **प्रमाणात्** अनेकान्तग्रहणरूपात् **प्रभव** उत्पादो यस्य स तथोक्तः ततो भिन्न इत्यर्थः, हेतुफलयोः कथंचिद्भेदात् । कोऽसौ ? इत्याह–**नय इति** । प्रमाणगृहीतैकदेशाव्य(शाध्य)वसायाभिप्रायः। कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–**प्रमाणात्मकत्वेऽपि** । नयस्य तदात्मकत्वं कुतः ? इत्याह–**निर्णयोपायो नयो** गतः(यतः) । सोऽपि कुतः ? इत्याह–**विवारो(विचारो)**यतः । ननु प्रत्यक्षादेरपि सविकल्पकवादिनो विचारो भवति,
३० ततोऽस्य को विशेष इति चेत् ? अत्राह–**परीक्षति(परीक्षा** इति) नित्यः क्षणिको वा भावः अनेन प्रकारेणेति या **परीक्षा** सा नये(नय) **इत्येवमवगम्यताम्** ।

(१) नयस्य । (२) प्रमाणात्मकत्वम् । (३) इति । (४) नयात् । (५) अत्र प्रतिः घृष्टा ।

स्यान्मतम्–प्रमाणपरिच्छिन्नार्थैकदेशो नयः, तस्य च प्रमाणत एव सिद्धेः, नहि समुदायाः तदेकदेशसिद्धिमन्तरेण सिध्यन्ति । वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति, ततः किं तत्र नयेन इति ? तत्राह–**स्वयम्** इत्यादि । **स्वयं** [५२०ख] प्रतिपन्ना **साक्षात्कृतेऽपि** उपलक्षण [मेतत्, तेनाऽ]भिहितेऽपि अनुमितेऽपि **विवाददर्शनाद्** वस्तुनि **पुनः** पश्चात् **ऊहापोहाभिप्रायमन्तरेण नु(न)[तत्र त]त्त्वाभिप्राय[याभि]निवेशः** तत्त्वरुचिर्यतः **तदनुष्ठानं सर्वत्र** ५ बहिरन्तश्च इति । तदभिप्रायमन्तरेणा[पि तत्त्वेऽ]तिप्रसङ्गात्, अभिमतवदनभिमतेऽपि तदभिनिवेशप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षमेव अतिप्रसङ्गं निवारयतीति चेत्; अत्राह–**प्रत्यक्षोपलम्भस्य** प्रत्यक्षेण दर्शनस्य **परीक्षेतरयोरविशेषात्** कारणात् **ताव[ता]** तदुपलम्भमात्रेत्यै(त्रेण) **वार्थसिद्धौ अङ्गीक्रियमाणायां तत्त्वज्ञानं न कस्यचित्** परीक्षकस्य इतरस्य वा **स्यात्** इतरस्मात् परीक्षको न भिद्येतेति परीक्षाऽनर्थिका भवेत् इति यावत् । परः पृच्छति–**कुतः** कारणात् **पुनः तत्त्वज्ञानमन्यद्वाऽतत्त्वज्ञानं** वा इत्येवं **चेत्** ? अत्रोत्तरमाह–**सुनयदुर्णयाभ्याम्** इति । **सुनयेन** तत्त्वज्ञानं **दुर्णयेन** अतत्त्वज्ञानम् । सौगतादिवदेतदिति चेत्; अत्राह–**समानेऽपि** जैनैकान्तवादिनोः **साक्षात्करणे अभिप्रायभेदात्** अभिप्रायस्य ज्ञावभिमत्त्वेः(ज्ञात्रभिरुचेः)अर्थानुसारित्वेतरत्वकृतविशेषात् **तत्त्वेतराभिनिवेशोपपत्तेः** । तदपि कुतः ? इत्याह–**तन्निष्ठत्वात्** नयस्वरूपत्वात् **परीक्षायाः** । १०, १५

तद्भेदं सुनयदुर्णयत्वं च दर्शयन्नाह–**तत्र** इत्यादि ।

[तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थगोचरौ ।
मिथ्यात्वं निरपेक्षत्वे सम्यक्त्वं तद्विपर्यये ॥४॥

परीक्षा भेदाभेदप्रतिष्ठा द्रव्यपर्यायविषयद्वैविध्यात् नयद्वैविध्यमाह । तत्र अन्योऽन्याविनाभावप्रतिपत्तिः प्रमाणम्[४] । इतरथा न प्रमाणपरीक्षा । सत्येव असत्त्वप्रतिपत्तेर्दुर्णयता ।] २०

तत्र नयसामान्यलक्षणे, **मूलनयौ** नैगमादिप्रकृतिभूतनयौ **द्रव्यपर्यायार्थौ** द्रव्यं पर्यायश्च अर्थौ **गोचरौ** ययोः तौ तथोक्तौ–द्रव्यार्थोद्रव्यार्थिकः [५२१क] पर्यायार्थि(यार्थः) पर्यायार्थिक इत्यर्थः । **मिथ्यात्वं नयोः निरपेक्षत्वे** परस्परापेक्षाभावो(वे) **सम्यक्त्वं तद्विपर्यये** निरपेक्षत्वविपये सापेक्षत्वविपये(निरपेक्षत्वविपर्यये) सापेक्षत्व इत्यर्थः । तथा चोक्तम्– २५

(१) प्रवर्तते । (२) अत्र प्रतिस्त्रुटिता । (३) तुलना–"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ।" –आप्तमी० इलो० १०८ । "तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा । अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥"–सन्मति० १।२१ (४) तुलना–"धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च । प्रमाणात् तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः नयात् तत्प्रतिपत्तेः दुर्णयात्तदन्यनिराकृतेश्च ।"–अष्टश०, अष्टस० पृ० २७९ । लघी० इलो० ३० । "सदेव सत्स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।"–अन्ययोगव्य० इलो० ८ ।

*"य एव नित्यक्षणिकादयो नयाः मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥"
[बृहत्स्व० श्लो० ६१]

कारिकां विवृण्वन्नाह–**परीक्षा** इत्यादि । **परीक्ष(क्षा)**सामान्यनयस्वरूपम् इत्यर्थः । ५ केषामिति किं विषया सा ? इत्याह–**भेदाभेदप्रतिष्ठा [भेदा]भेदयोः** विशेषसामान्ययोः **प्रतिष्ठा** स्थितिर्यस्याः, द्रव्यपर्यायविषयद्वैविध्यात् नयद्वैविध्यमाह । **'सम्यक्त्वम्'** इत्यादि व्याचष्टे । **तत्र** तस्मिन् नयस्वरूपतद्भेदे सति **अन्योऽन्यं** परस्परं द्रव्ययर्यौ(पर्याययो) **रविनाभावस्य प्रतिपत्तिर्यस्यां** परीक्षायां सा **अन्योऽन्या[विना]भावप्रतिपत्तिः** । सा किम् ? इत्याह–**प्रमाणं** सुनय(सुनय) इति यावत । **मिथ्यात्व** मित्यादि यदि सति तेरथा (**त्वमि-** १० त्यादि व्याचष्टे–**इतरथा** अन्योऽन्याविनाभाव(नाभावाभाव)प्रतिपत्तिप्रकारेण **इतरथा न प्रमाणपरीक्षा** इति । कुतः ? इत्याह–"सत्येव इत्याह"–सत्येव[1] इत्यादि । **सत्येव** विद्यमान एव पर्यायार्थिकस्य[द्रव्ये]द्रव्यार्थिकस्य पर्याये **असत्त्वप्रतिपत्तेः** न प्रमाणम् । **अत एव** अस्मा-देव कारणात **दुर्णयता** । सत्येव असत्त्वप्रतिपत्तिं दर्शयन्नाह–**द्रव्यार्थिकस्य** इत्यादि ।

[द्रव्यार्थिकस्य पर्यायाः सन्त्येवात्राविवक्षिताः ।
१५ **पर्यायार्थिकस्यापि सद् द्रव्यं परमार्थतः ॥५॥]**

[द्रव्यार्थिकस्य द्रव्यवि]षयप्रधानाभिप्रायस्य **पर्यायाः** स्थासशिविकादिभेदाः **सत्येव (सन्त्येव) अत्र** विद्यन्त **एव**, तदभावे[2] द्रव्यस्याप्यभावः इत्युक्तम् । ततो दुर्णयता । नय-प्रमाणयोरविशेषः स्यादिति चेत ; अत्राह–**अविवक्षिता** गुणीभूतास्ते[५२१ख] तस्य सन्ति, प्रमाणे तूभयं प्रधानमिति विभागः । तत्किम् ? इत्याह–**सद्** विद्यमानं **परमार्थतः ।** २० कस्य ? इत्याह–**पर्यायार्थिकस्य** पर्या[य]प्रधानाभिप्रायस्य । **अपिः** अभिप्रायसमुच्चये । अत्राप्यविवक्षितमिति द्रष्टव्यम् । तदाभा[तदभावे पर्यायस्यापि]विलोपः ।

कारिकायाः सुगमत्वाद् व्याख्यानं न कृतम् ।

यदि द्रव्यार्थिकस्य पर्यायाः सन्ति पर्यायार्थिकस्य द्रव्यम्[3], कथं सत्प्र(तत्प्र)तिक्षेप इति चेत् ? अत्राह–**संविदाम्** इत्यादि ।

२५ **[संविदामाकारभेदेषु विभ्रमप्रतिभासिषु ।**
विसंवादोपलब्धिर्वा प्रसिद्धवितथात्मसु ॥६॥

अविशेषेण गुणपर्यायेषु मिथ्यात्वप्रतिपत्त्या द्रव्यार्थावधारणं क्वचित् केषुचित् वा प्रत्यभिज्ञाविसंवादात् सर्वेण तद्विसंवादात् पर्यायावधारणं च दुर्णयः तत्त्वप्रतिक्षेपात् ।]

संविदां ज्ञानानां **विसंवादोपलब्धिः** । क ? इत्याह–**आकारभेदेषु** ग्राहक-३० संवेदनाकारविशेषेषु, **संविदा**मिति सम्बन्धः । नहि एकस्य अनेकं रूपं परमार्थसत् युक्तम्,

(१) 'सत्येव इत्याह' इति पुनर्लिखितमत्र व्यर्थम् । (२) पर्यायाभावे । (३) अस्ति ।

विरोधात्। एतत् शुद्धविज्ञानवादिमतापेक्षया उक्तम्। बाह्यार्थनयापेक्षया आह-**विभ्रम** इत्यादि। विभ्राम्यतीति **विभ्रमः** पा(का)चादिलक्षणोऽत(णोऽन्तः)**प्रतिभासो** येषां मन्त्राद्युपप्लुतोपलब्धमृच्छकलादीनां तेषु। **वा** इति समुच्चये। किंभूतेषु? **प्रसिद्ध-वितथात्मसु**। **प्रसिद्धः** परीक्षकेतरलोकविख्यातो **वितथोऽ**सत्यः **आत्मा** येषां तेषु इति। ५

तदुपलब्धिः किम्? इत्याह-**अविशेषेण** इत्यादि। **अविशेषेण** साकल्येन **मिथ्यात्वप्रतिपत्तिः**। क्व? इत्याह-**गुणपर्यायेषु**। तथाहि-अन्तः संवित्सुखादिभेदः बहिश्च घटपटादिभेदः मिथ्या भिन्नप्रतिभासवेद्यत्वात् ग्राह्यग्राकारद्विचन्द्रादिभेदवदिति। तया[कि]-म्? इत्याह-[तया]मिथ्यात्वप्रतिपत्त्या **द्रव्यार्थावधारणं** द्रव्यमेव अर्थः तस्य अवधारणम्-तदेव अस्तीति। १०

एवम्मन्यते-यथा[५२२ क] ग्राह्यग्राकारभ्रमेऽपि न स्वसंवेदनभ्रमः स्वप्नादिभ्रान्तावपि न जाग्रद्भ्रान्तिः तथा सकलभेदविभ्रमेऽपि न सत्तामात्रभ्रान्तिः। ततो यदुक्तं प्र ज्ञा क रे ण-***"प्रतिभासनेऽपि सुखादिनीलादेः वितथत्वे द्रव्ये कः समाश्वासः?"** इति; तन्निरस्तम्; **क्वचिद्** बहिरन्तर्वा **केषुचित्** वा अर्थान्तरेषु लूनपुनर्जातनखादिषु **प्रत्यभिज्ञाविसंवादात् सर्वेण** देशान्तरादिप्रकारेण **तद्विसंवादात् पर्यायावधारणं च**। किम्? इत्याह-**दुर्णयः**। १५ पूर्वो द्रव्यार्थिकनयाभासः परः पर्यायार्थिकनयाभास इति भावः। कुतः? इत्याह-**तत्त्वस्य** जीवादेः **प्रतिक्षेपान्निरासात्**।

द्रव्यार्थावधारणं दर्शयन्नाह-[**शुद्धे**त्यादि]।

[शुद्धद्रव्यार्थिकस्यास्ति सन्मात्रं परमार्थतः।
नाकारभेदो न रूपादिः न क्रमो न सुखादयः॥७॥ २०

न खलु विज्ञानं सद्भावं व्यभिचरति विशेषेषु व्यभिचारात्। सन्मात्रस्य तद्विशेषाविनाभावात्। न चैवं भेदाव्यभिचारि ज्ञानमस्ति इति शुद्धद्रव्यप्ररूपणात्। पर्याय-[निराकरणात् दुर्णयः] यथा *"आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन" [बृहदा० ४।३।१४] इति तदाश्रयं दर्शनान्तरम्। शुद्धपर्यायनयः पुनः यदि स्वभावभेदेऽपि भावैकत्वं न क्वचित् कथञ्चिन्नानात्वं सर्वथा अद्वैतप्रसङ्गात् इति सर्वथा २५ द्रव्यप्रतिक्षेपे पर्याय प्ररूपणक्रमोऽयं दुर्णयः। सर्वथा अनयोरतादात्म्यनैगममाश्रित्य दर्शनान्तरम् अविवक्षिततादात्म्यलक्षत्वात् नैगमस्य।]

(१) तुलना-"अन्योऽन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात्। नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते॥" -लघी० श्लो० ३९। "तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः। यद्वा नैकं गमो योऽत्र स सतां नैगमो मतः॥ धर्मयोः धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः।"-त० श्लो० पृ० २६९। नयवि० श्लो० ३३-३७। सन्मति० टी० पृ० ३१०। नयचक्र० गा० ३३। तत्त्वार्थसा० पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।७। स्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २१।

शुद्धं पर्यायमलकलङ्कविकलं **द्रव्यमेव अर्थो**ऽस्यास्तीति **शुद्धद्रव्यार्थिकः तस्यास्ति ।** किम ? इत्याह–**सन्मात्रं परमार्थतो** न संवृत्या,**नाकारभेदो**ऽस्ति न ग्राह्यादिविशेषः स्थूलादिविशेषो वा **न रूपादिः न क्रमो** हेतुफलभावो **न सुखादयः परमार्थतः,** अपि तु संवृत्या इति ।

५ कारिकां विवृण्वन्नाह–**न खलु विज्ञानं सद्भावं सत्त्वं व्यभिचरति।** कुतः ? इत्याह–**विशेषेषु** इत्यादि । सत्त्वव्यभिचारे दूषणमाह–**सन्मात्र** इत्यादि । तर्हि विज्ञानं विशेषमपि न व्यभिचरति इति चेत्; अत्राह–**न चैवम्** इत्यादि । एवं **सन्मात्र[स्य] तद्विशेषावि[नाभावात्] भेदाव्यभिचारि** ना (न)**ज्ञानमस्ति** तत्र व्यभिचारप्रतिपादनात इत्येवं **शुद्धद्रव्यप्ररूपणात् ।** कुतः 'दुर्णयः' इति घटना । कुतः ? इत्याह–**पर्याय** इत्यादि । निदर्शनमाह–[५२२ ख]

१० **यथेत्यागम** (**यथे**त्यादि । **आराम**)**माटोपं तस्य** सत्तामात्रद्रव्यस्य **पश्यन्ति** जनाः **न तं** सद्भावं **कश्चन पश्यतीति** **तदाश्रयं** [स]न्मात्राश्रय(यं)**दर्शनान्तरम् ।**

पर्यायार्थिकदुर्णयाभिप्रायं दर्शयन्नाह–**शुद्धपर्यायनयः पुनः** इत्यादि । **स्वभावभेदे**ऽपि स्वरूपनानात्वेऽपि **यदि भावैकत्वं न क्वचित्** पटादौ **कथंचिद्** देशादिभेदप्रकारेण **नानात्वम्,** कुतः ? इत्याह–**सर्वथा** सर्वेण घटादिप्रकारेण **अद्वैतप्रसङ्गात् ।** लब्धं फलं दर्शयन्नाह–**सर्वथा**

१५ इत्यादि । **इति** एवं **पर्यायप्ररूपणक्रमोऽयं दुर्णयः ।** कस्मिन् सति ? इत्याह–**द्रव्यप्रतिक्षेपे सति ।**

नैगमाभासं दर्शयन्नाह–**सर्वथा** इत्यादि । सर्वेण देशादिप्रकारेण **अनयोः** द्रव्यपर्याययोः **अतादात्म्यात्** नैगमः तमाश्रित्य **दर्शनान्तरं** वैशेषिकमतम् । कुतः ? इत्याह– [**अ**]**विवक्षित** इत्यादि । द्रव्यपर्याययोरविवक्षितं सदपि नार्पितं यत् **तादात्म्यं** तल्लक्षणत्वात् **नैगमनयस्य ।**

२० तद्दर्शनान्तरस्वरूपं दर्शयन्नाह–**सामान्य** इत्यादि ।

[सामान्यसमवायानामात्मादीनां च नित्यता ।
तत एव तत्संख्यादेर्नित्यत्वं शेषमन्यथा ॥८॥

द्रव्यार्थिकनयमाश्रित्य द्रव्यस्य तत्संख्यादेः सामान्यसमवायानां च नित्यत्वं शेषाणामनित्यत्वं च केचिन्निगच्छन्ति कार्यद्रव्यकर्मगुणविशेषाणामनित्यत्वाभ्युपगमात्।

२५ **न तत् सामान्यं वस्त्वन्तरमेव युक्तम्, संविदां विषयसारूप्यमिव । न हि वस्त्वन्तरभेदा भावाः तद्वन्तः नाम स्युः । कथमुपकार्योपकारकभावमन्तरेण तद्वत्त्वमतिप्रसङ्गात् । अपरिणामिनस्तावद् वस्तुत्वमेव न संभाव्यम् । न तादृशस्य क्वचिद् वृत्तिः क्वचिदवृत्तिः वा । सदादिप्रत्ययकर्तृत्वमकर्तृत्वं च क्वचित् कदाचित् कथंचिन्न संभाव्यम् । इति दुर्णयः । सत्तावत् जात्यन्तराणां सर्वगतत्वे वृत्तिप्रत्ययसङ्करः । स्वविषयसर्वगतत्वे निष्क्रियस्य**

३० **प्राक् तत्रासतां अर्थोत्पित्सुदेशप्राप्तिर्न स्यात् ।]**

(१) सन्तीति सम्बन्धः । (२) भेदेषु । (३) आटोपो विस्तारः तम् । (४) "आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन ।"–बृहदा० ४।३।१४।

सामान्यानि च **समवायश्च तेषाम् आत्मादीनाम्** वा (च) **आदिशब्दात्** आत्मव्यतिरिक्तसकलमूलद्रव्यपरिग्रहः । किम् ? इत्याह–**नित्यता** सदकारणत्वात् इति मन्यते । [त]**त एव** नित्यद्रव्येषु वर्त्तमानस्य **संख्यादेः नित्यत्वं** संख्यादिनित्यत्वम् । अत्र आदिशब्देन परिणामादि (परिमाणादि) परिग्रहः । एतेन नित्यव्यापिद्रव्यवृत्तयोऽन्त्यविशेषा व्याख्याताः । **शेषं** कथिता**दन्यथा** अनित्यम् इति । ५

कारिकां व्याख्यातुमाह–**द्रव्यार्थिकनयम्** इत्यादि [५२३क] । नित्यत्वे भावानां द्रव्यार्थिकस्यैव व्यापारो न नैगमस्य अन्यथाभूतत्वात् अतो **द्रव्यार्थिकनयमाश्रित्य** इत्युच्यते । **द्रव्यस्य** आत्मादेः **तत्संख्यादेः सामान्यसमवायानां च नित्यत्वम् शेषाणाम् अनित्यत्वं च**, **'च'** इत्यवधारणे सामान्यादिषु **केचन** नैयायिकादयो **निगच्छन्ति** प्रतिपद्यन्ते । कुतः शेषाणा(णां) ने ह्य ह् (न ? इत्याह–)**कार्यद्रव्य** इत्यादि । **कार्यद्रव्यम्** प्रागसत् सत्तासम- १० वायिकारण(णं) समवायि या द्रव्यम्, **कर्म** उत्क्षेपणादि **गुणविशेषाः** कार्यद्रव्यगताः सर्वे रूपादयः नित्यद्रव्यगताः संख्यादिभ्योऽन्ये बुद्ध्यादिरक्तादयः **तेषाम् अनित्यत्वाभ्युपगमात्** । किं सामान्यम् ? इत्याह–**तत्र** इत्यादि । तेषु सामान्यादिषु मध्ये समानानां सदृशानां भावः **सामान्यम्** तद् विशेषेभ्यो भिन्नमेव इति यौगाः । तत्राह–**न तत्** सामान्यं **वस्त्वन्तरमेव** व्यक्तिभ्यो भिन्नमेव **युक्तं** 'कथञ्चिद्भिन्नं तु युक्तम्' इति **एव**कारेण दर्शयति एकत्र प्रमाणाभावाद् १५ अन्यत्र विपर्ययात् । कथं तत्तर्हि इति सौगतः; तत्राह–**संविदाम्** इत्यादि । **संविदां ज्ञानानामिव विषयसारूप्यं** यथा ज्ञानानां विषयेण सारूप्यं तथा सामान्यमिति विचारित[म]सकृत् । कुतो न तद् वस्त्वन्तरमेव इति चेत् ? अत्राह–**नहि** इत्यादि । [हि] यस्मात् **न वस्त्वन्तरेण भेदाः** परस्परविलक्षणा **भावाः** समाना इतरथा चन्द्रमसैकेन सर्वेऽपि उडुविशेषाः समाना इति [न] तेषु तारोपति (तारा इति) प्रत्ययः । २०

स्यान्मतम्–न तेषु विधुर्वर्तते, सामान्यं तु स्वपि (स्ववि)शेषवृत्ति, ततोऽयमदोष इति ; तत्राह–**तद्वन्तः** सामान्यवन्तो [५२३ख] **भेदा नाम स्युः** । यथा अव्यवन्नगरं (?) तद्वन्त एव इति चेत् ; अत्राह–**कथं च** इत्यादि । केन च प्रकारेण न केनचिद् **उपकार्योपकारकभाव-मन्तरेण** वस्त्वन्तरेण **तद्वत्त्वम् अतिप्रसङ्गात्** विन्ध्यस्य साध्येन (सह्येन) तद्वत्ता स्यादि[त्य]ति-प्रसङ्गः । २५

ननु भवन्मते–रूपतद्विज्ञानयोः उपकार्योपकारकभावमन्तरेणापि भवति तद्वत्ता 'रूपस्य ज्ञानम्' । अथ तत्र अयमेव तद्भावो[६] यो ग्राह्यग्राहकभावः ; जातिव्यक्त्योरपि प्रकाश्यप्रकाशक-भाव एव तद्भावोऽस्तु । न हि योग्यतात्र राजदण्डवारिता । जात्या वा व्यक्तीनामुपकारः–तत्र विशिष्टबुद्धिजननमिति चेत् ; अत्राह–**अपरिणामिनो** नित्यैकरूपस्य सामान्यादेः **तावद्वस्तु-त्वमेव सत्त्वमेव न संभाव्यं** प्रमाणाभावात् । नहि खण्डादिभ्यो भिन्नस्य नित्यस्य **निरंशस्य** ३०

(१) सत्त्वे सति कारणरहितत्वात् इति । (२) विशेषा अपि नित्या इति । (३) सर्वथा भेदे । (४) कथञ्चिद्भेदे । (५) तारागणेषु । (६) उपकार्योपकारकभावः । (७) इति चेत् ।

अमूर्त्तस्य सामान्यस्य प्रतीतिरस्ति यतः तस्य तौ व्यञ्जिकाः स्युः, सदृशात्मनां तासां स्वबुद्धौ प्रतिभासनात् । नापि सामान्यं तथाविधं तासु प्रत्ययविशेषमुपजनयदुपलब्ध(ब्धं) येन तावता दुपक (तावता तदुपकारक) मुच्यते, परिणामिनो भावस्य स्वयं चक्षुरादिप्रत्यये प्रथनात् ।

अथ मतं नो (नो) पकार्योपकारकभावाद् भेदानां तद्वत्त(त्त्व) मपि तु सामान्यस्य तत्र ५ समवायादिति; तत्राह–**तादृशस्य** इत्यादि । **तादृशस्य** असंभावितवस्तुत्वस्य **क्वचित्** शावलेयादौ **वृत्तिः** समवायः सम्बन्धः **क्वचित्** कर्कादाववृत्तिः **न** 'संभाव्या' इति सम्बन्धः । यदि हि तादृशं तदुपलब्धं भवेत् तदा तत् कचिद्वर्त्तते न वा इति [५२४ क] कल्पनमर्हति, नान्यथा वन्ध्यासुतवत् । अनेन तत्र तत्समवायसाधनं निरस्तम् । यदा हि तद्वर्त्तमानं तत्रोपलब्धं भवति तदा 'इह जातिर्वर्त्तते' इति प्रत्ययात् तद्युक्तं नवा । एवं कदाचित् पिण्डोत्पत्तिसमये वृत्तिः तद्विनाश-
१० समये अवृत्तिः न संभाव्या । न परिणाममन्तरेण सम्बन्धेतररूपद्वयम् एकस्य ।

ननु पिण्ड एव उत्पद्यते विनश्यति वा न सामान्यं समवायो वा, न वाऽन्यस्य उत्पत्त्यादेरन्य[त्र] तद्वत्; अतिप्रसङ्गात् । अतो यथा कर्तृत्वाकर्तृत्वभावेऽपि न तद्भेदः तथा वृत्त्यवृत्तिभावेऽपि इति चेत्; न सदेतत्; यतः पूर्वरूपापरित्यागे इदमिह वर्त्तते न वर्त्तते चेति ततः प्रत्ययायोगात्, सर्वदा वा तत्प्रत्ययप्रसवः, नित्यस्य अपेक्षायोगात् । कथंचित् (कथंचन)
१५ सर्वात्मना वृत्तिरवृत्तिर्न संभाव्या ।

नन्वेकस्य सदादिप्रत्ययकर्तृत्वाकर्तृत्ववत् वृत्त्यवृत्ती स्यातामिति चेत्; अत्राह–**सदादि** इत्यादि । **सदादि**र्यस्य द्रव्यगुणादेः तस्य **प्रत्ययः** तस्य **कर्तृत्वं [अकर्तृत्वं]** च **क्वचित् कदाचित् कथंचिन्न संभाव्यम्** इत्येवं **दुर्णयः** ।

किंच, सामान्यं सर्वगतम्, स्वव्यक्तिसर्वगतं वा भवेत् ? प्रथमपक्षे दूषणमाह–**सत्तावत्**
२० महासामान्यवत् **जात्यन्तराण्यं**(**राणां**) गोत्वादीनां **सर्वगतत्वे** अङ्गीक्रियमाणे **वृत्तिप्रत्ययसङ्करः** । यथा गोत्वस्य खण्डादौ वृत्तिः सयवायथादृदित्त्वादेरिति (समवायात् तथा दधित्वादेरिति) वृत्तिसंकरः, तत एव तत्र गोप्रत्ययवत् दध्यादि[प्र]त्ययोऽपि स्यादिति प्रत्ययसङ्करः । द्वितीयपक्षे **स्वविषय** इत्यादि । **स्वविषयसर्वगतत्वे** स्वगोचरे व्यक्तिव्यापित्वे क्रियावत्त्वमन्तरेण **निष्क्रियस्य** इत्यर्थः । **अर्थो** द्रव्यादिः [५२४ ख] **उपित्सुर्यस्मिन् देशे** स तथोक्तः, कामचारेण विशेषणविशेष्य-
२५ भावः इति उत्पित्सुपदस्य विशेष्यत्वं स चासौ देशश्च **तत्प्रप्तिः**(**तत्प्राप्तिः**) **प्रागुत्पत्तेः पूर्वं तत्र** देशेऽसतां जात्यन्तराणां **न स्यात्** । तदुक्तं स म न्त भ द्र स्वा मि भिः–

***"सामान्यं समवायश्च एकत्र समवायितः ।**
अन्तरेणाश्रयं न स्यात् नाशोत्पादिषु को विधिः ॥"

[आप्तमी० श्लो० ६५] इति ।

३० अतश्च न तद् वस्त्वन्तरमेव युक्तमिति दर्शयन्नाह–**सत्स्वभावोपलब्धौ** इत्यादि ।

---

(१) व्यक्तयः । (२) नित्यम् । (३) वक्तुं शक्येत । (४) अन्यो भावः तद्वान् भवितुमर्हति । (५) खण्डादौ ।

[सत्स्वभावोपलब्धौ किं सत्तया समवायिनाम् ?
असतां सत्ताभिसम्बन्धे नाभावः कस्यचित् क्वचित् ॥९॥

स्वतः सतो [न सत्तासमवायः] सामान्यसमवायवदिति । यदि पुनः [स्यात्] स्वपक्षघाती कथमनुन्मत्तः ? कश्च द्रव्यादीनां स्वतः परतो वा सद्भावे विशेषः यतः सत्तासम्बन्धेन अर्थो विशेष्येत । यदि पुनः तयोः नित्यत्वात् ; उत्सन्नेदानी- ५ मभाववार्ता । तन्नेयं परकीया वाचोयुक्तिः । सत्तावत् सामान्यान्तरेषु अयं समानश्चर्चः तत्र…परस्पर…]

सत्स्वभावः स्वरूपं येषां ते **सत्स्वभावाः** घटादयः, अनेन सत्तातद्वतोर्व्यतिरेकं प्रत्याचष्टे[1], **तेषामुपलब्धौ** दर्शने सति, अनेनापि *"खण्डादौ गौर्गौरिति ज्ञानं भिन्नविशेषणनिमित्तं स्वयम् अन्यथाभूते अन्यथा ज्ञानत्वात् पुरुषे दण्डीति ज्ञानवत्" इति १० हेतोः व्यभिचारं दर्शयति । 'सन्तो घटादयः' इति ज्ञानस्य भिन्नविशेषणमन्तरेणापि भावात् । तत्रापि भिन्नसत्ता दिष्यत (दिश्यत) इति चेन ; अत्राह–**किं न किंचित् सत्तया** भिन्नसत्तासम्बन्धेन इत्यर्थः । केषाम ? इत्याह–**समवायिनाम्** द्रव्यगुणकर्मणाम । ननु स्वतः सतां तत्सम्बन्धे[2] स्यादयं दोषो नाऽसतामिति चेत् ; अत्राह–**असतां च सत्तयाऽभिसम्बन्धे** अङ्गीक्रियमाणे **नाभावः कस्यचित्** शशविषाणादेः **क्वचिद्** देशादौ 'भवेत' इत्युपस्कारः । १५

कारिकां व्याख्यातुमाह–**स्वतः सत** इत्यादि । परप्रसिद्धं निदर्शनमत्र **सामान्यसमवायवदिति** । अन्त्यविशेषण ग्र (पग्र)हणं कुतो नेति चेत ? केषाम (तेषाम्)अत्यन्तपरोक्षत्वेन परै[3]रभ्युपगमात् । [५२५क] अनुमानाभासस्यापि तत्रा[4]संभवादनिदर्शनात[5] । अथ योगिनां व्यापकद्रव्येषु भेदबुद्धिर्यन्निमित्ता तेऽन्त्या विशेषाः ; न ; तेषु स्वयमेव तद्बुद्धिभावात , अन्यथा तत्रापि[6] तेषां[7] तद्बुद्धिरपरतत्पूर्विका[8] इत्यनवस्था । २०

ननु सामान्यादयो न स्वतः, नापि [प]रतः सत्तासामान्ये तदन्तराभावात[9] तत्कथं ते निदर्शनमिति चेन ? अत्राह–**यदि पुनः** इत्यादि । सुगममुत्तरमत्र **स्वपक्षघाती** वैशेषिकादिः **कथमनुन्मत्तः** उन्मत्त एव । सामान्यादेरभावप्रतिपादनेन सर्वाभावाभ्युपगमात ।

पुनरपि परस्य दुश्चेष्टितं चिन्तयन्नाह–**कश्च** इत्यादि । चेदि(च इति) दूषणसमुच्चये **कः** न कश्चिद्विशेषः । क ? **सद्भावे द्रव्यादीनां** सत्त्वे । कुतः ? इत्याह– **स्वतः परतो वा** २५ स्यात **यतो** विशेषात् **सत्तासम्बन्धेन अर्थो** द्रव्यादिः **विशिष्येत** । तथाहि–गुणदोषदर्शनाभ्यां कश्चित् पक्षपातेतरौ सतां युक्तौ, नान्यथा । न च स्वतः सद्भावे अर्थस्य दोषम् लेश (दोषलेश)-स्यापि दर्शनम् । तथाऽदर्शनमेव त[10]द्दर्शनमिति चेत् ; किं पुनः स्वतोऽसतां शशशृङ्गादीनां दर्शनमस्ति ? विरोधात् ।

(१) निराकरोति । (२) सत्तासम्बन्धे । (३) वैशेषिकैः । (४) अन्त्यविशेषेषु । (५) निदर्शनरूपेण अकथनात् । (६) विशेषेष्वपि । (७) योगिनाम् । (८) अपरविशेषपूर्विका । (९) सामान्यान्तराभावात् । (१०) दोषलेशदर्शनम् ।

स्यान्मतम्–अर्थस्य स्वतःसद्भावे अपरसामान्याभावः सत्तादिवत् स्यादिति ; न ; उक्तमत्र– चित्रत्वाद्भावानाम् । कस्यचित् स्वतः सतोऽपरजातिः न शब्दस्य तथाऽदर्शनात् गुणसंयोगवत् । ननु न सर्वस्य स्वतोऽसतो दर्शनमिष्यते किन्तु सत्तासम्बन्धित इति चेत् ; अत्राह– **यदि पुनः** इत्यादि । **तयोः** सत्तासमवाययोः **नित्यत्वात्** । उपलक्षणमेतत् व्यापित्वा[त्][1]
५ च **उत्पन्ना** नष्टा **इदानीमभाववार्त्ता** खरविषाणादीनामपि [५२५ख] सत्त्वापत्तेः, यत एवं **तन्नेयं परकीया वाचोयुक्तिरुपपद्यते** इत्युपसंहारः । एतदन्यत्रातिदिशन्नाह–**सत्तावत्** इत्यादि । सत्तायामिव **सामान्यान्तरेषु** द्रव्यत्वादिषु **अयम्** अनन्तरः **समानश्चर्चः** परीक्षा । तथाहि–जीवादीनां द्रव्यादिस्वभावोपलब्धौ किं द्रव्यत्वादिना भिन्नेन ? स्वयमद्रव्यादीनां द्रव्यत्वाद्यदि(त्वादि)सम्बन्धे नाद्रव्यादिः कश्चित् स्यात् । शेषमत्रापि समानम् ।
१० **तन्न** इत्याद्युपसंहारः । कुतः ? इत्याह–**परस्पर** इत्यादि ।

सांप्रतं सांख्य नैगमाभासं दर्शयन्नाह–**द्रव्यं शुद्धम्** इत्यादि ।

[द्रव्यं शुद्धमशुद्धं च संश्रित्यान्योऽस्ति नैगमः ।
चित्प्रधानप्रपञ्चेन यथा लक्ष्येत दुर्णयः ॥१०॥

चिच्छक्तेरात्मनोऽदर्शितविषयवतो नानात्मैकत्वं च समाश्रित्य प्रधानं कार्यकारण-
१५ **भावमासाद्य महदादिक्रमेण विवर्तमानमात्मानं तदर्थं समर्पयति इति नैगमो दुर्णयः, प्रधानपुरुषयोः परिणामस्वभावव्यवस्थापनात् । तदेकपुरुषमनेकपुरुषं च अनीश्वरेतरभेदात् भिद्यते । प्रधानस्य पुरुषार्थप्रवृत्तिसंभवेन अनीश्वरभेदः तत्प्रवृत्तेरसंभवेन सेश्वरभेदः ; अपरिणामिनश्चैतन्यस्य वस्तुत्वं प्रत्युक्तम् सामान्यादिना । कादाचित्कम् कुतः··· । हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तज्ञानवृत्तेः प्रकृतेरपरां चैतन्यवृत्तिं कः प्रेक्षावान्**
२० **प्रतिजानीते ? अनुपयोगात् । प्रकृतदर्शितविषयवतः पुरुषस्य अविकारित्वविशेषतो दुरन्वयम् । पुरुषस्य भोक्तृस्वभावनित्यात्वे प्रकृतेः भोग्यात्मनो नित्यत्वे सति तत्प्रवृत्तिनिवृत्ती इति दुरन्वयम् । प्रकृतेः परिणामे वा चिच्छक्तेरपि विवर्तः तद्दर्शितविषयत्वात् । अचेतनभेदानां सुखदुःखमोहात्मकप्रधानमित्यभिधानात्मा जातिः प्रकृतिरेव, न पुनः सर्वपुरुषाणां संवेदनजातिः सामान्यमिति दुरन्वयमेतत् । तन्न···]**
२५ **द्रव्यं** पुरुषरूपम् , किंभूतम् ? **शुद्धम्** सुखादिभेदरहितम् **अशुद्धं** च महदादिपर्याय-परिकरितं द्रव्यं प्रधानलक्षणं **संश्रित्य अन्यो** नैयायिको (क) नैगमात् भिन्नोऽस्ति **नैगमः चित्**पुरुषः । **प्रधानं**[3] मूलप्रकृतिः तयोः **प्रपञ्चेन** । कथमस्ति इह ? **यथा** येन प्रमाणानुपपन्नत्वप्रकारेण **लक्ष्येत** निश्चीयेत **दुर्णयः** तथास्ति ।

कारिकार्थं कथयन्नाह–**चिच्छक्तिः(चिच्छक्तेः)** इत्यादि । **प्रधानं** कर्तृ **समर्पयति** ।
३० कस्य ? इत्याह–**आत्मनः** पुरुषस्य । किंभूतस्य ? इत्याह–**चिच्छक्तेः** चित् चेतना शक्तिः

(१) इत्यपि गृह्यते । (२) प्रकृतिः प्रधानं बहुधानकम् इत्यादिना व्यपदिश्यमानमित्यर्थः । (३) आद्यकारणम् ।

स्वभावो यस्य तस्य **चिच्छक्तेः** *"चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" [योगभा० १।९] इति वचनात्। किं कृत्वा ? इत्याह–**समाश्रित्य** अवलम्ब्य। किम् ? इत्याह–**नानात्वम्** * "पुरुषबहुत्वं सिद्धम्" [सांख्यका० १८] इत्यादिवचनात् त्रिदण्डिमतेन (म्)। **एकत्वं च** 'आत्मनः' इत्युभयत्र सम्बध्यते। एकदण्डिदर्शनमिदम्–

*"एकमेकं हि (एक एव हि)भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। ५
एक वा(धा)नेक वा(धा)चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥"

[ब्र० बि० १२]

इति वचनात्। पुनरपि किंभूतस्य [५०६क] तस्य ? इत्याह–**अदर्शित** इत्यादि। इन्द्रियवृत्तिदर्शितविषयवतः साक्षाद्विषयादर्शित(र्शिन) इत्यर्थः। किं समर्पयति ? इत्याह–**आत्मानं** स्वस्वरूपम्। किं कृत्वा ? इत्याह–**आसाद्य** लब्ध्वा। किम् ? **कार्यकारणभावम्**, अनेन हेतुफलैक्यमाह। तदेव दर्शयन्नाह–**विवर्त्तमान**मिति। केन **क्रमेण** ? इत्याह–**महानि**त्यादि। १० *"**प्रकृतेर्महान्**" [सांख्यका० २२] इत्यादि। किमर्थम् ? इत्याह–**तदर्थम्** आत्मोपभोगार्थम् इत्येवं **दुर्णयः**। किन्नाम ? इत्याह–**नैगमः** इति। कुतः ? इत्याह–**प्रधानपुरुषयोः** इत्यादि। प्रधानस्य [पुरुषस्य च] **परिणामस्वभावस्य व्यवस्थापनात्**। पुनरपि किंभूतम् प्रधानम् ? इत्याह–**तदि**त्यादि। **तत्** प्रधानम् **एकपुरुषम्** एकपुरुषभोग्यम् **अनेकपुरुषम्** अनेकपुरुषभोग्यम् १५ इत्यर्थः। **च** इति समुच्चये। पुनरपि प्रधानभेदं कथयन्नाह–**अनीश्वरेतरभेदाद् भिद्यते** इति '**तत्**' इत्यनुवर्त्तते। **तत्** प्रधानं **भिद्यते**। कुतः ? **अनीश्वरभेदात्** न विद्यते ईश्वरः प्रवर्त्तको यस्य *"**वत्सविवृद्धिनिमित्तं** ते **चेतनं यथा क्षीरम्**" इत्यादि वचनात्, तस्यविशेषात्। इतरभेदात् शश्वद्विशेषात् *"**अज्ञो जन्तुरनीशोऽयम्**" [महा० वनपर्व ३०।२८] इत्याद्यभिधानात्। अज्ञोऽचेतनो जन्तुः प्रकृतिरेव इह उच्यते। कुतः सः भेदः ? इत्याह–**प्रधानस्य** इत्यादि। **प्रधा**- २० **नस्य** विचेतनस्य **पुरुषार्थिप्रवृत्तेः संभवेन** 'स्वतः' इत्यध्याहारो[ऽनी]**श्वरभेदः तत्प्रवृत्तेरसंभवेन सेश्वरभेदः**। कुतः स 'दुर्णयः' इत्यध्याहारः ? [**अ**]**परिणामिन** इत्यादि। परिणामविकलस्य **चैतन्यस्य** पुरुषस्य **वस्तुत्वं प्रत्युक्तम्** अपाकृतम्। केन ? इत्याह–**सामान्यादिना** जात्यादिदूषणेन। न केवलमेतदेव प्रत्युक्तम् [५२६ख] अपि तु परमपि इत्याह–**कादाचित्कम्** इति हेतोः। न हि अपरिणामिन एकदा विषयानुभवनम्, अन्यदा तद्विपर्ययो युक्त इति विचारितम्। २५ ततः किं जातम् ? इत्याह–**कुतः** इत्यादि। स्पष्टम्।

अधुना चैतन्यस्य सतोऽपि वैफल्यं दर्शयन्नाह–**हर्ष** इत्यादि। **प्रकृतेः** सकाशाद**पराम्** अन्यां **चैतन्यवृत्तिं** विषयानुभवलक्षणां **कः प्रेक्षावान्** प्र(प्रा)माणिकः **प्रतिजानीते**। किंभूतायाः प्रकृतेः ? इत्याह–**हर्षविषादाद्यनेकाकारो विवर्त्तः** परिणामो यस्य तत्तथोक्तम् तच **तज्ज्ञानं**

(१) "एक एव हि भूतात्मा···एकधा बहुधा चैव···"–त्रि० ता० ५।१२। (२) 'ततोऽहङ्कारः तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥' इति शेषः। (३) "वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥"–सांख्यका० ५७। (४) 'आत्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा।' इति शेषः। (५)विषयानुभवरहितत्वम्।

च तदैव **वृत्तिः** वर्त्तनं यस्याः तस्या इति । कुतो न प्रतिजानीते ? इत्याह–**अनुपयोगात्** चैतन्यशक्तेः क्वचिद् व्यापाराभावात, तत्प्रयोजनस्य प्रकृत्या करणात् । **'विशेषतः'** इत्यादिना पुनरपि तत्र दोषं योजयन्नाह–विशेषेण **विशेषतः** । अनेन पूर्वदोषादस्य अतिशयमाह–**प्रकृत्या दर्शितो** दर्शनगोचरतां नीतो यो **विषयः तद्वतः** तदनुभवतः **पुरुषस्य अविकारित्वं दुरन्वयम्** अप्रमाणम् , एवं मन्यते–सरसि अपरापरतारानिकुरुम्बस्येव पुंसि प्रकृतिदर्शिताऽपरापरविषयं(य)-प्रतिभासनमत्र तस्याविकारित्वमिति युक्तं यदि तत्र प्रमाणं प्रवर्त्तेत, वचनमात्रकात्तदसिद्धि-(द्धे)रिति ।

परमपि तत्र दुरन्वयं कथयन्नाह–**तो कृतस्व(भोक्तृस्व)भावनित्यत्वे दर्शनरूपनित्यत्वे पुरुषस्य प्रकृतेर्भोग्यात्मनो** दृश्यभावस्य **नित्यत्वे** सति **तस्याः प्रवृत्तिः** संसारदशायां **निवृत्ति[:]** निर्वाणे इति **दुरन्वयमेतत्** , [५२७क] सर्वदा दर्शनमदर्शनं वा स्यादिति भावः । दूषणान्तरमाह–**प्रकृतेः** इत्यादि । **प्रकृतेः परिणामे वा** भोग्यस्वभावपरिहारेण अभोग्य-स्वभावविकारे वा **चिच्छक्तेरपि** पुरुषस्यापि **विवर्त्तः** भोक्तृस्वभावपरिहारेण अभोक्तृस्वभाव-परिणामः । कुतः ? इत्याह–**तद्** इत्यादि । **तया** प्रकृत्या **दर्शितो विषयः** स यस्यास्ति तस्य **भावात्** तत्त्वात । एतदुक्तं भवति–यथा यदा पुरुषेण युज्येत प्रकृति[:] तदैव तस्या भोग्यता नान्यदा, तथा यदा प्रकृत्या पुंसो विषयः प्रदर्श्यते तदैव तस्य भोक्तृता, विशेषाभावादिति ।

एवं पुरुषं निराकृत्य अधुना प्रकृतिं निराकुर्वन्नाह–सुख इत्यादि । **जातिः प्रकृतिरेव,** किंभूता ? **सुखदुःखमोहात्मकप्रधानम् इत्यभिधानात्मा** । केषाम् ? इत्याह–**अचेतनभेदानाम न पुनः संवेदनजातिः सर्वपुरुषाणां सामान्यमिति दुरन्वयमेतत्** । एतेन प्रधानसाधनानां भेदानां परिमाणादिहेतूनां[3] व्यभिचारमाह । **'तत्र'** इत्यादि उपसंहारः ।

परमपि नैगमाभासं दर्शयन्नाह–**तथा** इत्यादि ।

[तथा,

सत्ता द्रव्यत्वगोत्वादिसामान्यव्यपदेशभाक् ।
समवायिविशेषैः स्यादेकसामान्यवादिनाम् ॥११॥

विना···व्यापित्वे···भावस्यैव सामान्यविशेषभावोपपत्तेः समवायिविशेषात् ; सत्तासमवायिनोर्भेदैकान्ते अयमपि परः नैगमो दुर्णयः ।

तमेव दर्शयन्नाह–**सत्ता** इत्यादि । **सत्ता स्याद्** भवेत् । किंभूता ? **द्रव्यत्वे(त्व)-गोत्वादिसामान्यस्यपदेस(न्यव्यपदेश)भागिति** । कैः ? इत्याह–**समवायि-विशेषैः** । सत्तायाः समवायो येषामस्ति द्रव्यादिखण्डादीनां ते समवायिनः, तेषां ते वा विशेषाः तैरिति । तदुक्तम्–

(१) प्रकृतेः । (२) पुरुषस्य । (३) "भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्य-विभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥"–सांख्यका० १५ ।

"तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।
सा नित्या सा महानात्मा यामाहुः त्वतलादयः ॥" [वाक्यप० ३।३४] इति।

ननु यत्रअवान्तरे(र) गोत्वादिजातयः समवेता[:] तत्रैव सत्ता, [५२७ ख] तस्मादेकार्थसमवायात् सा तद्व्यपदेशभागिति चेत्; अत्राह–**विना** इत्यादि।

ननु यौगपक्षोपक्षिप्तमत्र दूषणं कुतो नेति चेत्? अत्राह–**व्यापित्वे** इत्यादि। विचारितमनन्तरमिति। दोषानुषङ्ग एव न भवति **एकसामान्यवादिना** सत्ताजातिवादिनाम्। कुतः? इत्याह–**भावस्यैव** सत्ताया एव **सामान्यविशेषभावोपपत्तेः** द्रव्यत्वगोत्वादिसामान्यभेदोपपत्तेः। कुतः? इत्याह–**समवायिविशेषात्** सोणादि(गोत्वादि) व्यपदेशभाक्त वा (भाक्तया) प्रकृतापि इति **सत्तासमवायिनोर्भेदैकान्ते** अयमपि दुर्णयः। पूर्वविधिना अत एव उक्तम् **तथा** तेन प्रकारेण **परोऽन्यो नैगमो दुर्णय** इति। १०

संप्रति सौगतेन नैगमस्य सर्वस्य दुर्णयत्वं चिन्तितं दूषयन्नाह–**सत्ताम्** इत्यादि।

**[सत्तां बिभ्रते यस्माज्ज्ञानशब्दकृतः इति।
व्यक्तयः सन्तु तस्मादर्थाकारे विदां समम् ॥१२॥**

येन···इति यत् चोद्यं तत् संविदां विषयाकारप्रतिपत्तावपि सामानम्।]

यद् **यस्माद्** योग्यताविशेषात् **व्यक्तयो** विशेषाः **बिभ्रते** धारयन्ति। किम्? **सत्तां** जात्यन्तरं वा गोत्वादिकं **त[स्मात्]** योग्यताविशेषात् **ज्ञानशब्दकृतो**ऽनुगतज्ञानाभिधानप्रवृत्तिहेतवः सन्त (**सन्तु**) **व्यक्तयः** इत्येवं चोद्यम् **अर्थाकारे** रूपादिलक्षणे ग्राह्ये **विदां** बुद्धीनां **समम्**। तथाहि–यतः पटादयोऽर्थाः रूपादीन् बिभ्रते तत एव स्वयमतदात्मानो रूपादिबुद्धिहेतवो भविष्यन्तीति किं रूपादिकल्पनया? इति निराकारार्थसिद्धिः। अथ रूपाद्यात्मकोऽर्थः प्रतीयते; सामान्यात्मकोऽपि प्रतीयते इति समानम्। १५ २०

कारिकार्थमुपदिशन्नाह–**येन** इत्यादि। सुगमम्। **इति** एवं **यचोद्यं न** (**यच्चोद्यं तत्**) **संविदां विषयाकारप्रतिपत्तावपि समानम्** [५२८ क] अन्यत्रापि असकृदुक्तमेतत्। तथाहि–संविदो 'यतः स्वसंवेद्' यतः स्वसंवेदनात्मतां स्वीकुर्वन्ति तत एव अतदात्मिका सु(काः त)थावभासन्त इत्यपि स्यात्।

तदेव(वं) नैगमं तदाभासं च प्रतिपाद्य संग्रहनयं प्रतिपादयन्नाह–**आयासाद्वा** इत्यादि। २५

**[आयासाद्वा यतो भेदानभेदः स्वीकरोत्ययम्।
स एव भेदसंव्यवहारान् केवलो न करोति किम् ॥१३॥**

न हि अभिन्नतत्त्वस्य···स्वप्नादौ दर्शनात्। भेदवादिनोऽपि निरंशमवर्णाद्यात्मकं तज्ज्ञानं रूपादिकं स्थूलत्वाद्यनेकधर्माभिन्नं सांशमिव तद्व्यवहारं प्रथयत्येव

(१) सत्ता। (२) रूपादिरहिताः। (३) 'यतः स्वसंवेद' इति पुनर्लिखितमाभाति।

तत्त्वदर्शनस्य सर्वथानुपपत्तेः। प्रमाणेतरनिमित्तभूतौ संवादविसंवादावपि तत्र अविशेषतः स्याताम्। तत् सर्वविकल्पातीतं सन्मात्रं तत्त्वमिति संग्रहनयः। संवित्तेरेव बहिरिव प्रतिभासनात्, तत्पुनरदृष्टपरमार्थमेव मिथ्या...। तत्र स्वपरसन्तानक्षणक्षयविकल्पव्यवस्थेयं अविद्यात्मनः आभासेत बहिरर्थावभासवदिति। तदर्थासंभवेऽपि विप्लवान्तरवत्। पारम्पर्येणापि चेतनान्तरसंभवनियमः कुशकाशावलम्बनम् व्यापारादिभावात्तन्नियमः।...प्रतिपिद्धार्थप्रतिप्रसवप्रसङ्गात् बहिरन्तर्भेदात्।]

आयासाद्यन्नाद्यतो(–सात् यत्नतः**यतो) वा** इति पक्षान्तरद्योतकः, **भेदान्** चेतनेतरविशेषान् **अभेदः** सत्तामात्रं **स्वीकरोति** अय(**अयं**) **भेदसंव्यवहारान् किं न करोति सोऽभेदः केवलः** सकलभेदविकलः।

ननु यदि अभेदः; भेदव्यवहारः ततः कथम् ? अन्यथा नीलात् पीतव्यवहारः स्यात् इति चेत्; अत्राह–**नहि अभिन्नतत्त्वस्य** इत्यादि। कुतः ? इत्यत्राह–**स्वप्नादौ दर्शनात्**। अत्र **आदि**शब्देन द्विचन्द्रादिपरिग्रहः। स्वप्ने हि कृशोऽपि स्थूलतया, अन्यकालादिः अन्यकालादितया, देवदत्त एकोऽपि अनेकतया, जागरणे चन्द्रः तथा सुत्ति कान(शुक्तिका अन) कतया प्रतिभातीति भावः। परस्यापि एतदस्तीति दर्शयन्नाह–**भेदवादिनोऽपि** न केवलमभेदवादिनः तज्ज्ञानं (**तज्ज्ञानं**) भेदवादिज्ञानम्; किंभूतम् ? **निरंशम्**, पुनरपि किंभूतम् ? **अवर्णाद्यात्मकं** रूपरसादिरहितम्, **रूपादिकं स्थूलत्वाद्यनेकधर्माभिन्नं** न च निरंशे तद्युक्तम्। किं करोति ? इत्याह–**तद्व्यवहारं** भेदव्यवहारं **प्रथयत्येव**। किंभूतम् ? **सांशमिव** वर्णादिनिर्भासमिव, [च] शब्दोऽत्रापि योज्यः।

ननु यथा भेदः प्रतिभाति नैवमभेदः, ततोऽस्त्यनयोः[3]विशेष इति चेत्; अत्राह **तत्त्व** इत्यादि। **तत्त्वस्य** निरंशात्मनो **यद्दर्शनं** तस्य **सर्वथा** सर्वेण प्रत्यक्षादिप्रकारेण स्वतः परतः [५२८ ख] इति वा प्रकारेण **अनुपपत्तेः**। कल्पनया तदुपपत्तिः, उभयत्रापि।

स्यान्मतम्–न ज्ञानं (तज्ज्ञानं) निरंशमवर्णाद्यात्मकं तथैव [व्यव]हारं प्रथयति इति; तत्राह–**तत्त्व** इत्यादि। व्याख्यानम् तदेव। यदि वा, यदि ज्ञानं सांशमेव वर्णादिनिर्भासं व्यवहारं प्रथयति तथैव तदिति **तत्त्व[म्]** इत्यादि सौगतस्य यत्तस्य **दर्शनस्य सर्वथानुपपत्तेर्वा** '**भेदवादिनोऽपि**' इत्यादिना सम्बन्धः।

ननु यदि अभेदः तर्हि जाग्रद्दशायामविसंवादोयः प्रमाणव्यवस्थानिमित्तं स्वप्ने यश्च विसंवादोऽप्रमाणव्यवस्थाकारणं[4]तौ कथं स्याताम् ? भेदे तस्या (न स्या)तामिति चेत्; अत्राह–**संवाद**

---

(१) तुलना–"स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदान् अविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः।"–स० सि० १।३३। त० वा० १।३३। तत्त्वार्थाधि० भा० १।३६। "शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः। भेदानां नासदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः॥"–लघी० श्लो० ३२। धवलाटी० सत्प्ररू०। त० श्लो० पृ० ७०। नयवि० श्लो० ६७। सन्मति० टी० पृ० २७२। नयचक्र० गा० ३४। तत्त्वार्थसा० पृ० १०७। प्र० नय० ७।१३। स्या० मं०पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २२। "संगहिय पिंडियत्थं संग्रहवयणं समासओ विंति।"–अनु० द्वा० ४। आ० नि० गा० ७५६। विशेषा० गा० २६९९। (२)अर्धरात्रे मध्याह्नस्वप्नदर्शनं भवति। (३) भेदाभेदयोः। (४) अविसंवाद-विसंवादौ।

इत्यादि । **संवादासंवादौ** । किंभूतौ ? **प्रमाणेतरनिमित्तभूतौ** यथासंख्येन प्रमाणाप्रमाणहेतुभूतौ **तत्र** तयोः भेदाभेदयोः **स्याताम्** । कुतः ? इत्याह–**अविशेषतः** वासनादार्ढ्याऽदार्ढ्य-(र्ढ्या)भेदतः । यत एवं **तत्** तस्मात् **सर्वविकल्पातीतं तत्त्वम्** । किं तत् ? इत्याह–**सन्मात्रम्** इत्येवं **संग्रहनयः** । अत्र यदुक्तं सौगतेन दूषणम् *"**कथं बहिरन्तः प्रतिभासभेदे सन्मात्रं तत्त्वम् ? तद्विभ्रमे सन्मात्रे कः समाश्वासः**" इति ; तदेग(तदेतत्) तस्यापि[1] समानमिति दर्शयन्नाह– **संवित्तेरेव** इत्यादि । भेदवादिनो बौद्धस्य विज्ञप्तिमात्रं बुद्धिमात्रं तत्त्वं यथा संग्रहवादिनः सन्मात्रम् ।

ननु तस्य बहिरन्तर्वा भेदोऽप्यस्ति इति चेत् ; अत्राह–**संवित्तेरेव** नान्यस्य **बहिरिव प्रतिभासनात्** ततो यथा अस्याऽबाह्यमपि बाह्यतया चकास्ति तथा परस्यै अभिन्नं भिन्नतया [४२९क] इति मन्यते ।

स्यान्मतम्–यथा विज्ञप्तिमात्रं दृश्य(श्यं) न तथा अन्यदिति चेत् ; अत्राह–**तद्** विज्ञप्तिमात्रं **पुनः अदृष्टपरमार्थमेव** । नहि निरंशं भ्रष्टुं(द्रष्टुं) शक्यम् , अन्यत्रापि प्रसङ्गात् । तत्किम् ? इत्याह–**मिथ्या** इत्यादि । ततो यथा भेदव्यवहारस्य मिथ्यात्वेऽपि न संवित्तेमत(त्तेः तत्) तथा अन्यत्रापि इति भावः ।

ननु विज्ञप्तिमात्रे स्वपरसन्तानभेदः क्षणक्षयादिभेदश्च पारमार्थिक इति चेत् ; अत्राह–**तत्र** इत्यादि । **तत्र** विज्ञप्तिमात्रे **स्वपरसन्तानाश्च क्षणक्षयश्च** ते एव तेषां वा **विकल्पा** भेदाः, यदि वा, मानसाः प्रत्ययाः, तेषां **व्यवस्थयं(य)माभासेत** । कुतः ? इत्याह–[अ]**विद्यात्मनः** [अ]विद्यास्वभावात् कुतश्चिद् विकल्पवासनातः, तत्र परस्य प्रमाणाभावात् । अत्र निदर्शनमाह–**बहिरर्थावभासवदिति** । निदर्शनसमर्थनमाह–**तदर्थासंभवेऽपि** इत्यादि । जाग्रद्व्यापारादि-**विप्लवात्** स्वप्नादितद्विप्लव सुदतरी (**वस्तदन्तरम्**) तत्रैव तद्वदिति ।

ननु जाग्रद्दशायां साक्षाद् व्यापारादिनिर्भासः, परचेतसः शरीरान्तरे स्वप्ने परम्प[र]येत्यव्यभिचार इति चेत् ; अत्राह–'**पारम्पर्येणापि**' इत्यादि । **चेतनान्तरसंभवे(व)नियमः** सन्तानान्तरचेतनेयोः (तनायाः) सकाशात् **संभवस्य** उत्पादस्य **नियमः कुशकाशावलम्बनम्** । कस्यात्तनि(कस्मात्तन्नि)यमः ? इत्याह–**व्यापार** इत्यादि । केन प्रकारेण सः ? इत्याह–न केवलं जागरणे साक्षात्तस्याः तन्नियमः, तदवलम्बनस्वशरीरेऽपि निरंशबुद्धिव्यापारयोरन्वयग्रहणाभावात् सकलव्याप्तेरसिद्धेः प्रमाणविरहात्, स्वापादौ चैतन्याभावेऽपि व्यापारादिभावात् , शौल्कादि(देः) [५२९ख] शालूकादिभ्यो दृष्टावपि पुनर्गोमयादेः दर्शनात् संभाव्यव्यभिचारित्वात्, व्यापार-प्रतिभासस्य सर्वत्रार्थप्रतिभासवद् भ्रान्तत्वात् , अपि तु **पारम्पर्येणापि** जागरणे साक्षात् चेतनान्तरः तस्यास्तन्नियमः स्वप्ने पारम्पर्येण बुद्धेरेव तद्बुद्धिसंभवात् , तद्विभ्रमस्तदवलम्बते उक्तदोषेण अनुमानाप्रवृत्तेः, शरीरप्रभृतेः सर्वस्य भ्रान्तत्वाच्च । कुतः ? इत्याह–**प्रतिषिद्धार्थ** इत्यादि । **प्रतिषिद्धः** सौगतेन निराकृतो **योऽर्थः** अचेतनो घटादिः तस्य **प्रतिप्रसवः** प्रत्युज्जीवनं तस्य

(१) बौद्धस्यापि । (२) अभेदवादिनः । (३) मिथ्यात्वम् । (४) शालूकः वृश्चिकः ।

प्रसङ्गात्। एतदपि कुतः ? इत्याह–बहिरन्तर्भेदात् बाह्येतरभेदसिद्धिरिति भावः। तथाहि–स्वप्नेऽपि बुद्धिव्यापारयोः परमार्थतो यदि कुतश्चित् हेतुफलभावः प्रतीयते; व्यक्तं ग्राह्यग्राहकभावः समापतति।

एतेन व्याप्तिग्रहणमपि चिन्तितम्। 'वासनातः सकलं ज्ञानम्' इत्यत्रापि न्यायोऽयं योज्यः।

५ ननु अर्थः प्रतिभासात् सिध्यति, स च स्वप्ने तदभावेऽपि भवन्ननैकान्तिक इति चेत्; न; व्यापारादिरपि तथैव स्यादिति दोषात्, तत्रास्य पारम्पर्येण परचेतसः सभावो (सद्भावो) नार्थप्रतिभासस्य इति किंकृतमेतत् ?

अपरे मन्यन्ते–तत्रापि स्वप्रान्तिकशरीरस्य परमार्थतोऽभ्युपगमात् साक्षात् परचेतस एव स इति; तेषां तत्र स्तम्भादिप्रतिभासोऽपि सत्य इति *"कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्"

१० [न्यायबि० १।४] इति अभ्रान्तग्रहणमनर्थकं निवर्त्याभावात्, तच्छरीरवत् द्विचन्द्रादेरपि [४३०क] सत्यताप्राप्तेः। व्यवहारेण अभ्रान्तग्रहणमिति चेत्; न; तेनैव तच्छरीरस्यापि सत्यत्वोपगमात्, व्यवहारेण परलोकसाधनात्, इतरथा कुतः प्रतिभासाद्वैतम् ? *"निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात्" [प्र० वार्तिकाल० पृ० ३६१] इत्यत्र वा किं वा निदर्शनम् ? स्वरूपालम्बनत्वेऽपि अनेकान्तार्थप्रति स्य बद्ध (प्रतिबद्ध) स्य प्रतिप्रसवप्रसङ्गः, शरीरादेः सांशत्वेन

१५ प्रतिभासनात्। ततो न किंचिदेतत्।

अन्येषां दर्शनम्–न सन्तानः सन्तानान्तरं वा अन्यत्र संवृतेः इति तदभावसाधनं सिद्धसाधनमिति, तेषामप्युत्तरमुक्तम् नेह पुनरुच्यते, चित्रज्ञाने नीलादीनाम् अन्योऽन्याननुगमे सन्तानान्तरसिद्धिः। परस्परादर्शनेऽपि सद्भावे इतरथा सकलशून्यता, तदनुगमे अनेकान्तसिद्धिरिति। तन्न परस्य स्वर (स्वपर) सन्तानादिभेदसिद्धिः।

२० क्वचिद् 'बहिर[न्त]भेदात्' इति पाठेत्र (पाठे तु) बाह्येतरयोरविशेषादित्यर्थः।

स्यान्मतम्–प्रागभावादिचतुष्टयप्रतीतेः कथं सन्मात्रं तत्त्वमिति ? तत्राह–**विज्ञेयम्** इत्यादि।

[विज्ञेयं विद्यमानार्थबुद्ध्याऽभावचतुष्टयम्।
कथञ्चिन्नान्यथा न्यायाद् बुद्धिः सन्मात्रगोचरा ॥१४॥

२५ **नहि अभावचतुष्टयज्ञानं सर्वथा निर्विषयं युक्तम्, अर्थान्तरालम्बनोपगमात्। सः परमाणुपर्यन्तज्ञानस्वरूपपरीक्षासमये स्वरूपमवलम्बेत नार्थभेदम्। तदभावे संविद्व्यपदेशानुपपत्तेः। तन्न भावव्यतिरिक्तो विशेषः क्वचित् कथञ्चित् प्रमेयतां प्रतिपद्येत।]**

विज्ञेयं परिच्छेद्यकेम(द्यं। किम् ?) **अभावचतुष्टयं** प्रागभावाद्यभावचतुष्टयम्। कया ? **विद्यमानार्थबुद्ध्या** भावज्ञानेन। **कथंचित्** केनापि तदुत्पत्तियोग्यताप्रकारेण

(१) प्रतिभासः। (२) अर्थाभावेऽपि। (३) प्रज्ञाकरगुप्तादयः। (४) स्वप्नान्तिकशरीरवत्। (५) सन्तानान्तराभावसाधनम्।

नान्यथा बुद्ध्या विज्ञेयत्वाभा[व]प्रकारेण **बुद्धिः** 'अभावचतुष्टये' इति सम्बन्धः । प्रत्य-यादिवेदनतो **न्यायात् सन्मात्रगोचरी(रा)** बुद्धिरिति ।

कारिकार्थं विवृणोति । **नहि अभावचतुष्टयज्ञानं सर्वथा निर्विषयं** विषयरहितं तुच्छा-भावगोचरमेव नहि **युक्तम्** । ननु यदभावविषयं कथं निर्विषयमुच्यते इति चेत् ; न ; सौगता-पेक्षयैवमभिधानात् । [५३०ख] स हि अभावं नेच्छति । कुतो न निर्विषयमिति चेत् ; ५
अत्रा[ह-अ]**र्थान्तर** इत्यादि । विवक्षितादर्थाद् अन्योऽर्थः **तदन्तरम्** तद् **अवलम्बनं** यस्य तस्य **उपगमात्**[1] सौगतेन ।

न्ववेनमपि (नन्वेवमपि) परस्परविविक्तभावावलम्बनात् कथं सन्मात्रगोचरा बुद्धिरिति चेदनदत्त (चेदत्राह) **स** इत्यादि । तदभावचतुष्टयज्ञानमात्र[म]त्र **सः परमाणुपर्यन्तज्ञानस्वरूप-परीक्षासमये स्वरूपमवलम्बेत नार्थभेदम्** । कुतः ? इत्याह-**तदभावे** स्वरूपावलम्बनाभावे १०
संविद्व्यपदेशानुपपत्तेः । अर्थग्रहणात् ज्ञानस्य तद्व्यपदेशो न स्वरूपावलम्बनादिति चेत् ; ननु 'अर्थग्रहणं बुद्धिः' इति केनावगम्यते ? तयैव बुद्ध्या इति चेत् ; न ; स्वरूपग्रहणप्रसङ्गात्, तद्ग्रहे 'ममार्थग्रहणम्' इति प्रतिपत्त्ययोगात् । बुध्यान्तरया (था) इति चेत् ; सापि स्वरूपसंवेदनविकला 'बुद्धिः' इति कथमवगम्यते ? आद्यज्ञानार्थग्रहणात् ; तदपि कुत इति तदवस्थं चोद्यम् अनवस्था च ।

नन्वर्थो यतो दृश्यते तज्ज्ञानमिति चेत् ; सत्यम् ; दृश्यते, नाऽस्वसंवेदनज्ञानात् ; १५
इतरथा परज्ञानादपि दृश्येत इत्युक्तम् । एतेन मीमांसकोऽपि कृतोत्तरः । भवतु स्वरूपावलम्बनं ज्ञानम्, तत् स्वरूपमन्यते (तो) व्यावृत्तमवलम्ब्यत इति चेत ; अत्राह-**तन्न** इत्यादि । **तत्** तस्मात् स्वरूपमवलम्बेत इति न्यायात् **न भावव्यतिरिक्तो** ज्ञानसत्ताभिन्नो न **विशेषो** भेदः **क्वचिद्** विज्ञाने अन्यत्र वा **कथंचिदे**कानेकादिरूपेण **प्रमेयतां प्रतिपद्येत** । नहि स्वरूपमग्नं ज्ञानम् अन्यदविषयीकुर्वाणं ततः [५३१ क] कस्यचिद्भेदम् अन्यद्वा प्रतिपद्यत इति । २०

स्यादेतत्-यदि ज्ञानं स्वरूपमेव लंबि (व अवलम्बि), तदेव प्रतिभासाद्वैतमायातम्, तच्च सौगतस्य नानिष्टम् अभ्युपगमात् । अथ तथा सत्ताद्वैतम् ; तन्न ; [2]अप्रत्ययात्, चित्र-प्रतिभासात् । [3]अस्य मिथ्यात्वे ततो[4] भेदे न [5]सत्ताद्वैतमिति चेत् ; अत्राह-**मिथ्यैकान्त** इत्यादि ।

[मिथ्यैकान्तविविधनिर्भासप्रतिभासैक्यतत्त्वयोः । २५
आत्मनोऽत्यन्तभेदोऽयं समः क्षणिकसंविदः ॥१५॥

यथा परमात्मनः सद्रूपस्य तत्त्वम् अदृश्यात्मनः सकलविकल्पात् सर्वथा व्यति-रिच्येत अदृष्टं यतः खरविषाणवदिति तथा क्षणिकसंविदोऽपि तत्त्वं ततस्तथा व्यतिरि-च्येत, यथातत्त्वं स्वयमेव संवेदनात् । मिथ्या ग्राह्यग्राहिकायाः भेदात्मनाऽनुभवात् ।]

अन्तम् अवसानम् अतिक्रान्तोऽन्तः (**ऽत्यन्तः**) स चासौ **भेदश्च** विशेषः निरव- ३०

(१) भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य । (२) अविषयीकृतार्थात् । (३) अप्रतीतेरित्यर्थः । (४) चित्र-प्रतिभासस्य । (५) चित्रज्ञानात् । (६) यस्मात् चित्रज्ञानाद् व्यावर्तते यच्च व्यावर्तते तदपेक्षया द्वैतं स्यात् ।

मानो विशेषोऽग्रं परेण उच्यमानः सन्मात्रपक्षे **समः** सदृशः । कस्य ? **आत्मनः** स्वस्य । कस्याः ? इत्याह–**क्षणिकसंविदः** सौगतसम्बन्धिबुद्धेः । कयोः सतोः ? इत्याह–**मिथ्या** इत्यादि । **मिथ्यात्वम एकान्तो** यस्य स तथोक्तः स चासौ **विविधः** स्थूलत्वदीर्घत्ववर्तुलत्वादिना चित्रो **निर्भासश्च** घटादिप्रतिभासः तेन विद्यते **प्रतिभासो** दर्शनं ययोः **ऐक्य-**

५ **तत्त्वयोः** निरंशत्वस्वसंवेदनस्वरूपयोः सतोः **आत्मनः क्षणिकसंविदः** । एतदुक्तं भवति–यथा मिथ्याचेतनेतरनिर्भासतिरस्कृतत्वात् न सत्तामात्रस्य नित्यत्वादि स्वरूपं वाऽवभासते, तथा स्थूलत्वादिचित्रप्रतिभासेन प्रतिहतप्रसरत्वा न(त्त) संविदात्मनोरैक्यतत्त्वयोः प्रतिभासनमिति ।

यथा इत्यादिना कारिकार्थमाह–**यथातत्त्वं** स्वरूपम् । कस्य ? **द्रव्यस्य** । किं[भू]तस्य ?

१० **सद्रूपस्य** सत्तात्मकस्य । पुनरपि किंभूतस्य ? **परमात्मनः** परमः सर्वाधिक आत्मा रूपं यस्य तस्य इति । तत्तत्त्वं किं स्यात् ? इत्याह–**व्यतिरिच्येत** स्वयं भिद्येत । कुतः ? इत्याह–**सकलविकल्पात्** [५३१ ख] निखिलचेतनेतरभेदात् । किंभूतात् ? इत्याह–**अदृश्यात्मनः** । कथम् ? इत्याह–**सर्वथा** सर्वेण वस्तुगतधर्मकलापप्रकारेण । कुतः ? इत्याह–**अदृष्टं** 'यत'[1] **यतः खरविषाणवदिति तथा क्षणिकसंविदोऽपि तत्त्वं ततः तथा व्यतिरिच्येत** । कुतः ? इत्याह–

१५ **यथातत्त्वम्** [इत्यादि] । **यथा[तत्त्वं]स्वयमेव संवेदनात्** क्षणिकसंविदः । एतदपि कुतः ? इत्याह–**मिथ्या** इत्यादि । **मिथ्या ग्राह्यग्राहकौ** यस्याः *"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति" [प्र० वा० २।३२७]इत्यादि वचनात्, तस्या **भेदात्मना** नानास्वभावेन **अनुभवात्** । अनेन विरुद्धोपलब्धिं दर्शयति ।

ननु सत्ता व्यापिनी नित्यैका न्ते(चे)ष्यते,न च तत्र प्रमाणमिति क्षणभङ्गे निरूपितम् ।

२० संवित्तिः पुनः क्षणिका अनेका, तत्र प्रमाणमस्ति इति चेत्; अत्राह–**नहि** इत्यादि ।

[न हि तत्त्वोपलम्भानवस्थापयति कल्पना ।
मिथ्या दोषान् निराकृत्य स्वस्मादवर्णात्मिका ॥१३॥

स्वप्नादौ विभ्रमे वा अवर्णात्मिकैव संवित्तिः वर्णाद्यात्मना निरंशैव सांशेव अवभासते। नैतावता स्वयमदृश्यात्मैव यतो दृश्यात् सर्वथा भिद्येत इति समाधिः परमात्मनः

२५ **द्रव्यमात्रेऽपि समः ।]**

क्षणिकसन्तानभेद**कल्पना** । अनेन नित्यैव(क)त्वव्यापित्ववद् अन्यत्रापि[2] कल्पनातो नान्या गतिरिति दर्शयति । किंभूता सा ? इत्याह–**मिथ्या** असत्या, नित्यत्वेऽ**वस्थापयति न** खलु । कान् ? इत्याह–**तत्त्वोपलम्भ** इत्यादि । तान् किं कृत्वा इत्याह–**स्वस्माद्** आत्मनः सकाशात् **निराकृत्य तद्दोषान्** इति, समानत्वात् उभयत्र तद्दोषाणाम् इति भावः ।

३० ननु सत्तावन्नादृश्या संवित्तिः, तस्या एव अन्यथा प्रतिभासनात्, मरुष्विवाल्पस्य[3] महत्त्वेन इति चेत्; अत्राह–**अवर्णात्मिका** । गतार्थमेतत् ।

(१) 'यत' इति व्यर्थमत्र । (२) क्षणिकपक्षेऽपि । (३) यथा मरुभूमिषु दूरे अल्पोऽपि महान् दृश्यते ।

कारिकासूत्रं व्याचष्टे **स्वप्नादौ** इत्यादिना । [**स्वप्नादौ**] विभ्रमे वा **अवर्णात्मिकेव (कैव)** स्थूलार्थाकाररहितैव **संवित्तिः वर्णाद्यात्मना** [५३२क] **यथा** विप्लवसामर्थ्यप्रकारेण **अवभासते** तथा **निरंशैव** अविभागैव **सांशेव अवभासते नैतावता स्वयमदृश्यात्मैव** अदृश्य आत्मा स्वरूपं यस्या इति, तस्या एव तथावभासनादिति । **यतो** यस्माददृश्यात्मकत्वात् **दृश्यात्** ग्राह्यादिविप्लवात् **सर्वथा** सर्वेण स्वभावेन **भिद्येत** इत्येवमुच्यमानः **समाधिः समः** । क ? ५ इत्याह–**द्रव्यमात्रे**ऽपि । कुतः ? इत्याह–**परमात्मन** इत्यादि ।

संग्रहनयेन सौगतं दूषयित्वा संग्रहाभासमधुना व्यवहारनयेन अपहस्तयन्नाह–**भेद** इत्यादि ।

[भेदाः कर्मफलादीनामिह लोके परत्र वा ।
भेदे सति प्रवर्तन्ते नाभेदे सः प्रवर्तते ॥१७॥ १०

लोकद्वैतं···]

भेदे सति । केषाम् ? **कर्मफलादीनाम् आदि**शब्देन कर्मसाधनादिपरिग्रहः । किं स्यात् ? इत्याह–**प्रवर्त्तन्ते** । क ? इत्याह–**इहलोको**ऽत्र (**लोके** अत्र) **कर्म**शब्देन क्रिया गृह्यते फलवच[ने]नोदनादिकम् । **परत्र वा** अत्रापि **कर्म** शुभाशुभमदृष्टं **फलं** स्वर्गादिकम् । अभेदेऽपि **सः प्रवर्त्तते** इति चेत्; अत्राह–**नाभेद** इत्यादि । १५

लोकद्वैतम् इत्यादिना कारिकार्थमाह । सर्वं सुगमम् ।

यदुक्तम्–*"नहि अभिन्नतत्त्वस्य भेदप्रतिभासव्यवहारो विप्रतिषिद्धः स्वप्नादौ **दर्शनात्**" इति दूषयन्नाह–**मिथ्यात्वम्** इत्यादि ।

[मिथ्यात्वं संविदां वीक्ष्य क्वचित् सर्वत्र तद्विदः ।
त्यजेत् संग्रहवादः सन्मात्रं स्वाभिमतं तथा ॥१८॥ २०

प्रमाणतः सन्मात्रप्रतिपत्तेः प्रमाणसन्मात्रभेदसिद्धेः स्वाभिमतं त्यजेत् । प्रमाणादृते तद्व्यवस्थितेरभावादतिप्रसङ्गात् । आस्तां तावत् द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रमिव । सम्यङ्मिथ्यात्ववेदकमन्तरेण क्वचित् कस्यचित् कथञ्चित्तदसिद्धेः । कुतः···तत्त्वमिदन्तया अन्यथा वा व्यवस्थापयितुकामेन तत्त्वज्ञानं प्रमाणमन्वेष्यम्, अनुपायोपेयासिद्धेः ।]

संविदां भेदज्ञानानाम् **मिथ्यात्वम्** असत्यत्वं **वीक्ष्य क्वचित्** स्वप्नादौ **सर्वत्र** २५ जाग्रद्दशायामपि या तद्वित् मिथ्यात्वं (मिथ्या) संवित् तस्याः **तद्विदः** सकाशात् **त्यजेत् संग्रहवादो स्वाभिमत (तं) सन्मात्रम्** । यथैव हि क्वचिद् भेदविभ्रमदर्शनात् सर्वत्र

(१) तुलना–"संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना । ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥"–लघी० श्लो० ३८ । त० श्लो० पृ० २७० । नयवि० श्लो० ६८ । न्यायावता० टी० पृ० ८५ । प्र० नय० ७ । १५-२१ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । (२) तुलना–"कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् । विद्याविद्याद्वयं न स्याद् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥"–आप्तमी० श्लो० २५ ।

तद्(द्)भ्रमः, तथा अविशेषेण विशेषविभ्रमदर्शनात् सन्मात्रभ्रमोऽपि स्यादिति मन्यते । नहि तद् विशेषादन्यदेव उपलभ्यते, यतोऽयं भेदः स्यात् । [५३२ ख]

ननु द्विचाद् (द्विचात्) चन्द्रत्वादिकं भिन्नमुपलभ्यते, तथापि तदेव सत् न द्वित्वम्, तथा अत्रापि स्यादिति चेत्; तदसत्; भेदेऽपि तथा सत्येतरव्यवस्थापत्तेः । अपि च, प्रमाणात्,

५ अन्यतो वा सन्मात्रं प्रतीयेत ? प्रथमपक्षे—धाते (?) प्रमाणात्, प्रमाणमन्तरेण न तद्व्यवस्थितिः, अपि तु प्रमाणतः सन्मात्रप्रतिपत्तेः स्वाभिमतं त्यजेत्, प्रमाणसन्मात्रभेदसिद्धेः । स्यादेवं यदि भिन्नात् प्रमाणान्न(णात् तत्) ज्ञायेत, यावता आत्मनि तदेव प्रमाणं नासं (?) प्रत्ययाद् भेदसिद्धेः । द्वितीयेऽपि पक्षे एतदेव वाच्यम् प्रमाणादृते तदन्तरेण तद्व्यवस्थितः (तेः) सन्मात्राभिनिवेशमात्रादिति(द् अति)प्रसङ्गात् ।

१० ननु यथा विभ्रमवादिनः प्रमाणमन्तरेण स्वाभिमतं सिध्यति तथा ममापि इति चेत्; अत्राह—आस्तां तावत् इत्यादि । आस्तां तिष्ठन्तु तावत् । किं ? द्रव्यमात्रम् । किमिव ? पर्यायमात्रमिव । सन्मात्रवादिनः सिद्धमिदं निदर्शनम् । किन्तु मिथ्यैकान्त एव न सिध्येत् । किमन्तरेण ? इत्याह—सम्यङ्मिथ्यात्ववेदकमन्तरेण क्वचिद् बहिरन्तर्वा स्वप्नादौ अन्यत्र वा कस्यचित् प्रत्यक्षस्य अन्यस्य वा कथंचित् अभिमतप्रकारेण सम्यक्त्वम् अन्यथापि विपर्यय

१५ इति प्रकारेण तदसिद्धेः । फलं दर्शयन्नाह—कुतः इत्यादि । अनेन साध्यसमत्ता(तां) निदर्शनस्य दर्शयति । यदि वा, शून्यता अनेन निरस्ता । न मया परबलेन तत्त्वं व्यवस्थाप्यते अपि तु [५३३ क] स्वबलेन इति चेत्; अत्राह—तत्त्वम् इत्यादि । तत्त्वं भावस्वरूपमिदंतया सन्मात्रतया अन्यथा वा व्यवस्थापयितुकामेन संग्रहवादिना तत्त्वज्ञानं तच्च प्रमाणमन्वेष्य(ष्यम्) । कुतः ? इत्याह—अनुपायोपेयासिद्धेः ।

२० तत्त्वम् इदन्तया नेदन्तया वा अवाच्यमिति चेत्; अत्राह—प्राकृतात् इत्यादि ।

[प्राकृताद् भिद्यते विद्वान् सम्यग्ज्ञानावलम्बनात् ।
तदभावेऽप्यवाच्यत्वे व्यक्तं निद्रायितं जगत् ॥१९॥

सदसद्व्यवहारनिबन्धनं सम्यग्ज्ञानम् । तदन्वयैकान्ते कः प्राकृतबुद्धिः बोद्धा वा क्वचित् किञ्चिदाश्रित्य न तिष्ठेत् प्रतिष्ठेत अपसरेद्वा हितान्वेषी । कथञ्चित् तत्त्वमिथ्यात्व-
२५ व्यवस्थापनम् अनेकान्त···मिथ्यैकान्त···अपेक्ष्य तत्रैव प्रवर्तयति]

प्राकृतः अतत्त्वज्ञः नित्यत्वादिधर्मैः वस्तुवाच्यताभिनिविष्टः तस्माद् **भिद्यते** विशिष्टो भवति । कः ? **विद्वान्** तत्त्वज्ञः सर्वथा [अ]वाच्यतत्त्वप्रतिपत्ता । कुतः ततो भिद्यते ? इत्याह—**सम्यग्ज्ञानावलम्बनात्,** अवाच्यतत्त्वगोचरम् अबाधितप्रसरं समीचीनं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तस्यावलम्बनात् स्वीकारात् । यदा हि श्वग(शृङ्ग)ग्राहिकया तत्तत्वं कुतश्चित् प्रति-

(१) सन्मात्रम् । (२) चन्द्रत्वमेव । (३) ज्ञापक-ज्ञेयरूपेण भेदः स्यात् । (४) सन्मात्रम् । (५) प्रतिनियतव्यक्तिरूपेण ।

पद्यते, तदा स ततोऽन्यथा सर्वेऽपि प्राकृता इति न [अ]वाच्यतत्त्वावतारः । तथापि तदवतारे दोषमाह–**तदभावेऽपि** सम्यग्ज्ञानावलम्बनाभावेऽपि **अवाच्यत्वे** तत्त्वस्य अभ्युपगम्यमाने **व्यक्तं** यथा भवति तथा **निद्रायितः** निद्राक्रान्तः पुरुषो निद्रितमिवाचरति स्म । किं तत् ? इत्याह–**जगद्** अवाच्यतत्त्ववादिलोकः । एवं मन्यते–यथा निद्राकान्तः अदृष्टतत्त्वोऽपि किंचिद्-सम्बद्धं प्रलपति तथाऽयमपि इति । ५

कारिकां स्पष्टयन्नाह–**सदसद्व्यवहार** इत्यादि । सदसदद्वैतम् (सद् अद्वैतं) एकत्वादि-धर्मैरवाच्यम् **असत्** नीलादिभेदजातं तयोर्व्यवहारस्य व्यवस्थायाः **निबन्धनं**, किम् ? **सम्यग्ज्ञानं तदन्वयैकान्ते, कः प्राकृतबुद्धिः** अतत्त्वबुद्धिः न कश्चित् । सम्यग्ज्ञानेन बाध्य न बुद्धिः[1]... द्धिरित्युच्यते, तदभावे न किंचिद्बाध्यते केनचित् **कः** [५३३ख] **बोद्धा वा** तत्त्वज्ञो बोद्धा सोऽपि तदभावे...'ति हेतोः **क्वचित्** सम्मात्रादवावाच्ये (त्रावाच्ये) **किंचिदागमादिकमाश्रित्य न** १० **तिष्ठेत्** स्थितिं न कुर्यात् भ र्तृ ह रिः **न प्रतिष्ठेत न वाऽपसरेद्वा** कुतश्चित भेदवर्गात् । '**क्वचित्**' इति कुतश्चि[दि]ति जातविभक्तिपरिणामः सम्बध्यते । किंभूतः ? **हितान्वेषी** स्वर्गापवर्गमार्गा-न्वेषणशीलः ।

सम्यग्ज्ञानावलम्बने परस्यानिष्टमापततीति दर्शयन्नाह–**कथंचित्** इत्यादि । केनापि प्रत्यक्षादिप्रकारेण **तत्त्वमिथ्यात्वव्यवस्थापनं** कर्तृ पेक्षा (अपेक्ष्यं) कारणं **प्रवर्त्तयति** । किंभूतं १५ तत् ? इत्याह–**अनेकान्त** इत्यादि । क ? इत्याह–**तत्रैव** अनेकान्तसिद्धावेव । के ने ह(केन ? इत्याह) **मिथ्यैकान्त** इत्यादि ।

प्रकृतोपसंहारकारिकामाह–**सन्तान** इत्यादिकाम ।

[सन्तानसमुदायादिनैकान्ताभेदभेदयोः ।
ततश्च व्यवहारो न संग्रहे ऋजुसूत्रवत् ॥२०॥ २०

प्रभवः तदन्यथा च...इति व्यवहारनयः][2]

चशब्द इवार्थो भिन्नक्रमः **ऋजुसूत्र** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः–**ततः** तद्धर्मात् उक्तात् न्यायात् **संग्रहे व्यवहारो न** स्यात् **ऋजुसूत्र** [:]क इव(**त्रवत्**, तदिव) कुतः ? इत्याह–**सन्तानः** हेतुफलभावविशेषः **समुदायः** स्कन्धः **आदिशब्देन** अन्योऽपि जगन्निवासी गृह्यते, स **न**, क ? **एकान्ताभेदभेदयोः** यतः इति निरूपितमेतदसकृत् । २५

कारिकाविवरणमाह–**प्रभव** इत्यादि **तदन्यथा** 'तदन्यथा'[3] सोऽन्यथा च कार्यव्यतिरेक-

---

(१)अत्र प्रतिर्धृष्टा ।(२) तुलना–"लौकिकसमः उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः । आह च–लोकोप-चारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात् ।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। "संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमव-हरणं व्यवहारः ।"–स० सि० १।३३ । "व्यवहाराविसंवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा । बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः ॥"–लघी० श्लो० ४२ । (३) 'तदन्यथा' इति द्विर्लिखितम् ।

साधनञ्च शेषं सुगमम् । इत्येवं व्यवहारनयः ।

व्य[व]हारम् ऋजुसूत्रो दर्श(दृष)यन्नाह–तत्र इत्यादि ।

[तत्र भेदे यथा नृणां सन्तानैक्यं तथा नयन् ।
ऋजुसूत्रनयोऽभेदे असर्व[विषयत्वतः] ॥२१॥

५ **कल्पनाशिल्पिघटितत्वाद् व्यवहारो मिथ्यैव । तद्वशादेकत्वव्यवस्थापनमयुक्तं सूर्यवंशादिवत् । स्मृतिप्रत्यवमर्शकर्मफलसम्बन्धादयः क्वचित् स्युः हेतुफलभावविशेषात् इह नियतवृत्तयः स्मृत्यादयः न पुनरैक्यात्, विप्रतिषेधात् । न चानेकतत्त्वस्य दर्शनादेरेकत्वे क्वचिदनेकत्वं युक्तम् । विकल्पशब्दव्यवहाराणां भेददर्शनात् ।]**

तत्र व्यवहारनये 'नृणाम्' इत्यध्याहारः । किम् ? इत्याह–**सन्तानैक्यं** सन्तत्यभेदः, १० केषाम् ? **नृणाम्** पुरुषाणाम् । उपलक्षणमेतत् तेन [५३४क] अचेतनानामपि । कस्मिन् सति ? इत्याह–**भेदे** नानात्वे । कथम् ? इत्याह–**यथा** येन कल्पनारोपितप्रकारेण **अभेदे** संग्रह इत्यर्थः । **तथा नयन्** वस्तु गमयन् **ऋजुसूत्रनयो** 'भवति' इत्यध्याहारः । तदैक्यं भावतः कुतो न इति चेत ; अत्राह–**असर्व** इत्यादि ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**कल्पना** इत्यादि । **व्यवहारो मिथ्यैव** । कुतः ? इत्याह–**कल्पना-** १५ **शिल्पिघटितत्वात्** व्यवहारस्य इति । ततः किं जातम् ? इत्याह–**तद्वयसा इ (तद्वशात्)** व्यवहारवशाद् **एकत्वव्यवस्थापनमयुक्तम्** । अत्र निदर्शनमाह–**सूर्यवंशादिवत्** सूर्यवंशादेरिव ।

तु (ननु) प्रमातरि पूर्वापरप्रत्यययोर्यद्येकत्वं न स्यात् सत्त्वान्तरवत् स्मृत्यादयो न स्युः इति चेत ; अत्राह–**स्मृति** इत्यादि । **स्मृतिश्च** स इति ज्ञानं **प्रत्यवमर्शश्च** प्रत्यभिज्ञानं **कर्म च** क्रिया अदृष्टं वा **फलं** बोद (च ओद)नादि स्वर्गादि च, तयोः **सम्बन्धश्च** ते **आदयो** येषाम् २० ऊहादीनाम् ते तथोक्ताः **क्वचिद्** एकस्मिन् सन्ताने **स्युः** भवेयुः । कुतः ? इत्याह–**हेतुफलभाव-** **विशेषात्** हेतुः अनुभवः फलं स्मरणम् तयोर्भावः तस्य विशेषात् अतिशयात् । किम् ? **इह** **नियतवृत्तयः स्मृत्यादयः** । तथाहि–स्वसन्तानगतोऽनुभवः तद्गतस्मरणजननस[मर्थ] एव तदेव जनयति नान्यो विपर्ययात् , इतरथा आत्मवादिनोऽप्ययं समानो दोषः । अन्यस्य अनुभवः

(१) "ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः । चेतनाणुसमूहत्वात् स्याद् भेदानुपलक्षणम् ॥" –लघी० श्लो० ४३ । "पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो ।"–अनु० द्वा० ४ । "सतां साम्प्रतानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः ।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५ । "ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयत इति ऋजुसूत्रः । –स० सि० १।३३ । "सूत्रपातवद् ऋजुत्वात् ऋजुसूत्रः ।"–त० वा० १।३३ । "ऋजु प्रगुणं सूत्रयति नयत इति ऋजुसूत्रः । सूत्रपातवद् ऋजुसूत्र इति ।"–नयच० वृ० पृ० लि० पृ० ५४ ख० । धवलाटी० सत्प्ररू० । "ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तुसत् सूत्रयेदृजु । प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात् सतः ॥" –त० श्लो० पृ० २७१ । नयवि० श्लो० ७७ । सन्मति टी० पृ० ३११ । नयचक्र० गा० ३८ । तत्त्वार्थसा० पृ० १०७ । प्र० नय० ७।२८ । स्या० मं० पृ० ३१२ । जैनतर्कभा० पृ० २२ । (२) तुलना–"पूर्वापरास्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्ते । अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात् ।" –स० सि०, त० वा० १।३३ । (३) प्राण्यन्तरवत् ।

अन्यस्य स्मरणं कुतो[न] जनयति ? असामर्थ्यात्[1]; अन्यत्र समानम् । एकत्वाभावात्[2]; स्वपरयोः एकत्वमपि कुतो न ? तद्धेतोः तथा सामर्थ्यात्[3]; आनुगत(अनुगतः) प्रसङ्गः । तथादर्शनात्[1]; किं पुनः परानुभवतोऽन्यस्मरणमुपलभ्यते ? [५३४ ख]

[एते] न प्रत्यवमर्शादयो व्याख्याताः ।

ननु यावत्तद्विशेषान्नियतवृत्तयः ते तावदैक्यात् कुतो न भवन्ति ? तत्राह–**न पुनरैक्यात्** । ५ सुः (स्युः) । कुतः ? इत्याह–**विप्रतिषेधात्** कि (वि)शेषेण निषेधात् ऐक्यस्य । यदि वा, विरोधात् । तथाहि–यदि दर्शनस्मरणादयो ऽनर्था(योऽर्था)न्तरभूताः; नैक्यम् । तच्चेत; न ते[3] इति । अथ अनेकान्तेऽयमदोषः; तत्राह–**नच** इत्यादि । **नच** नैव **अनेकसत्त्वस्य** परस्पर-भिन्नतत्त्वस्य **दर्शनादेर व त्वे(रेकत्वे)** अङ्गीक्रियमाणे **क्वचित्** पादादौ(पादपादौ) **अनेकत्वं युक्तम्** सर्वस्य ऐक्यं स्यात् इत्यर्थः । इतश्च तन्न युक्तम्; इत्याह–**एकत्वानेकत्वयोः विप्रति-** १० **षेधात्** विरोधात् कथमेकं तत्त्वम् [अनेकम् ?] अनेकं वा एकमिति ? अतश्च न तत्तथा; इत्याह–**विकल्प**इत्यादि । एतदुक्तं भवति–एकत्र अनित्यत्वाद्यनेकधर्मविकल्पशब्दव्यवहाराणां **भेददर्शनात्** तत्र भेदसिद्धिः प्रार्थ्यते, तेषां च वस्तुतत्त्वे नियमानुपपत्तिः । तन्न युक्तम् *"**संज्ञासंख्याविशेषाच्च**" [आप्तमी० श्लो० ७२] इत्यादि[4] । वस्तुस्वभावानन्वयाच्च तत्तथा न संगतमिति । १५

ननु भेदैकान्ते कथमुपादानोपादेयभावः यतः तथा स्मृत्यादय इति चेत् ? अत्राह–**स्वभावानन्वये** इत्यादि ।

[स्वाभावानन्वयेऽन्यत्र स्याद्धेतुफलयोर्यथा ।
कार्यकारणभावो वा ततस्तत्त्वं निरन्वयम् ॥२२॥

नावश्यं [कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति] अतिप्रसङ्गात् । सादृश्यविशेषात् तद्विशेषे २० **क्वचिदन्वयप्रतिपत्तिः मायागोलकवत् । यमलकयोरकार्यकारणत्वेऽपि सादृश्यं तद्विशेष-प्रतिपत्तेः । तद्...]**

अन्यत्र सहकारिकारणे स्वापादौ वा वल्लीदाह-देशान्तरपर्णकोथयोर्वा **कार्यकारण-भावो यथा** येन योग्यताप्रकारेण **स्वभावानन्वये** कार्यकारणोरूपा[णयोरुपादानोपादेया] ननुगमे सति **स्याद्** भवेद् विवादविषये **हेतुफलयोः** उपादानोपादेययोः तद्वत्तद्भावः, २५ **ततः तत्त्वं निरन्वयम्** । [५३५ क]

कारिकार्थमुपदिशन्नाह–**नावश्यम्** इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**अतिप्रसङ्गात्** कुलाल-घटयोः स्वापप्रबोधयोः प्राप्तेः ।

स्यान्मतम् पूर्वापरक्षणयोः निरन्तरोपलभ्यमानयोः उपादानोपादेयभूतयोः अन्वयोऽपि

(१) इति चेत्; । (२) ऐक्यं चेत् । (३) दर्शनस्मरणादयः पृथक् । (४) "द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोर-व्यतिरेकतः । संज्ञासंख्याविशेषाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥"–आप्तमी० ।

प्रतीयते इति; तत्राह–**तद्विशेष** हेतुफलभेदे उपादानोपादेयभूते क्वचिन्निरन्तरोपलभ्यमाने **अन्वयप्रतिपत्तिः** एकत्वसंवित्तिः। कुतः ? इत्याह–**सादृश्यविशेषात् मायागोलकवत्**। तदुक्तम्–*(१)"सदृशापर" इत्यादि। अथ तद्विशेष एव हेतुफलयोस्तादात्म्यम्; तत्राह–**सादृश्यम्** इत्यादि। कुतः ? इत्याह–**अकार्यकारणत्वेऽपि यमलकयोः तद्विशेषस्य** सादृश्यविशेषस्य **प्रतिपत्तेः**।
५ भ्रान्तः स तत्र इति चेत्; अत्राह–**तद्** इत्यादि। एवं ऋजुसूत्रदुर्णयौ दर्शितः।

कथमयं दुर्णय इति चेत् ? अत्राह–**प्रत्यक्षेतरयोरैक्यम्** इत्यादि।

[प्रत्यक्षेतरयोरैक्यं प्रतिपन्नं विरुणद्धि चेत्।
अनेकान्तं कुतः को वा विजयेतर्जुसूत्रकम् ॥२३॥

यदि एकान्तविरोधात् न संविदः प्रत्यक्षादिभिरेकत्वं प्रतिपद्येत; किं केन प्रति-
१० **पद्येत तद्व्यतिरेकेण स्वरुचिविरचितनिरंशतत्त्वस्यानुपलब्धेः गत्यन्तराभावादिति।]**

प्रत्यक्षः प्रत्यक्षज्ञानपरिच्छेद्यः चन्द्रत्वादिः, **इतरः** तदपरिच्छेद्यः विभ्रमे एकत्वादिः। अथवा तत्रैव **प्रत्यक्ष(क्षं)** कल्पनापोढमभ्रान्तं ज्ञानस्य रूपं वा वलयादिना (वर्तुलत्वादिना) **इतरत्** तदाभासं द्वित्वादिना। यदि वा, **प्रत्यक्षं** विकल्पबुद्धेः स्वरूपम् **इतरद्** अप्रत्यक्षम् अर्थोऽनभिलाप्यं रूपं **तयोरैक्यं प्रतिपन्नम**भ्युपगतं **चेत्** यदि सौगतेन, कुतः
१५ **अनेकान्तं** सौगतदर्शन(नं) **विरुणद्धि** व्याहन्ति। विरुणद्ध्येव तदन्यत्रापि तथाऽनेकान्तानिवारणात्। अथ तदप्रतिपन्नम्; तत्राह–**को वा** इत्यादि। **न** इत्यनुवर्त्तते। ततोऽयमर्थः–**को वा न विजयेत** अपि किन्तु सर्वोऽपि विजयेत [५३५ ख] **ऋजुसूत्रकम्**। अदृष्टमेकान्तं कल्पयतः सर्वैः बाधनसंभवात्, तस्य वा सर्वैः कल्पनसंभवादिति भावः।

इतरस्य सुगमत्वात्, '**को वा**' इत्यादि विवृण्वन्नाह–**संविद्** इत्यादि। **संविदो** ज्ञानस्य
२० **प्रत्यक्षादिभिरेकत्वं** संवित्प्रत्यक्षविकल्पाविकल्पविभ्रमैकत्वं **तद्यदि** सौगतो **न प्रतिपद्येत** नाभ्युपगच्छेत। अत्र हेतुमाह–**एकान्तविरोधादिति**। तत्र दूषणमाह–**किं** क्षणक्षयादि **केन** प्रत्यक्षादिना न केनचित् **प्रतिपद्येत**। कुतः ? इत्याह–**तद्व्यतिरेकेण** इत्यादि। संवित्प्रत्यक्षाद्यैव (द्येकत्व) व्यतिरेकेण **स्वरुचिविरचितस्य निरंशतत्त्वस्यानुपलब्धेः**। न जैनोपगताद्(२) शेषि (त सांशऽपि) निरंशात् संविद्रूपात् किंचित् प्रतिपद्यते अपि तु अन्यतः इति चेत्; अत्राह–
२५ **गत्यन्तराभावादिति**।

ननु सौत्रान्तिका(क)(४)नयापेक्षया भवतु ज्ञानं निर्दिष्टप्रकारं न ज्ञानवादि(५)नयापेक्षया, तत्र हि *"**स्वरूपस्य स्वतो गतिः**"[प्र० वा० १।५] इति चेत्; अत्राह–**अन्यथा** इत्यादि।

(१) "सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा लूनपुनर्जातनखादिवत्"–प्र० वार्तिकाल० पृ० १४४। (२) "निराकरोति यद् द्रव्यं बहिरन्तश्च सर्वदा। स तदाभोऽभिमन्तव्यः प्रतीतेरपलापतः॥–त० श्लो० पृ० २७१। श्लो० ७८। न्यायावता० टी० पृ० ८८। प्र० नय० ७।३०,३१। जैनतर्कभा० पृ० २४। (३) द्विचन्द्रज्ञाने।(४) मतापेक्षया। (५) योगाचार।

[अन्यथा संविदस्तत्त्वं प्रतिभासोऽन्यथेत्यपि ।
सुखोत्पाद…मतं प्राप्नोति संग्रहः ॥२४॥

संविदस्तत्त्वं निरंशमभिन्नं कुतश्चित् भिन्नप्रतिभासमिवेति कल्पनायां संग्रहेऽपि तथैव किन्न कल्प्येत, यतः क्षणक्षयादिसाधनमायास [मात्रफलम्] अवलम्बेत ।]

अ[यम]भिप्रायः–नीलादेः अन्यनीलादिरिव वा, संविद्रूपं स्यात ? प्रथमपक्षे **अन्यथा** ५ अन्येन निरंशप्रकारेण **संविदः तत्त्वं** स्वरूपं **प्रतिभासः** संविदः **अन्यथा** ग्राह्यादिभेद-प्रकारेण । एवं मन्यते–यदा नीलादेरन्य त(त्त्)त्त्वं तदा नीलादिभेदप्रतिभासः । तद्विप्लव एव इति चेत् ; अत्राह–**इत्यपि** इत्यादि । एवमपि **मतं संग्रहः प्राप्नोति** संग्रहाक्रान्तं भवेत् इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह–**सुखोत्पाद** इत्यादि ।

तत्त्वम् इत्यादिना कारिकार्थमाह–**तत्त्वमभिन्नं निरंशं संविदः** [५३६क] **कुतश्चिद्** १० आन्तरविभ्रमकारणवशात **भिन्नप्रतिभासमिव** इत्येवं **कल्पनायां संग्रहेऽपि** न केवलं ऋजुसूत्रे **तथैव किन्न कल्प्येत** । विवृतमेतत् । **यतो**ऽकल्पनात् **क्षणक्षयादिसाधनमवलम्बेत** । किंभूतम् ? इत्याह–**आयास** इत्यादि ।

ननु संग्रहे नित्यं तत्त्वम्, इतरत्रानित्यं हेतुफलात्मकमिति तयोर्भेद इति तत्साधनमिति चेत् ; अत्राह–**अप्राप्त** इत्यादि । १५

[अप्राप्तकार्यकालस्य कारणत्वमनिश्चितम् ।
सर्वथा सर्वदाऽदृष्टं अश्रद्धेयमतिबह्विदम् ॥२५॥

कार्यक्षणम् ।…यथा कार्योत्पत्तिक्षणसमये कारणात्मलाभोऽकिञ्चित्करः तथा तत्कृतोपकारानपेक्षस्य समनन्तरसंभवश्च । यतो नैरन्तर्यविशेषमेव प्रभवमाचक्षीत । न च पौर्वापर्यमेव उपकारः । तादृशामुपादानेतरव्यवस्था कीदृशी ? तदर्थक्रियायाः नित्यत्वे २० क्षणिकत्वे चासंभवे कथमकार्यकारणं सर्वं न स्यात्, यद्यनेकान्तसिद्धिर्न भवेत् ।]

अप्राप्तः कार्यकालो येन निरंशेन, पूर्वमेव सर्वथा नाशात् तस्य **कारणत्वमनिश्चितम्** । तदनुभवपथप्रथोऽपि न भवति तत्कथं कारणत्वनिश्चय इति भावः । एतदेवाह–**सर्वथा** क्षणक्ष-यादिरूपेणैव (णेव) सच्चेतनादिरूपेणापि **सर्वदा** विकल्पावस्थायामिव [1]संहृतविकल्पेऽपि, यदि वा स्वाप इव जागरणेऽपि **अदृष्टं अश्रद्धेयम् अतिबह्विदं** संविदस्तत्त्वम् । २५

कारिकाविवरणं **कार्यक्षणम्** इत्यादि । सर्वं सुगमम् ।

ननु न पूर्वमुत्पन्नं विनष्टं कारणम् अपि तु समनन्तरमिति चेत् ; अत्राह–**कार्य** इत्यादि । **कार्योत्पत्तेः क्षणसमये कारणात्मलाभो यथा** येन तदुपत्त्यकारणप्रकारेण, नहि सहसंभविनो-रेकमन्यस्य जनकम्, द्वयोरपि अन्योऽन्यं जनकत्वे अन्योऽन्याश्रयदोषात, **न किंचित्करः तथा समनन्तरसंभवश्च** अकिंचित्करः । तथाहि–पूर्वं समनन्तरं यावदुत्तरस्य कारणम् ; तावदुत्तरं ३०

(१) निर्विकल्पावस्थायामपि ।

तथाविधं पूर्वस्य कुतो न भवति ? अविनाभावस्य उभयापेक्षयापि समानत्वात् । तथा सति अन्योऽन्यसंश्रयः तदवस्थः ।

स्यान्मतम्–यथा सहभाविनोरितरेण [५३६ख] नान्यस्य उपकारः तथा समनन्तरयोरपि, तथाप्येकमन्यस्य कारणं नियमेन तदनन्तरभावादिति ; तत्राह–**तत्कृतोपकारानपेक्षस्य** इत्यादि। ५ अन्यथा सर्वं सर्वस्मात् नियमेन अनन्तरं स्यात् । **यतो** यस्मात् तन्नियमश्रद्धानात् **नैरन्तर्य-विशेषमेव प्रभवं** हेतुफलभावमाचक्षीत सौगतः । अत्रैव दोषान्तरमाह–**न च** इत्यादि । **च** इति दूषणसमुच्चये । **न पौर्वापर्यमेव उपकारः** सर्वेषामपि पूर्वापरीभूतानां स भवेत् इति भावः। **तादृशाम्** अनन्तरवर्णितस्वभावानाम **उपादानेतरव्यवस्था** नाम **कीदृशी** ?

ननु न किंचित् कस्यचित् कारणम् *"अशक्तं सर्वम्" [प्र० वा० २।४] इत्यादि १० वचनादिति चेत् ; अत्राह–**तदर्थं** इत्यादि । **सा** चासौ *"**यदेवार्थक्रिया[कारि]तदेव परमार्थसत्**" इति वचनात् सौगताभ्युपगता**र्थक्रिया च तस्याः नित्यत्वे क्षणिकत्वे च असंभवे** अङ्गीक्रियमाणे **कथमकार्यकारणं सर्वं न स्याद्** भवेत् । तथा च ब्रह्मवदनित्यपक्षेऽपि सर्वहेत्वादिव्यवहारापहार इति भावः ।

ननु स्वात्पतिता स्वबुद्धिः प्रतिभासाद्वैतवादिनः, तेनाभ्युपगमादिति चेत् ; अत्राह–**यदि** १५ **अनेकान्तसिद्धिर्न भवेत्** स्याद् अकार्यकारणं सर्वमिति सम्बन्धः । यावता नीलादिस्वभावामपि संविदं वदतोऽनेकान्तसिद्धिः हेतुफलभावाविरोधिनी भवेत् इत्युक्तम् ।

नन्वनेकान्ते विरोधादिदोषात् कथं तत्सिद्धिः ? इत्यत्राह–**विरोधात्** इत्यादि। [५३७क]

[विरोधाद्विभ्यतस्तस्य तव कथन्न विरुध्यते ।
शून्यता बहिरन्तश्च मानमेयनिराकृतेः ॥२३॥

२० **बहिरन्तरनुभवविषयं प्रत्यक्षगोचरमनेकान्तत्वं विरोधशङ्कया परिहरतस्ते क्षणक्षयैकान्तोपलम्भावलम्बनं बहिरर्थनिराकरणं गण्डूपदभयादजगरमुखप्रवेशमनुसरति ।]**

उपलक्षणमेतत्, तेन वैयधिकरण्यसंशयानवस्थाऽभावदोषपरिग्रहः । **तस्य** अनेकान्तस्य सम्बन्धी यो **विरोधः** तस्माद् **बिभ्यतः तव** सौगतस्य **कथं न विरुध्यते** । का ? **शून्यता** । क्व ? **बहिरन्तश्च** । कुतः ? **मानमेयनिराकृतेः** इति । एवं मन्यते–अनेका-२५ न्तस्य विरोधादिनान्यस्यानुपलम्भनात् (नुपलम्भनात्) सकलशून्यता मानत्राणरहिता सुतरां विरोधमास्तिघ्नुते इति ।

'**बहिरन्तरनुभवविषयम्**' इत्यादि कारिकाविवरणम् । **अनेकान्तत्वं प्रत्यक्षगोचरं विरोधं** (ध)**शङ्कया** कृत्वा **परिहरतः** त्यजतः **ते** सौगतस्य [क्षण]**क्षयैकान्तोपलम्भावलम्बनं** तदेकान्त-दर्शनस्वीकरणं कर्तृ **गण्डूपदभयात्** मूकसर्पोऽजगरः तस्य **मुखप्रवेशमनुसरति** । तदनेकान्त-

(१) उपकारः । (२) "अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत् । अन्यत् संवृतिसत्प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥"–प्र० वा० २।३ । (३) नित्यब्रह्मवत्

परित्यागे एकपरमाणुमात्रं तत्त्वं भवेत् इत्युक्तम्, तस्य वानुपलम्भनमिति किमाश्रयं तदेकान्तोपलम्भनम्। परमपि तत्प्रवेशमनुसरति इत्याह–**बहिरर्थनिराकरणम्** इत्यादि। सुविवेचितमेतत्।

ननु नयदुर्णयचिन्तेयम् आगम एव सिद्धा, तत्किमनया परमार्थविचार इति चेत्? अत्राह–**सापेक्षा** इत्यादि।

[सापेक्षा नया सिद्धाः दुर्णया अपि लोकतः। ५
स्याद्वादिनां व्यवहारात् कुक्कुटग्रामवासिनम् ॥२७॥

लोकव्यवहार···कुक्कुटेन ग्रामवासितमिति संग्रहाभिप्रायः। नवै ग्रामवासितम् अपि तु तत्पाटके गृहे वृक्षे शाखायां मुखादौ वा व्यवहारदर्शनात्। नयाः सामान्याद्यर्पणात् अन्यथा दुर्णयाः।]

भिन्नप्रक्रमः **अपि**शब्दः **लोकत** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। ततोऽयमर्थः **स्याद्वादिनां** १० जैनानां लोकात् लोकतोऽपि न केवलम् आगमत एव **सिद्धा** निश्चयमुपागताः। के? इत्याह–**नयाः।** किंभूताः? इत्याह–**सापेक्षाः** नयान्तरगोचरानिषेद्धारः। दुर्णयाश्च ततोऽपि सिद्धाः, इत्याह–**दुर्णया** लोकतोऽपि [५३७ख] **सिद्धा** इति। किंभूताः? **निरपेक्षाः** परविषयनिषेद्धारः। तां दुर्णयत्वेद त्यो(ते दुर्णयाः।)

[ननु] एकान्तवादिनः कुतः लोकतः सिद्धाः? इत्याह–**लोकव्यवहार** इत्यादि। १५ निदर्शनमत्राह–**कुक्कुटेन ग्रामे** गृहविशेषविशिष्टदेशे **वासितम्** इति **संग्रहाभिप्रायः** सामान्यमात्रस्यार्पणात्[1]। **नवै** नैव **ग्रामे** सर्वत्र **वासितम् अपि तु तत्पाटके** ग्रामैकदेशे इति नैगमसिद्धिः प्रधानेतरभावेन उभयार्पणात। व्यवहारं दर्शयन्नाह–**गृह** इत्यादि। अत्रापि न चैतत् पाटके अपि तु **गृहे वृक्षे शाखायां वासितम्** इति योज्यम्। ऋजुसूत्रमाह–**मुख(मुखे)** इत्यादि। **आदि**शब्देन ताल्वादिपरिग्रहः **व्यवहारदर्शनात् नयाः।** कथम्? इत्याह–**सामान्य** इत्यादि। २० दुर्णयानाह–**अन्यथा** इत्यादिना।

कृतार्थस्मरणार्थं **भेदा** इत्यादि प्रस्तावान्ते वृत्तमाह–

[भेदाभेदात्मनिष्ठेष्वपि मतिविषयेषु स्युर्नया लक्ष्यमाणाः,
लोके सापेक्षवृत्त्या जिनपतिसमये चार्थमात्रावलम्बे।
विज्ञेया दुर्णयाश्च कुमतिभूताः कोविदैः कोविदानाम्, २५
अन्यथा इदंतया······को नु विदधीत मानम् ॥२८॥]

भेदाभेदौ व्याख्यातलक्षणौ तावेवा**त्मानौ** वस्तुनः स्वभावौ, नैकान्तेन भिन्नौ, **तन्निष्ठेषु** तत्परेष्व[पी]स्यस्यानन्तरे पठितव्यः। किंभूतेषु? इत्याह–**मतिविषयेष्वपि** श्रुतविषयेष्वपिशब्दात्। तेषु किम्? इत्याह–**नयाः स्युः** ज्ञात्रभिसन्धयो भवेयुः। किंभूताः? **लक्ष्यमाणाः।** क? इत्याह–**लोके जिनपतिसमये च** जिनागमे च। कथं लक्ष्यमाणाः? ३०

(१) नयान्तरविषयगौणकारकाः। (२) मुखे एव वासितं शब्द इति भवति इति ऋजुसूत्राभिप्रायः।

इत्याह-**सापेक्षवृत्त्या** । किंभूते ? इत्याह-**अर्थमात्रालंबा(मात्रावलम्बे अ)र्थमात्रम्** उपलक्षणमेतत्, तेन [५३८ क] पर्यायमात्रग्रहणम्, तदवलम्बान(लम्बे न) केवलं नयो-(नया) **दुर्णयाश्च** स्युः । किंभूताः ? इत्याह-**क्रमनि(कुमनि)** इत्यादि । पूर्वेण विषयः अनेन हेतुः निर्दिष्टः । **नयाः दुर्णयाश्च विज्ञेयाः कोविदानां कोविदैः** पण्डितैः ५ इत्यर्थः । तत्प्रयोजनमाह-**मान** इत्यादि । **अन्यथा** नयाभावप्रकारेण **को नु विदधीत** न कश्चित् । कथम् ? इत्याह-**इदन्तया**।। कम् ? इत्याह-**मान** इत्यादि ।।छ।।

इति रविभद्रपादोपजीवि-अनन्तवीर्यविरचितायां सिद्धिविनिश्चयटीकायाम् अर्थनयसिद्धिः दशमः प्रस्तावः ।

[एकादशमः प्रस्तावः]

[११ शब्दनयसिद्धिः]

शेषास्तु य(पाः त्रयः) शब्दनया इत्युक्तम्[1], तत्र **शेषा** व्याख्यातुं तन्निबन्धनभूतं शब्दं निरूपयन्नाह–**प्रोक्त** इत्यादि ।

[प्रोक्ते व्याकरणे पुराऽक्षरपदान्युद्दिश्य तत्राक्षरम्,
द्रव्यात्माणुमयं मतोऽनुपवनं गत्यापि मूर्तं यतः ।
जन्मानन्तविवर्तिनः समुदयः तेषां पदं कृत्रिमम्, ५
नित्यं जन्मपरिग्रहादसदनुत्पत्त्या लभेत आतताम् ॥१॥

नित्यस्य सर्वथैव [सतः उत्पत्त्ययोगात्] तदभावैकान्ताविशेषे अक्षरादेः कारणमस्ति नेतरस्येति किंकृतमेतत् ? खरशृङ्गस्य पुनः यथा अनुत्पत्तेरसत्त्वम्, असत्त्वाच्चानुत्पत्तिरित्यन्योऽन्यसंश्रयदूषणं तथा अकारणत्वादनुत्पत्तिः अनुत्पत्तेरकारणत्वमिति समानम् । स्वस्माद्भावस्य जन्म व्याहतम् आत्मनि क्रियाविरोधादिति चेत्; कथमसति १० **पूर्वमुत्पद्य कार्यकालं गत्वा तत्करणे क्षणिकत्वम् ? यदि मायासुतः पूर्वं संसारी कथं पुनः तत्त्वाभ्यासाद् बुद्धो जातः ? कथञ्चित् सन्नेव सुगतत्वं प्राप्नोतीति समञ्जसम् । नापि मायासुतादन्यो बुद्धः संभाव्यते यतः परस्मादेव जन्म स्यात्, तत्त्वाभ्यासतत्फलयोः भिन्नाधिकरणत्वप्रसङ्गात् । सन्तानापेक्षया एकत्वेऽपि वस्त्वपेक्षया नानात्वं पितापुत्रयोरप्यस्ति । तत्र सन्ताननानात्वं नेतरत्रेति नापरं कारणमुत्प्रेक्षामहे अन्यत्र** १५ **द्रव्यभेदात् । कथं पुनः···? उक्तमत्र···]**

प्रथमम् उक्तम् **प्रोक्तं** तस्मिन् । कस्मिन् ? इत्याह–**व्याकरणे** साधुशनैः(शब्दानुशासन)लक्षणसमुदायरूपे । ननु नेदानीं तत्[2] केनचित् प्रथममुक्तम्, न हि कश्चिदाचष्टे पूर्वमेकान्तेन असद् व्याकरणतत्त्वमिदं मया इदानीं प्रादुर्भावितमिति चे[त्; अ]त्राह–**पुरा** इति । भगवतः प्रथमतीर्थकरस्य पुरुदेवनाम्नः काले । एवं हि श्रूयते–पुरा पुरुदेवो भरतादीन्[3] २० पाठयितुं पञ्चशताध्यायपरिमाणं स्व य म्भू ना म कं व्याकरणं चकार इति ।

ननु तस्यापि[4] अन्यतः तदध्ययनम् अस्मदादिवदिति चेत्; भर[भा र]ता दि वत् करणे[5] को विरोधः ? वेदाङ्गत्वविरोध इति चेत्; न; वेदस्यापि कृत्रिमत्वप्रतिपादनात् । न च तदङ्गत्वमस्य सिद्धम् । अथ केश्चित् तदङ्गत्वेन केनचित् तिरितरोद्भवद् ([6]तित्तिरोद्भववद्[7]); वेदस्यापि कृतत्वप्राप्तेः । '[8]नहि देवदस्यापि कृत्व प्राप्तेः' । नहि देवदत्तस्या [५३८ ख] गम(स्याङ्ग)- २५

---

(१) पृ० ६६२ । (२) व्याकरणम् ।(३) स्वपुत्रान् । (४) भगवतः । (५)महाभारत । (६) तित्तिरोपनिषद्वत् । (७) इति चेत्; । (८) 'नहि देवदस्यापि कृत्वप्राप्तेः'इतिद्विर्लिखितम् ।

दर्शनेन स मर्दितः स्यात्, अतिप्रसङ्गश्चैवम्। सर्वस्यापि ब्राह्मणकृतस्य नास्तिकादिशास्त्रस्य तदङ्गताप्राप्तेः, तथा च[न]दर्थानुष्ठानम्। अथ ब्राह्मणोऽसौ न भवति; कुत एतत् ? अप्रमाणार्थाभिधानात्; शब्दसाधुत्वे किं प्रमाणं येन तदनुवादकरणात् पा णि निः ब्राह्मणः स्यात्। श्र(शा)स्त्र मिति चेत्; अन्यत्र समानम्, अन्यस्यापि वेदाङ्गत्वप्रतिपादनात्। धर्महेतुतत्साधुत्व-
५ कथनात् स ब्राह्मण इति चेत्; न; अत्रापि प्रमाणाभावात्। अथ वैदिकशब्दानुशासनात् ब्राह्मणोऽसौ; अन्योऽपि वैदिकमात्रिकविवाहाद्यर्थानुशासनाद् ब्राह्मणोऽस्तु। वेदे सोऽर्थो नास्तीति चेत्; न; तच्छास्त्रस्य वेदाङ्गत्वात्। पुरुषकृतस्य कथं तदिति चेत्; न तर्हि पा णि ने स्तदङ्गता। पाणि नि ना तत्स्मृतमिति चेत्; प्रकृतेऽपि समानमेतत्।

किंच, जै ने न्द्रं पू ज्य पा दे न तीर्थङ्करादधीतं पुनर्विस्मृतं स्मृतमिति किन्नेष्यते ?

१० स्यान्मतम्–पा णि नि मतानुसरणं तत्र श्रूयते, दृश्यते च; तत्रापि परमतानुसरणं श्रूयते दृश्यते च इति समानं परस्यापि परानुसरणम्। यथा च इदानीम् अन्यमतानुसरणात् केषांचिद् व्याकरणं तथा द्विजानामपि पुरा परमतानुसरणात् तत्करणे को विरोधः ? तन्न अतो व्याकरणस्य तदङ्गता।

अथ वेदार्थप्रत्यायना[त्] तदङ्गता; न; तत्र शब्दाः केवलं व्युत्पाद्यन्ते, तैत्र ते
१५ व्युत्पादिताः तदर्थवद् अन्यमपि सङ्केतात् कथयन्ति। यथा च [५३९क] क्वचित् सामान्यलक्षणा-(ण)परिगृहीता वैदिकाः शब्दा व्युत्पाद्यन्ते तथा अन्यत्र अन्य इति समानम्। यदि मतम्–वेदोक्तशब्दाश्रयणात् तदिति तत्तदङ्गमिति; तदास्तां तावत्। तत्र तदनादि इतरशास्त्रवत्।

किं कृत्वा प्रोक्तम् ? इत्याह–**उद्दिश्य** अवलम्ब्य। कानि ? **अक्षरपदानि** *"**अचीको-यश्चि**"("**अचीको यण्**")[जैनेन्द्र० ४।३।६५] इत्यादावक्षराणि *"**सुम्मिङन्तं पदम्**"[जैने-
२० न्द्र० १।२।१०३] इत्यादौ पदानि "**ननु धुयोगे**" *("**धुयोगे त्वा**") [जैनेन्द्र० २।४।१] इत्यादौ वाक्यान्यपि उद्दिश्य तत्प्रोक्तम्, तत्कथमिह तदग्र[ह]णमिति चेत् ? न; तदुपलक्षणत्वाद् अस्य। द्वयोज(योरु)पादानमनर्थकम् एकेन उपलक्षणादिति चेत्; न; मीमांसकं प्रति दृष्टान्तार्थत्वात् पदोपादानस्य। तथाहि–यथा 'गौः इत्यत्र न गकारादिव्यतिरेकेण पदम्, *"**अथ गौः इत्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षः।**" [शाबरभा० १।१।५]
२५ इति वचनात्, तथा नाक्षरं तदवयवव्यतिरेकेण। सावयव(वं) चाक्षरं यद्वक्ष्यति '**अणुमयम्**' इति तन्मयस्य घटादिवत् सावयवत्वात्। तथापि अक्षरभाववत् तदभावोऽपि इति तत्र किम् ? इत्याह–**तत्र** इत्यादि। अनेन शब्दनिरूपणे स्वातन्त्र्यमात्मनो निराकरोति। **तत्र** व्याकरणे, 'तेषु वा मध्ये' इत्येके, **अक्षरं** वर्णजात्यपेक्षम् एकवचनम्। किम् ? इत्याह–**द्रव्यात्म** द्रव्यस्वभावम्। पुनरपि किंभूत(तम् ?) इत्याह–**अणुमयम्** भाषापरमाणुविकाररूपम्।

३० ननु परमाणुविकारस्य घटादिवद् द्रव्यात्मकत्वाव्यभिचारात् किं द्रव्यात्मपदेन इति चेत्; न; एकान्ताभावात्। तद्विकारो हि कश्चिद् गुणः श्यामत्वरक्तत्वादिवत्, अपरः कर्म गमनादिवत्,

(१) देवनन्दिना आचार्येण। (२) इति चेत्;। (३) वेदाङ्गता। (४) व्याकरणे। (५) अक्षरपदयोः। (६) अणुमयस्य। (७) व्याख्याकाराः। (८) परमाणुविकारः।

अन्यो द्रव्यं कुम्भादिवत्, तत इतरव्यवच्छेदेनास्य [५३९ख] प्रतिपादनार्थं द्रव्यात्मग्रहणम्। तदपि किमर्थमिति चेत्? उच्यते-*"**गुणः शब्दः निषिध्यमानद्रव्य[कर्म]भावत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात् रूपादिवत्**" इत्यत्र असिद्धताप्रतिपादनार्थं हेतोः तत्। तथाहि-शब्दे निषिद्ध्यमानकर्मभावत्वे सत्यपि द्रव्यत्वनिषेधाभावात्, प्रमाणबाधनात्। किं तत् प्रमाणमिति चेत्? कथ्यते-द्रव्यमक्षरं क्रियावत्त्वात् लोष्टवत्। क्रियावतो हि परेणापि द्रव्यत्वमिष्यते-*"**क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यम्**" [वैशे० सू० १।१।१५] इत्यभिधानात्। न च क्रियावत्त्वं तत्राऽसिद्धम्; अक्षरं क्रियावत् क्रमेण देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात् वाणवत्। परेणापि तथा वक्तृमुखदेशात् श्रोतृश्रवणदेशप्राप्तस्य ग्रहणोपगमात् *"**चक्षुःश्रोत्रमनसाम् अप्राप्तकारित्वम्**" इति वचनात्। ५

उत्पत्तिदेश एव गृह्यते इत्येके; तेषाम् अनुवातप्रतिवाताभ्यां तद्ग्रहणाग्रहणे न स्याताम् स्तम्भवत्। नहि स्तम्भः स्वदेशस्थो गृह्यमाणः अनुवाते गृह्यते न प्रतिवात इति दृष्टम्। अथ प्रतिवातेन प्रतिघातः श्रोत्रस्य विधीयते; ननु प्राप्तः सः प्रतिघातकारी नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्। ततः शब्ददेशाद् यदा श्रोतृदेशं याति वायुः तदा शब्दग्रहणं भवेत्। तस्य तेन प्रतिघातान्नेति चेत्; न; अन्यत्र तथा[ऽ]दर्शनात्। एतत्(तु)स्यात, प्रतिवायुना श्रवणप्रतिकूलदेशोपनीतो नोपलभ्यते तूलादिवदिति योग्यतावदिति(ग्यसामग्री)विरहात् प्रतिवचने अग्रहणो (प्रतिवाते अग्रहणम् अ)योग्यत्वात, अन्यथा समे अनुकूले वा मरुति ग्रहणं न स्यात्। सैव सामग्रीति [५४०क] चेत्; निर्वाते न ग्रहो भवेत्। अत्रापि सैव सामग्रीति चेत्; स्या[द्य]दि वाताभावः पदार्थान्तरं भवेत्। शब्दरूपमेव इति चेत्; तत् प्रतिकूलेऽपि अनिले अविकलम्। 'तेन तस्य ग्राह्यता शक्तिः प्रतिहता' इत्यपि नोत्तरम्; तत्रस्थस्यैव तच्छक्तिः प्रतिहता, उत देशान्तरं नीत इति [न] निश्चयहेतुरस्ति। वयं तु ब्रूमः 'देशान्तरं नीतः' तत्रस्थैः श्रवणात्। नच क्षणिकवादिनो गन्धादिवद् भिन्नदेशोत्पत्तिः शब्दे विरुद्ध्यते। तथापि न श्रोत्रप्रदेशं प्रति तदुत्पत्तिरिति चेत्; तद्भावेऽपि न किंचिद् विरुद्ध्यते। 'दूरे शब्दः' इति प्रतीतिर्विरुध्यते इति चेत्; तत्र [तन्न;] गन्धेऽपि तत्प्रतीतिभावात्। ततोऽक्षर(रं) क्रियावदेव। आह-**अनुपवनं गत्यापी**ति पवनेन सह अनुपवनं शब्दस्य या गतिः तया तद्द्रव्यात्मा **अपि**शब्दः उक्तहेतुसमुच्चये, तेन स्पर्शसंख्यावत्त्वेन इत्यादि ग्राह्यम्। १० १५ २० २५

ननु गन्धस्य अनुवचनं(अनुपवनं) गतिरस्ति तथापि न द्रव्यम् अतो व्यभिचार इति; न; पक्षीकरणात्। गन्धवद् द्रव्यम् अनुपवनं गतिमत् न गन्धः, तथापि उपचारेण सोऽपि

(१) अनुमाने। (२) बौद्धः प्राह। (३) "अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि"-अभि० को० १।४३। "चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयमुपात्तानुपात्तमहाहेतुः शब्द इति सिद्धान्तात्।"-तत्त्वसं० प० पृ० ६०३। उद्धृतमिदम्-न्यायकुमु० पृ० ८३। सन्मति० टी० पृ० ५४५। स्या० रत्ना० पृ० ३३३। (४) बौद्धाः। (५) प्रतिवातः। (६) अथवा। (७) इति। (८) देशान्तरस्थैः। (९) शब्दोत्पत्तिः। (१०) स्पर्शवत्त्वात्, संख्यावत्त्वात्, संयोगवत्त्वात् इत्यादि ग्राह्यम्। (११) गन्धोऽपि।

तद्वान् व्यपदिश्यते यथा तथा अक्षरमपि चेत्; किं पुनः गन्धाधारस्य द्रव्यस्येव शब्दाधारस्य गतिरस्ति येनैवम् ? नो चेत्; कथम् उपचारकल्पना ? अथ वायुगतेः अक्षरे अध्यारोपात् तद्वत्[1]; तथा गमनमपि भवेत्।

स्यान्मतम्, गगने तदध्यारोपनिमित्तं नास्ति; किं पुनरक्षरे अस्ति ? तत्साहचर्यमिति
५ चेत्; न; निष्क्रियस्य तस्य कीदृशं वायुना साहचर्यम् ? न हि घोटकारूढराजवत् वाय्वारूढस्य देशान्तरे प्राप्तिरस्ति। भावे वा शब्दे [५४०ख] संयोगवृत्तिः[4]।

अथ मतम्, यं देशमुपसर्पति वायुः तत्र देशे समवायिकारणाद् आकाशाद् असमवायिकारणात् पूर्वशब्दाद् विनश्यतात् (विनश्यतस्तात्-) तोऽपरापरशब्दभावात् साहचर्यमिति[5]; पांश्वादिवत् तस्यैव गतिपरिणामे को दोषः ? क्षणिकत्वान्न तत्परिणामः; कुतः क्षणिकत्व-
१० मुच्यते ? 'क्षणिकः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् सुखादिवत्' इति चेत्; न; वक्ष्यमाणगुणा(णो)त्तरत्वात्। यद्वक्ष्यति **नित्यं जन्मपरिग्रहात्** इति। चर्चितं चैतदस्माभिः द्रव्यसिद्धिप्रकरणे। ततः स्थितम्–**अक्षरं द्रव्यात्मा अनुपवनं गत्यापि** लोष्टवदिति।

स्यान्मतम्–द्रव्यात्मत्वेऽपि नानुपवनं गतिः, सर्वगताऽमूर्तत्वात् आकाशवदिति चेत्;
१५ अत्राह–**अणुमयम्** इति। **अणवो** भाषापरमाणवः तद्विकारः तन्मयम्[8] ततोऽसिद्धो हेतुः 'सर्वगतामूर्तत्वात्' इति। नहि तद्विकारस्य तत्त्वम्; विरोधात्। तन्मयं कुत इति चेत् ? आह–**मूर्त्तं (र्त्तं)** रूपरसगन्धस्पर्शवन्मूर्त्तं पूर्वाचार्यैरभ्युपगतं यतः। तथाहि–अक्षरमणुमयं मूर्त्तत्वात् पटादिवत्। मूर्त्तत्वं च *"शब्दः पुद्गलपर्यायः" [सिद्धिवि० ७।२] इत्यत्रावसरे प्रतिपादितम् नेह पुनरुच्यते। यदि वा, द्रव्यस्वभावमपि मीमांसककल्पितं न(तत्)
२० स्यात्; इत्यत्राह–**अणुमयं**। तदपि कुतः ? इत्याह–**मूर्त्तं यतः**। एतदपि केन ? इत्याह–**अनुपवनं गत्यापि मतं** न केवलं शरीरावयवविशेषस्प(स्पृ)ष्टादिनैव इति **अपि**शब्दः[9] तथाहि–अनुपवनं गत्या तस्य तृणादिवत्तेन संयोगविशेषोऽनुमीयते [५४१क] तदभावे तदभावात्। ततश्च स्पर्शविशेषः, तस्माच्च रूपादिः इति।

परः प्राह–ताल्वादिसंयोगविभागजाः शब्दाभिव्यक्तिहेतवः पवनेन वायवः प्रेर्यन्ते,
२५ तैस्तु यथावस्थितमक्षरं व्यज्यते, अतोऽनुपवनं गतिरस्य असिद्धा इति; तन्न; नित्यस्य व्यक्तिनिषेधात्। भवतु अक्षरं[10] तन्मयम्, तदभिव्यङ्ग्यं पदं नित्य मूर्त्तत्वं (त्यममूर्त्तं) स्यादिति चेत्; अत्राह–**पद(पदं)समुदयः तेषा**मक्षराणां तद्व्यतिरेकेण तदनुपलब्धेः इति भावः। ततः किम् ? इत्याह–**मतम्** अभ्युपगतम् **कृत्रिमं** कृतकपदम्। नहि कृतकसमुदायोऽन्यथा[11]; अतिप्रसङ्गात्। क्षणिकत्वात्तस्य, नानुपचारादिति[12] वैशेषिकादिः; तं प्रत्याह–**नित्यम्**

(१) अक्षरं गतिमत् भाति। (२) वायुगत्यध्यारोपात् क्रियावत् भवेत्। (३) शब्दस्य। (४) संयोगसम्बन्धस्वीकारे सुतरां द्रव्यत्वोपपत्तिः। (५) इति चेत्;। (६) शब्दस्यैव। (७) इति चेत्;। (८) विकारार्थे मयट्। (९) अपिशब्दार्थः। (१०) अणुमयम्। (११) नित्यः। (१२) किन्तु उपचारादेव इति।

इत्यादि । **नित्यं** ध्रुवम् कथंचिदक्षरम् । कुतः ? इत्याह–**जन्मपरिग्रहात्** । ननु विरुद्धोऽयं हेतुः ; प्रागसतः पुनरात्मपरिग्रहलक्षणत्वात् जन्मनः, नित्ये च कालत्रय[नुया]यिनि तन्न संभवति इति चेत् ; अत्राह–**असदनुत्पत्त(त्त्या)** इत्यादि । [न] सतो विद्यमानस्य आत्मलाभः । कया ? इत्याह–**असतः** खरविषाणसमानस्य **अनुत्पत्त्या** । तस्य कुतश्चिदात्मलाभो विरुद्ध्यते इति चेत् ; अत्राह–**जन्म** इत्यादि । **जन्मन्येव अनन्तविवर्त्ताः** परिणामाः ५ तद्वतः, एकान्तेन सतः आत्मलाभ(भो) विरुद्धो न परिणामिनि इति भावः । सप्रपञ्चं तन्नित्यत्वं साधयन्नाह–**नित्यम्** इत्यादि । परिणामनित्यम क्षरम् । कुतः ? **उत्पत्तेः** । विरुद्धो हेतुः इति चेत् ; अत्राह–**लभेन** इत्यादि । कुत एतदपि ? इत्याह–**जात** इत्यादि । सुगमम् ।

विरुद्धतां परिहरन् कारिकार्थमाह–**नित्यस्य** इत्यादिना । सर्वथा असत उत्पत्तौ को दोष इति चेत् ? अत्राह–**सर्वथैव** इत्यादि । [५४१ख] स्यान्मतम्, अक्षरा(रस्य आ)काशादिकं १० कारणमस्ति तेन उत्पद्यते, न तु खरशृङ्गादि विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह–**तदभावैकान्तो(न्ताऽ)-विशेष** इत्यादि । **तयोः** अक्षरादिखरविषाणयोः **अभावैकान्ताविशेष** सति **अक्षरादेः कारणमस्ति न इतरस्य** खरशृङ्गस्य इत्येवं **किंकृतमेतत्** ।

ननु खरशृङ्गमकारणम् अनुत्पत्तेः नाक्षरादिः विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह–**पुनः** इत्यादि । [अयम्]अभिप्रायः, खरविषाणामकारणम् इति साध्यम्, अनुत्पत्तेरिति हेतुः, तेन च सिद्धेन १५ भाव्यमिति, तस्य कुतः सिद्धिः ? असत्त्वादिति चेत् ; उच्यते–**पुनः** इति वितर्के, **खरशृङ्गस्य यथानुत्पत्तेः** सकाशादसत्त्वं सिद्ध्यति **असत्त्वाच्च अनुत्पत्तिः** इति **एवमन्योऽन्यसंश्रयदूषणं तथा** तेन प्रकारस्य(रेण) **अकारणत्वादनुत्पत्तिः अनुत्पत्तेरकारणत्वम्** इत्येवं **समानम्** अन्योऽन्यसंश्रयदा(यापादनम्) ।

परो ब्रूयात् न असत्त्वात् तदनुत्पत्तिः साध्यते यतोऽयं दोषः, अपि तु कारणाभावादिति, २० तदा इदं वक्तव्यम् इत्यभिप्रायः । तदेवमनुत्पत्तेरसिद्धेः अकार(रादि) विशेषणमनुत्पत्तिः इत्यसमञ्जसम् ।

ननु सर्वगमिदं चोद्यम् । तथाहि–जीवः पुद्गलादुपादानकारणात् कुतो न भवति ? तस्य तदकारणत्वादिति चेत् ; एतदपि कुतः ? ततोऽनुत्पत्तेः इति चेत् ; सापि कुतः ? तदाकारणत्वात्[1] ; पूर्ववदन्योऽन्यसंश्रयः । तत्र तस्य असत्त्वादनुत्पत्तिः इति चेत् ; असत्त्वं कुतः ? २५ अनुत्पत्तेश्चेत् ; स एव प्रसङ्गः । एवं सर्वत्र कत्तव्यम्(वक्तव्यम्) । अथ जीवस्य द्रव्यसतः पुद्गलोपादेयतया [५४२क] अदर्शनात् तत्रासत्त्वम् अतश्च ततस्तदनुपपत्तिः अस्यास्तेन्तदकारणम् इत्यन्योऽन्यसंश्रयाभावः, एवमन्यत्रापि तदभावः स्यादिति चेत् ; सत्यं स्यात्, किन्तु प्रतीतिरनुसृता स्यात्, न विचारमात्रम् । तथा सति मृत्पिण्डात् घटादिकं तत्र मृद्द्रव्यादिरूपेण सदेवं(सदेव) जायते तथाप्रतीतेः, न खरविषाणं विपर्ययात् । यद्वक्ष्यति–*"**बहिरन्तश्च**" ३० [सिद्धिवि० ११।३] इत्यादि । परमतमाशङ्कते **स्वसादि**[त्यादि] **भावस्य** कार्यपदार्थस्य

(१) इति चेत् । (२) जीवो न पुद्गलकारणकः ।

जन्म उत्पत्तिः व्याहतम्। कुतः ? इत्याह–स्वस्मात् आत्मनः सकाशात्, आत्मनि क्रियाविरोधात् इत्येवं चेत् ; एतद् दूषयन्नाह–कथम् इत्यादि । सति कारणे तस्य जन्म इत्यदोष इति चेत ; अत्राह–असतीत्यात्र[यम]भिप्रायः–पूर्वमुत्पद्य 'कार्यं' कार्यकालं गत्वा तत्करणे क्षणिकत्वम् ? कार्येण सह कारणोत्पत्तौ सन्तानोच्छेदः इति विरोधः ।

५ पुनरपि 'यदि' इत्यादिना पराभिप्रायमाशङ्कते, 'कथम्' इत्यादि अत्र दूषणम् । मायासुतः माया नाम सुगतस्य जननी तस्याः पुत्रः पूर्वं संसारी पुनः पश्चात् तत्त्वाभ्यासाद् बुद्धो विधूतकल्पनाजालपर्यायस्वभावो जातः । एतदपि नेष्यते इति चेत् ; अत्राह–कथंचित् सच्चेतनादिरूपेण सन्नेव सुगतत्वम् अपुनरावृत्त्यादिधर्मकत्वं प्राप्नोति इति समञ्जसम् वन्ध्यासुतवत्।

ननु न मायासुतः सुगतो भवति *"गन्ता नास्ति शिवाय चास्ति गमनम्"इति वचनात्,

१० अपि तु तद (तदु)पादानादन्य एव सुगतो भवतीति चेत ; अत्राह–नापि इत्यादि । मायासुतात् कारणभूता[दन्यः] बुद्धो जातः संभाव्यते नापि यतः संभावनात [५४२ख] परस्मादेव वस्त्वन्तरादेव जन्म स्याद् बुद्धस्य । कुतो न संभाव्य इति चेत ? तत्त्वाभ्यासतत्फलयोः भिन्नाधिकरणत्वप्रसङ्गात् ।

परस्य मतमाशङ्कते–सन्तान इत्यादि । मायासुत-सुगतत्वयोः सन्तानापेक्षया एकत्वेऽपि

१५ वस्त्वपेक्षया मायासुतसुगतस्वलक्षणापेक्षया ना(नाना)त्वमिति चेत ; अत्राह–पिता इत्यादि । हेतुफललक्षणप्रबन्धः सन्तानः पितापुत्रयोरप्यस्तीति भावः ।

स्यान्मतम्–हेतुफललक्षणप्रबन्धविशेषः स तयोर्नास्ति इति भिन्नसन्तानत्वमिति चेत् ; अत्राह–तत्र इत्यादि । तयोः पितापुत्रयोः सन्ताननानात्वं नेतरत्र इतरयोः मायासुतसुगतयोर्न सन्ताननानात्वं तत्र तदेकत्वम् इत्यर्थः, इत्येवं मते नापरं कारणमुत्प्रेक्षामहे । कुतो ना-

२० परम ? इत्याह–द्रव्य इत्यादि । यत्र(अन्यत्र) द्रव्यभेदस्तु(भेदात्) । [यत्र द्रव्यभेदः] तत्र सन्तानस्य नानात्वं यत्र तदभेदः तत्र एकत्वम्, अन्यथा हेतुफलभावविशेषोऽपि दुर्लभ इति निरूपितम् ।

पुनरपि परमतमाशङ्कते–कथं पुनः इत्यादि ; तत्रोत्तरम्–उक्तमत्र इत्यादि ।

तदेव दर्शयन्नाह–स्थूल इत्यादि ।

२५ [स्थूलमेकं सकृत्तत्त्वं बाह्यं जायेत घटादि चेत् ।
क्रमेणान्तर्विवर्तेत वेद्यवेदकलक्षणम् ॥२॥

एकस्य···]

बाह्यं घटादि तत्त्वं चेत् यदि । किंभूतम् ? इत्याह–स्थूल इत्यादि । विद्वेद्यवेदकलक्षणं चान्तः तत्त्वमिति गम्यते, सकृदेकदा जायेत तर्हि क्रमेण एकं तत्त्वं विवर्त्तेत

३० इत्युक्तम् ।

(१) 'कार्यं' इति व्यर्थमत्र । (२) पितापुत्रयोः ।

कारिकाविवरणम्–**एकस्य** इत्यादि । अनेकधा विवृतार्थमिति नेह विव्रियते ।

ननु सर्वस्य विचारतोऽयोगात् कस्य कुतोऽनेकान्तसाधनमिति चेत् ? अत्राह–**बहिरन्त:** इत्यादि ।

[बहिरन्तश्च परीक्षायामेकान्तेष्वनवस्थितिः ।
साक्षात्कृतमनेकान्ततत्त्वं सम्प्रतिपादयेत् ॥३॥　५

यथैव हि एकान्तवादिनः अणूनामप्रतिभासनान्न चक्षुरादिविषयहेतुत्वमिति न किञ्चित् प्रत्यक्षव्यपदेशभाक् । परमाणुषु स्थूलैकाकाराभावात्, तद्व्यतिरिक्तस्य च कस्यचिदभावात् । कस्यचित्परस्याभावात् कस्य वा स्वसंवेदनम् ? यथाप्रतिभासमसम्भवात् । अप्रामाणिक···तथैव स्वयमभिमतं व्यवस्थापयन् एकान्तमवलम्ब्य पुनरपि विचारभङ्गुरत्वं पुनरपि सत्तां निवर्तयन् न केवलं स्वामेव वृत्तिं स्ववाचा विडम्बयति अपितु अनेकान्ततत्त्वं　१०
समर्थयति ।]

एकान्तेषु [५४३क] सकलशून्यतादिनियमप्रवादेषु । क ? इत्याह–**बहिरन्तरि**[ति] तेषु किम् ? इत्याह–**अनवस्थितिः** । **बहिरन्त**स्तत्त्वस्य पूर्वकारिकोपात्तं **तत्त्व**पदं जात-[1]विभक्तिपरिणाममिह सम्बध्यते । कस्यां सत्याम् ? इत्याह–**परीक्षायां** विचारे सति इत्यर्थः । सा किं कुर्यात् ? इत्याह–**संप्रतिपादयेत्** । किम् ? **अनेकान्ततत्त्वम्** । किंभूतम् ? इत्याह–　१५
साक्षात्कृतमिति । [2]कैम्पर्यमत्र सकलस्य एकान्तस्य अनवस्थानात् न तदवलम्बनेन कचिद् विधिप्रतिषेधव्यवहारः । सांप्रतम् अनेकान्ततत्त्वावभासनमवशिष्यते । तच्चेत मिथ्या ; निरालम्बा विधिप्रतिषेधव्यवस्था । ततः परमार्थदर्शि[नम]नेकान्ततत्त्वं विधिप्रतिषेधव्यवहारान्यथानुपपत्तेः इति ।

'**यथैव हि**' इत्यादिना कारिकां विवृणोति–य(त)**थै**वेति गम्यते यत्तदोः नित्यसम्बन्धात् ।　२०
ततोऽयमर्थः–**यथैव हि किम् ? न किंचित् प्रत्यक्षव्यपदेशभाग् एकान्तवादिनः** । कुतः ? इत्याह–**चक्षुरादिविषयहेतुत्वमणूनां** यतः । कुतः ? इत्याह–**अप्रतिभासना**त्तेषामिति । यद्वक्ष्यति–*"**न चैकरूपेना(पेण अ)नेकार्थानुकरणं विरुद्धम्**" [सिद्धिवि० ११।२१] इत्यादि ।

स्यान्मतम्–परमाणुत्वा (णुभ्वा) त्मभूतः कश्चिदेकः स्थूल उपकारोऽस्ति स तद्व्यपदेशभाक् स्यादिति चेत् ; अत्राह–**परमाणुषु स्थूलस्यैकस्य आकारस्याऽसंभवात्** । किंभूतेषु ? **संचितेष्वपि**　२५
न केवल(लं) पृथगवस्थितेषु घटादिवत् परमाणुत्वविरोधात् किं प्रत्यक्षस्य व्यपदेशभागिति ।

अथ मतम्–तेभ्यो भिन्न[ः] क्रियागुणवान् दृश्य आकारः तद्व्यपदेशभागिति चेत् ; अत्राह–**तद्व्यतिरिक्तस्य च** परमाणुभ्यो भिन्नस्य च [५४३क] **कस्यचिदवयव्यादेरभावात् किं प्रत्यक्षव्यपदेशभाक्** ? विचारितश्चायं परो (पक्षो) नेह विचार्यते । अत एव*"**स्वरूपस्य च स्वतो गतिः**" [प्र० वा० १।५] इति चेत् ; अत्राह–**कस्यचिद्** इत्यादि । परमाणु[षु] स्थूलैका-　३०

(१) षष्ठी । (२) तात्पर्यमित्यर्थः । (३) परमार्थदर्शनविषयीकृतम् ।

कारत्र्यनिरेकेण परस्य अभावात् कस्य वा स्वसंवेदनम् ? न कस्यचित् । स्वसंवेदनधर्मस्य धर्मिनिष्ठत्वात्, अन्यथा स्वरविषाणं स्वसंवेदनं भवेत् ।

ननु नीलादि यथावभासते तत्तथैव स्वसंवेदनम्, *"यद् यथैव अवभासते तत्तथैव परमार्थसत्" इत्यादेः *"यदवभासते तज्ज्ञानम्" इत्यादेश (श्च) वचनादिति चेत्; अत्राह–
५ यथाप्रतिभासम् इत्यादि । प्रतिभासानुसारेण यथाप्रतिभासमसंभवात् तत्त्वस्य किन्तु (किन्तु) तद्व्यपदेशभाक् कस्य वा स्वसंवेदनम् ? तदसंभवश्च विचारायोगात् । सकलशून्यता स्यादिति चेत्; अत्राह–अप्रामाणिक इत्यादि । तथैव स्वयम् आत्मना अभिमतम् एकान्ततत्त्वम् व्यवस्थापयन् न केवलं स्वस्यैव वृत्तिं चरितं स्ववाचा विडम्बयचेत् साधयति(यति कुत्सापयति) अपि तु समर्थयति अनेकान्ततत्त्वं तदन्तरेण प्रतिभासाद्वैतादेरप्यसंभवात् । किं-
१० कुर्वन् स्ववृत्तिं वाचा विडम्बयति ? इत्याह–एकान्त इत्यादि । प्रथमं क्षणिकत्वाद्येकान्तमव-लम्ब्य पुनरपि विचारचंचुर(चारभङ्गुरत्वम)वलम्ब्य पुनरपि विचारत (रान्ते)कान्तदर्शनात सत्तां विरागात्मतां निवर्त्तयन् अभ्युपगतत्वं दूषयन्नित्यर्थः ।

एकान्तदर्शनमाश्रितं नहि व्यवस्थापयति इति चेत् ; अत्राह–भाव इत्यादि ।

[भावो येनात्मना सिद्धः कथञ्चित्तेन जायते ।
१५ ज्ञानं येनात्मना सिद्धं यथा तेनावभासते ॥४॥

द्रव्यस्य सदादिरूपेण भाव्यम्, येन प्रत्युत्पादं भिद्येत । पर्यायः अक्षरादिव्यप-देशभाक् सदसदात्मकत्वात्तस्य । भेदैकान्तदर्शनेऽपि तदनिराकृतेः । यथा चित्रमेकं ज्ञानं बोधाकारेण सर्वत्राविशिष्टं तं स्वभावं बिभर्त्ति येन प्रतिविषयं भिद्येत इति तथा प्रकृतमपि । न चायमाकारः विरुद्धधर्माध्यासभयात् परमार्थतोऽङ्गीक्रियते । तदनेकान्ता-
२० त्मकत्वे परिणामाविरोधात् । भेद''' सर्वथा तत्त्वप्रतीतिनान्तरीयकत्वादतत्त्वप्रतिभास-ज्ञानस्य । यथा''']

भावो जीवादिः येनात्मना सच्चेतनादिस्वभावेन सिद्धः [५४४ क] सर्वदा लब्धात्मलाभः, तेन जायते उत्पत्ति[मान् भवति] उपलक्षणमेतत्, तेन विनश्यति[तिष्ठति] च । किं सर्वथा[सर्वा]त्मना ? न, इत्याह–कथंचित् इति । एतदुक्तं भवति–भाव एव उद्यति (उदेति)
२५ विनश्यति तिष्ठति नान्ये पर्याया इति । अत्र निदर्शनमाह–'ज्ञानम्' इत्यादि । ज्ञानं स्वसंवेदनं येनात्मना सच्चेतनादिस्वभावेन सर्वत्र साधारणेन सिद्धं ज्ञानं (ज्ञातं) निष्पन्नं वा यथा तेनावभासते प्रति[भासते] 'कथंचित' इति सम्बन्धः । तथाहि–सौत्रान्तिकमते न तत् क्षणक्षपाव (क्षण्यव) भासते; तदनुमानवैयर्थ्यापत्तेः । नापि स्वकारणात्; अर्थस्य नीलाकारेणैव-(णेव) जडाकारेणापि;[3] जडतापत्तेः । नच चित्रज्ञानं बोधा[का]रेणैव[4], नीलाकारेणापि पीताद्या-
३० कारे प्रति[भासने] चित्रताहानेः । सुगतज्ञानम् आत्मानं यथास्वम् अतीतपूर्वक्षणोपादेयं पश्यति

(१) स्वसंवेदनविषयम् ।(२) अनेकान्तमन्तरेण । (३) ज्ञाने आकाराधायकत्वे सति । (४) ज्ञानस्य । (५) प्रतिभासते ।

नैवं तथाविधोत्तरक्षणोपादेयम् ; विभ्रमप्राप्तेः हेतुफलभावानवस्थितेर्वा[1] इति । योगाचारदर्शने तत् ग्राह्याकारविवेकम् आत्मनो न पश्यति भ्रान्त्यभावप्रसङ्गात् । भ्रान्तैकान्तेऽपि न विभ्रमम्[2] । अत एव सर्वविकल्पातीततत्त्वे[3] तदतीतत्वम्, स्थूलादिदर्शनादिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**द्रव्यस्य** इत्यादि । **द्रव्यस्य** जीवादेः **सदादिरूपेण** स्वरूपादिचतुष्टयेन यत्सत्त्वं **तदादिर्यस्य** पररूपादिचतुष्टयेन असत्त्वादेः तत्तथोक्तम् । तच्च **तद्रूपं च** ५ तेन **भावम्(भाव्यम्)** अन्यथा तद[4]व्यवस्थितिः इति दे वा ग मा दे[5] वगन्तव्यम् । **येन** तद्रूपेण **प्रत्युत्पादं भिद्येत** नाना भवेत् द्रव्यम् । अक्षरादिरेव द्रव्यं प्रत्युत्पादं भिद्यते । [५४४ ख] तदुक्तम्–

*"अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्तते अर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥" [वाक्यप० १।१] १०

इति चेत्; अत्राह–**अक्षरादिव्यपदेशभाक्** । किम् ? इत्याह–**पर्यायः** पुद्गलादिद्रव्यविकारो न मूलद्रव्यमित्यर्थः । कुतः ? इत्याह–**सदसदात्मकत्वात्** उपलभ्यमानः पर्यायः सन्, तद्विपरीतः पूर्वोऽपरश्च असन् तौ आत्मानौ यस्य तस्य भावात् तत्त्वात् **तस्य** द्रव्यस्य इति । न च अक्षरादि तथाविधम् । यदि वा, यदुक्तम्–'**द्रव्यस्य सदादिरूपेण भाव्यम्**' इति; कुत एतत् ? इत्याह–**सदे**त्यादि । १५

ननु द्रव्यादेकान्तेन उत्पादादयो भिन्नाः; तत्कथं प्रत्युत्पादं तद्भिद्येत ? नहि अन्यस्य भेदे अन्यद्भिद्यते इति चेत्; अत्राह–**भेदैकान्तदर्शनेऽपि** इत्यादि । द्रव्यपर्याययोः भेद एव **भेदैकान्तः** तस्य **दर्शने** मते **अपिशब्दः** भावनायां तद्दर्शनस्य पूर्वं निरासात् । किम् ? इत्याह–**तद्** इत्याह (त्यादि) । **तत्** प्रत्युत्पादं द्रव्यभेदस्वभावस्य **अनिराकृतेः** कारणात '**येन प्रत्युत्पादं भिद्येत**' इति सम्बन्धः, द्रव्यस्य स्वभावभेदमन्तरेण भिन्नोत्पादाद्ययोगात् इति प्रत्ययादि[ति] । ततो २० यदुक्तम्–*"**शब्दाधारो द्रव्यं विभु द्रव्यत्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षविशेषगुणत्वात् आत्मवत्**" इति; तन्निरस्तम्; साध्यदृष्टान्तयोः नित्यत्वैकान्त(न्ताऽ)सिद्धेः । निषिद्धं चात्मनि विभुत्वम् । विभुनोऽप्रत्यक्षस्य गगनस्य अन्यस्य वा गुणश्चेत् शब्दः; न अस्मदादिप्रत्यक्ष इत्युक्तम् । तन्न किंचिदेतत् ।

कथमेकमनेकाकारमिति चेत् ? अत्राह–**यथा** इत्यादि । [५४५ क] **ज्ञानं चित्रमेकं** २५ संवेदनं **बोधाकारेण** सर्वत्र नीलादौ बाह्येऽविशिष्टं **तं स्वभावं बिभर्त्ति येन प्रतिविषयं भिद्येत इति** एवं यथा **तथा प्रकृतमपि** इति । एतत् सौत्रान्तिकं प्रति उक्तम् । योगाचारं प्रत्याह **नच** इत्यादि । **न चायमाकारः** स्थूलाकारः **अस्य** ज्ञानस्य **परमार्थतोऽङ्गीक्रियते** सौगतेन एकत्र **विरुद्धधर्माध्यासभयात्** । एवं मन्यते–यदि अयमस्य भ्रान्त आकारः एकस्य विभ्रमेतरात्मता न भवति विषयविवेकादर्शना[द्] दृश्येतररूपता इति नीलाद्याकारैश्चित्रमेकं तदि- ३०

(१) प्राप्तेः । (२) स्वयमेव पश्यति । (३) सर्वविकल्पातीतत्वं स्वयमेव न पश्यति । (४) द्रव्याव्यवस्थितिः । (५) आप्तमीमांसाग्रन्थात् । (६) अतीतो भविष्यंश्च ।

ज्यते इति चेत ; अत्राह–**तद्** इत्यादि । **तस्य ज्ञानस्य अनेकान्तात्मकत्वे** अङ्गीक्रियमाणे **परिणामाविरोधात्** । '**द्रव्यस्य**' इत्यादि सम्बन्धः । भ्रान्तमनेकान्तात्मकत्वमिति चेत् ; अत्राह–**भेद** इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**सर्वथा** इत्यादि । **तत्त्वप्रतीतिनान्तरीयकत्वाद-तत्त्वप्रतिभासज्ञानस्य** इति । तथापि तदुपपत्तौ दूषणमाह–**यथा** इत्यादि । सुगमम् ।

५ एवमक्षरमभिधाय पदमभिधातुकामः प्राह–**वर्णम्** इत्यादि ।

[वर्णमेकमनेकं वा पदं शंसन्ति नान्यत् ।
ध्वनिव्यङ्ग्यं नित्यं वा प्रत्येकमदर्शनात् ॥५॥

द्योतकत्वेऽपि पदत्वात् ततोऽर्थः प्रतीयते । न च नित्यत्वैकान्ते वाचकं ध्वनिव्यङ्ग्यम् । अनभिव्यक्तमात्मानं विहाय आत्मान्तरमासादयतोऽनित्यताप्रसङ्गात् ।
१० **व्यक्तेः न च तादात्म्यं हि परिणामलक्षणम् ।]**

वर्णमेकमसहाय**मनेकं वा वर्णं पदं शंसन्ति** पूर्वाचार्याः तदेव पदं वा एकम् अर्थप्रतिपादकं संति (शंसन्ति) । ततः किं जातम् ? इत्याह–**न** इत्यादि । उक्तपदात् **अन्यत्** पदं नास्ति । किंभूतम ? इत्याह–**ध्वनिव्यङ्ग्यम्** अकारादिप्रकारादिप्रकाश्यम् । पुनरपि किं भूतम ? इत्याह–**नित्य (त्यम्)** इत्यादि । घटाद्यर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या तत्पातत्परि (त्त्या
१५ तत्परि) कल्पनम्[2], मा चोन्त (चान्त्य) पद एव उपयुक्तशक्तिका इति न ततः तत्परिकल्पना इति भावः ।

ननु यद्येकोऽपि [५४५ ख] वर्णः पदं किमर्थमुक्तम्–*"**पद (दं) समुच्च (द)यः तेषाम्**" [सिद्धिवि० ११।१] इति चेत ; अत्राह–**वर्ण** इत्यादि । कुतः ? इत्यत्राह–**प्रत्येकम्** इत्यादि ।
२० '**[अ]दर्शनात्**' इत्यनेन एतद्दर्शयति प्रति प्रतिपत्तुः कृतसङ्गीतेरकारादिश्रवणाद् वासुदेवादिप्रतिपत्तिरुपलभ्यते, सा अकारादेः, अन्यतो वा संभवन्ती भवेत् ? प्रथमपक्षे सिद्धं वर्णानां वाचकत्वमिति स्फोटोऽनर्थकः । अकारादिरेव स्फोट इति चेत ; न ; तस्य अणुमयत्वप्रतिपादनात् स्फोटोऽमूर्तो नित्यश्च स्यात् ।

किं च, सोऽभिव्यक्तः, अन्यथा वा तत्प्रतीतिहेतुः ? आद्ये मते कुतः तस्याऽभिव्यक्तिः ?
२५ श्रोत्रादेरिति चेत ; तर्हि घट इत्यत्रापि तत एव तदभिव्यक्तेर्घकारादिकमनर्थकम् । घकारादेः इति चेत् ; *"**इः कामदेवः**" इत्यत्र परस्य ध्वनेः व्यञ्जकस्याभावादनभिव्यक्तिः । अत्र ताल्वादिप्रेरिता वायवो व्यञ्जका नान्यत्र इति किंकृतो विभागः ? अथ अन्यत्र घकारादेर्व्यञ्जकस्य भावात् न ते तद्व्यञ्जकाः ; किं तत्र वायवो न विद्यन्ते ? सन्ति तथापि ते घकारादीनां व्यञ्जकाः, घादयश्च स्फोटस्य इति चेत् ; तदितरत्र समानम् । शक्यं हि वक्तुम्–
३० वायोः अकाराभिव्यक्तिः, ततः स्फोटस्य इति । तथाऽदर्शनमुभयत्र हेतुः इति सर्वदा ततः तत्प्रतीतिः स्यादविशेषात् । तत्र प्रथमः पक्षः श्रेयान् परस्य । द्वितीयः स्यादिति चेत् ; न ;

(१) अविनाभावित्वात् । (२) नित्यत्वपरिकल्पनम् । (३) घटाद्यर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिः । (४) 'प्रति' इति निरर्थकमत्र । (५) गृहीतसङ्केतस्य । (६) अकारो वासुदेवः इति कोशानुसारेण । (७) 'घटः' इत्यत्र ।

अकारादेरेव प्रतीतिभावात्। तथापि अन्यतः तत्कल्पने ; धूमोऽपि पावककृतो[न]भवेत्। अपि च, अकारादिरनर्थकः क्वचिदनुपयोगात् [५४६ क] तदभिव्यक्ता[वु]पयोग इति चेत्; न; ततः तद्वदर्थाभिव्यक्तिप्रसङ्गात्। नहि एकस्मिन्नकारे [1]प्रत्येक-समुदायविचारावतार इति।

ननु विसर्जनीयादिर्वाचको दृश्यते न केवलः तथा च वैयाकरणमतम्-*"न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः [प्रत्य]यः" इति[2]; ततः समुदायस्यैव पदत्वात् कथ- ५ मुक्तम्[3]-*"वर्णसमुदायः पदमिति प्राति(अभि)प्रायिकमेतत्" इति। अथ सम्बोधनादौ विभक्तिलोपापेक्षया इदमुच्यते ; न ; लोपेऽपि पदत्वं प्रत्युपयोगात्।

स्यान्मतम्, *"स्वादावघे" [जैनेन्द्र० १।२।१०६]इत्यनेन पूर्वस्य पदत्वे केवलोऽकारादिः पदमिति ; तन्न सारम्; यतः वाचकस्य पदत्वात्, वाचकं च सविभक्तिकम्, पूर्वस्य तु प्रयोजनविशेषापेक्षया पदत्वं पारिभाषिकम् इति। १०

अत्र प्रतिविधीयते- न*"सुप्मिङन्तं पदम्" [जैनेन्द्र० १।२।१०३] इति 'पारिभाषिकपदमिति[4]' पारिभाषिकपदमिह गृह्यते, अपि तु पद्यते गम्यते येनार्थः तत्पदम्, अर्थश्च अविभक्तिकादपि शब्दात् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गम्यते, इतरथा वित्तरसुत्पत्तेः (विभक्त्युत्पत्तेः) प्राक् अर्थवत्त्वापरिज्ञानात् न प्रातिपदिकसंज्ञाविधानम् इत्यनर्थकमिति न सूक्तम् *"अर्थतद्धातुप्रज्ञायः (अर्थवद् धातुरप्रत्ययः) प्रातिपदिकम्" [पाणिनि० १।२।४५] इति। १५ तस्मात् केवलादपि अर्थः प्रतीयते।

नन्वेवं नियतोप(निपातोप)सर्गाणाम् पदत्वं[न]स्यात्, नहि तैः कश्चिदर्थोऽपूर्वो गम्यते प्रकृत्यर्थद्योतकत्वादिति चेत्; अत्राह-**द्योतकत्वेऽपि** इत्यादि। न केवलं वाचकत्वे **अपि तु द्योतकत्वे पदत्वात्ततोऽप्यर्थः प्रतीयते** अन्यथा[५४६ ख] तत्प्रयोगानर्थक्यम्। एतेन अन्यानुकरणशब्दाः व्याख्याताः। यदि पद्यते येनार्थः तत्पदम्[5]; स्फोट एव स्यात्, तेन २० हि अकारादिर्व्यंजेन (व्यङ्ग्येन) अर्थः गम्यते इति चेत्; अत्राह-**न च नैव वाचकं** युक्त (उक्त)न्यायेन। किम् ? इत्याह-**ध्वनिव्यंग्य (व्यङ्ग्यं)** ध्वनिभिः अकारादिभिः प्रकास्थां (प्रकाश्यम्) ध्वनिभ्य एव अर्थप्रतीतिदर्शनात् इत्युक्तम्। दूषणान्तरमाह-**नित्यत्वैकान्त** इत्यादि। तदपि कुतः ? इत्याह-**अनभिव्यक्तम्** अदृश्य(श्यम् आ)त्मानं स्वभावं विहाय आत्मान्तरं दृश्यस्वभावमासादयतोऽनित्यताप्रसङ्गात्। एतदपि कुतः ? इत्याह-**तादा- २५ त्म्यं व्यक्तेन च** आत्मत्वं हि**र्यस्मात्** **परिणामलक्षणम्।**

अथ ध्वनिभिः तस्य न किञ्चिदसतीयते च प (दसज्जन्यते सच्चाप)नीयते वा तत्त्व थ (तत्त्व)मनित्यत्वम्, अत्राह-**नया(अनपा)योपजनेत्यादि**।

---

(१) प्रत्येकं व्यञ्जयन्ति समुदिता वा इति। (२) तुलना-"उभयनियमोऽयं प्रकृतिपर एव प्रत्ययः प्रयोक्तव्यः प्रत्ययपरैव च प्रकृतिः।"-पात० महा० ३।१।२। "न केवला....."-लघुशब्देन्दु० ३।१।२। (३) "यदाह अकलङ्कः सिद्धिविनिश्चये-वर्णसमुदायः पदमिति प्रायिकमेतत्, प्रत्येकमकारादेः कादाचित्कत्वदर्शनात्।"-स्या० र०ना० पृ०६४१। (४) 'पारिभाषिकपदमिति' पुनर्लिखितमत्र। (५) इति चेत्;। (६) उपजननम् अपायश्च अनित्यत्वमित्यर्थः।

[अनपायोपजनमविकारमविशेषनः ॥३॥

तादृशां नियमेन नित्यत्वे निष्कलत्वे अभिव्यक्तौ घटादेस्तथाभावः किन्न कल्प्येत अविशेषात्। ध्वनिभ्योऽर्थाः···न च···ततो न सत् कूटस्थं नाम तद्बुद्धेरमश्चाग्प्रसङ्गात्। ननु क्षणिकत्वेऽपि तद्बुद्ध्यसंचारदोषः तदभावाविशेषात् अनन्तर-
५ क्षणवत् अन्यदापि प्रसङ्गात्। सत्यम्, एवमेतत्।]

आपायो विनाश उपजननम् **उपजनः** जन्म, न विद्येते अपायोपजनौ यस्य स तथोक्तः। स (न) **विकारो** यस्य तदपि तथोक्तम् **अविकारम्** इत्यर्थः। तत्प्रतिध्वनीनाम् अकिञ्चित्करत्वात् कथं व्यञ्जकत्वं तेषामिति ? किं च तस्य नैर्योगपद्ये नाभिव्यक्तौ घेनं एकेन सर्वात्मनाभिव्यक्तत्वात् टकारादीनां वैयर्थ्यम्, प्रकाशितप्रकाशनदोषात्। क्रमेण इति चेत्;
१० अत्राह–**अविशेषन** इत्यादि। स्पष्टम्।

अत्रैव दोषान्तरमाह–**तादृशाम्** इत्यादि। **तादृशां** ध्वनिव्यापारात् पूर्वम् एकान्तेनानुपलभ्यमानानां तद्व्यापारे च उपलभ्यमानानां **नियमेन नित्यत्वे निष्कलत्वे** निरंशत्वे अङ्गीक्रियमाणे **तादृशां** स्फोटादीनामभि**व्यक्तौ च** चाङ्गीक्रियमाणायां **घटादेः** [५४७ क] **तथा** नित्यत्वनिष्कलत्वाभिव्यङ्ग्यत्वप्रकारेण **भावः** सत्ता **किन्न कल्पे**(ल्प्ये)त ? कुतः ? इत्याह–
१५ **अविशेषात्** अतिशयाभावात्। 'घटादिरपि नित्यो निरवयवश्चक्रादिभिरभिव्यज्यते न क्रियते' इत्यपि स्यात्। दीपादिर्वैयर्थ्यमिति चेत्; न; एकत्र प्रकाशकद्वयाविरोधात् रूपे चक्षुरालोकवत्। सदा चक्रादिसहितस्यैव दीपादेः तत्प्रकाशनं चेत्; न; कदाचित् निरालोकस्यै चक्षुष एव प्रकाशकत्वदर्शनात्। अथ घटादेः प्रदीपादिरिव(पादिरिव) व्यञ्जकः; चक्रादिः किं भविष्यति, अकिञ्चित्करस्य अपेक्षणीयत्वायोगात् ? कारक इति चेत्; कुत एतत् ? प्रागसतः तत आत्म-
२० लाभात् घटादेरिति चेत्; 'प्रागसतः' इति कुतः ? दृश्यस्यादर्शनादिति चेत्; स्फोटस्य ध्वनिव्यापारात् प्राक् किं दर्शनमस्ति ? तथा चेत्; तद्व्यापारवैफल्यम्। नो चेत्; कुतः सत्त्वम् ? पुनरुपलम्भात्, इतरथा खरविषाणवत् तदयोगादिति चेत्; तदेतत् घटादौ समानम्। घ्यास्या-(अदृश्या)त्मकत्वे ध्वनिभ्योऽपि न दर्शनमिति साध्वी तेषां व्यञ्जकत्वकल्पना। पूर्वं तदात्मकत्वं न पश्चात्; इतरत्र समानम्।

२५ स्यान्मतम्–ध्वनीनां कारकत्वे व्यञ्जकं किं तस्य ? तैलादेः कारकत्वे दीपादेर्व्यञ्जकान्तरं मृग्यम् इत्यलं प्रसङ्गेन।

स्यान्मतम्–घटादेः सावयवस्य प्रतीतेः तथाभावो निष्कलभावः कल्प्येत, स्फोटस्यापि क्रमशोऽभिव्यज्यमानस्य सावयवत्वप्रतीतिः तदवस्था। 'भ्रान्तिः' इत्यपि नोत्तरम्; अन्यत्र प्रसङ्गात्। निष्कलरूपादर्शनमुभयत्र। ततः स्थितम्–**अविशेषादिति** चक्रादेरनन्त[रं] घटादे-
३० रुपलम्भात्। भवतु [५४७ ख] तस्य ततोऽभिव्यक्तिः न ध्वनिभ्यः स्फोटस्य विपर्ययादिति

(१) 'घटः' इत्यत्र आद्येन घकारेण। (२) आलोकरहितस्य नक्तंचरचक्षुषः। (३) ध्वनिव्यापार। (४) अदृश्यात्मकत्वम्। (५) इति चेत्;। (६) शब्दस्य। (७) अभिव्यङ्ग्यत्वभावः। (८) निरवयवत्वम्

दर्शयन्नाह–**ध्वनिभ्योऽर्था**···[५४८ क, ख ५४९ क, ख इति द्वे पत्रे अलिखिते एव वर्तेते] ···कर्षमन्तरेण प्रत्ययहेतुः स्यात् तत्र गोत्वं भिन्नं विनियतं सिद्ध्यति । राजपुरुषवत् स्यादिति चेत्; न; तत्रोपकारभावात् । अन्यत्रापि तथाकल्पनायां सूक्ष्मम् **न च** इत्यादि ।

ननु यदुक्तं 'केनचित् किंचिद् [क्रियमाणं] वक्ष्यमानं(व्यज्यमानं) वा तत्कृतोपकारमपेक्षते नाम' इति ; तदयुक्तम् ; ज्ञानस्यैव तेन तत्र ज[न]नात् । इदमत्र चिन्त्यते–सामान्यं स्वविज्ञान- ५ जनन योग्यम्, अन्यथा वा ? योग्यं चेत् ; व्यक्त्यभावेऽपि जनयेत । शेषं च चिन्तितमत्र।

प्रकृतं निगमयन्नाह–**ततो न सद् विद्यमानं कूटस्थ(स्थं) नाम** । कुतः ? इत्यत्राह– **तद्बुद्धेरसंचारप्रसङ्गात्** । कूटस्थस्य बुद्धेः **तद्बुद्धेः** संचरणं देशकालान्तरगमनं **संचारः** न संचारोऽसंचारः तस्य प्रसङ्गात् । तथाहि–यदा एकस्मिन् क्षणे देशे वा तस्य[1] सत्त्वम् ; ततः कालान्तरादितत्सम्बन्धस्य एकान्तेन अभेदे तावन्मात्रं तदिति द्वितीयादिक्षणानां तच्छून्यत्वमिति १० न तत्र[2] तद्बुद्ध्यवतारो निर्विषयत्वभयात् । भेदे वा क्षणिकत्वम् । यदि वा, येन स्वभावेन कचिद् देशादौ स्वज्ञानं जनयति तत् तेनैव, अन्यत्र अन्यदा तज्जनने सर्वतत्कार्यस्यैकदा एकत्र प्रसव इति न कालदैर्घ्यादिप्रतीतिः । नन्वेवम्–प्र ज्ञा क रि णै व (क रे णे व) भवतापि क्षणिकत्वं कक्षीकृतं स्यात्, त च नक्षमृते अत्यक्षा(तच्च न क्षमते अध्यक्षा)दात्मानं क्षणमात्रमपि भेदे- न व्यवस्थापयितुम् ; इत्याह–**ननु** इत्यादि । न केवलं कूटस्थे किन्तु **क्षणिकत्वेऽपि समानः** तस्य १५ क्षणिकत्वस्य बुद्धिः तस्याः असंचारः स एव दोषः **तद्बुद्ध्यसंचारदोषः** । कुतः ? इत्यत्राह– [५५० क] **तदभावाविशेषादिति** । तयोः कूटस्थक्षणिकत्वयोः अभावस्य अविशेषात् । यथैव हि कूटस्थस्य पूर्वापरसत्त्वयोर्मध्यसत्त्वाभेदभावः, तथाहि निरंशक्षणिकपरमाणुसंवेदनस्य पुरुषान्तर- संवेदनादभेदादभावः । कल्पनया उभयसत्त्वम् । यदि वा, क्षणिकेतरपक्षयोः बुद्धिसंचार(रा)- भावात् । यथैव हि कूटस्थे समर्थे एकत्र क्षणे सकलबुद्ध्युत्पादः तथा क्षणिकेऽपि तत्काल एव २० बुद्धिभावात् सन्तानसंचरणाभावः । द्वितीयक्षणे तत्कार्यमिति चेत् ; अत्राह–**अनन्तरक्षणवत्** इत्यादि । कारणक्षणाद् द्वितीयः क्षणः अनन्तरक्षणः तत्र इव तद्वत् **अन्यदापि** कालान्तरेऽपि **प्रसङ्गात्** कार्यस्य पारतन्त्र्याभावात् । अन्यत्रापि प्रसङ्गोऽस्त्येव जाग्रद्दर्शनात् प्रबोधभावादिति चेत् ; न ; तदनन्तरं तन्निश्चयानुदयप्रसङ्गेन क्षणक्षयादिवत् तद्व्यवहारोच्छेद इत्युक्तमिति । अत्रोत्तरमाह–**सत्यम्** इत्यादि । यदुक्तं कूटस्थवत् क्षणिकत्वेऽपि बुद्ध्यसंचार इति **सत्यमेव**- २५ मुक्तप्रकारेण(णै)तत्, उभयात्मकतत्त्वोपगमादिति भावः ।

तत्रापि उभयदोषप्रसङ्गः । नहि चौरसमुदायोऽ[चौर]इष्ट इति चेत् ; अत्राह–**स्याद्धेतु- फलतादात्म्ये** इत्यादि ।

[स्याद्धेतुफलतादात्म्ये महत्स्थूलाणुतत्त्ववत् ।
उभयैकान्तादिदोषा न वेद्यवेदकज्ञानवत् ॥६॥ ३०

---

(१) कूटस्थस्य । (२) द्वितीयादिक्षणे ।

कथञ्चिन्नित्यत्वेऽपि पूर्वापरयोः*यथा नित्यत्वे क्षणक्षये वा परमाणूनां पारिमण्डल्यमजहतामेव स्थूलत्वे स्थूलाकारेणापि नानुपलम्भप्रसङ्गः पारिमण्डल्यवत् । यथा वा ज्ञानस्य संवेदनवत् नीलाद्याकारस्य नाविशेषप्रसङ्गः कथञ्चित्तादात्म्यात् , तथा सर्वस्य स्यात् , हेतुफलयोस्तादात्म्येनैवोपलब्धेः इति]**

५ **स्यात्** कथंचित् **हेतुफलयोः** उपादानोपादेययोः **तादात्म्ये** सति न **उभयैकान्तदोषः आदिशब्देन** विरोधादिपरिग्रहः । वैशेषिकप्रसिद्धनिदर्शनमाह–**महत्स्थूलाणुतत्त्ववत्** इति । **स्थूलं** च तदवयव्यपेक्षया **अणु च** अवयवापेक्षया तदेव च **तत्त्वं महच्च** तत् **स्थूलाणु** [५५०ख] तत्रेव तद्वदिति । यथा अवयवावयविनोः कथंचित्तादात्म्ये स न दोषः, तथा अन्यत्रापि । चिन्तितमेतत् । बौद्धप्रसिद्धं[निदर्शन]माह–**चेत्र** इत्यादि ।

१० कारिकाविवरणमाह–**कथंचिद्** इत्यादि । **यथा** इत्यादिना दृष्टान्तद्वयं व्याचष्टे । [1]क्षणक्षयेति **नित्यत्वे क्षणक्षये वा परमाणूनां पारिमण्डल्यं** निरंशवर्तुलत्वमजहतामेव [त]त्परित्यागे अभागोऽवयवी सकलावरणादिदोषभाग् भवेत् । **स्थूलत्वे** स्थूलपरिणात्मकत्वेऽपि **नानुपलम्भप्रसङ्गः** । केन ? **स्थूलाकारेणापि** । केनेव ? इत्याह–**पारिमण्डल्येनेव तद्व**दिति स्थूलाकारवद्वा तेषां न पारिमण्डल्योपलब्धिः । निदर्शनान्तरमाह–**यथा चा (वा)**

१५ **ज्ञानस्य** चित्रबोधस्य यो **नीलादिराकारः** तस्य **नाविशेषप्रसङ्गः** । कस्य वा ? इत्याह–**संवेदनवत्** संवेद[न]स्येव । एतदुक्तं भवति–यथा ज्ञानस्य स्वनीलाद्याकारे संवेदनमविशिष्टं नैव (वं)नीलादिः(देः) चित्रत्वा(चित्रत्वा)भावप्रसङ्गादिति । संवित्तेर्वा नीलवदचेतनत्वम् । यथा वा न तात्पर्य (ताद्रूप्य) संवित्ति[:]नीलेन नीलाकारतया समानापि न जडतया समा इति । कुतः ? इत्यत्राह–**कथंचित्तादात्म्यात्** । कथंचिदिति, संवित्तेर्वा कथंचित्ता(त्त)दात्मना कील(नील)-

२० सदृशात्मकत्वात् ।

ननु यदि नाम दृष्टान्तत्वेनोपात्ते वस्तुनि कथंचिद्भेदः तथोपलब्धेः **पूर्वापरयोः** किमायातम्, येनोच्यते **कथंचिन्नित्यत्वेऽपि** इति चेत्; अत्राह–**स्यात्** कथंचित् **हेतुफलयोः यत्ता[दा]त्म्यं तेनैव उपलब्धेः सर्वस्य** इति । तत्र(तन्न) बहिस्तत्त्वम् अन्तस्तत्त्वं [५५१ क] वा अविकल्पे निरंशक्षणिकतया चकास्ति ।

२५ [2]विपरीतप्रतिभासस्तु मिथ्याविकल्प इति चेत्; अत्राह–**नित्यक्षणिकतत्त्वार्थ** इत्यादि ।

[नित्यक्षणिकतत्त्वार्थमिथ्यैकान्तविकल्पयोः ।
अविकल्पाप्रसिद्धिः स्यादनियोगग्रहोऽनयोः ॥७॥

यथैव*दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तेः । असमारोपित***न***समारोपव्यवच्छेदस्यैव**

३० **व्यवसायात्मकत्वात् इत्युक्तप्रायम् । स्वसंवित्तेः स्वतः व्यवसायोपपत्तेश्च, अन्यथा अन-**

(१) उदाहरणमाह । (२) क्षणक्षयेति पुनर्लिखितं भाति । (३) 'वा' इत्यर्थे । (४) कथञ्चिन्नित्यानित्यतया ।

वस्थानादप्रतिपत्तिः परतः…तस्मात् तत्त्वतः इष्टानिष्टग्रहत्यागयोः नियोगतः अनुपपत्तेः प्रेक्षावान् कुतः प्रवर्तेत ?]

कचित् परिच्छेद्ये कर्मणि नियोजनमिति नियोगि(गः) नित्यं क्षणिकं वा विषयीकुर्विति, न विद्यते नियोगोऽस्य इति **अनियोगः** स चासौ **ग्रहश्च** निर्विषयग्रह इत्यर्थः । कयोः ? इत्याह–**अनयोः** नित्यक्षणिकतत्त्वार्थयोः **स्याद्** भवेत । कयोः सतोः ? इत्याह–**नित्य** ५ इत्यादि । [1]'नित्यादि' **नित्यक्षणिकतत्त्वे** सर्वोपायो (**तत्त्वे एवार्थौ** ययो)स्तौ च तौ **मिथ्यैकान्तविकल्पौ** च तयोः सतोः इति । निर्विकल्पे सति स नियोगग्रहोऽनयोरि[ति] चेत; अत्राह–**अविकल्पाप्रसिद्धिः** अविकल्पस्य अविकल्पेन च **अप्रसिद्धिः** अनयोरिति व्याख्याने । अत्र विवरणम्–**यथैव** इत्यादि भविष्यति ।

इदमपरं [2]व्याख्यानम्–**नित्यक्षणिकतत्त्वार्थमिथ्यैकान्तविकल्पयोरन(नि)- १० योगग्रहः ।** कुतः ? इत्याह–**अविकल्पेनाप्रसिद्धिः स्यादनयोः यतः,** तदुक्तमत्र पूर्वम् *"अङ्गीकृतात्मसंवित्तेः" [सिद्धिवि० १।१८] इत्यादि । विवरणम् अत्रापि **अन्यथाऽनवस्थानात्** इत्यादि । तथा इदमपरं **तद्विकल्पयोरनियोगग्रहः** क्षणिकविकल्पस्य प्रमाणत्वेन स्वीकारो नेतरस्य इति यो नियोगो नियमः तस्य अभावो यस्मिन् तथोक्तो ग्रहः द्वयोर्ग्रहणमग्रहणं वा इत्यर्थः । अथ क्षणिकविकल्पस्य वस्तुनि प्रतिबन्धात्[3] तस्याविकल्पेन १५ प्रतिपत्तेः तस्यैव ग्रह इति चेत; अत्राह–**अविकल्प(ल्पाऽ)प्रसिद्धेः(द्धिः)** [५५१ख] **अविकल्पेन** तत्त्वस्या**सिद्धिः** । वृत्ति (कुत इति) चेत ; अत्राह–**[अ]विकल्प** इत्यादि ।

कारिकार्थमुपदिशन्नाह–**यथैव** इत्यादि । कृत (कुतः ?) इत्याह–**दृष्टे** प्रत्यक्षेण प्रतिपात्र (पन्ने) क्षणिकत्वादौ **प्रमाणान्तरस्य** अनुमानस्य **वृत्तेः** इतरथा तन्न वर्त्तेत ।

स्यान्मतम्–यत्र समारोपो नास्ति तस्य निश्चयमन्तरेणापि सिद्धिः, तदाह–**असमारोपित** २० इत्यादि । अत्रोत्तरमाह–**न** इत्यादि । परेण यदुक्तं **तन्न** । कुतः ? इत्याह–**समारोप** इत्यादि । **समारोपस्य** व्यवच्छेदो यस्मिन् ज्ञाने **तस्यैव व्यवसायात्मकत्वात् इत्युक्तप्रायम्** प्रथमप्रस्तावे । एतेन अभ्यासदशापि चिन्तिता तस्यामपि सांशस्यैव प्रवेदनादि [ति] ; तत्र (तन्न ;) इत्याह–**स्वसंवित्तेः** इत्यादि । व्यवसायस्य या आत्मवित्तिः तस्याः **स्वतः** आत्मनैव **व्यवसायोपपत्तेश्च** तत्र **अन्यथा** स्वतो व्यवसायाभावप्रकारेण **अनवस्थानादप्रतिपत्तिः** व्यवसायस्वरूपनिश्चायकस्यापि निश्चयस्य अन्यतो निश्चयात् । अत्र निदर्शनमाह–**परत** इत्यादि । उपसंहरन्नाह–**तस्मात्** इत्यादि । सुगमम् ? ततः किं जातम् ? इत्याह–**तत्त्वत** इत्यादि । परमार्थतः तत्त्वेष्टमिष्टं(**इष्टं च अनिष्टं च) तयोः ग्रहत्यागयोः नियोगतः** स्वयमनुपपत्तेः **प्रेक्षावान् कुतो** नित्यविकल्पाद् [4]अन्यतो वा **प्रवर्त्तेत** तद्यदि अनेकान्तप्रतिपत्तिरिति । ततः स्थितम्–**अक्षरं नित्यमर्थप्रतिपादकं** चेति । ३०

नित्यमपि व्यापि स्यादिति मीमांसकः ; तत्राह– **नित्यत्वेऽपि** इत्यादि ।

(१) 'नित्यादि' इति पुनर्लिखितम् । (२) व्याख्यानम् । (३) सम्बन्धात् । (४) क्षणिकविकल्पाद्वा ।

[नित्यत्वेऽपि शब्दानां सर्वेषां स्यात्सकृच्छ्रुतिः ।
समाक्षग्रहणयोग्यत्वात् व्यापिनां समवस्थितेः ॥८॥

तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतः तद्देशवृत्तिनियमभावात् । कूटस्थस्य नियमेन तद्देशवृत्तिर्न संभवत्येव । सर्वगतत्वेऽपि विवक्षितैकशब्दश्रुतिर्न स्यात् । नहि समानदेशानां[1]
५ समानाक्षविषयाणामेतत् न्याय्यम् । प्रत्येकं व्यञ्जकनियमे कलकलश्रुतेरनुपपत्तेः । व्यक्ताव्यक्तस्वभावप्राप्तिपरिहारमन्तरेण कुतो व्यक्तिः ? तत्त्यागोपादानाभ्यामृते कुतः तिरोधानम् ?]

नित्यत्वे कूटस्थत्वे**ऽपि शब्दाना**मक्षराणां [५५२क] न केवलं क(का)दाचित्कश्रवणं न संभवति श्रवणैकस्वभावानां सर्वदा श्रवणं संभवति इत्यर्थः । अथ यदा ज्ञानं तदा श्रवणम्,
१० अन्यदा विपर्ययः ; न ज्ञानं कुतः तेभ्यः सर्वदा स्यात् ? नित्यस्यापेक्षणं च निरस्तम् ।

स्यान्मतम्–आवरणसद्भावे अश्रवणं तदभावे श्रवणम् ; उपपन्नमेतत्–यस्यावरणेन तेषां[2] तज्जननसामर्थ्यमपसार्यते । समर्थं तु व्यवहितमपि स्वकार्यं जनयति यथा संभूतचक्षुः तिमिरव्यवहितं रूपस्य । ततो न केवलं कादाचित्कश्रवणं न संभवति विवक्षितैकश्रुतिनियमश्च न संभवति **सकृत् सर्वेषां श्रुतिः स्यात्** इत्यर्थः । अथ सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां सन्निधानेऽपि यस्य यत्र व्यञ्जक-
१५ सन्निधिः तत्र तस्य श्रवणमिति ; तत्राह–**समाक्ष** इत्यादि । इष्टस्य अकारस्य अन्यस्य वा ताल्वादिप्रेरितात् ध्वनेरभिव्यक्तिः प्रकाशनं नेतरस्य इति योऽयं तद्व्यक्तिनियमः स न । कुतः ? इत्याह–**समाक्षग्रहणयोग्यत्वात्** एकेन्द्रियग्राह्यत्वात् ।

ननु एकेन्द्रियग्रहणयोग्या अपि देशादिभिन्ना घटादयो नैकप्रदीपव्यङ्ग्या इति चेत् ; अत्राह–**व्यापिनां** तेषां **समवस्थितेः** एकदेशे स्थितेः अतः तन्नियमाभावात् **सर्वेषा**मक्षराणां
२० **सकृच्छ्रुतिः** । न खलु समानदेशेषु समानेन्द्रियग्रहणयोग्येषु व्यक्तिनियमो दृष्टः येन अन्यत्रापि कल्प्यते ।

ननु घटादौ दृष्टो धर्मो नान्यत्र योजनमर्हति, अन्यथा रथ्यापुरुषे उपलब्धो धर्मः पुरुष(षे) स्वयमभिमते योजनमर्हेत् । अथ पुरुषातिशयोऽप्यस्ति ; व्यञ्जकातिशयोऽपि तथास्तु । [५५२ख]

स्यान्मतम्–अनुपदेशाऽलिङ्गाऽव्यभिचारिनष्टमुष्ट्याद्युपदेशान्यथानुपपत्तेः तत्कल्पनमिति ;
२५ तर्हि व्यापिनां समाक्षग्रहयोग्यानां कादाचित्काऽश्रवणान्यथानुपपत्त्या प्रतिनियतावरणम्, तथा-

(१) तुलना–"सर्वशब्दानां युगपद्ग्रहणप्रसङ्गात् । श्रोत्रं तावत् समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशसमानधर्मोपसन्नार्थानां ग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् । शब्दा वा प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्या न भवन्ति समानेन्द्रियग्राह्यसमानधर्मोपपन्नत्वे सति युगपदिन्द्रियसम्बद्धत्वात् घटादिवत् ।" –न्यायसा० पृ० ३० । प्रश० व्यो० पृ० ६४८ । न्यायवा० पृ० २८८ । "समानकरणानां तादृशामभिव्यक्तिनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां संकुला श्रुतिः स्यात् ।"–अष्टश० अष्टस० पृ० १०५ । न्यायकुमु० पृ० ७०८ । प्रमेयक० पृ० ४२३ । सन्मति० टी० पृ० ३६ । स्या० रत्ना० पृ० ६८३ । प्रमेयरत्नमा० ३।१००। शास्त्रवा० टी० पृ० ३७८ । (२) शब्दानाम् । (३) नक्तंचरचक्षुः । (४) असर्वज्ञत्वलक्षणः । (५) पुरुषातिशयस्य कल्पनमिति । तुलना–"अनुपदेशालिङ्गानन्वयव्यतिरेकपूर्वकाविसंवादिनष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदुःखग्रहोपरागाद्युपदेशकरणान्यथानुपपत्तेः ।"–बृहत्सर्वज्ञ० पृ० १३० ।

विधश्रवणान्यथानुपपत्तेः प्रतिनियतव्यञ्जकानां वा इति कल्पनमस्तु अविशेषादिति ; न ; प्रतिनियतावरणनिषेधात्, तत्स्वरूपाखण्डनात् । अथ इन्द्रियस्य तद्ग्रहणयोग्यता तेन प्रतिहन्यते ; सापि न साध्वी कल्पना ; विषयस्य दर्शनजननयोग्यस्य भावे दर्शनस्य अवश्यम्भावात । सहकारिणः प्रतिहतप्रसरत्वान्नेति चेत् ; न ; नित्यस्य तदपेक्षायोगात् । आत्मनः सा तेन प्रतिहन्यत इत्यपि मिथ्या ; नित्यत्वात्तस्य । कार्योत्पत्तिप्रतिबन्धः क्रियते चेत ; न ; समर्थे कारणे तस्याऽवश्यंभावात, ५ इतरथा कारणं जनयति तच्च प्रतिबध्नातीति काचपच्यं भावाना (नाम) । तस्माद् व्यवधायकमेव आवरणं व्यापिनाम् । तदपि कथमिति चेत् ? अयमपरोऽस्य दोषोऽस्तु, केवलं वयमभ्युपगमवादिनः । तच्च व्यवधायकमेकमपि समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां समानमिति केनचित्तदपसारणे सर्वेषां युगपद्ग्रहणम्, कट(कट)पटापसारणे तथाविध (तथाविध)घटानामिव ।

येऽपि मन्यन्ते—आत्मा मनसा युज्यते तदपि नभसा श्रवणेन्द्रियेण, तत्पुनरर्थेन शब्देन । १० अत्र इन्द्रियार्थयोः समवायः [५५३क] सम्बन्ध इति ; तेऽपि एतेन निर्वर्त्तितोत्तराः ; तेषामपि सकृत सर्वेषां शब्दानां श्रुतिः स्या[त] व्याप्येकान्ततः श्रोत्रम्, तत्र समवेताः सर्वे शब्दा इति संयुक्तसमवायः मनसा विवक्षितवत सम्बन्धोऽविशिष्ट इति । विशिष्टादृष्ट[स्य] नियामकत्वे ; मानो[मनोऽ]तिरिच्यत[10] इत्युक्तमत्रैव सर्वज्ञसिद्धौ । किंच, समवायोऽप्येवं[11] न ग्रहणकारणम् । अदृष्टवशाद् गगनसमवेतस्य कर्णशष्कुलीश्रोत्रेणाविरोधात ग्रहणस्य, घटसमवेतरूपस्येव १५ चक्षुषा । शब्दस्य आकाशगुणत्वं च निषिद्धम् । तत्र युक्तम्—*[12]"**शब्दः स्वसमानजातीयविशेषगुणवता इन्द्रियेण गृह्यते बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात् रूपादिवत् ।**"

स्यान्मतम्—अनेकत्वात् नभसो नायं दोष इति ; तथाहि—देवदत्तकर्णशष्कुलीपरिकरपरिरुद्धमत्र (मन्यत्) नभोऽन्यदत्तः(न्यच्च यज्ञदत्तस्य) तत्र समवेतस्य नान्येन ग्रहणम् । तत्रेदं चिन्त्यते—किं तस्य कारणमिति ? तदेव नभः इति चेदं(चेत् ; अ)समवायिकारणं वाच्यम् ? न २० च तदन्तरेण परस्य गुणभावः । भेरीदण्डसंयोग इति चेत् ; न ; तत्र [13]तदभावात्, स्वकारणसमवायि वा समवायि कारण (स्वसमवायिकारणसमवेतत्वात) ध्वनेः । व्युपरते च [14]तत्संयोगे पुनः तच्छ्रवणं न स्यात । क्षणिकत्वात् ध्वनेः न तस्य तत् ; "**शब्दान्न (च) शब्दनिष्पत्तिः**" [वैशे० सू० २।२।३१] इति[15] व्याहन्यते । अथ पूर्वः शब्दोऽसमवायिकारणम् स [16]नभोऽन्तरसमवेतो त (न) तत्कारणम्, अन्यथा कपालरूपादयः पटरूपादीनां [17]तत्कारणं स्युः । २५

यदि पुनरेतन्मतम्—पूर्वशब्दाकाशेः तदाकाश(शं) जन्यते, ततः स्वकारणसमवायि वा[ऽ]

---

(१) प्रतिनियत । (२) शब्दग्रहणयोग्यता । (३) आवरणेन । (४) योग्यता । (५) कटश्च पटश्च आवरणभूतौ तयोः । (६) समानदेशसमानेन्द्रियग्राह्य । (७) नैयायिकाः । (८) मनः (९) श्रवणशब्दयोः गुणिगुणभूतयोः । (१०) युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिरपि विशिष्टादृष्टादेव स्यादिति मनःकल्पना व्यर्था स्यादिति भावः (११) व्यापित्वात् । (१२) तुलना—"यस्य बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणग्राहकं यदिन्द्रियं तत्तद्गुणकं यथा रूपग्राहकं चक्षू रूपाधिकरणम्, श्रोत्रं च तथाभूतस्य शब्दस्य ग्राहकं तस्मात्तदपि शब्दगुणकम् ।"—प्रश० कन्द० पृ० ६३ (१३) शब्दाभावात् । (१४) भेरीदण्डसंयोगे । (१५) "संयोगाद्विभागात् शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ।"—वैशे० सू० । (१६) आकाशान्तर । (१७) असमवायिकारण ।

समवायिकारणं न विरुध्येते(ध्यते)। [५५३ख]तानि तस्य समवायिकारणं चेत्; प्रथमशब्दाकाश-मारब्धानामेव परेषामुत्पत्तिरिति नाकाशवृद्धिः, सति कारणे कार्योत्पत्तौ सन्तानावृद्धिवत्। अन्यत्वे तदवस्थो दोषः। एवं च तन्नित्यत्वव्यापित्वविलोपात् आकाशद्रव्यं(द्रव्यं न) योगस्य। अथ शब्दः अन्तःकरणप्रत्यासन्नो गृह्यते विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् सुखादिवत्; अत्रापि ५ नभसोऽनेकत्वे पूर्ववद् दोषः। एकत्वे; गगनमनसोरनंशयोः [संयो]गे सर्वेषां शब्दानां तत्प्रत्या-सत्तिः समाना इति स्थितमिदम्-**सर्वेषां सकृच्छ्रुतिरिति।**

कारिकां विवृण्वन्नाह-**तत्कृत**मित्यादि। अ[यम]भिप्रायः-व्यञ्जकेन व्यङ्ग्याभिमतस्य कश्चिदतिशयः क्रियते, न वा ? प्रथमपक्षे **तत्कृतं** व्यञ्जक[कृत]म् **उपकारं** ग्राह्यतालक्षण-मिति(णमति)शय**मात्मसात्कुर्वतः** स्वभावभूतमवलम्बमानस्य **तद्देशवृत्ति[नि]यमा(म)भावात्** १० व्यञ्जकदेशवर्त्तननियमात्। श्रवणेन्द्रियग्राह्यस्वभावः पदार्थः शब्दः, स यत्रैव श्रूयते तत्रैवास्ति, व्यञ्जकदेशे च श्रूयते। न खलु घटोऽन्यत्र दृश्यमानः अन्यत्राप्यस्ति, सर्वगतत्व-प्रसङ्गादिति भावः। तन्नियमात् किम् ? इत्याह-**कूटस्थस्य** नित्याभिमता क्ष(तार्थ)स्य **नियमे** तद्देश (**मेन तद्देश**)**वृत्तिरेव**[त]तः किम् ? इत्याह-**न संभवति** 'सर्वगतत्वम्' इत्यध्याहारः। अनेन '**व्यापिनाम्**' इति निरस्तम्।

१५ सर्वगतत्वमभ्युपगम्य दूषणं दर्शयन्नाह-**सर्वगतत्वेऽपि** इत्यादि। संभावनायाम् **अपि**-शब्दः। **सर्वगतत्वे सत्यपि** शब्दानां **विवक्षितैकशब्दश्रुतिर्न स्यात्**, सर्वेषां [५५४क] स्यादित्यर्थः, श्रवणग्रहणयोग्यत्वात्।

ननु नियतव्यञ्जककृता नियतश्रुतिः, इत्यत्राह-**नहि** इत्यादि। **न हि**र्यस्मात् **समानदेशानां समानाक्षविषयाणामेतत्** नियतव्यञ्जक(व्यङ्ग्य)त्वम् **नाप्यं(न्याय्यम्)** प्रमाणोपपन्नं कचित् २० तथा[ऽ]दर्शनात् व्यवधायकतदपसारणयोः सर्वत्र साधारणत्वात्। व्यञ्जकनियममभ्युपगम्य दूषयन्नाह-**प्रत्येकम्** इत्यादि। एकमेकं वर्णं प्रति **प्रत्येकम् व्यञ्जकनियमे** अकारस्य व्यञ्जको नापरस्य इति नियोगे अङ्गीक्रियमाणे **कलकलश्रुतेरनुपपत्तेः** कारणात् **एतन्न्याय्यम् नहि**। तथा हि-आवरणविगमकारिणि व्यञ्जके तन्नियमो न संभवति इत्युक्तम्। व्यङ्ग्यातिशया वापि ने(शयो व्यापिनि) तु संभवति किन्तु तस्यानित्यत्वम्, श्रोत्रातिशयाधाय्यकिञ्चित्करम् २५ इत्युक्तम्। केवलं तद्बुद्धिजनकं व्यञ्जकमवशिष्यते, तस्य व्यक्तिरपि बुद्धिरेव। तत्रैकत्वेन बुद्धिः कस्यचित् केनचिदुत्पादिता यदा भवति, तदा सतोऽप्यन्यान् न गृह्णीयात्। विवक्षितैः व्यञ्जकैः सह संभूय सैका जन्यत इति चेत्; न सदेतत्; यतः व्यञ्जकानियमप्रसङ्गात्, अन्यव्यञ्जकैरपि अन्यबुद्धिजननात्। नवांशेन(न चांशेन) तज्जननं युक्तम्, एकान्तहानेः। तद्वद्वर्णेष्वपि सावयवत्वप्रसङ्गात् तथाप्रतीतेः। तन्न कलकलश्रुतिः। एको वर्णः कलकल इति चेत्; ३० न; वर्णभेदप्रतीतेः।

(१) आकाशनित्यत्वव्यापित्वलोपात् (२) निराकरणमित्यर्थः। (३) ध्वनिना। (४) शब्दस्य। (५) समानेन्द्रियगोचराणाम्। (६) आवरण। (७) नियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वम्। (८) बुद्धिः।

अथ व्यञ्जकेन तस्य न किंचित् क्रियते तथापि ततो व्यक्तिः ; तत्राह–**व्यक्त** इत्यादि । व्यञ्जकव्यापारदशायां **व्यक्तश्च** तद्व्यापारा[त]पूर्वम**व्यक्तस्य** (श्च)तौ **स्वभावौ च योतः प्राप्तिश्च परिहारश्च** याथासंख्येन[५५४ख] **तावन्तरेण कुतो व्यक्तिः ?** अधुना व्यक्तस्य तिरोधानं दूषयन्नाह–**तत्** इत्यादि । तयोः व्यक्ताव्यक्तस्वभावयोः याथासंख्येन **त्यागश्चोपादानं च ताभ्यामृते कुतः तिरोधानम्** इत्युक्तप्रायम । ५

नास्ति सर्वगतत्वमिति चेत् ; अत्राह–**सत्या(त्यां)च** इत्यादि । किम् ? इत्याह–**व्यञ्जक** इत्यादि ।

[सत्यां च

व्यञ्जकव्यापृतौ न स्याद् व्यङ्ग्यस्य नियमाद्गतिः ।
नावश्यंभावनियमः श्रुतेरुच्चारणात्ततः ॥९॥ १०

शब्दानामव्यापित्वे सत्यपि व्यञ्जकव्यापारे व्यक्तिरवश्यम्भाविनी न भवेत् जातिसम्बन्धवत् । न हि व्यक्तिजन्मदेशे प्राक् असत्या जात्या सम्बन्धो युज्यते ।]

व्यञ्जकस्य ताल्वादेः तज्जनितवायोर्वा **व्यापृतौ न स्याद् व्यङ्ग्यस्य** शब्दस्य **नियमाद्गतिः** । नहि प्रदीपव्यापारे नियमेन घटगतिः । ततः किम् ? इत्याह–**नावश्यंभावनियमः श्रुतेः** शब्दस्य **उच्चारणात्** ताल्वादिव्यापारात्**ततः** । १५

कारिकां विवृण्वन्नाह–**शब्दानामव्यापित्वे** अङ्गीक्रियमाणे **सत्यपि** विद्यमानेऽपि व्यञ्जकव्यापारे **व्यक्तिरवश्यंभाविनी न भवेत्** । निदर्शनमाह–**जातिसम्बन्धवत्** ।जात्या व्यक्तेः **सम्बन्धः** तस्येव **तद्वत्** । व्यक्तिगतजातिमपेक्ष्य इदमुक्तम् । एतदेव समर्थयते–**नहि** इत्यादिना । **नहि प्राक्** व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वम् **असत्या जात्या** । क ? इत्याह–**व्यक्तिजन्मदेशे सम्बन्धो युज्यत** इति । २०

सौगतेन उच्यमानमिदं मीमांसकदूषणं तस्यपि लगतीति दर्शयन्नाह–**सन्निवे(धे)**रित्यादि ।

[सन्निधेरेकाक्षसम्बन्धे एकदाऽशेषतः श्रुतिः ।
न बहिरन्तरभिप्रेतानंशक्षणिकसंविदः ॥१०॥

क्षणिकपरमाणुपु मोहोद्रेकात् तद्विपरीतस्वभावोपलब्धौ न तत्त्वोलब्धिः । तथा २५ अन्तस्तत्त्वे समानम् । वेद्य···इत्यभ्युपेत्य सौगतः प्रतिपत्तुः यथासन्निधानं सकलोपलम्भाशक्तेः कथञ्चित् कस्यचित् श्रुतिरिति ब्रुवाणं मीमांसकं कथं प्रतिक्षिपेत् ? विषयविषयिणोः अविसंवादनियमस्य अनेकान्ताकर्पणात् तदन्यथानुपपत्तेः, असंभवात् । स्वेष्टार्थाविसंवादे लक्षणं न प्रमाणं स्वाकारज्ञानहेतुता । नहि···परम्परयापि स्वलक्षणानि हेतवो न भवन्त्येव क्षणिकत्वे···अतः सर्वथा न संभवत्यर्थस्य अविसंवादलक्षणम् । तत ३०

(१) घट उपलभ्यते ।

एव ज्ञानस्यापि तदाकारस्य, तद्विषयतायाः सौगतैरनभ्युपगमात् तत्प्रतिभासविरोधाच्च कथमव्याप्तिः ? उपादानोपादेयसंविदोः । विज्ञान···]

एकदा एकस्मिन् क्षणे **श्रुतिः** श्रवणं(णं) 'संभवेन' इत्युपस्कारः । कथम् ? इत्याह–**अशेषतः** अशेषरूपेण, सदादिनेव क्षणक्षयादिनापि इत्यर्थः । केषाम् ? '**शब्दानाम्**'
५ इत्यनुवर्तनं । कुतः ? इत्याह–**सन्निधेः** शब्दत्वादि(दे)रिव सन्निधानात् क्षणक्षयादेरपि । कस्मिन् सति ? इत्याह–**एकाक्षसम्बन्धे** एकेन अक्षेण सम्बन्धे सति [५५५क] येनाक्षेण सदादेः तेन क्षणक्षयादेरपि । एवं मन्यते–यदि समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां नियमेन युगपच्छ्रुतिः तर्हि सदादिक्षणक्षयादेः युगपच्छ्रवणं(पद् ग्रहणं) भवेद् एकाधारैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्, तथा च व्यापककान्तरवत् प्रमाणान्तरमनर्थकमिति भावः । अशेषतः श्रुतिरस्त्येव–*"**एकस्यार्थ-**
१० **स्वभावस्य**"[प्र० वा० ३।४२] इत्यादि वचनात्, इति चेत् ; अत्राह–**न इत्यादि**ने(त्यादि ।) न केवलम् [अन्त]रभिप्रेतानंशक्षणिकसंविदो न **बहिरप्यभिप्रेतानंशक्षणिकसंविदो न** तथाप्रतीतिः इति भावः । चर्चितमेतत् ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**क्षणिकपरमाणुषु** इत्यादि । **क्षणिकेषु परमाणुषु न तत्त्वस्य** निरंशक्षणिकस्वभावस्य **उपलब्धिः** । कस्मिन् सति ? इत्याह–**तद्विपरीत** इत्यादि । क्षणिक-
१५ परमाणुप्रत्यनीकस्व**भावोपलब्धौ** सत्यां । कुतः ? **मोहोद्रेकात्** अज्ञानमाहात्म्यात् । अनेन '**बहिरभिप्रेतानंशक्षणिकसंविदः**' इति व्याख्यातम् । तथा **अन्तस्तत्त्वे समानं** 'न तत्त्वोपलब्धिः' इत्येतत्सदृशम् । कस्मिन् सति ? इत्याह–**वेद्य** इत्यादि । अनेन '**नान्तरभि-प्रेतानंशक्षणिकसंविदः**' इति व्याख्यातम् । इत्येवम् **अभ्युपेत्य** अभ्युपगम्य **सौगतः कथं प्रतिक्षिपेत्** निराकुर्यात् ? किं कुर्वन्तम् ? इत्याह–**प्रतिपत्तुः** इत्यादि । **प्रतिपत्तुः** पुरुषस्य
२० **यथा[सन्निधानं]** सन्निधानानतिक्रमेण सकलस्य शब्दराशेः **उपलम्भाशक्तेः कथंचित्** केनापि नियतदेशादिप्रकारेण **कस्यचिद्** अकारस्य अन्यस्य वा शब्दात्मनः **श्रुतिरित्येवं ब्रुवाणं** मीमांसकम् । यथा बहिःपरमाणूनां नीलतामात्रस्य अन्तःसंवेदनस्य सच्चेतनादेरुपलम्भेऽपि [५५५ख] सन्निहितस्यापि न क्षणक्षयादेरुपलम्भः तथा अकारोपलम्भे सन्निहितस्यापीत[र]स्य न श्रुतिः प्रतिपत्तिः तथाशक्तेः इति भावः ।

२५ ननु नान्तर्बहिर्वा परमार्थतो निरंशक्षणिकपरमाणुरूपं तत्त्वं येनायं दोषः स्यात् अपि तु यथाऽविसंवादनियममिति चेत् ; अत्राह–**विषय** इत्यादि । **विषयो** घटादिः **विषयि** ज्ञानं तयोः यो**ऽविसंवादनियमः** तस्य **अनेकान्ताकर्षणात्** तेन तदाकर्षणादिति द्रष्टव्यम् । कुतः ? इत्याह–**तस्य** तन्नियमस्य **अन्यथा** तदाकर्षणाभावप्रकारेण **अनुपपत्तेः** ।

ननु यदुक्तम्–'**न बहिरभिप्रेतानंशक्षणिकसंविदः**' इति, **नियमस्य अनेकान्ता-**
३० **कर्षणात्**' इति च; तन्न युक्तम् ; परमाणुभ्योऽनंशक्षणिकाकारसंविदो[ऽ]भावा[त्] । तन्नियमोऽपि

(१) 'प्रत्यक्षस्य सतः स्वयं । कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ।'–प्र० वा० । (२) धकारादेः ।

तत्रैव इति चेत ; अत्राह–**असंभवात्** इत्यादि । **स्वस्य** सौगतस्य **इष्टो**ऽर्थः क्षणिकनिरंशपरमाणुलक्षणः तस्याऽ**विसंवादे** संप्रतिपत्तौ क्रियमाणायां **लक्षणं न प्रमाणम्** *"**सारूप्यमस्य प्रमाणम्**" [न्यायवि० १।२०] इति वचनात । किम् ? इत्याह–**स्वाकारज्ञानं(न)हेतुता** स्वस्य अर्थस्य आकार इव आकारो यस्य ज्ञानस्य हेतोः भावः तत्ता । अत्र हेतुत्रयमाह–**असंभवात्** इत्यादि । प्रथमं दर्शयति–**नहि** इत्यादिना । अनेन स्वलक्षणानां प्रत्यक्षग्राह्यत्वं निषेधतिस्म । तर्हि स्वलक्षणेभ्यः ५
कार्यं किंचिल्लिङ्गभूतं ततः तदाकारं ज्ञानम् अतः परम्परया तानि स्वाकारज्ञानहेतव इति ; तत्राह–**परम्परयापि** उक्तया न केवलं साक्षात **हेतवो न भवन्ति** [५५६क] **एव स्वलक्षणानि** । कुतः ? इत्याह–**क्षणिकत्वे** इत्यादि । विवेचितमसकृत । अनेन अनुमेयत्वम् । **अतो**ऽस्मान्न्यायात **सर्वथा** प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण **न संभवत्यर्थस्य** परपरिकल्पितवस्तुनोऽ**विसंवादात्**(दल)**क्षणमव्यभिचारि प्रमाणम्** । माभूत बहिः स्वलक्षणानामविसंवादलक्षणं(वादलक्षणं) सौगतैः तन्निषे- १०
धात, ज्ञानस्य तु स्यादिति चेत ; अत्राह–**तत** इत्यादि । **तत एव** स्थूलैकान्वयिनः साक्षाद्दर्शनादेव **ज्ञानस्यापि** न केवलं बहिःस्वलक्षणानाम । किंभूतस्य ? **तदाकारस्य** स्वलक्षणाकारस्य **सर्वथा न संभवति तल्लक्षणमिति** पदघटना । *"**यद्यथावभासते तत्तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि**" इत्यादि वचनात स्थूलैकान्वयिविषयमेव ज्ञानमस्तु इति चेत ; अत्राह–**तद्** इत्यादि । **तद्** इत्यनेन स्थूलैकान्वयी परामृश्यते स **विषयो** यस्य ज्ञानस्य [तस्य]**भावः तत्ता** १५
तस्याः सौगतैरनभ्युपगमात् क्षणभङ्गादिभङ्गभयात । हेत्वन्तरमाह–**तत्प्रति[भा]सविरोधाच्च** इति । **तस्य** स्थूलैकान्वयिनः **प्रतिभासः** तदाकारता ज्ञानस्य तस्य **विरोधात्** । उपलक्षणमेतत वैयधिकरण्यदः(ण्यादेः) । '**च**' इति हेतुसमुच्चये ।

द्वितीयं हेतुं व्याख्यातुं परेण आत्मानं पयुति (प्रश्नयति) '**कथमव्याप्तिः**' इति ; उत्तरमाह–**उपादानोपादेयसंविदोः** इत्यादि । सर्वं गतार्थम । अव्याप्तिं व्याख्यातुं प्रश्नयति– २०
'**कथमव्याप्तिः**' इति ? तत्रोत्तरं **विज्ञान** इत्यादि तादृगेवं ।

भवतु वा सदादिनेव क्ष[ण]यादिनापि भावस्य ग्रहणं तथापि सौगतस्य मीमांसको दुर्जय इति दर्शयन्नाह–**भिन्नस्य** इत्यादि ।

[भिन्नस्य सर्वतोऽन्यस्मात् भेदं तद्व्यवसाययेत् ।
प्रत्यक्षं सर्वतः तद्वत् नियमः स्याद् गिरां श्रुतेः ॥११॥ २५

स्वलक्षणस्य स्वभाव[विलक्षणस्य] दर्शनं तत्स्वभावविशेषसन्निधानाविशेषेऽपि [क्वचित्] यदि साक्षाद् व्यवसायं जनयति, गिरां··बुद्धिः अखण्डं स्वं परं वा खण्डयन्ती कथं नियमात् सन्निहितसकलार्थग्राहिणी नाम , न वै विकल्पबुद्धिः [अपरमार्थविषया] प्रोक्तम्···]

भिन्नस्य व्यावृत्तस्य व्यावृत न तयो···[५५६ख]···रस्मात(?) । किं भूतात ? **सर्वतः** ३०

(१) "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्"–न्यायवि० । (२) 'निषेधतिस्म' इति सम्बन्धः । (३) बहिरर्थनिषेधात् । (४) गतार्थम् । (५) प्रतौ रिक्तमेतत् स्थलम् ।

सजातीयेतररूपात् संवन्धि यत् **प्रत्यक्षं तद् व्यवसायये** निश्चायेय(**साययेत्** निश्चाय) येत । किम् ? **भेदं** व्यावृत्तिम् न (तत्) सर्वतः विजातीयात्तं व्यवसाययेन्न सजातीयपूर्वोत्तरक्षणाभ्यां क्षणिकत्वानुमानवैफल्यापत्तेः यद्वत् **तद्वदिति** श्रवणादेवं गम्यते **तद्वन्नियमः स्यात् गिरां श्रुतेः** ।

५ कारिक(कां) विवृण्वन्नाह–**स्वभाव** इत्यादि । **स्वलक्षणस्य** । तस्य विशेषणमाह–**स्वभाव** इत्यादि । तस्य किम् ? इत्याह–**दर्शनम्** । तत कथं कुर्वन् किं करोति ? इत्याह–**साक्षाद्** अव्यवधानेन **व्यवसायं** निश्चयं **जनयन्(यति)**मतत (?) सर्वव्यावृत्तिप्रसङ्गात् । कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–**तत्स्वभाव** इत्यादि । सः स्वानुभूते व्यवसायजनकः **स्वभावविशेषो** यस्य, अन्यथा नीलादा व(दौ व्यव)सायो न भवेद् असक्त(अशक्त)स्याजनकत्वात्, तज्जनकेतर-
१० भेदात् तद्भेदो वा, तत्तथोक्तं दर्शनं तस्य **सन्निधानस्याऽविशेषेऽपि यदि** । परिहारमाह–**गिराम्** इत्यादि । दर्शनपाटवाद्यभावस्य उभयत्र समानत्वात् । अथ नीलादिवत् क्षणक्षयादौ व्यवसायजनकः तद्विशेषः तस्य नास्ति ; तत्राह–**अखण्डम्** इत्यादि । **अखण्डमद्वयं स्वम्** आत्मानं **बुद्धिः खण्डयन्ती** स्वविषये अध्यवसायजननसमर्थेतररूपतया सांशं कुर्वन्ती । ननु नीलादौ तज्जनन[सामर्थ्यमेव [2]अन्यत्राऽ]सामर्थ्यम्[3], अतोऽयमदोष इति चेत् ; नित्यस्यापि एकदा सामर्थ्य-
१५ मन्यदा असामर्थ्यं स्यात्, ततो यथा नित्यं स्वकार्ये युगपत् सर्वदात्मानं भिन्नन्ति (भिनत्ति) तथा बुद्धिरपि इति[५५७क]स्थितम् **परं** वा[ऽ]**खण्डं** [4]**खंण्डं खण्डयन्ती** । तथाहि–नीले निश्चयं जनयति न क्षणक्षये, ततो गृहीतेतरयोरिव निश्चितेतरयोरपि भेदः । **कथं नियमात्** नियमेन **सन्निहितसकलार्थग्राहिणी नाम** । यथाहि दर्शनं स्वविषयत्वाऽविशेषेऽपि सन्निहितयोरपि [5]'नीलक्षणिकत्वयोरपि' नीलक्षणिकत्वयोर्विभागेन निश्चयं जनयति तथा श्रोत्रं स्वविषयेषु रा(ग)-
२० कारादिषु इति भावः ।

ननु स्यादेवं यदि दर्शनवद् अर्थविषया विकल्पबुद्धिः स्यात्, यावता निर्विषयता तत्कथं तद्भेदादर्थभेद इति ? तदाह–**न वै विकल्पबुद्धिः** इत्यादिना । तत्र परिहारं पठति **प्रोक्तम्** इत्यादिक(कम् ।)

दर्शनं नीलवत् क्षणक्षये प्रवृत्तमपि सहकारिवैफ(क)ल्यादविशेषेण[न] निश्चय[मुत्पा-
२५ दय]ति इत्यत्र दर्शने[6] पुनरपि दूषणं दर्शयन्नाह–**साकल्येन** इत्यादि ।

[साकल्येन गृहीतेऽपि शब्दराशौ सकृद्धिया ।
शब्दः प्रतीयते नान्यो यद्व्यवसायेऽस्ति प्रत्ययः ॥१२॥

सर्वतः···]

साकल्येन सामस्त्येन **गृहीतेऽपि शब्दराशौ** अकारि(कारादि) हकारपर्यन्तवर्णसमूहे
३० **सकृद्धिया (सकृत् धिया)**श्रवणज्ञानेन, यस्य शब्दस्य व्यवसायो **यद्व्यवसायः** तस्मिन्

(१) स्वभावविशेषः । (२) क्षणक्षयादौ । (३) अस्ति । (४) 'खण्डम्' इति द्विर्लिखितम् । (५) 'नीलक्षणिकत्वयोरपि' इति द्विर्लिखितम् । (६) मते ।

कर्त्तव्ये **अस्ति प्रत्ययः** सहकारिकारणं विद्यते श(?)**शब्दः प्रतीयते नान्य** इति ।

कारिकार्थं दर्शयन्नाह–**सर्वत** इत्यादि । सुगमम् ।

दर्शनस्य विभागेन विकल्प[ज]नकत्वमभ्युपगम्य इदमुक्तम्, इदानीं तदेव नास्तीति दर्शयन्नाह–**यथा** इत्यादि ।

[यथार्थोऽनुभवं साक्षात् स्वापेक्षं कर्तुमर्हति ।　५
तथार्थानुभवः साक्षादनन्यव्यवसायकृत् ॥१३॥

यथा रूपस्वलक्षणं साक्षादुपनिपत्य विज्ञानं जनयत् आत्मनान्तरीयकमाकारं पुरस्कर्तुं नायुक्तं तथा तद्दर्शनं व्यवसायं तेन विशेषः व्यवसीयेत । दृष्टेः स्वभावभूतविशेषव्यवसायाभावे कुतः सजातीयस्मृतिः क्षणक्षयादिवत् ?]

यथा [येन]योग्यताप्रकारेण **अर्थो** रूपादिः **अनुभवं** दर्शनं **साक्षाद्** अव्यवधानेन　१० **कर्तुमर्हति** । किंभूतम् ? इत्याह–**स्वापेक्षं स्वशब्देन अर्थः** परामृश्यते तस्मिन् **अपेक्षा** तदनुभवनाकाङ्क्षा [५५७ख] यस्य तत्तथोक्तम् स्वाकारम् इत्यर्थः । **तथा** तेन प्रकारेण **अर्थानुभवः साक्षाद[न]न्यव्यवसायकृत्** न विद्यते अन्य[त्] स्वरूपान्तरं यस्य तत् अ[न]न्यत् स्वलक्षणमिति यावत्, तस्य व्यवसायः तत्कृत(त्) । चर्चितमेतत्–*"**अभेदात् सदृशस्मृत्याम्**" [सिद्धिवि० १।६] इत्यादिना ।　१५

कारिकार्थं दर्शयन्नाह–**रूपस्वलक्षणम्** इत्यादि । रूपग्रहणमुपलक्षणं रसादेः तदेव **स्वलक्षणं साक्षादुपनिपत्य** उपढौक्य **विज्ञानं** स्वानुभवं **जनयता(यत्) यथा** येन वस्तुस्वभावप्रकारेण **नायुक्तमेव[म्] आत्मनान्तरीयकम्** आत्मानम(त्मनि)विद्यमान**माकारं पुरस्कर्तुम् तथा तद्दर्शनं** स्वलक्षणानुभवः साक्षादुपनिपत्य **व्यवसायं** नात्मानन्तरीयकमाकारं पुरस्कर्तु मा-(र्तुं ना)युक्तम्, **तेन** कारणेन **विशेषः** स्वलक्षणं **व्यवसीयेत** ।　२०

अधुना प्रकारान्तरेण दर्शनस्य व्यवसायहेतुत्वं निराकुर्वन्नाह–**दृष्ट(ष्टे**रित्यादि । अयम)-भिप्रायः– स्वयं व्यवसायात्मिका दृष्टिः, अन्यथा वा स्यात ? तत्राद्यपक्षे ; किमपरेण व्यवसाये-[न] ? द्वितीये ; **दृष्टेः स्वभावभूतो विशेषव्यवसायः** तस्या**भावे** अविकल्पकत्वे, **कुतः सजातीयस्मृतिः** ? नैव । अत्र निदर्शनमाह–**क्षण** इत्यादि । तदुक्तम्–*"**व्यवसायात्मनो दृष्टेः**" [सिद्धिवि० १।४] इत्यादि । अस्ति च परस्य तत्स्मृतिः, ततस्तदन्यथानुपपत्तेः[2] व्यवसायात्मिका दृष्टिरिति ।　२५

अधुना श्रोत्रियवत्[3] स्फोटवाद्यपि परस्य दुर्जय इति दर्शयन्नाह–**व्यवस्थायाम्** इत्यादि ।

[व्यवस्थायां कुतस्तत्त्वं स्याद्विकल्पाविकल्पयोः ।
यतः स्वलक्षणं शब्दः स्फोटो नेति व्यवस्थितिः ॥१४॥

स्वलक्षणविषयमविकल्पकं ज्ञानं न तावत् सर्वथा स्वार्थसाधनम्, अध्यवसायात्म-　३०

(१) विकल्पजनकत्वमेव । (२) स्मृत्यन्यथानुपपत्तेः । (३) मीमांसकवत् । (४) बौद्धस्य ।

त्वात् सिद्धेः। कुतोऽन्यथा अनुभूतं अनुमानम् अनुमितवत्। सामान्यविषयं भावतो निर्विषयत्वं तस्य अभावात्मकत्वात्। तद्भावं विषयीकरोति विकल्पकमिति न परिच्छिनत्तीति अकिञ्चित्करो विकल्पः कुतः साधनम् यतः तत्त्वसिद्धिः समयान्तरवत्? तदयं किंप्रमाणः परमुपालभेत अशब्दरूपम्···?]

५ तत्त्वमिदं नेदमिति स्थितिः **व्यवस्था तस्याम्**, अवि (अधि) करण[५५८क]भूतायां **स्याद्** भवेत तत्त्वं वस्तुस्वरूपं **कुतो विकल्पाविकल्पयोर्**मध्ये विकल्पादविकल्पाद्वा न कुतश्चित् द्वयोरपि तदध्यवसायक(यात्म)त्वादिति भावः। **यतः** तयोः कुतश्चित्तत्र तद्भावात् **स्वलक्षणं शब्दः स्फोटः** शब्दो नेति **व्यवस्थितिः** द्वयोरप्यदृष्टकल्पना[ऽ]विशेषात्।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**स्वलक्षणविषयम्** इत्यादि। जातिविषयव्यवच्छेदार्थं **स्वलक्षण-**
१० **विषय**ग्रहणम्। [अ]**विकल्पकं**। किम्? **ज्ञानम् स्वार्थसाधनं न तावत् सर्वथा** नीलादिप्रकारेण च(एव)क्षणक्षयादिनापि। कुतः? इत्याह–**अध्यवसायात्मत्वात्**। ततोऽपि प्रतीतिमात्ररूपा सिद्धिः स्यादिति चेत्; अत्राह–**सिद्धेः** इत्यादि। **कुतोऽन्यथा** [त]स्याः तल्लक्षणत्वाभावप्रकारेण **अनुभूतं** अविकल्पकगृहीतं **अनुमानं** क्षणक्षयादौ प्रमाणं स्यात्। दृष्टान्तमाह–अनुमितं इव **अनुमितवत्** इति। समारोपव्यवच्छेदकरणा[त्] तत्प्रमाणतापि चिन्तिता।
१५ तन्न अविकल्पात्तत्त्वसिद्धिः। विकल्पात् स्यादिति चेत्; अत्राह–'**विकल्पज्ञानम्**' इत्यनुवर्त्तते **सामान्यविषयं**। ततः किम्? इत्याह– **भावतो निर्विषयत्वं** [वि]कल्पकस्य इति। कुतः? इत्याह–**तस्य** इत्यादि। **तस्य** सामान्यस्य **अभावात्मकत्वाद्** अन्यते(तो)व्यावृत्त्यात्मकत्वात्। भवत्वभावः सामान्यम्, ततः किम्? इत्याह–**तद्भावम्** इत्यादि। **तद्भावे**(वं) विजातीयव्यावृत्तिं **विषयीकरोति विकल्पकमित्येवं न 'परिच्छिनत्ति' इति** प्राप्तम् ततोऽ**किञ्चित्करो विकल्पः**
२० **कुतः** [५५८ख] **साधनं** प्रमाणं **यतः** साधनत्वात् **तत्त्वसिद्धि**[ः] विकल्पात् इति **समयान्तरे-**(न्तर)**इव** तद्वदिति निदर्शनम्।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–**तदयम्** इत्यादि। यत एवं **तस्मादयं** सौगतः **किंप्रमाण**[ः] **परं** प्रतिवादिनम् **उपालभेत**। केन रूपेण? इत्याह–**अशब्दरूपम्** इत्यादि।

एवं परमते सौगतदोषपरिहारं विधाय इदानीं जैनमते यदुक्तं तेन–रूपादिमत्पुद्गलविका-
२५ रस्य ध्वनेः शब्दरूपस्य केनचिद् ग्रहणे तदव्यतिरेकिणो रूपादेः तेनैव ग्रहणात् *"**तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः**" [प्र० वा० ३।४४] इति वचनात् अन्यत्रापि शेषेन्द्रियवैफल्यमिति। तत्परिहरन्नाह–**अशब्दादिव्यवच्छिन्नम्**।

[अशब्दादिव्यवच्छिन्नं प्रत्यक्षमेकमेव तत्।
गन्धवद् व्यवसीयेत कथञ्चित् केनचित् क्वचित् ॥१५॥

३० **स्वलक्षणमेकं सन्निहितं प्रत्यक्षम्, तस्य यावन्ति पररूपाणि तावत्यो व्यावृत्तयः,**

(१) तन्निश्चायकत्वादिति भावः। (२) सामान्यविषय। (३) सिद्धेः। (४) बौद्धेन। (५) श्रोत्रेन्द्रियेण। (६) जैनमतेऽपि।

तत्र काचित् केनचित् प्रतीयते ततो न प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुः, अप्रतीत···नाम···
अतोऽन्यापोहः तेषां विषय इति, तथा स्वलक्षणं शब्दाद्यात्मकम्, तत्र श्रोत्रादिसामग्रीं
पुरस्कृत्य अनुभवात् अशब्दव्यवच्छेदः केवलं प्रतीयते, । तन्न पुद्गलस्वलक्षणस्यैकत्वेऽपि
शेषेन्द्रियाणां कैमर्थक्यं स्यात् । प्रत्यक्षतः शब्दादिस्वलक्षणभेदप्रतीतेः असमानम् ;
तन्न ; स्वलक्षणस्य अव्यवसेयत्वात् । निर्जितान्यसमारोपमनसः स्वार्थानुभवस्य व्यव- ५
सायात्मकतोपपत्तेः निश्चयारोपमनसोर्बाध्यबाधकभावः अन्यथा नोपपद्येत । दृष्टेः खण्डशः
पाटवादिसंभवे अनेकान्तप्रसङ्गात् तथा अर्थोपलब्धिः, किन्न प्रतिपद्येत ? यतः अनु-
पात्तस्पर्शाद्यात्मनः शब्दपुद्गलस्य श्रुतिर्न स्यात् । तन्नायं विकल्पानामेव अपराधः यतः
दृष्टस्य अर्थस्य अखिलो गुणः दृष्ट एवेत्येकान्तः शोभेत ।

अशब्दः शब्दाभावः न पुनः शब्दादन्यः रूपादीनामपि ततोऽन्यथा **द ('अ) १०
शब्दव्यवच्छिन्नम्'** इति वक्तव्यं स्यात , स **आदि** र्येषां रूपादीनां तेभ्यः स्वयं व्यवच्छि-
द्यते स्म **तदव्यवच्छिन्नं** शब्दरूपरसस्पर्शगन्धात्माम् (त्मकम्) इत्यर्थः । घटादिवदेकं न
स्यादिति चेत ; आह–**एकमेव** विरुद्धधर्माध्यासस्य एकान्तेन अभेदकत्वात् इति भावः । **तत्
प्रत्यक्षं** विशदवेदनवेद्यं यथा भवति तथा **व्यवसीयेत** निश्चीयेत । अनेन प्रत्यक्षव्यवसाय-
योरेकत्वमाह–**कथंचिदशब्दव्यवच्छिन्न**प्रकारेण नारूपादिव्यवच्छिन्नेन **केनचित्** श्रोत्रेण न १५
चक्षुरादिना । अत्र **गन्धद्रव्यं** निदर्शनम् । **क्वचित्** न सर्वत्र देशे । अनेन तस्य व्यापित्वं
निषेधति ।

सोपपत्तिकं कारिकार्थं दर्शयति **यथा** इत्यादिना । **यथा** [५५९क] सौगतस्य **स्वलक्षणमेकं**
प्रत्येकं **प्रत्यक्षम्** । किंभूतम् ? इत्याह–**सन्नि[हि]ते**त्यादि । **तस्य** स्वलक्षणस्य [3]**यावन्ति पर-
रूपाणि तावत्यो व्यावृत्तयः तत्र** तासु व्यावृत्तिषु मध्ये **काचिदशब्दादिव्यावृत्तिः केनचित्** २०
शब्दादिविकल्पेन शब्देन शब्द[ब्दा]द्यभिधाने वा (धानेन) करणभूतेन **प्रतीयते** । नहि शब्द इति
विकल्पेन अभिधानेन वा नित्यव्यावृत्तिः प्रतीयते **ततः** तस्मान्न्यायात् **न प्रतिज्ञार्थैकदेशा-
सिद्धो हेतुः** सत्त्वादिः । कुतः ? इत्याह–**अप्रतीते**त्यादि । केषाम् ? इत्याह–**नाम** इत्यादि ।
अतः अस्मात् करणात् **अन्यापोहः तेषा**मभिधानविकल्पान्तराणां **विषय इति तथा** तेन प्रकारेण
स्वलक्षणं शब्दरूपम् । किंभूतम् ? इत्याह–**शब्दाद्यात्मकम्** इति यावत् । **तत्र** स्वलक्षणे २५
श्रोत्रादिसामग्रीं पुरस्कृत्योत्यत्राद (त्यादिताद) **नुभवात्** प्रत्यक्षात् **अशब्दव्यवच्छेदः केवलं
प्रतीयेत** नाऽस्पर्शादिव्यवच्छेदः । विकल्पवदनुभवस्यापि व्यवच्छेदविषयत्वात् इति मन्यते । यत
एवं **तत्**तस्मात् **न शेषेन्द्रियाणाम्** [4]**कैमर्थक्यं** वैयर्थ्यं **स्यात्** तेषामप्रतीतप्रत्यायनार्थत्वात् ।
कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–**पुद्गलस्वलक्षणस्यैकत्वेऽपि** इति ।

---

(१) कश्चित् पदार्थः । (२) भेदकत्वाभावात् । (३) अत्रायं पूर्वपक्षः–"तस्मादेकस्य भावस्य यावन्ति पररूपाणि तावन्त्यस्तदपेक्षया तदसंभाविकार्यकारणस्तस्य तद्भेदात् यावत्यश्च व्यावृत्तयः तावत्यः श्रुतयोऽतत्कार्यकारणपरिहारेण व्यवहारार्थाः ।"–प्र० वा० स्ववृ० १।४४। (४) अन्यापोह । (५) किमर्थस्य भावः कैमर्थक्यम् कस्मै प्रयोजनाय इति भावः ।

ननु चक्षुषा रूपं प्रतीयते रसनेन रसः, एवं शेषेन्द्रियेष्वपि वाच्यम्, न च तत्र अपरमाभाति, न च इन्द्रियान्तरमस्ति यत्र वस्त्वन्तरप्रतिभासः, ततो न रूपादिभ्यः किम[पि]परं पुद्गलस्वलक्षणमेकम्, तदाह-**प्रत्यक्षत** इत्यादि। **प्रत्यक्षात्** श्रोत्रादिज्ञानाद् [५५९ख] उक्तविधिना **शब्दादिस्वलक्षणभेदप्रतीतेः** कारणाद**समानं** यथा विकल्पेन अन्यतो व्यवच्छेदः प्रतीयते ५ तथा प्रत्यक्षेणापि इति असदृशमिति चेत; उत्तरमाह-**न** इत्यादि। यदुक्तं परेण **तन्न** । कुतः ? **स्वलक्षणस्य** रूपादिपरमाणुलक्षणस्य **अव्यवसेयत्वाद्** अनिश्चेयत्वात्। एवं मन्यते यथा चक्षुषा केव[लं] रूपं प्रतीयते नान्यात्मकं नाप्यन्या वा (न्यथा) न प्रमाणान्तरापेक्षणमस्ति । स्वार्थानुभवादेव अन्यसमारोपव्यवच्छेदेन तत्त्वसिद्धिरिति चेत; अत्राह-**स्वार्थानुभवस्य** स्वपरदर्शनस्य **व्यवसायात्मकतोपपत्तेः** 'तदपपत्तेः'[1] **तदपेक्षणादिति** । किंभूतस्य ? इत्याह-
१० **निर्जितान्यसमारोपमनसः** (मनसः) । भविष्यति तदनुभवो न च व्यवसायात्मक इति चेत; अत्राह-**निश्चय** इत्यादि । **निश्चयश्च आरोपमनश्च तयोः बाध्यबाधकभावः** परेण **इष्टः**[2] **अन्यथा** तदनुभवस्य व्यवसायात्मकताभावप्रकारेण **नोपपद्येत** न घटेत अविकल्पान्यसमारोपमनसोरपि बाध्यबाधकभावोपगमात, तथा च अनुभवगन्धादेव नष्टव्यं समारोपेण इति, 'न'[3] समारोपवार्त्तापि न भवेत ।

१५ ननु नीलादौ अन्यसमारोपमनसो नानुभावाद् व्यवच्छेदः, अपि [तु] सादृश्यदर्शनस्य तत्क (तत्का)रणस्याभावात् स्वयमेवानुत्पाद इति चेत; न, प्रधानादिसमारोपस्य[4] सदृशदर्शनाभावेऽपि भावात । अनाद्यन्तर्वासना तत्र कारणमिति चेत; न; अवान्तरवासनातोऽपि समारोपदर्शनात् श्रोत्रियत्रियजोहिद्ध(त्रियोन्मत्त)स्येव अशुचौ शुचित्वस्य। भवत्वेवम्, को दोष इति चेत् ? नीलादौ तथा अनीलादिसमारोपः स्यात् । तन्निश्चयान्नेति चेत; इदमत्र चिन्त्यते-किम् अनुभवात , उत
२० उत्तरविकल्पाद्वा ? आद्यविकल्पः (ल्पे) अनुकूलमाचरसि 'स्वार्थानुभवस्य' इत्याद्यनिवारणा-[त] । द्वितीये अन्तराले समारोपप्रवेशे निश्चयो दुर्लभः । अथ अनुभवो हठान्निश्चयमुपजनयति;[5] अनीलवासना अनीलसमारोपम्[6] इति काचपच्यम् ।

किंच, क्षणिकनिश्चयमपि स[6] तथोपजनयेत । असामर्थ्यान्नेति चेत; नीलादावपि तदस्तु । तत्र सामर्थ्यं नान्यत्रे वि (ति) कल्पनायां **दृष्टेः** सांशत्वे मे (त्वमने) कान्तं प्रतिवहति ।
२५ तदाह-**दृष्टेः खण्डशः** नीलादौ न क्षणक्षयादौ **पाटवं** निश्चयोपजन[न]सामर्थ्य**मादि**र्यस्य अभ्यासादेः तस्य **संभवे अनेकान्तप्रसङ्गात्** कारणात् **तथा** तेन खण्डश इति प्रकारेण **अर्थोपलब्धिः** अर्थदृष्टिः **किन्न प्रतिपद्येत** स्वीक्रियेत तो(यतः)अस्वीकारात् **शब्दपुद्गलस्य श्रुतिर्न स्यात्** । किंभूतस्य ? **अनुपात्तस्पर्शाद्यात्मनः** अनुपात्तः सन्नपि अगृहीतः स्पर्शाद्यात्मा यस्य इति ।

(१) 'तदपपत्तेः' इति पुनर्लिखितमिव भाति । (२) "निश्चयारोपमनसोर्बाध्यबाधकभावतः ।"-प्र० वा० ३।४८ । (३) 'न' इति निरर्थकमत्र । (४)सांख्याभिमतप्रधानादिविकल्पस्य । (५)हठाज्जनयेदिति । (६) अनुभवः ।

प्रकृतोपसंहारमाह–**तन्न** इत्यादिना । यत एवं **तत्तस्मादयं** खण्डशः प्रतिपत्तिलक्षणः **अपराधो** दोषो **न विकल्पानामेव** किन्तु दृष्टेरपि इति भावः । **यतः** तेषामेवापराधात् [(2)] **दृष्टस्य अर्थस्य अखिलो गुणोदृष्ट एव इत्येकान्तः शोभेत** ।

ननु शब्दरूपादीनां पुद्गलद्रव्यधर्मत्वाऽविशेषेऽपि शब्दस्यैव ग्रहणं न रूपादीनाम् इति कुतोऽयं विभागः ? तथा,[५६०ख] सहोपलम्भनियमाभावेऽपि च तादात्म्यमिति कुतः ? ५ इति चेत् ; अत्राह–**द्रव्याणाम्** इत्यादि ।

[द्रव्याणामुपलम्भश्च स्वीयैरुद्भूतवृत्तिभिः ।
न गुणैस्तेजोद्रव्यादेर्यथानुद्भूतवृत्तिभिः ॥१६॥

नहि शब्दादीनामेकसामग्र्यधीनानामविनिर्भागवृत्तिभाजां सहोपलम्भनियमाभावेऽपि परस्परमतादात्म्यैकान्तः परमाणुस्थूलाकारवत् । तदन्यतरापाये अर्थस्यानुपपत्तेः । १० **व्यतिरेकैकान्ते पृथक्सिद्धिप्रसङ्गात्, सम्बन्धासिद्धेः । अभेदैकान्ते सहोपलम्भनियमात् व्यर्थमिन्द्रियनानात्वम् । कथञ्चित्तादात्म्येऽपि रूपादेः सन्निहितस्य तत्कारणान्तरसाकल्येऽपि सहानुपलम्भः उद्भूतगुणत्वात् । तद्यथा तजोद्रव्यस्य क्वचित् कदाचित् उद्भूतस्पर्शस्योपलम्भेऽपि न रूपोपलब्धिः तदनुद्भूतवृत्तेः, आलोकस्य रूपोपलब्धौ स्पर्शानुपलक्षणम् । क्वचिदुभयोपलब्धिः उद्भूतवृत्तेरेव यथा अग्निरिति ।** १५ **पार्थिवादीनां गन्धाद्युपलब्धावपि अयं क्रमः लक्ष्यते । तथा पुद्गलस्य रसाद्यात्मनोऽपि शब्दात्मनोपलब्धिः तदुद्भूतिनियमात् । विचित्रा हि परिणामवृत्तिः । स्वसंवित्तेरपि... अन्यतो व्यावृत्त्या प्रतिभासनात् । सकृत्...]**

द्रव्याणाम् उपलम्भो दर्शनं गुणैः सह न केवलानाम् । किंभूतैः ? इत्याह–**स्वीयैः** आत्मीयैः न द्रव्यान्तरगतैः । अनेन [(3)] मुक्तिदशायां विशेषगुणरहितस्य आत्मनोऽनुप- २० लम्भं दर्शयति । पुनरपि किंभूतैः ? इत्याह–**उद्भूतवृत्तिभिः उद्भूता** पुरुषमात्रस्य ज्ञानग्रहणयोग्या **वृत्तिः** परिणामो येषां तैः इति । **च** शब्दो भिन्नप्रकमः, अस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । नानुद्भूतवृत्तिभिः; अत आह–**नानुद्भूतवृत्तिभिः** । अत्र निदर्शनमाह–**यथा** इत्यादि । **तेजोद्रव्यादेः** आदिशब्देन गन्धद्रव्यादिपरिग्रहः स्तोता (श्रोत्रा) दिभिः उद्भूतगुणैरुपलम्भ इति उद्भूतवृत्तिः (वृत्तिभिः) नानुद्भूतवृत्तिभिः इति, अनेन 'सहोपलम्भनियमात्' इत्यस्य व्यभिचार- २५ माह ।

नहि इत्यादिना एतदेव दर्शयति–**शब्दा आदिर्येषां** रूपादीनां तेषाम् । किंभूतानाम् ? **एकसाम्यधीना[ना]म् अविनिर्भागवृत्तिभाजा(जां)सहोपलम्भनियमाभावेऽपि परस्परमतादात्म्यैकान्तो** भेदैकान्तो **नहि** । केषामिव ? इत्याह–**परमाणुस्थूलाकारवत्** । परमाणवश्च स्थूलाकारश्च तेषामिव तद्वद् इति । **स्थूलाकारोपलम्भेऽपि न तदारम्भकपरमाणूपलम्भः** ३०

(१) निर्विकल्पकस्यापि । (२) "तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ।"–प्र०वा० ३। ४४ ।
(३) वैशेषिकाभिमतस्य । (४) उपलम्भाविषयत्वम् ।

तथापि न तद्भेदैकान्तः । अनेन शब्दपुद्गलस्य शब्दरूपादीनां भेदैकान्तसाधने सहोपलम्भनियमाभावस्य व्यभिचारं दर्शयति । परमाणूनामुपलम्भद(म्भाभावाद्) भाव इत्येके[१] [५६१क]स्थूलाकारस्य[२] इत्यपरे तत्कथं तैर्व्यभिचारो हेतोः इति; तत्राह–**तदन्यतरापाय** इत्यादि । तयोः परमाणुस्थूलाकारयोः अन्यतरः, तस्यापाये **अर्थस्य** घटादे**रनुपपत्तेः** तद्वत् न तेषामतादात्म्यैकान्तः । तथाहि–स्थूलाकारापाये परमाणव एव, तेषामनुपलम्भेन असत्त्वम्, परमाणू(ण्व)पाये स्थूलाकारमात्रमनवयवं[३], तथा सति एकदेशचलनादिप्रसङ्गः । दृश्याः भंगाः(भागाः) सन्ति नान्य इति चेत्; तर्हि प्रागसतां मेघादीनां कुतः प्रादुर्भावः ? अहेतुक इति चेत्; सर्वः तथा स्यादिति हेतुफलभावविलोपः । निषिद्धोऽद्वैतादिवादः । सूक्ष्मपार्थिवादिभागेभ्यः इति चेत्; अनुकूलमाचरसि, परमाण्वनिषेधात् । स्वयं वा[ऽ]दृश्यपरमाणुभ्यो दृश्यपरमाणूत्पादमभ्युपगम्य ते तः(तेभ्यः) स्थूलोत्पादं कथं नेच्छेत ? ।

स्यान्मतम्, अस्तु सूक्ष्मं कार्यकाले कारणविलयात्; उक्तमत्र अहेतुकत्वप्रसङ्गादिति । ततः सूक्तम्–**परमाणुस्थूलाकारवदिति** ।

ननु परमाणुभ्यः स्थूलमन्यदेव, कारणात् कार्यस्य अन्यत्वात्, अतः तेषामपि पक्षीकरणात् न तैर्व्यभिचार इति चेत्; अत्राह–**व्यतिरेकैकान्ते** भेदैकान्ते **पृथक्सिद्धिप्रसङ्गात्** अन्यत्र लौकिके देशे अवयवानाम् अन्यत्र अवयविनः सिद्धिः उपलब्धिः पितापुत्रवत्, तस्याः प्रसङ्गात् । कुतः ? इत्याह–**सम्बन्धासिद्धेः** समवायि(य)निषेधात् । तन्न नैयायिकपक्षो युक्तः ।

सांख्यपक्षः स्यादिति चेत्; अत्राह–**अभेदैकान्ते** परमाणुस्थूलाकारयोः [५६१ख] 'एकत्वैकारयोः'[४], एकत्वैकान्ते **सहोपलम्भनियमात्** कारणात् **व्यर्थम् इन्द्रियनानात्वम्** । एवं सत (एवं न) परमाणूपलम्भः, तत्कथं तदभेदैकान्तः ? तथापि तदुपलम्भकल्पने चक्षुषा रूपोपलम्भे रसादीनामुपलम्भ इति व्यर्थमिन्द्रियनानात्वमिति । कथंचित्पक्षे कुतोऽयं न दोष इति चेत् ? अत्राह–**कथंचित्तादात्म्येऽपि** न केवलं विपर्यये **रूपादेः** अपिशब्दः अत्रापि द्रष्टव्यः, न केवलं परमाणुतदाकारयोः, **सन्निहितस्य सहानुपलम्भः** । कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह–**तत्करणान्तरसाकल्येऽपि तत्कारणं** रूपज्ञानकारणं चक्षुः तदन्तरं रसनादिः तस्य **साकल्येऽपि** । कुतः ? इत्याह–**उद्भूतगुण** इत्यादि । ततः स्थितम्–**परमाणुस्थूलाकारवत्** इति । यदि वा, शब्दादीनां सहोपलम्भनियमाभावे परस्परम् एकसामग्र्यधीनानाम् माभूताद(माभूद्)तादात्म्यैकान्तः शब्दोपलम्भे रूपाद्यनुपलम्भात्, अभावैकान्तस्तु भवेदिति चेत्; अत्राह–**परमाणुस्थूलाकारवदिति** । स्थूलाकारोपलम्भे परमाणुवत् शब्दोपलम्भे रूपाद्यनुपलम्भेऽपि 'नाभावः' इत्यध्याहारः । कुतः ? इत्याह–**तदन्यतरापाये** सदा (स चाऽ)सावन्यतरश्च शब्दो रूपादिश्चान्तस्योपाये(श्च तस्यापाये) **अर्थस्य** चेतनस्ये[तरस्य] **वानुपपत्तेः** । तथाहि–प्रतीयमानस्य शब्दस्य अभावे घटादौ कः समाश्वासः ? अनुमीयमानस्य तस्य तत्र रूपादेरभावे स्थूले परमाणुषु

(१) चार्वाकाः । (२) अभाव इति बौद्धाः । (३) अवयवशून्यः निरंश इति यावत् । (४) 'एकत्वैकारयोः' इति व्यर्थमत्र पुनर्लिखितम् ।

नाश्वासः। तदुक्तम्-"अनुपवनं गत्यापि मूर्तं मतम्" [सिद्धिवि० ११।१] इति [५६२क]।
भवन्तु शब्दे रूपादयोऽपि तत्र भिन्ना इति चेत्; अत्राह-**व्यतिरेकैकान्त** इत्यादि। अव्यतिरेकैकान्ते दोषमाह-**अभेदैकान्त** इत्यादि। शेषं पूर्ववत्। उदाहरणं दर्शयति **तद्यथा** इत्यादिना। **तेजोद्रव्यस्य क्वचिद्**वातान्धकारपूरितापवरकादौ **का(कदा)चिद्** भैष्मरात्रिसमये[2] **उद्भूतस्पर्शस्य** उद्भूतः स्पर्शो यस्य तस्य **उपलम्भेऽपि न रूपोपलब्धिः**। कुतः? इत्याह-**तदनुद्भूतवृत्तेः** तस्य रूपस्य याऽनुद्भूतवृत्तिः तस्या इति। तथा, **आलोकस्य** प्रदीपाद्यालोकस्य **रूपोपलब्धौ स्पर्शानुपलक्षणम्**। **क्वचिदुभयोपलब्धिः** स्पर्शरूपोपलब्धिः। कुतः? इत्याह-**उद्भूतवृत्तेरेव यथा अग्निरिति**।

ननु यथा उभयोपलब्धिः उद्भूतवृत्तेरुपदर्शिता तथा उभयानुपलब्धिः विपर्ययात्[3] कस्मान्न दर्शिता? विषयाभावादिति चेत्; न; नायनरश्मिरूपस्य विषयस्य भावात्। नैतदस्ति, यतः सर्वविशेषगुणानुद्भूता व (तौ च) एवं भावस्य अनुद्भूतसकलगुणस्य घटादेः सर्वत्र भाव इति सांख्यदर्शनम्। नायनरश्मिषु अनुमानात्[4], अन्यत्र विपर्ययात् असमानमिति चेत्; न; तन्निषेधात् इत्यभिप्रायः तथावदतः।

ननु पृथिव्यां क्वचित् सन्नपि गन्धो नोपलभ्यते यथा घटे, एवं रूपादयोऽपि वक्तव्याः। तथा सर्वत्र अप्सु गन्धः, तेजसि गन्धरसौ, वायौ रूपरसगन्धाः, तत्र का वार्ता इति? जलादौ गन्धाद्यभाव इत्येके। तत्राह-**पार्थिव** इत्यादि। प्रत्येकम् **आदि**शब्दः सम्बध्यते **पार्थिवादिः गन्धादिरिति**। ततोऽयमर्थः-पृथिव्येव **पार्थिवम् आदिर्येषाम्** [५६२ख] अबादीनां तेषां **गन्धादयः** तेषामुपलब्धावपि न केवलमनुपलब्धौ **क्रमोऽयमनन्तरोक्तो लक्ष्यते**। तथाहि-पृथिव्याः गन्धादयो योगिनां प्रत्यक्षा एव उद्भूतत्वात्, अस्मादृशाम् उभयथा उद्भूतानुद्भूतवृत्तित्वात्। न च यदानुद्भूतिः तदा तदभावः; चरमक्षणनिषेधात्[6], रसात् रूपाद्यनुमानाभावप्रसङ्गाच्च। जलादौ योगिनामेव गन्धाद्युपलब्धिः, अस्मादृशां विपर्ययः अनुद्भूतत्वात्। अस्मादृशः प्रति पार्थिवगन्धादिग्रहणं परं प्रति दृष्टान्तार्थम्। यथा सतामपि पार्थिवगन्धादीनाम् अनुद्भूतिः तथा अबादीनामपि। तत्र सद्भावे किं प्रमाणमिति चेत्? स्पर्शवत्त्वं ब्रूमः।

एवं दृष्टान्तं व्याख्याय दार्ष्टान्तिके योजयति **तथा** इत्यादिना। **तथा पुद्गलस्य** प्रकृतस्य **रसाद्यात्मनोऽपि** शब्दात्मनोऽपि **शब्दात्मनोपलब्धिः**। कुतः? इत्याह-**तद्** इत्यादि। **तस्य** शब्दात्मन **उद्भूतिनियमात्**।

ननु पृथिव्यामिव जलादौ गन्धादिसद्भावे क्वचित्तज्जातीये तदभिव्यक्तिः, हेमसजातीये पावके उष्णताव्यक्तिवत्, न चैवम्, इति चेत्; अत्राह-**विचित्रा हि** इत्यादि। **विचित्रा**

(१) वायुशून्य। (२) भीषणरात्रिकाले। (३) अनुद्भूतवृत्तेः। (४) अनुद्भूतरूपस्पर्शसिद्धिः। (५) नोपलभ्यन्ते।। (६) रूपादिप्रवाहस्वीकारात्। (७) यदि अनुद्भूतिकाले अभावस्तदा। (८) गन्धाद्यभिव्यक्तिः स्यात्।

नानारूपा हि(र्य)स्मान् वृत्तिः वर्त्तनं परिणामानाम् । तथाहि–क्वचित् तत्र तज्जातीये च गुणाभिव्यक्तिः, यथा सर्वत्रात्मनि ज्ञाना(ज्ञाना)भिव्यक्तिः । क्वचित् तत्रानभिव्यक्तिः तज्जातीये व्यक्तिः उक्तवत् । क्वचित् तत्र तज्जातीये वा किं व्यक्ति(वाऽनभिव्यक्तिः) परमतेऽपि आत्मादिविभुत्ववत् । आश्रयादर्शनात्तदर्शनमिति चेत् ; न ; शब्दाग्रहणप्रसङ्गात्[३] । यस्य च पुद्गलविकारा[ः] पृथिव्यादयः

५ तस्य [५६३क] जलादिशशर्भीये(सजातीये)पार्थिवविकारे गन्धाद्यभिव्यक्तिः सुलभैव इति सर्वं सुस्थम् । सौगतं प्रति तत्प्रसिद्धं निदर्शनमाह–**स्वसंवित्तेरपि** इत्यादि । चर्चि[तं]तदत्रैव । कुतः तदसंभवः ? इत्यत्राह–**तस्याः** स्वसंवित्तेः **अन्यतो** ग्राह्याद्याकाराद् या [**व्या**]**वृत्तिः** तया **प्रतिभासनात्** । सिद्धं फलं दर्शयन्नाह–'**सकृत्**' इत्यादि । सुगमम् ।

यत एव परिणामसिद्धिः अत एव सि[द्धम् ; इ]त्याह–**सामान्यस्य** इत्यादि ।

१० **[सामान्यस्याभिलाप्यत्वादेः स्वलक्षणविपर्ययात् ।**
यदुक्तं तत्प्रतिव्यूढम् अनेकान्तात्मसाधनैः ॥१७॥

यत्पुनः···न हि सदृशपरिणामसामान्यं प्रतिपद्द्धुं शक्यम् । अतदात्मनः स्वलक्षणस्य स्वाकारज्ञानार्थक्रियायामनुपयोगात् । न हि संवित्तौ···परस्पर···। तदेतत् सामान्यमवस्तु अभिधेयत्वात् अर्थक्रियाऽसमर्थत्वादित्यादि तत्साधनं परिणामसाधनेन

१५ प्रत्युक्तम् । सदृश···स्थूलस्य···असंभावितैकात्मनः संविदः कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वात् । क्षणिकपरिमण्डलादिस्वलक्षणस्य चाक्षुषत्वे रसाद्यात्मनापि चाक्षुषत्वं स्यात् । शेषेन्द्रियसामर्थ्यं प्रमाणान्तरवत् पारम्पर्येण समारोपव्यवच्छेदार्थं न विरुध्येत,तन्निर्णयविशेषोपपत्तेः]

अभिलाप्यत्वम् आदिर्यस्य वस्तुनः तत्त्वाभासवाच्यत्वादेः स तथोक्तः तस्मात् । हेत्वन्तरमाह–**स्वलक्षणविपर्ययात् स्वलक्षणम्** अर्थक्रियाकारित्वं [**तद्विपर्ययः**] तस्माच्च

२० **सामान्यस्य** यदवस्तुत्वं परेण **उक्तम् तत्प्रतिव्यूढम्** निरस्तम् । कैः ? इत्याह–**अनेकान्तात्मसाधनैः** ।

कारिकार्थमाह–**नहि** इत्यादिना । भवत(तु)सदृशपरिणाम एव सामान्यं तदपि परसमानमिति चेत् ; अत्राह–**यत्पुनः** इत्यादि । **नहि प्रतिपद्द्धुं शक्यम्** दर्शनभ्रान्ततापत्तेः । स्वलक्षणमेव प्रत्यक्षमिति चेत् ; अत्राह–**अतदात्मनः** समानपरिणामस्वभावरहितस्य **स्वलक्ष-**

२५ **णस्य स्वाकारज्ञानं** स्वलक्षणाकारज्ञानं तदेव **अर्थक्रिया तस्या ननु** प्र(तस्याम् **अनुप**)-**योगात्** । कुतः ? इत्याह–**नहि संवित्तौ** इत्यादि । सुगमम् । एतदपि कुतः ? इत्याह–**परस्पर** इत्यादि । परपक्षमुपन्यस्यति दूषयितुं **तदेतत् सामान्यम्** इत्यादि । **तदेतत्** सदृशपरिणामलक्षणं **सामान्यम् अवस्तु** । कुतः ? इत्याह–**अभिधेयत्वात्** इत्यादि । अनेन '**अभिलाप्यादेः**' इति व्याख्यातम् । '**स्वलक्षणविपर्ययात्**' इति कथयन्नाह–**अर्थक्रियाऽसमर्थ-**

(१) शब्दे यथा रूपाद्यनभिव्यक्तिः पुद्गलजातीये घटादौ तदभिव्यक्तिरिति । (२) आत्मादिविभुत्वादेः । (३) तदाश्रयस्य आकाशस्य अप्रत्यक्षत्वात् ।

त्वादि'त्यादिकं परकीयं भाषितं **परिणामसाधनेन**[५६३ख]**प्रत्युक्तम्** निरस्तं **तत्साधनम्** । कुत इति चेत् ? अत्राह–**सदृश** इत्यादि । तदपि कुतः ? इत्याह–'**स्थूलस्य**' इत्यादि । कथंचिदुपलब्धिं साधयन्नाह– [इ–] **संभावितैकात्मनोऽपि** संभावित एकः अखण्ड आत्मा स्वभावो यस्याः[तस्या] अपि । कस्याः ? इत्याह–**संविदः** संवित्तेः । **कथंचित्** चेतनादिरूपेण[न क्षण]क्षयादिना **प्रत्यक्षत्वात्** । क्षणक्षयादिनापि प्रत्यक्षत्वे दूषणमाह–**क्षणिक** इत्यादि । ५ **क्षणिकः परिमण्डलो** निरंशत्वलक्षण **आदि**शब्दात् स्वर्गप्रापणादिर्यस्य तत्तथोक्तं तच्च **तत्स्वलक्षणं** च इति, तस्य **चाक्षुषत्वे,** उपलक्षणमेतत् सर्वाध्यक्षसंवित्तीनाम् , § **रसाद्यात्मनापि चाक्षुषत्वं** नपलक्षणमेतत् सर्वाध्यक्षसंवित्तीनाम् , § **रसाद्यात्मनापि चाक्षुषत्वं** **स्यात्** । तथा[ऽ]प्रतीतिः, उभयत्र समानाः । शेषेन्द्रियवैफल्यं स्यादिति चेत् ; अत्राह–**शेषेन्द्रियसामर्थ्यं प्रमाणान्तरस्य** अनुमानस्येव **तद्वत् , समारोपव्यवच्छेदार्थम्** अनुमानसामर्थ्यं न विरुध्यते तथा चक्षुषा १० रूपवता रसादिके गृहीतेऽपि **न विरुध्येत** । यथा प्रत्यक्षेण नीलवत् क्षणिकत्वे प्रतिपन्नेऽपि तत्समारोपव्यवच्छेदार्थम् अनुमानसामर्थ्यं न विरुध्यते तथा चक्षुषा रूपवत् रसादिके गृहीतेऽपि तत्समारोपव्यवच्छेदार्थं शेषेन्द्रियसामर्थ्यं न विरुध्यते । कथम् ? इत्याह–**पारम्पर्येण** शेषेन्द्रियेभ्यो रसादिज्ञानं ततो विकल्पः तस्मात् समारोपव्यवच्छेदः । नहि शेषेन्द्रियमन्तरेण तज्ज्ञानं तदन्तरेण तद्विकल्पः । तदाह–**तन्निर्णय** इत्यादि । **तस्मात्** शेषेन्द्रियात(यात् तज्)- १५ ज्ञानाद्वा **निर्णयविशेषस्य उपपत्तेः** ।

अधुना अभिधेयत्वादीनां परसाधनानामनैकान्तिकत्वं दर्शयन्नाह–**स्वलक्षणे** इत्यादि । [५६४क]

[स्वलक्षणेऽभिधेयत्वाद्यस्ति तेनाप्यसाधनम् ।
सामान्याभावतत्त्वादेः तदभावं तु साधयेत् ॥१८॥ २०

चक्षुर्बुद्धेरतदाभासत्वेऽपि यदि स्वलक्षणं विषयः ; शब्दबुद्धेः किन्न स्यात् ? स्पष्टेतर...तन्न...तथा च प्रत्यक्षव्यक्तेः स्वलक्षणानां तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यत्वम् । तद्धेतुत्वे साधारणत्वात्सामान्यस्यावस्तुत्वे स्थूलस्य...एतेन...अर्थक्रियाम्...सङ्केत...]

स्वलक्षणे अभिधेयत्वादि आदिशब्दाद् वस्तुनः तत्त्वा[न्यत्वा]भ्यामवाच्यत्वादिपरिग्रहः, **अस्ति** विद्यते **तेनापि** न केवलम[न]न्तरन्यायेन **असाधन**मभिधेयत्वा[द्य]- २५ लिङ्गम् । कस्य ? इत्याह–**सामान्य** इत्यादि । **सामान्याभावतत्त्वम् आदि**र्यस्य अवयव्याद्यभावस्य, तस्य व्यभिचारादिति मन्यते । तस्यापि पक्षीकरणाददोष इति चेत् ; अत्राह–**तु** शब्दः शिर[:]कम्पे । **तदभावं** स्वलक्षणाभावं किं **तु साधये[त्]** तत्साधने सर्वव्यवहारविलोप इति भावः ।

कारिकायाया(कां)व्याख्यातुमाह–**चक्षुर्बुद्धे** इत्यादि । **अतदाभासत्वेऽपि** अस्वलक्षणा- ३० भासत्वेऽपि **यदि स्वलक्षणं विषयः** शब्दद्धेः(शब्दबुद्धेः) **किं न स्यात्** भवेदेव स्वलक्षणं विषयः ।

(१) अन्यथा क्षणक्षयानुमानवैयर्थ्यं स्यात् । (२) § एतदन्तर्गतः पाठो द्विर्लिखितः ।

तत्र युक्तम्–*"शब्देनाव्यापृताक्षस्य" इत्यादि । स्वलक्षणे शाब्देन्द्रियज्ञानयोः न प्रतिभासभेदोऽस्ति, तथापि अभ्युपगम्य उच्यते **स्पष्टेतर** इत्यादि ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–**तत्र** इत्यादि । परमपि परकीयहेतुं तथाविधं दर्शयन्नाह–**तथा च** इत्यादि । [तथा च ते]नैव च प्रकारेण प्रत्यक्षेण विपर्यीकृता स्थूलाकारा व्यक्तिर्विशेषः **प्रत्यक्षव्यक्तिः** तस्याः सकाशात् **तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यत्वम्** । केषाम् ? इत्याह–**स्वलक्षणानाम्** । 'तदहेत(तु)त्वे' इत्यादिना हेत्वन्तरं पुनरपि दूषयन्नाह–**साधारणत्वात् सामान्यस्य अवस्तुत्वे** अङ्गीक्रियमाणे । किम् ? इत्याह–**स्थूलस्य** इत्यादि । अस्य अन्यत्रातिदेशं कुर्वन्नाह–**एतं ते** (एतेन इ)त्यादि । लिङ्गान्तरं दूषयति **अर्थक्रियाम्** इत्यादिना । पुनरपि लिङ्गान्तरं निराचष्टे–[५६४ख] **सङ्केत** इत्यादिना ।

एतदपि कुतः ? इत्याह–**स्वलक्षणम्** इत्यादि ।

[स्वलक्षणमनिर्श्रेयमसन्निश्चितमित्यपि ।
मिथ्यार्थनिश्चयैकान्तात् किल तत्त्वं प्रपद्यते ॥१०॥

स्वलक्षणविषयं···**व्यवस्थापयेत्** । **कथञ्च एतदुभयं तत्त्वं परमार्थतः असदर्थज्ञानाविशिष्टप्रत्ययग्राह्यत्वात् ? नन्वयम् असदर्थज्ञानस्वलक्षणेषु भवन् कथं सामान्याभावं साधयेत् ? साधयन् वा कथं स्वलक्षणाभावं न साधयेत् ? उभयत्र**···**अयमपरोऽस्य दोषोऽस्तु न पुनः स्वलक्षणेष्वस्तीत्येतावता प्रकृतं साधयेत् व्यभिचारात् ।]**

स्वलक्षणं परपरिकल्पितपरमाणुलक्षणम् **अनिश्चय(अनिश्रेय)**मविकल्पपरिच्छेद्यम् इति **असद**विद्यमानं **निश्चितमित्यपि मिथ्यार्थनिश्चयैकान्तात् किल तत्त्वं प्रपद्यते** सौगतः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**स्वलक्षणविषयम्** इत्यादि **व्यवस्थापयेत्** इति पर्यन्तं सुगमम् । **कथं च ?** न कथंचिद् **एतत्** स्वलक्षणविषयमविकल्पकम् असत्सामान्यविषयं विकल्पज्ञानम् इत्युभयं तत्त्वं **परमार्थः** तः(र्थतः;) इत्याह–**असदा(द)र्थ** इत्यादि (?) दृष्टान्तः । नन्वेतन्निदर्शनमसिद्धम्, सामान्यस्याप्यभावे यस्मात् असदर्थज्ञानाविशिष्टा(ष्ट)प्रत्ययग्राह्यत्वादित्ययं हेतुः, स च स्वलक्षणे सत्यप्यस्ति, तदभावे न किञ्चित् स्यात्; तदाह–**अनन्वयम् (नन्वयम्)** इत्यादि । **अयम्** अनन्तरोक्तो हेतुः **असदर्थज्ञानस्वलक्षणेषु** असन्नर्थो यस्य तत्तथोक्तं ज्ञानं येषु तानि तथोक्तानि स्वलक्षणानि तेषु **भवनु(न्) कथं सामान्याभावं साधयेत् ? साधयन् वा** सामान्याभावं **कथं** तत्**स्वलक्षणाभावं न साधयेत्** । कुतः ? इत्यथाह–**उभयत्र** इत्यादि इति नैयायिकादिः ; अत्र उत्तरमाह–**अयमपरोऽस्य** सौगतस्य नानेकान्तवादिनः **दोषोऽस्तु न पुनः**

---

(१) "यच्छाक्षम्–शब्देनाव्यापृताक्षस्य बुद्धावप्रतिभासनात् । अर्थस्य दृष्टाविवेति"–अपोहसि० पृ० ६ । उद्धृतोऽयम्–"शब्देनाव्यापृताक्षस्य···अर्थस्य दृष्टाविव तदनिर्देशस्य वेदकम् ॥"–सन्मति० टी० पृ० ५२५ । (२) 'समानत्वात्' इति सम्बन्धः ।

स्वलक्षणेष्वस्ति इत्येतावता प्रकृतं सौगतं **साधयेत्** । कुतः ? इत्याह-**अव्यभिचारात्** जैनस्य उभयभावं साधयतीति भावः ।

न च जैनप्रसिद्धस्य सामान्यस्य असदर्थज्ञानाविशिष्टप्रत्ययग्राह्यत्वम् ; इत्याह-**स्थूल** इत्यादि । [५६५क] ।

[स्थूलस्यैकस्य ज्ञानस्य मिथ्या तत्त्वव्यवस्थितिः । ५

कथं मिथ्याविकल्पैः स्यात् स्वांशमात्रावलम्बिभिः ॥२०॥

इन्द्रियार्थविकल्पबुद्धिः परमार्थतः स्थूलैक[तत्त्वम्] इन्द्रियार्थसन्निकर्षमाश्रित्य, बहिरर्थग्राहित्वात् स्वयं ग्राह्याद्याकारां स्वसंवित्तिं वा व्यवस्थापयन्ती कथं भ्रान्तिर्नाम ? सामान्यस्य च···]

स्थूलस्यैकस्य घटादितत्त्वस्य **ज्ञानं** तया(स्य) **मिथ्यातत्त्वव्यवस्थितिः** । १० **कथं मिथ्याविकल्पैः स्यात्** । किंभूतैः ? इत्याह-**स्वांश** इत्यादि । निर्विकल्पनिषेधात न तैः स्यादिति ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-**इन्द्रियार्थ** इत्यादि । **विकल्पबुद्धिः** सामान्यबुद्धिः **कथं भ्रान्तिर्नाम ?** किं कुर्वती ? इत्याह-**व्यवस्थापयन्ती परमार्थतः** । किम् ? इत्याह-**स्थूलैक [तत्त्वम्]** इत्यादि । कुतः ? इत्याह-**इन्द्रियार्थसन्निकर्षमाश्रित्य** बहिरर्थापेक्षया इदमुक्तम् । अन्तरङ्गा- १५ पेक्षया आह-**स्वसंवित्तिम्** आत्मसंवेदनं साध्य(ध्यं) **व्यवस्थापयन्ती कथं भ्रान्तिर्नाम ?** किंभूताम् ? इत्याह-**ग्राह्य** इत्यादि । न तत्त्वतः तथा स्वसंवित्तिः, केवलं भ्रान्त्या तथावभासते, तदुक्तम्-*"**अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा**" [प्र०वा० २।३५४] इत्यादि । **बहिरर्थग्राहित्वात्** कारणात् । किम् ? इत्याह-**स्वयम्** इत्यादि । परत्र विपर्ययं दर्शयन्नाह-**सामान्यस्य च** इत्यादि । २०

तदेव दर्शयन्नाह-**प्रत्यक्षम्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षं मतं न स्यात् कथं सामान्यगोचरम् ।

अर्थाकारं समं पश्यत् कार्यकारणस्वार्थयोः ॥२१॥

विषयविषयिणोः सदसत्सारूप्यैकानुभवलक्षण···तत्प्रत्यक्षबुद्धेः तत्सारूप्यव्यतिरेकेण यदि अर्थदर्शनं चेत् ; तेन तद्व्यवधानात् सन्निकर्षादिवत् साधकतमत्वं मा भूत्। २५ **तत्पुनः सारूप्यं संवित्तेरेवानुभूतं रूपं नार्थस्येति कुतः अर्थोपलब्धिरन्यत्रोपचारात् । न चैतत् कार्यकारणभाव एव स्यात् यतः तत्रैव तद्भावात् समकालभाविनो भविष्यतो वा दर्शनं न भवेत् । न चैवं यमलकवदविसंवादो न स्यात् । तदेतत् ज्ञानं त्रिकालविषयसारूप्यं कुतः कारणस्यैव विनियम्येत यतः विकल्पज्ञानवत् सामान्यगोचरं न स्यात् । न चैकरूपेण अनेकार्थानुकरणं विरुद्धम् , संचितालम्बनतोपगमात् पञ्चविज्ञानकायानाम् ।** ३०

---

(१) 'स्वांशमात्रावलम्बिभिः' इति भावः । (२) ग्राह्यग्राहकाद्याकाराम् । (३) ग्राह्याद्याकारा । (४) 'विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ।' इति शेषः ।

कायग्रहणात् प्रत्येकं संचितालम्बनत्वमेव इति चेत्; न; स्थूलैकप्रतिभासाविरोधात्, सन्तानान्तरवत्]

प्रत्यक्षं सामान्यगोचरं कथं मतम् अभ्युपगतं सौगतस्य **न स्याद्** भवेदेव। किं कुर्वत ? इत्याह–**पश्यतु(न)** किम ? इत्याह–**अर्थाकारं समं** सदृशम। कयोः ? **स्वार्थयोः।**
५ किंभूतयोः ? इत्याह–**कार्यकारणयोः** यथासंख्येन ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–[विषय]विषयिणोः इत्यादि । **सदसत्सारूप्यैकानुभवलक्षण-** पर्यन्तं गतार्थमसकृत । अस्यानभ्युपगमे दूषणमाह–**तत्प्रत्यक्षबुद्धिः(द्धेः)** इत्यादि । **तस्य** स्वलक्षणस्य या **प्रत्यक्षबुद्धिः** तस्याः **तत्सारूप्यव्यतिरेकेण यदि अर्थदर्शनं** निराकारेण ज्ञानेन योगमताबलाच्चेद् अर्थसाक्षात्करणं **तेन** तद्बलेन **तद्वद्य(तद्वच्य)वधानात्** [५६५ ख] **सन्नि-**
१० **कर्षादिवत् साधकतमत्वं मा भूत्** , ततः किं सारूप्यकल्पनया ? सारूप्यमेव साधकतममिति चेत ; अत्राह–**तत्पुनः** सारूप्यं ज्ञानार्थयोः सादृश्यं **संचित्तोरेव(संविचेरेव) रूपं** स्वभावः **अनुभूतम्** । एवकारफलं दर्शयति–**नार्थस्य** तद्रूपमनुभूतमिति । कुतः ? इत्याह–**कुतः** इत्यादि । **कुतः** प्रमाणात परस्य **अर्थोपलब्धिः** न कुतश्चित **अन्यत्रोपचारात्** । तत एव तदुपलब्धिर्यथा चैत्रमित्रयोः चैत्रदर्शनाच्चैत्र[सदृशे मित्रे] दर्शनोपचारः ।

१५ एतदुक्तं भवति–उभयदर्शनात सारूप्यप्रतिपत्तिर्यथा चैत्रमित्रयोः, न च परस्य अर्थदृष्टिः तत्कथं तद्गतसारूप्यप्रतीतिः उपचारात ? इति त्वभ्युपगम्य उक्तम, न भावतः । नहि अदृष्ट-मित्रस्य दर्शनमुपचारतः चैत्रे भवति । तदुपलब्धिः उपाचारादेव तु इति चेत ; अत्राह–**न चैतत्** सारूप्यं **कार्यकारणभाव एव स्यात्** अपि तु तदभावेऽपि यमलकयोरिव स्यादिति भावः, **यतः तत्रैव तद्भावात् समकालभाविनो**ऽर्थस्य **भविष्यतो वा दर्शनं न भवेद्** भवेदेव । तथा च
२० प्र ज्ञा क र स्य कुतो भाविन्येव वर्त्तनात प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यात ?

ननु अकारणेन सारूप्ये अविसंवादो न स्यादिति चेत ; अत्राह–**न चैवम् अविसंवादो न स्यात्** भवेदेव **यमलकवत्** ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह–**तद्** इत्यादि । यत एवं **तत्तस्माद् एतन्नी**लाद्याकारं **ज्ञानं त्रिकाल-विषयसारूप्यं** त्रयः कालो विषयो यस्य सारूप्यस्य तद्विभूतसम्भव (तत्तथोक्तम) **कुतः कारणस्यैव**
२५ **विनियम्येत यतो** [५६६ क] विनियमाद् **विकल्पज्ञानवत् सामान्यगोचरं न स्यात्** भवे-देव । कथमेकस्य त्रिकालगोचरार्थानुकरणमविरुद्धमिति चेत ? अत्राह–**न चैकरूपेण** एकस्व-भावेन ज्ञानेन **अनेकार्थानुकरणं विरुद्धम्** । कुतः ? इत्याह–**संचितालम्बनतोपगमात्** । **संचिता[ः]** सन्निवेशविशेषविशिष्टाः परमाणव **आलम्बनं** येषां तेषां भावः **तत्ता** तस्या **उप-गमात्** । केषाम् ? इत्याह–**पञ्चविज्ञानकायानाम्** चक्षुरादिज्ञानसमूहानाम् *"**संचिता-**

(१) योगाचारस्य । (२) परमार्थतः। (३) मित्रम् अजानतः पुरुषस्य । (४)सहजातयोः । (५) "ततो भाव्यर्थविषयं प्रमाणान्तरगोचरम् । प्रमाणमध्यारोपेण व्यवहारावबोधकृत् ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ५ । (६) अकारणभूतेन अर्थेन ।

लम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः" इति राद्धान्तात् । एवं मन्यते–यथैकज्ञानम् समानकालमनेकमर्थमनुकरोति तथा भिन्नकालमपि इति निराकृतमेतत्–*"**वर्त्तमानमात्रवृत्तिः अक्षाणाम्**" इति[2] ।

ननु ज्ञानसमूहः संचितालम्बनः, प्रत्येकं तु ज्ञानम् एकैकपरमाणुनिष्ठम् । तदाह–**कायग्रहणात्** इत्यादि । समूहाभिधानात् प्रत्येकं संचितालम्बनत्वमय(मेव) ज्ञानानाम् इत्येव(वं) ५ चेद्; अत्रोत्तरमाह–**न** इत्यादि । **न** इति परपक्षप्रतिक्षेपे । कुतः ? इत्याह–**स्थूलैकप्रतिभास(सा)विरोधात्** । निदर्शनमाह–**सन्तानान्तरवदिति** । शेषमत्र चिन्तितम् ।

सारूप्यवशादर्थग्रहणे दूषणान्तरमाह–**एकार्थ** इत्यादि ।

[एकार्थसन्निकृष्टाक्षदृष्ट्यन्योऽन्यवीक्षणम् ।
अन्योऽन्याकारसंविक्त्वान्नो चेन्नैकार्थवीक्षणम् ॥२२॥ १०

सहैकार्थोपनिबद्धदृष्टीनां यथार्थानुकरणं तथा अन्योऽन्यानुकरणमवश्यम्भावि, ततोऽर्थोपलब्धिरिव अन्योऽन्योपलब्धिः विषयरूपतैव [यतो ग्रहणकारणम्] । नाकारणं [विषय इति चेत् ;] न तर्हि अर्थसारूप्यम्, सत्यपि तस्मिन् प्रामाण्यव्यभिचारात्, आलम्बनाभिमतात् कारणाच्च संवित्तिर्नैव विशेषान्तरं प्रतिलभते अन्यत्र तदाकारानुकरणात् । तत्पुनः नीलतयेव जडात्मनापि सुतरां सारूप्यम् । तज्जन्मसारूप्यलक्षणं व्यभिचरति १५ समानार्थदर्शननानैकसन्तानेषु संभवात्[4] । तदध्यवसायहेतुत्वं च[5] । क्वचित्…]

एकस्मिन् नर्त्तकीलक्षणे **अर्थे सन्निकृष्टानि** संसृष्टानि **अक्षाणि** यासां [**दृष्टीनां**] दर्शनानां तासाम् **अन्योऽन्यवीक्षणं** । कुतः ? इत्याह–**अन्योऽन्याकारसंवित्त्वात्**

(१) द्रष्टव्यम्–पृ० २५ टि० १० । (२)तुलना–"योग्यदेशस्थितेऽक्षाणां वृत्तिर्नातीतभाविनि । तदाश्रितं च विज्ञानं न कालान्तरभाविनि ॥"–प्र० वार्तिकाल० पृ० २४६ । (३) अत्रायं पूर्वपक्षः–"तस्माच्चक्षुश्च रूपं च प्रतीत्योदेति नेत्रधीः । (३।१५०) भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ॥ कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेऽप्यनुकुर्वदुदेति यत् । तत्तेनाप्यत्र तद्रूपं गृहीतमिति चोच्यते ॥ (३।२४७-४८) अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपतां । तस्मात् प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ॥" –प्र० वा० ३। ३०५ । (४) "न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह । प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥"–लघी० श्लो० ५८ । "तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि संवेद्यलक्षणम् । संवेद्यं स्यात् समानार्थं विज्ञानं समनन्तरम् ॥"–प्र० वा० ३।३२४ । (५) पूर्वपक्षः–"अविकल्पमपि प्रत्यक्षं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् । निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥"–तत्त्वसं श्लो० १३०६ । (६) "न केवलं विषयबलात् दृष्टेरुत्पत्तिः अपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च । विषयाकारानुकरणाद् दर्शनस्य तत्र विषयः प्रतिभासते न पुनः करणम् तदाकारानुकरणादिति चेत्तर्हि तदर्थवत् करणमनुकर्तुमर्हति न चार्थं विशेषाभावात् । दर्शनस्य तज्जन्मरूपाविशेषेऽपि तदध्यवसायनियमाद् बहिरर्थविषयत्वमित्यसारम् ; वर्णादाविव उपादानेऽप्यध्यवसायप्रसङ्गात् ।" –अष्टश०,अष्टस० पृ० १८८। प्रमेयक० पृ० १०८ । सम्मति० टी० पृ० ५१० । "ताद्रूप्यस्य समानार्थैः तदुत्पत्तेः इन्द्रियादिभिः तद्द्वयस्य समानार्थसमनन्तरप्रत्ययैः, तत्त्रितयस्य शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानेन व्यभिचारात् ।"–प्रमेयरत्नमा० २।९। प्र० मी० पृ० २० । प्र० नय० ४।४७ । रत्नाकराव० ४।४७ ।

परस्परसदृशत्वात् **नो चेत्** न यदि परस्परवीक्षणं तासां **नैकार्थवीक्षणम्** एकस्यार्थस्य ग्रहणं न भवेत्, तत्रापि सारूप्यमेव [५६६ ख] ग्रहणकारणं तत्तु अव्यभिचारीति भावः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–सह **एकार्थोपनिबद्धदृष्टीनाम्** इत्यादि । सह युगपद् **एकस्मिन्नर्थे उपनिबद्धाः दृष्टयो** येषां तेषां पुरुषाणां **यथार्थानुकरणं तथा अन्योऽन्यानुकरणमवश्यंभावि** ततोऽर्थोपलब्धिरिव **अन्योऽन्योपलब्धिः** । कुतः ? इत्याह–**विषयरूपतैव** इत्यादि ।

परमतमाशङ्कते–*"**नाकारणम्**" इत्यादि । अत्र दूषणमाह–**न तर्हि अर्थसारूप्यम्** इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**सत्यपि तस्मिन्** अर्थसारूप्ये **प्रामाण्यव्यभिचारात्** उक्तवा-(उक्तन्या)येन ।

ननु सारूप्यमात्रे तद्व्यभिचारः, कारणाच्च तद्विशेषोऽव्यभिचारी जायत इति चेत्; अत्राह–**कारणाच्च** हेतोरपि । किंभूतात् ? **आलम्बनाभिमतात्** अनेन समनन्तरादिनिरासः **संवित्तिर्न वै नैव विशेषान्तरं प्रतिलभते अन्यत्र तदाकारानुकरणात्** कारणा[नु]करणमेव विशेषं लभत इत्यर्थः । भवत्वेवमिति चेत्; अत्राह–**तत्पुनः** इत्यादि । **नीलतयेव दा(जडा)-त्मनापि सारूप्यम् इति स्वतराम्** (सुतराम्) इत्यनेन दर्शयति । ज(तज्ज)न्मादिकमपि व्यभिचारयन्नाह–**न[ज्ञ]न्मे**त्यादि । कुतः ? इत्याह–**समानार्थ** इत्यादि । **समानः** सदृशोऽर्थो येषां **दर्शनानां** तानि तथोक्तानि दर्शनानि तेषां **नानैकसन्तानाः** तेषु **संभवात्** समानार्थदर्शनानां सन्तानेषु संभवात् तज्जन्मसारूप्ययोः । तथाहि–पितृशरीरात् जायमानमपत्यशरीरं यथा कदाचित्तदाकारं तथा तच्चेतसोऽपत्यचित्तं कदाचित्तदाकारमुपलभ्यते, [५६७क] जन्यजनकयोः प्रायेण समानत्यागादिचित्तव्यवहारप्रसिद्धेः । न चापत्यचित्तं जनकचेतसि प्रमाणम्, इतरथा प्रकृतपुरुषस्य परचित्तप्रत्यक्षता इति व्याहतमेतत्–*"**शरीरप्रत्यक्षत्वेऽपि न बुद्धिः प्रत्यक्षा, बुद्धिविकल्पे संशयात्**" इत्यादि । तथा, समानार्थदर्शनैकसन्तानेषु भिन्ना तेषु (भिन्नेषु) संभवात्तयोः । तथाहि–[नीलात् नीलज्ञानं तस्माच्चापरापराणि] नीलज्ञानानि जायन्ते तद्रूपाणि, न च तानि तत्र प्रमाणम्, बहिस्ततोऽप्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।

स्यान्मतम्–तेभ्यो जन्मैव न तद्रूपता; अर्थादपि(अर्थेऽपि) सा न भवेत् । दृश्यते नीलतया इति चेत्; बोधरूपतया बोधादपि इति समानम् । तावन्मात्रेण भवतु न नीलतया इति चेत्; न; अंशेन जन्यजनकभावप्रसङ्गात् । तथा, पूर्वज्ञानम् उत्तरस्य बोधरूपतया जनकं न नीलरूपतया तथा उत्तरं तथैव जन्यथा(जन्यं स्यादिति) यथा बोधात् तद्रूपता तथा नीलादपि (नीलतापि) स्यात् । अर्थस्य वैयर्थ्यमिति चेत्; सार्थकत्वेऽपि पूर्वदोषानतिवृत्तिः । यदि वा, 'नैकस्य नानाकारानुकरणं विरुद्धम्' इत्युक्तम्; कथमन्यथा सर्वदर्शिज्ञानम् अशेषनीलाकारानुकारि

(१) एकार्थे । (२) सारूप्यम् । (३) विषय इति चेत् । द्रष्टव्यम्–पृ० १८८ टि० ७। (४) सारूप्यविशेषः । (५) आदिपदेन सहकार्यधिपतिप्रत्ययौ ग्राह्यौ । (६) तज्जन्मसारूप्यलक्षणं व्यभिचरतीति । (७) पितृचेतसः । (८) समानदानादिप्रवृत्तिदर्शनात् । (९) जन्मसारूप्ययोः । (१०) पूर्वनीलज्ञाने । (११) पूर्वनीलज्ञानेभ्यः जन्मैव उत्तरनीलज्ञानानां न तद्रूपता । (१२) तद्रूपता । (१३) बोधरूपतामात्रेण ।

भवतो भवेत् ? यदि मतम्, आद्यं नीलज्ञानं पूर्वनीलज्ञानमन्तरेण जातं तन्न तस्य नीलता पूर्वज्ञान-नीलताकृता, तथा अन्यत्रापि इति ; तन्न सारम् ; यतः यथासंभवं हेतुफलभावात् । ततः स्थितम्–**तज्जन्मसारूप्यलक्षणं** (2)**व्यभिचरतीति** । तदध्य(तदध्य)वसायसहितं न तथा इति चेत् ; अत्राह–**तदध्यवसायहेतुत्वं च** तस्य अर्थाकारज्ञानस्य व्यवसायकारणत्वं च व्यभिचरति । कुतः ? इत्याह–**क्वचिद्** [3] इत्यादि ।　　५

[५६७ख] नन्वेवं बहिरर्थस्य अग्रहणमेव प्रकारान्तरासंभवादिति पायसे घृतप्लवः सौगत-जनस्य इति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यर्थनियता** इत्यादि ।

[प्रत्यर्थनियता बुद्धिः प्रत्यर्थविषया सती ।
तज्जन्म[सारूप्यतदध्यवसायेषु सत्स्वपि] ॥२३॥

तथा च समानेऽपि अर्थग्रहणे अकारणं चार्थं विषयीकुर्वतो न कश्चिद् व्याघातः । संवादस्य···**प्रत्यक्षस्यापि व्यतीतस्य अप्रतिभासनात् । अनागतार्थस्य संप्रत्यभावेऽपि विषयतोपपत्तेः अविसंवादः व्यवहारात् । अक्षशब्दज्ञानयोः स्वार्थप्रतिपत्तिं प्रति नान्तर-मुत्प्रेक्षामहे । प्रतिभासभेदस्य वस्तुभेदकत्वाभावात् ।]**　　१०

प्रत्यर्थनियता बुद्धिः । किंभूता ? इत्याह–**प्रत्यर्थ** इत्यादि । केषु सत्स्वपि ? इत्याह–**तज्जन्म** इत्यादि ।　　१५

कारिकार्थं दर्शयति–'**समानेऽपि**' इत्यादिना । **तथा च** तेन प्रकारेण **अर्थग्रहणे** सति अर्थग्रहणेऽ**कारणं च अर्थं विषयीकुर्वतः** संवेदनस्य **न कश्चित्** प्रत्यक्षादिबाधलक्षणो **व्याघातः** । संवादो न स्यादिति चेत् ; अत्राह–**संवादस्य** इत्यादि । प्रतिपादितमेतत् । तथापि स्वकारण एवाऽविसंवाद इति चेत् ; अत्राह–**प्रत्यक्षस्यापि** इत्यादि । **व्यतीतस्य** ज्ञानात्मनि **अप्रति-भासनात्** सारूप्यनिषेधात् भाविकारणनिराकरणादिति भावः ।　　२०

ननु भविष्यदर्थविषया बुद्धिर्निर्विषया, तत्काले तदर्थस्यासंभवेन तत्राप्रतिभासनात्, तदस्याः कथमविसंवाद इति चेत् ? अत्राह–**अनागतस्य** इत्यादि । **अनागतस्य अर्थस्य** मरणादेः **संप्रति** अरिष्टादिकाले **अभावेऽपि विषयतोपपत्तेः** अरिष्टलिङ्गजनितबुद्धिगोचरतोपपत्तेः **अवि-संवादः** । कुतः ? इत्याह–**व्यवहार** इत्यादि ।

ननु भावी चेत् मरणादिः कथं प्राक्प्रतिभासगोचरः ? प्रागनुत्पन्नः 'भावी' इत्युच्यते,　　२५ अनुत्पन्नश्च खरविषाणवत् न तद्गोचरः, इतरथा [५६८क] न भावी, वर्त्तमानघटादिवत्, ततो भविष्यदर्थबुद्धिर्निर्विषया इति चेत् ; अत्राह–**अक्ष** इत्यादि । **अक्षशब्दयोः** कार्यभूते वस्तुज्ञाने, **शब्दज्ञानग्रहणम्** उपलक्षणम् तेन अनागतविषयम् अविशदं सर्वं विज्ञानं गृह्यते । तयोः **स्वार्थ-प्रतिपत्तिं प्रति नान्तरं** भेदमुत्प्रेक्षामहे । एवं मन्यते–यथा भविष्यदर्थः तद्बुद्धिकाले नास्ति,

---

(१) अनुकूलविकल्पोत्पादः तदध्यवसायः । (२) व्यभिचारतीति । (३) शुक्ले शङ्खे पीतकारज्ञानादुत्प-न्नेन समनन्तरज्ञानेन व्यभिचारीति । (४) भविष्यदर्थस्य ।

तथा प्रत्यक्षार्थः तद्देशे नास्ति। नहि प्रत्यक्षपरिच्छेद्याः अर्थाः सर्वे तदाधारे आत्मनि व्यवस्थिताः। अतद्देशाः परिच्छिद्यन्ते नानन्तकाला इति किंकृतो विभागः ? भाविनोऽपि स्वकालसत्ताऽनिषेधः, अन्यथा वर्तमानो भवेत। सोऽपि किंचिदपेक्ष्य भावीति। ननु किमुच्यते–'नान्तरमुच्यते'–'नान्तरमुत्प्रेक्षामहे' इति ? यावता विशदेतरताकृतं तदस्ति इति चेत्; अत्राह–**प्रतिभासभेद**
५ इत्यादि।

स्यान्मतम्–शब्दज्ञानस्य नाविशदत्वात् निर्विषयत्वमुच्यते, किन्तु तद्ग्राह्यसामान्यस्य अवस्तुत्वात्, तदप्यसदर्थप्रत्ययत्वादिति ; तत्राह–**स्वकारण** इत्यादि।

[स्वकारणस्वलक्षणस्याप्यन्तर्बहिर्विकल्प्यवत्।
परमार्थाविसंवादि न प्रत्यक्षं न लैङ्गिकम् ॥२४॥

१० **प्रमाणाविसंवादकत्वं यथातत्त्वं युक्तम्, प्रतिपत्रभिप्रायाणामप्रतिष्ठानात्। तदनुकरणे स्वमतव्याघातात्। धर्म···तत्त्वतः। परम्परया; नचानर्थविषयैर्विकल्पैः तत्त्वव्यवस्थापनम्। केषांचिन्मिथ्यात्वेऽपि कथञ्चित् केनचित् तत्त्वव्यवसाय इत्यपि मिथ्या विकल्पात् कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिः? यतः स्वलक्षणव्यवस्थाऽविसंवादः। तन्न···विप्रतिपत्तेः। नापि विकल्पकम्, परमार्थतः अतद्विषयत्वात्। तत एवाविकल्पज्ञानं न व्याख्यात्रभि-**
१५ **प्रायेणापि अविसंवादकम्। बहिः यथा···]**

स्वकारणं तत्**स्वलक्षणं** च इति त**स्यापि विकल्प**(ल्प्य)**वत्** सामान्यवत् असदर्थप्रत्ययविषयत्वमवगन्तव्यम्। तदाह–**परमार्थ** इत्यादिना। **परमार्थः** क्षणिकनिरंशपरमाणुरूपः **तदविसंवादि न प्रत्यक्षम्** उक्तन्यायात्, अत एव **न लैङ्गिकम्**। कुतः ? इत्याह–**अन्तर्बहिः** इत्यादि।

२० कारिकार्थमाह–**प्रमाण** इत्यादिना। **तदविसंवादकत्वं [यथातत्त्वं]** तत्त्वानतिक्रमेण **युक्तम्** उपपन्नम्। प्रतिपत्रभिप्रायादिति चेत्; अत्राह–**प्रतिपत्रभिप्रायाणामप्रतिष्ठानात्** तथा (यथा)**तत्त्वं युक्तमिति** [५६८ ख] **तदनुकरण(णे)** प्रतिपत्रभिप्रायानुकरणेन **स्वमतव्याघातात्**। तदाह–**धर्म** इत्यादिना। अस्तु यथातत्त्वं तदिति चेत्; अत्राह–**तत्त्वत** इत्यादि।

नन्वविकल्पाद् विकल्पवासनाप्रबोधः, ततो विकल्पः तस्मात् तत्त्वव्यवस्था इति, अतो
२५ विकल्पात् सेति चेत्; अत्राह–**परम्परया** इत्यादि। भवतु तत् तेषामेव इति चेत्; अत्राह–**न चानर्थविषयैर्विकल्पैः तत्त्वव्यवस्थापनम्**। तेभ्योऽपि परम्परया वस्तुप्रतिबद्धेभ्यस्तद्व्यवस्थापनमिति चेत्; अत्राह–**मिथ्यात्वेऽपि** इत्यादि। **मिथ्यात्वेऽपि केषांचित्** विकल्पानां **तत्त्वव्यवसायः कथंचित् केनचित्** परम्पराप्रतिबन्धप्रकारेण **इत्यपि** एवमपि **मिथ्या, विकल्पात् कुतः तत्त्वप्रतिपत्तिः यतो** यस्याः तत्त्वप्रतिपत्तेः अनुमानभ्रान्तेः सकाशात्
३० **स्वलक्षणव्यवस्थाऽविसंवादः**। '**यतः**' इति चाक्षेपे, नैव स्यात्। एवं मन्यते–विकल्पस्य कस्य-

(१) 'नान्तरमुच्यते' इति पुनर्लिखितम्। (२)अन्तरम्। (३) प्रतिभासभेदस्य वस्तुभेदकत्वाभावात्।

चित् परम्परया अर्थप्रतिबन्धो न तावदविकल्पात्[1]; तेन विकल्पाविषयीकरणात्, ततः तत्त्वात सिद्धे(तत्त्वासिद्धे)श्च क्षणक्षयादिवत् । नापि विकल्पा[त्] निर्विषया[त्]; तस्यापि तदन्तरात्[3] प्रतिबन्धसाधने अनवस्था । अथ एकेन विकल्पेन अन्यस्य तेन प्रतिबन्धः साध्यते; अन्योऽन्य-संश्रयः । एतेन विकल्पात्मवेदनात्[4] तत्सिद्धिर्निरस्ता; तेनैं अर्थापरिच्छेदादविकल्पदोषाच्च[5] इति ।

प्रकृतं निगमयन्नाह–**तन्न** इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**विप्रतिपत्तेः** विकल्प इति सम्बन्धः । ५ यदि वा, विकल्पापेक्षया विपरीता विरुद्धा वा प्रतिपत्तिः तस्या इति । **विकल्पकं** स्वलक्षणतत्त्वा-विसंवादि स्यादिति चेत्; अत्राह–**नापि** [५६९ क] इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**अतद्विषय-त्वात्** स्वलक्षणतत्त्वाविषयत्वात् विकल्पकस्य **परमार्थतः**, कल्पनया केवलं परं स्यात् व्याख्या-त्रभिप्रायवशादविकल्पकं तदविसंवादि इति चेत्; अत्राह–**तत एव** विकल्पस्य अतद्विषयत्वादेव । यदि वा, विकल्पे विप्रतिपत्तेरेव अविकल्पप्रतिपत्तेरेव **अविकल्पज्ञानं व्याख्यात्रभिप्रायेणापि** १० **नाविसंवादकम्** । कुतः ? इत्याह–**बहिः** इत्यादि । तदपि कुतः ? इत्याह–**यथा** इत्यादि ।

एतदेव समर्थयमानः प्राह–**प्रत्यक्ष**मित्यादि ।

[प्रत्यक्षं निश्चयापेक्षं न प्रमाणं स्वलक्षणे ।
सन्निधानेतराभ्याञ्च प्रतिभासभिदा धियः ॥२५॥

प्रत्यक्षं सर्वतो व्यावृत्तं वस्तु गृह्णदपि अनीलादिसमारोपं व्यवच्छिनत्ति, १५ सामान्य···तन्नैतत् प्रत्यक्षं न चानुमेयम् । न च···कार्यकारणयोः विषयविषयिणोः विनष्टेतरयोः प्रतिभासाविशेषात् । नापि विज्ञप्तिमात्रे एतल्लक्षणम्, स्वप्नादौ तल्ल-क्षणाभावप्रसङ्गात् । सत्यपि स्वप्नादौ कथं तदा चित्तचैत्तानां प्रत्यक्षत्वम् ? कथं च न स्यात् ? निरंशतत्त्वस्य स्पष्टप्रतिभासाभावात् तद्व्यवच्छेदानिर्णयाच्च यतः *"सर्वे" [प्र० वा० ३।३९] इत्यादि भवेत् ।] २०

प्रत्यक्षं स्वलक्षणे न प्रमाणं किन्तु सामान्ये । कुतः ? इत्याह–**निश्चयापेक्षं** यतो निश्चये स्वसामान्ये, इतरथा क्षणिकत्वानुमानमनर्थकमेव । तदपेक्षमपि स्वलक्षणे प्रमाणम्; तर्हि तदपेक्षा(क्ष्य) यौगैः[6] । तन्निरपेक्षमेव प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**सन्निवे(धान)** इत्यादि । स्वलक्षणस्य यत् **सन्निधानं** यच्च **इतरद**सन्निधानं ताभ्यां **धियः** प्रत्यक्षबुद्धेः **प्रतिभासभिदा च** न तदाकारासात (कारज्ञान) इत्यर्थः । २५

कारिकां विवृण्वन्नाह–**सर्वतः** सजातीयाद् विजातीयाद् **व्यावृत्त**मपसृतं **वस्तु गृह्णदपि प्रत्यक्षम् अनीलादिसमारोपं व्यवच्छिनत्ति** यत्रांशे निश्चयं जनयति इत्यर्थः । यदि तत्रैव प्रमाणं किं स्यात् ? इत्याह–**सामान्य** इत्यादि । यत एवं **तत्** तस्मात् **नैतत्** स्वलक्षणं **प्रत्यक्षं न चानुमेयम्** प्रत्यक्षाभावे अनुमानाभावात् । स्वानुभूते सर्वत्र प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**नच** इत्यादि । व्याख्यातम् । एतदपि कुतः ? इत्याह–**कार्य** इत्यादि । **कार्यं** ज्ञानं **कारणमर्थः** तयोः । ३०

(१) ज्ञायते । (२) अविकल्पात् । (३) विकल्पान्तरात् । (४) स्वसंवेदन । (५) निर्विकल्पपक्षो-पक्षिप्तदोषानुषङ्गात् । (६) यौगः सन्निकर्षः योग एव यौगः । अथवा, यौगाभिमतः सन्निकर्षः प्रमाणं स्यादिति ।

किंभूतयोः ? **विषयविषयिणोः** विषयोऽर्थः विषयि ज्ञानं तयोः **विनष्टेतरयोः प्रतिभासाविशेषात्** । सर्वदा [५६९ख] स्थूलप्रतिभासादित्यर्थः । तर्हि बहिः स्वलक्षणस्या(स्य) विचार्यमाणस्य अयोगात्, अन्तः स्वलक्षणमस्तु इति चेत्; अत्राह–**नापि** इत्यादि । विज्ञप्तिरेव नार्थः **विज्ञप्तिमात्रं** तस्मिन्नपि न केवलं बहिः, **एतल्लक्षणम्** एतस्य परपरिकल्पितस्वलक्षणस्य लक्षणं
५ दर्शनं नापि । नहि ज्ञानपरमाणवः प्रतिभान्ति पुरुषवत् । सुखादिनीलादितत्त्वस्य परेण प्रतिभास इष्यते । अभ्युपगमे वा नीलादिप्रतिभासः किमसत्य इति चेत्; अन्यत्र कः समाश्वासः ? कुतश्च [1]तदसत्यता ? ग्राह्यत्वेनावभासमानात्; तैमिरिकोपलब्धकेशादिवदिति चेत्; अत्राह–**स्वप्नादावित्यादि** । **स्वप्न आदिर्**यस्य काचकामलादिविभ्रमस्य स तथोक्तः तत्र **तल्लक्षणाभावप्रसङ्गाद्** विज्ञप्तिदर्शनाभावप्रसङ्गात् **नापि तन्मात्रेऽपि तल्लक्षणमिति** । अयमभिप्रायः–
१० यथा विभ्रमे बहिरर्थाभावः, प्रतिभासेऽपि तथा स्वसंवेदनाभावोऽपि । तत्र परसन्तानस्य असतोऽपि प्रतिभासनात् तत्र सत्त्वे, अन्यत्र कः प्रद्वेषः इति विचारितम् । तर्हि प्रतिभासाविशेषात् बाध्यबाधकभावविरहात् जाग्रद्दशावत्(न) स्वप्नादावप्यर्थोऽस्ति इति चेत्; अत्राह–**सद्यपि** (सत्यपि) विद्यमानेऽपि बाह्यार्थे **स्वप्नादौ कथं तदा** स्वप्नादिकाले **चित्तचैत्तानां प्रत्यक्षत्वं** प्रत्यक्षग्राह्यत्वम् ? **'कथं च न स्यात्?'** इति परः पृच्छति । तं प्रत्युत्तरं **स्पष्टप्रतिभासा-**
१५ **भावात् निरंशतत्त्वस्य** इति । हेत्वन्तरमाह–**तद्** इत्यादि । **तस्य** विपरीतारोपस्य व्यवच्छेदोऽभावः तस्यानिर्णयाच्च **यतः** स्पष्टप्रतिभासात् [५७०क] तन्निर्णया [ब] *"सर्वे" [प्र० वा० ३।३९] [2]इत्यादि भवेत् । ततः सर्वदा निरंशज्ञानतत्त्वस्याप्रतिभासनाद् बहिरर्थस्य विपरीतस्य प्रतिभासनात् तावन्मात्रं सौगतस्य तत्त्वं प्रसक्तमिति भावः ।

*"यत्रैव जनयेदेनां[3] तत्रैवास्य[4] प्रमाणता" इत्यत्र पुनरपि दूषणं दर्शयन्नाह–
२० **षण्णां धियामित्यादि** ।

[षण्णां धियां सकृद्भावे विवेकानुपलक्षणात् ।
सकृद्भावः प्रसज्येत सविकल्पमनोधियाम् ॥२६॥

शब्दादिष्वभिमतेषु युगपत्सन्निहितेषु तद्विज्ञानानां क्रमोत्पत्तौ प्रत्येकं पञ्चभिर्व्यवधानात् प्रत्येकं विच्छेदः प्रतीयेत । भावपक्षस्य [बलीयस्त्वादिति चेत्] स एव
२५ रसः··· ततः··· इति कल्पनायाम् तदन्यव्यवच्छेदव्यवसायात्मनां सविकल्पमनोऽक्षज्ञानानाम् तदविच्छेदप्रतीतौ सहभावः प्रसज्येत । तत्रैव हि विच्छेदानुपलक्षणं युक्तम् तदविशेषात् स्पष्टनिर्भासेऽपि ततः तदन्यव्यवच्छेदव्यवसायात्मनां च सहभावः प्रसज्येत ।]

तात्पर्यमिदमत्र यथाऽनन्तरः परस्य अभ्युपगमः तथा शब्दादिषु युगपत् सन्निहितेषु तथा षट्बुद्धयो जायन्त इति । तत्र **षण्णां** । कासां ? **धियाम्** रूपरसगन्धस्पर्शशब्दविक-
३० ल्पज्ञानानां **भावे** । कदा ? **सकृत्** सह । कुतः तद्भावः ? इत्याह–**विवेकानुपलक्षणात्**

(१) नीलादिप्रतिभासस्य असत्यता । (२) "सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः । स्वभावपरभावाभ्यां यस्मात् व्यावृत्तिभागिनः ॥"–प्र० वा० । (३) विकल्पबुद्धिम् । (४) निर्विकल्पस्य ।

विवेकस्य कर्कटीभक्षणादौ धिया कालविच्छेदस्य अनिश्चात् । एतद् दूषयन्नाह-**सकृद् भावः प्रसज्येत** । केषाम् ? **सविकल्पमनोधियाम्** । समर्थकारणबहुत्वाद् युगपत्कार्यबहुत्व-मनिवार्यम्, तथा च *"अश्वं विकल्पयतोऽपि गोदर्शनात्" इत्यादि विरुध्यते ।

षण्णां धियां सकृद्भावे परकीयां युक्तिं दर्शयन्नाह-**शब्दादिषु** इत्यादि । शब्दः आदि-र्येषां रूपादीनां तेषु । किंभूतेषु ? **अभिमतेषु** युगपत् सन्निहितेषु सत्सु **तद्विज्ञानानां** शब्दादि- ५ धियां **क्रमोत्पत्तौ** अङ्गीक्रियमाणायां **प्रत्येकम्** एकमेकं प्रति **विच्छेदः प्रतीयेत** युगपच्छ-ब्दादिप्रतीतिर्न स्यात् । कुतः ? इत्याह-**प्रत्येकं पञ्चभिर्व्यवधानात्** ।

नैयायिकमतमाशङ्कते सौगतः **भावपक्षस्य** इत्यादि । तत्र दूषणमाह-**स एव रस** इत्यादि । **तत** इत्याद्युपसं[हारः] ।

संप्रत्याचार्यः कारिकां विवृण्वन्नाह-**इति** इत्यादि । **इति** एवं **कल्पनायां** [५७० ख] १० **सहभावः प्रसज्येत** । केषाम् ? इत्याह-**सविकल्प** इत्यादि । **सविकल्पमनश्च अक्षज्ञानानि च** तेषाम् । पुनरपि केषाम् ? इत्याह-**तदन्यव्यवच्छेद** इत्यादि । [अन्यस्य]अन्यतो वा व्यवच्छेदः, तेषां तज्ज्ञानानाम् अन्यव्यवच्छेदः **तदन्यव्यवच्छेदः** तस्य **व्यवसायो** निर्णय **आत्मा** एव (स्व) भावो यासां तासां च 'संविदाम्' इति पदघटना, मनोविकल्पानाम् इत्यर्थः । कस्मिन् सति ? इत्याह-**तदविच्छेदप्रतीतौ** तेषां सविकल्पमनोऽक्षज्ञानानामविच्छेदप्रतीतिर्या तस्यां सत्याम् । नहि १५ तदन्यव्यवच्छेदव्यवसायात्मसंविदामभावे तदविच्छेदप्रतीतिः । किं ताभिः कर्त्तव्यम् तैर्ज्ञानैरेव[1] तत्प्रतीतिसद्भावादिति चेत्; अत्राह-**तत्रैव हि** इत्यादि । तत्रैव तास्वेव व्यवसायात्मकसंवि-त्तिषु सतीषु **हि**र्यस्माद् **विच्छेदस्य** अन्यतो व्यावृत्ते**रनुपलक्षणं युक्तम्** न पुनरविकल्प-ज्ञानेषु सत्सु । कुतः ? इत्याह-**तद्** इत्यादि । **तेषां** न विकल्पज्ञानानां स्वापादिना**ऽविशेषात्** ।

ननु[यतः]स्पष्टनिर्भासाऽन्यविकल्पज्ञानानि इति, [त]त एव तदुपलक्षणमिति चेत्; अत्राह- २० **स्पष्टनिर्भासेऽपि** इत्यादि । **ततः तदन्यवच्छेदव्यवसायात्मनां च सहभावः प्रसज्येत** इति ।

स्यान्मतम्-षण्णां धियाम् अनन्तरमेकं सविकल्पमनोज्ञानं तदव्य (तदध्य) वसायि जायते, ततोऽयमदोष इति; तन्न; अनेकान्तप्रसङ्गादिति प्रतिपादितम ।

एतदेव दर्शयन्नाह-**स्पष्टस्य** इत्यादि ।

[स्पष्टस्यालातचक्रादेर्विभ्रमस्यापि वीक्षणात् । २५
स्वलक्षणोपलब्धीनां नैकक्षणिकदर्शनम् ॥२७॥

प्रतिक्षणं निरंशक्षणिकपरमाणुषु प्रत्यक्षेषु परस्परासम्प्लवे कुतश्चक्रभ्रान्तिः ? सा च भवन्ती कथमनेकान्तसिद्धिर्न भवेत् तदुपलम्भानुपलम्भयोर्विरोधात् ।]

भिन्नप्रक्रमः **अपि**शब्दः, ततो न केवलम् अन्तरेकविकल्पविभ्रमस्य अपि तु **स्पष्ट-स्यापि अलातचक्रादेः** [५७१क] **विभ्रमस्य वीक्षणात्** 'अनेकान्तसिद्धिः' इत्युपस्कारः । ३०

(१) सविकल्पमनोऽक्षज्ञानैरेव ।

ननु प्रतिपरमाणु प्रतिक्षणं संविदां भेदात् नैकं चित्रम् अलातचक्रज्ञानमिति चेत्; अत्राह–**स्वलक्षणोपलब्धीनाम्** इत्यादि । **नैकक्षणिकपरमाणुदर्शनं** विभ्रमः अति[प्रसङ्गात्] ।

'प्रतिक्षणम्' इत्यादिना [कारि] कार्थमाह–क्षणं क्षणं प्रति **प्रतिक्षणम्** । केषु ? **निरंशक्षणिकपरमाणुषु** प्रत्येकम् एकं परमाणुं प्रति **प्रत्यक्षेषु** दर्शनेषु **परस्परासंप्लवे** एव (एक) चित्र-
५ ज्ञानाभावे **कुतः चक्रभ्रान्तिः** न एकैकारानु (काकार) दर्शनं चक्षु (चक्र) दर्शनं नाम इति भावः । **सा च** चक्रभ्रान्तिर्भवन्ती जायमाना **कथम् अनेकान्तसिद्धिः** अनेकान्तप्रतीतिर्न **भवेत्** ? भवेदेव । अथ अपरदेशोपसर्पिणाम् अलातक्षणानाम् अन्योऽन्यविवेकानुपलम्भेऽपि सर्वसाधारण (ण)-भासुरतामात्रदर्शनात् चक्रभ्रान्तिरिति; तत्राह–**तदुपलम्भ** इत्यादि । तेषाम् अलातस्वलक्षणानां भासुरतामात्रेण य **उपलम्भः** यश्च परस्परविवेक[रू]पेण **अनुपलम्भः** तयोः **विरोधात्**
१० एकस्य इत्येतरताप्राप्तेः अनेकान्तसिद्धिरिति ।

न केवलम् अनन्तरविधिना अनेकान्तसाधनम्, अपि तु तदन्तरेणापि इति दर्शयन्नाह–**प्रत्यक्षात्** इत्यादि ।

[प्रत्यक्षाचानुमेयादेः अन्येऽर्था मदगोचराः ।
इत्यागमाविसंवादि ज्ञानं स्याद्वादशंसनम् ॥२८॥

१५ **परिगणितप्रमाणवृत्तिनिवृत्त्योः अर्थतत्त्वासिद्धिः अनेकान्तमपेक्षते । प्रत्यक्षं तत्र···]**

प्रत्यक्षा[त्] प्रत्यक्षप्रमितादर्थात् **स्याद्वादस्य** स्यादस्ति इत्यादि शासनस्य **शंसनं** । तदनंतरदनु (तदनु) कूळत्वात्तस्य । तथा **अनुमेयादेश्च** अनुमानगम्यम् **अनुमेयं** प्रतिक्षणपरिणामादिकम् **आदिर्यस्य** चित्तादिगोचरस्य स तथोक्तः तस्माच्च **स्याद्वादशंसनम् । अन्ये** प्रत्यक्षानुमेयादिबहिर्भूता **अर्थाः** । किं भूताः ? **मदगोचराः** [५७१
२० ख] अस्मादृशां दर्शनाविषयाः केवलं योगिगम्याः सन्ति वेद्य (सन्ति विद्य) न्त **इति** एवम् **आगमाद्** यद् **अविसंवादिज्ञानं** धर्मादिविषयं तदपि तच्छंसनमिति । किं बहुना उक्तेन, उन्मि[षि]तमपि अनेकान्तमन्तरेण नास्तीति ।

कारिकां व्याख्यातुमाह–**परिगणित** इत्यादि । सौगतादिभिः यानि **परिगणितानि प्रमाणानि तेषां या वृत्तिः** विधिसाधनाय प्रवृत्तिः या च कुतश्चिन निषेध्यान्निवृत्तिः **तयोः**
२५ **अर्थस्य** चेतनेतररूपस्य **तत्त्वं** विधिप्रतिषेधात्मकत्वं तस्य **सिद्धिः अनेकान्तमपेक्षते** प्रत्यक्षं (क्ष) वृत्तेः अर्थतत्त्वसिद्धिः । तदपेक्षां कथयन्नाह–**प्रत्यक्षम्** इत्यादि । कुतः ? इत्याह–**तत्र** इत्यादि । **तत्र** प्रत्यक्षे इत्यर्थः ।

तथाहि इत्यादिना तदेव दर्शयति ।

[तथाहि–

३० **अविकल्पमसत्कल्पमज्ञेयं स्वलक्षणम् ।**
अवाच्यं केवलं नेति तथा च प्रतिपादितम् ॥२९॥

---

(१) एकैकस्य आरस्य चक्रभागस्य । (२) चक्षुष उन्मीलनमपि ।

चित्तानां स्वरूपस्य कथन्न स्वतः सिद्धिः ? अव्यवसायात्मकत्वात्, तादृशां परतश्च न। न च नित्यस्य कादाचित्कदर्शनं युक्तम्, तद्दर्शनस्य परिणामाविनाभावात्। नापि···तद्विषयं प्रत्यक्षमव्यवसायात्मकमिति परकल्पनमनुभवविरुद्धम्, तद्भ्रान्तिविरोधात्। सर्वत्र···विरोध···तदात्मकं तत्त्वम् एकान्त···]

अविकल्पं 'प्रत्यक्षम्' इत्यनुवर्त्तते। तत्किंभूतम् ? इत्याह-**असत्कल्पम्** 'अस्ति' ५ इति कल्पनारहितमेतद् अर्थभेदाभेदैकान्तार्थग्राहकं विकल्पकम्। ततः किम् ? इत्याह-**स्वलक्षणमज्ञेयम्**। केवलमवाच्यं तत्[1] इति चेन्; अत्राह-**अवाच्यं केवलम् इति** एवं नैत्येव यु(वमु)क्तम्, न केवलमत्रैव उक्तम् अपि तु अन्यत्रापि इति दर्शयन्नाह-**तथा च [प्रतिपादितम्]**।

किं **प्रतिपादितम्** ? इत्यत्राह-**स्वरूपस्य** इत्यादि। **स्वरूपस्य** आत्मनः **स्वतः** १० **सिद्धिः चित्तानां** निरंशसंवेदनानां **न कथं** न। कुतः ? इत्यत्राह-**अव्यवसायात्मकः [कत्वात्]** तेषां व्यवसायस्वभावस्याभावात्। परतः स्यादिति चेत्; अत्राह-**परतश्च** ज्ञानान्तरा न पि (रादपि) तथा न, **तादृशां** निरंशानां प्रतिभासाभावादिति भावः। भेदैकान्तस्यापि प्रतिभासो [५७२क] नास्तीति दर्शयन्नाह-**न च** इत्यादि। नैव **नित्यस्य** आत्मादेः **कादाचित्कदर्शनं युक्तम्**। कुतः ? इत्याह-**तद्** इत्यादि। **तस्य दर्शनस्य परिणामाविनाभावात्**। परिणामः १५ तस्य स्यादिति चेत्; अत्राह-**नापि** इत्यादि।

ननु विचारयतोऽपि तदेकान्तविषयं निर्णयाध्यक्षं न निवर्त्तत इति चेत्; अत्राह-**तद्** इत्यादि। स तदेकान्तो विषयो यस्य **तत्तद्विषयम्**। किम् ? **प्रत्यक्षम्**। किंभूतम् ? इत्याह-**अव्यवसायात्मकम् इति** एव (वं) **परकल्पनमनुभवविरुद्धम्**, अनेकान्तस्य अनुभवे प्रतिभासनात्। भ्रान्तिरियमिति चेत्; अत्राह-**तद्** इत्यादि। तस्य अनेकान्तप्रतिभासस्य **भ्रान्ति-** २० **विरोधात्**। अर्थैकान्तवद् अनेकान्तस्यापि अप्रतिभासनात् समानं चोद्यमिति चेत्; अत्राह-**सर्वत्र** इत्यादि। भवतु तत्प्रतिपत्तिः[2], तथापि विरोधान्न युक्तमिति चेत्; अत्राह-**विरोध** इत्यादि। ततः किम् ? इत्याह-**तदात्मकम्** अनेकान्तात्मकं **तत्त्वम्**। कुतः ? इत्याह-**एकान्त** इत्यादि।

तत्त्वमवाच्यमिति चेत्; अत्राह-**कथंचिद्** इत्यादि।

[कथञ्चिदिष्टं तत्त्वस्यावाच्यत्वं न सर्वथा। २५
विज्ञप्तिमात्रे का कस्योक्तिश्चार्थक्रियास्थितिः ॥३०॥

आस्तां तावत्···]

कथंचित् सकृत् अस्तित्वादिति (त्वादि) धर्मप्रतिपादनप्रकारेण **अवाच्यं (च्यत्वं) तत्त्वस्य इष्टम्**। सर्वथाऽवाच्यमिति चेत्; अत्राह-**सर्वथा** इत्यादि। वाच्यं तर्हि तत्त्वमिति चेत्; अत्राह-**विज्ञप्तिमात्रे** इत्यादि। निरंशज्ञानमात्रे नैरात्म्ये **च का कस्य** पदा- ३०

(१) स्वलक्षणम्। (२) अनेकान्तप्रतिपत्तिः।

र्थस्य **उक्तिः** ? सर्वस्यास्य विचार्यमाणस्यायोगात् इति भावः। दूषणान्तरमाह–**का अर्थक्रिया** इत्यादि। सर्वत्र तदेकान्ते **का** न काचिद**र्थक्रियायाः** कारकज्ञापक[रूपायाः] **स्थितिः**।

कारिकां व्याचष्टे–**आस्तां तावत्** इत्यादिना। [५७२ ख] सर्वं सुगमम्।

एवं शब्दस्वरूपं निरूप्य अधुना तदाश्रितनयान् दर्शयितुम् अन्त्यवृत्तमाह–**भेदैः** ५ इत्यादि।

[भेदैः शब्दार्थभेदं नयन् स वाच्यः कारकादिस्वभावैः,
अभिरूढोऽस्तु नयोऽभिरूढिविषयः पर्यायशब्दार्थभित्।
इत्थम्भूतनयः क्रियार्थवचनः स्यात्कारमुद्राङ्कितः।
तत्प्रभिन्नोंऽशः कथंचन पृथगिति संविदुः तत्त्वदर्शिनः (?)॥३१॥]

१० **भेदैः** विशेषैः **शब्दस्य अर्थः** व्यञ्जनपर्यायः तस्य **भेदं** नानात्वं **नयन्** तत्प्रतिपत्तन् प्रापयन् (पत्तिं प्रापयन्) **वाच्यः** कथनीयः। किंभूतैः भेदैः ? इत्याह–**कारक** इत्यादि। अभिरूढं दर्शयन्नाह–**अभिरूढिविषयोऽभिरूढनयः** इत्यर्थः। किंभूतः ? इत्याह–**पर्याय** इत्यादि। **पर्यायैः शब्दार्थभित्**। इत्थंभूतं कथ[य]न्नाह–**इ[त्थम्]भूत[ः] वाच्यः**।

(१) "इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णो णओ सद्दो।"–अनु० ४ द्वा०। आ० नि० गा० ७५७। विशेषा० गा० २७१८। "लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दः।"–स० सि० १।३३। "कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्। अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थम्भूतः क्रियाश्रयः॥"–लघी० श्लो० ४४। शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहणप्रवणः शब्दनयः, लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात्।"–धवलाटी० सत्प्ररू०। त० श्लो० पृ० २७२। नयवि० श्लो० ८४। न्यायकुमु० पृ० ६३९। प्रमेयक० पृ० ६७८। सन्मति० टी० पृ० ३१२। नयचक्रगा० ४०। तत्त्वार्थसा० पृ० १०७। प्र० नय० ७।३२, ३३। स्या० म० पृ० ३१३। जैनतर्कभा० पृ० २२। (२) "वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थूनए समभिरूढे।"–अनु० ४ द्वा०। आ० नि० गा० ७५८। विशेषा० गा० २७२७। "सत्स्वर्थेष्वसंक्रमः समभिरूढः"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। "नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः।"–स० सि० १।३३। "अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्य आभिमुख्येनारोहणात् समभिरूढः।"–त० वा० १।३३। "समभिरूढः एवं सर्वैकीभावेन आभिमुख्ये एक एव रूपादिरर्थ एवेति या ज्ञाना (?) समभिरूढः।"–नयचक्रवृ० प० ४८३ ख। "पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात्। नयः समभिरूढः स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चयः॥"–त० श्लो० पृ० २७३। नयवि० श्लो० ९२। प्रमेयक० पृ० ६८०। सन्मति० टी० ३१३। नयच० गा० ४१। तत्त्वार्थसा० पृ० १०७। प्र० नय० ७।३६। स्या० म० पृ० ३१४। जैनतर्कभा० पृ० २२। (३)"वंजण अत्थ तदुभयं एवंभूओ विसेसेइ"–अनु० ४ द्वार। आ० नि० गा० ७५८। विशेषा० गा० २७४३। "व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूतः।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।३३। "येनात्मना भूतः तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूतः अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतः तेनैव अध्यवसाययति।"–स० सि० १।३५। धवलाटी० सत्प्र० पृ० ९०। जयध० पृ० २९। "तत्क्रियापरिणामोऽर्थः तथैवेति विनिश्चयात्। एवम्भूतेन नीयेत क्रियान्तरपराङ्मुखः॥"–त० श्लो० पृ० २७४। नयवि० श्लो० ९४। प्रमेयक० पृ० ६८०। सन्मति० टी० पृ० ३१४। नयचक्र० गा० ४३। तत्त्वार्थसा० पृ० १०७। प्र० नय० ७।४०। स्या० म० पृ० ३१५। जैनतर्कभा० पृ० २३। (४) कारकादिस्वभावैः।

किंभूतः ? इत्याह–**क्रियार्थवचनः** एतेषां क्रमेण उदाहरणानि नयप्रवेशकप्रकरणा[1]दवगन्तव्यानि । को वयः (नयः) को वाऽन्यः ? इत्याह–**स्यात्कार** इ[2]त्यादि । परो दुर्णय इति गम्यते। **तत्प्रमितः** तेन सम्यङ्नयेन प्रमितः **अर्थांशः कथंचन** न सर्वात्मना स्वारा (स्वाधा)-रात् **पृथक्** इत्येवं **तत्त्वदर्शिनः** तीर्थंकरादयः **संविदुः** ।

इति सिद्धिविनिश्चयटीकायामनन्तवीर्यविरचितायां

शब्दनयसिद्धिः एकादशमः प्रस्तावः ॥छ॥

---

(१) लघीयस्त्रयान्तर्गतनयप्रवेशकप्रकरणात् । (२) मुद्राङ्कितः इति शेषः ।

[द्वादशमः प्रस्तावः]

[१२ निक्षेपसिद्धिः]

नयानन्तरं तत्फलत्वान्निक्षेपान् दर्शयितुं मुखवृत्तमाह–**निक्षेपोऽनन्तकल्प** इत्यादि

[[1]निक्षेपोऽनन्तकल्पश्चतुरवरविधः प्रस्तुतव्याक्रियार्थः[2],
तत्त्वार्थज्ञानहेतुर्द्वयनयविषयः संशयच्छेदकारी ।
शब्दार्थप्रत्ययाङ्कं विरचयति यतस्तद्यथाशक्ति भेदम् ,
५ **वाच्यानां वाचकेषु श्रु[त]विषयविकल्पोपलब्धेस्ततः सः ॥१॥]**

धर्मिणि क्वचिद् धर्माणां नयाधिगतानां निक्षेपणं योजनम् अध्यारोपणं **निक्षेपः** । स कतिविधः ? इत्याह–**अनन्तकल्पः**[3] अनन्तभेदः तद्विषयानन्त्यात् ; कथमन्यत्र[4] चतुर्विधो निक्षेप उक्तः[5] ? इत्याह–**चतुरवरविधः** चत्वारो नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणैः अवर(रा अ) वान्तररूपा विधा भेदो यस्य स तथोक्तः । सः किंप्रयोजनः ? इत्याह–**प्रस्तुतव्याक्रियार्थः** ।
१० प्रस्तावगतं वस्तु **प्रस्तुतं** [५७३क] तस्य **वि**शेषेण अनिष्टनिवृत्त्यादिलक्षणेन **आ** समन्तात् **करणं** व्युत्पादनं **व्याक्रिया** तस्मै तदर्थः । कुतः ? इत्याह–**तत्त्वार्थज्ञानहेतुः** यतः तत्त्वार्था जीवादयः तेषां ज्ञानं तस्य हेतुः कारणम् । नहि शब्दादिनिक्षेपमन्तरेण शब्दादिभ्योऽर्थप्रतीतिः । स किं कारणः ? इत्याह–**द्वयनयविषयः** तन्यत्र (अयमत्र) भावः–द्वयोपलक्षितान्नया[त्] द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकरूपादि(द)न्यतो न भवति किन्तु तत एव इति तद्विषय
१५ इत्युच्यते । न केवलं त[त्त्वार्थ]ज्ञानहेतुरेव, अपि तु **संशयच्छेदकारी** विपर्ययादिव्यवच्छेदोपलक्षणमेतत् । पूर्वेण तत्त्वार्थज्ञानहेतुता अनेन समारोपव्यवच्छेदहेतुता उक्ता इति विभागः ।

(१) "विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थं न्यासो निक्षेपः ।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।५। "णिच्छए णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेवो ।"–धवला टी० सत्प्ररू० । (२) "सः किमर्थः ? अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च ।"–स० सि० १।५। लघी० स्ववृ० श्लो० ७६ । "अथ किमिति निक्षेपः क्रियते इति चेत् ; उच्यते–त्रिविधाः श्रोतारः अव्युत्पन्नः अवगताशेषविवक्षितपदार्थः एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति । तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति विवक्षितपदस्यार्थम् । द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा । द्वितीयवत्तृतीयोऽपि संशेते विपर्यस्यति वा । तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः ; अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय । अथ द्रव्यार्थिकः ; तद्द्वारेण प्रकृतनिरूपणाय अशेषनिक्षेपा उच्यन्ते व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः । द्वितीयतृतीययोः संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्यतोः प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेपः क्रियते । उक्तं हि–अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च । संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥"–धवला टी० सत्प्ररू० पृ० ३० । (३) "जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थ वि अ न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खिवे तत्थ ॥"–अनु० सू० ८। (४) तत्त्वार्थसूत्रादौ । (५) "नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।"–त० सू० १।५।

त[ज्]**ज्ञानहेतुः** कुतः ? इत्याह–**शब्दार्थप्रत्ययाङ्गम्** इति **शब्दानु**(त्) कारणात् **अर्थस्य** घटादेर्ग्राहकः यः **प्रत्ययः** तस्याङ्गं निमित्तम्। एतदपि कुतः ? इत्याह–**विरचयति यतः**। कम् ? **भेदम्**। कथम् ? **यथाशक्ति**। केषाम् ? **वाच्यानाम्** अभिधेयानाम्। क्व ? **वाचकेषु**। यत एवं **ततः** प्रतिपत्तुः पुरुषस्य **श्रुतविषयविकल्पोपलम्भेः** उपयोगं निक्षेप इति। ५

अस्यानि (अस्मान्नि[1]) बन्धनस्थानादर्थानादाय व्युत्पादयन्नाह–**न्यास** इत्यादि।

[न्यासः समासतो नामस्थापनाद्रव्यभावतः।
व्यासतोऽङ्गप्रविष्टाङ्गबहिःश्रुतविकल्पकः॥२॥

यस्य कस्यचित् अनिर्दिष्टविशेषस्य निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम[2]। [3]व्यस्तसमस्तैकानेकजीवाजीवविषयतोपपत्तेः। [4]निमित्तान्तरं पुनः जातिः द्रव्यं गुणः क्रिया। १० [5]स्थापना सद्भावासद्भावभेदेन। तत्र··· किमनयेति सौगतः, सोऽयं घोटकारूढोऽपि विस्मृतघोटको जातः। अतोऽन्या असद्भावस्थापना। विवक्षितासाम्प्रतिकपर्यायविशेषस्थितिर्द्रव्यनिक्षेपः[6]। आगम···। तथैवोपयोगपरिणामलक्षणो भावनिक्षेप[7] इति। स व्यासतोऽनन्तविकल्पः तद्भेद···चेतनेतर···सकल···]

न्यासो निक्षेपः **समासतः** संक्षेपेण **नामस्थापनाद्रव्यभावतः** एतानाश्रित्य भवति १५

(१) निबन्धनस्थानं मूलसूत्रमिति यावत्। (२) "नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थान्तरम्"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।५। "अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम।"–स० सि० १।५। त० वा०, त० श्लो० १।५। विशेषा० गा० ६५। जैनतर्कभा० पृ० २५। बृहत्कल्पभा० गा० ११। (३) तुलना–"किञ्चिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम यथा डित्थ इति, किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति, किञ्चिदेकाजीवनाम यथा घट इति, किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति, किञ्चिदेकजीव-एकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति, किञ्चिदेकजीवानेकाजीवनाम यथा काहार इति, किञ्चिदेकाजीव-अनेकजीवनाम यथा मन्दुरेति, किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम यथा नगरमिति प्रतिविषयमवान्तरभेदाद् बहुधा भिद्यते संव्यवहाराय नाम लोके।"–त० श्लो० पृ० ९८। (४) तुलना–"नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम्। तस्मादन्यत्तु जात्यादि निमित्तान्तरमिष्यते॥"–त० श्लो० पृ० ९९। (५) "यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स्थापनाजीवः। देवताप्रतिकृतिवद् इन्द्रो रुद्रः स्कन्द विष्णुरिति।"–तत्त्वार्थाधि० भा० १।५। "काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना।"–स० सि० १।५। "जं पुण तयत्थसुण्णं तयभिपाएण तारिसागारं। कीरइ व णिरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा॥"–विशेषा० गा० २६। "सब्भावमसब्भावे ठवणा पुण इदंकेदुमाईया। इत्तरमणित्तरा या ठवणा णामं तु आवकहं॥"–बृहत्क० भा० गा० १३। "सद्भावस्थापनया नियमः, असद्भावेन वाऽतद्रूपेति स्थूणेन्द्रवत्।"–नयचक्रवृ० लि० पृ० ३८१। जैनतर्कभा० पृ० २५। "आहिदणामगस्स अण्णस्स सोयमिदि ट्ठवणं ठवणा णाम। सा दुविहा सब्भावासब्भावट्ठवणा चेदि। तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सब्भावट्ठवणा तव्विवरीया असब्भावट्ठवणा।"–धवलाटी० सम्प्ररू०। त० श्लो० पृ० १११। (६) "अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्, अतद्भवं वा।"–त० वा० १।५। त० श्लो० पृ० १११। बृहत्क० भा० गा० १४। विशेषा० गा० २८। जैनतर्कभा० पृ० २५। आ० नि० मलय० पृ० ६। (७) "वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः।"–स० सि०, त० वा० १।५। त० श्लो० पृ० ११३। बृहत्क० भा० गा० १५। आ० नि० मलय० पृ० ९।

इति **व्यासनो** विस्तारतः **अङ्गप्रविष्ट-अङ्गबहिःश्रुतविकल्पकः** । आ चा रा दी नि **अङ्गानि** तेषु **प्रविष्टं** तदन्तर्भूतम् । यच्छ्रुतम् **अङ्गेभ्यो बहिः श्रुतं** तस्य **विकल्पा** भेदा यस्य स तथोक्तः ।

कारिकां व्याचष्टे–**यस्य** इत्यादिना । [५७३ ख] **यस्य कस्यचित्** चेतनस्य इतरस्य ५ वा **अनिर्दिष्टविशेषस्य संज्ञाकर्म** । किम् ? **नाम** । किंभूतम् ? इत्याह–**निमित्तान्तरानपेक्षम्** यस्य तत्कर्म क्रियते तत्तस्य निमित्तं ततोऽन्यज्ञा(त जा)त्यादिकं तदन्तरम्, तस्मिन् अनपेक्षा यस्य तत्तथोक्तम् । तस्य नाम्नो भेदं दर्शयन्नाह–**व्यस्त** इत्यादि । अश्च चो (अतश्चो)दाहार्य(र्यं) 'नाम' इति सम्बन्धः । कुतः ? इत्याह–**व्यस्तश्च समस्तश्च एकश्च अनेकश्च** ते एव **जीवाः(जीवाजीवाः)** ते **विषयो(या)** यस्य तत्तथोक्तम् तस्य भावः तत्ता तस्याः **उपपत्तेः** । तथा

१० [व्य]स्तजीवविषयतोपपत्तेः, अयं मांसपिण्डो देवदत्तः अयं देवदत्त इत्यादिवत् । समस्तजीवविषयतोपपत्तेः, एते सर्वे गर्गादय इत्यादिवत् । एकजीवविषयतोपपत्तेः, नाभेयः पुरुदेव इत्यादिवत् । अनेकजीवविषयतोपपत्तेः अयं डित्थः अयं डवित्थः अयं जिनदत्त इति चत्वारो जीवभेदाः । तथा व्यस्ताऽजीवविषयतोपपत्तेः *"स(सः)" [जैनेन्द्र० १।३।२] *"नुत्य(नु वा)" [जैनेन्द्र० ४।४।४] *"क्यच(क्यचि)" [जैनेन्द्र० ५।२।१४२] इत्यादि । समस्ताजीवविषय-

१५ तोपपत्तेः *"भूवादयो धुः" [जैनेन्द्र० १।२।१] इत्यादिवत् । एकाजीवविषयतोपपत्तेः आकाशं कालो धर्मः अधर्म इत्यादिवत् । अनेकाजीवविषयतोपपत्तेः "तौ सत्" [जैनेन्द्र० २।२।१०५] इतिवत् । एतेऽपि चत्वारो विकल्पाः । किं पुनः निमित्तान्तरं यदनपेक्षं तदुच्यते ? इत्याह–**निमित्तान्तरं पुनः** इत्यादि । 'गौः' इत्येवमादौ **जातिः**[4] । 'दण्डी' इत्येवमादौ **द्रव्यम्**[5] । 'शुक्लः पटः' इत्यादौ **गुणः** । 'पाचकः' इत्यादौ **क्रिया**[6] । जत्यादिद्वारेण

२० अन्यत्र शब्दवृत्तेः ।

'ननु जात्यादौ वर्त्तमानः शब्दो यदि निमित्तान्तरमपेक्षते ; अनवस्था[५७४ क] । श्च (स्वतः) तत्र वर्त्तते ; अन्यत्रापि तथैव वर्त्ततां किमन्यनिमित्तवृत्तिकल्पनया' इति चेत् ; न ; उभयथापि शाब्दव्यवहारस्य दर्शनात् । एवं चोदयतापि प्र ज्ञा क रे ण प्रत्यक्षज्ञानग्राह्यतापेक्षया बहिरर्थे प्रत्यक्षव्यपदेशः क्रियते, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । अत एव अक्षाश्रितत्वोपलक्षित-

२५ वैशद्यापेक्षया ज्ञानेषु प्रत्यक्षव्यपदेशः *"तदंशः" [हेतुवि० पृ० ५३ ।] इत्यत्र[7] धर्मे अंशशब्दः न किंचिदपेक्ष्य क्रियते । यदि च, *"शब्दाः सङ्केतितं प्राहुः" [प्र०वा० ३।९१] स च सङ्केतो व्यवहारिजनायत्तः, व्यवहारिण एव जानन्ति किं तत्र भवतः प्रयासेन ? तदनुसारिणा केवलं भवता भाव्यं [व्य]वहारे अत्य(अध्य)क्षादिचिन्तापि दूरोत्सारिता स्यात् यदि भवदनुसारिणो व्यवहारिणः, ते च शाब्द उभयथा दृश्यन्ते इति यत्किंचिदेतत् ।

३० स्यादेतत् जात्यादिद्वारेण विशेषे शब्दनिक्षेपः किन्नामा स्यात् ? 'स्थापनानामा' इति, अन्यशब्दस्य अन्यत्रारोपाद् अर्हच्छब्दस्य असद्भावस्थापनावत् । अत एव नामानन्तरं स्थापनानिर्देशः ।

(१) नाम क्रियते । (२) निमित्तान्तरम् । (३) अजीवस्य । (४) गोत्वजातिः । (५) दण्डद्रव्यम् । (६) पचनक्रिया । (७) "तदंशो ही तद्धर्म एव ।"–हेतुबि० ।

नामानन्तरं स्थापनाभेदमाह–**स्थापना** इत्यादिना । कुतः ? इत्याह–**सद्भाव** इत्यादि। **सद्भावस्थापना(नां)** व्याचष्टे **तत्र** इत्यादिना । किमनया प्रयोजनम् अन्य यात्ति (थाप्ति) तया इति सौगतः ; सोऽयं **घोटकारूढोऽपि विस्मृतघोटको जातः** । स्वयं वहिरर्थसदृशे ज्ञाने [1]तद्व्यवहारप्रवर्त्तनात् । असद्भावस्थापनामाह–'**अतोऽन्या**' इत्यादिना । विकल्पाकारे अर्थसदृशे अर्थव्यवहारं प्रवर्त्तयन् यदि [2]मामनर्थिकां ब्रूयात् तथैव परिहर्त्तव्यः ।　५

द्रव्यनिक्षेपमाह–**द्रव्य** इत्यादिना । कः ? इत्याह–[५७४ख] **विवक्षितश्चासौ असाम्प्रतिको**ऽनागतः **पर्यायविशेष**श्च तत्र **स्थिति**र्यस्य स तथोक्तः ।

दृश्ये प्राप्यसमारोपं कुर्वन् [3]प्रत्यक्षमानता ।
निमित्तं द्रव्यनिक्षेपं कः क्षेप्तुं क्षमते जनः ॥

तद्भेदमाह–**आगम** इत्यादिना ।　१०

भावनिक्षेपमाह–**तथोपयोग** इत्यादिना । **तथैव** विवक्षितप्रकारेणैव **उपयोगो** व्यापारः **परिणामो लक्षणं** यस्य स तथोक्तः '**आगमनोआगमप्रभेदः**' इति अनुवर्त्तते **भावनिक्षेप** इति । किं चत्वार एव भेदा निक्षेपस्य ? न, इत्यादि (त्याह–) स निक्षेपो **व्यासतोऽनन्तविकल्पः** प्रतिपत्तव्यः । कुतः ? इत्याह–**तद्भेद** इत्यादि यतः । एतदपि कुतः ? इत्याह–**चेतनेतर** इत्यादि । पुनरपि कुतः ? इत्याह–**सकल** इत्यादि ।　१५

एतदेव अनन्तरं दर्शयन्नाह–**भाव** इत्यादि ।

[भावः पर्यायार्थिकस्य शेषा द्रव्यार्थिकास्त्रयः ।
प्रस्तुतव्याक्रियार्थः क्रियन्ते[तत्त्वदर्शिभिः] ॥३॥

पर्यायमात्रं,...तथा द्रव्यार्थिकस्य प्रत्येतव्यः नाम...सर्वथा शुद्धस्य अशुद्धस्य च द्रव्यस्यैवोपलब्धिः ।]　२०

भावः भावनिक्षेपः **[पर्यायार्थिकस्य] शेषा** निक्षेपाः **द्रव्यार्थिक(काः) क्रियन्ते** । [कति ?] इत्याह–**त्रयः** । कुतस्तेऽभ्युपगम्यते (न्ते) ? इत्याह–**प्रस्तुत** इत्यादि।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**पर्यायमात्रम्** इत्यादि । राजपथीकृतमेतदनेकधा । **तथा** तेन प्रकारेण **द्रव्यार्थिकस्य प्रत्येतव्ये(व्यः)**निक्षेपः। कुतः ? इत्याह–**नाम** इत्यादि । नहि पर्यायमात्रे तत्संभवः । न खलु द्रव्यमस्ति, अनुपलब्धेः खरविषाणवत्, तत्कथं [4]तद्वान् नयः, यस्य नामादिनिक्षेपः स्यादिति चेत् ; अत्राह–**सर्वथा** इत्यादि । सर्वेण प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण बहिरन्तःप्रकारेण भ्रान्तेतरप्रत्ययाकारणे (कारेण) **द्रव्यस्यैव** उपलब्धिः । किंभूतस्य ? इत्याह–**शुद्धस्य** निर्विशेषणस्य **अशुद्धस्य** सविशेषण[स्य] [५७५क] ।　२५

तदुपलब्धिं दर्शयन्नाह–**अविकल्प(ल्प्य)** इत्यादि ।

(१) अर्थव्यवहार । (२) स्थापनाम् । (३) प्रत्यक्षप्रमाणता । (४) "नामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो । भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परूवणा एस परमत्थो ॥"–सन्मति० १।६ । (५) द्रव्यार्थिकः ।

**[अविकल्प्य स्वमन्यस्मात् सत्तामात्रमचेतनात् ।
पश्यन् विजानाति द्रव्यादि मतिभेदैर्विकल्पयन् ॥४॥**

स्वस्मात्\`\`\`स्वप्नादौ विशेषविप्लवेऽपि सन्मात्रे विप्लवमपश्यतां शुद्धद्रव्यग्रहः । ज्ञाने अर्थवति सकृत् स्वार्थस्वभावप्रकाशनभ्रान्तिरपि स्यात् । भ्रान्तिज्ञानं पुनः\`\`\`तन्न
५ **तथा अवग्रहादिभिः विकल्पयन् अवश्यं स्वपरस्वभावविवेकी । तन्न\`\`\`सर्वथा ।]**

अविकल्पा(ल्प्य अ)विच्छिद्य । किम् ? इत्याह–**स्वम्** आत्मानम् । कुतः ? इत्याह–**अन्यस्मात्** । किंभूतात् ? इत्याह–**अचेतन** इत्यादि, तस्मात्मद् (तस्मात्, यत्) **अविकल्प(ल्प्य इ)** ति च द्रष्टव्यम् । **सत्तामात्रं पश्यन्** दर्शनेन विषयीकुर्वन् **आत्मा 'शुद्धस्य'** इति दर्शितम् । तथाहि–यस्य विशेषस्य यद्ग्रहणं तत् तत्सामान्यग्रहणपूर्वकं
१० यथा स्थाणुपुरुषत्वविशेषावायद्व[य]ग्रहणं तदूर्ध्वतासामान्यग्रहणपूर्वकम्, सामान्यविशेषग्रहणं च अवग्रहज्ञानम्, ततः तदपि तत्सामान्यग्रहणपूर्वकम् । न च सत्तातोऽपरं सामान्यम्, यतोऽनवस्था स्यात् । नापि तद्ग्रहणं विशेषग्रहणम् ; यतो हेतोर्व्यभिचारः । सः पश्यन् किं करोति ? [इति] आह–**विजानाति द्रव्यादि** विशिष्टं द्रव्यं जानाति । कैः ? इत्याह–**मतिभेदैरव**(रव)ग्रहादिभिः । किं कुर्वन् ? **विकल्पयन्** व्यवस्यन् । अनेन **'अशुद्धस्य'** इति
१५ कथितम् ।

स्वस्मादि[त्या] दि ना कारिकार्थमाह । ननु विषस्या(विशेषस्या)ग्रहणे कथं द्रव्यस्य ग्रहणं तयोर्भेदप्रसङ्गादिति चेत ; अत्राह–**विप्लवेऽपि** इत्यादि । **स्वप्नादौ** आदिशब्देन तैमिरिकादिदशापरिग्रहः, तत्र, यो **विशेषेषु** स्वशरीरादिकृस्ट(कृश)त्वादिभेदेषु **विप्लवः** अन्यथाग्रहः तस्मिन्नपि, न केवलमविप्लवे साति(सति) सिद्धः । कः ? इत्याह–**शुद्धद्रव्यग्रहः** । केषाम् ?
२० इत्याह–**विप्लवमपश्यताम्** । क्वे(क ? इ)त्याह–**सन्मात्रे** इति । एतदुक्तं भवति–यथा स्थौल्यादिग्रहणविप्लवे स्वशरीरादिकाय(र्थाऽ)ग्रहणे पुतणन (?) तथा विशेषाग्रहणेऽपि सन्मात्रग्रहणमिति ।

ननु स्वप्नादौ यथार्थग्रहणं कथं [५७५ख] विप्लवसंभवः यतः तन्निरासार्थं प्रमाणलक्षणप्रणयनमिति चेत् ? अत्राह–**ज्ञाने** । किंभूते ? **अर्थवति** । **सकृ**देकहेलया । **स्वार्थयोः स्वार्थस्य** वा **स्वभावाः** काश्यादयः **तेषां प्रकाशनं** तस्य **भ्रान्तिरपि** न केवलम् अभ्रान्तिः
२५ **स्यात्** । तथाहि–अरिष्टे बाहुस्थौल्यदर्शिनः तत्कार्श्यमपश्यन्तोऽपि बाहुं पश्यन्ति, तददर्शने वा नारिष्टदर्शनं विपरीतदर्शनाभावात्, 'मदीयोऽयं बाहुः' अविसंवादश्च न स्यादिति । शेषं चिन्तितमत्र ।

भवत्वेवं[त]तः किम् ? इत्याह–**भ्रान्तिज्ञानम्** इत्यादि । स्वप्नेत्यादिविप्लवज्ञानं **पुनः** । शेषं पूर्वं व्याख्यातम् । उपसंहरन्नाह–**तन्न** इत्यादि । **तथा** तेन भ्रान्तिज्ञानप्रकारेण
३० **अवग्रहादिभिः विकल्पयन्** वा अवस्यन् **नावश्यं स्वपरस्वभावविवेकी** । **तन्न** इत्यादि अत्रोपसंहारः । कुतः ? इत्याह–**सर्वथा** इत्यादि ।

---

(१) विशेष-द्रव्ययोः ।

पश्यन् स्वलक्षणमेव पश्यतीति चेत्; अत्राह-**स्वतश्च** इत्यादि ।

[स्वतश्च कार्यतोऽर्थानां संवित्तिः सम्प्रतीयते ।
द्रव्यात्मनां वाऽशुद्धानां शुद्धानां न चान्यथा ॥५॥

न हि···प्रत्येयम् । बहिरन्तश्च···कथम् ?]

स्वतः स्वरूपेण **कार्यतः** फलरूपेण **च अर्थानां संवित्तिः** संवेदनं सम्बन्धि **संप्रतीयते** । किंभूतानाम् ? इत्याह-**द्रव्यात्मनाम्** द्रव्यस्वभावानाम् । पुनरपि किंभूतानाम् ? **अशुद्धानां शुद्धानां वा नच** नैव **अन्यथा** अन्यथात्मनां संवित्तिः **संप्रतीयते** । अनेन स्वभावकार्योपलब्धि(ब्धिं) दर्शयति । ५

'नहि' इत्यादिना **'न चान्यथा'** इति व्याचष्टे, **'प्रत्येयम्'** इति पर्यन्तेन । शेषं विवृण्वन्नाह-**बहिरन्तश्च** इत्यादि । १०

कथमिति प्रश्ने; **अवीक्ष्य** इत्यादि उत्तरम् ।

[अवीक्ष्य पारिमण्डल्यं स्थूलाकृतीक्षणात् ।
तथा क्षणक्षयं वार्थं वीक्षेरन् द्रव्यतत्त्वतः ॥६॥

पुद्गलानां पारिमण्डल्यादिभेदान् पश्यन्त एव तत्सामान्यमेकं स्थूलं स्वभावं प्रतिक्षणं पश्यन्ति । प्रत्यक्षबुद्धौ [तथा प्रतिभासनात्] तदतिक्रमे तथा तत्क्षणक्षयादिविशेषमदृष्ट्वैव उभयत्र द्रव्यतत्त्वं पश्यन्त्येव अविशेषात् ।] १५

अवीक्ष्य । किम् ? **पारिमण्डल्यं** रूपम् । कुतः ? इत्याहा(ह)-**स्थूलाकृतीक्षणात्** कारणात् **तथा क्षणक्षयं वा**[ऽ]वीक्ष्य तत एव [५७६ ख] किं वीक्षेरन् ? इत्याह-**अर्थं वीक्षेरन्** । केन ? इत्याह-**द्रव्यतत्त्वतो** द्रव्यरूपेण ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-**पुद्गलानाम्** इत्यादि । **पुद्गलानां** परमाणुरूपाणां **पारिमण्डल्यादिभेदान् पश्यन्त एव** जनाः । किं कुर्वन्ति ? **पश्यन्ति** । किम् ? इत्याह-**तद्** इत्यादि । **तेषां** पुद्गलानां **सामान्यमेकं स्थूलं स्वभावं** (वम्) । कदा ? इत्याह-**प्रतिक्षणम्** । कुतः ? इत्याह-**प्रत्यक्षबुद्धौ** इत्यादि । तदपि कुतः ? इत्याह-**तदतिक्रम** इत्यादि । **तस्य** तथाप्रतिभासस्य **अतिक्रम** इत्यर्थः । **तथा** तेन प्रकारेण **तेषां क्षणक्षयादिविशेषमदृष्टैव**(**ष्ट्वैव**) **द्रव्यतत्त्वं पश्यन्त्येव** । क्व ? इत्याह-**उभयत्र** बहिरन्तश्च । कुतः ? **अविशेषात्** । २० २५

स्यान्मतम्, तत्सामान्यैकस्थूलस्वभावस्य घनादितद् (वनादिवत्) बहिरन्तश्च भ्रान्तत्वेनायोगात्, अतोऽन्यदेवाद्वयं ज्ञानतत्त्वमिति; तत्राह-**विज्ञानम्** इत्यादि ।

[विज्ञानं ग्राह्यनिर्भासवैकल्यात्मानमात्मनः ।
संविदत्स्वं कथञ्चिच्चेदात्मानं द्रव्यसाधनम् ॥७॥

---

(१) विपरीतस्वरूपाणाम् । (२) स्थूलाकृतीक्षणादेव । (३) तथा प्रतिभासनात् इति । (४) यथा दूरविरलतरुषु एकं वनमिति प्रत्ययो भ्रान्त्या भवति, यथा वा एकं घनं सघनमिति वा प्रत्ययः ।

ज्ञानं ग्राह्याकारविविक्तमात्मस्वभावमननुभवत् सत्ताद्याकारमात्मनोऽनुभवत् पर्यायैकान्तकल्पनामस्तंगमयेत् क्षणक्षयादि[प्रतिभासाभावात्]। तत एव स्वभावनैरात्म्यं प्रतिपद्यमानः स्वामेव वृत्तिं स्ववाचा विडम्बयति आप्तागमविलोपात्। प्रमाणमन्तरेण तदभावप्रतिपत्तौ भावप्रतिपत्तिरेव किन्न स्यादिति यत्किञ्चिदेतत्, प्रस्तुतेतर-
५ कथनात्।]

विज्ञानं द्रव्यसाधनम्। किंकुर्वन ? इत्याह–**संविदन्**। किम् ? इत्याह–**ग्राह्यनिर्भासवैकल्यात्मानं** ग्राह्यो निर्भासो ग्राह्याकारः तस्य वैकल्यम् अभावः तदेव आत्मा स्वभावः तम्। कस्य ? इत्याह–**आत्मनः**। पुनरपि किंकुर्वन ? इत्याह–**कथंचित्** सच्चेतनादिप्रकारेण **स्वम् आत्मानं संविदन्**। एवं मन्यते–तत्सामान्यैकस्थूलस्वभावो
१० बहिरिव ज्ञानस्यापि यदि नास्ति, ज्ञानं तर्हि ततः तत्त्वतो भिन्नम्, तद्भेदं च आत्मनो यदि जानाति, तदेव न तद्भ्रान्तिः। नहि नीलज्ञानं पीताद्भिन्नम् आत्मानं प्रतिपद्यमानं तत्र भ्रान्तम्। अथ तत्स्वभावं पश्यति, स्वं च ततो भिन्नं ततोऽयमदोषः; निराकारदर्शनम्, *"**नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति**" [प्र० वा० २।३२७] इत्यादि विरोधश्च। [५७६ ख] असत इव सतोऽपि भिन्नस्य वेदनसंभवाद् बहिरर्थसिद्धिः। तत्र च विभ्रमे; तत्र विभागप्रसाधनात्। अथ
१५ ततो विवेकमात्मनो नावैति[2]; अनेकान्तसिद्धिरिति।

कारिकार्थमुपदिशति '**ज्ञानम्**' इत्यादिना। **ज्ञानम्** आत्मनः स्वभावम्। किंभूतम् ? **ग्राह्याकारविविक्तम् अननुभवत् सत्यता(सत्ता)द्याकारमात्मनोऽनुभवत्**। किं कुर्यात् ? इत्याह–**पर्यायैकान्त** इत्यादि। इतश्च तत्कल्पनामस्तु ग(स्तङ्ग)मयेत्; इत्याह–**क्षणक्षयादि**। इत्यादि। 'तर्हि ग्राह्याकारविवित्तं(क्त)स्वभावमिव सत्ताद्याकारमपि आत्मनो नानुभवति' इति
२० शून्यवादी; तत्राह–**तत एव** इत्यादि। **तत एव** अनन्तरन्यायात् **स्वभावनैरात्म्यं** सकलशून्यत्वं **प्रतिपद्यमानः** सौगतः **स्वामेव वृत्तिं** स्वचेष्टितं शून्यताभ्युपगमलक्षणं **स्ववाचा विडम्बयति** वित्सारयति, तत्प्रतिपादकवचनाभ्युपगमे तदयोगात्।

न्यायान्तरं ज्ञातुं परः पृच्छति। **कथमितं(ति)** ? तं प्रत्युत्तरमाह–**आप्तागम** इत्यादि। तद्विलोपः तत्त्वत इष्यते, संवृत्या तदभ्युपगमादिति चेत; अत्राह–**प्रमाणमन्तरेण तदभाव-**
२५ **प्रतिपत्तौ** तेषाम् आप्तादीनाम् अभावसंवित्तौ अङ्गीक्रियमाणायां **भावप्रतिपत्तिरेव** आत्मादीनां **किन्न स्यात्** भवेदेव[इति] **यत्किञ्चिदेतत्** न किंचिदेतत् परमतम्। कुतः ? इत्याह–**प्रस्तुतेरत(प्रस्तुतेतर)** इत्यादि।

[एतदन्यत्रातिदिशन्नाह–**शब्द** इत्यादि।

[शब्दनिर्णययोरन्यापोहैकान्तसमाश्रयः।
३० **प्रतिपन्नः सौगतेन प्रतिव्यूढोऽनया दिशा ॥८॥**

(१) स्वस्वरूपम्। (२) इति चेत्। (३) प्रतिभासाभावात्। (४) शकलशून्यताऽयोगात्, वचनस्य सद्भावस्वीकारात्। (५) आप्तागमविलोपः। (६) 'कथनात्' इति।

न हि···पुनः···एतदपि तादृगेव। शब्दो निर्णयो वा तत्त्वाप्रत्यायनात् किं कुर्वाणोऽन्यापोहं करोति ? प्रतिपत्रभिप्रायानुसरणेऽपि यथा अन्यापोहोऽर्थः, तथैव स्वार्थप्रत्यायनमविशेषात्। अन्यथा-]

शब्दनिर्ण[य]योः सम्बन्धी यः। कः ? इत्याह-**अन्यापोहैकान्तसमाश्रयः।** किंभूतः ? **प्रतिपन्नः सौगतेन** अङ्गीकृतः। स किम् ? इत्याह-**प्रतिव्यूढो** [५७७क] ५ निरस्तः। केन ? इत्याह-**अनया दिशा 'स्वामेव वृत्तिस्ववाचा'** इत्यादिना मार्गेण।

कारिकार्थं स्पष्टयति **नहि** इत्यादिना। गतार्थमेतत्। सविकल्पं तत्साधयतीति चेत् अत्राह-**पुर(पुन)** रित्यादो(दि। ए)**तदपि तादृगेव**।

ननु यद्यपि निर्विषयो विकल्पः, तथापि अन्यापोहकरणात् व्यवहारोपयोगी इति चेत्; अत्राह-**किं कुर्वाण** इत्यादि। **किं कुर्वाणः** न किंचित्कुर्वन् **शब्दो निर्णयो वा अन्यापोहं करोति** १० इत्युच्यते। एवं मन्यते-यदि सः तत्त्वं विपर्यासीकरोति; तदैत भूत्वमन्यतोऽस्मात् वाक्याद्व्यावृत्तमिति(तदा एतत्तत्त्वमन्यतः अन्यस्माद् वाक्याद् व्यावृत्तमिति) प्रतिपद्यमानः अन्यापोहं करोति इत्युच्यते अन्यथा वचनमात्रकमिति। तदाह-**तत्त्वाप्रत्यायनादि**ति।

ननु परमार्थतोऽन्यापोहकरोऽप्यसौ न भवति, केवलं प्रतिपत्रभिप्रायवशादेवमुच्यते इति चेत्; अत्राह-**प्रतिपत्रभिप्राय** इत्यादि। 'शब्दादे[र्व]स्तुनो नित्यादिव्यावृत्तिरेव अनित्यादि- १५ शब्दनिर्णयाभ्यां क्रियते, न वस्तु विधिरूपतया विपर्यासीक्रियते' इति यः **प्रतिपत्तॄणामभिप्रायः** तस्यानुसरणेऽपि **यथा अन्यापोहः** शब्दनिर्णययोरर्थः **तथैव स्वार्थप्रत्यायनं** तदभिप्रायस्य तत्राप्यविशेषात्। युक्तिबाधनमुभयत्र।

तदनङ्गीकरण(णे) दूषणमाह-**अन्यथा** इत्यादि। एवं मन्यते-अन्यापोहः पर्युदासरूपः, प्रसज्यरूपो वा स्यात् ? प्रथमपक्षे तयोर्वस्तुविषयत्वम्। अन्यत्र; **अन्यथा** इत्यादि दूषणमिति। २०

तदाह-**निर्विकल्पात्** इत्यादिना।

[निर्विकल्पात् कुतः सिद्धिः ? सिद्धिश्चेन्निर्णयात्मिका।
सविकल्पात् कुतः सिद्धिः ? तत्त्वं चेन्नास्य गोचरः ॥९॥

जीवे अजीवे वा पर्यायतत्त्वं निक्षिपन् सौगतो न प्रत्यक्षतो निक्षेप्तुमर्हति, तद् [अनिर्णयात्मकत्वात्] समारोप[व्यवच्छेदकत्वाभावात्] अन्यथा [अतिप्रसङ्गात्] २५ **नापि विकल्पतः; तद्भावाविपर्यत्वात् विपक्षाविशेषाच्च। स्वलक्षणदर्शने प्रभवविकल्पस्यापि सर्वथा मिथ्यात्वात् कुत एव भावनिक्षेपः ? तदुपेक्षिततत्त्वार्थैः यथाविकल्पप्रतिभासनं निक्षेपकरणे द्रव्यनिक्षेपोऽपि किन्न स्यात् ?]**

---

(१) पृ० ७४४। (२) शब्दो निर्णयो वा। (३) शब्दोऽनित्यः इत्यत्र। (४) "तेनान्यापोहविषयाः प्रोक्ताः सामान्यगोचराः। शब्दाश्च बुद्धयश्चैव वस्तुन्येषामसंभवात् ॥-अन्यापोहविषया आचार्येण प्रोक्ताः। अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां प्रतिपाद्यते इति ब्रुवता।"-प्र० वा०, मनोरथ० ३।१३३। (५) शब्दनिर्णययोः। (६) प्रसज्यपक्षे।

निर्विकल्पात् प्रत्यक्षात् **कुतो** नैव **सिद्धिः** तत्त्वप्रतिपत्तिः[७७७ख] सिद्धिश्चेद् यदि **निर्णयात्मिका सविकल्पात् कुतः सिद्धिः तत्त्वं चेत् तस्य(नास्य)** सविकल्पस्य **गोचर** इति व्यापाराविशेषप्रसङ्गः।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**पर्यायतत्त्वम्** इत्यादि। **जीवे अजीवे वा पर्यायतत्त्वं निक्षिपन्** ५ योजयन् **सौगतः न प्रत्यक्षतो निक्षेप्तुं योजयितुमर्हति**। कुतः? इत्याह–**तद्** इत्यादि। **तद्** इत्यनेन प्रत्यक्षमविकल्पकं प्रत्यवमृशति। तदपि कुतः? इत्याह–**समारोप** इत्यादि। तदनभ्युपगमे दूषणमाह–**अन्यथा** इत्यादि। **विकल्पतो** निक्षेप्तुमर्हति इति चेत्; अत्राह–**नापि** इत्यादि। कुतः? इत्याह–**तद्भावाविषयत्वात्** पर्यायसत्ताऽगोचरत्वाद् विकल्पस्य। हेत्वन्तरमाह–**विपक्ष** इत्यादि। **विपक्षो** द्रव्यतत्त्वं तत्र **अविशेषाच्च** तस्य। अथ अनुमान-
१० विकल्पाद्(ल्पो) वस्तुप्रतिबन्धेन प्रमाणम्, तन्निक्षेप्तुमर्हतीत्युच्यते; तत्राह–**[स्व]लक्षणदर्शन** इत्यादि। **स्वलक्षण**मात्रतत्त्वमिति यद्दर्शनं मतं तस्मिन् **स्वलक्षणदर्शने** अङ्गीक्रियमाणे **प्रभवविकल्पस्यापि** हेतुफलनिर्णयस्यापि न केवलं तादात्म्यनिर्णयस्य **सर्वथा मिथ्यात्वात् कुत एव भावनिक्षेपः?** हेतुफलभावोऽपि विकल्पमाध्ये(ध्यो) नाविकल्पमाध्य इति मन्यते।

स्यान्मतम्–भवतु प्रभवविकल्पः सर्वथा मिथ्या, तथापि तत एव व्यवहार(र)भङ्गभयात्
१५ हेतुफलभावं प्रतिपाद्य अनुमानानुमेयव्यवहारं प्रतियन्ति सौगताः ततोऽनुमानविकल्पात् तन्निक्षेप इति; तत्राह–**तदुपेक्षित** इत्यादि। स क्षणस्थायी निरंशः [५७८क] **उपेक्षितोऽ**वज्ञातः **तत्त्वार्थो** यैः सौगतैः तैः **यथाविकल्पप्रतिभासनं** विकल्पप्रतिभासनानतिक्रमेण, **निक्षेपकरणे द्रव्यनिक्षेपोऽपि किन्न स्यात्?** तत्रापि कल्पनया हेतुफलभावस्य अनुमानादिव्यवहारनिमित्तस्य भावादिति भावः।

२० ननु परमार्थतो निरंशं प्रतिभासाद्वैततत्त्वम् अन्यत् सर्वं मिथ्या विकल्पबुद्धेरुपप्लवमात्रम्, तद्वशात् पर्यायतत्त्वनिक्षेप इति चेत्; अत्राह–**मिथ्या** इत्यादि।

[मिथ्याविकल्पनिक्षेपे संग्रहः संश्रितो वरम्।
सन्तानान्तरमुत्सृज्य क्षणभङ्गमनन्वयम् ॥१०॥

सर्वमेकात्मकं तत्त्वं केवलमविद्या आत्मनि विनिर्भासभेदादसतां जन्म दर्शयतीति
२५ **एतावता सर्वं सुस्थितम्। नहि...भेदलक्षणं। स्वयं...न चापरम्। तदशक्यः...नहि व्यापारव्याहारादिनिर्भासज्ञानं स्वोपादानप्रकृतेर्भवितुमर्हति इति किं कारणान्तरकल्पनया? मिथ्यैकान्त...]**

मिथ्याविकल्पेन निक्षेपे पर्यायतत्त्वयोजने अभ्युपगम्यमाने **संग्रहसंसृतो (संग्रहः संश्रितो) वरम्।** किं कृत्वा? इत्याह–**क्षणभङ्गमुत्सृज्य** त्यक्त्वा। किंभूतम्?

(१) अनिर्णयात्मकत्वात्। (२) व्यवच्छेदकत्वाभावात्। (३) अतिप्रसङ्गात्। (४) विकल्पतः। (५) परम्परया। (६) द्रव्यनिक्षेपेऽपि। (७) अद्वैततत्त्वस्वीकारात्।

अनन्वयं दृष्टान्तरहितम् । अथवा, द्रव्यानश्यति रहित (द्रव्यान्वयविरहितं) **सन्तानान्तरं** च **उत्सृज्य ।**

कारिकां व्याचष्टे **सर्वम्** इत्यादिना । नीलादिसुखादिनान(ज्ञानं) **सर्वम् एकात्मकम्** एकस्वभावं **तत्त्वं** परमार्थरूपम् । कथं चित्रप्रतिभास इति चेत् ? अत्राह–**केवलम्** इत्यादि । **अविद्या कर्त्री(कर्त्री)दर्शयति** । किम् ? इत्याह–**जन्म** इत्यादि । किंभूता[ना]म् ?**असताम्** । ५ क्व ? इत्याह–**आत्मनि** । कुतः ? इत्याह–**निर्भासभेदात्** तद्भेदमाश्रित्य इत्येवम् **एतावता सर्वं सुस्थितम्** । स्यादेतत्, प्रतिभासभेदात् विरुद्धधर्माध्यासाच्च नानात्वमेव युक्तमिति कथं सर्वमेकात्मकमिति चेत् ? अत्राह–**नहि** इत्यादि[1] **भेदलक्षण**पर्यन्तं सुगमम् । कुतः ? इत्याह **स्वयम्** इत्यादि । ततोऽन्यद्भेदलक्षणमिति चेत् ; अत्राह–**न चापरम्** इत्यादि । प्रकृतं निगमयन्नाह– **तदशक्य** इत्यादि । १०

ननु माभूदन्वयः, तथापि अन्यथानुपपत्त्या सत्त्वादिकं क्षणभङ्गं साधयति इति चेत् ; अत्राह–**नहि** [५७८ख] इत्यादि । सुगमम् । कथं सन्तानान्तरव्यसनं वादिनः प्रेक्षाकारितां व्याहन्ति इति चेत् ? अत्राह–**व्यापार** इत्यादि । **[व्यापारव्याहारादि] निर्भासज्ञानं स्वोपादानं(न)प्रकृते**रविद्याप्रकृतेः **भवितुमर्हति इति** एवं हेतोर्वा[2] **किं कारणान्तरस्य** सन्तानान्तरलक्षणस्य **कल्पनया ?** कुतः ? इत्याह–**मिथ्यैकान्त** इत्यादि । तत्सिद्धेः सन्तानान्तरसिद्धि- १५ रिति ।

एवं संग्रहनयान् (हनयान्) कुर्व[त]स्तन्निक्षेपमाह–**विद्या** इत्यादिना ।

[विद्याविद्याविनिर्भासात् नित्यानित्यत्वसंभवात् ।
स्वार्थस्वरूपयोः सिद्धिः द्वयरूपेति नैगमः ॥११॥

साकल्येन नित्यक्षणिकैकान्तयोः ग्राह्यग्राहकबहिरन्तर्मुखप्रतिभास इति व्यवस्था । २० तत्र स्वसंविन्मात्रं नित्यं तावतः सर्वत्राविशेषात् । शेषं कादाचित्कम् । एतदुक्तं च–

*"अभिन्नः संविदात्मार्थः भाति भेदीव सः पुनः ।
प्रतिभासादिभेदं स्वापप्रबोधादौ न भिद्यते॥" इति ।

बोधाकारेण सर्वत्राविशेषोऽविप्रतिपत्तेः । तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः अवस्थाचतुष्टयाभावस्तदवस्थ एव । तथा तदागन्तुभिः सुखादिनीलादिनिर्भासैः भेदिनीमिव वृत्ति- २५ मनुभवति ।]

विद्या तत्त्वज्ञानम् **अविद्या** विभ्रमज्ञानं तयो**र्विनिर्भासात्** प्रतीतेः **नित्यानित्यत्वसंभवो** य एकत्र **तस्मात् स्वार्थस्वरूपयोः** स्वस्वरूपस्य अर्थ(अर्थ)स्वरूपस्य च **सिद्धिः** निष्पत्तिः निर्णीतिर्वा **द्वयरूपा** नित्यानित्यत्वस्वभावा **इत्येवं नैगमः ।**

साकल्येन इत्यादिना कारिकां व्याचष्टे–**साकल्येन** अनवयवेन **नित्यक्षणिकैकान्तयोः** ३०

(१) 'नहि' इति प्रारभ्य । (२) हेतुः ।

नित्यैकान्ते क्षणिकैकान्ते च अयं **ग्राह्याकारो** नीलादिस्थूलाद्याकारः अयं **ग्राहकाकारः** अयं **बहिर्मुखप्रतिभासः अयमन्तर्मुखप्रतिभासः** इत्येवं **व्यवस्था** स्थितिः । किं कृत्वा ? इत्याह– **तत्र** इत्यादि । **तत्र** तस्मिन्नत्र(स्मिन् अनन्तर)न्याये सति **स्वसंविन्मात्रम्** स्वशब्देन परसंविदं निराचष्टे[1] **नित्यं** कालान्तरस्थायि । कुतः ? इह(एतत ?) **तावतः** स्वसंविन्मात्रस्य **सर्वत्र**
५ स्वसन्तानसुखादौ **अविशेषात्** । **शेषं** सुगमादि । किंभूतम ? **कादाचित्कम्** अनित्यमेव । अन्य[त्रा]प्येतदुक्तमिति दर्शयन्नाह–**एतदुक्तं च** इत्यादि । कथमुक्तमिति चेत् ? उच्यते– **अभिन्नोऽखण्डः** । कः ? इत्याह–**संविदात्मा स एवार्थः** संवित्स्वभावो जीव इत्यर्थः । किमभिन्न एव ? न, इत्याह–[५७९ क] **भेदा(दी)व भाति** मनाक् भेदी प्रतिभातीत्यर्थः । कुतः ? इत्याह–**प्रतिभासादिभेदेन** आदिशब्दात् प्रयोजनादिभेदो गृह्यते । कुतो[ऽ]भिन्नम् ?
१० (न्नः ?) इत्याह–**स** इत्यादि । [**सः** संविदा]त्मार्थः **[पुनः] स्वापप्रबोधादौ** आदिशब्देन जन्ममरणादिपरिग्रहः, **न भिद्यते** सन्तानान्तरं (रं वन) नाना न भवति इति । एतदेव व्याचष्टे– **बोधाकारेण** चेतनारूपेण **सर्वत्र** स्वसुखादावविशेषा[ऽ]भेदो ज्ञानस्य । कुतः ? इत्याह– **अविप्रतिपत्तेः** इत्यादि । तदपि कुतः ? इत्याह–**स्वाप** इत्यादि । ननु स्वापे ज्ञानं नास्त्येव इति चेत्; अत्राह–**तदभाव** [इत्यादि । **तदभावे**] ज्ञानस्य असति **मिद्धादेः अनुपपत्तेः**
१५ इति । **मिद्धो** निद्रा **आदिर्यस्य** मूर्च्छादेः तस्यानुपपत्तेः मरणोपपत्तेः **अवस्थाचतुष्टयाभावः**[2] **तदवस्था(स्थ) एव** । पुनस्तत्रैव ज्ञानोदयात् नायं प्रसङ्ग इति चेत् ; न; अहेतुकोदयायोगात् । जाग्रज्ज्ञानहेतुकत्वं[6] निरस्तम् , चिरविनष्टस्य अकारणत्वात् , इतरथा अन्त्यचित्तं पुनः तत्रैव शरीरे चित्र(चित्त)कारणमिति न मरणं नाम इति । अर्थावेधकर्मवशात् देहान्तरं तदारम्भकमिष्यते; न; तद्व्यतिरेकेण कर्मणोऽभावात् । तदेव विशिष्टं कर्म इति चेत् ; न; विशिष्टस्य
२० (विनष्टस्य) खरविषाणोवम(पम)स्य का विशिष्टता नाम ? स्वकाले सर्वस्यापि सत्त्वमिति न स्वप्नादिदर्शनम् अनर्थकहेतुकं स्यात् । तथाव्यवहाराभावात् स्यादिति चेत् ; इतरत्र समानम् । तन्न स्वप्नादौ ज्ञानाभावः ।

ननु कोऽयं मिद्धादिर्नाम ? ज्ञानाभावश्चेत् ; स्वापाभावः । तदभावश्चेत् ; विरुद्धो हेतुः इति चेत् ; 'अनुपलक्षितज्ञानभावः' इति प्रतिपादितम् । तदस्तित्वं 'सुखेनाहं सुप्तः' इति
२५ [५७९ख] पुनर्विकल्पोदयात् *"पुनर्विकल्पयन् किंचित्" [प्र० वा० २।१२५] इत्यादिवत्[10] । तदनित्यतां दर्शयन्नाह–**तथा** इत्यादि । तेन स्वापप्रबोधादौ चैतन्यानतिशयप्रकारेण । **तदित्यादि** क्वचित् पाठः । तच्चैतन्यम् इत्यर्थः । **[आ]गन्तुभिः** कादाचित्कैः **सुखादिनीलादिनिर्भासैः** सुखादिभिः नीलादिनिर्भासैः तदनुभवे **भेदिनीमिव वृत्तिमनुभवति** ज्ञानमिति ।

(१) निराकरोति । (२) प्रतौ चतुरक्षरमितं स्थानं रिक्तमस्ति । (३) प्रतौ अष्टाक्षरमितं स्थानं रिक्तं वर्तते । (४) जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमरणलक्षणावस्थाचतुष्टय । (५) आत्मनि । (६) प्रबोधज्ञानस्य । (७) जाग्रज्ज्ञानस्य । (८) आवेधः संस्कारः । (९) स्वापादौ ज्ञानसत्त्वम् । (१०) 'किंचिदासीन्मे कल्पनेदृशी ।' यथा विकल्पावस्थाया ऊर्ध्वं पुनर्विकल्पयन् पुमान् आसीत् मे कल्पनेदृशीति वेत्ति ।'–प्र० वा० मनोरथ० । (११) सिद्धमिति ।

ततः किं सिद्धम् इत्याह–**यथा** इत्यादि ।

[यथा चैतन्यभेदोऽयं भवेदागन्तुकैस्तथा ।
जातिभेदस्ततस्तत्त्वं पृथक् च नित्यात्मकम् ॥१२॥

चित्रसंविदः संभाव्यनिरंशस्वभावस्य सर्वथानुपलब्धौ निरुपाख्यतैव स्यात् अनवस्थाप्रसङ्गात् । न च तस्याः प्रतिपत्तिः प्रमाणाभावात् । तदेतेन सम्बन्धपरीक्षा प्रतिव्यूढा । कथं हि सम्बन्धाभावे बहिरन्तर्मुखादिप्रतिभासनियमः क्वचित् प्रतीयेत ? नहि···कुतः ग्राह्याद्याकाराणां स्वभावभेदः तदेकत्वहानेः इति नामस्थापनाद्रव्यभेदात् निक्षेपस्तत्रैव ।]

यथा चैतन्यस्य भेदोऽयं नानात्वमिदं **भवेत्** । कैः ? इत्याह–**आगन्तुकैः** अनन्तरोक्तैः **तथा जातिभेदः** सत्ता[न]नानात्वं **ततः तत्त्वं** नित्यात्मकम् । संकरः स्यादिति चेत्; अत्राह–**पृथक्** परस्परं भिन्नं **च** अनेन *"**सर्वस्योभयरूपत्वे**" [प्र०वा० ३।१८१] [1]इत्यादि निरस्तम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह–**चित्र** इत्यादि । ननु चित्रता एकस्याः संविदोऽपि नेष्यते *"**किं स्यात् सा चित्रतैकस्याम्**" [प्र०वा० २।२१०] [2]इत्यादि वचनात्, केवलं सा निरंशापि सांशेव भाति इति चेत्; अत्राह–**संभाव्य** इत्यादि । **संभाव्यः** संविदो यः **निरंशः स्वभावः तस्य सर्वथा** प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण **अनुपलब्धौ** सत्य[म]नुपलब्धस्वभावस्य सभेदस्य तथा विरोधप्रकारेण संभावनायाम् **निरुपाख्यतैव** नैरात्म्यमेव **स्यात्** । कुतः ? इत्याह–**अनवस्थाप्रसङ्गात्** । क्वचित्तत्त्वे अवस्थितेरभावानुषङ्गात् *"**मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः**" [प्र० वार्तिकाल० ३।२११] इति वचनात् इष्यते एव तदिति चेत्; अत्राह–**न च** इत्यादि । नैव **तस्याः** निरुपाख्यतायाः **प्रतिपत्तिः** । [५८०क] कुतः ? इत्याह–**प्रमाणाभावात्** । स्वसंवेदनाध्यक्षं तत्र प्रमाणमित्येके । विवत्तदेकम् (?) इत्यपरे । तथा च किं जातम् ? इत्याह–**तदेतेन** इत्यादि । **तेन एतेन** संविद एकस्याः चित्रतापादनेन च **संबन्धपरीक्षा** [3] सम्बन्धनिराक्रिया धर्मकीर्त्तिसम्बन्धिनी **प्रतिव्यूढा** । कुतः ? इत्याह–**कथं** हिर्यस्मात् **सम्बन्धाभावे बहिरन्तर्मुखादिप्रतिभासनियमो** ग्राह्यग्राहकसंवेदनाकाराणां नियमः नियतज्ञानायत्तता **क्वचित् प्रतीयेत** ? तादात्म्यान्नियम इति चेत्; अत्राह–**नहि** इत्यादि । **कुतः स्वभावभेदो ग्राह्याद्याकाराणाम्** । तथापि तादात्म्यैकान्ते दूषणमाह–**तदेकत्व** इत्यादि । तत्तस्मात् **एकत्वहानेः** कारणात् इत्येवं **निक्षेपः** । कुतः ? इत्याह–**तत्रैव** निगमनिक्षेप एव **नामस्थापनाद्रव्यभेदात्** ।

व्यवहारनयनिक्षेपं दर्शयन्नाह– [4]

(१) 'तद्विशेषनिराकृतेः । चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥' इति शेषः । (२) 'न स्यात्तस्यां मतावपि । यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥' इति शेषः । (३) एतन्नामकं प्रकरणं धर्मकीर्तिकृतम् । इयं प्रमेयकमलमार्तण्डे (पृ० ५०९) संपूर्णा समुद्धृता । (४) 'व्यवहारः प्रवर्तते' इति सम्बन्धः ।

[स्याच्चेतनादिनिक्षेपे व्यवहारैर्विना जगत् ।
सर्वथार्थक्रियाऽयोगो नित्यत्वे च क्षणक्षये ॥१३॥

क्षणिकाक्षणिकयोः अन्योऽन्यापेक्षायां [व्यवहारः प्रवर्त्तते ।]

स्यात् भवेत् **व्यवहारैः विना जगत्** । कस्मिन् ? इत्याह-**नित्यत्वे क्षणक्षये**
५ **च चेतनादिनिक्षेपे** क्रियमाणे । कुतः ? इत्याह-**सर्वथा** क्रमयौगपद्यप्रकारेण **अर्थक्रियाऽयोगो** नित्यत्वे क्षणक्षये च इति सम्बन्धः ।

कारिकार्थमुपदर्शयन्नाह-**क्षणिक** इत्यादि । कस्याम् ? इत्याह-**परस्पर** इत्यादि । **क्षणिकाक्षणिकयोः अन्योऽन्यापेक्षायां** सत्याम् ।

कथं तर्हि व्यवहारनिक्षेपः प्रवर्त्तते ? इत्याह-**जीवादि** इत्यादि ।

१० **[जीवादिभेदमाश्रित्य तत्पर्यायांश्च निक्षिपन् ।**
प्रसिद्धं हि व्यवहारस्य मिथ्यात्वं भेदसंश्रितम् ॥१४॥

द्रव्यपर्याययोर्भेदैकान्तमवलम्ब्यापि द्रव्यस्य पर्यायात्मता अङ्गीकर्त्तव्या । अन्यथा अभावाविशेषात् । तथा च किं पृथक् पर्यायकल्पनया ? तावता यतो व्यवहारसिद्धिः इति व्यवहारनयस्तथैव विनिक्षिपेत् ।]

१५ **जीव आदि**र्यस्य पुद्गलादेः स तथोक्तः तस्य **भेदं** नानात्वम् **आश्रित्य तत्पर्यायांश्च** जीवादिपर्यायांश्च आश्रित्य **निक्षिपन्** जीवादीन्यपा(न् पर्या)येषु पर्यायान् [५८०ख] जीवादौ योजयन् **'व्यवहारः प्रवर्त्तते'** इत्युपस्कारः । कुतः ? इत्याह-**प्रसिद्धं हि** यस्मात् **मिथ्यात्वं व्यवहारस्य भेदसंश्रितं** द्रव्यपर्यायनानात्वाश्रितम् ।

कारिकार्थं कथयति **द्रव्या(व्येत्या)दिना** : **द्रव्यपर्याययोः भेदैकान्तमवलम्ब्यापि**
२० वैशेषिकादिभिः **द्रव्यस्य** आत्मादेः **पर्यायात्मता** अपरापरकार्योत्पादकापरसामर्थ्यपरिणामात्मता **अङ्गीकर्त्तव्या** । कुतः ? इत्याह-**अन्यथा** इत्यादि । **अन्यथा** तदनङ्गीकरणप्रकारेण **अभावाविशेषात्** शशविषाणाद्यविशेषात् द्रव्यस्य सा अङ्गीकर्त्तव्या इति । तदङ्गीकरणमस्तु इति चेत्; अत्राह-**तथा च** तदङ्गीकरणप्रकारेण च **किं पृथक् पर्यायकल्पनया ?** कुतः ? इत्याह-**तावता** तत्सामर्थ्यपरिणाममात्रेण **व्यवहारसिद्धिर्यतः इति** एवं **व्यवहारनयः** । **तथैव**
२५ तेनैव प्रकारेण **विनिक्षेपे(विनिक्षिपेत्)** द्रव्यपर्यायान् इत्यध्याहारः ।

शब्दादिनयानां निक्षेपं दर्शयन्नाह-**काल**[1] इत्यादि । व्याख्यातार्थमेतत् ।

(१) तुलना-"कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् । अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥४४॥ कालभेदात् तावद्भूत् भवति भविष्यति इति, कारकभेदात् करोति क्रियते इत्यादि, लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति, तथा पर्यायभेदात् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति तथैतौ शब्दसमभिरूढौ । क्रियाश्रय एवम्भूतः, कुर्वत एव कारकत्वम् ।"-लघी०स्ववृ०श्लो० ४४ ।

[काल.................................।
...................................॥१५॥

न केवलम्। लिङ्गभेदाद् वस्तुस्वभावभेदं धिषणा...न केवलं लिङ्ग...यथा इन्द्रः। इत्थम्भूतस्य...तदेवम्...]

'न केवलम्' इत्यादिना कारिकार्थमाह। लिङ्गभेदाद् वस्तुस्वभावभेदं उदाहरणमाह– धिषणा इत्यादि। ५

समभिरूढं दर्शयति। न केवलं लिङ्ग इत्यादिना। यथा इन्द्रः इत्यादि निदर्शनम् अत्रैव। इत्थम्भूतस्य इत्यादिना। शास्त्रार्थमुपसंहरन्नाह–तदेवम् इत्यादि।

शास्त्रान्ते मङ्गलमाह–जीयात् इत्यादि।

[जीयात्.................................. १०
....
....
....॥१६॥]

इति सि द्धि वि नि श्च य टी का याम् अ न न्त वी र्य विरचितायां
निक्षेपसिद्धिः द्वादशमः प्रस्तावः समाप्तमिति (प्र इति) ॥छ॥ १५

[समाप्तोऽयं ग्रन्थः]

---

(१) उदाहरणम्।

[दातुः लेखकस्य च प्रशस्तिः]

श्रीतोज्जृम्भितबोधनिष्ठुर [५८१ क] नखैः मिथ्येभकुम्भस्थलम् ,
ध्वस्तं येन तुकोद्भवोद्भवमृगो दृप्तिस्वनैस्त्रासितः ।
यश्चानु (णु) व्रतभूरिबन्धुरसटाटोपैरलं भ्राजितः ,
राजत्येष कवीन्द्रसंस्तुतगुणः श्री शा न्ति कण्ठीरवः ॥१॥
पात्रेष्वेव करोति दत्तिमतुलां सत्यं विवेकार्णदि ,
स्वान्ताकल्पितगोचरां बहुतरां छायैद्धकल्पद्रुमः ।
हित्वानेककुपात्रदत्तिमहितां स्वैरं स्वयं सर्वथा ,
प्राप्नोत्येव तदोपमां जनतुतां श्री शा न्ति भव्यात्मनः ॥२॥
यो गोत्रोन्नतबन्धुकैरववने संपूर्णचन्द्रायते ,
स्वस्वान्तम (न्ते च वि) शुद्धिशीतलकराकान्तो कृतात्मा वरः ।
यस्य प्रोर्जितभूरिकीर्त्तिजलधौ डिण्डीरपिण्डायते ।
मध्यीभूतमिदं जगत्त्रयमसौ शा न्ति गुणी (न्तिर्गुणी) भ्राजताम् ॥३॥
तेनाणुव्रतधारिणा गुणभृता भव्यात्मना शा न्ति ना ,
भाष्यं सि द्धि वि नि श्च यस्य विशदं संलेखयित्वा परम् ।
निर्वाणोन्नतमारकूटशिखरं सोपानमारोहताम् ।
संदत्तं गणि ना ग दे व यमिने स्याद्वादविद्याविदे ॥४॥

❀

मंगलमहा श्री । संवत १६६२ वर्षे लिखितं विष्णुदासेनं (न) ।

❀

श्रीआर्यरक्षितगुरोः प्रसूते विशाले गच्छे लसन्मुनिकुले विधिपक्षनाम्नि ।
सूरीश्वरा गुणनिधानसुनामधेया आसन् विशुद्धयशो(शसो) जगति प्रसिद्धाः ॥१॥
तत्पट्टैकतरणिः तरणिर्भवाब्धौ श्री ध र्म मू र्तिरिति सूरिवरो विभाति ।
सौभाग्यभाग्यसुखसद्गुणरत्नरत्नगोत्रः पवित्रचरितो महितो विनेयैः ॥२॥

[५८१ ख]

❀

श्रेयसे ज्ञानभाण्डागारलिखिते सिद्धिविनिश्चयटीका वाच्यमाना चानन्दतु ।
नामडागोत्रजो ···················· गिराः ।
साधुः श्री ध न रा जा ह्वो ग्रन्थमेनमलीलिखत् ॥१॥